अथ सामवेदभाष्यारम्भः क्रियते

पूर्वार्चिकः (छन्द आर्चिकः)

आग्नेयं काण्डं पर्व वा

आग्नेयकाण्डे तावच्चतुर्दशोत्तरशतं (११४) मन्त्रा वर्तन्ते, येषां प्रायेण[1] अग्निरेव देवता। अग्निदेवताकत्वादेवाग्नेयमिति संज्ञा। ज्ञानकर्मकाण्डयोरुपासनायाश्च चरमोत्कर्षो ज्ञानकर्मणोरुपासनायां परिणतिश्च सामवेदस्य विषयः[2]। द्विविधौ खलु वेदानामर्थौ, पारमार्थिको व्यावहारिकश्च। पारमार्थिक-दृष्ट्याऽग्निशब्दस्यात्र मुख्योऽर्थः परमात्मैव—यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। ऋ० १।१६४।३९, एकं सद्विप्रा। बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। ऋ० १।१६४।४६, तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। य० ३२।१, ब्रह्म ह्यग्निः श० १।४।२।११ इत्यादिप्रामाण्यात्। परमात्मातिरिक्तम् अग्निशब्दस्य परमार्थविषयाणि आत्ममनःप्राणवागादीन्यपि वाच्यानि भवितुमर्हन्ति। उक्तं च—आत्मैवाग्निः श० ६।७।१।२०, मन एवाग्निः। श० १०।१।२।३, प्राणो वा अग्निः। श० ९।५।१।६८, वागेवाग्निः। श० ३।२।२।१३ इति। व्यावहारिकदृष्ट्या पार्थिवाग्नि-विद्युत्-सूर्य-विद्वद्-नृप-सेनाधीशादयोऽर्था अग्नि-शब्दस्य वाच्या भवन्ति।

अग्निशब्दं तावद् यास्काचार्य एवं निर्वक्ति—अग्निः कस्माद्? अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति संनममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः, न क्नोपयति न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। इताद् अक्ताद् दग्धाद् वा नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा, नी परः। नि० ७।१४। अग्निशब्दवाच्यः परमात्मा हि सर्वेषामुपासकाना-मग्रणीः अग्रनायकः मार्गप्रदर्शक इति यावत्। स च सर्वेषु यज्ञेषु अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तेषु, अध्ययनाध्या-पनादिषु, वापीकूपतडागोद्यानचिकित्सालयादिनिर्माणरूपेषु इतरेषु च परोपकारयज्ञेषु अग्रं प्रणीयते, आदर्शरूपेण संमुखं स्थाप्यते। यं कं चोपासकं प्रति संनतो भवति तम् अङ्गं नयति, आश्रयरूपे स्वक्रोडे स्थापयति। यद्वा, न क्नोपयति[3] नार्द्रीकरोति स्वोपासकं दुःखद्रवरसेन पापपङ्केन वा यः सोऽक्निः, अक्निरेव चाग्निः। यद्वा, एति क्रियाशीलो भवति स्वोपासकमुन्नेतुम्, अनक्ति संमार्ष्टि उपासकहृदयम्, दहति हृत्स्थं मालिन्यम्, नयति च लक्ष्यं प्रति[4] यः स परमात्मा अग्निपदेनोच्यते।

---

१. केवलमधस्तनाः षडेव मन्त्रा भिन्नदैवताः सन्ति—५६ ब्रह्मणस्पतिः, ५७ यूपः, ७५ पूषा, ९१ विश्वेदेवाः, १०१ पवमानः सोमः, १०२ अदितिः। एता अपि देवता अग्निसम्बद्धत्वादेवाग्नेये पर्वणि समाविष्टाः।

२. ज्ञानकर्मणोरुपासनायाश्च कियत्युन्नतिर्भवितुमर्हति, किञ्चैतेषां फलं भवति, सामवेद एतद्विधायकत्वात् तृतीयो गण्यत इति दयानन्दः।—ऋ० भा० भू० प्रश्नोत्तरविषयः।

३. क्नूयी शब्दे उन्दे च। णिजन्तः।

४. इण् गतौ धातोर्निष्पन्नाद् 'अयन' शब्दाद् 'अकारः', अञ्चू धातोर्निष्पन्नाद् 'अक्त' शब्दाद्, दह धातोर्निष्पन्नाद् 'दग्ध' शब्दाद् वा 'गकारः', णीञ् प्रापणे धातोः 'निः'। एवं त्रिभ्यो धातुभ्योऽग्निशब्दः सिध्यतीति शाकपूणिमतम्।

अगि गतौ धातोरप्यग्निशब्दः सिध्यति[1]। गतेस्त्रयोऽर्था ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च। यः अङ्क्ते जानाति सर्वं, गच्छति सर्वत्र व्यापको भवति, प्राप्नोति च स्वोपासकान् तस्मात् परमात्मा अग्निरुच्यते। किं च, पार्थिवाग्नि-विद्युदग्नि-सूर्याग्निवत् प्रकाशमानत्वात् प्रकाशकत्वाच्चापि परमात्मा रूपकातिशयोक्तिमाश्रित्य अग्निनाम्ना स्मर्यते।

अग्नेः कर्माणि निरुक्तकार एवमाह—अथास्य कर्म। वहनं च हविषाम् आवाहनं च देवतानाम्, यच्च किञ्चिद् दार्ष्टिविषयिकम् अग्निकर्मैव तत्। निरु० ७।८। यज्ञाग्निवत् परमात्माग्निरपि अध्यात्म-याजिभिर्हविष्कृत्वा हुतानि सर्वाणि ज्ञानकर्मादीनि वाक्चक्षुःश्रोत्रप्राणमनोबुद्ध्यादीनि च वहति स्वीकरोति, तेषां हृदयरूपे यज्ञस्थले देवान् दिव्यगुणान् आवाहयति, मानसं तमो निवार्य प्रकाशदृष्टिं च प्रयच्छति। तस्मात् परमात्मनोऽग्निरूपस्य चिन्तनं योगसाधकाय महत् कल्याणकरम्। अत एवाग्नेयपर्वणि परमात्माऽग्निरूपेण ध्यायते।

अब सामवेद का भाष्य आरम्भ करते हैं। उसमें प्रथम पूर्वार्चिक (छन्द आर्चिक) है। उसमें भी सर्वप्रथम आग्नेय काण्ड या पर्व की व्याख्या करनी है। आग्नेय काण्ड में कुल ११४ मन्त्र हैं, जिनका प्रायः अग्नि ही देवता है। अग्नि देवता वाला होने से ही इस काण्ड का आग्नेय नाम पड़ा है। ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासना के चरम उत्कर्ष का वर्णन तथा ज्ञान और कर्म की उपासना में परिणति ही सामवेद का विषय है। वेदों के दो प्रकार के अर्थ होते हैं, पारमार्थिक और व्यावहारिक। पारमार्थिक दृष्टि से अग्नि शब्द का यहाँ मुख्य अर्थ परमात्मा ही है। इसमें प्रमाण भी हैं—'जिसने वेदमन्त्रों के प्रतिपाद्य परमात्मा को नहीं जाना, वह वेदमन्त्रों से क्या लाभ उठा सकेगा!' ऋ० १।१६४।३९, 'एक ही परमात्मा को ज्ञानीजन अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। ऋ० १।१६४।४६', 'उसी परमात्मा का नाम अग्नि है, आदित्य है, वायु है, चन्द्रमा है। य० ३२।१', 'ब्रह्म ही अग्नि है। श० १।४।२।११' आदि। परमात्मा के अतिरिक्त परमार्थ विषय में अग्नि शब्द के आत्मा, मन, प्राण, वाणी आदि भी वाच्यार्थ हो सकते हैं। शतपथ ब्राह्मण में कहा भी है—'आत्मा ही अग्नि है। श० ६।७।१।२०', 'मन ही अग्नि है। श० १०।१।२।३', 'प्राण ही अग्नि है। श० ९।५।१।६८', 'वाणी ही अग्नि है। श० ३।२।२।१३।' व्यावहारिक दृष्टि से पार्थिव अग्नि, बिजली, सूर्य, विद्वान् पुरुष, राजा, सेनापति आदि अग्नि शब्द के वाच्यार्थ होते हैं।

अग्नि शब्द का यास्काचार्य ने निरुक्त (७।१४) में जो निर्वचन दिखाया है उसके अनुसार अग्नि शब्द 'अग्र-नी' या 'अंग-नी' से निष्पन्न होता है। परमात्मा का नाम अग्नि इस कारण है, क्योंकि वह उपासकों का अग्र-णी अर्थात् अग्र-नायक या पथप्रदर्शक बनता है और वह अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त यज्ञों में या अध्ययन-अध्यापन-रूप यज्ञों में अथवा सार्वजनिक बावड़ी, कुआँ, तालाब, उद्यान, चिकित्सालय आदि के निर्माणरूप यज्ञों में तथा अन्य परोपकार के यज्ञों में आदर्श रूप में सबसे आगे लाया जाता है (अग्र-नी)। वह जिस उपासक के अनुकूल होता है, उसे अपने अंग में अर्थात् अपनी आश्रयरूप गोदी में ले लेता है (अंग-नी)। निरुक्त के अनुसार स्थौलाष्ठीवि आचार्य 'न'-पूर्वक गीला करने अर्थ वाली क्नूयी धातु से अग्नि शब्द की सिद्धि करते हैं। जो दुःख-द्रव से या पाप-पंक से अपने उपासक को गीला नहीं होने देता, वह परमात्मा अग्नि है (न-क्नि=अग्नि)। निरुक्त में उद्धृत शाकपूणि आचार्य के मत में अग्नि शब्द तीन धातुओं से मिलाकर बना है। अग्नि का अ गत्यर्थक इण् धातु के 'अयन' से लिया गया है, क् या ग् माँजने अर्थ वाली अञ्जू धातु के 'अक्त' से या दाहार्थक 'दंह' धातु के

१. अगि धातोः 'अङ्गेर्नलोपश्च' उ० ४।५१। इत्युणादिसूत्रेण निप्रत्ययः, धातोरिदित्वाज्जातस्य नुमो नकारस्य च लोपः।

'दग्ध' से लिया है और नि नयनार्थक नी (णीञ् प्रापणे) से गृहीत किया गया है। परमात्मा अग्नि इस कारण है, क्योंकि वह अपने उपासक को उन्नत करने में गतिशील या सक्रिय होता है, उपासक के हृदय को माँजकर स्वच्छ कर देता है, हृदय-स्थित मालिन्य को दग्ध करता है और उसे उसके निर्धारित लक्ष्य पर पहुँचा देता है।

उणादि-प्रक्रिया के अनुसार अग्नि शब्द की सिद्धि गत्यर्थक 'अगि' धातु से होती है। गति के तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। जो सर्वज्ञ है, सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक है और अपने उपासकों को प्राप्त होने वाला है, उस परमात्मा का नाम अग्नि है। परमात्मा को अग्नि एक अन्य हेतु से भी कह सकते हैं। पार्थिव अग्नि, बिजलीरूप अग्नि और सूर्यरूप अग्नि के समान प्रकाशमान और प्रकाशक होने से रूपकातिशयोक्ति अलंकार का आश्रय लेकर उसे साक्षात् अग्नि ही कह दिया जाता है।

अग्नि के कर्म बताते हुए निरुक्तकार ने कहा है कि "अग्नि हवियों का वहन करता है, देवताओं का आवाहन करता है और जो दर्शनविषयक प्रकाश-प्रदान आदि का कर्म है वह भी अग्नि का ही है (निरु० ७।८)।" यज्ञाग्नि के समान परमात्मा-रूप अग्नि भी इन कर्मों को करता है। वह अध्यात्म-याजियों द्वारा हवि-रूप में समर्पित किये हुए सब ज्ञान, कर्म आदियों को तथा वाक्, चक्षु, श्रोत्र, प्राण, मन, बुद्धि आदियों को वहन अर्थात् स्वीकार करता है, हृदय-रूप यज्ञस्थल में देवों अर्थात् दिव्य गुणों का आवाहन करता है और मन की तामसिकता का निवारण कर प्रकाशदृष्टि प्रदान करता है। इस कारण परमात्मा के अग्निरूप का चिन्तन योगसाधक के लिए महान् कल्याण करनेवाला होता है। इसीलिए आग्नेय पर्व में परमात्मा का अग्निरूप से ध्यान किया गया है।

अथ प्रथमः प्रपाठकः प्रथमोऽध्यायश्च

अथ प्रथमे प्रपाठके प्रथमार्द्धे प्रथमा दशतिः, प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डश्च प्रारभ्यते।

तत्र अग्न आयाहीति प्रथमाया दशतेः ऋषयः—१,२,४,७,९ भरद्वाजः; ३ मेधातिथिः; ५ उशनाः; ६ सुदीतिपुरुमीढौ तयोर्वान्यतरः; ८ वत्सः; १० वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

तत्राद्ये मन्त्रेऽग्निनाम्ना परमात्मविद्वन्नृपादीनाह्वयन्नाह।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१. अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
१ २ २ ३ १ २
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥१॥[1]
१ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३
अग्ने आ याहि वीतये। गृणानः हव्यदातये हव्य दातये॥
२ १ २ ३ १ २
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥१॥

अन्वितपदार्थः[2]—तत्र **प्रथमः** परमात्मपरः। हे **अग्ने** सर्वाग्रणीः, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वसुख-प्रापक, सर्वप्रकाशमय, सर्वप्रकाशक परमात्मन्! **गृणानः** कर्तव्यानि उपदिशन् त्वम्। गृ शब्दे, शानच्,

१. ऋ० ६।१६।१०; साम ६६०।
२. अग्रे प्रतिमन्त्रम् 'अन्वित' शब्दमनुल्लिख्य केवलं 'पदार्थः' इत्येव लेखिष्यते।

व्यत्ययेनात्मनेपदम्। **वीतये** अस्माकं प्रगतये, अस्माकं विचारेषु कर्मसु च व्याप्तये, हृदयेषु सद्गुणानां प्रजननाय, अस्मासु स्नेहितुम्, कामक्रोधादीनां च बहिःप्रक्षेपणाय। वी गति-व्याप्ति-प्रजन-कान्ति-असन-खादनेषु इत्यस्मात् 'मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः अ० ३।३।९६ अनेन क्तिन् प्रत्ययः, उदात्तत्वं च। **हव्यदातये**[1] होतुं दातुं योग्यं द्रव्यं हव्यं सद्बुद्धि-सत्कर्मसद्धर्म-सद्धनादिकं तस्य दातये दानाय च। हवं दानम् अर्हतीति हव्यम्। 'छन्दसि च'। अ० ५।१।६७ इत्यर्हेऽर्थे यः प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम्। तस्य दातिः दानम्। दासीभारादित्वात्, अ० ६।२।४२ सूत्रेण पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। **आ याहि** आगच्छ। **होता** शक्त्यादिप्रदाता दौर्बल्यादिहर्ता च सन्। हु दानादनयोः आदाने च इति धातोः कर्तरि तृन्। **बर्हिषि** हृदयान्तरिक्षे। बर्हिरित्यन्तरिक्षनामसु पठितम्। निघं० १।३। **नि सत्सि** निषीद। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु इति धातोर्लेट्। 'बहुलं छन्दसि' अ० २।४।७३ इति शपो लुकि सीदादेशाभावः। 'नि होता सत्सि' इति धातूपसर्गयोर्व्यवहितप्रयोगः 'व्यवहिताश्च' अ० १।४।८२ इति नियमेन छान्दसो बोध्यः।

अथ **द्वितीयो** विद्वत्परः[2]। विद्वानप्यग्निरुच्यते, 'अग्निर्विद्वाँ ऋतचिद्धि सत्यः' ऋ० १।१४५।५, 'अग्निः सनोति वीर्याणि विद्वान्'। ऋ० ३।२५।२ इत्यादिमन्त्रप्रामाण्यात्। हे **अग्ने** विद्वन्! **गृणानः** यज्ञविधिं यज्ञलाभांश्चोपदिशन् त्वम् **वीतये** यज्ञस्य प्रगतये **हव्यदातये** हविषां यज्ञाग्नौ दानाय च **आ याहि** आगच्छ। **होता** होमनिष्पादकः सन् **बर्हिषि** दर्भासने **नि सत्सि** निषीद। एवं यजमानानामस्माकं यज्ञं निरुपद्रवं सञ्चालयेत्यर्थः।

अथ **तृतीयो** राजपरः। राजाप्यग्निरुच्यते, 'त्वामग्ने दम आ विश्पतिं विशस्त्वां राजानं सुविदत्रमृञ्जते' ऋ० २।१।८, 'अग्निर्होता गृहपतिः स राजा।' ऋ० ६।१५।१३ इत्यादिप्रामाण्यात्। हे **अग्ने** अग्रणीः राजन्! त्वम् **गृणानः** राजनियमान् शब्दयन् घोषयन्, **वीतये** राष्ट्रस्य प्रगतये, स्वप्रभावेन प्रजासु व्याप्तये, प्रजासु राष्ट्रियभावनाया विद्यान्यायादीनां च प्रजननाय, आभ्यन्तराणां बाह्यानां च शत्रूणां निरसनाय वा, **हव्यदातये** राष्ट्रहितार्थं देहं मनो राजकोषादिकं वा सर्वं किञ्चिद् हव्यं कृत्वा तस्य दातये उत्सर्जनाय च **आ याहि** आगच्छ। **होता** राष्ट्रयज्ञस्य निष्पादकः सन् **बर्हिषि** राज्यासने राजसभायां वा **नि सत्सि** निषीद॥ १॥

अत्र श्लेषालङ्कारः। 'तये, तये' इति छेकानुप्रासः॥ १॥

भावार्थः—यथा विद्वान् पुरोहितो यज्ञासने स्थित्वा यज्ञं संचालयति, यथा राजा राजसभायां स्थित्वा राष्ट्रमुन्नयति, तथैव परमात्माग्निरस्माकं हृदयान्तरिक्षे स्थित्वास्माकं महत् कल्याणं कर्तुं शक्नोतीत्यसौ सर्वैराह्वातव्यः। सर्वेषां जनानां हृदये पूर्वमेव विराजमानोऽपि परमात्मा जनैर्विस्मृतत्वाद-विद्यमानकल्प इति पुनरप्याहूयते। सर्वे जनाः स्वहृदि तस्य सत्तामनुभवेयुः, ततः सत्कर्मसु प्रेरणां च गृह्णीयुरित्याशयः॥ १॥

अब प्रथम प्रपाठक, प्रथम अर्ध की प्रथम दशति तथा प्रथम अध्याय का प्रथम खण्ड आरम्भ करते हैं।

---

१. यद्वा, (हव्यदातये) हव्यानां दातिः दानं यस्य स हव्यदातिः यजमानः इति बहुव्रीहिः, तस्मै (गृणानः) उपदिशन् त्वम् तस्य (वीतये) प्रगतये आयाहि इति योजना कार्या। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। यजमानो वै हव्यदातिः। श० १।४।१।२४

२. दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्ये (ऋ० ६।१६।१०) मन्त्रोऽयं विद्वत्पर एव व्याख्यातः—'(अग्ने) विद्वन्! (आ याहि) आगच्छ (वीतये) विद्यादिशुभगुणव्याप्तये (गृणानः) स्तुवन् (हव्यदातये) दातव्यदानाय (नि) (होता) दाता (सत्सि) समवैषि (बर्हिषि) उत्तमायां सभायाम्' इत्यादि।

प्रथम मन्त्र में अग्नि नाम से परमात्मा, विद्वान्, राजा आदि का आह्वान करते हुए कहते हैं।

अन्वित पदार्थ—प्रथम, परमात्मा के पक्ष में। हे (अग्ने) सर्वाग्रणी, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वसुख-प्रापक, सर्वप्रकाशमय, सर्वप्रकाशक परमात्मन्! आप (गृणानः) कर्तव्यों का उपदेश करते हुए (वीतये) हमारी प्रगति के लिए, हमारे विचारों और कर्मों में व्याप्त होने के लिए, हमारे हृदयों में सद्गुणों को उत्पन्न करने के लिए, हमसे स्नेह करने के लिए, हमारे अन्दर उत्पन्न काम-क्रोध आदि को बाहर फेंकने के लिए, और (हव्य-दातये) देय पदार्थ श्रेष्ठ बुद्धि, श्रेष्ठ कर्म, श्रेष्ठ धर्म, श्रेष्ठ धन आदि के दान के लिए (आ याहि) आइए। (होता) शक्ति आदि के दाता एवं दुर्बलता आदि के हर्ता होकर (बर्हिषि) हृदय-रूप अन्तरिक्ष में (नि सत्सि) बैठिए।

द्वितीय, विद्वान् के पक्ष में। विद्वान् भी अग्नि कहलाता है। इसमें 'विद्वान् अग्नि है, जो ऋत का संग्रहीता और सत्यमय होता है। ऋ० १।१४५।५।', 'विद्वान् अग्नि है, जो बल प्रदान करता है।' ऋ० ३।२५।२ इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं। हे (अग्ने) विद्वन्! (गृणानः) यज्ञविधि और यज्ञ के लाभों का उपदेश करते हुए आप (वीतये) यज्ञ को प्रगति देने के लिए, और (हव्य-दातये) हवियों को यज्ञाग्नि में देने के लिए (आ याहि) आइये। (होता) होम के निष्पादक होकर (बर्हिषि) कुशा से बने यज्ञासन पर (नि सत्सि) बैठिए। इस प्रकार हम यजमानों के यज्ञ को निरुपद्रव रूप से संचालित कीजिए।

तृतीय, राजा के पक्ष में। राजा भी अग्नि कहलाता है। इसमें 'हे नायक! तुम प्रजापालक, उत्तम दानी को प्रजाएँ राष्ट्रगृह में राजा रूप में अलंकृत करती हैं। ऋ० २।१।८, 'राजा अग्नि है, जो राष्ट्ररूप गृह का अधिपति और राष्ट्रयज्ञ का ऋत्विज् होता है।' ऋ० ६।१५।१३ इत्यादि प्रमाण है। हे (अग्ने) अग्रनायक राजन्! आप (गृणानः) राजनियमों को घोषित करते हुए (वीतये) राष्ट्र को प्रगति देने के लिए, अपने प्रभाव से प्रजाओं में व्याप्त होने के लिए, प्रजाओं में राष्ट्र-भावना और विद्या, न्याय आदि को उत्पन्न करने के लिए तथा आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं को परास्त करने के लिए, और (हव्य-दातये) राष्ट्रहित के लिए देह, मन, राजकोष आदि सर्वस्व को हवि बनाकर उसका उत्सर्ग करने के लिए (आ याहि) आइये। (होता) राष्ट्रयज्ञ के निष्पादक होकर (बर्हिषि) राज-सिंहासन पर या राजसभा में (नि सत्सि) बैठिए ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'तये, तये' में छेकानुप्रास है ॥१॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् पुरोहित यज्ञासन पर बैठकर यज्ञ को संचालित करता है, जैसे राजा राजसभा में बैठकर राष्ट्र की उन्नति करता है, वैसे ही परमात्मा रूप अग्नि हमारे हृदयान्तरिक्ष में स्थित होकर हमारा महान् कल्याण कर सकता है, इसलिए सबको उसका आह्वान करना चाहिए। सब लोगों के हृदय में परमात्मा पहले से ही विराजमान है, तो भी लोग क्योंकि उसे भूले रहते हैं, इस कारण वह उनके हृदयों में न होने के बराबर है। इसलिए उसे पुनः बुलाया जा रहा है। आशय यह है कि सब लोग अपने हृदय में उसकी सत्ता का अनुभव करें और उससे सत्कर्म करने की प्रेरणा ग्रहण करें ॥ १ ॥

स परमात्मैव सर्वेषां यज्ञानां होतास्तीत्युच्यते।

२. त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः।
देवेभिर्मानुषे जने ॥२॥[1]

१. ऋ० ६।१६।१। सा० १४४७। ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं जगदीश्वरपक्षे व्याख्यातवान्।

त्वम् अग्ने यज्ञानाम् । होता विश्वेषाम् हितः ॥
देवेभिः मानुषे जने ॥२॥

पदार्थः—हे **अग्ने** परमात्मन् ! **त्वम्** अतिशयमहिमान्वितः भवान् **विश्वेषाम्** सर्वेषाम् **यज्ञानाम्** उपासकैः क्रियमाणानां ध्यानयज्ञानाम् **होता** निष्पादकः ऋत्विग् असि, अतः **देवेभिः** देवैः, विद्वद्भिः । विद्वांसो हि देवाः । श० ३।७।३।१० । अत्र 'बहुलं छन्दसि' अ० ७।१।१० इति भिस ऐस्भावो न । **मानुषे** मनुष्यसम्बन्धिनि **जने** लोके **हितः** स्थापितः प्रचारितो भवसि । अत्र धा धातोर्निष्ठायां 'दधातेर्हिः' अ० ७।४।४२ इति हिभावः । मन्त्रोऽयं श्लेषेण सूर्यपक्षेऽपि योजनीयः । तथा च परमात्मा सूर्य इवेत्युपमाध्वनिः ॥२॥

भावार्थः—यथा सूर्यः सौरलोके सर्वेषाम् अहोरात्र-पक्ष-मास-ऋत्वयन-संवत्सरादियज्ञानां निष्पादको वर्तते, तथैव परमात्माऽध्यात्ममार्गालम्बिभिर्जनैरनुष्ठीयमानान् सर्वानन्तर्यज्ञान् निष्पाद्य तान् योगिनो जनान् कृतार्थयति । यथा च सूर्यो देवैः प्रकाशकैः स्वकीयैः किरणैर्मानुषे लोके पृथिव्यां निहितो जायते, तथैव परमात्मा देवैर्विद्वद्भिर्मनुष्यलोके प्रचार्यते ॥२॥

वह परमात्मा ही सब यज्ञों का निष्पादक है, यह कहते हैं ।

पदार्थ—हे (अग्ने) परमात्मन् ! (त्वम्) आप (विश्वेषाम्) सब (यज्ञानाम्) उपासकों से किये जाने वाले ध्यानरूप यज्ञों के (होता) निष्पादक ऋत्विज् हो, अतः (देवेभिः) विद्वानों के द्वारा (मानुषे) मनुष्यों के (जने) लोक में (हितः) स्थापित अर्थात् प्रचारित किये जाते हो ॥२॥

इस मन्त्र की श्लेष द्वारा सूर्य-पक्ष में भी अर्थ-योजना करनी चाहिए । तब परमात्मा सूर्य के समान है यह उपमा ध्वनित होगी ॥२॥

भावार्थ—जैसे सूर्य सौर-लोक में सब अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, दक्षिणायन, उत्तरायण, वर्ष आदि यज्ञों का निष्पादक है, वैसे ही परमात्मा अध्यात्ममार्ग का अवलम्बन करनेवाले जनों से किये जाते हुए सब आन्तरिक यज्ञों को निष्पन्न करके उन योगी जनों को कृतार्थ करता है । और जैसे सूर्य अपनी प्रकाशक किरणों से मनुष्य-लोक में अर्थात् पृथिवी पर निहित होता है, वैसे ही परमात्मा विद्वानों से मनुष्य-लोक में प्रचारित किया जाता है ॥२॥

स परमात्माऽस्माभिर्दूतत्वेन वरणीय इत्याह ।

३. अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥३॥[1]
अग्निम् दूतम् वृणीमहे । होतारम् विश्ववेदसम्
विश्व वेदसम् ॥ अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् सु क्रतुम् ॥३॥

पदार्थः—वयम् **होतारम्** दिव्यगुणानाम् आह्वातारम् । होतारं ह्वातारम् इति निरुक्तम् ७।१५। अत्र ह्वेञ् धातोस्तृन्, 'बहुलं छन्दसि' अ० ६।१।३४ इति सम्प्रसारणम् । **विश्ववेदसम्** विश्वं वेत्ति जानातीति विश्ववेदाः सर्वज्ञः, यद्वा विश्वस्मिन् विद्यते यः स विश्ववेदाः सर्वव्यापकः, यद्वा विश्वं वेदः आध्यात्मिकं भौतिकं च धनं यस्मात् स विश्ववेदाः, तम् । विद ज्ञाने । विद सत्तायाम् । वेद इति

१. ऋ० १।१२।१ । साम० ७६० । अथर्व० २०।१०१।१

धननाम । निघं० २।१०। किञ्च, **अस्य** एतस्य अनुष्ठीयमानस्य **यज्ञस्य** अध्यात्मयागस्य **सुक्रतुम्** सुकर्माणं, सुसञ्चालकम् ऋत्विग्रूपम् । क्रतुरिति कर्मनाम । निघं० २।१ । अत्र सोरुत्तरः क्रतुशब्दः 'क्रत्वादयश्च' अ० ६।२।११८ इत्याद्युदात्तः । **अग्निम्** परमात्मानम् **दूतं वृणीमहे** दिव्यगुणावतारे दूतत्वेन स्वीकुर्मः ॥३॥[1]

भावार्थः—यथा हि दूतत्वेन वृतः कश्चिज्जनोऽस्माकं सन्देशं प्रियजनसमीपं नीत्वा, प्रियजनस्य च सन्देशमस्मान् प्रति प्रापय्य तेनास्माकं समागमं कारयति, तथैव सत्याहिंसास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहन्याय-विद्याश्रद्धासुमतीत्यादिदिव्यगुणगणानामस्माकं च मध्ये दौत्यं विधाय परमात्माऽस्मान् प्रति दिव्यगुणा-नाह्वयतीत्यसौ सर्वैरेवोपासकैर्दूतत्वेन वरणीयः ॥३॥

वह परमेश्वर हमारे द्वारा दूत रूप में वरण करने योग्य है यह कहते हैं।

पदार्थ—हम (होतारम्) दिव्य गुणों का आह्वान करनेवाले, (विश्ववेदसम्) विश्व के ज्ञाता, विश्व-भर में विद्यमान तथा सब आध्यात्मिक एवं भौतिक धन के स्रोत, (अस्य) इस अनुष्ठान किये जा रहे (यज्ञस्य) अध्यात्म-यज्ञ के (सुक्रतुम्) सुकर्ता, सुसंचालक ऋत्विज्रूप (अग्निम्) परमात्मा को (दूतं वृणीमहे) दिव्य गुणों के अवतरण में दूत रूप से वरते हैं ॥३॥

भावार्थ—जैसे दूत रूप में वरा हुआ कोई जन हमारे सन्देश को प्रियजन के समीप ले जाकर और प्रियजन के सन्देश को हमारे पास पहुँचाकर उसके साथ हमारा मिलन करा देता है, वैसे ही सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, न्याय, विद्या, श्रद्धा, सुमति इत्यादि दिव्य गुणों के और हमारे बीच में दूत बनकर परमात्मा हमारे पास दिव्य गुणों को बुलाकर लाता है, इसलिए सब उपासकों को उसे दूत रूप में वरण करना चाहिए ॥३॥

वृतः परमात्मा पापानि भृशं हन्यादिति प्रार्थ्यते ।

४. अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया ।
समिद्धः शुक्र आहुतः ॥४॥[2]

अग्निः वृत्राणि जङ्घनत् । द्रविणस्युः विपन्यया ॥
समिद्धः सम् इद्धः शुक्रः आहुतः आ हुतः ॥४॥

पदार्थः—**द्रविणस्युः** उपासकानां द्रविणः आध्यात्मिकं धनं बलं वा कामयमानः । द्रविणम् इति धननामसु बलनामसु च पठितम् । निघं० २।१०, २।९ । एष शब्दः सकारान्तोऽपि वेदे प्रयुज्यते, यथा 'द्रविणोदाः' इत्यत्र । द्रविणः परेषां कामयते इति द्रविणस्युः । 'छन्दसि परेच्छायामिति वक्तव्यम्' । अ० ३।१।८ वा० इति परेच्छायां क्यच् । क्याच्छन्दसि' अ० ३।२।१७० इत्युप्रत्ययः । 'दुरस्युर्द्रविणस्यु-र्वृषण्यतिरिषण्यति' । अ० ७।४।३६ इति सकारस्य रुत्वाभावो निपात्यते ।[3] **अग्निः** तेजोमयः परमात्मा

१. ऋग्वेदेऽयं मन्त्रो दयानन्दर्षिणा कलायन्त्राणां प्रेरणहेतुर्यानिषु वेगादिक्रियानिमित्तं यो भौतिकोऽग्निस्तत्पक्षे व्याख्यातः ।

२. ऋ० ६।१६।३४। य० ३३।९। साम० १३९६।
दयानन्दर्षिणा 'अग्नि' शब्दाद् ऋग्वेदे विद्युद्रूपोऽग्निः, यजुर्वेदे च सूर्यादिरूपोऽग्निर्गृहीतः ।

३. द्रविणशब्दस्य द्रविणस्भावो निपात्यते इति काशिकावृत्तिः । सायणोऽप्यत्र क्यचि सुगागम इत्याह । 'द्रविणं धनं, स्यु प्रत्ययो मतुबर्थे, द्रविणवानित्यर्थः । अथवा द्रविणं हविर्लक्षणं धनम् तदिच्छुः द्रविणस्युः हविष्काम इत्यर्थः' इति विवरण-कारः । 'द्रविणः धनम्, हविर्लक्षणं धनं कामयमानः ।···द्रविणः शब्दः सकारान्तश्च विद्यते' इति भरतस्वामी । 'द्रविणस्युः द्रविणो धनमिच्छति द्रविणस्यति···हविर्लक्षणं धनमिच्छन्' इति य० ३३।९ भाष्ये महीधरः । 'द्रविणस्युः आत्मनो द्रविण इच्छुः, इति ऋ० ६।१६।३४ भाष्ये दयानन्दः । एवं भरतस्वामिमहीधरदयानन्दाः सकारान्तत्वेनैव व्याचख्युः ।

विपन्यया विशेषस्तुत्या । पनतिरर्चतिकर्मा निघं० ३।१४। पण व्यवहारे स्तुतौ च । **समिद्धः** संदीप्तः, **शुक्रः** ज्वलितः । शोचतिः ज्वलतिकर्मा । निघं० १।१६। **आहुतः** उपासकानाम् आत्माहुत्या परिपूजितः सन् **वृत्राणि** अध्यात्मप्रकाशाच्छादकानि पापानि । पाप्मा वै वृत्रः । श० ११।१।५।७ **जङ्घनत्** भृशं पुनः पुनर्हन्यात् । यङ्लुगन्ताद् हन्तेः लिङर्थे लेट् ॥४॥

श्लेषेण मन्त्रोऽयं यज्ञाग्निपक्षेऽपि योजनीयः ॥४॥

भावार्थः—याज्ञिकैर्जनैर्हविर्भिराहुतः समिद्धो यज्ञाग्निर्यथा रोगादीन् नितरां विनाशयति तथा परमात्माग्निर्योगाभ्यासिभिर्जनैर्हार्दिकस्तुत्या हृदये भूयो भूयः संदीपितः प्राणेन्द्रियात्ममनोबुद्ध्यादि-हविर्भिराहुतः संस्तेषां पापविचारान् सर्वथा निर्मूलयति ॥४॥

वरण किया हुआ परमात्मा पापों को सर्वथा नष्ट कर दे, यह प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ—(द्रविणस्युः) उपासकों को आध्यात्मिक धन और बल देने का अभिलाषी (अग्निः) तेजोमय परमात्मा (विपन्यया) विशेष स्तुति से (समिद्धः) संदीप्त, (शुक्रः) प्रज्वलित, और (आहुतः) उपासकों की आत्माहुति से परिपूजित होकर (वृत्राणि) अध्यात्म-प्रकाश के आच्छादक पापों को (जङ्घनत्) अतिशय पुनः-पुनः नष्ट कर दे ॥४॥

श्लेष से यज्ञाग्नि-पक्ष में भी इस मन्त्र की अर्थ-योजना करनी चाहिए ॥४॥

भावार्थ—याज्ञिक जनों द्वारा हवियों से आहुत प्रदीप्त यज्ञाग्नि जैसे रोग आदिकों को निःशेष रूप से विनष्ट कर देता है, वैसे ही परमात्मा-रूप अग्नि योगाभ्यासी जनों के द्वारा हार्दिक स्तुति से बार-बार संदीप्त तथा प्राण, इन्द्रिय, आत्मा, मन, बुद्धि आदि की हवियों से आहुत होकर उनके पाप-विचारों को सर्वथा निर्मूल कर देता है ॥४॥

तं परमात्मानमहं स्तौमीत्याह ।

५. **प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम् ।**
अग्ने रथं न वेद्यम् ॥५॥[1]

प्रेष्ठम् वः अतिथिम् । स्तुषे मित्रम् मि त्रम् इव प्रियम् ॥
अग्ने रथम् न वेद्यम् ॥५॥

पदार्थः—हे **अग्ने** अग्रणीः परमात्मन् ! **प्रेष्ठम्** प्रियतमम् । प्रियशब्दाद् इष्ठनि 'प्रियस्थिर०' अ० ६।४।१५७ इति प्रियस्य प्रादेशः । **अतिथिम्** अभ्यागतरूपम् **मित्रम् इव** सुहृदमिव **प्रियम्** प्रेमास्पदम्, **रथं न** यानमिव । अत्र 'न' इत्युपमार्थीयः । यथाह निरुक्तकारः—उपरिष्टादुपचारस्तस्य येनोपमिमीते इति । निरु० १।४। **वेद्यम्**[2] प्राप्यम् । विद्लृ लाभे इति धा.तोर्ण्यत् प्रत्ययः । **वः**[3] त्वाम् । अहम् **स्तुषे** स्तौमि । ष्टुञ् स्तुतौ इत्यस्माल्लेटि 'सिब्बहुलं लेटि' अ० ३।१।३४ इति सिपि उत्तमैकवचने रूपम् ॥५॥

१. ऋ० ८।८४।१ 'अग्ने' इत्यस्य स्थाने 'अग्निं' इति पाठः । साम १२४४।

२. 'कीदृशम् अग्निम् ? उच्यते । वेद्यं वेदनार्हम्, ज्ञानार्हमित्यर्थः' इति विवरणकारः । 'रथमिव वेद्यं लम्भनीयम्' इति भरत-स्वामी । 'वेद्यम् । वेदो धनं, धनहितं लाभहेतुं, यथा धनेन रथं लभते तद्वत् स्तोतारो ऽनेन धनं लभन्ते, तादृशधनलाभ-कारणम्' इति सा० ।

३. बहुवचनमिदमेकवचनस्य स्थाने द्रष्टव्यम्' इति वि० । 'वः इति वचनव्यत्ययः, त्वामित्यर्थः' इति भ० । 'वः त्वाम्, पूजार्थे बहुवचनम्' इति सा० । यद्यपि 'बहुवचनस्य वस्नसौ । अ० ८।१।२१' इत्युक्तम्, तथापि छन्दसि एकवचनस्यापि भवतः, बहुत्र तथा प्रयोगदर्शनात् ।

अत्र 'मित्रमिव प्रियम्', 'रथं न वेद्यम्' इत्युभयत्रोपमालङ्कारः। अग्नौ अतिथित्वारोपाच्च रूपकम् ॥५॥

पदार्थः—सुहृद् यथा सर्वेषां प्रियो भवति, तथोपासकानां परमात्मा प्रियः। किञ्च, रथो यथा गन्तव्यस्थानं गन्तुं लब्धव्यो भवति, तथैव परमात्मा प्रेयोमार्गस्य श्रेयोमार्गस्य च लक्ष्यम् ऐहिकपारलौकिकोत्कर्षम् अधिगन्तुं सर्वैः प्राप्तव्यः स्तोतव्यश्च। अपिच, हृत्प्रदेशे विद्यमानः परमात्मा साक्षाद् गेहं समायातः प्रेष्ठोऽतिथिरेव। अतः सोऽतिथिवत् सत्करणीयः ॥५॥

उस परमात्मा की मैं स्तुति करता हूँ, यह कहते हैं।

पदार्थ—हे (अग्ने) अग्रणी परमात्मन्! (प्रेष्ठम्) सबसे अधिक प्रिय (अतिथिम्) अतिथिरूप, (मित्रम् इव) मित्र के समान (प्रियम्) प्रिय, (रथं न) रथ के समान, (वेद्यम्) प्राप्तव्य (वः) आपकी, मैं (स्तुषे) स्तुति करता हूँ ॥५॥

यहाँ 'मित्र के समान प्रिय' और 'रथ के समान प्राप्तव्य' में उपमालंकार है। अग्नि में अतिथित्व के आरोप में रूपक है ॥५॥

भावार्थ—मित्र जैसे सबको प्रिय होता है, वैसे परमात्मा उपासकों को प्रिय है। रथ जैसे गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिए प्राप्तव्य होता है, वैसे ही परमात्मा प्रेय-मार्ग और श्रेय-मार्ग के लक्ष्यभूत ऐहिक और पारलौकिक उत्कर्ष को पाने के लिए सबसे प्राप्त करने योग्य तथा स्तुति करने योग्य है। हृदयप्रदेश में विद्यमान परमात्मा साक्षात् घर में आया हुआ सबसे अधिक प्रिय अतिथि ही है, अतः वह अतिथि के समान सत्कार करने योग्य है ॥५॥

परमात्माऽस्मान् कस्माद् रक्षेदित्याह।

६. त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अरातेः।
उत द्विषो मर्त्यस्य ॥६॥[1]

त्वम् नः अग्ने महोभिः। पाहि विश्वस्याः अरातेः अ रातेः॥
उत द्विषः मर्त्यस्य ॥६॥

पदार्थः—हे **अग्ने** सर्वनायक तेजःस्वरूप परमात्मन्! **त्वम्** जगदीश्वरः **महोभिः** त्वदीयतेजोभिः **विश्वस्याः** सर्वस्याः **अ-रातेः**[2] न रातिः अरातिः अदानभावना शत्रुता वा तस्याः। रा दाने, भावे क्तिन्। नञ्तत्पुरुषेऽव्ययस्वरेणाद्युदात्तत्वम्। शत्रुवाचकोऽरातिशब्दः पुंसि, अदानभावनावाचकः शत्रुतावाचको वा स्त्रियामिति बोध्यम्। **उत** अपि च **मर्त्यस्य** मनुष्यस्य **द्विषः** द्वेषात्। द्विष अप्रीतौ इति धातोर्भावे क्विप्। **नः** अस्मान् **पाहि** रक्ष ॥६॥

मन्त्रोऽयं श्लेषेण राजपक्षे विद्वत्पक्षे चापि योजनीयः ॥६॥

भावार्थः—अदानवृत्तिग्रस्तो हि मानवः स्वोदरंभरिः सन् सर्वदा स्वार्थायैव यतते। तेन न कदापि सामाजिक्याध्यात्मिकी चोन्नतिः संभवति। दानपरोपकारयोर्मैत्र्याश्च भावनयैव पारस्परिकसहयोगेन

१. ऋ० ८।७१।१।

२. 'अरातिः शत्रुः। स्त्रीलिङ्गनिर्देशो जात्यपेक्षः। सर्वस्याः शत्रुजातेः सकाशाद्' इति वि०। 'अरातेः सपत्नात्। अरातिशब्द छन्दसि स्त्रीलिंगः। अर्तेरराति:, अभिहन्ता' इति भ०। 'विश्वस्याः बहुविधात् अरातेः अदातुः सकाशात् अदानाद् वा' इति सा०।

लक्ष्यपूर्तिर्भवितुमर्हति। अतो हे जगदीश्वर राजन् विद्वन् वा ! त्वं नः स्वतेजोभिः, स्वकीयक्षत्रप्रतापैः, स्वविद्याप्रतापैर्वा सर्वस्या अदानवृत्तेः शत्रुतायाश्च पाहि। किञ्च, यो मर्त्योऽस्मान् द्वेष्टि द्वेषबुद्धया चास्मदीयप्रगतौ विघ्नमुत्पादयति तस्य द्वेषादप्यस्मान् रक्ष, येन सूत्रे मणिगणा इव परस्परं सांमनस्ये प्रोता वयमुन्नता भवेम ॥६॥

परमात्मा हमारी किससे रक्षा करे, यह कहते हैं।

पदार्थ—हे (अग्ने) सबके नायक तेजःस्वरूप परमात्मन् ! (त्वम्) जगदीश्वर आप (महोभिः) अपने तेजों से (विश्वस्याः) सब (अ-रातेः) अदान-भावना और शत्रुता से, (उत) और (मर्त्यस्य) मनुष्य के (द्विषः) द्वेष से (नः) हमारी (पाहि) रक्षा कीजिए ॥६॥

इस मन्त्र की श्लेष द्वारा राजा तथा विद्वान् के पक्ष में भी अर्थ-योजना करनी चाहिए ॥६॥

भावार्थ—अदानवृत्ति से ग्रस्त मनुष्य अपने पेट की ही पूर्ति करनेवाला होकर सदा स्वार्थ ही के लिए यत्न करता है। उससे कभी सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। दान और परोपकार की तथा मैत्री की भावना से ही पारस्परिक सहयोग द्वारा लक्ष्यपूर्ति हो सकती है। अतः हे जगदीश्वर, हे राजन् और हे विद्वन् ! आप अपने तेजों से, अपने क्षत्रियत्व के प्रतापों से और अपने विद्या-प्रतापों से सम्पूर्ण अदान-भावना तथा शत्रुता से हमारी रक्षा कीजिए। और, जो मनुष्य हमसे द्वेष करता है तथा द्वेषबुद्धि से हमारी प्रगति में विघ्न उत्पन्न करता है उसके द्वेष से भी हमारी रक्षा कीजिए, जिससे सूत्र में मणियों के समान परस्पर सांमनस्य में पिरोये रहते हुए हम उन्नत होवें ॥६॥

तं परमात्मानमहं वेदवाग्भिः स्तौमीत्याह।

२ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ १२३ १२
७. एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः।
३ १ २ ३ १ २
एभिर्वर्धास इन्दुभिः ॥७॥[1]

२ ३ २ १२१ ३ १२१ ३ २ १२१ १२१
आ इहि उ सु ब्रवाणि ते। अग्ने इत्था इतराः गिरः ॥
३ २ ३ १२१
एभिः वर्धसे इन्दुभिः ॥७॥

पदार्थः—हे **अग्ने** परमात्मन् ! **आ इहि उ** आ याहि तावन्मदीये हृत्प्रदेशे। संहितायाम् ऊ इत्यत्र 'इकः सुञि' अ० ६।३।१३४ इति दीर्घः। अहम् **ते** तुभ्यम् **इत्था** सत्यभावेन। इत्थेति सत्यनाम। निघं० ३।१०। **इतराः**[2] सामान्यविलक्षणाः[3] **गिरः** वेदवाचः **सु** सम्यक्, पूर्णमनोयोगेनेति भावः। संहितायाम् 'सुञः' अ० ८।३।१०७ इति षत्वम्। **ब्रवाणि** वदानि, वेदवाग्भिस्त्वां स्तवानीत्यर्थः। त्वम् **एभिः** एतैः मया समर्प्यमाणैः **इन्दुभिः** भावभरितैर्भक्तिरसरूपैः सोमैः। इन्दुरिति सोम उच्यते। 'सोमो वा इन्दुः'। श० २।२।३।२३। **वर्धासे** वर्धस्व, आप्यायितो भव। इन्दुशब्दस्य श्लिष्टत्वात् यथा चन्द्रकिरणैः समुद्रा वनस्पतयश्च वर्धन्ते तथेति ध्वन्यते। वृधु वृद्धौ इति धातोर्लेटोऽडाटौ' अ० ३।४।९४ इत्याडागमः ॥७॥

१. ऋ० ६।१६।१६। य० २६।१३। साम० ७०५। दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च विद्वत्पक्षे व्याख्यातः।

२. 'इत्था सत्या इत्यर्थः। इतरा अन्या असत्याः' इति वि०। 'इत्था इति निपातः अमुत्रेत्यर्थे च वर्तते। अत्र तु दूरस्य लक्षणा। दूरे सन्तिवति शेषः। इतरा गिरः शत्रूणां सम्बन्धिन्यः दुष्कृता इत्यर्थः। 'असुर्या ह वा इतरा गिरः' (ऐ० ब्रा० ३।४९) इति ह्यैतरेयकम्' इति भ०। 'इत्था इत्थम् अनेन प्रकारेण सुष्ठु ब्रवाणि इत्याशास्यते। ताः स्तुतीः शृण्वित्यर्थः। उ इत्येताः इतराः असुरैः कृताः स्तुतीः शृण्वित शेषः' इति सा०।

३. Other; diffrent, that is, more excellent—Griffith.

भावार्थः—मनुष्यकृता वाचः सामान्याः, वेदवाचस्तु परमेश्वरकृतत्वात् तद्विलक्षणाः। तासु प्रत्येकं पदं साभिप्रायं विविधार्थप्रकाशकं च। उपासका जनाश्चेत् ताभिर्गीर्भिः परमात्मानं भजेरन् तं प्रति स्वकीयान् भक्तिरससोमांश्च प्रवाहयेयुस्तदाऽसौ चन्द्रकिरणैः समुद्रवनस्पत्यादिरिव तैः सोमरसैस्तृप्तिं नीतस्तेषां हृदये परमां वृद्धिं गतस्तान् कृतकृत्यान् विदध्यात् ॥७॥

उस परमात्मा की मैं वेदवाणियों से स्तुति करता हूँ, यह कहते हैं।

पदार्थ—हे (अग्ने) परमात्मन् ! आप (आ इहि उ) मेरे हृदय-प्रदेश में आइये। मैं (ते) आपके लिए (इत्था) सत्य भाव से (इतराः) सामान्य-विलक्षण (गिरः) वेदवाणियों को (सु) सम्यक् प्रकार से, पूर्ण मनोयोग से (ब्रवाणि) बोलूँ, अर्थात् वेदवाणियों से आपकी स्तुति करूँ। आप (एभिः) इन मेरे द्वारा समर्पित किये जाते हुए (इन्दुभिः) भावपूर्ण भक्तिरस-रूप सोमरसों से (वर्धासे) वृद्धि को प्राप्त करें। जैसे चन्द्र-किरणों से समुद्र और वनस्पति बढ़ते हैं, यह ध्वनित होता है, क्योंकि इन्दु चन्द्र-किरणों का भी वाचक होता है ॥७॥

भावार्थ—मनुष्यकृत वाणियाँ सामान्य होती हैं, पर वेदवाणियाँ परमेश्वरकृत होने के कारण उनसे विलक्षण हैं। उनमें प्रत्येक पद साभिप्राय तथा विविध अर्थों का प्रकाशक है। उपासक लोग यदि उन वाणियों से परमात्मा को भजें और उसके प्रति अपने भक्तिरस-रूप सोमरसों को प्रवाहित करें, तो वह चन्द्र-किरणों से जैसे समुद्र, वनस्पति आदि बढ़ते हैं, वैसे उन भक्तिरसों से तृप्त होकर उन उपासकों के हृदय में अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त करके उन्हें कृतकृत्य कर दे ॥७॥

अहं परमात्मनि त्वयि प्रेम बध्नामीत्याह।

८. **आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात्।**
अग्ने त्वां कामये गिरा ॥८॥[1]

आ ते वत्सः मनः यमत्। परमात् चित् सधस्थात् सध स्थात्॥
अग्ने त्वाम् कामये गिरा ॥८॥

पदार्थः—हे **अग्ने** जगत्पितः परमात्मन् ! **ते** तव **वत्सः**[2] प्रियः पुत्रोऽयम् **परमात् चित्** सुदूरादपि **सधस्थात्** प्रदेशात्। सह तिष्ठन्ति जनाः पदार्था वा यत्र स सधस्थः सहस्थानं तस्मात्। 'सधमादस्थयोश्छन्दसि' अ० ६।३।९६ इति सहस्य सधादेशः। **मनः** मानसम् **आ यमत्** आयच्छति, आसमन्तादानीय त्वयि केन्द्रितं करोति। अहं तव वत्सस्त्वयि मनः केन्द्रयामीति भावः। यमद् इति यमु उपरमे धातोर्लेटिरूपम्। 'बहुलं छन्दसि' अ० २।४।७३ इति शपो लुकि धातोर्यच्छादेशो न। ततश्च त्वयि केन्द्रितमानसोऽहम् **गिरा** स्तुतिवाचा **त्वाम्** परमात्मानम् **कामये** अभिलषामि, त्वत्प्रेमबद्धो भवामीति भावः ॥८॥

भावार्थः—यदा मानवः सांसारिकविषयाणां निःसारतां पश्यति तदा दूरात् सुदूरेषु भूप्रदेशेषु लोक-लोकान्तरेषु च भ्राम्यत् स्वकीयं मनः सर्वेभ्योऽपि प्रदेशेभ्यः प्रतिनिवर्त्य परमात्मन्येव संलगयति,

१. ऋ० ८।११।७, 'कामये' इत्यस्य स्थाने 'कामया' इति पाठः। य० १२।११५। साम० ११६६। यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं 'मनुष्यैः सदैव मनः स्ववशं विधेयं वाणी च' इति विषये व्याख्यातवान्।

२. ऋचोऽस्या द्रष्टा ऋषिरपि वत्स एव। तत्तु तस्य न वास्तविकं नाम, किन्तु मन्त्रवर्णनसौन्दर्याकृष्टः स स्वकीयम् उपनाम वत्स इति चक्रे। तेनैव नाम्ना स प्रसिद्धिं गत इति बोध्यम्।

गिरा च परमात्मन एव गुणधर्मान् मुहुर्मुहुः स्तौति, तत्प्रेमपरिप्लुतहृदयश्च सकलाया धरित्र्या राज्यमपि तत्समक्षं तुच्छं गणयति ॥८॥

मैं तुझ परमात्मा में अपना प्रेम बाँधता हूँ, यह कहते हैं।

पदार्थ—हे (अग्ने) जगत्पिता परमात्मन् ! (ते) तेरा (वत्सः) प्रिय पुत्र (परमात् चित्) सुदूरस्थ भी (सधस्थात्) प्रदेश से (मनः) अपने मन को (आयमत्) लाकर तुझ में केन्द्रित कर रहा है। अर्थात् मैं तेरा प्रिय पुत्र तुझमें मन को केन्द्रित कर रहा हूँ। मैं (गिरा) स्तुति-वाणी से (त्वाम्) तुझ परमात्मा की (कामये) कामना कर रहा हूँ, अर्थात् तेरे प्रेम में आबद्ध हो रहा हूँ ॥८॥

भावार्थ—जब मनुष्य सांसारिक विषयों की निःसारता को देख लेता है, तब दूर-से-दूर भू-प्रदेशों में भटकते हुए अपने मन को सभी प्रदेशों से लौटा कर परमात्मा में ही संलग्न कर लेता है और वाणी से परमात्मा के ही गुण-धर्मों का बारम्बार स्तवन करता है और उसके प्रेम से परिप्लुत हृदयवाला होकर सम्पूर्ण पृथिवी के भी राज्य को उसके समक्ष तुच्छ गिनता है ॥८॥

योगिनः परमात्मानं मूर्धपुण्डरीके प्रकटयन्तीत्युच्यते।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
९. त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत।
३ १ २ ३ १ २
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥९॥[1]

२ ३ १ २ १ २ १ २ ३
त्वाम् अग्ने पुष्करात् अधि। अथर्वा निः अमन्थत॥
२ १ २ ३ १ २
मूर्ध्नः विश्वस्य वाघतः ॥९॥

पदार्थः—हे **अग्ने** तेजःस्वरूप परमात्मन् ! **अथर्वा** न थर्वति चलति यः सः, स्थितप्रज्ञो योगीत्यर्थः। 'थर्वतिश्चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः' निरु० ११।१९। **त्वाम्** भवन्तम् **विश्वस्य** सकलस्य ज्ञानस्य **वाघतः** वाहकात् वाहके इति यावत्। वह प्रापणे इति णिजन्ताच्छतरि हस्य घत्वं छान्दसम्। (पुष्करात् मूर्ध्नः अधि) पुण्डरीकतुल्ये मस्तिष्के। पुष्करम् अन्तरिक्षं, पोषति भूतानि···इदमपि इतरत् पुष्कर-मेतस्मादेव, पुष्करं वपुष्करं वा। निरु० ५।१३। अधियोगे पञ्चमी। **निरमन्थत** मथित्वा जनयति। उक्तं च श्वेताश्वतरे—"स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥" श्वेता० २।१४। इति। 'पुष्करपर्णाश्रयेण हि अग्निरुत्पन्नः' इत्यस्याः कथाया अयमेव मन्त्रो मूलम्। यथोच्यते—'त्वामग्ने पुष्करादधीत्याह पुष्करपर्णे ह्येनमुपश्रितमन्वविन्दत्। तै० सं० ५।१।४।४। इति ॥९॥[2]

भावार्थः—यथा खल्वरणिमन्थनेन यज्ञवेदिपुण्डरीके यज्ञाग्निरुत्पाद्यते, तथैव स्थिरप्रज्ञैर्योगिभि-र्ध्यानरूपेण मन्थनेन मूर्धपुण्डरीके परमात्माग्निः प्रकटीकरणीयः ॥९॥

विवरणकारस्त्वाह—"अत्रेतिहासमाचक्षते। सर्वमिदमन्धं तम आसीत्। अथ मातरिश्वा वायुः आकाशे सूक्ष्ममग्निमपश्यत्। स तममथ्नात् अथर्वा च ऋषिरिति"। एष च तन्मन्त्रभाष्यस्य सारः—हे

१. ऋ० ६।१६।१३। य० १५।२२ (ऋषिः परमेष्ठी)।

२. दयानन्दर्षिणा ऋग्वेदभाष्ये यजुर्वेदभाष्ये चायं मन्त्रः सूर्यादेः सकाशाद् विद्युद्ग्रहणपरो व्याख्यातः। यथा—ऋ० ६।१६।१३ मन्त्रभाष्ये भावार्थः—"हे विद्वांसो, यथा पदार्थविद्याविदो जनाः सूर्यादेः सकाशाद् विद्युतं गृहीत्वा कार्याणि साध्नुवन्ति तथैव यूयमपि साध्नुत" इति। य० १५।२२ मन्त्रभाष्ये च भावार्थः—"मनुष्यैर्विद्वदनुकरणेनाकाशात् पृथिव्याश्च विद्युतं संगृह्याश्चर्याणि कर्माणि साधनीयानि।" इति।

अग्ने, अथर्वा ऋषिः त्वां मूर्धनः प्रधानभूतात्, पुष्करात् अन्तरिक्षात्, विश्वस्य सर्वस्य, वाघतः ऋत्विजो यजमानस्य अर्थाय निरमन्थत नितरां मथितवानिति। वस्तुतस्त्वयं सृष्ट्युत्पत्तिप्रक्रियायाम् अग्नेर्जन्मन इतिहासः। 'आकाशाद् वायुः, वायोरग्निरित्युत्पत्तिक्रमः। आकाशे सूक्ष्मरूपेणाग्निर्विद्यमान आसीत्। तम् अथर्वा परमेश्वरः पूर्वोत्पन्नो वायुश्च तस्मान्निरमन्थत प्रकटीकृतवानित्यभिप्रायो ग्राह्यः।

"मूर्धनो धारकात् विश्वस्य वाघतः निर्वाहिकात्, पुष्कराद् अन्तरिक्षात्, पुष्करपर्णादित्यपरे' इति भरतस्वामिभाष्याशयः। 'हे अग्ने, अथर्वा एतत्संज्ञ ऋषिः, मूर्ध्नः मूर्धवद्धारकात्, विश्वस्य सर्वस्य जगतः, वाघतः वाहकात्, पुष्कराद् अधि पुष्करे पुष्करपर्णे त्वां निरमन्थत अरण्योः सकाशादजनयदिति सायणीयोऽभिप्रायः। अत्रापि पुष्करपर्णं न कमलपत्रं, किन्तु यज्ञवेद्या आकाशः, अथर्वा च स्थिरचित्तत्वेन यज्ञं कुर्वाणो यजमानः, असौ अरण्योः सकाशादग्निं जनयतीति तात्पर्यं बोध्यम्।

उवटस्तु य० ११।३२ भाष्ये 'आपो वै पुष्करं प्राणोऽथर्वा। श० ६।४।२।२।' इति शातपथीं श्रुतिं प्रमाणीकृत्य 'त्वां हे अग्ने, पुष्कराद् उदकात् अधि सकाशात् अथर्वा अतनवान् प्राणो निरमन्थत निर्जनितवान्' इति व्याचष्टे। तदेव महीधरस्याभिप्रेतम्। तत्र प्राणः प्राणवान् परमेश्वरो विद्वान् वा, उदकानि पर्जन्यस्थानि, अग्निश्च विद्युदिति विज्ञेयम्। यद्वा, शरीरस्थः प्राणो भुक्तपीतेभ्यो रसेभ्यो जीवनाग्निं जनयतीति तात्पर्यं बोध्यम्। महीधरेण द्वितीयो वैकल्पिकोऽर्थः पुष्करपर्णेऽग्निमन्थनपर एव कृतः। भाष्यकारैस्तात्पर्यप्रकाशनं विनैव कथा लिखिता याः पाठकानां भ्रमोत्पत्तिनिमित्तं संजाताः।

वस्तुतस्तु अथर्वनाम्नः कस्यचिद् ऋषेरितिहासोऽस्मिन् मन्त्रे नास्ति, वेदमन्त्राणामीश्वरप्रोक्तत्वात् सृष्ट्यादौ प्रादुर्भूतत्वात् पश्चाद्वर्तिनाम् ऋष्यादीनां कार्यकलापस्य पूर्ववर्तिनि वेदेऽसंभवत्वाच्च॥९॥

अगले मन्त्र में योगीजन परमात्मा को मस्तिष्क-पुण्डरीक में प्रकट करते हैं, यह विषय है।

पदार्थ—हे (अग्ने) तेजःस्वरूप परमात्मन्! (अथर्वा) चलायमान न होनेवाला स्थितप्रज्ञ योगी (त्वाम्) आपको (विश्वस्य) सकल ज्ञानों के (वाहकात्) वाहक (पुष्करात् मूर्ध्नः अधि) कमलाकार मस्तिष्क में (निरमन्थत) मथकर प्रकट करता है।

परमात्मा रूप अग्नि को मथकर प्रकट करने की प्रक्रिया बताते हुए श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है—"अपने आत्मा को निचली अरणी बनाकर और ओंकार को उपरली अरणी बनाकर ध्यान-रूप मन्थन के अभ्यास से छिपे हुए परमात्मा-रूप अग्नि को प्रकट करे (श्वेता० २।१४)" कमल के पत्ते (पुष्करपर्ण) के ऊपर अग्नि उत्पन्न हुआ था, यह कथा इसी मन्त्र के आधार पर रच ली गयी है॥९॥

भावार्थ—जैसे अरणियों के मन्थन से यज्ञवेदि-रूप कमलपत्र के ऊपर यज्ञाग्नि उत्पन्न की जाती है, वैसे ही स्थितप्रज्ञ योगियों को ध्यान-रूप मन्थन से कमलाकार मस्तिष्क में परमात्मा-रूप अग्नि को प्रकट करना चाहिए॥९॥[1]

विवरणकार माधव ने इस मन्त्र के भाष्य में यह इतिहास लिखा है—"सर्वत्र घोर अंधकार छाया हुआ था। तब मातरिश्वा वायु को आकाश में सूक्ष्म अग्नि दिखाई दी। उसने और अथर्वा ऋषि ने उस अग्नि को मथकर प्रकट किया।" उसका किया हुआ मन्त्रार्थ साररूप में इस प्रकार है—"(अग्ने) हे

१. ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेदभाष्य में इस मन्त्र की व्याख्या सूर्य आदि से बिजली ग्रहण करने के पक्ष में की है। यथा, ६।१६।१३ के भाष्य में भावार्थ है—"हे विद्वान् जनो! जैसे पदार्थविद्या के जाननेवाले जन सूर्य आदि के समीप से बिजली को ग्रहण करके कार्यों को सिद्ध करते हैं, वैसे ही आप लोग भी सिद्ध करो।" य० १५।२२ के भाष्य का भावार्थ है—"मनुष्यों को चाहिए कि विद्वानों के समान आकाश तथा पृथिवी के सकाश से बिजुली का ग्रहण कर आश्चर्य-रूप कर्मों को सिद्ध करें।"

अग्नि ! (अथर्वा) अथर्वा ऋषि ने (त्वाम्) तुझे (मूर्ध्नः) प्रधानभूत (पुष्करात्) अंतरिक्ष से (विश्वस्य वाघतः) सब ऋत्विज् यजमानों के लिए (निरमन्थत) अतिशय रूप से मथकर निकाला।" वस्तुतः विवरणकारप्रदत्त कथानक सृष्ट्युत्पत्ति-प्रक्रिया में अग्नि के जन्म का इतिहास समझना चाहिए। आकाश के बाद वायु और वायु के बाद अग्नि, यह उत्पत्ति का क्रम है। उत्पन्न हो जाने के बाद आकाश में सूक्ष्म रूप से अग्नि भी विद्यमान थी। उसे अथर्वा परमेश्वर ने पूर्वोत्पन्न वायु के साहचर्य से मथ कर प्रकट किया, यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।

भरतस्वामी के भाष्य का यह आशय है—'अथर्वा ने (मूर्ध्नः) धारक, (विश्वस्य वाघतः) सबके निर्वाहिक (पुष्करात्) अन्तरिक्ष से या कमलपत्र से, अग्नि को मथकर निकाला।' सायण का अर्थ है—'(अग्ने) हे अग्नि ! (अथर्वा) अथर्वा नाम के ऋषि ने (मूर्ध्नः) मूर्धा के समान धारक (विश्वस्य) सब जगत् के (वाघतः) वाहक (पुष्करात् अधि) पुष्करपर्ण अर्थात् कमलपत्र के ऊपर (त्वाम्) तुझे (निरमन्थत) अरणियों में से उत्पन्न किया।' यहाँ भी पुष्करर्ण सचमुच का कमलपत्र नहीं है, किन्तु यज्ञवेदि का आकाश है, और अथर्वा है स्थिर चित्त से यज्ञ करनेवाला यजमान, जो यज्ञकुण्ड में अरणियों से अग्नि उत्पन्न करता है, यह तात्पर्य जानना चाहिए।

उवट ने य० ११।३२ के भाष्य में 'जल ही पुष्कर है, प्राण अथर्वा है' श० ४।२।२।२ यह शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण देकर मन्त्रार्थ किया है—'तुझे हे अग्नि, (पुष्करात्) जल में से (अथर्वा) सतत गतिमान् प्राण ने (निरमन्थत) मथकर पैदा किया।' यही अर्थ महीधर को भी अभिप्रेत है। यहाँ प्राण से प्राणवान् परमेश्वर या विद्वान् मनुष्य, जल से बादल में स्थित जल और अग्नि से विद्युत् जानने चाहिएँ। अथवा शरीरस्थ प्राण खाये-पिये हुए रसों से जीवनाग्नि को उत्पन्न करता है, यह तात्पर्य समझना चाहिए। महीधर ने दूसरा वैकल्पिक अर्थ पुष्करपर्ण (कमलपत्र) के ऊपर अग्नि को मथने परक ही किया है। भाष्यकारों ने तात्पर्य प्रकाशित किये बिना ही कथाएँ लिख दी हैं, जो भ्रम की उत्पत्ति का कारण बनी हैं।

वस्तुतः अथर्वा नामक किसी ऋषि का इतिहास इस मन्त्र में नहीं है, क्योंकि वेदमन्त्र ईश्वर-प्रोक्त हैं तथा सृष्टि के आदि में प्रादुर्भूत हुए थे और पश्चाद्वर्ती ऋषि आदिकों के कार्यकलाप का पूर्ववर्ती वेद में वर्णन नहीं हो सकता ॥९॥

अथ परमात्मनः सकाशात् परमं ज्योतिः प्रार्थ्यते।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१०. **अग्ने विवस्वदाभरास्मभ्यमूतये महे।**
३ १ २ २ ३ २
देवा ह्यसि नो दृशे ॥१०॥
१ २ १ १ २ १ ३ २ ३ १ २ ३ २
अग्ने विवस्वत् वि वस्वत् आ भर। अस्मभ्यम् ऊतये महे॥
३ २ १ २ १ ३ २
देवः हि असि नः दृशे ॥१०॥

पदार्थः—हे **अग्ने** परमपितः परमात्मन् ! त्वम् **महे** महत्यै। मह पूजायामिति धातोः क्विपि चतुर्थ्येकवचने रूपम्। **ऊतये** रक्षायै। रक्षणार्थाद् अवतेः 'ऊतियूतिजूति०' अ० ३।३।९७ इत्यनेन क्तिन् स चोदात्तः। 'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च' अ० ६।४।२० इति वकारस्योपधायाश्च स्थाने ऊठ्। **अस्मभ्यम्** अस्मदर्थम् **विवस्वत्**[1] विवासयति तमांसि इति विवस्वत् अविद्यान्धकारनिवारकम् अध्यात्म-

१. 'विवस्वत् विवासनवत् तमसां विवासनकरम्। किं तत् ? सामर्थ्यात् ज्योतिः' इति वि०। 'विवासयत् तमांसि तेजः' इति भ०। 'विवस्वत् स्वर्गादिलोकेषु विशेषेण निवासस्य हेतुभूतमिदं कर्म आभर सम्पादय' इति सा०।

प्रकाशम् **आ भर** आहर। हृञ् हरणे धातोः 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' अ० ८।२।३२ वा० इति वार्तिकेन हस्य भः। **हि** यस्मात्, त्वम् **नः** अस्माकम् **दृशे** दर्शनाय, विवेकदृष्टिप्रदानाय। 'दृशे विख्ये च' अ० ३।४।११ इति निपातनात् तुमर्थे केप्रत्ययः। **देवः** प्रकाशकः। द्युत्यर्थाद् दिवु धातोः पचाद्यच्। **असि** वर्तते ॥१०॥

श्लेषालङ्कारेण मन्त्रः सूर्यपक्षेऽपि योजनीयः ॥१०॥

भावार्थः—सूर्याग्निर्यथा जीवानां रक्षणाय तमोनिरासकं ज्योतिः प्रयच्छति, तथा परमेश्वरोऽविद्यास्मितारागद्वेषमोहाद्यन्धकारनिरासायास्मभ्यम् आध्यात्मिकं तेजः प्रदद्यात् ॥१०॥

इति प्रथमे प्रपाठके, प्रथमार्धे प्रथमा दशतिः।
इति प्रथमेऽध्याये प्रथमः खण्डः।

अब परमात्मा के पास से परम ज्योति की प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ—हे (अग्ने) परम पिता परमात्मन्! आप (महे) महान् (ऊतये) रक्षा के लिए (अस्मभ्यम्) हमें (विवस्वत्) अविद्यान्धकार को निवारण करनेवाला अध्यात्म-प्रकाश (आ भर) प्रदान कीजिए। (हि) क्योंकि, आप (नः) हमारे (दृशे) दर्शन के लिए, हमें विवेकदृष्टि प्रदान करने के लिए (हि) निश्चय ही (देवः) प्रकाश देनेवाले (असि) हैं ॥१०॥

श्लेषालङ्कार से मन्त्र की सूर्यपरक अर्थयोजना भी करनी चाहिए ॥१०॥

भावार्थ—सूर्यरूप अग्नि जैसे जीवों की रक्षा के लिए अन्धकार-निवारक ज्योति प्रदान करता है, वैसे ही परमेश्वर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, मोह आदि रूप अन्धकार के निवारण के लिए हमें आध्यात्मिक तेज प्रदान करे ॥१०॥

प्रथम प्रपाठक, प्रथम अर्ध में प्रथम दशति समाप्त।
प्रथम अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त।

॥२॥ अथ 'नमस्ते अग्न' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१आयुङ्क्ष्वाहिः, २ वामदेवः, ३,८,९ प्रयोगः, ४ मधुच्छन्दाः, ५ ७ शुनःशेपः, ६ मेधातिथिः, १० वत्सः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः ॥

तत्रादौ परमात्मानं राजानं वा स्तुवन् प्रार्थयते।

११. नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः।
अमैरमित्रमर्दय ॥१॥[1]

नमस्ते अग्ने ओजसे। गृणन्ति देव कृष्टयः॥ अमैः अमित्रम्
अ मित्रम् अर्दय ॥१॥

पदार्थः—हे **देव** ज्योतिर्मय विद्यादिज्योतिष्प्रदायक वा **अग्ने** लोकनायक जगदीश्वर राजन् वा! **कृष्टयः**[2] मनुष्याः। कृष्टय इति मनुष्यनामसु पठितम्। निघं० २।३। **ते** तव **ओजसे** बलाय। ओज इति बलनाम। निघं० २।९ **नमः** नमोवचांसि **गृणन्ति** उच्चारयन्ति। ग शब्दे, क्र्यादिः। भूयो भूयस्त्वद्बलं प्रशंसन्तीत्यर्थः। त्वम् **अमैः**[3] तादृशैः स्वकीयैः बलैः। अम गतिशब्दसंभक्तिषु भ्वादिः। 'अमं भयं बलं वा'

१. ऋ० ८।७५।१० विरूप ऋषिः। साम० १६४८।
२. कृषन्ति विलिखन्ति स्वानि कर्माणि ये ते मनुष्याः' इति ऋ० १।५२।११ भाष्ये द०।
३. अमैः अनिष्टैः रोगैर्भयैर्वा—इति वि०। बलैः रोगैर्वा। अम रोगे—इति भ०। बलैः—इति सा०।

इति निरुक्तम् । १०।२१। **अमित्रम्**[1] शत्रुम् **अर्दय** पीडय विनाशय । अर्द हिंसायाम् चुरादिः ॥१॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—हे जगदीश्वर राजन् वा ! कीदृशं त्वदीयं महद् बलं येन त्वं निःसहायान् रक्षसि, यत्कारणाच्च त्वत्पुरतो दर्पवतामपि दर्पाः संचूर्यन्ते । त्वमस्माकमध्यात्ममार्गे विघ्नान् जनयन्तं काम-क्रोधादिषड्रिपुवर्गं लोकमार्गे च बाधा उपस्थापयन्तं मानवं शत्रुदलं तादृशैः स्वकीयैर्बलैः समूलमुच्छिन्धि, येन निःसपत्नाः सन्तो वयमकण्टकमात्मिकं बाह्यं च स्वराज्यं भुञ्जीमहि ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा और राजा की स्तुति करते हुए उनसे प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ—हे (देव) ज्योतिर्मय तथा विद्या आदि ज्योति के देनेवाले (अग्ने) लोकनायक जगदीश्वर अथवा राजन् ! (कृष्टयः) मनुष्य (ते) आपके (ओजसे) बल के लिए (नमः) नमस्कार के वचन (गृणन्ति) उच्चारण करते हैं, अर्थात् बार-बार आपके बल की प्रशंसा करते हैं । आप (अमैः) अपने बलों से (अमित्रम्) शत्रु को (अर्दय) नष्ट कर दीजिए ॥१॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालङ्कार है ॥१॥

भावार्थ—हे जगदीश्वर तथा हे राजन् ! कैसा आप में महान् बल है, जिससे आप निःसहायों की रक्षा करते हो और जिस बल के कारण आपके आगे बड़े-बड़े दर्प वालों के भी दर्प चूर हो जाते हैं । आप हमारे अध्यात्ममार्ग में विघ्न उत्पन्न करनेवाले काम, क्रोध आदि षड्रिपुओं को और संसार-मार्ग में बाधाएँ उपस्थित करनेवाले मानव शत्रु-दल को अपने उन बलों से समूल उच्छिन्न कर दीजिए, जिससे शत्रु-रहित होकर हम निष्कण्टक आत्मिक तथा बाह्य स्वराज्य का भोग करें ॥१॥

अथ कीदृशं परमात्मानमहं स्तौमीत्याह ।

१२. दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम् ।
यजिष्ठमृञ्जसे गिरा ॥२॥[2]

दूतम् वः विश्ववेदसम् विश्व वेदसम् ।
हव्यवाहम् हव्य वाहम् अमर्त्यम् अ मर्त्यम् ॥
यजिष्ठम् ऋञ्जसे गिरा ॥२॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! **दूतम्** दौत्यमापन्नम्, सद्गुणग्रामान् अस्मत्समीपे समानेतुं दूतवदाचरन्तम्, **विश्ववेदसम्** विश्वानि सर्वाणि पूर्वजन्मन्यस्मिन् जन्मनि च कृतानि कर्माणि वेत्तीति विश्ववेदास्तम्, **हव्यवाहम्** हव्यं दातव्यं कर्मफलं वहति प्रापयतीति तम् कर्मफलदातारम्, **अमर्त्यम्** अमरणधर्माणम्, **यजिष्ठम्** अतिशयेन यष्टारम्—महतः सृष्टिचक्रप्रवर्तनयज्ञस्य संचालकं **वः** त्वाम्[3] । यज धातोस्तृजन्ताद् यष्टृ शब्दादिष्ठनि 'तुरिष्ठेमेयस्सु । अ० ६।४।१५४ इति तृचो लोपः । अहम् **गिरा** वेदवाचा **ऋञ्जसे** प्रसाधयामि, अनुनयामि । ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा । निरु० ६।२१। लेटच्युत्तमैकवचने' सिब्बहुलं लेटि । अ० ३।१।१४' इति सिप् ॥२॥

भावार्थः—मनुष्यः शुभान्यशुभानि वा यान्यपि कर्माण्याचरति परमेश्वरस्तत्क्षणमेव तानि

१. अमेरभिभवार्थात् अमित्रम्—इति भ० ।
२. ऋ० ४।८।१ । ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्युदग्निविषये व्याख्यातवान् ।
३. छन्दस्येकवचनेऽपि युष्मदो वसादेशो दृश्यते ।

जानाति, यथाकालं तेषां फलं चावश्यं प्रयच्छति । जरामरणरहितः, सृष्टियज्ञस्य परमयाज्ञिकः परमेश्वरोऽस्माभिः सश्रद्धं वेदमन्त्रोच्चारणपुरस्सरं सदा वन्दनीयः ॥२॥

किन गुणोंवाले परमात्मा की मैं स्तुति करता हूँ, यह कहते हैं ।

पदार्थ—हे परमात्मन् ! (दूतम्) दूत अर्थात् सद्गुणों को हमारे पास लाने के लिए दूत के समान आचरण करनेवाले, (विश्ववेदसम्) पूर्वजन्म तथा इस जन्म में किये हुए सब कर्मों को जाननेवाले, (हव्यवाहम्) दातव्य कर्मफल प्राप्त करानेवाले, (अमर्त्यम्) अमर, (यजिष्ठम्) सबसे अधिक यज्ञकर्ता—महान् सृष्टिचक्रप्रवर्तनरूप यज्ञ के संचालक (वः) आपको, मैं (गिरा) वेदवाणी से (ऋञ्जसे) रिझाता हूँ ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य शुभ या अशुभ जो भी कर्म करता है, परमेश्वर उसी क्षण उन्हें जान लेता है और समय आने पर उनका फल अवश्य देता है । बुढ़ापे और मृत्यु से रहित, सृष्टि-रूप यज्ञ के परम याज्ञिक परमेश्वर की हमें श्रद्धा के साथ वेदमन्त्रों के उच्चारणपूर्वक सदा वन्दना करनी चाहिए ॥२॥

मम गिरः परमात्मनो महिमानं वर्णयन्तीत्याह ।

१२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१३. उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृतः ।
३ १ २ २
वायोरनीके अस्थिरन् ॥३॥[1]

१ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १
उप त्वा जामयः गिरः । देदिशतीः हविष्कृतः हविः कृतः ॥
३ २ १ २ ३
वायोः अनीके अस्थिरन् ॥३॥

पदार्थः—हे अग्ने ज्योतिर्मय परमात्मन् ! **हविष्कृतः** हविष्प्रदातुः—स्वात्मानं हविः कृत्वा तुभ्यं प्रयच्छतो यजमानस्य मम **जामयः** भगिन्यः, भगिनीवत् प्रियाः हितकारिण्यश्चेति भावः । जामिः अन्येऽस्यां जनयन्ति जाम् अपत्यम्, जमतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो निर्गमनप्राया भवति । निरु० ३।६। **गिरः** स्तुतिवाचः **त्वा** त्वाम् **देदिशतीः** अतिशयेन भूयो भूयो बोधयन्त्यः । दिश अतिसर्जने धातोर्यङ्लुकि शतरि स्त्रियां रूपम् । देदिशत्यः इति प्राप्ते 'वा छन्दसि । अ० ६।१।१०६' इति नियमेन वैकल्पिकः पूर्वसवर्णदीर्घः । **वायोः** प्राणाधायकस्य तव **अनीके** समीपे **उप अस्थिरन्** उपस्थिताः सन्ति ॥३॥

अत्र गीर्षु जामित्वारोपाद् रूपकालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—हे परमात्मन् ! अन्तर्यज्ञमनुष्ठातुकामोऽहं श्रद्धाप्रवणो भूत्वा स्वात्ममनःप्राणादिकं हव्यरूपेण तुभ्यं समर्पयन् स्तुतिवाग्भिस्तव गुणान् कीर्तयामि । मदीयं प्रेमोपहारं त्वं स्वीकुरु ॥३॥

मेरी वाणियाँ परमात्मा की महिमा का वर्णन कर रही हैं, यह कहते हैं ।

पदार्थ—हे अग्ने ! हे ज्योतिर्मय परमात्मन् ! (हविष्कृतः) अपने आत्मा को हवि बनाकर आपको समर्पित करनेवाले मुझ यजमान की (जामयः) बहिनें अर्थात् बहिनों के समान प्रिय और हितकर (गिरः) स्तुति-वाणियाँ (त्वा) आपका (देदिशतीः) पुनः पुनः अधिकाधिक बोध कराती हुई (वायोः) प्राणप्रद आपके (अनीके) समीप (उप अस्थिरन्) उपस्थित हुई हैं ॥३॥

इस मन्त्र में वाणियों में जामित्व (भगिनीत्व) के आरोप से रूपकालंकार है ॥३॥

भावार्थ—हे परमात्मन् ! आन्तरिक यज्ञ का अनुष्ठान करने की इच्छा वाला मैं श्रद्धालु होकर अपने आत्मा, मन, प्राण आदि को हवि-रूप से आपको समर्पित करता हुआ स्तुति-वाणियों से आपके गुणों का कीर्तन कर रहा हूँ । मेरे प्रेमोपहार को स्वीकार कीजिए ॥३॥

१. ऋ० ८।१०२।१३, साम० १५७० ।

अथ परमात्मानं नमस्करोति ।

१४. उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥४॥[1]
उप त्वा अग्ने दिवेदिवे दिवे दिवे । दोषावस्तः दोषा वस्तः धिया वयम् ॥
नमः भरन्तः आ इमसि ॥४॥

पदार्थः—हे **दोषावस्तः** मोहरात्रिनिवारक ! दोषेति रात्रिनामसु पठितम् । निघं० १।७। वस आच्छादने, तृच् । दोषां रात्रिं वस्ते आच्छादयति निवारयति स दोषावस्ता[2] । तस्य सम्बुद्धौ रूपम् । आमन्त्रितस्वरेणाद्युदात्तत्वम् । **अग्ने** प्रकाशमय परमात्मन् ! **वयम्** उपासकाः **दिवेदिवे** ज्ञानस्य प्रकाशाय प्रकाशाय । दिवुरत्र द्युत्यर्थः । **धिया** ध्यानेन प्रज्ञया कर्मणा वा । धीशब्दो ध्यानार्थको निरुक्ते प्रोक्तः (निरु० ४।९) निघण्टौ च कर्मनामसु प्रज्ञानामसु च पठितः (निघ० २।१,३।९) । **नमः** नम्रत्वम् **भरन्तः** धारयन्तः **त्वा** त्वाम् **उप एमसि** उपास्महे । अत्र इदन्तो मसि । (अ० ७।१।४६) इति मस इदन्तत्वम् ॥४॥[3]

भावार्थः—ये जना मोहनिशाच्छन्नास्तैः स्वान्तःकरणेऽध्यात्मज्ञानप्रकाशमाप्तुं नमस्कारोपहारपूर्वकं योगमार्गमनुसृत्य ध्यानेन बुद्ध्या कर्मणा च परमेश्वर उपासनीयः ॥४॥

अगले मन्त्र में परमात्मा को नमस्कार करते हैं।

पदार्थ—हे (दोषावस्तः) मोह-रात्रि को निवारण करनेवाले (अग्ने) प्रकाशमय परमात्मन् ! (वयम्) हम उपासक लोग (दिवे दिवे) प्रत्येक ज्ञानप्रकाश के लिए (धिया) ध्यान, बुद्धि और कर्म के साथ (नमः) नम्रता को (भरन्तः) धारण करते हुए (त्वा) आपकी (उप एमसि) उपासना करते हैं ॥४॥

भावार्थ—जो लोग मोह-रात्रि से ढके हुए हैं उन्हें अपने अन्तःकरण में अध्यात्म-ज्ञान का प्रकाश पाने के लिए नमस्कार की भेंटपूर्वक योगमार्ग का अनुसरण करके ध्यान, बुद्धि और कर्म के साथ परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए ॥४॥

अथ परमात्मानं प्रति स्तोत्रमुपहरति ।

१५. जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय ।
स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ॥५॥[4]
जराबोध जरा बोध तद् विविड्ढि । विशेविशे विशे विशे यज्ञियाय ॥
स्तोमम् रुद्राय दृशीकम् ॥५॥

---

१. ऋ० १।१।७ ।

२. दोषेति रात्रेर्नाम, वस्ता आच्छादयिता । रात्रौ यः स्वेन ज्योतिषा तमांस्याच्छादयति स दोषावस्ता । तस्य संबोधनं हे दोषावस्तः—इति वि० । 'हे दोषावस्तः, दोषा रात्रिः तस्या विवासयितः'—इति भ० । अयमेवार्थः यजु० ३।२२ इत्यत्र पठितस्य प्रस्तुतस्यैव मन्त्रस्य दयानन्दभाष्ये कृतः—दोषां रात्रिं वस्ते स्वतेजसाऽऽच्छाद्य निवारयति सोऽग्निरिति । उवटमहीधरयोर्मतेऽपि तत्र 'दोषावस्तः' इति पदं सम्बोधनान्तमेव । रात्र्यां वसनशीलो दोषावस्ता, तस्य संबोधनं 'हे दोषावस्तः'—इत्युवटः । 'हे दोषावस्तः रात्रौ वसनशील गार्हपत्य'—इति महीधरः । 'दोषेति रात्रिनाम, वस आच्छादने, रात्रौ स्वेन ज्योतिषा तमसामाच्छादयितः'—इति ऋ० १।१।७ भाष्ये स्कन्दः ।

३. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये परमात्मविषये यजुर्भाष्ये च विद्युत्कर्मविषये व्याख्यातवान् ।

४. ऋ० १।२७।१०, साम० १६६३ ।

पदार्थः—वयम् उपासकाः **विशेविशे** सर्वेषां मनुष्याणां हितार्थम्। विश इति मनुष्यनाम। निघं० २।२। **यज्ञियाय** यज्ञं पूजामर्हतीति यज्ञियस्तस्मै। अत्र 'यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ' अ० ५।१।७१ 'तत्कर्मार्हतीत्युपसंख्यानम्' वा० अनेन यज्ञशब्दाद् घः प्रत्ययः। **रुद्राय** रुतः सत्योपदेशान् राति ददाति[1] यस्तस्मै, यद्वा यो रुद् अविद्याहंकारदुःखादिकं द्रावयति[2] तस्मै, यद्वा यो रोदयति[3] कामक्रोधादीन् रिपून् तस्मै तुभ्यं परमात्माग्नये। 'अग्निरपि रुद्र उच्यते' इति निरुक्तम् १०।७। अग्निर्वै रुद्रः। श० ५।३।१।१०। **दृशीकम्** दर्शनीयम्। अत्र दृशिर् प्रेक्षणे धातोः 'अनिहृषिभ्यां किच्च। उ० ४।१८' इति बाहुलकाद् औणादिक ईकन् प्रत्ययः किच्च। **स्तोमम्** स्तोत्रम् उपहरामः इति शेषः। हे **जराबोध** जरां स्तुतिं बुध्यते तारतम्यतया जानाति यः, यद्वा जरया स्तुत्या बोधो हृदये जागरणं यस्य स जराबोधः, तादृश हे परमात्मन्! पादादौ आमन्त्रितत्वाद् 'आमन्त्रितस्य च। अ० ६।१।१९८' इत्याद्युदात्तत्वम्। त्वम् **तत्** अस्माकं स्तुतिकरणम् **विविड्ढि** वेवेड्ढि व्याप्नुहि, स्वीकुरु। अत्र विष्लृ व्याप्तौ धातोः लोण्मध्यमैकवचने 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ। अ० ७।४।७५' इति प्राप्तस्य गुणस्य 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' इति नियमाद् गुणाभावः।[4]

अथवा एवं योज्यम्। उपासकः स्वात्मानमाह। हे **जराबोध**[5] स्तुतिविज्ञ मदीय अन्तरात्मन्! जरां स्तुतिप्रकारं बुध्यते जानातीति जराबोधः, तत्संबुद्धौ। त्वम् **विशे विशे** सर्वासां प्रजानां मनोबुद्ध्यादीनां हितार्थम् **यज्ञियाय** पूजार्हाय **रुद्राय** सत्योपदेशप्रदाय, दुःखादिद्रावकाय, शत्रुरोदकाय च परमात्माग्नये **तत्** तं प्रभावकरम् **दृशीकम्** दर्शनीयम् **स्तोमम्** स्तोत्रम् **विविड्ढि**[6] कुरु, उक्तगुणं परमात्मानं स्तुहीत्यर्थः ॥५॥[6]

यास्कमुनिरिमं मन्त्रमेवं व्याचष्टे—'जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणस्तां बोध, तया बोधयितरिति वा, तद् विविड्ढि तत् कुरु, मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय, स्तोमं रुद्राय दर्शनीयम् इति'। निरु० १०।८।

भावार्थः—हे जगदीश्वर! त्वं सर्वेषां पूजार्होऽसि। त्वमेव रुद्रो भूत्वास्माकं हृदये सद्गुणान् प्रेरयसि, अविवेकालस्यादीन् निरस्यसि, अन्तःकरणे बद्धमूलान् कामादीन् शत्रून् रोदयसि। अतो वयं त्वां हृदि बोधयितुं त्वत्कृते भूरिशः स्तोमानुपहरामः। अस्मत्कृतानां स्तोमानां हार्दिकत्वं, दर्शनीयत्वं, चारुत्वं च विज्ञाय त्वं तान् कृपया स्वीकुरु। हे मदीय अन्तरात्मन्! त्वं परमात्मस्तुत्या कदापि विमुखो मा भूः ॥५॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के प्रति स्तोत्र का उपहार दिया जा रहा है।

पदार्थ—हम उपासक लोग (विशेविशे) सब मनुष्यों के हितार्थ (यज्ञियाय) पूजायोग्य, (रुद्राय) सत्योपदेश प्रदान करनेवाले, अविद्या, अहंकार, दुःख आदि को दूर करनेवाले तथा काम, क्रोध आदि

---

१. (रुद्र) रुतः सत्योपदेशान् राति ददाति तत्सम्बुद्धौ—इति ऋ० १।११४।३ भाष्ये द०।

२. (रुद्रम्) यो रुद् रोगं द्रावयति तम्—इति ऋ० ६।४६।१० भाष्ये द०।

३. रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः—इति य० ३।१६ भाष्ये द०।

४. 'जरास्तुतिः। तां यः स्वयं बुध्यति बोधयति वा देवान् स जराबोधः।···जराबोध इत्यपि अन्तरात्मनः सम्बोधनम्। प्रैषश्च, हे मदीय अन्तरात्मन्'—इति वि०। 'जरया स्तुत्या बोधयति देवानिति जराबोधः स्तोता। जरतिः स्तुतिकर्मा। हे स्तोतः, आत्मन एव ऋषेरामन्त्रणम्'—इति भ०। हे जराबोध जरया स्तुत्या बोध्यमान अग्ने—इति सा०।

५. विविड्ढि वेत्थ जानासि···। अथवा, विविड्ढीति विष्लृ व्याप्तावित्येतस्य रूपम्। अयं च धातुः वेष इति कर्मनामसु पाठात् (निघं० २।१), नाम्नां चाख्यातजत्वात्, कर्मणि च करोत्यर्थस्य सम्भवात् करोत्यर्थोऽपि, न व्याप्त्यर्थ एवेति गम्यते। तत्कुरु इत्यर्थः—इति वि०। 'यत् बुद्धिस्थं स्तुतिरूपं तद् विविड्ढि, विष्लेर्व्याप्तिकर्मणः लोटि मध्यमपुरुषैकवचनम्, व्याप्नुहि कुरु इत्यर्थः—इति भ०। 'तद् देवयजनं विविड्ढि प्रविश—इति सा०।

६. दयानन्दर्षिणा ऋग्वेदे मन्त्रोऽयं सेनाधिपतिपक्षे व्याख्यातः—(जराबोध) जरया गुणस्तुत्या बोधो यस्य सैन्यनायकस्य तत्संबुद्धौ। (यज्ञियाय) यज्ञकर्मार्हतीति यज्ञियो योद्धा तस्मै' इत्यादि।

शत्रुओं को रुलानेवाले परमात्मा-रूप अग्नि के लिए (दृशीकम्) दर्शनीय (स्तोमम्) स्तोत्र को [उपहार रूप में देते हैं।] हे (जराबोध) स्तुति को तारतम्यरूप से जाननेवाले अथवा स्तुति के द्वारा हृदय में उद्‌बुद्ध होनेवाले परमात्मन् ! आप (तत्) उस हमारे स्तोत्र को (विविड्ढि) स्वीकार करो।

अथवा इस प्रकार अर्थयोजना करनी चाहिए। उपासक स्वयं को कह रहा है—हे (जराबोध) स्तुति करना जाननेवाले मेरे अन्तरात्मन् ! तू (विशे विशे) मन, बुद्धि आदि सब प्रजाओं के हितार्थ (यज्ञियाय) पूजायोग्य (रुद्राय) सत्य उपदेश देनेवाले, दुःख आदि को दूर करनेवाले, शत्रुओं को रुलानेवाले परमात्मा रूप अग्नि के लिए (तत्) उस प्रभावकारी, (दृशीकम्) दर्शनीय (स्तोमम्) स्तोत्र को (विविड्ढि) कर, अर्थात् उक्त गुणोंवाले परमात्मा की स्तुति कर ॥५॥

भावार्थ—हे जगदीश्वर ! आप सबके पूजायोग्य हैं। आप ही रुद्र होकर हमारे हृदय में सद्‌गुणों को प्रेरित करते हैं, अविवेक, आलस्य आदिकों को निरस्त करते हैं, अन्तःकरण में जड़ जमाये हुए कामादि शत्रुओं को रुलाते हैं। अतः हम आपको हृदय में जगाने के लिए आपके लिए बहुत-बहुत स्तोत्रों को उपहार रूप में लाते हैं। किसी के स्तोत्र हार्दिक हैं या कृत्रिम हैं यह आप भले प्रकार जानते हैं। इसलिए हमारे द्वारा किये गये स्तोत्रों की हार्दिकता, दर्शनीयता तथा चारुता को जानकर आप उन्हें कृपा कर स्वीकार कीजिए। हे मेरे अन्तरात्मन् ! तू परमात्मा की स्तुति से कभी विमुख मत हो ॥५॥

अथ परमात्माग्निमाह्वयन्नाह।

१६. प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे।
मरुद्भिरग्न आ गहि ॥६॥[1]

प्रति त्यम् चारुम् अध्वरम्। गोपीथाय प्र हूयसे॥
मरुद्भिः अग्ने आ गहि ॥६॥

पदार्थः—**त्यम्** तम् अस्माभिः क्रियमाणम् **चारुम्** श्रेष्ठम् **अध्वरम्** हिंसाऽधर्मादिदोषरहितम् उपासनायज्ञं जीवनयज्ञं वा। अध्वर इति यज्ञनाम, ध्वरति हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः' इति निरुक्तम् (१।७)। **प्रति** अभिलक्ष्य **गोपीथाय**[2] गवां विषयगोचरेषु भ्राम्यताम् इन्द्रियाणां पीथाय रक्षणाय, अस्माकं श्रद्धारसरूपस्य सोमस्य पानाय वा। गोपीथाय सोमपानायेति यास्कः। निरु० १०।३५। 'निशीथगोपीथावगथाः। उ० २।९' इति गोपूर्वात् पा रक्षणे पा पाने वा धातोस्थक्प्रत्ययान्तो निपातः। **प्र हूयसे** प्रकर्षेण निमन्त्र्यसे। **अग्ने** हे ज्योतिर्मय परमात्मन् ! त्वम् **मरुद्भिः** प्राणैः, अस्मदनुष्ठीयमानप्राणायामक्रियाभिः **आ गहि** आगच्छ। आङ्पूर्वाद् गम्लृ गतौ धातोर्लोण्मध्यमैकवचने छान्दसं रूपम् ॥६॥

भावार्थः—हे परमात्मन् ! यथा पवनैः प्रज्वलितोऽग्निर्नानाज्वालाभिर्नृत्यन्निव यज्ञवेद्यामस्मत्संमुखमुपस्थितो भवति, तथैवास्माकं प्राणायामपवनैः प्रदीपितस्त्वं नो जीवनयज्ञमुपासनायज्ञं वा समागच्छ, मनोवाक्चक्षुरादीनीन्द्रियाणि च विषयेभ्यः सततं रक्षन्नस्माकं श्रद्धारसं कणेहत्य पिब ॥६॥

अब परमात्मा रूप अग्नि का आह्वान करते हुए कहते हैं।

पदार्थ—(त्यम्) उस हमारे द्वारा किये जाते हुए (चारुम्) श्रेष्ठ (अध्वरम्) हिंसा, अधर्म

१. ऋ० १।१९।१। ऋग्वेदे दयानन्दर्षिणाऽयं मन्त्रो विद्युद्‌रूपभौतिकाग्निपक्षे व्याख्यातः।

२. गोपीथाय। गोशब्देनात्र सोम उच्यते, तस्य 'पानार्थम्'—इति वि०। गौः सोमः, गच्छति देवानिति, तस्य पीथाय पानाय—इति भ०। पृथिवीन्द्रियादीनां रक्षणाय' इति ऋ० १।१९।१ भाष्ये द०।

आदि दोषों से रहित उपासनायज्ञ या जीवनयज्ञ के (प्रति) प्रति (गोपीथाय) विषयों में भटकती हुई इन्द्रिय-रूप गौओं की रक्षा के लिए, अथवा हमारे श्रद्धारस-रूप सोमरस के पान के लिए (प्र हूयसे) आप बुलाये जा रहे हो। (अग्ने) हे ज्योतिर्मय परमात्मन् ! आप (मरुद्भिः) प्राणों द्वारा अर्थात् हमसे की जाती हुई प्राणायाम-क्रियाओं द्वारा (आ गहि) हमारे यज्ञ में आओ ॥६॥

भावार्थ—हे परमात्मन् ! जैसे पवनों से प्रज्वलित यज्ञाग्नि नाना ज्वालाओं से नृत्य करती हुई-सी यज्ञवेदि में हमारे सम्मुख उपस्थित होती है, वैसे ही हमारे प्राणायामरूप पवनों से प्रज्वलित किये हुए आप हमारे जीवनयज्ञ या उपासनायज्ञ में आओ, और मन, वाणी, चक्षु आदि इन्द्रियों को विषयों से निरन्तर बचाते हुए हमारे श्रद्धारस का रिझकर पान करो ॥६॥

अथ वन्दितुं परमात्मानमाह्वयति।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २१
१७. **अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः।**
३ १ २ ३ १ २
सम्राजन्तमध्वराणाम् ॥७॥[1]
१ २१ ३ १२१ ३ १ २ ३ २ १२१
अश्वम् न त्वा वारवन्तम्। वन्दध्यै अग्निम् नमोभिः ॥
३ १ २ ३ १२१ ३ १ २
सम्राजन्तम् सम् राजन्तम् अध्वराणाम् ॥७॥

पदार्थः—**वारवन्तम्**[2] वारैः दंशमशकादिनिवारकैर्बालैः युक्तम् **अश्वम्** वाजिनम् **न** इव **वारवन्तम्** वारैः विपत्तिनिवारणसामर्थ्यैः युक्तम्। 'वाराः बालाः दंशवारणार्था भवन्ति' इति निरुक्तम् १।२०। तथैव वारयति विपदादिकमेभिरिति वाराः निवारणसामर्थ्यानि। **अध्वराणाम्**[3] हिंसादिदोषवर्जितानां यज्ञानाम् **सम्राजन्तम्** सम्राडिवाचरन्तम्। सम्राडिवाचरतीति सम्राजति, 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब् वा वक्तव्यः'। अ० ३।१।११ वा० इत्याचारार्थे क्विप्। शतरि द्वितीयैकवचने सम्राजन्तमिति रूपम्। **त्वा** त्वाम् **अग्निम्** तेजस्विनं परमात्मानम् **नमोभिः** नमस्कारैः **वन्दध्यै** वन्दितुम्। वदि अभिवादनस्तुत्योः। 'तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्०। अ० ३।४।९' इति तुमर्थे अध्यै प्रत्ययः। आहुवे आह्वयामि इत्युत्तरमन्त्रादाकृष्यते ॥७॥

'अश्वं न त्वा वारवन्तम्' इत्यत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः। 'सम्राजन्तम् अध्वराणाम्' इत्यत्र लुप्तोपमा ॥७॥

भावार्थः—अश्वो यथा बालैर्दंशमशकादीन् निवारयति तथा परमेश्वरः स्वनिवारणसामर्थ्यैः विपदादिकं निवारयति। यथा सम्राट् स्वकीये राज्ये सर्वेषां प्रभुस्तथा परमात्मा विविधयज्ञानां प्रभुः। अतो ध्यानयज्ञे श्रद्धया स सर्वैराह्वातव्यः ॥७॥

अब वन्दना करने के लिए परमात्मा का आह्वान करते हैं।

पदार्थ—(वारवन्तम्) डाँस, मच्छर आदि को निवारण करनेवाले बालों से युक्त (अश्वं न) घोड़े के समान (वारवन्तम्) विपत्तिनिवारण के सामर्थ्यों से युक्त, (अध्वराणाम्) हिंसादि दोषों से रहित यज्ञों के (सम्राजन्तम्) सम्राट् के समान (त्वा) आप (अग्निम्) तेजस्वी परमात्मा को (नमोभिः) नमस्कारों से (वन्दध्यै) वन्दना करने के लिए [(आहुवे) पुकारता हूँ] ॥७॥

---

१. ऋ० १।२७।१, साम० १६३४।
२. प्रशंसायां मतुप्। प्रशस्तकेशरवन्तम् अश्वमिवेति अर्चिष्ठत्वस्य उपमा—इति भ०।
३. राज्यपालनाग्निहोत्रादिशिल्पान्तानां यज्ञानां मध्ये इति ऋ० १।२७।१ भाष्ये द०। तत्र दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं विद्वत्पक्षे व्याख्यातः, भौतिकाग्नेः परमेश्वरस्य चापि सकेतः कृतः।

'अश्वं न त्वा वारवन्तम्' में श्लिष्टोपमालंकार है। 'सम्राजन्तम् अध्वराणाम्' में लुप्तोपमा है ॥७॥

भावार्थ—घोड़ा जैसे बालों से डाँस, मच्छर आदि का निवारण करता है, वैसे परमेश्वर अपने निवारणसामर्थ्यों से विपत्ति आदि का निवारण करता है। जैसे सम्राट् का अपने राज्य में सब पर प्रभुत्व होता है, वैसे ही परमात्मा विविध यज्ञों का प्रभु है। अतः ध्यान-यज्ञ में श्रद्धा के साथ सबको उसे पुकारना चाहिए ॥७॥

अथ कीदृशं परमात्मानमहमाह्वयामीत्याह।

१८. **और्वभृगुवच्छुचिमप्नवानवदा हुवे।**
अग्निं समुद्रवाससम् ॥८॥[1]

और्वभृगुवत् और्व भृगुवत् शुचिम्। अप्नवानवत् आ हुवे॥
अग्निम् समुद्रवाससम् समुद्र वाससम् ॥८॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। अहम् **और्वभृगुवत्** उर्व्यां पृथिव्यां भवाः पदार्था और्वाः, तान् भृज्जति भर्जति वा स और्वभृगुः सूर्यः, तमिव, **अप्नवानवत्** अप्नांसि कर्माणि वन्यन्ते सेव्यन्ते येन सोऽप्नवानः गमनशीलो वायुः, तमिव च। अप्न इति कर्मनाम। निघं० २।१। वन सम्भक्तौ। **शुचिम्** पवित्रं पवित्रतादायकं च, शुचिर् पूतीभावे। **समुद्रवाससम्** हृदयाकाशे ब्रह्माण्डाकाशे वा निवसन्तम्। समुद्र इत्यन्तरिक्षनाम। निघं० १।३। वस निवासे। **अग्निम्** ज्योतिष्मन्तं ज्योतिष्प्रदं च परमात्मानम्। **आहुवे** आह्वयामि। ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च। 'बहुलं छन्दसि। अ० ६।१।३४' इति सम्प्रसारणे रूपम्।

अथ **द्वितीयो** विद्युत्परः। विद्युत्प्रयोगविषयमाह। अहम् **और्वभृगुवत्** और्वभृगुः सूर्यः तमिव, यथाहं सूर्याग्निमाह्वयामि, सूर्यतापं यन्त्रेषु संगृह्णामि तथेत्यर्थः। **अप्नवानवत्** अप्नांसि पाकादिकर्माणि वन्यन्ते सेव्यन्ते येन सोऽप्नवानः पार्थिवाग्निः, तमिव, यथाहं पार्थिवाग्निमाह्वयामि, यन्त्रेषु संगृह्णामि तथेत्यर्थः, **शुचिम्** दीप्तम्। शुच दीप्तौ। **समुद्रवाससम्**[2] अन्तरिक्षनिवासिनम् **अग्निम्** वैद्युताग्निम् **आहुवे** आह्वयामि, प्रकाशं प्राप्तुं, यानादिषु च प्रयोक्तुं स्वसकाशम् आनयामि ॥८॥

अत्रोपमा श्लेषश्चालंकारः॥ ८॥

भावार्थः—यथा सूर्यो वायुश्च शुचिः, शुचिकारकः, सर्वेषां जीवनाधारश्च, तथैव परमात्मापि। यथा सूर्यो वायुश्चाकाशे निवसति, तथैव परमात्मा हृदयाकाशे विश्वब्रह्माण्डाकाशे च। तादृशः परमात्मा सर्वैः साक्षात्करणीयः, किं च सूर्याग्निना वैद्युताग्निना च यानादीनि चालनीयानि ॥८॥

यथा और्वः ऋषिः यथा च भृगुर्ऋषिः यथा च अप्नवान आह्वयति तद्वदहमपि शुचिम् आहुवे आह्वयामीति वि०। तदेव भरतस्वामिनोऽभिमतम्। सायणमते तु 'और्वभृगुः' इत्येकं नाम। तत्सर्वमसंगतं, सृष्ट्यादौ प्रादुर्भूतेषु वेदेषु पश्चाद्वर्तिनामृष्यादीनामितिहासस्यासंभवात्।

कैसे परमात्मा का मैं आह्वान करता हूँ, यह कहते हैं।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। मैं **और्वभृगुवत्** पार्थिव पदार्थों को तपानेवाले सूर्य के समान, और **अप्नवानवत्** क्रियासेवी वायु के समान **शुचिम्** पवित्र व पवित्रताकारक, और **समुद्रवाससम्**

१. ऋ० ८।१०२।४।
२. 'समुद्र इत्यन्तरिक्षनाम, तत्र निवासो यस्य स समुद्रवासाः, तं समुद्रवाससम्, अन्तरिक्षनिवासमित्यर्थः। वैद्युतात्मा ह्यसौ तत्र निवसति—इति वि०। 'अग्निं समुद्रवाससं वैद्युतमग्निम् आह्वयामि—इति भ०।

हृदयाकाश में व ब्रह्माण्डाकाश में निवास करनेवाले **अग्निम्** ज्योतिष्मान् तथा ज्योतिष्प्रद परमात्मा को **आहुवे** पुकारता हूँ।

द्वितीय विद्युत् के पक्ष में। बिजली के प्रयोग के विषय में कहते हैं। मैं **और्वभृगुवत्** जैसे सूर्य को अर्थात् सूर्य के ताप को यन्त्रों आदि में प्रयुक्त करता हूँ, और **अप्नवानवत्** जैसे पाकादि कर्मों का सेवन करनेवाले पार्थिव अग्नि को यन्त्रों आदि में प्रयुक्त करता हूँ, वैसे ही **शुचिम्** प्रदीप्त, **समुद्रवाससम्** अन्तरिक्षनिवासी **अग्निम्** वैद्युत अग्नि को **आहुवे** प्रकाश के लिए तथा यान आदि में प्रयुक्त करने के लिए अपने समीप लाता हूँ ॥८॥

इस मन्त्र में उपमा और श्लेष अलंकार हैं ॥८॥

भावार्थ—जैसे सूर्य और वायु पवित्र, पवित्रताकारक और सबके जीवनाधार हैं, वैसे ही परमात्मा भी है। जैसे सूर्य और वायु आकाश में निवास करते हैं, वैसे ही परमात्मा हृदयाकाश में और विश्वब्रह्माण्ड के आकाश में निवास करता है। ऐसे परमात्मा का सबको साक्षात्कार करना चाहिए। साथ ही सूर्याग्नि, पार्थिवाग्नि तथा वैद्युत अग्नि के द्वारा यान आदि चलाने चाहिएँ ॥८॥

'जैसे और्व ऋषि, भृगु ऋषि और अप्नवान ऋषि शुचि अग्नि को बुलाते हैं, वैसे ही मैं बुला रहा हूँ', यह विवरणकार की व्याख्या है। भरतस्वामी का भी यही अभिप्राय है। सायण ने 'और्व' और 'भृगु' अलग-अलग नाम न मानकर एक 'और्वभृगु' नाम माना है। यह सब व्याख्यान असंगत है, क्योंकि सृष्टि के आदि में प्रादुर्भूत वेदों में पश्चाद्वर्ती ऋषि आदिकों का इतिहास नहीं हो सकता।

ईश्वराराधनेन साकं कर्मापि कुर्यादित्युच्यते।

१९. **अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः।**
अग्निमिन्धे विवस्वभिः ॥९॥[1]
अग्निम् इन्धानः मनसा। धियम् सचेत मर्त्यः॥
अग्निम् इन्धे विवस्वभिः वि वस्वभिः ॥९॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। **मनसा** चित्तेन **अग्निम्** प्रच्छन्नरूपेण हृदये स्थितं परमात्माग्निम् **इन्धानः** प्रदीपयन्, प्रकटयन् **मर्त्यः** मरणधर्मा मनुष्यः **धियम्** कर्म। धीरिति कर्मनामसु पठितम्। निघं० २।१। **सचेत** सेवेत, इति वैदिकी प्रेरणा। षचतिः सेवनार्थः। निरु० ४।२१। तत्प्रेरणया प्रेरितोऽहम् **विवस्वभिः**[2] अज्ञानविवासनशीलाभिः, आदित्यवद् भासमानाभिः मनोवृत्तिभिः। विवस्वान् विवासनवान् इति निरुक्तम्। ७।२६। **अग्निम्** ज्योतिर्मयं परमात्माग्निं कर्माग्निं च **इन्धे** प्रदीपयामि, हृदये प्रकटयामि। ञिइन्धी दीप्तौ, लटि उत्तमैकवचने प्रयोगः।

अथ **द्वितीयो** यज्ञाग्निपरः। यज्ञकर्मणे प्रेरयति। **मनसा** श्रद्धया **अग्निम्** यज्ञाग्निम् **इन्धानः** प्रदीपयन् **मर्त्यः** यजमानो मनुष्यः **धियम्** कर्म अपि, यज्ञविधिमपि **सचेत** सेवेत, कुर्यादिति भावः। इति वेदादेशः। तदनुसृत्य, अहमपि यज्ञकर्म कर्तुम् **विवस्वभिः** सूर्यकिरणैः साकम् **अग्निम्** यज्ञाग्निम् **इन्धे** प्रदीपयामि। एतेन प्रातः सूर्यकिरणाविर्भावकाल एव यज्ञकाल इति सूच्यते ॥९॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥९॥

---

१. ऋ० ८।१०२।२२, 'अग्निमिन्धे' इत्यत्र 'अग्निमीधे' इति पाठः।

२. विवस्वभिः तमसां विवासयितृभिः हविर्भिः—इति वि०। विवः धनम्, तद्वद्भिः, हविर्लक्षणधनयुक्तैः काष्ठैः—इति भ०। ऋत्विग्भिरिति सा०।

भावार्थः—'मर्त्यः' इति पदं साभिप्रायम्। मरणधर्मा हि मानवः, न जाने कदा मृत्युना गृह्येत। अतो यज्ञकर्म कर्तुं यथाऽग्निं प्रकाशयति तथाऽस्मिन्नेव जन्मनि योगाभ्यासेन हृदये परमात्मानं प्रकाश्य यावज्जीवनमग्निहोत्रादीनि समाजसेवादीनि च वेदविहितानि कर्माण्याचरेत्। नैतन्मन्येत परमेश्वरश्चेत् साक्षात्कृतः कृतं कर्मभिरिति यतः 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः' (य० ४०।२) इत्येव वैदिकः पन्थाः ॥९॥

ईश्वर की आराधना के साथ कर्म भी करे, यह कहते हैं।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। **मनसा** मन से **अग्निम्** हृदय में छिपे परमात्मा-रूप अग्नि को **इन्धानः** प्रदीप्त अर्थात् प्रकट करता हुआ **मर्त्यः** मरणधर्मा मनुष्य **धियम्** कर्म को **सचेत** सेवे—यह वैदिक प्रेरणा है। उस प्रेरणा से प्रेरित हुआ मैं **विवस्वभिः** अज्ञान को विध्वस्त करनेवाली, आदित्य के समान भासमान मनोवृत्तियों से **अग्निम्** ज्योतिर्मय परमात्माग्नि को तथा कर्म की अग्नि को **इन्धे** प्रदीप्त करता हूँ, हृदय में प्रकट करता हूँ।

द्वितीय यज्ञाग्नि के पक्ष में। यज्ञकर्म के लिए प्रेरणा है। **मनसा** श्रद्धा के साथ **अग्निम्** यज्ञाग्नि को **इन्धानः** प्रदीप्त करता हुआ **मर्त्यः** यजमान मनुष्य **धियम्** यज्ञविधियों को भी **सचेत** करे—यह वेद का आदेश है। तदनुसार मैं भी यज्ञकर्म करने के लिए **विवस्वभिः** प्रातः सूर्यकिरणों के उदय के साथ ही **अग्निम्** यज्ञाग्नि को **इन्धे** प्रदीप्त करता हूँ। इससे यह सूचित होता है कि प्रातः यज्ञ का समय सूर्यकिरणों का उदय-काल है ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥९॥

भावार्थ—यहाँ 'मर्त्य' पद साभिप्राय है। मनुष्य मरणधर्मा है, न जाने कब मृत्यु की पकड़ में आ जाये। इसलिए जैसे यज्ञकर्म करने के लिए अग्नि को प्रज्वलित करता है, वैसे ही इसी जन्म में योगाभ्यास से हृदय में परमात्मा को प्रकाशित करके जीवन-पर्यन्त अग्निहोत्र आदि तथा समाज-सेवा आदि कर्मों को करे। यह न समझे कि यदि परमेश्वर का साक्षात्कार कर लिया, तो फिर कर्मों से क्या प्रयोजन, क्योंकि 'कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे' (य० ४०।२), यही वैदिक मार्ग है ॥९॥

योगिनः कदा परमेश्वरस्यालौकिकं ज्योतिः पश्यन्तीत्याह।

२०. आदित् प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्।
परो यदिध्यते दिवि ॥१०॥[1]

आत् इत् प्रत्नस्य रेतसः। ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्॥
परः यत् इध्यते दिवि ॥१०॥

पदार्थः—**आत् इत्** तदनन्तरमेव **प्रत्नस्य** सनातनस्य। प्रत्न इति पुराणनाम। निघं० ३।२७। **रेतसः**[2] रेतस्विनः वीर्यवतः परमसामर्थ्यशालिनः अग्नेः परमात्मसूर्यस्य। अत्र मत्वर्थीयस्य लोपः। **वासरम्**

१. ऋ० ८।६।३०, इन्द्रो देवता। ज्योतिष्पश्यन्ति', 'दिवा' इति पाठः।

२. रेतसः गन्तुः (री गतिरेषणयोः अस्मात् 'स्त्रुरीभ्यां तुड् वा' उ० ४।२०३ इत्यसुन् तुडागमश्च।) यद्वा रेतस् इत्युदक नाम (निघं० १।१२) रेतस्विनः उदकवतः, सामर्थ्यान्मत्वर्थो लक्ष्यते। ईदृशस्य इन्द्रस्य सूर्यात्मनः वासरं नियामकं वासरस्य निवासहेतुभूतं वा—इति सा०।

रागद्वेषमोहादितमोविवासनशीलं यद्वा अणिमाद्यैश्वर्यनिवासकम् । 'वासराणि वेसनानि विवासनानि गमनानीति वा' इति निरुक्तम् ४।७ । वस स्नेहच्छेदापहरणेषु इति धातोः, यद्वा णिजन्ताद् वस निवासे धातोः 'अर्तिकमिभ्रमिचमिदेविवासिभ्यश्चित् । उ० ३।१३२ इत्यौणादिकः अर प्रत्ययः । यद्वा वासरम् दिव्यदिवसजनकम् । वासरमित्यहर्नाम । निघं० १।९ । **ज्योतिः** प्रकाशम् योगदर्शनोक्तां ज्योतिष्मतीं वृत्तिं, ज्ञानदीप्तिं, विवेकख्यातिं[1] वा, योगिजनाः **पश्यन्ति** साक्षात्कुर्वन्ति, **यत्** यदा, असौ **परः** परस्तात् **दिवि** आत्मरूपे द्युलोके **इध्यते** प्रदीप्यते ॥१०॥[2]

श्लेषेण सूर्यपक्षे ऽपि योजनीयम् ॥१०॥

भावार्थः—यथा प्रातरुदितः सूर्याग्निर्यदा मध्याह्नाकाशमारोहति तदैव जनास्तस्य तमोनिरासकं देदीप्यमानदिवसाधायकं सम्पूर्णप्रभामण्डलं पश्यन्ति, तथैव यदा योगिभिर्ध्यातः परमात्माग्निस्तेषामात्मलोके देदीप्यते तदैव ते तस्य रागद्वेषादिविनाशकं, योगसिद्धिनिवासकं, जीवन्मुक्तिप्राप्तिरूपदिवसजनकं दिव्यं ज्योतिर्द्रष्टुं पारयन्ति ॥१०॥

अत्र परमात्मनो गुणकर्मस्वभाववर्णनपूर्वकं तत्प्रसादनात्, तं प्रति नमस्करणात्, स्तोमार्पणात्, परमेश्वरस्तुत्या सह कमण्यपि प्रेरणात्, परमज्योतिर्दर्शनवर्णनाच्चैतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्तीति बोध्यम् ॥

इति प्रथमे प्रपाठके प्रथमार्धे द्वितीया दशतिः ।

इति प्रथमेऽध्याये द्वितीयः खण्डः ॥

योगी जन कब परमेश्वर की अलौकिक ज्योति का दर्शन करते हैं, इस विषय को कहते हैं ।

पदार्थ—**आत् इत्** उसके अनन्तर ही **प्रत्नस्य** सनातन, **रेतसः** वीर्यवान् परमसामर्थ्यशाली परमात्म-सूर्य की **वासरम्** राग, द्वेष, मोह आदि के अन्धकार को दूर करनेवाली, अथवा अणिमा आदि ऐश्वर्यों की निवासक, अथवा दिव्य दिन उत्पन्न कर देनेवाली **ज्योतिः** ज्योति को—योगदर्शनोक्त ज्योतिष्मती वृत्ति को, ज्ञानदीप्ति को या विवेकख्याति को, योगीजन **पश्यन्ति** देख पाते हैं, **यत्** जब, वह परमात्म-सूर्य **परः** परे **दिवि** आत्मारूप द्युलोक में **इध्यते** प्रदीप्त हो जाता है ॥१०॥

श्लेष से सूर्य के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए ॥१०॥

भावार्थ—जैसे प्रातःकाल उदित सूर्य जब मध्याह्न के आकाश में पहुँच जाता है तभी लोग उसके अन्धकार-निवारक, देदीप्यमान, दिन को उत्पन्न करनेवाले सम्पूर्ण प्रभामण्डल को देख पाते हैं, वैसे ही जब योगियों से ध्यान किया गया परमात्मा उनके आत्म-लोक में जगमगाने लगता है तभी वे उसके राग, द्वेष आदि के विनाशक, योगसिद्धियों के निवासक, जीवन्मुक्तिरूप दिन के जनक दिव्य प्रकाश का साक्षात्कार करने में समर्थ हाते हैं ॥१०॥

---

१. द्रष्टव्यम्—योग० १।३६, २।२८, ३।५४ ।

२. इयमासन्नमरणे जप्येति बह्वृचोपनिषदि श्रूयते (ऐ० आ० ३।२।४।८) । इयं वैश्वानरस्याग्नेः स्तुतिः । वैश्वानरश्च त्रैलोक्यशरीरः परमात्मेति उपनिषदि स्थितम् । आत् इति निपातः अनन्तरमित्यस्मिन् अर्थे वर्तते । इद् इति एवार्थे । आदित् अनन्तरमेव आत्मविज्ञानात् । प्रत्नस्य पुराणस्य । रेतसः कारणात्मनः स्वरूपभूतम् । ज्योतिः वैश्वानराख्यं सूर्यम् । पश्यन्ति विद्वांसः । वासरं विवासकं तमसाम् । परः परस्तात् । इध्यते दीप्यते । दिवि दिव इत्यर्थः, यत् दिवः परस्ताद् इध्यते इति सम्बन्धः । "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते (छा० उ० ३।१३।७)" इत्यादि श्रूयते—इति भ० ।

इस दशति में परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन करते हुए उसे रिझाने का, उसके प्रति नमस्कार करने का, उसे स्तोत्र अर्पण करने का, मनुष्यों को परमेश्वर की स्तुति के साथ-साथ कर्म में भी प्रेरित करने का और परम ज्योति के दर्शन का वर्णन है, अतः इस दशति के अर्थ की पूर्व दशति के अर्थ के साथ संगति है।

प्रथम प्रपाठक, प्रथम अर्ध में द्वितीय दशति समाप्त।
प्रथम अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त॥

॥३॥ अथ अग्निं वो वृधन्तमित्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ प्रयोगः; २,५ भरद्वाजः; ३,१० वामदेवः; ४,६ वसिष्ठः; ७ विरूपः; ८ शुनःशेपः; ९ गोपवनः; ११ प्रस्कण्वः; १२ मेधातिथिः; १३ सिन्धुद्वीप आम्बरीषः व्रित आप्त्यो वा; १४ उशना।
देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

तत्राद्ये मन्त्रे परमात्मानमुपासितुं जनान् प्रेरयति।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२१. **अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम्।**
२ ३ २ ३ १ २
अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥१॥[1]
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अग्निं वः वृधन्तम्। अध्वराणाम् पुरूतमम्॥
१ २१ १ २१ १ २१
अच्छ नप्त्रे सहस्वते ॥१॥

पदार्थः—हे मनुष्याः! **वः**[2] यूयम् **सहस्वते** प्रशस्तबलयुक्ताय। सह इति बलनाम। निघं० २।९, प्रशंसार्थे मतुप्। **नप्त्रे**[3] अपतनशीलाय अपत्याय, भौतिकसन्तानस्य सद्गुणादिरूपदिव्यसन्तानस्य च प्राप्तये इत्यर्थः। तादर्थ्ये चतुर्थी। न पतति पातयति वा स नप्ता नञ्पूर्वात् पत्लृधातोः 'नप्तृनेष्टृ० उ० २।९७ इति तृच्, नञः प्रकृतिभावः, धातोष्टिलोपश्च। **वृधन्तम्** वर्धयन्तम्। लुप्तणिच्कं रूपम्। **अध्वराणाम्** हिंसारहितानाम् अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां कर्मकाण्डयज्ञानाम्, यद्वा स्तुतिप्रार्थनोपासनास्वाध्यायब्रह्मयज्ञादिज्ञानयज्ञानाम् **पुरूतमम्** अतिशयेन पूरयितारम्। पिपर्ति पालयति पूरयति वा यः स पुरुः। पॄ पालनपूरणयोः इति धातोः पॄभिदिव्यधिगृधिधृषिहृषिभ्यः' उ० १।२३ इत्युण्। अतिशयेन पुरुः पुरूतमः। 'अन्येषामपि दृश्यते' अ० ६।३।१३७ इति पूर्वपदस्य दीर्घः। **अग्निम्** परमात्मानम् **अच्छ**[4] अभिमुखा भवत। अच्छ आभिमुख्ये। संहितायां 'निपातस्य च' अ० ६।३।१३६ इति दीर्घः॥१॥

भावार्थः—परमेश्वर उपासकान् वर्धयति, तैरनुष्ठीयमानान् ज्ञानयज्ञान्, भक्तियज्ञान्, कर्मयज्ञाँश्च पूर्णतां नयति, तान् सुप्रशस्तं सन्तानं सद्गुणाँश्च प्रापयति॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्माग्नि की उपासना के लिए मनुष्यों को प्रेरित किया गया है।

पदार्थ—हे मनुष्यो, **वः** आप लोग **सहस्वते** प्रशस्त बल से युक्त **नप्त्रे** पतन को प्राप्त न होनेवाली

---

१. ऋ० ८।१०२।७, साम ९४६।
२. छन्दसि षष्ठीचतुर्थीद्वितीयावत् प्रथमाबहुवचनेऽपि युष्मदस्मदोर्वस्नसादेशौ भवत इति प्रयोगसामर्थ्याल्लभ्यते। तथाहि —'वः यूयमित्यर्थः' इति भ०। वः यूयम् इति सा०।
३. नप्त्रे पुत्राय। न पतन्ति अनेन लब्धेनेति नप्ता। सहस्वते बलवते। तं लब्धुमित्यर्थः—इति भ०।
४. अच्छ अभिगच्छत इति सा०। निपाताः क्वचित् क्रियामप्यभिव्यञ्जन्ति।

तथा पतित न करनेवाली भौतिक सन्तान तथा सद्गुणादिरूप दिव्य सन्तान की प्राप्ति के लिए, **वृधन्तम्** वृद्धि करनेवाले, **अध्वराणाम्** अग्निहोत्रादि-अश्वमेधपर्यन्त, हिंसा-रहित, कर्मकाण्डमय यज्ञों के अथवा स्तुति, प्रार्थना, उपासना, स्वाध्याय, ब्रह्मयज्ञादि ज्ञानयज्ञों के **पुरूतमम्** अतिशय पूरक **अग्निम्** तेजोमय, अग्रणी परमात्मा के **अच्छ** अभिमुख होवो, अर्थात् उसकी आराधना करो ॥१॥

भावार्थ—परमेश्वर उपासकों की उन्नति करता है, उनसे किये जानेवाले ज्ञानयज्ञ, भक्तियज्ञ और कर्मयज्ञों को पूर्ण करता है, और उन्हें सुप्रशस्त सन्तान तथा सद्गुण प्राप्त कराता है ॥१॥

परमात्मा स्तोत्रे किं फलं प्रयच्छेदित्याह ।

२२. **अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यंसद् विश्वं न्यत्रिणम् ॥**

अग्निर्नो वंसते रयिम् ॥२॥[1]

अग्निः तिग्मेन शोचिषा । यंसत् विश्वम् नि अत्रिणम् ॥

अग्निः नः वंसते रयिम् ॥२॥

पदार्थः—**अग्निः** तेजोमयः परमात्मा **तिग्मेन** तीक्ष्णेन **शोचिषा** तेजसा **विश्वम्** समस्तम् **अत्रिणम्**[2] भक्षकं कामक्रोधादिकमन्तःशत्रुवर्गं, चौरलुण्ठकादिकं सामाजिकञ्च रिपुवर्गम् । अत्ति भक्षयति हिनस्ति यः सोऽत्री । अद् भक्षणे धातोः 'अदेस्त्रिनिश्च' उ० ४।६९ इति त्रिनिः । 'पाप्मानोऽत्रिणः' इति ष० ब्रा० ३।१ । **नियंसत्**[3] नियच्छतु । निपूर्वात् यम उपरमे धातोः विध्यर्थे लेटि 'सिब्बहुलं लेटि' अ० ३।१।३४ इति सिपि रूपम् । **अग्निः** स एवाग्निपदवाच्यः परमात्मा **नः** अस्मभ्यम् **रयिम्** लौकिकं धनं हिरण्यरजतप्रजा-पश्वादिकम् आध्यात्मिकञ्च धनं सत्याहिंसादि **वंसते**[4] विभज्य ददातु । वन संभक्तौ धातोर्लेटि सिबागमः ॥२॥

श्लेषेण भौतिकाग्निपक्षेऽपि योजनीयम् ॥२॥

भावार्थः—यथा पार्थिवोऽग्निर्विद्युदग्निर्वा तिग्मेन शोचिषा प्राप्तं वस्तु दहति, शिल्पादिकर्मसु योजितश्च धनं प्रयच्छति, तथैव परमात्माग्निरुपासकानामान्तरान् बाह्याँश्च सपत्नान् निगृह्णाति, तत्कृते च सांसारिकीमाध्यात्मिकीञ्च संपदं वितरति ॥२॥[5]

परमात्मा स्तोता को क्या फल प्रदान करे, यह कहते हैं ।

पदार्थ—**अग्निः** तेजोमय परमात्मा **तिग्मेन** तीक्ष्ण **शोचिषा** तेज से **विश्वम्** समस्त **अत्रिणम्** भक्षक काम-क्रोधादि अन्तःशत्रुवर्ग को और चोर, लुटेरे आदि सामाजिक शत्रुवर्ग को **नियंसत्** नियन्त्रित करे । **अग्निः** वह अग्निपदवाच्य परमात्मा **नः** हमारे लिए **रयिम्** सोना-चाँदी, प्रजा-पशु आदि लौकिक धन तथा सत्य, अहिंसा आदि आध्यात्मिक धन **वंसते** बाँटकर देवे ॥२॥

श्लेष से भौतिक अग्नि के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए ॥२॥

---

१. ऋ० ६।१६।२८, य० १७।१६ उभयत्र 'यंसद्, वंसते' इत्यत्र क्रमेण 'यासद्, वनते' इति पाठः ।

२. अत्रिणम्—अदनशीलं राक्षसम् । 'रक्षांसि वै पाप्मात्रिणः' (ऐ० ब्रा० २।२) इति ह्यैतरेयकम् । न्यत्रिणमित्यत्र स्वरितस्य कम्पः, न तु दीर्घः—इति भ० ।

३. 'नियंसत् नियच्छतु हिनस्तु इत्यर्थः'—इति भ० ।

४. 'वंसतिरत्र दानार्थः'—इति भ० । 'वंसते ददातु'—इति सा० ।

५. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं वाचकलुप्तोपमाश्रयेण ऋग्भाष्ये राजपरो, यजुर्भाष्ये च पावकपरो विद्युत्परो विद्वत्परश्च व्याख्यातः ।

भावार्थ—जैसे पार्थिव अग्नि या विद्युत् तीक्ष्ण तेज से अपने पास आयी वस्तु को दग्ध करता है और शिल्पादि कर्मों में प्रयुक्त होकर धन प्रदान करता है, वैसे ही परमात्मा-रूप अग्नि उपासकों के आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं का निग्रह करता है और उन उपासकों को सांसारिक एवं आध्यात्मिक सम्पत्ति वितीर्ण करता है ॥२॥

अथ परमात्मानं सुखं प्रार्थयते ।

१ २ ३ २ ३ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
२३. अग्ने मृड महाँ अस्यय आ देवयुं जनम् ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
इयेथ बर्हिरासदम् ॥३॥[1]
१ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ १ २ २
अग्ने मृड महान् असि । अयः आ देवयुम् जनम् ॥
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इयेथ बर्हिः आसदम् आ सदम् ॥३॥

पदार्थः—हे **अग्ने** प्रकाशस्वरूप जगन्नायक परमात्मन् ! **मृड** मां सुखय । मृड सुखने, लोण्मध्यमैकवचनम् । त्वम् **महान्** महिमोपेतः **असि** वर्त्तसे । त्वम् **देवयुम्** देवान् दिव्यगुणान् देवं परमात्मानं वाऽऽत्मनः कामयते स देवयुस्तम्, दिव्यगुणाभिलाषिणं परमात्माभिलाषिणं वा । क्यचि 'क्याच्छन्दसि' अ० ३।२।१७० इत्युप्रत्ययः । **जनम्** त्वद्भक्तं माम् **अयः** प्राप्तोऽसि । अय गतौ, भ्वादिः लङ्, व्यत्ययेन परस्मैपदम् । **बर्हिः** हृदयासनम् **आसदम्** आसत्तुम् उपवेष्टुम् । आङ्पूर्वात् षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु धातोस्तुमर्थे णमुल् । **इयेथ** आयातोऽसि । इण् गतौ धातोः 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' । अ० ३।४।६ इति वर्त्तमानेऽर्थे लिट् ॥३॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! अन्तर्यामिन् ! त्वं परमकृपया त्वद्भक्तस्य मम हृदयासनमध्यासितुं समागतोऽसि । सततं दिव्यगुणसन्निधिं त्वत्सन्निधिञ्च कामयमानोऽहं त्वदनुग्रहं याचे । त्वं महानसि, मद्विषयेऽपि स्वं महिमानं चरितार्थं कुरु । सर्वदा मामानन्दय ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से सुख की प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ—हे **अग्ने** प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! आप मुझे **मृड** सुखी कीजिए । आप **महान्** महान् **असि** हो । आप **देवयुम्** दिव्यगुणों की कामना करनेवाले अथवा परमात्माभिलाषी **जनम्** मुझ जन को **अयः** प्राप्त हुए हो । मेरे **बर्हिः** हृदयरूप आसन पर **आसदम्** बैठने के लिए **आ इयेथ** आये हो ॥३॥

भावार्थ—हे परमेश्वर, हे अन्तर्यामिन्, आप बड़ी कृपा करके मुझ अपने भक्त के हृदयासन पर आसीन होने के लिए आये हैं । निरन्तर दिव्यगुणों का सान्निध्य चाहता हुआ मैं आपके अनुग्रह की याचना करता हूँ । आप महान् हैं, मेरे विषय में भी अपनी महत्ता को चरितार्थ करें । सदा मुझे आनन्दित करते रहें ॥३॥

अथ परमात्मा पापादिभ्यो रक्षणार्थं प्रार्थ्यते ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
२४. अग्ने रक्षा णो अंहसः प्रति स्म देव रीषतः ।
१ २ ३ १ २
तपिष्ठैरजरो दह ॥४॥[2]

---

१. ऋ० ४।६।१ 'अय आ' इत्यत्र 'य ईमा' इति पाठः । ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिः मन्त्रमिमं विद्वत्सत्कारविषये व्याख्यातवान् ।

२. ऋ० ७।१५।१३, 'स्म' इत्यत्र 'ष्म' इति पाठः ।

१ २,१ १ २,१ ३ १ २,१ १ २,१ ३ २
अग्ने रक्ष नः अंहसः । प्रति स्म देव रिषतः ।।
१ २,१ ३ १ २ ३ १ २,१ ३
तपिष्ठैः अजरः अ जरः दह ।।४।।

पदार्थः—हे **अग्ने** ज्योतिष्मन् परमात्मन् ! त्वम् **नः** अस्मान् । संहितायां 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' अ० ८।४।२७' इति नस्य णः । **अंहसः** पापाचरणात् **रक्ष** परित्रायस्व । संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः' अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः । हे **देव** दिव्यगुणकर्मस्वभाव, सकलैश्वर्यप्रदातः प्रकाशमान, सर्वप्रकाशक ! देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा इति निरुक्तम् । ७।१५ । **अजरः** स्वयं हिंसाजर्जरत्वादिरहितस्त्वम् **रिषतः** अस्माकं हिंसापरायणान् आन्तरान् बाह्यांश्च शत्रून् 'रीषतः' इति संहितायां छान्दसं दीर्घत्वम् । **तपिष्ठैः** सन्तापकतमैः स्वकीयैः तेजोभिः **प्रति दह स्म**[1] भस्मसात् कुरु ।।

अत्र श्लेषेण भौतिकाग्निपक्षे राजपक्षे चाप्यर्थो योजनीयः ।।४।।[2]

भावार्थः—यथा भौतिकाग्निः शीतादन्धकाराद् व्याघ्रादिभ्यश्च रक्षति, यथा वा राजा पापिनो दण्डयित्वाऽऽक्रामकान् रिपूँश्च पराजित्य प्रजां पापाच्छत्रुभ्यश्च रक्षति, तथैव परमात्माऽस्मभ्यमात्मरक्षायाः सामर्थ्यं दत्त्वाऽस्मान् पापाचरणादान्तराद् बाह्याच्च शत्रोः रक्षेत् ।।४।।

अब परमात्मा से पाप आदि से रक्षा की प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ—हे **अग्ने** ज्योतिष्मन् परमात्मन् ! आप **नः** हमारा **अंहसः** पापाचरण से **रक्ष** त्राण कीजिए । हे **देव** दिव्यगुणकर्मस्वभाव, सकलैश्वर्यप्रदाता, प्रकाशमान, सर्वप्रकाशक जगदीश्वर ! **अजरः** स्वयं नश्वरता, जर्जरता आदि से रहित आप **रिषतः** हिंसापरायण आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं को **तपिष्ठैः** अतिशय संतापक स्वकीय सामर्थ्यों से **प्रति दह स्म** भस्मसात् कर दीजिए ।

इस मन्त्र की श्लेष से भौतिक अग्नि तथा राजा के पक्ष में भी अर्थ-योजना करनी चाहिए ।।४।।

भावार्थ—जैसे भौतिक अग्नि शीत से, अन्धकार से और बाघ आदिकों से रक्षा करता है, अथवा राजा पापियों को दण्डित कर, आक्रमणकारियों और शत्रुओं को पराजित कर प्रजा की पाप तथा शत्रुओं से रक्षा करता है, वैसे ही परमात्मा हमें आत्मरक्षा करने का सामर्थ्य प्रदान कर पापाचरण से तथा आन्तरिक एवं बाह्य शत्रुओं से हमारी रक्षा करे ।।४।।

अथ पुनः परमात्मा प्रार्थ्यते ।

२५. १ २ ३ १,२ ३ १ २
अग्ने युङ्क्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः ।
२ ३ १ २ ३ १ २
अरं वहन्त्याशवः ।।५।।[3]
१ २,१ ३ २ १ २,१ १ २,१ ३ १ २
अग्ने युङ्क्ष्व हि ये तव । अश्वासः देव साधवः ।।
१ २,१ १ २,१ ३ १ २
अरम् वहन्ति आशवः ।।५।।

पदार्थः—हे **देव** कर्मोपदेशप्रदातः **अग्ने** जगन्नायक परमेश्वर ! **ये तव** त्वदीयाः, त्वद्रचिताः **साधवः** कार्यसाधनशीलाः **आशवः** वेगवन्तः । साध्नुवन्ति कार्याणीति साधवः अश्नुवते सद्योऽध्वानमित्याशवः । साध संसिद्धौ, अशूङ् व्याप्तौ, इति धातुभ्यां—'कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् । उ० १।१ इत्युण् ।

---

१. स्म इति पूरणः—इति वि०, भ० ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं भौतिकाग्निसादृश्येन राजपक्षे व्याख्यातवान् ।

३. ऋ० ६।१६।४३, य० १३।३६ । उभयत्र 'युङ्क्ष्वा, वहन्त्याशवः' इत्यनयोः स्थाने क्रमेण 'युक्ष्वा, वहन्ति मन्यवे' इति पाठः साम० १३८३ ।

अश्वासः इन्द्रिय-प्राण-मनोबुद्धिरूपास्तुरङ्गाः । आज्जसेरसुक् । अ० ७।१।५०[1] इति जसोऽसुगागमः । **अरम्** पर्याप्तम् **वहन्ति** अस्मान् निर्धारितं लक्ष्यं प्रति प्रापयन्ति, तान् **हि** अवश्यम् **युङ्क्ष्व** कर्मणि योजय । संहितायां, 'द्व्यचोऽतस्तिङः' । अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः ॥५॥[1]

भावार्थः—हे परमात्मदेव ! कृतकर्मफलभोगार्थं नूतनकर्मसम्पादनार्थं चास्मभ्यं शरीररथा इन्द्रिय-प्राणमनोबुद्धिरूपा अश्वाश्च त्वया प्रदत्तास्सन्ति । अलसा भूत्वा वयं कदाचिन्निरुत्साहाः निष्कर्माणश्च भवामः । त्वं कृपयाऽस्माकमिन्द्रियप्राणादिरूपानश्वान् कर्मणि योजय, येन वैदिकं कर्मयोगमाश्रयमाण वयं सर्वत्र सततमग्रगामिनः स्याम ॥५॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ—हे **देव** कर्मोपदेशप्रदाता **अग्ने** जगन्नायक परमेश्वर ! **ये** जो **तव** आपके अर्थात् आप द्वारा रचित **साधवः** कार्यसाधक **आशवः** वेगवान् **अश्वासः** इन्द्रिय, प्राण, मन एवं बुद्धि रूप घोड़े **अरम्** पर्याप्त रूप से **वहन्ति** हमें निर्धारित लक्ष्य पर पहुँचाते हैं, उनको आप **हि** अवश्य **युङ्क्ष्व** कर्म में नियुक्त कीजिए ॥५॥

भावार्थ—हे परमात्मदेव ! किये हुए कर्मफल के भोगार्थ तथा नवीन कर्म के सम्पादनार्थ शरीर-रूप रथ तथा इन्द्रिय, प्राण, मन एवं बुद्धि रूप घोड़े आपने हमें दिए हैं । आलसी बनकर हम कभी निरुत्साही और अकर्मण्य हो जाते हैं । आप कृपा कर हमारे इन्द्रिय, प्राण आदि रूप घोड़ों को कर्म में तत्पर कीजिए, जिससे वैदिक कर्मयोग के मार्ग का आश्रय लेते हुए हम निरन्तर अग्रगामी होवें ॥५॥

अथ परमात्मानं स्वहृदये धारयाम इत्याह ।

२६. नि त्वा नक्ष्य विश्पते द्युमन्तं धीमहे वयम् ।
सुवीरमग्न आहुत ॥६॥[2]

नि त्वा नक्ष्य विश्पते । द्युमन्तम् धीमहे वयम् ॥
सुवीरम् सु वीरम् अग्ने आहुत आ हुत ॥६॥

पदार्थः—हे **नक्ष्य**[3] उपगन्तव्य शरण्य । नक्षितुमुपगन्तुमर्हो नक्ष्यः । नक्षतिः गतिकर्मा निघं० २।१४ । **विश्पते** प्रजापालक, **आहुत**[4] बहुजनसत्कृत **अग्ने** सर्वाग्रणीः ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! **वयम्** उपासकाः **द्युमन्तम्** दीप्तिमन्तम् **सुवीरम्** शोभनाः श्रेष्ठाः वीराः वीरतादिगुणाः यस्मात्स सुवीरः तम् । बहुव्रीहौ 'वीरवीर्यौ च' ६।२।१२० इति सोः परो वीरशब्द आद्युदात्तः । **त्वा** त्वाम् **निधीमहे** निधिवत् स्वान्तःकरणे निदध्महे, नितरां ध्यायामो वा । निपूर्वात् धा धातोर्ध्यैधातोर्वा लटि छान्दसं रूपम् ॥६॥[5]

भावार्थः—शरणागतवत्सलः, प्रजापालको, बहुजनवन्दितो, वीरत्वप्रदाता, तेजोनिधिः परमेश्वरः सर्वैः स्वहृदि धारणीयो ध्यातव्यश्च ॥६॥

परमात्मा को हम हृदय में धारण करते हैं, यह कहते हैं ।

---

१. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये शिल्पविद्यापक्षे यजुर्भाष्ये च राजविद्यापक्षे व्याख्यातः ॥
२. ऋ० ७।१५।७, 'धीमहे वयम्' इत्यत्र 'देव धीमहि' इति पाठः ।
३. नक्ष्य । नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा । उपगन्तव्य—इति भ० ।
४. (आहुत) बहुभिः सत्कृत—इति ऋ० ७।१५।७ भाष्ये द० ।
५. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं राजप्रजाव्यवहारपक्षे व्याख्यातः ।

पदार्थ—हे **नक्ष्य** प्राप्तव्य, शरणागतों के हितकर, **विश्पते** प्रजापालक, **आहुत** बहुतों से सत्कृत **अग्ने** सबके अग्रणी, ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! **वयम्** हम उपासक **द्युमन्तम्** दीप्तिमान्, **सुवीरम्** श्रेष्ठ वीरतादि गुणों को प्राप्त करानेवाले **त्वा** आपको **निधीमहे** निधिवत् अपने अन्तःकरण में धारण करते हैं अथवा आपका ध्यान करते हैं ॥६॥

भावार्थ—सबको चाहिए कि शरणागतवत्सल, प्रजाओं के पालनकर्त्ता, बहुत जनों से वन्दित, वीरता को देनेवाले, तेज के निधि परमेश्वर को अपने हृदय में धारण करें और उसका ध्यान करें ॥६॥

अथ सूर्यदृष्टान्तेन परमात्मनो महिमानं वर्णयन्नाह ।

२७. अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत् पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपां रेतांसि जिन्वति ॥७॥[1]
अग्निः मूर्द्धा दिवः ककुत् । पतिः पृथिव्याः अयम् ॥
अपाम् रेतांसि जिन्वति ॥७॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । **अग्निः** सर्वाग्रणीः परमेश्वरः **मूर्द्धा**[2] शरीरे मूर्द्धवत् जगतः शिरोमणिभूतः, **दिवः** प्रकाशमयस्य द्युलोकस्य **ककुत्**[3] सर्वोन्नतः स्वामी, किञ्च **पृथिव्याः** भूमेः **पतिः** पालकः वर्त्तते । **अयम्** एष परमेश्वरः **अपाम्**[4] अन्तरिक्षस्य । आप इत्यन्तरिक्षनाम । निघं० १।३ । **रेतांसि** जलानि । रेत इत्युदकनाम । निघं० १।१२ । **जिन्वति** प्रेरयति, वृष्ट्या भूलोकं प्रापयतीत्यर्थः । जिन्वतिः गतिकर्मा । निघं० २।१४ ।

अथ **द्वितीयः** सूर्याग्निपरः । **अग्निः** प्रकाशकः सूर्याग्निः **मूर्द्धा** त्रिलोक्याः शिर इव, **दिवः** द्युलोकरूपस्य वृषभस्य **ककुत्** ककुदिव, **पृथिव्याः** भूमेश्च **पतिः** पालकः स्वामी वर्त्तते । अयम् **अपाम्** अन्तरिक्षस्य **रेतांसि** उदकानि **जिन्वति** भूमौ प्रेरयति ॥७॥

अत्र श्लेषालङ्कारः । परमेश्वरः सूर्य इवेत्युपमाध्वनिः । मूर्द्धेव ककुदिव इति लुप्तोपमम् । यद्वा अग्नौ मूर्धनः ककुदश्चारोपाद् रूपकालङ्कारः । अग्नौ ककुत्त्वारोपः शाब्दः, दिवि वृषभत्वारोप आर्थः, तेनैकदेशविवर्त्ति रूपकम् ॥७॥[5]

भावार्थः—यथा सूर्यः सौरजगतो मूर्धेव, द्युलोकस्य ककुदिव, भूमेश्च पालकोऽस्ति तथैवाऽस्माभिरुपास्यमानोऽयं परमेश्वरः सकलब्रह्माण्डस्य शिरोमणिः, प्रोज्ज्वलन्नानानक्षत्रजालजटितस्य द्युलोकस्याधि-

---

१. ऋ० ८।४४।१६, य० ३।१२, १५।२०, साम० १५३२ ।

२. अग्निः मूर्धा । लुप्तोपममिह द्रष्टव्यम् । मूर्धानमिव । यादृशं मनुष्याणां शिरः सर्वाङ्गानां प्रधानं तादृशः प्रधानः स्वामीत्यर्थः-इति वि० । मूर्द्धा धारकः-इति भ० ।

३. ककुत् एतदपि लुप्तोपमम् । ककुदमिव । यथा बलीवर्दस्य ककुदं प्रधानं तादृशः प्रधानः—इति वि० । दिवः ककुत् उच्छ्रितः—इति भ० ।

४. अपां रेतांसि । आप इत्यन्तरिक्षनाम, रेत इत्युदकनाम । अन्तरिक्षस्य सारभूतानि उदकानि, अथवा अपां वीर्याणि वृष्टचादीनि जिन्वति तर्पयति प्रीणयति—इति भ० । अपां रेतांसि स्थावरजङ्गमात्मकानि भूतानि जिन्वति प्रीणयति—इति सा० ।

५. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं य० ३।१२ इत्यत्र श्लेषेण परमेश्वरपक्षे भौतिकाग्निपक्षे च व्याख्यातः, य० १५।२० इत्यत्र च भौतिकाग्निपक्षे ।

पतिः, विविधपर्वतनदीनदसागरसरोवरलताविटपिपत्रपुष्पादिसुषमासमन्वितस्य भूमण्डलस्य पालकश्चाऽस्ति। स एव सूर्यवदन्तरिक्षस्थानि मेघजलानि भूमौ वर्षयति। अतः स सर्वेषां धन्यवादार्हः ॥७॥

अब सूर्य के दृष्टान्त से परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हैं।

पदार्थ—प्रथम, परमात्मा के पक्ष में। **अग्निः** सबका अग्रनेता परमेश्वर **मूर्द्धा** शरीर में मूर्द्धा के समान जगत् का शिरोमणि है, **दिवः** प्रकाशमान द्युलोक का **ककुत्** सर्वोन्नत स्वामी है, और **पृथिव्याः** पृथिवी का **पतिः** पालक है। **अयम्** यह परमेश्वर **अपाम्** अन्तरिक्ष के **रेतांसि** जलों को **जिन्वति** वर्षा द्वारा भूमि पर पहुँचाता है।

द्वितीय, सूर्य के पक्ष में। **अग्निः** प्रकाशक सूर्यरूप अग्नि **मूर्द्धा** त्रिलोकी का सिर-सदृश, **दिवः** द्युलोकरूपी बैल का **ककुत्** कुब्ब-सदृश और **पृथिव्याः** भूमि का **पतिः** पालनकर्त्ता स्वामी है। यह **अपाम्** अन्तरिक्ष के **रेतांसि** जलों को **जिन्वति** भूमि पर प्रेरित करता है, बरसाता है ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। परमेश्वर सूर्य के समान है, यह उपमाध्वनि है। मूर्द्धा के समान ककुत् के समान, इसप्रकार लुप्तोपमा है, अथवा अग्नि में मूर्द्धत्व तथा ककुत्त्व का आरोप होने से रूपकालङ्कार है। अग्नि में ककुत्त्व का आरोप शाब्द तथा द्युलोक में वृषभत्व का आरोप आर्थ है, अतः एकदेशविवर्ती रूपक है ॥७॥

भावार्थ—जैसे सूर्य सौरलोक का मूर्धातुल्य, द्युलोक का कुब्ब-तुल्य और भूमि का पालनकर्त्ता है, वैसे ही हमारे द्वारा उपासना किया जाता हुआ यह परमेश्वर सकल ब्रह्माण्ड का शिरोमणि है, उज्ज्वल नाना नक्षत्रों से जटित द्युलोक का अधिपति है और विविध पर्वत, नदी, नद, सागर, सरोवर, लता, वृक्ष, पत्र, पुष्प आदि की शोभा से युक्त भूमण्डल का पालक है। वही सूर्य के समान आकाश में स्थित मेघजलों को भूमि पर बरसाता है। अतः वह सबका धन्यवाद-योग्य है ॥७॥

परमात्मैव सृष्ट्यादौ वेदविज्ञानं प्रवक्तीत्याह।

३ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २१
२८. इममू षु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं नव्यासम्।
१ २ ३ २ ३ १ २
अग्ने देवेषु प्र वोचः ॥८॥[1]
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २१
इमम् उ सु त्वम् अस्माकम्। सनिम् गायत्रम् नव्यांसम् ॥
१ २ १ ३ १ २ ३
अग्ने देवेषु प्र वोचः ॥८॥

पदार्थः—हे **अग्ने** अनन्तविद्यामय जगदीश्वर! **त्वम्** सर्वमङ्गलप्रदस्त्वम् **इमम् उ** एतं खलु **अस्माकम्** मनुष्याणाम् **सनिम्** बहुबोधप्रदम्। सनोति ददाति बहून् कर्त्तव्यबोधानिति सनिः। षणु दाने धातोः 'खनिकष्यत्रिज्यसिवसिवनिसनि० उ० १।१४१' इति इः प्रत्ययः। **नव्यांसम्** नवीयांसम्। नित्यनवीनतरमिति यावत्। नवशब्दाद् ईयसुनि ईकारलोपश्छान्दसः। **गायत्रम्** गायत्र्यादिच्छन्दोऽन्वितं वेदचतुष्टयम् **देवेषु** दिव्यगुणयुक्तेषु विद्वत्सु ऋषिषु **सुप्रवोचः** प्रतिकल्पं सृष्ट्यादौ समुपदिशसि। प्रावोचः इति प्राप्ते 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि अ० ६।४।७५ इत्यडागमो न। लडर्थे लुङ् ॥८॥[2]

भावार्थः—जगत्पिता परमकारुणिकः परमेश्वरो मनुष्याणां कर्त्तव्योपदेशाय प्रतिकल्पं महर्षीणां हृदयेषु चतुरो वेदानुपदिशति, यानधीत्य वयं ज्ञानिनो भवाम इति तस्य महतीं कृपां को नाभिनन्देत् ॥८॥

१. ऋ० १।२७।४, साम० १४९७।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरपि मन्त्रमेतं परमेश्वरतः सृष्ट्यादौ वेदचतुष्टयप्रवचनविषये व्याख्यातवान्।

परमात्मा ने ही सृष्टि के आदि में वेदविज्ञान का प्रवचन किया था, यह कहते हैं ।

पदार्थ—हे **अग्ने** अनन्तविद्यामय जगदीश्वर ! **त्वम्** सब मङ्गलों को देनेवाले आप **इमम्** इस, **अस्माकम्** हम मनुष्यों के **सनिम्** बहुत बोधप्रद, **नव्यांसम्** नवीनतर **गायत्रम्** गायत्र्यादि छन्दों से युक्त चारों वेदों को **देवेषु** दिव्यगुणयुक्त विद्वान् ऋषियों के प्रति **सुप्रवोचः** सम्यक्तया सृष्टि के आदि में प्रवचन करते हो ॥८॥

भावार्थ—जगत्पिता, परम कारुणिक परमेश्वर मनुष्यों के कर्त्तव्यबोध के लिए सृष्टि के आदि में महर्षियों के हृदयों में चारों वेदों का उपदेश करता है, जिनका अध्ययन करके हम ज्ञानी बनते हैं। उसकी इस महती कृपा का कौन अभिनन्दन नहीं करेगा ? ॥८॥

अथ कस्तं परमात्मानं हृदये प्रकटयतीत्याह ।

२९. तं त्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने अङ्गिरः ।
स पावक श्रुधी हवम् ॥९॥[1]
तम् त्वा गोपवनः गिरा । जनिष्ठत् अग्ने अङ्गिरः ॥
सः पावक श्रुधि हवम् ॥९॥

पदार्थः—हे **अङ्गिरः**[2] मत्प्राणभूत । प्राणो वा अङ्गिराः श० ६।३।७।३। **अग्ने** ज्ञानसूर्य जगन्नेतः परमात्मन् ! **तम्** तादृशं निखिलगुणसमन्वितम् **त्वा** त्वाम् **गोपवनः** गवामिन्द्रियाणां वाचां वा पवनः शोधयिता गो-पवनः पवित्रेन्द्रियः पूतवाक्, यद्वा गाः इन्द्रियाणि पाति रक्षतीति गोपः आत्मा तं वनति सेवते इति गोप-वनः आत्मसेवी स्तोता **गिरा** स्तुतिवाचा वेदवाण्या वा **जनिष्ठत्** जनयति स्वान्तःकरणे प्रकटयति । जनी प्रादुर्भावे धातोर्ण्यन्ताल्लेटि 'जनिषत्' इति प्राप्ते बहुलवचनात् ठकारागमश्छान्दसः । हे **पावक** शुद्धिकर्त्तः देव ! **सः** तादृशस्त्वम् **हवम्** मदीयाह्वानम् । हवं ह्वानमिति निरुक्तम् १०।२ । ह्वेञ् धातोः 'बहुलं छन्दसि । अ० ६।१।३४' इति सम्प्रसारणे सति उकारान्तत्वाद् 'ऋदोरप् । अ० ३।३।५७' इत्यप् प्रत्ययः । **श्रुधि** श्रृणु । श्रु श्रवणे धातोः 'श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि । अ० ६।४।१०२' इति हेर्धिः । 'अन्येषामपि दृश्यते अ० ६।३।१३ इति संहितायां दीर्घः ॥९॥

भावार्थः—परमेश्वरोऽव्यक्तरूपेण सर्वेषां हृदि सन्निविष्टः । तं पवित्रेन्द्रियः पूतवाग् आत्मसेवी जन एव वेदमन्त्रैः स्तुवन् प्रकटयितुं समर्थो भवति । परमेश्वरश्च प्रकटीभूय हृदयं पुनाति ॥९॥

कौन उस परमात्मा को हृदय में प्रकट करता है, यह कहते हैं ।

पदार्थ—हे **अङ्गिरः** मेरे प्राणभूत **अग्ने** ज्ञान के सूर्य, जगन्नेता परमात्मन् ! **तम्** उस समस्त गुणगणों से युक्त **त्वा** आपको **गो-पवनः** इन्द्रियरूप या वाणीरूप गौओं का शोधक, पवित्रेन्द्रिय, पूतवाक् स्तोता, अथवा **गोप-वनः** आत्मसेवी स्तोता **गिरा** स्तुतिवाणी या वेदवाणी से **जनिष्ठत्** अपने अन्तःकरण

---

१. ऋ० ८।७४।११ 'तन्त्वा', 'जनिष्ठदग्ने' इत्यत्र क्रमेण 'यं त्वा', 'चनिष्ठदग्ने' इति पाठः ।

२. अङ्गिरः अङ्गानि शरीरावयवाः, तद्वत् अङ्गि शरीरम्, तस्य स्थितिहेतुरशितपीतरसः, तत्करोतीति णिच् अङ्गिरसयति । जाठरो ह्यग्निः अन्नं रसीकरोति । तस्य सम्बोधनं हे अङ्गिरः शरीरस्थितिहेतोरशितपीतरसस्य कर्त्तः' इत्यर्थः—इति वि० । अङ्गिरः अङ्गिरसः पुत्रः 'अङ्गिरसां वा एकोग्निः (ऐ० ब्रा० ६।३४)' इति ऐतरेयकम् । अगेर्वा अङ्गिराः । गन्तव्य सर्वत्र—इति भ० । अङ्गिरः सर्वत्र गन्तः अङ्गिरसां पुत्र वा—इति सा० ।

में प्रकट करता है। हे **पावक** शुद्धिकर्त्ता देव ! **सः** वह तू **हवम्** मेरे आह्वान को **श्रुधि** सुन ॥९॥

भावार्थ—परमेश्वर अव्यक्त रूप से सबके हृदय में सन्निविष्ट है। उसे पवित्रेन्द्रिय, पवित्र वाणी वाला, आत्मसेवी मनुष्य ही वेदमन्त्रों से स्तुति करता हुआ प्रकट करने में समर्थ होता है, और परमेश्वर प्रकट होकर हृदय को पवित्र करता है ॥९॥

अथ परमेश्वरः स्तोतुः किमुपकरोतीत्याह ।

३०. परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत् ।
दधद् रत्नानि दाशुषे ॥१०॥[1]

परि वाजपतिः वाज पतिः कविः । अग्निः हव्यानि अक्रमीत् ॥
दधत् रत्नानि दाशुषे ॥१०॥

पदार्थः—प्रथमः परमेश्वरपरः। **वाजपतिः** वाजानाम् आत्मिकबलानां पतिः अधीश्वरः, **कविः** मेधावी, क्रान्तद्रष्टा। कविरिति मेधाविनाम। निघं० ३।१५। 'कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा' इति निरुक्तम् १२।१३। **अग्निः** प्रकाशस्वरूपः परमेश्वरः **दाशुषे** आत्मानं हविः कृत्वा दत्तवते स्तोत्रे। दाश्वान् साह्वान् मीढ्वाँश्च। अ० ६।१।१२ अनेनायं दानार्थाद् दाशतेः क्वसुप्रत्ययान्तो निपातितः। **रत्नानि** रमणीयानि सद्गुणरूपाणि धनानि। रत्नानां रमणीयानां धनानामिति निरुक्तम्। ७।५। **दधत्** धारयन्, प्रयच्छन्, तस्य **हव्यानि** आत्मसमर्पणरूपाणि हवींषि **परि अक्रमीत्** परितः प्राप्नोति, स्वीकरोतीत्यर्थः। क्रमु पादविक्षेपे।' छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' अ० ३।४।६ इति लडर्थे लङ्।

अथ **द्वितीयः** यज्ञाग्निपरः। **वाजपतिः** अन्नानां बलानां च प्रदाता पालकश्च, **कविः** गतिमान्। पवनाहतः सन् कवते यज्ञवेद्यां ज्वालाभिरितस्ततः संचरतीति कविः। कवते गतिकर्मा। निघं० २।१४। **अग्निः** यज्ञाग्निः **दाशुषे** हविर्दत्तवते यजमानाय **रत्नानि** आरोग्यादिरूपाणि रमणीयानि फलानि **दधत्** प्रयच्छन् सन् **हव्यानि** सुगन्धिमिष्टपुष्टिवर्धकरोगनाशकानि घृतकेसरकस्तूर्यादीनि हवींषि **परि अक्रमीत्**[2] सूक्ष्मीकृत्य परितो विस्तारयति ॥१०॥[3]

अत्र श्लेषालङ्कारः, उपमानोपमेयभावश्च गम्यते ॥१०॥

भावार्थः—यथाऽन्नानां बलानां चोत्पत्तिनिमित्तं यज्ञाग्निर्हविर्दत्तवते यजमानाय दीर्घायुष्यारोग्यादीनि फलानि प्रयच्छति तथैवोपासनायज्ञ आत्मसमर्पणरूपाणि हवींषि दत्तवते स्तोत्रे परमेश्वरः सद्गुणादिरूपाणि फलानि ददाति ॥१०॥

परमेश्वर स्तोता का क्या उपकार करता है, यह कहते हैं।

पदार्थ—प्रथम, परमेश्वर के पक्ष में। **वाजपतिः** आत्मिक बलों का अधीश्वर, **कविः** मेधावी, दूरदर्शी **अग्निः** प्रकाशस्वरूप परमेश्वर **दाशुषे** अपने आत्मा को हवि बनाकर ईश्वरार्पण करनेवाले आत्मदानी स्तोता के लिए **रत्नानि** रमणीय सद्गुणरूप धन **दधत्** प्रदान करता हुआ, उसकी **हव्यानि**

---

१. ऋ० ४।१५।३, य० ११।२५ ऋषिः सोमकः।

२. क्रमिर्गत्यर्थः, शुद्धोऽपि च ण्यर्थे द्रष्टव्यः। परिक्रमितवान् परिगमितवान् नीतवानित्यर्थः—इति वि०।

३. दयानन्दर्षिर्मन्त्रेऽस्मिन् ऋग्भाष्ये दातृपुरुषसाम्येन यजुर्भाष्ये च गृहस्थसाम्येन भौतिकाग्निविषयमाह।

आत्मसमर्पणरूप हवियों को **परि अक्रमीत्** सब ओर से प्राप्त करता है अर्थात् स्वीकार करता है।

द्वितीय, यज्ञाग्नि के पक्ष में। **वाजपतिः** अन्नों और बलों का प्रदाता तथा पालक, **कविः** गतिमान् **अग्निः** यज्ञाग्नि **दाशुशे** हवि देनेवाले यजमान के लिए **रत्नानि** आरोग्य आदि रूप रमणीय फलों को **दधत्** देता हुआ **हव्यानि** सुगन्धित, मधुर, पुष्टिकर तथा रोगनाशक घृत, केसर, कस्तूरी आदि हवियों को **परि अक्रमीत्** सूक्ष्म करके चारों ओर फैला देता है ॥१०॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है और उपमानोपमेयभाव ध्वनित होता है ॥१०॥

भावार्थ—जैसे अन्नों और बलों की उत्पत्ति का निमित्त यज्ञाग्नि हवि देनेवाले यजमान को दीर्घायुष्य, आरोग्य आदि फल प्रदान करता है, वैसे ही आत्मसमर्पणरूप हवि देनेवाले स्तोता को परमेश्वर सद्गुण आदि रूप फल देता है ॥१०॥

अथ सूर्यदृष्टान्तेनेश्वरविषय उपदिश्यते।

३१. उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥११॥[1]

उत् उ त्यम् जातवेदसम् जात वेदसम्। देवम् वहन्ति केतवः॥
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥११॥

पदार्थः—**प्रथमः** सूर्यपरः। **केतवः** किरणाः **त्यम्** तं प्रसिद्धम् **जातवेदसम्** यो जातान् पदार्थान् वेदयते प्रकाशयति तादृशम्, **देवम्** प्रकाशमानं, प्रकाशकम्, अहोरात्रादीनां दातारम्, द्युस्थानभवं च। देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। निरु० ७।१५। **सूर्यम्** आदित्यरूपम् अग्निम् **विश्वाय दृशे** सर्वेषां भूतानां दर्शनाय। विश्वाय इत्यत्र 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम् अ० २।३।६२ वा० इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। विश्वस्मै इति प्राप्ते छन्दसि विभाषा सर्वनामसंज्ञानिषेधात् स्मै आदेशो न। दृशे इति 'दृशे विख्ये च' अ० ३।४।११ इत्यनेन तुमर्थे के प्रत्ययान्तो निपातः। **उद् वहन्ति** पृथिव्यादिलोकेषु प्रसारयन्ति। उपरिस्थितोऽप्यादित्यः किरणद्वारा सर्वान् लोकान् प्राप्नोतीति भावः।

इमं मन्त्रं यास्कमुनिरेवं व्याचष्टे—उद्वहन्ति तं जातवेदसं रश्मयः केतवः सर्वेषां भूतानां दर्शनाय सूर्यमिति कमन्यमादित्यादेवमवक्ष्यत् इति। निरु० १०।१५।

अथ **द्वितीयः** परमेश्वरपरः। **केतवः** केतुमन्तः प्राप्तऋतम्भराप्रज्ञा योगिनो विद्वांसः[2]। केतुरिति प्रज्ञानामसु पठितम्। निघं० ३।९। अत्र मतुपो लुक्। **त्यम्** तं स्वानुभूतं प्रसिद्धम् **जातवेदसम्** सर्वज्ञं, सर्वव्यापकं, सर्वैर्ज्ञेयं, धनोत्पादकं, ज्ञानप्रदायकं च। जातवेदाः कस्मात्? जातानि वेद, जातानि वैनं विदुः जाते जाते विद्यत इति वा, जातवित्तो वा जातधनः, जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः इति निरुक्तम्। ७।१९। **देवम्** दिव्यगुणप्रदायकम् **सूर्यम्**[3] सूर्यवद् भासमानं परमेश्वरम् **विश्वाय दृशे** विश्वेषां जनानां साक्षात्करणाय

---

१. ऋ० १।५०।१, य० ७।४१ अन्ते स्वाहा इत्यधिकम्, ३३।३१, अथ० २०।४७।१३ सर्वत्र देवता सूर्यः। अथ० १३।२।१६ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः।

२. केतवः किरणा इव प्रकाशमाना विद्वांसः इति य० ८।४१ भाष्ये द०।

३. सूर्यम् यः स्रियते विज्ञाप्यते वा वेदैर्विद्वद्भिश्च तम् इति य० ७।४१ भाष्ये द०।

उद् वहन्ति सर्वत्र प्रचारयन्ति ॥११॥[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः। द्वयोरर्थयोरुपमानोपमेयभावश्च व्यज्यते ॥११॥

भावार्थः—यथा सूर्यं तद्रश्मयः सर्वेषां जनानामालोकाय भूम्यादिलोकान् प्रापयन्ति, तथा योगिनो विद्वांसः परमेश्वरं स्वयं साक्षात्कृत्य परेषां दर्शनाय सर्वत्रोपदिशन्ति ॥११॥

अगले मन्त्र में सूर्य के दृष्टान्त से परमेश्वर विषय का उपदेश है।

पदार्थ—प्रथम सूर्य के पक्ष में। **केतवः** किरणें **त्यम्** उस प्रसिद्ध, **जातवेदसम्** उत्पन्न पदार्थों को प्रकाशित करनेवाले, **देवम्** प्रकाशमान, प्रकाशक, दिन-रात आदि के प्रदाता तथा द्युलोक में स्थित **सूर्यम्** सूर्य-रूप अग्नि को **विश्वाय दृशे** सब प्राणियों के दर्शन के लिए **उद् वहन्ति** पृथिवी आदि लोकों में पहुँचाती हैं, अर्थात् सूर्य ऊपर स्थित हुआ भी किरणों द्वारा सब लोकों में पहुँच जाता है।

द्वितीय परमेश्वर के पक्ष में। **केतवः** जिन्हें ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो गई है वे योगी लोग **त्यम्** स्वयं अनुभव किये गये उस प्रसिद्ध, **जातवेदसम्** सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, धनों के उत्पादक और ज्ञानप्रदायक, **देवम्** दिव्यगुणप्रदाता **सूर्यम्** सूर्य के सदृश ज्योतिर्मय परमेश्वर-रूप अग्नि को **विश्वाय दृशे** सबके साक्षात्कार के लिए **उद् वहन्ति** सर्वत्र प्रचारित करते हैं ॥११॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। सूर्य और परमेश्वर का उपमानोपमेयभाव व्यंग्य है ॥११॥

भावार्थ—जैसे सूर्य के प्रकाश को उसकी किरणें भूमि आदि लोकों में पहुँचाती हैं, जिससे सब लोग देख सकें, वैसे ही योगी विद्वान् जन परमेश्वर का स्वयं साक्षात्कार करके अन्यों के दर्शनार्थ उसे सर्वत्र प्रचारित करते हैं ॥११॥

अथ भौतिकाग्निवत् परमेश्वरस्यापि गुणाः सर्वैर्वेदितव्या इत्याह।

३२. **कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे।**
देवममीवचातनम् ॥१२॥[2]

कविम् अग्निम् उप स्तुहि। सत्यधर्माणम् सत्य धर्माणम् अध्वरे ॥
देवम् अमीवचातनम् अमीव चातनम् ॥१२॥

पदार्थः—प्रथमः परमेश्वरपरः। हे मनुष्य, त्वम् **अध्वरे** हिंसादिरहिते जीवनयज्ञे **कविम्** वेदकाव्यस्य कर्तारम्, क्रान्तदर्शिनम्, **सत्यधर्माणम्** सत्या अवितथा धर्मा गुणकर्मस्वभावा यस्य तम्, **देवम्** सुखादीनां दातारम्, **अमीवचातनम्** अमीवान् अज्ञानादीन् व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्यादीन् वा योगविघ्नकरान् मानसान् रोगान् चातयति हिनस्ति यस्तम्।[3] अम रोगे, बाहुलकादौणादिक ईवप्रत्ययः। चातयतिर्नाशने, निरु० ६।३०। **अग्निम्** तेजस्विनं परमेश्वरम् **उप स्तुहि** उपास्स्व ॥

अथ **द्वितीयः** भौतिकाग्निपरः। हे मनुष्य, त्वम् **अध्वरे** शिल्पयज्ञे **कविम्** गतिमन्तम्, **सत्यधर्माणम्** सत्यगुणकर्मस्वभावम्, **देवम्** प्रकाशमानं प्रकाशकं व्यवहारसाधकं च, **अमीवचातनम्** ज्वरादिरोगनाशकम् **अग्निम्** पार्थिवाग्निं विद्युतं सूर्यं वा **उप स्तुहि** गुणैर्वर्णय ॥१२॥

---

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये 'हे मनुष्याः, यूयं यथा केतवो रश्मयो विश्वाय दृशे उदुत्यं जातवेदसं देवं सूर्यम् उद्वहन्ति तथा गृहाश्रमसुखदर्शनाय सुशोभनाः स्त्रिय उद्वहत' इति विषये, य० ७।४१ इत्यत्र सूर्यदृष्टान्तेन परमेश्वरविषये, य० ३३।३१ इत्यत्र च सूर्यविषये व्याचष्टे।

२. ऋ० १।१२।७। ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं परमेश्वरविषये भौतिकाग्निविषये च व्याख्यातवान्।

३. अमीवान् अज्ञानादीन् ज्वरादींश्च रोगान् चातयति हिनस्ति तम् इति ऋ० १।१२।७ भाष्ये द०।

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१२॥

भावार्थः—मनुष्यैः शिल्पविद्यासिद्धये यथा भौतिकोऽग्निर्विद्युत् सूर्यो वा गुणज्ञानपूर्वकं सेवनीयस्तथा धर्मप्राप्तये परमेश्वरस्य गुणकर्मस्वभावा ज्ञेया वर्णनीया अनुकरणीयाश्च ॥१२॥

भौतिक अग्नि के समान परमेश्वर के भी गुण सबके जानने योग्य हैं, यह कहते हैं ।

पदार्थ—**प्रथम** परमेश्वर के पक्ष में । हे मनुष्य, तू **अध्वरे** हिंसादिरहित जीवनयज्ञ **में कविम्** वेदकाव्य के कवि एवं क्रान्तदर्शी, **सत्यधर्माणम्** सत्य गुण-कर्म-स्वभाववाले, **देवम्** सुख आदि के दाता, **अमीवचातनम्** अज्ञान आदि तथा व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य आदि योगविघ्नकारी मानस रोगों को विनष्ट करनेवाले **अग्निम्** तेजस्वी परमेश्वर की **उप स्तुहि** उपासना कर ।

द्वितीय भौतिक अग्नि के पक्ष में । हे मनुष्य, तू **अध्वरे** शिल्पयज्ञ में **कविम्** गतिमान्, **सत्यधर्माणम्** सत्य गुण-कर्म-स्वभाववाले, **देवम्** प्रकाशमान, प्रकाशक और व्यवहार-साधक, **अमीवचातनम्** ज्वरादि रोगों को नष्ट करनेवाले, **अग्निम्** आग, बिजली और सूर्य के **उप स्तुहि** गुणों का वर्णन कर ॥१२॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥१२॥

भावार्थ—मनुष्यों को शिल्पविद्या की सिद्धि के लिए जैसे भौतिक आग, बिजली और सूर्य का गुणज्ञानपूर्वक सेवन करना चाहिए, वैसे ही धर्म-प्राप्ति के लिए परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का ज्ञान, वर्णन और अनुकरण करना चाहिए ॥१२॥

अग्नेर्ज्वाला इव परमेश्वरस्य दिव्यशक्तयोऽस्मभ्यं किं कुर्वन्त्वित्याह ।

३३. शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑ये॒ शं न॑ो भवन्तु पी॒तये॑ ।
शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥१३॥[1]
शम् नः॑ दे॒वीः॑ अ॒भिष्ट॑ये । शम् नः॑ भवन्तु पी॒तये॑ ॥
शम् योः॑ अ॒भि स्र॑वन्तु नः ॥१३॥

पदार्थः—**देवीः**[2] भौतिकाग्नेर्दीप्यमाना ज्वाला इव परमात्माग्नेर्दिव्यशक्तयः । जसि देव्यः इति प्राप्ते 'वा छन्दसि । अ० ६।१।१०६' इति नियमेन वैकल्पिकः पूर्वसवर्णदीर्घः । **अभिष्टये** अभीष्टप्राप्तये । इष्टिः इच्छा, इषु इच्छायाम्, क्तिन् । अभि-इष्टि, 'एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वाच्यम् । अ० ६।१।९४' वा०, अनेन पररूपम् । **नः** अस्मभ्यम् **शम्** कल्याणकारिण्यः भवन्तु, **पीतये** प्राप्तस्य रक्षणाय च । पा रक्षणे भावे क्तिनि 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि । अ० ६।४।६६ इतीत्वम् । **नः** अस्मभ्यम् **शम्** कल्याणकारिण्यः **भवन्तु** जायन्ताम् । किञ्च, **नः** अस्माकम् **शं योः** आगतानां कष्टानां शमनाय, अनागतानां च यावनाय दूरे रक्षणाय । शं योः शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् इति निरुक्तम् । ४।२१ । **अभिस्रवन्तु** सर्वतः प्रवहन्तु ॥१३॥

---

१. ऋ० १०।९।४, य० ३६।१२ दध्यङ् आथर्वण ऋषि अथ० १।६।१ सिन्धुद्वीपः अथर्वा कृतिर्वा ऋषिः । सर्वत्र 'अभिष्टये शन्नो' इत्यत्र 'अभिष्टय आपो' इति पाठः, आपश्च देवताः ।

२, यत्र 'आपो भवन्तु पीतये' इति पाठः, आपश्च देवताः, तत्र 'देवीः' इति 'आपः' इत्यस्य विशेषणम् । अत्र तु अग्निर्देवता । अतः 'देवीः' इति पदेन भौतिकाग्निपक्षे दीप्तिमत्यो ज्वालाः, परमेश्वरपक्षे च दिव्यशक्तयः इत्यर्थो ग्राह्यः । इतरैर्भाष्यकारैस्तु 'आपः' इति पदमध्याहृत्य व्याख्यातम् ।

भावार्थः—अभीष्टिपीतिभ्यां क्रमशो योगक्षेमौ गृह्येते। अप्राप्तस्य प्राप्तिरभीष्टिर्योगो वा, प्राप्तस्य रक्षणं पीतिः क्षेमो वा। परमेश्वरस्य दिव्यशक्तयोऽस्मभ्यं योगक्षेमं प्रयच्छन्त्विति भावः। अपि च याभिरापद्भिर्ग्रस्ता वयं पीडचामहे, यासां चानागतानामापदां भयात् त्रस्यामस्ताः सर्वा आपदः पारमेश्वरीणां दिव्यशक्तीनां प्रभावादस्मत्पुरुषार्थेन च पूर्णतो निवारिता भवेयुः ॥१३॥

अग्नि-ज्वालाओं के तुल्य ईश्वरीय दिव्यशक्तियाँ हमारे लिए क्या करें, यह कहते हैं।

पदार्थ—**देवीः** भौतिक अग्नि की दिव्य ज्वालाओं के समान परमात्माग्नि की दिव्य शक्तियाँ **अभिष्टये** अभीष्ट की प्राप्ति के अर्थ **नः** हमारे लिए **शम्** कल्याणकारिणी हों, **पीतये** प्राप्त के रक्षार्थ **नः** हमारे लिए **शम्** कल्याणकारिणी **भवन्तु** हों। **नः** हमारे **शं योः** आगत कष्टों के मनार्थ तथा अनागत शकष्टों को दूर रखने के लिए **अभिस्रवन्तु** चारों ओर प्रवाहित होती रहें ॥१३॥

भावार्थ—'अभिष्टि' और 'पीति' शब्दों से क्रमशः योग और क्षेम का ग्रहण होता है। अप्राप्त की प्राप्ति को 'अभिष्टि' या 'योग' कहते हैं और प्राप्त की रक्षा को 'पीति' या 'क्षेम'। परमेश्वर की दिव्य शक्तियाँ हमें योग-क्षेम प्रदान करें, यह अभिप्राय है। साथ ही जिन आपदाओं से ग्रस्त होकर हम पीड़ित होते हैं और जिन अनागत आपदाओं के भय से संत्रस्त होते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि वे हमें धर-दबोचें, वे सब आपत्तियाँ परमेश्वर की दिव्य शक्तियों के प्रभाव से और हमारे पुरुषार्थ से दूर हो जाएँ ॥१३॥

अथ कः परमेश्वरस्य कृपायाः पात्रमित्याह।

३४. कस्य नूनं परीणसि धियो जिन्वसि सत्पते।
गोषाता यस्य ते गिरः ॥१४॥[1]

कस्य नूनम् परीणसि परि नसि। धियः जिन्वसि सत्पते सत् पते॥
गोषाता गो साता यस्य ते गिरः ॥१४॥

पदार्थः—हे **सत्पते** सतां पालक अग्ने ज्योतिर्मय परमात्मन्, त्वम् **नूनम्** निश्चयेन **कस्य** कस्य जनस्य **धियः** बुद्धीः **परीणसि**[2] बहु। परीणसेति बहुनाम। निघं० ३।१। **जिन्वसि** सन्मार्गे प्रेरयसि ? इति प्रश्नः। जिन्वतिः गतिकर्मा। निघं० २।१४। अथोत्तरमाह—**यस्य** यस्य जनस्य **ते** तव **गिरः** उपदेशवाचः **गोसाता** गोसातये, गवां श्रेष्ठधेनूनां, श्रेष्ठेन्द्रियबलानां, श्रेष्ठपृथिवीराज्यानां, श्रेष्ठात्मकिरणानां च सातये लाभाय भवन्ति, तस्यैव बुद्धयः सन्मार्गे त्वया प्रेरिता इति मन्तव्यम्। सातिः इति सनतेः सनोतेर्वा 'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च। अ० ३।३।९७' इति क्तिनि निपात्यते। गोसातये इति प्राप्ते 'सुपां सुलुक्०। अ० ७।१।३९' इति चतुर्थ्येकवचनस्य डादेशः। संहितायां 'पूर्वपदात्। अ० ८।३।१०६', 'सनोतेरनः अ० ८।३।१०८' इति सस्य षत्वम् ॥१४॥

भावार्थः—यो जनः परमात्मोपदेशमुपश्रुत्य प्रचुरप्रचुरां भौतिकीमाध्यात्मिकीं च सम्पदमधिगच्छति, स एव परमात्मनः कृपापात्रमिति मन्तव्यम् ॥१४॥

---

१. ऋ० ८।८४।७ 'परीणसि, सत्पते' इत्यनयोः स्थाने क्रमेण 'परीणसो, दंपते' इति पाठः।

२. सप्तम्येकवचनमिदं द्वितीयाबहुवचनस्य स्थाने द्रष्टव्यम्। परीणसः बह्वचः धियः प्रज्ञाः—इति वि०। परिणः इति महन्नामधेयम्। परिपूर्वात् णसेः व्याप्तिकर्मणः इदं रूपम्। महति यज्ञे—इति भ०।

अत्र परमात्मादेर्महत्त्ववर्णनपूर्वकं तत्स्तुत्यर्थं प्रेरणादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिर्वेद्या ॥

इति प्रथमे प्रपाठके पूर्वार्धे तृतीया दशतिः ।
इति प्रथमेऽध्याये तृतीयः खण्डः ॥

कौन परमेश्वर की कृपा का पात्र होता है, यह कहते हैं ।

पदार्थ—हे **सत्पते** सज्जनों के पालक ज्योतिर्मय परमात्मन् ! आप **नूनम्** निश्चय ही **कस्य** किस मनुष्य की **धियः** बुद्धियों को **परीणसि** बहुत अधिक **जिन्वसि** सन्मार्ग में प्रेरित करते हो ? यह प्रश्न है । इसका उत्तर देते हैं—**यस्य** जिस मनुष्य को **ते** आपकी **गिरः** उपदेशवाणियाँ **गोसाता** श्रेष्ठ गायों, श्रेष्ठ इन्द्रियबलों, श्रेष्ठ पृथिवी-राज्यों और श्रेष्ठ आत्म-किरणों को प्राप्त कराने में सफल होती हैं, उसी की बुद्धियाँ सन्मार्ग में आप द्वारा प्रेरित की गयी हैं, यह मानना चाहिए ॥१४॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा के उपदेश को सुनकर अधिकाधिक भौतिक और आध्यात्मिक सम्पदा को प्राप्त कर लेता है, वही परमात्मा का कृपापात्र है, यह समझना चाहिए ॥१४॥

इस दशति में परमात्मा आदि के महत्त्व का वर्णन करते हुए उनकी स्तुति के लिए प्रेरणा होने से इसके विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

प्रथम प्रपाठक में प्रथम अर्ध की तृतीय दशति समाप्त ।
प्रथम अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ॥

॥४॥ अथ 'यज्ञायज्ञा वो अग्नये' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ३ शंयुः; २ भर्गः; ४ वसिष्ठः; ५ भारद्वाजः; ६ प्रस्कण्वः; ७ तृणपाणिः; ८ विरूपः; ९ शुनःशेपः; १० सौभरिः ॥
देवता—अग्निः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

अथ कश्चिद् विद्वानुपदेशको मनुष्यान् प्रेरयति ।

३५. यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे ।
प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥१॥[1]
यज्ञायज्ञा यज्ञा यज्ञा वः अग्नये । गिरागिरा गिरा गिरा च दक्षसे ॥
प्रप्र प्र प्र वयम् अमृतम् अ मृतम् जातवेदसम् जात वेदसम् ।
प्रियम् मित्रम् मि त्रम् न शंसिषम् ॥१॥

पदार्थः—हे मनुष्याः, **यज्ञायज्ञा** यज्ञे यज्ञे । 'सुपां सुलुक् अ० ७।३।३९' इति सप्तम्या आकारादेशः वीप्सायां द्वित्वम् । **वः** युष्मान् **अग्नये** सद्गुणप्रेरकाय परमात्मने, तमाराद्धुमित्यर्थः, नियुनज्मि इति शेषः । **गिरागिरा च**[2] वाचा वाचा च, प्रत्येकप्रभावजनकवाक्यावलीविन्यासेनेति भावः **दक्षसे**[3] बद्धितुम्,

१. ऋ० ६।४८।१, य० २७।४२, साम० ७०३ ।

२. च शब्दः समुच्चयादेरर्थस्याभावात् पादपूरण इति वि० । अस्माभिस्तु समुच्चयार्थ एव व्याख्यातः ।

३. भरतस्वामी 'दक्षसे' इति क्रियापदं मन्यते—'चः चेदर्थे वर्तते, तद्योगाच्च दक्षसे इति आख्यातस्य उदात्तत्वम्, निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चण् कच्चिद्यत्रयुक्तम् पा० ८।१।३० इति । अन्यथा सर्वानुदात्ततैव स्यात् 'तिङ्ङतिङः पा० ८।१।२८ इति ।' पक्षे सायणोऽप्येवमाह । अस्माभिस्तु तुमर्थप्रत्ययत्वेन व्याख्यातम् । प्रत्ययस्य नित्त्वादाद्युदात्तता सिद्धैव ।

उन्नतिं कर्तुं, प्रेरयामि इति शेषः। वृद्ध्यर्थकाद् दक्षधातोः 'तुमर्थे सेसेनसे असेन्० अ० ३।४।९ इति तुमर्थे असेन् प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। **वयम्** यूयं वयं च सर्वे मिलित्वा **अमृतम्** अमरणधर्माणम्, अविनश्वरम् **जातवेदसम्** सर्वज्ञं सर्वव्यापकं च परमेश्वरम् **प्रप्र**[1] प्रशंसामः प्रशंसामः, भूयोभूयः प्रशंसाम इत्यर्थः। किञ्च, पृथगप्यहं तम् **प्रियम्** स्निग्धम् **मित्रं न** सखायमिव **प्रप्र शंसिषम्**[2] भूयो भूयः प्रशंसामि। शंसु स्तुतौ धातोर्लेटि रूपम् ॥१॥[3]

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—मनुष्यैर्येऽपि नैत्यिका नैमित्तिका वा यज्ञा आयोज्यन्ते तेषु परमेश्वरोऽवश्यं स्मरणीय आराधनीयश्च। महापुरुषा जनान् प्रेरयेयुर्यद् यूयं सततं वृद्ध्यै समुन्नत्यै च प्रयतध्वम्। एवमुपदेशका उपदेश्याश्च सर्वे संभूयैकमत्येन सर्वज्ञस्य सर्वव्यापकस्य परमात्मनः स्तुतिं कुर्युः, ऐहलौकिकपारलौकिकाभ्युदयं च प्राप्नुयुः ॥१॥

कोई विद्वान् उपदेशक मनुष्यों को प्रेरणा कर रहा है।

पदार्थ—हे मनुष्यो, **यज्ञायज्ञा** प्रत्येक यज्ञ में **वः** तुम लोगों को **अग्नये** सद्गुणप्रेरक परमात्मा की आराधना करने के लिए, मैं नियुक्त करता हूँ। **गिरागिरा च** और प्रत्येक वाणी **से** अर्थात् प्रभावजनक वाक्यावली के विन्यास से **दक्षसे** बढ़ने अर्थात् उन्नति करने के लिए, प्रेरित करता हूँ। इस प्रकार **वयम्** तुम-हम सब मिलकर **अमृतम्** अमरणधर्मा, अविनाशी **जातवेदसम्** सर्वज्ञ और सर्वव्यापक परमेश्वर की **प्र प्र** पुनः पुनः प्रशंसा करते हैं। मैं पृथक् भी **प्रियम्** प्रिय **मित्रं न** मित्र के समान, उस परमेश्वर की **प्र प्र शंसिषम्** पुनः पुनः प्रशंसा करता हूँ ॥१॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥१॥

भावार्थ—मनुष्यों द्वारा जो भी नित्य या नैमित्तिक यज्ञ आयोजित किये जाते हैं उनमें परमेश्वर का अवश्य स्मरण और आराधन करना चाहिए। महापुरुष मनुष्यों को यह प्रेरणा दें कि तुम निरन्तर वृद्धि और समुन्नति के लिए प्रयत्न करो। इस प्रकार उपदेश देने वाले और उपदेश सुनने वाले सब मिलकर एकमति से सर्वज्ञ, सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति करें तथा ऐहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय को प्राप्त करें ॥१॥

अथ परमेश्वरो विद्वाँश्च प्रार्थ्यते।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २
३६. **पाहि नो अग्न एकया पाह्यु३त द्वितीयया।**

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पाहि गोभिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥२॥[4]

३ २ ३ १ २१ ३ २ ३ २ ३ १ २
पाहि नः अग्ने एकया। पाहि उत द्वितीयया॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
पाहि गोभिः तिसृभिः ऊर्जाम् पते। पाहि चतसृभिः वसो ॥२॥

---

१. प्रसमुपोदः पादपूरणे। अ० ८।१।१६ इति पादपूरणे द्वित्वमुक्तम्। वस्तुतस्तु प्र-प्र इति द्वित्वस्य न पादपूरणमात्रं प्रयोजनं, किन्तु प्रशंसाया भूयोभूयस्त्वं द्योत्यते।

२. 'वयं प्रशंसिषम्' इत्यसंगतेः विवरणकारेण 'वयमित्येतत् प्रथमाबहुवचनमेकवचनस्य स्थाने द्रष्टव्यम्' इत्युक्त्वा, भरतस्वामिसायणाभ्यां च 'प्रशंसिषम्' इत्यत्र वचनव्यत्ययं मत्वा समाधानं कृतम्। अस्माभिस्तु व्यत्ययो निराकृतः।

३. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च विद्वत्कर्तव्यविषये व्याख्यातः।

४. ऋ० ८।६०।९, य० २७।४३, साम० १५४४।

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। हे **ऊर्जां पते** अन्नानां रसानां बलानां प्राणानां चाधिपते ! ऊर्जम् अन्नं रसं चेति निरुक्तम्। ६।४१। ऊर्ज बलप्राणनयोः, क्विप्। **वसो** वसति सर्वत्र वासयति वेति वसुः, तादृश सर्वान्तर्यामिन् सर्वनिवासप्रद **अग्ने** परमात्मन् ! त्वम् **नः** अस्मान् **एकया** ऋग्रूपया गिरा **पाहि** रक्ष, **उत** अपि च **द्वितीयया** यजुराख्यया गिरा **पाहि** रक्ष। **तिसृभिः** ऋग्यजुःसामात्मिकाभिः संमिलिताभिः **गीर्भिः** वाग्भिः **पाहि** रक्ष। **चतसृभिः** ऋग्यजुः सामाथर्वरूपाभिः संमिलिताभिः वाग्भिः **पाहि** रक्ष।[1] अत्र चतुःकृत्वः 'पाहि' इति पाठात् परमेश्वरेण करणीयाया रक्षायाः सातत्यं द्योत्यते ॥

अथ **द्वितीयः** विद्वत्परः। हे **ऊर्जां पते** बलानां पालक, **वसो** सुवासप्रद **अग्ने** पावकवद् विद्वन् ! त्वम् **एकया** सुशिक्षया **नः** अस्मान् **पाहि** रक्ष, **उत** अपिच **द्वितीयया** अध्यापनक्रियया **पाहि** रक्ष, **तिसृभिः** कर्मोपासनाज्ञानज्ञापिकाभिः **गीर्भिः** वाग्भिः **पाहि** रक्ष, **चतसृभिः** धर्मार्थिकाममोक्षविज्ञापिकाभिः वाग्भिः **पाहि** रक्ष ॥२॥[2]

भावार्थः—चतस्रो वेदवाचः परमेश्वरेणास्माकं हिताय प्रदत्ताः सन्ति। यदि वयं वेदवर्णितान् ज्ञानकर्मोपासनाविज्ञानविषयानधीत्य कर्तव्यकर्माण्याचरामस्तदा निःसंशयं वयं रक्षिता भवामः। विद्वद्भिर्वेदानध्याप्य वेदविहितान् धर्मार्थिकाममोक्षाँश्चोपदिश्यास्माकं रक्षा विधेया ॥२॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर और विद्वान् मनुष्य से प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे **ऊर्जां पते** अन्नों, रसों, बलों और प्राणों के अधिपति, **वसो** सर्वत्र बसने वाले सर्वान्तर्यामी तथा निवासप्रदायक **अग्ने** परमात्मन् ! आप **नः** हमारी **एकया** एक ऋग्-रूप वाणी से **रक्ष** रक्षा कीजिए; **उत** और **द्वितीयया** दूसरी यजुःरूप वाणी से **पाहि** रक्षा कीजिए; **तिसृभिः** तीन ऋग्, यजुः और सामरूप सम्मिलित **गीर्भिः** वाणियों से **पाहिः** रक्षा कीजिए; **चतसृभिः** चार ऋग्, यजुः, साम और अथर्व रूप सम्मिलित वाणियों से **पाहि** रक्षा कीजिए ॥ यहाँ चार बार 'पाहि' के प्रयोग से परमेश्वर द्वारा करणीय रक्षा की निरन्तरता सूचित होती है ॥

द्वितीय—विद्वान् के पक्ष में। हे **ऊर्जा पते** बलों के पालक, **वसो** उत्तम निवास देनेवाले, **अग्ने** अग्नि के तुल्य विद्या-प्रकाश से युक्त विद्वन् ! आप **एकया** एक उत्तम शिक्षा से **नः** हमारी **पाहि** रक्षा कीजिए; **उत** और **द्वितीयया** दूसरी अध्यापन-क्रिया से **पाहि** रक्षा कीजिए; **तिसृभिः** कर्म-काण्ड, उपासना-काण्ड और ज्ञान-काण्ड को जतानेवाली तीन **गीर्भिः** वाणियों से **पाहि** रक्षा कीजिए; **चतसृभिः** धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनका विज्ञान करानेवाली चार प्रकार की वाणियों से **पाहि** रक्षा कीजिए ॥२॥[3]

भावार्थ—चार वेदवाणियाँ परमेश्वर ने हमारे हित के लिए प्रदान की हैं। यदि हम वेद-वाणत ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान विषयों को पढ़कर कर्तव्य कर्मों का आचरण करें, तो निस्सन्देह हमारी रक्षा होगी। विद्वानों को चाहिए कि वेद पढ़ाकर वेदविहित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश देकर हमारी रक्षा करें ॥२॥

---

१. 'गिरा एकया ऋग्लक्षणया। द्वितीयया गिरा यजुर्लक्षणया। तिसृभिर्गीर्भिः ऋग्यजुःसामलक्षणाभिः। चतसृभिः ऋग्यजुःसामनिगदलक्षणाभिः'—इति वि०।

२. अयं विद्वत्परोऽर्थः य० २७।४३ इत्यस्य दयानन्दभाष्यमनुसरति।

३. यह विद्वत्परक अर्थ य० २७।४३ के दयानन्द-भाष्य के अनुसार है।

अथ पुनः परमात्मानं प्रार्थयते ।

३७. **बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा ।**
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवत् पावक दीदिहि ॥३॥[1]
बृहद्भिः अग्ने अर्चिभिः । शुक्रेण देव शोचिषा ॥
भरद्वाजे भरत् वाजे समिधानः सम् इधानः यविष्ठ्य । रेवत् पावक दीदिहि ॥३॥

पदार्थः—हे **यविष्ठ्य** नित्यतरुण । अतिशयेन युवा यविष्ठः, स एव यविष्ठ्यः । युव शब्दाद् इष्ठन् प्रत्ययः । ततो 'नवसूर्तमर्तयविष्ठेभ्यो यत्' अ० ५।४।२५ वा० इति स्वार्थे यत् प्रत्ययः । **पावक** पवित्रयितः, **देव** दातः **अग्ने** तेजस्विन् परमेश्वर ! **बृहद्भिः** महद्भिः **अर्चिभिः** तेजोभिः, **शुक्रेण** शुद्धेन । शुच्यते पवित्रीभवतीति शुक्रः । शुचिर पूतीभावे धातोः 'ऋज्रेन्द्राग्र० उ० २।२९' इति रन्-प्रत्ययान्तो निपातः । **शोचिषा** ज्ञानप्रकाशेन च **भरद्वाजे**[2] भरन् बिभ्रद् बाजं बलं स्वात्मनि यः स भरद्वाजः पुरुषार्थ-प्रियः, तादृशे मयि स्तोतरि, यद्वा भरद्वाजे बलोत्साहसम्पन्ने मदीये मनसि । 'मनो वै भरद्वाज ऋषिः ।' श० ८।१।१।९ । **समिधानः** प्रकाशमानः सन् **रेवत्** समृद्धियुक्तं यथा भवति तथा । धनवाचकाद् रयि-शब्दान्मतुपि 'रयेर्मतौ बहुलम् अ० ६।१।३७ वा०' इति सम्प्रसारणम् । **दीदिहि** देदीप्यस्व । दीदयतिः ज्वलतिकर्मा । निघं० १।१६ ॥३॥

भावार्थः—मनुष्यैः पुरुषार्थिभिरेव भूत्वा परमेश्वर आह्वातव्यः । अकर्मण्यस्य प्रार्थनां स न कर्णे करोति ॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **यविष्ठ्य** अतिशय युवा, **पावक** पवित्रकर्ता, **देव** दाता **अग्ने** तेजस्वी परमेश्वर ! **बृहद्भिः** महान् **अर्चिभिः** तेजों से, और **शुक्रेण** शुद्ध **शोचिषा** ज्ञान-प्रकाश से **भरद्वाजे** अपने आत्मा में बल भरनेवाले पुरुषार्थप्रिय मुझ स्तोता के अन्दर अथवा बल एवं उत्साह से सम्पन्न मेरे मन के अन्दर **समिधानः** प्रकाशित होते हुए आप **रेवत्** समृद्धिपूर्वक **दीदिहि** देदीप्यमान हों ॥३॥

भावार्थ—मनुष्यों को पुरुषार्थी होकर ही परमेश्वर का आह्वान करना चाहिए । अकर्मण्य की प्रार्थना वह नहीं सुनता ॥३॥

अथ के जनाः परमात्मनः प्रियाः सन्त्वित्याह ।

३८. **त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः ।**
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वं दयन्त गोनाम् ॥४॥[3]
त्वे इति अग्ने स्वाहुत सु आहुत । प्रियासः सन्तु सूरयः ॥
यन्तारः ये मघवानः जनानाम् । ऊर्वम् दयन्त गोनाम् ॥४॥

---

१. ऋ० ६।४८।७ 'रेवन्नः शुक्र दीदिहि' इति पाठः । तदनन्तरं 'द्युमत् पावक दीदिहि' इत्यधिकम् ।

२. अस्य मन्त्रस्य शंयुः ऋषिः, मन्त्रे च भरद्वाजस्य नाम । तदेतद् 'ऋषयो मन्त्रकर्तारः क्वचित् स्वकीयं नाम मन्त्रे प्रचिक्षिपुः' इति ये मन्यन्ते तेषां मते कथं संगच्छेत ? तत्समाधानं भरतस्वामी प्रोवाच—'भरद्वाजे मम भ्रातरि' इति' भरद्वाजः शंयोर्भ्रातासीदिति तदीयोऽभिप्रायः । सायणोऽपि तथैव व्याचख्यौ । वस्तुतस्तु भरद्वाज इति यौगिकं नाम, अतो नात्रेतिहासः शङ्कनीयः ।

३. ऋ० ७।१६।७, य० ३३।१४ उभयत्र 'जनानामूर्वं' इत्यत्र 'जनानामूर्वान्' इति पाठः ।

पदार्थः—हे **स्वाहुत** श्रद्धा-रसानां हविर्भिः सम्यगाहुत **अग्ने** तेजोमय परमात्मन् ! ते **सूरयः** स्तोतारो विद्वांसः । सूरिरिति स्तोतृनाम । निघं० ३।१६ । **त्वे** त्वयि तव दृष्टौ । युष्मच्छब्दात् सप्तम्येकवचने । 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति विभक्तेः शे आदेशः । **प्रियासः** प्रियाः । 'आज्जसेरसुक्' अ० ७।१।५० इति जसोऽसुगागमः । **सन्तु** भवन्तु, **मघवानः** लौकिकाध्यात्मिकधनसम्पन्नाः **ये** सूरयः **जनानाम्** मानवानाम् **यन्तारः** सदसत्कर्मसु नियन्त्रणकर्तारः सन्तः **गोनाम्** गवाम् चक्षुरादीनामिन्द्रियाणाम् । पादान्तत्वाद् 'गोः पादान्ते' अ० ७।१।५७ इति नुट् । **ऊर्वम्** हिंसकं दोषम् । उर्वी हिंसार्थः । **दयन्त** हिंसन्ति अपसारयन्ति । दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु, लडर्थे लङ्, 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि । अ० ६।४।७५ इत्यडागमाभावः । यद्वा, **गोनाम्** वेदगिराम् **ऊर्वम्**[1] समूहम् **दयन्त** अन्येभ्यः प्रयच्छन्ति, वेदार्थान् वेदानुकूल कर्माणि च लोकेषु प्रसारयन्तीत्यर्थः । यद्वा, **गोनाम्** धेनूनाम् **ऊर्वम्** गोष्ठम् **दयन्त** रक्षन्ति ॥४॥[2]

भावार्थः—ये विद्वांसः श्रद्धालवो जना लौकिकमाध्यात्मिकं च सर्वविधं धनं समुपार्ज्य योग्याः सन्तो जनान् नियच्छन्ति, स्वात्मनः परेषां चेन्द्रियकल्मषाण्यपहरन्ति, वेदगिरः प्रसारयन्ति, अमृतप्रदात्रीर्गाश्च रक्षन्ति, त एव परमात्मनः प्रिया जायन्ते ॥४॥

कौन लोग परमात्मा के प्रिय हों, यह कहते हैं ।

पदार्थ—हे **स्वाहुत** श्रद्धारसों की हवियों से सम्यक् आहुतिप्राप्त **अग्ने** तेजोमय परमात्मन् ! आपके **सूरयः** स्तोता विद्वान् जन **त्वे** आपकी दृष्टि में **प्रियासः** प्रिय **सन्तु** होवें, **मघवानः** लौकिक एवं आध्यात्मिक धनों से सम्पन्न **ये** जो **जनानाम्** मनुष्यों के **यन्तारः** शुभ एवं अशुभ कर्मों में नियन्त्रणकर्ता होते हुए **गोनाम्** चक्षु आदि इन्द्रियों के **ऊर्वम्** हिंसक दोष को **दयन्त** नष्ट करते हैं; अथवा **गोनाम्** वेदवाणियों के **ऊर्वम्** समूह को **दयन्त** अन्यों को प्रदान करते हैं; अथवा **गोनाम्** गायों की **ऊर्वम्** गोशाला की **दयन्त** रक्षा करते हैं ॥४॥

भावार्थ—जो विद्वान् श्रद्धालु लौकिक और आध्यात्मिक सब प्रकार के धन को उपार्जित कर, योग्य होकर, लोगों का नियन्त्रण करते हैं, अपने और दूसरों के इन्द्रिय-दोषों को दूर करते हैं, वेद-वाणियों का प्रसार करते हैं और अमृत प्रदान करनेवाली गायों की रक्षा करते हैं, वे ही परमात्मा के प्रिय होते हैं ॥४॥

अथ परमेश्वरस्य नृपतेश्च महत्त्वं वर्णयति ।

३९. **अग्ने जरितर्विश्पतिस्तपानो देव रक्षसः ।**
अप्रोषिवान् गृहपते महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः ॥५॥[3]
अग्ने जरितः विश्पतिः । तपानः देव रक्षसः ॥
अप्रोषिवान् अ प्रोषिवान् गृहपते गृह पते महान् असि ।
दिवः पायुः दुरोणयुः दुः ओनयुः ॥५॥

---

१. उरु शब्दस्य बहुनाम्नः द्वितीयैकवचने छान्दसमादिदीर्घत्वम्, लुगभिपूर्वत्वं च छान्दसत्वादेवन भवति, यणादेशः । ऊर्वं बहु इत्यर्थः—इति वि० । ऊर्वम् समूहम्—इति भ०, सा० ।

२. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये राजपक्षे, यजुर्भाष्ये च विद्वत्पक्षे व्याख्यातः ।

३. ऋ० ८।६०।१९ 'तपानो, गृहपते' इत्यत्र क्रमेण 'तेपानो, गृहपतिर्' इति पाठः ।

पदार्थः—प्रथमः परमेश्वरपक्षे । हे **जरितः** सज्जनगुणप्रशंसक ! जरितेति स्तोतृनाम । निघं० ३।१६ । स्तुतिश्च गुणप्रशंसनम् । **अग्ने** परमात्मन् ! त्वम् **विश्पतिः** प्रजापालकः असि । हे **देव** ज्योतिष्मन् ! त्वम् **रक्षसः**[1] राक्षसान् क्रूरान् हिंसकान् जनान् **तपानः** संतापयन् भवसि । हे **गृहपते** ब्रह्माण्डरूपस्य गृहस्य स्वामिन् ! **अप्रोषिवान्** ब्रह्माण्डगृहात् कदापि प्रवासमकुर्वन् । प्र पूर्वो वस धातुः प्रवासे वर्तते । ततः क्वसुः । **दिवः पायुः** प्रकाशमानस्य द्युलोकस्य जीवात्मनो वा रक्षकः । पा रक्षणे, 'कृवापा० । उ० १।१' इति उण् प्रत्यये, 'आतो युक्० । अ० ७।३।३३' इति युगागमः । **दुरोणयुः** दुरोणं गृहं परेषां कामयते इति दुरोणयुः सर्वेषां निवासप्रदः, त्वम् । दुरोण इति गृहनाम, दुरवा भवन्ति दुस्तर्पाः इति निरुक्तम् ४।५ । 'छन्दसि परेच्छायां क्यच उपसंख्यानम् । अ० ३।१।८' वा० इति परेच्छायां क्यच् । **महान्** परममहिमोपेतः **असि** वर्तसे ।

अथ **द्वितीयः** राजपक्षे । हे **जरितः** परमेश्वरस्य स्तोतः **अग्ने** राष्ट्रनायक राजन् ! त्वम् **विश्पतिः** प्रजानां पालकः असि । हे **देव** दानादिगुणैर्देदीप्यमान राजन् ! त्वम् **रक्षसः** दुष्टशत्रून् **तपानः** संतापयन् भवसि । हे **गृहपते** राष्ट्रगृहस्य स्वामिन् ! **अप्रोषिवान्** राष्ट्रात् प्रवासम् अकृतवान्, **दिवः पायुः** विद्यादि-प्रकाशस्य रक्षकः, **दुरोणयुः** राष्ट्रगृहस्य समुन्नतिं कामयमानः त्वम् **महान्** अक्षयकीर्तिः **असि** विद्यसे ॥५॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—यथा परमेश्वरः सज्जनान् रक्षन्, दुर्जनान् दण्डयन् विश्वेषां समुन्नतिं कामयते तथैव राजाऽपि प्रजाः पालयन्, शत्रूनुन्मूलयन् राष्ट्रमुत्कर्षं नयेत् ॥५॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर और राजा का महत्त्व वर्णित किया गया है ।

पदार्थ—प्रथम परमेश्वर के पक्ष में । हे **जरितः** सज्जनों के गुणों के प्रशंसक **अग्ने** परमात्मन् ! आप **विश्पतिः** प्रजापालक हो । हे **देव** ज्योतिर्मय ! आप **रक्षसः** राक्षसी वृत्ति वाले मनुष्यों के **तपानः** सन्तापक हो । हे **गृहपते** ब्रह्माण्डरूप गृह के स्वामिन् ! **अप्रोषिवान्** ब्रह्माण्डरूप गृह से कभी प्रवास न करने वाले, **दिवः पायुः** प्रकाशमान द्युलोक के अथवा प्रकाशमान जीवात्मा के रक्षक, **दुरोणयुः** सबको निवास गृह दिलाना चाहने वाले आप **महान्** महान् **असि** हो ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में । हे **जरितः** परमेश्वर के स्तोता **अग्ने** राष्ट्रनायक राजन् ! आप **विश्पतिः** प्रजाओं के पालक हो । हे **देव** दानादि गुणों से देदीप्यमान राजन् ! आप **रक्षसः** दुष्ट शत्रुओं के **तपानः** सन्तापक हो । हे **गृहपते** राष्ट्र-गृह के स्वामिन् ! **अप्रोषिवान्** राष्ट्र से प्रवास न करने वाले, **दिवः पायुः** विद्या आदि के प्रकाश के रक्षक, **दुरोणयुः** राष्ट्र-रूप घर की उन्नति चाहने वाले आप **महान्** महान् **असि** हो ॥५॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥५॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर सज्जनों की रक्षा करता हुआ, दुर्जनों को दण्ड देता हुआ सबकी समुन्नति चाहता है, वैसे ही राजा भी प्रजाओं का पालन करता हुआ, दुष्टों का उन्मूलन करता हुआ राष्ट्र को उत्कर्ष की ओर ले जाए ॥५॥

---

१. रक्षसः राक्षसान् । रक्षःशब्दः पुंल्लिगोऽपि दृश्यते छन्दसि—प्रति ष्म रक्षसो दह (ऋ० १०।८७।२३), यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह (ऋ० ७।१०४।१६)—इति भ० । रक्षसः राक्षसानां तपानः सन्तापकः—इति सा० ।

परमेश्वरोऽस्मभ्यं किं दद्यादित्याह ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३
४०. अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः ॥६॥[1]

१ २ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३
अग्ने विवस्वत् वि वस्वत् उषसः । चित्रम् राधः अमर्त्य अ मर्त्य ॥
२ ३ १ २ ३ २
आ दाशुषे जातवेदः जात वेदः वह त्वम् ।
३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
अद्य अ द्य देवान् उषर्बुधः उषः बुधः ॥६॥

पदार्थः—हे **अमर्त्य** स्वरूपेण मरणधर्मरहित, **जातवेदः** सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, ज्ञाननिधे **अग्ने** प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! **त्वम् अद्य** अस्मिन् दिने । संहितायां 'निपातस्य च ।' अ० ६।३।१३६ इति दीर्घः । **दाशुषे** धनधान्यविद्यादिदानकर्त्रे मह्यम् । दाशृ दाने, 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च । अ० ६।१।१२' इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः । **उषसः** प्रभातदीप्तेः **चित्रम्** अद्भुतम् **विवस्वत्** अज्ञानदारिद्र्यादितमोविवासनशीलम् **राधः**[2] ऋतरूपं ज्योतीरूपं वा धनम् । राध इति धननाम । निघं० २।१० । उषसो धनं च ऋतं ज्योतिर्वा, यथोक्तम् 'ऋतस्य रश्मिमनुयच्छमाना । ऋ० १।१२३।१३', ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु । ऋ० १।१२४।३, ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती । ऋ० १।९२।४, ज्योतिष्कृणोति सूनरी । ऋ० ७।८१।१ इति । किञ्च, **उषर्बुधः** ये उषसि स्वयं बुध्यन्ते, सुप्तान् बोधयन्ति च तान् **देवान्** उत्तमान् विदुषो दिव्यगुणान् वा । संहितायां 'देवाँ उषर्बुधः' इत्यत्र 'दीर्घादटि समानपादे । अ० ८।३।९' इति नकारस्य रुत्वम्, 'आतोऽटि नित्यम् । अ० ८।३।३ इत्यनुनासिकश्च । **आ वह** प्रापय । संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः । अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः ॥६॥[3]

भावार्थ—सर्वे जना उषसि प्रबुध्यमानान् दिव्यगुणान् हृदि धारयन्तः, उषर्वद् रश्मिवन्तः प्राणवन्तो यज्ञवन्तः प्रबोधवन्तः सत्यवन्तश्च भूत्वा विदुषां सङ्गेन सदा जागरूकाः सदाचारिणो धर्मात्मानश्च भवेयुः ॥६॥

परमेश्वर हमें क्या प्रदान करे, यह कहते हैं ।

पदार्थ—हे **अमर्त्य** स्वरूप से मरणधर्मरहित, **जातवेदः** सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, ज्ञाननिधि, **अग्ने** प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! **त्वम्** आप **अद्य** आज **दाशुषे** धन-धान्य, विद्या आदि का दान करनेवाले मुझे **उषसः** उषा के **चित्रम्** अद्भुत, **विवस्वत्** अज्ञान, दरिद्रता आदि के अन्धकार को दूर करनेवाले **राधः** सत्यरूप अथवा ज्योति-रूप धन को और **उषर्बुधः** उषःकाल में स्वयं जागने तथा अन्यों को जगानेवाले **देवान्** उत्तम विद्वानों तथा दिव्यगुणों को **आ वह** प्राप्त कराओ ॥६॥

भावार्थ—सब मनुष्य उषःकाल में प्रबुद्ध होनेवाले दिव्यगुणों को हृदय में धारण करते हुए उषा के समान तेज की किरणों से युक्त, प्राणवान्, यज्ञवान्, प्रबोधवान् और सत्यवान् होकर विद्वानों के संग से सदा जागरूक, सदाचारी और धर्मात्मा होवें ॥६॥

---

१. ऋ० १।४४।१, साम १७८० ।

२. उषसः उषःसम्बन्धि चित्रं चायनीयं दर्शनीयं राधः तेजः, राधयति प्रकाशयतीति—इति भ० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरस्य मन्त्रस्य भावार्थमेवमाह—"मनुष्यैरीश्वराज्ञापालनाय स्वपुरुषार्थेन परमेश्वरम् अनलसान् उत्तमान् विदुषश्चाश्रित्य चक्रवर्तिराज्यविद्याश्रीः प्राप्तव्या" इत्यादि ।

अथ परमेश्वरो धनं प्रार्थ्यते ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
४१. त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय ।
३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तुचे तु नः ॥७॥[1]

२ ३ २ ३ २ १ २ २ १ २ २ ३
त्वम् नः चित्रः ऊत्या । वसो राधांसि चोदय ॥
२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ २ ३
अस्य रायः त्वम् अग्ने रथीः असि । विदाः गाधम् तुचे तु नः ॥७॥

पदार्थ—हे **वसो** निवासक **अग्ने** परमात्मन् ! **चित्रः**[2] अद्भुतगुणकर्मस्वभावः, पूज्यः, दर्शनीयो वा **त्वम् ऊत्या** रक्षया सार्धम् **नः** अस्मभ्यम् **राधांसि**[3] विद्यासुवर्णचक्रवर्तिराज्यमोक्षादिधनानि **चोदय** प्रेरय । **त्वम् अस्य** एतस्य दृश्यमानस्य **रायः** लौकिकस्य पारमार्थिकस्य च धनस्य **रथीः**[4] स्वामी । अत्र 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ । अ० ५।२।१०९' अनेन मत्वर्थे रथशब्दाद् ईप्रत्ययः । ततश्च ङ्यन्ताभावाद् 'हल्ङ्याब्भ्यो० । अ० ६।१।६८' इति सोर्लोपो न । **असि** वर्तसे । अतः **नः** अस्मभ्यम्, **तुचे** अस्माकं पुत्र-पौत्राद्याय अपत्याय च । तुग् इत्यपत्यनाम । निघं० २।२ । **तु**[5] क्षिप्रम् अवश्यं वा **गाधम्**[6] तस्य पूर्वोक्तस्य धनस्य विलोडनम् अपरिमितोपलब्धिमिति भावः । गाहू विलोडने, घञ्, हकारस्य धकारश्छान्दसः । **विदाः** प्रापय । विद्लृ लाभे । लेटि मध्यमैकवचने 'लेटोऽडाटौ । अ० ३।४।९४' इत्याटि रूपम् ॥७॥

भावार्थः—हे जगदीश्वर ! सर्वेषां प्राणिनां नक्षत्रग्रहोपग्रहादीनां च निवासकत्वात् त्वं वसु-रुच्यसे । तादृशस्त्वं जगति दृश्यमानानां रजतहिरण्यमुक्तामणिहीरकादीनां, कन्दमूलफलादीनां, दुग्धदधि-नवनीतादीनाम्, अहिंसासत्यास्तेयादीनां, शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायादीनां, धर्मार्थकाममोक्षादीनां च धनानां परमोऽधिपतिरसि । त्वं कृपयास्मासु पुरुषार्थं निधेहि येन वयमपि तेषां भौतिकाध्यात्मिकानां धनानामधिपतयो भवितुं पारयेमहि ॥७॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से धन की प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **वसो** निवासक **अग्ने** परमात्मन् ! **चित्रः** अद्भुत् गुण-कर्म-स्वभाव वाले, पूज्य और दर्शनीय **त्वम्** आप **ऊत्या** रक्षा के साथ **नः** हमारे लिए **राधांसि** विद्या, सुवर्ण, चक्रवर्ती राज्य, मोक्ष आदि धनों को **चोदय** प्रेरित कीजिए । **त्वम्** आप **अस्य** इस दृश्यमान **रायः** लौकिक तथा पारमार्थिक धन के **रथीः** स्वामी **असि** हो । अतः **नः** हमें तथा **तुचे** हमारे पुत्र-पौत्र आदि सन्तान को **तु** शीघ्र व अवश्य **गाधम्** पूर्वोक्त धन की थाह को, अर्थात् अपरिमित उपलब्धि को, **विदाः** प्राप्त कराओ ॥७॥

---

१. ऋ० ६।४८।९, साम १६२३। ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणायं मन्त्रो 'विद्वांसोऽपत्यानि कथं शिक्षेरन्' इति विषये व्याख्यातः।
२. 'चित्रः विचित्रः पूज्यो वा'—इति वि० । दर्शनीयः—इति भ० ।
३. (राधसः) विद्यासुवर्णचक्रवर्तिराज्यादिधनस्य इति ऋ० १।२२।७ भाष्ये द० ।
४. 'रथीशब्दः सारथिवचनः । स इह प्रेरकत्वसामान्याद् अग्नौ प्रयुक्तः । प्रेरयितासि दातासीत्यर्थः—इति वि० । 'रथीः नेता'—इति भ० । रथीः असि रंहिता नेता भवसि—इति सा० ।
५. तु इति पादपूरणः—इति वि० । तु क्षिप्रम्—इति भ० । 'तु अवधारणे'—इति य० ३४।११ भाष्ये द० ।
६. 'गाधशब्दोऽयम् अगाधमुदकम् इत्येवमादिषु प्रयोगेषु उदकमध्ये या भूमिः पादयोराश्रयत्वं प्रतिपद्यते तस्या वाचकः । इह तु स्थानसामान्यादाश्रयस्थाने प्रयुक्तः । आश्रयस्थानम्'—इति वि० । गाधं प्रतिष्ठाम्—इति, भ०, सा० । किन्तु 'अशीमहि गाधमुत प्रतिष्ठाम्' ऋ० ५।४७।७ इत्यत्र गाधप्रतिष्ठयोरेकत्र पाठात् तयोरैक्यं न सम्भवति ।

भावार्थ—हे जगदीश्वर ! सब प्राणियों के तथा नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह आदिकों के निवासक होने से आप 'वसु' कहलाते हो। वह आप जगत् में दिखायी देनेवाले चाँदी-सोना-मोती-मणि-हीरे आदि, कन्द-मूल-फल आदि, दूध-दही-मक्खन आदि, अहिंसा-सत्य-अस्तेय आदि, शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय आदि और धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि धनों के परम अधिपति हो। आप कृपा कर हमारे अन्दर पुरुषार्थ उत्पन्न करो, जिससे हम भी उन भौतिक और आध्यात्मिक धनों के अधिपति हो सकें ॥७॥

अथ परमात्मा किंगुणविशिष्टोऽस्ति, के च तं पूजयन्तीत्याह।

४२. त्वमित् सप्रथा अस्यग्ने त्रातर्ऋतः कविः।
त्वां विप्रासः समिधान दीदिव आ विवासन्ति वेधसः ॥८॥[1]

त्वम् इत् सप्रथाः स प्रथाः असि। अग्ने त्रातः ऋतः कविः॥
त्वाम् विप्रासः वि प्रासः समिधान सम् इधान दीदिवः।
आ विवासन्ति वेधसः ॥८॥

पदार्थः—हे **त्रातः** रक्षक **अग्ने** अग्रणीः परमेश्वर ! **त्वम् इत्** त्वं खलु **सप्रथाः** प्रथसा यशसा सहितः सप्रथाः परमयशस्वी, यद्वा सर्वत्र विस्तीर्णः। प्रथः यशः, प्रथ प्रख्याने। अयं विस्तारेऽपि दृश्यते। औणादिकः असुन्। 'सप्रथाः सर्वतः पृथुः' इति निरुक्तम्। ६।७। **ऋतः** सत्यस्वरूपः, **कविः** वेदकाव्यस्य कर्ता, मेधाविनां मेधावी च। कविरिति मेधाविनाम। निघं० ३।१५। **असि** वर्तसे। हे **समिधान** सम्यक् प्रकाशमान, **दीदिवः**[2] प्रकाशक परमेश्वर ! दिवु धातोर्लिटः क्वसुः, तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य। अ० ६।१।७ इत्यभ्यासस्य दीर्घः। 'मतुवसो रुसम्बुद्धौ छन्दसि। अ० ८।३।१' इति सस्य रुत्वम्। **वेधसः**[3] विधातारः कर्मयोगिनः **विप्रासः** मेधाविनो जनाः **त्वाम् आ विवासन्ति** समन्ततः परिचरन्ति। विवासतिः परिचरणकर्मा। निघं० ३।५ ॥८॥

भावार्थः—परमेश्वरः सज्जनानां रक्षकः, सत्यगुणकर्मस्वभावः, निरतिशयमेधावी, वेदकाव्यस्य कविः, परमकीर्तिः, सर्वत्र व्यापको, ज्योतिष्मान्, प्रकाशकानामपि प्रकाशकश्चास्ति। तस्यैतद्गुणविशिष्टत्वात् कर्मकुशला विद्वांसो जनाः सदैव तं सपर्यन्ति ॥८॥

अब परमात्मा किन गुणों से युक्त है और कौन उसकी पूजा करते हैं, यह बताते हैं।

पदार्थ—हे **त्रातः** रक्षक **अग्ने** अग्रणी परमेश्वर ! **त्वम् इत्** आप निश्चय ही **सप्रथाः** परमयशस्वी एवं सर्वत्र विस्तीर्ण, **ऋतः** सत्यस्वरूप, और **कविः** वेदकाव्य के रचयिता एवं मेधावियों में अतिशय मेधावी **असि** हो। हे **समिधान** सम्यक् प्रकाशमान, **दीदिवः** प्रकाशक परमेश्वर ! **वेधसः** कर्मयोगी **विप्रासः** ज्ञानीजन **त्वाम्** आपकी **आ विवासन्ति** सर्वत्र पूजा करते हैं ॥८॥

भावार्थ—परमेश्वर सज्जनों का रक्षक, सत्य गुण-कर्म-स्वभाववाला, अतिशय मेधावी, वेद-काव्य का कवि, परम कीर्तिमान्, सर्वत्र व्यापक, ज्योतिष्मान् और प्रकाशकों का भी प्रकाशक है। उसके इन गुणों से युक्त होने के कारण कर्म-कुशल विद्वान् जन सदा ही उसकी पूजा करते हैं ॥८॥

---

१. ऋ० ८।६०।५, 'ऋतस्कविः' इति पाठः। ऋषिः भर्गः प्रागाथः।
२. दीदिवः दानवन्—इति वि०। हे दीदिवः दीदिवन् दीप्त इति भ०।
३. वेधसः मेधाविनः ऋत्विजः—इति वि०। विधातारः कर्मणाम्—इति भ०।

अथ परमेश्वरोऽस्मभ्यं कीदृशं धनं दद्यादित्याह ।

४३. आ नो अग्ने वयोवृधं रयिं पावक शंस्यम् ।
रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहं सुनीती सुयशस्तरम् ॥९॥
आ नः अग्ने वयोवृधम् वयः वृधम् । रयिम् पावक शंस्यम् ॥
रास्व च नः उपमाते उप माते पुरुस्पृहम् पुरु स्पृहम् ।
सुनीती सु नीती सुयशस्तरम् सु यशस्तरम् ॥९॥

पदार्थः—हे **पावक** चित्तशोधक, पतितपावन **अग्ने** सन्मार्गदर्शक परमात्मन् ! त्वम् **वयोवृधम्** आयुष्यवर्द्धकम्, **शंस्यम्** प्रशंसनीयम् **रयिम्** धनम् **नः** अस्मभ्यम् **आ** आनय । उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः । आनीय च हे **उपमाते**[2] उपमातिः उपमानम्, उपमानभूत, सर्वोपमायोग्य परमात्मन् ! **पुरुस्पृहम्** बहुस्पृहणीयं, बहुभिः स्पृहणीयं वा । पुरु इति बहुनाम । निघं० ३।१ । **सुयशस्तरम्** अतिशयकीर्तिजनकम् तं रयिं धनम् **सुनीती** सुनीत्या, सन्मार्गेण । तृतीयैकवचने 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण० । अ० ७।१।३९' इति पूर्वपरयोः पूर्वसवर्णदीर्घः । **नः** अस्मभ्यम् **रास्व च** प्रदेहि अपि । रा दाने । संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः । अ० ६।३।१३५' इति दीर्घ. ॥९॥

भावार्थः—परमेश्वरस्य कृपया स्वपुरुषार्थेन च सन्मार्गमनुसरन्तो वयं प्रचुरं रजतसुवर्णपृथिवीराज्यादिकं भौतिकं, विद्याविनययोगसिद्धिमोक्षादिकम् आध्यात्मिकं च धनं संचिनुयाम, यत् पुष्कलं धनमस्माकमायुर्वर्द्धकं धवलकीर्तिकरं च स्यात् ॥९॥

परमेश्वर हमें कैसा धन दे, यह कहते हैं ।

पदार्थ—हे **पावक** चित्तशोधक, पतितपावन **अग्ने** सन्मार्गदर्शक परमात्मन् ! आप **वयोवृधम्** आयु को बढ़ानेवाले, **शंस्यम्** प्रशंसायोग्य **रयिम्** धन को **नः** हमारे लिए **आ** लाइए, और लाकर, हे **उपमाते** उपमानभूत, सर्वोपमायोग्य परमात्मन् ! **पुरुस्पृहम्** बहुत अधिक चाहने योग्य अथवा बहुतों से चाहने योग्य, **सुयशस्तरम्** अतिशय कीर्तिजनक उस धन को **सुनीती** सन्मार्ग पर चलाकर **नः** हमें **रास्व च** प्रदान भी कीजिए ॥९॥

भावार्थ—परमेश्वर की कृपा से और अपने पुरुषार्थ से सन्मार्ग का अनुसरण करते हुए हम चाँदी, सोना, पृथिवी का राज्य आदि भौतिक तथा विद्या, विनय, योगसिद्धि, मोक्ष आदि आध्यात्मिक धन का संचय करें, जो भरपूर धन हमारी आयु को बढ़ानेवाला तथा उजली कीर्ति को उत्पन्न करनेवाला हो ॥९॥

अथ परमात्मने स्तोमान् समर्पयितुमाह ।

४४. यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम् ।
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये ॥१०॥[3]

---

१. ऋ० ८।६०।११, ऋषिः भर्गः प्रागाथः ।

२. उपमाते उपमानभूत विश्वस्व—इति भ० । उपमाता निर्माता, तस्य सम्बोधनं हे उपमाते स्रष्टः इत्यर्थः—इति वि० । उप अस्मत्समीपे माति धनम् इत्युपमातिः—इति सा० ।

३. ऋ० ८।१०३।६, यन्त्यग्नये इति पाठः । साम० १५८३ ।

२ १ २१२ १२१ १२१ १ २१ ३ २ १२१
यः विश्वा दयते वसु । होता मन्द्रः जनानाम् ॥
१२१ १२१ ३ १ २ ३ २ १ २१ ३ १२
मधोः न पात्रा प्रथमानि अस्मै । प्र स्तोमाः यन्तु अग्नये ॥१०॥

पदार्थः—**होता** विविधवस्तूनां शुभगुणानां वा दाता, **जनानाम्** मनुष्याणाम् **मन्द्रः** आनन्दजनकः। मन्दयति मोदयतीति मन्द्रः। मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु इति धातोः 'स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ० २।१३ इति रक्। **यः** परमेश्वरः **विश्वा** विश्वानि समस्तानि **वसु** वसूनि धनानि **दयते** ददाति। दय धातुर्दानाद्यनेककर्मा। निरु० ४।१७। **अस्मै** एतादृशाय **अग्नये** नायकाय परमेश्वराय **मधोः**[1] मधुनः। अत्र लिङ्गव्यत्ययः। **प्रथमानि** श्रेष्ठानि **पात्रा** पात्राणि **न** इव **स्तोमाः** मदीयानि स्तोत्राणि **प्र यन्तु**[2] प्रकृष्टतया गच्छन्तु। 'विश्वा, वसु, पात्रा' इति सर्वत्र 'शेश्छन्दसि बहुलम्। अ० ६।१।७०' इति जसः शसो वा शेर्लोपः ॥१०॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१०॥

भावार्थः—यथा गृहागताय विदुषेऽतिथये मधुदधिदुग्धादिपूर्णानि पात्राणि ससत्कारं समर्प्यन्ते, तथैव परमदयालवे परोपकारिणे परमात्मने भक्तिभावभरिताः स्तोमाः समर्पणीयाः ॥१०॥

अत्र परमात्मगुणवर्णनपूर्वकं ततः समृद्ध्यादियाचनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरूह्या।

इति प्रथमे प्रपाठके पूर्वार्धे चतुर्थी दशतिः।
इति प्रथमेऽध्याये चतुर्थः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में परमात्मा को स्तोत्र अर्पित करने के लिए कहा गया है।

पदार्थ—**होता** विविध वस्तुओं और शुभ गुणों का प्रदाता, **जनानाम्** मनुष्यों का **मन्द्रः** आनन्द-जनक **यः** जो परमेश्वर **विश्वा** समस्त **वसु** धनों को **दयते** प्रदान करता है, **अस्मै** ऐसे इस **अग्नये** नायक परमेश्वर के लिए **मधोः** शहद के **प्रथमा** श्रेष्ठ **पात्रा न** पात्रों के समान **स्तोमाः** मेरे स्तोत्र **प्रयन्तु** भलीभाँति पहुँचें ॥१०॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥१०॥

भावार्थ—जैसे घर में आये हुए विद्वान् अतिथि को मधु, दही, दूध आदि से भरे हुए पात्र सत्कारपूर्वक समर्पित किये जाते हैं, वैसे ही परम दयालु, परोपकारी परमात्मा के लिए भक्तिभाव से भरे हुए स्तोत्र समर्पित करने चाहिएँ ॥१०॥

इस दशति में परमात्मा के गुणवर्णनपूर्वक उससे समृद्धि-आदि की याचना की गयी है, अतः इसके विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

प्रथम प्रपाठक में पूर्व अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त।
प्रथम अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥

---

१. मधोर्न मादयितुः सोमस्येव—इति भ०।

२. प्रयन्तु प्रकर्षेण गच्छन्तु। वाक्यानां गमनं न सम्भवति। अतो गमनेनात्र करणं प्रतिपाद्यते। एतदुक्तं भवति—यथा मधुनः स्वादयुक्तस्य सोमपात्राणि क्रियन्ते तद्वत् स्तोमा अपि क्रियन्ते—इति वि०।

॥५॥ अथ 'एना वो अग्निम्' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ वसिष्ठः; २ भर्गः; ३, ७ सौभरिः; ४ मनुः; ५ सुदीतिपुरुमीढौ; ६ प्रस्कण्वः; ८ मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च; ९ विश्वामित्रः; १० कण्वः ॥ देवता—१-७, ९,१० अग्निः; ८ इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती । स्वरः मध्यमः ॥

तत्राद्ये मन्त्रे परमात्मनो गुणान् वर्णयति ।

४५. एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे ।
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥१॥[1]
एना वः अग्निम् नमसा । ऊर्जः नपातम् आ हुवे ॥
प्रियम् चेतिष्ठम् अरतिम् स्वध्वरम् सु अध्वरम् ।
विश्वस्य दूतम् अमृतम् अ मृतम् ॥१॥

पदार्थः—अहम् **एना**[2] एतेन **नमसा** नमस्कारेण **ऊर्जः नपातम्** बलस्य प्राणशक्तेश्च अपत्यम्, अतिशयेन बलवन्तं प्राणवन्तं चेत्यर्थः[3] । **प्रियम्** स्नेहास्पदम्, **चेतिष्ठम्**[4] अतिशयेन चेतितारं चेतयितारं वा । चिती संज्ञाने, तृजन्तात् चेत्तृ शब्दादिष्ठनि तुरिष्ठेमेयस्सु । अ० ६।४।१५४ इति तृलोपः । **अरतिम्**[5] सर्वगतं सुखप्रापकं वा । ऋ गतिप्रापणयोः इत्यस्मात् 'वहिवस्यर्तिभ्यश्चित् । उ० ४।६०' इति अतिप्रत्ययः । **स्वध्वरम्** उत्कृष्टः अहिंसामयः सृष्टिसञ्चालनयज्ञो यस्य तम्, **विश्वस्य** सर्वस्य **दूतम्** दुःखदोषदीनां दूरीकर्तारं, धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रापकं, कामक्रोधादिशत्रूणाम् उपतापकं च ।' दु गतौ, भ्वादिः, टुदु उपतापे स्वादिः । दावयतेः दुनोतेर्वा 'दुतनिभ्यां दीर्घश्च । उ० ३।९० इति क्तप्रत्ययः, धातोर्दीर्घश्च । **अमृतम्** स्वरूपेण नाशरहितम् **वः** त्वाम्, पूजायां बहुवचनम् । **अग्निम्** परमात्मानम् **आहुवे** आह्वयामि, स्तौमीत्यर्थः । आङ्पूर्वाद् ह्वेञ् धातोः 'बहुलं छन्दसि । अ० ६।१।३४' इति सम्प्रसारणे रूपम् ॥१॥[6]

भावार्थः—यः परमात्मा बलप्राणयोर्निधिर्भक्तवत्सलः, पूर्णज्ञानी, सर्वव्यापकः, सुखज्ञानादिप्रदाता, दुःखदारिद्र्यादिविनाशको, यज्ञकुशलो, दोषदाहको, गुणप्रापको मरणधर्मरहितश्चास्ति, स सर्वैः प्रेम्णा सश्रद्धं स्तोतव्यः ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा के गुणों का वर्णन है ।

पदार्थ—मैं **एना** इस **नमसा** नमस्कार द्वारा **ऊर्जः नपातम्** बल एवं प्राणशक्ति के पुत्र अर्थात्

---

१. ऋ० ७।१६।१, य० १५।३२, साम० ७४९ ।

२. एनेति तृतीयैकवचनस्य पूर्वसवर्णः । अनन्वादेशे छान्दसत्वाद् इदंशब्दस्य एनादेशः । एनमिति वा अग्नेर्विशेषणम्, द्वितीयैकवचनस्य आकारः—इति भ० ।

३. ऊर्ज बलप्राणनयोः । नपात् इति अपत्यनाम । निघं० २।२ । यो हि यस्य अपत्यमुच्यते तस्मिंस्तस्यातिशयो द्योत्यते इति वै वैदिकी शैली ।

४. चेतिष्ठम् अतिशयेन चेतितारं ज्ञातारमित्यर्थः—इति वि० । अतिशयेन चेतयितारं सञ्ज्ञापकम्—इति य० १५।३२ भाष्ये द० ।

५. अरतिम् अलंमतिम्, अथवा यजमानं देवाँश्च प्रति गन्तारम्—इति वि० । अर्तेः अरतिः स्वामी—इति भ० । गन्तारं स्वामिनं वा—इति सा० । सुखप्रापकम् इति ऋ० ७।१६।१ भाष्ये द० ।

६. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये राजप्रजाविषये यजुर्भाष्ये च विद्युद्विद्याविषये व्याख्यातः ।

अतिशय बलवान् और प्राणवान् **प्रियम्** प्रिय, **चेतिष्ठम्** सबसे अधिक ज्ञानी और ज्ञानप्रदाता, **अरतिम्** सर्वव्यापक वा सुखप्रापक, **स्वध्वरम्** उत्कृष्ट, अहिंसामय सृष्टिसंचालन-रूप यज्ञ के कर्ता, **विश्वस्य** सबके **दूतम्** दुःख, दोष आदि को दूर करनेवाले, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करानेवाले तथा काम क्रोधादि शत्रुओं को उपतप्त करनेवाले, **अमृतम्** स्वरूप से नाश-रहित **वः** आप **अग्निम्** परमात्मा को **आहुवे** पुकारता हूँ ॥१॥

भावार्थ—जो परमात्मा बल और प्राण का खजाना, भक्तवत्सल, पूर्णज्ञानी, सर्वव्यापक, सुख-ज्ञान आदि का प्रदाता, दुःख-दारिद्र्य आदि का विनाशक, विविध यज्ञ करने में कुशल, दोषों को दग्ध करनेवाला, गुणों को प्राप्त करानेवाला और मरणधर्म से रहित है, उसकी सबको प्रेम से श्रद्धापूर्वक स्तुति करनी चाहिए ॥१॥

अथ भौतिकाग्निसादृश्येन परमात्मनः कृत्यं वर्ण्यते ।

४६. शेषे॒ वने॑षु मातृषु॒ सं त्वा॒ मर्तास इन्धते ।
अत॑न्द्रो ह॒व्यं व॑हसि हविष्कृ॒त आदिद् दे॒वेषु॑ राजसि ॥२॥[1]

शेषे॑ वने॑षु मातृषु । सम् त्वा॑ मर्त्तासः॑ इन्धते ॥
अत॑न्द्रः॒ अ त॑न्द्रः ह॒व्यम् व॑हसि हविष्कृ॒तः॑ हविः॑ कृ॒तः॑ ।
आत् इत् दे॒वेषु॑ राजसि ॥२॥

पदार्थः—**प्रथमः** यज्ञाग्निपरः । हे यज्ञाग्ने ! त्वम् **वनेषु** काननेषु, तत्काष्ठेष्विति यावत्, **मातृषु** मातृभूतासु अरणीषु च **शेषे**[2] स्वपिषि, प्रच्छन्नरूपेण विद्यमानो भवसि । **त्वा** त्वाम् **मर्तासः** याज्ञिका मनुष्याः **समिन्धते** अरणिमन्थनद्वारा प्रदीपयन्ति । प्रदीप्तः त्वम् **अतन्द्रः** अनलसः सन् **हव्यम्** हुतं हविर्द्रव्यम् **वहसि** स्थानान्तरं प्रापयसि । **आत्**[3] **इत्** तदनन्तरमेव त्वम् **देवेषु** विद्वज्जनेषु **राजसि** राजवत् प्रशंसितो भवसि ॥

अत्र अचेतने यज्ञाग्नौ चेतनवद् व्यवहार आलङ्कारिकः । अचेतने शयनतन्द्रयोः सम्बन्धासंभवात् शयनस्य प्रच्छन्नरूपेण विद्यमानत्वे लक्षणा, अतन्द्रत्वस्य नैरन्तर्ये लक्षणा । 'वनेषु शेषे' इत्यनेन च अग्नेर्मुनित्वं व्यङ्ग्यम् ॥

अथ द्वितीयः परमात्मपरः । हे अग्ने परमात्मन् ! त्वम् **वनेषु** विपिनेषु, **मातृषु** तन्मातृभूतासु नदीषु च । मातर इति नदीनाम । निघं० १।१३ । **शेषे** स्वपिषि, अदृश्यतया विद्यमानोऽसि । **त्वा** त्वाम् **मर्तासः** मनुष्याः, योगाभ्यासिनो जनाः **समिन्धते** संदीपयन्ति, जागरयन्ति, योगसाधनाद्वारा साक्षात्कुर्वन्तीत्यर्थः । उक्तं चान्यत्र—उप॒ह्व॒रे गि॒रीणां॑ सङ्ग॒मे च॑ नदी॒नाम् । धि॒या विप्रो॑ अजायत ॥ साम० १४३ इति । त्वं च **अतन्द्रः** निद्राप्रमादालस्यादिरहितः सन्, तेषाम् **हव्यम्** आत्मसमर्पणरूपं हविः **वहसि**

---

१. ऋ० ८।६०।१५ । 'मातृषु, हव्यं' इत्यत्र क्रमेण 'मात्रोः, हव्या' इति पाठः ।

२. शेषे गूढः तिष्ठसि, वनेषु अरण्येषु काष्ठेषु इत्यर्थः, मातृषु अरणीषु—इति भ० । शेषः इत्यपत्यनाम, तस्मादियं निमित्तसप्तमी । 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति (म० भा० २।३।३६) इति यथा । अपत्ये निमित्तिभूते, अपत्यार्थमित्यर्थः—इति वि० ।

३. आत् इत् तदानीमेव—इति भ० । आत् इत् द्वावपि पादपूरणौ—इति वि० ।

स्वीकरोषि। **आत् इत्** तदनन्तरमेव त्वम् **देवेषु** विद्वत्सु तेषु योगिजनेषु, तज्जीवनेषु **राजसि** विशेषेण राजमानो भवसि ॥

अत्रापि परमात्मनो निराकारत्वात् तत्र शयनसमिन्धनधर्मौ नोपपद्येते इति शयनस्य गूढतया विद्यमानत्वे समिन्धनस्य च योगसाक्षात्कारे लक्षणा ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः। भौतिकाग्निपरमात्माग्न्योरुपमानोपमेयभावश्च द्योत्यते ॥२॥

भावार्थः—यथा भौतिकाग्निर्वनकाष्ठेष्वरणिषु वादृश्यः सन् स्वपितीव, अरण्योर्मन्थनेन च यज्ञकुण्डे प्रदीप्यते, तथा परमेश्वरोऽपि काननानां तरुलतापत्रपुष्पसरित्सरोवरादिसौन्दर्ये प्रच्छन्नस्तिष्ठति, तत्र ध्यानपरायणैर्योगिभिर्हृदये प्रदीप्यते च। यथा यज्ञवेद्यां प्रदीपितो भौतिकाग्निः सुगन्धिमिष्टपुष्टचारोग्यवर्द्धकं घृतकस्तूरीकेसरकन्दद्राक्षाक्षोटखर्जूरसोमलतागुडूच्यादिकं हुतं हविर्द्रव्यं वायुमाध्यमेन स्थानान्तरं प्रापय्य तत्रारोग्यं वर्द्धयति, तथा परमेश्वर उपासकानामात्मसमर्पणरूपं हव्यं स्वीकृत्य तेषु सद्गुणान् संवर्द्धयति ॥२॥

अब भौतिक अग्नि के सादृश्य से परमात्मा के कर्म का वर्णन करते हैं।

पदार्थ—प्रथम यज्ञाग्नि के पक्ष में। हे यज्ञाग्नि ! तू **वनेषु** वनों में, वन के काष्ठों में, और **मातृषु** अपनी माता-रूप अरणियों के गर्भ में **शेषे** सोता है, छिपे रूप से विद्यमान रहता है। **त्वा** तुझे **मर्तासः** याज्ञिक मनुष्य **समिन्धते** अरणियों को मथकर प्रज्वलित करते हैं। प्रज्वलित हुआ तू **अतन्द्रः** तन्द्रारहित होकर, निरन्तर **हविष्कृतः** हवि देनेवाले यजमान की **हव्यम्** आहुत हवि को **वहसि** स्थानान्तर में पहुँचाता है। **आत् इत्** उसके अनन्तर ही, तू **देवेषु** विद्वान् जनों में **राजसि** राजा के समान प्रशंसित होता है।

यहाँ अचेतन यज्ञाग्नि में चेतन के समान व्यवहार आलंकारिक है। अचेतन में शयन और तन्द्रा का सम्बन्ध सम्भव न होने से शयन की प्रच्छन्न रूप से विद्यमानता होने में लक्षणा है, इसी प्रकार अतन्द्रत्व की नैरन्तर्य में लक्षणा है। 'वनों में शयन करता है,' इससे 'अग्नि एक वनवासी मुनि के समान है', यह व्यंजना निकलती है।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। हे परमात्मन् ! आप **वनेषु** वनों में और **मातृषु** वनों की मातृभूत नदियों में **शेषे** शयन कर रहे हो, अदृश्य रूप से विद्यमान हो। **त्वा** उन आपको **मर्तासः** मनुष्य, योगाभ्यासी जन **समिन्धते** संदीप्त करते हैं, जगाते हैं, योगसाधना द्वारा आपका साक्षात्कार करते हैं। अन्यत्र कहा भी है—पर्वतों के एकान्त में और नदियों के संगम पर ध्यान द्वारा वह परमेश्वर प्रकट होता है। साम० १४३। **अतन्द्रः** निद्रा, प्रमाद, आलस्य आदि से रहित आप, उनकी **हव्यम्** आत्मसमर्पणरूप हवि को **वहसि** स्वीकार करते हो। **आत् इत्** तदनन्तर ही, आप **देवेषु** उन विद्वान् योगी जनों में, अर्थात् उनके जीवनों में **विराजसि** विशेषरूप से शोभित होते हो।

यहाँ भी परमात्मा के निराकार होने से उसमें शयन और संदीपन रूप धर्म संगत नहीं हैं, इस कारण शयन की गूढ रूप से विद्यमानता होने में और संदीपन की योग द्वारा साक्षात्कार करने में लक्षणा है ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है, और भौतिक अग्नि एवं परमेश्वर का उपमानोपमेयभाव ध्वनित हो रहा है ॥२॥

भावार्थ—जैसे भौतिक अग्नि वन के काष्ठों में अथवा अरणियों में अदृश्य हुआ मानो सो रहा होता है और अरणियों के मन्थन से यज्ञकुण्ड में प्रदीप्त हो जाता है, वैसे ही परमेश्वर भी वनों के तरु, लता, पत्र, पुष्प, नदी, सरोवर आदि के सौन्दर्य में प्रच्छन्न रूप से स्थित रहता है और वहाँ ध्यानस्थ

योगियों द्वारा हृदय में प्रदीप्त किया जाता है। जैसे यज्ञवेदि में प्रदीप्त किया हुआ भौतिक अग्नि सुगन्धित, मधुर, पुष्टिदायक और आरोग्यवर्धक घी, कस्तूरी, केसर, कन्द, किशमिश, अखरोट, खजूर, सोमलता, गिलोय आदि की आहुति को वायु के माध्यम से स्थानान्तर में पहुँचाकर वहाँ आरोग्य की वृद्धि करता है, वैसे ही परमेश्वर उपासकों की आत्मसमर्पण-रूप हवि को स्वीकार करके उनमें सद्गुणों को बढ़ाता है ॥२॥

परमेश्वरोऽस्माभिः स्तुतिवाग्भिरर्चनीय इत्याह।

४७. अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः।
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्तु नो गिरः ॥३॥[1]

अदर्शि गातुवित्तमः गातु वित्तमः। यस्मिन् व्रतानि आदधुः आ दधुः॥
उप उ सु जातम् आर्यस्य वर्धनम्। अग्निम् नक्षन्तु नः गिरः ॥३॥

पदार्थः—**गातुवित्तमः**[2] गच्छन्ति अत्र इति गातुः मार्गः तस्य अतिशयेन वेदयिता ज्ञापयिता, कर्तव्यमार्गप्रदर्शक इति भावः, सोऽग्निः परमेश्वरः **अदर्शि** अस्माभिः साक्षात्कृतः, **यस्मिन्** अग्नौ परमेश्वरे मोक्षार्थिनो जनाः **व्रतानि** स्वस्वकर्माणि। व्रतमिति कर्मनाम। निघं० २।१। **आदधुः** स्थापयन्ति, समर्पयन्ति ईश्वरार्पणबुद्धया निष्कामकर्माणि कुर्वन्तीत्यर्थः। **उ**[3] अथ च **सुजातम्** सम्यक् हृदये प्रकटीभूतम् **आर्यस्य**[4] धर्म्यगुणकर्मस्वभावस्य ईश्वरपुत्रस्य। अर्य इति ईश्वरनाम। निघं० २।२२। आर्यः ईश्वरपुत्रः। निरु० ६।२६। **वर्धनम्** वर्द्धयितारम् **अग्निम्** ज्योतिर्मयं नायकं परमेश्वरम् **नः** अस्माकम् **गिरः** स्तुतिवाचः **उप नक्षन्तु** उपगच्छन्तु, सामीप्येन प्राप्नुवन्तु। नक्षतिः गतिकर्मा। निघं० २।१४ ॥३॥

भावार्थः—मोक्षार्थिनो मानवाः फलेच्छां परित्यज्य परमेश्वराय स्वकीयानि समस्तानि कर्माणि समर्पयन्ति। परमेश्वरः सदैव प्रज्वलितः प्रदीपवत् तेषां मनसि कर्तव्याकर्तव्यविवेकं जनयति। सर्वेषामार्य-गुणकर्मस्वभावानामुन्नायकस्य तस्य स्तुत्याऽस्माभिः स्वहृदयं पावनीयम् ॥३॥

परमेश्वर की हमें स्तुति-वाणियों से पूजा करनी चाहिए, यह कहते हैं।

पदार्थ—**गातुवित्तमः** सबसे बढ़कर कर्तव्य-मार्ग का प्रदर्शक वह अग्रणी परमेश्वर **अदर्शि** हमारे द्वारा साक्षात् कर लिया गया है, **यस्मिन्** जिस परमेश्वर में, मुमुक्षुजन **व्रतानि** अपने-अपने कर्मों को **आदधुः** समर्पित करते हैं अर्थात् ईश्वरार्पण-बुद्धि से निष्काम कर्म करते हैं। **उ** और **सुजातम्** भलीभाँति हृदय में प्रकट हुए, **आर्यस्य** धार्मिक गुण-कर्म-स्वभाव वाले, ईश्वर-पुत्र आर्यजन के **वर्द्धनम्** बढ़ानेवाले **अग्निम्** ज्योतिर्मय, नायक परमेश्वर को **नः** हमारी **गिरः** स्तुति-वाणियाँ **उप नक्षन्तु** समीपता से प्राप्त करें ॥३॥

---

१. ऋ० ८।१०३।१ 'नक्षन्तु' इत्यत्र 'नक्षन्त' इति पाठः। साम० १५१५।

२. अतिशयेन मार्गलम्भकः—इति भ०। कै गै रै शब्दे इत्येतस्य रूपम्। गातुः शब्दयिता, स्तुतीनामुच्चारयिता। तं यो वेत्ति स गातुवित्। अतिशयेन गातुवित् गातुवित्तमः—इति वि०। अतिशयेन मार्गाणां ज्ञाता—इति सा०।

३. उप उ सु त्रयोऽपि पूरणाः—इति वि०। उपो उप-उ इति निपातद्वयसमुदायः। उपनक्षन्तु, नक्षतिः व्याप्तिकर्मा, उपव्याप्नुवन्तु—इति भ०।

४. 'आर्यः धर्म्यगुणकर्मस्वभावः' इति य० ३३।८२ भाष्ये द०। आर्यस्य यजमानस्य—इति वि०। यज्ञशीलस्य—इति भ०। उत्तमवर्णस्य—इति सा०।

भावार्थ—मोक्षार्थी मनुष्य फल की इच्छा का परित्याग करके परमेश्वर में अपने समस्त कर्म समर्पित कर देते हैं और परमेश्वर सदैव प्रज्वलित दीपक के समान उनके मन में कर्तव्याकर्तव्य का विवेक पैदा करता है। सब आर्य गुण-कर्म-स्वभाववालों के उन्नायक उसकी स्तुति से हमें अपने हृदय को पवित्र करना चाहिए ॥३॥

अथोपासनायज्ञस्य प्रक्रियामाह।

४८. अग्निरुक्थे पुरोहितो ग्रावाणो बर्हिरध्वरे।
ऋचा यामि मरुतो ब्रह्मणस्ते देवा अवो वरेण्यम् ॥४॥[1]

अग्निः उक्थे पुरोहितः पुरः हितः। ग्रावाणः बर्हिः अध्वरे॥
ऋचा यामि मरुतः ब्रह्मणः पते। देवाः अवः वरेण्यम् ॥४॥

पदार्थः—**उक्थे** स्तुतिमये। वच परिभाषणे धातोः 'पातृतुदिवचि०। उ० २।७' इति थक्-प्रत्ययः। **अध्वरे** हिंसादिदोषरहिते उपासनायज्ञे **अग्निः** ज्योतिर्मयः परमात्मा **पुरोहितः** संमुखं निहितोऽस्ति। **ग्रावाणः** स्तुतिशब्दरूपाः यज्ञियपाषाणाः अपि **पुरोहिताः** संमुखस्थाः सन्ति। गृणातिः अर्चतिकर्मा। निघं० ३।१४। यद्वा ग शब्दे, क्वनिप् प्रत्ययः धातोर्ग्रादेशश्च। **बर्हिः** हृदयरूपं पवित्रं दर्भासनमपि **पुरोहितम्** सम्मुखस्थं विद्यते। अत्र यथायोग्यं विशेष्यशब्दस्य लिङ्गवचनानुसारं विशेषणभूतः पुरोहितशब्दोऽपि परिवर्तते। हे **मरुतः** प्राणाः! हे **ब्रह्मणः पते** ज्ञानगुणविशिष्ट जीवात्मन्! ब्रह्मणस्पतिः ब्रह्मणः पाता वा पालयिता वा इति निरुक्तम्। १०।१२। 'षष्ठ्या, पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु। अ० ८।३।५३' इति विसर्गस्य सत्वम्। हे **देवाः** इन्द्रियमनोबुद्धिरूपा ऋत्विजः! देवा ऋत्विजः। तै० सं० १।६।५।१। अहम् **ऋचा** ईशस्तुतिरूपया वाचा सह। ऋक् इति वाङ्नाम। निघं० १।११। ऋच् स्तुतौ, क्विप्। **वः वरेण्यम्** वरणीयम् **अवः** रक्षणम् **यामि**[2] याचामि। यामि इति याञ्चाकर्मसु पठितम्। निरु० ३।१९।

भावार्थः—यथा बाह्ययज्ञे यज्ञवेद्यामग्निः प्रदीप्यते, तत्र सोमादिपेषणसाधनभूता ग्रावाणः, ऋत्विजामुपवेशनाय दर्भासनानि सज्जितानि भवन्ति; तथैवोपासनायज्ञे परमात्मरूपोऽग्निः समिध्यते, अर्चनाशब्दा एव पाषाणा जायन्ते, हृदयमेव दर्भासनतां प्रपद्यते। बृहस्पतिर्नाम जीवात्मैव यजमानो भवति। प्राणेन्द्रियमनोबुद्धय ऋत्विजो भूत्वा हृदयासनमुपविश्य तं यज्ञं प्रतन्वन्ति येषां साहाय्यं यत्कृतं रक्षणं च यज्ञस्य साफल्यार्थमनिवार्यमस्ति। अतः सर्वैरुपासकैराभ्यन्तरयज्ञे तेषां रक्षणं याचनीयम् ॥४॥

अब उपासना-यज्ञ की प्रक्रिया का वर्णन करते हैं।

पदार्थ—**उक्थे** स्तुतिमय **अध्वरे** हिंसादि के दोष से रहित उपासना-यज्ञ में **अग्निः** ज्योतिर्मय परमात्मा **पुरोहितः** संमुख निहित है; **ग्रावाणः** स्तुति-शब्द-रूप यज्ञिय सिल-बट्टे भी **पुरोहिताः** संमुख निहित हैं; **बर्हिः** हृदय-रूप पवित्र कुशा-निर्मित आसन भी **पुरोहितम्** संमुखस्थ है। हे **मरुतः** प्राणो! हे **ब्रह्मणः पते** ज्ञानगुणविशिष्ट जीवात्मन्! हे **देवाः** इन्द्रिय-मन-बुद्धि-रूप ऋत्विजो! मैं **ऋचा** ईश-स्तुति-रूप वाणी के साथ, आपकी **वरेण्यम्** वरणीय **अवः** रक्षा को **यामि** माँग रहा हूँ ॥४॥

---

१. ऋ० ८।२७।१ 'देवाँ अवो' इति पाठः।

२. नेदं याचते रूपम्। किं तर्हि? ईमहे यामि इत्यर्चतिकर्मसु पाठात् याते रूपम्—इति वि०। यामि याचामि, मध्यमाक्षरलोपः—इति भ०। याचतेर्लटि रूपम्, वर्णलोपश्छान्दसः—इति० सा०।

भावार्थ—जैसे बाह्य यज्ञ में यज्ञ-वेदि में अग्नि प्रज्वलित की जाती है, वहाँ सोम-आदि ओषधियों को पीसने के साधनभूत सिल-बट्टे तथा ऋत्विजों के बैठने के लिए कुशानिर्मित आसन भी तैयार रहते हैं; वैसे ही उपासना-यज्ञ में परमात्मा-रूप अग्नि समिद्ध की जाती है; स्तुतिशब्द ही सिल-बट्टे होते हैं; हृदय ही कुशानिर्मित आसन होता है, ब्रह्मणस्पति नामक जीवात्मा ही यजमान बनता है; प्राण-इन्द्रिय-मन-बुद्धि ऋत्विज् बनकर हृदयासन पर बैठकर उस यज्ञ को फैलाते हैं, जिनकी सहायता और जिनकी रक्षा यज्ञ की सफलता के लिए अनिवार्य है। इसलिए सब उपासकों को आभ्यन्तर यज्ञ में उनकी रक्षा की याचना करनी चाहिए ॥४॥

अथ किमर्थं जनैः परमात्मा स्तोतव्य इत्युच्यते।

४९. अग्निमीडिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम्।
अग्निं राये पुरुमीढ श्रुतं नरोऽग्निः सुदीतये छर्दिः ॥५॥[1]
अग्निम् ईडिष्व अवसे। गाथाभिः शीरशोचिषम् शीरं शोचिषम् ॥
अग्निम् रायेपुरुमीढ पुरु मीढ श्रुतम् नरः।
अग्निः सुदीतये सु दीतये छर्दिः ॥५॥

पदार्थः—हे **पुरुमीढ** पुरुभिः बहुभिः गुणैः सिक्त स्तोतः[2]। पुरु बहुनाम। निघं० ३।१। मिह सेचने क्तः। त्वम् **अवसे** रक्षणाय, प्रगतये, सर्वजनप्रीतये, परमतृप्तिलाभाय वा। रक्षणगतिकान्तिप्रीति-तृप्त्याद्यर्थाद् अव धातोः तुमर्थे असेन् प्रत्ययः। **शीरशोचिषम्**[3] शीरं सर्वत्र व्याप्तं शोचिः ज्योतिर्यस्य तम्। **शीरम्** अनुशायिनमिति वाऽऽशिनमिति वा। निरु० ४।१४। शीङ् स्वप्ने, 'स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ० २।१३ इति रक् प्रत्ययः। **अग्निम्** तेजोमयं परमात्मानम् **गाथाभिः** मन्त्रवाग्भिः। गाथा वाङ्नाम। निघं० १।११। **ईडिष्व** स्तुहि, आराध्नुहि **श्रुतम्** तन्महिमवर्णनपरेभ्यो वेदादिशास्त्रेभ्यः कर्णगोचरतां नीतम् **अग्निम्** तं परमात्मानम्, त्वम् **राये** भौतिकाध्यात्मिकसर्वविधधनानां प्राप्तये **ईडिष्व** स्तुहि, आराध्नुहि। हे **नरः** पौरुषसम्पन्नाः जनाः! **अग्निः** जगन्नायकः परमात्मा **सुदीतये**[4] शोभना दीप्तिः गतिः क्रिया यस्य तस्मै पुरुषार्थिने जनाय। दीयतिः गतिकर्मा। निघं० २।१४। बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्। अ० ६।३।१७२' इत्युत्तरपदस्यान्तोदात्तत्वम्। **छर्दिः** शरणं भवति। छर्दिः गृहनाम। निघं० ३।४ ॥५॥

भावार्थः—धनाद्यशेषकल्याणप्राप्तये जनैः पुरुषार्थिभिर्भूत्वा सर्वत्र व्याप्तकान्तिः परमगुरुः परमात्मा भजनीयः ॥५॥

---

१. ऋ० ८।७१।१४, अ० २०।१०३।१। उभयत्र 'नरोऽग्निं' इति पाठः।

२. एष पदार्थः ऋ० १।१५१।२ इत्यस्य दयानन्दभाष्याद् गृहीतः।

३. शीरं व्यापि शोचिर्दीप्तिः। व्यापिनी दीप्तिर्यस्यासौ शीरशोचिः, तं शीरशोचिषम्, व्यापिदीप्तिमित्यर्थः। अथवा जठरात्मना आश्रयणीया दीप्तिर्यस्य—इति वि०। श्रयतेः शीरम्, शोचिः दीप्तिः। प्रवृद्धशोचिषम्—इति भ०। शयन-स्वभावरोचिषम्—इति सा०।

४. सुदीतये शोभनस्य दानस्यार्थाय—इति वि०। एतन्मते केवलं पुरुमीढस्यार्षं, न सुदीतेरपि, अतस्तेन यौगिकार्थो निरूपितः 'अन्तरात्मनः प्रैषः, हे मदीय अन्तरात्मन्! अग्निम् ईडिष्व स्तुहीत्यर्थः' इति पुरुमीढो ब्रूते, इति तदीयः आशयः। अन्येषां मते सुदीतिपुरुमीढयोरुभयोरार्षम्, अतस्तैः सुदीतये एतत्संज्ञाय ऋषये इति व्याख्यातम्। वस्तुतस्तु मन्त्रागतौ सुदीतिपुरुमीढौ यौगिकार्थमेव सूचयतः।

किसलिए मनुष्यों को परमात्मा की स्तुति करनी चाहिए, यह कहते हैं।

पदार्थ—हे **पुरुमीढ** अनेक गुणों से सिक्त स्तोता ! तू **अवसे** रक्षा, प्रगति, सर्वजनप्रीति और तृप्तिलाभ के लिए **शीरशोचिषम्** सर्वत्र व्यापक ज्योतिवाले **अग्निम्** तेजस्वी परमात्मा की **गाथाभिः** मन्त्र-वाणियों से **ईडिष्व** स्तुति और आराधना कर। **श्रुतम्** महिमा वर्णन करनेवाले वेदादि शास्त्रों से सुने हुए **अग्निम्** उस परमात्मा की, तू **राये** भौतिक एवं आध्यात्मिक सब प्रकार के धनों की प्राप्ति के लिए **ईडिष्व** स्तुति और आराधना कर। हे **नरः** पौरुषवान् मनुष्यो ! **अग्नि** जगत् का नायक परमात्मा **सुदीतये** उत्तम कर्मवाले पुरुषार्थी जन के लिए **छर्दिः** शरण होता है ॥५॥

भावार्थ—धन आदि समस्त कल्याणों के अभिलाषी मनुष्यों को चाहिए कि वे पुरुषार्थी होकर सर्वत्र व्याप्त तेजोंवाले परमगुरु परमात्मा का भजन करें ॥५॥

अथ परमात्मानं राजानं च प्रार्थ्यते।

५०. श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः।
आ सादतु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावभिरध्वरे ॥६॥[1]

श्रुधि श्रुत्कर्ण श्रुत् कर्ण वह्निभिः। देवैः अग्ने सयावभिः स यावभिः ॥
आ सादतु बर्हिषि मित्रः मि त्रः अर्यमा।
प्रातर्यावभिः प्रातः यावभिः अध्वरे ॥६॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। हे **श्रुत्कर्ण** ! शृणोतीति श्रुत्, श्रुतौ श्रवणशीलौ कर्णौ यस्य स श्रुत्कर्णः, अपरिमितश्रोत्रशक्तिसम्पन्नः, तादृशः। परमात्मनो निरवयवत्वात् कर्णशब्देन तदीया श्रवणशक्तिर्लक्ष्यते। उक्तं च—'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।' इति। श्वेता० उप० ४।१९। **अग्ने** परमात्मन् ! त्वम् **वह्निभिः** वहन्तीति वह्नयः अश्वाः तैः अश्वभूतैः अश्ववद् वहनशीलैः, अश्वा यथा स्वपृष्ठमारोप्य जनान् लक्ष्यस्थानं प्रापयन्ति तथा ये स्तोतारं समुन्नतिशिखरं नयन्ति तादृशैः। वह्निः अश्वनाम। निघं० १।१४। **सयावभिः**[2] त्वया सहैव यान्ति समागच्छन्ति ये तथाविधैः **देवैः** दिव्यगुणैः सार्द्धम् **श्रुधि** मदीयां प्रार्थनां शृणु, यथा त्वं मत्प्रार्थनां श्रोष्यसि तथा दिव्यगुणा अपि शृण्वन्तीति भावः। **अध्वरे** हिंसादिकल्मषरहिते प्रातःक्रियमाणे ममोपासनायज्ञे **प्रातर्यावभिः** प्रातः यज्ञं समायान्ति तैः दिव्यगुणैः सह **मित्रः** मित्रवत् स्नेहशीलः **अर्यमा** न्यायशीलो भवान् **बर्हिषि** हृदयासने **आसीदतु** उपविशतु ॥

अथ **द्वितीयो** राजपरः। हे **श्रुत्कर्ण** श्रुतौ बहुश्रुतौ कर्णौ यस्य तादृश राजनीतिशास्त्रवेत्तः **अग्ने** विद्याप्रकाशयुक्त राजन् ! त्वम् **वह्निभिः** राज्यभारवहनसमर्थैः **सयावभिः** सह यान्ति ये तैः **देवैः** विद्वद्भिः अमात्यादिभिः राजपुरुषैः सह **श्रुधि** अस्मन्निवेदनं शृणु। **अध्वरे** राष्ट्रयज्ञे **प्रातर्यावभिः** ये प्रजायाः सुखदुःखादिकं श्रोतुं प्रातः सभां यान्ति तैः राज्याधिकारिभिः सह **मित्रः** मित्रवदाचरन् राजसचिवः **अर्यमा** यः अर्यान् श्रेष्ठान् मानयति अश्रेष्ठाँश्च दण्डयति स न्यायाधीशश्च **बर्हिषि** राज्यासने **आसीदतु**

---

१. ऋ० १।४४।१३, य० ३३।१५। उभयत्र 'आसीदन्तु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावाणो अध्वरम्' इति पाठः।
२. त्वया सह ये यान्ति ते सयावानः तै सयावभिः सहगामिभिरित्यर्थः—इति वि०।

उपविशतु ॥६॥[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥६॥

भावार्थः—उपासकैः पवित्रभावप्रेरके प्रभातकाले य उपासनायज्ञः क्रियते तस्मिन् परमात्मना सह शमदमतपःस्वाध्यायदानदयान्यायप्रभृतयो विविधा गुणा अपि हृदये प्रादुर्भवन्ति। तस्मिन् कालेऽनुभूतः परमात्मा सद्गुणगणश्च स्थिररूपेण हृदि धारणीयः। किञ्च, प्रजापालको राजा योग्यानमात्य-न्यायाधीशादीन् राज्यवहनसमर्थान् राजपुरुषान् नियुज्य तैः सह प्रजायाः सर्वाणि कष्टानि श्रुत्वा तन्निवारणं कुर्यात् ॥६॥

अब परमात्मा और राजा से प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे **श्रुत्कर्ण** सुनने वाले कानों से युक्त अर्थात् अपरिमित श्रवणशक्ति वाले **अग्ने** परमात्मन्! आप **वह्निभिः** घोड़ों के समान वहनशील अर्थात् जैसे घोड़े अपनी पीठ पर बैठाकर लोगों को लक्ष्य पर पहुँचा देते हैं, वैसे ही जो स्तोता को उन्नति के शिखर पर पहुँचा देते हैं। ऐसे **सयावभिः** आपके साथ ही आगमन करने वाले **देवैः** दिव्य गुणों के साथ, आप **श्रुधि** मेरी प्रार्थना को सुनिए। **अध्वरे** हिंसा आदि मलिनता से रहित, प्रातः किये जाने वाले मेरे उपासना-यज्ञ में **प्रातर्यावभिः** प्रातःकाल यज्ञ में आने वाले दिव्य गुणों के साथ **मित्रः** मित्र के समान स्नेहशील, **अर्यमा** न्यायशाली आप **बर्हिषि** हृदयासन पर **आसीदतु** बैठें॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे **श्रुत्कर्ण** बहुश्रुत कानों वाले राजनीतिशास्त्रवेत्ता **अग्ने** विद्या-प्रकाशयुक्त राजन्! आप **वह्निभिः** राज्यभार को वहन करने में समर्थ **सयावभिः** आपके साथ आगमन करने वाले **देवैः** विद्वान् मन्त्री आदि राजपुरुषों के साथ **श्रुधि** हमारे निवेदन को सुनिए। **अध्वरे** राष्ट्रयज्ञ में **प्रातर्यावभिः** जो प्रजा का सुख-दुःख सुनने के लिए प्रातःकाल सभा में उपस्थित होते हैं ऐसे राज्या-धिकारियों सहित **मित्रः** मित्रवत् व्यवहार करने वाले राजसचिव और **अर्यमा** श्रेष्ठों को सम्मानित तथा अन्य अश्रेष्ठों को दण्डित करने वाले न्यायाधीश **बर्हिषि** राज्यासन पर **आसीदतु** बैठें॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है॥६॥

भावार्थ—उपासक लोग पवित्र भावों के प्रेरक प्रभातकाल में जो उपासना-यज्ञ करते हैं, उसमें परमात्मा के साथ शम, दम, तप, स्वाध्याय, दान, दया, न्याय आदि विविध गुण भी हृदय में प्रादुर्भूत होते हैं। उस काल में अनुभव किये गये परमात्मा को और सद्गुणों को स्थिर रूप से हृदय में धारण कर लेना चाहिए। और प्रजापालक राजा को यह उचित है कि वह राज्य-संचालन में समर्थ, योग्य मन्त्री, न्यायाधीश आदि राजपुरुषों को नियुक्त करके उनके साथ प्रजा के सब कष्टों को सुनकर उनका निवारण करे॥६॥

अथ परमात्मनो महिमानं वर्णयन्ताह।

१९ २९ ३ २ ३ २७ ३ २ ३ १ २
५१. प्र देवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना।
१ २ ३ १ २ ३ १९ २९ ३ १९ २९ ३ १ २
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि ॥७॥[2]

१. दयानन्दर्षिणा ऋग्वेदे यजुर्वेदे चायं मन्त्रः क्रमेण विद्वत्परो राजपरश्च व्याख्यातः। एष तावद् यजुर्भाष्ये तत्कृतो भावार्थः—सभापतिना राज्ञा सुपरीक्षितानमात्यान् स्वीकृत्य तैः सह सदसि स्थित्वा विवद—मानवचांसि श्रुत्वा समीक्ष्य यथार्थो न्यायः कर्तव्य इति।

२. ऋ० ८।१०३।२, 'देव इन्द्रो, शर्मणि।' इत्यत्र क्रमेण 'देवाँ अच्छा, सानवि' इति पाठः। साम० १५१७।

प्र दैवोदासः देवः दासः अग्निः । देवः इन्द्रः न मज्मना ॥
अनु मातरम् पृथिवीम् वि वावृते । तस्थौ नाकस्य शर्मणि ॥७॥

पदार्थः—**दैवोदासः**[1] दिवो विद्याधर्मप्रकाशस्य दाता दिवोदासः धार्मिको जनः । दिवोदासस्यायं दैवोदासः धार्मिकजनप्रियः इत्यर्थः । दिवश्च दास उपसंख्यानम् । अ० ६।३।२१ वा० इति षष्ठ्या अलुक् । **देवः** प्रकाशकः **अग्निः** जगन्नेता परमेश्वरः **इन्द्रः न** बलवान् राजा इव **मज्मना** बलेन । यज्म इति बलनाम । निघं० २।९ । **प्र**[2] प्रभवति, समर्थोऽस्तीत्यर्थः । उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः । **तदेव** तस्य सामर्थ्यं वर्ण्यते—स हि **मातरम्** सर्वेषां जनानां मातृभूताम् **पृथिवीम्** भूमिम् । उक्तं च, 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः । अ० १२।१।१२ इति ।' **अनु वि वावृते**[3] अनुकूलतया सूर्यं परितो वि वर्तयति परिभ्रमयति । अपि च, स एव परमेश्वरः **नाकस्य** आदित्यस्य । नाक आदित्यो भवति । नेता रसानां नेता भासां, ज्योतिषां प्रणयः । निरु० २।१४ । **शर्मणि** गृहे, तन्मण्डले इत्यर्थः । शर्म गृहम् । निघं० ३।४ । **तस्थौ** तिष्ठति । योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । य० ४०।१७ इति श्रुतेः ॥७॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥७॥

भावार्थः—यथा कश्चिन्मानवो राजा स्वबलेन राष्ट्रभूमिं नियमेषु संचालयति, तथैव परमात्मा पृथिवीं सूर्यं परितः परिभ्रमयति, आदित्ये चापि कृतनिवासस्तद्द्वारा पृथिव्यादीन् ग्रहोपग्रहान् प्रकाशयति ॥७॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ—**दैवोदासः** धार्मिक जनों का प्रिय, **देवः** प्रकाशक **अग्निः** जगन्नायक परमेश्वर **इन्द्रः न** बलवान् राजा के समान **मज्मना** बल से **प्र** प्रभावशाली और समर्थ बना हुआ है । आगे उसके सामर्थ्य का ही वर्णन है—वह **मातरम्** माता **पृथिवीम्** भूमि को **अनु वि वावृते** अनुकूलता से सूर्य के चारों ओर घुमा रहा है । वही परमेश्वर **नाकस्य** सूर्य के **शर्मणि** घर, सूर्यमण्डल में **तस्थौ** स्थित है अर्थात् सूर्य का संचालक भी वही है ॥७॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥७॥

भावार्थ—जैसे कोई मानव राजा अपने बल से राष्ट्रभूमि को नियमों में चलाता है वैसे ही परमात्मा भूमि को सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण कराता है और आदित्य में भी निवास करता हुआ उसके द्वारा पृथिवी आदि ग्रहोपग्रहों को प्रकाशित करता है ॥७॥

अथ परमात्मा प्रार्थ्यते ।

५२. अध ज्मो अध वा दिवो बृहतो रोचनादधि ।
अया वर्धस्व तन्वा गिरा मम जाता सुक्रतो पृण ॥८॥[4]

१. दिवोदासम् दिवो विद्याधर्मप्रकाशस्य दातारम्—इति ऋ० १।११२।१४ भाष्ये द० । दिवोदासः ऋषिः तेन समिन्धितः दैवोदासः अग्निः देवः—इति वि० । दिवोदासेन अभ्यर्हितः पूर्वम् अग्निः—इति भ० । दिवोदासेन आहूयमानः—इति सा० ।

२. प्र इत्युपसर्गदर्शनाद् आख्याताध्याहारः, प्रगच्छतु देवो अग्निः । अथवा प्रभवतीति समाप्तिः—इति भ० ।

३. वि वावृते परिवर्तयति—इति वि० । विशेषेण प्रवर्तयति—इति सा० ।

४. ऋ० ८।१।१८ ।

१२१ १२१ ३ २ ३ २ ३ २ १२१
अध ज्मः अध वा दिवः । बृहतः रोचनात् अधि ॥
३ २ ३ ३क २ ३ २ १२१ ३ २ ३
अया वर्धस्व तन्वा गिरा मम । आ जाता सुक्रतो सु क्रतो पृण ॥८॥

पदार्थः—**अध** अथ, हे इन्द्र ! त्वम् **ज्मः**[1] पृथिव्याः । ज्मा पृथिवीनाम । निघं० १।१ । आकारलोपश्छान्दसः । **अध वा** अपि च **दिवः** द्युलोकात् किञ्च **बृहतः** महतः **रोचनात् अधि** प्रदीप्तात् चन्द्रलोकाद् अन्तरिक्षलोकाद् वा । अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी । त्वम् अस्मान् **आ पृण** आपूरय, पृथिव्यां दिवि अन्तरिक्षे च यानि अग्निवायुप्रकाशौषधिवनस्पतिफलमूलस्वर्णरजतमणिमुक्तादीनि वस्तूनि सन्ति तानि त्वं मुक्तहस्तेनास्मभ्यं प्रयच्छेति भावः । त्वम् **मम** मदीयया **अदा** अनया । अया एना इत्युपदेशस्येति निरुक्तम् । ३।२१ । **तन्वा**[2] विस्तीर्णया **गिरा** स्तुतिवाचा **वर्धस्व** मदन्तःकरणे वृद्धिं भजस्व । हे **सुक्रतो** सुप्रज्ञ, सुकर्मन् ! क्रतुः कर्मनाम प्रज्ञानाम च । निघं० २।१, ३।९ । त्वम् **जाता**[3] जातानि मम अपत्यानि अत्र 'शेश्छन्दसि बहुलम् । अ० ६।१।७०' इति द्वितीयाबहुवचनस्य शेर्लोपः । **आ पृण** प्रज्ञाभिः कर्मभिः संपद्भिश्च प्रीणय । पृण प्रीणने । उक्तं चान्यत्र 'दिवो विष्णो उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात् ॥ हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात् ॥ अथ० ७।२६।८ इति ॥८॥

भावार्थः—भूलोके पर्वतनदीनदसागरवृक्षवनस्पतिलतापत्रपुष्पादिषु, द्युलोके नक्षत्राकाशगङ्गासूर्यसूर्यकिरणादिषु, अन्तरिक्षलोके च चन्द्रवायुपर्जन्यादिषु यदैश्वर्यं विद्यते तत्सर्वं परमेश्वरोऽस्मभ्यं निःशुल्कं ददाति । अतोऽस्माभिर्गिरा तन्महिमप्रकाशकानि गीतानि गातव्यानि ॥८॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गई है।

पदार्थ—**अध** और, हे इन्द्र परमात्मन् ! आप **ज्मः** पृथिवी लोक से, **अध वा** तथा **दिवः** द्युलोक से, और **बृहतः** महान् **रोचनात् अधि** प्रदीप्त चन्द्रलोक अथवा अन्तरिक्षलोक से उन-उन लोकों की वस्तुएँ लाकर हमें **आ पृण** परिपूर्ण कीजिए । अभिप्राय यह है कि पृथिवी, द्यौ तथा अन्तरिक्ष में जो अग्नि, वायु, प्रकाश, ओषधि, वनस्पति, फल, मूल, सोना, चाँदी, मणि, मोती आदि वस्तुएँ हैं, उन्हें आप मुक्त हस्त से हमें प्रदान कीजिए । आप **मम** मेरी **अया** इस **तन्वा** विस्तीर्ण **गिरा** स्तुति-वाणी से **वर्धस्व** मेरे अन्तःकरण में वृद्धि को प्राप्त होइए । हे **सुक्रतो** उत्कृष्ट प्रज्ञा वाले और उत्कृष्ट कर्मोंवाले ! आप **जाता** उत्पन्न सन्तानों को **आ पृण** प्रज्ञाओं, कर्मों और सम्पदाओं से तृप्त कीजिए ॥८॥

भावार्थ—भूलोक के पर्वत, नदी, नद, सागर, वृक्ष, वनस्पति, लता, पत्र, पुष्प आदि में, द्युलोक के नक्षत्र, आकाशगंगा, सूर्य, सूर्यकिरण आदि में और अन्तरिक्ष-लोक के चन्द्रमा, वायु, बादल आदि में जो ऐश्वर्य है, उस सबको परमेश्वर हमें निःशुल्क प्रदान करता है । इसलिए हमें वाणी से उसकी महिमा का प्रकाश करने वाले गीत गाने चाहिए ॥८॥

---

१. जमः जमन्ति गच्छन्त्यस्यामिति ज्मा पृथिवी तस्याः सकाशात्—इति सा० ।

२. तन्वा ततया मम गिरा स्तुत्या—इति भ० । तन्वा शरीरेण—इति वि० ।

३. जातानि ममापत्यानि—इति वि० । जातान् जनान् मदीयान्—इति भ० । जातानस्मदीयान् जनान् अभिलषितैः फलैरापूरय—इति सा० ।

अथ परमात्मार्ग्नि स्वहृदये दिदीपयिषुराह ।

१ २ ३ २उ ३ १ २ २ ३ २
५३. **कायमानो वना त्वं यन्मातृरजगन्नपः ।**
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २
न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद् दूरे सन्निहाभुवः ॥९॥[1]
१ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ २
कायमानः वना त्वम् । यत् मातः अजगन् अपः ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
न तत् ते अग्ने प्रमृषे प्र मृषे निवर्त्तनम् नि वर्त्तनम् ।
३ २ ३ २ ३ २ १ २
यत् दूरे दुः ए सन् इह अभुवः ॥९॥

पदार्थः—हे **अग्ने**[2] प्रकाशक परमात्माग्ने ! **त्वम् वना** वनानि स्वरश्मीन् । वनम् रश्मिनाम । निघं० १।५। **कायमानः**[3] प्रकटयितुं कामयमानः । कै शब्दे धातुरत्र कामनार्थः । 'कायमानः चायमानः कामयमान इति वा' इति निरुक्तम् ।४।१४। स्वयमस्माकम् आत्ममनोबुद्ध्यादिषु ज्वलितुमभिलषन्नपीत्यर्थः **यत् मातृः अपः** अस्माकं मातृभूतानि उदकानि । आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु । ऋ० १०।१७।१० इति वचनात् । **अजगन्**[4] प्रविष्टोऽसि, शान्तोऽसीत्यर्थः । शान्तिर्वा आपः । ऐ० ७।५ इति वचनात् । अत्र गत्यर्थाद् गम्लृधातोः लङि सिपि 'बहुलं छन्दसि । अ० २।४।७६' इति शपः श्लौ द्वित्वे, 'भो नो धातोः । अ० ८।२।६४ इति मस्य नः । यच्छब्दयोगान्निघाताभावः । **तत् ते** तव **निवर्तनम्** मत्तो निवृत्तिः मां प्रति औदासीन्यमिति यावत्, अहम् **न** नैव **प्रमृषे**[5] सहे । प्र पूर्वो मृष तितिक्षायाम्, दिवादिः चुरादिश्च । **यत्** यस्मात् **दूरे सन्** साम्प्रतं दूरे विद्यमानस्त्वम्, पूर्वम् **इह** मत्समीपे **अभुवः**[6] अभूः, भूतवानसि । पूर्ववदद्यापि तव रश्मयो ममाभ्यन्तरे कुतो न प्रकाशन्ते इति भावः । अत्र यच्छब्दयोगात् 'यद्वृत्तान्नित्यम् । अ० ८।१।६६' इति निघाताभावः । ॥९॥[7]

यास्काचार्यो मन्त्रमिमम् एवं व्याचष्टे—कायमानश्चायमानः कामयमानः इति वा वनानि त्वं यन्मातरपोऽगमः उपशाम्यन् । न तत्ते अग्ने प्रमृष्यते निवर्तनम्, दूरे यत् सन्निह भवसि जायमानः इति । निरु० ४।१४ ।

अत्र प्रदीप्ति कामयमानोऽपि न प्रदीप्यसे, प्रत्युत शान्तोऽसीति कारणसद्भावेऽपि कार्यासद्भावरूपो विशेषोक्तिरलङ्कारः । 'दूरे सन्निह अभुवः' इत्यत्र च विरोधो व्यङ्ग्यः, व्याख्यातदिशा च विरोधपरिहारः ॥९॥

---

१. ऋ० ३।९।२, 'भुवः' इत्यत्र 'भवः' इति पाठः।
२. इयं वैद्युतस्याग्नेः स्तुति—इति भ० ।
३. 'चार्य पूजानिशामनयोः' इत्यस्य चकारस्य ककारापत्त्या रूपम्—इति वि० । कै शब्दे, शब्दायमानः त्वम्—इति भ० । वनानि काननानि भक्षितुं कायमानः कामयमानः—इति सा० ।
४. अजगत् आगच्छसि—इति वि० । अजगन्निति गमेः लुङि रूपम्, द्विर्वचनं छान्दसम् । तस्मिन् च्लेः लोपः, हलि आ लोपः । मो नो धातोः (पा० ८।२।६४) इति मकारस्य नकारः । लडर्थे लुङ् गच्छसि—इति भ० ।
५. न प्रमृष्यते—इति वि० । न प्रमर्षणीयम्, 'कृत्यार्थे तवैकेन्—केन्यत्वनः । पा० ३।४।१४ इति केन् प्रत्ययः—इति भ० । कृत्यार्थे केन् प्रत्ययः, न प्रमृष्यते न सह्यते—इति सा० । मृष तितिक्षायाम्, व्यत्ययेन कर्मणि त प्रत्ययः । 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' इति तलोपः—इति ऋ० ३।९।२ भाष्ये सा० ।
६. आभुवः इति लेडन्तम्, आसमन्ताद् भवेः—इति भ० । किन्तु पदपाठे 'अभुवः' इति दर्शनात् अस्माभिर्लुङन्तं व्याख्यातम् ।
७. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं 'विद्यार्थी अध्यापकमुपदेशकं वा प्राप्य सुखीभवतीति' पक्षे व्याख्यातः ।

भावार्थः—कृतपरमात्मसाक्षात्कारोऽपि कश्चिदनवधानत्ववशात् तं विस्मृतवान् सन् स्वोद्गारान् प्रकटयति—हे देव ! पूर्वं त्वं सदैव मदीयेष्वात्ममनोबुद्धचादिषु प्रदीप्यसे स्म। सम्प्रति तु हन्त, अद्भिर्भौतिकाग्निरिव शान्तोऽसि। एतत् तव मां प्रत्यौदासीन्यमहं नैव सोढुं शक्नोमि। कृपया प्रसुप्तिं परित्यज्य पूर्ववन्ममाभ्यन्तरे प्रदीप्यस्व ॥९॥

परमात्मा रूप अग्नि को अपने हृदय में प्रदीप्त करना चाहता हुआ मनुष्य कह रहा है।

पदार्थ—हे **अग्ने** प्रकाशक परमात्मारूप अग्नि ! **त्वम्** आप **वना** अपनी तेज की किरणों को **कायमानः** प्रकट करना चाहते हुए अर्थात् स्वयं हमारे आत्मा, मन, बुद्धि आदि में प्रज्वलित होना चाहते हुए भी **यत्** जो **मातः अपः** मातृभूत जलों में **अजगन्** प्रविष्ट हो अर्थात् जलों से अग्नि के समान शान्त हुए पड़े हो, **तत्** वह **ते** आपकी **निवर्तनम्** निवृत्ति अर्थात् मेरे प्रति उदासीनता को, मैं **न** नहीं **प्रमृष्ये** सह सकता हूँ, **यत्** क्योंकि **दूरे सन्** इस समय दूर होते हुए भी आप, पहले **इह** यहाँ मेरे समीप **अभुवः** रह चुके हो। पहले के समान अब भी आपकी तेजोरश्मियाँ मेरे अन्दर क्यों नहीं प्रकाशित होतीं ? ॥९॥

इस मन्त्र में 'प्रदीप्त होना चाहते हुए भी प्रदीप्त नहीं हो रहे हो, प्रत्युत शान्त हो गये हो' यहाँ कारण विद्यमान होने पर भी कार्य का उत्पन्न न होना रूप विशेषोक्ति अलंकार है। 'दूर होते हुए यहाँ विद्यमान हो' में विरोधालङ्कार व्यङ्ग्य है, व्याख्यात प्रकार से विरोध का परिहार हो जाता है ॥९॥

भावार्थ—जो परमात्मा का साक्षात्कार कर चुका है ऐसा मनुष्य असावधानी के कारण उसे भूल जाने पर अपने उद्गार प्रकट कर रहा है—हे देव ! पहले आप सदा ही मेरे आत्मा, मन, बुद्धि आदि में प्रदीप्त रहते थे। पर अब दुःख है कि जलों से बुझे भौतिक अग्नि के समान शान्त हो गये हो। आपकी मेरे प्रति इस उदासीनता को मैं नहीं सह सकता हूँ। कृपा करके प्रसुप्तावस्था को छोड़कर पहले के समान मेरे अन्दर प्रदीप्त होवो ॥९॥

अथ परमात्मानं स्तुवन् तं प्रार्थयते।

५४. नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते।
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः ॥१०॥[1]
नि त्वाम् अग्ने मनुः दधे। ज्योतिः जनाय शश्वते ॥
दीदेथ कण्वे ऋतजातः ऋत जातः उक्षितः। यम् नमस्यन्ति कृष्टयः ॥१०॥

पदार्थः—हे **अग्ने** प्रकाशस्वरूप प्रकाशक परमात्मन् ! **मनुः** मननशीलो जनः **त्वाम्**[2] परममहिमान्वितं त्वाम् **निदधे** निधिवत् स्वान्तःकरणे धारयति। त्वम् **शश्वते**[3] शाश्वताय सनातनाय **जनाय** जीवात्मने **ज्योतिः** दिव्यं प्रकाशं, प्रयच्छसीति शेषः। **ऋतजातः** ऋते सत्ये जातः प्रसिद्धः, **उक्षितः** हृदये

---

१. ऋ० १।३६।१९।

२. अत्र स्वरव्यत्ययादाद्युदात्तत्वमिति ऋग्भाष्ये द०।

३. शश्वते स्वरूपेण अनादिने जनाय (जीवाय) जीवस्य रक्षणाय इति ऋग्भाष्ये द०। शश्वते विभवे, अहरहर्वा सर्वेषां मनुष्याणामर्थाय स्वराष्ट्रपरिपालनार्थम्—इति भ०। शश्वते बहुविधाय यजमानाय—इति सा०। (शश्वदिति बहुनामसु पठितम्। निघं० ३।१)।

सिक्तः, त्वम् **कण्वे**[1] मेधाविनि मयि। कण्व इति मेधाविनाम। निघं० ३।१५। **दीदेथ**[2] प्रकाशस्व। 'दीदयति ज्वलतिकर्मा। निघं० १।१६।' **यम्** यं त्वाम् **कृष्टयः** उपासकाः मनुष्याः। कृष्टय इति मनुष्यनाम। निघं० २।३। **नमस्यन्ति** नमस्कुर्वन्ति ॥१०॥[3]

भावार्थः—मननशीलानां परमो निधिर्जीवात्मनां च दिव्यज्योतिष्प्रदः परमेश्वरः सर्वैर्मेधाविजनैः स्वहृदि प्रदीपनीयः समुपासनीयश्च ॥१०॥

अत्र परमात्मकर्तृत्वमहत्त्ववर्णनपुरस्सरं तत्स्तुत्यर्थं प्रेरणाद्, हृदये तत्सामीप्यतद्वृद्धियाचनाच्चैतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम् ॥

इति प्रथमे प्रपाठके प्रथमेऽर्धे पञ्चमी दशतिः।
इति प्रथमेऽध्याये पञ्चमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की स्तुति करते हुए उससे प्रार्थना की गयी है।

पदार्थः—हे **अग्ने** प्रकाशस्वरूप प्रकाशक परमात्मन्! **मनुः** मननशील जन **त्वाम्** अत्युच्च महिमा वाले आपको **निदधे** निधि के समान अपने अन्तःकरण में धारण करता है। आप **शश्वते** शाश्वत, सनातन **जनाय** जीवात्मा के लिए **ज्योतिः** दिव्य ज्योति प्रदान करते हो। **ऋतजातः** सत्य में प्रसिद्ध, **उक्षितः** हृदय में सिक्त आप **कण्वे** मुझ मेधावी के अन्दर **दीदेथ** प्रकाशित होवो, **यम्** जिस आपको **कृष्टयः** उपासक जन **नमस्यन्ति** नमस्कार करते हैं ॥१०॥

भावार्थ—सब मेधावी जनों को चाहिए कि मननशीलों के सबसे बड़े खजाने, जीवात्माओं को दिव्य ज्योति प्रदान करने वाले परमेश्वर को अपने हृदय में प्रदीप्त करें और उसकी उपासना करें ॥१०॥

इस दशति में परमात्मा के कर्तृत्व और महत्त्व के वर्णनपूर्वक मनुष्यों को उसकी स्तुति के लिए प्रेरित किया गया है और हृदय में उसकी समीपता एवं वृद्धि की याचना की गयी है, इसलिए इसके विषय की पूर्व दशति में वर्णित विषय के साथ संगति है, यह जानना चाहिए ॥

प्रथम प्रपाठक में, प्रथम अर्ध की पाँचवीं दशति समाप्त।
प्रथम अध्याय में पाँचवाँ खण्ड समाप्त ॥

अथ द्वितीयोऽर्धः

॥६॥ तत्र 'देवो वो द्रविणोदाः' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः १, ७ वसिष्ठः; २, ३, ५ कण्वः; ४ सौभरिः; ६ उत्कीलः; ८ विश्वामित्रः ॥ देवता १, ४-८ अग्निः; २ बृहस्पतिः; ३ यूपः ॥ छन्दः बृहती ॥ स्वरः मध्यमः ॥

अथाद्ये मन्त्रे जनाः प्रेर्यन्ते।

५५. देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्वासिचम्।
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद् वो देव ओहते ॥१॥[4]

---

१. कण्वे मयि—इति भ०। कण्वे एतन्नामके महर्षौ मयि—इति सा०। मेधाविनि जने—इति ऋग्भाष्ये द०।
२. दीदेथ इति लोडर्थे लिट्, दीप्यस्व—इति भ०।
३. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये 'राजपुरुषाणां सहायकारो जगदीश्वरः कीदृशः' इति विषये व्याख्यातः।
४. ऋ० ७।१६।११, 'विवष्ट्यासिचम्' इति पाठः।

देवः वः द्रविणोदाः द्रविणः दाः । पूर्णाम् विवष्टु आसिचम् आ सिचम् ॥
उत् वा सिञ्चध्वम् उप वा पृणध्वम् । आत् इत् वः देवः ओहते ॥१॥

पदार्थः—हे मनुष्याः ! **द्रविणोदाः**[1] द्रविणः धनं बलं वा, तस्य दाता **देवः** दिव्यगुणः परमेश्वरः **वः** युष्माकम् **पूर्णाम्** श्रद्धारससोमेन परिपूर्णाम् **आसिचम्**[2] आसिञ्चन्ति अनया ताम् मनोरूपां स्रुचम् **विविष्टु**[3] कामयताम् । वष्टि कान्तिकर्मा । निघं० २।६ । यश कान्तौ अदादिः । 'बहुलं छन्दसि । अ० २।४।७६ इति शपः श्लौरूपम् । यूयम् **उत् सिञ्चध्वं वा** श्रद्धारसेन तं परमेश्वरं स्नपयत च, **उप पृणध्वं वा** उपप्रीणयत च । वा शब्दः समुच्चये । 'अथापि समुच्चये भवति' इति निरुक्तम् । १।५ । **आत् इत्** तदनन्तरमेव **देवः** परमेश्वरः **वः** युष्मान् **ओहते**[4] वहति, लक्ष्यं प्रापयिष्यति । वह प्रापणे धातोः छान्दसे सम्प्रसारणे गुणे च रूपम् ॥१॥[5]

भावार्थः—सर्वैरुपासकजनैः स्वकीयाभिः प्रेमरसपूर्णाभिर्मनोरूपाभिः स्रग्भिः परमेश्वरः श्रद्धारसेन सेचनीयः प्रीणनीयश्च । एवं सिक्तः प्रीतश्च स उपासकान् तन्निर्धारितं लक्ष्यं प्रति वहति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में मनुष्यों को प्रेरणा दी जा रही है ।

पदार्थ—हे मनुष्यो ! **द्रविणोदाः** धन और बल का दाता **देवः** दिव्यगुणमय परमेश्वर **वः** तुम्हारी **पूर्णाम्** भक्तिरस रूप सोम से परिपूर्ण **आसिचम्** मन रूप स्रुवा की **विवष्टु** कामना करे । तुम **उत् सिञ्चध्वं वा** श्रद्धारस से उस परमेश्वर को स्नान कराओ, **उप पृणध्वं वा** और तृप्त करो । **आत् इत्** तदनन्तर ही **देवः** परमेश्वर **वः** तुम्हें **ओहते** वहन करेगा अर्थात् लक्ष्य पर पहुँचाएगा ॥१॥

भावार्थ—सब उपासक जनों को चाहिए कि प्रेमरस से भरी हुई अपनी मनरूप स्रुवाओं से परमेश्वर को श्रद्धारस से सींचें और तृप्त करें । इस प्रकार सींचा हुआ और तृप्त किया हुआ वह उपासकों को उनके निर्धारित लक्ष्य की ओर ले जाता है ॥१॥

अथ ब्रह्मणस्पतिर्देवता । अस्मान् किं किं प्राप्नुयादित्याह ।

५६. **प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता ।**
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥२॥[6]

---

१. धनं द्रविणमुच्यते यदेनदाभिद्रवन्ति, बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति, तस्य दाता द्रविणोदाः' इति निरुक्तम् ।८।१ । वस्तुतस्तु सकारान्ताद् 'द्रविणस्' शब्दान्निष्पन्नमिदं रूपम् । द्रष्टव्या प्रथमदशतौ ४ संख्याके मन्त्रे द्रविणस्युशब्दे टिप्पणी । (द्रविणोदाः) द्रविणांसि विद्याबलराज्यधनानि ददातीति स परमेश्वरो भौतिको वा ।···द्रविणं करोति द्रविणति, अस्मात् सर्वधातुभ्योऽसुन् 'इत्यसुन् प्रत्ययः' इति ऋ० १।१५।७ भाष्ये द० ।

२. आसिचम् आज्यपूर्णां स्रुचम्—इति वि० । आसिक्तां हविषा जुहूम्—इति भ० । आसिक्तां च स्रुचम्—इति सा० ।

३. विवष्टु कामयताम्, द्वित्वसन्वद्भावौ छान्दसौ—इति भ० ।

४. ओहते वर्धयति—इति वि० । वहतु प्रापयतु कामान्—इति भ० । वहति—इति सा० । वितर्कयति इति ऋग्भाष्ये द० । (ऊह वितर्के) ।

५. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये विद्वत्पक्षे व्याख्यातः ।

६. ऋ० १।४०।३ देवता बृहस्पतिः । य० ३३।८९ देवता विश्वेदेवाः ।

२ ३ १२१ १२१ ३ २ ३ १ २ ३ १२१
प्र एतु ब्रह्मणः पतिः । प्र देवी एतु सूनृता सु नृता ॥
१ २१ ३ २ १ २१ ३ १ २ ३ २ ३
अच्छ वीरम् नर्यम् पंक्तिराधसम् पंक्ति राधसम् ।
२ ३ २ ३
देवाः यज्ञम् नयन्तु नः ॥२॥

पदार्थः—**ब्रह्मणस्पतिः** ब्रह्मणो वेदस्य ब्रह्माण्डस्य सकलैश्वर्यस्य वा स्वामी जगदीश्वरः[1] **प्र एतु** अस्मान् प्राप्नोतु । **देवी** दिव्यगुणयुक्ता **सूनृता** प्रियसत्यात्मिका वाक् **प्र एतु** अस्मान् प्राप्नोतु । **देवाः** विद्वांसः विदुष्यश्च । देवाश्च देव्यश्च इति देवाः, अत्र एकशेषः । **नः** अस्माकम् **यज्ञम्** राष्ट्ररूपम् अध्वरम् **अच्छ** प्रति । संहितायां 'निपातस्य च ।अ० ६।३।१३६ इति दीर्घः । **नर्यम्** नरेषु साधुम्, नरहितकारिणम् **पङ्क्तिराधसम्**[2] यः पङ्क्तोः धर्मात्मवीरमनुष्याणां श्रेणीः राध्नोति सेवते, यद्वा पङ्क्त्यर्थं राधो धनं यस्य तम् ।[3] राध संसिद्धौ । राध इति धननाम । निघं० २।१० । **वीरम्** पूर्णशरीरात्मबलयुक्तं सन्तानम् **नयन्तु** प्रापयन्तु ॥२॥[4]

भावार्थः—वेदस्य, ब्रह्माण्डस्य, सकलैश्वर्यस्य च स्वामी परमेश्वरः मधुरा प्रिया सत्या वाग्, नरहितकर्ता धर्मात्मनां सेवकः सत्कार्येषु धनस्य दाता पुत्रश्च यदि प्राप्यते, तर्हि नूनं सर्वा अपि सिद्धयो हस्तगता भवन्ति ॥२॥

अगले मन्त्र का देवता ब्रह्मणस्पति है । हमें क्या-क्या प्राप्त हो, यह कहते हैं ।

पदार्थ—**ब्रह्मणस्पतिः** वेद, ब्रह्माण्ड तथा सकल ऐश्वर्य का स्वामी जगदीश्वर **प्र एतु** हमें प्राप्त हो । **देवी** दिव्यगुणयुक्त **सूनृता** प्यारी सच्ची वाणी **प्र एतु** हमें प्राप्त हो । **देवाः** विद्वान् और विदुषियाँ **नः** हमारे **यज्ञम्** राष्ट्ररूप यज्ञ के **अच्छ** प्रति **नर्यम्** नरहितकारी, **पङ्क्तिराधसम्** धर्मात्मा वीर मनुष्यों की पंक्तियों के सेवक और पंक्तियों के हितार्थ अपने धन को लगानेवाले, **वीरम्** शरीर और आत्मा के पूर्ण बल से युक्त सन्तान को **नयन्तु** प्राप्त करायें ॥२॥

भावार्थ—वेद, ब्रह्माण्ड और सकल ऐश्वर्य का स्वामी जगदीश्वर, मधुर-प्रिय-सत्य वाणी और नरहितकर्ता, धर्मात्माओं का सेवक, सत्कार्यों में धन का दान करनेवाला पुत्र यदि प्राप्त हो जाता है तो निश्चय ही सभी सिद्धियाँ हाथ में आ जाती हैं ॥२॥

अथ यूपो देवता । यूपवदुन्नतः परमात्मा प्रार्थ्यते ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २१ २१ ३ २
५७. ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता ।
३ १ २१ २१ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे ॥३॥[5]

---

१. अयमर्थः ऋ० ७।४१।१ इत्यस्य दयानन्दभाष्याद् गृहीतः ।

२. धाना करम्भः परीवापः पुरोडाशः पयः इत्येषा हविः—पङ्क्तिः । द्विनाराशंसं प्रातःसवनं, द्विनाराशंसं माध्यन्दिनं सवनं, सकृन्नाराशंसं तृतीयसवनम् एषा नाराशंसपङ्क्तिः । पशुरुपवसथ्यः त्रीणि सवनानि, पशुरनूवन्ध्य इत्येषा सवनपङ्क्तिः । एताभिः पङ्क्तिभिः यः साध्यते एता वा साधयति स पङ्क्तिराधाः तं पङ्क्तिराधसम्—इति वि० । पङ्क्तिराधसं पङ्क्तिभिः हविष्पङ्क्तयादिभिः आराधनीयं समर्थनीयं यज्ञम्—इति भ० ।

३. अयमर्थः ऋ० १।४०।३ इत्यस्य दयानन्दभाष्याद् गृहीतः ।

४. एष मन्त्रो दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च 'ये विदुषः, सत्यां वाचं, सर्वोपकारान् वीरांश्च प्राप्नुयुस्ते सम्यक् सुखोन्नतिं कुर्युः' इत्यादिविषये व्याख्यातः ।

५. ऋ० १।३६।१३, य० ११।४२ । उभयत्र देवता अग्निः ।

३ २ ३ २ ३ १ २ १ २५ ३ २ ३ २
ऊर्ध्वः उ सु नः ऊतये । तिष्ठ देवः न सविता ।।
३ २ १ २५ १ २५ ३ २ ३ १ २
ऊर्ध्वः वाजस्य सनिता यत् अञ्जिभिः । वाघद्भिः
३ १ २ ३ १ २५
विह्वयामहे वि ह्वयामहे ।।३।।

पदार्तः—हे यूप[1] यूपवदुच्छ्रित परमात्मन् ! त्वम् **नः** अस्माकम् **ऊतये** रक्षणाय **देवः** प्रकाशकः **सविता न** सूर्यः इव **उ** निश्चयेन **सु** सम्यक् **ऊर्ध्वः** अस्माकं हृदये समुन्नतः **तिष्ठ** वर्त्तस्व । संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः । अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः । **ऊर्ध्वः** समुन्नतः सन् **वाजस्य** आत्मिकबलस्य **सनिता**[2] प्रदाता भव । षणु दाने, तृनि रूपम् । **यत्** यस्मात् **अञ्जिभिः**[3] स्वच्छीकृतैः । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु, औणादिकः इन् । **वाघद्भिः** स्तुतिवहनशीलैः मनोबुद्धीन्द्रियरूपैः ऋत्विग्भिः । वाघतः इति ऋत्विङ्नाम । निघं० ३।१८ । वाघतः वोढारः इति निरुक्तम् । ११।१६ । वयं त्वाम् **वि ह्वयामहे** विशेषेण आह्वयामः स्तुमः । 'ऊ' इत्यत्र' इकः सुञि । अ० ६।३।१३४ इति दीर्घः । 'षु' इत्यत्र 'सुञः । अ० ८।३।१०७ इति मूर्धन्यादेशः । 'ण' इत्यत्र 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः । अ० ८।४।२७' इति षत्वम् ।।३।।[4]

अत्रोपमेयनिगरणपूर्वकं परमात्मनि यूपत्वारोपादतिशयोक्तिरलङ्कारः, 'ऊर्ध्वः देवो न सविता' इत्यत्र च पूर्णोपमा ।।३।।

भावार्थः—परमात्मानं हि यूपवत् सूर्यवच्च स्वहृदि यदा वयं समुन्नमामस्तदा महत् फलं सोऽस्मभ्यं प्रयच्छति ।।३।।

अगले मन्त्र में यूप देवता है। यूप के समान उन्नत परमात्मा से प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ—हे यज्ञस्तम्भ के समान उन्नत परमात्मन् ! आप **नः** हमारी **ऊतये** रक्षा के लिए **देवः** प्रकाशक **सविता न** सूर्य के समान **उ** निश्चय ही **सु** भली भाँति **ऊर्ध्वः** हमारे हृदय में समुन्नत होते हुए **वाजस्य** आत्मिक बल के **सनिता** प्रदाता होवो, **यत्** क्योंकि **अञ्जिभिः** स्वच्छ किये हुए **वाघद्भिः** स्तुति का वहन करनेवाले मन-बुद्धि-इन्द्रिय रूप ऋत्विजों के द्वारा, हम आपको **विह्वयामहे** विशेष रूप से पुकार रहे हैं, आपकी स्तुति कर रहे हैं ।।३।।

इस मन्त्र में उपमेय के निगरणपूर्वक उपमेय परमात्मा **में** यूपत्व का आरोप होने से अतिशयोक्ति अलंकार है । 'देव सविता के समान उन्नत' में पूर्णोपमालंकार है ।।३।।

भावार्थ—परमात्मा को यज्ञस्तम्भ के समान और सूर्य के समान जब अपने हृदय में हम समुन्नत करते हैं, तब वह हमें महान् फल प्रदान करता है ।।३।।

---

१. इयं यूपस्य उच्छ्रयणे अनूच्यते—इति भ० । हे यूप यद्वा यूपात्मकदारुनिष्ठ अग्ने—इति सा० ।

२. सनितिर्लाभः, तस्मादयं तादर्थ्यचतुर्थ्या आ आदेशः, सनितये लाभायेत्यर्थः—इति वि० । सनिता दाता भवेति शेषः—इति भ० ।

३. अञ्जिभिः त्वद्गुणप्रकाशकैश्छन्दोभिः—इति वि० । अञ्जिभिः छन्दोभिः । व्यज्यन्ते सिच्यन्ते वर्धन्ते देवता अमीभिरिति अञ्जयः । वाघद्भिः आवहद्भिः । 'यदञ्जिभिः वाघद्भिः विह्वयामहे' इति छन्दांसि वा अञ्जयो वाघतः तैरेतद् देवान् यजमाना विह्वयन्ते मम यज्ञम् आगच्छत मम यज्ञमिति (ऐ० ब्रा० २।२) इति हि ऐतरेयकम्—इति भ० । अञ्जिभिः यज्ञेन यूपमञ्जद्भिः वाघद्भिः यज्ञं वहद्भिः ऋत्विग्भिः—इति सा० ।

४. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये सभाध्यक्षपक्षे यजुर्भाष्ये च विद्वदध्यापकपक्षे व्याख्यातः ।

अथ पुरुषार्थी परमात्मोपासकः किं प्राप्नोतीत्याह ।

५८. प्र यो रायेनिनीषति मर्तो यस्ते वसो दाशत् ।
स वीरं धत्ते अग्न उक्थशंसिनं त्मना सहस्रपोषिणम् ॥४॥[1]
प्र यः रायेनिनीषति । मर्तः यः ते वसो दाशत् ॥
सः वीरम् धत्ते अग्ने उक्थशꣳसिनम् उक्थ शꣳसिनम् ।
त्मना सहस्रपोषिणम् सहस्र पोषिणम् ॥४॥

पदार्थः—हे **वसो** सर्वान्तर्यामिन्, सर्वेषां निवासक ! यः सर्वत्र वसति सर्वान् वासयति वा स वसुः । वस निवासे धातोः 'शस ृत्सिनिहित्रप्यसिवसि० । उ० १।१० इति उ प्रत्ययः । **अग्ने** जगन्नायक परमात्मन् ! **यः** यः कश्चित् **मर्तः** मनुष्यः **रायेे** विद्याविवेकविनयादिधनाय, श्रेष्ठसन्तानरूपधनाय, सुवर्णादिधनाय वा **प्र निनीषति** स्वात्मानं प्रगतिमार्गे नेतुमिच्छति, पुरुषार्थे नियोक्तुमिच्छति, **यः** यश्च **ते** तुभ्यम् **दाशत्** स्वात्मानं ददाति, आत्मसमर्पणं करोति । दाशृ दाने, लेट् । **सः** स मनुष्यः **उक्थशंसिनम्** स्तोत्रपाठिनम्, **त्मना** आत्मना । मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः । अ० ६।४।१४१ इत्याकारलोपः **सहस्रपोषिणम्**[2] सहस्रसंख्यकान् निर्धनान् धनदानेन अविद्याग्रस्ताँश्च विद्यादानेन पुष्णातीति तम् **वीरम्** वीरसन्तानम् **धत्ते** धारयति, लभते ॥४॥

भावार्थः—पुरुषार्थी परमेश्वरोपासको जनः सुयोग्यसन्तान-विद्याधनचक्रवर्तिराज्यमोक्षादिकं बहुविधमैश्वर्यमधिगच्छति ॥४॥

अब पुरुषार्थी परमेश्वरोपासक क्या प्राप्त करता है, यह कहते हैं ।

पदार्थ—हे **वसो** सर्वान्तर्यामिन्, सबके निवासक **अग्ने** जगन्नायक परमात्मन् ! **यः** जो कोई **मर्तः** मनुष्य **रायेे** विद्या-विवेक-विनय आदि धन के लिए, श्रेष्ठ सन्तान रूप धन के लिए और सुवर्ण आदि धन के लिए **प्र निनीषति** अपने-आपको प्रगति के मार्ग पर ले जाना चाहता है, पुरुषार्थ में नियुक्त करना चाहता है, और **यः** जो **ते** आपके लिए **दाशत्** आत्मसमर्पण करता है, **सः** वह मनुष्य **त्मना** अपने आप **सहस्रपोषिणम्** सहस्रों निर्धनों को धनदान से और सहस्रों अविद्याग्रस्तों को विद्यादान से परिपुष्ट करने वाले **वीरम्** वीर सन्तान को **धत्ते** प्राप्त करता है ॥४॥

भावार्थ—पुरुषार्थी परमेश्वरोपासक मनुष्य सुयोग्य सन्तान, विद्या, धन, चक्रवर्ती राज्य, मोक्ष आदि बहुत प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है ॥४॥

अथ परमेश्वरविषयं राजविषयं चाह ।

५९. प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम् ।
अग्निं सूक्तेभिर्वचोभिर्नमस्यं यं समिदन्य इन्धते ॥५॥[3]

---

१. ऋ० ८।१०३।४, 'प्र यं रायेे निनीषसि' इति पाठः ।
२. सहस्रस्य पोषिणं बहुपोषमिति वा बहुप्रदमिति वा—इति भ० । बहुधनम्—इति सा० ।
३. ऋ० १।३६।१ 'अग्निं सूक्तैर्वचोभिरीमहे यं सीमिदन्य ईळते' इति पाठः ।

प्र वः यह्वम् पुरूणाम् । विशाम् देवयतीनाम् ॥
अग्निम् सूक्तेभिः सु उक्तेभिः वचोभिः वृणीमहे ।
यम् सम् इत् अन्ये अन् ये इन्धते ॥५॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमेश्वरपरः । **देवयतीनाम्**[1] आत्मनो देवान् दिव्यान् भोगान्, दिव्यान् गुणान्, दिव्यान् आनन्दाँश्च इच्छन्तीनाम् । क्यचि शत्रन्तं स्त्रियां छान्दसं रूपम् । देवीयन्तीनाम् इति प्राप्ते 'न छन्दस्य पुत्रस्य। अ० ७।४।३५' इति 'क्यचि च । अ० ७।४।३३' इत्यनेन प्राप्तस्य ईत्वस्य प्रतिषेधः । **पुरूणाम्** बह्वीनाम् **विशां वः**[2] प्रजानां युष्माकं, हितायेति शेषः, **यह्वम्** गुणैर्महान्तम् । यह्व इति महन्नाम । निघं० ३।३ । यह्व इति महतो नामधेयम्, यातश्च हूतश्च भवति । निरु० ८।८ । **अग्निम्** परमेश्वरम्, वयम् **सूक्तेभिः** सूक्तैः, सुगीतैः । बहुलं छन्दसि । अ० ७।१।१० इति भिस ऐस् भावो न । **वचोभिः** साममन्त्रैः इतरैः स्तोत्रैर्वा **प्र वृणीमहे** प्रकर्षेण भजामहे । वृङ् सम्भक्तौ ऋचादेरिदं रूपम् । **यम्** अग्निम् परमेश्वरम् **अन्ये इत्** इतरेऽपि भक्तजनाः **सम् इन्धते** सम्यक्तया स्वान्तःकरणेषु प्रदीपयन्ति ॥[3]

अथ **द्वितीयो** राजपरः । **देवयतीनाम्** आत्मनो देवं विजिगीषुं राजानम् इच्छन्तीनाम् **पुरूणाम्** बहूनाम् **विशां वः** प्रजानां युष्माकं मध्यात् **यह्वम्** महान्तम् **अग्निम्** अग्निवत् तेजस्विनं वीरम्, वयम् **सूक्तैः** सूच्चारितैः **वचोभिः** उद्बोधकवचनैः साकम् **प्र वृणीमहे** प्रकृष्टतया निर्वाचयामः । वृञ् वरणे ऋचादिः । **यम्** यं गुणाढ्यं पुरुषम् **अन्ये** इतरेऽपि राष्ट्रवासिनः **सम् इन्धते** समुत्साहयन्ति, समर्थयन्तीति यावत् ॥५॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—यथा राष्ट्रस्योत्कर्षार्थं राजोचितनिखिलगुणगणविभूषितः कश्चिन्महान् पुरुषो राजपदाय व्रियते, तथैव सुमहान् परमेश्वरोऽस्माभिः सूक्तैः स्तुतिवचोभिर्मार्गप्रदर्शकत्वेन वरणीयः ॥५॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर और राजा का विषय वर्णित है।

पदार्थ—**प्रथम** परमेश्वर के पक्ष में । **देवयतीनाम्** अपने लिए दिव्य भोग, दिव्य गुण और दिव्य आनन्दों को चाहने वाली, **पुरूणाम्** बहुत-सी **विशां वः** तुम प्रजाओं के हितार्थ **यह्वम्** गुणों से महान् **अग्निम्** परमेश्वर को, हम **सूक्तेभिः** उत्तम प्रकार से गाये गये **वचोभिः** साम-मन्त्रों तथा अन्य स्तोत्रों से **प्र वृणीमहे** प्रकष्ट रूप से भजते हैं, **यम्** जिस परमेश्वर को **अन्ये इत्** अन्य भी भक्तजन **सम् इन्धते** भली-भाँति अपने अन्तःकरणों में प्रदीप्त करते हैं ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में । **देवयतीनाम्** अपने लिए विजयाभिलाषी राजा को चाहनेवाली **पुरूणाम्** बहुत-सी **विशां वः** तुम प्रजाओं के मध्य से **यह्वम्** महान् **अग्निम्** अग्नि के समान तेजस्वी वीर पुरुष को, हम **सूक्तैः** भली-भाँति उच्चारित **वचोभिः** उद्बोधक वचनों के साथ **प्र वृणीमहे** प्रकष्टतया राजपद पर निर्वाचित करते हैं, **यम्** जिस गुणी पुरुष को **अन्ये** अन्य भी राष्ट्रवासी जन **सम् इन्धते** इस पद के लिए समुत्साहित या समर्थित करते हैं ॥५॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥५॥

---

१. आत्मनो देवान् दिव्यान् भोगान् गुणाँ श्चेच्छन्तीनाम् इति ऋ० १।३६।१ भाष्ये द० ।

२. 'वः युष्माकं विशां प्रजानां सुखाय' इति ऋ० १।३६।१ भाष्ये द० । वः त्वाम् (अग्निम्)—इति वि० । वः युष्मदर्थम्—इति भ० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणाऽप्येष मन्त्रः परमेश्वरपक्षे योजितः ।

भावार्थ—जैसे राष्ट्र के उत्कर्ष के लिए राजोचित सकल गुणगणों से विभूषित कोई महान् पुरुष राजपद के लिए चुना जाता है, वैसे ही सुमहान् परमेश्वर को हमें भली-भाँति उच्चारण किये गये स्तुतिवचनों द्वारा मार्गप्रदर्शक रूप में वरण करना चाहिए ॥५॥

अथ परमात्मा राजा च कस्य वस्तुनोऽधीश्वरोऽस्तीत्याह।

६०. अयमग्निः सुवीर्यस्येशे हि सौभगस्य।
राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहथानाम् ॥६॥[1]

अयम् अग्निः सुवीर्यस्य सु वीर्यस्य। ईशे हि सौभगस्य सौ भगस्य॥
रायः ईशे स्वपत्यस्य सु अपत्यस्य गोमतः।
ईशे वृत्रहथानाम् वृत्र हथानाम् ॥६॥

पदार्थः—**अयम्** एष पुरो विद्यमानः **अग्निः** जगदग्रणीः परमेश्वरः प्रजाभिर्निर्वाचितो राष्ट्रनायको राजा वा **सुवीर्यस्य** दैहिकाध्यात्मिकबलस्य, **सौभगस्य** धर्मयशःश्रीज्ञानवैराग्यादिसौभाग्यस्य च **हि** निश्चयेन **ईशे** ईष्टे, **स्वपत्यस्य** शोभनसन्तानयुक्तस्य, **गोमतः** गोपदवाच्यधेनुपृथिवीसूर्यरश्मिवेदवागादियुक्तस्य च **रायः** ऐश्वर्यस्य **ईशे** ईष्टे। **वृत्रहथानाम्** पापसंहाराणां शत्रुसंहाराणां चापि **ईशे** ईष्टे। ईशे इत्यत्र 'लोपस्त आत्मनेपदेषु। अ० ७।१।४१' इति तकारलोपः। 'हथ' इत्यत्र हन् हिंसागत्योः इत्यस्मात् 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्। उ० २।२' इति क्थन्। 'अधीगर्थदयेषां कर्मणि। अ० २।३।५२' इत्यनेन ईशधातोः कर्मसु षष्ठी ॥६॥[2]

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः। 'ईशे' इत्यस्यावृत्तौ लाटानुप्रासः ॥६॥

भावार्थः—यथा राजा स्वराष्ट्रभूमेस्तद्वर्तिनां धनधान्यवीरपुरुषादीनां गवादिपशूनां चाधीश्वरो भवति, तथैव परमेश्वरः समस्तानां भौतिकाध्यात्मिकानां धनानामधीश्वरोऽस्ति। स एव शरीरबलम्, आत्मबलं, धृतिं, धर्मं, कीर्तिं, श्रियं, ज्ञानं, वैराग्यं, श्रेष्ठसन्तानं, धेनुं, पृथिवीं, सूर्यं, वेदवाचं चास्मभ्यं प्रयच्छति। स एव जीवनविनाशकेभ्यः पापेभ्योऽस्मान् रक्षति। अतस्तत्कृते भूरिक्षो धन्यवादा अस्माभिः प्रदेयाः ॥६॥

अब परमात्मा और राजा किस-किस वस्तु के अधीश्वर हैं, यह कहते हैं।

पदार्थ—**अयम्** यह संमुख विद्यमान **अग्निः** जगत् का अग्रनायक परमेश्वर और प्रजाओं से चुना गया राष्ट्रनायक राजा **सुवीर्यस्य** शारीरिक और आध्यात्मिक बल का तथा **सौभगस्य** धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदि सौभाग्यों का **हि** निश्चय ही **ईशे** अधीश्वर है, **स्वपत्यस्य** उत्कृष्ट सन्तान से युक्त तथा **गोमतः** गाय, पृथिवी, सूर्यकिरण, वेदवाणी आदि से युक्त **रायः** ऐश्वर्य का **ईशे** अधीश्वर है। **वृत्रहथानाम्** पापसंहारों का व शत्रु-संहारों का **ईशे** अधीश्वर है ॥६॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालङ्कार है। 'ईशे' की आवृत्ति में लाटानुप्रास है ॥६॥

भावार्थ—जैसे राजा अपनी राष्ट्रभूमि का तथा राष्ट्रभूमि में विद्यमान धन, धान्य, वीर पुरुष आदिकों का और गाय आदि पशुओं का अधीश्वर होता है, वैसे ही परमेश्वर सब भौतिक और

---

१. ऋ० ३।१६।१ 'हि' इत्यत्र 'महः' इति पाठः।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं राजपक्षे व्याख्यातः।

आध्यात्मिक धनों का अधीश्वर है। वही शारीरिक बल, आत्मिक बल, धृति, धर्म, कीर्ति, श्री, ज्ञान, वैराग्य, श्रेष्ठ सन्तान, गाय, भूमि, सूर्य और वेदवाणी हमें प्रदान करता है। वही जीवन के विनाशकारी पापों से हमारी रक्षा करता है। इसलिए उसे भूरि-भूरि धन्यवाद हमें देने चाहिएँ ॥६॥

अथ परमेश्वरः किंगुणकर्मस्वभावोऽस्तीत्याह।

६१. त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता नो अध्वरे।
त्वं पोता विश्ववार प्रचेता यक्षि यासि च वार्यम् ॥७॥[1]
त्वम् अग्ने गृहपतिः गृह पतिः। त्वम् होता नः अध्वरे ॥
त्वम् पोता विश्ववार विश्व वार प्रचेताः प्र चेताः।
यक्षि यासि च वार्यम् ॥७॥

पदार्थः—हे **अग्ने** अग्निवत् प्रकाशमान सर्वाग्रणीः परमात्मन्! **त्वम्** जगदीश्वरः **गृहपतिः** ब्रह्माण्डरूपस्य गृहस्य स्वामी पालकश्च असि। **त्वम् नः** अस्माकम् **अध्वरे** हिंसादिदोषरहिते जीवनयज्ञे **होता** सुखादीनां दाता भवसि। हे **विश्ववार** विश्वैर्वरणीय! **प्रचेताः**[2] प्रकृष्टचित्तः **त्वम् पोता**[3] सांसारिक पदार्थानां भक्तचित्तानां वा शोधकः असि। पूञ् पवने धातोः कर्तरि तृन्। त्वम् **वार्यम्** वरणीयं सर्वं वस्तुजातम् **यक्षि** ददासि। यक्षि यजसि। 'बहुलं छन्दसि। अ० २।४।७३' इति शपो लुक्। **यासि च** व्याप्नोषि च ॥७॥[4]

श्लेषेण यज्ञाग्निपक्षेऽप्यर्थो योजनीयः ॥७॥

भावार्थः—यथा यज्ञाग्निर्यजमानगृहस्य रक्षिता तथा परमेश्वरो ब्रह्माण्डगृहस्य रक्षकः। यथा यज्ञाग्निरग्निहोत्रे स्वास्थ्यस्य प्रदाता, तथा परमेश्वरो जीवनयज्ञे सुखसम्पदादेः प्रदाता। यथा यज्ञाग्निर्वायुमण्डलस्य शोधकः, तथा परमेश्वरः सूर्यादिद्वारा सांसारिकपदार्थानां दिव्यगुणप्रदानद्वारा च भक्तचित्तानां शोधकः ॥७॥

परमेश्वर किस गुण-कर्म-स्वभाव वाला है, यह कहते हैं।

पदार्थ—हे **अग्ने** अग्नि के समान प्रकाशमान, सबके अग्रनेता परमात्मन्! **त्वम्** जगदीश्वर आप **गृहपतिः** ब्रह्माण्ड रूप गृह के स्वामी और पालक हो। **त्वम्** आप **नः** हमारे **अध्वरे** हिंसादिदोषरहित जीवनयज्ञ में **होता** सुख आदि के दाता हो। हे **विश्ववार** सबसे वरणीय! **प्रचेताः** प्रकृष्ट चित्त वाले **त्वम्** आप **पोता** सांसारिक पदार्थों के अथवा भक्तों के चित्तों के शोधक हो। आप **वार्यम्** वरणीय सब वस्तुएँ **यक्षि** प्रदान करते हो, **यासि च** और उनमें व्याप्त होते हो ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेष से यज्ञाग्नि के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए ॥७॥

---

१. ऋ० ७।१६।५, 'यासि' इत्यत्र 'वेषि' इति पाठः।

२. प्रचेताः संप्रवृद्धज्ञानः—इति वि०। प्रकृष्टचेताः—इति भ०। प्रकृष्टमतिः—इति सा०। प्रकर्षेण प्रज्ञापकः—इति ऋग्भाष्ये द०।

३. पोता पोतृकर्मकारी शोधयिता वा—इति वि०।

४. दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्येऽस्या ऋचा "यथाग्निर्गृहपालकः सुखदाताऽध्वरे पवित्रकर्ता शरीरे चेतयिता सर्वं विश्वं संगच्छते व्याप्नोति च तथैव मनुष्या भवन्तु" इति भावार्थो लिखितः।

भावार्थ—जैसे यज्ञाग्नि यजमान के घर का रक्षक होता है, वैसे परमेश्वर ब्रह्माण्ड रूप घर का रक्षक है। जैसे यज्ञाग्नि अग्निहोत्र में स्वास्थ्य का प्रदाता होता है, वैसे परमेश्वर जीवन-यज्ञ में सुख-सम्पत्ति आदि का प्रदाता होता है। जैसे यज्ञाग्नि वायुमण्डल का शोधक होता है, वैसे परमेश्वर सूर्य आदि के द्वारा सांसारिक पदार्थों का और दिव्यगुणों के प्रदान द्वारा भक्तों के चित्तों का शोधक होता है ॥७॥

अथ परमात्मानं वरीतुमाह।

६२. सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्त्तासं ऊतये।
अपां नपातं सुभगं सुदंससं सुप्रतूर्तिमनेहसम् ॥८॥[1]

सखायः स खायः त्वा ववृमहे। देवम् मर्त्तासः ऊतये॥
अपाम् नपातम् सुभगम् सु भगम् सुदꣳससम् सु दꣳससम्।
सुप्रतूर्त्तिम् सु प्रतूर्त्तिम् अनेहसम् अन् एहसम् ॥८॥

पदार्थः—**मर्तासः** मर्ताः मरणधर्माणः **सखायः** समानख्यातयः सुहृदो वयम्। सखायः समानख्यानाः। निरु० ७।३०। **देवम्** ज्योतिर्मयं ज्योतिष्प्रदं च। दीव्यति प्रकाशते दीवयति प्रकाशयति च यः स देवः। दिवु दीप्त्यर्थः। **अपां नपातम्** अपां व्याप्तानां प्रकृतीनां जीवात्मनां च नपातं न पातयितारम् अविनाशकम् प्रलयकाले जड़चेतनजगद्विनाशेऽपि प्रकृतीनां जीवात्मनां चाविनाशात्, **सुभगम्** उत्तमैश्वर्यवन्तम्, **सुदंससम्** सुकर्माणम्। दंस इति कर्मनाम। निघं० २।१। **सुप्रतूर्तिम्** सुष्ठु प्रकृष्टा तूर्तिः शीघ्रता यस्मिंस्तम्[2]। तूर्तिः इत्यत्र जित्वरा संभ्रमे धातोः क्तिनि 'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च। अ० ६।४।२०' इति वकारस्योपधायाश्च स्थाने ऊठ्। **अनेहसम्**[3] अहन्तव्यं, निष्पापं, सज्जनेषु निष्क्रोधं वा। अत्र 'नञि हन एह च। उ० ४।२२४' इति नञ् पूर्वस्य हन् धातोः असुन् प्रत्ययः धातोश्च एहादेशः। यद्वा एह इति क्रोधनाम। निघं० २।१३। पापनाम च प्रसिद्धम्। **त्वा** त्वाम् परमात्माग्निम् **ऊतये** आत्मरक्षायै प्रगतये वा। अव रक्षणगत्यादिषु, 'ऊति यूति०। अ० ३।३।९७' इति क्तिनि निपात्यते। ऊतिरवनात् इति निरुक्तम् ।५।३। **ववृमहे** वृणमहे। वृञ् वरणे, 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः। अ० ३।४।६' इति वर्तमानेऽर्थे लिट् ॥८॥[4]

अत्र विशेषणानां साभिप्रायत्वात् परिकरालङ्कारः[5] ॥८॥

भावार्थः—कल्याणेच्छुभिर्जनैः संभूय परमतेजोमयस्तेजसां प्रदाता, प्रलयकाले नश्वराणां पदार्थानां विनाशयिता, नित्यानामविनाशकः, सर्वैश्वर्यवान्, सुकर्मा, चिन्तितानां कार्याणां सत्वरं निर्वाहकः, केनापि हन्तुं पराजेतुं वाऽशक्यः, निष्पापः, सत्सु क्रोधस्याकर्ता, दुष्टेषु क्रोधकारी जगद्व्यवस्थापकः, सर्वेषां मङ्गलकरः परमात्मा श्रद्धया समुपासनीयः ॥८॥

---

१. ऋ० ३।९।१, 'सुदंससं' इत्यत्र 'सुदीदितिं' इति पाठः।
२. द्र० ऋ० ३।९।१ द० भा०। तूर्वतिः हिंसार्थः, सुष्ठु प्रकर्षेण हिंसितारं शत्रूणाम्—इति वि०। सुप्रतरणं सूपगमनम्—इति भ०। शोभनप्रतरं कर्मानुष्ठातृभिः सुखेन गन्तव्यम्—इति सा०।
३. अनेहसम् अक्रोधम् अपापमित्यर्थः—इति वि०। अपापं पापानां हन्तारम्—इति भ०। उपद्रवरहितम्—इति सा०। अहन्तारम्—इति ऋग्भाष्ये द०।
४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा ऋगेषा विद्वद्युपदेशकपक्षे व्याख्याता।
५. विशेषणैर्यत् साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः। का० प्र० १०।११८ इति तल्लक्षणात्।

अस्यां दशत्यामग्नियूपद्रविणोदोबृहस्पतिनामभिः परमेश्वरस्य गुणकर्मवर्णनात्, तं प्रति समर्पणस्य फलवर्णनाच्चैतदर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्तीति बोध्यम् ॥

इति प्रथमे प्रपाठके द्वितीयेऽर्धे प्रथमा दशतिः ।

इति प्रथमेऽध्याये षष्ठः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में परमात्मा को बरण करने के लिए कहा गया है ।

पदार्थः—**मर्तासः** मरणधर्मा, **सखायः** समान ख्याति वाले हम साथी लोग **देवम्** ज्योतिर्मय और ज्योति देने वाले, **अपां नपातम्** व्याप्त प्रकृति का और जीवात्माओं का विनाश न करने वाले, **सुभगम्** उत्तम ऐश्वर्य वाले, **सुदंससम्** शुभ कर्मों वाले, **सुप्रतूर्तिम्** अत्यन्त शीघ्रता से कार्यों को करने वाले, **अनेहसम्** हिंसा न किये जा सकने योग्य, निष्पाप, सज्जनों के प्रति क्रोध न करनेवाले **त्वा** तुझ परमेश्वर रूप अग्नि को **ऊतये** आत्मरक्षा और प्रगति के लिए **ववृमहे** वरण करते हैं ॥८॥

इस मन्त्र में विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकरालंकार है ॥८॥

भावार्थ—कल्याण की इच्छा करने वाले मनुष्यों को चाहिए कि वे मिलकर परम तेजस्वी, तेजः-प्रदाता, प्रलयकाल में नश्वर पदार्थों के विनाशक, नित्य पदार्थों के अविनाशक, सर्वैश्वर्यवान्, शुभकर्मकर्ता, विचारे हुए कार्यों को शीघ्र पूर्ण करनेवाले, किसी से हिंसित या पराजित न होनेवाले, निष्पाप, सज्जनों पर क्रोध न करने वाले, दुष्टों पर कुपित होने बाले, जगद्व्यवस्थापक, सबके मंगलकारी परमेश्वर की श्रद्धा से उपासना करें ॥८॥

इस दशति में अग्नि, यूप, द्रविणोदस् और बृहस्पति नामों से परमेश्वर के गुण-कर्मों का वर्णन होने से और उसके प्रति आत्म-समर्पण करने का फल वर्णित होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है, यह जानना चाहिए ॥

प्रथम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की प्रथम दशति समाप्त ।

प्रथम अध्याय में षष्ठ खण्ड समाप्त ॥

॥७॥ अथ 'आजुहोता हविषा' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ श्यावाश्ववामदेवौ; २ उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः; ३ बृहदुक्थः; ४ कुत्सः; ५, ६ भरद्वाजः; ७ वामदेवः; ८, १० वसिष्ठः; ९ त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः ॥ देवता—अग्निः । छन्दः—१, ३, ५-९ त्रिष्टुप्; २, ४ जगती; १० त्रिपात् विराड् गायत्री ॥ स्वरः—१, ३, ५-९ धैवतः; २, ४ निषादः; १० षड्जः ॥

अथ परमात्मा सर्वैर्ध्यातव्यः पूजनीयश्चेत्याह ।

६३. आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं नि होतारं गृहपतिं दधिध्वम् ।
इडस्पदे नमसा रातहव्यं सपर्यता यजतं पस्त्यानाम् ॥१॥

आ जुहोत हविषा मर्जयध्वम् । नि होतारम् गृहपतिम् गृह पतिम् दधिध्वम् ॥
इडः पदे नमसा रातहव्यम् रात हव्यम् । सपर्यत यजतम् पस्त्यानाम् ॥१॥

पदार्थः—हे स्तोतारः ! यूयम् **हविषा** आत्मसमर्पणरूपेण हव्येन **आ जुहोत** आजुहुत, परमात्माग्नौ अग्निहोत्रं कुरुत । अत्र 'हविः आजुहुत' इति प्राप्ते 'तृतीया च होश्छन्दसि । अ० २।३।३' इति जुहोतेः

कर्मणि तृतीया। 'जुहोत' इत्यत्र 'तप्तनप्तनथनाश्च। अ० ७।१।४५' इति लोण्मध्यमबहुवचनस्य तस्य स्थाने तप्, तस्य च पित्त्वेन ङिद्वद्भावाभावाद् गुणनिषेधो न। **मर्जयध्वम्** स्वात्मानं मार्जयत, शोधयत अलङ्कुरुत वा। मृज् शुद्धौ अलङ्कारे च, चुरादिः। **होतारम्** यज्ञफलप्रदातारम्, **गृहपतिम्** शरीरगृहस्य रक्षकं तं परमात्माग्निम् **निदधिध्वम्** हृदये निधारयत नितरां ध्यायत इत्यर्थः। निपूर्वो दध धारणे भ्वादिः, इडागमश्छान्दसः। **रातहव्यम्** रातं दत्तं हव्यं दातुं योग्यं सांसारिकवस्तुजातं सद्गुणजातं वा येन तम्, **पस्त्यानाम्**[1] प्रजानाम्। विशो वै पस्त्याः। श० ५।३।५।१९। **यजतम्** पूजनीयं तं परमात्माग्निम्। यज धातोः 'भृमृदृशियजि०। उ० ३।११०' इति अतच् प्रत्ययः। **इडः पदे** इडः इडायाः पदे स्थाने, हृदयरूप-यज्ञवेदिस्थले इत्यर्थः। इडा पृथिवीनाम। निघं० १।१। तथैव इड्शब्दोऽपि पृथिवीनामसु पठितव्यः। **नमसा** नमस्कारेण **सपर्यत** पूजयत। संहितायां जुहोता, सपर्यता इत्यत्र 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्। अ० ६।३।१३३' इत्यनेन दीर्घः ॥१॥

अत्र 'आजुहोत, मर्जयध्वम्, निदधिध्वम्, सपर्यत' इत्यनेककक्रियाणामेककर्तृकारकसम्बन्धाद् दीपकालङ्कारः[2] ॥१॥

भावार्थः—आत्मकल्याणेप्सुभिर्जनैः स्वात्मानं परमात्माग्नौ समर्प्य स्वात्मशुद्धिर्विधेया ॥१॥

प्रथम मन्त्र में यह कहते हैं कि परमात्मा का सबको ध्यान और पूजन करना चाहिए।

पदार्थ—हे स्तोताओ ! तुम **हविषा** आत्मसमर्पण रूप हवि से **आजुहोत** परमात्माग्नि में अग्निहोत्र करो, **मर्जयध्वम्** अपने आत्मा को शुद्ध और अलंकृत करो। **होतारम्** यज्ञ का फल देने वाले **गृहपतिम्** शरीररूप घर के रक्षक उस परमात्माग्नि को **निदधिध्वम्** हृदय में धारण करो—अर्थात्, उसका निरन्तर ध्यान करो। **रातहव्यम्** दातव्य सांसारिक वस्तुओं को और सद्गुणों को देने वाले, **पस्त्यानाम्** प्रजाओं के **यजतम्** पूजनीय उस परमात्माग्नि को **इडः पदे** हृदयरूप यज्ञवेदि-स्थल में **नमसा** नमस्कार द्वारा **सपर्यत** पूजो ॥१॥

इस मन्त्र में 'आजुहोत, मर्जयध्वम्, निदधिध्वम्, सपर्यत' इन अनेक क्रियाओं का एक कर्ता कारक से सम्बन्ध होने के कारण दीपक अलंकार है ॥१॥

भावार्थ—आत्म-कल्याण चाहने वाले मनुष्यों को अपने आत्मा को परमात्मारूप अग्नि में समर्पित करके आत्मशुद्धि करनी चाहिए ॥१॥

अथाग्निसाम्येन परमेश्वरस्य महिमानमाह।

३ २अ ३ १ २ ३ २ ३ २अ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
६४. चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य वक्षथो न यो मातरावन्वेति धातवे।
३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ १
अनूधा यदजीजनदधा चिदा ववक्षत् सद्यो महि दूत्यं३ चरन् ॥२॥[3]
३ २ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २
चित्रः इत् शिशोः तरुणस्य वक्षथः। न यः मातरौ अन्वेति अनु एति धातवे ॥
३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
अनूधाः अन् ऊधाः यत् अजीजनत् अध चित् आ।
३ १ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ ३ २ १ २
ववक्षत् सद्यः स द्यः महि दूत्यम् चरन् ॥२॥

१. पस्त्यानि गृहाणि तेषु ये निवसन्ति ते पस्त्याः—इति वि०। पस्त्याः गृहाः, गृहस्थानामित्यर्थः—इति भ०। यज्ञगृहाणाम्—इति सा०।

२. अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्। सा० द० १०।४९ इति तल्लक्षणात्।

३. ऋ० १०।११५।१ 'मातरावप्येति धातवे। अनूधा यदि जीजनदधा च नु ववक्ष' इति पाठः।

पदार्थः—**प्रथमो** यज्ञाग्निपरः। **शिशोः** सद्योजातस्य बालस्यापि **तरुणस्य** युवकस्य, युवकवत् कार्यं कुर्वतः यज्ञाग्नेः **वक्षथः** हविर्वहनगुणः। वह धातोरौणादिक अथप्रत्ययः, मध्ये सकारागमः। **चित्रः इत्** अद्भुत एवास्ति, **यः** यज्ञाग्निः **धातवे** पयः पातुम्। धेट् पाने धातोः तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः। **मातरौ** मातापितृभूते अरणी **न अन्वेति** नानुगच्छति। **अनूधाः** ऊधोरहिता माता अरणिः **यत्** यदा, तं यज्ञाग्निं पुत्रम् **अजीजनत्** जनयति। अत्र लडर्थे लुङ्। **अध चित्** तत्क्षणमेव **सद्यः** सत्वरम् **महि** महत् **दूत्यम्** दूतकर्म। दूतस्य भागकर्मणी। अ० ४।४।१२० इति कर्मार्थे यत् प्रत्ययः। **चरन्** कुर्वन् सः **आववक्षत्** हुतं हविः वोढुं प्रारभते। आङ्पूर्वाद् वह धातोः लेटि रूपम्। बहुलं छन्दसि। अ० २।४।७६ इति शपः श्लौ द्वित्वम्। मध्ये अडागमः सिबागमश्च।

अथ **द्वितीयः** परमात्मपरः। **शिशोः** शिशुवत् प्रियस्य, **तरुणस्य** तरुणवद् महान्ति कर्माणि कुर्वतः परमात्मनः **वक्षथः** जगद्भारवहनगुणः **चित्रः इत्** आश्चर्यकरः एव वर्तते, **यः** परमात्मा, इतरप्राणिवत् **धातवे** पयः पातुम् पुष्टिं प्राप्तुम् इत्यर्थः, **मातरौ** मातापितरौ **न अन्वेति** न अनुप्राप्नोति प्रत्युत स्वयमेव परिपुष्टोऽस्ति। **अनूधाः** ऊधोरहिता प्रकृतिः **यत्** यदा **अजीजनत्** इदं जगद् उत्पादयति **अध चित्** तदनन्तरमेव **सद्यः** झटिति **महि** महत् **दूत्यम्** दूतकर्म **चरन्** आचरन्, स परमात्मा **आ ववक्षत्** जगद्भारं वोढुं प्रारभते ॥२॥

अत्र 'कोऽसौ यः शिशुरपि तरुणः, शिशुरपि पोषणाय पयःपानाय वा पितरौ नानुगच्छति, जन्मसमकालमेव च दौत्यं कर्तुं प्रारभते'—इति प्रहेलिकालङ्कारः। यद्वा, विरोधालङ्कारो व्यज्यते ॥२॥

भावार्थः—शिशुः सन् न कश्चिदपि शक्तिसाध्यं कर्म करोति, किन्तु मातुः स्तन्यपानेन पितुश्च संरक्षणेन पुष्टिं गत एव दुर्वहकर्मकरणायोत्सहते। परम् आश्चर्यमिदं यदरणीरूपमातापितृभ्यां जनितो यज्ञाग्निः शिशुरेव सन्नुत्पत्तिसमकालमेव हविर्वहनरूपं दुष्करं दौत्यमाचरति। तथैव परमेश्वरोऽपि शिशुरपि तरुणः, भक्तानां शिशुवत् प्रियत्वात् तरुणवज्जगद्भारवहनरूपमहाकार्यकरणसमर्थत्वाच्च। सर्वे प्राणिनो मातापित्रोः सकाशाद् रसपानं विधायैव स्वशरीरे बलं सञ्चिन्वन्ति, परं परमेश्वरस्तयोः पयःपानं विनैव स्वभावतः परमबलवान्, प्रकृत्याः सकाशादुत्पन्नस्य विशालस्य ब्रह्माण्डभारस्य वोढा च वर्तते। परमेश्वरस्यैतत् सामर्थ्यं कर्म चाद्भुतमेव ॥२॥

अगले मन्त्र में अग्नि की समानता से परमेश्वर की महिमा का वर्णन है।

पदार्थ—**प्रथम** यज्ञाग्नि के पक्ष में। **शिशोः** नवजात शिशु होते हुए भी **तरुणस्य** जो युवक है, युवक के समान कार्य करने वाला है, उस यज्ञाग्नि का **वक्षथः** हवि वहन करने का गुण **चित्रः इत्** अद्भुत ही है; **यः** जो यज्ञाग्नि **धातवे** दूध पीने के लिए **मातरौ** माता-पिता बनी हुई अरणियों का **न अन्वेति** अनुसरण नहीं करता। **अनूधाः** बिना ऊधस् वाली माता अरणी **यत्** जब, यज्ञाग्नि को **अजीजनत्** उत्पन्न करती है **अध चित्** उसके बाद ही **सद्यः** तुरन्त **महि** महान् **दूत्यम्** दूत-कर्म को **चरन्** करता हुआ, वह **आववक्षत्** होम की हुई हवि को वहन करने लगता है।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। **शिशोः** शिशु के समान प्रिय, और **तरुणस्य** युवक के समान महान् कर्मों को करनेवाले परमात्मा का **वक्षथः** जगत् के भार को वहन करने का गुण **चित्रः** आश्चर्यकारी है, **यः** जो परमात्मा, अन्य प्राणियों के समान **धातवे** दूध पीने के लिए अर्थात् पुष्टि पाने के लिए **मातरौ** माता-पिता को **न अन्वेति** प्राप्त नहीं करता, प्रत्युत स्वयं परिपुष्ट है। **अनूधाः** ऊधस्-रहित प्रकृति **यत्** जब **अजीजनत्** इस जगत् को उत्पन्न करती है **अध चित्** उसके बाद ही **सद्यः** तुरन्त **महि** महान् **दूत्यम्** दूत-कर्म को **चरन्** करता हुआ, वह परमात्मा **आ ववक्षत्** जगत् के भार को वहन करना आरम्भ कर देता है ॥२॥

यहाँ 'वह कौन है जो शिशु होते हुए भी तरुण है, शिशु होते हुए भी पोषण पाने या दूध पीने के लिए माता-पिता के पास नहीं जाता और पैदा होते ही महान् दूत-कर्म करने लगता है—इस प्रकार प्रहेलिकालंकार है। अथवा विरोधालंकार व्यङ्ग्य है ॥२॥

भावार्थ—शिशु होते हुए कोई भी शक्तिसाध्य कार्य नहीं करता है, किन्तु माता का दूध पीने से और पिता के संरक्षण से पुष्ट होकर ही भारी काम करने में समर्थ होता है। परन्तु यह आश्चर्य है कि अरणी-रूप माता-पिताओं से उत्पन्न यज्ञाग्नि शिशु होता हुआ भी उत्पन्न होते ही हवि-वहन रूप दुष्कर दूत-कर्म को करने लगता है। वैसे ही परमेश्वर भी शिशु होते हुए भी युवक है, क्योंकि वह भक्तों को शिशु के समान प्रिय है और युवक के समान जगत् के भार को उठाने रूप महान् कार्य को करने में समर्थ है। सब लोग माता-पिता से रसपान करके ही अपने शरीर में बल संचित करते हैं, किन्तु परमेश्वर उनसे रसपान किये बिना ही स्वभाव से परम बलवान् है और प्रकृति से उत्पन्न विशाल ब्रह्माण्ड के भार को उठाने वाला है। परमेश्वर का यह सामर्थ्य और कर्म बड़ा ही अद्भुत है ॥२॥

अथ परमात्मनं जीवात्मानं वाभिलक्ष्योच्यते।

६९. ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व।
३ १ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
संवेशनस्तन्वे३ चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे ॥३॥[1]

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
इदम् ते एकम् परः उ ते एकम्। तृतीयेन ज्योतिषा सम् विशस्व॥
१ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
संवेशनः सम् वेशनः तन्वे चारुः एधि। प्रियः देवानाम् परमे जनित्रे ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। हे अग्ने परमात्मन्! **इदम्** मत्समीपे विद्यमानं पार्थिवाग्निरूपम् **ते** तव **एकम्** एकं ज्योतिः अस्ति। **उ** किंच **परः** परस्ताद् द्युलोके विद्यमानं सूर्यरूपम् **ते** तव **एकम्** द्वितीयं ज्योतिः अस्ति। त्वं तद्द्वितीयेन **तृतीयेन ज्योतिषा** तृतीयेन निजेन ज्योतिर्मयस्वरूपेण **संविशस्व** मदात्मनि प्रविष्टो भव। **परमे** श्रेष्ठे **जनित्रे** त्वदाविर्भावस्थाने मदात्मनि। जन्यते अत्र इति जनित्रम्। जनी प्रादुर्भावे धातोः अधिकरणे औणादिकः इत्रप्रत्ययः। **संवेशनः** प्रवेशकर्ता त्वम्। सं पूर्वाद् विश प्रवेशने धातोः कर्तरि युच्। **तन्वे** अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयकोशसहिताय शरीराय **चारुः** हितकरः, **देवानाम्** इन्द्रियमनोबुद्ध्यादीनाम् **प्रियः** प्रियकरश्च **एधि** भव।

अथ **द्वितीयः** जीवात्मपरः। हे अग्ने जीवात्मन्! **इदम्** चक्षुरादीन्द्रियात्मकम् **ते** तव **एकम्** एकं ज्योतिः अस्ति। **उ** अथ च **परः** ततः परस्ताद् विद्यमानं मनोरूपम् **ते** तव **एकम्** द्वितीयं ज्योतिः अस्ति। त्वम् **तृतीयेन** परमात्माख्येन **ज्योतिषा** अर्चिषा **संविशस्व** संगच्छस्व[2]। **परमे** सर्वोत्कृष्टे **जनित्रे** जनयितरि परमात्मनि। अत्र जनी धातोः कर्तरि इत्र प्रत्ययः। **संवेशनः** संगतः त्वम् **तन्वे** स्वाश्रयभूताय देहसंघाताय **चारुः** कल्याणकरः, **देवानाम्** दिव्यगुणानां **प्रियः** प्रेमास्पदं च **एधि** भव ॥३॥[3]

---

१. ऋ० १०।५६।१ देवता विश्वेदेवाः, 'संवेशने तन्वश्चारु' इति पाठः। अथ० १८।३।७ ऋषिः अथर्वा, देवता यमः, 'संवेशने तन्वा३ चारुरेधि प्रियो देवानां परमे सधस्थे' इति पाठः।

२. संविशस्व संगच्छस्व—इति भ०, सा०।

३. इदं ते तव एकं ज्योतिः वैद्युताख्यम्। परः परम् उत्कृष्टमित्यर्थः। उ इति पादपूरणः। ते तव एकम् आदित्याख्यम्। तृतीयेन ज्योतिषा पार्थिवेन अग्न्याख्येन संविशस्व। क्व पुनः संविशानि? उच्यते 'संवेशनः तन्वे। संविश्यते अस्मिन् इति संवेशनं

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥३॥

भावार्थ—पार्थिवाग्नौ सूर्याग्नौ च परमात्मन एव ज्योतिः प्रदीप्यते, यथोक्तम्—'अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः। अथ० ४।३९।९, योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्।' य० ४०।१७, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' कठ० ५।१५ इति। अतस्तज्ज्योतिर्द्वयमयि परमात्मन एव। परं तस्य वास्तविकं तृतीयं ज्योतिस्तदीयं स्वात्मनिष्ठं स्वाभाविकं तेज एव। तेनैव तेजसा भक्तजनानामात्मानं प्रविश्य स तेषां कल्याणं करोति, शरीरप्राणमनोबुद्ध्यादीनां च हितं सम्पादयति। अतस्तस्य तृतीयं ज्योतिराप्तुं योगाभ्यासविधिना सर्वैः प्रयत्नोऽनुष्ठेयः। मन्त्रस्य द्वितीयेऽर्थे जीवात्मा समुद्बोधितः—हे जीवात्मन्! एकं ते ज्योतिः चक्षुःश्रोत्रादिकम्, द्वितीयं ज्योतिर्मनः 'ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः।' ऋ० ६।९।५ इति श्रुतेः। एतज्ज्योतिर्द्वयं तव साधनरूपमेव, साध्यरूपं ज्योतिस्तु तृतीयं परमात्मज्योतिरस्ति। अतस्तदेवाधिगन्तुं प्राणपणेन यतस्व ॥३॥

अगला मन्त्र परमात्मा और जीवात्मा को लक्ष्य करके कहा गया है।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे परमात्मन्! **इदम्** यह, मेरे समीप विद्यमान पार्थिव अग्नि रूप **ते** तेरी **एकम्** एक ज्योति है, **उ** और **परः** परे द्युलोक में विद्यमान, सूर्यरूप **ते** तेरी **एकम्** एक दूसरी ज्योति है। तू—उससे भिन्न **तृतीयेन ज्योतिषा** तीसरी ज्योति से, निज ज्योतिर्मय स्वरूप से **संविशस्व** मेरे आत्मा में भली भाँति प्रविष्ट हो। **परमे** श्रेष्ठ **जनित्रे** आविर्भाव-स्थान मेरे आत्मा में **संवेशनः** प्रवेशकर्ता तू **तन्वे** अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोशों सहित शरीर के लिए **चारुः** हितकारी, तथा **देवानाम्** इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि देवों का **प्रियः** प्रियकारी **एधि** हो॥

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में। हे जीवात्मन्! **इदम्** यह चक्षु आदि इन्द्रिय रूप **ते** तेरी **एकम्** एक ज्योति है, **उ** और **परः** उससे परे मन रूप **ते** तेरी **एकम्** एक दूसरी ज्योति है। तू **तृतीयेन** तीसरी परमात्मा रूप **ज्योतिषा** ज्योति से **संविशस्व** संगत हो। **परमे** सर्वोत्कृष्ट **जनित्रे** उत्पादक परमात्मा में **संवेशनः** संगत हुआ तू **तन्वे** अपने आश्रयभूत देह-संघात के लिए **चारुः** कल्याणकारी, और **देवानाम्** दिव्य गुणों का **प्रियः** स्नेहपात्र **एधि** हो॥३॥

भावार्थ—पार्थिव अग्नि तथा सूर्यरूप अग्नि में परमात्मा की ही ज्योति प्रदीप्त हो रही है, जैसा कि कहा भी है—'अग्नि में परमेश्वर रूप अग्नि प्रविष्ट होकर विचर रहा है, ऋ० ४।३९।९'; 'जो आदित्य में पुरुष बैठा है, वह मैं परमेश्वर ही हूँ, य० ४०।१७'; 'उसी की चमक से यह सब-कुछ चमक

वेद्याख्यं स्थानं, तस्मिन्नित्यर्थः। तन्वः शरीरस्य। संविश्य चारुः एधि शोभनो भव। प्रियः देवानाम्···परमे उत्कृष्टे जनित्रे, जन्यतेऽस्मिन्निति जनित्रं कर्म यात्रारूपं, तस्मिन्नित्यर्थः। अथवा जन्मैव जनित्रम्, परमे जन्मनि वृक्षादौ यज्जन्म तस्मिन्नित्यर्थः—इति वि०।

सायणस्त्वेवं व्याचष्टे—"एतया बृबदुक्थो वाजिनं नाम स्वपुत्रं संविशस्व मृतं वदति—हे मृतपुत्र, ते तव इदं ज्योतिः अग्न्याख्यम् एकम् एकोंऽशः। अतः ते तव देहगताग्न्यंशेन बाह्यम् अग्निं संगच्छस्व। तथा परः ऊ अन्योऽपि ते तव एकं वाय्वाख्योंऽशः, तेन च प्राणवाय्वाख्येन अंशेन बाह्यं वायुं संविशस्व।···तथा तृतीयेन ज्योतिषा आदित्याख्येन तेजसा तवात्मना संविशस्व।···तन्वे तनवे पुनः शरीरग्रहणाय चारुः कल्याणो भूत्वा तस्मिन् सूर्ये संवेशनः सम्यक् प्रवेष्टा" इत्यादि। परम् ऋगियम् अन्त्येष्टिकर्मणि चेद् विनियुज्येत तदा तादृशेऽर्थे संभवत्यपि बृबदुक्थो नाम ऋषिः वाजिनं नाम मृतं स्वपुत्रं वदतीत्यस्य इतिहासस्य कल्पनमनुचितमेव, वेदेषु लौकिकेतिहासस्याभावात्।

रहा है, कठ० ५।१५'। इसलिए पार्थिव अग्नि और सूर्याग्नि दोनों परमात्मा की ही ज्योतियाँ हैं। परन्तु परमात्मा की वास्तविक तीसरी ज्योति उसका अपना स्वाभाविक तेज ही है। उसी तेज से भक्तों के आत्मा में प्रवेश करके वह उनका कल्याण करता है और शरीर, प्राण, मन, बुद्धि आदि का हित-सम्पादन करता है। अतः उसकी तीसरी ज्योति को प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास की विधि से सबको प्रयत्न करना चाहिए। मन्त्र के द्वितीय अर्थ में जीवात्मा को सम्बोधित किया गया है। हे जीवात्मन्! तेरी एक ज्योति चक्षु, श्रोत्र आदि हैं, दूसरी ज्योति मन है, जैसाकि वेद में अन्यत्र कहा है—प्राणियों के अन्दर सबसे अधिक वेगवान् एक मनरूप ध्रुव ज्योति दर्शन करने के लिए निहित है, ऋ० ६।९।५। पर ये दोनों ज्योतियाँ साधन रूप हैं, साध्य रूप ज्योति तो तीसरी परमात्म-ज्योति ही है। अतः उसे ही प्राप्त करने के लिए प्राणपण से यत्न कर ॥३॥

अथ परमेश्वरस्य स्तुत्या तत्संगत्या च वयं किं लभेमहीत्याह।

६६. इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥४॥[1]
इमम् स्तोमम् अर्हते जातवेदसे जातवेदसे। रथम् इव सम् महेम मनीषया॥
भद्रा हि नः प्रमतिः प्र मतिः अस्य सꣳसदि सम् सदि।
अग्ने सख्ये स ख्ये मा रिषाम वयम् तव ॥४॥

पदार्थः—**अर्हते** पूज्याय। अर्ह पूजायाम्, शत् प्रत्ययः। **जातवेदसे**[2] यो जातानि वेत्ति, जाते-जाते विद्यते, जातं वेदो धनं वेदज्ञानं वा यस्मात् तस्मै परमेश्वराय **मनीषया** मनोयोगेन **इमम्** अस्माकं हृदये विद्यमानम् **स्तोमम्** स्तोत्रम् **संमहेम**[3] सत्कारपूर्वकं प्रापयेम। अत्र संपूर्वो मह पूजायामिति धातुर्बोध्यः। **रथम् इव** यथा कश्चित् पूज्यजनं समाह्वातुं तदन्तिके रथं प्रापयति तथा। **अस्य** परमात्मनः **संसदि** संगतौ **नः** अस्माकम् **प्रमतिः** प्रखरा मतिः **भद्रा हि** भद्रैव भवतु। हे **अग्ने** तेजोमय परमात्मन्! **वयम्** प्रजाजनाः **तव** त्वदीये **सख्ये** मैत्रीभावे **मा** नैव **रिषाम** हिंसिता भवेम। रिष हिंसायाम् इति धातोः लेटि रूपम्। 'संमहेमा, रिषामा' इत्युभयत्र 'अन्येषामपि दृश्यते। अ० ६।३।१३७' इति दीर्घः ॥४॥[4]

'स्तोमं रथमिव संमहेम' इत्यत्र पूर्णोपमालङ्कारः। यथा कश्चित् सुयोग्यं विद्वांसं स्वोत्सवेषु समानेतुं तस्मै रथः प्रेष्यते, तथा पूज्यं परमेश्वरं स्वहृदयसदने समानेतुं तस्मै स्तोमः प्रेष्येत। आलङ्कारिकीयं भाषा वेद्या, पूर्वमेव परमेश्वरस्यास्माकं हृदये विद्यमानत्वात् ॥४॥

भावार्थः—अव्यक्तरूपेण हृदये स्थितः परमेश्वरोऽस्माकं स्तोमेन जागर्ति, बुद्धिं चास्माकं सन्मार्गगामिनीं भद्रां विधाय विनाशादस्मान् रक्षति ॥४॥

---

१. ऋ० १।९४।१, अथ० २०।१३।३, साम० १०६४।
२. 'जातवेदस्' शब्दस्य निर्वचनार्थं द्रष्टव्यम् ३१ संख्याकस्य मन्त्रस्य व्याख्यानम्।
३. महतिरत्र गमनार्थः अन्तर्णीतण्यर्थश्च द्रष्टव्यः। यथा कश्चिद् रथं गमयति तद्वत् गमयेम—इति वि०। **संमहेम** सम्यक् प्रयच्छामः—इति भ०। रथमिव यथा तक्षा रथं संस्करोति तथा संमहेम सम्यक् पूजितं कुर्मः—इति सा०।
४. अत्र अग्निशब्देन विद्वद्भौतिकार्थाविपदिश्येते इति ऋग्भाष्ये द०।

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि परमेश्वर की स्तुति और उसकी संगति से हम क्या प्राप्त करें।

पदार्थ—**अर्हते** पूजायोग्य **जातवेदसे** सब उत्पन्न पदार्थों के ज्ञाता, सब उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान, सकल धन के उत्पादक और वेदज्ञान को प्रकट करनेवाले परमेश्वर के लिए **मनीषया** मनोयोग के साथ **स्तोमम्** स्तोत्र को **संमहेम** सत्कारपूर्वक भेजें, **रथम् इव** जैसे किसी पूज्य जन को बुलाने के लिए उसके पास रथ भेजा जाता है। **अस्य** इस परमेश्वर की **संसदि** संगति में **नः** हमारी **प्रमतिः** प्रखर बुद्धि **भद्रा हि** भद्र ही होती है। हे **अग्ने** तेजस्वी परमात्मन्! **वयम्** हम प्रजाजन **तव** आपकी **सख्ये** मित्रता में **मा** मत **रिषाम** हिंसित होवें ॥४॥

'स्तोत्र को रथ के समान सत्कारपूर्वक भेजें'—यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है। जैसे किसी सुयोग्य विद्वान् को अपने उत्सवों में लाने के लिए उसके निमित्त रथ भेजा जाता है, वैसे ही पूज्य परमेश्वर को अपने हृदय-गृह में लाने के लिए उसके निमित्त स्तोत्र भेजा जाए। यह भाषा आलंकारिक समझनी चाहिए क्योंकि परमेश्वर तो पहले से ही हमारे हृदयों में विद्यमान है ॥४॥

भावार्थ—अव्यक्त रूप से हृदय में स्थित परमेश्वर हमारे स्तोत्र से जाग जाता है और हमारी बुद्धि को श्रेष्ठ मार्ग पर चलनेवाली भद्र बनाकर विनाश से हमारी रक्षा करता है ॥४॥

अथ कीदृशं परमेश्वरं विद्वांसः साक्षात् कुर्वन्तीत्याह।

६७. मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्नः पात्रं जनयन्त देवाः ॥५॥[1]

मूर्धानम् दिवः अरतिम् पृथिव्याः। वैश्वानरम् वैश्व नरम् ऋते आ जातम्
अग्निम्॥ कविम् सम्राजम् सम् राजम् अतिथिम् जनानाम्।
आसन् नः पात्रम् जनयन्त देवाः ॥५॥

पदार्थः—**दिवः** द्युलोकस्य **मूर्धानम्** शिरोमणिम्, **पृथिव्याः** भूमेः **अरतिम्** सूर्यं परितः स्वधुरि च गमयितारम्। अर्पयति गमयति इति अरतिः। ऋ गतौ धातोः 'वहिवस्यतिभ्यश्चित्'। उ० ४।६१' इति अति प्रत्ययः। **वैश्वानरम्** विश्वेषां नराणां हितम्, विश्वेषां नेतारं वा। 'वैश्वानरः कस्मात्? विश्वान् नरान् नयति, विश्व एनं नरा नयन्तीति वा। अपि वा विश्वानर एव स्यात्, प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि, तस्य वैश्वानरः' इति हि निरुक्तम्। ७।२१। **कविम्** मेधाविनम्। कविः मेधाविनाम। निघं० ३।१५। **सम्राजम्** ब्रह्माण्डसाम्राज्यस्य धुरन्धरम्, **जनानाम्** प्रजानाम् **अतिथिम्** अतिथिवत् सत्करणीयम्, **नः** अस्माकम् **पात्रम्** रक्षकम्। पाति रक्षतीति पात्रम्। पा रक्षणे धातोः 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्। उ० ४।१६०' इति ट्रन्। **ष्अग्निम्** ज्योतिर्मयं परमेश्वरम् **देवाः** विद्वांसः उपासकजनाः **आसन्** आस्ये मुखे जपद्वारा, हृदयगह्वरे वा ध्यानद्वारा अत्र 'पद्दन्नोमास०। अ० ६।१।६३' इत्यास्यशब्दस्य आसन् आदेशः। 'सुपां सुलुक्०। अ० ७।१।३९' इति सप्तम्येकवचनस्य लुक्। **जनयन्त** प्रकटयन्ति साक्षात्कुर्वन्तीति भावः। जनी प्रादुर्भावे धातोः लडर्थे लङ्, व्यत्ययेनात्मनेपदम्, 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि। अ० ६।४।७५' इत्यडागमाभावः ॥५॥[2]

१. ऋ० ६।७।१, य० ७।२४, ३३।८। सर्वत्र 'मासन्नः' इत्यत्र 'मासन्ना' इति पाठः। साम० ११४०।

२. एष मन्त्रो दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्ये परमात्मनो विदुषश्च पक्षे, यजुर्भाष्ये च यानेषु शस्त्रास्त्रेषु यन्त्रादिषु च वह्निविद्युत्प्रयोगविषये व्याख्यातः।

अत्र विशेषणानां साभिप्रायत्वात् परिकरालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—यः परमात्मा द्यावापृथिव्योः सञ्चालकः सर्वहितकर्ता सुसत्यनियमो महाकविर्विश्व-सम्राट् समेषां विपद्भ्यस्त्राता च वर्तते तं ध्यात्वा मनुष्यैः सर्वाणि सुखानि प्राप्तव्यानि ॥५॥

कैसे परमेश्वर का विद्वान् लोग दर्शन करते हैं, इस विषय में कहते हैं।

पदार्थ—**दिवः** द्युलोक के **मूर्धानम्** शिरोमणि, **पृथिव्याः** भूमि के **अरतिम्** सूर्य के चारों ओर तथा अपनी धुरी पर घुमानेवाले, **वैश्वानरम्** सब नरों के हितकारी, सबके नेता, **ऋते** सत्य में **आ जातम्** सर्वत्र प्रसिद्ध, **कविम्** मेधावी, **सम्राजम्** ब्रह्माण्ड रूप साम्राज्य के सम्राट्, **जनानाम्** प्रजाओं के **अतिथिम्** अतिथि-तुल्य सत्कार करने योग्य **नः** हमारे **पात्रम्** रक्षक **अग्निम्** तेजस्वी परमेश्वर को **देवाः** विद्वान् उपासकजन **आसन्** मुख में जप द्वारा और हृदय-गुहा में ध्यान द्वारा **जनयन्त** प्रकट करते हैं, अर्थात् जप द्वारा और ध्यान द्वारा उसका साक्षात्कार करते हैं ॥५॥

इस मन्त्र में विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर अलंकार है ॥५॥

भावार्थ—जो परमात्मा द्यावापृथिवी का सञ्चालक, सबका हित करनेवाला, उत्कृष्ट सत्य नियमोंवाला, महाकवि, विश्व का सम्राट् और सबका विपदाओं से त्राण करनेवाला है, उसका ध्यान करके मनुष्यों को सब सुख प्राप्त करने चाहिए ॥५॥

अथ स्तोतारो विद्वांसः परमात्मानं प्राप्नुवन्तीत्याह।

६८. वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरग्ने जनयन्त देवाः।
तं त्वा गिरः सुष्टुतयो वाजयन्त्याजिं न गिर्वाहो जिग्युरश्वाः ॥६॥[1]

वि त्वत् आपः न पर्वतस्य पृष्ठात्। उक्थेभिः अग्ने जनयन्त देवाः॥
तम् त्वा गिरः सुष्टुतयः सु स्तुतयः वाजयन्ति।
आजिम् न गिर्वाहः गिर्वाहः जिग्युः अश्वाः ॥६॥

पदार्थः—हे **अग्ने** सर्वनायक परमात्मन्! **देवाः**[2] सूर्याकिरणाः मरुतो वा **पर्वतस्य** मेघस्य गिरेर्वा। निघण्टौ मेघवाचिषु पठिताः अद्रिपर्वतादयः शब्दाः साधारण्येन मेघवाचिनः शैलवाचिनश्च निरुक्ते प्रोक्ताः। निरु० २।२२। **पृष्ठात्** उपरिप्रदेशात् **आपः न** यथा अपः वर्षोदकानि नदीर्वा वि जनयन्ति तद्वत्। न इत्युपमार्थीयो निरुक्ते वर्णितः। निरु० १।४। आपः[3] इत्यत्र द्वितीयार्थे प्रथमा। **देवाः**[4] विद्वांसः स्तोतारः **उक्थेभिः** वेदमन्त्रैः **त्वत्** तव सकाशात् **आपः** आनन्दधाराः **वि जनयन्त** विशेषेण जनयन्ति, स्वात्मनि प्रवाहयन्तीत्यर्थः। **तम्** तादृशं परोपकारिणम् **त्वा** त्वाम् **सुष्टुतयः** तेषां शोभनस्तुति-

---

१. ऋ० ६।२४।६, वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरिन्द्रानयन्त यज्ञैः। तं त्वाभिः सुष्टुतिभिर्वाजयन्त आजिं न जग्मुर्गिर्वाहो अश्वाः॥ इति पाठः। इन्द्रो देवता।

२. यथा केचिन्मरुदादयः मेघमस्तकाद् बहूदकं लब्धवन्तः तद्वत् यतो धनं लब्धवन्तः—इति वि०।

३. आप इति प्रथमाबहुवचनं द्वितीयाबहुवचनस्य स्थाने द्रष्टव्यम्—इति वि०। अपः इव—इति भ०। वेदेऽन्यत्रापि 'अपः' इत्यस्य स्थाने 'आपः' इति प्रयुक्तम्, यथा 'आपो अद्यान्वचारिषम्'। ऋ० १।२३।२३, 'प्रति यदापो अदृश्रमायतीः'। ऋ० १०।३०।१३, 'भिषग्भ्यो भिषक्तरा आपो अच्छा वदामसि।' अथ० १९।२।३ इति।

४. हविषां दातृत्वात् देवशब्देनात्र ऋत्विग्यजमाना उच्यन्ते—इति वि०। देवाः स्तोतारः—इति भ०, सा०।

रूपाः **गिरः** वाचः **वाजयन्ति**[1] अर्चन्ति । वाजयतिः अर्चतिकर्मा । निघं० ३।१४ । **अश्वाः** वाजिनः **आजिं न** यथा युद्धं जयन्ति तथा । आजिः संग्रामनाम । निघं० २।१७ । **गिर्व-वाहः** गिरः स्तुतिवाचः येषु सन्तीति गिर्वाणः स्तोत्राणि तान् परमेश्वरं प्रति वहन्ति प्रापयन्तीति गिर्ववाहः स्तोतारः[2] । गिर्वन् इत्यत्र 'गिर्' उपपदात् 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ । अ० ५।२।१०९' वा० इति वनिप् । ततो वह प्रापणे धातोः 'वहश्च । अ० ३।२।६४' इति ण्विः । त्वा त्वां परमात्मानम् **जिग्युः** जयन्ति, अधिगच्छन्ति । अत्र जि जये धातोर्लडर्थे लिट् । 'सन्लिटोर्जेः । अ० ७।३।५७' इति कुत्वम् ॥६॥

अत्र 'आपो न पर्वतस्य पृष्ठात्', 'आजिं न अश्वाः' इत्युभयत्रोपमालङ्कारः । 'देवाः' 'आपः' इति पदद्वयं च श्लिष्टम् ॥६॥

भावार्थः—यथा सूर्यकिरणाः पवनाश्च मेघेभ्यो वृष्टिजलानि शैलेभ्यश्च नदीः प्रवाहयन्ति, तथा परमेश्वरोपासका विद्वांसो जनाः परमेश्वरस्य सकाशात् शुद्धा आनन्दधाराः स्वान्तःकरणे प्रवाहयन्ति । यथा च शिक्षिता अश्वाः संग्रामभूमिं जयन्ति, तथा ते परमेश्वरं जयन्ति ॥६॥

स्तोता विद्वान् लोग परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं, यह कहते हैं ।

पदार्थ—हे **अग्ने** सबके नायक परमात्मन् ! **पर्वतस्य** बादल अथवा पहाड़ के **पृष्ठात्** पृष्ठ से **देवाः** सूर्यकिरणें और पवन **आपः न** जैसे वर्षाजल और नदियों को उत्पन्न करते हैं, बहाते हैं, वैसे ही **देवाः** विद्वान् स्तोता लोग **उक्थेभिः** वेदमन्त्रों द्वारा **त्वत्** आपके पास से **आपः** आनन्द-धाराओं को **विजनयन्त** विशेष रूप से उत्पन्न करते हैं, अपने आत्मा में प्रवाहित करते हैं । **तम्** उस परोपकारी **त्वा** आपको **सुष्टुतयः** उनकी उत्तम स्तुति रूप **गिरः** वाणियाँ **वाजयन्ति** पूजती हैं । **अश्वाः** घोड़े **आजिं न** जैसे युद्ध को जीत लेते हैं, वैसे ही **गिर्व-वाहः** स्तोत्रों को आपके प्रति पहुँचानेवाले स्तोता जन आपको **जिग्युः** जीत लेते हैं, पा लेते हैं ॥६॥

इस मन्त्र में 'आपो न पर्वतस्य पृष्ठात्' और 'आजिं न जिग्युरश्वाः' इन दोनों स्थलों में उपमालंकार है । 'देवाः' और 'आपः' पद श्लिष्ट हैं ॥६॥

भावार्थ—जैसे सूर्यकिरणें और पवन मेघों से वृष्टि-जलों को और पर्वतों से नदियों को प्रवाहित करते हैं, वैसे ही परमेश्वर के उपासक विद्वान् लोग परमेश्वर के पास से शुद्ध परमानन्द की धाराओं को अपने अन्तःकरण में प्रवाहित करते हैं । और जैसे शिक्षित घोड़े संग्राम-भूमि को जीत लेते हैं, वैसे ही परमेश्वरोपासक लोग परमेश्वर को जीत लेते हैं ॥६॥

अथात्मरक्षायै परमात्मानं सेवध्वमित्युपदिश्यते ।

६९. आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः ।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥७॥[3]

---

१. वाजयन्ति पूजयन्ति—इति वि० । बलिनं कुर्वन्ति—इति भ०, सा० ।

२. 'गिर्व—वाहः' इति पदकारमनुसृत्यास्माभिरेवं व्याख्यातम् । अन्यैस्तु पदमिदं सम्बोधनान्तं स्वीक्रियते, तत्तु चिन्त्यं स्वरविरोधात् । "हे गिर्ववाहः, गिरः स्तुतयः वा उह्यन्ते यं प्रति स गिर्ववाहः, तस्य सम्बोधनं गिर्ववाहः—इति वि० । हे गिर्ववाहः, गीर्भिः स्तुतिभिः उह्यते प्राप्यते स्तोतृन् इति गिर्ववाहः । वहेः सर्वधातुभ्यो विहितः असुन् प्रत्ययः, वकारस्य द्वित्वं छान्दसम्—इति भ० । गीर्भिः स्तुतिरूपाभिः वाग्भिः वहनीय अग्ने—इति सा० ।

३. ऋ० ४।३।१ ।

२ ३ १२१ ३ १ २ ३२ १२१ ३ १ २ ३ १२१ १२१
आ वः राजानम् अध्वरस्य रुद्रम् । होतारम् सत्ययजम् सत्य यजम् रोदस्योः ।।
३ २ ३२३ २ ३ १२१ ३ १२१
अग्निम् पुरा तनयित्नोः अचित्तात् अ चित्तात् ।
१२१ १२१ ३ १२१ ३
हिरण्यरूपम् हिरण्य रूपम् अवसे क्वणुध्वम् ।।७।।

पदार्थः—हे मनुष्याः ! यूयम् **वः** युष्माकम् **अध्वरस्य** जीवनयज्ञस्य । पुरुषो वाव यज्ञः । छां० उ० ३।१७।१ इत्युपनिषत्प्रामाण्यान्मनुष्यजीवनं यज्ञ एव । **राजानम्** सम्राजम्, **रुद्रम्**[1] पापिनां रोदयितारं पुण्यात्मनां च दुःखस्य द्रावयितारम्, यद्वा सत्योपदेशप्रदम् । अग्निरपि रुद्र उच्यते । निरु० १०।७, अग्निर्वै रुद्रः । श० ५।३।१।१० । **होतारम्** सृष्टेः प्रदातारं संहर्तारं च । हु दानादनयोः आदाने चेत्येके । **रोदस्योः** द्यावापृथिव्योः । रोदसी इति द्यावापृथिवीनाम । निघं० ३।३० **सत्ययजम्** सत्यं यथार्थं यष्टारं परस्परं संगमयितारम् **हिरण्यरूपम्** सुवर्णवद् भास्वरम्, ज्योतिर्मयमित्यर्थः । ज्योतिर्हि हिरण्यम् । श० ४।३।१।२१ **अग्निम्** नायकं परमात्मानम् **अवसे** रक्षणाय **तनयित्नोः**[2] स्तनयित्नोः विद्युद्वद् अकस्मादाक्रमणशीलात् **अचित्तात्**[3] न विद्यते चित्तं ज्ञानं यस्मिन् तस्माद् मोहावस्थाप्रापकान्मृत्योः **पुरा** पूर्वमेव **आकृणुध्वम्** आसेवध्वम् । कृवि हिंसाकरणयोश्च, स्वादिः ।।७।।[4]

भावार्थ—मृत्युर्विद्युच्चाकचक्यमिव न जाने कदाऽकस्मादागत्य गलग्रहं नः कुर्यादिति हेतोस्तदागमनात् पूर्वमेव विविधगुणगणाढ्यं परमात्मानं संसेव्यास्माभिः स्वात्मा समुद्धर्तव्यः ।।७।।

अगले मन्त्र में यह उपदेश किया गया है कि आत्मरक्षा के लिए परमात्मा का सेवन करो ।

पदार्थ—हे मनुष्यो ! आप लोग **वः** अपने **अध्वरस्य** जीवन-यज्ञ के **राजानम्** सम्राट्, **रुद्रम्** पापियों को रुलाने वाले और पुण्यात्माओं के दुःख को दूर करने वाले, सत्योपदेशकर्ता, **होतारम्** सृष्टि के प्रदाता और संहर्ता, **रोदस्योः** द्यावापृथिवी में **सत्ययजम्** सच्चा सामंजस्य स्थापित करने वाले, **हिरण्यरूपम्** ज्योतिर्मय **अग्निम्** नायक परमात्मा को **अवसे** आत्मरक्षा के लिए **तनयित्नोः** बिजली के समान अचानक आक्रमण कर देने वाले, **अचित्तात्** मोहावस्था के प्रापक मृत्यु के आने से **पुरा** पहले ही **आकृणुध्वम्** सेवन कर लो ।।७।।

भावार्थ—मृत्यु बिजली की चकाचौंध के समान न जाने कब अचानक आकर हमारा गला पकड़ ले, इस कारण उसके आने से पहले ही विविध गुणों से समृद्ध परमात्मा का सेवन करके हमें आत्मोद्धार कर लेना चाहिए ।।७।।

अथ यज्ञाग्निसादृश्येन परमात्माग्निविषयमाह ।

३२७ ३ २ ३ १२ २१ ३२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२
७०. इन्धे राजा समर्यो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन ।
१ २ ३ १ २ ३ २३ १२ २१३१ २
नरो ह्व्येभिरीडते सबाध आग्निरग्रमुषसामशोचि ।।८।।[5]

१. द्रष्टव्यम् १५ संख्याकस्य साममन्त्रस्य भाष्यम् । 'इयं रौद्रीति केचित्'—इति भ० ।

२. तनयित्नुः अशनिः, स हि आकस्मिकः, तत्सदृशात्—इति सा० ।

३. अचित्तात् न विद्यते चित्तं यस्मिन् तदचित्तम्, चित्तोपलक्षितसर्वेन्द्रियोपसंहारो मरणमिति यावत्, तस्मान्मरणात् पुरा प्रागेव—इति सा० ।

४. अत्र सूर्यरूपाग्निदृष्टान्तेन राजप्रजाजनकृत्यमाहेति ऋग्भाष्ये द० ।

५. ऋ० ७।८।१ 'अग्निरग्र उषसामशोचि' इति पाठः । ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजा कीदृशः स्यादिति पक्षे व्याख्यातवान् ।

३ २ १ २१ ३ ३ १ २१ १ २१ १ २१ १ २१ ३ १ २
इन्धे राजा सम् अर्यः नमोभिः । यस्य प्रतीकम् आहुतम् आ हुतम् घृतेन ॥
१ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २१ ३ २ १ २१ ३ १ २ ३
नरः हव्येभिः ईडते सबाधः स बाधः । आ अग्निः अग्रम् उषसाम् अशोचि ॥८॥

पदार्थः—**प्रथमः** यज्ञाग्निपरः । **अर्यः** हविर्वहनकर्मणाम् ईश्वरः । अर्यः स्वामिवैश्ययोः । अ० ३।१।३ इत्यनेन स्वाम्यर्थे निपातितः । **राजा** वेद्यां राजमानो यज्ञाग्निः **नमोभिः** सुगन्धिमिष्टपुष्ट्यारोग्य-वर्धकैः हविष्यान्नैः । नमः इत्यन्ननाम । निघं० २।७। **सम् इन्धे**[1] सम्यक् प्रदीप्यते, **यस्य** यज्ञाग्नेः **प्रतीकम्** ज्वालारूपं मुखम् **घृतेन** आज्येन **आहुतम्** प्राप्ताहुति भवतीति शेषः । **सबाधः** ऋत्विजः । सबाध इति ऋत्विङ्नाम । निघं० २।१८ **नरः** मनुष्याः, तम् अग्निम् **हव्येभिः** हविर्भिः **ईडते** सत्कुर्वन्ति । **अग्निः** स यज्ञवह्निः **उषसाम्** उषःकालानाम् **अग्रम्** संमुखम् **आ अशोचि** आ समन्तात् यज्ञवेद्यां प्रदीप्यते । अजीजनन्त्सूर्यं यज्ञमग्निम् । ऋ० ७।७८।३ इत्युषसाम् अग्नेर्जननीरूपेण वर्णनात् ।

अथ **द्वितीयः** परमात्मपरः । **अर्यः** सर्वेषां स्वामी **राजा** सम्राट् परमात्मा **नमोभिः** नमस्कारैः **सम् इन्धे** हृदये सम्यक् प्रकाशते **यस्य** परमात्मनः **प्रतीकम्** स्वरूपम् **घृतेन** तेजसा । तेजो वै घृतम् । तै० सं० २।२।९।४ घृ क्षरणदीप्त्योः । **आहुतम्** व्याप्तं वर्तते । **सबाधः** बाधाभिभूताः । बाधते इति बाध्, क्विपि रूपम्, तया सह विद्यमानाः सबाधः । **नरः** मनुष्याः । नृ शब्दस्य प्रथमाबहुवचने रूपम् । तं परमात्माग्निम् **हव्येभिः** हव्यैः, आत्मसमर्पणरूपहविर्भिः **ईडते** पूजयन्ति, बलं याचन्ते वा । ईडते याचन्ति स्तुवन्ति वर्द्धयन्ति पूजयन्तीति वा । निरु० ८।१ । **अग्निः** स परमात्मा **उषसाम्** प्रभातवेलानाम् **अग्रम्** अग्रे **आ अशोचि** उपासकानां हृदये प्रदीप्यते । प्रभातकाले धारणाध्यानसमाधीनां सुकरत्वाद् हृदये परमेश्वरदीप्तेरनुभवः सुलभ एवेति भावः ॥८॥

अत्र श्लेषालङ्कारः । यज्ञाग्निपरमेश्वराग्न्योरुपमानोपमेयभावश्च ध्वन्यते ॥८॥

भावार्थः—यज्ञाग्निर्यज्ञवेद्यां हविर्भिरिव मनुष्यैः परमात्मा हृदये नमस्कारैः प्रदीपनीयः ॥८॥

अगले मन्त्र में यज्ञाग्नि के सादृश्य से परमात्माग्नि का विषय वर्णित है।

पदार्थ—प्रथम यज्ञाग्नि के पक्ष में । **अर्यः** हवि-वहन के कर्म का स्वामी **राजा** वेदि में विराजमान यज्ञाग्नि **नमोभिः** सुगन्धित, मधुर, पुष्टिवर्धक और आरोग्यवर्द्धक हवि के अन्नों से **सम् इन्धे** भली भाँति प्रदीप्त किया जाता है, **यस्य** जिस यज्ञाग्नि का **प्रतीकम्** ज्वाला-रूप मुख **घृतेन** घृत से **आहुतम्** आहुत होता है । **सबाधः** ऋत्विज **नरः** मनुष्य, उस यज्ञाग्नि का **हव्येभिः** हवियों से **ईडते** सत्कार करते हैं । **अग्निः** वह यज्ञाग्नि **उषसाम्** उषाओं के **अग्रम्** सामने **आ अशोचि** चारों ओर यज्ञवेदि में प्रदीप्त किया जाता है ।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में । **अर्यः** सबका स्वामी **राजा** सम्राट् परमात्मा **नमोभिः** नमस्कारों द्वारा **सम् इन्धे** हृदय में भली भाँति प्रकाशित होता है, **यस्य** जिस परमात्मा का **प्रतीकम्** स्वरूप **घृतेन** तेज से **आहुतम्** व्याप्त है । **सबाधः** बाधाओं से आक्रान्त **नरः** मनुष्य **हव्येभिः** आत्म-समर्पण रूप हवियों से, उस परमात्मा की **ईडते** पूजा करते हैं । **अग्निः** वह परमात्मा **उषसाम्** उषाओं के **अग्रम्** आगे **आ अशोचि** उपासकों के हृदय में प्रदीप्त होता है । अभिप्राय यह है कि प्रभात काल में धारणा, ध्यान एवं समाधि के सुगम होने से हृदय में परमेश्वर के तेज का अनुभव सुलभ होता है ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । यज्ञाग्नि और परमेश्वराग्नि में उपमानोपमेयभाव व्यङ्ग्य है ॥८॥

---

१. समिन्धे सम्यक् दीप्यते इत्यर्थः—इति वि० । समिध्यते—इति भ०, सा० ।

भावार्थ—जैसे यज्ञवेदि में यज्ञाग्नि को हवियों से प्रदीप्त करते हैं, वैसे ही मनुष्यों को चाहिए कि हृदय में परमात्मा को नमस्कारों द्वारा प्रदीप्त करें ॥८॥

अथ सर्वत्र परमेश्वरस्यैव महिमानं पश्यति ।

७१. प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति ।
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥९॥[1]

प्र केतुना बृहता याति अग्निः । आ रोदसी इति वृषभः रोरवीति ॥
दिवः चित् अन्तात् उपमाम् उप माम् उत् आनट् ।
अपाम् उपस्थे उप स्थे महिषः ववर्ध ॥९॥

पदार्थः—**अग्निः** ज्योतिर्मयो जगन्नायकः परमेश्वरः **बृहता** महता **केतुना** ज्ञानराशिना सह । केतुः प्रज्ञानाम । निघं० ३।९ **प्रयाति** उपासकं प्राप्नोति । **रोदसी** द्यावापृथिव्यौ **आ** आव्याप्नोति । **वृषभः** सुखादीनां वर्षकः सः **रोरवीति** अतिशयेन पुनः पुनः उपदिशति । रु शब्दे, यङ्लुगन्तोऽयं प्रयोगः । **दिवः** द्युलोकस्य **चित्** अपि **अन्तात्** प्रान्तात् **उपमाम्** सूर्य इव प्रकाशकः, नक्षत्रवत् कान्तिमान्, ध्रुवतारकवद् अचलः, इत्यादिरूपेण औपम्यम् **उदानट्**[2] प्राप्नोति । आनट् व्याप्तिकर्मा । निघं० २।१४ उत् पूर्वात् अशूङ् व्याप्तौ, स्वादिः, लङि व्यत्ययेन परस्मैपदं श्नमागमश्च । **महिषः** महान् सः । महिषः इति महन्नाम । निघं० ३।३ **अपाम्** उदकानाम् **उपस्थे** उपस्थाने अन्तरिक्षलोकेऽपि **ववर्ध**[3] महिमानम् अधिगच्छति ॥९॥

अत्र 'याति, रोरवीति, उदानट्, ववर्ध' इत्यनेकक्रियाणाम् एककर्तृकारकसम्बन्धाद् दीपकालङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—एक एवाग्निर्यथा दिवि सूर्यरूपेण, गगने विद्युद्रूपेण, पृथिव्यां च वह्निरूपेण भासते तद्वदेकोऽपि परमेश्वरः सूर्ये, तारामण्डले, विद्युति, पर्जन्ये, वह्न्यादौ च सर्वत्र प्रकाशते ॥९॥

अब सर्वत्र परमेश्वर की महिमा का दर्शन करते हैं ।

पदार्थ—अग्निः ज्योतिर्मय जगन्नायक परमेश्वर **बृहता** विशाल **केतुना** ज्ञानराशि के साथ **प्रयाति** उपासक को प्राप्त होता है, **रोदसी** आकाश और भूमि में **आ** व्याप्त होता है । **वृषभः** सुख आदि को बरसाने वाला वह **रोरवीति** सबको बार-बार उपदेश करता है । वह **दिवः** द्युलोक के **चित्** भी **अन्तात्** प्रान्त से **उपमाम्** सूर्य के समान प्रकाशक, नक्षत्रों के समान कान्तिमान्, ध्रुव तारे के समान अचल इत्यादि रूप से उपमा को **उदानट्** प्राप्त करता है । **महिषः** महान् वह **अपाम्** जलों के **उपस्थे** स्थिति-स्थान अन्तरिक्ष में भी **ववर्ध** महिमा को प्राप्त किये हुए है ॥९॥

---

१. ऋ० १०।८।१ 'दिवश्चिदन्ताँ उपमाँ उदानळपामुपस्थे' इति पाठः । अ० १८।३।६५, ऋषिः अथर्वा, देवता यमः, 'यात्यग्नि' इत्यत्र 'भात्यग्नि' इति पाठः ।

२. उत् आनट् ऊर्ध्वं व्याप्नोति—इति वि० । उदाप्नोति, नशेर्व्याप्तिकर्मेणो रूपम् उदानडिति—भ० । अश्नोतेर्व्यत्ययेन परस्मैपदं, तिपो हल्ङ्यादिलोपः—इति सा० ।

३. छन्दसि वर्द्धनार्थो वृधु धातुः परस्मैपदेऽपि प्रयुज्यते, यथा 'वर्धति' ऋ० ८।१५।८, 'वर्धन्तु' ऋ० १।५।८, 'वर्धतम्' ऋ० ४।५०।११ इत्यादि ।

इस मन्त्र में 'याति, रोरवीति, उदानट्, ववर्ध' इन अनेक क्रियाओं का एक कर्ता-कारक से सम्बन्ध होने के कारण दीपक अलंकार है ॥९॥

भावार्थ—एक ही अग्नि जैसे द्युलोक में सूर्य-रूप में, अन्तरिक्ष में विद्युत्-रूप में और पृथिवी पर अग्नि के रूप में भासित होता है, वैसे ही एक ही परमात्मा सूर्य, तारा-मण्डल, बिजली, बादल, अग्नि आदि सब स्थानों में प्रकाशित होता है ॥९॥

अथ परमात्माग्निः सर्वैर्जनैर्हृदये प्रदीपनीय इत्याह ।

७२. अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम् ।
दूरेदृशं गृहपतिमथव्युम् ॥१०॥[1]

अग्निम् नरः दीधितिभिः अरण्योः । हस्तच्युतम् हस्त च्युतम् जनयत प्रशस्तम्
प्र शस्तम् ॥ दूरेदृशम् दूरे दृशम् गृहपतिम् गृह पतिम् अथव्युम् अ थव्युम् ॥१०॥

पदार्थः—**नरः**[2] उपासका जना यूयम् **हस्तच्युतम्** पाणिपादचक्षुःश्रोत्रादिरहितम् । हस्तशब्दः पादादीनामप्युपलक्षकः । **प्रशस्तम्** प्रशस्तियुक्तम्, **दूरेदृशम्** यो दूरे पश्यति स दूरेदृक् तं दूरदृश्वानम् । अत्र 'तत्पुरुषे कृति बहुलम् । अ० ६।३।१४' इति सप्तम्या अलुक् । **गृहपतिम्** ब्रह्माण्डगृहस्य शरीरगृहस्य वा पालकम्, **अथव्युम्**[3] यः थर्वति चलति स थर्व्युः । थर्वतिश्चरतिकर्मा । निरु० ११।१७ । छान्दसे रेफलोपे थर्व्युरेव थव्युः, न थव्युः अथव्युः सर्वव्यापकत्वादचलः स्थिरमतिर्वा तम् **अग्निम्** परमात्मरूपम् अग्निम् **दीधितिभिः** ध्यानक्रियारूपाभिः अङ्गुलीभिः । दीधितयः इत्यङ्गुलिनाम । निघं० २।५ । पक्षे दीधितयो ध्यानक्रियाः, ध्यै चिन्तायाम् । **अरण्योः** मनआत्मरूपयोः अरणिकाष्ठयोः मध्ये **जनयत** प्रकटयत ॥१०॥

श्लेषेण यज्ञाग्निपक्षेऽपि योजनीयम् ॥१०॥

यास्काचार्योऽस्य मन्त्रस्य ऋग्वेदीयं पाठमेवं व्याचष्टे—"दीधितयोऽङ्गुलयो भवन्ति, धीयन्ते कर्मसु । अरणी प्रत्युत एने अग्निः, समरणाज्जायत इति वा । हस्तच्युती हस्तप्रच्युत्या । जनयन्त प्रशस्तम्, दूरेदर्शनं, गृहपतिम् अतनवन्तम् ।" निरु० ५।९।४१ इति ॥१०॥

भावार्थः—अरणिमन्थनेन यथा यज्ञाग्निर्यज्ञवेद्यां प्रदीप्यते तथा ध्यानरूपेण मन्थनेन परमात्मा हृदि प्रकाशनीयः ॥१०॥

अत्र परमेश्वरस्य माहात्म्यवर्णनात्, तत्सपर्यार्थं, तज्ज्योतिःसाक्षात्कारार्थं, ध्यानरूपमन्थन-क्रियाभिस्तत्प्रकाशनार्थं च जनानां प्रेरणादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम् ॥

इति प्रथमे प्रपाठके द्वितीयेऽर्धे द्वितीया दशतिः ।

इति प्रथमेऽध्याये सप्तमः खण्डः ॥

---

१. ऋ० ७।१।१ 'हस्तच्युती जनयन्त', 'अमथर्युम्' इति पाठः ।

२. विवरणकारस्तु नर इति जनयत इति मध्यमपुरुषयोगात् आमन्त्रितान्तम् इत्याह। परम् आमन्त्रितनिघाताभावात् 'नरः' इति पदं सम्बोधनान्त न भवितुमर्हति । अत्र भरतस्वामी एवमाह—"अग्निं जनयत जनयन्ति नरः । लटः प्रथमपुरुष-बहुवचनस्य लोण्मध्यमपुरुषबहुवचनेन व्यत्ययः । हे नरः मनुष्या ऋत्विजः जनयत इति वा प्रार्थना । तस्मिन् पक्षे नरः इति पदस्य आद्युदात्तत्वं स्वरव्यत्ययात् । सर्वानुदात्तं हि प्राप्तम् 'आमन्त्रितस्य च । पा० ८।१।१९' इति । नरो नेतारो यूयम् इति वा कर्तृविशेषणम् ।"

३. थर्व्यतेर्गतिकर्मणः नञुपसृष्टात् लुप्तरेफात् अथव्युम् इति रूपसिद्धिः, अगम्यम्—इति भ० । थर्वतिर्गत्यर्थः । अगमनम् अतनवन्तं वा—इति सा० ।

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि परमात्मा रूप अग्नि को सब मनुष्य हृदयों में प्रदीप्त करें।

पदार्थ—नरः आप उपासक लोग **हस्तच्युतम्** हाथ, पैर, आँख, कान आदि से रहित, **प्रशस्तम्** प्रशस्तियुक्त, **दूरेदृशम्** दूरदर्शी, **गृहपतिम्** ब्रह्माण्ड-रूप अथवा शरीर-रूप घर के पालनकर्ता, **अथव्युम्** अचल, स्थिरमति **अग्निम्** परमात्मा-रूप अग्नि को **दीधितिभिः** ध्यानक्रिया रूप अंगुलियों से **अरण्योः** मन और आत्मा रूप अरणियों के मध्य में **जनयत** प्रकट करो ॥१०॥

इस मन्त्र में श्लेष से यज्ञाग्नि के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए ॥१०॥

भावार्थ—अरणियों को रगड़कर जैसे यज्ञवेदि में यज्ञाग्नि को प्रदीप्त करते हैं, वैसे ही ध्यान-रूप रगड़ से परमात्मा को हृदय में प्रकाशित करना चाहिए ॥१०॥

इस दशति में परमेश्वर का माहात्म्य वर्णित होने से, और उसकी पूजा के लिए, उसकी ज्योति का साक्षात्कार करने के लिए तथा ध्यान-रूप मन्थन-क्रियाओं से उसे प्रकाशित करने के लिए मनुष्यों को प्रेरित किये जाने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

प्रथम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त।
प्रथम अध्याय में सप्तम खण्ड समाप्त ॥

॥८॥ अथ 'अबोध्यग्निः' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ बुधगविष्ठिरौ;
२,५ वत्सप्रिः; ३ भरद्वाजः; ४,७ विश्वामित्रः; ६ वसिष्ठः;
८ पायुः ॥ देवता—१,२,४-८ अग्निः; ३ पूषा ॥
छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अथोषसि यज्ञाग्निपरमात्माग्न्योः समिन्धनविषयमाह।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
७३. अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सस्रते नाकमच्छ ॥१॥[1]
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
अबोधि अग्निः समिधा सम् इधा जनानाम्। प्रति धेनुम् इव आयतीम् आ यतीम्
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
उषासम् ॥ यह्वाः इव प्र वयाम् उज्जिहानाः उत् जिहानाः।
३ १ २ ३ १ २ १ २
प्र भानवः सस्रते नाकम् अच्छ ॥१॥

पदार्थः—धेनुम् इव दोग्ध्रीं गामिव **आयतीम्** आगच्छन्तीम् **उषासम् प्रति**[2] उषसम् अभिलक्ष्य, उषःकाले इत्यर्थः। उषासम् इत्यत्र 'अन्येषामपि दृश्यते। अ० ६।३।१३७' इति दीर्घः। **समिधा** इध्मेन, आत्मसमर्पणरूपेण समिद्धोमेन वा। आत्मा वा इध्मः। तै० सं० ३।२।१०।३। **अग्निः** यज्ञाग्निः परमात्माग्निर्वा **अबोधि** यज्ञवेद्यां हृदयवेद्यां वा प्रबुद्धो जातः। **वयाम्** शाखाम्। वयाः शाखाः वेतेः, वातायना भवन्ति। निरु० १।७। **प्र उज्जिहानाः**[3] प्रोद्गमयन्तः। ओहाङ् गतौ, शानच्। **यह्वाः**[4] **इव**

---

१. ऋ० ५।१।१, य० १५।२४ ऋषिः परमेष्ठी, साम १७४६, अ० १३।२।४६ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः।
२. उषासम् उषसं प्रति उदयकाले इत्यर्थः—इति वि०। उषःकाले—इति भ०, सा०।
३. प्रोज्जिहानाः प्रोद्गमयन्तः—इति भ०। प्रोद्गमयन्तो वृक्षा इव—इति सा०।
४. यह्वाः महान्त इव वृक्षाः—इति भ०। महान्तो वृक्षा इव—इति ऋ० ५।१।१ भाष्ये द०।

महान्तो वृक्षाः इव। यह्व इति महन्नाम। निघं० ३।३। **भानवः** यज्ञवह्नेः ज्वालाः, परमात्माग्नेः तेजोरश्मयो वा **नाकम् अच्छ** सूर्यं जीवात्मानं वा प्रति। नाक इति द्युलोकस्य सूर्यस्य च साधारणं नाम। निघं० १।४। **प्र सस्रते** प्रसरन्ति। प्र पूर्वात् सृ गतौ धातोर्लिटि प्रथमपुरुषबहुवचने रूपम्, व्यत्ययेनात्मनेपदम् ॥१॥[1]

अत्र यज्ञाग्निपरमात्माग्निरूपार्थद्वयप्रकाशनाच्छ्लेषालङ्कारः। 'धेनुमिव', 'यह्वा इव' इत्युभयत्र चोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—पयस्विन्यो धेनव इव प्रकाशपूर्णा उषस्ते नभसि भुवि च विकीर्णाः सन्ति। अस्मिन् शान्तिदायके प्रभाते यथाऽग्निहोत्रिणो यज्ञवेद्यां यज्ञाग्निं प्रदीपयन्ति, तथाऽध्यात्मयाजिनो हृदि परमात्मानं प्रबोधयन्ति। यथा विशालवृक्षाणां शिखरशाखा आकाशं प्रति गच्छन्ति तथा यज्ञवेद्यां प्रज्वलितस्य यज्ञाग्नेर्ज्वालाः सूर्यं प्रति, हृदि समुद्बुद्धस्य परमात्मनस्तेजांसि च जीवात्मानं प्रति प्रयान्ति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में उषाकाल में यज्ञाग्नि और परमात्माग्नि को समिद्ध करने का विषय है।

पदार्थ—**प्रथम** यज्ञाग्नि के पक्ष में। **धेनुम् इव** दुधारू गाय के समान **आयतीम्** आती हुई **उषासं प्रति** उषा के काल में **जनानाम्** यजमान-जनों के **समिधा** समिदाधान द्वारा **अग्निः** यज्ञाग्नि **अबोधि** यज्ञवेदि में प्रबुद्ध हुआ है। **वयाम्** शाखा को **उज्जिहानाः** ऊपर ले जाते हुए **यह्वाः इव** विशाल वृक्षों के समान **भानवः** यज्ञाग्नि की ज्वालाएँ **नाकम् अच्छ** सूर्य की ओर **प्र सस्रते** प्रसरण कर रही हैं।

द्वितीय परमात्माग्नि के पक्ष में। **धेनुम् इव** दुधारू गाय के समान **आयतीम्** आती हुई **उषासं प्रति** उषा के काल में **जनानाम्** उपासक जनों के **समिधा** आत्मसमर्पण रूप समिधाधान द्वारा **अग्निः** परमात्माग्नि **अबोधि** हृदय-वेदि में प्रबुद्ध हुआ है। **वयाम्** शाखा को **उज्जिहानाः** ऊपर ले जाते हुए **यह्वाः इव** विशाल वृक्षों के समान **भानवः** परमात्माग्नि के तेज **नाकम् अच्छ** जीवात्मा की ओर **प्र सस्रते** प्रसरण कर रहे हैं ॥१॥

इस मन्त्र में यज्ञाग्नि और परमात्माग्नि रूप दो अर्थों के प्रकाशित होने के कारण श्लेषालंकार है और 'धेनुम् इव', 'यह्वाः इव' में उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ—दूध से परिपूर्ण गायों के समान प्रकाश से परिपूर्ण उषाएँ आकाश और भूमि में बिखर गयी हैं। इस शान्तिदायक प्रभात में जैसे अग्निहोत्री लोग यज्ञवेदि में यज्ञाग्नि को प्रदीप्त करते हैं, वैसे ही अध्यात्मयाजी लोग हृदय में परमात्मा को प्रबुद्ध करते हैं। जैसे विशाल वृक्षों की चोटी की शाखाएँ आकाश की ओर जाती हैं, वैसे ही यज्ञवेदि में प्रज्वलित यज्ञाग्नि की ज्वालाएँ सूर्य की ओर और हृदय में जागे हुए परमात्मा के तेज जीवात्मा की ओर जाते हैं ॥१॥

अथ कीदृशः परमेश्वरः पूजनीयः, कीदृशः पुरुषश्च राजपदे स्थापनीय इत्याह।

७४. प्र भूजयन्तं महां विपोधां मूरेरमूरं पुरां दर्माणम्।
नयन्तं गोभिर्वना धियं धा हरिश्मश्रुं न वर्मणा धनर्चिम् ॥२॥[2]

प्र भूः जयन्तम् महाम् विपोधाम् विपः धाम्। मूरेः अमूरम् अ मूरम्
पुराम् दर्माणम् ॥ नयन्तम् गोभिः वना धियम् धाः।
हरिश्मश्रुम् हरि श्मश्रुम् न वर्मणा धनर्चिम् ॥२॥

१. दयानन्दर्षिमन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये उपदेश्योपदेशकविषये यजुर्भाष्ये चाग्निविद्याविषये व्याख्यातवान्।
२. ऋ० १०।४६।५ पूर्वार्धे 'मूरा अमूरं' इति, उत्तरार्धे च 'नयन्तो गर्भं वना धियं धुर्हरिश्मश्रुं नार्वाणं धनर्चम्' इति पाठः।

पदार्थः—हे मनुष्य ! त्वम् **प्र भूः**[1] समर्थः प्रकृष्टगुणो वा भव । प्र पूर्वाद् भवतेर्लोऽर्थे लुङ् । बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि । अ० ६।४।७५ इत्यडागमाभावः । किञ्च, **जयन्तम्** विजेतारम्, **महाम्** महान्तम् । मह शब्दाद् द्वितीयैकवचने महम् इति प्राप्ते 'सुपां सुलुक् । अ० ७।१।३९' इति पूर्वसवर्णदीर्घः । **विपोधाम्** विपसां मेधाविनां धर्तारम् । विपः इति मेधाविनामसु पठितम् । निघं० ३।१५ । **मूरैः**[2] मारयन्तीति मूराः घातुकाः तैरपि **अमूरम्** मारयितुमशक्यम्, **पुराम्** शत्रुनगरीणाम् **दर्म्माणम्** विदारयितारम् । दृ विदारणे 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते । अ० ३।२।७५' इति मनिन् । **गीर्भिः** स्तुतिवाग्भिः **वना**[3] वनं संभजनीयम् । वन सम्भक्तौ । वन्यते संभज्यते इति वनम् । ततो द्वितीयैकवचने 'सुपां, सुलुक्०' इति विभक्तेराकारादेशः । **धियम्** प्रज्ञां कर्म वा । धीः प्रज्ञानाम कर्मनाम च । निघं० ३।९, २।१ । **नयन्तम्** प्रापयन्तम्, **हरिश्मश्रुं न** हरि स्वर्णिमं श्मश्रु किरणकूर्चकं यस्य स हरिश्मश्रुः सूर्यः तमिव **वर्मणा** रक्षणेन हेतुना **धनर्चिम्**[4] धनभूतरोचिष्कम्, दीप्तिधनम् इत्यर्थः । धनम् अर्चिः रोचिः यस्य तम् । धनार्चिम् इति प्राप्ते शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् । **अग्निम्** परमात्मानम्, वीरपुरुषं वा **धाः** स्वहृदये धत्स्व, राजपदेषभिषिञ्च वा । डुधाञ् धातोर्लोऽर्थे लुङ्, अडागमाभावः ॥२॥

अत्रोपमार्थश्लेषश्चालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—सर्वैः प्रजाजनैः समर्थैर्गुणवद्भिश्च भूत्वा सकलरिपुविजेता, महामहिमोपेतः, कोविदानां सुहृद्, हिंस्रैरपि हिंसितुमशक्यो, रिपुदुर्गाणां विदारकः, स्तुतिभिः संभजनीयो, ज्ञानप्रदायकः, सत्कर्मसु प्रेरकः, सूर्यवद् रोचिष्णुः परमात्मा पूजनीयस्तादृशो वीरजनश्च राजपदे प्रतिष्ठापनीयः ॥२॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि कैसे परमात्मा की पूजा करनी चाहिए और कैसे पुरुष को राजा के पद पर बैठाना चाहिए ।

पदार्थ—हे मनुष्य ! तू **प्र भूः** समर्थ बन, प्रकृष्ट गुणों वाला हो । और, **जयन्तम्** विजेता, **महाम्** महान्, **विपोधाम्** बुद्धिमानों के सहायक, **मूरैः** मारने वालों से **अमूरम्** न मारे जा सकने वाले, **पुराम्** शत्रु-नगरियों के **दर्माणम्** विदारक, **गीर्भिः** स्तुति-वाणियों से **वना** भजने-योग्य, **धियम्** प्रज्ञा व कर्म को **नयन्तम्** प्राप्त कराने वाले, **हरिश्मश्रुं न** स्वर्णिम किरणों वाले सूर्य के समान **वर्मणा** रक्षा के हेतु से **धनर्चिम्** ज्योतिरूप धन वाले **अग्निम्** परमात्मा को **धाः** अपने हृदय में धारण कर, और उक्त गुणों वाले **अग्निम्** वीर पुरुष को **धाः** राजा के पद पर प्रतिष्ठित कर ॥२॥

इस मन्त्र में उपमा और अर्थश्लेष अलंकार हैं ।

भावार्थ—सब प्रजाजनों को चाहिए कि वे समर्थ और गुणवान् होकर सब शत्रुओं के विजेता, महामहिमाशाली, बुधजनों के मित्र, हिंसकों से भी हिंसा न किये जा सकने योग्य, शत्रु की किलेबन्दियों को तोड़ने वाले, स्तुतियों से सम्भजनीय, ज्ञानप्रदाता, सत्कर्मों में प्रेरित करने वाले, सूर्य के सदृश ज्योतिष्मान् परमात्मा को पूजें और उक्त गुणों वाले वीर पुरुष को राजा के पद पर प्रतिष्ठित करें ॥२॥

---

१. प्रभूः इत्याख्यातम्, अनुदात्तत्वात् पञ्चमलकारान्तम् । प्रभूः प्रगच्छ उपगच्छ अग्निं हे स्तोतः—इति भ० । प्रभूः स्तोतुं प्रभव समर्थो भव—इति सा० । विवरणकृन्मते तु भूः इति सुबन्तं पदम्, तत्र स्वरो न संगच्छते ।

२. मूर इति मूढनाम । मूढैरसुरैः सार्धम्, पुराम् आसुरीणाम्, दर्माणं दारयितारम् । अमूरम् अमूढम्—इति भ० ।

३. वना वननीयं संभजनीयम्—इति भ०, सा० ।

४. इकारान्तोऽपि अर्चिशब्दः वेदे बहुत्र प्रयज्यते । यथा—अर्चयः ऋ० १।३६।३, य० १२।१०६, अर्चिभिः ऋ० ५।७९।८, साम ३७, अथ० ८।३।२३ । 'धनर्चि धनेन अर्चितारं, धनस्य पूजयितारम्—इति वि० । धनं प्रीणनम् अर्चिः अर्चनं स्तोत्रं यस्य सः—इति भ० ।

अथ पूषा देवता। तन्नाम्ना परमात्मनो महिमानं वर्णयन् तं प्रार्थयते।

७५. शु॒क्रं ते॑ अन्यद्यज॒तं ते॑ अन्य॒द् विषु॑रूपे॒ अह॑नी॒ द्यौरि॑वासि।
वि॒श्वा हि माया॒ अव॑सि स्वधावन् भ॒द्रा ते॑ पूषन्नि॒ह रा॒तिर॑स्तु ॥३॥[1]

शु॒क्रम् ते॑ अन्यत् अ॒न् यत् यज॑तम् ते॑ अन्यत् अ॒न् यत्।
विषु॑रूपे॒ विषु॑ रूपेइति॒ अह॑नी॒ अ ह॒नी॒इति॒ द्यौः इ॒व॒ अ॒सि॒॥
वि॒श्वाः॒ हि मा॒याः॒ अव॑सि स्व॒धा॒व॒न् स्व धा॒व॒न्।
भ॒द्रा ते॑ पूषन् इ॒ह॒ रा॒तिः॒ अ॒स्तु॒॥३॥

पदार्थः—हे **पूषन्**[2] सर्वात्मना परिपुष्ट पुष्टिप्रद परमात्मन् ! **ते** तव, त्वद्रचितम् **अन्यत्** एकं, दिनम् इत्यर्थः **शुक्रम्** उज्ज्वलम् अस्ति, **ते** तव, त्वद्रचितम् **अन्यत्** एकं, रात्रिः इत्यर्थः **यजतम्**[3] यज्ञसम्बन्धि-धूमवत् कृष्णं वर्तते। एवम् त्वद्रचिते इमे **अहनी** अहोरात्रौ **विषुरूपे** विषमरूपे स्तः। त्वं स्वयं तु **द्यौः इव** सूर्य इव प्रकाशमानः **असि** वर्तसे। हे **स्वधावन्** सर्वेषां भोग्यपदार्थानां स्वामिन् ! स्वधा इति अन्ननाम। निघं० २।७। त्वम् **विश्वाः हि** सर्वाः एव **मायाः** बुद्धिकौशलपूर्णान् जगत्प्रपञ्चान् **अवसि** रक्षसि। **ते** तव **भद्रा** कल्याणदायिनी **रातिः** दत्तिः। रा दाने, 'मन्त्रे वृषेषपचमनभूवीरा उदात्तः। अ० ३।३।९६' इति क्तिन् स च उदात्तः। **इह** अस्माकं जीवने **अस्तु** अस्मान् प्राप्नोतु ॥३॥

अत्र स्वयं सूर्यवद् भास्वरोऽपि परमेश्वरः शुक्लकृष्णोभयरूपां सृष्टिं करोतीति कारणकार्ययोरांशिकगुणविरोधवर्णनाद् विषमालंकारः[4] ॥३॥

यास्काचार्य इमं मन्त्रमेवं व्याचष्टे—अथ यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति। शुक्रं ते अन्य-ल्लोहितं ते अन्यद्, यजतं ते अन्यद् यज्ञियं ते अन्यद्। विषमरूपे ते अहनी कर्म। द्यौरिव चासि। सर्वाणि प्रज्ञानान्यवसि, अन्नवन्। भाजनवती ते पूषन्निह दत्तिरस्तु, निरु० १२।१७।१० इति।

भावार्थः—येन परमात्मनाऽहोरात्रादिकं विलक्षणं वस्तुजातं रचितं, यश्च सर्वस्य जगत्प्रपञ्चस्य रक्षिताऽस्ति तदुपकारा अस्माभिः सदा स्मर्तव्याः ॥१३॥[5]

अगले मन्त्र का पूषा देवता है। पूषा नाम से परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए उससे प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **पूषन्** सब दृष्टियों से परिपुष्ट तथा पुष्टि देने वाले परमात्मन् ! **ते** आपका, आप द्वारा रचा हुआ **अन्यत्** एक अर्थात् दिन **शुक्रम्** सफेद है, **ते** आपकी रची हुई **अन्यत्** दूसरी अर्थात् रात्रि **यजतम्** यज्ञ-धूम के समान कृष्णवर्ण भी है। इस प्रकार आपके रचे हुए **अहनी** दिन-रात **विषुरूपे** विषम

---

१. ऋ० ६।५८।१

२. पुष्णातेः पुष्यतेः वा पूषा—इति भ०। पूषा यः स्वाभिव्याप्त्या सर्वान् प्रदार्थान् पोषयति स परमेश्वरः—इति ऋ० १।२३।१४ भाष्ये द०।

३. यजिरत्र सङ्गतिकरणे वर्तते, यजनीयं प्रकाशेन सङ्गमनीयं स्वतः कृष्णवर्णम् अन्यत् एकम् अहर्भवति रात्र्याख्यम्—इति सा०।

४. 'गुणौ क्रिये वा चेत् स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः' (सा० द० १०।६९) इति तल्लक्षणात्।

५. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं पोषणकर्तुर्मनुष्यस्य विषये व्याख्यातवान्।

रूप वाले हैं। किन्तु स्वयं आप **द्यौः इव** सूर्य के समान प्रकाशमान **असि** हैं। हे **स्वधावन्** सब भोग्य पदार्थों के स्वामिन्! आप **विश्वाः हि** सभी **मायाः** बुद्धिकौशलपूर्ण जगत्प्रपंचों की **अवसि** रक्षा करते हो। **ते** आपका **भद्रा** कल्याणकारी **रातिः** दान **इह** हमारे जीवन में **अस्तु** हमें प्राप्त हो ॥३॥

इस मन्त्र में स्वयं सूर्य के समान भास्वर भी परमेश्वर सफेद और काली दोनों रूपों वाली सृष्टि करता है, इसप्रकार कारण और कार्य के गुणों में आंशिक विरोध वर्णित होने से विषम अलंकार है ॥३॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने दिन-रात आदि विलक्षण वस्तुएँ बनायी हैं और जो सारे जगत्प्रपंच का रक्षक है, उसके उपकार हमें सदा स्मरण करने चाहिएँ ॥३॥

अथ परमात्मा प्रार्थ्यते।

७६. इडामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥४॥[1]

इडाम् अग्ने पुरुदꣳसम् पुरु दꣳसम् सनिम् गोः। शश्वत्तमम् हवमानाय साध॥
स्यात् नः सूनुः तनयः विजावा वि जावा।
अग्ने सा ते सुमतिः सु मतिः भूतु अस्मेइति ॥४॥

पदार्थः—हे **अग्ने** सर्वाग्रणीः परमात्मन्! त्वम् **हवमानाय** अग्निहोत्रम् आत्मसमर्पणं च कुर्वते मह्यम् **इडाम्** पृथिवीम् अन्नं प्रशस्तां वाचं वा। इडा पृथिवीनाम अन्ननाम, वाङ्नाम च। निघं० १।१, २।७, १।११। **गोः** धेनोः **पुरुदंसम्**[2] पुरुदंससम् बहुयज्ञकर्मसाधकम्। पुरु बहुनाम, दंसः कर्मनाम। निघं० ३।१, २।१। **सनिम्** पयोदधिनवनीतादिरूपं दानं च। सन्यते दीयते इति सनिः। षणु दाने इति धातोः 'खनिकष्य-ज्यसिवसिवनिसनि०। उ० ४।१४१ इति इः प्रत्ययः। **शश्वत्तमम्** निरन्तरम् **साध** साध्नुहि, देहि। साध संसिद्धौ, स्वादिः, अत्र विकरणव्यत्ययेन शः। **नः** अस्माकम् **सूनुः** पुत्रः **तनयः** वंशधनसुखकीर्त्यादि-विस्तारकः। तनु विस्तारे इति धातोः 'वलिमलितनिभ्यः कयन्। उ० ४।१००' इति कयन् प्रत्ययः। नित्यादाद्युदात्तत्त्वम्। **विजावा**[3] विजयशीलः विविधैश्वर्यजनको वा **स्यात्** भूयात्। हे **अग्ने** ज्योतिष्प्रद परमात्मन्! **सा** प्रसिद्धा **ते** तव **सुमतिः** अनुग्रहात्मिका बुद्धिः **अस्मे** अस्मभ्यम् **भूतु** भवतु। अत्र 'बहुलं छन्दसि'। अ० २।४।७३' इति शपो लुक् ॥४॥[4]

भावार्थः—हे परमपितः परमात्मन्! अग्निहोत्ररूपं देवयज्ञं, स्तुतिप्रार्थनोपासनासमर्पणरूपं ब्रह्मयज्ञं च कुर्वते मह्यं कृपया कृषिकरणाय साम्राज्याय वा पृथिवीम्, भोजनाय भोज्यमन्नादिकं, ज्ञान-प्रसाराय प्रशस्तां वाचं, शरीरपुष्टयै दानाय वा गव्यं पयोदधिघृतादिकं च प्रयच्छ। अस्माकं सन्तानं च कुलधनधर्मसुखसामर्थ्यन्यायकीर्तिचक्रवर्तिराज्यादीनां विस्तारकं सकलरिपुविजेतारं च कुर्याः ॥४॥

१. ऋ० ३।१।२३; ५।११; ६।११; ७।११; १५।७; २२।५; २३।५, य० १२।५१।
२. पुरुदंसं बहुकर्माणम्। दंसः कर्म, एकः सकारो लुप्तः—इति भ०।
३. विजावा विजयशीलः। अत्र जि धातोरौणादिको वन् प्रत्ययो बाहुलकाद् आकारादेशश्च—इति ऋ० ३।१५।७ भाष्ये, विजावा विविधैश्वर्यजनकः—इति च य० १२।५१ भाष्ये द०। विजावा विविधं जनयिता पुत्राणाम्—इति वि०। 'विजावा स्त्री, विजयते इति। छन्दसीवनिपौ वक्तव्यौ (वा० ५।२।१०९) इति मत्वर्थीयो वनिप्। भगिनी'—इति भ०। ते तव या सुमतिः शोभना बुद्धिः सा विजावा अवन्ध्या सती अस्मे अस्माकं भूतु भवतु—इति सा०।
४. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च विद्वत्पक्षे व्याख्यातः।

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **अग्ने** सबके अग्रनायक परमात्मन् ! आप **हवमानाय** अग्निहोत्र करनेवाले तथा आत्मसमर्पण-रूप हवि देनेवाले मेरे लिए **इडाम्** भूमि, अन्न और प्रशस्त वाणी तथा **गोः** गाय की **पुरुदंसम्** अनेको यज्ञकर्मों को सिद्ध करने वाली **सनिम्** दूध, दही, मक्खन आदि देनों को **शश्वत्तमम्** निरन्तर **साध** प्रदान करते रहिए। **नः** हमारा **सूनुः** पुत्र **तनयः** वंश, धन, सुख, कीर्ति आदि का विस्तार करने वाला, **विजावा** विजयशील और विविध ऐश्वर्यों का उत्पादक **स्यात्** होवे। हे **अग्ने** ज्योतिष्प्रदाता परमात्मन् ! **सा** वह प्रसिद्ध **ते** आपकी **सुमतिः** अनुग्रहात्मक बुद्धि **अस्मे** हमें **भूतु** प्राप्त होवे ॥

भावार्थ—हे परमपिता परमात्मन् ! अग्निहोत्र रूप देवयज्ञ को तथा स्तुति, प्रार्थना, उपासना, समर्पण रूप ब्रह्मयज्ञ को करने वाले मुझे कृपा कर कृषि एवं साम्राज्य के लिए भूमि, भोजन के लिए भोज्य अन्न आदि, ज्ञान-प्रसार के लिए प्रशस्त वाणी और शरीर की पुष्टि तथा दान के लिए गाय का दूध-दही-घी आदि प्रदान कीजिए। हमारी सन्तान को कुल, धन, धर्म, सुख, सामर्थ्य, न्याय, कीर्ति, चक्रवर्ती राज्य आदि का विस्तार करनेवाला और सब रिपुओं को जीतने वाला बनाइये ॥४॥

अथ परमात्मा कीदृशोऽस्तीति वर्ण्यते।

१९ २९ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
७७. प्र होता जातो महान्नभोविन्नृषद्मा सीददपां विवर्ते।
२ ३ २ ३ २ १९ २९ ३ १९ २९ ३ १ २ ३ २
दधद्यो धायी सुते वयांसि यन्ता वसूनि विधते तनूपाः ॥५॥[1]

२ १ २९ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
प्र होता जातः महान् नभोवित् नभः वित्।
३ १ २ ३ १ २९ ३ २ ३ ३ ३
नृषद्मा नृ सद्मा सीदत् अपाम् विवर्त्ते वि वर्त्ते।
१ २९ ३ २ ३ २ १ २९ ३ २ १ २९ ३ २ ३ २ ३ २
दधत् यः धायी सुते वयाꣳसि। यन्ता वसूनि विधते तनूपाः तनू पाः ॥५॥

पदार्थः—**महान्** महिमोपेतः, **नभोवित्** नभसि दिवि सूर्येऽन्तरिक्षे वा विद्यते यः सः परमात्माग्निः। नभः इति दिवः सूर्यस्य च साधारणनामसु पठितम्। निघं० १।४। नभः आदित्यो भवति इति निरुक्तम्। २।१४। अन्तरिक्षं वै नभांसि। तै० सं० ३।८।१८।१। **होता** अस्मभ्यं सर्वेषां सुखानां दाता **प्रजातः** सञ्जातोऽस्ति। **नृषद्मा**[2] नृषु मनुष्येषु सद्म गृहं यस्य सः, मनुष्येषु कृतनिवासः असौ **अपाम्**[3] नदीनाम् **विवर्ते** आवर्तेऽपि **सीदत्** निषीदति। षद्लृ धातोश्छन्दसि लडर्थे लङ्, अडागमाभावः। **धायी** जगद्धारणकर्ता **यः** परमात्माग्निः **सुते** उत्पन्ने जगति **वयांसि**[4] भोग्यपदार्थान्। वयः इत्यन्ननाम। निघं० २।७। **दधत्** दधाति। दध धारणे भ्वादिः, लेटि रूपम्। **वसूनि** नक्षत्रग्रहोपग्रहादीनि लोकलोकान्तराणि **यन्ता** नियमे प्रवर्तयिता स एव **विधते**[5] परिचरते जनाय। विधतिः परिचर्याकर्मा। निघं० ३।५। ततः शतरि चतुर्थ्येकवचने रूपम्। **तनूपाः** स्थूलसूक्ष्मकारणशरीराणां रक्षको भवति ॥५॥

---

१. ऋ० १०।४६।१ 'नृषद्मा' इत्यत्र 'नृषद्वा' इति, तृतीये पादे च 'दधिर्यो धायि स ते वयांसि' इति पाठः।

२. नृषद्मा नृषु सीदन्, सदेर्मनिन्, नित्स्वरः—इति सा०।

३. आपो यत्र विविधं वर्तन्ते सोऽपां विवर्तः अन्तरिक्षलोकः, तस्मिन्नित्यर्थः—इति वि०।

४. वयांसि अन्नानि वसूनि धनानि च। षष्ठ्यर्थे द्वितीयाव्यत्ययः। वयसां वसूनां च यन्ता भवति—इति भ०।

५ विवरणकृद्भरतस्वामिनोर्मते तु 'विधते' इति तिङन्तं पदम्। विधते परिचरति—इति वि०। विधते धत्ताम्, पञ्चमलकारान्तं, 'लेटोऽडाटौ। पा० ३।४।९४' इति अट्—इति भ०, तत्तु चिन्त्यं, स्वरविरोधात्। विधते परिचरते ते तुभ्यम्—इति सा०।

अत्र 'नभोवित् अपि नृषद्मा, नृषद्मा अपि अपां विवर्ते स्थितः' इति विरोधालङ्कारो ध्वन्यते। परमेश्वराग्नेः सर्वव्यापित्वाद् विरोधपरिहारः ॥५॥

भावार्थः—परमेश्वरो नभस्यपि पृथिव्यामपि, मनुष्येष्वपि पशुपक्ष्यादिष्वपि, मेघेष्वपि सूर्यकिरणेष्वपि पर्वतेष्वपि सरितां प्रवाहेष्वपि नक्षत्रेष्वपि ग्रहोपग्रहेष्वपि सर्वत्रैव विद्यमानः सन् विश्वं सञ्चालयति ॥५॥

अगले मन्त्र में परमात्मा कैसा है, यह वर्णित है।

पदार्थ—महान् महान्, **नभोवित्** द्युलोक, सूर्य तथा अन्तरिक्ष में विद्यमान परमात्मा-रूप अग्नि **होता** हमारे लिए सब सुखों का दाता **प्र जातः** हुआ है। **नृषद्मा** मनुष्यों के अन्दर निवास करने वाला वह **अपाम्** नदियों के **विवर्ते** भँवर में भी **सीदत्** स्थित है। **धायी** जगत् को धारण करने वाला **यः** जो परमात्मा-रूप अग्नि **सुते** उत्पन्न जगत् में **वयांसि** भोग्य पदार्थों को स्थापित करता है, **वसूनि** नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह आदि लोकलोकान्तरों को **यन्ता** नियम में रखनेवाला वही **विधते** पूजा करने वाले मनुष्य के लिए **तनूपाः** स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों का रक्षक होता है ॥५॥

इस मन्त्र में 'नभ में विद्यमान होता हुआ भी मनुष्यों में विद्यमान है, मनुष्यों में विद्यमान होता हुआ भी नदियों के भँवर में विद्यमान है'—इस प्रकार विरोधालंकार ध्वनित हो रहा है। परमेश्वराग्नि के सर्वव्यापी होने से विरोध का परिहार हो जाता है ॥५॥

भावार्थ—परमेश्वर गगन में भी, पृथिवी में भी; मनुष्यों में भी, पशु-पक्षी आदिकों में भी; बादलों में भी, सूर्यकिरणों में भी; पर्वतों में भी, नदियों के प्रवाहों में भी; नक्षत्रों में भी, ग्रहोपग्रहों में भी—सभी जगह विद्यमान होता हुआ विश्व का संचालन कर रहा है ॥५॥

अथ परमात्मनः कर्माणि वन्दनीयानीत्याह।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
७८. प्र सम्राजमसुरस्य प्रशस्तं पुंसः कृष्टीनामनुमाद्यस्य।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि वन्दद्वारा वन्दमाना विवष्टु ॥६॥[1]

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
प्र सम्राजम् सम् राजम् असुरस्य अ सुरस्य प्रशस्तम् प्र शस्तम्।
२ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
पुंसः कृष्टीनाम् अनुमाद्यस्य अनु माद्यस्य ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
इन्द्रस्य इव प्र तवसः कृतानि। वन्दद्वारा वन्दमाना विवष्टु ॥६॥

पदार्थः—हे सखायः! यूयम् **असुरस्य**[2] दोषाणां प्रक्षेपकस्य प्राणप्रदस्य वा। असु क्षेपणे धातोः 'असेरुरन्। उ० १।४२' इत्युरन्। यद्वा असून् प्राणान् राति ददातीत्यसुरः। असु पूर्वाद् रा दाने धातोः 'आतोऽनुपसर्गे कः। अ० ३।२।३' इति कः प्रत्ययः। **पुंसः** पौरुषवतः, **कृष्टीनाम्** मनुष्याणाम्। कृष्टय इति मनुष्यनाम, कर्मवन्तो भवन्ति विकृष्टदेहा वा। निरु० १०।२२। **अनुमाद्यस्य** अनुहर्षितुं योग्यस्य, प्रसादनीयस्य। अनु पूर्वाद् मदी हर्षे धातोर्ण्यत्। अग्नेः ज्योतिष्प्रदस्य नेतुः परमात्मनः **प्रशस्तम्** कीर्तियुक्तम् **सम्राजम्** साम्राज्यम्। अत्र सं पूर्वाद् राजृ दीप्तौ धातोर्भावे क्विप्। **प्र** प्रकर्षेण स्तुत। उपसर्गश्रुतेर्योग्य-

---

१. ऋ० ७।६।१, देवता वैश्वानरः। 'प्र सम्राजो असुरस्य प्रशस्तिं', 'वन्दे दारुं वन्दमानो विवक्मि'—इति प्रथमतुरीयपादयोः पाठः।

२. 'अ-सुरस्य' इति पदपाठश्चिन्त्यः, वेदेषु सुरशब्दस्य क्वचिदपि प्रयोगाभावात्।

क्रियाध्याहारः। किञ्च, **वन्दमाना** स्तुवन्ती नारी अपि **इन्द्रस्य इव** सूर्यस्य इव। अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः। श० ८।५।३।२ इत्यादिप्रामाण्याद् इन्द्रः सूर्यः। **तवसः** महतः तस्य परमात्मनः। तवसः इति महन्नामसु पठितम्। निघं० ३।३। **कृतानि** यशोमयानि कर्माणि **वन्दद्वारा**[1] वन्दनाद्वारेण **प्र विवष्टु** प्रकर्षेण गातुं कामयताम्। वश कान्तौ अदादिः, कान्तिरिच्छा। 'बहुलं छन्दसि। अ० २।४।७६' इति शपः श्लौ द्वित्वे रूपम् ॥६॥[2]

अत्रोपमालङ्कारः ॥६॥

भावार्थः—सर्वैर्नरैः सर्वाभिर्नारीभिश्च दोषाणामपहर्तुः प्राणप्रदस्य बलवतः परमेश्वरस्य वन्दना सदा कार्या तद्गुणाश्च ग्राह्याः ॥६॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के कर्म वन्दनीय हैं, यह वर्णन है।

पदार्थ—हे मित्रो ! तुम **असुरस्य** दोषनाशक, प्राणप्रदाता, **पुंसः** पौरुषवान्, **कृष्टीनाम्** मनुष्यों के **अनुमाद्यस्य** प्रसादनीय अग्निनामक प्रकाशप्रदाता नेता परमात्मा के **प्रशस्तम्** कीर्तियुक्त **सम्राजम्** साम्राज्य की **प्र** प्रकृष्ट रूप से स्तुति करो। **वन्दमाना** वन्दनाशील नारी भी **इन्द्रस्य इव** सूर्य के समान **तवसः** महान् उस परमात्मा के **कृतानि** यशोमय कर्मों को **वन्दद्वारा** वन्दना द्वारा **प्र विवष्टु** भली भाँति गाने की इच्छा करे ॥६॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥६॥

भावार्थ—सब नर-नारियों को दोषापहारक, प्राणप्रद, बलवान् परमेश्वर की वन्दना सदा करनी चाहिए और उसके गुणों को ग्रहण करना चाहिए ॥६॥

अथ सर्वत्राव्यक्ततया स्थितः परमात्माग्निः प्रकाशनीय इत्याह।

७९. अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भइवेत् सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥७॥[3]

अरण्योः निहितः नि हितः जातवेदाः जात वेदाः।
गर्भः इव इत् सुभृतः सु भृतः गर्भिणीभिः ॥
दिवेदिवे दिवे दिवे ईड्यः जागृवद्भिः। हविष्मद्भिः मनुष्येभिः अग्निः ॥७॥

पदार्थः—**जातवेदाः** जातं वेत्ति यः स सर्वज्ञः परमात्माग्निः **अरण्योः** अरणीवद् विद्यमानयोर्जीवात्मप्रकृत्योः, जीवात्मशरीरयोः, द्यावापृथिव्योः, बुद्धिमनसोर्वा **निहितः** स्थितोऽस्ति। **गर्भिणीभिः** गर्भयुक्ताभिः स्त्रीभिः **गर्भः इव** यथा गर्भस्तथा **इत्** एव **सुभृतः** ताभ्यां सुष्ठु धारितोऽस्ति। सः **अग्निः** परमात्मा **जागृवद्भिः**[4] जागरूकैः **हविष्मद्भिः** आत्ममनोबुद्धिप्राणादिकं हविष्कृत्वा समर्पणशीलैः **मनुष्येभिः** अध्यात्म-

---

१. विवरणकारस्य तु 'वन्दद् वारा' इति पदपाठोऽभिमतः। प्रवन्दत् प्रकर्षेण स्तौति, वारा, द्वितीयैकवचनस्य स्थाने आकारः, वारं वरणीयम् इत्यादि तद्व्याख्यानम्। भरतस्वामी तु 'वन्दद्वारा वन्दद्वाराणि वन्दमाना वन्दमानानि' इति व्याचष्टे। सायणोऽपि 'वन्दनं वन्दः स्तुतिः, तद्द्वाराणि स्तुतिप्रमुखानि वन्दमाना सर्वैः स्तूयमानानि कृतानि कर्माणि, इत्याह।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं राजपक्षे व्याख्यातः।

३. ऋ० ३।२९।२ 'गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु' इति पाठः।

४. जागृ निद्राक्षये इत्यस्माद्धातोः लिटः क्वसौ जागृवानिति रूपसिद्धिः—इति भ०।

याजिभिर्जनैः। मनुष्यैरिति प्राप्ते 'बहुलं छन्दसि' अ० ७।१।१० इति भिस ऐसाभावः। **ईड्यः** अर्चनीयोऽस्ति ॥७॥

अत्रोपमालङ्कारः। 'गर्भ-गर्भि', 'दिवे-दिवे' इत्यत्र छेकानुप्रासः ॥७॥

भावार्थः—यथा गर्भिणीषु सुगूढतया गर्भः स्थितो भवति तथैव परमात्माग्निः सर्वेषु पदार्थेष्वव्यक्ततया विद्यमानोऽस्ति। यथा गर्भे बहिरागते सम्बन्धिजनाः पुत्र-पुत्रीजन्मोत्सवं रचयन्ति, पुत्रं पुत्रीं च लालयन्ति तथैव प्रच्छन्नतया सर्वत्र स्थितं परमात्माग्निं स्वसंमुखे व्यक्तीकृत्याध्यात्मिकैर्जनैर्महोत्सवः करणीयः परमात्माग्निश्चात्मसमर्पणरूपेण हविर्दानेन पूजनीयः ॥७॥

सर्वत्र अव्यक्तरूप में स्थित परमात्माग्नि को प्रकाशित करना चाहिए, यह अगले मन्त्र में वर्णन है।

पदार्थ—जातवेदाः प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ को जानने वाला परमात्मा **अरण्योः** अरणियों के तुल्य विद्यमान जीवात्मा-प्रकृति, जीवात्मा-शरीर, द्युलोक-पृथिवीलोक और बुद्धि-मन में **निहितः** स्थित है। **गर्भिणीभिः** गर्भिणी स्त्रियों द्वारा **गर्भ इव** जैसे गर्भ धारण किया जाता है, **इत्** वैसे ही, वह **सुभृतः** उनके द्वारा सम्यक् प्रकार से धारण किया हुआ है। **अग्निः** वह परमात्मा **जागृवद्भिः** जागरूक **हविष्मद्भिः** आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण आदि को हवि बनाकर समर्पित करने वाले **मनुष्येभिः** अध्यात्मयाजी मनुष्यों द्वारा **ईड्यः** पूजा करने योग्य है ॥७॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। गर्भ-गर्भि, दिवे-दिवे में छेकानुप्रास है ॥७॥

भावार्थ—जैसे गर्भिणियों में प्रच्छन्न-रूप से गर्भ स्थित होता है, वैसे ही परमात्मा-रूप अग्नि सब पदार्थों में प्रच्छन्नरूप से विद्यमान है। जैसे गर्भ के बाहर आने पर सम्बन्धी जन पुत्र-पुत्री के जन्म का उत्सव रचाते हैं, और पुत्र-पुत्री का लालन-पालन करते हैं, वैसे ही गुह्यरूप से सर्वत्र स्थित परमात्मा-रूप अग्नि को अपने सम्मुख प्रकट करके आध्यात्मिक जनों को महोत्सव मनाना चाहिए और परमात्माग्नि की आत्मसमर्पण-रूप हवि देकर पूजा करनी चाहिए ॥७॥

अथ परमात्मा राजा च राक्षससंहाराय प्रार्थ्यते।

८०. सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
अनु दह सहमूरान् कयादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥८॥[1]

सनात् अग्ने मृणसि यातुधानान् यातु धानान्। न त्वा रक्षाꣳसि पृतनासु जिग्युः ॥
अनु दह सहमूरान् सह मूरान् कयादः कय अदः।
मा ते हेत्याः मुक्षत दैव्यायाः ॥८॥

पदार्थः—हे **अग्ने** अग्रणीः परमात्मन् शत्रूच्छेदक राजन् वा! त्वम् **सनात्** चिरकालात्। सनादिति चिरम् इत्यर्थे व्याख्यातो निरुक्ते १२।३४। **यातुधानान्**[2] यातनाधायकान् घातपातहिंसोपद्रवादीन् दोषान् दुष्टजनान् वा **मृणसि** मर्दयसि, विनाशयसि। मृण हिंसायाम्, तुदादिः। **रक्षांसि** कामक्रोध-

१. ऋ० १०।८७।१६, देवता अग्नी रक्षोहा, 'कयादो' इत्यत्र 'क्रव्यादो'—इति पाठः। अथ० ५।२९।११,८।३।१८, उभयत्र 'सहमूराननु दह क्रव्यादो' इति तृतीयः पादः।

२. याति हिंसाकर्मा। यातुर्हिंसा। यातोर्निधानभूता इति यातुं विदधति इति वा यातुधानाः—इति भ०।

लोभादयो वञ्चकलुण्ठकतस्करादयो वा राक्षसाः **त्वा** त्वाम् **पृतनासु** आभ्यन्तरेषु बाह्येषु च देवासुर-संग्रामेषु। पृतनेति संग्रामनाम। निघं० २।१७। **न जिग्युः** न जेतुं शक्नुवन्ति। जि जये, लडर्थे लिट्। सन् लिटोर्जेः। अ० ७।३।५७ इति कुत्वम्। त्वम् **कयादः**[1] कं सुखं यातयन्ति विनाशयन्तीति तान् दुर्विचारान् दुष्टजनान् वा। कम् इति सुखनाम। निरु० २।१४। यातयतिः हिंसाकर्मा। निघं० २।१९। **सहमूरान्**[2] समूलान्। रलयोरभेदः। **अनुदह** अनुक्रमेण भस्मसात् कुरु। ते दुष्टभावा दुष्टजनाश्च **ते** तव **दैव्यायाः** देवेभ्यो विद्वद्भ्यो हिता दैव्या तस्याः। देवशब्दाद् हितार्थे 'देवाद् यञौ' अ० ४।१।८५ वा० इति यञ् प्रत्ययः। **हेत्याः**[3] दण्डशक्तेः शस्त्रास्त्रसमूहाच्च। हेतिः वज्रनाम। निघं० २।२०। **मा मुक्षत** मुक्ता मा भूवन्। मुचोऽकर्मकस्य लुङि, अडभावे, प्रथमबहुवचने रूपम् ॥८॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः, वीरो रसः।

भावार्थः—हे धर्मपालक विधर्मविध्वंसक सद्गुणप्रसारक जगदीश्वर राजन् वा! तव प्रशंसका वयं यदा यदा मानसे बाह्ये वा देवासुरसंग्रामे कामक्रोधलोभमोहादिभिर्वञ्चक-लुण्ठक-हिंसक-तस्कर-मद्यप-व्यभिचारक-भ्रष्टाचारकप्रभृतिभिर्दुष्टजनैश्च पीड्यामहे तदा तदाऽस्माकं सहायको भूत्वा तान् समूल-घातं हत्वाऽस्मान् रक्ष। दुर्जनानां च यदि हृदयपरिवर्तनं संभवेत् तदा तेषां राक्षसत्वं विनाश्य तान् शुद्धान्तःकरणान् कुरु, येन जगति सज्जनानां वृद्ध्या सर्वत्र सुखसौहार्दधारा प्रवहेत् ॥८॥

अत्र परमात्माग्नेर्जागरणवर्णनाद्, अग्नि-पूषन्-जातवेदोनामभिः परमात्मगुणवर्णनात्, तत्क्रिय-माणराक्षसविनाशवर्णनाद्, मनुष्याणां तत्पूजार्थं प्रेरणाच्चैतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्ति।

इति प्रथमे प्रपाठके द्वितीयार्धे तृतीया दशतिः।

इति प्रथमेऽध्यायेऽष्टमः खण्डः॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा से राक्षस-संहार की प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **अग्ने** अग्रणी परमात्मन्! अथवा शत्रुसंहारक राजन्! आप **सनात्** चिरकाल से **यातुधानान्** पीड़ादायक, घात-पात, हिंसा, उपद्रव आदि दोषों को और दुष्टजनों को **मृणसि** विनष्ट करते आये हो। **रक्षांसि** काम-क्रोध-लोभ आदि और ठग-लुटेरे-चोर आदि राक्षस **त्वा** आपको **पृतनासु** आन्तरिक और बाह्य देवासुर-संग्रामों में **न जिग्युः** नहीं जीत पाते। आप **कयादः** सुख-नाशक दुर्विचारों तथा दुष्टजनों को **सहमूरान्** समूल **अनुदह** एक-एक करके भस्म कर दीजिए। **ते** वे दुष्टभाव और दुष्टजन **ते** आपके **दैव्यायाः** विद्वज्जनों का हित करने वाले **हेत्याः** दण्डशक्तिरूप वज्र से एवं शस्त्रास्त्रों से **मा मुक्षत** न छूट सकें ॥८॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है, वीर रस है ॥८॥

भावार्थ—हे धर्मपालक, विधर्मविध्वंसक, सद्गुणप्रसारक जगदीश्वर वा राजन्! आपके प्रशंसक हम जब-जब मानसिक या बाह्य देवासुर-संग्राम में काम-क्रोध-लोभ-मोह आदिकों से और ठग-लुटेरे-हिंसक-चोर-शराबी-व्यभिचारी-भ्रष्टाचारी आदि दुष्टजनों से पीड़ित हों, तब-तब आप हमारे सहायक होकर उन्हें जड़-समेत नष्ट करके हमारी रक्षा कीजिए। दुर्जनों का यदि हृदय-परिवर्तन सम्भव हो तो

---

१. कयादः। क्रव्यशब्दस्य रेफवकारयोश्छन्दसि वर्णलोपेन कय इत्येतद् भवति। कयं ये अदन्ति ते कयादः क्रव्यादाः। मांसस्य भक्षयितॄनित्यर्थः—इति वि०। तदेव भरतसायणयोरभिमतम्।

२. सहमूरान् सहभूतान् मूढान्, मूर्खानित्यर्थः—इति वि०। मूढेन सहितान्—इति भ०।

३. हन्तेः हिनोतेर्वा हेतिः—इति भ०।

उनका राक्षसत्व नष्ट करके उन्हें शुद्ध अन्तःकरण वाला कर दीजिए, जिससे संसार में सज्जनों की वृद्धि से सर्वत्र सुख और सौहार्द की धारा प्रवाहित हो ॥८॥

इस दशति में परमात्माग्नि को जागृत करने का, अग्नि, पूषन् और जातवेदस् नामों से परमात्मा के गुणों का और उसके द्वारा किये जाने वाले राक्षस-विनाश का वर्णन होने से तथा मनुष्यों को परमात्मा की पूजा की प्रेरणा किये जाने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

प्रथम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की तृतीय दशति समाप्त।
प्रथम अध्याय में अष्टम खण्ड समाप्त॥

॥९॥ अथ 'अग्न ओजिष्ठ' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ गय आत्रेयः, २ वामदेवः, ३,४ भरद्वाजः, ५ मृक्तवाहा द्वितः, ६ वसूयवोऽत्रयः, ७, ९ गोपवनः, ८ पूरुरात्रेयः, १० वामदेवः, कश्यपो वा मारीचः, मनुर्वा वैवस्वतः, उभौ वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

अथाग्निनाम्ना परमेश्वरो नृपतिराचार्यश्च प्रार्थ्यते।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
८१. अग्न ओजिष्ठमा भर द्युम्नमस्मभ्यमध्रिगो।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
प्र नो राये पनीयसे रत्सि वाजाय पन्थाम् ॥१॥[1]
१ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३
अग्ने ओजिष्ठम् आ भर। द्युम्नम् अस्मभ्यम् अध्रिगो अध्रि गो।
२ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
प्र नः राये पनीयसे। रत्सि वाजाय पन्थाम् ॥१॥

पदार्थः—हे **अध्रिगो** अप्रतिहतगमन, अप्रतिहततेजस्क वा। अधि अधृतम् अनवरुद्धं यथा स्यात्तथा गच्छतीति अध्रिगुः। 'अध्रिगो अधृतगमन' इति निरुक्तम्। ५।१०। यद्वा, अध्रयः अधृता गावः तेजः-किरणा यस्य सः। तत्संबुद्धौ अध्रिगो इति। **अग्ने** अग्रनेतः परमात्मन् राजन् आचार्य वा! त्वम् **अस्मभ्यम्** अस्माकं कृते **ओजिष्ठम्** अतिशयेन ओजोयुक्तम्, अतिप्रबलम् **द्युम्नम्**[2] यशस्तेजोऽन्नं वा। द्युम्नं द्योततेः, यशो वाऽन्नं वा'। निरु० ५।५। **आभर** आहर। **नः** अस्मभ्यम् **पनीयसे** अतिशयस्तुत्याय। पण व्यवहारे स्तुतौ च। अतिशायने ईयसुन् प्रत्ययः। **राये** ऐहिकपारमार्थिकधनाय, **वाजाय** शारीरिकाध्यात्मिक-बलाय च **पन्थाम्** पन्थानम् मार्गम् **प्र रत्सि**[3] प्र रद, प्रकृष्टतया विलिख, सज्जीकुरु। रद विलेखने, भ्वादिः। लोटि 'बहुलं छन्दसि' अ० २।४।७३ इति शपो लुक्। सेर्हिकारादेशाभावश्छान्दसः।[4] ॥१॥

अत्र श्लेषालङ्कारः॥१॥

भावार्थ—परमात्मवन्नृपतिर्विद्वानाचार्यश्च तं सन्मार्गमस्मानुपदिशेद् यमनुसरन्तो वयं प्रबलां जगद्व्यापिनीं कीर्तिम्, अनतिक्रमणीयां श्लाघ्यां दीप्तिं, सकलान् भोज्यपदार्थान्, सुवर्णरजतहीरकमुक्ता-

---

१. ऋ० ५।१०।१ 'प्र नो राया परीणसा' इति तृतीयः पादः।
२. यशो धनं वा—इति ऋ० ५।१०।१ भाष्ये द०।
३. रत्सि। लडयं लोडर्थे द्रष्टव्यः। राहि। प्रकर्षेण देहीत्यर्थः—इति वि०। प्रकर्षेण विलिख, रदिर्विलेखनकर्मा। कुरु इत्यर्थः—इति भ०।
४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं विद्वत्पक्षे व्याख्यातः।

मणि-धेनु-पुत्र-पौत्र-रथ-प्रासाद-शस्त्रास्त्र-विद्याधर्मारोग्यचक्रवर्तिराज्यमोक्षादिस्वरूपं विविधं धनं, दैहिकमात्मिकं च बलं स्वपुरुषार्थेन तदनुग्रहेण च प्राप्नुयाम ॥१॥

प्रथम मन्त्र में अग्नि नाम से परमेश्वर, राजा और आचार्य से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **अद्रिगो** बेरोक गतिवाले और अप्रविरुद्ध तेज वाले **अग्ने** अग्रनेता परमात्मन् राजन् और आचार्य ! आप **अस्मभ्यम्** हमारे लिए **ओजिष्ठम्** अतिशय ओजयुक्त, अतिप्रबल **द्युम्नम्** यश, तेज और अन्न **आ भर** प्रदान कीजिए। **नः** हमारे लिए **पनीयसे** अतिशय प्रशंसा के योग्य **राये** ऐहिक एवं पारमार्थिक धन की प्राप्ति के लिए और **वाजाय** शारीरिक एवं आध्यात्मिक बल की प्राप्ति के लिए **पन्थाम्** मार्ग को **प्र रत्सि** तैयार कीजिए ॥१॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ।

भावार्थ—परमात्मा, राजा और विद्वान् आचार्य हमें उस सन्मार्ग का उपदेश करें, जिस पर चलते हुए हम प्रबल जगद्व्यापिनी कीर्ति को, अनतिक्रमणीय श्लाघ्य दीप्ति को, सकल भोज्य पदार्थों को, सोना-चाँदी-हीरे-मोती-मणि-गाय-पुत्र-पौत्र-रथ-महल - शस्त्रास्त्र-विद्या-धर्म-आरोग्य - चक्रवर्तीराज्य-मोक्ष आदि रूप वाले अनेक प्रकार के धन को और शारीरिक तथा आत्मिक बल को अपने पुरुषार्थ से व उनके अनुग्रह से प्राप्त कर लें ॥१॥

अथास्माकं सन्तानः कीदृशो भवेदिति प्रार्थ्यते ।

८२. यदि॑ वी॒रो अनु॑ ष्या॒दग्नि॑मिन्धीत॒ मर्त्यः॑ ।
आजु॑ह्वद्ध॒व्यमा॑नुषक् शर्म॑ भक्षीत दै॒व्यम् ॥२॥
यदि॑ वी॒रः अनु॑ स्यात् । अग्नि॑म् इन्धीत॒ मर्त्यः॑ ॥
आजु॑ह्वत् आ जु॑ह्वत् ह॒व्यम् आ॑नुषक् अनु॑ सक् । शर्म॑ भक्षीत दै॒व्यम् ॥२॥[1]

पदार्थः—**यदि** चेद् **वीरः** पुत्रः **अनु** अनुव्रतः, वेदानुकूलव्रतः **स्यात्** भवेत्, **मर्त्यः** मरणधर्मा सः **अग्निम्** यज्ञाग्निं राष्ट्रियताया अग्निम्, परमात्माग्निं च **इन्धीत** प्रदीपयेत् । इन्धी दीप्तौ, लिङि रूपम् । **आनुषक्** निरन्तरम्, नैत्यिककर्त्तव्यरूपेण **हव्यम्** अग्नौ सुगन्धिमिष्टपुष्टचारोग्यवर्द्धकं हविः, राजनि राजदेयकररूपं हविः, परमात्मनि च मनोबुद्धिप्राणादीनां हविः **आजुह्वत्** समर्पयेत् । आङ्पूर्वाद् हु दानादनयोः धातोः लेटि रूपम् । तर्हि **दैव्यम्** देवेन यज्ञाग्निना, राज्ञा, परमात्मना वा कृतम् । कृतार्थे देवाद् ययञौ अ० ४।१।८५ वा० सूत्रेण यञ् प्रत्ययः । **शर्म** सुखम् । शर्म सुखनाम । निघं० ३।६ । **भक्षीत** सेवेत । भज सेवायाम्, लिङः सीयुटि, 'बहुलं छन्दसि' अ० २।४।७३ इति शपो लुकि रूपम् ॥२॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—अस्माकं पुत्राः पुत्र्यश्च स्वमरणधर्मतां विचार्य यदि वेदानुकूलाचारं स्वीकृत्य नित्यं यज्ञाग्नौ घृतकस्तूरीकेसरादिकं हविः, राजादौ राजदेयकररूपं हविः, परमात्माग्नौ च स्वात्ममनोबुद्धिप्राणेन्द्रियादीनां हविर्जुहुयुस्तदा तैः सकलमभ्युदयनिःश्रेयसरूपं सुखं भोक्तुं शक्यते ॥२॥

---

१. ऋग्वेदे शाकलीये पदपाठे सर्वत्रावग्रहरहितो दीर्घादिश्च 'आनुषक्' इत्येव पाठ उपलभ्यते । अनुपूर्वात् सचतेर्दीर्घश्छान्दसः । 'आनुषगिति नाम आनुपूर्व्यस्य, अनुषक्तं भवति' इति निरुक्तम् ६।१४ ।

अगले मन्त्र में यह प्रार्थना की गयी है कि हमारी सन्तान कैसी हो।

पदार्थ—**यदि** यदि **वीरः** पुत्र **अनु** वेदानुकूल व्रतों वाला **स्यात्** हो, **मर्त्यः** मरणधर्मा वह **अग्निम्** यज्ञाग्नि को, राष्ट्रीयता की अग्नि को और परमात्माग्नि को **इन्धीत** अपने अन्दर प्रदीप्त किया करे, और **आनुषक्** निरन्तर नैत्यिक कर्त्तव्य के रूप में **हव्यम्** यज्ञाग्नि के प्रति सुगन्धित-मधुर-पुष्टिवर्धक और आरोग्य-वर्धक हवि को, राजा के प्रति राजदेय कर रूप हवि को तथा परमात्मा के प्रति मन-बुद्धि-प्राण आदि की हवि को **आजुह्वत्** समर्पित करता रहे तो वह **दैव्यम्** प्रकाशक यज्ञाग्नि, राजा वा परमात्मा से प्रदत्त **शर्म** सुख को **भक्षीत** सेवन कर सकता है ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ—हमारे पुत्र और पुत्रियाँ अपनी मरणधर्मता को विचारकर यदि वेदानुकूल आचरण रखकर नित्य यज्ञाग्नि में घी-कस्तूरी-केसर आदि हवि, राजाग्नि में राजदेय कर रूप हवि, और परमात्माग्नि में अपने आत्मा-अग्नि-बुद्धि-प्राण-इन्द्रिय आदि की हवि होमें, तो वे समस्त अभ्युदय और निःश्रेयस-रूप सुख को भोग सकते हैं ॥२॥

अथ परमात्माग्नेः प्रतापः प्रभावश्च वर्ण्यते।

८३. त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिवि सञ्छुक्र आततः।
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥३॥[1]

त्वेषः ते धूमः ऋण्वति। दिवि सन् शुक्रः आततः आ ततः॥
सूरः न हि द्युता त्वम्। कृपा पावक रोचसे ॥३॥

पदार्थः—हे परमात्माग्ने ! **ते** तव **त्वेषः** दीप्तः। त्विष दीप्तौ। **धूमः** धूमवत् प्रसरणशीलः शत्रुप्रकम्पकः प्रभावः। धूनोति कम्पयतीति धूमः। धूञ् कम्पने धातोः 'इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक्' उ० १।१४५ इति मक् प्रत्ययः। **ऋण्वति** सर्वत्र गच्छति, प्रसरति। ऋण्वति गतिकर्मा। निघं० २।४। यः **दिवि** आत्माकाशे **आततः** विस्तीर्णः **सन्** भवन् **शुक्रः** शुद्धिकरः जायते। शुचिर पूतीभावे धातोर्णिजन्ता-दौणादिको रन् प्रत्ययः (उ० २।२९)। हे **पावक** शुद्धिकर्तः परमात्मन् ! **द्युता** दीप्त्या। अत्र द्युत् दीप्तौ इत्यस्मात् क्विप् प्रत्ययः। **सूरः न** सूर्यः इव **हि** निश्चयेन **त्वम् कृपा** प्रभावसामर्थ्येन। कृपू सामर्थ्ये धातोः निष्पन्नस्य कृप् शब्दस्य तृतीयैकवचने रूपम्। **रोचसे** आरोचमानो भवसि ॥३॥[2]

अत्रोपमालङ्कारः। श्लेषेण यज्ञाग्निपक्षेऽप्यर्थो योज्यः ॥३॥

भावार्थः—यथा यज्ञाग्नेर्ज्वालाजालजटिलः प्रदीप्तः सुगन्धिर्धूम आकाशे प्रसृतः सन् शुद्धिकरो रोग-हरश्च जायते, तथैव परमात्मनः प्रभावो मनुष्यस्यात्मनि हृदये च प्रसृतः सन्नज्ञानादिदोषप्रकम्पकः शोधकश्च भवति। अपि च यथा सूर्यः स्वकीयेन तेजसा द्योतते तथा परमात्माग्निः स्वप्रभावसामर्थ्येन रोचते ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के प्रताप और प्रभाव का वर्णन किया किया गया है।

पदार्थ—हे परमात्मारूप अग्नि ! **ते** आपका **त्वेषः** दीप्त **धूमः** धुएँ के समान प्रसरणशील शत्रु-प्रकम्पक प्रभाव **ऋण्वति** सर्वत्र पहुँचता है, जो **दिवि** आत्माकाश **में आततः** विस्तीर्ण **सन्** होता हुआ **शुक्रः**

१. ऋ० ६।२।६, 'संञ्छुक्र' इत्यत्र 'षञ्छुक्र' इति पाठः। अथ० १८।४।५९, ऋषिः अथर्वा, देवता यमः, 'त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि षंच्छुक्र आततः' इति पूर्वार्द्धपाठः।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं भौतिकाग्निविद्याविषये व्याख्यातः।

शुद्धिकारी होता है। हे **पावक** शुद्धिकर्ता परमात्मन् ! **द्युता** दीप्ति से **सूरः न** जैसे सूर्य चमकता है वैसे **हि** निश्चय ही **त्वम्** आप **कृपा** अपने प्रभाव के सामर्थ्य से **रोचसे** रोचमान हो ॥३॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। श्लेष से यज्ञाग्नि के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए ॥३॥

भावार्थ—जैसे यज्ञाग्नि का ज्वालाओं से जटिल, प्रदीप्त, सुगन्धित धुआँ आकाश में फैलकर शुद्धिकर्ता और रोगहर्ता होता है, वैसे ही परमात्मा का प्रभाव मनुष्य के आत्मा और हृदय में फैलकर अज्ञान आदि दोषों को कँपाने वाला और शोधक होता है। साथ ही जैसे सूर्य अपने तेज से चमकता है, वैसे परमात्माग्नि अपने प्रभाव-सामर्थ्य से चमकता है ॥३॥

अथ परमात्मगुणान् वर्णयन्नाह।

८४. त्वं हि क्षैतवद् यशोऽग्ने मित्रो न पत्यसे।
त्वं विचर्षणे श्रवो वसो पुष्टिं न पुष्यसि ॥४॥[1]

त्वम् हि क्षैतवत् यशः। अग्ने मित्रः मि त्रः न पत्यसे ॥
त्वम् विचर्षणे वि चर्षणे श्रवः। वसो पुष्टिम् न पुष्यसि ॥४॥

पदार्थः—हे **अग्ने** परमात्मन् ! **त्वम्** जगदीश्वरः **हि** निश्चयेन **क्षैतवत्**[2] राजा इव। क्षितेः ईश्वरः क्षैतः राजा, तेन तुल्यम्। क्षितिशब्दात् ईश्वरार्थे अण्, ततः क्षैतशब्दात् 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः। अ० ५।१।११५' इति तुल्यार्थे वतिः प्रत्ययः। **मित्रः न** सूर्यः इव च **यशः** कीर्तिम् **पत्यसे**[3] पतित्वेन अधितिष्ठसि। पत्यते ऐश्वर्यकर्मा। निघं० २।२१। हे **विचर्षणे** सर्वद्रष्टः ! विचर्षणिरिति पश्यतिकर्मसु पठितम्। निघं० ३।११। हे **वसो** निवासक, सर्वव्यापिन् परब्रह्म ! वासयतीति वसुः, वस निवासे। यद्वा वस्ते आच्छादयति स्वव्याप्त्या सर्वमिति वसुः, वस आच्छादने। **त्वम् पुष्टिं न** यथा शारीरिकीमाध्यात्मिकीं च पुष्टिं प्रयच्छसि तथा अस्मभ्यम् **श्रवः** कीर्तिमपि। श्रवः श्रवणीयं यशः। निरु० ११।९। **पुष्यसि** पुष्णासि प्रयच्छसीत्यर्थः ॥४॥[4]

अत्रोपमालङ्कारः। 'क्षैतवत्, मित्रः न, पुष्टिं न' इति तिस्र उपमाः ॥४॥

भावार्थः—यथा राजा राष्ट्रसञ्चालकत्वेन, सूर्यश्च पृथिव्यादिग्रहोपग्रहाणां सञ्चालकत्वेन यशसा प्रथितोऽस्ति, तथैव परमेश्वरो जडचेतनब्रह्माण्डसञ्चालकत्वेन जगद्व्यापिनीं परां कीर्तिं भजते, प्रार्थिनो मनुष्याँश्चापि कीर्तिभाजः करोति ॥४॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के गुणों का वर्णन किया गया है।

पदार्थ—हे **अग्ने** परमात्मन् ! **त्वम्** आप **हि** निश्चय ही **क्षैतवत्** राजा के समान, और **मित्रः न** सूर्य के समान **यशः** यश के **पत्यसे** स्वामी हो। हे **विचर्षणे** सर्वद्रष्टा, **वसो** निवासक सर्वव्यापी परब्रह्म !

---

१. ऋ० ६।२।१

२. क्षैतवत्। क्षितिः पृथिवी, तस्यां भवं क्षैतम्। अथवा क्षि निवासगत्योरित्येतस्येदं रूपम्। क्षितिर्निवासः, तस्य क्षैतम्। किं पुनस्तत् ? गृहम्। तद् यस्यास्ति स क्षैतवान्। किं पुनस्तत् ? उच्यते—यशः कीर्तिः। गृहं च कीर्तिं चेत्यर्थः—इति वि०। क्षितिरेव क्षैतं निवासः, तद्युक्तम् यशोऽन्नम्—इति भ०। क्षितिः क्षयोऽपचयः, तत्सम्बन्धि क्षैतं शुष्ककाष्ठम्, तद्युक्तं यशः अन्नं हविर्लक्षणम्—इति सा०।

३. पत्यसे। पत्यतिर्यद्यप्यन्यत्र ऐश्वर्यकर्मा तथापीह दानार्थो द्रष्टव्यः, ददासि—इति वि०। पत्यतिरैश्वर्यकर्मा। ईशिषे—इति भ०।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं विद्वत्पक्षे व्याख्यातः।

त्वम् आप **पुष्टि न** जैसे शारीरिक और आत्मिक पुष्टि को देते हो, वैसे ही हमें **श्रवः** कीर्ति को भी **पुष्यसि** देते हो ॥४॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। "क्षैतवत्, मित्रः न, पुष्टि न' ये तीन उपमाएँ हैं ॥४॥

भावार्थ—जैसे राजा राष्ट्र का संचालक होने से और सूर्य पृथिवी आदि ग्रहोपग्रहों का संचालक होने से यश से प्रख्यात होता है, वैसे ही परमेश्वर जड़-चेतन ब्रह्माण्ड का संचालक होने से जगद्व्यापिनी परम कीर्ति को प्राप्त किये हुए है और वह प्रार्थी मनुष्यों को भी कीर्ति प्रदान करता है ॥४॥

अथ परमात्मनोऽतिथिवदुपकारित्वमाह ।

८५. प्रातरग्निः पुरुप्रियो विश स्तवेतातिथिः ।
विश्वे यस्मिन्नमर्त्ये हव्यं मर्तास इन्धते ॥५॥[1]
प्रातः अग्निः पुरुप्रियः पुरु प्रियः । विशः स्तवेत अतिथिः ॥
विश्वे यस्मिन् अमर्त्ये अ मर्त्ये । हव्यम् मर्तासः इन्धते ॥५॥

पदार्थः—**प्रातः** प्रभाते **पुरुप्रियः** बहुप्रियः । पुरु इति बहुनाम । निघं० ३।१ । **अतिथिः** अतिथिवत् पूज्यः सन्मार्गप्रदर्शकश्च **अग्निः** अग्रणीः परमेश्वरः **विशः** अध्यात्मयाजिनीः प्रजाः **स्तवेत** स्तुयात्, साधु युष्माभिः क्रियते इति साधुवादं प्रयच्छेत्, यथायोग्यं समुपदिशेद् वा । ष्टुञ् स्तुतौ धातोरदादेर्भ्वादिसदृशान्यपि रूपाणि वेदेषु बाहुल्येन दृश्यन्ते, तेन शपो लुगभावे लिङि रूपम् । **अमर्त्ये** अमरणशीले **यस्मिन्** परमात्माग्नौ **विश्वे** सर्वे **मर्तासः** मरणधर्माणो मनुष्याः **हव्यम्** स्वकीयम् आत्मरूपं हविः **इन्धते** हुत्वा प्रदीपयन्ति ॥५॥[2]

भावार्थः—यथा गृहागतं विद्वांसमतिथिं ये जना देयवस्तुभिः सत्कुर्वन्ति तान् स वेदादिशास्त्राण्युपदिशति, तथैवातिथिवत् पूज्यं परमात्मानं प्रति ये जनाः श्रद्धयाऽत्मसमर्पणं कुर्वन्ति तेभ्यः साधुवादम् आशीर्वादं च प्रयच्छन्नसौ तान् सन्मार्गमुपदिशति ॥५॥

अगले मन्त्र में परमात्मा का अतिथि के समान उपकारक होना वर्णित है ।

पदार्थ—**प्रातः** प्रभातकाल में **पुरुप्रियः** बहुत प्यारा **अतिथिः** अतिथि के समान पूज्य तथा सन्मार्गप्रदर्शक **अग्निः** अग्रणी परमेश्वर **विशः** अध्यात्म-यज्ञ में संलग्न प्रजाओं को **स्तवेत** यथायोग्य साधुवाद दे तथा उपदेश देता रहे, **यस्मिन्** जिस **अमर्त्ये** अमर परमात्माग्नि में **विश्वे** सब **मर्तासः** मरणधर्मा उपासक मनुष्य **हव्यम्** अपनी आत्मारूप हवि को **इन्धते** समर्पित करके प्रदीप्त करते हैं ॥५॥

भावार्थ—जैसे घर में आये विद्वान् अतिथि का जो लोग प्रदान करने योग्य वस्तुओं से सत्कार करते हैं, उन्हें वह वेदादि शास्त्रों का उपदेश करता है, वैसे ही अतिथि के तुल्य परमात्मा को जो लोग श्रद्धा से आत्मसमर्पण करते हैं उन्हें वह साधुवाद और आशीर्वाद देता हुआ सन्मार्ग का उपदेश करता है ॥५॥

---

१. ऋ० ५।१८।१, 'विश्वानि यो अमर्त्यो हव्या मर्तेषु रण्यति' इत्युत्तरार्द्धपाठः ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रस्यास्य ऋग्वेदीयः पाठो विद्वदतिथिपक्षे व्याख्यातः ।

परमात्मने हृद्यं स्तोत्रमर्पणीयमित्युच्यते ।

८६. यद् वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो ।
महिषीव त्वद् रयिस्त्वद् वाजा उदीरते ॥६॥[1]

यत् बाहिष्ठम् तत् अग्नये । बृहत् अर्च विभावसो विभा वसो ॥
महिषी इव त्वत् रयिः । त्वत् वाजाः उत् ईरते ॥६॥

पदार्थः—**यत्** स्तोत्रम् **वाहिष्ठम्** वोढृतमम्, अतिशयेन सहृदयगतभक्तिभावस्य प्रापकम् भवेत् **तत्** स्तोत्रम् **अग्नये** तेजःस्वरूपाय परमात्मने, देयमिति शेषः । तदनुसारम् हे **विभावसो** दीप्तिधन जीवात्मन् ! त्वं परमात्मानम् **बृहत्** बहु **अर्च** पूजय । हे परमात्मन् **त्वत्** तव सकाशात् **महिषी**[2] **इव** महती भूमिरिव । महिष इति महन्नाम । निघं० ३।३, ततः स्त्रियां महिषी । भूरिति महिषी । तै० ब्रा० ३।९।४।५ । **रयिः** सर्वं धनम्, **त्वत्** तव सकाशात् **वाजाः** अन्नानि बलानि च **उदीरते** उद्गच्छन्ति, उत्पद्यन्ते । उत् पूर्वः ईर गतौ कम्पने च, ततः लटि प्रथमपुरुषबहुचने रूपम् ॥६॥[3]

अत्रोपमालङ्कारः । यथा महती पृथिवी त्वद् उदीर्ते, तथा त्वद् रयिर्वाजाश्च उदीरते इति भावः ॥६॥

भावार्थः—यथा परमात्मनाऽस्माकमुपकाराय भूमी रचिता, तथैव निखिलं धनधान्यादिकं बलपराक्रमसद्गुणादिकं चाप्यस्मभ्यं प्रदत्तमस्ति । अतो हार्दिकेन भक्तिभावेन स सर्वैर्वन्दनीयः ॥६॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि परमात्मा को हृदय से निकला हुआ स्तोत्र ही अर्पित करना चाहिए ।

पदार्थ—**यत्** जो स्तोत्र **वाहिष्ठम्** हृदयगत भक्तिभाव का अतिशय वाहक हो **तत्** वही **अग्नये** तेजःस्वरूप परमात्मा के लिए, देय होता है । तदनुसार, हे **विभावसो** तेजोधन जीवात्मन् ! तू उस परमात्मा की **बृहत्** बहुत **अर्च** पूजा कर । हे परमात्मन् ! **त्वत्** आपके पास से **महिषी इव** महती भूमि के समान **रयिः** समस्त धन तथा **त्वत्** आपके पास से **वाजाः** अन्न और बल **उदीरते** उत्पन्न होते हैं ॥६॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है । जैसे विशाल पृथिवी तुझसे उत्पन्न होती है, वैसे ही तुझसे 'रयि' और 'वाज' भी उत्पन्न होते हैं, यह भाव है ॥६॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा ने हमारे उपकार के लिए भूमि रची है, वैसे ही सब धन-धान्य आदि और बल-पराक्रम, सद्गुण आदि भी हमें दिए हैं । इसलिए हार्दिक भक्तिभाव से उसकी वन्दना करनी चाहिए ॥६॥

अथ परमात्मातिथेरर्चनमाह ।

८७. विशोविशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम् ।
अग्निं वो दुर्यं वचः स्तुषे शूषस्य मन्मभिः ॥७॥[4]

---

१. ऋ० ५।२५।७। य० २६।१२, ऋषिः नोधा गोतमः ।
२. महिषी, महिषशब्दो महन्नाम । महती रयिः धनम्, त्वत्तः उदीरते उद्गच्छति । इवेति पूरणः—इति भ० ।
३. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च विद्वत्पक्षे व्याख्यातवान् ।
४. ऋ० ८।७४।१, साम० १५६४ ।

विशोविशः विशः विशः वः अतिथिम् । वाजयन्तः पुरुप्रियम् पुरु प्रियम् ॥
अग्निम् वः दुर्यम् दुः यम् वचः । स्तुषे शूषस्य मन्मभिः ॥७॥

पदार्थः—हे जनाः ! **वः**[1] यूयम् **विशः विशः** मनुष्यस्य मनुष्यस्य । विश इति मनुष्यनाम । निघं० २।३ । **अतिथिम्** अतिथिम् इव इति लुप्तोपमम्, अतिथिवत् पूज्यम् इत्यर्थः, **पुरुप्रियम्** अतिशयस्नेहास्पदम् अग्निं परमेश्वरम् **वाजयन्तः** अर्चन्तः, भवत इति शेषः । वाजयति अर्चतिकर्मा । निघं० ३।१४ । **दुर्यम्** गृहम्, गृहवत् शरणभूतम् । दुर्याः इति गृहनामसु पठितम् । निघं० ३।४ । **अग्निम्** तम् अग्रनायकं परमेश्वरम् **वः** युष्माकम् **वचः** स्तुतिवचनं, प्राप्नोतु इति शेषः । अहमपि तं जगदीश्वरम् **शूषस्य मन्मभिः**[2] बलस्य सुखस्य वा स्तोत्रैः, सबलैः सुखजनकैर्वा स्तोत्रैरित्यर्थः । शूषम् इति बलनाम सुखनाम च । निघं० २।९, ३।६ । मन्मभिः मननीयैः स्तोमैः इति निरुक्तम् १०।५ । **स्तुषे** स्तौमि । ष्टुञ् धातोर्लेटि उत्तमैकवचने रूपम् ॥७॥

भावार्थः—सर्वेषां हृदयेऽतिथिरूपेण विराजमानो भक्तवत्सलः परमेश्वरः सर्वैरेव जनैः स्तुतिवचोभिरभिनन्दनीयः ॥७॥

अगले मन्त्र में परमात्मा-रूप अतिथि की अर्चना का वर्णन है ।

पदार्थ—हे मनुष्यो ! **वः** तुम **विशः विशः** प्रत्येक मनुष्य के **अतिथिम्** अतिथि के समान पूज्य, **पुरुप्रियम्** बहुत प्रिय परमेश्वर रूप अग्नि की **वाजयन्तः** अर्चना करो । **दुर्यम्** घर के समान शरणभूत **अग्निम्** उस अग्रनायक जगदीश्वर को **वः** तुम्हारा **वचः** स्तुति-वचन, प्राप्त हो । मैं भी उस जगदीश्वर की **शूषस्य मन्मभिः** बल और सुख के स्तोत्रों से—अर्थात् सबल और सुखजनक स्तोत्रों से **स्तुषे** स्तुति करता हूँ ॥७॥

भावार्थ—सबके हृदय में अतिथि-रूप से विराजमान भक्तवत्सल परमेश्वर का सब मनुष्यों को स्तुतिवचनों से अभिनन्दन करना चाहिए ॥७॥

अथ परमात्माग्नेरर्चनाय मानवं प्रेरयन्नाह ।

८८. **बृहद् वयो हि भानवेऽर्चा देवायाग्नये ।**
यं मित्रं न प्रशस्तये मर्तासो दधिरे पुरः ॥८॥[3]

बृहत् वयः हि भानवे अर्च देवाय अग्नये । यम् मित्रम् मि त्रम्
न प्रशस्तये प्र शस्तये । मर्तासः दधिरे पुरः ॥८॥

पदार्थः—हे मानव ! त्वम् **भानवे** आदित्यवद् भासमानाय, **देवाय** दिव्यगुणकर्मयुक्ताय **अग्नये**

---

१. वः, बहुवचनमिदमेकवचनस्य स्थाने द्रष्टव्यम्, त्वाम्—इति वि० । वः यूयम्—इति भ०, सा० ।

२. शूषस्य बलस्य मन्मभिः स्तुतिभिः, बलसम्बन्धिनीभिः स्तुतिभिरित्यर्थः—इति वि० । शूषस्य शूषाय सुखार्थम्—इति भ० । शूषस्य सुखस्य लाभाय—इति सा० ।

३. ऋ० ५।१६।१, 'प्रशस्तये' इत्यत्र 'प्रशस्तिभिर्' इति पाठः ।

परमात्मने **बृहत्** दीर्घम् **वयः** आयुः **अर्च**[1] समर्पय, **यम्** परमात्मानम् **मित्रं न** सखायम् इव **प्रशस्तये** प्रशस्त-जीवनाय **मर्तासः** उपासकाः मनुष्याः **पुरः** पुरस्तात् **दधिरे** स्थापयन्ति। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' अ० ३।४।६ इति सूत्रेण वेदे वर्तमानाद्यर्थेऽपि लिटः प्रयोगः सम्मतः ॥८॥[2]

अत्र 'मित्रं न' इत्युपमालङ्कारः ॥८॥

भावार्थः—ये जगन्नेतारः सुज्ञाः सदाचरणप्रिया महान्तो जना भवन्ति ते सदैव परमात्मानं पुरतो निधाय ततः सत्प्रेरणां च प्राप्य सर्वाणि कार्याणि कुर्वन्ति, तेन तेषां प्रशस्तिः ख्यातिश्च सर्वत्र प्रसरति। तथैव हे नरा नार्यश्च ! युष्माभिरपि स्वकीयं सर्वमायुर्दिव्यगुणकर्मयुक्ताय ज्योतिष्मते परमात्मने समर्प्य तत्प्रेरणया कर्त्तव्येषु कर्मसु मतिं कृत्वा लोके प्रशस्तिः प्राप्तव्या ॥८॥

अगले मन्त्र में मनुष्य को परमात्माग्नि की अर्चना के लिए प्रेरित किया गया है।

पदार्थ—हे मनुष्य ! तू **भानवे** आदित्य के समान भास्वर, **देवाय** दिव्य गुण-कर्मों से युक्त **अग्नये** परमात्मा के लिए **बृहत्** बड़ी **वयः** आयु को **अर्च** समर्पित कर, **यम्** जिस परमात्मा को **मित्रं न** मित्र के समान **प्रशस्तये** प्रशस्त जीवन के लिए **मर्तासः** उपासक मनुष्य **पुरः** सम्मुख **दधिरे** स्थापित करते हैं ॥८॥

इस मन्त्र में 'मित्रं न' में उपमालङ्कार है ॥८॥

भावार्थ—जो जगत् के नेता, उत्कृष्ट ज्ञानी, सदाचार-प्रेमी महान् लोग होते हैं वे सदा ही परमात्मा को संमुख रखकर और उससे शुभ प्रेरणा प्राप्त करके सब कार्य करते हैं, जिससे उनकी प्रशस्ति और ख्याति सब जगह फैल जाती है। वैसे ही हे नर-नारियो ! तुम्हें भी चाहिए कि अपनी सम्पूर्ण आयु दिव्य गुण-कर्मों वाले, ज्योतिष्मान् परमात्मा को समर्पित करके उसकी प्रेरणा से कर्त्तव्य कर्मों में बुद्धि लगाकर संसार में प्रशस्ति प्राप्त करो ॥८॥

अथ परमात्मगुणानाह।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २
८९. अगन्म बृत्रहन्तमं ज्येष्ठमाग्निमानवम्।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यः स्म श्रुतवन्नाक्षे बृहदनीक इध्यते ॥९॥[3]
१ २ १ ३ १ २ ३ १ २ १ १ २ १ ३ २ १ २ १
अगन्म बृत्रहन्तमम् बृत्र हन्तमम्। ज्येष्ठम् अग्निम् आनवम्॥
३ १ २ ३ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
यः स्म श्रुतवन् आक्षे। बृहदनीकः बृहत् अनीकः इध्यते ॥९॥

पदार्थः—वयम् **बृत्रहन्तमम्**[4] अतिशयेन पापहन्तारम्। पाप्मा वै वृत्रः। श० ११।१।५।७, **ज्येष्ठम्** अतिशयेन प्रशस्यं वृद्धं वा। अतिशायनार्थे इष्ठनि 'ज्य च' अ० ५।३।६१, 'वृद्धस्य च' अ० ५।३।६२ इति सूत्राभ्यां क्रमेण प्रशस्यस्य वृद्धस्य च ज्यादेशः। **आनवम्**[5] अनुभ्यो मनुष्येभ्यो हितस्तम्। अनुरिति मनुष्य-

१. अर्च प्रयच्छ—इति भ० सा०। बृहत् महत् वयः अन्नम् अर्च पूजय, संस्कुरु इत्यर्थः—इति वि०। बृहत् महत् वयः प्रदीपकं तेजः यथा स्यात् तथा हि अर्च पूजय—इति ऋ० ५।१६।१ भाष्ये द०।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिनाऽस्मिन् मन्त्रे विद्युद्विषयः प्रतिपादितः।

३. ऋ० ८।७४।४, 'यस्य श्रुतर्वा बृहन्नाक्षो अनीक एधते' इत्युत्तरार्द्धपाठः।

४. बृत्रहन्तमं शत्रूणां हन्तारम्—इति वि०। अतिशयेन तमोहन्तारम्—इति भ०। पापानामतिशयेन हन्तारम्—इति सा०।

५. अनुर्मनुष्यः तस्यापत्यम्। मनुष्येण हि मन्थनेन अग्निर्जन्यते—इति वि०। अनवो मनुष्याः तेभ्यः हितम्—इति भ०। मनुष्यसम्बन्धिनम्, तेषां हितकारिणम्—इति सा०

नाम । निघं० २।३। **अग्निम्** तेजस्विनं परमेश्वरम् **अगन्म** प्राप्ताः स्मः । **यः स्म** यः खलु **श्रुतर्वन्**[1] श्रुताः ख्याता अर्वाणः किरणरूपा अश्वा यस्य स श्रुतर्वा, तस्मिन् श्रुतर्वणि ज्योतिर्मये सूर्ये । श्रुतर्वन् इत्यत्र सुपां सुलुक्' अ० ७।१।३९ इति सप्तम्या लुक् । 'श्रुत-अर्वन्' अत्र च 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' अ० ६।१। ९४ वा० इति पररूपम् । तथा **आर्क्षे**[2] ऋक्षाणि नक्षत्राणि, तेषां समूह आर्क्षम्, तस्मिन् तारकपुञ्जे । ऋषन्ति गच्छन्त्याकाशे तानि ऋक्षाणि नक्षत्राणि । ऋष धातोः 'स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित्' उ० ३।६६ इति स प्रत्ययः । तेषां समूहः आर्क्षम् । **बृहदनीकः**[3] महातेजाः सन् **इध्यते** दीप्यते, भासते । तथा चोपनिषद्-वर्णः "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" कठ० ५।१५ इति ।

भावार्थः—प्रचण्डदीप्तिमति सूर्ये, तारामण्डले, सर्वस्मिन्नेव ब्रह्माण्डे यस्य कर्तृत्वं, यत्प्रदत्ता शक्तिः, यत्कृतं च तेजो द्योतते, यः पापानां हन्ता, मनुष्याणां हितकर्ता, प्रशस्यतमः पुराणपुरुषो वर्वर्ति स सर्वैर्नमसा वन्दनीयः प्राप्तव्य उपासनीयश्च ॥९॥

अत्र श्रुतर्वा नाम राजा, स च ऋक्षस्य पुत्रः, तस्मिन् आर्क्षे श्रुतर्वणि अग्निः इध्यते स्म, इति केषाञ्चिद् व्याख्यानं तु न समञ्जसम्, वेदेषु लौकिकेतिहासाभावात् ।

अगले मन्त्र में परमात्मा के गुणों का वर्णन है ।

पदार्थ—हम **वृत्रहन्तमम्** पापों के अतिशय विनाशक, **ज्येष्ठम्** सर्वाधिक प्रशंसनीय और महान् **आनवम्** मनुष्यों के हितकारी **अग्निम्** तेजस्वी परमेश्वर को **अगन्म** प्राप्त हुए हैं । **यः स्म** जो **श्रुतर्वन्** प्रसिद्ध किरणरूप अश्वों वाले ज्योतिर्मय सूर्य में तथा **आर्क्षे** तारापुंज में **बृहदनीकः** विशाल तेज वाला होकर **इध्यते** भासमान होता है ॥९॥

भावार्थ—प्रचण्ड दीप्ति वाले सूर्य **में**, तारामण्डल में, सारे ही ब्रह्माण्ड में जिसका कर्तृत्व, जिसकी दी हुई शक्ति, जिसका उत्पन्न किया तेज द्योतमान है, जो पापों का संहारक, मनुष्यों का हित-कर्ता, सर्वाधिक प्रशंसनीय पुराण-पुरुष है, उसकी सबको वन्दना, प्राप्ति और उपासना करनी चाहिए ॥९॥

इस मन्त्र पर कुछ लोगों की यह व्याख्या असंगत है कि श्रुतर्वा नाम का कोई राजा था जो ऋक्ष का पुत्र था, जिसके पास अग्नि प्रदीप्त रहती थी, क्योंकि वेदों में लौकिक इतिहास नहीं है ॥९॥

अथ गृहीतमानवजन्मानं जीवात्मानं सम्बोधयन्नाह ।

३ १२ २१ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
९०. जातः परेण धर्मणा यत् सवृद्भिः सहाभुवः ।
३ २ ७ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ १ २१ ३ २
पिता यत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनुः कविः ॥१०॥
३ २ १ २१ १ २१ ३ १ २ ३ १ २१ ३ २ १ २१
जातः परेण धर्म्मणा । यत् सवृद्भिः स वृद्भिः सह अभुवः ॥
३ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २१ ३ २
पिता यत् कश्यपस्य अग्निः । श्रद्धा श्रत् धा माता मनुः कविः ॥१०॥

---

१. श्रुतर्वन्निति विवरणकारेण आमन्त्रितान्तं स्वीकृतम्, तच्चिन्त्यं स्वरविरोधात् । श्रुतर्वा नाम ऋषि'—इति वि० । श्रुतर्वणि राज्ञि—इति भ० । 'श्रुतर्वनाम्नि राजनि'—इति सा० ।

२. आर्क्ष्यः ऋक्षस्य पुत्रः—इति वि० । आर्क्षे ऋक्षपुत्रे—इति भ० । ऋक्षपुत्रे—इति सा० । सर्वैः 'आर्क्षे' इति पाठं मत्वा व्याख्यातम् ।

३. बृहदनीकः बृहत्तेजाः—इति भ० ।

पदार्थः—हे जीवात्मन् ! त्वम् **परेण** उत्कृष्टेन **धर्मणा** धर्माख्येन संस्कारेण निमित्तेन **जातः** मानवयोनौ गृहीतजन्मा वर्तसे, **यत्** यतः **सवृद्भिः**[1] सह वर्त्तन्ते इति सवृतः तैः सूक्ष्मशरीरस्थैः पञ्चप्राण-पञ्चज्ञानेन्द्रिय-पञ्चसूक्ष्मभूत-मनोबुद्धिरूपैः सप्तदशतत्त्वैः **सह** सार्द्धम् त्वम् **अभुवः** विद्यमानः आसीः । **यत्** यस्मात् **कश्यपस्य** द्रष्टुस्तव । पश्यतीति पश्यकः, वर्णविपर्ययेण कश्यपः । 'कश्यपः पश्यको भवति, यत् सर्वं परिपश्यतीति' तै० आ० १।८।८। **पिता** जनकः **अग्निः** अग्रणीः तेजोमयः परमात्मा विद्यते, तस्मात् **श्रद्धा** श्रद्धा **माता** तव जननीतुल्या भवेत्, त्वं स्वयं च **मनुः** मननशीलः । मनु अवबोधने धातोः 'शृस्वृ०' उ० १।१० इति उ प्रत्ययः । **कविः** मेधावी च भवेति शेषः । कविरिति मेधाविनाम । निघं० ३।१५॥१०॥

भावार्थः—यदा जीवात्मा मृत्युकाले शरीरान्निस्सरति तदा सूक्ष्मशरीरं तेन सह विद्यमानं भवति, सूक्ष्मशरीरस्थे चित्ते च प्रोता धर्माधर्माख्याः शुभाशुभकर्मसंस्कारा आत्मना सहैव गच्छन्ति । धर्मेण स मनुष्यजन्म, अधर्मेण च पशुपक्ष्यादिजन्मानि प्राप्नोति । जीवात्मा खलु ज्ञानग्रहणसामर्थ्यवत्त्वात् कश्यपो द्रष्टा वा वर्तते, अतस्तेन सकलस्य ज्ञानविज्ञानस्य संचयः कार्यः । यतः परमेश्वरः शरीरे तस्य जन्मदाता भवति, अतः पितुर्महत्त्वं विचार्य तेन जीवने श्रद्धा मातृवत् स्वीकर्त्तव्या, स्वयमपि च मननशीलेन मेधाविना च भाव्यम् ॥१०॥

ये तु ब्रुवन्ति कश्यपः ऋषेर्नाम, श्रद्धा देव्या नाम, मनुश्च वैवस्वत इति तेषां मतं न समञ्जसम्, वेदेषु लौकिकेतिहासाभावात् ॥

अत्र परमात्मनः सकाशाद् यशस्तेजोधनबलादिप्रार्थनात्, परमात्मप्रभाववर्णनाद्, अतिथिं तं प्रति हव्यसमर्पणार्थं तत्पूजार्थं च प्रेरणात्, परमात्मनि पितृत्वेन श्रद्धायां मातृत्वेन वर्णनाच्चैतस्या दशतेः पूर्वदशत्या सह सङ्गतिरस्तीति विजानीत ।

इति प्रथमे प्रपाठके द्वितीयार्धे चतुर्थी दशतिः ।
इति प्रथमेऽध्याये नवमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में मनुष्य-जन्म ग्रहण किये हुए जीवात्मा को सम्बोधन करके कहा गया है ।

पदार्थ—हे जीवात्मन् ! तू **परेण** उत्कृष्ट **धर्मणा** धर्मनामक संस्कार के कारण **जातः** मानव-योनि में जन्मा है, **यत्** क्योंकि तू **सवृद्भिः सह** साथ रहनेवाले सूक्ष्मशरीरस्थ पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि, इन सत्रह तत्त्वों के साथ **अभुवः** विद्यमान था । **यत्** क्योंकि **कश्यपस्य** तुझ द्रष्टा का **पिता** पिता अर्थात् मनुष्यशरीरदाता **अग्निः** अग्रणी तेजोमय परमात्मा है, अतः **श्रद्धा** श्रद्धा **माता** तेरी माता के तुल्य हो और तू स्वयम् **मनुः** मननशील, तथा **कविः** मेधावी बन ॥१०॥

भावार्थ—जब जीवात्मा मृत्यु के समय शरीर से निकलता है, तब सूक्ष्म शरीर उसके साथ विद्यमान होता है, और सूक्ष्मशरीरस्थ चित्त में धर्माधर्म नामक शुभाशुभ कर्म-संस्कार आत्मा के साथ जाते हैं । धर्म से वह मनुष्य-जन्म और अधर्म से पशु-पक्षी आदि का जन्म पाता है । जीवात्मा ज्ञानग्रहण के सामर्थ्य वाला होने से कश्यप अर्थात् द्रष्टा है । इसलिए उसे सकल ज्ञान-विज्ञान का संचय करना चाहिए । क्योंकि परमेश्वर उसका शरीर में जन्म-दाता होता है, अतः पिता की महत्ता का विचार करके उसे जीवन में श्रद्धा को माता के समान स्वीकार करना चाहिए और स्वयं मननशील तथा मेधावी बनना चाहिए ॥१०॥

---

१. सह ये वर्तन्ते गच्छन्ति ते सवृतः, तैः सवृद्भिः, सहयोगलक्षणैषा तृतीया, सहगामिभिः सह—इति वि० । सवृद्भिः सह वर्तमानैः छन्दोभिः—इति भ० । यज्ञे सह वर्तन्ते इति सवृतः ऋत्विजः तैः सह—इति सा० ।

जो लोग यह कहते हैं कि कश्यप ऋषि का नाम है, श्रद्धा देवी का नाम है और मनु से वैवस्वत मनु का ग्रहण है, उनका मत वेदों में लौकिक इतिहास न होने से संगत नहीं है ।।

इस दशति में परमात्मा से यश, तेज, धन, बल आदि की प्रार्थना, परमात्मा के प्रभाव का वर्णन, अतिथि परमात्मा के प्रति हव्य-समर्पण और उसके पूजन की प्रेरणा होने से तथा परमात्मा को पिता और श्रद्धा को माता के रूप में वर्णित करने से इसके विषय की पूर्वदशति के विषय के साथ संगति है, ऐसा जानो ।

प्रथम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त ।
प्रथम अध्याय में नवम खण्ड समाप्त ।।

।।१०।। अथ 'सोमं राजान'मित्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ अग्निस्तापसः; २ वामदेवः; ३ वामदेवः काश्यपोऽसितो देवलो वा; ४ सोमाहुतिर्भार्गवः; ५ पायुः; ६ प्रस्कण्वः ।। देवता—१ विश्वेदेवाः; २ अङ्गिराः; ३-६ अग्निः ।। छन्दः—अनुष्टुप् ।। स्वरः—गान्धारः ।।

अथ सोमवरुणादीनाह्वयति ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
९१. **सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे ।**
३ २३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ।।१।।[1]
१ २१ १ २१ १ २१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २१
सोमम् राजानम् वरुणम् । अग्निम् अन्वारभामहे अनु आरभामहे ।।
३ २ ३ २ १ २१ १ २१ ३ १ २ ३ १ २१ १ २१
आदित्यम् आ दित्यम् विष्णुम् सूर्यम् ब्रह्माणम् च बृहः पतिम् ।।१।।

पदार्थः—प्रथमः परमात्मपरः । वयम् **राजानम्** सर्वेषां सम्राजम् **सोमम्** चन्द्रवदाह्लादकं, यद्वा चराचरस्य जगतो जनकं सोमनामकं परमात्मानम् । यः सवति जनयति सर्वं जगत् स सोमः तम् । षु प्रसवैश्वर्ययोः इति धातोः अतिस्तुसु० । उ० १।१४० इति मन् । **वरुणम्** यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् धर्मात्मनो वृणोति अथवा शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिर्व्रियते स वरुणः, तं वरुणनामकं परमात्मानम् । वृञ् वरणे धातोः 'कृवृदारिभ्य उनन् । उ० ३।५३' इति उनन् प्रत्ययः । **अग्निम्** अग्रनायकं प्रकाशस्वरूपं वा अग्निनामकं परमात्मानम् । **आदित्यम्**[2] प्रलयकाले सर्वस्य जगतः आदातारम्, अविनाशिस्वरूपम्, सूर्यवत् सत्यन्यायधर्म-प्रकाशकम् आदित्यनामकं परमात्मानम् । **विष्णुम्** यो वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् तं विष्णुनामकं परमात्मानम् । अत्र 'विषः किच्च । उ० ३।३८' इति सूत्रेण विष्लृ व्याप्तौ धातोः नु प्रत्ययः । **ब्रह्माणम्** सर्वेभ्यो महान्तम् ब्रह्मनामकं परमात्मानम् । अत्र बृहि वृद्धौ धातोः 'बृहेर्नोऽच्च । उ० ४।१४६' इति मनिन्, नकारस्य अदादेशश्च । **बृहस्पतिम् च** बृहताम् आकाशादीनां पतिम्, यद्वा बृहसः वृद्धेः पतिम् बृहस्पतिनामकं

१. ऋ० १०।१४१।३, 'सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे । आदित्यान्०' इति पाठः । य० ९।२६, देवताः सोमाग्न्यादित्यविष्णुसूर्यब्रह्मबृहस्पतयः, 'सोमं राजानमवसेऽग्निमन्वारभामहे । आदित्यान्०' इति पाठः । अथ० ३।२०।४, ऋषिः वसिष्ठः, देवता यजुर्वत्, पाठः पूर्वार्द्धः ऋग्वेदवत्, उत्तरार्द्धः सामवत् ।

२. 'आदित्यः प्रलये सर्वस्यादातृत्वात्' इति य० ३२।१ भाष्ये, 'आदित्य अविनाशिस्वरूप, सूर्य इव सत्यन्यायप्रकाशक' इति च य० १२।१२ भाष्ये—द० । आदित्यः आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम्, आदीप्तो भासेति वा, अदितेः पुत्र इति वा—इति निरुक्तम् २।१३ ।

परमात्मानं च। प्रथमेऽर्थे 'तद्बृहतोश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च'। अ० ६।१।१५७ वा० इति सुट् तकार-लोपश्च। द्वितीयेऽर्थे बृहि वृद्धौ धातोः औणादिकोऽसुन्। **अनु आरभामहे** आश्रयामहे। अनु-आङ्पूर्वो रभ राभस्ये धातुर्ग्रहणार्थे प्रयुज्यते।

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रपरः। मन्त्रोक्ताः सर्वे देवा विभिन्ना राज्यसचिवा राज्याधिकारिणो वा सन्तीति वेद्यम्। यथोक्तं मनुना—"मौलाञ्छास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान् कुलोद्भवान्। सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्" मनु० ७।५४ इति। वयं प्रजाजनाः **सोमम्** चन्द्रवत् प्रजाह्लादकम् **राजानम्** नृपतिम्, **वरुणम्** दण्डाधिकारिणम्। वरुणः पाशी इति स्मरणात् पाशहस्तो दण्डाधिकारी वेद्यः। **अग्निम्** सेनाया अग्रनायकं सेनाध्यक्षम्। अग्निर्वै देवानां सेनानीः। मै० सं० १।१०।१४ इति स्मरणात्। **आदित्यम्** प्रजाभ्यः करम् आददानं कराधिकारिणम्[1]। आदत्ते प्रजाभ्यः करम् इत्यादित्यः। **विष्णुम्** व्यापकरूपेण प्रजाकार्यनिर्वाहकत्वात् प्रधानमन्त्रिणम्, **सूर्यम्** सूर्यवद् रोगनिवारकं स्वास्थ्यमन्त्रिणम्, **ब्रह्माणम्** यज्ञाधिकारिणम्। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्। ऋ० १०।७१।११। ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः, सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः। निरु० १।८ इति वर्णनात्। **बृहस्पतिं च** शिक्षासचिवं च। वाग् वै बृहती, तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः। श० १४।४।१।२२। **अनु आ रभामहे** राष्ट्रोत्कर्षार्थम् आश्रयामहे ॥१॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—अग्निसोमवरुणादित्यविष्णुसूर्यब्रह्मबृहस्पत्याद्यनेकनामभिर्वेदेषु गीतकीर्तिरेकः परमेश्वरः सर्वैराश्रयणीयः। तथैव राष्ट्रेऽनेकैरमात्यै राज्याधिकारिभिश्च सह राष्ट्रं सञ्चालयन् नृपतिरपि सर्वैः प्रजाजनैराश्रयणीयः सहयोगप्रदानेन सत्कर्तव्यश्च ॥१॥

प्रथम मन्त्र में सोम, वरुण आदि का आह्वान किया गया है।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हम **राजानम्** सबके राजा, **सोमम्** चन्द्रमा के समान आह्लाद देने वाले, चराचर जगत् के उत्पादक सोम नामक परमात्मा का, **वरुणम्** सब शिष्ट, मुमुक्षु, धर्मात्मा जनों को वरने वाले और उन सबके द्वारा वरे जाने वाले वरुण नामक परमात्मा का, **अग्निम्** सबके अग्रनायक, प्रकाशस्वरूप अग्निनामक परमात्मा का, **आदित्यम्** प्रलयकाल में सब जगत् को प्रकृति के गर्भ में ग्रहण कर लेने वाले, अविनाशीस्वरूप, सूर्य के समान सत्य, न्याय और धर्म के प्रकाशक आदित्य नामक परमात्मा का, **विष्णुम्** चराचर में व्यापक विष्णु नामक परमात्मा का, **ब्रह्माणम्** सबसे महान् ब्रह्मा नामक परमात्मा का, **बृहस्पतिं च** और विशाल आकाशादिकों के स्वामी, वृद्धि के अधिपति बृहस्पति नामक परमात्मा का **अनु आ रभामहे** आश्रय लेते हैं॥

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। मन्त्रोक्त सब देव विभिन्न राज्यमन्त्री अथवा राज्याधिकारी हैं, यह समझना चाहिए। जैसाकि मनु ने कहा है—राजा को चाहिए कि अपने देश के मूल निवासी, वेदादि-शास्त्रों के ज्ञाता, शूरवीर, लक्ष्य को पा लेने वाले, कुलीन, सुपरीक्षित सात या आठ मन्त्री बनाये (मनु० ७।५४)। हम प्रजाजन **सोमम्** चन्द्रमा के समान प्रजाओं को आह्लाद देने वाले **राजानम्** राजा का, **वरुणम्** दण्डाधिकारी का, **अग्निम्** सेना के अग्रनायक सेनाध्यक्ष का, **आदित्यम्** कर-अधिकारी का, **विष्णुम्** व्यापक रूप से प्रजाओं का कार्य सिद्ध करने वाले प्रधानमन्त्री का, **सूर्यम्** सूर्य के समान रोग-निवारक

१. प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्। सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥ रघु० १।१८ इति न्यायेन आदित्यवत् प्रजानामेव भूत्यर्थं ताभ्यः करग्राहिणमित्यर्थः।

स्वास्थ्य-मन्त्री का, **ब्रह्मणम्** यज्ञाधिकारी का, **बृहस्पतिं च** और शिक्षा-मन्त्री का, **अनु आर भामहे** राष्ट्र के उत्कर्ष के लिए आश्रय लेते हैं ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥१॥

भावार्थ—अग्नि, सोम, वरुण, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा, बृहस्पति आदि अनेक नामों से वेदों में जिसकी कीर्ति गायी गयी है उस एक परमेश्वर का सबको आश्रय लेना चाहिए। उसी प्रकार राष्ट्र में अनेक मन्त्रियों और राज्याधिकारियों के साथ मिलकर राष्ट्र का संचालन करने वाले राजा का भी सब प्रजाजनों को आश्रय ग्रहण करना चाहिए तथा अपना सहयोग देकर उसका सत्कार करना चाहिए ॥१॥

अथ योगिनः किं कुर्वन्तीत्याह ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २१ २१
९२. इत एत उदारुहन् दिवः पृष्ठान्या रुहन् ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २१
प्र भूर्जयो यथा पथोद् द्यामङ्गिरसो ययुः ॥२॥
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २१ ३ २ ३ १ २ ३
इतः एते उदारुहन् उत् आरुहन् । दिवः पृष्ठानि आ अरुहन् ॥
२ ३ १ २१ १ २१ ३ २ १ २१ ३
प्र भूः जयः यथा पथा । उत् द्याम् अङ्गिरसः ययुः ॥२॥

पदार्थः—अङ्गिरसो देवताः । **एते** इमे **अङ्गिरसः** अग्निस्वरूपम् अङ्गारवत् तेजस्विनम् अङ्गरसभूतं प्राणप्रियं परमेश्वरं ध्यायन्तस्तपस्विनो योगिनः । अङ्गारेषु अङ्गिराः । निरु० ३।१७ । अङ्गिरा उ ह्यग्निः । श० १।४।१।२५ । अङ्गिरसं मन्यन्ते अङ्गानां यद् रसः । छा० उ० १।२।१० प्राणो वा अङ्गिराः । श० ६।१।२।२८ । भृगूणाम् अङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम् । तै० सं० १।१।७।२ । **इतः** अस्माद् अन्नमयकोशाद् मूलाधारचक्राद् वा **उत् आरुहन्** ऊर्ध्वम् आरोहन्ति, क्रमशश्च **दिवः पृष्ठानि** अन्तरिक्षस्य सोपानानि—मध्यवर्तिकोशान् मध्यवर्तिचक्राणि वा **आरुहन्** आरोहन्ति । ततश्च **द्याम्** द्युलोकम्—आनन्दमयरूपं सर्वोच्चकोशम्, सहस्रारूपं सर्वोच्चचक्रं वा **उद् ययुः** उद्गच्छन्ति । छन्दसि लुङ्लङ्लिटः । अ० ३।४।६ इति नियमेन भूतवाचिलकारा अत्र सामान्यकाले प्रयुक्ताः । हे सखे ! त्वमपि तथैव **प्र भूः**[1] प्रकृष्टो भव, यद्वा प्रभवसमर्थो भव, **यथा** येन प्रकारेण **पथा** सन्मार्गेण, तव **जयः** विजयः, भवेद् इति शेषः ॥२॥[2]

भावार्थः—मानवशरीरेऽन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमयरूपाः पञ्चकोशाः, मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूर-अनाहत-विशुद्ध-ललित-आज्ञा-सहस्रारूपाण्यष्ट चक्राणि च विद्यन्ते । योगाभ्यासिनो जनाः स्थूलकोशात् सूक्ष्मसूक्ष्मतरकोशान् प्रत्युत्क्रामन्तः सूक्ष्मतमकोशम् आनन्दमयम् अधिगम्य परं ब्रह्मानन्दमनुभवन्ति । किञ्च, निम्नचक्रान्मूलाधारात् प्राणचङ्क्रमणक्रमेणान्ते सहस्रारचक्रे प्राणान्

---

१. तुलनीयम्—'प्रभूर्जयन्तम्' इति ७४ संख्यकसाममन्त्रभाष्यम् । 'प्रभूर्जयः । भूः पृथिवी तां ये पशुकर्मादिभिः महावीराख्येन च कर्मणा प्रकर्षेण जितवन्तः ते प्रभूर्जयः—इति वि० । भूर्जतेः पाककर्मणः भूर्जय इति रूपम् । हविषां पक्तारः अङ्गिरसः—इति भ० । भूर्णयः भृज्जतिः पाककर्मा, हविषां पक्तारः—इति सा० । सायणीये च व्याख्याने दोषमुद्भावयन्तः प्राहुः सत्यव्रतसामश्रमिणः—"नेदं व्याख्यानं साधु मन्यते, 'भूः जयः' इत्येवं पदकारकृतावग्रहदर्शनात्, न हि 'भूर्जयः' इति रूपे 'भूः जयः' इत्येवमवग्रहः संभवति, नापि तदधीनस्वरश्रुतिः" इति

२. एष मन्त्रो योगसिद्ध्या गगनारोहणविषयेऽपि व्याख्यातुमलम् । यथाह दयानन्दर्षिः य० १७।६७ मन्त्रभाष्ये—"यदा मनुष्यः स्वात्मना सह परमात्मानं युङ्क्ते तदाणिमादयः सिद्धयः प्रादुर्भवन्ति, ततोऽव्याहतगत्याऽभीष्टानि स्थानानि गन्तुं शक्नोति, नान्यथा ।" इति ।

केन्द्रीकृत्य मस्तिष्के हृदये च परमात्मज्योतिषोऽविच्छिन्नां धारां प्रवाहयन्ति। हे सखे ! त्वमपि तथैव सामर्थ्यं संचिनु, येनोत्तरोत्तरमुत्कृष्टतरमार्गमनुधावतो विजयस्तव हस्तगतो भवेत् ॥२॥

अगले मन्त्र में योगी लोग क्या करते हैं, इसका वर्णन है।

पदार्थ—**एते** ये **अङ्गिरसः** अग्निस्वरूप, अंगारे के समान तेजस्वी, अंगों के रसभूत, प्राणप्रिय परमेश्वर का ध्यान करने वाले तपस्वी योगीजन **इतः** इस अन्नमय कोश से या मूलाधार चक्र से **उत् आरुहन्** ऊर्ध्वारोहण करते हैं, क्रमशः **दिवः पृष्ठानि** अन्तरिक्ष के सोपानों पर, अर्थात् मध्यवर्ती कोशों या मध्यवर्ती चक्रों पर **आरुहन्** चढ़ जाते हैं, और फिर **द्याम्** द्युलोक पर अर्थात् आनन्दमय रूप सर्वोच्च कोश पर या सहस्रार-रूप सर्वोच्च चक्र पर **उद् ययुः** पहुँच जाते हैं। हे सखे ! तू भी वैसे ही **प्र भूः** उत्कृष्ट बन अथवा समर्थ बन, **यथा** जिससे **पथा** सन्मार्ग पर चलकर, तुझे **जयः** विजय प्राप्त हो ॥२॥

भावार्थ—मानव-शरीर में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय ये पाँच कोश और मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, ललित, आज्ञा, सहस्रार ये आठ चक्र हैं। योगाभ्यासी लोग स्थूल कोश से सूक्ष्म-सूक्ष्मतर कोशों के प्रति आरोहण करते हुए सूक्ष्मतम आनन्दमय कोश को प्राप्त कर परम ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार निचले चक्र मूलाधार से प्राणों का ऊर्ध्व चङ्क्रमण करते-करते अन्त में सहस्रार चक्र में प्राणों को केन्द्रित कर मस्तिष्क और हृदय में परमात्म-ज्योति की अविच्छिन्न धारा को प्रवाहित कर लेते हैं। हे मित्र ! तुम भी वैसा ही सामर्थ्य संग्रह करो, जिससे उत्तरोत्तर अधिकाधिक उत्कृष्ट मार्ग पर चलते हुए तुम्हें विजय हस्तगत हो सके ॥२॥

अथाग्निनाम्ना जीवात्मा सम्बोध्यते।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
९३. **राये अग्ने महे त्वा दानाय समिधीमहि।**
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
ईडिष्वा हि महे वृषन् द्यावा होत्राय पृथिवी ॥३॥
३ २ ३ २ ३ १ २ ३
राये अग्ने महे त्वा। दानाय सम् इधीमहि॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
ईडिष्व हि महे वृषन्। द्यावा होत्राय पृथिवीइति ॥३॥

पदार्थः—हे **अग्ने** देहस्थेषु मनोबुद्धीन्द्रियादिषु देवेषु अग्रणीभूत अस्मदीय जीवात्मन् ! वयम् **महे राये** विपुलाय धनाय, विपुलं स्वर्णरजतविद्याविवेकादिधनम् अर्जयितुमिति भावः, **दानाय** अर्जितं धनं सत्पात्रेभ्यो दातुं च **त्वा** त्वाम् **समिधीमहि** प्रदीपयेम, प्रबोधयेम इत्यर्थः। हे **वृषन्** बलवन् जीवात्मन् ! त्वम् **द्यावा-पृथिवी** द्युलोकं भूलोकं च **महे होत्राय** महते होमाय **ईडिष्व** स्तुहि, प्रशंस। द्यावापृथिवी इमे जगतो हिताय सृष्टिसञ्चालनयज्ञे सर्वस्वहोमं कुरुत इति तयोर्गुणान् वर्णय, ततः प्रेरणां गृहीत्वा स्वयमपि परोपकाराय होमं कुरु, इति भावः ॥३॥

भावार्थः—मनुष्यैः स्वात्मानं प्रबोध्य दानशीलाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां शिक्षां गृहीत्वा धनानामर्जने दाने च प्रवृत्तिर्विधेया ॥३॥

अगले मन्त्र में अग्नि नाम से जीवात्मा को सम्बोधित किया गया है।

पदार्थ—हे **अग्ने** शरीरस्थ मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि देवों में अग्रणी हमारे जीवात्मन् ! हम **महे राये** प्रचुर धन के लिए अर्थात् प्रचुर सोना, चाँदी, विद्या, विवेक आदि धन को कमाने के लिए और

दानाय उसके दान के लिए **त्वा** तुझे **समिधीमहि** प्रदीप्त-प्रबुद्ध करते रहें। हे **वृषन्** बली जीवात्मन्! तू **द्यावापृथिवी** द्युलोक और भूलोक की **महे होत्राय** महान् होम के लिए **ईडिष्व** स्तुति कर, प्रशंसा कर। ये द्यावापृथिवी जगत् के हितार्थ सृष्टि-संचालन-यज्ञ में सर्वस्व-होम कर रहे हैं, इस रूप में उनके गुणों का वर्णन कर और उनसे प्रेरणा लेकर स्वयं भी परोपकारार्थ होम कर, यह भाव है ॥३॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि अपने आत्मा को प्रबोधन देकर दानशील आकाश-भूमि से शिक्षा लेकर धनों के कमाने तथा दान देने में प्रवृत्त हों ॥३॥

अथ कः परमेश्वरं जानातीत्याह।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
९४. दधन्वे वा यदीमनु वोचद् ब्रह्मेति वेरु तत्।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभुवत् ॥४॥[1]

३ २ ३ २ ३ १२१ १२१ १२१ ३ २
दधन्वे वा यत् ईम् अनु। वोचत् ब्रह्म इति वेः उ तत् ॥
१२१ १२१ १ २१ ३ २ ३ २ ३
परि विश्वानि काव्या। नेमिः चक्रम् इव अभुवत् ॥४॥

पदार्थः—**यत्** यदा, उपासकः **ईम्** एनम् परमात्माग्निम्। ईम् एनम्। निरु० १०।४५। **अनु दधन्वे** आनुकूल्येन स्वान्तःकरणे धारयति। धवि गतौ धातोर्लडर्थे लिटि रूपम्, व्यत्ययेनात्मनेपदम्। **वा** किञ्च। वा इति समुच्चये। 'अथापि समुच्चयार्थे भवति'। निरु० १।५। **ब्रह्म इति** इदं साक्षाद् ब्रह्म वर्तते इति **वोचत्** वर्णयति। वच धातोर्लडर्थे लुङ्, अडागमाभावश्छान्दसः। **तत् उ** तदैव, स तम् **वेः**[2] जानाति। वी गत्यादिषु, लडर्थे लङ्, अडभावः। यः परमात्माग्निः **विश्वानि** समस्तानि **काव्या** काव्यानि, वेदकाव्यानि सृष्टिकाव्यानि वा **परि अभुवत्** पर्यभवत्, परितो व्याप्नोति। भू धातोर्लङि गुणं बाधित्वा उवङादेशश्छान्दसः। **नेमिः** रथचक्रस्य परिधिः **चक्रम् इव** रथचक्रं यथा परितो व्याप्नोति ॥४॥

'नेमिश्चक्रमिव' इत्यत्रोपमालङ्कारः ॥४॥

भावार्थः—यदा परमात्मध्यानरतो योगी परमात्मानं धारणाध्यानसमाधिमार्गेण स्वहृदयाभ्यन्तरे सम्यग् धारयति, हस्तामलकवच्च तमनुभवन् 'एतद् वै ब्रह्म यदहं साक्षात्करोमि' इति वक्तुं शक्नोति, तदैव वस्तुतस्तेन ब्रह्म ज्ञातमिति मन्तव्यम् ॥४॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि कौन परमेश्वर को जानता है।

पदार्थ—**यत्** जब, उपासक **ईम्** इस परमात्मा-रूप अग्नि को **अनु दधन्वे** अनुकूलतापूर्वक अपने हृदय में धारण कर लेता है, **वा** और **ब्रह्म इति** यह साक्षात् ब्रह्म है, ऐसा **वोचत्** कह सकता है, **तत् उ** तभी, वह उसे **वेः** जानता है, जो परमात्मा रूप अग्नि **विश्वानि** सब **काव्या** वेद-काव्यों अथवा सृष्टि-काव्यों को **परि अभुवत्** चारों ओर व्याप्त किये हुए है, **नेमिः** रथ के पहिए की परिधि **चक्रम् इव** जैसे रथ के पहिए को चारों ओर व्याप्त किये होती है ॥४॥

इस मन्त्र में 'नेमिश्चक्रमिव' में उपमालंकार है ॥४॥

भावार्थ—जब परमात्मा के ध्यान में संलग्न योगी परमात्मा को धारणा, ध्यान, समाधि के मार्ग से अपने हृदय के अन्दर भली-भाँति धारण कर लेता है और हस्तामलकवत् उसकी अनुभूति करता

---

१. ऋ० २।५।३, 'ब्रह्मेति, भुवत्' इत्यत्र क्रमेण 'ब्रह्माणि, भवत्' इति पाठः।

२. वेः। मध्यमपुरुषैकवचनमिदं प्रथमपुरुषैकवचनस्य स्थाने द्रष्टव्यम्। वेत्ति जानातीत्यर्थः—इति वि०।

हुआ 'यह ब्रह्म है, जिसका मैं साक्षात् कर रहा हूँ', इस प्रकार कहने में समर्थ होता है, तभी वस्तुतः उसने ब्रह्म जान लिया है, यह मानना चाहिए ॥४॥

अथ रक्षसां विनाशाय परमेश्वरो, जीवात्मा, नृपतिः, सेनापतिराचार्यश्च प्रार्थ्यते।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
९५. प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणाहि विश्वतस्परि।
३ १ २ ३ २ ३ २ ३क २१ ३क २१
यातुधानस्य रक्षसो बलं न्युब्ज वीर्यम् ॥५॥[1]
१ २१ ३ १ २१ १ २१ ३ २ ३ १ २ १ २१
प्रति अग्ने हरसा हरः। शृणाहि विश्वतः परि॥
३ १ २ ३ १ २१ ३ १ २ १ २१ ३ ३क २
यातुधानस्य यातु धानस्य रक्षसः। बलम् नि उब्ज वीर्यम् ॥५॥

पदार्थः—हे **अग्ने** ज्योतिर्मय परमेश्वर, मदीय अन्तरात्मन्, राजन्, सेनापते आचार्य वा ! त्वम् **यातुधानस्य** यातनाऽऽधायकस्य, पीडकस्य **रक्षसः** पापरूपस्य राक्षसस्य, पापात्मनः दुष्टशत्रोर्वा **बलम्** सैन्यम्, **वीर्यम्** पराक्रमं च **न्युब्ज**[2] अधोमुखं पातय, निर्मूलय। निपूर्वः उब्ज आर्जवे धातुरधोमुखीकरणे वर्तते। **विश्वतः परि** सर्वतः। परिः पञ्चम्यर्थानुवादी। तस्य **हरः** हरणसामर्थ्यं, क्रोधं, तेजो वा। हृञ् हरणे, असुन्। हरः इति क्रोधनाम। निघं० २।१३। 'ज्योती रज उच्यते' इति निरुक्तम्। ४।१९।३९। **हरसा** स्वकीयेन हरणसामर्थ्येन, मन्युनाम्ना ख्यातेन क्रोधेन, तेजसा वा **प्रतिशृणाहि** प्रतिजहि। शॄ हिंसायाम्, क्र्यादिः। शृणीहि इति प्राप्ते ईत्वाभावश्छान्दसः ॥५॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥५॥

भावार्थ—सर्वेषां मनुष्याणां कर्तव्यमस्ति यत्ते परमेश्वरस्योपासनेन, स्वान्तरात्मनः प्रबोधनेन, नृपतेः सेनापतेश्च साहाय्येन, गुरूणां च सदुपदेशश्रवणेन स्वहृदयात् समाजाच्च सर्वाणि पापानि, राष्ट्रस्य सर्वान् रिपूंश्च निर्मूलयेयुः ॥५॥

अगले मन्त्र में राक्षसों के विनाश के लिए परमेश्वर, जीवात्मा, राजा, सेनापति और आचार्य से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **अग्ने** ज्योतिर्मय परमेश्वर, मेरे अन्तरात्मा, राजा, सेनापति और आचार्यप्रवर ! आप **यातुधानस्य** यातना देने वाले **रक्षसः** पापरूप राक्षस के तथा पापी दुष्ट शत्रु के **बलम्** सैन्य को, और **वीर्यम्** पराक्रम को **न्युब्ज** निर्मूल कर दीजिए। **विश्वतः परि** सब ओर से **तस्य** उसके **हरः** हरणसामर्थ्य, क्रोध और तेज को **हरसा** अपने हरणसामर्थ्य, मन्यु और तेज से **प्रतिशृणाहि** विनष्ट कर दीजिए ॥५॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥५॥

भावार्थ—सब मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि वे परमेश्वर की उपासना से, अपने अन्तरात्मा को जगाने से, राजा और सेनापति की सहायता से तथा गुरुओं के सदुपदेश-श्रवण से, अपने हृदय और समाज में से सब पापों को तथा राष्ट्र के सब शत्रुओं को निर्मूल करें ॥५॥

---

१. ऋ० १०।८७।२५, देवता अग्नी रक्षोहा। 'शृणीहि विश्वतः प्रति', 'बलं विरुज वीर्यम्' इति द्वितीय-तृतीय-पादयोः पाठः।

२. न्युब्ज आत्मीयेन बलेन ऋजुं कुरु—इति वि०। न्युब्ज नितरां बाधस्व, उब्जतिर्वधकर्मा—इति भ०। निःशेषेण रुज भञ्जयेत्यर्थः—इति सा०।

अथ राष्ट्रवासिनः परमात्माग्निं प्रार्थयन्ते ।

९६. १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
त्वमग्ने वसूँरिह रुद्राँ आदित्याँ उत ।
१ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
यजा स्वध्वरं जनं मनुजातं घृतप्रुषम् ॥६॥[1]

२ ३ १ २ १ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
त्वम् अग्ने वसून् इह । रुद्रान् आदित्यान् आ दित्यान् उत ॥
१ २ १ ३ २ ३ २ १ २ १ २ १ २ १ ३ ३ १ २ ३ १ २ १
यज स्वध्वरम् सु अध्वरम् जनम् । मनुजातम् मनु जातम् घृतप्रुषम् घृत प्रुषम् ॥६॥

पदार्थः—हे **अग्ने** परमात्मन् ! **त्वम्** जगदीश्वरः **इह** अस्माकं राष्ट्रे **वसून्** वासयन्ति धनधान्यादिसम्पत्त्या इतरान् वर्णान् इति वसवः तान् उत्कृष्टवैश्यान्, **रुद्रान्** रोदयन्ति शत्रून् इति रुद्राः वीरक्षत्रियाः तान्, **आदित्यान्** प्रकाशितसूर्यकिरणवद् विद्याप्रकाशयुक्तान् ब्राह्मणान्, **उत** अपि च **स्वध्वरम्** शोभनयज्ञम् । अत्र 'नञसुभ्याम् ।' अ० ६।२।११९ इत्युत्तरपदस्यान्तोदात्तत्वम् । **मनुजातम्** मनवे मनुष्यसमाजाय तत्कल्याणायेति यावत् जातं गृहीतजन्मानम् । अत्र मन्यते : 'शस्वृ०' उ० १।१० इति उः प्रत्ययः, निच्च । तस्य नित्त्वान्मनुशब्द आद्युदात्तः । समासे च तस्य चतुर्थ्यन्तत्वात् 'क्ते च', अ० ६।२।४५ इति पूर्वपदस्य प्रकृतिस्वरः । **घृतप्रुषम्** घृतम् आज्यादिकं प्रुषणाति अग्नौ सिञ्चति सत्पात्रेषु वा वर्षतीति तम् **जनम्** पुत्रं **यज** प्रदेहि । यजतिरत्र देवपूजासङ्गतिकरणदानेष्विति पाठाद् दानार्थः । संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः' अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः । वसूँ, रुद्राँ, आदित्याँ इति सर्वत्र 'दीर्घादटि समानपादे ।' अ० ८।३।९ इति नकारस्य रुत्वम्, 'आतोऽटि नित्यम् ।' अ० ८।३।३ इति पूर्वस्यानुनासिकः ।

अथ वसुरुद्रादित्यानाम् उक्तार्थेषु प्रमाणम् । वसवो वैश्याः, 'अस्मे धत्त वसवो वसूनि ।' य० ८।१८ इति तत्सकाशाद् वसुप्रार्थनात् । रुद्राः क्षत्रियाः, 'अन्यं ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः ।' ऋ० २।३३।११, 'इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने । अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः ॥' ऋ० ७।४६।१ इत्यादिरूपेण तेषां सेनानीत्वधनुर्धरत्वादिवर्णनात् । आदित्याः ब्राह्मणाः, 'एते खलु वादित्या यद् ब्राह्मणाः ।' तै० सं० १।१।९।८ इति प्रामाण्यात् ॥६॥[2]

भावार्थः—हे जगत्साम्राज्यसञ्चालक देवाधिदेव परमपितः परमेश्वर ! ईदृशीं कृपां कुरु यदस्माकं राष्ट्रे धनदानेन सर्वान् वर्णाश्रमान् पालयन्तः सद्वैश्याः, युद्धेषु शत्रून् विजेतारो वीराः क्षत्रियाः, आदित्यवज्ज्ञानप्रकाशेन पूर्णा विपश्चिद्वरा ब्राह्मणाश्च स्युः । सर्वे च विविधानां परोपकारयज्ञानामनुष्ठातारं, मानवसमाजस्य कल्याणकर्तारम्, अग्निहोत्रिणम्, अतिथीनां घृतादिना सत्कर्तारं च सुयोग्यं सन्तानं प्राप्नुयुः ॥६॥

अत्र सोमाग्निवरुणविष्णुप्रभृतिभिर्विविधनामभिः परमेश्वरस्य स्मरणात्, तदाश्रयेण योगिना-

---

१. ऋ० १।४५।१, देवता अग्निर्देवाश्च ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं विद्वत्पक्षे व्याख्यातः । तत्र अग्निशब्देन विद्युद्वद् वर्तमानो विद्वान्, वसुशब्देन कृतचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्याः पण्डिताः, रुद्रशब्देन आचरितचतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्या महाबला विद्वांसः, आदित्यशब्देन च समाचरिताष्टचत्वारिंशत्संवत्सरब्रह्मचर्याखण्डितव्रता महाविद्वांसो गृहीताः ।

मङ्गिरसामुत्कर्षप्राप्तिवर्णनात्, परमेश्वरगुणवर्णनपुरस्सरं राक्षससंहारार्थं राष्ट्रोत्थानार्थं च प्रार्थना-करणादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम् ।

इति प्रथमे प्रपाठके द्वितीयार्धे पञ्चमी दशतिः ।
समाप्तश्चायं प्रथमः प्रपाठकः ॥
इति प्रथमेऽध्याये दशमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में राष्ट्रवासी जन परमात्मा से प्रार्थना कर रहे हैं ।

पदार्थ—हे **अग्ने** परमात्मन् ! **त्वम्** जगदीश्वर आप **इह** हमारे इस राष्ट्र में **वसून्** धन-धान्य आदि सम्पत्ति से अन्य वर्णों को बसाने वाले उत्कृष्ट वैश्यों को, **रुद्रान्** शत्रुओं को रुलाने वाले वीर क्षत्रियों को, **आदित्यान्** प्रकाशित सूर्यकिरणों के समान विद्याप्रकाश से युक्त ब्राह्मणों को, **उत** और **स्वध्वरम्** शुभ यज्ञ करने वाले, **मनुजातम्** मनुष्य-समाज के कल्याणार्थ जन्म लेने वाले, **घृतप्रुषम्** यज्ञाग्नि में अथवा सत्पात्रों में घृत आदि को सींचने वाले **जनम्** पुत्र को **यज** प्रदान कीजिए ॥६॥

अब वसुओं, रुद्रों और आदित्यों के उपर्युक्त अर्थ करने में प्रमाण लिखते हैं। 'वसवः' से वैश्यजन गृहीत होते हैं, क्योंकि यजुर्वेद ८।१८ में वसुओं से धन की याचना की गयी है । रुद्रों से क्षत्रिय अभिप्रेत हैं, क्योंकि रुद्रों का वर्णन वेदों में इस रूप में मिलता है—'हे रुद्र, तेरी सेनाएँ हमसे भिन्न हमारे शत्रु को विनष्ट करें' (ऋ० २।३३।११); 'उस रुद्र के सम्मुख अपनी वाणियों को प्रेरित करो, जिसके पास स्थिर धनुष है, वेगगामी बाण हैं, जो स्वयं आत्म-रक्षा करने में समर्थ है, किसी से पराजित नहीं होता, शत्रुओं का पराजेता है और तीव्र शस्त्रास्त्रों से युक्त है (ऋ० ७।४६।१) । आदित्यों से ब्राह्मण ग्राह्य हैं, क्योंकि तै० संहिता में कहा है कि 'ब्राह्मण ही आदित्य हैं' (तै० सं० १।१।९।८) ॥६॥

भावार्थ—हे जगत्-साम्राज्य के संचालक, देवाधिदेव, परमपिता परमेश्वर ! ऐसी कृपा करो कि हमारे राष्ट्र में धन-दान से सब वर्णाश्रमों का पालन करने वाले उत्तम कोटि के वैश्य, युद्धों में शत्रुओं को जीतने वाले वीर क्षत्रिय और आदित्य के समान ज्ञान-प्रकाश से पूर्ण विद्वद्वर ब्राह्मण उत्पन्न हों और सब लोग तरह-तरह के परोपकार-रूप यज्ञों का अनुष्ठान करने वाली, मानवसमाज का कल्याण करने वाली, अग्निहोत्र-परायण, अतिथियों का घृतादि से सत्कार करने वाली सुयोग्य सन्तान को प्राप्त करें ॥६॥

इस दशति में सोम, अग्नि, वरुण, विष्णु आदि विविध नामों से परमेश्वर का स्मरण होने से, परमेश्वर के आश्रय से अंगिरस योगियों की उत्कर्ष-प्राप्ति का वर्णन होने से, परमेश्वर के गुणों का वर्णन करते हुए उससे राक्षसों के संहार तथा राष्ट्रोत्थान के लिए प्रार्थना करने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ।

प्रथम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की पाँचवीं दशति समाप्त ।
यह प्रथम प्रपाठक समाप्त हुआ ॥
प्रथम अध्याय में दशम खण्ड समाप्त ॥

अथ द्वितीयः प्रपाठकः

॥१॥ तत्र 'पुरु त्वा दाशिवाँ' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ दीर्घतमाः; २, ४ विश्वामित्रः; ३ गोतमः; ५ व्रितः; ६ इरिम्बिठिः; ७, ८, १० विश्वमना वैयश्वः; ९ ऋजिष्वा भारद्वाजः ॥ देवता—१-४, ७-१० अग्निः; ५ पवमानः; ६ अदितिः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

तत्राद्ये मन्त्रे मनुष्यः परमात्मने स्वात्मानं समर्पयन् तं स्तौति ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
९७. पुरु त्वा दाशिवां वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा ।
३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २
तोदस्येव शरण आ महस्य ॥१॥[1]
३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ ३ २
पुरु त्वा दाशिवान् वोचे । अरिः अग्ने तव स्वित् आ ॥
३ १ २ ३ २ ३ १ २
तोदस्य इव शरणे आ महस्य ॥१॥

पदार्थः—दाशिवान् आत्मसमर्पणं कृतवान्, अहम् । दाशृ दाने धातोर्लिटः क्वसुः । ददाशिवान् इति प्राप्ते द्वित्वाभावश्छान्दसः[2] । **त्वा** त्वां परमात्मानम् **पुरु** बहु **वोचे**[3] वच्मि, स्तौमि । हे **अग्ने** तेजोमय जगदीश्वर ! त्वम् **अरिः**[4] ईश्वरः, समर्थः, असि । निरुक्तमतेन गच्छत्यर्थस्य ऋच्छतेरिदं रूपम् । निरु० ५।७।३५ । अहम् **तव स्वित्**[5] तवैव अस्मि, **आ** त्वं मत्समीपे आगच्छ । अहम् **तोदस्य**[6] **इव** अमृतसलिलेन परिपूर्णस्य कूपस्य इव । तुद व्यथने । तुद्यते खन्यते इति तोदः कूपः । **महस्य** महिमान्वितस्य तव **शरणे** आश्रये **आ** आगतोऽस्मि । उभयत्र आ इत्यत्र उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः । सेयं वैदिकी शैली ॥[7]

यास्काचार्यो मन्त्रमिममेवं व्याचष्टे—तोदः तुद्यतेः । बहु दाश्वांस्त्वाम् अभिह्वयामि । अरिः अमित्रम् ऋच्छतेः, ईश्वरोऽप्यरिरेतस्मादेव । यदन्यदेवत्या अग्नावाहुतयो हूयन्त इत्येतद् दृष्ट्वैवम् अवक्ष्यत् तोदस्येव शरण आ महस्य, तुदस्येव शरणेऽधि महतः । निरु० ५।७।३५ इति ॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

---

१. ऋ० १।१५०।१, 'दाशिवाँ' इत्यत्र 'दाश्वान् इति पाठः ।

२. चतुर्ष्वपि वेदेषु केवलमत्रैव 'दाशिवान्' इति रूपं प्रयुक्तम् । अन्यत्र 'दाश्वान् साह्वान् मीढ्वाँश्च । अ० ६।१।१२ इति निपातनात् सिद्धं 'दाश्वान्' इत्येव रूपं प्राप्यते ।

३. वच परिभाषणे धातोः 'वच उम् । अ० ७।४।२० इति अङि परतः कृत उमादेश छन्दस्यन्यत्रापि भवति । तेन वोचे, वोचति, वोचतु, वोचेत्, वोचेय, वोचेम इत्यादीनि रूपाणि प्रयुक्तानि दृश्यन्ते ।

४. अरिः ईश्वरः—इति वि० । अर्तेः अरिः, गच्छन् अन्या देवताः, अन्यदेवताभ्य आहुतीः प्रयच्छन्—इति भ० । अरिः तवैव अर्ता सेवकोऽहम्—इति सा० । अरिः ईश्वरः—इति निरु० ५।७ भाष्ये एतन्मन्त्रव्याख्याने दुर्गस्कन्दौ ।

५. स्वित् एवार्थे । तवैव दाशिवान् भवतीत्यर्थः—इति भ० ।

६. तोदो गृहस्थ इति निघण्टुटीकायां देवराजयज्वा । तोदस्येव—तुन्नस्येव विदीर्णस्य कस्यचित् श्वभ्रस्य कूपस्योपरि—इति दुर्गः । तुद्यति भृत्यजनान् तैर्वा तोदमात्मन इच्छतीति गृहस्थोऽत्र तोदोऽभिप्रेतः—इति स्कन्दः । तोदशब्देनात्र गृहस्थ उच्यते । गृहस्थस्येव महस्य महतः स्वभूते शरणे गृहे यावत् किञ्चित् सर्वस्वं भवति तद्वदहमपि तव स्वभूतः—इति वि० । तोदो गृहस्थः तुद्यते परिजनैरिति, यद्वा तुदति दधाति धनानि इति । तस्य इव—महतो दातुर्गृहे आगतो धनार्थी यथात स ैति तद्वत् त्वां वोचे—इति भ० । तोदस्य शिक्षकस्य स्वामिनः—इति सा० । तोदस्येव व्यथकस्येव—इति ऋग्भाष्ये द० ।

७. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वत्पक्षे व्याख्यातवान् ।

भावार्थः—हे जगत्पते ! हे परमपितः ! अहं तवैवास्मि। त्वां विहाय क्वान्यत्र गच्छेयम्। तवैव गुणान् गायामि, तुभ्यमेवात्मानं समर्पये। स्वच्छसलिलेन पूर्णः कूप इव त्वम् अमृतमयेनानन्दरसेन परिपूर्णोऽसि। तस्मादानन्दरसात् कतिपयान् रसबिन्दून् ममापि हृदये प्रोक्ष्य मां रससिक्तं कुरु। अहं तव शरणागतोऽस्मि ॥१॥

प्रथम मन्त्र में मनुष्य परमात्मा को आत्म-समर्पण करता हुआ उसकी स्तुति कर रहा है।

पदार्थ—**दाशिवान्** आत्म-समर्पण किये हुए मैं **त्वा** आप परमात्मा की **पुरु** बहुत **वोचे** स्तुति करता हूँ। **अग्ने** हे तेजस्वी जगदीश्वर ! आप **अरिः** समर्थ हैं। मैं **तव स्वित्** आपका ही हूँ, अतः मेरे समीप **आ** आइए। **तोदस्य इव** अमृत-जल से परिपूर्ण कुएँ के समान **महस्य** महिमाशाली आपकी **शरणे** शरण में, मैं **आ** आया हूँ ॥१॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ—हे जगत्पति ! हे परमपिता ! मैं आपका ही हूँ। आपको छोड़कर अन्यत्र कहाँ जाऊँ ! आपके ही गुण गाता हूँ, आपको ही स्वयं को समर्पित करता हूँ। स्वच्छ जल से भरे हुए कुएँ के सदृश आप अमृतमय आनन्द-रस से परिपूर्ण हैं। उस आनन्द-रस से कुछ रस की बूँदें मेरे भी हृदय में छिड़ककर मुझे रस-सिक्त कर दीजिए। मैं आपकी शरण में आया हूँ ॥१॥

अथ जनाः परमेश्वराराधनाय प्रेर्यन्ते।

९८. प्र होत्रे पूर्व्यं वचोऽग्नये भरता बृहत्।
विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ॥२॥
प्र होत्रे पूर्व्यम् वचः। अग्नये भरत बृहत्॥
विपाम् ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ॥२॥

पदार्थः—हे जनाः ! यूयम् **विपाम्** मेधाविनां छात्राणाम्। विपः इति मेधाविनामसु पठितम्। निघं० ३।१५। **ज्योतींषि** विद्यातेजांसि **बिभ्रते** पुष्णते **वेधसे न**[2] द्विजत्वसम्पादनार्थं द्वितीयजन्मविधात्रे आचार्याय इव, यथा आचार्याय स्तुतिवचांसि उच्चार्यन्ते तथेत्यर्थः। स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव तु मातापितरौ जनयतः। आप० ध० सू० १।१।१।१६-१८ इत्यापस्तम्बस्मरणाद् आचार्यादेव द्वितीयं जन्म प्राप्य स्नातको द्विजो जायते। **विपाम्**[3] व्याप्तानां सूर्यचन्द्रनक्षत्रादीनाम् **ज्योतींषि** तेजांसि **बिभ्रते** पुष्णते **वेधसे** जगद्विधात्रे, **होत्रे** सुखसमृद्धिप्रदात्रे **अग्नये** तेजस्विने परमेश्वराय **बृहत्** महत् **पूर्व्यम्** श्रेष्ठम् अत्र 'पादार्घाभ्यां च'। अ० ५।४।२५ इति सूत्रे परिगणितेषु स्वार्थयत्प्रत्ययीयशब्देषु पूर्वशब्दस्यापि पाठात् स्वार्थे यत् प्रत्ययः। **वचः** वेदस्तोत्रम् **प्र भरत** प्रकृष्टतया उच्चारयत। भृञ् भरणे, भौवादिकः। संहितायाम् 'ऋचि तुनुघमक्षु०'। अ० ६।३।१३३ इति दीर्घः ॥२॥[4]

१. ऋ० ३।१०।५
२. अत्र 'वेधसे' इत्यतः पुरस्तात् प्रयुक्तोऽपि नकार उपमार्थीयो बोध्यः, 'बिभ्रते' इति पदस्य 'वेधसे' इत्यस्य विशेषणत्वात्। 'नकारः पादपूरणः'—इति वि०। नेति सम्प्रत्यर्थे—इति भ०। नेत्ययं पादपूरणः अन्वयाभावात्, यद्वा वेधसे न यथा वेधाः जगद्विधाता परमेश्वरः आदित्यादीनि ज्योतींषि करोति तद्वत्—इति सा०।
३. विपां व्याप्तणाम्—इति वि०।
४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतम् अध्यापकविद्वत्कृत्यविषये व्याख्यातवान्।

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—यथा कश्चिद् विद्वान् शिक्षकः स्वोपदेशेन शिक्षया च मेधाविभ्यश्छात्रेभ्यो विद्या-तेजांसि प्रयच्छति तथैव यः परमेश्वरः सूर्यचन्द्रनक्षत्रविद्युदादिभ्यो ज्योतींषि परिददाति, तस्मिन् परमैश्वर्य-शालिनि जगदीश्वरे सर्वैः श्रद्धातव्यम् ॥२॥

अगले मन्त्र में मनुष्यों को परमेश्वर की आराधना करने की प्रेरणा दी गयी है।

पदार्थ—हे मनुष्यो ! तुम **विपाम्** मेधावी छात्रों के **ज्योतींषि** विद्या-तेजों को **बिभ्रते** परिपुष्ट करने वाले, **वेधसे न** द्विज बनाने के लिए द्वितीय जन्म देने वाले आचार्य के लिए जैसे स्तुति-वचन उच्चारण किये जाते हैं, वैसे ही **विपाम्** व्याप्त सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र आदि के **ज्योतींषि** तेजों को **बिभ्रते** परि-पुष्ट करने वाले **वेधसे** जगद्-विधाता, **होत्रे** सुख-समृद्धि-प्रदाता **अग्नये** तेजस्वी परमेश्वर के लिए **बृहत्** महान् **पूर्व्यम्** श्रेष्ठ **वचः** वेद के स्तोत्र को **प्र भरत** प्रकृष्ट रूप से उच्चारण करो ॥२॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार ॥२॥

भावार्थ—जैसे कोई विद्वान् शिक्षक अपने उपदेश और शिक्षा से बुद्धिमान् विद्यार्थियों को विद्या-तेज प्रदान करता है, वैसे ही जो परमेश्वर सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र, बिजली आदिकों को ज्योति देता है, उस परमैश्वर्यशाली जगदीश्वर में सबको श्रद्धा करनी चाहिए ॥२॥

अथ परमात्मा, विद्वान् नृपतिश्च प्रार्थ्यते।

९९. अग्ने॒ वाज॑स्य गोम॒त ईशा॑नः सहसो यहो।
अ॒स्मे दे॑हि जातवेदो॒ महि॒ श्रवः॑ ॥३॥[1]
अग्ने॒ वाज॑स्य गोम॒तः। ईशा॑नः सहसः यहो॥
स्मेइति॑ दे॑हि जातवेदः॒ महि॒ श्रवः॑ ॥३॥

पदार्थः—हे **सहसः यहो** बलस्य पुत्र पुत्तलक वा, बलिनां बलिन्[2]। सहः इति बलनाम। निघं० २।९, यहुः इत्यपत्यनाम। निघं० २।२। **जातवेदः** सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वधनज्ञानोत्पादक **अग्ने** ज्योतिर्मय परमात्मन् ! यद्वा, हे **सहसः यहो** शत्रुपराजयशीलस्य बलवतो वा पितुः पुत्र[3]। सहते इति सहाः तस्य, षह अभिभवे इति धातोः औणादिकोऽसुन् प्रत्ययः। यद्वा सहस्वतः इति प्राप्ते मतुब्लोपः। **जातवेदः** जातं वेदो विज्ञानं यस्य तादृश शास्त्रज्ञ अग्ने विद्वन् राजन् वा ! **गोमतः** प्रशस्तधेनुपृथिवीवेदवागादियुक्तस्य **वाजस्य** ऐश्वर्यस्य **ईशानः** अधीश्वरः त्वम् **अस्मे** अस्मभ्यम्। अस्मच्छब्दात् 'सुपां सुलुक्०'। अ० ७।१।३९ इति चतुर्थीबहुवचनस्य शे आदेशः। **महि** महत् **श्रवः** कीर्तिं, प्रशंसां, धनधान्यादिकं च। श्रवः श्रवणीयं यशः। निरु० ११।७, प्रशंसाम्। निरु० ४।२३, अन्नम्। निघं० २।७, धनम्। निघं० २।१० **देहि** प्रयच्छ ॥३॥[4]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—मनुष्यैर्जगदीश्वरस्योपासनया पुरुषार्थिभिर्भूत्वा स्वपुरुषार्थेन किञ्च गृहीतसर्व-

---

१. ऋ० १।७९।४, य० १५।३५ ऋषिः परमेष्ठी। उभयत्र 'देहि' इत्यस्य स्थाने 'धेहि' इति पाठः। साम० १५६१।

२. यो हि यस्य गुणस्य पुत्रस्तस्मिन् तद्गुणस्यातिशयः सूच्यते।

३. सहसः बलवतः यहो सुसन्तान' इति य० १५।३५ भाष्ये—द०।

४. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च विद्वत्पक्षे व्याख्यातवान्।

शास्त्राणां विदुषां राजनीतिज्ञस्य नृपतेश्च साहाय्येन निखिलं धनधान्यविद्यासाम्राज्यादिकमैवर्श्यं, सुविस्तीर्णं यशश्च प्राप्तव्यम् ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा विद्वान् और राजा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **सहसः यहो** बल के पुतले, बलियों में बली, **जातवेदः** सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सब धन और ज्ञान के उत्पादक **अग्ने** ज्योतिर्मय परमात्मन् ! अथवा, हे **सहसः यहो** शत्रुपराजयशील, बलवान् पिता के पुत्र, **जातवेदः** शास्त्रों के ज्ञाता **अग्ने** विद्वन् वा राजन् ! **गोमतः** प्रशस्त गाय, पृथिवी, वेदवाणी आदि से युक्त **वाजस्य** ऐश्वर्य के **ईशानः** अधीश्वर आप **अस्मे** हमें **महि** महान् **श्रवः** कीर्ति, प्रशंसा और धन-धान्य आदि **देहि** प्रदान कीजिए ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है।

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि जगदीश्वर की उपासना से पुरुषार्थी होकर अपने पुरुषार्थ से और सब शास्त्र पढ़े हुए विद्वानों तथा राजनीतिज्ञ राजा की सहायता से समस्त धन, धान्य, विद्या, साम्राज्य आदि ऐश्वर्य और अत्यन्त विस्तीर्ण यश को प्राप्त करें ॥३॥

अथ परमेश्वर आचार्यश्च प्रार्थ्यते।

१००. **अग्ने यजिष्ठो अध्वरे देवान् देवयते यज।**
होता मन्द्रो वि राजस्यति स्रिधः ॥४॥[1]
अग्ने यजिष्ठः अध्वरे। देवान् देवयते यज॥
होता मन्द्रः वि राजसि अति स्रिधः॥४॥

पदार्थः—हे **अग्ने** ज्ञानप्रकाश परमेश्वर आचार्य वा ! **यजिष्ठः** अतिशयेन यष्टा जीवनयज्ञस्य अध्ययनाध्यापनयज्ञस्य वा साधकः त्वम्। यजधातोस्तृजन्तात् यष्टृशब्दाद् अतिशायने इष्ठनि 'तुरिष्ठेमेयस्सु'। अ० ६।४।१५४ इति तृलोपः। **अध्वरे** हिंसादिदोषरहिते जीवनयज्ञे अध्ययनाध्यापनयज्ञे वा **देवयते** देवान् दिव्यान् गुणकर्मस्वभावान् आत्मनः कामयते मह्यम्। क्यचि शत्रन्तस्य चतुर्थ्यैकवचने रूपम्। **देवान्** दिव्यान् गुणकर्मस्वभावान् **यज** प्रापय। यजतिरत्र दानार्थः। **होता** विद्यासदाचारादीनां दाता **मन्द्रः** आह्लादकः। मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु इति धातोः 'स्फायितञ्चिवञ्चि०' उ० २।१३ इत्यनेन औणादिकः रक् प्रत्ययः। त्वम् **विराजसि** विशेषण शोभसे। राजृ दीप्तौ, भ्वादिः, परस्मैपदं छान्दसम्। त्वम् **स्रिधः** हिंसकान्, विद्याविघातकान् आलस्यमदमोहादीन्, ब्रह्मचर्यविघातकान् कामक्रोधादींश्च। स्रेधतिः हिंसाकर्मा छान्दसः। **अति** अस्मत्तः अतिगमय। उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ॥४॥[2]

अत्र श्लेषालङ्कारः, 'यजि, यज', 'देवा, देव' इत्यत्र च छेकानुप्रासः ॥४॥

भावार्थः—यथा परमेश्वर उपासकेभ्यो दिव्यगुणकर्मस्वभावान् प्रयच्छति पापेभ्यश्च तान् निवारयति, तथैवाचार्यः शिष्यान् विद्यां, सच्चारित्र्यं, दिव्यगुणकर्मस्वभावाँश्च शिक्षयन् ब्रह्मचर्यविघातकेभ्यो विद्याविघातकेभ्यश्च दुर्व्यसनेभ्यस्तान् दूरं रक्षेत् ॥४॥

---

१. ऋ० ३।१०।७

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं विद्वत्पक्षे व्याख्यातः।

अगले मन्त्र में परमेश्वर और आचार्य से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **अग्ने** ज्ञानप्रकाशयुक्त परमेश्वर अथवा आचार्य ! **यजिष्ठः** अतिशय रूप से जीवन-यज्ञ वा अध्ययन-अध्यापन-रूप यज्ञ के साधक आप **अध्वरे** हिंसादिदोष से रहित जीवन-यज्ञ वा अध्ययन-अध्यापन-रूप यज्ञ में **देवयते** दिव्य गुण-कर्म-स्वभावों के अभिलाषी मुझे **देवान्** दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव **यज** प्राप्त कराइए। **होता** विद्या, सदाचार आदि के दाता, **मन्द्रः** आह्लादकारी आप **विराजसि** विशेष रूप **से** शोभित हो। आप **स्रिधः** हिंसकों को अर्थात् विद्या के विघातक आलस्य, मद, मोह आदि को तथा ब्रह्मचर्य के विघातक काम-क्रोध आदि को **अति** हमसे दूर कर दीजिए ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है, 'यजि, यज', 'देवा, देव' में छेकानुप्रास है ॥४॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर उपासकों को दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव प्रदान करता है और पापों से उन्हें बचाता है, वैसे ही आचार्य शिष्यों को विद्या, सच्चरित्रता और दिव्य गुण-कर्म-स्वभावों की शिक्षा देकर ब्रह्मचर्य-विघातक तथा विद्या-विघातक दुर्व्यसनों से दूर रखे ॥४॥

अथ पवमानो देवता। तस्य कल्याणकारित्वं वर्ण्यते।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ २
१०१. **जज्ञानः सप्त मातृभिर्मेधामाशासत श्रिये।**
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अयं ध्रुवो रयीणां चिकेतदा ॥५॥[1]
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
जज्ञानः सप्त मातृभिः। मेधाम् आ अशासत श्रिये ॥
३ २ ३ २ ३ २ ३ २
अयम् ध्रुवः रयीणाम् चिकेतत् आ ॥५॥

पदार्थः—पवमानः सोमः चित्तशोधकः परमात्मा **सप्त**[2] सप्तभिः। अत्र 'सुपां सुलुक्०', अ० ७।१।३९ इति भिसो लुक्। **मातृभिः** मातृभूताभिः गायत्र्यादिच्छन्दोमयीभिः वेदवाग्भिः **जज्ञानः** उपासकस्य हृदये प्रादुर्भूतः सन्। जनी प्रादुर्भावे लिटः कानच्। **श्रिये** सम्पदे सम्पत्प्राप्त्यर्थमिति यावत्। **मेधाम्** धारणावतीं बुद्धिम् **आ अशासत** प्रयच्छति। आङः शासु इच्छायाम्, भ्वादिः, 'बहुलं छन्दसि'। अ० २।४।७३ इति शपो लुक् न। येन **ध्रुवः** स्थितप्रज्ञः सन् **अयम्** एष उपासकः **रयीणाम्** श्रेष्ठा अध्यात्म-सम्पदः। अत्र द्वितीयार्थे षष्ठी। **आ चिकेतत्** प्राप्नोति। कित ज्ञाने, भ्वादिः। लेटि 'बहुलं छन्दसि। अ० २।४।७६ इति शपः श्लुः ॥५॥

भावार्थः—गायत्र्यादिसप्तच्छन्दोबद्धानां वेदवाचां गानेन परमात्मसान्निध्यं प्राप्नुवतो योगिन ऋतम्भराप्रज्ञोदयात् सर्वा अपि अध्यात्मसम्पदो हस्तगता भवन्ति ॥५॥

अगले मन्त्र का पवमान देवता है। उसकी कल्याणकारिता का वर्णन करते हैं।

पदार्थ—पवमान सोम अर्थात् चित्तशोधक परमात्मा **सप्त** सात **मातृभिः** माता के तुल्य गायत्री आदि छन्दों से युक्त वेदवाणियों द्वारा **जज्ञानः** उपासक के हृदय में प्रादुर्भूत होकर **श्रिये** सम्पदा की प्राप्ति के लिए **मेधाम्** धारणावती बुद्धि को **आ अशासत** प्रदान करता है, जिससे **ध्रुवः** स्थितप्रज्ञ हुआ **अयम्** यह

---

१. ऋ० ९।१०२।४, जज्ञानं सप्त मातरो वेधामशासत श्रिये। अयं ध्रुवो रयीणां चिकेत यत् ॥—इति पाठः।

२. सप्तसंख्याकाः मातरः निर्मातारः आदित्याद्याः, अथवा सप्त मातरः सप्त छन्दांसि, अथवा सप्त होताः, अथवा सप्त सोम-संस्थाः—इति वि०। सप्त सप्तभिः सर्पणशीलाभिः मातृभिः अद्भिः वसतीवरीभिः संसृष्टा अभिषूयन्ते सोमाः—इति भ०। सप्त सप्तसंख्याकाभिः मातृभिः हविर्मानसमर्थाभिर्जिह्वाभिः, स्वात्मनि हविः प्रक्षेप्त्रीभिर्वा जिह्वाभिः सह जज्ञानः प्रादुर्भूतः सोऽग्निः—इति सा०

उपासक **रथीणाम्** श्रेष्ठ अध्यात्म-सम्पत्तियों को **आ चिकेतत्** प्राप्त कर लेता है ॥५॥

भावार्थ—गायत्री आदि सात छन्दों में बद्ध वेदवाणियों के गान से परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त किये हुए योगी को ऋतम्भरा प्रज्ञा के उत्पन्न हो जाने से सब अध्यात्मसम्पदाएँ प्राप्त हो जाती हैं ॥५॥

अथ अदितिर्देवता। परमेश्वरं जगन्मातृत्वेन स्मरन्नाह।

३ २७ ३ १ २ ३ १९ २१ ३ १ २
१०२. उत स्या नो दिवा मतिरदितिरूत्या गमत्।
१९ २१ ३ १ २ ३ २३ १ २
सा शन्ताता मयस्करदप स्रिधः ॥६॥[1]

३ २ ३ १ २१ ३ २ १ २१ ३ २ १ २
उत स्या नः दिवा मतिः। अदितिः अ दितिः ऊत्या आ गमत्॥
२ १ २१ ३ १ २१ ३ १ २१ १ २१
सा शन्ताता शम् ताता मयः करत् अप स्रिधः ॥६॥

पदार्थः—**उत** अथ **स्या** सा प्रसिद्धा। तद्वाचिनः सर्वनाम्नः 'त्यत्' शब्दस्य रूपमिदम्। **मतिः**[2] सर्वविज्ञात्री। मनुते विजानातीति मतिः। मनु अवबोधने धातोः कर्तरि क्तिन्। **अदितिः** अखण्डनीया जगन्माता। दो अवखण्डने धातोः क्तिनि दितिः, न विद्यते दितिः विनाशो यस्याः सा अदितिः। 'अदितिरदीना देवमाता' इति निरुक्तम्। ४।२२। **दिवा** सर्वस्मिन्नहनि **ऊत्या**[3] रक्षया सह **नः** अस्यान्, अस्मत्सकाशम् **आ गमत्** आगच्छतु। आङ् पूर्वाद् गच्छतेः लोडर्थे लुङ्। अडागमाभावश्छान्दसः। **सा** अदितिः जगन्माता **शन्ताता** शन्तातौ, शान्तिकर्मणि। शम् इति निपातात् 'शिवशमरिष्टस्य करे'। अ० ४।४।१४३ इत्यनुवृत्तौ 'भावे च।' अ० ४।४।१४४ इति सूत्रेण भावे तातिप्रत्यये शन्तातिः इति। ततः सप्तम्येकवचनस्य 'सुपां सुलुक्', अ० ७।१।३९ इति डादेशः। **मयः** सुखम्। मयः इति सुखनाम। निघं० ३।६। **करत्** करोतु। डुकृञ् करणे धातोर्लेटि रूपम्। **स्रिधः** हिंसावृत्तीः हिंसकाँश्च **अप** अपनयतु ॥६॥

भावार्थः—"त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ" साम ११७, इत्यत्र परमात्मनो मातृत्वमुक्तम्। तदेवात्र 'अदिति' नाम्ना प्रोच्यते। अदितिर्नाम जगन्माता, खण्डितत्वाभावाद् अदीनत्वाद् अजरामरत्वान्नित्यत्वाच्च। क्रन्दन-लुण्ठन-हाहाकारपीडितेऽस्मिन् जगति सा कृपया शान्तिप्रियैः सज्जनैः क्रियमाणान् शान्तिप्रयासान् सफलीकृत्य विश्वस्मिन् भूमण्डले सुखं वर्षतु, हिंसकाँश्चापि सत्प्रेरणया धर्मात्मनः करोतु ॥६॥

अगले मन्त्र में अदिति देवता है, इसमें परमेश्वर का जगन्माता के रूप में वर्णन है।

पदार्थ—**उत** और **स्या** वह **मतिः** सब कुछ जानने वाली **अदितिः** अखण्डनीय जगन्माता **ऊत्या** रक्षा के साथ **नः** हमारे समीप **आ गमत्** आये। **सा** वह **शन्ताता** शान्तिकर्म में **मयः** सुख **करत्** करे, और **स्रिधः** हिंसा-वृत्तियों तथा हिंसकों को **अप** दूर करे ॥६॥

भावार्थ—'हे शतकर्मन्! तू ही हमारा पिता है, तू ही हमारी माता है' (साम ११७), यहाँ परमात्मा को माता कहा गया है। उसके माता होने का ही यहाँ 'अदिति' नाम से वर्णन है। जगन्माता अदिति है क्योंकि वह कभी खण्डित नहीं होती तथा अदीन, अजर, अमर और नित्य रहती है। विलाप,

---

१. ऋ० ८।१८।७, 'शन्ताता' इत्यत्र 'शन्ताति' इति पाठः।

२. मतिः ज्ञात्री—इति वि०। मतिः मननीया स्तुत्या—इति भ०। मतिः मन्त्री, मन्तव्या स्तोतव्या वा—इति सा०।

१. 'ऊत्या गमत्' इत्यत्र 'ऊती आगमत्' इति विच्छिद्य 'ऊती पालयित्री'—इति वि०, 'अती ऊत्या रक्षया सह'—इति भ०। तदुभयं पदकाराद् विरुद्धचते 'ऊत्या आ गमत्' इति पदपाठात्।

लूटपाट, हाहाकार से पीड़ित इस जगत् में वह कृपा करके शान्तिप्रिय सज्जनों से किये जाते हुए शान्ति के प्रयत्नों को सफल करके सारे भूमण्डल में सुख की वर्षा करे और हिंसकों को भी अपनी शुभ प्रेरणा से धर्मात्मा बना दे ॥६॥

अथ भौतिकाग्निसादृश्येन परमात्मविषयमाह ।

१०३. ईडिष्वा हि प्रतीव्यां३ यजस्व जातवेदसम् ।
चरिष्णुधूममगृभीतशोचिषम् ॥७॥[1]

ईडिष्व हि प्रतीव्यम् प्रति व्यम् । यजस्व जातवेदसम् जात वेदसम् ॥
चरिष्णुधूमम् चरिष्णु धूमम् अगृभीतशोचिषम् अगृभीत शोचिषम् ॥७॥

पदार्थः—हे मनुष्य ! त्वम् **प्रतीव्यम्**[2] प्रतिवस्तु व्यापकम् । प्रतिपूर्वाद् गतिव्याप्त्यार्थकाद् वीधातोर्यत् प्रत्ययः, इकारस्य दीर्घश्छान्दसः । **चरिष्णुधूमम्** चरिष्णुः संचरणशीलः धूमः धूम इव शत्रु-प्रकम्पकः प्रभावो यस्य तम्, **अगृभीतशोचिषम्** अगृभीतम् अगृहीतम् अप्रतिरुद्धं शोचिः तेजो यस्य तम् । अगृभीतेत्यत्र 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' इति वार्तिकेन हस्य भः । **जातवेदसम्** जातं वेदः सद्गुणरूपं दिव्यं धनं यस्मात् तम् परमात्माग्निम् **ईडिष्व हि** स्तुहि खलु, **यजस्व** पूजय च ॥७॥

श्लेषेण भौतिकाग्निपक्षेऽप्यर्थो योजनीयः ॥७॥

भावार्थः—यथा प्रोद्यद्धूमशिखो रोचिष्णुज्वालो भौतिकाग्निः शिल्पिभिः शिल्पयज्ञेषु प्रयुज्यते तथा विलसत्प्रतापधूमो दीप्ततेजा उपासकानामन्तःकरणे दिव्यधनानां सत्याहिंसाऽस्तेयादीनां जनकः परमात्माग्निरुत्कर्षाकाङ्क्षिभिर्जनैः स्तोतव्यः पूजितव्यश्च ॥७॥

अगले मन्त्र में भौतिक अग्नि के सादृश्य से परमात्मा का विषय वर्णित है ।

पदार्थ—हे मनुष्य ! तू **प्रतीव्यम्** प्रत्येक वस्तु **में** व्यापक, **चरिष्णुधूमम्** जिसका धुएँ के तुल्य शत्रु-प्रकम्पक प्रभाव संचरणशील है ऐसे, **अगृभीतशोचिषम्** अप्रतिरुद्ध तेज वाले **जातवेदसम्** सद्गुणरूप दिव्य धन को उत्पन्न करने वाले परमात्माग्नि की, **ईडिष्व हि** अवश्य ही स्तुति कर और **यजस्व** उसकी पूजा कर ॥७॥

श्लेष से भौतिक अग्नि के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए ॥७॥

भावार्थ—जैसे धूमशिखाओं को उठाने वाले, चमकीली ज्वालाओं वाले भौतिक अग्नि का शिल्पीजन शिल्पयज्ञों में प्रयोग करते हैं, वैसे ही प्रताप रूप धूम से शोभित, दीप्त तेजों वाले, सत्य-अहिंसा-अस्तेय आदि दिव्य धनों के जनक परमात्माग्नि की उत्कर्ष चाहने वाले मनुष्यों को स्तुति और पूजा करनी चाहिए ॥७॥

अथ परमात्माग्नये हविर्दानेन किं फलं भवतीत्युच्यते ।

१०४. न तस्य माययाच न रिपुरीशीत मर्त्यः ।
यो अग्नये ददाश हव्यदातये ॥८॥[3]

---

१. ऋ० ८।२३।१, 'प्रतीव्यां ३' इत्यत्र 'प्रतीव्यं' इति पाठः ।

२. प्रतीव्यं महाभूतत्वात् सर्वगतम्—इति वि० ।

३. ऋ० ८।२३।१५, 'चन' इति समस्तः, 'हव्यदातिभिः' इति च पाठः ।

२ १२१ ३१ २ ३ २ ३२ ३ १ २१
न तस्य माययो च न । रिपुः ईशीत मर्त्यः ॥
३ १२३१२३१२ ३२३
यः अग्नये ददाश हव्यदातये हव्य दातये ॥८॥

पदार्थः—**मायया च न**[1] छलेन अपि **तस्य** परमात्मोपासकस्य **मर्त्यः** मानवः **रिपुः** शत्रुः **न ईशीत** न ईशितुं वशं नेतुं शक्नोति, **यः** परमात्मोपासकः **हव्यदातये** हव्यानां देयानां विजयपराक्रमादीनां दातिः दानं यस्मात् तस्मै । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । **अग्नये** जगन्नायकाय परमेश्वराय **ददाश** आत्मसमर्पण-रूपं हविः प्रयच्छति । दाशृ दाने धातोर्लडर्थे लिट् ॥८॥

भावार्थः—विविधविघ्नबाधासंकटजालैराकीर्णेऽस्मिन् जगत्यनेके मर्त्याः शत्रवो विद्वेषविषदिग्धाः सन्तः सज्जनान् वञ्चयितुं वा लुण्ठितुं वा दग्धुं वा हन्तुं वा प्रयतन्ते । परं ये जनाः परमात्मने स्वात्म-समर्पणं कृत्वा तं शत्रुपराजयाय बलं याचन्ते तान् स पुरुषार्थे नियुज्य तथा विजयक्षमान् करोति यथा बलवन्तोऽपि बहुसंख्या अपि शत्रवो माययापि तान् वशं नेतुं न प्रभवन्ति ॥८॥

परमात्माग्नि में हवि देने से क्या फल होता है, इसका अगले मन्त्र में वर्णन है ।

पदार्थ—**मायया च न** छल से भी **तस्य** उस परमात्मोपासक को **मर्त्यः** मानव **रिपुः** शत्रु **न ईशीत** वश में नहीं कर सकता, **यः** जो उपासक **हव्यदातये** देय पराक्रम, विजय आदि को देने वाले **अग्नये** परमेश्वर के लिए **ददाश** आत्मसमर्पण रूप हवि को देता है ॥८॥

भावार्थ—तरह-तरह के विघ्न-बाधा और संकटों से घिरे हुए इस जगत् में अनेक मानव शत्रु विद्वेषरूप विष से लिप्त होकर सज्जनों को ठगने, लूटने, जलाने व मारने का प्रयत्न करते हैं । परन्तु जो लोग परमात्मा को आत्मसमर्पण करके उससे शत्रु-पराजय के लिए बल की याचना करते हैं, उन्हें वह पुरुषार्थ में नियुक्त करके विजय पाने में ऐसा समर्थ कर देता है कि बलवान् और बड़ी संख्या वाले भी शत्रु माया से भी उन्हें वश में नहीं कर पाते ॥८॥

अथ रिपूनपनेतुं प्रार्थयते ।

२३ १ २ ३२ ३२ ३१२ ३क२१
१०५. **अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम् ।**
१ २ ३ २ ३ २
दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम् ॥९॥[2]
१२१२ ३ २ ३२ ३२ ३ ३क २ ३ क२
अप त्यम् वृजिनम् रिपुम् । स्तेनम् अग्ने दुराध्यम् दुः आध्यम् ॥
१२१ ३ २ ३ २ ३ २
दविष्ठम् अस्य सत्पते सत् पते कृधि सुगम् सु गम् ॥९॥

पदार्थः—हे **सत्पते** सतां पालयितः **अग्ने** पराक्रमशालिन् परमात्मन्, विद्वन्, राजन् वा ! त्वम् **त्यम्** तम् **वृजिनम्** वर्जनीयं पापम् । वृजी वर्जने । 'वृजिनानि वर्जनीयानि' इति निरुक्तम् १०।४१ । **रिपुम्** कामक्रोधादिषड्रिपुवर्गम्, बाह्यं शत्रुं वा, **स्तेनम्** चौरम्, **दुर्-आध्यम्**[3] दुष्टचिन्तनपरायणं द्वेषिणं च ।

१. 'च न' इति निपातद्वयं सह प्रयुक्तं सद् अप्यर्थे प्रायशो दृश्यते । ऋग्वेदे 'चन' इत्येकपदतयैव पाठःपदकारेणापि तत्र पद-द्वयतया न विभक्तम् । सामपदकारस्तु 'च न' इति पृथक्त्वेन पठति, तत्रापि अप्यर्थं, ग्रहणे न कापि क्षतिः । अत्र—"मायया प्रज्ञया च । न शब्दः पूरणः—इति वि० । चनेति चार्थे—इति भ० । चनेति निपातसमुदायोऽप्यर्थे, मायया चन माययाऽपि—इति सा० ।"

२. ऋ० ६।५१।१३

३. दुराध्यं कुत्सितम् आभिमुख्येन ध्यानं यस्य स दुराध्यः तं कुत्सितध्यानम् पापसंकल्पमित्यर्थः—इति वि० ।

दुर्-आ-ध्यै चिन्तायाम् । **दविष्ठम्** दूरतमं यथा स्यात् तथा । अतिशयेन दूरं दविष्ठम् । दूरशब्दाद् इष्ठनि 'स्थूलदूर०', अ० ६।४।१५६ इति यणादिपरस्य लोपः, पूर्वस्य गुणः । **अप अस्य**[1] अप क्षिप । असु क्षेपणे, दिवादिः, लोटि मध्यमैकवचने रूपम् । अस्माकं कृते **सुगम्**[2] सुगम्यं सन्मार्गं च । सुदुरोरधिकरणे । अ० ३।२।४८' वा० इत्यनेन अधिकरणेऽर्थे गम् धातोर्डः प्रत्ययः । **कृधी** कुरु, प्रकाशय इत्यर्थः । कुरु इति प्राप्ते 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि ।' अ० ६।४।१०२ इति हेर्धिः । 'अन्येषामपि दृश्यते' । अ० ६।३।१३७ इति दीर्घः ॥९॥[3]

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—पापविचाराः पापिनो जना वा, कामक्रोधाद्या आभ्यन्तरा रिपवो बाह्याः शत्रवो वा, स्तेयविचाराः स्तेना वा, दुश्चिन्तनानि दुश्चिन्तनकारिणो वा येऽप्यस्मानाक्रामन्ति तान् वयं परमात्मनो विद्वज्जनानां नृपतेश्च साहाय्येन दूरं प्रक्षिपेम । सद्विचाराः सद्विचारशीला जनाश्च सहयोगिनो भूत्वाऽस्माभिः सार्धं विचरन्तु ॥९॥

अगले मन्त्र में रिपुओं को दूर करने की प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **सत्पते** सज्जनों के पालनकर्ता **अग्ने** पराक्रमशाली परमात्मन्, विद्वान् जन अथवा राजन् ! आप **त्यम्** उस **वृजिनम्** छोड़ने योग्य पाप को, **रिपुम्** कामक्रोधादि षड्रिपुवर्ग को, अथवा बाह्य शत्रु को, **स्तेनम्** चोर को, और **दुर्-आध्यम्** बुरा चिन्तन करने वाले द्वेषी को **दविष्ठम्** दूर से दूर **अप अस्य** फेंक दीजिए ॥९॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥९॥

भावार्थ—पाप विचार या पापी जन, काम-क्रोध आदि आन्तरिक रिपु या बाह्य शत्रु, चोरी के विचार या चोर लोग, दुश्चिन्ताएँ या दुश्चिन्तनकारी मनुष्य, जो भी हम पर आक्रमण करते हैं, उन्हें हम परमात्मा, विद्वान् लोगों और राजा की सहायता से दूर कर दें । सद्विचार और सद्विचारशील लोग सहयोगी बनकर हमारे साथ विचरें ॥९॥

अथ रक्षसां विनाशः प्रार्थ्यते ।

१०६. ३क २१ ३ १ २ ३ १२
श्रुष्ट्यग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्पते ।
२ ३ २३ १२ ३१ २
नि मायिनस्तपसा रक्षसो दह ॥१०॥[4]
३ २ ३ १२१ ३ १२१ ३
श्रुष्टी अग्ने नवस्य मे । स्तोमस्य वीर विश्पते ॥
२ ३ १२ १२१ ३१२
नि मायिनः तपसा रक्षसः दह ॥१०॥

पदार्थः—**श्रुष्टी**[5] क्षिप्रमेव । श्रुष्टी इति क्षिप्रनाम, आशु अष्टीति । निरु० ६।१३ । हे **वीर**

१. विवरणकारस्तु 'अस्य' इति नामपदमाह—'अस्य च रिपोः स्तेनस्य च' इति। तत्तु न विचारसहं, स्वरविरोधात् । 'अपास्य अपक्षिप'—इति भ०, सा० ।

२. सुगं सुखेन गम्यं पन्थानम्—इति भ० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं विद्वत्पक्षे व्याख्यातः ।

४. ऋ० ८।२३।१४, 'तपसा' इत्यत्र 'तपुषा' इति पाठः ।

५. श्रुष्टी क्षिप्रम्—इति वि० । श्रुष्टी प्रीत्या—इति भ० । सायणस्तु "स्तोमस्य स्तोत्रं शस्त्रादिकं श्रुष्टी श्रुत्वा । श्रुष्टीति स्नात्व्यादयश्च । पा० ७।१।४९ इति निपातितः, वकारलोपश्छान्दसः" इत्याह । परमन्यत्र क्वापि स्ववेदभाष्ये तेन केनचिदन्येन वा वेदभाष्यकारेण श्रुष्टीशब्दः क्त्वान्तो न व्याख्यातः, सर्वत्र निरुक्तानुसारेण क्षिप्रार्थक एव स्वीकृतः ।

पराक्रमशालिन्, **विश्पते** प्रजापालक **अग्ने** तेजोमय परमात्मन् राजन् वा ! त्वम् **मे** मम **नवस्य** स्तुत्यस्य, प्रशंसार्हस्य । णु स्तुतौ धातोः अप् प्रत्ययः । **स्तोमस्य** आभ्यन्तरस्य सद्गुणसैन्यस्य, बाह्यस्य च योद्धृसैन्यस्य **तपसा** तेजसा **मायिनः** मायाविनः छलकपटादिपूर्णान् **रक्षसः** राक्षसभावान् राक्षसजनान् वा **नि दह** निःशेषेण भस्मीकुरु ॥१०॥

अत्र अर्थश्लेषालंकारः ॥१०॥

भावार्थः—ये केचित् पापरूपाः पापिरूपा वा मायाविनो राक्षसा अस्मानुद्वेजयन्ति तान् वयं शुभाभिः स्वमनोवृत्तिभिर्बलवद्भिर्योद्धृसंघैश्च, परमात्मनो नृपस्य च साहाय्येन पराजित्याभ्यन्तरं बाह्यं च सुराज्यमुपभुञ्जीमहि ॥१०॥

अत्र अग्नि-पवमान-अदितिनामभिः परमात्मनः स्मरणात् ततो धनकीर्त्यादियाचनाद्, रिपुविनाश-राक्षसदाहादिप्रार्थनाच्चैतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्तीति वेद्यम् ॥

इति द्वितीये प्रपाठके प्रथमार्धे प्रथमा दशतिः ॥

इति प्रथमेऽध्याय एकादशः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में राक्षसों के विनाश की प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—**श्रुष्टी** शीघ्र ही, हे **वीर** पराक्रमशाली, **विश्पते** प्रजापालक **अग्ने** तेजस्वी परमात्मन् वा राजन् ! आप **मे** मेरे **नवस्य** प्रशंसायोग्य **स्तोमस्य** आन्तरिक सद्गुणों की सेना के तथा बाह्य योद्धाओं की सेना के **तपसा** तेज से **मायिनः** मायावी, छल-कपटपूर्ण **रक्षसः** राक्षसी भावों और राक्षसजनों को **नि दह** पूर्णतः भस्म कर दीजिए ॥१०॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥१०॥

भावार्थ—जो कोई पाप-रूप अथवा पापी-रूप मायावी राक्षस हमें सताते हैं, उन्हें हम अपनी शुभ मनोवृत्तियों से और बलवान् योद्धाओं से तथा परमात्मा और राजा की सहायता से पराजित करके आन्तरिक और बाह्य सुराज्य का उपभोग करें ॥१०॥

इस दशति में अग्नि, पवमान और अदिति नामों से परमात्मा का स्मरण होने से, परमात्मा से धन-कीर्ति आदि की याचना होने से तथा उससे शत्रुविनाश, राक्षसदाह आदि की प्रार्थना होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

द्वितीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की प्रथम दशति समाप्त ।

प्रथम अध्याय में ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

॥२॥ अथ 'प्र मंहिष्ठाय' इत्याद्यायाः दशतेः ऋषयः—१ प्रयोगो भार्गवः; २,३,५-७ सौभरिः; ४ प्रयोगो भार्गवः सौभरिः काण्वो वा; ८ विश्वमनाः ॥

देवता—अग्निः ॥ छन्दः—ककुबुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

अथ मनुष्याः परमेश्वरस्य गुणान् गातुं प्रेरयन्ते ।

१०७. प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे ।
उपस्तुतासो अग्नये ॥१॥[1]

१. ऋ० ८।१०३।८, ऋषिः सौभरिः काण्वः । साम ८७८ ।

प्र मꣳ हिष्ठाय गायत । ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे शुक्र शोचिषे ॥
उपस्तुतासः उप स्तुतासः अग्नये ॥१॥

पदार्थः—हे **उपस्तुतासः** प्रशंसां प्राप्ताः जनाः ! अत्र 'उपस्तुत' प्रातिपदिकात् सम्बुद्धौ जसि 'आज्जसेरसुक्' । अ० ७।१।५० इति जसोऽसुगागमः । यूयम् **मंहिष्ठाय** दातृतमाय । अतिशयेन मंहिता मंहिष्ठः । मंहते दानकर्मा । निघं० ३।२० । ततस्तृचि 'तुरिष्ठेमेयस्सु' । अ० ६।४।१५४ इति तृचो लोपः । **ऋताव्ने** सत्यनियमवते । ऋतशब्दाद् मत्वर्थे छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ' । अ० ५।२।१०९ वा० इति वनिप् । 'अन्येषामपि दृश्यते' । अ० ६।३।१३७ इति पूर्वपदस्य दीर्घान्तादेशः । **बृहते** महते, **शुक्रशोचिषे** शुक्रं दीप्तं पवित्रं वा शोचिस्तेजो यस्य तस्मै । शौचतिः ज्वलतिकर्मा । निघं० १।१६ । शुचिर् पूतीभावे । तत औणादिको रन् प्रत्ययः । उ० २।२९ । **अग्नये** परमेश्वराय **प्र गायत** प्रकृष्टतया स्तुतिगानम् अर्पयत ॥१॥

भावार्थः—प्रशंसितैर्जनैः परमेश्वरमुपास्य तद्वद् दानसत्यतेजस्वितापवित्रतादिगुणान् संधार्य यशस्विभिर्भाव्यम् ॥१॥

अगले मन्त्र में मनुष्यों को परमेश्वर का गुणगान करने की प्रेरणा दी गयी है ।

पदार्थ—हे **उपस्तुतासः** प्रशंसा-प्राप्त मनुष्यो ! तुम **मंहिष्ठाय** सबसे बढ़कर दानी, **ऋताव्ने** सत्य नियमों वाले, **बृहते** महान्, **शुक्रशोचिषे** उज्ज्वल और पवित्र तेज वाले **अग्नये** परमेश्वर के लिए **प्र गायत** भली भाँति स्तुति-गीत गाओ ॥१॥

भावार्थ—प्रशंसित जनों को चाहिए कि वे परमेश्वर की उपासना कर, उसके समान दान, सत्य, तेजस्विता, पवित्रता आदि गुणों को धारण कर यशस्वी हों ॥१॥

अथ परमात्मनः सख्येन को लाभ इति वर्णयति ।

१०८. **प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः ।**
यस्य त्वं सख्यमाविथ ॥२॥[1]
प्र सः अग्ने तव ऊतिभिः । सुवीराभिः सु वीराभिः तरति वाजकर्मभिः
वाज कर्मभिः ॥ यस्य त्वम् सख्यम् स ख्यम् आविथ ॥२॥

पदार्थ—हे **अग्ने** ज्योतिर्मय ज्योतिष्प्रद परमात्मन् ! **सः** जनः **सुवीराभिः**[2] उत्कृष्टानां वीराणां वीरभावानां वीरपुत्राणां वा प्रापयित्रीभिः । शोभना वीरा याभिस्ताः सुवीराः ताभिः । बहुव्रीहौ 'वीरवीर्यौ च' । अ० ६।२।१२० इति वीरशब्दः आद्युदात्तः । **वाजकर्मभिः** बलोत्साहकारिणीभिः । वाज इति बलनाम । निघं० २।९ । वाजः कर्म कार्यं यासां ताभिः, बलकारणभूताभिः । वाजशब्दो घञन्तत्वात् त्रित्स्वरेणाद्युदात्तः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । **तव** त्वदीयाभिः **ऊतिभिः** रक्षाभिः **प्र तरति** प्रकर्षेण विघ्नान् संतरति, भवसागरं संतरति वा, **यस्य** जनस्य **त्वम्** जगदीश्वरः **सख्यम्** मैत्रीम् **आविथ** प्राप्नोषि ।

---

१. ऋ० ८।१९।३० 'तरति, वाजकर्मभिः, सख्यमाविथ' इत्यत्र क्रमेण 'तिरते, वाजभर्मभिः, सख्यमावरः' इति पाठः । ऋषिः सोभरिः काण्वः ।

२. सुवीराभिः शोभनपुत्रपौत्रप्रदाभिः—इति भ० ।

अव रक्षणगत्यादिषु। अत्र गत्यर्थः। गतिश्च प्राप्तिरूपा। लडर्थे लिट्। संहितायां 'सो अग्ने' इत्यत्र 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यरे'। अ० ६।१।११५ इति प्रकृतिभावः ॥२॥

भावार्थः—परमात्मा यस्य सखा जायते तं पुरुषार्थिनं कामक्रोधादिर्वा वञ्चकलुण्ठकचौरादिर्वा कोऽपि शत्रुः पीडयितुं न शक्नोति ॥२॥

अगले मन्त्र में इसका वर्णन है कि परमात्मा की मैत्री से क्या लाभ होता है।

पदार्थ—हे **अग्ने** प्रकाशमय, प्रकाशदाता परमात्मन्! **सः** वह मनुष्य **सुवीराभिः** उत्कृष्ट वीर भावों वा वीर पुत्रों को प्राप्त कराने वाली, **वाजकर्मभिः** बल एवं उत्साह को उत्पन्न करने वाली **तव** आपकी **ऊतिभिः** रक्षाओं के द्वारा **प्र तरति** भलीभाँति विघ्नों को या भव-सागर को पार कर जाता है, **यस्य** जिस मनुष्य की **त्वम्** आप **सख्यम्** मैत्री को **आविथ** प्राप्त हो जाते हो ॥२॥

भावार्थ—परमात्मा जिसका सखा हो जाता है उस पुरुषार्थी को काम, क्रोध आदि वा ठग, लुटेरा, चोर आदि कोई भी शत्रु पीड़ित नहीं कर सकता ॥२॥

अथ परमात्मार्चनाय प्रेरयति।

१०९. तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे।
देवत्रा हव्यमूहिषे ॥३॥[1]
तम् गूर्धय स्वर्णरम् स्वः नरम्। देवासः देवम् अरतिम् दधन्विरे॥
देवत्रा हव्यम् ऊहिषे ॥३॥

पदार्थः—हे मानव! त्वम् **तम्** प्रसिद्धम् **स्वर्णरम्**[2] मोक्षानन्दस्य प्रापयितारम् परमात्माग्निम्। स्वः मोक्षादिसुखं नृणाति प्रापयतीति स्वर्णरः तम्। स्वः इति सुखनाय। नॄ नये ऋचादिः। **गूर्धय** अर्च। गूर्धयतिः अर्चतिकर्मा। निघं० ३।१४। संहितायाम् 'अन्येषामपि दृश्यते'। अ० ६।३।१३७ इति दीर्घः। यम् **देवम्** तेजसा दीप्तं दीपयितारं च **अरतिम्**[3] सर्वान्तर्यामिनम्, पुरुषार्थे प्रेरकम्, पापादिसंहारकम् परमात्माग्निम्। ऋच्छति व्याप्नोति सर्वत्र, अर्पयति प्रेरयति पुरुषार्थे, ऋणोति हिनस्ति पापादिकं वा यः सः अरतिः। ऋ गतिप्रापणयोः इति, ऋ हिंसायाम् इति वा धातोः बहिवस्यर्तिभ्यश्चित्। उ० ४।६० इत्यनेन अतिः प्रत्ययः। **देवासः** देवाः विद्वांसः **दधन्विरे** स्वान्तःकरणे धारयन्ति। डुधाञ् धारणपोषणयोः धातोर्द्विर्विकरणत्वे छान्दसं रूपमिदम्। यद्वा धन्वतिः गतिकर्मा। निघं० २।१४। तस्य लडर्थे लिटि रूपम्।

---

१. ऋ० ८।१९।१, 'हव्यमूहिषे' इत्यत्र 'हव्यमोहिरे' इति पाठः। साम० १६८७।

२. स्वर्णरं सर्वस्य नेतारम्। स्वः शब्दः सर्वशब्दपर्यायः। अपि वा स्वर्गस्य नेतारम्—इति भ०। स्वर्णरं सर्वस्य नेतारं, सर्वैः यजमानैः कर्मादौ नेतव्यं वा, अथवा स्वर्गं प्रति हविषां नेतारम्—इति सा०। स्वः, लुप्तोपमम् इदं द्रष्टव्यम्, स्वरिव आदित्यमिवेत्यर्थः, नरं नराकारम्—इति वि०। 'स्वः, नरम्' इति पृथक् पदद्वयमिति पदकृत्पाठात् स्वरश्रुतेश्च स्पष्टमवगम्यते, विवरणकारश्चैवमेव व्याचष्टे—इति सत्यव्रतसामश्रमी। तत्तु चिन्त्यम्, उपलब्धपदपाठपुस्तकेषु समस्तपदत्वेनैव प्रदर्शितत्वात्। ऋग्वेदपदकारेणापि सर्वत्र 'स्वर्णरम्' इति पदं 'स्वःऽनरम्' इति समस्तपदत्वेनैव निरूपितम्, सायणादिभिश्च तथैव व्याख्यातम्। समस्तपदत्वेन स्वीकृते सति स्वरोऽपि संगच्छत एव। स्वर् इति 'न्यङ्स्वरौ स्वरितौ' इति स्वरितम्, तत्पुरुषेऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः।

३. अरतिम् अलं मतिम् पर्याप्तमति सर्वज्ञमित्यर्थः। अथवा देवान् यजमानांश्च प्रति गन्तारम्—इति वि०।

व्यत्ययेनात्मनेपदम् । अथ परमात्माग्निः सम्बोध्यते—हे परमात्माग्ने ! त्वम् **देवत्रा** देवेषु विद्वत्सु । देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् । अ० ५।४।५६ इति सप्तम्यर्थे त्रा प्रत्ययः । **हव्यम्** दातव्यं बलम् **ऊहिषे** वहसि । अत्र वह प्रापणे धातोः कालसामान्ये लिट्, मध्यमैकवचने रूपम् । तिङ्स्वरः ॥३॥

भावार्थः—मनीषिणो जना यं देवाधिदेवं जगत्स्रष्टारं जगदीश्वरमाराध्य धर्मार्थकामोक्षादिसुखं प्राप्नुवन्ति, ससर्वैरेव जनैः कुतो नोपासनीयः ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की अर्चना के लिए प्रेरणा की गयी है ।

पदार्थ—हे मनुष्य ! तू **तम्** उस प्रसिद्ध, **स्वर्णरम्** मोक्ष के आनन्द को प्राप्त कराने वाले परमात्मारूप अग्नि की **गूर्धय** आराधना कर, जिस **देवम्** तेज से देदीप्यमान तथा तेज से प्रदीप्त करने वाले, **अरतिम्** सर्वान्तर्यामी, पुरुषार्थ में प्रेरित करने वाले, पाप आदि के संहारक परमात्मा-रूप अग्नि को **देवासः** विद्वान् लोग **दधन्विरे** अपने अन्तःकरण में धारण करते हैं । अब परमात्माग्नि को सम्बोधन करते हैं—हे परमात्माग्ने ! आप **देवत्रा** विद्वानों **में हव्यम्** दातव्य बल को **ऊहिषे** प्राप्त कारते हो ॥३॥

भावार्थ—मनीषी लोग जिस देवाधिदेव, जगत् की रचना करने हारे जगदीश्वर की आराधना करके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि के सुख को प्राप्त करते हैं, उसकी सभी जन उपासना क्यों न करें ? ॥३॥

अथ परमात्मपूजाऽतिथिसत्कारविषयमाह ।

११०. मा नो हृणीथा अतिथिं वसुरग्निः पुरुप्रशस्त एषः ।
यः सुहोता स्वध्वरः ॥४॥[1]

मा नः हृणीथाः अतिथिम् । वसुः अग्निः पुरुप्रशस्तः पुरु प्रशस्तः एषः ॥
यः सुहोता सु होता स्वध्वरः सु अध्वरः ॥४॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । हे मातः ! त्वम् **नः** अस्माकम् **अतिथिम्** अतिथिभूतम् अतिथिवत् पूज्यम् अग्निं परमात्मानम् **मा हृणीथाः** अवज्ञानेन वेदविरुद्धाचरणेन वा न कोपयस्व । हृणीयते क्रुध्यतिकर्मा । निघं० २।१२ । हृणीङ् रोषणे लज्जायां च । **एषः**[2] अयम् **वसुः** निवासकः **अग्निः** तेजस्वी अग्रनायकः परमात्मा **पुरुप्रशस्तः** बहुभिः कीर्तितः विद्यते इति शेषः । पुरु इति बहुनाम । निघं० ३।१ । शं सु स्तुतौ । **यः** परमात्मा **सुहोता** शोभनः दाता, **स्वध्वरः** सुष्ठुतयाऽस्माकं जीवनयज्ञस्य सञ्चालकश्च वर्तते । शोभनः अध्वरः जीवनयज्ञः यस्मात् स स्वध्वरः ।

अथ **द्वितीयः** अतिथिपरः । हे गृहिणि ! त्वम् **नः** अस्माकम् **अतिथिम्** अभ्यागतम् आचार्योपदेशकसंन्यासिप्रभृतिम् **मा हृणीथाः** यथायोग्यसत्काराकरणेन रुष्टं मा कार्षीः । **एषः** अयम् **अग्निः** धर्मविद्यादिप्रकाशेन प्रकाशितः अतिथिः **वसुः** गृहस्थानां निवासकः, **पुरुप्रशस्तः** पुरुभिः बहुभिः अतिथिपूजां यज्ञं घोषयद्भिः वेदादिशास्त्रैः[3] प्रशस्तः कृतप्रशंसश्च वर्तते, **यः** विद्वान् अतिथिः **सुहोता** सदुपदेष्टा, **स्वध्वरः** श्रेष्ठः अध्वरः विद्याप्रचाररूपो यज्ञो यस्य तादृशश्च वर्तते ॥४॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥४॥

भावार्थः—यथा सुपूजितः परमेश्वरः पूजकाय सद्गुणादिसम्पत्तिं प्रदाय तत्कल्याणं करोति,

---

१. ऋ० ८।१०३।१२, ऋषिः सोभरिः काण्वः । प्रथमे पादे 'मा नो हृणीतामतिथिर्' इति पाठः ।

२. एषः, एषृ गतौ इत्यस्यैतद् रूपम्, गन्ता—इति वि० । भरतसायणयोर्मते तु 'एषः' इति एतदः एव रूपम् ।

३. अतिथियज्ञविषये द्रष्टव्यम् । अथ० ९।६,१५।१०-१३ ।

तथैव सुसत्कृतोऽतिथिराशीर्वाद-सदुपदेशादि-प्रदानेन गृहस्थमुपकरोति। अतः परमेश्वरोपासनेऽतिथिसत्कारे च कदापि प्रमादो न विधेयः ॥४॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की पूजा और अतिथि के सत्कार का विषय है।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे भाई ! तू **नः** हम सबके **अतिथिम्** अतिथिरूप, अतिथि के समान पूज्य अग्नि नामक परमात्मा को **मा हृणीथाः** उपेक्षा या वेदविरुद्ध आचरण से क्रुद्ध मत कर। **एषः** यह **वसुः** निवासक, **अग्निः** तेजस्वी, अग्रनायक परमात्मा **पुरुप्रशस्तः** बहुतों से स्तुति किया गया है, **यः** जो **सुहोता** उत्तम दाता, और **स्वध्वरः** शुभ रूप से हमारे जीवन-यज्ञ का संचालक है।

द्वितीय अतिथि के पक्ष में। हे गृहिणी ! तू **नः** हमारे **अतिथिम्** अतिथिरूप आचार्य, उपदेशक, संन्यासी आदि को **मा हृणीथाः** यथायोग्य सत्कार न करके रुष्ट मत कर। **एषः** यह **अग्निः** धर्म, विद्या आदि के प्रकाश से प्रकाशित अतिथि **वसुः** गृहस्थों का निवास-दाता, और **पुरुप्रशस्तः** अतिथि-सत्कार को यज्ञ घोषित करने वाले बहुत से वेदादि शास्त्रों से प्रशंसित है, **यः** जो विद्वान् अतिथि **सुहोता** सदुपदेष्टा, और **स्वध्वरः** श्रेष्ठ विद्याप्रचार रूप यज्ञ वाला है ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥४॥

भावार्थ—जैसे उत्तम प्रकार पूजा किया गया परमेश्वर पूजा करने वाले को सद्गुण आदि की सम्पत्ति देकर उसका कल्याण करता है, वैसे ही भली भाँति सत्कार किया गया अतिथि आशीर्वाद, सदुपदेश आदि देकर गृहस्थ का उपकार करता है। इसलिए परमेश्वर की उपासना में और अतिथि के सत्कार में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए ॥४॥

अथ भद्रमाकाङ्क्षते।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१११. भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः।
३ २ ३ १ २ ३
भद्रा उत प्रशस्तयः ॥५॥[1]

३ २ ३ २ १ २ ३ ३ २ ३ २ ३ २ ३
भद्रः नः अग्निः आहुतः आ हुतः। भद्रा रातिः सुभग सु भग भद्रः अध्वरः ॥
३ २ ३ २ १ २ ३
भद्राः उत प्रशस्तयः प्र शस्तयः ॥५॥

पदार्थः—**आहुतः अग्निः** प्राप्तसुगन्धिमिष्टपुष्ट्यारोग्यवर्द्धकहव्याहुतिः यज्ञाग्निः, सत्कृतः अतिथिः, प्राप्तसमर्पणाहुतिः परमात्मा च **नः** अस्मभ्यम् **भद्रः** भद्रप्रदः अस्तु। **रातिः** अस्माभिः कृता दत्तिः **भद्रा** श्रेष्ठा भद्रप्रदा वा अस्तु। हे **सुभग** सौभाग्यवन् मदीय अन्तरात्मन् ! त्वया कृतः **अध्वरः** यज्ञः **भद्रः** श्रेष्ठः भद्रप्रदो वा अस्तु। **उत** अपि च **प्रशस्तयः** त्वदुपार्जिताः कीर्तयः **भद्राः** श्रेष्ठाः भद्रप्रदा वा सन्तु ॥५॥[2]

अत्रार्थश्लेषालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैरग्निहोत्रादिरूपोऽतिथिसत्काररूपः परमात्मपूजनरूपश्च यज्ञो नित्यमनुष्ठेयो येन तेषां भद्रं भवेत्, तेषामुज्ज्वलाः कीर्तयश्च सर्वत्र प्रसरेयुः ॥५॥

अगले मन्त्र में भद्र की आकांक्षा की गयी है।

पदार्थ—आहुतः अग्निः जिसमें सुगन्धित, मधुर, पुष्टिवर्धक तथा आरोग्यवर्धक हवियों की

१. ऋ० ८।१९।१९, य० १५।३८ ऋषिः परमेष्ठी, साम० १५३८।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं कल्याणप्राप्तिविषये व्याख्यातः।

आहुति दी गयी है ऐसा यज्ञाग्नि, सत्कार किया गया अतिथि और जिसमें उपासक द्वारा आत्मसमर्पण की आहुति दी गयी है ऐसा परमात्मा **नः** हमारे लिए **भद्रः** भद्र को देनेवाला हो। **रातिः** हमारे द्वारा दिया गया दान **भद्रा** भद्र अथवा भद्र को देने वाला हो। हे **सुभग** सौभाग्यशाली मेरे अन्तरात्मन् ! तुझसे किया गया **अध्वरः** यज्ञ **भद्रः** भद्र अथवा भद्रजनक हो। **उत** और **प्रशस्तयः** तुझसे अर्जित प्रशस्तियाँ वा कीर्तियाँ **भी भद्राः** भद्र अथवा भद्रजनक हों ॥५॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है ॥५॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को अग्निहोत्रादिरूप, अतिथिसत्काररूप और परमात्मा की पूजा रूप यज्ञ नित्य करना चाहिए, जिससे उन्हें भद्र प्राप्त हो और उनकी उज्ज्वल कीर्तियाँ सर्वत्र फैलें ॥५॥

अथ परमात्मनो नृपतेश्च वरणविषयमाह।

११२. यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥६॥[1]

यजिष्ठम् त्वा ववृमहे। देवम् देवत्रा होतारम् अमर्त्यम् अ मर्त्यम् ॥
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् सु क्रतुम् ॥६॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। हे अग्ने अग्रणीः परब्रह्म परमात्मन् ! **यजिष्ठम्** अतिशयेन यष्टारम् सृष्टियज्ञविधातारं, सुखैश्वर्यादीनां दातारं, द्यावापृथिव्यादीनां सङ्गमयितारम्। अतिशयेन यष्टा यजिष्ठः। यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु। तृजन्ताद् अतिशायने इष्ठनि 'तुरिष्ठेमेयस्सु'। अ० ६।४।१५४ इति तृचो लोपः। **देवत्रा देवम्** देवेषु प्रकाशकेषु सूर्यविद्युच्चन्द्रादिषु चक्षुःश्रोत्रमनआदिषु वा श्रेष्ठं प्रकाशकम्। देवत्रा देवेषु, सप्तम्यर्थे त्रा प्रत्ययः। **होतारम्** मोक्षसुखस्य प्रदातारम्, **अमर्त्यम्** अमरणधर्माणम्, **अस्य यज्ञस्य** एतस्य मदीयस्य ध्यानयज्ञस्य **सुक्रतुम्** सुसञ्चालकं सुसफलयितारम् (**त्वा**) त्वाम् वयम् **ववृमहे** उपास्यत्वेन वृण्महे। वृञ् वरणे, कालसामान्ये लिट् ॥६॥

अथ **द्वितीयः** नृपतिपरः। हे अग्ने अग्रगन्तः वीरपुरुष ! **यजिष्ठम्** अतिशयेन यष्टारं, परोपकारिणम्, **देवत्रा देवम्** दिव्यगुणयुक्तेषु जनेषु विशेषेण दिव्यगुणयुक्तम्, **होतारम्** प्रजाभ्यः सुखप्रदातारम्, **अमर्त्यम्** कीर्त्या अमरणशीलम्, **अस्य यज्ञस्य** एतस्य राष्ट्रयज्ञस्य **सुक्रतुम्** सुकर्तारम् **त्वा** त्वाम्, वयं प्रजाजनाः **ववृमहे** राजपदाय वृण्महे ॥६॥

अत्र श्लेषालङ्कारः। 'देवं, देव' इत्यत्र छेकानुप्रासः ॥६॥

भावार्थः—यथा प्रजाजनैर्दिव्यगुणकर्मस्वभावः परमेश्वर उपास्यत्वेन वरणीयस्तथैव वीरः, परोपकारी, श्लाघ्यगुणः, सुखप्रदाता, कीर्तिमान्, सुशासकः, शत्रुविजेता पुरुषो राजपदे प्रतिष्ठापनाय वरणीयः ॥६॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा को वरने का विषय है।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे अग्रणी परब्रह्म परमात्मन् ! **यजिष्ठम्** अतिशयरूप से सृष्टियज्ञ के विधाता, सुख-ऐश्वर्य आदि के दाता, सूर्य-पृथिवी आदि का परस्पर संगम करानेवाले, **देवत्रा देवम्** प्रकाशक सूर्य, बिजली, चन्द्रमा आदि तथा चक्षु, श्रोत्र, मन आदि में सर्वश्रेष्ठ प्रकाशक

१. ऋ० ८।१९।३, साम० १४१३।

होतारम् मोक्षसुख के प्रदाता, **अमर्त्यम्** अमरणशील, **अस्य यज्ञस्य** इस मेरे ध्यान-यज्ञ के **सुक्रतुम्** सुसंचालक, सफलताप्रदायक **त्वा** आपको, हम **ववृमहे** उपास्य रूप से वरण करते हैं ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे अग्रगन्ता वीर पुरुष ! **यजिष्ठम्** अतिशय परोपकार-यज्ञ करने वाले, **देवत्रा देवम्** दिव्यगुणयुक्त मनुष्यों में विशेषरूप से दिव्य गुणों वाले, **होतारम्** प्रजाओं को सुख देने वाले, **अमर्त्यम्** अमर कीर्ति वाले, **अस्य यज्ञस्य** इस राष्ट्रयज्ञ के **सुक्रतुम्** सुकर्ता **त्वा** तुझे, हम प्रजाजन **ववृमहे** राजा के पद के लिए चुनते हैं ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। 'देवं, देव' में छेकानुप्रास है ॥६॥

भावार्थ—जैसे प्रजाजनों को दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव वाले परमेश्वर का उपास्य रूप में वरण करना चाहिए, वैसे ही वीर, परोपकारी, श्लाघ्य गुणों वाले, सुखप्रदाता, कीर्तिमान्, सुशासक, शत्रु-विजेता पुरुष को राजा के पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए चुनना चाहिए ॥६॥

अथ परमात्मानं तेजः प्रार्थयते।

११३. तदग्ने द्युम्नमा भर यत् सासाह सदने कं चिदत्रिणम्।
मन्युं जनस्य दूढ्यम् ॥७॥[1]

तत् अग्ने द्युम्नम् आ भर। यत् सासाह सदने कम् चित् अत्रिणम् ॥
मन्युम् जनस्य दूढ्यम् ॥७॥

पदार्थः—हे **अग्ने** तेजोमय परमात्मन् ! त्वम् **तत्** स्पृहणीयम् **द्युम्नम्** तेजः। द्युम्नं द्योततेः। निरु० ५।५। **आभर** अस्मभ्यम् आहर, **यत्** तेजः **सदने** हृदयगृहे राष्ट्रगृहे वा **कं चित्** यं कमपि **अत्रिणम्** भक्षकं पापरूपं पापिरूपं वा राक्षसम्। अद् भक्षणे धातोः 'अदेस्त्रिनिश्च।' उ० ४।६९ इति त्रिनिः प्रत्ययः। रक्षांसि वै पाप्माऽत्रिणः। ऐ० ब्रा० २।२। किञ्च **जनस्य** मनुष्यस्य **दूढ्यम्**[2] दुष्टा धीर्यस्मात् तम् दुर्बुद्धिकारकमित्यर्थः। 'दूढ्यं दुर्धियं पापधियम्' इति निरुक्तम् ५।२। **मन्युम्** क्रोधम्। मन्युः क्रोधनाम। निघं० २।१३। **सासाह** अभिभवेत्। अभिभवार्थात् षह धातोः लिङर्थे लिट्। 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य'। अ० ६।१।७ इत्यभ्यासदीर्घः ॥७॥

भावार्थः—मनुष्यस्य हृदयसदनं बहवः पापरूपा राक्षसाः राष्ट्रसदनं च भ्रष्टाचाररताः पापिरूपा राक्षसा समाक्रम्य विकारयितुमिच्छन्ति। क्रोधोऽपि मनुष्यस्य राष्ट्रस्य च महान् रिपुर्येन ग्रस्ताः प्रजा राज्याधिकारिणो वा सहृदयतां विहाय नरपिशाचत्वं प्रतिपद्यन्ते। परमेश्वरस्य प्रेरणया जनैस्तत् तेजो धारणीयं येन ते समस्तानपि पापविचारान्, पापिनो जनान्, क्रोधस्य नग्नं ताण्डवं च विखण्ड्य स्वात्म-हृदयं, जनहृदयं, राष्ट्रहृदयं च पवित्रं कुर्युः ॥७॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से तेज की प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **अग्ने** तेजस्वी परमात्मन् ! आप **तत्** वह **द्युम्नम्** तेज **आभर** हमें प्रदान कीजिए, **यत्** जो **सदने** हृदय-सदन और राष्ट्र-सदन में **कंचित्** जिस किसी भी **अत्रिणम्** भक्षक पाप-रूप अथवा पापी-रूप राक्षस को और **जनस्य** मनुष्य के **दूढ्यम्** दुर्बुद्धिकारी **मन्युम्** क्रोध को **सासाह** नष्ट कर दे ॥७॥

---

१. ऋ० ८।१९।१५, 'सासाह, दूढ्यम्', इत्यत्र क्रमेण 'सासहत्, दूढ्यः' इति पाठः।

२. दूढ्यं दुर्धियं दुष्टाभिध्यानं वा—इति भ०।

भावार्थ—मनुष्य के हृदय-सदन को बहुत से पाप-रूप राक्षस और राष्ट्र-सदन को भ्रष्टाचार में संलग्न पापी-रूप राक्षस आक्रान्त करके बिगाड़ना चाहते हैं। क्रोध भी मनुष्य का और राष्ट्र का महान् शत्रु है, जिससे ग्रस्त हुए प्रजाजन और राज्य के अधिकारी सहृदयता को छोड़कर नरपिशाच हो जाते हैं। परमेश्वर की प्रेरणा से मनुष्यों को ऐसा तेज धारण करना चाहिए, जिससे वे सभी पाप-विचारों को, पापी लोगों को और क्रोध के नग्न ताण्डव को खण्डित करके अपने हृदय को, जन-हृदय को और राष्ट्र-हृदय को पवित्र करें।

अथ यज्ञाग्निरतिथिराचार्यो राजा परमात्मा च मनुष्याणां किमुपकुर्वन्तीत्याह।

११४. यद्वा उ विश्पतिः शितः सुप्रीतो मनुषो विशे।
विश्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति ॥८॥[1]

यत् वै उ विश्पतिः शितः। सुप्रीतः सु प्रीतः मनुषः विशे ॥
विश्वा इत् अग्निः प्रति रक्षाꣳसि सेधति ॥८॥

पदार्थः—**यत् वै उ** यदा खलु **विश्पतिः** प्रजापालकः **अग्निः** यज्ञाग्निः, अतिथिः, आचार्यः, राजा, परमात्मा वा **शितः** हविष्प्रदानेन तीक्ष्णीकृतः, प्रोद्बोधितः, उत्साहितो वा सन्। शो तनूकरणे निष्ठायां रूपम्। **मनुषः** सत्कर्तुः मनुष्यस्य **विशे** यज्ञगृहे स्वगृहे, गुरुकुलगृहे, राष्ट्रगृहे, हृदयगृहे वा। विशन्त्येतद् इति विशः गृहम्। **सुप्रीतः** सुतृप्तः जायते, तदा **विश्वा इत्** सर्वाण्येव। विश्वानि इति प्राप्ते 'शेश्छन्दसि बहुलम्'। अ० ६।१।७० इति शिलोपः। **रक्षांसि** अविद्याव्याधिदुराचारदुर्गुणादीन् राक्षसान् शत्रूंश्च **प्रति सेधति** निवारयति ॥८॥

अत्रार्थश्लेषालङ्कारः ॥८॥

भावार्थः—यथा घृताद्याहुतिप्रदानेन तीक्ष्णीकृतः सुतृप्तश्च यज्ञवह्निः सर्वान् रोगराक्षसान् विनाशयति, यथा वा गृहे सत्कारेण प्रसादितो विद्वानतिथिर्गृहस्थस्य सर्वानविद्यादीन् राक्षसान् हन्ति, यथा वा शिष्याणां शुश्रूषया व्रतपालनेन च वशीकृत आचार्यस्तेषां समस्तान् दोषान् दूरीकरोति, यथा वा प्रजाजनैरुत्साहितः करादिप्रदानेन तोषितश्च राजा तेषां संकटानपहरति, तथा समर्पणरूपहविष्प्रदानेनोपासित सुतोषितश्च परमात्मा सर्वान् विघ्नान् कामक्रोधादीन् राक्षसाँश्च समूलं हिनस्ति ॥८॥

अत्र परमात्मसख्यस्य फलप्रतिपादनपूर्वकं तत्स्तुत्यर्थं प्रेरणात्, ततस्तेजःप्रार्थनात्, तद्द्वारा राक्षसनिवारणादिवर्णनाद्, अग्निनाम्ना नृपातिथ्याचार्ययज्ञाग्न्यादीनां चरितवर्णनाच्चैतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्तीति बोध्यम् ॥

इति द्वितीये प्रपाठके प्रथमार्धे द्वितीया दशतिः।
इति प्रथमेऽध्याये द्वादशः खण्डः।
समाप्तश्चायं प्रथमोऽध्यायः ॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि यज्ञाग्नि, अतिथि, आचार्य, राजा और परमात्मा मनुष्यों का क्या उपकार करते हैं।

पदार्थ—**यत् वै उ** जब **विश्पतिः** प्रजापालक **अग्निः** यज्ञाग्नि, अतिथि, आचार्य, राजा वा

१. ऋ० ८।२३।१३, 'विशे' इत्यत्र 'विशि' इति पाठः।

परमात्मा **शितः** हवि देने से तीक्ष्ण, भलीभाँति उद्बोधित वा उत्साहित होकर **मनुषः** सत्कार करने वाले मनुष्य के **विशे** यज्ञगृह, स्व-गृह, गुरुकुल-रूप गृह, राष्ट्र-गृह वा हृदय-गृह में **सुप्रीतः** भलीभाँति तृप्त हो जाता है, तब **विश्वा इत्** सभी **रक्षांसि** अविद्या, रोग, दुराचार, दुर्गुण आदि राक्षसों तथा शत्रुओं को **प्रतिसेधति** दूर कर देता है ॥८॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालङ्कार है ॥८॥

भावार्थ—जैसे घृत आदि की आहुति देने से तीक्ष्ण तथा सुतृप्त हुई यज्ञाग्नि रोगरूप राक्षसों को विनष्ट करती है, अथवा जैसे घर में सत्कार से प्रसन्न किया गया विद्वान् अतिथि गृहस्थ के सब अविद्या आदि राक्षसों का विनाश करता है, अथवा जैसे शिष्यों की शुश्रूषा तथा उनके व्रतपालन से वश में किया गया आचार्य उनके सब दोषों को दूर करता है, अथवा जैसे प्रजाजनों से उत्साहित तथा कर आदि के प्रदान से सन्तुष्ट किया गया राजा उनके संकटों को हटाता है, वैसे ही समर्पणरूप हवि देकर उपासना किया गया तथा सुप्रसन्न किया गया परमात्मा उपासकों के सब विघ्नों को और काम, क्रोध आदि राक्षसों को समूल नष्ट कर देता है ॥८॥

इस दशति में परमात्मा की मित्रता का फल प्रतिपादन करते हुए उसकी स्तुति की प्रेरणा होने से, उससे तेज आदि की प्रार्थना होने से, उसके द्वारा राक्षसों के निवारण आदि का वर्णन होने से और अग्नि नाम से यज्ञाग्नि, अतिथि, आचार्य, राजा आदि के चरित का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

द्वितीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त ।
प्रथम अध्याय में बारहवाँ खण्ड समाप्त ।
यह प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥

इति बरेलीमण्डलान्तर्गतफरीदपुरवास्तव्यश्रीमद्गोपालरामभगवतीदेवीतनयेन
हरिद्वारीयगुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयेऽधीतविद्येन विद्यामार्तण्डेन
आचार्यरामनाथवेदालङ्कारेण महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामि-
कृतवेदभाष्यशैलीमनुसृत्य विरचिते संस्कृतार्य-
भाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते
सामवेदभाष्ये आग्नेयं काण्डं
पर्व वा समाप्तिमगात् ॥

—०—

अथैन्द्रं काण्डं पर्व वा

आग्नेयं काण्डं पर्व वा व्याख्याय साम्प्रतम् ऐन्द्रं काण्डं पर्व वा प्रारभ्यते। तस्मिन् साकल्येन द्विपञ्चाशदुत्तरत्रिशतं (३५२) मन्त्राः सन्ति। तत्र प्रायेण[1] इन्द्रो देवता, इन्द्रदेवताकत्वादेव 'ऐन्द्रम्' इति नाम। अग्निर्देवता यथा प्रमुखत्वेन तेजसः प्रकाशस्य च प्रतीकं, तथा 'इन्द्रो' देवता मुख्यत्वेन ऐश्वर्यस्य वीरतायाश्च प्रतीकम्।

'इन्द्र' शब्दस्य निरुक्तिं यास्काचार्य एवं प्रदर्शयति—"इन्द्रः इरां दृणातीति वा, इरां ददातीति वा, इरां दधातीति वा, इरां दारयत इति वा, इरां धारयत इति वा। इन्दवे द्रवतीति वा, इन्दौ रमत इति वा, इन्धे भूतानीति वा, तद्यदेनं प्राणैः समैन्धन् तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम् (छां० उ० ५।१।१३) इति विज्ञायते। इदंकरणादित्याग्रायणः, इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः। इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मणः। इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा, आदरयिता च यज्वनाम्। निरु० १०।८।" एतां निरुक्तिमाश्रित्य महर्षिणा दयानन्देन स्वकीये ऋग्वेदभाष्ये यजुर्वेदभाष्ये च बहवोऽर्था इन्द्रशब्दस्य प्रतिपादिताः, तद्यथा—परमेश्वरः, जीवात्मा, सूर्यः, विद्युत्, अग्निः, वायुः, राजा, शत्रूणां विदारयिता सेनापतिः, शत्रुविजेता शूरवीरो योद्धा, दारिद्र्य-विदारकः शिल्पी, भूमेर्दारयिता कृषीवलः, विद्यादिपरमैश्वर्ययुक्तो विद्वान्, आयुर्वेदविद्यायुक्तो वैद्यः इत्यादि।

ऋग्भाष्ये परमेश्वरपक्षे सूर्यपक्षे च यास्कनिर्वचनानि व्याचक्षाणः ऋ० १।३।४ मन्त्रस्य भाष्ये स आह—"इराशब्देन पृथिव्यादिकम् उच्यते। तद्दारणात्, तद्दानात् तद्धारणात्, चन्द्रलोकस्य प्रकाशाय द्रवणात्, तत्र रमणाद् इत्यर्थेन इन्द्रशब्दात् सूर्यलोको गृह्यते। तथा सर्वेषां भूतानां प्रकाशनात्, प्राणैर्जीवस्य उपकरणात्, अस्य सर्वस्य जगत उत्पादनाद्, दर्शनहेतोश्च, सर्वैश्वर्ययोगाद्, दुष्टानां शत्रूणां विनाशनाद्, दूरे गमकत्वात् यज्वनां रक्षकत्वाच्च इत्यर्थात् इन्द्रशब्देन ईश्वरस्य ग्रहणम्" इति।

ऐन्द्रकाण्डेऽस्मिन् 'इन्द्र'शब्दस्य मुख्योऽर्थः परमात्मैव। तत्र यास्कीयनिर्वचनान्येवं घटन्ते—इरा इति अन्ननाम। निघं० २।७ परमेश्वरो हि इरां भूमावुप्तम् अन्नम् अङ्कुररूपेण स्वयं दृणाति सूर्यद्वारेण दारयते वा। भूमिरपि इरा इडा वा उच्यते। 'इरा भूवाक्सुराप्सु स्यात्' इत्यमरः (३।३।१७६)। इडा इति पृथिवीनाम। निघं० १।१, डरयोरभेदः। परमेश्वरः इरां भूमिं विदार्य स्रोतांसि प्रवाहयति। स इराम् अन्नं पृथिवीं च ददाति। अपि च इराम् अन्नं पृथिवीं च दधाति सूर्यद्वारा धारयते वा। स इन्दवे

---

१. एते अपवादाः सन्ति—१४६, २४१, ३५६, ४०१, ४०४, ४३३, ४६२ मरुतः। २५५ मित्रावरुणादित्याः। २६६ बहवः (त्वष्टा, पर्जन्यः, ब्रह्मणस्पतिः, अदितिः)। ३०३, ३६७, ४२१, ४४३, ४५० उषाः। ३०४-५, ४१८ अश्विनौ। ३२० वेनः। ३५८ इन्द्रो दधिक्रावा। ३६८, ४१७, ४२६, ४४२, ४५५, ४६१ विश्वेदेवाः। ३७८ द्यावापृथिवी। ३६५, ३६७ आदित्याः। ४१६, ४२०, ४२५, ४३४, ४४७-४५०, ४६५ अग्निः। ४२२ सोमः। ४२७-४३२, ४६३ पवमानः सोमः। ४३५ वाजिनः। ४५६ सूर्यः। ४६४ सविता। एतेऽपि इन्द्रेण सम्बद्धा एव।

जलाय जलवर्षणार्थं यज्ञाय वा द्रवति गच्छति सक्रियो भवति। इन्दुरिति जलनाम यज्ञनाम च। निघं० १।१२,३।१७, द्रु गतौ। स इन्दौ स्तोतणां श्रद्धारूपे सोमरसे रमते। सोमो वा इन्दुः। श० २।२।३।२३।, यद्वा इन्दौ सृष्टियज्ञसंचालने रमते। किंच इन्धे प्रकाशयति भूतानि सूर्यचन्द्रविद्युदादीनि ज्योतिर्मयानि वस्तूनि, यद्वा उपासकैः इध्यते प्राणायामद्वारा प्रदीप्यतेऽन्तःकरणे। स एव इदं सर्वं जगत् करोति रचयति, इदं सर्वं जगत् पश्यति वा, इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति वा। इदि परमैश्वर्ये, रन् प्रत्ययः। इन्दन् परमैश्वर्यवान् भवन् योगिनां कामादिशत्रून् दारयति द्रावयति वा, आदरयति सम्मानयति यज्वनः यज्ञकर्त्तॄनिति वा।

परमेश्वरातिरिक्तम् इन्द्रशब्दोऽध्यात्मप्रक्रियायाम् आत्ममनःप्राणवागादीनामपि वाचको भवति, मन एवेन्द्रः। श० १२।६।१।१३, यन्मनः स इन्द्रः। गो० उ० ४।११, प्राण एवेन्द्रः। श० १२।६।१।१४, वाग् वा इन्द्रः। कौ० ब्रा० २।७ इत्यादिप्रामाण्यात्। व्यावहारिकप्रक्रियायामपि आधिदैविकाधिभौतिकाधियज्ञादिदृष्टिभिर्विभिन्नार्था वेदेषु ब्राह्मणादिषु च संकेतिताः। प्र सम्राजं चर्षणीनाम्। ऋ० ८।१६।१, इन्द्रो जयाति न पराजयाता अधिराजो राजसु राजयातै। अथ० ६।६८।१, विश्वासां तरुता पृतनानाम्। ऋ० ८।७०।१ इत्यादिभिर्वेदवचनैरिन्द्रस्य सम्राट्त्वं सेनापतित्वं वा सूचितं भवति। अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः। श० ८।५।३।२, यो वै वायुः स इन्द्रः। श० ४।१।३।१६, स्तनयित्नुरेव इन्द्रः। श० ११।६।३।६, यजमानो वै स्वे यज्ञ इन्द्रः। श० ८।५।३।८ इत्यादिभिश्च प्रमाणैः सूर्य-वायु-विद्युद्-यजमानादीनाम् इन्द्रत्वं बोध्यते। परमेश्वरातिरिक्ता एतेऽप्यर्था यत्र तत्र वाच्या व्यङ्ग्या वा भवन्तो मुख्यार्थं च संपुष्णन्तः सामवेदे ज्ञानकर्मोपासनानां समन्वयं सूचयन्ति।

इन्द्रस्य कर्माणि यास्काचार्य इत्थं वर्णयति—अथास्य कर्म, रसानुप्रदानं, वृत्रवधः या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्। निरु० ७।१०। इन्द्रस्य प्रथमं कर्म रसानुप्रदानम्। यथा इन्द्रपदवाच्यः सूर्यो विद्युदग्निर्वा वृष्टिरसं प्रयच्छति, राजा च प्रजाभ्यः सुखसमृद्धिरसं प्रयच्छति, तथैव परमेश्वरोऽध्यात्मसाधकेभ्य आनन्दरसं वर्षति। द्वितीयं कर्म वृत्रवधः। यथा सूर्यो विद्युद् वा मेघरूपं वृत्रं विदारयति, राजा राष्ट्रोन्नतिबाधकान् शत्रून् हिनस्ति, तथैव परमेश्वरोऽध्यात्मप्रगतिप्रतिबन्धकान् विघ्नान् विनाशयति। तृतीयं कर्म सर्वा बलकृतिः। यथा सूर्यः पृथिवीचन्द्रादीन् ग्रहोपग्रहान् स्वाकर्षणबलेन धारयति, राजा सेनापतिर्वा स्वबलेन शत्रून् विजयते, तथैव परमेश्वरो नास्तिकान् अधार्मिकान् जनान्, स्वोपासकस्य कामक्रोधादीन् रिपूंश्च पराजयते, निरतिशयबलापेक्षं जगद्धारणादिकं कर्म च करोति। तस्यैव परमेश्वररूपस्य इन्द्रस्य रसानुप्रदान-वृत्रवध-बलकर्मादीनि अद्भुतानि कार्याणि पर्वण्यस्मिन् वर्ण्यन्ते।

आग्नेय काण्ड या पर्व की व्याख्या करके अब ऐन्द्र काण्ड या पर्व प्रारम्भ करते हैं। इस काण्ड में कुल ३५२ मन्त्र हैं। ऊपर संस्कृत वक्तव्य की टिप्पणी में निर्दिष्ट अपवादों को छोड़कर सब मन्त्रों का इन्द्र ही देवता है। इन्द्र देवता होने से ही इस काण्ड या पर्व का नाम ऐन्द्र रखा गया है। अग्नि देवता जैसे प्रमुख रूप से तेज और प्रकाश का प्रतीक है, वैसे ही इन्द्र देवता मुख्यतः ऐश्वर्य तथा वीरता का प्रतीक है।

इन्द्र शब्द की निरुक्ति जो यास्काचार्य ने प्रदर्शित की है, संस्कृत-भाग में दी जा चुकी है। इस निरुक्ति का आश्रय लेकर महर्षि दयानन्द ने अपने ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेदभाष्य में इन्द्र शब्द के बहुत से अर्थ प्रतिपादित किये हैं—जैसे, परमेश्वर, जीवात्मा, सूर्य, विद्युत्, अग्नि, वायु, राजा, शत्रुविदारक

सेनापति, शत्रुविजेता शूरवीर योद्धा, दरिद्रता का विदारक शिल्पी, भूमि का विदारक किसान, विद्यादि परमैश्वर्य से युक्त विद्वान्, आयुर्वेदविद्यायुक्त वैद्य इत्यादि।

अपने ऋग्वेदभाष्य में यास्क के निर्वचनों की सूर्य के पक्ष में व्याख्या करते हुए ऋ० १।३।४ मन्त्र के भाष्य में महर्षि लिखते हैं—यास्काचार्य का जो यह कथन है कि इरा के विदीर्ण करने, इरा के दान करने, इरा को धारण करने, चन्द्रमा के लिए गति करने तथा चन्द्रमा में रमने के कारण इन्द्र को इन्द्र कहते हैं, सो सूर्य में घटित हो जाता है। इरा के पृथिवी आदि वाच्यार्थ होते हैं। सूर्य क्योंकि पृथिवी आदि को विदीर्ण करता है, उनका हमें दान करता है, उनका धारण करता है, चन्द्रलोक को प्रकाशित करने के लिए गति करता है, चन्द्रलोक में अपने प्रकाश से रमता है, इस कारण इन्द्र शब्द से सूर्य का ग्रहण होता है।

आगे अपने उक्त मन्त्र के भाष्य में ही यास्ककृत कुछ निर्वचनों की परमेश्वर के पक्ष में व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—यास्काचार्य ने जो यह कहा है कि भूतों को प्रकाशित करने, इस सबको देखने-दिखाने, ऐश्वर्यशाली होने, ऐश्वर्यवान् होते हुए शत्रुओं को विदीर्ण करने या दूर भगाने और यज्ञशीलों का आदर करने के कारण 'इन्द्र' नाम पड़ा है, सो ईश्वर-पक्ष में घटित हो जाता है। ईश्वर सब भूतों को प्रकाशित करता है, प्राणों से जीव को समिद्ध अर्थात् उपकृत करता है, इस सब जगत् को उत्पन्न करता है, दर्शन में हेतु बनता है, सब ऐश्वर्यों से युक्त है, दुष्ट शत्रुओं का विनाश करता है, उन्हें दूर भगाता है, यज्ञकर्त्ताओं का रक्षणरूप आदर करता है। इन अर्थों के कारण इन्द्र शब्द से ईश्वर का ग्रहण होता है।

इस ऐन्द्र काण्ड में इन्द्र शब्द का मुख्य अर्थ परमात्मा ही है। इस पक्ष में यास्कीय समस्त निर्वचन इस प्रकार घटित हो सकते हैं—

इरां दृणाति दारयते वा—इरा अन्न का नाम है (निघं० २।७)। परमेश्वर भूमि में बोये हुए अन्न को विदीर्ण करके या सूर्य द्वारा विदीर्ण करवाके अंकुरित करता है। भूमि भी इरा कहलाती है। पृथिवीवाची शब्दों में इडा शब्द पठित है (निघं० १।१)। ड, र का अभेद होने से इरा भी भूमि का नाम हो जाता है। अमरकोष (३।३।१७६) में प्रत्यक्षतः ही 'इरा' शब्द भूमिवाची पठित है। परमेश्वर भूमि को विदीर्ण करके स्रोतों को प्रवाहित करता है।

इरां ददाति दधाति धारयते वा—परमेश्वर अन्न और पृथिवी का हमारे लिए दान करता है, इन्हें धारण करता है अथवा इन्हें सूर्य द्वारा धारण करवाता है।

इन्दवे द्रवति—इन्दु जल और यज्ञ का नाम है, (निघं० १।१२, ३।१७)। परमेश्वर जल की वृष्टि के लिए अथवा सृष्टि-यज्ञ के संचालन के लिए सक्रिय होता है (द्रु गतौ)।

इन्दौ रमते—इन्दु सोम को भी कहते हैं (सोमो वा इन्दुः। श० २।२।३।२३)। वह स्तोताओं के श्रद्धारूप सोमरस में रमता है, अथवा सृष्टि-संचालन में रमता है।

इन्धे भूतानि—वह सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि आदि भूतों को प्रदीप्त एवं प्रकाशित करता है।

एनं प्राणैः समैन्धन्—इसे उपासकजन प्राणों द्वारा अन्तःकरण में प्रदीप्त करते हैं।

इदं करोति—वह इस सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करता है।

इदं पश्यति—वह इस सम्पूर्ण जगत् को देखता है।

इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति—वह परम ऐश्वर्य से युक्त है।

इन्दन् शत्रून् दारयति द्रावयति वा—परमैश्वर्यवान् होता हुआ वह योगिजनों के कामादि शत्रुओं को विदीर्ण करता या दूर भगाता है।

इन्दन् आदरयति यज्वनः—परमैश्वर्यवान् होता हुआ वह याज्ञिक जनों का आदर करता-करवाता है।

इन्द्र शब्द अध्यात्म-प्रक्रिया में परमेश्वर के अतिरिक्त आत्मा, मन, प्राण, वाणी आदि का भी वाचक होता है। इसमें "मन ही इन्द्र है। श० १२।६।१।१३, "जो मन है वह इन्द्र है। गो० उ० ४।११" "प्राण ही इन्द्र है। श० १२।६।१।१४", "वाणी ही इन्द्र है। कौ० ब्रा० २।७" आदि वचन प्रमाण हैं। व्यावहारिक प्रक्रिया में भी आधिदैविक, आधिभौतिक, अधियज्ञ आदि दृष्टियों से विभिन्न अर्थों का वेदों में और ब्राह्मणग्रन्थों आदि में संकेत किया गया है। जैसे, "मनुष्यों का सम्राट् इन्द्र" ऋ० ८।१६।१, 'इन्द्र विजयी हो, पराजित न हो, राजाओं पर राज्य करने के लिए अधिराज बने' अ० ६।६८।१, 'इन्द्र सब सेनाओं को पराजित करे' ऋ० ८।७०।१ इत्यादि वेदवचनों से इन्द्र का सम्राट् या सेनापति होना सूचित होता है। "वह आदित्य ही इन्द्र है" श० ८।५।३।२, "जो वायु है वह इन्द्र है" श० ४।१।३।१६, "विद्युत् ही इन्द्र है" श० ११।६।३।६, "यजमान अपने यज्ञ में इन्द्र है" श० ८।५।३।८ इत्यादि प्रमाणों से सूर्य-वायु-विद्युत्-यजमान आदि का इन्द्रत्व बोधित होता है। परमेश्वर से अतिरिक्त ये अर्थ भी जहाँ-तहाँ वाच्य या व्यङ्ग्य होते हुए और मुख्यार्थ की संपुष्टि करते हुए सामवेद में ज्ञान, कर्म और उपासना के समन्वय को सूचित करते हैं।

इन्द्र के कर्म यास्काचार्य ने इस प्रकार वर्णित किये हैं—"अब इन्द्र के कर्म बताते हैं। रसों का अनुप्रदान, वृत्र का वध तथा जो कोई भी बल का कार्य है वह इन्द्र का ही कर्म है (निरु० ७।१०)"। इन्द्र का पहला कर्म रसानुप्रदान है। जैसे, इन्द्रपदवाच्य सूर्य या विद्युत् वृष्टिरस प्रदान करते हैं, राजा प्रजाओं को सुख-समृद्धि का रस प्रदान करता है, वैसे ही परमेश्वर अध्यात्म-साधकों के लिए आनन्द-रस बरसाता है। इन्द्र का दूसरा कर्म वृत्रवध है। जैसे सूर्य या विद्युत् मेघरूप वृत्र को विदीर्ण करते हैं, राजा राष्ट्र की उन्नति में बाधक शत्रुओं की हिंसा करता है, वैसे ही परमेश्वर अध्यात्म-प्रगति में प्रतिबन्धक विघ्नों को विनष्ट करता है। तीसरा कर्म सब प्रकार की बलकृति है। जैसे सूर्य पृथिवी, चन्द्रमा आदि ग्रह-उपग्रहों को अपने आकर्षण-बल से धारण करता है, राजा या सेनापति अपने बल से शत्रुओं को जीतता है, वैसे ही परमेश्वर नास्तिक, अधार्मिक जनों को और उपासक के काम-क्रोध आदि रिपुओं को पराजित करता है तथा जिसमें अत्यधिक बल की अपेक्षा है ऐसे जगत्-धारण आदि कर्म को करता है। उसी परमेश्वर-रूप इन्द्र के रसानुप्रदान-वृत्रवध-बलकर्म आदि अद्भुत कार्य इस ऐन्द्र पर्व में वर्णित किये गये हैं।

—:०:—

अथ द्वितीयोऽध्यायः

॥३॥ अथ 'तद्वो गाय' इत्याद्याया दशतेः

ऋषयः—१ शंयुर्बार्हस्पत्यः; २, ४, ५ श्रुतकक्षः; ३ हर्यतः प्रगाथः; ६ इन्द्रमातरो देवजामयः; ७, ८ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ; ९, १० मेधातिथिः काण्वः प्रियमेध आङ्गिरसश्च ॥

देवता—इन्द्रः । **छन्दः**—गायत्री । **स्वरः**—षड्जः ॥

तत्रादौ इन्द्रं प्रति स्तोत्राणि गातुं जनाः प्रेर्यन्ते ।

११५. तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने ।
शं यद् गवे न शाकिने ॥१॥[1]
तत् वः गाय सुते सचा । पुरुहूताय पुरु हूताय सत्वने ॥
शम् यत् गवे न शाकिने ॥१॥

पदार्थः—हे उपासकाः ! **वः**[2] यूयम् **सुते** श्रद्धारूपे सोमरसेऽभिषुते सति । षुञ् अभिषवे, निष्ठायां रूपम् । **सचा** संभूय । सचा सहेत्यर्थः । निरु० ५।५ । **पुरुहूताय** बहुस्तुताय, बहुभिः स्तुताय वा । पुरु इति बहुनाम । निघं० ३।१ । हूतः, ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च । **सत्वने**[3] बलशालिने इन्द्राय परमात्मने **तत्** स्तोत्रम् **गाय** गायत । लोपस्त आत्मनेपदेषु अ० ७।१।४१ इत्यात्मनेपदे विहितस्तलोपोऽत्र बाहुलकात् परस्मैपदेऽपि भवति । **यत्** स्तोत्रम् **शाकिने** शाको यवसम् अस्यास्तीति शाकी तस्मै **गवे**[4] **न** वृषभाय इव **शाकिने**[5] शक्तिमते । शक्लृ शक्तौ । शाकः शक्तिरस्यास्तीति शाकी तस्मै । **गवे** स्तोत्रे । गौः इति स्तोतृनामसु पठितम् । निघं० ३।१६ । **शम्** सुखशान्तिकरं भवेदिति शेषः । वृषभाय यथा यवसादिकं सुखकरं भवति तथा स्तोत्रे स्तोत्रं सुखकरं भवेदित्याशयः ॥१॥

अत्र 'गवे न शाकिने' इत्यत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—स्तुत्या परमात्मनो न काचिदुपलब्धिर्भवति, प्रत्युत स्तोतुरेवात्मनि सुखं शान्तिर्बलं चोपजायते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र परमेश्वर के प्रति स्तोत्र-गान के लिए मनुष्यों को प्रेरित किया गया है ।

पदार्थ—हे उपासको ! **वः** तुम **सुते** श्रद्धा-रूप सोमरस के अभिषुत होने पर **सचा** साथ मिलकर **पुरुहूताय** बहुत या बहुतों से स्तुति किये गये **सत्वने** बलशाली इन्द्र परमात्मा के लिए **तत्** वह स्तोत्र **गाय** गान करो, **यत्** जो **शाकिने** शाक अर्थात् घास-चारे से युक्त **गवे न** बैल के समान **शाकिने** शक्तिशाली

१. ऋ० ६।४५।२२, साम० १६६६ ।

२. वेदे षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्विव प्रथमायामपि युष्मदो वसादेशो दृश्यते । विवरणकारस्तु 'वः त्वं गाय' इति व्याचष्टे । 'वः यूयं गाय गायत' इति भरतः ।

३. सत्वने । षणु दाने इत्यस्यैतद् रूपम्, दात्रे—वि० । दात्रे धनानाम्—भ० । शत्रूणां सादयित्रे यद्वा धनानां सनित्रे दात्रे—सा० । शुद्धान्तःकरणाय इति ऋ० ६।४५।२२ भाष्ये द० ।

४. वृषभाय इव—वि० । गवे इव घासः—भ० । यथा गवे यवसं सुखकरं तद्वदित्यर्थः—सा० ।

५. शकनः शाकः शक्तिरित्यर्थः, तद्वान् शाकी, तस्मै शाकिने—वि० ।

गवे स्तोता के लिए **शम्** सुख-शान्ति को देने वाला हो। आशय यह है कि जैसे बैल के लिए घास-चारा सुखकर होता है, वैसे वह स्तोत्र स्तोता के लिए सुखकर हो ॥१॥

इस मन्त्र में 'गवे न शाकिने' में श्लिष्टोपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ—स्तुति करने से परमात्मा को कुछ उपलब्धि नहीं होती, प्रत्युत स्तुतिकर्ता को ही आत्मा में सुख, शान्ति और बल प्राप्त होता है ॥१॥

अथेन्द्रः परमात्मा प्रार्थ्यते।

११६. **यस्ते नूनं शतक्रतविन्द्र द्युम्नितमो मदः।**
तेन नूनं मदे मदेः ॥२॥[1]

यः ते नूनम् शतक्रतो शत क्रतो। इन्द्र द्युम्नितमः मदः॥
तेन नूनम् मदे मदेः ॥२॥

पदार्थः—हे **शतक्रतो** बहुप्रज्ञ, बहुकर्मन्, बहुयज्ञ, बहुसंकल्प। अत्र शतशब्दो बहुत्वसूचकः। शतमिति बहुनाम। निघं० ३।१। **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन् परमात्मन्! **यः ते** तव **नूनम्** निश्चयेन **द्युम्नितमः** यशस्वितमः। द्युम्नं द्योततेः, यशो वाऽन्नं वा। निरु० ५।५। द्युम्नमस्यास्तीति द्युम्नी। अतिशयेन द्युम्नी द्युम्नितमः। **मदः** आनन्दः, अस्ति, **तेन** मदेन आनन्देन **नूनम्** अद्य, अस्मानपि **मदे** आनन्दे **मदेः** मदयेः, मग्नान् कुरु। मदी हर्षग्लेपनयोः, भ्वादिः, लिङि रूपम्। अन्तर्भावितण्यर्थः ॥२॥

भावार्थः—परमात्मन आनन्दरसो यैरास्वादितस्ते तत्कीर्तिं गायन्तो न श्राम्यन्ति। 'रसो वै सः' इति हि तत्त्वविदामनुभवः। सर्वैस्तद्रसं प्राप्य स्वात्मा धन्यतां नेयः ॥२॥

अगले मन्त्र में इन्द्र परमात्मा से याचना की गयी है।

पदार्थ—हे **शतक्रतो** बहुत प्रज्ञाओं, कर्मों, यज्ञों और संकल्पों वाले **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परमात्मन्! **यः** जो **ते** आपका **नूनम्** निश्चय ही **द्युम्नितमः** सबसे अधिक यशोमय **मदः** आनन्द है, **तेन** उससे **नूनम्** आज हमें भी **मदे** आनन्द में **मदेः** मग्न कर दीजिए ॥२॥

भावार्थ—परमात्मा का आनन्द-रस जिन्होंने चख लिया है, वे उस रस की कीर्ति को गाते नहीं थकते। 'वह रसरूप है' यह तत्त्ववेत्ताओं का अनुभव है। सबको चाहिए कि उसके रस को प्राप्त कर अपने आपको धन्य करें ॥२॥

अथ स्तोतारः प्रेर्यन्ते।

११७. **गाव उप वदावटे महो यज्ञस्य रप्सुदा।**
उभा कर्णा हिरण्यया ॥३॥[2]

गावः उप वद अवटे। महोइति यज्ञस्य रप्सुदा रप्सु दा॥
उभा कर्णा हिरण्यया ॥३॥

---

१. ऋ० ८।९२।१६, ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरसः।

२. ऋ० ८।७२।१२, देवता अग्निर्हवींषि वा। य० ३३।१९, ऋषिः पुरुमीढाजमीढौ, देवते इन्द्रवायू, ३३।७१ ऋषिः वसिष्ठः, देवते मित्रावरुणौ। सर्वत्र 'उपवदावटे' इत्यत्र 'उपावतावतं' इति पाठः। सा० १६०२।

पदार्थः—हे **गावः**[1] स्तोतारः ! गौः इति स्तोतृनाम । निघं० ३।१६ । यूयम् **अवटे**[2] विविधरसानां कूपभूते इन्द्रे परमेश्वरे परमेश्वरमुपजीव्येत्यर्थः । अत्र विषयसप्तमी । अवतः, अवटः इति कूपनामसु पठिते । निघं० २।२३ । **उपवद** उपवदत महिमानमुपगायत । अत्र अनात्मनेपदेऽपि छान्दसस्तकारलोपः, व्यत्ययो वा । **मही**[3] महत्यौ द्यावापृथिव्यौ । मही इति द्यावापृथिव्योर्नाम । निघं० ३।३० । मह्यौ इति प्राप्ते 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति पूर्वसवर्णदीर्घः । **यज्ञस्य** यजनीयस्य तस्य इन्द्राख्यस्य परमेश्वरस्य **रप्सु-दा**[4] रप्सुदे स्वरूपप्रकाशयित्र्यौ स्तः । **उभा** उभौ **हिरण्यया** हिरण्मयौ सूर्याचन्द्रमसौ, ययोः द्यावापृथिव्योः **कर्णा**[5] कर्णौ, कर्णकुण्डले इव स्तः । रप्सुदा, उभा, कर्णा, हिरण्यया इति सर्वत्र 'सुपां सुलुक्०' । अ० ७।१।३९ इति प्रथमाद्विवचनस्य आकारादेशः । हिरण्यया इत्यत्र 'ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि । अ० ६।४।१७५ इति निपातनाद् हिरण्यशब्दाद् विहितस्य मयटो मकारस्य लोपः ॥३॥

'उभा कर्णा हिरण्यया' इत्यत्र व्यङ्ग्योत्प्रेक्षालङ्कारः । 'कर्णकुण्डले' इति विवक्षायां 'कर्णा' इत्यस्य प्रयोगे च लक्षणा । इन्द्रे अवटत्वारोपाच्च रूपकम् ॥३॥

भावार्थः—यः परमेश्वरो दयावीरताऽऽनन्दादिरसानां कूप इव वर्तते, सर्वैर्जनैः स्वकीयाभिः स्तुतिवाग्भिस्तन्महिमाऽवश्यं गेयः । यद्यप्यसौ निराकारः गौरकृष्णहरितपीतादिरूपरहितश्च, तथापि तद्भक्ता द्यावापृथिव्योर्नानाविधेषु चित्रविचित्रेषु पदार्थेषु तस्यैव स्वरूपं निभालयन्ति, तस्यैव भासा सर्वमिदं विभातीति च बुद्धिं कुर्वन्ति । अत एव द्यावापृथिव्यौ तस्य स्वरूपप्रकाशिके वर्णिते ॥३॥

अगले मन्त्र में स्तोताओं को प्रेरणा दी जा रही है ।

पदार्थ—हे **गावः** स्तोताओ ! तुम **अवटे** रसों के कूप-तुल्य परमेश्वर के विषय में **उप वद** महिमा-गान करो । **मही** महान् धरती-आकाश **यज्ञस्य** उस पूजनीय परमेश्वर के **रप्सुदा** स्वरूप को प्रकाशित करने वाले हैं । **उभा** दोनों **हिरण्यया** सुनहरे सूर्य और चन्द्रमा, जिन धरती-आकाश के **कर्णा** कर्ण-कुण्डलों के समान हैं ॥३॥

इस मन्त्र में 'सुनहरे सूर्य-चन्द्र मानो कर्ण-कुण्डल हैं' इस कथन में व्यङ्ग्योत्प्रेक्षालंकार है । कर्ण-कुण्डलों के अर्थ में 'कर्णौ' के प्रयोग में लक्षणा है । इन्द्र में अवट (कूप) का आरोप होने से रूपक है ॥३॥

भावार्थ—जो परमेश्वर दया, वीरता, आनन्द आदि रसों के कूप के समान है, उसकी सब मनुष्यों को अपनी वाणियों से महिमा अवश्य गान करनी चाहिए । यद्यपि वह निराकार तथा गोरे, काले, हरे, पीले आदि रूपों से रहित है, तो भी उसके भक्तजन धरती-आकाश के अनेकविध चित्र-

---

१. हे गावः मदीया वाचः—इति वि० । गावः गाः घर्मदोग्ध्रीः उपवद उपस्तुहि हे अध्वर्यो—इति भ० । हे गावः घर्मदुघाः—इति सा० ।

२. अवट इति अपठितमपि मेघनाम द्रष्टव्यम्—इति वि० । महावीरोऽत्रावट उच्यते । महावीरनिमित्ते—इति भ० । अवटे अवटं महावीरं प्रति—इति सा० ।

३. 'मही' शब्दः पदपाठे 'महीइति' इत्येवम् इतिकरणाद् द्विवचनान्त एव ।

४. (रप्सुदा) ये रप्सुं रूपं दत्तस्ते इति य० ३३।१९ भाष्ये, सुरूपप्रदे इति च य० ३३।७१ भाष्ये द० । रप्सु इति रूपनाम, ये तद् दत्तः ते रप्सुदे, यज्ञस्य रूपदे इत्यर्थः—इति वि० । रपेः शब्दकर्मणो रपिः स्तुतिः तत्र सदनं रप्सुदा, अकारस्योकारो व्यत्ययात्—इति भ० । रप्सुदा रप्सुदे आरिप्सोः फलदे । रिप्सोः अश्विनोः दातव्ये वा । यद् वा रपणं शब्दनं, रप् मन्त्रः तेन सुदातव्ये । अथवा षुद क्षरणे, रपा मन्त्रेण क्षारणीये दोहनीये गवाजयोः पयसी—इति सा० ।

५. उभौ कर्णौ हिरण्ययौ यस्य (मेघस्य) । अस्ति पुनः क्वचिदन्यत्रापि हिरण्यकर्णत्वं मेघस्य ? अस्तीति ब्रूमः, 'हिरण्यकर्णं मणिग्रीवम्' (ऋ० १।१२२।१४) इत्यत्र—इति वि० । अपि च अस्य महावीरस्य उमा उभौ कर्णा कर्णस्थानीयौ द्वौ रुक्मौ हिरण्यया हिरण्मयौ सुवर्णरजतमयौ—इति सा० ।

विचित्र पदार्थों में उसी के रूप को देखते हैं और उसी की चमक से यह सब-कुछ चमक रहा है, यह बुद्धि करते हैं। इसीलिए धरती-आकाश को उसके स्वरूप-प्रकाशक कहा गया है।

अथ जनाः प्रेर्यन्ते।

११८. २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अरमश्वाय गायत श्रुतकक्षारं गवे।
२ ३ १ २ ३ १ २
अरमिन्द्रस्य धाम्ने ॥४॥[1]
१ २ १ १ २ १ ३ २ १ २ १ ३ १ २ १ १ २ १
अरम् अश्वाय गायत। श्रुतकक्ष श्रुत कक्ष अरम् गवे॥
१ २ १ १ २ १ १ २ १
अरम् इन्द्रस्य धाम्ने ॥४॥

पदार्थः—हे **श्रुतकक्ष**[2] श्रुतो वेदः कक्षे बाहुमूले मनःप्रकोष्ठे वा यस्य तादृश वेदानुगामिन्! त्वं तव सखायश्च संभूय **अरम्** अलं, पर्याप्तम् **अश्वाय**[3] अश्वपदवाच्यघोटक-वायु-विद्युद्-अग्नि-पर्जन्य-प्राणादिकाय **गायत** वाचं प्रेरयत, तद्गुणकर्माणि वर्णयत। **अरम्** पर्याप्तम् **गवे** गोपदवाच्यधेनु-वृषभ-द्युलोक-सूर्य-पृथिवी-चन्द्र-जीवात्म-वाग्-इन्द्रियादिकाय **गायत** वाचं प्रेरयत, तद्गुणकर्माणि वर्णयत। **अरम्** पर्याप्तम् **इन्द्रस्य** परमेश्वरस्य **धाम्ने** तेजसे **गायत** वाचं प्रेरयत, तन्महत्त्वं वर्णयत ॥४॥

भावार्थः—परमेश्वरस्य सृष्टौ तद्रचिता ये विविधपदार्थाः सन्ति तेषां पारमेश्वरतेजसश्च ज्ञानं तन्महत्त्ववर्णनं च सर्वैः कार्यम् ॥४॥

अगले मन्त्र में मनुष्यों को प्रेरणा की गयी है।

पदार्थ—हे **श्रुतकक्ष** वेद को अपनी बगल में या मनरूप कोठे में रखने वाले वेदानुगामी मनुष्य! तू और तेरे सखा मिलकर **अरम्** पर्याप्तरूप से **अश्वाय** घोड़े, वायु, विद्युत्, अग्नि, बादल, प्राण आदि के लिए **गायत** वाणी को प्रेरित करो अर्थात् इनके गुण-कर्मों का वर्णन करो। **अरम्** पर्याप्त रूप से **गवे** गाय, बैल, द्युलोक, सूर्य, भूमि, चन्द्रमा, जीवात्मा, वाणी, इन्द्रियों आदि के लिए **गायत** वाणी को प्रेरित करो अर्थात् इनके गुण-कर्मों का वर्णन करो। **अरम्** पर्याप्त रूप से **इन्द्रस्य** परमेश्वर के **धाम्ने** तेज के लिए **गायत** वाणी को प्रेरित करो अर्थात् उसके महत्त्व का वर्णन करो ॥४॥

भावार्थ—परमेश्वर की सृष्टि में उसके रचे हुए जो विविध पदार्थ हैं उनका और परमेश्वर के तेज का ज्ञान तथा महत्त्व का वर्णन सबको करना चाहिए ॥४॥

अथ स्तोतारः प्रजाजनाश्चाहुः।

११९. १२ २१ ३२ ३ २ ३ १ २
तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे।
१२ २१ ३ १ २
स वृषा वृषभो भुवत् ॥५॥[4]

---

१. ऋ० ८।९२।२५, 'गायत श्रुतकक्षारं' इत्यत्र 'गायति श्रुतकक्षो अरं' इति पाठः। ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा।

२. हे श्रुतकक्षाः श्रुतकक्षस्य मम पुत्राः—इति वि०। श्रुतकक्षेति आत्मानमेव सम्बोधयति ऋषिः—इति भ०, एतदेव सायणाभिमतम्।

३. अश्वस्यार्थाय, गोरर्थाय, इन्द्रस्य यत् स्थानं स्वर्गाख्यं तस्य चार्थाय—इति वि०। अश्वान् लब्धुम्,···गोलाभार्थम्,··· धाम्ने स्थानाय, गृहलाभार्थम्—इति भ०।

४. ऋ० ८।९३।७, अथ० २०।४७।१, २०।१३७।१२—सर्वत्र ऋषिः सुकक्षः। साम० १२२२।

२ १२९ ३ २ ३ १ २ १२९
तम् इन्द्रम् वाजयामसि । महे वृत्राय हन्तवे ॥
१२९ ३ २ ३
सः वृषा वृषभः भुवत् ॥५॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपक्षे । **महे** महते **वृत्राय** सूर्यप्रकाशस्य जलस्य च आवरकाय मेघाय इव धर्मावरकाय पाप्मने । पाप्मा वै वृत्रः । श० ११।१।५।७। द्वितीयार्थे चतुर्थी । महान्तं पाप्मानमित्यर्थः । वृत्रो वृणोतेः···यदवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । निरु० २।७। **हन्तवे** हन्तुम् । 'तुमर्थे सेसेन्०' । अ० ३।४।९ इति हन् धातोः तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः । तस्य नित्यत्वाद् 'हन्तवे' इति पदस्य 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' अ० ६।१।१९७ इत्याद्युदात्तत्वम् । **तम्** प्रसिद्धम् **इन्द्रम्** महावीरं परमेश्वरं **वाजयामसि** अर्चयामः । वाजयति अर्चतिकर्मा । निघं० ३।१४ । 'इदन्तो मसि' अ० ७।१।४६ इति मसः इदन्तत्वम् । **वृषा** वर्षकः **सः** परमेश्वरः **वृषभः**[1] धर्मस्य वृष्टिकर्त्ता **भुवत्** भवतु । लेटि 'बहुलं छन्दसि' अ० २।४।७३ इति शपो लुकि 'भूसुवोस्तिङि' अ० ७।३।८८ इति गुणनिषेधः ।

अथ **द्वितीयो** राजपक्षे । **महे वृत्राय** महते शत्रवे, महान्तं शत्रुमित्यर्थः । **हन्तवे** हन्तुम्, वयम् **तम्** प्रजाभिर्निर्वाचितम् **इन्द्रम्** सुवीरं राजानम् **वाजयामसि**[2] निजसाहाय्यप्रदानेन बलिनं कुर्मः प्रोत्साहयामो वा । **वृषा** मेघतुल्यः **सः** असौ राजा **वृषभः** शत्रूणामुपरि आग्नेयास्त्राणां वर्षकः प्रजानामुपरि च सुखवर्षकः **भुवत्** भवेत् ॥५॥

अत्र 'वृषा, वृष' इत्यत्र छेकानुप्रासः । 'वृषा-वृषभः' इत्युभयोः बलीवर्दवाचकत्वाद् पुनरुक्तवदाभासोऽपि, यौगिकार्थनिष्पत्त्या च प्रतीयमानायाः पुनरुक्तेः परिहारः ॥५॥

भावार्थः—अनावृष्टिदिवसेषु मेघो यथा सूर्यप्रकाशं जलं चावृण्वन् भूम्यामन्धकारम् अवर्षणं च जनयति, तथैव पापविचाराः पापकर्माणि च भूमण्डले प्रसारं प्राप्य सत्यस्य प्रकाशं धर्मरूपं स्वच्छोदकं चावृत्याऽसत्यान्धकारम् अधर्मरूपमवर्षणं च जनयन्ति । इन्द्राख्यः परमेश्वरो यथा मेघरूपं वृत्रं हत्वा सूर्यप्रकाशं वृष्टिजलं च निर्बाधगत्या भूमिं प्रति प्रवाहयति, तथैव स पापरूपं वृत्रं विनाश्य जगति सत्यस्य प्रकाशं धर्मस्य वृष्टिं चोन्मुक्तरूपेण प्रवाहयेत्, येन सर्वे भूमण्डलनिवासिनः सत्यज्ञान-सत्याचारपरायणा धार्मिकाश्च भूत्वा परमसुखिनो भवेयुः । तथैव राष्ट्रे नृपतेरपि कर्त्तव्यं यत्स दुष्टान् शत्रून् हत्वा सुखं जनयेदिति ॥५॥

अगले मन्त्र में स्तोता लोग और प्रजाजन कह रहे हैं ।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । **महे** विशाल, **वृत्राय** सूर्यप्रकाश और जलवृष्टि को रोकने वाले मेघ के समान धर्म के बाधक पाप को **हन्तवे** नष्ट करने के लिए **तम्** उस प्रसिद्ध **इन्द्रम्** महापराक्रमी परमात्मा की हम **वाजयामसि** पूजा करते हैं । **वृषा** वर्षक **सः** वह परमेश्वर **वृषभः** धर्म की वर्षा करने वाला **भुवत्** होवे ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में । **महे वृत्राय** महान् शत्रु को **हन्तवे** मारने के लिए, हम **तम्** प्रजा से निर्वाचित उस **इन्द्रम्** अत्यन्त वीर राजा को **वाजयामसि** सहायता-प्रदान द्वारा बलवान् बनाते हैं, अथवा उत्साहित करते हैं । **वृषा** मेघतुल्य **सः** वह राजा **वृषभः** शत्रुओं के ऊपर आग्नेयास्त्रों की और प्रजा के ऊपर सुखों की वर्षा करने वाला **भुवत्** होवे ॥५॥

इस मन्त्र में 'वृषा, वृष' में छेकानुप्रास अलङ्कार है । 'वृषा-वृषभः' दोनों शब्द बैल के वाचक

---

१. वृषभः । लुप्तोपमम् इदम् । वृषभ इव । यथा वृषभः रेतसः वर्षिता तद्वद् वर्षिता उदकस्य भवत्वित्यर्थः—इति वि० ।
२. वाजिनं बलिनं कुर्मः स्तुतिभिः—इति भ० ।

होने से पुनरुक्तवदाभास अलंकार भी है, यौगिक अर्थ करने से प्रतीयमान पुनरुक्ति का समाधान हो जाता है ॥५॥

भावार्थ—अनावृष्टि के दिनों में बादल जैसे सूर्य के प्रकाश को और जल को नीचे आने से रोककर भूमि पर अन्धकार और अवर्षण उत्पन्न कर देता है, वैसे ही पापविचार और पापकर्म भूमण्डल में प्रसार प्राप्त कर सत्य के प्रकाश को और धर्मरूप स्वच्छ जल को रोककर असत्य का अन्धकार और अधर्मरूप अवर्षण उत्पन्न कर देते हैं। इन्द्र नामक परमेश्वर जैसे मेघरूप वृत्र को मारकर सूर्य के प्रकाश को तथा वर्षाजल को निर्बाधगति से भूमि के प्रति प्रवाहित करता है, वैसे ही वह पापरूप वृत्र का विनाश कर संसार में सत्य के प्रकाश को और धर्म की वर्षा को मुक्त हस्त से प्रवाहित करे, जिससे सब भूमण्डलनिवासी लोग सत्य-ज्ञान और सत्य-आचरण में तत्पर तथा धार्मिक होकर अत्यन्त सुखी हों। इसी प्रकार राष्ट्र में राजा का भी कर्त्तव्य है कि वह दुष्ट शत्रुओं को विनष्ट कर सुख उत्पन्न करे ॥५॥

अथेन्द्रनाम्ना परमेश्वरस्य नृपतेश्च महिमानमाचष्टे।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १
१२०. त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः।
१ २ ३ १ २ २
त्वं सन् वृषन् वृषेदसि ॥६॥[1]

२ ३ १ २ १ १ २ १ १ २ ३ २ १ २ १
त्वम् इन्द्र बलात् अधि। सहसः जातः ओजसः॥
३ १ २ १ ३
त्वम् सन् वृषन् वृषा इत् असि ॥६॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमवीर परमैश्वर्यवन् परमात्मन् राजन् वा **त्वम् बलात्** अत्याचारिवधलोकधारणादिहेतोः बलस्य कारणात्, **सहसः** मनोबलात् साहसात्, **ओजसः**[2] आत्मबलाच्च हेतोः **अधिजातः** प्रख्यातः असि। **सन्**[3] श्रेष्ठः **त्वम् वृषन्** हे सुखानां वर्षक ! **वृषा इत्** वर्षकः मेघः एव **असि** वर्तसे ॥६॥

अत्रार्थश्लेषालङ्कारः। इन्द्रे मेघत्वारोपाद् रूपकम्। 'वृष, वृषे' इत्यत्र च छेकानुप्रासः ॥६॥

भावार्थः—परमेश्वरस्य नृपतेश्च राक्षसवधादिरूपाणि, किञ्च पृथिवीसूर्यादिलोकानां राष्ट्रस्य च धारणरूपाणि बहूनि बलकार्याणि प्रसिद्धानि। तयोः मनोबलं आत्मबलं चापि निरुपमम्। तयोर्वृषेति नाम सार्थकम्, यतो हि तौ पर्जन्यवत् सर्वेषामुपरि सुखवृष्टिं कुरुतः। एतादृशौ परममहिमान्वितौ परमेश्वरराजानावस्माभिरहर्निशमभिनन्दनीयौ ॥६॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर और राजा की महिमा का वर्णन है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमवीर परमैश्वर्यवन् परमात्मन् और राजन् ! **त्वम्** आप **बलात्** अत्याचारियों के वध और सज्जन लोगों के धारण आदि के हेतु बल के कारण, **सहसः** मनोबलरूप साहस के कारण, और **ओजसः** आत्मबल के कारण **अधिजातः** प्रख्यात हो। **सन्** श्रेष्ठ **त्वम्** आप, हे **वृषन्** सुखों के वर्षक ! **वृषा इत्** वृष्टिकर्ता मेघ ही **असि** हो ॥६॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालङ्कार है। इन्द्र में वर्षक मेघ का आरोप होने से रूपक है। 'वृष-वृषे' में छेकानुप्रास है ॥६॥

---

१. ऋ० १०।१५३।२, अथ० २०।९३।५। उभयत्र 'सन्' इति नास्ति।
२. ओजो नाम बलहेतुः हृदयगतं धैर्यमिति—सा०।
३. 'सन्' इति विवरणकारस्य आमन्त्रितत्वेनाभिमतम्—'सन् प्रशस्त' इति। तत्तु चिन्त्यम्, आमन्त्रितस्वराभावात्। सन् श्रेष्ठः—इति भ०, सा०।

भावार्थ—परमेश्वर और राजा के राक्षसवधादिरूप और पृथिवी, सूर्य आदि लोकों के तथा राष्ट्र के धारणरूप बहुत से बल के कार्य प्रसिद्ध हैं। उनका मनोबल और आत्मबल भी अनुपम है। उनका वृषा (बादल) नाम सार्थक है, क्योंकि वे बादल के समान सबके ऊपर सुख की वर्षा करते हैं। ऐसे अत्यन्त महिमाशाली परमेश्वर और राजा का हमें दिन-रात अभिनन्दन करना चाहिए ॥६॥

अथ यज्ञेनैव परमेश्वरस्य महिमा सर्वत्र प्रसरतीत्याह।

३ १२ २१ ३ २७ ३ १ २
१२१. यज्ञ इन्द्रमवर्धयद् यद्भूमिं व्यवर्तयत्।
३ १ २ ३ २ ३ २
चक्राण ओपशं दिवि ॥७॥[1]

३ २ १ २१ ३ २ १ २१ १ २१ ३ १ २१
यज्ञः इन्द्रम् अवर्धयत्। यत् भूमिम् व्यवर्तयत् वि अवर्तयत् ॥
३ २ ३ २ ३ २ ३ २
चक्राणः ओपशम् ओप शम् दिवि ॥७॥

पदार्थः—**यज्ञः** परोपकाराय क्रियमाणं महत् कर्म **इन्द्रम्** परमात्मानम्, परमात्मनो महिमानमिति यावत्, **अवर्धयत्** वर्धयति। सामान्यकालार्थे लङ्। यज्ञे निदर्शनमाह—**यत्** यथा **दिवि** द्युलोके **ओपशम्**[2] सूर्यरूपं किरीटम्। आ आगत्य उपशेते शिरसि विराजते इति ओपशः किरीटम्। **चक्राणः** चक्रिवान् स इन्द्रः। कृधातोर्लिटः कानच्। चित्वात् 'चितः' अ० ६।१।१६३ इत्यन्तोदात्तत्वम्। **भूमिम्** पृथिवीम् **व्यवर्तयत्** सूर्यं परितो विवर्तयति परिक्रमयति ॥७॥

भावार्थः—परमेश्वरो हि यज्ञस्यादर्शरूपः। तेन क्रियमाणस्य यज्ञस्यैव निदर्शनं विद्यते यत् स द्युलोके महान्तं मुकुटमणिभूतं सूर्यं संस्थाप्य तं परितः पृथिवीम् अण्डाकृतिमार्गेण चक्रतया भ्रमयति, येन षड्ऋतुचक्रं प्रवर्तते ॥७॥

अगले मन्त्र में, यज्ञ से ही परमेश्वर की महिमा सर्वत्र फैली हुई है, इस विषय का वर्णन करते हैं।

पदार्थ—**यज्ञः** परोपकार के लिए किये जाने वाले महान् कर्म ने **इन्द्रम्** परमात्मा को अर्थात् उसकी महिमा को **अवर्धयत्** बढ़ाया हुआ है। परमात्मा के यज्ञ कर्म का एक दृष्टान्त यह है **यत्** कि **दिवि** द्युलोक **में ओपशम्** सूर्यरूप मुकुट को **चक्राणः** रचने वाला वह परमात्मा **भूमिम्** भूमि को **व्यवर्तयत्** सूर्य के चारों ओर घुमा रहा है ॥७॥

भावार्थ—परमेश्वर यज्ञ का आदर्शरूप है। उससे किये जाते हुए यज्ञ का ही यह उदाहरण है कि वह द्युलोक में महान् मुकुटमणि सूर्य को संस्थापित करके उसके चारों ओर भूमि को अण्डाकार मार्ग से चक्ररूप में घुमा रहा है, जिससे छहों ऋतुओं का चक्र चलता है ॥७॥

इन्द्रवद् यद्यहमपि धनाधीशो भवेयं तदा किं कुर्यामित्युच्यते।

१ २ ३ २७ ३ १२ २१ ३ २ ३ २ ३ २
१२२. यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत्।
३ २ ३ १ २
स्तोता मे गोसखा स्यात् ॥८॥[3]

---

१. ऋ० ८।१४।५, अथ० २०।२७।५, साम० १६३६।

२. ओपशं गर्जितलक्षणं शब्दम्—इति वि०। ओपशं मेघम्। उपशेरतेऽस्मिन्नापः इति ओपशः—इति भ०। दिवि अन्तरिक्षे मेघम् ओपशम् उपेत्य शयानं चक्राणः कुर्वन्। यद्वा आत्मनि समवेतो वीर्यविशेषः ओपशः, तमन्तरिक्षे कुर्वन्—इति सा०।

३. ऋ० ८।१४।१, अथ० २०।२७।१, उभयत्र 'गोषखा' इति पाठः। साम० १८३४।

यत् इन्द्र अहम् यथा त्वम् । ईशीय वस्वः एकः इत् ॥
स्तोता मे गोसखा गो सखा स्यात् ॥८॥

पदार्थः—**यत्** यदि **इन्द्र** हे परमेश्वर ! **अहम्** त्वदुपासकः **यथा त्वम्** त्वमिव **वस्वः** वसुनः विद्याधनस्य भौतिकधनस्य वा । वसुनः इत्येतस्य स्थाने लिङ्गव्यत्ययेन 'वसोः' इति प्राप्ते 'जसादिषु छन्दसि वावचनं प्राङ् णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' अ० ७।३।१०९ वा० इति 'घेर्ङिति' अ० ७।३।१११ इत्यनेन प्राप्तस्य गुणस्य विकल्पनात्तदभावे यणादेशः । **एकः इत्** अद्वितीय एव **ईशीय** अधीश्वरो भवेयम्, तत् तर्हि **मे** मम **स्तोता** प्रशंसकः शिष्यः सेवको वा **गोसखा** गोभिः वेदवाग्भिः सहितः पण्डितः, गवादिधनेन वा सहितो धनिकः **स्यात्** भूयात् ॥८॥[1]

भावार्थः—परमेश्वरः सम्पूर्णस्य विद्याधनस्य भौतिकधनस्य च एक एव परमाधीश्वरोऽस्ति, स च स्वकीयं विद्याधनं वेदरूपेण, भौतिकधनं च सुवर्णरजतसूर्यपवनजलफलमूलादिरूपेणास्मभ्यं प्रायच्छत् । तथैव यद्यहमपि परमेश्वरकृपया विद्यादिधनस्य भौतिकधनस्य चाधीश्वरो भवेयं, तर्हि अहमपि नूनं स्वप्रशंसकान् शिष्यान् विद्यादानेन वेदादिसच्छास्त्रनिष्णातान्, सेवकाँश्च धनदानेन धेन्वाद्यैश्वर्यसम्पन्नान् परमधनिकान् कुर्याम् ॥८॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि यदि मैं परमेश्वर के समान धनपति हो जाऊँ तो क्या करूँ ।

पदार्थ—**यत्** यदि **इन्द्र** हे परमेश्वर ! **अहम्** आपका उपासक मैं **यथा त्वम्** जैसे आप हैं वैसे **वस्वः** विद्याधन या भौतिकधन का **एकः इत्** एकमात्र **ईशीय** स्वामी हो जाऊँ, तो **मे** मेरा **स्तोता** प्रशंसक, शिष्य या सेवक **गोसखा** वेदवाणियों का पण्डित अथवा गाय आदि धन का धनी **स्यात्** हो जाए ॥८॥

भावार्थ—परमेश्वर सम्पूर्ण विद्याधन का और भौतिक धन का एकमात्र परम अधीश्वर है, और उसने अपने विद्याधन को वेदरूप में तथा भौतिक धन को सोने, चाँदी, सूर्य, वायु, जल, फल, मूल आदि के रूप में हमें दिया है । वैसे ही मैं भी यदि परमेश्वर की कृपा से विद्यादि धन का और भौतिक धन का अधिपति हो जाऊँ, तो मैं भी अपने प्रशंसक शिष्यों को विद्यादान देकर वेदादि श्रेष्ठ शास्त्रों में पण्डित और सेवकों को धन देकर गाय आदि ऐश्वर्यों से भरपूर, अत्यन्त धनी कर दूँ ॥८॥

अथ कीदृशः श्रद्धारसः परमात्मानं प्रत्यर्पणीय इत्याह ।

१२३. **पन्यंपन्यमित् सोतार आ धावत मद्याय ।**
सोमं वीराय शूराय ॥९॥[2]
पन्यंपन्यम् पन्यम् पन्यम् इत् सोतारः । आ धावत मद्याय ॥
सोमम् वीराय शूराय ॥९॥

पदार्थः—हे **सोतारः** श्रद्धारूपस्य सोमरसस्य अभिषोतारः उपासकाः ! सुन्वन्तीति सोतारः, षुञ् अभिषवे, कर्त्तरि तृच् । **मद्याय** मादयितव्याय, तर्पणीयाय **वीराय** विशेषेण ईरयित्रे सद्गुणप्रेरकाय । वि पूर्वः ईर क्षेपे, चुरादिः, कर्त्तरि अच् प्रत्ययः । **शूराय** विक्रमशालिने इन्द्राय परमात्मने **पन्यंपन्यम् इत्**

१. इयमृक् प्रदाने विलम्बमानम् इन्द्रं प्रति उच्यते—इति भ० । त्वं तु स्तोत्रे मह्यं गवादिप्रदाने विलम्बसे, अहं चेत् त्वमिव धनाधीश्वरो भवेयं तर्हि मद्य एव स्वस्तोतारं गोसखं कुर्यामिति तदीयं तात्पर्यं बोध्यम् ।

२. ऋ० ८।२।२५, साम० १६५७ ।

स्तुत्यं स्तुत्यम् एव । पण व्यवहारे स्तुतौ च । **सोमम्** श्रद्धारसम् **आ धावत**[1] आगमयत, समर्पयत । धावु गतिशुद्धचोः, लुप्तणिच्कं रूपम् ॥९॥

अत्र 'पन्यं, पन्य' इति 'राय-राय' इति च छेकानुप्रासः, 'वीराय, शूराय' इति पुनरुक्तवदाभासः, यकारस्यासकृदावृत्तौ च वृत्त्यनुप्रासः ॥९॥

भावार्थः—परमेश्वरः प्रशस्यं हृदयावर्जकं श्रद्धारसं प्राप्य स्तोतुर्हृदये सद्गुणान् प्रेरयति, स्वशूरतया तद्दुर्गुणाँश्च संहरति ॥९॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि कैसा भक्तिरस परमात्मा को अर्पित करना चाहिए ।

पदार्थ—हे **सोतारः** भक्तिरूप सोम-रस को अभिषुत करने वाले उपासको ! तुम **मद्याय** तृप्ति प्रदान किये जाने योग्य, **वीराय** विशेष रूप से सद्गुणों के प्रेरक, **शूराय** शूर परमात्मा के लिए **पन्यं पन्यम् इत्** प्रशंसनीय-प्रशंसनीय ही **सोमम्** श्रद्धा-रस को **आ धावत** समर्पित करो ॥९॥

इस मन्त्र में 'पन्यं, पन्य' तथा 'राय, राय' में छेकानुप्रास और 'वीराय, शूराय' में पुनरुक्तवदाभास अलंकार है । य की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ॥९॥

भावार्थ—परमेश्वर प्रशंसनीय, हृदय को मोह लेने वाले श्रद्धा-रस को प्राप्त कर स्तोता के हृदय में सद्गुणों को प्रेरित करता है और अपनी शूरता से उसके दुर्गुणों का संहार करता है ॥९॥

वयं विद्वांसमतिथिं परमात्मानं चोपहारेण सत्कुर्म इत्याह ।

३१ २ ३२७ ३ २ ३ १२ ३१२
१२४. इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम् ।
१ २ ३ १ २
अनाभयिन् ररिमा ते ॥१०॥[2]

३२ २ २ १२१ १२१ १२१ ३ १२ ३ १२१
इदम् वसो सुतम् अन्धः । पिब सुपूर्णम् सु पूर्णम् उदरम् उ दरम् ॥
१२१ ३ २ ३
अनाभयिन् अन् आभयिन् ररिम ते ॥१०॥

पदार्थः—हे **वसो** सद्गुणानां वासयितः अतिथे परमात्मन् वा, त्वम् **इदम्** एतद् अस्माभिः समर्प्यमाणम्, **सुतम्** अभिषुतम्, सज्जीकृतम् **अन्धः** अन्नं श्रद्धारसं वा । अन्धः इत्यन्ननामसु पठितम् । निघं० २।७ 'अदेर्नुम् धौ च' उ० ४।२०७ इति अद् भक्षणे धातोः असुन् प्रत्यये, नुमागमो, धकारादेशश्च । **सुपूर्णम् उदरम्** उदरम् सुष्ठु पूर्णं यथा स्यात् तथा **पिब** आस्वादय । संहितायाम् 'द्व्यचोऽतस्तिङः' अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः । हे **अनाभयिन्**[3] निर्भय ! वयं **ते** तुभ्यम् **ररिम** प्रयच्छामः । रा दाने । 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' अ० ३।४।६ इति लडर्थे लिट् । संहितायाम् 'अन्येषामपि दृश्यते' अ० ६।३।१३७ इति दीर्घः ॥१०॥

भावार्थः—यथा कश्चिद् विद्वानतिथिरस्माभिः प्रदीयमानमन्नरसघृतदुग्धादिकं सुपूर्णमुदरं पिबति तथैव हे परमात्मन् ! त्वमस्माभिः श्रद्धया विनिवेद्यमानं भक्तिरसं कर्णेहत्य पिब । अत्र अकायस्य मुखोदरादिरहितस्यापि परमेश्वरस्य विषये 'सुपूर्णमुदरं पिबे'ति व्याहार आलङ्कारिक एव ॥१०॥

---

१. आधावत आसारयत, आभिमुख्येन गमयत—इति वि० । आपुनीत, धावु गतिशुद्धचोः—इति भ० । अभिगमयत प्रयच्छत इत्यर्थः—इति सा० ।

२. ऋ० ८।२।१, साम० ७३४ ।

३. आ समन्ताद् बिभेति आभयी, बिभेतेरौणादिक इनिः, न आभयी अनाभयी, तादृशः—इति सा० ।

अत्र परमात्मनः स्तुतिगानार्थं प्रेरणात्, ततः सुखप्रार्थनात्, तन्महिमवर्णनाच्चैतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन संगतिरस्तीति वेदितव्यम् ॥

इति द्वितीये प्रपाठके प्रथमार्धे तृतीया दशतिः ।
इति द्वितीयाध्याये प्रथमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि हम विद्वान् अतिथि और परमात्मा का उपहार से सत्कार करते हैं ।

पदार्थ—हे **वसो** सद्गुणों के निवासक अतिथि अथवा परमात्मन् ! आप **इदम्** इस हमारे द्वारा समर्पित किये जाते हुए **सुतम्** तैयार **अन्धः** अन्न या भक्तिरस को **सूपूर्णम् उदरम्** खूब पेट भरकर **पिब** पीजिए । हे **अनाभयिन्** निर्भीक ! हम **ते** आपको **ररिम** अर्पित कर रहे हैं ॥१०॥

भावार्थ—जैसे कोई विद्वान् अतिथि हमसे दिये जाते हुए अन्न, रस, घी, दूध आदि को पेट भरकर पीता है, वैसे ही हे परमात्मन् ! आप हमारे द्वारा श्रद्धापूर्वक निवेदित किये जाते हुए भक्तिरस को छककर पीजिए । यहाँ निराकार एवं मुख-पेट आदि से रहित भी परमेश्वर के विषय में 'पेट भरकर पीजिए' यह कथन आलङ्कारिक है ॥१०॥

इस दशति में परमात्मा के स्तुतिगान के लिए प्रेरणा, उससे सुख की प्रार्थना और उसकी महिमा का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय से संगति है, यह जानना चाहिए ॥१०॥

द्वितीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की तृतीय दशति समाप्त ।
द्वितीय अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ॥

॥४॥ अथ 'उद्घे' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, २ सुकक्ष-श्रुतकक्षौ; ३ भरद्वाजः; ४ श्रुतकक्षः; ५, ६ मधुच्छन्दा.; ७, ९, १० त्रिशोकः; ८ वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अथ परमात्मरूपः सूर्यः कं प्रत्युदेतीत्याह ।

१२५. उद् घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम् ।
अस्तारमेषि सूर्य ॥१॥[1]

उत् घ इत् अभि श्रुतामघम् श्रुत मघम् । वृषभम् नर्यापसम् नर्य अपसम् ॥
अस्तारम् एषि सूर्य ॥१॥

पदार्थः—हे **सूर्य** सूर्यवत् प्रकाशमान, प्रकाशकर्तः, चराचरान्तर्यामिन्, सद्बुद्धिप्रेरक, तमोगुण-प्रकम्पक इन्द्र परमात्मन् ! सूर्यः सर्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा । निरु० १२।१४ । सृ गतौ, षू प्रेरणे, सु-ईर

१. ऋ० ८।९३।१, अथ० २०।७।१, उभयत्र ऋषिः सुकक्षः । साम० १४५० ।

गतौ कम्पने च। 'राजसूयसूर्य०' अ० ३।१।११४ इत्यनेनायं निपातितः। त्वम् **घ** निश्चयेन **श्रुतामघम्**[1] श्रुतं वेदादिशास्त्रज्ञानमेव मघं धनं यस्य तम्। मघमिति धननामधेयं मंहतेर्दानकर्मणः, निरु० १।६। पूर्वपदस्य दीर्घश्छान्दसः। **वृषभम्** विद्याधनादिवर्षकम्, **नर्यापसम्** नर्याणि नरहितकराणि अपांसि कर्माणि यस्य तम्। नरेभ्यो हितानि नर्याणि। नरशब्दात् हितार्थे यत् प्रत्ययः। अपस् इति कर्मनाम। निघं० २।१। **अस्तारम्** सकलविघ्नबाधानां प्रक्षेप्तारम्। असु क्षेपणे धातोः कर्तरि तृच्। एवंगुणविशिष्टमेव जनम् **अभि** अभिलक्ष्य **उत् एषि** उदयं प्राप्नोषि, तदीयहृदये आविर्भवसि इत्यर्थः ॥१॥

भावार्थः—भौतिकः सूर्यः खलु विद्वांसं वा मूर्खं वा, दातारं वा कृपणं वा, परोपकारिणं वा स्वार्थपरायणं वा, विजेतारं वा विजितं वा सर्वान् प्रत्युदेति। परं परमात्मरूपः सूर्यस्तेषामेव हृदये प्रकाशते ये वेदादिसच्छास्त्रश्रवणमेव धनं मन्यन्ते, ये स्वोपार्जितं विद्यादिवैभवं भौतिकं च धनं मेघवत् सर्वत्र वर्षन्ति, येषां कार्याणि सर्वेषां नराणां हितकराणि जायन्ते, ये च महान्तमपि शत्रुं महतीमपि च बाधां स्वबलेन दूरं प्रक्षेप्तुमुत्सहन्ते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में यह वर्णन है कि परमात्मारूप सूर्य किसके प्रति उदित होता है।

पदार्थ—हे **सूर्य** सूर्य के तुल्य प्रकाशमान और प्रकाशकर्ता, चराचर के अन्तर्यामी, सद्बुद्धि के प्रेरक, तमोगुण को प्रकंपित करने वाले परमात्मन्! **त्वम्** आप **घ** निश्चय ही **श्रुतामघम्** वेदादि शास्त्रों का ज्ञान ही जिसका धन है ऐसे, **वृषभम्** विद्या, धन आदि की वर्षा करने वाले, **नर्यापसम्** जनहित के कर्मों में संलग्न, **अस्तारम्** सब विघ्नबाधाओं को प्रक्षिप्त कर देने वाले मनुष्य को ही **अभि** लक्ष्य करके **उद् एषि** उदित होते हो, अर्थात् उसके हृदय में प्रकट होते हो ॥१॥

भावार्थ—भौतिक सूर्य तो विद्वान्-अविद्वान्, दाता-कृपण, परोपकारी-स्वार्थी, जीते-हारे सबके प्रति उदित होता है। परन्तु परमात्मा-रूप सूर्य उन्हीं के हृदय में प्रकाशित होता है जो वेदादि श्रेष्ठ शास्त्रों के श्रवण को ही धन मानते हैं, जो अपने उपार्जित विद्यादि वैभव को और भौतिक धन को बादल के समान सब जगह बरसाते हैं, जिनके कर्म जन-कल्याणकारी होते हैं और जो बड़े से बड़े शत्रु को और बड़ी से बड़ी बाधा को अपने बल से परास्त कर देने का साहस रखते हैं ॥१॥

कः परमात्मनो वशे जायत इत्याह।

२ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
१२६. **यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य।**
२ ३ १ २ ३ १ २
सर्वं तदिन्द्र ते वशे ॥२॥[2]

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ ३ १ २ १ ३ २ ३
यत् अद्य अ द्य कत् च वृत्रहन् वृत्र हन्। उदगाः उत् अगाः अभि सूर्य ॥
१ २ १ ३ १ २ १
सर्वम् तत् इन्द्र ते वशे ॥२॥

पदार्थः—हे **वृत्रहन्**[3] अविद्यापापदुराचारादीनां धर्मावरकाणां तमसां हन्तः **सूर्य** ज्योतिर्मय ज्योतिष्प्रद **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन्! **अद्य** अस्मिन् दिने, त्वम् **यत् कत् च** यं कमपि मनुष्यम्, यत्

१. श्रुतं मघं यस्य स श्रुतामघः, तं श्रुतामघम्। छान्दसं दीर्घत्वम्। विख्यातधनमित्यर्थः—इति वि०। विश्रुतदानम्—इति भ०। सर्वदा देयत्वेन विख्यातधनम्—इति सा०।

२. ऋ० ८।९३।४, अथ० २०।११२।१, उभयत्र ऋषिः सुकक्षः। य० ३३।३५ देवता सूर्यः।

३. वृत्रहन् पापानां हन्तः सूर्य—इति भ०। अपामावरकस्य मेघस्य हन्तः—इति सा०।

किमपि मम मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियादिकं वा **अभि** अभिलक्ष्य **उदगाः** उदेषि, **सर्वं तत्** सर्वोऽपि स जनः, सर्वमपि तन्मनोबुद्ध्यादिकं वा **ते** तव **वशे** आधीन्ये जायते इति शेषः[1] ॥२॥

भावार्थः—यथा भौतिकः सूर्यो यत्किञ्चिदपि पदार्थजातं प्रत्युदेति तत्सर्वं तत्प्रकाशेन परिप्लुतं भवति, तथैव परमात्मसूर्यो यस्यान्तःकरणे समुदेति स तद्दिव्यप्रकाशेनाप्लुतः सन् तद्वशे सञ्जायते ॥२॥[2]

कौन परमात्मा के वश में होता है, यह कहते हैं ।

पदार्थ—हे **वृत्रहन्** अविद्या, पाप, दुराचार आदि, जो धर्म की गति को रोकने वाले हैं, उनके विनाशक, **सूर्य** प्रकाशमय, प्रकाशदाता **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! **अद्य** आज, आप **यत् कत् च** जिस किसी भी मनुष्य को अथवा जिस किसी भी मेरे मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों आदि को **अभि** लक्ष्य करके **उदगाः** उदित होते हो, **सर्वं तत्** वे सभी मनुष्य अथवा वे सभी मन, बुद्धि आदि **ते** आपके **वशे** वश में हो जाते हैं ॥२॥

भावार्थ—जैसे भौतिक सूर्य जिन किन्हीं भी पदार्थों के प्रति उदित होता है, वे सभी पदार्थ उसके प्रकाश से परिप्लुत हो जाते हैं, वैसे ही परमात्मारूप सूर्य जिसके अन्तःकरण में उदय को प्राप्त होता है वह उसके दिव्य प्रकाश से परिपूर्ण होकर उसके वश में हो जाता है ॥२॥

अथेन्द्रनाम्ना परमेश्वरस्य विद्युतो राज्ञश्च सख्यं प्रार्थयते ।

१२७. य आनयत् परावतः सुनीती तुर्वशं यदुम् ।
इन्द्रः स नो युवा सखा ॥३॥[3]
यः आनयत् आ अनयत् परावतः । सुनीती सु नीती तुर्वशम् यदुम् ॥
इन्द्रः सः नः युवा सखा स खा ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमेश्वरपरः । **यः परावतः** परागताद् दूरदेशादपि । परावत इति दूरनाम । निघं० ३।२६ । 'उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे' । अ० ५।१।११८, अनेन 'परा' इत्युपसर्गाद् वतिः प्रत्ययः । **यदुम्**[4] सामीप्याय प्रयतमानं नरम् । यदवः इति मनुष्यनामसु पठितम् निघं० २।३ । **सुनीती** उत्तमनीत्या । 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण०' । अ० ७।१।३९ इति तृतीयैकवचने पूर्वसवर्णदीर्घः । **तुर्वशम्** समीपम् । तुर्वश इत्यन्तिकनामसु पठितम् । निघं० २।१६ । **आ अनयत्** आनयति, **सः** असौ **युवा** नित्यतरुणः, यः कदापि बालवद् वृद्धवद् वा शक्तिविकलो न भवति तादृशः, सदा सशक्त इत्यर्थः, **इन्द्रः** परमेश्वरः **नः** अस्माकम् **सखा** सहायकः सुहृद्, भवतु ।

अथ **द्वितीयो** विद्युत्परः । **यः** विमानादियानेषु प्रयुक्तः सन् **यदुम्** पुरुषार्थिनं जनम् **परावतः** अत्यन्तदूरदेशादपि **तुर्वशम्** इच्छाधीनवेगेन । त्वरा वेगो वशे यथा स्यात् तथा । **सुनीती** सुनीत्या शोभनया

---

१. एतन्मन्त्रव्याख्याने भरतस्वामिना सायणेन च शौनकनाम्ना श्लोकोऽयमुद्धृतः—यदद्य कच्चेत्युदिते रवौ स्तुत्वा पुरंदरम् । गृह्णन्नपोहते शत्रुं वश्यं वा कुरुते जगत् ॥ इति

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिरस्य मन्त्रस्य भावार्थमेवं प्राह—'ये पुरुषाः सूर्यवदविद्यान्धकारं दुष्टतां च निवार्य सर्वं वशीभूतं कुर्वन्ति तेऽभ्युदयं प्राप्नुवन्ति' इति ।

३. ऋ० ६।४५।१, ऋषिः शंयुः बार्हस्पत्यः ।

४. अत्र यती प्रयत्ने इत्यस्माद् बाहुलकादौणादिकः उः प्रत्ययः, तकारस्य दकारः इति ऋ० १।३६।१८ भाष्ये द० ।

यात्रया सह, किञ्चिदपि यात्राकष्टमनुत्पाद्येत्यर्थः, **आनयत्** देशान्तरं प्रापयति, **सः** असौ प्रसिद्धः **युवा**[1] यन्त्रेषु प्रयुक्तः सन् पदार्थानां संयोजनक्रियया वियोजनक्रियया वा पदार्थान्तराणां रचने साधनभूतः। यु मिश्रणेऽमिश्रणे च इति धातोः 'कनिन् युवृषितक्षि०'। उ० १।१५६ इति कनिन् प्रत्ययः। युवा प्रयौति कर्माणि। निरु० ४।१९। **इन्द्रः** विद्युत् **नः** अस्माकम् **सखा** सखेव कार्यसाधको भवतु।

अथ **तृतीयो** राजपरः[2]। **यः** राजा **परावतः** अधर्ममार्गात् प्रच्याव्य **यदुम्** यतमानम् उद्योगिनम् **तुर्वशम्**[3] हिंसकानां वशकरं मनुष्यम्। तुर्वश इति मनुष्यनाम। निघं० २।३। **सुनीती** सुनीतौ धर्ममार्गे। अत्र सप्तम्यैकवचनस्य पूर्वसवर्णदीर्घः। **आनयत्** आनयति, **सः असौ युवा** शरीरेण मनसाऽऽत्मना च युवकः **इन्द्रः** अधर्मविदारको राजा **नः** प्रजानामस्माकम् **सखा** सहायकः भवतु ॥३॥

अत्र श्लेषालंकारः ॥३॥

भावार्थः—यथा विमानादियानेषु प्रयुक्तो विद्युदग्निः सुदूरादपि प्रदेशाद् विमानादिचालकानामिच्छानुसारिगत्या जनान् देशान्तरं प्रापयति, यथा वा कश्चित् सुयोग्यो राजाऽधर्ममार्गे दूरंगतान् जनाँस्ततो निवर्त्य धर्ममार्गे प्रवर्तयति, तथैव परमेश्वरः उन्नत्यै प्रयतमानमपि कदाचित् कुसङ्गे पतित्वा सन्मार्गाद् दूरंगतं जनं स्वान्तिकमानीय धार्मिकं करोति ॥३॥

अत्र 'तुर्वशं नाम राजपुत्रं यदुं च' इति विवरणकृत्। तथैव 'तुर्वशं यदुं च राजानौ शत्रुभिः दूरेऽपास्तौ' इति भरतस्वामी। 'तुर्वशं यदुं च एतत्संज्ञौ राजानौ शत्रुभिः दूरदेशे प्रक्षिप्तौ' इति सायणः। तौ इन्द्रः सुनीत्या दूरदेशादानीतवान् इति सर्वेषामभिप्रायः। तत्सर्वं प्रलपितमात्रम्, वेदानां सृष्ट्यादौ परब्रह्मणः सकाशात् प्रादुर्भूतत्वात् तत्र परवर्तिनां केषाञ्चिद् राजादीनामितिहासस्यासंभवात्, निघण्टौ तुर्वशस्य मनुष्यनामसु अन्तिकनामसु च पठितत्वात्, यदोश्चापि मनुष्यनामसु कीर्तनाच्च ॥३॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर, विद्युत् और राजा के सख्य की प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—प्रथम परमेश्वर के पक्ष में। **यः** जो **परावतः** दूर से भी **यदुम्** यत्नशील मनुष्य को **सुनीती** उत्तम नीति की शिक्षा देकर **तुर्वशम्** अपने समीप **आनयत्** ले आता है, **सः** वह **युवा** सदा युवा की तरह सशक्त रहने वाला **इन्द्रः** परमेश्वर **नः** हमारा **सखा** सहायक मित्र होवे॥

द्वितीय विद्युत् के पक्ष में। **यः** जो विमानादियानों में प्रयोग किया गया विद्युत् **यदुम्** पुरुषार्थी मनुष्य को **परावतः** अत्यन्त दूर देश से भी **तुर्वशम्** मनोवाञ्छित वेग से **सुनीती** उत्तम यात्रा के साथ, अर्थात् कुछ भी यात्रा-कष्ट न होने देकर **आनयत्** देशान्तर में पहुँचा देता है, **सः** वह प्रसिद्ध **युवा** यन्त्रों में प्रयुक्त होकर पदार्थों के संयोजन या वियोजन की क्रिया द्वारा विभिन्न पदार्थों के रचने में साधनभूत **इन्द्रः** विद्युत् **नः** हमारा **सखा** सखा के समान कार्यसाधक होवे॥

तृतीय राजा के पक्ष में। **यः** जो राजा **परावतः** अधममार्ग से हटाकर **यदुम्** प्रयत्नशील, उद्योगी, **तुर्वशम्** हिंसकों को वश में करने वाले मनुष्य को **सुनीती** उत्तम धर्ममार्ग पर **आनयत्** ले आता है, **सः** वह **युवा** शरीर, मन और आत्मा से युवक **इन्द्रः** अधर्मादि का विदारक राजा **नः** हम प्रजाओं का **सखा** मित्र होवे॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है॥३॥

---

१. युवा यौति मिश्रयति पदार्थैः सह, पदार्थान् वियोजयति वा यः सः इति ऋ० १।१२।६ भाष्ये द०।

२. दयानन्दर्षिरपि ऋग्भाष्ये मन्त्रमिमं राजपक्षे व्याख्यातवान्।

३. (तुर्वशेषु) तूर्वन्तीति तुरः तेषां वशकर्तारो मनुष्याः तेषु इति ऋ० १।१०८।८ भाष्ये द०।

भावार्थ—जैसे विमानादि यानों में प्रयुक्त विद्युद्रूप अग्नि सुदूर प्रदेश से भी विमानचालकों की इच्छानुकूल गति से लोगों को देशान्तर में पहुँचा देता है, अथवा जैसे कोई सुयोग्य राजा अधर्ममार्ग पर दूर तक गये हुए लोगों को उससे हटाकर धर्ममार्ग में प्रवृत्त करता है, वैसे ही परमेश्वर उन्नति के लिए प्रयत्न करते हुए भी कभी कुसंग में पड़कर सन्मार्ग से दूर गये हुए मनुष्य को कृपा कर अपने समीप लाकर धार्मिक बना देता है ॥३॥

इस मन्त्र की व्याख्या में विवरणकार ने लिखा है कि तुर्वश और यदु नाम के कोई राजपुत्र थे। इसी प्रकार भरतस्वामी और सायण का कथन है कि तुर्वश और यदु नामक दो राजा थे, जिन्हें शत्रुओं ने दूर ले जाकर छोड़ दिया था। उन्हें इन्द्र उत्तम नीति से दूर देश से ले आया था यह उन सबका अभिप्राय है। यह सब प्रलापमात्र है, क्योंकि वेद सृष्टि के आदि में परब्रह्म परमेश्वर से प्रादुर्भूत हुए थे, अतः उनमें परवर्ती किन्हीं राजा आदि का इतिहास नहीं हो सकता। साथ ही वैदिककोष निघण्टु में 'तुर्वश' मनुष्यवाची तथा समीपवाची शब्दों में पठित है, और 'यदु' भी मनुष्यवाची शब्दों में पठित है, इस कारण भी इन्हें ऐतिहासिक राजा मानना उचित नहीं है ॥३॥

अथेन्द्रस्य सख्यं प्राप्य वयमाक्रान्तन् विजयेमहीति प्रार्थ्यते।

१२८. मा न इन्द्राभ्या३ दिशः सूरो अक्तुष्वा यमत्।
त्वा युजा वनेम तत् ॥४॥[1]

मा नः इन्द्र अभि आदिशः आ दिशः। सूरः अक्तुषु आ यमत्॥
त्वा युजा वनेम तत् ॥४॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमवीर परमात्मन् राजन् वा ! **आदिशः**[2] कस्मादपि दिग्भागात् **सूरः**[3] अवसरं दृष्ट्वाऽकस्मात् सरणशीलः कामक्रोधादिरक्षोगणश्चौरादिवर्गो वा। यथा यास्काचार्येण सूर्य शब्दः सृ गतौ धातोर्निष्पादितस्तथैव सूरशब्दोऽपि तस्मादेव धातोर्निष्पादयितुं शक्यम्। द्रष्टव्यम् निरु० १२।१४। **अक्तुषु** अज्ञानरात्रिषु तिमिरनिशासु वा। अक्तुरिति रात्रिनाम। निघं० १।७। **नः** अस्मान् **मा न अभि आ यमत्**[4] अभ्याक्रामेत्। अभि आङ् पूर्वाद् यम उपरमे धातोर्लेटि 'बहुलं छन्दसि' अ० २।४।७३ इति शपो लुकि यच्छादेशाभावः। 'लेटोऽडाटौ' अ० ३।४।९४ इत्यडागमः। यदि च अभ्याक्रामेत् तर्हि **त्वा** त्वया। युष्मदस्तृतीयैकवचने 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति पूर्वसवर्णदीर्घः। **युजा** सहायकेन, वयम् **तत्** रक्षोगणं चौरदिवर्गं वा **वनेम**[5] हिंस्याम, समूलमुन्मूलयितुं प्रभवेम ॥४॥

१. ऋ० ८।९२।३१ ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा।
२. आभिमुख्येन युद्धार्थं ये आदिश्यन्ते ते अभ्यादिशः आज्ञाकरा इत्यर्थः—इति वि०। आदेष्टा, प्रवृत्तिरोधक आदेशः। 'यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति। अप स्म तं पथो जहि। ऋ० १।४२।२ इति मन्त्रदर्शनात्—इति भ०। आदिशः आदेष्टा समन्तादायुधानि अतिसृजन्—इति सा०।
३. सूरः प्रेरकः शत्रुः०—इति भ०। सूरः, सृ गतौ, सर्वत्र सरणशीलः राक्षसः—इति सा०। उणादौ तु 'सुसूधाञ् गृधिभ्यः क्रन्' उ० २।२५ इति षू धातोः क्रन्।
४. मा आयमत् नाभिगच्छेदयम् इत्यर्थः—भ०। मा अभ्यागमत् आ आभिमुख्येन मा नियन्ताऽऽगन्ता भवतु—इति सा०।
५. वनेम वनतिर्यद्यप्यन्यत्र सम्भजनार्थस्तथापीह हिंसार्थो द्रष्टव्यः। हिंस्याम—इति० वि०। वनेम लभेमहि—इति भ०। वनेम हन्याम, 'श्रथश्लथक्लथ हिंसार्थाः, वन च' इत्यत्र पठितत्वाद् हिंसार्थः—इति सा०।

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥४॥

भावार्थः—जगत्यस्मिन्नज्ञानतिमिरे तमःपूर्णायां रात्रौ वा निवसतामस्माकं छिद्रं प्रेक्ष्य यः कोऽपि कामक्रोधादिश्चौरलुण्ठकादिर्वाऽऽक्रम्यास्मान् जिघांसति तं परमात्मनो नृपस्य च साहाय्येन वयं धूलिसात् कुर्याम ॥४॥

अगले मन्त्र में यह प्रार्थना है कि इन्द्र की मैत्री प्राप्त कर हम आक्रान्ता शत्रुओं पर विजय पा लें।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमवीर परमात्मन् अथवा राजन् ! **आदिशः** किसी भी दिशा से **सूरः** अवसर देखकर चुपके से आ जाने वाला काम-क्रोधादि राक्षसगण या चोर आदि का समूह **अक्तुषु** अज्ञान-रात्रियों में अथवा अँधेरी रातों में **नः** हमें **मा** मत **अभि आ यमत्** आक्रान्त करे। यदि आक्रान्त करे तो **त्वा** आप **युजा** सहायक के द्वारा हम **तत्** उस कामादि राक्षसगण को अथवा चोरों के गिरोह को **वनेम** विनष्ट कर दें, समूल उन्मूलन करने में समर्थ हों ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥४॥

भावार्थ—इस संसार में अज्ञानान्धकार में अथवा अँधियारी रात में पड़े हुए हम लोगों की न्यूनता देखकर जो कोई काम-क्रोधादि या चोर-लुटेरा आदि हम पर आक्रमण कर हमें विनष्ट करना चाहे, उसे परमात्मा और राजा की सहायता से हम धूल में मिला दें ॥४॥

अथेन्द्रो धनं प्रार्थ्यते।

१२९. **एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम्।**
वर्षिष्ठमूतये भर ॥५॥[1]

आ इन्द्र सानसिम् रयिम्। सजित्वानम् स जित्वानम् सदासहम् सदा सहम्॥
वर्षिष्ठम् ऊतये भर ॥५॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन् परमैश्वर्यप्रद परमात्मन् राजन् वा ! त्वम् **सानसिम्** संभजनीयम्। 'सानसि पर्णसि' उ० ४।११० अनेनायं षण सम्भक्तौ धातोरसि प्रत्ययान्तो निपातितः। **सजित्वानम्**[2] सहभवान् शत्रून् जयतीति सजित्वा तम्। अत्र 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' अ० ३।२।७५ अनेन जिधातोः क्वनिप् प्रत्ययः। सहस्य सभावः। **सदासहम्** सर्वदा दुष्टानां शत्रूणाम् अभिभवहेतुम्, सदा दुःखानां सहनहेतुं च। सदा पूर्वात् षह मर्षणे धातोः क्विप् प्रत्ययः। **वर्षिष्ठम्** अतिशयेन वृद्धं वृद्धिकारकं च। अत्र वृद्धशब्दात् अतिशायने इष्ठनि 'प्रियस्थिर०' अ० ६।४।१५७ इत्यनेन वृद्धस्य वर्षिरादेशः। **रयिम्** अहिंसासत्यशमदमादिकां दैवीं सम्पदम् विद्याधनबलचक्रवर्तिराज्यादिकं भौतिकमैश्वर्यं च अस्माकम् **ऊतये** रक्षणाय, प्रगतये, प्रीतये, तृप्त्यै वा। अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यादिषु, तस्मात् क्तिनि रूपम्। **आभर** आहर। हृग् हरणे, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' ८।२।३५ वा० इति हस्य भः ॥५॥[3]

---

१. ऋ० १।८।१, अथ० २०।७०।१७।

२. सजित्वानं सहभूतानां शत्रूणां जेतृ—इति वि०। सजित्वानो जयशीलाः पुरुषाः तैः सहितम्—इति भ०। समानशत्रुजयशीलम्, धनेन हि शूरान् भृत्यान् सम्पाद्य शत्रवो जीयन्ते—इति सा०। समानानां शत्रूणां विजयकारकम्—इति ऋ० १।८।१ भाष्ये द०।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं परमात्मपक्षे व्याख्यातवान्।

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैः परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानं राजानं च याचित्वा स्वपौरुषेण चाहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रह-शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानशमदमतेजस्तपःक्षमाधृत्यादिरूपा दैवी सम्पद् विद्याधनबलदीर्घायुष्यपशुपुत्रपौत्रकलत्रचक्रवर्तिराज्यादिरूपा भौतिकी सम्पच्च समुपार्जनीया ॥५॥

अगले मन्त्र में इन्द्र से धन की प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली, परम ऐश्वर्य के दाता परमात्मन् और राजन् ! आप **सानसिम्** संभजनीय, **सजित्वानम्** सहोत्पन्न शत्रुओं को जीतने वाले, **सदासहम्** सदा दुष्ट शत्रुओं का अभिभव कराने वाले और दुःखों को सहन कराने वाले, **वर्षिष्ठम्** अतिशय बढ़े हुए और बढ़ाने वाले **रयिम्** अहिंसा, सत्य शम, दम आदि दैवी सम्पदा को तथा विद्या, धन, बल, चक्रवर्ती राज्य आदि भौतिक ऐश्वर्य को **ऊतये** हमारी रक्षा, प्रगति, प्रीति और तृप्ति के लिए **आ भर** प्रदान कीजिए ॥५॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को परमधनी परमात्मा और राजा से याचना करके और अपने पुरुषार्थ द्वारा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, शम, दम, तेज, तप, क्षमा, धृति आदि दैवी सम्पदा और विद्या, धन, बल, दीर्घायुष्य, पशु, पुत्र, पौत्र, कलत्र, चक्रवर्ती राज्य आदि भौतिक सम्पदा का उपार्जन करना चाहिए ॥५॥

अथ संग्रामेषु रक्षार्थं वयं किं कुर्यामित्याह।

१३०. इन्द्रं॑ वयं महाधन इन्द्रमर्भे॑ हवामहे।
युजं॑ वृत्रेषु॑ वज्रिणम् ॥६॥[1]
इन्द्रम् वयम् महाधने महा धने। इन्द्रम् अर्भे॑ हवामहे ॥
युजम् वृत्रेषु॑ वज्रिणम् ॥६॥

पदार्थः—**वयम्** परमेश्वरोपासका राजभक्ताः प्रजाजना वा **वृत्रेषु**[2] धर्माच्छादकेषु दुष्टजनेषु दुर्गुणेषु वा **वज्रिणम्** दण्डधारिणम् **युजम्** सहयोगिनं सखायम्। युज्यते इति युक् तम्। युजिर योगे, क्विप्। **इन्द्रम्** वीरं परमेश्वरं राजानं वा **महाधने** महान्ति धनानि योगसिद्धिरूपाणि यस्मात् तस्मिन् आन्तरिके महति देवासुरसंग्रामे, महान्ति महार्घाणि धनानि स्वर्णरजतादीनि यस्मात् तस्मिन् बाह्ये च विकरालसंग्रामे महाधन इति संग्रामनाम। निघं० २।१७। **हवामहे** आह्वयेम। ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च इति धातोर्लेटो रूपमिदम्। 'बहुलं छन्दसि' अ० ६।१।३४ इति सम्प्रसारणम्। तमेव **इन्द्रम्** परमेश्वरं राजानं च **अर्भे** अल्पेऽपि आध्यात्मिके बाह्ये च युद्धे हवामहे आह्वयेम।[3]

विद्युत्पक्षेऽप्यर्थो योजनीयः। **इन्द्रम्** विद्युतं वयं महासंग्रामेऽल्पे वा संग्रामे **हवामहे** उपयुञ्जीमहि। कीदृशं विद्युदिन्द्रम् ? **युजम्** विमानादियानेषु शस्त्रास्त्रेषु वा योगवन्तम्, **वृत्रेषु** शत्रुषु **वज्रिणम्** विद्युद्गोलकादिरूपस्य वज्रस्य प्रक्षेपणसाधनम् ॥६॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥६॥

---

१. ऋ० १।७।५, अथ० २०।७०।११।

२. वृत्रेषु उपद्रवेषु सत्सु—इति भ०।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा प्रथमेन इन्द्रशब्देन परमेश्वरः, द्वितीयेन च इन्द्रशब्देन सूर्यो वायुश्च गृहीतः।

भावार्थः—साधारणेषु विकटेषु वा बाह्याभ्यन्तरेषु देवासुरसंग्रामेषु मनुष्यैर्विजयार्थं सुवीरः परमेश्वरो नृपतिश्चाह्वातव्यः, विद्युदस्त्राणि च निर्माय शत्रवः समूलमुच्छेत्तव्याः ॥६॥

संग्रामों में रक्षा के लिए हम क्या करें, यह कहते हैं ।

पदार्थ—**वयम्** परमेश्वर के उपासक और राजभक्त हम लोग **वृत्रेषु** धर्म के आच्छादक दुष्टजनों व दुर्गुणों पर **वज्रिणम्** वज्रदण्ड उठाने वाले, **युजम्** सहयोगी सखा **इन्द्रम्** वीर परमेश्वर और राजा को **महाधने** योग-सिद्धिरूप बड़े धन जिससे प्राप्त होते हैं उस आन्तरिक महासंघर्ष में और सोना, चाँदी आदि महार्घ धन जिससे प्राप्त होते हैं उस बाह्य विकराल संग्राम में **हवामहे** पुकारें, **इन्द्रम्** उसी परमेश्वर और राजा को **अर्भे** छोटे आध्यात्मिक और बाह्य संघर्ष में भी पुकारें ।

विद्युत्-पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए । **इन्द्रम्** विद्युत् का हम बड़े-बड़े संग्रामों और छोटे संग्रामों में भी **हवामहे** उपयोग करें । कैसी विद्युत् का ? **युजम्** विमानादि यानों में और शस्त्रास्त्रों में जिसे प्रयुक्त किया जाता है, और जो **वृत्रेषु** शत्रुओं पर **वज्रिणम्** बिजली के गोले आदि रूप वज्रों को फेंकने का साधन है ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥६॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि साधारण या विकट, बाह्य और आन्तरिक देवासुर-संग्रामों में विजय के लिए अत्यन्त वीर परमेश्वर तथा राजा का आह्वान करें । साथ ही बिजली से चलने वाले अस्त्रों का निर्माण करके शत्रुओं का समूल उच्छेद करें ॥६॥

अथ स्तोता परमेश्वरभक्त्या किं प्राप्नोतीत्याह ।

१३१. **अपिबत् कद्रुवः सुतमिन्द्रः सहस्रबाह्वे ।**
तत्रादिदिष्ट पौंस्यम् ॥७॥[1]
अपिबत् कद्रुवः कत् द्रुवः सुतम् । इन्द्रः सहस्रबाह्वे सहस्र बाह्वे ॥
तत्र अदिदिष्ट पौꣳस्यम् ॥७॥

पदार्थः—**इन्द्रः** विघ्नविदारको बलदायकः परमेश्वरः **सहस्रबाह्वे**[2] सहस्रं बहवः कामक्रोधाद्याः बाहवः शाखाप्रशाखाः यस्य सः सहस्रबाहुः पापरूपो दैत्यः तस्मै, तं हन्तुमित्यर्थः । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' अ० २।३।१४ इति चतुर्थी । 'सहस्रबाहवे' इति प्राप्ते 'जसादिषु छन्दसि वावचनं प्राङ् णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' अ० ७।३।१०९ वा० इति गुणस्य विकल्पनात् तदभावे यणादेशः । **कद्रुवः**[3] यः कवते गच्छति क्रियाशीलो भवति, यद्वा यः कवते स्तौति स कद्रुः तस्य पुरुषार्थिनः स्तोतुर्वा जनस्य । कवते गतिकर्मा । निघं० २।१४, कुङ् शब्दे भ्वादिः । कद्रुशब्दस्य जत्वादिगणे पाठात् 'जत्वादयश्च' उ० ४।१०३ इत्यनेन रुः प्रत्ययः, गुणेऽवादेशे वकारस्य दकारश्च । **सुतम्** अभिषुतं भक्तिरूपं सोमरसम् **अपिबत्** पिबति, **तत्र** तस्मिन् जने च **पौंस्यम्** पुंसि भवं पौंस्यं बलम् । पौंस्यानि इति बलनामसु पठितम् । निघं० २।९।

१. ऋ० ८।४५।२६ 'अत्रादेदिष्ट पौंस्यम्' इति पाठः ।
२. सहस्रं बाहवः कर्तारो यत्र तत् सहस्रबाहु सत्रम्, तस्मिन् पीतवानित्यर्थः—इति वि० । यः सहस्रं बहति प्रापयति ददातीति सहस्रबाहुः । सहस्रं बाहवो यस्य सन्तीत्यपरे—इति भ० । सहस्रबाह्वाख्यं शत्रुमहन्निति शेषः—इति सा० ।
३. कद्रूर्नाम काश्यपस्य भार्या, तस्याः स्वभूतं सुतम् अभिषुतं सोमम्—इति वि० । कद्रुवः कद्रवाख्यस्य यजमानस्य—इति भ० । कद्रुनामकस्य ऋषेः—इति सा० ।

अददिष्ट[1] ददाति दद दाने, कालसामान्ये लुङ् ॥७॥

भावार्थः—मानवोऽयमतिनिर्बलः, कामक्रोधादिसहस्रबाहुमान् पापरूपो दैत्यस्तं स्ववशे चिकीर्षति। मानवः क्रियाशीलः पुरुषार्थी च भूत्वा भक्तवत्सलं, विपत्तिविदारकं, शक्तिदायकं परमात्मानं समुपास्य, ततो बलं संचित्य तं सहस्रबाहुं शत्रुं प्रताडयेत् ॥७॥

अत्र स्वकल्पनयैव केनचित् कद्रूनाम भार्या, अपरेण कद्रुनाम यजमानः, अन्येन कद्रुनाम ऋषिः, इतरेण च कद्रुनाम राजा स्वीकृतः। इतरेतरविरुद्धानि तद्वचांसि परस्परमेव खण्डयन्ति। वस्तुतस्तु वेदे लौकिकेतिहासान्वेषणम् शशे विषाणरोपणप्रयासवन्निरर्थकमेवेति नैरुक्तपद्धतिरेव श्रेयसी ॥७॥

स्तोता को परमेश्वर की भक्ति से क्या प्राप्त होता है, यह कहते हैं।

पदार्थ—**इन्द्रः** विघ्नविदारक, बलदायक परमेश्वर **सहस्रबाह्वे** काम, क्रोध आदि हजार भुजाओं वाले पापरूप दैत्य को मारने के लिए **कद्रुवः** क्रियाशील अथवा स्तुतिशील मनुष्य के **सुतम्** भक्तिरूप सोम-रस को **अपिबत्** पीता है, और **तत्र** उस मनुष्य को **पौंस्यम्** बल, पौरुष **अददिष्ट** प्रदान करता है ॥७॥

भावार्थ—मनुष्य बड़ा ही निर्बल है, काम-क्रोध आदि सहस्र बाहुओं वाला पापरूप दैत्य उसे अपने वश में करना चाहता है। मनुष्य क्रियाशील और पुरुषार्थी होकर भक्तवत्सल, विपत्ति-भंजक, शक्तिदायक परमात्मा की उपासना करके उससे बल का संचय कर उस सहस्रबाहु शत्रु को प्रताडित करे ॥७॥

यहाँ अपनी कल्पना से ही किसी ने कद्रू नाम की भार्या, किसी ने कद्रु नामक यजमान, किसी ने कद्रु नाम का ऋषि और किसी ने कद्रु नाम का राजा मान लिया है। परस्पर विरुद्ध उनके वचन ही एक दूसरे की बात को काट देते हैं। असल में तो वेद में लौकिक इतिहास को खोजना खरगोश के सींग लगाने के प्रयत्न के समान निरर्थक ही है, अतः नैरुक्त पद्धति ही श्रेयस्कर है ॥७॥

अथ स्तोतारः परमात्मानमाहुः।

१३२. ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १
वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र नोनुमो वृषन्।
३ २ १ २
विद्धी त्वा३स्य नो वसो ॥८॥[2]
३ २ ३ १ २ ३ २ ३
वयम् इन्द्र त्वायवः। अभि प्र नोनुमः वृषन्॥
२ ३ २ ३
विद्धि तु अस्य नः वसो ॥८॥

पदार्थः—हे **वृषन्** अभीप्सितानां सुखानां शक्तीनां धनादीनां च वर्षयितः **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन्, दुःखविदारक, शत्रुसंहारक परमात्मन्! **वयम्** उपासकाः **त्वायवः** त्वां कामयमानाः, त्वत्प्रीतिपरवशाः सन्तः। त्वां कामयते इति त्वायुः, क्यचि 'क्याच्छन्दसि।' अ० ३।२।१७० इति उः प्रत्ययः। **अभि प्र नोनुमः** त्वामभिलक्ष्य प्रकर्षतया भृशं पुनः पुनः स्तुमः प्रणमामो वा। णु स्तुतौ इत्यस्य यङ्लुकि प्रयोगः। हे **वसो** सर्वान्तर्यामिन्, निवासयितः देव! त्वम् **अस्य**[3] क्रियमाणस्य स्तोत्रस्य प्रणतिकर्मणो वा। द्वितीयार्थे

---

१. अदर्दिष्ट अत्यर्थं दृश्यते, वर्ण्यते इत्यर्थः। केन? सामर्थ्यान्मन्त्रैः—इति वि०। 'दिशतेर्वा ददातेर्वा रूपम्। अददिष्टेति अदिशदिति वा अददादिति वा। दीङ्यतेः दीप्तिकर्मणो रूपमेतदित्यपरे। अदीपयदिति वा—इति भ०। आददिष्ट आदीप्यत—इति सा०।

२. ऋ० ७।३१।४, अथ० २०।१८।४, उभयत्र 'प्रणोनुमो' इति पाठः।

३. जानात्यर्थानां धातूनां प्रयोगे कर्मणि षष्ठी प्रायशो दृश्यते—इति भ०।

षष्ठी । **विद्धि तु** जानीहि तावत् । संहितायाम् 'अन्येषामपि दृश्यते ।' अ० ६।३।१३७ इति दीर्घः ॥८॥[1]

भावार्थः—हे इन्द्र ! हे परमैश्वर्यशालिन् ! हे परमैश्वर्यप्रदातः ! हे विपद्विदारक ! हे धर्मप्रसारक ! हे अधर्मध्वंसक ! हे सुहृद्धारक ! हे रिपुविनाशक ! हे आनन्दधाराप्रवाहक ! हे सद्गुणवृष्टिकर्त्तः ! हे मनोरथप्रपूरक ! हे हृदयसदननिवासिन् ! हे निवासप्रद ! त्वत्प्रीतिरसमग्नास्त्वत्प्राप्तिसमुत्सुका वयम् भूयो भूयस्त्वां वन्दामहे, त्वां प्रणमामः, त्वद्गुणान् कीर्तयामः । त्वं नतशिरसाऽस्माभिः क्रियमाणं वन्दनं, प्रणामं, गुणकीर्तनं च जानीहि, स्वीकुरु, समुद्बोधय चास्मान् ॥८॥

अगले मन्त्र में स्तोताजन परमात्मा से निवेदन कर रहे हैं ।

पदार्थ—हे **वृषन्** अभीष्ट सुखों, शक्तियों और धन आदि की वर्षा करने वाले **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली, दुःखविदारक, शत्रुसंहारक परमात्मन् ! **वयम्** हम उपासक **त्वायवः** आपकी कामना वाले, आपके प्रेम के वश होते हुए **अभि प्र नोनुमः** आपकी भलीभाँति अतिशय पुनः पुनः स्तुति करते हैं । हे **वसो** सर्वान्तर्यामी, निवासक देव ! आप **अस्य** इस किये जाते हुए स्तोत्र को **विद्धि** जानिए ॥८॥

भावार्थ—हे इन्द्र ! हे परमैश्वर्यशालिन् ! हे परमैश्वर्यप्रदातः ! हे विपत्तिविदारक ! हे धर्मप्रसारक ! हे अधर्मध्वंसक ! हे मित्रों को सहारा देने वाले ! हे शत्रुविनाशक ! हे आनन्दधारा को प्रवाहित करने वाले ! हे सद्गुणों की वर्षा करने वाले ! हे मनोरथों के पूर्णकर्ता ! हे हृदय में बसने वाले ! हे निवासक ! आपके प्रेमरस में मग्न, आपकी प्राप्ति के लिए उत्सुक हम बार-बार आपकी वन्दना करते हैं, आपको प्रणाम करते हैं, आपके गुणों का कीर्तन करते हैं । नतमस्तक होकर हमसे किये जाते हुए वन्दन, प्रणाम और गुणकीर्तन को आप जानिए, स्वीकार कीजिए और हमें उद्बोधन दीजिए ॥८॥

इन्द्रस्य सखित्वेनाग्निसमिन्धनेन च को लाभ इत्याह ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१३३. **आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् ।**
२ ३ २ ३ २ ३ १ २
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥९॥[2]
२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
आ घ ये अग्निम् इन्धते । स्तृणन्ति बर्हिः अनुषक् अनु सक् ॥
१ २१ १ २१ १ २१ १ २१ ३
येषाम् इन्द्रः युवा सखा स खा ॥९॥

पदार्थः—**ये** जनाः (**घ**) निश्चयेन । संहितायाम् 'ऋचि तु नु घ०', अ० ६।३।१३३ इति दीर्घः । **अग्निम्** यज्ञाग्निम्, उत्साहाग्निं, संकल्पाग्निं, महत्त्वाकांक्षाया अग्निम्, आत्माग्निं वा **आ इन्धते** आभिमुख्येन प्रदीपयन्ति, **येषां** येषां च जनानाम् **युवा** नित्यतरुणः, सदा सशक्तः **इन्द्रः** पराक्रमशाली परमेश्वरः **सखा** सहायकः जायते, ते जनाः **आनुषक्** आनुपूर्व्येण । आनुषग् इति नाम अनुपूर्वस्य, अनुषक्तं भवति । निरु० ६।१४ । **बर्हिः** दर्भासनं तदुपलक्षितं यज्ञं, यज्ञसाधनानि वा **स्तृणन्ति** प्रसारयन्ति, स्तृञ् आच्छादने, क्र्यादिः । निरन्तरं यज्ञकर्मसु संलग्ना भवन्तीत्याशयः ॥९॥[3]

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणाऽयं मन्त्रो राजप्रजापक्षे व्याख्यातः । अध्यापकशिष्यपक्षस्यापि च संकेतः कृतः—(इन्द्र) विद्यैश्वर्ययुक्त राजन् अध्यापक वेत्यादि ।

२. ऋ० ८।४५।१, य० ७।३२ पूर्वार्द्धः ।

३. अत्र "(ये) वेदपारगा विद्वांसः सभासदः (अग्निम्) विद्युदादिस्वरूपम् (इन्धते) प्रदीपयन्ति, (आनुषग्) अनुकूलतया (बर्हिः) अन्तरिक्षं (स्तृणन्ति) यन्त्रैश्छादयन्ति (येषाम्) विदुषाम् (युवा) तरुणावस्थः (इन्द्रः) सकलैश्वर्यवान् सभापतिः प्रत्येकाङ्गपुष्टः (सखा) सुहृद् अस्तीत्यादि" दयानन्दर्षिकृतं व्याख्यानं य० ७।३२ भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

भावार्थः—येषां हृदयेऽग्निर्न जाज्वलीति, ते निष्क्रिया अलसाः सन्तो जीवनं यापयन्ति। ते तु स्वार्थसाधनेऽपि मन्दाः, किमुत परार्थसाधनरूपयज्ञकर्मकरणे। परं ये नित्यमग्निहोत्राग्नि, ततश्च प्रेरणां प्राप्योत्साहाग्नि, संकल्पाग्नि, महत्त्वाकांक्षाया अग्निम् आत्माग्नि च प्रदीपयन्ति, ये च नित्यतरुणं, परेषां दुःखदारिद्र्यविदारकं, शत्रुविजेतारं, सृष्टियज्ञकर्त्तारं, शतक्रतुमिन्द्रं परमेश्वरं सखायं कुर्वन्ति, ते सदैव मनसि स्फूर्तिं कर्मण्यतामुदारतां च धारयन्तः सततं परोपकारकर्मसु संयुज्यन्ते ॥९॥

परमात्मा की मित्रता का और अग्नि प्रदीप्त करने का क्या लाभ है, यह बताते हैं।

पदार्थ—**ये** जो लोग **घ** निश्चय ही **अग्निम्** यज्ञ की अग्नि, उत्साह की अग्नि, संकल्प की अग्नि, महत्त्वाकांक्षा की अग्नि और आत्मा की अग्नि को **आ इन्धते** अभिमुख होकर प्रदीप्त करते हैं और **येषाम्** जिन लोगों का **युवा** सदा युवा अर्थात् सदा सशक्त रहने वाला **इन्द्रः** पराक्रमशाली परमात्मा **सखा** सहायक हो जाता है, वे लोग **आनुषक्** क्रमशः **बर्हिः** कुशा आदि यज्ञ साधनों और यज्ञ को **स्तृणन्ति** फैलाते हैं अर्थात् निरन्तर यज्ञकर्मों में संलग्न रहते हैं ॥९॥

भावार्थ—जिनके हृदय में अग्नि जाज्वल्यमान नहीं है, वे लोग आलसी होकर जीवन बिताते हैं। वे तो स्वार्थसाधन में भी मन्द होते हैं, फिर परार्थसाधनरूप यज्ञ-कर्म करने का तो कहना ही क्या है। परन्तु जो नित्य अग्निहोत्र की अग्नि को और उससे प्रेरणा प्राप्त कर उत्साह, संकल्प और महत्त्वाकांक्षा की अग्नि को तथा आत्मारूप अग्नि को प्रज्वलित करते हैं और जो सदा युवक, दूसरों की दुःख-दरिद्रता को दूर करने वाले, शत्रुविजयी, सृष्टियज्ञकर्ता, शतक्रतु इन्द्र परमेश्वर को सखा बना लेते हैं, वे सदा ही मन में स्फूर्ति, कर्मण्यता और उदारता को धारण करते हुए निरन्तर परोपकार के कामों में लगे रहते हैं ॥९॥

अथ परमात्मा राजाऽऽचार्यश्च विघ्नविनाशाय वसुप्रदानाय च प्रार्थ्यते।

३ २७ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १९ २१
१३४. भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जहि मृधः।
१ २ ३ १९ २१
वसु स्पार्हं तदा भर ॥१०॥[1]
३ २ १ २१ १ २१ १ २१ १ २१ ३ २ १ २१
भिन्धि विश्वाः अप द्विषः। परि बाधः जहि मृधः॥
१ २१ ३ २ ३
वसु स्पार्हम् तत् आ भर ॥१०॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! विद्यावीर, दयावीर, बलवीर परमात्मन् राजन् आचार्य वा ! त्वम् **विश्वाः** समस्ताः **द्विषः**[2] द्वेषवृत्तीः, कामक्रोधलोभाद्यसुराणां मानवरिपूणां च द्वेष्ट्रीः सेना वा **अप भिन्धि** अपविदारय, **बाधः**[3] बाधकान्, सन्मार्गे विघ्नकरान्। बाध धातोः क्विपि, द्वितीयाबहुवचने रूपम्। **मृधः**[4] संग्रामोत्पादकान् पाप्मनः च। मृध इति संग्रामनाम। निघं० २।१७। पाप्मा वै मृधः। श० ६।३।३।८। **परि**

---

१. ऋ० ८।४५।४०, अ० २०।४३।१, साम० १०७०।

२. द्विषः द्वेष्ट्रीः शत्रुसेनाः—इति सा०।

३. बाधा पीडा। सर्वतो यो बाधां करोति स बाधयति। बाधयतेः क्विप्। बाधः। तान् सर्वतः पीडाकरानित्यर्थः—इति वि०। बाधः, बाधकान्। बाधतेः क्विप्—इति भ०। बाधः हिंसित्रीः मृधः संग्रामान्—इति सा०।

४. मृधः संग्रामनाम। मृधं करोति मृधयति। मृधयतेः क्विप्। तान् मृधः संग्रामकारिणः इत्यर्थः—इति वि०। मृधः हिंसकान्—इति भ०।

जहि परितो विनाशय। संहितायाम् 'अन्येषामपि दृश्यते' इति दीर्घः। **तत्** प्रसिद्धम् **स्पार्हम्** स्पृहणीयम् **वसु** सत्याहिंसारोग्यविद्यासुवर्णादिकम् आध्यात्मिकं भौतिकं च धनम् **आभर** अस्मभ्यं प्रयच्छ ॥१०॥

भावार्थः—मनुष्यैः परमात्मनो नृपतेराचार्यस्य च साहाय्येन मार्गाद् रागद्वेषपापविघ्नबाधादिकमपसार्य सर्वविधं धनं च प्राप्य विजेतव्यम् ॥१०॥

अत्रेन्द्राख्यस्य परमेश्वरादिकस्य गुणवर्णनात्, ततः सकाशादैश्वर्यप्रार्थनात्, तं प्रति प्रणामार्पणात्, ततः शत्रुविनाशस्य स्पृहणीयवसुप्रदानस्य च याचनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन संगतिरस्तीति विज्ञेयम् ॥

इति द्वितीये प्रपाठके प्रथमार्धे चतुर्थी दशतिः।

इति द्वितीयाध्याये द्वितीयः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, राजा और आचार्य से विघ्नों के नाश तथा धन प्रदान करने की प्रार्थना है।

पदार्थ—हे इन्द्र ! विद्यावीर, दयावीर, बलवीर परमात्मन् राजन् व आचार्य ! आप **विश्वाः** सब **द्विषः** द्वेष-वृत्तियों को और काम, क्रोध, लोभ आदि असुरों तथा मानव राक्षसों की सेनाओं को **अप भिन्धि** विदीर्ण कर दीजिए। **बाधः** बाधक, सन्मार्ग में विघ्न डालने वाले **मृधः** संग्राम करने वाले पापों को **परि जहि** सर्वत्र नष्ट कर दीजिए। **तत्** वह प्रसिद्ध **स्पार्हम्** स्पृहणीय **वसु** सत्य, अहिंसा, आरोग्य, विद्या, सुवर्ण आदि आध्यात्मिक और भौतिक धन **आभर** हमें प्रदान कीजिए ॥१०॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि परमात्मा, राजा और आचार्य की सहायता द्वारा रास्ते से राग, द्वेष, पाप, विघ्न-बाधा आदि को हटाकर और सब प्रकार का धन प्राप्त करके विजयी हों ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र नामक परमेश्वर आदि के गुणों का वर्णन होने से, उसके पास से ऐश्वर्यों की प्रार्थना होने से, उसके प्रति प्रणाम अर्पित होने से और उससे शत्रु-विनाश तथा स्पृहणीय धन की याचना होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है यह जानना चाहिए ॥

द्वितीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त।

द्वितीय अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त।

॥५॥ अथ 'इहेव शृण्व' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ कण्वो घौरः; २ त्रिशोकः; ३, ९ वत्सः काण्वः; ४ कुसीदो काण्वः; ५ मेधातिथिः; ६ श्रुतकक्षः; ७ श्यावाश्वः; ८ प्रगाथः काण्वः; १० इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अथेन्द्रस्य सहाया मरुतो वर्ण्यन्ते।

१३५. ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १
इहेव शृण्व एषां कशा हस्तेषु यद्वदान्।
१ २ २ ३ १ २
नि यामञ्चित्रमृञ्जते ॥१॥[1]
३ २ ३ १ २ १ १ २ १
इह इव शृण्वे एषाम्। कशाः हस्तेषु यत् वदान्॥
१ २ १ ३ २ ३
नि यामन् चित्रम् ऋञ्जते ॥१॥

अस्मिन् मन्त्रे यद्यपि इन्द्रस्य सहाया मरुतः स्तूयन्ते तथापि सैनिकानां स्तुत्या सेनापतिरेव स्तुतो भवतीति न्यायेनेन्द्रो देवता। ऋग्वेदे त्वस्य मन्त्रस्य (ऋ० १।३७।३) मरुत एव देवताः। इन्द्रश्च

१. ऋ० १।३७।३, देवता मरुतः।

शरीरस्य सम्राट् जीवात्मा, राष्ट्रस्य सम्राट् राष्ट्रपतिश्च। जीवात्मनः सहाया मरुतः प्राणाः, राष्ट्रपतेश्च सहाया मरुतः सैनिका इति बोध्यम्।

पदार्थः—**प्रथमः** सैनिकपक्षे। **एषाम्** एतेषां मरुतां सैनिकानां **हस्तेषु** पाणिषु, युद्धकाले **यत् कशाः** प्रतोदाः **वदान्** वदन्ति नदन्ति, ध्वनिं कुर्वन्ति। वद धातोर्लेटि 'लेटोऽडाटौ' अ० ३।४।९४ इत्याट्। 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' अ० ३।४।९७ इत्यनेन अन्ति इत्यस्य इकारलोपः। ततश्च संयोगान्ततकारलोपे रूपम्। तत् तेषां नदनम् **इह इव**[1] अत्र इव, अयुद्धस्थलेष्वपीति भावः। **शृण्वे**[2] शृणोमि। आत्मनेपदं छान्दसम्। एष मरुद्गणः सैनिकानां समाजः **यामन्**[3] यामनि संग्रामे। यान्ति आक्रामन्ति परस्परं योद्धारो यस्मिन् स यामा, तस्मिन्। या धातोरौणादिको मनिन् प्रत्ययः। 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति ङेर्लुक्। **चित्रम्** अद्भुतं यथा स्यात् तथा **निऋञ्जते** प्रसाध्नोति, अलङ्करोत्यात्मानम्। ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा। निरु० ६।२१।

मरुतां सैनिकानां वेशप्रसाधनमेवं वर्णयति श्रुतिः—"अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथे शुभः। अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्राः शीर्षसु विततता हिरण्ययीः॥ ऋ० ५।५४।११। स्वायुधास इष्यिणः सुनिष्का उत स्वयं तन्वः शुम्भमानाः॥ ऋ० ७।५६।११ इति।

अथ **द्वितीयः** प्राणपक्षे। **एषाम्** एतेषां मरुतां प्राणानाम् **हस्तेषु** हस्तोपलक्षितेषु पूरककुम्भकादिविधिषु **यत् कशाः** अकर्णगोचराः सूक्ष्मा वाचः। कशेति वाङ्नाम। निघं० १।११। **वदान्** ध्वनन्ति, तद् ध्वननम् **इह इव** अत्र इव, अनभ्यासदशायामपीत्यर्थः **शृण्वे** शृणोमि। एष मरुतां प्राणानां गणः **यामन्** अभ्यासमार्गे। यान्ति अस्मिन्निति यामा मार्गः। **चित्रम्** अद्भुतम् **निऋञ्जते** प्रसाधयति अलङ्करोति योगैश्वर्यैः प्राणायामाभ्यासिनं साधकम्॥१॥[4]

अस्मिन् मन्त्रे भूतस्य वस्तुनः प्रत्यक्षवद् वर्णनाद् भाविकालङ्कारः[5]। सैनिकप्राणरूपार्थद्वयप्रकाशनाच्च श्लेषः॥१॥

भावार्थः—यथा राज्ञः सहायकाः सैनिका राष्ट्रं रक्षन्ति, तथैव योगिनः सहायकाः प्राणा योगिनो योगं रक्षन्ति। युद्धेषु शत्रूणां पुरतः सैनिकानां कशा ध्वनन्ति, तद् दृश्यं यैः साक्षात्कृतं भवति, तच्चमत्कृतास्ते, युद्धेतरस्थलेष्वपि मन्यन्ते यदत्रापि तेषां कशाः शब्दायन्त इव। सैनिकानां वीरोचितो वेशविन्यासोऽप्यद्भुत इव प्रतिभाति। प्राणा अपि योगिनां सैनिका एव, ये शरीरोत्पन्नं दोषजातं बहिर्निष्कासयन्ति, इन्द्रियाणि निर्मलयन्ति, योगैश्वर्यप्राप्तिप्रयासं च सफलयन्ति॥१॥

अब इन्द्र के सहायक मरुतों का वर्णन करते हैं। यहाँ यद्यपि इन्द्र के सहायक मरुतों की स्तुति है, तथापि सैनिकों की स्तुति से सेनापति की ही स्तुति मानी जाती है, इस न्याय से देवता इन्द्र माना गया है। ऋग्वेद में इस मन्त्र के देवता साक्षात् 'मरुतः' ही हैं। इन्द्र से शरीर का सम्राट् जीवात्मा और राष्ट्र

---

१. इव शब्द एवार्थे—इति वि०। इव शब्द उपमानार्थः सम्प्रत्यर्थोऽवधारणार्थः पदपूरणार्थश्च भवति। अत्र उपमानार्थव्यतिरिक्तानां त्रयाणामन्यतमो ग्राह्यः—इति भ०।

२. शृण्वे श्रूयते—इति वि०, भ०। शृणोति—इति सा०।

३. यामन् संग्रामे—इति सा०।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् वायुपक्षे व्याख्यातः।

५. प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः, तद् भाविकम्। का० प्र० १०।११४ इति तल्लक्षणात्।

का सम्राट् राष्ट्रपति गृहीत होता है। जीवात्मा रूप इन्द्र के सहायक मरुत् प्राण हैं और राष्ट्रपति रूप इन्द्र के सहायक मरुत् सैनिक हैं, यह समझना चाहिए।

पदार्थ—**प्रथम** सैनिकों के पक्ष में। **एषाम्** इन सैनिकों के **हस्तेषु** हाथों में, युद्धकाल **में यत्** जो **कशाः** चाबुकें **वदान्** बोलती हैं, वह इनका शब्द **इह इव** मानो यहीं, युद्ध से भिन्न स्थल में भी **शृण्वे** मैं सुन रहा हूँ। यह सैनिकों का गण **यामन्** संग्राम में **चित्रम्** अद्भुत **निऋञ्जते** प्रसाधन करता है।

वेद में सैनिकों का वेशप्रसाधन इस रूप में वर्णित हुआ है—"तुम्हारे कंधों पर ऋष्टियाँ हैं, पैरों में पादत्राण हैं, वक्षःस्थलों पर सोने के तमगे हैं, तुम रथ पर शोभायमान हो। तुम्हारी बाहुओं में अग्नि के समान चमकने वाले विद्युदस्त्र हैं, सिरों पर सुनहरी पगड़ियाँ हैं। ऋ० ५।५४।११, तुम उत्कृष्ट हथियारों से युक्त हो, गतिमान् हो, उत्कृष्ट स्वर्णालंकार धारण किये हो। ऋ० ७।५६।११।"

द्वितीय प्राणों के पक्ष **में**। **एषाम्** इन प्राणों के **हस्तेषु** पूरक-कुम्भक क्रियारूप हाथों में **यत्** जो **कशाः** कानों से न सुनायी देनेवाली सूक्ष्म वाणियाँ **बदान्** ध्वनित होती हैं, उस आवाज को **इह इव** मानो यहीं, प्राणाभ्यास से अतिरिक्त दशा **में भी शृण्वे** सुन रहा हूँ। यह प्राणगण **यामन्** अभ्यासमार्ग में **चित्रम्** अद्भुत रूप से **निऋञ्जते** प्राणायामाभ्यासी योगी को योगैश्वर्यों से अलंकृत कर देता है॥१॥

इस मन्त्र **में** भूतकाल की वस्तु को वर्तमान काल **में** प्रत्यक्ष घटित के समान वर्णन करने के कारण भाविक अलंकार है। सैनिक तथा प्राण इन दो अर्थों को अभिहित करने से श्लेष भी है॥१॥

भावार्थ—जैसे राजा के सहायक सैनिक लोग राष्ट्र की रक्षा करते हैं, वैसे ही योगी के सहायक प्राण योगी के योग की रक्षा करते हैं। युद्धों में शत्रुओं के सम्मुख सैनिकों की चाबुकें आवाज करती हैं, उस दृश्य को जिन्होंने देखा होता है **उससे** चमत्कृत होने के कारण युद्ध से भिन्न स्थलों में भी उन्हें **ऐसा** लगता है कि वे आवाजें सुनायी दे रही हैं। सैनिकों का वीरोचित वेश-विन्यास **भी** अद्भुत ही प्रतीत होता है। प्राण भी योगियों के सैनिक ही हैं, जो शरीर **में** उत्पन्न सब दोषों को बाहर निकाल देते हैं, इन्द्रियों को निर्मल करते हैं और योगैश्वर्य की प्राप्ति के प्रयास को सफल बनाते हैं॥१॥

अथ परमात्मनः सखायः तद्दर्शनं प्रतीक्षन्त इत्याह।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१३६. इम उ त्वा वि चक्षते सखाय इन्द्र सोमिनः।
३ १ २ ३ १ २ ३ २
पुष्टावन्तो यथा पशुम् ॥२॥[1]

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इमे उ त्वा वि चक्षते। सखायः स खायः इन्द्र सोमिनः॥
३ १ २ १ २ ३ २
पुष्टावन्तः यथा पशुम् ॥२॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन् परमात्मन्! **इमे उ** एते खलु। उ इति वाक्यालङ्कारे वर्तते, यं यास्कः निरु० १।९ इत्यत्र पदपूरणः इत्याह। **सोमिनः** अभिषुतभक्तिरससोमाः **सखायः** तव सुहृदः उपासकाः **त्वा** त्वाम् **विचक्षते**[2] विपश्यन्ति, प्रतीक्षन्ते। विचष्टे पश्यतिकर्मा। निघं० ३।११, **पुष्टावन्तः**[3]

१. ऋ० ८।४५।१६

२. विचक्षते त्वां प्रतिपालयन्ति—इति भ०।

३. पोषणं पुष्टम्, तद्वन्तः पुष्टावन्तः, पोषणवन्त इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—यथा घासहारिणो घासेन गृहीतेन पशोस्तर्पणार्थं परमया प्रीत्या युक्तास्तमेव पशुं पश्यन्ति तद्वन्मदीयाः ऋत्विजः सोमवन्तस्तेनैव सोमेन गृहीतेन तर्पणाय त्वां पश्यन्तीत्यर्थः—इति वि०। पोषकघासयुक्ताः—इति भ०।

पशुभक्ष्यपरिपुष्टघासादियुक्ताः पशुपालकाः। पुष्टा इत्यत्र दीर्घश्छान्दसः। **यथा** येन प्रकारेण **पशुम्** गवादिकं पशुं विचक्षते प्रतीक्षन्ते ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—यथा सज्जीकृतपशुभक्ष्ययवसादयः पशुपालका धेन्वादिकं पशुं प्रतीक्षन्ते यत् स आगत्य भक्ष्यमास्वाद्य तदपेक्षया मूल्यवत्तरं दुग्धमस्यभ्यं प्रयच्छेत्, तथैव सज्जीकृतभक्तिरूपसोमरसा उपासका जनाः परमात्मानं प्रतीक्षन्ते यत् स तेषां हृदयगृहं समागत्य भक्तिरसं पिबेत् तदपेक्षया सहस्रगुणितमूल्यमानन्दरसदुग्धं चास्मभ्यं दद्यादिति ॥२॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि परमात्मा के सखा लोग उसके दर्शन की प्रतीक्षा करते हैं।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परमात्मन् ! **इमे उ** ये **सोमिनः** भक्तिरसरूप सोम को परिस्रुत किये हुए **सखायः** आपके मित्र उपासक **त्वा** आपकी **विचक्षते** प्रतीक्षा कर रहे हैं, **पुष्टावन्तः** पशुओं के खाने योग्य परिपुष्ट घास आदि से युक्त पशुपालक **यथा** जिस प्रकार **पशुम्** गाय आदि पशु की प्रतीक्षा करते हैं ॥२॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥२॥

भावार्थ—जैसे पशुओं के खाने योग्य घास आदि को तैयार किये हुए पशुपालक लोग गाय आदि पशु की प्रतीक्षा करते हैं कि वह आकर भक्ष्य को खाकर उसकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् दूध हमें दे, वैसे ही भक्तिरूप सोमरस को तैयार किये हुए उपासक लोग परमात्मा की प्रतीक्षा करते हैं कि वह उनके हृदय-सदन में आकर भक्तिरस का पान करे और उसकी अपेक्षा हजार गुणा मूल्य वाला आनन्दरसरूप दूध हमें प्रदान करे ॥२॥

परमात्मनो मन्यवे सर्वे संनमन्तीत्याह।

१ २ ३ २३ २ ३ १ २ ३ १ २
१३७. समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः।
३ १२३ १ २
समुद्रायेव सिन्धवः ॥३॥[1]
२ ३ १ २ १२ १ २ ३ १ २
सम् अस्य मन्यवे विशः। विश्वाः नमन्त कृष्टयः॥
३ १२३ १ २ ३ १ २
समुद्राय सम् उद्राय इव सिन्धवः॥३॥

पदार्थः—**अस्य** इन्द्रस्य परमैश्वर्यवतः पराक्रमशालिनः परमेश्वरस्य **मन्यवे** अन्यायपापादीन् असहिष्णवे तेजसे, तत् तेजः प्राप्तुमित्यर्थः **विश्वाः** सर्वाः **कृष्टयः** कृषिकर्मसंलग्नाः, मनोभूमौ सद्गुणरूपबीजानां वप्त्र्यः **विशः**[2] प्रजाः। कृष्टयः, विशः इत्युभयमपि मनुष्यनामसु पठितम्। निघं० २।३। **सं नमन्त** परमेश्वरं प्रति संनमन्ति प्रह्वीभवन्ति। नमन्त अनमन्त। सामान्यकाले लङ्। आत्मनेपदं छान्दसम्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि'। अ० ६।४।७५ इत्यडागमो न। **समुद्राय** समुद्रं प्राप्तुं **सिन्धवः इव** स्यन्दनशीला नद्यो यथा नमन्ति, नीचैर्भवन्ति, निम्नाभिमुखं प्रवहन्ति इत्यर्थः ॥३॥

---

१. ऋ० ८।६।४, अथ० २०।१०७।१, साम० १६५१।

२. विशः। यद्यपि विश इति मनुष्यनाम तथापि कृष्टय इत्यनेन पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् क्रियानिमित्तं द्रष्टव्यम्। विष्लृ व्याप्तौ इत्यस्येदं रूपम्। स्तुतिभिर्हविर्भिश्च व्याप्तारः···कृष्टयः यजमानमनुष्या इत्यर्थः—इति वि०। अस्माभिस्तु 'कृष्टयः' इति विशेषणं, 'विशः' इति च विशेष्यं स्वीकृतम्।

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—मन्युर्नाम तन्मानसं तेजो यस्मात् कश्चिदधर्मदुराचारपापादीनि न सोढुं शक्नोति। इन्द्राख्यः परमेश्वरः खलु तस्य मन्योरादर्शः। मन्युनिधेस्तस्य मन्युं प्राप्तुं नम्रतया सर्वैर्यत्नो विधेयः ॥३॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि परमात्मा के मन्यु के संमुख सब झुकते हैं।

पदार्थ—**अस्य** इस परमैश्वर्यवान् पराक्रमशाली इन्द्र परमेश्वर के **मन्यवे** अन्याय, पाप अदि को सहन न करने वाले तेज के लिए अर्थात् उस तेज को पाने के लिए **विश्वाः** सब **कृष्टयः** कृषि करने वाली, अर्थात् मनोभूमि में सद्गुणरूप बीजों को बोने वाली **विशः** प्रजाएँ, **सं नमन्त** परमेश्वर के प्रति नत हो जाती हैं, **समुद्राय** समुद्र को प्राप्त करने लिए **सिन्धवः इव** जैसे नदियाँ नत होती हैं अर्थात् नीचे की ओर बहती हैं ॥३॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥३॥

भावार्थ—मन्यु उस मानसिक तेज को कहते हैं, जिसके कारण कोई अधर्म, दुराचार, पाप आदि को सहन नहीं कर सकता। इन्द्र नामक परमेश्वर उस मन्यु का आदर्श है। मन्यु के खजाने उस परमेश्वर के मन्यु को प्राप्त करने के लिए नम्रतापूर्वक सबको यत्न करना चाहिए ॥३॥

अथ परमात्मनः प्राप्तव्यं रक्षणं, विद्वद्भ्यः प्राप्तव्यं ज्ञानं च प्रार्थ्यते।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१३८. देवानामिदवो महत् तदा वृणीमहे वयम्।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
वृष्णामस्मभ्यमूतये ॥४॥[1]
३ १ २ १ २ ३ २ ३ २
देवानाम् इत् अवः महत्। तत् आ वृणीमहे वयम्॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २
वृष्णाम् अस्मभ्यम् ऊतये ॥४॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। इन्द्रः परमेश्वरः, तस्य दिव्यसामर्थ्यानि देवाः उच्यन्ते। **देवानाम्** इन्द्राख्यस्य परमेश्वरस्य दिव्यसामर्थ्यानाम् **इत्** एव **अवः** संरक्षणम् **महत्** महिमोपेतम् अस्ति। **वृष्णाम्** सुखवर्षकाणां तेषां दिव्यसामर्थ्यानाम् **तत्** अवः संरक्षणम् **वयम्** उपासकाः **ऊतये** प्रगतये। अव रक्षणगत्यादिषु, क्तिनि रूपम्। **अस्मभ्यम्** अस्मदर्थम् **आ वृणीमहे** सम्भजामहे। वृङ् सम्भक्तौ, क्र्यादिः।

अथ **द्वितीयो** विद्वत्परः। इन्द्रः आचार्यः, तस्य विद्वांसः शिष्याः देवाः उच्यन्ते। **देवानाम्** विदुषाम् **इत्** एव **अवः** शास्त्रज्ञानम्। अव धातोः रक्षणादिष्वर्थेषु अवगमोऽप्यर्थः पठितः। **महत्** विशालं भवति। अतः **वृष्णाम्** विद्यावर्षकाणां तेषाम् **तत्** अवः शास्त्रज्ञानम् **वयम्** अल्पश्रुताः जनाः **ऊतये** प्रगतये **अस्मभ्यम्** अस्मदर्थम् **आ वृणीमहे** स्वीकुर्मः ॥४॥

भावार्थः—इन्द्रनाम्ना वेदेषु गीतकीर्तेः परमेश्वरस्य दिव्यसामर्थ्यानि बहुमूल्यानि वर्तन्ते, येषां संरक्षणं प्राप्य क्षुद्रशक्तिरपि मनुजः सर्वान् विघ्नान् संकटांश्च तीर्त्वा विविधकष्टाकुलेऽप्यस्मिन् संसारे सुरक्षितो जायते। अतः परमेश्वरस्य दिव्यसामर्थ्यानां संरक्षणं सर्वैः प्रापणीयम्। किं च विद्वांसोऽपि देवा उच्यन्ते। तेषामुपदेशश्रवणेन ज्ञानार्जनमपि कर्त्तव्यम् ॥४॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्राप्तव्य रक्षण तथा विद्वानों से प्राप्तव्य ज्ञान की प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ—**प्रथम** परमेश्वर के पक्ष में। इन्द्र परमेश्वर है, उसके दिव्य सामर्थ्य देव हैं। **देवानाम्**

१. ऋ० ८।८३।१, देवता विश्वेदेवाः।

इन्द्र परमेश्वर के दिव्य सामर्थ्यों का **इत्** ही **अवः** संरक्षण **महत्** महान् है। **वृष्णाम्** सुखों की वर्षा करने वाले उन दिव्य सामर्थ्यों के **तत्** उस संरक्षण को **वयम्** हम उपासक लोग **ऊतये** प्रगति के प्राप्त्यर्थ **अस्मभ्यम्** अपने लिए **आवृणीमहे** प्राप्त करते हैं।

द्वितीय विद्वानों के पक्ष में। इन्द्र आचार्य है, उसके विद्वान् शिष्य देव हैं। **देवानाम्** विद्वानों **का इत्** ही **अवः** शास्त्रज्ञान **महत्** विशाल होता है। **वृष्णाम्** विद्या की वर्षा करने वाले उन विद्वानों के **तत्** उस शास्त्रज्ञान को **वयम्** हम अल्पश्रुत लोग **ऊतये** प्रगति के प्राप्त्यर्थ **अस्मभ्यम्** अपने लिए **आवृणीमहे** भजते हैं ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥४॥

भावार्थ—इन्द्र नाम से वेदों में जिसकी कीर्ति गायी गयी है उस परमेश्वर के दिव्य सामर्थ्य बहुमूल्य हैं, जिनका संरक्षण पाकर क्षुद्र शक्ति वाला मनुष्य भी सब विघ्नों और संकटों को पार करके विविध कष्टों से आकुल भी इस संसार में सुरक्षित हो जाता है। अतः परमेश्वर के दिव्य सामर्थ्यों का संरक्षण सबको प्राप्त करना चाहिए। साथ ही विद्वान् लोग भी देव कहलाते हैं। उनका उपदेश सुनकर ज्ञानार्जन भी करना चाहिए ॥४॥

अथ वेदादीनां पतिरिन्द्रः प्रार्थ्यते।

३ २ ३ १ २ ३ १ २
१३९. **सोमानां स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते।**
३ १ २ ३ १ २ ३ २
कक्षीवन्तं य औशिजः ॥५॥[1]
३ १ २ १ २ ३ २ ३
सोमानाम् स्वरणम्। कृणुहि ब्रह्मणः पते॥
१ २ ३ २
कक्षीवन्तम् यः औशिजः ॥५॥

पदार्थः—हे **ब्रह्मणस्पते** ब्रह्मणो वेदस्य ब्रह्माण्डस्य सकलैश्वर्यस्य वा स्वामिन् इन्द्र[2] जगदीश्वर! षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु' । अ०८।३।५३ इति विसर्जनीयस्य सत्वम्। **यः** योऽहम् **औशिजः**[3] यः सर्वा विद्या वष्टि कामयते स उशिग् मेधावी आचार्यः तस्य विद्यापुत्रः, अस्मि। उशिज इति मेधाविनामसु पठितम्। निघं० ३।१५। तम् **कक्षीवन्तम्** कक्षयोः बाहुमूलयोः भवा क्रिया कक्ष्या तद्वन्तं सदा क्रियावन्तं माम् **सोमानाम्** ज्ञानानाम्। षू प्रेरणे। सूयन्ते प्रेर्यन्ते गुरुणा शिष्ये इति सोमाः ज्ञानानि। **स्वरणम्**[4] प्रकाशनवन्तम् उपदेष्टारं वा। स्वृ शब्दोपतापयोः धातोः 'कृत्यल्युटो बहुलम्'। अ० ३।३।११३ इति कर्तरि ल्युट्। **कृणुहि** कुरु। कृवि हिंसाकरणयोश्च इति धातोः 'उतश्च प्रत्ययाच्छन्दो वा वचनम्'। अ० ६।४।१०६ वा० अनेन वार्तिकेन विकल्पाद् हेर्लोपो न भवति ॥५॥[5]

---

१. ऋ० १।१८।१, देवता ब्रह्मणस्पतिः। य० ३।२८, देवता बृहस्पतिः। उभयत्र 'सोमानम्' इति पाठः। साम० १४६३।

२. इन्द्रदेवताकत्वाद् ऋचः, ब्रह्मणस्पते इति इन्द्रस्यैव विशेषणं बोध्यम्।

३. 'यः सर्वा विद्या वष्टि स उशिक्, तस्य विद्यापुत्र इव' इति य० ३।२८ भाष्ये द०।

४. (स्वरणम्) यः स्वरति शब्दार्थसम्बन्धानुपदिशति तम्—इति ऋ० १।१८।१ भाष्ये द०। स्वृ शब्दोपतापयोरित्येतस्यैतद् रूपम्। शब्दयितारं स्तुतीनामुच्चारयितारम्—इति वि०। शब्दवन्तं कीर्तिमन्तम्—इति भ०। देवेषु प्रकाशनवन्तम्—इति सा०

५. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमृग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च 'हे परमेश्वर! योऽहं विद्यावतः पुत्र इवास्मि तं मां प्रशस्तशिल्पविद्यावन्तं सर्वविद्याप्रवक्तारं च कुरु' इत्यादिविषये व्याख्यातः।

मन्त्रमेतं यास्काचार्य एवं व्याख्यातवान्—सोमानां सोतारं प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते । कक्षीवन्तम् इव य औशिजः । कक्षीवान्, कक्ष्यावान् । औशिज उशिजः पुत्रः । उशिक् वष्टेः कान्तिकर्मणः । अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात् । तं सोमानां सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते । निरु० ६।१०।

भावार्थः—गुरुकुले विद्यामधीत्य गुरोर्विद्यापुत्रो भूत्वा विद्यानुरूपं कर्म कुर्वाणोऽहमस्मि । तादृशं मां हे परमेश्वर ! त्वं विद्यायाः प्रकाशकम् उपदेष्टारं च कुरु, येनाहमपि सत्पात्रेभ्यो विद्यादानं कुर्याम् ॥५॥

अत्र विवरणकृता माधवेन, भरतस्वामिना, सायणाचार्येण च 'औशिजः' इत्यनेन उशिङ्नाम्न्या मातुः पुत्रः कक्षीवान्नाम ऋषिर्गृहीतः, यस्य दीर्घतमाः पिता बभूव । लुप्तोपमां च स्वीकृत्य 'इव' शब्दमध्याहृत्य, तं कक्षीवन्तमिव मां कीर्तिमन्तं कुरु इति व्याख्यातम् । तन्न विचारसहम्, वेदानां सृष्टयादौ परमेश्वरप्रोक्तत्वेन तत्र पश्चाद्वर्तिन इतिहासस्यासंभवात् ॥

अगले मन्त्र में वेदादि के अधिपति इन्द्र परमेश्वर से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **ब्रह्मणःपते** वेद, ब्रह्माण्ड और सकल ऐश्वर्य के स्वामिन् इन्द्र जगदीश्वर ! **यः** जो मैं **औशिजः** मेधावी आचार्य का विद्यापुत्र हूँ, उस **कक्षीवन्तम्** मुझ क्रियावान् को **सोमानाम्** ज्ञानों का **स्वरणम्** प्रकाश करने वाला तथा उपदेश करने वाला **कृणुहि** बना दीजिए ॥५॥

इस मन्त्र की यास्काचार्य ने निरु० ६।१० में व्याख्या की है ।

भावार्थ—गुरुकुल में विद्या पढ़कर आचार्य का विद्यापुत्र होकर मैं विद्या के अनुरूप कर्म कर रहा हूँ । ऐसे मुझको हे परमेश्वर ! आप विद्या का प्रकाशक और उपदेशक बना दीजिए, जिससे मैं भी सत्पात्रों को विद्यादान करूँ ॥५॥

विवरणकार माधव, भरतस्वामी और सायणाचार्य ने यहाँ 'औशिजः' से उशिक् नामक माता का पुत्र कक्षीवान् ऋषि कल्पित किया है और दीर्घतमा को उसका पिता बताया है । लुप्तोपमा मानकर यह व्याख्यान किया है कि उशिक् माता के पुत्र कक्षीवान् ऋषि के समान मुझे कीर्तिमान् कर दीजिए । विचार करने पर यह यथार्थ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वेदों के सृष्टि के आदि में परमेश्वर द्वारा प्रोक्त होने से उनमें परवर्ती इतिहास नहीं हो सकता ॥५॥

परमेश्वरोऽस्माकं प्रार्थनां शृणुयादित्याह ।

१४०. बोधन्मना इदस्तु नो वृत्रहा भूर्यासुतिः ।
शृणोतु शक्र आशिषम् ॥६॥[1]

बोधन्मनाः बोधत् मनाः इत् अस्तु नः । वृत्रहा वृत्र हा भूर्यासुतिः भूरि आसुतिः ॥
शृणोतु शक्रः आशिषम् आ शिषम् ॥६॥

पदार्थः—**वृत्रहा** पाप्मनां हन्ता । पाप्मा वै वृत्रः । श० ११।१।५।७। **भूर्यासुतिः**[2] बहुरसः रसो वै सः । तै० उ० २।७ । आसूयन्ते निश्च्योत्यन्ते इति आसुतयः रसाः, षुञ् अभिषवे । इन्द्रः परमेश्वरः **नः**

१. ऋ० ८।९३।१८, ऋषिः सुकक्षः । बोधिन्मना इति पाठः ।

२. भूरि आसुतिर्यस्य स भूर्यासुतिः बहुरस इत्यर्थः—इति वि० । भूर्यासुतिः बह्वन्नसोमपान इत्यर्थः—इति भ० । बहुषु देशेषु इन्द्रार्थं सोमा आसूयन्ते अभिषूयन्ते इति तादृशः, यद्वा बहूनि सोमादिहवींषि इन्द्रार्थम् आसूयन्ते हूयन्त इति तादृशः'—इति सा० ।

अस्मभ्यम् **बोधन्मनाः**[1] बोधत् प्रबुध्यत् मनो यस्मात् सः, मनसः प्रबोधदायक इत्यर्थः। **इत् एव अस्तु** भवतु। सः **शक्रः** शक्तिमान् परमेश्वरः। शक्लृ शक्तौ, स्फायितञ्चिवञ्चिशकि०' । उ० २।१३ इति रक् प्रत्ययः। **आशिषम्** अस्माकं महत्त्वाकाङ्क्षाम् (शृणोतु) आकर्णयतु, पूरयतु ॥६॥

अत्र 'वृत्रहा, शक्रः' इत्यनयोरिन्द्रार्थे प्रसिद्धत्वात् पुनरुक्तवदाभासोऽलङ्कारः, यौगिकार्थग्रहणेन च पुनरुक्तेः परिहारः। शृणोतु इत्यस्य च पूरणे लक्षणा ॥६॥

भावार्थः—यः परमात्मा दोषाणां हन्ता, अधर्माणां निरस्ता, पापानां विनाशकः, आनन्दरसस्य सागरः, सर्वशक्तिमाँश्च विद्यते सोऽस्माकं मनः प्रबोध्य दीर्घायुष्य-समृद्धि-विजय-मोक्षादीनां महत्त्वाकांक्षाः पूरयेत्।

अगले मन्त्र में यह कहा है कि परमेश्वर हमारी प्रार्थना को सुने।

पदार्थ—**वृत्रहा** पापों का विनाशक **भूर्यासुतिः** बहुत रसमय इन्द्र परमेश्वर **नः** हमारे लिए **बोधन्मनाः** मन को प्रबुद्ध करने वाला **इत्** ही **अस्तु** होवे। वह **शक्रः** शक्तिशाली परमेश्वर **आशिषम्** हमारी महत्त्वाकांक्षा को **शृणोतु** सुने, पूर्ण करे ॥६॥

इस मन्त्र में 'वृत्रहा' और 'शक्रः' शब्द क्योंकि इन्द्र अर्थ में प्रसिद्धि पा चुके हैं, अतः पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। यौगिक अर्थ लेने पर पुनरुक्ति का परिहार हो जाता है। 'शृणोतु' में श्रु धातु की पूर्ण करने अर्थ में लक्षणा है ॥६॥

भावार्थ—जो परमात्मा दोषों का हन्ता, अधर्मों का पराजेता, पापों का विनाशक, आनन्दरस का सागर और सर्वशक्तिमान् है, वह हमारे मन को प्रबुद्ध करके हमारी दीर्घायुष्य, समृद्धि, विजय, मोक्ष आदि की महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण करे ॥६॥

अथ प्रेरकं परमात्मानं प्रार्थयते।

१४१. अद्या नो देव सवितः प्रजावत् सावीः सौभगम्।
परा दुःष्वप्न्यं सुव ॥७॥[2]

अद्य अ द्य नः देव सवितरिति। प्रजावत् प्र जावत् सावीः सौभगम् सौ भगम् ॥
परा दुष्वप्न्यम् दुः स्वप्न्यम् सुव ॥७॥

पदार्थः—इन्द्रो देवता, देव सवितः इति तद्विशेषणम्। हे **देव** सर्वैश्वर्यप्रद, प्रकाशमय, प्रकाशयितः, सर्वोपरि विराजमान! देवो दानाद् वा, दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवतीति वा। निरु० ७।१५। **सवितः** सद्बुद्ध्यादिप्रेरक। यः सुवति प्रेरयति सद्बुद्धिसत्यन्यायदयादिकं स्तोतुर्मनसि स सविता। षू प्रेरणे। इन्द्र परमात्मन्! **अद्य** अस्मिन् दिने। संहितायां 'निपातस्य च' । अ० ६।३।१३६ इति दीर्घः। **नः** अस्मभ्यम् **प्रजावत्** सन्ततियुक्तम्, उत्तरोत्तरं वर्धनशीलमित्यर्थः। **सौभगम्**[3] धर्मयशःश्रीज्ञानवैराग्यादिधनत्वम्। सुभगस्य भावः सौभगम्। भग इति धननाम। निघं० २।१०। **सावीः** प्रेरय। षू प्रेरणे,

१. बुध्यति मनो यस्य बोधन्मनाः—इति वि०। बुध्यमानचित्तः स्तोमावधारणपरचित्तः—इति भ०। बुध अवगमने, औणादिकोऽत् प्रत्ययः। यस्य मनः स्तोतृणामभिमतं बुध्यते जानातीति तथोक्तः'—इति सा०।

२. ऋ० ५।८२।४, देवता सविता।

३. सुभगमेव सौभगम्, स्वार्थिकस्तद्धितः—इति वि०। सौभगं सुभगत्वं सुधनत्वम्—इति भ०।

'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'। अ० ३।४।६ इति लोडर्थे लुङ्। **दुःष्वप्न्यम्**[1] दिवादुःस्वप्नं, रात्रिदुःस्वप्नं, तेन निर्वृत्तं कुपरिणामं च। दुःष्वप्नशब्दात् स्वार्थे, निर्वृत्तार्थे वा यत्। दुःस्वप्नं च द्विविधम्, "जाग्रद् दुष्वप्न्यं स्वप्ने दुष्वप्न्यम्"। अथ० १६।६।६ इति वचनात्। **परासुव** अपगमय[2] ॥७॥

भावार्थः—परमेश्वरस्योपासनया मनुष्यः सातत्येन वर्द्धनशीलं सद्गुणरूपं बहुमूल्यं धनं दोषेभ्यो मुक्तिं च प्राप्नोति ॥७॥

अगले मन्त्र में प्रेरक परमात्मा से प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ—मन्त्र का देवता इन्द्र होने से मन्त्रोक्त 'देव' और 'सवितः' उसी के विशेषण हैं। हे **देव** ऐश्वर्यप्रदायक, प्रकाशमय, प्रकाशक, सर्वोपरि विराजमान, **सवितः** उत्तम बुद्धि आदि के प्रेरक इन्द्र परमात्मन्! **अद्य** आज, आप **नः** हमारे लिए **प्रजावत्** सन्ततियुक्त अर्थात् उत्तरोत्तर बढ़ने वाले **सौभगम्** धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदि का धन **सावीः** प्रेरित कीजिए, **दुःष्वप्न्यम्** दिन का दुःस्वप्न, रात्रि का दुःस्वप्न और उनसे होने वाले कुपरिणामों को **परासुव** दूर कर दीजिए ॥७॥

भावार्थ—परमात्मा की उपासना से मनुष्य निरन्तर बढ़ने वाले सद्गुणरूप बहुमूल्य धन को और दोषों से मुक्ति को पा लेता है ॥७॥

अथ परमात्मविषये प्रश्नः क्रियते।

२ १ २ ३ १२ २१ ३ २ ३ १ २
१४२. क्वा३स्य वृषभो युवा तुविग्रीवो अनानतः।
३ १२ २१
ब्रह्मा कस्तं सपर्यति ॥८॥[3]

१२ ३ २ १२१ ३ १ २ ३ १२१ १२१ ३
क्व स्यः वृषभः युवा। तुविग्रीवः तुवि ग्रीवः अनानतः अन् आनतः॥
२ ३
ब्रह्मा कः तम् सपर्यति ॥८॥

पदार्थः—**क्व** कुत्र वर्तते **स्यः** सः **वृषभः** आनन्दवर्षकः, **युवा** नित्यतरुणः, तरुणवत् सदाशक्तिसम्पन्नः, **तुविग्रीवः** बहुग्रीवः, अत्यर्थं प्रलयकाले जगन्निगरणशीलः बहूपदेष्टा च। तुवि बहुनाम। निघं० ३।१। ग्रीवा गिरतेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा। निरु० २।२८। गॄ निगरणे तुदादिः, गॄ शब्दे ऋचादिः। **अनानतः** शत्रोः पुरतः कदापि अनवनतः इन्द्राख्यः परमेश्वरः? **कः** कतमः **ब्रह्मा** विद्यावृद्धः। ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः। निरु० १।७। बृहि वृद्धौ, मनिन्। **तम्** पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टम् इन्द्रं परमेश्वरं **सपर्यति** पूजयति? ॥८॥

भावार्थः—युष्माभिरुच्यते यदस्ति कश्चिद् ब्रह्माण्डशासको यः पर्जन्यवत् सर्वेषामुपरि सुखं वर्षति, यो न कदाचिद् बालो न चापि वृद्धः, किन्तु सदा तरुण एव, यः सहस्रग्रीवो भूत्वा प्रलयकाले सर्वान् पदार्थान् निगिरति, सृष्टिकाले च सहस्रशो जनान् ज्ञानमुपदिशति, यः शत्रूणां पुरतो न कदाचिन्नमति, प्रत्युत तानेव नमयति। वयं पृच्छामः क्वास्ति सः? अस्ति चेद् दर्शयत। युष्माभिरुच्यते स पूजनीय इति।

---

१. दुःष्वप्न्यं दुःस्वप्नं दुःस्वप्नवद् दुःखकरं दारिद्र्यम्—इति सा०। दुष्टेषु स्वप्नेषु भवं दुःखम्—इति ऋ० ५।८२।४ भाष्ये द०।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं परमेश्वरपर एव व्याख्यातः।

३. ऋ० ८।६४।७

वयं पृच्छामः कोऽस्ति विद्वान् यो निराकारं निःशरीरं अदृश्यम् अश्रव्यं तं पूजयितुं शक्नुयादिति ? अतो नास्त्यसौ न च तत्पूजकः कश्चिदिति प्रश्नकर्तुरभिप्रायः ॥८॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के विषय में प्रश्न उठाया गया है।

पदार्थ—**क्व** कहाँ है **स्यः** वह **वृषभः** आनन्द की वर्षा करने वाला, **युवा** नित्य युवा, अर्थात् युवक के समान सदा शक्तिशाली, **तुविग्रीवः** अतिशय रूप से प्रलयकाल में जगत् को निगलने वाला अर्थात् प्रकृति में लय करने वाला और बहुत उपदेश देने वाला, **अनानतः** शत्रु के संमुख कभी न झुकने वाला, इन्द्र परमेश्वर ? **कः** कौन सा **ब्रह्मा** विद्या-वृद्ध जन **तम्** पूर्वोक्त विशेषताओं से युक्त उस इन्द्र परमेश्वर को **सपर्यति** पूजता है ? ॥८॥

भावार्थ—तुम कहते हो कि ब्रह्माण्ड का कोई शासक है, जो बादल के समान सबके ऊपर सुख बरसाता है, जो न कभी बालक होता है, न कभी बूढ़ा, किन्तु सदा युवा ही रहता है, जो मानो हजार ग्रीवाओं वाला होकर प्रलयकाल में सब पदार्थों को निगलता है और सृष्टिकाल में सहस्रों जनों को ज्ञान का उपदेश करता है, जो कभी शत्रुओं के सम्मुख झुकता नहीं, अपितु उन्हें ही झुका लेता है। हम पूछते हैं कि वह कहाँ है ? यदि है, तो दिखाओ। तुम कहते हो कि वह पूजनीय है। हम पूछते हैं कि भला कौन विद्वान् है जो उस निराकार, अशरीरी, अदृश्य, अश्रव्य की पूजा कर सके ? इसलिए वह है ही नीं,ह न ही कोई उसकी पूजा कर सकता है, यह प्रश्नकर्ता का अभिप्राय है।

अथ पूर्वप्रश्नस्योत्तरं दीयते।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१४३. उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्।
३ १ २ २
धिया विप्रो अजायत ॥९॥[1]
३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २
उपह्वरे उप ह्वरे गिरीणाम्। सङ्गमे सम् गमे च नदीनाम् ॥
३ २ १ २ ३
धिया विप्रः वि प्रः अजायत ॥९॥

पदार्थः—**गिरीणाम्** पर्वतानाम् **उपह्वरे**[2] एकान्ते अन्तिके वा। 'रहोऽन्तिकमुपह्वरे' इत्यमरः ३।१८३। **नदीनाम्** सरितां **सङ्गमे च** सङ्गमस्थले च **धिया** ध्यानेन। धी शब्दो ध्यानार्थे निरुक्ते 'धीराः' इत्यस्य व्याख्याने प्रोक्तः—धीराः प्रज्ञानवन्तो ध्यानवन्त इति (निरु० ४।९।) **विप्रः** विशेषेण प्राति पूरयति सर्वं जगत् स्वसत्तया यः स विप्रः सर्वव्यापकः यद्वा मेधावी इन्द्राख्यः[3] परमात्मा। वि पूर्वात् प्रा पूरणे धातोः 'आतश्चोपसर्गे'। अ० ३।१।१३६ इति कः प्रत्ययः। विप्र इति मेधाविनाम। निघं० ३।१५। **अजायत** आविर्भवति ॥९॥[4]

भावार्थः—युष्माकं प्रश्नः क्व स इन्द्रः परमेश्वर इति। तत्रास्माकमुत्तरं स सर्वव्यापकोऽस्ति, किन्तु दर्शनं तस्य बाह्यचक्षुषा न संभवति, ध्यानद्वाराऽन्तश्चक्षुषैव स साक्षात्कर्तुं योग्योस्ति। ध्यानं च न कोलाहलपूर्णे वातावरणे, परं पर्वतानां सरितां च शान्तप्रदेशे सुगमम्। तेष्वेव ध्यानयोग्येषु प्रदेशेषु ध्यानिनां

१. ऋ० ८।६।२८, 'सङ्गमे' इत्यत्र 'संगथे' इति पाठः। य० २६।१५।
२. उपह्वरे गह्वरे प्रदेशे—इति वि०। समीपे—इति भ०।
३. इन्द्रदेवताकत्वाद् ऋचः विप्रशब्देन इन्द्रो गृह्यते।
४. मन्त्रोऽयं दयानन्दर्षिणा यजुर्भाष्ये 'यो मनुष्यः शैलानां निकटे नदीनां च सङ्गमे योगेनेश्वरं विचारेण विद्यां चोपासीत स धिया मेधावी जायते' इति विषये व्याख्यातः।

परमेश्वरसाक्षात्कारो जायते। युष्माकं द्वितीयः प्रश्नः कस्तं सपर्यतीति। तस्योत्तरमपि पूर्वस्मिन्नुत्तरे समाविष्टम्। निराकारमकायमचक्षुर्गोचरमपि तं पूर्वोक्तप्रकारेण ध्यायन् पुजयितुमर्हति जनः, न तु तन्मूर्तिं विरच्य तत्र पत्रपुष्पतोयादिसमर्पणकर्ता तस्य वास्तविकः पूजक इति ॥९॥

अगले मन्त्र में पूर्व प्रश्न का उत्तर दिया गया है।

पदार्थ—गिरीणाम् पर्वतों के **उपह्वरे** एकान्त में अथवा समीप में **नदीनां च** और नदियों के **सङ्गमे** संगम-स्थल पर **धिया** ध्यान द्वारा **विप्रः** वह सर्वव्यापक और मेधावी इन्द्र परमेश्वर **अजायत** प्रकट होता है ॥९॥

भावार्थ—तुम्हारा प्रश्न है कि वह इन्द्र परमेश्वर कहाँ है? उस पर हमारा उत्तर है—वह सर्वव्यापक है, किन्तु उसका दर्शन बाह्य आँख से होना संभव नहीं है, ध्यान द्वारा आन्तरिक चक्षु से ही वह साक्षात्कार किये जाने योग्य है। और ध्यान कोलाहल-भरे वातावरण में नहीं, अपितु पर्वतों और नदियों के शान्त प्रदेश में सुगम होता है। उन्हीं ध्यानयोग्य प्रदेशों में ध्यान करने वालों को परमेश्वर का साक्षात्कार होता है। तुम्हारा दूसरा प्रश्न यह है कि कौन उसकी पूजा कर सकता है? इसका उत्तर भी पहले उत्तर में आ जाता है। निराकार, शरीर-रहित, आँख से अगोचर परमेश्वर की भी पूर्वोक्त प्रकार से ध्यान करता हुआ मनुष्य पूजा कर सकता है, उसकी मूर्ति रचकर उस पर पत्र, पुष्प, जल आदि चढ़ाने वाला उसका वास्तविक पूजक नहीं है ॥९॥

अथ मनुष्यान् परमात्मानं नृपतिं च स्तोतुं प्रेरयति।

१४४. **प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः।**
नरं नृषाहं मंहिष्ठम् ॥१०॥[1]

प्र सम्राजम् सम् राजम् चर्षणीनाम्। इन्द्रम् स्तोत नव्यम् गीर्भिः॥
नरम् नृषाहम् नॄ साहम् मंहिष्ठम् ॥१०॥

पदार्थः—हे भ्रातरः! यूयम् **चर्षणीनाम्** मनुष्याणाम्। चर्षणय इति मनुष्यनामसु पठितम्। निघं० २।३। **सम्राजम्** अधीश्वरम्, **नव्यम्** नूतनम्, स्तोतुमर्हं वा। अत्र 'नवसूरमर्तयविष्ठेभ्यो यत्'। अ० ५।४।२५ वा० इति नवशब्दात् स्वार्थे यत्। नव्यम् इति नवनाम। निघं० ३।२८। यद्वा, णु स्तुतौ धातोर्यत्। यतोऽनावः। अ० ६।१। २१३ इत्याद्युदात्तत्वम्। **नरम्** नेतारम्, पौरुषवन्तम्। नृणाति नयतीति नरः। नॄ नये ऋचादिः। **नृषाहम्** नॄन् दुष्टजनान् सहते पराभवतीति नृषाट्, तम्। नृ पूर्वात् षह मर्षणे धातोः 'छन्दसि सहः'। अ० ३।२।६३ इति ण्विः। **मंहिष्ठम्** दातृतमम्। मंहते दानकर्मा। निघं० ३।२०, ततस्तृचि मंहिता। अतिशयेन मंहिता मंहिष्ठः। 'तुश्छन्दसि। ५।३।५९ इति इष्ठनि 'तुरिष्ठेमेयस्सु'। अ० ६।४।१५४ इति तृचो लोपः। **इन्द्रम्** वीरं परमात्मानं नृपतिं वा **गीर्भिः** वेदवाग्भिः, स्ववाग्भिर्वा **प्र स्तोत** प्रकृष्टतया स्तुवध्वम् गुणवर्णनेन कीर्तयत। प्र पूर्वात् ष्टुञ् स्तुतौ धातोः लोटि प्रस्तुत इति प्राप्ते 'तप्तनप्तनथनाश्च। अ० ७।१।४५ इति तस्य तबादेशः, तस्य च पित्त्वेन ङित्त्वाभावाद् गुणनिषेधो न ॥१०॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥१०॥

---

१. ऋ० ८।१६।१, अथ० २०।४४।१

भावार्थः—मनुष्यैः परमात्मनो नृपतेश्च धवला कीर्तिर्गातव्या तद्गुणाश्च स्वजीवने धारणीयाः।

अत्रेन्द्रस्य सहायानां मरुतां वर्णनपूर्वकं तन्महत्त्वप्रतिपादनाद्, ब्रह्मणस्पति-वृत्रह-सवितृ-शक्रनामभिस्तत्स्तवनात्, ततो दुःष्वप्नविनाशप्रार्थनात्, तत्स्तुत्यर्थं प्रेरणाच्चैतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिर्वेद्या ॥

इति द्वितीये प्रपाठके प्रथमार्धे पञ्चमी दशतिः।
इति द्वितीयाध्याये तृतीयः खण्डः ॥

मनुष्यों को परमात्मा और राजा की स्तुति करने की प्रेरणा करते हैं।

पदार्थ—हे भाइयो ! तुम **चर्षणीनाम्** मनुष्यों के **सम्राजम्** सम्राट्, **नव्यम्** नवीन वा स्तवनयोग्य, **नरम्** नेता, पौरुषवान्, **नृषाहम्** दुष्टजनों को पराजित करने वाले, **मंहिष्ठम्** अतिशय दानी **इन्द्रम्** वीर परमात्मा और राजा का **गीर्भिः** वेद-वाणियों तथा निज वाणियों से **प्र स्तोत** भली भाँति कीर्तिगान करो ॥१०॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥१०॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि परमात्मा और राजा की धवल कीर्ति का गान करें और उनके गुणों को अपने जीवन में धारण करें ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र के सहायक मरुतों के वर्णनपूर्वक इन्द्र का महत्त्व प्रतिपादित होने से; ब्रह्मणस्पति, वृत्रहा, सविता, शक्र नामों से इन्द्र की स्तुति होने से, इन्द्र से दुःस्वप्न-विनाश की प्रार्थना होने से और इन्द्र की स्तुति के लिए प्रेरणा होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

द्वितीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की पंचम दशति समाप्त।
द्वितीय अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ॥

—०—

अथ द्वितीये प्रपाठके द्वितीयोऽर्धः

॥६॥ तत्र 'अपादु' इत्याद्याया दशते ऋषयः—१ श्रुतकक्षः; २ मेधातिथिः; ३ गोतमः; ४ भरद्वाजः; ५ बिन्दुः पूतदक्षो वा; ६-७ श्रुतकक्षः सुकक्षो वा; ८ वत्सः काण्वः; ९ शुनःशेपः; १० शुनःशेपो वामदेवो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अथाद्ये मन्त्रे इन्द्रः समर्पकस्य सोमरसं स्वीकरोतीत्याह।

१४५. अपादु शिप्रचन्धसः सुदक्षस्य प्रहोषिणः।
इन्दोरिन्द्रो यवाशिरः ॥१॥[1]

अपात् उ शिप्री अन्धसः। सुदक्षस्य सु दक्षस्य प्रहोषिणः प्र होषिणः ॥
इन्दोः इन्द्रः यवाशिरः यव आशिरः ॥१॥

१. ऋ० ८।९२।४ ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा।

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । **शिप्री** सृप्री सर्वव्यापकः । यथाह निरुक्तकारः—सृप्रः सर्पणात्, सुशिप्रम् एतेन व्याख्यातम् इति । निरु० ६।१७ । **इन्द्रः** परमेश्वरः **सुदक्षस्य** सुप्रवीणस्य **प्रहोषिणः**[1] प्रकर्षेण आत्मसमर्पणरूपं हविः जुह्वतः **इन्दोः** चन्द्रवत् सौम्यस्य उपासकस्य **यवाशिरः** यवैः यवैरिव सात्त्विकैः ज्ञानैः कर्मभिश्च आशीः आश्रपणं पाकः यस्य तस्य, ज्ञानैः कर्मभिश्च सह परिपक्वस्य । 'आशीः आश्रयणाद् वा आश्रपणाद् वा' इति निरुक्तम् । ६।८ । अत्र 'अपस्पृधेथामानृचु०' अ० ६।१।३६ इति आङ्पूर्वस्य श्रिञ् सेवायाम्, श्रीञ् पाके वा धातोः क्विपि शिरादेशो निपात्यते । **अन्धसः** भक्तिरूपस्य सोमस्य **अपात् उ** पानं करोति खलु, ज्ञानकर्मपूर्विकां भक्तिं स्वीकरोतीत्यर्थः ॥

अथ **द्वितीयः** राजपरः । **शिप्री** राजमुकुटधारी । शिप्राः शीर्षसु । ऋ० ५।५४।११ इति वचनात् शिप्राः शिरस्सु धारणीयाः उष्णीषमुकुटादयः । **इन्द्रः** सम्राट् **सुदक्षस्य** सुसमृद्धस्य **प्रहोषिणः** कररूपेण राजदेयभागं करविभागे प्रयच्छतः **इन्दोः** राष्ट्रसेचकस्य प्रजाजनस्य । उनत्ति राष्ट्रं क्लेदयति सिञ्चतीति इन्दुः । 'इन्दुः इन्धेः उनत्तेर्वा' इति निरुक्तम् । १०।४० । **यवाशिरः** यवैः यवगोधूमतिलतण्डुलमुद्गमाषादिभिः आश्रितस्य सहितस्य **अन्धसः** अन्नस्य, अन्नवाचकः अन्धःशब्दः सर्वेषां भोग्यवस्तूनामुपलक्षणम्, खाद्यपेय-परिधानसुवर्णरजतमुद्रादिरूपस्य करस्य **अपात् उ** पानं ग्रहणं करोति खलु ॥

अथ **तृतीयः** सूर्यपरः । **शिप्री** शिप्रयः क्षिप्रगामिनः किरणाः अस्य सन्तीति शिप्री किरणवान् । 'शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते' इति निरुक्तम् । ५।८ । रेफागमश्छान्दसः । **इन्द्रः** सूर्यः **सुदक्षस्य** सुसमृद्धस्य **प्रहोषिणः** स्वकीयं जलरूपं हविः जुह्वतः भूमण्डलस्य **यवाशिरः** यवेन संयोगविभागकर्त्रा तापेन आशीः आश्रपणं वाष्पीभवनं यस्य स यवाशीः तस्य । यवः इत्यत्र यु मिश्रणामिश्रणयोः इति धातुर्बोध्यः । **अन्धसः** भोज्यरूपस्य **इन्दोः** जलस्य । इन्दुः उदकनाम । निघं० १।१२ । **अपात् उ** पानं करोति खलु ॥१॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—यथा राजा प्रजाजनानां करोपहारं सूर्यश्च भूमण्डलस्य जलोपहारं तथैव जगदीश्वरः उपासकानां ज्ञानकर्ममयं भक्तिरसोपहारं प्रेम्णा स्वीकरोति ॥१॥

एतन्मन्त्रव्याख्याने सायणाचार्येण 'सुदक्षस्य एतन्नामकस्य ऋषेः' इति यत्प्रोक्तं तदितरभाष्यकार-विरुद्धत्वेनैवापास्तम् । 'सुदक्षस्य सुष्ठु उत्सादितस्य' इति विवरणकारः, 'सुबलस्य' इति भरतस्वामी । एतद्विधानां प्रसिद्धार्थकानां शब्दानां नामत्वकल्पने वेदानां सर्वाण्येव सुबन्तपदानि कस्यापि ऋषे राज्ञो वा नामतां प्रपद्येरन् ।

प्रथम मन्त्र में यह वर्णन है कि इन्द्र समर्पणकर्ता के सोमरस को स्वीकार करता है ।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । **शिप्री** सर्वव्यापक **इन्द्रः** परमात्मा **सुदक्षस्य** अतिकुशल, **प्रहोषिणः** प्रकृष्ट रूप से आत्मसमर्पण रूप हवि का होम करने वाले, **इन्दोः** चन्द्रमा के समान सौम्य उपासक के **यवाशिरः** यवों के तुल्य सात्त्विक ज्ञान और कर्मों के साथ परिपक्व **अन्धसः** भक्ति-रूप सोमरस का **अपात् उ** निश्चय ही पान करता है, अर्थात् ज्ञान-कर्म-पूर्वक की गयी भक्ति को अवश्य स्वीकार करता है ।

द्वितीय राजा के पक्ष में । **शिप्री** राजमुकुटधारी **इन्द्रः** राजा **सुदक्षस्य** सुसमृद्ध, **प्रहोषिणः** कर-रूप से राजा के लिए देय भाग को कर-विभाग में देने वाले, **इन्दोः** राष्ट्र को सींचने वाले प्रजाजन के **यवाशिरः** जौ, गेहूँ, तिल, चावल, मूँग, उड़द आदि सहित **अन्धसः** खाद्य, पेय, वस्त्र, सोना, चाँदी, मुद्रा आदि रूप में प्रदत्त राज-कर को **अपात् उ** अवश्य ग्रहण करता है ॥

---

१. प्रहोषिणः, जुहोतेर्दानार्थस्येदं रूपम्—इति वि० । स्तुतिमतः—इति भ० । प्रकर्षेण देवान् हविर्भिर्जुह्वतः—इति सा० ।

तृतीय सूर्य के पक्ष में। **शिप्री** किरणों वाला **इन्द्रः** सूर्य **सुदक्षस्य** अतिशय समृद्ध, **प्रहोषिणः** अपने जल रूप हवि का होम करने वाले भूमण्डल के **यवाशिरः** संयोगविभागकारी ताप से पककर भापरूप में परिणत होने वाले **अन्धसः** भोज्यरूप **इन्दोः** जल का **अपात् उ** अवश्य पान करता है ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१॥

भावार्थ—जैसे राजा प्रजाजनों के कररूप उपहार को और सूर्य भूमण्डल के जलरूप उपहार को स्वीकार करता है, वैसे ही परमात्मा उपासकों के ज्ञानकर्ममय भक्तिरस के उपहार को प्रेमपूर्वक स्वीकार करता है ॥१॥

इस मन्त्र की व्याख्या में सायणाचार्य ने जो 'सुदक्ष' शब्द से सुदक्ष नाम के ऋषि का ग्रहण किया है वह अन्य भाष्यकारों के विरुद्ध होने से ही खण्डित हो जाता है, क्योंकि 'सुदक्ष' का अर्थ विवरण-कार माधव ने 'भले प्रकार उत्सादित' और भरतस्वामी ने 'अतिशय बलवान्' किया है। इस प्रकार के प्रसिद्धार्थक शब्दों को भी नाम मान लेने पर तो वेदों के सभी सुबन्त पद किसी ऋषि या राजा के नाम हो जाएँगे।

अथोपासका जनाः परमात्मानमाहुः।

१४६. ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
इमा उ त्वा पुरूवसोऽभि प्र नोनुवुर्गिरः।
१ २ ३ २ ३ १ २
गावो वत्सं न धेनवः ॥२॥[1]

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इमाः उ त्वा पुरूवसो पुरु वसो। अभि प्र नोनुवुः गिरः॥
१ २ ३ २ ३ १ २
गावः वत्सम् न धेनवः ॥२॥

पदार्थः—हे **पुरूवसो** पुरूणि बहूनि वसूनि विद्याहिरण्यसद्गुणादीनि धनानि यस्य स पुरूवसुः, तादृश हे परमात्मन्! संहितायां पूर्वपदस्य छान्दसो दीर्घः। **इमाः उ** एता हि अस्मदुच्चार्यमाणाः **गिरः** भावभरिताः स्तुतिवाचः **त्वा अभि** त्वामभिलक्ष्य **प्र नोनुवुः** प्रकर्षेण भृशं पुनः पुनः शब्दायन्ते। णु स्तुतौ धातोर्यङ्लुकि प्रयोगः। **धेनवः**[2] स्वकीयं पयः पाययितुं समुत्सुकाः। धापयति स्वकीयं पयो या सा धेनुः। धेट् पाने धातोः 'धेट इच्च'। उ० ३।३४ इति नु प्रत्ययः। 'धेनुः धयतेर्वा धिनोतेर्वा'। निरु० ११।४३। **गावः** क्षीरिण्यः **वत्सं न** यथा वत्सम् अभिलक्ष्य प्र नोनुवन्ति हम्भाशब्दं कुर्वन्ति ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—हे जगदीश्वर! यथा धेनवः स्वकीयं प्रियं वत्समवलोक्य प्रस्नुतपयोधराः सत्यः तं पयः पाययितुं हम्भारवं कुर्वन्ति, तथैवास्मदीया रसभरिताः स्तुतिवाचः भक्तिरसमुद्वेल्लयन्त्य इव प्राणेभ्योऽपि प्रियं त्वां तं रसं पाययितुं त्वां प्रति भृशं शब्दायन्ते, त्वां स्तुवन्ति च ॥२॥

अगले मन्त्र में उपासक जन परमात्मा को कह रहे हैं।

पदार्थ—हे **पुरूवसो** विद्या, सुवर्ण, सद्गुण आदि बहुत से धनों के स्वामी परमात्मन्! **इमाः उ** ये हमारे द्वारा उच्चारण की जाती हुई **गिरः** भावपूर्ण स्तुतिवाणियाँ **त्वा अभि** आपको लक्ष्य करके प्र

---

१. ऋ० ६।४५।२५,२८ ऋषिः शंयुः बार्हस्पत्यः। इमा उ त्वा शतक्रतोऽभि प्र णोनुवुर्गिरः। इन्द्र वत्सं न मातरः॥ इमा उ त्वा सुते सुते नक्षन्ते गिर्वणो गिरः। वत्सं गावो न धेनवः॥ इति द्वयोर्ऋचोः पाठः।

२. धेनवः अचिरप्रसूताः—इति वि०। दोग्ध्र्यः—इति भ०।

नोनुवुः प्रकृष्ट रूप से अतिशय पुनः पुनः शब्दायमान हो रही हैं, **धेनवः** अपना दूध पिलाने के लिए उत्सुक **गावः** गौएँ **वत्सं न** जैसे अपने बछड़े को लक्ष्य करके रँभाती हैं ॥२॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ—हे जगदीश्वर ! जैसे गौएँ अपने प्यारे बछड़े को देखकर पौस कर उसे अपना दूध पिलाने के लिए रँभाती हैं, वैसे ही हमारी रस-भरी स्तुति-वाणियाँ भक्ति-रस को उद्वेल्लित सा करती हुई प्राणों से भी प्रिय आपको वह रस पिलाने के लिए आपके प्रति बहुत अधिक शब्दायमान हो रही हैं और आपकी स्तुति कर रही हैं ॥२॥

सूर्याच्चन्द्रः परमेश्वराच्च स्तोतुर्हृदयं प्रकाशत इत्याह ।[1]

२७ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३क २१
१४७. **अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् ।**
३ २ ३ १ २ ३ २
इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥३॥[2]
१ २१ १ २१ ३ १ २१ १ २१ ३ क २
अत्र अह गोः अमन्वत । नाम त्वष्टुः अपीच्यम् ॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
इत्था चन्द्रमसः चन्द्र मसः गृहे ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमः** सूर्याच्चन्द्रप्रकाशनपरः । **त्वष्टुः** विच्छेदकस्य, प्रकाशद्वारा शीघ्रं व्यापनशीलस्य, दीप्तस्य इन्द्रस्य[3] सूर्यस्य । त्वक्ष तनूकरणे धातो रूपमिदम् । "त्वष्टा तूर्णमश्नुते इति नैरुक्ताः, त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः, त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः" इति निरुक्तम् । ८।१४ । **गोः** सुषुम्णरश्मेः **अत्र अह** अस्मिन् खलु **चन्द्रमसः गृहे** चन्द्रमण्डले **अपीच्यम्** अन्तर्हितं यथा स्यात्तथा, प्रच्छन्नरूपेणेत्यर्थः । अपीच्यमिति निर्णीतान्तर्हितनाम । निघं० ३।२५ । **नाम** नमनम्, अवस्थानम्, विद्वांसः **इत्था** सत्यम् । इत्थेति सत्यनाम । निघं० ३।१० । **अमन्वत** मन्वते जानन्ति । मनु अवबोधने, तनादिः, लडर्थे लङ् । चन्द्रमाः सूर्यकिरणैः प्रकाशितो भवतीति रहस्यं विद्वांसः सम्यग् विदन्तीति भावः ॥३॥

अत्र निरुक्तम् । "अथाप्यस्य (आदित्यस्य) एको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेतेनोपेक्षितव्यम्, आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवतीति । 'सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः' य० १८।४० इत्यपि निगमो भवति । सोऽपि गौरुच्यते (निरु० २।६) । "अत्राह गोरमन्वत" । (ऋ० १।८४।१५) । अत्र ह गोः सममंसतादित्यरश्मयः स्वं नाम अपीच्यम् अपचितम् अपगतम् अपहितम् अन्तर्हितं वाऽमुत्र चन्द्रमसो गृहे (निरु० ४।२४) इति ।

अथ द्वितीयः परमात्मपरः । **त्वष्टुः** दुःखविच्छेदकस्य, सर्वत्र व्यापकस्य, तेजसा दीप्तस्य, सर्वजगद्रचयितुश्च इन्द्राख्यस्य परमेश्वरस्य **गोः** दिव्यप्रकाशरश्मेः । सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते इति निरुक्तम् २।७ । **अत्र अह** अस्मिन् किल **चन्द्रमसः गृहे** मनसो निवासस्थाने हृदये । चन्द्रमसो मनसश्च सम्बन्धो बहुशो वर्णितः । यथा चन्द्रमा मनसो जातः । ऋ० १०।९०।१३ । यत्तन्मन आसीत् स चन्द्रमा अभवत् । जै० उ० ब्रा० २।१।२।२ । चन्द्रमा मनः । ऐ० आ० २।१।५ । यत्तन्मन एष स चन्द्रमाः । श०

---

१. अत्र राज्ञः सूर्यवत् कृत्यमुपदिश्यते—इति ऋग्भाष्ये द० ।

२. ऋ० १।८४।१५, अथ० २०।४१।३, साम० ९१५ ।

३. ऋचः इन्द्रदेवताकत्वात् त्वष्टुः इतीन्द्रस्य विशेषणं ज्ञेयम् ।

१०।३।३।७ इति। **अपीच्यं नाम** अपिगमनम्। नामेति वाक्यालङ्कारे। उपासकाः **इत्था** सत्यतया **अमन्वत** अनुभवन्ति ॥३॥

अत्र श्लेषालंकारः ॥३॥

भावार्थः—यथा सूर्यस्य प्रकाशेन चन्द्रः प्रकाशितो भवति तथैव परमेश्वरस्य प्रकाशेन स्तोतृणां हृदयानि प्रकाशन्ते ॥३॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि सूर्य से चन्द्रमा और परमेश्वर से स्तोता का हृदय प्रकाशित होता है।

पदार्थ—**प्रथम** सूर्य से चन्द्रमा के प्रकाशित होने के पक्ष में। **त्वष्टुः** विच्छेदक, प्रकाश द्वारा शीघ्र व्याप्तिशील, देदीप्यमान सूर्य की **गोः** सुषुम्णनामक रश्मि के **अत्र अह** इस **चन्द्रमसः गृहे** चन्द्रमण्डल में **अपीच्यम्** प्रच्छन्न रूप से **नाम** अवस्थान को, विद्वान् लोग **इत्था** सत्य रूप में **अमन्वत** जानते हैं। अर्थात् चन्द्रमा सूर्य से प्रकाशित होता है इस रहस्य को विद्वान् लोग भलीभाँति समझते हैं।

निरुक्त में कहा है कि आदित्य का एक रश्मिसमूह चन्द्रमा में जाकर दीप्त होता है, अर्थात् आदित्य से चन्द्रमा की दीप्ति होती है, जैसा कि वेद में कहा है "सुषुम्ण नामक सूर्य रश्मियाँ हैं, चन्द्रमा उन रश्मियों को धारण करने के कारण गन्धर्व है" (य० १८।४०)। 'अत्राह गोरमन्वत' आदि मन्त्र में 'गोः' पद चन्द्रमा को प्रकाशित करने वाली उन सुषुम्ण नामक सूर्यरश्मियों के लिए ही आया है।

द्वितीय परमात्मापरक अर्थ। **त्वष्टुः** दुःखों के विच्छेदक, सर्वत्र व्यापक, तेज से प्रदीप्त और जगत् के रचयिता इन्द्र नामक परमेश्वर की **गोः** दिव्य प्रकाशरश्मि का **अत्र अह** इस **चन्द्रमसः गृहे** मन रूप चन्द्र के निवासस्थान हृदय में **अपीच्यं नाम** आगमन को, उपासक लोग **इत्था** सत्य रूप में **अमन्वत** अनुभव करते हैं ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—जैसे सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है, वैसे ही परमेश्वर के प्रकाश से स्तुतिकर्ताओं के हृदय प्रकाशित होते हैं ॥३॥

परमेश्वर एव सूर्यद्वारा भूमीरपश्च गमयतीत्याह।

२उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१४८. यदिन्द्रो अनयद्रितो महीरपो वृषन्तमः।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
तत्र पूषाभुवत् सचा ॥४॥[1]
२ १ २ १ १ २ १ १ २ १ ३ २ ३ २ १ २ १
यत् इन्द्रः अनयत् रितः। महीः अपः वृषन्तमः॥
१ २ १ ३ २ ३ १ २ १
तत्र पूषा अभुवत् सचा ॥४॥

पदार्थः—**वृषन्तमः** बलवत्तमः वर्षकतमो वा **इन्द्रः** परमेश्वरः **यत** यदा **रितः**[2] गन्त्रीः। रिणन्तीति रितः। रिणातिः गतिकर्मा। निघं० २।१४। क्विपि 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' अ० ६।१।७१ इति तुक्।

---

१. ऋ० ६।५७।४ देवते इन्द्रापूषणौ। 'भुवत्' इत्यत्र 'भवत्' इति पाठः।

२. रितः गन्त्रीः महीः भूमीः, अपः जलानि—इति ऋग्भाष्ये द०। इन्द्रो रितः गतः प्राप्तः सन्नित्यर्थः। महीरपः महान्ति वृष्टिलक्षणान्युदकानि—इति वि०। रितः गन्त्र्यः। रियतेर्गतिकर्मणः क्विपि रूपं रिदिति। महीः महतीः अपः—इति भ०। रितः गच्छतीः महीः महतीः अपः वृष्ट्युदकानि—इति सा०।

महीः पृथिवीचन्द्रादिग्रहोपग्रहरूपाः भूमीः, **अनयत्** स्वस्वकक्षासु सूर्यं परितो भ्रमयति, **अपः** जलानि च **अनयत्** वाष्पीकरणेन ऊर्ध्वं वर्षणेन च अधः प्रापयति, तदा **तत्र** तस्मिन् कर्मणि **पूषा** पुष्टिप्रदः सूर्यः **सचा** सहायकः। सचा सह। निरु० ५।५। **अभुवत्** भवति। भू धातोर्लङि छन्दसि गुणाभावे उवङादेशः। ॥४॥[1]

भावार्थः—महामहिमशालिना जगदीश्वरेणैव सूर्यविद्युत्पर्जन्यपवनादीन् साधनतां नीत्वा सर्वे प्राकृतिकनियमाः सञ्चाल्यन्ते ॥४॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि परमेश्वर ही सूर्य द्वारा भूमियों और जलों को गति देता है।

पदार्थ—**वृषन्तमः** अतिशय बलवान् अथवा वृष्टिकर्ता **इन्द्रः** परमेश्वर **यत्** जब **रितः** गति करने वाली **महीः** पृथिवी, चन्द्र आदि ग्रह-उपग्रह रूप भूमियों को **अनयत्** अपनी-अपनी कक्षाओं में सूर्य के चारों ओर घुमाता है, और **अपः** जलों को **अनयत्** भाप बनाकर ऊपर और वर्षा द्वारा नीचे पहुँचाता है, तब **तत्र** उस कर्म **में पूषा** पुष्टिप्रद सूर्य **सचा** सहायक **अभुवत्** होता है ॥४॥

भावार्थ—महामहिमाशाली जगदीश्वर ही सूर्य, विद्युत्, बादल, पवन आदि को साधन बनाकर सब प्राकृतिक नियमों का संचालन कर रहा है ॥४॥

अथ गोशब्दद्वारा भूमिधेनुवाग्विद्युदादीनां गुणकर्माणि वर्ण्यन्ते। इन्द्ररचितानां भूम्यादीनां वर्णनेन रचयितुरेव स्तुतिर्भवतीति इन्द्रो देवता विज्ञेयः।

१४९. गौर्धयति मरुतां श्रवस्युर्माता मघोनाम्।
युक्ता वह्नी रथानाम् ॥५॥[2]

गौः धयति मरुताम्। श्रवस्युः माता मघोनाम्॥
युक्ता वह्निः रथानाम् ॥५॥

पदार्थः—**प्रथमः** भूमिपरः। **मघोनाम्** ऐश्वर्यवताम् **मरुताम्** मर्त्यानाम्। विशो वै मरुतः। श० २।५।१।१२। **श्रवस्युः** अन्नप्रदानकामा इव। श्रवः इत्यन्ननाम। निघं० २।७। तत् परेषां कामयते इति श्रवस्युः। 'छन्दसि परेच्छायां क्यच उपसंख्यानम्'। अ० ३।१।८ वा० इति परेच्छायां क्यचि, 'क्याच्छन्दसि'। अ० ३।२।१७० इति उ प्रत्ययः। **माता** मातृभूता। माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। अथ० १२।१।१२ इति श्रुतेः। **गौः** पृथिवी। गौरिति पृथिव्या नामधेयं, यद् दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति। निरु० २।५। **धयति** वृष्टिजलं पिबति। धेट् पाने भ्वादिः। **युक्ता** सूर्येण सम्बद्धा सा **रथानाम्** रंहणशीलानाम् अग्निपवनजलपशुपक्षिमानवादीनाम्। रथो रंहतेर्गतिकर्मणः। निरु० ९।११। **वह्निः** वाहिका भवति।

अथ **द्वितीयो** धेनुपरः। **मघोनाम्** यज्ञैश्वर्यवताम् **मरुताम्** यजमानानाम् **श्रवस्युः** पयोघृतप्रदानकामा **माता** जननीव हितकरी **गौः** यज्ञधेनुः। गौः घर्मधुगिति याज्ञिकाः। निरु० ११।३८। **धयति** स्वच्छं जलं पिबति। **युक्ता** यज्ञार्थं नियुक्ता सा **रथानाम्** यज्ञरूपरथानाम् **वह्निः** वाहिका जायते।

अथ **तृतीयो** विद्युत्परः। **मघोनाम्** साधनवताम् **मरुताम्** मर्त्यानाम् **श्रवस्युः** धनप्रदानकामा इव। श्रवः इति धननाम। निघं० २।१०। **माता** निर्मात्री **गौः** अन्तरिक्षस्था विद्युत्। गौः वागेषा

१. दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्ये मन्त्रस्यास्य व्याख्याने 'इन्द्र' शब्देन विद्युत्, पूषन्' शब्देन च भूमिर्गृहीता।
२. ऋ० ८।९४।१, देवता मरुतः।

माध्यमिका इति निरुक्तम् । ११।३८ । **धयति** मेघोदकानि पिबति । किञ्च, **युक्ता** शिल्पकर्मणि प्रयुक्ता, सा **रथानाम्** कलायन्त्रभूयानजलयानविमानादीनाम् **वह्निः** चालयित्री भवति ।

अथ **चतुर्थो** वाक्परः । **मघोनाम्** मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियादिधनवताम् **मरुताम्** मनुष्याणाम् **श्रवस्युः** अन्नधनविद्याकीर्त्यादिप्रदानकामा । श्रवः इति अन्ननाम धननाम च प्रोक्तमेव । 'श्रवः श्रवणीयं यशः' इति निरुक्तम् । ११।९ । **माता** मातृतुल्या **गौः** वेदवाक् । गौः इति वाङ्नाम । निघं० १।११ । **धयति** धापयति ज्ञानरसं पाययति । यथाह श्रुतिः—यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि । यो रत्नधा वसुविद् यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः । ऋ० १।१६४।४९ इति । 'धयति' इति णिज्गर्भः प्रयोगः । **युक्ता** अध्ययनाध्यापने उपयुक्ता सा, **रथानाम्** रमणीयानाम् आयुष्यप्राणप्रजापशुकीर्तिद्रविण-ब्रह्मवर्चसादीनाम् **वह्निः** प्रापयित्री संपद्यते । उक्तं च—स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् । आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् । मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् । अथ० १९।७१ इति ॥५॥

अत्र श्लेषालङ्कारः । 'श्रवस्युः' इत्यत्र च व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा ॥५॥

भावार्थः—इन्द्रेण परमात्मना रचितानां भूमि-धेनु-विद्युद्-वेदवाग्रूपाणां गवामुपयोगेन सर्वेराध्यात्मिकी शारीरिकी भौतिकी वैज्ञानिकी याज्ञिकी सामाजिकी राष्ट्रिया चोन्नतिः सम्पादनीया ॥५॥

अगले मन्त्र में 'गौः' शब्द द्वारा भूमि, गाय, वाणी, विद्युत् आदि के गुण-कर्म वर्णित हैं। इन्द्र से रचे गये भूमि आदि के वर्णन से रचयिता इन्द्र की ही स्तुति होती है, इस दृष्टि से मन्त्र का देवता इन्द्र है।

पदार्थ—**प्रथम** भूमि के पक्ष में । **मघोनाम्** ऐश्वर्यवान् **मरुताम्** मनुष्यों को **श्रवस्युः** मानो अन्न प्रदान करना चाहती हुई **माता** माता **गौः** भूमि **धयति** वर्षाजल को पीती है । **युक्ता** सूर्य से सम्बद्ध वह **रथानाम्** गतिमान् अग्नि, वायु, जल, पशु, पक्षी, मनुष्य आदिकों को **वह्निः** एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने वाली होती है ।

द्वितीय—गाय के पक्ष में । **मघोनाम्** यज्ञ रूप ऐश्वर्य से युक्त **मरुताम्** यजमान मनुष्यों को **श्रवस्युः** दूध-घी प्रदान करना चाहती हुई **माता गौः** गौ माता के तुल्य गाय **धयति** स्वच्छ जल पीती है । **युक्ता** यज्ञ के लिए नियुक्त वह **रथानाम्** यज्ञ-रूप रथों की **वह्निः** चलानेवाली होती है ।

तृतीय—विद्युत् के पक्ष में । **मघोनाम्** साधनवान् **मरुताम्** मनुष्यों को **श्रवस्युः** मानो धन प्रदान करना चाहती हुई **माता** निर्माण करनेवाली **गौः** अन्तरिक्ष में स्थित विद्युत् **धयति** मेघ के जलों को पीती है । और **युक्ता** शिल्पकर्म में प्रयुक्त हुई वह **रथानाम्** कलायन्त्र, भूयान, जलयान, विमान आदिकों की **वह्निः** चलानेवाली होती है ।

चतुर्थ—वाणी के पक्ष में । **मघोनाम्** मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों आदि के ऐश्वर्य से युक्त **मरुताम्** मनुष्यों को **श्रवस्युः** मानो अन्न, धन, विद्या, कीर्ति आदि प्रदान करने की इच्छुक **माता गौः** माता वेदवाणी **धयति** ज्ञानरस का पान कराती है । **युक्ता** अध्ययन-अध्यापन में उपयोग लायी हुई वह **रथानाम्** रमणीय आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन, ब्रह्मवर्चस आदि की **वह्निः** प्राप्त करानेवाली होती है ॥५॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । 'श्रवस्युः—मानो अन्न, धन, कीर्ति आदि प्राप्त कराना चाहती हुई' में व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा है ॥५॥

भावार्थ—इन्द्र परमात्मा से रची हुई भूमि, गाय, विद्युत्, वेदवाणी रूप गौओं का उपयोग लेकर सबको आध्यात्मिक, शारीरिक, भौतिक, वैज्ञानिक, याज्ञिक, सामाजिक और राष्ट्रिय उन्नति करनी चाहिए ॥५॥

उपासकाः परमात्मानं, बालकस्य मातापितरश्चाचार्यं ब्रुवन्ति ।

१५०. उप नो हरिभिः सुतं याहि मदानां पते ।
उप नो हरिभिः सुतम् ॥६॥[1]

उप नः हरिभिः सुतम् । याहि मदानाम् पते ॥
उप नः हरिभिः सुतम् ॥६॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । हे **मदानां पते** आनन्दानाम् अधीश्वर इन्द्र परमात्मन् ! त्वम् **नः** अस्माकम् **हरिभिः** ज्ञानाहरणशीलैः ज्ञानेन्द्रियैः **सुतम्** अभिषुतम् उत्पादितं ज्ञानम् **उप याहि** उपगच्छ । **नः** अस्माकम् **हरिभिः** कर्माहरणशीलैः कर्मेन्द्रियैः सुतम् अभिषुतं कृतं कर्म **उप याहि** उपगच्छ ।

अथ **द्वितीयः** आचार्यपरः । हे **मदानां पते** माद्यन्ति हर्षन्ति एभिरिति मदाः ज्ञानानि तेषाम् अधिपते विविधविद्याविशारद इन्द्राख्य आचार्य ! त्वम् **हरिभिः** ज्ञानाहरणशीलैः इतरैः गुरुजनैः सह **नः** अस्माकं **सुतम्** गुरुकुले कृतप्रवेशं पुत्रम् **उप याहि** उपगच्छ । **हरिभिः** दोषहरणशीलैः इतरैः गुरुजनैः सह **नः** अस्माकम् **सुतम्** गुरुकुले कृतप्रवेशं पुत्रम् **उपयाहि** उपगच्छ, प्राप्नुहि ॥६॥

अत्र श्लेषालङ्कारः 'उप नः हरिभिः सुतम्' इत्यस्यावृत्तौ च पादावृत्ति यमकम् ॥६॥

भावार्थः—उपासका जनाः परमेश्वरं प्रार्थयन्ते यत् अस्माकं प्रतिज्ञानं प्रतिकर्म च त्वं चेद् व्याप्नोषि तदैवास्माकं जीवनयज्ञः सफलः । स्वपुत्रं गुरुकुलं प्रवेश्य मातापितरश्च कुलपतिं प्रार्थयन्ते यत् त्वं विद्याध्ययनाय चरित्रनिर्माणाय चान्यैर्गुरुजनैः सह प्रतिदिनमस्माकं पुत्रेण कृपया सन्निधिं कुरु ॥६॥

अगले मन्त्र में उपासक परमात्मा को और बालक के माता-पिता आचार्य को कहते हैं ।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हे **मदानां पते** आनन्दों के अधिपति परमात्मन् ! आप **नः** हमारे **हरिभिः** ज्ञान को आहरण करने वाली ज्ञानेन्द्रियों से **सुतम्** उत्पन्न किये ज्ञान को **उप याहि** प्राप्त हों । **नः** हमारे **हरिभिः** कर्म को आहरण करने वाली कर्मेन्द्रियों से **सुतम्** उत्पादित कर्म को **उप याहि** प्राप्त हों ।

द्वितीय आचार्य के पक्ष में । हे **मदानां पते** हर्षप्रदायक ज्ञानों के अधिपति, विविध विद्याओं में विशारद आचार्यप्रवर ! आप **हरिभिः** ज्ञान का आहरण करानेवाले अन्य गुरुजनों के साथ **नः** हमारे **सुतम्** गुरुकुल में प्रविष्ट पुत्र के **उप याहि** पास पहुँचिए । **हरिभिः** दोषों को हरने वाले अन्य गुरुओं के साथ **नः** हमारे **सुतम्** गुरुकुल में प्रविष्ट पुत्र के **उप याहि** पास पहुँचिए ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है, 'उप नः हरिभिः सुतम्' की आवृत्ति में पादावृत्ति यमक है ॥६॥

भावार्थ—उपासक लोग परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हमारे प्रत्येक ज्ञान और प्रत्येक कर्म में यदि आप व्याप्त हो जाते हैं, तभी हमारा जीवन-यज्ञ सफल होगा । और अपने पुत्र को गुरुकुल में प्रविष्ट कर माता-पिता कुलपति से प्रार्थना करते हैं कि आप विद्याओं को पढ़ाने और चरित्र-निर्माण के

१. ऋ० ८।९३।३१, ऋषिः सुकक्षः । साम० १७९० ।

लिए अन्य गुरुजनों सहित कृपा करके प्रतिदिन हमारे पुत्र के साथ सान्निध्य करते रहना ॥६॥

अथ यजमानानां व्यवहारमाह ।

३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१५१. इष्टा होत्रा असृक्षतेन्द्रं वृधन्तो अध्वरे ।
१ २ ३ १२ २१
अच्छावभृथमोजसा ॥७॥[1]
३ २ १ २१ ३ १ २१ ३ १ २ ३ २
इष्टाः होत्राः असृक्षत । इन्द्रम् वृधन्तः अध्वरे ॥
१ २१ ३ २ ३ २ १ २१
अच्छ अवभृथम् अव भृथम् ओजसा ॥७॥

पदार्थः—अध्वरे हिंसादिदोषरहितेऽग्निहोत्रे जीवनयज्ञे उपासनायज्ञे वा **इन्द्रम्** परमैश्वर्यशालिनं दुःखविदारकं मुक्तिदायकं परमात्मानम् **वृधन्तः** वर्धयन्तः उत्तरोत्तरं हृदि विकासयन्तो यजमानाः **ओजसा** बलेन, पूर्णप्रयत्नेन **अवभृथम् अच्छ** यज्ञान्तस्नानम् अभिलक्ष्य, वयं सद्यः यज्ञं सम्पूर्य यज्ञान्तस्नानं कुर्यामेति बुद्ध्या **इष्टाः** अभीष्टाः **होत्राः** आहुतीः **असृक्षत** विसृजन्ति, प्रयच्छन्ति । सृज विसर्गे दिवादेर्लुङि प्रथम-पुरुषबहुवचने रूपम् । लडर्थे लुङ् ।

राष्ट्रयज्ञं पूर्णतां नेतुं पूर्णप्रयासेन इन्द्रं राजानं वर्धयन्तः स्वसहयोगेन शक्तिशालिनं कुर्वन्तः प्रजाजनाः राष्ट्राय सर्वविधं त्यागं कर्तुमुद्यता भवन्तीत्यर्थोऽप्यनुसन्धेयः ॥७॥

भावार्थः—अग्निहोत्रं वा, जीवनयज्ञो वा, ध्यानयज्ञो वा, राष्ट्रयज्ञो वा, सर्वोऽपि यज्ञ आहुति-विसर्जनेन, परार्थत्यागेनात्मबलिदानेन वा पूर्णतां गच्छति ॥७॥

अगले मन्त्र में यजमानों का व्यवहार वर्णित है।

पदार्थ—**अध्वरे** हिंसादि दोषों से रहित अग्निहोत्र में, जीवन-यज्ञ में अथवा उपासना-यज्ञ में **इन्द्रम्** परमैश्वर्यशाली, दुःखविदारक, मुक्तिदायक परमात्मा को **वृधन्तः** बढ़ाते हुए अर्थात् उत्तरोत्तर हृदय में विकसित करते हुए यजमानगण **ओजसा** बलपूर्वक अर्थात् पूरे प्रयास से **अवभृथम् अच्छ** यज्ञान्त स्नान को लक्ष्य करके अर्थात् हम शीघ्र यज्ञ को पूर्ण करके यज्ञान्त स्नान करें इस बुद्धि से **इष्टाः** अभीष्ट **होत्राः** आहुतियों को **असृक्षत** छोड़ते हैं ।

यहाँ यह अर्थ भी ग्रहण करना चाहिए कि राष्ट्रयज्ञ को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए पूरे प्रयत्न से राजा को बढ़ाते हुए अर्थात् अपने सहयोग से शक्तिशाली करते हुए प्रजाजन राष्ट्र के लिए सब प्रकार का त्याग करने के लिए उद्यत होते हैं ॥७॥

भावार्थ—अग्निहोत्र, जीवनयज्ञ, ध्यानयज्ञ, राष्ट्रयज्ञ, सभी यज्ञ आहुति देने से, परार्थ त्याग करने से या आत्मबलिदान करने से पूर्णता को प्राप्त होते हैं ॥७॥

अथोपासकः स्वोपलब्धिं वर्णयति ।

३ २ ७ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१५२. अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह ।
३ १ २ १
अहं सूर्य इवाजनि ॥८॥[2]

---

१. ऋ० ८।९३।२३, ऋषिः सुकक्षः, । 'वृधन्तो' इत्यत्र 'वृधासो' इति पाठः ।

२. ऋ० ८।६।१०, अथ० २०।११५।१, उभयत्र 'जग्रह' इत्यस्य स्थाने 'जग्रभ' इति पाठः । साम० १५००।

३ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अहम् इत् हि पितुः परि । मेधाम् ऋतस्य जग्रह ॥
३ २ १ २ ३
अहम् सूर्यः इव अजनि ॥८॥

पदार्थः—**अहम्** परमेश्वरोपासकः **इत् हि** किल **पितुः**[1] **परि** पितुः इन्द्रात् परमेश्वरात् । परि इति पञ्चम्यर्थानुवादी, पञ्चम्याः परावध्यर्थे । अ० ८।३।५१ इति विसर्जनीयस्य सत्वम्, ततो मूर्धन्यादेशः । **ऋतस्य मेधाम्** सत्याचरणस्य प्रज्ञाम्, ऋतम्भरां प्रज्ञां वा । 'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः । ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।' योग० १।४७, ४८ इति योगदर्शने व्याख्याताम् । **जग्रह** गृहीतवानस्मि । ऋतम्भराप्रज्ञाप्रकाशेन प्रकाशमानश्च **अहम्** अध्यात्मपथिकः **सूर्यः इव** आदित्यः इव **अजनि** जातोऽस्मि ॥८॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥८॥

भावार्थः—पितुः परमेश्वरस्योपासनया मनुष्यः सत्यज्ञानं सत्याचरणम् ऋतम्भरां प्रज्ञां च प्राप्य सूर्य इव प्रकाशमानः सन् कैवल्यमधिगन्तुमर्हति ॥८॥

अगले मन्त्र में उपासक अपनी उपलब्धि का वर्णन कर रहा है ।

पदार्थ—**अहम्** मैंने **इत् हि** सचमुच **पितुः परि** पिता इन्द्र परमेश्वर से **ऋतस्य मेधाम्** सत्याचरण की मेधा को अथवा ऋतम्भरा प्रज्ञा को **जग्रह** ग्रहण कर लिया है । उससे प्रकाशमान हुआ **अहम्** अध्यात्म-पथ का पथिक मैं **सूर्यः इव** सूर्य के समान **अजनि** हो गया हूँ ॥८॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥८॥

भावार्थ—पिता परमेश्वर की उपासना से मनुष्य सत्यज्ञान, सत्य आचरण और ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त करके सूर्य के समान प्रकाशमान होकर मुक्ति उपलब्ध कर सकता है ॥८॥

अथ परमात्मनो नृपस्य च संरक्षणे सर्वे सुखिनः सन्त्वित्याह ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१८३. रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः ।
३ २ ३ २ ३ १ २
क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥९॥[2]
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
रेवतीः नः सधमादे सध मादे । इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः तुवि वाजाः ॥
१ २ १ २ १ २ १ २
क्षुमन्तः याभिः मदेम ॥९॥

पदार्थः—**नः** अस्माकम् **रेवतीः** रयिमत्यः प्रशस्तेन ऐश्वर्येण सम्पन्नाः प्रजाः । रयिः प्रशस्तं धनं विद्यते यासु ताः प्रजाः । अत्र प्रशंसार्थे मतुप् । 'रयेर्मतौ बहुलम्' । अ० ६।१।३७ वा० अनेन सम्प्रसारणम् । 'छन्दसीरः' । अ० ८।२।१५ इति मस्य वत्वम् । 'वा छन्दसि' । अ० ६।१।१०६ इति नियमेन पूर्वसवर्ण-दीर्घः । **सधमादे** सह माद्यन्ति हर्षन्ति जना अत्र इति सधमादः, तस्मिन् **इन्द्रे** परमैश्वर्यशालिनि परमेश्वरे राज्ञि च, तयोराश्रये मार्गदर्शने इति यावत् **तुविवाजाः**[3] बहुबलाः बहुविज्ञानाश्च । वाज इति बलनाम ।

---

१. अहम् (वत्स ऋषिः) पितुः कण्वस्य सकाशाद्—इति वि० । भरतस्वामिनोऽपि तदेवाभिप्रेतम् । पितुः पालकस्य ऋतस्य सत्यस्यापि तस्येन्द्रस्य मेधाम् अनुग्रहात्मिकां बुद्धिम्—इति सा० ।

२. ऋ० १।३०।१३, अथ० २०।१२२।१, साम० १०८४ ।

३ तुविवाजाः तुवि बहुविधो वाजो विद्याबोधो यासां ताः विशः प्रजाः—इति ऋ० १।३०।१३ भाष्ये द० । प्रभूतान्नाः—इति वि० । बह्वन्नाः—इति भ० । प्रभूतबलाः— इति सा० ।

निघं० २।६। **सन्तु** भवन्तु, **याभिः** विड्भिः प्रजाभिः सह **क्षुमन्तः**[1] प्रशस्तान्नादिभोग्यसम्भारसम्पन्नाः प्रशस्तनिवासवन्तः प्रशस्तकीर्तिमन्तो वा वयम्। क्षु इत्यन्ननाम। निघं० २।७। क्षि निवासगत्योः औणादिको डु प्रत्ययः। **मदेम** आनन्देम। मदी हर्षग्लेपनयोः, भ्वादिः ॥६॥[2]

भावार्थः—अखिलैरपि प्रजाजनैरिन्द्राख्यस्य परमात्मनो नृपतेश्च मार्गदर्शने सर्वमपि कार्यं विधेयम्, येन ते रोगबुभुक्षाऽकालमरणादिभिर्न पीड्येरन् प्रत्युत समस्तानि सात्त्विकखाद्यपेयादीनि बल-विज्ञानादीनि च प्राप्नुवन्तः समृद्धाः सन्तः प्रचुरप्रचुरं मोदमवाप्नुयुः ॥६॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि परमात्मा और राजा के संरक्षण में सब सुखी हों।

पदार्थ—**नः** हमारी **रेवतीः** प्रशस्त ऐश्वर्य वाली प्रजाएँ **सधमादे** जिसके साथ रहते हुए लोग आनन्द प्राप्त करते हैं ऐसे **इन्द्रे** परमैश्वर्यशाली परमात्मा और राजा के आश्रय में **तुविवाजाः** बहुत बल और विज्ञान से सम्पन्न **सन्तु** होवें, **याभिः** जिन प्रजाओं के साथ **क्षुमन्तः** प्रशस्त अन्नादि भोग्य सामग्री से सम्पन्न, प्रशस्त निवास से सम्पन्न और प्रशस्त कीर्ति से सम्पन्न हम **मदेम** आनन्दित हों ॥६॥

भावार्थ—सब प्रजाजनों को चाहिए कि वे इन्द्रनामक परमात्मा और राजा के मार्गदर्शन में सब कार्य करें, जिससे वे रोग, भूख, अकालमृत्यु आदि से पीडित न हों, प्रत्युत सब सात्त्विक खाद्य, पेय आदि पदार्थों को और बल, विज्ञान आदि को प्राप्त करते हुए समृद्ध होकर अधिकाधिक आनन्द को उपलब्ध करें ॥६॥

अथ सोमस्य पूष्णश्च गुणकर्मवर्णनमुखेनेन्द्रस्य महिमानमाचष्टे।

१५४. सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम्।
देवत्रा रथ्याहिता ॥१०॥

सोमः पूषा च चेततुः। विश्वासाम् सुक्षितीनाम् सु क्षितीनाम् ॥
देवत्रा रथ्योः हिता ॥१०॥

पदार्थः—**सोमः पूषा च** सौम्यश्चन्द्रः षोषकः सूर्यश्च, यद्वा चान्द्रमसं मनः सौरः आत्मा च **विश्वासाम् सुक्षितीनाम्** सर्वासां सुप्रजानाम्, सर्वाः सुप्रजा इत्यर्थः। क्षितय इति मनुष्यनाम। निघं० २।३। द्वितीयार्थे षष्ठी। **चेततुः** उपकर्तुं जानीतः। चिती संज्ञाने, लडर्थे लिट्, द्वित्वाभावश्छान्दसः। तौ **देवत्रा** देवेषु विद्वत्सु। देवशब्दात् 'देवमनुष्य०'। अ० ५।४।५६ इति सप्तम्यर्थे त्रा प्रत्ययः। **रथ्योः**[3] रथारूढयोरिव उन्नत्यै प्रयतमानयोः गुरुशिष्ययोः, मातापित्रोः, पितापुत्रयोः, पत्नीयजमानयोः, स्त्रीपुरुषयोः, शास्यशासकयोः **हिता** हितौ हितकारिणौ भवतः। अत्र 'सुपां सुलुक्०'। अ० ७।१।३९ इति प्रथमाद्विवचनस्याकारः ॥१०॥

---

१. क्षुमन्तः। क्षु, क्षु शब्दे इत्यस्येदं रूपम्। शब्दवन्तः कीर्तिमन्तः—इति वि०। कीर्तिमन्तः—इति भ०। अन्नवन्तः—इति सा०। बहुविधं क्षु अन्नं विद्यते येषां ते—इति ऋग्भाष्ये द०। अत्र भूम्न्यर्थे मतुप्।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणाऽयं मन्त्रः प्रजानां परमैश्वर्यप्राप्तिपक्षे व्याख्यातः।

३. रथ्योः। रथशब्देनात्र यज्ञ उच्यते, रंहतेर्गतिकर्मणः। रथस्य यज्ञस्य यौ वोढारौ तौ पत्नीयजमानावत्र रथ्यावुच्येते तयोः। यज्ञस्य देवान् प्रति प्रापयित्रोः पत्नीयजमानयोः हिता हितौ—इति वि०। रथनेता रथिः। रथनायकयोः हिता विहितौ प्रजापतिना—इति भ०। सायणस्तु 'रथ्यः अहिता' इति पदच्छेदं कृत्वा 'रथ्यः रथार्हः, अहिता आरोढा सोमः तादृशः पूषा सूर्यश्च' इति व्याचष्टे। तत्तु पदकारविरुद्धम्।

भावार्थः—इन्द्राख्यस्य परमेश्वरस्यैवायं महिमा यत् तद्रचितायां सृष्टौ सौम्यश्चन्द्रमास्तैजसः सूर्यश्च, मानवशरीरे च सौम्यं मनस्तैजस आत्मा च उभावपि प्राणादिप्रदानेन सर्वाः प्रजा उपकुरुतः। यथा रथारूढौ रथस्वामी सारथिश्च यद्वा राज्ञी राजा च क्रमशोऽध्वानं लङ्घयतस्तथैव यावपि गुरुशिष्यौ वा मातापितरौ वा पितापुत्रौ वा पत्नीयजमानौ वा स्त्रीपुरुषौ वा शास्यशासकौ वा समुत्कर्षाय प्रयतमानौ भवतस्तयोः कृते तौ परमहितावहौ सम्पद्येते ॥१०॥

अत्रेन्द्रस्य तद्रचितानां भूमिधेनुवेदवाक्चन्द्रसूर्यादीनां च महत्त्ववर्णनात्, इन्द्रस्य सकाशाद् ऋतस्य मेधायाः प्राप्तिवर्णनाच्चैतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम् ॥

इति द्वितीये प्रपाठके द्वितीयार्धे प्रथमा दशतिः।

इति द्वितीयाध्याये चतुर्थः खण्डः।

अगले मन्त्र में सोम और पूषा के गुण-कर्मों के वर्णन द्वारा इन्द्र परमेश्वर की महिमा प्रकट की गयी है।

पदार्थ—**सोमः पूषा च** चन्द्रमा और सूर्य अथवा मन और आत्मा **विश्वासाम् सुक्षितीनाम्** सब उत्कृष्ट प्रजाओं का **चेततुः** उपकार करना जानते हैं, वे **देवत्रा** विद्वज्जनों में **रथ्योः** रथारूढों के समान उन्नति के लिए प्रयत्नशील गुरु-शिष्य, माता-पिता, पिता-पुत्र, पत्नी-यजमान, स्त्री-पुरुष, शास्य-शासक आदि के **हिता** हितकारी होते हैं ॥१०॥

भावार्थ—इन्द्र नामक परमेश्वर की ही यह महिमा है कि उसकी रची हुई सृष्टि में सौम्य चन्द्रमा और तैजस सूर्य तथा मानव शरीर में सौम्य मन और तैजस आत्मा दोनों प्राण आदि के प्रदान द्वारा सब प्रजाओं का उपकार करते हैं। जैसे रथारूढ रथस्वामी और सारथि अथवा रानी और राजा क्रमशः मार्ग को पार करते चलते हैं, वैसे ही जो भी गुरु-शिष्य, माता-पिता, पिता-पुत्र, पत्नी-यजमान, स्त्री-पुरुष, शास्य-शासक आदि उन्नति के लिए प्रयत्न करते हैं उनके लिए पूर्वोक्त दोनों चन्द्र-सूर्य और मन-आत्मा परम हितकारी होते हैं ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र और इन्द्र द्वारा रचित भूमि, गाय, वेदवाणी, चन्द्र, सूर्य आदि का महत्त्व वर्णित होने से और इन्द्र के पास से ऋत की मेधा की प्राप्ति का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है, यह जानना चाहिए ॥

द्वितीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की प्रथम दशति समाप्त।

द्वितीय अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त।

॥७॥ अथ 'पान्तमा वो' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१,४ श्रुतकक्षः; २ वसिष्ठः; ३ मेधातिथि-प्रियमेधौ; ५ इरिम्बिठिः; ६,१० मधुच्छन्दाः, ७ त्रिशोकः; ८ कुसीदी; ९ शुनःशेपः ॥

देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अथेन्द्रस्य महत्त्वगानार्थं जनाः प्रेर्यन्ते।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २१
१६६. पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम् ॥१॥[1]

१. प्रथमायामृचि ७+८+८+७=३० इत्यक्षरसंख्यायां सामान्यतोऽनुष्टुप्छन्दसि स्वीकर्तव्येऽपि गायत्रीप्रकरणत्वादेषा गायत्री एवाभिमता। सेयं चतुष्पदा त्रिंशदक्षरा गायत्री। ऋ० ८।९२।१, ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा, छन्दः विराड् अनुष्टुप्।

१ २१ ३ १ २१ १ २१ ३ २ ३
पान्तम् आ वः अन्धसः । इन्द्रम् अभि प्र गायत ॥
१ २ ३ १ २१ ३ १ २ ३ २ ३
विश्वासाहम् विश्वा साहम् शतक्रतुम् शत क्रतुम् ।
१ २१ ३ २
मꣳहिष्ठम् चर्षणीनाम् ॥१॥

पदार्थः—हे मनुष्याः ! **वः**[1] यूयम् **अन्धसः**[2] भोग्यं वस्तुजातम् । अन्धः इत्यन्ननाम । निघं० २।७ । अन्नमिति सर्वेषां भोग्यवस्तूनाम् उपलक्षणम् । द्वितीयार्थे षष्ठी । **आ पान्तम्** समन्ततो रक्षन्तम् । पा रक्षणे इति धातोः शतरि रूपम् । **विश्वासाहम्** समस्तरिपुविजेतारम् । विश्वान् सर्वान् शत्रून् सहते पराभवतीति तादृशम् । अत्र विश्वपूर्वात् षह मर्षणे धातोः 'छन्दसि सहः' अ० ३।१।६३ इति ण्विः । 'अन्येषामपि दृश्यते' । अ० ६।३।१३७ इति दीर्घश्च । **शतक्रतुम्** बहुप्रज्ञं, बहुकर्माणं, बहुयज्ञं वा । शतमिति बहुनाम । निघं० ३।१ । क्रतुरिति कर्मनाम प्रज्ञानाम च । निघं० २।१, ३।९ । क्रतुर्यज्ञवचनोऽपि प्रसिद्धः । **चर्षणीनाम्** मनुष्याणाम् । चर्षणय इति मनुष्यनाम । निघं० २।३ । **मंहिष्ठम्** दातृतमम् । मंहते दानकर्मा । निघं० ३।२० । **इन्द्रम्** परमैश्वर्यशालिनं वीरं परमात्मानं राजानं वा **अभि** अभिलक्ष्य **प्र गायत** प्रकृष्टं गानं कुरुत, तत्तद्-गुणकर्मस्वभावान् वर्णयत ॥१॥

अत्र श्लेषालङ्कारः परिकरश्च ।

भावार्थः—सर्वेषां मनुष्याणां योग्यमस्ति यत् ते जगद्रक्षकं, समस्तकामक्रोधादिरिपुविजेतारम्, असंख्यप्रज्ञम्, असंख्यकर्माणम्, असंख्ययज्ञं, सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यो विद्याधनधर्मादीनां दातृतमं परमात्मानं, राष्ट्ररक्षकं, शत्रुसैन्यानां पराजेतारं, विद्वांसं, कर्मठं, बहूनां यज्ञानां यष्टारं, प्रजाभ्योऽतिशयेन विद्याऽऽरोग्य-धनादिप्रदायकं राजानं चाभिलक्ष्य तत्तद्गुणकर्मस्वभाववर्णनपराणि स्तुतिगीतान्युद्बोधनगीतानि च गायेयुरिति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र के महिमागान के लिए मनुष्यों को प्रेरित किया गया है।

पदार्थ—हे मनुष्यो ! **वः** तुम **अन्धसः** भोग्य वस्तुओं के **आ पान्तम्** सब ओर से रक्षक, **विश्वा-साहम्** समस्त शत्रुओं के विजेता, **शतक्रतुम्** बहुत बुद्धिमान्, बहुत कर्मण्य, बहुत से यज्ञों को करने वाले, **चर्षणीनाम्** मनुष्यों को **मंहिष्ठम्** अतिशय दान करने वाले **इन्द्रम्** परमैश्वर्यशाली वीर परमात्मा और राजा को **अभि** लक्षित करके **प्र गायत** प्रकृष्ट रूप से गान करो अर्थात् उनके गुण-कर्म-स्वभावों का वर्णन करो ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेष और परिकर अलंकार है ॥१॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को योग्य है कि वे जगत् के रक्षक, समस्त काम-क्रोधादि रिपुओं के विजेता, असंख्य प्रज्ञाओं, असंख्य कर्मों और असंख्य यज्ञों से युक्त, सब मनुष्यों को विद्या, धन धर्म आदि का अतिशय दान करने वाले परमात्मा के और राष्ट्र के रक्षक, शत्रु-सेनाओं को हराने वाले, विद्वान्, कर्मठ, अनेक यज्ञों के याज्ञिक, प्रजाओं को अतिशय विद्या, आरोग्य, धन आदि देने वाले राजा के प्रति उनके गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन करने वाले स्तुति-गीत और उद्बोधन-गीत गायें ॥१॥

१. वः यूयम्—इति वि०, भ०, सा० ।

२. षष्ठीनिर्देशाच्च एकदेशमिति वाक्यशेषः । सोमलक्षणस्यान्नस्य एकदेशं पान्तम्—इति वि० । आपान्तम् आ पिबन्तम् आपास्यन्तम् अन्धसः अन्नस्य । सोममित्यर्थः—इति भ० । अन्धसः सोमलक्षणम् अन्नम् आपान्तम् आभिमुख्येन पिबन्तम् । पा पाने, छान्दसः शपो लुक् । सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते इति 'न लोकाव्ययः' । २।३।६९ इति षष्ठीप्रति-षेधाभावः । ततोऽन्धस इत्यत्र 'कर्तृकर्मणोः' २।३।६५ इति षष्ठी—इति सा० ।

पुनरिन्द्रं प्रति गानाय प्रजाः प्रेर्यन्ते ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१५६. **प्र व इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत ।**
१ २ ३ १ २
सखायः सोमपाव्ने ॥२॥[1]
२ ३ १ २१ १ २१ १ २१ १ २१ ३
प्र वः इन्द्राय मादनम् । हर्यश्वाय हरि अश्वाय गायत ॥
१ २१ ३ १ २ ३ १ २१
सखायः स खायः सोमपाव्ने सोम पाव्ने ॥२॥

पदार्थः—प्रथमः परमात्मपरः । हे **सखायः** समानख्यानाः सुहृदः ! **वः** यूयम् **हर्यश्वाय** हरयो हरणशीला वेगवन्तः अश्वाः तुरगाः यद्वा अश्वोपलक्षिताः मार्गव्यापनशीलाः सूर्य-चन्द्र-वायु-पर्जन्य-प्राणादयो यस्य यद्रचिताः इत्यर्थः स हर्यश्वः तस्मै, **सोमपाव्ने** भक्तिरूपसोमरसस्य पात्रे, चन्द्रादिलोकानां रक्षकाय वा । सोमपूर्वात् पा पाने, पा रक्षणे वा धातोः 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' । अ० ३।२।७४ इति वनिप् प्रत्ययः । **इन्द्राय** परमैश्वर्यवते परमात्मने **मादनम्** मदकरं तृप्तिकरं स्तोत्रम् **प्र गायत** प्रकृष्टतया गानविधिपूर्वकमुच्चारयत ॥

अथ **द्वितीयो** नृपतिपरः । हे **सखायः** सखिभूताः प्रजाजनाः ! **वः** यूयम् **हर्यश्वाय** हरयो वेगवन्तः अश्वाः तुरगाः, तदुपलक्षितानि अश्वयान-अग्नियान-पवनयान-विद्युद्यानादीनि यस्य स हर्यश्वस्तस्मै **सोमपाव्ने** राष्ट्रे ब्रह्मक्षत्ररक्षकाय यशोरक्षकाय च । सोमो वै ब्राह्मणः । तां० ब्रा० २३।१६।५ । क्षत्रं सोमः । ऐ० ब्रा० २।३८ । यशो वै सोमः । श० ४।२।४।६ । **इन्द्राय** ऐश्वर्यशालिने शत्रुविदारकाय नृपतये **मादनम्** हर्षकरम् उत्साहप्रदम् च उद्बोधनगीतं विजयगीतं वा **प्र गायत** प्रोच्चारयत ॥२॥[2]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—सर्वैः सखिभिर्मिलित्वा परमेश्वरं प्रति स्तुतिगीतानि प्रजाभिश्च संभूय युद्धारम्भेषु विजयाद्युत्सवेषु च नृपतिं प्रत्युद्बोधनगीतानि विजयगीतानि वा सलयं गेयानि ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः इन्द्र के प्रति स्तोत्र-गान के लिए प्रजाओं को प्रेरित किया गया है ।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष **में** । हे **सखायः** साथियो ! **वः** तुम **हर्यश्वाय** जिसके द्वारा रचित घोड़े पशु या सूर्य-चन्द्र-वायु-बादल प्राण आदि बड़े वेगवान् हैं ऐसे, **सोमपाव्ने** भक्तिरूप सोमरस का पान करने वाले और चन्द्रादि लोकों के रक्षक **इन्द्राय** परमैश्वर्यवान् परमात्मा के लिए **मादनम्** आनन्ददायक तृप्तिकारी स्तोत्र को **प्र गायत** प्रकृष्ट रूप से गाओ ॥

द्वितीय राजा के पक्ष **में** । हे **सखायः** मित्रभूत प्रजाजनो ! **वः** तुम **हर्यश्वाय** जिसके अश्वयान, अग्नियान, वायुयान, विद्युत्-यान आदि बहुत वेगवान् हैं उस **सोमपाव्ने** राष्ट्र में ब्रह्म-क्षत्र के रक्षक, और यज्ञ के रक्षक **इन्द्राय** ऐश्वर्यशाली शत्रुविदारक राजा के लिए **मादनम्** हर्षप्रद और उत्साहकारी उद्बोधन-गीत या विजयगीत **प्र गायत** भलीभाँति गान करो ॥२॥

इस मन्त्र **में** श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ—सब सखाओं को मिलकर परमेश्वर के प्रति स्तुति-गीत और प्रजाओं को मिलकर युद्धारम्भ, विजयोत्सव आदि में राजा के प्रति उद्बोधन-गीत तथा विजय-गीत लयपूर्वक गाने चाहिएं ॥२॥

---

१. ऋ० ७।३१।१, साम० ७१६ ।

२. ऋग्भाष्ये (ऋ० ७।३१।१) मन्त्रोऽयं दयानन्दर्षिणा सखिभिर्मित्राय किं कर्त्तव्यमिति विषये व्याख्यातः ।

अथ वयं परमात्मानमर्चयाम इत्याह ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१५७. वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः ।
१ २ ३ १ २
कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥३॥[1]

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
वयम् उ त्वा तदिदर्थाः तदित् अर्थाः । इन्द्र त्वायन्तः सखायः स खायः ॥
१ २ ३ १ २ ३
कण्वाः उक्थेभिः जरन्ते ॥३॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमात्मन् ! **त्वायन्तः** त्वां कामयमानाः । युष्मच्छब्दात् आत्मन इच्छार्थे क्यचि शतरि रूपम् । **सखायः** तव सुहृदः **वयम् उ** वयम् उपासकाः खलु । उ इति वाक्यालंकारे पदपूरणे वा । **तदिदर्थाः**[2] तत् इत् तदेव त्वद्दर्शनमेव अर्थः प्रयोजनं येषां तथाविधाः सन्तः **त्वा** त्वाम् स्तुमः इति शेषः । न केवलं वयम्, प्रत्युत **कण्वाः** सर्वेऽपि मेधाविनः । कण्व इति मेधाविनाम । निघं० ३।१५ । **उक्थेभिः** उक्थैः स्तोत्रैः त्वाम् **जरन्ते** स्तुवन्ति । जरते अर्चतिकर्मा । निघं० ३।१४ ॥३॥

भावार्थः—हे परमानन्दप्रदायक परमेश्वर ! त्वद्दर्शनलालसाः सर्वे वयमौत्सुक्येन त्वां कामयामहे, पुनः पुनश्च सभक्तिगद्गदं त्वां स्तुवामहे ॥३॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि हम परमात्मा की अर्चना करते हैं ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमात्मन् ! **त्वायन्तः** आपके पाने की कामना करते हुए **सखायः** आपके सखा **वयम् उ** हम उपासक लोग **तदिदर्थाः** आपके दर्शन को ही प्रयोजन मानते हुए **त्वा** आपकी स्तुति करते हैं । न केवल हम, प्रत्युत **कण्वाः** सभी मेधावी जन **उक्थेभिः** स्तोत्रों से आपकी **जरन्ते** स्तुति करते हैं ॥३॥

भावार्थ—हे परमानन्दप्रदायक परमेश्वर ! आपके दर्शनों की लालसा वाले हम सभी बड़ी उत्सुकता से आपकी चाहना करते हैं और बार-बार भक्ति से गद्गद होकर आपकी स्तुति करते हैं ॥३॥

अथ पुनः परमात्मार्चनविषयमाह ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१५८. इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः ।
३ १ २ ३ १ २
अर्कमर्चन्तु कारवः ॥४॥[3]

१ २ १ १ २ १ ३ २ १ २ १ ३ १ २ १
इन्द्राय मद्वने सुतम् । परि स्तोभन्तु नः गिरः ॥
३ २ ३ १ २
अर्कम् अर्चन्तु कारवः ॥४॥

पदार्थः—**मद्वने** आनन्दमयाय । माद्यतीति मद्वा, तस्मै । मदी हर्षे धातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' अ० ३।२।७५ इति क्वनिप् । **इन्द्राय** परमैश्वर्यवते परमात्मने **सुतम्** अभिषुतं भक्तिरूपं सोमरसम् **नः** अस्माकम् **गिरः** वाचः **परिष्टोभन्तु** परिवेल्लयन्तु, तरङ्गयन्तु । स्तोभतिः अर्चतिकर्मा । निघं० ३।१४ ।

---

१. ऋ० ८।२।१६, साम० ७१६, अथ० २०।१८।१ ।

२. तदिदर्थाः । इदिति पादपूरणः । यस्तवार्थो यागादिः स अर्थो येषां ते तदर्थाः, यागपरा इत्यर्थ—इति वि० । स एवार्थः प्रयोजनं येषां ते तदिदर्थाः स्तुत्येकपरार्थाः—इति भ० । यत् त्वद्विषयं स्तोत्रं तदित् तदेवार्थः प्रयोजनं येषां तादृशाः सन्तः—इति सा० ।

३. ऋ० ८।९२।१९, अथ० २०।११०।१, उभयत्र ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा । साम० ७२२ ।

अर्चनं चात्र तरङ्गणम् । **अर्कम्** अर्चनीयं देवम् । अर्को देवो भवति, यदेनमर्चन्ति । निरु० ५।५ । **कारवः** अन्येऽपि स्तोतारः । कारुरिति स्तोतृनाम । निघं० ३।१६ । कारुः कर्ता स्तोमानाम् । निरु० ६।५ । **अर्चन्तु** संभूय स्तुवन्तु ॥४॥

भावार्थः—आनन्दं प्राप्तुकामोऽहं प्रेमरसपरिप्लुतहृदयः परमानन्दमयाय परमात्मने यान् भक्तिरसान् प्रवाहयामि तेषु मदीयाः स्तुतिवाचस्तरङ्गानिवोत्पादयन्ति । अन्येऽपि स्तोतारस्तथैव परमात्मानमर्चन्तु, येन सर्वमपि वातावरणं भक्तिमयं संगीतैस्तरङ्गितं च सम्पद्येत ॥४॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा की अर्चना का विषय है ।

पदार्थ—**मद्वने** आनन्दमय **इन्द्राय** परमैश्वर्यवान् परमात्मा के लिए **सुतम्** अभिषुत भक्तिरूप सोमरस को **नः** हमारी **गिरः** वाणियाँ **परिष्टोभन्तु** तरंगित करें । **अर्कम्** उस अर्चनीय देव की **कारवः** अन्य स्तोता जन भी **अर्चन्तु** मिलकर अर्चना करें ॥४॥

भावार्थ—आनन्द प्राप्त करने की कामना वाला मैं प्रेमरस से परिप्लुत हृदय वाला होकर परमानन्दमय परमात्मा के लिए जिन भक्तिरसों को प्रवाहित कर रहा हूँ उनमें मेरी स्तुति-वाणियाँ मानो तरंगें उत्पन्न कर रही हैं । अन्य स्तोता जन भी उसी प्रकार परमात्मा की अर्चना करें जिससे सारा ही वातावरण भक्तिमय और संगीतों से तरंगित हो जाए ॥४॥

अथेन्द्रो रसं पातुमाकार्यते ।

१५९. ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि ।
१ २ ३ २ ३ ३ १ २
एहीमस्य द्रवा पिब ॥५॥[1]
३ २ ३ १ २१ १ २१ ३ १ २ ३ १ २१ ३ १ २
अयम् ते इन्द्र सोमः । निपूतः नि पूतः अधि बर्हिषि ॥
३ २ १ २१ १ २१
आ इहि ईम् अस्य द्रव पिब ॥५॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! **अयम्** एष पुरतो दृश्यमानः **सोमः** श्रद्धारसः **ते** तुभ्यम् **बर्हिषि अधि** हृदयान्तरिक्षे । बर्हिरित्यन्तरिक्षनाम । निघं० १।३ । **निपूतः** नितरां पवित्रीकृतोऽस्ति । **एहि** आगच्छ, **ईम्** एनं प्रति । ईम् एनम् । निरु० १०।४५ । **द्रव** त्वरस्व, **अस्य** एतस्य भागम् । षष्ठी भागद्योतनार्था । **पिब** आस्वादय ॥५॥

भावार्थः—यथाऽन्तरिक्षस्थं मेघजलं पवित्रं भवति तथैव हृदयान्तरिक्षस्थो श्रद्धारसस्तव भक्तेन मया नितरां पवित्रीकृतोऽस्ति । तं पवित्रं मम श्रद्धारसं पातुं त्वं सत्वरमागच्छ, सोत्कण्ठं पिब च, येनाहं कृतार्थो भवेयम् । परमात्मनः सर्वव्यापकत्वान्निरवयवत्वाच्च तत्र सत्वरागमनपानादिव्यवहारो न घटत इत्यागमनस्य प्रकटीभावे पानस्य च स्वीकारे लक्षणा बोध्या ॥५॥

अगले मन्त्र में इन्द्र को रसपान के लिए बुलाया जा रहा है ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! **अयम्** यह **सोमः** श्रद्धारस **तुभ्यम्** तेरे लिए **बर्हिषि अधि** हृदयरूप अन्तरिक्ष में **निपूतः** पूर्णतः पवित्र कर लिया गया है । **एहि** आ, **ईम्** इसके प्रति **द्रव** दौड़, **अस्य** इसके भाग को **पिब** पान कर ॥५॥

---

१. ऋ० ८।१७।११, साम० ७२५, अथ० २०।५।५ ।

भावार्थ—जैसे अन्तरिक्षस्थ मेघजल पवित्र होता है वैसे ही हृदयान्तरिक्ष में स्थित श्रद्धा-रस को तेरे भक्त मैंने पूर्णतः पवित्र कर लिया है। उस मेरे पवित्र श्रद्धा-रस का पान करने के लिए तू शीघ्र ही आ और उत्कंठित होकर पी, जिससे मैं कृतार्थ हो जाऊँ। यहाँ परमात्मा के सर्वव्यापक और निरवयव होने के कारण उसमें शीघ्र आने, पीने आदि का व्यवहार नहीं घट सकता, इसलिए आगमन का अर्थ प्रकट होना तथा पीने का अर्थ स्वीकार करना लक्षणावृत्ति से समझना चाहिए ॥५॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मा नृपतिराचार्यश्चाहूयते।

१६०. ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे।
३ २ ३ १ २
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥६॥[1]

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
सुरूपकृत्नुम् सु रूपकृत्नुम् ऊतये। सुदुघाम् सु दुघाम् इव गोदुहे गो दुहे॥
३ १ २ १ २ ३ १ २ ३
जुहूमसि द्यविद्यवि द्यवि द्यवि ॥६॥

पदार्थः—वयम् उपासकाः प्रजाजनाः शिष्याः वा **सुरूपकृत्नुम्**[2] सुरूपाणां जगद्धारणादिकर्मणां कर्त्तारम् इन्द्रं परमात्मानम्, सुरूपाणां प्रजापालनराष्ट्रनिर्माणादिकर्मणां कर्त्तारम् इन्द्रं राजानम्, सुरूपाणां विद्याप्रदानाचारनिर्माणादिकर्मणां कर्त्तारम् इन्द्रम् आचार्यं वा। कृत्नु इत्यत्र कृ धातोः 'कृहनिभ्यां क्त्नुः'। उ० ३।३० इति क्त्नुः प्रत्ययः। **ऊतये** उपासनाफलावाप्तये, राष्ट्ररक्षणाय, विद्याप्राप्तये वा। अव धातोरर्थेषु अवाप्तिः रक्षणम् अवगमश्चापि पठिताः। **द्यविद्यवि** दिनेदिने। 'नित्यवीप्सयोः' अ० ८।१।४ अनेन द्वित्वम्। द्यविद्यवि इत्यहर्नाम। निघं० २।३। **जुहूमसि** आह्वयामः। ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च इति धातोः 'बहुलं छन्दसि'। अ० २।४।७६ अनेन शपः स्थाने श्लुः। 'अभ्यस्तस्य च' अ० ६।१।३३ अनेन सम्प्रसारणम्। 'सम्प्रसारणाच्च' अ० ६।१।१०८ अनेन पूर्वरूपम् 'हलः' अ० ६।४।२ इति दीर्घः। 'इदन्तो मसि' अ० ७।१।४६ इति मसेरिकारागमः। **गोदुहे** गोर्दोग्ध्रे दुग्धादिकमिच्छवे मनुष्याय **सुदुघाम् इव** यथा दोग्ध्रीं गाम् आह्वयन्ति तद्वत् ॥६॥[3]

अत्र श्लेष उपमालङ्कारश्च ॥६॥

भावार्थः—यथा दुग्धेच्छुभिर्दुग्धप्राप्तये पयस्विनी गौराहूयते तथैव उपासका उपासनाजन्यानन्दप्राप्तये परमात्मानं, प्रजाजना राष्ट्ररक्षणाय राजानं, शिष्यजनाश्च विद्याग्रहणायाचार्यं प्रतिदिनं सत्कारपूर्वकमाह्वयन्तु ॥६॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा, राजा और आचार्य को बुलाया जा रहा है।

पदार्थ—हम उपासक लोग, प्रजाजन अथवा शिष्यगण **सुरूपकृत्नुम्** सृष्ट्युत्पत्ति-स्थिति आदि सुरूप कर्मों के कर्ता परमात्मा को, प्रजापालन-राष्ट्रनिर्माण आदि सुरूप कर्मों के कर्ता राजा को और विद्याप्रदान-सदाचारनिर्माण आदि सुरूप कर्मों के कर्ता आचार्य को **ऊतये** क्रमशः उपासना के फल की प्राप्ति के लिए, राष्ट्ररक्षा के लिए और विद्याप्राप्ति के लिए **द्यविद्यवि** प्रतिदिन **जुहूमसि** पुकारते हैं, **गोदुहे** गाय दुहने वाले गोदुग्ध के इच्छुक मनुष्य के लिए **सुदुघाम् इव** जैसे दुधारू गाय को बुलाया जाता है ॥६॥

---

१. ऋ० १।४।१, अथ० २०।५७।१, ६८।१, साम० १०८७।

२. सुरूपकृत्नुम्। शोभनस्य वृत्रवधादेः कर्मणः कर्त्तारमिन्द्रम्—इति वि०। सुरूपाणां कर्मणां कर्तारम् इन्द्रम्—इति भ०।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं परमेश्वरपक्षे व्याख्यातवान्।

इस मन्त्र में श्लेष तथा उपमालंकार है ॥६॥

भावार्थ—जैसे दूध के इच्छुक लोग दूध प्राप्त करने के लिए दुधारू गाय को बुलाते हैं, वैसे ही उपासक लोग उपासनाजन्य आनन्द की प्राप्ति के लिए परमात्मा को, प्रजाजन राष्ट्र की रक्षा के लिए राजा को और शिष्यजन विद्याग्रहण के लिए आचार्य को प्रतिदिन सत्कारपूर्वक बुलाया करें ॥६॥

अथ परमात्मानमाचार्यञ्च सम्बोध्याह ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१६१. अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये ।
३ १ २ ३ १ २
तृम्पा व्यश्नुही मदम् ॥७॥[1]
३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अभि त्वा वृषभ सुते । सुतम् सृजामि पीतये ॥
३ २ ३ १ २ १
तृम्प वि अश्नुहि मदम् ॥७॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । हे **वृषभ** सुखशान्तिवर्षणशील परमात्मन् ! **सुते** प्रवृत्तेऽस्मिन्नुपासनायज्ञे **पीतये** त्वत्पानाय **सुतम्** अभिषुतं भक्तिरसम् **त्वा अभि** त्वामभिलक्ष्य **सृजामि** समर्पयामि । त्वमेतेन **तृम्प** तृप्तिं लभस्व । तृम्प तृप्तौ । संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः' । अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः । त्वद्भक्तं त्वत्प्रेमपरिप्लुतहृदयं वीक्ष्य **मदम्** आनन्दम् **वि अश्नुहि** प्राप्नुहि । यथा पिता पुत्रं स्वं प्रति श्रद्धालुं वीक्ष्य प्रमोदते तद्वदित्याशयः । संहितायां 'वृषभा' इत्यत्र 'व्यश्नुही' इत्यत्र च 'अन्येषामपि दृश्यते' । अ० ६।३।१३७ इति दीर्घः ।

अथ **द्वितीय** आचार्यपरः । गुरुकुले बालकम् आचार्यहस्तयोः समर्पयन् पिता ब्रूते—हे **वृषभ** ज्ञानवर्षक आचार्य ! **सुते** प्रवृत्तेऽस्मिन् अध्ययनाध्यापनसत्रे **पीतये** विद्यारसस्य पानाय **सुतम्** स्वकीयं पुत्रम् **त्वा अभि** त्वां प्रति **सृजामि** विसृजामि, त्वदधीनं करोमीत्यर्थः । अथ बालकं प्रत्याह—हे सुत ! त्वम् आचार्याधीनो भूत्वा **तृम्प** ज्ञानरसपानेन तृप्तिं लभस्व, **मदम्** आनन्दप्रदं सदाचारं चापि **वि अश्नुहि** प्राप्नुहि। आचार्यस्य सकाशाद् विद्याशिक्षां व्रतशिक्षां च गृहीत्वा विद्यास्नातको व्रतस्नातकश्च भवेत्यर्थः ॥७॥

अत्र श्लेषः, 'सुते-सुतं' इत्यत्र च छेकानुप्रासोऽलङ्कारः ॥७॥

भावार्थः—परमेश्वरः पृथिव्यां मेघजलमुपासकानां हृदये च सुखशान्तिं वर्षति, तथैवाचार्यः शिष्यस्य हृदये विद्यां सदाचारं च वर्षति । अतः सर्वे परमेश्वरस्योपासनामाचार्यस्य सेवां च कुर्वन्तु ॥७॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और आचार्य को सम्बोधन कर कहा गया है।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हे **वृषभ** सुखशान्ति की वर्षा करने वाले परमात्मन् ! **सुते** इस उपासना-यज्ञ में **पीतये** आपके पीने अर्थात् स्वीकार करने के लिए **सुतम्** निष्पादित भक्तिरस को **त्वा अभि** आपके प्रति **सृजामि** समर्पित करता हूँ, आप इससे **तृम्प** तृप्त हों । अपने भक्त को अपने प्रेम में डूबे हुए हृदय वाला देखकर **मदम्** आनन्द को **वि अश्नुहि** प्राप्त करें, जैसे पिता पुत्र को अपने प्रति श्रद्धालु देखकर प्रमुदित होता है ।

द्वितीय आचार्य के पक्ष में। गुरुकुल में अपने बालक को आचार्य के हाथों में सौंपते हुए पिता कह रहा है—हे **वृषभ** ज्ञान-वर्षक आचार्यप्रवर ! **सुते** इस अध्ययन-अध्यापन रूप सत्र के प्रवृत्त होने पर **पीतये** विद्यारस के पान के लिए **सुतम्** अपने पुत्र को **त्वा अभि** आपके प्रति **सृजामि** छोड़ता हूँ अर्थात्

---

१. ऋ० ८।४५।२२, अथ० २०।२२।१, साम० ७३१ ।

आपके अधीन करता हूँ। आगे पुत्र को कहता है—हे पुत्र ! तू आचार्य के अधीन रहकर **तृम्प** ज्ञानरस से तृप्तिलाभ कर, **मदम्** आनन्दप्रद सदाचार को भी **वि अश्नुहि** प्राप्त कर, इस प्रकार आचार्य से विद्या की शिक्षा और व्रतपालन की शिक्षा ग्रहण करके विद्यास्नातक और व्रतस्नातक बन ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेष और 'सुते-सुतं' में छेकानुप्रास अलंकार है ॥७॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर भूमि पर मेघ-जल और उपासकों के हृदय में सुख-शान्ति की वर्षा करता है, वैसे ही आचार्य शिष्य के हृदय में विद्या और सदाचार को बरसाता है। अतः सबको परमेश्वर की उपासना और आचार्य की सेवा करनी चाहिए ॥७॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मा जीवात्मा राजा वा प्रोच्यते।

१ २ ३ १ २ २ १ ३ १ २ ३ २
१६२. य इन्द्र चमसेष्वा सोमश्चमूषु ते सुतः।
१ २ १ २ ३ १ २
पिबेदस्य त्वमीशिषे ॥८॥[1]

२ ३ १ २ १ २ १ ३ १ २ ३ २
यः इन्द्र चमसेषु आ। सोमः चमूषु ते सुतः॥
१ २ १ ३ २ ३
पिब इत् अस्य त्वम् ईशिषे ॥८॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मजीवात्मपरः। हे **इन्द्र** दुःखविदारक सुखप्रदातः परमात्मन्, शक्तिशालिन् जीवात्मन् वा ! **यः** योऽयं पुरतः उपस्थितः **सोमः** भक्तिरसो ज्ञानकर्मरसो वा **चमसेषु** ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपेषु चमसपात्रेषु, **चमूषु** प्राणमनोबुद्धिरूपेषु अधिषवणफलकेषु च **आ सुतः** मया आ समन्तात् अभिषुतोऽस्ति, तम् **पिब इत्** अवश्यमास्वादय। **अस्य** भक्तिरसरूपस्य ज्ञानकर्मरूपस्य च सोमस्य **त्वम् ईशिषे** अधीश्वरोऽसि। अत्र 'अधीगर्थदयेषां कर्मणि' अ० २।३।५२ इति कर्मणि षष्ठी।

अथ **द्वितीयो** राजपरः। हे **इन्द्र** शत्रुदलनसमर्थ पराक्रमशालिन् राजन् ! **यः** योऽयम् **ते** तव **चमसेषु** मेघेषु, मेघवत् ज्ञानवर्षकेषु ब्राह्मणेषु। चमस इति मेघनाम। निघं० १।१०। **चमूषु** क्षत्रियसेनासु च **सोमः** क्रमशो ब्रह्मबलरूपः क्षत्रबलरूपश्च सोमरसः। सोमो वै ब्राह्मणः। तां० ब्रा० २३।१६।५, क्षत्रं सोमः। ऐ० ब्रा० २।३८। **आसुतः** अभिषुतोऽस्ति, तम् **पिब इत्** स्वाभ्यन्तरेऽपि अवश्यं गृहाण, त्वं स्वयमपि ब्रह्मक्षत्रबलयुक्तो भवेत्यर्थः। **अस्य** ब्रह्मक्षत्ररूपस्य सोमस्य **त्वम् ईशिषे** अधीश्वरो भव ॥८॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥८॥

भावार्थः—परमात्मा स्तोतॄणां भक्तिरूपं, जीवात्मा ज्ञानकर्मरूपं, राजा च ब्रह्मक्षत्ररूपं सोमरसं यदि गृह्णीयात्, तदा स्तोतॄणां जीवानां राष्ट्राणां च महत् कल्याणं जायेत ॥८॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा, जीवात्मा और राजा को कहा गया है।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा और जीवात्मा के पक्ष में। हे **इन्द्र** दुःखविदारक, सुखप्रदाता परमात्मन् अथवा शक्तिशाली जीवात्मन् ! **यः** जो यह **सोमः** भक्तिरस अथवा ज्ञानरस और कर्मरस **चमसेषु** ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूप चमसपात्रों में, और **चमूषु** प्राण-मन-बुद्धिरूप अधिषवणफलकों में **आ सुतः** चारों ओर से अभिषुत किया हुआ तैयार है, **तम्** उसे **पिब इत्** अवश्य पान कर, **अस्य** इस भक्तिरस का और इस ज्ञान एवं कर्म के रस का हे परमात्मन् और हे जीवात्मन् ! **त्वम्** तू **ईशिषे** अधीश्वर है ॥

१. ऋ० ८।८२।७।

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे **इन्द्र** शत्रु को दलन करने में समर्थ पराक्रमशाली राजन् ! **यः** जो यह **ते** आपके **चमसेषु** मेघों के समान ज्ञान की वर्षा करने वाले ब्राह्मणों में, और **चमूषु** आपकी क्षत्रिय सेनाओं में **सोमः** क्रमशः ब्रह्मरूप और क्षत्ररूप सोमरस **आसुतः** अभिषुत है, उसका **पिब इत्** अवश्य पान कीजिए अर्थात् आप भी ब्रह्मबल और क्षत्रबल से युक्त होइए। **अस्य** इस ब्रह्मक्षत्ररूप सोम के **त्वम्** आप **ईशिषे** अधीश्वर हो जाइए ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥८॥

भावार्थ—परमात्मा स्तोताओं के भक्तिरूप सोमरस को, जीवात्मा ज्ञान और कर्मरूप सोमरस को तथा राजा ब्रह्म-क्षत्र-रूप सोम-रस को यदि ग्रहण कर लें, तो स्तोताओं, जीवों और राष्ट्रों का बड़ा कल्याण हो सकता है ॥८॥

अथ स्वात्मरक्षणायेन्द्र आहूयते।

१६३. योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे।
सखाय इन्द्रमूतये ॥९॥[1]

योगेयोगे योगे योगे तवस्तरम्। वाजेवाजे वाजे वाजे हवामहे॥
सखायः स खायः इन्द्रम् ऊतये ॥९॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। **योगेयोगे** योगस्य विभिन्नस्तरेषु यमनियमासनप्राणायाम-प्रत्याहारधारणाध्यानसविकल्पकनिर्विकल्पकसमाधिषु **तवस्तरम्** तौति वर्द्धते, हिनस्ति विघ्नान्, तावयति वर्द्धयति च साधकं यः स तवाः, अतिशयेन तवाः तवस्तरः तम्। तु गतिवृद्धिहिंसासु सौत्रो धातुः। 'सर्व-धातुभ्योऽसुन्' उ० ४।१९० इत्यसुन्। ततोऽतिशायने तरप्। **इन्द्रम्** सिद्धिप्रदं परमेश्वरम् **सखायः** सुहृदो वयम् **वाजे वाजे** सर्वस्मिन्नान्तरिके देवासुरसंग्रामे। वाज इति संग्रामनाम। निघं० २।१७। **ऊतये** रक्षायै विजयप्राप्तये वा **हवामहे** आह्वयेम। अत्र ह्वेञ् धातोर्लेटि 'लेटोऽडाटौ' अ० ३।४।९४ इत्याडागमे कृते 'बहुलं छन्दसि' अ० ६।१।३४ इति सम्प्रसारणम्।

अथ **द्वितीयः** सेनाध्यक्षपरः। **योगेयोगे** अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगस्तस्मिन्, योगे योगे प्रतिराष्ट्रोत्कर्ष-निमित्तम् **तवस्तरम्** अतिशयेन गतिमन्तं क्रियाशीलं बलवृद्धं विघ्नविनाशकं च **इन्द्रम्** दुष्टशत्रुविदारकं विजयप्रदं धार्मिकं वीरं सेनाध्यक्षम् **सखायः** परस्परं सखिभावेन निवसन्तः प्रजाजनाः वयम् **वाजे वाजे** युद्धे युद्धे **ऊतये** रक्षणाय विजयप्राप्तये वा **हवामहे** आह्वयेम, उद्बोधयेम ॥९॥[2]

अत्र श्लेषालंकारः। 'योगे योगे, वाजे वाजे' इत्यावृत्तौ च छेकानुप्रासः ॥९॥

भावार्थः—योगमभ्यस्यतो जनस्य पुरतो व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्यादयो बहवो विघ्ना उपतिष्ठन्ति। ईश्वरप्रणिधानेन प्रणवजपेन वा ते निवारयितुं शक्यन्ते[3]। अतो यदा यदाऽस्माकमन्तःकरणे देवासुरसंघर्षः प्रवर्तते तदा तदा वयं विघ्नान् पराजेतुं योगसिद्धिं च प्राप्तुं बलवृद्धं परमेश्वरमाह्वयामः। तथैव राष्ट्रेऽपि यदा यदा शत्रूणामाक्रमणं जायते तदा तदा तेषां विजयाय राष्ट्रस्य रक्षणाय च वयं शूरं सेनापतिमुद्बोधयामो येन राष्ट्रं निःसपत्नमुत्कर्षारूढं च भवेत् ॥९॥

१. ऋ० १।३०।७, य० ११।१४, अथ० २०।२६।१, साम० ७४३।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये परमात्मपक्षे सेनाध्यक्षपक्षे च यजुर्भाष्ये च राजपक्षे व्याख्यातवान्।

३. द्रष्टव्यम्—योग० १।२७-३२।

अगले मन्त्र में आत्मरक्षा के लिए इन्द्र को पुकारा जा रहा है।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। **योगे योगे** योग के विभिन्न स्तरों यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, सविकल्पक- निर्विकल्पक समाधि में **तवस्तरम्** क्रमशः बढ़ने वाले, योग-विघ्नों को नष्ट करने वाले तथा साधक की उन्नति करने वाले **इन्द्रम्** सिद्धिप्रदायक परमेश्वर को **सखायः** हम साथी योगी-जन **वाजे वाजे** प्रत्येक आन्तरिक देवासुर-संग्राम में **ऊतये** रक्षा वा विजय-प्राप्ति के लिए **हवामहे** पुकारें ॥

द्वितीय सेनाध्यक्ष के पक्ष में। **योगे योगे** राष्ट्र के प्रत्येक अप्राप्त की प्राप्तिरूप उत्कर्ष के निमित्त **तवस्तरम्** अतिशय क्रियाशील, बलवृद्ध, विघ्नविनाशक **इन्द्रम्** दुष्ट शत्रुओं के विदारक, विजय-प्रद, धार्मिक, वीर सेनाध्यक्ष को **सखायः** परस्पर सखिभाव से निवास करते हुए हम प्रजाजन **वाजे वाजे** प्रत्येक युद्ध में **ऊतये** रक्षा और विजय की प्राप्ति के लिए **हवामहे** पुकारें, उद्बोधन दें ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'योगे योगे, वाजे वाजे' इस आवृत्ति में छेकानुप्रास है ॥९॥

भावार्थ—योगाभ्यास करते हुए मनुष्य के सम्मुख व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य आदि बहुत से विघ्न आते हैं। ईश्वरप्रणिधान या प्रणवजप से वे हटाये जा सकते हैं। इसलिए जब-जब हमारे अन्तःकरण में देवासुर-संघर्ष प्रवृत्त होता है, तब-तब हम विघ्नों को पराजित करने और योगसिद्धि को प्राप्त करने के लिए बलवृद्ध परमेश्वर को पुकारते हैं। इसी प्रकार राष्ट्र में भी जब-जब शत्रुओं का आक्रमण होता है तब-तब उन्हें जीतने के लिए और राष्ट्र की रक्षा के लिए हम शूरवीर सेनापति को उद्बोधन दें, जिससे राष्ट्र शत्रुरहित और उन्नतिशील हो ॥९॥

अथ स्तुतिगीतानि गातुं सखायो निमन्त्र्यन्ते।

१६४. **आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत।**
सखायः स्तोमवाहसः ॥१०॥[1]

आ तु आ इत नि सीदत। इन्द्रम् अभि प्र गायत॥
सखायः स खायः स्तोमवाहसः स्तोम वाहसः ॥१०॥

पदार्थः—हे **स्तोमवाहसः** स्तोमान् स्तोत्राणि वहन्ति उपास्यं प्रति नयन्ति, यद्वा स्तोमं जनसमूहं नयन्ति नेतृत्वेन उत्कर्षं प्रापयन्ति ते। स्तोमपूर्वाद् वह प्रापणे धातोः कर्मण्यन्। जसि 'आज्जसेरसुक्' अ० ७।१।५० इत्यसुगागमः। **सखायः** सुहृदः! यूयम् **तु**[2] क्षिप्रम् **आ**[3] **इत** आगच्छत। संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः'। अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः। **आ निषीदत**[4] आगत्य च उपासनाकर्मणि राष्ट्रोत्थान-कर्मणि वा उपविशत, **इन्द्रम्** परमैश्वर्ययुक्तं दुःखविदारकं सुखप्रदं परमात्मानं राष्ट्रं वा **अभि** अभिलक्ष्य **प्रगायत** प्रकृष्टतया गीतानि गायत ॥१०॥

---

१. ऋ० १।५।१, अथ० २०।६८।११, साम० ७४०।

२,३. आ तु इति पादपूरणौ—इति वि०। तु क्षिप्रम्—इति भ०। तु शब्दः क्षिप्रार्थो निपातः—इति सा०। उपसर्गाभ्यां च आख्यातावृत्तिं सूचयति। हे प्रस्तोत्रादयः आगच्छत, आगच्छत इति प्रत्येकं स्तोतनाह्वयति—इति भ०। 'आ तु आ इत' इति द्वाभ्याम् आङ्भ्यां मन्त्रे 'तु इत' शब्दोऽभ्यसनीयः—इति सा०।

४. सर्वे यूयं मिलित्वा परस्परं प्रीत्या मोक्षशिल्पविद्यासम्पादनोद्योगे आ निषीदत'। इति ऋ० १।५।१ भाष्ये द०।

भावार्थः—प्रजाजनैरुपासनागृहे समवेतैर्भूत्वा दुःखभञ्जकं सुखोत्पादकमिन्द्रं परमेश्वरं प्रति सामगीतानि गेयानि, राष्ट्रोत्थानाय च कृतसंकल्पैर्बद्धपरिकरैश्च भूत्वा राष्ट्रगीतानि गातव्यानि ॥१०॥

अत्रेन्द्रनाम्ना परमात्मगुणवर्णनपूर्वकं तं प्रति स्तुतिगीतानि गातुं भक्तिकर्मरसरूपं सोममर्पयितुं च प्रेरणात्, उपासकैश्च तस्याह्वानादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिर्वेद्या ॥१०॥

इति द्वितीये प्रपाठके द्वितीयार्धे द्वितीया दशतिः ।

इति द्वितीयाध्याये पञ्चमः खण्डः ।

अगले मन्त्र में स्तुतिगीत गाने के लिए सखाओं को निमन्त्रित किया गया है।

पदार्थ—हे **स्तोमवाहसः** उपास्य के प्रति स्तोत्रों को ले जाने वाले अथवा जनता का नेतृत्व करने वाले **सखायः** मित्रो ! तुम **तु** शीघ्र ही **आ इत** आओ, **आ निषीदत** आकर उपासना के लिए अथवा राष्ट्रोत्थान के लिए बैठो, **इन्द्रम्** परमैश्वर्यवान्, दुःखविदारक, सुखप्रद परमात्मा को और राष्ट्र को **अभि** लक्ष्य करके **प्र गायत** गीत गाओ ॥१०॥

भावार्थ—सबको उपासनागृह में एकत्र होकर दुःखभंजक, सुखोत्पादक इन्द्र परमेश्वर के प्रति सामगीत गाने चाहिएँ और राष्ट्रोत्थान के लिए कृतसंकल्प होकर तथा कमर कसकर राष्ट्रगीत गाने चाहिएँ ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र नाम से परमात्मा के गुणवर्णनपूर्वक उसके प्रति स्तुतिगीत गाने के लिए और उसे भक्तिरस एवं कर्मरस रूप सोम अर्पित करने के लिए प्रेरणा होने से तथा उपासकों द्वारा उसका आह्वान होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति जाननी चाहिए ॥१०॥

द्वितीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त ।

द्वितीय अध्याय में पंचम खण्ड समाप्त ।

॥८॥ अथ 'इदं ह्यन्वोजसा' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः १ विश्वामित्रः, २ मधुच्छन्दाः; ३ कुसीदी काण्वः; ४ प्रियमेधः; ५, ८ वामदेवः; ६, ९ श्रुतकक्षः; ७ मेधातिथिः; १० बिन्दुः पूतदक्षो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अथेन्द्रः प्रार्थ्यते ।

१६९. इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते ।
पिबा त्वा३स्य गिर्वणः ॥१॥[1]
इदम् हि अनु ओजसा । सुतम् राधानाम् पते ॥
पिब तु अस्य गिर्वणः गिः वनः ॥१॥

पदार्थः—हे **राधानां पते** आध्यात्मिकानां भौतिकानां च धनानां स्वामिन् इन्द्र परमात्मन् ! राधः इति धननाम । निघं० २।१० । अयं शब्दः सकारान्तोऽकारान्तश्चोभयथापि वेदे प्रयुज्यते । तथापि

१. ऋ० ३।५१।१०, साम० ७३७ ।

प्रायशः सकारान्त एव। **इदं हि** एतत् किल भक्तिरसात्मकं कर्मरसात्मकं च सोमतत्त्वम् **ओजसा** सम्पूर्णबलेन सम्पूर्णवेगेन च **अनु सुतम्** अस्माभिरनुक्रमेण अभिषुतम् अस्ति। हे **गिर्वणः**[1] गीर्भिः संभजनीय याचनीय वा देव! गिर्वणाः देवो भवति, गीर्भिरेनं वनयन्ति। निरु० ६।१४। गिर् पूर्वात् वन संभक्तौ, वनु याचने वा धातोरौणादिकोऽसुन्। त्वम् **तु**[2] क्षिप्रम् **अस्य**[3] इदं भक्तिकर्मरसरूपं वस्तु **पिब** स्वीकुरु। संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः'। अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः ॥१॥[4]

भावार्थः—हे परमेश्वर! त्वमाध्यात्मिकीनां भौतिकीनां च सर्वासाम् ऋद्धिसिद्धीनां परमोऽधिपतिर्विद्यसे। त्वं केनापि वस्तुना न हीयसे, तथाप्यस्मान् प्रति प्रेमातिरेककारणादेव त्वमस्मदीयं प्रेमोपहारं स्वीकरोषि। हे देव! त्वत्कृतेऽस्माभिः सम्पूर्णेन बलेन भक्तिरसः कर्मरसश्च सज्जीकृतोऽस्ति। तं स्वीकृत्यास्माननुगृहाण ॥१॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **राधानां पते** आध्यात्मिक तथा भौतिक धनों के स्वामी परमात्मन्! **इदं हि** यह भक्ति और कर्म का सोमरस **ओजसा** सम्पूर्ण बल और वेग के साथ **अनुसुतम्** हमने अनुक्रम से अभिषुत किया है। हे **गिर्वणः** वाणियों द्वारा संभजनीय और याचनीय देव! आप **तु** शीघ्र ही **अस्य** इस मेरे भक्तिरस को और कर्मरस को **पिब** स्वीकार करें ॥१॥

भावार्थ—हे परमेश्वर! आप आध्यात्मिक और भौतिक सकल ऋद्धि-सिद्धियों के परम अधिपति हैं। आपके पास किसी वस्तु की कमी नहीं है, तो भी हमारे प्रति प्रेमाधिक्य के कारण ही आप हमारे प्रेमोपहार को स्वीकार करते हैं। हे देव! आपके लिए हमने सम्पूर्ण बल के साथ भक्तिरस और कर्मरस तैयार किया है। उसे स्वीकार कर हमें अनुगृहीत कीजिए ॥१॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मनो नृपतेश्च महत्त्वं वर्ण्यते।

३ १,२ २,१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १,२
१६६. महाँ इन्द्रः पुरश्च नो महित्वमस्तु वज्रिणे।
१,२ २,१ ३ १,२ २,१
द्यौर्न प्रथिना शवः ॥२॥[5]
३ २ १ २,१ ३ २ ३ २ ३ १,२
महान् इन्द्रः पुरः च नः। महित्वम् अस्तु वज्रिणे॥
३ २ १ २,१
द्यौः न प्रथिना शवः ॥२॥

पदार्थः—**इन्द्रः** परमैश्वर्यवान्, दुःखदारकः, सुखशान्तिप्रदायकः परमेश्वरो नृपतिर्वा **महान्** अतिशयमहिमोपेतो वर्तते, **नः** अस्माकम् **पुरः च** समक्षमेव च विद्यते। **वज्रिणे** न्यायदण्डधराय तस्मै **महित्वम्** महिमगानम्, जयजयकारः। मह्यते पूज्यते सर्वैर्जनैरिति महिः। मह पूजायाम् औणादिकः इन्

१. गिर्वणः। गिरः स्तुतयः, ताभिर्यो वन्यते सम्भज्यते स गिर्वणाः। तस्य सम्बोधनं गिर्वणः। सम्भजनीय—इति वि०। 'गीर्भिर्वेदानां विदुषां च वाणीभिर्वन्यते संसेव्यते यस्तत्संबुद्धौ'। इति ऋ० १।१०।१२ भाष्ये, 'यो गीर्भिर्वन्यते याच्यते तत्संबुद्धौ'। इति च ऋ० ३।४१।४ भाष्ये द०।

२. तु क्षिप्रम्—इति वि०, भ०, सा०।

३. षष्ठीनिर्देशात् एकदेशमिति वाक्यशेषः—इति वि०।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं राजपक्षे व्याख्यातः।

५. ऋ० १।८।५, अथ० २०।७१।१। उभयत्र 'पुरश्च नो' इत्यत्र 'परश्च नु' इति पाठः।

प्रत्ययः। तस्य भावः महित्वम्। **अस्तु** भवतु। **शवः** तस्य बलम्। शव इति बलनाम। निघं० २।९। **प्रथिना** प्रथिम्ना विस्तारेण। पृथुशब्दात् 'पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा'। अ० ५।१।१२२ इति इमनिच् प्रत्ययः। मकारलोपश्छान्दसः। यद्वा प्रथि शब्दस्य तृतीयैकवचने रूपम्। (**द्यौः न**) विशालः सूर्यप्रकाशः इव अस्ति ॥२॥[1]

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—न्यायकारिणः परमबलिनः परमेश्वरस्य नृपतेश्च यशोगानेन स्वयमपि न्यायकारिभिर्बलवद्भिश्च सर्वैर्भवितव्यम् ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा के महत्त्व का वर्णन है।

पदार्थ—**इन्द्रः** परमैश्वर्यवान्, दुःखविदारक सुखशान्तिप्रदाता परमेश्वर वा राजा **महान्** अतिशय महान् है, **च** और वह **नः** हमारे **पुरः** समक्ष ही है। **वज्रिणे** उस न्यायदण्डधारी का **महित्वम्** महिमागान, जयजयकार **अस्तु** हो। **शवः** उसका बल **प्रथिना** विस्तार **में द्यौः न** विस्तीर्ण सूर्यप्रकाश के समान है ॥२॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ—न्यायकारी, परमबली परमेश्वर और राजा का यशोगान करके स्वयं भी सबको न्यायकारी और बलवान् बनना चाहिए ॥२॥

अथ परमेश्वरो राजा च प्रार्थ्यते।

१६७. आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं सं गृभाय।
महाहस्ती दक्षिणेन ॥३॥[2]

आ तु नः इन्द्र क्षुमन्तम्। चित्रम् ग्राभम् सम् गृभाय॥
महाहस्ती महा हस्ती दक्षिणेन ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमः** राजपरः। हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन् राजन्! **महाहस्ती**[3] महाशुण्डो गज इव महाभुजः त्वम् **तु** क्षिप्रम् **दक्षिणेन** दक्षिणहस्तेन **नः** अस्मभ्यम् **क्षुमन्तम्**[4] प्रशस्तान्नयुक्तम्। क्षु इत्यन्ननाम। निघं० २।७। **चित्रम्**[5] अद्भुतम् **ग्राभम्**[6] ग्राह्यं धनम्। गृह्यते इति ग्राभः। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' इति वार्तिकेन हस्य भत्वम्। **आ** समन्तात् **सं गृभाय** सं गृहाण। ग्रह उपादाने धातोः 'छन्दसि शायजपि' अ० ३।१।८४ इति श्नः शायजादेशः। हस्य भत्वम्।

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं परमेश्वरपक्षे व्याख्यातः।

२. ऋ० ८।८१।१, साम० ७२८।

३. महाहस्ती। महाँश्चासौ हस्तश्च महाहस्तः। तस्मादिदं तृतीयैकवचनम्। महता हस्तेनेत्यर्थः—इति वि०। महान् हस्तो महाहस्तः। महाहस्तवान् त्वम्—इति भ०।

४. क्षुमन्तम्। क्षु शब्दे इत्येतस्येदं रूपम्। कीर्तिमन्तम्—इति वि०। कीर्तिमन्तं कीर्तिसहितम्—इति भ०। शब्दवन्तं स्तुत्यमित्यर्थः—इति सा०।

५. (चित्रम्) चक्रवर्तिराज्यश्रिया विद्यामणिसुवर्णहस्त्यश्वादियोगेनाद्भुतम्' इति ऋ० १।९।५ भाष्ये—द०।

६. ग्राभं ग्राह्यं ग्रहणयोग्यम्, अभिसंस्कारैः संस्कृतमित्यर्थः।—इति वि०। ग्राभं धनम्। गृह्यते संगृह्यते सर्वैः इति ग्राहः—इति भ०। ग्राहकं ग्रहणार्हं वा धनम्—इति सा०।

अथ **द्वितीयः** परमात्मपरः। हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन्! त्वम् **तु** क्षिप्रमेव **नः** अस्मभ्यं दातुम् **क्षुमन्तम्** भौतिकधनान्नादियुक्तम् **चित्रम्** अद्भुतम् **ग्राभम्** ग्राह्यम् अध्यात्मसंपद्रूपं धनम् **आ** समन्तात् **संगृभाय** संगृहाण, यथा **महाहस्ती** विशालभुजः कश्चिन्मनुष्यः **दक्षिणेन** दक्षिणहस्तेन वस्तूनि संगृह्णाति। यद्वा, यथा **महाहस्ती** महनीयकिरणः हिरण्यपाणिः सविता सूर्यः **दक्षिणेन** समृद्धेन स्वकिरणजालेन भूमिष्ठानि जलानि संगृह्णाति। यद्वा, यथा **महाहस्ती** महागजः **दक्षिणेन** बलवता स्वकीयेन शुण्डादण्डेन खाद्यपेयादीनि वस्तूनि संगृह्णाति ॥३॥

अत्र श्लेषालङ्कारः। 'महाहस्ती' इति च लुप्तोपमम् ॥३॥

भावार्थः—परमेश्वरो राष्ट्रस्य राजा च सर्वान् प्रजाजनान् पुरुषार्थिनो विधाय प्रभूतधनधान्यसम्पन्नान् विद्यावतो धार्मिकान् योगैश्वर्ययुक्ताँश्च विदधातु ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—**प्रथम** राजा के पक्ष **में**। हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली राजन्! **महाहस्ती** बड़ी सूँड वाले हाथी के समान विशाल भुजा वाले आप **तु** शीघ्र ही **दक्षिणेन** दाहिने हाथ से **नः** हमारे लिए अर्थात् हमें **दान करने** के लिए **क्षुमन्तम्** प्रशस्त अन्नों से युक्त **चित्रम्** आश्चर्यकारी **ग्राभम्** ग्राह्य धन को **आ** चारों ओर से **संगृभाय** संग्रह कीजिए।

द्वितीय परमात्मा **के** पक्ष में। हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परमात्मन्! आप **तु** शीघ्र ही **नः** हमें देने के लिए **क्षुमन्तम्** भौतिक धन, अन्न आदि से युक्त **चित्रम्** अद्भुत **ग्राभम्** ग्राह्य अध्यात्मसम्पत्ति रूप धन **को संगृभाय** संगृहीत कीजिए, जैसे **महाहस्ती** विशाल भुजाओं वाला कोई मनुष्य **दक्षिणेन** अपने दाहिने हाथ से वस्तुओं का संग्रह करता है, अथवा, जैसे **महाहस्ती** प्रशस्त किरणों वाला हिरण्यपाणि सूर्य **दक्षिणेन** अपने समृद्ध किरणजाल से भूमि पर स्थित जलों का संग्रह करता है, अथवा, जैसे **महाहस्ती** विशाल हाथी **दक्षिणेन** अपने बलवान् सूँड रूप हाथ से विविध वस्तुओं का संग्रह करता है ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'महाहस्ती' में लुप्तोपमा है ॥३॥

भावार्थ—परमेश्वर और राजा सब प्रजाजनों को पुरुषार्थी करके प्रचुर धन-धान्य से सम्पन्न, विद्यावान्, धार्मिक और योगविद्या के ऐश्वर्य से युक्त करें ॥३॥

अथ मनुष्यं प्रेरयति।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१६८. अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे।
३ २ ३ २ ३ १ २
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥४॥[1]
३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
अभि प्र गोपतिम् गो पतिम् गिरा। इन्द्रम् अर्च यथा विदे॥
३ २ ३ १ २ १ २ ३
सूनुम् सत्यस्य सत्पतिम् सत् पतिम् ॥४॥

पदार्थः—हे मनुष्य! त्वम् **गोपतिम्** गोपदवाच्यानां सूर्यपृथिव्यादिलोकानां राष्ट्रभूमेर्वा पतिं स्वामिनं पालकं च, **सत्यस्य सूनुम्** सत्यज्ञानस्य सत्यकर्मणश्च प्रेरकम्। षू प्रेरणे इति धातोः सुवः कित्। उ० ३।३५ इति नुः प्रत्ययः। **सत्पतिम्** सतां सज्जनानां पालयितारम्, असज्जनानां दण्डयितारमित्यर्थादापद्यते, **इन्द्रम्** परमेश्वरं राजानं च **अभि** अभिलक्ष्य **गिरा** वाचा **प्र अर्च** प्रकर्षेण स्तुहि, तद्गुणकर्माणि

१. ऋ० ८।६९।४, साम १४८९, अथ० २०।२२।४, ९२।१।

वर्णय, **यथा** येन प्रकारेण, सः **विदे**[1] तां स्तुतिं जानाति । विद ज्ञाने धातोश्छान्दसमात्मनेपदम् । लटि वित्ते इति प्राप्ते 'लोपस्त आत्मनेपदेषु', अ० ७।१।४१ इति तलोपः । 'विदे' इत्यत्र 'यावद्यथाभ्याम्', अ० ८।१।३६ इति निघाताभावः ॥४॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥४॥

भावार्थः—मनुष्याणां योग्यमस्ति यत् ते विविधगुणगणविभूषितं परमेश्वरं राजानं चोद्दिश्य तयोर्यथार्थगुणकर्मस्वभावाँस्तथा वर्णयेयुर्यथा तौ तद् विजानीयाताम्, यतो हि स्तोतव्यस्य स्तुतिस्तदैव फलदायिनी भवति यदा सा तदन्तःकरणं स्पृशति ॥४॥

अगले मन्त्र में मनुष्य को प्रेरणा की गयी है ।

पदार्थ—हे मनुष्य ! तू **गोपतिम्** सूर्य, पृथिवी आदि लोकों के अथवा राष्ट्रभूमि के स्वामी और पालनकर्ता, **सत्यस्य सूनुम्** सत्य ज्ञान और सत्य कर्म के प्रेरक, **सत्पतिम्** सज्जनों के रक्षक एवं दुष्टों को दण्ड देने वाले **इन्द्रम्** परमात्मा और राजा को **अभि** लक्ष्य करके **गिरा** वाणी से **प्र अर्च** भलीभाँति स्तुति कर अर्थात् इनके गुण-कर्मों का वर्णन कर, **यथा** जैसे वे **विदे** उस स्तुति को जान लें ॥४॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥४॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि वे विविध गुणगणों से विभूषित परमेश्वर और राजा को लक्ष्य करके उनके यथार्थ गुण-कर्म-स्वभावों का ऐसा वर्णन करें कि वे उसे जान लें, क्योंकि स्तोतव्य की स्तुति तभी फलदायक होती है जब वह उसके अन्तःकरण को छू लेती है ॥४॥

अथेन्द्राख्यस्य परमात्मनो नृपतेश्च कृपां वर्णयन्नाह ।

१ २ ३।१ २।१ ३ २ ३ १।२।३ १ २
१६९. कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा ।
२ ३ १ २ ३ २
कया शचिष्ठया वृता ॥५॥[2]
१।२।१ ३ २ ३ २ ३।१।२ ३।२।३ १।२।१ ३
कया नः चित्रः आ भुवत् । ऊती सदावृधः सदा वृधः सखा स खा ॥
१।२।१ १।२।१ ३।२
कया शचिष्ठया वृता ॥५॥

पदार्थः—**चित्रः** अद्भुतगुणकर्मस्वभावः स इन्द्रः परमेश्वरो राजा वा **कया** कया अद्भुतया **ऊती** ऊत्या रक्षया । 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण०' । अ० ७।१।३९ इति तृतीयैकवचनस्य पूर्वसवर्णदीर्घः । **कया** कया च अद्भुतया **शचिष्ठया**[3] अतिशयेन प्रज्ञावत्या, बुद्धिपूर्वयेत्यर्थः । शचीति प्रज्ञानामसु पठितम् । निघं० ३।९ । तद्वती शचीमती । ततोऽतिशायने इष्ठनि 'विन्मतोर्लुक्' । अ० ५।३।६५ इति मतुपो लुक् । **वृता**[4] वर्तमानया क्रियया । वर्तते या सा वृत्, तया । **नः** अस्माकम् **सदावृधः** सदा वर्धयिता **सखा** सुहृत् **आभुवत्** आ भवति । भुवदिति भूधातोर्लेटि रूपम् ॥५॥[5]

१. यथा विदे जानामीत्यर्थः—इति वि० । यथा विदे ज्ञायते त्वया—इति भ० । यथा विदे स यथा स्वात्मानं स्तुतिप्रकारं जानाति, यथा वा यागं प्रति गन्तव्यमिति जानाति तथा अर्च—इति सा० ।

२. ऋ० ४।३१।१, य० २७।३९,३६।४, साम० ६८२, अथ० २०।१२४।१ ।

३. शचीति प्रज्ञाकर्मणोनाम, प्रज्ञावत्तमया प्रज्ञासहितमनुष्ठीयमानया इत्यर्थः—इति भ० ।

४. वर्ततेऽसाविति वृत्, तया वृता वर्तमानयेत्यर्थः—इति वि० । आवृता आवर्तमानेन कर्मणा—इति भ० ।

५. एष मन्त्रो दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्ये राजपक्षे, यजुर्भाष्ये २७।३९ इत्यत्र विद्वत्पक्षे, ३६।४ इत्यत्र च परमेश्वरपक्षे व्याख्यातः ।

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—यथा परमेश्वरः स्वकीयया विलक्षणरक्षया विलक्षणक्रियाशक्त्या च सर्वान् रक्षत्युपकरोति च, तथैव राजा प्रजाजनान् रक्षेदुपकुर्याच्च ॥५॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नामक परमेश्वर और राजा की कृपा का वर्णन किया गया है।

पदार्थ—**चित्रः** अद्भुत गुण-कर्म-स्वभाव वाला वह इन्द्रनामक परमेश्वर और राजा **कया** कैसी अद्भुत **ऊती** रक्षा के द्वारा, और **कया** कैसी अद्भुत **शचिष्ठया** अतिशय बुद्धिपूर्ण **वृता** विद्यमान क्रिया के द्वारा **नः** हमारा **सदावृधः** सदा बढ़ाने वाला **सखा** सखा **आ भुवत्** बना हुआ है ॥५॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥५॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर अपनी विलक्षण रक्षा से और विलक्षण क्रियाशक्ति से सबकी रक्षा और उपकार करता है, वैसे ही राजा प्रजाजनों का रक्षण और उपकार करे ॥५॥

अथ परमात्मनो नृपतेश्च वरणविषयमाह।

१७०. त्युमु वः सत्रासाहं विश्वासु गीर्ष्वायतम्।
आ च्यावयस्यूतये ॥६॥[1]

त्यम् उ वः सत्रासाहम् सत्रा साहम्। विश्वासु गीर्षु आयतम् आ यतम् ॥
आ च्यावयसि ऊतये ॥६॥

पदार्थः—हे स्तोतः ! त्वम् **त्यम् उ** तम् एव **सत्रासाहम्**[2] सत्रा सत्यमेव सहते मृष्यति नाऽसत्यमिति सत्राषाट्, यद्वा सत्रा सत्येन सहते अभिभवति शत्रून् यः स सत्राषाट् तम्। सत्रा इति सत्यनाम। निघं० ३।१०। सत्रापूर्वात् षह मर्षणे अभिभवे च इति धातोः 'छन्दसि सहः'। अ० ३।२।६३ इति ण्विः। **विश्वासु** सर्वासु **गीर्षु** वेदवाक्षु **आयतम्** विस्तीर्णम् इन्द्रम् वीरं परमेश्वरं राजानं च, त्वम् स्वात्मशासनाय राष्ट्रशासनाय च **वः** वृणुहि। वृञ् वरणे धातोर्लोडर्थे लुङि 'मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः'। अ० २।४।८० इति च्लेर्लुक्। अडाभावश्छान्दसः। किञ्च **ऊतये** रक्षणाय **आ च्यावयसि** आच्यावय स्वाभिमुखं प्रेरय आवर्जय वा। च्युङ् गतौ, णिचि, लेटि रूपम् ॥६॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥६॥

भावार्थः—यथा राष्ट्रस्य प्रगतये रक्षणाय च सुयोग्यो राजा वरणीयो भवति, तथैवात्मनः प्रगतये रक्षणाय च सत्यगुणकर्मस्वभावः परमात्मा वरणीयः ॥६॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा के वरण का विषय है।

पदार्थ—हे स्तोता ! तू **सत्रासाहम्** जो सत्य को ही सहन करता है, असत्य को नहीं, अथवा जो सत्य से शत्रुओं को परास्त करता है ऐसे **विश्वासु** सब **गीर्षु** वेदवाणियों में **आयतम्** विस्तीर्ण **त्यम्** उस

१. ऋ० ८।९२।७, ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा।

२. सत्राशब्दः सत्यवचनः सदाशब्दपर्यायो वा। सहिः अभिभवे मर्षणे च। अत्र सहिः अभिभवार्थः। सत्येन सर्वदा वा शत्रूणामभिभवितारम्—इति वि०। विश्वस्याभिभवितारं सर्वदा अभिभवितारम् इति वा—इति भ०। सत्राशब्दो बहुवाची। बहूनामभिभवितारम्। यद्वा, शत्रून् स्वबलेन सङ्गत्य जेतारम्—इति सा०।

इन्द्र नामक वीर परमेश्वर और राजा को **वः** वरण कर, स्वात्मशासन और राष्ट्रशासन के लिए चुन, और **ऊतये** रक्षा के लिए **आ च्यावयसि** स्वाभिमुख प्रेरित कर ॥६॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥६॥

भावार्थ—जैसे राष्ट्र की प्रगति और रक्षा के लिए सुयोग्य राजा को चुनना आवश्यक होता है, वैसे ही अपने आत्मा की प्रगति और रक्षा के लिए सत्य गुण-कर्म-स्वभाववाले परमात्मा को वरण करना चाहिए ॥६॥

अथ परमात्मानं सभाध्यक्षं राजानम् आचार्यं च मेधां याचमान आह ।

१७१. **सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।**
सनिं मेधामयासिषम् ॥७॥[1]

सदसः पतिम् अद्भुतम् अत् भुतम् । प्रियम् इन्द्रस्य काम्यम् ॥
सनिम् मेधाम् अयासिषम् ॥७॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । अहम् **अद्भुतम्**[2] आश्चर्यमयगुणकर्मस्वभावम्, **इन्द्रस्य** शरीराधिष्ठातुर्जीवात्मनः **प्रियम्** प्रेमास्पदम्, **काम्यम्** उपासकानां स्पृहणीयम्, **सनिम्**[3] कृतानां पापपुण्यरूपाणां कर्मणां फलप्रदातारम् । षण सम्भक्तौ, षणु दाने वा धातोः 'खनिकष्यज्यसिवसिवनिसनिध्वनिग्रन्थिचरिभ्यश्च' उ० ४।१४ इत्यनेन इः प्रत्ययः । **सदसः पतिम्** हृदयरूपस्य ब्रह्माण्डरूपस्य वा यज्ञसदनस्य स्वामिनं परमात्मानम् । षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु' अ० ८।३।५३ इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । **मेधाम्** धारणावतीं बुद्धिम् **अयासिषम्** याचे । निघण्टौ (३।१९), 'यामि' इत्यस्य याञ्चाकर्मसु पाठात् या धातुर्याचनार्थोऽपि विज्ञेयः । लडर्थे लुङ् ।

अथ **द्वितीयः** सभाध्यक्षपरः । अहम् **अद्भुतम्** इतरापेक्षया विशिष्टगुणकर्मस्वभावम्, अत एव **इन्द्रस्य** परमात्मनः **प्रियम्** स्नेहास्पदम्, **काम्यम्** सर्वैः प्रजाजनैः स्पृहणीयम्, **सनिम्** राष्ट्रे धनस्य संविभक्तारं, प्रजाभ्यः सत्कर्मणां पुरस्कारदातारम्, असत्कर्मणां च यथायोग्यं दण्डदातारं च **सदसः पतिम्**[4] राष्ट्रसभाया अध्यक्षं राजानाम् **मेधाम्** बुद्धिम् विद्याप्रचारमित्यर्थः, धनं च । मेधा मतौ धीयते । निरु० ३।१९ । मेधा इति धननामसु पठितम् । निघं० २।१० । **अयासिषम्** याचे ॥

अथ **तृतीयः** आचार्यपरः । अहम् **अद्भुतम्** ज्ञानविज्ञानयोः अपूर्वं निधिम्, **इन्द्रस्य** विद्याप्रचारकस्य राज्ञः **प्रियम्** प्रेमार्हम्, **काम्यम्** सर्वैर्विद्यार्थिभिः स्पृहणीयम्, **सनिम्** विविधविद्यानां व्रतानां च दातारम् **सदसः पतिम्** विद्यार्थिकुलस्याध्यक्षम् आचार्यम् **मेधाम्** विद्यावोधम् **अयासिषम्** याचे ॥७॥[5]

---

१. ऋ० १।१८।६, देवता सदसस्पतिः, य० ३२।१३ ऋषिः मेधाकामः, अन्ते 'स्वाहा' इत्यधिकम् ।

२. इदमपि इतरद् अद्भुतम् अभूतमिव—इति निरु० १।६। अत् भुतम् इति पदकारः । अत् पूर्वाद् भवतेरद्भुतः—इति भ० । अदि भुवो डुतच् उ० ५।१ अनेन भू धातोः अदि उपपदे डुतच् प्रत्ययः—इति ऋ० १।१८।६ भाष्ये—द० ।

३. (सनिम्) पापपुण्यानां विभागेन फलदातारम् इति ऋ० १।१८।६ भाष्ये, '(सनिम्) सनन्ति संविभजन्ति सत्यासत्ये यया ताम् मेधाम् संगतां प्रज्ञाम्' इति च य० ३२।१३ भाष्ये—द० । सनिं निधानम् । कस्य ? सामर्थ्याद् धनस्य —इति वि० । संभजनीयां दात्रीं फलानां, मेधां बुद्धिम् । सनिमिति मेधाविशेषणम्, सन्या मेधया इति बहुशः दर्शनात्—इति भ० । सनिं धनस्य दातारं (सदसस्पतिम्)—इति सा० ।

४. (सदसः) सीदन्ति विद्वांसो धार्मिका न्यायाधीशाः यस्मिंस्तत् सदः सभा तस्य, अत्र अधिकरणे असुन् (पतिम्) स्वामिनम् इति ऋ० १।१८।६ भाष्ये—द० ।

५. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं ऋग्भाष्ये परमेश्वरपक्षे सभापतिपक्षे च, यजुर्भाष्ये च परमात्मपक्षे व्याख्यातः ।

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥७॥

भावार्थः—ये मनुष्या अद्भुतगुणकर्मस्वभावम् अद्भुतज्ञानविज्ञानराशिं न्यायकारिणं प्रियं परमात्मानं, सभाध्यक्षं राजानम्, आचार्यं चोपगच्छन्ति ते मेधाविनः शास्त्रज्ञाः पुण्यकर्त्तारो धनवन्तश्च भूत्वा सुखिनो भवन्ति ॥७॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, सभाध्यक्ष राजा और आचार्य से मेधा की याचना की गयी है।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। मैं **अद्भुतम्** आश्चर्यमय गुण-कर्म-स्वभाव वाले, **इन्द्रस्य** शरीर के अधिष्ठाता जीवात्मा के **प्रियम्** प्रिय, **काम्यम्** उपासकों के स्पृहणीय, **सनिम्** कृत पाप-पुण्य-रूप कर्मों के फलप्रदाता **सदसः पतिम्** हृदयरूप अथवा ब्रह्माण्डरूप यज्ञसदन के स्वामी परमात्मा से **मेधाम्** धारणावती बुद्धि को **अयासिषम्** माँगता हूँ ॥

द्वितीय सभाध्यक्ष के पक्ष में। मैं **अद्भुतम्** अन्यों की अपेक्षा विशिष्ट गुण-कर्म-स्वभाव वाले, इसीलिए **इन्द्रस्य** परमात्मा के **प्रियम्** प्रिय, **काम्यम्** सब प्रजाजनों द्वारा चाहने योग्य, **सनिम्** राष्ट्र में धन का संविभाग करने वाले, प्रजाओं को सत्कर्मों का पुरस्कार देनेवाले और असत्कर्मों का यथायोग्य दण्ड देने वाले **सदसः पतिम्** राष्ट्रसभा के अध्यक्ष राजा से **मेधाम्** विद्याप्रचार और धन की **अयासिषम्** याचना करता हूँ ॥

तृतीय आचार्य के पक्ष में। मैं **अद्भुतम्** ज्ञान-विज्ञान के अद्भुत भण्डार, **इन्द्रस्य** विद्याप्रचारक राजा के **प्रियम्** प्रिय, **काम्यम्** सब विद्यार्थियों द्वारा चाहने योग्य, **सनिम्** त्रिविध विद्याओं और व्रतों के दाता **सदसः पतिम्** विद्यार्थी-कुल के अध्यक्ष आचार्य से **मेधाम्** विद्याबोध की **अयासिषम्** याचना करता हूँ ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥७॥

भावार्थ—जो मनुष्य अद्भुत गुण-कर्म-स्वभाव वाले, अद्भुत ज्ञानविज्ञान की राशि, न्यायकारी, प्रिय परमात्मा, सभाध्यक्ष राजा और आचार्य की शरण में जाते हैं, वे मेधावी, शास्त्रवेत्ता, पुण्यकर्ता और धनवान् होकर सुखी होते हैं ॥७॥

अथ सर्वाः प्रजा अन्तरिक्षमार्गान् पृथिव्यादिलोकभ्रमणविद्यां विमानादिविद्यां च सम्यग् जानन्त्वित्याह।

१७२. ये ते पन्था अधो दिवो येभिर्व्यश्वमैरयः।
उत श्रोषन्तु नो भुवः ॥८॥[1]

ये ते पन्थाः अधः दिवः। येभिः व्यश्वम् वि अश्वम् ऐरयः ॥
उत श्रोषन्तु नः भुवः ॥८॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। हे इन्द्र लोकलोकान्तरव्यवस्थापक परमेश्वर ! **ये ते** तव, त्वद्-

१. अथ० ७।५५।१। ये ते पन्थानोऽव दिवो येभिर्विश्वमैरयः। तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो। इति पाठः। ऋषिः भृगुः, छन्दः विराट् परोष्णिक्।

रचिताः **पन्थाः**[1] मार्गाः **दिवः** द्युलोकात् **अधः** अधस्तात्, अन्तरिक्षे सन्ति, **येभिः** यैः **व्यश्वम्**[2] विगताश्वं पृथिवीचन्द्रमंगलबुधादिकं ग्रहोपग्रहजातम् **ऐरयः** चालयसि। ईर क्षेपे, चुरादिः, लङ्। तान् पथः **नः** अस्माकम् **भुवः उत** भूलोकवासिन्यः प्रजा अपि **श्रोषन्तु** शृण्वन्तु, श्रुत्वा च विदाङ्कुर्वन्तु। श्रुधातोर्लोटि व्यत्ययेन शपि, 'सिब्बहुलं लेटि' अ० ३।१।३४ इति बहुलवचनात् सिबागमः।

अथ **द्वितीयो** राजपरः। हे इन्द्र राजन्! **ये ते** तव, त्वन्निर्धारिताः **पन्थाः** आकाशमार्गाः **दिवः** द्युलोकात् **अधः** अधस्तात्, अन्तरिक्षे भुवि च सन्ति, **येभिः** यैः भूसमुद्राकाशमार्गैः **व्यश्वम्** विगताश्वं भूयानजलयानविमानकृत्रिमोपग्रहादिकम् **ऐरयः** प्रेरयसि, तान् भूमिसमुद्राकाशमार्गान् **नः** अस्माकम् **भुवः उत** भवन्तीति भुवः जन्मधारिण्यः राष्ट्रवासिन्यः प्रजाः अपि **श्रोषन्तु** वैज्ञानिकेभ्यः सकाशात् शृण्वन्तु, श्रुत्वा च भूयानजलयानविमानकृत्रिमोपग्रहादिनिर्माणचालनविद्यां सम्यग् विदन्तु।

अन्तरिक्षमार्गाणां वर्णनमस्मिन्नाथर्वणे मन्त्रे द्रष्टव्यम्—ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति। ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥ अथ० ३।१५।२। समुद्रयानानामन्तरिक्षयानानां चापि वर्णनं वेदे बहुशः प्राप्यते। यथा, "यास्ते पूषन्नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति। ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृत श्रव इच्छमानः॥ ऋ० ६।५८।३ इति। विगताश्वयानवर्णनं वेदेऽन्यत्रापि श्रुतम्। यथा, अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो३रथस्त्रिचक्रः परि वर्तते रजः॥ ऋ० ४।३६।१ इति॥८॥

अत्र श्लेषालङ्कारः॥८॥

भावार्थः—परमेश्वरोऽन्तरिक्षमार्गे सूर्यं भूमण्डल-चन्द्र-मंगल-बुध-गुरु-शुक्र-शन्यादींश्च ग्रहोपग्रहान् यथायथं स्वधुरि स्वकक्षासु वा संचालयति, राष्ट्रस्य कुशलो राजा च भूयानजलयानविमानकृत्रिमोपग्रहादींश्च कुशलैर्वैज्ञानिकैश्चालयति। तद्विषयिणी सर्वापि विद्या राष्ट्रवासिभिरध्येतव्या प्रयोक्तव्या च॥८॥

अगले मन्त्र में यह विषय वर्णित है कि सब प्रजाएँ आकाशमार्गों को, पृथिव्यादिलोकों के भ्रमण की विद्या को और विमानादि की विद्या को भलीभाँति जानें।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे इन्द्र! लोकलोकान्तरों के व्यवस्थापक परमेश्वर! **ये** जो **ते** आपके रचे हुए **पन्थाः** मार्ग **दिवः** द्युलोक के **अधः** नीचे, अन्तरिक्ष में हैं **येभिः** जिनसे **व्यश्वम्** बिना घोड़ों के चलने वाले पृथिवी, चन्द्र, मंगल, बुध आदि ग्रहोपग्रहसमूह को **ऐरयः** आप चलाते हो, उन मार्गों को **नः** हमारी **भुवः** भूलोकवासी प्रजाएँ भी **श्रोषन्तु** सुनें, और सुनकर जानें।

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे इन्द्र राजन्! **ये** जो **ते** आपके निर्धारित **पन्थाः** आकाश-मार्ग **दिवः** द्युलोक से **अधः** नीचे अर्थात् भूमि, समुद्र और अन्तरिक्ष में हैं, **येभिः** जिन **व्यश्वम्** बिना घोड़ों से

---

१. वेदेषु पथिन् शब्दस्य प्रथमाबहुवचने पन्थाः पन्थानः, द्वितीयैकवचने च पन्थाम्, पन्थानम् इति वैकल्पिकानि रूपाणि प्रायशः प्रयुक्तानि।

२. व्यश्वम् वेगिताश्वं शीघ्रमित्यर्थः ऐरयः पूर्वकालमपि आगतवानसि—इति वि०। यैः पथिभिः व्यश्वम् ऋजुकम् ऐरयः प्रापयः दिवम्—इति भ०। सायणस्तु विश्वम् इति पाठं मत्वा 'विश्वं सर्वं जगत् ऐरयः प्राप्तवानसि—इति व्याचष्टे।

चलने वाले भूयान, जलयान और विमानों को **ऐरयः** आप चलवाते हैं, उन भूमि-समुद्र-आकाश के मार्गों के विषय में **नः** हमारी **भुवः उत** जन्मधारी राष्ट्रवासी प्रजाएँ भी **श्रोषन्तु** वैज्ञानिकों के मुख से सुनें, और सुनकर भूयान, जलयान, विमान, कृत्रिम उपग्रह आदि के बनाने और चलाने की विद्या को भली-भाँति जानें ॥८॥

अन्तरिक्ष मार्गों का वर्णन अथर्ववेद के एक मन्त्र में इस प्रकार है—"जो विद्वान् लोगों के यात्रा करने योग्य बहुत से मार्ग द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य में बने हुए हैं, वे मुझे सुलभ हों, जिससे मैं उनसे यात्रा करके विदेशों में दूध-घी बेचकर धन इकट्ठा करके लाऊँ, (अथ० ३।१५।२)। समुद्र और अन्तरिक्ष में चलने वाले यानों का वर्णन भी वेद में बहुत स्थलों पर मिलता है, जैसे "हे ब्रह्मचर्य द्वारा परिपुष्ट युवक ! जो तेरे लिए सोने जैसी उज्ज्वल नौकाएँ अर्थात् नौका जैसी आकृति वाले जलपोत और विमान समुद्र में और अन्तरिक्ष में चलते हैं, उनके द्वारा यात्रा करके तू सूर्यपुत्री उषा के तुल्य ब्रह्मचारिणी कन्या को विवाह द्वारा प्राप्त करने के लिए जाता है (ऋ० ६।५८।३)। बिना घोड़ों के चलने वाले वेगवान् यान का वर्णन वेद में अन्यत्र भी है, यथा—"एक तीन पहियों वाला रथ है, जिसमें न घोड़े जुते हैं, न लगामें हैं, जो बड़ा प्रशंसनीय है और जो आकाश में किसी लोक की परिक्रमा करता है" (ऋ० ४।३६।१)।

भावार्थ—परमेश्वर अन्तरिक्ष-मार्ग में सूर्य को और भूमण्डल-चन्द्रमा-मंगल-बुध-बृहस्पति-शुक्र-शनि आदि ग्रहोपग्रहों को जैसा चाहिए वैसा उनकी धुरी पर या उनकी अपनी-अपनी कक्षाओं में संचालित करता है, और राष्ट्र का कुशल राजा भूयान, जलयान, विमान, कृत्रिम उपग्रह आदिकों को कुशल वैज्ञानिकों के द्वारा चलवाता है। तद्विषयक सारी विद्या राष्ट्रवासियों को पढ़नी-पढ़ानी और प्रयोग करनी चाहिए ॥८॥

अथेन्द्रो भद्रं प्रार्थ्यते।

१७३. **भद्रंभद्रं न आ भरेषमूर्जं शतक्रतो।**
यदिन्द्र मृडयासि नः ॥९॥[1]

भद्रम्भद्रम् भद्रम् भद्रम् नः आ भर। इषम् ऊर्जम् शतक्रतो शत क्रतो ॥
यत् इन्द्र मृडयासि नः ॥९॥

पदार्थः—हे **शतक्रतो** असंख्यशुभकर्मणां कर्तः प्रभो ! त्वम् **भद्रंभद्रम्**[2] अतिशयेन कल्याणकरम् **इषम्**[3] अन्नधनविज्ञानादिकम्। इषम् इति अन्ननाम। निघं० २।७। इषु इच्छायाम्, इषु गतौ धातोः क्विप्। **ऊर्जम्** बलं, प्राणशक्तिम्, रसं च। ऊर्ज बलप्राणनयोः। ऊर्ग् रसः। श० १।५।४।२। **नः** अस्मभ्यम् **आ भर** आहर। अत्र 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' इति वार्तिकेन हस्य भत्वम्। **यत्** यस्मात्, हे **इन्द्र** दयानिधे परमात्मन् ! त्वम् **नः** अस्मान् **मृडयासि** सुखयसि। मृड सुखने तुदादौ पठितो वेदे चुरादिरपि प्रयुज्यते। लडर्थे लेटि आडागमः। 'मृडयतिरुपदयाकर्मा पूजाकर्मा वा' इति निरुक्तम् १०।१५ ॥९॥

१. ऋ० ८।९३।२८, ऋषिः सुकक्षः।

२. भद्रंभद्रम् अतिशयेन शोभनमित्यर्थः—इति वि०। भद्रंभद्रं सर्वं कल्याणं नः अस्मभ्यम् आभर इषं पुष्टिं ऊर्जं रसं च आभर—इति भ०।

३. (इषम्) अन्नं विज्ञानं वा इति ऋ० ७।४८।४ भाष्ये, 'विज्ञानं धनं वा' इति च ऋ० ७।८।७ भाष्ये—द०।

भावार्थः—मनुष्यैर्भद्रं भद्रमेव धनादिकमुपार्ज्य सततं स्वेषां परेषां चोन्नतिर्विधेया ॥९॥

अगले मन्त्र में इन्द्र से भद्र की प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **शतक्रतो** अनन्त शुभ कर्मों को करने वाले प्रभु ! तुम **भद्रंभद्रम्** भद्र-भद्र **इषम्** अन्न, धन, विज्ञान आदि और **ऊर्जम्** बल, प्राण, रस आदि **नः** हमारे लिए **आ भर** लाओ। **यत्** क्योंकि, हे **इन्द्र** दयानिधि परमात्मन् ! आप **नः** हमें **मृडयासि** सदा सुखी ही करते हो ॥९॥

भावार्थ—मनुष्यों को भद्र-भद्र ही धन आदि का उपार्जन करके अपनी और दूसरों की उन्नति करनी चाहिए ॥९॥

अथ के सोमं पिबन्तीत्याह।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २
१७४. अस्ति सोमो अयं सुतः पिबन्त्यस्य मरुतः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
उत स्वराजो अश्विना ॥१०॥[1]
१ २ १ १ २ १ ३ २ ३ २ १ २ १ ३ १ २
अस्ति सोमः अयम् सुतः । पिबन्ति अस्य मरुतः ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २
उत स्वराजः स्व राजः अश्विना ॥१०॥

पदार्थः—इन्द्रदेवताकत्वाद् ऋचः 'हे इन्द्र' इति सम्बोधनीयम्। हे इन्द्र मदीय आत्मन् ! **अयम्** एषः **सोमः** भक्तिरसः, ज्ञानरसः, कर्मरसः, वीरतारसः, सेवारसो वा **सुतः** अभिषुतः **अस्ति** वर्तते। **मरुतः** शरीरे प्राणाः राष्ट्रे च वीरक्षत्रियाः, **उत** अपि च **स्वराजः** स्वतेजसा राजन्ते इति स्वराजः, शरीरे मनो-बुद्धिचित्ताहंकाराः, राष्ट्रे च स्वकीयब्रह्मवर्चसेन देदीप्यमानाः ब्राह्मणाः, **अश्विना** अश्विनौ, शरीरे स्वस्व-विषयव्यापिनौ ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपौ, राष्ट्रे कृषिव्यापारशिल्पव्यापिनौ वैश्यशिल्पकारौ च **अस्य** पूर्वोक्तस्य रसस्य **पिबन्ति** यथायोग्यं पानं कुर्वन्ति ॥१०॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१०॥

भावार्थः—शरीरे मनोबुद्ध्यात्मप्राणेन्द्रियरूपा राष्ट्रे च ब्रह्मक्षत्रियविट्शिल्परूपा देवा यथायोग्यं भक्तिज्ञानकर्मवीरतासेवादिसोमरसानां पानं कृत्वैव जीवनसंग्रामे सफला जायन्ते ॥१०॥

अत्रेन्द्राख्यं परमेश्वरं प्रति सोमाभिषवणात्, तन्महत्त्ववर्णनात्, ततः समृद्धिमेधादिप्रार्थनात्, तदर्चनार्थं प्रेरणात्, तदधीनानाम् इतरेषां दैहिकराष्ट्रियदेवानां चापि सोमपानवर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्व-दशत्यर्थेन सह संगतिरस्तीति विजानीत ॥

इति द्वितीये प्रपाठके द्वितीयार्धे तृतीया दशतिः।
इति द्वितीयाध्याये षष्ठः खण्डः।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि कौन सोम का पान करते हैं।

पदार्थ—हे मेरे आत्मारूप इन्द्र ! **अयम्** यह **सोमः** भक्तिरस, ज्ञानरस, कर्मरस, वीरतारस या सेवा आदि का रस **सुतः** अभिषुत **अस्ति** है। **मरुतः** शरीर में प्राण तथा राष्ट्र **में** वीर क्षत्रिय जन **उत** और **स्वराजः** शरीर में अपने तेज से शोभायमान मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार तथा राष्ट्र में अपने ब्रह्मवर्चस से देदीप्यमान ब्राह्मणजन और **अश्विना** शरीर में अपने-अपने विषय में व्याप्त होने वाले

१. ऋ० ८।९४।४, साम० १७८५

ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय तथा राष्ट्र में कृषि-व्यापार एवं शिल्प में व्याप्त होने वाले वैश्य और शिल्पकार लोग **अस्य** इस पूर्वोक्त सोम रस का **पिबन्ति** यथायोग्य पान करते हैं ॥१०॥

इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है ॥१०॥

भावार्थ—शरीर में मन, बुद्धि, आत्मा, प्राण एवं इन्द्रिय रूप देव तथा राष्ट्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शिल्पी रूप देव यथायोग्य भक्ति, ज्ञान, कर्म, वीरता, सेवा आदि के सोमरसों का पान करके ही जीवन-संग्राम में सफल होते हैं ॥१०॥

इस दशति में इन्द्रनामक परमेश्वर के प्रति सोम अभिषुत करने का, परमेश्वर की महिमा का और उससे समृद्धि, मेधा आदि की याचना का वर्णन होने से और परमेश्वर की अर्चना के लिए प्रेरणा होने से तथा उसके अधीन रहने वाले अन्य शारीरिक एवं राष्ट्रीय देवों के सोमपान का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

द्वितीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की तृतीय दशति समाप्त।
द्वितीय अध्याय में षष्ठ खण्ड समाप्त ॥

॥९॥ अथ 'ईङ्खयन्तीरपस्युव' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ इन्द्रमातरो देवजामयः; २ गोधा; ३ दध्यङ्ङाथर्वणः; ४ प्रस्कण्वः; ५ गोतमः; ६ मधुच्छन्दाः; ७ वामदेवः; ८ वत्सः; ९ शुनःशेपः; १० वातायन उलः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

तत्राद्ये मन्त्रे इन्द्रनाम्ना परमेश्वरस्योपासनां नृपस्य चाभिनन्दनं वर्ण्यते।

१७५. ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते।
वन्वानासः सुवीर्यम् ॥१॥[1]
ईङ्खयन्तीः अपस्युवः। इन्द्रम् जातम् उप आसते ॥
वन्वानासः सुवीर्यम् सु वीर्यम् ॥१॥

पदार्थः—**ईङ्खयन्तीः**[2] हर्षेण उत्प्लवन्त्यः। ईखि गतौ भ्वादिः। ईङ्खते गतिकर्मा। निघं० २।१४। वेदे चुरादिरपि। शतरि स्त्रियां जसि रूपम्। ईङ्खयन्त्यः इति प्राप्ते 'वा छन्दसि'। अ० ६।१।१०६ इति नियमेन पूर्वसवर्णदीर्घः। अत एव **अपस्युवः** अपांसि कर्माणि आत्मनः कामयमानाः प्रजाः। अपस् इति कर्मनाम। निघं० २।१। ततः क्यचि 'क्याच्छन्दसि' अ० ३।२।१७० इति उ प्रत्ययः। **सुवीर्यम्** श्रेष्ठवीर्योपेतमैश्वर्यम्। शोभनं वीर्यं यत्र तादृशमिति बहुव्रीहौ 'वीरवीर्यौ च'। अ० ६।२।१२० इत्युत्तरपदस्याद्युदात्तत्वम्। **वन्वानासः** इच्छन्त्यः याचमानाः वा सत्यः। वनोतिः इच्छतिकर्मा। निघं० २।६। वनु याचने वा। ततः शानच्। जसि 'आज्जसेरसुक्'। अ० ७।१।५० इत्यसुगागमः। **जातम् इन्द्रम्** हृदये प्रादुर्भूतं परमेश्वरम् निर्वाचितम् अभिषिक्तं च राजानं वा **उपासते** उपस्थानेन अभिनन्दन्ति, स्वागतं ब्रुवन्ति, सेवन्ते वा ॥१॥

---

१. ऋ० १०।१५३।१, अथ० २०।९३।४।
२. ईङ्खयन्त्यः गच्छन्त्यः—इति वि०। प्रेरयन्त्यः इन्द्रम् इतस्ततः चालयन्त्यः—इति भ०। गच्छन्त्यः स्तुत्यादिभिः इन्द्रं प्राप्नुवन्त्यः—इति सा०।

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—यथा राष्ट्रस्य प्रजाभिरैश्वर्यप्राप्तये राजा सेव्यते, तथैव भौतिकाध्यात्मिकसम्पत्प्राप्तये परमेश्वर उपासनीयः ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमेश्वर की उपासना और राजा के अभिनन्दन का वर्णन है।

पदार्थ—**ईङ्खयन्तीः** हर्ष से उछलती हुई, **अपस्युवः** कर्म करने की अभिलाषा वाली प्रजाएँ **सुवीर्यम्** श्रेष्ठ वीर्य से युक्त ऐश्वर्य की **वन्वानासः** चाहना या याचना करती हुई **जातम् इन्द्रम्** हृदय में प्रादुर्भूत परमेश्वर की **उपासते** उपासना करती हैं, अथवा **जातम् इन्द्रम्** निर्वाचित तथा अभिषिक्त राजा का **उपासते** अभिनन्दन व सेवन करती हैं ॥१॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है ॥१॥

भावार्थ—राष्ट्र की प्रजाएँ ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए जैसे राजा का सेवन करती हैं, वैसे ही उन्हें भौतिक तथा आध्यात्मिक सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए ॥१॥

अथ प्रजाः स्वाचरणशुद्धिं प्रतिजानते।

१७६. **न किं देवा इनीमसि न क्या योपयामसि।**
मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ॥२॥[1]
न किं देवाः इनीमसि। न किं आ योपयामसि ॥
मन्त्रश्रुत्यम् मन्त्र श्रुत्यम् चरामसि ॥२॥

पदार्थः—ऋच इन्द्रदेवताकत्वाद् इन्द्रः सम्बोधनीयः। हे इन्द्र परमात्मन् राजन् वा ! हे **देवाः** दिव्यज्ञाना दिव्याचरणाश्च विद्वांसः! वयम् **नकिः**[2] नैव **इनीमसि**[3] हिंसाचरणं कुर्मः। ऋग्वेदे 'मिनीमसि' इति पाठादत्र इण् धातुः क्र्यादिर्हिंसार्थः कल्पनीयः। **नकि** नैव च **आ योपयामसि**[4] विमोहनं, छलछद्माचरणं, वैक्लव्यं वा कुर्मः। युप विमोहने दिवादिरत्र णिजन्तः प्रयुक्तः। अपितु **मन्त्रश्रुत्यम्** मन्त्रश्रुत्या प्रोक्तं मन्त्रश्रुत्यं वेदमन्त्रनिर्दिष्टं कर्म **चरामसि** आचरामः आचरिष्यामश्च। चर गतिभक्षणयोः। इनीमसि, योपयामसि, चरामसि इति सर्वत्र 'इदन्तो मसि' अ० ७।१।४६ इति मस इकारागमः ॥२॥[5]

अत्र त्रयाणामपि क्रियापदानामेककारकयोगाद् दीपकालङ्कारः। 'मसि' इत्यस्य त्रिश आवर्तनाद् वृत्त्यनुप्रासश्च ॥२॥

भावार्थः—सर्वैर्जनैर्हिंसोपद्रवचौर्यादिकं छलछद्मवञ्चनादिकं च विहाय वेदानुसारेण पवित्रतया जीवनं यापनीयम् ॥२॥

---

१. ऋ० १०।१३४।७, नकिर्देवा मिनीमसि नकिरायोपयामसि। पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि संरभामहे ॥ इति पाठः।

२. नकिं नकिः नकि इति त्रीणि नार्थे वर्तन्ते—इति भ०।

३. इनीमसि। मिनातेर्हिंसार्थस्य मकारलोपः—इति वि०। इनार्तिर्मिनातिना समानार्था हिंसाकर्मा—इति भ०।

४. नकि आयोपयामसि न मिश्रयामः सुष्टुतीर्दुष्टुतीश्च न मिश्रयामः—इति भ०। नकि न च योपयामः अननुष्ठानेन अन्यथानुष्ठानेन वा मोहयामः—इति सा०।

५. हे देवाः न इनीमसि प्राणिबन्धनकर्म पश्वादियागं न कुर्मः, नकि आ योपयामसि यूपनिखननम् अपि न कुर्मः, वृक्षौषध्यादि हिंसामपि न कुर्मः। प्राणिवधं न कुर्मः। किं तर्हि ? मन्त्रश्रुत्यं मन्त्रश्रवणीयं जपाख्यं चरामसि जपं कुर्वन्तश्चरामः। जपमेव कुर्म इत्यर्थः—इति विवरणकृदाशयः।

अगले मन्त्र में प्रजाएँ अपने आचरण की शुद्धि के विषय में प्रतिज्ञा कर रही हैं।

पदार्थ—हे इन्द्र परमात्मन् अथवा हे इन्द्र राजन् ! **देवाः** हे दिव्य ज्ञान और दिव्य आचरण वाले विद्वज्जनो ! हम **नकि** न तो **इनीमसि** हिंसा करते हैं **नकि** और न ही **आ योपयामसि** छल-छद्म करते हैं, अपितु **मन्त्रश्रुत्यम्** वेदमन्त्रों में निर्दिष्ट कर्त्तव्य का ही **चरामसि** पालन करते हैं और करते रहेंगे ॥२॥

इस मन्त्र में तीनों क्रियापदों का एक कारक से सम्बन्ध होने के कारण दीपकालंकार है। 'मसि' की तीन बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ॥२॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को हिंसा, उपद्रव, चोरी आदि और छल-कपट-ठगी आदि छोड़कर वेदों के अनुसार पवित्र जीवन बिताना चाहिए ॥२॥

अथ मनुष्यः परमात्मानं राजानं च स्तोतुं प्रेर्यते।

१७७. दोषो आगाद् बृहद्गाय द्युमद्गामन्नाथर्वण।
स्तुहि देवं सवितारम् ॥३॥[1]
दोषा उ आ अगात्। बृहत् गाय द्युमद्गामन् द्युमत् गामन् आथर्वण ॥
स्तुहि देवम् सवितारम् ॥३॥

पदार्थः—हे **द्युमद्गामन्**[2] द्युमान् दीप्तिमान् विद्यादिसद्गुणप्रकाशयुक्तः[3] गामा गमनम् आचरणं यस्य तथाविध ! द्युमान् द्योतनवान्। निरु० ६।१९। गामा इत्यत्र गाङ् गतौ धातोः 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' उ० ४।१४६ इति मनिन्। **आथर्वण** अचञ्चलवृत्ते अतिशयस्थितप्रज्ञ विद्वन् ! अथर्वाणोऽथर्वणवन्तः। थर्वतिश्चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः। निरु० ११।१९। अथर्वणोऽपत्यम् आथर्वणः। अपत्यार्थे अण् प्रत्ययः[4]। पश्य, **दोषा**[5] **उ** रात्रिः, अज्ञानमोहदुर्व्यसनदुराचारादीनां तमिस्रा। दोषा इति रात्रिनाम। निघं० २।७। **आ अगात्** आगताऽस्ति। अतस्त्वम् **बृहत्**[6] प्रचुरम् **गाय** गानं कुरु, सदुपदेशसच्छिक्षादिद्वारेण धर्मवाणीं

---

१. अथ० ६।१।१ दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद् धेहि। आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ॥ इति पाठः। ऋषिः अथर्वा। देवता सविता।

२. कीदृशं स्तुतिरूपम् ? द्युमत् स्वरसौष्ठवयुक्तमित्यर्थः। गामन्। गामान् गाता उच्चारयिता स्तोता। तस्य संबोधनं हे गामन् स्तोतरित्यर्थः—इति वि०। द्युमत् दीप्तिमत् स्तोत्रम्। हे गामन्। गायतीति गामान् स्तोता। हे स्तोतः—इति भ०। तदुभयमपि पदकारविरुद्धम्, तन्मते 'द्युमद्गामन्' इत्यस्य समस्तपदत्वात्।

३. द्युमान् विद्यादिसद्गुणप्रकाशयुक्तः इति ऋ० १।६२।१२ भाष्ये—द०।

४. अपत्यप्रत्यया अपत्यवाचिनः शब्दाश्च येन संयुज्यन्ते तस्याधिक्यं द्योतयन्तीति वैदिकी शैली। यथा अग्निर्वेदे 'सहसः सूनुः' उक्तः 'अतिशयबलवान्' इत्यर्थं व्यनक्ति। लोकभाषायामपि 'बल का पुतला' इत्युक्तौ 'पुतला' शब्दः 'पुत्र' शब्दस्यैवापभ्रंशः।

५. दोषः दूषयति नाशयति तमांसीति वा, दुनोति उपतपति रक्षांसि इति वा दोषः सविता—इति भ०। दोषः ऋत्विग्यजमानापराधेन यः कश्चिद् दोषः आगात् आगच्छति, तत्परिहारार्थं सवितारं प्रेरकम् एतन्नामकं देवं स्तुहि। यद्वा दोषः दूषयति नाशयति तमांसीति, दुनोति उपतपति रक्षांसीति वा दोषः स सविता आगात्'—इति सा०। तदुभयमपि पदकारविरुद्धम्। तत्र 'दोषा उ' इति पदच्छेदात्।

६. सायणस्तु 'बृहद्गाय' इति समस्तं पदं मन्यते, बृहदाख्यस्य साम्नो गातः इति। तदपि पदकारविरुद्धं स्वरविरुद्धं च।

प्रसारय । **देवम्** प्रकाशमयं प्रकाशकं च **सवितारम्** सद्विद्यादिप्रेरकम् इन्द्रं परमात्मानं राजानं वा **स्तुहि** अर्च, उद्बोधय वा । अत्र इन्द्रदेवताकत्वाद् ऋचः सविता 'इन्द्र' एव ज्ञेयः ॥३॥

भावार्थः—यथा गगने प्रकटितः सूर्यः स्वरश्मिभिर्निविडान्धकारपूर्णां निशां निवार्य सर्वत्र प्रकाशं विकिरति, तथैव जनानां हृदयेषु प्रकटितः परमात्मा, राष्ट्रे राजपदेऽभिषिक्तो वीरो मनुष्यश्च सर्वतो व्याप्तामधर्माज्ञानदुश्चारित्र्यकदाचारादेः कृष्णां तमिस्रां विदार्य धर्मविद्यासच्चारित्र्यादेरुज्ज्वलं प्रकाशं प्रसारयति । अतो विद्वद्भिः स परमेश्वरो राजा च गुणवर्णनेन मुहुर्मुहुः स्तोतव्यः ॥३॥

अगले मन्त्र में मनुष्य को परमात्मा और राजा की स्तुति के लिए प्रेरणा की गयी है ।

पदार्थ—हे **द्युमद्गामन्** विद्यादिसद्गुणों से प्रकाशित आचरण वाले **आथर्वण** अचंचल वृत्ति वाले अतिशय स्थितप्रज्ञ विद्वन् ! देख, **दोषा उ** अज्ञान, मोह, दुर्व्यसन, दुराचार आदि की अँधियारी रात **आ अगात्** आ गयी है, इसलिए तू **बृहत्** बहुत अधिक **गाय** गान कर अर्थात् सदुपदेश, शुभ शिक्षा आदि के द्वारा धर्मवाणी को फैला, **देवम्** प्रकाशमय और प्रकाशक **सवितारम्** सद्विद्या आदि के प्रेरक इन्द्र प्रभु की **अर्च** अर्चना कर, अथवा **सवितारम्** सद्विद्या आदि के प्रेरक इन्द्र राजा को **अर्च** उद्बोधन दे ॥ इस ऋचा का देवता इन्द्र होने से 'सविता' यहाँ इन्द्र का ही विशेषण जानना चाहिए ॥३॥

भावार्थ—जैसे गगन में उदित हुआ सूर्य अपनी किरणों से घनघोर अन्धकार वाली रात्रि को हटाकर सर्वत्र प्रकाश फैला देता है, वैसे ही मनुष्यों के हृदयों में प्रकट हुआ परमात्मा और राष्ट्र में राजा के पद पर अभिषिक्त हुआ वीर मनुष्य सर्वत्र व्याप्त अधर्म, अज्ञान, दुश्चरित्रता, दुराचार आदि की काली रात को विदीर्ण कर धर्म, विद्या, सच्चरित्रता आदि के उज्ज्वल प्रकाश को चारों ओर फैला देता है । अतः विद्वानों को चाहिए कि वे उस परमात्मा और राजा की उनके गुणों के वर्णन द्वारा पुनः पुनः स्तुति करें ॥३॥

अथ निशाया अपगमे उद्भासिताम् उषसं वर्णयति ।

३ २ ३ १ २ २ ३ ४ २ ३ २ ३ २
१७८. एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः ।
३ १ २ ३ २
स्तुषे वामश्विना बृहत् ॥४॥[1]
३ २ ३ ३ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
एषा उ उषाः अपूर्व्या अ पूर्व्या । वि उच्छति प्रिया दिवः ॥
३ २ ३ २
स्तुषे वाम् अश्विना बृहत् ॥४॥

पदार्थः—**एषा उ** इयं किल **अपूर्व्या**[2] न पूर्वं कदाचिदनुभूता, अनुपमा । पूर्वस्मिन् काले भवा पूर्व्या, न पूर्व्या अपूर्व्या, भवार्थे यत् । **प्रिया** प्रीतिकरी **उषाः** उषर्वत् प्रकाशमयी धर्मविद्यादिद्युतिः **दिवः** द्योतनात्मकात् इन्द्रात् परमेश्वराद् आचार्याद् नृपतेर्वा, तेषां सकाशादित्यर्थः **वि उच्छति** अधर्माज्ञानादिरूपं तमो विदार्य प्रस्फुरति । **अश्विना** हे अश्विनौ, द्यावापृथिवीवद् उषसः प्रकाशेन व्याप्तौ स्त्रीपुरुषौ ! अहम् **वाम्** युवाम् **बृहत्** प्रभूतम् **स्तुषे** स्तौमि, अभिनन्दामि । ष्टुञ् स्तुतौ धातोर्लेटि उत्तमैकवचने रूपम् । 'सिब्बहुलं लेटि' । अ० ३।१।३४ इति सिबागमः ॥४॥[3]

१. ऋ० १।४६।१, देवते अश्विनौ । साम० १७२८ ।
२. अपूर्वा एव अपूर्व्या, स्वार्थिकस्तद्धितः । प्रथमेत्यर्थः—इति वि० । पूर्वकालभवाः यस्मान्न सन्तीति सर्वासां हि देवतानां प्रथमा उषाः । 'एते वा देवाः प्रातर्यावाणो यदग्निरुषा अश्विनौ' (ऐ० ब्रा० २।१५) इति ऐतरेयकम्—इति भ० । अपूर्व्या पूर्वेषु मध्यरात्रादिकालेषु विद्यमाना न भवति, किन्त्विदानीन्तना—इति सा० ।
३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं विदुषीणां पक्षे व्याख्यातः ।

भावार्थः—पूर्वस्मिन् मन्त्रे निशाया अपसारणं प्रार्थितम्। सौभाग्येन तां हृदयव्यापिनीं राष्ट्रव्यापिनीं विश्वव्यापिनीम् अधर्मरूपामविद्यारूपां वा निशां निरस्य दिव्यप्रकाशमयी धर्मरूपा विद्यारूपा वा उषाः प्रादुर्भूतास्ति। यथा प्राकृतिक्या उषसः प्रादुर्भावेन द्यावापृथिव्यौ प्रकाशपरिपूर्णे भवतस्तथैवास्या धर्मविद्यासच्चारित्र्याध्यात्मिकत्वादिज्योतिर्भरिताया दिव्याया उषसः प्रकाशेन स्त्रीपुरुषरूपे द्यावापृथिव्यौ दिव्यदीप्त्या देदीप्यमाने संजाते स्तः ॥४॥

अगले मन्त्र में रात्रि के हट जाने पर छिटकी हुई उषा का वर्णन किया गया है।

पदार्थः—**एषा उ** यह **अपूर्व्या** अपूर्व, **प्रिया** प्रिय **उषाः** उषा के समान प्रकाशमयी धर्म, विद्या आदि की ज्योति **दिवः** द्युतिमान् इन्द्र अर्थात् परमेश्वर, आचार्य या राजा के पास से उत्पन्न होकर **व्युच्छति** अधर्म, अज्ञान आदि रूप अन्धकार को विदीर्ण कर छिटक रही है। **अश्विना** हे प्राकृतिक उषा से प्रकाशित द्यावापृथिवी के समान धर्म, ज्ञान आदि से प्रकाशित स्त्री-पुरुषो ! मैं **वाम्** तुम्हारी **बृहत्** बहुत अधिक **स्तुषे** स्तुति करता हूँ ॥४॥

भावार्थ—पहले मन्त्र में रात्रि को दूर करने की प्रार्थना की गयी थी। सौभाग्य से उस हृदयव्यापिनी, राष्ट्रव्यापिनी और विश्वव्यापिनी अधर्मरूपिणी या अविद्यारूपिणी रात्रि को हटाकर दिव्य प्रकाशमयी धर्मरूपिणी या विद्यारूपिणी उषा प्रकट हो गयी है। जैसे प्राकृतिक उषा के प्रादुर्भाव से द्यावापृथिवी प्रकाश से भर जाते हैं, वैसे ही इस धर्म, विद्या, सच्चरित्रता, आध्यात्मिकता आदि की ज्योति से परिपूर्ण दिव्य उषा के प्रकाश से स्त्री-पुरुष-रूप द्यावापृथिवी दिव्य दीप्ति से देदीप्यमान हो उठे हैं ॥४॥

निशायां ये निशाचराः प्रादुर्भवन्ति ते कथं हन्यन्ते इत्याह।

१७९. इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।
जघान नवतीर्नव ॥५॥[1]

इन्द्रः दधीचः अस्थभिः। वृत्राणि अप्रतिष्कुतः अ प्रतिष्कुतः॥
जघान नवतीः नव ॥५॥

पदार्थः—**अप्रतिष्कुतः**[2] आन्तरिके देवासुरसंग्रामे असुरैः अप्रतिकृतः अप्रतिस्खलितो वा। 'अप्रतिष्कुतः अप्रतिकृतः अप्रतिस्खलितो वेति निरुक्तम्। ६।१६। **इन्द्रः** बलवान् जीवात्मा परमात्मा वा **दधीचः** ध्यानतत्परस्य मनसः। दध्यङ् प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा। निरु० १२।३३। **अस्थभिः** अस्थिवत् सुदृढाभिः सात्त्विकवृत्तिभिः। अस्थिभिः इति प्राप्ते 'छन्दस्यपि दृश्यते'। अ० ७।१।७६ इति इकारस्य अनङादेशः। **नवतीः नव**[3] नवोत्तरां नवतिं एकोनशतमित्यर्थः। **वृत्राणि** आवर-

१. ऋ० १।८४।१३, अथ० २०।४१।१, साम० ९१३।

२. अप्रतिस्खलितः—इति वि०। ष्कुञ् आप्रवणे। अप्रत्यागतः केनापि—इति भ०। परैरप्रतिशब्दितः प्रतिकूलशब्दरहितः—इति सा०।

३. नवतीर्नव नवसंख्याका नवतीः दशोत्तराणि अष्टौ शतानि (९० × ९) इति विवरणकृतो भरतस्वामिनः सायणस्य चाशयः। तानि च सायणेनेत्थं परिगणितानि—लोकत्रय वर्तिनो देवान् जेतुम् आदावासुरी माया त्रिधा सम्पद्यते। त्रिविधा सा अतीतानागतवर्तमानकालभेदेन तत्कालवर्तिनो जेतुं पुनरपि प्रत्येकं त्रिगुणिता भवति, एवं नव सम्पद्यन्ते। पुनरपि उत्साहादिशक्तित्रयरूपेण त्रैगुण्ये सति सप्तविंशतिः सम्पद्यन्ते। पुनः सात्त्विकादिगुणत्रयभेदेन त्रैगुण्ये सति एकोत्तरा अशीतिः सम्पद्यते। एवं चतुर्भिस्त्रिकैर्गुणिताया मायाया दशसु दिक्षु प्रत्येकमवस्थाने सति नव नवतयः सम्पद्यन्ते इति।

कान् निशाचरान् **जघान** हतवान् हन्ति वा। नवनवतिर्निशाचरास्तावत्—दशेन्द्रियाणि, दश प्राणाः, अष्टौ चक्राणि, अन्तःकरणचतुष्टयम् शरीरं चेति त्रयस्त्रिंशत्साधनैः कृतानि, क्रियमाणानि करिष्यमाणानि च भूतवर्त्तमानभविष्यत्कालिकानि पापानि, तानि इन्द्रो जीवात्मा परमात्मा च सावधानस्य मनसः सात्त्विकवृत्तिभिर्हन्ति ॥५॥

भावार्थः—पूर्वतनयोर्द्वयोर्मन्त्रयोर्निशायास्तन्निराकरणार्थम् उषसः प्रादुर्भावस्य च क्रमेण वर्णनं कृतम्। अस्मिन् मन्त्रे निशासु जायमानानां पापरूपाणां निशाचराणां ध्वंसो वर्ण्यते—इन्द्रो दधीचोऽस्थिभिस्तान् हन्तीति। अयमिन्द्रो नाम मनुष्यदेहे विद्यमानो जीवात्मा हृदये स्थितः परमात्मा च। दध्यङ् च मनः। तस्य मनसः सात्त्विकवृत्तिरूपैरस्थिभिस्ते निशाचराः हन्यन्ते ॥५॥

एतन्मन्त्रस्य व्याख्याने विवरणकृता माधवेनेत्थमितिहासः प्रादर्शि—"अत्रेतिहासमाचक्षते। कालकञ्जा नाम असुराः। तैरसुरैर्बाध्यमाना देवा ब्रह्माणमुपगम्योक्तवन्तः। भगवन् कालकञ्जैरसुरैर्बाध्यामहे। तेषां मारणोपायं विधत्स्वेति। तच्छ्रुत्वा स तानुवाच दधीचिर्नाम ऋषिः। तमुपगम्य ब्रूत। स मारणोपायं विधास्यतीति। ते तच्छ्रुत्वा तथेत्यङ्गीकृत्य तं दधीचिमुपगम्य उक्तवन्तः–भगवन्नस्मदीयान्यस्त्राणि शुक्रस्तेषाम् असुराणाम् पुरोधा अपहरति, तानि रक्षस्व। ततः स ऋषिस्तानुवाच—मम मुखे प्रक्षिपध्वम्। तत इन्द्र दिभिर्देवैः समरुद्गणैस्तस्य मुखे प्रक्षिप्तानि। पुनः कालेन देवासुरसंग्रामे पर्युपस्थिते एत्य देवा ऊचुः—भगवन् तान्यस्त्राणि प्रयच्छस्वास्माकम्। ततस्तेनोक्तम्—तानि मे जीर्णानि। न तानि पुनः प्राप्तुं शक्यानि। ततः प्रजापतिमुखा देवा ऊचुः—भगवन्! प्राणत्यागं कुरुष्वेति। तच्छ्रुत्वा पुनः कृतश्च तेन प्राणत्यागः। तस्य दधीचः स्वभूतैरस्थिभिरिन्द्रो वृत्राणि जघान इति।

सायणस्तु ब्रूते—अत्र शाट्यायनिन इतिहासमाचक्षते। आथर्वणस्य दधीचो जीवतो दर्शनेन असुरा पराबभूवुः। अथ तस्मिन् स्वर्गते असुरैः पूर्णा पृथिव्यभवत्। अथेन्द्रस्तैरसुरैः सह योद्धुमशक्नुवंस्तमृषिमन्विच्छन् स्वर्गं गत इति शुश्राव। अथ पप्रच्छ तत्रत्यान्इह किमस्य किञ्चित् परिशिष्टमङ्गमस्ति? इति। तस्मा अवोचन्—अस्त्येतद् आश्वं शीर्ष, येन शिरसा अश्विभ्यां मधुविद्यां प्राब्रवीत्, तत्तु न विद्मः तद्यत्राभवदिति। पुनरिन्द्रोऽब्रवीत्—तदन्विच्छतेति। तद् वा अन्वेषिषुः। तच्छर्यणावत्यनुविद्य आजह्रुः। शर्यणावद्ध वै नाम कुरुक्षेत्रस्य जघनार्द्धे सरः स्यन्दते। तस्य शिरसोऽस्थिभिरिन्द्रोऽसुरान् जघानेति।

केषाञ्चिन्नूतनानां पात्राणां कल्पनापुरस्सरं पुराण-महाभारतादिष्वपि किञ्चिद्भेदेनैवंविधाः कथा वर्णिताः सन्ति। सर्वा एताः कथा इमं मन्त्रमुपजीव्यैव रचिताः। तास्तु न वास्तविक्यः, प्रत्युतालङ्कारिक्य एव विज्ञेयाः। आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकेषु क्षेत्रेषु सर्वत्रैव देवासुरसङ्ग्रामः प्रवर्तते। मनुष्यस्य मनसि दिव्यप्रवृत्तीनामासुरप्रवृत्तीनां च संग्राम इत्याध्यात्मम्, यथास्मत्कृते मन्त्रव्याख्याने स्पष्टम्। इन्द्रः परमेश्वरः दधीचः सूर्यस्य अस्थिभिः अस्थिसदृशैः किरणैः मेघान् रोगादींश्च हन्तीत्यधिदैवम्। इन्द्रो राजा दधीचः सेनापतेः अस्थिभिः अस्थिवत् सुदृढैः शस्त्रास्त्रैः शत्रून् हन्तीत्यधिभूतम्। एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्तीति बोध्यम्। वेदे दध्यङ्नाम्नः कस्यचिदैतिहासिकस्य मुनिविशेषस्य गाथा तु न संभवति, वेदस्य सर्वेभ्योऽपि मुनिभ्यः पूर्वमेव विद्यमानत्वात्, पूर्ववर्तिनि च वेदे परिवर्तिनामितिहासस्यासंभवाच्च।

दयानन्दर्षिणा ऋ० १।८४।१३ भाष्येऽस्य मन्त्रस्य व्याख्याने सूर्यदृष्टान्तेन सेनापतिकृत्यं वर्णितम्। एष च मन्त्रस्य तत्कृतो भावार्थः--"अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। मनुष्यैः स एव सेनापतिः कार्यो यः सूर्यवच्छत्रूणां हन्ता स्वसेनारक्षकोऽस्तीति वेद्यम्" इति ॥

अगले मन्त्र में यह बताया गया है कि रात्रि में जो निशाचर प्रकट हो जाते हैं, उनका वध कैसे होता है।

पदार्थ—अप्रतिष्कुतः आन्तरिक देवासुरसंग्राम में असुरों से प्रतिकार न किया गया अथवा असुरों के मुकाबले में पराजित न होता हुआ **इन्द्रः** बलवान् जीवात्मा व परमात्मा **दधीचः** ध्यान में संलग्न मन को **अस्थभिः** अस्थि-तुल्य सुदृढ़ सात्त्विक वृत्तियों से **नवतीःनव** निन्यानवे **वृत्राणि** घेरने वाले निशाचरों को **जघान** नष्ट कर देता है। निन्यानवे निशाचर हैं—दस इन्द्रियाँ, दस प्राण, आठ चक्र, अन्तःकरण-चतुष्टय और शरीर इन तैंतीस साधनों से भूतकाल में किये गये, वर्तमान में किये जा रहे तथा भविष्य में किये जाने वाले पाप। उन सबको जीवात्मा और परमात्मा सावधान मन की सात्त्विक वृत्तियों से नष्ट कर देते हैं ॥५॥

भावार्थ—पूर्व के दो मन्त्रों में रात्रि का और उसके निवारणार्थ उषा के प्रादुर्भाव का क्रमशः वर्णन किया गया था। इस मन्त्र में रात्रियों में उत्पन्न होने वाले निशाचरों के विनाश का वर्णन है कि इन्द्र दध्यङ् की हड्डियों से उन्हें मार देता है। यह इन्द्र मनुष्य के शरीर में विद्यमान जीवात्मा और हृदय में स्थित परमात्मा है। दध्यङ् मन है। उस मन की सात्त्विक वृत्ति रूप हड्डियों से उन निशाचरों का वध हो जाता है ॥५॥

इस मन्त्र की व्याख्या में विवरणकार माधव ने इस प्रकार इतिहास प्रदर्शित किया है—"कालकंज नामक असुर थे। उन असुरों से सताये जाते हुए देव ब्रह्मा के समीप पहुँचकर बोले—भगवन्, कालकंज असुर हमें सता रहे हैं, उनके मारने का उपाय कीजिए। यह सुनकर उसने देवों को कहा—दधीचि नाम का ऋषि है, उसके पास जाकर उसे कहो, वह मारने का उपाय कर देगा। यह सुनकर वे वैसा ही करना स्वीकार करके उस दधीचि के समीप पहुँचकर बोले—भगवन्, हमारे अस्त्रों को असुरों का पुरोहित शुक्र चुरा लेता है, उससे उनकी रक्षा कीजिए। उस ऋषि ने उनसे कहा कि इन अस्त्रों को मेरे मुख में डाल दो। तब मरुद्गणों सहित इन्द्र आदि देवों ने अस्त्र उसके मुख में डाल दिये। फिर समय आने पर जब देवासुरसंग्राम उपस्थित हुआ तब ऋषि के पास पहुँच देव बोले—भगवन्, अब वे अस्त्र हमें दे दीजिए। तब ऋषि ने कहा—वे तो पच गये। अब वे पुनः नहीं मिल सकते। तब प्रजापति आदि देव बोले—भगवन्, प्राणत्याग कर दीजिए। यह सुनकर उसने प्राणत्याग कर दिया। तब दधीचि की अस्थियों से इन्द्र ने वृत्रों का वध किया।

सायण ने शाट्यायनियों का उल्लेख करते हुए उनके नाम से यह इतिहास लिखा है—अथर्वा के पुत्र दधीचि जब जीवित थे तब उनके देखने से ही असुर पराजित हो जाते थे। फिर जब वे स्वर्गवासी हो गये तब भूमि असुरों से भर गयी। तब इन्द्र ने उन असुरों से युद्ध करने में स्वयं को असमर्थ पाकर जब उस ऋषि की खोज की तब उसने सुना कि वे तो स्वर्ग चले गये। तब वहाँ के लोगों से पूछा कि क्या उन ऋषि का कोई अंग बचा हुआ है? उन लोगों ने उसे बतलाया कि उसका घोड़े वाला सिर अवशिष्ट है, जिस सिर से उसने अश्वि देवों को मधुविद्या का प्रवचन किया था, पर हम यह नहीं जानते कि वह कहाँ है। तब इन्द्र ने उनसे कहा कि उसे खोजो। उन्होंने उसे खोजा और शर्यणावत् सरोवर में, जो कुरुक्षेत्र के जघनार्ध में प्रवाहित होता है, उसे पाकर ले आये। उसके सिर की अस्थियों से इन्द्र ने असुरों का वध किया।

कुछ नवीन पात्रों को कल्पित कर पुराण, महाभारत आदियों में भी कुछ-कुछ भेद से इस प्रकार की कथाएँ वर्णित हैं। ये सब कथाएँ इसी मन्त्र को आधार बनाकर रची गयी हैं। वे वास्तविक नहीं,

अपितु आलंकारिक ही जाननी चाहिएँ। आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक क्षेत्रों में सर्वत्र ही देवासुरसंग्राम चल रहा है। मनुष्य के मन में दिव्य प्रवृत्तियों और आसुरी प्रवृत्तियों का संग्राम आध्यात्मिक क्षेत्र का संग्राम है, जैसा हमारे द्वारा कृत इस मन्त्र की व्याख्या में स्पष्ट है। इन्द्र परमेश्वर दध्यङ् सूर्य की अस्थियों से अर्थात् अस्थिसदृश किरणों से मेघों का और रोग आदियों का वध करता है, यह अधिदैवत व्याख्या है। इन्द्र राजा दध्यङ् सेनापति की अस्थियों अर्थात् अस्थियों के समान सुदृढ़ शस्त्रास्त्रों से शत्रुओं का संहार करता है, यह अधिभूत व्याख्या है। वेदों में दध्यङ् नाम के किसी ऐतिहासिक मुनिविशेष की गाथा का होना तो संभव ही नहीं है, क्योंकि वेद सभी ऐतिहासिक मुनियों से पूर्व ही विद्यमान थे और पूर्ववर्ती वेद में परवर्तियों का इतिहास कैसे हो सकता है ?

ऋषि दयानन्द ने ऋग्भाष्य (ऋ० १।८४।१३) में इस मन्त्र की व्याख्या में सूर्य के दृष्टान्त से सेनापति का कृत्य वर्णित किया है। वहाँ उन द्वारा प्रदर्शित भावार्थ यह है—"यहाँ वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। मनुष्यों को उसे ही सेनापति बनाना चाहिए जो सूर्य के समान दुष्ट शत्रुओं का हन्ता और अपनी सेना का रक्षक हो।"

अथेन्द्रनाम्ना परमेश्वरो विद्वांश्चाहूयते।

१८०. इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः।
महाँ अभिष्टिरोजसा ॥६॥[1]

इन्द्र आ इहि मत्सि अन्धसः। विश्वेभिः सोमपर्वभिः सोम पर्वभिः॥
महान् अभिष्टिः ओजसा ॥६॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। हे **इन्द्र** दुर्गुणविदारक सद्गुणप्रदायक परमेश्वर ! त्वम् **आ इहि** अस्माकं जीवनयज्ञम् आगच्छ, **अन्धसः** अस्मत्पुरुषार्थरूपाद् अन्नात्। अन्धः इति अन्ननाम। निघं० २।७। **विश्वेभिः** समस्तैः **सोमपर्वभिः** भक्तिसमारोहैश्च **मत्सि** हृष्टो भव। मदी हर्षे दिवादिः, लोटि 'बहुलं छन्दसि'। अ० २।४।७३ इति श्यनो लुक्। मद्धि इति प्राप्ते, 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' इति सेर्हिरादेशो न भवति। त्वम् **महान्** महिमवान्, किञ्च **ओजसा** बलेन **अभिष्टिः**[2] अस्माकं कामादिरिपून् प्रति आक्रान्ता, वर्तसे इति शेषः। अभि पूर्वात् इष गतौ धातोः 'मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः।' अ० ३।३।९६ इति भावे विहितः क्तिन् अत्र बाहुलकात् कर्तरि ज्ञेयः। 'अभीष्टिः' इति प्राप्ते 'एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वाच्यम्'। अ० ६।१।९४ वा० इति पररूपम्।

अथ **द्वितीयो** विद्वत्परः। हे **इन्द्र** विद्यैश्वर्ययुक्त विद्वन् ! त्वम् **आ इहि** आगच्छ, **अन्धसः** सात्त्विकाद् अन्नात्, **विश्वेभिः** समस्तैः **सोमपर्वभिः** बलवृद्धिकरीणां सोमाद्योषधीनां खण्डैश्च **मत्सि** तृप्यस्व। त्वम् **महान्** महागुणोपेतः, किञ्च **ओजसा** विद्याबलेन **अभिष्टिः** अभीष्टानां प्रापयिता यद्वा समाजस्य अविद्यादुराचारादिदुर्गुणान् प्रति आक्रान्ता भव इति शेषः ॥६॥[3]

---

१. ऋ० १।९।१, य० ३३।२५, अथ० २०।७१।७।

२. अभिष्टिः आभिमुख्येन यष्टव्यः अभ्येषणशीलो वा शत्रूणाम्—इति वि०। अभिष्टोता अभिगन्ता शत्रूणाम्। अभिपूर्वाद् इषेः गतिकर्मणोऽभिष्टिः—इति भ०। अभीष्टिः शत्रूणामभिभविता—इति सा०। 'अभितः सर्वतो ज्ञाता ज्ञापयिता मूर्तद्रव्यप्रकाशको वा' इति ऋ० १।९।१ भाष्ये, 'अभियष्टव्यः सर्वतः पूज्यः' इति च य० ३३।२५ भाष्ये द०।

३. मन्त्रोऽयं दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्ये परमेश्वरपक्षे सूर्यपक्षे च, यजुर्भाष्ये च विद्वत्पक्षे व्याख्यातः।

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥६॥

भावार्थः—यथा पुरुषार्थेन भक्त्या च प्रसादितः परमेश्वरो मनुष्याणां कामक्रोधहिंसोपद्रवादीन् सर्वान् रिपून् क्षणेनैव विद्रावयति, तथा विद्वान् जनः सात्त्विकपुष्टिप्रदान्नौषध्यादिभिः परिपुष्टः सन् राष्ट्रादविद्यादीन् दुर्गुणान् सद्य एव विद्रावयेत् ॥६॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर और विद्वान् का आह्वान किया गया है।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे **इन्द्र** दुर्गुणों को विदीर्ण तथा सद्गुणों को प्रदान करने वाले परमेश्वर ! आप **आ इहि** हमारे जीवन-यज्ञ में आइए, **अन्धसः** हमारे पुरुषार्थरूप अन्न से तथा **विश्वेभिः** सब **सोमपर्वभिः** भक्ति-समारोहों से **मत्सि** प्रसन्न होइए। आप **महान्** महान् और **ओजसा** बल से **अभिष्टिः** हमारे कामादि रिपुओं के प्रति आक्रमण करने वाले हो।

द्वितीय विद्वान् के पक्ष में। हे **इन्द्र** विद्यारूप ऐश्वर्य से युक्त विद्वन् ! आप **आ इहि** आइए, **अन्धसः** सात्त्विक अन्न से, तथा **विश्वेभिः** सब **सोमपर्वभिः** बल बढ़ाने वाली सोम आदि ओषधियों के खण्डों से **मत्सि** तृप्त होइए। आप **महान्** गुणों में महान्, तथा **ओजसा** विद्याबल से **अभिष्टिः** अभीष्ट प्राप्त करानेवाले और समाज के अविद्या, दुराचार आदि दुर्गुणों पर आक्रमण करने वाले, बनिए ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥६॥

भावार्थ—जैसे पुरुषार्थ और भक्ति से प्रसन्न किया गया परमेश्वर मनुष्यों के काम, क्रोध, हिंसा, उपद्रव आदि सब शत्रुओं को क्षण भर में ही विनष्ट कर देता है, वैसे ही विद्वान् मनुष्य को चाहिए कि वह सात्त्विक एवं पुष्टिप्रद अन्न, ओषधि आदि से परिपुष्ट होकर राष्ट्र से अविद्या आदि दुर्गुणों का शीघ्र ही विनाश करे ॥६॥

अथ परमात्मा, राजा विद्वानाचार्यश्चाहूयते।

१८१. **आ तू न इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्धमा गहि।**
महान्महीभिरूतिभिः ॥७॥[1]
आ तु नः इन्द्र वृत्रहन् वृत्र हन्। अस्माकम् अर्धम् आ गहि ॥
महान् महीभिः ऊतिभिः ॥७॥

पदार्थः—हे **वृत्रहन्** अविद्याविघ्नदुःखपापादीनां हन्तः **इन्द्र** परमात्मन्, राजन्, आचार्य वा। त्वम् **तु** क्षिप्रम्। संहितायाम् 'ऋचितुनुघ०'। अ० ६।३।१३३ इति दीर्घः। **नः** अस्मान् **आ** आगहि, आगच्छ। त्वम् **अस्माकम्** स्तोतॄणाम्, शिष्याणां वा **अर्धम्**[2] अपूर्णं जीवनम् **आ गहि** आगच्छ। आङ्पूर्वाद् गम्लृ गतौ धातोर्लोटि छान्दसं रूपम्। 'बहुलं छन्दसि'। अ० २।४।७३ इति शपो लुक्, धातोर्मकारलोपः, सेहिः। त्वम् **महीभिः** महतीभिः **ऊतिभिः** रक्षाभिः **महान्** अतिशयमहिमोपेतः, असि इति शेषः ॥७॥[3]

अत्र श्लेषालङ्कारः। 'महा, मही' इति छेकानुप्रासः ॥७॥

---

१. ऋ० ४।३२।१, य० ३३।६५।

२. अर्धं वेद्याख्यं स्थानम्—इति वि०। समीपम्—इति भ०, सा०।

३. एष मन्त्रो दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च राजप्रजापक्षे व्याख्यातः।

भावार्थः—अपूर्णो बहुच्छिद्रान्वितो विविधविघ्नप्रताडितो मनुष्यः स्वजीवने परमात्मनो नृपतेर्गुरोर्वा साहाय्येनैवोन्नतिं कर्तुं शक्नोति ॥७॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, राजा और विद्वान् आचार्य को पुकारा गया है।

पदार्थ—हे **वृत्रहन्** अविद्या, विघ्न, दुःख, पाप आदिकों के विनाशक **इन्द्र** परमात्मन्, राजन् वा आचार्य ! आप **तु** शीघ्र ही **नः** हमारे समीप **आ** आइए। आप **अस्माकम्** हम स्तोताओं व शिष्यों के **अर्धम्** अपूर्ण जीवन में **आ गहि** आइए। आप **महीभिः** अपनी महान् रक्षाओं से **महान्** महान् हैं ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'महा, महीं' में छेकानुप्रास है ॥७॥

भावार्थ—अपूर्ण, बहुत से दोषों से युक्त, विविध विघ्नों से प्रताड़ित मनुष्य अपने जीवन में परमात्मा, राजा और गुरु की सहायता से ही उन्नति कर सकता है ॥७॥

अथ परमात्मन ओजो वर्णयति।

१८२. ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत् समवर्तयत्।
इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥८॥[1]

ओजः तत् अस्य तित्विषे। उभे इति यत् समवर्तयत् सम् अवर्तयत् ॥
इन्द्रः चर्म इव रोदसी इति ॥८॥

पदार्थः—**तत् अस्य** इन्द्रस्य परमेश्वरस्य **ओजः** महद् बलं तेजो वा **तित्विषे** दीप्यते, प्रकाशते। त्विष दीप्तौ। छन्दसि लुङ्लङ्लिटः। अ० ३।४।६ इति कालसामान्ये लिट्। **यत् इन्द्रः** असौ शक्तिशाली परमेश्वरः **उभे** द्वे अपि **रोदसी** द्यावापृथिव्यौ। रोदसी इति द्यावापृथिव्योर्नाम। निघं० ३।३०। **चर्म इव** मृगचर्मासनमिव **समवर्तयत्**[2] सृष्टिकाले प्रसारयति, प्रलयकाले संवेष्टयति च ॥८॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥८॥

भावार्थः—यथा कश्चिद् योगी सन्ध्योपासनार्थं मृगचर्मासनमास्तृणाति, सन्ध्योपासनां समाप्य च तत् परिवेष्टयति, तथैव परमात्मा स्वौजसा सृष्ट्युत्पत्तिकाले सर्वं जगत् प्रसारयति, प्रलयकाले च संकोचयति ॥८॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के ओज का वर्णन है।

पदार्थ—**तत्** वह **अस्य** इस इन्द्र परमेश्वर का **ओजः** ओज अर्थात् महान् बल और तेज **तित्विषे** प्रकाशित हो रहा है, **यत्** जो कि **इन्द्रः** वह शक्तिशाली परमेश्वर **उभे** दोनों **रोदसी** द्युलोक और भूलोक को **चर्म इव** मृगछाला के आसन के समान **समवर्तयत्** सृष्टिकाल में फैलाता है और प्रलयकाल में समेट लेता है ॥८॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥८॥

भावार्थ—जैसे कोई योगी सन्ध्योपासना के लिए मृगछाला के आसन को बिछाता है और सन्ध्योपासना समाप्त करके उसे समेट लेता है, वैसे ही परमात्मा अपने ओज से सृष्ट्युत्पत्ति के समय सब जगत् को फैलाता है और प्रलय के समय समेट लेता है ॥८॥

---

१. ऋ० ८।६।५, अथ० २०।१०७।२, साम० १६५३।

२. समवर्तयत् संवेष्टयति—इति वि०। यथा कश्चित् किञ्चित् चर्म कदाचिद् विस्तारयति कदाचित् संकोचयति, एवं (रोदसी) तदधीने अभूताम्—इति सा०।

अथ परमात्मना स्वकीयं स्नेहसम्बन्धं सूचयति ।

१८३. ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अयमु ते समतसि कपोतइव गर्भधिम् ।
२ ३ १ २
वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥९॥[1]

३ २ ३ ३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
अयम् उ ते सम् अतसि । कपोतः इव गर्भधिम् गर्भ धिम् ॥
१ २ ३
वचः तत् चित् नः ओहसे ॥९॥

पदार्थः—हे इन्द्र परमात्मन् ! **अयम्** एष उपासकः **उ** किल **तव** तवैव वर्तते, यं त्वम् **समतसि** सं प्राप्नोषि । अत्र सम् पूर्वः अत सातत्यगमने भ्वादिः । **कपोतः** पारावतः **इव** यथा **गर्भधिम्**[2] गर्भाः अण्डेभ्योऽचिरप्रसूताः शिशवः धीयन्ते यत्र स गर्भधिः नीडः तम् प्राप्नोति । गर्भोपपदात् धा धातोः 'कर्मण्यधिकरणे च' । अ० ३।३।९९ इति किः प्रत्ययः । **तत् चित्** तस्मादेव कारणात् **नः** अस्माकम् **वचः** स्नेहमयं स्तुतिवचनम्, त्वम् **ओहसे**[3] वहसि स्वीकरोषि । वह प्रापणे धातोश्छान्दसे सम्प्रसारणे लघूपधगुणः ॥९॥[4]

यास्काचार्यः उकारस्य पदपूरकत्वेऽस्य मन्त्रस्य प्रथमं पादमुद्धरति—'अयमु ते समतसि (ऋ० १।३०।४), अयं ते समतसि । निरु० १।१०। इति ।

अत्रोपमालङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—यथा कपोतो नीडस्थशिशूनां पालनाय नीडं गच्छति, तथैव परमेश्वरः स्वशिशूनामुपासकानां पालनाय तान् गच्छति । यथा च कपोतः शिशूनां जल्पितं सोत्कण्ठं शृणोति, तथैव परमेश्वरः स्तोतॄणां स्तुतिवचनं प्रेम्णा शृणोति ॥९॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के साथ अपना स्नेह-सम्बन्ध सूचित किया गया है ।

पदार्थः—हे इन्द्र परमात्मन् ! **अयम्** यह उपासक **उ** सचमुच **तव** तेरा ही है, जिसके पास तू **समतसि** पहुँचता है, **कपोतः** कबूतर **इव** जैसे **गर्भधिम्** अण्डों से नये निकले हुए बच्चों के आवास-स्थान घोंसले में पहुँचता है । **तत् चित्** इसी कारण, **नः** हमारे **वचः** स्नेहमय स्तुति-वचन को, तू **ओहसे** स्वीकार करता है ॥९॥

यास्काचार्य ने इस मन्त्र के प्रथम पाद को 'उ' के पदपूरक होने के उदाहरणस्वरूप उद्धृत किया है । निरु० १।१० । इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥९॥

भावार्थ—जैसे कबूतर घोंसले में स्थित शिशुओं के पालन के लिए घोंसले में जाता है, वैसे ही परमेश्वर अपने शिशु उपासकों के पालन के लिए उनके पास जाता है। और, जैसे कबूतर अपने शिशुओं के शब्द को उत्कण्ठापूर्वक सुनता है, वैसे ही परमेश्वर स्तोताओं के स्तुतिवचन को प्रेमपूर्वक सुनता है ॥९॥

---

१. ऋ० १।३०।४, अथ० २०।४५।१, साम० १५९९ ।

२. गर्भः धीयते यस्यां सा गर्भधिः कपोतिका—इति० वि० । भ०, सा०, द० एतेषामपि तदेवाभिप्रेतम् ।

३. ओहसे, वहेरिदं रूपम्—इति वि० । वहसे—इति भ० । प्राप्नोषि—इति सा० ।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं शिल्पाग्निपक्षे व्याख्यातः ।

अथ वाताद् भेषजादिकमाकाङ्क्षते ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१८४. वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।
२ ३ १ २
प्र न आयूंषि तारिषत् ॥१०॥[1]
१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
वातः आ वातु भेषजम् । शम्भु शम् भु मयोभु मयः भु नः हृदे ॥
३ १ २ ३
प्र नः आयूꣳषि तारिषत् ॥१०॥

पदार्थः—**वातः** वातयति वायुं प्रेरयति यः स वातः इन्द्रः परमेश्वरः, यद्वा वातः इन्द्रेण परमेश्वरेण रचितः वायुः प्राणो वा **भेषजम्** औषधम् **आ वातु** आ गमयतु, यत् **नः** अस्माकम् **हृदे** हृदयाय **शम्भु**[2] रोगशामकम् । शं रोगाणां शमनं भवत्यस्यादिति शम्भु । **मयोभु** सुखदायकं च, भवेदिति शेषः । मयः इति सुखनाम । निघं० ३।६ । मयः सुखं भवत्यस्मादिति मयोभु । स वातः परमेश्वरः वायुः प्राणश्च **नः** अस्माकम् **आयूंषि** आयुषो वर्षाणि **प्रतारिषत्** प्रवर्द्धयेत् । प्र पूर्वः तॄ प्लवनसंतरणयोः धातुर्वर्द्धनार्थः । लेटि, तिपि, तिप इकारस्य लोपे, सिबागमे, अडागमे, सिपश्च णिद्वत्त्वे, वृद्धौ रूपम् ॥१०॥

अत्र श्लेषालङ्कारः । 'वात, वातु' इत्यत्र छेकानुप्रासः ॥१०॥

भावार्थः—ईश्वरप्रणिधानपूर्वकं प्राणायामेन चित्तशुद्धिर्हृद्बलं, शरीरारोग्यं, दीर्घायुष्यं च प्राप्यते ॥१०॥

अत्रेन्द्राख्यस्य परमेश्वरस्य साहाय्येनाऽविद्याऽधर्मान्धकारपूर्णाया निशाया अपगमस्य, दिव्योषसः प्रादुर्भावस्य, इन्द्रद्वारा वृत्रसंहारस्य, परमात्मवायुप्राणाद्याद् भेषजप्राप्तेर्वर्णनाद्, यथायोग्यं च नृपतेराचार्यस्य चापि योगदानवर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्तीति वेद्यम् ।

इति द्वितीये प्रपाठके द्वितीयार्धे चतुर्थी दशतिः ।
इति द्वितीयाध्याये सप्तमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में 'वात' से भेषज आदि की आकांक्षा की गयी है ।

पदार्थ—**वातः** वायु को चलानेवाला इन्द्र परमेश्वर, अथवा परमेश्वर द्वारा रचित वायु और प्राण **भेषजम्** औषध को **आ वातु** प्राप्त कराये, **यत्** जो **नः** हमारे **हृदे** हृदय के लिए **शम्भु** रोगों का शमन करनेवाला, और **मयोभु** सुखदायक हो । वह परमेश्वर, वायु और प्राण **नः** हमारे **आयूंषि** आयु के वर्षों को **प्रतारिषत्** बढ़ाये ॥१०॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । 'वात, वातु' में छेकानुप्रास है ॥१०॥

भावार्थ—ईश्वरप्रणिधानपूर्वक प्राणायाम करने से चित्त की शुद्धि, हृदय का बल, शरीर का आरोग्य और दीर्घायुष्य प्राप्त होते हैं ।

इस दशति में इन्द्र परमेश्वर की सहायता से अविद्या, अधर्म आदि के अन्धकार से पूर्ण रात्रि के निवारण का, दिव्य उषा के प्रादुर्भाव का, इन्द्र द्वारा वृत्र के संहार का, परमात्मा, वायु और प्राण से

---

१. ऋ० १०।१८६।१, देवता वायुः । 'न आयूंषि' इत्यत्र 'ण आयूंषि' इति पाठः ।
२. शम्भु सुखस्य भावयितृ, इदानीं सुखकरमित्यर्थः । मयोभु कालान्तरे च सुखस्य भावयितृ इत्यर्थः । अथवा मयो बलं, तस्य भावयितृ—इति वि० । शं शान्तिरुपद्रवाणाम्, मयः सुखम्—इति भ० । शं रोगशमनम्, मयः सुखम्—इति सा० ।

औषध-प्राप्ति का और यथायोग्य राजा एवं आचार्य के भी योगदान का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति जाननी चाहिए।

द्वितीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त।
द्वितीय अध्याय में सप्तम खण्ड समाप्त॥

॥१०॥ अथ 'यं रक्षन्ति प्रचेतसो' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः १—कण्वः; २, ३, ६ वत्सः; ४ श्रुतकक्षः; ५ मधुच्छन्दाः; ६ वामदेवः; ७ इरिम्बिठिः; ८ वारुणिः सत्यधृतिः॥
देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

तत्राद्ये मन्त्रे मित्रवरुणार्यमविषयमाह।

१८५. यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा।
न किः स दभ्यते जनः॥१॥[1]
यम् रक्षन्ति प्रचेतसः प्र चेतसः। वरुणः मित्रः मित्रः अर्यमा॥
न किः सः दभ्यते जनः॥१॥

पदार्थः—**प्रथमः** अध्यात्मपरः। ऋचः इन्द्रदेवताकत्वाद् इन्द्रः सम्बोध्यः। हे इन्द्र मदीय अन्तरात्मन्! **यम्** जनम् **प्रचेतसः** हृदि सदा जागरूकाः। प्रकृष्टं चेतः संज्ञानं जागरूकत्वं वा येषां ते। चिती संज्ञाने। **वरुणः** पापनिवारको गुणः। यो वारयति पापादीनि स वरुणः। वृञ् आवरणे चुरादिः, 'कृवृदारिभ्य उनन्' उ० ३।५३ इति उनन् प्रत्ययः। **मित्रः** मित्रतायाः गुणः। डुमिञ् प्रक्षेपणे। मिनोति दोषादीन् प्रक्षिपति यो येन वा स मित्रः। 'अमिचिमिशिसभ्यः' क्त्रः उ० ४।१६५ इति क्त्रः प्रत्ययः। **अर्यमा** न्यायकारितायाः गुणश्च। यः अर्यान् श्रेष्ठान् मिमीते यथार्थतया परिच्छिनत्ति सोऽर्यमा। अर्योपपदाद् माङ् माने धातोः 'श्वन्नुक्षन्पूषन्०' उ० १।१५६ इति कनिन्प्रत्ययान्तो निपातः। **रक्षन्ति** विपद्भ्यस्त्रायन्ते पालयन्ति च, **स जनः** असौ मनुष्यः **न किः** न कदापि **दभ्यते** हिंस्यते। दभ्नोतिः हिंसाकर्मा। निघं० २।१६।

अथ **द्वितीयः** राष्ट्रपरः। **यम्** इन्द्रं राजानम् **प्रचेतसः** प्रकृष्टचित्ताः, प्रकृष्टविज्ञानाः, सदा जागरूकाः **वरुणः** पाशपाणिः[2], शस्त्रास्त्रयुक्तः, शत्रुनिवारकः[3], सेनापतित्वे वृतः[4] श्रेष्ठः सेनाध्यक्षः **मित्रः** देशे विदेशे च मैत्रीसन्देशप्रसारकः मैत्रीसचिवः, **अर्यमा**[5] न्यायाधीशो न्यायमन्त्री वा **रक्षन्ति** त्रायन्ते **सः** असौ **जनः** जातो राजा **नकिः** न कदापि **दभ्यते** पराजीयते हिंस्यते वा॥१॥[6]

१. ऋ० १।४१।१, देवता मित्रवरुणार्यमणः। 'नकिः' इत्यत्र 'नूचित्' इति पाठः।
२. शतेन पाशैरभिधेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः। आस्तां जाल्म उदरं श्रसयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः। अथ० ४।१६।७।
३. वारयति शत्रूनिति वरुणः। वृञ् आवरणे, चुरादिः।
४. व्रियते इति वरुणः। वृञ् वरणे।
५. '(अर्यमा) यः पक्षपातं विहाय न्यायं कर्तुं समर्थः' इति ऋ० १।४१।१ भाष्ये, 'योऽर्यान् मन्यते स न्यायाधीशः' इति च य० ३६।६ भाष्ये द०।
६. दयानन्दर्षिर्ऋग्वेदभाष्येऽस्य मन्त्रस्य व्याख्याने भावार्थमेवमाह—"मनुष्यैः (वरुणः) सर्वोत्कृष्टः सेनासभाध्यक्षः, (मित्रः) सर्वमित्रो दूतोऽध्यापकः उपदेष्टा (अर्यमा) धार्मिको न्यायाधीशश्च कर्तव्यः। तेषां सकाशाद् रक्षणादीनि प्राप्य सर्वान् शत्रून् शीघ्रं हत्वा चक्रवर्तिराज्यं प्रशास्य सर्वहितं संपादनीयम्" इति।

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैः पापनिवारणस्य मैत्र्या न्यायस्य च गुणाः स्वहृदये धारणीयाः, नृपतिना च स्वराष्ट्रे सेनाध्यक्षत्व-मैत्रीसचिवत्व-न्यायाधीशत्वादिविविधपदेषु सुयोग्या एव जना नियोक्तव्याः, येन शत्रूच्छेदः प्रजोत्कर्षश्च सततं सिध्येताम् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में मित्र, वरुण और अर्यमा का विषय है।

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्मपक्ष में। ऋचा का देवता इन्द्र होने से इन्द्र को सम्बोधन अपेक्षित है। हे **इन्द्र** मेरे अन्तरात्मन्! **यम्** जिस मनुष्य की **प्रचेतसः** हृदय में सदा जागनेवासे **वरुणः** पाप-निवारण का गुण, **मित्रः** मित्रता का गुण। और **अर्यमा** न्यायकारिता का गुण **रक्षन्ति** विपत्तियों से बचाते तथा पालते हैं, **सः** वह **जनः** मनुष्य **नकिः** कभी नहीं **दभ्यते** हिंसित होता है।

द्वितीय राष्ट्रपक्ष में। **यम्** जिस राजा की **प्रचेतसः** प्रकृष्ट चित्तवाले, प्रकृष्ट विज्ञानवाले, सदा जागरूक **वरुणः** पाशधारी, शस्त्रास्त्रों से युक्त, शत्रुनिवारक, सेनापति के पद पर चुना गया सेनाध्यक्ष, **मित्रः** देश-विदेश में मित्रता के सन्देश को फैलानेवाला मैत्रीसचिव, और **अर्यमा** न्यायाधीश वा न्यायमन्त्री **रक्षन्ति** रक्षा करते हैं, **सः** वह **जनः** राजा **नकिः** कभी भी किसी से नहीं **दभ्यते** पराजित या हिंसित होता है ॥१॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिए कि पाप-निवारण, मैत्री तथा न्याय के गुणों को अपने हृदय में धारण करें, और राजा को चाहिए कि वह अपने राष्ट्र में सेनाध्यक्ष, मैत्रीसचिव, न्यायाधीश आदि के विविध पदों पर सुयोग्य जनों को ही नियुक्त करे, जिससे शत्रुओं का उच्छेद और प्रजा का उत्कर्ष निरन्तर सिद्ध होते रहें ॥१॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मानं राजानं च प्रार्थयते।

३ २,७ ३ १ २ ३ २ ३ १,९ २,१ ३ २
१८६. गव्यो षु णो यथा पुराश्वयोत रथया।
३ २ ३,१ २
वरिवस्या महोनाम् ॥२॥[1]
३ २ ३ २ ३ १,२,१ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
गव्या उ सु नः यथा पुरा। अश्वया उत रथया॥
३ २ ३ १ २
वरिवस्या महोनाम् ॥२॥

पदार्थः—हे इन्द्र परमैश्वर्यशालिन् परब्रह्म परमात्मन् राजन् वा! त्वम् **गव्या**[2] गवाम् धेनूनां भूमीनां वाक्छक्तीनां, विद्युद्विद्यानाम् अध्यात्मप्रकाशकिरणानां च प्रदानेच्छया, **उ सु** अथ च **अश्वया** अश्वानाम् वाजिनां प्राणबलानाम् अग्निसूर्यविद्यादीनां च प्रदानेच्छया, **उत** अपिच **रथया** रथानाम् भूजला-

---

१. ऋ० ८।४६।१०, ऋषिः वशोऽश्व्यः। 'वरिवस्य महामह' इति तृतीयः पादः।

२. गव्या गव्यया गवीच्छया, रथया रथेच्छया, अश्वया अश्वेच्छया वयं त्वां स्तुमः इति वाक्यशेषः—इति वि०। गवादिभ्यः शसो यादेशः 'सुपां सुलुक्' इत्यादिना। गव्या गाः सु सुष्ठु नः अस्मभ्यं वरिवस्य प्रयच्छ। अश्वया अश्वान्, रथया रथान्—इति भ०। अस्माकं गवामिच्छया···वरिवस्य परिचर आगच्छ, अश्वया अश्वप्रदानेच्छया, रथया रथेच्छया—इति सा०।

न्तरिक्षयानानां मानवदेहानां च प्रदानेच्छया, किञ्च **महोनाम्**[1] महताम् अस्माकम् **वरिवस्या**[2] वरिवो धनं तत्प्रदानेच्छया **यथा पुरा** पूर्वमिव साम्प्रतमपि **नः** अस्मान् आगहि आगच्छ इति शेषः ॥

गवां प्रदानेच्छा गव्या, अश्वानां प्रदानेच्छा अश्वया, रथानां प्रदानेच्छा रथया, वरिवसां धनानां प्रदानेच्छा वरिवस्या। वरिवस् इति धननाम। निघं० २।१०। सर्वत्र 'छन्दसि परेच्छायां क्यच उपसंख्यानम्'। अ० ३।१।८ वा० इति परेच्छार्थे क्यच्। 'न च्छन्दस्यपुत्रस्य'। अ० ७।४।३५ इति ईत्वदीर्घयोर्निषेधः। क्यजन्तेभ्यः 'अ प्रत्ययात्'। अ० ३।३।१-२ इति भावे अः प्रत्ययः, ततष्टाप्। तृतीयैकवचने 'गव्यया, अश्वयया, रथयया, वरिवस्यया' इति प्राप्ते 'सुपां सुलुक्'। अ० ७।१।३९ इति तृतीयाया लुक्, पूर्वसवर्णदीर्घो वा। **गव्या**—गौः इति पृथिवीनाम वाङ्नाम रश्मिनाम, विद्युन्नाम च। निघं० १।१, १।११, १।५, निरु० ११।३८। **अश्वया**—अश्वः इति अग्निसूर्ययोरपि नाम, 'प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम्'। ऋ० १०।१८८।१, 'अग्निरेष यदश्वः'। श० ६।३।३।२२, 'असौ वा आदित्यो अश्वः'। तै० ब्रा० ३।९।२३।२, 'असौ वा आदित्य एषोऽश्वः। श० ७।३।२।१० इत्यादिप्रामाण्यात्। **महोनाम्**—महस् इति महन्नाम। निघं० ३।३। महसाम् इति प्राप्ते नुडागमश्छान्दसः।

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—परमेश्वरस्य कृपया, राज्ञः सुव्यवस्थया, निजपुरुषार्थेन च मनुष्यैर्दोग्ध्र्यो धेनवो, बलवन्तोऽश्वास्तैलवायुविद्युत्सौरतापादिना सञ्चाल्यमानानि भूजलान्तरिक्षयानानि, वाग्बलं, प्राणबलम्, अग्निवायुविद्युदादित्यविद्या अध्यात्मप्रकाशश्चक्रवर्तिराज्यं च प्राप्तव्यानि ॥२॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थः—हे इन्द्र ! परमैश्वर्यशाली परब्रह्म परमात्मन् और राजन् ! आप **गव्या** गायों, भूमियों, वाक्शक्तियों, विद्युद्विद्याओं और अध्यात्मप्रकाश की किरणों को प्रदान करने की इच्छा से, **उ सु** और **अश्वया** घोड़ों, प्राण-बलों, अग्नि तथा सूर्य की विद्याओं को प्रदान करने की इच्छा से, **उत** और **रथया** भूमि, जल व अन्तरिक्ष में चलने वाले यानों एवं मानव-देह-रूप रथों को प्रदान करने की इच्छा से, तथा **महोनाम्** हम महानों को **वरिवस्या** धन प्रदान करने की इच्छा से **यथा पुरा** पहले के समान अब भी **नः** हमारे पास, आइये ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥२॥

भावार्थ—परमेश्वर की कृपा से, राजा की सुव्यवस्था से और अपने पुरुषार्थ से मनुष्यों को दुधार गौएँ, बलवान् घोड़े, तेल-गैस-बिजली-सूर्यताप आदि से चलाये जाने वाले भूमि, जल और अन्तरिक्ष में चलनेवाले यान, बाणी का बल, प्राण-बल, अग्नि-वायु-बिजली एवं सूर्य की विद्याएँ, अध्यात्म-प्रकाश और चक्रवर्ती राज्य प्राप्त करने चाहिएँ ॥२॥

---

१. महोनाम्। महो धनं हविर्लक्षणम्, तद्वताम्—इति भ०। धनानाम्—इति सा०।

२. ऋग्वेदे 'वरिवस्य' इति तिङन्तं पदमस्ति। तदनुसृत्य भरतसायणाभ्यां सामवेदेऽपि तिङन्तं स्वीकृतम्। तथापि पदपाठे 'वरिवस्या' इति पाठात् पदकारस्येदं क्रियापदं न सम्मतम्, यतः पदपाठे दीर्घान्तं क्रियापदं सर्वत्र पदकारो ह्रस्वान्तं प्रदर्शयति, स्वरे तु नः विशेषः। विवरणकारस्तु 'वरिवस्या। वरिवस्यः परिचरणीयः, तस्मात् सम्बुद्ध्येकवचनम्, तस्य स्६ाने 'सुपां सुलुक्' इति आकारः: हे परिचरणीय इत्यर्थः इति व्याचख्यौ। तच्चिन्त्यं, सम्बुद्धिस्वराभावात्। सम्बुद्धौ तु पादादित्वात् षाष्ठेन 'आमन्त्रितस्य च' इति सूत्रेण आद्युदात्तेन भाव्यम्।

अथेन्द्रस्य पृश्नयः किं कुर्वन्तीत्याह ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१८७. इमास्त इन्द्र पृश्नयो घृतं दुहत आशिरम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
एनामृतस्य पिप्युषीः ॥३॥[1]
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इमाः ते इन्द्र पृश्नयः । घृतम् दुहते आशिरम् आ शिरम् ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २
एनाम् ऋतस्य पिप्युषीः ॥३॥

पदार्थः—**प्रथम**: यज्ञपरः । हे **इन्द्र** गोपालक यजमान ! यजमानो वै स्वे यज्ञ इन्द्रः । श० ८।५।३।८ । **ऋतस्य** यज्ञस्य । 'ऋतस्य योगे यज्ञस्य योगे' इति निरुक्तम् । ६।२२ । **पिप्युषीः** पिप्युष्यः वर्धयित्र्यः । ओप्यायी वृद्धौ धातोर्लिटः क्वसौ 'लिड्यङोश्च' । अ० ६।१।२९ इति प्यायः पीभावे स्त्रियरूपम् । **इमाः** एताः **ते** तव **पृश्नयः**[2] नानावर्णा धर्मदुहो गावः **घृतम्** आज्यम्, **एनाम् आशिरम्**[3] एतत् पयश्च । आशीः पयोनाम 'इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे ॥ ऋ० ८।६९।६ इति प्रामाण्यात् । 'आशीराश्रयणाद् वा आश्रपणाद् वा' इति निरुक्तम् । ६।८ । **दुहते** प्रयच्छन्ति ॥[4]

अथ **द्वितीयः** अध्यात्मपरः । हे **इन्द्र** जीवात्मन् ! **ऋतस्य** सत्यस्य **पिप्युषीः** पाययित्र्यः । पीङ् पाने धातोर्लिटि क्वसौ रूपम् । **इमाः** एताः **पृश्नयः** वेदमातरः **ते** तुभ्यम् **घृतम्** तेजोरूपम् आज्यम्, ब्रह्मवर्चसमित्यर्थः । तेजो वै घृतम् । तै० सं० २।२।९।६ । **एनाम् आशिरम्** एतत् परिपक्वम् आयुष्प्राणप्रजापशुकीर्तिविद्यादिरूपं दुग्धं च **दुहते** प्रयच्छन्ति । किं तावद् वेदमातॄणां दुग्धमिति स्वयमेव वर्णयति श्रुतिः—"स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् । आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् । मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् । अथ० १९।७१" इति ॥

अथ **तृतीयः** वृष्टिपरः । हे **इन्द्र** परमात्मन् ! **इमाः** एताः **ते** तव, त्वद्रचिता इत्यर्थः **पृश्नयः** नानावर्णा मेघमालाः **आशिरम्** परिपक्वं, सूर्यतापेन वाष्पीभूतम् । अत्र आङ्पूर्वः श्रीञ् पाके धातुर्बोध्यः । **घृतम्** उदकम् । घृतम् इत्युदकनाम, जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः । निरु० ७।२४ । **दुहते** वर्षन्ति, किञ्च **एनाम्** एतां भूमिम् **ऋतस्य** उदकस्य । ऋतमित्युदकनाम । निघं० १।१२ । **पिप्युषीः** पाययित्र्यः, भवन्तीति शेषः ॥३॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—यथा यजमानस्य गावो यज्ञार्थं घृतं पयश्च दुहन्ति, मेघमालाः कृष्याद्यर्थं वृष्टिजलरूपं पयो दुहन्ति, तथैव वेदमातरो जीवाय ब्रह्मवर्चसरूपं घृतम् आयुष्प्राणादिरूपं पयश्च प्रयच्छन्ति ॥३॥

अगले मन्त्र में इन्द्र की पृश्नियाँ क्या करती हैं, इसका वर्णन है ।

पदार्थः—**प्रथम** यज्ञ के पक्ष में । हे **इन्द्र** गोपालक यजमान ! **ऋतस्य** यज्ञ की **पिप्युषीः** बढ़ाने वाली

---

१. ऋ० ८।६।१९ ।
२. पृश्नयो गाबः—इति भ० । प्राष्टवर्णा गावः—इति सा० । स्तुतयः—इति बि० ।
३. सोममिश्रं दधि आशिरम्—इति वि, भ० । एनाम् आशिरम् आश्रयणद्रव्यं पयः—इति सा० ।
४. एनां भूमिम् ऋतस्य ऋतेन उदकेन पिप्युषीः पूरयन्त्यः यज्ञसाधनद्वारेण वृष्टिम् उत्पादयन्त्यः—इति भा० ।

इमाः ये **ते** तेरी **पृश्नयः** यज्ञ के उपयोग में आने वाली अनेक रंगों वाली गायें **घृतम्** घी, और **एनाम् आशिरम्** इस दूध को **दुहते** प्रदान करती हैं ॥

द्वितीय अध्यात्म-पक्ष में। हे **इन्द्र** जीवात्मन् ! **ऋतस्य** सत्य का **पिप्युषीः** पान कराने वाली **इमाः** ये **पृश्नयः** वेद-माताएँ **ते** तेरे लिए **घृतम्** तेज-रूप घी को अर्थात् ब्रह्मवर्चस को, और **एनाम् आशिरम्** इस परिपक्व आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, विद्या आदि के दूध को **दुहते** प्रदान करती हैं ॥

तृतीय वर्षा के पक्ष में। हे **इन्द्र** परमात्मन् ! **इमाः** ये **ते** आपकी रची हुई **पृश्नयः** रंग-बिरंगी मेघमालाएँ **आशिरम्** सूर्य के ताप से भाप बने हुए **घृतम्** जल को **दुहते** बरसाती हैं, और **एनाम्** इस भूमि को **ऋतस्य** वृष्टिजल का **पिप्युषीः** पान कराने वाली होती हैं ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थः—जैसे यजमान की गायें यज्ञार्थ घी और दूध देती हैं, मेघमालाएँ खेती आदि के लिए वर्षाजल-रूप दूध बरसाती हैं, वैसे ही वेद-माताएँ जीव के लिए ब्रह्मवर्चस-रूप घी और आयु-प्राण आदि रूप दूध देती हैं ॥३॥

अथ परमात्मप्राप्त्युपायं वर्णयति।

३ २ ३ १ २ ३ २१
१८८. **अया धिया च गव्यया पुरुणामन् पुरुष्टुत।**
१२ २१ ३ १ २
यत् सोमेसोम आभुवः ॥४॥[1]

३ २ ३ २ ३ २ १२१ १२१ ३
अया धिया च गव्यया। पुरुणामन् पुरु नामन् पुरुष्टुत पुरु स्तुत॥
२ १२१ १२१ ३ १२१ ३ १२१
यत् सोमेसोमे सोमे सोमे आभुवः आ अभुवः ॥४॥

पदार्थः—हे **पुरुणामन्**[2] सर्वान्तर्यामिन्, वेदेषु शक्रवृत्रहमघवच्छचीपत्यादिबहुनामभिर्वर्णित वा ! पुरुषु बहुषु पदार्थेषु नमति व्याप्नोति यः सः यद्वा पुरूणि बहूनि नामानि यस्य सः पुरुणामा, तत्सम्बुद्धौ। **पुरुष्टुत** बहुस्तुत इन्द्र परमात्मन् ! **अया** अनया **गव्यया**[3] गोकामया, गावः आत्मसूर्यकिरणाः तत्प्राप्ति-कामया इत्यर्थः **धिया** बुद्धया ध्यानशृङ्खलया वा **च** एव, एतत् संभवति **यत्** यत् त्वम् **सोमेसोमे** अस्माकं प्राणेप्राणे, प्रतिश्वासमित्यर्थः। प्राणः सोमः। श० ७।३।१।२। **आभुवः** आभवेः व्याप्नुयाः इति। आङ्-पूर्वाद् भवतेर्लेटिरूपम् ॥४॥

भावार्थः—यदि वयं तमोगुणेनावृतान् आत्मसूर्यस्य किरणान् निश्चयात्मिक्या बुद्धया ध्यानेन च पुनः प्राप्तुं प्रयतेमहि, तदैवैतत् संभवति यत् परमेश्वरोऽस्माकं प्राणं प्राणं, श्वासं श्वासं, रोम रोम च व्याप्नुयादिति ॥४॥

---

१. ऋ० ८।९३।१७, ऋषिः सुकक्षः। 'आमुवः' इत्यत्र 'आभवः' इति पाठः।

२. पुर्विति बहुनाम, नमतिः प्रह्वीभावे। बहवः शत्रवः यं प्रति नमन्ति स पुरुनामा, तस्य सम्बोधनं पुरुनामन्, बहूनां शत्रूणां प्रह्वीकर्तः इत्यर्थः—इति वि०। पुरुरूप बहुनामेत्येव वा—इति भ०। बहुविधशक्रवृत्रहादिनामोपेत, यद्वा बहुस्तुतिमन्, नमयति स्तुत्यं देवं वशं नयतीति नाम स्तोत्रम्—इति सा०।

३. अया अनया धिया प्रज्ञया त्वां स्तुमः इति वाक्यशेषः। गव्यया गविच्छया—इति वि०। अया अनया धिया स्तुत्या त्वां स्तुमः इति शेषः। च इति पूरणः। गव्यया गोकामनया—इति भ०। अया अनया ईदृश्या गव्यया गाः आत्मनः इच्छन्त्या धिया बुद्धया युक्ता भवेम—इति सा०।

अगले मन्त्र में परमात्मा की प्राप्ति का उपाय वर्णित है।

पदार्थ—हे **पुरुणामन्** सर्वान्तर्यामिन् एवं वेदों में शक्र, वृत्रहा, मघवान्, शचीपति आदि **अनेक** नामों से वर्णित, **पुरुष्टुत** बहुस्तुत इन्द्र परमात्मन्! **अया** इस **गव्यया** आत्मा-रूप सूर्य की किरणों को **पाने** की कामना वाली **धिया** बुद्धि तथा ध्यान-शृंखला से **च** ही, यह संभव है **यत्** कि, आप **सोमेसोमे** हमारे प्राण-प्राण में, प्रत्येक श्वास **में आभुवः** व्याप्त हो जाओ ॥४॥

भावार्थ—यदि हम तमोगुण से ढकी हुई आत्मसूर्य की किरणों को निश्चयात्मक बुद्धि और ध्यान से पुनः पाने का यत्न करें, तभी यह संभव है कि परमेश्वर हमारे प्राण-प्राण में, श्वास-श्वास में और रोम-रोम में व्याप्त हो जाए ॥४॥

अथ वाग्विषयं विदुषीविषयं चाह।

१८९. **पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।**
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥५॥[1]
पावका नः सरस्वती। वाजेभिः वाजिनीवती॥
यज्ञम् वष्टु धियावसुः धिया वसुः ॥५॥

पदार्थः—**प्रथम**: वेदवाक्पक्षे। ऋचः इन्द्रदेवताकत्वाद् इन्द्रः सम्बोध्यः। हे इन्द्र परमेश्वर! त्वदीया **वाजिनीवती**[2] क्रियामयी कर्मोपदेशिका वा। वाजोबलं यास्वस्ति ताः वाजिन्यः क्रियाः, तद्वती। **सरस्वती** ज्ञानमयी वेदवाणी। सरस्वती इति वाङ्नामसु पठितम्। **वाजेभिः** वाजैः विज्ञानबलैः **नः** अस्माकम् **पावका**[3] पाविका पावयित्री, भवतु इति शेषः। पावकादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्। अ० ७।३।४५ वा० इत्यनेन 'प्रत्ययस्थात् कात्०', अ० ७।३।४४ इति प्राप्तस्य इकारस्य निषेधः। **धियावसुः**[4] धिया ज्ञान-कर्मोपदेशेन वासयित्री सा। धीः इति कर्मनाम प्रज्ञानाम च। निघं० २।१,३।९। वाग् वै धियावसुः। ऐ० आ० १।११४। 'धिया' इत्यत्र 'सावेकाचः', अ० ६।१।१६८ इति विभक्तिरुदात्ता। तृतीयातत्पुरुषत्वात् 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया' अ० ६।२।२ इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। **यज्ञम्** अस्माकं जीवनयज्ञम् **वष्टु** निर्वहतु, **संस्करोतु**। वश कान्तौ। 'यज्ञं वष्टु' इति यदाह 'यज्ञं वहतु' इत्येव तदाह। ऐ० आ० १।१।४॥

---

१. ऋ० १।३।१०, य० २०।८४, उभयत्र देवता सरस्वती।

२. वाजेभिः मदीयैः रत्नैः हविर्लक्षणैर्वा अन्नैः वाजिनीवती अन्नवती इत्यर्थः। अथवा—वाजः बलं वेगो वा, तद् यस्यां विद्यते सा वाजिनी सेना तद्वती—इति वि०। वाजसमूहः वाजिनी तद्वती—इति भ०। वाजोऽन्नमास्विति वाजिन्यः क्रियाः। 'अत इनिठनौ। अ० ५।२।११५' इति इनिप्रत्ययः। ताः क्रिया यस्याः सन्ति सा सरस्वती वाजिनीवती—इति ऋ० १।३।१० भाष्ये सा०। वाजिनीवती सर्वविद्यासिद्धक्रियायुक्ता। वाजिनः क्रियाप्राप्तिहेतवो व्यवहारास्तद्वती। वाजिन इति पदनाससु पठितम्। निघं० ५।६। अनेन वाजिनीति गमनार्था प्राप्त्यर्था च क्रिया गृह्यते कृति तत्रैव ऋग्भाष्ये द०।

३. तुलनीयम्—स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। अथ० १९।७१।१ इति।

४. धीः वसुभूता यस्यां सा धियावसुः कर्मधना प्रज्ञाधना वा। अथवा वसुरित्येतद् वस आच्छादने इत्येतस्येदं रूपम्। प्रज्ञया आच्छादयित्री सर्वस्य जगतः—इति वि०। (धियावसुः) शुद्धकर्मणा सह वासप्रापिका। तत्पुरुषे कृति बहुलम्। अ० ६।३।१४ अनेन तृतीयातत्पुरुषे विभक्त्यलुक्—इति ऋ० १।३।१० भाष्ये द०।

अथ **द्वितीयः** गुरुवाक्पक्षे। गुरवः कामयन्ते। हे इन्द्र परमात्मन्! त्वत्कृपया **नः** अस्माकम् **वाजिनीवती** विद्यावती[1] **सरस्वती**[2] वाणी **वाजेभिः** सदाचारधनैः **पावका** शिष्याणां पावयित्री, भवत्विति शेषः। **धियावसुः** धिया बुद्धिपूर्वकं शिष्येषु ज्ञानस्य वासयित्री सा **यज्ञम्** शिक्षायज्ञम् **वष्टु** सम्यग् निर्वहतु॥

अथ **तृतीयः** विदुषीपक्षे। हे इन्द्र विद्वन् गृहपते! **वाजिनीवती** क्रियाशीला **सरस्वती**[3] विदुषी माता। सरः प्रशस्तं ज्ञानं विद्यते यस्याः सा सरस्वती। **वाजेभिः** सात्त्विकैः स्वास्थ्यकरैः अन्नादिभिः भोज्यपदार्थैः, बलप्रदानैः, सदाचारशिक्षणैश्च **नः** सन्तानानामस्माकम् **पावका** देहस्य मनसश्च पावयित्री, भवतु। **धियावसुः** बोधप्रदानेन वासयित्री सा **यज्ञम्** गृहस्थयज्ञम् **वष्टु** निर्वोढुं कामयताम्॥५॥[4]

यास्काचार्यो मन्त्रमिममेवं व्याचष्टे—पावका नः सरस्वती अन्नैरन्नवती यज्ञं वष्टु धियावसुः कर्मवसुः। निरु० ११।२६ इति॥

अत्र श्लेषालङ्कारः॥५॥

भावार्थः—यथा परमेश्वरस्य वेदवाणी श्रोतॄणां हितं साध्नोति, यथा वा गुरूणां वाणी शिष्याणां हितं साध्नोति, तथैव विदुष्यो मातरः सन्तानानां हितं साध्नुयुः॥५॥

अगले मन्त्र में वाणी और विदुषी का विषय वर्णित है।

पदार्थ—प्रथम वेदवाणी के पक्ष में। ऋचा का देवता इन्द्र होने से इन्द्र को सम्बोधन किया जाना चाहिए। हे इन्द्र परमेश्वर! आपकी **वाजिनीवती** क्रियामयी अथवा कर्म का उपदेश देने वाली **सरस्वती** ज्ञानमयी वेदवाणी **वाजेभिः** विज्ञान-रूप बलों से **नः** हमें **पावका** पवित्र करने वाली हो। **धियावसुः** ज्ञान और कर्म के उपदेश से बसाने वाली वह **यज्ञम्** हमारे जीवन-यज्ञ को **वष्टु** भली भाँति चलाये, संस्कृत करे॥

द्वितीय गुरुओं की वाणी के पक्ष में। गुरुजन कामना कर रहे हैं। हे इन्द्र परमात्मन्! आपकी कृपा से **नः** हमारी **वाजिनीवती** विद्या से पूर्ण **सरस्वती** वाणी **वाजेभिः** सदाचार-रूप धनों से **पावका** शिष्यों को पवित्र करने वाली हो। **धियावसुः** बुद्धिपूर्वक शिष्यों में ज्ञान को बसाने वाली वह **यज्ञम्** शिक्षा-रूप यज्ञ का **वष्टु** भलीभाँति वहन करे॥

तृतीय विदुषी के पक्ष में। हे इन्द्र! हे विद्वान् गृहपति! **वाजिनीवती** क्रियाशील **सरस्वती** विदुषी माता **वाजेभिः** सात्त्विक, स्वास्थ्यकर अन्न आदि भोज्य पदार्थों, बल-प्रदानों और सदाचार की शिक्षाओं से **नः** हम सन्तानों के **पावका** शरीर और मन को पवित्र करने वाली हो। **धियावसुः** बोध-प्रदान के द्वारा बसाने वाली वह **यज्ञम्** गृहस्थ-यज्ञ को **वष्टु** वहन करने की कामना रखे॥५॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है॥५॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर की वेदवाणी श्रोताओं का हित-साधन करती है, और जैसे गुरुओं की वाणी शिष्यों का हित-साधन करती है, वैसे ही विदुषी माताएँ सन्तानों का हित सिद्ध करें॥५॥

---

१. (वाजिनीवती) प्रशस्तविद्यायुक्ता इति य० २०।८४ भाष्ये द०।

२. (सरस्वती) सरसः प्रशंसिता ज्ञानादयो गुणा विद्यन्ते यस्यां सा सर्वविद्याप्रापिका वाक्। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४।१८९ अनेन गत्यर्थात् सृ धातोरसुन् प्रत्ययः। सरन्ति प्राप्नुवन्ति सर्वा विद्या येन तत् सरः। अस्मात् प्रशंसायां मतुप् इति ऋ० १।३।१० भाष्ये द०।

३. (सरस्वती) प्रशस्तविज्ञानयुक्ता (विदुषी स्त्री)—इति य० २०।८५ भाष्ये द०।

४. दयानन्दर्षिर्ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च मन्त्रमिमं वाक्पक्षे व्याख्यातवान्।

अथेन्द्रस्य सोमरसतर्पणविषयमाह ।

२ ३१२ २१३ २७ ३ १२
१९०. क इमं नाहुषीष्वा इन्द्रं सोमस्य तर्पयात् ।
२ ३ २३ १ २
स नो वसून्या भरात् ॥६॥
२ ३२ १२१ १२१ १२१ ३
कः इमम् नाहुषीषु आ । इन्द्रम् सोमस्य तर्पयात् ॥
२ ३ १२१ ३
सः नः वसूनि आ भरात् ॥६॥

पदार्थः—**नाहुषीषु** मानुषीषु प्रजासु । नहुष इति मनुष्यनाम । निघं० २।३ । नह्यन्ते बध्यन्ते कर्मपाशैरिति नहुषाः[1] मनुष्याः । णह बन्धने 'पृनहिकलिभ्य उषच् । उ० ४।७५' इति उषच् प्रत्ययः । **कः** को धन्यो जनः **इमम्** एतम् गुणगणाधारम् **इन्द्रम्** परमात्मानं, राजानम्, आचार्यम्, अतिथिं वा **सोमस्य** सोमेन श्रद्धारसेन, ज्ञानरसेन, उपासनारसेन, कर्मरसेन, ब्रह्मरसेन, क्षत्ररसेन, ब्रह्मचर्यरसेन, धर्मरसेन, यशोरसेन वा । अत्र तृतीयार्थे षष्ठी प्रयुक्ता । **आ तर्पयात्** समन्तात् तर्पयिष्यति, येन **सः** तर्पितोऽसौ **नः** अस्मभ्यम् **वसूनि** सर्वविधानि ऐश्वर्याणि **आ भरात्** आहरेत् । तर्पयात्, भरात् इत्युभयत्रापि क्रमेण तृप तृप्तौ, हृञ् हरणे धातोर्लेटि, 'लेटोऽडाटौ । अ० ३।४।९४' इत्याडागमः । 'भरात्' इत्यत्र 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' इति वार्तिकेन हस्य भः ॥६॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥६॥

भावार्थः—परमेश्वरोपासनया, श्रद्धया, ज्ञानसंग्रहेण, कर्मणा, ब्रह्मचर्येण, तपसा, श्रमेण, धर्मेण, वैराग्येण, व्रतपालनेन इत्यादिभिः शुभाचरणैरेव परमात्मनृपत्याचार्यप्रभृतयः सर्वेऽपि प्रसीदन्ति पुष्कलमैश्वर्यं च प्रयच्छन्ति ॥६॥

अगले मन्त्र में इन्द्र को सोमरस से तृप्त करने का विषय है ।

पदार्थ—**नाहुषीषु** मानवी प्रजाओं में **कः** कौन धन्य मनुष्य **इमम्** इस, गुणों के आधार **इन्द्रम्** परमात्मा, राजा, आचार्य एवं अतिथि आदि को **सोमस्य** सोम से अर्थात् श्रद्धा-रस, ज्ञान-रस, उपासना-रस, कर्म-रस, ब्रह्म-रस, क्षत्र-रस, ब्रह्मचर्य-रस, धर्म-रस, कीर्ति-रस आदि से **आ तर्पयात्** चारों ओर से तृप्त करेगा, जिससे **सः** तृप्त किया हुआ वह **नः** हमारे लिए **वसूनि** सब प्रकार के ऐश्वर्यों को **आ भरात्** लाये ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥६॥

भावार्थ—परमेश्वर की उपासना, श्रद्धा, ज्ञान-संग्रह, कर्म, ब्रह्मचर्य, तपस्या, श्रम, धर्म, वैराग्य, व्रत-पालन आदि श्रेष्ठ आचारों से ही परमात्मा, राजा, आचार्य आदि प्रसन्न होते हैं और प्रचुर ऐश्वर्य प्रदान करते हैं ॥६॥

अथेन्द्रः सोमरसं पातुमाहूयते ।

१ २ ३२७ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
१९१. आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् ।
२७ ३ १ २ ३ १ २
एदं बर्हिः सदो मम ॥७॥[2]

---

१. नहुषः शुभाशुभकर्मबद्धो मनुष्यः इति ऋ० १।२२।८ भाष्ये द० । नहुष इति मनुष्यनाम, तेषु भवाः ज्योतिष्टोमाद्याः क्रियाः नाहुष्यः—इति वि० । मानुषीषु प्रजासु—इति भ० ।

२. ऋ० ८।१७।१, अथ० २०।३।१, ३८।१, ४७।७, साम० ६६६ ।

आ याहि सुषुम हि ते । इन्द्र सोमम् पिब इमम् ।।
आ इदम् बर्हिः सदः मम ।।७।।

पदार्थः—**आयाहि** आगच्छ, **ते** त्वदर्थम्, वयम् **सुषुम हि** सोमम् अभिषुतवन्तः किल, श्रद्धाज्ञान-कर्मोपासनादिरसं निष्पादितवन्तः इत्यर्थः। षुञ् अभिषवे, लिट्, 'सुषुविम' इति प्राप्ते इडभावश्छान्दसः। हे **इन्द्र** परमात्मन्, राजन्, आचार्य, अतिथिप्रवर वा ! **इमम्** एतं समर्प्यमाणम् **सोमम्** श्रद्धाज्ञानकर्मोपासनाराजदेयकरसोमौषधिरसादिकम् **पिब** आस्वादय। संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः। अ० ६।३।१३५' इति दीर्घः। **इदम्** एतत् **मम** मदीयम् **बर्हिः** हृदयासनं, राज्यासनं, दर्भासनं वा **आ सदः**[1] आसीद। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु, लोडर्थे लुङि 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि। अ० ६।४।७५' इत्यडागमो न ।।७।।

अत्र श्लेषालङ्कारः ।।७।।

भावार्थः—सर्वैर्जनैः परमात्मानं हृदि प्रकाश्य स पूजनीयो, नृपत्याचार्योपदेशकसंन्यासिप्रभृतींश्चाहूय ते यथायोग्यं सत्करणीयाः ।।७।।

अगले मन्त्र में इन्द्र को सोमपानार्थ बुलाया जा रहा है।

पदार्थ—**आयाहि** आइए, **ते** आपके लिए, हमने **सुषुम हि** सोमरस को अभिषुत किया है अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान, कर्म, उपासना आदि के रस को निष्पादित किया है। हे **इन्द्र** परमात्मन्, राजन्, आचार्य, अतिथिप्रवर ! **इमम्** इस हमारे द्वारा समर्पित किए जाते हुए **सोमम्** श्रद्धा, ज्ञान, कर्म, उपासना, राजदेय कर, सोम ओषधि आदि के रस को **पिब** पीजिए। **इदम्** इस **मम** मेरे **बर्हिः** हृदयासन, राज्यासन अथवा कुशा के आसन पर **आ सदः** बैठिए ।।७।।

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है।७।।

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिए कि वे हृदय में परमात्मा को प्रकाशित कर उसकी पूजा करें और राजा, आचार्य, उपदेशक, संन्यासी आदि को बुलाकर यथायोग्य उनका सत्कार करें ।।७।।

अथ मित्रवरुणार्यम्णां रक्षणं याचमान आह।

१९२. **महि त्रीणामवरस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः**
दुराधर्षं वरुणस्य ।।८।।[2]
महि त्रीणाम् अवरिति अस्तु । द्युक्षम् द्युक्षम् मित्रस्य मित्रस्य अर्यम्णः ।।
दुराधर्षम् दुराधर्षम् वरुणस्य ।।८।।

पदार्थः—**प्रथमः** अध्यात्माधिदैवतः। ऋच इन्द्रदेवताकत्वाद् इन्द्रः सम्बोध्यः। हे इन्द्र परमैश्वर्यशालिन् जगदीश्वर ! तव कृपया **मित्रस्य**[3] अकालमरणाद् रक्षकस्य वायोः जीवात्मनो वा। मित्रः प्रमीतेस्त्रायते। निरु० १०।२१। **अर्यम्णः** यः ऋच्छति नियच्छत्याकर्षणेन पृथिव्यादीन् सोऽर्यमा सूर्यलोकः तस्य, इन्द्रियाणां नियन्तुः मनसो वा, **वरुणस्य** आच्छादकस्य मेघस्य, प्राणस्य वा, **त्रीणाम्** एतेषां त्रयाणाम्।

१. विवरणकारस्तु 'सदः सदसि मम स्वभूते वेद्याख्ये स्थाने' इत्याह। तत्तु स्वरविरुद्धम् तिङ्स्वरत्वात्। आसदः आसीद—इति भ०। आसीद अभिनिषीद—इति सा०।

२. ऋ० १०।१८५।१, य० ३।३१, देवता आदित्यः (स्वस्त्ययनम्)।

३. दयानन्दर्षिर्यजुर्भाष्ये मित्रशब्देन बाह्याभ्यन्तरस्थं प्राणम्, अर्यमशब्देन सूर्यलोकं, वरुणशब्देन च वायुं जलं च गृहीतवान्।

अत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति 'त्रेस्त्रयः । ७।१।५३' इत्यनेन प्राप्तः त्रेस्त्रयादेशो न । **महि** महत् द्युक्षम् द्यां तेजः क्षाययति निवासयतीति तादृशम्, **दुराधर्षम्** दुःखेनाधर्षितुं योग्यम्, दृढम् **अवः** रक्षणम् **अस्तु** अस्मान् प्राप्नोतु ।। संहितायाम् 'अवरस्तु' इत्यत्र 'अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि । अ० ८।२।७०' इत्यनेन 'अवस्' शब्दस्य सकारो रेफमापद्यते ।[1]

अथ **द्वितीयः** राष्ट्रपरः । हे इन्द्र प्रजाया दुःखविदारक सुखप्रदातः राजन् ! तव व्यवस्थया **मित्रस्य** मित्रभूतस्य शिक्षाध्यक्षस्य, **अर्यम्णः** श्रेष्ठैर्दुष्टैश्च जनैर्यो यथायोग्यं व्यवहरति तस्य न्यायाध्यक्षस्य, **वरुणस्य** पाशपाणेः शस्त्रास्त्रयुक्तस्य धनुर्वेदकुशलस्य सेनाध्यक्षस्य **त्रीणाम्** एतेषां त्रयाणाम् **महि** महत् **द्युक्षम्**[2] राजनीतिप्रकाशपूर्णम् । द्यौः राजविद्याप्रकाशः क्षियति निवसति अत्र तादृशम् । **दुराधर्षम्** दुष्प्रधर्षम्, दुर्जय्यम् **अवः** रक्षणम् **अस्तु** अस्मान् प्रजाजनान् प्राप्नोतु ।।८।।[3]

अत्र श्लेषालङ्कारः ।।८।।

भावार्थः—परमात्मानुशासने शरीराभ्यन्तरस्था आत्ममनोबुद्धिप्राणादयो बाह्याः सूर्यपवनपर्जन्यादयश्च, राजानुशासने च सर्वे राजमन्त्रिण इतरे राज्याधिकारिणश्च स्वकीयं स्वकीयं रक्षणादिकमस्मभ्यं प्रयच्छन्तु, येन वयमुत्कर्षाय प्रयतमानाः समस्तं प्रेयः श्रेयश्च प्राप्नुयाम ।।८।।

अगले मन्त्र में मित्र, वरुण और अर्यमा के रक्षण की याचना की गयी है ।

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्म और अधिदैवत पक्ष में । ऋचा का देवता इन्द्र होने से इन्द्र को सम्बोधन अपेक्षित है । हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली जगदीश्वर ! आपकी कृपा से **मित्रस्य** अकाल-मृत्यु से रक्षा करने वाले वायु और जीवात्मा का, **अर्यम्णः** अपने आकर्षण से पृथिवी आदि लोकों का नियन्त्रण करने वाले सूर्यलोक का तथा इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखने वाले मन का, और **वरुणस्य** आच्छादक मेघ का तथा प्राण का, **त्रीणाम्** इन तीनों का **महत्** महान्, **द्युक्षम्** तेज को निवास कराने वाला और **दुराधर्षम्** दुष्पराजेय, दृढ **अवः** रक्षण **अस्तु** हमें प्राप्त हो ।।

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में । हे **इन्द्र** प्रजा के कष्टों को दूर करने तथा सुख प्रदान करने वाले राजन् ! आपकी व्यवस्था से **मित्रस्य** सबके मित्र शिक्षाध्यक्ष का, **अर्यम्णः** श्रेष्ठों और दुष्टों के साथ यथायोग्य व्यवहार करने वाले न्यायाध्यक्ष का, और **वरुणस्य** पाशधारी, शस्त्रास्त्रयुक्त, धनुर्वेद में कुशल सेनाध्यक्ष का, **त्रीणाम्** इन तीनों का **महि** महान्, **द्युक्षम्** राजनीति के प्रकाश से पूर्ण, **दुराधर्षम्** दुष्पराजेय **अवः** रक्षण **अस्तु** हम प्रजाजनों को प्राप्त हो ।।८।।

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ।।८।।

भावार्थ—परमात्मा के अनुशासन में शरीरस्थ आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण आदि और बाह्य सूर्य, पवन, बादल आदि तथा राजा के अनुशासन में सब राजमन्त्री एवं अन्य राज्याधिकारी अपना-अपना रक्षण आदि हमें प्रदान करें, जिससे हम उत्कर्ष के लिए प्रयत्न करते हुए समस्त प्रेय और श्रेय को प्राप्त कर सकें ।।८।।

---

१. द्रष्टव्यम्—ऋक्तन्त्रप्रातिशाख्यम् । 'उभयथा भुवोऽम्नः ऊधरवः । ३।७।४ । भुवः, अम्नः, ऊधः, अवः एते उभयथा उभयप्रकारेण विसर्जनीयरूपेण रेफरूपेण वा वर्तन्ते (विवरणम्) ।

२. (द्युक्षम्) द्यौर्नीतिः प्रकाशः क्षियति निवसति यस्मिंस्तत्—इति य० ३।३१ भाष्ये द० ।

३. मित्रवरुणार्यम्णां स्वरूपं निर्वचनादिकं च १८५ संख्यकस्य मन्त्रस्य भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मा, जीवात्मा, विद्वांश्च सम्बोध्यते ।

१९३. त्वावतः पुरूवसो वयमिन्द्र प्रणेतः ।
स्मसि स्थातर्हरीणाम् ॥९॥[1]

त्वावतः पुरूवसो पुरु वसो । वयम् इन्द्र प्रणेतः प्र नेतरिति ॥
स्मसि स्थातः हरीणाम् ॥९॥

पदार्थः—हे **पुरूवसो** पुरु-वसो बहुधन । संहितायाम् 'अन्येषामपि दृश्यते । अ० ६।३।१३७ इति पूर्वपदान्तस्य दीर्घः । **प्रणेतः** प्रकृष्ट नायक । प्रनेतः, 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य । अ० ८।४।१४' इति नस्य णत्वम् । **हरीणाम्** आकर्षणगुणयुक्तानां पृथिवीसूर्यादिलोकानाम् यद्वा विषयेषु हरणशीलानाम् इन्द्रियाणाम्, यद्वा वहनशीलानां विमानादियानानाम् **स्थातः**[2] अधिष्ठातः **इन्द्र** परमात्मन्, जीवात्मन्, विद्वन् वा ! **वयम्** मनुष्याः **त्वावतः** त्वत्सदृशस्य तव । त्वत्सदृशस्य कस्यचिद् उपमानस्य जगत्यभावात् त्वं त्वत्सदृश एवासि, तादृशस्य तवेत्यर्थः । त्वमिव इति त्वावान्, तस्य त्वावतः । 'युष्मदस्मदोः सादृश्ये वतुब् वाच्यः । अ० ५।२।३९' वा० इति युष्मच्छब्दात् सादृश्यार्थे वतुप् । मपर्यन्तस्य त्वादेशे 'आ सर्वनाम्नः । अ० ६।३।९१' इति दकारस्याऽऽकारः । **स्मसि** स्मः । अत्र 'इदन्तो मसि । अ० ७।१।४६' इति मसः इकारागमः ॥९॥

अत्र श्लेषः । 'त्वावतः **तव**' इत्यत्र 'राजीवमिव राजीवम्' इत्यादिवद् अनन्वयालङ्कारः[3] ॥९॥

भावार्थः—जगति विकीर्णानां सर्वेषां धनानां स्वामी, सर्वेषां नेता, सूर्यादिलोकानामधिष्ठाताऽनुपमः परमेश्वरो यथा सर्वेषां वन्द्यस्तथा बहुज्ञानकर्मादिधनो, मार्गप्रदर्शको, ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां, प्राणमनोबुद्ध्यादीनामधिष्ठाताऽद्वितीयो जीवात्माऽपि सर्वैः सेवनीयः । तथैव वेगेन हरणशीलानां विमानादीनां निर्माणचालनकुशलो विविधविद्यापारंगतः शिल्पशास्त्रविद् विद्वानपि जनैरुपसेव्यः ॥९॥

अत्रेन्द्रसम्बद्धानां वरुणमित्रार्यम्णां रक्षणप्रार्थनाद्, इन्द्रस्य गवां प्रशंसनाद्, इन्द्रतो गवाश्वादीनां प्रार्थनाद्, इन्द्रस्य सरस्वत्या आह्वानाद्, इन्द्रस्तुतिगानाद्, इन्द्रनाम्ना नृपविद्वदाचार्यादीनामपि विषयस्य वर्णनाच्चैतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्ति ॥

इति द्वितीये प्रपाठके द्वितीयार्धे पञ्चमी दशतिः ।
समाप्तश्चायं द्वितीयः प्रपाठकः ॥
इति द्वितीयाध्यायेऽष्टमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा, जीवात्मा और विद्वान् को सम्बोधन किया गया है ।

पदार्थ—हे **पुरूवसो** बहुत धनी, **प्रणेतः** उत्कृष्ट नेता, **हरीणाम्** आकर्षणगुणयुक्त पृथिवी-सूर्य आदि लोकों के, अथवा विषयों की ओर ले जाने वाली इन्द्रियों के, अथवा सवारी देने वाले विमान आदि यानों के **स्थातः** अधिष्ठाता **इन्द्र** परमात्मन्, जीवात्मन् व विद्वन् ! **वयम्** हम मनुष्य **त्वावतः** तुझ जैसे किसी अन्य के न होने के कारण जो तू तुझ जैसा ही है ऐसे तुझ अद्वितीय के **स्मसि** हो गये हैं ॥९॥

---

१. ऋ० ८।४६।१, ऋषिः वशोऽश्व्यः ।

२. हे स्थातः अधिष्ठातः—इति वि०, भ०, सा० ।

३. उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः । सा० द० १०।२६ इति तल्लक्षणात् ।

इस मन्त्र में श्लेष है। 'त्वावतः' में 'कमल कमल के समान है' इत्यादि के सदृश अनन्वय अलंकार है ॥९॥

भावार्थ—संसार में बिखरे हुए सब धनों का स्वामी, सबका नेता, सूर्य-आदि लोकों का अधिष्ठाता, अनुपम परमेश्वर जैसे सबका वन्दनीय है, वैसे ही बहुत से ज्ञान, कर्म आदि धनों का स्वामी, मार्गप्रदर्शक, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय एवं प्राण, मन, बुद्धि आदि का अधिष्ठाता जीवात्मा भी सबसे सेवनीय है। उसी प्रकार वेग से यात्रा कराने वाले विमान आदियों के निर्माण और चलाने में कुशल, विविध विद्याओं में पारंगत, शिल्पशास्त्र के वेत्ता विद्वान् भी मनुष्यों द्वारा सेवनीय हैं ॥९॥

इस दशति में इन्द्र से सम्बद्ध वरुण, मित्र और अर्यमा के रक्षण की प्रार्थना होने से, इन्द्र की गौओं की प्रशंसा होने से, इन्द्र से गाय, अश्व आदि की याचना होने से, इन्द्र की सरस्वती का आह्वान होने से, इन्द्र का स्तुतिगान होने से तथा इन्द्र नाम से राजा, विद्वान्, आचार्य आदि का भी विषय वर्णित होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

द्वितीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की पाँचवीं दशति समाप्त।
यह द्वितीय प्रपाठक सम्पूर्ण हुआ ॥
द्वितीय अध्याय में अष्टम खण्ड समाप्त ॥

अथ तृतीयः प्रपाठकः

॥१॥ 'उत् त्वा मन्दन्तु' इत्याद्यायाः दशतेः ऋषयः—१ प्रगाथः; २ विश्वामित्रः; ३, १० वामदेवः; ४, ६ श्रुतकक्षः, ५ मधुच्छन्दाः; ७ गृत्समदः; ८, ९ भरद्वाजः ॥ देवता इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अथेन्द्रः सोमरसैः प्रहृष्टः सन् किं कुर्यादित्याह।

१९४. उत्त्वा मन्दन्तु सोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः।
अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥१॥[1]
उत् त्वा मन्दन्तु सोमाः। कृणुष्व राधः अद्रिवः अ द्रिवः ॥
अव ब्रह्मद्विषः ब्रह्म द्विषः जहि ॥१॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। हे इन्द्र परमात्मन्! **सोमाः** अस्माभिरभिषुताः श्रद्धारसा ज्ञानरसाः कर्मरसाश्च **त्वा** त्वाम् **उत् मन्दन्तु**[2] उत्कृष्टतया आनन्दयन्तु। मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु, अन्तर्णीतण्यर्थः। परस्मैपदं छान्दसम्। हे **अद्रिवः** मेघानां स्वामिन् वृष्टिकर्तः। अद्रिः इति मेघ-

१. ऋ० ८।६४।१, अथ० २०।९३।१, साम० १३५४।

२. मदी हर्षे, मद तृप्तौ इत्यस्य वेदं रूपम्। मदिश्चान्तर्णीतण्यर्थो द्रष्टव्यः। मदयन्तु हर्षयन्तु तर्पयन्तु वेत्यर्थः—इति वि०। उत् अधिकं मन्दन्तु मोदयन्तु—इति भ०।

नाम । निघं० १।१० । ततो मतुप् । अद्रयो मेघा अस्य सन्तीति अद्रिवान् । 'छन्दसीरः । अ० ८।२।१५' इति मतुपो मकारस्य वत्वम् । सम्बुद्धौ 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि । अ० ८।३।१ इति नकारस्य रुः आदेशः । त्वमस्मभ्यम् **राधः** अहिंसासत्यास्तेयधारणाध्यानसमाधियोगसिद्ध्यादिकम् आध्यात्मिकम् ऐश्वर्यम् । राधस् इति धननाम । निघं० २।१० । **कृणुष्व** प्रदेहि, **ब्रह्मद्विषः** ब्रह्मविरोधिनः कामक्रोधनास्तिकत्वादीन् मानसान् रिपून् **अवजहि** अवपातय ॥

अथ **द्वितीयः** राजपरः । हे इन्द्र राजन् ! **सोमाः** वीररसाः[1] **त्वा** त्वाम् **उत् मन्दन्तु** उद्धर्षयन्तु उत्साहयन्तु । हे **अद्रिवः** वज्रवन्, विविधशस्त्रास्त्रसज्जित, धनुर्वेदपारंगत राजन् ! त्वं प्रजाभ्यः **राधः** सर्वविधं धनधान्यादिकम् **कृणुष्व** उत्पादय, प्रदेहि वा । **ब्रह्मद्विषः** ईश्वरविरोधिनो विद्याविरोधिनः सत्यविरोधिनो धर्मविरोधिनो न्यायविरोधिनः प्रजाविरोधिनश्च दस्युतस्करादीन् **अवजहि** विनाशय ॥१॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—उपासितः परमेश्वरो वीररसैरुत्साहितो राजा च प्रजानामुपरि भौतिकाध्यात्मिकसम्पदां वृष्टिं करोति, ब्रह्मद्विषः शत्रूंश्च दण्डयति हिनस्ति वा । अतः सर्वैः परमेश्वर उपासनीयो राजा च सत्करणीयः प्रोत्साहनीयश्च ॥१॥

प्रथम मन्त्र में यह वर्णन है कि इन्द्र सोमरस से प्रसन्न होकर क्या करे ।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में । हे इन्द्र परमात्मन् ! **सोमाः** हमारे द्वारा अभिषुत श्रद्धारस, ज्ञानरस और कर्मरस **त्वा** तुझे **उत् मन्दन्तु** अत्यधिक आनन्दित करें । हे **अद्रिवः** मेघों के स्वामिन् ! वर्षा करने वाले ! तू हमारे लिए **राधः** अहिंसा, सत्य, अस्तेय, धारणा, ध्यान, समाधि, योगसिद्धि आदि आध्यात्मिक ऐश्वर्य **कृणुष्व** प्रदान कर । **ब्रह्मद्विषः** ब्रह्मविरोधी काम, क्रोध, नास्तिकता आदि मानसिक शत्रुओं को **अवजहि** मार गिरा ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में । हे इन्द्र राजन् ! **सोमाः** वीर-रस **त्वा** तुझे **उत् मन्दन्तु** उत्साहित करें । हे **अद्रिवः** वज्रधारी, विविध शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित, धनुर्वेद में पारंगत राजन् ! तू प्रजाओं के लिए **राधः** सब प्रकार के धनधान्यादि **कृणुष्व** उत्पन्न कर, प्रदान कर । **ब्रह्मद्विषः** ईश्वरविरोधी, विद्याविरोधी, सत्यविरोधी, धर्मविरोधी, न्यायविरोधी एवं प्रजाविरोधी डाकू, चोर आदियों को **अवजहि** विनष्ट कर ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१॥

भावार्थ—उपासना किया हुआ परमेश्वर और वीर-रसों से उत्साहित राजा प्रजाओं के ऊपर भौतिक व आध्यात्मिक सम्पत्तियों की वर्षा करते हैं और ब्रह्मद्वेषी शत्रुओं को विनष्ट करते हैं । इसलिए सबको परमेश्वर की उपासना करना और राजा का सत्कार करना तथा उसे प्रोत्साहित करना उचित है ॥१॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मा गुरुश्च प्रार्थ्यते ।

१९५. गि॒र्वणः॑ पा॒हि नः॑ सु॒तं मधो॑र्धाराभिरज्यसे ।
इन्द्र॒ त्वादा॑तमिद्यशः ॥२॥[2]

१. (सोमम्) वीररसादिकम्—इति ऋ० १।४७।३ भाष्ये द० ।
२. ऋ० ३।४०।६, अथ० २०।६।६ ।

निर्वणः गिः वनः पाहि नः सुतम् । मधोः धाराभिः अज्यसे ॥
इन्द्र त्वादातम् त्वा दातम् इत् यशः ॥२॥

पदार्थः—हे **गिर्वणः**[1] गीर्भिः स्तुतिवाग्भिः आदरवचनैर्वा वननीय संसेव्य याचनीय वा परमात्मन् आचार्य वा ! त्वम् **नः** अस्माकम् **सुतम्** अभिषुतम् अर्जितं ज्ञानरसं विविधविद्याविज्ञानम् **पाहि** रक्ष । त्वम् **मधोः** मधुरस्य ज्ञानराशेः **धाराभिः** प्रवाहैः **अज्यसे** संसिक्तोऽसि, अगाधज्ञानविज्ञानराशेः सागरोऽसीत्यर्थः । अज गतिक्षेपणयोः । गतिरत्र संसेचनमभिप्रेतम् । **इन्द्र** हे ज्ञानैश्वर्यवन् परमात्मन् आचार्य वा ! **त्वादातम्** त्वया दातं शोधितं, संशोध्य धवलीकृतम् । दातम् इति दैप् शोधने धातोर्निष्ठायां रूपम् । ततो युष्मद्-दातपदयोः समासः । **इत्** एव **यशः** विविधविद्यासदाचरणसमुत्पन्नं कीर्तिजातम् 'नः अस्तु' इति शेषः । यद्वा, हे परमात्मन् आचार्यप्रवर वा ! **यशः** तपोब्रह्मचर्यवैदुष्यव्रतपालनादिजन्यं कीर्तिजातम् **त्वादातम्**[2] **इत्** त्वयैव दातव्यमस्ति, तत् त्वं देहीत्यर्थः । त्वादातम् त्वया दातव्यम् इति निरुक्तम् ।४।४ ॥२॥[3]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—गुरुकुलेऽधीयानाश्छात्रा आचार्यं प्रार्थयन्ते यद् भो आचार्यप्रवर ! त्वमगाधपाण्डित्य-निधिः शिक्षणकलायां च परमप्रवीणोऽसि । भ्रान्त्यपूर्णतादिदोषैर्निर्मुक्तं स्वच्छं ज्ञानमस्मदभ्यन्तरे प्रवाहय, स्थिरं च कुरु । तदैवास्माकं धवलं यशः सर्वत्र प्रसरिष्यति । तथैव समग्रविद्याविद्योतितः स्वच्छज्ञाननिधिः परमात्मापि प्रार्थ्यते । तदेव यशो वस्तुतत्त्वेन यशोऽस्ति यत् परमात्मन आशीर्वादेन धवलितं भवति ॥२॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और गुरु से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **गिर्वणः** स्तुतिवाणियों व आदरवचनों से सेवनीय वा याचनीय परमात्मन् अथवा आचार्यप्रवर ! आप **नः** हमारे **सुतम्** अर्जित ज्ञानरस की अर्थात् विविध विद्याओं के विज्ञान की **पाहि** रक्षा कीजिए । आप **मधोः** मधुर ज्ञानराशि की **धाराभिः** धाराओं से **अज्यसे** सिक्त हैं । **इन्द्र** हे ज्ञानैश्वर्य से सम्पन्न परमात्मन् वा आचार्यप्रवर ! **त्वादातम्** आपके द्वारा शोधित, शोधन द्वारा धवलीकृत **इत्** ही **यशः** विविध विद्याओं एवं सदाचार से समुत्पन्न कीर्ति, हमें प्राप्त हो । अथवा, हे परमात्मन् अथवा आचार्यप्रवर ! **यशः** तप, ब्रह्मचर्य, विद्वत्ता, व्रतपालन आदि से उत्पन्न होने वाली कीर्ति **त्वादातम् इत्** आपके द्वारा ही हमें दातव्य है ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ—गुरुकुल में अध्ययन कर रहे शिष्य आचार्य से प्रार्थना करते हैं कि हे आचार्यप्रवर ! आप अगाध पाण्डित्य के खजाने और शिक्षणकला में परम प्रवीण हैं । आप भ्रान्ति, अपूर्णता आदि दोषों से रहित स्वच्छ ज्ञान हमारे अन्दर प्रवाहित कीजिए और उसे स्थिर कर दीजिए । तभी हमारा उज्ज्वल यश सर्वत्र फैलेगा । सम्पूर्ण विद्याओं से भासित, स्वच्छ ज्ञान की निधि परमात्मा से भी वैसी ही प्रार्थना की गयी है । वही यश वस्तुतः यश है, जो परमात्मा के आशीर्वाद से धवल हुआ हो ॥२॥

---

१. द्रष्टव्यम्—१६५ संख्यकमन्त्रस्य भाष्यम् ।
२. त्वादातम् त्वया दत्तम्—इति वि०, भ० । त्वया शोधितं विशदीकृतम्—इति सा० ।
३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणाऽयं मन्त्रो राजप्रजापक्षे व्याख्यातः ।

अथ परमेश्वरस्य नृपतेश्च वरणविषयमाह ।

१९६. सदा व इन्द्रश्चर्कृषदा उपो नु स सपर्यन् ।
न देवो वृतः शूर इन्द्रः ॥३॥
सदा वः इन्द्रः चर्कृषत् आ । उप उ नु सः सपर्यन् ॥
न देवः वृतः शूरः इन्द्रः ॥३॥

पदार्थः—हे जनाः ! **सदा** सर्वदा **वः** युष्मान् यः **इन्द्रः** परमेश्वरः सुयोग्यो जनो वा **आ**[1] **चर्कृषत्**[2] अतिशयेन पुनः पुनः कर्मसु प्रेरयेत् । कृष विलेखने धातोर्यङ्लुगन्ताल्लेटि रूपम् । यद्वा डुकृञ् करणे धातोर्णिजन्ताद् यङ्लुगन्ताल्लेटि 'सिब्बहुलं लेटि । अ० ३।१।३४' इति सिबागमे रूपम् । **उप उ** उपेत्य च **नु** क्षिप्रम् । नु इति क्षिप्रनाम । निघं० २।१५ । **सः** असौ **सपर्यन्** युष्मान् सत्कुर्वन्, प्रेम्णा युष्मभ्यं शुभकर्मार्थं साधुवादं प्रोत्साहनं च प्रयच्छन् भवेत्, तादृशः **देवः** दिव्यगुणकर्मस्वभावः **शूरः** वीरः **इन्द्रः** परमेश्वरः सुयोग्यो जनो वा **वृतः न**[3] युष्माभिर्नेतृत्वेन राजत्वेन वा स्वीकृतो न ? वरणाभावे कथं पूर्वोक्ता लाभाः स्युः ? अतोऽवश्यं स वरणीय इति भावः ॥३॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—यथा वृतः परमेश्वरो जनान् पुरुषार्थे प्रवर्तयति, शुभकर्मकारिणश्च साधुवादेन समुत्साहयति, तथैव प्रजाभिर्निर्वाचितो राजा प्रजाभ्यः कुर्यात् ॥३॥

अगले मन्त्र में पमेश्वर और राजा के वरण का विषय है ।

पदार्थ—हे मनुष्यो ! **सदा** हमेशा **वः** तुम्हें, जो **इन्द्रः** परमेश्वर वा सुयोग्य जन **आ चर्कृषत्** अतिशय बार-बार कर्मों में प्रेरित करे, और **उप उ** समीप आकर **नु** शीघ्र ही **सः** वह **सपर्यन्** तुम्हारा सत्कार करे, प्रेम से तुम्हें शुभ कर्मों के लिए साधुवाद और प्रोत्साहन प्रदान करे, वैसा **देवः** दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव वाला **शूरः** वीर **इन्द्रः** परमेश्वर वा सुयोग्य मनुष्य **वृतः न** तुमने अभी तक नेता रूप में या राजा रूप में वरा नहीं है ? बिना वरे पूर्वोक्त लाभ कैसे मिल सकते हैं ? अतः अवश्य ही उसका वरण करो ॥३॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥३॥

भावार्थ—जैसे वरण किया हुआ परमेश्वर मनुष्यों को पुरुषार्थ में प्रवृत्त करता है और शुभ कर्म करने वालों को साधुवाद देकर उत्साहित करता है, वैसे ही प्रजाओं द्वारा चुना गया राजा प्रजाओं के लिए करे ॥३॥

---

१. आ उप उ नु चत्वारोऽप्येते पादपूरणाः—इति वि० ।

२. चर्कृषत् अत्यर्थं करोति, पुनः पुनर्वा करोति । किम् ! उच्यते । बलं पुष्टिं हिरण्यं दीर्घं च जीवितम्—इति वि० । आचर्कृषत् आ करोतु, भृशं करोतु । करोतेः यङ्लुकि पञ्चमलकारान्तः चर्कृषदिति । आकरणम् आनयनम्, उपो उप समीपे—इति भ० ।

३. न शब्द उपरिष्टादुपचारत्वादुपमार्थीयः, परिचरन्निव—इति वि० । तत्तु चिन्त्यम्, यतो द्वितीयपादसमाप्तौ विरामानन्तरं तृतीयपादादौ प्रयुक्तो न शब्दः 'सपर्यन्' इत्यतः सम्बन्धमुपपादयितुं नार्हतीति । न वृतः न वारितः केनचित्—इति भ० । सायणेन तु न इत्यस्य स्थाने 'नः' इति पाठं मत्वा व्याख्यातम्, तदपि चिन्त्यं कुत्रापि 'नः' इति पाठस्यानुपलम्भात् ।

अथ परमात्मस्तुतिविषयमाह ।

१९७. **आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः ।**
न त्वामिन्द्राति रिच्यते ॥४॥[1]
आ त्वा विशन्तु इन्दवः । समुद्रम् सम् उद्रम् इव सिन्धवः ॥
न त्वाम् इन्द्र अति रिच्यते ॥४॥

पदार्थः—**इन्दवः** चन्द्रकिरणवदाह्लादकाः मदीयाः स्तुतिरूपाः सोमाः **त्वा** त्वां परमेश्वरम् **आ विशन्तु** प्रविशन्तु, प्राप्नुवन्तु, **सिन्धवः** स्यन्दमानाः नद्यः **समुद्रम् इव** यथा समुद्रम् आ विशन्ति प्राप्नुवन्ति । हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन् दुःखविदारक सुखप्रदायक परमात्मन् ! **त्वाम्** अनुपमं भवन्तम् कश्चित् **न अतिरिच्यते** न अतिशेते, महिम्ना त्वत्तोऽधिकतरो न भवतीत्यर्थः ॥४॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥४॥

भावार्थः—यथा नद्यो रत्नाकरं प्राप्य रत्नमण्डिता जायन्ते, तथा सर्वाः प्रजाः स्तुत्या गुणरत्ननिधानं परमेश्वरं प्राप्य गुणानां निधयो भवन्तु ॥४॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की स्तुति का विषय है ।

पदार्थ—**इन्दवः** चन्द्र-किरणों के सदृश आह्लादक मेरे स्तुतिरूप सोम **त्वा** तुझ परमेश्वर को **आ विशन्तु** प्राप्त करें, **सिन्धवः** नदियाँ **समुद्रम् इव** जैसे समुद्र को प्राप्त करती हैं । हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन्, दुःखविदारक, सुखदाता परमात्मन् ! **त्वाम्** तुझसे, कोई भी **न अतिरिच्यते** महिमा में अधिक नहीं है ॥४॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥४॥

भावार्थ—जैसे नदियाँ रत्नाकर समुद्र को प्राप्त करके रत्नों से मण्डित हो जाती हैं, वैसे ही सब प्रजाएँ स्तुति द्वारा गुण-रूप रत्नों के खजाने परमेश्वर को प्राप्त करके गुणों की निधि हो जाएँ ॥४॥

अथ सर्वेषामिन्द्रस्तोतृत्वमाह ।

१९८. **इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः**
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥५॥[2]
इन्द्रम् इत् गाथिन : बृहत् । इन्द्रम् अर्केभिः अर्किणः ॥
इन्द्रम् वाणीः अनूषत ॥५॥

पदार्थः—**इन्द्रम्** महान्तं परमेश्वरम् **इत्** एव **गाथिनः** सामगानकर्तारः उद्गातारः । गै शब्दे धातोः 'उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन् । उ० २।४' इति थन् प्रत्यये गाथः । गाथः सामगानं येषामस्तीति ते गाथिनः । **इन्द्रम्** तमेव महान्तं परमेश्वरम् **अर्केभिः**[3] अर्कैः वेदमन्त्रैः । अर्को मन्त्रो भवति यदेनेन अर्चन्ति । निरु० ५।४। अर्कैः इति प्राप्ते 'बहुलं छन्दसि । अ० ७।१।१०' इति भिस ऐसादेशो न । **अर्किणः** मन्त्रपाठिनो होतारः,

---

१. ऋ० ८।९२।२२, ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा । साम० १६६० ।

२. ऋ० १।७।१, अथ० २०।३८।४, ४७।४, ७०।७, साम० ७९६ ।

३. (अर्केभिः) अर्चनसाधकैः सत्यभाषणादिभिः शिल्पविद्यासाधकैः कर्मभिः मन्त्रैश्च—इति ऋ० १।७।१ भाष्ये द० ।

इन्द्रम् तमेव च महान्तं परमेश्वरम् **वाणीः**[1] अन्येषामपि जनानां वाण्यः **बृहत्**[2] बहु **अनूषत** अनाविषुः स्तुवन्ति । णु स्तुतौ धातोः कालसामान्ये लुङ् । व्यत्ययेनात्मनेपदम् । छान्दसं रूपम् ॥५॥[3]

भावार्थः—परमैश्वर्यवान्, दुःखदारिद्र्यविदारकः, सुखसम्पत्प्रदाता, धार्मिकाणां प्रशंसकः, कुकर्मणां विद्रावकः, सकलगुणनिधिः, सद्गुणाधायकः परमात्मैव सर्वजनवन्दनीयोऽस्ति । स एव सामगानेन मन्त्रपाठादिना च स्तोतव्यः ॥५॥

अगले मन्त्र में सबके द्वारा इन्द्र की स्तुति किया जाना वर्णित है ।

पदार्थ—**इन्द्रम्** महान् परमेश्वर की **इत्** ही **गाथिनः** सामगान करने वाले उद्गाता लोग, **इन्द्रम्** उसी महान् परमेश्वर की **अर्केभिः** वेदमन्त्रों द्वारा **अर्किणः** मन्त्रपाठी होता लोग स्तुति करते हैं । और **वाणीः** अन्य जनों की वाणियाँ भी **इन्द्रम्** उसी महान् परमेश्वर की **बृहत्** बहुत अधिक **अनूषत** स्तुति करती हैं ॥५॥

भावार्थ—परमैश्वर्यवान्, दुःख-दरिद्रता का मिटानेवाला, सुख-सम्पत्ति का प्रदाता, धर्मात्माओं का प्रशंसक, कुकर्मियों का विध्वंसक, समस्त गुण-गणों का खजाना, सद्गुणों का आधान करनेवाला परमात्मा ही सब मनुष्यों से वन्दना किये जाने योग्य है । उसी की सामगान से और वेद-मन्त्रों के पाठ आदि से स्तुति करनी चाहिए ॥५॥

अथेन्द्रोऽस्मभ्यं किं किं ददात्विति प्रार्थ्यते ।

१ २ ३,१ २ ३ १ २,३ २ ३,२
१९९. इन्द्र इषे ददातु न ऋभुक्षणमृभुं रयिम् ।
३ १ ३ ३ १२
वाजी ददातु वाजिनम् ॥६॥[4]

१,२,३ २,३ १ २ ३ १,२,३ २,३ ३,२
इन्द्रः इषे ददातु नः । ऋभुक्षणम् ऋभु क्षणम् ऋभुम् ऋ भुम् रयिम् ॥
३ २ ३ १२
वाजी ददातु वाजिनम् ॥६॥

पदार्थः—**इन्द्रः** सर्वैश्वर्यनिधिः सर्वैश्वर्यप्रदानक्षमः परमेश्वरः **इषे** राष्ट्रस्य प्रगतये, अभ्युदयाय, अभीष्टसिद्धये, निःश्रेयसस्य च प्राप्तये । इष गतौ दिवादिः, इषु इच्छायाम् तुदादिः । भावे क्विप् प्रत्ययः । **नः** अस्मभ्यम् **ऋभुम्** उरु भान्तम्, ऋतेन भान्तम्, ऋतेन भवन्तं वा मेधाविनं विद्वांसं ब्राह्मणम् । ऋभुः इति मेधाविनाम । निघं० ३।१५। ऋभवः उरु भान्तीति वा, ऋतेन भान्तीति वा, ऋतेन भवन्तीति वा । निरु० ११।१६ । **ऋभुक्षणम्** यः ऋभून् मेधाविनः क्षाययति निवासयति तम्[5], महान्तम् । ऋभुपूर्वः क्षि

---

१. वाणीभिः यज्ञलक्षणाभिर्वाग्भिः—इति वि० । वाण्यः सर्वाः—इति भ० । ये त्ववशिष्टा अध्वर्यवः ते वाणीः वाग्भिर्यजूरूपाभिः—इति सा० । वाणीः वेदचतुष्टयीः—इति ऋ १।७।१ भाष्ये द० ।

२. बृहन्नाम्ना महता वा—इति वि० । बृहन्तमिति वा बृहता साम्ना इति वा—इति भ० । 'त्वामिद्धि हवामहे' इत्यस्यामृच्युत्पन्नेन बृहन्नामकेन साम्ना—इति सा० । बृहत् महान्तम् । अत्र 'सुपां सुलुक्' इत्यमो लुक् इति ऋग्भाष्ये द० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणाऽस्य मन्त्रस्य व्याख्याने प्रथमेन इन्द्रशब्देन परमेश्वरः, द्वितीयेन सूर्यः, तृतीयेन च महाबलवान् वायुर्गृहीतः ।

४. ऋ० ८।९३।३४, ऋषिः सुकक्षः, देवता इन्द्रः ऋभवश्च ।

५. अयमर्थः ऋ० १।१११।४ इत्यस्य दयानन्दभाष्याद् गृहीतः ।

निवासगत्योः तुदादिः। ऋभुक्षा इति महन्नाम। निघं० ३।३। **रयिम्**[1] धनं च। रयिः इति धननाम। निघं० २।१०। **ददातु** प्रयच्छतु। **वाजी** बलवान् सः। वाज इति बलनाम। निघं० २।९। **वाजिनम्** बलवन्तं राष्ट्ररक्षाकुशलं क्षत्रियम् **ददातु** प्रयच्छतु। यथोक्तमन्यत्रापि—"आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्।" य० २२।२२ इति ॥६॥

अत्र 'ददातु, ऋभु' इत्यनयोः पुनरुक्तौ लाटानुप्रासोऽलङ्कारः। 'वाजी, वाजि' इत्यत्र च छेकानुप्रासः ॥६॥

भावार्थः—परमेशकृपयाऽस्माकं राष्ट्रे सत्यशीला उपदेशकुशला मेधाविनो विज्ञानवन्तो ब्रह्मवर्चस्विनो ब्राह्मणाः, बलवन्तो धनुर्विद्यापारंगता अतिव्याधयो महारथा राष्ट्ररक्षणक्षमा विजयशीलाः शूराः क्षत्रियाः, कृषिव्यापारप्रवीणा धनवन्तो दानशीला वैश्याश्च जायन्ताम्। सर्वे राष्ट्रवासिनो रयीणां पतयो भूत्वा प्रगतिमभ्युदयं च प्राप्नुवन्तः सानन्दं धर्मपूर्वकं जीवनं यापयन्तो निःश्रेयसाय प्रयतेरन् ॥६॥

अगले मन्त्र में इन्द्र हमें क्या-क्या दे, इसकी प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—**इन्द्रः** सब ऐश्वर्यों का खजाना और सब ऐश्वर्य प्रदान करने में समर्थ परमेश्वर **इषे** राष्ट्र की प्रगति, अभ्युदय, अभीष्टसिद्धि और मोक्ष की प्राप्ति के लिए **नः** हमें **ऋभुम्** अति तेजस्वी, सत्य से भासमान, सत्यनिष्ठ, मेधावी, विद्वान् ब्राह्मण और **ऋभुक्षणम्** मेधावियों का निवासक, महान् **रयिम्** धन **ददातु** प्रदान करे। **वाजी** बलवान् वह **वाजिनम्** बली, राष्ट्ररक्षाकुशल क्षत्रिय **ददातु** प्रदान करे ॥६॥

इस मन्त्र में 'ददातु' और 'ऋभु' शब्दों की पुनरुक्ति में लाटानुप्रास अलंकार है। 'वाजी, वाजि' में छेकानुप्रास है ॥६॥

भावार्थ—परमेश्वर की कृपा से हमारे राष्ट्र में सत्यशील, उपदेशकुशल, मेधावी, विज्ञानवान्, ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण; बली, धनुर्विद्या में पारंगत, रोगों से आक्रान्त न होनेवाले, महारथी, राष्ट्ररक्षा में समर्थ, विजयशील शूरवीर क्षत्रिय और कृषि एवं व्यापार में प्रवीण, धनवान्, दानशील वैश्य उत्पन्न हों। सब राष्ट्रवासी धनपति होकर प्रगति और अभ्युदय को प्राप्त करते हुए आनन्द के साथ धर्मपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए मोक्ष के लिए प्रयत्न करते रहें ॥६॥

अथेन्द्रं भयान्मुक्तिं प्रार्थयते।

२००. इन्द्रो॒ अङ्ग॑ महद्भ॒यमभी षदप॑ चुच्यवत्।
स हि स्थिरो॑ विचर्षणिः ॥७॥[2]
इन्द्रः॑ अङ्ग॑ महत् भ॒यम्। अ॒भि सत् अप॑ चुच्यवत्॥
सः॑ हि स्थिरः॑ विचर्षणिः॑ वि॒ चर्षणिः॑ ॥७॥

---

१. ऋभुक्षणं महान्तम् ऋभुं मेधाविनं रयिं पुत्रलक्षणं च धनम्—इति वि०। सायणेन, वैकल्पिकत्वेन भरतस्वामिनापि च सुधन्वनः पुत्रस्य ऋभोः पक्षेऽपि व्याख्यातम्।

२. ऋ० २।४१।१०, अथ २०।२०।५, ५७।८।

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । **अङ्ग**[1] हे भद्र ! **इन्द्रः** विघ्नविदारकः सिद्धिप्रदाता परमेश्वरः **अभि सत्**[2] अभिभवत्, **महत्** विपुलम् **भयम्** विपज्जन्यं, कामक्रोधादिशत्रूत्पीडनजन्यं, जन्म-मरणजन्यं वा त्रासम् **अप चुच्यवत्** भृशम् अपच्यावयेत् । च्युङ् गतौ धातोर्यङ्लुगन्तस्य लेटि रूपम् । **हि** यस्मात् **सः** परमेश्वरः **स्थिरः** भयैरनुद्विग्नः स्थिरमतिः, **विचर्षणिः** भयनिवारणोपायानां द्रष्टा दर्शयिता च, वर्तते इति शेषः । विचर्षणिः इति पश्यतिकर्मसु पठितम् । निघं० ३।११ ।

अथ **द्वितीयः** सूर्यपरः । **अङ्ग** हे भद्र ! **इन्द्रः** तमोविदारकः प्रकाशप्रदाता सूर्यः **अभि सत्** अभिभवत् उद्वेजनकारि, **महत्** विपुलम् **भयम्** रोगजन्यं, व्याघ्रादिहिंस्रजन्तुजन्यम्, आशङ्कितपृथिव्यादिग्रहोपग्रहसंघट्टजन्यम् एवमादिप्रकारकं भीतिसमूहम् **अपचुच्यवत्** अपच्यावयति, **हि** यस्मात् **सः** असौ सूर्यः **स्थिरः** आकर्षणद्वारा गगने स्थिरः, स्वधुरि एव भ्रमणशीलत्वात् स्थानान्तरगतिरहितः, **विचर्षणिः** प्रकाशप्रदानेन सर्वेषां दर्शयिता चास्ति ॥[3]

अथ **तृतीयः** राष्ट्रपरः । **अङ्ग** हे भद्र !**इन्द्रः** परमैश्वर्यवान्, शत्रुविदारकः, प्रजानां सुखसम्पत्प्रदाता राजा सेनापतिर्वा **अभि सत्** राष्ट्रेऽभिव्याप्यमानम्, **महत्** विस्तीर्णम् **भयम्** आन्तरिकबाह्यशत्रुकर्तृकं प्रतारणलुण्ठनबन्धनहिंसनविप्लवराजविद्रोहादिजन्यं त्रासम् **अप चुच्यवत्** दूरीकुर्यात्, **हि** यस्मात् **सः** असौ **स्थिरः** स्वपदे ध्रुवः, **विचर्षणिः** चारचक्षुर्भिः स्वराष्ट्रजातस्य शत्रुराष्ट्रजातस्य च निखिलस्यापि वृत्तस्य विशेषरूपेण द्रष्टा च विद्यते ॥७॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥७॥

भावार्थः—कदाचित् कामक्रोधादिरिपुजन्यं भयं, कदाचिद् दुर्भिक्षनद्यापूरसंक्रामकरोगादिजन्यं भयं, कदाचिन्मानवीयविपज्जन्यं भयं, कदाचिद् व्याघ्रादिहिंस्रजन्तुजन्यं भयं, कदाचित् प्रतिवेशिशत्रुराष्ट्रजन्यं भयं, कदाचित् स्तेनलुण्ठकवञ्चकघातकादिजन्यं भयं, कदाचिज्जन्ममरणचक्रजन्यं भयं मनुष्यानुद्वेजयति । स्थिरः सर्वद्रष्टा परमात्मा, स्थिरः प्रकाशकः सूर्यः, स्थिरश्चारचक्षू राजा च तस्मात् सर्वविधादपि भयाद् विमोचयेद्, येन सर्वे जनाः सर्वतो निर्भयाः सन्तोऽभ्युदयं निःश्रेयसं च प्राप्तुं शक्नुयुः ॥७॥

अगले मन्त्र में इन्द्र से भय-मुक्त करने की प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । **अङ्ग** हे भाई, **इन्द्रः** विघ्नविदारक, सिद्धिप्रदाता परमेश्वर **अभि सत्** अभिभूत करने वाले **महत्** बड़े भारी **भयम्** विपत्तियों से उत्पन्न, काम-क्रोध आदि शत्रुओं के उत्पीड़न से उत्पन्न अथवा जन्म-मरण से उत्पन्न भय को **अप चुच्यवत्** पूर्णतः दूर कर दे, **हि** क्योंकि **सः** वह परमेश्वर **स्थिरः** भयों से उद्विग्न न होने वाला, स्थिरमति, और **विचर्षणिः** भय-निवारण के उपायों का द्रष्टा और दर्शाने वाला है ।

द्वितीय—सूर्य के पक्ष में । **अङ्ग** हे भाई, **इन्द्रः** अन्धकार का विदारक, प्रकाशदाता सूर्य **अभि सत्** अभिभूत या उद्विग्न करने वाले **महत्** बड़े **भयम्** रोगों से उत्पन्न, बाघ आदि हिंसक जन्तुओं से उत्पन्न, पृथिवी आदि ग्रह-उपग्रहों की टक्कर की आशंका से उत्पन्न इत्यादि प्रकार के भयों को **अपचुच्यवत्** दूर करता है, **हि** क्योंकि **सः** वह सूर्य **स्थिरः** आकर्षणशक्ति के द्वारा आकाश में स्थिर अर्थात् केवल अपनी

१. **अङ्ग** क्षिप्रम्—इति वि०, भ०, सा० ।

२. अभि सत् आभिमुख्येन सीदत्, पर्युपस्थितम्—इति वि० । अभितः सम्भवदिति वा अभिभवदिति वा—इति भ० । सायणस्तु क्रियापदत्वेन शत्रन्तत्वेन चोभयथापि व्याचष्टे—अभीषत् अभिभवति, यद्वा अभीषद् अभिभवद् इति ।

३. तुलनीयम्—ऋग्भाष्येऽस्य मन्त्रस्य दयानन्दभाष्यम् । तत्र चैष भावार्थ उक्तः—"यदि ब्रह्माण्डे सूर्यो न स्यात् तर्हि कस्यापि भयं न निवर्तेत । यदि सूर्यलोकः स्वपरिधौ स्थिरो दर्शको न भवेत् तर्हि तुल्याकर्षणं दर्शनं च न भवेद्" इति ।

धुरी पर ही घूमने के कारण स्थानान्तर गति से रहित, और **विचर्षणिः** प्रकाश के दान द्वारा सबको पदार्थों का दर्शन कराने वाला है।

तृतीय राष्ट्र के पक्ष में। **अङ्ग** हे भाई, **इन्द्रः** परम धनी, शत्रुओं को विदीर्ण करने वाला, प्रजाओं को सुख-सम्पदा देने वाला राजा अथवा सेनापति **अभि सत्** राष्ट्र में व्याप्त होने वाले **महत्** बड़े **भयम्** राष्ट्र के अन्दर के तथा बाहरी शत्रुओं से उत्पन्न किए गये भय को **अपचुच्यवत्** दूर कर दे, **हि** क्योंकि **सः** वह **स्थिरः** अपने पद पर अडिग, और **विचर्षणिः** गुप्तचर रूपी आँखों से अपने राष्ट्र में होने वाले तथा शत्रु-राष्ट्र में होने वाले सब घटनाचक्र का विशेष रूप से द्रष्टा है ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥७॥

भावार्थ—कभी काम, क्रोध आदि रिपुओं से उत्पन्न होने वाला भय, कभी दुर्भिक्ष, नदियों की बाढ़, संक्रामक रोग आदि का भय, कभी मानवीय विपत्तियों का भय, कभी बाघ आदि हिंसक जन्तुओं का भय, कभी पड़ोसी शत्रु राष्ट्रों का भय, कभी चोरों, लुटेरों, ठगों, हत्यारों आदि का भय, कभी जन्म-मृत्यु के चक्र का भय मनुष्यों को व्याकुल किए रखता है। स्थिर सर्वद्रष्टा परमात्मा, स्थिर प्रकाशक सूर्य और स्थिर गुप्तचर-रूप आँखों वाला राजा उस सब प्रकार के भय से मुक्त कर दे, जिससे सब लोग सब ओर से निर्भय होते हुए अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त कर सकें ॥७॥

अथ स्तोतारः परमात्मानमाहुः।

२०१. इमा उ त्वा सुतेसुते नक्षन्ते गिर्वणो गिरः।
गावो वत्सं न धेनवः ॥८॥[1]

इमाः उ त्वा सुतेसुते सुते सुते। नक्षन्ते गिर्वणः गिः वनः गिरः॥
गावः वत्सम् न धेनवः ॥८॥

पदार्थः—हे **गिर्वणः**[2] गीर्भिः स्तुतिवाग्भिः वन्यते सेव्यते याच्यते वा यः स गिर्वणाः, तथाविध हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमात्मन्! **इमाः** उ एताः खलु अस्मदुच्चार्यमाणाः **गिरः** वेदवाचः स्तुतिवाचो वा **सुतेसुते** प्रतिज्ञानकर्मोपासनाव्यवहारम्[3] **त्वा** त्वाम् **नक्षन्ते** प्राप्नुवन्ति। नक्षतिः गतिकर्मा व्याप्तिकर्मा च। निघं० २।१४, २।१८। **धेनवः** स्वपयसः पाययित्र्यः, दुग्धदानेन प्रीणयित्र्यो वा। धेनुः धयतेर्वा धिनोतेर्वा। निरु० ११।४३। **गावः** पयस्विन्यः **वत्सं न** यथा वत्सं नक्षन्ते प्राप्नुवन्ति ॥८॥[4]

अत्रोपमालङ्कारः ॥८॥

भावार्थः—यथा प्रस्नुवत्पयोधरा नवप्रसूता गावः पयः पाययितुं त्वरया वत्सं प्राप्नुवन्ति, तथैवास्मदीयाः प्रस्नुवद्रसा अर्थगर्भाः स्तुतिवाचः प्रतिज्ञानयज्ञं, प्रतिकर्मयज्ञं, प्रत्युपासनायज्ञं च परमात्मानमुपतिष्ठेरन् ॥८॥[5]

---

१. ऋ० ६।४५।२८, ऋषिः शंयुः बार्हस्पत्यः। 'वत्सं गावो न धेनवः' इति तृतीयः पादः।

२. द्रष्टव्यम् १६५ संख्यकमन्त्रस्य भाष्यम्।

३. (सुतम्) कर्मोपासनाज्ञानरूपं व्यवहारम् इति ऋ० १।३।८ भाष्ये द०।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं 'शुद्धाचारान् प्रत्यस्माकं वाचः प्रयान्तु' इति विषये व्याख्यातवान्।

५. यथा अचिरप्रसूता गावः स्नेहार्द्रेण मनसा वत्सं व्याप्नुवन्ति तद्वत् त्वां हे इन्द्र अस्मदीयाः स्तुतयः व्याप्नुवन्तीत्यर्थः—इति वि०।

अगले मन्त्र में स्तोता जन परमात्मा को कह रहे हैं।

पदार्थ—हे **गिर्वणः** स्तुतिवाणियों से सेवनीय वा याचनीय परमैश्वर्यवन् इन्द्र परमात्मन् ! **इमाः** उ ये हम से उच्चारण की जाती हुई **गिरः** वेदवाणियाँ अथवा स्तुतिवाणियाँ **सुतेसुते** प्रत्येक ज्ञान, कर्म और उपासना के व्यवहार में **त्वा** आपको **नक्षन्ते** प्राप्त होती हैं, **धेनवः** अपना दूध पिलाने वाली या अपने दूध से तृप्त करने वाली **गावः** गौएँ **वत्सं न** जैसे बछड़े को प्राप्त होती हैं ॥८॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥८॥

भावार्थ—जैसे पौसे हुए पयोधरों वाली नवप्रसूत गौएँ अपना दूध पिलाने के लिए शीघ्रता से बछड़े के पास जाती हैं, वैसे ही हमारी रस बहाने वाली, अर्थपूर्ण स्तुतिवाणियाँ प्रत्येक ज्ञानयज्ञ में, प्रत्येक कर्मयज्ञ में और प्रत्येक उपासनायज्ञ में परमात्मा के समीप पहुँचें ॥८॥

अथ स्वस्तये वयं कमाह्वयेमेत्याह।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
२०२. इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये।
३ २ ३ १ २
हुवेम वाजसातये ॥९॥[1]
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रा नु पूषणा वयम्। सख्याय स ख्याय स्वस्तये सु अस्तये ॥
३ १ २ १ २ ३ १ २ १ २ ३
हुवेम वाजसातये वाज सातये ॥९॥

पदार्थः—**वयम्** प्रजाजनाः **इन्द्रा-पूषणा** परमात्म-जीवात्मानौ, प्राणापानौ, नृपति-सेनापती, क्षत्रियवैश्यौ, विद्युद्-वायू वा। द्वन्द्वसमासे 'देवता द्वन्द्वे च। अ० ६।३।२६' इति पूर्वपदस्य आनङ्। मध्ये नु इत्यनेन व्यवधानं छान्दसम्। 'पूषणा' इत्यत्र 'सुपां सुलुक्०। अ० ७।१।३९' इति द्वितीयाद्विवचनस्य आकारः। **नु** क्षिप्रम् **सख्याय** मैत्रीभावाय, **स्वस्तये** अविनाशाय, अभिपूजिताय अस्तित्वाय, कल्याणाय वा। स्वस्तीत्यविनाशिनाम। अस्तिरभिपूजितः स्वस्ति। निरु० ३।२२। किञ्च **वाजसातये**[2] संग्रामाय, संग्रामे साफल्याय इत्यर्थः। वाजसातिरिति संग्रामनाम। निघं० २।१७। वाजानाम् अन्नधनबलवेगविज्ञान-प्राणशक्त्यात्मशक्त्यादीनां सातिः प्राप्तिः यस्मिन् स वाजसातिः संग्रामः। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। **हुवेम** आह्वयेम ॥९॥[3]

अत्र श्लेषालंकारः ॥९॥

भावार्थः—मनुष्यस्य जीवने प्रतिक्षेत्रं मनोभूमौ बहिर्भूमौ च देवासुरसंग्रामा जायन्ते। तत्र परमात्म-जीवात्मनोः, प्राणापानयोः, नृपतिसेनापत्योः, क्षत्रियविशोः, विद्युद्वाय्वोश्च सख्यं ये वृण्वन्ति ते विजयिनो भवन्ति ॥९॥

अगले मन्त्र में यह वर्णित है कि हम कल्याणार्थ किसे पुकारें।

पदार्थ—**वयम्** हम प्रजाजन **इन्द्रा-पूषणा** परमात्मा-जीवात्मा, प्राण-अपान, राजा-सेनापति, क्षत्रियवैश्य और विद्युत्-वायु को **नु** शीघ्र ही **सख्याय** मित्रता के लिए **स्वस्तये** अविनाश, उत्तम अस्तित्व एवं

---

१. ऋ० ६।५७।१, ऋषिः शंयुः बार्हस्पत्यः। देवते इन्द्रापूषणौ।

२. वाजः अन्नम्, तस्य च सातये सम्भजनाय, तस्य लाभार्थमित्यर्थः—इति वि०। वाजस्य अन्नस्य बलस्य वा सातये सम्भजनाय—इति सा०। अन्नादीनां विभागो यस्मिंस्तस्मै—इति ऋग्भाष्ये द०।

३. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये परमैश्वर्ययुक्तस्य पोषकस्य च जनस्य सख्यविषये व्याख्यातवान्।

कल्याण के लिए, और **वाजसातये** अन्न, धन, बल, वेग, विज्ञान, प्राणशक्ति व आत्मशक्ति को प्राप्त कराने वाले आन्तरिक और बाह्य संग्राम में सफलता के लिए **हुवेम** पुकारें ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥९॥

भावार्थ—मनुष्य के जीवन में प्रत्येक क्षेत्र में मनोभूमि में और बाहर की भूमि पर संग्राम होते हैं। उनमें परमात्मा-जीवात्मा, प्राण-अपान, राजा-सेनापति, क्षत्रिय-वैश्य एवं विद्युत्-वायु की मित्रता का जो वरण करते हैं वे विजयी होते हैं ॥९॥

अथेन्द्रस्य परमात्मनो महत्त्वं प्रतिपादयति ।

२०३. न॑ कि॑ इन्द्र त्वदु॒त्तरं॒ न ज्यायो॑ अ॒स्ति वृ॑त्रहन् ।
न क॒येवं॒ यथा॑ त्वम् ॥१०॥[1]
न कि इन्द्र त्वत् उत्तरम् । न ज्यायः अस्ति वृत्रहन् वृत्र हन् ॥
न कि एवम् यथा त्वम् ॥१०॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमात्मन् ! **त्वत्** त्वामपेक्ष्य **उत्तरम्** गुणैः प्रशस्यतरम् **न कि** नैव किमपि अस्ति। हे **वृत्रहन्** विघ्नविनाशक ! **न** नैव किमपि **ज्यायः** आयुषि वृद्धतरम् । अत्र ईयसुन् प्रत्यये 'वृद्धस्य च । अ० ५।३।६२' इत्यनेन वृद्धस्य ज्य इत्यादेशः । **न कि** नैव **एवम्** एतादृशम् अस्ति **यथा** यादृशः **त्वम्** त्वम् असि । उक्तं च श्वेताश्वतरेऽपि—न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । श्वेता० ६।८' इति ॥१०॥[2]

भावार्थः—सुविशालेऽप्यस्मिन् ब्रह्माण्डे यस्माद् गुणवत्तरं वृद्धतरं वा किञ्चिन्नास्ति, स जगदीश्वरः सर्वैः श्रद्धया संपूजनीयः ॥१०॥

अत्रेन्द्रं प्रति ज्ञानकर्मोपासनारूपसोमार्पणात्, तत्स्तुतिगानात्, ततो रयियाचनात्, तन्महत्त्ववर्णनाद्, इन्द्रनाम्नाऽऽचार्यनृपतिसूर्याणां चापि वर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम् ।

इति तृतीये प्रपाठके प्रथमार्धे प्रथमा दशतिः ।
इति द्वितीयाध्याये नवमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में इन्द्र परमात्मा का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमात्मन् ! **त्वत्** तुझसे **उत्तरः** गुणों में अधिक प्रशस्त **न कि** कोई नहीं है। हे **वृत्रहन्** विघ्नों के विनाशक ! **न** न ही कोई **ज्यायः** तुझसे आयु में अधिक बड़ा **अस्ति** है । **न कि** न ही **एवम्** ऐसा है, **यथा** जैसा **त्वम्** तू है ॥१०॥

भावार्थ—अति विशाल भी इस ब्रह्माण्ड में जिससे अधिक गुणवान् और जिससे अधिक वृद्ध दूसरा कोई नहीं है, उस जगदीश्वर की सबको श्रद्धा से पूजा करनी चाहिए ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र परमात्मा के प्रति ज्ञान, कर्म, उपासना रूप सोम अर्पण करने, उसका स्तुति-गान करने, उससे धन की याचना करने, उसका महत्त्व वर्णन करने और इन्द्र नाम से आचार्य, राजा तथा सूर्य का भी वर्णन करने के कारण इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

तृतीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की प्रथम दशति समाप्त ॥
द्वितीय अध्याय में नवम खण्ड समाप्त ॥

---

१. ऋ० ४।३०।१, नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन् । नकिरेवा यथा त्वम् ॥ इति पाठः ।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् 'यः सर्वेभ्यः श्रेष्ठो भवेत् तमेव राजानं कुरुत' इति विषये व्याख्यातवान् ।

॥२॥ अथ 'तरणिं वो जनानाम्' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१,४ त्रिशोकः; २ मधुच्छन्दाः; ३ वत्सः; ५ सुकक्षः; ६,९ वामदेवः; ७ विश्वामित्रः; ८ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ; १० श्रुतकक्षः सुकक्षो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

तत्राद्ये मन्त्रे परमात्मानं, जीवं, सूर्यं, राजानं च प्रशंसति ।

२०४. ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
तरणिं वो जनानां त्रदं वाजस्य गोमतः ।
३ २ ३ १ २
समानमु प्र शंसिषम् ॥१॥[1]

३ १ २ ३ १ २ १ ३ २ १ २ १ २ १
तरणिम् वः जनानाम् । त्रदम् वाजस्य गोमतः ॥
३ २ ३ २ ३ २ ३
समानम् सम् आनम् उ प्र शꣳसिषम् ॥१॥

पदार्थः—हे मनुष्याः ! **जनानां वः** जन्मधारिणां युष्माकम् **तरणिम्** नावम्, नौवत् तारकम्, विपत्सरितः पारयितारम्, **गोमतः** प्रशस्तधेनुयुक्तस्य, प्रशस्तभूमियुक्तस्य, प्रशस्तवाणीयुक्तस्य, प्रशस्तेन्द्रिययुक्तस्य, प्रशस्तकिरणयुक्तस्य, प्रशस्तान्तःप्रकाशयुक्तस्य वा **वाजस्य** ऐश्वर्यस्य **त्रदम्**[2] तर्दकं, प्रदातारम् इन्द्रं परमात्मानं, राजानं, सूर्यं वा । तृदिर हिंसानादरयोः । अत्र दानार्थः । तृणत्ति ददातीति त्रदः । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । अ० ३।१।१३५' इति कः प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । अहम् **समानम् उ** सप्राणम्[3] सोत्साहम् **प्रशंसिषम्** प्रशंसामि उद्बोधयामि वा । शंसु स्तुतौ, 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' अ० ३।४।६ इति कालसामान्ये लुङ्, 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' अ० ६।४।७५ इत्यडभावः ।

पणय इन्द्रस्य गा अपहृत्य पर्वतगुहायां प्रच्छादयन्ति, इन्द्रश्च सरमां दूतीं विधाय अङ्गिरसां सोमस्य, बृहस्पतेश्च साहाय्येन गुहामातृद्य ता विमोचयतीति वृत्तं वेदे बहुशो वर्णितम्[4] । अध्यात्मक्षेत्रे गावोऽन्तःप्रकाशस्य किरणाः मनसः सात्त्विकवृत्तयो वा, इन्द्रः परमात्मा जीवात्मा वा, पणयश्च तासां गवामपहारिकास्तामस्यो मनोवृत्तयः । अधिदैवतक्षेत्रे गावः किरणाः, इन्द्रः सूर्यः, पणयश्च मेघाः तमःपूर्णा रात्रयो वा । राष्ट्रियक्षेत्रे गावः धेनुपृथिव्यादयः सम्पदः, इन्द्रो राष्ट्रपालको राजा, पणयश्च तासां सम्पदामपहर्त्तारो लुण्ठकाः शत्रवः सन्ति । इन्द्रः परमात्मा, जीवात्मा, सूर्यो, राजा च तांस्तान् पणीन् पराजित्य तद्गुहां विभिद्य ता गाः पुनः प्राप्य सत्पात्रेभ्यो ददाति । अस्मादेव प्रसङ्गादत्र तृद धातुर्दानार्थः सञ्जातः ॥१॥

अत्र श्लेषालंकारः । इन्द्रे तरणित्वारोपाच्च रूपकम् ॥१॥

भावार्थः—तरणिवत् परमात्मा संसारसागराज्जनानां तारकः, जीवात्मा कुमार्गादिन्द्रियाणां

१. ऋ० ८।४५।२८ ।

२. त्रदं तर्दनं प्रकाशयितारं दातारं वा—इति भ० । त्रदं तर्दयितारं हिंसितारमित्यर्थः—इति वि० । सायणस्तु त्रदं शत्रूणां तर्दयितारं, गोमतः पशुमतः वाजस्य अन्नस्य दातारम्' इति व्याचष्टे । तत्र 'दातारम्' इत्यध्याहारः । केचित्तु त्राता दाता च त्रदः इति व्याचख्युः । परं पदपाठेऽविभज्य दर्शनात् त्रश्च दश्चेति द्वयोः पदयोः समासो न पदकारसम्मतः ।

३. पदपाठे 'सम् आनम्' इति पदच्छेदादत्र संपूर्वः अन प्राणने धातुर्विज्ञेयः ।

४. द्रष्टव्यम्—ऋक्सूक्तम् ४।२८,१०।१०८ । 'रिरिचतुः क्षाश्चित् ततृदाना' ऋ० ४।२८।५ इत्यत्र तु तृद् धातुरेव प्रयुक्तः, प्रस्तुते मन्त्रेऽपि 'त्रदम्' इत्यत्र स एव धातुः ।

तारकः, सूर्योऽन्धकाराद् रोगाद् वा मनुष्याणां तारकः, राजा च विपद्भ्यः प्रजानां तारको भवति। एते स्वस्वक्षेत्रे यथायोग्यं दिव्यप्रकाशरूपाणां, दिव्येन्द्रियरूपाणां, किरणरूपाणां, धेनुरूपाणां, पृथिवीरूपाणां वा गवां शत्रुसकाशादाहर्त्तारो भवन्ति। अत एतेषां प्रशंसा, गुणवर्णनं सेवनं च सर्वैः कार्यम् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा, जीवात्मा, सूर्य और राजा की प्रशंसा की गयी है।

पदार्थ—हे मनुष्यो ! **जनानां वः** आप जन्मधारियों का **तरणिम्** नौकारूप अर्थात् नाव के समान तारक, विपत्तिरूप नदियों से पार करने वाले, **गोमतः** प्रशस्त गौओं से युक्त, प्रशस्त भूमियों से युक्त, प्रशस्त वाणियों से युक्त, प्रशस्त इन्द्रियों से युक्त, प्रशस्त किरणों से युक्त और प्रशस्त अन्तःप्रकाश से युक्त **वाजस्य** ऐश्वर्य के **त्रदम्** प्राप्त कराने वाले इन्द्र नामक परमात्मा, जीवात्मा, राजा और सूर्य की **समानम् उ** सप्राण होकर, सोत्साह **प्रशंसिषम्** मैं प्रशंसा करता हूँ।

पणि लोग इन्द्र की गौओं को चुराकर पर्वत की गुफा में छिपा देते हैं। इन्द्र सरमा को दूती बनाकर अंगिरस्, सोम और बृहस्पति की सहायता से गुफा तोड़कर उन्हें छुड़ाता है, यह वृत्त वेद में बहुत बार वर्णित हुआ है। अध्यात्म-क्षेत्र में गौएँ अन्तःप्रकाश की किरणें या मन की सात्त्विक वृत्तियाँ हैं, इन्द्र परमात्मा अथवा जीवात्मा है, पणि उन गौओं को चुराने वाली तामसिक मनोवृत्तियाँ हैं। अधिदैवत क्षेत्र में गौएँ किरणें हैं, इन्द्र सूर्य है, पणि मेघ अथवा अन्धकारपूर्ण रात्रियाँ हैं। राष्ट्रिय क्षेत्र में गौएँ गाय पशु या भूमि आदि सम्पत्तियाँ हैं, इन्द्र राष्ट्र का पालक राजा है, और पणि उन सम्पत्तियों का अपहरण करने वाले लुटेरे शत्रु हैं। इन्द्र नामक परमात्मा, जीवात्मा, सूर्य और राजा उन-उन पणियों को पराजित करके उनकी गुफा को तोड़कर उन गौओं को पुनः प्राप्त करके सत्पात्रों को उनका दान करते हैं। इसी प्रसंग से इस मन्त्र में तृद धातु दानार्थक हो गयी है ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। इन्द्र में तरणि (नौका) का आरोप होने से रूपक है ॥१॥

भावार्थ—नौका के समान परमात्मा संसार-सागर से जनों का तारक, जीवात्मा कुमार्ग से इन्द्रियों का तारक, सूर्य अन्धकार या रोग से मनुष्यों का तारक और राजा विपत्तियों से प्रजाओं का तारक होता है। ये अपने-अपने क्षेत्र में यथायोग्य दिव्य प्रकाशरूप, दिव्य इन्द्रियरूप, किरणरूप, गायरूप और भूमिरूप गौओं को शत्रु के अधिकार से वापस लौटाने वाले हैं। अतः इनको प्रशंसा, गुण-वर्णन और सेवन सबको करना चाहिए ॥१॥

अथ परमात्मनः स्तुतिविषयमाह।

२०५. असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत।
सजोषा वृषभं पतिम् ॥२॥[1]

असृग्रम् इन्द्र ते गिरः। प्रति त्वाम् उत् अहासत॥
सजोषाः स जोषाः वृषभम् पतिम् ॥२॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** महनीय जगदीश्वर ! अहम् **ते** तुभ्यम् **गिरः** वेदवाचः **असृग्रम्** सृजामि, प्रोच्चारयामि। असृजम् इति प्राप्ते 'बहुलं छन्दसि। अ० ७।१।८' अनेन सृज धातो रुडागमः। वर्णव्यत्ययेन जकार-

---

१. ऋ० १।६।४, अथ० २०।७१।१०, उभयत्र 'अजोषा' इति पाठः।

स्थाने गकारः, लडर्थे लङ् च । **सजोषाः**[1] जोषेण प्रीत्या सह वर्त्तमानाः, प्रीतिपूर्वकम् उच्चारितास्ताः वेदवाचः । जोषणं जोषः । जुषी प्रीतिसेवनयोः धातोः 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । अ० ३।१।१३५' इति कः । सह-जोषपदयोः समासे 'वोपसर्जनस्य' । अ० ६।३।८२ इति सहस्य सादेशः । **वृषभम्** सर्वाभीष्टवर्षकम् **पतिम्** पालकम् **त्वां प्रति** त्वामुद्दिश्य **उद्-अहासत** उद्गच्छन्ति सोत्कण्ठं त्वां प्राप्तुं यतन्ते । अत्र 'ओहाङ् गतौ' इत्यस्माल्लडर्थे लुङ् । अत्र प्रीतिमती भार्या यथा वर्षकं पतिं प्राप्तुं सोत्कं यातीति शब्दशक्त्या ध्वन्यते । तेन प्रेमातिशयो द्योत्यते ॥२॥[2]

भावार्थः—यदि परमात्मा प्रीतिपूर्वकं वेदवाग्भिः स्तूयते तर्हि सोऽवश्यं प्रसीदति, स्तोत्रे यथायोग्यमभीष्टान् धर्मार्थकाममोक्षांश्च वर्षति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की स्तुति का विषय है ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** पूजनीय जगदीश्वर ! **मैं ते** आपके लिए, आपकी स्तुति के लिए **गिरः** वेदवाणियों **को असृग्रम्** उच्चारित करता हूँ । **सजोषाः** प्रीतिपूर्वक उच्चारण की गई वे वेदवाणियाँ **वृषभम्** सब अभीष्टों की वर्षा करने वाले **पतिम्** पालनकर्ता **त्वां प्रति** आपको लक्ष्य करके **उद् अहासत** उठ रही हैं, उत्कण्ठापूर्वक आपको पाने का यत्न कर रही हैं ॥२॥

यहाँ प्रीतिमयी भार्या जैसे वर्षक पति को पाने के लिए उत्कण्ठापूर्वक जाती है, यह उपमा शब्द-शक्ति से ध्वनित हो रही है । उससे उपासक के प्रेम का अतिशय द्योतित होता है ॥२॥

भावार्थ—यदि परमात्मा की प्रीतिपूर्वक वेदवाणियों से स्तुति की जाती है, तो वह अवश्य प्रसन्न होता है और स्तोता के लिए यथायोग्य अभीष्ट धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की वर्षा करता है ॥२॥

अथ मित्रमरुदर्यमविषयमाह ।

३ २ ३ २७ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
२०६. सुनीथो घा स मर्त्यो यं मरुतो यमर्यमा ।
३ २७ ३ १२
मित्रास्पान्त्यद्रुहः ॥३॥[3]
३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ २
सुनीथः सु नीथः घ सः मर्त्यः । यम् मरुतः यम् अर्यमा ॥
३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
मित्राः मि त्राः पान्ति अद्रुहः अ द्रुहः ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमो** ऽध्यात्मपरः । हे इन्द्र परमात्मन् ! **सः** असौ **मर्त्यः** मरणधर्मा मनुष्यः **घ** निश्चयेन । 'संहितायां 'ऋचितुनुघ' अ० ६।३।१३३ इति दीर्घः । **सुनीथः**[4] शुभनीतियुक्तः प्रशस्यो वा जायते । णीञ् प्रापणे धातोः 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्' । उ० २।२ इति क्थन् । शोभनः नीथः नयः अस्यास्तीति सुनीथः । सुनीथ इति प्रशस्यनाम । निघं० ३।८। **यम्** मर्त्यम् **मरुतः** प्राणाः, **यम्** मर्त्यम् **अर्यमा** अर्याणां श्रेष्ठ विचाराणां संमानकर्ता आत्मा, **अद्रुहः** अद्रोग्धारः **मित्राः** सुहृद्भूता मनोबुद्धिचित्ताहंकाराश्चक्षुः श्रोत्रत्वग्घ्राणरसनाश्च **पान्ति** रक्षन्ति पालयन्ति वा ।

---

१. वेदेषु 'सजोषस्' इत्यसुन्प्रत्ययान्तं सकारान्तमेव बाहुल्येन प्रयुज्यते । प्रथमाबहुवचने तत्र 'सजोषसः' इति रूपं भवति । अत्र तु कप्रत्ययान्तस्य सजोष शब्दस्य स्त्रियां टापि प्रथमाबहुवचनान्तं ज्ञेयम् ।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये वेदवाक्परमेव व्याख्यातवान् ।

३. ऋ०८।४६।४ ऋषिः वशोऽश्व्यः । मित्रः पान्त्यद्रुहः इति पाठः ।

४. सुनीथः सुप्रशस्तः—इति वि० । सुमार्गः—इति भ० । सुयज्ञः सुनयनो वा इति सा० ।

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रपरः। हे इन्द्र राजन् ! **सः** असौ **मर्त्यः** प्रजाजनः **घ** निश्चयेन **सुनीथः** सन्मार्गगन्ता सदाचारपरायणः जायते। नयति देशाद् देशान्तरमिति नीथो मार्गः। अत्र नैतिको मार्गो ग्राह्यः। **यम् मरुतः** वीराः क्षत्रियाः, **यम् अर्यमा** धार्मिको न्यायाधीशः, **अद्रुहः** राजद्रोहं प्रजाद्रोहं वाऽनाचरन्तः **मित्राः** मित्रभूताः अन्ये राज्याधिकारिणश्च **पान्ति** विपद्भ्यो रक्षन्ति पालयन्ति च ॥३॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—अस्मिन् जगति राष्ट्रे वा बहवो जना योग्यमार्गदर्शनमलभमानाः सन्मार्गाच्च्यवन्ते। परम् जीवात्मप्राणादयोऽध्यात्ममार्गे क्रममाणं यं जनमनुगृह्णन्ति, राष्ट्रे च राज्याधिकारिणो यस्य साहाय्यं कुर्वन्ति, स निरन्तरं प्रगतिपथमनुधावन् लक्ष्यसिद्धिं प्राप्तुं क्षमते ॥३॥

अगले मन्त्र में मित्र, मरुत् और अर्यमा का विषय वर्णित है।

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्म-पक्ष में। हे इन्द्र परमात्मन् ! **सः** वह **मर्त्यः** मरणधर्मा मनुष्य **घ** निश्चय ही **सुनीथः** शुभ नीति से युक्त अथवा प्रशस्त हो जाता है, **यम्** जिसे **मरुतः** प्राण, **यम्** जिसे **अर्यमा** श्रेष्ठ विचारों का सम्मानकारी आत्मा, और जिसे **अद्रुहः** द्रोह न करने वाले **मित्राः** मित्रभूत मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, आँख, कान, त्वचा, नासिका और जिह्वा **पान्ति** रक्षित-पालित करते हैं।

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष **में**। हे इन्द्र राजन् ! **सः** वह **मर्त्यः** प्रजाजन **घ** निश्चय ही **सुनीथः** सन्मार्ग पर चलने वाला, सदाचारपरायण हो जाता है **यम्** जिसे **मरुतः** वीर क्षत्रिय, **यम्** जिसे **अर्यमा** धार्मिक न्यायाधीश और **अद्रुहः** राजद्रोह या प्रजाद्रोह न करने वाले **मित्राः** मित्रभूत अन्य राज्याधिकारी-गण **पान्ति** विपत्तियों से बचाते तथा पालित-पोषित करते हैं ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—इस जगत् या राष्ट्र में बहुत से लोग योग्य मार्गदर्शन को न पाकर सन्मार्ग से च्युत हो जाते हैं। परन्तु जीवात्मा, प्राण आदि अध्यात्म-मार्ग पर चलते हुए जिस मनुष्य पर अनुग्रह करते हैं, तथा राष्ट्र में राज्याधिकारी जिसकी सहायता करते हैं, वह निरन्तर प्रगति के पथ पर दौड़ता हुआ लक्ष्य-सिद्धि को पाने में समर्थ हो जाता है ॥३॥

अथ किंप्रकारकं धनमस्माभिः प्राप्तव्यमित्याह।

२०७. यद्वीडाविन्द्र यत् स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम्।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥४॥[1]

यत् वीडौ इन्द्र यत् स्थिरे। यत् पर्शाने पराभृतम् परा भृतम् ॥
वसु स्पार्हम् तत् आ भर ॥४॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमेश्वर, राजन्, आचार्य वा ! **यत्** दृढतारूपं धनम् **वीडौ** दृढे लोहपाषाण-हीरकादौ, **यत्** स्थिरतारूपं धनम् **स्थिरे** अविचले सूर्यपर्वतादौ, **यत्** परोपकाररूपं धनम् **पर्शाने**[2] सेचके मेघे। पृषु सेचने धातोः शानच्। मूर्धन्यस्य तालव्यादेशश्छान्दसः। पर्शान इति मेघनाम। निघं० १।१०। **पराभृतम्** निहितं वर्तते, **तत् स्पार्हम्** स्पृहणीयम् **वसु** धनम्, अस्मभ्यम् **आभर** आहर ॥४॥

---

१. ऋ० ८।४५।४१, साम० १०७२, अथ० २०।४३।२।

२. पर्शाने कूपादौ—इति वि०। निश्चले—इति भ०। विमर्शक्षमे—इति सा०।

भावार्थः—दृढतारूपेण गुणेनैव लोहपाषाणहीरकादयः पदार्थाः कीर्तिमन्तः सन्ति। स्थिरतारूपेण गुणेनैव सूर्यपर्वतादयो गर्वोन्नता विद्यन्ते। सेचनवर्षणरूपेण गुणेनैव मेघाः सर्वैः संस्तूयन्ते। स दृढतारूपः, स्थिरतारूपः, सेचनवर्षणरूपश्च गुणोऽस्माभिरपि प्राप्तव्यः ॥४॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि किस प्रकार का धन हमें प्राप्त करना चाहिए।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमेश्वर, राजन् और आचार्य ! **यत्** जो दृढ़तारूप धन **वीडौ** दृढ लोहे, पत्थर, हीरे आदि में, **यत्** जो स्थिरतारूप धन **स्थिरे** अविचल सूर्य, पर्वत आदि में और **यत्** जो परोपकाररूप धन **पर्शाने** सींचनेवाले बादल **में पराभृतम्** निहित है, **तत्** वह **स्पार्हम्** स्पृहणीय **वसु** धन **आभर हमें** प्राप्त कराइए ॥४॥

भावार्थ—दृढ़तारूप गुण से ही लोहा, पत्थर, हीरा आदि पदार्थ कीर्तिशाली हैं। स्थिरतारूप गुण से हो सूर्य, पर्वत आदि गर्व से सिर उठाये खड़े हैं। सींचने-बरसने रूप गुणों से ही बादलों की सब प्रशंसा करते हैं। वह दृढ़ता का, स्थिरता का और सींचने-बरसाने का गुण हमें भी प्राप्त करना चाहिए ॥४॥

अथ वयं कीदृशम् इन्द्रं कस्मै प्रयोजनाय स्तुवीमहीत्याह।

३१ २ ३१ २३ १२ २१ ३ २
२०८. श्रुतं वो वृत्रहन्तमं प्र शर्ध चर्षणीनाम्।
३ २ ३ १ २ ३ २
आशिषे राधसे महे ॥५॥[1]

३ २ ३ १ २ ३ १२१ १ २१ ३ २
श्रुतम् वः वृत्रहन्तमम् वृत्र हन्तमम्। प्र शर्धम् चर्षणीनाम् ॥
३ १ २ ३ १२१ १२१ ३२
आशिषे आ शिषे राधसे महे ॥५॥

पदार्थः—हे सखायः ! **श्रुतम्** सर्वत्र प्रख्यातम् **वः** युष्माकम् **वृत्रहन्तमम्** वृत्राणां पापविघ्नाविद्यादीनाम् अतिशयेन हन्तारम्, **चर्षणीनाम्** मनुष्याणाम्। चर्षणय इति मनुष्यनाम। निघं० २।३। **प्र शर्धम्** प्रकर्षेण बलोत्साहप्रदम्, इन्द्रं परमात्मानं राजानम् आचार्यं वा। शर्धति उत्साहयतीति शर्धस्तम्। शर्धतिः उत्साहकर्मा। निरु० ४।१९। **राधसे** ऐश्वर्याय कार्यसिद्धचर्थं वा। राधस् इति धननाम। निघं० २।१०। संसिद्धचर्थकाद् राध धातोर्निष्पन्नत्वात् कार्यसिद्धिवाचकमपि। **महे** महत्त्वपूज्यत्वप्राप्तये च। महि वृद्धौ, मह पूजायाम् वा धातोर्भावे क्विप्। अहम् **आशिषे**[2] स्तौमि। शिष असर्वोपयोगे, शिष्लृ विशेषणे वा धातोर्लडर्थे लिटि उत्तमैकवचने रूपम्। अत्र स्तुत्यर्थो ज्ञेयः ॥५॥

भावार्थः—ये जना जगदीश्वरं नृपतिमाचार्यं वा तत्तद्गुणकर्मवर्णनपूर्वकं स्मरन्ति सेवन्ते च तेऽविद्यापापविघ्नविपदादिभ्यः पारं गत्वा सर्वश्रेयोभागिनो जायन्ते ॥५॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि हम कैसे इन्द्र की किस प्रयोजन के लिए स्तुति करें।

पदार्थ—हे मित्रो ! **श्रुतम्** सर्वत्र प्रख्यात, **वः** तुम्हारे **वृत्रहन्तमम्** पाप, विघ्न, अविद्या आदि को अतिशय विनष्ट करने वाले, **चर्षणीनाम्** मनुष्यों के **प्र शर्धम्** अतिशय बल एवं उत्साह के प्रदाता

---

१. ऋ० ८।९३।१६, आशुषे इति पाठः।

२. आशिषे अधिगच्छामि प्रार्थये इत्यर्थः—इति वि०। आशिषे इति श्वयतेरर्थनाकर्मणः शवतेः श्रयतेः वा लटि रूपम्, अभिगच्छामि—इति भ०। अश्नोतेर्लेटि उत्तमे इटि सिप् प्रत्ययः। छन्दस्यपि दृश्यते पा० ६।४।७३ इत्याडागमः—इति सा०।

परमेश्वर, राजा या आचार्य की **राधसे** ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए व कार्यसिद्धि के लिए, और **महे** महत्ता तथा पूज्यता की प्राप्ति के लिए, मैं **आशिषे** स्तुति करता हूँ ॥५॥

भावार्थ—जो मनुष्य जगदीश्वर, राजा व आचार्य को उनके गुण-कर्मों का वर्णन करते हुए स्मरण करते हैं और उनकी सेवा करते हैं, वे अविद्या, पाप, विघ्न, विपत्ति आदि को पार करके सब कल्याणों के भाजन बनते हैं ॥५॥

अथेन्द्रं परमात्मानं प्रार्थयते।

२०९. अरं त इन्द्र श्रवसे गमेम शूर त्वावतः।
अरं शक्र परेमणि ॥६॥
अरम् ते इन्द्र श्रवसे। गमेम शूर त्वावतः ॥
अरम् शक्र परेमणि ॥६॥

पदार्थः—हे **शूर** विक्रमशालिन् **इन्द्र** ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! वयम् **त्वावतः**[1] त्वत्सदृशस्य **ते** तव **श्रवसे**[2] यशसे, त्वदीयं यशः प्राप्तुं, त्वदीयं यशो गातुं वेत्यर्थः। श्रवः श्रवणीयं यशः। निरु० ११।९। **अरम्** अलम् पर्याप्तम्, रलयोरभेदः। त्वाम् **गमेम** गच्छेम, प्राप्नुयाम। अत्र गम्लृधातोर्लिङि 'बहुलं छन्दसि। अ० २।४।७३' इति शपो लुकि गच्छादेशाभावः। हे **शक्र** शक्तिशालिन् सर्वकर्मक्षम जगदीश्वर ! शक्लृ शक्तौ धातोः 'स्फायितञ्चिवञ्चिशकि० उ० २।१३' इति रक् प्रत्ययः। वयम् **परेमणि**[3] परत्वे, 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' मु० उप० २।५ इति लक्षणलक्षितायां पराविद्यायामित्यर्थः। परस्य भावः परेमा तस्मिन् परेमणि। 'जनिमृङ्भ्यामिमनिन्' उ० ४।१५० इत्यत्र परशब्दस्य पाठाभावेऽपि बाहुलकाद् औणादिकः इमनिन् प्रत्ययः। नित्वादाद्युदात्तत्वम्। **अरम्** पर्याप्तम्, गमेम पारंगता भवेम ॥६॥

भावार्थः—अनुपमस्य परमेश्वरस्य कीर्तिं गातुं परमं स्वरूपं च हस्तामलकवत् साक्षात्कर्तुं सर्वैः प्रवर्तितव्यम्, न केवलमपराख्यायाविद्यायाः प्राप्त्या सन्तोष्टव्यम्, प्रत्युत पराविद्याप्यधिगन्तव्या ॥६॥

अगले मन्त्र में इन्द्र परमात्मा से प्रार्थना की गई है।

पदार्थ—हे **शूर** विक्रमी **इन्द्र** ऐश्वर्यशाली परमात्मन् ! हम **त्वावतः** जिसके तुल्य अन्य कोई न होने से जो तू अपने समान ही है **ऐसे ते** तेरे **श्रवसे** यश को पाने के लिए अथवा यशोगान के लिए **अरम्** पर्याप्तरूप से, तुझे **गमेम** प्राप्त करें। हे **शक्र** शक्तिशालिन्, सब कार्यों को करने में समर्थ जगदीश्वर ! हम **परेमणि** जिससे तेरा साक्षात्कार होता है उस परा विद्या में **अरम्** पर्याप्तरूप में **गमेम** पारंगत हों ॥६॥

---

१. द्रष्टव्यम्—१९३ संख्यकमन्त्रेऽस्य शब्दस्य व्याख्यानम्।

२. ते तव श्रवसे श्रवणीयां त्वदीयां कीर्तिं श्रोतुम्—इति सा०।

३. अयं शब्दो वेदेषु न क्वचिदन्यत्र प्रयुक्तः। "परम् उत्कृष्टं स्वर्गाख्यं स्थानम्। तत्र गम्यते येन सः परेमा यज्ञः ज्योतिष्टोमादिः तत्रेत्यर्थः"—इति वि०। प पालनपूरणयोः इत्यस्मात् परेमा, तस्मिन्निमित्ते तद्रक्षणार्थं च अरं गमेमहि—इति भ०। परेमणि, परत्वे उत्कर्षनिमित्तम्—इति सा०। परेमणि परमुत्कृष्टं मोक्षपदं गम्यते येन तस्मिन् समाधौ—इति तुलसी। परात् परस्मिंस्त्वयि अरम् अलं तिष्ठेम, त्वय्येव वयमनुरक्ता भवेम—इति भगवदाचार्यः। पर अभीष्ट मोक्षस्वरूप के निमित्त—इति ब्रह्ममुनिः।

भावार्थ—अनुपम परमेश्वर का कीर्त्तिगान करने और उसके स्वरूप का हस्तामलकवत् साक्षात्कार करने में सबको प्रवृत्त होना चाहिए। केवल अपरा नामक विद्या की प्राप्ति से ही सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए, प्रत्युत परा विद्या भी सीखनी चाहिए ॥६॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मा विद्वानतिथिश्चाहूयते ।

३ १२ ३ १२ ३१२ ३ १२
२१०. धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम् ।
१२ ३१२
इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः ॥७॥[1]
३१२ ३ १२ ३ १२ ३ १२
धानावन्तम् करम्भिणम् । अपूपवन्तम् उक्थिनम् ॥
१२१ ३ २ ३
इन्द्र प्रातः जुषस्व नः ॥७॥

पदार्थः—**प्रथमः** विद्वत्परः । हे **इन्द्र** विद्वन् ! त्वम् **प्रातः** प्रभातकालेऽस्मिन् **नः** अस्माकम् **धानावन्तम्** धानाः भृष्टयवाः तद्वन्तम्, **करम्भिणम्** करम्भो घृतमिश्रिताः सक्तवः तद्वन्तम्, **अपूपवन्तम्** अपूपः घृतमिश्रो यवमयस्तण्डुलमयो वा पुरोडाशः तद्वन्तम्, **उक्थिनम्** स्तोत्रवन्तम् यज्ञम् । उच्यते इति उक्थः स्तोत्रम् । ततो मत्वर्थे इनिः प्रत्ययः । त्वम् **जुषस्व** प्रीतिपूर्वकं सेवस्व । जुषी प्रीतिसेवनयोः, तुदादिः ।

अथ **द्वितीयो**ऽध्यात्मपरः । हे **इन्द्र** परमात्मन्, त्वम् **प्रातः** प्रभातवेलायाम् **नः** अस्माकम् **धानावन्तम्** धानाः धारणाध्यानसमाधयः तद्वन्तम्, उपासनाकाण्डयुक्तम् इत्यर्थः । **करम्भिणम्** करम्भः कर्मकाण्डं तद्वन्तम् । करोतेर्बाहुलकाद् औणादिकोऽम्भच् प्रत्ययः । **अपूपवन्तम्** अपूपो ज्ञानकाण्डं, तद्वन्तम् । आप्नोति व्याप्नोति जिज्ञासून् इत्यपूपो ज्ञानम् । **उक्थिनम्** सामगानयुक्तम् उपासनायज्ञम् **जुषस्व** प्रीतिपूर्वकं सेवस्व ॥७॥[2]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥७॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैर्यवसक्त्वपूपादीनि सुगन्धिमिष्टपुष्टचारोग्यकराणि द्रव्याण्यग्नौ हुत्वा वायुमण्डलं स्वच्छं विधेयम् । तथैव ज्ञानकर्मोपासनाकाण्डमाश्रित्य सामगानं कुर्वाद्भिः परमात्मा पूजनीयः । एतेन चाभ्युदयनिःश्रेयसयोः सिद्धिः साधनीया ॥७॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और विद्वान् अतिथि को बुलाया जा रहा है ।

पदार्थ—**प्रथम** विद्वान् अतिथि के पक्ष में । हे **इन्द्र** विद्वन् ! आप **प्रातः** इस प्रभातकाल में **नः** हमारे **धानावन्तम्** भुने हुए जवों से युक्त, **करम्भिणम्** घृतमिश्रित सत्तुओं से युक्त, **अपूपवन्तम्** घी मिले जौ या चावल के पूड़ों से युक्त और **उक्थिनम्** वेदमन्त्रों के स्तोत्रों से युक्त यज्ञ में **जुषस्व** प्रीतिपूर्वक आइए ॥

द्वितीय अध्यात्म-पक्ष में । हे **इन्द्र** परमात्मन् ! आप **प्रातः** प्रभात-वेला में **नः** हमारे **धानावन्तम्** धारणा, ध्यान, समाधियों से युक्त अर्थात् उपासनाकाण्ड से युक्त, **करम्भिणम्** कर्मकाण्ड से युक्त, **अपूपवन्तम्** ज्ञानकाण्ड से युक्त, और **उक्थिनम्** सामगान से युक्त उपासना-यज्ञ को **जुषस्व** प्रीतिपूर्वक सेवन कोजिए ॥७॥

---

१. ऋ० ३।५२।१, य० २०।२६ ।

२. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये राजविषये, यजुर्भाष्ये च विद्वद्विषये व्याख्यातः ।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥७॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिए कि वे जौ, सत्तू, पूड़े आदि सुगन्धित, मधुर, पुष्टिप्रद तथा आरोग्यदायक द्रव्यों का अग्नि में होम करके वायुमण्डल को स्वच्छ करें। इसी प्रकार ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड का आश्रय लेकर सामगान करते हुए परमात्मा की पूजा करें। इससे अभ्युदय और मोक्ष को साधें ॥७॥

अथ परमात्मा, जीवात्मा, भिषग्, राजा च कथं नमुचिं घ्नन्तीत्युच्यते।

३ १२ २१३ १२३ १ २ ३ १२
२११. अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः।
१ ३ १२२३ १२
विश्वा यदजय स्पृधः ॥८॥[1]

३२ १२१ १२१ ३ १२१ ३ २ ३
अपाम् फेनेन नमुचेः न मुचेः। शिरः इन्द्र उत् अवर्त्तयः॥
१२१ १२१ १२१
विश्वाः यत् अजयः स्पृधः ॥८॥

पदार्थः—**प्रथमो**ऽध्यात्मपरः। हे **इन्द्र** परमात्मन् जीवात्मन् वा! त्वम् **अपां फेनेन** जलफेनवत् स्वच्छेन सात्त्विकचित्ततरङ्गेण **नमुचेः** न मुञ्चति, किन्तु सुदृढं बध्नातीति नमुचिः पाप्मा तस्य। पाप्मा वै नमुचिः। श० १२।७।३।४। **शिरः** मूर्धानम्, मूर्धवदुन्नतं प्रभावम् **उदवर्त्तयः**[2] उच्छिनत्सि। उत् पूर्वो वृतु वर्तने णिजन्तः, लडर्थे लङ्। **यत्** यदा **विश्वाः** समस्ताः **स्पृधः** पापाचरणस्य सहायभूताः कामक्रोधादिशत्रूणां स्पर्धमानाः सेनाः **अजयः** जयसि। जि जये धातोः कालसामान्ये लङ्।

अथ **द्वितीय** आयुर्वेदपरः। हे **इन्द्र** रोगविदारक वैद्य[3]! त्वम् **अपां फेनेन** समुद्रफेनरूपेण भेषजेन **नमुचेः** शरीरे दृढमवस्थितस्य रोगस्य **शिरः** हिंसकं प्रभावम्। शृणाति हिनस्तीति शिरः, शॄ हिंसायाम् क्र्यादिः। **उदवर्तयः** उच्छिनत्सि, **यत्** यदा **विश्वाः** समस्ताः **स्पृधः** रोगसहचराणां वेदनावमनमूर्च्छादीनामुत्पातानां स्पर्धमानाः सेनाः **अजयः** जयसि॥

अथ **तृतीयो** राष्ट्रपरः। हे **इन्द्र** वीर राजन्! त्वम् **अपां** राष्ट्रे व्याप्तानां प्रजानाम्, **फेनेन**[4] करूपतया प्राप्तेन चक्रवृद्ध्यादिना वर्धितेन धनेन। स्फायी वृद्धौ धातोः 'फेनमीनौ उ० ३।३' इति नक् प्रत्ययो धातोः फे आदेशश्च निपात्यते। **नमुचेः** राष्ट्रं न मुञ्चतः प्रत्युत व्याप्य स्थितस्य दुःखदारिद्र्यदुर्भिक्षमहारोगादेः **शिरः** मूर्धानम्, मूर्धोपलक्षितम् उग्रत्वम् **उदवर्तयः** उद् वर्तयसि उच्छिनत्सि, **यत्** यदा **विश्वाः** समस्ताः **स्पृधः** हिंसारक्तपातलुण्ठनवञ्चनतस्करत्वादीनां वैरिणां स्पर्धमानाः सेनाः **अजयः** जयसि पराभवसि॥

अथ **चतुर्थः** सेनाध्यक्षपरः। हे **इन्द्र** सूर्य इव वर्तमान शत्रुविदारक सेनेश! त्वम् **अपां फेनेन** जलानां फेनवद् विद्यमानेन उज्ज्वलेन शस्त्रास्त्रसमूहेन **नमुचेः** आक्रमणं न मुञ्चतः शत्रोः **शिरः** मूर्धानम् **उदवर्तयः** कबन्धात् पृथक् करोषि, **यत्** यदा **विश्वाः** सर्वाः **स्पृधः** स्पर्धमानाः रिपुसेनाः **अजयः** पराजयसे ॥८॥[5]

---

१. ऋ० ८।१४।१३, य० १९।७१, ऋषिः शङ्खः। अथ० २०।२९।३।

१. उदवर्तयः उद्वर्तितवान् छिन्नवानित्यर्थः—इति वि०। उद्वर्तनं विशरणम्—इति भ०। शरीरादुद्गतमवर्तयः अच्छैत्सीरित्यर्थः—इति सा०।

३. (इन्द्र) आयुर्वेदविद्यायुक्त इति ऋ० २।११।११ भाष्ये द०।

४. (फेनम्) चक्रवृद्ध्यादिना वर्धितं धनम् इति ऋ० १।१०४।३ भाष्ये द०।

५. दयानन्दर्षिर्यजुर्भाष्ये मन्त्रमेतम् 'अथ सेनेशः कीदृशः स्यादि' ति विषये व्याचष्टे। यथा सूर्यो मेघम् उच्छिनत्ति तथा सेनेशः सर्वाः शत्रुसेना उच्छिन्द्यादिति तदीयोऽभिप्रायः।

अत्र श्लेषालङ्कारः । उपमानोपमेयभावश्च ध्वन्यते ॥८॥

भावार्थः—यथा कश्चिद् वैद्यराजः अपां फेनेन भेषजेन रोगं हन्ति, यथा वा राजा प्रजायाः सकाशात् कररूपतया प्राप्तेन वर्धितेन च धनेन प्रजाया दुःखं दूरीकरोति, यथा वा सेनाध्यक्षः शस्त्रास्त्र-जालेन शत्रोः शिरः कर्तयति, तथैव परमेश्वरो जीवात्मा वा मनुष्यस्य मनसः सात्त्विकवृत्तिभिः पाप्मान-मुच्छिनत्ति ॥८॥

अत्र सायणाचार्य इममितिहासं प्रदर्शयति—"पुराकिलेन्द्रोऽसुरान् जित्वा नमुचिमसुरं ग्रहीतुं न शशाक । स च युध्यमानस्तेनासुरेण जगृहे । स च गृहीतमिन्द्रमेवमवोचत् 'त्वां विसृजामि रात्रावह्नि च शुष्केणार्द्रेण चायुधेन यदि मां मा हिंसीरिति । स इन्द्रस्तेन विसृष्टः सन् अहोरात्रयोः सन्धौ शुष्कार्द्रविलक्षणेन फेनेन तस्य शिरश्चिच्छेद । अयमर्थोऽस्यां प्रतिपाद्यते" इति । विवरणकारेणापि तादृश एवेतिहासो वर्णितः । वस्तुतस्तु कल्पितं कथानकमेतन्न सत्यमेव घटितः कश्चिदितिहास इति बोध्यम् ॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि परमात्मा, जीवात्मा, वैद्य, राजा, और सेनापति किस प्रकार 'नमुचि' का संहार करते हैं ।

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्म-पक्ष में । हे **इन्द्र** परमात्मन् व जीवात्मन् ! तुम **अपां फेनेन** पानी के झाग के समान स्वच्छ सात्त्विक चित्त की तरंग से **नमुचेः** न छोड़ने वाले, प्रत्युत दृढ़ता से अपना पैर जमा लेने वाले पाप के **शिरः** सिर को अर्थात् ऊँचे उठे प्रभाव को **उदवर्तयः** पृथक् कर देते हो, **यत्** जब **विश्वाः** सब **स्पृधः** पापरूप नमुचि के सहायक काम-क्रोध आदि शत्रुओं की स्पर्धाशील सेनाओं को **अजयः** जीतते हो ।

द्वितीय आयुर्वेद के पक्ष में । हे **इन्द्र** रोगविदारक वैद्य ! आप **अपां फेनेन** समुद्रफेन रूप औषध से **नमुचेः** शरीर को न छोड़ने वाले, दृढ़ता से जमे रोग के **शिरः** हानिकर प्रभाव को **उदवर्तयः** उच्छिन्न कर देते हो, **यत्** जब **विश्वाः** समस्त **स्पृधः** स्पर्धालु, रोग-सहचर वेदना, वमन, मूर्छा आदि उत्पातों को **अजयः** जीतते हो ॥

तृतीय राजा के पक्ष में । हे **इन्द्र** वीर राजन् ! आप **अपाम्** राष्ट्र में व्याप्त प्रजाओं के **फेनेन** कर-रूप से प्राप्त तथा चक्रवृद्धि ब्याज आदि से बढ़े हुए धन से **नमुचेः** राष्ट्र को न छोड़ने वाले, प्रत्युत राष्ट्र में व्याप्त होकर स्थित दुःख, दरिद्रता आदि के **शिरः** सिर को, उग्रता को **उदवर्तयः** उच्छिन्न कर देते हो, **यत्** जब **विश्वाः** समस्त **स्पृधः** हिंसा, रक्तपात, लूट-पाट, ठगी, तस्कर-व्यापार आदि स्पर्धालु वैरियों को **अजयः** पराजित कर देते हो ॥

चतुर्थ सेनापति के पक्ष में । हे **इन्द्र** सूर्यवत् विद्यमान शत्रुविदारक सेनापति ! आप **अपां फेनेन** जलों के झाग के समान उज्ज्वल शस्त्रास्त्र-समूह के द्वारा **नमुचेः** पीछा न छोड़ने वाले शत्रु के **शिरः** सिर को **उदवर्तयः** धड़ से अलग कर देते हो, **यत्** जब **विश्वाः** सब **स्पृधः** स्पर्धा करने वाली शत्रुसेनाओं को **अजयः** जीतते हो ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है, उपमानोपमेयभाव ध्वनित हो रहा है ॥८॥

भावार्थ—जैसे कोई वैद्यराज समुद्रफेन औषध से रोग को नष्ट करता है, जैसे राजा प्रजा से कर-रूप में प्राप्त हुए धन से प्रजा के दुःखों को दूर करता है और जैसे सेनापति शस्त्रास्त्र-समूह से शत्रु का सिर काटता है, वैसे ही परमेश्वर और जीवात्मा मनुष्य के मन की सात्त्विक वृत्तियों से पाप को उन्मूलित करते हैं ॥

यहाँ सायणाचार्य ने यह इतिहास प्रदर्शित किया है—पहले कभी इन्द्र असुरों को जीतकर भी नमुचि नामक असुर को पकड़ने में असमर्थ रहा। उल्टे नमुचि ने ही युद्ध करते हुए इन्द्र को पकड़ लिया। पकड़े हुए इन्द्र को नमुचि ने कहा कि तुझे मैं इस शर्त पर छोड़ सकता हूँ कि तू मुझे कभी न दिन में मारे, न रात में, न सूखे हथियार से मारे, न गीले हथियार से। जब इन्द्र ने यह शर्त मान ली तब नमुचि ने उसे छोड़ दिया। उससे छूटे हुए इन्द्र ने दिन-रात की सन्धि में झाग से उसका सिर काटा (क्योंकि दिन-रात की सन्धि न दिन कहलाती है, न रात, और झाग भी न सूखा होता है, न गीला)।" यह इतिहास दिखा कर सायण कहते हैं कि यही विषय इस ऋचा में प्रतिपादित है। विवरणकार माधव ने भी ऐसा ही इतिहास वर्णित किया है। असल में तो यह कल्पित कथानक है, सचमुच घटित कोई इतिहास नहीं है ॥८॥

अथेन्द्रः सोमान् प्रत्याहूयते।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
२१२. इमे त इन्द्र सोमाः सुतासो ये च सोत्वाः।
१ २
तेषां मत्स्व प्रभूवसो ॥९॥

३ २ ३ १ २१ ३ १ २ ३ १ २१
इमे ते इन्द्र सोमाः। सुतासः ये च सोत्वाः ॥
१ २१ ३
तेषाम् मत्स्व प्रभूवसो प्रभु वसो ॥९॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। हे **इन्द्र** परमात्मन्! **इमे** एते **ते** तुभ्यम् **सोमाः** अस्माकं मैत्रीरसाः, सन्तीति शेषः, **ये मैत्रीरसाः सुतासः** पूर्वमपि अभिषुताः। 'आज्जसेरसुक्। अ० ७।१।५०' इति सुतप्रातिपदिकाज्जसोऽसुगागमः, **सोत्वाः च** इतः परम् अभिषोतव्याः च। 'षुञ् अभिषवे' धातोः 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः। अ० ३।४।१४' इति त्वन् प्रत्ययः। हे **प्रभूवसो** प्रभूततया सद्गुणानां वासयितः परमात्मन्! प्रभु प्रचुरं यथा स्यात् तथा वासयतीति प्रभूवसुः। पूर्वपदस्य दीर्घश्छान्दसः, सम्बुद्धिस्वरः। त्वम् **तेषाम्** तैः। तृतीयार्थे षष्ठी। **मत्स्व** प्रमोदस्व। मदी हर्षग्लेपनयोः, भ्वादिः। आत्मनेपदं छान्दसम्॥

अथ **द्वितीयः** जीवात्मपरः। हे **इन्द्र** जीवात्मन्! **ते** तुभ्यम् **इमे** एते **सोमाः** ज्ञानरसाः कर्मरसाः श्रद्धारसाश्च सन्ति, **ये सुतासः** पूर्वम् अभिषुताः, **सोत्वाः च** इतः परम् अभिषोतव्याश्च। हे **प्रभूवसो** मनोबुद्धीन्द्रियादीनां प्रचुरतया वासयितः! त्वम् **तेषाम्** तैः रसैः **मत्स्व** तृप्तिं लभस्व। ज्ञानवान्, कर्मवान्, श्रद्धावांश्च भवेति भावः ॥९॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—उपासकानां मनसि सद्गुणानां वासयिता दिव्यवसुः परमेश्वरः सर्वकालेषु सर्वैर्भक्तिरसेन सेचनीयः, स्वात्मा च ज्ञानरसैः, कर्मरसैः, श्रद्धारसैश्च तर्पणीयः ॥९॥

अगले मन्त्र में इन्द्र को सोमरसों के प्रति निमन्त्रित किया जा रहा है।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे **इन्द्र** परमात्मन्! **ते** आपके लिए **इमे** ये वर्तमान काल में प्रस्तुत **सोमाः** हमारे मैत्रीरस हैं, **ये** जो **सुतासः** भूतकाल में भी निष्पादित हो चुके हैं, **सोत्वाः च** और भविष्य में भी निष्पादित होते रहेंगे। हे **प्रभूवसो** प्रचुर रूप से हमारे अन्दर सद्गुणों के बसाने वाले परमात्मन्! आप **तेषाम्** उनसे **मत्स्व** प्रमुदित हों॥

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में। हे **इन्द्र** जीवात्मन्! **ते** तेरे लिए **इमे** ये वर्तमान काल में प्रस्तुत **सोमाः** ज्ञानरस, कर्मरस और श्रद्धारस हैं, **ये** जो **सुतासः** पहले भूतकाल में भी निष्पादित हो चुके हैं,

सोत्वाः च और भविष्य में भी निष्पादित किये जाने वाले हैं। हे **प्रभूवसो** मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि को बहुत अधिक बसाने वाले जीवात्मन्! **तेषाम्** उन रसों से **मत्स्व** तृप्ति प्राप्त कर, अर्थात् ज्ञानवान्, कर्मण्य और श्रद्धावान् बन ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥९॥

भावार्थ—सबको चाहिए कि उपासकों के मन में सद्गुणों को बसाने वाले, दिव्य धन के स्वामी परमेश्वर को सब कालों में मैत्री-रस से सिक्त करें और अपने आत्मा को ज्ञानरसों, कर्मरसों और श्रद्धा-रसों से तृप्त करें ॥९॥

अथ परमेश्वरः स्तोतॄन् सुखयेदिति प्रार्थ्यते।

२१३. तुभ्यं सुतासः सोमाः स्तीर्णं बर्हिर्विभावसो।
स्तोतृभ्य इन्द्र मृडय ॥१०॥[1]

तुभ्यम् सुतासः सोमाः। स्तीर्णम् बर्हिः विभावसो विभा वसो॥
स्तोतृभ्यः इन्द्र मृडय ॥१०॥

पदार्थः—हे **विभावसो** दीप्तिधन परमेश्वर! **तुभ्यम्** त्वदर्थम् **सोमाः** अस्माकं प्रीतिरसाः **सुतासः** सुताः अभिषुताः सन्ति, **बर्हिः** हृदयरूपं दर्भासनं च **स्तीर्णम्** प्रसारितम्। स्तृञ् आच्छादने, क्र्यादिः, निष्ठायां रूपम्। हृदयासने निषद्य अस्माकं प्रीतिरूपान् सोमरसान् पीत्वा च, हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परब्रह्म! त्वम् **स्तोतृभ्यः** स्तुतिं कुर्वद्भ्योऽस्मभ्यम् **मृडय** सुखं प्रयच्छ। मृड सुखने तुदादिर्वेदे चुरादिरपि दृश्यते ॥१०॥

भावार्थः—परमेश्वरस्योपासनेन तं प्रति स्वप्रीतिसमर्पणेन चोपासकानामेव सुखं जायते ॥१०॥

अत्रेन्द्रस्य तरण्यादिरूपेण वर्णनाद्, इन्द्रसहचारिणां मित्रमरुदर्यम्णां प्रशंसनाद्, इन्द्रद्वाराऽपां फेनादिना नमुच्यादेः शिरःकर्तनादिवर्णनात्, सोमं पातुमिन्द्राह्वानाद्, इन्द्रनाम्ना विद्वद्वैद्यनृपतिसेनापत्यादीनां चाप्यर्थप्रकाशनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्तीति विभावनीयम्॥

इति तृतीये प्रपाठके प्रथमार्धे द्वितीया दशतिः।
इति द्वितीयाध्याये दशमः खण्डः॥

अगले मन्त्र में यह प्रार्थना की गयी है कि परमेश्वर स्तोताओं को सुख प्रदान करे।

पदार्थ—हे **विभावसो** तेज रूप धन वाले परमेश्वर! **तुभ्यम्** आपके लिए **सोमाः** हमारे प्रीतिरस **सुतासः** निष्पादित किये गये हैं, और **बर्हिः** हृदयरूप आसन **स्तीर्णम्** बिछाया गया है। हृदयासन पर बैठकर, हमारे प्रीतिरूप सोमरसों का पान करके, हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परब्रह्म! आप **स्तोतृभ्यः** हम स्तोताओं के लिए **मृडय** आनन्द प्रदान कीजिए ॥१०॥

भावार्थ—परमेश्वर की उपासना से और उसके प्रति अपना प्रेमभाव समर्पण करने से उपासकों को ही सुख मिलता है ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र का तरणि आदि रूप में वर्णन होने से, इन्द्र के सहचारी मित्र, मरुत् और अर्यमा की प्रशंसा होने से, इन्द्र द्वारा जल-फेन आदि साधन से नमुचि का सिर काटने आदि का वर्णन

१. ऋ० ८।९३।२५, ऋषिः सुकक्षः। 'तुभ्यं सोमाः सुता इमे', 'स्तोतृभ्य इन्द्रमावह' इति पाठः।

होने से और इन्द्र नाम से विद्वान्, वैद्य, राजा, सेनापति आदि के अर्थों का भी प्रकाश होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

तृतीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त ।
द्वितीय अध्याय में दशम खण्ड समाप्त ॥

॥३॥ अथ 'आ व इन्द्रम्' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ शुनःशेपः; २ श्रुतकक्षः; ३ त्रिशोकः; ४, ६ मेधातिथिः; ५ गोतमः; ६ ब्रह्मातिथिः; ७ विश्वामित्रो जमदग्निर्वा; ८ प्रस्कण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अथ परमात्मानं प्रति जनानां कर्तव्यमुच्यते ।

२१४. आ व इन्द्रं कृविं यथा वाजयन्तः शतक्रतुम् ।
मंहिष्ठं सिञ्च इन्दुभिः ॥१॥[1]
आ वः इन्द्रम् कृविम् यथा । वाजयन्तः शतक्रतुम् शत क्रतुम् ॥
मंहिष्ठम् सिञ्चे इन्दुभिः ॥१॥

पदार्थः—हे सखायः ! **वाजयन्तः** वाजं बलम् विज्ञानम् ऐश्वर्यं वा आत्मनः कामयमानाः **वः** यूयम् **शतक्रतुम्** बहुप्रज्ञं बहुकर्माणं वा **इन्द्रम्** परमात्मानम् **इन्दुभिः** भक्तिरूपैः सोमरसैः **आ** आसिञ्चत । उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः । यथा **वाजयन्तः**[2] अन्नोत्पत्तिं कामयमानाः कर्षकाः । वाज इत्यन्ननाम । निघं० २।७ । **कृविम्**[3] कृत्रिमं कूपम् । कृविरिति कूपनाम । निघं० ३।२३ । **इन्दुभिः** उदकैः सिञ्चन्ति तद्वत् । इन्दुरित्युदकनाम । निघं० १।१२ । अहमपि **मंहिष्ठम्** दातृतमम्, महत्तमं पूज्यतमं वा तम् इन्द्रं परमात्मानम् । मंहते दानकर्मा । निघं० ३।२० । महि वृद्धौ, भ्वादिः । अतिशयेन मंहिता मंहिष्ठः । महयतिः अर्चतिकर्मा । निघं० ३।१४ । **इन्दुभिः** भक्तिरूपैः सोमरसैः **सिञ्चे** आ सिञ्चामि ॥१॥[4]

अत्रोपमालंकारः ॥१॥

भावार्थः—ये परमात्मना सह मैत्रीं विदधति ते सदाऽऽनन्दिता जायन्ते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा के प्रति मनुष्यों का कर्त्तव्य वर्णित किया गया है ।

पदार्थ—हे साथियो ! **वाजयन्तः** बल, विज्ञान या ऐश्वर्य की इच्छा करते हुए **वः** तुम लोग **शतक्रतुम्** बहुत ज्ञानी और बहुत से कर्मों को करने वाले, **इन्द्रम्** परमात्मा को **इन्दुभिः** भक्तिरसों से **आ**

---

१. ऋ० १।३०।१ ।

२. भाष्यकारैः 'वाजयन्तः सिञ्चे' इत्यत्र व्यत्ययः स्वीकृतः । "वाजयन्तः इति वचनव्यत्ययः । वाजम् अन्नम् इच्छन् अहम् । अथवा आ सिञ्चे इत्यत्र वचनव्यत्ययः । आसिञ्चामः"—इति भ० । अस्मद्व्याख्याने तु व्यत्ययं विनैव कार्यनिर्वाहः ।

३. कृविरिति कूपनाम । तत्सामीप्याद् आवाहकोऽपि क्रिविरुच्यते । यथा कश्चिद् आवाहकम् उदकेन आसिञ्चति तद्वदित्यर्थः—इति वि० । कृवि कूपं यथा अद्भिः आसिञ्चति कृत्रिमं तद्वत् इन्दुभिः त्वाम् आसिञ्चामि—इति भ० । कृती छेदने, कृत्यते छिद्यते खन्यते इति कृविः कृषिः । तां जलेन पूरयन्ति तद्वत्—इति सा० ।

४. अत्र इन्द्रशब्देन शूरवीरगुणा उपदिश्यन्ते इति ऋग्भाष्येऽस्य मन्त्रस्य व्याख्याने दयानन्दः । तत्र मन्त्रः कृषीबलस्य वायूनां च दृष्टान्तेन सभाध्यक्षपरो व्याख्यातः ।

आसिञ्चित करो। जैसे **वाजयन्तः** अन्नों की उत्पत्ति चाहने वाले किसान लोग **कृविम्** कृत्रिम कुएँ को खेतों में सिंचाई करने के लिए **इन्दुभिः** जलों से भरते हैं, उसी प्रकार मैं भी **मंहिष्ठम्** अतिशय दानी, सबसे महान् और पूज्यतम उस परमात्मा को **इन्दुभिः** भक्तिरसों से **सिञ्चे** सींचता हूँ ॥१॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ—जो परमात्मा के साथ मित्रता करते हैं वे सदा आनन्दित होते हैं ॥१॥

अथेन्द्रः कैर्वस्तुभिः सहास्मान् प्राप्नुयादित्याह।

१२ ३ १२ २१ ३१२
२१५. अतश्चिदिन्द्र न उपा याहि शतवाजया।
३२ ३१२
इषा सहस्रवाजया ॥२॥[1]

१२१ ३ १२१ ३ १२ ३२ ३
अतः चित् इन्द्र नः उप। आ याहि शतवाजया शत वाजया ॥
२ ३१२ ३१२ ३
इषा सहस्रवाजया सहस्र वाजया ॥२॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। **अतः चित्** अत एव, यतः पूर्वमन्त्रोक्तरीत्या वाजं कामयमाना वयं त्वां मैत्रीरसैः सिञ्चामस्तस्मादित्यर्थः, हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर ! त्वम् **शतवाजया** शतबलयुक्तया। बाज इति बलनाम। निघं० २।९। **सहस्रवाजया** सहस्रविज्ञानयुक्तया[2] **इषा** एष्टव्यया आनन्दरससंतत्या सह। इषु इच्छायाम्, तुदादिः, ततः क्विप्। तृतीयैकवचने रूपम्। **नः** अस्मान् **उप आयाहि** उपागच्छ ॥

अथ **द्वितीयो** राजपरः। हे **इन्द्र** शत्रुविदारक धनाधिप राजन् ! त्वम् **अतः चित्** अस्मात् स्वकीयात् राजनगरात्। अत्र चिदिति पूरणः। **शतवाजया** बहुबलवेगयुक्तया, **सहस्रवाजया** सहस्रसंग्रामसमर्थया। वाज इति संग्रामनाम। निघं० २।१७। **इषा** सेनया[3] सह **नः** अस्मान् शत्रुभिः पीडितान् प्रजाजनान् **उप आयाहि** उपागच्छ ॥

अथ **तृतीयः** आचार्यपरः। हे **इन्द्र** अविद्याविदारक ज्ञानैश्वर्यसम्पन्न आचार्यप्रवर ! त्वम् **अतः चित्** अस्मात् स्वकीयात् कुटीरात् **शतवाजया** प्रचुरबलयुक्तया, **सहस्रवाजया** बहुज्ञानयुक्तया **इषा** ब्रह्मचर्यादिव्रतपालनप्रेरणया सह **नः** अस्मान् त्वदीयशिष्यान् **उप आयाहि** उपागच्छ ॥२॥

अत्र श्लेषालंकारः। उपमानोपमेयभावश्च ध्वन्यते। 'वाजया' इति भिन्नार्थकस्य सकृदावृत्तौ यमकालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—यथा राजा बलवत्या संग्रामकुशलया सेनया सह प्रजाजनान्, आचार्यश्च बलविद्यायुक्तया सदाचारप्रेरणया सह शिष्यान् उपागच्छति तथैव परमात्मा बलविज्ञानवत्याऽऽनन्दरसधारया सहास्मानुपेयात् ॥२॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि इन्द्र किन वस्तुओं के साथ हमें प्राप्त हो।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। **अतः चित्** इसीलिए, अर्थात् क्योंकि हम पूर्वमन्त्रोक्त रीति से

---

१. ऋ० ८।९२।१०।

२. वाजम् विज्ञानम् इति ऋ० १।११७।१० भाष्ये द०।

३. इषः इष्यन्ते यास्ताः सेनाः, अत्र 'कृतो बहुलम्' इति वार्तिकेन कर्मणि क्विप्, इति ऋ० १।९।८ भाष्ये द०। इष गतौ, दिवादिः।

बलादि की कामना करते हुए आपको अपने मैत्रीरसों से सींचते हैं इस कारण हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर ! आप **शतवाजया** सैकड़ों बलों से युक्त और **सहस्रवाजया** सहस्रों विज्ञानों से युक्त **इषा** अभीष्ट आनन्दरस की धारा के साथ **नः** हमें **उप आयाहि** प्राप्त हों ।

द्वितीय राजा के पक्ष में । हे **इन्द्र** शत्रुविदारक धनपति राजन् ! आप **अतः चित्** इस अपनी राजधानी से **शतवाजया** बहुत बल और वेग वाली तथा **सहस्रवाजया** सहस्र संग्राम करने में समर्थ **इषा** सेना के साथ **नः** शत्रुओं से पीड़ित हम प्रजाजनों को **उप आयाहि** प्राप्त हों ।

तृतीय आचार्य के पक्ष में । हे **इन्द्र** अविद्या के विदारक और ज्ञान-धन से सम्पन्न आचार्यप्रवर ! **त्वम्** आप **अतः चित्** इस अपनी कुटी से **शतवाजया** प्रचुर बल से युक्त, **सहस्रवाजया** बहुत ज्ञान से युक्त **इषा** ब्रह्मचर्यादि व्रतपालन की प्रेरणा के साथ **नः** हम शिष्यों को **उप आयाहि** प्राप्त हों ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है और उपमानोपमेयभाव ध्वनित हो रहा है । 'वाजया' इस भिन्नार्थक शब्द की एक बार आवृत्ति होने से यमक अलंकार है ॥२॥

भावार्थ—जैसे राजा बलवती, संग्रामकुशल सेना के साथ प्रजाजनों को और आचार्य बलविद्यायुक्त सदाचार-प्रेरणा के साथ शिष्यों को प्राप्त होता है, वैसे ही परमात्मा बलविज्ञानयुक्त आनन्दरस की धारा के साथ हमें प्राप्त हो ॥२॥

अथेन्द्रनाम्ना जीवात्मनो मनसः परमात्मनश्च कृत्यं वर्णयति ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
२१६. आ बुन्दं वृत्रहा ददे जातः पृच्छाद् वि मातरम् ।
२ ३ १ २ २
क उग्राः के ह शृण्विरे ॥३॥[1]
२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
आ बुन्दम् वृत्रहा वृत्र हा ददे । जातः पृच्छात् वि मातरम् ।
३ २ ३
के उग्राः के ह शृण्विरे ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमो** जीवात्मपरः । **जातः** मानवदेहे गृहीतजन्मा, **वृत्रहा** दुष्टहननक्षमः जीवः **बुन्दम्** इषुम्, शस्त्रास्त्रसमूहम् । बुन्दः इषुर्भवति, भिन्दो वा भयदो वा भासमानो द्रवतीति वा । निरु० ६।३३ । **आददे** आददीत । आङ्पूर्वाद् डुदाञ् दाने धातोः लिङर्थे लिट् । किञ्च **मातरम्** स्वकीयां जननीम् **वि पृच्छात्** विशेषतः पृच्छेत् । पृच्छ धातोर्लेटि 'लेटोऽडाटौ । अ० ३।४।९४' इत्याडागमः । यत् हे मातः ! **के** के जनाः **उग्राः** दुष्टाः सन्ति, **के ह** के च शृण्विरे सद्गुणैः सत्कर्मभिश्च श्रूयन्ते, प्रख्यातकीर्तयः सज्जनाः सन्तीति त्वं ब्रूहि, येनाहं दुष्टान् दण्डयेयं सज्जनांश्च मानयेयम् ।

अथ **द्वितीयो** मनःपरः । **जातः** वेगादिसामर्थ्ये प्रसिद्धः **वृत्रहा** पापहन्ता इन्द्रः सद्विचाररूपपरमैश्वर्ययुक्तं मनः । मन एवेन्द्रः । श० १२।९।१।१३ । यन्मनः स इन्द्रः । गो० उ० ४।११ । **बुन्दम्** शिवसंकल्परूपम् इषुम् **आददे** गृह्णीयात्, किं च **मातरम्** सदसद्विवेकनिर्मात्रीं बुद्धिम् **वि पृच्छात्** विशेषेण पृच्छेत्, यत् **के** कतमे विचाराः **उग्राः** उत्कटपापमयाः सन्ति, **के ह** कतमे च **शृण्विरे** पुण्येन प्रख्याताः सन्तीति ब्रूहि, येनाहं पापात्मकान् विचारान् खण्डयेयम्, पुण्यात्मकांश्च मण्डयेयम् ।

अथ **तृतीयो** राजप्रजापरः । **जातः** उत्पन्नः, प्रजाभिः राजपदेऽभिषिक्तः, **वृत्रहा** राष्ट्रस्याभ्यन्तरान् बाह्यांश्च शत्रून् हन्तुं समर्थो राजा **बुन्दम्**[2] इषुं, शासनदण्डम् शस्त्रास्त्रसमूहं वेत्यर्थः, **आददे** गृह्णीयात्,

१. ऋ० ८।४५।४, 'पृच्छाद्' इत्यत्र 'पृच्छद्' इति पाठः ।

२. **बुन्दम् इषुम्**—इति वि० । बुन्दम्, वृन्देन समानार्थः । दृढं वज्रमित्यर्थः—इति भ० ।

मातरम् राज्ञो निर्मात्रीम्, जनतां **वि पृच्छात्** विशेषेण पृच्छेत्, यत् **के** के जनाः, **उग्राः** प्रचण्डकोपाः शत्रवः, सन्ति, ये युष्मानुद्वेजयन्ति, **के ह** के च **शृण्विरे**[1] श्रूयन्ते सद्गुणसत्कर्मादिकारणात् प्राप्तख्यातयः सन्ति, ये युष्माभिः सह मित्रवदाचरन्तीति ब्रूहि, येनाहं शत्रून् दण्डयेयं मित्राणि च सत्कुर्याम् ॥३॥

अत्र श्लेषालंकारः ॥३॥

भावार्थः—धृतमानवशरीराणां वीराणां नृपतेश्च कर्तव्यमेतदस्ति यत् ते दुष्टान् दण्डयित्वा पुण्यात्मनः सत्कुर्युः । मनोबुद्धिसाहाय्येन च सर्वैः पापानि निरस्य पुण्यानि प्रसारणीयानि ॥३॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से जीवात्मा, मन और परमात्मा का कृत्य वर्णित किया गया है।

पदार्थ—**प्रथम** जीव के पक्ष में । **जातः** मानवदेह में जन्मा, **वृत्रहा** दुष्टों के संहार करने में समर्थ जीवात्मा, **बुन्दम्** बाण को, शस्त्रास्त्रसमूह को **आददे** ग्रहण करे, और **मातरम्** अपनी माता से **वि पृच्छात्** पूछे कि हे माँ ! **के** कौन लोग **उग्राः** दुष्ट हैं, **के ह** और कौन **शृण्विरे** सद्गुणों और सत्कर्मों से प्रख्यात कीर्ति वाले हैं, यह तुम बताओ, जिससे मैं दुष्टों को दण्डित करूँ और सज्जनों का सम्मान करूँ ॥

द्वितीय मन के पक्ष में । **जातः** वेग आदि सामर्थ्य में प्रसिद्ध, **वृत्रहा** पापरूप वृत्र का संहार करने वाला इन्द्र अर्थात् सद्विचाररूप परमैश्वर्य वाला मन **बुन्दम्** शिवसंकल्परूप बाण को **आददे** ग्रहण करे, और **मातरम्** सत्-असत् के विवेक की निर्मात्री बुद्धि से **वि पृच्छात्** पूछे कि **के** कौन से विचार **उग्राः** उत्कट पाप वाले हैं, **के ह** और कौन से विचार **शृण्विरे** पुण्य से प्रख्यात हैं, यह बताओ, जिससे मैं पापात्मक विचारों का खण्डन और पुण्यात्मक विचारों का मण्डन करूँ ॥

तृतीय राजा के पक्ष में । **जातः** प्रजाओं द्वारा राजा के पद पर अभिषिक्त, **वृत्रहा** राष्ट्र के आन्तरिक और बाह्य शत्रुरूप वृत्रों के संहार में समर्थ राजा **बुन्दम्** बाण को अर्थात् शासनदण्ड को अथवा शस्त्रास्त्रसमूह को **आददे** ग्रहण करे, और **मातरम्** राजा की निर्मात्री जनता से **वि पृच्छात्** विशेष रूप से पूछे कि **के** कौन लोग **उग्राः** प्रचण्ड कोप वाले शत्रु हैं, जो तुम्हें परेशान करते हैं, **के ह** और कौन **शृण्विरे** सद्गुण, सत्कर्म आदि के कारण विश्रुत हैं, प्रख्यात हैं, जो तुम्हारे साथ मित्र के समान आचरण करते हैं। बताओ, जिससे मैं शत्रुओं को दण्डित और मित्रों को सत्कृत करूँ ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—जिन्होंने मानव-शरीर धारण किया है उन वीरों का और राजा का यह कर्तव्य है कि वे दुष्टों को दण्ड देकर पुण्यात्माओं का सत्कार करें । साथ ही सबको चाहिए कि वे मन और बुद्धि की सहायता से पापों को दूर कर पुण्यों का प्रसार करें ॥३॥

अथ वयं स्वरक्षायै कीदृशं परमात्मानं राजानं चाह्वयेमेत्याह ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२१७. बृबदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये ।
१ २ ३ २ ३ १ २
साधः कृण्वन्तमवसे ॥४॥[2]

---

१. शृण्विरे श्रूयन्ते विख्याताः—इति वि० । श्रूयन्ते बलादिभिः—इति भ० । वीर्येण विश्रुताः—इति सा० । (शृण्विरे) श्रूयन्ते । अत्र श्रु धातोः 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः । अ० ३।४।६' इति लडर्थे लिट् । 'छन्दस्युभयथा । अ० ३।४।११७ इति सार्वधातुकत्वेन श्नुविकरणः, आर्धधातुकत्वाद् यगभावः । विकरणव्यवहितत्वाद् द्वित्वं च न भवति—इति ऋ० १।१५।८ भाष्ये द० ।

२. ऋ० ८।३२।१०, 'साधः' इत्यत्रः 'साधु' इति पाठः ।

बृबदुक्थम् बृवत् उक्थम् हवामहे । सृप्रकरस्नम् सृप्र करस्नम् ऊतये ।।
साधः कृण्वन्तम् अवसे ।।४।।

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । वयम् **बृबदुक्थम्** प्रशंसनीयकीर्तिम् । बृबदुक्थो महदुक्थो, वक्तव्यमस्मा उक्थमिति वा । निरु० ६।४ । **सृप्रकरस्नम्** व्यापकेषु कर्मसु निष्णातम् । सर्पन्ति गच्छन्ति व्याप्नुवन्तीति सृप्राः; सृप्लृ गतौ धातोः 'स्फायितञ्चि०' उ० २।१३ इति रक् । क्रियन्ते इति कराः कर्माणि । सृप्रेषु सृप्तेषु विस्तीर्णेषु करेषु कर्मसु स्नातीति तम् । किञ्च **अवसे** प्रगतये । अवरक्षणगत्यादिषु, धातोः 'तुमर्थे सेसेनसे असेन्' अ० ३।४।९ इति तुमर्थे असेन् प्रत्ययः । नित्त्वात् 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' अ० ६।१।१९७ इत्याद्युदात्तत्वम् । **साधः**[1] सूर्यवाय्वग्निरजतसुवर्णादिरूपं साधनसमूहम् । साध संसिद्धौ धातोः 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' उ० ४।१९० इत्यसुन् । **कृण्वन्तम्** उपस्थापयन्तम् इन्द्रं परमात्मानम् । कृवि हिंसाकरणयोः स्वादिः, शतरि रूपम् । **ऊतये** रक्षणाय **हवामहे** आह्वयामः ।।

अथ **द्वितीयः** राजपरः । वयम् प्रजाजनाः **बृबदुक्थम्** प्रशंसनीयकीर्तिम्, **सृप्रकरस्नम्** आजानुबाहुम् यद्वा शत्रुनिग्रहप्रजापालनादिकर्मसु व्याप्तभुजम् । सृप्रौ आजानुलम्बिनौ सत्कर्मसु व्यापनशीलौ वा करस्नौ बाहू यस्य तम् । सृप्रः सर्पणात् । करस्नौ बाहू कर्मणां प्रस्नातारौ । निरु० ६।१७ । किञ्च **अवसे** प्रजानां प्रगतये **साधः** शस्त्रास्त्रज्ञानविज्ञानचिकित्सादिसिद्धिम् **कृण्वन्तम्** कुर्वन्तम् इन्द्रं राजानम् **ऊतये** सुरक्षायै **हवामहे** आह्वयामः ।।४।।

अत्र श्लेषालंकारः ।

भावार्थः—पुरुषार्थिनो जनाः सर्वशक्तिमतः परमेश्वरस्य नृपतेश्च साहाय्येनैव स्वात्मनीनां सामाजिकीं च प्रगतिं कर्त्तुं पारयन्तीति सर्वैः तयोः साहाय्यं प्रार्थनीयम् ।।४।।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि हम अपनी रक्षा के लिए कैसे परमात्मा और राजा का आह्वान करें ।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हम **बृबदुक्थम्** प्रशंसनीय कीर्ति वाले, **सृप्रकरस्नम्** व्यापक कर्मों में निष्णात, और **अवसे** प्रगति के लिए **साधः** सूर्य, वायु, अग्नि, चाँदी, सोना आदि साधन-समूह को **कृण्वन्तम्** उत्पन्न करने वाले इन्द्र नामक परमात्मा को **ऊतये** रक्षा के लिए **हवामहे** पुकारते हैं ।

द्वितीय राजा के पक्ष में । हम प्रजाजन **बृबदुक्थम्** प्रशंसनीय कीर्ति वाले, **सृप्रकरस्नम्** घुटनों तक लम्बी बाहुओं वाले अथवा शत्रुनिग्रह, प्रजापालन आदि शुभ कर्मों में व्याप्त भुजाओं वाले, और **अवसे** प्रजाओं की प्रगति के लिए **साधः** शस्त्रास्त्र-ज्ञानविज्ञान-चिकित्सा आदि की सिद्धि को **कृण्वन्तम्** करने वाले इन्द्र राजा को **ऊतये** सुरक्षा के लिए **हवामहे** पुकारते हैं ।

भावार्थ—पुरुषार्थी जन सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की और सुयोग्य राजा की सहायता से ही अपनी और समाज की प्रगति कर सकते हैं, इसलिए सबको उनकी सहायता माँगनी चाहिए ।।४।।

इन्द्राधिष्ठिता वरुणमित्रादयोऽस्मान् सरलमार्गेण नयेयुरित्याह ।

२१८. **ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयति विद्वान् ।**
अर्यमा देवैः सजोषाः ।।५।।[2]

१. विवरणकृद्भरतस्वामिभ्यां तु ऋग्वेदवत् 'साधु' इति पाठं मत्वा व्याख्यातम् । 'साधः साधकं धनं कृण्वन्तं प्रयच्छन्तम्'—इति सा० ।

२. ऋ० १।९०।१, 'नयति' इत्यत्र 'नयतु' इति पाठः । विश्वेदेवाः देवता ।

ऋजुनीती ऋजु नीती नः वरुणः । मित्रः मि त्रः नयति विद्वान् ॥
अर्यमा देवैः सजोषाः स जोषाः ॥५॥

पदार्थः—**प्रथमो**ऽध्यात्मपरः । हे इन्द्र परमात्मन् ! **देवैः** चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः[1] । दीव्यन्ति व्यवहरन्ति स्वस्वविषयेष्विति देवाः इन्द्रियाणि तैः । **सजोषाः** सप्रीतिः । जुषी प्रीतिसेवनयोः धातोः औणादिकोऽसुन् प्रत्ययः । जोषसा सह वर्तते इति सजोषाः । समासे 'वोपसर्जनस्य' अ० ६।३।८२ इति सहस्य सः । **विद्वान्** ज्ञानवान् **वरुणः** पापेभ्यो निवारणकर्त्ता जीवात्मा, **मित्रः** प्राणः, **अर्यमा** मनः **नः** अस्मान् **ऋजुनीती** ऋजुनीत्या सरलेन धर्ममार्गेण । 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णदीर्घ०' अ० ७।१।३९ इति तृतीयैकवचने पूर्वसवर्णदीर्घः । **नयति** नयतु ।[2] णीञ् प्रापणे धातोर्विध्यर्थे लेटि 'लेटोऽडाटौ' अ० ३।४।९४ इत्यडागमः ।

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रपरः । हे इन्द्र राजन् ! **देवैः** स्वस्वाधिकारेषु व्यवहरद्भिः राजपुरुषैः **सजोषाः** सप्रीतिः, आनुकूल्यं भजमानः इत्यर्थः **विद्वान्** विपश्चिद् विद्यासभाध्यक्षः, **वरुणः** शत्रुनिवारकः शस्त्रास्त्रपाणिः सेनाध्यक्षः, **मित्रः** कदाचाररूपाद् मरणात् त्राणकर्त्ता धर्मसभाध्यक्षः, मित्रः प्रमीतेस्त्रायते । निरु० १०।२१ ।[3] **अर्यमा** न्यायसभाध्यक्षः **नः** अस्मान् प्रजाजनान् **ऋजुनीती** ऋजुना धर्ममार्गेण **नयति** नयतु ॥

अथ **तृतीयो** विद्वत्परः । **देवैः** विद्यया दीप्तैः विद्याव्रतदानशीलैः सर्वैः अध्यापकैः **सजोषाः** सामञ्जस्यं भजमानः **वरुणः** श्रेष्ठगुणकर्मस्वभावः, छात्रैराचार्यत्वेन वृतः छात्राणां शिष्यत्वेन वर्ता वा, **मित्रः** पापरूपात् मरणात् त्राणकर्ता, **अर्यमा** न्यायकारी **विद्वान्** आप्तविद्यः आचार्यः **नः** अस्मान् शिष्यान् **ऋजुनीती** ऋजुः सरला शुद्धा चासौ विद्यानीतिः व्रतनीतिश्च तया **नयति** नयतु । अस्मान् सुयोग्यान् विद्याव्रतस्नातकान् करोतु इत्यर्थः ॥५॥[4]

अत्र श्लेषालंकारः ॥५॥

भावार्थः—शरीरे विद्यमाना जीवात्मप्राणमनःप्रभृतयो देवाः परमात्मनः सकाशाद् बलं प्राप्य मनुष्यान् धर्ममार्गेण नयन्ति । तथैव राष्ट्रे विद्याधर्मन्यायसभानामध्यक्षाः सेनाध्यक्षश्च प्रजाजनान् धर्ममार्गे नयन्तु । किञ्च गुरुकुलवासिभिः सुयोग्यैरध्यापकैः समन्वितः श्रेष्ठगुणकर्मस्वभाव आचार्योऽपि शिष्यान् धर्ममार्गे नयतु ॥५॥

अगले मन्त्र में यह प्रार्थना है कि इन्द्र से अधिष्ठित वरुण, मित्र आदि हमें सरल मार्ग से ले चलें।

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्म पक्ष में । हे इन्द्र परमात्मन् ! आपकी सहायता से **देवैः** चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ **सजोषाः** प्रीति वाला, **विद्वान्** ज्ञानी **वरुणः** पापों से निवारण करने वाला जीवात्मा, **मित्रः** प्राण, और **अर्यमा** मन **नः** हमें **ऋजुनीती** सरल धर्ममार्ग से **नयति** ले चलें ।

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में । हे इन्द्र राजन् ! **देवैः** अपने-अपने अधिकार में व्यवहार करने वाले राजपुरुषों के साथ **सजोषाः** प्रीति वाला अर्थात् अनुकूलता रखने वाला **विद्वान्** विद्वान् विद्यासभाध्यक्ष, **वरुणः** शत्रुनिवारक, शस्त्रास्त्रधारी सेनाध्यक्ष, **मित्रः** कुत्सित आचरणरूप मृत्यु से त्राण करने वाला धर्म-सभा का अध्यक्ष और **अर्यमा** न्यायसभा का अध्यक्ष **नः** हम प्रजाजनों को **ऋजुनीती** सरल धर्ममार्ग से **नयति** ले चलें ।

---

१. देवाः स्वस्वविषयप्रकाशकानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि इति ऋ० ६।९।५ भाष्ये द० ।

२. नयतीति पञ्चमलकारान्तम्, नयतु—इति भ० । नयति अभिमतं फलं प्रापयति—इति सा० ।

३. पदकारेणापि 'मि—त्रः' इति विभजनात् 'प्रमीतेः त्रायते यः सः' इत्येवार्थः सूचितः ।

४. दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्येऽस्य मन्त्रस्य वाचकलुप्तोपमालङ्कारमाश्रित्य परमेश्वरार्थेन सह विद्वत्परोऽर्थः प्रकाशितः ।

तृतीय विद्वान् के पक्ष में। **देवैः** विद्या और व्रत-शिक्षा का दान करने वाले सब अध्यापकों से **सजोषाः** सामञ्जस्य रखता हुआ **वरुणः** श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभाव वाला, छात्रों द्वारा आचार्य रूप में वरण किया गया व छात्रों को शिष्य रूप से वरने वाला, **मित्रः** पापरूप मरण से त्राण कराने वाला, **अर्यमा** न्यायकारी **विद्वान्** विद्वान् आचार्य **नः** हम शिष्यों को **ऋजुनीती** सरल विद्या-दान और व्रत-पालन करने की नीति से **नयति** आगे ले चले, अर्थात् हमें सुयोग्य विद्या-व्रत-स्नातक बनाये ॥५॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥५॥

भावार्थ—शरीर में विद्यमान जीवात्मा, प्राण, मन आदि देव परमात्मा के पास से बल प्राप्त कर मनुष्यों को धर्म-मार्ग से ले जाते हैं। उसी प्रकार राष्ट्र में विद्यासभा, धर्मसभा और न्यायसभा के अध्यक्ष तथा सेना का अध्यक्ष प्रजाजनों को धर्ममार्ग में ले चलें। गुरुकुलवासी सुयोग्य अध्यापकों से युक्त, श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभाव वाला आचार्य भी शिष्यों को धर्म तथा विद्या के मार्ग में ले चले ॥५॥

अथ सूर्यप्रकाशेनाध्यात्मप्रकाशेन च दूरस्था अपि पदार्था अन्तिकस्था इव दृश्यन्त इत्याह।

२१९. ३ २ ३।२ ३ २ ३ २ ३ २ ३।१ २
दूरादिहेव यत्सतोऽरुणप्सुरशिश्वितत्।
२ ३ २ ३ १ २
वि भानुं विश्वथातनत् ॥६॥[1]

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २।१
दूरात् दुः आत् इह इव यत् सतः। अरुणप्सुः अशिश्वितत्॥
३ २ ३ १ २ ३
वि भानुम् विश्वथा अतनत् ॥६॥

पदार्थः[2]—**प्रथमः** खगोलपरः। **अरुणप्सुः** अरुणः आरोचमानः प्सुः रूपं यस्य सोऽरुणप्सुः इन्द्रः सूर्यः। अरुणः आरोचनः। निरु० ५।२१। प्सुः इति रूपनाम। निघं० ३।७। **यत्** यदा **दूरात्** खगोलस्थाद् दूरवर्तिप्रदेशात्, मंगलबुधचन्द्रादीन् ग्रहोपग्रहान् **इह इव सतः** इह समीपे इव विद्यमानान् कुर्वन् **अशिश्वितत्** आरोचयति। श्विता वर्णे धातोर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम्। यच्छब्दयोगात् 'तिङ्ङतिङः' अ० ८।१।२८ इति प्राप्तस्य निघातस्य 'यद्वृत्तान्नित्यम्। अ० ८।१।६६' इति प्रतिषेधः। तदा **भानुम्** निजं प्रकाशम् **विश्वथा** बहुप्रकारेण। अत्र 'प्रकारवचने थाल्। अ० ५।३।२३' इति थाल् प्रत्ययः, न तु 'प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल् छन्दसि। अ० ५।३।१११' इत्यस्य प्रवृत्तिः, इवार्थाभावात्। **वि-अतनत्** वितनोति विस्तृणाति। तनु विस्तारे स्वादिः, वेदे भ्वादिरपि दृश्यते।

अथ **द्वितीयो**ऽध्यात्मपरः। **अरुणप्सुः** आरोचमानरूपः इन्द्रः परमेश्वरः **यत्** यदा **दूरात्** व्यवहिताद् विप्रकृष्टाद् वा प्रदेशात्, पदार्थान् **इह इव सतः** अत्र समीप इव विद्यमानान् कुर्वन् **अशिश्वितत्** आरोचयति, योगिनो मानसं प्रकाशयति, तदा **भानुम्** भासमानं जीवात्मानम् **विश्वथा** सर्वथा **वि-अतनत्** योगैश्वर्यप्रापणेन विस्तारयति व्यापकज्ञानयुक्तं करोतीत्यर्थः ॥६॥

योगाभ्यासिनो जनस्य परमात्मप्रदत्तेन दिव्यालोकेन सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टानां पदार्थानां, दूरस्थानां ताराव्यूहानां, ध्रुवादिनक्षत्राणां च समीपस्थवस्तुवद् हस्तामलकसाक्षात्कारो भवितुमर्हतीति योग-

---

१. ऋ० ८।५।१ अश्विनौ देवते। 'सतोऽरुणप्सु' 'विश्वथा' इत्यत्र 'सत्यरुणप्सु' 'विश्वधा' इति पाठः।

२. माधवभरतस्वामिसायणैः सर्वैरेवास्या ऋचो व्याख्याने उषसः प्रक्रम्य अश्विनोरुपसंहृतम्। ऋग्वेदेऽस्या अश्विनौ देवते निर्दिष्टे, 'सतः' इत्यस्य स्थाने च 'सती' इति स्त्रीलिङ्गः पाठः। तत्र तु 'दूरादपि इहेव सती अरुणप्सुः उषाः अशिश्वितत्' इति व्याख्यानमुचितम्। अत्र तु इन्द्रदेवताकत्वाद् ऋचः तद् व्याख्यानं न समञ्जसमिति दिक्।

दर्शने विभूतिपादे महर्षिः पतञ्जलिराह[1]।

अत्र श्लेषालङ्कारः। 'दूरादिहेव यत् सतः' इत्यत्र चोत्प्रेक्षा ॥६॥

भावार्थः—आरोचमानरूपः सूर्यो यदा स्वप्रकाशं मंगलबुधबृहस्पतिचन्द्रादिषु ग्रहोपग्रहेषु प्रक्षिपति तदा तत्प्रकाशेन ते प्रकाशिता जायन्ते, प्रकाशश्चास्मच्चक्षुषोः प्रतिफलितः सन् दूरस्थानपि तान् समीपवर्तिन इव दर्शयति। तथैव योगाभ्यासेन योगिनां मनःसु परमात्मनो दिव्यालोकः प्रतिफलितः सन् तेषु तां शक्तिं जनयति यया ते सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टानपि पदार्थान् साक्षादन्तिकस्थानिव पश्यन्ति ॥६॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि सूर्य के प्रकाश से और अध्यात्म-प्रकाश से दूरस्थ भी पदार्थ समीपस्थ के समान दीखते हैं।

पदार्थ—**प्रथम** खगोल पक्ष में। **अरुणप्सुः** चमकीले रूपवाला सूर्यरूपी इन्द्र **यत्** जब **दूरात्** खगोल में स्थित दूरवर्ती प्रदेश से, मंगल-बुध-चन्द्रमा आदि ग्रहोपग्रहों को **इह इव सतः** मानों यहीं समीप में ही स्थित करता हुआ **अशिश्वितत्** चमकाता है, तब **भानुम्** अपने प्रकाश को **विश्वथा** बहुत प्रकार से **विअतनत्** विस्तीर्ण करता है।

द्वितीय अध्यात्म पक्ष में। **अरुणप्सुः** तेजस्वी रूप वाला इन्द्र परमेश्वर **यत्** जब, **दूरात्** दूर से अर्थात् व्यवधानयुक्त अथवा दूरस्थ प्रदेश से, पदार्थों को **इह इव सतः** यहाँ समीपस्थ के समान करता हुआ **अशिश्वितत्** योगी के मानस को प्रकाशित करता है, तब **भानुम्** भासमान जीवात्मा को **विश्वथ** सर्व प्रकार से **वि अतनत्** योगैश्वर्य प्राप्त कराकर विस्तीर्ण अर्थात् व्यापक ज्ञानवाला कर देता है ॥६॥

योगाभ्यासी मनुष्य को परमात्मा द्वारा प्रदत्त दिव्य आलोक से सूक्ष्म, ओट में स्थित और दूरस्थ पदार्थों का, दूरस्थित ताराव्यूहों का और ध्रुव आदि नक्षत्रों का समीपस्थ वस्तु के समान हस्तामलकवत् साक्षात्कार हो सकता है, यह योगदर्शन में विभूतिपाद में महर्षि पतंजलि ने कहा है। योगसिद्धियों के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द के विचार इसी मन्त्र की संस्कृत टिप्पणी में देखें।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'दूरस्थित को भी मानो समीप-स्थित करता हुआ' इसमें उत्प्रेक्षालंकार है ॥६॥

भावार्थ—चमकीला सूर्य जब अपने प्रकाश को मंगल, बुध, बृहस्पति, चन्द्र आदि ग्रहोपग्रहों पर फेंकता है, तब उसके प्रकाश से वे प्रकाशित हो जाते हैं और वह प्रकाश हमारी आँखों पर प्रतिफलित होकर उन दूरस्थित पदार्थों को भी समीप में स्थित के समान दिखाता है। उसी प्रकार योगाभ्यास से योगियों के मनों में परमात्मा का दिव्य आलोक प्रतिबिम्बित होकर उनके अन्दर वह शक्ति उत्पन्न कर देता है, जिससे वे सूक्ष्म, ओट में स्थित तथा दूरस्थित पदार्थों को भी साक्षात् समीपस्थ के समान देखने लगते हैं ॥६॥

---

१. द्रष्टव्यम्—योगदर्शनम् ३।१६, १९, २५-२८, ३३, ४१। योगसिद्धीनां विषये महर्षिदयानन्दस्य विचाराः य० १७।६७, ७१ भाष्ये, पूनाप्रवचनस्य ११श प्रवचने च द्रष्टव्याः। तथा हि—'यदा मनुष्यः स्वात्मना सह परमात्मानं युङ्क्ते तदा अणिमादयः सिद्धयः प्रादुर्भवन्ति। ततोऽव्याहतगत्याभीष्टानि स्थानानि गन्तुं शक्नोति नान्यथा' इति य० १७।६७ भाष्ये भावार्थः। "योगी विभूति सिद्ध करता है यह योगशास्त्र में लिखा है। अणिमा आदि विभूतियाँ हैं। ये योगी के चित्त में पैदा होती हैं। सांसारिक लोग जो यह मानते हैं कि योगी के शरीर में पैदा होती हैं, वह ठीक नहीं है।" इति च पूनाप्रवचनम्।

अथेन्द्राधिष्ठितौ ब्राह्मणक्षत्रियौ सम्बोधयति ।

२२०. आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् ।
मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥७॥[1]

आ नः मित्रा मि त्रा वरुणा । घृतैः गव्यूतिम् गो यूतिम् उक्षतम् ॥
मध्वा रजाꣳसि सुक्रतू सु क्रतूइति ॥७॥

पदार्थः—हे इन्द्रेण परमात्मना नृपतिना वाऽधिष्ठितौ[2] **मित्रावरुणौ** ब्राह्मणक्षत्रियौ । ब्रह्मैव मित्रः । श० ४।१।४।१, क्षत्रं वै वरुणः । श० २।५।२।६ । युवाम् **नः** अस्माकम् **गव्यूतिम्**[3] राष्ट्रभूमिम् । गवां धेनूनां यूतिः उचितभोजनादिना सत्कारः यत्र सा गव्यूतिः । यौतिः अर्चतिकर्मा । निघं० ३।१४ । 'गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम् । अ० ६।१।७९ वा०' इत्यवादेशः । यूतिः इति 'ऊतियूतिजूति । अ० ३।३।९७' इति क्तिन्प्रत्ययान्तो निपातः । **घृतैः** घृतादिपदार्थैः **आ उक्षतम्** आसिञ्चतम्, समृद्धं कुरुतम् इति भावः । उक्ष सेचने, भ्वादिः । हे **सुक्रतू** सुज्ञानकर्माणौ ! युवाम् **मध्वा** विद्यामधुना सह **रजांसि** क्षात्रतेजांसि, उत्पादयतम् इति शेषः । ज्योती रज उच्यते इति निरुक्तम् । ४।१९। ॥७॥[4]

भावार्थः—परमात्मनः प्रेरणां नृपतेश्च साहाय्यं प्राप्य ब्राह्मणक्षत्रियौ राष्ट्रस्य प्रजासु समृद्धिं विद्यां, वीरतां, क्षात्रं तेजश्च यदि जनयतस्तर्हि राष्ट्रं परममुत्कर्षं प्राप्तुमर्हति ॥७॥

अगले मन्त्र में इन्द्र से अधिष्ठित ब्राह्मण और क्षत्रिय को सम्बोधन किया गया है ।

पदार्थ—इन्द्र परमात्मा और इन्द्र राजा के अधिष्ठातृत्व में चलने वाले हे **मित्रावरुणौ** ब्राह्मण और क्षत्रियो ! तुम दोनों **नः** हमारी **गव्यूतिम्** राष्ट्रभूमि को **घृतैः** घृत आदि पदार्थों से **आ उक्षतम्** सींचो अर्थात् समृद्ध करो । हे **सुक्रतू** उत्तम ज्ञान और कर्म वालो ! तुम दोनों **मध्वा** विद्यामधु के साथ **रजांसि** क्षात्रतेजों को उत्पन्न करो ॥७॥

भावार्थ—परमात्मा से प्रेरणा और राजा से सहायता पाकर ब्राह्मण और क्षत्रिय राष्ट्र की प्रजाओं में समृद्धि, विद्या, वीरता और क्षात्रतेज को यदि उत्पन्न करते हैं, तो राष्ट्र परम उत्कर्ष को पा सकता है ॥७॥

अथेन्द्राधीना मरुतो वर्ण्यन्ते ।

२२१. उदु त्ये सूनवो गिरः काष्ठा यज्ञेष्वत्नत ।
वाश्रा अभिज्ञु यातवे ॥८॥[5]

---

१. ऋ० ३।६२।१६, य० २१।८ उभयत्र मित्रावरुणौ देवते, यजुषि 'विश्वामित्र' ऋषिः । साम० ६६३ ।

२. इन्द्रदेवताकत्वाद् ऋचः एतद् योजनीयम् ।

३. गावो यत्र चरन्ति सा गव्यूतिरुच्यते—इति वि० । गोसञ्चारदेशम् इति भ० । गवां मार्गं गोनिवासस्थानम्—इति सा० ।

४. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्येऽध्यापकोपदेशकविषये यजुर्भाष्ये च शिल्पविषये व्याख्यातः ।

५. ऋ० १।३७।१०, 'यज्ञेष्वत्नत' इत्यत्र 'अज्मेष्वत्नत' इति पाठः । मरुतो देवताः । कण्वो घौरः ऋषिः ।

२ ३ २ ३१२ १२१ १२१ ३१२ ३
उत् उ त्ये सूनवः गिरः । काष्ठाः यज्ञेषु अत्नत ॥
२ ३ २ ३ २ १२१
वाश्राः अभिज्ञु अभि ज्ञु यातवे ॥८॥

पदार्थः—**प्रथमः** वायुपरः । **सूनवः** इन्द्राख्यस्य परमेश्वरस्य सूर्यस्य वा पुत्राः **त्ये** ते मरुतः पवनाः **यज्ञेषु** वृष्टिरूपेषु अध्वरेषु, यदा **गिरः**[1] वाचः, स्तनयित्नुशब्दान् **काष्ठाः** मेघस्थाः अपः च । आपोऽपि काष्ठा उच्यन्ते । निरु० २।१५। **उद् अत्नत** उत्तन्वन्ति, स्तनयित्नुगर्जनशब्दान् उत्पादयन्ति मेघजलानि चालयन्ति चेत्यर्थः । 'अत्नत अतनिषत, निरु० १२।३४।' तनु विस्तारे, लडर्थे लुङ्, विकरणस्य लुक् छान्दसः । 'तनिपत्योश्छन्दसि' अ० ६।४।९९ अनेनोपधालोपः । तदा **वाश्राः** वाशन्ते शब्दायन्ते इति वाश्राः । वाशृ शब्दे धातोरौणादिको रक् प्रत्ययः । रिमझिमशब्दसहिताः आपः इत्यर्थः । वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु । अथ० ४।१५।१ इति वचनात् । **अभिज्ञु**[2] पृथिव्यभिमुखम् **यातवे** यातुं प्रक्रमन्ते । या प्रापणे धातोस्तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ।

अथ **द्वितीयः** सैनिकपक्षे । इन्द्रस्य सेनापतेः **सूनवः** पुत्रा इव **त्ये** ते मरुतः सैनिकाः **यज्ञेषु** संगमनीयेषु संग्रामेषु **गिरः** जयघोषान् **उद् अत्नत** आकाशे विस्तारयन्ति, **काष्ठाः** दिशश्च । काष्ठा दिशो भवन्ति क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति । निरु० २।१५ । **उत् अत्नत** उल्लङ्घयन्ति । **अभिज्ञु** सैनिकपद्धत्या जान्वभिमुखम् **यातवे** प्रयाणाय, तेषां कृते **वाश्राः** वाशृशब्दे, उत्साहवर्धकाः शब्दाः भवन्तीति शेषः । स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे ऋ० १।३९।२ इत्यादिवर्णनानि मरुतां सैनिकत्वं सूचयन्ति ॥

अथ **तृतीयो**ऽध्यात्मपरः । इन्द्रेण जीवात्मना संबद्धाः **त्ये** ते **गिरः** शब्दोच्चारणसाधनीभूताः । गीर्यन्ते शब्दा एभिस्ते **गिरः** । **सूनवः**[3] प्रेरकाः प्राणाः । षू प्रेरणे धातोः 'सुवः कित्' उ० ३।३५ इति नु प्रत्ययो ज्ञेयः । **यज्ञेषु** योगाभ्यासरूपेषु, यदा **काष्ठाः** चित्तदिशः **उत् अत्नत उ** ऊर्ध्वं विस्तारयन्ति खलु तदा **अभिज्ञु** जानुनी आकुञ्च्य पद्मासनबन्धपूर्वकम् **यातवे** मोक्षमधिगन्तुम् तेषां चित्ते **वाश्राः** धर्ममेघसमाधिजाः वर्षाः भवन्ति । यथोक्तं पातञ्जले योगशास्त्रे "प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिरिति ४।२९ ॥८॥[4]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥८॥

भावार्थः—पवना यथा गगने स्तनयित्नुशब्दं कुर्वन्ति, तथैव सेनापतेरधीना योद्धारः संग्रामयज्ञे जयघोषैः सर्वा दिश आपूरयेयुः । यथा पवना भूमौ मेघस्थानि जलानि वर्षन्ति, तथैव प्राणा योगिनश्चित्तभूमौ धर्ममेघसमाधिं वर्षेयुः ॥८॥

अगले मन्त्र में इन्द्र के अधीन रहनेवाले मरुतों का वर्णन है ।

पदार्थ—**प्रथम** वायुओं के पक्ष में । **सूनवः** परमेश्वररूप अथवा सूर्यरूप इन्द्र के पुत्र **त्ये** वे मरुद्गण अर्थात् पवन **यज्ञेषु** वृष्टि-यज्ञों में, जब **गिरः** विद्युद्गर्जनाओं को तथा **काष्ठाः** मेघजलों को **उद् अत्नत**

---

१. गिरः गर्जितलक्षणा वाचः । काष्ठाश्च वृष्टिलक्षणा आपः—इति वि० ।

२. अभिज्ञु अभिज्मां पृथिवीमभि—इति भ० ।

३. सूनवः प्रेरका विश्वस्य । षू प्रेरणे—इति भ० ।

४. दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्ये मन्त्रोऽयं वाचकलुप्तोपमामाश्रित्य वायूनामुदाहरणेन राजप्रजाजनविषये व्याख्यातः ।

विस्तीर्ण करते हैं अर्थात् बिजली को गर्जाते हैं तथा बादलों के जलों पर आघात करते हैं, तब **वाश्राः** रिमझिम करते हुए वर्षाजल **अभिज्ञु** पृथिवी की ओर **यातवे** जाना आरंभ कर देते हैं, अर्थात् वर्षा होने लगती है।

द्वितीय सैनिकों के पक्ष में। **सूनवः** सेनापतिरूप इन्द्र के पुत्रों के समान विद्यमान **त्ये** वे सैनिक-रूप मरुद्गण **यज्ञेषु** जिनमें मुठभेड़ होती है ऐसे संग्रामयज्ञों में **गिरः** जयघोषों को **उद् अत्नत** आकाश में विस्तीर्ण करते हैं, तथा **काष्ठाः** दिशाओं को **उद् अत्नत** लाँघ जाते हैं। **अभिज्ञु** घुटने झुका-झुकाकर **यातवे** चलने पर, उनके लिए **वाश्राः** उत्साहवर्धक शब्द उच्चारण किये जाते हैं।

हे मरुतो ! शत्रु को परे भगाने के लिए तुम्हारे हथियार चिरस्थायी हों और शत्रुओं का प्रतिरोध करने के लिए सुदृढ़ हों (ऋ० १।३९।२) इत्यादि वैदिक वर्णन मरुतों का सैनिक होना सूचित करते हैं।

तृतीय अध्यात्म पक्ष में। जीवात्मा रूप इन्द्र से सम्बद्ध **त्ये** वे **गिरः** शब्दोच्चारण के साधनभूत **सूनवः** प्रेरक प्राण **यज्ञेषु** योगाभ्यास-रूप यज्ञों में, जब **काष्ठाः** चित्त की दिशाओं को **उत् अत्नत उ** ऊर्ध्व-गामिनी कर देते हैं, तब **अभिज्ञु** घुटने मोड़कर पद्मासन बाँधकर **यातवे** मोक्ष की ओर जाने के लिए, उनके चित्त में **वाश्राः** धर्ममेघ समाधिजन्य वर्षाएँ होती हैं ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥८॥

भावार्थ—पवन जैसे आकाश में बिजली की गर्जना करते हैं, वैसे ही सेनापति के अधीन रहने वाले योद्धा लोग संग्रामरूप यज्ञ में जयघोषों से सब दिशाओं को भरपूर कर दें। जैसे पवन बादलों में स्थित जलों को भूमि पर बरसाते हैं, वैसे ही प्राण योगी की चित्तभूमि में धर्ममेघ समाधि को बरसावें ॥८॥

अथ कथं विष्णुः त्रिधा चरणचङ्क्रमणं कुरुत इत्युच्यते।

२२२. इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूढमस्य पांसुले ॥९॥[1]

इदम् विष्णुः वि चक्रमे। त्रेधा नि दधे पदम् ॥
समूढम् सम् ऊढम् अस्य पाꣳसुले ॥९॥

पदार्थः[2]—ऋच इन्द्रदेवताकत्वाद् विष्णुरितीन्द्रस्य विशेषणं ज्ञेयम्। **प्रथमः** परमात्मपरः। **विष्णुः** वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् यः स इन्द्रः परमेश्वरः। विष्लृ व्याप्तौ जुहोत्यादिः, विश प्रवेशने तुदादिः, वि-अशू व्याप्तौ स्वादिः। "विष्णुर्विषितो भवति, विशतेर्वा, व्यश्नोतेर्वा" इति निरुक्तम् १२।१९। **इदम्** एतत् सर्वं जगत् **वि चक्रमे** पादन्यासेन व्याप्तवानस्ति। क्रमु पादविक्षेपे, कालसामान्ये लिट्। **त्रेधा**

१. ऋ० १।२२।१७, य० ५।१५, अथ० ७।२६।४, सर्वत्र देवता विष्णुः, 'पांसुले' इत्यत्र च 'पांसुरे' इति पाठः। साम० १६६९।

२. विवरणकृता मन्त्रोऽयं द्विधा व्याख्यातः। 'इदं त्रैलोक्यं बलिबन्धनकाले विष्णुर्विचक्रमे विविधं चक्रमे क्रान्तवान्' इत्येकम्। "अथवा विष्णुरादित्यः। स इदं सर्वम् अहरहर्विक्रमन् त्रिधा निदधे पदम् उदयगिरौ, मध्ये च नभसः, अस्तगिरौ च। अथवा त्रिधा निदधे पदं पृथिव्याम् अग्न्यात्मना, अन्तरिक्षे वैद्युतात्मना, दिवि आदित्यात्मना। तच्च पदत्रयमस्य समूढं पांसुरे इव देशे। अथवा समूढमिति मुहेर्मोहनार्थस्य रूपम्। संमूढं संछन्नम्, यदस्य वैद्युतात्मना पदं तत् संमूढं संछन्नम्" इति द्वितीयम्। व्यचेर्व्याप्तिकर्मणो, विशेर्वा प्रवेशकर्मणः, व्यश्नोतेः व्याप्तिकर्मणो वा विष्णुः—इति भ०। **विष्णुः त्रिविक्रमावतारधारी**—इति सा०।

त्रिप्रकारेण—उत्पादकत्वेन, धारकत्वेन, प्रलयकत्वेन च, तत्र **पदम्** पादम्, सत्ताम् **निदधे** निहितवानस्ति। किन्तु, **अस्य** विष्णोः परमेश्वरस्य, तत् पदम् **पांसुले**[1] पाञ्चभौतिकेऽस्मिन् जगति। पांसवः पृथिव्यादीनां चतुर्णां भूतानां परमाणव आकाशश्चास्मिन् सन्तीति पांसुलं जगत्। 'सिध्यादिभ्यश्च'। अ० ५।२।९७ इति मत्वर्थे लच्। **समूढम्** अन्तर्हितं, चर्मचक्षुषोरगोचरं विद्यते। यथा धूलिमये प्रदेशे निगूढं कस्यचित् पदं न दृग्गोचरं भवतीति ध्वन्यते। सम्पूर्वाद् ऊह वितर्के धातोर्निष्ठायां रूपम्।

अथ **द्वितीयः** सूर्यपरः। **विष्णुः** स्वप्रकाशेन व्यापनशीलः इन्द्रः सूर्यः **इदम्** एतत् सर्वं ग्रहोपग्रहचक्रम् **विचक्रमे** स्वकिरणचरणन्यासेन व्याप्तवानस्ति। **त्रेधा** भूगर्भ-भूतल-गगनरूपेषु त्रिषु स्थानेषु **पदम्** किरणजालम् **निदधे** निहितवानस्ति। किन्तु **पांसुले** पांसुमये भूगर्भे **अस्य** सूर्यस्य किरणरूपं पदम् **समूढम्**[2] अन्तर्हितमस्ति, तर्कणीयमेव भवति, न तु प्रत्यक्षमित्यर्थः ॥९॥[3]

अत्र श्लेषालङ्कारः, उपमाध्वनिश्च ॥९॥

यास्कमुनिरिमं मन्त्रमेवं व्याचष्टे—यदिदं किञ्च तद् विक्रमते विष्णुः, त्रिधा निधत्ते पदम् त्रेधाभावाय पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः। समूढमस्य पांसुरेप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यत इति। पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्नाः शेरत इति वा, पंसनीया भवन्तीति वा। निरु० १२।१९॥

भावार्थः—विष्णुः सूर्यः स्वरश्मिभिर्व्याप्तः सन् सर्वान् ग्रहोपग्रहान् प्रकाशयति। सूर्यस्यैव तापेनौषधिवनस्पत्यादयः पच्यन्ते। सूर्यो यद्यपि त्रिष्वपि स्थानेषु किरणचरणचङ्क्रमणं विधत्ते, तथापि तद्रश्मयः पृथ्वीतले दिवि चैव प्रत्यक्षरूपेण दृश्यन्ते; भूगर्भमपि प्राप्तास्ते कथं मृत्कणान् लोहताम्रसुवर्णादिरूपेण परिणमयन्तीति न सर्वेषां चक्षुर्गोचरं, प्रत्युत भूगर्भविदो वैज्ञानिका एव तद्रहस्यं जानन्ति। तथैव विष्णुः परमेश्वरः स्वसत्तया सकलमपि ब्रह्माण्डं व्याप्नोति। स समस्तपदार्थान् सृष्ट्यारम्भे सृजति, सृष्ट्वा धारयति, प्रलयकाले च संहरतीति त्रिधा तस्य व्यापारस्त्रिधा पादन्यासेन वर्णितः। यद्यपि स सर्वत्रैव स्वपदं निधत्ते तथापि कस्यचित् पांसुविलीनं पदमिव तस्य सर्वत्र विद्यमानमपि पदं दृग्गोचरं न भवति ॥९॥

अत्रेन्द्रगुणवर्णनपूर्वकं तदाह्वानात्, तत्सहायकानां मित्रवरुणार्यम्णां नेतृत्वप्रार्थनाद्, मित्रावरुणयोर्मरुतां विष्णोश्चापि गुणकर्मकीर्तनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्तीति विजानीत ॥

इति तृतीये प्रपाठके प्रथमार्धे तृतीया दशतिः ॥

इति द्वितीयाध्याय एकादशः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि कैसे विष्णु तीन प्रकार से अपने कदम भरता है।

पदार्थ—यहाँ मन्त्र का देवता इन्द्र है, अतः विष्णु इन्द्र का विशेषण समझना चाहिए। **प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। **विष्णुः** चराचर जगत् में व्याप्त होने वाला परमेश्वर **इदम्** इस सब जगत् में **विचक्रमे** व्यापक है। **त्रेधा** तीन प्रकार से—अर्थात् उत्पादक, धारक और विनाशक इन तीन रूपों में उस

१. लुप्तोपममेतद् द्रष्टव्यम्। पांसुरे इव प्रदेशे—इति वि०। पांसुले प्रदेशे—इति भ०। धूलियुक्ते पादस्थाने—इति सा०।

२. यत् सम्यग् ऊह्यते तर्क्यते तर्केण विज्ञायते तत्—इति ऋ० १।२२।१७ भाष्ये द०।

३. एष मन्त्रो दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्ये व्यापकेश्वरपक्षे व्याख्यातः। टिप्पणी चेयमुट्टङ्किता तत्र—"सायणाचार्यादिभिर्विलसनाख्येन चास्य मन्त्रस्यार्थस्य वामनाभिप्रायेण वर्णितत्वात् स पूर्वपश्चिमपर्वतस्थो विष्णुरस्तीति मिथ्यार्थोऽस्तीति वेद्यम्" इति।

जगत् में वह **पदम्** अपने पैर को अर्थात् अपनी सत्ता को **निदधे** रखे हुए है। किन्तु **अस्य** इस परमेश्वर का, वह पैर अर्थात् अस्तित्व **पांसुले** पाञ्चभौतिक इस जगत् में **समूढम्** छिपा हुआ है, चर्म-चक्षुओं से अगोचर है। जैसे धूलि वाले प्रदेश में **समूढम्** छिपा हुआ **पदम्** किसी का पैर दिखाई नहीं देता है, यह यहाँ ध्वनि निकल रही है ॥

द्वितीय सूर्य के पक्ष में। **विष्णुः** अपने प्रकाश से सबको व्याप्त करने वाला सूर्य **इदम्** इस सब ग्रहोपग्रह-चक्र में **विचक्रमे** अपने किरणरूप चरणों को रखे हुए है। **त्रेधा** भूगर्भ, भूतल और आकाश इन तीनों स्थानों पर, उसने **पदम्** अपने किरणसमूह-रूप पैर को **निदधे** रखा हुआ है। किन्तु **पांसुले** धूलिमय भूगर्भ में **अस्य** इस सूर्य का किरणरूप पैर **समूढम्** तर्कणा-गम्य ही है, प्रत्यक्ष नहीं है ॥९॥

यहाँ श्लेषालंकार और उपमाध्वनि है ॥९॥

भावार्थ—विष्णु सूर्य अपनी किरणों से व्याप्त होकर सब ग्रहोपग्रहों को प्रकाशित करता है। सूर्य के ही ताप से ओषधि, वनस्पति आदि पकती हैं। सूर्य यद्यपि तीनों स्थानों पर अपने किरण-रूप पैर रखे हुए है, तो भी उसकी किरणें पृथ्वीतल पर और आकाश में ही प्रत्यक्ष रूप से दिखायी देती हैं, भूगर्भ में भी पहुँचकर कैसे वे मिट्टी के कणों को लोहे, ताँबे, सोने आदि के रूप में परिणत कर देती हैं यह सबकी आँखें नहीं देख सकतीं, अपितु भूगर्भवेत्ता वैज्ञानिक लोग ही इस रहस्य को जानते हैं। वैसे ही विष्णु परमेश्वर ने अपनी सत्ता से ब्रह्माण्ड को व्याप्त किया हुआ है। वह सब पदार्थों को सृष्टि के आरम्भ में पैदा करता है, पैदा करके धारण करता है और प्रलयकाल में उनका संहार कर देता है। यह तीन रूपों वाला उसका कार्य तीन प्रकार से पैर रखने के रूप में वर्णन किया गया है। यद्यपि वह सभी जगह अपना पैर रखे हुए है, तो भी जैसे किसी का धूल में छिपा हुआ पैर नहीं दीखता है, वैसे ही उसका सर्वत्र विद्यमान स्वरूप भी दृष्टिगोचर नहीं होता है ॥९॥

इस दशति में इन्द्र के गुणवर्णनपूर्वक उसका आह्वान करने के कारण, उसके सहायक मित्र, वरुण और अर्यमा के नेतृत्व की याचना के कारण और मित्रावरुण, मरुत् तथा विष्णु के गुणकर्मों का कीर्तन करने के कारण इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

तृतीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की तृतीय दशति समाप्त।
द्वितीय अध्याय में ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

॥४॥ अथ 'अतीहि मन्युषाविणम्' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ७, ८ मेधातिथिः; २ वामदेवः; ३, ५ मेधातिथिप्रियमेधौ; ४ विश्वामित्रः; ६ कौत्सो दुर्मित्रः सुमित्रो वा; ९ विश्वामित्रो गाथिनोऽभीपाद उदलो वा; १० श्रुतकक्षः ॥ देवता— इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अथेन्द्रः कस्य सोमरसं पिबेदित्याह।

२२३. अतीहि मन्युषाविणं सुषुवांसमुपेरय।
अस्य रातौ सुतं पिब ॥१॥[1]
अति इहि मन्युषाविणम् मन्यु साविनम्। सुषुवाꣳसम्
उप आ ईरय ॥ अस्य रातौ सुतम् पिब ॥१॥

१. ऋ० ८।३२।२१ 'मुपेरय' इत्यत्र 'मुपारणे', 'अस्य रातौ' इत्यत्र च 'इमं रातं' इति पाठः।

पदार्थः—**प्रथमो**ऽध्यात्मपरः। हे इन्द्र परमेश्वर ! त्वम् **मन्युषाविणम्**[2] यो मन्युना उन्मनस्त्वेन हार्दिकप्रीतिराहित्येन सुनोति उपास्ते तम् **अति इहि** अतिक्रम्य गच्छ। **सुषुवांसम्** हार्दिकप्रीत्या उपासनारसमभिषुतवन्तम्। षुञ् अभिषवे, लिटः क्वसुः। **उप-आ-ईरय** स्वान्तिके आनय। ईर गतौ कम्पने च, ण्यन्तः। अस्य यजमानस्य **रातौ** आत्मसमर्पणे प्रवृत्ते सति **सुतम्** अभिषुतम् श्रद्धारसम् **पिब** आस्वादय॥

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रपरः। हे इन्द्र राजन् ! त्वम् **मन्युषाविणम्** क्रोधोद्वमितारं दुष्टशत्रुम् **अति-इहि** पराजयस्व। **सुषुवांसम्** करप्रदानरूपं सोमसवनं कृतवन्तं प्रजाजनम् **उप-आ-ईरय** उपेत्य शुभकर्मसु प्रेरय। **अस्य** प्रजाजनस्य **रातौ** करप्रदाने प्रवृत्ते सति **सुतम्** अभिषुतं करम् **पिब** स्वीकुरु, स्वीकृत्य च "प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्। सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः" (रघु० १।१८) इति न्यायेन सहस्रगुणं कृत्वा प्रजाहितायैव व्ययस्व॥

अथ **तृतीयो**ऽध्ययनाध्यापनपरः। हे इन्द्र विद्युद्वत्तीव्रबुद्धे विद्यैश्वर्यजिज्ञासो विद्यार्थिन्[1] ! त्वम् **मन्युषाविणम्** मन्युना कोपविद्वेषादिना सुनोति विद्यां ददाति यस्तं गुरुम् **अति-इहि** अतिक्रमस्व, तत्सकाशे विद्यामध्येतुं मा यासीः। **सुषुवांसम्** यः प्रेम्णा विद्यां ददाति तम् **उप-आ-ईरय** उपेत्य विद्यां दातुं प्रार्थय। **अस्य** प्रेम्णा विद्यादातुः गुरोः **रातौ** विद्यादाने प्रवृत्ते **सुतं** ज्ञानरसं **पिब** आस्वादय। देवेन मनसा रमणपद्धत्या च छात्राणामध्यापनमुचितमिति भावः। यथाह श्रुतिः—"पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह। वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्। अथ० १।१।२" इति॥१॥

अत्र श्लेषालङ्कारः॥१॥

भावार्थः—परमेश्वरस्तस्य श्रद्धारसं न स्वीकरोति य उदासीनेन मनसा प्रयच्छति। राजापि शत्रुं न, प्रत्युत करप्रदातारं प्रजाजनमेव वर्द्धयति। गुरुभिरपि सरलपद्धत्या प्रेम्णा च छात्राः पाठनीयाः, न तु जटिलपद्धत्या क्रोधविद्वेषादिवशीभूतैर्वा॥१॥

प्रथम मन्त्र में यह कहा गया है कि इन्द्र किसके सोमरस का पान करे।

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्म-पक्ष में। हे इन्द्र परमात्मन् ! आप **मन्युषाविणम्** जो उदासीन भाव से अर्थात् हृदय में प्रीति रखे बिना उपासना करता है उसे **अति इहि** लाँघ जाइये। **सुषुवांसम्** हार्दिक प्रीति से उपासनारस अभिषुत करने वाले को **उप-आ-ईरय** अपने समीप ले आइये। **अस्य** इस यजमान के **रातौ** आत्म-समर्पण-प्रवृत्त होने पर **सुतम्** अभिषुत श्रद्धारस का **पिब** पान कीजिए।

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे इन्द्र राजन् ! आप **मन्युषाविणम्** क्रोध उगलनेवाले दुष्ट शत्रु को **अति-इहि** पराजित कीजिए। **सुषुवांसम्** कर-प्रदान रूप सोमयाग करने वाले प्रजाजन को **उप-आ-ईरय** प्राप्त होकर शुभ कर्मों में प्रेरित कीजिए। **अस्य** इस प्रजाजन के **रातौ** करप्रदान के प्रवृत्त होने पर **सुतम्** दिये हुए कर को **पिब** स्वीकार कीजिए। और स्वीकार करके उसे सहस्रगुणित रूप में प्रजा-कल्याण के कार्य में ही व्यय कर दीजिए, जैसे सूर्य भूमिष्ठ रसों को सहस्रगुणित रूप में बरसा देने के लिए ही ग्रहण करता है।

तृतीय अध्ययनाध्यापन पक्ष में। हे इन्द्र ! विद्युत् के समान तीव्र बुद्धि वाले विद्यार्थी ! तू **मन्युषाविणम्** क्रोध, द्वेष आदि से विद्यादान करने वाले गुरु को **अति-इहि** त्याग दे, उसके पास विद्या

१. अति इहि अतीत्य आगच्छेत्यर्थः। मन्युषाविणं दीप्तस्य सोमस्य अभिषोतारं मेधातिथिं मां प्रति—इति वि०।

२. "(इन्द्रम्) विद्युद्वत्तीव्रबुद्धिम्" इति "(इन्द्र) योगैश्वर्यजिज्ञासो" इति च क्रमेण ऋ० ६।४८।१४ भाष्ये, ऋ० १।१७६।६ भाष्ये च द०।

पढ़ने के लिए मत जा। **सुषुवांसम्** प्रेम से विद्या दान करने वाले के पास ही **उप-आ-ईरय** पहुँचकर विद्या पढ़ने के लिए प्रार्थना कर। **अस्य** उस गुरु के **रातौ** विद्यादान के प्रवृत्त होने पर **सुतम्** ज्ञानरस को **पिब** पी।

इससे यह अभिप्राय सूचित होता है कि अध्यापक को छात्रों के प्रति दिव्य मन रखते हुए रमण-पद्धति से पढ़ाना चाहिए। अथर्ववेद में छात्रों की ओर से आचार्य को कहा गया है कि हे वाणी के अधिपति तथा विद्याधन के स्वामी आचार्यप्रवर ! आप दिव्य मन के साथ हमारे बीच में पुनः-पुनः आइये और ऐसी रमण-पद्धति से हमें विद्यादान दीजिए कि सुना हुआ शास्त्र कभी भूलें नहीं (अथ० १।१।२) ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१॥

भावार्थ—परमेश्वर उसके श्रद्धारस को स्वीकार नहीं करता जो उदासीन मन से देता है। राजा भी शत्रु को नहीं, अपितु कर (टैक्स) देने वाले प्रजाजन को ही बढ़ाता है। गुरुओं को भी सरल पद्धति से और प्रेमपूर्वक ही छात्रों को पढ़ाना चाहिए, जटिल पद्धति से तथा क्रोध-विद्वेष आदि के वशीभूत होकर नहीं ॥१॥

अथ कुतोऽस्माभिर्देवस्य परमात्मनः स्तुतिः कार्येत्युच्यते।

२२४. कदु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते।
तदिदृध्यस्य वर्धनम् ॥२॥

कत् उ प्रचेतसे प्र चेतसे महे। वचः देवाय शस्यते॥
तत् इत् हि अस्य वर्धनम् ॥२॥

पदार्थ—**कत्**[1] **उ** किमर्थं खलु **प्रचेतसे** प्रकृष्टं चेतो ज्ञानं चित्तं वा यस्य तस्मै, प्रकृष्टज्ञानाय प्रकृष्टचित्ताय वा, **महे** महते, **देवाय** दिव्यगुणकर्मस्वभावाय इन्द्राय परमेश्वराय **वचः** स्तुतिवचनं **शस्यते** उच्चार्यते ? इति प्रश्नः। तदुत्तरं दीयते—**हि** यस्मात् **तत्** तत् स्तुतिवचनम् **इत्** निश्चयेन **अस्य**[2] स्तोतुर्यजमानस्य **वर्द्धनम्** वृद्धिकरं भवति ॥२॥

भावार्थः—परमेश्वराय यानि स्तुतिवचांस्युदीर्यन्ते तैः स्तोतुरेव वृद्धिरुन्नतिश्च भवतीति विज्ञेयम् ॥२॥

अगले मन्त्र में यह बताया गया है कि परमात्मा की स्तुति हम क्यों करें।

पदार्थ—**कत् उ** किसलिए **प्रचेतसे** प्रकृष्ट ज्ञान वा प्रकृष्ट चित्त वाले, **महे** महान् **देवाय** दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव वाले इन्द्र परमेश्वर के लिए **वचः** स्तुति-वचन **शस्यते** उच्चारण किया जाता है ? यह प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर है—**हि** क्योंकि **तत्** वह स्तुति-वचन **अस्य** इस स्तुतिकर्ता यजमान का **वर्धनम्** बढ़ाने वाला होता है ॥२॥

भावार्थ—परमेश्वर के लिए जो स्तुति-वचन कहे जाते हैं, उनसे स्तोता की ही वृद्धि और उन्नति होती है, यह जानना चाहिए ॥२॥

---

१. कत्। किमः उत्तरस्याः पञ्चम्याः अत् आदेशः। कस्मात् कारणात्। उ इति पादपूरणः—इति वि०।
२. अस्य देवस्य वर्धनं वृद्धिकरं भवति—इति भ०। अस्य यजमानस्य—इति सा०।

कस्य कृतमपि कार्यं वृथैव भवतीत्याह ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२२५. उक्थं च न शस्यमानं नागो रयिरा चिकेत ।
१ २ ३ २ ३ १ २
न गायत्रं गीयमानम् ॥३॥[1]
३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३
उक्थम् च न शस्यमानम् । न अगोः अ गोः रयिः आ चिकेत ॥
२ ३ २ ३ १ २
न गायत्रम् गीयमानम् ॥३॥

पदार्थः—**अगोः**[2] अस्तोतुः अश्रद्दधानस्य जनस्य । गायतीति गौः वेदपाठी स्तोता । गौरिति स्तोतृनामसु पठितम् । निघं० ३।१६ । यो गायन्नपि श्रद्दधानेन मनसा न गायति सः अगौरित्युच्यते तस्य । **न** नैव **शस्यमानम्** उदीर्यमाणम् **उक्थम् च** स्तोत्रं हि **न** नैव **रयिः**[3] दीयमानं धनम्, **न** नैव च **गीयमानम्** गानविषयीक्रियमाणम् **गायत्रम्** गायत्रनामकं साम **आचिकेत** आचिकिते, कदापि अवबुद्धं केनचित् । कित ज्ञाने लिट्, कर्मणि परस्मैपदं छान्दसम् । अतः श्रद्धयैव इन्द्रस्तुत्यादिकं कर्म करणीयमिति भावः ॥३॥

अत्र उक्थशंसनगायत्रगानादिरूपे कारणे सत्यपि तज्ज्ञानरूपकार्यानुत्पत्तिवर्णनाद् विशेषोक्तिरलङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—श्रद्धाविहीनस्य जनस्य शस्तमपि स्तोत्रमशस्तमिव भवति, दत्तमपि धनमदत्तमिव भवति, गीतमपि च सामगानमगीतमिव भवति । अतः श्रद्धयैव सर्वाणि शुभकार्याणि सम्पाद्यानि ॥३॥

अगले मन्त्र में यह बताते हैं कि किसका किया हुआ भी कार्य व्यर्थ होता है।

पदार्थ—**अगोः** अश्रद्धालु जन का **न** न तो **शस्यमानम्** उच्चारण किया जाता हुआ **उक्थम् च** स्तोत्र ही, **न** न ही **रयिः** दान किया जाता हुआ धन, **न** न ही **गीयमानम्** गान किया जाता हुआ **गायत्रम्** सामगान **आ चिकेत** कभी किसी से जाना गया है । अतः श्रद्धापूर्वक ही परमेश्वर-विषयक स्तुति आदि कर्म करना चाहिए ॥

इस मन्त्र में स्तोत्रोच्चारण, गायत्रगान आदि कारण के होने पर भी उनके ज्ञान-रूप कार्य की अनुत्पत्ति वर्णित होने से विशेषोक्ति अलंकार है ॥३॥

भावार्थ—श्रद्धा-रहित मनुष्य का उच्चारण किया गया भी स्तोत्र अनुच्चारित के समान होता है, दिया हुआ भी दान न दिये हुए के समान होता है और गाया हुआ भी सामगान न गाये हुए के समान होता है । इसलिए श्रद्धा के साथ ही सब शुभ कर्म सम्पादित करने चाहिएँ ॥३॥

अथ परमेश्वरः कीदृशोऽस्ति, राजा च कीदृशो भवेदित्याह ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२२६. इन्द्र उक्थेभिर्मन्दिष्ठो वाजानां च वाजपतिः ।
१ २ ३ २ ३ १ २
हरिवान्त्सुतानां सखा ॥४॥

---

१. ऋ० ८।२।१४ 'शस्यमानमगोररिराचिकेत' इति पाठः ।

२. नागोः । कुङ् गुङ् अव्यक्ते शब्दे । गुः अव्यक्तभाषी । न गुः अगुः व्यक्तभाषी । न अगुः न व्यक्तभाषी नागुः । तस्य नागोः अव्यक्तभाषिण इत्यर्थः—इति वि० । अगोः गोरहितस्य गोभिः हीनस्य अदक्षिणस्य यजमानस्य—इति भ० । अगोः अस्तोतुः—इति सा० ।

३. सायणस्तु 'अगोः अयिः' इति विच्छिद्य 'अयिः अरिः' व्यत्ययेन यकारः, इति व्याचष्टे । तत्तु पदकारविरुद्धत्वात् चिन्त्यम् ।

१ २ ३ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
इन्द्रः उक्थेभिः मन्दिष्ठः । वाजानाम् च वाजपतिः वाज पतिः ॥
१ २ ३ ३ १ २ १ २ ३
हरिवान् सुतानाम् सखा स खा ॥४॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । **इन्द्रः** परमैश्वर्यवान्, विघ्नविदारकः, सुखादिप्रदाता परमेश्वरः **उक्थेभिः** उक्थैः वेदमन्त्रैः **मन्दिष्ठः** मन्त्राध्येतृणाम् अतिशयेन हर्षयिता वर्तते । यथा कश्चिन्महाकविः स्वकाव्येन काव्यपाठकान् हर्षयति तथेत्यर्थः । मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु, तृचि मन्दिता, अतिशयेन मन्दिता इति मन्दिष्ठः, मन्दितृ शब्दादिष्ठनि, 'तुरिष्ठेमेयस्सु' अ० ६।४।१५४ इति तृचो लोपः । **वाजानाम्**[1] **च** बलानां च । वाज इति बलनाम । निघं० २।९ । **वाजपतिः** बलपतिः अस्ति । किञ्च **हरिवान्** प्रशस्तप्राणवान् सः । प्रशस्तार्थे मतुप् । प्राणो वै हरिः, स हि हरति । कौ० ब्रा० १७।१ । **सुतानाम्** सर्वेषाम् पुत्राणां सर्वासाम् पुत्रीणां च **सखा** मित्रम् अस्ति ॥

अथ **द्वितीयो** राजपरः । **इन्द्रः** राजा **उक्थेभिः** यशोभिः **मन्दिष्ठः** अतिशयेन आनन्दजनकः, **वाजानाम् च** सर्वविधानाम् अन्नानां धनानां बलानां विज्ञानानां च **वाजपतिः** अन्नपतिः धनपतिः बलपतिः विज्ञानपतिश्च, **हरिवान्** हरन्ति जनं स्वस्वविषयेषु इति हरयः इन्द्रियाणि तद्वान् प्रशस्तेन्द्रियो जितेन्द्रियो वा, यद्वा हरन्ति वहन्तीति हरयः विद्युदादिभिः सञ्चाल्यमानानि तीव्रवेगानि भूजलान्तरिक्षयानानि तद्वान्, राज्ये तत्प्रबन्धकर्तेत्यर्थः, किञ्च **सुतानाम्** पुत्रतुल्यानां प्रजाजनानाम् **सखा** सुहृद् भवेत् ॥४॥

अत्र श्लेषालङ्कारः । 'वाजा, वाज' इत्यत्र च छेकानुप्रासः ॥४॥

भावार्थः—यथा विश्वसम्राट् परमेश्वरो विविधगुणगणाग्रणीरस्ति, तथैव प्रजानां मध्ये यो जनः कीर्तिमान् कीर्तिजनको धनपतिर्बलवान् विज्ञानवान् जितेन्द्रियः सुप्रबन्धकः सर्वैः सह सौहादन व्यवहर्ता च भवेत् स एव राजपदेऽभिषेचनीयः ॥४॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि परमेश्वर कैसा है, और राजा कैसा हो ।

पदार्थ—**प्रथम** परमेश्वर के पक्ष में । **इन्द्रः** परमैश्वर्यवान्, विघ्नों को विदीर्ण करने वाला, सुख आदि का प्रदाता परमेश्वर **उक्थेभिः** वेदमन्त्रों से **मन्दिष्ठः** अतिशय आनन्दित करने वाला, **वाजानां च** तथा सब बलों का **वाजपतिः** बलपति, **हरिवान्** प्रशस्त प्राणवाला, और **सुतानाम्** सब पुत्र-पुत्रियों का **सखा** मित्र है ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में । **इन्द्रः** राजा **उक्थेभिः** कीर्तियों से **मन्दिष्ठः** सबको अत्यन्त आनन्द देने वाला, **वाजानां च** सब प्रकार के अन्नों, धनों, बलों और विज्ञानों का **वाजपतिः** स्वामी, **हरिवान्** जितेन्द्रिय अथवा राज्य में विद्युत् आदि से चलने वाले तीव्रगामी भूमियान, जलयान और विमानों का प्रबन्ध करने वाला और **सुतानाम्** पुत्रतुल्य प्रजाजनों का **सखा** मित्र हो ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । 'वाजा, वाज' में छेकानुप्रास है ॥४॥

भावार्थ—जैसे विश्व का सम्राट् परमेश्वर अनेक प्रकार के गुण-समूहों का अग्रणी है, वैसे ही प्रजाओं के बीच जो मनुष्य यशस्वी, यश देने वाला, धनपति, बलवान्, विज्ञानी, जितेन्द्रिय, सुप्रबन्धक और सबके साथ सौहार्द से बरतने वाला हो, उसी को राजा के पद पर अभिषिक्त करना चाहिए ॥४॥

१. वाजपतिरिति वचनादेव गतार्थत्वे सति पुनः वाजानाम् इति कथनं बलानां व्यापकत्वं सूचयति, सर्वेषां बलानामधिपतिरित्यर्थः । सेयं शैली वेदे बहुत्र प्रयुक्ता, यथा—वसुपते वसूनाम् (ऋ० १०।४७।१), गोपतिं शूर गोनाम् (ऋ० ३।३६।९) इति ।

अथ परमात्मानमुपासनायज्ञे निमन्त्रयन्नाह ।

२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १, २
२२७. आ याह्युप नः सुतं वाजेभिर्मा हृणीयथाः ।
३ १ २ ३ १ २
महाँ इव युवजानिः ॥५॥[1]
२ ३ १ २ ३ २ १ २ ३
आ याहि उप नः सुतम् । वाजेभिः मा हृणीयथाः ॥
२ ३ १ २ १ २ ३
महान् इव युवजानिः युव जानिः ॥५॥

पदार्थः—हे इन्द्र परमात्मन् ! महाँस्त्वम् **वाजेभिः** वाजैः आध्यात्मिकबलरूपैर्योगैश्वर्यरूपैश्च उपहारैः सह **नः** अस्माकम् **सुतम्** प्रारब्धमुपासनायज्ञम् **आ याहि** आगच्छ, **मा हृणीयथाः** रोषं संकोचं च मा कार्षीः । हृणीङ् रोषणे लज्जायां च, कण्ड्वादिः । **इव** यथा **युवजानिः** युवतिः तरुणी जाया धर्मपत्नी यस्य तादृशः **महान्** गुणैर्विशालः कश्चित् पुरुषः संकोचं रोषं च विहाय वाजैः बहुमूल्यैरुपहारैः सह भार्यामादाय परेषां यज्ञं गच्छति ॥५॥[2]

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा रूपवद्भार्यः कश्चिन्महान् पुरुषः सामान्यजनानामपि निमन्त्रणं स्वीकृत्योपहारानादाय भार्यया सह तेषां यज्ञं गच्छति, तथैव महानपि परमात्मा तुच्छैरप्यस्माभिरायोजिते उपासनायज्ञे आध्यात्मिकानामैश्वर्याणामुपहारं गृहीत्वा समागच्छेत् ॥५॥

अगले मन्त्र में परमात्मा को उपासनायज्ञ में निमन्त्रित किया जा रहा है ।

पदार्थ—हे इन्द्र परमात्मन् ! महान् आप **वाजेभिः** आध्यात्मिकबलरूप तथा योगैश्वर्यरूप उपहारों के साथ **नः** हमारे **सुतम्** प्रारम्भ किये हुए उपासना-यज्ञ में **आ याहि** आइये, **मा हृणीयथाः** रोष वा संकोच मत कीजिए, **इव** जैसे **युवजानिः** युवति पत्नी वाला **महान्** गुणों से महान् कोई पुरुष, बहुमूल्य उपहारों के साथ पत्नी-सहित दूसरों के यज्ञ में जाता है ॥५॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥५॥

भावार्थ—जैसे रूपवती भार्या वाला कोई महान् पुरुष सामान्यजनों के भी निमन्त्रण को स्वीकार कर, उपहार लेकर भार्या के साथ उनके यज्ञ में जाता है, वैसे ही महान् परमात्मा भी हम तुच्छों से भी आयोजित उपासना-यज्ञ में आध्यात्मिक ऐश्वर्य का उपहार लेकर आये ॥५॥

अथ भौतिकीं दिव्यां च वृष्टिं कामयमानः कश्चिदाह ।

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २
२२८. कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आ अव ऋमशा रुधद्वाः ।
३ २ ३ २ ३ १ २
दीर्घं सुतं वाताप्याय ॥६॥[3]

---

१. ऋ० ८।२।१६, 'ओ षु प्रयाहि वाजेभिर्मा हृणीथा अभ्यस्मान्' इति तत्र पूर्वार्द्धपाठः ।

२. एत्य च स्तोकेन अपराधेन मा हृणीयथाः मा क्रोधं गमः, मा रोषीरित्यर्थः । महानिव युवजानिः । युवतिर्जाया यस्य स युवजानिः तरुणभार्यः इत्यर्थः । स यथा तरुण्या भार्यायाः अपराधेऽपि न रुष्यति, तद्वन्मा रोषीरित्यर्थः—इति वि० । स (युवजानिः) यथा जायामधिगच्छति न च तामधिक्रुध्यति तद्वत्—इति भ० । वाजेभिः अन्यदीयैर्हवीरूपैरन्नैः मा हृणीयथा मा ह्रियस्व । तत्र दृष्टान्तः—यथा रूपवद्भार्योपेतः प्रभुः अन्याभिर्नापह्रियते, किन्तु तामेव युवतिं प्रत्यागच्छति तद्वत्—इति सा० ।

३. ऋ० १०।१०५।१ 'आ अव' इत्यत्र 'आव' इति पाठः ।

३ २ ३ २ १ २ १ १ २ १ ३ २ ३ १ २
कदा वसो स्तोत्रम् हर्यते आ । अव श्मशा रुधत् वारिति ॥
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १
दीर्घम् सुतम् वाताप्याय वात आप्याय ॥६॥

पदार्थः—**प्रथमो** भौतिकवृष्टिपरः । चिरकालीनवृष्टिव्युपरमे सति जलाभावपीडितः कश्चिदाह । हे **वसो** निवासप्रद इन्द्र जगदीश्वर ! वृष्ट्यर्थम् **स्तोत्रम्** स्तोमम् **हर्यते** त्वां प्रति गमयते मह्यम् । हर्य गतिकान्त्योः शतरि चतुर्थ्येकवचने रूपम् । **कदा** कस्मिन् काले **श्मशा**[1] वृष्ट्युदकपूर्णा नदी कुल्या वा । श्मशा शु अश्नुते इति वा, श्म अश्नुते इति वा । निरु० ५।१२ । **वाः** उदकम् **आ अवरुधत्** आनीय क्षेत्रजलाशयादौ अवरोत्स्यति । रुधिर आवरणे धातोर्लेटि रूपम् । मया **वाताप्याय**[2] उदकाय । वाताप्यम् उदकं भवति, वात एतदाप्याययति । निरु० ६।२८ । **दीर्घम्** दीर्घकालं यावत् **सुतम्** वृष्टियागो निष्पादितः ।

अथ **द्वितीयो**ऽध्यात्मवृष्टिपरः । दिव्यानन्दरसपूर्णस्य परमेश्वरस्य सकाशादानन्दवृष्टिं कामयमानः कश्चिदाह । हे **वसो** निर्धनस्य मम धनभूत, निवासप्रद जगदीश्वर ! आनन्दरसवर्षणार्थम् **स्तोत्रम्** स्तुतिम् **हर्यते** त्वां प्रति गमयते मह्यम् **कदा** कस्मिन् काले **श्मशा** त्वत्सकाशात् प्रवहन्ती आनन्दवारिधारा **वाः** आनन्दरसम् **आ अवरुधत्** आनीय मदीये हृदयरूपे क्षेत्रे जलाशये वा अवरोत्स्यति ? हे रसागार ! चिरदुःखदावाग्निदग्धेन मया **वाताप्याय** दिव्यानन्दवारिवर्षणाय **दीर्घम्** सुदीर्घकालं यावत् **सुतम्** श्रद्धारसप्रस्रवणपूर्वकम् अध्यात्मयागो निष्पादितः । तथापि किमिति आनन्दवारिवर्षा मां न प्राप्नुवन्ति ॥६॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥६॥

भावार्थः—यथाऽनावृष्टौ जातायां वर्षणार्थं दीर्घो वृष्टियज्ञोऽनुष्ठीयते तथैवानन्दरसपिपासुरहमानन्दरसवृष्टिमाप्तुं दीर्घं ध्यानयज्ञं चिरादनुतिष्ठन्नस्मि । हे प्रभो ! तथापि किमिति त्वमानन्दवारि न वर्षयसि ? वर्षय, वर्षय, देव ! दिव्यानन्दं वर्षय । अन्यथा बहुविधसांसारिकसंतापसंतप्तोऽहं नोत्सहिष्ये जीवनमपि धारयितुम् ॥६॥

अगले मन्त्र में भौतिक तथा दिव्य वर्षा की कामना करता हुआ कोई कह रहा है ।

पदार्थ—**प्रथम** भौतिक वर्षा के पक्ष में । बहुत समय तक वर्षा न होने पर जल के अभाव से पीड़ित मनुष्य कहता है—हे **वसो** निवासप्रद इन्द्र जगदीश्वर ! वर्षा के लिए **स्तोत्रम्** स्तोत्र को **हर्यते** आपके प्रति पहुँचाते हुए मेरे लिए **कदा** कब **श्मशा** वर्षाजल से परिपूर्ण नदी या नहर **वाः** जल को **आ अवरुधत्** लाकर खेत, जलाशय आदि में रोकेगी ? मैंने **वाताप्याय** वर्षा-जल के लिए **दीर्घम्** लम्बे समय तक **सुतम्** वृष्टियज्ञ किया है ।

द्वितीय अध्यात्म-वर्षा के पक्ष में । दिव्य आनन्दरस से परिपूर्ण परमेश्वर के पास से आनन्दरस की वर्षा की कामना करता हुआ साधक कह रहा है—हे **वसो** मुझ निर्धन के धन, निवासदाता जगदीश्वर ! आनन्दरस की वर्षा के लिए **स्तोत्रम्** स्तुति को **हर्यते** आपके प्रति पहुँचाते हुए मेरे लिए **कदा** कब **श्मशा**

१. श्मशा-शब्देनापि कुल्योच्यते । लुप्तोपमं चेदं द्रष्टव्यम् । श्मशेव कुल्येवोदकम् । एतदुक्तं भवति यथा कुल्या उदकमवरुणद्धि तद्वत् कदा स्तोत्रम् अवरोत्स्यसि, श्रोष्यसीत्यर्थः—इति वि० । श्मशा वायुः । शु आशु अश्नुते इति श्मशा वायुः इति यास्कः । आ अभिमुखम् अवारुधत् अवरुन्धीत वाः उदकम् तव स्तोत्रं हर्यते कामयमानाय यजमानाय—इति भ० । कदा कस्मिन् काले अवारुधत् अवरोत्स्यसि, अवरुध्य च कदा वाः वारयिष्यति । अश्नुते क्षेत्रम् इति श्मशा कुल्या, लुप्तोपमम् एतत् । यथा कुल्येतस्तत उदकान्यवरुणद्धि अवरुध्य च वारयति तथेत्यर्थः—इति सा० ।

२. वातं प्राणम् आप्यायति इति वाताप्यम् उदकम् । आपोमयः प्राण इति श्रुतेः—इति भ० । वातेन आप्यते अधस्तान्निपात्यते इति वाताप्यम् उदकम्—इति सा० ।

आपके पास से बहती हुई आनन्द-रस की धारा **वाः** आनन्द-रस को **आ अवरुधत्** लाकर मेरे हृदयरूप क्षेत्र या जलाशय में रोकेगी ? हे रसागार ! चिरकालीन दुःख के दावानल **से** दग्ध **मैंने वाताप्याय** दिव्य आनन्द-जल की वर्षा पाने के लिए **दीर्घम्** लम्बे समय तक **सुतम्** श्रद्धारस प्रस्तुत करते हुए **अध्यात्म-यज्ञ** निष्पन्न किया है। तो भी आनन्द-रस की वर्षा मुझे क्यों नहीं प्राप्त हो रही है ? ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥६॥

भावार्थ—जैसे अनावृष्टि होने पर वर्षा के लिए लम्बा वृष्टियज्ञ किया जाता है, वैसे ही आनन्द-रस का प्यासा मैं आनन्द-रस की वर्षा को पाने के लिए दीर्घ ध्यान-यज्ञ चिरकाल से कर रहा हूँ। तो भी हे प्रभो, क्यों आप आनन्द-वारि नहीं बरसा रहे हैं ? बरसाओ, बरसाओ, हे देव, दिव्य आनन्द को बरसाओ। नहीं तो अनेक प्रकार के सांसारिक संतापों से संतप्त हुआ मैं जीवन धारण भी नहीं कर सकूँगा ॥६॥

अथ परमात्मन आचार्यस्य च सख्यं प्रार्थ्यते।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १
२२९. ब्राह्मणादिन्द्र राधसः पिबा सोममृतूँरनु।
२ ३ २ ३ १ २ १
तवेदं सख्यमस्तृतम् ॥७॥[1]
१ २ १ ३ १ २ १ १ २ १ १ २ १ ३ २ १ २ १
ब्राह्मणात् इन्द्र राधसः। पिब सोमम् ऋतून् अनु ॥
१ २ १ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ १ ३
तव इदम् सख्यम् स ख्यम् अस्तृतम् अ स्तृतम् ॥७॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! त्वम् **राधसः** ध्यानयज्ञ-संसाधकात्। राध्नोतीति राधाः तम्। राध संसिद्धौ धातोः औणादिकोऽसुन् प्रत्ययः। **ब्राह्मणात्**[2] वेदेश्वर-विदः मत्सकाशात्। ब्रह्म वेदम् ईश्वरं वा अधीते वेद वा स ब्राह्मणः 'तदधीते तद्वेद' इत्यस्मिन्नर्थे अण् प्रत्ययः। **ऋतून् अनु** ऋत्वनुरूपम् यथाकालमित्यर्थः। **सोमम्** मदीयं मैत्रीरसम् **पिब** आस्वादय। मया सह **तव** त्वदीयम् **इदम्** एतत् **सख्यम्** सखित्वम् **अस्तृतम्** सदाऽविनष्टम्, तिष्ठत्विति शेषः। स्तृणातिः वधकर्मा। निघं० २।१९।

अथ **द्वितीयो** गुरुशिष्यपरः। हे **इन्द्र** विद्युद्वत्तीव्रबुद्धे विद्यार्थिन् ! त्वम् **राधसः** अध्ययनाध्यापन-यज्ञसाधकात् **ब्राह्मणात्** वेदेश्वरविदो ब्राह्मणस्वभावात् आचार्यात् **ऋतून् अनु** ऋतौ ऋतौ **सोमम्** ज्ञान-रसम् **पिब** आस्वादय। **तव** त्वदीयम् **इदम्** एतद् गुरुशिष्यसम्बन्धरूपम् **सख्यम्** सखित्वम् **अस्तृतम्** अविनष्टं तिष्ठतु ॥७॥[3]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥७॥

भावार्थः—ये परमात्मनो गुरोश्च सख्यं प्राप्नुवन्ति ते सदा सुखिनो भवन्ति ॥७॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और आचार्य की मित्रता की याचना की गयी है।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परमात्मन् ! आप **राधसः** ध्यान-यज्ञ के साधक **ब्राह्मणात्** वेद तथा ईश्वर के ज्ञाता मुझ से **ऋतून् अनु** ऋतुओं के अनुरूप, समयानुसार

१. ऋ० १।१५।५ 'तवेद' इत्यत्र 'तवेद्धि' इति पाठः।
२. (ब्राह्मणम्) वेदेश्वरविदम् इति य० ३०।५ भाष्ये द०।
३. ऋग्भाष्ये मन्त्रोऽयं दयानन्दर्षिणा वायुपक्षे व्याख्यातः।

सोमम् मेरे मैत्री-रस का **पिब** पान कीजिए। मेरे साथ **तव** आपकी **इदम्** यह **सख्यम्** मित्रता **अस्तृतम्** अविनष्ट अर्थात् चिरस्थायी रहे ॥

द्वितीय गुरुशिष्य के पक्ष में। हे **इन्द्र** विद्युत् के समान तीव्र बुद्धि वाले विद्यार्थी ! तू **राधसः** अध्ययन-अध्यापन यज्ञ के साधक **ब्राह्मणात्** ब्रह्मवेत्ता, वेदवेत्ता और ब्राह्मण स्वभाव वाले आचार्य से **ऋतून् अनु** प्रत्येक ऋतु में **सोमम्** ज्ञानरस को **पिब** पी। **तव** तेरी **इदम्** यह गुरुशिष्य-सम्बन्ध-रूप **सख्यम्** मित्रता **अस्तृतम्** अविनष्ट रहे ॥७॥

इस मन्त्र **में** श्लेषालंकार है ॥७॥

भावार्थ—जो परमात्मा और गुरु की मैत्री प्राप्त करते हैं वे सदा सुखी होते हैं ॥७॥

अथ परमात्मनः स्तुतिविषयमाह।

२३०. वयं घा ते अपि स्मसि स्तोतार इन्द्र गिर्वणः।
त्वं नो जिन्व सोमपाः ॥८॥[1]

वयम् घ ते अपि स्मसि। स्तोतारः इन्द्र गिर्वणः गिः वनः ॥
त्वम् नः जिन्व सोमपाः सोम पाः ॥८॥

पदार्थः—हे **गिर्वणः**[2] गीर्भिः वेदवाग्भिः वननीय संभजनीय **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! **वयम् स्तोतारः** स्तुतिकर्त्तारः **घ** नूनम्। संहितायां 'ऋचि तु नु घ०' अ० ६।३।१३६ इति दीर्घः। **ते अपि** तवैव **स्मसि** स्मः भवामः। 'इदन्तो मसि' अ० ७।१।४६ इति मस इदन्तत्वम्। हे **सोमपाः** अस्माकं मैत्रीरसस्य पातः ! **त्वम् नः** अस्मान् **जिन्व** प्रीणय। जिवि प्रीणनार्थे भ्वादिः ॥८॥

भावार्थः—ये परमात्मना सम्बन्धं योजयन्ति परमात्मापि तान् सदा सुखयति ॥८॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के स्तुति-विषय का वर्णन है।

पदार्थ—हे **गिर्वणः** वेदवाणियों से भजनीय ! **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परमात्मन् ! **वयम्** हम **स्तोतारः** स्तोता लोग **घ** निश्चय ही **ते अपि** तेरे ही **स्मसि** हैं। हे **सोमपाः** हमारे मैत्री रस का पान करने वाले ! **त्वम्** तू **नः** हमें **जिन्व** तृप्त कर ॥८॥

भावार्थ—जो लोग परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं, परमात्मा भी उन्हें सदा सुखी करता है ॥८॥

अथ परमात्मानं राजानं च बलादिकं प्रार्थयमान आह।

२३१. एन्द्र पृक्षु कासु चिन्नृम्णं तनूषु धेहि नः।
सत्राजिदुग्र पौंस्यम् ॥९॥

आ इन्द्र पृक्षु कासु चित्। नृम्णम् तनूषु धेहि नः ॥
सत्राजित् सत्रा जित् उग्र पौंस्यम् ॥९॥

१. ऋ० ८।३२।७ 'स्मसि' इत्यत्र' ष्मसि' इति पाठः।
२. द्रष्टव्यम्—१६५ संख्यकस्य मन्त्रस्य व्याख्यानम्।

पदार्थः—हे **इन्द्र** शत्रुविदारक दुःखच्छेदक परमात्मन् राजन् वा ! त्वम् **कासुचित् पृक्षु**[1] येषु केषुचित् देवासुरसंग्रामेषु । पृच्यन्ते परस्परं संसृज्यन्ते यत्र ताः पृचः संग्रामाः तासु, पृची सम्पर्के धातोः क्विपि रूपम् । **नः** अस्माकम् **तनूषु** शरीरेषु **नृम्णम्** बलम् स्फूर्तिं वा । नृम्णमिति बलनाम । निघं० २।९, नृम्णं बलं, नन् नतम् । निरु० ११।७५। **आ धेहि** आस्थापय । हे **सत्राजित्**[2] सत्यजित् सदाजिद् वा ! सत्रा इति सत्यनाम । निघं० ३।१०। **उग्र** तीव्रतेजस्क परमात्मन् राजन् वा ! त्वम् अस्मासु **पौंस्यम्** आत्मबलं धर्मार्थिकाममोक्षरूपं पुरुषार्थं चापि आधेहि । पुंसो भावः कर्म वा पौंस्यम्, ष्यञ् प्रत्ययः । पौंस्यमिति बलनाम । निघं० २।९। ॥९॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—यथा परमात्मा सर्वेष्वान्तरिकेषु बाह्येषु च संग्रामेषु शत्रून् विजेतुं धर्मार्थिकाममोक्षानधिगन्तुं च प्रेरयति तथा राजापि कुर्यात् ॥९॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा से बलादि की प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** शत्रुविदारक तथा दुःखच्छेदक परमात्मन् और राजन् ! आप **कासुचित् पृक्षु** जिन किन्हीं भी देवासुर-संग्रामों **में नः** हमारे **तनूषु** शरीरों **में नृम्णम्** बल **आधेहि** स्थापित कीजिए । हे **सत्राजित्** सत्यजयी अथवा सदाजयी, **उग्र** तीव्र तेज वाले परमात्मन् व राजन् ! आप हममें **पौंस्यम्** धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप पुरुषार्थ को स्थापित कीजिए ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥९॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा सभी आन्तरिक और बाह्य संग्रामों में शत्रुओं को जीतने और धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष को प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है, वैसे ही राजा भी करे ॥९॥

पुनरिन्द्रनाम्ना परमात्मा राजा च स्तूयते ।

३ १२ २१ ३ २ ३ १२ २१ ३ २ ३ २
२३२. एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः ।
३ २ ३ २ ३ १ २
एवा ते राध्यं मनः ॥१०॥[3]
३ २ १ २१ ३ २ ३ २ १ २१ ३ २ ३ २
एव हि असि वीरयुः । एव शूरः उत स्थिरः ॥
३ २ ३ १ २१ १ २१
एव ते राध्यम् मनः ॥१०॥

पदार्थः—हे इन्द्र परमात्मन् राजन् वा ! **एव**[4] **हि** सत्यमेव । एव इत्यवधारणार्थे । त्वम् **वीरयुः**[5] वीरान् कामयमानः । क्यचि, 'क्याच्छन्दसि' अ० ३।२।१७० इति उ प्रत्ययः । **असि** वर्त्तसे । **एव** सत्यमेव,

१. पृक्षु । पृची सम्पर्के इत्यस्येदं रूपम् । सम्पृच्यन्ते यस्यां यागक्रियायां यजमाना देवैः सह सा पृक् । तासु पृक्षु । यागक्रियासु इत्यर्थः—इति वि० । सङ्ग्रामेषु—इति भ० । सम्पृक्तासु कासुचित्—इति सा० ।

२. सत्रा शब्दः यद्यपि सत्यनाम, तथापीह सदाशब्दस्यार्थे द्रष्टव्यः । सदाजिदिति सत्राजित् । सदा शत्रूणां जेता इत्यर्थः—इति वि० । सर्वस्य जेतः—इति भ० । द्वादशाहादिभिः सत्रैः जीयमानो वशीक्रियमाणः सन्—इति सा० ।

३. ऋ० ८।९२।२८, ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा । अथ० २०।६०।१, ऋषिः सुकक्षः सुतकक्षो वा । साम० ८२४ ।

४. एव शब्दः पदपूरणः—इति वि० । एव एवम्—इति भ० ।

५. वीरा यजमानपुरुषाः तान् कामयते यः स वीरयुः । वीरयतेः युः प्रत्ययः—इति वि० । स्तोत्रकामः—इति भ० । वीरान् युद्धकर्मणि समर्थान् शत्रून् हन्तुं कामयमानः एव असि भवसि खलु—इति सा० ।

त्वम् **शूरः** विक्रान्तः, **उत** अपि च **स्थिरः** अविचलः असि। **एव** सत्यमेव **ते** तव **मनः** हृदयम् **राध्यम्**[1] संसाध्यम्, सत्कर्मादिभिरनुकूलयितुं शक्यम् अस्ति। 'संहितायाम्' 'एवा' इत्यत्र 'निपातस्य च' अ० ६।३।१३६ इति दीर्घः ॥१०॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः—यथा परमेश्वरः स्वयं वीरः सुस्थिरोऽजय्यश्च सन् जगति वीरानेव कामयते, न भीरून्, तथैव राष्ट्रे राजापि भवेत् ॥१०॥

अत्रेन्द्रस्य सोमपानायाह्वानात्, तत्सख्यस्य महत्त्वकीर्तनात्, ततो बलयाचनाच्छूरादिरूपेण च तत्स्तवनात्, इन्द्रशब्देन आचार्यनृपत्यादीनां चापि चरित्रवर्णनाद् एतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्ति ॥

इति तृतीये प्रपाठके प्रथमार्धे चतुर्थी दशतिः।
इति द्वितीयाध्याये द्वादशः खण्डः।
समाप्तश्चायं द्वितीयोऽध्यायः ॥

अगले मन्त्र में पुनः इन्द्र नाम से परमात्मा और राजा की स्तुति की गयी है।

पदार्थ—हे इन्द्र परमात्मन् अथवा राजन्! **एव हि** सचमुच, आप **वीरयुः** वीरों को चाहने वाले **असि** हैं। **एव** सचमुच, आप **शूरः** शूरवीर **उत** और **स्थिरः** अविचल हैं। **एव** सचमुच ही **ते** आपका **मनः** मन **राध्यम्** सत्कर्मों आदि द्वारा अनुकूल किये जा सकने योग्य है ॥१०॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है।

भावार्थ—जैसे परमेश्वर स्वयं वीर, सुस्थिर और किसी से जीता न जा सकने वाला होकर संसार में वीरों की ही कामना करता है, डरपोकों की नहीं, वैसा ही राजा भी हो ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र को सोमपान के लिए निमन्त्रित करने, उसके सखित्व का महत्त्व वर्णन करने, उससे बल की याचना करने, शूर आदि के रूप में उसकी स्तुति करने तथा इन्द्र शब्द से आचार्य, राजा आदि के भी चरित्र का वर्णन करने के कारण इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

तृतीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त।
द्वितीय अध्याय में बारहवाँ खण्ड समाप्त।
यह द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ॥

---

१. आराधनीयम्—इति वि०। संग्रामधनयोग्यम्—इति भ०। स्तुतिभिराराधनीयम्—इति सा०।

अथ तृतीयोऽध्यायः

॥५॥ अथ 'अभि त्वा शूर' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१,६,९ वसिष्ठः; २ भरद्वाजः; ३ बालखिल्याः; ४ नोधाः, ५ कलिः प्रागाथः; ७ मेधातिथिः; ८ भर्गः; १० प्रगाथः काण्वः ॥ देवता—१-८, १० इन्द्रः; ९ मरुतः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

अथ गुणवर्णनपूर्वकं परमात्मानं स्तौति ।

२३३. अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥१॥[1]
अभि त्वा शूर नोनुमः । अदुग्धाः अ दुग्धाः इव धेनवः ॥
ईशानम् अस्य जगतः स्वर्दृशम् स्वः दृशम् । ईशानम् इन्द्र तस्थुषः ॥१॥

पदार्थः—हे **शूर** विक्रमशालिन् **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर ! **अस्य** एतस्य पुरो दृश्यमानस्य **जगतः** जङ्गमस्य । जगत् जङ्गमम् । निरु० ९।१३ । **ईशानम्** अधीश्वरम्, **तस्थुषः** स्थावरस्य, ष्ठा गतिनिवृत्तौ, लिटः क्वसुः, तस्थिवान् । षष्ठ्येकवचने तस्थुषः । **ईशानम्** अधीश्वरम्, **स्वर्दृशम्**[2] मोक्षसुखस्य दर्शयितारम् **त्वा अभि** त्वामभिलक्ष्य, वयं प्रजाः **अदुग्धाः धेनवः**[3] **इव** दोहनमप्राप्ता गाव इव, अदुग्धा धेनवो यथा वत्सं दृष्ट्वा पयः पाययितुं हम्भारवं कुर्वन्ति तथेत्यर्थः, **नोनुमः** अतिशयेन पुनः पुनः स्तुमः । णु स्तुतौ इत्यस्य यङ्लुकि प्रयोगः । अत्र त्वमस्मदीयो वत्सवत् प्रिय इति ध्वन्यते ॥१॥[4]

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—यथा धेनवो वत्सं स्वकीयं पयः पाययित्वा विनिमयेन सुखं गृह्णन्ति, तथैव मनुष्यैः परमेश्वरेण सह प्रीतिं संयोज्य सर्वविधमाभ्युदयिकं नैःश्रेयसं च सुखं प्राप्तव्यम् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में गुणवर्णनपूर्वक परमात्मा की स्तुति की गयी है ।

पदार्थ—हे **शूर** विक्रमशाली **इन्द्र** परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर ! **अस्य** इस सामने दिखाई देनेवाले **जगतः** जंगम के **ईशानम्** अधीश्वर, और **तस्थुषः** स्थावर के **ईशानम्** अधीश्वर, **स्वर्दृशम्** मोक्ष-सुख का दर्शन कराने वाले **त्वा अभि** आपको लक्ष्य करके, हम प्रजाजन **अदुग्धाः धेनवः इव** न दोही गयीं गायों के समान, अर्थात् न दोही गयीं गायें **जैसे** अपने बछड़े को देखकर उसे दूध पिलाने के लिए रँभाती हैं वैसे

---

१. ऋ० ७।३२।२२, य० २७।३५, अथ० २०।१२१।१, साम० ६८० ।

२. स्वर्दृशम् । स्वः आदित्यः, तमिव यः पश्यति सः स्वर्दृक् । आदित्यमिव सर्वस्य जगतः द्रष्टारमित्यर्थः—इति वि० । स्वर्दृशं सर्वदृशम्—इति भ०, सा० । सुखेन द्रष्टुं योग्यम् इति ऋ० ७।३२।२२ भाष्ये, स्वः सुखं दृश्यते यस्मात् इति च ऋ० ३।२।१४ भाष्ये द० ।

३. अचिरप्रसूता गावः धेनुशब्देनोच्यन्ते । ताः यथा आत्मीयं वत्सं स्नेहार्द्रेण मनसा हुंकारादिभिरभिनन्दन्ति तद्वत् स्तुम इत्यर्थः—इति वि० । यथा अदुग्धा धेनवः क्षीरपूर्णोधस्त्वेन वर्तन्ते तद्वत् सोमपूर्णचमसत्वेन वर्तमाना वयम्—इति सा० ।

४. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये परमेश्वरपक्षे यजुर्भाष्ये च राजपक्षे व्याचष्टे ।

नोनुमः अतिशय बारंबार आपकी स्तुति कर रहे हैं। आप हमारे लिए वैसे ही प्रिय हैं, जैसे गाय को बछड़ा प्यारा होता है, यह यहाँ ध्वनित हो रहा है ॥१॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ—जैसे गौएँ बछड़े को अपना दूध पिलाकर बदले में सुख प्राप्त करती हैं, वैसे ही मनुष्यों को चाहिए कि परमेश्वर से प्रीति जोड़कर सब प्रकार के अभ्युदय एवं निःश्रेयस का सुख प्राप्त करें ॥१॥

अथेन्द्रनाम्ना परमेश्वरं नृपं चाह्वयन्ति ।

२३४. त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ॥२॥[1]
त्वाम् इत् हि हवामहे । सातौ वाजस्य कारवः ॥
त्वाम् वृत्रेषु इन्द्र सत्पतिम् सत् पतिम् । नरः त्वाम् काष्ठासु अर्वतः ॥२॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** विपद्विदारक सकलसंपत्प्रदायक परमेश्वर राजन् वा ! **कारवः** स्तुतिकर्तारः, कर्मयोगिनो वयम् । कारुः स्तोतृनाम । निघं० ३।१६ । कर्ता स्तोमानाम् । निरु० ६।६ । कर्ता कर्मणामित्यप्युन्नेयम् । डुकृञ् धातोः 'कृवापाजि' उ० १।१ इति उण् प्रत्ययः । **वाजस्य** बलस्य **सातौ**[2] प्राप्तिनिमित्तम् निमित्तार्थे सप्तमी । षण सम्भक्तौ । 'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च' अ० ३।३।९७ इति क्तिन्नन्तो निपातः । उदात्त इत्यनुवृत्तेः क्तिन उदात्तत्वं च । **त्वाम् इत् हि** त्वामेव खलु **हवामहे** आह्वयामः । ह्वेञ् धातोः 'बहुलं छन्दसि' अ० ६।१।३४ इति सम्प्रसारणे रूपम् । **नरः** पौरुषसंपन्नाः वयम् **वृत्रेषु** पापेषु शत्रुषु वा आक्रामत्सु **सत्पतिम्** सतां रक्षकम् **त्वाम्** परमात्मानं राजानं वा बलप्राप्तये हवामहे । **अर्वतः**[3] अश्वादिकस्य सेनाङ्गस्य । अर्वा इत्यश्वनाम । निघं० १।१४, अर्वा इत्युपलक्षणमन्येषामपि सेनाङ्गानाम् । यद्वा **अर्वतः** अग्नेः, तदुपलक्षितानाम् आग्नेयास्त्राणां वैद्युतास्त्राणां च । अग्निर्वा अर्वा । तै० ब्रा० १।३।६।४ । **काष्ठासु** संग्रामेषु । आज्यन्तोऽपि काष्ठा उच्यते । निरु० २।१५ । **त्वाम्** परमात्मानं राजानं वा बलप्राप्तये हवामहे ॥२॥[4]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—परमेश्वरस्य नृपादीनां चाह्वानं मनुष्यैः स्वयं कर्मण्यैर्भूत्वा करणीयम् । यदा पापरूपाणि पापिरूपाणि वा वृत्राण्याक्रामन्ति, यदा वा दैत्यैः सह देवानां हस्त्यश्वरथपादातैः सेनाङ्गैराग्नेयास्त्रैर्वैद्युतास्त्रैर्वा घोरं भीषणं युद्धं प्रवर्तते तदा परमेश्वरान्नृपाच्च सहयोगं प्रेरणां बलं साहसं च प्राप्य शत्रुधूलिसात् करणीयः ॥२॥

---

१. ऋ० ६।४६।१, अथ० २०।९८।१, उभयत्र 'सातौ' इति स्थाने 'साता' इति पाठः । य० २७।३७ । साम० ८०९ । सर्वत्र शंयुः ऋषिः ।

२. सातिर्लाभः । तस्मादियं निमित्तसप्तमी । निमित्तं च प्रयोजनम् । धनलाभार्थमित्यर्थः—इति वि० । सातौ लाभे निमित्ते —इति भ० ।

३. (अर्वता) अश्वादिभिः सेनाङ्गैः—इति ऋ० १।८।२ भाष्ये, 'अश्वादियुक्तेन' इति च ऋ० २।२।१० भाष्ये द० ।

४. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये शिल्पविद्याविषये यजुर्भाष्ये च राजधर्मविषये व्याचष्टे ।

अगले मन्त्र में परमेश्वर और राजा का आह्वान किया गया है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** विपत्ति के विदारक और सब सम्पत्तियों के दाता परमेश्वर व राजन् ! **कारवः** स्तुतिकर्ता, कर्मयोगी हम लोग **वाजस्य** बल की **सातौ** प्राप्ति के निमित्त **त्वाम् इत् हि** तुझे ही **हवामहे** पुकारते हैं। **नरः** पौरुष से युक्त हम **वृत्रेषु** पापों एवं शत्रुओं का आक्रमण होने पर **सत्पतिम्** सज्जनों के रक्षक **त्वाम्** तुझे पुकारते हैं। **अर्वतः** घोड़े आदि सेनांगों के अथवा आग्नेयास्त्रों और वैद्युतास्त्रों के **काष्ठासु** संग्रामों में भी **त्वाम्** तुझे पुकारते हैं ॥२॥

भावार्थ—परमेश्वर और राजा आदि का आह्वान मनुष्यों को स्वयं कर्मण्य होकर ही करना चाहिए। जब पापरूप या पापीरूप वृत्र आक्रमण करते हैं, अथवा जब दैत्यों के साथ देवपुरुषों का हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, योद्धा इन सेनांगों के द्वारा और आग्नेयास्त्रों या बिजली के अस्त्रों द्वारा घोर भयंकर युद्ध प्रवृत्त होता है, तब परमेश्वर और राजा से सहयोग, प्रेरणा, बल और साहस प्राप्त करके शत्रु को धूल में मिला देना चाहिए ॥२॥

अथ परमेश्वरस्यार्चनाय जनान् प्रेरयति।

३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
२३५. अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति ॥३॥[1]
३ २ ३ १ २ ३ १ २१ १ २१ ३ १ २१ ३ २
अभि प्र वः सुराधसम् सु राधसम्। इन्द्रम् अर्च यथा विदे॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २१ ३ १ २ ३ १ २१
यः जरितृभ्यः मघवा पुरूवसुः पुरु वसुः। सहस्रेण इव शिक्षति ॥३॥

पदार्थः—हे सखायः ! **वः**[2] यूयम् **सुराधसम्** प्रशस्तधनं, शुभसफलतादायकं वा। राधस् इति धननाम। निघं० २।१०। राध संसिद्धौ धातोरौणादिकोऽसुन् प्रत्ययः। संसिद्धिः साफल्यम्। **इन्द्रम्** परमेश्वरम् **अभि** अभिलक्ष्य तथा **प्र अर्च** प्रकर्षेण अर्चत। अत्र बहुलं छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति अनात्मनेपदेऽपि 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' इति तकारलोपः। **यथा** येन प्रकारेण तदर्चनम् **विदे**[3] विविदे ज्ञायते। विद ज्ञाने धातोः कर्मणि लडर्थे लिटि द्वित्वाभावश्छान्दसः। कीदृशमिन्द्रमित्याह। **यः** प्रसिद्धः **मघवा**[4] ऐश्वर्यवान् दानवान् वा, **पुरूवसुः** पुरु बहु, वसुः वासयिता, पुरूणां बहूनां वा वासयिता इन्द्रः परमेश्वरः **जरितृभ्यः** स्तोतृभ्यः। जरिता इति स्तोतृनाम। निघं० ३।१६। **सहस्रेण इव** हस्तसहस्रेणेव **शिक्षति** ददाति, भौतिकीमाध्यात्मिकीं च संपदं प्रयच्छति। शिक्षतिर्दानकर्मा। निघं० ३।२०॥३॥

'सहस्रेणेव शिक्षति' इत्यत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—प्रचुरसम्पत्तिशाली पुरुषार्थिनां साफल्यप्रदाता निवासप्रदो भूरिशः सुखसम्पद्वर्षकः परमेश्वरः सर्वैर्मनुष्यैः श्रद्धयाऽभ्यर्चनीयः ॥३॥

अगले मन्त्र में मनुष्यों को परमेश्वर की अर्चना के लिए प्रेरित किया गया है ॥३॥

पदार्थ—हे साथियो ! **वः** तुम **सुराधसम्** प्रशस्त धनों वाले और शुभ सफलता को देने वाले

१. ऋ० ८।४६।१, अथ० २०।५१।१, साम० ८११, सर्वत्र प्रस्कण्वः ऋषिः।
२. वः त्वम् अर्च—इति भ०। वः यूयम् अर्चत—इति सा०।
३. यथा विदे। विद्यते ज्ञायते यथा तथा—इति भ०। यथास्माभिर्ज्ञायते—इति सा०।
४. मघवान् धनवान्—इति वि०। मघं दानं मंहतेः। दानवान् नित्यदानः—इति भ०।

इन्द्रम् परमेश्वर को **अभि** लक्ष्य करके **प्र अर्च** भलीभाँति ऐसी अर्चना करो **यथा** जिससे कि वह अर्चना **विदे** जान ली जाए, **यः** जो प्रसिद्ध **मघवा** ऐश्वर्यवान् **पुरूवसुः** बहुत अधिक बसाने वाला अथवा बहुतों को बसाने वाला परमेश्वर **जरितृभ्यः** स्तोताओं के लिए **सहस्रेण इव** मानो हजार हाथों से **शिक्षति** भौतिक और आध्यात्मिक सम्पत्ति प्रदान करता है ॥३॥

इस मन्त्र में 'सहस्रेणेव शिक्षति' में उत्प्रेक्षालङ्कार है ॥३॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिए कि बहुत सम्पत्ति के स्वामी, पुरुषार्थियों को सफलता देने वाले, निवासक, भूरि-भूरि सुख-सम्पदा को बरसाने वाले परमेश्वर की श्रद्धा के साथ पूजा करें ॥३॥

अथ स परमात्मा कीदृशोऽस्ति यं वयं स्तुम इत्याह ।

२३६. तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥४॥[1]
तम् वः दस्मम् ऋतीषहम् ऋति सहम् । वसोः मन्दानम् अन्धसः ॥
अभि वत्सम् न स्वसरेषु धेनवः । इन्द्रम् गीर्भिः नवामहे ॥४॥

पदार्थः—हे सखायः **वः** युष्माकम्, अस्माकं चेत्यपि द्योत्यते **दस्मम्**[2] दर्शनीयम्, यद्वा दुःखानामुपक्षयितारम् । दसि दंशनदर्शनयोः, दसु उपक्षये, 'इषि युधीन्धिदसि' उ० १।१४५ इति मक् प्रत्ययः । **ऋतीषहम्**[3] ऋतय आक्रान्तारः शत्रवस्तेषामभिभवितारम् । ऋ गतौ धातोः क्तिनि ऋतिः । ऋतिपूर्वात्, मर्षणार्थाद् अभिभवार्थाद् वा षह धातोः 'छन्दसि सहः' अ० ३।२।६३ इति ण्विः । 'अन्येषामपि दृश्यते' अ० ६।३।१३७ इति पूर्वपदस्य दीर्घः । **वसोः** वसुनः धनभूतात् **अन्धसः** भक्तिरूपात् सोमरसात् । अन्ध इति सोमनाम । निरु० १३।६ । **मन्दानम्** आनन्दन्तम् **तम्** प्रसिद्धम् **इन्द्रम्** परमेश्वरम् **अभि** अभिलक्ष्य **स्वसरेषु**[4] दिनोदयेषु गृहेषु वा । स्वसराणि अहानि भवन्ति, स्वयंसारीणि, अपि वा स्वरादित्यो भवति स एनानि सारयति । निरु० ५।४ । गृहनाम । निघं० ३।४ । **गीर्भिः** वाग्भिः, वयम् **नवामहे** स्तुमः । णु स्तुतौ अदादिः, लटि 'बहुलं छन्दसि' अ० २।४।७३ इति शपो लुक् न, आत्मनेपदं छान्दसम् । **न** यथा । न इत्युपमार्थीयः । निरु० १।४ । **धेनवः** पयस्विन्यो गावः **वत्सम् अभि** वत्समभिलक्ष्य **स्वसरेषु** दिनोदयेषु प्रातर्दोहनवेलासु गोष्ठरूपेषु गृहेषु वा नुवन्ति हम्भारवं कुर्वन्ति ॥४॥[5]

अत्रोपमालङ्कारः ॥४॥

भावार्थः—यथा गोष्ठेषु स्थिता गावो दिनारम्भेषु पयः पाययितुं वत्सं प्रति प्रेम्णा हम्भारवं कुर्वन्ति तथैव परमात्मानं प्रति प्रजाभिरस्माभिः प्रेमनिर्भराभिर्भूत्वा स्तुतिगीतानि गेयानि ॥४॥

---

१. ऋ० ८।८८।१, य० २६।१, साम० ६८५, अथ० २०।९१।१, ४९।४ ।

२. दस्मम् उपक्षयितारं शत्रूणाम्—इति वि० । दर्शनीयम्—इति भ०, सा० ।

३. ऋतयः सेनाः गन्तृत्वात् । ता योऽभिभवति स ऋतीषाट्, तम् ऋतीषहम् । परकीयानां सेनानामभिभवितारम् इत्यर्थः—इति वि० । अर्तेः ऋतिः अरिः, अरीणामभिभवितारम्—इति भ० । ऋतयो बाधकाः शत्रवः तेषामभिभवितारम्—इति सा० । य ऋतीन् परपदार्थप्रापकाञ्छत्रून् सहते तम् इति ऋ० ६।१४।४ भाष्ये द० ।

४. स्वसरेषु यागगृहेषु—इति वि० । गोष्ठेषु—इति भ० । सूर्यनेतृकेषु दिवसेषु—इति सा० ।

५. दयानन्दर्षिर्यजुर्भाष्ये मन्त्रमिमं राजप्रजापक्षे व्याचष्टे ।

अगले मन्त्र में यह वर्णित है कि वह परमात्मा कैसा है, जिसकी हम स्तुति करते हैं।

पदार्थ—हे साथियो ! **वः** तुम्हारे और हमारे **दस्मम्** दर्शनीय अथवा दुःखों का क्षय करने वाले, **ऋतीषहम्** आक्रान्ता काम-क्रोधादि शत्रुओं को पराजित करने वाले, **वसोः** धनभूत **अन्धसः** भक्तिरूप सोमरस से **मन्दानम्** आनन्दित होने वाले **तम्** उस प्रसिद्ध **इन्द्रम्** परमेश्वर को **अभि** लक्ष्य करके **स्वसरेषु** दिनों के आविर्भाव-काल में अथवा घरों **में गोभिः** वाणियों से, हम **नवामहे** स्तुति करते हैं, **न** जैसे **धेनवः** दूध देने वाली गौएँ **वत्सम् अभि** बछड़े के प्रति **स्वसरेषु** प्रातः दोहन-वेला में अथवा गोशालाओं **में** रँभाती है ॥४॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥४॥

भावार्थ—जैसे दिन निकलने पर गोशालाओं में स्थित गौएँ बछड़े को देखकर दूध पिलाने के लिए प्रेम से रँभाने लगती हैं, वैसे ही परमात्मा के प्रति हम प्रजाओं को प्रेम में भरकर स्तुतिगीत गाने चाहिएँ ॥४॥

अथ पुनः परमेश्वरं स्मरणीयमाह।

२३७. तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये।
बृहद् गायन्तः सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम् ॥५॥[1]

तरोभिः वः विदद्वसुम् विदत् वसुम्। इन्द्रम् सबाधः स बाधः ऊतये॥
बृहत् गायन्तः सुतसोमे सुत सोमे अध्वरे। हुवे भरम् न कारिणम् ॥५॥

पदार्थः—हे सखायः ! **वः** यूयम् **सबाधः**[2] बाधाभिराक्रान्ताः सन्तः। बाधते इति बाट्, बाधृ-धातोः क्विप्। बाधा बाधया सहिताः सबाधः। **ऊतये** रक्षायै **सुतसोमे** सुतः अभिषुतः सोमः श्रद्धारसः कर्म-रसश्च यस्मिन् तथाविधे **अध्वरे** हिंसारहिते जीवनयज्ञे **तरोभिः** वेगपूर्वकं बलपूर्वकं च। तरस् इति वेगवाचकं लोके प्रसिद्धम्। बलनाम। निघं० २।९। **विदद्वसुम्**[3] वेदयद्वसुम् भौतिकाध्यात्मिकैश्वर्यप्रदातारम् **इन्द्रम्** परमेश्वरम् **बृहत्** प्रचुरम् **गायन्तः** गानविषयीकुर्वन्तः भवत। अहमपि **भरम् न** कुटुम्बभरणकर्त्तारं गृहपति-मिव **कारिणम्**[4] कर्मयोगिनं तम् इन्द्रं परमेश्वरम्। कर्तुं शीलं यस्य स कारी तम्। डुकृञ् करणे धातोश्छन्द-स्युपपदाभावेऽपि ताच्छील्ये णिनिर्विज्ञेयः। **हुवे** आह्वयामि ॥५॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—यदा यदा मनुष्याः स्वजीवने विघ्नबाधाभिः पीड्यन्ते तदा तदा तैः **परमेश्वरः** स्मरणीयः। स्मृतः स तान् पुरुषार्थे कर्मयोगे च प्रवर्तयति। यथा कश्चिद् गृहपतिः कर्मपरायण एव सन्

१. ऋ० ८।६६।१, साम० ६८७।

२. सबाधः मदीया ऋत्विजः—इति वि०। संबाधमानाः परस्परम्, यद्वा बाधसहिताः, शत्रुभिः बाध्यमानाः—इति भ०। बाधासहिताः—इति सा०।

३. विद्लृरेलाभार्थस्येदं रूपम्। विदितं धनं येन स विदद्वसुः—तम्। आत्मीयैर्बलैः शत्रुधनानामपहर्तारमित्यर्थः—इति वि० लब्धवन्तं धनानि—इति भ०। वेदयद्वसुम् धनवेदकम्—इति सा०।

४. करोतीति सन्निधानात् संग्रामम्। एतदुक्तं भवति, यथा संग्रामे योद्धा प्रतियोद्धारं महता यत्नेन आह्वयति तद्वदाह्व-यन्तीत्यर्थः—इति वि०। भरं न भरन्तमिव बलवन्तमिव कारिणम् उपकारिणं योद्धारम्—इति भ०। भरं न भर्तारं कुटुम्बपोषकं कारिणं स्वहितकरणशीलम् यथा स्वहितकरणायाह्वयन्ति पुत्रादयः तद्वत्—इति सा०।

कुटुम्बभरणक्षमो जायते, तथैव परमेश्वरोऽपि कर्मपरायण एव सन् विश्वं बिभर्ति, सर्वानुपासकाँश्चापि कर्मयोगे प्रेरयति ॥५॥

अगले मन्त्र में पुनः परमेश्वर को स्मरण-योग्य कहा गया है।

पदार्थ—हे साथियो ! **वः** तुम लोग **सबाधः** जब बाधाओं से आक्रान्त होओ तब **ऊतये** रक्षा के लिए **सुतसोमे** जिसमें श्रद्धा और कर्मरूप सोम का निष्पादन किया गया है ऐसे **अध्वरे** हिंसारहित जीवन-यज्ञ में **तरोभिः** वेगों और बलों के साथ **विदद्वसुम्** ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाले **इन्द्रम्** परमेश्वर के **बृहत्** बहुत अधिक **गायन्तः** गीत गाओ। मैं भी **भरम् न** कुटुम्ब का भरण-पोषण करने वाले गृहपति के समान **कारिणम्** कर्मशील उस परमेश्वर का **हुवे** आह्वान करता हूँ ॥५॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥५॥

भावार्थ—जब-जब मनुष्य अपने जीवन में विघ्न-बाधाओं से पीड़ित होते हैं, तब-तब उन्हें परमेश्वर का स्मरण करना चाहिए। स्मरण करने पर वह उन्हें पुरुषार्थ में और कर्मयोग में प्रवृत्त करता है। जैसे कोई गृहपति कर्मपरायण होकर ही कुटुम्ब के भरण-पोषण में समर्थ होता है, वैसे ही परमेश्वर भी कर्मपरायण होकर ही विश्व को धारण करता है और सब उपासकों को भी कर्मयोग में प्रेरित करता है ॥५॥

अथ परमेश्वरस्य नृपस्य वाऽऽनुकूल्यमाप्तुमाह।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
२३८. तरणिरित् सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्रुवम् ॥६॥[1]
३ १ २ ३ १ २ १ १ २ १ १ २ १ ३ २
तरणिः इत् सिषासति। वाजम् पुरन्ध्या पुरम् ध्या युजा॥
३ १ २ १ ३ २ ३ २ ३ १ २
आ वः इन्द्रम् पुरुहूतम् पुरु हूतम् नमे गिरा।
३ २ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ १
नेमिम् तष्टा इव सुद्रुवम् सु द्रुवम् ॥६॥

पदार्थः—**तरणिः**[2] **इत्** दुःखेभ्यस्तारकः इन्द्रः परमेश्वरः नृपश्चैव **युजा** सदा सहचरीभूतया **पुरन्ध्या**[3] महत्या बुद्धया क्रियया च। पुरु बहुनाम। निघं० ३।१। धीः कर्मनाम प्रज्ञानाम च। निघं० २।१, ३।९। पुरन्धिर्बहुधीरिति यास्कः। निरु० ६।१३। **वाजम्** बलं धनं विज्ञानं वा **सिषासति**[4] सत्पात्रेभ्यः संभजति ददाति वा। षण संभक्तौ, षणु दाने वा धातोः सन्नन्तं रूपम्। 'जनसनखनां सञ्झलोः' अ० ६।४।४२ इत्यात्वम्। अतोऽहं **पुरुहूतम्** बहुस्तुतम् **इन्द्रम्** तं परमेश्वरं नृपं वा **गिरा** वाचा **वः** युष्मभ्यम् **आनमे** आनयामि कार्ये, प्रवृत्तं करोमि, **तष्टा इव** शिल्पी यथा **नेमिम्** रथचक्रवलयम् **सुद्रुवम्**[5] सुप्रवृत्तां करोति तद्वत् ॥६॥

---

१. ऋ० ७।३२।२० 'सुद्रुवम्' इत्यत्र 'सुद्रवम्' इति पाठः।

२. तरणिः क्षिप्रकारी इन्द्रः—इति वि०। तरणिरित् त्वरित एव—इति भ०।

३. पुरन्ध्या बुद्धया युजा सहायभूतया—इति भ०।

४. सिषासति संभक्तुमिच्छति—इति वि०। संभजति, सिषासति इत्यत्र सनोतेः स्वार्थिकस्सन्—इति भ०।

५. ऋ० ७।३२।२० सुद्रवम् इति पाठः। तत्र सुद्रवम् यः सुष्ठु द्रवति गच्छति धावति तम्—इति द०। सुद्रुवं शोभनकाष्ठम्। एतदुक्तं भवति, यथा शोभनं काष्ठं तक्षणादिभिः तष्टा वर्धकिः वक्रं करोति तद्वत् स्तुतिभिः ऋजूकरोमीत्यर्थः—इति वि०। यथा नेमिं तष्टा आनमते सुद्रुवं शोभनदारुकं तथा त्वाम् आनमे—इति भ०।

अत्र श्लेषोपमालङ्कारौ ॥६॥

भावार्थः—सुप्रज्ञः सुकर्मा च परमेश्वरो नृपो वा यथायोग्यं जनेभ्यः सुखधनविद्यादिकं प्रयच्छतीति प्रार्थनावचोभिस्तयोः स्वाभिमुखं प्रवृत्तिः सर्वैः कारणीया। यथा रथचक्रस्य प्रवृत्त्यैव रथाधिष्ठिता जना गन्तव्यं स्थानं प्राप्तुमर्हन्ति तथैव परमेश्वरस्य नृपस्य च प्रजाभिमुखं प्रवृत्त्यैव जनानामभ्युदयः सम्भवति ॥६॥[1]

अगले मन्त्र में परमेश्वर और राजा की अनुकूलता प्राप्त करने का विषय है।

पदार्थ—**तरणिः** दुःखों से तराने वाला इन्द्र परमेश्वर अथवा इन्द्र राजा **इत्** अवश्य **युजा** सदा साथ रहने वाली **पुरन्ध्या** अपनी महती बुद्धि और क्रिया से **वाजम्** बल, धन और विज्ञान **सिषासति** बाँटता या देता है। इसलिए मैं **पुरुहूतम्** बहुतों द्वारा स्तुत **इन्द्रम्** उस परमेश्वर वा राजा को **गिरा** वाणी के द्वारा **वः** आप लोगों के लिए **आनमे** कार्य में प्रवृत्त करता हूँ, **तष्टा इव** जैसे शिल्पी **नेमिम्** रथचक्र की परिधि को **सुद्रुवम्** सुप्रवृत्त करता है ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेष तथा उपमा अलंकार है ॥६॥

भावार्थ—उत्तम प्रज्ञा वाला तथा उत्तम कर्मों वाला परमेश्वर और राजा यथायोग्य मनुष्यों को सुख, धन विद्यादि प्रदान करता है, अतः प्रार्थना-वचनों से सबको उन्हें अपनी ओर प्रवृत्त करना चाहिए। जैसे रथ-चक्र के प्रवृत्त होने से ही रथ में बैठे लोग गन्तव्य स्थान को पहुँच सकते हैं, वैसे ही परमेश्वर और राजा की प्रजा की ओर प्रवृत्ति होने से ही लोगों का अभ्युदय हो सकता है ॥६॥

अथ परमेश्वरो नृपश्चाऽस्माकं वर्धनाय भूयादित्याह।

२३९. पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः।
आपिर्नो बोधि सधमाद्ये वृधेऽस्माँ अवन्तु ते धियः ॥७॥[2]

पिब सुतस्य रसिनः। मत्स्व नः इन्द्र गोमतः॥
आपिः नः बोधि सधमाद्ये सध माद्ये वृधे। अस्मान् अवन्तु ते धियः ॥७॥

पदार्थः—प्रथमः परमात्मपक्षे। हे **इन्द्र** परमेश्वर! त्वम् **रसिनः** रसमयस्य **सुतस्य** अस्माभिरभिषुतस्य भक्तिभावरूपस्य सोमस्य **पिब** पानं कुरु। द्वितीयार्थे षष्ठी। संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः' अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः। **गोमतः** प्रशस्ता गाव इन्द्रियाणि वेदवाचो वा येषां सन्तीति तान् प्रशस्तेन्द्रियान् वेदपाठिनो वा **नः** अस्मान् **मत्स्व**[3] मादयस्व आनन्दय। मद तृप्तियोगे चुरादिर्वेदे भ्वादिरपि प्रयुज्यते। **सधमाद्ये**[4] सह माद्यन्ति जना अत्रेति सधमाद्यो विश्वयज्ञस्तस्मिन्। 'सधमादस्थयोश्छन्दसि' अ० ६।३।९६ इति सहस्य सधादेशः। **वृधे** वर्द्धनाय समुन्नत्यै। वृधु वर्धने धातोः क्विपि चतुर्थ्येकवचने रूपम्। **आपिः** बन्धुः सन् **नः** अस्मान् **बोधि**[5] बोधय। **ते** तव **धियः** प्रज्ञाः कर्माणि च **अस्मान् नः अवन्तु** रक्षन्तु ॥७॥

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं राजप्रजापक्षे व्याख्यातवान्।
२. ऋ० ८।३।१ 'सधमाद्ये' इत्यत्र 'सधमाद्यो' इति पाठः। साम० १४२१।
३. मत्स्व अस्माभिः स्तुतः सन् सदा हर्षय। 'बहुलं छन्दसि' इति श्यनो लुक्। इति ऋ० १।९।३ भाष्ये द०।
४. सह माद्यन्ते यत्र देवताः स सधमाद्यः यज्ञः तस्मिन्—इति वि०। भरतस्वामिसायणयोर्मतेऽपि यज्ञ एवार्थः।
५. बोधि बोधय, अत्र लोडर्थे लङ् अडभावोऽन्तर्गतो ण्यर्थश्च इति ऋ० १।३१।९ भाष्ये द०। बुध्यस्व। यद्यदहं ब्रवीमि तत् सर्वं शृण्वित्यर्थः—इति वि०। बोधि भव, भवतेर्लोटि रूपमिदम्। हेर्धिः, भकारस्य बकारः, शपो लुक्, गुणश्छान्दसः—इति सा०।

अथ **द्वितीयो** राजपक्षे । हे **इन्द्र** ऐश्वर्यशालिन् राजन् ! त्वम् **रसिनः** रसमयस्य **सुतस्य** निश्च्योतितस्य सोमाद्योषधिरसस्य **पिब** आस्वादनं कुरु । तेन शक्तिशाली भवंस्त्वम् **गोमतः** प्रशस्तभूस्वामिनः **नः** अस्मान् **मत्स्व** आनन्दय । **सधमाद्ये** राष्ट्रयज्ञे **वृधे** वर्धनाय **आपिः** बन्धु सन् **नः** अस्मान् प्रजाजनान् **बोधि** जागरूकान् कुरु । **ते** तव **धियः** राजनीतिकुशला बुद्धयः राष्ट्रोत्थानकर्माणि च **अस्मान्** प्रजाजनान् **नः अवन्तु** रक्षन्तु ॥७॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥७॥

भावार्थः—परमेश्वरस्य कृपया नृपाणां पुरुषार्थेनैव च राष्ट्रोन्नतिः प्रजानामानन्दो विश्वशान्तिश्च सम्भवति ॥७॥

अगले मन्त्र में यह प्रार्थना है कि परमेश्वर और राजा हमारी वृद्धि के लिए होवें ।

पदार्थ—**प्रथम** परमेश्वर के पक्ष में । हे **इन्द्र** परमेश्वर ! आप **रसिनः** रसीले **सुतस्य** निष्पादित भक्तिभावरूप सोमरस का **पिब** पान कीजिए । **गोमतः** प्रशस्त इन्द्रियों और प्रशस्त वेदवाणियों का पाठ करने वाले **नः** हमें **मत्स्व** आनन्दित कीजिए । **सधमाद्ये** जिसमें सब राष्ट्रों के लोग परस्पर मिलकर आनन्दलाभ करते हैं ऐसे विश्वयज्ञ में **वृधे** वृद्धि के लिए **आपिः** बन्धु बनकर **नः** हमें **बोधि** बोध प्रदान कीजिए । **ते** आपकी **धियः** बुद्धियाँ और कर्म **अस्मान्** हमें **अवन्तु** रक्षित करें ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में । हे **इन्द्र** ऐश्वर्यशाली राजन् ! आप **रसिनः** रसीले **सुतस्य** निचोड़कर तैयार किये हुए सोमादि ओषधियों के रस का **पिब** पान कीजिए । उससे शक्तिशाली होकर आप **गोमतः** प्रशस्त भूमियों के स्वामी **नः** हम लोगों को **मत्स्व** आनन्दित कीजिए । **सधमादे** जिसमें सब प्रजाजन मिलकर सुखी होते हैं ऐसे राष्ट्रयज्ञ में **वृधे** वृद्धि के लिए **आपिः** बन्धु बनकर **नः** हम प्रजाजनों को **बोधि** जागरूक कीजिए । **ते** आपकी **धियः** राजनीति में चतुर बुद्धियाँ और राष्ट्रोत्थान के कर्म **अस्मान्** हमें **अवन्तु** रक्षित करें ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥७॥

भावार्थ—परमेश्वर की कृपा और राजाओं के पुरुषार्थ से ही राष्ट्र की उन्नति, प्रजाओं का आनन्द और विश्वशान्ति हो सकती है ॥७॥

अथ परमेश्वरो राजा च प्रार्थ्यते ।

२४०. त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये ।
उद्वावृषस्व मघवन् गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये ॥८॥[1]

त्वम् हि आ इहि चेरवे । विदाः भगम् वसुत्तये ॥ उत् वावृषस्व
मघवन् गविष्टये गो इष्टये । उत् इन्द्र अश्वमिष्टये अश्वम् इष्टये ॥८॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमेश्वर राजन् वा ! **त्वं हि** त्वं खलु **चेरवे**[2] चरतीति चेरुः तस्मै संचरणकर्त्रे

---

१. ऋ० ८।६१।७, साम० १५८१ ।

२. चेरुः चेतयिता । ज्ञातुर्मम भगस्यार्थाय—इति वि० । चेरुश्चरतेः, आचरते कर्माणि—इति भ० । कर्मपराचारवते मह्यम्—इति सा० ।

पुरुषार्थिने मह्यम् **आ इहि** आगच्छ, **वसुत्तये**[1] वसुदानकर्त्रे मह्यम्। वसुपूर्वाद् डुदाञ् धातोः क्तिनि निरुपसर्गत्वेऽपि छान्दसत्वात् 'अच उपसर्गात्तः' अ० ७।४।४७ इत्यनेन विहितस्तकारादेशो भवति। **भगम्** वसु **विदाः** लम्भय। विद्लृ लाभे धातोरन्तर्भावितण्यर्थात् लेटि सिपि 'लेटोऽडाटौ' अ० ३।४।९४ इति आडागमः। हे **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन्! त्वम् **गविष्टये**[2] गवाम् इन्द्रिय-पृथिवीराज्य-विद्याप्रकाशानाम् इष्टयः इच्छाः यस्य स गविष्टिः तस्मै मह्यम् **उद्वावृषस्व**[3] उद्वरीवृष्यस्व धनविद्यादिकम् अतिशयेन पुनः पुनः उद्वर्षय। अत्र यङि छान्दसत्वात् 'रीगृदुपधस्य च' अ० ७।४।९० इति प्राप्तो रीगागमो न भवति। त्वम् **अश्वमिष्टये**[4] अश्वम् तुरगबलवेगप्राणादिकम् इच्छतीति अश्वमिष्टिः तस्मै मह्यम्। अत्र समासे द्वितीयाया अलुक् छान्दसः। **उद्वावृषस्व** अतिशयेन पुनपुनरुद्वर्षय ॥८॥

अत्र श्लेषालङ्कारः। 'एहि, विदाः, उद्वावृषस्व', इति सर्वासां क्रियाणामेककर्तृकारक-सम्बन्धाद् दीपकमपि। 'ष्टय, ष्टये' इति छेकानुप्रासः, द्वितीय-चतुर्थपादान्ते 'अये, अये' इति श्रवणादन्त्या-नुप्रासश्च ॥८॥

भावार्थः—परमेश्वरो राजादयो राज्याधिकारिणश्च तस्यैव साहाय्यं कुर्वन्ति यः 'चरैवेति चरैवेति', (ऐ० ब्रा० ७।३।३) इत्युपदेशं स्वजीवने चरितार्थयति, पुरुषार्थेन च धनं संचित्य सत्पात्रेषु तस्य दानमपि करोति ॥८॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर और राजा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमेश्वर वा राजन्! **त्वं हि** आप **चेरवे** मुझ पुरुषार्थी के हित के लिए **आ इहि** आइए। **वसुत्तये** मुझ धन के दानी के लिए **भगम्** धन **विदाः** प्राप्त कराइए। हे **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन्! आप **गविष्टये** मुझ प्रशस्त इन्द्रिय, पृथिवीराज्य, विद्याप्रकाश आदि के अभिलाषी के लिए **उद्वावृषस्व** धन, विद्या आदि की अतिशय पुनः पुनः वर्षा कीजिए। आप **अश्वमिष्टये** घोड़े, बल, वेग, प्राण आदि के इच्छुक मेरे लिए **उद्वावृषस्व** अतिशयरूप से पुनः पुनः इन वस्तुओं को बरसाइए ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'आ, जान, बरसा' इन सब क्रियाओं का एक कर्ताकारक से सम्बन्ध होने के कारण दीपक अलंकार भी है। 'ष्टय, ष्टये' में छेकानुप्रास और द्वितीय तथा चतुर्थ पाद के अन्त में 'अये' होने से अन्त्यानुप्रास भी है ॥८॥

भावार्थ—परमेश्वर और राजा आदि राज्याधिकारीगण उसी की सहायता करते हैं जो 'चरैवेति चरैवेति' 'पुरुषार्थ करो, पुरुषार्थ करो।' (ऐ० ब्रा० ७।३।३) के उपदेश को अपने जीवन में चरितार्थ करता है और पुरुषार्थ से धन कमाकर सत्पात्रों में उसका दान भी करता है ॥८॥

---

१. वसूनि हविर्लक्षणानि ददाति इति वसुत्तिः हव्यदातिर्यजमानः तस्मै—इति भ०। धनदानं वसुत्तिः, तस्मै धनदानार्थम्—इति वि०।

२. गविष्टौ गवाम् इन्द्रियपृथिवीराज्यविद्याप्रकाशानाम् इष्टयो यस्मिंस्तस्मिन् इति ऋ० १।९१।२३ भाष्ये द०। इषु इच्छायाम् इत्यस्येदं रूपम्। गोकामाय इत्यर्थः—इति वि०। गवामन्वेषणाय—इति भ०। गाः इच्छते मह्यम्—इति सा०।

३. वृषु तृषु मृषु सेचने इत्यस्येदं रूपम्। सेवनं च क्षरणम्। क्षर देहि इत्यर्थः—इति वि०। उद्युक्तो भव—इति भ०। आसिञ्चस्व देहीत्यर्थः—इति सा०।

४. अश्वैषणावते मह्यम्—इति सा०। अश्वान्वेषणाय—इति भ०।

अथाचार्यस्य परमात्मनश्च कृत्यमाह ।

२४१. न हि वश्चरमं च न वसिष्ठः परिमंसते ।
अस्माकमद्य मरुतः सुते सचा विश्वे पिबन्तु कामिनः ॥९॥[1]
न हि वः चरमम् च न । वसिष्ठः परिमꣳसते परि मꣳसते ॥
अस्माकम् अद्य अ द्य मरुतः सुते सचा । विश्वे पिबन्तु कामिनः ॥९॥

पदार्थः—**प्रथमो**ऽध्ययनाध्यापनपक्षे । मरुतो देवताः । हे मरुतः विद्यार्थिनः ! युष्माकं मध्ये **चरमं च न** हीनकोटिकमपि विद्यार्थिनम् **वसिष्ठः**[2] विद्यया वासयितृतमः आचार्यः **नहि** नैव **परिमंसते**[3] परित्यजति, विद्यया वञ्चितं न करोतीत्यर्थः । परिपूर्वाद् मनु अवबोधने धातोर्लेटि 'सिब्बहुलं लेटि' **अ०** ३।१।३४ इति सिपि रूपम् । परिरत्र वर्जनार्थः । **अद्य** अस्मिन् दिने **सुते** विद्यायज्ञे प्रवृत्ते सति **अस्माकम्** नः **विश्वे** सर्वे **कामिनः** विद्याग्रहणेच्छवः **मरुतः** विद्यार्थिनः **सचा** संभूय **पिबन्तु** विद्यारसपानं कुर्वन्तु ।

म्रियन्ते इति मरुतः । मृत्युरूपस्याचार्यस्य गर्भे स्थित्वा पूर्वसंस्कारान् परित्यज्य मृत्वा वा विद्यातः पुनर्जन्म प्राप्नुवन्ति, तस्माद् विद्यार्थिनो मरुत उच्यन्ते । आचार्यस्य मृत्युरूपत्वं च श्रुतिरेवमाह—'आचार्यो मृत्युः' (अथ० ११।५।१४) इति । अन्यच्च—"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः । तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः" ॥ (अथ० ११।५।३) इति ।

अथ **द्वितीयः** कर्मफलभोगपक्षे । हे मरुतः मरणधर्माणो मनुष्याः ! **वः** युष्माकं मध्ये **चरमं चन** अन्यतममपि **वसिष्ठः** अतिशयेन वस्ता वसिष्ठः सर्वव्यापकः परमेश्वरः । वस आच्छादने, तृजन्ताद् इष्ठनि 'तुरिष्ठेमेयस्सु', अ० ६।४।१५४ इति तृचो लोपः । **नहि परिमंसते** विना कर्मफलदानेन नैव परित्यजति, पूर्वस्मादारभ्य चरमपर्यन्तं सर्वेभ्य एव कर्मफलं प्रयच्छतीत्यर्थः । **अद्य** अस्मिन् दिने वर्तमानकाले इत्यर्थः **सुते** उत्पन्ने जगति **अस्माकम्** अस्मन्मध्ये **विश्वे** सर्वेऽपि **कामिनः** अभ्युदयाकांक्षिणः **मरुतः**[4] मरणधर्माणो मनुष्याः **सचा** संभूय **पिबन्तु** कर्मफलान्यास्वादयन्तु ॥९॥[5]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—यथा वसिष्ठः परमेश्वरो निरपवादं सर्वेभ्यो जीवात्मभ्यः कर्मानुसारं फलं प्रयच्छति तथैव वसिष्ठ आचार्यस्तथा सरलया शैल्या शिष्यानध्यापयेत् यथा निरपवादं सर्वेऽपि शिष्या विद्याग्रहणे क्षमन्ताम् ॥९॥

---

१. ऋ० ७।५९।३ 'पिबन्तु' इत्यत्र 'पिबत' इति पाठः ।

२. '(वसिष्ठः) अतिशयेन विद्यासु कृतवासः (विद्वज्जनः)' इति ऋ० ७।२६।५ भाष्ये, 'अतिशयेन वासयिता इति' च ७।५९।३ भाष्ये द० ।

३. परिमंसते वर्जयित्वा स्तौति—परिः वर्जने । मतिः स्तुतिकर्मा । सर्वानेव युष्मान् स्तौति—इति भ० । चरमं चन जघन्यमपि नहि परिमंसते वर्जयित्वा न स्तौति—इति सा० ।

४. मृङ् प्राणत्यागे धातोः 'मृग्रोरुतिः' उ० १।९४ इति उतिः प्रत्ययः । 'म्रियते इति मरुत् मनुष्यजातिः पवनो वा' इत्युणादिकोशव्याख्याने द० ।

५. दयानन्दर्षिः ऋग्भाष्ये मन्त्रमिमं मनुष्याणां किं कर्त्तव्यमिति विषये व्याचष्टे ।

अगले मन्त्र में आचार्य और परमात्मा का कार्य वर्णित किया है।

पदार्थ—**प्रथम** अध्ययनाध्यापन के पक्ष में। हे विद्यार्थीरूप मरुतो ! **वः** तुममें से **चरमं च न** हीनकोटि वाले भी विद्यार्थी को **वसिष्ठः** विद्या से बसाने वाला आचार्य **नहि** नहीं **परिमंसते** छोड़ता है, अर्थात् विद्या से वंचित नहीं करता है। **अद्य** आज **सुते** विद्यायज्ञ के प्रवृत्त हो जाने पर **अस्माकम्** हमारे **विश्वे** सब **कामिनः** विद्या-ग्रहण के इच्छुक **मरुतः** विद्यार्थी **सचा** साथ मिलकर **पिबन्तु** विद्या-रस का पान करें।

'मरुतः' का यौगिक अर्थ है मरने वाले। मृत्यु-रूप आचार्य के गर्भ में स्थित होकर पूर्व संस्कारों को छोड़कर (अर्थात् मरकर) विद्या से पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं, इस कारण विद्यार्थी 'मरुत्' कहलाते हैं। अथर्ववेद में स्पष्ट ही आचार्य को मृत्यु कहा है (अथर्व० ११।५।१४), यह भी कहा है कि "आचार्य उपनयन संस्कार करके ब्रह्मचारी को गर्भ में धारण करता है, तीन रात्रि तक उसे अपने उदर में रखता है, फिर जब ब्रह्मचारी द्वितीय जन्म लेता है, अर्थात् विद्या पढ़कर स्नातक बनता है, तब उसे देखने के लिए अनेक विद्वान् जन आते हैं।" (अथर्व० ११।५।३)।

द्वितीय कर्मफल-भोग के पक्ष में। हे मरणधर्मा मनुष्यो ! **वः** तुम्हारे बीच **में चरमं चन** एक को भी **वसिष्ठः** अतिशय बसाने वाला सर्वव्यापक परमेश्वर **नहि परिमंसते** कर्मफल दिये बिना नहीं छोड़ता है, अर्थात् प्रथम से लेकर अन्तिम तक सभी को कर्मफल प्रदान करता है। **अद्य** आज, वर्तमान काल में **सुते** उत्पन्न जगत् में **अस्माकम्** हमारे बीच में **विश्वे** सभी **कामिनः** अभ्युदय के इच्छुक **मरुतः** मरणधर्मा मनुष्य **सचा** साथ मिलकर **पिबन्तु** कर्मफलों का भोग करें ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥९॥

भावार्थ—जैसे वसिष्ठ परमेश्वर निरपवाद रूप में सभी जीवात्माओं को कर्मानुसार फल देता है, वैसे ही वसिष्ठ आचार्य ऐसी सरल शैली से शिष्यों को पढ़ाये जिससे बिना अपवाद के सभी शिष्य विद्या के ग्रहण में समर्थ हों ॥९॥

एकः परमेश्वर एव सर्वैरुपासनीय इत्याह।

२४२. मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥१०॥[1]

मा चित् अन्यत् अन् यत् वि शꣳसत। सखायः स खायः मा रिषण्यत॥
इन्द्रम् इत् स्तोत वृषणम् सचा सुते। मुहुः उक्था च शꣳसत ॥१०॥

पदार्थः—**सखायः** हे समानख्यानाः सुहृदः! यूयम् **अन्यत्** इतरत् किमपि प्रस्तरप्रतिमानदीशैलादिकम् **मा चित्** नैव **विशंसत** उपास्यत्वेन अर्चत। शंसतिः अर्चतिकर्मा। निघं० ३।१४। **मा रिषण्यत**[2] अनु-

---

१. ऋ० ८।१।१, साम० १३६०, अथ० २०।८५।१

२. मा रिषण्यत क्षीणा मा भवत—इति भ०। अन्यदीयस्तोत्रोच्चारणेन वृथोपक्षीणा मा भवत—इति सा०।

पास्यानामुपासनेन रिष्टा हिंसिता न भवत। रिष हिंसायाम् धातोर्निष्ठायां रिष्ट इति जाते, रिष्टम् आत्मन इच्छति रिषण्यति। क्यचि 'दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति। अ० ७।४।३६' इति रिष्टस्य रिषण्भावो निपात्यते। **सुते** ज्ञानकर्मभक्तीनां रसेऽभिषुते सति **सचा** संभूय। सचा सहेत्यर्थः। निरु० ५।५। **वृषणम्** सुखवर्षकम् **इन्द्रम् इत्** परमेश्वरमेव **स्तोत** उपाध्वम्। स्तुत इति प्राप्ते 'तप्तनप्तनथनाश्च। अ० ७।१।४५' इति तस्य तबादेशः, तस्य च पित्त्वान्ङिद्वत्त्वाभावे गुणनिषेधो न। संहितायाम् 'द्व्यचोऽतस्तिङ्। अ० ६।३।१३५' इति दीर्घः। **मुहुः** पुनः पुनः **उक्था च** स्तोत्राणि च। उक्था उक्थानि। 'शेश्छन्दसि बहुलम्। अ० ६।१।७०' इति शेर्लोपः। **शंसत** उच्चारयत, गायत ॥१०॥

भावार्थः—परिवारे समाजे राष्ट्रे जगति वा ये सम्मानयोग्याः सन्ति तेषां सम्मानस्तु विधेय एव, परं तेषु कश्चिदपि परमेश्वरत्वेन न पूजनीयः। नापि नदीवृक्षपर्वतादीनां जडपदार्थानां पूजा विधेया, किन्तु इन्द्रादिनामभिर्वेदेषु ख्यातः सुखवर्षक एको जगदीश्वर एव मुहुर्मुहुः स्तोतव्यः प्रार्थनीयोऽर्चनीय उपासनीयश्च ॥१०॥

अत्रेन्द्रस्य स्तुत्यर्चनाद्यर्थं जनानां प्रेरणात्, ततो भगादिप्रार्थनात्, तत्सहचराणां मरुतां चाह्वाना-देतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिर्वेद्या ॥

इति तृतीये प्रपाठके प्रथमार्धे पञ्चमी दशतिः।
इति तृतीयेऽध्याये प्रथमः खण्डः।

अगले मन्त्र में एक परमेश्वर ही सबके द्वारा उपासनीय है, इस विषय का प्रतिपादन है।

पदार्थ—हे **सखायः** मित्रो ! तुम **अन्यत्** दूसरी किसी वस्तु पत्थर की मूर्ति, नदी, पर्वत आदि की **मा चित्** कभी मत **वि शंसत** उपास्य रूप में पूजा करो, **मा रिषण्यत** जो उपासनीय नहीं हैं उनकी उपासना करके हानि प्राप्त मत करो। **सुते** ज्ञान, कर्म और भक्ति का रस निष्पादित होने पर **सचा** साथ मिलकर **वृषणम्** सुखवर्षक **इन्द्रम् इत्** परमेश्वर की ही **स्तोत** स्तुति-उपासना करो और उसके प्रति **मुहुः** पुनः पुनः **उक्था च** स्तोत्रों का भी **शंसत** गान करो ॥१०॥

भावार्थ—परिवार, समाज, राष्ट्र और जगत् में जो सम्मान के योग्य हैं उनका सम्मान तो करना ही चाहिए, किन्तु उनमें से किसी की भी परमेश्वर के रूप में पूजा नहीं करनी चाहिए, न ही नदी, वृक्ष, पर्वत आदि जड़ पदार्थों की पूजा करनी चाहिए। इन्द्र आदि नामों से वेदों में प्रसिद्ध सुखवर्षी एक जगदीश्वर ही पुनः पुनः स्तुति, प्रार्थना, अर्चना और उपासना करने योग्य है ॥१०॥

इस दशति में मनुष्यों को इन्द्र की स्तुति, अर्चना आदि के लिए प्रेरणा करने, उससे ऐश्वर्य आदि की प्रार्थना करने और इन्द्र के सहचर मरुतों का आह्वान करने के कारण इस दशति के विषय की पूर्व दशति के बिषय के साथ संगति जाननी चाहिए ॥

तृतीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध की पञ्चम दशति समाप्त।
तृतीय अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त।

अथ द्वितीयोऽर्धः

॥६॥ अथ 'नकिष्टं कर्मणा' इत्याद्याया दशते ऋषयः—१ आङ्गिरसः पुरुहन्मा; २, ३ मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च; ४ विश्वामित्रः; ५ गौतमः; ६ नृमेधपुरुमेधौ; ७, ९ मेध्यातिथिः; १० देवातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

अथ परमात्मनो महिमानमाह ।

२४३. न किष्टं कर्मणा नशद् यश्चकार सदावृधम् ।
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्णुमोजसा ॥१॥[1]
न किः तम् कर्मणा नशत् । यः चकार सदावृधम् सदा वृधम् ॥
इन्द्रम् न यज्ञैः विश्वगूर्त्तम् विश्व गूर्त्तम् ऋभ्वसम् ।
अधृष्टम् अ धृष्टम् धृष्णुम् ओजसा ॥१॥

पदार्थः—**यः** मनुष्यः **चकार** महत्त्वपूर्णानि कर्माणि करोति, सोऽपि **तम्** प्रसिद्धम् **सदावृधम्** सदा वर्धयितारम्, **विश्वगूर्तम्**[2] सर्वैः स्तुतम् । गूर्तम् इति गृणातेः स्तुत्यर्थस्य निष्ठायां रूपम् । 'बहुलं छन्दसि' अ० ७।१।१०३ इति धातोः ऋकारस्य उकारादेशः । **ऋभ्वसम्**[3] उरुभूतम्, सूर्यकिरणानां चन्द्रादिलोकेषु प्रक्षेप्तारं वा । ऋभ्वम् उरुभूतम् इति यास्कः । नि० ११।१९ । ऋभ्व एव ऋभ्वसः, स्वार्थे बाहुलकादौणादिकोऽसच् प्रत्ययः । यद्वा ऋभवः सूर्यरश्मयः, तान् पृथिवीचन्द्रमङ्गलादिलोकेषु अस्यति क्षिपतीति तम् । आदित्यरश्मयोऽपि ऋभव उच्यन्ते इति निरुक्तम् । ११।१४ । **अधृष्टम्** केनापि अनभिभूतम्, **ओजसा** स्वबलेन **धृष्णुम्** कामादिशत्रूणां धर्षकम् **इन्द्रम्** परमेश्वरम् **नकिः** नैव **कर्मणा** वीरतापूर्णेन कृत्येन, **न** नापि **यज्ञैः** परोपकारादिभिः **नशत्** व्याप्नोति, तत्तुल्यो भवितुमर्हति । नशत् इति व्याप्तिकर्मसु पठितम् । निघं० २।१८ । ॥१॥

भावार्थः—जगति परमेश्वरस्य यानि वीरकृत्यानि परोपकारकर्माणि च सन्ति तेषु तत्तुल्यस्तदधिको वान्यः कोऽपि न जातो न जनिष्यते ॥१॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ—यः जो मनुष्य **चकार** महत्त्वपूर्ण कर्मों को करता है, वह भी **तम्** उस प्रसिद्ध **सदावृधम्** सदा बढ़ाने वाले, **विश्वगूर्तम्** सबसे स्तुति किये जाने वाले, **ऋभ्वसम्** बहुत विशाल अर्थात् सर्वव्यापक, सूर्य-किरणों को चन्द्रादिलोकों में भेजने वाले, **अधृष्टम्** किसी से पराजित न होने वाले, और **ओजसा** अपने बल से **धृष्णुम्** कामादि शत्रुओं को परास्त करने वाले **इन्द्रम्** परमेश्वर की **नकिः** न तो **कर्मणा** वीरतापूर्ण कर्म में, **न** न ही **यज्ञैः** परोपकार आदि यज्ञों में **नशत्** बराबरी कर सकता है ॥१॥

---

१. ऋ० ८।७०।३, अथ० २०।९२।१८ । उभयत्र 'धृष्णुमोजसा' इत्यत्र 'धृष्ण्वोजसम्' इति पाठः । साम० ११५५।

२. विश्वैः स्तुतम्, गृणातेर्गूर्तः—इति भ० । सर्वैः स्तुतम्—इति सा० ।

३. महान्तम्—इति वि०, सा० । महान्तम्, ऋभु भवति इति ऋभ्वसः—इति भ० । (ऋभ्वसम्) उरु भासमानम् । उरुभासम् इत्यस्य पृषोदरादित्वात् ऋभ्वसादेशः—इति ऋ० १।५६।१ भाष्ये सा० ।

भावार्थ—संसार में परमेश्वर के जो वीरतापूर्ण कार्य और परोपकार के कार्य हैं उनमें उसकी बराबरी का या उससे अधिक न कोई उत्पन्न हुआ है, न भविष्य में उत्पन्न होगा ॥१॥

अथ परमात्मनः जीवात्मनः प्राणस्य शल्यचिकित्सकस्य च कर्तृत्वं वर्णयन्नाह ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
२४४. य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सन्धाता सन्धिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥२॥[1]
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १
यः ऋते चित् अभिश्रिषः अभि श्रिषः । पुरा जत्रुभ्यः आतृदः आ तृदः ॥
१ २ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १
सन्धाता सम् धाता सन्धिम् सम् धिम् मघवा पुरूवसुः पुरु वसुः ।
१ २ १ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३
निष्कर्त्ता निः कर्त्ता विह्रुतम् वि ह्रुतम् पुनरिति ॥२॥

पदार्थः—**यः अभिश्रिषः**[2] संश्लेषणद्रव्यात् **ऋते चित्** विनैव **जत्रुभ्यः**[3] ग्रीवास्थिभ्यः **आतृदः** आतर्दनात् कण्ठच्छेदात् । हिंसार्थात् तृदधातोः 'सृपितृदोः कसुन्' अ० ३।४।१७ इति भावलक्षणे कसुन् प्रत्ययः । **पुरा** पूर्वमेव **सन्धिम्** सन्धातव्यम् अवयवम् **सन्धाता** संयोजयिता भवति, शस्त्रादिना कृत्तेऽपि कण्ठैकदेशे कृत्तं भागं प्राकृतिकरूपेण संपूर्य पुनः स्वस्थं करोति, येन शीर्षपतनं न भवतीत्यर्थः । सः **पुरूवसुः** बहूनां शरीराङ्गानाम् यथास्थानं वासयिता **मघवा** चिकित्साविज्ञानरूपधनसम्पन्नः इन्द्रः परमेश्वरः जीवः प्राणः शल्यचिकित्सको वा । मघमिति धननाम । निघं० २।१० । 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ' अ० ५।२।१२२ वा० इति वनिप् । **विह्रुतम्**[4] वक्रीभूतमपि अङ्गम् । ह्रु कौटिल्ये, निष्ठायां 'ह्रु ह्वरेश्छन्दसि' अ० ७।२।३१ इति धातोः ह्रु आदेशः । **पुनः** भूयोऽपि **निष्कर्ता** संस्कर्ता भवति ॥२॥

अत्र संश्लेषणद्रव्यरूपकारणाभावेऽपि सन्धानरूपकार्योत्पत्तिवर्णनाद् विभावनालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—अहो परमेश्वरस्य कीदृशं शरीररचनाचातुर्यम् । यद्यसौ संश्लेषणद्रव्येण विनैव मध्ये सन्धिं कृत्वा शिरः कबन्धेन सुदृढं न समयोजयिष्यत् तर्हि कदापि क्वचिदपि शिरः कबन्धाच्छिन्नं भूत्वा पृथगभविष्यत् । एतदपि परमैश्वरस्यैव कर्तृत्वं यच्छरीरस्य किमप्यङ्गं यदि कदाचिद् विद्धं वक्रं वा जायते तदा जीवात्मनः प्राणस्य च साहाय्येन शरीरस्य स्वाभाविकक्रियया च पुनरपि तत् प्ररोहति प्रकृतिं चापद्यते । कुशलः शल्यचिकित्सकोऽप्येतस्मिन् कर्मणि परमेश्वरमनुकरोति । संग्रामे यदि शत्रोः शस्त्रप्रहारेण कस्यचिद् योद्धुर्गलैकदेशः कृत्यते तदा स कृत्तं भागं सूच्या संसीव्यौषधिं संलिप्य च पुनः स्वस्थं करोति । दुर्घटनादिकारणाद् यदि कस्यचिदङ्गं विकृतं वक्रं वा जायते तदा तदप्युचितैरुपायैः स संस्करोति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, जीवात्मा, प्राण और शल्यचिकित्सक का कर्तृत्व वर्णित है ।

पदार्थ—**यः** जो **अभिश्रिषः** जोड़ने वाले पदार्थ गोंद, सरेस, प्लास्टर आदि के **ऋते चित्** बिना ही **जत्रुभ्यः** गर्दन की हड्डियों पर से **आतृदः** गले के कटने से **पुरा** पहले ही **सन्धिम्** जोड़ने योग्य अवयव

१. ऋ० ८।१।१२ । अथ० १४।२।४७ ऋषिका सूर्यासावित्री, देवता आत्मा ।
२. अभिश्लिषः अभिश्लेषकात् श्लेष्मणः । येन छिन्नं संश्लिष्यते तत् श्लेष्म—इति भ० ।
३. जतृभ्यः ग्रीवानाडीभ्य इत्यर्थः—इति वि० । जतृभ्यः अंसग्रीवाभ्यां मध्ये नाडीभ्यः—इति भ० । जत्रुभ्यः ग्रीवाभ्यः—इति सा० ।
४. विह्रुतम् । विहुतस्य इतश्चेतश्च विक्षिप्तावयवस्य भग्नस्येत्यर्थः—इति वि० । विच्छिन्नम्—इति भ०, सा० ।

को **सन्धाता** जोड़ देता है, अर्थात् शस्त्र आदि से गले के एक भाग के कट जाने पर भी कटे हुए भाग को प्राकृतिक रूप से भरकर पुनः स्वस्थ कर देता है, जिससे सिर कटकर गिरता नहीं, वह **पुरूवसुः** बहुत से शरीरावयवों को यथास्थान बसाने वाला **मघवा** चिकित्सा-विज्ञान रूप धन का धनी परमेश्वर, जीवात्मा, प्राण वा शल्य-चिकित्सक **विह्रुतम्** टेढ़े हुए भी अंग को **पुनः** फिर से **निष्कर्ता** ठीक कर देता है ॥२॥

इस मन्त्र में जोड़ने वाले द्रव्य रूप कारण के बिना ही जोड़ने रूप कार्य की उत्पत्ति का वर्णन होने से विभावना अलंकार है ॥२॥

भावार्थ—अहो, परमेश्वर की कैसी शरीर-रचना की चतुरता है ! यदि वह जोड़ने वाले द्रव्य गोंद आदि के बिना ही बीच में जोड़ लगाकर सिर को धड़ के साथ दृढ़तापूर्वक जोड़ न देता तो कभी भी कहीं भी सिर धड़ से अलग होकर गिर जाता। यह भी परमेश्वर का ही कर्तृत्व है कि शरीर का कोई भी अंग यदि घायल या टेढ़ा हो जाता है तो जीवात्मा और प्राण की सहायता से तथा शरीर की स्वाभाविक क्रिया से फिर घाव भर जाता है और टेढ़ा अंग सीधा हो जाता है। कुशल शल्यचिकित्सक भी इस कर्म में परमेश्वर का अनुकरण करता है। युद्ध में यदि शत्रु के शस्त्र-प्रहार से किसी योद्धा का गले का एक भाग कट जाता है तो वह कटे भाग को सुई से सीकर और ओषधि का लेप करके पुनः स्वस्थ कर देता है। दुर्घटना आदि से यदि किसी का अंग विकृत या टेढ़ा हो जाता है तो उसे भी वह उचित उपायों से ठीक कर देता है ॥२॥

अथ हरयः इन्द्रमावहन्त्वित्यृच्यते ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
२४५. **आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये ।**
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥३॥[1]

आ त्वा सहस्रम् आ शतम् । युक्ताः रथे हिरण्यये ॥

ब्रह्मयुजः ब्रह्म युजः हरयः इन्द्र केशिनः ।

वहन्तु सोमपीतये सोम पीतये ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमोऽध्यात्मपरः** । हे **इन्द्र** परमात्मन् ! **हिरण्यये** हिरण्मये हिरण्यवज्ज्योतिर्मये । ज्योतिर्हिरण्यम् । श० ४।३।४।२१ । 'ऋत्व्य वास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानिच्छन्दसि' अ० ६।४।१७५ इति निपातनाद् हिरण्यशब्दाद् विहितस्य मयटो मशब्दस्य लोपः । **रथे** शरीररूपे स्यन्दने **युक्ताः** नियुक्ताः **ब्रह्मयुजः** ब्रह्मणा सह योजयन्तीति तादृशाः परमेश्वरसाक्षात्कारसाधनभूताः **केशिनः** प्रकाशवन्तः प्रकाशकाश्च । केशी, केशा रश्मयः तैस्तद्वान् भवति, काशनाद् वा प्रकाशनाद् वा । निरु० १२।२६ । **सहस्रम्** सहस्रसंख्याकाः **हरयः** आहरणशीलाः सात्त्विकचित्तवृत्तिरूपाः यद्वा प्राणरूपा अश्वाः । प्राणानां सहस्रत्वं । तावत् 'सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम्' अथ० १७।१।३० इति श्रुतेः । **सोमपीतये** उपासनायज्ञाय । सोमस्य श्रद्धारसस्य पीतिः पानं यस्मिन् स सोमपीतिः उपासनायज्ञः तस्मै । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । **त्वा** त्वाम् **आवहन्तु** हृदयसदने आनयन्तु प्रकटीकुर्वन्तु । **शतम्** शतसंख्याकाः हरयः सात्त्विकचित्तवृत्तिरूपाः प्राणरूपा वा अश्वाः त्वाम् **आ** आवहन्तु आनयन्तु प्रकटीकुर्वन्तु । पूर्वं सहस्रमित्युक्त्वा

१. ऋ० ८।१।२४, साम० १३९१ ।

पश्चात् शतम् इति वचनेन ब्रह्मप्राप्त्यर्थं शनैः शनैः सात्त्विकीनां चित्तवृत्तीनामपि निरोधः सूचितो भवति। एवमेव पूर्वं श्वासोच्छ्वासा अधिका भवन्ति, क्रमेण चाभ्यासात् तत्संख्या न्यूना भवति।

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रपरः। हे **इन्द्र** राजन्! **हिरण्यये** ज्योतिर्मये **रथे** राष्ट्ररूपे रथे **युक्ताः** नियुक्ताः **ब्रह्मयुजः** ब्रह्मभिर्वेदविद्भिः निर्वाचनाधिकारिभिः प्रेरिताः **केशिनः** प्रकाशवन्तो ज्ञानिनः **सहस्रम्** सहस्रसंख्याकाः **हरयः** मतदानाधिकारिणो मनुष्याः। हरय इति मनुष्यनामसु पठितम्। निघं० २।३। **सोमपीतये** सोमस्य सोमोपलक्षितायाः सुखशान्तेः पीतिः रक्षणं यस्मिन् तस्मै राष्ट्रसंचालनयज्ञाय (**त्वा**) त्वां राजानम् **आवहन्तु** निर्वाच्य राजपदे आनयन्तु, **शतम्** शतसंख्याकाः हरयः निर्वाचका मनुष्याः त्वां राजपदे **आ** आवहन्तु निर्वाच्य आनयन्तु। पूर्वं सहस्रैरधिकैर्वा प्रजाजनैर्मतदानेन केचन विधायका निर्वाच्यन्ते, तदुत्तरं तैर्विधायकैः राजा निर्वाच्यते इति सहस्र-शत-शब्दाभ्यां सूच्यते ॥३॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—यथा योगिभिः प्रकाशपूर्णैः सात्त्विकचित्तभावैः परमात्मा प्राप्यते, तथा विवेकशीलैः प्रजाजनैर्मतदानेन सुयोग्यो राजा प्राप्तव्यः ॥३॥

अगले मन्त्र में हरियों द्वारा इन्द्र को वहन किये जाने का वर्णन है।

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्म पक्ष में। हे **इन्द्र** परमात्मन्! **हिरण्यये** सुवर्ण के समान ज्योतिर्मय **रथे** शरीररूप रथ में **युक्ताः** नियुक्त, **ब्रह्मयुजः** ब्रह्म के साथ योग कराने वाले अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कार के साधनभूत, **केशिनः** प्रकाशमय तथा प्रकाशक **सहस्रम्** सहस्र संख्यावाले **हरयः** आहरणशील सात्त्विक-चित्तवृत्तिरूप अश्व अथवा प्राणरूप अश्व **सोमपीतये** श्रद्धारूप सोमरस का जिसमें पान किया जाता है ऐसे उपासनायज्ञ के लिए **त्वा** तुझे **आवहन्तु** हृदय में लायें, प्रकट करें, **शतम्** सौ संख्या वाले सात्त्विक चित्तवृत्तिरूप अश्व **आ** हृदय में लायें, प्रकट करें।

पहले हजार कहकर फिर सौ कहना इस बात का ज्ञापक है कि ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए शनैः शनैः सात्त्विक चित्तवृत्तियों का भी निरोध करना होता है। इसी प्रकार प्राणायाम में पहले श्वासोच्छ्वासों की संख्या अधिक होती है, क्रमशः अभ्यास करते-करते उनकी संख्या न्यून हो जाती है।

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। हे **इन्द्र** वीर मनुष्य! **हिरण्यये** ज्योतिर्मय **रथे** राष्ट्ररूप रथ में **युक्ताः** नियुक्त, **ब्रह्मयुजः** वेदज्ञ चुनाव-अधिकारियों से प्रेरित, **केशिनः** ज्ञान-प्रकाश से युक्त **सहस्रम्** सहस्र **हरयः** मतदान के अधिकारी मनुष्य **सोमपीतये** सुखशान्ति की रक्षा जिसमें होती है ऐसे राष्ट्रयज्ञ के सञ्चालनार्थ **त्वा** तुझे **आ वहन्तु** चुनकर राजा के पद पर लायें, **शतम् हरयः** सौ चुनने वाले विधायक लोग तुझे चुनकर **आ** राजा के पद पर प्रतिष्ठित करें।

पहले हजार या अधिक प्रजाजन मतदान करके कुछ विधायकों को चुनते हैं, फिर वे विधायक जो संख्या में कम होते हैं राजा को चुनते हैं। यह बात क्रमशः सहस्र और शत शब्दों से सूचित होती है ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—जैसे योगीजन प्रकाशपूर्ण सात्त्विक चित्त की भावनाओं से परमात्मा को प्राप्त करते हैं, वैसे ही विवेकशील प्रजाजनों को चाहिए कि वे मतदान द्वारा सुयोग्य राजा को प्राप्त करें ॥३॥

अथेन्द्रो निर्बाधमस्माकं समीपे समागच्छत्वित्याह ।

२४६. आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।
मा त्वा के चिन्नि येमुरिन्न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि ॥४॥[1]
आ मन्द्रैः इन्द्र हरिभिः । याहि मयूररोमभिः मयूर रोमभिः ॥
मा त्वा के चित् नि येमुः इत् न पाशिनः । अति धन्व इव तान् इहि ॥४॥

पदार्थः—**प्रथमो**ऽध्यात्मपरः । हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! त्वम् **मन्द्रैः** आनन्ददायकैः । मदिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु इति धातोः 'स्फायितञ्चि०' उ० २।१३ इति रक्प्रत्ययः । **मयूररोमभिः** मयूराणां बर्हिणां बर्हाणीव रोमाणि येषां तैः मयूरबर्हवन्मृदुभिरित्यर्थः **हरिभिः** प्राणैः । प्राणो वै हरिः स हि हरति । कौ० ब्रा० १७।१ । **आ याहि** अस्मद्धृदयसदनम् आगच्छ । **त्वा** आगच्छन्तं त्वाम् **केचित्** केऽपि योगमार्गबाधका व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वरूपा अन्तरायाः **मा नियेमुः** न नियच्छन्तु, निवारयितुं न शक्नुयुः । नि पूर्वाद् यम उपरमे धातोर्लोडर्थे लिट् । **न** यथा **पाशिनः** पाशपाणयो व्याधाः **इत्**[2] गतिमत्, भूमौ गच्छत् गगने उड्डयमानं वा पशुपक्ष्यादिकं नियच्छन्ति । एति गच्छतीति इत् । इण् गतौ धातोः क्विपि नपुंसि द्वितीयैकवचने रूपम् । त्वम् **तान्** प्रतिबन्धकान् **धन्व**[3] **इव** अन्तरिक्षमिव । धन्व इत्यन्तरिक्षनाम । निघं० १।३ । धन्व अन्तरिक्षं, धन्वन्त्यस्मादापः । निरु० ५।५ । **अति इहि** अतिक्रम्य आगच्छ । यथा विमानैरन्तरिक्षमतिक्रम्य कश्चिदागच्छति तथैव तान् बाधकानतिक्रम्य त्वमस्मद्धृदयमागच्छेति भावः । यद्वा **धन्व इव** धनुरिव, लक्षणया धनुर्धर इव, तान् बाधकान् अतिक्रम्य आगच्छ ।

अथ **द्वितीयो** राजपरः । हे **इन्द्र** शत्रुविदारक वीर राजन् ! त्वम् **मन्द्रैः**[4] स्तुत्यैः मन्द्रस्वरैर्वा **मयूररोमभिः** मयूररोमवन्मृदूनि रोमाणि केसराः येषां तैः **हरिभिः** प्रशस्तैः अश्वैः रथे नियुक्तैः **आ याहि** संकटकाले प्रजारक्षणार्थम् आगच्छ । **न** यथा **इत्** गच्छत् उड्डयमानं वा पशुपक्ष्यादिकम् **पाशिनः** पाशहस्ता व्याधा नियच्छन्ति तथा **त्वा** त्वाम् **केचित्** केऽपि शत्रवः **मा नियेमुः** न निवारयितुं शक्नुयुः । **धन्व इव** धनुरिव त्वम् **तान्** शत्रून् **अति इहि** अतिक्रमस्व ॥४॥[5]

अत्रोपमालङ्कारः श्लेषश्च । रेफस्य मकारनकारयोश्चासकृदावृत्तौ वृत्त्यनुप्रासः । 'न्द्रै, न्द्र' 'न्नि, न्न' इति छेकानुप्रासः ॥४॥

भावार्थः—प्राणानां स्वरूपं मयूररोमवन्मृदु वर्त्तते । अत एव प्राणविद्या मधुविद्येति नाम्ना प्रसिद्धा । प्राणायामद्वारा वयं परमात्मानं स्वहृदयाभ्यन्तरे प्रकटयितुं शक्नुमः । प्रकटीकृतः सोऽस्माकं

---

१. ऋ० ३।४५।१, य० २०।५३, अथ० ७।११७।१ । सर्वत्र 'नियेमुरिन्न' 'इत्यत्र नियमन् वि न' इति पाठः । साम० १७१८ ।

२. इदिति पादपूरणः—इति वि० । इत् एव—इति भ० । अस्माभिस्तु ऋचि यजुषि च 'इत्' इत्यस्य स्थाने 'वि न' इति पाठाद् 'इत्' इति नामपदं स्वीकृतम् । स्वरे न कश्चिद् विरोधः ।

३. धन्व धन्वना अन्तरिक्षेण । अथवा धन्वना धनुषा । अस्त्रैर्विजित्य तान् इह आगच्छ—इति वि० । धन्वेव मरुदेशमिव पिपासितः—इति भ० । यथा पान्थाः धन्व मरुदेशं शीघ्रमतिगच्छन्ति तद्वद् गमनप्रतिबन्धकारिणस्तानतीत्य शीघ्रम् एहि आगच्छ—इति सा० ।

४. मन्द्रैः मदनशीलैः स्तुत्यैर्वा—इति भ० । मन्द्रस्वरैः गम्भीरस्वरैः—इति वि० ।

५. दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च मन्त्रोऽयं राजपक्षे व्याख्यातः ।

योगसाधनायां समागच्छतो विघ्नान् निरस्यति। तथैव प्रजाजनैराहूतो राजा सर्वान् शत्रून् पराजित्य राष्ट्रमुन्नयति ॥४॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि इन्द्र निर्बाध हमारे समीप आ जाए।

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्म पक्ष में। हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! आप **मन्द्रैः** आनन्ददायक **मयूररोमभिः** मोरपंखों के समान मृदु **हरिभिः** प्राणों के द्वारा **आयाहि** आइये, अर्थात् हमारे हृदय में प्रकट होइये। **त्वा** प्रकट होते हुए आपको **केचित्** कोई भी योगमार्ग में बाधक व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व रूप विघ्न **मा नियेमुः** न रोक सकें, **न** जैसे **पाशिनः** जाल हाथ में लिये व्याध **इत्** गतिमान् अर्थात् भूमि पर चलते हुए अथवा आकाश में उड़ते हुए पशु-पक्षी आदि को जाल द्वारा रोक लेते हैं। **तान्** उन प्रतिबन्धकों को **धन्व इव** अन्तरिक्ष के समान **अति इहि** पार करके प्रकट हो जाइए, अर्थात् जैसे विमानों से अन्तरिक्ष को पार करके कोई आता है, वैसे ही उन बाधकों को पार करके आप हमारे हृदय में प्रकट होइए। अथवा **धन्व इव** धनुष-धारी के समान आप उन बाधक शत्रुओं को पराजित करके प्रकट हो जाइए।

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे **इन्द्र** शत्रुविदारक वीर राजन् ! आप **मन्द्रैः** स्तुतियोग्य अथवा गम्भीर स्वर वाले, **मयूररोमभिः** मोरों के रोमों के समान मृदु केसरों वाले **हरिभिः** रथ में जोते हुए उत्कृष्ट जाति के घोड़ों द्वारा **आयाहि** संकट-काल में प्रजा की रक्षा के लिए आइए ! **न** जैसे **इत्** भूमि पर चलते या आकाश में उड़ते हुए पशु-पक्षी आदि को **पाशिनः** पाशधारी व्याध बाँध लेते हैं, वैसे **त्वा** आपको **केचित्** कोई भी शत्रुजन **मा नियेमुः** बाँध न सकें। **धन्व इव** धनुष के समान आप **तान्** उन शत्रुओं को **अति इहि** अतिक्रान्त अर्थात् पराजित कर दीजिए ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेष तथा उपमालंकार है। रेफ, मकार और नकार की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है। 'न्द्रै, न्द्र', 'न्नि, न्न' में छेकानुप्रास है ॥४॥

भावार्थ—प्राणों का स्वरूप मोर के रोमों के समान मृदु होता है, इसीलिए प्राणविद्या मधु-विद्या नाम से प्रसिद्ध है। प्राणायाम द्वारा हम परमात्मा को अपने हृदय के अन्दर प्रकट कर सकते हैं। प्रकट किया गया वह हमारी योगसाधना में आने वाले विघ्नों को दूर कर देता है। इसी प्रकार प्रजाजनों से पुकारा गया राजा सब शत्रुओं को पराजित करके राष्ट्र को उन्नत करता है ॥४॥

अथ परमात्मा राजा च प्रार्थ्यते।

२४७. त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥५॥[1]

त्वम् अङ्ग प्र शंसिषः। देवः शविष्ठ मर्त्यम्॥
न त्वत् अन्यः अन् यः मघवन् अस्ति मर्डिता।
इन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥५॥

पदार्थः—**अङ्ग** हे **शविष्ठ** बलवत्तम परमात्मन् राजन् वा ! शवस् इति बलनाम। निघं० २।९। ततो भूम्न्यर्थे मतुप्। तत इष्ठन्। 'विन्मतोर्लुक्। अ० ५।३।६५' इति मतुपो लुक्। **देवः** दिव्यगुणयुक्तः

१. ऋ० १।८४।१९, य० ६।३७, साम० १७२३।

त्वम् मर्त्यम् मनुष्यम् **प्रशंसिषः**[1] प्रशंसाभाजनं कुरु, प्रशंसां कुर्वन्नुत्साहय वा। प्र पूर्वात् शंसु स्तुतौ धातोर्लेटि 'सिब्बहुलं लेटि'। अ० ३।१।३४' इति सिबागमः। हे **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन्! **त्वत् अन्यः** त्वद्भिन्नः कोऽपि **मडिता** मम सुखयिता **न अस्ति** नो विद्यते। हे **इन्द्र** विघ्नविदारक सिद्धिदायक परमेश्वर राजन् वा! अहम् **ते** तुभ्यम् **वचः** स्तुतिवचनं **ब्रवीमि** वच्मि ॥५॥[2]

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—हे बलिनां बलिष्ठ सकलदिव्यगुणपारावार सकलसम्पत्तिशालिन् न्यायविद्याविवेकदयाद्यैश्वर्यनिधे परमात्मन् राजन् वा! कदाचिदधर्माचरणे संलग्ना वयं जगति निन्दिता भवामः। त्वं कृपयाऽस्मान् धर्मे नियुज्य शुभकर्मसु समुत्साह्य च प्रशंसाभाजः कुरु ॥५॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—**अङ्ग** हे **शविष्ठ** सबसे अधिक बली परमात्मन् वा राजन्! **देवः** दिव्यगुणयुक्त **त्वम्** आप **मर्त्यम्** मनुष्य को **प्रशंसिषः** प्रशंसा का पात्र कीजिए। हे **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन्! **त्वत् अन्यः** आपसे भिन्न अन्य कोई भी **मडिता** सुखदाता **न अस्ति** नहीं है। हे **इन्द्र** विघ्नविदारक सिद्धिदायक परमेश्वर वा राजन्! मैं **ते** आपके लिए **वचः** स्तुति-वचन **ब्रवीमि** बोल रहा हूँ ॥५॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालङ्कार है ॥५॥

भावार्थ—हे बलियों में बलिष्ठ, समस्त दिव्य गुणों के पारावार, सकलसम्पत्तिशाली, न्याय-विद्या-विवेक-दया आदि ऐश्वर्यों के निधि परमात्मन् वा राजन्! कभी अधर्माचरण में संलग्न होकर हम जगत् में निन्दा के पात्र हो जाते हैं। आप कृपा करके हमें धर्म में नियुक्त करके और शभ कर्मों में समुत्साहित करके प्रशंसा का पात्र बना दीजिए ॥५॥

अथेन्द्रस्य नाम्ना परमात्मनो नृपस्य च महिमानं वर्णयति।

२४८. त्वमिन्द्र यशा अस्यृजीषी शवसस्पतिः।
त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत् पुवनुत्तश्चर्षणीधृतिः ॥६॥[3]

त्वम् इन्द्र यशाः असि। ऋजीषी शवसः पतिः ॥
त्वम् वृत्राणि हꣳसि अप्रतीनि अ प्रतीनि एकः इत् पुरु।
अनुत्तः अ नुत्तः चर्षणीधृतिः चर्षणि धृतिः ॥६॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमेश्वर राजन् वा! **त्वम् यशाः**[4] यशस्वी **असि** वर्तसे। **ऋजीषी**[5] ऋजु सरलं

---

१. प्रशंसिषः प्रशस्तं करोषि—इति वि०। प्रशंसिषः इति अन्तर्णीतण्यर्थः। प्रशंसय प्रशस्तं कुरु—इति भ०। सम्यगनेन स्तुतमिति प्रशंस—इति सा०।

२. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये ईश्वरसभाध्यक्षयोर्विषये, यजुर्भाष्ये च 'प्रजाजनाः कृतं सभापतिं कथं प्रशंसेयुरिति' विषये व्याख्यातः।

३. ऋ० ८।९०।५। 'शवसस्पते' इति 'इदनुत्ता चर्षणीधृता' इति च पाठः। साम० १४११।

४. यशः अन्नं कीर्तिं वा। अन्तर्णीतमत्वर्थं चेदं द्रष्टव्यम्। यशस्वी अन्नवान् कीर्तिमान् वा—इति वि०। यशस्वी असि, यशः शब्दान्मत्वर्थीयलोपः—इति भ०।

५. (ऋजीषिणम्) ऋजूनां सरलानां धार्मिकाणां जनानामीषितुं शीलम् इति ऋ० ६।४२।२ भाष्ये, (ऋजीषी) सरलगुणकर्मस्वभावः इति ऋ० ६।२४।१ भाष्ये, (ऋजीषी) ऋजुनीतिः इति च ऋ० ४।१६।१ भाष्ये द०। यत् सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तदृजीषम्, अपाजितं भवति इति यास्कः। निरु० ५।१२।

धर्ममार्गमिच्छतीति ऋजीषी सरलगुणकर्मस्वभावो वा **शवसः पतिः** बलस्य स्वामी च असि। **त्वम् एकः इत्** एकाकी एव **पुरु** पूरूणि बहूनि। पुरु इति बहुनाम। निघं० ३।१। 'शेश्छन्दसि बहुलम्। अ० ६।१।७०' इति शिलोपः। **अप्रतीनि**[1] अप्रतिद्वन्द्वीनि **वृत्राणि** आन्तरिकान् बाह्यांश्च पापाचारान् शत्रून् **हंसि** दण्डयसि विनाशयसि वा। त्वम् **अनुत्तः** न केनापि नुत्तः बलात् प्रेरितः सन्। नुत्तः इति नुद प्रेरणे इत्यस्य निष्ठायां रूपम्। **चर्षणीधृतिः** मनुष्याणां धारकश्चासि। चर्षणय इति मनुष्यनाम। निघं० २।३ ॥६॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥६॥

भावार्थः—यथा परमेश्वरो यशस्वी, ऋजुमार्गसेवी, बलवान्, पापादीनां हन्ता, स्वयं शुभकार्येषु प्रवर्त्तमानो मानवानां धारकश्चास्ति तथैव राजभिः प्रजाभिश्च भवितव्यम् ॥६॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और राजा की महिमा वर्णित की गयी है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमेश्वर अथवा राजन्! **त्वम्** आप **यशाः** यशस्वी **असि** हो, **ऋजीषी** सरल धर्ममार्ग पर चलने के इच्छुक अथवा सरल गुण-कर्म-स्वभाव वाले और **शवसः पतिः** बल के स्वामी हो। **त्वम्** आप **एकः इत्** अकेले ही **पुरु** बहुत से **अप्रतीनि** अप्रतिद्वन्द्वी **वृत्राणि** आन्तरिक व बाह्य पापी शत्रुओं को **हंसि** दण्डित या विनष्ट करते हो। **त्वम्** आप **अनुत्तः** किसी से बलात् प्रेरित किये बिना ही **चर्षणी-धृतिः** मनुष्यों का धारण करने वाले हो ॥६॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालङ्कार है ॥६॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर यशस्वी, ऋजुमार्गगामी, बलवान्, पाप आदिकों का विनाशक, स्वयं शुभकार्यों में प्रवृत्त होने वाला तथा मनुष्यों का धारणकर्ता है, वैसे ही राजा और प्रजाजनों को होना चाहिए ॥६॥

अथेन्द्रनाम्ना परमेश्वरो राजा चाहूयते।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ क २ ३ २
२४९. इन्द्रमिदेवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥७॥[2]
१ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
इन्द्रम् इत् देवतातये। इन्द्रम् प्रयति प्र यति अध्वरे॥
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रम् समीके सम् ईके वनिनः हवामहे। इन्द्रम् धनस्य सातये ॥७॥

पदार्थः—**इन्द्रम् इत्** इन्द्राख्यं जगदीश्वरमेव, सभापतिं राजानमेव वा **देवतातये** देवजनकल्याणार्थं यद्वा विद्वज्जनैः विस्तार्यमाणाय यज्ञाय।[3] देवशब्दात् 'सर्वदेवात् तातिल्' अ० ४।४।१४२ इति स्वार्थिक-स्तातिल् प्रत्ययः। तस्य लित्वात् 'लिति' अ० ६।१।१९३ इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः। यद्वा देवैः विद्वद्भिः तातिः विस्तारो यस्य तस्मै यज्ञाय[4]। देवताता इति यज्ञनामसु पठितम्। निघं० ३।१७। बहुव्रीहित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। **हवामहे** आह्वयामः। **इन्द्रम्** इन्द्राख्यं जगदीश्वरं राजानं वा **प्रयति** प्रवर्तमाने। प्र

१. अप्रतिद्वन्द्वीनि—इति भ०। बलिभिरप्यप्रतिगतानि—इति सा०।
२. ऋ० ८।३।५, अथ० २०।११८।३, साम० १५८७।
३. देवैः स्तोतृभिः तायते विस्तार्यते इति देवतातिर्यज्ञः—इति सा०।
४. अयं द्वितीयोऽर्थः पदकारस्य न सम्मतः, यतोऽसौ 'देव तातये' इत्येवं न विगृह्णाति। तेन तातिल् प्रत्यय एव तस्याभिमत इति ज्ञेयम्।

पूर्वाद् इण् गतौ धातोः शतरि सप्तम्येकवचने रूपम्। **अध्वरे** हिंसादिदोषरहिते यज्ञे **हवामहे** आह्वयामः। **इन्द्रम्** इन्द्राख्यं जगदीश्वरं राजानं वा **समीके** देवासुरसंग्रामे। समीके संग्रामनाम। निघं० २।१७। **वनिनः** स्तुतिमन्तः प्रार्थनावन्तः प्रकाशवन्तश्च वयम्। वनानि स्तुतयः प्रार्थनाः रश्मयो वा येषां सन्तीति ते वनिनः। वन शब्दे, वन सम्भक्तौ, वनु याचने। वनम् इति रश्मिनाम। निघं० १।५। **हवामहे** आह्वयामः। **इन्द्रम्** इन्द्राख्यं जगदीश्वरं राजानं वा **धनस्य** आध्यात्मिकस्य भौतिकस्य च ऐश्वर्यस्य **सातये** प्राप्तये **हवामहे** आह्वयामः ॥७॥

अत्र श्लेषालङ्कारः। 'इन्द्र' शब्दस्यासकृदावृत्तौ लाटानुप्रासोऽलङ्कारः ॥७॥

भावार्थः—जगति राष्ट्रे वा विविधसत्कार्याणां साफल्याय, विविधैश्वर्याणां च प्राप्तये परमात्मा सभापती राजा च भूयो भूयः सेवनीयः ॥७॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर और राजा का आह्वान किया गया है।

पदार्थ—इन्द्रम् इत् इन्द्र नामक जगदीश्वर और सभापति राजा को **देवतातये** विद्वानों के कल्याण के लिए अथवा विद्वानों से फैलाये जाने वाले यज्ञ की पूर्ति के लिए **हवामहे** हम पुकारते हैं। **इन्द्रम्** जगदीश्वर और राजा को **प्रयति** प्रवृत्त होते हुए **अध्वरे** हिंसादि दोषों से रहित यज्ञ में **हवामहे** हम पुकारते हैं। **इन्द्रम्** जगदीश्वर और राजा को **समीके** देवासुर-संग्राम में **वनिनः** स्तुति, प्रार्थना एवं ज्ञानप्रकाश से युक्त हम लोग **हवामहे** पुकारते हैं। **इन्द्रम्** जगदीश्वर और राजा को **धनस्य** आध्यात्मिक एवं भौतिक ऐश्वर्य की **सातये** प्राप्ति के लिए **हवामहे** हम पुकारते हैं ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। इन्द्र शब्द की अनेक बार आवृत्ति में लाटानुप्रास अलंकार है ॥७॥

भावार्थ—जगत् में अथवा राष्ट्र में विविध सत्कार्यों की सफलता के लिए और विविध ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए परमात्मा तथा सभापति राजा का पुनःपुनः श्रद्धापूर्वक सेवन करना चाहिए ॥७॥

अथोपासकः परमात्मानमाह।

२५०. इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभिस्तोमैरनूषत ॥८॥[1]

इमाः उ त्वा पुरूवसो पुरु वसो। गिरः वर्धन्तु याः मम॥
पावकवर्णाः पावक वर्णाः शुचयः विपश्चितः विपः चितः।
अभि स्तोमैः अनूषत ॥८॥

पदार्थः—हे **पुरूवसो** बहुधन बहुवासयितर्वा इन्द्र परमेश्वर! **इमाः उ** एताः खलु **याः मम** मदीयाः **गिरः** वाचः सन्ति ताः **त्वा** त्वाम् त्वन्महिमानम् **वर्धन्तु**[2] वर्धयन्तु। वधु वृद्धौ सकर्मकोऽपि परस्मैपदी चापि वेदे बाहुल्येन प्राप्यते, लोके तु अकर्मक आत्मनेपदी च। **पावकवर्णाः**[3] अग्निवर्णाः, अग्निवत् तेजस्विनो

---

१. ऋ० ८।३।३, य० ३३।८१, साम० १६०७, अथ० २०।१०४।१।

२. वर्धन्तु। वृधिरन्तर्णीतण्यर्थो द्रष्टव्यः। वर्धयन्तु—इति वि०।

३. अग्निसमानतेजस्काः—इति सा०।

ब्रह्मवर्चस्विनः, **शुचयः** शुद्धान्तःकरणाः, **विपश्चितः** विद्वांसः **स्तोमैः** स्तोत्रैः **अभि-अनूषत**[1] त्वाम् अभिस्तुवन्ति। यथा ते त्वां स्तुवन्ति तथाऽहमपि स्तुयामित्यर्थः ॥८॥[2]

भावार्थः—अस्माभिः परमात्मनः स्तुतिप्रार्थनोपासनासु परमात्मविषयकभाषणोपदेशगुणवर्णनादौ च स्ववाचमुपयुज्य लोके परमात्मनः प्रचारो विधेयो येनाऽऽस्तिका भूत्वा सर्वे जनाः सदाचारिणः स्युः ॥८॥

अगले मन्त्र में उपासक परमात्मा को कह रहा है।

पदार्थ—हे **पुरूवसो** बहुत धन वाले अथवा बहुत बसाने वाले इन्द्र परमात्मन् **इमाः उ ये याः** जो **मम** मेरी **गिरः** वाणियाँ हैं वे **त्वा** आपको अर्थात् आपकी महिमा को **वर्धन्तु** बढ़ायें। **पावकवर्णाः** अग्नि के समान वर्ण वाले अर्थात् तेजस्वी और ब्रह्मवर्चस्वी, **शुचयः** शुद्ध अन्तःकरण वाले **विपश्चितः** विद्वान् लोग **स्तोमैः** स्तोत्रों से **अभि अनूषत** आपकी स्तुति करते ही हैं। जैसे वे आपकी स्तुति करते हैं, वैसे ही मैं भी करूँ ॥८॥

भावार्थ—हमें चाहिए कि हम परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना-उपासना में और भाषण-उपदेश-गुणवर्णन आदि में अपनी वाणियों का उपयोग करके संसार में परमात्मा के अस्तित्व का प्रचार करें, जिससे सब लोग आस्तिक होकर सदाचारी बनें ॥८॥

अथ मदीयाः कीदृशाः स्तोमाः कथं परमात्मानं प्रत्युद्गच्छन्तीत्याह।

२३ १२ २१ ३ २३ १ २
२५१. उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते।
३ १ २ ३१२ २१ ३ २ ३ १ २
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥९॥[3]
२ ३ २ १२१ १२१ १२१ ३
उत् उ त्ये मधुमत्तमाः। गिरः स्तोमासः ईरते॥
१२ ३ १२१ ३ २ ३ २ १२१ १२१ ३
सत्राजितः सत्रा जितः धनसाः धन साः अक्षितोतयः अक्षित ऊतयः।
१ २ १२१ ३
वाजयन्तः रथाः इव ॥९॥

पदार्थः—**त्ये** ते **मधुमत्तमाः** अतिशयेन मधुराः, **सत्राजितः** सत्यजितः। सत्रा इति सत्यनाम। निघं ३।१०। **धनसाः** धनं सद्गुणरूपं स्तोत्रे सनन्ति प्रयच्छन्ति प्रापयन्ति ये ते। षणु दाने धातोः 'जनसनखनक्रमगमो विट्' अ० ३।२।६७ इति विट्। 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' अ० ६।४।४१ इत्याकारान्तादेशः। **अक्षितोतयः** अक्षिता अक्षीणा ऊतिः रक्षा येषां ते, **वाजयन्तः** स्तोतुः वाजम् आत्मबलं जनयन्तः। वाज इति बलनाम। निघं० २।९। वाजं बलं कुर्वन्तीति वाजयन्ति, शतरि वाजयन्तः। **गिरः**[4] अर्चनसाधनीभूताः।

---

१. अत्र 'णू स्तवने' इत्यस्य लुङ् प्रयोगः। 'सञ्ज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति गुणाभावः, लडर्थे लुङ् च, इति ऋ० १।६।६ भाष्ये द०।

२. दयानन्दर्षिणा यजुर्भाष्ये मन्त्रोऽयं परमेश्वरविषये व्याख्यातः।

३. ऋ० ८।३।१५, साम० १३६२, अथ० २०।१०।१; २०।५९।१।

४. 'त्ये गिरः' इति न संगच्छते, लिङ्गभेदात्। अतो 'गिरः' इति 'स्तोमास.' इत्यस्य विशेषणत्वेनास्माभिः स्वीकृतम्। भरतस्तु उदीरते उदीरयन्ति, स्तोमास स्तोतारः मधुमत्तमाः रसवत्तमाः गिरः स्तुतीः इति समाधत्ते। सायणः 'गिरः' आप्रगीताः शस्त्ररूपा वाचः, 'स्तोमास' प्रगीतानि बहिष्पवमानादीनि स्तोत्राणि च इति व्याचष्टे।

गृणन्ति अर्चन्ति यैस्ते । गृणातिः अर्चतिकर्मा । निघं० ३।१४ । **स्तोमासः** मदीयाः स्तोमाः, मम स्तोत्राणि **रथाः इव** विमानयानानीव **उद्-ईरते** उ उद्गच्छन्ति खलु । ईर गतौ कम्पने च अदादिः । विशेषणानि रथ-पक्षेऽपि योजनीयानि । रथा अपि कीदृशाः ? **सत्राजितः** सीदन्ति ये ते सत्राः समवेताः शत्रवस्तान् जयन्ति एभिस्ते । षद्लृ धातोरौणादिके 'त्र' प्रत्यये सत्रशब्दः सिध्यति । 'अन्येषामपि दृश्यते' अ० ६।३।१३७ इति पूर्वपदस्य दीर्घः । **धनसाः** धनं सन्वन्ति आहरन्ति यैस्ते, **अक्षितोतयः** अक्षिता अक्षीणा ऊतिः रक्षा यैस्ते अक्षीणरक्षाः, **वाजयन्तः** अन्नादिकं देशान्तरं प्रापयितुं चेष्टमानाः । वाज इत्यन्न नाम । निघं० २।७ । **मधुमत्तमाः** अतिशयमधुरगतयः ॥९॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—जगदीश्वरस्य महिमानं गातुं मदीया रसना मधुरमधुरान् स्तोमान् उदीरयति, यथा विमानचालको मधुरगतीनि विमानयानान्यूर्ध्वं नयति ॥९॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि मेरे कैसे स्तोत्र किस प्रकार परमात्मा के प्रति उठ रहे हैं।

पदार्थ—**त्ये** वे **मधुमत्तमाः** अत्यन्त मधुर, **सत्राजितः** सत्यजयी, **धनसाः** स्तोता को सद्गुणरूप धन प्रदान करने वाले, **अक्षितोतयः** अक्षय रक्षा वाले, **वाजयन्तः** स्तोता को आत्मबल प्रदान करने वाले, **गिरः** परमेश्वर की अर्चना में साधनभूत **स्तोमासः** मेरे स्तोत्र **रथाः इव** अन्तरिक्ष में चलने वाले विमान-रूप रथों के समान **उद्-ईरते उ** उठ रहे हैं। जो विमान-रूप रथ भी **सत्राजितः** समवेत शत्रुओं को जीतने में साधन-भूत, **धनसाः** स्थानान्तर से धन को लाने में साधनभूत, **अक्षितोतयः** अक्षय रक्षा के साधनभूत, **वाजयन्तः** अन्न आदि को देशान्तर में पहुँचाने वाले तथा **मधुमत्तमाः** अतिशय मधुर गति वाले होते हैं ॥९॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है ॥९॥

भावार्थ—जगदीश्वर की महिमा गाने के लिए मेरी जिह्वा मधुर-मधुर स्तोत्रों को उठा रही है, जैसे विमान-चालक मधुर गति वाले विमान यानों को ऊपर उठाता है ॥९॥

अथ गौरमृगस्य दृष्टान्तेन परमात्मानं प्रीतिरसपानायाह्वयति ।

२५२. यथा गौरो अपा कृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम् ।
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि कण्वेषु सु सचा पिब ॥१०॥[1]
यथा गौरः अपा कृतम् । तृष्यन् एति अव इरिणम् ॥
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयम् आ गहि । कण्वेषु सु सचा पिब ॥१०॥

पदार्थः—**यथा** येन प्रकारेण **गौरः**[2] गौरमृगः **तृष्यन्** पिपासितः सन् **इरिणम्** मरुप्रदेशम् । इरिणम् ...अपरता अस्मादोषधय इति वा । निरु० ९।६ । **अव** अवहाय **अपा** जलेन । नित्यबहुवचनान्तोऽपि' 'अप्'

---

१. ऋ० ८।४।३, साम० १७२१ ।

२. यथा गौरः गौरमृगः सिंहो व्याघ्रो वा अपा उदकेन कृतं प्रदेशं तडागादिकं प्रति तृष्यन् एति आगच्छति । अव इत्युपसर्गश्रुतेः क्रियापदमध्याह्रियते । अवहाय इरिणं प्रदेशम्—इति वि० । यथा गौरः गौरमृगः तृष्यन् पिपासुः अपा कृतं वर्जितम् उदकेन इरिणम् ऊषरं क्षेत्रम् अवैति गच्छति अभिगच्छति उदकभ्रान्त्या । इरिणमिति निदर्शनम् उदकाभावात् तृष्णातिशय-निदर्शनार्थम्—इति भ० । गौरः गौरमृगः तृष्यन् पिपासितः सन् अपा अद्भिरुदकैः कृतं सम्पूर्णत्वं कृतम् इरिणं निस्तृणं तटाकदेशं यथा येन प्रकारेण अवैति अभिगच्छति अभिमुखः सन् शीघ्रं गच्छति—इति सा० ।

शब्दः अत्रैकवचने प्रयुक्तः। 'अडिदंपदाद्यप्०। अ० ६।१।१६५' इति विभक्तिरुदात्ता। **कृतम्** परिपूर्णं जलाशयं जलप्रदेशं वा **एति** गच्छति, तथैव **आपित्वे** बन्धुत्वे प्रीतिरसे इत्यर्थः **प्रपित्वे** प्राप्ते सति। प्रपित्वे अभीके इत्यासन्नस्य। प्रपित्वे प्राप्ते, निरु० ३।२०। त्वत्प्रीतिजलेनास्माकं हृदये पूर्णे सतीत्यर्थः, त्वम् **तूयम्** शीघ्रम्। तूयमिति क्षिप्रनाम। निघं० २।१५। **नः** अस्मान् **आगहि** आगच्छ **कण्वेषु**। मेधाविषु अस्मासु। कण्व इति मेधाविनाम। निघं० ३।१५। **सचा** सह, युगपदित्यर्थः। सचा सह। निघं० ५।५। **सु पिब** सम्यक्तया प्रीतिरसरूपं सोमम् आस्वादय ॥१०॥

अत्रोपमालङ्कारः। पित्वे, पित्वे इति यमकम्।

भावार्थः—पिपासितो गौरमृगो यथा जलविहीनं मरुं परित्यज्य जलप्रचुरं प्रदेशं गच्छति तथैव प्रीतिरसपिपासुः परमात्मापि प्रीतिविहीनानि हृदयान्यपहाय प्रीतिरसनिर्भरहृदयान् मेधाविनः प्रतिपद्यते। परमात्मनः सर्वव्यापित्वात् तद्गमनागमनासंभवाद् वेदेषु बहुशो वर्णितं तद्गमनागमनप्रार्थनमालङ्कारिकमेवेति विज्ञेयम्। गमनेन तद्विस्मरणम्, आगमनेन च तत्स्मरणं तदाविर्भावो वा लक्ष्यते ॥१०॥

अत्रेन्द्रस्य अङ्गसन्धानादिकौशलवर्णनात्, सोमपानाय तस्याह्वानात्, तस्य गुणकर्माख्यानाद्, इन्द्रनाम्ना जीवात्म-प्राण-शल्यचिकित्सक-नृपत्यादीनामपि चरित्रवर्णनाच्चैतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्तीति बोध्यम्॥

इति तृतीयप्रपाठके द्वितीयार्धे प्रथमा दशतिः।
इति तृतीयाध्याये द्वितीयः खण्डः॥

अगले मन्त्र में गौरमृग के दृष्टान्त से परमात्मा को प्रीतिरस-पान के लिए बुलाया जा रहा है।

पदार्थ—**यथा** जिस प्रकार **गौरः** गौरमृग **तृष्यन्** प्यासा होकर **इरिणम्** मरुस्थल को **अव** छोड़कर **अपा** जल **से कृतम्** पूर्ण किये हुए जलाशय अथवा जलप्रचुर देश को **एति** चला जाता है, **वैसे ही आपित्वे** बन्धुभाव के अर्थात् प्रीतिरस के **प्रपित्वे** प्राप्त हो जाने पर, अर्थात् प्रीतिरूप जल से हमारे हृदय के पूर्ण हो जाने पर, आप **तूयम्** शीघ्र ही **नः** हमारे पास **आगहि** आइए, और **कण्वेषु** हम मेधावियों के पास आकर **सचा** एक साथ **सु पिब** भलीभाँति हमारे प्रीतिरस-रूप सोम का पान कीजिए ॥१०॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है। 'पित्वे, पित्वे' में यमक है ॥१०॥

भावार्थ—प्यासा गौर मृग जैसे जल-रहित मरुस्थल को छोड़कर जलप्रचुर प्रदेश में चला जाता है, वैसे ही प्रीतिरस का प्यासा परमात्मा भी प्रीतिरहित हृदयों को छोड़कर प्रीतिरस से जिनके हृदय परिपूर्ण हैं ऐसे मेधावी जनों के पास चला जाता है। परमात्मा के सर्वव्यापक होने से उसमें जाने-आने की क्रियाएँ क्योंकि सम्भव नहीं हैं, इसलिए वेदों में अनेक स्थानों पर वर्णित परमात्मा के गमन-आगमन की प्रार्थना आलंकारिक जाननी चाहिए। गमन से उसे भूल जाना तथा आगमन से उसका स्मरण या आविर्भाव लक्षित होता है ॥१०॥

इस दशति में अंगों को शरीर में यथास्थान जोड़ने आदि इन्द्र के कौशल का वर्णन होने से, उसके गुण-कर्मों का वर्णन होने से और इन्द्र नाम से जीवात्मा, प्राण, शल्यचिकित्सक, राजा आदि के भी चरित्र का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति जाननी चाहिए।

तृतीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की प्रथम दशति समाप्त।
तृतीय अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त॥

॥७॥ अथ 'शग्ध्यू३षु' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ भर्गः; २ रेभः काश्यपः, ३ जमदग्निः; ४,९ मेधातिथिः; ५,६ नृमेधपुरुमेधौ; ७ वसिष्ठः; ८ रेभः; १० भरद्वाजः ॥ देवता—१,२,४-१० इन्द्रः; ३ आदित्याः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मा राजा च सम्बोध्यते ।

२५३. शग्ध्यू३षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि ॥१॥[1]
शग्धि उ सु शचीपते शची पते । इन्द्र विश्वाभिः ऊतिभिः ॥
भगम् न हि त्वा यशसम् वसुविदम् वसु विदम् । अनु शूर चरामसि ॥१॥

पदार्थः—हे **शचीपते इन्द्र** प्रज्ञापते वाक्पते कर्मपते च परमात्मन् राजन् वा ! शची इति वाङ्-नाम कर्मनाम प्रज्ञानाम च । निघं० १।११, २।१, ३।९ । त्वम् अस्मान् **विश्वाभिः** सर्वाभिः **ऊतिभिः** रक्षाभिः **उ** खलु **सु** सम्यक्तया **शग्धि** शक्तान् कुरु । शक्लृ शक्तौ धातोः णिजर्थगर्भाल्लोटि छान्दसो विकरणस्य लुक् । **भगं न** सूर्यमिव **हि** खलु **यशसम्** यशस्विनम्, **वसुविदम्** ऐश्वर्यस्य लम्भयितारम् **त्वा अनु** त्वदाज्ञानुकूलम् हे **शूर** दानशूर, धर्मशूर, विद्याशूर, वीरताशूर परमात्मन् राजन् वा ! वयम् **चरामसि** आचरामः ॥१॥

अत्र श्लेष उपमालङ्कारश्च ॥१॥

भावार्थः—परमात्मवद् राजापि वाग्मी, कर्मवान्, प्रज्ञावान्, प्रजारक्षणसमर्थः, सूर्यवत् कीर्तिमान्, प्रजाभ्य ऐश्वर्यस्य प्रापकः, दानवीरो, धर्मवीरो विद्यावीरो, युद्धवीरश्च भवेत् । प्रजाश्च परमात्मनो धर्मात्मनो नृपस्य चाज्ञानुकूलं वर्तेरन् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और राजा को सम्बोधित किया गया है।

पदार्थ—हे **शचीपते इन्द्र** प्रज्ञा, वाणी एवं कर्म के स्वामी परमात्मन् व राजन् ! आप **विश्वाभिः** सब **ऊतिभिः** रक्षाओं से **उ** निश्चय ही **सु** भलीभाँति **शग्धि** हमें शक्तिशाली कीजिए । **भगं न हि** सूर्य के समान **यशसम्** यशस्वी, **वसुविदम्** ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाले **त्वा अनु** आपकी आज्ञाओं के अनुकूल **शूर** हे दानशूर, धर्मशूर, विद्याशूर, वीरताशूर परमात्मन् व राजन् ! हम लोग **चरामसि** आचरण करते हैं ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेष और उपमालङ्कार है ॥१॥

भावार्थ—परमात्मा के समान राजा को भी वाग्मी, कर्मण्य, ज्ञानी, प्रजा की रक्षा करने में समर्थ, सूर्य के समान कीर्तिमान्, प्रजा को ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाला, दानवीर, धर्मवीर, विद्यावीर और युद्धवीर होना चाहिए । साथ ही प्रजाओं को परमात्मा तथा धर्मात्मा राजा की आज्ञाओं के अनुकूल चलना चाहिए ॥१॥

---

१. ऋ० ८।६१।५, अथ० २०।११८।१, साम० १५७९ ।

अथ परमात्मानं राजानं च प्रार्थयते ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३क २१ ३ १ २
२५४. या इन्द्र भुज आभरः स्वर्वाँ असुरेभ्यः ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः ॥२॥[1]

२ ३ १ २१ १ २१ ३ १ २१ १२ १ २१ ३
याः इन्द्र भुजः आभरः आ अभरः । स्वर्वान् असुरेभ्यः अ सुरेभ्यः ॥
१२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
स्तोतारम् इत् मघवन् अस्य वर्धय । ये च त्वेइति वृक्तबर्हिषः वृक्त बर्हिषः ॥२॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **स्वर्वान्**[2] धनवान्, प्रकाशवान्, आनन्दवान् वा त्वम् **अ-सुरेभ्यः** न सुरा मदिरा येषां ते असुराः अमद्यपाः **अनुन्मत्ताः**[3], प्रत्युत जागरूकाः, तेभ्यः, तदर्थमिति भावः । चतुर्थ्यन्तमिदं बोध्यम् । **याः भुजः**[4] यान् अन्तःप्रकाशरूपान्, आनन्दरूपान् वा भोगान् **आ अभरः** आहरसि । आङ्पूर्वो हृञ् हरणे, लङ्, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' इति हस्य भः । ताभिः, हे **मघवन्** दिव्यसम्पत्तिशालिन् ! अस्य अध्यात्मयज्ञस्य **स्तोतारम्** स्तुतिकर्तारं यजमानम् **इत्** अवश्यम् **वर्धय** समर्धय, **ये च** ये जनाश्च **त्वे** त्वयि त्वत्प्राप्तिनिमित्ते अध्यात्मयज्ञे । युष्मच्छब्दात् सप्तम्येकवचने युष्मदो मपर्यन्तस्य त्वादेशः विभक्तेश्च 'सुपां सुलुक्', अ० ७।१।३९ इति शे आदेशः । **वृक्तबर्हिषः** मार्गदर्शका ऋत्विजः सन्ति, तानपि वर्धय । वृक्तबर्हिषः इति ऋत्विङ्नाम । निघं० ३।१८ ।

अथ **द्वितीयो** राजप्रजापरः । हे **इन्द्र** शत्रुविदारक सम्पत्तिप्रदायक राजन् ! **स्वर्वान्** राजनीतिविद्याप्रकाशयुक्तः त्वम् **असुरेभ्यः** सुष्ठु रान्ति दानं कुर्वन्ति ये ते सुराः, न सुराः असुराः कृपणाः, कोष्ठेष्वेव राष्ट्रसम्पत्तेः सञ्चेतारः, तेभ्यः तेषां सकाशात् । अत्र पञ्चम्यन्तमिदं पदम् । **याः भुजः** याः भोग्य-सम्पदः **आ अभरः** अपहृत्यानीतवानसि, ताभिः **मघवन्** हे सम्पत्तिशालिन् ! **अस्य** राष्ट्रयज्ञस्य **स्तोतारम्** स्तुतिकर्तारं, राष्ट्रगीतगायकं न तु राष्ट्रद्रोहिणम् **इत् एव वर्धय** समर्धय, **ये च त्वे** तुभ्यम् त्वत्साहाय्यार्थम् **वृक्तबर्हिषः** आस्तीर्णयज्ञाः राजपुरुषाः सन्ति, तानपि वर्धय । राजा कृपणान् धनपतीन् निर्धनेभ्यो धन दानाय प्रेरयेत्, तथापि ये न दद्युस्तेषां धनं बलादपहरेदिति वैदिकी मर्यादा "अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन् दानाय चोदय" ऋ० ६।५३।३, "अर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर" ऋ० १।८१।९ इत्यादिभिर्वेदवाक्यैः प्रमाणिता भवति । सैवास्मिन्नपि मन्त्रे प्रोक्ता ॥२॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—यथा परमेश्वरः धार्मिकान् स्वोपासकान् ज्ञानप्रकाशेन दिव्यानन्देन च समर्धयति, तथैव राजापि राष्ट्रभक्तान् समर्धयेत् राष्ट्रद्रोहिणश्च दण्डयेत् ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है।

---

१. ऋ० ८।९७।१, अथ० २०।५५।२ ।

२. स्वर् शब्दो धनवचनः, तद्यस्यास्ति स स्वर्वान्—इति वि० । सर्वधनवान्—इति भ० । सुखवान् स्वर्गवान् वा—इति सा० ।

३. अयमर्थः पदकारस्य 'अ-सुरेभ्यः इत्यवग्रहमनुसृत्य कृतः । अनवग्रहे तु असवः प्रशस्ताः प्राणा येषामिति प्रशंसार्थे मत्वर्थीयो रः ।

४. भुजः । भुज्यन्ते इति भुजः अन्नानि—इति वि० । भुजः भोजनधनानि—इति भ० । भोक्तव्यानि धनानि—इति सा० ।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **स्ववान्** धनवान्, प्रकाशवान् और आनन्दवान् आप **अ-सुरेभ्यः** जो सुरापान करके उन्मत्त नहीं हुए हैं, किन्तु जागरूक हैं, उनके लिए **याः भुजः** जिन अन्तःप्रकाशरूप वा आनन्दरूप भोगों को **आ अभरः** लाते हो, उनसे, हे **मघवन्** दिव्य सम्पत्ति के स्वामी ! **अस्य** इस अध्यात्म-यज्ञ के **स्तोतारम्** स्तोता यजमान को **इत्** अवश्य ही **वर्धय** बढ़ाओ, **ये च** और जो **त्वयि** आपकी प्राप्ति कराने वाले अध्यात्मयज्ञ में **वृक्तबर्हिषः** मार्गदर्शक ऋत्विज् लोग हैं, उन्हें भी बढ़ाओ ॥२॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे **इन्द्र** शत्रुविदारक सम्पत्तिप्रदायक राजन् ! **स्ववान्** राजनीति-विद्या के प्रकाश से युक्त आपने **असुरेभ्यः** अदानी, अपने कोठों में ही राष्ट्र की सम्पत्ति को भरने वाले कृपणों के पास से **याः भुजः** जिन भोग्य-सम्पदाओं को **आ अभरः** अपहृत किया है, छीना है, उनसे, हे **मघवन्** धनी राजन् ! **अस्य** इस राष्ट्रयज्ञ के **स्तोतारम्** स्तोता को, राष्ट्रगीत के गायक को, न कि राष्ट्र-द्रोही को **इत्** ही **वर्धय** समृद्ध कीजिए, **ये च** और जो **त्वे** आपके लिए, आपकी सहायता के लिए **वृक्त-बर्हिषः** राष्ट्रयज्ञ का विस्तार करने वाले राजपुरुष हैं उन्हें भी समृद्ध कीजिए।

राजा को उचित है कि अपने राज्य के कृपण धनपतियों को प्रेरणा करे कि वे निर्धनों को अपने धन का दान करें। फिर भी जो दान न करें उनके धन को बलात् उनसे छीन ले, यह वैदिक मर्यादा अनेक वेदवाक्यों से प्रमाणित होती है, यथा 'हे तेजस्वी पोषक राजन्, जो अपनी सम्पत्ति का दान नहीं करना चाहता उसे आप दान के लिए प्रेरित कीजिए। ऋ० ६।५३।३[1], हे राष्ट्र के स्वामी राजन् ! दान न करने वालों के धन को आप छीन लीजिए—ऋ० १।८१।६। यही बात प्रस्तुत मन्त्र में भी कही गयी है ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर धार्मिक उपासकों को ज्ञान-प्रकाश से और दिव्य आनन्द से समृद्ध करता है, वैसे ही राजा भी राष्ट्र-भक्तों को समृद्ध करे और राष्ट्रद्रोहियों को दण्डित करे ॥२॥

इन्द्रातिरिक्तम् अन्ये के के गुणवर्णनेन स्तोतव्या इत्याह।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ क २ १
२५५. प्र मित्राय प्रार्यम्णे सचथ्यमृतावसो।
३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १
वरूथ्ये३ वरुणे छन्द्यं वचः स्तोत्रं राजसु गायत ॥३॥[1]
२ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ २ ३ क २ ३
प्र मित्राय मि त्राय प्र अर्यम्णे। सचथ्यम् ऋतावसो ऋत वसो ॥
क २ १ २ १ १ २ १ १ २ १ ३ २ १ २ १ ३
वरूथ्ये वरुणे छन्द्यम् वचः। स्तोत्रम् राजसु गायत ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमो** वाय्वादिपरः। हे **ऋतावसो** सत्यधन मानव ! पूर्वपदस्य दीर्घश्छान्दसः। त्वम् **मित्राय** वायवे। अयं वै वायुर्मित्रो योऽयं पवते। श० ६।५।७।१४। **अर्यम्णे**[2] आदित्याय। अर्यमा आदित्यः, अरीन् नियच्छति। निरु० ११।२३। असौ वाऽऽदित्योऽर्यमा। तै० सं० २।३।४।१। अपि च **वरूथ्ये** वरूथं शरीररूपं गृहम्, तस्मै हिताय। वरूथमिति गृहनाम। निघं० ३।४। **वरुणे** वरुणाय अग्नये। यो वै वरुणः, सोऽग्निः। श० ५।२।४।१३। वरूथ्ये, वरुणे इत्युभयत्र चतुर्थ्येकवचनस्य 'सुपां सुलुक्' अ० ७।१।३९

१. ऋ० ८।१०१।५ 'वरूथ्ये' इत्यत्र 'वरूथ्यं' इति पाठः।

२. "य ऋच्छति नियच्छति आकर्षणेन पृथिव्यादीन् स सूर्यलोकः।" इति य० ३।३१ भाष्ये द०।

इति शे आदेशः। **सचथ्यम्** सेवनार्हम्। षच सेचने सेवने च। सचथः सेवनं, तदर्हम्। अर्हार्थे यत् प्रत्ययः। **छन्द्यम्**[1] छन्दोबद्धम् **वचः** स्तुतिवचनम् (**प्र प्र**) प्रगाय प्रगाय। पुनरुक्तिर्दार्ढ्यार्था। गायत इत्युत्तरत्र पाठात् 'ऋतावसो' इत्येकवचनानुसारेण 'गाय' इत्यूहनीयम्। हे भ्रातरः! यूयमपि **राजसु** राजमानेषु पूर्वोक्तेषु मित्रार्यमवरुणेषु, तद्विषये इत्यर्थः, **स्तोत्रम्** स्तुतिवचनम् **गायत** गानविषयीकुरुत॥

अथ **द्वितीयः** प्राणपरः। हे **ऋतावसो**[2] ऋतं प्राणायामयज्ञ एव वसु धनं यस्य तादृश प्राणसाधक! ऋतमिति यज्ञवाचकम् निरुक्ते प्रोक्तम्। ऋतस्य योगे यज्ञस्य योगे इति। निरु० ६।२२। त्वम् **मित्राय** पूरकप्राणाय। प्राणो मित्रम्। जै० उ० ३।३।६। **अर्यम्णे** कुम्भकप्राणाय। फुप्फुसयोः पूरितः यः अरीन् रुधिरे विद्यमानान् रोगकृमीन् नियच्छति तस्मै। किञ्च, **वरूथ्ये** शरीरगृहस्य हितकराय **वरुणे** वरुणाय रेचकप्राणाय। वारयति बहिर्निस्सारयति शरीरस्थानि मलानि यः स वरुणः। **सचथ्यम्** सह पठितुं योग्यम्। षच समवाये धातोर्बाहुलकादौणादिके 'अथ' प्रत्यये सचथः इति, तदर्हम्। **छन्द्यम्** छन्दोबद्धम् **वचः** प्राणमहिमात्मकं वचनम् **प्र प्र** प्रकर्षेण गाय उच्चारय। हे इतरे प्राणसाधकाः! यूयमपि **राजसु** प्रदीप्तेषु पूर्वोक्तेषु पूरक-कुम्भक-रेचकेषु प्राणेषु, तद्विषये इत्यर्थः, **स्तोत्रम्** प्राणमहत्त्वप्रतिपादकं स्तोमम् **गायत** मानपूर्वकमुच्चारयत।

प्राणमहत्त्वप्रतिपादका मन्त्रा अथर्ववेदे ११।४ इत्यत्र द्रष्टव्याः। यथा—नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते। पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः॥ अथ० ११।४।८ इत्यादिकम्।

अथ **तृतीयः** राष्ट्रपरः। हे **ऋतावसो** ऋतं राष्ट्रयज्ञ एव वसु धनं यस्य तादृश राष्ट्रभक्त! त्वम् इन्द्रेण सम्राजा सह **मित्राय** देशे विदेशे च मैत्रीसन्देशप्रसारकाय राज्याधिकारिणे, **अर्यम्णे** न्यायाध्यक्षाय[3] राज्याधिकारिणे, **वरूथ्ये** वरूथं सैन्यं तस्मै हिताय **वरुणे** शत्रुनिवारकाय सेनाध्यक्षाय च **सचथ्यम्** सहगानयोग्यम् **छन्द्यम्** छन्दोबद्धं गीतम् **प्र प्र** प्रकृष्टतया प्रगाय। हे इतरे राष्ट्रभक्ताः! यूयमपि **राजसु** पूर्वोक्तानां राज्याधिकारिणां विषये **स्तोत्रम्** तत्तद्गुणवर्णनपरं स्तुतिगीतं **गायत** प्रोच्चारयत॥३॥

अत्र श्लेषालङ्कारः॥३॥

भावार्थः—परमात्मनः सृष्टौ ये वायुसूर्यवह्न्यादयः, मनुष्यस्य शरीरे ये प्राणादयः, राष्ट्रे च ये विभिन्ना राज्याधिकारिणः सन्ति तेषां गुणकर्मवर्णनपूर्वकं तेभ्यो यथायोग्यं लाभाः सर्वैः प्राप्तव्याः॥३॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि इन्द्र के अतिरिक्त अन्य कौन-कौन गुण-वर्णन द्वारा स्तुति करने योग्य हैं। मन्त्र के देवता आदित्य अर्थात् अदिति के पुत्र मित्र, अर्यमा और वरुण हैं।

पदार्थ—**प्रथम** वायु आदि के पक्ष में। हे **ऋतावसो** सत्यरूप धन वाले मानव! तू **मित्राय** वायु के लिए, **अर्यम्णे** आदित्य के लिए और **वरूथ्ये** शरीर रूप गृह के लिए हितकर **वरुणे** अग्नि के लिए **सचथ्यम्** सेवनीय, **छन्द्यम्** छन्दोबद्ध **वचः** स्तुति-वचन को **प्र प्र** भलीभाँति गान कर, गान कर। हे भाइयो! तुम भी **राजसु** उक्त शोभायमान वायु, आदित्य और अग्नि के सम्बन्ध में **स्तोत्रम्** स्तोत्र का **गायत** गान करो।

---

१. छन्दशब्देन स्तुतिरुच्यते, तस्यां स्तुतौ भवमित्यर्थः—इति वि०। कमनीयम्—इति भ०। यज्ञगृहभवम्, अभिप्रायानुसारं वा०—इति सा०।

२. ऋतावसो यज्ञधन—इति भ०, सा०।

३. द्रष्टव्यम् १८५ संख्यकस्य मन्त्रस्य भाष्यम्।

द्वितीय प्राणों के पक्ष में। हे **ऋतावसो** प्राणायाम रूप यज्ञ को धन मानने वाले प्राणसाधक ! तू **मित्राय** पूरक प्राण के लिए, **अर्यम्णे** कुम्भक प्राण के लिए और **वरूथ्ये** शरीररूप गृह के हितकारी **वरुणाय** रेचक प्राण के सम्बन्ध में **सचथ्यम्** एक साथ मिलकर पढ़ने योग्य, **छन्द्यम्** छन्दोबद्ध **वचः** प्राण-महिमापरक वचन का **प्र प्र** भलीभाँति उच्चारण कर। हे दूसरे प्राणसाधको ! तुम भी **राजसु** प्रदीप्त हुए पूर्वोक्त पूरक, कुम्भक एवं रेचक प्राणों के विषय में **स्तोत्रम्** प्राण का महत्त्व प्रतिपादित करने वाले स्तोत्र का **गायत** गान करो।

प्राण का महत्त्व प्रतिपादन करने वाले छन्दोबद्ध वेदमन्त्र अथर्व ११।४ में देखने चाहिए। जैसे, "अन्दर आने वाले पूरक प्राण को हम अनुकूल करें, बाहर जाने वाले रेचक प्राण को अनुकूल करें" आदि अथर्व० ११।४।८ ॥

तृतीय राष्ट्र के पक्ष में। हे **ऋतावसो** राष्ट्रयज्ञ को धन मानने वाले राष्ट्रभक्त ! तू राजा रूप इन्द्र के साथ-साथ **मित्राय** देश-विदेश में मैत्री के संदेश का प्रसार करने वाले राज्याधिकारी के लिए, **अर्यम्णे** न्यायाध्यक्ष के लिए और **वरूथ्ये** सेना के लिए हितकारी **वरुणे** शत्रुनिवारक सेनाध्यक्ष के लिए **सचथ्यम्** सहगान के योग्य, **छन्द्यम्** छन्दोबद्ध गीत को **प्र प्र** भलीभाँति गा। हे दूसरे राष्ट्रभक्तो ! तुम भी **राजसु** पूर्वोक्त राज्याधिकारियों के विषय में **स्तोत्रम्** उन-उनके गुण वर्णन करने वाले स्तोत्र को **गायत** गाओ ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—परमात्मा की सृष्टि में जो वायु-सूर्य और अग्नि आदि, मनुष्य के शरीर में जो प्राण आदि और राष्ट्र में जो विभिन्न राज्याधिकारी हैं, उनके गुण-कर्मों का वर्णन करते हुए उनसे यथायोग्य लाभ सबको प्राप्त करने चाहिएँ ॥३॥

अथ के के परमात्मनं स्तुवन्तीत्याह।

२५६. अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम् ॥४॥[1]

अभि त्वा पूर्वपीतये पूर्व पीतये। इन्द्र स्तोमेभिः आयवः ॥
समीचीनासः सम् ईचीनासः ऋभवः ऋ भवः सम् अस्वरन्।
रुद्राः गृणन्त पूर्व्यम् ॥४॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **पूर्वपीतये**[2] पूर्वा श्रेष्ठा पीतिः पानं रसास्वादो यस्य तस्मै आनन्दाय। पूर्वशब्दो मरुद्वृधादित्वादन्तोदात्तः। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। **आयवः** आयुष्मन्तो मनुष्याः। आयव इति मनुष्यनाम। निघं० २।३। **स्तोमेभिः** स्तोमैः स्तोत्रैः **त्वा** त्वाम् **अभि** अभिष्टुवन्ति। उपसर्गबलाद् योग्यक्रियाध्याहारः। **समीचीनासः** समीचीनाः सम्यग् गतिमन्तः, शुभकर्मणि रताः, परस्परं

१. ऋ० ८।३।७, अथ० २०।९९।१, साम० १५३७।

२. (पूर्वपीतये) पूर्वं पीतिः पानं सुखभागो यस्मिन् तस्मा आनन्दाय—इति ऋ० १।१९।९ भाष्ये द०। अनादिकालप्रवृत्ताय सोमपानाय—इति वि०। प्रथमपानाय—इति भ०। पूर्वपीतये सर्वेभ्यो देवेभ्यः पूर्वं प्रथमतः एव सोमस्य पानाय। सवनमुखे हि चमसगणैः इन्द्रस्यैव सोमो हूयते—इति सा०।

संगताः वा। सं पूर्वाद् अञ्चु गतौ इत्यस्य रूपम्। 'आज्जसेरसुक्' अ० ७।१।५० इति जसोऽसुगागमः। **ऋभवः** मेधाविनः। ऋभुरिति मेधाविनाम। निघं० ३।१५। **समस्वरन्** त्वां संस्तुवन्ति। सं पूर्वात् स्वृ शब्दोपतापयोरिति धातोर्लंडर्थे लङ्। **रुद्राः** सदुपदेशकाः[1] प्राणसाधकाः स्तोतारः। रुद्र इति स्तोतृनामसु पठितम्। निघं० ३।१६। प्राणा वै रुद्राः। जै० उ० ब्रा० ४।२।६। लक्षणया प्राणवन्तः प्राणसाधका वा। **पूर्व्यम्** पूर्वस्मिन्नपि काले भवः पूर्व्यः तम् सनातनं त्वाम् **गृणन्त** गृणन्ति अर्चन्ति। गृणातिः अर्चतिकर्मा। निघं० ३।१४। गॄ शब्दे, ऋचादिः, लडर्थे लङ्, आत्मनेपदं छान्दसम्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' अ० ६।४।७५ इत्यडभावः ॥४॥[2]

भावार्थः—आयुष्मन्तः सामान्यजनाः, कर्मयोगिनो मेधाविजनाः, सदुपदेशकाः स्तोतृजनाः, सर्वेऽपि यं परमात्मानमाराधनुवन्ति सोऽस्माभिरपि कुतो नाराधनीयः ॥४॥

अगले मन्त्र में इस विषय का वर्णन है कि कौन-कौन परमात्मा की स्तुति करते हैं।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमात्मन्! **पूर्वपीतये** जिसका श्रेष्ठ रसास्वादन होता है उस आनन्द के लिए **आयवः** मनुष्य **स्तोमेभिः** स्तोत्रों से **त्वा** आपकी **अभि** चारों ओर स्तुति करते हैं। **समीचीनासः** सम्यक् शुभकर्मों में संलग्न अथवा परस्पर संगत हुए **ऋभवः** मेधावी लोग **समस्वरन्** आपकी स्तुति करते हैं, **रुद्राः** सदुपदेशक, प्राणसाधक स्तोता लोग **पूर्व्यम्** पूर्वकाल में भी विद्यमान अर्थात् सनातन आपकी **गृणन्त** अर्चना करते हैं ॥४॥

भावार्थ—आयुष्मान् सामान्यजन, कर्मयोगी मेधावीजन, सदुपदेशक स्तोताजन सभी जिस परमात्मा की आराधना करते हैं, उसकी आराधना हम भी क्यों न करें ॥४॥

अथ परमेश्वरः सेनाध्यक्षश्च शत्रून् हन्यादित्याह।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२५७. प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा ॥५॥[3]

२ ३ १ २ ३ २ १ २ १ २ ३
प्र वः इन्द्राय बृहते। मरुतः ब्रह्म अर्चत ॥
२ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
वृत्रम् हनति वृत्रहा वृत्र हा शतक्रतुः शत क्रतुः।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३
वज्रेण शतपर्वणा शत पर्वणा ॥५॥

पदार्थः—प्रथमः परमात्मपरः। हे **मरुतः**[4] मदीयाः प्राणाः! **वः** यूयम् **बृहते** महते **इन्द्राय**

---

१. रुतः सत्योपदेशान् राति ददाति (इति रुद्रः)—इति ऋ० १।११४।३ भाष्ये द०।

२. आयवः ऋत्विग्लक्षणा मनुष्याः। कीदृशा मनुष्याः? समीचीनासः, सङ्गताः सहभूता इत्यर्थः। ऋभवः महान्तः। रुद्राः रोदनस्वभावकाः स्तुत्युच्चारणशीला इत्यर्थः। पूर्व्यं पूर्वतनमित्यर्थ—इति वि०। समीचीनासः सङ्गताः। ऋभवः दीप्ताः रुद्राः स्तोतारः, रुवन्तः शब्दायमानाः। रुवन्ति उपगायन्ति इति रुद्राः—इति भ०। समीचीनाः सङ्गताः, ऋभवः प्रथमवाचकेन शब्देन त्रयोऽप्युपलक्ष्यन्ते ऋभुर्विभ्वा वाज इत्येते च। रुद्रा रुद्रयुता मरुतश्च—इति सा०।

३. ऋ० ८।८६।३, य० ३३।९६।

४. हे मरुतः मदीया ऋत्विजः—इति वि०। हे मरुतः स्तोतारः, महत् रुवन्तीति मरुतः—इति भ०। हे मरुतः मितराविणः स्तोतारः—इति सा०।

परमेश्वराय **ब्रह्म** सामस्तोत्रम् **प्र अर्चत**[1] प्रेरयत। धातूनामनेकार्थत्वाद् अर्चतिरत्र प्रेरणकर्मा। सः **वृत्रहा** पापहन्ता **शतक्रतुः**[2] बहुप्रज्ञः बहुकर्मा च परमेश्वरः **शतपर्वणा** बहुमुखेन **वज्रेण** वीर्येण। वीर्यं वै वज्रः। श० ७।३।१।१९। **वृत्रम्** पापम् **हनति** हन्यात्। 'हन् हिंसागत्योः, लेट्प्रयोगः, लेटोऽडाटौ' अ० ३।४।९४ इत्यडागमः॥

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रपरः। हे **मरुतः** राष्ट्रवासिनः प्रजाजनाः! **वः** यूयम् **बृहते** महते **इन्द्राय** वीराय नृपतये सेनाध्यक्षाय वा **ब्रह्म** स्तोत्रम्, प्रार्थनावचनम् **अर्चत** प्रेरयत। सः **वृत्रहा** अत्याचारिणां हन्ता **शतक्रतुः** अनेकेषां शत्रुविध्वंसकर्मणां कर्ता सेनाध्यक्षः **शतपर्वणा वज्रेण** शतकीलकयुक्तेन गदादिकेन वज्रेण, शतगोलकगोलिकाधारकेण शतघ्नीभुशुण्ड्यादिना वा शस्त्रेण **वृत्रम्** राष्ट्रोन्नतिप्रतिबन्धकं मायाविनं शत्रुम् **हनति** हन्यात्॥५॥[3]

अत्र श्लेषालङ्कारः। 'वृत्रं, वृत्र' इत्यत्र छेकानुप्रासः, 'शत, शत' इत्यत्र च लाटानुप्रासः॥५॥

भावार्थः—यथा परमेश्वर उपासकस्य कामक्रोधादीन् पापादींश्च रिपून् हिनस्ति, तथैव सेनाध्यक्षेण राष्ट्रस्य सर्वे शत्रवः समूलमुन्मूलनीयाः॥५॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि परमात्मा और सेनाध्यक्ष हमारे शत्रुओं का संहार करें।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे **मरुतः** मेरे प्राणो! **वः** तुम **बृहते** महान् **इन्द्राय** परमेश्वर के लिए **ब्रह्म** साम-स्तोत्र को **प्र अर्चत** प्रेरित करो। वह **वृत्रहा** पापहन्ता **शतक्रतुः** अनन्त प्रज्ञावाला तथा अनन्त कर्मोंवाला परमेश्वर, अपने **शतपर्वणा** बहुमुखी **वज्रेण** वीर्य से **वृत्रम्** पाप को **हनति** नष्ट करे।

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। हे **मरुतः** राष्ट्रवासी प्रजाजनो! **वः** तुम लोग **बृहते** महान् **इन्द्राय** वीर सेनाध्यक्ष के लिए **ब्रह्म** स्तोत्र अर्थात् प्रार्थनावचन **अर्चत** प्रेरित करो। वह **वृत्रहा** अत्याचारियों का संहारक **शतक्रतुः** अनेक शत्रु-विध्वंसक कार्यों का कर्ता सेनाध्यक्ष **शतपर्वणा वज्रेण** सौ कीलों से युक्त गदादि वज्र से अथवा सौ गोलों या गोलियों के आधारभूत तोप, बन्दूक आदि शस्त्र से **वृत्रम्** राष्ट्र की उन्नति में प्रतिबन्धक मायावी शत्रु को **हनति** मारे॥५॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है 'वृत्रं, वृत्र' में छेकानुप्रास और 'शत, शत' में लाटानुप्रास है॥५॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर उपासक के काम-क्रोध आदि तथा पाप आदि रिपुओं का संहार करता है, वैसे ही सेनाध्यक्ष को चाहिए कि राष्ट्र के सब शत्रुओं का समूल उन्मूलन करे॥५॥

अथ मनुष्या इन्द्रस्य स्तुतिगीतानि गातुं प्रेर्यन्ते।

३ १९ २९ ३ १ २ ३ १ २
२५८. बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
येन ज्योतिरजनयन्नृताव्रधो देवं देवाय जागृवि॥६॥[4]

३ २ १ २९ ३ १ २९ ३ १ २ ३ १ २९
बृहत् इन्द्राय गायत। मरुतः वृत्रहन्तमम् वृत्र हन्तमम्॥
१ २९ १ २९ १ २९ ३ १ २ ३ १ २९ ३ २ ३ १ २ १ २९
येन ज्योतिः अजनयन् ऋतावृधः ऋत वृधः। देवम् देवाय जागृवि॥६॥

---

१. प्रार्चत प्रकुरुत इत्यर्थः—इति भ०। प्रार्चत प्रोच्चारयत—इति सा०।

२. द्रष्टव्यम्—२१६ संख्यकमन्त्रस्य भाष्यम्।

३. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिरिमं मन्त्रं मनुष्यैः किं कर्तव्यमिति विषये व्याख्यातवान्। हे (मरुतः) मनुष्याः इत्यादि।

४. ऋ० ८।८६।१, य० २०।३०।

पदार्थः—हे **मरुतः** मनुष्याः ! यूयम् **इन्द्राय** परमैश्वर्यवते परमात्मने **वृत्रहन्तमम्** विघ्नानां पापानां च अतिशयेन विनाशकं **बृहत्**[1] 'त्वामिद्धि हवामहे' (साम २३४, ८०९) इत्यस्यामृचि गीयमानं बृहदाख्यं सामगानम् **गायत** गीतिपूर्वकं सलयमुच्चारयत, **येन** गानेन **ऋतावृधः**[2] सत्यस्य वर्द्धयितारः सिद्धा योगिनः, **देवाय** योगाङ्गेषु क्रीडते साधकाय । दीव्यतीति देवः । दिवु क्रीडाविजिगीषाद्यर्थः, पचाद्यच् । **देवम्** प्रकाशमानम्, **जागृवि** जागरणशीलम् । जागर्तीति जागृविः । 'जशस्तजागृभ्यः क्विन्' उ० ४।५५ इति जागृधातोः क्विन् प्रत्ययः । तस्य नित्वाद् 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' अ० ६।१।१९१ इत्याद्युदात्तत्वम् । **ज्योतिः** अन्तःप्रकाशम् **अजनयन्** जनयन्ति । अत्र लडर्थे लङ् ॥६॥[3]

भावार्थः—येन सामगानेन सिद्धा योगिनो योगाभ्यासिनं शिष्यं योगविद्यायां निष्णातं कुर्वन्ति तत् सामगानमस्माभिरपि गेयम् ॥६॥

अगले मन्त्र में मनुष्यों को परमेश्वर के स्तुतिगीत गाने के लिए प्रेरित किया जा रहा है ।

पदार्थ—हे **मरुतः** मनुष्यो ! तुम **इन्द्राय** परमैश्वर्यवान् परमात्मा के लिए **वृत्रहन्तमम्** विघ्नों व पापों के अतिशय विनाशक **बृहत्** "त्वामिद्धि हवामहे" साम २३४, ८०९ ऋचा पर गाये जाने वाले बृहत् नामक सामगान को **गायत** गाओ, **येन** जिस गान से **ऋतावृधः** सत्य को बढ़ानेवाले सिद्ध योगी लोग **देवाय** योगाङ्गों में क्रीड़ा करने वाले साधक के लिए **देवम्** प्रकाशमान, **जागृवि** जागरणशील **ज्योतिः** अन्तःज्योति को **अजनयन्** उत्पन्न कर देते हैं ॥६॥

भावार्थ—जिस सामगान से सिद्ध योगी लोग योगाभ्यासी शिष्य को योगविद्या में निष्णात कर देते हैं, वह सामगान हमें भी गाना चाहिए ॥६॥

अथेन्द्रनाम्ना परमेश्वर आचार्यो नृपतिश्च प्रार्थ्यते ।

२३ १२३ १२ ३२३२ ३१२
२५९. इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
१२ ३ १२ ३१२ ३१२ २१
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥७॥[4]
१२१ १२१ ३ २ ३ २३१२ ३ १२१ १२१
इन्द्र क्रतुम् नः आ भर । पिता पुत्रेभ्यः पुत् त्रेभ्यः यथा ॥
१२१ ३ २ ३ १२१ ३२ १ २१ ३
शिक्ष नः अस्मिन् पुरुहूत पुरु हूत यामनि । जीवाः ज्योतिः अशीमहि ॥७॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यप्रद जगदीश्वर आचार्य राजन् वा ! नः अस्मभ्यम् **क्रतुम्** विज्ञानं च कर्म च । क्रतुरिति कर्मनाम प्रज्ञानाम च । निघं० २।१, ३।९ । **आभर** आहर, **यथा** येन प्रकारेण **पिता** जनकः **पुत्रेभ्यः** पुत्रपुत्रीभ्यः । पुत्राश्च पुत्र्यश्च इत्येकशेषः । प्रज्ञां च कर्म च आहरति । हे **पुरुहूत** बहुस्तुत !

१. बृहत् महत्, सुष्ठु इत्यर्थः । इन्द्राय गायत उच्चारयत । किं तत् ? सामर्थ्यात् स्तुतिरूपम्—इति वि० । महत् स्तोत्रं बृहदाख्यमेव वा साम—इति भ० । बृहत् साम—इति सा० । महत् साम—इति य० २०।३० भाष्ये द० ।

२. विवरणकारस्तु सम्बोधनान्तं पदमिदं मन्यते—'हे ऋतावृधः, ऋतो यज्ञः तं ये वर्धयन्ति ते ऋतावृधः । तेषां सम्बोधनं 'हे ऋतावृधः' इति । 'यज्ञस्य वर्धयितारः आङ्गिरसः'—इति भ० । ऋतस्य सत्यस्य वा वर्धका विश्वेदेवाः अङ्गिरसो वा ऋषयः—इति सा० ।

३. दयानन्दर्षिर्यजुर्भाष्ये मन्त्रमिमं सामगानविषये व्याचष्टे ।

४. ऋ० ७।३२।२६, ऋषिः वसिष्ठः वासिष्ठः शक्तिर्वा, अथ० १८।३।६७ यमः देवता, अथर्वा ऋषिः, २०।७९।१ वसिष्ठः शक्तिर्वा ऋषिः, साम० १४५६ ।

त्वम् **अस्मिन्** पुरो विद्यमाने **यामनि**[1] जीवनमार्गे जीवनयज्ञे वा योगमार्गे वा। यान्ति अस्मिन्निति यामा मार्गः 'अर्तिस्तुसु० उ० १।१४०' इति मन् प्रत्ययः। **नः** अस्मभ्यम् अस्मान् वा। संहितायां 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' अ० ८।४।२७ इति णत्वम्। **शिक्ष** तादृशं सामर्थ्यं प्रयच्छ शिक्षय वा। शिक्षतिः दानकर्मा। निघं० ३।२०। यद्वा शिक्ष विद्योपादाने, लुप्तणिच्कं रूपम्। संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः' अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः। येन **जीवाः** जीविता जागरूकाश्च सन्तो वयम् **ज्योतिः**[2] आशारूपं कर्तव्याकर्त्तव्यदर्शनरूपम् आत्मरूपं वा ज्योतिः, ब्रह्मणो दिव्यं प्रकाशं वा **अशीमहि** प्राप्नुयाम। अशूङ् व्याप्तौ स्वादिः, लिङ् ॥७॥[3]

अत्र श्लेष उपमालङ्कारश्च ॥७॥

भावार्थः—यथा पिता सन्तानेभ्यो विद्यां कर्मकरणं मार्गे चलनं धावनं च शिक्षयति येनात्मनिर्भरा भूत्वा ते जीवने साफल्यं प्राप्नुवन्ति, तथैव परमात्माऽऽचार्यो नृपतिश्चाऽस्मभ्यं प्रभूतं विज्ञानं, महान्तं कर्मयोगम्, अतुलं सामर्थ्यं, वरिष्ठां शिक्षां च प्रयच्छेत्, येन वयं जीवनान्निराशान्धकारमपसार्य जीविता जागरिताश्च सन्त उत्तरोत्तरं ज्योतिः पश्यन्तश्चरमं पारमेश्वरं दिव्यं ज्योतिरधिगच्छेम ॥७॥[4]

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर, आचार्य और राजा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परम ऐश्वर्य को देने वाले जगदीश्वर, आचार्य वा राजन्! आप **नः** हमें **ऋतुम्** विज्ञान और कर्म **आभर** प्रदान करो, **यथा** जिस प्रकार **पिता** पिता **पुत्रेभ्यः** अपने पुत्रों और पुत्रियों के लिए विज्ञान और कर्म प्रदान करता है। हे **पुरुहूत** बहुस्तुत जगदीश्वर, आचार्य वा राजन्! आप **अस्मिन्** इस सामने विद्यमान **यामनि** जीवनमार्ग, जीवनयज्ञ अथवा योगमार्ग में **नः** हमें **शिक्ष** सभी सामर्थ्य प्रदान करो अथवा शिक्षा दो कि **जीवाः** जीवित और जागरूक रहते हुए हम **ज्योतिः** आशारूप ज्योति को, कर्त्तव्याकर्त्तव्यदर्शनरूप ज्योति को, आत्मज्योति को, अथवा परब्रह्म की दिव्य ज्योति को **अशीमहि** प्राप्त कर लेवें ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेष और उपमा अलंकार हैं ॥७॥

भावार्थ—जैसे पिता अपनी सन्तानों को ज्ञान देता है, कर्म करना सिखाता है, मार्ग में चलना और दौड़ना सिखाता है, जिससे आत्मनिर्भर होकर वे जीवन में सफल होते हैं, वैसे ही परमात्मा, आचार्य और राजा हमें प्रचुर ज्ञान, महान् कर्मयोग, अतुल सामर्थ्य और श्रेष्ठ शिक्षा प्रदान करें, जिससे हम जीवन से निराशा के अन्धकार को दूर कर जीवित-जागृत रहते हुए, उत्तरोत्तर ज्योति का दर्शन करते हुए सर्वोत्कृष्ट ईश्वरीय दिव्य ज्योति को पा सकें ॥७॥

१. यामनि। यान्ति देवा अस्मिन् स यामा यज्ञः। तस्मिन् यामनि यज्ञे इत्यर्थः—इति वि०। यज्ञे—इति भ०। यज्ञे, यद्वा सर्वैः प्राप्तव्ये अस्मिन् प्रकृते ब्रह्मणि—इति सा०। यान्ति यस्मिन् तस्मिन् वर्तमाने समये—इति ऋ० ७।३२।२६ भाष्ये द०।

२. ज्योतिः ज्ञानम्—इति वि०। सूर्यम्—इति भ०। प्रकाशस्वरूपं परमात्मानं त्वाम्—इति ऋ० ७।३२।२६ भाष्ये द०।

३. सायण इमं मन्त्रं वैकल्पिकत्वेन परमात्मपक्षेऽपि व्याचष्टे। तथा हि—"हे इन्द्र भूतानि प्रकाशयितः इन्द्र [तथा च यास्कः "इन्द्र इरां दृणातीति वा इरां ददातीति वा, इरां दधातीति वा, इरां दारयत इति वा, इरां धारयत इति वा, इन्दवे द्रवतीति वा, इन्दौ रमत इति वा, इन्धे भूतानीति वा, तद्यदेनं प्राणैः समैन्धन् तदिन्द्रस्येन्द्रत्वमिति विज्ञायते (निरु० १०।८) इति।] एवंगुणविशिष्ट परमात्मन्! त्वं ऋतुं कर्म स्वविषयज्ञानं वा नः अस्मभ्यम् आभर आहर प्रयच्छेत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः—पिता पुत्रेभ्यो यथा लोके विद्यां धनं वा प्रयच्छति तथा नोऽस्मभ्यं शिक्ष विद्यां प्रयच्छ। हे पुरुहूत बहुभिराहूत इन्द्र, यामनि सर्वैः प्राप्तव्ये अस्मिन् प्रकृते ब्रह्मणि जीवा वयं ज्योतिः परं ज्योतिः अशीमहि सेवेमहि" इति।

४. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये परमात्मपक्षे व्याख्यातवान्।

अथ पुनः परमेश्वर आचार्यो नृपतिश्च प्रार्थ्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२६०. **मा न इन्द्र परा वृणग्भवा नः सधमाद्ये ।**
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वं न ऊती त्वमिन्न आप्यं मा न इन्द्र परावृणक् ॥८॥[1]
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
मा नः इन्द्र परा वृणक् । भव नः सधमाद्ये सध माद्ये ॥
३ २ ३ १ २ ३ २ १ ३
त्वम् नः ऊती त्वम् इत् नः आप्यम् । मा नः इन्द्र परा वृणक् ॥८॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परब्रह्म आचार्य राजन् वा ! त्वम् **नः** अस्मान् **मा परावृणक्** मा परित्याक्षीः । परा पूर्वो वृजी वर्जने रौधादिकः, लङ्, माङ्योगे अडभावः । **सधमाद्ये** सह माद्यन्ति जना अत्रेति सधमाद्यः गृहं, यज्ञः, गुरुकुलं, सभास्थलं, राष्ट्रादिकं वा, तत्र **नः** अस्माकम् **भव** सहायको वर्तस्व । **त्वम् नः** अस्माकम् **ऊती** ऊत्यै रक्षायै भव । ऊति शब्दाच्चतुर्थ्येकवचने 'सुपां सुलुक्' अ० ७।१।३९ इति पूर्वसवर्णदीर्घः । **त्वम् इत्** त्वमेव **नः** अस्माकम् **आप्यम्**[2] बन्धुः भव । अत्र बन्धुवाचकात् आपिशब्दात् स्वार्थे यत् प्रत्ययो ज्ञेयः । हे **इन्द्र** परमात्मन् आचार्य राजन् वा ! **नः मा परावृणक्** अस्मान् असहायान् मा परित्याक्षीः । अत्र पुनरुक्तिरुत्कटेच्छाद्योतनार्था । तथाह निरुक्तकारः 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते, यथाऽहो दर्शनीया, अहो दर्शनीया (निरु० १०।४०)' इति ॥८॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥८॥

भावार्थः—परमात्मानं गुरून् नृपतिं च यथायोग्यं सम्पूज्य सत्कृत्य च तेभ्यो बहुमूल्या लाभाः प्राप्तव्याः ॥८॥

अगले मन्त्र में पुनः परमेश्वर, आचार्य और राजा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवान् परमेश्वर, आचार्य व राजन् ! आप **नः** हमें **मा परावृणक्** मत छोड़ो । **सधमाद्ये** जहाँ साथ-साथ आनन्द से रहते हैं उस घर, यज्ञ, गुरुकुल, सभास्थल, राष्ट्र आदि में, आप **नः** हमारे **भव** सहायक होवो । **त्वम्** आप **नः** हमारी **ऊती** रक्षा के लिए, होवो । **त्वम् इत्** आप ही **नः** हमारे **आप्यम्** बन्धु बनो । हे **इन्द्र** परमेश्वर आचार्य व राजन् ! **नः मा परावृणक्** आप हमें असहाय मत छोड़ो ।

यहाँ पुनरुक्ति से उत्कट इच्छा सूचित होती है । निरुक्तकार ने भी कहा है कि पुनरुक्ति में बहुत बड़ा अर्थ छिपा होता है, जैसे किसी अद्भुत वस्तु को देखकर द्रष्टा कहता है—"अहो दर्शनीय है, अहो दर्शनीय है ।" (निरु० १०।४०) ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥८॥

भावार्थ—परमात्मा, गुरुजन और राजा का यथायोग्य पूजन व सत्कार करके उनसे बहुमूल्य लाभ प्राप्त करने चाहिएँ ॥८॥

---

१. ऋ० ८।९७।७ 'सधमाद्ये' इत्यत्र 'सधमाद्यः' इति पाठ ।

२. आप्यं ज्ञातेयम्, बन्धुः इत्यर्थः—इति भ०, सा० ।

अथ कुतो वयं परमेश्वरस्योपासनां कुर्म इत्याह ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
२६१. वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते ॥९॥[1]

३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
वयम् घ त्वा सुतावन्तः । आपः न वृक्तबर्हिषः वृक्त बर्हिषः ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु प्र स्रवणेषु वृत्रहन् वृत्र हन् । परि स्तोतारः आसते ॥९॥

पदार्थः—हे इन्द्र परमात्मन् ! **वृक्तबर्हिषः** वृक्तं परित्यक्तं बर्हिः अन्तरिक्षं याभिस्ताः । वृक्तमित्यत्र वृजी वर्जने धातोः क्तः प्रत्ययः । बर्हिरित्यन्तरिक्षनाम, निघं० १।३ । **आपः न** मेघजलानि इव **वृक्तबर्हिषः** वृक्तानि परित्यक्तानि बर्हींषि सांसारिक्य एषणा यैस्तादृशाः, **सुतावन्तः** अभिषुतोपासनारसाः । षु प्रसवैश्वर्ययोः क्त प्रत्यये सुतः । सुतशब्दान्मतुपि रूपम् । पूर्वपदस्य दीर्घश्छान्दसः । **वयं घ** वयं हि **त्वा** त्वाम् स्तुमः इति शेषः । **वृत्रहन्** हे पापहन्तः परमेश्वर ! तव **स्तोतारः** स्तुतिकर्तारः उपासकाः **पवित्रस्य** शुद्धस्य सात्त्विकानन्दस्य **प्रस्रवणेषु** प्रवाहेषु **परि आसते** परिप्लवन्ते । परित्यक्तान्तरिक्षा आपो यथा नदीनिर्झरादिषु प्रवहन्तीत्यपि सूच्यते ॥९॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः । किञ्च, कारणरूपमुत्तरार्द्धवाक्यं कार्यरूपं पूर्वार्द्धवाक्यं समर्थयतीति कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—यथा मेघजलान्याकाशं विहाय भूमिमागत्य सस्यवनस्पत्यादिकं प्रसुवन्ति, तथैव वयं पुत्रैषणावित्तैषणालोकैषणादीनि विहाय परमात्मानमुपगम्यानन्दरसं प्रसुयाम ॥९॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि क्यों हम परमेश्वर की उपासना करते हैं ।

पदार्थ—हे इन्द्र परमात्मन् ! **वृक्तबर्हिषः** जिन्होंने अन्तरिक्ष को छोड़ दिया है **ऐसे आपः न** मेघजलों के समान **वृक्तबर्हिषः** सांसारिक एषणाओं को छोड़े हुए **सुतावन्तः** उपासना-रसों को अभिषुत किये हुए **वयं घ** हम **त्वा** आपकी स्तुति करते हैं, क्योंकि, हे **वृत्रहन्** पापविनाशक परमेश्वर ! **स्तोतारः** आपके स्तोता लोग **पवित्रस्य** शुद्ध सात्त्विक आनन्द के **प्रस्रवणेषु** प्रवाहों में **परि आसते** तैरा करते हैं, जैसे अन्तरिक्ष को छोड़े हुए उपर्युक्त मेघ-जल **प्रस्रवणेषु** नदियों, झरनों आदियों में **परि आसते** बहते हैं ॥९॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है । साथ ही कारणरूप उत्तरार्द्धवाक्य कार्यरूप पूर्वार्द्धवाक्य का समर्थन कर रहा है अतः कारण से कार्यसमर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलंकार भी है ॥९॥

भावार्थ—जैसे मेघों के जल आकाश को छोड़कर भूमि पर आकर धान्य, वनस्पति आदि को उत्पन्न करते हैं, वैसे ही हम पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि का परित्याग करके परमात्मा को प्राप्त कर आनन्द-रस को उत्पन्न करें ॥९॥

अथ केषां केषां कस्को गुणोऽस्माभिः प्राप्तव्य इत्याह ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२६२. यदिन्द्र नाहुषीष्वा ओजो नृम्णं च कृष्टिषु ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २
यद्वा पञ्चक्षितीनां द्युम्नमा भर सत्रा विश्वानि पौंस्या ॥१०॥[2]

१. ऋ० ८।३३।१, साम० ८६४, अथ० २०।५२।१, २०।५७।१४, सर्वत्र मेध्यातिथिः ऋषिः ।
२. ऋ० ६।४६।६, ऋषिः शंयुः बार्हस्पत्यः ।

२ ३ १ २१ १ २१ ३ २ ३ १ २
यत् इन्द्र नाहुषीषु आ । ओजः नृम्णम् च कृष्टिषु ॥
३ १ २१ ३ २ ३ २ १ २१ १ २१
यत् वा पञ्च क्षितीनाम् द्युम्नम् आ भर । सत्रा विश्वानि पौंस्या ॥१०॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** दानशौण्ड परमेश्वर ! **यत् नाहुषीषु** संघरूपेण परस्परं बद्धासु मानुषीषु प्रजासु। नहुष इति मनुष्यनामसु पठितम्। निघं० २।३। णह बन्धने धातोः 'पनहिकलिभ्य उषच्'। उ० ४।७६' इति उषच् प्रत्ययः। **ओजः** संघबलम्। किञ्च **कृष्टिषु** कृष्यादिधनार्जनकर्मरतासु प्रजासु। कृष्टय इत्यपि मनुष्यनाम। निघं० २।३। **नृम्णम्** धनबलम्। नृम्णमिति धननाम। निघं० २।१०। **आ** आगच्छति। उपसर्गश्रुतेर्योग्य क्रियाध्याहारः। **यद् वा** यच्च। वा इति समुच्चयार्थे निरुक्ते। १।५। **पञ्चक्षितीनाम्** निवासहेतुभूतानां पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां पञ्चानां प्राणमनोबुद्धिचित्ताहंकाराणां वा **द्युम्नम्** यशः अस्ति। द्युम्नं द्योततेः, यशो वा अन्नं वा। निरु० ५।५। तत् **आभर** अस्मभ्यम् आहर। **सत्रा**[1] सहैव च। 'सार्द्धं तु साकं सत्रा समं सह' इत्यमरः ३।४।४। **विश्वानि** सर्वाणि **पौंस्या** पौंस्यानि धर्मार्थकाममोक्षरूपान् पुरुषार्थान् अपि, आहर। पुंसि भवं पौंस्यं पौरुषम्। पौंस्या इत्यत्र 'शेश्छन्दसि बहुलम्'। अ० ६।१।७०' इति शेर्लोपः ॥१०॥[2]

भावार्थः—संघबलम्, ऐश्वर्यबलम्, इन्द्रियबलम्, प्राणसहचरितान्तःकरणचतुष्टयबलम्, धर्मार्थकाममोक्षाणां च बलं परमेश्वरकृपयास्मान् प्राप्नुयाद्, येनास्माकं मनुष्यजीवनं सफलं भवेत् ॥१०॥

अत्रेन्द्रस्य तत्संबद्धानां मित्रवरुणार्यम्णां च महत्त्ववर्णनपूर्वकं तत्स्तुत्यर्थं प्रेरणाद्, इन्द्रसकाशाद् ओजःक्रतुनृम्णद्युम्नादियाचनाद्, इन्द्रनाम्नाऽऽचार्यनृपतिसेनाध्यक्षादीनां चापि गुणकर्मवर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्तीति बोध्यम्।

इति तृतीये प्रपाठके द्वितीयार्धे द्वितीया दशतिः।
इति तृतीयाध्याये तृतीयः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि किन-किन का क्या-क्या गुण हमें प्राप्त करना चाहिए।

पदार्थ—हे **इन्द्र** दान के महारथी परमेश्वर ! **यत्** जो **नाहुषीषु** संघरूप में परस्पर बँधी हुई मानव-प्रजाओं में **ओजः** संघ का बल, और **कृष्टिषु** कृषि आदि धन कमाने के कामों में लगी हुई प्रजाओं में **नृम्णम्** धन का बल **आ** आता है, **यद् वा** और जो **पञ्चक्षितीनाम्** निवास में कारणभूत पाँच ज्ञानेन्द्रियों का अथवा प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन पाँचों का **द्युम्नम्** यश है, वह **आभर** हमें प्रदान कीजिए। **सत्रा** साथ ही **विश्वानि** सब **पौंस्या** धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थों को भी **आभर** प्रदान कीजिए ॥१०॥

भावार्थ—संघ का बल, ऐश्वर्य का बल, इन्द्रियों का बल, प्राणसहित अन्तःकरणचतुष्टय का बल, और धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का बल परमेश्वर की कृपा से हमें प्राप्त हो, जिससे हमारा मनुष्य-जीवन सफल हो ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र तथा उससे सम्बद्ध मित्र, वरुण, अर्यमा के महत्त्ववर्णनपूर्वक उसकी स्तुति के लिए प्रेरणा होने से, इन्द्र से ओज, क्रतु, नृम्ण, द्युम्न आदि की याचना होने से और इन्द्र नाम से आचार्य, राजा, सेनाध्यक्ष आदि के भी गुण-कर्मों का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

तृतीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त।
तृतीय अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ॥

---

१. यद्यपि सत्राशब्दः सत्यनामसु पठितः, तथापीह सर्वदाशब्दपर्यायो द्रष्टव्यः—इति वि०। सत्रा महान्ति—इति भ०, सा०।
२. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये राजप्रजाविषये व्याख्यातः।

॥८॥ अथ 'सत्यमित्था' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ मेधातिथिः; २ रेभः; ३ वत्सः; ४ भरद्वाजः; ५ नृमेधः; ६ पुरुहन्मा; ७ नृमेधपुरुमेधौ; ८ वसिष्ठः; ९ मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च; १० कलिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

अथ परमेश्वरस्य गुणा वर्ण्यन्ते ।

२६३. ३ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ २
सत्यमित्था वृषेदसि वृषजूतिर्नोऽविता ।
२ ३क २१ ३१ १ २ ३ २ ३ १ २ ३१ १ २ ३ २
वृषा ह्युग्र शृण्विषे परावति वृषो अर्वावति श्रुतः ॥१॥[1]
३ २ ३ २ १२१ ३ १२१ १२१ ३
सत्यम् इत्था वृषा इत् असि । वृषजूतिः वृष जूतिः नः अविता ॥
२
१२१ ३ २ ३ १२ १२१ ३ १ २ ३ २
वृषा हि उग्र शृण्विषे परावति । वृषा उ अर्वावति श्रुतः ॥१॥

पदार्थः—हे इन्द्र परमेश्वर ! **सत्यम् इत्था**[2] सत्यम्, सत्यम् । इत्था इति सत्यनाम । निघं० ३।१० । द्वौ सत्यवाचकौ समवेतौ सत्यस्य निश्चयत्वं द्योतयतः । त्वम् **वृषा इत्** वर्षकत्वात् साक्षात् पर्जन्य एव **असि** वर्तसे । किञ्च **वृषजूतिः** विद्युदादिपदार्थानां मनोवेगवद् वेगप्रदाता । वृषा हि मनः श० १।४।४।३ । जूतिरित्यत्र जू गतौ इति सौत्राद् धातोः 'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च अ० ३।३।९७' इति क्तिन्, धातोः दीर्घत्वं च निपात्यते । वृष्णः मनसः जूतिरिव वेग इव जूतिः वेगो यस्मात् स वृषजूतिः । वृषन् शब्दः कनिन् प्रत्ययान्तत्वादाद्युदात्तः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः शिष्यते । **नः अविता** अस्माकं रक्षकश्चासि । हे **उग्र** प्रबलैश्वर्य ! त्वम् **परावति** परागते उत्कृष्टे मोक्षलोके **वृषा हि** मोक्षानन्दानां वर्षकः खलु **शृण्विषे** श्रूयसे, **अर्वावति** अर्वाग्भवे इहलोकेऽपि **वृषः** धर्मार्थकामानन्दानां वर्षकः **श्रुतः** आकर्णितः असि ॥१॥

अत्र 'वृषे, वृष, वृषा, वृषो' इति वृत्त्यनुप्रासालङ्कारः । 'वृषेदसि' इत्यत्र इन्द्रे पर्जन्यत्वारोपात् रूपकम् । 'वति-वति' इति छेकानुप्रासः ॥१॥

भावार्थः—निखिलगुणगणाग्रणीरिह परलोके च विविधानन्दवर्षकः परोपकारपरायणः परमेश्वरोऽस्माभिः कुतो न वन्द्यः ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमेश्वर के गुणों का वर्णन किया गया है।

पदार्थ—हे इन्द्र परमेश्वर ! **सत्यम् इत्था** सचमुच-सचमुच आप **वृषा इत्** ऐश्वर्यवर्षी होने से वर्षा करने वाले बादल ही **असि** हो, और **वृषजूतिः** विद्युत् आदि पदार्थों को मन के वेग के समान वेग प्रदान करने वाले **नः** हमारे **अविता** रक्षक हो । हे **उग्र** प्रबल ऐश्वर्य वाले ! आप **परावति** उत्कृष्ट मोक्षलोक में **वृषा हि** निश्चय ही मोक्ष के आनन्दों की वर्षा करने वाले **शृण्विषे** सुने जाते हो, और **अर्वावति** इह लोक में भी **वृषः** धर्म-अर्थ-काम-आनन्दों के वर्षक **श्रुतः** सुने गये हो ॥१॥

इस मन्त्र में 'वृषे, वृष, वृषा, वृषो' में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है । 'वृषेदसि'—'आप बादल ही हो' यहाँ परमेश्वर में बादल का आरोप होने से रूपक है । 'वति, वति' में छेकानुप्रास है ॥१॥

---

१. ऋ० ८।३३।१०, ऋषिः मेध्यातिथिः 'नोऽविता' इत्यत्र 'नोऽवृतः' इति पाठः ।

२. सत्यम् इत्थेति च सत्यमित्यर्थे वर्तते । सत्यं सत्यम् एव—इति भ० ।

भावार्थ—समस्तगुणगणों में अग्रणी, इहलोक तथा परलोक में विविध आनन्दों की वृष्टि करने वाले, परोपकारी परमेश्वर की हम वन्दना क्यों न करें ॥१॥

अथ परमात्मनो महिमानमुपवर्ण्य तदुपासनाविषयमाह ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
२६४. यच्छक्रासि परावति यदर्वावति वृत्रहन् ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अतस्त्वा गीर्भिर्द्युगदिन्द्र केशिभिः सुतावाँ आ विवासति ॥२॥[1]
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
यत् शक्र असि परावति । यत् अर्वावति वृत्रहन् वृत्र हन् ॥
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
अतः त्वा गीभिः द्युगत् द्यु गत् इन्द्र केशिभिः । सुतावान् आ विवासति ॥२॥

पदार्थ—हे **शक्र** शक्तिशालिन् परमेश्वर ! **यत्** यस्मात्, त्वम् **परावति** सुदूरस्थे सूर्यनक्षत्रचन्द्रमण्डलादिषु, पराविद्याग्राह्ये मोक्षलोके वा **असि** विद्यसे, किञ्च हे **वृत्रहन्** अविद्यादिदोषहन्तः ! **यत्** यस्मात्, त्वम् **अर्वावति** समीपस्थे पर्वतसरित्सागरादौ, अपराविद्याग्राह्ये इहलोकैश्वर्ये वा असि विद्यसे, **अतः** अस्मात् हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर ! **सुतावान्** अभिषुतोपासनारसो यजमानः **त्वा** त्वाम् **द्युगत्**[2] क्षिप्रम् । द्युगत् इति क्षिप्रनाम निघं० २।१५ । यद्वा दिवं मोक्षधाम प्रति गच्छन् यथा स्यात्तथा **केशिभिः** ज्ञानप्रकाशेन प्रकाशमानाभिः । केशी केशा रश्मयः तैस्तद्वान् भवति, काशनाद् वा प्रकाशनाद् वा । निरु० १२।२६ । **गीर्भिः** वेदवाग्भिः **आ विवासति** समन्ततः परिचरति । विवासतिः परिचर्याकर्मा । निघं० ३।५ । परमेश्वरस्य दूरस्थनिकटस्थरूपम् अन्यत्रापि वर्णितम् यथा, 'तद् दूरे तद्वन्तिके' य० ४०।५,' 'दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ।' मु० ३।१।७ इति ॥२॥

अत्र शक्र, वृत्रहन्, इन्द्र इति सर्वेषामिन्द्रपर्यायत्वेन पौनरुक्त्यप्रतीतेः, योगार्थग्रहणेन च पुनरुक्तिपरिहारात् पुनरुक्तवदाभासोऽलङ्कारः । 'वति, वति' 'सुता, सति' इत्यत्र छेकानुप्रासः ॥

भावार्थः—सर्वकर्मक्षमो दूरात् सुदूरे निकटान्तिकटे विद्यमानोऽविद्यापापादीनां हन्ता सकलैश्वर्यशाली परमात्मा ज्ञानविज्ञानप्रकाशपूर्णानां साममन्त्राणां गानेन भक्तिप्रवणैः सर्वैः क्षिप्रमेव समुपासनीयस्तदुपासनेन चैहिकपारलौकिकानन्दः प्रापणीयः ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की महिमा का वर्णन करके उसकी उपासना का विषय कहा गया है ।

पदार्थ—हे **शक्र** शक्तिशाली परमेश्वर ! **यत्** क्योंकि, तुम **परावति** सुदूरस्थ सूर्य, नक्षत्र, चन्द्रमण्डल आदियों में अथवा पराविद्या से प्राप्तव्य मोक्षलोक में **असि** विद्यमान हो, और हे **वृत्रहन्** अविद्या आदि दोषों के विनाशक ! **यत्** क्योंकि, तुम **अर्वावति** समीप स्थित पर्वत, नदी, सागर आदि में अथवा अपरा विद्या से प्राप्तव्य इहलोक के ऐश्वर्य में **असि** विद्यमान हो, **अतः** इसलिए, हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली जगदीश्वर ! **सुतावान्** उपासना-रस को अभिषुत किये हुए यजमान **त्वा** तुम्हारी **द्युगत्** शीघ्र ही अथवा जिससे मोक्ष प्राप्त हो सके इस प्रकार **केशिभिः** ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशमान **गीर्भिः** वेदवाणियों से **आ विवासति** पूजा कर रहा है ॥२॥

१. ऋ० ८।९७।४ ।

२. द्युगत् क्षिप्रम्—इति वि० । दिवं स्तुतिं गच्छन् स्तुतवान् यजमानः—इति भ० । द्युगत् गम्लृ सृप्लृ गतौ क्विपि 'गमः क्वा' विति अनुनासिकलोपः । तुक् । सुपां सुलुगिति भिसो लुक् । द्युलोकं प्रति गच्छद्भिः स्वभासा सर्वतो गच्छद्भिः, केशिभिः केशवद्भिः हरिभिरिव स्थिताभिः गीर्भिः—इति सा० ।

इस मन्त्र में शक्र, वृत्रहन्, इन्द्र इन सबके इन्द्रवाचक प्रसिद्ध होने से पुनरुक्ति प्रतीत होती है, किन्तु योगार्थ ग्रहण करने से पुनरुक्ति का परिहार हो जाता है, अतः पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। 'वति, वति' तथा 'सुता, सति' में छेकानुप्रास है ॥२॥

भावार्थ—सब कर्म करने में समर्थ, दूर से दूर और समीप से समीप विद्यमान, अविद्या-पाप आदि के विनाशक, सब ऐश्वर्यों के स्वामी परमात्मा की ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश से भरपूर साममन्त्रों के गान से सबको भक्तिपरायण होकर शीघ्र ही उपासना करनी चाहिए और उसकी उपासना से ऐहिक तथा पारलौकिक आनन्द प्राप्त करना चाहिए ॥२॥

अथ परमेश्वरस्य स्तुतिगानाय प्रेरयन्नाह।

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २
२६५. अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महा विचेतसम्।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रं नाम श्रुत्यं शाकिनं वचो यथा ॥३॥[1]

३ २ ३ २ १ २ १ १ २ १ ३ २ ३ २ १ २ १ ३
अभि वः वीरम् अन्धसः मदेषु गाय। गिरा महा विचेतसम् वि चेतसम् ॥

१ २ १ १ २ १ १ २ १ ३ १ २ १ २ १ २ १
इन्द्रम् नाम श्रुत्यम् शाकिनम् वचः यथा ॥३॥

पदार्थः—हे उद्गातारः! **वः** यूयम् **अन्धसः** श्रद्धारसस्य **मदेषु** तृप्तियोगेषु सत्सु **महा** महत्या। मह पूजायाम् धातोः क्विपि तृतीयैकवचने रूपम्, यद्वा महद्वाचिनो महशब्दात् स्त्रियामाकारान्तात् तृतीयैकवचने 'सुपां सुलुक्० अ० ७।१।३९' इति पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः। **गिरा** वेदवाचा। **वीरम्** विक्रमशालिनम् यद्वा विशेषेण ईरयति कम्पयति शत्रूनिति वीरस्तम्। वीर विक्रान्तौ, यद्वा, विपूर्वः ईर गतौ कम्पने च। 'वीरो वीरयत्यमित्रान्, वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो, वीरयतेर्वा'। निरु० १।७। **विचेतसम्** विशिष्ट ज्ञानवन्तम्, **श्रुत्यम्** श्रुतिषु प्रसिद्धम्, **शाकिनम्**[2] शक्तिमन्तम् **इन्द्रं नाम** इन्द्रनामानं परमेश्वरम् **अभि** अभिलक्ष्य **वचः यथा**[3] यथा विधिवचनमस्ति तथा **गाय** गायत सामगानं कुरुत। अत्र वचनव्यत्ययः। यद्वा 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' इत्यात्मनेपदे विहितस्तकारलोपो बाहुलकात् परस्मैपदेऽपि भवति ॥३॥

इयं त्रिपदा पिपीलिकामध्या विराड् बृहती, आद्यन्तौ पादौ त्रयोदशाक्षरौ, मध्यमः पादोऽष्टाक्षरः ॥३॥

भावार्थः—कामक्रोधाद्यन्तःशत्रूणां मानवसमाजे भ्रष्टाचारिणां च स्ववीरतया पराजेता, सर्वज्ञः, श्रुतिषु ख्यातः, सर्वकर्मक्षमश्च परमेश्वरः सर्वैः सामगानपूर्वकमभ्यर्चनीयः ॥३॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर के स्तुतिगान की प्रेरणा की गयी है।

पदार्थ—हे उद्गाताओ! **वः** तुम **अन्धसः** श्रद्धारस की **मदेषु** तृप्तियों में **महा** महती **गिरा** वेदवाणी से **वीरम्** विक्रमशाली अथवा शत्रुओं को प्रकम्पित करने वाले, **विचेतसम्** विशिष्ट ज्ञान से पूर्ण, **श्रुत्यम्** श्रुतियों में प्रसिद्ध, **शाकिनम्** शक्तिमान् **इन्द्रं नाम** इन्द्र नामक परमेश्वर को **अभि** अभिलक्ष्य करके **वचः यथा** जैसा विधिवचन हो उसके अनुसार **गाय** गाओ, सामगान करो ॥३॥

---

१. ऋ० ८।४६।१४, ऋषिः वशोऽश्व्यः।

२. शाकिनम्। शाकनं शाकः, शक्तिरित्यर्थः। सा यस्यास्ति स शाकी। तं शाकिनम्, शक्तिमन्तमित्यर्थः—इति वि०।

३. श्रुत्यं वचो यथा। श्रुतौ भवं श्रुत्यम्। वचः वचनम्। यथा कश्चित् श्रुतौ भवं वचनं सत्यार्थत्वेन स्तौति तद्वत् स्तुहीत्यर्थः—इति वि०। वचः त्वदीयं यथा प्रवर्तते तथाभिगाय, न पुनरिन्द्रस्य गुणानुगुण्येन, तथा स्तोतुमशक्तेः—इति भ०। वाग् युष्मदीया यथा येन प्रकारेण प्रवर्तते गायत्र्या वा त्रिष्टुभा वा तथा गाय गायत स्तुतिं कुरुत—इति सा०।

भावार्थ—काम, क्रोध आदि आन्तरिक शत्रुओं को तथा मानव-समाज में भ्रष्टाचारियों को अपनी वीरता से पराजित करने वाले, सर्वज्ञ, वेदों में प्रसिद्ध, सब कार्य करने में समर्थ परमेश्वर की सबको सामगानपूर्वक अर्चना करनी चाहिए ॥३॥

अथ कीदृशं गृहं परमात्मशरणं वाऽस्माकं सुलभं भवेदित्याह ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
२६६. इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तये ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः ॥४॥[1]
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्र त्रिधातु त्रि धातु शरणम् । त्रिवरूथम् त्रि वरूथम् स्वस्तये सु अस्तये ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
छर्दिः यच्छ मघवद्भ्यः च मह्यम् च । यावय दिद्युम् एभ्यः ॥४॥

पदार्थः—**प्रथमो** राष्ट्रपरः । हे **इन्द्र** दुःखविदारक सुखप्रद परमैश्वर्यवन् राजन् ! त्वम् **मघवद्भ्यः च** राष्ट्रस्य बहुधनेभ्यो जनेभ्यश्च । अत्र भूम्न्यर्थे मतुप् । **मह्यं च** मह्यं सामान्यप्रजाजनाय च । **स्वस्तये** सुखाय, उत्तमास्तित्वाय, अविनाशाय वा । स्वस्तीत्यविनाशिनाम । अस्तिरभिपूजितः, स्वस्तीति । निरु० ३।२२ । **त्रिधातु**[2] त्रिभूमिकम् न्यूनान्न्यूनं त्रिकोष्ठं वा, **शरणम्** आश्रयितुं योग्यम्, **त्रिवरूथम्**[3] त्रयाणां शीतातपवर्षाणां निवारकम् । वृञ् आवरणे धातोः 'जॄवृभ्यामूथन् उ० २।६' इति ऊथन् प्रत्ययः । **छर्दिः** गृहम् । छर्दिरिति गृहनाम । निघं० ३।४ । **यच्छ** देहि । **एभ्यः** जनेभ्यः, **दिद्युम्** विद्युत्प्रकाशं च **यावय** यवय गृहेषु संयोजय । यु मिश्रणामिश्रणयोर्णिजन्तस्य रूपम् । संहितायाम् द्वयोरप्यचोः 'अन्येषामपि दृश्यते । अ० ६।३।१३७' इति दीर्घः । यद्वा, **एभ्यः** गृहेभ्यः अपादानभूतेभ्यः **दिद्युम्**[4] आकाशीयां विद्युतम् । द्युत दीप्तौ धातोः बाहुलकात् डु प्रत्यये, छान्दसे द्वित्वे, टिलोपे दिद्युः । अस्यैव धातोः क्विबन्तं रूपं दिद्युत् इति वज्रनाम निघं० २।१० । **यावय** पृथक् कुरु, भूमौ अतिवाहय । विद्युद्वाहकताम्रतारं संयोज्य तथा प्रबन्धं कुरु येनाकाशात् पतितापि विद्युद् गृहक्षतिकरी न भवेदित्यर्थः ॥

अथ **द्वितीयो** मानवशरीरपरः । हे **इन्द्र** परमेश्वर ! त्वम्, अस्य राष्ट्रस्य **मघवद्भ्यः** विद्या-स्वास्थ्यादिधनसंपन्नेभ्यो जनेभ्यः **मह्यं च** उपासकाय **स्वस्तये** कल्याणार्थम् पुनर्जन्मनि **त्रिधातु** त्रयो धातवः सत्त्वरजस्तमोरूपाः, वातपित्तकफरूपाः, प्राणमनोबुद्धिरूपाः, बाल्ययौवनस्थविरत्वरूपाः, अस्थि-मज्जावीर्यरूपा वा यत्र तादृशम्, **शरणम्** आत्मनोऽधिष्ठानभूतम्, **त्रिवरूथम्** त्रीणि ज्ञानकर्मोपासनारूपाणि वरूथानि वरणीयानि व्रतानि यत्र तादृशम् **छर्दिः** मानवशरीररूपं गृहम् **यच्छ** प्रदेहि । **एभ्यः** शरीरगृहेभ्यः **दिद्युम्** संतापकं रोगादिकं दुष्टकर्मादिकं च **यावय** पृथक् कुरु ॥

---

१. ऋ० ६।४६।६, अथ० २०।८३।१ ऋषिः शंयुः । उभयत्र 'स्वस्तये' इत्यत्र 'स्वस्तिमत्' इति पाठः ।

२. त्रिधातु । धातुशब्देन रसा उच्यन्ते । त्रयो रसाः देवपितृमनुष्योपभोग्याः, अपि वा धातवः कामक्रोधलोभादयः तैर्युक्तम् । अथवा सुवर्णरजतमाणिक्यैः त्रिभिर्धातुभिर्युक्तम् यत् त्रिधातुशरणं गृहम्···इति वि० । त्रिभूमिकम्—इति भ०, सा० ।

३. त्रिवरूथम् । वरणीयं ग्रीष्मवर्षाहेमन्तेषु चन्दनागुरुकुङ्कुमादिविलेपनं त्रिप्रकारकमपि अस्मिन् तत् त्रिवरूथम् । अथवा त्रिभिरग्निभिर्युक्तम् । वेदैस्त्रिभिर्देवैर्वा ब्रह्मविष्ण्वीशैः सवनैर्वा त्रिभिः उपेतमित्यर्थः—इति वि० । त्रयाणां वारकं वर्षवातातपानाम्—इति भ० । त्रयाणां शीतातपवर्षाणां वारकम्—इति सा० ।

४. यावय पृथक्कुरु यावत्प्रमाणकं दिद्युम् देयमस्मभ्यम् । अथवा दिद्युदिति वज्रनाम तस्यायं छान्दसः तकारलोपः, दिद्युतम्—इति वि० । आयुधं शत्रुभिः प्रहितम्—इति भ० । शत्रुप्रेरितं द्योतमानम् आयुधम्—इति सा० ।

अथ **तृतीयो**ऽध्यात्मपरः। हे **इन्द्र** दुःखविदारक सुखप्रद परमैश्वर्यशालिन् परमात्मन् ! त्वम् **मघवद्भ्यः** योगसिद्धिरूपधनवद्भ्यो योगिभ्यः **मह्यं च** योगसाधकाय **स्वस्तये** मोक्षरूपोत्तमास्तित्वलाभाय **त्रिधातु** त्रयो धातवः सत्त्वचित्त्वानन्दलक्षणा यत्र तत् **त्रिवरूथम्** त्रयाणाम् आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकरूपदुःखानां वरूथं निवारकम्, **छर्दिः** पापानामुद्वमनकारकम्। छर्द वमने धातोः 'अर्चि-शुचि-हु-सृपि-छदि-छर्दिभ्य इसिः' उ० २।११० इति इसिप्रत्ययः। **शरणम्** स्वकीयं शरणम् **यच्छ** प्रदेहि। **एभ्यः** योगारूढेभ्यो जनेभ्यः **दिद्युम्** उत्तेजकं कामक्रोधादिकम् **यावय** पृथक् कुरु ॥४॥[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः। पूर्वार्द्धे तकारानुप्रासः, उत्तरार्द्धे च यकारानुप्रासः ॥४॥

भावार्थः—राजसाहाय्येन राष्ट्रवासिनां निवासगृहाणि यथायोग्यं त्रिभूमिकानि, न्यूनान्यूनं त्रिकोष्ठानि, शीतातपवृष्टिभ्यस्त्राणकराणि, सर्वर्तुसुखकराणि, विद्युत्प्रकाशयुक्तानि, विद्युत्पातसहानि च भवेयुः। परमात्मनश्छत्रच्छायारूपं गृहमप्यस्माकं सुलभं भवेत्। किं च वयं सर्वदा तादृशानि सत्कर्माणि कुर्याम यैरस्माभिर्भूयो भूयो मानवशरीररूपं गृहमेव प्राप्येत। न कदाचित् तादृशेषु कर्मसु लिप्ता भवेम यैः सिंहव्याघ्रकीटपतङ्गस्थावरादियोनिषु जन्म गृह्णीयाम ॥४॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि कैसा घर, शरीर और कैसी परमात्मा की शरण हमें सुलभ हो।

पदार्थ—**प्रथम** राष्ट्र के पक्ष में। हे **इन्द्र** दुःख-विदारक, सुखप्रदाता, परमैश्वर्य के स्वामी राजन् ! आप **मघवद्भ्यः च** धनिकों के लिए **मह्यं च** और मुझ सामान्य प्रजाजन के लिए **स्वस्तये** सुख, उत्तम अस्तित्व व अविनाश के निमित्त **त्रिधातु** तीन मंजिलों वाला अथवा कम से कम तीन कोठों वाला **शरणम्** आश्रय-योग्य, **त्रिवरूथम्** सर्दी, गर्मी और वर्षा तीनों को रोकने वाला **छर्दिः** घर **यच्छ** प्रदान कीजिए। और **एभ्यः** इन जनों के लिए उक्त घर में **दिद्युम्** बिजुली के प्रकाश को भी **यावय** संयुक्त कीजिए, अथवा **एभ्यः** इन घरों से **दिद्युम्** आकाशीय बिजुली को **यावय** दूर कर दीजिए अर्थात्, घरों में विद्युद्-वाहक ताँबे का तार लगवाकर ऐसा प्रबन्ध करवा दीजिए कि आकाश से गिरी हुई बिजली भी घर को क्षति न पहुँचा सके।

द्वितीय मानव-शरीर के पक्ष में। हे **इन्द्र** परमेश्वर ! आप इस राष्ट्र के **मघवद्भ्यः** विद्या, स्वास्थ्य आदि धनों से सम्पन्न लोगों के लिए **मह्यं च** और मुझ उपासक के लिए **स्वस्तये** कल्याणार्थ, पुनर्जन्म में **त्रिधातु** सत्त्व-रजस्-तमस्रूप, वात-पित्त-कफरूप, प्राण-मन-बुद्धिरूप, बाल्यावस्था-यौवन-वार्धक्यरूप वा अस्थि-मज्जा-वीर्यरूप तीन धातुओं से युक्त, **शरणम्** आत्मा का आधारभूत, **त्रिवरूथम्** ज्ञान-कर्म-उपासनारूप तीन वरणीय व्रतों से युक्त **छर्दिः** मानव-शरीर रूप घर **यच्छ** प्रदान कीजिए और **एभ्यः** इन शरीर-गृहों से **दिद्युम्** संतापक रोग आदि तथा दुष्कर्म आदि को **यावय** दूर करते रहिए।

तृतीय अध्यात्म-परक। हे **इन्द्र** दुःखविदारक, सुखप्रदाता, परमैश्वर्यशाली परमात्मन् ! आप **मघवद्भ्यः** योगसिद्धिरूप धन के धनिक सिद्ध योगी जनों के लिए **मह्यं च** और मुझ योग-साधक के लिए **स्वस्तये** मोक्षरूप उत्तम अस्तित्व के प्राप्त्यर्थ **त्रिधातु** सत्त्व, चित्त्व और आनन्दरूप तीन धातुओं वाली,

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरिमं मन्त्रम् मनुष्याः कीदृशं गृहं निर्मिमीरन्निति विषये व्याख्यातवान्। तन्मते (त्रिधातु) त्रयः सुवर्णरजतताम्रा धातवो यस्मिँस्तत्, (त्रिवरूथम्) शीतोष्णवर्षासूत्तमम्, (शरणम्) आश्रयितुं योग्यम्, (स्वस्तिमत्) बहुसुखयुक्तम् (छर्दिः) गृहम् निर्मातव्यम्, तत्र (दिद्युः) सुप्रकाशश्च योजनीयः। एष च तत्कृतो भावार्थः—"मनुष्यैर्यत् सर्वर्तुषु सुखकरं धनधान्ययुक्तं वृक्षपुष्पफलशुद्धवायूदकधार्मिकधनाढ्यसमन्वितं गृहं तन्निर्माय तत्र निवसवीयं, यतः सर्वदाऽऽरोग्येण सुखं वर्धेत इति।

त्रिवरूथम् आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक रूप तीनों दुःखों को दूर करने वाली, **छर्दिः** पापों का वमन कराने वाली **शरणम्** अपनी शरण **यच्छ** प्रदान कीजिए। **एभ्यः** इन योग में संलग्न लोगों के हितार्थ **दिद्युम्** उत्तेजक काम, क्रोध आदि को **यावय** दूर कर दीजिए ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। पूर्वार्ध में तकार का अनुप्रास और उत्तरार्ध में यकार का अनुप्रास भी है ॥४॥

भावार्थ—राजकीय सहायता से राष्ट्रवासियों के रहने के घर यथायोग्य तिमंजिले, कम से कम तीन कोठों वाले, सर्दी-गर्मी-वर्षा से त्राण करने वाले, सब ऋतुओं में सुखकर, बिजली के प्रकाश से युक्त और आकाश की बिजली गिरने पर क्षतिग्रस्त न होने वाले हों। परमात्मा की छत्रछाया रूप घर भी हमें सुलभ हो। साथ ही हम सदा ऐसे कर्म करें जिनसे हमें पुनः पुनः मानव-शरीर-रूप घर ही मिले, कभी ऐसे कर्मों में लिप्त न हों जिनसे हमें शेर, बाघ, कीड़े-पतंगों की योनियों अथवा स्थावर योनियों में जन्म लेना पड़े ॥४॥

अथ परमात्मनो गुणकर्मस्वभावा अस्माभिर्धारणीया इत्याह।

२६७. श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।
वसूनि जातो जनिमान्योजसा प्रति भागं न दीधिमः ॥५॥[1]

श्रायन्तः इव सूर्यम्। विश्वा इत् इन्द्रस्य भक्षत॥
वसूनि जातः जनिमानि ओजसा। प्रति भागम् न दीधिमः ॥५॥

पदार्थः—हे मनुष्याः! **श्रायन्तः** फलपाकं कुर्वन्तो वृक्षादयः, परिपाकं कुर्वन्तो वह्न्यादयो वा। श्रै पाके धातोः शतरि रूपम्। **सूर्यम् इव** यथा सूर्यं सेवन्ते तथा **श्रायन्तः** स्वात्मनः परिपाकं कुर्वन्तो यूयम् **इन्द्रस्य** जगत्सम्राजः परमेश्वरस्य **विश्वा इत्** विश्वानि एव, सर्वाण्येव परोपकारित्व-दयालुत्व-न्यायकारित्वादीनि स्वरूपाणि **भक्षत** भजत, सेवध्वम्। भज सेवायाम् धातोर्लोटि सिब्विकरणश्छान्दसः। यद्वा भक्ष अदने भ्वादिः, तस्य रूपम्। अत्त, सेवध्वम्। **जातः** प्रसिद्धः स इन्द्रः परमेश्वरः **ओजसा** स्वकीयेन बलेन, समस्तानि **वसूनि** धनानि **जनिमानि** विविधानि जन्मानि च। जनी प्रादुर्भावे धातोः 'जनिमृङ्भ्यामिमनिन्' उ० ४।१५० इति इमनिन् प्रत्ययः। ददातीति शेषः। वयम् तम् इन्द्रम् **भागं न** यथा पुत्रः स्वदायभागं प्रतिदधाति प्रतिगृह्य स्वसमीपे धारयति तथा **प्रति दीधिमः** स्वहृदये धारयामः। दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः, अत्र धारणार्थः, परस्मैपदं छान्दसम्। यद्वा, दधातेरिदं छान्दसं रूपम्, प्रतिदीधिमः प्रतिदध्मः ॥५॥

एतन्मन्त्रस्य ऋग्वेदीयः पाठो यास्काचार्येणैवं व्याख्यातः—समाश्रिताः सूर्यमुपतिष्ठन्ते। अपि वोपमार्थे स्यात्, सूर्यमिवेन्द्रमुपतिष्ठन्ते। सर्वाणीन्द्रस्य धनानि विभक्षमाणाः, स यथा धनानि विभजति जाते च जनिष्यमाणे च। वयं तं भागमनुध्यायामौजसा बलेन। ओज ओजतेर्वा उब्जतेर्वा। निरु० ६।८।

अत्र द्वयोरुपमयोः संसृष्टिरलङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—सूर्यं विना फलादीनामिव परमेश्वरं विना जीवात्मनां परिपाको न जायते। यथा पुत्रा निजं निजं दायभागं स्वपार्श्वे धरन्ति, तथैव सर्वैः परमात्मा हृदि धारणीयः ॥५॥

---

१. ऋ० ८।९९।३, य० ३३।४१, अथ० २०।५८।१, सर्वत्र 'वसूनि जाते जनिमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम' इति पाठः। साम० १३१९।

अगले मन्त्र में यह विषय है कि परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव हमें धारण करने चाहिएँ।

पदार्थ—हे मनुष्यो ! **श्रायन्तः** फल पकाने वाले वृक्ष आदि अथवा पकाने वाले अग्नि आदि **सूर्यम् इव** जैसे सूर्य का सेवन करते हैं, वैसे **श्रायन्तः** अपने आत्मा को परिपक्व करते हुए तुम लोग **इन्द्रस्य** जगत् के सम्राट् परमेश्वर के **विश्वा इत्** सभी परोपकार, दयालुता, न्यायकारिता आदि स्वरूपों का **भक्षत** सेवन करो। **जातः** प्रसिद्ध वह परमेश्वर **ओजसा** अपने बल से **वसूनि** समस्त धनों को, और **जनिमानि** विविध जन्मों को देता है। हम **भागं न** जैसे पुत्र दायभाग को ग्रहण कर अपने पास रख लेता है, वैसे ही उस इन्द्र परमेश्वर को **प्रतिदीधिमः** अपने हृदय में धारण करते हैं ॥५॥

इस मन्त्र में दो उपमालंकारों की संसृष्टि है ॥५॥

भावार्थ—जैसे सूर्य के बिना फल आदि नहीं पकते हैं, ऐसे ही परमेश्वर के विना जीवात्माओं का परिपाक नहीं होता है। जैसे पुत्र अपने दायभाग को अपने पास रख लेते हैं, ऐसे ही सबको चाहिए कि परमात्मा को अपने अन्दर धारण करें ॥५॥

अथ पुरुषार्थी मानव एव जीवने सफल इत्याह।

२६८. न सीमदेव आप तदिषं दीर्घायो मर्त्यः।
एतग्वा चिद्य एतशो युयोजत इन्द्रो हरी युयोजते ॥६॥[1]

न सीम् अदेवः अ देवः आप तत्। इषम् दीर्घायो दीर्घ आयो मर्त्यः॥
एतग्वा एत ग्वा चित् यः एतशः युयोजते। इन्द्रः हरीइति युयोजते ॥६॥

पदार्थः—हे **दीर्घायो**[2] दीर्घायुष्क यजमान ! **अदेवः** दीव्यति विजिगीषते द्योतते वा सः देवः, न देवः अदेवः निस्तेजस्को महत्त्वाकाङ्क्षाहीनश्च। नञ्स्वरेणाद्युदात्तत्वम्। **मर्त्यः** मनुष्यः **तत्** तां प्रसिद्धाम्। अत्र 'सुपां सुलुग्' अ० ७।१।३९ इति विभक्तेर्लुक्। **इषम्** इष्यते इति इट् ताम् अभीप्सितं विजयसाम्राज्यमोक्षादिकम् **न सीम् आप**[3] न खलु प्राप्नोति। सीम् इति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा, निरु० १।६। **यः** यजमानः **एतशः** गतिशीलः कर्मण्यो भूत्वा। एतीति एतशः। इण् गतौ धातोः 'इणस्तशन्तसुनौ' उ० ३।१४७ इति तशन् प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। **एतग्वा** एतग्वौ शीघ्रगामिनौ ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपौ मनःप्राणरूपौ वा अश्वौ। एतग्वः इत्यश्वनाम। निघं० १।१४। 'सुपां सुलुक्' इति द्वितीयाद्विवचनस्य आकारादेशः। **चित्** खलु **युयोजते** कार्येषु युनक्ति। युजिर योगे, रुधादिः, लेटि व्यत्ययेन श्लुः, 'लेटोऽडाटौ' अ० ३।४।९४ इत्यडागमः। तं प्रति **इन्द्रः** परमेश्वरोऽपि **हरी** स्वकीयौ ज्ञानकर्मरूपौ अश्वौ **युयोजते** युनक्ति, ज्ञानेन कर्मणा च तत्साहाय्यं विधत्ते इति भावः ॥६॥

भावार्थः—मनुष्यैर्विद्याविस्तार-रिपुविजय-चक्रवर्तिसाम्राज्य-मोक्षादिकं लक्ष्यं विधाय मनोबुद्धिप्राणज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियादीनि साधनानि चोपयुज्य कर्मण्यतामङ्गीकृत्य पुरुषार्थो विधेयो, यतोऽलसानां परमेश्वरोऽपि सहायको न भवति ॥६॥

---

१. ऋ० ८।७०।७, 'आपदिषं', 'एतशा युयोजते हरी इन्द्रो युयोजते' इति पाठः।

२. हे दीर्घायो दीर्घजीवित मदीय अन्तरात्मन्—इति वि०। हे दीर्घायो पुरुहन्मन्—इति भ०। हे दीर्घायो इन्द्र नित्येन्द्र—इति सा०।

३. माधवभरतस्वामिसायणास्तु 'आपतत्' इत्येकं पदं मत्वा व्याचक्षते। 'न आपतत् न प्राप्नोतीत्यर्थः'—इति वि०। नाप्नुयात्—इति भ०। न प्राप्नोति—इति सायणः। तच्चिन्त्यं पदकारविरोधात् स्वरविरोधाच्च।

अगले मन्त्र का यह विषय है कि पुरुषार्थी मानव ही जीवन में सफल होता है।

पदार्थ—हे **दीर्घायो** दीर्घायु यजमान ! **अदेवः** जो देव अर्थात् तेजस्वी और महत्त्वाकांक्षी नहीं है वह **मर्त्यः** मनुष्य **तत्** उस प्रसिद्ध **इषम्** अभीप्सित विजय, साम्राज्य, मोक्ष आदि को **न सीम् आप** नहीं प्राप्त कर पाता। **यः** जो यजमान **एतशः** गतिशील एवं कर्मण्य होकर **एतग्वा** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-रूप अथवा मन-प्राण-रूप अश्वों को **चित्** निश्चय ही **युयोजते** कार्यों में नियुक्त करता है, उसके प्रति **इन्द्रः** परमेश्वर भी **हरी** अपने ज्ञान-कर्म-रूप अश्वों को **युयोजते** नियुक्त करता है, अर्थात् ज्ञान और कर्म से उसकी सहायता करता है।

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि विद्याविस्तार, शत्रुविजय, चक्रवर्ती साम्राज्य, मोक्ष आदि को लक्ष्य बनाकर मन, बुद्धि, प्राण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय आदि साधनों का उपयोग कर, कर्मण्यता को स्वीकार कर पुरुषार्थ करें, क्योंकि आलसी लोगों का परमेश्वर भी सहायक नहीं होता है ॥६॥

अथ सर्वत्र समरेषु परमेश्वरो हव्योऽस्तीत्याह।

२६९. **आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्रं समत्सु भूषत।**
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन् परमज्या ऋचीषम ॥७॥[1]

आ नः विश्वासु हव्यम्। इन्द्रम् समत्सु स मत्सु भूषत॥
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन् वृत्र हन्। परमज्याः परम ज्याः ऋचीषम ॥७॥

पदार्थः—हे मनुष्याः ! यूयम् **विश्वासु समत्सु** सर्वेषु देवासुरसंग्रामेषु। समत् इति संग्रामनाम। निघं० २।१७। **नः** अस्माकम् युष्माकं च **हव्यम्** आह्वातुं योग्यम् **इन्द्रम्** शत्रुविदारकं परमात्मानम् **आ भूषत** नेतृपदे अलंकुरुत। भूष अलंकारे, भ्वादिः। हे **वृत्रहन्** पापादीनाम् असुराणां हन्तः ! हे **ऋचीषम**[2] वेदज्ञानां सत्कर्तः ! ऋक्षु ईषा गतिर्येषां ते ऋगीषाः, चकारस्य प्रकृतिभावे ऋचीषाः, तान् मानयतीति ऋचीषमः। मान पूजायाम् धातोर्ड प्रत्ययः, डित्वाट्टिलोपः। यद्वा, हे स्तोतॄणां मानप्रद ! ऋचन्ति स्तुवन्तीति ऋचीषाः। ऋच स्तुतौ धातोर्बाहुलकादौणादिक ईषन् प्रत्ययः। तान् मानयतीति ऋचीषमः। यद्वा, ऋचीषम स्तुत्यनुरूप परमात्मन् ! ऋचीषमः ऋचासमः। निरु० ६।२३। **परमज्याः**[3] परमान् प्रबलान् कामक्रोधादीन् रिपून् जिनाति विनाशयतीति तादृशः। परमोपपदात् ज्या वयोहानौ इति धातोः क्विपि रूपम्। त्वम् **ब्रह्माणि** अस्माकं स्तोत्राणि **सवनानि**[4] जीवनयज्ञस्य बाल्य-यौवन-वार्द्धक्य-रूपाणि

१. ऋ० ८।९०।१, अथ० २०।१०४।३। उभयत्र 'हव्य इन्द्रः समत्सु भूषतु' इति 'वृत्रहा परमज्या ऋचीषमः' इति च पाठः। अथर्ववेदे ऋषिः नृमेधः। साम० १४९२।

२. ऋचीषमः। ऋचीत्यनेन शब्देन स्तुतिरुच्यते। ऋच स्तुताविति धातोस्तुत्यर्थत्वात्। यावन्तः स्तुतौ गुणाः तैः सर्वैर्युक्त इत्यर्थः—इति वि०। ऋचा स्तुत्या सदृश—इति भ०। स्तुतिभिरभिमुखीकरणीयेन्द्र—इति सा०। 'ऋच्यन्ते स्तूयन्ते त ऋचीषाः तान् अतिमान्यान् करोति, अत्र ऋच धातोर्बाहुलकादौणादिकः कर्मणि ईषन् प्रत्ययः' इति ऋ० १।६१।१ भाष्ये, ऋचा तुल्य प्रशंसनीय इति च ऋ० ६।४६।४ भाष्ये द०।

३. परमा उत्कृष्टा ज्या यस्य स परमज्याः। परमो वा शत्रूणां जेता परमज्याः—इति वि०। परमम् अत्यर्थं क्षपयिता शत्रूणाम्—इति भ०। युद्धेषु शत्रुहननार्थं परमा अविनश्वरा ज्या मौर्वी यस्य तथोक्तः। यद्वा परमान् बलेन प्रकृष्टान् शत्रून् जिनाति हिनस्तीति परमज्याः—इति सा०।

४. द्रष्टव्यम्—छा० उ० ३।१६। पुरुषो वाव यज्ञः, तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत् प्रातः सवनम्।···अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद् वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनम्।···अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि तत् तृतीयसवनम् इत्यादि।

प्रातर्माध्यन्दिनसायंसवनानि **उप** उपगच्छ प्राप्नुहि । उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ॥७॥

भावार्थः—मनुष्यस्य जीवने ये बाह्या आन्तरिकाश्च देवासुरसंग्रामा उपतिष्ठन्ति तेषु यदि स परमेश्वरं स्मृत्वा ततो बलं याचेत तर्हि सर्वानपि प्रतिपक्षिणो जेतुमर्हति ॥७॥

अगले मन्त्र में यह विषय वर्णित है कि सर्वत्र युद्धों में परमेश्वर आह्वान करने योग्य है ।

पदार्थ—हे मनुष्यो ! तुम **विश्वासु समत्सु** सब देवासुर-संग्रामों में **नः** हमारे और तुम्हारे, सबके **हव्यम्** पुकारने योग्य **इन्द्रम्** शत्रुविदारक परमात्मा को **आभूषत** नेता के पद पर अलंकृत करो । हे **वृत्रहन्** पाप आदि असुरों के विनाशक, हे **ऋचीषम** वेदज्ञों का सत्कार करने वाले, स्तोताओं को मान देने वाले, स्तुति के अनुरूप परमात्मन् ! **परमज्याः** प्रबल कामक्रोधादि रिपुओं के विध्वंसक, आप **ब्रह्माणि** हमारे स्तोत्रों को और **सवनानि** जीवनरूप यज्ञ के बचपन-यौवन-बुढ़ापा रूप प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन तथा सायंसवनों को **उप** प्राप्त होवो ॥७॥

भावार्थ—मनुष्य के जीवन में जो बाह्य और आन्तरिक देवासुर-संग्राम उपस्थित होते हैं, उनमें यदि वह परमेश्वर को स्मरण कर उससे बल प्राप्त करे तो सभी प्रतिद्वन्द्विओं को पराजित कर सकता है ॥७॥

अथ जगति विद्यमानं सर्वं धनं परमात्मन एवेत्याह ।

२७०. तवेदिन्द्रावमं वसु त्वं पुष्यसि मध्यमम् ।
सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि न किष्ट्वा गोषु वृण्वते ॥८॥[1]
तव इत् इन्द्र अवमम् वसु । त्वम् पुष्यसि मध्यमम् ॥
सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि । न किः त्वा गोषु वृण्वते ॥८॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर ! **अवमम्** अवरं पृथिवीस्थं शरीरस्थं वा **वसु** धनम् **तव इत्** तवैव अस्ति । **त्वम्** त्वमेव **मध्यमम्** मध्यलोकेऽन्तरिक्षे मनोलोके वा विद्यमानम् धनम् **पुष्यसि** परि पुष्णासि । **सत्रा**[2] सत्यमेव सर्वदा वा, त्वम् **विश्वस्य** सर्वस्य **परमस्य** परमे द्युलोके आत्मलोके वा विद्यमानस्य धनस्यापि **राजसि** राजा वर्तसे ।[3] **त्वा** त्वाम् **गोषु** पृथिव्यादिलोकेषु, यद्वा गवाद्यैश्वर्याणां दानेषु, **न किः** नैव केचित् **वृण्वते** वारयितुं शक्नुवन्ति । वृञ् वरणे स्वादिः, अत्र वारणार्थः ॥८॥[4]

भावार्थः—अवमे पृथिवीलोके यद् रजत-हिरण्य-मणि-मुक्ता-हीरक-कन्द-फल-रस-धेनु-तुरग-सन्तानादिकं वसु विद्यते, मध्यमेऽन्तरिक्षलोके यद् विद्युन्मेघग्रहचन्द्रादिकम् ऐश्वर्यं वर्तते, परमे द्युलोके च यत् सूर्यरश्मितारामण्डलादिकं वित्तं वर्वर्ति, तस्य सर्वस्य परमेश्वर एव राजाऽस्ति । तथैवास्माकमध्यात्मजगति स्थूलशरीरस्य त्वगस्थिमज्जावीर्यज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियादिरूपं यद् वसु विद्यते, मध्यमस्य मनोलोकस्य यन्मनोबुद्धिचित्ताहंकाररूपं तत्तत्संकल्पबलादिरूपं च यद् वसु वर्तते, परमलोकस्य आत्मनश्च

१. ऋ० ७।३२।१६ ।
२. सत्रा सर्वदा—इति वि० । सत्यमेव—इति भ०, सा० ।
३. अवमं त्रपुसीसादिकं वसु । मध्यमं रजतहिरण्यादिकं वसु । परमस्य श्रेष्ठस्य रत्नादिकवसुनः ।'''यद्वा अवमं वसु पार्थिवम्, मध्यममान्तरिक्ष्यम्, परमं दिव्यम्—इति भ०, तदेव सायणस्याभिमतम् ।
४. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतमृग्भाष्ये राजविषये व्याख्यातवान् ।

यद् ज्ञानादिकमैश्वर्यं विद्यते तस्यापि परमेश्वर एव शासकः पोषकश्चास्ति। तस्य परमेश्वरस्य पृथिव्यादिलोकेषु कुत्रापि गतिर्न विहन्यते। स स्वकीयादैश्वर्यात् यत्किञ्चिदपि गवादिकं यस्मै कस्मैचिद् दातुमिच्छति तस्मै तस्य दानमपि न कश्चिद् वारयितुं शक्नोति ॥८॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि संसार में विद्यमान सब धन परमात्मा का ही है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर ! **अवमम्** निचला अर्थात् पृथिवी अथवा शरीर में स्थित **वसु** धन **तव इत्** तेरा ही **है**। **त्वम्** तू ही **मध्यमम्** मध्यलोक अन्तरिक्ष में अथवा मनरूपी लोक में विद्यमान धन को **पुष्यसि** परिपुष्ट करता है। **सत्रा** सचमुच हो तू **विश्वस्य** सब **परमस्य** उच्च द्यौलोक में अथवा आत्मलोक में विद्यमान धन का भी **राजसि** राजा है। **त्वा** तुझे **गोषु** पृथिवी आदि लोकों में अथवा गाय आदि धनों के दानों में **न किः** कोई भी नहीं **वृण्वते** रोक सकते हैं ॥८॥

भावार्थ—निचले भूलोक में जो चाँदी, सोना, मणि, मौती, हीरे, कन्द, फल, रस, गाय, घोड़े, सन्तान आदि ऐश्वर्य है, बीच के अन्तरिक्षलोक में जो बिजली, बादल, ग्रह, चन्द्रमा आदि ऐश्वर्य है, और उच्च द्युलोक में जो सूर्यकिरण, तारामण्डल आदि धन है, उस सबका परमेश्वर ही राजा है। उसी प्रकार हमारे अध्यात्म-जगत् में स्थूल शरीर का त्वचा, हड्डी, मज्जा, वीर्य, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय आदि जो धन है, बीच के मनोलोक का जो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप धन है, और परम लोक आत्मा का जो ज्ञान आदि ऐश्वर्य है, उसका भी परमेश्वर ही शासक और पोषक है। उस परमेश्वर की पृथिवी आदि लोकों में कहीं भी गति रोकी नहीं जा सकती। वह अपने ऐश्वर्य में से जो कुछ भी गाय आदि धन जिस किसी को भी देना चाहता है उसके उस दान में भी कोई विघ्न नहीं डाल सकता है ॥८॥

अथ परमात्मानं राजानं वाऽऽह्वयति।

२७१. क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः।
अलर्षि युध्म खजकृत् पुरन्दर प्र गायत्रा अगासिषुः ॥९॥[1]

क्व इयथ क्व इत् असि। पुरुत्रा चित् हि ते मनः॥ अलर्षि युध्म खजकृत् खज कृत् पुरन्दर पुरम् दर। प्र गायत्राः अगासिषुः ॥९॥

पदार्थः—हे इन्द्र जगदीश्वर राजन् वा ! त्वम् **क्व** कुत्र **इयथ** इयेथ गतोऽसि। इण् गतौ धातोर्लिटि मध्यमैकवचने 'इयथिथ, इयेथ' इत्यस्य स्थाने छान्दसं रूपम्। **क्व इत्** कुत्र खलु **असि** विद्यसे ? **पुरुत्रा चित्** बहुषु एव, बहूनाम् उद्धारे इत्यर्थः। पुरु इति बहुनाम। निघं० ३।१। 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्। अ० ५।४।५६' इति सप्तम्यर्थे त्रा प्रत्ययः। **ते** तव **मनः** चित्तम्, तिष्ठतीति शेषः। हे **युध्म** युद्धकुशल ! योद्धुं शीलं यस्य स युध्मः। युध सम्प्रहारे धातोः 'इषियुधीन्धि०। उ० १।१४५' इति मक् प्रत्ययः। हे **खजकृत्** शत्रुमन्थनकर्तः ! खज मन्थे। शत्रुमन्थनकारणादेव खज इति संग्रामनाम। निघं० २।१७। हे **पुरन्दर** शत्रुपुरां विदारयितः ! त्वम् **अलर्षि**[2] इयर्षि, कर्मव्यापृतोऽसि। ऋ गतौ धातोर्लटि, सिपि 'दाधर्तिदर्धर्ति०। अ० ७।४।६५' इत्यभ्यासस्य हलादिशेषाभावः, रेफस्य

---

१. ऋ० ८।१।७।

२. अलर्षि गच्छसि शत्रून् प्रति—इति वि०। हिंसि शत्रून्—इति भ०। आगच्छ—इति सा०।

लत्वम् इत्वाभावश्च निपात्यते। **गायत्राः**[1] प्रभुस्तुतेः राष्ट्रगानस्य वा गायका जनाः **प्र अगासिषुः** प्रकर्षेण तव यशोगानं कुर्वन्ति।

वस्तुतः परमात्माऽस्मान् परित्यज्य न कुत्रापि गच्छति, वयमेव तं परित्यजामः। भाषाशैलीयं यत् स्वात्मन उपालम्भस्थाने परमात्मोपालभ्यते। क्वचित् परमात्मनि निरनुग्रहे सति स्वात्मैवोपालब्धः। यथा—"किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत् स्तोतारं जिघांससि सखायम्। प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम्" ऋ० ७।८६।४ इति। सेयं द्विविधापि शैली वेदेषु सम्प्रयुक्ता। नृपतिपक्षे तु शत्रुपीडितैः प्रजाजनैर्नृपतिराहूयते समुद्बोध्यते चेति ज्ञेयम् ॥९॥

अत्रार्थश्लेषोऽलङ्कारः। 'क्वे, क्वे' इति छेकानुप्रासः। 'युध्म, खजकृत्, पुरन्दर' इत्यत्र च पुनरुक्तवदाभासः ॥९॥

भावार्थः—यथा कामक्रोधादिभिः शत्रुभिः पीडिता जनाः सहायतार्थं परमात्मानमाह्वयन्ति, तथैव मानवशत्रुभिर्दैवीभिर्विपत्तिभिश्च समुद्वेजिता आर्ताः प्रजाजना राजानमाकारयन्ति ॥९॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा का आह्वान किया गया है।

पदार्थ—हे इन्द्र जगदीश्वर अथवा राजन्! तू **क्व** कहाँ **इयथ** चला गया है? **क्व इत्** कहाँ **असि** है? **पुरुत्रा चित्** बहुतों में अर्थात् बहुतों के उद्धार में **ते** तेरा **मनः** मन लगा हुआ है। हे **युध्म** युद्धकुशल! हे **खजकृत्** शत्रुओं का मन्थन करने वाले! हे **पुरन्दर** शत्रु की नगरियों को विदीर्ण करने वाले! तू **अर्लषि** गतिमय अर्थात् कर्मण्य है। **गायत्राः** प्रभुस्तुति के अथवा राष्ट्रगान के गायक जन **अगासिषुः** तेरा यशोगान कर रहे हैं।

वास्तव में परमात्मा हमें छोड़कर कहीं नहीं चला जाता, हम ही उसे छोड़ते हैं। यह भाषा की शैली है कि स्वयं को उपालम्भ देने के स्थान पर परमात्मा को उपालम्भ दिया जा रहा है। कहीं-कहीं परमात्मा के अनुग्रह-रहित होने पर स्वयं को ही उपालम्भ दिया गया है। जैसे "हे वरुण परमात्मन्! मुझसे क्या अपराध हो गया है कि आप मुझ अपने सबसे बड़े स्तोता का वध करना चाह रहे हैं? मेरा अपराध मेरे ध्यान में ला दीजिए, जिससे मैं उस अपराध को छोड़कर नमस्कारपूर्वक आपकी शरण में आ सकूँ।" ऋ० ७।८६।४। एवं दोनों प्रकार की शैली वेदों में प्रयुक्त हुई है। राजा-परक अर्थ में शत्रु से पीड़ित प्रजाजन राजा को पुकार रहे हैं और उसे उद्बोधन दे रहे हैं, यह समझना चाहिए ॥९॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है। 'क्वे क्वे' में छेकानुप्रास और 'युध्म, खजकृत्, पुरन्दर' में पुनरुक्तवदाभास है ॥९॥

भावार्थ—जैसे काम-क्रोध आदि शत्रुओं से पीड़ित जन सहायता के लिए परमात्मा को पुकारते हैं, वैसे ही मानव-शत्रुओं से और दैवी विपत्तियों से व्याकुल किये गये आर्त प्रजाजन राजा को बुलाते हैं ॥९॥

अथ परमात्मविषयो राजविषयश्चोच्यते।

३ १ २ ३ १ १ २ १ ३ २ ३ १ २
२७२. वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम्।
१ २ ३ १ १ २ १ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
तस्मा उ अद्य सवने सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते ॥१०॥[2]

१. गायत्राः मन्त्राः—इति वि०। गानकुशलाः स्तोतारः—इति भ०। गानकुशला अस्मदीयाः स्तोतारः—इति सा०।

२. ऋ० ८।६६।७, अथ० २०।९७।१, साम० १६९१।

वयम् एनम् इदा ह्याः । अपीपेम इह वज्रिणम् ॥ तस्मै उ अद्य अ द्य सवने सुतम्
भर । आ नूनम् भूषत श्रुते ॥१०॥

पदार्थः—**प्रथमो**ऽध्यात्मपरः । **वयम्** उपासकाः **एनम्** एतं विश्रुतगुणम् **वज्रिणम्** दुर्जनेषु दुर्गुणेषु वा वज्रधारिणं, स्वशक्त्या तेषां विनाशकमित्यर्थः, इन्द्रं परमेश्वरम् **इदा** इदानीम् । 'तयोर्दाहिलौ च छन्दसि । अ० ५।३।२० इति इदम् शब्दात् कालेऽर्थे सप्तम्या दा आदेशः । **ह्याः** गतदिवसे च **इह** अस्मिन् उपासनायज्ञे **अपीपेम** स्तुतिगानेन स्वहृदि अवर्धयाम, प्रसादितवन्तः इत्यर्थः । ओप्यायी वृद्धौ धातोर्णिजन्तात् यङ्लुकि प्यायः पी आदेशे रूपम् । हे भ्रातः ! त्वमपि **तस्मै उ** तस्मै इन्द्राय परमेश्वराय खलु **अद्य** अस्मिन् दिने **सवने** जीवनयज्ञे **सुतम्** श्रद्धारूपं सोमरसम् **भर** हृदये धारय अर्पय वा । भृञ् भरणे भ्वादेः हृञ् हरणे इत्यस्य वा रूपम् । हे सखायः ! यूयम् सर्वेऽपि **नूनम्** निश्चयेन **श्रुते** वेदादिद्वारा तन्महिम्नि श्रुते सति **आभूषत** तं स्तोत्ररूपैरुपहारैरलंकुरुत तेन स्वहृदयं वा अलंकुरुत । भूष अलङ्कारे, भ्वादिः ।

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रपरः । **वयम्** जनाः **वज्रिणम्** दुष्टेषु शत्रुषु तस्करवञ्चकलुण्ठकादिषु च वज्रहस्तं, दण्डधारिणम् **एनम्** इन्द्रं सम्राजम् **इदा** इदानीं वर्तमानकाले **ह्याः** गते च काले **इह** अस्मिन् राष्ट्रयज्ञे **अपीपेम** करप्रदानेन वर्द्धितवन्तः । **हे भ्रातः** त्वमपि **तस्मै उ** तस्मै सम्राजे **अद्य** अद्यतने काले **सवने** राष्ट्रयज्ञे **सुतम्** स्वकीयात् आयराशेरभिषुतं पृथक्कृतं राजदेयं करम् **भर** प्रदेहि । हे इतरे प्रजाजनाः ! यूयमपि **नूनम्** निश्चयेन **श्रुते** तदादेशे आकर्णिते सति, तम् **आभूषत** स्वस्वदेयांशदानेन अलंकुरुत ॥१०॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१०॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैर्दुर्जनानां दुर्गुणानां च विनाशकः सज्जनानां सद्गुणानां च पोषकः परमेश्वर उपासनीयः । तथैव दुष्टानां रिपूणां, चौरलम्पटप्रतारकलुण्ठकादीनाम्, अशान्तिप्रसारकाणां च दण्डयिता सज्जनानां शान्तिप्रियाणां च निवासकः सम्राडपि सर्वैः करप्रदानेन सम्माननीयः ॥१०॥

अत्रेन्द्रस्य गुणानुपवर्ण्य तन्महिमानं गातुं प्रेरणात्, ततो गृहादिकस्य याचनात्, तस्याह्वानाद्, इन्द्रनाम्ना नृपादीनां चापि वर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन संगतिरस्ति ॥

इति तृतीये प्रपाठके द्वितीयार्धे तृतीया दशतिः ।
इति तृतीयाध्याये चतुर्थः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा का विषय वर्णित है ।

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्म पक्ष में । **वयम्** हम उपासक लोग **वज्रिणम्** दुर्जनों वा दुर्गुणों के प्रति वज्रधारी अर्थात् उनके विनाशक, **एनम्** प्रसिद्ध गुणों वाले इस इन्द्र परमेश्वर को **इदा** इस समय और **ह्याः** कल **इह** इस उपासना-यज्ञ में **अपीपेम** स्तुतिगान से रिझा चुके हैं । हे भाई ! तू भी **तस्मै उ** उस इन्द्र परमेश्वर के लिए **अद्य** आज **सवने** अपने जीवन-यज्ञ में **सुतम्** श्रद्धारूप सोमरस को **भर** हृदय में धारण कर अथवा अर्पित कर । हे साथियो ! तुम सब भी **नूनम्** निश्चय ही **श्रुते** वेदादि द्वारा उसकी महिमा सुनी जाने पर, उसे **आभूषत** स्तोत्ररूप उपहारों से अलंकृत करो ॥

द्वितीय—राष्ट्र के पक्ष में । **वयम्** हम लोगों ने **वज्रिणम्** दुष्ट शत्रुओं तथा चोर, ठग, लुटेरों आदियों के प्रति दण्डधारी **एनम्** इस अपने सम्राट् को **इदा** वर्तमान काल में, और **ह्याः** भूतकाल में **इह** इस राष्ट्र-यज्ञ में **अपीपेम** कर-प्रदान द्वारा बढ़ाया है । हे भाई ! तू भी **तस्मै उ** उस सम्राट् के लिए

अद्य आज **सवने** राट्रूप यज्ञ में **सुतम्** अपनी आमदनी की राशि में से पृथक् किये हुए राजदेय कर को **भर** प्रदान कर। हे दूसरे प्रजाजनो ! तुम भी **नूनम्** निश्चयपूर्वक **श्रुते** राजाज्ञा के सुनने पर, राजा को **आभूषत** अपना-अपना देय अंश देकर अलंकृत करो ॥१०॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१०॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिए कि दुर्जनों और दुर्गुणों के विनाशक तथा सज्जनों और सद्-गुणों के पोषक परमेश्वर की उपासना करें। उसी प्रकार दुष्ट शत्रुओं, चोर, लम्पट, ठग, लुटेरे आदियों तथा अशान्ति फैलाने वालों को दण्ड देने वाले और सज्जनों तथा शान्ति के प्रेमियों को बसाने वाले सम्राट् का भी कर (टैक्स) देकर सम्मान करना चाहिए ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र के गुणों का वर्णन करके उसकी महिमा गाने की प्रेरणा होने से, उससे गृह आदि की याचना होने से, उसका आह्वान होने से और इन्द्र नाम से राजा आदि का भी वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

तृतीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की तृतीय दशति समाप्त।
तृतीय अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥

॥९॥ अथ 'यो राजा चर्षणीनाम्' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१,६ पुरुहन्मा; २ भर्गः; ३ इरिम्बिठिः; ४ जमदग्निः; ५, ७ देवातिथिः; ८ वसिष्ठः; ९ भरद्वाजः; १० बालखिल्याः ॥ देवता—१-३, ५-८, १० इन्द्रः, ४ सूर्यः; ९ इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

अथ परमात्मनो राज्ञश्च गुणान् वर्णयति।

२७३. यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठं यो वृत्रहा गृणे ॥१॥[1]
यः राजा चर्षणीनाम्। याता रथेभिः अध्रिगुः अध्रि गुः ॥ विश्वासाम् तरुता पृतनानाम्। ज्येष्ठम् यः वृत्रहा वृत्र हा गृणे ॥१॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। **यः** इन्द्रः परमेश्वरः **चर्षणीनाम्** मनुष्याणाम् **राजा** सम्राट्, **रथेभिः** रथैरिव इति लुप्तोपमम्, **याता** सज्जनान् गन्ता, **अध्रिगुः**[2] अधृतगमनः, शत्रुभिरप्रतिरुद्धगतिः, **विश्वासाम्** समस्तानाम् **पृतनानाम्** शत्रुसेनानाम्, कामजक्रोधजादिगणानाम् **तरुता**[3] उल्लङ्घयिता, पराजेता वर्तते। त प्लवनसंतरणयोः तृचि 'ग्रसितस्कभितस्तभित० अ० ७।२।३४' इति उडागमो निपात्यते। **यः** यश्च इन्द्रः परमेश्वरः **वृत्रहा** पापहन्ता विद्यते, तम् **ज्येष्ठम्** गुणैः प्रशस्यतमम्, अनादित्वाद् वयसाऽपि च वृद्धतमम्।

---

१. ऋ० ८।७०।१, अथ० २०।९२।१६, २०।१०५।४ सर्वत्र 'ज्येष्ठं' इत्यत्र ज्येष्ठो इति पाठः। साम० ९३३।

२. द्रष्टव्यम्—निरु० ५।११ यत्र गवि अधिकृतत्वान्मन्त्रः, तच्छब्दवत्त्वात् प्रशासनम्, अधृतगमनत्वात् कर्मवत्त्वाच्च अग्निरिन्द्रश्च अध्रिगुशब्दवाच्यानि उक्तानि।

३. विश्वासां तरुता पृतनानां सर्वासां निस्तारिता, जेता सङ्ग्रामभूमीनाम्—इति वि०। तरुता हन्ता—इति भ०। तारकः इति सा०।

अतिशयेन प्रशस्यो वृद्धो वेत्यर्थे इष्ठनि 'ज्य च' 'वृद्धस्य च' अ० ५।३।६१,६२ इति क्रमशः प्रशस्यवृद्धाभ्यां ज्यादेशः। अहम् **गृणे** स्तौमि अर्चामि वा। गॄ शब्दे, क्र्यादिः, गृणाति. अर्चतिकर्मा। निघं० ३।१४। स्तुतिकर्मा। निरु० ३।५।

कामजक्रोधजगणाः मनुना एवं वर्णिताः—मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः। तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः॥ पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्। वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः। (मनु० ७।४७,४८)। एवं लोभादिगणा अपि विज्ञेयाः। उपासनाप्रतिरोधकान् तान् शत्रुगणान् परमेश्वरः पराजयते।

अथ **द्वितीयः** राजपरः। **यः चर्षणीनाम्** मानुषीणां प्रजानाम् **राजा** सम्राट्, **रथेभिः** जलस्थलान्तरिक्षयानैः **याता** गन्ता, **अध्रिगुः** अप्रतिरुद्धगमनः, किञ्च **विश्वासाम्** सर्वासाम् **पृतनानाम्** रिपुसेनानाम् **तरुता** पराजेता विद्यते, **यः** यश्च **वृत्रहा** विघ्नकारिणां शत्रूणां हन्ताऽस्ति, तम् **ज्येष्ठम्** वीरत्वादिगुणैः प्रशस्यतमम् इन्द्रं राजानम् **गृणे** आह्वयामि, स्तौमि, प्रोत्साहयामि, सत्करोमि च॥१॥

अत्र श्लेषोऽलङ्कारः। परमेश्वरपक्षे 'याता रथेभिः' इत्यत्र व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा॥१॥

भावार्थः—यथा ब्रह्माण्डस्य राजराजेश्वरः संकटेभ्यस्त्राता केनाप्यप्रतिहतोः विजयाय प्रयतमानानां दिव्यगुणचमूनां विजयप्रदाता कामक्रोधादिसेनानां ध्वंसको ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च परमात्मा सर्वैरुपासनीयः, तथैव विद्युदादिभिश्चाल्यमानैर्विमानादिभिर्गन्ताऽऽगन्ता सकलशत्रुविजेता वीरो राष्ट्रनायकोऽपि संकटकाले प्रजाजनैराह्वातव्यो गुणकर्मप्रशंसनैः कीर्तनीयश्च॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा और राजा के गुणों का वर्णन किया गया है।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। **यः** जो इन्द्र परमेश्वर **चर्षणीनाम्** मनुष्यों का **राजा** सम्राट्, **रथेभिः याता** मानो रथों से यात्रा करने वाला अर्थात् रथयात्री के समान शीघ्रव्यापी, **अध्रिगुः** बेरोक गति वाला तथा **विश्वासाम्** सब **पृतनानाम्** शत्रु-सेनाओं का, अर्थात् शत्रुभूत कामज-क्रोधज आदि गणों का **तरुता** पराजित करने वाला है, **यः** और जो **वृत्रहा** पापों का संहारक है, उस **ज्येष्ठम्** गुणों में सबसे श्रेष्ठ तथा अनादि होने से आयु में भी सबसे वृद्ध परमेश्वर की, मैं **गृणे** स्तुति और अर्चना करता हूँ॥

कामज और क्रोधज गणों का उल्लेख मनु ने इस प्रकार किया है—शिकार करना, जुआ खेलना, दिन में सोना, दूसरों की निन्दा करना, दूसरों की स्त्रियों का सेवन करना, नशा करना, अनुचित रूप से बाजे बजाने में लगे रहना, व्यर्थ इधर-उधर घूमना—ये दस काम के गण हैं। चुगली, दुस्साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, अर्थशुचि न होना, वाणी और दण्ड की कठोरता होना—ये आठ क्रोध के गण हैं (मनु० ७।४७, ४८)। साधक की उपासना में विघ्न डालने वाले इन शत्रुगणों को परमेश्वर पराजित कर देता है।

द्वितीय राजा के पक्ष में। **यः** जो **चर्षणीनाम्** मानुषी प्रजाओं का **राजा** राजा, **रथेभिः** जल, स्थल और अन्तरिक्ष में चलने वाले यानों से **याता** आवागमन करने वाला, **अध्रिगुः** न रोकी जा सकने योग्य गति वाला और **विश्वासाम्** सब **पृतनानाम्** रिपुसेनाओं का **तरुता** पराजेता है, **यः** और जो **वृत्रहा** विघ्नकारी शत्रुओं का संहारक है, उस **ज्येष्ठम्** वीरता आदि गुणों में श्रेष्ठ राजा को, मैं **गृणे** पुकारता हूँ, उसकी स्तुति करता हूँ, उसे प्रोत्साहित करता हूँ, उसका सत्कार करता हूँ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेष अलङ्कार है। परमेश्वर-पक्ष में 'याता रथेभिः' में व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा है॥१॥

भावार्थ—जैसे ब्रह्माण्ड का राजराजेश्वर, संकटों से बचाने वाला, किसी से प्रतिहत न होने वाला, विजयार्थ प्रयत्नशील दिव्य गुणों की सेनाओं को विजय दिलाने वाला, काम-क्रोध आदि की सेनाओं का ध्वंस करने वाला, ज्येष्ठ और श्रेष्ठ परमात्मा सबके द्वारा उपासना करने योग्य है, वैसे ही बिजली आदि से चलाये जाने वाले विमान आदि यानों से जाने-आने वाला, समस्त शत्रुओं को जीतने वाला वीर राष्ट्रनायक भी संकटकाल में प्रजाजनों द्वारा पुकारने योग्य, प्रोत्साहन देने योग्य तथा गुण-कर्मों की प्रशंसा करके कीर्ति गाने योग्य है ॥१॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मानं राजानं च निर्भयत्वं प्रार्थयते ।

२७४. यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतये वि द्विषो वि मृधो जहि ॥२॥[1]

यतः इन्द्र भयामहे । ततः नः अभयम् अ भयम् कृधि ॥ मघवन् शग्धि तव तत् नः ऊतये । वि द्विषः वि मृधः जहि ॥२॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** शत्रुविदारक निर्भय परमेश्वर राजन् वा ! वयम् **यतः** यस्मात् **भयामहे** बिभीमः । त्रिभी भये जुहोत्यादिर्वेदे भ्वादिरपि प्रयुज्यते । **ततः** तस्मात् **नः** अस्माकम् **अभयम्** निर्भयत्वं **कृधि** कुरु । डुकृञ् करणे धातोः 'श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि, अ० ६।४।१०२' इति हेर्धिः । हे **मघवन्** अभय-रूपेणैश्वर्येण ऐश्वर्यवन् ! त्वम् **शग्धि** अस्मान् शक्तान् कुरु । शक्लृ शक्तौ, स्वादिः, णिजर्थगर्भः, श्नोर्लुक् छान्दसः । **तव** त्वदीयम् **तत्** अभयप्रदानम् **नः** अस्माकम् **ऊतये** रक्षायै, भवत्विति शेषः । त्वम् **द्विषः** द्वेष-वृत्तीः द्वेषकर्तॄन् वा **वि** विजहि, **मृधः** हिंसावृत्तीः पारस्परिकसंग्रामान् वा । मृधः इति संग्रामनाम । निघं० २।१७ । **विजहि** समापय ॥२॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः । 'भया, भयं' इति छेकानुप्रासः, तकारावृत्तौ वृत्त्यनुप्रासः ॥२॥

भावार्थः—महाबलं परमात्मानं हृदि निधाय महापराक्रमं पुरुषं च राजपदेऽभिषिच्य तद्द्वारेणा-भयं प्राप्य महत्त्वाकांक्षामुद्बोध्य महान्ति कार्याणि कृत्वा संसाराद् द्वेषवृत्तयो हिंसावृत्तयः सङ्ग्रामाश्च समाप्तव्याः, शान्तिः सद्भावना च स्थापनीया ॥२॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और राजा से निर्भयता की याचना है ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** शत्रुविदारक परमात्मन् अथवा राजन् ! हम लोग **यतः** जिससे **भयामहे** भय खाते हैं, **ततः** उससे **नः** हमारी **अभयम्** निर्भयता **कृधि** कर दो । हे **मघवन्** निर्भयतारूप धन के धनी ! आप **शग्धि** हमें शक्तिशाली बनाओ, **तव** आपका **तत्** वह अभय-प्रदान **नः** हमारी **ऊतये** रक्षा के लिए होवे, आप **द्विषः** द्वेष-वृत्तियों को अथवा द्वेष करने वालों को **विजहि** विनष्ट कर दो, **मृधः** हिंसावृत्तियों को अथवा आपस के युद्धों को **विजहि** समाप्त कर दो ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है । 'भया, भयं' में छेकानुप्रास है । तकार की आवृत्ति में वृत्त्यनु-प्रास है ॥२॥

---

१. ऋ० ८।६१।१३, 'ऊतये' इत्यत्र 'ऊतिभिर्' इति पाठः । अथ० १९।१५।१ ऋषिः अथर्वा, 'तन्न ऊतये' इत्यत्र 'त्वं न ऊतये' इति पाठः । साम० १३२१ ।

भावार्थ—महाबली परमात्मा को हृदय में धारण करके और महापराक्रमी पुरुष को राजा के पद पर अभिषिक्त करके, उनसे अभय पाकर, महत्त्वाकांक्षा जगाकर, महान् कार्यों को करके संसार से द्वेषवृत्तियाँ, हिंसावृत्तियाँ और युद्ध समाप्त करने चाहिएँ और राष्ट्रों में शान्ति एवं सद्भावना स्थापित करनी चाहिए ॥२॥

अथ परमात्मनो राज्ञः शिल्पिनश्च गुणकर्माणि वर्ण्यन्ते ।

२७५. वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणांसत्रं सोम्यानाम् ।
द्रप्सः पुरां भेत्ता शश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां सखा ॥३॥[1]
वास्तोः पते ध्रुवा स्थूणा । अꣳसत्रम् सोम्यानाम् ॥
द्रप्सः पुराम् भेत्ता शश्वतीनाम् । इन्द्रः मुनीनाम् सखा स खा ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । हे **वास्तोः पते** ब्रह्माण्डगृहस्य स्वामिन् इन्द्र परमेश्वर ! वास्तोष्पतिः, वास्तुः वसतेः निवासकर्मणः, तस्य पाता वा पालयिता वा । निरु० १०।१७ । 'षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु । अ० ८।३।५३' इति विसर्गस्य सत्वे मूर्धन्यादेशः । त्वम् **सोम्यानाम्**[2] शान्तिमयानां शान्तिसम्पादिनां ब्रह्मानन्दरूपसोमाभिषवयोग्यानां वा त्वत्स्तोतॄणाम् । सोम्यं सोममयम् । निरु० १०।३७ । सोम्याः सोमसम्पादिनः । निरु० ११।१८ । यद्वा 'सोममर्हति यः । अ० ४।४।१३७' इति अर्हार्थे यः प्रत्ययः । **ध्रुवा स्थूणा**[3] स्थिरः आधारस्तम्भः असि, आधारस्तम्भ इवाश्रयभूतोऽसीत्यर्थः । किञ्च **अंसत्रम्**[4] धनुः कवचं च असि, धनुर्वद् विघ्नकारिषु प्रहर्त्ता कवच इव रक्षकश्चासीत्यर्थः । अंसत्रम् अंहसस्त्राणं धनुर्वा कवचं वा । निरु० ५।२६ । **द्रप्सः**[5] रसमयः आदित्यज्योतिष्को वा । द्रप्सः रसः तद्वान् 'अर्श-आदिभ्योऽच्, अ० ५।२।१२७' इति मतुबर्थे अच् प्रत्ययः । यो वा अस्याः पृथिव्या रसः स द्रप्सः । मै० ४।१।१० । रसो वै सः । तै० उ० २।७ । असौ वा आदित्यो द्रप्सः । श० ७।४।१।२० । **शश्वतीनाम्** चिरन्तनीनाम् **पुराम्** कामक्रोधादिरिपुकृतानां दुर्गपरम्पराणाम् **भेत्ता** भेदकः **इन्द्रः** परमेश्वरस्त्वम् **मुनीनाम्** मुनिसाधनारतानाम् **सखा** मित्रम् असि ॥

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रपरः । हे **वास्तोः पते** राष्ट्रगृहस्य अधिपते राजन् ! त्वम् **सोम्यानाम्** राष्ट्रयज्ञरूपसोमयागसम्पादिनाम् प्रजाजनानाम् **ध्रुवा स्थूणा** स्थिरः आधारस्तम्भः, **अंसत्रम्** धनुः कवचं च भव, आधारस्तम्भो भूत्वा प्रजाजनेभ्य आश्रयं प्रदेहि, धनुः कवचं च भूत्वा शत्रूनाक्रमस्व प्रजाश्च शत्रु-

१. ऋ० ८।१७।१४ देवता इन्द्रः वास्तोष्पतिर्वा । 'द्रप्सः पुरां भेत्ता' इत्यत्र 'द्रप्सो भेत्ता पुरां' इति पाठः ।

२. (सोम्यानाम्) सोमवच्छान्त्यादिगुणयुक्तानाम् । इति ऋ० ४।१७।१७ भाष्ये द० । सोमसम्पादिनां यजमानानाम् इत्यर्थः— इति वि० । सोमार्हाणां विप्राणाम्—इति भ० । सोमार्हाणां सोमसम्पादिनां वाऽस्माकम्—इति सा० ।

३. लुप्तोपममेतद् द्रष्टव्यम् । ध्रुवा स्थूणा इव । यथा गृहस्य ध्रुवा स्थूणा आश्रयभूता तद्वत् त्वम् आश्रयभूत इत्यर्थः— इति वि० । ध्रुवा स्थूणा इत्युपमा । स्थूणावद् धारकः विश्वस्य—इति भ० । हे वास्तोष्पते गृहपते, स्थूणा गृहाधारभूतः स्तम्भः ध्रुवा स्थिरा भवतु—इति सा० ।

४. अंसत्रम् । एतदपि लुप्तोपमम् । अंसत्रमिव । अंसत्रं धनुः कवचं वा । तद् यथा शत्रूणां जेतृ पालयितृ वा तद्वत् त्वं जेता पालयिता वेत्यर्थः—इति वि० ।

५. द्रप्सः सोमरसः । अन्तर्णीतमत्वर्थं चेदं द्रष्टव्यम् । द्रप्सवान् सोमरसवानित्यर्थः—इति वि० । द्रप्सः गन्ता सर्वत्र—इति भ० । द्रवणशीलः सोमः तद्वान् । अर्शआदित्वादच् प्रत्ययः—इति सा० । 'दृप हर्षणमोहनयोः' इत्यस्मादौणादिकः सः प्रत्ययः, किच्च, 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्, अ० ६।१।५९' अमुनाऽऽगमः, इति य० १।२६ भाष्ये द० ।

जन्याघातेभ्यः त्रायस्वेत्यर्थः। **द्रप्सः** प्रेमरसागारः, आदित्यवद् ज्योतिष्मान् **शश्वतीनाम्** चिरन्तनीनाम् **पुराम्** शत्रुनगरीणाम् **भेत्ता** विदारयिता **इन्द्रः** सम्राट् त्वम् **मुनीनाम्** मुनिवृत्त्या वनेषु वसतां वानप्रस्थानाम् **सखा** मित्रं, मित्रवद् हितचिन्तकः, भवेति शेषः ॥

अथ **तृतीयः** शिल्पिपरः। हे **वास्तोः पते** वास्तुकलाविशेषज्ञ गृहनिर्माणकुशल शिल्पिन् ! अवधेहि, **सोम्यानाम्** सोमं यज्ञम् ऐश्वर्यं वा अर्हन्तीति सोम्याः याज्ञिका गृहस्थाः तेषाम् **स्थूणा** गृहाधारभित्तिस्तम्भश्रेणी **ध्रुवा** सुदृढा भवेत्, किञ्च **अंसत्रम्** अंसान् गृहस्कन्धभूतान् भित्त्यादिकान् त्रायते रक्षति इति अंसत्रम् छदिः अपि ध्रुवं सुदृढं भवेत्। यतः कदाचित् **द्रप्सः** वर्षोदकम्। द्रप्सः संभृतः प्सानीयो भवति' इति निरुक्तम् ५।१३। **शश्वतीनाम्** चिरात् स्थितानाम् अपि **पुराम्** नगरीणाम्, तद्गतभवनानामित्यर्थः। **भेत्ता** विदारयिता जायते। ननु मुनीनां गृहविषये कुतो न प्रार्थयसे इति चेत् उच्यते—**मुनीनाम्** वानप्रस्थवृत्त्या वने वसतां मुनीनाम् तु **इन्द्रः** परमेश्वरः **सखा** मित्रम् अस्ति, ते तु परमात्मैकशरणा बाह्यसुखनिरपेक्षा वने वृक्षमूले कुटीरस्था अपि स्वात्मनः सुखिनो मन्यन्ते इति भावः ॥३॥

अत्र श्लेषालङ्कारः। आद्ये व्याख्यानद्वये इन्द्रे अंसत्रस्थूणयोरारोपाद् रूपकमपि ॥३॥

भावार्थः—स एव राजा श्रेष्ठोऽस्ति यः परमेश्वरगुणाननुसरन् प्रजाया आधारस्तम्भः, शत्रुहन्ता, स्वजनरक्षकः, स्नेहरसागारः, सूर्यज्योतिष्कः, मुनीनां मित्रवद्धितकर्ता च भवति। वास्तुकलाविदां च कर्तव्यमस्ति यत् ते राष्ट्रे तथा सुदृढानि गृहाणि कुशलैः शिल्पिभिर्निर्मापयेयुर्यथा तानि धारासारवृष्टिझञ्झावातादिभिरपि न कामपि क्षतिं प्राप्नुयुः ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, राजा तथा शिल्पी के गुण-कर्मों का वर्णन है।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे **वास्तोः पते** ब्रह्माण्डरूप घर के स्वामी इन्द्र परमात्मन् ! आप **सोम्यानाम्** शान्तिमय, दूसरों को शान्ति देने वाले अथवा ब्रह्मानन्दरूप सोमरस को प्रवाहित करने योग्य स्तोता जनों के **ध्रुवा स्थूणा** स्थिर आधारस्तम्भ अर्थात् आधारस्तम्भ के समान आश्रयभूत हैं, एवं **अंसत्रम्** धनुष तथा कवच हैं अर्थात् धनुष के समान विघ्नकर्ताओं पर बाण-प्रहार करने वाले और कवच के समान रक्षक हैं। **द्रप्सः** रसमय अथवा सूर्य के समान ज्योतिष्मान् तथा **शश्वतीनाम्** चिरकाल से चली आ रही **पुराम्** काम-क्रोधादि शत्रुओं की किलेबन्दियों के **भेत्ता** तोड़ने वाले **इन्द्रः** इन्द्र नामक आप **मुनीनाम्** मुनियों के **सखा** मित्र हैं ॥

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। हे **वास्तोः पते** राष्ट्ररूप गृह के अधिपति इन्द्र राजन् ! आप राष्ट्रयज्ञ रूप सोमयाग करने वाले प्रजाजनों के **ध्रुवा स्थूणा** स्थिर आधार-स्तम्भ और **अंसत्रम्** धनुष तथा कवच बनें अर्थात् आप आधारस्तम्भ बनकर प्रजाजनों को सहारा दें और धनुष बनकर शत्रुओं पर आक्रमण करें एवं कवच बनकर प्रजा का शत्रुजन्य आघातों से त्राण करें। साथ ही **द्रप्सः** प्रेमरस के अगार और सूर्य के समान तेजस्वी तथा **शश्वतीनाम्** चिरकाल से सुदृढ़ रूप में बनायी हुई **पुराम्** शत्रु-नगरियों को **भेत्ता** विदीर्ण करने वाले **इन्द्रः** सम्राट् आप **मुनीनाम्** मुनिवृत्ति से वनों में बसने वाले वानप्रस्थों के **सखा** मित्र के समान हितचिन्तक हों ॥

तृतीय वास्तुकला-विशेषज्ञ शिल्पी के पक्ष में। हे **वास्तोः पते** वास्तुकलाविशेषज्ञ, गृहनिर्माणकुशल शिल्पी ! ध्यान रख कि **सोम्यानाम्** यज्ञ अथवा ऐश्वर्य के अधिकारी गृहस्थ जनों की **स्थूणा** मकानों के आधारभूत खम्भे व दीवारें **ध्रुवा** सुदृढ़ हों, और **अंसत्रम्** मकानों के कंधों के तुल्य खम्भों, दीवारों आदि की रक्षक छतें भी सुदृढ हों, क्योंकि कभी-कभी **द्रप्सः** वर्षा-जल **शश्वतीनाम्** चिरकाल से भी स्थित **पुराम्** नगरियों का, उनमें बने हुए मकानों का **भेत्ता** तोड़कर गिरा देने वाला हो जाता है। यदि कहो

कि मुनियों के घरों के विषय में निवेदन क्यों नहीं करते हो, तो उसका उत्तर है कि—**मुनीनाम्** वानप्रस्थ-वृत्ति से वन में निवास करने वाले मुनियों का तो **इन्द्रः** परमेश्वर **सखा** मित्र होता है, **अर्थात्** वे तो एक परमेश्वर की ही शरण में स्थित रहते हुए, बाह्य सुख की अपेक्षा न करते हुए वन में वृक्षों के नीचे कुटियों में रहते हुए भी स्वयं को सुखी मानते हैं ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। प्रथम दो व्याख्याओं में इन्द्र में अंसत्र और स्थूणा का आरोप होने से रूपक अलङ्कार भी है ॥३॥

भावार्थ—वही राजा श्रेष्ठ है जो परमेश्वर के गुणों का अनुसरण करता हुआ प्रजा का आधार-स्तम्भ, शत्रुओं का संहारक, स्वजनों का रक्षक, प्रेमरस का अगार, सूर्य के समान तेजस्वी और ऋषि-मुनियों का मित्र-सदृश हितकर्ता हो। और वास्तुकला के विशेषज्ञ इंजीनियरों का कर्त्तव्य है कि वे राष्ट्र में ऐसे सुदृढ़ मकान कुशल शिल्पियों द्वारा बनवाये कि वे मूसलाधार वर्षा, आँधी आदि से भी कुछ भी क्षतिग्रस्त न हों ॥३॥

अथ सूर्यो देवता। सूर्यनाम्ना परमेश्वरनृपत्याचार्यादयः स्तूयन्ते।

२७६. बण्महाँ२ असि३ सूर्य१ बडादित्य३ महाँ१ असि२।
महस्ते३ सतो१ महिमा२ पनिष्टम३ मह्ना१ देव३ महाँ१ असि२ ॥४॥[1]
बट् महान् असि सूर्य। बडादित्य आदित्य महान् असि॥ महस्ते सतो महिमा पनिष्टम। मह्ना देव महान् असि ॥४॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। **बट्** सत्यम्। बट् इति सत्यनाम। निघं० ३।१०। हे **सूर्य**[2] यः सरति व्याप्नोति जानाति वा, सुवति उत्पादयति वा सर्वं जगत्, यद्वा सुष्ठु ईरयति कम्पयति दुष्टजनान् स सूर्यः तादृश, यद् वा सूर्य इव प्रकाशमान सर्वप्रकाशक जगदीश्वर! सूर्यः सर्त्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा। निरु० १२।१४। त्वम् **महान्** सकल-ब्रह्माण्डव्यापित्वाद् सुमहान् **असि** विद्यसे। **बट्** सत्यम्, हे **आदित्य**[3] अदितेः पुत्र! अविनाशिस्वरूप परमात्मन्! दितिर्विनष्टिः, दो अवखण्डने, अदितिः अविनष्टिः, तस्याः पुत्रः, अतिशयेन अविनश्वरः इत्यर्थः। त्वम् **महान्** परममहिमोपेतः **असि** वर्तसे। हे **पनिष्टम**[4] अतिशय-स्तुतिपात्र परब्रह्म परमेश्वर! पन्यते स्तूयते इति पनिः, पण व्यवहारे स्तुतौ च बाहुलकादौणादिक इसिन् प्रत्ययः, अतिशयेन पनिः पनिष्टमः। **महः** महतः **सतः** सत्यस्वरूपस्य **ते** तव **महिमा** महत्त्वगुणः **महान्** अपारः अस्ति। हे **देव** दानादिगुणयुक्त! **मह्ना** महिम्ना, त्वम् **महान्** सर्वातिशायी **असि** विद्यसे ॥[5]

अथ **द्वितीयो** नृपतिपरः। **बट्** सत्यम्, हे **सूर्य** स्वराष्ट्रे सूर्यवद् विद्याप्रकाशप्रसारक राजन्! त्वम्

---

१. ऋ० ८।१०१।११, य० ३३।३९, अथ० २०।५८।३ सर्वत्र 'पनिष्टम मह्ना' इत्यत्र 'पनस्यतेऽद्धा' इति पाठः। अथ० १३।२।२९ ऋषिः ब्रह्मा, 'महाँस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि' इत्युत्तरार्द्धः। साम० १७८८।

२. 'राजसूयसूर्य' अ० ३।१।११४ इत्यनेन क्यपि निपात्यते। सूसर्तिभ्यां क्यप्, सर्त्तेरुत्वं सुवतेर्वा रुडागमः। सरति सुवति वा सूर्यः इति काशिका। सुष्ठु ईरयिता नाशयिता शत्रूणां सूर्यः—इति वि०। सूर्यः सरणात् आदानात् रसानाम्—इति भ०।

३. आदित्य अविनाशिस्वरूप इति य० ३३।३९ भाष्ये द०।

४. 'पनिष्टम स्तुत्यतमः, सोरकारादेशः' इति भरतस्वामिव्याख्यानं तु चिन्त्यं, स्वरविरोधात्।

५. अत्र पुनरुक्तयोऽर्थभूयस्त्वद्योतकाः—इति भ०।

महान् दिग्विजेता **असि** विद्यसे । **बट्** सत्यम्, हे **आदित्य** अदितिः पृथिवी राष्ट्रभूमिः, तस्याः पुत्र ! राष्ट्रवासिभिर्मतप्रदानद्वारा राष्ट्रभूमेर्गर्भादेव निर्वाचितत्वात् तस्य राष्ट्रभूमेः पुत्रत्वम् । त्वम् **महान्** प्रजापालनरूपमहाकर्मवान् **असि** वर्तसे । हे **पनिष्टम** अतिशयव्यवहारवित् ! **महः सतः** प्रजायाः पूज्यस्य सतः । मह पूजायाम् धातोः क्विबन्तस्य मह् शब्दस्य षष्ठ्येकवचने रूपम् । **ते** तव **महिमा** गरिमा **महान्** अभ्यधिकः अस्ति, सकलदेवानां गुणांशभूतत्वात् । यथाह मनुः—इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च । चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ (मनु० ७।४) इत्यादि । हे **देव** प्रजानां सुखदातः ! त्वम् **मह्ना** गुणगौरवेण **महान्** मंहनीयकीर्तिः **असि** भवसि ॥

अथ **तृतीय** आचार्यपरः । **बट्** सत्यम्, हे **सूर्य** प्रकाशमयः सूर्यः इव विद्याप्रकाशपूर्ण आचार्यप्रवर ! त्वम् **महान्** महापाण्डित्ययुक्तः **असि** विद्यसे । **बट्** सत्यम्, हे **आदित्य** आदित्यब्रह्मचारिन् ! त्वम् **महान्** महाव्रतः **असि** वर्तसे । हे **पनिष्टम** अतिशयेन विद्याव्यवहारज्ञातः ! **महः सतः** शिष्याणां पूज्यस्य **ते** तव **महिमा** माहात्म्यम् **महान्** अपारः अस्ति । हे **देव** दिव्यगुण आचार्यप्रवर ! त्वम् **मह्ना** विद्याशिक्षणकलादिमहिम्ना **महान्** गौरवोपेतः **असि** विद्यसे ॥४॥[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥४॥

भावार्थः—ब्रह्माण्डे परमेश्वरः, राष्ट्रे राजा, गुरुकुले च गुरुः त्रयोऽपि महान्तः परोपकारिणः कीर्तिमन्तश्च सन्ति । तेभ्यो यथायोग्यमुपकारः सर्वैर्ग्राह्यः ॥४॥

अगले मन्त्र का सूर्य देवता है । इस सूर्य नाम से परमेश्वर, राजा, आचार्य आदि की स्तुति की गयी है ।

पदार्थ—प्रथम परमेश्वर के पक्ष में । **बट्** सचमुच हे **सूर्य** सर्वव्यापक, सर्वजगत् को उत्पन्न करने वाले, दुष्टों को प्रकंपित करने वाले, सूर्यसदृश प्रकाशमान एवं सर्वप्रकाशक जगदीश्वर ! आप **महान्** अतिशय महान् **असि** हो । **बट्** सचमुच, हे **आदित्य** अविनाशी-स्वरूप परमात्मन् ! आप **महान्** परम महिमा वाले **असि** हो । हे **पनिष्टम** अतिशय स्तुति के पात्र परब्रह्म परमेश्वर ! **महः** महान् **सतः** होते हुए **ते** आपकी **महिमा** महिमा **महान्** अपार है । **मह्ना** महिमा से, आप **महान्** सबसे बड़े **असि** हो ।

द्वितीय राजा के पक्ष में । **बट्** सचमुच, हे **सूर्य** अपने राष्ट्र में सूर्य के समान विद्या का प्रकाश फैलाने वाले राजन् ! आप **महान्** बड़े दिग्विजेता **असि** हो । **बट्** सचमुच, हे **आदित्य** राष्ट्रभूमि के पुत्र अर्थात् राष्ट्रवासियों द्वारा मत देकर राज्य के अन्दर से ही चुने हुए राजन् ! आप **महान्** प्रजापालनरूप महान् कर्म वाले **असि** हो । हे **पनिष्टम** व्यवहार के श्रेष्ठ ज्ञाता ! **महः सतः** प्रजा के पूज्य होते हुए **ते** आपकी **महिमा** गरिमा **महान** बहुत बड़ी है, क्योंकि आपमें मनुस्मृति (७।४) के अनुसार इन्द्र, वायु, यम, सूर्य आदि सब देवों के गुण विद्यमान हैं । हे **देव** प्रजाओं को सुख देने वाले राजन् ! आप **मह्ना** गुणों के गौरव के कारण **महान्** बड़े कीर्तिशाली **असि** हो ।

तृतीय आचार्य के पक्ष में । **बट्** सचमुच, हे **सूर्य** प्रकाशमय सूर्य के समान विद्या के प्रकाश से परिपूर्ण आचार्यवर ! आप **महान्** महान् पाण्डित्य से युक्त **असि** हो । **बट्** सचमुच, हे **आदित्य** आदित्य ब्रह्मचारी ! आप **महान्** महान् व्रतों का अनुष्ठान करने वाले **असि** हो । हे **पनिष्टम** अत्यधिक विद्याव्यवहार के ज्ञाता ! **महः सतः** शिष्यों के पूज्य **ते** आपकी **महिमा** महिमा **महान्** अपार है । हे **देव** दिव्यगुणों वाले आचार्यप्रवर ! आप **मह्ना** विद्या, शिक्षणकला आदि की महिमा से **महान्** गौरवशाली **असि** हो ॥४॥

१. दयानन्दर्षिर्यजुर्भाष्ये मन्त्रमेनमीश्वरपक्षे व्याख्यातवान् ।

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥४॥

भावार्थ—ब्रह्माण्ड में परमेश्वर, राष्ट्र में राजा और गुरुकुल में गुरु तीनों ही महान्, परोपकारी और कीर्तिमान् हैं। उनसे यथायोग्य उपकार सबको ग्रहण करना चाहिए ॥४॥

अथ परमात्मनृपत्याचार्याणां सख्यस्य फलमाह।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
२७७. अश्वी रथी सुरूप इद् गोमान् यदिन्द्र ते सखा।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा चन्द्रैर्याति सभामुप ॥५॥[1]

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३
अश्वी रथी सुरूपः सु रूपः इत्। गोमान् यत् इन्द्र ते सखा स खा।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३
श्वात्रभाजा श्वात्र भाजा वयसा सचते सदा। चन्द्रैः याति सभाम् स भाम् उप ॥५॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** दुःखविदारक, सुखप्रद, परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर नृपते आचार्य वा ! **यत्** यदा कश्चित् **ते** तव **सखा** मित्रम् जायते तदा सः **अश्वी** प्रशस्ताश्वः, प्रशस्तमनःप्राणेन्द्रियो वा, **रथी** प्रशस्तभू-जलान्तरिक्षयानः, प्रशस्तमानवदेहरूपरथो वा, **सुरूपः** प्रशस्तकान्तिः, प्रशस्तगुणो वा, **गोमान्** प्रशस्तधेनुः, प्रशस्तभूमिः, प्रशस्तवागादिर्वा **इत्** निश्चयेन, भवतीति शेषः। सः **सदा** सर्वदा **श्वात्रभाजा**[2] श्वात्रं धनं विज्ञानं त्वरितं कर्म वा भजते इति श्वात्रभाक् तेन। श्वात्रम् इति धननाम। निघं० २।१०। श्वात्रतिः गतिकर्मा। निघं० २।१४। गत्यर्थाद् विज्ञानं गृह्यते। गतेस्त्रयोऽर्था ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेत्यतः। श्वात्रमिति क्षिप्रनाम, आशु अतनं भवति। निरु० ५।३। तेन क्षिप्रं कर्म गृह्यते। **वयसा** आयुषा **सचते** समवैति, संयुज्यते। षच समवाये, भ्वादिः। किञ्च **चन्द्रैः**[3] चन्द्रवदाह्लादकैर्गुणैः सह। चदि आह्लादे धातोः 'स्फायितञ्चि०। उ० २।१३' इति रक् प्रत्ययः। **सभाम्** प्रजासभां, विद्वत्सभां, राजसभां च **उप याति** उपगच्छति ॥५॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—यो जनः परमात्मना नृपतिनाऽऽचार्येण च सान्निध्यं प्राप्नोति स पुरुषार्थी, बलवान्, वाग्मी, जितेन्द्रियो, मेधावी, रथवान्, अश्ववान्, गोमान्, प्राणवान्, धनवान्, विज्ञानवान्, कर्मवान्, गुणवान्, आयुष्मान् भूत्वा जनानां नेतृत्वमुद्वहन् जनसभासु विद्वत्सभासु राजसभासु च प्रतिष्ठां लभते ॥५॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, राजा और आचार्य की मैत्री का फल कहा गया है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** दुःखविदारक, सुखदाता परमैश्वर्यशाली जगदीश्वर राजन् वा आचार्य ! **यत्** जब कोई **ते** आपका **सखा** मित्र हो जाता है, तब वह **अश्वी** प्रशस्त घोड़ों का स्वामी और प्रशस्त मन, प्राण एवं इन्द्रियों का स्वामी, **रथी** प्रशस्त स्थलयानों, जलयानों एवं विमानों का स्वामी और प्रशस्त मानव-देह रूप रथ का स्वामी, **सुरूपः** प्रशस्त रूप एवं प्रशस्त गुणों का स्वामी, और **गोमान्** प्रशस्त गौओं, भूमियों तथा वाणियों आदि का स्वामी **इत्** अवश्य हो जाता है। **सः** वह **सदा** हमेशा **श्वात्रभाजा** धन वाली, विज्ञान वाली और शीघ्र किये जाने वाले कर्मों वाली **वयसा** आयु से **सचते** संयुक्त होता है, और

१. ऋ० ८।४।९ 'गोमाँ इदिन्द्र' 'चन्द्रो याति' इति पाठः।

२. श्वात्रमिति क्षिप्रनाम। क्षिप्रं यत् सम्भजते तत श्वात्रभाक्, तेन श्वात्रभाजा, क्षिप्रं संभजता इत्यर्थः, वयसा अन्नेन—इति वि०। श्वात्रं सुखं तद्भाजा वयसा अन्नेन—इति भ०।

३. चन्द्रैः श्वेतैः अश्वैः—इति वि०। हिरण्यैः युक्तः सन्—इति भ०। सर्वेषामाह्लादकैः स्तोत्रैः युक्तः सन्—इति सा०।

चन्द्रैः चन्द्रमा के समान आह्लादक गुणों से युक्त होकर **सभाम्** प्रजा की सभा, विद्वानों की सभा और राजसभा में **उपयाति** जाता है ॥५॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥५॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा, राजा एवं आचार्य से मैत्री जोड़ लेता है वह पुरुषार्थी, बलवान्, वाग्मी, जितेन्द्रिय, मेधावी, रथवान्, अश्ववान्, गोमान्, प्राणवान्, धनवान्, विज्ञानवान्, कर्मवान्, गुणवान्, आयुष्मान् होकर जनता का नेतृत्व करता हुआ जनसभाओं, विद्वत्सभाओं और राजसभाओं में प्रतिष्ठा पाता है ॥५॥

अथ परमेश्वरस्य महिमानमाह ।

२७८. यद्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥६॥[1]

यत् द्यावः इन्द्र ते शतम् । शतम् भूमीः उत स्युः ॥ न त्वा वज्रिन् सहस्रम् सूर्याः अनु । न जातम् अष्ट रोदसीइति ॥६॥

पदार्थः—हे **वज्रिन्** वज्रधर इव सर्वेषां सूर्यचन्द्रपर्जन्यादीनां यथानियमं संचालयितः **इन्द्र** महामहिम परमेश्वर ! **यत्** यदि **ते** तव, त्वद्रचिता इत्यर्थः **द्यावः** द्युलोकाः **शतम्** शतसंख्यकाः, **उत अपि च भूमीः** भूमयः । भूमि शब्दाज्जसि भूमयः इति प्राप्ते पूर्वसवर्णदीर्घः । **शतम्** शतसंख्यकाः **स्युः** भवेयुः, किं च **सूर्याः** आदित्याः **सहस्रम्** सहस्रसंख्यकाः स्युः, तथापि **त्वा** त्वाम् **न नैव अनु**[2] अन्वश्नुवते, **न नैव रोदसी** रोदस्योः द्यावापृथिव्योर्मध्ये । सप्तमीद्विवचने 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशः । **जातम्** उत्पन्नं वायुपर्जन्यगिरिनिर्झरसरित्सागरादिकं सर्वमपि **अष्ट** आष्ट, महिम्ना त्वाम् अश्नुते । अशू व्याप्तौ धातोर्लङर्थे लुङि अनिट्पक्षे छन्दसि आडागमाभावे प्रथमपुरुषैकवचने रूपम् । तव महिमा सर्वातिशायी वर्तत इति भावः । ऋषिरप्याह—ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाद् ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः । छा० उ० ३।१४।३ इति ॥६॥

अत्र द्युभूमिसूर्याणां शतसहस्रसंख्याऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धवर्णनाद् असम्बन्धे सम्बन्धरूपोऽतिशयोक्तिरलङ्कारः ।[3] किञ्च, उपमानेभ्य उपमेयस्याधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकोऽपि[4] । 'शतं, शतं' इत्यत्र च लाटानुप्रासः ॥६॥

भावार्थः—उषाः सूर्यश्चन्द्रस्तारका भूमिर्नद्यः पर्वताः समुद्रा वृक्षा वनस्पतयोहोरात्रा ऋतवः संवत्सरः सर्वाण्येतानि शत-सहस्र-लक्षसंख्यान्यपि भूत्वा परमेश्वरस्य महिमानं नाप्तुं शक्नुवन्ति ॥६॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ—हे **वज्रिन्** वज्रधारी के समान सब सूर्य, चन्द्र, मेघ आदि को नियम में चलाने वाले

१. ऋ० ८।७०।५, साम० ८६२, अथ० २०।८१।१, २०।९२।२० ।

२. अनु पश्चात् न्यूनमित्यर्थः—इति वि० । ते सर्वे न त्वा अनु अष्ट न अन्वश्नुवते । अश्नोतेर्व्यत्ययेन लट्, प्रथमपुरुषबहुवचनस्य एकवचने रूपम् अष्टेति । नैवानु व्याप्नुवन्ति—इति भ० ।

३. सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते । भेदेऽप्यभेदः सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययौ पौर्वापर्वात्ययः कार्यहेत्वो, सा पञ्चधा ततः ॥ सा० द० १०।४६, ४७ इति तल्लक्षणात् ।

४. उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः । का० प्र० १०।१०५ इति तल्लक्षणात् ।

इन्द्र महामहिम परमेश्वर ! **यत्** यदि **ते** आपके रचे हुए **द्यावः** द्यौ लोक **शतम्** सौ, **उत** और **भूमीः** भूमियाँ भी **शतम्** सौ **स्युः** हो जाएँ और **सूर्याः** सूर्य **सहस्रम्** हजार हो जाएँ, तो भी वे **त्वा** तेरी **न** नहीं **अनु** बराबरी कर सकते। **न** न ही **रोदसी** आकाश-भूमि के मध्य में **जातम्** उत्पन्न वायु, बादल, पहाड़, झरने, नदी, सागर आदि जो कुछ हैं, वे सब भी **अष्ट** तेरी महिमा का पार पा सकते है। अर्थात् तेरी महिमा अपरम्पार है ॥६॥

इस मन्त्र में द्यौ, भूमि और सूर्य से शत तथा सहस्र संख्याओं का सम्बन्ध न होने पर भी उनके साथ सम्बन्ध वर्णित होने से असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अलंकार है। साथ ही उपमानों से उपमेय का आधिक्य वर्णित होने से व्यतिरेक अलंकार भी है। 'शतं, शतं' में लाटानुप्रास है ॥६॥

भावार्थ—उषा, सूर्य, चाँद, तारे, भूमि, नदियाँ, पहाड़, समुद्र, वृक्ष, वनस्पतियाँ, दिन-रात, ऋतुएँ, वर्ष ये सब सौ हजार या लाख भी क्यों न हो जाएँ, परमेश्वर की महिमा को प्राप्त नहीं कर सकते ॥६॥

अथ दिशि दिशि परमेश्वरो नृभिराहूयत इत्याह।

१ २ ३ २७ ३ २ ३क २१ ३ २ ३ १ २
२७९. यदिन्द्र प्रागपागुदङ् न्यग्वा हूयसे नृभिः।
१ २ ३ १९ २१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्ध तुर्वशे ॥७॥[1]
२ ३ २ १ २१ १ २१ ३ १ २१ ३ १२ ३ १ २ १ २१
यत इन्द्र प्राक् अपाक् अप अक् उदक् उत् अक्। न्यक् नि अक् वा हूयसे नृभिः॥
१ २१ ३ २ १ २१ ३ १ २१ १ २१ ३ १२
सिम पुरु नृषूतः नृ सूतः असि आनवे। असि प्रशर्ध प्र शर्ध तुर्वशे ॥७॥

पदार्थः—**यत्** यस्मात्, हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! त्वम् **प्राक्** पूर्वस्यां दिशि, **अपाक्** पश्चिमायां दिशि, **उदक्** उत्तरस्यां दिशि, **न्यक्**[2] **वा** दक्षिणस्यां दिशि च। वा इति समुच्चयार्थो निरुक्ते प्रोक्तः। निरु० १।५। **नृभिः** स्तोतृजनैः **हूयसे** आहूयसे, गीयसे इत्यर्थः, तत् तस्मात् **नृषूतः**[3] नृभिः तैः स्तोतृभिः सूतः प्रेरितः प्रचारितः त्वम्। सूतः इति षू प्रेरणे इत्यस्य रूपम्। संहितायां 'पूर्वपदात्। अ० ८।३।१०६' इति मूर्धन्यादेशः। **पुरु** बहुषु रूपेषु, संहितायां छान्दसो दीर्घः। **सिमा**[4] सिमस्मिन् सर्वत्र। सिम इति सर्वनाम सर्वपर्यायः। 'सुपां सुलुक्०। अ० ७।१।३९' इति सप्तम्या आकारादेशः। **आनवे** अनिति प्राणिति इति अनुः, प्रशस्तप्राणो जनः, तस्यापत्ये मानवसन्ततौ इत्यर्थः। अनुरिति मनुष्यनाम। निरु० २।३। **असि** विद्यसे, विदितो भवसि। किञ्च, हे **प्रशर्ध** प्रकर्षेण शर्धयितः पराभिभावुक ! प्र पूर्वस्य शृधु प्रसहने इत्यस्य रूपम्। त्वम् **तुर्वशे** यः तुर्वति हिनस्ति विघ्नबाधाजालं स तुर्वशः पुरुषार्थी जनः तस्मिन्, तत्साहाय्यार्थमित्यर्थः। तुर्वश इति मनुष्यनाम। निघं० २।३। तुर्वी हिंसार्थः ततः अशच् प्रत्ययः, **असि** तत्साहाय्यार्थं विद्यमानो भवसि ॥७॥

भावार्थः—दिशि दिशि परमात्मनः प्रचारोऽस्माभिर्विधेयः, तदैव मानवजातेः कल्याणं भवितुमर्हति ॥७॥

---

१. ऋ० ८।४।१, अथ० २०।१२०।१ उभयत्र 'दुदग्' इत्यत्र 'दुदङ्' इति पाठः। साम० १२३१।

२. न्यक् न्यूने अधस्तात्—इति वि०। दक्षिणतः—इति भ०। नीच्यां दिशि अधस्ताद् वर्तमानैः—इति सा०।

३. पुरुभिः नृभिर्मनुष्यैः सूतः। षू प्रेरणे इत्येतस्य कृतादिषत्वं रूपम्। सूतः दानाय प्रेरितः—इति वि०। नृभिः स्तोतृभिः प्रेरितः त्वम्। षू प्रेरणे—इति भ०।

४. सिम सर्वरूप—इति वि०। भरतेन 'सिम' इति क्रियापदं स्वीकृतम्। बघ्नीम त्वां स्तुतिभिः इति।

अत्र सायणस्य 'आनवे अनुर्नाम राजा तस्य पुत्रे राजर्षौ', 'तुर्वशे एतत्संज्ञे च राजनि' इति व्याख्यानं न समञ्जसं, सृष्टयादौ प्रादुर्भूतेषु वेदेषु पश्चाद्वर्तिनो मानवेतिहासस्यासंभवात्, निघण्टौ च अनु-तुर्वशयोः मनुष्यनामसु पाठात् ॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि प्रत्येक दिशा में परमेश्वर मनुष्यों द्वारा पुकारा जा रहा है।

पदार्थ—**यत्** क्योंकि, **इन्द्र** हे जगदीश्वर ! तू **प्राक्** पूर्व दिशा में, **अपाक्** पश्चिम दिशा में, **उदक्** उत्तर दिशा में **न्यक् वा** और दक्षिण दिशा में **नृभिः** स्तोता जनों के द्वारा **हूयसे** पुकारा जाता तथा महिमा गान किया जाता है, इस कारण **नृषूतः** उन स्तोता जनों के द्वारा प्रेरित-प्रचारित होकर तू **पुरु** बहुत रूपों **में सिमा** सर्वत्र **आनवे** मानव-जाति में **असि** विदित हो जाता है। **प्रशर्ध** हे प्रकृष्ट रूप से शत्रुओं को परास्त करने वाले ! तू **तुर्वशे** मार्ग में आने वाली विघ्नबाधाओं के विनाशक पुरुषार्थी मनुष्य **में**, उसकी सहायता के लिए **असि** विद्यमान रहता है ॥७॥

भावार्थ—दिशा-दिशा में परमात्मा का प्रचार हमें करना चाहिए, तभी मानव जाति का कल्याण हो सकता है ॥७॥

इस मन्त्र पर सायण ने यह लिखा है कि अनु नाम का एक राजा था, उसका राजर्षि पुत्र 'आनव' है, और 'तुर्वश' भी एक राजा का नाम है। उसका यह व्याख्यान असंगत है, क्योंकि सृष्टि के आदिकाल में प्रादुर्भूत वेदों में परवर्ती मानव-इतिहास का वर्णन असंभव है। निघण्टु में अनु और तुर्वश मनुष्यवाची नामों में पठित होने से ऐतिहासिक नाम नहीं हैं।

अथ परमेश्वरे श्रद्धया किं प्राप्यत इत्याह।

२८०. कस्तामिन्द्र त्वा वसवा मर्त्यो दधर्षति।
श्रद्धा हि ते मघवन् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति ॥८॥[1]

कः तम् इन्द्र त्वावसो त्वा वसो। आ मर्त्यः दधर्षति ॥ श्रद्धा श्रत धा हि ते मघवन् पार्ये दिवि। वाजी वाजम् सिषासति ॥८॥

पदार्थः—हे **त्वावसो**[2] अपरस्य कस्यचिद् वासकस्याभावात् त्वमेव वसुः वासको यस्य तथाविध, स्वात्मनिर्भर इत्यर्थः। **इन्द्र** परमात्मन् ! **कः मर्त्यः** कः मनुष्यः, न कोऽपीत्यर्थः **तम् आदधर्षति** तम् आधर्षितुम् उत्सहते। आङ्पूर्वस्य धृष प्रसहने इत्यस्य सन्नन्तं रूपमिदम्। यः हे **मघवन्** ऐश्वर्यवन् **पार्ये दिवि** पारयितव्ये सम्पूर्णे दिने। दिवा दिवेदिवे इति दिननामसु पठितत्वात्, निघं० १।९, दिव् शब्दः दिनवाचकः। **ते** त्वां प्रति **श्रद्धा**[3] हि श्रद्धया श्रद्धाधारणेन खलु। 'सुपां सुलुक्०। अ० ७।१।३९' इति तृतीयाया आकारादेशः। **वाजी** अन्नधनविद्याध्यात्मबलादिमान् सन् **वाजम्** अन्नधनविद्याध्यात्मबलादिकम् **सिषासति**

---

१. ऋ० ७।३२।१४ 'त्वावसवा' 'हिते' इत्यत्र क्रमेण 'त्वावसुमा' 'इत्ते' इति पाठः। साम० १६८२।

२. त्वमेव वसु धनं यस्य स त्वावसुः। हे त्वद्धन। सम्बुद्ध्येकवचनं च द्वितीयैकवचनस्य स्थाने द्रष्टव्यम्। त्वावसुम्। त्वद्धनमित्यर्थः—इति वि०। 'त्वा त्वाम् आदधर्षति आधर्षति आधर्षयेत् हे वसो व्यापक इन्द्र'—इति भरतस्वामिनः, 'हे वसो वासक व्यापक वा हे इन्द्र तं प्रसिद्धं त्वा त्वाम्' इति सायणस्य च व्याख्यानं चिन्त्यं पदकारविरोधात् स्वरविरोधाच्च।

३. श्रद्धा सत्यमित्यर्थः—इति वि०। श्रद्धा श्रद्धया—इति भ०। श्रद्धया युक्तः—इति सा०।

अन्येभ्यः सनितुं दातुमिच्छति । षणु दाने, तनादेः सनि रूपम् ॥८॥[1]

भावार्थः—यो दिवानिशं परमेश्वरे श्रद्धां विधाय तत्कृपयाऽन्नधनविद्याबलवेगादिकं प्राप्य सत्पात्रेभ्यस्तद् ददाति तं परोपकारिणं सर्वे जना आद्रियन्ते ॥८॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि परमेश्वर में श्रद्धा करने से क्या प्राप्त होता है ।

पदार्थ—हे **त्वावसो** कोई दूसरा निवासक न होने से जो स्वयं ही अपना निवासक है ऐसे आत्म-निर्भर **इन्द्र** परमात्मन् ! **कः मर्त्यः** भला कौन मनुष्य **तम् आदधर्षति** उसका बाल भी बाँका कर सकता है, जो **मघवन्** हे ऐश्वर्यशालिन् प्रभो ! **पार्ये दिवि** पार करने योग्य सम्पूर्ण दिन **में ते** तेरे प्रति **श्रद्धा** श्रद्धा **से हि** निश्चय ही **वाजी** अन्न, धन, विद्या, आत्मबल आदि से युक्त होकर **वाजम्** अन्न, धन, विद्या आत्म-बल आदि को **सिषासति** दूसरों के लिए देना चाहता है ॥८॥

भावार्थ—जो दिन-रात परमेश्वर में श्रद्धा रखकर उसकी कृपा से अन्न, धन, विद्या, बल, वेग आदि प्राप्त करके सत्पात्रों को उसका दान करता है, उस परोपकारी का सब आदर करते हैं ॥८॥

अथेन्द्राग्नी देवते । प्रहेलिकया श्रद्धोषर्विद्युदादयो वर्ण्यन्ते ।

१ २ ३ २ ३ १ २१ २१ ३ १ २
२८१. इन्द्राग्नी अपादियं पूर्वागात् पद्वतीभ्यः ।
३ १२ २१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
हित्वा शिरो जिह्वया रारपच्चरत् त्रि-शत् पदा न्यक्रमीत् ॥९॥[2]
१ २१ १ २१ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २१ ३ १ २
इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति अपात् अ पात् इयम् । पूर्वा आ अगात् पद्वतीभ्यः ॥
३ २ १ २१ ३ १ २ १ २१ ३ २ ३ १ २ ३
हित्वा शिरः जिह्वया रारपत् चरत् । त्रिंशत् पदानि अक्रमीत् ॥९॥

पदार्थः—**प्रथमः** श्रद्धापक्षे । इन्द्राग्नी सम्बोध्य पूर्वस्मिन् मन्त्रे प्रोक्ता श्रद्धा वर्ण्यते । 'सा हि जननीव योगिनं पाति' इति योगभाष्ये (योग १।२०) वेदव्यासः । अथ मन्त्रार्थः । हे **इन्द्राग्नी** परमात्म-जीवात्मानौ ! युवयोः सान्निध्यात् । आमन्त्रितत्वात् षाष्ठेन 'आमन्त्रितस्य च । अ० ६।१।१९८' इति सूत्रेणाद्युदात्तत्वम्, न चाष्टमिकः (अ० ८।१।१९) प्रवर्तते पादादित्वात् । **अपात्** पादरहितापि सती **इयम्** एषा पूर्वमन्त्रोक्ता श्रद्धा **पद्वतीभ्यः** पादसहिताभ्यः प्रजाभ्यः **पूर्वा** पूर्वगामिनी सती **आ अगात्** समागतास्ति । **शिरः** मूर्धानम् **हित्वा** त्यक्त्वाऽपि, शिरोरहितापीत्यर्थः । ओहाक् त्यागे, क्त्वाप्रत्यये 'जहातेश्च क्त्वि । अ० ७।४।४३' इति धातोर्हिः आदेशः । इयम् **जिह्वया** रसनया **रारपत्** लालपत् यथा स्यात् तथेव, इति लुप्तोपमम् । स्वं सन्देशं वदन्तीवेत्यर्थः । रप व्यक्तायां वाचि इति धातोर्यङ्लुगन्तस्य शतरि रूपम् । **चरत्** विचरति । चर गतिभक्षणयोः, लेटि रूपम् । सैषा **त्रिंशत्पदानि**[3] शरीरवर्तीनि दशेन्द्रियाणि, दश-प्राणाः, पञ्च कोशाः, आत्मसहितमहङ्कारचतुष्टयम् इत्येतानि त्रिंशदपि स्थानानि **अक्रमीत्** अभि-व्याप्नोति ॥

अथ **द्वितीयः** उषःपक्षे । उषा[4] वर्ण्यते । हे **इन्द्राग्नी** ब्राह्मणक्षत्रियौ ! ब्रह्मक्षत्रे वा इन्द्राग्नी ।

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणाऽयं मन्त्रो राजप्रजाविषये व्याख्यातः, इन्द्रपदेन च धार्मिको राजा गृहीतः ।

२. ऋ० ६।५९।६, य० ३३।९३ । उभयत्र 'हित्वा' 'रारपच्चरत्' इत्येतयोः स्थाने क्रमेण 'हित्वी' 'बावदच्चरत्' इति पाठः ।

३. इतरैर्भाष्यकारैः प्रायशः 'त्रिंशत्पदा न्यक्रमीत्' इति मत्वा व्याख्यातम् । मुद्रितासु वेदसंहितास्वपि पृथगेव मुद्रितम् । अस्माभिस्तु 'त्रिंशत् पदानि अक्रमीत्' इति पदपाठोऽनुसृतः ।

४. ऋगेषा माधवभरतस्वामिसायणैः उषःपक्षे व्याख्याता ।

कौ० ११।८। **अपात्** पादरहितापि **इयम्** एषा उषाः **पद्वतीभ्यः** पादसहिताभ्यः सुप्ताभ्यः प्रजाभ्यः **पूर्वा** जागरिता सती **आ अगात्** आगतास्ति। एषा **शिरः हित्वा** शिरस्त्यक्त्वा, शिरो विनापि **जिह्वया** जिह्वा-सदृश्या प्रभया **रारपत्** जागरणस्य सन्देशं भूयो भूयो वदन्तीव **चरत्** विचरति। **त्रिंशत् पदानि** अहोरात्रस्य त्रिंशन्मुहूर्तान् **अक्रमीत्** व्यतिक्रम्य समायातास्ति। एकैकमहोरात्रं व्यतियाप्य पुनरुषस आविर्भावो भवति, तस्मादिदमुच्यते ॥

अथ **तृतीयो** विद्युत्पक्षे। विद्युद् वर्ण्यते। हे **इन्द्राग्नी** राजप्रजाजनौ[1] ! पश्यतम्, **अपात्** पाद-रहितापि **इयम्** एषा विद्युत् **पद्वतीभ्यः** पादसहिताभ्यः मनुष्यमृगादिप्रजाभ्यः **पूर्वा** तीव्रगामिनी सती **आ अगात्** अस्मदुपयोगाय अस्मान् प्राप्तास्ति। एषा **शिरः हित्वा** शिरो विनापि **जिह्वया** सन्देशवाहकविद्युत्-तारयन्त्रकलया **रारपत्** भूयो भूयः सन्देशप्रेषकस्य सन्देशं वदन्ती **चरत्** चलति। **सैषा त्रिंशत् पदानि** मासस्य त्रिंशदपि दिनान्यभिव्याप्य **अक्रमीत्** प्रकाशप्रदानसन्देशवहनयन्त्रचालनादिव्यापारेषु पदं निधत्ते ॥९॥[2]

'अपात् सती पद्वतीभ्यः पूर्वागात्, शिरोरहिता सती जिह्वया रारपत्' इति विना हेतुं कार्योत्पत्ति-वर्णनाद् विभावनालङ्कारः[3]। नामग्राहं विना सङ्केतैः सूचनात् प्रहेलिकालङ्कारोऽपि ॥९॥

भावार्थः—श्रद्धाया धारणेन धर्मे प्रवृत्तिर्वैयक्तिकी सामाजिकी चोन्नतिर्भवति। उषा जागरण-सन्देशं प्रयच्छति। विद्युतः प्रयोगेण रात्रावपि दिवसवत् प्रकाशः प्राप्यते, दूरभाष-आकाशवाणी-क्षकिरण-भारोत्तोलक-अस्त्रप्रक्षेपकादिविविधयन्त्राणि भूजलान्तरिक्षयानानि च संचाल्यन्ते। एवं श्रद्धा, उषाः, विद्युच्च सर्वेभ्यो जनेभ्योऽतिलाभकर्यः सन्तीति तासां यथोचितमुपयोगः सर्वैर्विधेयः ॥९॥

अगले मन्त्र में इन्द्राग्नी देवता हैं। पहेली द्वारा श्रद्धा, उषा, विद्युत् आदि का वर्णन है।

पदार्थ—प्रथम श्रद्धा के पक्ष में। हे **इन्द्राग्नी** परमात्मन् और जीवात्मन् ! तुम्हारे सान्निध्य से **अपात्** पैरों से रहित भी **इयम्** यह पूर्व मन्त्र में वर्णित श्रद्धा **पद्वतीभ्यः** पैरों वाली प्रजाओं से **पूर्वा** पूर्व-गामिनी होती हुई **आ अगात्** आ गयी है। **शिरः** सिर को **हित्वा** छोड़कर भी, अर्थात् बिना सिर वाली होती हुई भी यह **जिह्वया** जिह्वा **से रारपत्** पुनः पुनः बोलती हुई सी, अर्थात् अपना सन्देश सुनाती हुई सी **चरत्** विचर रही है। और यह **त्रिंशत् पदानि** शरीरस्थ दस इन्द्रियों, दस प्राणों, पाँच कोशों और आत्मासहित अहङ्कारचतुष्टय इन तीसों स्थानों को **अक्रमीत्** व्याप्त कर रही है॥

द्वितीय उषा के पक्ष **में**। हे **इन्द्राग्नी** ब्राह्मणो और क्षत्रियो ! **अपात्** पैरों से रहित भी **इयम्** यह उषा **पद्वतीभ्यः** सोयी हुई पैरों वाली प्रजाओं से **पूर्वा** पहले जागकर **आ अगात्** आ गयी है। यह उषा **शिरः** सिर को **हित्वा** छोड़कर भी अर्थात् बिना सिर के भी **जिह्वया** जिह्वा-सदृश अपनी प्रभा से **रारपत्** जागरण का सन्देश पुनः पुनः बोलती हुई सी **चरत्** विचर रही है। **त्रिंशत् पदानि** अहोरात्र के तीसों मुहूर्तों को **अक्रमीत्** पार करके आ गयी है, क्योंकि एक पूरे अहोरात्र के पश्चात् उषा का पुनः प्रादुर्भाव होता है।

तृतीय विद्युत् के पक्ष में। हे **इन्द्राग्नी** राजप्रजाजनो ! देखो, **अपात्** पैरों से रहित भी **इयम्** यह विद्युत् **पद्वतीभ्यः** पैरों वाली मनुष्य, पशु आदि प्रजाओं से **पूर्वा** तीव्रगामिनी होती हुई **आ अगात्** हमारे

१. (इन्द्राग्नी) वायुवह्नी इव वर्तमानौ राजप्रजाजनौ इति ऋ० ६।५९।२ भाष्ये द०।

२. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् यजुर्भाष्ये उषर्विषये व्याख्यातः, 'इन्द्राग्नी' इति पदेन च अध्यापकोपदेशकौ गृहीतौ। ऋग्भाष्ये च विद्युद्विषयो वर्णितः, 'इन्द्राग्नी' पदेन च वायुविद्युतौ गृहीतौ। एष च ऋग्भाष्ये तत्प्रदर्शितो भावार्थः—'हे विद्वांसो ! भवन्तो यदि विद्युद्विद्यां सङ्गृह्णीयुस्तर्हि सर्वेभ्यो यानेभ्यः सद्यो गन्तुमन्यानि कार्याणि च साद्धुं शक्नुवन्ति' इति।

३. विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते। सा० द० १०।६६ इति तल्लक्षणात्।

उपयोग के लिए हमें प्राप्त हुई है। यह विद्युत् **शिरः हित्वा** सिर के बिना भी **जिह्वया** सन्देशवाहक विद्युत्-तारयन्त्र द्वारा **रारपत्** पुनः पुनः सन्देश-प्रेषक के सन्देश को बोलती हुई **चरत्** तार में चलती है। यह **त्रिंशत् पदानि** महीने के तीसों दिनों को व्याप्त करके **अक्रमीत्** प्रकाश-प्रदान, सन्देशवहन, यन्त्रचालन आदि कार्यों में पग रखती है अर्थात् इन कार्यों को करती है ॥९॥

इस मन्त्र में 'पैर-रहित होती हुई भी पैरों वालियों से पहले पहुँच जाती है', 'सिर-रहित होती हुई भी जिह्वा से बोलती है', यहाँ बिना कारण के कार्योत्पत्ति का वर्णन होने से विभावना अलंकार है। श्रद्धा, उषा, विद्युत् आदि किसी का नाम लिये बिना संकेतों से सूचना देने के कारण प्रहेलिकालंकार भी है ॥९॥

भावार्थ—श्रद्धा के धारण से धर्म में प्रवृत्ति और वैयक्तिक तथा सामाजिक उन्नति होती है। उषा जागरण का सन्देश देती है। विद्युत् के प्रयोग से रात में भी दिन के समान प्रकाश प्राप्त होता है और दूरभाषयन्त्र, आकाशवाणीयन्त्र, ऐक्सरेयन्त्र, भार ऊपर उठाने, अस्त्र छोड़ने आदि के विविध यन्त्र और स्थलयान, जलयान एवं विमान चलाये जाते हैं। इस प्रकार श्रद्धा, उषा और विद्युत् सब जनों के लिए अतिलाभकारी हैं। अतः उनका यथोचित उपयोग सबको करना चाहिए ॥९॥

अथेन्द्रनाम्ना परमेश्वरनृपविद्वदादय आहूयन्ते।

२८२. इन्द्र नेदीय एदिहि मितमेधाभिरूतिभिः।
आ शन्तम शन्तमाभिरभिष्टिभिरा स्वापे स्वापिभिः ॥१०॥[1]

इन्द्र नेदीयः आ इत् इहि। मितमेधाभिः मित मेधाभिः ऊतिभिः॥ आ शन्तम शन्तमाभिः अभिष्टिभिः। आ स्वापे सु आपे स्वापिभिः सु आपिभिः ॥१०॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमेश्वर राजन् विद्वन् वा! त्वम् **मितमेधाभिः**[2] परिपूर्णप्रज्ञाभिः **ऊतिभिः** रक्षाभिः सह **नेदीयः इत्** अस्माकं निकटतरम् एव। अन्तिक शब्दादीयसुनि 'अन्तिकवाढयोर्नेदसाधौ' अ० ५।३।६३ इति अन्तिकस्य नेदादेशः। **आ इहि** आगच्छ। हे **शन्तम** अतिशयेन सुखयितः! त्वम् **शन्तमाभिः** अतिशयेन सुखयित्रीभिः **अभिष्टिभिः**[3] प्राप्तिभिः सह। इष्टिः प्राप्तिः, इष गतौ। अभि पूर्वात् 'एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वाच्यम्'। अ० ६।१।९४ वा० इति पररूपम्। **आ** आइहि आगच्छ। हे **स्वापे** सुबन्धुभूत! त्वम् **स्वापिभिः** सुबन्धुत्वैः सह **आ** आ इहि आगच्छ। उपसर्गावृत्तेः क्रियापदावृत्तिः स्वत एव भवतीति वैदिकभाषायाः शैली ॥१०॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः। दकारतकारमकाराणाम् 'भि' इत्यस्य चावृत्तौ, 'रभि-भिरा' इत्यत्र च वृत्त्यनुप्रासः। 'शन्तम, शन्तमा', 'स्वापे, स्वापि' इत्यत्र च छेकानुप्रासः ॥१०॥

भावार्थः—यथा परमेश्वरस्य रक्षा मेधापूर्णा दानानि कल्याणकराणि बन्धुत्वानि च शुभानि भवन्ति, तथैव नृपतेर्विदुषोऽध्यापकस्य चापि भवेयुः ॥१०॥

---

१. ऋ० ८।५३।५, ऋषिः मेध्यः काण्वः।

२. मितः प्रक्षिप्तो मेधो यज्ञो यासु ऊतिषु ताः मितमेधाः ताभिः—इति वि०। निर्मितयज्ञाभिः निर्मितयज्ञभागाभिः ऊतिभिः मरुद्भिः सह—इति भ०। परिमितप्रज्ञाभिः ऊतिभिः रक्षाभिः। यद्वा निर्मितयज्ञाभिः मरुद्भिः सह—इति सा०।

३. आभिमुख्येन इज्यन्ते यासु देवतास्ता अभिष्टयः इष्टय इत्यर्थः—इति वि०। त्वम् अभिगच्छन्तीभिः ऊतिभिः सह—इति भ०। प्राप्तिभिः अभिमताभिर्वा—इति सा०।

अत्रेन्द्रनाम्ना परमेश्वरनृपत्याचार्यादीनां गुणकर्मस्वभावमुपवर्ण्य ततोऽभयादियाचनात्, सूर्यनाम्नापि तत्स्तवनात्, श्रद्धादेरपि महत्त्ववर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम् ॥

इति तृतीयप्रपाठके द्वितीयार्धे चतुर्थी दशतिः ।
इति तृतीयाध्याये पञ्चमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर, राजा, विद्वान् आदि का आह्वान किया गया है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमेश्वर, राजन् वा विद्वन् ! आप **मितमेधाभिः** मेधापूर्ण **ऊतिभिः** रक्षाओं के साथ **नेदीयः इत्** हमारे अधिक समीप **आ इहि** आइए । हे **शन्तम** अतिशय कल्याण करने वाले ! आप **शन्तमाभिः** अतिशय कल्याण करने वाली **अभिष्टिभिः** अभीष्ट प्राप्तियों के साथ **आ** आइए । हे **स्वापे** सुबन्धु ! आप **स्वापिभिः** उत्कृष्ट बन्धुभावों के साथ **आ** आइए ॥१०॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालङ्कार है। दकार, तकार, मकार की आवृत्ति में, 'भि' की आवृत्ति में और 'रभि', 'भिरा' में वृत्त्यनुप्रास है। 'शन्तम, शन्तमा' और 'स्वापे, स्वापि' में छेकानुप्रास है ॥१०॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर की रक्षाएँ बुद्धिपूर्ण, दान कल्याणकारी और बन्धुभाव शुभ होते हैं, वैसे ही राष्ट्र में राजा और विद्वान् अध्यापक के भी हों ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र नाम से परमेश्वर, राजा, आचार्य आदि के गुण-कर्म-स्वभावों का वर्णन करके उनसे अभय आदि की याचना होने से, सूर्य नाम से भी इनकी स्तुति होने से और श्रद्धा आदि का भी महत्त्व वर्णित होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

तृतीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त ।
तृतीय अध्याय में पंचम खण्ड समाप्त ॥

॥१०॥ अथ 'इत ऊती' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ नृमेधः; २,३ वसिष्ठः; ४ भरद्वाजः; ५ परुच्छेपः; ६ वामदेवः, ७ मेध्यातिथिः; ८ भर्गः; ९-१० मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च ॥
देवता—१-४, ७-१० इन्द्रः; ५ अश्विनौ; ६ वरुणः ॥ छन्दः—बृहती ॥
स्वरः—मध्यमः ॥

तत्रादौ परमेश्वरस्य नृपतेश्च गुणा वर्ण्यन्ते ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
२८३. इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम् ।
३ १ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आशुं जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुग्रियावृधम् ॥१॥[1]
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३
इतः ऊती वः अजरम् अ जरम् । प्रहेतारम् प्र हेतारम् अप्रहितम् अ प्रहितम् ॥
२ १ २ १ १ २ १ ३ १ २ १ २ १ ३
आशुम् जेतारम् हेतारम् रथीतमम् । अतूर्तम् अ तूर्तम्
१ २ ३ १ २ १
तुग्रियावृधम् तुग्रिय वृधम् ॥१॥

पदार्थः—हे मनुष्याः **वः** यूयम् **ऊती** ऊतये रक्षणाय अव रक्षणे धातोः क्तिन्नन्ताद् ऊति ३।८।-च्चतुर्थ्येकवचने 'सुपां सुलुक्' अ० ७।१।३९, इति पूर्वसवर्णदीर्घः । **अजरम्** जरावर्जितम्, जीर्णतारहितं

१. ऋ० ८।९९।७, अथ० २०।१०५।३ । उभयत्र 'तुग्रियावृधम्' इत्यस्य स्थाने 'तुग्र्यावृधम्' इति पाठः ।

वा **प्रहेतारम्** शुभकर्मसु प्रेरकम्। प्र-पूर्वो हि गतौ वृद्धौ च इति धातोः तृचि रूपम्। **अ-प्रहितम्** स्वयं केनापि अप्रेरितम्, **आशुम्** शीघ्रकारिणम्, न तु व्यर्थमेव कार्याणि लम्बयन्तम्, **जेतारम्** विजयिनम्, **हेतारम्** वर्द्धयितारम्। अत्र हि धातुर्वर्धनार्थो बोध्यः। **रथीतमम्** रंहणशीलानां सूर्यचन्द्रादीनां ब्रह्माण्ड-रथस्य वा श्रेष्ठं रथिनम् यद्वा श्रेष्ठं रथारोहिणम्। रथशब्दान्मत्वर्थे 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ। अ० ५।२।१२२' वा० इति ई प्रत्ययः। अतिशयेन रथीः रथीतमः। **अतूर्तम्** अतूर्णम्, केनापि अहिंसितम्। तुर्वी हिंसायाम्, क्त प्रत्यये छान्दसं रूपम्। **तुग्रियावृधम्**[1] तुग्रे अन्ने आकाशे यज्ञे वरिष्ठजने वा भवाः तुग्रियाः, क्रमेण अन्नरसाः, मेघोदकानि वायवो वा, फलसाधनत्वानि, धर्माचाराश्च, तेषां वर्धकम् इन्द्रं परमेश्वरम्, यद्वा तुग्रे राष्ट्रयज्ञे भवाः प्रजाः तुग्रियाः तासां वर्धकम् इन्द्रं राजानम्। 'तुग्राद् घन्। अ० ४।४।११५' इति तुग्रशब्दाद् भवार्थे घन् प्रत्ययः। अन्नाकाशयज्ञवरिष्ठेषु तुग्रशब्दः इति काशिकावृत्तिः। तुग्रियान् वर्धयतीति तुग्रियावृत् तम्। पूर्वपदान्तस्य दीर्घश्छान्दसः। **इतः**[2] स्वाभिमुखं कुरुतेति शेषः ॥१॥

अत्र श्लेषालङ्कारः। तकारस्य रेफस्य चासकृदावृत्तौ, तारस्य त्रिधावृत्तौ, 'तम, मतू' इत्यत्र च वृत्त्यनुप्रासः, 'प्रहेता, प्रहित' इत्यत्र छेकानुप्रासः 'हेतारं' इत्यस्यावृत्तौ यमकम् ॥१॥

भावार्थः—मनुष्यैः सांसारिकविषयविलासेष्वति प्रवृत्तिं परिहाय विविधगुणगणविशिष्टं परमेश्वरमुपास्य राजानं च प्रजानुकूलं विधायाभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः कार्या ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमेश्वर और राजा के गुण वर्णित किये गये हैं।

पदार्थ—हे मनुष्यो ! **वः** तुम लोग **ऊती** रक्षा के लिए **अजरम्** बुढ़ापे अथवा जीर्णता से रहित, **प्रहेतारम्** शुभ कर्मों में प्रेरणा करने वाले, **अ-प्रहितम्** स्वयं किसी अन्य से प्रेरित न होने वाले, **आशुम्** शीघ्रकारी, न कि व्यर्थ ही कार्यों को लटकाने वाले, **जेतारम्** विजयी, **हेतारम्** वृद्धि करने वाले, **रथीतमम्** गतिशील, सूर्यचन्द्रादिरूप रथों के तथा ब्रह्माण्डरूप रथ के श्रेष्ठ रथी, अथवा श्रेष्ठ रथारोही, **अतूर्तम्** किसी से हिंसित न होने वाले, **तुग्रियावृधम्** अन्न में रहने वाले अन्नरस, आकाश में रहने वाले मेघजल या वायु, यज्ञ में रहने वाले फलसाधनत्व तथा वरिष्ठ जनों में रहने वाले धर्माचार के वर्धक इन्द्र परमेश्वर को अथवा प्रजाओं की वृद्धि करने वाले इन्द्र राजा को **इतः** इधर अपने अभिमुख करो ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। तकार और रेफ की अनेक बार आवृत्ति में, 'तार' की तीन बार आवृत्ति में और 'तम, मतू' में वृत्यनुप्रास है। 'प्रहेता, प्रहित' में छेकानुप्रास, और 'हेतारं' की आवृत्ति में यमक है ॥१॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि सांसारिक विषय-विलासों में अति प्रवृत्ति को छोड़कर विविध गुणों वाले परमेश्वर की उपासना करके और राजा को प्रजाओं के अनुकूल करके अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि करें ॥१॥

---

१. तुग्रिया इत्युदकनाम, तस्य संवर्धनम्। उदकस्य वर्धयितारमित्यर्थः—इति वि०। तदेव भरतस्वामिसायणयोरभिमतम्।

२. नृमेधः इतो द्युलोकात्, आह्वयतीति वाक्यशेषः—इति वि०। इतः इतोमुखाः, हवामहे इति शेषः—इति भ०। इतः कुरुत—इति सा०। केचित्तु 'इत ऊती' इत्यत्र प्रकृतिभावं मत्वा 'इत गच्छत' इति इण् धातोर्लोटि मध्यमबहुवचनत्वेन व्याचक्षिरे। तत्तु पदकारस्य न सम्मतम्, पदपाठे 'इतः ऊती' इति दर्शनात्।

अथ परमात्मानं राजानं च प्रार्थयते ।

२८४. मो षु त्वा वाघतश्च नारे अस्मन्नि रीरमन् ।
आरात्ताद्वा सधमादं न आ गहीह वा सन्नुप श्रुधि ॥१॥[1]
मा उ सु त्वा वाघतः च न । आरे अस्मत् नि रीरमन् ॥ आरात्तात् वा
सधमादम् सध मादम् नः आ गहि । इह वा सन् उप श्रुधि ॥२॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । हे इन्द्र परमात्मन् ! **वाघतः** अस्माकं शरीरयज्ञस्य ऋत्विजः इन्द्रियमनोबुद्ध्यादयः । वाघतः इति ऋत्विङ्नाम । निघं० ३।१८ । **च न**[2] हि **त्वा** त्वाम् **अस्मत्** अस्मत्तः **आरे** दूरम् **मा उ**[3] **सु** नैव खलु **निरीरमन्**[4] नितरां रमयन्तु । नि पूर्वाद् रमु क्रीडायाम् धातोर्णिजन्ताल्लुङि छान्दसः अडभावः । इन्द्रियादिभिर्विषयेष्वाकृष्टोऽहं त्वां स्वसकाशाद् दूरं न कुर्यामित्यर्थः । त्वम् **आरात्तात् वा** सुदूरादपि **नः** अस्माकम् **सधमादम्** जीवनयज्ञम् उपासनायज्ञं वा । सह माद्यन्ति हृष्यन्ति जना अत्रेति सधमादो यज्ञः । 'सधमादस्थयोश्छन्दसि अ० ६।३।९६' इति सहस्य सधादेशः । **आगहि** आगच्छ । **इह वा सन्** अत्रैवास्माकं हृदये च सन् । वा इति समुच्चयार्थः निरुक्ते प्रोक्तः । निरु० १।५ । **उप श्रुधि** अस्माकं स्तुतिं प्रार्थनां च उपशृणु ॥

अथ **द्वितीयः** नृपतिपरः । हे इन्द्र राजन् ! **वाघतः** मेधाविनो राज्याधिकारिणो राजमन्त्रिनगराधीशप्रभृतयः । वाघतः इति मेधाविनाम । निघं० ३।१५ । **चन** नूनम् **त्वा** त्वाम् **अस्मत्** अस्माकं सकाशात् **आरे** दूरे **मा उ सु** नैव **निरीरमन्** नियच्छन्तु, राजानं त्वामस्मभ्यं सुलभं कुर्वन्त्विति भावः । हे राजन् ! **आरात्ताद् वा** सुदूरस्थादपि राजनगरात् त्वम् **नः** अस्माकम् **सधमादम्** यज्ञसमारोहम् **आगहि** आगच्छ । **इह वा सन्** अत्रैवास्माकं मध्ये विराजमानस्त्वम् **उपश्रुधि** अस्माकं सुखदुःखादिनिवेदनं शृणु ॥२॥[5]

अत्र श्लेषालङ्कारः । रेफस्यासकृदावृत्तौ च वृत्त्यनुप्रासः ॥२॥

भावार्थः—राजराजेश्वरः परमात्मा मानवो नृपतिश्चास्माकं प्रजाजनानां सदा सुलभः सन्नस्माकं सुखदुःखे विजानीयात् ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हे इन्द्र परमात्मन् ! **वाघतः** हमारे शरीर-यज्ञ के ऋत्विज् इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि **च न** निश्चय ही **त्वा** तुझे **अस्मत्** हमसे **आरे** दूर **मा उ सु** मत **निरीरमन्** रमायें अर्थात् इन्द्रिय आदियों से विषयों में आकृष्ट हुआ मैं तुझे अपने पास से दूर न रखूँ । तू **आरात्तात् वा** दूर से भी **नः** हमारे **सधमादम्** जीवन-यज्ञ या उपासना-यज्ञ में **आ गहि** आ, **इह वा सन्** और यहीं हृदय में रहता हुआ **उपश्रुधि** हमारी स्तुति और प्रार्थना को सुन ॥

---

१. ऋ० ७।३२।१ 'वाघतश्चनारे' इत्यविभक्तः पाठः, 'आरात्ताद्वा' इत्यत्र 'आरात्ताच्चित्' इति पाठः । साम० १६७५ ।

२. च न इति पदपूरणौ—इति वि० । च न अपि च—इति भ० । च न अपि—इति सा० ।

३. ऋग्वेदीयपदपाठे 'मो' इति, 'चन' इति अविभज्य पठितम् । सामपदकारस्तु सर्वानेव संयुक्तान् निपातान् विभज्यैव दर्शयति ।

४. मा नियमेन रमयन्तु—इति वि० । मा नितरां रमयन्तु—इति भ०, सा० ।

५. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये 'के दूरे समीपे च रक्षणीयाः' इति विषये व्याख्यातः, विद्वांसं राजानं च सम्बोधितः ।

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे इन्द्र राजन् ! **वाघतः** बुद्धिमान् राजमन्त्री, नगराधीश आदि राज्याधिकारी **च न** निश्चय ही **त्वा** तुझे **अस्मत्** हमसे **आरे** दूर **मा उ सु** मत **निरीरमन्** रोकें, अर्थात् तुझ राजा को हमारे लिए सुलभ करायें। हे राजन् ! **आरात्ताद् वा** सुदूरस्थ भी अपनी राजधानी से, तू **नः** हमारे **सधमादम्** यज्ञ-समारोह में **आ गहि** आ, **इह वा सन्** और यहीं हमारे मध्य में विराजमान होता हुआ तू **उपश्रुधि** हमारे सुखदुःखादि के निवेदन को सुन ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। रेफ की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ॥२॥

भावार्थ—राजराजेश्वर परमात्मा और मानव राजा हम प्रजाजनों को सदा सुलभ रहता हुआ हमारे सुख-दुःख को जाने ॥२॥

अथेन्द्राय सोममभिषोतुं प्रेरयति।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
२८५. सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे।
१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ ३ १ २ २ ३ १ २ २
पचता पक्तीरवसे कृणुध्वमित् पृणन्नित् पृणते मयः ॥३॥[1]
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २
सुनोत सोमपाव्ने सोम पाव्ने। सोमम् इन्द्राय वज्रिणे ॥ पचत पक्तीः
१ २ १ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ १
अवसे कृणुध्वम् इत्। पृणन् इत् पृणते मयः ॥३॥

पदार्थः—हे मर्त्याः ! यूयम् **सोमपाव्ने** सोमम् उपासकानां श्रद्धारसं पिबतीति सोमपावा तस्मै। पा पाने धातोः-छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ, अ० ५।२।१२२' वा० इति वनिप् प्रत्ययः। **वज्रिणे** पापाचारिणामुपरि दण्डधारिणे **इन्द्राय** जगदीश्वराय **सोमम्** श्रद्धारसं **सुनोत** अभिषुणुत। षुञ् अभिषवे, लोटि 'तप्तनप्तनथनाश्च, अ० ७।१।४५' इति तस्य **तप्**, तस्य च पित्त्वान्ङिद्वत्त्वाभावे गुणनिषेधोऽपि न भवति। **पक्तीः** ज्ञानकर्मादीनां परिपाकान् **पचत** पक्त्वा सज्जीकुरुत, **अवसे**[2] जगदीश्वरस्य प्रीत्यै। अवतिरत्र प्रीतिकर्मा। अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यादिषु। **कृणुध्वम् इत्** तान् श्रद्धारसान् ज्ञानकर्मादीनां परिपाकाँश्च तस्मै समर्पयत एव। **पृणते**[3] समर्पयते दानशीलाय जनाय। पृणातिः दानकर्मा। निघं० ३।२०। शतरि 'शतुरनुमो नद्यजादी, अ० ६।१।१७३' इति विभक्तिरुदात्ता। स जगदीश्वरः **मयः** सुखम्। मयस् इति सुखनाम। निघं० ३।६। **पृणन् इत्** प्रयच्छन्नेव भवतीति शेषः ॥३॥[4]

अत्र 'पृणन्नित् पृणते मयः' इति कारणेन सोमसवन-पक्तिपरिपाक-समर्पणरूपस्य कार्यस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। 'सोम, सोम' इति लाटानुप्रासः 'पृण पृण' इति च छेकानुप्रासः ॥३॥

भावार्थः—सुखार्थिभिर्जनैः परमेश्वरे श्रद्धा, स्वात्मनि ज्ञानकर्मसत्याहिंसाब्रह्मचर्यादीनां परिपाकश्चावश्यं कर्त्तव्यः ॥३॥

---

१. ऋ० ७।३२।८, अथ० ६।२।३। उभयत्र 'सुनोत' इत्यस्य स्थाने 'सुनोता' इति पाठः।

२. अवसे तर्पणार्थमिन्द्रस्य। पक्त्वा च कृणुध्वम् अलङ्करणादिभिः संस्कारैः संस्कुरुध्वम्—इति वि०। अवसे तर्पयितुम् इन्द्रं कृणध्वमित् कुरुतैव कर्माणि। इन्द्रप्रियकराणि कर्माणि च कुरुतैव—इति सा०।

३. पृणते पूरयित्रे—इति वि०। हवींषि दत्तवते यजमानाय—इति भ०। कैश्चित्तु पृणते इति तिङन्तं व्याख्यातम्। तत्र स्वरो न सङ्गच्छते।

४. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये 'राज्ञा वैद्यैः किं कारयितव्य' मिति विषये व्याख्यातः। ये वैद्याः स्युस्त उत्तमोत्तमान्यौषधानि सर्वान् मनुष्यान् प्रति शिक्षेरन् येन पूर्णं सुखं स्यादिति तदीयोऽभिप्रायः।

अगले मन्त्र में इन्द्र के लिए सोम अभिषुत करने की प्रेरणा दी गयी है।

पदार्थ—हे मरणधर्मा मनुष्यो ! तुम **सोमपाव्ने** उपासकों के श्रद्धारस का पान करने वाले, **वज्रिणे** पापाचारियों के प्रति दण्डधारी **इन्द्राय** जगदीश्वर के लिए **सोमम्** श्रद्धारस को **सुनोत** अभिषुत करो, **पक्तीः** ज्ञान, कर्म आदि के परिपाकों को **पचत** पकाकर तैयार करो, और **अवसे** जगदीश्वर की प्रीति के लिए **कृणुध्वम् इत्** उन श्रद्धारसों और ज्ञान, कर्म आदि के परिपाकों को उसे समर्पित करो। **पृणते** समर्पण करने वाले मनुष्य के लिए वह जगदीश्वर **मयः** सुख को **पृणन् इत्** अवश्य प्रदान करता है ॥३॥

भावार्थ—इस मन्त्र में 'समर्पण करने वाले को सुख मिलता है' इससे सोमसवन एवं पाकों के परिपाक के समर्पण रूप कार्य का समर्थन होता है, अतः अर्थान्तरन्यास अलंकार है। 'सोम-सोम' में लाटानुप्रास तथा 'पृण-पृण' में छेकानुप्रास है ॥३॥

सुखार्थी जनों को चाहिए कि परमेश्वर में श्रद्धा और अपनी अन्तरात्मा में ज्ञान, कर्म, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि का परिपाक अवश्य करें ॥३॥

अथ कीदृशं परमेश्वरं राजानं च वयमाह्वयेम किं च तं याचेमहीत्याह।

२८६. यः सत्राहा विचर्षणिरिन्द्रं तं हूमहे वयम्।
सहस्रमन्यो तुविनृम्ण सत्पते भवा समत्सु नो वृधे ॥४॥[1]

यः सत्राहा सत्रा हा विचर्षणिः वि चर्षणिः। इन्द्रम् तम् हूमहे वयम्॥
सहस्रमन्यो सहस्र मन्यो तुविनृम्ण तुवि नृम्ण सत्पते सत् पते।
भव समत्सु स मत्सु नः वृधे ॥४॥

पदार्थः—**यः** परमात्मा राजा वा **सत्राहा**[2] सत्रा सत्येन असत्यं हन्ति इति तथाविधः यद्वा, सत्रा सत्येन हन्ति गच्छति व्यवहरतीति सः। सत्रा इति सत्यनाम। निघं० ३।१०। हन् हिंसागत्योः। **विचर्षणिः** विशेषेण द्रष्टा च अस्ति। विचर्षणिः इति पश्यतिकर्मसु पठितम्। निघं० ३।११। **तम् इन्द्रम्** विघ्नदुःखादिविदारकं सुखैश्वर्यप्रदं च परमात्मानं राजानं वा **वयम्** प्रजाजनाः **हूमहे** आह्वयामः। ह्वेञ् धातोः 'बहुलं छन्दसि, अ० २।४।७३' इति शपो लुकि 'बहुलं छन्दसि' अ० ६।१।३४ इति सम्प्रसारणे, पूर्वरूपे 'हलः' अ० ६।४।२ इति दीर्घत्वे रूपमिदम्। अथ प्रत्यक्षकृतमाह। हे **सहस्रमन्यो**[3] पापानां पापिनां चोत्सादनार्थम् अनन्तोत्साहयुक्त ! **तुविनृम्ण** बहुबल ! बहुधन ! तुवि इति बहुनाम। निघं० ३।१। नृम्णम् इति बलनाम धननाम च। निघं० २।९, २।१०। **सत्पते** सतां पालक ! त्वम् **समत्सु**[4] जीवनसंघर्षेषु देवासुरसंग्रामेषु वा। समत्सु इति सङ्ग्रामनामसु पठितम्। निघं० २।१७। 'समदः समदोः वाऽत्तेः, सम्मदो वा मदतेः'

---

१. ऋ० ६।४६।३, ऋषिः शंयुः। 'सहस्रमन्यो' इत्यत्र 'सहस्रमुष्क' इति पाठः।

२. यः सत्येन असत्यं हन्ति। इति ऋ० ४।१७।८ भाष्ये द०। सत्राहा सत्येन हन्ता सर्वदा वा हन्ता शत्रुम्—इति वि०। सर्वेषां शत्रूणां हन्ता—इति भ०। महतां शत्रूणां हन्ता—इति सा०।

३. मन्युः मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वा, बहुदीप्ते बहुक्रोध वा—इति वि०। बहुकर्मन्—इति भ०। बहुविधं शत्रुनाशार्थं सहस्रसंख्याककोपयुक्तः, यद्वा मन्युः क्रतुः, सहस्रसंख्याकैः क्रतुभिः पूज्येन्द्र—इति सा०।

४. (समत्सु) धार्मिकाधार्मिकविरोधाख्येषु युद्धेषु इति ऋ० ३।४३।८ भाष्ये द०।

इति निरुक्तम् । ६।१७ । याः प्राप्य क्षत्रियाः संमाद्यन्ति हृष्यन्ति ताः समदः युद्धानि । **नः** अस्माकम् **वृधे** वर्धनाय **भव** वर्त्तस्व ॥४॥

अत्रार्थश्लेषालङ्कारः ॥४॥

भावार्थः—यथा ब्रह्माण्डे परमेश्वरोऽसत्यस्य हन्ता, सर्वद्रष्टा, पापानामसहनो, बहुबलो, बहुधनः, सतां पालको, देवासुरसंग्रामेषु देवानां विजयप्रदः वर्धयिता च वर्तते तथैव राष्ट्रे राजा भवेत् ॥४॥[1]

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि कैसे परमेश्वर और राजा को हम पुकारें और उससे क्या याचना करें ।

पदार्थ—**यः** जो परमात्मा वा राजा **सत्राहा** सत्य से असत्य का हनन करने वाला अथवा सत्य व्यवहार करने वाला और **विचर्षणिः** विशेष रूप से द्रष्टा है, **तम्** उस **इन्द्रम्** दुःख, विघ्न आदि के विदारक तथा सुख एवं ऐश्वर्य के प्रदाता परमात्मा और राजा को **वयम्** हम प्रजाजन **हूमहे** पुकारते हैं । **हे सहस्रमन्यो** पापों और पापियों के विनाशार्थ अनन्त उत्साह को धारण करने वाले, **तुविनृम्ण** बहुत बली तथा बहुत धनी, **सत्पते** सज्जनों के पालक ! तू **समत्सु** जीवन के संघर्षों में एवं देवासुरसंग्रामों में **नः** हमारी **वृधे** वृद्धि के लिए **भव** हो ॥४॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलङ्कार है ॥४॥

भावार्थ—जैसे ब्रह्माण्ड में परमेश्वर सत्य का हन्ता, सर्वद्रष्टा, पापों को सहन न करने वाला, बहुत बलवान्, बहुत धनवान् और देवासुरसंग्रामों में देवपुरुषों को विजय दिलाने वाला तथा बढ़ाने वाला है, वैसे ही राष्ट्र में राजा हो ॥४॥

अथाश्विनौ देवते । तौ प्रार्थ्येते ।

२८७. शचीभिर्नः शचीवसू दिवा नक्तं दिशस्यतम् ।
मा वां रातिरुपदसत् कदा चनास्मद्रातिः कदा चन ॥५॥[2]
शचीभिः नः शचीवसू शची वसूइति । दिवा नक्तम् दिशस्यतम् ॥ मा वाम्
रातिः उप दसत् कदा च न । अस्मत् रातिः कदा च न ॥५॥

पदार्थः—हे **शचीवसू** कर्मधनौ अश्विनौ[3] परमात्मजीवात्मानौ, गुरुशिष्यौ, अध्यापकोपदेशकौ, वैद्यशल्यचिकित्सकौ, राजामात्यौ, सभासेनेशौ च ! युवाम् **शचीभिः** स्वीयैः स्वीयैः कर्मभिः शची इति कर्मनाम । निघं० २।१ । **नः** अस्मभ्यम् **दिवा नक्तम्** अहनि रात्रौ चापि **दिशस्यतम्**[4] दान प्रयच्छतम् । अयं दानार्थः दिशस् शब्दः कण्ड्वादिषु पठितव्यः । 'कण्ड्वादिभ्यो यक्, अ० ३।१।२७' इति यक् । **वाम्**

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये 'मनुष्याः संग्रामे कथं वर्तेरन्' इति विषये व्याख्यातवान् ।

२. ऋ० १।१३६।५ 'दिशस्यतम्' इत्यत्र 'दशस्यतम्' इति पाठः ।

३. द्रष्टव्यम्: द० भा०—(अश्विनौ) व्याप्तसकलविद्यौ अध्यापकोपदेशकौ (ऋ० ३।५८।५), राजामात्यौ (ऋ० ४।४।५) वैद्यकविद्याव्यापिनौ भिषजौ (य० २१।३३), सभासेनेशौ (ऋ० १।१२०।१०), शिल्पविद्याध्येत्रध्यापकौ (ऋ० १।८६।४) ।

४. ऋग्वेदवद् 'दशस्यतम्' इति पाठं मत्वा दशतेर्दानकर्मणः एतद् रूपम् । दत्तमित्यर्थः । यद्यद् वयं प्रार्थयामस्तत्तद् दत्तमित्यर्थः—इति वि० । दशस्यतं प्रयच्छतं धनानि—इति भ० । दिशस्यतं विसृजतम् अभिमत दत्तमित्यर्थः—इति सा० । (दशस्यतम्) दद्यातम्, अयं दशस् शब्दः कण्ड्वादिषु द्रष्टव्यः इति ऋ० १।१३६।३ भाष्ये द० ।

युवयोः **रातिः** दानम् **कदा च न** कदाचित् **मा उपदसत्** न समाप्येत। उपपूर्वाद् दसु उपक्षये धातोर्लेटि रूपम्। तथैव **अस्मत्** अस्मत्सकाशात् **रातिः** दानगुणः **कदा च न** कदाचित्, मा उपदसत् न नश्येत्। वयमपि सततं दानरताः भवेमेत्यर्थः ॥५॥[1]

अत्र 'शची, शची' 'राति, रातिः', 'कदा च न, कदा च न' इति लाटानुप्रासः ॥५॥

भावार्थः—उक्तौ अश्विनौ यथा स्वेन स्वेनाध्यात्मिकेन वा, वैयक्तिकेन वा, सामाजिकेन वा, राष्ट्रियेण वा, शिल्पात्मकेन वा, चिकित्सात्मकेन वा दानेनास्मानुपकुर्युः, तथैव वयमपि स्वस्वयोग्यतानुसारमन्यानुपकुर्याम ॥५॥

अगले मन्त्र में अश्वियुगल देवता हैं। उनसे याचना की गयी है।

पदार्थ—हे **शचीवसू** कर्म-रूप धन वाले परमात्मा-जीवात्मा, गुरु-शिष्य, अध्यापक-उपदेशक, वैद्य-शल्यचिकित्सक, राजा-राजमन्त्री, सभापति-सेनापति आदि अश्वीदेवो ! तुम **शचीभिः** अपने-अपने कर्मों से **नः** हमें **दिवा नक्तम्** दिन-रात **दिशस्यतम्** अपनी-अपनी देनें प्रदान करो। **वाम्** तुम्हारा **रातिः** दान **कदा च न** कभी **न उपदसत्** समाप्त न हो, वैसे ही **अस्मत्** हमारे अन्दर से **रातिः** दान का गुण **कदा च न** कभी **न उपसदत्** समाप्त न हो, अर्थात् हम भी निरन्तर दान में संलग्न रहें ॥५॥

इस मन्त्र में 'शची, शची', 'राति, रातिः', तथा 'कदा च न, कदा च न' में लाटानुप्रास अलङ्कार है ॥५॥

भावार्थ—उक्त अश्वी-युगल जैसे अपनी-अपनी आध्यात्मिक, वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रिय, शिल्पात्मक, चिकित्सात्मक आदि देनों से हमारा उपकार करते रहें, उसी प्रकार हम भी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार दूसरों का उपकार करें ॥५॥

अथ वरुणो देवता। तमुपासितुं प्रेरयति।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२८८. यदा कदा च मीढुषे स्तोता जरेत मर्त्यः।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
आदिद् वन्देत वरुणं विपा गिरा धर्तारं विव्रतानाम् ॥६॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यदा कदा च मीढुषे। स्तोता जरेत मर्त्यः ॥ आत् इत् वन्देत वरुणम्
३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३
विपा गिरा। धर्त्तारम् विव्रतानाम् वि व्रतानाम् ॥६॥

पदार्थः—**यदा कदा च** यस्मिन् कस्मिन्नपि काले **स्तोता** स्तुतिकर्ता **मर्त्यः** मनुष्यः **मीढुषे** पर्जन्यवत् ऐश्वर्यवर्षकाय इन्द्राय परमैश्वर्यवते परमात्मने, तमनुकूलयितुमित्यर्थः **जरेत** अर्चनां कुर्यात्। जरते अर्चतिकर्मा। निघं० ३।१४। **आत् इत्** तदनन्तरमेव सः **विव्रतानाम्**[2] विगता व्रतेभ्य इति विव्रतास्तेषाम् व्रतहीनानाम्। तत्पुरुषे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः। **धर्तारम्** कर्मपाशैः निग्रहीतारम् **वरुणम्** कर्मानुसारं

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् 'अध्यापकोपदेशकौ सुशिक्षितया वाचाऽहर्निशं विद्या उपदिशेताम्' इति विषये व्याख्यातः।

२. "वि शब्दः 'छन्दसि परेऽपि' पा० १।४।८१ इत्येवं परः प्रयुक्तः पूर्वो द्रष्टव्यः। विविधं धारयितारमित्यर्थः। केषाम् ? व्रतानां कर्मणाम्"। इति विवरणकृद्व्याख्यानं तु चिन्त्यं पदपाठे 'विव्रतानाम्' इति समस्तपाठात्। धर्तारं धारयितारम् विव्रतानां विविधयज्ञादिकर्मणां जनानाम्—इति भ०। विव्रतानां विविधानां कर्मणां धर्तारं धारकम्—इति सा०।

दण्डयित्वा पापेभ्यो निवारकं परमात्मानम् अपि **विपा**[1] मेधावत्या। विप इति मेधाविनाम। निघं० ३।१५। **गिरा** वाचा **वन्देत** पूजयेत् ॥६॥

भावार्थः—इन्द्रो वरुणश्चोभे अपि परमेश्वरस्य नाम्नी स्तः। इन्द्रनाम्ना तस्य परमैश्वर्यवत्त्वमैश्वर्यवर्षकत्वं च सूच्यते, वरुणनाम्ना तस्य पाशित्वं कर्मपाशैर्बद्ध्वा दण्डयित्वा पापनिवारकत्वं च सूच्यते। परमेश्वरस्योभयोरपि स्वरूपयोश्चिन्तनेन, स्मरणेन, सदा स्वसम्मुखं धारणेन च मनुष्यो जीवने सन्मार्गगामी भूत्वा साफल्यमधिगन्तुमर्हति। ऐश्वर्यं प्राप्य जनः कुमार्गे प्रवृत्तो न भवेदित्येतदर्थं परमेश्वरस्य वरुणस्वरूपस्यापि ध्यानमावश्यकम् ॥६॥

अगले मन्त्र में वरुण देवता है। उसकी उपासना के लिए प्रेरणा की गयी है।

पदार्थ—यदा कदा च जब कभी **स्तोता** स्तोता **मर्त्यः** मनुष्य **मीढुषे** बादल के समान ऐश्वर्यवर्षक परमैश्वर्यशाली इन्द्र परमात्मा को अनुकूल करने के लिए **जरेत** उसकी अर्चना करे, **आत् इत्** उसके अनन्तर ही वह **विव्रतानाम्** व्रत-रहितों को **धर्तारम्** कर्म-पाशों से जकड़ने वाले, **वरुणम्** कर्मानुसार फल देकर पापों से निवारण करने वाले वरुण परमात्मा की भी **विपा** मेधायुक्त **गिरा** वाणी से **वन्देत** वन्दना कर लिया करे ॥६॥

भावार्थ—इन्द्र और वरुण दोनों ही परमेश्वर के नाम हैं। इन्द्र नाम से उसकी परमैश्वर्यवत्ता तथा ऐश्वर्यवर्षकता सूचित होती है, और वरुण नाम से उसका पाशधारी होना तथा कर्म-पाशों से बाँधकर और दण्ड देकर पापनिवारक होना सूचित होता है। परमेश्वर के इन दोनों ही स्वरूपों के चिन्तन करने, स्मरण करने तथा सदा अपने सामने धारण रखने से मनुष्य अपने जीवन में सन्मार्गगामी होकर सफलता प्राप्त कर सकता है। ऐश्वर्य पाकर मनुष्य कुमार्ग में प्रवृत्त न हो जाए, इसके लिए परमेश्वर के वरुण स्वरूप को भी ध्यान में रखना आवश्यक है ॥६॥

अथेन्द्रस्यातिथ्याय प्रेरयति।

३ १२ २१ ३ २ ३ १ २
२८९. पाहि गा अन्धसो मद इन्द्राय मेध्यातिथे।
१२ २१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यः सम्मिश्लो हर्यो यो हिरण्यय इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥७॥[2]

३ २ १ २१ १ २१ १ २ १ ३ २ १ २१
पाहि गाः अन्धसः मदे। इन्द्राय मेध्यातिथे मेधा अतिथे ॥ यः सम्मिश्लः
३ १ २१ ३ १ २ १ २१ ३ २ ३ १ २
सम् मिश्लः हर्योः यः हिरण्ययः। इन्द्रः वज्री हिरण्ययः ॥७॥

पदार्थः—हे **मेध्यातिथे**[3] मेध्यः पवित्रः इन्द्रः अतिथिर्यस्य तथाभूत स्तोतः त्वम् **अन्धसः** श्रद्धारसस्य **मदे** आनन्दे मग्नः सन् **इन्द्राय** परमेश्वराय, तस्य आतिथ्यार्थम् इत्यर्थः **गाः**[4] स्तुतिवाचः **पाहि**

१. विपा गिरा विविधमिन्द्रगुणान् प्रति प्राप्तया गिरा। इन्द्रगुणप्रकाशिकया गिरेत्यर्थः—इति वि०। वेपयन्त्या कम्पयन्त्या दुःखानि, गिरा स्तुत्या—इति भ०। विशेषेण रक्षिकया गिरा स्तुत्या—इति सा०।

२. ऋ० ८।३३।४ 'गा अन्धसो' इत्यत्र 'गायान्धसो','र्यो हिरण्यय इन्द्रो वज्री' इत्यत्र च 'र्यः सुते सचा वज्री रथो' इति पाठः।

३. मेध्या : संगमनीयाः पवित्रा अतिथयो यस्य इति ऋ० १।३६।१७ भाष्ये, मैध्यैरतिथिमिर्युक्तोऽध्यापक इति च ऋ० १।३६।१० भाष्ये द०। मेधो यज्ञः, तस्मिन् भवः मेध्यः। मेध्यश्चासावतिथिश्च मेध्यातिथिः। यज्ञेन च अतिथिभूत इत्यर्थः—इति वि०।

४. गा इति गायतेः पञ्चमलकाररूपम्। गाय गीतिं कुरु इन्द्राय—इति भ०।

पालय । **यः** इन्द्रः परमेश्वरः **हर्योः** मनःप्राणरूपयोः अश्वयोः **संमिश्लः** संमिश्रः तव शरीरे नियोक्ताऽस्ति, **यः** यश्च परमेश्वरः **हिरण्ययः** ज्योतिर्मयः यशोमयश्चास्ति । 'ज्योतिर्वै हिरण्यम्' तां० ब्रा० ६।६।१० । 'यशो वै हिरण्यम्' ऐ० ब्रा० ७।१८ । यः **इन्द्रः** परमेश्वरः **वज्री** वज्रधरः, वज्रवद् विद्यमानेन आक्रामकेण-रक्षकेण च बलेन युक्तः सन् दुर्जनानां दण्डयिता सज्जनानां च रक्षकः, **हिरण्ययः** सत्यरूपस्वर्णालङ्कारालंकृत-श्च वर्तते । सत्यं वै हिरण्यम् । गो० उ० ३।१७ ॥७॥

अत्र 'इन्द्राय गाः पाहि' इत्यनेन यथा कश्चिद् गृहस्थः विदुषामतिथीनां सत्काराय धेनूः पालयति तथेति उपमालङ्कारो ध्वन्यते । 'इन्द्रा, इन्द्रो' इत्यत्र छेकानुप्रासः, 'हर्यो-र्योहि' इत्यत्र वृत्त्यनुप्रासः, 'हिरण्यय' हिरण्ययः' इति च यमकम् ॥७॥

भावार्थः—अतिथिसत्कारो मनुष्यस्य परमो धर्मः । इन्द्रः परमेश्वरोऽपि मनुष्यस्य हृदयगृहस्या-तिथिः । तस्यातिथ्याय तेन श्रद्धारसनिर्भरेण सता स्तुतिवाग्रूपोऽर्घ्यः प्रदेयः । स खलु विलक्षणोऽतिथिर्य आतिथेयाय ज्योतिर्यशः सत्यादिरूपं हिरण्यं प्रयच्छति, स्वबलेन तस्य रक्षां करोति, तच्छरीरे मनः प्राणं च संयोज्य तस्मै दीर्घमायुः सामर्थ्यं च ददाति ॥७॥

अगले मन्त्र में इन्द्र के आतिथ्य की प्रेरणा दी गयी है ।

पदार्थ—हे **मेध्यातिथे** पवित्र इन्द्र रूप अतिथि वाले स्तोता ! तू **अन्धसः** भक्तिरस के **मदे** आनन्द में विह्वल होकर **इन्द्राय** इन्द्र परमेश्वर के लिए, अर्थात् उसके आतिथ्य के लिए **गाः** स्तुतिवाणियों **को पाहि** पाल-पोसकर प्रवृत्त कर, **यः** जो इन्द्र परमेश्वर **हर्योः** मन-प्राणरूप घोड़ों को **संमिश्लः** शरीर में नियुक्त करने वाला है, और **यः** जो **हिरण्ययः** ज्योतिर्मय तथा यशोमय है, और जो **इन्द्रः** परमेश्वर **वज्री** वज्र के समान विद्यमान आक्रामक तथा रक्षक बल से युक्त होकर दुर्जनों को दण्डित एवं सज्जनों को रक्षित करने वाला, और **हिरण्ययः** सत्यरूप स्वर्णालङ्कार से अलंकृत है ॥७॥

इस मन्त्र में 'इन्द्राय गाः पाहि' इससे यह उपमालंकार ध्वनित होता है कि जैसे कोई गृहस्थ विद्वान् अतिथियों के सत्कार के लिए गाय पालता है । 'इन्द्रा, इन्द्रे' में छेकानुप्रास, 'हर्यो र्योहि' में वृत्त्यनुप्रास, तथा 'हिरण्यय, हिरण्ययः' में यमक अलंकार है ॥७॥

भावार्थ—अतिथि-सत्कार मनुष्य का परम धर्म है । इन्द्र परमेश्वर भी मनुष्य के हृदय-गृह का अतिथि है । उसके आतिथ्य के लिए उसे श्रद्धारस में विभोर होकर स्तुतिवाणीरूप अर्घ्य प्रदान करना चाहिए । इन्द्र परमेश्वर एक विलक्षण अतिथि है जो अपना आतिथ्य करने वाले को ज्योति, यश एवं सत्यादिरूप सुवर्ण प्रदान करता है, अपने बल से उसकी रक्षा करता है, उसके शरीर में मन और प्राण को नियुक्त करके उसे लम्बी आयु और सामर्थ्य देता है ॥७॥

अथ परमेश्वरो नृपश्चास्माकं वचः शृणुयादित्याह ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १
२९०. उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २
सत्राच्या मघवान्त्सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत् ॥८॥[1]
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ २ ३ २ १ २ १ ३ १ २ ३ २ ३
उभयम् शृणवत् च नः । इन्द्रः अर्वाक् इदम् वचः ॥ सत्राच्या सत्रा च्या
१ २ १ २ १ १ २ १ ३ २ १ २ १ ३
मघवान् सोमपीतये सोम पीतये । धिया शविष्ठः आ गमत् ॥८॥

१. ऋ०८।६१।१, अथ० २०।११३।१ उभयत्र 'मघवान्त्सोमपीतये' इत्यत्र 'मघवा सोमपीतये' इति पाठः । साम० १२३३।

पदार्थः—**इन्द्रः** सुखप्रदाता दुःखहर्ता जगदीश्वरः नृपतिश्च **अर्वाक्** अस्मदभिमुखं भवेत्, **च** किं च **नः** अस्माकम् **इदम्** एतत् **उभयम्**[1] मानसं वाचिकं च यद्वा लिखितं मौखिकं चोभयात्मकम् **वचः** निवेदनम् **शृणवत्** शृणुयात्। श्रु श्रवणे धातोर्लेटि रूपम्। अपि च **मघवान्** सकलैश्वर्यवान् **शविष्ठः**[2] सर्वाधिक बलशाली स परमेश्वरो नृपतिश्च **सोमपीतये** सोमस्य मानसशान्तेर्बाह्यशान्तेश्च पीतिः रक्षा तदर्थम् **सत्राच्या**[3] सत्यानुगामिन्या। सत्रा सत्यम् अञ्चति प्राप्नोतीति सत्राची तया। सत्रा इति सत्यनाम। निघं० ३।१०, अञ्चू गतौ। **धियाः** विचारशृङ्खलया सह **आ गतम्** अस्मदन्तिकं समागच्छेत्। आङ् पूर्वाद् गमेर्लिङर्थे लुङ् 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' अ० ६।४।७५ इत्यडभावः ॥८॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥८॥

भावार्थः—यथा परमात्मा मनुष्याणामन्तःकरणे भ्रातृभावस्य शान्तेश्च विचारान् प्रेरयति तथैव राजानः राष्ट्रेषु संसारे च पारस्परिकं विद्वेषं समाप्य शान्तिं वितनुयुः ॥८॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि परमात्मा और राजा हमारे वचन को सुनें।

पदार्थ—**इन्द्रः** सुखप्रदाता, दुःखहर्ता जगदीश्वर एवं राजा **अर्वाक्** हमारे अभिमुख हो, **च** और **नः** हमारे **इदम्** इस **उभयम्** मानसिक तथा वाचिक अथवा लिखित एवं मौखिक दोनों प्रकार के **वचः** निवेदन को **शृणवत्** सुने। साथ ही **मघवान्** सकल ऐश्वर्य का स्वामी, **शविष्ठः** सबसे अधिक बली वह जगदीश्वर एवं राजा **सोमपीतये** मानस तथा बाह्य शान्ति की रक्षा के लिए **सत्राच्या** सत्य का अनुसरण करने वाली **धिया** विचारशृङ्खला के साथ **आ गमत्** हमारे पास आये ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा मनुष्यों के अन्तःकरण में भ्रातृभाव और शान्ति के विचारों को प्रेरित करता है, वैसे ही राजा लोग राष्ट्रों में और संसार में पारस्परिक विद्वेष को समाप्त करके शान्ति का विस्तार करें ॥८॥

अङ्गीकृतं परमेश्वरं महताऽपि मूल्येन न परादद्म इत्याह।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२९१. महे च न त्वाद्रिवः परा शुल्काय दीयसे।
२ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ २ ३ १ २
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥९॥[4]

३ २ ३ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
महे च न त्वा अद्रिवः अ द्रिवः। परा शुल्काय दीयसे ॥ न सहस्राय न
३ १ २ ३ १ २ १ ३ २ ३ १ २ ३
अयुताय अ युताय वज्रिवः। न शताय शतामघ शत मघ ॥९॥

---

१. उभयं स्तुतिं प्रार्थनां च—इति वि०। उभयं स्तोत्रशस्त्रात्मकम् इदं वचः। अपर आह, उभयम् अस्मिन् अहनि क्रियमाणं पूर्वेद्युः कृतं च वचः अहर्गणेशु शृणवदिति। 'यच्चेदमद्य यदु च ह्य आसीत्' ऐ० ब्रा० ४।३१।५।१८ इति हि ऐतरेयकम्—इति भ०।

२. बहु शवो बलं विद्यते यस्य स शवस्वान्, सोऽतिशयितः। अत्र शवशब्दाद् भूम्न्यर्थे मतुप्, तत इष्ठन्, 'विन्मतोर्लुक्' अ० इति मतुपो लुक्, 'टेः' अ० ६।४।१५५ अनेन टिलोपः—इति य० ६।३७ भाष्ये द०।

३. सत्राच्या सदागत्या—इति वि०। बह्वञ्चन्त्या बहुविषयया धिया युक्तः—इति भ०। अस्माकं यज्ञं पूजयन्त्या धिया युक्तः—इति सा०।

४. ऋ० ८।१।५ चन इति समस्तः पाठः। 'दीयसे' इत्यत्र च 'देयाम्' इति पाठः।

पदार्थः—हे **अद्रिवः**[1] आनन्दमेघानां स्वामिन्, आनन्दरसवर्षक परमात्मन् ! अद्रिरिति मेघनाम। निघं० १।१० **त्वा** त्वम्। युष्मच्छब्दात् प्रथमैकवचने 'सुपां सुलुक्०', अ० ७।१।३९ इति विभक्तेराकारादेशः। **महे** महतेऽपि **शुल्काय** मूल्याय **न** नैव **परादीयसे** परित्यज्यसे। हे **वज्रिवः**[2] प्रशस्तविज्ञाननीतियुक्त ! **न** नैव **सहस्राय** सहस्रमुद्रादिमूल्याय, **न** नापि **अयुताय** दशसहस्रमुद्रादिमूल्याय परादीयसे। हे **शतामघ** अनन्तधन ! पूर्वपदस्य दीर्घश्छान्दसः। **न** नैव **शताय** ततोऽपि शतगुणिताय दशलक्षमुद्रादिमूल्यायेत्यर्थः, परादीयसे ॥९॥

अत्र 'अद्रिवः, वज्रिवः, शतामघ' इत्येतेषां विशेषणानां साभिप्रायत्वात् परिकरालङ्कारः[3]। यो हि सुखवर्षकः, शुभनीतिमान्, अपरिमितसम्पत्तियुक्तश्च वर्तते स केनापि मूल्येन कथं परित्यज्येत ॥९॥

भावार्थः—हे राजराजेश्वर परमात्मन् ! त्वमस्माभिः प्रेम्णा वशीकृतोऽसि। साम्प्रतं त्वां शत-सहस्र-लक्ष-दशलक्ष-कोटि-दशकोटि-मूल्येनापि परिहर्तुं नोद्यताः स्मः ॥९॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि परमेश्वर को हम बड़े-से-बड़े मूल्य पर भी न छोड़ें।

पदार्थ—हे **अद्रिवः** आनन्दरूप मेघों के स्वामी, आनन्दरस-वर्षक इन्द्र परमात्मन् ! **त्वा** तुम **महे च** किसी बड़ी भी **शुल्काय** कीमत पर, हमसे **न** नहीं **परादीयसे** छोड़े जा सकते हो। हे **वज्रिवः** प्रशस्त विज्ञानमय नीति के अनुसार चलने वाले ! **न न सहस्राय** हजार मुद्रा आदि का मूल्य लेकर, और **न** न ही **अयुताय** दस हजार मुद्रा आदि का मूल्य लेकर, छोड़े जा सकते हो। हे **शतामघ** अनन्त सम्पदा वाले ! **न** न ही **शताय** दस हजार से भी सौ गुणा अधिक अर्थात् दस लाख मुद्रा आदि का मूल्य लेकर छोड़े जा सकते हो ॥९॥

इस मन्त्र में 'अद्रिवः, वज्रिवः और शतामघ' विशेषण साभिप्राय होने से परिकर अलंकार है। जो मेघ के समान सुखवर्षक, प्रशस्त नीति से चलने वाला और अनन्त धनवान् है वह भला किसी मूल्य पर कैसे छोड़ा जा सकता है ॥९॥

भावार्थ—हे राजराजेश्वर परमात्मन् ! तुम्हें हमने अपने प्रेम से वश में कर लिया है। अब तुम्हें सौ, हजार, दस हजार, लाख, दस लाख, करोड़, दस करोड़ मूल्य के बदले भी हम छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं ॥९॥

अथ परमात्मनो ज्यैष्ठ्यं श्रैष्ठ्यं चाह।

२९२. वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः।
माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे ॥१०॥

वस्यान् इन्द्र असि मे पितुः। उत भ्रातुः अभुञ्जतः अ भुञ्जतः ॥
माता च मे छदयथः समा स मा वसो। वसुत्वनाय राधसे ॥१०॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमेश्वर ! त्वम् **अभुञ्जतः** अपालयतः। भुज पालनाभ्यवहारयोः, परस्मैपदी

---

१. द्रष्टव्यम् : १९४ संख्यकस्य मन्त्रस्य भाष्यम्।

२. (वज्रिवः) प्रशस्ता वज्रयो विज्ञानयुक्ता नीतयो विद्यन्तेऽस्य तत्सम्बुद्धौ। वज धातोरौणादिक इ प्रत्ययो रुडागमश्च, ततो मतुप्—इति ऋ० १।१२१।१४ भाष्ये द०। वज्रहस्त इति सा०।

३. उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः (सा० द० १०।५७) इति तल्लक्षणात्।

पालनार्थः। **मे** मम **पितुः** जनकात्, **उत** अपि च **भ्रातुः** सहोदरात् **वस्यान्** वसीयान्, अधिकतरं निवासप्रदः। णिजर्थगर्भाद् वस्तृ शब्दाद् ईयसुनि, 'तुरिष्ठेमेयस्सु। अ० ६।४।१५४' इति तृचो लोपे ईकारलोपश्छान्दसः। **असि** विद्यसे। हे **वसो** निवासक जगदीश्वर! त्वम् **मे माता च** मदीया जननी च **समा** समौ स्थः। 'सुपां सुलुक्०'। अ० ७।१।३९' इति प्रथमाद्विवचनस्याकारादेशः। यतः उभावपि युवाम् **वसुत्वनाय** वसुत्वाय वसुप्रदानाय। नकारोपजनश्छान्दसः। यद्वा बाहुलकादौणादिकः त्वन प्रत्ययः। **राधसे** साफल्याय च। राध संसिद्धौ, औणादिकः असुन् प्रत्ययः। **छदयथः** शरणप्रदानेन सत्कुरुथः। छदयतिः अर्चनाकर्मा। निघं० ३।१४॥१०॥

अत्र 'अभुञ्जतः' इति पदस्यार्थः पितृभ्रात्रपेक्षया इन्द्रस्य वसीयस्त्वे हेतुः, 'वसुत्वनाय राधसे छदयथः' इति वाक्यस्यार्थश्च इन्द्रस्य मातुश्च समत्वे हेतुरिति काव्यलिङ्गमलङ्कारः[1]। 'तुरु, तुर', 'वसो, वसु' इत्यत्र छेकानुप्रासः॥१०॥

भावार्थः—जगदीश्वरः सर्वेभ्योऽपि सांसारिकेभ्यो बन्धुबान्धवेभ्यः प्रेष्ठः श्रेष्ठश्च विद्यते। केवलं माता तस्य कामपि तुलामर्हति, माता भूमेर्गरीयसीति स्मरणात्॥१०॥

अत्रेन्द्रस्य गुणवर्णनाद्, आह्वानात्, ततो वृद्ध्यादिप्रार्थनात्, तत्सम्बद्धयोरश्विनोरपि सकाशात् तद्दानस्य याचनाद्, इन्द्रशब्देन राजादीनामपि चरितवर्णनाच्चैतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्ति॥

इति तृतीये प्रपाठके द्वितीयार्धे पञ्चमी दशतिः।

समाप्तश्चायं तृतीयः प्रपाठकः॥

इति तृतीयाध्याये षष्ठः खण्डः॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का वर्णन है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमेश्वर! आप **अभुञ्जतः** पालन न करने वाले **मे** मेरे **पितुः** पिता से **उत** और **भ्रातुः** सगे भाई से **वस्यान्** अधिक निवासप्रद **असि** हो। हे **वसो** निवासक जगदीश्वर! आप, **मे माता च** और मेरी माता **समा** दोनों समान हो, क्योंकि तुम दोनों ही **वसुत्वनाय** धन के लिए और **राधसे** सफलता के लिए **छदयथः** हमें अपनी शरण से सत्कृत करते हो॥१०॥

इस मन्त्र में 'अभुञ्जतः' पद का अर्थ पिता और भ्राता की अपेक्षा इन्द्र के अधिक निवासक होने में तथा 'वसुत्वनाय राधसे छदयथः' इस वाक्य का अर्थ इन्द्र और माता के समान होने में हेतु होने से काव्यलिङ्ग अलंकार है। 'तुरु, तुर', 'वसो, वसु' में छेकानुप्रास है॥१०॥

भावार्थ—जगदीश्वर सभी सांसारिक बन्धुबान्धवों की अपेक्षा सर्वाधिक प्रिय और श्रेष्ठ है। केवल माता से उसकी कुछ तुलना हो सकती है, क्योंकि माता भूमि से भी अधिक गौरवमयी है ऐसा शास्त्रकार कहते हैं॥१०॥

इस दशति में इन्द्र के गुणों का वर्णन तथा आह्वान होने से, उससे वृद्धि आदि की प्रार्थना होने से, उससे सम्बद्ध अश्विनों से दान की याचना होने से तथा इन्द्र नाम से राजा आदि का भी चरित्र वर्णित होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है॥

तृतीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की पाँचवीं दशति समाप्त।

यह तृतीय प्रपाठक समाप्त हुआ॥

तृतीय अध्याय में छठा खण्ड समाप्त॥

---

१. हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते। सा० द० १०।६२ इति तल्लक्षणात्।

अथ चतुर्थः प्रपाठकः

॥१॥ अथ 'इम इन्द्राय सुन्विरे' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ वसिष्ठः; २, ६, ७ वामदेवः; ३ मेधातिथिमेध्यातिथी, विश्वामित्र इत्येके; ४ नोधाः; ५ मेधातिथिः; ८ बालखिल्याः; ९ मेध्यातिथिः; १० नृमेधः॥ देवता—१-६, ८-१० इन्द्रः; ७ बहवः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

अथेन्द्रः सोमपानायाहूयते।

३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २
२९३. इम इन्द्राय सुन्विरे सोमासो दध्याशिरः।
१२ २१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
ताँ आ मदाय वज्रहस्त पीतये हरिभ्यां याह्योक आ ॥१॥[1]
३ २ १ २१ ३ १ २१ १ २१ १ २१ ३ २
इमे इन्द्राय सुन्विरे। सोमासः दध्याशिरः दधि आशिरः॥ तान् आ
१ २१ ३ १ २ १ २१ ३ १ २१
मदाय वज्रहस्त वज्र हस्त पीतये। हरिभ्याम् याहि ओकः आ ॥१॥

पदार्थः—**प्रथमः** अतिथिपरः। **इमे** एते **दध्याशिरः** दध्ना सह मिश्रिताः **सोमासः** सोमाद्योषधीनां रसाः **इन्द्राय** विदुषे अतिथये तुभ्यम् **सुन्विरे** अभिषुताः सज्जीकृताः सन्ति। हे **वज्रहस्त** अस्मद्दोषान् नाशयितुं वाग्रूपवज्रधर विद्वन्! वाग् हि वज्रः। ऐ० ब्रा० ४।१। वज्रः उपदेशवाग् हस्ते पाणौ इव समीपे यस्य स वज्रहस्तः। **तान्** दधिमिश्रितान् सोमरसान् **मदाय** तृप्तये **पीतये** पानाय **हरिभ्याम्** ऋक्-सामभ्याम् सह। ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी। षड्विंश० १।१, यद्वा **हरिभ्याम्** यानहारकाभ्याम् अश्वाभ्याम्, अश्वद्वयनियुक्तं रथमारुह्येत्यर्थः। **ओकः** गृहस्थस्य मम गृहम् **आयाहि** आगच्छ॥१॥

अथ **द्वितीयः** परमात्मपरः। **इमे** एते **दध्याशिरः** कर्मरूपेण दध्ना आशिरः मिश्रिताः परिपक्वा वा। दधाति पुष्णातीति दधि कर्म घनीभूतं पयो वा। डुधाञ् धातोः 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च। अ० ३।२।१७१' इति किः। 'आशीः आश्रयणाद्वा आश्रपणाद् वा' इति निरुक्तम् (६।८)। **सोमासः** अस्माकं श्रद्धारसाः **इन्द्राय** जगदीश्वराय तुभ्यम् **सुन्विरे** अभिषुताः सन्ति। हे **वज्रहस्त** वज्रपाणिः इव अस्मद्दोषाणां नाशक परमेश्वर! **तान्** कर्ममिश्रितान् कर्मभिः परिपक्वान् वा श्रद्धारसान् **मदाय** तृप्त्यर्थम् **पीतये** पानाय **हरिभ्याम्** अश्वाभ्यामिव इति लुप्तोपमम्, यथा रथे अश्वौ नियुज्य वेगेन कश्चिदागच्छति तथेत्यर्थः। **ओकः** अस्मदीयं हृदयरूपं सदनम् **आयाहि** आगच्छ॥१॥[2]

अत्र श्लेषालङ्कारः, परमात्मपक्षे लुप्तोपमापि॥१॥

भावार्थः—यथा दध्ना संमिश्र्य सोमाद्योषधिरसोऽतिथिभ्यः समर्प्यते तथैव श्रद्धारसः कर्मणा संमिश्र्य परमेश्वराय समर्पणीयः, यतः कर्महीना भक्तिरकिञ्चित्करी खलु॥१॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र को सोमपान के लिए बुलाया जा रहा है।

पदार्थ—**प्रथम** अतिथि के पक्ष में। **इमे** ये **दध्याशिरः** दही के साथ मिलाये हुए **सोमासः** सोमादि ओषधियों के रस **इन्द्राय** तुझ विद्वान् अतिथि के लिए **सुन्विरे** तैयार रखे हैं। हे **वज्रहस्त** हमारे दोषों को नष्ट करने के लिए उपदेशवाणीरूप वज्र को धारण करने वाले विद्वन्! **तान्** उन दधिमिश्रित सोमरसों

१. ऋ० ७।३२।४।

२. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमृग्भाष्ये राजादयः किमाचरेयुरिति विषये व्याख्यातः।

को **मदाय** तृप्त्यर्थं **पीतये** पीने के लिए **हरिभ्याम्** ऋक् और साम के ज्ञान के साथ अथवा दो घोड़ों से चलने वाले रथ पर बैठकर, मुझ गृहस्थ के **ओकः** घर पर **आयाहि** आइए ॥

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। **इमे** ये **दध्याशिरः** कर्मरूप दही के साथ मिलाये या पकाये हुए **सोमासः** हमारे श्रद्धा-रस **इन्द्राय** तुझ जगदीश्वर के लिए **सुन्विरे** तैयार किये हुए हैं। हे **वज्रहस्त** वज्र-धारी के समान दोषों को नष्ट करने वाले परमेश्वर ! **तान्** उन कर्ममिश्रित श्रद्धारसों को **मदाय** तृप्त्यर्थ **पीतये** पान करने के लिए **हरिभ्याम्** जैसे कोई रथ में घोड़ों को नियुक्त करके वेगपूर्वक आता है वैसे **ओकः** हमारे हृदय-सदन **में आयाहि** आइए ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है, परमात्मपक्ष में लुप्तोपमा भी है ॥१॥

भावार्थ—जैसे दही **में** मिलाकर सोमादि ओषधियों का रस **अ**तिथियों को समर्पित किया जाता है, वैसे ही श्रद्धारस को कर्म के साथ मिलाकर ही परमेश्वर को अर्पित करना चाहिए, क्योंकि कर्महीन भक्ति कुछ भी लाभ नहीं पहुँचाती है ॥१॥

अथेन्द्रं प्रार्थयते ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२९४. इम इन्द्र मदाय ते सोमाश्चिकित्र उक्थिनः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
मधोः पपान उप नो गिरः शृणु रास्व स्तोत्राय गिर्वणः ॥२॥
३ २ ३ १ २ १ ३ १ २ १ ३ १ २
इमे इन्द्र मदाय ते । सोमाः चिकित्रे उक्थिनः ॥
१ २ १ ३ २ १ २ १ ३ १ २ १ ३ १ २ ३
मधोः पपानः उप नः गिरः शृणु । रास्व स्तोत्राय गिर्वणः गिः वनः ॥२॥

पदार्थः—**इमे** एते परिदृश्यमानाः **उक्थिनः** उक्थवन्तः स्तोत्रयुक्ताः **सोमाः** अस्माकं श्रद्धारसाः, हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **ते** तव **मदाय** तृप्त्यर्थम् **चिकित्रे** चिकितिरे, सर्वैः ज्ञायन्ते, सर्वविदिताः सन्तीत्यर्थः। कित ज्ञाने, लिटि 'इरयो रे। अ० ६।४।७६' अनेन इरे इत्यस्य रेभावः। **मधोः** मधुरस्य श्रद्धारसस्य **पपानः** पानं कुर्वन्। पा पाने धातोः, लिटः कानच्। **नः** अस्माकम् **गिरः** प्रार्थनावाचः **उप शृणु** सामीप्येन आकर्णय। हे **गिर्वणः**[1] गीर्भिः सेवनीय याचनीय वा देव ! वन संभक्तौ, वनु याचने। गिर्वणा देवो भवति, गीर्भिरेनं वनयन्ति। निरु० ६।१५। त्वम् **स्तोत्राय**[2] स्तुतिकर्त्रे मह्यम्। अत्र ष्टुञ् स्तुतौ धातोः 'दाम्नी-शसयुयुजस्तु०। अ० ३।३।१८२' इति करणे विहितः ष्ट्रन् प्रत्ययः कर्तरि ज्ञातव्यः। **रास्व** अभिलषितं फलं प्रदेहि। रा दाने, आत्मनेपदं छान्दसम्।

अतिथिपक्षेऽपि योज्यम्। तत्र उक्थिनः प्रशंसिताः सोमाः सोमाद्योषधीनां रसाः, तैः सत्कृतः स गृहस्थानां प्रार्थनां श्रुत्वाऽभीष्टमुपदेशादिकं प्रयच्छेदिति दिक् ॥२॥

भावार्थः—परमेश्वरोऽतिथिश्चाऽस्माकं प्रार्थनामुपश्रुत्याभीष्टं फलं नः प्रयच्छेताम् ॥२॥

अगले मन्त्र में इन्द्र से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—**इमे** ये **उक्थिनः** स्तोत्रयुक्त **सोमाः** हमारे श्रद्धारस, हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **ते** आपकी **मदाय** तृप्ति के लिए **चिकित्रे** जाने गये हैं, सर्वविदित हैं। हमारे **मधोः** मधुर श्रद्धारस का **पपानः** पान

---

१. द्रष्टव्यम् : १६५ संख्यकमन्त्रस्य भाष्यम्।

२. स्तोत्राय स्तोत्रे—इति वि०, भ०। स्तोत्राय स्तोत्रकर्त्रे मह्यम्—इति सा०।

करते हुए **नः** हमारी **गिरः** प्रार्थना-वाणियों को **उप श्रृणु** समीपता से सुनिए। हे **गिर्वणः** वाणियों द्वारा सेवन करने अथवा याचना करने योग्य परमात्मन् ! आप **स्तोत्राय** मुझ स्तुतिकर्ता को **रास्व** अभीष्ट फल प्रदान कीजिए ॥

अतिथि के पक्ष में भी अर्थयोजना कर लेनी चाहिए। उस पक्ष में 'उक्थिनः सोमाः' से प्रशंसित सोमादि ओषधियों के रस अभिप्रेत हैं। उनसे सत्कृत होकर वह गृहस्थों की प्रार्थना को सुनकर उन्हें अभीष्ट उपदेश आदि प्रदान करे ॥२॥

भावार्थ—परमेश्वर और अतिथि हमारी प्रार्थना को सुनकर अभीष्ट फल हमें प्रदान करें ॥२॥

अथेन्द्रं धेनुरूपेण स्तौति।

१ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२९५. आ त्वा३ द्य सबर्दुघां हुवे गायत्रवेपसम्।
१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रं धेनुं सुदुघामन्यामिषमुरुधारामरङ्कृतम् ॥३॥[1]
२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
आ तु अद्य अ द्य सबर्दुघाम् सबः दुघाम्। हुवे गायत्रवेपसम् गायत्र वेपसम् ॥
१ २१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २१ १ २१ १ २१ ३ १ २ ३ २ ३
इन्द्रम् धेनुम् सुदुघाम् सु दुघाम् अन्याम् इषम्। उरुधाराम् उरु धाराम्
३ १ २ ३ १ २१
अरंकृतम् अरम् कृतम् ॥३॥

पदार्थः—**अद्य** अस्मिन् दिने **तु** क्षिप्रम् **सबर्दुघाम्**[2] ज्ञानरूपस्य पयसो दोग्ध्रीम् **गायत्रवेपसम्**[3] गीयमानकर्माणम्। गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः। निरु० १।८। वेपस् इति कर्मनाम। निघं० २।१। **सुदुघाम्** सुष्ठु कामस्य प्रपूरिकाम्। सु पूर्वाद् दुह प्रपूरणे धातोः 'दुहः कब् घश्च। अ० ३।२।७०' इति कप् घादेशश्च। **अन्याम्** सामान्यविलक्षणाम् **इषम्** एषणीयाम्। इषु इच्छायाम् धातोः क्विपि रूपम्। **उरुधाराम्** विस्तीर्णधाराम् **अरंकृतम्** अलंकरोतीति अलंकृत्, रलयोरभेदात् अरंकृत् ताम् **इन्द्रं धेनुम्** परमेश्वररूपां गाम्, अहम् **आहुवे**[4] आह्वयामि ॥३॥

अत्र परमेश्वरे धेन्वारोपाद् रूपकालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—यथा धेनुर्यज्ञियं पयो दोग्धि तथा परमेश्वरो ज्ञानरसं दोग्धि। धेनोः परमेश्वरस्य चोभयोरपि यज्ञसाधकत्वरूपं कर्म गीयते। उभावपि मनोरथप्रपूरकौ। गौरितरपशुविलक्षणा, परमेश्वर इतरचेतनाचेतनविलक्षणः। गौर्दुग्धस्य विस्तीर्णा धाराः प्रयच्छति, परमेश्वर आनन्दधारा वर्षति। गौः पुष्ट्यारोग्यदानेन जनान् शोभयति, परमेश्वरोऽध्यात्मशक्त्या शोभयति। एवमुभयोः साम्यात् परमेश्वरो गौरिव सेवनीयः पूजनीयश्च ॥३॥

---

१. ऋ० ८।१।१०।

२. सबर्दुघाम्। सबः अमृतं या दुह्यति सा सबर्दुघा ताम्—इति वि०। अमृतदोग्ध्रीम् इति माधवभरतयोराशयः। पयसो दोग्ध्रीमिति सायणः। 'सबर्' इति रेफान्तं प्रातिपदिकं क्षीरवाची इति सम्प्रदायविदः' इति ऋ० १।२०।३ भाष्ये सा०। 'बर्बर्ति येन ज्ञानेन तद् बः, समानं बर दोग्धि प्रपूरयति या ताम्। अत्र बर्ब गतौ इत्यस्माद्धातोः 'कृतो बहुलम्' इति करणे क्विप्। राल्लोप इति बकारलोपः, 'समानस्य छन्दस्य०' अनेन समानस्य सकारादेशः, ततः 'दुहः कब् घश्च' अ० ३।२।७० इति दुहः कप् प्रत्ययो हस्य स्थाने घादेशश्च' इति च तत्रैव द०।

३. गायत्रं स्तोत्रम् तस्य वेपसं कर्मभूतम्। स्तुत्यमित्यर्थः—इति वि०। गायत्र स्तुत्यं वेपसं वेपः कर्म यस्य तम्—इति भ०। प्रशस्यवेगाम्—इति सा०।

४. इन्द्रं धेनुं हुवे याचे—इति विवरणकृदभिप्रायः। अनया धेनुरूपेण वृष्टिरूपेण च इन्द्रं निरूपयन् स्तौतीति भरतसायणौ।

अगले मन्त्र में दूध देने वाली गाय के रूप में इन्द्र की स्तुति की गयी है।

पदार्थ—**अद्य** आज **तु** शीघ्र ही **सबर्दुघाम्** ज्ञानरूप दूध को देने वाली, **गायत्र-वेपसम्** जिसके कर्मों का सर्वत्र गान हो रहा है ऐसी, **सुदुघाम्** भलीभाँति कामनाओं को पूर्ण करने वाली, **अन्याम्** विलक्षण, **इषम्** चाहने योग्य, **उरुधाराम्** बड़ी-बड़ी धारों वाली, **अरंकृतम्** अलंकृत करने वाली **इन्द्रं धेनुम्** परमेश्वर-रूप गाय को **आहुवे** पुकारता हूँ ॥३॥

इस मन्त्र में परमेश्वर में गाय का आरोप होने से रूपक अलंकार है ॥३॥

भावार्थ—जैसे गाय दूध देती है, वैसे परमेश्वर ज्ञान-रस देता है। गाय और परमेश्वर दोनों के यज्ञ-साधकत्व रूप कर्म का गान किया जाता है। दोनों ही मनोरथों को पूर्ण करने वाले हैं। गाय अन्य पशुओं से विलक्षण है, परमेश्वर अन्य चेतन-अचेतनों से विलक्षण है। गाय दूध की बड़ी-बड़ी धारों को देती है, परमेश्वर आनन्द की धारें बरसाता है। गाय पुष्टि और आरोग्य देकर मनुष्यों को शोभित करती है, परमेश्वर अध्यात्मबल से शोभित करता है। इस प्रकार दोनों की समता होने से परमेश्वर की गाय के समान सेवा और पूजा करनी योग्य है ॥३॥

अथ परमेश्वरस्य दानधर्मत्वं वर्णयति।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२९६. न त्वा बृहन्ता अद्रयो वरन्त इन्द्र वीडवः।
१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
यच्छिक्षसि स्तुवते मावते वसु न किष्टदा मिनाति ते ॥४॥[1]

२ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
न त्वा बृहन्तः अद्रयः अ द्रयः। वरन्ते इन्द्र बीडवः॥ यत् शिक्षसि स्तुवते
१ २ १ २ ३ २
मावते वसु। न किः तत् आ मिनाति ते ॥४॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **बृहन्तः** विशालाः **वीडवः** दृढाः **अद्रयः** पर्वता अपि **त्वा** त्वाम् **न** नैव **वरन्ते** निवारयितुं शक्नुवन्ति, **यत्** यदा, त्वम् **मावते** मत्सदृशाय। अस्मच्छब्दात् 'युष्मदस्मदोः सादृश्ये वतुब् वाच्यः' वा० इति सादृश्यार्थे वतुप्। **स्तुवते** स्तोत्रे जनाय **वसु** आध्यात्मिकं भौतिकं च धनम् **शिक्षसि** प्रयच्छसि। शिक्षतिः दानकर्मा। निघं० ३।२०। **तत्** तत् ते दानरूपं कर्म **न किः** न कश्चित् **आ मिनाति** हिनस्ति। मीञ् हिंसायाम्। 'मीनातेर्निगमे। अ० ७।३।८ इति धातोर्ह्रस्वत्वम् ॥४॥

भावार्थः—परमेश्वरस्य यो गुणकर्मस्वभावोऽस्ति तं फलीभवन्तं संसारस्य कापि बाधा न निरोद्धुं शक्नोति ॥४॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर का दान करने का धर्म वर्णित है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **बृहन्तः** विशाल **वीडवः** दृढ **अद्रयः** पर्वत भी **त्वा** तुझे **न** नहीं **वरन्त** रोक सकते हैं, **यत्** जब कि तू **मावते** मुझ जैसे **स्तुवते** स्तोता जन के लिए **वसु** आध्यात्मिक और भौतिक धन **शिक्षसि** देता है। **तत्** उस तेरे दानरूप कर्म को **न किः** कोई भी नहीं **आ मिनाति** नष्ट कर सकता है ॥४॥

भावार्थ—परमेश्वर का जो गुण-कर्म-स्वभाव है उसके फलीभूत होने में संसार की कोई भी बाधा रुकावट नहीं डाल सकती ॥४॥

---

१. ऋ०८।८८।३ 'यच्छिक्षसि' इत्यत्र 'यद्दित्ससि' इति पाठः।

अथ स्तुतो जगदीश्वरः किं करोतीत्याह ।

२९७. क ई वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे ।
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्रिन्धसः ॥५॥[1]

कः ईम् वेद सुते सचा । पिबन्तम् कत् वयः दधे ॥ अयम् यः पुरः
विभिनत्ति वि भिनत्ति ओजसा । मन्दानः शिप्री अन्धसः ॥५॥

पदार्थः—**सुते** उपासनायज्ञे **सचा** युगपत् **पिबन्तम्** यजमानस्य श्रद्धारसम् आस्वादयन्तम् **ईम्** एतम् इन्द्रम् परमेश्वरम् **कः वेद** को जानाति । **कत्** कदा, सः **वयः** उपासकस्य जीवनम्, **दधे** दधाति इत्यपि को वेद ? यदि कश्चिज्जानाति उपासक एव जानाति अनुभवति वा, नान्यः कश्चनेत्यर्थः । कीदृशम् इन्द्रम् इत्याह—**अयम्** एषः **यः शिप्री** सुमुखः प्रशस्तस्वरूपः इन्द्रः परमेश्वरः । प्रशस्ते शिप्रे हनू नासिके वा यस्य सः, प्रशंसार्थे मत्वर्थे इनिः । शिप्राभ्यां मुखमुपलक्ष्यते । मुखेन च स्वरूपमभिप्रेतम्, निरवयवत्वात् परमेश्वरस्य । **अन्धसः** अन्धसा श्रद्धारूपेण सोमरसेन । तृतीयार्थे षष्ठी । **मन्दानः** मोदमानः सन् । मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु, शानच्, छान्दसो मुगागमनिषेधः । **ओजसा** बलेन **पुरः** तस्य मनोभूमौ दृढं बद्धाः कामक्रोधाद्यसुराणां नगरीः **विभिनत्ति** विदारयति ॥५॥

भावार्थः—परमेश्वरस्योपासनाया अयमेव लाभो यत् स उपासकस्य मनसि समस्तशत्रुपराजयसमर्थं पुरुषार्थमुत्पाद्य समराङ्गणे तं विजेतारं करोति ॥५॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि स्तुति किया हुआ जगदीश्वर क्या करता है ।

पदार्थ—**सुते** उपासना-यज्ञ में **सचा** एक-साथ **पिबन्तम्** यजमान के श्रद्धारस का पान करते हुए **ईम्** इस इन्द्र परमेश्वर को **कः वेद** कौन जानता है ? **कत्** कब वह **वयः** उपासक के जीवन को **दधे** सहारा दे देता है, इसे भी कौन जानता है ? अर्थात् यदि कोई जानता है तो उपासक ही जानता या अनुभव करता है । कैसे परमेश्वर को ? इसका उत्तर देते हैं—**अयम्** यह **यः** जो **शिप्री** प्रशस्त स्वरूप वाला परमेश्वर **अन्धसः** यजमान के श्रद्धारस से **मन्दानः** प्रसन्न होता हुआ **ओजसा** बलपूर्वक **पुरः** उसकी मनोभूमि में दृढ़ता के साथ जमी हुई काम-क्रोधादि असुरों की नगरियों को **विभिनत्ति** तोड़-फोड़ देता है ॥५॥

भावार्थ—परमेश्वर की उपासना का यही लाभ है कि वह उपासक के मन में सब शत्रुओं को पराजित कर सकने वाले पुरुषार्थ को उत्पन्न करके उसे समरभूमि में विजयी बना देता है ॥५॥

अथेन्द्रनाम्ना परमेश्वरं राजानं च सम्बोधयति ।

२९८. यदिन्द्र शासो अव्रतं च्यावया सदस्परि ।
अस्माकमंशुं मघवन् पुरुस्पृहं वसव्ये अधि बर्हय ॥६॥

यत् इन्द्र शासः अव्रतम् अ व्रतम् । च्यावय सदसः परि ॥ अस्माकम् अंशुम्
मघवन् पुरुस्पृहम् पुरु स्पृहम् । वसव्ये अधि बर्हय ॥६॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । **यत्** यस्मात्, हे **इन्द्र** दुर्गुणविदारक जगदीश्वर ! त्वम् **शासः**

---

१. ऋ० ८।३३।७, साम० १९९६, अथ० २०।५३।१, २०।५७।११ सर्वत्र ऋषिः मेध्यातिथिः ।

शासकः नियामकः असि, तस्मात् **अव्रतम्**[1] व्रतहीनं कर्महीनं वा जनम्। व्रतं दीक्षा। यद्वा, व्रतमिति कर्मनाम। निघं० २।१। तद्रहितम्। 'अव्रतम्' इत्यत्र बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' अ० ६।२।१७२ इत्यन्तोदात्तत्वम्। **सदसः परि** सज्जनसमाजात् **च्यावय** निर्गमय। हे **मघवन्** सद्गुणधन ! **अस्माकम् नः पुरुस्पृहम्** बहुस्पृहायुक्तम्। पुरु स्पृहयतीति पुरुस्पृक् तम्। 'गतिकारकोपपदात् कृत्' अ० ६।२।१३९ इत्युत्तरपदस्य प्रकृतिस्वरः। **अंशुम्** मनः। मनो ह वा अंशुः। श० ११।५।६।२। **वसव्ये अधि**[2] आध्यात्मिकाधिभौतिकोभयविधधनसमूहप्राप्तिनिमित्तम्। निमित्तार्थे सप्तमी 'वसोः समूहे च' अ० ४।४।१४० इति समूहार्थे यत्। **बर्हय** श्रेष्ठतामापादय। बर्ह प्राधान्ये भ्वादिः, णिजन्तं रूपम्।

अथ **द्वितीयो** राजन्यपरः। **यत्** यस्मात्, हे **इन्द्र** पापस्य पापिनां च विद्रावक राजन् ! त्वम् **शासः** शासकः असि, तस्मात् **अव्रतम्** वर्णाश्रममर्यादापालनव्रतरहितं जनम् **सदसः परि** राष्ट्ररूपात् यज्ञगृहात् **च्यावय** पृथक् कुरु। यद्वा **अव्रतम्** राष्ट्रसेवाव्रतहीनं जनम् **सदसः परि** संसदः सदस्यतायाः **च्यावय** बहिष्कुरु। हे **मघवन्** धनानां स्वामिन् ! **अस्माकम् पुरुस्पृहम्** अतिशयस्पृहणीयम् **अंशुम्** अंशदानम्, प्रदत्तं करम् **वसव्ये अधि** राष्ट्रहितकार्येषु। वसवे राष्ट्राय हितं वसव्यम्, हितार्थे यत्। **बर्हय** व्ययीकुरु। बर्ह हिंसायाम्, चुरादिः ॥६॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥६॥

भावार्थः—त एव राष्ट्रपरिषदः सदस्या भवितुमर्हन्ति ये राष्ट्रसेवाव्रते दीक्षिता भवेयुः। प्रजाजनैरपि वर्णाश्रममर्यादापालकैः कर्मपरायणैश्च भाव्यम्। प्रजाभिः स्वेच्छया राज्ञे करः प्रदेयः, राज्ञा च करद्वारा प्राप्तं धनं राष्ट्रहितकार्येषु व्ययितव्यम् ॥६॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर और राजा को सम्बोधित किया गया है।

पदार्थ—**प्रथम** परमेश्वर के पक्ष में। **यत्** क्योंकि, हे **इन्द्र** दुर्गुणनिवारक जगदीश्वर ! आप **शासः** शासक और नियामक हैं, इस कारण **अव्रतम्** व्रतहीन और कर्महीन मनुष्य को **सदसः परि** सज्जनों के समाज से **च्यावय** निकाल दीजिए। हे **मघवन्** सद्गुणरूप धनों के धनी ! **अस्माकम्** हमारे **पुरुस्पृहम्** बहुत अधिक प्रिय **अंशुम्** मन को **वसव्ये अधि** आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक दोनों प्रकार के धन-समूह की प्राप्ति के निमित्त से **बर्हय** श्रेष्ठ बना दीजिए ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। **यत्** क्योंकि, हे **इन्द्र** पाप और पापियों के विनाशक राजन् ! आप **शासः** शासक हैं, इस कारण **अव्रतम्** वर्णाश्रम की मर्यादा का पालन न करने वाले मनुष्य को **सदसः परि** राष्ट्ररूप यज्ञगृह से **च्यावय** निष्कासित कर दो। अथवा **अव्रतम्** राष्ट्रसेवा के व्रत से रहित मनुष्य को **सदसः परि** संसत् की सदस्यता से **च्यावय** च्युत कर दो। हे **मघवन्** धनों के स्वामिन् ! **अस्माकम्** हमारे **पुरुस्पृहम्** अतिशय प्रिय **अंशुम्** प्रदत्त कर-रूप अंशदान को **वसव्ये अधि** राष्ट्रहित के कार्यों में **बर्हय** व्यय करो ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥६॥

भावार्थ—वे ही राष्ट्रपरिषद् के सदस्य होने योग्य हैं जो राष्ट्रसेवा के व्रत में दीक्षित हों। प्रजाजनों को भी वर्णाश्रम की मर्यादा का पालन करने वाला और कर्मपरायण होना चाहिए। प्रजाओं

---

१. व्रतरहितं यज्ञे अप्रवृत्तम्—इति वि०। अकर्माणं अस्तोतारम् अयज्वानं च—इति भ०। अकर्माणं यागविरोधिनम् इत्यर्थः—इति सा०।

२. वसव्ये यजमाने यज्ञानां वासयितरि—इति वि०। वसव्ये वास्तुनि यज्ञगृहे—इति भ०।

को चाहिए कि स्वेच्छा से राजा को कर प्रदान करें और राजा को चाहिए कि कर द्वारा प्राप्त धन को राष्ट्रहित के कार्यों में व्यय करे ॥६॥

अथ मन्त्रोक्तास्त्वष्टृपर्जन्यब्रह्मणस्पत्यदितयो देवताः। इन्द्रप्रकरणे तेऽपि रक्षादिकं याच्यन्ते।

२९९. त्वष्टा नो दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः।
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रामणं वचः ॥७॥[1]

त्वष्टा नः दैव्यम् वचः। पर्जन्यः ब्रह्मणः पतिः॥ पुत्रैः पुत् त्रैः भ्रातृभिः अदितिः अ दितिः नु पातु नः। दुष्टरम् दुः तरम् त्रामणम् वचः ॥७॥

पदार्थः—**त्वष्टा** दोषाणां तनूकर्ता, तेजसा दीप्तः, दुःखच्छेदको विद्वान् जनः, त्वक्ष तनूकरणे। यद्वा त्विष दीप्तौ, 'त्विषेर्देवतायामकारश्चोपधाया अनिट्त्वं च' अ० ३।२।१३५ वा० अनेन त्विषधातोस्तृन्, उपधाया अकारः, डडभावश्च। **पर्जन्यः** पर्जन्यवद् उपदेशवर्षकः संन्यासी, **ब्रह्मणः पतिः** ज्ञानस्य अधिपतिः आचार्यश्च। संहितायां 'षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु।' अ० ८।३।५३ इति विसर्जनीयस्य सत्वम्। **नः** अस्मभ्यम् **दैव्यं वचः** ईश्वरीयं वेदवचनम्, उपदिशन्तु इति शेषः। देवात् परमेश्वराद् आगतं दैव्यम्। 'देवाद्यञञौ' अ० ४।१।८५ वा इति यञ् प्रत्ययः। किञ्च, **पुत्रैः** तनयैः **भ्रातृभिः** बन्धुभिश्च साकम् **नः** अस्मान् **अदितिः** जगन्माता। अदितिर्माता। ऋ० १।८९।१० इति प्रामाण्याद् माता अदितिरुच्यते। **नु** सद्यः एव **पातु** रक्षतु। अस्माकम् **वचः** वचनम् **दुष्टरम्** अनतिक्रमणीयम्, अकाट्यम् **त्रामणम्**[2] परेषां पालकं च, भूयाद् इति शेषः। त्रैङ् पालने, मनिन्। त्रामन् शब्दान्नपुंसि प्रथमैकवचने 'त्राम' इति प्राप्ते अमो लुगभावश्छान्दसः। ॥२॥

भावार्थः—विदुषामुपदेशेन पुत्रपौत्रबन्धुबान्धवादिसहिताः सर्वे वेदज्ञाः सत्कर्मपरायणाः परमेश्वरप्रियाश्च सन्तो व्यवहारे सत्यं मधुरं प्रभावजनकं कुतर्कैरकाट्यं च वचनं ब्रूयुः ॥२॥

इस मन्त्र के देवता मन्त्रोक्त त्वष्टा, पर्जन्य, ब्रह्मणस्पति और अदिति हैं। इन्द्र के प्रकरण में उनसे भी रक्षा आदि की याचना की गयी है।

पदार्थ—**त्वष्टा** दोषनिवारक, तेजस्वी, दुःखच्छेदक विद्वान् मनुष्य, **पर्जन्यः** बादल के समान उपदेश की वर्षा करनेवाला संन्यासी, और **ब्रह्मणः पतिः** ज्ञान का अधिपति आचार्य **नः** हमारे लिए **दैव्यं वचः** ईश्वरीय वेदवचन का उपदेश करें। **पुत्रैः** पुत्रों सहित, और **भ्रातृभिः** भाई-बन्धुओं सहित **नः** हमें **अदितिः** जगन्माता **नु** शीघ्र ही **पातु** रक्षा प्रदान करती रहे। हमारा **वचः** वचन **दुष्टरम्** दुस्तर, अकाट्य तथा **त्रामणम्** दूसरों की रक्षा करनेवाला होवे ॥२॥

भावार्थ—विद्वानों के उपदेश से पुत्र, पौत्र, बन्धु, बान्धव आदि सहित सब लोग वेद के ज्ञाता, सत्कर्मों में संलग्न और परमेश्वर-प्रेमी होते हुए व्यवहार में सत्य, मधुर, प्रभावजनक तथा कुतर्कों से अकाट्य वचन बोला करें ॥२॥

---

१. अथ० ६।४।१ अथर्वा ऋषिः। 'नो' इत्यत्र 'मे' इति, 'त्रामणं वचः' इत्यत्र च 'त्रायमाणं सहः' इति पाठः।

२. त्रामणं रक्षासाधनम्। रक्षणं फलप्रदानम्—इति भ०। त्रामणं रक्षणीयं वचः पातु—इति सा०।

परमेश्वरस्यार्चनं कदापि निष्फलं न भवतीत्युच्यते ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
३००. कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥८॥[1]
३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ १ २ १
कदा च न स्तरीः असि । न इन्द्र सश्चसि दाशुषे ॥ उपोप उप उप इत् नु
१ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
मघवन् भूयः इत् नु ते । दानम् देवस्य पृच्यते ॥८॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** सुखप्रदातः परमेश्वर ! त्वम्, **कदाचन** कदाचित् **स्तरीः**[2] निवृत्तप्रसवा गौरिव निष्फलः **न असि** न भवसि, प्रत्युत **दाशुषे** आत्मसमर्पकाय अन्तर्यज्ञस्य यजमानाय, तस्मै फलम् दातुमित्यर्थः । दाशृ दाने धातोः क्वसुप्रत्यये चतुर्थ्येकवचने रूपम् । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' अ० २।३।१४ इति चतुर्थी । **सश्चसि** प्राप्नोषि । सश्चतिः गतिकर्मा । निघं० २।१४ । हे **मघवन्** धनपते ! **देवस्य** दानादिगुणयुक्तस्य ते तव **दानम्** दीयमानमैश्वर्यम् **इत् नु** अवश्यमेव **भूयः इत्** पुनः पुनरपि **नु** क्षिप्रमेव **उप-उप पृच्यते** यजमानेन संसृज्यते, संसृज्यते । प्रसमुपोदः पादपूरणे' अ० ८।१।६ इति उपोपसर्गस्य पादपूरणे द्वित्वमुक्तम् । वस्तुतस्तु उपपृच्यते उपपृच्यते इति द्विरुक्त्यात्र संसर्गस्य क्षिप्रत्वमाधिक्यं च द्योत्यते ॥८॥[3]

भावार्थः—यः परमेश्वरायात्मानं समर्पयति तत्कृते स सेविता दोग्ध्री गौरिव सद्यः फलं प्रयच्छति ॥८॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि परमेश्वर की अर्चना कभी निष्फल नहीं होती ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** सुखप्रदाता परमेश्वर ! आप **कदाचन** कभी **स्तरीः** वन्ध्या गौ के समान निष्फल **न असि** नहीं होते, प्रत्युत **दाशुषे** आत्मदान करनेवाले उपासनायज्ञ के यजमान को फल देने के लिए **सश्चसि** प्राप्त होते हो । हे **मघवन्** धनों के स्वामी ! **देवस्य ते** तुझ दानादिगुणयुक्त का **दानम्** दान **इत् नु** निश्चय ही **भूयः इत्** पुनः-पुनः **उप-उप पृच्यते** यजमान को प्राप्त होता है, अवश्य प्राप्त होता है ॥८॥

भावार्थ—जो स्वयं को परमेश्वर के लिए समर्पित कर देता है उसे वह दुधारू गाय के समान सदा फल प्रदान करता रहता है ॥८॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मा सेनाध्यक्षश्च सम्बोध्यते ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
३०१. युङ्क्ष्वा हि वृत्रहन्तम हरी इन्द्र परावतः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अर्वाचीनो मघवन्त्सोमपीतय उग्र ऋष्वेभिरा गहि ॥९॥[4]

---

१. ऋ० ८।५१।७, ऋषिः श्रुष्टिगुः काण्वः । य० ३।३४, ऋषिः मधुच्छन्दाः ।

२. स्तरीति निवृत्तप्रसवा गौः । तन्न भवसि । धुक्षसे एव सदा कामानिति—इति भ० । स्तरीः हिंसको नासि । यद्वा स्तरी-निवृत्तप्रसवा गौस्तथाविधो न भवसि । सा यथा वत्साभावात् गृहं प्रति नागच्छति न तथा करोषीत्यर्थः—इति सा० । न स्तृणासि न क्रुध्यसि—इति य० ३।३४ भाष्ये उवटः, 'स्तृञ् हिंसायाम्', स्तृणातीति स्तरीः, हिंसको नासि'—इति च महीधरः ।

३. दयानन्दर्षिणा यजुर्भाष्ये मन्त्रोऽयं परमेश्वरस्य कर्मफलदातृत्वविषये व्याख्यातः ।

४. ऋ० ८।३।१७ ।

युङ्क्ष्व हि वृत्रहन्तम वृत्र हन्तम । हरीइति इन्द्र परावतः ॥ अर्वाचीनः अर्व
अचीनः मघवन् सोमपीतये सोम पीतये । उग्रः ऋष्वेभिः आ गहि ॥९॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । हे **वृत्रहन्तम** पापरूपवृत्रासुराणाम् अतिशयेन हन्तः **इन्द्र** परमात्मन् ! **परावतः** स्वकीये परमे स्वरूपे स्थित्वा त्वम् । अत्र आसनात् प्रेक्षते इतिवत् 'अधिकरणे चोपसंख्यानम्' अ० २।३।२८ वा० इति पञ्चमी । **हरी** अस्माकं ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपौ अश्वौ **युङ्क्ष्व हि** प्रवर्त्तय खलु, अस्मान् ज्ञानवतः कर्मवतश्च कुर्वित्यर्थः । **उग्रः** उद्गूर्णबलः त्वम् **अर्वाचीनः** अस्मदभिमुखः सन् । अर्वाग् अञ्चतीति अर्वाचीनः । **सोमपीतये**[1] सोमस्य अस्मदीयात्मनः पीतये रक्षणाय **ऋष्वेभिः** महद्भिर्वीरत्वदयादाक्षिण्यादिभिर्गुणैः सह, तेषामुपहारं गृहीत्वेत्यर्थः । ऋष्व इति महन्नाम । निघं० ३।३ । **आगहि** आगच्छ ।

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रपरः । राष्ट्रे शत्रुसंकटापन्ने सति प्रजाभिः सेनाध्यक्षः सैनिकैः सहाहूयते । हे **वृत्रहन्तम** अतिशयेन शत्रूणां हन्तः **इन्द्र** सेनाध्यक्ष ! त्वम् **परावतः** स्वकीयात् उत्कृष्टात् सैन्यावासात् **हरी** संकटहरणशीले स्वकीये आक्रामक-रक्षक-सैन्ये **युङ्क्ष्व हि** शत्रूच्छेदाय राष्ट्ररक्षणाय च नियोजय खलु । हे **मघवन्** वीरताधनयुक्त ! **उग्रः** प्रचण्डः त्वम् **सोमपीतये** शान्तिरक्षणाय **ऋष्वेभिः** स्वकीयैः महाबलैः सैनिकैः सह **अर्वाचीनः** रणाङ्गणाभिमुखः **आगहि** आयाहि ॥८॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—देहधारिणि जीवात्मनि ज्ञानपौरुषहीने पापग्रस्ते च सति तद्रक्षणार्थं परमेश्वरस्याह्वानमिव राष्ट्रे शत्रुभिरभिद्रुते सति सेनाध्यक्षस्याह्वानं श्रेयस्करम् ॥९॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और सेनाध्यक्ष को सम्बोधित किया गया है।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे **वृत्रहन्तम** पापरूप वृत्रासुरों का अतिशय वध करनेवाले **इन्द्र** परमात्मन् ! **परावतः** अपने परम स्वरूप में स्थित होकर आप **हरी** हमारे ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **युङ्क्ष्व हि** कार्य में प्रवृत्त कीजिए, अर्थात् हमें ज्ञानवान् और कर्मवान् बनाइए। **उग्रः** तीक्ष्ण बल वाले आप **अर्वाचीनः** हमारे अभिमुख होते हुए **सोमपीतये** हमारे आत्मा के रक्षणार्थ **ऋष्वेभिः** महान् वीरता, दया, उदारता आदि गुणों के साथ अर्थात् हमारे लिए उनका उपहार लेकर **आगहि** आइए ॥

द्वितीय—राष्ट्र के पक्ष में। राष्ट्र में शत्रु का संकट आ जाने पर प्रजा द्वारा सेनाध्यक्ष को सैनिकों के साथ बुलाया जा रहा है। हे **वृत्रहन्तम** शत्रुओं का अत्यधिक संहार करनेवाले **इन्द्र** सेनाध्यक्ष ! आप **परावतः** अपने उत्कृष्ट सैन्यावास से **हरी** संकटों को हरने वाले अपने आक्रामक और रक्षक दोनों सेना-दलों को **युङ्क्ष्व हि** शत्रुओं के उच्छेद और राष्ट्र के रक्षण के लिए नियुक्त कीजिए। हे **मघवन्** वीरतारूप धन के धनी ! **उग्रः** प्रचण्ड आप **सोमपीतये** शान्ति के रक्षणार्थ **ऋष्वेभिः** अपने महाबली सैनिकों के साथ **अर्वाचीनः** रणभूमि की ओर **आगहि** आइए ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥९॥

भावार्थ—देहधारी जीवात्मा के ज्ञान एवं पौरुष से रहित तथा पापग्रस्त हो जाने पर जैसे परमेश्वर का आह्वान श्रेयस्कर होता है, वैसे ही राष्ट्र जब शत्रुओं से आक्रान्त हो जाता है तब सेनाध्यक्ष का आह्वान श्रेयस्कर होता है ॥९॥

---

१. दासीभारादित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वमिति सायणः ।

अथ परमेश्वरो नृपतिश्चाहूयते ।

३०२. त्वामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन् वज्रिन् भूर्णयः ।
स इन्द्र स्तोमवाहस इह श्रुध्युप स्वसरमा गहि ॥१०॥[1]
त्वाम् इदा ह्यः नरः । अपीप्यन् वज्रिन् भूर्णयः ॥ सः इन्द्र स्तोमवाहसः
स्तोम वाहसः इह श्रुधि । उप स्वसरम् आ गहि ॥१०॥

पदार्थः—हे **वज्रिन्** वज्रधर ! दुर्जनदलनसज्जनरक्षणशक्तियुक्त परमात्मन् राजन् वा ! **त्वाम्** भवन्तम् **भूर्णयः** जनानां भरणपोषणतत्पराः । डुभृञ् धारणपोषणयोः, 'घृणिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णयः' उ० ४।५२ इति निः प्रत्ययः । **नरः** नेतारो जनाः **इदा** अस्मिन् काले । 'सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा' अ० २।३।१५ इति इदम् शब्दाद् दा प्रत्ययः । **ह्यः** गते च काले **अपीप्यन्**[2] वर्द्धयन्ति वर्द्धितवन्तश्च, वर्द्धनं चात्र प्रचारो ज्ञेयः । **सः** तादृशः त्वम्, हे **इन्द्र** दुर्मतिविदारक सुमतिप्रदायक परमात्मन् राजन् वा ! **स्तोमवाहसः** स्तुतिवाहकान् अस्मान्, अस्माकं निवेदनानीत्यर्थः **इह** अत्र **श्रुधि** शृणु, अस्माकम् **स्वसरम्** गृहम्, हृदयसदनम् सभागृहं वा । स्वसराणि इति गृहनामसु पठितम् । निघं० ३।४ । **उप आ गहि** उपागच्छ ॥१०॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥१०॥

भावार्थः—समाजे ये नेतारो भवन्ति तैः सर्वत्र परमात्मा प्रजारञ्जको राजा च प्रचारणीयः, येन राष्ट्रस्य सर्वे जना आस्तिका राजभक्ताश्च भवेयुः ॥१०॥

अत्रेन्द्रं प्रति सोमरसार्पणाद्, धेनुरूपेणेन्द्रं स्मृत्वा तदाह्वानात्, तत्सम्बन्धित्वष्टृपर्जन्यबृहस्पत्यदितीनामाह्वानाद, इन्द्रनाम्ना नृपसेनापत्यादीनां चापि वर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्तीति बोध्यम् ।

इति चतुर्थे प्रपाठके प्रथमार्धे प्रथमा दशतिः ।
इति तृतीयाध्याये सप्तमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर वा राजा का आह्वान किया गया है ।

पदार्थ—हे **वज्रिन्** वज्रधारी, अर्थात् दुर्जनों के दलन और सज्जनों के रक्षण की शक्ति से युक्त परमात्मन् वा राजन् ! **त्वाम्** आपको **भूर्णयः** लोगों का भरण-पोषण करने वाले **नरः** नेताजन **इदा** इस समय, तथा **ह्यः** भूतकाल में **अपीप्यन्** बढ़ाते हैं और बढ़ाते रहे हैं, अर्थात् सदा आपका प्रचार करते हैं । **सः** वह आप **इन्द्र** हे दुर्मति के विदारक और सुमति के दाता परमात्मन् वा राजन् ! **स्तोमवाहसः** स्तुति करने वाले हम लोगों को अर्थात् हमारे निवेदनों को **इह** यहाँ **श्रुधि** सुनिए और **स्वसरम्** हमारे हृदयसदन **में** अथवा प्रजा के सभागृह में **उप आ गहि** आइए ॥१०॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है ॥

भावार्थ—समाज में जो नेताजन होते हैं उन्हें चाहिए कि सर्वत्र परमात्मा वा प्रजारञ्जक राजा का प्रचार करें, जिससे राष्ट्र के सब लोग आस्तिक तथा राजभक्त हों ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र के प्रति सोमरस अर्पित होने, गाय के रूप में इन्द्र का स्मरण करके उसका

---

१. ऋ० ८।९९।१ 'वाहस इह' इत्यत्र 'वाहसामिह' इति पाठः । साम० ८१३ ।

२. ओप्यायी वृद्धौ इत्यस्येदं रूपम् । वर्धयन्तीत्यर्थः । आप्यायितवन्तः—इति भ० । सोममपाययन्—इति सा० ।

आह्वान होने, इन्द्र से सम्बन्ध रखने वाले त्वष्टा, पर्जन्य, बृहस्पति एवं अदिति का आह्वान होने और इन्द्र नाम से राजा, सेनापति आदि का भी वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्वदशति के विषय के साथ संगति है ।।

चतुर्थ प्रपाठक में प्रथम अर्ध की प्रथम दशति समाप्त ।

तृतीय अध्याय में सप्तम खण्ड समाप्त ।

।।२।। अथ 'प्रत्यु अदर्श्या' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, २, ७, ८ वसिष्ठः; ३ पौर आत्रेयः; ४ प्रस्कण्वः; ५ मेधातिथिमेध्यातिथी; ६ देवातिथिः; ९ नृमेध; १० नोधाः ।।

देवता—१ उषा; २, ३ अश्विनौ; ४-१० इन्द्रः ।। छन्दः—बृहती ।।

स्वरः—मध्यमः ।।

अथ प्रथमाया उषा देवता । उषस आविर्भावं वर्णयति ।

३०३. प्रत्यु अदर्श्यायत्यू३च्छन्ती दुहिता दिवः ।
अपो मही वृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी ॥१॥[1]
प्रति उ अदर्शि आयती आ यती । उच्छन्ती दुहिता दिवः ॥ अप उ मही
वृणुते चक्षुषा तमः । ज्योतिः कृणोति सूनरी सु नरी ॥१॥

पदार्थः—**आयती** आगच्छन्ती **उच्छन्ती** उदयं भजमाना । उछी विवासे, भ्वादिस्तुदादिश्च । **दिवः दुहिता** द्युलोकस्य पुत्री उषाः **प्रति अदर्शि** उ प्रतिदृष्टास्ति खलु । **मही** महती एषा उषाः **चक्षुषा** दर्शनप्रदानेन । चष्टे पश्यतिकर्मा । निघं० ३।११ । **तमः** अन्धकारम् **अप उ वृणुते** अपाकरोति । **सूनरी**[2] सुनेत्री इयम् उषाः । सूनरी इति उषर्नामसु पठितम् । निघं० १।८ । **ज्योतिः** प्रकाशम् **कृणोति** जनयति । कृविहिंसाकरणयोः इत्यस्य रूपम् ।।१।।

अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः । प्राकृतिक्या उषसो वर्णनाच्चाध्यात्मिकी उषा व्यज्यते ।।

भावार्थः—यथा सूर्योदयात् प्राग् व्याप्तं निविडं नैशं तमो व्युदस्यन् प्राकृतिक्या उषसः प्रकाशः सर्वत्र प्रसरति, तथैव परमात्मरूपस्य सूर्यस्योदयात् प्राङ्मनोभूमौ व्याप्तं तामसवृत्तीनां जालं विच्छिन्दन्नाध्यात्मिक्या उषसः प्रकाशो जीवात्मानं व्याप्नोति । सेयमुषा योगमार्गे ऋतम्भरा प्रज्ञेति[3] नाम्ना ख्याता ।।१।।

प्रथम मन्त्र का देवता उषा है । इसमें उषा के आविर्भाव का वर्णन है ।

पदार्थ—**आयती** आती हुई, **उच्छन्ती** उदित होती हुई **दिवः दुहिता** द्यौ-लोक की पुत्री उषा **प्रति**

---

१. ऋ० ७।८१।१ 'अपो महि व्ययति चक्षसे' इति पाठः । साम० ७५१ ।

२. सूनरी । शोभना नराः यस्याः स्तावकत्वेन भवन्ति सा सुनरी । सुनर्येव सूनरी—इति वि० । शोभनाः नराः स्तोतारः यस्याः सा सूनरी । सु सुष्ठु नयति प्राणिनः इति वा सूनरी—इति भ० । जनानां सुष्ठु नेत्री—इति सा० । सुष्ठु नयतीति सूनरी । न नये । 'अच इः' इति इ प्रत्ययः । गतिसमासे 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' (परिभा० २८) इति वचनात् 'कृदिकारादक्तिनः' (पा० ४।१।४५ ग०) इति ङीष् । 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । 'निपातस्य च' इति पूर्वपदस्य दीर्घः । इति ऋ० १।४८।५ भाष्ये सायणः ।

३. योग० १।४८ ।

अदर्शि उ दिखाई दी है। **मही** महती यह उषा **चक्षुषा** दर्शनप्रदान से **तमः** अन्धकार को **अप उ वृणुते** दूर कर रही है। **सूनरी** सुनेत्री यह उषा **ज्योतिः** ज्योति को **कृणोति** उत्पन्न कर रही है ॥१॥

इस मन्त्र में स्वभावोक्ति अलंकार है, और प्राकृतिक उषा के वर्णन से आध्यात्मिक उषा का वर्णन ध्वनित हो रहा है ॥

भावार्थ—जैसे सूर्योदय से पूर्व व्याप्त घने रात्रि के अन्धकार को विच्छिन्न करता हुआ प्राकृतिक उषा का प्रकाश सर्वत्र फैल जाता है, वैसे ही परमात्मारूप सूर्य के उदय से पूर्व मनोभूमि में व्याप्त तामसिक वृत्तियों के जाल को विच्छिन्न कर आध्यात्मिक उषा का प्रकाश आत्मा में फैलता है। यह उषा योगमार्ग में ऋतम्भरा प्रज्ञा के नाम से प्रसिद्ध है ॥१॥

अथ द्वयोरश्विनौ देवते। अश्विनोर्नाम्ना परमात्मजीवात्मानौ अध्यापकोपदेशकौ च स्तौति।

३०४. इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना।
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथः ॥२॥[1]
इमाः उ वाम् दिविष्टयः। उस्रा उ स्रा हवन्ते अश्विना॥ अयम् वाम् अह्वे
अवसे शचीवसू शची वसूइति। विशंविशम् विशम् विशम् हि गच्छथः ॥२॥

पदार्थः—हे **अश्विना** अश्विनौ परमात्मजीवात्मानौ अध्यापकोपदेशकौ वा! **उस्रा**[2] **वाम्** उस्रौ निवासकौ युवाम्। वस निवासे धातोः 'स्फायितञ्चि' उ० २।१३ इति रक्, धातोः वकारस्य सम्प्रसारणम्। **इमाः उ** एताः खलु **दिविष्टयः** दिवं ज्ञानप्रकाशमिच्छन्तीति ताः विशः प्रजाः। दिवुपपदात् इषु इच्छायामिति धातोः कर्त्तरि क्तिन्। **हवन्ते** आह्वयन्ति। हे **शचीवसू** कर्मधनौ प्रज्ञाधनौ वा! शची इति कर्मनाम प्रज्ञानाम च। निघं० २।१, ३।९। **अयम्** एषः अहमपि **अवसे** रक्षणाय **वाम्** युवाम् **अह्वे** आह्वयामि। ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च, लुङि उत्तमैकवचने रूपम्। **हि** यतः युवाम् **विशं विशं** प्रजां प्रजाम् **गच्छथः** प्राप्नुथः ॥२॥

भावार्थः—यथा परमात्मजीवात्मानौ जनानां मार्गदर्शनं कुरुतस्तथैवाध्यापकोपदेशकावपि शिक्षणेनोपदेशेन च सदाचारमार्गं दर्शयतः। अतस्तयोः संगतिः सर्वैः करणीया ॥२॥

अगले दो मन्त्रों का देवता 'अश्विनौ' है। इस मन्त्र में अश्विनौ के नाम से परमात्मा-जीवात्मा और अध्यापक-उपदेशक की स्तुति की गयी है।

पदार्थ—हे **अश्विनौ** परमात्मा और जीवात्मा अथवा अध्यापक-उपदेशको! **उस्रा वाम्** आप निवासकों को **इमाः उ** ये **दिविष्टयः** ज्ञान-प्रकाश को चाहने वाली प्रजाएँ **हवन्ते** पुकार रही हैं। हे **शचीवसू** कर्मरूप और प्रज्ञारूप धन वालो! **अयम्** यह मैं भी **अवसे** रक्षा के लिए **वाम्** तुम्हें **अह्वे** पुकार रहा हूँ, **हि** क्योंकि, तुम **विशं विशम्** प्रत्येक प्रजा के पास **गच्छथ** जाते हो ॥२॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा और जीवात्मा मनुष्यों का मार्गदर्शन करते हैं, वैसे ही अध्यापक और

---

१. ऋ० ७।७४।१, साम० ७५३।

२. उस्रेति गोनाम, लुप्तोपमं चेदं द्रष्टव्यम्। उस्रा इव। यथा गावः स्वान् वत्सकान् हवन्ते आह्वयन्ति, तद्वदाह्वयन्ति युवां, हे अश्विनौ—इति वि०। तत्तु पदपाठविरुद्धम्। उस्रा उस्रौ वासकौ—इति भ०, सा०।

उपदेशक भी शिक्षा और उपदेश के द्वारा सदाचार का मार्ग दर्शाते हैं। अतः उनकी संगति सबको करनी चाहिए ॥२॥

अथ केन हेतुना तावश्विनौ तप्तौ रुष्टौ वा भवत इत्याह[1]।

२३ १ २ ३१ २३ १२
३०५. कुष्ठः को वामश्विना तपानो देवा मर्त्यः।
३ १ २ ३१२ २१ ३ २३ २३ २३ १ २
घनता वामश्नया क्षपमाणोऽशुनेत्थमु आद्वन्यथा ॥३॥

२ ३ २ ३ २ ३ ३२ ३
कु स्थः कः वाम् अश्विना। तपानः देवा मर्त्यः॥ घनता वाम् अश्नया
१२१ ३ १२ ३ २ ३ २ १२ ३ १२१
क्षपमाणः अंशुना। इत्थम् उ आत् उ अन्यथा अन् यथा ॥३॥

पदार्थः—हे **देवा** देवौ दानादिगुणयुक्तौ, तेजसा दीप्यमानौ **अश्विना** अश्विनौ परमात्मजीवात्मानौ अध्यापकोपदेशकौ वा ! उभयत्र 'सुपां सुलुक्०'—अ० ७।१।३९ अनेन औ इत्यस्य आकारः। युवाम् **कु**[2] कुह। कु तिहोः। अ० ७।२।१०४ इति किमः कुः आदेशः, प्रत्ययस्य छान्दसो लुक्। **स्थः** वर्तेथे ? संहितायाम् पूर्वपदात् अ० ८।३।१०६ इति सकारस्य मूर्धन्यादेशः। **कः मर्त्यः** को मनुष्यः **वाम्** युवाम् **तपानः**[3] सन्तापयन् भवतीति शेषः ? युवां कुत्र स्थः किमिति प्रेरणां शिक्षणमुपदेशं च न प्रयच्छथः ? किमु रुष्टौ स्थः ? किं वां रोषहेतुः ? अथ स्वयमेवोत्तरति। **प्रथमं परमात्मजीवात्मपक्षे—अश्नया** अश्नेन मनसि व्याप्तेन। अशूङ् व्याप्तौ। 'सुपां सुलुक्०' इति तृतीयैकवचनस्य या आदेशः। **वाम् घनता** युवां प्रतिगच्छता। हन् हिंसागत्योः, शतरि रुपम्। **अंशुना** ज्ञान-कर्म-श्रद्धारूपेण सोमरसेन, युवाम् **क्षपमाणः**[4] वञ्चितं कुर्वन् एव वां तपानोऽस्ति इत्यहमवैमि। **अथ अध्यापकोपदेशकपक्षे—अश्नया**[5] अशनया बुभुक्षया। अकारलोपश्छान्दसः, यद्वा अशनाया अर्थे अश्ना शब्दः स्वतन्त्रो वेदे प्रयुक्त इति ज्ञेयम्। **घनता** घनतौ हतौ। द्वितीयाद्विवचनस्य 'सुपां सुलुक्' इति आकारादेशः। **वाम्** युवाम् **अंशुना** भोजनाच्छादनवेतनादिना देयांशेन **क्षपमाणः** वञ्चितं कुर्वन् जन एव वां संतापकोऽस्ति। क्षप प्रेरणे चुरादिः, शानच्। **अथ उभयपक्षे—इत्थम् उ** एवमेव विद्यते, ममानुमानं सत्यमस्ति ? **आत् उ**[6] यद्वा **अन्यथा** एतद्भिन्नम्, युवयोः तापस्य रोषस्य च कारणं किमप्यन्यदेवास्ति ? न किमप्यन्यत् संभवतीति भावः ॥३॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः—परमात्मजीवात्मरूपौ अश्विनौ सदा जनानां हृदये संनिविष्टौ स्तः। यो ज्ञानकर्मश्रद्धादिरूपं सोमरसं यथायोग्यं ताभ्यामर्पयति, तस्मै तौ सदा सत्प्रेरणां प्रयच्छतः। परं यस्तयोरुपेक्षां

---

१. अश्विनोः स्तूयमानयोः आगमनविलम्बात् विचिकित्सेयम्—इति भ०।

२. कु ष्ठः कुत्र स्थो युवाम्—इति भ०। विवरणकृता सायणेन च 'कुष्ठः' इति समस्तपदत्वेन व्याख्यातम्। 'कुः पृथिवी तस्यां स्थितः कुस्थः'—इति वि०। कौ पृथिव्यां वर्तमानः को मर्त्यः—इति सा०।

३. कः वां युवां हे अश्विनौ तपानः तापयमानः—इति वि०। को मर्त्यः वां युवां क्षपमाणः भवति अस्मान् प्रहापयन् भवति। तपानः तप आचरन्—इति भ०।

४. क्षयमाणः इति पाठान्तरम्। सायणेन तदनुसृत्यैव व्याख्यातम्।

५. अश्नया क्षुधा—इति वि०। अश्नया अश्न शब्दाद् द्वितीयाद्विवचनस्य या आदेशः। अश्नौ व्यापकौ युवाम्। अश्नोतेरश्नौ। 'तस्य भ्राता मध्यमोऽस्त्यश्नः' ऋ० १।१६४।१ इति हि निगमः। अथवा अश्नया अशनया फलेच्छयेति—भ०।

६. सायणेन 'आद्वन्' इत्येकं पदं स्वीकृत्य अभिमतान्नरसादिभक्षणवान् राजादिरिवेति व्याख्यातम्। तत्तु पदकारविरुद्धम्, तत्र 'आत् उ अन्यथा' इति पाठात्।

करोति तं प्रति तौ रुष्टाविव तिष्ठतः। तथैव यो शिक्षणोपदेशैरुपकुर्वद्भ्यामध्यापकोपदेशकाभ्यां दक्षिणा-रूपेण भोजनाच्छादनादिकं निश्चितं वेतनं वा नार्पयति स ताभ्यामपराध्यति ॥३॥

अगले मन्त्र में यह बताया है कि किस कारण से उक्त अश्वी तप्त या रुष्ट होते हैं।

पदार्थ—हे **देवा** दानादि गुणों से युक्त, तेज से प्रकाशमान **अश्विना** परमात्मा-जीवात्मा और अध्यापक-उपदेशको ! **युवाम्** तुम **कु** कहाँ **स्थः** हो ? **कः मर्त्यः** कौन मनुष्य **वाम्** तुम्हें **तपानः** संतप्त करने वाला है ? तुम कहाँ हो ? प्रेरणा, शिक्षण या उपदेश क्यों नहीं करते हो ? क्या रुष्ट हो ? तुम्हारे रोष का क्या कारण है ? आगे स्वयं ही उत्तर देता है—**प्रथम** परमात्मा-जीवात्मा के पक्ष में—**अशनया** मन में व्याप्त, **वाम् घनता** तुम्हारे पास पहुँचने वाले **अंशुना** ज्ञान-कर्म-श्रद्धारूप सोमरस से **क्षपमाणः** तुम्हें वंचित करने वाला ही तुम्हारा संतापक है। **द्वितीय** अध्यापक-उपदेशक के पक्ष में—**अशनया** भूख से **घनता** पीड़ित **वाम्** तुम्हें **अंशुना** भोजन, वस्त्र, वेतन आदि देयांश से **क्षपमाणः** वंचित करने वाला ही तुम्हारा संतापक है। आगे **उभयपक्ष में—इत्थम् उ** ऐसा ही है न ? **आत् उ** अथवा **अन्यथा** इससे भिन्न अन्य ही कोई तुम्हारे संताप और रोष का कारण है ? अभिप्राय यह है कि अन्य कोई कारण नहीं हो सकता।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है।

भावार्थ—परमात्मा और जीवात्मा रूप अश्वी सदा मनुष्यों के हृदय में बैठे हुए हैं। जो ज्ञान, कर्म, श्रद्धा, भक्ति आदि का सोमरस यथायोग्य उन्हें अर्पित करता है, उसे वे सदा सत्प्रेरणा देते रहते हैं। पर जो उनकी उपेक्षा करता है उससे वे रुष्ट के समान हो जाते हैं। इसी प्रकार जो शिक्षण और उपदेशों से उपकार करने वाले अध्यापक और उपदेशक को दक्षिणारूप में भोजन-वस्त्र आदि अथवा निश्चित वेतन नहीं देता वह उनके प्रति अपराध करता है ॥३॥

अथेन्द्रेण परमात्मनाऽधिष्ठितौ आत्ममनोरूपौ, इन्द्रेण राज्ञाऽधिष्ठितौ अध्यापकोपदेशकरूपौ वाऽश्विनौ प्रार्थ्येते।[1]

३२ ३ १२ ३२७ ३ १ २
३०६. अयं वां मधुमत्तमः सुतः सोमो दिविष्टिषु।
१२ ३ १२ ३१९ २९ ३ १२
तमश्विना पिबतं तिरोअह्नयं धत्तं रत्नानि दाशुषे ॥४॥[2]

३२ ३ १२९ ३ ३२ १२९ १ २९ ३
अयम् वाम् मधुमत्तमः। सुतः सोमः दिविष्टिषु ॥ तम् अश्विना पिबतम्
१ २ ३२ ३ २ १२९ ३ १२
तिरोअह्नयम् तिरः अह्नयम्। धत्तम् रत्नानि दाशुषे ॥४॥

पदार्थः—हे **अश्विना** अश्विनौ, आत्ममनसी अध्यापकोपदेशकौ वा। **दिविष्टिषु**[3] अध्यात्मद्युति-यज्ञेषु व्यवहारयज्ञेषु वा। दिवुरत्र द्युत्यर्थो व्यवहारार्थश्च, तदर्थेष्वेतयोरर्थयोरपि परिगणनात्। 'दिविष्टिषु दिव एषणेषु', इति निरुक्तम् ६।२२। **अयम्** एषः **मधुमत्तमः** अतिशयमधुरः **सोमः** ज्ञान-कर्म-श्रद्धा-शान्त्यादिरसः सोमाद्योषधिरसो वा **वाम्** युवाभ्याम् **सुतः** मयाऽभिषुतः अस्ति। **तिरोअह्नयम्**[4] पवित्रता-

१. एषापि ऋग् यद्यप्यश्विसम्बद्धा, तथाप्यस्या देवता इन्द्रः परिगणितः। इन्द्राधीनत्वादश्विनोः तयोः स्तुत्यापीन्द्र एव स्तुतः इति समाधेयम्। ऋग्वेदे त्वस्या ऋचः साक्षाद् अश्विनावेव देवते पठिते।

२. ऋ० १।४७।१ देवते अश्विनौ। 'सोमो दिविष्टिषु' इत्यत्र 'सोम ऋतावृधा' इति पाठः।

३. दिवं याभिर्गम्यते ता दिविष्टयः स्वर्गफलाः ज्योतिष्टोमाद्याः। यागसंयोगसंपत्तिरित्यर्थः—इति वि०। दिविष्टिषु यज्ञेषु—इति भ०। दिव एषणेषु यज्ञेषु—इति सा०।

४. तिरोअह्नयम् तृतीयसवनिकम्। अथवा तिर इति प्राप्तनाम। अहनि भवः अह्नयः। प्राप्ते यागाहनि भवः तिरोअह्नयः—इति वि०। तिरः सतः इति प्राप्तस्य नामनी। प्राप्ते सुत्याहे भवः तम्—इति भ०। तिरो अह्नयम् तिरोभूते

याम् अह्नोऽपि तिरस्कर्तारम्, उज्ज्वलाद् दिवसादप्यधिकं पवित्रम्। तिरस्करोति अहः यः स तिरोअहः, स एव तिरोअह्नयः। स्वार्थे यत्। 'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे' अ० ६।१।११५ इति प्रकृतिभावः। अव्यय-पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। **तम्** रसम्, युवाम् **पिबतम्** आस्वादयतम्, **दाशुषे** दत्तवते च मह्यं यजमानाय **रत्नानि** सत्प्रेरणसत्संकल्पसच्छिक्षणसदुपदेशादिरूपाणि महार्घाणि रमणीयानि धनानि। रत्नानां रमणीयानां धनानाम् इति निरुक्तम्। ७।१५। **धत्तम्** प्रयच्छतम् ॥४॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः।

भावार्थः—मनसः शिवसंकल्पपूर्वकं जीवात्मना यज्ज्ञानकर्मश्रद्धाभक्त्यादिकं परमात्मार्पणबुद्ध्या क्रियते तद् बहुफलदायकं जायते। तथैव राष्ट्रेऽध्यापकोपदेशकयोर्यथायोग्यसत्कारेण तत्सकाशाद् बहुज्ञान-विज्ञानादिकं प्राप्तुं शक्यते ॥४॥[1]

अगले मन्त्र में इन्द्र परमात्मा से अधिष्ठित आत्मा और मनरूप अथवा इन्द्र राजा से अधिष्ठित अध्यापक और उपदेशकरूप अश्विनों से याचना की गयी है।

पदार्थ—हे **अश्विना** आत्मा और मन रूप अथवा अध्यापक और उपदेशक रूप अश्वी देवो! **दिविष्टिषु** अध्यात्म-दीप्ति के यज्ञों में अथवा व्यवहार-यज्ञों में **अयम्** यह **मधुमत्तमः** अत्यन्त मधुर **सोमः** ज्ञान, कर्म, श्रद्धा, शान्ति आदि का रस अथवा सोमादि ओषधियों का रस **वाम्** तुम्हारे लिए **सुतः** मैंने तैयार किया है। **तिरोअह्नयम्** पवित्रता में दिन को भी तिरस्कृत करने वाले अर्थात् उज्ज्वल दिन से भी अधिक पवित्र **तम्** उस रस को, तुम **पिबतम्** पान करो, और **दाशुषे** देने वाले मुझ यजमान के लिए **रत्नानि** उत्कृष्ट प्रेरणा, उत्कृष्ट संकल्प, उत्कृष्ट शिक्षा, उत्कृष्ट उपदेश आदि बहुमूल्य रमणीय धन **धत्तम्** प्रदान करो ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है।

भावार्थ—मन के शिवसंकल्पपूर्वक जीवात्मा जिस ज्ञान, कर्म, श्रद्धा, भक्ति आदि को परमात्मा के प्रति अर्पण की बुद्धि से करता है, वह बहुत फलदायक होता है। उसी प्रकार राष्ट्र में अध्यापक और उपदेशक के यथायोग्य सत्कार से उनके पास से बहुत अधिक ज्ञान, विज्ञान आदि प्राप्त किया जा सकता है ॥४॥

अथेन्द्रं परमात्मानं प्रत्याह।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
३०७. आ त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं ज्या।
१ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २
भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत् ॥५॥[2]

आ त्वा सोमस्य गल्दया। सदा याचन् अहम् ज्या॥ भूर्णिम् मृगम् न
सवनेषु चुक्रुधम्। कः ईशानम् न याचिषत् ॥५॥

पदार्थः—हे इन्द्र परमात्मन्! **सोमस्य** शान्तरसस्य **गल्दया** गालनेन, स्रावणेन सह। गल स्रवणे,

---

पूर्वस्मिन् दिनेऽभिषुतम्—इति सा०। ऋ० १।४५।१० भाष्ये सायण एवमाह—"पूर्वस्मिन् अह्नि अभिषुतो यः सोमः उत्तरेऽहनि हूयते तस्यैतन्नामधेयम्" इति। "तिरश्च तदहश्च तिरोहः तस्मिन् भवम्", इति ऋ० १।४७।१ भाष्ये द०।

१. ऋग्वेदभाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं सभासेनाधीशयोः पक्षे व्याख्यातवान्।

२. ऋ० ८।१।२०, 'आ' इत्यत्र 'मा' इति, 'ज्या' इत्यत्र च 'गिरा' इति पाठः।

चुरादिः, भावे बाहुलकादौणादिको दा प्रत्ययः। 'गालनेन' इति निरुक्तम् ६।२४। **ज्या**[1] ज्यया जिह्वया। 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति तृतीयैकवचनस्य आकारादेशः। प्रजावयति शब्दानिति ज्या जिह्वा, तथा च निरुक्ते प्रत्यञ्चार्थे 'प्रजावयति इषून्' इति ज्याशब्दस्य निरुक्तिः प्रदर्शिता। (निरु० ९।१८)। अथ च श्रूयते 'जिह्वा ज्या भवति' इति अथ० ५।१८।८। **त्वा** त्वाम् **सदा** सर्वदा **याचन्** प्रार्थयमानः **अहम्** स्तोता **सवनेषु** बहुघृतसाध्येषु यज्ञेषु **भूर्णिम्** भरणपोषणकर्त्तारम्। बिभर्तीति भूर्णिः, डुभृञ् धारण-पोषणयोः धातोः 'धृषिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णयः' उ० ४।५३ इति निपातनाद् निःप्रत्ययः धातोरुत्वं च। **मृगम् न** गवादिपशुम् इव **सवनेषु** जीवनयज्ञेषु **भूर्णिम्** भरणपोषणकर्त्तारम् **मृगम्** मनसः शोधयितारम् त्वाम्। मार्ष्टि इति मृगः, मृजूष् शुद्धौ अदादिः। **न आ चुक्रुधम्** न समन्ततः कोपयेयम्। क्रुध क्रोधे धातोर्णिजन्तस्य लुङि रूपम्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि अ० ६।४।७५ इत्यडागमाभावः। ननु सदा याचनेन दाता किमिति न कोपिष्यतीत्याह—**कः** को जनः **ईशानम्** स्वामिनम् **न याचिषत्** न याचते? सर्वोऽपि याचत एव इति काक्वा व्यज्यते, अतो ममापि याचने कोऽपराध इति भावः। याचिषत् इति याच् धातोर्लेटि रूपम्।

ऋचोऽस्या ऋग्वेदीयः पाठो यास्केनैवं व्याख्यातः—मा चुक्रुधं त्वां सोमस्य गालनेन सदा याचन्नहं गिरा गीत्या स्तुत्या। भूर्णिमिव मृगं न सवनेषु चुक्रुधम्। क ईशानं न याचिष्यत इति। निरु० ६।२५ ॥५॥

अत्र 'भूर्णिं मृगं न सवनेषु' इत्यत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः। नकार उपमार्थीयः निषेधकश्च। 'मृगं न' इति मृगशब्देन सम्बद्धः उपरिष्टादुपचारत्वादुपमार्थीयः, 'न सवनेषु' इति सवनशब्देन सम्बद्धः पुरस्ता-दुपचारत्वान्निषेधार्थकः। 'भूर्णिं मृगं न **इव** भूर्णिं मृगं त्वां सवनेषु न चुक्रुधम्' इति वाक्ययोजना। यथा यज्ञेषु पुनः पुनर्घृतार्थं पयो याच्यमानोऽपि गवादिपशुर्न क्रुध्यति तद्वत् त्वमपि भूयो भूयो याच्यमानोऽपि क्रुद्धो मा भूरिति भावः। 'क ईशानं न याचिषत्' इति सामान्येन विशेषस्य स्वकीययाचनस्य समर्थनाद् अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः[2] ॥५॥

भावार्थः—पुनः पुनरपि याचनेन जगदीश्वरात् सद्गुण-सद्वृत्तादिकं सर्वैः प्राप्तव्यम् ॥५॥

अगला मन्त्र इन्द्र परमात्मा को सम्बोधित किया गया है।

पदार्थ—हे इन्द्र परमात्मन्! **सोमस्य** शान्तरस के **गल्दया** प्रवाह के साथ **ज्या** जिह्वा द्वारा **त्वा** तुझसे **सदा** हमेशा **याचन्** याचना करता हुआ **अहम्** मैं **सवनेषु** बहुत-से घृत द्वारा सिद्ध होने वाले यज्ञों में **भूर्णिम्** अपने दूध-घी से भरण-पोषण करने वाले **मृगम् न** गाय पशु के समान **सवनेषु** जीवन-यज्ञों में **भूर्णिम्** भरण-पोषण-कर्ता तथा **मृगम्** मन को शुद्ध करने वाले तुझे मैं **न आचुक्रुधम्** क्रुद्ध न करूँ। सदा याचना से दाता क्रुद्ध क्यों न हो जाएगा, इसका उत्तर देते हैं—**ईशानम्** स्वामी से **कः** कौन **न याचिषत्** याचना नहीं करता ॥५॥

इस मन्त्र में 'भूर्णिं मृगं न सवनेषु' में श्लिष्टोपमालङ्कार है। 'न' उपमार्थक तथा निषेधार्थक दोनों है। जब 'मृगं' से सम्बद्ध होता है तब बाद में प्रयुक्त होने के कारण उपमार्थक है, और जब 'सवनेषु'

१. ज्या गिरा स्तुत्या च—इति वि०। ज्या स्तुत्या—इति भ०। सोमस्य गल्दया गालनेन आस्रावणेन, ज्या जयशीलया स्तुत्या च—इति सा०।

२. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥—का० प्र० १०।११०९ इति तल्लक्षणात्।

से सम्बद्ध होता है तब पहले प्रयुक्त होने के कारण निषेधार्थक है। अभिप्राय यह है कि जैसे यज्ञ में बार-बार दूध-घी माँगने पर भी गाय क्रुद्ध नहीं होती, ऐसे ही मेरे बार-बार माँगने से आप क्रुद्ध न हों। 'कः ईशानम् न याचिषत्—स्वामी से कौन नहीं माँगता' इस सामान्य से अपने माँगने रूप विशेष का समर्थन होने से यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

भावार्थ—बार-बार भी याचना करके जगदीश्वर से सद्गुण, सदाचार आदि सबको प्राप्त करने चाहिएँ ॥५॥

अथ जीवात्मने शान्तरसं प्रवाहयितुमाह।

३०८. अध्वर्यो द्रावया त्वं सोममिन्द्रः पिपासति।
उपो नूनं युयुजे वृषणा हरी आ च जगाम वृत्रहा ॥६॥[1]

अध्वर्यो द्रावय त्वम्। सोमम् इन्द्रः पिपासति॥ उप उ नूनम् युयुजे वृषणा हरीइति। आ च जगाम वृत्रहा वृत्र हा ॥६॥

पदार्थ—हे **अध्वर्यो** अध्यात्मयज्ञस्य ऋत्विग्भूत मम मानस ! अध्वर्युः अध्वरं युनक्ति, अध्वरस्य नेता, अध्वरं कामयते वा। अपि वाऽधीयाने युरुपबन्धः। निरु० १।७। मनो वा अध्वर्युः। श० १।५।१।२१। **त्वम् सोमम्** शान्तरसम् **आ द्रावय** समन्तात् प्रवाहय। द्रु गतौ धातोर्णिजन्तस्य रूपम्। संहितायां 'अन्येषामपि दृश्यते' इति दीर्घः। **इन्द्रः** जीवात्मा **पिपासति** पातुमिच्छति। **नूनम्** मन्ये, **वृत्रहा** शान्तिबाधकानाम् अशान्तविचाराणां हन्ता परमात्मापि त्वदध्यात्मयज्ञमागन्तुम् **वृषणा** वृषाणौ बलवन्तौ। वृषन् शब्दाद् द्वितीयाद्विवचनस्य 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति आकारादेशः। 'वा षपूर्वस्य निगमे' अ० ६।४।९ इति विकल्पनाद् उपधाया दीर्घाभावः। **हरी** वेगेन हर्तारौ अश्वौ **उपो युयुजे** उपनियुक्तवान् अस्ति, तत्समकालमेव **आजगाम च** आयातोऽप्यस्ति ॥६॥

अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः। 'नूनम्' इत्युत्प्रेक्षावाचकम्। "मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः" इत्युक्तेः। अशरीरस्य परमात्मनो रथेऽश्वनियोजनासंभवात् 'मन्ये हरी युयुजे' इत्युत्प्रेक्षते। किञ्च 'इन्द्रः पिपासति' इति कारणेन सोमाद्रावणरूपकार्यस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासः। अपि च हरियोजन-आगमनरूप कारणकार्ययोर्युगपत् प्रतीतेरतिशयोक्तिरपि[2]।

भावार्थः—जीवात्मानं शान्तिरसेन तर्पयितुं स्वकीयं मानसम् अध्वर्युं विधाय सर्वैराभ्यन्तरः शान्तियज्ञो विस्तारणीयः, यतः शान्त एवात्मनि परमात्मनो निवासः संजायते ॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा के लिए शान्तरस को प्रवाहित करने के लिए कहा गया है।

पदार्थ—हे **अध्वर्यो** अध्यात्म-यज्ञ के अध्वर्यु मेरे मन ! **त्वम्** तू **सोमम्** शान्तरस को **आ द्रावय** चारों ओर से प्रवाहित कर, **इन्द्रः** आत्मा **पिपासति** उसका प्यासा है। **नूनम्** मानो, **वृत्रहा** शान्ति के बाधक अशान्त विचारों के हन्ता परमात्मा ने भी, तेरे अध्यात्म-यज्ञ में आने के लिए **वृषणा** बलवान् **हरी** वेग से ले जाने वाले घोड़ों को **उपो युयुजे** रथ में नियुक्त कर लिया है, और साथ ही साथ **आजगाम च** वह आ भी गया है ॥६॥

१. ऋ० ८।४।११।

२. "पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः"। कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययश्च द्विधा भवति। कारणात् प्रथमं कार्यस्य भावे, द्वयोः समकालत्वे च। सा० द० १०।४७, कारिका वृत्तिश्च।

इस मन्त्र में उत्प्रेक्षालंकार है। 'नूनम्' शब्द उत्प्रेक्षावाचक है। कहा भी है—'मन्ये, शङ्के, ध्रुवम्, प्रायः, नूनम्, इव आदि शब्द उत्प्रेक्षावाचक होते हैं।' शरीररहित परमात्मा का रथ में घोड़ों को नियुक्त करना असंभव होने से 'मानो घोड़ों को नियुक्त किया है' इस रूप में उत्प्रेक्षा की गयी है। साथ ही 'आत्मा शान्तिरस का प्यासा है' इस कारण द्वारा शान्तरस-प्रवाह करने रूप कार्य का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार भी है। इसके अतिरिक्त 'घोड़ों को नियुक्त करते ही आ पहुँचा है' इस प्रकार कारण-कार्य की एक-साथ प्रतीति होने से अतिशयोक्ति अलंकार भी है ॥६॥

भावार्थ—जीवात्मा को शान्तरस से तृप्त करने के लिए अपने मन को अध्वर्यु बनाकर सबको आन्तरिक शान्तियज्ञ का विस्तार करना चाहिए, क्योंकि शान्त आत्मा में ही परमात्मा का निवास होता है ॥६॥

अथेन्द्रनाम्ना परमेश्वर-गुरु-नृपादीनैश्वर्यं याचते।

३ २ ३ २उ ३ २ ३ २ ३ १ २
३०९. अभीषतस्तदा भरेन्द्र ज्यायः कनीयसः।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पुरूवसुर्हि मघवन् बभूविथ भरेभरे च हव्यः ॥७॥[1]
३ २ ३ २ ३ १२१ १२१ १२१ ३ १ २ ३ १२१
अभि सतः तत् आ भर। इन्द्र ज्यायः कनीयसः॥ पुरूवसुः पुरु वसुः हि
३ १ २ १२१ १२१ ३ १२१
मघवन् बभूविथ। भरेभरे भरे भरे च हव्यः ॥७॥

पदार्थः—**प्रथमः** उपास्योपासकपरः। हे **इन्द्र** परमेश्वर! **कनीयसः सतः** त्वदपेक्षयाऽल्पशक्तेरल्पधनादिकस्य च सतो मम **तत्** भवदधिकारे विद्यमानम् **ज्यायः**[2] प्रशस्यतरं विपुलतरं च आध्यात्मिकं भौतिकं च धनं बलं वा। प्रशस्यशब्दाद् वृद्धशब्दाच्च ईयसुनि क्रमेण 'ज्य च', 'वृद्धस्य च' अ० ५।३।६१, ६२ इति ज्यादेशे रूपम्। **अभि आ भर** मदभिमुखम् आहर, **हि** यस्मात् हे **मघवन्** प्रशस्तैश्वर्यशालिन्! त्वम् **पुरूवसुः** बहुधनः **बभूविथ** विद्यसे, **भरे भरे च** अन्तर्द्वन्द्वे-अन्तर्द्वन्द्वे, संग्रामे-संग्रामे, संकटे-संकटे च, बलप्रदानार्थम्। 'भर इति संग्रामनाम। भरतेर्वा हरतेर्वा'। निरु० ४।२४। **हव्यः** आह्वातव्यः बभूविथ। ह्वेञ् धातोः 'बहुलं छन्दसि' अ० ६।१।३४ इति सम्प्रसारणे रूपम्। संहितायाम् 'अभि' इत्यत्र 'निपातस्य च' अ० ६।३।१३६ इति दीर्घः। 'सतः' इति सकारस्य 'पूर्वपदात्' अ० ८।३।१०६ इत्यनेन मूर्धन्यादेशः।

अथ **द्वितीयः** आचार्यशिष्यपरः। हे **इन्द्र** दोषविदारक सद्गुणसदाचरणोपदेशप्रदायक आचार्यवर! **कनीयसः सतः** आयुषि ज्ञानेन च अल्पीयसः सतो मम भवदीयशिष्यस्य **तत्** भवदन्तिके विद्यमानम् **ज्यायः** प्रशस्यतरं विपुलतरं च विद्याधनं व्रतपालनधनं च **अभि आ भर** मदभिमुखं प्रापय। **हि** यस्मात्, हे **मघवन्** सच्चरित्रधनाधिपते! त्वम् **पुरूवसुः** पुरूणि बहूनि वसूनि विद्याधनानि यस्य तादृशः विविधविद्याविशारदः **बभूविथ** विद्यसे, **भरे भरे च** शिष्याणां प्रत्येकभारवहननिमित्ताय च **हव्यः** आदातुं योग्यः बभूविथ। हु दानादनयोः आदाने चेत्येके।

अथ **तृतीयः** राजप्रजापरः। हे **इन्द्र** शत्रुविदारक सुखादिप्रदायक राजन्! **कनीयसः सतः** धनशौर्यादौ त्वदपेक्षया अल्पीयसः सतो मम प्रजाजनस्य **तत्** स्पृहणीयं प्रसिद्धम् **ज्यायः** प्रशस्यतरं विपुलतरं च

१. ऋ० ७।३२।२४, 'मघवन् बभूविथ' इत्यत्र 'मघवन्त्सनादसि' इति पाठः।

२. ज्यायः प्रशस्यतरं धनम्। सम्बुद्ध्यन्तं वा हे ज्यायः इति। आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८।१।७२) इति इन्द्रपदस्य पादादौ विद्यमानस्य विद्यमानत्वाभावात् ज्यायः इत्यस्य सर्वानुदात्तत्वाभावः, नकारस्य रुत्वं व्यत्ययात्—इति भ०।

धनधान्य-शस्त्रास्त्र-कला-कौशल-सुराज्यादिकमैश्वर्यम् **अभि आ भर** मां प्रजाजनं प्रति प्रापय, **हि** यस्मात् हे **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन् ! त्वम् **पुरूवसुः** बह्वीनां प्रजानां वासयिता **बभूविथ** विद्यसे, **भरे भरे च** राष्ट्राभ्यन्तरे बहिश्च ये शत्रवः सन्ति तैः सह संग्रामे-संग्रामे च **हव्यः** आह्वातव्यः बभूविथ ॥७॥

अत्र कनीयसि पात्रे ज्यायो वस्तु कथं समेयादिति वैषम्यप्रतीतेर्विषमालङ्कारो व्यङ्ग्यः ॥७॥

भावार्थः—परमात्मनः पार्श्वे प्रशस्तप्रशस्तं विपुलविपुलं भौतिकमाध्यात्मिकं च धनम्, गुरोः पार्श्वे प्रभूतं विद्याधनं सच्चारित्र्यधनं च, नृपस्य च पार्श्वे प्रभूतं रजतसुवर्णधान्यशस्त्रास्त्रकलाकौशलचिकित्सासाधनादिरूपं धनं विद्यते । ते स्वस्वधनैरस्मान् धनिकान् कुर्वन्तु ॥७॥[1]

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम द्वारा परमेश्वर, गुरु, राजा आदि से ऐश्वर्य की याचना की गयी है।

पदार्थ—प्रथम उपास्य-उपासक के पक्ष में । हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **कनीयसः सतः** आपकी अपेक्षा अल्प शक्ति और अल्प धन आदि वाले मुझे **तत्** वह आपके पास विद्यमान **ज्यायः** अत्यधिक प्रशस्त तथा अधिक महान् आध्यात्मिक एवं भौतिक धन और बल **अभि आ भर** प्राप्त कराओ । हे **मघवन्** प्रशस्त ऐश्वर्य वाले परमात्मन् ! आप **पुरूवसुः** बहुत धनी **बभूविथ** हो, **भरे-भरे च** और प्रत्येक अन्तर्द्वन्द्व में, प्रत्येक देवासुर-संग्राम में, प्रत्येक संकट में विजयप्रदानार्थ **हव्यः** पुकारे जाने योग्य हो ।

द्वितीय गुरु-शिष्य के पक्ष में । हे **इन्द्र** दोषविदारक तथा उपदेशप्रदायक आचार्यवर ! **कनीयसः सतः** आयु और विद्या में आपसे अत्यल्प मुझ अपने शिष्य को आप **तत्** उस अपने पास विद्यमान **ज्यायः** प्रशंसनीय तथा विशाल विद्या और व्रतपालन के भण्डार को **अभि आ भर** प्रदान करो, **हि** क्योंकि **मघवन्** हे ज्ञान-धन के धनी ! आप **पुरूवसुः** अनेक विद्याओं में विशारद **बभूविथ** हो, **भरे-भरे च** और शिष्यों का प्रत्येक भार उठाने के निमित्त **हव्यः** ग्रहण करने योग्य हो ॥

तृतीय राजा-प्रजा के पक्ष में । हे **इन्द्र** शत्रुविदारक सुखादिप्रदायक राजन् ! **कनीयसः सतः** धन, शूरवीरता आदि में आपकी अपेक्षा बहुत कम मुझ प्रजाजन को **तत्** वह स्पृहणीय, प्रसिद्ध **ज्यायः** प्रशस्यतर तथा विशालतर, धन-धान्य, शस्त्रास्त्र, कला-कौशल, सुराज्य आदि ऐश्वर्य **अभि आ भर** प्रदान कीजिए । हे **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन् ! आप **पुरूवसुः** बहुत-सी प्रजाओं को बसाने वाले **बभूविथ** हो, **भरे भरे च** और राष्ट्र के अन्दर तथा बाहर जो शत्रु हैं उनके साथ होने वाले प्रत्येक संग्राम में **हव्यः** पुकारे जाने योग्य हो ॥७॥

नन्हे पात्र में बड़ी वस्तु नहीं समा सकती, अतः 'ज्यायः कनीयसः' में वैषम्य प्रतीत होने के कारण विषमालंकार व्यङ्ग्य है ॥७॥

भावार्थ—परमात्मा के पास अत्यन्त प्रशस्त और अत्यन्त विशाल भौतिक तथा आध्यात्मिक धन, गुरु के पास प्रचुर विद्याधन तथा सच्चारित्र्य का धन और राजा के पास प्रभूत, चाँदी, सोने, धान्य, शस्त्रास्त्र, कलाकौशल, चिकित्सा-साधन आदि का धन है । वे अपने-अपने धन से हमें धनी करें ॥७॥

अथ धनस्वामिभिर्धनं कुत्र व्ययितव्यमित्याह ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
३१०. यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
स्तोतारमिद्दधिषे रदावसो न पापत्वाय रंसिषम् ॥८॥[2]

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं परमेश्वरः कीदृशोऽस्तीति विषये व्याख्यातः ।

२. ऋ० ७।३२।१८, अथ० २०।८२।१ । उभयत्र 'दधिषे' 'रंसिषम्' इत्यत्र क्रमेण 'दिधिषेय' 'रासीय' इति पाठः । साम० १७९६ ।

यत् इन्द्र यावतः त्वम् । एतावत् अहम् ईशीय ॥ स्तोतारम् इत् दधिषे
रदावसो रद वसो । न पापत्वाय रꣳसिषम् ॥८॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमात्मन् ! **यत्** यदि **यावतः** यत्परिमाणस्य धनस्य **त्वम्** त्वम् ईशिषे अधीश्वरोऽसि **एतावत्** एतावतः धनस्य । 'सुपां सुलुक् । अ० ७।१।३९' इति षष्ठ्या लुक् । **अहम्** त्वदुपासकः **ईशीय** अधीश्वरो भवेयम् तर्हि, हे **रदावसो**[1] रदति विलिखतीति रदं पावकं वसु धनं यस्य स रदवसुः, रदवसुरेव रदावसुः तादृश ! रद विलेखने, पूर्वपदस्य दीर्घश्छान्दसः । यद्वा, रदान् दातॄन् वासयतीति रदावसुः तथाविध ! अत्र रदधातुर्दानार्थो बोध्यः । अहम् **स्तोतारम्** तव स्तुतिकर्तारम्, पुण्यकर्तारम् **इत्** एव **दधिषे** धनप्रदानेन धारयेयम् । दध धारणे, लेटि उत्तमैकवचने 'सिब्बहुलं लेटि । अ० ३।१।३४' इति सिपि रूपम् । **पापत्वाय** पापाय **न** नैव कदापि **रंसिषम्**[2] दद्याम् । रमु क्रीडायाम् । अत्र दानार्थः, ऋग्वेदे 'रासीय' इति पाठात् । लिङर्थे लुङ्, परस्मैपदं छान्दसम्, 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि । अ० ६।४।७५' इत्यडागमो न ॥८॥[3]

भावार्थः—धनं प्राप्य केनापि कृपणेन न भाव्यम्, किन्तु तद्धनं यथायोग्यं सत्पात्रेषु दातव्यम् । परं पापकार्याय कदापि धनं न देयम् ॥८॥

अगले मन्त्र में यह वर्णित है कि धनस्वामियों को धन का व्यय कहाँ करना चाहिए ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमात्मन् ! **यत्** यदि **यावतः** जितने धन के **त्वम्** आप स्वामी हैं **एतावत्** उतने धन का **अहम्** मैं **ईशीय** स्वामी हो जाऊँ, तो हे **रदावसो** पवित्रताकारक धन वाले, अथवा दानियों को बसाने वाले परमात्मन् ! मैं **स्तोतारम्** आपके स्तोता, पुण्यकर्ता मनुष्य को **इत्** ही **दधिषे** धन-दान से धारण करूँ, **पापत्वाय** पाप के लिए कभी **न** नहीं **रंसिषम्** दान करूँ ॥८॥

भावार्थ—धन पाकर किसी को कंजूस नहीं होना चाहिए, किन्तु उस धन का यथायोग्य सत्पात्रों में दान करना चाहिए । पर पाप-कार्य के लिए कभी धन-दान नहीं करना चाहिए ॥८॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मा राजा वा रिपुसंहाराय प्रार्थ्यते ।

३११. त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।
अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः ॥९॥[4]
त्वम् इन्द्र प्रतूर्त्तिषु प्र तूर्त्तिषु । अभि विश्वाः असि स्पृधः ॥ अशस्तिहा
अशस्ति हा जनिता वृत्रतूः वृत्र तूः असि । त्वम् तूर्य तरुष्यतः ॥९॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** शूर परमात्मन् राजन् वा ! **त्वम् प्रतूर्तिषु** त्वरामयेषु देवासुरसंग्रामेषु । त्रित्वरा संभ्रमे, स्त्रियां क्तिन् 'ज्वरत्वर० । अ० ६।४।२०' इति वकारस्योपधायाश्च ऊठ् । **विश्वाः** सर्वाः **स्पृधः** स्पर्धाशीलाः शत्रुसेनाः **अभि असि** अभि भवसि । त्वम् **अशस्तिहा** अप्रशस्तीनां हन्ता, **जनिता** प्रशस्तिहेतूनां

१. रदावसो । रदिरत्र दानकर्मा । रदति त्रसूनीति रदावसुः—इति भ० । रदति ददाति वसूनीति रदवसुः तादृश हे इन्द्र—इति सा० । यो रदेषु विलेखनेषु वसति तत्सम्बुद्धौ—इति ऋ० ७।३२।१८ भाष्ये द० ।

२. रंसिषं दधामीत्यर्थः—इति वि० । रातेरिदं रूपम्, दद्याम्—इति भ० । न रंसिषम् न दद्याम्—इति सा० ।

३. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये 'राजपुरुषैः किमेष्टव्यम्' इति विषये व्याख्यातः ।

४. ऋ० ८।९९।५, य० ३३।६६, साम १६३७, अथ० २०।१०५।१ ।

सद्गुणानां सच्चारित्र्याणां च हृदये राष्ट्रे वा जनयिता। 'जनिता मन्त्रे। अ० ६।४।५३' इति णिलोपो निपात्यते। **वृत्रतूः**[1] वृत्राणि पापानि पापिनो दुर्जनान् वा तूर्वति हिनस्ति सः। वृत्रोपपदात् तुर्वी हिंसायाम् धातोः क्विपि रूपम्, क्विपि परे 'राल्लोपः। अ० ६।४।२१' इति वकारलोपः। **असि** विद्यसे। **त्वम् तरुष्यतः** हिंसकान्। तरुष्यतिः हन्तिकर्मा। निरु० ५।२। **तूर्य** विनाशय। तूरी गतित्वरणहिंसनयोः दिवादिः, परस्मैपदं छान्दसम् ॥९॥[2]

अत्रार्थश्लेषः, 'त्वं तूर्य तरुष्यतः' इति कार्यस्य कारणरूपेण शिष्टवाक्येन समर्थनात् कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। 'तूर्' इत्यस्य त्रिश आवृत्तेरेकादशकृत्वस्तकारावृत्तेश्च वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः। परमात्मनृपत्योरुपमानोपमेयभावश्च व्यङ्ग्यः ॥९॥

भावार्थः—यथा परमात्मा मानसेषु देवासुरसंग्रामेषु कामक्रोधादीनसुरान् पराभूय अप्रशस्तिं निरस्य प्रशस्तिहेतून् सद्गुणकर्मस्वभावान् जनयित्वा, पापानि निर्मूल्य स्तोतुः कीर्तिं विस्तारयति तथैव राज्ञापि राष्ट्राभ्यन्तरस्थान् बाह्यांश्च शत्रूनुन्मूल्य, राष्ट्रस्याप्रशस्तिं निवार्य, राष्ट्रवासिषु सद्गुणान् सदाचारांश्च प्रचार्य सुप्रबन्धेन प्रशस्तिः कीर्तिश्च जनयितव्या ॥९॥

अगले मन्त्र में परमात्मा वा राजा से शत्रुसंहार की प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** शूरवीर परमात्मन् वा राजन्! **त्वम्** आप **प्रतूर्तिषु** झटापटी वाले देवासुर-संग्रामों में **विश्वाः** सब **स्पृधः** स्पर्धालु शत्रु-सेनाओं को **अभि असि** परास्त करते हो। आप **अशस्तिहा** अप्रशस्ति को दूर करने वाले, **जनिता** प्रशस्तिप्रद सद्गुणों और सच्चारित्र्यों को हृदय में वा राष्ट्र में उत्पन्न करने वाले, **वृत्रतूः** पाप वा पापियों की हिंसा करने वाले **असि** हो। **त्वम्** आप **तरुष्यतः** हिंसकों की **तूर्य** हिंसा करो ॥९॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष और कारण से कार्य का समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है। 'तूर्' की तीन बार आवृत्ति तथा तकार की ग्यारह बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास अलंकार है। परमात्मा और राजा का उपमानोपमेयभाव व्यङ्ग्य है ॥९॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा मानस देवासुर-संग्रामों में काम, क्रोध आदि असुरों को परास्त कर, अप्रशस्ति को दूर कर, प्रशस्ति दिलाने वाले श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभावों को उत्पन्न कर, पापों का निर्मूलन कर स्तोता की कीर्ति का विस्तार करता है, वैसे ही राजा को भी राष्ट्र के अन्दर तथा बाहर के शत्रुओं का उन्मूलन करके, राष्ट्र की अप्रशस्ति का निवारण करके, प्रजाओं में सद्गुणों और सदाचार का प्रचार करके सुप्रबन्ध द्वारा कीर्ति उत्पन्न करनी चाहिए ॥९॥

अथेन्द्रस्य महिमानमाह।

१९ २९३१९ २९ ३ १९ २९ ३ १२
३१२. प्र यो रिरिक्ष ओजसा दिवः सदोभ्यस्परि।
१ २ ३ १२ ३ १२३२३ १ २
न त्वा विव्याच रज इन्द्र पार्थिवमति विश्वं ववक्षिथ ॥१०॥[3]

---

१. वृत्रस्य शत्रोः तूर्विता हन्ता—इति वि०। वृत्रस्य तरिता गन्ता—इति भ०। सर्वस्य शत्रुवर्गस्य हिंसिता—इति सा०।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिणायं मन्त्रो राजधर्मविषये व्याख्यातः।

३. ऋ० ८।८८।५, 'यो', 'दिवः सदोभ्यस्परि', 'पार्थिवमति विश्वं' एतेषां स्थाने क्रमेण 'हि', 'दिवो अन्तेभ्यस्परि', 'पार्थिवमनु स्वधां' इति पाठः।

प्र यः रिरिक्षे ओजसा । दिवः सदोभ्यः परि ।। न त्वा विव्याच रजः इन्द्र पार्थिवम् । अति विश्वम् ववक्षिथ ।।१०।।

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन् परमात्मन् ! **यः** यः त्वम् **ओजसा** बलेन प्रतापेन च **दिवः** द्युलोकस्य **सदोभ्यः** सदनेभ्यः सूर्यतारामण्डलादिभ्यः **परि** उपरि उत्थाय **प्र रिरिक्षे**[1] प्र रिरिचिषे, महिम्ना तान्यतिशेषे । प्र पूर्वाद् रिचिर् विरेचने, स्वादेर्लडर्थे लिटि मध्यमैकवचने रूपम्, इडभावश्छान्दसः । तादृशम् **त्वा** त्वाम् **पार्थिवं रजः** पार्थिवो लोकोऽपि । लोका रजांसि उच्यन्ते । निरु० ४।१९ । **न विव्याच**[2] न छलयति, न पराजयते, पार्थिवं रजोऽपि त्वामतिशयितुं नालमित्यर्थः । व्यच व्याजीकरणे तुदादिः, लिटि रूपम् । सत्यं त्वम् **विश्वम् अति** समस्तं ब्रह्माण्डम् अतिक्रम्य **ववक्षिथ**[3] महान् असि । ववक्षिथ इति महन्नामसु पठितम् । निघं० ३।३ । वह प्रापणे धातोः सन्नन्तस्य लडर्थे लिटि रूपम् । वोढुमिच्छसीति शब्दार्थः । यो यं वहति स तदपेक्षया महत्तरो भवतीति कृत्वा 'महानसि' इत्यर्थः सम्पद्यते ।।१०।।

भावार्थः—परमात्मनो बलं महिमा प्रतापः प्रभावश्च द्यावापृथिव्यादिकात् सकलादपि ब्रह्माण्डादतिरिच्यते ।।१०।।

अत्र प्राकृतिक्या उषसो वर्णनमुखेनाध्यात्मिक्या उषस आविर्भावं संसूच्य, अश्विनाम्ना परमात्मजीवात्मानौ, आत्ममनसी, अध्यापकोपदेशकौ च संस्तूय, इन्द्रनाम्ना जगदीश्वरं स्तुत्वा धनशत्रुविनाशादिकं च सम्प्रार्थ्य तन्महिमवर्णनाद्, इन्द्रनाम्ना नृपतिसेनापत्यादीनां चापि कर्तव्यबोधनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्तीति बोद्धव्यम् ।।

इति चतुर्थे प्रपाठके प्रथमार्द्धे द्वितीया दशतिः ।
इति तृतीयाध्यायेऽष्टमः खण्डः ।।

अगले मन्त्र में इन्द्र की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परमात्मन् ! **यः** जो आप **ओजसा** बल और प्रताप से **दिवः** द्यौ लोक के **सदोभ्यः** सदनों—सूर्य-तारामण्डल आदियों से **परि** ऊपर होकर **प्र रिरिक्षे** महिमा में उनसे बढ़े हुए हो, **त्वा** ऐसे आपको **पार्थिवं रजः** पार्थिव लोक भी **न विव्याच** नहीं छल सकता है, अर्थात् महिमा में पराजित नहीं कर सकता है । सचमुच आप **विश्वम् अति** सारे विश्व को अतिक्रमण करके **ववक्षिथ** महान् हो ।।१०।।

भावार्थ—परमात्मा का बल, महत्त्व, प्रताप और प्रभाव द्यावापृथिवी आदि सारे ब्रह्माण्ड से अधिक है ।।१०।।

इस दशति में प्राकृतिक उषा के वर्णन द्वारा आध्यात्मिक उषा के आविर्भाव को सूचित कर,

---

१. रुष रिष हिंसायाम् इत्यस्य मध्यमपुरुषैकवचने एतद्रूपम्, यस्त्वं प्रकर्षेण हिनस्सीत्यर्थः—इति वि० । प्रकर्षेण अतिरिच्यसे—इति भ० । रिचेर्लटि 'बहुलं छन्दसि (अ०२।४।७६)' इति श्लुः । प्रत्ययस्वरः—इति सा० ।

२. न तं त्वा विव्याच न व्याप्नोति माहात्म्येन—इति वि० । न व्याप्नोति—इति भ० । पार्थिवं पृथिव्यां भवं रजो लोकः त्वा त्वां महता स्वशरीरेण न विव्याच न व्याप्नोति । द्यावापृथिव्योरपि स्वतः स त्वं बलेन समर्थोऽसीत्यर्थः—इति सा० । विव्याच छलयति—इति ऋ० ३।३६।४ भाष्ये द० ।

३. वहेः सन्नन्तस्य छान्दसे लिटि रूपम् । मन्त्रत्वादामभावः—इति सा० । वोढुमिच्छसि । अत्र लडर्थे लिट्, सन्नन्तस्य वह धातोरयं प्रयोगः, 'बहुलं छन्दसि' इत्यनेन अभ्यासस्येत्त्वाभावः—इति ऋ० १।१०२।८ भाष्ये द० ।

अश्विनौ के नाम से परमात्मा-जीवात्मा, आत्मा-मन और अध्यापक-उपदेशक का स्तवन कर, इन्द्र नाम से जगदीश्वर की स्तुति करके उससे धन, शत्रुविनाश आदि की प्रार्थना कर उसकी महिमा का वर्णन होने से और इन्द्र नाम से राजा, सेनापति आदि के भी कर्तव्यों का बोध कराने से इस दशति के विषय की पूर्वदशति के विषय के साथ संगति जाननी चाहिए ॥

चतुर्थ प्रपाठक में प्रथम अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त ।
तृतीय अध्याय में अष्टम खण्ड समाप्त ॥

॥३॥ अथ 'असावि देवम्' इत्याद्यायाः दशतेः ऋषयः—१, २, ६ वसिष्ठः; ३ गातुः; ४ पृथुर्वैन्यः; ५ सप्तगुः; ७ गौरिवीतिः; ८ वेनो भार्गवः, बृहस्पतिर्नकुलो वा; १० सुहोत्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वयं परमेश्वराय श्रद्धारसमर्पयाम इत्याह ।

३१३. असावि देवं गोऋजीकमन्धो न्यस्मिन्निन्द्रो जनुषेमुवोच ।
बोधामसि त्वा हर्यश्व यज्ञैर्बोधा न स्तोममन्धसो मदेषु ॥१॥[1]

असावि देवम् गोऋजीकम् गो ऋजीकम् अन्धः । नि अस्मिन् इन्द्रः जनुषा ईम् उवोच ॥ बोधामसि त्वा हर्यश्व हरि अश्व यज्ञैः । बोध नः स्तोमम् अन्धसः मदेषु ॥१॥

पदार्थः—अस्माभिः **देवम्** दीप्तियुक्तम्, तेजस्वि **गोऋजीकम्**[2] इन्द्रियरूपाणां गवाम् ऋजुमार्गगामित्वे हेतुभूतम् **अन्धः** श्रद्धारसरूपं सोमसलिलम् **असावि** अभिषुतम् । **अस्मिन्** अन्धसि श्रद्धारसे **इन्द्रः** परमेश्वरः **जनुषा ईम्** स्वभावतः खलु **नि उवोच**[3] नितरां सम्बद्धो जातः । उच समवाये दिवादिः, लिटि-रूपम् । हे **हर्यश्व** हरयो वेगवन्तः अश्वाः व्याप्ता भूमिचन्द्रविद्युदादयो यस्य तादृश परमात्मन् ! वयम् **यज्ञैः** योगाभ्यासरूपैः **त्वा** त्वाम् **बोधामसि** जानीमः । बुध अवगमने भ्वादिः, 'इदन्तो मसि' अ० ७।१।४६ इति मस इकारागमः । त्वम् **अन्धसः** आनन्दरसस्य **मदेषु** तृप्तिषु **नः** अस्माकम् **स्तोमम्** स्तोत्रम् **बोध** जानीहि । संहितायाम् 'द्व्यचोऽतस्तिङ' । अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः ॥१॥

अत्र इन्द्रस्य तत्स्तोतॄणां च मिथः बोधनरूपैकक्रियाकरणाद् अन्योन्यालङ्कारः[4]। 'बोधा' इत्यस्य सकृदावृत्तौ यमकम्, 'मन्धो, मन्ध' इत्यत्र च छेकानुप्रासः ॥१॥

भावार्थः—परमेश्वरोपासनेन योगाभ्यासिनो जनस्येन्द्रियाणि ऋजुमार्गगामीनि संजायन्ते । अतः सर्वैः परमेश्वरो भक्त्याऽर्चनीयः ॥१॥[5]

---

१. ऋ० ७।२१।१ ।

२. 'गोऋजीकम्'—गावः इन्द्रियाणि ऋजीकानि सरलानि येन तम् इति ऋ० ६।२३।७ भाष्ये द० । गोविकारैः पयआदिभिर्मिश्रितम्—इति वि० । गोभिः संस्कृतं गव्येन मिश्रितम्—इति भ०, सा० ।

३. उवाच उक्तवान्—इति वि० । नि उवोच नितरां सङ्गतो भवति । उच समवाये—इति भ०, सा० ।

४. अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः कारणं मिथः । सा० द० १०।७२ इति तल्लक्षणात् ।

५. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् 'विद्वान् किं कुर्या'दिति विषये व्याख्यातवान् ।

प्रथम मन्त्र में परमेश्वर को श्रद्धारस अर्पण करने का वर्णन है।

पदार्थ—हमारे द्वारा **देवम्** दीप्तियुक्त, तेजस्वी, **गोऋजीकम्** इन्द्रियरूप गौओं की सरलगामिता में हेतुभूत **अन्धः** श्रद्धारस **असावि** अभिषुत कर लिया गया है। **अस्मिन्** इसमें **इन्द्रः** परमेश्वर **जनुषा ईम्** स्वभावतः ही **नि उवोच** अतिशय संबद्ध हो गया है। हे **हर्यश्व** वेगवान् भूमि, चन्द्र, विद्युत् आदि व्याप्त पदार्थों के स्वामी परमात्मन्! हम **यज्ञैः** योगाभ्यासरूप यज्ञों से **त्वा** आपको **बोधामसि** जानते हैं, आप **अन्धसः** आनन्द रस की **मदेषु** तृप्तियों में **नः** हमें **बोध** जानिये ॥१॥

इस मन्त्र में इन्द्र तथा उसके स्तोताओं द्वारा परस्पर एक बोधनरूप क्रिया किये जाने का वर्णन होने से अन्योन्य अलंकार है। 'बोधा' की एक बार आवृत्ति में यमक तथा 'मन्धो, मन्ध' में छेकानुप्रास है॥

भावार्थ—परमेश्वर की उपासना से योगाभ्यासी मनुष्य की इन्द्रियाँ सरल मार्ग पर चलनेवाली हो जाती हैं। इसलिए सबको श्रद्धापूर्वक परमेश्वर की अर्चना करनी चाहिए ॥१॥

अथेन्द्रनाम्ना परमेश्वरो राजा च सम्बोध्यते।

३१४. योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि तमा नृभिः पुरुहूत प्र याहि।
असो यथा नोऽविता वृधश्चिद्ददो वसूनि ममदश्च सोमैः ॥२॥[1]

योनिः ते इन्द्र सदने अकारि। तम् आ नृभिः पुरुहूत पुरु हूत प्र याहि॥
असः यथा नः अविता वृधः चित्। ददः वसूनि ममदः च सोमैः ॥२॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** दुःखविदारक सुखप्रद परमेश्वर, शत्रुविदारक शान्तिप्रद राजन् वा! **ते** तव **सदने** उपवेशनार्थम्। अत्र निमित्तार्थे सप्तमी। **ते** तुभ्यम् **योनिः** हृदयरूपं गृहम् सिंहासनं वा। योनिरिति गृहनाम। निघं० ३।४। **अकारि** संस्कृतम् रचितं वा अस्माभिः। हे **पुरुहूत** बहुस्तुत, बहुभिः प्रजाजनैः निर्वाचित वा! **तम्** हृदयगृहं सिंहासनं वा **नृभिः** उन्नायकैः सत्याहिंसादानदक्षिणादिभिः गुणैः नेतृभिः राज्याधिकारिभिर्वा सह **आ प्रयाहि** प्रकर्षेण आगच्छ, **यथा** येन तत्र स्थितस्त्वम् **नः** अस्माकम् **अविता** रक्षकः **वृधः चित्** वर्धकश्चापि। अत्र वृधु वृद्धौ धातोः 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' अ० ३।१।१३५ इति कः प्रत्ययः। **असः** भवेः। अस् भुवि धातोर्लेटि मध्यमैकवचने रूपम्। **वसूनि** आध्यात्मिकानि भौतिकानि च धनानि **ददः** प्रयच्छेः। डुदाञ् दाने धातोर्लेटि रूपम्। **सोमैः च** शान्तिभिश्च **ममदः** तर्पयेः। मद तृप्तियोगे इति धातोः 'बहुलं छन्दसि' अ० २।४।७६ इति शपः श्लौ, द्वित्वे लेटि रूपम् ॥२॥[2]

अत्र श्लेषालङ्कारः॥

भावार्थः—परमेश्वरो हृदयासनं नृपतिश्च सिंहासनमधिष्ठाय सर्वेभ्य आध्यात्मिकीं भौतिकीं च रक्षां, वृद्धिं, सम्पदं, शान्तिं च प्रदातुमर्हति ॥२॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर और राजा को सम्बोधित किया गया है।

पदार्थ—**प्रथम** परमेश्वर के पक्ष में। हे **इन्द्र** दुःखविदारक सुखप्रद परमेश्वर! **ते** आपके **सदने** बैठने के निमित्त **योनिः** हृदय-गृह **अकारि** हमने संस्कृत कर लिया है। हे **पुरुहूत** बहुस्तुत! **तम्** उस हृदय-गृह में **नृभिः** उन्नति कराने वाले सत्य, अहिंसा, दान, उदारता आदि गुणों के साथ **आ प्र याहि** आप

१. ऋ० ७।२४।१, 'वृधश्चिद् ददो' इत्यत्र 'वृधे च ददो' इति पाठः।
२. ऋग्वेदे दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं राजप्रजापक्षे व्याख्यातः।

आइए, **यथा** जिससे, आप **नः** हमारे **अविता** रक्षक और **वृधः चित्** वृद्धिकर्ता भी **असः** होवें, **वसूनि** आध्यात्मिक एवं भौतिक धनों को **ददः** देवें, **च** और **सोमैः** शान्तियों से **ममदः** हमें आनन्दित करें ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में । हे **इन्द्र** शत्रुविदारक शान्तिप्रदाता राजन् ! **ते** आपके **सदने** बैठने के निमित्त **योनिः** सिंहासन **अकारि** बनाया गया है । हे **पुरुहूत** बहुत-से प्रजाजनों द्वारा निर्वाचित राजन् ! आप **नृभिः** नेता राज्याधिकारियों के साथ **आ** आकर **प्रयाहि** विराजिए, **यथा** जिससे, आप **नः** हम प्रजाओं के **अविता** रक्षक और **वृधः चित्** उन्नतिकर्ता भी **असः** होवें, **वसूनि** धनों को **ददः** देवें, **च** और **सोमैः** शान्तियों **से ममदः** हम प्रजाजनों को आनन्दित करें ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥२॥

भावार्थ—परमेश्वर हृदयासन पर और राजा सिंहासन पर बैठकर सबको आध्यात्मिक तथा भौतिक रक्षा, वृद्धि, सम्पदा और शान्ति प्रदान कर सकते हैं ॥२॥

अथ परमेश्वरस्य वृष्ट्यादिकं कैवल्यप्रदानरूपं च कर्म वर्णयति ।

३१५. अददेरुत्सममृजो वि खानि त्वमर्णवान् बद्बधानाँ अरम्णाः ।
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजद्धारा अव यदानवान् हन् ॥३॥[1]

अददेः उत्सम् उत् सम् असृजः वि खानि । त्वम् अर्णवान् बद्बधानान् अरम्णाः ॥
महान्तम् इन्द्र पर्वतम् वि यत् वरिति । सृजत् धाराः अव यत् दानवान् हन् ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमः** । हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **त्वम्** सकलसृष्टिव्यवस्थापकः त्वम्, स्वरचितं सूर्यमुपकरणीकृत्य **उत्सम्** जलाधारं मेघम् **अददेः** भृशं विदारयसि । दृ विदारणे धातोर्यङ्लुगन्ताल्लङि सिपि छान्दसं रूपम् । **खानि** पिहितानि छिद्राणि **वि असृजः** उद्घाटयसि । **बद्बधानान्** अवर्षके मेघे दृढं बद्धान् । बध बन्धने धातोः क्र्यादेः चानश्, 'बहुलं छन्दसि' अ० २।४।७६ इति शपः श्लुः, हलादिशेषाभावः । **अर्णवान्** पयसः पारावारान् **अरम्णाः** विसृजसि । रम्णातिः संयमनकर्मा विसर्जनकर्मा वा । निरु० १०।६ । एवं वृष्टिकर्म वर्णयित्वा पर्वतेभ्यो जलधाराप्रवाहं वर्णयति । **यत्** यदा **महान्तम्** विशालम् **पर्वतम्** पर्वताकारं हिमीभूतं जलसंघातम् **विवः**[2] विवृणोषि विशेषेण द्रावयसि । वः इति 'वृञ्' वरणे धातोर्लुङि सिपि, 'मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः' अ० २।४।८० इति च्लेर्लुकि अडागमाभावे रूपम् । यदयोगाद् 'यदवृत्तान्नित्यम्' इति निघातप्रतिषेधाद् धातुस्वरेणोदात्तत्वम् । **यत्** यदा च **दानवान्** जलप्रवाहप्रतिबन्धकान् शिलाखण्डादीन् **हन्** हंसि चूर्णयसि । हन् हिंसागत्योः, लङि अडागमाभावश्छान्दसः । तदा **धाराः** नदीः **अवसृजत्** अवासृजः । सृज विसर्गे धातोर्लङि छान्दसः पुरुषव्यत्ययः अडागमाभावश्च ॥

एतेन राजविषयोऽपि सूच्यते । यथा परमेश्वरः सूर्यो वा वृष्टिप्रतिबन्धकं मेघं विदार्य तत्रावरुद्धा जलधाराः प्रवाहयति, तथैव राजापि राष्ट्रोन्नतिप्रतिबन्धकान् शत्रून् विदार्य तैरवरुद्धा ऐश्वर्यधारा राष्ट्रे प्रवाहयेत् ।[3]

---

१. ऋ० ५।३२।१ 'सृजो वि धारा अव दानवान् हन्' इति पाठः ।

२. विवः विवृतवानसि—इति वि०, भ०, सा० । केचित्तु 'वः' इति पदं युष्मदादेशरूपेण व्याचख्युः, तदसमञ्जसं स्वरविरोधात् पदपाठविरोधाच्च ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजप्रजापक्षे व्याख्यातवान् ।

एतं मन्त्रं यास्काचार्य एवं व्याचष्टे—अदृणा उत्सम्। उत्स उत्सरणाद् वा उत्सदनाद् वा उत्स्यन्दनाद् वा, उनत्तेर्वा। व्यसृजोऽस्य खानि। त्वमर्णवान् अर्णस्वत एतान् माध्यमिकान् संस्त्यानान् बाबध्यमानान् अरम्णाः, रम्णातिः संयमनकर्मा विसर्जनकर्मा वा। महान्तम् इन्द्र पर्वतं मेघं यद् व्यवृणोः, व्यसृजोऽस्य धाराः। अवहन्नेनं दानवं दानकर्माणम्। निरु० १०।९।

अथ द्वितीयः हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **त्वम् उत्सम्** अवरुद्धं ज्ञानस्रोतः **अदर्दः** विदार्य उद्घाटयसि, **खानि** अन्तरात्मनः पराङ्मुखानि बहिर्मुखानि इन्द्रियाणि। 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः'। कठ० ४।१ इति प्रामाण्यात् खानि इन्द्रियाण्युच्यन्ते। **वि असृजः** बाह्य विषयेभ्यः पृथक् करोषि। **बद्बधानान्** आनन्दमयकोशेषु बद्धान् **अर्णवान्** आनन्दपारावारान् **अरम्णाः** मनोमयादिकोशेषु विसृजसि। **यत्** यदा **महान्तम्** विशालम् **पर्वतम्** योगमार्गे विघ्नभूतानां व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्यादीनां शैलम् **विवः** विदारयसि, **यत्** यदा च **दानवान्** अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशरूपान् दैत्यान् **हन्** हंसि, तदा **धाराः** कैवल्यप्रापिकाः धर्ममेघसमाधिधाराः[1] **अव सृजत्** प्रवाहयसि ॥३॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—परमेश्वरो यथा वृष्टिप्रदाननदीप्रवाहादिरूपं प्राकृतिकं कर्म सम्पादयति तथैव योगमभ्यस्यतो मुमुक्षुजनस्य मार्गे समागतान् विघ्नान् निवार्य तदात्मन्यानन्दवृष्टिं कृत्वा तस्मै मोक्षमपि प्रयच्छति ॥३॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर के वर्षा आदि तथा मुक्तिप्रदानरूपी कार्य का वर्णन है।

पदार्थ—प्रथम। हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **त्वम्** सकलसृष्टि के व्यवस्थापक आप, अपने द्वारा रचित सूर्य को साधन बनाकर **उत्सम्** जल के आधार बादल का **अदर्दः** विदारण करते हो, **खानि** उसके बन्द छिद्रों को **वि असृजः** खोल देते हो। **बद्बधानान्** न बरसने वाले बादल में दृढ़ता से बँधे हुए **अर्णवान्** जल के पारावारों को **अरम्णाः** छोड़ देते हो। इस प्रकार वृष्टिकर्म के वर्णन के बाद पहाड़ों से जलधाराओं के प्रवाह का वर्णन है। **यत्** जब **महान्तम्** विशाल **पर्वतम्** बर्फ के पर्वत को **विवः** पिघला देते हो और **यत्** जब **दानवान्** जल-प्रवाह में बाधक शिलाखण्ड आदियों को **हन्** दूर करते हो, तब **धाराः** नदियों की धाराओं को **अव सृजत्** बहाते हो ॥

इससे राजा का विषय भी सूचित होता है। जैसे परमेश्वर वा सूर्य वृष्टि-प्रतिबन्धक मेघ को विदीर्ण कर उसमें रुकी हुई जलधाराओं को प्रवाहित करते हैं, वैसे ही राजा भी राष्ट्र की उन्नति में प्रतिबन्धक शत्रुओं को विदीर्ण कर उनसे अवरुद्ध ऐश्वर्य की धाराओं को प्रवाहित करे।

द्वितीय। हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **त्वम्** आप **उत्सम्** ज्ञान के रुके हुए स्रोत को **अदर्दः** खोल देते हो, **खानि** अन्तरात्मा से पराङ्मुख हुई बहिर्मुख इन्द्रियों को **वि-असृजः** बाह्य विषयों से पृथक् कर देते हो, **बद्बधानान्** आनन्दमय कोशों में रुके हुए **अर्णवान्** आनन्द के पारावारों को **अरम्णाः** मनोमय आदि कोशों में फव्वारे की तरह छोड़ देते हो। **यत्** जब, आप **महान्तम्** विशाल **पर्वतम्** योगमार्ग में विघ्नभूत व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य आदियों के पहाड़ को **विवः** विदीर्ण कर देते हो, और **यत्** जब **दानवान्** अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप दानवों को **हन्** विनष्ट कर देते हो, तब **धाराः** कैवल्य प्राप्त कराने वाली धर्ममेघ समाधि की धाराओं को **अव सृजत्** प्रवाहित करते हो ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—परमेश्वर जैसे वर्षा करना, नदियों को बहाना आदि प्राकृतिक कार्य सम्पन्न करता

१. द्रष्टव्यम् : योग० १।३०, ३१; २।३; ४।२९।

है, वैसे ही योगाभ्यासी मुमुक्षु मनुष्य के योगमार्ग में आये हुए विघ्नों का निवारण कर उसकी आत्मा में आनन्द की वृष्टि करके उसे मोक्ष भी प्रदान करता है ॥३॥

अथ परमात्मानं प्रार्थयते।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
३१६. सुष्वाणास इन्द्र स्तुमसि त्वा सनिष्यन्तश्चित्तुविनृम्ण वाजम्।
१ ३ ३ १ २ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
आ नो भर सुवितं यस्य कोना तना त्मना सह्याम त्वोताः ॥४॥[1]
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सुष्वाणासः इन्द्र स्तुमसि त्वा। सनिष्यन्तः चित् तुविनृम्ण तुवि नृम्ण वाजम् ॥
३ १ २ १ २ ३ २ १ २ १ २ ३ १ २ ३
आ नः भर सुवितम् यस्य कोना। तना त्मना सह्याम त्वोताः त्वा उताः ॥४॥

पदार्थः—हे **तुविनृम्ण** बहुबल बहुधन वा। तुवि इति बहुनाम। निघं० ३।१। नृम्णमिति बलनाम धननाम च। निघं० २।९, २।१०। **इन्द्र** परमात्मन्! **सुष्वाणासः** श्रद्धारसम् अभिषुतवन्तः वयम्। षुञ् अभिषवे धातोः लिटः कानजादेशः। 'आज्जसेरसुक्' अ० ७।१।५० इति जसोऽसुगागमः। **वाजम्** आत्मबलं अध्यात्मधनं च **सनिष्यन्तः**[2] प्राप्तुमिच्छन्तः **चित्** एव **त्वा** त्वाम् **स्तुमसि** स्तुमः। ष्टुञ् स्तुतौ, 'इदन्तो मसि' अ० ७।१।४६ इति मसः इदन्तत्वम्। त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **सुवितम्**[3] सद्गतिम् सुप्रजां वा। सुपूर्वात् इण् गतौ धातोः, षुङ् प्राणिगर्भविमोचने धातोर्वा क्त प्रत्यये रूपम्। तथा च निरुक्तम् 'सुविते सु इते, सूते। सुगते सुप्रजायामिति वा'। निरु० ४।१७। **आभर** आहर, **यस्य** यस्याः सद्गतेः सुप्रजायाः वा **नः** अस्माकम् **कोना**[4] कामना वर्तते। **त्वोताः** त्वया उताः रक्षिताः। उताः इति अव रक्षणे धातोः, क्त प्रत्यये रूपम्। वयम् **त्मना** आत्मना, आत्मबलेन। मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' अ० ६।४।१४१ इत्याकारलोपः। **तना**[5] तनान् इतस्ततो विस्तीर्णान् शत्रून्। तनु विस्तारे। द्वितीयाबहुवचनस्य 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इत्याकारादेशः। **सह्याम** पराभवेम। षह मर्षणे, संहितायाम् 'अन्येषामपि दृश्यते' अ० ६।३।१३७ वा० इति छान्दसं दीर्घत्वम् ॥४॥

भावार्थः—आत्ममनःप्राणशरीरादीनां बलस्य, आत्मिकलौकिकधनस्य च प्राप्त्यर्थम् अनन्तबलोऽपारधनश्च परमेश्वर एवास्माभिः प्रार्थनीयः। तस्यैव कृपया वयं सुगतिं सुप्रजां वा लब्धुं शत्रुपराजयं च कर्तुं प्रभवामः ॥४॥

---

१. ऋ० १०।१४८।१ 'सनिष्यन्तश्चित्' 'कोना तना त्मना सह्याम' इत्येतयोः स्थाने क्रमशः 'ससवांसश्च', 'चाकन्त्मना तना सनुयाम' इति पाठः।

२. सनिष्यन्तः लप्स्यन्तः लिप्सन्तः—इति वि०। षण सम्भक्तौ, अयमाप्नोति कर्मापि दृश्यते।

३. सुवितम् आत्मनः सकाशात् प्रेरितं पुत्रमित्यर्थः—इति वि०। सुवितं भद्रं धनम्—इति भ०। सुष्ठु प्राप्तव्यं शोभनं धनम्—इति सा०।

४. कोना। कनेः कान्तिकर्मण इदं रूपम्। पचाद्यच्। अकारस्य व्यत्ययात् ओकारः। प्रथमैकवचनस्य आकारादेशः। यस्य धनमाच्छिद्य दातुं कामयसे तस्य सुवितम् अस्मभ्यम् आभर—इति भ०। कोना शब्दस्य व्याख्याने सायणोऽपि भरतमनुकरोति। 'किं पुनरभिभवेम? उच्यते। कोना। कुत्सिताश्च ते ऊनाश्च कोनाः। छान्दसत्वात् कुशब्दस्य का भावः। द्वितीयाबहुवचनस्य स्थाने छान्दसत्वात् आ इत्यादेशः। कुत्सितान् ऊनान् च शत्रूनित्यर्थः'—इति वि०। कुण शब्दे इति धातोरपि 'कोना' इति व्युत्पादयितुं शक्यम्। कोना शब्दमयी प्रार्थनेत्यर्थः।

५. तना धनेन—इति वि०। तना, तनोतेस्तनयः, तनयेन—इति भ०। तना धननामैतत्। विस्तृतानि धनानि···सह्याम, षह अभिभवे, धातूनामनेकार्थत्वात् त्वत्प्रसादाल्लभेमहि—इति सा०।

अगले मन्त्र में परमात्मा से याचना की गयी है।

पदार्थ—हे **तुविनृम्ण** बहुत बली और बहुत धनी **इन्द्र** परमात्मन् ! **सुष्वाणासः** श्रद्धारस को अभिषुत किये हुए हम **वाजम्** आत्मबल और अध्यात्मधन को **सनिष्यन्तः** पाना चाहते हुए **त्वा** तेरी **स्तुमसि** स्तुति करते हैं। तू **नः** हमें **सुवितम्** सद्गति और उत्कृष्ट प्रजा **आ भर** प्रदान कर, **यस्य** जिसकी **नः** हमें **कोना** कामना है। **त्वोताः** तुझसे रक्षित हम **त्मना** आत्म-बल द्वारा **तना** इधर-उधर फैले शत्रुओं को **सह्याम** परास्त कर दें ॥४॥

भावार्थ—आत्मा, मन, प्राण, शरीर आदि का बल और आत्मिक एवं सांसारिक धन पाने के लिए अनन्त बल और अपार धन वाले परमेश्वर से ही हमें याचना करनी चाहिए। उसी की कृपा से हम उत्तम गति और उत्तम प्रजा को पाने तथा शत्रु का पराजय करने में समर्थ होते हैं ॥४॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मा नृपतिराचार्यश्च प्रार्थ्यते।

३१७. ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
जगृह्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्।
३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दा ॥५॥[1]

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
जगृह्म ते दक्षिणम् इन्द्र हस्तम्। वसूयवः वसुपते वसु पते वसूनाम् ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
विद्म हि त्वा गोपतिम् गो पतिम् शूर गोनाम्। अस्मभ्यम् चित्रम्
१ २ ३ २ ३
वृषणम् रयिम् दाः ॥५॥

पदार्थः—हे **वसूनां वसुपते** समस्तभौतिकाध्यात्मिकैश्वर्याणाम् अधिपते **इन्द्र** परमात्मन् राजन् आचार्य वा ! **वसूयवः** धनधान्यराज्यविद्याशमदमवैराग्यप्रभृतीनि वसूनि कामयमानाः वयम्। अत्र वसुशब्दात् क्यच्प्रत्यये, 'क्याच्छन्दसि। अ० ३।२।१७०' इति उ प्रत्ययः, 'अन्येषामपि दृश्यते। अ० ६।३।१३७' इति दीर्घः। **ते** तव **दक्षिणम्** सव्येतरम् **हस्तम्** पाणिं, पाण्युपलक्षितं शरणम् **जगृह्म** गृह्णीमः। हे **शूर** दानवीर परमात्मन् राजन् आचार्य वा ! वयम् **त्वा** त्वाम् **गोनाम् गोपतिम्** समस्तानां वागिन्द्रियधेनुपृथिव्यादीनाम् अधिपतिम् **विद्म** जानीमः। संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः। अ० ६।३।१३५' इति दीर्घः। त्वम् **अस्मभ्यम्** नः **चित्रम्** गुणादिभिः अद्भुतम्, **वृषणम्** व्यक्तौ, समाजे, राष्ट्रे, जगति वा सुखवर्षकम् **रयिम्** धनम् **दाः** देहि। डुदाञ् दाने धातोः लोडर्थे लुङ्। अडभावश्छान्दसः। यद्यपि वसुपते, गोपतिम् इत्यनेनैव गतार्थता, तथापि 'वसूनां वसुपते', 'गोनां गोपतिम्' इति वचनं सर्वेषां वसूनां सर्वासां गवां चेति सूचयति। सेयं वैदिकी शैली[2]। 'गवाम्' इति प्राप्ते 'गोनाम्' इत्यत्र 'गोः पादान्ते। अ० ७।१।५७' इति पादान्तत्वान्नुट् ॥५॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—परमात्मा नृपतिराचार्यश्च यथायोग्यं विविधानां भौतिकाध्यात्मिकानां धनधान्यविद्यारोग्यसत्याहिंसाशमदमयोगसिद्धिचक्रवर्तिराज्यापवर्गादीनामैश्वर्याणामीशते। तेषां शरणावलम्बनेन वयमपि तानि प्राप्नुयाम ॥५॥

---

१. ऋ० १०।४७।१ देवता इन्द्रो वैकुण्ठः। 'जगृह्मा' इत्यत्र 'जगृभ्मा' इति पाठः।

२. वसुपतिशब्दः यद्यपि वसूनां पतिः वसुपतिरित्येवं व्युत्पाद्यते तथापि यथा प्रवीणशब्दः प्रकृष्टो वीणायामित्येवमपि व्युत्पाद्यमानो न वीणागतमेव प्रकर्षं प्रतिपादयति, किं तर्हि ? सर्वगतम्। तद्वद् वसुपतिशब्दोऽपि न वसुगतमेव आधिपत्यं प्रतिपादयति। किं तर्हि ? सर्वगतमाधिपत्यमित्यर्थः—इति वि०।

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा, राजा और आचार्य से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **वसूनां वसुपते** समस्त भौतिक एवं आध्यात्मिक ऐश्वर्यों के अधिपति **इन्द्र** परमात्मन्, राजन् और आचार्य ! **वसूयवः** धन, धान्य, राज्य, विद्या, शम, दम, वैराग्य आदि ऐश्वर्यों की कामना वाले हम **ते** आपके **दक्षिणं हस्तम्** दाहिने हाथ को अर्थात् आपकी शरण को **जगृह्म** पकड़ रहे हैं । हे **शूर** दानवीर परमात्मन् राजन् और आचार्य ! हम **त्वा** आपको **गोनां गोपतिम्** समस्त वाणी, इन्द्रिय, गाय, भूमि आदियों का स्वामी **विद्म** जानते हैं । आप **अस्मभ्यम्** हमें **चित्रम्** गुण आदि में अद्भुत, **वृषणम्** व्यक्ति, समाज, राष्ट्र वा जगत् में सुख की वर्षा करने वाला **रयिम्** ऐश्वर्य **दाः** प्रदान कीजिए ॥५॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥५॥

भावार्थ—परमात्मा, राजा और आचार्य यथायोग्य अनेक प्रकार के धन, धान्य, विद्या, आरोग्य, सत्य, अहिंसा, शम, दम, योगसिद्धि, चक्रवर्ती राज्य, मोक्ष आदि ऐश्वर्यों के स्वामी हैं । उनकी शरण में जाकर हम भी इन ऐश्वर्यों को प्राप्त करें ॥५॥

अथ परमात्मा राजा च प्रार्थ्यते ।

३१८. इन्द्रं॑ नरो॒ नेम॑धिता हवन्ते॒ यत्पार्या॑ यु॒नज॑ते॒ धिय॒स्ताः॑ ।
शूरो॑ नृ॒षाता॒ श्रव॑सश्च॒ काम॒ आ गोम॑ति व्र॒जे भ॒जा त्वं न॑: ॥६॥[1]

इन्द्र॑म् नरः॒ नेम॑धिता॒ नेम॑ धिता हवन्ते । यत् पार्याः॑ यु॒नज॑ते धिय॒स्ताः॑ ॥
शूरः॑ नृ॒षाता॑ नृ॒ साता॑ श्रव॑सः च॒ काम॑े । आ गोम॑ति व्र॒जे भ॒ज त्वम् न॑: ॥६॥

पदार्थः—**इन्द्रम्** वीरं परमात्मानं राजानं वा **नरः** प्रजाजनाः **नेमधिता**[2] नेमधितौ आन्तरिके बाह्ये च संग्रामे यज्ञे वा । नेमधितिरिति संग्रामनाम । निघं० २।१७ । ततः सप्तम्येकवचने 'सुपां सुलुक्० अ० ७।१।३९' इति विभक्तेर्डादेशे तस्य डित्वात् टेर्लोपे रूपम् । **हवन्ते** आह्वयन्ति । **पार्याः**[3] पारयितव्याः ते, आन्तरिकान् बाह्यांश्च विघ्नान् पारयितुं **यत्** यत् साधनम् **युनजते** उपयुञ्जते 'श्नसोरल्लोपः । अ० ६।४।१११' इत्यल्लोपो न भवति छान्दसत्वात् । **ताः धियः** तत् प्रज्ञाः क्रियाश्च भवन्ति । ताः प्रज्ञाः क्रियाश्चावलम्ब्य ते समस्तान् शत्रून् विघ्नादींश्च पारयन्तीत्यर्थः । धीरिति प्रज्ञानामसु कर्मनामसु च पठितम् । निघं० ३।९, २।१ । साम्प्रतं प्रत्यक्षकृतमाह । हे परमात्मन् राजन् वा ! **शूरः** पराक्रमशीलः **त्वम् नृषाता**[4] नृणां पौरुषवतां वीराणां सातिः विजयो यस्मिन् तस्मिन् नृषातौ संग्रामे, तत्र सहायतार्थमिति भावः । नृषातिशब्दात् सप्तम्येकवचने विभक्तेर्डाऽऽदेशः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । **श्रवसः**

---

१. ऋ० ७।२७।१ 'श्रवसश्च काम' इत्यत्र 'शवसश्चकान' इति पाठः ।

२. नेमधिता नेमधितौ संग्रामे यज्ञे वा—इति भ० ।

३. पार्याः पालयितव्याः प्राप्तव्याः—इति वि० । पार्याः पारप्राप्तिनिमित्तभूताः—इति भ० । पार्याः युद्धे भरणनिमित्तभूताः—इति सा० । पार्याः पालनीयाः इति ऋ० ७।२७।१ भाष्ये द० । सर्वैरेव पार्याः इति धियः इत्यस्य विशेषणं स्वीकृतम् ।

४. नृषाता, नरो मनुष्याः ऋत्विग्लक्षणाः ते सन्यन्ते संभज्यन्ते यत्र स नृषातिर्यज्ञः । वन षण सम्भक्तौ इत्यस्येदं रूपम्—इति वि० । नृषाता नृसातौ नृणां सातौ लाभे—इति भ० । नृषाता, नृणां सम्भक्ता—इति सा० । नरः सीदन्ति यस्मिंस्तस्मिन् नृसातौ—इति ऋ० ७।२७।१ भाष्ये द० ।

च यशसः च **कामे**[1] अभिलाषपूर्तौ **गोमति** गावः प्रशस्ताः पृथिवी-वाग्-इन्द्रिय-धेन्वादयः तद्वति तद्युक्ते **व्रजे** समूहे गोष्ठे वा **नः** अस्मान् **आ भज** भागिनः कुरु। अस्माकं यशःकामनां प्रपूरय, अस्मान् पृथिवी-राज्यवाग्बलेन्द्रियबलप्रशस्तधेन्वादींश्च प्रापयेत्यर्थः ॥६॥[2]

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥६॥

भावार्थः—परमात्मनः कृपया, नृपतेः साहाय्येन, स्वकीयबुद्धिकौशलेन, पुरुषार्थेन च शत्रुविजयः, परा कीर्तिः, भूमण्डलसाम्राज्यादिकं च सर्वमपि समीहितं वस्तु प्राप्तुं शक्यम् ॥६॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—**इन्द्रम्** वीर परमात्मा वा राजा को **नरः** प्रजाजन **नेमधिता** आन्तरिक वा बाह्य संग्राम में और यज्ञ में **हवन्ते** सहायतार्थ पुकारते हैं। **पार्याः** पार होने योग्य वे, आन्तरिक और बाह्य विघ्नों को पार करने के लिए **यत्** जिस साधन का **युनजते** उपयोग करते हैं **ताः** वे **धियः** बुद्धियाँ और कर्म हैं, अर्थात् बुद्धि और कर्म का अवलम्बन करके वे सब शत्रुओं और विघ्नों को पार करते हैं। हे परमात्मन् वा राजन्! **शूरः** शूरवीर **त्वम्** आप **नृषाता** संग्राम में **यशसः च** और यश की **कामे** अभिलाषा-पूर्ति में, और **गोमति व्रजे** प्रशस्त भूमि, वाणी, इन्द्रिय, दुधार गायों आदि के समूह में **नः** हमें **आ भज** भागी बनाइए, अर्थात् आप हमारी यशस्वी होने की कामना को पूर्ण कीजिए तथा हमें पृथिवी का राज्य, वाणी का बल, इन्द्रियों का बल और उत्तम जाति की गायें आदि प्राप्त कराइए ॥६॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥६॥

भावार्थ—परमात्मा की कृपा, राजा की सहायता एवं अपने बुद्धिकौशल तथा पुरुषार्थ से शत्रु-विजय, परम कीर्ति, भूमण्डल का साम्राज्य आदि सब अभीष्ट वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं ॥६॥

अथ प्रहेलिकया बहवोऽर्था वर्ण्यन्ते।

१२ ३ १२१ २१ ३१२ ३१२३ १२३ १२
३१९. **वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।**
१२ ३ १२३२ ३१२१ २१३ २ २३ १२ ३२
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्या३स्मान्निधयेव बद्धान् ॥७॥[3]
१२१३ २ ३ २ १२१३ १२१ ३१२ ३२३ १२१ १२१
वयः सुपर्णाः सु पर्णाः उप सेदुः इन्द्रम्। प्रियमेधाः प्रिय मेधाः ऋषयः नाधमानाः॥
१२१ ३२ ३ २३२ १२१ ३ २३२ ३१२ ३१२१३ २
अप ध्वान्तम् ऊर्णुहि पूर्धि चक्षुः। मुमुग्धि अस्मान् निधया नि धया इव बद्धान् ॥७॥

पदार्थः—**प्रथमः** सूर्य-सूर्यरश्मि-पक्षे। **सुपर्णाः वयः**[4] उत्कृष्टपक्षतियुक्ताः पक्षिणः इव सुपतनाः आदित्यरश्मयः **इन्द्रम्** सूर्यम् **उपसेदुः** उपसीदन्तीव। अत्र कालसामान्ये लिट्। **प्रियमेधाः** प्रिया मेधा बुद्धिप्रदानाख्यं कर्म येषां तादृशाः, यद्वा, प्रियः मेधः यज्ञः प्रकाशप्रदानरूपः येषां तथाविधाः। प्रियमेधः प्रिया अस्य मेधा। निरु० ३।१७। मेध इति यज्ञनाम। निघं० ३।१७। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। **ऋषयः** दर्शयितारः ते। ऋषिर्दर्शनात् इति निरुक्तम् २।११। **नाधमानाः** याचमानाः इव भवन्ति। नाधृ याञ्चोपतापैश्वर्याशीःषु, भ्वादिः, शानच् प्रत्ययः। यत् हे आदित्य! **निधया इव** पाशसमहेन इव। निधा पाश्या भवति यन्निधीयते। पाश्या पाशसमूहः, पाशः पाशयतेः विपाशनात्। निरु० ४।२। **बद्धान्**

१. सायणः 'च कामे' इत्यस्य स्थाने 'चकाने' इत्येकं पदं मत्वा व्याख्याति—'चकाने चकामे काम्यमाने सति' इति।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणाऽयं मन्त्रः 'कीदृशो राजा कमनीयोऽस्तीति' विषये व्याख्यातः।

३. ऋ० १०।७३।११।

४. वयः। लुप्तोपममेतत्। वय इव। शीघ्रगमनेन पक्षिसदृशा इत्यर्थः। के ते? आदित्यरश्मयः—इति वि०।

संयतान् **अस्मान्** नः **मुमुग्धि** मुञ्च । मुच्लृ मोचने, तुदादिः । लोटि 'बहुलं छन्दसि । अ० २।४।७६' इति शपः श्लौ द्वित्वे रूपम् । अस्मद्द्वारा **ध्वान्तम्** तमः, तमसः आवरणमिति यावत् **अप ऊर्णुहि** अपावृणु, **चक्षुः** प्राणिनां नेत्रम् **पूर्धि** प्रकाशेन पूरय ॥

मन्त्रमेतं यास्काचार्य एवं व्याख्यातवान्—वयो वेर्बहुवचनम् । सुपर्णाः सुपतनाः आदित्यरश्मयः । उपसेदुरिन्द्रं याचमानाः । अपोर्णुहि आध्वस्तं चक्षुः । पूर्धि पूरय, देहीति वा । मुञ्चास्मान् पाशैरिव बद्धान् इति । निरु० ४।३ ।

अथ **द्वितीयः** आचार्य-शिष्य-पक्षे । **सुपर्णाः** ज्ञानकर्मोपासनारूपशोभनपक्षयुक्ताः **वयः** उड्डयनसमर्थाः पक्षिणः इव अधीतविज्ञानप्रचारसमर्थाः शिष्याः **इन्द्रम्** विद्यैश्वर्यवन्तम् आचार्यम् **उपसेदुः** उपसीदन्ति । **प्रियमेधाः** प्रियबुद्धयः प्रिययज्ञाः वा **ऋषयः** वेदादिशास्त्रद्रष्टारः सन्तः ते **नाधमानाः** आचार्यं याचमानाः भवन्ति यत् **निधया इव बद्धान्** पाशैरिवात्र गुरुकुले निगडितान् **अस्मान्** नः **मुमुग्धि** बहिर्गन्तुं **मुञ्च**, अस्मद्द्वारा **ध्वान्तम्** जगति प्रसृतम् अविद्यान्धकारम् **अप-ऊर्णुहि** अपसारय, जनेषु च **चक्षुः** ज्ञानप्रकाशम् **पूर्धि** पूरय ॥

अथ **तृतीयः** परमात्म-जीवात्म-पक्षे । **सुपर्णाः** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-प्राण-मनो-बुद्धिरूपशोभनपक्षाः **वयः** पक्षिणः इव जीवात्मानः **इन्द्रम्** परमेश्वरम् **उपसेदुः** उपसीदन्ति । **प्रियमेधाः** प्रियप्रज्ञानाः प्रियय्ज्ञाः वा **ऋषयः** द्रष्टारः ते **नाधमानाः** परमेश्वरं याचमानाः भवन्ति, यत् अस्माकम् **ध्वान्तम्** तमोगुणावरणम् **अप-ऊर्णुहि** अपसारय, **चक्षुः** ज्ञानप्रकाशम् **पूर्धि** पूरय, **निधया इव** पाशसमूहेन इव जन्मजरामरणादिना **बद्धान्** देहे जगति वा निगडितान् **अस्मान्** नः **मुमुग्धि** मुञ्च, मुक्तिप्रदानेन अनुगृहाण ॥

अथ **चतुर्थः** राज-प्रजा-पक्षे । **सुपर्णाः** विविधसाधनरूपशुभपक्षाः **वयः** कर्मण्याः प्रजाजनाः । गत्यर्थकाद् वी धातोरिदं रूपम् । **इन्द्रम्** परमैश्वर्यं वीरं राजानम् **उपसेदुः** उपसीदन्ति । **प्रियमेधाः** प्रियबुद्धयः प्रिययज्ञाः वा **ऋषयः** दर्शनशक्तिसम्पन्नाः प्रबुद्धाः ते **नाधमानाः** राजानं याचमानाः भवन्ति, यत् **ध्वान्तम्** राष्ट्रे व्याप्तम् अविद्याभ्रष्टाचारादिरूपं तमः **अप-ऊर्णुहि** अपसारय, **चक्षुः** सद्विज्ञान-सद्विचार-सदाचारादीनां प्रकाशम् **पूर्धि** पूरय, **निधया इव** पाशसमूहेन इव पापैर्दुर्व्यसनैश्च **बद्धान्** निगडितान् **अस्मान्** प्रजाजनान् **मुमुग्धि**[1] सच्छिक्षण-दण्डादिभिरुपायैः पापेभ्यो दुर्व्यसनेभ्यश्च मोचय ॥७॥

अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । अप्रस्तुतेन सूर्य-रश्मि-वृत्तान्तेन प्रस्तुतो गुरुशिष्य-परमात्मजीवात्म-राजप्रजावृत्तान्तो व्यज्यते । 'निधयेव बद्धान्' इत्युत्प्रेक्षा ॥७॥

भावार्थः—कविरुत्प्रेक्षते यद् रात्रौ सूर्यरश्मयो जालबद्धाः खगा इव सूर्यमण्डले संयता इव भवन्ति, ते तदा सूर्यं याचन्ते इव यदस्मान् मुञ्च येन वयं भूतलं गत्वाऽन्धकारं निवार्य सर्वत्र प्रकाशं प्रसारयेम । तथैव गृहीतविद्याः शिष्या आचार्यं याचन्ते यदस्मान् गुरुकुलाद् विसृज, येन बहिर्गत्वा वयं जगति प्रसृतम् अविद्यान्धकारं निवारयेम । तथैव जीवात्मानः परमात्मानं याचन्ते यज्ज्ञानाञ्जनशलाकया ऽस्माकं चक्षुरुन्मील्य जन्मजरामरणादिभिर्निगडितानस्मान् मोक्षाधिकारिणः कुरु । तथैव प्रजाजना राजानं याचन्ते यद् राष्ट्रे व्याप्तम् अज्ञानदुराचारादिरूपं तमो विच्छिद्य राष्ट्रपतनकारिभ्यः समस्तेभ्योऽपि दुर्व्यसनेभ्योऽस्मान् मोचयेति ॥७॥

अगले मन्त्र में पहेली द्वारा बहुत-से अर्थों का वर्णन है।

पदार्थ—प्रथम सूर्य और सूर्य-किरणों के पक्ष में । **सुपर्णाः वयः** सुन्दर पंखों वाले पक्षियों के

---

१. मुमुग्धि मोचय अस्मान् पापेभ्यः—इति भ० ।

समान सुन्दर उड़ान लेने वाली सूर्य-किरणें, मानो **इन्द्रम्** सूर्य के **उपसेदुः** समीप पहुँचती हैं। **प्रियमेधाः** बुद्धि बढ़ाना अथवा प्रकाशप्रदानरूप यज्ञ करना जिन्हें प्रिय है ऐसी **ऋषयः** दर्शन में सहायक वे **नाधमानाः** मानो याचना करती हैं कि हे सूर्य **निधया इव** मानो जाल से **बद्धान्** बँधी हुई **अस्मान्** हमें आप **मुमुग्धि** छोड़ दो, हमारे द्वारा **ध्वान्तम्** अन्धकार के आवरण को **अप-ऊर्णुहि** परे हटा दो, और **चक्षुः** प्राणियों की आँख को **पूर्धि** प्रकाश से पूर्ण कर दो॥

द्वितीय आचार्य और शिष्यों के पक्ष में। **सुपर्णाः** ज्ञान, कर्म, उपासना रूप सुन्दर पंखों वाले, **वयः** उड़ने में समर्थ पक्षियों के समान पढ़ी हुई विद्या के प्रचार में समर्थ शिष्यगण **इन्द्रम्** विद्या के ऐश्वर्य से युक्त आचार्य के **उपसेदुः** समीप पहुँचते हैं। **प्रियमेधाः** मेधा और यज्ञ से प्रीति रखने वाले, **ऋषयः** वेदादि शास्त्रों के द्रष्टा होते हुए वे **नाधमानाः** आचार्य से याचना करते हैं कि **निधया इव बद्धान्** मानो जाल से बाँधकर इस गुरुकुल में रखे हुए **अस्मान्** हमें, आप **मुमुग्धि** बाहर जाने के लिए छोड़ दीजिए, **ध्वान्तम्** संसार में फैले हुए अविद्या के अन्धकार को, **अप-ऊर्णुहि** हमारे द्वारा हटा दीजिए, और लोगों में **चक्षुः** ज्ञान के प्रकाश को **पूर्धि** भर दीजिए॥

तृतीय परमात्मा और जीवात्मा के पक्ष में। **सुपर्णाः** ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि रूप सुन्दर पंखों वाले **वयः** पक्षियों के तुल्य जीवात्मा **इन्द्रम्** परमेश्वर के **उपसेदुः** पास पहुँचते हैं। **प्रियमेधाः** बुद्धि अथवा यज्ञ के प्रेमी, **ऋषयः** पदार्थों का दर्शन करने वाले वे **नाधमानाः** परमात्मा से याचना करते हैं कि हमारे **ध्वान्तम्** तमोगुण के आवरण को **अप-ऊर्णुहि** हटा दो, और हमारे अन्दर **चक्षुः** ज्ञानप्रकाश को **पूर्धि** भर दो। **निधया इव** जाल के तुल्य जन्म, जरा, मरण आदि से **बद्धान्** शरीर या संसार में बँधे हुए **अस्मान्** हमें **मुमुग्धि** मुक्त कर दो, मोक्ष प्रदान कर दो।

चतुर्थ राजा और प्रजा के पक्ष में। **सुपर्णाः** विविध साधनरूप शुभ पंखों वाले **वयः** कर्मण्य प्रजाजन **इन्द्रम्** परमैश्वर्यवान् वीर राजा के **उपसेदुः** समीप पहुँचते हैं। **प्रियमेधाः** मेधाप्रिय एवं यज्ञप्रिय, **ऋषयः** दृष्टिसम्पन्न, प्रबुद्ध वे **नाधमानाः** राजा से याचना करते हैं कि **ध्वान्तम्** राष्ट्र में व्याप्त अविद्या, भ्रष्टाचार आदि के अन्धकार को **अप-ऊर्णुहि** हटा दीजिए, हमारे अन्दर **चक्षुः** सद्विज्ञान, सद्विचार, सदाचार आदि का प्रकाश **पूर्धि** भर दीजिए। **निधया इव** मानो पापों और दुर्व्यसनों के जाल से **बद्धान्** बँधे हुए **अस्मान्** हम प्रजाजनों को **मुमुग्धि** श्रेष्ठ शिक्षा, दण्ड आदि उपायों द्वारा पापों और दुर्व्यसनों से छुड़ा दीजिए॥७॥

इस मन्त्र में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। अप्रस्तुत सूर्य तथा रश्मियों के वृत्तान्त से प्रस्तुत गुरु-शिष्य, परमात्मा-जीवात्मा और राजा-प्रजा का वृत्तान्त सूचित हो रहा है। 'निधयेव बद्धान्—मानो जाल में बँधे हुए' में उत्प्रेक्षा है॥७॥

भावार्थ—कवि उत्प्रेक्षा कर रहा है कि रात्रि में सूर्य-किरणें जाल में बँधे पक्षियों के समान मानो सूर्यमण्डल के अन्दर बद्ध हो जाती हैं, तब वे मानो सूर्य से याचना करती हैं कि हमें छोड़ दो, जिससे हम भूतल पर जाकर अँधेरा मिटाकर सर्वत्र प्रकाश फैला दें। इसी प्रकार विद्याध्ययन किये हुए शिष्य आचार्य से याचना करते हैं कि आप हमें गुरुकुल से मुक्त कर दीजिए, जिससे बाहर जाकर हम संसार में फैले हुए अविद्या के अँधेरे को मिटाएँ। जीवात्मा-गण परमात्मा से याचना करते हैं कि ज्ञान की सलाई से हमारी चक्षु को दोषमुक्त करके जन्म, जरा, मरण आदि से बँधे हुए हमें मोक्ष का अधिकारी बना दीजिए। प्रजाजन राजा से याचना करते हैं कि राष्ट्र में व्याप्त अज्ञान, दुराचार आदि

के अन्धकार को विच्छिन्न कर राष्ट्र को पतन की ओर ले जाने वाले सब दुर्व्यसनों से हमें छुड़ा दीजिए ॥७॥

अथ सूर्यदृष्टान्तेन परमात्मनो गुणान् वर्णयन् तद्दर्शनोपायमाह ।

३२०. नाके सुपर्णमुप यत् पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा ।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥८॥[1]

नाके सुपर्णम् सु पर्णम् उप यत् पतन्तम् । हृदा वेनन्तः अभ्यचक्षत
अभि अचक्षत त्वा ॥ हिरण्यपक्षम् हिरण्य पक्षम् वरुणस्य दूतम् ।
यमस्य योनौ शकुनम् भुरण्युम् ॥८॥

पदार्थः—हे इन्द्र परमात्मन् ! **नाके** आत्मलोके **उप पतन्तम्** उपगच्छन्तम्, **हिरण्यपक्षम्** ज्योतीरूपपक्षोपेतं, ज्योतिष्मन्तमित्यर्थः । ज्योतिर्हि हिरण्यम् । श० ४।३।४।२१ । **वरुणस्य** पापनिवारकस्य मनसः **दूतम्** प्रेरकम् । यो दवति प्रेरयति स दूतः । दु गतौ, भ्वादिः । 'दुतनिभ्यां दीर्घश्च । उ० ३।८८' इति क्त प्रत्ययो दीर्घश्च । **यमस्य** शरीरेन्द्रियादीनां नियन्तुः जीवात्मनः **योनौ** हृदयरूपे गृहे, उदितम् । योनिरिति गृहनामसु पठितम् । निघं० ३।४ । **शकुनम्** शक्तिशालिनम् । शक्नोतीति शकुनः । शक्लृ शक्तौ धातोः 'शकेः उन्-उन्त-उन्ति-उनयः । उ० ३।४९' इति उन प्रत्ययः । **भुरण्युम्** यो भुरण्यति सर्वान् धारयति पुष्णाति च, तादृशम् । भुरण धारणपोषणयोः इति धातोः कण्ड्वादित्वाद् यकि बाहुलकादौणादिक उ प्रत्ययः । **सुपर्णम्**[2] शुभपालनगुणोपेतम् **त्वा** त्वाम् **यत्** यदा, स्तोतारः **वेनन्तः** कामयमानाः भवन्ति । वेनतिः कान्तिकर्मा । निघं० २।६ । तदा ते **हृदा** मनसा, त्वाम् **अभ्यचक्षत** साक्षात्कुर्वन्ति । अभिपूर्वः चष्टे पश्यतिकर्मा, निघं० ३।११ । ततो लङ् । यथा **नाके** दिवि, मध्याह्नाकाशे इत्यर्थः **उपपतन्तम्** उपगच्छन्तम्, **हिरण्यपक्षम्**[3] किरणरूपसुवर्णपक्षम्, **वरुणस्य** रोगनिवारकस्य मध्यमस्थानीयस्य वायोः **दूतम्** दूतवदुपकारकम् **यमस्य** रथयन्त्रादीनां नियामकस्य वैद्युताग्नेः । अग्निर्वै यमः । श० ७।२।१।१० । **योनौ** गृहे अन्तरिक्षे इत्यर्थः । योनिरिति गृहनाम । निघं० ३।४ । **शकुनम्** पक्षिवत् विद्यमानम्, **भुरण्युम्**[4] भ्रमणशीलम् **सुपर्णम्** सुपतनम् आदित्यम्, जनाः पश्यन्ति, तद्वत् ॥८॥

अत्र श्लेषालङ्कारः, उपमाध्वनिश्च ॥८॥

भावार्थः—ये जना उत्कण्ठया परमात्मानं कामयन्ते ते तं मनसा तथैव साक्षात्कुर्वन्ति यथा चक्षुषा सूर्यं पश्यन्ति ॥८॥

---

१. ऋ० १०।१२३।६, देवता वेनः । साम० १८४६ । अथ० १८।३।६६, ऋषिः अथर्वा, देवता यमः ।
२. (सुपर्णम्) शोभनं पर्ण पालनं यस्य तम् इति ऋ० ६।७५।११ भाष्ये द० ।
३. हिरण्यपक्षम् । सर्वस्य लोकस्य हितत्वाद् रमणीयत्वाच्च हिरण्यशब्देनात्र रश्मय उच्यन्ते । ते पक्षस्थानीया यस्य स हिरण्यपक्षः, तं हिरण्यपक्षम् । हितरमणीयैः रश्मिभिर्युक्तमित्यर्थः—इति वि० ।
४. भुरण्युं भ्रमणशीलम्—इति वि० । यमस्य अग्नेः मध्यमस्थानस्य योनौ योनिस्थाने अन्तरिक्षे भुरण्युं गमनशीलम्—इति भ० । भुरण्युं भर्तारं वृष्टिदानादिना सर्वस्य जगतः पोषकम् । भुरण धारणपोषणयोः कण्ड्वादिः, अस्मादौणादिक उ प्रत्ययः—इति सा० ।

अगले मन्त्र में सूर्य के दृष्टान्त से परमात्मा के गुण वर्णन करते हुए उसके दर्शन का उपाय कहा गया है।

पदार्थ—हे इन्द्र परमात्मन् ! **नाके** आत्मलोक में **उपपतन्तम्** पहुँचते हुए, **हिरण्यपक्षम्** ज्योति-रूप पंखों वाले, **वरुणस्य दूतम्** पापनिवारक मन के प्रेरक, **यमस्य** शरीरस्थ इन्द्रियों के नियामक जीवात्मा के **योनौ** हृदयरूप गृह में उदित, **शकुनम्** शक्तिशाली, **भुरण्युम्** धारक और पोषक, **सुपर्णम्** शुभ पालन-गुणों से युक्त **त्वा** आपकी **यत्** जब, स्तोता जन **वेनन्तः** सच्ची कामना करते हैं, तब वे **हृदा** मन से **अभ्यचक्षत** आपका साक्षात्कार कर लेते हैं, जैसे **नाके** मध्याह्नाकाश **में उपपतन्तम्** जाते हुए **हिरण्यपक्षम्** किरणरूप सुनहरे पंखों वाले, **वरुणस्य दूतम्** रोगनिवारक अन्तरिक्षस्थानीय वायु के **दूतम्** दूत के समान उपकारक **यमस्य** रथ, यन्त्र आदियों को नियन्त्रित करनेवाले वैद्युत अग्नि के **योनौ** गृहरूप अन्तरिक्ष में **शकुनम्** पक्षी के समान विद्यमान, **भुरण्युम्** भ्रमणशील **सुपर्णम्** सूर्य को, लोग **अभ्यचक्षत** आँख से देखते हैं ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार और उपमाध्वनि है ॥८॥

भावार्थ—जो मनुष्य उत्कण्ठापूर्वक परमेश्वर की कामना करते हैं वे मन द्वारा उसका वैसे ही साक्षात्कार कर लेते हैं, जैसे आँख से सूर्य को देखते हैं ॥८॥

अथ सूर्यस्य परमेश्वरस्य च महत् कृत्यं वर्णयति।

३२१. **ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।**
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥९॥[1]
ब्रह्म जज्ञानम् प्रथमम् पुरस्तात्। वि सीमतः सुरुचः सु रुचः वेनः अवरिति ॥
सः बुध्न्याः उपमा उप माः अस्य विष्ठाः वि स्थाः।
सतः च योनिम् असतः अ सतः च वि वरिति ॥९॥

पदार्थः—**प्रथमः** आदित्यपक्षे। **प्रथमम्** श्रेष्ठम् **ब्रह्म**[2] महद् आदित्यलक्षणं ज्योतिः। बृहि वृद्धौ धातोः, 'बृहेर्नोऽच्च। उ० ४।१४६' इति मनिन्, नकारस्य च अकारादेशः। **पुरस्तात्** पूर्वस्यां दिशि **जज्ञानम्** जायमानं वर्तते। जनी प्रादुर्भावे दिवादिः, शानचि छान्दसः शपः श्लुः, तेन द्वित्वम्। **वेनः** कान्तिमान् आदित्यरूपः इन्द्रः। वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः। निरु० १०।३७। असौ आदित्यो वेनः, श० ७।४।१।१४। **सीमतः** सर्वतः मर्यादातो वा **सुरुचः** सुरोचनान् रश्मीन् **वि अवः** रात्रेस्तमसोऽभ्यन्तरात् विवृणोति। संहितायाम् आवः इति दीर्घत्वं छान्दसम्। **सः** असौ आदित्यः **उपमाः** सर्वेषाम् अन्तिकस्थाः। उपमे इत्यन्तिकनाम। निघं० २।१६। **अस्य** एतस्य जगतः **विष्ठाः**[3] विशेषेण स्थितिसाधिकाः **बुध्न्याः**[4]

१. य० १३।३ ऋषिः वत्सारः, देवता आदित्यः। अथ० ४।१।४ ऋषिः वेनः, देवता बृहस्पतिः, आदित्यः। अथ० ५।६।५ ऋषिः अथर्वा, देवता ब्रह्म।

२. ब्रह्मेति बृहेर्वृद्ध्यर्थस्य बिभर्तेः भरणार्थस्य वा रूपम्। परिवृद्धत्वात् सर्वस्य वा भरणाद्, ब्रह्मशब्देन आदित्यमण्डलम् उच्यते—इति वि०।

३. विष्ठाः स्थितिसाधिकाः—इति य० २३।५८ भाष्ये द०। विष्टभ्य स्थात्रीः—इति वि०। वितिष्ठन्ते प्रतिष्ठन्ते इति विष्ठाः आपः—इति भ०। विष्ठाः विशेषेण स्थापितवान्—इति सा०।

४. बुध्नम् अन्तरिक्षम्, तस्मिन् भवाः बुध्न्याः दिशः—इति वि०।

बुध्नम् अन्तरिक्षं, तत्र भवाः बुध्न्याः दिशः **विवः** स्वप्रकाशेन विवृणोति। किञ्च **सतः च** व्यक्तस्य, कार्यात्मना परिणतस्य **असतः च** अव्यक्तस्य, कारणे निलीनस्य च वस्तुजातस्य **योनिम्** गृहं, भूमण्डलमित्यर्थः। योनिरिति गृहनाम। निघं० ३।४। **विवः** विवृणोति प्रकाशयति। 'वि अवः, विवः' इत्यत्र वि पूर्वाद् वृञ् वरणे धातोर्लुङि 'मन्त्रे घसह्वरणशवृ०। अ० २।४।८०' इति च्लेर्लुक्, पक्षे छान्दसः अडभावः। लडर्थे लुङ्प्रयोगः।

अत्र यास्काचार्यः 'सीम्' इत्येतस्य निपातस्य प्रकरणे ब्रूते—सीम् इति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा। 'विसीमतः सुरुचो वेन आवः' इति च। व्यवृणोत् सर्वत आदित्यः। सुरुच आदित्यरश्मयः सुरोचनात्। अपि वा सीम् इत्येतद् अनर्थकम् उपबन्धमाददीत पञ्चमीकर्माणम्। सीम्नः सीमतः मर्यादातः। सीमा मर्यादा विसीव्यति देशाविति। निरु० १।६।

अथ **द्वितीयः** परमात्मपक्षे। **प्रथमम्** श्रेष्ठम् **ब्रह्म** जगदादिकारणं परं ब्रह्म **पुरस्ताद्** पूर्वं सृष्टयादौ **जज्ञानम्**[1] प्रकृतिगर्भाद् महदादिजगत्प्रपञ्चस्य जनकम् अभवत्। यो जनयामास तद् जज्ञानम्, णेर्लुक्। **वेनः** मेधावी स इन्द्रः परमेश्वरः। वेनः इति मेधाविनाम। निघं० ३।१५। **सीमतः** मर्यादातः व्यवस्थापूर्वकं महदादिक्रमेण **सुरुचः** सुरोचमानान् पदार्थान् **वि अवः** व्यवृणोत्, उत्पादितवान्। **सः** असौ परमेश्वरः **उपमाः** उपेत्य मान्ति धारणाकर्षणशक्तिभिः परस्परं स्थिरीकुर्वन्ति तान्, अपि च **अस्य** एतस्य **जगतः विष्ठाः** विशेषेण स्थितिनिमित्तान् **बुध्न्याः**[2] बुध्ने अन्तरिक्षे भवान् सूर्यचन्द्रपृथिवीतारकादीन् लोकान् **विवः** व्यवृणोत् प्रकाशितवानस्ति। स एव **सतः च** व्यक्तस्य भूजलाग्निपवनादेः **असतः च** अव्यक्तस्य महदहंकारपञ्चतन्मात्रादेश्च **योनिम्** कारणं प्रकृतिम् **विवः** कार्यात्मना व्यवृणोत् ॥६॥[3]

अत्र श्लेषालङ्कारः। 'सतश्च-सतश्च' इत्यावृत्तौ यमकम् ॥६॥

भावार्थः—कान्तिमान् आदित्यः पूर्वस्यां दिशि जायमानः सन् स्वकीयान् सुप्रदीप्तान् रश्मीन् दिवि भुवि च प्रसारयन् सर्वा दिशः सौरं जगच्च प्रकाशयति। कान्तिमान् मेधावी परमेश्वरश्च प्रकृतेर्मध्यात् सुरोचमानान् पदार्थान् सूर्यचन्द्रपृथिवीतारकादीन् लोकांश्चाविष्कृणोति। तस्यादित्यस्य सम्यगुपयोगः, तस्य परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनानि च सर्वैः कर्तव्यानि ॥६॥

अगले मन्त्र में सूर्य तथा परमेश्वर के महान् कार्य का वर्णन किया गया है।

पदार्थ—**प्रथम** सूर्य के पक्ष में। **प्रथमम्** श्रेष्ठ **ब्रह्म** महान् आदित्यरूप ज्योति **पुरस्तात्** पूर्व दिशा में **जज्ञानम्** प्रकट हो रही है। **वेनः** कान्तिमान् सूर्य **ने सीमतः** चारों ओर अथवा मर्यादापूर्वक **सुरुचः** सम्यक् रोचमान किरणों को **वि आवः** रात्रि के अन्धकार के अन्दर से आविर्भूत कर दिया है। **सः** वह सूर्य **उपमाः** सबके समीप स्थित **अस्य** इस जगत् की **विष्ठाः** विशेष रूप से स्थितिसाधक **बुध्न्याः** अन्तरिक्षवर्ती दिशाओं को **विवः** अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है, और **सतः च** व्यक्त अर्थात् कार्यरूप में परिणत, **असतः च** और कारण के अन्दर अव्यक्तरूप से विद्यमान पदार्थ-समूह के **योनिम्** गृहरूप भूमण्डल को **विवः** प्रकाशित करता है।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। **प्रथमम्** श्रेष्ठ **ब्रह्म** जगत् का आदिकारण ब्रह्म **पुरस्तात्** पहले,

---

१. (जज्ञानम्) सर्वस्य जनकं, विज्ञातृ—इति य० १३।३ भाष्ये द०। 'सर्वत्र जज्ञानस्य जनक एवार्थ उच्यते। तद्यथा ऋ० ३।१।४, ऋ० ६।२१।७, ऋ० ३।४४।४ द० भाष्ये' इति तत्रैव ब्रह्मदत्तजिज्ञासुसंस्करणे टिप्पणी।

२. (बुध्न्याः) बुध्ने जलसंबद्धेऽन्तरिक्षे भवाः सूर्यचन्द्रपृथिवीतारकादयो लोकाः—इति य० १३।३ भाष्ये द०।

३. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं 'किंस्वरूपं ब्रह्म जनैरुपास्यमिति' विषये व्याख्यातवान्।

सृष्टि के आदि में **जज्ञानम्** प्रकृति के गर्भ से महत् आदि जगत्प्रपञ्च का जनक हुआ। **वेनः** मेधावी उस परब्रह्म ने **सीमतः** मर्यादा से अर्थात् महदादि क्रम से व्यवस्थापूर्वक **सुरुचः** सुरोचमान पदार्थों को **वि आवः** उत्पन्न किया। **सः** उसी परब्रह्म ने **उपमाः** समीपता से धारण तथा आकर्षण की शक्तियों द्वारा एक-दूसरे को स्थिर रखने वाले, और **अस्य** इस जगत् के **विष्ठाः** विशेष रूप से स्थिति के निमित्त **बुध्न्याः** आकाशस्थ सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, तारे आदि लोकों को **विवः** प्रकाशित किया। उसी ने **सतः च** व्यक्त भूमि, जल, अग्नि, पवन आदि **असतः च** और अव्यक्त महत्, अहंकार, पंचतन्मात्रा आदि की **योनिम्** कारणभूत प्रकृति को **विवः** कार्य पदार्थों के रूप में प्रकट किया ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'सतश्च-सतश्च' की एक बार आवृत्ति में यमक है ॥९॥

भावार्थ—कान्तिमान् सूर्य पूर्व दिशा में प्रकट होता हुआ अपनी सुप्रदीप्त किरणों को आकाश और भूमि पर प्रसारित करता हुआ सब दिशाओं को तथा सौर जगत् को प्रकाशित करता है। कान्तिमान् मेधावी परमेश्वर प्रकृति के मध्य से सुरोचमान पदार्थों को और सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, तारे आदि लोकों को प्रकट करता है। उस सूर्य का भलीभाँति उपयोग और उस परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना सबको करनी चाहिए ॥९॥

अथ कीदृशाय परमात्मने के कीदृशानि स्तुतिवचांसि व्याहरेयुरित्याह।

३२२. अपूर्व्या पुरुतमान्यस्मै महे वीराय तवसे तुराय।
विरप्शिने वज्रिणे शन्तमानि वचांस्यस्मै स्थविराय तक्षुः ॥१०॥[1]

अपूर्व्या अ पूर्व्या पुरुतमानि अस्मै। महे वीराय तवसे तुराय ॥
विरप्शिने वि रप्शिने वज्रिणे शन्तमानि। वचाꣳसि
अस्मै स्थविराय स्थ विराय तक्षुः ॥१०॥

पदार्थः—**अस्मै** एतस्मै **महे** महते **वीराय** विक्रान्ताय कामादिशत्रुप्रकम्पकाय वा। वीर विक्रान्तौ, यद्वा वि-पूर्वः ईर गतौ कम्पने च। 'वीरो वीरयत्यमित्रान्, वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो, वीरयतेर्वा' इति निरुक्तम् १।७। **तवसे**[2] बलवते। तवस् इति बलनाम। निघं० २।९। **तुराय**[3] क्षिप्रकारिणे इन्द्राय परमेश्वराय, किञ्च **अस्मै**[4] एतस्मै **विरप्शिने**[5] विशेषेण स्तुत्याय, विशेषेण वेदानां प्रवक्त्रे वा। वि-पूर्वाद् रप व्यक्तायां वाचि इति धातोरिदं रूपम्। **वज्रिणे** वज्रधरायेव दुराचारिणां दण्डयित्रे, **स्थविराय** प्रवृद्धाय चिरन्तनाय पुराणपुरुषाय इन्द्राय परमेश्वराय, स्तोतारः **अपूर्व्या** अपूर्वाणि। अपूर्वशब्दात्, स्वार्थे यत्, ततो द्वितीयाबहुवचने 'शेश्छन्दसि बहुलम्। अ० ६।१।७०' इति शेर्लुक्। **पुरुतमानि** अतिशयेन बहूनि, **शन्तमानि** अतिशयेन शान्तिकराणि **वचांसि** स्तोत्राणि **तक्षुः** कुर्वन्ति, रचयन्ति, प्रयुञ्जते वा। तक्षतिः करोतिकर्मा। निरु० ४।१९। लडर्थे लिट्, ततक्षुः इति प्राप्ते द्वित्वाभावश्छान्दसः ॥१०॥

---

१. ऋ० ६।३२।१, 'वचांस्यासा स्थविराय तक्षम्' इति पाठः।
२. अन्तर्णीतमत्वर्थं च द्रष्टव्यम्। तवसे बलवते इत्यर्थः—इति वि०।
३. तुराय। तुर्वतिर्हिंसार्थः। हिंसित्रे—इति वि०। तुराय त्वरिताय—इति भ०। क्षिप्रकारिणे—इति ऋ० ६।३२।१ भाष्ये द०।
४. अस्मै इति पुनरुक्तिः अर्धर्चभेदादिति भरतः।
५. विरप्शिने विशेषेण स्तुत्याय—इति भ०, सा०। विरप्शिन्निति पदं महन्नामसु पठितम्। निघं० ३।३।

अत्र विशेषणानां साभिप्रायत्वात् परिकरालङ्कारः। 'तमान्-तमानि' 'वीराय-विराय', इत्यादौ छेकानुप्रासः। 'राय' इत्यस्य त्रिश आवृत्तौ, 'वीरा-विर-विरा' इत्यत्र च वृत्त्यनुप्रासः ॥१०॥

भावार्थः—पुराणपुरुषः परमेश्वरो महत्तमो वीरतमो बलवत्तमः क्षिप्रतमः स्तुत्यतमो दुर्जनानां दण्डयितृतमो वयोवृद्धतमो ज्ञानवृद्धतमश्चिरन्तनतमश्चास्ति। बहुभिर्वैदिकैः स्वरचितैरितरमहाकविरचितैश्च स्तोत्रैस्तस्य सपर्या सर्वैर्विधेया ॥१०॥[1]

अत्रेन्द्रस्य प्रबोधनात्, तद्गुणकर्मवर्णनात्, तद्द्वारा सृष्ट्युत्पत्त्यादिवर्णनात्, तस्य स्तुतिवर्णनाद्, इन्द्रनाम्ना सूर्यनृपत्याचार्यादीनां चापि कर्मवर्णनाद् एतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्तीति ज्ञेयम्।

इति चतुर्थे प्रपाठके प्रथमार्द्धे तृतीया दशतिः।

इति तृतीयाध्याये नवमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि कैसे परमात्मा के लिए कौन लोग कैसे स्तुतिवचनों को कहें।

पदार्थ—**अस्मै** इस **महे** महान् **वीराय** वीर अथवा कामादि शत्रुओं के प्रकम्पक, **तवसे** बलवान् **तुराय** शीघ्र कार्यों को करने वाले इन्द्र परमेश्वर के लिए और **अस्मै** इस **विरप्शिने** विशेष रूप से वेदों के प्रवक्ता तथा विशेषरूप से स्तुतियोग्य, **वज्रिणे** वज्रधारी के समान दुष्टों को दण्ड देने वाले, **स्थविराय** प्रवृद्धतम चिरन्तन पुराण पुरुष इन्द्र परमेश्वर के लिए, स्तोता जन **अपूर्व्या** अपूर्व **पुरुतमानि** बहुत सारे **शन्तमानि** अतिशय शान्तिदायक **वचांसि** स्तोत्रों को **तक्षुः** रचते या प्रयुक्त करते हैं ॥१०॥

इस मन्त्र में विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर अलंकार है। 'तमान्-तमानि', 'वीराय-विराय' आदि में छेकानुप्रास और 'राय' की तीन बार आवृत्ति में तथा 'वीर-विर-विरा' में वृत्त्यनुप्रास है ॥१०॥

भावार्थ—पुराण पुरुष परमेश्वर सबसे अधिक महान्, सबसे अधिक वीर, सबसे अधिक बली, सबसे अधिक शीघ्रकारी, सबसे अधिक स्तुतियोग्य, सबसे अधिक दुर्जनों का दण्डयिता, सबसे अधिक वयोवृद्ध, सबसे अधिक ज्ञानवृद्ध और सबसे अधिक प्राचीन है। वैदिक, स्वरचित और अन्य महाकवियों द्वारा रचित स्तोत्रों से उसकी पूजा सबको करनी चाहिए ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र को प्रबोधन देने, उसके गुण वर्णन करने, उसके द्वारा सृष्ट्युत्पत्ति आदि वर्णित करने, उसकी स्तुति करने तथा इन्द्र नाम से सूर्य, राजा, आचार्य आदि के कर्मों का वर्णन करने के कारण इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

चतुर्थ प्रपाठक में प्रथम अर्ध की तृतीय दशति समाप्त।

तृतीय अध्याय में नवम खण्ड समाप्त ॥

॥४॥ अथ 'अव द्रप्सो' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, २, ४ द्युतानः; ३ बृहदुक्थः; ५ वामदेवः; ६, ८ वसिष्ठः; ७ विश्वामित्रः; ९ गोरिवीतिः ॥ देवता—इन्द्रः। छन्दः—१-५, ७-९ त्रिष्टुप्; ६ त्रिपदा विराड् अनुष्टुप् ॥ स्वरः—१-५, ७-९ धैवतः; ६ गान्धारः ॥

अथ पापादिरूपैरसुरैराक्रान्तस्य जीवात्मनः कथमुद्धारो भवतीत्याह।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
३२३. अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
२ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नीहितिं नृमणा अधद्राः ॥१॥[2]

---

१. ऋग्वेदे दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं 'विद्वांसः किं कुर्युः' इति विषये व्याख्यातवान्।

२. ऋ० ८।९६।१३, ऋषिः तिरश्चीराङ्गिरसो द्युतानो वा मारुतः। 'अप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त' इति पाठः।

१ २१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अव द्रप्सः अंशुमतीम् अतिष्ठत् । ईयानः कृष्णः दशभिः सहस्रैः ।।
१ २१ १ २१ १ २१ १ २१ १ २१ १ २१
आवत् तम् इन्द्रः शच्या धमन्तम् । अप स्नीहितिम्
३ १ २ ३ १ २ १ ३ २
नृमणाः नृ मनाः अधत् राः ।।१।।

पदार्थः—**द्रप्सः** जलबिन्दुः, जलबिन्दुवद् अणुरूपो जीवात्मा इत्यर्थः **अंशुमतीम्**[1] अंशवः चक्षुरादीन्द्रियाणि प्राणो मनश्च तद्वतीं देहपुरीम् । प्राण एवांशुः, चक्षुरेवांशुः । मनो ह वांशुः । श० ११।५।६।२ । **अव-अतिष्ठत्** प्राप्नोति, संचितकर्मणां फलानि भोक्तुं, नूतनानि कर्माणि च कर्तुं परमात्मना प्रेरितः देहपुरीम् आगच्छतीति भावः । **कृष्णः** कृष्णवर्णसूचितः तमोगुणः **दशभिः सहस्रैः** दशसहस्रसंख्यकैः योद्धृभिः, बहुभिः सगणैः कामक्रोधलोभमोहमदमत्सरादिरिपुभिरित्यर्थः, तम् देहाधिष्ठितम् आत्मानम् **इयानः** आक्रामन् भवति । ईङ् गतौ इत्यस्माल्लिटि 'लिटः कानज् वा' अ० ३।२।१०६ इति कानचि रूपम् । ततः **धमन्तम्** विविधां गतिं हिंसां वा कुर्वाणं, बहुविधम् उच्छ्वसन्तं वा । धमतिः गतिकर्मा वधकर्मा च । निघं० २।१४, २।१९ । यद्वा ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः इति धातोः 'पाघ्राध्मा०' अ० ७।३।७८ इत्यनेन धमादेशे रूपम् । **तम्** ससैन्यं कृष्णं तमोगुणम् **इन्द्रः** जीवात्मनः सहायकः परमैश्वर्यवान् परमात्मा **शच्या** प्रज्ञया कर्मणा च । शचीति प्रज्ञानाम कर्मनाम च । निघं० ३।९, २।१ । **आवत्** प्राप्नोति । अवतेर्गत्यर्थस्य लङि रूपम् । ततः **नृमणाः** नृषु सत्पुरुषेषु मनः ध्यानं प्रेम वा यस्य तादृशः स इन्द्रः परमात्मा **स्नीहितिम्** तस्य कृष्णाख्यस्य तमोगुणस्य हिंसित्रीं शत्रुसेनाम् । स्नेहयतिः वधकर्मा । निघं० २।१९ । **अप** अपगमय्य । उपसर्गमात्रप्रयोगे योग्यक्रियाध्याहारो भवतीति वैदिकी शैली । तस्मिन्नात्मनि **राः**[2] रायः सद्गुणरूपसम्पत्तीः **अधत्** दधाति । दधातेर्लुङि, आकारस्य ह्रस्वत्वम् छान्दसम् । अस्मिन् मन्त्रे अवातिष्ठत्, आवत्, अधत् इति भूतकालप्रयोगः 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' अ० ३।४।६ इति नियमेन सार्वकालिको ज्ञेयः । यदा यदा देहधारिणं जीवात्मानं तमोगुणरूपः कृष्णासुरः आक्रामति, तदा तदा इन्द्रः परमात्मा तं तस्मादुद्धरतीत्यर्थः ।

भावार्थः—देहाधिष्ठितं जीवात्मानं कामक्रोधादयोऽनेके दानवाः पीडयितुमागच्छन्ति, येषां पराभवस्तेन स्वपुरुषार्थद्वारा परमात्मसाहाय्येन च कर्त्तव्यः, तदैव स आध्यात्मिकानि भौतिकानि चैश्वर्याणि प्राप्तुमर्हति ।।१।।

अस्मिन् मन्त्रे ऐतिहासिकमर्थमाविष्कुर्वन् सायण एवमाह—"अत्रेतिहासमाचक्षते । पुरा किल कृष्णो नामासुरो दशसहस्रसंख्यकैरसुरैः परिवृतः सन् अंशुमतीनामधेयाया नद्यास्तीरे अतिष्ठत् । तत्र तं कृष्णम् उदकमध्ये स्थितम् इन्द्रो बृहस्पतिना सहागच्छत् । आगत्य तं कृष्णं तस्यानुचरांश्च बृहस्पतिसहायो जघानेति[3] ।" तत्सर्वं वृत्तमप्रामाणिकमेव, वेदेषु लौकिकेतिहासस्यासद्भावात् । अस्येतिहासस्याध्यात्मिकम् आधिदैविकम् अधियज्ञम् अधिभूतं वा व्याख्यानं चेत् क्रियते तदा तु समञ्जसमेव, यथास्माभिः स्वव्याख्यानेऽध्यात्मदिक् प्रपञ्चिता ।

---

१. अंशुमती नाम नदी—इति वि०, भ० ।

२. अस्माभिः 'अधत् राः' इति पदपाठमनुसृत्य व्याख्यातम् । सायणस्तु 'अधद्राः' इत्यस्य स्थाने 'अपद्राः' इति मत्वा व्याचष्टे—'अपद्राः' द्रातिः कुत्सितगतिकर्मा, सर्वस्य हिंसित्रीं तस्य सेनाम् स इन्द्रः अपगमयत् अवधीदित्यर्थः । विवरणकारस्तु 'अव' इत्युपसर्गम् 'अधत्' इत्यनेन योजयन् 'अव अधत् आधत्ते, दधातेर्धारणार्थस्येदं रूपम्, अवरुद्धवानित्यर्थः' इति व्याख्यातवान् । तेन 'राः' इति पदस्य किमपि व्याख्यानं न कृतम् । भरतस्तु 'अध, द्राः' इति विच्छिद्य 'अव तदानीम् द्राः द्रातिः कुत्सितगतिकर्मा, लुङि रूपम्, 'द्राः' इति । सिप् अन्तर्गतण्यर्थः अपगमयतीत्यर्थः—इति व्याचख्यौ ।

३. भरतोऽप्याह—कृष्णनामानम् असुरं च इन्द्रः जघान, तत्प्रकारोऽत्र कीर्त्यते—इति ।

चतुर्णां वेदानाम् स्वमत्याऽऽङ्ग्लभाषायां सटिप्पणमनुवादको ग्रिफिथमहोदयस्तु टिप्पण्यामेवं लिखति यदत्र 'कृष्णः द्रप्सः' अन्धकारावृतश्चन्द्रमा वर्तते, अंशुमती चान्तरिक्षस्था काचिद् रहस्यमयी नदी। दशसहस्रसंख्यका असुराः सन्ति अन्धकारदानवाः, येषां वधमनु चन्द्रमा अन्धकारमुक्तो जायते।[1] एतत्तस्य व्याहरणम् आधिदैविकीं व्याख्यां संकेतयति।

प्रथम मन्त्र में यह विषय है कि पापादि रूप असुरों से आक्रान्त जीवात्मा का कैसे उद्धार होता है।

पदार्थ—**द्रप्सः** जल की बूँद के समान अणुरूप जीवात्मा **अंशुमतीम्** चक्षु आदि इन्द्रिय, प्राण और मन से युक्त देहपुरी में **अव-अतिष्ठत्** स्थित होता है, अर्थात् संचित कर्मों के फल भोगने के लिए और नवीन कर्म करने के लिए परमात्मा से प्रेरित होकर देहपुरी में आता है। **कृष्णः** काला तमोगुण **दशभिः सहस्रैः** दस हजार योद्धाओं के साथ अर्थात् अपने-अपने गणों सहित अनेकों काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि रिपुओं के साथ **इयानः** उस आत्मा पर आक्रमण कर देता है। तब **धमन्तम्** तरह-तरह की पैंतरे-बाजी करते हुए अथवा साँस फेंकते हुए **तम्** सैन्यसहित उस काले तमोगुण पर **इन्द्रः** जीवात्मा का सहायक परमैश्वर्यवान् परमात्मा **शच्या** उत्कृष्ट ज्ञान वा कर्म के साथ **आवत्** झपटता है। तदनन्तर **नृमणाः** सज्जनों पर ध्यान व प्रेम रखने वाला वह परमात्मा **स्नीहितिम्** तमोगुण की उस हिंसक सेना को **अप** भगाकर, आत्मा में **राः** सद्गुणरूप सम्पत्तियों को **अधत्** आधान कर देता है। अभिप्राय यह है कि जब-जब देहधारी जीवात्मा पर तमोगुणरूप कृष्णासुर आक्रमण करता है, तब-तब इन्द्र परमात्मा उसका उससे उद्धार कर देता है ॥१॥

भावार्थ—देह में स्थित जीवात्मा को काम, क्रोध आदि अनेक दानव पीड़ित करना चाहते हैं, जिनका पराजय उसे अपने पुरुषार्थ द्वारा और परमात्मा की सहायता से करना चाहिए। तभी वह आध्यात्मिक और भौतिक ऐश्वर्यों को प्राप्त कर सकता है ॥१॥

इस मन्त्र पर सायण इस प्रकार ऐतिहासिक अर्थ लिखते हैं—"पहले कभी कृष्ण नामक असुर दस हजार असुरों के साथ अंशुमती नाम की नदी के किनारे ठहरा हुआ था। वहाँ जंगल के मध्य में स्थित उस कृष्णासुर के पास इन्द्र बृहस्पति के साथ पहुँचा। आकर उसने उस कृष्णासुर को और उसके अनुचरों को बृहस्पति की सहायता से मार डाला था।" यह सब वृत्तान्त अप्रामाणिक ही है, क्योंकि वेदों में लौकिक इतिहास नहीं है। इस इतिहास की यदि आध्यात्मिक, आधिदैविक, अधियज्ञ या अधिभूत व्याख्या की जाए तो संगति लग सकती है, जैसे हमने अपनी व्याख्या में आध्यात्मिक अर्थ की दिशा प्रपंचित की है।

अपनी मति से चारों वेदों का अंग्रेजी भाषा में टिप्पणीसहित अनुवाद करने वाले ग्रिफिथ महोदय ने इस मन्त्र पर टिप्पणी में लिखा है कि यहाँ 'कृष्ण द्रप्स' अन्धकारावृत चन्द्रमा है, और अंशुमती अन्तरिक्ष की कोई रहस्यमय नदी है, दस हजार असुर अन्धकार-रूप दानव हैं, जिनके वध के पश्चात् चन्द्रमा अन्धकार से मुक्त हो जाता है। ग्रिफिथ का यह लेख आधिदैविक व्याख्या की ओर एक संकेत है।

---

१. The Black Drop : the darkened Moon. Ansumatic : A mystical river of the air into which the Moon dips to recover its vanished light. Ten thousand : probably, demons of darkness; the numbers are without a substantive.—Griffith.

अथेन्द्रो वृत्रस्य सेनाः कथं जयेदित्याह ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २१
३२४. वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि ॥२॥[1]
३ १ २ ३ १ २ १ २ १ १ २ १ ३ २ ३ २ १ २ १
वृत्रस्य त्वा श्वसथात् ईषमाणाः । विश्वे देवाः अजहुः ये सखायः
३ १ २ ३ २ ३ २ ३
स खायः ॥ मरुद्भिः इन्द्र सख्यम् स ख्यम् ते अस्तु ।
१ २ १ १ २ १ २ १ ३ २
अथ इमाः विश्वाः पृतनाः जयासि ॥२॥

पदार्थः—**प्रथमो**ऽध्यात्मपरः । देवासुरसंग्रामे स्वकीयमात्मानं विश्वैः परित्यक्तसख्यमेकाकिनं दृष्ट्वा ब्रूते—**वृत्रस्य** तमोगुणप्रधानतया जनितस्य कामक्रोधादिरूपस्य वृत्रासुरस्य **श्वसथात्** प्रश्वासात् फुंकारात्; प्राबल्यादित्यर्थः । श्वस प्राणने इति धातोर्बाहुलकादौणादिकः अथप्रत्ययः । **ईषमाणाः** भयात् पलायमानाः । ईषते भीतः पलायते । निरु० ४।२ । **विश्वेदेवाः**[2] प्रकाशकानि सर्वाणि चक्षुःश्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि **त्वा** त्वां जीवात्मानम् **अजहुः** अत्यजन्, **ये** यानि इन्द्रियाणि, पूर्वं तव **सखायः** मित्रभूतानि आसन् । हे **इन्द्र** जीवात्मन् ! **मरुद्भिः** प्राणैः **ते** तव **सख्यम्** सखित्वम् **अस्तु** भवतु । **अथ** मरुद्भिः सख्यस्थापनानन्तरम्, त्वम् **इमाः** एताः पुरो दृश्यमानाः **विश्वाः** समस्ताः **पृतनाः** कामक्रोधादिरिपूणां सेनाः **जयासि** जय । जि जये धातोर्लेटि रूपम् ॥

अत्र वृत्रवधाख्याने ऐतरेयब्राह्मणमाह—तं हनिष्यन्त आद्रवन् । सोऽवेन्मां वै हनिष्यन्त आद्रवन्ति । हन्त इमान् भीषया इति । तानभि प्राश्वसीत् । तस्य श्वसथादीषमाणा विश्वेदेवा अद्रवन् । मरुतो हैनं नाजहुः । प्रहर भगवो जहि वीरयस्व इत्येवैनमेतां वाचं वदन्त उपातिष्ठन्त । तदेतद् ऋषिः पश्यन्नभ्यनूवाच वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा इति (ऐ० ब्रा० ३।२०) ।

एतन्मन्त्रार्थं छान्दोग्योपनिषत्कथामपि विवृणोति । तथाहि—"देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे, उभये प्राजापत्याः । तद्ध देवा उद्गीथमाजहुरुः अनेन एनान् अभिभविष्याम इति । ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासञ्चक्रिरे । ते हासुराः पाप्मना विविधुः, तस्मात् तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च, पाप्मना ह्येष विद्धः । अथ ह वाचमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । तां हासुराः पाप्मना विविधुः । तस्मात् तया उभयं वदति सत्यं चानृतं च । पाप्मना ह्येषा विद्धा । अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । तद्धासुराः पाप्मना विविधुः । तस्मात् तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च । पाप्मना ह्येतद् विद्धम् । अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । तद्धासुराः पाप्मना विविधुः । तस्मात् तेनोभयं शृणोति, श्रवणीयं चाश्रवणीयं च । पाप्मना ह्येतद् विद्धम् । अथ ह मन उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । तद्धासुराः पाप्मना विविधुः । तस्मात् तेनोभयं संकल्पयते, संकल्पनीयं चासंकल्पनीयं च । पाप्मना ह्येतद् विद्धम् । अथ य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । तं ह्यसुरा ऋत्वा विदध्वंसुः यथाश्मानमाखणम् ऋत्वा विध्वंसेत् । एवं यथाश्मानमाखणम् ऋत्वा विध्वंसते, एवं हैव स विध्वंसेत य एवंविदि पापं कामयते, यश्चैनमभिदासति । स एषोऽश्माखणः । छा० उ० १।२।१-८ इति [illegible]

१. ऋ० ८।२६।३ ऋषि [illegible]

२. 'नैनदेवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् । य० ४०।४ अत्र देवशब्देन मनः षष्ठानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि गृह्यन्ते । तेषां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सत्यासत्ययोश्चार्थानां द्योतकत्वात् तान्यपि देवाः' इति ऋ० भा० भूमिकायां वेदविषयविचारे दयानन्दः ।

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रपरः। संग्रामे प्रजाजनैः परित्यक्तम् एकाकिनं राजानं राजमन्त्री ब्रूते—**वृत्रस्य** अत्याचारिणः शत्रोः **श्वसथात्** विनाशकात् शस्त्रास्त्रसमूहात्। श्वसितिः हन्तिकर्मा। निघं० २।१९। **ईषमाणाः** भयात् पलायमानाः **विश्वे देवाः** सर्वे प्रजाजनाः **त्वा** त्वां राजानम् **अजहुः** पर्यत्याक्षुः, **ये** प्रजाजनाः पूर्वं युद्धेऽनुपस्थिते **सखायः** तव मित्रभूताः अभूवन्। हे **इन्द्र** राजन्! **मरुद्भिः** वीरैः क्षत्रियसैनिकैः **ते** तव **सख्यम्** सखित्वम् **अस्तु** भवतु, **अथ** तदनन्तरम्, त्वम् **इमाः** पुरतः उपस्थिताः **विश्वाः** सर्वाः **पृतनाः** सङ्ग्रामकारिणीः शत्रुसेनाः **जयासि** विजयस्व ॥२॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—उपस्थिते सङ्ग्रामकाले सङ्ग्रामकुशलाः शूराः क्षत्रिया योद्धार एव रिपुदलेन संघर्षं कर्तुं पारयन्ति। तथैवाभ्यन्तरे देवासुरसंग्रामे प्राणा जीवात्मनः सहायका भवन्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में यह विषय वर्णित है कि इन्द्र वृत्र की सेनाओं को कैसे जीते।

पदार्थ—प्रथम जीवात्मा के पक्ष में। आन्तरिक देवासुरसंग्राम में अपने आत्मा को, जिसका साथ सबने छोड़ दिया है, अकेला देखकर कोई कह रहा है—**वृत्रस्य** तमोगुण के प्रधान हो जाने से उत्पन्न कामक्रोधादिरूप वृत्रासुर की **श्वसथात्** फुंकार से **ईषमाणाः** भयभीत हो पलायन करती हुई **विश्वे देवाः** सब चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों ने **त्वा** तुझ आत्मा को **अजहुः** अकेला छोड़ दिया है, **ये** जो इन्द्रियाँ **सखायः** पहले तेरी मित्र बनी हुई थीं। हे **इन्द्र** जीवात्मन् **मरुद्भिः** प्राणों के साथ **ते** तेरी **सख्यम्** मित्रता **अस्तु** हो, **अथ** उसके अनन्तर, तू **इमाः** इन **विश्वाः** सब **पृतनाः** काम-क्रोध आदि शत्रुओं की सेनाओं को **जय** जीत ले ॥

इस प्रसंग में वृत्रवध के आख्यान में ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि—इन्द्र और उसके साथी वृत्र को मारने की इच्छा से दौड़े। उसने जान लिया कि ये मुझे मारने के लिए दौड़ रहे हैं। उसने सोचा, इन्हें डरा दूँ। यह सोचकर उसने उनकी ओर साँस छोड़ी, फुंकार मारी। उसकी साँस या फुंकार से भयभीत हो सब देव भाग खड़े हुए। केवल मरुतों ने इन्द्र को नहीं छोड़ा। 'भगवन् प्रहार करो, मारो, वीरता दिखाओ'—इस प्रकार वाणी बोलते हुए वे उसके साथ उपस्थित रहे। ऋषि इसी अर्थ का दर्शन करता हुआ कह रहा है—'वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणाः' आदि। ऐ० ब्रा० ३।२०। यह आख्यान उक्त अर्थ को ही स्पष्ट करने के लिए है।

छान्दोग्य उपनिषद् की एक कथा भी इस मन्त्र के भाव को स्पष्ट करती है। वहाँ लिखा है—"देव और असुरों में लड़ाई ठन गयी, दोनों प्रजापति के पुत्र थे। देव उद्गीथ को ले आये कि इससे इन्हें परास्त कर देंगे। उन्होंने नासिक्य (नासिका से आने-जाने वाले) प्राण को उद्गीथरूप में उपासा। असुरों ने उसे पाप से बींध दिया। इसी कारण नासिक्य प्राण से सुगन्धित और दुर्गन्धित दोनों प्रकार के पदार्थ सूँघता है, यतः यह पाप से बिंध चुका है। इसके बाद उन्होंने वाणी को उद्गीथरूप में उपासा। उसे भी असुरों ने पाप से बींध दिया। इसी कारण वाणी से सत्य और असत्य दोनों बोलता है, यतः यह पाप से बिंध चुकी है। इसके बाद उन्होंने आँख को उद्गीथरूप में उपासा। उसे भी असुरों ने पाप से बींध दिया। इसी कारण आँख से दर्शनीय और अदर्शनीय दोनों को देखता है, यतः यह पाप से बिंध चुकी है। फिर उन्होंने श्रोत्र को उद्गीथरूप में उपासा। उसे भी असुरों ने पाप से बींध दिया। इसी कारण श्रोत्र से श्रवणीय और अश्रवणीय दोनों सुनता है, यतः यह पाप से बिंध चुका है। तत्पश्चात् उन्होंने मन को उद्गीथरूप में उपासा। उसे भी असुरों ने पाप से बींध दिया। इसी कारण मन से उचित और अनुचित दोनों प्रकार के संकल्प करता है, यतः यह पाप से बिंध चुका है। तदनन्तर उन्होंने मुख्य

प्राण को उद्गीथरूप में उपासा। असुर जब उसे भी ध्वींधने के लिए झपटे तो वे उससे टकराकर ऐसे विध्वस्त हो गये, जैसे मिट्टी का ढेला पत्थर से टकराकर चूर-चूर हो जाता है। इस प्रकार जो मुख्य प्राण से साहचर्य कर लेता है उसके सब शत्रु ऐसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे मिट्टी का ढेला पत्थर से टकराकर चूर हो जाता है। इस कथा से स्पष्ट है कि चक्षु-श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ आत्मा की सच्ची सहायक नहीं हैं, मुख्य प्राण की ही सहायता से वह काम, क्रोधादि असुरों को परास्त करने में सफल हो सकता है।

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। संग्रामों में जिसका प्रजाजनों ने साथ छोड़ दिया है, ऐसे अकेले पड़े हुए राजा को राजमन्त्री कह रहा है—**वृत्रस्य** अत्याचारी शत्रु के **श्वसथात्** विनाशक शस्त्रास्त्र-समूह से **ईषमाणाः** भयभीत हो भागते हुए **विश्वे देवाः** सब प्रजाजनों ने **त्वा** आपको **अजहुः** छोड़ दिया है, **ये** जो प्रजाजन, पहले जब युद्ध उपस्थित नहीं हुआ था तब **सखायः** आपके मित्र बने हुए थे। हे **इन्द्र** राजन्! **मरुद्भिः** वीर क्षत्रिय योद्धाओं के साथ **ते** आपकी **सख्यम्** मित्रता **अस्तु** हो, **अथ** उसके पश्चात्, आप **इमाः** इन **विश्वाः** सब **पृतनाः** युद्ध करने वाली शत्रु-सेनाओं को **जयासि** जीत लो ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है॥

भावार्थ—युद्ध का समय उपस्थित होने पर युद्ध में निपुण शूरवीर क्षत्रिय योद्धा ही रिपुदल से मुठभेड़ कर सकते हैं। इसी प्रकार आन्तरिक देवासुर-संग्राम में प्राण आत्मा के सहायक बनते हैं॥२॥

अथ जन्मधारिणां मृत्युर्ध्रुव इत्याह।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
३२५. विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥३॥[1]
३ २ ३ २ ३ २ १ २ १ ३ २ १ २ १ ३ २
विधुम् वि धुम् दद्राणम् समने सम् अने बहूनाम्। युवानम् सन्तम् पलितः
३ १ २ ३ १ २ १ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३
जगार॥ देवस्य पश्य काव्यम् महित्वा। अद्य अ द्य ममार सः ह्यः सम् आन ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमः** चन्द्रसूर्यपरः। **समने** तमोभिः सह संग्रामे। समनम् इति संग्राम नाम। निघ० २।१७। समनं समननाद् वा संमाननाद् वा। निरु० ७।१७। **बहूनाम्** अनेकेषां तमोरूपाणाम् शत्रूणाम् **दद्राणम्** विदारकम्। द विदारणे धातोः लिटः कानच्। यद्वा **बहूनाम्** अनेकेषां नक्षत्राणाम् **समने** समूहे स्थितम् **दद्राणम्** पृथिवीं परितः स्वधुरि च भ्रमन्तम् **विधुम्** चन्द्रमसम् **युवानं सन्तम्** तरुणमपि सन्तम्, पूर्णिमायां पूर्णप्रकाशयुक्तं जायमानम् अपि **पलितः** वृद्धः पलितकिरणकेशः सूर्यः **जगार** निगीर्णवान् अस्ति, पूर्णिमायां व्यतीतायां प्रतिपत्तिथित आरभ्य शनैः शनैरनुदिनमेकैकां कलां निगिरन्नमावस्यायां पूर्णतो निगीर्णवानिति भावः। ग निगरणे, लडर्थे लिट्। **देवस्य** क्रीडाकर्तुः इन्द्रस्य परमेश्वरस्य। दीव्यति क्रीडतीति देवः। दिवु क्रीडाद्यर्थः। **महित्वा** महत् अत्र महद्वाचिनो महि शब्दात् स्वार्थे त्व प्रत्ययः। ततः 'सुपां सुलुक्०' इति द्वितीयैकवचनस्य आकारादेशः। **काव्यम्** जगद्रूपं दृश्यकाव्यम् **पश्य** निभालय, यः **ह्यः** गतदिवसे **समान** सम्यक् प्राणिति स्म, **सः** असौ **अद्य** अस्मिन् दिने। संहितायां निपातत्वाद् दीर्घः। **ममार** मृतः शेते[2]॥

१. ऋ० १०।५५।५। साम० १७८२। अथ० ९।१०।९, ऋषिः ब्रह्मा, देवता गौः, विराट्, अध्यात्मम्, 'समने बहूनां' इत्यत्र 'सलिलस्य पृष्ठे' इति पाठः।

२. विधुम् वृष्टिप्रदानादिना उपकरणेन सर्वजगतः धारयितारम् इन्द्रम् दद्राणं दारयितारम्, समने संग्रामे, बहूनां शत्रूणाम्, युवानं सन्तं पलितः वृद्धः अहं जगार, ग स्तुतौ इत्यस्य उत्तमपुरुषैकवचनमिदम्, स्तौमीत्यर्थः—इति वि०। विधुं विधातारं कर्मणाम्। दद्राणं द्रावकं बहूनां शत्रूणाम्, समने संग्रामे, युवानं सन्तं पलितः पलितं जरा, जगार गिरति

चन्द्रमा हि सूर्यप्रकाशेन प्रकाशते। पृथिवीं परितश्चन्द्रस्य परिभ्रमणाद्धेतोस्तस्य यावान् भागः पृथिव्यन्तर्हितस्तावति सूर्यस्य प्रकाशो न निपतति। अतः सोऽप्रकाशित एव तिष्ठति। अमावस्यायां चन्द्र-सूर्ययोर्मध्ये पृथिव्यागमनात् सूर्यरश्मयश्चन्द्रमसं सर्वथा न स्पृशन्तीति चन्द्रस्तस्यां रात्रौ सर्वथा न दृश्यते। तदेव वेदकाव्यस्य कविरेवं वर्णयति यत्सूर्यश्चन्द्रमसं निरितीति।

अथ **द्वितीयो**ऽध्यात्मपरः। **समने** सम्यग् अनिति प्राणिति इति समनं शरीरं तस्मिन् **बहूनाम्** अनेकेषां ज्ञानेन्द्रियाणाम् **दद्राणम्** स्वेषु स्वेषु विषयेषु प्रवर्तकम्। द्रातिः गतिकर्मा। निघ० २।१४। **विधुम्** ज्ञानसाधनं मनः। विदधाति ज्ञानमिति विधुश्चन्द्रः। चन्द्रमा मनः ऐ० आ० २।१।५ इति प्रामाण्यात्। **युवानं सन्तम्** जाग्रदवस्थायां तरुणवत् पूर्णशक्तिमन्तमपि वर्तमानम् **पलितः** अनादित्वाद् वृद्धः आत्मा **जगार** निगिरति रात्रौ सुषुप्त्यवस्थायाम्, सुषुप्तौ सर्वस्यापि मनोव्यापारविजृम्भणस्य शान्तत्वात्। उक्तं च प्रश्नोपनिषदि—स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते' इति। ४।७। **देवस्य** प्रकाशकस्य इन्द्रस्य जीवात्मनः **महित्वा** महत् **काव्यम्** जननजीवनमरणाद्यात्मकम् **पश्य** अवलोकय। **अद्य** अस्मिन् दिने, यः **ममार** मृतोऽस्ति **सः** असौ **ह्यः** पूर्वेद्युः **समान** प्राणिति स्म। सर्व-मिदं जीवात्मन एव क्रीडाविलसितम्। एवमेवाग्रेऽपि जीवात्मा पुनर्जन्म प्राप्य सदेहः सन् देहेन प्राणिष्यति मरिष्यति च ॥३॥

ऋचमिमां यास्काचार्य एवं व्याख्यातवान्—विधुं विधमनशीलं दद्राणं दमनशीलं युवानं चन्द्रमसं पलित आदित्यो जगार गिरति, स ह्यो म्रियते, स दिवा समुदितेत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्—विधुं विध-मनशीलं दद्राणं दमनशीलं युवानम् महान्तम् पलित आत्मा गिरति रात्रौ म्रियते रात्रिः समुदितेत्यात्म-गतिमाचष्टे। निरु० १४।१८।

अत्र 'अद्या ममार स ह्यः समान' इति सामान्यस्य विशेषेण विधुनिगरणेन समर्थनादर्थान्तर-न्यासोऽलंकारः। 'युवानं सन्तं पलितो जगार' इति विरूपसंघटनारूपो विषमालंकारः।[1]

भावार्थः—जगत्यस्मिन् शक्तिमतामपि मृत्युर्निश्चित इति मत्वा सर्वैर्धर्मकर्मसु मनो निवश-नीयम् ॥३॥

अगले मन्त्र में यह बताया गया है कि जन्मधारियों की मृत्यु निश्चित है।

पदार्थ—प्रथम चन्द्र-सूर्य के पक्ष में। **समने** अन्धकार के साथ युद्ध में **बहूनाम्** बहुत से अन्धकार-रूप शत्रुओं के **दद्राणम्** विदारणकर्त्ता **विधुम्** चन्द्रमा को **युवानं सन्तम्** युवक होते हुए अर्थात् पूर्णिमा में पूर्ण प्रकाशमान होते हुए को भी **पलितः** बूढ़े, पके हुए किरणरूप केशों वाले सूर्य ने **जगार** निगल लिया है, अर्थात् पूर्णिमा के बीत जाने पर प्रतिपदा तिथि से आरम्भ करके धीरे-धीरे एक-एक कला को निगलते-निगलते अमावस्या को पूर्ण रूप से निगल लिया है। **देवस्य** क्रीडा करने वाले परमेश्वर के **महित्वा** महान् **काव्यम्** जगत्-रूप दृश्य काव्य को **पश्य** देखो। इसमें जो **ह्यः** कल **समान** प्राण धारण किए हुए था, जीवित था, **सः** वह **अद्य** आज **ममार** मर जाता है।

ग्रसति। अपर आह—विधुं चन्द्रमसं दद्राणं द्रावकं गच्छन्तं समने समूहे बहूनां स्थितं तं युवानं पूर्णं सन्तं पलितो वृद्धो राहुः जगार ग्रसति—इति भ०। विधुं विधातारं सर्वस्य युद्धादेः कर्तारं, विपूर्वो दधातिः करोत्यर्थे, तथा समने, अननम् अनः प्राणनं सम्यगननोपेते संग्रामे, बहूनां शत्रूणां, दद्राणं द्रावकम् ईदृक्सामर्थ्योपेतमपि युवानं सन्तम् पलितो जगार निगिरति इन्द्रकृपया। ··· यो जरां प्राप्तोऽद्य ममार म्रियते स ह्यः परेद्युः समानः सम्यग् जीवति पुनर्जन्मान्तरे प्रादुर्भव-तीत्यर्थः—इति सा०।

१. विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम्। सा० द० १०।७० इति तल्लक्षणात्।

चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है। पृथिवी के चारों ओर चन्द्रमा के परिभ्रमण करने के कारण उसका जितना भाग पृथिवी की ओट में आ जाता है उतने पर सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता, अतः वह अप्रकाशित ही रहता है। अमावस्या को चन्द्रमा और सूर्य के बीच में पृथिवी के आ जाने से सूर्य की किरणें चन्द्रमा पर बिल्कुल नहीं पड़ती हैं, इस कारण उस रात चन्द्रमा बिल्कुल दिखाई नहीं देता। उसी को यहाँ वेदकाव्य के कवि ने इस रूप में वर्णित किया है कि सूर्य चन्द्रमा को निगल लेता है।

द्वितीय अध्यात्म-पक्ष में। **समने** प्राणवान् शरीर में **बहूनाम्** अनेक ज्ञानेन्द्रियों को **दद्राणम्** अपने-अपने विषयों में प्रेरित करने वाले **विधुम्** ज्ञान-साधन मन को **युवानं सन्तम्** जाग्रदवस्था में युवा के समान पूर्णशक्तिमान् होते हुए को भी **पलितः** अनादि होने से बूढ़ा आत्मा **जगार** सुषुप्ति अवस्था में निगल लेता है, क्योंकि सुषुप्ति में मन के सब व्यापार शान्त हो जाते हैं। **देवस्य** प्रकाशक आत्मा के **महित्वा** महान् **काव्यम्** जनन, जीवन, मरण आदि-रूप काव्य को **पश्य** देखो। जो **अद्य** आज **ममार** मरा पड़ा है, **सः** वह **ह्यः** कल **समान** प्राण धारण कर रहा था। यह सब आत्मा के ही आवागमन का खेल है। इसी प्रकार आगे भी आत्मा पुनर्जन्म प्राप्त करके देहधारी होकर देह की दृष्टि से जीवित भी होगा, मरेगा भी ॥३॥

इस मन्त्र में 'अद्य ममार स ह्यः समान' इस सामान्य का विधु-निगरणरूप विशेष अर्थ द्वारा समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है। 'युवक को बूढ़े ने निगल लिया' इसमें विरूपसंघटनारूप विषमालंकार है ॥३॥

भावार्थ—इस संसार में शक्तिशालियों की भी मृत्यु निश्चित है, यह मानकर सबको धर्म-कर्मों में मन लगाना चाहिए ॥३॥

अथ परमात्मनो महान्ति कर्माणि वर्ण्यन्ते।

३२६. त्वं ह त्यत् सप्तभ्यो जायमानोऽशत्रुभ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र।
गूढे द्यावापृथिवी अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रणं धाः ॥४॥[1]

त्वम् ह त्यत् सप्तभ्यः जायमानः। अशत्रुभ्यः अ शत्रुभ्यः अभवः
शत्रुः इन्द्र॥ गूढेइति द्यावा पृथिवीइति अनु अविन्दः।
विभुमद्भ्यः वि भुमद्भ्यः भुवनेभ्यः रणम् धाः ॥४॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** शूर परमात्मन्! **त्वम् ह** त्वं खलु **त्यत्** तत्, अग्रे प्रोच्यमानं महत् कर्म कृतवानिति शेषः। किं तत् कर्म इत्युच्यते। **जायमानः** उपासकस्य हृदये प्रकटीभवन् त्वम् **अशत्रुभ्यः** न विद्यते त्वद्भिन्नः कोऽपि शत्रुः शातयिता येषां तेभ्यः **सप्तभ्यः** कामक्रोधलोभमोहमदमत्सरदुर्वचनरूपेभ्यः सप्तसंख्यकेभ्यः[2] असुरेभ्यः, तान् हन्तुमित्यर्थः, तेषाम् **शत्रुः** रिपुः **अभवः** अजायथाः। किं च, त्वमेव **गूढे** कारणावस्थायां निलीने **द्यावापृथिवी** द्युलोकं पृथिवीलोकं च **अन्वविन्दः** कार्यावस्थायाम् अलभथाः। एवम् **विभुमद्भ्यः भुवनेभ्यः** वैभवयुक्तानि भुवनानि जनयितुमित्यर्थः 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' अ० २।३।१४ इति चतुर्थी। **रणं** सङ्ग्रामं **धाः** कृतवानसि। यथा संग्रामे शौर्यं प्रयुज्यते तथैव शौर्यं प्रयुज्य त्वं

१. ऋ० ८।९६।१६, अथ० २०।१३७।१०, उभयत्र ऋषिः तिरश्चीर्द्युतान आङ्गिरसो वा।
२. इन्द्रेण क्रियमाणः सप्तासुराणां वधः ऋग्वेदे एवं प्रोक्तः—उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्। सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥—ऋ० ७।१०४।२२, समिन्द्र गर्दभं मृण नुवन्तं पापयामुया ॥—ऋ० १।२९।५ इति।

प्रकृतेर्महत्तत्त्वं, महतोऽहङ्कारम्, अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि मनःसहितानि दशेन्द्रियाणि च, पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि, पञ्चभूतेभ्यश्च द्यावापृथिव्यादीनि लोकलोकान्तराणि प्रजाश्च जनयामासिथेति विज्ञेयम्। उत्तरोत्तरं सृष्ट्यर्थं महदाद्युत्पादयितुं प्रकृत्यादौ परमात्मद्वारा यो विक्षोभः क्रियते स एवात्र रणसंज्ञायाऽभिहितः ॥४॥

भावार्थः—परमात्मैव कामक्रोधादीन् अन्तःशत्रून् हिनस्ति, तेनैव प्रकृतेर्गर्भान्महदादिक्रमेण विविधवैचित्र्ययुक्ता सूर्यनक्षत्रग्रहोपग्रहादिलोकलोकान्तरविभक्ता, स्वेदजाण्डजोद्भिज्जजरायुजजीवजन्तुवृक्षवनस्पत्यादिसमृद्धा गिरिनिर्झरसरित्सरोवरसागराद्यलंकृता सृष्टिजनितेति तद्गौरवं मुक्तकण्ठेनास्माभिर्गेयम् ॥४॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के महान् कर्मों का वर्णन किया गया है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** शूरवीर परमात्मन्! **त्वं ह** आप ही **त्यत्** उस, आगे कहे जाने वाले महान् कर्म को करते हो। किस कर्म को, यह बताते हैं। **जायमानः** उपासक के हृदय में प्रकट होते हुए आप **अशत्रुभ्यः** जिनका आपके अतिरिक्त अन्य कोई विनाशक नहीं है ऐसे **सप्तभ्यः** काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर तथा दुर्भाषण इन सात राक्षसों को मारने के लिए, उनके **शत्रुः** शत्रु **अभवः** होते हो। आप ही **गूढे** कारणभूत पंचभूतों के अन्दर छिपे हुए **द्यावापृथिवी** द्युलोक और पृथिवीलोक को **अन्वविन्दः** कार्यावस्था में लाते हो। इस प्रकार **विभुमद्भ्यः भुवनेभ्यः** वैभवयुक्त लोक-लोकान्तरों को पैदा करने के लिए, आप **रणम्** संग्राम **धाः** करते हो। अभिप्राय यह है कि जैसे संग्रामों में शूरता का प्रयोग किया जाता है, वैसे ही शूरता का प्रयोग करके आपने प्रकृति से महत् तत्त्व, महत् से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्रा तथा मन सहित दस इन्द्रियों, पंचतन्मात्राओं से पंचभूत और पंचभूतों से द्यावापृथिवी आदि लोकलोकान्तरों को और प्रजाओं को उत्पन्न किया। उत्तरोत्तर सृष्टि के लिए प्रकृति आदि में जो विक्षोभ उत्पन्न किया जाता है उसी को यहाँ रण की संज्ञा दी है ॥४॥

भावार्थ—परमात्मा ही काम, क्रोध आदि अन्तःशत्रुओं को नष्ट करता है। उसी ने प्रकृति के गर्भ से महत् आदि के क्रम से तरह-तरह की विचित्रताओं से युक्त सूर्य, नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह आदि लोकलोकान्तरों में विभक्त, स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुज जीव-जन्तु, वृक्ष-वनस्पति आदि से समृद्ध और पहाड़, झरने, नदी, तालाब, सागर आदि से अलंकृत सृष्टि उत्पन्न की है। इस कारण उसका गौरव-गान हमें मुक्त कण्ठ से करना चाहिए ॥४॥

अथ कीदृशं परमात्मानमहं कमिव स्तौमीत्याह।

३२७. मेडिं न त्वा वज्रिणं भृष्टिमन्तं पुरुधस्मानं वृषभं स्थिरप्स्नुम्।
करोष्यर्यस्तरुषीर्दुवस्युरिन्द्र द्युक्षं वृत्रहणं गृणीषे ॥५॥

मेडिम् न त्वा वज्रिणम् भृष्टिमन्तम्। पुरुधस्मानम् पुरु धस्मानम् वृषभम्
स्थिरप्स्नुम् स्थिर प्स्नुम्॥ करोषि अर्यः तरुषीः दुवस्युः। इन्द्र
द्युक्षम् द्यु क्षम् वृत्रहणम् वृत्र हनम् गृणीषे ॥५॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन्! **दुवस्युः** परिचरणेच्छुः। दुवस्यतिः परिचरणकर्मा। निघं० ३।५। अहम् **वज्रिणम्** दुष्टानामुपरि उद्यतदण्डम्, **भृष्टिमन्तम्**[1] दीप्तिमन्तम्, शत्रुभर्जकतेजोयुक्त-

१. भृष्टिः भ्राजतेः दीप्तिकर्मणो रूपम्। दीप्तिमन्तम्—इति भ०। शत्रूणां भर्जनवन्तम्—इति सा०।

मित्यर्थः । भृष्टिः भर्जकं तेजः । भृजी भर्जने धातोः क्तिनि रूपम् । तद्वन्तम् । **पुरुधस्मानम्**[1] बहूनां धारकम् । दधातेरौणादिको मन् प्रत्ययः धातोश्च धसादेशः । **वृषभम्** सुखादीनां वर्षितारम्, **स्थिरप्स्नुम्**[2] स्थिररूपम्, स्थिरगुणकर्मस्वभावम् इत्यर्थः । प्सु इति रूपनाम निघं० ३।७। नकारोपजनश्छान्दसः । **द्युक्षम्** द्यां प्रकाशं क्षाययति विवासयति यस्तम् कर्तव्याकर्तव्यप्रकाशप्रदातारमित्यर्थः, **वृत्रहणम्** पापानां हन्तारम् **त्वा** त्वाम् **मेंडिं न**[3] सेचकं, माध्यमिक्या वाच आश्रयभूतं पर्जन्यमिव । मेहति सिञ्चतीति मेडिः पर्जन्यः, मिह सेचने । यद्वा, मेडिरिति वाङ्नामसु पठितम् । निघं १।११। इह लक्षणया माध्यमिक्या वाच आश्रयभूतः पर्जन्यो गृह्यते । यथा वर्षार्थी कश्चित् पर्जन्यं भूयो भूयः स्तौति तथेत्यर्थः । **गृणीषे** स्तौमि । गृणातिः अर्चतिकर्मा । निघं० ३।१४ । 'सिब्बहुलं लेटि । अ० ३।१।३४' इति सिबागमः । लेटि उत्तमैकवचने रूपम् । हे परमात्मन् ! त्वम् **अर्यः**[4] अरीः प्रजाः । प्रजा वा अरी । श० ३।९।४।२१ । प्रजावाचिनः अरीशब्दात् शसि, 'वा छन्दसि । अ० ६।१।१०६' इति विकल्पतया पूर्वसवर्णस्य निषेधे तदभावे यणादेशे रूपम् । **तरुषीः** आपत्तरणसमर्थाः शत्रुविनाशसमर्था वा । तॄ प्लवनसंतरणयोरिति धातोर्बाहुलकादौणादिकः उषच् प्रत्ययः, ततो ङीप् । यद्वा तरुष्यतिः हन्तिकर्मा निरु० ५।२ । **करोषि** विधत्से ॥५॥

अत्रोपमालङ्कारः । 'करोष्यर्यस्तरुषीः' इति कारणवाक्येन स्तवनरूपस्य कार्यस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽपि ॥५॥

भावार्थः—यथा वर्षार्थिनः कृषीवला वृष्टिप्रदायकं मेघं पुनः पुनः प्रशंसन्ति, तथैव श्रेष्ठगुणकर्मस्वभावः सुखसमृद्धिवर्षकः परमेश्वरः सर्वैः प्रशंसनीय उपासनीयश्च ॥५॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि कैसे परमात्मा की मैं किसके समान स्तुति करता हूँ ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! **दुवस्युः** आपकी पूजा की चाह वाला मैं **वज्रिणम्** दुष्टों को दण्डित करने वाले, **भृष्टिमन्तम्** दीप्तिमान्, शत्रु को भून डालने वाले तेज से युक्त, **पुरुधस्मानम्** बहुतों के धारणकर्ता, **वृषभम्** सुख आदि की वर्षा करने वाले, **स्थिरप्स्नुम्** स्थिर रूप वाले अर्थात् स्थिर गुण, कर्म, स्वभाव से युक्त, **द्युक्षम्** कर्तव्याकर्तव्य का प्रकाश देने वाले, **वृत्रहणम्** पापों के विनाशक **त्वा** आपकी **मेंडिं न** भूमि को वर्षा से सींचने वाले अथवा विद्युद्गर्जना के आश्रयभूत बादल के समान अर्थात् जैसे वर्षा का इच्छक कोई मनुष्य बादल की बार-बार प्रशंसा करता है, वैसे **गृणीषे** स्तुति करता हूँ । हे

---

१. पूर्विति धननाम । धस्मानमिति धसि सहने इत्यस्येदं रूपम् । धनानां सहनशीलम्—इति वि० । दधातेर्धस्मा । पुरूणां बहूनां विश्वेषां धारकम्—इति भ० । बहूनाम् उदकानां धारकम् । यद्वा वर्णव्यत्ययः । पुरूणां बहूनां दासयितारं शत्रूणां क्षपयितारम्—इति सा० ।

२. स्थिरः चिरन्तनः स्थविरश्चासौ प्स्नुश्च, तं स्थिरप्स्नुम्, चिरन्तनं हविषां भक्षयितारमित्यर्थः—इति वि० । प्सु इति रूपनाम । तत्र नकार उपजनः । स्थिरदेहम्—इति भ० । स्थिररूपम्—इति सा० ।

३. मेडिरिति वाङ्नाम । अन्तर्णीतमत्वर्थं द्रष्टव्यम् । मेडिमन्तम् वाग्मिनमित्यर्थः—इति वि० । मेडिं न वाचमिव । यथा वाचं सरस्वतीं स्तुवन्ति तथा—इति भ० । माध्यमिकीं वृष्टिप्रदां वाचमिव, तां यथा वृष्ट्यर्थं स्तुवन्ति तद्वत्—इति सा० ।

४. यस्त्वं करोषि अर्यः ईश्वरः, तरुषीः, तरुष्यतिः वधकर्मा, वधेन सङ्ग्रामो लक्ष्यते, सङ्ग्राममित्यर्थः—इति वि० । अर्यः अरीः, आर्यकर्मसु स्थिताः यज्वानः, तत्सम्बन्धिनीः प्रजाः तरुषीः आपदां तारिकाः करोषि—इति भ० । अर्यः अरीन् अस्मद्विरोधिनः तरुषीः तारकान् जेतॄनस्मान् करोषि । यद्वा तरुषीः तरणस्वभावान् । पक्षद्वयेऽपि लिङ्गव्यत्ययः । अर्यः अरीनस्माकं शत्रून् करोषि, उपक्षीणानिति शेषः—इति सा० ।

परमात्मन् ! आप **अरीः** प्रजाओं को **तरुषीः** आपत्तियों को पार करने में अथवा शत्रु-विनाश में समर्थ **करोषि** कर देते हो ॥५॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है। 'करोष्यर्यस्तरुषीः' इस कारणात्मक वाक्य से स्तुतिरूप कार्य का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास भी है ॥५॥

भावार्थ—जैसे वर्षा चाहने वाले किसान लोग वर्षक मेघ की पुनः पुनः प्रशंसा करते हैं, वैसे ही श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभाव वाले, सुख-समृद्धि की वर्षा करने वाले परमेश्वर की सबको प्रशंसा और उपासना करनी चाहिए ॥५॥

अथ पुनः परमात्मस्तुतिविषयमाह।

१ २ ३,१ २,३ १,२ ३ १,२ ३ १,२ २ ३,१ २
३२८. प्र वो महे महेवृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम्।
१ २ ३,१ २ ३ २
विशः पूर्वीः प्र चर चर्षणिप्राः ॥६॥[1]

२ ३ २ ३ १ २ ३ १,२,१ ३ १,२,१ ३ ३ २ ३ २
प्र वः महे महेवृधे महे वृधे भरध्वम्। प्रचेतसे प्र चेतसे प्र सुमतिम्
३ २ ३ १,२,१ ३,२ ३ २ २ ३ २
सु मतिम् कृणुध्वम्॥ विशः पूर्वीः प्र चर चर्षणिप्राः चर्षणि प्राः ॥६॥

पदार्थः—हे सखायः **वः** यूयम् **महेवृधे**[2] महे तेजसे वर्धयति जनान् यः सः महेवृत् तस्मै। अत्र मह-उपपदात् वृध धातोर्णिजन्तात् क्विप् प्रत्ययः। बाहुलकात् चतुर्थ्या अलुक्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः। **महे** पूजनीयाय इन्द्राय जगदीश्वराय। मह पूजायाम् धातोः क्विपि चतुर्थ्येकवचने रूपम्। **प्र भरध्वम्** पूजोपहारम् आनयत। **प्रचेतसे** प्रकृष्टज्ञानाय तस्मै **सुमतिम्**[3] शोभनां स्तुतिम् **प्र कृणुध्वम्** प्रकुरुत। अथ प्रत्यक्षस्तुतिः। हे इन्द्र परमात्मन् ! **चर्षणिप्राः**[4] चर्षणयो मनुष्यास्तान् प्राति पूरयति यस्तादृशः त्वम्। चर्षणिरिति मनुष्यनाम। निघं० २।३। प्रा पूरणे अदादिः, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः। **पूर्वीः** श्रेष्ठाः **विशः** प्रजाः **प्रचर** धनधान्यगुणगणादिभिः पूरयितुं प्राप्नुहि। चर गतिभक्षणयोः, भ्वादिः ॥६॥

अत्र 'महे, महे' इत्यत्र यमकम्। प्र इत्यस्य पञ्चकृत्व आवृत्तेर्वृत्त्यनुप्रासः, 'ध्वम्, ध्वम्', 'चर, चर्' इत्यत्र च छेकानुप्रासः ॥६॥

भावार्थः—महार्घपूजोपहारेण सत्कृतो महामहिमशाली जगदीश्वरः स्तोतॄन् विविधैराध्यात्मिकैर्भौतिकैश्चैश्वर्यैः प्रपूरयति ॥६॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा की स्तुति का विषय है।

पदार्थ—हे साथियो ! **वः** तुम **महेवृधे** जो तेज के लिए मनुष्यों को बढ़ाता है ऐसे, **महे** पूजनीय इन्द्र जगदीश्वर के लिए **प्र भरध्वम्** पूजा का उपहार लाओ। **प्रचेतसे** श्रेष्ठ ज्ञान वाले उसके लिए **सुमतिम्** श्रेष्ठ स्तुति को **प्रकृणुध्वम्** श्रेष्ठ रूप से करो। हे इन्द्र परमात्मन् ! **चर्षणिप्राः** मनुष्यों को पूर्ण करने वाले आप **पूर्वीः** श्रेष्ठ **विशः** प्रजाओं को **प्र चर** धन, धान्य, गुणों आदि से पूर्ण करने के लिए प्राप्त होवो ॥६॥

१. ऋ० ७।३१।१०, अथ० २०।७३।३ उभयत्र 'महेवृधे' 'चर' इत्यस्य स्थाने महिवृधे' 'चरा' इति पाठः।
२. महेवृधे महतां यजमानानां वर्धयितुरिन्द्रस्यार्थाय—इति वि०। महतां धनानां वर्धयित्रे—इति भ०, सा०।
३. मन्यते इत्यर्चतिकर्मा—शोभनां स्तुतिम्—इति वि०।
४. चर्षणयो मनुष्याः तेषां पूरयिता चर्षणिप्राः। इन्द्रविशेषणमेतत् सम्बुद्ध्यन्तम्। धनेन मनुष्याणां पूरयितः। छान्दसत्वान्निघाताभावः—इति वि०।

इस मन्त्र में 'महे, महे' में यमक अलंकार है। 'प्र' की पाँच बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास और 'ध्वम्, ध्वम्' तथा 'चर, चर्' में छेकानुप्रास है।

भावार्थ—पूजा के बहुमूल्य उपहार से सत्कृत किया गया महामहिमाशाली जगदीश्वर स्तोताओं को विविध आध्यात्मिक और भौतिक ऐश्वर्यों से भरपूर कर देता है ॥६॥

अथ कीदृश मन्द्रं वयमाह्वयेम इत्याह।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
३२९. शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि सञ्जितं धनानि ॥७॥[1]

३ २ ३ १ २ १ २ ३ २ १ २ १ १ २ १
शुनम् हुवेम मघवानम् इन्द्रम्। अस्मिन् भरे नृतमम् वाजसातौ
१ २ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १
वाज सातौ ॥ शृण्वन्तम् उग्रम् ऊतये समत्सु स मत्सु।
१ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ १ २ १
घ्नन्तम् वृत्राणि सञ्जितम् सम् जितम् धनानि ॥७॥

पदार्थः—**अस्मिन्** एतस्मिन् **वाजसातौ** वाजानाम् अन्नधनबलविज्ञानादीनां सातिः प्राप्तिर्येन तत्र। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। **भरे** संसारसमरे, जीवनसंग्रामे, देवासुरसंग्रामे वा, वयम् **शुनम्** नित्य-सुखिनम्। शुनमिति सुखनाम। निघं० ३।६। शुनं सुखमस्यास्तीति शुनः, अर्शआदीनाम् आकृतिगणत्वात् 'अर्शआदिभ्योऽच्' अ० ५।२।१२७ इति मत्वर्थे अच्। यद्वा शुनं सुखयितारम्, यद्वा वृद्धिकरम्। टुओश्वि गतिवृद्धयोः। **मघवानम्** प्रशस्तैश्वर्यम्, **नृतमम्** अतिशयेन नायकम्, **शृण्वन्तम्** दीनानां प्रार्थनामाकर्णयन्तम्, **उग्रम्** ओजस्विनम्, **ऊतये** सज्जनानां रक्षणाय **समत्सु** आभ्यन्तरेषु बाह्येषु वा देवासुरसंग्रामेषु। भरे, वाजसातौ, समत्सु इति संग्रामनामसु पठितानि। निघं० २।१७। **वृत्राणि** कामक्रोधादीन् षड्रिपून्, मानवान् शत्रून् वा **घ्नन्तम्** नाशयन्तम्, **धनानि** आध्यात्मिकानि भौतिकानि च ऐश्वर्याणि **सञ्जितम्** सम्यग् जेतारम् जापयितारं वा। सम्यग् जयतीति सञ्जित् तम्। **इन्द्रम्** विश्वस्य सम्राजं परमेश्वरं, राष्ट्रोन्नायकं राजानं वा **हुवेम** आह्वयेम। इदं ह्वेञ् धातोः 'बहुलं छन्दसि' अ० ६।१।६४ इति सम्प्रसारणे छान्दसं रूपम् ॥७॥

अत्र श्लेषालङ्कारः परिकरश्च ॥७॥

भावार्थः—जीवनसंग्रामे जनैः सहायतार्थमाहूतो ब्रह्माण्डाधिपतिः परमेश्वरस्तान् पुरुषार्थिनो विधाय तेषां नेतृत्वं कुर्वंस्तान् सर्वेभ्यः संकटेभ्यः पारं नीत्वा सुखयति। तथैव राष्ट्राधिपतिः सम्राट् शत्रुभिराक्रान्ते राष्ट्रे प्रजानामाह्वानमुपश्रुत्य दुर्दान्तान् शत्रून् विजित्य तद्धनान्याच्छिद्य प्रजा रक्षेत् ॥७॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि कैसे इन्द्र को हम पुकारें।

पदार्थ—**अस्मिन्** इस **वाजसातौ** अन्न, धन, बल, विज्ञान आदि की प्राप्ति कराने वाले **भरे** संसार-समर, जीवन-संग्राम अथवा शत्रुओं के साथ युद्ध में हम **शुनम्** सदा-सुखी, सुख देने वाले और बढ़ाने वाले, **मघवानम्** प्रशस्त ऐश्वर्यों के स्वामी, **नृतमम्** सबसे बड़े नायक, **शृण्वन्तम्** दीनों की प्रार्थना को सुनने वाले, **उग्रम्** ओजस्वी, **ऊतये** सज्जनों की रक्षार्थ **समत्सु** आन्तरिक एवं बाह्य देवासुर-संग्रामों में **वृत्राणि** काम, क्रोध आदि षड् रिपुओं को अथवा मानव-शत्रुओं को **घ्नन्तम्** विनष्ट करने वाले, **धनानि**

१. ऋ० ३।३०।२२; ३१।२२; ३२।१७; ३४।११; ३५।११; ३६।११; ३८।१०; ३९।९; ४३।८; ४८।५; ४९।५; ५०।५।१०।८९।१८ ऋषिः रेणुः, १०४।११ ऋषिः अष्टको वैश्वामित्रः। अथ० २०।११।११। सर्वत्र 'धनानि' इत्यत्र 'धनानाम्' इति पाठः।

आध्यात्मिक और भौतिक ऐश्वर्यों को **सञ्जितम्** जीतने और जिताने वाले **इन्द्रम्** विश्व के सम्राट् परमेश्वर को अथवा राष्ट्रनायक राजा को **हुवेम** पुकारें ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेष और परिकर अलंकार हैं ॥७॥

भावार्थ—जीवन-संग्रामों में मनुष्यों से सहायता के लिए पुकारा हुआ ब्रह्माण्ड का सम्राट् परमेश्वर उन्हें पुरुषार्थी बनाकर उनका नेतृत्व करता हुआ उन्हें सब संकटों से पार ले जाकर सुखी करता है। इसी प्रकार राष्ट्र का स्वामी राजा शत्रुओं द्वारा राष्ट्र के आक्रान्त हो जाने पर प्रजाओं का आह्वान सुनकर दुर्दान्त शत्रुओं को जीतकर, उनके धनों को छीनकर प्रजाओं की रक्षा करे ॥७॥

अथ विद्वांसो जनाः किं कुर्युरित्याह ।

३३०. उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ ।
आ यो विश्वानि श्रवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि ॥८॥[1]

उत् उ ब्रह्माणि ऐरत श्रवस्या । इन्द्रम् समर्ये स मर्ये महय वसिष्ठ ॥
आ यः विश्वानि श्रवसा ततान । उपश्रोता उप
श्रोता मे ईवतः वचाꣳसि ॥८॥

पदार्थः—उपासका जनाः **श्रवस्या**[2] यशःप्राप्तीच्छया । श्रवः श्रवणीयं यशः इति निरुक्तम् (११।९) । तस्येच्छा श्रवस्या । क्यचि 'अ प्रत्ययात्' । अ० ३।३।१०२ इति अ प्रत्यये टाप् । ततस्तृतीयैकवचने 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति पूर्वसवर्णदीर्घः । श्रवस्याशब्दश्चित्त्वादन्तोदात्तः, उदात्तेन सह विभक्तेरेकादेशोऽप्युदात्त एव । इन्द्रं प्रति **ब्रह्माणि** स्तोत्राणि **उद् ऐरत उ** उदीरयन्ति खलु । ईर गतौ कम्पने च, लडर्थे लुङ् । हे **वसिष्ठ**[3] अतिशयेन सद्गुणकर्मसु विद्यासु च कृतनिवास विद्वन् ! अतिशयेन वस्ता इति वसिष्ठः । वस्तृ शब्दाद् इष्ठनि 'तुरिष्ठेमेयस्सु' अ० ६।४।१५४ इति तृचो लोपः । 'यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथो यद् वस्तृतमो भवति तेनो एव वसिष्ठः' । श० ८।१।१।६ । त्वमपि **समर्ये**[4] जीवन-संग्रामे यज्ञे वा । संगता भवन्ति मर्याः शत्रवो मनुष्या यत्र स समर्यः संग्रामः । समर्ये इति संग्रामनामसु पठितम् । निघं० २।१७ । संग्रामवाचिनः शब्दा यज्ञवाचिनोऽपि दृश्यन्ते इति यज्ञोऽपि समर्यः । तत्रापि यज्ञेच्छया जनाः समवेता भवन्ति । **इन्द्रम्** परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् **महय** पूजय । मह पूजायाम् । संहितायाम् 'अन्येषामपि दृश्यते' अ० ६।३।१३७ इति दीर्घः । **यः** इन्द्रः **विश्वानि** सर्वाणि भुवनानि **श्रवसा** यशसा **आ ततान** वितस्तार सः **ईवतः**[5] गमनवतः कर्मण्यस्य पुरुषार्थिनः । अयनम् ईः, ई गतिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु, क्विपि रूपम् तद्वतः । **मे** मम **वचांसि** प्रार्थनावचनानि **उपश्रोता** सामीप्येन आकर्णयिता, भवत्विति शेषः ॥८॥[6]

१. ऋ० ७।२३।१, अथ० २०।१२।१, उभयत्र 'श्रवसा' इत्यत्र 'शवसा' इति पाठः ।
२. श्रवस्या श्रवणीयानि उत्कृष्टानीत्यर्थः—इति वि० । अस्मिन् पक्षे स्वरो न सङ्गच्छते, यति स्वरितान्तत्वापत्तेः । 'श्रवस्या' श्रवस्यया अन्नेच्छया—इति भ० । तदेव सायणस्याभिप्रेतम् ।
३. (वसिष्ठम्) यो वसति धर्मादिकर्मसु सोऽतिशयितस्तम् इति ऋ० १।११२।९ भाष्ये, (वसिष्ठाः) अतिशयेन सद्गुणकर्मसु निवासिनः इति ऋ० ७।३७।४ भाष्ये, (वसिष्ठः) अतिशयेन विद्यासु कृतवासः इति च ऋ० ७।२६।५ भाष्ये द० ।
४. समर्ये संग्रामस्थानीययज्ञे—इति वि० । भरतसायणावपि 'यज्ञे' इत्येव व्याचक्षाते ।
५. ईवतः । इवतेर्व्याप्तिकर्मण एतद्रूपम् । व्याप्तिमत—इति वि० । उपगमनवतः—इति भ०, सा० ।
६. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा ऋगियम् 'उपस्थिते संग्रामे प्रबन्धकर्तारः किं किं कुर्युरिति विषये व्याख्याता ।

भावार्थः—परमेश्वरः पुरुषार्थिन एव वचांसि शृणोति, न पौरुषहीनस्य केवलं स्तुतिं कुर्वतः। यः सर्वाणि सूर्यचन्द्रपृथिव्यादीनि भुवनानि यशसा प्रख्यापयति, स मामपि यशस्विनं विदध्यादिति सर्वैराकाङ्क्षणीयं तदर्थं प्रयतनीयं च ॥८॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि विद्वान् जन क्या करें।

पदार्थ—उपासक जन **श्रवस्या** यश-प्राप्ति की इच्छा से इन्द्र परमेश्वर के प्रति **ब्रह्माणि** स्तोत्रों को **उद् ऐरत उ** उच्चारण करते हैं। हे **वसिष्ठ** सद्गुणकर्मों में और विद्या में अतिशय निवास किए हुए विद्वन्! तू भी **समर्ये** जीवन-संग्राम में वा यज्ञ में **इन्द्रम्** परमैश्वर्यवान् परमात्मा की **महय** पूजा कर। **यः** जिस परमात्मा ने **विश्वानि** सब भुवनों को **श्रवसा** यश से **आ ततान** विस्तीर्ण किया है, वह **ईवतः मम** मुझ पुरुषार्थी के **वचांसि** प्रार्थना-वचनों को **उपश्रोता** सुनने वाला हो ॥८॥

भावार्थ—परमेश्वर पुरुषार्थी के ही वचनों को सुनता है, पौरुषरहित होकर केवल स्तुति करते रहने वाले के नहीं। जिसने सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि सब भुवनों को यश से प्रसिद्ध किया है वह मुझे भी यशस्वी बनाये, यह आकांक्षा सबको करनी चाहिए और उसके लिए प्रयत्न भी करना चाहिए ॥८॥

अथाप्सु निहितं चक्रं वर्णयति।

३ १२ २१ ३ १२ २१ ३ १२ २१ ३ १२ २१
३३१. **चक्रं यदस्याप्स्वा निषत्तमुतो तदस्मै मध्विच्चच्छद्यात्।**
३ १२ २१ ३ २३ ३ २ ३ १२ २१ ३ १२
पृथिव्यामतिषितं यदूधः पयो गोष्वदधा ओषधीषु ॥९॥[1]
३ २ ३ २ १२१ ३ २ ३ २ ३ १२१
चक्रम् यत् अस्य अप्सु आ निषत्तम् नि सत्तम्। उत उ तत् अस्मै मध
३ २ १२१ १२१ ३ २ ३१ १२
इत् चच्छद्यात्॥ पृथिव्याम् अतिषितम् अति सितम् यत् ऊधरिति।
१२१ १२१ १२१ १२१ १२१ ३
पयः गोषु अदधाः ओषधीषु ओष धीषु ॥९॥

पदार्थः—**अप्सु** उदकेषु **अस्य** इन्द्रस्य परमात्मनः, तत्कर्तृकमित्यर्थः **यत् चक्रम्** आरोहणावरोहण-रूपं चक्रम् **आ निषत्तम्** आनिषण्णं विद्यते। नि पूर्वात् षदॢ धातोर्निष्ठायां 'नसत्तनिषत्तानुत्त०। अ० ८।२।६१' इति नत्वाभावो निपात्यते। **उत उ तत्** तत् खलु **अस्मै** एतस्मै लोकाय **मधु इत्** मधु एव, अमृतमेव **चच्छद्यात्** आच्छादयति, प्रददातीत्यर्थः। छद संवरणे चुरादिः, 'बहुलं छन्दसि। अ० २।४।७६' इति शपः श्लुः। लङर्थे लिङ्। तदेव स्पष्टयति। **यत् ऊधः** अन्तरिक्षरूपाया गोः ऊधः इव वर्तमानो मेघः **पृथिव्याम्** भूमौ **अतिषितम्** वृष्टिधारासु विमुक्तं भवति। स्यतिरुपसृष्टो विमोचने। निरु० १।१५।, तेन हे परमात्मन्! त्वम् **गोषु** धेनुषु, **ओषधीषु** वृक्षवनस्पत्यादिषु च **पयः** क्रमशः दुग्धं रसं च **अदधाः** दधासि॥ अप्सु निहितं चक्रमेवान्यत्र श्रुतिरेवं वर्णयति—"समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः। भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः।" इति ऋ० १।१६४।५१ ॥९॥

भावार्थः—पृथिव्या नदीनदसमुद्रादिभ्य उदकं वाष्पीभूय गगनं गच्छति, तत्र च मेघाकारेण परिणतं सद् वृष्टिद्वारा पुनर्भूमण्डलमागच्छति। तदेव निर्मलं जलं गोषु दुग्धात्मना वनस्पतिषु च रसात्मना परिणमति। परमेश्वरोऽप्सु चक्रमेतन्निधाय सर्वत्र मधु वर्षतीति तदर्थं तस्मै धन्यवादः सर्वैर्देयः ॥९॥

---

१. ऋ० १०।७३।९।

अत्रेन्द्रद्वारा कृष्णवृत्रासुरयोर्वधस्य द्यावापृथिव्यादिजन्मनश्च वर्णनात्, इन्द्रस्याह्वानात्, तद्द्वाराप्सु निहितस्य चक्रस्य च वर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सङ्गतिरस्तीति विजानीत ।।

इति चतुर्थे प्रपाठके प्रथमार्धे चतुर्थी दशतिः ।
इति तृतीयाध्याये दशमः खण्डः ।।

अगले मन्त्र में जलों में निहित चक्र का वर्णन है ।

पदार्थ—**अप्सु** जलों में **अस्य** इस इन्द्र परमात्मा का अर्थात् उससे रचित **यत्** जो **चक्रम्** ऊपर चढ़ना और नीचे उतरना रूपी चक्र **आ निषत्तम्** स्थित है, **उत उ तत्** वह **अस्मै** इस संसार के लिए **मधु इत्** मधु को ही **चच्छद्यात्** प्रदान करता है । **यत्** जो **ऊधः** अन्तरिक्षरूपी गाय के ऊधस् के समान विद्यमान बादल **पृथिव्याम्** भूमि पर **अतिषितम्** वर्षा की धारों के रूप में छूटता है, उससे हे इन्द्र परमात्मन् ! आप **गोषु** गायों में, और **ओषधीषु** ओषधियों में **पयः** क्रम से दूध और रस को **अदधाः** निहित करते हो ।।

इस जल के चक्र को अन्यत्र वेद में इस रूप में वर्णित किया गया है—"यह जल समानरूप से दिनों में कभी ऊपर जाता है और कभी नीचे आता है । बादल बरसकर भूमि को तृप्त करते हैं, और अग्नियाँ जल को भाप बनाकर आकाश को तृप्त करती हैं" ऋ० १।१६४।५१ ।।९।।

भावार्थ—पृथिवी के नदी, नद, समुद्र आदियों से पानी भाप बनकर आकाश में जाता है, वहाँ बादल के आकार में परिणत होकर वर्षा द्वारा फिर भूमण्डल पर आ जाता है । वही निर्मल जल गायों में दूध रूप में और वनस्पतियों में रस-रूप में बदल जाता है । परमेश्वर जलों में इस चक्र को पैदा कर सर्वत्र मधु बरसाता है, इसके लिए उसे सबको धन्यवाद देना चाहिए ।।९।।

इस दशति में इन्द्र द्वारा कृष्ण और वृत्र के वध तथा द्यावापृथिवी आदि के जन्म का वर्णन होने से, इन्द्र का आह्वान होने से, और उसके द्वारा जलों में निहित चक्र का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्वदशति के विषय के साथ संगति है ।।

चतुर्थ प्रपाठक में प्रथम अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त ।
तृतीय अध्याय में दशम खण्ड समाप्त ।।

।।५।। अथ 'त्यमू षु वाजिनं' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः; २ भरद्वाजः; ३ वसुकृद् वासुक्रः विमदो वा; ४-६, ९ वामदेवः; ७ विश्वामित्रः; ८ रेणुः; १० गोतमः ।। देवता—१ तार्क्ष्यः; २-६, ८-१० इन्द्रः; ७ इन्द्रापर्वतौ ।। छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

अथ परमात्मस्तुतिसैनापत्यशिल्पविषयमाह ।

३३२. त्यमू॒ षु वाजिनं॑ देवजूतं॑ सहो॒वानं॑ तरु॒तारं॑ र॒थाना॑म् ।
अरि॑ष्टनेमिं पृतनाजमा॒शुं स्वस्त॑ये ताक्ष्यमि॒हा हु॑वेम ॥१॥[1]

त्यम् उ सु वाजिनम् देवजूतम् देव जूतम् । सहोवानम् तरुतारम् रथानाम् ॥
अरिष्टनेमिम् अरिष्ट नेमिम् पृतनाजम् आशुम् । स्वस्तये सु अस्तये
ताक्ष्यम् इह हुवेम ॥१॥

१. ऋ० १०।१७८।१ 'सहावानं' इति पाठः । अथ० ७।८५।१, ऋषिः अथर्वा, 'पृतनाजि' इति पाठः ।

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। वयम् **त्यम् उ** तम् **वाजिनम्** सर्वेषामन्नानां धनानां वा स्वामिनम्, **देवजूतम्**[1] देवैर्विद्वद्भिः योगिभिः जूतं प्राप्तम्, यद्वा देवान् प्रकाशकान् सूर्यचन्द्रादीन् मनश्चक्षुःश्रोत्रादीन् वा जूतं गतम्, **सहोवानम्** सहस्वन्तम् बलवन्तमित्यर्थः। सहस् शब्दात् 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ'। अ० ५।२।१०९ वा० इत्यनेन मत्वर्थीयो वनिप्। **रथानाम्** शरीररथानाम् यद्वा रंहणशीलानां पृथिवीसूर्यचन्द्रादीनां लोकानाम्। रथो रंहतेर्गतिकर्मणः। निरु ८।११। **तरुतारम्**[2] गमयितारम्। तॄ प्लवनसंतरणयोः। 'ग्रसितस्कभित०' अ० ७।२।३४ इति उडागमो निपात्यते। **अरिष्टनेमिम्** अप्रतिहतदण्डम्। नेमिरिति वज्रनाम। निघं० २।२०। **पृतनाजम्**[3] पृतनानां कामक्रोधादिसेनानाम् अजितारंप्रक्षेप्तारं जेतारं वा, यद्वा पृतनाः सत्य दयादाक्षिण्यादिसद्गुणानां सेनाः अजति प्रापयतीति तम्, **आशुम्** शीघ्रकारिणम् **तार्क्ष्यम्** सकलभुवनव्यापिनम् अभिगमनीयं वा परमात्मानम्। तीर्णे विस्तीर्णे जगति क्षियति निवसतीति तार्क्ष्यः। यद्वा गत्यर्थात् तृक्षतेर्ण्यति तार्क्ष्यः, अभिगमनीयः परमात्मा। **इह** अस्माकम् अस्मिन् जीवने। संहितायां 'निपातस्य च' इति दीर्घः। **स्वस्तये** कल्याणार्थम् **सु हुवेम** सम्यग् आह्वयेम। तमूषु इत्यत्र 'इकः सुञि' अ० ६।३।१३४ इति दीर्घः। 'सुञः अ० ८।३।१०७' इति षत्वम्॥

अथ **द्वितीयः** सेनापतिपरः। वयम् **त्यम् उ** तम् **वाजिनम्** अन्नादिसात्त्विकाहारम्, बलवन्तम्, संग्रामकारिणं वा, **देवजूतम्** देवेन राज्ञा जूतं युद्धार्थं प्रेरितम्, **सहोवानम्** सहः शत्रुपराजयशीलं क्षात्रं तेजः तद्वन्तम्, **रथानाम्** युद्धे उपयुज्यमानानां विमानानाम् **तरुतारम्** प्लवयितारम्, **अरिष्टनेमिम्** अक्षतरथचक्रम्, **पृतनाजम्** संग्रामे स्वसेनानाम् प्रेरकम्, शत्रुसेनानां प्रक्षेप्तारं वा, **आशुम्** क्षिप्रकारिणम्, न त्वलसम्, **तार्क्ष्यम्** गरुडपक्षिवदाक्रान्तारम्, वायुवत् स्वपक्षीयाणां जीवनदायिनम् परपक्षीयाणां भञ्जकं वा सेनापतिम् **इह** अस्मिन् संग्रामकाले **स्वस्तये** राष्ट्रस्य पूजितास्तित्वाय। स्वस्तीत्यविनाशिनाम। अस्तिरभिपूजितः स्वस्तीति। निरु० ३।२०। **सु हुवेम** सम्यगाह्वयेम, सम्यगुत्साहयेम वा॥

अथ **तृतीयो** वायुविद्युत्परः। वयम् **त्यम् उ** तम् **वाजिनम्** तीव्रवेगम्, **देवजूतम्** देवैः शिल्पविद्यावेत्तृभिः कुशलैः शिल्पिभिः यानादिष प्रेरितम्, **सहोवानम्** अतिशयबलयुक्तम्, **रथानाम्** समुद्रपृथिव्यन्तरिक्षयायिनां वायुरथानां विद्युद्यानानां वा **तरुतारम्** तरणसाधनभूतं प्लवनसाधनभूतं वा, **पृतनाजम्** सांग्रामिकसेनानां देशान्तरप्रापणे निमित्तभूतम्, संग्रामजयसाधनभूतं वा। पृतना इति संग्रामनाम। निघं० २।१७। सेनार्थे तु प्रसिद्धमेव। **आशुम्** यानानां क्षिप्रगमनहेतुभूतम् **तार्क्ष्यम्** अन्तरिक्षशायिनं वायुं विद्युदग्निं वा **इह** अस्मिन् शिल्पयज्ञे **स्वस्तये** सुखाय **हुवेम** यानादिषु प्रयुञ्जीमहि॥१॥

यास्काचार्य इमामृचमेवं व्याचष्टे—तार्क्ष्यस्त्वष्ट्रा व्याख्यातः। तीर्णे अन्तरिक्षे क्षियति, तूर्णमर्थं रक्षति अश्नोतेर्वा। तं भृशमन्नवन्तम्। जूतिर्गतिः प्रीतिर्वा। देवजूतं देवगतं देवप्रीतं वा। सहस्वन्तम्। तारयितारं रथानाम्। अरिष्टनेमिम् पृतनाजितम्, आशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिह ह्वयेमेति कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्' इति। निरु० १०।२७॥

---

१. देवजूतम्। देवैर्मरुदादिभिरनुगतम्—इति वि०। देवैः स्तोतृभिः प्रेरितम्—इति भ०। देवैः सोमाहरणाय प्रेरितम्। जु इति गत्यर्थः सौत्रो धातुः, अस्मात् क्तः, पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। यद्वा देवैः प्रीयमाणं तर्प्यमाणम्—इति सा०।

२. तरुतारम् हन्तारम् रथानां शत्रूणां स्वभूतानाम्—इति वि०। हिंसितारं रथानां प्रतिरथानाम्। अथवा रथानां गन्तॄणां तरुतारं गन्तृतमम्। तरतिर्गतिकर्मापि— इति भ०। रथानाम् अन्यदीयानां तरुतारं संग्रामे तारकम्। यद्वा रंहणशीला अमी इमे लोका रथाः, तान् सोमाहरणसमये शीघ्रं तरीतारम्—इति सा०।

३. पृतनाजम्। पृतनेति संग्रामनाम। तस्मादुत्तरस्य जयतेर्ड प्रत्ययः। पृतनाजं संग्रामाणां जेतारमित्यर्थः—इति वि०। पृतनानाम् अजितारम् क्षेप्तारम्। अज गतिक्षेपणयोः—इति भ०। पृतनानां शत्रुसेनानाम् आजितारं प्रगमयितारं जेतारं वा। अज गतिक्षेपणयोः अस्मात् क्विप्—इति सा०।

अत्र श्लेषालङ्कारः । 'तरु-तारं' इत्यत्र छेकानुप्रासः । वकाररेफाद्यावृत्तौ च वृत्त्यनुप्रासः ॥१॥

भावार्थः—सर्वेर्जनैरुपासनायज्ञे सकलजगद्व्यापी तार्क्ष्यः परमेश्वरो, राष्ट्रयज्ञे गरुडवत् परपक्षाक्रान्ता सेनापतिः, शिल्पयज्ञे च कलाकौशलसाधको वायुर्विद्युदग्निर्वा ग्राह्य उपयोक्तव्यश्च ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा की स्तुति, सेनापतित्व और शिल्प विषय का वर्णन है ।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हम **त्यम् उ** उस **वाजिनम्** सब अन्नों वा धनों के स्वामी, **देवजूतम्** विद्वान् योगीजनों को प्राप्त अथवा प्रकाशक सूर्य, चाँद आदि तथा मन, चक्षु, श्रोत्र आदि में व्याप्त, **सहोवानम्** साहसी, बलवान्, **रथानाम्** शरीररूप रथों के अथवा गतिशील पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि लोकों के **तरुतारम्** चलानेवाले, **अरिष्टनेमिम्** अप्रतिहत दण्डशक्ति वाले, **पृतनाजम्** काम, क्रोध आदि की सेनाओं को परे फेंकने वा जीतने वाले और सत्य, दया, उदारता आदि सद्गुणों की सेनाओं को प्राप्त कराने वाले, **आशुम्** शीघ्रकारी **तार्क्ष्यम्** विस्तीर्ण जगत् में निवास करने वाले, सकलभुवनव्यापी, प्राप्तव्य परमात्मा को **इह** अपने इस जीवन में **स्वस्तये** कल्याण के लिए **सु हुवेम** भलीभाँति पुकारें ॥

द्वितीय सेनापति के पक्ष में । हम **त्यम् उ** उस **वाजिनम्** अन्न आदि सात्त्विक आहार करने वाले, बलवान्, संग्रामकारी, **देवजूतम्** राजा द्वारा युद्धार्थ प्रेरित, **सहोवानम्** क्षात्र-तेज से युक्त, **रथानाम्** युद्ध के विमानों को **तरुतारम्** उड़ाने वाले, **अरिष्टनेमिम्** अक्षत रथचक्र वाले, **पृतनाजम्** संग्राम में अपनी सेनाओं को भेजने वाले, तथा शत्रु-सेनाओं को उखाड़ फेंकने वाले, **आशुम्** शीघ्रकारी, आलस्यरहित **तार्क्ष्यम्** गरुड़ के समान आक्रमण करने वाले अथवा वायु के समान स्वपक्ष को जीवन देने वाले तथा परपक्ष का भञ्जन करने वाले सेनापति को **इह** इस संग्रामकाल में **स्वस्तये** राष्ट्र के उत्तम अस्तित्व के लिए **सु हुवेम** भलीभाँति पुकारें अथवा उत्साहित करें ॥

तृतीय वायु और विद्युत् के पक्ष में । हम **त्यम् उ** उस **वाजिनम्** अतिशय वेगवान्, **देवजूतम्** शिल्पविद्या के वेत्ता कुशल शिल्पियों द्वारा यान आदियों में प्रेरित, **सहोवानम्** अतिशय बलयुक्त, **रथानाम्** समुद्र, पृथिवी और अन्तरिक्ष में चलने वाले वायु-यानों वा विद्युद्-यानों के **तरुतारम्** तराने या उड़ाने में साधनभूत, **पृतनाजम्** सांग्रामिक सेनाओं को देशान्तर में पहुँचाने में निमित्तभूत अथवा संग्राम को जीतने में साधनभूत, **आशुम्** यानों की तेज गति में निमित्तभूत, **तार्क्ष्यम्** अन्तरिक्षशायी वायु वा विद्युत् रूप अग्नि को **इह** इस शिल्पयज्ञ में **स्वस्तये** सुख के लिए **हुवेम** यान आदियों में प्रयुक्त करें ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । 'तरु, तारं' में छेकानुप्रास और वकार, रेफ आदि की आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ॥१॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिए कि उपासना-यज्ञ में सकलजगद्व्यापी परमेश्वर का, राष्ट्रयज्ञ में गरुड़ के समान परपक्षाक्रान्ता सेनापति का और शिल्पयज्ञ में कलाकौशल के साधक वायु वा विद्युत् का ग्रहण और उपयोग करें ॥१॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मनो नृपतेश्चाह्वानयोग्यत्वं दर्शयति ।

३२३१२ ३२३२ ३१२ ३२३ २३१२
३३३. त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
३२७ ३१२३१५ २५३२ ३२३१२३१२
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रमिदं हविर्मघवा वेत्विन्द्रः ॥२॥[1]

१. ऋ० ६।४७।११, य० २०।५० उभयत्र ऋषिः गर्गः, 'ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः' इति चोत्तरार्धपाठः । अथ० ७।८६।१, ऋषिः अथर्वा स्वस्त्ययनकामः, 'स्वस्ति न इन्द्रो मघवान् कृणोतु' इति चतुर्थः पादः ।

३ १२ १२१ ३ १२ १२१ १२१ १२१ ३ १ २ ३ १२१ १२१ १२१
त्रातारम् इन्द्रम् अवितारम् इन्द्रम् । हवेहवे हवे हवे सुहवम् सु हवम् शूरम् इन्द्रम् ॥
३२ ३२ ३ २ ३ २ १२१ ३२ ३२ ३१२ ३ १२१
हुवे नु शक्रम् पुरुहूतम् पुरु हूतम् इन्द्रम् । इदम् हविः मघवा वेतु इन्द्रः ॥२॥

पदार्थः—अहम् **त्रातारम्**[1] आपद्भ्यस्त्राणकर्तारम् **इन्द्रम्** शत्रुविदारकं जगदीश्वरं राजानं वा, **अवितारम्** सुखादिप्रदानेन पालयितारम् **इन्द्रम्** ऐश्वर्यशालिनं जगदीश्वरं राजानं वा, **हवेहवे** संग्रामे-संग्रामे संकटे-संकटे **सुहवम्** आह्वातुं सुशकम्, **शूरम्** शूरवीरम् **इन्द्रम्** सहायकं जगदीश्वरं राजानं वा, **शक्रम्** शक्तिशालिनम् **पुरुहूतम्** बहुस्तुतं बहुभिराहूतं वा **इन्द्रम्** अविद्यादिदुःखभञ्जकं जगदीश्वरं राजानं वा, **नु** क्षिप्रम् **हुवे** आह्वयामि । ह्वेञ् धातोश्छान्दसं सम्प्रसारणजं रूपम् । सः **मघवा** प्रशस्तधनः **इन्द्रः** जगदीश्वरो राजा वा **इदम्** मया दीयमानम् **हविः** आत्मसमर्पणरूपं राजदेयकररूपं वा हव्यम् **वेतु** व्याप्नोतु स्वीकरोतु । वी गतिव्याप्त्यादिषु पठितः । तस्येदं लोटि रूपम् ॥२॥[2]

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः । विशेषणानां साभिप्रायत्वात् परिकरालङ्कारोऽपि । 'इन्द्रम्' इत्यस्य चतुष्कृत्वः पुनरुक्तिरिन्द्रस्य बहुक्षमत्वम् अन्यविलक्षणतयाऽऽह्वानयोग्यत्वं च द्योतयति । निरर्थकस्य 'तारमिन्द्रं' इत्यस्य द्विशः, 'रमिन्द्रं' इत्यस्य त्रिशः, 'मिन्द्र' इत्यस्य चतुश्श आवृत्तेर्यमकालङ्कारः । 'हवे, हवे, हवं, हवं, हुवे, हवि' इति वृत्त्यनुप्रासः । 'त्रातारम्, अवितारम्', 'इन्द्रम्, शक्रम्, पुरुहूतम्' इत्यत्र च पुनरुक्तवदाभासः ॥२॥

भावार्थः—सर्वैर्विपत्त्राता सुपालकः सुखाह्वानो बहुजनवन्दितः शूरः परमेश्वरो नृपतिश्चात्मकल्याणाय जनकल्याणाय च वरणीयः । परमेश्वरायात्मसमर्पणं नृपतये च करप्रदानमपि नियमतो विधेयम् ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा आह्वान करने योग्य हैं, यह इन्द्र नाम से दर्शाया गया है ।

पदार्थ—मैं **त्रातारम्** आपत्तियों से त्राण करने वाले **इन्द्रम्** शत्रुविदारक जगदीश्वर वा राजा को, **अवितारम्** सुखादि के प्रदान द्वारा पालना करने वाले **इन्द्रम्** ऐश्वर्यशाली जगदीश्वर वा राजा को, **हवे हवे** प्रत्येक संग्राम में, प्रत्येक संकट में **सुहवम्** सरलता से पुकारने योग्य **शक्रम्** शक्तिशाली, **पुरुहूतम्** बहुत स्तुति किये गये अथवा बहुतों से बुलाये गये **इन्द्रम्** अविद्या, दुःख आदि के भञ्जक जगदीश्वर वा राजा को **नु** शीघ्र ही **हुवे** पुकारता हूँ । **सः** वह **मघवा** प्रशस्त धन वाला **इन्द्रः** जगदीश्वर वा राजा **इदम्** इस मेरे द्वारा दी जाती हुई **हविः** आत्मसमर्पण रूप अथवा राजकर रूप हवि को **वेतु** स्वीकार करे ॥२॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है, विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकरालंकार भी है । इन्द्र शब्द की चार बार पुनरुक्ति उसकी बहुक्षमता को तथा अन्यों से विलक्षण आह्वानयोग्यता को द्योतित करती है । निरर्थक 'तारमिन्द्रं' की दो बार, 'रमिन्द्रं' की तीन बार, 'मिन्द्र' की चार बार आवृत्ति होने से यमक अलंकार है । इसी प्रकार 'हवे, हवे, हवं, हवं हुवे, हवि' में वृत्त्यनुप्रास है । 'त्रातारम्, अवितारम्' में और 'इन्द्रम्, शक्रम्, पुरुहूतम्' में पुनरुक्तवदाभास है ॥२॥

भावार्थ—सबको चाहिए कि विपत्त्राता, शुभ पालनकर्त्ता, सुख से आह्वान किये जाने योग्य, अनेक जनों से वन्दित, शूर परमेश्वर तथा राजा का आत्मकल्याण और जनकल्याण के लिए वरण करें । साथ ही परमेश्वर को आत्म-समर्पण और राजा को कर-प्रदान भी नियम से करना चाहिए ॥२॥

---

१. त्रातारमिन्द्रम् अवितारमिन्द्रमिति पुनरुक्तिः स्तोतृतमत्वख्यापनाय । त्राणं नाम उपस्थितेभ्यो भयेभ्यो रक्षणम्, अवनं तु द्वेष्यतानिरोध इति विशेषः । अथवा कामैस्तर्पणम् अवनम्—इति भ० ।

२. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च राजप्रजापक्षे व्याख्यातः ।

अथ कीदृशं परमेश्वरं राजानं वा वयं यजामहे इत्याह ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३३ २ १ २
३३४. यजामह इन्द्र वज्रदक्षिणं हरीणां रथ्यं३ वित्रतानाम् ।
१ २१ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २१ २१ ३ १ २ ३ १ २१ २१
प्र श्मश्रुभिर्दोधुवदूर्ध्वधा भुवद्वि सेनाभिर्भयमानो वि राधसा ॥३॥[1]
१ २१ १ २१ १ २१ १ २१ ३ १ २१ ३३ २ १ २१
यजामहे इन्द्रम् वज्रदक्षिणम् वज्र दक्षिणम् । हरीणाम् रथ्यम् वित्रतानाम् वि
३ २ १ २१ १ २१ ३ १ २ ३ १ १ २१ १ २१
व्रतानाम् ॥ प्र श्मश्रुभिः दोधुवत् ऊर्ध्वधा भुवत् । वि सेनाभिः भयमानः
१ २१
वि राधसा ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । वयम् **वज्रदक्षिणम्** वज्रः न्यायदण्डः दक्षिणः सततजागरूको यस्य तम्, **वित्रतानाम्** विविधकर्मणाम् । व्रतमिति कर्मनाम । निघं० २।१ । **हरीणाम्** आकर्षणशक्तियुक्तानां गतिमतां सूर्यचन्द्रनक्षत्रपृथिव्यादिलोकानाम् **रथ्यम्** वोढारम् । रथं वहतीति रथ्यः । 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् । अ० ४।४।७६' इति यत् । **इन्द्रम्** सर्वद्रष्टारं परमात्मानम् **यजामहे** पूजयामः । सः **श्मश्रुभिः**[2] सूर्यकिरणैः । श्मश्रु लोम श्मनि श्रितं भवति इति निरुक्तम् ३।५ । यथा श्मनि शरीरे श्रितत्वान्मुखलोमानि श्मश्रूण्युच्यन्ते, तथैव आदित्यशरीरे श्रितत्वात् तद्रश्मयोऽपि श्मश्रूणीत्यध्यवसेयम् । **प्र दोधुवत्** रोगादीन् भृशं पुनः पुनः प्रकम्पयन् । धूञ् कम्पने धातोर्यङ्लुगन्ताच्छतरि रूपम् । **ऊर्ध्वधा** सर्वत ऊर्ध्वः सः **सेनाभिः** चमूभिरिव विद्यमानाभिः स्वशक्तिभिः **भयमानः** दुर्जनान् भीषयन् बिभेतेरन्तर्णीतण्यर्थः प्रयोगोऽयं ज्ञेयः । **वि भुवत्** विभवति सर्वोत्कर्षेण वर्तते, किञ्च **राधसा** ऐश्वर्येण । राध इति धननाम, निघं० २।१० । **वि** विभुवत्, सर्वोत्कर्षेण वर्तते ॥

अथ **द्वितीयो** राजप्रजापरः । **वयम्** राष्ट्रवासिनः प्रजाजनाः **वज्रदक्षिणम्** वज्रः वज्रवद् दृढानि शस्त्रास्त्राणि दक्षिणे हस्ते यस्य तम् । दक्षिणो हस्तो दक्षतेरुत्साहकर्मणः, निरु० १।७ । वज्रशब्दो रन्प्रत्ययान्तत्वाद् नित्स्वरेणाद्युदात्तः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । **वित्रतानाम्** विविधकर्मणाम् **हरीणाम्** अग्निवायुविद्युतां सूर्यरश्मीनां च **रथ्यम्** अग्नियानेषु वायुयानेषु विद्युद्यानेषु सौरयानेषु च प्रयोक्तारम् **इन्द्रम्** शूरं राजानं सेनाध्यक्षं वा **यजामहे** सत्कुर्महे । शत्रून् **श्मश्रुभिः**[3] **दोधुवत्** मुखलोमभिः प्रकम्पयन्, शत्रून् पराजित्य तेषां मुखलोमानि अधः कुर्वन्, तद्गर्वं चूर्णयन्नित्यर्थः 'अक्ष्णा काणयन्' 'पादेन खञ्जयन्' इतिवत् प्रयोगोऽयम् । **ऊर्ध्वधा** ऊर्ध्वः **भुवत्** भवति । किञ्च **सेनाभिः** स्वकीयाभिर्दुर्दान्ताभिः चमूभिः **भयमानः** शत्रून् भीषयन् **वि भुवत्** विजयते, **राधसा** ऐश्वर्येण च **वि** विभुवत् वैभवयुक्तो जायते ॥३॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—दुष्टेषु पापेषु चोद्यतदण्डो, न्यायकारी, सर्वेषां लोकानां नियमेन स्वस्वपरिधौ सूर्यं परितश्च भ्रमयिता, शौर्यादिषु सर्वातिशायी परमेश्वरो यथा सर्वैर्जनैः पूजनीयस्तथैव बहुभिः शस्त्रास्त्रैर्युक्तो, राष्ट्रे विमानादियानानां प्रबन्धकर्ता, सेनाभिः शत्रूणां पराजेता सेनाध्यक्षो नृपतिश्चापि प्रजाभिः संमाननीयः ॥३॥

---

१. ऋ० १०।२३।१, 'प्र श्मश्रु दोधुवदूर्ध्वथा भूद् वि सेनाभिर्दयमानो विराधसा' इत्युत्तरार्द्धपाठः ।

२. श्मश्रुभिः तेजोभिः । ऊर्ध्वधा उर्ध्वं इत्यर्थः । भुवत् भवति, उद्युक्तो भवतीत्यर्थः—इति भ० ।

३. श्मश्रूणि श्मश्रुग्रहणं चात्र प्रदर्शनार्थम् । सर्वरोमाणि शत्रूणाम् । प्र दोधुवत्, धू विधूनने इत्यस्येदं रूपम्, पुनः पुनः प्रकर्षेण धुवति । उद्धूपितरोमकूपान् शत्रून् करोतीत्यर्थः—इति वि० ।

अगले मन्त्र में यह विषय है कि कैसे परमेश्वर और राजा का हम पूजन व सत्कार करें ।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हम **वज्रदक्षिणम्** जिसका न्यायरूप दण्ड सदा जागरूक है ऐसे, **विव्रतानाम्** विविध कर्मों से युक्त **हरीणाम्** आकर्षणशक्ति वाले, गतिमय सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी आदि लोकों के **रथ्यम्** रथी **इन्द्रम्** सर्वद्रष्टा परमात्मा की **यजामहे** पूजा करते हैं । वह **श्मश्रुभिः** सूर्य-किरणों द्वारा **प्र दोधुवत्** रोग आदियों को अतिशय पुनः पुनः प्रकंपित कर देता है, **ऊर्ध्वधा** सर्वोन्नत वह **सेनाभिः** सेनाओं के समान विद्यमान अपनी शक्तियों से **भयमानः** दुर्जनों को भयभीत करता हुआ **वि भुवत्** वैभवशाली बना हुआ है, और **राधसा** ऐश्वर्य से **वि** वैभवशाली बना हुआ है ।

द्वितीय राजा-प्रजा के पक्ष में । हम राष्ट्रवासी प्रजाजन **वज्रदक्षिणम्** दाहिने हाथ में वज्रतुल्य दृढ़ शस्त्रास्त्रों को धारण करने वाले, **विव्रतानाम्** विविध कर्मों वाले **हरीणाम्** अग्नि, वायु, विद्युत् और सूर्यकिरणों को **रथ्यम्** अग्नियानों, वायुयानों, विद्युत्यानों और सूर्यताप से चलने वाले यानों में प्रयुक्त करने वाले **इन्द्रम्** शूरवीर राजा वा सेनाध्यक्ष को **यजामहे** सत्कृत करते हैं । वह शत्रुओं की **श्मश्रुभिः दोधुवत्** मूछें नीची करता हुआ अर्थात् उनका गर्व चूर करता हुआ **ऊर्ध्वधा** उन्नत **भुवत्** होता है, तथा **सेनाभिः** अपनी दुर्दान्त सेनाओं से **भयमानः** शत्रुओं को भयभीत करता हुआ **वि भुवत्** विजयी होता है, और **राधसा** ऐश्वर्य से **वि** वैभवशाली होता है ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—दुष्टों और पापों के प्रति दण्डधारी, न्यायकारी, सब लोकों को नियम से अपनी-अपनी परिधि पर और सूर्य के चारों ओर घुमाने वाला, शौर्य आदि गुणों में सबसे बढ़ा हुआ परमेश्वर जैसे सब जनों से पूजनीय है, वैसे ही अनेक शस्त्रास्त्रों से युक्त, राष्ट्र में विमानादि यानों का प्रबन्धकर्ता, सेनाओं द्वारा शत्रुओं को पराजित करने वाला सेनाध्यक्ष अथवा राजा भी सब प्रजाओं द्वारा सम्माननीय है ॥३॥

पुनः स परमेश्वरो राजा वा कीदृशोऽस्तीत्याह ।

३ २३ १ २३ २३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

३३५. सत्राहणं दाधृषिं तुम्रमिन्द्रं महामपारं वृषभं सुवज्रम् ।

२ ३ २ ३ १ २ २ १ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजं दाता मघानि मघवा सुराधाः ॥४॥[1]

३ १ २ ३ १ २ १ १ २ १ १ २ १ २ १ ३ २ ३ २ ३ २

सत्राहणम् सत्रा हनम् दाधृषिम् तुम्रम् इन्द्रम् । महाम् अपारम् अ पारम्

३ २ ३ १ २ १ ३ १ २ १ १ २ १ ३ २ १ २ १ ३ २ १ २ १

वृषभम् सुवज्रम् सु वज्रम् ॥ हन्ता यः वृत्रम् सनिता उत वाजम् ।

१ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १

दाता मघानि मघवा सुराधाः सु राधाः ॥४॥

पदार्थः—वयम् **सत्राहणम्**[2] सत्येन असत्यस्य हन्तारम् । सत्रा इति सत्यनाम । निघं० ३।१० । **दाधृषिम्** भृशं पापानां पापिनां च धर्षकम्, भृशं प्रगल्भं वा । अत्र धृष प्रसहने, त्रिधृषा प्रागल्भ्ये इति वा धातोः 'किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात् । अ० ३।२।१७१' वा० इत्यनेन किन् प्रत्ययो लिड्वच्च । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । **तुम्रम्**[3] शुभकर्मसु प्रेरकम्, **महाम्** महान्तम्, **अपारम्** अनन्तविद्यम् अनन्तपराक्रमं

१. ऋ० ४।१७।८ ।

२. सत्राशब्दः सदाशब्दपर्यायः । सदा हन्तारं शत्रूणाम् । अथवा सत्रेति सत्यनाम । सत्येन असत्यानामसुराणां हन्तारम्—इति वि० । बहूनां हन्तारम् । सत्रेति बहुनाम—इति भ० ।

३. तुम्रं प्रेरकम् । तुमिः प्रेरणकर्मा—इति भ० । शत्रूणां प्रेरकम्—इति सा० । तुम्रम्, लुप्तोपममिदं द्रष्टव्यम् । तुम्र-सदृशम्, स्थूलमित्यर्थः—इति वि० ।

वा, **वृषभम्** सुखवर्षकम्, **सुवज्रम्**[1] उत्कृष्टदण्डम् **इन्द्रम्** अधर्माविद्यादिविदारकं परमात्मानं राजानं वा **यजामहे** पूजयामः सत्कुर्मो वा। **मघवा** ऐश्वर्यवान्, **सुराधाः** उत्कृष्टन्यायधर्मधनः **यः** परमात्मा राजा वा **वृत्रम्** विघ्नभूतं शत्रुम् **हन्ता** हिंसिता, **उत** अपि च **वाजम्** अन्नबलविज्ञानादिकम् **सनिता** संविभक्ता, **मघानि** धनानि च **दाता** दानकर्ता भवति। अत्र हन्ता, सनिता, दाता इत्येतेषां तृन्नन्तत्वात् वृत्रं, वाजं, मघानि इत्यत्र 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्। अ० २।३।६९' इति षष्ठ्यभावे द्वितीयैव भवति। नित्त्वादेवाद्युदात्तः स्वरः ॥४॥[2]

अत्र 'यजामहे' इति पूर्वस्मान्मन्त्रादाकृष्यते। अर्थश्लेषोऽलङ्कारः परिकरश्च। 'न्ता, नितो' 'मघा, मघ' इत्यत्र छेकानुप्रासः। मकारस्य तकारस्य चासकृदावृत्तौ वृत्त्यनुप्रासः ॥४॥

भावार्थः—सर्वैः राष्ट्रवासिभिः प्रजाजनैर्मन्त्रोक्तगुणविभूषितः परमात्मा पूजनीयो राजा च सत्कर्त्तव्यः ॥४॥

पुनः वह परमेश्वर और राजा कैसा है यह कहते हैं।

पदार्थ—हम **सत्राहणम्** सत्य से असत्य का खण्डन करने वाले, **दाधृषिम्** पापों व पापियों का अतिशय धर्षण करने वाले अथवा अत्यन्त प्रगल्भ, **तुम्रम्** शुभ कर्मों में प्रेरित करने वाले, **महाम्** महान्, **अपारम्** अपार अर्थात् अनन्त विद्या वा पराक्रम वाले, **वृषम्** सुखों की वर्षा करने वाले, **सुवज्रम्** उत्कृष्ट दण्डशक्ति वाले **इन्द्रम्** अधर्म, अविद्या आदि के विदारक परमात्मा वा राजा का **यजामहे** पूजन वा सत्कार करते हैं, **मघवा** ऐश्वर्यवान् **सुराधाः** उत्कृष्ट न्याय व धर्म रूप धन वाला **यः** जो परमात्मा वा राजा **वृत्रम्** विघ्नभूत शत्रु को **हन्ता** मारता है, **उत** और **वाजम्** अन्न, बल, विज्ञान आदि को **सनिता** बाँटता है तथा **मघानि** धनों को **दाता** देता है ॥४॥

इस मन्त्र में 'यजामहे' क्रियापद पूर्व मन्त्र से आया है। अर्थश्लेष और परिकर अलंकार है। 'न्ता, नितो' और 'मघा, मघ' में छेकानुप्रास, तथा मकार, तकार की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ॥४॥

भावार्थ—सब राष्ट्रवासी प्रजाजनों को चाहिए कि मन्त्रोक्त गुणों से विभूषित परमात्मा की पूजा और राजा का सत्कार करें ॥४॥

अथ परमात्मनो नृपतेश्च साहाय्येन वयं किं कुर्यामेत्याह।

३३६. यो नो वनुष्यन्नभिदाति मत्त उगणा वा मन्यमानस्तुरो वा।
क्षिधी युधा शवसा वा तमिन्द्राभी ष्याम वृषमणस्त्वोताः ॥५॥

यः नः वनुष्यन् अभिदाति अभि दाति मत्तः। उगणा उ गणा वा मन्यमानः
तुरः वा। क्षिधी युधा शवसा वा तम् इन्द्र। अभि स्याम वृषमणः वृष मनः
त्वोताः त्वा ऊताः ॥५॥

पदार्थः—**यः मर्तः** यो मनुष्यः **वनुष्यन्** क्रुध्यन्। वनुष्यतिः क्रुध्यतिकर्मा। निघं० २।१२। अपि

---

१. (सुवज्रम्) शोभनशस्त्रास्त्राणां प्रयोक्तारमिति ऋ० ४।१७।८ भाष्ये द०।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरिमं मन्त्रं राजपक्षे व्याख्यातवान्। एष च तत्र तत्कृतो भावार्थः—'यः पूर्णविद्यः सत्यवादी प्रगल्भो बलिष्ठः शस्त्रास्त्रप्रयोगविदभयदाता पुरुषो भवेत्तमेव राज्यायाधिकुरुत' इति।

च **उगणा**[1] **वा** उद्यतसैन्यो वा उद्यतायुधगणो वा। उगणा उद्यतगणः ? उ इति उत् इत्यर्थे वर्तते। पृषोदरादित्वान्मध्यमपदलोपः। 'सुपां सुलुक्०। अ० ७।१।३९' इति प्रथमैकवचनस्याकारादेशः। **मन्यमानः** अभिमन्यमानो वा। यद्वा **उगणा** स्वकीया उद्यतायुधगणाः सेनाः **मन्यमानः** बहु मन्यमानः इति व्याख्येयम्। याः सेना अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणा उत। ये स्तेना ये च तस्करास्तांस्ते अग्नेऽपि दधाम्यास्ये। य० ११।७७ इति प्रामाण्यात्। **तुरः**[2] सत्वरो यमोऽपि भूत्वा। तुर त्वरणे। तुर इति यमनाम, तरतेर्वा त्वरतेर्वा, त्वरया तूर्णगतिर्यमः। निरु० १२।१४। **नः** अस्मान् **अभिदाति**[3] हिनस्ति। दाप् लवने अदादिः। हे **इन्द्र** शत्रुविदारक परमात्मन् राजन् वा ! **तम्** मनुष्यम्, त्वम्, **युधा** युद्धेन **शवसा वा** बलेन वा। शव इति बलनाम। निघं० २।९। **क्षिधि** क्षपय।[4] क्षि क्षये इत्यस्य छान्दसं रूपमिदम्। अङितश्च अ० ६।४।१०३ इति हेर्धिः। अन्येषामपि दृश्यते अ० ६।३।१३७ इति दीर्घः। पादादित्वान्निघाताभावः। हे **वृषमणः**[5] वृषं बलवद् मनो यस्य तादृश परमात्मन् राजन् वा ! **त्वोताः** त्वद्रक्षिताः वयम् तम् **अभिस्याम** अभिभवेम, पराजयेमहि। संहितायाम् अभी इत्यत्र 'निपातस्य च'। अ० ६।३।१३६' इति दीर्घः। 'ष्याम' इत्यत्र 'उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः। अ० ८।३।८७' इति षत्वम् ॥५॥

भावार्थः—यो रिपुर्महतीं सेनामादाय स्वबलमभिमन्यमानः सन् सज्जनानुद्वेजयेत् तं ते परमात्मनः पुरुषार्थप्रेरणया नृपस्य साहाय्येन च युद्धे पराभवेयुः ॥५॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि परमात्मा और राजा की सहायता से हम क्या करें।

पदार्थ—**यः मर्तः** जो मनुष्य **वनुष्यन्** क्रोध करता हुआ **उगणा वा** और सैन्यगणों अथवा आयुध गणों को तैयार किये हुए **मन्यमानः** अभिमान करता हुआ, अथवा **उगणा** अपनी शस्त्रास्त्रों से सज्जित सेनाओं को **मन्यमानः** बहुत मानता हुआ **तुरः** शीघ्रकारी यमराज भी होकर **नः** हमारी **अभिदाति** हिंसा पर उतारू होता है, हे **इन्द्र** शत्रुविदारक परमात्मन् वा राजन्। **तम्** उस मनुष्य को **त्वम्** आप **युधा** युद्ध से **शवसा वा** और बल से **क्षिधि** विनष्ट कर दो। हे **वृषमणः** बलवान् मन वाले परमात्मन् वा राजन् ! **त्वोताः** आप से रक्षित हम, उसे **अभिस्याम** परास्त कर दें ॥५॥

भावार्थ—जो वैरी शत्रु विशाल सेना लेकर अपने बल का अभिमान करता हुआ सज्जनों को उद्विग्न करे उसे वे परमात्मा से पुरुषार्थ की प्रेरणा लेकर और राजा की सहायता से युद्ध में पराजित कर दें ॥५॥

अथेन्द्रस्य परिचयः प्रस्तूयते।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
३३७. यं वृत्रेषु क्षितयः स्पर्धमाना यं युक्तेषु तुरयन्तो हवन्ते।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यं शूरसातौ यमपामुपज्मन् यं विप्रासो वाजयन्ते स इन्द्रः ॥६॥

१-३. उगणाः उरुगणाः। तुरः तुर्वतेर्वधकर्मण एतद् रूपम्, हिनस्ति—इति वि०। उगणा वा उद्गूर्णा वा। तुर इति तुर्वतेः हिंसाकर्मणो रूपम्। वृत्रतुरितिवत्। हन्त्री वा शत्रूणाम् अस्मदीयाः प्रजा अभिदासति—इति भ०। तुरः इति 'तुर' शब्दस्य शसि रूपं चेदङ्गीक्रियते तदा स्वरो न सङ्गच्छेत इत्यस्माभिरकारान्तस्य तुर शब्दस्य प्रथमैकवचनत्वेन व्याख्यातम्।

४. क्षिधी। क्षि क्षये इत्यस्येदं रूपम्। उपक्षपय इत्यर्थः—इति वि०। क्षिधिः क्षयन्यनिधिः। क्षिधि शब्दात् तृतीयैकवचने पूर्वसवर्णदीर्घः। क्षयकरेण युधा संप्रहारेण—इति भ०। क्षिः क्षयो धीयते भ्रियते अनेनेति क्षिधिः। तृतीयैकवचनस्य पूर्वसवर्णदीर्घः। क्षयकरेण युधा संप्रहारेण—इति भ०। क्षिः क्षयो धीयते भ्रियते अनेनेति क्षिधिः। तृतीयैकवचनस्य पूर्वसवर्णः। क्षयकरेण युधा आयुधेन—इति सा०।

५. सायणस्तु 'वृषमणः वृषा इवाचरन्तो वयम्' इत्याह। तत्र स्वरो न सङ्गच्छते।

२ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १
यम् वृत्रेषु क्षितयः स्पर्धमानाः । यम् युक्तेषु तुरयन्तः हवन्ते ॥
१ २ १ १ २ १ ३ २ ३ २ १ २ १ १ २ १ ३
यम् शूरसातौ शूर सातौ यम् अपाम् उपज्मन् उप ज्मन् ।
२ १ २ १ ३ १ २ १ २ १
यम् विप्रासः वि प्रासः वाजयन्ते सः इन्द्रः ॥६॥

पदार्थः—**प्रथमो** राजपरः । **वृत्रेषु** अविद्याभ्रष्टाचारादिषु व्याप्तेषु **स्पर्द्धमानाः** विजिगीषमाणाः **क्षितयः** प्रजाजनाः । क्षितय इति मनुष्यनामसु पठितम् । निघं० २।३ । **यं हवन्ते** यं जननायकम् आह्वयन्ति, **युक्तेषु** आरब्धेषु केषुचिन्महत्सु कर्मसु **तुरयन्तः**[1] कार्यसिद्धचर्थं त्वरमाणाः प्रजाजनाः **यं हवन्ते** यं कार्यसाधकम् आह्वयन्ति, **शूरसातौ** शूराणां वीरक्षत्रियाणां सातिः विजयप्राप्तिर्यस्मिन् तस्मिन् संग्रामे उपस्थिते सति । शूरसातौ इति संग्रामनामसु पठितम् । निघं० २।१७ । **यम् हवन्ते** यं वीरम् आह्वयन्ति, **अपाम्** कुल्यासरोवरादीनाम् **उपज्मन्**[2] उपज्मनि उपप्राप्तौ । उप पूर्वाज्जमतेर्गतिकर्मण एतद् रूपम् । निमित्तार्थे सप्तमी । 'सुपां सुलुक् । अ० ७।१।३९' इति सप्तम्या लुक् । **यं हवन्ते** यं राष्ट्रनिर्मातारम् आह्वयन्ति, **विप्रासः** ज्ञानिनो ब्राह्मणाः **यं वाजयन्ते** यं स्वपरामर्शदानेन बलिनं कुर्वन्ति । **सः** असौ दुःखविदारकः सुखप्रदो राजा **इन्द्रः** इन्द्रः प्रोच्यते ॥

अथ **द्वितीयः** परमात्मपरः । **वृत्रेषु** योगमार्गे व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्यादिषु विघ्नेषु उपस्थितेषु **स्पर्द्धमानाः** तान् विजिगीषमाणाः योगिजनाः **यं हवन्ते** यं सहायकम् आह्वयन्ति, **युक्तेषु** इन्द्रियमनःप्राणादिषु योगयुक्तेषु सत्सु **तुरयन्तः** योगसिद्धचर्थं त्वरमाणाः योगिनः **यं हवन्ते** यं सिद्धिप्रदातारम् आह्वयन्ति, **शूरसातौ** आभ्यन्तरे देवासुरसंग्रामे उपस्थिते **यं हवन्ते** यं विजयप्रदातारम् आह्वयन्ति, **अपाम्** प्राणानाम् । प्राणा वा आपः । तै० ३।२।५।२, तां ब्रा० ९।९।४ । आपो वै प्राणाः । श० ब्रा० ३।८।२।४ इति प्रामाण्यात् । **उपज्मन्** ऊर्ध्वोर्ध्वचक्रचङ्क्रमणनिमित्ताय **यं हवन्ते** यं योगक्रियासु सहायकम् आह्वयन्ति, **यम्** यं च **विप्रासः** ज्ञानिनो योगिजनाः **वाजयन्ते** अर्चन्ति । वाजयतिः अर्चतिकर्मा । निघं० ३।१४ । **सः** असौ धारणाध्यानसमाधिलभ्यः परमेश्वरः **इन्द्रः** इन्द्रः उच्यते ॥६॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥६॥

भावार्थः—वेदेष्विन्द्रनाम्ना यस्य बहुशो वर्णनं वर्वर्ति स खलु विघ्नविदारकः, प्रारब्धकार्येषु सिद्धिप्रदायको, देवासुरसंग्रामेषु विजयप्रदाता, जलधाराणां प्रवाहयिता, विप्राणां स्तुतिपात्रभूतो ब्रह्माण्डे परमेश्वरो राष्ट्रे वा राजा विद्यते । तयोर्यथायोग्यमुपासनया प्रार्थनया सत्कारेण चाभीष्टलाभाः सर्वैः ताभ्यां प्राप्तव्याः ॥६॥

अत्र इन्द्रस्यातिभक्ततया इन्द्ररूपमास्थितः असुरैर्गृहीतो हन्यमानः **वामदेवः** आह इति विवरणकृत् स्वकल्पनाप्रसूतमितिवृत्तं प्रोवाच । तादृशमेवेतिवृत्तं गृत्समदेन ऋषिणा दृष्टस्य ऋग्वेदीयस्य 'स जनास इन्द्रः' इतीन्द्रपरिचयं प्रस्तुवानस्य द्वितीयमण्डलस्थद्वादशसूक्तस्य विषये गृत्समदनाम्मा कैश्चित् कल्पितमस्ति, यत् सायणीये ऋग्वेदभाष्ये समुद्धृतं विलोक्यते । तत्सर्वं न प्रामाणिकं, किन्तु कथाकाराणां लीलाविलसितमेवेति मन्तव्यम् ॥

---

१. तुरयन्तः त्वरमाणाः हिंसन्तो वा शत्रून्—इति वि० ।

२. अपाम् उपज्मन् । उप पूर्वस्य अजगतिक्षेपणयोरित्यस्येदं रूपम् । आपः समीपे यस्मिन् काले आगच्छन्ति सः अपामुपज्मा वर्षाकालः तस्मिन् अपाम् उपज्मे । उदकार्थं वर्षाकाले यमाह्वयन्तीत्यभिप्रायः—इति वि० । अपाम् उपज्मन् उपगमने प्राप्तौ, वृष्ट्यर्थमित्यर्थः—इति भ० ।

अगले मन्त्र में इन्द्र का परिचय प्रस्तुत किया गया है।

पदार्थ—**प्रथम** राजा के पक्ष में। **वृत्रेषु** अविद्या, भ्रष्टाचार आदियों के व्याप्त हो जाने पर **स्पर्धमानाः** उन पर विजय पाना चाहते हुए **क्षितयः** प्रजाजन **यं हवन्ते** जिस जननायक को पुकारते हैं, **युक्तेषु** किन्हीं महान् कर्मों के प्रारम्भ करने पर **तुरयन्तः** कार्यसिद्धि के लिए शीघ्रता करते हुए प्रजाजन **यं हवन्ते** जिस कार्यसाधक को पुकारते हैं, **शूरसातौ** शूरों को विजयोपलब्धि कराने वाले संग्राम में **यं हवन्ते** जिस वीर को पुकारते हैं, **अपाम्** सरोवर, नहर आदियों के **उपज्मन्** निर्माण के लिए **यं हवन्ते** जिस राष्ट्रनिर्माता को पुकारते हैं, **विप्रासः** ज्ञानी ब्राह्मण लोग **यं वाजयन्ते** जिसे अपना परामर्श देकर बलवान् करते हैं, **सः** वह दुःखविदारक, सुखप्रदाता राजा **इन्द्रः** इन्द्र कहाता है।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। **वृत्रेषु** योगमार्ग में व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य आदि विघ्नों के उपस्थित होने पर **स्पर्धमानाः** उन्हें जीतने की इच्छा वाले योगीजन **यं हवन्ते** जिस सहायक को पुकारते हैं, **युक्तेषु** इन्द्रिय, मन, प्राण आदियों के योग में लग जाने पर **तुरयन्तः** योगसिद्धि पाने के लिए शीघ्रता करते हुए योगीजन **यं हवन्ते** जिस सिद्धिप्रदाता को पुकारते हैं, **शूरसातौ** आन्तरिक देवासुर-संग्राम के उपस्थित होने पर **यं हवन्ते** जिस विजयप्रदाता को पुकारते हैं, **अपाम्** प्राणों के **उपज्मन्** उपरले-उपरले चक्र में चंक्रमण करने के निमित्त **यं हवन्ते** जिस योगक्रियाओं में सहायक को पुकारते हैं, **यम्** और जिसकी **विप्रासः** ज्ञानी योगीजन **वाजयन्ते** अर्चना करते हैं, **सः** वह धारणा-ध्यान-समाधि से प्राप्तव्य परमेश्वर **इन्द्रः** इन्द्र कहलाता है ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥६॥

भावार्थ—वेदों में इन्द्र नाम से जिसका बहुत स्थानों पर वर्णन है वह विघ्नविदारक, आरम्भ किये कार्यों में सिद्धिप्रदायक, देवासुरसंग्रामों में विजयप्रदाता, जलधाराओं को प्रवाहित कराने वाला, ज्ञानीजनों की स्तुति का पात्र ब्रह्माण्ड में परमेश्वर तथा राष्ट्र में राजा है। उनकी यथायोग्य उपासना प्रार्थना और सत्कार से अभीष्ट लाभ सबको उनसे प्राप्त करने चाहिएँ ॥६॥

इस मन्त्र पर विवरणकार ने यह अपनी कल्पना से ही घड़ा हुआ इतिहास लिखा है कि इन्द्र के अत्यन्त भक्त होने के कारण इन्द्र का रूप धारण किये हुए वामदेव ऋषि को जब असुर पकड़कर मारने लगे तब वह इस मन्त्र को कह रहा है कि इन्द्र मैं नहीं हूँ, इन्द्र तो ऐसा-ऐसा है। इसी प्रकार का इतिहास 'स जनास इन्द्रः' इस प्रकार इन्द्र का परिचय देने वाले, गृत्समद ऋषि से दृष्ट ऋग्वेदीय द्वितीय मण्डल के १२वें सूक्त पर गृत्समद के नाम से किन्हीं लोगों ने कल्पित कर लिया था, जो सायण के ऋग्वेदभाष्य में उद्धृत है। यह सब प्रामाणिक नहीं है, किन्तु कथाकारों का लीलाविलास है।

इन्द्रापर्वतौ देवते। इन्द्रपर्वतनाम्ना जीवात्मप्राणजीवात्मप्राणयोर्युगलं स्तौति।

१ २ ३ १२ २१ ३ २३ ३ १ २ ३ १ २
३३८. इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आ वहतं सुवीराः।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २१ ३ १ २
वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वधेथां गीर्भिरिडया मदन्ता ॥७॥[1]

१ २ १ ३ २ १ २ १ ३ २ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ १
इन्द्रापर्वता बृहता रथेन। वामीः इषः आ वहतम् सुवीराः सु वीराः॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ २ १ २ १ १ २ १
वीतम् हव्यानि अध्वरेषु देवा। वधथाम् गीर्भिः इडया मदन्ता ॥७॥

पदार्थः—हे **इन्द्रापर्वता**[2] जीवात्मप्राणौ! इन्द्रो ज्ञानाद्यैश्वर्यवान् जीवात्मा, पर्वतः पर्ववान् प्राणः,

१. ऋ० ३।५३।१।

२. इन्द्रापर्वतौ। पर्वतो नाम देवर्षिः इन्द्रस्य सखा—इति भ०।

स हि अपानव्यानादिभिः इन्द्रियरूपैश्च पर्वभिः सह देहे तिष्ठति । 'पर्ववान् पर्वतः' इति निरुक्तम् १।२० । 'इन्द्रापर्वता' इत्यत्र देवताद्वन्द्वे च । अ० ६।३।२६' इति पूर्वपदस्यानङ् । युवाम् **बृहता** महता **रथेन** शरीर-रथेन । 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु' इति प्रामाण्यात् (कठ० १।३।३) । **सुवीराः** शोभना वीराः वीरभावा वीरसन्ताना वा यासु ताः **वामीः** प्रशस्ताः संभजनीयाः वा । वाम इति प्रशस्यनामसु पठितम् । निघं० ३।८ । वामस्य वनवीयस्य इति निरुक्तम् ४।२६ । **इषः** अभीष्टा आध्यात्मिकभौतिकसम्पदः । इषु इच्छायाम् । इष्यन्ते इति इषः । **आवहतम्** प्रापयतम् । हे **देवा** देवौ दिव्यगुणकर्मवन्तौ ! युवाम् **अध्वरेषु** शरीरधारणरूपयज्ञेषु **हव्यानि** समर्पितानि हवींषि भोज्यपेयादीनि **वीतम्** आस्वादयतम् । वी गतिव्याप्ति-प्रजनकान्त्यसनखादनेषु । **गीर्भिः** वाग्भिः, **इडया** अन्नेन गोदुग्धादिना च । इडेति अन्ननाम गोनाम च, निघं० २।७,२।११ । **मदन्ता** तृप्यन्तौ **वर्द्धेथाम्** उत्कर्षं प्राप्नुतम् । इन्द्रापर्वता, देवा, मदन्ता इति सर्वत्र 'सुपां सुलुक्० । अ० ७।१।३९' इत्यौकारस्याऽऽकारादेशः ॥७॥[1]

भावार्थः—जीवात्मा सञ्चितकर्मफलभोगाय नूतनकर्मकरणाय च मनइन्द्रियादियुक्तेन प्राणेन सह श्रेष्ठं शरीररथमारोहति । तौ जीवात्मप्राणौ शरीरमाध्यमेन श्रेष्ठां सन्ततिं विविधामभीष्टां दिव्यां च भौतिकीं च सम्पदं प्रापयितुमर्हतः । यथायोग्यखाद्यपेयज्ञानकर्मप्राणायामादिहविरर्पणेन तयोः शक्तिः सर्वैर्वर्धनीया ॥७॥

अगले मन्त्र में देवता 'इन्द्र-पर्वत' हैं । इन नामों से जीवात्मा-प्राण के युगल की स्तुति की गयी है ।

पदार्थ—हे **इन्द्रापर्वता** जीवात्मा और प्राण ! तुम दोनों **बृहता** महान् **रथेन** शरीर-रूप रथ द्वारा **सुवीराः** उत्तम वीर सन्तानों से अथवा वीर भावों से युक्त **वामीः** प्रशस्त वा संभजनीय **इषः** अभीष्ट आध्यात्मिक और भौतिक सम्पदाएँ **आ वहतम्** प्राप्त कराओ । हे **देवा** दिव्य गुण-कर्मों वाले जीवात्मा और प्राण ! तुम दोनों **अध्वरेषु** शरीरधारणरूप यज्ञों में **हव्यानि** भोज्य, पेय आदि हवियों का **वीतम्** आस्वादन करो । **गीर्भिः** वाणियों से, और **इडया** अन्न तथा गोदुग्ध आदि से **मदन्ता** तृप्त होते हुए **वर्द्धेथाम्** वृद्धि को प्राप्त करो ॥७॥

भावार्थ—जीवात्मा संचित कर्मों के फलभोग के लिए तथा नवीन कर्म करने के लिए मन, इन्द्रिय आदियों से युक्त प्राण के साथ सर्वश्रेष्ठ शरीर-रूप रथ में बैठता है । वे दोनों जीवात्मा और प्राण शरीर के माध्यम से उत्कृष्ट सन्तान और विविध दिव्य तथा भौतिक सम्पदा को प्राप्त कराने की योग्यता रखते हैं । यथायोग्य खाद्य, पेय, ज्ञान, कर्म, प्राणायाम आदि की हवि देकर उनकी शक्ति सबको बढ़ानी चाहिए ॥७॥

---

१. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये राजाध्यक्षसेनाध्यक्षविषये व्याख्यातः । (इन्द्रापर्वता) विद्युन्मेघाविव राज्यसेना-धीशौ इत्यादि । तेन सूच्यते यन्मन्त्रोऽयं विद्युन्मेघपक्षेऽपि व्याख्यातुं शक्यत इति । विद्युन्मेघावपि मरुद्रूपेण बृहता रथेन वृष्टिद्वारा प्रशस्ता इषः अन्नानि प्रापयतः, येषां भक्षणेन सन्ततिर्वीरा जायते । किं च शिल्पिनावपि इन्द्रापर्वतौ उच्येते । यानचालकः शिल्पी इन्द्रः, याननिर्माता शिल्पी पर्वतः, स हि पर्वाणि संयोज्य पर्ववन्ति विविधयन्त्रकलासहितानि यानानि रचयतीति । तावपि बृहता रथेन भूजलान्तरिक्षगमनसमर्थेन विमानादियानेन बहुवीरजनसहितान् प्रशस्तान् अन्नादि-पदार्थान् वहतः देशान्तरं प्रापयत इति दिक् ।

अथेन्द्रस्य परमात्मनो महिमानं वर्णयति ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २१३ १ २ ३ १ २
३३९. इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अपः प्रैरयत् सगरस्य बुध्नात् ।
१२ २१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
यो अक्षेणेव चक्रियो शचीभिर्विष्वक्तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम् ॥८॥[1]

१२१ १२१ १२१ १२१ ३ २ ३ १२१
इन्द्राय गिरः अनिशितसर्गाः अनिशित सर्गाः । अपः प्र ऐरयत् सगरस्य स
३ १२१ १२१ ३ १२ १२१
गरस्य बुध्नात् ॥ यः अक्षेण इव चक्रियौ शचीभिः ।
१ २१ ३ १ २ ३ २ ३२
विष्वक् वि स्वक् तस्तम्भ पृथिवीम् उत द्याम् ॥८॥

पदार्थः—**इन्द्राय** परमैश्वर्यवते जगदीश्वराय, तन्महिमानं गातुमित्यर्थः **अनिशितसर्गाः**[2] अतीक्ष्णप्रयोगाः, मधुरा इत्यर्थः । शो तनूकरणे । अनिशितः अतनूकृतः अतीक्ष्णः सर्गो व्याहरणं यासां ताः । **गिरः** मदीयाः स्तुतिवाचः, प्रवृत्ताः सन्त्विति शेषः । यः **सगरस्य** अन्तरिक्षस्य । सगर इत्यन्तरिक्षनाम । निघं० १।३। गृणाति शब्दं करोतीति गरो मेघः, गरेण मेघेन सहितः इति सगरोऽन्तरिक्षम् । **बुध्नात्** शीर्षस्थानात् **अपः** मेघस्थानि उदकानि **प्रैरयत्** भुवं प्रति प्रेरयति। **विष्वक्**[3] विविधकर्मरतः विशेषेण सर्वान्तर्यामी वा सन् । वि-सु-उपपदात् अञ्चतेः क्विपि रूपम्, यद्वा यो विशेषेण स्वजते आलिङ्गति सर्वान् पदार्थान् स विष्वक् सर्वान्तर्यामी, ष्वज परिष्वङ्गे । **यः** यश्च **शचीभिः** प्रज्ञाभिः जगद्धारणक्रियाभिश्च । शचीति प्रज्ञानाम कर्मनाम च । निघं० ३।९, २।१ । **पृथिवीम्** भूमिम् **उत** अपि च **द्याम्** द्युलोकम् **तस्तम्भ** स्तभ्नाति, परस्परं सन्तुलिते करोति । **अक्षेण इव** मध्यकीलकेन यथा **चक्रियौ**[4] उभे रथचक्रे रथचालकः स्तभ्नाति तद्वत् । चक्रवाचिनः चक्रिशब्दस्य द्वितीयाद्विवचने चक्री इति प्राप्ते छान्दस इयङादेशः ॥८॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥८॥

भावार्थः—परमात्मन एवैष विलक्षणो महिमा यत् सोऽन्तरिक्षाद् वृष्टिं करोति, द्यावापृथिव्योश्च परस्परं सामञ्जस्यं स्थापयति ॥८॥

अगले मन्त्र में इन्द्र परमात्मा की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ—**इन्द्राय** परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर के लिए अर्थात् उसकी महिमा का गान करने के लिए **अनिशितसर्गाः** अतीक्ष्ण प्रयोग वाली अर्थात् मधुर **गिरः** मेरी स्तुतिवाणियाँ, प्रवृत्त हों । जो जगदीश्वर

---

१. ऋ० १०।८९।४, 'प्रैरयत्', 'चक्रियौ' इत्यत्र क्रमेण 'प्रैरयं', 'चक्रिया' इति पाठः ।

२. अनिशितसर्गाः । शो तनूकरणे इत्यस्येदं रूपम् । निष्ठाप्रत्यये 'निष्ठाशीङ्स्विदि० (पा० १।२।१९) इत्येतद्भवति । **सर्गः** संसर्गः सङ्घातः । निशितः सङ्घातो यासां ताः निशितसर्गाः तनूकृतसङ्घाताः । अनिशितसर्गाः अतनूकृतसङ्घाताः । बह्वीरित्यर्थः—इति वि० । अतनूकृतप्रयोगाः—इति भ० । अतनूकृतविसर्गाः उपर्युपरि वर्तमानाः—इति सा० ।

३. प्रायशः 'विषु शब्दाद् अञ्चेः क्विप्' इति साधुत्वप्रकारमाहुर्व्याख्यातारः । किन्तु 'वि-स्वक्' इति पदपाठात् पदकारस्य वि-सु-पूर्वोऽञ्चतिरत्राभिप्रेत इत्यस्माभिस्तथा व्याख्यातम् । यद्वा 'स्वक्' इत्यस्य 'सु-अक्' इति रूपेण विभागाकरणात् विपूर्वः स्वञ्ज परिष्वङ्गे धातुरत्राभिप्रेतः स्यात् ।

४. चक्रियौ चक्रे, यथा कश्चिद् रथकारः अक्षेण चक्रे स्तम्भयति तद्वत्—इति वि० । य इन्द्रः अक्षेणेव चक्र्यौ रथचक्रे । 'ऋणोरक्षं न चक्र्योः' ऋ० १।३०।१४ इत्यत्र चक्रिशब्दः चक्रे दृष्टः—इति भ० । चक्रियौ रथचक्राणि—इति सा० । इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् ७।१।३९' वा० इति इय्भावे, लिङ्गव्यत्यये च (३।१।८५) रूपं चक्रियौ इति सत्यव्रतसामश्रमी ।

सगरस्य अन्तरिक्ष के **बुध्नात्** शीर्षस्थान से **अपः** मेघ-जलों को **प्रैरयत्** भूमि की ओर प्रेरित करता अर्थात् भूमि पर बरसाता है। **यः** जो **विष्वक्** विविध कर्मों में संलग्न होता हुआ अथवा विशेषरूप से सर्वान्तर्यामी होता हुआ **शचीभिः** अपने बुद्धिकौशल से व जगद्धारण की क्रियाओं से **पृथिवीम्** भूमि को **उत** और **द्याम्** द्यौ लोक को **तस्तम्भ** थामे हुए है, परस्पर सन्तुलित कर रहा है, **इव** जैसे **अक्षेण** रथ के बीच में पड़ी हुई कीली के द्वारा **चक्रियौ** दोनों रथचक्रों को रथचालक थामे रखता है ॥८॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥८॥

भावार्थ—परमात्मा की ही यह विलक्षण महिमा है कि वह अन्तरिक्ष से वर्षा करता है और द्यावापृथिवी में परस्पर सामंजस्य स्थापित करता है ॥८॥

अथेन्द्रसख्यविषयमाह।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३२ ३१ २ ३ १ २
३४०. आ त्वा सखायः सख्या ववृत्युस्तिरः पुरू चिदर्णवाञ्जगम्याः।
३१२ २१३ १ २ ३ २ ३ १२ २१ ३१२ २१
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अस्मिन् क्षये प्रतरां दीद्यानः ॥९॥[1]

२ ३ १२१ ३ २ ३ २ ३ २ ३२ ३ २
आ त्वा सखायः स खायः सख्या स ख्या ववृत्युः। तिरः पुरु चित् अर्णवान्
३ २ १२१ ३ २ ३ २ १२१ ३ २ १२१
जगम्याः ॥ पितुः नपातम् आ दधीत वेधाः। अस्मिन् क्षये प्रतराम् दीद्यानः ॥९॥

पदार्थः—हे इन्द्र परमेश्वर ! **सखायः** तव सहचराः स्तोतृजनाः सदैव **त्वा** त्वाम् **सख्या** सख्येन। सख्यशब्दात् तृतीयैकवचने 'सुपां सुलुक्०। अ० ७।१।३९' इति विभक्तेराकारादेशः। **आ ववृत्युः** स्वीकुर्युः। आङ् पूर्वात् वृतु वर्तने धातोश्छन्दसि शपः श्लौ लिङि रूपम्। **तिरः** तान् प्राप्तः, त्वम्। तिरः सतः इति प्राप्तस्य। निरु० ३।२०। **पुरु चित्** बहु यथा स्यात् तथा **अर्णवान्** आनन्दसागरान् **जगम्याः** प्रापय। गम्लृ गतौ धातोर्यङ्लुगन्तस्य लिङि रूपम्। अभ्यासस्य छान्दसो नुमभावः। **वेधाः** स्तुतेः पुरुषार्थस्य च विधाता स तव सखा **अस्मिन् क्षये** एतस्मिन् गृहे गृहस्थाश्रमे इत्यर्थः **प्रतराम्** अत्यधिकं **दीद्यानः** तेजसा यशसा च दीप्यमानः सन्। दीदयतिः ज्वलतिकर्मा। निघं० १।१६। **पितुः** स्वजनकस्य **नपातम्**[2] तादृशमेव तेजस्विनं यशस्विनं च नप्तारं, स्वकीयं पुत्रम् इत्यर्थः। **आदधीत** उत्पादयेत् ॥९॥

भावार्थः—यो जगदीश्वरेण सख्यं बध्नाति तं स आनन्दसागरे निमग्नं करोति। जगदीश्वरस्य स सखा शास्त्रोक्तविधिना गृहस्थाश्रमं पालयन् स्वानुरूपस्य तेजस्विनो यशस्विनश्च तनयस्य पिता जायते ।९।

अगले मन्त्र में इन्द्र की मित्रता का विषय है।

पदार्थ—हे इन्द्र परमेश्वर ! **सखायः** आपके सखा स्तोता लोग सदा ही **त्वा** आपको **सख्या** सखिभाव से **आ ववृत्युः** स्वीकार करें। **तिरः** उनको प्राप्त होकर आप **पुरु चित्** बहुत अधिक **अर्णवान्** आनन्द

---

१. मन्त्रोऽयमृग्वेदे पाठान्तरेण यमयमीसंवादे ऋ० १०।१०।१ इत्यत्र पठितः। तत्रेदं यम्या यमं प्रति वचनम्। तत्र ऋषिका यमी, देवता च यमः। न तत्र 'इन्द्रेण' कश्चित् सम्बन्धः। एष तावत् तत्रत्यः पाठः—'ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्। पितुर्नपातमादधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः' इति। अथर्ववेदे १८।१।१ इत्यत्रापि स एव पाठः, तत्र ऋषिः अथर्वा, देवता च यमः।

२. पितुर्न···पितुरिव पातं रक्षणम्। यथा कश्चित् पितुः रक्षणम् आधत्ते तद्वत् भवानपि अस्माकम् आदधीत आदधातु करोत्वित्यर्थः इति विवरणकृद्व्याख्यानं तु पदकारविरुद्धं, तत्र 'नपातम्' इत्येकपदत्वेन ग्रहणात्। 'पितुर्मदीयस्य नपातं पौत्रं, मम पुत्रमित्यर्थः, आदधीत वेधाः विधाता इन्द्रः—इति भ०। सायणस्यापि स एवाशयः।

के सागरों को **जगम्याः** प्राप्त कराओ। **वेधाः** स्तुति और पुरुषार्थ का कर्ता वह आपका सखा **अस्मिन् क्षये** इस घर में, गृहस्थाश्रम में **प्रतराम्** अत्यधिक **दीद्यानः** तेज और यश से प्रदीप्त होता हुआ **पितुः** अपने पिता के, वैसे ही तेजस्वी और यशस्वी **नपातम्** पौत्र को अर्थात् अपने पुत्र को **आदधीत** उत्पन्न करे ॥९॥

भावार्थ—जो जगदीश्वर से मित्रता जोड़ता है उसे वह आनन्द-सागर में निमग्न कर देता है। जगदीश्वर का वह सखा शास्त्रोक्त विधि से गृहस्थाश्रम का पालन करता हुआ अपने अनुरूप तेजस्वी और यशस्वी पुत्र का पिता बनता है ॥९॥

अथेन्द्रदेवताकेऽपि मन्त्रे ऋतप्रियत्वादिन्द्रस्य ऋतविषयमाह।

३४१. का अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्।
आसन्निषामप्सुवाहा मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात् ॥१०॥[1]

कः अद्य अ द्य युङ्क्ते धुरि गाः ऋतस्य। शिमीवतः भामिनः दुर्हृणायून् दुः हृणायून्॥ आसन् एषाम् अप्सुवाहः अप्सु वाहः मयोभून् मयः भून्। यः एषाम् भृत्याम् ऋणधत् सः जीवात् ॥१०॥

पदार्थः—**प्रथमो**ऽध्यात्मपरः। **कः** को जनः **अद्य** अस्मिन् दिने **शिमीवतः** कर्मवतः, न तु अलसान्। शिमीति कर्मनाम। निघं० २।१। **भामिनः** तेजस्विनः, **दुर्हृणायून्**[2] दुष्प्रसह्यान्, **अप्सुवाहः** अप्सु नदी धारासु इव बाधासु अपि ये वहन्ति तान्। अत्र 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्। अ० ६।३।१४' इति सप्तम्या अलुक्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः। **मयोभून्** सुखप्रापकान्। मयः इति सुखनाम। मयः भावयन्ति ये तान्। **गाः** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-प्राण-मनोबुद्धिरूपान् वृषभान् **ऋतस्य**[3] सत्यरूपस्य रथस्य **धुरि** धुरायाम् **युङ्क्ते** योजयिष्यति। **एषाम्** गतिशीलानाम्। एषन्ति गच्छन्तीति एषः तेषाम्, एष गतौ प्रयत्ने चेति धातोः क्विपि रूपम्। **एषाम्** एतेषां पूर्वोक्तानां इन्द्रियादिरूपाणां बलीवर्दानाम् **आसन्** आस्ये। 'पद्दन्नोमास्० अ० ६।१।६३' इति आस्यशब्दस्य आसन्नादेशः। 'सुपां सुलुक्० अ० ७।१।३९' इति सप्तम्या लुक्। **यः** यो जनः **भृत्याम्** भृतिम्। भृञ् भरणे धातोः 'संज्ञायां समजनिषदनिषद०। अ० ३।३।९९' इति उदात्तः क्यप्। **ऋणधत्**[4] ऋध्नोति, एतेषां पुष्ट्यै यथायोग्यम् उत्कृष्टं ग्राह्यविषयरूपं भोजनं प्रयच्छति। ऋध्नोतेः बृद्ध्यर्थाद् व्यत्ययेन श्नम्, लेटि रूपम्। **सः** असौ **जीवात्** प्रशस्तजीवनयुक्तो भविष्यति। जीवधातोर्लेटि रूपम्।

अत्र सत्यस्य धुरि इति वचनात् सत्ये रथारोपो व्यज्यते। सत्यरूपस्य रथस्य धुरि च सामान्या गावः बलीवर्दाः न योजयितुं शक्यन्ते इति गोरूपेषु आरोपविषयेषु आरोप्यमाणानि इन्द्रियादीनि गृह्यन्ते। इन्द्रियादिषु गोत्वारोपादेव तेषां मुखमपि कल्प्यते। अतिशयोक्तिरलङ्कारः॥

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रपरः। **कः** को जनः **अद्य** संकटमये दिवसे **शिमीवतः** कर्मशूरान्, **भामिनः** क्षात्रतेजोयुक्तान्, **दुर्हृणायून्** दुष्प्रधृष्यान्, **अप्सुवाहः** युद्धयात्रायां नदीसागरादीनां जले रथवहनशीलान्, **मयोभून्**

१. ऋ० १।८४।१६ 'आसन्निषून् हृत्स्वसो' इति पाठः। अथ० १८।१।६ ऋषिः अथर्वा, देवता यमः, पाठः ऋग्वेदवत्।

२. शत्रुभिर्दुर्लभं हृणं प्रसह्यकरणं येषां ते दुर्हृणास्त इवाचरन्तीति दुर्हृणायवस्तान्। 'क्याच्छन्दसि' इत्युः प्रत्ययः—इति ऋ० १।८४।१६ भाष्ये द०।

३. ऋतस्य सत्यस्य सर्वगतस्य वा इन्द्रस्य—इति वि०। ऋतस्य सत्यस्य इन्द्रस्य—इति भ०। ऋतस्य गच्छतः इन्द्रसम्बन्धिनो रथस्य—इति सा०।

४. ऋणधत्, ऋण वृद्धौ इत्यस्येदं रूपम्—इति वि०। ऋध्यात् समर्धयेत्—इति भ०।

शत्रून् विजित्य राष्ट्रवासिभ्यः सुखप्रदायकान् **गाः** गतिशीलान् सैनिकान् **ऋतस्य** राष्ट्रयज्ञस्य **धुरि** रक्षा-धुरि **युङ्क्ते** नियोजयिष्यति ? जनराड् नृपतिरेव नियोजयिष्यतीति भावः । **आसन्नेषाम्** आसनि तूणीररूपे आस्ये एषः इषवो येषां ते आसन्नेषाः, तेषाम् सञ्चितप्रभूतशस्त्रास्त्राणामित्यर्थः । ऋग्वेदे 'आसन्निषून्'[1] इति पाठादयमर्थः पदपाठमननुसरन्नपि कृतः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । **एषाम्** एतेषां सैनिकानाम् **यः** राजा **भृत्याम्** वेतनम् **ऋणधत्** काले काले वर्द्धयेत् **सः** असौ राजा **जीवात्** प्रजाभिः सह चिरं जीवेत् शत्रुविजयेन ॥१०॥

मन्त्रेऽस्मिन्नध्यात्माधिराष्ट्ररूपोभयविधार्थयोर्वाच्यत्वाच्छ्लेषालङ्कारः ॥१०॥

भावार्थः—सत्यस्य ज्ञानार्थं प्रसारार्थं चात्ममनोबुद्धिप्राणेन्द्रियाणां यथायोग्यमुपयोगो जनैः कार्यः । किञ्च राष्ट्रशासकेन नृपतिना राष्ट्ररक्षकाः सैनिकाः पुष्कलवेतनप्रदानादिना सत्कार्याः ॥१०॥

अत्र तार्क्ष्यनाम्ना परमेश्वरादेः स्मरणाद्, इन्द्रपर्वतयुगलस्य स्तुतिपूर्वकं चेन्द्रस्य स्तवनात्, तत्-सखित्वयाचनाद्, इन्द्रियरूपाणां गवां महत्त्ववर्णनाद्, नृपसैनिकाद्यर्थानां चापि सूचनाद् एतद्दशत्यर्थस्य पूर्व-दशत्यर्थेन सह संगतिरस्तीति वेद्यम् ।

इति चतुर्थे प्रपाठके प्रथमार्द्धे पञ्चमी दशतिः ।
इति चतुर्थे प्रपाठके प्रथमार्द्धः ।
इति तृतीयेऽध्याये एकादशः खण्डः ॥

इन्द्र देवता वाले भी अगले मन्त्र में इन्द्र को क्योंकि सत्य प्रिय है, अतः सत्य का विषय वर्णित है ।

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्म पक्ष में । **कः** कौन मनुष्य **अद्य** आज **शिमीवतः** कर्मवान्, आलस्यरहित, **भामिनः** तेजस्वी, **दुर्हणायून्** दुष्पराजेय, **अप्सुवाहः** नदी की धाराओं के सदृश बाधाओं के बीच से भी वहन कर ले जाने वाले, **मयोभून्** सुखप्रापक **गाः** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-प्राण-मन-बुद्धि रूप बैलों को **ऋतस्य** सत्य-रूप रथ के **धुरि** धुरे में **युङ्क्ते** जोड़ेगा । **एषाम्** गतिशील **एषाम्** इन पूर्वोक्त इन्द्रियादिरूप बैलों के **आसन्** मुख में **यः** जो मनुष्य **भृत्याम्** उन-उनके उत्कृष्ट ग्राह्यविषयरूप जीविकाद्रव्य को **ऋणधत्** वृद्धि के साथ प्रदान करेगा **सः** वह **जीवात्** प्रशस्त जीवन से युक्त होगा ॥

यहाँ 'सत्य के धुरे में' इस कथन से सत्य में रथ का आरोप ध्वनित होता है । सत्य के धुरे में सामान्य बैल क्योंकि नहीं जोड़े जा सकते, अतः आरोप के विषय बैलों में आरोप्यमाण इन्द्रियादि गृहीत होते हैं । इन्द्रियादि में बैलों का आरोप होने से ही उनके मुख की भी कल्पना कर ली गयी है । अतिशयोक्ति अलंकार है ।

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में । **कः** कौन मनुष्य **अद्य** आज, संकट के समय **शिमीवतः** कर्मशूर, **भामिनः** क्षात्र तेज से युक्त, **दुर्हणायून्** दुष्पराजेय, **अप्सुवाहः** युद्धयात्रा में नदी, समुद्र आदि के जलों में युद्धपोत को खेकर ले जाने वाले, **मयोभून्** शत्रुओं को जीतकर राष्ट्रवासियों को सुख देने वाले **गाः** गतिशील सैनिकों को **ऋतस्य** राष्ट्ररूप यज्ञ के **धुरि** रक्षा के धुरे में **युङ्क्ते** नियुक्त करेगा ? राजा ही नियुक्त करेगा यह अभिप्राय है । **आसन्नेषाम्** जिनके तरकस में बाण हैं अर्थात् जिन्होंने प्रचुर शस्त्रास्त्रों का संचय किया हुआ है ऐसे **एषाम्** इन सैनिकों के **यः** जो राजा **भृत्याम्** वेतन को **ऋणधत्** समय-समय पर बढ़ायेगा **सः** वह राजा **जीवात्** शत्रु-विजय करके प्रजाओं के साथ चिरकाल तक जीवित रहेगा ॥१०॥

---

१. आसन्ऽइषून्—इति पदपाठः । 'आसन्निषून् येषामासनि आस्ये मुखप्रदेशे शत्रूणां प्रहरणार्थमिषवो बाणा बद्धास्तान्—इति ऋ० १।८४।१६ भाष्ये सा० ।

इस मन्त्र में अध्यात्म और अधिराष्ट्र उभयविध अर्थ वाच्य होने से श्लेषालंकार है ॥१०॥

भावार्थ—सत्य के ज्ञानार्थ तथा प्रचारार्थ आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण एवं इन्द्रियों का यथोचित उपयोग मनुष्यों को करना चाहिए, और राष्ट्र के शासक राजा को चाहिए कि राष्ट्र के रक्षक सैनिकों का भरपूर वेतन-प्रदान आदि से सत्कार करे ॥१०॥

इस दशति में तार्क्ष्य नाम से परमेश्वर का स्मरण करने, इन्द्र-पर्वत के युगल की स्तुति पूर्वक इन्द्र का स्तवन करने, उसके सख्य की याचना करने, इन्द्रिय-रूप गौओं का महत्त्व वर्णन करने तथा राजा, सैनिक आदि अर्थों के भी सूचित होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

चतुर्थ प्रपाठक में प्रथम अर्ध की पाँचवीं दशति समाप्त ।

चतुर्थ प्रपाठक का प्रथम अर्ध समाप्त ।

तृतीय अध्याय में ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

॥६॥ अथ 'गायन्ति त्वा' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ मधुच्छन्दाः; २ जेता माधुच्छन्दसः; ३,६ गोतमः; ४ अत्रिः; ५,८,९ तिरश्चीः; ७ काण्वो नीपातिथिः; १० शंयुर्बार्हस्पत्यः ॥

देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

तत्रादौ इन्द्रस्य महिमानं सर्वे गायन्तीत्याह ।

३४२. गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥१॥[1]
गायन्ति त्वा गायत्रिणः । अर्चन्ति अर्कम् अर्किणः ॥
ब्रह्माणः त्वा शतक्रतो शत क्रतो । उत् वंशम् इव येमिरे ॥१॥

पदार्थः—हे **शतक्रतो** बहुप्रज्ञ बहुकर्मन् इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! **गायत्रिणः** गायत्रं साम, तद्गानकर्तारः गायकाः, यद्वा यज्ञे उद्गातारो नाम ऋत्विजः **त्वा** त्वाम् **गायन्ति** गानविषयीकुर्वन्ति । **अर्किणः** वेदमन्त्रार्थाध्येतारो जनाः, यद्वा अर्चकाः होतारः अध्वर्यवश्च ऋत्विजः । अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति । अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति । निरु० ५।४ । अर्को देवो मन्त्रो वा येषामस्तीति ते अर्किणः । **त्वा** त्वाम् **अर्चन्ति** स्तुवन्ति । **ब्रह्माणः** ब्रह्मोपासकाः ब्राह्मणाः, यद्वा ब्रह्माणो नाम ऋत्विजः **त्वा** त्वाम् **वंशम् इव**[2] ध्वजदण्डमिव, **उद्येमिरे** उद्यच्छन्ति, उद्गमयन्ति, ध्वजवंशमुन्नयन्तः पताकिनः पताकां यथा वियति दोधूयन्ते तथा ते त्वत्कीर्तिं सर्वत्र प्रसारयन्तीत्यर्थः । उत्-पूर्वाद् यम उपरमे धातोः कालसामान्ये लिट् ॥१॥

यास्काचार्य इमं मन्त्रमेवं व्याख्यातवान्—गायन्ति त्वा गायत्रिणः, प्रार्चन्ति तेऽर्कमर्किणो, ब्राह्मणास्त्वा शतक्रत उद्येमिरे वंशमिव । वंशो वनशयो भवति, वननाच्छ्रूयत इति वेति निरु० ५।४ ।

अत्रोपमालङ्कारः, ग्रहीतृभेदादेकस्यानेकधोल्लेखे उल्लेखालङ्कारश्च[3] । 'गाय, गाय' इति यमकम्, द्वितीये पादेऽनुप्रासः ॥१॥

---

१. ऋ० १।१०।१, साम० १३४४ ।

२. यथा वंशाग्रे नृत्यन्तः शिल्पिनः प्रौढं वंशमुन्नतं कुर्वन्ति, यथा वा सन्मार्गवर्तिनः पुत्राः स्वकीयं कुलमुन्नतं कुर्वन्ति तद्वत्—इति सा० । यथोत्कृष्टैर्गुणैः शिक्षणैश्च स्वकीयं वंशमुद्यमवन्तं कुर्वन्ति तथेति ऋग्भाष्ये द० ।

३. क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतणां विषयाणां तथा क्वचित् । एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते । सा० द० १०।३७ इति तल्लक्षणात् ।

भावार्थः—साङ्गोपाङ्गं वेदानधीत्य यज्ञादिषु मन्त्रोच्चारणपूर्वकं सामगानसहितं च परमेश्वरं समभ्यर्चद्भिर्जनैस्तन्महिमा गगने प्रोत्तोलितः पवनान्दोलितो ध्वज इव सर्वत्र प्रसारणीयः ॥१॥[1]

प्रथम मन्त्र में यह विषय है कि इन्द्र की महिमा का सब गान करते हैं।

पदार्थ—हे **शतक्रतो** बहुत बुद्धिमान् तथा बहुत कर्मों को करने वाले परमैश्वर्यवान् परमात्मन् ! **गायत्रिणः** सामगान करने वाले गायक जन अथवा यज्ञ के उद्गाता नामक ऋत्विज् **त्वा** तेरा **गायन्ति** गान करते हैं। **अर्किणः** वेदमन्त्रार्थों का अध्ययन करने वाले जन अथवा पूजक होता और अध्वर्यु नामक ऋत्विज् **त्वा** तेरी **अर्चन्ति** स्तुति करते हैं। **ब्राह्मणाः** ब्रह्मोपासक ब्राह्मण अथवा यज्ञ के ब्रह्मा नामक ऋत्विज् **त्वा** तुझे **वंशम् इव** ध्वजदण्ड के समान **उद्येमिरे** ऊपर उठाते हैं, अर्थात् जैसे पताकाधारी लोग पताका के डण्डे को ऊँचा उठाकर आकाश में पताका को फहराते हैं, वैसे ही ब्राह्मण जन और यज्ञ के ब्रह्मा लोग तेरी कीर्ति को सर्वत्र फहराते हैं ॥१॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है। 'गाय, गाय' में यमक है। द्वितीय पाद में अनुप्रास है॥१॥

भावार्थ—मनुष्यों को चहिए कि सांगोपांग वेदों को पढ़कर, यज्ञ आदि में मन्त्रोच्चारणपूर्वक और सामगान सहित परमेश्वर की अर्चना करते हुए उसकी महिमा को गगन में ऊँची उठायी हुई, हवा से लहराती हुई ध्वजा के समान सर्वत्र प्रसारित करें ॥१॥

अथ पुनरिन्द्रस्य महिम्नो विषयमाह।

३४३. इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥२॥[2]

इन्द्रम् विश्वाः अवीवृधन्। समुद्रव्यचसम् समुद्र व्यचसम् गिरः॥
रथीतमम् रथीनाम्। वाजानाम् सत्पतिम् सत् पतिम् पतिम् ॥२॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपक्षे। **विश्वाः** सर्वाः **गिरः** वेदवाचः स्तुतिवाचो वा **समुद्रव्यचसम्** अब्धिवद् अन्तरिक्षवद् वा व्यचाः व्याप्तिर्यस्य तम्। समुद्र इत्यन्तरिक्षनामसु पठितम्। निघं० १।३। स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि ऋ० १०।९८।५ इति प्रामाण्यात् अब्धिराकाशश्चोभयमपि समुद्रशब्देनोच्यते। व्यचस् इति व्यचतिर्व्याप्तिकर्मणोऽसुन् प्रत्ययान्तम्। रक्-प्रत्ययान्तः समुद्रशब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः, बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। **रथीनाम्** रथवताम् **रथीतमम्** रथवत्तमम् पृथिवीसूर्यचन्द्रादीनाम् अनेकेषां रंहणवतां लोकानां सर्वातिशायिनमधीश्वरम् इत्यर्थः। रथशब्दात् 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ।' अ० ५।२।१२२ वा० इति मतुवर्थे ई प्रत्ययः। **वाजानाम्** सर्वेषां बलानाम् **पतिम्** अधीश्वरम्, **सत्पतिम्** सतां सज्जनानां सद्गुणानां सदाचाराणां वा रक्षकम् **इन्द्रम्** परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् **अवीवृधन्** वर्द्धयन्ति, प्रचारयन्तीत्यर्थः।[3]

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं परमेश्वरार्चनविषय एव व्याख्यातवान्।

२. ऋ० १।११।१। य० १२।५६, १७।६१ उभयोः ऋषिः सुतजेतृमधुच्छन्दाः; १५।६१ ऋषिः मधुच्छन्दाः। साम० ८२७।

३. (समुद्रव्यचसम्) समुद्रेऽन्तरिक्षे व्यचा व्याप्तिर्यस्य तं सर्वव्यापिनमीश्वरम्। (रथीतमम्) बहवो रथा रमणाधिकरणाः पृथिवीसूर्यादयो लोका विद्यन्ते यस्मिन् स रथीरीश्वरः सोऽतिशयितस्तम्। (सत्पतिम्) यः सतां नाशरहितानां प्रकृत्यादिकारणद्रव्याणां पतिः स्वामी तमीश्वरम् (पतिम्) यः पाति रक्षति चराचरं जगत् तमीश्वरम्। इति ऋ० १।११।१ भाष्ये द०।

अथ **द्वितीयो** राजपक्षे । **विश्वाः** सर्वाः **गिरः** राष्ट्रवासिनां प्रजाजनानां वाचः **समुद्रव्यचसम्** जलपोतैः सागरे विमानैश्चान्तरिक्षे व्यचाः व्याप्तिर्यस्य तम्, **रथीनाम्** यानस्वामिनां मध्ये **रथीतमम्** अतिशयेन भूजलान्तरिक्षयानस्वामिनम्, **वाजानाम्** दैहिकमानसाऽऽत्मिकबलानाम् अन्नानां, युद्धानां वा **पतिम्** अधीश्वरम्, **सत्पतिम्** सतां सत्पुरुषाणां सत्कर्मणां च रक्षकम् **इन्द्रम्** शत्रुविदारकं प्रजानां सुखप्रदं राजानम् **अवीवृधन्** वर्द्धयन्तु, उत्साहयन्तु । अत्र लोडर्थे लुङ् ॥२॥[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः । 'रथी-रथी' इत्यत्र लाटानुप्रासः । 'पतिम्-पतिम्' इत्यत्र यमकम् ॥२॥

भावार्थः—सर्वा वेदवाचः स्तुतिवाचश्च परमेश्वरस्यैव महिमानं गायन्ति । तथैव राष्ट्रे प्रजानां वाचः प्रजावत्सलस्य नृपतेर्महिमानं गायन्तु ॥२॥[2]

अगले मन्त्र में पुनः इन्द्र की महिमा का विषय वर्णित है ।

पदार्थ—**प्रथम** परमेश्वर के पक्ष में । **विश्वाः** सब **गिरः** स्तुति-वाणियाँ वा वेद-वाणियाँ **समुद्रव्यचसम्** सागर और अन्तरिक्ष के समान व्याप्ति वाले, **रथीनाम्** रथवालों में **रथीतमम्** सबसे बढ़कर रथ वाले अर्थात् पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि अनेक रथसदृश गतिशील लोकों के सर्वोच्च स्वामी, **वाजानाम्** सब बलों के **पतिम्** अधीश्वर, **सत्पतिम्** सज्जनों, सद्गुणों व सदाचारों के रक्षक **इन्द्रम्** परमैश्वर्यवान् परमात्मा का **अवीवृधन्** वर्धन अर्थात् महिमागान द्वारा प्रचार-प्रसार करती हैं ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में । **विश्वाः** सब **गिरः** राष्ट्रवासी प्रजाजनों की वाणियाँ **समुद्रव्यचसम्** जलपोतों से सागर में और विमानों से अन्तरिक्ष में व्याप्त, **रथीनाम्** यान-स्वामियों में **रथीतमम्** भूयान, जलयान और विमानों के सबसे बड़े स्वामी, **वाजानाम्** दैहिक, मानसिक और आत्मिक बलों, अन्नों वा युद्धों के **पतिम्** अधीश्वर, **सत्पतिम्** सज्जनों वा सत्कर्मों के रक्षक **इन्द्रम्** शत्रुविदारक तथा सुखप्रद राजा को **अवीवृधन्** बढ़ायें, उत्साहित करें ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । 'रथी, रथी' में लाटानुप्रास और 'पतिम्, पतिम्' में यमक है ॥२॥

भावार्थ—सब वेदवाणियाँ और स्तोताओं की वाणियाँ परमेश्वर की ही महिमा का गान करती हैं । वैसे ही राष्ट्र में प्रजाओं की वाणियाँ प्रजावत्सल राजा की महिमा का गान करें ॥२॥

अथेन्द्रः सोमरसं पिबेदित्याह ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
३४४. इमामिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम् ।
३ १ २ ३क २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन् धारा ऋतस्य सादने ॥३॥[3]

१ २ ३ २ ३ १ २ १ १ २ ३ १ २ १
इमम् इन्द्र सुतम् पिब । ज्येष्ठम् अमर्त्यम् अ मर्त्यम् मदम् ॥
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १
शुक्रस्य त्वा अभि अक्षरन् । धाराः ऋतस्य सादने ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । हे **इन्द्र** अध्यात्मसम्पत्प्रदातः परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! त्वम् **इमम्** प्रत्यक्षम् **ज्येष्ठम्** अतिशयेन प्रशस्यम् । इष्ठन् प्रत्यये 'ज्य च । अ० ५।३।६१' इति प्रशस्यस्य

---

१. (समुद्रव्यचसम्) समुद्रे नौकादिविजयगुणसाधनव्यापिनं शूरवीरम् । (रथीतमम्) रथाः प्रशस्ता रणविजयहेतवो विमानादयो विद्यन्ते यस्य सोऽतिशयितः शूरस्तम्—इति तत्रैव द० ।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्वेदभाष्ये परमेश्वरविषये शूरविषये च, य० १२।६१ भाष्ये कुमारकुमारीणां कर्त्तव्यविषये, य० १५।६१ भाष्ये राजप्रजाविषये, य० १७।६१ भाष्ये च जगत्स्रष्टुरीश्वरस्य गुणविषये व्याख्यातवान् ।

३. ऋ० १।८४।४; साम० ६४६ ।

ज्यादेशः। **अमर्त्यम्**[1] दिव्यम्, **मदम्** स्तोतुरानन्दप्रदम् **सुतम्** अभिषुतमस्माकं श्रद्धारसरूपं सोमम् **पिब** आस्वादय। **ऋतस्य**[2] ध्यानयज्ञस्य। ऋतम् इति यज्ञनाम निरु० ६।२२। **सादने** सदने, हृदये इत्यर्थः **शुक्रस्य** दीप्तस्य पवित्रस्य च श्रद्धारसस्य। शुच दीप्तौ, शुचिर पूतीभावे। ऋजेन्द्र० उ० २।२९ इति रन् प्रत्यये नित्त्वादाद्युदात्ते प्राप्ते निपातनादन्तोदात्तत्वम्। **धाराः** प्रवाहसन्ततयः **त्वा अभि** त्वां प्रति **अक्षरन्** स्रवन्ति।

अथ **द्वितीयो** गुरुशिष्यपरः। शिष्यं प्रति आचार्यस्योक्तिरियम्। हे **इन्द्र**[3] जिज्ञासो, विद्युद्वत् तीव्रबुद्धे मदीय शिष्य ! त्वम् **इमम्** मया प्रदीयमानम्, **ज्येष्ठम्** श्रेष्ठम्, **अमर्त्यम्** चिरस्थायिनम्। अमरमिति वाच्यार्थः, चिरस्थायिनमिति लक्ष्यार्थः, तेन अतिशयरूपोऽर्थो द्योत्यते। **मदम्** तृप्तिप्रदम् **सुतम्** अध्ययनाध्यापनविधिना निष्पादितम् ज्ञानरसम् **पिब** आस्वादय। यं ज्ञानरसम् **शुक्रस्य** पवित्रस्य **ऋतस्य** अध्ययनाध्यापनयज्ञस्य **सादने** गृहे, गुरुकुले इत्यर्थः **धाराः** मदीयाः वाचः। धारा इति वाङ्नाम। निघं० १।११। **त्वा अभि** त्वां प्रति **अक्षरन्** क्षारयन्ति, सिञ्चन्ति ॥३॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—सर्वे दुःखविदारकमानन्दसिन्धुं परमेश्वरं प्रति श्रद्धां हृदि निधाय तमुपासीरन्, गुरवश्च शिष्यान् प्रति प्रेम्णा प्रभाविशिक्षापद्धत्या विद्यां प्रदद्युः ॥३॥[4]

अगले मन्त्र में यह विषय है कि इन्द्र सोमरस का पान करे।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे **इन्द्र** अध्यात्मसम्पत्ति के प्रदाता परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! तुम **इमम्** इस **ज्येष्ठम्** अतिशय प्रशंसनीय, **अमर्त्यम्** दिव्य, **मदम्** स्तोता को आनन्द देने वाले **सुतम्** तैयार किये हुए हमारे श्रद्धारसरूप सोम का **पिब** पान करो। **ऋतस्य** ध्यान-यज्ञ के **सादने** सदनभूत हृदय में **शुक्रस्य** दीप्त, पवित्र श्रद्धारस की **धाराः** धाराएँ **त्वा अभि** तुम्हारे प्रति **अक्षरन्** बह रही हैं।

द्वितीय गुरु-शिष्य पक्ष में। शिष्य के प्रति यह आचार्य की उक्ति है। हे **इन्द्र** जिज्ञासु एवं विद्युत् के समान तीव्रबुद्धि वाले मेरे शिष्य ! तू **इमम्** मेरे द्वारा दिये जाते हुए इस **ज्येष्ठम्** श्रेष्ठ, **अमर्त्यम्** चिरस्थायी, **मदम्** तृप्तिप्रद, **सुतम्** अध्ययन-अध्यापन-विधि से निष्पादित ज्ञानरस को **पिब** पान कर, जिस ज्ञानरस को **शुक्रस्य** पवित्र **ऋतस्य** अध्ययन-अध्यापन-रूप यज्ञ के **सादने** सदन में, अर्थात् गुरुकुल में **धाराः** मेरी वाणियाँ **त्वा अभि** तेरे प्रति **अक्षरन्** सींच रही हैं ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—सब लोग दुःखविदारक, आनन्द के सिन्धु परमेश्वर के प्रति श्रद्धा को हृदय में धारण कर उसकी उपासना करें और गुरुजन शिष्यों के प्रति प्रेम से प्रभावी शिक्षा-पद्धति द्वारा विद्या प्रदान करें ॥३॥

---

१. अमर्त्यम् दिव्यम् —इति ऋ० १।८४।४ भाष्ये द०। अमर्त्यम् अमर्त्यताहेतुम्—इति भ०। अस्माकम् सोमपानजन्यो मदो मदान्तरवन्मारको न भवतीत्यर्थः—इति सा०।

२. ऋतस्य यज्ञस्य सादने गृहे यज्ञवास्तुनि —इति भ०।

३. (इन्द्र) योगैश्वर्यजिज्ञासो इति ऋ० १।१७६।६ भाष्ये, (इन्द्रम्) विद्युद्वत्तीव्रबुद्धिम् इति च ऋ० ६।४८।१४ भाष्ये द०।

४. एतन्मन्त्रव्याख्याने दयानन्दर्षिर्ऋग्भाष्ये "कश्चिदपि विद्यासुभोजनैर्विना वीर्यं प्राप्तुं न शक्नोति, तेन विना सत्यस्य विज्ञानं विजयश्च न जायते" इति भावार्थं प्राह।

अथेन्द्रो धनदानाय प्रार्थ्यते ।

३४५. यदिन्द्र चित्र म इह नास्ति त्वादातमद्रिवः ।
राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर ॥४॥[1]
यत् इन्द्र चित्र मे इह । न अस्ति त्वादातम् त्वा दातम् अद्रिवः अ द्रिवः ॥
राधः तत् नः विदद्वसो विदत् वसो । उभयाहस्ति आ भर ॥४॥

पदार्थः—प्रथमः परमात्मपरः । हे **चित्र**[2] अद्भुतगुणकर्मस्वभाव **अद्रिवः** वज्रिन्, वज्रधर इव दुष्कर्मणां दण्डप्रदातः **इन्द्र** जगदीश्वर ! **यत्** आध्यात्मिकं भौतिकं च धनम् **त्वादातम्**[3] अस्मत्कर्मपरिपाकवशाद्वा अस्माकं पौरुषहीनत्वाद्वा त्वया छिन्नम् अवरुद्धं सत् । दातमिति दैप् लवने धातोर्निष्ठायां रूपम् । त्वया दातं त्वादातम् । **मे** मम **इह** अत्र **नास्ति** न विद्यते **तत् राधः** तद् धनम्, हे **विदद्वसो**[4] ज्ञानधन, लब्धधन वा परमेश्वर ! त्वम् **उभयाहस्ति**[5] उभये हस्ताः प्रवर्तन्ते यथा तथा । 'द्विदण्डादिभ्यश्च । अ० ५।४।१२८' इति इच् प्रत्ययान्तोऽयं निपातः । चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् । **आ भर** मह्यम् आहर ।

निराकारस्यापि परमेश्वरस्य विषये उभयहस्ताभ्यां दानवर्णनं दानस्य प्रचुरत्वद्योतनार्थम् आलङ्कारिकं विज्ञेयम् ।

अथ **द्वितीयो** राजप्रजापरः । दुर्भिक्षमहाव्याधिनदीपूरादिविपत्पीडितो जनो राजानं याचते । हे **चित्र** अद्भुतदानशौण्ड, **अद्रिवः**[6] मेघवान् सूर्य इव राष्ट्रे धनादीनां वृष्टिकर्तः, अद्रिरिति मेघनाम । निघं० १।१० । **इन्द्र** विपद्विदारक राजन् ! **त्वादातम्** त्वया दातव्यम् । द्रष्टव्यम् अधः प्रदत्तं निरुक्तव्याख्यानम् । **यत्** यद् धनम् **मे** मम **इह** अस्मिन् संकटकाले **नास्ति** इदानीं यावत् त्वत्सकाशाद् न प्राप्तमस्ति, **तत् राधः** तद् धनम्, हे **विदद्वसो** सञ्चितधन राजन् ! त्वम् **उभयाहस्ति** उभयैरपि हस्तैः **आभर** मह्यं देहि, दत्त्वा च विपद्ग्रस्तस्य मम सहायतां कुरु ॥४॥[7]

यास्काचार्य इमामृचमेवं व्याख्यातवान्—यदिन्द्र चित्रं चायनीयं मंहनीयं धनमस्ति । यन्म इह नास्तीति वा त्रीणि मध्यमानि पदानि । त्वया नस्तद् दातव्यम् । अद्रिवन्, अद्रिरादृणात्येतेन, अपि वाऽस्तेः स्यात् 'ते सोमादः' इति ह विज्ञायते । राध इति धननाम राध्नुवन्त्येतेन । तन्नस्त्वं वित्तधन, उभाभ्यां हस्ताभ्याम् आहर । उभौ समुद्धौ भवतः इति । (निरु० ४।४) ।

१. ऋ० ५।३६।१ 'म इह नास्ति' इत्यत्र 'मेहनास्ति' इति पाठः ।

२. चित्र विचित्र पूज्य वा—इति वि० । पूजनीय—इति भ० । चायनीय—इति सा० । अद्भुतगुणकर्मस्वभाव—इति ऋ० ५।३६।१ भाष्ये द० ।

३. त्वया दातव्यम्—इति वि०, सा० । त्वया देयम्—इति भ० । त्वया शोधितम्—इति ऋग्भाष्ये द० । दयानन्देन दैप् शोधने इत्यस्य क्तान्तं रूपं मत्वेदं व्याख्यातम् ।

४. लब्धधन—इति वि०, सा० । वेदयति लम्भयति वसूनीति विदद्वसुः—इति भ० ।

५. उभया, उभयशब्द दुत्तरस्य तृतीयाद्विवचनस्य 'सुपां सुलुक्० (अ० ७।१।३९)' इति या आदेशः । उभाभ्यामित्यर्थः । हस्त्या, हस्त शब्दादुत्तरस्य तृतीयाद्विवचनस्य 'सुपां सुलुक्०' इति या आदेशः । हस्ताभ्यामित्यर्थः—इति वि० । उभया हस्त्या उभाभ्यां हस्ताभ्यां संगृहीतम्—इति भ० । उभया हस्त्या उभाभ्यां हस्ताभ्याम्—इति सा० । एतत्सर्वम् 'उभया हस्त्या' इति विच्छिद्य व्याख्यातमिति पदकारविरुद्धम् । 'उभयाहस्ति' इत्येव ऋग्वेदीयः पदपाठोऽपि । '(उभयाहस्ति) उभये हस्ताः प्रवर्तन्ते यस्मिंस्तत्'—इति ऋग्भाष्ये द० ।

६. (अद्रिवः) सूर्य इव विद्याप्रकाशक—इति ऋ० ५।३६।१ भाष्ये द० ।

७. दयानन्दर्षिर्ऋग्भाष्ये मन्त्रमिमं राजप्रजाविषये व्याख्यातवान् ।

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥४॥

भावार्थः—आध्यात्मिकभौतिकधनविहीना जनाः पुरुषार्थं कुर्वन्तश्चेत् परमेश्वरं धनं याचन्ते तदा तत्कृपातस्तेषामुपरि धनवृष्टिरवश्यं भवति। एवं नरेश्वरेणापि संकटग्रस्तानां प्रजानां त्राणाय पुष्कलधन-दानेन तेषां साहाय्यमवश्यं विधेयम् ॥४॥

अगले मन्त्र में इन्द्र से धन के दान की प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे **चित्र** अद्भुतगुणकर्मस्वभाव वाले, **अद्रिवः** वज्रधारी के समान दुष्कर्मों का दण्ड देने वाले **इन्द्र** जगदीश्वर! **यत्** जो आध्यात्मिक और भौतिक धन, हमारे कर्मों के परिपाक के कारण अथवा हमारी पौरुषहीनता के कारण **त्वादातम्** तेरे द्वारा काटा या रोका हुआ **मे** मुझे **इह** यहाँ **नास्ति** नहीं मिल रहा है, **तत् राधः** वह धन, हे **विदद्वसो** ज्ञात अथवा प्राप्त धन वाले परमेश्वर! तू **उभयाहस्ति** दोनों हाथों को प्रवृत्त करके **आ भर** मुझे प्रदान कर।

यहाँ निराकार भी परमेश्वर के विषय में दोनों हाथों से दान का वर्णन दान की प्रचुरता को द्योतित करने के लिए आलंकारिक जानना चाहिए।

द्वितीय राजा-प्रजा के पक्ष में। दुर्भिक्ष, महामारी, नदियों में बाढ़ आदि विपत्तियों से पीड़ित प्रजा राजा से याचना कर रही है। हे **चित्र** अद्भुत दानी, **अद्रिवः** मेघों वाले सूर्य के समान राष्ट्र में धन आदि की वृष्टि करने वाले **इन्द्र** विपत्तियों के विदारक राजन्! **त्वादातम्** आपके द्वारा देय **यत्** जो धन **मे** मुझे **इह** इस संकटकाल में, अब तक **नास्ति** नहीं मिला है, **तत् राधः** वह धन, हे **विदद्वसो** धन का संचय किये हुए राजन्! आप **उभयाहस्ति** दोनों हाथों से भर-भर कर **आभर** मुझे दीजिए, देकर मुझ विपत्तिग्रस्त की सहायता कीजिए ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥४॥

भावार्थ—आध्यात्मिक और भौतिक धन से रहित लोग पुरुषार्थ करते हुए यदि परमेश्वर से धन माँगते हैं, तो उसकी कृपा से उनके ऊपर धन की वर्षा अवश्य होती है। इसी प्रकार राजा को भी संकटग्रस्त प्रजाओं की रक्षा के लिए पुष्कल धन देकर उनकी सहायता अवश्य करनी चाहिए ॥४॥

अथ पुनरपीन्द्रं धनानि प्रार्थयते।

३४६. श्रुधी हवं तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति।
सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्धि महाँ असि ॥५॥[1]

श्रुधि हवम् तिरश्च्याः तिरः च्याः। इन्द्र यः त्वा सपर्यति॥
सुवीर्यस्य सु वीर्यस्य गोमतः। रायः पूर्धि महान् असि ॥५॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** भक्तवत्सल परमात्मन्! **यः** जनः **त्वा** त्वाम् **सपर्यति** आराध्नोति, तस्य **तिरश्च्याः** तिरः त्वां प्राप्तः सन् अञ्चति कर्मण्यो भवतीति तिरश्चीः तस्य, अथवा यः सुदीर्घं जटिलं मार्गमुपेक्ष्य शरवत् तिरोऽञ्चति स तिरश्चीः तस्य। यथाह श्रुतिः 'नाहमतो निरया दुर्गहैतत् तिरश्चता पाश्वान्निर्गमाणि' ऋ० ४।१८।२ इति। तिरः सतः इति प्राप्तस्य। निरु० ३।२०। अञ्चेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम्। अ० ६।१।१७०' इति विभक्तिरुदात्ता। **हवम्** आह्वानम् **श्रुधि** शृणु, पूरयेत्यर्थः। 'श्रुशृणुपॄकृवृभ्य-

१. ऋ० ८।९५।४, साम० ८८३।

इछन्दसि । अ० ६।४।१०२' इति हेर्धिः । 'अन्येषामपि दृश्यते । अ० ६।३।१३७' इति दीर्घः । किं च, तस्मै **सुवीर्यस्य** सुपराक्रमयुक्तस्य । बहुव्रीहौ 'वीरवीर्यौ च । अ० ६।२।१२०' इति वीर्यशब्दस्याद्युदात्तत्वम् । **गोमतः** प्रशस्तधेनुपृथिवीवागादियुक्तस्य **रायः**[1] विद्यारोग्यचक्रवर्तिराज्यादिरूपस्य ऐश्वर्यस्य । ऊडिदम्पदाद्युप्पुम्रैद्युभ्यः । अ० ६।१।१७१' इति रैशब्दादुत्तरा विभक्तिरुदात्ता । **पूर्धि** पूर्तिं कुरु । त्वम् **महान्** उदारहृदयः **असि** वर्त्तसे ॥५॥

भावार्थः—यः श्रद्धावनतः सन् परमेश्वरं पूजयति, ततः प्रेरणां गृहीत्वा पुरुषार्थं करोति, सुदीर्घे मार्गे शक्तिं कालं चानपव्ययीकृत्य शरवत् तिरो लक्ष्यं प्रति गच्छति, तस्य सर्वाः सम्पदः सद्य एव हस्तगता भवन्ति ॥५॥

अगले मन्त्र में पुनः इन्द्र से धनों की प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** भक्तवत्सल परमात्मन् ! **यः** जो मनुष्य **त्वा** आपकी **सपर्यति** आराधना करता है, उस **तिरश्च्याः** आपको प्राप्त होकर पुरुषार्थ करने वाले अथवा लम्बे जटिल मार्ग को छोड़कर बाण के समान चीरते हुए आगे बढ़ते चले जाने वाले मनुष्य के **हवम्** आह्वान को, आप **श्रुधि** सुनिए अर्थात् पूर्ण कीजिए । साथ ही उसके लिए **गोमतः** प्रशस्त गाय, पृथिवी, वाणी आदि से युक्त **रायः** विद्या, आरोग्य, चक्रवर्ती राज्य आदि ऐश्वर्य की **पूर्धि** पूर्ति कीजिए । आप **महान्** महान्, उदार हृदय वाले **असि** हैं ॥५॥

भावार्थ—जो श्रद्धावनत होकर परमेश्वर की पूजा करता है, उससे प्रेरणा लेकर पुरुषार्थ करता है और लम्बे मार्ग पर जाने से शक्ति तथा समय का व्यय न करके लक्ष्य के प्रति बाण के समान सीधा चलता चला जाता है, उसे सब सम्पत्तियाँ शीघ्र ही हस्तगत हो जाती हैं ॥५॥

अथेन्द्रं सोमपानायाह्वयति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
३४७. असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवा गहि ।
१ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २
आ त्वा पृणक्त्विन्द्रियं रजः सूर्यो न रश्मिभिः ॥६॥[2]

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
असावि सोमः इन्द्र ते । शविष्ठ धृष्णो आ गहि ॥
२ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आ त्वा पृणक्तु इन्द्रियम् । रजः सूर्यः न रश्मिभिः ॥६॥

पदार्थः—**प्रथमो** जीवात्मपरः । हे **इन्द्र** मदीय अन्तरात्मन् ! ते तुभ्यम् **सोमः** ज्ञानोत्साहादिरसः **असावि** मया अभिषूयते । हे **शविष्ठ**[3] बलिष्ठ **धृष्णो** कामादिरिपूणां प्रसहनशील ! **आ गहि** त्वम् रसपानाय आगच्छ, अभिमुखो भवेत्यर्थः । **इन्द्रियम्** ज्ञानसाधनं मदीयं मनश्चक्षुरादिकम् **रश्मिभिः** ज्ञानप्रकाशैः **त्वा** त्वाम् **आ पृणक्तु**[4] आ पूरयतु । पृची सम्पर्कार्थे पठितः, आङ्पूर्वोऽत्र पूरणे वर्तते । **सूर्यः** आदित्यः **न** यथा **रश्मिभिः** स्वदीधितिभिः **रजः** पृथिव्यन्तरिक्षादिकं लोकम् । लोका रजांस्युच्यन्ते । निरु० ४।१९ । आपृणक्ति आपूरयति ॥

---

१. पूरयतेः योगे करणे प्रायः षष्ठ्येव दृश्यते—इति भ० ।

२. ऋ० १।८४।१, साम० १०२८ ।

३. (शविष्ठ) बहु शवो बलं विद्यते यस्य स शवस्वान्, सोऽतिशयितः तत्सम्बुद्धौ । अत्र शवश्शब्दाद् भूम्न्यर्थे मतुप्, तत इष्ठन् । 'विन्मतोर्लुक् । अ० ५।३।६५ इति मतुपो लुक्, 'टेः' अ० ६।४।१५५ अनेन टिलोपः । इति य० ६।३७ भाष्ये द० ।

४. पृणिः पूरणार्थः । आपूरयतु त्वामित्यर्थः—इति वि० । भरतमायणयोरपि तदेव सम्मतम् ।

यद्वा, **सोमः** अध्यात्मप्रसादप्रवाहः, निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः योग० १।४७ इति योगदर्शनोक्तः। **इन्द्रियम्** अध्यात्मप्रसादे समुत्पन्ना ऋतम्भरा प्रज्ञा, 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' योग० १।४८ इत्युक्तेः। सा प्रज्ञा **इन्द्रम्** आत्मानं त्वाम् **रश्मिभिः** निर्बीजसमाधिप्रकाशैः **आ पृणक्तु** पूरयतु, इत्यर्थोऽध्यवसेयः।

अथ **द्वितीयः** सेनाध्यक्षादिवीरजनपक्षे। हे **इन्द्र** वीर नरपुंगव सेनाध्यक्ष ! **ते** तुभ्यम्, तव पानायेत्यर्थः, अस्माभिः प्रजाजनैः **सोमः** सोमाद्योषधिरसः **असावि** अभिषुतोऽस्ति, तस्य पानाय हे **शविष्ठ** बलिष्ठ, **धृष्णो** शत्रुधर्षक वीर ! त्वम् **आगहि** आयाहि। **इन्द्रियम्** मनोरूपम् **त्वा** त्वाम् **रश्मिभिः** उत्साहकिरणैः **पृणक्तु** पूरयतु, यथा सूर्यः स्वकिरणैः भूमण्डलादिकं पूरयतीति। शिष्टं पूर्ववत् ॥६॥[1]

अत्रोपमालङ्कारः श्लेषश्च ॥६॥

भावार्थः—सर्वैः स्वात्मानमुद्बोध्य ज्ञानकर्मयोगसिद्ध्यादिसञ्चयः कार्यः। तथैव राष्ट्रस्य कर्णधारैः सेनापत्यादिभिर्वीरतां सञ्चित्य राष्ट्ररक्षा विधेया ॥६॥[2]

अगले मन्त्र में इन्द्र को सोमपान के लिए पुकारा गया है।

पदार्थ—**प्रथम** जीवात्मा के पक्ष में। हे **इन्द्र** मेरे अन्तरात्मन् ! **ते** तेरे लिए **सोमः** ज्ञान, उत्साह आदि का रस **असावि** मेरे द्वारा अभिषुत किया गया है। हे **शविष्ठ** बलिष्ठ, **धृष्णो** कामादि शत्रुओं को परास्त करने वाले ! **आ गहि** तू रसपान के लिए आ, अर्थात् अभिमुख हो। **इन्द्रियम्** ज्ञान की साधनभूत मेरी मन, चक्षु आदि इन्द्रिय **रश्मिभिः** ज्ञान-प्रकाशों से **त्वा** तुझे **आ पृणक्तु** भरपूर करें, **सूर्यः** सूर्य **न** जैसे **रश्मिभिः** अपनी किरणों से **रजः** पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि लोक को भरपूर करता है ॥

अथवा, सोम से योगदर्शन १।४७ में प्रोक्त अध्यात्मप्रसाद अभिप्रेत है। इन्द्रिय से अभीष्ट है अध्यात्मप्रसाद में उत्पन्न, योग० १।४८ में प्रोक्त ऋतम्भरा प्रज्ञा। वह प्रज्ञा तुझ आत्मा को रश्मियों अर्थात् निर्बीजसमाधि के प्रकाशों से पूर्ण करे, यह आशय ग्रहण करना चाहिए ॥

द्वितीय—सेनाध्यक्ष आदि वीर मनुष्य के पक्ष में। हे **इन्द्र** वीर नरपुंगव सेनाध्यक्ष ! **ते** तेरे लिए अर्थात् तेरे पीने के लिए, हम प्रजाजनों ने **सोमः** सोम आदि ओषधियों का रस **असावि** निचोड़ा है। उसके पानार्थ, हे **शविष्ठ** बलिष्ठ, **धृष्णो** शत्रुधर्षक वीर ! तू **आ गहि** आ। **इन्द्रियम्** मनरूप आन्तरिक इन्द्रिय **त्वा** तुझे **रश्मिभिः** उत्साह की किरणों से **पृणक्तु** भर देवे, जैसे सूर्य अपनी किरणों से भूमण्डल आदि को भर देता है, इत्यादि शेष पूर्ववत् अर्थ जानना चाहिए ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेष और उपमा अलंकार हैं ॥६॥

भावार्थ—सबको चाहिए कि अपने आत्मा को उद्बोधन देकर ज्ञान, कर्म, योगसिद्धि आदि का संचय करें। इसी प्रकार राष्ट्र के कर्णधार सेनापति आदि वीरता का संचय करके राष्ट्र की रक्षा करें ॥६॥

अथेन्द्रनाम्ना जगदीश्वरमाह्वयति।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
३४८. एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम्।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥७॥[3]

---

१. (सोमः) उत्तमोऽनेकविधरोगनाशक ओषधिरसः। (पृणक्तु) सम्पर्कं करोतु। (इन्द्रियम्) मनः। इति मन्त्रस्यास्य ऋग्भाष्ये द०।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतम् सेनाध्यक्षपक्षे व्याख्यातवान्।

३. ऋ० ८।३४।१, साम० १८०७।

२ ३ १ २१ १ २१ १ २१ ३ ३ ३ २
आ इन्द्र याहि हरिभिः । उप कण्वस्य सुष्टुतिम् सु स्तुतिम् ॥
३ २ ३ १ २ १ २१ १ २१ ३ २ ३
दिवः अमुष्य शासतः । दिवम् यय दिवावसो दिवा वसो ॥७॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! त्वम् **हरिभिः** स्वकीयैः अध्यात्मप्रकाशकिरणैः सह । हरयः सुपर्णाः हरणा आदित्यरश्मयः इति निरुक्तम्, ७।२४ । **कण्वस्य** मेधाविनो मम । कण्व इति मेधाविनाम, निघं० ३।१५ । **सुस्तुतिम्** शोभनां स्तुतिम् **उप आयाहि** उपागच्छ । अथ स्तोता स्वात्मानमाह । हे **दिवावसो** दीप्तिधनेच्छो मदीय अन्तरात्मन् ! त्वम् **शासतः** शासकस्य **अमुष्य** चर्मचक्षुर्भिरदृश्यमानस्य तस्य **दिवः** द्योतमानस्य परमात्मनः **दिवम्** प्रकाशकं तेजः **यय** प्राप्नुहि । या प्रापणे धातोः 'याहि' इति प्राप्ते छान्दसं रूपमिदम् । यद्वा यय धातुः पृथक् कल्पनीया ॥७॥

अत्र 'दिवो, दिवं, दिवा' इत्यत्र वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः ॥७॥

भावार्थः—स्तुतिरस्माकं हार्दिकी चेत् तदा परमेश्वरस्तां शृणोत्येव । अस्माभिस्तत्सान्निध्यं प्राप्य तत्तेजसा तेजस्विभिर्भाव्यम् ॥७॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से जगदीश्वर का आह्वान किया गया है ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! आप **हरिभिः** अपनी अध्यात्म-प्रकाश की किरणों के साथ **कण्वस्य** मुझ मेधावी की **सुस्तुतिम्** शुभ स्तुति को **उप आयाहि** समीपता से प्राप्त कीजिए । आगे स्तोता अपने आत्मा को कहता है—हे **दिवावसो** दीप्तिधन के इच्छुक मेरे अन्तरात्मन् ! तू **शासतः** शासक, **अमुष्य** चर्म-चक्षुओं से न दीखने वाले उस **दिवः** दीप्तिमान् परमात्मा के **दिवम्** प्रकाशक तेज को **यय** प्राप्त कर ॥७॥

इस मन्त्र में 'दिवो, दिवं, दिवा' में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है ॥७॥

भावार्थ—यदि हमारी स्तुति हृदय से निकली है, तो परमेश्वर उसे सुनता ही है । हमें भी उसका सान्निध्य प्राप्त कर उसके तेज से तेजस्वी बनना चाहिए ॥७॥

अथ जगदीश्वरस्य स्तुतिविषयमाह ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
३४९. **आ त्वा गिरो रथीरिवास्थुः सुतेषु गिर्वणः ।**
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २
अभि त्वा समनूषत गावो वत्सं न धेनवः ॥८॥[2]
२ ३ १ २१ ३ २ ३ १ २१ ३ १ २ ३
आ त्वा गिरः रथीः इव । अस्थुः सुतेषु गिर्वणः गिः वनः ॥
२ ३ २ ३ १ २१ ३ २ ३ १ २
अभि त्वा सम् अनूषत । गावः वत्सम् न धेनवः ॥८॥

पदार्थः—हे **गिर्वणः** गीर्भिः वननीय इन्द्र परमात्मन् ! **सुतेषु** ज्ञानकर्मश्रद्धारूपेषु सोमरसेषु अभिषुतेषु सत्सु **गिरः** मदीयाः वाचः **त्वा** त्वाम् **आ अस्थुः** आश्रितवत्यः सन्ति, **रथीः इव** यथा रथवान् रथमाश्रयते तद्वत् । रथ शब्दात् 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ । अ० ५।२।१२२' इति वार्तिकेन मतुवर्थे ई प्रत्ययः । ताश्च मदीया गिरः **त्वा अभि** त्वामभिमुखीभूय **समनूषत** समनुविषुः, सम्यक् शब्दायन्ते, स्तुवन्तीत्यर्थः । संपूर्वात् णू स्तवने धातोर्लङर्थे लुङि 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्य' इति गुणादेशाभावो व्यत्ययेनात्मनेपदं च । **धेनवः** पयःपायिन्यः प्रीतियुक्ता वा । धेनुः धयतेर्वा धिनोतेर्वेति निरुक्तम्, ११।४३ । **गावः** पयस्विन्यः **वत्सं न** वत्समभिमुखीभूय यथा शब्दायन्ते, हम्भारवं कुर्वन्ति तद्वत् ॥८॥

---

१. दिवावसो दीप्तधन—इति वि० । दीप्त्यावासक—इति भ० । दीप्तहविष्क इन्द्र—इति सा० ।

२. ऋ० ८।९५।१, 'अभि त्वा समनूषतेन्द्र वत्सं न मातरः' इत्युत्तरार्धपाठः ।

अत्र द्वयोरुपमयोः संसृष्टिरनुप्रासश्च ॥८॥

भावार्थः—रथिनो रथमिव स्तोतणां गिरः परमात्मानमुपस्थाय धेनवो वत्समिव तमभिमुखीभूय तं प्रेम्णा स्तुवन्तु ॥८॥

अगले मन्त्र में जगदीश्वर की स्तुति का विषय है।

पदार्थ—हे **गिर्वणः** वाणियों से सेवनीय इन्द्र परमात्मन् ! **सुतेषु** ज्ञान-कर्म-श्रद्धा रूप सोमरसों के अभिषुत हो जाने पर **गिरः** मेरी वाणियाँ **त्वा** तेरे पास **आ अस्थुः** आकर स्थित हो गयी हैं, **रथीः इव** जैसे रथ-स्वामी रथ पर स्थित होता है। वे मेरी वाणियाँ **त्वा अभि** तेरे अभिमुख होकर **समनूषत** भली-भाँति स्तुति कर रही हैं, **धेनवः गावः** दूध पिलाने वाली प्रीतियुक्त गौएँ **वत्सं न** जैसे बछड़े के अभिमुख होकर रंभाती हैं ॥८॥

इस मन्त्र में दो उपमालंकारों की संसृष्टि और अनुप्रास अलंकार है ॥८॥

भावार्थ—रथी जन जैसे रथ का आश्रय लेते हैं, वैसे स्तोताओं की वाणियाँ परमात्मा का आश्रय लें, और उसके सम्मुख हो ऐसे प्रेम से उसकी स्तुति करें जैसे गौएँ बछड़े को सम्मुख पाकर रंभाती हैं ॥८॥

अथ पुनर्जगदीश्वरस्य स्तुतिविषयमाह।

३५०. **एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना।**
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्धैराशीर्वान् ममत्तु ॥९॥[1]
आ इत उ नु इन्द्रम् स्तवाम। शुद्धम् शुद्धेन साम्ना ॥
शुद्धैः उक्थैः वावृध्वाꣳसम्। शुद्धैः आशीर्वान् आ शीर्वान् ममत्तु ॥९॥

पदार्थः—हे सखायः ! **एत उ** आगच्छत खलु, **नु** क्षिप्रम्, यूयं वयं च संभूय **शुद्धम् इन्द्रम्** पवित्रं जगदीश्वरम् **शुद्धेन साम्ना** पवित्रेण सामगानेन **स्तवाम** स्तुयाम। ष्टुञ् स्तुतौ धातोर्लेटि रूपम्। **शुद्धैः** पवित्रैः **उक्थैः** स्तोत्रैः **वावृध्वांसम्** वृद्धम्, अस्मासु प्रत्येकं जनम्। वृधु वृद्धौ धातोर्लिटः क्वसौ रूपम्। **आशीर्वान्** आशिषामधिपतिः जगदीश्वरः। आशीः आशास्तेः। निरु० ६।८। **शुद्धैः** पवित्रैराशीर्वादैः **ममत्तु** मादयतु आनन्दयतु। मद तृप्तियोगे धातोः 'बहुलं छन्दसि। अ० २।४।७६' इति शपः श्लौ रूपम् ॥९॥

अत्र पूर्वार्द्धे 'शुद्धं, शुद्धे' 'शुद्धैरु, शुद्धैरा' इति छेकानुप्रासः। उत्तरार्द्धे 'शुद्धै, शुद्धै' इति निरर्थकयोरावृत्तौ यमकम्। सम्पूर्णे मन्त्रे संयुक्ताक्षरवैशिष्ट्यमपि ॥९॥

भावार्थः—स्तोतृभिः शुद्धैः सामभिः प्रेम्णा स्तुतो जगदीश्वरः शुद्धैराशीर्वादैस्तान् वर्द्धयत्यानन्दयति च ॥९॥

अत्र सायणाचार्येण इतिहासोऽयं प्रदर्शितः—"पुरा किलेन्द्रो वृत्रादिकानसुरान् हत्वा ब्रह्महत्यादि-दोषेणात्मानमपरिशुद्धमित्यमन्यत। तद्दोषपरिहारार्थ इन्द्र ऋषीनवोचत्, यूयम् अपूतं मां युष्मदीयेन साम्ना शुद्धं कुरुतेति। ततस्ते च शुद्धयुत्पादकेन साम्ना शस्त्रैश्च परिशुद्धमकार्षुः। पश्चात् पूतायेन्द्राय यागादिकर्मणि सोमादीनि हवींषि च प्रादुरिति।" तत्तु हन्त, देवा अपि, वध्यमपि च हत्वा पाप्मना लिप्यन्त इति महदसमञ्जसं किल।

---

१. ऋ० ८।९५।७, 'शुद्ध आशीर्वान्' इति पाठः। साम० १४०२।

अगले मन्त्र में पुनः जगदीश्वर की स्तुति का विषय है।

पदार्थ—हे साथियो ! **एत उ** आओ, **नु** शीघ्र ही, तुम और हम मिलकर **शुद्धम् इन्द्रम्** पवित्र जगदीश्वर की **शुद्धेन साम्ना** पवित्र सामगान से **स्तवाम** स्तुति करें। **शुद्धैः** पवित्र **उक्थैः** स्तोत्रों से **वावृध्वांसम्** वृद्धि को प्राप्त हममें से प्रत्येक जन को **आशीर्वान्** आशीषों का अधिपति जगदीश्वर **शुद्धैः** पवित्र आशीर्वादों से **ममत्तु** आनन्दित करे ॥९॥

इस मन्त्र के पूर्वार्ध में 'शुद्धं, शुद्धे' 'शुद्धैरु, शुद्धैरा' में छेकानुप्रास, और उत्तरार्ध में 'शुद्धै, शुद्धै' इन निरर्थकों की आवृत्ति में यमक अलंकार है। सम्पूर्ण मन्त्र में संयुक्ताक्षरों का वैशिष्ट्य है ॥९॥

भावार्थ—स्तोताओं के द्वारा शुद्ध सामगानों द्वारा प्रेम से स्तुति किया हुआ जगदीश्वर शुद्ध आशीर्वादों से उन्हें बढ़ाता और आनन्दित करता है ॥९॥

इस मन्त्र पर सायणाचार्य ने यह इतिहास प्रदर्शित किया है—"पहले कभी इन्द्र वृत्र आदि असुरों का वध करके ब्रह्महत्या आदि के दोष से स्वयं को अशुद्ध मानने लगा। उस दोष के परिहार के लिए इन्द्र ने ऋषियों से कहा कि तुम मुझ अपवित्र को अपने साम से शुद्ध कर दो। तब उन्होंने शोधक साम से और शस्त्रों से उसे परिशुद्ध किया। बाद में शुद्ध हुए उस इन्द्र के लिए याग आदि कर्म में सोम आदि हवियाँ भी दीं।" पर इस इतिहास में देवता भी, वध्य को भी मार कर, पाप से लिप्त होते हैं यह कल्पना की गयी है, जो बड़ी असंगत है।

अथ परमेश्वरस्यानन्दकरत्वं वर्णयति।

३५१. यो रयिं वो रयिन्तमो यो द्युम्नैर्द्युम्नवत्तमः।
सोमः सुतः स इन्द्र तेऽस्ति स्वधापते मदः ॥१०॥[1]

यः रयिम् वः रयिन्तमः। यः द्युम्नैः द्युम्नवत्तमः॥
सोमः सुतः सः इन्द्र ते। अस्ति स्वधापते स्वधा पते मदः ॥१०॥

पदार्थः—**रयिन्तमः**[2] रयिवत्तमः, अतिशयेन ऐश्वर्ययुक्तः **यः वः** तुभ्यम्। वस् इति बहुवचनस्य विहितो युष्मदादेशश्छन्दस्येकवचनेऽपि बहुशो दृश्यते। **रयिम्** ऐश्वर्यम्, ददातीति शेषः, **द्युम्नवत्तमः** अतिशयेन तेजोयुक्तश्च **यः द्युम्नैः** तेजोभिः, त्वामलङ्करोतीति शेषः, **सः** असौ **सुतः** हृदये प्रकटितः **सोमः** चन्द्रवदाह्लादकः सोमौषधिवद् रसागारश्च परमेश्वरः, हे **स्वधापते** अन्नपते, सांसारिकपदार्थानाम् उपभोक्तः इत्यर्थः। स्वधा इत्यन्ननाम, निघं० २।७। **इन्द्र** विद्वन् ! **ते** तुभ्यम् **मदः** आनन्दकरः **अस्ति** भवति ॥१०॥[3]

अत्र 'रयिं-रयिं' इति लाटानुप्रासः, 'तमो-तमः' 'द्युम्नै-द्युम्न' इति छेकानुप्रासः। यकार-सकार-तकार-मकाराणां पृथक्-पृथग् असकृदावृत्तौ वृत्त्यनुप्रासश्च ॥१०॥

भावार्थः—हृदि प्रत्यक्षीकृतः परमेश्वरो योगिने सकलमाध्यात्मिकमैश्वर्यं ब्रह्मवर्चसमानन्दं च प्रयच्छतीत्यसौ सर्वैर्यत्नेन साक्षात्करणीयः ॥१०॥

---

१. ऋ० ६।४४।१। तत्र 'रयिं वो' इत्यत्र 'रयिवो' इति निरनुस्वारः समस्तः पाठः।

२. रयिशब्दात् व्रीह्यादित्वादिनिः—इति भ०। तत्र 'व्रीह्यादिभ्यश्च। अ० ५।२।११६' इति पाणिनिसूत्रम्, व्रीह्यादिषु पाठश्चोन्नेयः। नलोपे 'नाद् घस्य। अ० ८।२।१७' इति नुडागमः।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं 'राजादिभिः किं कर्तव्य' मिति विषये व्याख्यातवान।

अत्रेन्द्रस्य महिमगानवर्णनात्, तं प्रति श्रद्धारसादीनामर्पणात्, तत ऐश्वर्ययाचनात्, तदाह्वानात्, तत्स्तुत्यर्थं प्रेरणाच्चैतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्तीति विदाङ्कुर्वन्तु ।

इति चतुर्थे प्रपाठके द्वितीयार्धे प्रथमा दशतिः ।
इति तृतीयेऽध्याये द्वादशः खण्डः ॥
समाप्तश्चायं तृतीयोऽध्यायः ॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर की आनन्ददायकता का वर्णन है ।

पदार्थ—**रयिन्तमः** अतिशय ऐश्वर्ययुक्त **यः** जो **वः** तुम्हारे लिए **रयिम्** ऐश्वर्य को देता है, और **द्युम्नवत्तमः** अतिशय तेजस्वी **यः** जो **द्युम्नैः** तेजों से, तुम्हें अलंकृत करता है, **सः** वह **सुतः** हृदय में प्रकट हुआ **सोमः** चन्द्रमा के समान आह्लादक और सोम ओषधि के समान रसागार परमेश्वर, हे **स्वधापते** अन्नों के स्वामी अर्थात् अन्नादि सांसारिक पदार्थों के भोक्ता **इन्द्र** विद्वन् ! **ते** तुम्हारे लिए **मदः** आनन्द-दायक **अस्ति** है ॥१०॥

इस मन्त्र में 'रयिं, रयिं' में लाटानुप्रास अलंकार है । 'तमो, तमः' 'द्युम्नै, द्युम्न' में छेकानुप्रास है । य्, स्, त् और म् की पृथक्-पृथक् अनेक वार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ॥१०॥

भावार्थ—हृदय में प्रत्यक्ष किया गया परमेश्वर योगी को समस्त आध्यात्मिक ऐश्वर्य, ब्रह्मवर्चस और आनन्द प्रदान करता है, अतः सबको यत्नपूर्वक उसका साक्षात्कार करना चाहिए ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र के महिमागान का वर्णन होने, उसके प्रति श्रद्धारस आदि का अर्पण करने, उससे ऐश्वर्य माँगने, उसका आह्वान होने तथा उसकी स्तुति के लिए प्रेरणा होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ।

चतुर्थ प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की प्रथम दशति समाप्त ॥
तृतीय अध्याय में बारहवाँ खण्ड समाप्त ॥
यह तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ॥

—०—

अथ चतुर्थोऽध्यायः

॥७॥ अथ 'प्रत्यस्मै पिपीषते' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ भरद्वाजः; २ वामदेवः शाकपूतो वा; ३ प्रियमेधः; ४ प्रगाथः; ५ श्यावाश्व आत्रेयः; ६ शंयुः; ७ वामदेवः; ८ जेता माधुच्छन्दसः ॥ देवता—१-४, ६, ८ इन्द्रः; ५ मरुतः; ७ दधिक्रावा अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अथ जगदीश्वरमाचार्यं च प्रति जनानां कर्त्तव्यमाह ।

३५२. प्रत्यस्मै पिपीषते विश्वानि विदुषे भर ।
अरङ्गमाय जग्मयेऽपश्चादध्वने नरः ॥१॥[1]

१. ऋ० ६।४२।१ 'अपश्चाद्दध्वने नरे' इति पाठः । साम० १४४० ।

प्रति अस्मै पिपीषते । विश्वानि विदुषे भर ॥ अरङ्गमाय अरम् गमाय
जग्मये । अपश्चादध्वने अपश्चा दध्वने नरः ॥१॥

पदार्थः—**प्रथमः** जगदीश्वरपरः । हे मनुष्य ! त्वम् **पिपीषते** पिपासते, तव सख्यं प्राप्तुमिच्छते । पीङ् पाने दिवादिः, ततः सनि शतरि रूपम् । **विदुषे** सर्वज्ञाय, **अरङ्गमाय** अरं पर्याप्तं धनादिकं गमयति प्रापयति तस्मै, बहुधनादिवर्षकायेत्यर्थः, **जग्मये** सहायतार्थं सदैव अग्रगामिने । गत्यर्थाद् गम्लृ धातोः 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । अ० ३।२।१७१' इति किः प्रत्ययः लिड्वद्भावश्च । **नरः** मनुष्यान् । नृ शब्दस्य द्वितीयाबहुवचने रूपम् । **अपश्चादध्वने**[1] न पश्चा पश्चात् दध्यति प्रेरयतीति तस्मै, सर्वदा विजयार्थं अग्रे गन्तुं समुत्साहयते इत्यर्थः, इन्द्राय जगदीश्वराय । दध्यति गतिकर्मा । निघं० २।१४, तत्र 'दध्यति' इत्यपि पाठान्तरम् । पश्चा इति 'पश्च पश्चा च छन्दसि । अ० ५।३।३३' इति पश्चादर्थे निपात्यते । **विश्वानि** सर्वाणि स्वकीयानि सख्यानि **प्रति भर** समर्पय, उपायनीकुरु ।

अथ **द्वितीयः** आचार्यपरः । हे राजन् प्रजाजन वा ! त्वम् **पिपीषते** गुरुकुलस्य सञ्चालनाय धनादीनां पिपासते, **अरङ्गमाय**[2] विद्यादेः पर्याप्तं पारङ्गताय, **जग्मये** क्रियाशीलाय **अ-पश्चा-दध्वने** कदापि पश्चात् पदं न निदधानाय, किन्तु सदैव अग्रेसराय **विदुषे** विद्वद्वराय आचार्याय **विश्वानि** सर्वाण्युत्तमानि धनादीनि, विद्याप्रदानायाचारनिर्माणाय च **नरः** नॄंश्च, प्रतिभाशालिनो बालकांश्चेत्यर्थः **प्रतिभर** समर्पय ॥१॥[3]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—सर्वैः राजप्रजादिभिर्जगदीश्वरेण सख्यं योजनीयम्, विद्वांसश्च धनधान्यादिना सत्कृत्य विद्योपदेशप्रदानाय निश्चिन्ताः कर्त्तव्याः ॥१॥

प्रथम मन्त्र में जगदीश्वर और आचार्य के प्रति मनुष्यों का कर्त्तव्य बताया गया है ।

पदार्थ—**प्रथम** जगदीश्वर के पक्ष में । हे नर ! तू **पिपीषते** तेरी मित्रता के प्यासे, **विदुषे** सर्वज्ञ, **अरङ्गमाय** पर्याप्तरूप में धनादि प्राप्त कराने वाले, **जग्मये** सहायता के लिए सदा आगे बढ़ने वाले, और **नरः** मनुष्यों को **अ-पश्चा-दध्वने** पीछे न धकेलने वाले, प्रत्युत सदा विजयार्थ आगे बढ़ने के लिए उत्साहित करने वाले इन्द्र जगदीश्वर के लिए **विश्वानि** अपनी सब मित्रताओं को **प्रति भर** भेंट कर ।

द्वितीय आचार्य के पक्ष में । हे राजन् वा प्रजाजन ! तुम **पिपीषते** गुरुकुल चलाने के लिए धनादि पदार्थों के प्यासे, **अरङ्गमाय** विद्या आदि में पारंगत, **जग्मये** क्रियाशील **अ-पश्चा-दध्वने** कभी पग न हटाने वाले, किन्तु सदा आगे बढ़ने वाले **विदुषे** विद्वान् आचार्य के लिए **विश्वानि** सब उत्तम धन आदियों को, और विद्याप्रदान तथा आचार-निर्माण के लिए **नरः** प्रतिभाशाली बालकों को **प्रतिभर** सौंपो ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१॥

भावार्थ—सब राजा-प्रजा आदि को चाहिए कि वे जगदीश्वर के साथ मित्रता करें और विद्वानों को धन, धान्य आदि से सत्कृत करके उन्हें विद्या तथा उपदेश देने के लिए निश्चिन्त कर दें ॥१॥

---

१. क्वचित्तु 'अपश्चादध्वने' इति पाठः । तद् दध्यते रूपम् । अर्थस्तु स एव ।

२. (अरङ्गमाय) यो विद्याया अरं पारं गच्छति तस्मै—इति ऋ० ६।४२।१ भाष्ये द० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं विद्वत्पक्षे व्याख्यातवान् ।

अथ परमात्मानं जनसमाजं च प्रति मनुष्यस्य कर्त्तव्यमाह ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
३५३. **आ नो वयोवयःशयं महान्तं गह्वरेष्ठाम् ।**
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
महान्तं पूर्विणेष्ठामुग्रं वचो अपावधीः ॥२॥

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
आ नः वयोवयःशयम् वयोवयः शयम् । महान्तम् गह्वरेष्ठाम् गह्वरे स्थाम् ॥
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ १ २ ३
महान्तम् पूर्विनेष्ठाम् पूर्विने स्थाम् । उग्रम् वचः अप अवधीः ॥२॥

पदार्थः—हे मानव ! त्वम् **नः** अस्माकम् **वयोवयःशयम्** वयसि-वयसि, अन्ने-अन्ने, आयुषि-आयुषि, प्राणे-प्राणे वा शेते इति वयोवयःशयः तम् । वयस् इत्यन्ननाम । निघं० २।७ । प्राणो वै वयः । ऐ० ब्रा० १।२८ । सोपपदात् शीङ् धातोः 'अधिकरणे शेतेः । अ० ३।२।१५' इत्यच् प्रत्ययः । **महान्तम्** परिमाणेन विशालं, सर्वव्यापकत्वात्, **गह्वरेष्ठाम्** गह्वरे हृदयगुहायां निलीनः तिष्ठतीति गह्वरेष्ठाः तम्, **महान्तम्** गुणैर्विशालम्, **पूर्विणेष्ठाम्** पूर्वैः पूर्वजैः कृतानि भक्तिस्तोत्रकाव्यादीनि पूर्विणानि तेषु वर्ण्यतया तिष्ठतीति तम् । पूर्वैः कृतमिनयौ च । अ० ४।४।११३' इति इन प्रत्ययः । इन्द्रं परमात्मानम् **आ** अध्यात्मयोगेन आप्नुहि । तथा चोपनिषद्वर्णः—तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति । कठ० उप० २।१२ इति । किं च **उग्रं वचः**[1] 'मारय, काटय, छिन्धि, भिन्धि' इत्यादिकं हिंसोपद्रवजन्यं, 'हा महत् कष्टं, महती शिरोवेदना, कथं जीवितं धारयेम' इत्यादिकं व्याधिप्रकोपजन्यं, 'क्षुधिताः स्मः, पिपासिताः स्मः, न कोऽप्यस्मान् पृच्छति, अन्नकणमेकं मुखे पातय, पानीयविन्दुना रसनामार्द्रय' इत्यादिकं क्षुत्पिपासाजन्यम्, एवमादिकम् उग्रं वचनम् **अपावधीः** अपजहि ॥२॥[2]

अत्र 'वयो-वयः' इत्यत्र छेकः, 'महान्तं' इत्यस्यावृत्तौ च लाटानुप्रासः ॥२॥

भावार्थः—मनुष्यैर्महामहिमशालिनं जगदीश्वरमुपास्य सर्वत्र प्रचार्य जनजीवनात् सर्वप्रकारं हाहाकारं समाप्य समाजे राष्ट्रे जगति च शान्तिरानेया ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा तथा जनसमाज के प्रति मनुष्य का कर्त्तव्य बताया गया है ।

पदार्थ—हे मानव ! तू **नः** हम सबके **वयोवयःशयम्** अन्न-अन्न, आयु-आयु, प्राण-प्राण में विद्यमान, **महान्तम्** सर्वव्यापक होने से परिमाण में महान्, **गह्वरेष्ठाम्** हृदय-गुहा में प्रच्छन्न रूप से स्थित, **महान्तम्** गुणों में महान्, **पूर्विणेष्ठाम्** पूर्वजों से रचित भक्तिस्तोत्र, भक्तिकाव्य आदियों में वर्णित इन्द्र परमेश्वर को **आ** अध्यात्मयोग से प्राप्त कर, और **उग्रं वचः** 'मारो-काटो-छेदो-भेदो' इत्यादि हिंसा-उपद्रव

---

१. उग्रं क्षुत्पिपासानिमित्तेन भयङ्करं वचः अस्मदीयं वचनम्, 'अशनायापिपासे ह त्वा उग्रं वचः' इति श्रुतेः, अपावधीः अपजहि—इति सा० ।

२. भरतस्वामिमते अत्र रयिः पुत्रो वा प्रार्थ्यते—"आहर नः अस्मभ्यम् रयिमिति शेषः । (वयोवयःशयम्) वयसि अन्ने यौवनादिषु वा गतं प्राप्तम् । शयतेःशयः । सर्वान्निसाधकमिति वा सर्वावस्थासु अनुगतमिति वा । (महान्तम्) अपरिमितम् । (गह्वरेष्ठाम्) गह्वरे गुहायां तिष्ठतीति गह्वरेष्ठाः । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च (पा० ३।३।७४) इति चकारात् तिष्ठतेर्विट् प्रत्ययः—अनपह्नार्यमित्यर्थः । महान्तम् इति पुनर्वचनम् अर्थभूयस्त्वाय अत्यर्थं महान्तमिति । (पूर्विणेष्ठाम्) पूर्वसिद्धं पूर्विणम् । 'गम्भीरेभिः पथिभिः पूर्विणेभिः' (का० सं० १।६) इति निगमः । पूर्वेषु स्थितम् कुलक्रमागतमिति यावत् । पुत्रो वा अनया प्रार्थ्यते । वयोवयःशयमिति पूर्णायुषमित्युक्तं भवति । गह्वरेष्ठामिति रहस्येषु यज्ञेषु निष्ठितमिति । पूर्विणेष्ठामिति पुरातने मार्गे वेदात्मके निष्ठितमिति ॥ (उग्रं वचः) शत्रुभिरुद्गूर्णम् उद्यतं वचः अभिशंसनादिकम् (अपावधीः) अपजहि । 'छन्दसिलुङ्लङ्लिटः' । पा० ३।४।६ इति लोडर्थे लुङ्" इति ।

से उत्पन्न होने वाले 'हाय, बड़ा कष्ट है, बड़ी सिर में पीड़ा है, कैसे जीवन धारण करें' आदि रोग के प्रकोप से उत्पन्न होने वाले, और 'हाय भूखे हैं, प्यासे हैं, कोई भी हमें नहीं पूछता, अन्न का एक दाना मुख में डाल दो, पानी की एक बूँद से जीभ गीली कर दो' इत्यादि भूख-प्यास से उत्पन्न होने वाले उग्र वचनों को **अपावधीः** दूर कर ॥२॥

इस मन्त्र में 'वयो-वयः' में छेकानुप्रास तथा 'महान्तं' की आवृत्ति में लाटानुप्रास है ॥२॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि महामहिमाशाली जगदीश्वर की उपासना कर, उसका सर्वत्र प्रचार कर, जनजीवन से सब प्रकार के हाहाकार को समाप्त करके समाज, राष्ट्र और जगत् में शान्ति लायें ॥२॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मा राजा च सम्बोध्यते ।

२ ३ २३ २ ३ १ २ ३ १ २
३५४. आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्रं शविष्ठ सत्पतिम् ॥३॥[1]

२ ३ १ २ १ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३
आ त्वा रथम् यथा ऊतये । सुम्नाय वर्त्तयामसि ॥ तुविकूर्मिम् तुवि
२ ३ १ २ ३ १ २ १ १ २ १ ३ ३
कूर्मिम् ऋतीषहम् ऋति सहम् । इन्द्रम् शविष्ठ सत्पतिम् सत् पतिम् ॥३॥

पदार्थः—हे **शविष्ठ** बलिष्ठ ! **ऊतये** दुःखविघ्नादिभ्यो रक्षणाय **सुम्नाय** ऐहिकपारलौकिकसुखाय च वयम् **तुविकूर्मिम्**[2] बहूनां कर्मणां कर्तारम् । तुवीति बहुनाम निघं० ३।१ । कूर्मिः करोतेर्बाहुलकादौणादिको मिः प्रत्ययः । **ऋतीषहम्**[3] ऋतीः शत्रुसेनाः सहते अभिभवतीति तम्, **सत्पतिम्** सदाचारिणां पालकम् **त्वा** त्वाम् **इन्द्रम्** परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानं राजानं वा **आवर्तयामसि** अनुकूलं प्रवर्तयामः, **यथा** येन प्रकारेण **ऊतये** शत्रुभ्यो रक्षणाय **सुम्नाय** यात्रासुखाय च **तुविकूर्मिम्** बहूनां धनानां व्यापारादिद्वारा उपार्जने साधनभूतम्, **ऋतीषहम्** वायुवृष्ट्याद्याघातसहम्, **सत्पतिम्** सताम् उपविष्टानां यात्रिणां पालनसाधनीभूतम् **रथम्** भूयान-जलयान-विमानादिकम्, जनाः आवर्तयन्ति प्रवृत्तं कुर्वन्ति ॥३॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—यथा वातातपवर्षादिभ्यस्त्राणाय यात्रासुखाय च रथः प्राप्तव्यो भवति, तथैव रोगादिजन्येभ्यो दुःखेभ्यस्त्राणाय शिक्षाचिकित्सान्यायवर्णाश्रमधर्मप्रतिष्ठाशान्तिस्थापनादिभिर्योगक्षेमसुखप्रदानाय च राजा, त्रिविधतापेभ्यस्त्राणाय मोक्षसुखप्रदानाय च परमात्मा प्राप्तव्यः ॥३॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और राजा को सम्बोधित किया गया है ।

पदार्थ—हे **शविष्ठ** बलिष्ठ ! **ऊतये** सांसारिक दुःख, विघ्न आदियों से रक्षा के लिए, और **सुम्नाय** ऐहिक एवं पारलौकिक सुख के लिए, हम **तुविकूर्मिम्** बहुत-से कर्मों के कर्ता, **ऋतीषहम्** शत्रु-सेनाओं के पराजयकर्ता, **सत्पतिम्** सदाचारियों के पालनकर्ता **त्वा** तुझ **इन्द्रम्** परमैश्वर्यवान् परमात्मा वा राजा को **आवर्तयामसि** अपनी ओर प्रवृत्त करते हैं, **यथा** जैसे **ऊतये** शत्रुओं से रक्षा के लिए और **सुम्नाय**

१. ऋ० ८।६८।१ 'मिन्द्र शविष्ठ सत्पते' इति पाठः । साम० १७७१ ।

२. (तुविकूर्मिः) तुविर्बहुविधः कूर्मिः कर्मयोगो यस्य सः—इति ऋ० ३।३०।३ भाष्ये द० ।

३. ऋतयः सेनाः गन्तृत्वात् । ता यः सहते अभिभवति सः ऋतीषाट् । तम् ऋतीषहम् । परकीयानां सेनानाम् अभिभवितारमित्यर्थः—इति वि० । ऋतीनाम् अरीणां सोढारम् अभिभवितारम्—इति भ० । हिंसकानाम् अभिभवितारम्—इति सा० ।

यात्रा-सुख के लिए **तूविकूर्मिम्** व्यापार आदि द्वारा बहुत-से धनों को उत्पन्न करने में साधनभूत, **ऋतीषहम्** वायु, वर्षा आदि के आघात को सहने वाले, **सत्पतिम्** बैठे हुए श्रेष्ठ यात्रियों के पालन के साधनभूत **रथम्** भूयान, जलयान, विमान आदि को लोग प्रवृत्त करते हैं ॥३॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है ॥३॥

जैसे हवा, धूप, वर्षा आदि से बचाव के लिए और यात्रासुख के लिए रथ प्राप्तव्य होता है, वैसे ही रोग आदि से होने वाले दुःखों से त्राणार्थ और शिक्षा, चिकित्सा, न्याय, वर्णाश्रमधर्म की प्रतिष्ठा, शान्तिस्थापना आदि द्वारा योगक्षेम के सुखप्रदानार्थ राजा को तथा त्रिविध तापों से त्राणार्थ और मोक्ष-सुख आदि के प्रदानार्थ परमात्मा को प्राप्त करना चाहिए ॥३॥

अथेन्द्रस्य परमात्मनो महिमानमाह ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
३५५. स पूर्व्यो महोनां वेनः क्रतुभिरानजे ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
यस्य द्वारा मनुः पिता देवेषु धिय आनजे ॥४॥[1]
२ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २ १ ३
सः पूर्व्यः महोनाम् । वेनः क्रतुभिः आनजे ॥
१ २ १ १ २ १ १ २ १ ३ २ ३ १ २ १ २ १ ३ २
यस्य द्वारा मनुः पिता । देवेषु धियः आनजे ॥४॥

पदार्थः—**महोनाम्** पूजनीयानामपि । मह पूजायाम् इति धातोः असुन् प्रत्यये महसामिति प्राप्ते छान्दसो नुडागमः । **पूर्व्यः** पूर्वः, पूज्यतायां श्रेष्ठः । 'पादार्घाभ्यां च । अ० ५।४।२५' इत्यत्र चकारेणानुक्त-समुच्चयं मत्वा पूर्वादिभ्यः शब्देभ्यश्छन्दसि स्वार्थे यत् प्रत्ययं विहितवान् काशिकाकारः । **वेनः** मेधावी कान्तो वा । वेन इति मेधाविनाम, निघं० ३।१५ । वेनतिः कान्तिकर्मा, निघं० २।६ । **सः** असौ इन्द्रः परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः **क्रतुभिः** स्वकीयैः कर्मभिः दृश्यमानैः सृष्टिसञ्चालनादिभिः **आनजे** व्यज्यते । **यस्य द्वारा** यस्य जगदीश्वरस्य द्वारेण **मनुः** मनसा मननशीलः **पिता** देहस्य पालकः जीवात्मा **देवेषु** देहवर्तिषु प्रकाशकेषु मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियादिषु **धियः** तत्तत्क्रियाः । धीः इति कर्मनाम । निघं० २।१ । **आनजे** प्राप-यति । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । द्वितीयपादान्ते 'आनजे' इत्यत्र व्यक्त्यर्थात् कर्मणि लिट् । चतुर्थपादान्ते च गत्यर्थात् णिजर्थगर्भात् कर्त्तरि लिट्, यत्र यद्वृत्तयोगाद् 'यद्वृत्तान्नित्यम् । अ० ८।१।६६' इति निघाताभावः ॥४॥[2]

अत्र नकारानुप्रासः, 'नजे' इत्यस्यावृत्तौ च यमकम् ॥४॥

भावार्थः—जगति परिदृश्यमानाः सूर्यचन्द्रोदयऋतुचक्रप्रवर्तनादिक्रियाः कञ्चित् कर्तारं विना-ऽनुपपद्यमानाः परमात्मानमनुमापयन्ति । देहस्वामी जीवात्मापि परमात्मन एव साहाय्येन देहस्थेषु मनो-बुद्धिप्राणेन्द्रियादिषु संकल्पाध्यवसायप्राणनदर्शनस्पर्शनादिक्रियाः प्रवर्तयति ॥४॥

---

१. ऋ० ८।६३।१, 'महोनां' 'मनुः पिता' इत्यत्र क्रमेण 'महानां' 'मनुष्पिता' इति पाठः ।

२. महोनाम्, घकारस्य हकारापत्तिः छान्दसी । मघोनां मघवतां धनवतां मध्ये वेनः कान्तः, व्यक्तीकरोत्यात्मानम् । धियः यागविषयाः प्रज्ञाः बुद्धीरित्यर्थः, आनजे, अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु इत्येतस्य गत्यर्थस्य अन्तर्णीतण्यर्थस्य चेदं रूपम्, आगमयति उत्पादयतीत्यर्थः—इति वि० । सः इन्द्रः, पूर्व्यः मुख्यः, महोनाम् महीयमानानां पूज्यानाम् । वेनः प्राज्ञः कमनीयो वा, क्रतुभिः कर्मभिः सर्वैः आनजे प्राप्यते । (अज गतौ) । यस्य इन्द्रस्य द्वारा द्वारभूतेन, मनुः प्रजा-पतिः, पिता पितृसमः, देवेषु इन्द्रियेषु, धियः प्रज्ञानानि, आनजे निक्षिप्तवान् (अज क्षेपणे) । इन्द्रो हि प्राणाः, तद-धिष्ठितानि इन्द्रियाणि ज्ञानानि जनयन्ति । अतः इन्द्रस्य स्वभूतानि इन्द्रियाणि इत्युच्यन्ते—इति भ० ।

अगले मन्त्र में इन्द्र परमात्मा की महिमा का वर्णन है।

पदार्थ—**महोनाम्** पूजनियों में भी **पूर्व्यः** पूज्यता में श्रेष्ठ, **वेनः** मेधावी और कमनीय **सः** वह परमैश्वर्यवान् इन्द्र जगदीश्वर **क्रतुभिः** सृष्टिसंचालन आदि कर्मों से **आनजे** व्यक्त होता है, अनुमान किया जाता है, **यस्य द्वारा** जिस जगदीश्वर के द्वारा **मनुः** मननशील **पिता** शरीर का पालक जीवात्मा **देवेषु** शरीरवर्ती मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों आदि में **धियः** उन-उनकी क्रियाओं को **आनजे** प्राप्त कराता है ॥४॥

इस मन्त्र में नकार का अनुप्रास है, 'नजे' की आवृत्ति में यमक है ॥४॥

भावार्थ—संसार में दिखायी देने वाली सूर्यचन्द्रोदय, ऋतुचक्रप्रवर्तन आदि क्रियाएँ किसी कर्ता के बिना नहीं हो सकतीं, अतः परमात्मा का अनुमान कराती हैं। देह का स्वामी जीवात्मा भी परमात्मा की ही सहायता से देह में स्थित मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों आदि में संकल्प, निश्चय, प्राणन, दर्शन, स्पर्शन आदि क्रियाओं को प्रवृत्त करता है ॥४॥

मरुतो देवताः। इन्द्रसहचारिणां मरुतां देहे कार्यं वर्ण्यते।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
३५६. यदी वहन्त्याशवो भ्राजमाना रथेष्वा।
१ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २
पिबन्तो मदिरं मधु तत्र श्रवांसि कृण्वते ॥५॥

१ २ १ १ २ १ ३ १ २ १ २ १ १ २ १
यदि वहन्ति आशवः। भ्राजमानाः रथेषु आ॥
१ २ १ ३ २ १ २ १ १ २ १ १ २ १ ३
पिबन्तः मदिरम् मधु। तत्र श्रवाꣳसि कृण्वते ॥५॥

पदार्थः—**यदि**[1] यस्मिन् काले। यदि इति निपातो 'यदा' वाचकोऽपि दृश्यते। संहितायां निपातत्वाद्दीर्घः। **रथेषु** देहरथेषु **भ्राजमानाः** तेजसा दीप्यमानाः **आशवः** क्षिप्रकारिणः मरुतः मनोबुद्धिज्ञानेन्द्रियात्मकाः शीर्षण्यप्राणाः, **मदिरम्** आनन्दजनकम्। मदी हर्षे धातोः 'इषिमदिमुदिखिदि० उ० १।५१' इति किरच् प्रत्ययः। **मधु** स्वस्वविषयाणां संकल्पाध्यवसायरूपरसगन्धशब्दस्पर्शानाम् मधुरं रसम् **पिबन्तः** आस्वादयन्तः **आ वहन्ति** रथिनम् जीवात्मानम् उद्वहन्ति, जीवनयात्रां कारयन्ति, **तत्र** तस्मिन् काले **श्रवांसि** यशांसि **कृण्वते** कुर्वन्ति, जनयन्ति। अयमेवार्थः ऋग्वेदे गायत्रेणोक्तः—य ईं॑ वहन्त आ॒शुभिः॒ पिब॑न्तो मदि॒रं मधु॑। अत्र॒ श्रवां॑सि दधिरे ॥ (ऋ० ५।६१।११) इति ॥५॥

भावार्थः—देहरथे नियुक्तानां मनोबुद्धिज्ञानेन्द्रियाणामेवैतत् कार्यं यत्तान्यात्मनो ज्ञाने साधनतां गत्वा तं यशोभाजं कुर्वन्ति ॥५॥

अगली ऋचा के 'मरुतः' देवता हैं। इसमें इन्द्रसहचारी मरुतों का शरीर में कार्य वर्णित किया गया है।

पदार्थ—**यदि** जिस समय **रथेषु** देहरूप रथों में **भ्राजमानाः** तेज से दीप्यमान **आशवः** शीघ्रगामी मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय रूप शीर्षण्य प्राण **मदिरम्** आनन्दजनक **मधु** अपने-अपने विषयों संकल्प, अध्यवसाय, रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श के मधुर रस को **पिबन्तः** पान करते हुए **आ वहन्ति** रथी जीवात्मा को जीवनयात्रा कराते हैं, **तत्र** उस समय **श्रवांसि** यशों को **कृण्वते** उत्पन्न करते हैं ॥५॥

भावार्थ—देहरथ में नियुक्त मन, बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियों का ही यह कार्य है कि वे जीवात्मा के ज्ञान में साधन बनकर उसे यशस्वी बनाते हैं ॥५॥

१. यदीत्यव्ययं यत्प्रातिपदिकार्थे वर्तते। यदि यत्र देहे—इति भ०।

अथेन्द्रपदवाच्यः परमात्मा राजा च कीदृशोऽस्तीत्याह ।

३५७. त्यमु वो अप्रहणं गृणीषे शवसस्पतिम् ।
इन्द्रं विश्वासाहं नरं शचिष्ठं विश्ववेदसम् ॥६॥[1]

त्यम् उ वः अप्रहणम् अ प्रहणम् । गृणीषे शवसः पतिम् ॥ इन्द्रम् विश्वासाहम्
विश्वा साहम् नरम् । शचिष्ठम् विश्ववेदसम् विश्व वेदसम् ॥६॥

पदार्थः—हे प्रजाजनाः ! अहम् **वः** युष्मभ्यम्, अस्मभ्यं चेत्यपि ध्वन्यते, युष्माकमस्माकं च हितायेत्यर्थः **त्यम् उ** तं प्रख्यातम्, **अप्रहणम्**[2] न केनापि प्रहन्तुं शक्यम्, यद्वाऽन्यायेन कञ्चित् न घ्नन्तम् । अत्र प्र पूर्वाद् हन्तेः कर्मणि कर्तरि वा क्विप्, नञ्समासः । **शवसः पतिम्** बलस्य सैन्यस्य वा अधीश्वरम्, **विश्वासाहम्** यो विश्वान् शत्रून् विघ्नान् वा सहते अभिभवति तम् । अत्र विश्वपूर्वात् सह धातोः छन्दसि सहः । अ० ३।१।६३' इति ण्विः 'अन्येषामपि दृश्यते । अ० ६।३।१३७ इति दीर्घश्च । **नरम्** नेतारम्, **शचिष्ठम्** अतिशयेन कर्मनिष्ठम् । अतिशयेन शचीमान् इति शचिष्ठः । अतिशायने इष्ठनि 'विन्मतोर्लुक् । अ० ५।३।६५' इति मतोर्लुक् । **विश्ववेदसम्** यो ब्रह्माण्डस्य राष्ट्रस्य वा विश्वं घटनाचक्रं वेत्ति तम् **इन्द्रम्** शूरं परमात्मनं राजानं वा **गृणीषे** गुणकर्मवर्णनेन स्तौमि । गॄ शब्दे धातोर्लेटचुत्तमैकवचने रूपम् । 'सिब्बहुलं लेटि । अ० ३।१।३४' इति सिप् ॥६॥[3]

भावार्थः—ये प्रजानां हितमिच्छन्ति तैरमात्यपुरोहितादिभिः मन्त्रोक्तगुणगणालङ्कृतो जगदीश्वरो गुणकर्मकीर्तनद्वारा तद्गरिम्णो गानद्वारा च सर्वत्र प्रचारणीयस्तादृशो नरेश्वरश्च गुणवर्णनेन कर्तव्यं प्रति प्रोत्साहनीयः ॥६॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि इन्द्रपदवाच्य परमात्मा और राजा कैसा है ।

पदार्थ—हे प्रजाजनो ! मैं **वः** तुम्हारे व अपने हितार्थ **त्यम् उ** उस, **अप्रहणम्** किसी से न मारे जा सकने योग्य अथवा अन्याय से किसी को न मारने वाले, **शवसः पतिम्** बल और सेना के अधिपति, **विश्वासाहम्** सब शत्रुओं वा विघ्नों को परास्त करने वाले, **नरम्** नेता, **शचिष्ठम्** अतिशय कर्मनिष्ठ, **विश्ववेदसम्** ब्रह्माण्ड वा राष्ट्र के सब घटनाचक्र को जानने वाले **इन्द्रम्** शूरवीर परमात्मा वा राजा की **गृणीषे** गुण-कर्मों के वर्णन द्वारा स्तुति करता हूँ ॥६॥

भावार्थ—जो प्रजाओं का हित चाहते हैं उन मन्त्री, पुरोहित आदियों को चाहिए कि मन्त्रोक्त गुणों से अलंकृत जगदीश्वर का गुण-कर्मों के कीर्तन द्वारा और उसकी गरिमा के गान द्वारा सर्वत्र प्रचार करें और वैसे ही गुणी राजा को उसके गुणों के वर्णन द्वारा कर्त्तव्य के प्रति प्रोत्साहित करें ॥६॥

दधिक्रावा अग्निर्देवता । तन्नाम्ना परमात्मानं, यज्ञाग्निं, राजानं च स्तौति ।

३५८. दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।
सुरभि नो मुखा करत् प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥७॥[4]

---

१. ऋ० ६।४४।४, 'मंहिष्ठं विश्वचर्षणिम्' इति चतुर्थः पादः ।
२. (अप्रहणम्) योऽन्यायेन कञ्चिन्न प्रहन्ति तम्— इति ऋ० ६।४४।४ भाष्ये द० ।
३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं राजप्रजाविषये व्याख्यातवान् ।
४. ऋ० ४।३९।४, य० २३।३२ ऋषिः प्रजापतिः, अ० २०।१३७।३ ।

दधिक्राव्णः दधि क्राव्णः अकारिषम् । जिष्णोः अश्वस्य वाजिनः ॥
सुरभि सु रभि नः मुखा मु खा करत् । प्र नः आयूꣳषि तारिषत् ॥७॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । अहम् **जिष्णोः** जयशीलस्य विजयप्रदानशीलस्य च, **अश्वस्य** सकल शुभगुणव्याप्तस्य, **वाजिनः** बलविज्ञानवतः **दधिक्राव्णः** यो दधीन् धारकान् पृथिवीचन्द्रसूर्यनक्षत्रादिलोकान् स्वधुरि किञ्चित् पिण्डं परितो वा क्रमयति परिक्रमयतीति तस्य । दधातीति दधिः, दधातेः 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । अ० ३।२।१७ ।' इति किः प्रत्ययः लिड्वच्च । दधिपूर्वात् क्रमु पादविक्षेपे धातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते । अ० ३।२।७५' इति वनिप् प्रत्ययः । यद्वा दधीन् स्तोत्रधारकान् धर्मधारकान् सद्गुणधारकान् वा क्रमयति कर्मयोगिनः करोतीति तस्य जगदीश्वरस्य **अकारिषम्** स्वागतं करोमि । अत्र करोतेर्लङर्थे लुङ् । स्वागतवचनेन सत्कृतः स दधिक्रावा जगदीश्वरः **नः** अस्माकं **मुखा** मुखानि **सुरभि** सुरभीणि, कटुवचनपरनिन्दादिरहितमधुरसत्यभाषणसौरभसम्पन्नानि । मुखा, सुरभि इत्युभयत्र 'शेश्छन्दसि बहुलम्' । अ० ६।१।७० इति शिलोपः । **करत्** कुर्यात्, **नः** अस्माकम् **आयूंषि** वयोवर्षाणि च **प्र तारिषत्** प्रवर्द्धयेत् । प्र पूर्वस्तरतिर्वर्द्धनार्थः । 'करत्' इति करोतेः, 'तारिषत्' इति च तॄ प्लवनसंतरणयोः इत्येतस्य लेटि तिपि रूपम्, द्वितीये 'सिब्बहुलं लेटि । अ० ३।१।३४' इति सिबागमः, तस्य च णिद्वत्त्वाद् वृद्धिः । उभयत्र 'इतश्च लोपः परमैपदेषु । अ० ३।४।९७' इति तिप इकारलोपः ।

अथ **द्वितीयो** यज्ञाग्निपरः । अहम् **जिष्णोः** रोगादिजयशीलस्य, **अश्वस्य** व्यापनस्वभावस्य, **वाजिनः** हव्यान्नवतः **दधिक्राव्णः**[1] दधिः हव्यानि धृतवान् सन् तानि भस्मीकृत्य रूपान्तरं नीत्वा क्रमयति वायुमाध्यमेन देशान्तरं प्रापयतीति तस्य आहवनीयस्याग्नेः **अकारिषम्** यज्ञे उपयोगं करोमि, तस्मिन् हव्यानि जुहोमीत्यर्थः । हुतः स यज्ञाग्निः **नः** अस्माकम् **मुखा** मुखम्, मुखवर्तिनासिकाप्रदेशम् । अत्र 'सुपां सुलुक् । अ० ७।१।३९' इति द्वितीयैकवचनस्य आकारादेशः । **सुरभि** सौरभयुक्तम् **करत्** कुर्यात्, **नः आयूंषि प्रतारिषत्** अग्निहोतॄणामस्माकम् आयुर्वर्षाणि च प्रवर्द्धयेत्, नियमेनाग्नौ होमं कुर्वन्तो वयं चिरं जीवेमेत्यर्थः ।

अग्नौ हुतेन सुगन्धिना हव्येन सुरभिगन्धिर्वायुर्यदा श्वासप्रश्वासक्रियया फुप्फुसाभ्यन्तरं गच्छति तदा रक्तं संशोध्य तत्र जीवनदायकं तत्त्वं समावेश्य तन्मालिन्यमपहृत्य बहिर्निस्सारयति । तेन स्वास्थ्यलाभो दीर्घमायुश्च जायते । तथा च श्रुतिः—आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः । त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे (ऋ० १०।१३७।३) इति । 'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् । ग्राहिर्जग्राह यदि वैतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्' (ऋ० १०।१६१।१) इति च । अत्र इन्द्राग्नी वाय्वग्नी इति ज्ञेयम् ।

अथ **तृतीयो** राजपरः । अहम् **जिष्णोः** विजयशीलस्य **अश्वस्य** अश्वरूपस्य, अश्ववद् राष्ट्ररथं वहतः इत्यर्थः, **वाजिनः** अन्नाद्यैश्वर्यवतो, बलवतः, संग्रामसमर्थस्य च । वाज इत्यन्ननाम, बलनाम, संग्रामनाम च । निघं० २।७, २।९, २।१७ । वाजी वेजनवान् निरु० २।२८ । **दधिक्राव्णः**[2] यो राज्ये दधीनि

---

१. दधिक्रावा अग्निविशेषः ।···धारयति क्रामयति देशान्तरं प्रापयति इति दधिक्रावा अग्निः । क्रमेर्वनिप्प्रत्यये 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० ६।७।४१) इति अनुनासिकस्याकारादेशः । दधिक्राव्णो देवस्य परिचरणम् अकारिषम्—इति भ० ।

२. (दधिक्रावाणम्) धारकाणां यानानां क्रामयितारं गमयितारम् इति ऋ० ७।४४।३ भाष्ये द० ।

बहुजनद्रव्यादिधारकाणि विमानादियानानि क्रमयति सञ्चालयति तस्य नृपतेः **अकारिषम्** राज्यनियमानां पालनं करोमि । **सः** असौ नृपतिः सदाचारमार्गे प्रवर्त्य **नः** अस्माकम् **मुखा** मुखानि **सुरभि** यशःसौरभवन्ति **करत्** कुर्यात्, किञ्च **नः** अस्माकम् प्रजाजनानाम् **आयूंषि** आयुर्वर्षाणि **प्र तारिषत्** प्रवर्द्धयेत् । आयुर्वेद-शिक्षणेन, चिकित्सासुप्रबन्धेन, कृषिवाणिज्यपशुपालनोत्कर्षेण, हिंसोपद्रवादिनिवारणेन, शत्रुच्छेदेन एवं-विधसकलोपायप्रचारणेन राष्ट्रवासिनोऽकालमृत्युग्रासात् संरक्षेदित्यर्थः ॥७॥[1]

वेदे 'दधिक्राः' 'दधिक्रावा' चेत्युभयमपि प्रयुक्तम् । उभयोः प्रत्ययस्यैव भेदः, प्रथमं विट्प्रत्ययान्तं, द्वितीयं च वनिप्प्रत्ययान्तम् । 'दधिक्राः' इति पदं यास्काचार्य एवं निर्वक्ति—'दधिक्रा इत्येतद् दधत् क्रामतीति वा, दधत् क्रन्दतीति वा, दधदाकारी भवतीति वा । तस्याश्ववद् देवतावच्च निगमा भवन्ति (निरु० २।२७)' इति । तदेव निर्वचनं 'दधिक्रावा' इति पदस्यापि तन्मते विज्ञेयम् ।

अत्र श्लेषालंकारः, तृतीयचतुर्थपादयोरन्त्यानुप्रासश्च । 'दधिक्राव्णः, अश्वस्य, वाजिनः' इति सर्वेषामश्ववाचित्वात् पुनरुक्तत्वप्रतीतेः, यौगिकत्वेन च तत्परिहारात्, पुनरुक्तवदाभासोऽलङ्कारः ॥७॥

भावार्थः—परमात्मस्तवनेनाग्निहोत्रेण राजनियमपालनेन चास्माभिर्यशःसौरभं दीर्घायुष्यं च प्राप्तव्यम् ॥७॥

यजुर्वेदभाष्ये महीधरः कात्यायनश्रौतसूत्रस्याश्वमेधविधिमनुसरन् 'महिषीं' यजमानस्य प्रथम-परिणीतां पत्नीमश्वसमीपसुप्तामुत्थाप्य पुरुषा अध्वर्युब्रह्मोद्गातृहोतृक्षत्तारो मन्त्रं पठेयुरित्याह । किञ्च 'सुरभि नो मुखा करत्' इति व्याचक्षाणः 'अश्लीलभाषणेन दुर्गन्धं प्राप्तानि मुखानि सुरभीणि यज्ञः करोत्विति' प्रतिपादयाञ्चक्रे । तत्सर्वं प्रलपितमात्रम् । कः खलु सुधीर्यः पूर्वमश्लीलभाषणं कृत्वा मुखानि दुर्गन्धतां नयेत्, पश्चाच्च शोधनोपायमन्विष्येत् । 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति न्याय एव किमिति नानुस्रियेत ।

अगले मन्त्र का 'दधिक्रावा' अग्नि देवता है । इस नाम से परमात्मा, यज्ञाग्नि और राजा की स्तुति की गयी है ।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । मैं **जिष्णोः** विजयशील तथा विजय प्रदान करने वाले, **अश्वस्य** सब शुभ गुणों में व्याप्त, **वाजिनः** बल और विज्ञान से युक्त **दधिक्राव्णः** धारक पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र आदि लोकों को अपनी-अपनी धरी पर अथवा किसी पिण्ड के चारों ओर घुमाने वाले, अथवा स्तोत्र-धारकों, धर्म-धारकों वा सद्गुण-धारकों को कर्मयोगी बनाने वाले जगदीश्वर का **अकारिषम्** स्वागत करता हूँ । स्वागतवचन द्वारा सत्कृत वह जगदीश्वर **नः** हमारे **मुखा** मुखों को **सुरभि** सुगन्धित अर्थात् कटु-वचन, पर-निन्दा आदि से रहित मधुर सत्य-भाषण के सौरभ से सम्पन्न **करत्** करे, और **नः** हमारी **आयूंषि** आयुओं को **प्र तारिषत्** बढ़ाये ।

द्वितीय यज्ञाग्नि के पक्ष में । मैं **जिष्णोः** रोग आदि पर विजय पाने वाले, **अश्वस्य** फैलने के स्वभाव वाले, **वाजिनः** हव्यान्नों से युक्त **दधिक्राव्णः** हवियों को धारण कर रूपान्तरित करके देशान्तर में पहुँचा देने वाले आहवनीय अग्नि का **अकारिषम्** यज्ञ में उपयोग करता हूँ, अर्थात् उसमें हवियों को होम करता हूँ । आहुति दिया हुआ वह यज्ञाग्नि **नः** हमारे **मुखा** मुख को, अर्थात् मुखवर्ती नासिका-प्रदेश को **सुरभि** सुगन्धित **करत्** कर दे, और **नः आयूंषि प्रतारिषत्** हम अग्निहोत्रियों के आयु के वर्षों को बढ़ाये । अभिप्राय यह है कि नियम से अग्निहोत्र करते हुए हम चिरञ्जीवी हों ।

---

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतम् ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च राजप्रजाविषये व्याख्यातवान् ।

अग्नि में होमे हुए सुगन्धित हव्य से सुगन्धित हुआ वायु जब श्वास-प्रश्वास-क्रिया द्वारा फेफड़ों के अन्दर जाता है, तब रक्त को शुद्ध कर, उसमें जीवनदायक तत्त्व समाविष्ट करके, उसकी मलिनता को हरकर बाहर निकाल देता है। वेद में कहा भी है—'हे वायु, तू अपने साथ औषध अन्दर ला, जो मल है उसे बाहर निकाल। तू सब रोगों की दवा है, तू विद्वान् वैद्यों का दूत होकर विचरता है (ऋ० १०।१३७।३)"। एक अन्य मन्त्र में वैद्य कह रहा है—"हे रोगी ! मैं हवि के द्वारा तुझे जीवन देने के लिए अज्ञात रोग से और राजयक्ष्मा से छुड़ा दूँगा। यदि तुझे गठिया रोग ने जकड़ लिया है, तो उससे भी वायु और अग्नि तुझे छुड़ा देंगे (ऋ० १०।१६१।१)"।

तृतीय राजा के पक्ष में। मैं **जिष्णोः** विजयशील **अश्वस्य** अश्व के समान राष्ट्र-रूप रथ को वहन करने वाले, **वाजिनः** अन्नादि ऐश्वर्यों से युक्त, बलवान् और युद्ध करने में समर्थ, **दधिक्राव्णः** बहुत-से लोगों तथा पदार्थों के धारक विमानादि यानों को चलवाने वाले राजा के **अकारिषम्** राजनियमों का पालन करता हूँ। **सः** वह राजा, सदाचारमार्ग में प्रवृत्त करके **नः** हम प्रजाजनों के **मुखा** मुखों को **सुरभि** यश के सौरभ से युक्त **करत्** करे, और **नः** हम प्रजाजनों की **आयूंषि** आयु के वर्षों को **प्रतारिषत्** बढ़ाये। भाव यह है कि आयुर्वेद के शिक्षण, चिकित्सा के सुप्रबन्ध, कृषि-व्यापार-पशुपालन के उत्कर्ष, हिंसा-उपद्रव आदि के निवारण, शत्रुओं के उच्छेद, इस प्रकार के सब उपायों द्वारा राष्ट्रवासियों को अकाल मृत्यु का ग्रास बनने से बचाये ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है; तृतीय-चतुर्थ पादों में अन्त्यानुप्रास भी है। दधिक्रावा, अश्व और वाजी इन सबके अश्ववाचक होने से पुनरुक्ति प्रतीत होती है, किन्तु यौगिक अर्थ करने से पुनरुक्ति का परिहार हो जाता है, अतः पुनरुक्तवदाभास अलंकार है ॥७॥

भावार्थ—परमात्मा की स्तुति, अग्निहोत्र और राजनियमों के पालन द्वारा हमें यशःसौरभ और दीर्घायुष्य प्राप्त करना चाहिए ॥७॥

महीधर ने इस मन्त्र पर यजुर्वेदभाष्य में कात्यायन श्रौतसूत्र की अश्वमेधविधि का अनुसरण करते हुए यह लिखा है कि घोड़े के पास सोयी हुई यजमान की प्रथम परिणीत पत्नी महिषी को वहाँ से उठाकर अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता, होता और क्षत्ता नामक ऋत्विज् इस मन्त्र को पढ़ें। साथ ही 'सुरभि नो मुखा करत्' की व्याख्या में लिखा है कि अश्लील भाषण से दुर्गन्ध को प्राप्त हुए मुखों को यज्ञ सुगन्धित कर दे। यह सब प्रलापमात्र है। कौन बुद्धिमान् ऐसा होगा जो पहले तो अश्लील भाषण करके मुखों को दुर्गन्धयुक्त करे और फिर उसकी शुद्धि का उपाय खोजे ? 'कीचड़ लगाकर फिर उसे धोने की अपेक्षा कीचड़ को हाथ न लगाना ही अधिक अच्छा है' इस नीति का अनुसरण क्यों न किया जाये ?

अथेन्द्रनाम्ना परमेश्वरनृपसूर्यादीनां महिमानं वर्णयति।

३ २ ३ १२ २१ ३ १२ २१
३५९. पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः ॥८॥[1]

३ २ ३ २ १ २१ ३ २ १ २१ ३ १ २१ ३
पुराम् भिन्दुः युवा कविः। अमितौजाः अमित ओजाः अजायत॥
१ २१ १ २१ १ २१ ३ २ ३ २ ३ २ ३
इन्द्रः विश्वस्य कर्मणः। धर्त्ता वज्री पुरुष्टुतः पुरु स्तुतः ॥८॥

१. ऋ० १।११।४, साम० १२५०।

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । **पुराम्** मनसि दृढं बद्धानाम् तमःपुरीणाम् **भिन्दुः** भेत्ता । भिदिर विदारणे धातोः 'पृभिदिव्यधिगृधिधृषिहृषिभ्यः । उ० १।२३' इति कुः, बाहुलकान्नुमागमः । **युवा** नित्य-तरुणः, अजरामरः, **कविः** वेदरूपस्य काव्यस्य कर्ता, क्रान्तदर्शी वा, **अमितौजाः** अपरिमिततेजाः, **वज्री** न्यायदण्डधरः, **पुरुष्टुतः** बहुस्तुतः **इन्द्रः** ब्रह्माण्डस्य सम्राट् परमात्मा **विश्वस्य कर्मणः** सूर्यचन्द्रपृथिव्यादि-भ्रमण-ऋतुनिर्माण-सरित्प्रवाह-वृष्टि-पापपुण्यफलप्रदानादिकस्य सकलस्यापि व्यापारस्य **धर्ता** धारकः, नियामकः **अजायत** जातोऽस्ति ।

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रपरः । **पुराम्** शत्रुनगरीणाम् शत्रुदुर्गाणां वा **भिन्दुः** भेत्ता, **युवा** यौवनसम्पन्नः, **कविः** राजनीतिशास्त्रस्य पण्डितः, क्रान्तद्रष्टा वा । कविः इति मेधाविनाम । निघं० ३।१५ । कविः क्रान्त-दर्शनो भवति कवतेर्वा । निरु० १२।१३ । **अमितौजाः** अपरिमेयपराक्रमः, **वज्री** विविधानां शस्त्रास्त्राणां संग्रहीता तच्चालनकुशलश्च, **पुरुष्टुतः** बहुभिः प्रजाजनैः कीर्तितः **इन्द्रः** शूरवीरो राजा सेनापतिर्वा **विश्वस्य कर्मणः** सकलस्य राजकार्यस्य सैन्यसंघटनकार्यस्य वा **धर्ता** धारकः **अजायत** जायते ।

अथ **तृतीयः** सूर्यपरः । **पुराम्** अन्धकार-मेघ-हिमादिपुरीणाम् **भिन्दुः** भेदकः, **युवा** पदार्थानां मिश्रणामिश्रणकर्ता । यु मिश्रणामिश्रणयोरिति धातोः 'कनिन् युवृषि-तक्षि-राजि-धन्वि-द्युप्रतिदिवः । उ० १।१५६' इति सूत्रेण कनिन् प्रत्ययः । **कविः** यः कवते गच्छति परिक्रामति स्वधुरि, यद्वा कवयति गमयति परिक्रमयति स्वं परितः पृथिवीमंगलबुधचन्द्रादिग्रहोपग्रहान् सः । असौ वादित्यः कविः । श० ६।७।२।४ । **अमितौजाः** अपरिमितबलः अपरिमितप्रकाशो वा, **वज्री** किरणरूपवज्रवान्, **पुरुष्टुतः** बहुभिः खगोलज्योति-र्विद्भिर्वैज्ञानिकैर्वर्णितः **इन्द्रः** सूर्यः । अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः । श० ८।५।३।२ इति प्रामाण्यात् । **विश्वस्य कर्मणः** सौरलोके दृश्यमानस्य सर्वस्य प्राकृतिकस्य व्यापारस्य **धर्ता** धारकः **अजायत** सञ्जातोऽस्ति ॥८॥[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥८॥

भावार्थः—यथा राष्ट्रस्य सम्राट् सर्वस्य राज्यकार्यस्य सेनापतिर्वा सैन्यसंघटनकार्यस्य नेता भवति, यथा वा सूर्यः सौरमण्डलस्य धर्ता विद्यते, तथैव विविधलोकलोकान्तरसमष्टिरूपे महति ब्रह्माण्डे विद्य-मानायाः सम्पूर्णव्यवस्थायाः कर्ता राजाधिराजः परमेश्वरोऽस्तीति सर्वैर्मन्तव्यम् ॥८॥

अत्रेन्द्रस्य महिमवर्णनात्, तं प्रत्यात्मसमर्पणादिप्रेरणाद्, इन्द्रनाम्ना नृपतिसेनापत्याचार्यादीनां चापि कर्तव्यवर्णनाद् एतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम् ।

इति चतुर्थे प्रपाठके द्वितीयार्द्धे द्वितीया दशतिः ।
इति चतुर्थेऽध्याये प्रथमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर, सूर्य, राजा आदि की महिमा वर्णित है।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । **पुराम्** मन में दृढ़ हुई तमोगुण की नगरियों का **भिन्दुः** विदारक, **युवा** नित्य युवा रहने वाला अर्थात् अजर-अमर, **कविः** वेदकाव्य का कवि, अथवा क्रान्तदर्शी, **अमितौजाः** अपरिमित तेज वाला, **वज्री** न्याय-दण्ड को धारण करने वाला, **पुरुष्टुतः** बहुस्तुत **इन्द्रः** ब्रह्माण्ड का सम्राट् परमात्मा **विश्वस्य कर्मणः** सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि के भ्रमण, ऋतु-निर्माण, नदी-प्रवाह, वर्षा, पाप-पुण्य का फल प्रदान आदि सब कर्मों का **धर्ता** नियामक **अजायत** बना हुआ है ॥

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में । **पुराम्** शत्रु की नगरियों या किलेबन्दियों का **भिन्दुः** तोड़ने वाला, **युवा**

१. एष मन्त्रो दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्ये सेनापतिविषये सूर्यविषये च व्याख्यातः ।

तरुण, **कविः** राजनीतिशास्त्र का पण्डित व दूरदर्शी, **अमितौजाः** अपरिमित पराक्रम वाला, **वज्री** विविध शस्त्रास्त्रों का संग्रहकर्ता और उनके प्रयोग में कुशल, **पुरुष्टुतः** अनेकों प्रजाजनों से प्रशंसित **इन्द्रः** शूरवीर राजा वा सेनापति **विश्वस्य कर्मणः** सब राजकाज वा सेनासंगठन-कार्य का **धर्ता** भार उठाने वाला **अजायत** होता है।

तृतीय सूर्य के पक्ष में। **पुराम्** अन्धकार, बादल, बर्फ आदि नगरियों का **भिन्दुः** विदारणकर्ता, **युवा** पदार्थों को मिलाने और अलग करने वाला, **कविः** अपनी धुरी पर घूमने वाला, अथवा पृथिवी, मंगल, बुध, चन्द्रमा आदि ग्रहोपग्रहों को अपने चारों ओर घुमाने वाला, **अमितौजाः** अपरिमित बल और प्रकाश वाला, **वज्री** किरणरूप वज्र वाला, **पुरुष्टुतः** बहुत-से खगोलज्योतिष को जानने वाले विद्वान् वैज्ञानिकों द्वारा वर्णन किया गया **इन्द्रः** सूर्य **विश्वस्य कर्मणः** सौरमण्डल में दिखायी देने वाले सब प्राकृतिक कर्मों का **धर्ता** धारक **अजायत** बना हुआ है ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥८॥

भावार्थ—जैसे राष्ट्र का राजा सब राज्यकार्य का और सेनापति सेना के संगठनकार्य का नेता होता है, अथवा जैसे सूर्य सौरमण्डल का धारणकर्ता है, वैसे ही विविध लोक-लोकान्तरों के समष्टिरूप इस महान् ब्रह्माण्ड में विद्यमान सम्पूर्ण व्यवस्था का करने वाला राजाधिराज परमेश्वर है, यह सबको जानना चाहिए ॥८॥

इस दशति में इन्द्र की महिमा का वर्णन होने, उसके प्रति आत्मसमर्पण आदि की प्रेरणा होने तथा इन्द्र नाम से राजा, सेनापति, आचार्य आदि का भी वर्णन होने से इस दशति के विषय की पर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

चतुर्थ प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त।
चतुर्थ अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ॥

॥८॥ अथ 'प्र प्र वस्त्रिष्टुभमिषम्' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ३, ५ प्रियमेधः; २, १० वामदेवः; ४ मधुच्छन्दाः; ६ भरद्वाजः; ७ अत्रिः; ८ प्रस्कण्वः; ९ आप्त्यस्त्रितः ॥ देवता—१-७ इन्द्रः; ८ उषाः; ९ विश्वे देवाः; १० ऋक्सामौ ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

तत्रादौ स्तुतः परमेश्वरः किं करोतीत्याह।

३६०. **प्रप्र वस्त्रिष्टुभमिषं वन्दद्वीरायेन्दवे।**
धिया वो मेधसातये पुरन्ध्या विवासति ॥१॥[1]
प्रप्र प्र प्र वः त्रिष्टुभम् त्रि स्तुभम् इषम्। वन्दद्वीराय वन्दत् वीराय इन्दवे ॥
धिया वः मेधसातये मेध सातये। पुरन्ध्या पुरम् ध्या आ विवासति ॥१॥

पदार्थः—हे सखायः! **वः** यूयम् **वन्दद्वीराय**[2] वन्दन्ते वीराः वीरजनाः यं स वन्दद्वीरः तस्मै, वीरजन-

१. ऋ० ८।६९।१ 'वन्दद्' इत्यत्र 'मन्दद्' इति पाठः।

२. वन्दद्वीराय अधिकविक्रान्ताय इत्यर्थः—इति वि०। भरतस्तु मन्दद्वीराय इति पाठं मत्वा व्याख्याति। मादयति वीरान् स्तोतनिति मन्दद्वीरः—इति भ०। यो वीरान् स्तौति स वन्दद्वीरः तस्मै—इति सा०।

स्तुतायेत्यर्थः **इन्दवे** दीप्ताय, स्नेहवर्षकाय, चन्द्रवदाह्लादकाय वा इन्द्राय परमात्मने। 'इन्दुः इन्धेः उनत्तेर्वा' निरु० १०।४१। **त्रिष्टुभम्**[1] त्रीणि आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानि सुखानि स्तोभते स्तभ्नाति या ताम्, यद्वा त्रिभिः ज्ञानकर्मोपासनैः स्तोभ्यते या ताम्। त्रि पूर्वात् स्तभु स्तम्भे धातोः क्विपि रूपम्। **इषम्** प्रीतिं श्रद्धां च **प्र प्र**[2] प्रार्पयत, प्रार्पयत। उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः। प्रीत्या श्रद्धया च पूजितः सः **मेधसातये** योगयज्ञस्य पूर्णतायै। मेध इति यज्ञनाम। निघं० ३।१७। सातिरिति सम्भजनार्थात् षण धातोः क्तिन्नन्तो निपातः। **पुरन्ध्या** पुरं पूर्तिं दधातीति पुरंधिः तया। पॄ पालनपूरणयोः धातोः क्विपि 'पुर्' इति जायते, तदुपपदाद् दधातेः किः प्रत्ययः। **धिया** ऋतम्भरया प्रज्ञया **आ विवासति** परिचरति, संयोजयतीत्यर्थः। विवासतिः परिचरणकर्मा। निघं० ३।५ ॥१॥

भावार्थः—वीरा अपि स्वविजयस्य कारणं परमात्मानमेव मन्यमाना यं मुहुर्मुहुर्वन्दन्ते स सर्वैरेव प्रीत्या श्रद्धया च कुतो न वन्दनीयः ॥१॥

प्रथम मन्त्र में यह विषय है कि स्तुति किया हुआ परमेश्वर क्या करता है।

पदार्थ—हे साथियो ! **वः** तुम लोग **वन्दद्वीराय** वीरजनों से वन्दित **इन्दवे** तेजस्वी, स्नेह की वर्षा करने वाले और चन्द्रमा के समान आह्लादकारी इन्द्र परमात्मा के लिए **त्रिष्टुभम्** आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों सुखों को स्थिर कराने वाली अथवा ज्ञान, कर्म और उपासना इन तीन से स्थिर होने वाली **इषम्** प्रीति और श्रद्धा को **प्र प्र** प्रकृष्टरूप से समर्पित करो, समर्पित करो। प्रीति और श्रद्धा से पूजित वह **मेधसातये** योगयज्ञ की पूर्णता के लिए **पुरन्ध्या** पूर्णता प्रदान करने वाली **धिया** ऋतम्भरा प्रज्ञा से **आ विवासति** सत्कृत अर्थात् संयुक्त करता है ॥१॥

भावार्थ—वीरजन भी अपनी विजय का कारण परमात्मा को ही मानते हुए जिस परमात्मा की बार-बार वन्दना करते हैं, उसकी सभी लोग प्रीति और श्रद्धा के साथ वन्दना क्यों न करें ॥१॥

अथेन्द्रस्य सहयोगिनोर्विषयमाह।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
३६१. **कश्यपस्य स्वर्विदो यावाहुः सयुजाविति।**
२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
ययोर्विश्वमपि व्रतं यज्ञं धीरा निचाय्य ॥२॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ १
कश्यपस्य स्वर्विदः स्वः विदः। यौ आहुः सयुजौ स युजौ इति॥
१ २ १ १ २ १ १ २ १ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १
ययोः विश्वम् अपि व्रतम्। यज्ञम् धीराः निचाय्य नि चाय्य ॥२॥

पदार्थः—**प्रथमो** ब्रह्माण्डपरः। विद्वांसः **यौ** अग्नीषोमौ, अग्नितत्त्वं सोमतत्त्वं च **स्वर्विदः** यः स्वः प्रकाशम् आनन्दं वा वेदयते लम्भयति स स्वर्वित् तस्य **कश्यपस्य** पश्यकस्य सर्वद्रष्टुः इन्द्रस्य परमैश्वर्यशालिनो जगदीश्वरस्य। 'कश्यपः पश्यको भवति, यत्सर्वं परिपश्यति' तै० आ० १।८।८। अत्र आद्यन्त-

१. (त्रिष्टुभ्) याऽऽध्यात्मिकाऽऽधिभौतिकाऽऽधिदैविकानि त्रीणि सुखानि स्तोभते स्तभ्नाति सा' इति य० २३।३३ भाष्ये द०। त्रिभिः स्तुतम्, अथवा त्रिष्टुप्छन्दोयुक्तम्, स्तुतिसंयुक्तमित्यर्थः—इति वि०। त्रिस्तोत्रम् इषम् अन्नम्, सोममित्यर्थः। त्रिष्वपि अभिषवेषु पवमानस्य स्तुतिः क्रियते। स्तोभतेः स्तुतिकर्मणः स्तुप्—इति भ०। स्तोभत्रयोपेतम्—इति सा०।

२. 'प्रसमुपोदः पादपूरणे। अ० ८।१।६' इति पादपूरणे प्रोपसर्गस्य द्वित्वं विहितम्। वस्तुतस्तु उपसर्गपुनरुक्त्या पुनरुक्ता क्रिया भूयांसमर्थं द्योतयतीति न पादपूरणमात्रं प्रयोजनम्।

विपर्ययः । **सयुजौ** सहयोगिनौ **आहुः** कथयन्ति, **ययोः** ययोश्च अग्नीषोमयोः **विश्वम् अपि** सर्वमपि **व्रतम्** कर्म **यज्ञम्** यज्ञत्वेन आहुः वर्णयन्ति, तौ अग्नीषोमौ, अग्नितत्त्वं सोमतत्त्वं च **निचाय्य** सम्यग् विज्ञाय । चायृ पूजानिशामनयोः, भ्वादिः । हे जनाः यूयम् **धीराः** धीमन्तः पण्डिताः भवतेति शेषः ॥ यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद् अस्मिन् मन्त्रे 'यौ' इत्यनेन सह वाक्यपूर्त्यै 'तौ' इत्यध्याह्रियते ।

इन्द्रदेवताकत्वादृचः कश्यप इति इन्द्रनाम । वेदे तस्येन्द्रस्य प्रधानसहचरौ अग्नीषोमौ, अग्निना सोमेन च सह बहुत्र तद्वर्णनात् । यथा, इन्द्राग्नी शर्म यच्छतम् । (ऋ० १।२१।६), इन्द्राग्नी वृत्रहणा जुषेथाम् (ऋ० ७।९३।१), इत्यग्निना सह । इन्द्रासोमा युवमस्माँ अविष्टम् (ऋ० २।३०।६), इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतम् (अथ० ८।४।१) इति च सोमेन सह । एकस्मिन् मन्त्रे इन्द्राग्निसोमास्त्रयोऽपि सहचरिता उपलभ्यन्ते "यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत (अथ० ६।५८।३)" इति । निरुक्तेऽपि इन्द्रस्य संस्तविकेषु देवेषु सर्वतः पूर्वम् अग्नीषोमावेव वर्णितौ—"अथास्य संस्तविका देवाः, अग्निः, सोमः, वरुणः, पूषा, बृहस्पतिः, ब्रह्मणस्पतिः, पर्वतः, कुत्सः, विष्णुः, वायुः" इति (निरु० ७।१०) ।

अग्नीषोमात्मकमिदं जगत् । अग्नीषोमौ प्रश्नोपनिषदि रयि-प्राणरूपेण वर्णितौ । "अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य (भगवन्तं पिप्पलादम्) पप्रच्छ—भगवन् ! कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति । तस्मै स होवाच—प्रजाकामो वै प्रजापतिः, स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते । रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति । (प्रश्न० १।३, ४) । तत्रैव प्राणो रयिश्च आदित्य-चन्द्रात्मना, उत्तरायण-दक्षिणायनात्मना, शुक्ल-कृष्णपक्षात्मना, अहोरात्रात्मना चापि वर्णितौ (प्रश्न० १।५-१३) । शतपथेऽप्युक्तम्—सूर्य एवाग्नेयः, चन्द्रमाः सौम्यः । अहरेवाग्नेयं रात्रिः सौम्या, य एवापूर्यतेऽर्धमासः स आग्नेयो, योऽपक्षीयते स सौम्यः । (श० १।६।३।२४) इति । एतावेव अग्नीषोमौ इन्द्रस्य सहचरत्वेनास्मिन् मन्त्रेऽभिप्रेतावित्युन्नेयम् । इन्द्रः परमेश्वरः एतयोर्माध्यमेन जगदुत्पादयति सञ्चालयति च । किञ्च एतयोर्विश्वमपि कर्म यज्ञरूपम् इत्यपि मन्त्रे प्रोक्तम् । अन्यत्रापि वेद एतयोर्महिमानं वर्णयन्नाह—"युवमेतानि दिवि रोचनान्यग्निश्च सोम सुक्रतू अधत्तम् । युवं सिन्धूँरभिशस्तेरवद्यादग्नीषोमावमुञ्चतं गृभीतान् ॥ अग्नीषोमा ब्रह्मणा वावृधानोरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकम् ।" ऋ० १।९३।५, ६ ॥ ये तावद् इन्द्रसहयुजोः अग्नीषोमयोर्वेदप्रतिपादितमेतन्महत्त्वं विदन्ति त एव पण्डिता इति मन्तव्यम् ।

अथ **द्वितीयः** शरीरपरः । विद्वांसः **यौ** अग्नीषोमौ बुद्धिमनसी, प्राणापानौ वा । प्राणापानौ अग्नीषोमौ । ऐ० ब्रा० १।८ । **स्वर्विदः** यः स्वः विवेकप्रकाशम् आनन्दं वा विन्दते तस्य **कश्यपश्य** द्रष्टुः, ज्ञानस्य ग्रहीतुः इन्द्रस्य जीवात्मनः **सयुजौ** सहयोगिनौ **आहुः** कथयन्ति, **ययोः** ययोश्च बुद्धिमनसोः प्राणापानयोर्वा **विश्वम् अपि** सर्वमपि **व्रतम्** कर्म **यज्ञम्** ज्ञानयज्ञं देहसञ्चालनयज्ञं वा आहुः कथयन्ति, ते बुद्धिमनसी, तौ प्राणापानौ वा **निचाय्य** सम्यग् बुद्ध्वा, प्रयुज्य सबलीकृत्य च हे जनाः ! यूयम् **धीराः** धीः ज्ञानबोधो येषामस्ति ते धीराः, यद्वा दधति शरीरं ये ते धीराः, तादृशा भवतेति शेषः । धी शब्दान्मतुबर्थे रन् प्रत्ययः, यद्वा धा धातोः 'सु-सू-धाञ्-गृधिभ्यः क्रन् । उ० २।२५' इति क्रन् प्रत्ययः । बुद्धिमनसोः सम्यगुपयोगं विधाय ज्ञानेन्द्रियाणां साहाय्येन ज्ञानं सञ्चेतुं क्षमाः, प्राणायामेन च प्राणापानौ वशीकृत्य देहधारणक्षमाः भवतेति भावः ॥

अथ **तृतीयो** राष्ट्रपरः । राजनीतिज्ञाः विद्वांसः **यौ** अग्नीषोमौ अमात्यसेनाधीशौ । अग्निः सेना-

धीशः सोमोऽमात्य इति विज्ञेयम् । **स्वर्विदः** स्वः सुखं प्रजाभ्यो वेदयते लम्भयति यः तस्य **कश्यपस्य** राजपुरुषाणां कार्यस्य, प्रजायाः सुखदुःखादिकस्य च द्रष्टुः इन्द्रस्य राज्ञः **सयुजौ** सहयुजौ सहायकौ **आहुः** कथयन्ति, **ययोः** ययोश्च अमात्यसेनाधीशयोः **विश्वम् अपि** सर्वमपि **व्रतम्** राज्यसञ्चालनशत्रुनिवारणादिरूपं कर्म **यज्ञम्** राष्ट्रयज्ञपूर्तिरूपम् आहुः कथयन्ति, तौ **निचाय्य** सम्यक् सत्कृत्य, हे प्रजाजनाः यूयम् **धीराः** धृतराष्ट्राः भवत ॥

अग्नीषोमयोः राज्याधिकारिणोः राजानम् इन्द्रं प्रति सहयोगम् अथर्ववेदः इत्थं वर्णयति—"इदं तद् युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये ॥ अस्मै क्षत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं रयिम् । इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुतं युज उत्तरम् । (अथ० ६।५४।१, २) इति ॥

अथ **चतुर्थः** आदित्याहोरात्रपरः । विद्वांसः **यौ** अग्नीषोमौ अहोरात्रौ । अहोरात्रे वा अग्नीषोमौ । कौ० ब्रा० १०।३ । **स्वर्विदः** प्रकाशलम्भकस्य **कश्यपस्य** पश्यकस्य पदार्थानां दर्शयितुः, यद्वा कशे गतौ साधुः कश्यः गतिमयः पृथिव्यादिलोकः तं पाति रक्षतीति कश्यपः आदित्यात्मा इन्द्रः तस्य । कश गतिशासनयोः भ्वादिः । **सयुजौ** सहयुजौ **आहुः** कथयन्ति । अहोरात्रयोः आदित्याश्रितत्वात् । **ययोः** ययोश्च अहोरात्रयोः **विश्वम् अपि** सर्वम् एव **व्रतम्** कर्म **यज्ञम्** यज्ञात्मकम्, परोपकारात्मकम् आहुः कथयन्ति द्रष्टारो जनाः, तौ अहोरात्रौ **निचाय्य** सम्यक् विज्ञाय, हे जनाः ! यूयम् **धीराः** अहोरात्रवत् परोपकारधीसम्पन्नाः भवत ॥२॥[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—परमेश्वरस्य सहचरे अग्निसोमतत्त्वे, जीवात्मनः सहचरे बुद्धिमनसी प्राणापानौ वा, नृपस्य सहचरौ अमात्यसेनाधीशौ, आदित्यस्य सहचरौ अहोरात्रौ च सम्यग् विज्ञाय ताभ्यां यथायोग्यं लाभाः सर्वैः प्राप्तव्याः ॥२॥

अगले मन्त्र में इन्द्र के सहयोगियों के विषय में कहा गया है।

पदार्थ—**प्रथम** ब्रह्माण्ड के पक्ष में । विद्वान् लोग **यौ** जिन अग्नितत्त्व और सोमतत्त्व को **स्वर्विदः** प्रकाश वा आनन्द को प्राप्त कराने वाले **कश्यपस्य** सर्वद्रष्टा इन्द्र जगदीश्वर के **सयुजौ इति** सहयोगी **आहुः** कहते हैं, और **ययोः** जिनके **विश्वम् अपि** सारे ही **व्रतम्** कर्म को **यज्ञम् आहुः** यज्ञरूप कहते हैं **तौ** उन अग्नितत्त्व और सोमतत्त्व को **निचाय्य** जानकर, हे मनुष्यो ! तुम **धीराः** पण्डित बनो ।

इस मन्त्र का देवता इन्द्र होने से 'कश्यप' यहाँ इन्द्र का नाम है । वेद में उस इन्द्र के प्रधान सहचारी अग्नि और सोम हैं, क्योंकि अग्नि और सोम के साथ बहुत-से स्थलों में उसका वर्णन मिलता है । जैसे 'इन्द्राग्नी शर्म यच्छतम् ऋ० १।२१।६', 'इन्द्राग्नी वृत्रहणा जुषेथाम् ऋ० ७।९३।१ में अग्नि इन्द्र का सहचारी है और 'इन्द्रासोमा युवमस्माँ अविष्टम् ऋ० २।३०।६, 'इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतम् अथ० ८।४।१' में सोम इन्द्र का सहचारी है । एक मन्त्र में इन्द्र, अग्नि और सोम तीनों एक साथ मिलते हैं—

१. भरतस्वामिव्याख्याने तु कश्यपः प्रजापतिरादित्यो वा । तस्य सयुजौ मित्रावरुणौ, 'अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुणः' इति, सर्वस्य कालस्य तयोरेवान्तर्भावात् । इन्द्राग्नी वा, तयोरेव सर्वनिर्वाहकत्वात् । अश्विनौ वा तयोरादित्यपुत्रत्वप्रसिद्धेः । सायणेन कश्यपः सर्वज्ञः इन्द्रः, तत्सयुजौ च तस्य अश्वौ इति पूर्वं व्याख्याय, तदनु भरतस्वामिनमनुसृत्य कश्यपः प्रजापतिः, तस्य सयुजौ च मित्रावरुणौ इन्द्राग्नी वेत्युक्तम् । वस्तुतस्तु इन्द्र एवास्या ऋचो देवतेत्यस्माभिस्तदनुकूलमेव व्याख्यातम् । इन्द्रस्य बहुषु वाच्य [illegible] आदित्योऽपि भवतीति आदित्यपरमपि व्याख्यातुमलम् ।

'यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत' अथ० ६।५८।३ । निरुक्त में भी इन्द्र के सहचारी देवों में सर्वप्रथम अग्नि और सोम ही परिगणित हैं (निरु० ७।१०) । यह जगत् अग्नि और सोम से (आग्नेय तत्त्व और सौम्य तत्त्व) से ही बना है । वे ही प्रश्नोपनिषद् में रयि और प्राण नाम से वर्णित किये गये हैं । वहाँ कहा गया है कि कबन्धी कात्यायन ने भगवान् पिप्पलाद के पास जाकर प्रश्न किया कि भगवन्, ये प्रजाएँ कहाँ से उत्पन्न हो गई हैं ? उसे उन्होंने उत्तर दिया कि प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न करने की कामना से तप किया और तप करके रयि और प्राण के जोड़े को पैदा किया, इस विचार से कि ये दोनों मिलकर बहुत-सी प्रजाओं को उत्पन्न कर देंगे । वहीं पर प्राण और रयि को सूर्य-चन्द्र, उत्तरायण-दक्षिणायन, शुक्ल-कृष्ण पक्ष तथा अहोरात्र के रूप में वर्णित किया है। शतपथ ब्राह्मण में भी कहा है कि सूर्य आग्नेय है, चन्द्रमा सौम्य है; दिन आग्नेय है, रात्रि सौम्य है; शुक्लपक्ष आग्नेय है, कृष्णपक्ष सौम्य है (श० १।६।३।२४)। ये ही अग्नि-सोम इन्द्र के सहचररूप में प्रस्तुत मन्त्र में अभिप्रेत हैं, ऐसा समझना चाहिए । इन्द्र परमेश्वर इन्हीं के माध्यम से जगत् को उत्पन्न करता है और उसका संचालन करता है । इनका सब कर्म यज्ञरूप है, यह भी मन्त्र में कहा गया है । अन्यत्र भी वेद अग्नि और सोम की महिमा वर्णित करते हुए कहता है— हे शुभकर्मों वाले अग्नि और सोम, तुम दोनों ने आकाश में चमकीले पिण्डों को धारण किया है, तुम ही पर्वतों पर बर्फ जम जाने से रुकी हुई नदियों को बहाते हो । हे अग्नि और सोम, तुम दोनों ब्रह्म से वृद्धि पाकर यज्ञ के लिए विशाल लोक को उत्पन्न करते हो (ऋ० १।९३।५, ६) । जो लोग इन्द्र के सहचारी इन अग्नि और सोम का यह वेदप्रतिपादित महत्त्व जान लेते हैं, वे ही पण्डित हैं ।

द्वितीय शरीर के पक्ष में । विद्वान् लोग **यौ** जिन बुद्धि-मन अथवा प्राण-अपानरूप अग्नि-सोम को **स्वर्विदः** विवेक-प्रकाश तथा आनन्द प्राप्त करने वाले **कश्यपस्य** ज्ञान के द्रष्टा जीवात्मारूप इन्द्र के **सयुजौ** सहयोगी **आहुः** कहते हैं, और **ययोः** जिन बुद्धि-मन अथवा प्राण-अपान के **विश्वम् अपि** सारे ही **व्रतम्** कर्म को **यज्ञम्** ज्ञान-यज्ञ अथवा शरीरसंचालन-यज्ञ कहते हैं, [तौ] उन बुद्धि-मन अथवा प्राण-अपान को **निचाय्य** भलीभाँति जानकर, प्रयुक्त करके और सबल बनाकर, हे मनुष्यो, तुम **धीराः** ज्ञानबोध से युक्त अथवा शरीर-धारण में समर्थ होवो । अभिप्राय यह है कि बुद्धि और मन का सम्यक् उपयोग करके ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से ज्ञान एकत्र करने में समर्थ होवो और प्राणायाम से प्राणापानों को वश करके शरीर-धारण में समर्थ होवो ।।

तृतीय राष्ट्र के पक्ष में । राजनीतिज्ञ लोग **यौ** जिन सेनाध्यक्ष और राज्यमन्त्री रूप अग्नि और सोम को **स्वर्विदः** प्रजाओं को सुख पहुँचाने वाले, **कश्यपस्य** राजपुरुषों के कार्य और प्रजा के सुख-दुःख के द्रष्टा राजा के **सयुजौ** सहायक **आहुः** कहते हैं, और **ययोः** जिन सेनाध्यक्ष तथा राजमन्त्री के **विश्वम् अपि** सारे ही **व्रतम्** राज्यसंचालनरूप तथा शत्रुनिवारणरूप कर्म को **यज्ञम्** राष्ट्रयज्ञ का पूर्तिरूप **आहुः** कहते हैं, उनका **निचाय्य** सत्कार करके, हे प्रजाजनो, तुम **धीराः** धृत राष्ट्र वाले होवो ।

चतुर्थ आदित्य और अहोरात्र के पक्ष में । विद्वान् लोग **यौ** जिन दिन-रात्रिरूप अग्नि और सोम को **स्वर्विदः** प्रकाश प्राप्त कराने वाले **कश्यपस्य** पदार्थों का दर्शन कराने वाले अथवा गतिमय पृथिव्यादि लोकों के रक्षक आदित्य के **सयुजौ** सहयोगी **आहुः** कहते हैं, और **ययोः** जिन दिन-रात्रि के **विश्वम् अपि** सारे ही **व्रतम्** कर्म को **यज्ञम्** यज्ञात्मक अर्थात् परोपकारात्मक **आहुः** बताते हैं [तौ] उन दिन-रात्रि को **निचाय्य** जानकर, हे मनुष्यो ! तुम भी **धीराः** परोपकार-बुद्धि से युक्त होवो ।।२।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।२।।

भावार्थ—परमेश्वर के सहचर अग्नितत्त्व और सोमतत्त्व को, जीवात्मा के सहचर मन और

बुद्धि अथवा प्राण और अपान को, राजा के सहचर सेनाधीश और अमात्य को तथा सूर्य के सहचर दिन और रात्रि को भलीभाँति जानकर उनसे यथोचित लाभ सबको प्राप्त करने चाहिएँ ।।२।।

अथ मानवाः इन्द्रस्यार्चनार्थं प्रेर्यन्ते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
३६२. अर्चत प्रार्चता नरः प्रियमेधासो अर्चत ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ ३ २ ३ क २ १
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरमिद् धृष्ण्वर्चत ।।३।।[1]
१ २ १ ३ १ २ १ १ २ १ ३ १ २ १
अर्चत प्र अर्चत नरः । प्रियमेधासः प्रिय मेधासः अर्चत ।।
१ २ १ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ १ ३ २ ३
अर्चन्तु पुत्रकाः पुत् त्रकाः उत । पुरम् इत् धृष्णु अर्चत ।।३।।

पदार्थः—हे **नरः** नेतृत्वशक्तियुक्ताः स्त्रीपुरुषाः ! यूयम् **अर्चत** सपर्यत, **प्र अर्चत** प्रकर्षेण सपर्यत, हे **प्रियमेधासः** प्रियमनीषाः जनाः ! प्रियमेधः प्रिया अस्य मेधा । निरु० ३।१७ । **अर्चत** सपर्यत । **पुत्रकाः उत** युष्माकं पुत्रपुत्र्योऽपि । पुत्रकाश्च पुत्रिकाश्चेत्येकशेषे पुत्रकाः इति । **अर्चन्तु** सपर्यन्तु । **पुरम्**[2] **इत्** पूरकम् एव, न तु रेचकम् । पृणातीति पूः तम्, पॄ पालनपूरणयोरिति धातोः क्विपि रूपम् । **धृष्णु** अन्तःशत्रूणां विघ्नानां वा धर्षणशीलम् इन्द्रं जगदीश्वरम् । धृष्णुम् इति प्राप्ते, 'सुपां सुलुक्० । अ० ७।१।३९' इति विभक्तेर्लुक् । **अर्चत** सपर्यत । अत्र 'अर्चत' इति पुनरुक्तिरतिशयस्य, सातत्यस्य, अवश्यकर्तव्यत्वस्य च द्योतनार्था ।।३।।

भावार्थः—सर्वैः स्त्रीपुरुषैः पुत्रपुत्र्यादिपरिजनसहितैः प्रातःसायं नियमेन परमेश्वरोऽर्चनीयः । अर्चितः सोऽर्चकानां मार्गे समागतान् शत्रून् विघ्नांश्च निराकृत्य तान् धर्मार्थिकाममोक्षैः पूरयति ।।३।।

अगले मन्त्र में मनुष्यों को इन्द्र की अर्चनार्थ प्रेरित किया गया है ।

पदार्थ—हे **नरः** नेतृत्वशक्ति से युक्त स्त्री-पुरुषो ! तुम **अर्चत** पूजा करो । हे **प्रियमेधासः** बुद्धि-प्रेमी जनो ! **अर्चत** पूजा करो । **पुत्रकाः उत** तुम्हारे पुत्र-पुत्री भी **अर्चन्तु** पूजा करें । **पुरम् इत्** पूर्ति ही करने वाले, **धृष्णु** अन्तःशत्रुओं तथा विघ्नों के धर्षणकर्ता इन्द्र जगदीश्वर की **अर्चत** पूजा करो ।।३।।

इस मन्त्र में 'अर्चत' की पुनरुक्ति अधिकता, निरन्तरता तथा अवश्यकर्तव्यता को द्योतित करने के लिए है ।।३।।

भावार्थ—सब स्त्रीपुरुषों को चाहिए कि अपने पुत्र-पुत्री आदि परिवार सहित प्रातः-सायं नियम से परमेश्वर की पूजा किया करें । पूजा किया हुआ परमेश्वर पूजकों के मार्ग में आये शत्रुओं तथा विघ्नों को हटाकर उन्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से भरपूर करता है ।।३।।

इन्द्राय केन प्रयोजनेन कीदृशं स्तोत्रं शंसनीयमित्याह ।

३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
३६३. उक्थमिन्द्राय शंस्यं वर्धनं पुरुनिष्षिधे ।
३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
शक्रो यथा सुतेषु णो रारणत् सख्येषु च ।।४।।[3]

---

१. ऋ० ८।६९।८, अथ० २०।९२।५ उभयत्र 'नरः' इति नास्ति, 'पुरमित्' इत्यत्र च 'पुरं न' इति पाठः ।

२. पुरमित् पुरमेव, स्तोतणामभिमतस्य पूरकम्—इति सा० । पुरम् इत् धृष्णु, इच्छब्द इवशब्दस्यार्थे, पुरमिव धृष्णु । यथा कश्चित् पुमान् धृष्णुं दृढम् अभिभवनं परकीयानां सेनानाम् अर्चति तद्वदर्चत इत्यर्थः—इति वि० । पुरमित् पुरमिव धृष्णु धर्षकं शत्रूणाम् इन्द्रम् अर्चत—इति भ० ।

३. ऋ० १।१०।५ ।

३ २ १ २१ १ २१ १ २१ ३ १ २ ३ १ २
उक्थम् इन्द्राय शꣳस्यम् । वर्धनम् पुरुनिष्षिधे पुरु निष्षिधे ॥
३ २ १ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
शक्रः यथा सुतेषु नः । रारणत् सख्येषु स ख्येषु च ॥४॥

पदार्थः—अस्माभिः पुत्रकलत्रमित्रादिसहितैः **पुरुनिष्षिधे** पुरुन् बहून् निष्षेधति निस्सारयति पाप-पङ्कात् सङ्कटाद् वा यस्तस्मै । पुरूपपदात् निस्पूर्वाद् गत्यर्थात् षिधु धातोः कर्तरि क्विप् । **इन्द्राय** परमोपदेशकाय परमात्मने, तादृशम् **उक्थम्** स्तोत्रम् **शंस्यम्** शंसनीयम्, यत् **वर्धनम्** स्तोतृणामस्माकं वृद्धिकरं भवेत्, **यथा** येन **शक्रः** स सर्वशक्तिमान् परमात्मा **नः** स्तोतृणाम् अस्माकम् **सुतेषु**[1] पुत्रकेषु **सख्येषु**[2] **च** सखिषु च । सख्यं येषामस्तीति ते सख्याः 'अर्श आदिभ्योऽच् । अ० ५।२।१२७' इति मत्वर्थे अच् प्रत्ययः । **रारणत्**[3] अतिशयेन पुनः पुनः प्रेरणात्मकम् उपदेशं दद्यात् । शब्दार्थाद् रणधातोर्यङ्लुगन्ताल्लेटि रूपम् ॥४॥[4]

भावार्थः—स्तुतः परमेश्वरः स्तोतृभ्यो जनेभ्यः, स्तोतृभ्यस्तत्पुत्रमित्रादिभ्यश्च पुरुषार्थादिः सत्प्रेरणां सदुपदेशं च दत्त्वा तानुन्नयति ॥४॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि किस प्रयोजन से कैसा स्तोत्र इन्द्र के लिए उच्चारण करना चाहिए।

पदार्थ—हमें पुत्र, स्त्री, मित्र आदियों सहित **पुरुनिष्षिधे** बहुतों को पाप-पंक से अथवा संकट से उबारने वाले **इन्द्राय** परम उपदेशक परमात्मा के लिए, ऐसा **उक्थम्** स्तोत्र **शंस्यम्** गान करना चाहिए, जो **वर्धनम्** हम स्तोताओं को बढ़ाने वाला हो, **यथा** जिससे **शक्रः** वह सर्वशक्तिमान् परमात्मा **नः** हम स्तोताओं के **सुतेषु** पुत्रों को **सख्येषु च** और सखाओं को **रारणत्** अतिशय पुनः-पुनः प्रेरणात्मक उपदेश देता रहे ॥४॥

भावार्थ—स्तुति किया हुआ परमेश्वर स्तोताजनों को और उनके स्तोता पुत्र, मित्र आदि को पुरुषार्थ आदि की शुभ प्रेरणा और सदुपदेश देकर उनकी उन्नति करता है ॥४॥

अथ बलाधिपतिः परमेश्वरो नृपतिश्चाह्वयते ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
३६४. विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम् ॥५॥[5]
३ १ २ ३ २ ३ १ २१ १ २१ ३ १ २१
विश्वानरस्य विश्वा नरस्य वः पतिम् । अनानतस्य अन् आनतस्य शवसः ॥
१ २१ ३ २ ३ २ ३ १ २१
एवैः च चर्षणीनाम् । ऊती हुवे रथानाम् ॥५॥

---

१. सुतेषु अभिषुतेषु सोमेषु—इति वि० । पुत्रेषु—इति सा० । उत्पादितेषु स्वकीयसन्तानेषु—इति ऋ० १।१०।५ भाष्ये द० ।

२. सखीनां कर्मसु भावेषु पुत्रस्त्रीभृत्यवर्गादिषु वा इति तत्रैव द० ।

३. रारणत् अतिशयेन उपदिशति । यङ्लुगन्तस्य रणधातोर्लेट्प्रयोगः—इति तत्रैव द० । रमेरेतद् रूपम् । छान्दसेन मकारस्य णत्वम् । अत्यर्थं रमते—इति वि० । भृशं रमते । रमेर्वर्णव्यत्ययः, रणिर्वा रमेरर्थे वर्तते । यथा रारणत् तथा शस्यम्—इति भ० । यथा येन प्रकारेण रारणत् अतिशयेन शब्दं कुर्यात् तथा शंस्यम् । अस्मदीयेन शस्त्रेण परितुष्ट इन्द्रः नोऽस्माकं पुत्रान् अस्मत्सख्यानि च बहुधा प्रशंसत्वित्यर्थः—इति सा० ।

४. दयानन्दर्षिरस्य मन्त्रस्य ऋग्भाष्ये इन्द्रशब्देन सर्वमित्रमैश्वर्येच्छुकं जीवात्मानं, शक्रशब्देन च सर्वशक्तिमन्तं जगदीश्वरं गृहीतवान् ।

५. ऋ० ८।६८।४ ।

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। हे इन्द्र जगदीश्वर ! **विश्वानरस्य** सर्वजगत्संचालकस्य। विश्वं सर्वं जगत् नृणाति नयतीति विश्वानरः। पूर्वपदस्य दीर्घश्छान्दसः। नॄ नये ऋचादिः। **अनानतस्य** क्वचिदपि अपराजितस्य **शवसः** बलस्य **पतिम्** अधीश्वरम् **वः** त्वाम् छन्दसि षष्ठीचतुर्थीद्वितीयासु एकवचनस्यापि युष्मदस्मदोर्वन्सनसादेशौ दृश्येते। **चर्षणीनाम्** मनुष्याणाम् **एवैः** कामैः निमित्तभूतैः। एवैः कामैरिति यास्कः। निरु० १२।२०। तेषां सत्कामानां पूर्त्यर्थमिति भावः, **रथानाम्** तदीयशरीररथानाम् **ऊती** लक्ष्यं प्रति प्रेरणाय रक्षणाय च। गत्यर्थस्य रक्षणार्थस्य च अव धातोः क्तिनि निपातः 'ऊतिः' इति। ततः ऊतिशब्दात् चतुर्थ्येकवचने 'सुपां सुलुक्०। ७।१।३९' इति पूर्वसवर्णदीर्घः। अहम् **हुवे** आह्वयामि ॥

अथ **द्वितीयः** राजपरः। हे राजन् ! **विश्वानरस्य** सर्वेभ्योऽग्रेसरस्य, **अनानतस्य** शत्रूणां पुरतः अपराजितस्य **शवसः** सैन्यस्य **पतिम्** अधीश्वरम् **वः** त्वाम् **चर्षणीनाम्** प्रजाजनानाम् **एवैः** महत्त्वाकाङ्क्षाणां प्रारब्धानां महतां कार्याणां वा पूर्त्यर्थम्। एवः इति इच्छार्थाद् गत्यर्थाद् वा इण् धातोः वन् प्रत्यये रूपम्। **रथानाम्** विमानादियानानाम् **ऊती** गमनाय च **हुवे** आह्वयामि ॥५॥

मन्त्रमिमं यास्काचार्य एवं व्याख्यातवान्—"विश्वानरस्य आदित्यस्य अनानतस्य शवसो महतो बलस्य, एवैश्च कामैः अयनैः अवनैर्वा, चर्षणीनां मनुष्याणाम्, ऊत्या च पथा रथानाम् इन्द्रमस्मिन् यज्ञे ह्वयामि" इति (निरु० १२।२०)।

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—जगदीश्वरो जीवात्मभ्यस्तज्जीवनयात्रार्थं कर्मानुसारमुत्कृष्टान् मानवशरीररथान् प्रददाति। तथैव राजा राष्ट्रे प्रजाजनानां सद्यो यात्रार्थं विमानादिरथान् प्रकल्पयेत् ॥५॥

अगले मन्त्र में बलाधिपति परमेश्वर और राजा का आह्वान किया गया है।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे इन्द्र जगदीश्वर ! **विश्वानरस्य** सब जगत् के संचालक **अनानतस्य** कहीं भी न झुकने वाले अर्थात् पराजित न होने वाले **शवसः** बल के **पतिम्** अधीश्वर **वः** आपको **चर्षणीनाम्** मनुष्यों की **एवैः** सत्कामनाओं की पूर्तियों के लिए, और **रथानाम्** उनके शरीररूप रथों को **ऊती** लक्ष्य के प्रति प्रेरित करने तथा रक्षित करने के लिए, मैं **हुवे** पुकारता हूँ ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे राजन् ! **विश्वानरस्य** सबसे आगे जाने वाली, **अनानतस्य** शत्रुओं के आगे न झुकने वाली अर्थात् उनसे पराजित न होने वाली **शवसः** सेना के **पतिम्** स्वामी **वः** आपको **चर्षणीनाम्** प्रजाजनों की **एवैः** महत्त्वाकांक्षाओं तथा प्रारब्ध कार्यों की पूर्ति के लिए, और **रथानाम्** विमानादि यानों को **ऊती** चलाने के लिए **हुवे** पुकारता हूँ ॥५॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥५॥

भावार्थ—जगदीश्वर ही जीवात्माओं को उनकी जीवनयात्रा के लिए कर्मानुसार उत्कृष्ट मानव-शरीररूप रथ प्रदान करता है। वैसे ही राजा राष्ट्र में प्रजाजनों की शीघ्र यात्रा के लिए विमानादि रथों का निर्माण कराये ॥५॥

अथ परमेश्वरस्य ध्यानेन किं फलं भवतीत्याह।

२ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २ १ ३ १ २
३६५. स घा यस्ते दिवो नरो धिया मर्तस्य शमतः।
३ १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
ऊती स बृहतो दिवो द्विषो अंहो न तरति ॥६॥[1]

१. ऋ० ६।२।४, देवता अग्निः। "ऋधद्यस्ते सुदानवे धिया मर्तः शशमते। ऊती ष" इति पाठः।

२ ३ २ ३ २ १२१ ३ २ १२१ १२१
सः घ यः ते दिवः नरः । धिया मर्त्तस्य शमतः ॥
३ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २१ ३
ऊती सः बृहतः दिवः । द्विषः अꣳहः न तरति ॥६॥

पदार्थः—हे इन्द्र परमधीमन् जगदीश्वर ! **यः नरः** यो मनुष्यः **मर्त्तस्य** मारयितुः, **शमतः** शमयतः, लौकिकीं शान्तिं मोक्षरूपां परां शान्तिं च प्रयच्छतः, **दिवः** कमनीयस्य । दीव्यतिरत्र कान्तिकर्मा । **ते** तव **धिया** ध्यानेन सचते, **सः** असौ, **सः घ** निश्चयेन स एव, **बृहतः** महतः **दिवः** ज्योतिर्मयस्य तव । दीव्यतिरत्र द्युतिकर्मा । **ऊती** रक्षया **अंहः न** पापाचारम् इव **द्विषः** द्वेषवृत्तीः अपि **तरति** अतिक्रामति । यथा अंहः तरति तथा द्विषोऽपि तरति । अंहश्च द्विषश्च तरतीत्यर्थः । एतेनैव विधिना नकारः समुच्चयार्थोऽपि भवति ॥६॥[1]

भावार्थः—यथा मनुष्यो मरणात् मर्त्तः, तथा जगदीश्वरो मारणान्मर्त्त उच्यते । उक्तं च 'यो मारयति प्राणयति' (अथ० १३।३।३) इति । स हि मारणान्मर्त्तो मृत्युः शर्वो यमो वा, जननात् प्राणप्रदानाच्च भवः जनिता प्राणश्च उच्यते । तस्य ध्यानेन बलं प्राप्य जनः सर्वान् विघ्नान् समस्तान् शत्रूंश्च समुत्तर्तुं प्रभवति ॥६॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि परमेश्वर के ध्यान से क्या फल होता है ।

पदार्थ—हे परम धीमान् इन्द्र परमेश्वर ! **यः नरः** जो मनुष्य **मर्तस्य** मारने वाले, **शमतः** लौकिक शान्ति को तथा मोक्षरूप परमशान्ति को देने वाले, **दिवः** कमनीय **ते** आपके **धिया** ध्यान में मग्न होता है, **सः** वह, **सः घ** निश्चय से वही, **बृहतः** महान्, **दिवः** ज्योतिर्मय आपकी **ऊती** रक्षा से **अंहः न** पाप के समान **द्विषः** द्वेषवृत्तियों को भी **तरति** पार कर लेता है ॥६॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य मरणधर्मा होने से 'मर्त्त' कहलाता है, वैसे ही जगदीश्वर मारने वाला होने से 'मर्त्त' है । वेद में कहा भी है—"जो मारता है, जो जिलाता है (अथ० १३।३।३)" । मारने वाला होने से उसके नाम मर्त्त, मृत्यु, शर्व और यम हैं, जन्म देने और प्राण प्रदान करने के कारण वह भव, जनिता, प्राण आदि कहाता है । उसके ध्यान से बल पाकर मनुष्य सब विघ्नों और समस्त शत्रुओं को पार कर सकता है ॥६॥

अथेन्द्रः प्रार्थ्यते ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
३६६. **विभोष्ट इन्द्र राधसो विभ्वी रातिः शतक्रतो ।**
१ २ ३ २ १
अथा नो विश्वचर्षणे द्युम्नं सुदत्र मंहय ॥७॥[2]
३ २ ३ २ ३ १ २१ ३ २ ३ २ ३ ३ २ ३
विभोः वि भोः ते इन्द्र राधसः । विभ्वी वि भ्वी रातिः शतक्रतो शत क्रतो ॥
१ २१ ३ २ ३
अथ नः विश्वचर्षणे विश्व चर्षणे । द्युम्नम् सुदत्र सु दत्र मꣳहय ॥७॥

पदार्थः—हे **शतक्रतो** बहुप्रज्ञ, बहुकर्मन् **इन्द्र** विश्वम्भर परमात्मन् ! **विभोः** व्यापकस्य **ते** तव **राधसः** शमदमन्यायसत्याहिंसादेः आध्यात्मिकस्य, भौतिकस्य रजतस्वर्णहीरकमुक्तामणिमाणिक्यविद्यारोग्ययशश्चक्रवर्तिराज्यादेश्च **रातिः** दत्तिः **विभ्वी** व्यापिनी वर्तते । **अथ** अतः कारणात् हे **विश्वचर्षणे**

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतम् 'ये मनुष्या धर्मात्मभ्यः सुखप्रदा स्युस्ते यथा धार्मिकाः पापं त्यजन्ति तथैव शत्रूनुल्लङ्घयन्ति' इति विषये व्याख्यातवान् ।

२. ऋ० ५।३८।१ 'विभोष्ट', 'अथा', 'द्युम्नं', 'सुदत्र', इत्यत्र क्रमेण 'उरोष्ट', 'अधा', 'द्युम्ना', 'सुक्षत्र' इति पाठः ।

विश्वद्रष्टः ! विश्वचर्षणिरिति पश्यतिकर्मसु पठितम् । निघं० ३।११ । हे **सुदत्र** शोभनदान जगदीश्वर ! त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **द्युम्नम्** आध्यात्मिकं तेजो भौतिकं धनं, तज्जन्यं यशश्च । द्युम्नमिति धननाम । निघं० २।१० । द्युम्नं द्योततेः यशो वाऽन्नं वा । निरु० ५।५ । **मंहय** प्रयच्छ । मंहते दानकर्मा । निघं० ३।२० । तत्रैव मंहयतिरपि पठितव्यः ।

मन्त्रोऽयं नृपतिपक्षे आचार्यपक्षे चापि योजनीयः । विभुधनस्य नृपस्य धनदानं विभु, विभुविद्यस्याचार्यस्य च विद्यादानं विभु भवति । नृपश्चारचक्षुर्भिर्विश्वद्रष्टा, आचार्यश्च ज्ञानबलेन विश्वद्रष्टा ॥७॥[1]

अत्र 'विभोः राधसः रातिरपि विभ्वी' इति समालंकारो ध्वन्यते, 'समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः' (सा० द० १०।७१) इति तल्लक्षणात् ॥७॥

भावार्थः—यो जगदीश्वरो नृपतिराचार्यश्च धनविद्यातेजःकीर्त्यादेः प्रचुरां वृष्टिं करोति सोऽस्मभ्यमपि तद्धारां प्रवाहयेत् ॥७॥

अगले मन्त्र में इन्द्र से याचना की गयी है ।

पदार्थ—हे **शतक्रतो** बहुत ज्ञानी तथा बहुत-से कर्मों को करने वाले **इन्द्र** विश्वम्भर परमात्मन् ! **विभोः ते** व्यापक आपके **राधसः** शम, दम, न्याय, सत्य, अहिंसा आदि आध्यात्मिक और चाँदी, सोना, हीरा, मोती, मणि, माणिक्य, विद्या, आरोग्य, यश, चक्रवर्ती राज्य आदि भौतिक धन की **रातिः** देन **विभ्वी** बड़ी व्यापक है । **अथ** इस कारण, हे **विश्वचर्षणे** विश्वद्रष्टा ! हे **सुदत्र** शुभ दानी जगदीश्वर ! आप **नः** हमारे लिए **द्युम्नम्** आत्मिक तेज, भौतिक धन और उससे उत्पन्न होने वाले यश को **मंहय** प्रदान कीजिए ॥

इस मन्त्र की राजा तथा आचार्य के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए । व्यापक धन वाले राजा का धनदान व्यापक होता है, और व्यापक विद्या वाले आचार्य का विद्यादान व्यापक होता है । राजा गुप्तचर रूपी आँखों से सकलद्रष्टा होता है, और आचार्य अपने ज्ञान के बल से सकलद्रष्टा होता है ॥७॥

इस मन्त्र में 'विभु परमात्मा की देन भी विभु है' इसमें समालंकार व्यङ्ग्य है, क्योंकि समालंकार वहाँ होता है जहाँ अनुरूप वस्तुओं के मिलन की प्रशंसा होती है ॥७॥

भावार्थ—जो जगदीश्वर, राजा और आचार्य धन, विद्या, तेज, यश आदि की प्रचुर वर्षा करते हैं, वे हमारे लिए भी इनकी धारा को प्रवाहित करें ॥७॥

उषाः देवता । प्राकृतिक्या उषस इव आध्यात्मिक्या उषसः प्रादुर्भावे के किं कुर्वन्तीत्याह ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २
३६७. वयश्चित्ते पतत्रिणो द्विपाच्चतुष्पादर्जुनि ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
उषः प्रारन्नृतूँरनु दिवो अन्तेभ्यस्परि ॥८॥[2]

१ २ १ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २ १ १ २ १ ३
वयः चित् ते पतत्रिणः । द्विपात् द्वि पात् चतुष्पात् चतुः पात् अर्जुनि ॥
१ २ १ ३ २ १ २ १ ३ २ १ २ १ २ १
उषः प्र आरन् ऋतून् अनु । दिवः अन्तेभ्यः परि ॥८॥

यथा प्रभाते सूर्योदयात् पूर्वम् प्राच्या अन्तरिक्षे उषाः प्रकाशते तथैव अध्यात्मसाधनारतानां

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं राजप्रजाविषये व्याख्यातवान् ।
२. ऋ० १।४६।३ ।

योगिनां हृदयान्तरिक्षे परमात्मसूर्यस्योदयात् प्राक् त दाविर्भावद्योतिकाऽऽत्मप्रभारूपिणी उषाः प्रभासते। सैवात्र उषोनाम्ना व्याहृता।

पदार्थः—हे **अर्जुनि** जनमानसे आविर्भावं भजमाने शुभ्रे सत्त्वगुणप्रधाने अध्यात्मप्रभे! **दिवः** आत्मलोकस्य **अन्तेभ्यः परि** प्रान्तेभ्यः। अत्र परिः अनर्थकः। 'अधिपरी अनर्थकौ। अ० १।४।९३' इति कर्मप्रवचनीयत्वे 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः। अ० २।३।१०' इति परियोगे पञ्चमी। **ते** तव **ऋतून् अनु** आगमनानि उपलक्ष्य **वयः चित्** पक्षिणः इव। निरुक्ते चिद् इति निपातः उपमार्थे व्याख्यातः। निरु० १।४, ३।१६। **पतत्रिणः** उत्क्रमणशीलाः, मूलाधारादिभ्यः अधोऽधश्चक्रेभ्यः उपर्युपरि चक्रेषु प्राणोत्क्रमणाय प्रयतमाना योगिनः इत्यर्थः, **द्विपात्** द्वौ अपरापराविद्यारूपौ पादौ प्राप्तव्यौ यस्य सः, यद्वा द्वौ ज्ञानयोग-कर्मयोगरूपौ पादौ गन्तव्यौ मार्गौ यस्य सः, यद्वा द्वौ अभ्युदयनिःश्रेयसरूपौ पादौ गन्तव्यौ यस्य सः, **चतुष्पात्** चत्वारः पादाः मनोबुद्धिचित्ताहंकाररूपम् अन्तःकरणचतुष्ट्यं साधनं यस्य सः, यद्वा मैत्रीकरुणा-मुदितोपेक्षाः सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाश्चतस्रो वृत्तयः चित्तप्रसादनोपायाः यस्य सः, यद्वा बाह्य-आभ्यन्तर-स्तम्भवृत्ति-बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपिरूपाश्चत्वारः प्राणायामाः प्रकाशावरणक्षयोपायाः यस्य सः, यद्वा धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वारः पुरुषार्था यस्य सः, एते सर्वेऽपि। द्विपात् चतुष्पात् इत्यत्र जातौ एकवचनम्। **प्रारन्** प्रगतितत्पराः जायन्ते। प्र पूर्वाद् ऋ गतौ धातोर्जुहोत्यादेर्लुङि रूपम् ॥८॥[1]

अत्र 'वयः चित् पतत्रिणः' इत्यत्र श्लिष्टोपमालंकारः ॥८॥

भावार्थः—यथा प्रभातकालिक्याः प्राकृतिक्या उषसः प्रादुर्भावे पक्षिणो द्विपादो मनुष्याश्चतुष्पादो मृगाश्च निद्रां विहाय सचेष्टाः प्रयत्नशीलाश्च जायन्ते तथैवाध्यात्मिक्या उषसः प्रादुर्भावे योगमार्गे प्रवृत्ता उत्क्रमणशीला द्विसाधनाश्चतुःसाधना वा योगिनः स्वहृदये जनमानसे चाध्यात्मसूर्यस्योदयाय सचेष्टा भवन्ति ॥८॥

अगले मन्त्र का देवता उषा है। इसमें यह वर्णित है कि प्राकृतिक उषा के समान आध्यात्मिक उषा के प्रादुर्भाव होने पर कौन क्या करते हैं।

जैसे प्रभात में सूर्योदय से पूर्व प्राची दिशा के आकाश में उषा प्रकाशित होती है, वैसे ही अध्यात्म-साधना में तत्पर योगियों के हृदयाकाश में परमात्मारूप सूर्य के उदय से पूर्व उसके आविर्भाव की द्योतक आत्मप्रभारूप उषा खिलती है। उसी को यहाँ उषा नाम से कहा गया है।

पदार्थ—हे **अर्जुनि** जनमानस में प्रकट होती हुई शुभ्र, सत्त्वगुणप्रधान अध्यात्म-प्रभा! **दिवः** आत्मलोक के **अन्तेभ्यः परि** प्रान्तों से **ते** तेरे **ऋतून् अनु** आगमनों पर **पतत्रिणः वयः चित्** पंखों वाले पक्षियों के समान **पतत्रिणः** उत्क्रमणशील, अर्थात् मूलाधार आदि निचले-निचले चक्रों से ऊपर-ऊपर के चक्रों में प्राण के उत्क्रमण के लिए प्रयत्न करने वाले योगीजन, और **द्विपात्** अपरा और परा विद्या रूप दो प्राप्तव्य पदार्थों वाले, अथवा ज्ञान और कर्म रूप दो गन्तव्य मार्गों वाले, अथवा अभ्युदय और निःश्रेयस रूप दो गन्तव्य मार्गों वाले, और **चतुष्पात्** मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार इन अन्तःकरणचतुष्टयरूप साधनों वाले, अथवा क्रमशः सुख-दुःख-पुण्य-अपुण्य विषयों वाली मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा ये चार वृत्तियाँ जिनके चित्तप्रसादन के उपाय हैं वे, अथवा बाह्य-आभ्यन्तर-स्तम्भवृत्ति-बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी ये चार प्राणायाम जिनके प्रकाशावरणक्षय के उपाय हैं वे, अथवा धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चार पुरुषार्थों वाले मनुष्य **प्रारन्** प्रगति में तत्पर हो जाते हैं ॥८॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिममुषस उपमानेन स्त्रियाः कर्तव्यविषये व्याख्यातवान्।

इस मन्त्र में 'वयः चित् पतत्रिणः' में श्लिष्टोपमालंकार है ॥८॥

भावार्थ—जैसे प्रभातकालीन प्राकृतिक उषा के खिलने पर पंखयुक्त पक्षी, दोपाये मनुष्य और चौपाये पशु नींद छोड़कर सचेष्ट और प्रयत्नशील होते हैं, वैसे ही आध्यात्मिक उषा के प्रकट होने पर योगमार्ग में प्रवृत्त, आगे-आगे उत्क्रान्ति करने वाले, दो साधनों या चार साधनों वाले योगीजन अपने हृदय में और जन-मानस में अध्यात्म-सूर्य के उदय के लिए सचेष्ट हो जाते हैं ॥८॥

विश्वेदेवाः देवताः । देवानां विषये त्रयः प्रश्ना उत्थाप्यन्ते ।

३६८. अमी ये देवा स्थन मध्य आ रोचने दिवः ।
कद्ध ऋतं कदमृतं का प्रत्ना व आहुतिः ॥९॥[1]

अमीइति ये देवाः स्थन स्थ न । मध्ये आ रोचने दिवः ॥ कत् वः ऋतम्
कत् अमृतम् अ मृतम् । का प्रत्ना वः आहुतिः आ हुतिः ॥९॥

पदार्थः—हे **देवाः** स्वस्वविषयप्रकाशकाः ज्ञानेन्द्रियरूपाः देवाः ! **अमी ये** इमे ये यूयम् **दिवः** ऊर्ध्वस्थानस्य शिरोभागस्य **मध्ये** अभ्यन्तरे **रोचने** रोचमाने स्वस्वगोलके **आ स्थन** आगत्य स्थिताः स्थ । अत्र 'तप्तनप्तनथनाश्च । अ० ७।१।४५' इति तनबादेशः । यद्वा, हे **देवाः** प्रकाशकाः सूर्यकिरणाः ! **अमी ये** इमे ये यूयम् **दिवः** द्युलोकस्य **मध्ये** अभ्यन्तरे **रोचने** दीप्तिमति आदित्ये **आ स्थन** आगत्य स्थिताः स्थ, यद्वा, हे **देवाः** ज्ञानप्रकाशयुक्ताः ज्ञानस्य प्रकाशकाश्च विद्वांसः ! **अमी ये** इमे ये यूयम् **दिवः** कीर्त्या प्रकाशितस्य राष्ट्रस्य **मध्ये** अभ्यन्तरे **रोचने** यशस्विनि पदे **आ स्थन** नियुक्ताः स्थ, तान् युष्मान् पृच्छामि यत् **कत्** किम् **वः** युष्माकम् **ऋतम्** सत्यम् अस्ति ? **कत्** किम् **अमृतम्** अमरं तत्त्वम् अस्ति ? **का** का च **वः** युष्माकम् **प्रत्ना** पुराणी पूर्वकालादागता **आहुतिः** होमक्रिया अस्ति ? इति ॥९॥

भावार्थः—अत्रोत्तरदानं विनैव केवलं प्रश्नान् कृत्वा जिज्ञासा समुत्पाद्यते, यदेते प्रश्नाः स्वयमेव स्वप्रतिभयोत्तरणीया इति । इमानि तावत्तेषामुत्तराणि भवितुमर्हन्ति । शिरसि ये ज्ञानेन्द्रियरूपा देवाः स्थितास्तेषाम् ऋतमस्ति जीवात्मनि सत्यज्ञानप्रापणम्, तेषाममृतमस्ति वास्तविकम् इन्द्रियतत्त्वं यद्देहेन सहेन्द्रियगोलकानां विनाशेऽपि न म्रियते प्रत्युत सूक्ष्मशरीरे तिष्ठति, तेषामाहुतिर्विद्यते शरीररक्षायज्ञे ज्ञानप्रदानयज्ञे च स्वकीयो होमः । एवमेव, द्युलोकस्थे सूर्ये ये किरणरूपा देवाः स्थितास्तेषाम् ऋतमस्ति स सत्यनियमो यमनुसृत्य ते प्रत्यहं सूर्योदयेन साकं गगनं भूमण्डलं च व्याप्नुवन्ति, तेषाममृतमस्ति शुद्धं मेघजलं यत्ते समुद्रादिभ्यो वाष्पीकरणविधिनोर्ध्वं नयन्ति, एतेषां प्रत्नाऽऽहुतिर्विद्यते सनातनकालान्मेघजलस्य पार्थिवाग्नौ होमो येन पृथिव्यामोषधिवनस्पत्यादयः प्ररोहन्ति प्राणिनश्च जीवनं धारयन्ति, यद्वा सर्वेषु ग्रहोपग्रहेषु स्वात्मनो होमो येन पृथिवीमंगलबुधचन्द्रादयो ज्योतिषा दीप्यन्ते । तथैव राष्ट्रे ये विद्यादातारो विद्वांसः सन्ति तेषाम् ऋतमस्ति सा सत्यनिष्ठा यामनुसृत्य ते विद्यादाने दत्तचित्ता भवन्ति, तेषाममृतमस्ति तज्ज्ञानं यत्ते सत्पात्रेभ्यः प्रयच्छन्ति, तेषां प्रत्नाऽऽहुतिश्च विद्यते सनातनकालात् प्रचलितेऽध्ययनाध्यापनयज्ञे स्वात्मनो होम इत्यादि सुधीभिः स्वयमेवोह्यम् ॥९॥

विवरणकारोऽस्या ऋचो व्याख्याने ब्रूते—"त्रितस्यार्षम् । वैश्वदेवीयमृक् । अत्रेतिहासमाचक्षते । आप्तस्य ऋषेः त्रयः पुत्रा बभूवुः, एकतः द्वितः त्रित इति । ते यष्टुकामाः याज्यान् यजमानान् गा ययाचिरे

१. १।१०५।५ ऋषिः त्रित आप्त्यः कुत्स आङ्गिरसो वा । 'अमी ये देवाः स्थन त्रिष्वारोचने दिवः । कद्ध ऋतं कदमृतं क्व प्रत्ना व आहुतिर्वित्तं मे अस्य रोदसी ॥' इति पाठः ।

लेभिरे च । ता आदाय गृहं जग्मुः । तद् गच्छतः पथा सरस्वत्यास्तीरेण परस्मिन् कूले निषण्णो गवादकः ददर्श । दृष्ट्वा चोत्थाय अभिमुखः सारस्वतीरप अवतीर्य रात्रौ त्रासयामास । तेषां त्रासात् त्रस्यतां त्रितः कूपे निर्जले तृणैर्वल्लीभिश्चावकीर्णे पपात । अन्ये तु पुनः एतदेवेतिहासमन्यथा व्याचक्षते । एकतद्रिताभ्यां स्वल्पा गावो लब्धाः त्रितेन च बह्वृचः । तत ईर्ष्यया ताभ्यां कूपे प्रक्षिप्तः इति । तस्य तत्रस्थस्यैव मनः प्रादुरभूत् । कृतयागसङ्कल्पस्य अकृतयागस्य मम मृत्युर्न श्रेयसे । तत्कथमिहस्थ एवाहं सोमं पिबेयमिति । एवं चिन्तयन् यदृच्छया तस्मिन् कूपे वीरुधमुत्तीर्णां ददर्श । स तामादाय सोमोऽयमिति मनसा निश्चित्य यागैश्वर्यमन्यानि अपि यागसाधनानि मनसा सङ्कल्प्य, शर्करा अभिषवग्राव्णः कृत्वा तां वीरुधमभिसुषाव । अभिषुत्य च देवानाजुहाव । ते देवा आहूताः सन्तः आह्वानकारणम् अनवबुध्यमानाः आविग्ना बभूवुः । तद् बृहस्पतिः शुश्राव । श्रुत्वा च देवानुवाच त्रितस्य यज्ञो वर्तते । तत्र गच्छाम इति । ततस्ते देवाः आजग्मुः । स तानागतान् कूपादुत्तरणार्थी तुष्टाव उपालब्धवांश्च—अमी ये देवा स्थन भवथ, तिष्ठथेत्यर्थः । मध्ये आरोचने दिवः आदीप्ते दिवः सम्बन्धिनि आदित्यमण्डले । तानहं पृच्छामि । क्व ऋतं सत्यम्, क्व चामृतम् । क्व प्रत्ना पुराणी, चिरन्तनीत्यर्थः, वः युष्माकं प्रत्ना सम्बन्धिनी आहुतिः ? एतदुक्तं भवति—नष्टसत्यासत्यविवेका अकृतज्ञाश्च यूयं, येन मामस्मात् कूपात् नोत्तारयथ इत्युपालम्भः । अयं **द्वितीयः पक्षः** । अमी ये देवाः स्थन-मध्ये आदित्यमण्डले, आरोचने दिवः द्युलोकादपि दीप्ततरे स्थाने भागं ग्रहीतुमागताः । कत् व ऋतम् ? एतदुक्तं भवति—ऋतम् अन्नम्, तदत्र नास्ति कूपे निर्जले । तत् कत् अमृतं सोमाख्यम् । हविर्धानाः, करम्भः, पुरोडाशः, परीवापः, पयः, उपवसथ्यः, पशुरग्नीषोमीयः, पशुः सवनीयः एवमादिकं हि तत् । अमृतं च क्वात्र विद्यते । कस्मान्मम देवा यागमुद्दिश्य भवन्तोऽत्र समागताः । ततस्तैः कूपादुत्तारितः" इति । कल्पनाकलाविलसितमेतत्सर्वं न वास्तविकमिति स्वयमेव सुधियो विभावयन्तु ।

अगले मन्त्र के देवता 'विश्वेदेवाः' हैं । इसमें देवों के विषय में तीन प्रश्न उठाये गये हैं ।

पदार्थ—हे **देवाः** अपने-अपने विषय के प्रकाशक ज्ञानेन्द्रियरूप देवो ! **अमी ये** ये जो तुम **दिवः** उर्ध्वस्थान सिर के **मध्ये** अन्दर **रोचने** रोचमान अपने-अपने गोलक में **आ स्थन** आकर स्थित हुए हो, अथवा, हे **देवाः** प्रकाशक सूर्यकिरणो ! **अमी ये** ये जो तुम **दिवः** द्युलोक के **मध्ये** बीच **रोचने** दीप्तिमान् सूर्य में **आ स्थन** आकर स्थित हो, अथवा, हे **देवाः** ज्ञान के प्रकाश से युक्त तथा ज्ञान के प्रकाशक विद्वानो ! **अमी ये** ये जो तुम **दिवः** कीर्ति से प्रकाशित राष्ट्र के **मध्ये** अन्दर **रोचने** यशस्वी पद पर **आ स्थन** नियुक्त हुए हो, उन तुमसे पूछता हूँ कि **कत्** क्या **वः** तुम्हारा **ऋतम्** सत्य है, **कत्** क्या **अमृतम्** अमरतत्त्व है, **का** और क्या **वः** तुम्हारी **प्रत्ना** पुरातन **आहुतिः** होमक्रिया है ? ॥९॥

भावार्थ—यहाँ उत्तर दिये बिना ही केवल प्रश्न करके जिज्ञासा उत्पन्न की गयी है कि इन प्रश्नों के उत्तर अपनी प्रतिभा से स्वयं दो। इन प्रश्नों के उत्तर ये हो सकते हैं । सिर में जो ज्ञानेन्द्रियरूप देव स्थित हैं उनका ऋत है जीवात्मा में सत्यज्ञान को पहुँचाना; उनका अमृत है वास्तविक इन्द्रियतत्त्व, जो देह के साथ इन्द्रिय-गोलकों के विनष्ट हो जाने पर भी मरता नहीं, प्रत्युत सूक्ष्म शरीर में विद्यमान रहता है; उनकी सनातन आहुति है शरीररक्षारूप यज्ञ में तथा ज्ञानप्रदानरूप यज्ञ में अपना होम करना । इसी प्रकार द्युलोकस्थ सूर्य में जो किरण-रूप देव स्थित हैं, उनका ऋत है वह सत्यनियम जिसके अनुसार प्रतिदिन सूर्योदय के साथ वे आकाश और भूमण्डल में व्याप्त होते हैं; उनका अमृत है शुद्ध मेघ-जल, जिसे वे समुद्र आदि से भाप बनाकर ऊपर ले जाते हैं; उनकी सनातन आहुति है मेघजल का पार्थिव अग्नि में होम करना, जिससे पृथिवी पर ओषधि, वनस्पति आदि उगती हैं और प्राणी जीवन धारण करते हैं, अथवा सब ग्रहोपग्रहों में अपना होम करना, जिससे पृथिवी, मंगल, बुध, चन्द्रमा आदि प्रकाशित होते हैं। इसी प्रकार

राष्ट्र में जो विद्या दान करने वाले विद्वान् लोग हैं उनका ऋत है वह सत्यनिष्ठा जिसका अनुसरण कर वे विद्यादान में दत्तचित्त होते हैं; उनका अमृत है वह ज्ञान जिसे वे सत्पात्रों को देते हैं; उनकी सनातन आहुति है अध्ययन-अध्यापन रूप यज्ञ में अपना होम करना, इत्यादि सुधी जनो को स्वयं ऊहा कर लेनी चाहिए ॥९॥

विवरणकार माधव ने यह देखकर कि इस ऋचा का ऋषि आप्त का पुत्र त्रित है और देवता 'विश्वेदेवाः' हैं, इस पर निम्नलिखित इतिहास लिखा है—"आप्त ऋषि के तीन पुत्र थे, एकत, द्वित और त्रित। उन्होंने यज्ञ करने की इच्छा से यजमानों से गौएँ माँगीं और पा लीं। उन्हें लेकर वे घर चल पड़े। जब वे सरस्वती नदी के किनारे-किनारे जा रहे थे तब परले पार बैठे गवादक ने उन्हें देख लिया। वह उठा और सरस्वती के जलों को पार करके रात में उसने उनको डराया। जब वे डरकर भागे तब उनमें से त्रित घास-फूस और लताओं से ढके हुए एक निर्जल कुएँ में गिर पड़ा। कुएँ में गिरने का कारण अन्य कुछ लोग यह बताते हैं कि एकत और द्वित को कम गौएँ मिली थीं, त्रित को बहुत सारी मिल गयी थीं, इसलिए जान-बूझकर उन्होंने त्रित को कुएँ में धकेल दिया था। वहीं उसके मन में आया कि मैंने यज्ञ का संकल्प किया था, अब यदि बिना यज्ञ किये ही मर जाता हूँ तो मेरा कल्याण नहीं होगा, इसलिए कोई ऐसा उपाय करना चाहिए कि यहाँ कुएँ में पड़ा-पड़ा ही मैं सोम-पान कर लूँ। वह यह विचार कर ही रहा था कि अकस्मात् ही उसने उसी कुएँ में एक लता उतरी हुई देखी। उसने उसे लेकर और यह सोम ही है ऐसा मन में निश्चय करके अन्य भी यज्ञ-साधनों का मन में संकल्प करके बजरी को सोम कूटने के सिल-बट्टे बनाकर उस लता को अभिषुत किया और अभिषुत करके देवों को पुकारा। पुकारे गये देवों को पुकारे जाने का कारण समझ में न आया, अतः वे आविग्न हो उठे। बृहस्पति ने भी पुकार को सुना और सुनकर वह देवों से बोला कि त्रित का यज्ञ है, वहाँ चलते हैं। तब वे सब देव वहाँ आये। उन्हें आया देखकर कुएँ से उद्धार की इच्छा वाले त्रित ने उनकी स्तुति की और उन्हें उपालम्भ दिया कि तुम्हारा सत्यासत्य का विवेक नष्ट हो गया है, तुम बड़े अकृतज्ञ हो कि मुझे इस कुएँ से बाहर नहीं निकालते हो। त्रित का उपालम्भ ही प्रस्तुत ऋचा में प्रकट किया गया है, इत्यादि।" यह सब कल्पना-कला का विलास है, वास्तविकता इसमें कुछ भी नहीं है, यह सुधी जन स्वयं ही समझ लें।

ऋक्सामौ देवते। ऋक्सामाध्ययनविषयमाह।

३६९. ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कृण्वते।
वि ते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु वक्षतः ॥१०॥[1]

ऋचम् साम यजामहे। याभ्याम् कर्माणि कृण्वते॥
वि तेइति सदसि राजतः। यज्ञम् देवेषु वक्षतः।१०॥

पदार्थः—वयम् **ऋचम्** ऋग्वेदम् **साम** सामवेदं च **यजामहे** अर्थज्ञानपूर्वकं गीतिज्ञानपूर्वकं च अधीमहे अध्यापयामश्च। यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु। संगतिकरणं चात्र अध्ययनं, दानं च अध्यापनम्। **याभ्याम्** ऋक्सामभ्याम्, ययोः अध्ययनेनाध्यापनेन च इत्यर्थः **कर्माणि** तदुक्तानि कर्त्तव्यकर्माणि **कृण्वते** कुर्वन्ति तज्ज्ञाः। **ते** ऋक्साम्नी **सदसि** निवासगृहे सभागृहे च **राजतः** शोभेते, गृहेषु सभासु च तेषां पाठो

१. अथ० ७।५४।१ ऋषिः ब्रह्मा, देवते ऋक्साम्नी। 'कृण्वते', 'वि ते' 'वक्षतः' इत्यत्र क्रमेण 'कुर्वते', 'एते', 'यच्छतः' इति पाठः।

गानं च क्रियते इत्यर्थः, **देवेषु** विद्वत्सु च **यज्ञम्** यज्ञभावनाम् **वक्षतः** वहतः प्रापयतः। वह प्रापणे धातोर्लेटि रूपम् ॥१०॥

भावार्थः—अस्माभिः ऋग्वेदं सामवेदं सामयोनिरूपामृचम् ऋच्यधूढं सामगानं च सर्वमेतद् योग्येभ्यो गुरुभ्योऽर्थज्ञानपूर्वकमधीत्य गृहे सभायां विभिन्नसमारोहेषु च सस्वरं वेदपाठः सामगानं च विधातव्ये ॥१०॥

अत्रेन्द्रनाम्ना कश्यपनाम्ना चेन्द्रस्य स्मरणात्, तदर्चनार्थं प्रेरणात्, तद्ध्यानफलप्रतिपादनात्, तद्दानयाचनात्, दिव्याया उषसः प्रभाववर्णनाद्, ऋक्सामाध्ययनसंकल्पवर्णनाच्चैतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम्।

इति चतुर्थे प्रपाठके द्वितीयार्धे तृतीया दशतिः।
इति चतुर्थेऽध्याये द्वितीयः खण्डः ॥

अगले मन्त्र का देवता 'ऋक्सामौ' है, इसमें ऋक् और साम के अध्ययन का विषय है।

पदार्थ—हम **ऋचम्** ऋग्वेद का, और **साम** सामवेद का **यजामहे** अर्थज्ञानपूर्वक तथा गीतिज्ञान-पूर्वक अध्ययन करते हैं, और अध्यापन कराते हैं, **याभ्याम्** जिनसे अर्थात् जिनका अध्ययन-अध्यापन करके **कर्माणि** तदुक्त कर्मों को वेदपाठी लोग **कृण्वते** करते हैं। **ते** वे ऋग्वेद और सामवेद **सदसि** निवासगृह तथा सभागृह में **राजतः** शोभा पाते हैं, क्योंकि वहाँ उनका पाठ और गान किया जाता है। और वे **देवेषु** विद्वानों में **यज्ञम्** यज्ञ-भावना को **वक्षतः** प्राप्त कराते हैं ॥१०॥

भावार्थ—हमें चाहिए कि ऋग्वेद, सामवेद, सामयोनि ऋचा, ऋचा पर किया जाने वाला साम-गान यह सब योग्य गुरुओं से अर्थज्ञानपूर्वक पढ़कर घर में, सभा में और विभिन्न समारोहों के अवसरों पर सस्वर वेदपाठ और सामगान किया करें ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र नाम से और कश्यप नाम से इन्द्र का स्मरण करने से, उसकी अर्चनार्थ प्रेरणा होने से, उसके ध्यान का फल प्रतिपादित होने से, उसके दान की याचना होने से, दिव्य उषा का प्रभाव वर्णित होने से और ऋक् तथा साम के अध्ययन का संकल्प वर्णित होने से इस दशति के विषय की पूर्व-दशति के विषय के साथ संगति है ॥

चतुर्थ प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की तृतीय दशति समाप्त।
चतुर्थ अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ॥

॥९॥ अथ 'विश्वाः पृतना' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ रेभः; २ सुवेदाः शैलूषिः; ३ वामदेवः; ४, ७, ८ सव्य आङ्गिरसः, ५ विश्वामित्रः; ६ कृष्ण आङ्गिरसः; ९ भरद्वाजः; १० मेधातिथिः, ११ कुत्सः ॥ देवता—१-८, १०, ११ इन्द्रः; ९ द्यावापृथिवी ॥ छन्दः—१-९, ११ जगती, १० महापङ्क्तिः ॥ स्वरः—निषादः ॥

अथ कीदृशं परमेश्वरं वीरपुरुषं च जनाः सम्राजं जनयन्तीत्याह।

३७०. विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरः सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे।
क्रत्वे वरे स्थेमन्यामुरीमुतोग्रमोजिष्ठं तरसं तरस्विनम् ॥१॥[1]

१. ऋ० ८।९७।१०, अथ० २०।५४।१ उभयत्र 'नरः' इत्यत्र 'तरं', उत्तरार्धे च 'क्रत्वावरिष्ठं वर आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम्' इति पाठः। साम० ९३०।

१ २१ १२१ ३ १२ ३ १२१ १२१ ३२ ३२३ १२१
विश्वाः पृतनाः अभिभूतरम् अभि भूतरम् नरः । सजूः स जूः ततक्षुः इन्द्रम्
३ २ ३ १२ १२१ १२१ ३१२ ३१२ ३ १२१ ३२
जजनुः च राजसे ॥ ऋत्वे वरे स्थेमनि आमुरीम् आ मुरीम् उत ।
३२ १२१ ३१२ ३ १२
उग्रम् ओजिष्ठम् तरसम् तरस्विनम् ॥१॥

पदार्थः—**विश्वाः** समस्ताः **पृतनाः** शत्रुसेनाः **अभिभूतरम्** अतिशयेन अभिभवितारम्, **वरे** उत्कृष्टे **स्थेमनि** स्थैर्ये विद्यमानम् । स्थिरस्य भावः स्थेमा, तस्मिन् । **मुरीम्** समन्ततः प्रलयकर्तारं, विपदां मारयितारं वा, **उत** अपि च **उग्रम्** प्रचण्डम्, **ओजिष्ठम्** अतिशयेन ओजस्विनम्, **तरसम्** तरणसमर्थम्, तारणसमर्थं वा । अत्र 'अत्यविचमितमि० उ० ३।११७ इत्यत्र त प्लवनसन्तरणयोः धातोः पाठाभावेऽपि बाहुलकात् असच् प्रत्ययः[1] । **तरस्विनम्** अतिशयेन बलवन्तम् । तरस् इति बलनाम । निघं० २।९ । **इन्द्रम्** परमेश्वरं वीरपुरुषं वा **नरः** उपासका जनाः प्रजाजना वा **सजूः** सजुषः परस्परं संगताः सन्तः । अत्र 'सुपां सुलुक्० ७।१।३९' इति जसः सुः । **ततक्षुः** स्तुतिभिरुत्साहकैर्वचनैश्च तीक्ष्णीकुर्वन्ति । **राजसे** हृदयसाम्राज्ये राष्ट्रे वा राज्यं कर्तुम् **ऋत्वे** कर्मयोगाय च । 'जसादिषु छन्दसि वा वचनम् । अ० ७।३।१८' वा० इति गुण-विकल्पनाद् गुणाभावे यणि रूपम् । **जजनुः च** जनयन्ति च, सम्राट्पदेऽभिषिञ्चन्तीत्यर्थः ॥१॥

अत्र श्लेषालङ्कारः । 'तरसं-तरस्विनम्' इत्यत्र छेकानुप्रासः ॥१॥

भावार्थः—यथा कामक्रोधलोभमोहदुःखदौर्मनस्यादिसैन्यानामभिभवितारमविचलं प्रलयकर्तारमोजिष्ठं तारकं बलिष्ठं परमात्मानमुपासका जनाः स्वहृदयसम्राजं कुर्वन्ति, तथैव प्रजाजनाः शत्रूणां पराजेतारं दृढसंकल्पं विपद्विदर्तारं संकटेभ्यस्तरणतारणसमर्थं शूरं नरं समुत्साह्य राजपदेऽभिषिञ्चन्तु ॥१॥

प्रथम मन्त्र में यह वर्णित है कि कैसे परमेश्वर और वीरपुरुष को लोग सम्राट् बनाते हैं ।

पदार्थ—**विश्वाः** सब **पृतनाः** शत्रुसेनाओं को **अभिभूतरम्** अतिशय पराजित करने वाले, **वरे** उत्कृष्ट **स्थेमनि** स्थिरता में विद्यमान, **आ मुरीम्** चारों ओर प्रलयकर्ता अथवा विपदाओं के संहारक **उत** और **उग्रम्** प्रचण्ड, **ओजिष्ठम्** सबसे बढ़कर ओजस्वी, **तरसम्** तरने और तराने में समर्थ, **तरस्विनम्** अति बलवान् **इन्द्रम्** परमेश्वर वा वीरपुरुष को **नरः** प्रभुभक्त व राजभक्त लोग **सजूः** इकट्ठे मिलकर **ततक्षुः** स्तुतियों व उत्साह-वचनों से तीक्ष्ण करते हैं **च** और **राजसे** हृदय-साम्राज्य में वा राष्ट्र में राज्य करने के लिए और **ऋत्वे** कर्मयोग की प्रेरणा देने के लिए अथवा कर्म करने के लिए **जजनुः** सम्राट् के पद पर अभिषिक्त करते हैं ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । 'तरसं, तरस्विनम्' में छेकानुप्रास है ॥१॥

भावार्थ—जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, दुःख, दौर्मनस्य आदि की सेनाओं के पराजेता, अविचल, प्रलयकर्ता, अति ओजस्वी, तारक, बलिष्ठ परमात्मा को उपासकजन अपना हृदय-सम्राट् बनाते हैं, वैसे ही प्रजाजन शत्रुविजयी, दृढ़संकल्पवान्, विपत्तिविदारक, संकटों से तरने-तराने में समर्थ शूरवीर मनुष्य को उत्साहित करके राजा के पद पर अभिषिक्त करें ॥१॥

---

१. द्रष्टव्या, उणादिकोषस्य उक्तसूत्रे दयानन्दटीका—'बाहुलकात् तरतीति तरसम् मांसं वा' इति ।

अथेन्द्रनाम्ना जगदीश्वरस्य महिमानं गायति ।

३७१. श्रत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवेऽहन् यद् दस्युं नर्यं विवेरपः ।
उभे यत्त्वा रोदसी धावतामनु भ्यसाते शुष्मात् पृथिवी चिदद्रिवः ॥२॥[1]

श्रत् ते दधामि प्रथमाय मन्यवे । अहन् यत् दस्युम् नर्यम् विवेः अपः ॥
उभेइति यत् त्वा रोदसीइति धावताम् अनु । भ्यसाते
शुष्मात् पृथिवी चित् अद्रिवः अ द्रिवः ॥२॥

पदार्थः—हे इन्द्र जगदीश्वर ! अहम् **ते** तव **प्रथमाय** सर्वोत्कृष्टाय **मन्यवे** तेजसे **श्रत् दधामि** श्रद्धां करोमि, **यत्** यस्मात्, त्वम् **दस्युम्** यज्ञादिकर्मणामुपक्षपयितृ अवर्षणम् यद्वा रात्रेरन्धकारम् । दस्युः, दस्यतेः क्षयार्थात् । उपदस्यन्त्यस्मिन् रसाः, उपदासयति कर्माणि । निरु० ७।२२ । **अहन्** हंसि, **नर्यम्**[2] नरहितकरं यथा स्यात् तथा **अपः** मेघजलानि **विवेः**[3] भूतलं प्रति गमयसि । वी गत्यादिषु, अत्र ण्यर्थगर्भः, ततो लङि 'बहुलं छन्दसि । अ० २।४।७६' इति शपः श्लौ, द्वित्वे, अडभावे रूपम् । **यत्** यस्मात् च **उभे रोदसी** द्वे अपि द्यावापृथिव्यौ **त्वा** त्वाम्, त्वच्छासनमित्यर्थः **अनु धावताम्** अनुधावतः । गत्यर्थाद् धावतेर्लडर्थे लङि प्रथमपुरुषस्य द्विवचने रूपम्, 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि । अ० ६।४।७५' इत्यडागमाभावः । हे **अद्रिवः** प्रतापरूपवज्रवन् ! तव **शुष्मात्** बलात् । शुष्ममिति बलनाम । निघं० २।९ । **पृथिवी चित्** अन्तरिक्षमपि । पृथिवी इत्यन्तरिक्षनामसु पठितम् । निघं० १।३ । भूमेरुल्लेखः पूर्वं 'रोदसी' इति पदे कृत एवेत्यत्र पृथिवी-पदेन अन्तरिक्षं वाच्यं भवति । **भ्यसाते**[4] भयाद् वेपेते । भ्यसते रेजते इति भयवेपनयोः निरु० ३।२१ । लेटि 'लेटोऽडाटौ । अ० ३।४।९४' इत्याडागमः । मन्त्रान्तरं चात्र 'यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेताम्' ऋ० २।१२।१ इति । तथा चोपनिषद्वर्णः—भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः (कठ० ६।३) इति ॥२॥

भावार्थः—सूर्यप्रकाशाद् रात्रेस्तमसो निवारणं, मेघाद् वृष्टिः, द्यावापृथिव्योर्मध्ये विद्यमानानां लोकलोकान्तराणां नियमनं, सूर्यस्य पृथिव्याश्च परस्परं सामञ्जस्यम् इत्यादि या काचिद् व्यवस्था जगति विलोक्यते तस्याः कर्ता जगदीश्वर एव । अतोऽस्माभिस्तस्य प्रतापे श्रद्धा विधेया ॥२॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से जगदीश्वर की महिमा का गान किया गया है ।

पदार्थ—हे इन्द्र जगदीश्वर ! मैं **ते** तेरे **प्रथमाय** सर्वोत्कृष्ट **मन्यवे** तेज के प्रति **श्रत् दधामि** श्रद्धा करता हूँ, **यत्** क्योंकि, तू **दस्युम्** यज्ञादि कर्मों के विध्वंसक दुर्भिक्ष को अथवा रात्रि के अन्धकार को **अहन्** नष्ट करता है, **नर्यम्** मनुष्यों के हितकर रूप में **अपः** मेघ-जलों को **विवेः** भूमि पर बरसाता है, और **यत्**

---

१. ऋ० १०।१४७।१, ऋषिः सुवेदाः शैरीषिः । 'दस्युं' इत्यत्र 'वृत्रं', उत्तरार्धे च 'उभे यत्त्वा भवतो रोदसी अनु रेजते शुष्मात् पृथिवी चिदद्रिवः' इति पाठः ।

२. नर्यं नरहितम् । नर्यमिति क्रियाविशेषणम्—इति भ० ।

३. वेतेः गतिकर्मणः अन्तर्णीतण्यर्थस्य रूपं विवेरिति—भ० ।

४. माधवभरतस्वामिनोः पदकारस्य च मते 'भ्यसात् ते' इति पाठः । तत्र 'ते शुष्मात् पृथिवी चित् भ्यसात्' इति योजना कार्या ।

क्योंकि **उभे रोदसी** द्युलोक और पृथिवी-लोक दोनों **त्वा** तेरे **अनु धावताम्** पीछे-पीछे दौड़ते हैं। हे **अद्रिवः** प्रतापरूप वज्रवाले ! तेरे **शुष्मात्** बल से **पृथिवी चित्** अन्तरिक्ष भी **भ्यसाते** भय से काँपता है ॥२॥

भावार्थ—सूर्य के प्रकाश से रात्रि के अन्धकार का निवारण होना, बादल से वर्षा होना, द्यावा-पृथिवी के मध्य में विद्यमान लोक-लोकान्तरों का नियन्त्रण होना, सूर्य और भूमि का परस्पर सामंजस्य होना इत्यादि जो कुछ भी व्यवस्था जगत् में दिखायी देती है उसका करने वाला जगदीश्वर ही है। इसलिए हमें उसके प्रताप पर श्रद्धा करनी चाहिए ॥२॥

अथ पुनरपि जगदीश्वरस्य महिमानमाह।

३७२. समेत विश्वा ओजसा पतिं दिवो य एक इद् भूरतिथिर्जनानाम्।
स पूर्व्यो नूतनमाजिगीषन् तं वर्तनीरनु वावृत एक इत् ॥३॥[1]
समेत सम् एत विश्वाः ओजसा पतिम् दिवः। यः एकः इत् भूः अतिथिः जनानाम् ॥
सः पूर्व्यः नूतनम् आजिगीषन् आ जिगीषन्। तम् वर्त्तनीः अनु वावृते एकः इत् ॥३॥

पदार्थः—हे प्रजाः ! **विश्वाः**[2] सर्वाः यूयम् **ओजसा** तेजसा बलेन वा **दिवः** सूर्यचन्द्रनक्षत्रनीहारिकादि-सहितस्य सकलस्यापि खगोलस्य। अत्रैव पृथिव्या अपि ग्रहणं भवति, तस्या अपि खगोले एव स्थितत्वात्। **पतिम्** स्वामिनम् इन्द्रं जगदीश्वरम् **समेत** प्राप्नुत, **यः** इन्द्रो जगदीश्वरः **एकः इत्** एक एव वर्तते। किञ्च **जनानाम्** सर्वेषां स्त्रीपुरुषाणाम् **अतिथिः** अतिथिवत् पूज्यः **भूः**[3] विद्यते। **पूर्व्यः** पुराणः अपि **सः** असौ **नूतनम्** नवीनोत्पन्नं, जडचेतनात्मकं जगत् **आ जिगीषन्** समन्ततो जयन् भवति, पुराणपुरुषस्य तस्य सर्वातिशायि-महिमवत्त्वात्। अत्र जि जये धातोः स्वार्थे सन् बोद्धव्यः। **तम्** इन्द्रं जगदीश्वरम् **एकः इत्** एक एव **वर्तनीः** मार्गः—एक एव अध्यात्ममार्गो न तु भोगमार्ग इत्यर्थः **अनु वावृते** अनुगच्छति। तेनैव मार्गेण स लब्धुं शक्यते इति भावः। वृतु वर्तने, लडर्थे लिटि 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य। अ० ६।१।७' इत्यभ्यासस्य दीर्घः ॥३॥

भावार्थः—एकोऽपि सन् परमेश्वरः सर्वेषां लोकानामधिपतिः पूज्यतमो महिम्ना च सर्वातिशायी विद्यते। तं प्राप्तुमेको धर्ममार्ग एवाश्रयणीयः ॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः जगदीश्वर की महिमा का वर्णन है।

पदार्थ—हे प्रजाओ ! **विश्वाः** तुम सब **ओजसा** तेज और बल से **दिवः** सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, नीहारिका आदि सहित समस्त खगोल के **पतिम्** स्वामी इन्द्र जगदीश्वर को **समेत** प्राप्त करो, **यः** जो **एकः इत्** एक ही है, और **जनानाम्** सब स्त्री-पुरुषों का **अतिथिः** अतिथि के समान पूज्य **भूः** है। **पूर्व्यः** पुरातन भी **सः** वह **नूतनम्** नवीन उत्पन्न जड़-चेतन जगत् को **आ जिगीषन्** जीत लेता है, क्योंकि वह पुराणपुरुष सर्वाधिक महिमा वाला है। **तम्** उस जगदीश्वर की ओर **एकः इत्** एक ही **वर्तनीः** मार्ग—अर्थात् अध्यात्ममार्ग, न कि भोगमार्ग **अनु वावृते** जाता है। उसी मार्ग पर चलकर उसे पाया जा सकता है ॥३॥

१. अथ० ७।२१।१, समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम्। स पूर्व्यो नूतनमाविवासात् तं वर्तनिरनु वावृत एकमित् पुरु ॥ इति पाठः।

२. 'हे विश्वाः सर्वाः प्रजाः' इति सायणीये व्याख्याने तु स्वरो विरुद्ध्यते।

३. भूः भवति। भवतेः 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (पा० ३।४।६) इति लडर्थे लुङ्। प्रथमपुरुषेण मध्यमपुरुषव्यत्ययः। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० ६।४।७५) इति आडागमाभावः—इति भ०।

भावार्थ—अकेला भी परमेश्वर सब लोकों का अधिपति, सबसे अधिक पूज्य और महिमा में सबसे बड़ा है। उसे पाने के लिए एक धर्ममार्ग का ही आश्रय लेना चाहिए ॥३॥

अथ जगदीश्वरं प्रति वचांस्युदीरयति।

३७३. इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।
न हि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत् क्षोणीरिव प्रति तद्धर्य नो वचः ॥४॥[1]

इमे ते इन्द्र ते वयम् पुरुष्टुत पुरु स्तुत। ये त्वा आरभ्य आ रभ्य चरामसि
प्रभूवसो प्रभु वसो ॥ न हि त्वत् अन्यः अन् यः गिर्वणः गिः वनः
गिरः सघत्। क्षोणीः इव प्रति तत् हर्य नः वचः ॥४॥

पदार्थः—हे **पुरुष्टुत** बहुकीर्तित बहुभिः कीर्तित वा, **प्रभूवसो** समर्थ निवासप्रद च। प्रभवतीति प्रभुः, वासयतीति वसुः। प्रभुश्चासौ वसुश्च इति प्रभूवसुः, पूर्वपदस्य दीर्घश्छान्दसः। **इन्द्र** जगदीश्वर! **इमे** एते संमुखस्थाः **ते** लब्धख्यातयः **वयम्** त्वदुपासकाः **ते** तव, स्मः इति शेषः, **ये त्वा आरभ्य** त्वामाश्रित्य **चरामसि** विचरामः। अत्र यद्वृत्तयोगान्निघाताभावः। हे **गिर्वणः** गीर्भिः स्तुतिवाग्भिः वननीय संभजनीय भगवन्! **त्वत् अन्यः** त्वद्भिन्नः कोऽपि **गिरः** अस्मदीयाः स्तुतिवाचः **न हि** नैव **सघत्**[2] सहेत, तासां पात्रतां व्रजेदित्यर्थः। षह मर्षणे, हकारस्य घकारश्छान्दसः। लेट्प्रयोगः। हियोगात् 'हि च। अ० ८।१।३४' इति निघातनिषेधः। **तत्** तस्मात् त्वम् **नः** अस्माकं **वचः** हार्दिकं स्तुतिवचनम् **प्रति हर्य** कामयस्व। हर्य गति-कान्त्योः, भ्वादिः। **क्षोणीः इव** यथा भूमीः कश्चिद् भूपतिः कामयते तद्वत्। क्षोणी इति पृथिवीनाम। निघं० १।१ ॥४॥[3]

अत्रोपमालङ्कारः, 'गिर्, गिरः' इत्यत्र च छेकानुप्रासः ॥४॥

भावार्थः—ये परमात्मना हार्दिकं सम्बन्धं स्थापयन्ति तेषामेव स्तुतीः स शृणोति ॥४॥

अगले मन्त्र में जगदीश्वर के प्रति उद्गार प्रकट किये गये हैं।

पदार्थ—हे **पुरुष्टुत** बहुत यशोगान किये गये अथवा बहुतों से यशोगान किये गये, **प्रभूवसो** समर्थ और निवासक **इन्द्र** जगदीश्वर! **इमे** ये **ते** वे लब्धप्रतिष्ठ **वयम्** हम उपासक **ते** तुम्हारे हो गये हैं, **ये** जो **त्वा आरभ्य** तुम्हारा आश्रय लेकर **चरामसि** विचर रहे हैं। हे **गिर्वणः** स्तुतिवाणियों से संभजनीय भगवन्! **त्वत् अन्यः** तुमसे भिन्न कोई भी **गिरः** हमारी स्तुतिवाणियों का **न हि** नहीं **सघत्** पात्र हो सकता है। **तत्** इस कारण तुम **नः वचः** हमारे स्तुतिवचन की **प्रति हर्य** कामना करो, **क्षोणीः इव** जैसे कोई राजा भूमियों की कामना करता है ॥४॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है। 'गिर्, गिरः' में छेकानुप्रास है ॥४॥

भावार्थ—जो परमात्मा के साथ हार्दिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उन्हीं की स्तुतियों को वह सुनता है ॥४॥

---

१. ऋ० १।५७।४, अथ० २०।१५।४ उभयत्र 'प्रति नो हर्य तद् वचः' इति पाठः। अथर्ववेदे ऋषिः गोतमः।

२. गिरः सघत् सहते। नान्यः कश्चित् त्वद्वत् स्तुत्यतां प्रतिपत्तुं समर्थ इत्यर्थः—इति वि०। गिरः स्तुतीः सघत् सहेत, तासां योग्यः स्यादित्यर्थः—इति भ०। गिरः स्तुतीः न हि सघत् न हि प्राप्नोति—इति सा०।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणापि मन्त्रोऽयं परमेश्वरविषय एव व्याख्यातः।

अथ कीदृशः स जगदीश्वरो राजा वा यं वयं स्तुवीमहीत्याह ।

३७४. चर्षणीधृतं मघवानमुक्थ्या३मिन्द्रं गिरो बृहतीरभ्यनूषत ।
वावृधानं पुरुहूतं सुवृक्तिभिरमर्त्यं जरमाणं दिवेदिवे ॥५॥[1]

चर्षणीधृतम् चर्षणि धृतम् मघवानम् उक्थ्यम् । इन्द्रम् गिरः बृहतीः
अभि अनूषत ॥ वावृधानम् पुरुहूतम् पुरु हूतम् सुवृक्तिभिः सु वृक्तिभिः ।
अमर्त्यम् अ मर्त्यम् जरमाणम् दिवेदिवे दिवे दिवे ॥५॥

पदार्थः—**चर्षणीधृतम्** मनुष्याणां धर्त्तारम्, **मघवानम्** प्रशस्तैश्वर्यम्, **उक्थ्यम्** वक्तव्यप्रशंसम्, **सुवृक्तिभिः**[2] शोभनाभिः क्रियाभिः, **वावृधानम्** वृद्धम् । वृधधातोर्लिटः कानच् । **पुरुहूतम्** बहुभिः आहूतम्, **अमर्त्यम्** अमरकीर्तिम्, **दिवेदिवे** दिने दिने **जरमाणम्** सत्कर्मकारिणो जनान् प्रशंसन्तम् । जरते स्तुतिकर्मा, जरिता इत्यस्य स्तोतृवाचिषु पाठात् निघं० ३।१६ । यद्वा सत्कर्माणि उपदिशन्तम् । जरते गृणाति । निरु० ४।२३ । **इन्द्रम्** परमेश्वरं राजानं वा **बृहतीः** बृहत्यः **गिरः** वेदवाचः यद्वा मदीया वाचः **अभ्यनूषत** अभि स्तुवन्ति ॥५॥[3]

अत्र अर्थश्लेषोऽलंकारः, विशेषणानां साभिप्रायत्वात् परिकरालंकारोऽपि ॥५॥

भावार्थः—यथा सर्वेषां मानवानां धर्ता शोभनकर्माऽमरकीर्तिः सत्कर्मोपदेष्टा परमेश्वरः सर्वैः स्तूयते तथैव तादृशगुणविशिष्टो नृपतिरपि प्रजानां प्रशंसापात्रं जायते ॥५॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि वह जगदीश्वर और राजा कैसा है, जिसकी हम स्तुति करें ।

पदार्थ—**चर्षणीधृतम्** मनुष्यों के धारणकर्ता, **मघवानम्** प्रशस्त ऐश्वर्यों के स्वामी, **उक्थ्यम्** प्रशंसनीय, **सुवृक्तिभिः** शुभ क्रियाओं से **वावृधानम्** वृद्ध, **पुरुहूतम्** बहुतों से पुकारे गये, **अमर्त्यम्** अमर कीर्ति वाले, **दिवेदिवे** प्रतिदिन **जरमाणम्** सत्कर्मकर्ताओं की प्रशंसा करने वाले अथवा सत्कर्मों का उपदेश करने वाले **इन्द्रम्** परमेश्वर वा राजा को **बृहतीः** महान् **गिरः** वेदवाणियाँ अथवा मेरी अपनी वाणियाँ **अभ्यनूषत** स्तुति अथवा प्रशंसा का विषय बनाती हैं ॥५॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है, विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर भी है ॥५॥

भावार्थ—जैसे सब मनुष्यों का धारणकर्ता, शुभकर्मा, अमरकीर्ति, सत्कर्मों का उपदेष्टा परमेश्वर सबसे स्तुति किया जाता है, वैसे ही उन गुणों से युक्त राजा भी प्रजाओं की प्रशंसा का पात्र बनता है ॥५॥

अथ पुनर्जगदीश्वरस्य स्तुतिविषयमाह ।

३७५. अच्छा व इन्द्रं मतयः स्वर्युवः सधीचीर्विश्वा उशतीरनूषत ।
परि ष्वजन्त जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥६॥[4]

---

१. ऋ० ३।५१।१ ।

२. सुष्ठु शोभना वृक्तयो दुःखवर्जनानि यासु क्रियासु ताभिः—इति ऋ० १।५२।१ भाष्ये द० । सुवृक्तिभिः सुप्रवृत्ताभिः शोभनाभिः स्तुतिभिः—इति यास्कः (निरु० २।२४) ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं राजविषये व्याख्यातवान् ।

४. ऋ० १०।४३।१, अथ० २०।१७।१ ।

१ २१३ १२१ ३१२ ३१२ ३१२ ३१२ १२१ ३ २ ३
अच्छ वः इन्द्रम् मतयः स्वर्युवः । सध्रीचीः स ध्रीचीः विश्वाः उशतीः अनूषत ॥
१२१ ३ १२१ १२१ १२१ १२१ ३ २ ३१२ २१२
परि स्वजन्त जनयः यथा पतिम् । मर्यम् न शुन्ध्युम् मघवानम् ऊतये ॥६॥

पदार्थः—**स्वर्युवः** विवेकप्रकाशं कामयमानाः । स्वः शब्दाद् आत्मनइच्छायां क्यचि 'क्याच्छन्दसि । अ० ३।२।१७०' इति उः प्रत्ययः । **सध्रीचीः** सह उद्यमशीलाः । सह अञ्चन्तीति सध्रीच्यः । 'ऋत्विग्-दधृक्० । अ० ३।२।५९' इति क्विनि, 'सहस्य सधिः । अ० ६।३।९५' इति सहस्य सधिरादेशः । जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । **उशतीः** उशत्यः प्रीतियुक्ताः । वश कान्तौ धातोः शतरि स्त्रियां रूपम् । **विश्वाः** सर्वाः **मतयः** मदीयाः मनीषाः **इन्द्रं वः**[1] हृदयसम्राजं जगदीश्वरं त्वाम् **अच्छ** अभिमुखीभूय **अनूषत** स्तुवन्ति । णू स्तवने धातोर्लङर्थे लुङि छान्दसो गुणाभावो व्यत्ययेनात्मनेपदं च । ताश्च **ऊतये** रक्षार्थम् **मर्यं न शुन्ध्युम्** अग्निमिव शोधकम् । अग्निदेवताके मन्त्रे 'स हि क्रतुः स मर्यः स साधुः' (ऋ० १।७७।३) इति श्रवणाद् मर्यः अत्र अग्निर्विज्ञेयः । **मघवानम्** ऐश्वर्यवन्तम् ऐश्वर्यप्रदातारं च त्वाम् **परिष्वजन्त** आलिङ्गन्ति, **जनयः** स्त्रियः **यथा पतिम्** यथा भर्तारम् परिष्वजन्ते तद्वत् । परि पूर्वात् ष्वञ्जतेः लडर्थे लङि 'बहुलं छन्दस्यमाङ्-योगेऽपि । अ० ६।४।७५' इत्यडभावः ।

अत्र द्वयोरुपमयोः संसृष्टिः ॥६॥

भावार्थः—यः परमेश्वरोऽग्निरिवास्मद्धृदयानां शोधकः सद्विचारैश्वर्यप्रदाता च विद्यते तं प्रति सर्वैः स्वमतयः सदैव प्रवर्त्तनीयाः ॥६॥

अगले मन्त्र में पुनः जगदीश्वर की स्तुति का विषय है ।

पदार्थ—**स्वर्युवः** विवेक-प्रकाश की कामना वाली, **सध्रीचीः** मिलकर उद्यम करने वाली, **उशतीः** प्रीतियुक्त **विश्वाः** सब **मतयः** मेरी बुद्धियाँ **इन्द्रं वः** हृदयसम्राट् आप जगदीश्वर के **अच्छ** अभिमुख होकर **अनूषत** स्तुति कर रही हैं, और वे **ऊतये** रक्षा के लिए **मर्यं न शुन्ध्युम्** अग्नि के समान शोधक, **मघवानम्** ऐश्वर्यवान्, ऐश्वर्यप्रदाता आपका **परिष्वजन्त** आलिंगन कर रही हैं, **जनयः** स्त्रियाँ **यथा पतिम्** जैसे पति का आलिंगन करती हैं ॥६॥

इस मन्त्र में दो उपमालंकारों की संसृष्टि है ॥६॥

भावार्थ—जो परमेश्वर अग्नि के सदृश हमारे हृदयों का शोधक और सद्विचाररूप ऐश्वर्यों का प्रदाता है, उसके प्रति सबको अपनी मतियाँ सदा प्रवृत्त करनी चाहिएँ ॥६॥

अथ जगदीश्वरो नृपतिश्च गीर्भिरर्चनीय इत्याह ।

३२७ ३१२ ३२३ २३१२ ३१२ ३१ २ ३२
३७६. **अभि त्यं मेषं पुरुहूतमृग्मियमिन्द्रं गीर्भिर्मदता वस्वो अणवम् ।**
२ ३ २ ३ २ ३१२ ३ १२ ३१२१ २१ ३१२१ २१
यस्य द्यावो न विचरन्ति मानुषं भुजे मंहिष्ठमभि विप्रमर्चत ॥७॥[2]
३२ ३२ ३ २ ३ २ ३१२ १२१ ३२
अभि त्यम् मेषम् पुरुहूतम् पुरु हूतम् ऋग्मियम् । इन्द्रम् गीर्भिः
३ १२१ ३ २ १२१ १२१ ३१२ ३ १२१ १२१
मदत वस्वः अणवम् ॥ यस्य द्यावः न विचरन्ति वि चरन्ति मानुषम् ।
३२१ २१ ३२१२१ ३
भुजे मंहिष्ठम् अभि विप्रम् वि प्रम् अर्चत ॥७॥

---

१. षष्ठीचतुर्थीद्वितीयासु बहुवचने विहितो युष्मदो वसादेशश्छन्दस्येकवचनेऽपि बहुत्र दृश्यत इति पूर्वं प्रतिपादितमेव ।
२. ऋ० १।५१।१ 'मानुषं' इत्यत्र 'मानुषा' इति पाठः ।

पदार्थः—**त्यम्** तं प्रसिद्धम्, **मेषम्**[1] सुखैः सेक्तारम् । मिषु सेचने, भ्वादिः, कर्तरि अच् प्रत्ययः । चित्त्वादन्तोदात्तः । **पुरुहूतम्** बहुभिर्जनैः आहूतम्, **ऋग्मियम्** अर्चनीयम् । ऋग्मियम् ऋग्मन्तमिति वा अर्चनीयमिति वा पूजनीयमिति वा । निरु० ७।२६। **वस्वः अर्णवम्** धनस्य समुद्रम् **इन्द्रम्** परमेश्वरं राजानं वा **गीर्भिः** वाग्भिः **मदत** मदयत हर्षयत । मदी हर्षग्लेपनयोः भ्वादिः छन्दसि सकर्मकोऽपि, संहितायाम् 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्० । ६।३।१३३' इति दीर्घः । **यस्य** इन्द्रस्य परमेश्वरस्य राज्ञो वा **द्यावः** दीप्तयः **मानुषम्** मनुष्यम् **न विचरन्ति**[2] न अपचरन्ति, न अपकुर्वन्तीत्यर्थः । अत्र यद्वृत्तयोगान्निघातो न । तम् **मंहिष्ठम्** अतिशयेन महान्तं दातृतमं वा । महि वृद्धौ । मंहते दानकर्मा । निघं० ३।२०, अतिशयेन मंहिता मंहिष्ठः । इष्ठनि 'तुरिष्ठेमेयस्सु । अ० ६।४।१५४' इति तृचो लोपः । **विप्रम्** विपश्चितम् इन्द्रं परमेश्वरं राजानं वा, **भुजे** पालनाय **अभि अर्चत** पूजयत, सत्कुरुत वा ॥७॥[3]

'वस्वः अर्णवम्' इत्यत्र समुद्रवाचिनोऽर्णवपदस्य निधौ लक्षणा, अतिशयधनवत्त्वं च व्यज्यते । इन्द्रे अर्णवत्वारोपाच्च रूपकम् ॥७॥

भावार्थः—यथा सुखवर्षक ऐश्वर्यस्य पारावारो महत्तमो दातृतमो मेधावी परमेश्वरः सर्वैः पूजनीयो हर्षणीयश्च तथा तादृशो नृपतिः प्रजाजनैः सत्करणीयो हर्षयितव्यश्च ॥७॥

अत्र विवरणकार इत्थमितिहासं दर्शयति—"अङ्गिरा नाम ऋषिः । स इन्द्रं पुत्रं याचमानः स्वात्मनि अभिध्यानमकरोत् । तस्य योगैश्वर्यबलात् तत एवाभिध्यानात् सव्यनामा इन्द्रः पुत्रोऽजायतेति । तदेतच्छौनकेनोक्तम्—तं मेषः मेधातिथिकाण्वायनम् आजहार इन्द्रो मेषरूपी कस्मिंश्चित् कारणान्तरे । तद् ब्राह्मणेनोक्तम्—मेधातिथिं ह काण्वायनं मेषो भूत्वा जहारेति । तदभिवादिन्येषा भवति—तमिन्द्रं मेषं मेषरूपम्" इत्यादि । परं घटनेयं न वास्तविकी । मन्त्रस्य ऋषिः आङ्गिरसः सव्यः, मन्त्रे च इन्द्रो मेषनाम्ना व्यपदिष्टः इति कृत्वैव कथेयं विरचिता ।

सायणस्तु 'मेषं शत्रुभिः स्पर्द्धमानम्' इति स्पर्धार्थात् मिष धातोस्तुदादेर्निष्पन्नं मेषशब्दं यौगिकत्वेन पूर्वं व्याख्यायापि पश्चाद् वैकल्पिकत्वेनेतिहासं प्रदर्शयति—"यद्वा, कण्वपुत्रं मेधातिथिं यजमानमिन्द्रो मेषरूपेणागत्य तदीयं सोमं पपौ । स ऋषिस्तं मेष इत्यवोचत्, अत इदानीमपि मेष इन्द्रोऽभिधीयते" इति । एषा कथापि काल्पनिकी । नास्मिन् मन्त्रे वस्तुतत्त्वेन घटितः कश्चिदितिहासोऽस्तीति सुधियो विभावयन्तु ।

अगले मन्त्र में यह विषय है कि वाणियों द्वारा जगदीश्वर और राजा की सबको अर्चना करनी चाहिए ।

पदार्थ—**त्यम्** उस प्रसिद्ध, **मेषम्** सुखों से सींचने वाले, **पुरुहूतम्** बहुतों से पुकारे गये, **ऋग्मियम्** अर्चना के योग्य, **वस्वः अर्णवम्** धन के समुद्र **इन्द्रम्** परमेश्वर वा राजा को **गीर्भिः** वाणियों से **मदत** हर्षयुक्त करो । **यस्य** जिस परमेश्वर वा राजा की **द्यावः** दीप्तियाँ, तेजस्विताएँ **मानुषम्** मनुष्य का **न विचरन्ति** अपकार नहीं करतीं, उस **मंहिष्ठम्** अतिशय महान् व दाता **विप्रम्** मेधावी विद्वान् परमेश्वर व राजा को **भुजे** अपने पालन के लिए **अर्चत** पूजित वा सत्कृत करो ॥७॥

१. (मेषम्) वृष्टिद्वारा सेक्तारम् इति ऋ० १।५१।१ भाष्ये द० ।

२. यस्य द्यावः द्युलोकाः न विचरन्ति विगच्छन्तीत्यर्थः । किं नातिक्रमन्ति ? उच्यते । मानुषम्, अनन्तं ज्ञानम्—इति वि० । यस्य इन्द्रस्य द्यावः स्तोतारः, दीव्यतेः स्तुतिकर्मणो द्यौः । न विचरन्ति न विचलन्ति स्वस्थानात् । मानुषं मनुष्येभ्यः हितम्—इति भ० । यस्य इन्द्रस्य कर्माणि मानुषं, जातावेकवचनम्, मानुषाणि, मनुष्याणां हितानि विचरन्ति विशेषेण वर्तन्ते । अत्र दृष्टान्तः, द्यावो न यथा सूर्यस्य रश्मयः सर्वेषां हितकराः—इति सा० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजपक्षे व्याख्यातवान् ।

'वस्वः अर्णवम्' में समुद्रवाची अर्णव पद का लक्षणावृत्ति से निधि लक्ष्यार्थ होता है, निधि न कहकर अर्णव कहने में अतिशय धनवत्त्व व्यङ्ग्य है। इन्द्र में अर्णव का आरोप होने से रूपक अलंकार है ॥७॥

भावार्थ—जैसे सुखवर्षक, ऐश्वर्य का पारावार, सबसे अधिक महान्, सबसे बड़ा दानी, मेधावी परमेश्वर सबसे पूजा करने योग्य है, वैसे ही इन गुणों से युक्त राजा प्रजाजनों से सत्कृत और प्रोत्साहित किये जाने योग्य है ॥७॥

विवरणकार माधव ने इस मन्त्र पर यह इतिहास लिखा है—"अङ्गिरा नामक ऋषि था। उसने इन्द्र को पुत्र रूप में पाने की याचना करते हुए आत्म-ध्यान किया। उसके योगैश्वर्य के बल से उसी ध्यान के फलस्वरूप उसे सव्य नाम से इन्द्र पुत्र रूप में प्राप्त हुआ। उसे इन्द्र मेष का रूप धारण करके हर ले गया। यह कथा देकर वे कहते हैं कि इसी इतिहास को बताने वाली प्रस्तुत ऋचा है, जिसमें मेषरूपधारी इन्द्र की स्तुति की गयी है।" किन्तु यह घटना वास्तविक नहीं है। मन्त्र का ऋषि आङ्गिरस सव्य है, और मन्त्र में इन्द्र को मेष कहा गया है, यही देखकर उक्त कथा रच ली गयी है।

सायण ने पहले मेष शब्द को तुदादिगण की स्पर्धार्थक मिष धातु से निष्पन्न मानकर 'मेष' का यौगिक अर्थ 'शत्रुओं से स्पर्धा करने वाला' करके भी फिर वैकल्पिक रूप से यह इतिहास भी दे दिया है कि—कण्व का पुत्र मेधातिथि यज्ञ कर रहा था, तब इन्द्र मेष का रूप धरकर आया और उसने उसका सोमरस पी लिया। तब ऋषि ने उसे मेष कहा था, इसलिए अब भी इन्द्र को मेष कहते हैं। यह कथा भी काल्पनिक है, वास्तव में घटित किसी इतिहास का वर्णन इस मन्त्र में नहीं है, यह सुधीजन समझ लें ॥

अथ पुनर्जगदीश्वरस्य नृपतेश्चार्चनाविषयमाह।

३७७. त्यं सु मेषं महया स्वर्विदं शतं यस्य सुभुवः साकमीरते।
अत्यं न वाजं हवनस्यदं रथमिन्द्रं ववृत्यामवसे सुवृक्तिभिः ॥८॥[1]

त्यम् सु मेषम् महय स्वर्विदम् स्वः विदम्। शतम् यस्य सुभुवः सु भुवः
साकम् ईरते ॥ अत्यम् न वाजम् हवनस्यदम् हवन स्यदम् रथम्।
इन्द्रम् ववृत्याम् अवसे सुवृक्तिभिः सु वृक्तिभिः ॥८॥

पदार्थः—हे सखे! त्वम् **त्यम्** तं प्रख्यातम् **मेषम्**[2] सुखैः सेक्तारम्, **स्वर्विदम्**[3] भुवि सूर्यप्रकाशस्य, राष्ट्रे वा विद्युत्प्रकाशस्य लम्भयितारम् इन्द्रं जगदीश्वरं राजानं वा **सु महय** सुष्ठु पूजय सत्कुरु वा। मह पूजायां चुरादिः। संहितायाम् 'अन्येषामपि दृश्यते। अ० ६।३।१३७' इति दीर्घः। **यस्य** इन्द्राख्यस्य जगदीश्वरस्य राज्ञो वा **शतम्** बहवो जनाः **साकम्** संभूय **सुभुवः**[4] सुस्तुतीः **ईरते** प्रेरयन्ति, उदीरयन्ति। अहमपि **वाजम्** बलवन्तम् **हवनस्यदम्** हवनम् आह्वानं प्रति स्यन्दते सद्यो गच्छति तम्, **अत्यम्** सततकर्मशीलम्। अत सातत्यगमने, भ्वादिः, अतति सततं गच्छतीति अत्यः। **इन्द्रम्** जगदीश्वरं राजानं वा **अवसे** रक्षणाय। **सुवृक्तिभिः** शोभनाभिः स्तुतिभिः **ववृत्याम्** स्वात्मानं प्रति प्रवर्तयेयम्, **न** यथा **वाजम्** वेगवन्तम्

१. ऋ० १।५२।१ 'सुभुवः', 'रथमिन्द्रं' इत्यत्र क्रमेण 'सुभ्वः', 'रथमेन्द्रं' इति पाठः।
२. (मेषम्) सुखजलाभ्यां सर्वान् सेक्तारम्—इति ऋ० १।५२।१ भाष्ये द०। मेषरूपम्—इति वि०। शत्रुभिः सह स्पर्धमानम्—इति सा०।
३. स्वर्विदम् सर्वकामलम्भनं सर्वज्ञं वा—इति भ०। स्वरादित्यो द्यौर्वा, तस्य वेदितारं लब्धारं वा—इति सा०।
४. सुभुवः सुष्ठु भवाः, स्तोत्राणि—इति भ०।

हवनस्यदम्[1] हवने विजयस्पर्धायां स्यन्दयन्ति गमयन्ति यं तम् **अत्यम्** सततगतिशीलम् **रथम्** विमानादि-यानम् **अवसे** देशान्तरं गन्तुम् । अवतिरत्र गत्यर्थः । **सुवृक्तिभिः**[2] शोभनाभिः क्रियाभिः यन्त्रकलाभिर्वा प्रवर्तयन्ति चालयन्ति तद्वत् ॥८॥[3]

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥८॥

भावार्थः—यथा देशान्तरं गन्तुं सततयायिनं रथं प्रवर्तयन्ति तथा रक्षां प्राप्तुं सततकर्मशीलः परमेश्वरो नृपतिश्च स्वाभिमुखं प्रवर्तनीयः ॥८॥

अगले मन्त्र में पुनः जगदीश्वर वा राजा की अर्चना का विषय है ।

पदार्थ—हे सखे ! तू **त्यम्** उस प्रसिद्ध, **मेषम्** सुखों से सींचने वाले, **स्वर्विदम्** भूमि पर सूर्य के प्रकाश को अथवा राष्ट्र में बिजली के प्रकाश को प्राप्त कराने वाले जगदीश्वर वा राजा की **सु महय** भली भाँति पूजा वा सत्कार कर, **यस्य** जिस जगदीश्वर वा राजा की **शतम्** सैंकड़ों जन **साकम्** साथ मिलकर **सुभुवः** उत्तम स्तुतियों को **ईरते** उच्चारण करते हैं । मैं भी **वाजम्** बलवान्, **हवनस्यदम्** आह्वान के प्रति तुरन्त पहुँचने वाले, **अत्यम्** निरन्तर कर्मशील **इन्द्रम्** जगदीश्वर वा राजा को **अवसे** रक्षा के लिए **सुवृक्तिभिः** शुभ स्तुतियों से **ववृत्याम्** अपनी ओर प्रवृत्त करूँ, **न** जैसे **वाजम्** वेगवान् **हवनस्यदम्** विजय-स्पर्धा में ले जाये जाने वाले **अत्यम्** निरन्तर चलने वाले **रथम्** विमानादि यान को **अवसे** देशान्तर में ले जाने के लिए **सुवृक्तिभिः** शोभन क्रियाओं अथवा यन्त्र-कलाओं से, चलने के लिए प्रवृत्त करते हैं ॥८॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमा अलंकार है ॥८॥

भावार्थ—जैसे देशान्तर में जाने के लिए निरन्तर चल सकने वाले रथ को प्रवृत्त करते हैं, वैसे ही रक्षा प्राप्त करने के लिए निरन्तर कर्मशील परमेश्वर वा राजा को अपनी ओर प्रवृत्त करना चाहिए ॥८॥

अथ द्यावापृथिवी देवते । कीदृशे द्यावापृथिव्यौ कथं धृते स्त इत्याह ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
३७८. घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा ।
१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा ॥९॥[4]

३ १ २ ३ १ २ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
घृतवतीइति भुवनानाम् अभिश्रिया अभि श्रिया । उर्वीइति पृथ्वीइति मधुदुघे
३ २ ३ १ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ १ २ १ २
मधु दुघेइति सुपेशसा सु पेशसा ॥ द्यावा पृथिवीइति वरुणस्य धर्मणा ।
१ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ १ २ ३
विष्कभिते वि स्कभितेइति अजरे अ जरेइति भूरिरेतसा भूरि रेतसा ॥९॥

पदार्थः—**घृतवती** घृतवत्यौ, दीप्तिमत्यौ उदकवत्यौ वा । घृ क्षरणदीप्त्योः । घृतमित्युदकनाम जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः । निरु० ७।२४ । **भुवनानाम्** सर्वेषां लोकानाम् **अभिश्रिया**[5] अभिश्रियौ अभितः

१. हवनस्यदम् आह्वानं प्रति गन्तारम्—इति वि० । हवनं स्तोत्रं प्रति स्यन्दमानम्—इति भ० । हवनम् आह्वानं यागं वा प्रति वेगेन गच्छन्तम्—इति सा० । येन हवनं पन्थानं स्यन्दते तम्—इति १।५२।१ भाष्ये द० ।

२. द्रष्टव्या ३७४ संख्यकमन्त्रभाष्ये टिप्पणी ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं वह्न्यादिभिर्विमानादियानवाहनविषये व्याख्यातवान् ।

४. ऋ० ६।७०।१, य० ३४।४५ ।

५. आश्रयणीये—इति वि० । अभिश्रयणीये—इति भ० ।

सर्वतः श्रीः शोभा लक्ष्मीः याभ्यां ते, **उर्वी**[1] बहुपदार्थयुक्ते, **पृथ्वी** विस्तीर्णे, **मधुदुघे** मधुरादिरसैः प्रपूरिके, **सुपेशसा** शोभनं पेशः सुवर्णं रूपं वा ययोस्ते। पेशस् इति हिरण्यनाम रूपनाम च। निघं० १।२, ३।७। **अजरे** अजीर्णे, **भूरिरेतसा** भूरि बहु रेतो वीर्यम् उदकं वा याभ्यां ते। रेतः इत्युदकनाम। निघं० १।१२। **द्यावापृथिवी** द्युलोकपृथिवीलोकौ **वरुणस्य**[2] सर्वेभ्यो वरस्य श्रेष्ठस्य जगदीश्वरस्य, सूर्यस्य, वायोर्वा **धर्मणा** आकर्षणधारणादिगुणेन **विष्कभिते** विशेषेण धृते स्तः। घृतवती, उर्वी, पृथ्वी, द्यावापृथिवी इति सर्वत्र 'सुपां सुलुक्०। अ० ७।१।३९' इति पूर्वसवर्णदीर्घः। अभिश्रिया सुपेशसा, भूरिरेतसा इति सर्वत्र प्रथमाद्विवचनस्य आकारादेशः। वरुणशब्दो निरुक्ते मध्यमे उत्तमे च स्थाने व्याख्यातः, तेन वायुः सूर्यश्च गृह्यते। 'वरुणो वृणोतीति सतः निरु० १०।४ ॥९॥[3]

भावार्थः—मनुष्यैर्भूगोलविद्यां खगोलविद्यां च सम्यग् विज्ञाय सूर्यचन्द्रनक्षत्रादिभ्यः पृथिव्याश्च यथायोग्यं लाभाः प्राप्तव्याः। वरुणः परमेश्वर एव सूर्यपवनादिद्वारा तान् सर्वान् लोकानाकर्षणधारणादिभिः स्थिरीकरोतीति सोऽपि कदाचिन्न विस्मर्तव्यः ॥९॥[4]

अगले मन्त्र के देवता द्यावापृथिवी हैं। इसमें कैसे द्युलोक और भूलोक किस प्रकार धृत हैं यह वर्णन है।

पदार्थ—**घृतवती** दीप्ति वाले और जल वाले, **भुवनानाम्** सब लोकों के **अभिश्रिया** शोभा-जनक, **उर्वी** बहुत-से पदार्थों से युक्त, **पृथ्वी** विस्तीर्ण, **मधुदुघे** मधुर आदि रसों से भरने वाले, **सुपेशसा** उत्कृष्ट सुवर्ण वा उत्कृष्ट रूप-रंग से युक्त, **अजरे** अजीर्ण, अच्छिन्न **भूरिरेतसा** बहुत वीर्य व जल को उत्पन्न करने वाले **द्यावापृथिवी** द्युलोक और भूमिलोक **वरुणस्य** श्रेष्ठ जगदीश्वर, सूर्य वा वायु के **धर्मणा** आकर्षण, धारण आदि गुण से **विष्कभिते** विशेष रूप से धृत हैं ॥९॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि भूगोलविद्या और खगोलविद्या को भलीभाँति जानकर सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदियों से तथा पृथिवी से यथायोग्य लाभ प्राप्त करें। वरुण परमेश्वर ही सूर्य, वायु आदि के द्वारा सब लोकों को आकर्षण, धारण आदि से स्थिर किये हुए है, इसलिए उसे भी कभी नहीं भूलना चाहिए ॥९॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मनो नृपतेश्च महिमानमाह।

३७९. उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषा इव।
महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनाम्।
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥१०॥[5]

---

१. उर्वी। उर्विति बहुनाम। अवयवबहुत्वाच्च बहुव्यपदेशः, बह्ववयवे—इति वि०। उर्वी विस्तीर्णे, पृथ्वी बहुकार्यरूपेण प्रथिते च—इति भ०।

२. (वरुणस्य) 'सूर्यस्य वायोर्वा इति ऋ० ६।७०।१ भाष्ये, सर्वेभ्यो वरस्य श्रेष्ठस्य जगदीश्वरस्य' इति च य० ३४।४५ भाष्ये—द०।

३. अत्र उर्वी, पृथ्वी, मधुदुघे, सुपेशसा, अजरे, भूरिरेतसा, धर्मणा, विष्कभिते एतेषां पदानामर्थाः ऋ० ६।७०।१ इत्यस्य, 'अभिश्रिया' इत्यस्य चार्थः य० ३४।४५ इत्यस्य दयानन्दभाष्याद् गृहीताः।

४. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये 'भूमिसूर्यौ कीदृशौ स्तः' इति विषये यजुर्भाष्ये च ईश्वरोपासनाविषये व्याख्यातः।

५. ऋ० १०।१३४।१ ऋषिः मान्धाता यौवनाश्वः। साम० १०९०।

३ १ २ ३ १२१ ३१२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
उभेइति यत् इन्द्र रोदसीइति । आपप्राथ आ पप्राथ उषाः इव ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२१ ३ २
महान्तम् त्वा महीनाम् । सम्राजम् सम् राजम् चर्षणीनाम् ।
३ २ १२१ ३ २ १ २१ ३
देवी जनित्री अजीजनत् । भद्रा जनित्री अजीजनत् ॥१०॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । हे **इन्द्र** जगत्पते परमात्मन् ! **यत्** यः त्वम् । अत्र 'सुपां सुलुक्० । अ० ७।१।३९' इति सोर्लोपः । **उषाः इव** उषर्नाम्ना ख्याता प्रभातवेलेव **उभे रोदसी** द्वे अपि द्यावापृथिव्यौ, उभौ शरीरात्मानौ वा **आपप्राथ** प्रकाशेन पूरयसि, यशसा वा प्रख्यापयसि । प्रा पूरणे, प्रथ प्रख्याने इति वा धातोर्लडर्थे लिटि मध्यमैकवचने रूपम् । तम् **महीनां महान्तम्** महत्त्वशालिनामपि महत्त्वशालिनम्, **चर्षणीनाम् सम्राजम्** मनुष्याणाम् अधीश्वरम् **त्वा** त्वां जगदीश्वरम् **देवी जनित्री** प्रकाशयित्री दिव्या ऋतम्भरा प्रज्ञा **अजीजनत्** योगिनो हृदये प्रकाशयति, **भद्रा जनित्री** आविर्भावयित्री श्रेष्ठा विवेकख्यातिः **अजीजनत्** योगसाधकस्य हृदये आविर्भावयति ॥ जननमत्र प्रकाशनमाविर्भावश्च, न तूत्पादनम्, परमेश्वरस्यानादित्वात् ।

अथ **द्वितीयो** राजपरः । हे **इन्द्र** राजन् ! **यत्** यः त्वम् **उषाः इव** उषर्वेलेव **उभे रोदसी आ पप्राथ** उभौ अपि भूम्याकाशौ स्वयशसा पूरयसि, यद्वा द्वावपि राष्ट्रवासिनौ स्त्रीपुरुषौ ज्ञानप्रकाशेन पूरयसि । द्यौष्पितः पृथिवि मातः । ऋ० ६।५१।५ इति श्रुतेः द्यौः इत्यनेन पुरुषाः, पृथिवी इत्यनेन च स्त्रियो गृह्यन्ते । तम् **महीनां महान्तम्** महत्त्ववतामपि महत्त्ववन्तम्, **चर्षणीनाम्** मानुषीणां प्रजानाम् **सम्राजम्** अधिराजम् च **त्वा** त्वाम् राजानं **देवी जनित्री** दिव्यगुणयुक्ता माता **अजीजनत्** जनितवती, **भद्रा जनित्री** श्रेष्ठा माता **अजीजनत्** जनितवती, अत एव त्वं तादृशो गुणवान् भद्रश्चासीति भावः ॥१०॥

अत्रोपमालङ्कारः श्लेषश्च । पुनरुक्तिर्जनयित्र्याः जन्यस्य च गौरवातिशयद्योतनार्था । 'महा, मही' इत्यत्र छेकानुप्रासः । 'जनित्र्यजीजनत्' इत्यस्यावृत्तौ लाटानुप्रासः ॥१०॥

भावार्थः—उषा यथा भूम्याकाशौ स्वप्रकाशेन पूरयति तथा जगदीश्वरस्तौ स्वरचितानामग्निसूर्यविद्युच्चन्द्रनक्षत्रादीनां प्रकाशेन, राजा च प्रजारञ्जनजनितया स्वकीयधवलकीर्त्या पूरयति ॥१०॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और राजा की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हे **इन्द्र** जगत्पति परमात्मन् ! **यत्** जो आप **उषाः इव** प्रभात में खिलने वाली उषा के समान **उभे रोदसी** द्युलोक-भूलोक दोनों को अथवा आत्मा और शरीर दोनों को **आपप्राथ** प्रकाश से पूर्ण कर रहे हो अथवा यश से प्रसिद्ध कर रहे हो, उन **महीनां महान्तम्** महत्त्वशालियों में भी महत्त्वशाली, **चर्षणीनां सम्राजम्** मनुष्यों के सम्राट् **त्वा** आपको **देवी जनित्री** प्रकाशक दिव्य ऋतम्भरा प्रज्ञा **अजीजनत्** योगी के हृदय में प्रकाशित करती है, **भद्रा जनित्री** आविर्भाव करने वाली श्रेष्ठ विवेकख्याति **अजीजनत्** योगसाधक के हृदय में आविर्भूत करती है ॥ जनन से यहाँ प्रकाशन और आविर्भाव अभिप्रेत हैं, उत्पत्ति नहीं, क्योंकि परमेश्वर अनादि है ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में । हे **इन्द्र** राजन् ! **यत्** जो आप **उषाः इव** उषा के समान **उभे रोदसी आपप्राथ** भूमि-आकाश दोनों को अपने यश से पूर्ण किये हुए हो, अथवा राष्ट्रवासी स्त्रियों-पुरुषों दोनों को विद्या के प्रकाश से पूर्ण कर रहे हो, उन **महीनां महान्तम्** महत्त्वशालियों में भी महत्त्वशाली, और **चर्षणीनाम् सम्राजम्** प्रजाओं के सम्राट् **त्वा** आपको **देवी जनित्री** दिव्य गुणों वाली माता ने **अजीजनत्** पैदा किया है; **भद्रा जनित्री** श्रेष्ठ माता ने **अजीजनत्** पैदा किया है; इसी कारण आप इतने गुणी और भद्र हो ॥१०॥

इस मन्त्र में उपमा और श्लेष अलङ्कार हैं। पुनरुक्ति जननी और जन्य के गौरवाधिक्य को सूचित कर रही है। 'महा, मही' में छेकानुप्रास और 'जनित्र्यजीजनत्' की आवृत्ति में लाटानुप्रास है ॥१०॥

भावार्थ—उषा जैसे भूमि-आकाश को अपने प्रकाश से परिपूर्ण करती है, वैसे जगदीश्वर उन्हें स्वरचित अग्नि, सूर्य, विद्युत्, चन्द्र, नक्षत्र आदियों के प्रकाश से और राजा प्रजारंजन से पैदा की हुई अपनी धवल कीर्ति से परिपूर्ण करता है ॥१०॥

अथ परमात्मन आचार्यस्य च गुणकर्माणि वर्णयति।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३१२३१२
३८०. **प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो यः कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना।**
३ २ ३ १२३ १२ ३१२ ३ १ २
अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणं मरुत्वन्तं सख्याय हुवेमहि ॥११॥[1]

२ ३ १ २ ३ २ ३ १२१ ३ १ २ ३ २ ३ १२
प्र मन्दिने पितुमत् अर्चत वचः। यः कृष्णगर्भाः कृष्ण गर्भाः निरहन्
३ १२१ ३ १ २ ३ १ २ १२१ १२१ १२१
निः अहन् ऋजिश्वना ॥ अवस्यवः वृषणम् वज्रदक्षिणम् वज्र
३ १ २ ३ १ २ ३ १२१ ३
दक्षिणम्। मरुत्वन्तम् सख्याय स ख्याय हुवेमहि ॥११॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। हे जनाः! यूयम् **मन्दिने** आनन्दिताय आनन्दप्रदाय च इन्द्राय जगदीश्वराय। मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु इति धातोस्ताच्छील्ये णिनिः। **पितुमत्** श्रद्धारूपेण रसेन युक्तम्। 'तव त्ये पितो रसा रंजास्यनु विष्ठिताः। ऋ० १।१८७।४' इति श्रुतेः, तत्रैव 'यत् ते सोम। ऋ० १।१८७।९' इत्युक्तेश्च पितुर्वै रसमयः सोमः। **वचः** स्तुतिवचनम् **प्र अर्चत** प्रेरयत, **यः** यो जगदीश्वरः **ऋजिश्वना** ऋजयः सरलगामिनः श्वानः किरणा यस्य स ऋजिश्वा सूर्यः तेन **कृष्णगर्भाः** कृष्णं तमः गर्भे यासां ताः कृष्णगर्भाः रात्रीः **निरहन्** निर्हन्ति। आगच्छत, **अवस्यवः** रक्षणं कामयमानाः यूयं वयम् च। अवस् शब्दात् आत्मन इच्छार्थे क्यच्, 'क्याच्छन्दसि। अ० ३।२।१७०' इति उः प्रत्ययः। **वृषणम्** मेघाद् वृष्टिकर्तारं सुखवर्षकं वा, **वज्रदक्षिणम्** वज्रः न्यायदण्डः दक्षिणः प्रतापवृद्धिकरो यस्य तम्। दक्षतिः समर्द्धयतिकर्मा निरुक्ते १।६। **मरुत्वन्तम्** प्रशस्तप्राणम् इन्द्रं जगदीश्वरम् **सख्याय** सखिभावाय **हुवेमहि** आह्वयेम। ह्वेञ् धातोर्लिङि छान्दसं रूपम्। 'हुवेम ह्वयेम' इति निरुक्तम् ११।३१ ॥

अथ **द्वितीयो** गुरुशिष्यपरः। हे सहाध्यायिनः! यूयम् **मन्दिने** मोदप्रदाय इन्द्राय विद्यैश्वर्ययुक्ताय आचार्याय **पितुमत्** उत्कृष्टान्नसहितम्। पितुरित्यन्ननाम, पातेर्वा पिबतेर्वा प्यायतेर्वा। निरु० ९।२४। **वचः** आदरपूर्णं प्रियवचनम् **प्र अर्चत** उच्चारयत, **यः** आचार्यः **ऋजिश्वना**[2] ऋजुगतियुक्तेन अध्यापनमार्गेण, सरलशिक्षापद्धत्येत्यर्थः। ऋजि ऋजु यथा स्यात्तथा श्वयति गच्छतीति ऋजिश्वा सरलोऽध्यापनमार्गः तेन। **कृष्णगर्भाः** कृष्णम् अज्ञानं गर्भे यासां ताः अविद्यारात्रीः **निरहन्** हिनस्ति। **अवस्यवः** अवः विद्यातृप्तिम् इच्छवः यूयं वयं च। अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यादिषु, अत्र तृप्त्यर्थे ग्राह्यः। **वृषणम्** सद्गुणवर्षकम्, **वज्रदक्षिणम्**[3] वज्रा कुपथाद् वर्जनकरी दक्षिणा विद्यादत्तिः यस्य तम्। वज्रः वर्जयतीति सतः। निरु० ३।११। **मरुत्वन्तम्**[4] प्रशस्ताः मरुतः विद्यायज्ञस्य ऋत्विजः विद्वांसोऽध्यापकाः यस्य तम् इन्द्रम् आचार्यम्।

---

१. ऋ० १।१०१।१, 'हुवेमहि' इत्यत्र 'हवामहे' इति पाठः।
२. ऋजवः सरलाः श्वानो वृद्धयो यस्मिन्नध्ययने तेन—इति ऋ० १।१०१।१ भाष्ये द०।
३. वज्रा अविद्याच्छेदिका दक्षिणा यस्मात् तम्—इति तत्रैव द०।
४. प्रशस्ताः मरुतो विद्यावन्तः ऋत्विजोऽध्यापका विद्यन्ते यस्मिंस्तम्—इति तत्रैव द०।

मरुत इति ऋत्विङ्नाम । निघं० ३।१८ । **सख्याय** सखित्वाय **हुवेमहि** स्वीकुर्याम । हु दानादनयोः, आदाने चेत्येके ॥११॥[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥११॥

भावार्थः—अहो, कीदृशं सख्यं परमेश्वरोऽस्मान् प्रति निर्वहति । सर्वत्र व्याप्ताया रात्रेरन्धकार-निवारणे वृष्टिकरणे वा किमस्मादृशां सामर्थ्यम् ! स एवास्मदुपकाराय निश्शुल्कमेव तादृशानि विविधानि कर्माणि करोति । गुरोरप्यस्मान् प्रति कीदृशो महानुपकारो यो हि सकलामप्यविद्यानिशां निरस्य ज्ञानवृष्टचास्माकमन्तःकरणभूमिं सरसयति । अतः परमेश्वरो गुरुश्चास्माभिः सर्वात्मना पूजनीयः सत्करणीयश्च ॥११॥

अत्र भरतस्वामी इतिहासं प्रदर्शयन्नाह—"एषा गर्भस्राविणी उपनिषत् । ... यः इन्द्रः कृष्णगर्भाः कृष्णेन असुरेण आहितगर्भाः कृष्णस्य भार्याः निरहन् निर्जघान, गर्भच्यावनाय । ऋजिश्वना राजर्षिणा हेतुना, तदर्थमित्यर्थः । ऋजिश्वनः शत्रुः कृष्णः । तं कृष्णं हत्वा तस्य सन्तानाभावाय गर्भानपि जघान" इति । सायणोऽपि[2] तादृशमेवेतिहासं व्याजहार । तत्तु कल्पनाविलसितमेव, नात्र वस्तुतत्त्वं किञ्चिदित्यध्यवसेयम् । सत्यव्रतसामश्रमिणः सायणीयं व्याख्यानमरुचिकरं मन्यमाना आहुः—"विवरणकारस्य व्याख्यानमुत्कृष्ट-तरम् । तथाहि—कृष्णगर्भाः कृष्णो मेघः तस्य गर्भभूता आपः निरहन् । हन्तिर्गत्यर्थः अन्तर्णीतण्यर्थश्च द्रष्टव्यः । निर्गमितवान् पातितवानित्यर्थः ।" इति ।

अत्रेन्द्रमहिमवर्णनात्, तत्स्तोत्रं गातुं प्रेरणाद्, द्यावापृथिव्योरपि तद्धर्मधृतत्ववर्णनाद्, इन्द्रनाम्ना नृपतेरपि कर्तव्यवर्णनाच्चैतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन संगतिरस्तीति विजानीत ।

इति चतुर्थे प्रपाठके द्वितीयार्धे चतुर्थी दशतिः ।
इति चतुर्थेऽध्याये तृतीयः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और आचार्य के गुण-कर्मों का वर्णन किया गया है ।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हे मनुष्यो ! तुम **मन्दिने** आनन्दयुक्त तथा आनन्दप्रदाता इन्द्र जगदीश्वर के लिए **पितुमत्** श्रद्धारूप रस से युक्त **वचः** स्तुतिवचन को **प्र अर्चत** प्रेरित करो, **यः** जो जगदीश्वर **ऋजिश्वना** सीधी जाने वाली किरणों से युक्त सूर्य के द्वारा **कृष्णगर्भाः** अन्धकारपूर्ण रात्रियों को **निरहन्** नष्ट करता है । आओ, **अवस्यवः** रक्षा की कामना वाले हम-तुम **वृषणम्** बादल से वर्षा करने वाले अथवा सुखों के वर्षक, **वज्रदक्षिणम्** न्यायदण्ड जिसके प्रताप को बढ़ाने वाला है ऐसे, **मरुत्वन्तम्** प्रशस्त प्राणों वाले इन्द्र जगदीश्वर को **सख्याय** मित्रता के लिए **हुवेमहि** पुकारें ॥

द्वितीय गुरु-शिष्य के पक्ष में । हे सहपाठियो ! तुम **मन्दिने** आनन्ददाता तथा विद्या के ऐश्वर्य से युक्त आचार्य के लिए **पितुमत्** उत्कृष्ट अन्न सहित **वचः** आदरपूर्ण प्रियवचन **प्र अर्चत** उच्चारण करो, **यः** जो आचार्य **ऋजिश्वना** सरल शिक्षापद्धति से **कृष्णगर्भाः** काला अज्ञान जिनके गर्भ में है ऐसी अविद्या-रात्रियों को **निरहन्** नष्ट करता है । **अवस्यवः** विद्या की तृप्ति को चाहने वाले हम-तुम **वृषणम्** सद्गुणों की वर्षा करने वाले, **वज्रदक्षिणम्** कुपथ से हटाने वाला है विद्यादान जिसका ऐसे, और **मरुत्वन्तम्** विद्या-

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतम् 'शालाध्यक्षः (अध्यापकः) कीदृशः स्यादि'ति विषये व्याख्यातवान् ।

२. तथा हि—"यः इन्द्रः ऋजिश्वना एतत्संज्ञकेन राजर्षिणा सख्या सहितः सन् कृष्णगर्भाः कृष्णो नाम कश्चिदसुरः, तेन निषिक्तगर्भाः तदीया भार्याः निरहन् नितरामवधीत् । कृष्णमसुरञ्च तत्पुत्राणामनुत्पत्त्यर्थं गर्भिणीस्तस्य भार्या अपि अवधीदित्यर्थः"—इति सायणः ।

यज्ञ के ऋत्विज् प्रशस्त विद्वान् अध्यापक जिसके पास हैं ऐसे आचार्य को **सख्याय** मैत्री के लिए **हुवेमहि** स्वीकार करें ॥११॥

इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है ॥११॥

भावार्थ—अहो, परमेश्वर हमारे प्रति कैसी मित्रता का निर्वाह करता है ! सर्वत्र व्याप्त हुई रात्रि के अन्धकार को निवारण करने और वर्षा करने में क्या हम जैसों का सामर्थ्य हो सकता है ? वही हमारे उपकार के लिए इस प्रकार के विविध कर्मों को विना हमसे कोई शुल्क लिये कर रहा है। गुरु का भी हमारे प्रति कैसा महान् उपकार है, जो समस्त अविद्या-रात्रि को हटाकर ज्ञान की वर्षा से हमारी अन्तःकरण की भूमि को सरस करता है ! इसलिए परमेश्वर और गुरु का हमें सर्वात्मना पूजन और सत्कार करना चाहिए ॥११॥

इस मन्त्र पर भरतस्वामी ने यह इतिहास लिखा है कि यह गर्भस्राविणी उपनिषद् है। कृष्ण नाम का एक असुर था, उस कृष्ण से गर्भवती हुई उसकी भार्याओं को इन्द्र ने गर्भ नष्ट करने के लिए मार डाला था। ऋजिश्वा नामक राजर्षि कृष्णासुर का शत्रु था, उसके हितार्थ ही इन्द्र ने कृष्णासुर का भी वध कर दिया और उसके पुत्र भी उत्पन्न न हों इस हेतु से उसकी गर्भवती भार्याओं का भी वध कर दिया। सायण ने भी अपने भाष्य में ऐसा ही इतिहास लिखा है। किन्तु यह कल्पना का विलासमात्र है, इसमें वास्तविकता कुछ नहीं है। सत्यव्रत सामश्रमी ने सायण की व्याख्या को अरुचिकर मानते हुए टिप्पणी दी है कि—"यहाँ विवरणकार का व्याख्यान अधिक उत्कृष्ट है, जिसने आधिदैविक अर्थ करते हुए लिखा है कि 'कृष्णगर्भाः' का तात्पर्य है काले मेघ में गर्भरूप से रहने वाले जल, जिन्हें इन्द्र उनमें से निकालकर वरसा देता है। 'निरहन्' में हन् धातु अन्तर्णीतण्यर्थ है, जिसका अर्थ निकालना या नीचे गिरा देना है।"

इस दशति में इन्द्र की महिमा वर्णित होने, उसके स्तोत्र गाने के लिए प्रेरणा होने, द्यावापृथिवी के भी उसी के धर्म से धृत होने तथा इन्द्र नाम से राजा के भी कर्तव्य का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

चतुर्थ प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त।
चतुर्थ अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ॥

॥१०॥ अथ 'इन्द्र सुतेषु सोमेषु' इत्याद्याथा दशतेः ऋषयः—१ नारदः; २,३ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ; ४ पर्वतः; ५-७, १० विश्वमना वैयश्वः; ८ नृमेधः; ९ गोतमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः।

तत्रादौ इन्द्रनाम्ना परमेश्वरस्य महत्त्वं प्रतिपादयति।

१ २ ३,२ ३ १,२ ३ १ २ ३क २१
३८१. इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थ्यम्।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
विदे वृधस्य दक्षस्य महाँ हि षः ॥१॥
१ २१ ३ १ २ १,२१ १ २१ ३ क २
इन्द्र सुतेषु सोमेषु। क्रतुम् पुनीषे उक्थ्यम् ॥
३ २ ३ १ २ १ २१ ३ २
विदे वृधस्य दक्षस्य महान् हि सः ॥१॥

१. ऋ० ८।१३।१ "इन्द्रः सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीत उक्थ्यम्। विदे वृधस्य दक्षसो महान् हि षः ॥" इति पाठः। साम० ७४६।

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन् दुःखविदारक जगदीश्वर ! त्वम् **सोमेषु** अस्माकं ज्ञानरसेषु कर्मरसेषु श्रद्धारसेषु च **सुतेषु** अभिषुतेषु सत्सु **उक्थ्यम्** प्रशंसनीयम् । उक्थ्य इति प्रशस्यनाम । निघं० ३।८ । **ऋतुम्** अस्माकं जीवनयज्ञम् **पुनीषे** पवित्रं करोषि । **सः** तादृशस्त्वम् **वृधस्य** वृद्धस्य **दक्षस्य** बलस्य । दक्ष इति बलनाम । निघं० २।९ । **विदे**[1] लम्भनाय । विद्लृ लाभे धातोः क्विपि, चतुर्थ्येकवचने रूपम् । **महान् हि** महान् खलु, विद्यसे इति शेषः । संहितायाम् 'दीर्घादटि समानपादे । अ० ८।३।९' इति नकारस्य रुत्वे, यत्वे, यकारलोपे, 'आतोऽटि नित्यम् । अ० ८।३।३' इति पूर्वस्यानुनासिकः । षः इत्यत्र 'पूर्वपदात् । अ० ८।३।।१०६' इति मूर्धन्यादेशः ।।१।।

भावार्थः—यो ज्ञानी कर्मण्यश्च सन् परमेश्वरमुपास्ते तस्य जीवनं स निष्कल्मषं विधाय तस्मै विपुलमात्मबलं प्रयच्छति ।।१।।

प्रथम मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर का महत्त्व प्रतिपादन किया गया है ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली दुःखविदारक जगदीश्वर ! **सोमेषु** हमारे ज्ञानरस, कर्मरस और श्रद्धारस के **सुतेषु** अभिषुत होने पर, आप **उक्थ्यम्** प्रशंसायोग्य **ऋतुम्** हमारे जीवनयज्ञ को **पुनीषे** पवित्र करते हो । **सः** वह आप **वृधस्य** समृद्ध **दक्षस्य** बल के **विदे** प्राप्त कराने के लिए **महान् हि** निश्चय ही महान् हो ।।१।।

भावार्थ—जो ज्ञानी और कर्मण्य होता हुआ परमेश्वर की उपासना करता है, उसके जीवन को वह कल्मषरहित करके उसे आत्मबल प्रदान करता है ।।१।।

अथ परमेश्वरस्य महिमानं गातुं जनान् प्रेरयति ।

३८२. तमु॒ अ॒भि प्र गा॑यत पुरुहू॒तं पु॑रुष्टु॒तम् ।
इन्द्रं॒ गीर्भि॒स्तवि॑षमा॒ वि॑वासत ॥२॥[2]

तम् उ अभि प्र गायत । पुरुहूतम् पुरु हूतम् पुरुष्टुतम् पुरु स्तुतम् ॥
इन्द्रम् गीर्भिः तविषम् आ विवासत ॥२॥

पदार्थः—हे जनाः ! **तम् उ** तमेव **पुरुस्तुतम्** बहु गीतकीर्तिम् **पुरुहूतम्** बहुभिः आहूतम् जगदीश्वरम् **अभि** अभिलक्ष्य **प्र गायत** प्रकर्षेण स्तुतिगीतानि गायत । **तविषम्** महान्तम् । तविष इति महन्नाम । निघं० ३।३ । तम् **इन्द्रम्** जगत्पतिम् **गीर्भिः** वेदवाग्भिः **आ विवासत** परिचरत, पूजयत । विवासतिः परिचरणकर्मा । निघं० ३।५ ।।२।।

भावार्थः—बहुभिर्ऋषिमहर्षिनृपतिप्रभृतिभिः स्तुतः पूजितश्च महान् विश्वम्भरोऽस्माभिरपि कुतो न स्तवनीयः पूजनीयश्च ।।२।।

अगले मन्त्र में परमेश्वर की महिमा गाने के लिए मनुष्यों को प्रेरित किया गया है ।

पदार्थ—हे मनुष्यो ! **तम् उ** उसी **पुरुस्तुतम्** बहुत अधिक कीर्तिगान किये गये, **पुरुहूतम्** बहुतों

---

१. विदे यथा वेत्ति; यथा जानाति—इति वि० । विदे विन्दते वृधस्य प्रवृद्धस्य दक्षस्य बलस्य, द्वितीयार्थे षष्ठी । दक्षं विन्दते—इति भ० । वृधस्य दक्षस्य बलस्य विदे लाभाय—इति सा० ।

२. ऋ० ८।१५।१, अथ० २०।६१।४; २०।६२।८ सर्वत्र 'तमु अभि' इत्यत्र 'तम्बभि' इति पाठः ।

से पुकारे गये जगदीश्वर को **अभि** लक्ष्य करके **प्र गायत** भलीभाँति स्तुतिगीत गाओ। **तविषम्** महान् **इन्द्रम्** उस परमैश्वर्यशाली जगत्पति की **गीर्भिः** वेदवाणियों से **आ विवासत** आराधना करो ॥२॥

भावार्थ—अनेकों ऋषि, महर्षि, राजा आदियों से स्तुति और पूजा किये गये महान् विश्वम्भर की हमें भी क्यों नहीं स्तुति और पूजा करनी चाहिए ? ॥२॥

अथ परमेश्वरस्य गुणकर्माण्याह।

३८३. तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृक्षु सासहिम्।
उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥३॥[1]
तम् ते मदम् गृणीमसि। वृषणम् पृक्षु सासहिम्॥
उ लोककृत्नुम् लोक कृत्नुम् अद्रिवः अ द्रिवः हरिश्रियम् हरि श्रियम् ॥३॥

पदार्थः—हे **अद्रिवः** अविनश्वरेण जीवात्मनाऽनुप्राणित मानव ! पदपाठे सर्वत्र अ-द्रि इति पाठात् न दीर्यते विनश्यति इत्यद्रिः अमर्त्यो जीवात्मा, तद्वान् अद्रिवा, वनिप् प्रत्ययः, सम्बुद्धौ अद्रिवः इति। **ते** तुभ्यम् **तम्** प्रसिद्धम् **मदम्** आनन्दयितारम्, **वृषणम्** अन्नधनजलबलप्रकाशविद्यादीनां वर्षकम् **पृक्षु**[2] आभ्यन्तरेषु बाह्येषु च देवासुरसंग्रामेषु। पृच्यन्ते संसृज्यन्ते परस्परं प्रहाराय शत्रवो यत्र ताः पृचः संग्रामाः तासु, पृची सम्पर्के धातोः क्विपि रूपम्। **सासहिम्** अतिशयेन शत्रूणाम् अभिभवितारम्। सहतेर्यङन्तात् 'सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ। अ० ३।२।१७१' वा० इति किः प्रत्ययः। **उ**[3] अपि च **लोककृत्नुम्** पृथिवीसूर्यचन्द्रादीनां लोकानां कर्तारम्, यद्वा विवेकालोकप्रदम्, **हरिश्रियम्** हरिषु हरणशीलेषु अग्निवायुसूर्यचन्द्रप्राणविद्युदादिषु श्रीः शोभा क्रियाशक्तिर्वा यस्मात् तम् इन्द्रं परमेश्वरं, वयम् **गृणीमसि** गृणीमः उपदिशामः स्तुमः। गॄ शब्दे, ऋचादिः ॥३॥

भावार्थः—विद्वद्भिर्विविधपदार्थानां सद्गुणानां च वर्षकः, सुखप्रदः, संग्रामेषु विजयप्रदाता, लोकलोकान्तराणां रचयिता, विवेकप्रदः, सर्वेषु पदार्थेषु श्रियो निधाता परमेश्वरः प्रजाजनानां कल्याणार्थमुपदेष्टव्यो, येन ते तन्महिमानं विज्ञाय तं सम्पूज्य ततः प्रेरणां गृहीत्वा पुरुषार्थिनो भवेयुः ॥३॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर के गुण-कर्मों का वर्णन है।

पदार्थ—हे **अद्रिवः** अविनश्वर आत्मा से अनुप्राणित मानव ! **ते** तेरे लिए **तम्** उस प्रसिद्ध, **मदम्** आनन्ददाता, **वृषणम्** अन्न, धन, जल, बल, प्रकाश, विद्या आदि की वर्षा करने वाले, **पृक्षु** आन्तरिक और बाह्य देवासुर-संग्रामों में **सासहिम्** अतिशय रूप से शत्रुओं को परास्त करने वाले, **उ** और **लोककृत्नुम्** पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि लोकों के रचयिता अथवा विवेक का आलोक प्रदान करने वाले, **हरिश्रियम्** हरणशील अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, प्राण, विद्युत् आदियों में शोभा तथा क्रियाशक्ति को उत्पन्न करने वाले परमेश्वर का, हम **गृणीमसि** उपदेश करते हैं ॥३॥

१. ऋ० ८।१५।४, अथ० २०।६१।१ उभयत्र 'पृक्षु' इत्यस्य स्थाने 'पृत्सु' इति पाठः। साम० ८८०।

२. पृक्षु वैरिसम्पर्कजनितेषु संग्रामेषु। अत एव बह्वृचाः 'पृत्सु' इति पठन्ति। पृत्सु, समत्सु इति संग्रामनामसु (निघं० २।१७) पठितम्—इति सा०।

३. उ शब्दः सर्वेषां समुच्चये पादपूरणे वा—इति सा०। उलोककृत्नुम्, लोक एव उलोकः, लोककृतं यजमानानाम्—इति भ०। परं पदकारेण उ शब्दः पृथगेव दर्शितः।

भावार्थ—विद्वानों को चाहिए कि वे विविध पदार्थों और सद्गुणों के वर्षक, सुखदाता, संग्रामों में विजय दिलाने वाले, लोकलोकान्तरों के रचयिता, विवेकप्रदाता, सब पदार्थों में सौन्दर्य एवं शोभा के आधानकर्ता परमेश्वर का प्रजाजनों के कल्याणार्थ उपदेश किया करें, जिससे वे उसकी महिमा को जानकर, उसकी पूजा कर, उससे प्रेरणा लेकर पुरुषार्थी बनें ॥३॥

अथेन्द्रः परमात्मा प्रार्थ्यते ।

३८४. यत् सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये ।
यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ॥४॥[1]
यत् सोमम् इन्द्र विष्णवि । यत् वा घ त्रिते आप्त्ये ॥
यत् वा मरुत्सु मन्दसे सम् इन्दुभिः ॥४॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** जगद्धारक परमात्मन् ! **यत्** यस्मात्, त्वम् **विष्णवि**[2] विष्णौ आदित्ये, आत्मनि वा **सोमम्** तेजोरूपं ज्ञानरूपं वा सोमम्, अदधाः इति शेषः, **यद् वा** यस्मात् च त्वम् । वा इति समुच्चये । 'अथापि समुच्चयार्थे भवति' इति यास्कः (निरु० १।५) । **घ** निश्चयेन **आप्त्ये** आप्तव्ये । आप्त्यम् आप्त्यानाम् आप्तव्यम् आप्तव्यानाम् इति निरुक्ते श्रवणात् । निरु० ११।२० । **त्रिते** पृथिव्यन्तरिक्षद्युरूपत्रिस्थानव्यापिनि अग्नौ, अथवा दूरंगमत्वात् त्रिस्थानगामिनि मनसि **सोमम्** दाहकगुणरूपं संकल्परूपं वा सोमम् अदधाः, **यद् वा** यस्माच्च **मरुत्सु** पवनेषु प्राणेषु वा **सोमम्** जीवनप्रदानगुणरूपं सोमम् अदधाः । यददो वात ते गृहेऽमृतं निहितं गुहा (साम० १८४२) इति श्रुतेः । तस्मात् त्वम् **मन्दसे** यशसा द्योतसे । मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु । त्वम् अस्मानपि **इन्दुभिः** पूर्वोक्तैः तेजो-ज्ञान-दोषदाहकत्व-संकल्प-जीवनप्रदानरूपैः सोमैः । सोमो वा इन्दुः । श० २।२।३।२३ । **सम्** संसृज ॥४॥

भावार्थः—परमेश्वरेण सूर्याग्निवाय्वादिषु जीवात्ममनःप्राणादिषु च ये तत्तद्विशिष्टगुणा निहितास्त एव तेषां सोमरसा उच्यन्ते । तैर्गुणैर्वयमपि संसृज्येमहि ॥४॥

अत्र 'त्रिते आप्त्ये' इत्यस्य व्याख्याने विवरणकारः त्रितम् आप्त्यम् च पृथक् पृथग् ऋषिनाम्नी मन्यते—"यस्मात् हे इन्द्र ! त्वम्, त्रितेन च ऋषिणा सह, आप्त्येन च ऋषिणा सह (सोमं पिबसि)" इति । भरतस्वामिमते च आप्तस्य पुत्रः कश्चित् त्रितो नाम—'त्रिते आप्त्ये आप्तस्य पुत्रे' इति । सायणीयव्याख्याने च अपां पुत्रः त्रितो नाम राजर्षिः—'आप्त्ये अपां पुत्रे त्रिते एतत्संज्ञके राजर्षौ यजमाने' इति । तदेतेषां पारस्परिको विरोध एवैतिहासिकपक्षस्याप्रामाण्यं प्रमाणयति ।

अगले मन्त्र में इन्द्र परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** जगत् के धारणकर्ता परमात्मन् ! **यत्** क्योंकि, आपने **विष्णवि** सूर्य में अथवा आत्मा में **सोमम्** तेजरूप अथवा ज्ञानरूप सोम को निहित किया है, **यत् वा** और क्योंकि, आपने, **घ** निश्चय ही **आप्त्ये** प्राप्तव्य **त्रिते** पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक तीनों स्थानों में व्याप्त होने वाले अग्नि में अथवा मन में **सोमम्** दाहकगुणरूप अथवा संकल्परूप सोम को निहित किया है, **यद् वा** और क्योंकि **मरुत्सु**

१. ऋ० ८।१२।१६, अथ० २०।१११।१ ।

२. ह्रस्वस्य गुणः । (पा० ७।३।१०८), जसि च (पा० ७।३।१०९) इति सूत्रे 'जसादिषु छन्दसि वा वचनं प्राङ्णौचङ्च्युपधायाः' इति कात्यायनोक्तेरिह गुणः इति सत्यव्रत सामश्रमिणः ।

पवनों में अथवा प्राणों में **सोमम्** जीवनप्रदानरूप सोम को निहित किया है, इसलिए आप **मन्दसे** यशस्वी हैं। आप हमें भी **इन्दुभिः** पूर्वोक्त तेज, ज्ञान, दोषदाहकत्व, संकल्प एवं जीवनप्रदान रूप सोमों से **सम्** संयुक्त कीजिए ॥४॥

भावार्थ—परमेश्वर ने सूर्य, अग्नि, वायु आदियों में और जीवात्मा, मन, प्राण आदियों में जो-जो उन-उनके विशिष्ट गुण निहित किये हैं, वे ही उनके सोमरस कहाते हैं। उन गुणों से हम भी संयुक्त हों ॥४॥

इस मन्त्र की व्याख्या में विवरणकार माधव ने त्रित और आप्त्य ये पृथक्-पृथक् दो ऐतिहासिक ऋषियों के नाम माने हैं। भरतस्वामी के मत में आप्त का पुत्र कोई त्रित है। सायण के अनुसार आपः का पुत्र त्रित नाम का राजर्षि है। इनका पारस्परिक विरोध ही ऐतिहासिक पक्ष के अप्रामाण्य को प्रमाणित कर रहा है।

अथाध्वर्युः सम्बोध्यते।

३८५. २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
एदु मधोर्मदिन्तरं सिञ्चाध्वर्यो अन्धसः।
३ २ ३ ३ १ २ २ ३ १ २
एवा हि वीरस्तवते सदावृधः ॥५॥[1]
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
आ इत् उ मधोः मदिन्तरम्। सिञ्च अध्वर्यो अन्धसः॥
३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
एव हि वीरः स्तवते सदावृधः सदा वृधः ॥५॥

पदार्थः—हे **अध्वर्यो** यज्ञनिष्पादकेच्छो मानव! अध्वर्युः अध्वरयुः, अध्वरं युनक्ति, अध्वरस्य नेता, अध्वरं कामयते इति वा। अपि वाऽध्वीयाने युरुपबन्धः। निरु० १।७। त्वं समाजे राष्ट्रे जगति वा **मधोः अन्धसः** मधुरस्य ज्ञानकर्मोपासनारूपस्य सोमस्य **मदिन्तरम्** अतिशयेन तृप्तिकरं रसम्। अतिशयेन मदी इति मदिन्तरः, नलोपाभावश्छान्दसः। **इत्** निश्चयेन। **आसिञ्च उ** प्रवाहय खलु। **एव हि** एवमेव। एवा इत्यत्र संहितायां 'निपातस्य च' अ० ६।३।१३६ इति दीर्घः। **वीरः** विक्रमपरायणः **सदावृधः** नित्यं समृद्धः स इन्द्रः परमेश्वरः **स्तवते** स्तूयते ॥५॥

भावार्थः—परमेश्वरस्तुतेरयमेव मार्गो यत् स्तोता मधुरमधुरं ज्ञानकर्मोपासनारसं जगति प्रवाहयेत्। सदा समृद्धः पूर्णकामः परमेश्वरः पत्रपुष्पफलाद्युपहारं न कामयते ॥५॥

अगले मन्त्र में अध्वर्यु को सम्बोधित किया गया है।

पदार्थ—हे **अध्वर्यो** यज्ञ-निष्पादन के इच्छुक मानव! तू समाज, राष्ट्र और जगत् में **मधोः अन्धसः** मधुर ज्ञान-कर्म-उपासनारूप सोम के **मदिन्तरम्** अतिशय तृप्तिकारक रस को **इत्** निश्चय ही **आसिञ्च उ** सींच। **एव हि** इसी प्रकार **वीरः** वीर, **सदावृधः** सदा समृद्ध वह इन्द्र परमेश्वर **स्तवते** स्तुति किया जाता है ॥५॥

भावार्थ—परमेश्वर की स्तुति का यही मार्ग है कि स्तोता मधुरातिमधुर ज्ञान, कर्म, उपासना के रस को जगत् में प्रवाहित करे। सदा समृद्ध, पूर्णकाम परमेश्वर पत्र, पुष्प, फल आदि का उपहार नहीं चाहता ॥५॥

---

१. ऋ० ८।२४।१६ 'मधोर्', 'सिञ्चाध्वर्यो', 'वीर', इत्यत्र क्रमेण 'मध्वो', 'सिञ्च वाध्वर्यो', 'वीरः' इति पाठः। अथ० २०।६४।४ 'वीर' इत्येव पाठः, शिष्टम् ऋग्वेदवत्। साम० १६८४।

अथेन्द्राय सोममिश्रितं मधु समर्पयितुं प्रेरयति ।

३८६. एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्यं मधु ।
प्र राधांसि चोदयते महित्वना ॥६॥[1]
आ इन्दुम् इन्द्राय सिञ्चत । पिबाति सोम्यम् मधु ॥
प्र राधाꣳसि चोदयते महित्वना ॥६॥

पदार्थः—हे मानवाः ! यूयम् **इन्द्राय** परमैश्वर्ययुक्ताय जगत्पतये परमात्मने **इन्दुम्** ज्ञानकर्मरूपं सोमरसम् **आ सिञ्चत** प्रक्षारयत, समर्पयत । सः **सोम्यम्** ज्ञानकर्मरूपसोममयम् । अत्र 'सोममर्हति यः । अ० ४।४।१३७' इति प्रकरणे 'मये च । अ० ४।४।१३८' इत्यनेन सोमशब्दान्मयडर्थे यः । **मधु** उपासनारूपं मधुरं माक्षिकम् **पिबाति** पिबति । पा धातोर्लेटि रूपम् । एवं पूजितः स पूजकाय **महित्वना** स्वमहिम्ना **राधांसि** साफल्यानि । राध संसिद्धौ धातोः असुन् प्रत्ययः । **प्र चोदयते** प्रेरयति, प्रयच्छति ॥६॥

भावार्थः—यथा यज्ञे सोमरसं मधुनि संमिश्र्य तस्य होमं कुर्वन्ति तथैवास्माभिः स्वकीयं ज्ञान-कर्माख्यं सोमरसम् उपासनारूपे मधुनि संमिश्र्य परमेश्वराय तद्धोमः कार्यः । तेन स स्वोपासकाय बलं प्रदाय तं सफलतायाः सोपानमधिरोहयति ॥६॥

अगले मन्त्र में इन्द्र को सोममिश्रित मधु समर्पित करने की प्रेरणा की गयी है ।

पदार्थ—हे मनुष्यो ! तुम **इन्द्राय** परमैश्वर्ययुक्त जगत्पति परमात्मा के लिए **इन्दुम्** ज्ञान-कर्म-रूप सोमरस को **आ सिञ्चत** सींचो, समर्पित करो । वह **सोम्यम्** ज्ञान-कर्म-रूप सोम से युक्त **मधु** उपासनारूप मधु को **पिबाति** पीता है । इस प्रकार पूजा किया हुआ वह, पूजक को **महित्वना** अपनी महिमा से **राधांसि** सफलताएँ **चोदयते** प्रदान करता है ॥६॥

भावार्थ—जैसे यज्ञ में सोमरस को मधु में मिलाकर होम करते हैं, वैसे ही हमें अपने ज्ञान-कर्मरूप सोमरस को उपासनारूप मधु में मिलाकर परमेश्वर के प्रति उसका होम करना चाहिए । उससे वह अपने उपासक को बल प्रदान करके उसे सफलता की सीढ़ी पर चढ़ा देता है ॥६॥

अथ सखाय इन्द्रं परमेश्वरं स्तोतुमाहूयन्ते ।

३८७. एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम् ।
कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥७॥[2]
आ इत उ नु इन्द्रम् स्तवाम । सखायः स खायः स्तोम्यम् नरम् ॥
कृष्टीः यः विश्वाः अभ्यस्ति अभि अस्ति एकः इत् ॥७॥

पदार्थः—हे **सखायः** सुहृदः ! यूयम् **नु** क्षिप्रम् **एत उ** आगच्छत खलु, यूयं वयं च संभूय **स्तोम्यम्** स्तोमार्हम्, **नरम्** नेतारम् **इन्द्रम्** राजाधिराजं परमेश्वरम् **स्तवाम** उपासीमहि । स्तौतेर्लेटि रूपम् । **यः एकः इत्** यः एकलोऽपि **विश्वाः कृष्टीः** समस्ताः मानवीः प्रजाः **अभ्यस्ति** अभिभवति, महिम्ना अतिशेते ।७।

१. ऋ० ८।२४।१३, 'प्र राधांसि चोदयते' इत्यत्र 'प्र राधसा चोदयाते' इति पाठः । साम० १५०६ ।
२. ऋ० ८।२४।१६ । अथ० २०।६५।१ 'सखायः स्तोम्यं' इत्यत्र 'सखाय स्तोम्यं' इति पाठः ।

भावार्थः—य एकोऽपि सन् कोटिकोटिसंख्यासु विद्यमानान् मानवान् स्वमहिम्नाऽतिशेते स एव सकलब्रह्माण्डाधीश्वरः सर्वैरपि स्तोतव्य आराधनीयश्च ॥७॥

अगले मन्त्र में सखाओं को इन्द्र परमेश्वर की स्तुति के लिए बुलाया जा रहा है।

पदार्थ—हे **सखायः** मित्रो ! तुम **नु** शीघ्र ही **एत उ** आओ। हम-तुम मिलकर **स्तोम्यम्** स्तुति के योग्य, **नरम्** नेता, **इन्द्रम्** राजाधिराज परमेश्वर की **स्तवाम** उपासना करें, **यः** जो **एकः-इत्** अकेला ही **विश्वाः कृष्टीः** सब मानवी प्रजाओं से **अध्यस्ति** महिमा में अधिक है ॥७॥

भावार्थ—जो अकेला होता हुआ भी करोड़ों-करोड़ों की संख्याओं में विद्यमान मनुष्यों से महिमा में अधिक है, उसी सकल ब्रह्माण्ड के अधीश्वर की सबको स्तुति और आराधना करनी चाहिए ॥७॥

अथ जनान् सामगानाय प्रेरयति।

३८८. इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्।
ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥८॥[1]

इन्द्राय साम गायत। विप्राय वि प्राय बृहते बृहत्॥
ब्रह्मकृते ब्रह्म कृते विपश्चिते विपः चिते पनस्यवे ॥८॥

पदार्थः—हे सुहृदः ! यूयम् **विप्राय** विशेषेण क्षतिपूर्तिकराय। विशेषेण प्राति पूरयतीति विप्रः। यद्वा ब्राह्मणवत् सज्ज्ञानोपदेशकाय, **बृहते** महते, **ब्रह्मकृते** वेदकाव्यस्य रचयित्रे **विपश्चिते** विदुषे, सकलविद्यासु पारंगताय **पनस्यवे**[2] पनः स्तुतिं प्रशंसां कीर्तिं वा परेषामिच्छतीति तस्मै। पण व्यवहारे स्तुतौ च। पनस् प्रातिपदिकात् परेच्छायां क्यचि, 'क्याच्छन्दसि। अ० ३।२।१७०' इति उः प्रत्ययः। **इन्द्राय** राजराजेश्वराय परब्रह्मणे **बृहत्** प्रचुरप्रचुरं यथा स्यात् तथा **साम गायत** सामगानं कुरुत ॥८॥

भावार्थः—मन्त्रोक्तगुणकर्मस्वभावो महामहिमशाली विराड्ब्रह्माण्डाधिपतिः परमेश्वरः सस्वरसामगानविधिना सर्वैरुपासनीयः ॥८॥

अगले मन्त्र में मनुष्यों को सामगान के लिए प्रेरित किया गया है।

पदार्थ—हे मित्रो ! तुम **विप्राय** विशेषरूप से क्षतिपूर्ति करने वाले अथवा ब्राह्मण के समान श्रेष्ठ ज्ञान का उपदेश करने वाले, **बृहते** महान्, **ब्रह्मकृते** वेदकाव्य के रचयिता, **विपश्चिते** सकल विद्याओं में पारंगत, **पनस्यवे** दूसरों की प्रशंसा और कीर्ति चाहने वाले **इन्द्राय** राजराजेश्वर परब्रह्म परमेश्वर के लिए **बृहत्** बहुत अधिक **साम गायत** सामगान करो ॥८॥

भावार्थ—मन्त्रोक्त गुण-कर्म-स्वभाव वाले, महामहिमाशाली, विराड् ब्रह्माण्ड के अधिपति परमेश्वर की सस्वर सामगान की विधि से सबको उपासना करनी चाहिए ॥८॥

अथ परमेश्वरस्य धनदत्वं वर्ण्यते।

३८९. य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे।
ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥९॥[3]

---

१. ऋ० ८।९८।१, अथ० २०।६२।५। उभयत्र 'ब्रह्मकृते' इत्यत्र धर्मकृते' इति पाठः। साम० १०२५।
२. पनस्यवे पनस्यायाऽर्च्याय। पनस्यतिरर्चतिकर्मा। निघं० ३।१४। व्यत्ययेन कृत्यार्थे उः—इति तुलसी स्वामी।
३. ऋ० १।८४।७, अथ० २०।६३।४, साम० १३४१।

य: एक: इत् विदयते वि दयते । वसु मर्त्ताय दाशुषे ॥
ईशान: अप्रतिष्कुत: अ प्रतिष्कुत: इन्द्र: अङ्ग ॥९॥

पदार्थ:—**य: एक: इत्** एक य एव विद्यते, किञ्च, य: **दाशुषे मर्त्ताय** स्वकीयं धनं परेषां हिताय दत्तवते मनुष्याय **वसु** धनम् **विदयते** विशेषेण ददाति । दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु, भ्वादि: । **अङ्ग**[1] हे भद्र ! स: **ईशान:** सकलब्रह्माण्डस्याधीश्वर: **अप्रतिष्कुत:**[2] अप्रतिष्कृत: अप्रतिस्खलितो वा । अप्रतिष्कुत: अप्रतिष्कृतोऽप्रतिस्खलितो वा । निरु० ६।१६ । **इन्द्र:** इन्द्रनामा परमेश्वरोऽस्ति ॥९॥[3]

भावार्थ:—परमेश्वर एक एव वर्तते, तत्समस्तदधिको वाऽन्य: कश्चन नास्त्येव । धनद: स परोपकाराय धनदात्रेऽधिकाधिकं धनं प्रयच्छति ॥९॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर के धन-प्रदाता रूप का वर्णन है ।

पदार्थ—**य:** जो **एक: इत्** एक ही है, और जो **दाशुषे मर्त्ताय** अपना धन दूसरों के हित के लिए जिसने दान कर दिया है ऐसे मनुष्य को **वसु** धन **विदयते** विशेष रूप से प्रदान करता है, **अङ्ग** हे भाई ! वह **ईशान:** सकल ब्रह्माण्ड का अधीश्वर **अप्रतिष्कुत:** किसी से प्रतिकार न किया जा सकने वाला अथवा कभी न लड़खड़ाने वाला **इन्द्र:** इन्द्र नामक परमेश्वर है ॥९॥

भावार्थ—परमेश्वर एक ही है, उसके बराबर या उससे अधिक अन्य कोई नहीं है । धनदाता वह परोपकारार्थ धन का दान करने वाले को अधिकाधिक धन प्रदान करता है ॥९॥

अथ परमात्मने स्तोत्रमर्पयितुं सखीनाह्वयति ।

३९०. **सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे ।**
स्तुष ऊ षु वो नृतमाय धृष्णवे ॥१०॥[4]
सखाय: स खाय: आ शिषामहे । ब्रह्म इन्द्राय वज्रिणे ॥
स्तुषे उ सु व: नृतमाय धृष्णवे ॥१०॥

पदार्थ:—हे **सखाय:** सुहृद: ! आगच्छत, यूयं वयं च संभूय **वज्रिणे** दुष्टेषु दुष्टवृत्तिषु वा दण्डधराय **इन्द्राय** जगच्छासकाय परमात्मने **ब्रह्म**[5] स्तोत्रम् **आशिषामहे** इच्छेम, समर्पयेमेत्यर्थ: । आङ: शासु इच्छायाम् इति धातोर्लेटि रूपम् । धातोरुपधाया इकारादेशश्छान्दस: । अथ प्रत्यक्षस्तुति:—हे परमात्मन् !

१. अङ्गेति निपात: पदपूरण: —इति वि० । अङ्ग सत्यम्—इति भ० । अङ्गेति क्षिप्रनाम—इति सा० । अङ्गेति क्षिप्रनाम, अञ्चितमेवाङ्कितं भवति । निरु० ५।१७ ।

२. ष्कु आप्रवणे । आप्रवणम् आगमनम्, प्रवतेर्गत्यर्थत्वात् । अन्येन अप्रतिगत: अप्रतिष्कुत: । युद्धेऽभियुञ्जान: अन्येन अप्रत्यभियुक्त:, अपूर्वाभियोद्धा इत्यर्थ:—इति वि० । अप्रत्यागत: केनापि—इति भ० । परैरप्रतिशब्दित: प्रतिकूलशब्दरहित: इत्यर्थ:—इति सा० । तत्र कु शब्दे इति धातुर्ज्ञेय:, मध्ये सुडागम: । 'असंचलित:'—इति ऋ० १।८४।७ भाष्ये द० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सभासेनाद्यध्यक्षविषये व्याख्यातवान् । "हे मनुष्या:, यूयं य: सहायरहितोऽपि निर्भयो युद्धादपलायनशीलोऽतिशूरो भवेत् तमेव सेनाध्यक्षं कुरुत" इति तत्कृतो भावार्थ: ।

४. ऋ० ८।२४।१ 'शिषामहि' इति पाठ: । अथ० १८।१।३७, ऋषि: अथर्वा ।

५. ब्रह्म अन्नं हवि: स्तोत्रं वा—इति भ० ।

नृतमाय नेतृतमाय, **धृष्णवे** पापानां धर्षणशीलाय **वः** तुभ्यम् **सु स्तुषे उ** सम्यक् स्तौमि खलु । स्तुषे इति स्तौतेर्लेटि उत्तमैकवचने रूपम्, मध्ये 'सिब्बहुलं लेटि । अ० ३।१।३४' इति सिबागमः । संहितायाम् 'ऊ' इत्यत्र 'इकः सुञि । अ० ६।३।१३४' इति दीर्घः । 'सुञः । अ० ८।३।१०७' इति सोः षत्वम् ॥१०॥

भावार्थः—सर्वैः सखिभिः परस्परं संभूय सार्वजनिकरूपेण राजराजेश्वराय परमात्मने तन्महिमगानपराणि स्तुतिगीतानि गेयानि ॥१०॥

अत्रेन्द्रस्य जगदीश्वरस्य महिमगानपूर्वकं तं प्रति स्तोत्रमर्पयितुं प्रेरणादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्ति ॥

इति चतुर्थे प्रपाठके द्वितीयार्द्धे पञ्चमी दशतिः ।
समाप्तश्चायं चतुर्थः प्रपाठकः ।
इति चतुर्थेऽध्याये चतुर्थः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में परमात्मा को स्तोत्र अर्पित करने के लिए सखाओं को बुलाया जा रहा है ।

पदार्थ—हे **सखायः** मित्रो ! आओ, हम-तुम मिलकर **वज्रिणे** दुष्टों वा दुष्टवृत्तियों के प्रति दण्डधारी **इन्द्राय** जगत् के शासक परमात्मा के लिए **ब्रह्म** स्तोत्र को **आ शिषामहे** इच्छापूर्वक समर्पित करें । आगे प्रत्यक्ष स्तुति है—हे परमात्मन् ! **नृतमाय** वरिष्ठ नेता, **धृष्णवे** पापों को धर्षण करने वाले, **वः** आपके लिए **सु स्तेषु उ** मैं भलीभाँति स्तुति करता हूँ ॥१०॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिए कि परस्पर मिलकर सार्वजनिक रूप से राजराजेश्वर परमात्मा के लिए उसके महिमागानसम्बन्धी स्तुतिगीत गायें ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र जगदीश्वर के महिमागानपूर्वक उसके प्रति स्तोत्र अर्पित करने की प्रेरणा होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

चतुर्थ प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की पाँचवीं दशति समाप्त ।
यह चतुर्थ प्रपाठक समाप्त हुआ ॥
चतुर्थ अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥

—०—

अथ पञ्चमः प्रपाठकः

॥१॥ अथ 'गृणे तदिन्द्र' इत्याद्यायाः दशतेः ऋषयः—१ प्रगाथः; २ भरद्वाजः; ३ नृमेधः; ४ पर्वतः; ५,७ इरिम्बिठिः; ६ विश्वमनाः; ८ वसिष्ठः । देवता—१-४, ६, ८ इन्द्रः; ५,७ आदित्याः । छन्दः—१-७ उष्णिक्; ८ त्रिपदा विराड् अनुष्टुप् । स्वरः—१-७ ऋषभः; ८ गान्धारः ॥

तत्राद्ये मन्त्रे परमात्मनो बलं प्रशंसति ।

३९१. गृणे तदिन्द्र ते शव उपमं देवतातये ।
यद्धंसि वृत्रमोजसा शचीपते ॥१॥[1]

१. ऋ० ८।६२।८, गृणे तदिन्द्र ते शव उपमं देवतातये । यद्धंसि वृत्रमोजसा शचीपते भद्रा इन्द्रस्य रातयः ॥ इति पाठः, छन्दः बृहती ।

गृणे तत् इन्द्र ते शवः । उपमाम् उप माम् देवतातये ॥
यत् हꣳसि वृत्रम् ओजसा शचीपते शची पते ॥१॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** विघ्नविदारक परमात्मन् ! अहम् **देवतातये** उपासनायज्ञस्य पूर्तये । देवताता इति यज्ञनामसु पठितम् । निघं० ३।१७ । **ते** तव **उपमाम्**[1] सर्वेषामुपमानभूतम् **तत्** सर्वविदितम् **शवः** बलम् **गृणे** प्रशंसामि । ग शब्दे, क्र्यादिः । गृणातिः अर्चतिकर्मा । निघं० ३।१४ । **यत्** यस्मात्, हे **शचीपते** अतिशयकर्मशूर परमेश ! शची इति कर्मनाम । निघं० २।१ । त्वम् **ओजसा** स्वकीयेन तेजोमयेन बलेन **वृत्रम्** पापान्धकारम्, यद्वा योगसाधनायां समागतं व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनादिकं विघ्नजातम् **हंसि** विनाशयसि ॥१॥

भावार्थः—परमात्मनो बलस्य शंसनेन स्वयमपि बलिनो भूत्वा वयं जीवनमार्गे योगमार्गे वा समागतान् सर्वानपि विघ्नान् शत्रूंश्च विनाश्य परमां सिद्धिं प्राप्नुयाम ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा के बल की प्रशंसा की गयी है ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** विघ्नों के विदारणकर्ता परमात्मन् ! मैं **देवतातये** उपासना-यज्ञ की पूर्ति के लिए, **ते** आपके **उपमाम्** सबके उपमानभूत, **तत्** उस सर्वविदित **शवः** बल की **गृणे** प्रशंसा करता हूँ, **यत्** क्योंकि, हे **शचीपते** अतिशय कर्मशूर परमेश ! आप **ओजसा** अपने तेजोयुक्त बल से **वृत्रम्** पाप के अन्धकार को अथवा योगसाधना के बीच में आये व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन आदि विघ्नसमूह को **हंसि** विनष्ट कर देते हो ॥१॥

भावार्थ—परमात्मा के बल की प्रशंसा से स्वयं भी बलवान् होकर जीवनमार्ग में अथवा योगमार्ग में आये हुए सब विघ्नों और शत्रुओं को विनष्ट कर हम परमसिद्धि को प्राप्त करें ॥१॥

अथ परमात्मनो वीरकर्म प्रशंसन् तमाह्वयति ।

३९२. यस्य त्यच्छम्बरं मदे दिवोदासाय रन्धयन् ।
अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिब ॥२॥[2]
यस्य त्यत् शम्बरम् शम् बरम् मदे । दिवोदासाय दिवः दासाय रन्धयन् ॥
अयम् सः सोमः इन्द्र ते सुतः पिब ॥२॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** विघ्नविदारक परमात्मन् ! **यस्य** पुरुषार्थमिश्रितस्य भक्तिरूपस्य सोमरसस्य **मदे** हर्षे **दिवोदासाय**[3] मनआदिभ्यः दिवः प्रकाशस्य दात्रे जीवात्मने, तत्साहाय्यार्थमिति भावः । दासृ दाने, भ्वादिः । 'दिवश्च दासे षष्ठ्या अलुग् वक्तव्यः । अ० ६।३।२१' वा० इति षष्ठ्या अलुक् । 'आद्युदात्तप्रकरणे दिवोदासादीनामुपसंख्यानम् । अ० ६।२।९१' वा० इत्याद्युदात्तः । त्वम् **शम्बरम्**[4] शम् आनन्दम्

१. उपमां सर्वबलानामुपमानभूतम्, अत्यन्तोत्कृष्टमित्यर्थः—इति वि० । अन्तिकम्—इति भ०, सा० । उपमे इत्यन्तिकनाम । निघं० २।१६ ।

२. ऋ० ६।४३।१ 'रन्धयन्' इत्यत्र 'रन्धयः' इति पाठः ।

३. विज्ञानप्रदाय (धार्मिकाय जनाय) इति ऋ० ६।४३।१ भाष्ये द० । दिवोदासनाम्नः राज्ञः अर्थाय—इति वि० । दिवोदासाय ऋषये—इति भ० । दिवोदासाय राज्ञे—इति सा० । एवमैतिहासिकपक्षस्य कल्पनोपजीवित्वं स्पष्टम् ।

४. यद्यपि 'शम्ब सम्बन्धने' धातोर्बाहुलकाद् अरन् प्रत्यये कृतेऽपि शब्दोऽयं सिध्यति, तथापि पदपाठे 'शम् बरम्' इति विच्छेदात् शम् पूर्वाद् वृञ् धातोरस्माभिर्निष्पादितः ।

शान्तिं च वारयति आच्छादयतीति शम्बरः। वबयोरभेदात् शम्वर एव शम्बरः तम्, योगमार्गे समागतं विघ्नसमूहम् **रन्धयन्** विनाशयन्। रध हिंसासंराध्योः, दिवादिः। णिजन्ताच्छतरि, 'रधिजभोरचि। अ० ७।१।६१' इति नुम्। **त्यत्**[1] तत् प्रसिद्धं वीरकर्म करोषि, **अयं सः** एष सः **सोमः** पुरुषार्थमिश्रितः भक्तिरसः **ते** तुभ्यम् **सुतः** अभिषुतोऽस्ति, तम् **पिब** आस्वादय ॥२॥[2]

भावार्थः—पुरुषार्थपूर्णया भक्त्याऽऽराधितः परमेश्वरो योगसाधकस्य मार्गे समागतान् सर्वान् प्रत्यूहान् निराकृत्य योगसिद्धिं प्रयच्छति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के वीरतापूर्ण कर्म की प्रशंसा करते हुए उसका आह्वान किया गया है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** विघ्नविदारक परमात्मन्! **यस्य** जिस पुरुषार्थमिश्रित भक्तिरूप सोमरस के **मदे** हर्ष में **दिवोदासाय** मन आदि को प्रकाश देने वाले जीवात्मा की सहायता के लिए, आप **शम्बरम्** योगमार्ग में आये आनन्द और शान्ति के आच्छादक विघ्नसमूह को **रन्धयन्** विनष्ट करते हुए **त्यत्** प्रसिद्ध वीर कर्म को करते हो, **अयं सः** यह वह **सोमः** पुरुषार्थमिश्रित भक्तिरस **ते** आपके लिए **सुतः** अभिषुत है, उसका **पिब** पान करो ॥२॥

भावार्थ—पुरुषार्थपूर्ण भक्ति से आराधना किया गया परमेश्वर योगसाधक के मार्ग में आये हुए सब विघ्नों का निराकरण करके योगसिद्धि प्रदान करता है ॥२॥

अथ पुनः परमात्मनो महिमा वर्ण्यते।

३९३. एन्द्र नो गधि प्रिय सत्राजिदगोह्य।
गिरिर्न विश्वतः पृथुः पतिर्दिवः ॥३॥[3]

आ इन्द्र नः गधि प्रिय। सत्राजित् सत्रा जित् अगोह्य अ गोह्य ॥
गिरिः न विश्वतः पृथुः पतिः दिवः ॥३॥

पदार्थः—हे **प्रिय** स्नेहास्पद, **सत्राजित्** सत्येनासत्यस्य विजेतः! सत्रा इति सत्यनाम। निघं० ३।१०। **अगोह्य** गूहितुम् अशक्य **इन्द्र** परमात्मन्! त्वम् **नः** अस्मान्, अस्मत्समीपम् **आ गधि** आगहि, आयाहि। 'आगहि' इति रूपं वेदे बहुशः प्रयुज्यते, अत्र हेर्धिभावः। त्वम् **गिरिः न** पर्वतः इव **विश्वतः पृथुः** सर्वतो विस्तीर्णः असि, **दिवः पतिः** सूर्यचन्द्रनक्षत्रविद्युदादिभिर्द्योतमानस्य जगतः अधीश्वरः असि ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—चर्मचक्षुर्भ्यामदृश्योऽपि जगदीश्वरः संसारे दृश्यमानैः स्वकीयैः सत्यनियमैर्योगाभ्यासैश्च सर्वेषां प्रकटो जायते। गगनचुम्बिविस्तीर्णशैल इव विशालः सर्वव्यापकः समस्तानां ज्योतिष्मतां पदार्थानां ज्योतिष्प्रदायकः स सर्वैर्जनैरुपासनीयः ॥३॥

---

१. नपुंसकलिङ्गं व्यत्ययेन पुंल्लिङ्गस्य स्थाने द्रष्टव्यम्। तं शम्बरं नामासुरम्—इति वि०। त्यत् तत् प्रसिद्धं पूर्भेदनादिकर्म अकार्षीः शम्बरम् असुरं दिवोदासाय ऋषये रन्धयन्—अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य। शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम् ॥ ऋ० ४।२६।३ इति हि निगमः—इति भ०। त्यदिति क्रियाविशेषणम्, तत् प्रसिद्धं यथा भवति तथा—इति सा०।

२. दयानन्दर्षिर्ऋग्भाष्ये मन्त्रमिमं "हे राजादयो जनाः, यूयं धार्मिकाणां पीडकान् जनान् यथावद् दण्डयत, वैद्यकशास्त्रोक्तरीत्या महौषधिरसं निष्पाद्य संसेव्यारोगा भूत्वा सर्वाः प्रजा अरोगाः कुरुत" इति विषये व्याख्यातवान्।

३. ऋ० ८।९८।४, अथ० २०।६४।१। उभयत्र 'प्रियः सत्राजिदगोह्यः' इति पाठः। साम० १२४७।

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा की महिमा वर्णित की गयी है।

पदार्थ—हे **प्रिय** प्रिय, **सत्राजित्** सत्य से असत्य पर विजय पाने वाले, **अगोह्य** छिपाये न जा सकने वाले, किन्तु प्रकट हो जाने वाले **इन्द्र** परमात्मन्! आप **नः** हमारे समीप **आ गधि** आओ। आप **गिरिः न** पर्वत के सदृश **विश्वतः पृथुः** सबसे विशाल और **दिवः पतिः** सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत् आदि से जगमगाते हुए जगत् के अधिपति हो ॥३॥

इस मन्त्र में उपलालंकार है ॥३॥

भावार्थ—चर्म-चक्षुओं से अदृश्य भी परमेश्वर संसार में दिखायी देने वाले अपने सत्य नियमों से और योगाभ्यासों से सबके सम्मुख प्रकट हो जाता है। आकाश को चूमने वाले विस्तीर्ण पहाड़ के समान विशाल, सर्वव्यापक, सब ज्योतिष्मान् पदार्थों को ज्योति देने वाला वह सब जनों से उपासना करने योग्य है ॥३॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मानं जीवात्मानं सेनाध्यक्षं च सम्बोधयति।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
३९४. य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति।
२ ३ २ ३ २१ २ ३ १ २
येना हंसि न्याऽत्रिणं तमीमहे ॥४॥[1]
२ ३ ३ १२१ ३ १२१ १२१ ३ १२१
यः इन्द्र सोमपातमः सोम पातमः। मदः शविष्ठ चेतति ॥
१२१ १ २१ ३ १ २ ३
येन हꣳसि नि अत्रिणम् तम् ईमहे ॥४॥

पदार्थः—हे **शविष्ठ** बलिष्ठ, **इन्द्र** शत्रुविदारक परमात्मन्, जीवात्मन्, सेनाध्यक्ष वा! **यः** यस्त्वम् **सोमपातमः** अतिशयेन वीररसरूपस्य सोमस्य पाता असि, तस्य ते **मदः** वीरताजनितः हर्षः **चेतति** सदैव जागर्ति। **येन** पराक्रमेण, त्वम्। संहितायां 'येना' इति दीर्घश्छान्दसः, 'अन्येषामपि दृश्यते। अ० ६।३।१३७' इति वचनात्। **अत्रिणम्** भक्षकं शत्रुम्। अत्तीति अत्री। अद भक्षणे धातोः 'अदेस्त्रिनिश्च। उ० ४।६९' इति त्रिनिः प्रत्ययः। अत्रिणो वै रक्षांसि। पाप्मानोऽत्रिणः। ष० ब्रा० ३।१। **निहंसि** निःशेषेण विनाशयसि, **तम्** तं ते पराक्रमम्, वयमपि **ईमहे** प्रार्थयामहे। ईमहे इति याञ्चाकर्मसु पठितम्। निघं० ३।१९ ॥४॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥४॥

भावार्थः—यथा वीरः परमात्मा जीवात्मा च वीररसेन हृष्टः सन् सर्वान् कामक्रोधादिरूपान्, विघ्नरूपान्, पापरूपांश्च भक्षकान् राक्षसान् विनाशयति, तथैव राष्ट्रे वीरः सेनापतिः सर्वानाक्रान्तॄन् रिपून् स्वपराक्रमेण दण्डयेत्। तादृशो वीररसः पराक्रमश्च सर्वैः प्रजाजनैरपि प्राप्तव्यः ॥४॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा, जीवात्मा और सेनाध्यक्ष को सम्बोधित किया गया है।

पदार्थ—हे **शविष्ठ** बलिष्ठ **इन्द्र** शत्रुविदारक परमात्मन्, जीवात्मन् वा सेनाध्यक्ष! **यः** जो आप **सोमपातमः** अतिशय वीररस का पान करने वाले हो, उन आपका **मदः** वीरताजनित हर्ष **चेतति** सदा जागता रहता है। आप **येन** अपने जिस पराक्रम से **अत्रिणम्** भक्षक शत्रु को **निहंसि** निःशेष रूप से विनष्ट कर देते हो **तम्** उस पराक्रम की, हम भी आपसे **ईमहे** याचना करते हैं ॥४॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है ॥४॥

---

१. ऋ० ८।१२।१, अथ० २०।६३।७।

भावार्थ—जैसे वीर परमात्मा और जीवात्मा वीररस से उत्साहित होकर सब कामक्रोधादिरूप, विघ्नरूप और पापरूप भक्षक राक्षसों को विनष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र में वीर सेनापति सब आक्रान्ता रिपुओं को अपने पराक्रम से दण्डित करे। वैसा वीररस और पराक्रम सब प्रजाजनों को भी प्राप्त करना चाहिए ॥४॥

अथादित्या देवताः। अत्र दीर्घतरमायुः प्रार्थ्यते।

३१९ २१३ २७ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
३९५. तुचे तुनाय तत्सु ना द्राघीय आयुर्जीवसे।
१ २ ३ १२
आदित्यासः समहसः कृणोतन ॥५॥[1]
३ २ १ २१ ३ १२१ १ २१ ३ १ २
तुचे तुनाय तत् सु नः। द्राघीयः आयुः जीवसे ॥
१ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३
आदित्यासः आ दित्यासः समहसः स महसः कृणोतन कृणोत न ॥५॥

पदार्थः—हे **समहसः** सतेजसः **आदित्यासः** आदित्यवज्ज्ञानप्रकाशेन भासमानाः ब्रह्मविदो ब्राह्मणाः, मदीयाः प्राणाः वा ! एते खलु वादित्या यद् ब्राह्मणाः। तै० ब्रा० १।१।९।८। प्राणा वा आदित्याः। जै० उ० ब्रा० ४।२।९। यूयम् **तुचे** अपत्याय, तुक् इत्यपत्यनाम। निघं० २।२। **तुनाय**[2] धनाय। तना इति धननामसु पठितम्। निघं० २।१०। अत्र अकारस्य उकारादेशश्छान्दसः। **जीवसे** उत्कृष्टजीवनाय च। जीव धातोः 'तुमर्थे सेसेनसेअसेन्०। अ० ३।४।९' इति तुमर्थे असे प्रत्ययः। **तत्** इतरप्राणिविशिष्टत्वेन प्रसिद्धम् **नः आयुः** अस्माकम् आयुष्यम् **द्राघीयः** दीर्घतरम् **सु कृणोतन** सुचारुरूपेण कुरुत। कृवि हिंसाकरणयोर्लोटि मध्यमबहुवचने 'कृणुत' इति प्राप्ते 'तप्तनप्तनथनाश्च। अ० ७।१।४५' इति तस्य तनबादेशः[3], तस्य च पित्त्वान्ङित्त्वाभावे गुणः ॥

अपत्यं तु द्विविधं, भौतिकं मानसं च। भौतिकं पुत्रदुहित्रादिरूपं, मानसं च नूतनज्ञानविज्ञानादिरूपम्। धनमपि द्विविधं, भौतिकम् आध्यात्मिकं च। रजतसुवर्णवस्त्रधान्यमुद्रादिरूपं भौतिकम्, अहिंसासत्यन्याययोगसिद्ध्यादिरूपं चाध्यात्मिकम्। उत्कृष्टजीवनमपि द्विविधं, बाह्यम् अध्यात्मं च। भौतिकसुखसम्पदादिपूर्णं बाह्यम्, अध्यात्मपथपथिकत्वरूपं च अध्यात्मम्। तदेतत्सर्वं सुलभमस्माकं स्यादित्येतदर्थं दीर्घतरम् आयुः प्रार्थ्यते ॥५॥

अत्र 'तुना, तन' इति छेकानुप्रासोऽलङ्कारः। तकार-सकार-नकाराणां पृथक्-पृथग् असकृदावृत्तौ च वृत्त्यनुप्रासः ॥५॥

भावार्थः—प्राणायामेन, विपश्चिद्भिर्ब्राह्मणैरुपदिष्टस्य पथोऽनुसरणेन चास्माकमायुर्द्राघीयो भवितुमर्हति। दीर्घतरमायुष्यं प्राप्य यथारुचि प्रेयोमार्गे श्रेयोमार्गे वाऽस्माभिः पदं निधेयम् ॥५॥

अगले मन्त्र के आदित्य देवता हैं। इसमें दीर्घतर आयु की प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **समहसः** तेजस्वी **आदित्यासः** आदित्य के समान ज्ञानप्रकाश से भासमान ब्रह्मवित् ब्राह्मणो ! अथवा हे मेरे प्राणो ! तुम **तुचे** सन्तान के लिए, **तुनाय** धन के लिए और **जीवसे** उत्कृष्ट जीवन

१. ऋ० ८।१८।१८ 'तुनाय' इत्यत्र 'तनाय' इति पाठः।

२. तुना इति तु धननाम, तस्मादियं तादर्थ्ये चतुर्थी। धनस्य चार्थायेत्यर्थः—इति वि०। तनोतेस्तुनः पौत्रः, तुनाय पौत्राय—इति भ०। तनोति कुलमिति तुनः पौत्रः। उकारोपजनश्छान्दसः। अत एव बह्वृचाः 'तनाय' इति पठन्ति—इति सा०।

३. इदं पाणिन्यभिप्रायेण प्रोक्तम्। यास्कमते तु नकार उपजनः, यथा स प्राह—'कुरुतन' इत्यनर्थका उपजना भवन्ति, कर्त्तन, हन्तन, यातन इति (निरु० ४।७)। पदकारस्यापि तदेवाभिप्रेतम्, यतोऽसौ 'युयोत न' इत्यवग्रहं प्रदर्शयति।

के लिए **तत्** उस, अन्य प्राणियों से विलक्षण **नः आयुः** हमारी आयु को **द्राघीयः** अधिक लम्बी **सु कृणोतन** सुचारु रूप से कर दो ।।

सन्तान दो प्रकार की होती है, भौतिक और मानस । पुत्र, पुत्री आदि भौतिक तथा नवीन ज्ञान-विज्ञानादि मानस सन्तान कहलाती है । धन भी द्विविध होता है, भौतिक और आध्यात्मिक । चाँदी, सोना, कपड़ा, धान्य, मुद्रा आदि भौतिक धन तथा अहिंसा, सत्य, न्याय, योगसिद्धि आदि आध्यात्मिक धन कहाता है । उत्कृष्ट जीवन भी दो प्रकार का होता है, बाह्य और आध्यात्मिक । भौतिक सुख-सम्पदा आदि से पूर्ण जीवन बाह्य और अध्यात्म-पथ का पथिक जीवन आध्यात्मिक कहाता है । यह सब हमारे लिए सुलभ हो, एतदर्थ लम्बी आयु की प्रार्थना की गयी है ।।५।।

इस मन्त्र में 'तुना, तन' में छेकानुप्रास अलंकार है । त्, स् और न् की पृथक्-पृथक् अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ।।५।।

भावार्थ—प्राणायाम से और विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा उपदेश किये गये मार्ग का अनुसरण करने से हमारी आयु अधिक लम्बी हो सकती है । अधिक लम्बी आयु प्राप्त कर अपनी रुचि के अनुसार प्रेय-मार्ग या श्रेय-मार्ग में हमें पग रखना चाहिए ।।५।।

अथ सूर्यदृष्टान्तेनेन्द्रस्य महिमानमाह ।

३९६. **वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम् ।**
अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव ।।६।।[1]

वेत्थ हि निर्ऋतीनाम् निः ऋतीनाम् । वज्रहस्त वज्र हस्त परिवृजम् परि
वृजम् ।। अहरहः अहः अहः शुन्ध्युः परिपदाम् परि पदाम् इव ।।६।।

पदार्थः—हे **वज्रहस्त** शस्त्रास्त्रपाणे इन्द्र वीर राजन्, सेनापते वा, यद्वा शस्त्रास्त्रपाणिर्वीरपुरुष इव पापादिविघ्नदलनसामर्थ्ययुक्त पराक्रमशालिन् परमात्मन् ! **शुन्ध्युः** राष्ट्रस्य मनसो वा शोधकः त्वम् **निर्ऋतीनाम्** पाप्मनां, कुनीतीनां,[2] कृच्छ्रापत्तीनाम्, अकालमृत्यूनां, शत्रुसेनानां वा । निर्ऋतिः निरमणात्, ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा इति यास्कः । निरु० २।८ । पाप्मा वै निर्ऋतिः । श० ७।२।१।१, घोरा वै निर्ऋतिः । श० ७।२।१।१० । **अहरहः** दिने दिने **परिवृजम्** परिवर्जनम्, परिहारम् **वेत्थ हि** जानासि खलु, **शुन्ध्युः** शोधकः आदित्यः । शुन्ध्युरादित्यो भवति, शोधनात् । निरु० ४।१६ । **अहरहः** दिने दिने **परिपदाम्**[3] **इव** यथा परितः पद्यमानानाम् अन्धकाराणां रोगाणां वा परिहारं वेत्ति तद्वत् ।।६।।

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ।।६।।

भावार्थः—यथा शोधकः सूर्यस्तमोजालरोगमालिन्यादीनि परिहरति तथा परमेश्वरः संसारात् पापकुनीतिकृच्छ्रापत्त्यादीन्यपहन्ति । तथैव नृपेण सेनापतिना च राष्ट्रात् पापकदाचारकृच्छ्रापत्त्यकालमरण-शत्रुसेनादीनि प्रयत्नेन निवारणीयानि ।।६।।

---

१. ऋ० ८।२४।२४, अथ० २०।६६।३ ।

२. निर्ऋतिम् दुःखप्रदां कुनीतिम् इति ऋ० ६।७४।२ भाष्ये द० ।

३. परीति सर्वतोभावे, पदिर्गत्यर्थः । सर्वतो गच्छन्तीति परिपदः, तेषां परिपदाम् । सर्वतो गन्तॄणां प्राणिनामित्यर्थः । एत-दुक्तं भवति । यथा सर्वप्राणिनामादित्यः लोकपालत्वात् शुभाशुभप्रवृत्ती वेत्ति तद्वन्निर्ऋतिप्रवृत्तीनां वर्जनं वेत्थ—इति वि० । अहरहः शुन्ध्युः आदित्यः परिपदामिव परितः पद्यमानानां रक्षसां मद्देहानामिव वर्जनम्—इति भ० । आदित्यः परिपदामिव परितः पद्यमानानां यजमानानां यद्वा परितः पततां पक्षिणां वर्जनं स्वस्थानत्यागम्—इति सा० ।

अगले मन्त्र में सूर्य के दृष्टान्त से इन्द्र की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ—हे **वज्रहस्त** शस्त्रास्त्रपाणि वीर राजन् या सेनापति, अथवा शस्त्रास्त्रधारी वीरपुरुष के समान पाप आदि विघ्नों का दलन करने में समर्थ पराक्रमशाली परमात्मन् ! **शुन्ध्युः** राष्ट्र के अथवा मन के शोधक आप **निर्ऋतीनाम्** पापों, कुनीतियों, कष्टों, अकाल मृत्युओं अथवा शत्रुसेनाओं के **अहरहः** प्रतिदिन **परिवृजम्** परिहार को **वेत्थ हि** निश्चय ही जानते हो, **शुन्ध्युः** शोधक सूर्य **अहरहः** प्रतिदिन **परिपदाम् इव** जैसे चारों ओर व्याप्त अन्धकारों या रोगों का परिहार करना जानता है ।।६।।

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है ।।६।।

भावार्थ—जैसे शोधक सूर्य तमोजाल, रोग, मालिन्य आदियों को दूर करता है, वैसे ही परमेश्वर संसार के पाप, कुनीति, कष्ट आदि का विनाश करता है। उसी प्रकार राजा और सेनापति को भी चाहिए कि राष्ट्र से पाप, दुराचार, अकालमृत्यु, शत्रुसेना आदियों का प्रयत्न से निवारण करे ।।६।।

अथादित्या देवताः । ते कष्टादीनां निवारणाय प्रार्थ्यन्ते ।

१२ २१ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
३९७. अपामीवामप स्त्रिधमप सेधत दुर्मतिम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः ।।७।।[1]

१ २१ १ २१ १ २१ १ २१ १ २१ ३ २ ३ २
अप अमीवाम् अप स्त्रिधम् । अप सेधत दुर्मतिम् दुः मतिम् ।।
१ २१ ३ १ २ ३ १ २१
आदित्यासः आ दित्यासः युयोतन युयोत न नः अंहसः ।।७।।

पदार्थः—हे **आदित्यासः** शरीरस्थाः प्राणाः, राष्ट्रस्थाः क्षत्रियाः राजपुरुषाः, आदित्यब्रह्मचारिणो वा ! त्यान् नु क्षत्रियाँ अव आदित्यान् याचिषामहे । ऋ० ८।६७।१' इति श्रुतेः क्षत्रिया राजपुरुषा अपि आदित्या उच्यन्ते । यूयम् शरीरात् समाजाद् राष्ट्राच्च **अमीवाम्** रोगम् । अम रोगे चुरादिः । **अप** अपसेधत अपगमयत, **स्त्रिधम्**[2] हिंसावृत्तिं, शत्रुकृतां हिंसां, हिंसकं वा **अप** अपसेधत अपगमयत । **दुर्मतिम्** कुमतिं च **अपसेधत** अप गमयत । सेधतिः गतिकर्मा । निघं० २।१४ । किञ्च **नः** अस्मान् **अंहसः** पापात् **युयोतन** पृथक्कुरुत । यु मिश्रणामिश्रणयोः अदादिः, लोटि मध्यमबहुवचने 'बहुलं छन्दसि । अ० २।४।७६' इति शपः श्लौ 'युयुत' इति प्राप्ते 'तप्तनप्तनथनाश्च । अ० ७।१।४५' इति तस्य तनबादेशः । संहितायां दीर्घश्छान्दसः ।।७।।

भावार्थः—प्राणायामेन, क्षत्रियाणां राजपुरुषाणां कर्तव्यपालनेन, आदित्यब्रह्मचारिणां प्रयत्नेन च राष्ट्राद् यथायोग्यं रोगा हिंसावृत्तयः शत्रुकृता हिंसोपद्रवादयः पापानि च दूरीकर्तुं शक्यन्ते ।।७।।

अगले मन्त्र के आदित्य देवता हैं । उनसे कष्ट आदि के निवारण की प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **आदित्यासः** शरीरस्थ प्राणो, राष्ट्रस्थ क्षत्रिय राजपुरुषो अथवा आदित्य ब्रह्मचारियो ! तुम शरीर, समाज और राष्ट्र से **अमीवाम्** रोग को **अप** दूर करो, **स्त्रिधम्** हिंसावृत्ति, शत्रुकृत हिंसा और हिंसक को **अप** दूर करो, तथा **दुर्मतिम्** कुमति को **अप सेधत** दूर करो । साथ ही **नः** हमें **अंहसः** पाप से **युयोतन** पृथक् करो ।।७।।

---

१. ऋ० ८।१८।१० ।

२. सृधम् शोषयितारम् उद्वेगकरं सत्त्वादि—इति वि० । स्त्रिधं हिंसां शत्रुभिः क्रियमाणाम् । क्षयो वा स्त्रिक्—इति भ० । स्त्रिधं बाधकं शत्रुम्—इति सा० ।

भावार्थ—प्राणायाम से, क्षत्रिय राजपुरुषों के कर्तव्यपालन से और आदित्य ब्रह्मचारियों के प्रयत्न से राष्ट्र से यथायोग्य रोग, हिंसावृत्तियाँ, शत्रुकृत हिंसा-उपद्रव आदि तथा पाप दूर किये जा सकते हैं ॥७॥

अथ सोमपानायेन्द्र आहूयते ।

३९८. पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः ।
सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा ॥८॥[1]

पिब सोमम् इन्द्र मन्दतु त्वा । यम् ते सुषाव हर्यश्व हरि अश्व अद्रिः अ द्रिः ॥
सोतुः बाहुभ्याम् सुयतः सु यतः न अर्वा ॥८॥

पदार्थः—**प्रथमः** राष्ट्रपरः । हे **हर्यश्व** हरयः वेगेन हर्तारः अश्वाः तुरगाः यस्य तादृश **इन्द्र** शत्रुविदारक सेनापते राजन् वा, त्वम् **सोमम्** वीरताप्रदायकम् सोमौषधिरसम् **पिब** आस्वादय, स रसः **त्वा** त्वाम् **मन्दतु** हर्षयतु, **यम्** यं रसम् **सोतुः** रथचालकस्य । अत्र षू प्रेरणे धातुर्बोध्यः । **बाहुभ्याम्** दोर्भ्याम् **सुयतः** सुनियन्त्रितः **अर्वा न** घोटकः इव **सोतुः** अभिषवकर्तुः । अत्र षुञ् अभिषवे धातुः । **बाहुभ्याम्** बाहूपलक्षिताभ्यां हस्ताभ्याम् **सुयतः** सुगृहीतः **अद्रिः** ग्रावा **ते** तुभ्यम् **सुषाव** अभिषुतवान् ॥

अथ **द्वितीयो**ऽध्यात्मपरः । हे **हर्यश्व** हरयः ज्ञानकर्माहरणशीलाः अश्वाः ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपाः यस्य तादृश **इन्द्र** मदीय अन्तरात्मन् ! त्वम् **सोमम्** ज्ञानरसं कर्मरसं च **पिब** आस्वादय, स ज्ञानरसः कर्मरसश्च **त्वा** त्वाम् **मन्दतु** आनन्दयतु, **यम्** ज्ञानकर्मरसम् **सोतुः** रथप्रेरकस्य सारथेः **बाहुभ्याम्** भुजाभ्याम् **सुयतः** सुनियन्त्रितः **अर्वा न** अश्वः इव **सुयतः** सुनियन्त्रितः **अद्रिः** न दीर्यते इति अद्रिः अजरं मनः । यावत्प्रलयं यावन्मुक्ति वा स्थूलशरीरे सूक्ष्मशरीरे वा तस्यावस्थानात् । **ते** तुभ्यम् **सुषाव** अभिषुतवान् । षुञ् स्नपनपीडनस्नानसुरासन्धानेषु, स्वादिः ॥८॥[2]

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः श्लेषश्च ॥८॥

भावार्थः—पुष्टिप्रदानां सोमाद्योषधीनां रसं पीत्वा राष्ट्राणां सैनिकाः सेनापतयो नृपतयश्च सुवीरा भूत्वा शत्रून् पराजयन्ताम् । तथैव राष्ट्रस्य सर्वे स्त्रीपुरुषा मनसो माध्यमेन ज्ञानेन्द्रियैरर्जितं ज्ञानरसं कर्मेन्द्रियैरर्जितं कर्मरसं च पीत्वा परमज्ञानिनः परमपुरुषार्थिनश्च सन्त ऐहिकपारलौकिकोत्कर्षं साध्नुवन्तु ॥८॥

अत्रेन्द्रस्य बलपराक्रमवर्णनात्, तत्सम्बद्धेभ्य आदित्येभ्यो दीर्घायुष्यप्राप्तेः रोगदुर्मत्यादेरपाकरणस्य च याचनात्, सोमपानायेन्द्राह्वानाच्चैतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन संगतिरस्तीति वेद्यम् ॥

इति पञ्चमे प्रपाठके प्रथमार्द्धे प्रथमा दशतिः ।
इति चतुर्थेऽध्याये पञ्चमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में सोमपानार्थ इन्द्र का आह्वान किया गया है ।

पदार्थ—**प्रथम** राष्ट्र के पक्ष में । हे **हर्यश्व** वेगवान् घोड़ों के स्वामी **इन्द्र** शत्रुविदारक सेनापति

---

१. ऋ० ७।२२।१, अथ० २०।११७।१, साम० ९२७ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रेऽस्मिन् इन्द्रपदेन वैद्यमर्थं गृह्णाति—"हे भिषजो यूयं यथा वाजिनो तृणान्नजलादिकं संसेव्य पुष्टा भवन्ति, तथैव सोमं पीत्वा बलवन्तो भवत" इति तस्याशयः ।

वा राजन् ! तुम **सोमम्** सोमादि ओषधियों के वीरताप्रदायक रस को **पिब** पान करो, वह रस **त्वा** तुम्हें **मन्दतु** उत्साहित करे। **यम्** जिस रस को, **सोतुः** रथचालक की **बाहुभ्याम्** बाहुओं से **सुयतः** सुनियन्त्रित **अर्वा न** घोड़े के समान, **सोतुः** रस निकालने वाले के **बाहुभ्याम्** हाथों से **सुयतः** सुनियन्त्रित **अद्रिः** सिलबट्टे रूप साधन ने **ते** तुम्हारे लिए **सुषाव** कूट-पीस कर अभिषुत किया है ॥

द्वितीय अध्यात्म पक्ष में। हे **हर्यश्व** ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों के स्वामी **इन्द्र** मेरे अन्तरात्मन् ! तू **सोमम्** ज्ञानरस और कर्मरस को **पिब** पान कर, वह ज्ञान और कर्म का रस **त्वा** तुझे **मन्दतु** आनन्दित करे, **यम्** जिस ज्ञान और कर्म के रस को **सोतुः** रथ-प्रेरक सारथि की **बाहुभ्याम्** बाहुओं से **सुयतः** सुनियन्त्रित **अर्वा न** घोड़े की तरह **सुयतः** सुनियन्त्रित **अद्रिः** विदीर्ण न होने वाले तेरे मन ने **ते** तेरे लिए **सुषाव** उत्पन्न किया है ॥८॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमा और श्लेष अलंकार हैं ॥८॥

भावार्थ—पुष्टिप्रद सोमादि ओषधियों का रस पीकर राष्ट्र के सैनिक, सेनापति और राजा सुवीर होकर शत्रुओं को पराजित करें। इसी प्रकार राष्ट्र के सब स्त्री-पुरुष मन के माध्यम से ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अर्जित ज्ञान-रस का तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा अर्जित कर्म-रस का पान कर परम ज्ञानी और परम पुरुषार्थी होते हुए ऐहिक तथा पारलौकिक उत्कर्ष को सिद्ध करें ॥८॥

इस दशति में इन्द्र के बल-पराक्रम का वर्णन होने से, इन्द्र से सम्बद्ध आदित्यों से दीर्घायु-प्राप्ति तथा रोग, दुर्मति आदि के दूरीकरण की याचना होने से और सोमपानार्थ इन्द्र का आह्वान होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

पञ्चम प्रपाठक में प्रथम अर्ध की प्रथम दशति समाप्त।
चतुर्थ अध्याय में पञ्चम खण्ड समाप्त ॥

॥२॥ अथ 'अभ्रातृव्यो अना' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१-६, ९, १० सौभरिः; ७, ८ नृमेधः। देवता—१, २, ४, ५, ७-१० इन्द्रः; ३, ६ मरुतः ॥ छन्दः—ककुप् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

अथेन्द्रनाम्ना परमेश्वरस्य शत्रुरहितत्वादिकं प्रतिपाद्यते।

३९९. अभ्रातृव्या अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि।
युधेदापित्वमिच्छसे ॥१॥[1]

अभ्रातृव्यः अ भ्रातृव्यः अना त्वम्। अनापिः अन् आपिः इन्द्र जनुषा सनात् असि ॥ युधा इत् आपित्वम् इच्छसे ॥१॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्तः परमात्मन् ! त्वम् **सनात्** सनातनकालात् **जनुषा** जन्मना, स्वभावतः इत्यर्थः **अभ्रातृव्यः** निःसपत्नः। 'व्यन् सपत्ने। अ० ४।१।१४५' इति भ्रातृशब्दात् सपत्नार्थे व्यन्। ततो नञ्बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्। अ० ६।२।१७२' इत्युत्तरपदस्यान्तोदात्तत्वम्। **अना**[2]

१. ऋ० ८।२१।१३, अथ० २०।११४।१, साम० १३८९।

२. अना। अनः प्राणः, तस्मात् तृतीयैकवचनस्य 'सुपां सुलुक्०। ७।१।३९' इति पूर्वसवर्णः। अना अनेन प्राणेन हेतुना—इति वि०। नेता यस्य नास्ति सोऽना, स्वयं सर्वस्य नेता—इति भ०। अनेतृकः—इति सा०।

अनेतृकः । न विद्यते ना नेता कश्चिद् यस्य सः अना । नृ शब्देन नञ्बहुव्रीहौ 'नद्यृतश्च । अ० ५।१।१५३' इति कपि प्राप्ते 'ऋतश्छन्दसि । अ० ५।१।१५८' इति प्रतिषेधः । स्वरः पूर्ववत् । **अनापिः** अबन्धुश्च **असि** वर्तसे । अनापिः इति तत्पुरुषो, न बहुव्रीहिः । न आपिः अनापिः । तेनाव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः । बहुव्रीहौ तु पूर्ववदन्तोदात्तत्वं प्राप्येत । **युधा इत्** युद्धेनैव **आपित्वम्** बन्धुत्वम् **इच्छसे** कामयसे । आभ्यन्तरे बाह्ये च देवासुरसंग्रामे यो विजेता भवति तस्यैव त्वं बन्धुर्भवसि, न तु पुरुषार्थहीनस्य जनस्येति भावः । इषु -च्छायाम् छन्दस्यात्मनेपदेऽपि प्रयुज्यते[1] ॥१॥

अत्र अना, मना, सना इत्यत्र वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः । 'त्वम, त्वमि' इत्यत्र छेकानुप्रासः ॥१॥

भावार्थः—अशत्रुरनेतृको महान् जगदीश्वरः पुरुषार्थिनामेव बन्धुर्जायते न निष्कर्मणाम् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र के शत्रु-रहित होने आदि का वर्णन है ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** जगत् के उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कर्ता परमात्मन् ! तुम **सनात्** सनातन काल से **जनुषा** स्वभावतः **अभ्रातृव्यः** शत्रु-रहित, **अना** नेता-रहित और **अनापिः** अबन्धु **असि** हो । **युधा इत्** युद्ध से ही **आपित्वम्** बन्धुत्व को **इच्छसे** चाहते हो, अर्थात् जो आन्तरिक तथा बाह्य देवासुरसंग्रामों में विजयी होता है, उसी के तुम बन्धु होते हो ॥१॥

इस मन्त्र में अना, मना, सना में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है । 'त्वम, त्वमि' में छेकानुप्रास है ॥१॥

भावार्थ—जिससे शत्रुता ठानने का कोई साहस नहीं करता और जिसका नेतृत्व करने वाला कोई नहीं है, वह महान् जगदीश्वर पुरुषार्थियों का ही बन्धु बनता है, अकर्मण्यों का नहीं ॥१॥

अथ परमेश्वरस्य दानशीलत्वं प्रतिपादयति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
४००. यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु व स्तुषे ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
सखाय इन्द्रमूतये ॥२॥[2]

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २
यः नः इदमिदम् इदम् इदम् पुरा । प्र वस्यः आनिनाय आ निनाय तम्
३ १ २ १ ३ १ २ १ ३ १ २
उ वः स्तुषे ॥ सखायः स खायः इन्द्रम् ऊतये ॥२॥

पदार्थः—**यः** इन्द्रनामा जगदीश्वरः **पुरा** पूर्व सृष्टचादौ **इदम्-इदम्** सर्वमेतद् अग्निसूर्यवायु-विद्युत्पर्जन्यसरित्सागररजतहिरण्यादिकम् **वस्यः** वसीयः निवासकतरं वस्तुजातम् । वसु प्रातिपदिकाद् अतिशायने ईयसुनि छान्दस ईकारलोपः । **नः** अस्मभ्यं युष्मभ्यं च **प्र आनिनाय** प्रकर्षेण आनीतवान् । अत्र यद्वृत्तत्वान्निघाताभावः । **तम् उ** तमेव **इन्द्रम्** जगदीश्वरम्, हे **सखायः** सुहृदः ! अहम् **वः** युष्माकम् अस्माकं च **ऊतये** रक्षायै **स्तुषे** स्तौमि । ष्टुञ् धातोर्लेटि उत्तमैकवचने रूपमिदम् ॥२॥

भावार्थः—अनेकेषां महार्घाणां पदार्थानां निःशुल्कमेव सर्वेभ्यः प्रदाता ब्रह्माण्डाधिपः परमेश्वरः सर्वैः कृतज्ञतयाऽऽराधनीयः ॥२॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर की दानशीलता का वर्णन है ।

पदार्थ—**यः** जो इन्द्र जगदीश्वर **पुरा** पहले, सृष्टि के आदि में **इदम्-इदम्** इस सब अग्नि, सूर्य, वायु, विद्युत्, बादल, नदी, सागर, चाँदी, सोना आदि **वस्यः** अतिशय निवासक पदार्थ-समूह को **नः** हमारे-

१. अन्यत्रापि यथा —'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' ऋ० १०।१०।१० इति ।

२. ऋ० ८।२१।६ 'व स्तुषे' इत्यत्र 'वः स्तुषे' इति पाठः । अथ० २०।१४।३; ६२।३ ।

तुम्हारे लिए **आ निनाय** लाया था, **तम् उ** उसी **इन्द्रम्** जगदीश्वर की, हे **सखायः** मित्रो ! मैं **वः** तुम्हारी और अपनी **ऊतये** रक्षा के लिए **स्तुषे** स्तुति करता हूँ ॥२॥

भावार्थ—अनेक बहुमूल्य पदार्थ निःशुल्क ही सबको देने वाले ब्रह्माण्ड के अधिपति परमेश्वर की सबको कृतज्ञतापूर्वक आराधना करनी चाहिए ॥२॥

अथ मरुतो देवताः । तान् सम्बोधयन्नाह ।

४०१. आ गन्ता मा रिषण्यत प्रस्थावानो माप स्थात समन्यवः ।
दृढा चिद्यमयिष्णवः ॥३॥[1]

आ गन्त मा रिषण्यत । प्रस्थावानः प्र स्थावानः मा अप स्थात
समन्यवः स मन्यवः ॥ दृढा चित् यमयिष्णवः ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमः** सैनिकपरः । उपस्थिते युद्धे राष्ट्रवीरा आहूयन्ते । हे **प्रस्थावानः** रणप्रस्थानकारिणः मरुतः वीराः सैनिकाः । प्र पूर्वात् तिष्ठतेः 'आतो मनिन् क्वनिब्वनिपश्च । अ० ३।२।७४ इति वनिप् प्रत्ययः । यूयम् **आ गन्त** आगच्छत शत्रुभिः योद्धुम्, अनागमनेन **मा रिषण्यत** स्व राष्ट्रस्य क्षतिं न कुरुत । 'दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यतिरिषण्यति । अ० ७।४।३६' इति रिष्टस्य रिषण्भावो निपात्यते क्यचि परतः । हे **समन्यवः** मन्युयुक्ताः ! हे **दृढाचित्** दृढान्यपि रिपुदलानि **यमयिष्णवः** उपरमयितुं समर्था वीराः ! यूयम् **मा अपस्थात** नैव युद्धाद् दूरे तिष्ठत । दृढा इत्यत्र 'शेश्छन्दसि बहुलम् । अ० ६।१।७०' इति शसः शेर्लोपः । प्रस्थावानः, समन्यवः, यमयिष्णवः इति त्रीण्यपि सम्बोधनान्तानि पदानि । चरमयोर्द्वयोरामन्त्रितस्वरो निघातः सम्पद्यते, प्रथमस्य तु पादादित्वात् षाष्ठेन आद्युदात्तत्वम् ॥

अथ **द्वितीयः** प्राणपरः । पूरककुम्भकरेचकादिविधिना प्राणायाममभ्यस्यन् योगसाधकः प्राणान् सम्बोधयन्नाह । हे **प्रस्थावानः** प्राणायामाय प्रस्थिताः मदीयाः प्राणाः ! यूयम् **आ गन्त** रेचकप्राणायामेन बहिर्गताः सन्तः पूरकविधिना पुनः आयात, **मा रिषण्यत** नैव स्वास्थ्यहानिं कुरुत । हे **समन्यवः** सतेजस्काः, हे **दृढा चित्** शरीरे दृढं बद्धान्यपि रोगमालिन्यादीनि **यमयिष्णवः** उपरमयितुं क्षमाः प्राणाः ! **मा अपस्थात** शरीराद् बहिरेव स्थिता न भवत, किन्तु पूरक-कुम्भक-रेचक-स्तम्भवृत्तिव्यापारद्वारेण मम प्राणसिद्धिं कारयत । वयं प्राणायामाद् विरता न भूत्वा नियमेन तदभ्यासद्वारा प्रकाशावरणक्षयं विधाय धारणासु मनसो योग्यतां सम्पादयेमेति भावः[2] ॥३॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—राष्ट्रे शत्रुभिराक्रान्ते सति वीरैर्योद्धृभिः शत्रून् कान्दिशीकान् विद्राव्य धराशायिनो वा विधाय राष्ट्रस्य कीर्तिदिग्दिगन्तेषु विस्तारणीया । तथैव शरीरे रोगमालिन्यादिभिरुपद्रुते सति प्राणाः पूरककुम्भकादिक्रमेण शरीरस्य स्वास्थ्यं विस्तार्य दीर्घमायुः प्रतन्वन्तुतराम् ॥३॥

अगले मन्त्र के 'मरुतः' देवता हैं । उन्हें सम्बोधन करके कहा गया है ।

पदार्थ—**प्रथम** सैनिकों के पक्ष में । युद्ध उपस्थित होने पर राष्ट्र के सैनिकों को पुकारा जा रहा है । हे **प्रस्थावानः** रण-प्रस्थान करने वाले वीर सैनिको ! तुम शत्रुओं से युद्ध करने के लिए **आ गन्त** आओ,

१. ऋ० ८।२०।१ 'दृढा चिद्यमयिष्णवः' इत्यत्र 'स्थिरा चिन्नमयिष्णवः' इति पाठः ।
२. द्रष्टव्यम् —योग० २।४६–५३ ।

न आकर **मा रिषण्यत** राष्ट्र की क्षति मत करो। हे **समन्यवः** मन्युवालो ! हे **दृढा चित्** दृढ रिपुदलों को भी **यमयिष्णवः** रोकने में समर्थ वीरो ! तुम **मा अपस्थात** युद्ध से अलग मत रहो ।।

द्वितीय प्राणों के पक्ष में। पूरक-कुम्भक-रेचक आदि की विधि से प्राणायाम का अभ्यास करता हुआ योगसाधक प्राणों को सम्बोधन कर रहा है। हे **प्रस्थावानः** प्राणायाम के लिए प्रस्थित मेरे प्राणो ! तुम **आ गन्त** रेचक प्राणायाम से बाहर जाकर पूरक प्राणायाम के द्वारा पुनः अन्दर आओ, **मा रिषण्यत** हमारे स्वास्थ्य की हानि मत करो। हे **समन्यवः** तेजस्वी प्राणो ! **दृढा चित्** दृढ़ता से शरीर में बद्ध भी रोग, मलिनता आदियों को **यमयिष्णवः** दूर करने में समर्थ प्राणो ! तुम **मा अपस्थात** शरीर से बाहर ही स्थित मत हो जाओ, किन्तु पूरक, कुम्भक, रेचक और स्तम्भवृत्ति के व्यापारों द्वारा मेरी प्राणसिद्धि कराओ। भाव यह है कि हम प्राणायाम से विरत न होकर नियम से उसके अभ्यास द्वारा प्रकाश के आवरण का क्षय करके धारणाओं में मन की योग्यता सम्पादित करें ।।३।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।३।।

भावार्थ—शत्रुओं से राष्ट्र के आक्रान्त हो जाने पर वीर योद्धाओं को चाहिए कि शत्रुओं को दिशाओं में इधर-उधर भगाकर या धराशायी करके राष्ट्र की कीर्ति को दिग्दिगन्त में फैलायें। इसी प्रकार रोग, मलिनता आदि से शरीर के आक्रान्त होने पर प्राण पूरक, कुम्भक आदि के क्रम से शरीर के स्वास्थ्य का विस्तार कर आयु को लम्बा करें ।।३।।

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मजीवात्मादीनाह्वयति ।

१ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
४०२. आ याह्ययमिन्दवेऽश्वपते गोपत उर्वरापते ।
१ २
सोमं सोमपते पिब ॥४॥[1]

२ ३ २ १ २ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २ १
आ याहि अयम् इन्दवे । अश्वपते अश्व पते गोपते गो पते उर्वरापते
१ २ १ ३ १ २ १ ३
उर्वरा पते ॥ सोमम् सोमपते सोम पते पिब ॥४॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। हे **अश्वपते** अश्वपशूनाम् अश्वनाम्ना ख्यातानाम् अग्निपर्जन्यादीनां[2] वा अधीश्वर, **गोपते** गवां धेनूनाम् आदित्यकिरणानां वा अधीश्वर, **उर्वरापते** बहुसस्योत्पादनसमर्थानां भूमीनाम् अधीश्वर इन्द्र परमात्मन् ! **अयम्** एष त्वम् **इन्दवे** आनन्दरसप्रवाहाय **आयाहि** आगच्छ, हृदये प्रकटीभव। हे **सोमपते**[3] मम मनश्चन्द्रस्य अधीश्वर ! त्वम् **सोमम्** मदीयं श्रद्धारसम् **पिब** आस्वादय।

अथ **द्वितीयो** जीवात्मपरः। हे **अश्वपते** शरीरस्थे नियुक्तानाम् इन्द्रियरूपाणामश्वानां स्वामिन् ! आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। इन्द्रियाणि हयानाहुः। कठ० ३।३,४। **गोपते** गवां वाचां प्राणानां वा स्वामिन् ! गौरिति वाङ्नाम। निघं० १।११। प्राणो हि गौः। श० ४।३।४।२५। **उर्वरापते** ऋद्धिसिद्धिचुत्पादनक्षमायाः बुद्धेः स्वामिन् मम अन्तरात्मन् ! **अयम्** एष त्वम् **इन्दवे** परमात्मोपासनाया आनन्दं

१. ऋ० ८।२१।३ 'आ याह्ययमिन्दवे' इत्यत्र 'आयाहीम इन्दवो' इति पाठः।

२. 'प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम्' ऋ० १०।१८८।१; 'प्र पिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः' ऋ० ५।८३।६ इति प्रामाण्याद् अग्निः पर्जन्यश्चाश्वो नाम।

३. अत्र चत्वारि पदानि सम्बोधनान्तानि। तेषु 'सोमपते' इत्यत्र 'आमन्त्रितस्य च' ८।१।१९ इति निघातः। 'अश्वपते' इत्यत्र पादादित्वान्न निघातः, किन्तु षाष्ठेन 'आमन्त्रितस्य च' ६।१।१९८ इत्यनेन आद्युदात्तत्वम्। 'गोपते, उर्वरापते' इत्यत्रापि 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' ८।१।७२ इति न्यायेन पदात्परत्वाभावान्न निघातः, किन्तु आद्युदात्तत्वमेव।

प्राप्तुम् **आयाहि** सन्नद्धो भव। हे **सोमपते** सोमस्य मनसः स्वामिन्! त्वम् **सोमम्** ब्रह्मानन्दरसम् **पिब** आस्वादय ॥४॥

अत्र श्लेषालङ्कारः, 'पते' इत्यस्यावृत्तौ लाटानुप्रासः, सोमावृत्तौ च यमकम् ॥४॥

भावार्थः—यो जीवात्मा देहस्थान् मनोबुद्धिप्राणचक्षुःश्रोत्रादीन् ज्ञानकर्मादींश्चाधितिष्ठति तेन नित्यं जगदीश्वरोपासनया ब्रह्मानन्दरसोऽधिगन्तव्यः ॥४॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा, जीवात्मा आदि का आह्वान किया गया है।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे **अश्वपते** घोड़ों के अथवा अश्व नाम से प्रसिद्ध अग्नि, बादल आदि के अधीश्वर, **गोपते** गाय पशुओं के अथवा सूर्यकिरणों के अधीश्वर, **उर्वरापते** उपजाऊ भूमियों के अधीश्वर इन्द्र परमात्मन्! **अयम्** यह आप **इन्दवे** आनन्दरस के प्रवाह के लिए **आ याहि** आओ, मेरे हृदय में प्रकट होवो। हे **सोमपते** मेरे मनरूप चन्द्रमा के अधीश्वर! आप **सोमम्** मेरे श्रद्धारस को **पिब** पान करो ॥

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में। हे **अश्वपते** इन्द्रिय रूप घोड़ों के स्वामी, **गोपते** वाणियों और प्राणों के स्वामी, **उर्वरापते** ऋद्धि-सिद्धि की उपजाऊ बुद्धि के स्वामी मेरे अन्तरात्मन्! **अयम्** यह तू **इन्दवे** परमेश्वरोपासना का आनन्द पाने के लिए **आ याहि** तैयार हो। हे **सोमपते** मन के स्वामी! तू **सोमम्** ब्रह्मानन्द-रस को **पिब** पान कर ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है, 'पते' की आवृत्ति में लाटानुप्रास और 'सोम' की आवृत्ति में यमक है ॥४॥

भावार्थ—जो जीवात्मा शरीरस्थ मन, बुद्धि, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि का तथा ज्ञान, कर्म आदि का अधिष्ठाता है, उसे चाहिए कि नित्य जगदीश्वर की उपासना से ब्रह्मानन्द-रस को प्राप्त करे ॥४॥

अथेन्द्रं सहायं लब्ध्वा वयं किं कुर्यामेत्याह।

१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २
४०३. त्वया ह स्विद्युजा वयं प्रति श्वसन्तं वृषभ ब्रुवीमहि।
३ १ २ २ ३ १ २
संस्थे जनस्य गोमतः ॥५॥[1]

१ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३
त्वया ह स्वित् युजा वयम्। प्रति श्वसन्तम् वृषभ ब्रुवोमहि ॥
२ ३ २ १ २ १ १ २ १
सꣳस्थे सम् स्थे जनस्य गोमतः ॥५॥

पदार्थः—हे **वृषभ** कामवर्षिन् परमात्मन्! **गोमतः जनस्य** ज्ञानकिरणैः अध्यात्मकिरणैर्वा युक्तस्य जीवात्मनः **संस्थे**[2] उपासनायज्ञे देवासुरसंग्रामे वा। संतिष्ठन्ते हविष्प्रदानाय जना यत्र स संस्थो यज्ञः, यद्वा संतिष्ठन्ते जनाः परस्परं प्रहरणाय यत्र स संस्थः संग्रामः। **श्वसन्तम्** जिघांसन्तं व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्यादिकं दुःखदौर्मनस्यादिकं च विघ्नसमूहम्। श्वसितिः हन्तिकर्मा। निघं० २।१९। **त्वया ह स्वित्** त्वयैव खलु **युजा** सहायेन **वयम्** त्वदुपासकाः **प्रति ब्रुवीमहि** प्रत्युत्तरं दद्याम, प्रतिकुर्याम इत्यर्थः ॥

---

१. ऋ० ८।२१।११।

२. संतिष्ठन्ते यत्र योद्धारः स संस्थः संग्रामः, तस्मिन्। जनस्य गोमतः गोषु ह्रियमाणासु चोरैः सह यः संग्रामः तस्मिन् कृते हन्याम इत्यर्थः—इति वि०। संस्थे संस्थाने युद्धे इत्यर्थः—इति भ०। संस्थे स्थाने युद्धे—इति सा०।

राजप्रजापक्षेऽपि योजनीयम् । गोमतः प्रजाजनस्य गा अपहर्तुं यदि कश्चित् प्रयतते तर्हि राजसाहाय्येन युद्धे तत्प्रतीकारो विधेयः ॥५॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—अध्यात्मप्रकाशयुक्तमात्मानं ये पुनर्मोहान्धकारे पातयितुमुद्युञ्जते ते परमेश्वरस्य साहाय्येन बलात् प्रतिरोद्धव्याः, तथैव गोसेवकानां गा हन्तुं ये चेष्टन्ते तेषामुपरि राजदण्डः प्रजादण्डश्च पातनीयः ॥५॥

अगले मन्त्र में यह वर्णित है कि इन्द्र को सहायक पाकर हम क्या करें।

पदार्थ—हे **वृषभ** मनोरथों को पूर्ण करने वाले परमात्मन् ! **गोमतः जनस्य** ज्ञान-किरणों अथवा अध्यात्म-किरणों से युक्त आत्मा के **संस्थे** उपासना-यज्ञ में अथवा देवासुरसंग्राम में **शवसन्तम्** हमारी हिंसा करने के लिए तैयार व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य आदि तथा दुःख, दौर्मनस्य आदि विघ्न-समूह का **त्वया ह स्वित्** तुझ ही **युजा** सहायक के द्वारा, हम **प्रति ब्रुवीमहि** प्रतिकार करें ।

राज-प्रजा पक्ष में भी योजना करनी चाहिए । गोपालक प्रजाजनों की गौओं को चुराने का यदि कोई प्रयत्न करे, तो राजकीय सहायता से युद्ध में उसका प्रतिकार करना उचित है ॥५॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥५॥

भावार्थ—अध्यात्म-प्रकाश से युक्त आत्मा को जो पुनः मोहान्धकार में डालना चाहते हैं उनका परमेश्वर की सहायता से बलपूर्वक प्रतिरोध करना चाहिए । इसी प्रकार गो-सेवकों की गायों का वध करने की जो चेष्टा करते हैं उन पर राजदण्ड और प्रजादण्ड गिराना चाहिए ॥५॥

अथ मरुतो देवताः । मरुतां सबन्धुत्वमाह ।

१ २ ३क २१ ३ २३ १ २
४०४. गावश्चिद् घा समन्यवः सजात्येन मरुतः सबन्धवः ।
३१२ ३ १ २ ३ २
रिहते ककुभो मिथः ॥६॥[1]

१२१ ३ ३क २ ३ क २ ३१२
गावः चित् घ समन्यवः स मन्यवः । सजात्येन स जात्येन मरुतः
१२१ ३ ३१२३१२ ३२
सबन्धवः स बन्धवः ॥ रिहते ककुभः मिथः ॥६॥

पदार्थः—हे **समन्यवः** सतेजस्काः **गावः** स्तोतारो ब्राह्मणाः ! गौः इति स्तोतृनाम । निघं० ३।१६ । **सजात्येन** सजातित्वेन **मरुतः**[2] क्षत्रियाः योद्धारो जनाः **चिद् घ** निश्चयेन **सम्बन्धवः** युष्माकं समानबन्धुत्वयुक्ताः सन्ति, ये क्षत्रियाः **मिथः** परस्परं मिलित्वा, युद्धे **ककुभः** दिशः **रिहते** आस्वादयन्ति, व्याप्नुवन्तीत्यर्थः । लिह आस्वादने, अदादिः, रलयोरभेदः ।[3] सर्वा दिशोऽभिव्याप्य शत्रुणा सह युद्ध्वा राष्ट्रं रक्षन्तीति भावः । यद्वा, ये क्षत्रियाः **मिथः** युष्माभिः ब्राह्मणैः सह मिलित्वा **ककुभः** ककुप्छन्दोवद्धाः इमाः प्रस्तुतायां दशतौ पठिताः ऋचः **रिहते** पाठेन अर्थानुसन्धानेन च आस्वादयन्ति ।

---

१. ऋ० ८।२०।२१ ।

२. माधवभरतस्वामिसायणैराधुनिकैश्च भाष्यकारैः स्वरमनादृत्य 'मरुतः' इति सम्बोधनान्तं व्याख्यातम् । वस्तुतस्तु 'समन्यवः' इत्यत्रैव 'आमन्त्रितस्य च । अ० ८।१।१९' इति सम्बुद्धिस्वरो निघातः परिदृश्यते । तद्विशेष्ये 'गावः' इत्यत्र पादादित्वात् षाष्ठेन आद्युदात्तः सम्बुद्धिस्वरः । अस्माभिर्यथास्वरमेव व्याख्यातम् । ऋग्वेदीयपाठे तु मरुतः इति सम्बुद्धिस्वर एव । तत्र 'मरुतः' इति 'रिहते' इति च स्वरभेदेन पठ्यते ।

३. वेदसंहितासु सर्वत्र रिह धातुरेव प्रयुक्तः, लिहस्तु रूपाणि न प्राप्यन्ते ।

प्रस्तुतायां दशतौ ककुब् उष्णिक् छन्दोऽस्ति, यत्र प्रथमतृतीयपादौ अष्टाक्षरौ मध्यस्थो द्वितीयः पादश्च द्वादशाक्षरो भवति ॥६॥[1]

भावार्थः—स्तोतारो ब्राह्मणा रक्षकाः क्षत्रियाश्च उभयेऽपि राष्ट्रस्यानिवार्याण्यङ्गानि सन्ति। यथा ब्राह्मणा विद्यादानेन क्षत्रियानुपकुर्वन्ति तथा युद्धे समागते क्षत्रिया दिशोऽभिव्याप्य शत्रून् पराजित्य ब्राह्मणानुपकुर्वन्ति। तस्माद् ब्राह्मणैः क्षत्रियैश्च राष्ट्रे भ्रातृत्वेन वर्तितव्यम् ॥६॥

अगले मन्त्र के 'मरुतः' देवता हैं। मरुतों के सबन्धुत्व का वर्णन है।

पदार्थ—हे **समन्यवः** तेजस्वी **गावः** स्तोता ब्राह्मणो ! **सजात्येन** समान जाति वाला होने से **मरुतः** क्षत्रिय योद्धाजन **चिद् घ** निश्चय ही **सबन्धवः** तुम्हारे सबन्धु हैं, जो **मिथः** परस्पर मिलकर, युद्ध में **ककुभः** दिशाओं को **रिहते** व्याप्त करते हैं, अर्थात् सब दिशाओं में फैलकर शत्रु के साथ लड़कर राष्ट्र की रक्षा करते हैं। अथवा जो क्षत्रिय **मिथः** तुम ब्राह्मणों के साथ मिलकर **ककुभः** ककुप् छन्दों वाली प्रस्तुत दशति की ऋचाओं का **रिहते** पाठ तथा अर्थज्ञानपूर्वक आस्वादन करते हैं।[2]

प्रस्तुत दशति में ककुब् उष्णिक् छन्द है, जिसमें प्रथम और तृतीय पाद आठ-आठ अक्षर के तथा मध्य का द्वितीय पाद बारह अक्षर का होता है ॥६॥

भावार्थ—स्तोता ब्राह्मण और रक्षक क्षत्रिय दोनों ही राष्ट्र के अनिवार्य अंग हैं। जैसे ब्राह्मण विद्यादान से क्षत्रियों का उपकार करते हैं, वैसे ही युद्ध उपस्थित होने पर क्षत्रिय लोग दिशाओं को व्याप्त कर, शत्रुओं को पराजित कर ब्राह्मणों का उपकार करते हैं। इसलिए ब्राह्मणों और क्षत्रियों को राष्ट्र में भ्रातृभाव से रहना चाहिए ॥६॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मानं राजानं च प्रार्थयते।

४०५. त्वं न इन्द्रा भर ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे।
आ वीरं पृतनासहम् ॥७॥[3]

त्वम् नः इन्द्र आ भर। ओजः नृम्णम् शतक्रतो शत क्रतो विचर्षणे वि चर्षणे ॥ आ वीरम् पृतनासहम् पृतना सहम् ॥७॥

पदार्थः—हे **शतक्रतो** बहुप्रज्ञ बहुकर्मन् वा **विचर्षणे** विशेषेण द्रष्टः, विचर्षणिः इति पश्यतिकर्मसु पठितम्। निघं० ३।११। **इन्द्र** वीर परमैश्वर्यशालिन् जगदीश्वर राजन् वा ! **त्वम् नः** अस्मभ्यम् **ओजः** ब्रह्मवर्चसम् **नृम्णम्** धनं च। नृम्णमिति धननाम। निघं० २।१०। **आभर** आहर, किञ्च **पृतनासहम्** पृतनाः शत्रुसेनाः सहते पराजयते यस्तम् **वीरम्** विक्रमशालिनं योद्धारम् **आभर** आहर ॥७॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥७॥

---

१. अथवा गवां वाचां मरुतां प्राणानां च सजात्येन समानशरीरव्यापित्वरूपसजातित्वेन सबन्धुत्वमस्यामृचि वर्ण्यते। वाचः प्राणाश्च परस्परमुपकृत्य दिग्व्यापिनः शब्दान् जनयन्ति।

२. अथवा इस ऋचा में 'गावः' से वाणियाँ तथा 'मरुतः' से प्राण अभिप्रेत हैं। वाणी और प्राण एक शरीर में व्याप्त होने रूप सजातीयता के कारण परस्पर बन्धु हैं। वे एक-दूसरे का उपकार करके दिशाव्यापी शब्दों को उत्पन्न करते हैं।

३. ऋ० ८।९८।१०, अथ० २०।१०८।१। उभयत्र 'भर, पृतनासहम्' एतयोः स्थाने क्रमेण 'भरँ, पृतनाषहम्' इति पाठः। साम० ११६९।

भावार्थः—परमात्मकृपया राज्ञः प्रयत्नेन चास्माकं राष्ट्रे ब्रह्मवर्चस्विनो ब्राह्मणाः, शूराः क्षत्रियाः, धनवन्तो वैश्याश्चोत्पद्येरन् । किञ्च सर्वे प्रजाजना अपि बलवन्तो, धनवन्तः, वीरपुत्रवन्तश्च भवेयुः ॥७॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम द्वारा परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **शतक्रतो** बहुत ज्ञानी, बहुत कर्मों को करने वाले, **विचर्षणे** विशेष द्रष्टा **इन्द्र** वीर, परमैश्वर्यशाली जगदीश्वर वा राजन् ! **त्वम्** आप **नः** हमें **ओजः** ब्रह्मवर्चस, और **नृम्णम्** धन **आभर** प्रदान कीजिए । साथ ही **पृतनासहम्** शत्रुसेनाओं को पराजित करने वाला **वीरम्** वीर योद्धा **आभर** प्रदान कीजिए ॥७॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालङ्कार है ॥७॥

भावार्थ—परमात्मा की कृपा से और राजा के प्रयत्न से हमारे राष्ट्र में ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण, शूरवीर क्षत्रिय और धनी वैश्य उत्पन्न हों । और सब प्रजाजन भी बलवान्, धनवान् तथा वीर पुत्रों वाले हों ॥७॥

अथ जगदीश्वरं प्रार्थयते ।

२ ३क २१ ३ १२ ३ १२ ३१२ ३ १२
४०६. **अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा काम ईमहे ससृग्महे ।**
३२३ १२ ३१२
उदेव ग्मन्त उदभिः ॥८॥[1]
१२१ ३ १२१ ३ १२ ३ १२
अध हि इन्द्र गिर्वणः गिः वनः । उप त्वा कामे ईमहे ससृग्महे ॥
३२३ १२१ ३१२
उदा इव ग्मन्तः उदभिः ॥८॥

पदार्थः—हे **गिर्वणः** गीर्भिः स्तुतिवाग्भिः वननीय संभजनीय **इन्द्र** परमधन परमेश ! **अध हि** अथ खलु वयम् । 'अधा' इति संहितायां 'निपातस्य च । अ० ६।३।१३६' इत्यनेन दीर्घः । **कामे** मनोरथे निमित्ते । निमित्तसप्तम्येषा । मनोरथप्रपूर्त्यर्थमित्यर्थः । **त्वा** त्वाम् **उप ईमहे** उपगच्छामः, **ससृग्महे** संसृज्यामहे च त्वया सह । सृज विसर्गे धातोः 'बहुलं छन्दसि । अ० २।४।७६' इति शपः श्लौ रूपम् । **उदा इव** यथा उदकेन, जलमार्गेण **ग्मन्तः** गच्छन्तो जनाः **उदभिः** जलैः संसृज्यन्ते तथेत्यर्थः ॥८॥

अत्रोपमालङ्कारः । 'महे' इत्यस्यावृत्तौ यमकम्, 'उदे-उद' इत्यत्र छेकानुप्रासः ॥८॥

भावार्थः—यथा नद्या गाधं जलं पद्भ्याम् अगाधं च तरणेन पारयन्तो जना जलेन संसृज्यन्ते आर्द्राश्च भवन्ति, तथैव परमेश्वरमुपगम्य वयं तेन संसृज्य तत्संसर्गप्राप्तेनानन्दरसेन क्लिद्येमहि ॥८॥

अगले मन्त्र में जगदीश्वर से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **गिर्वणः** स्तुतिवाणियों से संसेवनीय **इन्द्र** परमधनी परमेश्वर ! **अध हि** इस समय, हम **कामे** मनोरथों की पूर्ति हेतु **त्वा** आपको **उप ईमहे** समीपता से प्राप्त करते हैं, तथा **ससृग्महे** आपसे संसर्ग करते हैं, **उदा इव** जैसे जलमार्ग से **ग्मन्तः** जाते हुए लोग **उदभिः** जलों से संसर्ग को प्राप्त करते हैं ॥८॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है । 'महे' की आवृत्ति में यमक और 'उदे, उद' में छेकानुप्रास है ॥८॥

भावार्थ—जैसे नदी के कम गहराई वाले जल को पैरों से चलकर और गहरे जल को तैरकर

---

१. ऋ० ८।९८।७, अथ० २०।१००।१ उभयत्र 'काम ईमहे ससृग्महे' इत्यत्र 'कामान् महः ससृज्महे' इति **'ग्मन्त'** इत्यत्र च 'यन्त' इति पाठः । साम० ७१० ।

पार करते हुए लोग जल के संसर्ग को प्राप्त होते हैं और गीले हो जाते हैं, वैसे ही परमेश्वर के समीप पहुँच हम उससे संसृष्ट होकर उसके संसर्ग द्वारा प्राप्त आनन्दरस से सराबोर हो जाएँ ॥८॥

अथ पक्षिदृष्टान्तेन परमेशस्तुतिविषयमाह ।

४०७. सीदन्तस्ते वया यथा गोश्रीते मधौ मदिरे विवक्षणे ।
अभि त्वामिन्द्र नोनुमः ॥९॥[1]

सीदन्तः ते वयः यथा । गोश्रीते गो श्रीते मधौ मदिरे विवक्षणे ॥
अभि त्वाम् इन्द्र नोनुमः ॥९॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** मधुवर्षक परमेश ! **वयः**[2] **यथा** पक्षिण इव । वयः इति 'वि' शब्दस्य प्रथमा-बहुवचनम् । यथा जलचराः पक्षिणो जलाशये समवेता भवन्ति तद्वदित्यर्थः, वयम् **ते** तव **गोश्रीते**[3] गोपयसा इव पवित्रेण अन्तःप्रकाशेन मिश्रिते **मदिरे** हर्षजनके **विवक्षणे**[4] मुक्तिप्रापके । वि पूर्वाद् वह धातोरिदं रूपम् । **मधौ** आनन्दरूपे सोमरसे **सीदन्तः** समवेत्य उपविशन्तः **त्वाम् अभि** त्वामभिलक्ष्य **नोनुमः** अतिशयेन पुनः पुनः स्तुमः । णु स्तुतौ धातोर्यङ्लुगन्तोऽयं प्रयोगः ॥९॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—जलपक्षिणो यथा जले संभूय तिष्ठन्ति क्रेंकारं च कुर्वन्ति तथैव प्रेमरसघनस्य परमात्मन आनन्दरसे समवेतास्तदुपासकास्तमभिलक्ष्य भूयो भूयः स्तुतिगीतानि गायन्ति । यथा सोमे गोः पयः संमिश्र्यते, तथैवात्र परमात्मन आनन्दरसे दिव्यप्रकाशस्य संमिश्रणं वर्वर्तीति बोद्धव्यम् ॥९॥

अगले मन्त्र में पक्षी के दृष्टान्त से परमेश्वर की स्तुति का विषय वर्णित है ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** मधुवर्षक परमेश्वर ! **वयः यथा** पक्षियों के समान अर्थात् जैसे जलचर पक्षी जलाशय में एकत्र होते हैं वैसे, हम **ते** आपके **गोश्रीते** गोदुग्ध के समान पवित्र अन्तःप्रकाश से मिश्रित, **मदिरे** हर्षजनक, **विवक्षणे** मुक्ति प्राप्त कराने वाले **मधौ** आनन्द रूप सोमरस में **सीदन्तः** समवेत होकर बैठते हुए **त्वाम् अभि** आपको लक्ष्य करके **नोनुमः** अतिशय पुनः पुनः स्तुति करते हैं ॥९॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥९॥

भावार्थ—जल-पक्षी जैसे जल के ऊपर मिलकर बैठते हैं और क्रें-क्रें करते हैं, वैसे ही प्रेमरसघन परमात्मा के आनन्दरस में समवेत होकर उसके उपासक लोग उसे लक्ष्य कर पुनः पुनः स्तुतिगीत गाते हैं । जैसे सोमरस में गाय का दूध मिलाया जाता है, वैसे ही परमात्मा के आनन्दरस में दिव्यप्रकाश का संमिश्रण है, यह जानना चाहिए ॥९॥

---

१. ऋ० ८।२१।५, ऋषिः सोभरिः काण्वः ।

२. वयः पक्षिणः । ते यथा सन्ध्यायामेकत्र वृक्षे समन्ताः व्यवतिष्ठन्ते तद्वदेकत्र वेद्याख्ये प्रदेशे व्यवतिष्ठन्तः इत्यर्थः—इति वि० । पक्षिणो यथा वृक्षे सीदन्ति तद्वत् सोमे सीदन्तः वयम्—इति भ० । पक्षिणो यथा एकत्र सङ्घीभूय तिष्ठन्ति तद्वत् सीदन्तो वयम्—इति सा० ।

३. पयोभिर्मिश्रिते—इति वि० । गोविकारेण आशिरा पक्वे—इति भ० । गोविकारो दधि पयश्च गोशब्देनोच्यते । तेन दध्ना पयसा च मिश्रिते—इति सा० ।

४. वक्तुमिच्छते—इति वि० । विवेक्तरि—इति भ० ।

अथ परमेश्वर आचार्यो भिषग् वाऽऽह्वयते ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
४०८. वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यवः ।
१ २ ३ १ २
वज्रिञ्चित्रं हवामहे ॥१०॥[1]

३ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ ३ १ २
वयम् उ त्वाम् अपूर्व्य अ पूर्व्य । स्थूरम् न कत् चित् भरन्तः अवस्यवः ॥
१ २ ३ ३ २ ३
वज्रिन् चित्रम् हवामहे ॥१०॥

पदार्थः—हे **अपूर्व्य**[2] अपूर्वगुणकर्मस्वभाव, **वज्रिन्** शस्त्रधर इव दोषनाशक परमेश, आचार्य, भिषग् वा ! **कच्चित्** किमपि **स्थूरं**[3] **न** स्थूलं विशालं गर्तादिकम् इव **स्थूरम्** स्थूलं मनश्चक्षुरादीनां छिद्रम् **भरन्तः** पूरयन्तः, पूरयितुमिच्छन्तः सन्तः, **अवस्यवः** त्वद्रक्षणेच्छवः **वयम् चित्रम्** चायनीयं पूज्यम् **त्वाम्** इन्द्रनामानं जगदीशम्, आचार्यं, भिषग्वरं वा **हवामहे** आह्वयामः ॥ उक्तं चान्यत्र "यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु ।" य० ३६।२ इति ॥१०॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥१०॥

भावार्थः—यथा विशालं निर्जलम् अन्धकूपादिकम् पूरयितुमिच्छन्तो जनाः सहायकं सखिवर्गम् आह्वयन्ति तथैव मनश्चक्षुरादीनां रोगरूपमशक्तिरूपं च विशालं छिद्रं पूरयितुं परमेश्वरस्य गुरोर्वैद्यस्य च साहाय्यं प्राप्तव्यम् ॥१०॥

अत्रेन्द्रस्य महत्त्ववर्णनात्, तत्स्तवनात्, तदाह्वानात्, ततो बलधनादिप्रार्थनाद्, इन्द्रनाम्ना नृपत्याचार्यवैद्यादीनां चापि कर्तव्यवर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्तीति ज्ञेयम् ।

इति पञ्चमे प्रपाठके प्रथमार्द्धे द्वितीया दशतिः ।
इति चतुर्थेऽध्याये षष्ठः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर, आचार्य वा वैद्य का आह्वान किया गया है ।

पदार्थ—हे **अपूर्व्य** अपूर्व गुण-कर्म-स्वभाव वाले, **वज्रिन्** शस्त्रधारी के समान दोषनाशक परमेश्वर आचार्य वा वैद्यराज ! **कच्चित्** किसी **स्थूरं न** स्थूल गढ़े आदि के समान **स्थूरम्** मन, चक्षु आदि के स्थूल छिद्र को **भरन्तः** भरना चाहते हुए **अवस्यवः** रक्षा के इच्छुक **वयम्** हम **चित्रम्** पूज्य **त्वाम्** आपको **हवामहे** पुकारते हैं ॥१०॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालङ्कार है ॥१०॥

भावार्थ—जैसे विशाल निर्जल अन्धे कुएँ आदि को भरना चाहते हुए लोग सहायक मित्रों को बुलाते हैं, वैसे ही मन, चक्षु आदियों के रोगरूप या अशक्तिरूप छिद्र को भरने के लिए परमेश्वर, आचार्य वा वैद्य की सहायता पानी चाहिए ॥१०॥

---

१. ऋ० ८।२१।१, ऋषिः सोभरिः काण्वः । अ० २०।१४।१ ऋषिः सौभरिः । उभयत्र 'वज्रिन्' इत्यत्र 'वाजे' इति पाठः । साम० ७०८ ।

२. अविद्यमानः पूर्वो यस्मात् सः अपूर्वः । अपूर्व एव अपूर्व्यः । स्वार्थिको य प्रत्ययः—इति वि० ।

३. स्थूरं न कच्चित् स्थूलमिव किञ्चित् कुसूलादिकं यवादिभिः त्वां भरन्तः पूरयन्तः पूरयिष्यन्तः सोमेन—इति भ० । स्थूरं न यथा भरन्तो व्रीह्यादिभिः गृहं पूरयन्तो जनाः स्थूरं स्थूलं गुणाधिकं कच्चित् कञ्चिन्मानवं यथा ह्वयन्ति तद्वत्—इति सा० ।

इस दशति में इन्द्र का महत्त्व वर्णित होने से, उसकी स्तुति होने से, उसका आह्वान होने से और उससे बल-धन आदि की याचना होने से तथा इन्द्र नाम से राजा, आचार्य, वैद्य आदि के भी कर्त्तव्य का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

पंचम प्रपाठक में प्रथम अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त।
चतुर्थ अध्याय में छठा खण्ड समाप्त॥

॥३॥ अथ 'या इन्द्रेण' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१-८ गोतमः; ९ त्रितः; १० अवस्युः॥ देवता—१-८ इन्द्रः; ९ विश्वेदेवाः; १० अश्विनौ॥ छन्दः—पङ्क्तः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अथात्मिकं राष्ट्रियं च स्वराज्यमाकाङ्क्षते।

४०९. स्वादोरित्था विषूवतो मधोः पिबन्ति गौर्यः।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभथा वस्वीरनु स्वराज्यम्॥१॥[1]

स्वादोः इत्था विषुवतः वि सुवतः। मधोः पिबन्ति गौर्यः॥ याः इन्द्रेण सयावरीः स यावरीः। वृष्णा मदन्ति शोभथा। वस्वीः अनु स्वराज्यम् स्व राज्यम्॥१॥

पदार्थः—**प्रथमो**ऽध्यात्मपक्षे। **गौर्यः** सात्त्विकचित्तवृत्तयः **इत्था** सत्यमेव **वि-सुवतः**[2] विशेषेण-ब्रह्मानन्दम् अभिषुवतो जीवात्मनः सकाशात्। अत्र विपूर्वात् सुनोतेः शतरि सस्य षत्वे उकारस्य दीर्घश्छान्दसः। **स्वादोः** उत्कृष्टस्वादवतः **मधोः** मधुरस्य ब्रह्मानन्दरसस्य **पिबन्ति** पानं कुर्वन्ति। स्वादोः मधोः इत्यत्र द्वितीयार्थे षष्ठी। **वृष्णा** आनन्दवर्षकेण **इन्द्रेण** जीवात्मना **सयावरीः**[3] सयावर्यः, सहगमनाः **वस्वीः** निवासयित्र्यः **याः** सात्त्विकचित्तवृत्तयः **स्वराज्यम् अनु** आत्मिकस्वराज्यानुकूलाः सत्यः **शोभथा**[4] शोभित-प्रकारेण **मदन्ति** हृष्यन्ति। वस्वीः, सयावरीः इत्यत्र जसि पूर्वसवर्णदीर्घः। 'शोभथा' इत्यत्र बाहुलकात् प्रकारार्थे थाल् प्रत्यये लित्स्वरः।

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रपक्षे। **गौर्यः**[5] उद्यमवत्यः सेनाः। गुरन्ते उद्यच्छन्तीति गौर्यः। गुरी उद्यमने तुदादिः। **इत्था** सत्यम् **वि-सुवतः** विशेषेण वीरतां प्रेरयतः सेनापतेः सकाशात् **स्वादोः** उत्कृष्टस्वादवतः

---

१. ऋ० १।८४।१०, अथ० २०।१०९।१ उभयत्र 'मधोः', 'शोभथा' अनयोः स्थाने क्रमेण 'मध्वः', 'शोभसे' इति पाठः। साम० १००५।

२. विषूवतः। प्रायशो भाष्यकृद्भिः व्याप्तार्थाद् विषु प्रातिपदिकाद् मतुबन्तमिदं व्याख्यातम्। 'विषुशब्दः विष्लृ व्याप्तौ इत्यस्य व्याप्तिवचनः। व्याप्तिमतः'—इति वि०। व्याप्तिमतः—इति भ०। सर्वेषु यज्ञेषु व्याप्तियुक्तस्य—इति सा०। पदपाठे 'वि-सुवतः' इति विभज्य दर्शनाद् अस्माभिः पदपाठमनुसृत्य व्याख्यातम्। ऋग्वेदीयपदपाठे तु 'विषुऽवतः' इत्येव पठितम्, अतस्तत्र तद्व्याख्यानमुचितं भवितुमर्हति।

३. सयावरीः सहगन्त्र्यः। आतो मनिन् क्वनिब्वनिपश्च (पा० ३।२।७४) इति वनिप्। 'वनो र च' (पा० ४।१।७) इति स्त्रीप्रत्ययो रेफश्च नकारस्य—इति भ०।

४. शोभथा शोभनार्थम्—इति वि०। शोभथाः पुरुषव्यत्ययः, शोभन्ते—इति भ०, तत्तु चिन्त्यं पदकारविरोधात् स्वर-विरोधाच्च।

५. शुभ्राः किरणा इव उद्यमयुक्ताः सेनाः—इति ऋ० १।८४।१० भाष्ये द०।

मधोः मधुरस्य वीररसस्य **पिबन्ति** पानं कुर्वन्ति, **वृष्णा** शस्त्रास्त्रवर्षकेण **इन्द्रेण** शत्रुविदारकेण सेनापतिना **सयावरीः** युद्धे सह प्रयाणवत्यः, **वस्वीः** निजशौर्येण राष्ट्रस्य निवासिकाः **याः** सेनाः **स्वराज्यम् अनु** स्वराज्यम् अनुष्ठाप्य **शोभथा** शोभितप्रकारेण **मदन्ति** विजयेन हृष्यन्ति ॥१॥[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—यथा जीवात्मभिः परमात्मना सह योगं संस्थाप्य ब्रह्मानन्दं सुत्वा मनःप्राणेन्द्रियादिभिः सह स्वराज्यमर्चनीयम्, तथैव सेनाभिः शौर्यमर्जयित्वा शूरवीरेण सेनापतिना सहयोगं विधाय विजयं लब्ध्वा स्वराज्यं वर्धनीयम् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में आत्मिक और राष्ट्रिय स्वराज्य की आकांक्षा की गयी है।

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्मपक्ष में। **गौर्यः** सात्त्विक चित्तवृत्तियाँ **इत्था** सचमुच **वि-सुवतः** ब्रह्मानन्द को विशेष रूप से अभिषुत करने वाले जीवात्मा से **स्वादोः** स्वादु, **मधोः** मधुर ब्रह्मानन्द-रस का **पिबन्ति** पान करती हैं, **वृष्णा** आनन्दवर्षक **इन्द्रेण** जीवात्मा के **सयावरीः** साथ गति करने वाली **वस्वीः** सद्गुणों की निवासक **याः** जो चित्तवृत्तियाँ **स्वराज्यम् अनु** आत्मिक स्वराज्य के अनुकूल होकर **शोभथा** शुभ प्रकार से **मदन्ति** हृष्ट होती हैं।

द्वितीय राष्ट्रपक्ष में। **गौर्यः** उद्यम वाली सेनाएँ **इत्था** सत्य ही **वि-सुवतः** विशेषरूप से वीरता की प्रेरणा देने वाले सेनापति से **स्वादोः** स्वादु **मधोः** मधुर वीररस का **पिबन्ति** पान करती हैं, **वृष्णा** शस्त्रास्त्रवर्षक **इन्द्रेण** शत्रुविदारक सेनापति के **सयावरीः** साथ युद्ध में प्रयाण करने वाली **वस्वीः** अपनी शूरता से राष्ट्र की निवासक **याः** जो सेनाएँ **स्वराज्यम् अनु** स्वराज्य स्थापित करके **शोभथा** शोभा के साथ **मदन्ति** विजयोल्लास मनाती हैं ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है ॥१॥

भावार्थ—जैसे जीवात्माओं को परमात्मा के साथ मेल करके ब्रह्मानन्द को अभिषुत कर, मन, प्राण, इन्द्रिय आदियों के साथ स्वराज्य की अर्चना करनी चाहिए, वैसे ही सेनाओं को शूरता प्राप्त कर सेनापति के साथ सहयोग करके विजय प्राप्त कर स्वराज्य को बढ़ाना चाहिए ॥१॥

अथ शरीराद् राष्ट्रभूमेश्च शत्रुं निस्सारयितुमाह।

३ २७ ३ २७ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
४१०. इत्था हि सोम इन्मदो ब्रह्म चकार वर्धनम्।
१ २ ३ १ २ ३ १ २१ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निः शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥२॥[2]

३ २ १२१ १२१ १२१ ३ १ २ १२१ १२१ ३ १२१
इत्था हि सोमः इत् मदः। ब्रह्म चकार वर्धनम्॥ शविष्ठ वज्रिन् ओजसा।
३ २ ३ १२१ १२१ १२१ ३ १ २ ३ १ २१
पृथिव्याः निः शशाः अहिम्। अर्चन् अनु स्वराज्यम् स्व राज्यम् ॥२॥

पदार्थः—**इत्था हि** सत्यमेव **सोमः**[3] ब्रह्मानन्दरसो वीररसो वा **इत्** निश्चयेन **मदः** हर्षकरो भवति, तेन **ब्रह्म**[4] जीवात्मा राजा वा। संहितायां दीर्घश्छान्दसः। **वर्धनम्** उन्नतिम् **चकार** करोति। तेन अनु-

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्ऋचमिमां 'नहि स्वसेनापतिभिर्वीरसेनाभिश्च विना स्वराज्यस्य शोभारक्षणे भवितुं शक्ये' इति विषये व्याख्यातवान्।

२. ऋ० १।८०।१ 'मदो' इत्यत्र 'मदे' इति पाठः।

३. माधवभरतस्वामिसायणाचार्याः 'सोमे इत्' इति विच्छिद्य व्याचख्युः। 'अस्माभिस्तु 'सोमः इत्' इति पदपाठोऽनुसृतः।

४. अत्रास्माभिः सामपदपाठोऽनुसृतः। ऋग्वेदीयपदपाठे तु अत्र 'ब्रह्मा' इति प्राप्यते।

प्राणितः सन् हे **शविष्ठ** बलिष्ठ, **वज्रिन्** दुष्टतासु दुष्टेषु वा वज्रप्रहर्तः इन्द्र जीवात्मन् राजन् वा ! त्वम् **स्वराज्यम्** आत्मराज्यम् **अनु अर्चन्** आनुकूल्येन सत्कुर्वन् **ओजसा** बलेन **पृथिव्याः** शरीरात्, शरीरवर्तिभ्यो-मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियेभ्यः इत्यर्थः, राष्ट्रभूमेश्च । पृथिवी शरीरम् । अथ० ५।९।७ इति श्रुतेः पृथिवीति शरीर-नाम । **अहिम्** दुःसंकल्पादिरूपं, पापरूपं, रोगादिरूपं, लुण्ठकतस्करवञ्चकादिरूपम्, शत्रुरूपं च असुरम् **निःशशाः**[1] निर्गमय । निस् पूर्वात् शश प्लुतगतौ धातोर्णिजर्थगर्भात् लेटि सिपि रूपम् ॥२॥[2]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—शरीरे जीवात्मा राष्ट्रे च राजा ब्रह्मानन्दरसं वीररसं च पीत्वा शरीरस्य राष्ट्रस्य च शत्रून् निःशेष्य वाङ्निर्घोषेण दुन्दुभिघोषेण च स्वराज्यमर्चताम् ॥२॥

अगले मन्त्र में शरीर और राष्ट्रभूमि से शत्रु को बाहर निकाल देने का विषय है ।

पदार्थ—**इत्था हि** सचमुच **सोमः** ब्रह्मानन्दरस अथवा वीररस **इत्** निश्चय ही **मदः** हर्षकारी होता है, उससे **ब्रह्म** जीवात्मा वा राजा **वर्धनम्** उन्नति **चकार** करता है । उससे अनुप्राणित होकर हे **शविष्ठ** बलिष्ठ, **वज्रिन्** दुष्टताओं वा दुष्टों पर वज्र-प्रहार करने वाले जीवात्मन् वा राजन् ! तू **स्वराज्यम्** स्व-राज्य की **अनु अर्चन्** अनुकूल अर्चना करता हुआ **ओजसा** अपने बल द्वारा **पृथिव्याः** शरीर से अर्थात् शरीर-वर्ती मन, बुद्धि, प्राण व इन्द्रियों से तथा राष्ट्रभूमि से **अहिम्** दुःसंकल्पादिरूप, पापरूप, रोगादिरूप, लुटेरे-चोर-ठग आदि रूप और शत्रुरूप असुर को **निःशशाः** बाहर निकाल दे ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ—शरीर में आत्मा और राष्ट्र में राजा ब्रह्मानन्द-रस और वीर-रस का पान कर शरीर और राष्ट्र के शत्रुओं को निःशेष करके वाणी के निर्घोष तथा दुन्दुभिघोष के साथ स्वराज्य की अर्चना करें ॥२॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मा, जीवात्मा, राजा, सेनापतिर्वा संग्रामजयार्थमाहूयते ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
४११. इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः ।
२ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तमिन्महत्स्वाजिषूतिमभे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत् ॥३॥[3]
१ २ १ १ २ १ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २ १
इन्द्रः मदाय वावृधे । शवसे वृत्रहा वृत्र हा नृभिः ॥ तम् इत् महत्सु
३ १ २ ३ २ १ २ १ ३ २ १ २ ३
आजिषु । ऊतिम् अभे हवामहे । सः वाजेषु प्र नः अविषत् ॥३॥

पदार्थः—**वृत्रहा** शत्रुहन्ता **इन्द्रः** वीरः परमात्मा, जीवात्मा, राजा, सेनापतिर्वा **मदाय** हर्ष प्रदातुं **शवसे** बलकर्माणि कर्तुं च **नृभिः** मनुष्यैः **वावृधे**[4] वर्ध्यते उत्साह्यते वा । वृधु धातोर्ण्यन्ताल्लडर्थे लिटि रूपम् । 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य । अ० ६।१।७ इत्यभ्यासस्य दीर्घः । **तम् इत्** तमेव **ऊतिम्** रक्षकम् । अत्र अवते-

१. शशप्लुताववित्यस्येदं रूपम् अन्तर्णीतण्यर्थञ्चात्र द्रष्टव्यम् । निर्गमय भूमौ पातयेत्यर्थः—इति वि० । तदेव भरतस्वामि-नोऽभिप्रेतम् ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्ऋचमिमां 'मनुष्याश्चक्रवर्तिराज्यस्य सामग्रीं विधाय पालनं कृत्वा विद्यासुखोन्नतिं कुर्युः' इति विषये व्याख्यातवान् ।

३. ऋ० १।८१।१, अथ० २०।५६।१ । उभयत्र 'पूतिमर्भे' इत्यस्य स्थाने 'पूतेमर्भे' इति पाठः । साम० १००२ ।

४. वावृधे वर्ध्यते । लडर्थे लिट् । वृद्धः क्रियते—इति भ० । वर्धते स्तुतिभिः—इति वि० ।

र्रक्षणार्थात् कर्तरि क्तिन् । **महत्सु आजिषु** विकटेषु संग्रामेषु । आजिः इति संग्रामनाम । निघं० २।१७ । **अर्भे** अल्पे च संग्रामे **हवामहे** आह्वयामः । **सः** परमात्मा जीवात्मा राजा सेनापतिर्वा **वाजेषु** संग्रामेषु **नः** अस्मान् **प्र अविषत्** प्रकर्षेण रक्षतु । अव धातोर्लेटि तिपि रूपम् । मध्ये 'सिब्बहुलं लेटि । ३।१।३४' इति सिबागमः । 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु । ३।४।९०' इति तिप इकारस्य लोपः ॥३॥[1]

अत्र अर्थश्लेषालंकारः ॥३॥

भावार्थः—आनन्दम्, आत्मबलं, शरीरबलं च प्राप्तुं परमात्मा स्तुत्या, जीवात्मा प्रोद्बोधनेन, राजा सेनापतिश्च जयकारेण हर्षणीयः । साधारणे विकटे वाऽभ्यन्तरे बाह्ये च देवासुरसंग्रामे त एवास्माकं सहायका भवन्ति ॥३॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा, जीवात्मा, राजा और सेनापति का युद्ध में विजय के लिए आह्वान किया गया है ।

पदार्थ—**वृत्रहा** शत्रुहन्ता **इन्द्रः** वीर परमात्मा, जीवात्मा, राजा वा सेनापति **मदाय** हर्ष प्रदान के लिए, और **शवसे** बल के कर्म करने के लिए **नृभिः** मनुष्यों द्वारा **वावृधे** बढ़ाया या प्रोत्साहित किया जाता है । **तम् इत्** उसी **ऊतिम्** रक्षक को **महत्सु आजिषु** बड़े युद्धों में, और **अर्भे** छोटे युद्ध में, हम **हवामहे** पुकारते हैं । **सः** वह **वाजेषु** युद्धों में **नः** हमारी **प्र अविषत्** उत्तमता से रक्षा करे ॥३॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥३॥

भावार्थ—आनन्द, आत्मबल और शारीरिक बल को पाने के लिए परमात्मा को स्तुति से, जीवात्मा को उत्कृष्ट उद्बोधन से तथा राजा और सेनापति को जयकार से हर्षित करना चाहिए । साधारण या विकट आन्तरिक और बाह्य देवासुरसंग्राम में वे ही हमारे सहायक होते हैं ॥३॥

अथ परमात्मनो जीवात्मनो नृपतेः सेनापतेर्वा शौर्यं प्रशस्यते ।

४१२. इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम् ।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तव त्यन्माययावधीरर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥४॥[2]

इन्द्र तुभ्यम् इत् अद्रिवः अ द्रिवः । अनुत्तम् अ नुत्तम् वज्रिन् वीर्यम् ॥
यत् ह त्यम् मायिनम् मृगम् । तव त्यत् मायया अवधीः ।
अर्चन् अनु स्वराज्यम् स्व राज्यम् ॥४॥

पदार्थः—हे **अद्रिवः** मेघयुक्तमन्तरिक्षमिव विद्यमान, मेघयुक्तमन्तरिक्षं यथा जलं वर्षति तद्वत् सुखवर्षक इत्यर्थः । अद्रिरिति मेघनाम । निघं० १।१० । हे **वज्रिन्** शत्रुषु दण्डधर **इन्द्र** परमात्मन्, जीवात्मन्, राजन्, सेनापते वा ! **तुभ्यम् इत्** तवैव । अत्र 'षष्ठचर्थे चतुर्थीति वाच्यम् । अ० २।३।६२' वा० इति षष्ठचर्थे चतुर्थी । **अनुत्तम्** शत्रुभिरप्रतिहतम् । न नुत्तम् अनुत्तम्, नुद प्रेरणे । **वीर्यम्** शौर्यम् अस्ति । **यत्** यत् त्वम् **स्वराज्यम् अनु** स्वराज्यानुकूलम् **अर्चन्** कर्म कुर्वन् **त्यम्** तम् कुख्यातम्, **मायिनम्** छलादिदोषयुक्तम् **मृगम्** पशतुल्यम् शत्रुम् **मायया** कौशलेन **अवधीः** हंसि । अत्र लडर्थे लुङ् । **तव त्यत्** तवैव तत् अन्यजनदुर्लभं कर्म वर्वर्ति ॥४॥[3]

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं सेनाध्यक्षपक्षे व्याख्यातवान् ।
२. ऋ० १।८०।७ 'तव त्य ।' इत्यत्र 'तमु त्वं' इति पाठः ।
३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्ऋचमिमां 'ये प्रजापालनाय सूर्यवत् स्वबलन्यायविद्याः प्रकाश्य कपटिनो जनान् निबध्नन्ति ते राज्यं वर्द्धयितुं करान् प्राप्तुं च शक्नुवन्तीति' विषये व्याख्यातवान् ।

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥४॥

भावार्थः—परमात्मानं स्मृत्वा जीवात्मानं, नृपतिं, सेनापतिं च समुद्बोध्य तद्द्वारा निखिलानाभ्यन्तरान् बाह्यांश्च रिपूनुन्मूल्य सर्वैरात्मनो राष्ट्रस्य च स्वराज्यमुपभोक्तव्यम् ॥४॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, जीवात्मा, राजा और सेनापति के शौर्य की प्रशंसा की गयी है।

पदार्थ—हे **अद्रिवः** मेघयुक्त अन्तरिक्ष के तुल्य विद्यमान अर्थात् मेघयुक्त अन्तरिक्ष जैसे जल बरसाता है वैसे सुख बरसाने वाले, **वज्रिन्** शत्रुओं को दण्ड देने वाले **इन्द्र** परमात्मन्, जीवात्मन्, राजन् और सेनापते ! **तुभ्यम् इत्** तेरा ही **अ-नुत्तम्** शत्रुओं से अप्रतिहत **वीर्यम्** शौर्य है। **यत्** जो, तू **स्वराज्यम् अनु** स्वराज्य के अनुकूल **अर्चन्** कर्म करता हुआ **त्यम्** उस कुख्यात **मायिनम्** छलादिदोषयुक्त, **मृगम्** पशुतुल्य शत्रु को **मायया** कौशल से **अवधीः** मार गिराता है, **त्यत्** वह कर्म **तव** तेरा ही है, अन्य कोई उस कर्म को नहीं कर सकता ॥४॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥४॥

भावार्थ—परमात्मा को स्मरण कर और जीवात्मा, राजा तथा सेनापति को उद्बोधन देकर, उनके द्वारा समस्त आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं का उन्मूलन करके सबको आत्मा और राष्ट्र के स्वराज्य का उपभोग करना चाहिए ॥४॥

अथेन्द्रनाम्ना जीवात्मा राजा सेनापतिश्च विजयाय प्रोत्साह्यन्ते।

४१३. प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥५॥[1]
प्र इहि अभि इहि धृष्णुहि। न ते वज्रः नि यꣳसते॥ इन्द्र नृम्णम् हि
ते शवः। हनः वृत्रम् जयाः अपः। अर्चन् अनु स्वराज्यम् स्व राज्यम् ॥५॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** जीवात्मन्, राजन्, सेनापते वा ! त्वम् **प्रेहि** प्रयाहि, **अभीहि** आक्रमस्व, **धृष्णुहि** पराभव शत्रून्। **ते** तव **वज्रः** वज्रतुल्यं रिपुविनाशसामर्थ्यम् शस्त्रास्त्रसमूहो वा **न नियंसते**[2] न अवरोद्धुं प्रतिकर्तुं वा शक्यते। नि पूर्वाद् यम उपरमे धातोः कर्मणि लेटि रूपम्। **ते** तव **शवः** बलम् **नृम्णं**[3] **हि** त्वत्कृते धनरूपम् अस्ति। नृम्णमिति धननाम। निघं० २।१०। त्वम् **स्वराज्यम् अनु** स्वराज्यानुकूलम् **अर्चन्** कर्म कुर्वन् **वृत्रम्** पापं शत्रुं वा **हनः** जहि। हन्तेर्लेटि मध्यमैकवचने रूपम्। **अपः** मेघेन प्रतिरुद्धं जलसमूहमिव शत्रुभिः प्रतिरुद्धं सत्कर्मसमूहम्। अपस् इति कर्मनाम। निघं० २।१। **जयाः** विजयस्व। जि जये धातोर्लेटि सिपि 'लेटोऽडाटौ' इत्याडागमे रूपम् ॥५॥[4]

अत्र वीरो रसः। श्लेषालङ्कारः, अनेकासु क्रियास्वेककारकयोगाद् दीपकम् ॥५॥

---

१. ऋ० १।८०।३।

२. न नियम्यते न निवार्यते केनचिदित्यर्थः—इति वि०।

३. इन्द्र नृम्णं हि ते शवः। यस्मात् शत्रुभूतानामपि मनुष्याणाम् अवनामकरं तव शवः बलम्—इति वि०। नृम्णं नृणां नामकम्—इति भ०।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्ऋचमिमां 'ये राजजनाः सूर्यवत् प्रकाशितकीर्तयः सन्ति ते राज्यश्वर्यभोगिनो भवन्ती'ति विषये व्याख्यातवान्।

भावार्थः—मनुष्यस्यात्मा, राजा, सेनाध्यक्षश्च यदा स्वकीयां परैर्दुर्दमनीयां महतीं शक्तिं परिचिन्वन्ति तदा सर्वानाभ्यन्तरान् बाह्यांश्च रिपून् धूलिसात् कृत्वा विजयं नूनं लभते ॥५॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा, राजा तथा सेनापति को विजयार्थ प्रोत्साहित किया जा रहा है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** जीवात्मन्, राजन् वा सेनापते ! तू **प्रेहि** आगे बढ़, **अभीहि** आक्रमण कर, **धृष्णुहि** शत्रुओं का पराभव कर। **ते** तेरे **वज्रः** वज्रतुल्य शत्रुविनाश-सामर्थ्य का अथवा शस्त्रास्त्र-समूह का **न नियंसते** अवरोध या प्रतिकार नहीं किया जा सकता। **ते** तेरा **शवः** बल **नृम्णं हि** तेरे लिए धनरूप है। तू **स्वराज्यम् अनु** स्वराज्य के अनुकूल **अर्चन्** कर्म करता हुआ, **वृत्रम्** पाप एवं शत्रु को **हनः** विनष्ट कर दे, **अपः** शत्रु से प्रतिरुद्ध सत्कर्मसमूह को **जयाः** जीत ले ॥५॥

इस मन्त्र में वीर रस है, श्लेषालंकार है, अनेक क्रियाओं के साथ एक कारक का योग होने से दीपक भी है ॥५॥

भावार्थ—मनुष्य का आत्मा, राजा और सेनाध्यक्ष जब अपनी शत्रुओं से दुर्दमनीय महान् शक्ति को पहचान लेते हैं, तब सब आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं को धूल में मिलाकर निश्चय ही विजयी होते हैं ॥५॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह।

४१४. यदुदीरत आजया धृष्णवे धीयते धनम्।
युङ्क्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः क वसौ दधोऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः ॥६॥[1]

यत् उदीरते उत् ईरते आजयः। धृष्णवे धीयते धनम्॥ युङ्क्ष्व मदच्युता मद च्युता हरीइति। कम् हनः कम् वसौ दधः। अस्मान् इन्द्र वसौ दधः ॥६॥

पदार्थः—**यत्** यदा **आजयः** देवासुरसंग्रामाः **उदीरते** उद्गच्छन्ति, तदा **धृष्णवे** शत्रुपराजयकारिणे **धनम्** ऐश्वर्यम् **धीयते** निधीयते। अतः, हे **इन्द्र** मदीय आत्मन् सेनापते राजन् वा ! त्वम् **मदच्युता** शत्रूणां मदस्य च्यावयितारौ **हरी** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियरूपौ अश्वौ यद्वा युद्धयानहरणसाधनभूतौ जलाग्निरूपौ वायुविद्युद्रूपौ वा अश्वौ **युङ्क्ष्व** कार्यतत्परौ कुरु। **कम्** कञ्चित्, शत्रुजनमिति भावः **हनः** जहि **कम्** कञ्चित्, मित्रजनमिति भावः **वसौ** वसुनि ऐश्वर्ये **दधः** स्थापय। **अस्मान्** दिव्यकर्मसु संलग्नान् धार्मिकान् नः **वसौ** ऐश्वर्ये **दधः** स्थापय। युङ्क्ष्वा इत्यत्र 'द्व्यचोऽतस्तिङः'। अ० ६।३।१३४ इति दीर्घः। 'मदच्युता' इत्यत्र सुपां सुलुगिति औकारस्याकारः। हनः इति दधः इति च क्रमेण हन्तेर्दधातेश्च लेटि सिपि रूपम् ॥६॥[2]

भावार्थः—आन्तरेषु बाह्येषु वा देवासुरसंग्रामेषूपस्थितेषु सर्वैरसुरान् पराजित्य देवानुत्साह्य विजयश्रीर्दिव्या भौतिकी वा सम्पच्च प्राप्तव्या ॥६॥

एतन्मन्त्रव्याख्याने सायणाचार्य इत्थमितिहासं प्रदर्शयति—अत्रेदमाख्यानम्। रहूगणपुत्रो गोतमः

---

१. ऋ० १।८१।३, अथ० २०।५६।३। उभयत्र 'धनम्', 'युङ्क्ष्वा' अनयोः स्थाने क्रमेण 'धना', 'युक्ष्वा' इति पाठः। साम० १००४।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरस्या ऋचो व्याख्याने भावार्थमेवमाह—"यदा युद्धानि कर्तव्यानि भवेयुस्तदा सेनापतयो यानशस्त्रास्त्रभोजनाच्छादनसामग्रीरलंकृत्य कांश्चिच्छत्रून् हत्वा कांश्चिन्मित्रान् सत्कृत्य युद्धादिकार्येषु धार्मिकान् संयोज्य युक्त्या योधयित्वा युद्ध्वा च सततं विजयान् प्राप्नुयुः" इति।

कुरुसृञ्जयानां राज्ञां पुरोहित आसीत् । तेषां राज्ञां परैः सह युद्धे सति स ऋषिरनेन इन्द्रं स्तुत्वा स्वकीयानां जयं प्रार्थयामासेति । राहूगणो गोतमोऽस्य मन्त्रस्य द्रष्टा ऋषिः, तद्विषयक एवायमितिहासो विज्ञेयः ।

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ—**यत्** जब **आजयः** देवासुरसंग्राम **उदीरते** उपस्थित होते हैं, तब **धृष्णवे** जो शत्रु का पराजय कर सकता है उसे ही **धनम्** ऐश्वर्य **धीयते** मिलता है । इसलिए हे **इन्द्र** मेरे अन्तरात्मन्, सेनापति अथवा राजन् ! तुम **मदच्युता** शत्रुओं के मद को चूर करने वाले **हरी** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय रूप घोड़ों को अथवा युद्धरथ को चलाने के साधनभूत जल-अग्नि रूप या वायु-विद्युत् रूप घोड़ों को **युङ्क्ष्व** कार्य में नियुक्त करो । **कम्** किसी को अर्थात् शत्रुजन को **हनः** विनष्ट करो, **कम्** किसी को अर्थात् मित्रजन को **वसौ** ऐश्वर्य में **दधः** स्थापित करो । **अस्मान्** दिव्य कर्मों में संलग्न हम धार्मिक लोगों को **वसौ** ऐश्वर्य में **दधः** स्थापित करो ॥६॥

भावार्थ—आन्तरिक अथवा बाह्य देवासुरसंग्रामों के उपस्थित होने पर सबको चाहिए कि असुरों को पराजित कर, देवों को उत्साहित कर विजयश्री और दिव्य तथा भौतिक सम्पदा प्राप्त करें ॥६॥

इस मन्त्र की व्याख्या में सायणाचार्य ने इस प्रकार इतिहास दर्शाया है—"रहूगण का पुत्र गोतम कुरु-सृञ्जय राजाओं का पुरोहित था । उन राजाओं का शत्रुओं के साथ युद्ध होने पर उस ऋषि ने इस मन्त्र से इन्द्र की स्तुति करके स्वपक्ष वालों के विजय की प्रार्थना की थी ।" रहूगण का पुत्र गोतम इस मन्त्र का द्रष्टा ऋषि है । उसके विषय का ही यह इतिहास जानना चाहिए ।

अथ विद्वत्सत्कारतदुपदेशश्रवणतदनुकूलाचरणादिविषयमाह ।

४१५. **अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत ।**
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥७॥[1]

अक्षन् अमीमदन्त हि । अव प्रियाः अधूषत ॥ अस्तोषत स्वभानवः स्व भानवः ।
विप्राः वि प्राः नविष्ठया मती । योज नु इन्द्र ते हरीइति ॥७॥

पदार्थः—**विप्राः** एते विद्वांसोऽतिथयः **अक्षन्** भोजनं कृतवन्तः । अद भक्षणे धातोर्लुङि 'मन्त्रे घसह्वर० । अ० २।४।८०' इति च्लेर्लुकि रूपम् । **अमीमदन्त हि** तृप्ताः खलु संजाताः । **प्रियाः** स्निग्धाः एते अतिथयः **अव अधूषत** आतिथेयस्य मम दोषान् कम्पितवन्तः, **स्वभानवः** स्वकीयतेजोयुक्ताः एते **नविष्ठया मती** नवीनतमया मत्या । मति प्रातिपदिकात् तृतीयैकवचने 'सुपां सुलुक्० । अ० ७।१।३९' इति पूर्वसवर्णदीर्घः । **अस्तोषत** स्वस्तिवाचनं च कृतवन्तः । सम्प्रति **इन्द्र** हे मदीय आत्मन्, त्वम् **नु** क्षिप्रम् **ते हरी** स्वकीयौ ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपौ अश्वौ **योज** युङ्क्ष्व, विदुषामुपदेशानुकूलं मन्तुमाचरितुं च प्रयतस्व इत्यर्थः ॥७॥[2]

अत्र अक्षन्, अमीमदन्त, अधूषत, अस्तोषत इत्यनेकक्रियास्वेककारकयोगाद्दीपकालङ्कारः । 'षत' इत्यस्य सकृदावृत्तौ छेकानुप्रासः ॥७॥

---

१. ऋ० १।८२।२; य० ३।५१ । अथ० १८।४।६१, ऋषिः अथर्वा, देवता यमः, 'प्रिया' इत्यत्र 'प्रियाँ' इति पाठः ।

२. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च—'मनुष्याः विद्वत्सङ्गेन शास्त्राध्ययनेन च नवीनां नवीनां मतिं क्रियां च जनयन्तु' इत्यादिविषये व्याख्यातः ।

भावार्थः—गृहस्थैः सत्कृता विद्वांसोऽतिथयः स्वकीयेन बहुमूल्येन सदुपदेशेन तान् कृतार्थयन्तु, गृहस्थाश्च सप्रयासं तदनुकूलमाचरन्तु ॥७॥

यजुर्वेदभाष्ये उवटो महीधरश्च कात्यायनश्रौतसूत्रमनुसरन्तौ पितृयज्ञाख्ये कर्मणि ये पितरः सन्ति तेऽस्माभिर्दत्तं हविःस्वरूपमन्नम् भक्षितवन्तः तृप्ताश्चेत्यादिरूपेण व्याचक्षाते। तत्रेदमवबोध्यं यन्मृतपितृभ्यो भोजनप्रदानादिकं वेदसम्मतं नास्तीति ।

अगले मन्त्र में विद्वानों के सत्कार, उनके उपदेश के श्रवण, तदनुकूल आचरण आदि का विषय है।

पदार्थ—**विप्राः** इन विद्वान् अतिथियों ने **अक्षन्** भोजन कर लिया है, **अमीमदन्त हि** निश्चय ही ये तृप्त हो गये हैं। **प्रियाः** इन प्रिय अतिथियों ने **अव अधूषत** मुझ आतिथ्यकर्ता के दोषों को प्रकम्पित कर दिया है। **स्वभानवः** स्वकीय तेज से युक्त इन्होंने **नविष्ठया मती** नवीनतम मति के द्वारा **अस्तोषत** स्वस्ति का आशीर्वाद दिया है। अब, **इन्द्र** हे मेरे आत्मन्, तू **नु** शीघ्र ही **ते हरी** अपने ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय रूप घोड़ों को **युङ्क्ष्व** नियुक्त कर अर्थात् विद्वान् अतिथियों के उपदेश पर मनन, चिन्तन और आचरण करने का प्रयत्न कर ॥७॥

इस मन्त्र में अक्षन्, अमीमदन्त, अधूषत, अस्तोषत इन अनेक क्रियाओं में एक कर्तृकारक के योग के कारण दीपक अलंकार है। 'षत' की एक बार आवृत्ति में छेकानुप्रास है ॥७॥

भावार्थ—गृहस्थों से सत्कार पाये हुए अतिथि जन अपने बहुमूल्य उपदेश से उन्हें कृतार्थ करें, और गृहस्थ जन प्रयत्नपूर्वक उसके अनुकूल आचरण करें ॥७॥

इस मन्त्र के यजुर्वेदभाष्य में उवट और महीधर ने कात्यायनश्रौतसूत्र का अनुसरण करते हुए यह व्याख्या की है कि पितृयज्ञ कर्म में जो पितर आये हैं उन्होंने हमारे दिये हुए हविरूप अन्न को खा लिया है और वे तृप्त हो गये हैं आदि। इस विषय में यह जान लेना चाहिए कि मृत पितरों को भोजन देना आदि वेदसम्मत नहीं है।

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मानं, स्वान्तरात्मानं, राजानं वा प्रार्थयते।

४१६. उपो षु शृणुही गिरो मघवन्मातथा इव ।
कदा नः सूनृतावतः कर इदर्थयास इद्योजा न्विन्द्र ते हरी ॥८॥[1]

उप उ सु शृणुहि गिरः । मघवन् मा अतथाः इव ॥ कदा नः सूनृतावतः सु
नृतावतः । करः इत् अर्थयासे इत् । योज नु इन्द्र ते हरीइति ॥८॥

पदार्थः—हे **मघवन्** ऐश्वर्यवन् दानशील मदीय अन्तरात्मन्, परमेश्वर, राजन् वा ! त्वम् **गिरः** मम वाचः **सु उप-उ शृणुहि** सम्यक् उपशृणु, **अतथाः इव** यादृशः पूर्वं ममानुकूलः आसीः तद्विपरीतः इव **मा** मा भूः। त्वम् **कदा** कस्मिन् काले **नः** अस्मान् **सूनृतावतः** प्रियसत्यवाग्युक्तान्, वेदवाग्युक्तान्, आध्यात्मिक्या

१. ऋ० १।८२।१, 'यदा नः सूनृतावतः कर आदर्थयास इद्' इति पाठः।

२. मा तथाः। तनु विस्तारे इत्यस्येदं रूपम्। मा विस्तारं कार्षीः, मा विलम्बिष्ठाः। शीघ्रमागच्छेत्यर्थः—इति वि०। तत्तु पदकारविरुद्धम्। 'मा मा श्रौषीः अतथाः इव अयथार्था इव परेषां स्तुतीः—इति भ०। अतथा इव पूर्वं यथाविधस्त्वं तद्विपरीतो मा भूः, अस्मासु पूर्वं यथा अनुग्रहबुद्धियुक्तस्तथाविध एव भवेत्यर्थः—इति सा०। शब्दनिष्पत्तिं च सायणः ऋग्भाष्ये (ऋ० १।८२।१) एवं निरूपयति—तथेवाचरति तथाति 'सर्वप्रातिपदिकेभ्य इत्येके' का० ३।१।११।२ इति क्विप्। तथातेः अ प्रत्ययः। न तथा इव अतथाः इव। अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्' इति। (अतथा इव) प्रतिकूल इव, अत्राचारे क्विप् तदन्ताच्च प्रत्ययः—इति तत्रैव ऋग्भाष्ये द०।

उषसा युक्तान्, भोज्यपदार्थयुक्तान् वा। सूनृता इति उषर्नाम अन्ननाम च। निघं० १।८, २।७। **इत्** निश्चयेन **करः** करिष्यसि ? करोतेर्लेटि सिपि रूपम्, विकरणव्यत्ययेन शप्। कुतः त्वम् **अर्थयासे इत्** याचसे एव, न तु ददासि। अर्थयतेर्लेटि रूपम्। हे **इन्द्र** शक्तिशालिन् मदीय अन्तरात्मन् ! त्वम् **नु** क्षिप्रम् **ते** तव **हरी** ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपौ अश्वौ **योज** युङ्क्ष्व, सक्रियान् कुरु, सज्ज्ञानसत्कर्मोपार्जनेन च समृद्धौ भव। अथ च, **इन्द्र** हे परमात्मन् ! त्वम् **ते** तव **हरी** ऋक्सामे। ऋक्सामे वै हरी। श० ४।४।३।६। **नु** क्षिप्रम् **योज** अस्माकम् आत्मनि प्रेरय, येन सर्वविधज्ञानेन सामसंगीतेन च सम्पन्ना वयम् उत्कर्षं प्राप्नुयाम। अथ च **इन्द्र** हे राजन् ! त्वम् अस्मत्समीपमागन्तुम् **ते** तव **हरी** जलाग्निवायुविद्युदादिरूपौ अश्वौ **नु** क्षिप्रम् **योज** विमानादिरथेषु नियोजय। अस्मत्समीपं समागत्य चास्मान् गौरवान्वितान् त्वत्साहाय्यभाजश्च कुरु ॥८॥[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥८॥

भावार्थः—सर्वैश्वर्यवन्तं सफलताप्रदायकं परमेश्वरमाहूय, स्वान्तरात्मानं राष्ट्रस्य राजानं च समुद्बोध्य वयं सर्वमभीष्टं प्राप्तुं शक्नुमः ॥८॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा, अपने अन्तरात्मा वा राजा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **मघवन्** ऐश्वर्यशाली, दानशील परमेश्वर, मेरे अन्तरात्मा अथवा राजन् ! तुम **गिरः** मेरी वाणियों को **सु उप-उ शृणुहि** भलीभाँति समीपता के साथ सुनो। **अतथाः इव** जैसे पहले मेरे अनुकूल थे उसके विपरीत **मा** मत होवो। तुम **कदा** कब **नः** हमें **सूनृतावतः** प्रिय-सत्य वाणियों से युक्त, वेदवाणियों से युक्त, आध्यात्मिक उषा से युक्त तथा आवश्यक भोज्य पदार्थों से युक्त **इत्** निश्चय ही **करः** करोगे ? क्यों तुम **अर्थयासे इत्** माँगते ही जा रहे हो, देते नहीं ? हे **इन्द्र** शक्तिशाली मेरे अन्तरात्मा ! तुम **नु** शीघ्र ही **ते** अपने **हरी** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **योज** सक्रिय करो तथा श्रेष्ठ ज्ञान और श्रेष्ठ कर्म के उपार्जन द्वारा समृद्ध होवो। और, हे **इन्द्र** परमात्मन् ! तुम **ते** अपने **हरी** ऋक्-सामों को **नु** शीघ्र ही **योज** हमारे आत्मा में प्रेरित करो, जिससे सर्वविध ज्ञान और साम-संगीत से सम्पन्न होकर हम उत्कर्ष प्राप्त करें। और, हे **इन्द्र** राजन् ! तुम, हमारे समीप आने के लिए **ते** अपने **हरी** जल-अग्नि, वायु-विद्युत् आदि को **योज** विमान आदि रथों में नियुक्त करो और हमारे समीप आकर हमें अपनी सहायता का भागी करो ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥८॥

भावार्थ—सर्वैश्वर्यवान्, सफलताप्रदायक परमेश्वर का आह्वान करके तथा अपने अन्तरात्मा और राष्ट्र के राजा को उद्बोधन देकर हम समस्त अभीष्टों को प्राप्त कर सकते हैं ॥८॥

अथ विश्वेदेवा देवताः। अत्र सूर्यचन्द्रादिगतिप्रसङ्गेनेन्द्रस्य महिमानमाह।

४१७. चन्द्रमा अप्स्वा३न्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥९॥[2]

चन्द्रमाः चन्द्र माः अप्सु अन्तः आ। सुपर्णः सु पर्णः धावते दिवि॥
न वः हिरण्यनेमयः हिरण्य नेमयः। पदम् विन्दन्ति विद्युतः वि द्युतः।
वित्तम् मे अस्य रोदसीइति ॥९॥

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरग्निमाम् परमेश्वरोपासकः सेनेशः कीदृशः स्यादिति विषये व्याख्यातवान्।

२. ऋ० १।१०५।१ ऋषिः आप्त्यस्त्रित आङ्गिरसः कुत्सो वा। य० ३३।९०, 'रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहꣳ हरिरेति कनिक्रदत्' इत्युत्तरार्धः। अथ० १८।४।८९, ऋषिः अथर्वा, देवता चन्द्रमाः।

पदार्थः—**चन्द्रमाः** चन्द्रः **अप्सु अन्तः** अन्तरिक्षस्य मध्ये। आपः इत्यन्तरिक्षनामसु पठितम्। निघं० १।३। **सुपर्णः** किरणरूपचारुपक्षयुक्तः सूर्यश्च **दिवि** द्युलोके **आ धावते** समन्ततो गच्छति, चन्द्रः स्वधुरि पृथिवीं सूर्यं च परितः, सूर्यश्च स्वधुरि एव भ्रमतीत्यर्थः, इति सर्वे जानन्ति, किन्तु हे **हिरण्यनेमयः** स्वर्णिमचक्राः **विद्युतः** विद्योतमानाः चन्द्रसूर्यनक्षत्रतडिद्वह्न्यादयः, **वः** युष्माकम् **पदम्** गतिप्रदातारम् इन्द्रं परमात्मानम्। पद गतौ, पदयति गमयतीति पदः, तम्। केचिदपि **न विन्दन्ति** न लभन्ते। विद्लृ लाभे तुदादिः, मुचादित्वान्नुम्। हे **रोदसी**[1] स्त्रीपुरुषौ राजप्रजे वा! युवाम् **मे अस्य** एतत् कथनम् **वित्तम्** जानीतम्। अत्र द्वितीयार्थे षष्ठी। तमिन्द्रं परमात्मानं साक्षात्कर्तुं युवां प्रयतेथां यस्य गत्या भासा च सर्वमिदं गतिमत् भास्वच्च तिष्ठतीत्याशयः। अत्र हिरण्यनेमयः, विद्युतः, रोदसी इति सर्वत्र आमन्त्रितनिघातः ॥६॥[2]

भावार्थः—जनैः प्राकृतिकपदार्थानां गतिद्युत्यादिविषयकज्ञानेनैव न सन्तोष्टव्यं, किन्तु सोऽपि विज्ञातव्यो य एतेषां पदार्थानां जनको गतिद्युत्यादिप्रदाता व्यवस्थापकश्च विद्यते ॥६॥

अस्या ऋचो व्याख्याने विवरणकृता माधवेन ३६८ संख्यकमन्त्रभाष्ये पूर्वप्रदत्तः त्रितविषयक इतिहास एव प्रदर्शितः। भरतस्त्वाह—

एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चाप्तस्य सूनवः।
ते याजयित्वा सर्वा गा निवृत्ता मरुधन्वसु ॥
पिपासयार्तास्तत्रैकं कूपं लब्ध्वा हि तत्स्थिताः।
अवरोढुं तमिच्छन्तस्त्रितस्तत्रावरूढवान् ॥
इतरौ तु बहिर्लब्ध्वा पीत्वोदकमतृप्यताम्।
कूपं पिधाय चक्रेण तं गा आदाय जग्मतुः ॥
त्रितस्तु कूपे पिहितो देवान् स्तौतीति नः श्रुतम्।
स कूपो निर्जलो नूनं यत्रासौ पतितस्तृषा ॥
तस्य चन्द्रमसं रात्रौ पश्यतः परिदेवना ॥

चन्द्रमा अप्स्वन्तः अम्मये मण्डले स्थितः आधावते दिवि अन्तरिक्षे···।···पिपासा मे शाम्येदिति परिदेवना·· हे द्यावाभूमी, वित्तं विजानीत मे मदीयस्य अस्य व्यसनस्य···इति। अत्र माधवभरतस्वामिनोरितिहासेऽन्तरमेव तत्कल्पनाप्रसूतत्वे प्रमाणम्।

अगले मन्त्र के विश्वेदेवाः देवता हैं। इसमें सूर्य, चन्द्र आदि की गति के प्रसङ्ग से इन्द्र की महिमा वर्णित है।

पदार्थ—**चन्द्रमाः** चन्द्रमा **अप्सु अन्तः** अन्तरिक्ष के मध्य में, और **सुपर्णः** किरणरूप सुन्दर पंखों वाला सूर्य **दिवि** द्युलोक में **आ धावते** चारो ओर दौड़ रहा है, अर्थात् चन्द्रमा अपनी धुरी पर घूमने के साथ-साथ पृथिवी और सूर्य के चारों ओर भी घूम रहा है, तथा सूर्य केवल अपनी धुरी पर घूम रहा है, इस बात को सब जानते हैं, किन्तु हे **हिरण्यनेमयः** स्वर्णिम चक्रों वाले **विद्युतः** विद्योतमान चन्द्र, सूर्य, विद्युत् आदियो! **वः** तुम्हारे **पदम्** गतिप्रदाता को, कोई भी **न विन्दन्ति** नहीं जानते हैं। हे **रोदसी** स्त्रीपुरुषो अथवा राजा-प्रजाओ! तुम **मे** मेरी **अस्य** इस बात को **वित्तम्** समझो। अभिप्राय यह है कि उस इन्द्र परमात्मा को साक्षात्कार करने का तुम प्रयत्न करो, जिसकी गति से यह सब-कुछ गतिमान् बना है ॥६॥

१. (रोदसी) द्यावापृथिव्याविव राजप्रजे जनसमूहौ इति ऋ० १।१०५।१ भाष्ये द०।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं चन्द्रविद्युद्विद्याविषये व्याख्यातवान्।

भावार्थ—मनुष्यों को प्राकृतिक पदार्थों के गति, प्रकाश आदि विषयक ज्ञान से ही सन्तोष नहीं करना चाहिए, किन्तु उसे भी जानना चाहिए जो इन पदार्थों को पैदा करने वाला, इन्हें गति, प्रकाश आदि प्रदान करने वाला और इनकी व्यवस्था करने वाला है ॥९॥

इस ऋचा की व्याख्या में विवरणकार माधव ने त्रित विषयक वही इतिहास लिखा है जो पूर्व संख्या ३६८ के मन्त्र पर प्रदर्शित किया जा चुका है। भरत स्वामी ने भिन्न इतिहास दिखाया है—"एकत, द्वित और त्रित ये तीनों आप्त के पुत्र थे। वे जब यज्ञ कराकर, गौएँ लेकर लौट रहे थे, तब मरुस्थल में प्यास से व्याकुल होकर, वहाँ एक कुएँ को देखकर वहीं रुक गये और कुएँ में उतरने का विचार करने लगे। पहले त्रित कुएँ में उतर गया। शेष दोनों को बाहर ही पानी मिल गया और वे पानी पीकर तृप्त हो गये तथा कुएँ को एक चक्र से बन्द करके गौएँ लेकर चलते बने। इधर कुएँ में बन्द पड़ा हुआ त्रित देवों की स्तुति करने लगा। वह कुआँ निर्जल था, जिसमें त्रित प्यास से व्याकुल होकर उतरा था। वहीं पड़ा-पड़ा वह रात्रि में चन्द्रमा को देखकर विलाप करने लगा कि चन्द्रमा पानी में स्थित हुआ अन्तरिक्ष में दौड़ रहा है आदि। किसी तरह मेरी प्यास बुझ जाए, इसलिए उसका विलाप है। वह कहता है कि हे आकाश और भूमि, तुम मेरे इस संकट को जानो।"

यहाँ माधव और भरत स्वामी के इतिहासों में अन्तर ही उनके कल्पनाप्रसूत होने में प्रमाण है।

अथाश्विनौ देवते। देहरथविषयं शिल्परथविषयं चाह।

४१८. प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसुवाहनम्।
स्तोता वामश्विनावृषि स्तोमेभिर्भूषति प्रति माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥१०॥[1]
प्रति प्रियतमम् रथम्। वृषणम् वसुवाहनम् वसु वाहनम्॥ स्तोता वाम्
अश्विनौ ऋषिः। स्तोमेभिः भूषति प्रति। माध्वीइति मम श्रुतम् हवम् ॥१०॥

पदार्थः—**प्रथमः** शरीररथपरः। हे **अश्विनौ** परमात्मजीवात्मानौ ! **प्रियतमम्** अतिशयेन प्रियम्, **वृषणम्** बलवन्तम्, **वसुवाहनम्** वसुभिः निवासकैः इन्द्रियैः उह्यते इति वसुवाहनः तम् **रथम्** मानवशरीर-रूपं शकटम् **प्रति** उद्दिश्य **स्तोता** स्तुतिकर्ता **ऋषिः** तत्त्वद्रष्टा विद्वान् जनः **स्तोमेभिः** स्तोत्रैः **वाम्** युवाम् **प्रतिभूषति** याचते, ऋषिरहं याचे इत्यर्थः। भूष अलंकारे भ्वादिः, अत्र प्रतिपूर्वो याचनार्थो गृह्यते। हे **माध्वी**[2] मधुरौ परमात्मजीवात्मानौ, युवाम् **मम** मदीयम् **हवम्** आह्वानम् **प्रति श्रुतम्** शृणुतम्। परे जन्मनि मानवशरीरमेवाहं प्राप्नुयाम्, न तु पशुपक्षिसरीसृपस्थावरादिशरीरमित्यर्थः। अत्र 'श्रुवः श्रृ च। अ० ३।१।७४' इत्यनेन प्राप्तः श्नुप्रत्ययः श्रुवः श्रृ आदेशश्च न भवति, छन्दसि सर्वेषां विधीनां वैकल्पिकत्वात् ॥१०॥

अथ **द्वितीयः** शिल्परथपरः। हे **अश्विनौ** रथस्य निर्मातृचालकौ[3] शिल्पिनौ ! **प्रियतमम्** अतिशयेन प्रियम्, **वृषणम्** शत्रुसेनाया उपरि शस्त्रास्त्रवृष्टिसाधनभूतम्, **वसुवाहनम्** वसूनि धनधान्यादीनि वहति

१. ऋ० ५।७५।१ 'स्तोता वामश्विनावृषिः स्तोमेन प्रतिभूषति' इत्युत्तरार्धपाठः। साम० १७४३।

२. हे माध्वी, मधुपूर्णो दृतिः माध्वः, 'तस्येदम् पा० ४।३।१२०' इत्यण्। 'यो ह वां मधुनो दृतिराहितो रथचर्षणे (ऋ० ८।५।१९) इति मन्त्रान्तरदर्शनात्। स ययोरस्ति तौ माध्वी। छन्दसीवनिपौ (वा० ५।२।१०९) इति ईकारो मत्वर्थीयः। तयोः सम्बोधनं हे माध्वी—इति वि०। माध्वी मधुविद्याविदौ—इति भ०।

३. अश्विनौ जलाग्नी इव निर्मातृवोढारौ (शिल्पिचालकौ) इति ऋ० १।१८२।७ भाष्ये द०।

देशान्तरं प्रापयतीति तम् **रथम्** विमानादियानम् **वाम्** युवयोः **स्तोता** प्रशंसकः **ऋषिः** विद्वान् जनः **स्तोमेभिः** देशान्तरं नेतुं योग्यैः पदार्थसमूहैः **प्रतिभूषति** अलङ्करोति। हे **माध्वी** मधुरगतिविद्याविदौ शिल्पिनौ! युवाम् **मम** मदीयम् **हवम्** रथसाधनचालनरूपम् आह्वानम् **प्रति श्रुतम्** पूरयतम् ॥१०॥[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१०॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैस्तादृशानि कर्माण्याचरणीयानि यैः पुनर्जन्मनि मानवशरीरमेव प्राप्येत। तथैव राष्ट्रे शिल्पविद्योन्नत्या वेगवन्ति भूजलान्तरिक्षयानानि निर्मापयितव्यानि, देशान्तरगमनव्यापार-युद्धादिषु च प्रयोक्तव्यानि ॥१०॥

अत्रेन्द्रसहयोगिनीनां गौरीणां वर्णनात्, इन्द्रस्य स्वराज्यवर्णनात्, तदाह्वानात्, तदुद्बोधनात्, तत्स्तवनात्, चन्द्रसूर्यादिगतीनां तत्कर्तृकत्वप्रतिपादनात्, तद्दातव्यरथवर्णनाच्चैतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्ति ॥

इति पञ्चमे प्रपाठके प्रथमार्द्धे तृतीया दशतिः।
इति चतुर्थेऽध्याये सप्तमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र के देवता अश्विनौ हैं। इसमें शरीर-रथ और शिल्प-रथ का विषय वर्णित है।

पदार्थ—**प्रथम** शरीर-रथ के पक्ष में। हे **अश्विनौ** परमात्मन् और जीवात्मन्! **प्रियतमम्** सर्वाधिक प्रिय, **वृषणम्** बलवान्, **वसुवाहनम्** वासक इन्द्रियों द्वारा वहन किये जाने वाले **रथम्** शरीररूप रथ को **प्रति** लक्ष्य करके **स्तोता** स्तुतिकर्ता **ऋषिः** तत्त्वार्थद्रष्टा विद्वान् **स्तोमेभिः** तुम्हारे स्तोत्रगानों के साथ **वाम्** तुमसे **प्रतिभूषति** याचना कर रहा है, अर्थात् मैं याचना कर रहा हूँ। हे **माध्वी** मधुर परमात्मन् और जीवात्मन्! तुम **मम** मेरे **हवम्** आह्वान को **प्रतिश्रुतम्** सुनो। भाव यह है कि मैं आगामी जन्म में मानवशरीर ही प्राप्त करूँ, पशु, पक्षी, सरकने वाले जन्तु, स्थावर आदि का शरीर नहीं ॥

द्वितीय शिल्प-रथ के पक्ष में। हे **अश्विनौ** रथों के निर्माता और चालक शिल्पिजनो! **प्रियतमम्** अतिशय प्रिय, **वृषणम्** शत्रुसेना के ऊपर शस्त्रास्त्रों की वर्षा के साधनभूत, **वसुवाहनम्** धन-धान्य आदि को देशान्तर में पहुँचाने वाले **रथम्** विमानादि यान को **वाम्** तुम्हारा **स्तोता** प्रशंसक **ऋषिः** विद्वान् मनुष्य **स्तोमेभिः** देशान्तर में ले जाये जाने वाले पदार्थ-समूहों से **प्रतिभूषति** अलंकृत करता है। हे **माध्वी** मधुर गति की विद्या को जानने वाले शिल्पी जनो! तुम **मम** मेरी **हवम्** विमानादि यानों के निर्माण करने तथा उन्हें चलाने विषयक पुकार को **प्रति श्रुतम्** पूर्ण करो ॥१०॥

इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है ॥१०॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को ऐसे कर्म करने चाहिएँ, जिससे पुनर्जन्म में मानवशरीर ही प्राप्त हो। इसी प्रकार राष्ट्र में शिल्पविद्या की उन्नति से वेगवान् भूयान, जलयान और अन्तरिक्षयान बनवाने चाहिएँ और देशान्तरगमन, व्यापार, युद्ध आदि में उनका प्रयोग करना चाहिए ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र की सहयोगिनी गौरियों का, इन्द्र के स्वराज्य का, उसके आह्वान, उद्बोधन और स्तवन का, चन्द्र-सूर्य आदि की गतियों के तत्कर्तृक होने का और उसके द्वारा दातव्य रथ का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्वदशति के विषय के साथ संगति है ॥

पंचम प्रपाठक में प्रथम अर्ध की तृतीय दशति समाप्त।
चतुर्थ अध्याय में सप्तम खण्ड समाप्त ॥

---

१. ऋग्भाष्येऽस्मिन् मन्त्रे दयानन्दर्षिः 'अश्विनौ' इति पदेन अध्यापकपरीक्षकौ, 'रथम्' इत्यनेन च विमानादियानं गृह्णाति।

॥४॥ अथ 'आ ते अग्न' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ७ वसुश्रुतः; २, ४ विमदः; ३ सत्यश्रवाः; ५, ६ गोतमः; ८ अंहोमुग् वामदेव्यः ॥ देवता—१, २, ७ अग्निः; ३ उषाः; ४ सोमः; ५, ६ इन्द्रः; ८ विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—१-७ पङ्क्तिः, ८ उपरिष्टाद् बृहती ॥ स्वरः—१-७ पञ्चमः, ८ मध्यमः ॥

अथाद्ययोर्द्वयोः अग्निर्देवता । अग्नेः परमेश्वरस्य दिव्यं प्रकाशं प्रार्थयते ।

४१९. आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् ।
यद्ध स्या ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवीष स्तोतृभ्य आ भर ॥१॥[1]
आ ते अग्ने इधीमहि । द्युमन्तम् देव अजरम् अ जरम् । यत् ह स्या ते
पनीयसी । समित् सम् इत् दीदयति द्यवि । इषम् स्तोतृभ्यः आ भर ॥१॥

पदार्थः—हे **देव** सर्वप्रकाशक **अग्ने** अन्तर्यामिन् जगदीश्वर ! वयम् **ते** तव **द्युमन्तम्** दीप्तिमन्तम् **अजरम्** जरावर्जितम् प्रकाशम् **आ इधीमहि** हृदये प्रदीपयेम । त्रिइन्धी दीप्तौ धातोर्लिङि छान्दसं रूपम् । **यत्** या । अत्र 'सुपां सुलुक्०' इति सोर्लुक् । **ते** तव **स्या** सा प्रसिद्धा **पनीयसी** स्तुत्यतरा । पण व्यवहारे स्तुतौ च । पन्यते स्तूयते इति पना, ततोऽतिशायने ईयसुन् प्रत्ययः । **समित्** दीप्तिः **द्यवि** सूर्ये **दीदयति** प्रकाशते । दीदयतिः ज्वलतिकर्मा । निघं० १।१६ । ताम् **इषम्** व्याप्तां दीप्तिम् । इष्यति व्याप्नोतीति इट्, ताम् । इष्यतेर्गत्यर्थात् क्विपि रूपम् । **स्तोतृभ्यः** स्तोत्रमुपहरद्भ्यः अस्मभ्यम् अपि **आ भर** आ हर ॥१॥[2]

भावार्थः—यत्किमपि प्रकाशमानं वह्निविद्युच्चन्द्रसूर्यतारादिकं भुवि दिवि च विद्यते तत्सर्वं परमात्मनः प्रकाशेनैव प्रकाशते । तेन प्रकाशेन सर्वैर्जनैः स्वात्मापि प्रकाशनीयः ॥१॥

प्रथम दो ऋचाओं का अग्नि देवता है। इस मन्त्र में अग्नि परमेश्वर के दिव्य प्रकाश की याचना है।

पदार्थ—हे **देव** सर्वप्रकाशक **अग्ने** अन्तर्यामी जगदीश्वर ! हम **ते** तेरे **द्युमन्तम्** दीप्तिमान्, **अजरम्** कभी जीर्ण न होने वाले प्रकाश को **आ इधीमहि** हृदय में प्रदीप्त करें । **यत्** जो **ते** तेरी **स्या** वह प्रसिद्ध **पनीयसी** अतिशय स्तुतियोग्य **समित्** दीप्ति **द्यवि** सूर्य में **दीदयति** प्रकाशित है, उस **इषम्** व्याप्त दीप्ति को **स्तोतृभ्यः** हम स्तोताओं को भी **आ भर** प्रदान कर ॥१॥

भावार्थ—जो कुछ भी प्रकाशमान अग्नि, विद्युत्, चन्द्र, सूर्य, तारे आदि भूमि पर और आकाश में विद्यमान हैं, वे सब परमात्मा के ही प्रकाश से प्रकाशित हैं । उस प्रकाश से सब मनुष्यों को अपना आत्मा भी प्रकाशित करना चाहिए ॥१॥

अथ कीदृग्गुणविशिष्टमग्निं परमेश्वरं वयं वृण्महे इत्याह ।

४२०. आग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
शीरं पावकशोचिषं वि वो मदे यज्ञेषु स्तीर्णबर्हिषं विवक्षसे ॥२॥[3]

---

१. ऋ० ५।६।४। अथ० १८।४।८८ ऋषिः अथर्वा, 'आ ते अग्न', 'यद्ध स्या', 'द्यवीषं' इत्यत्र क्रमेण 'आ त्वाग्न', 'यद् ध सा', 'द्यवि । इषं' इति पाठः । साम० १०२२ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणायं मन्त्रोऽग्निविद्याविदो विदुषो विषये व्याख्यातः ।

३. ऋ० १०।२१।१, ऋषिः विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद् वा वासुक्रः । 'यज्ञाय स्तीर्णबर्हिषे वि वो मदे शीरं पावकशोचिषं विवक्षसे' इत्युत्तरार्धपाठः ।

आ अग्निम् न स्ववृक्तिभिः स्व वृक्तिभिः । होतारम् त्वा वृणीमहे । शीरम्
पावकशोचिषम् पावक शोचिषम् वि वः मदे । यज्ञेषु स्तीर्णबर्हिषम्
स्तीर्णं बर्हिषम् विवक्षसे ॥२॥

पदार्थः—वयम् **न**[1] सम्प्रति **होतारम्** सुखादीनां दातारम् **शीरम्** सर्वत्र शयानम् । शीरम् अनुशायिनमिति वाऽऽशिनमिति वा । निरु० ४।१४ । **पावकशोचिषम्** शोधकदीप्तिम् **अग्निम्** अग्रनेतारं परमेश्वरम् **त्वा** त्वाम् **स्ववृक्तिभिः**[2] स्वकीयाभिः सूक्तिभिः क्रियाभिर्वा **आ वृणीमहे** आभिमुख्येन वृण्महे संभजामहे । वृञ् वरणे, क्र्यादिः । वयम् **वः मदे** त्वज्जनिते आनन्दे **वि** विभवेम, उत्कर्षं प्राप्नुयाम । अत्र उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः । त्वम् **यज्ञेषु** ब्रह्मयज्ञदेवयज्ञादिपञ्चयज्ञेषु इतरेषु च विविधेषु परोपकारयज्ञेषु **स्तीर्णबर्हिषम्** स्तीर्णं प्रसारितं बर्हिः दर्भासनं येन तम्, यज्ञेषु प्रवृत्तं जनम् इत्यर्थः, **विवक्षसे** विशेषेण वहसि, उत्कर्षं नयसि । वि पूर्वाद् वह प्रापणे धातोर्लेटि रूपम् ॥२॥

भावार्थः—परमानन्दप्रदाता, सर्वत्र व्यापकः, स्वतेजसा मनसां शोधको महान् परमेश्वरः सर्वैर्यज्ञानुष्ठातृभिर्भौतिकाऽग्निवद् वरणीयः ॥२॥

अगले मन्त्र में यह विषय है कि कैसे गुण वाले अग्नि परमेश्वर को हम वरते हैं।

पदार्थ—हम लोग **न** इस समय **होतारम्** सुख आदि के दाता, **शीरम्** सर्वत्र शयन करने वाले, सर्वव्यापक, **पावकशोचिषम्** पवित्रताकारक दीप्ति वाले **त्वा अग्निम्** आप अग्रनायक परमेश्वर को **स्ववृक्तिभिः** अपनी सूक्तियों अथवा क्रियाओं से **आ वृणीमहे** वरते हैं । हम **वः मदे** आपके प्राप्त कराये हुए आनन्द में **वि** उत्कर्ष को प्राप्त करें । आप **यज्ञेषु** ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ आदि पञ्च यज्ञों में तथा अन्य विविध परोपकार-रूप यज्ञों में **स्तीर्णबर्हिषम्** जिसने आसन बिछाया है अर्थात् उन यज्ञों को करने में जो प्रवृत्त हुआ है उसे **विवक्षसे** विशेष रूप से उन्नत कर देते हो ॥२॥

भावार्थ—परम आनन्द के प्रदाता, सर्वत्र व्यापक, अपने तेज से मनों को पवित्र करने वाले, महान् परमेश्वर का सब यज्ञकर्ताओं को भौतिक अग्नि के समान वरण करना चाहिए ॥२॥

अथोषा देवता । सा बोधनाय प्रार्थ्यते ।

४२१. **महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती ।**
यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥३॥[3]
महे नः अद्य अ द्य बोधय । उषः राये दिवित्मती ॥ यथा चित् नः अबोधयः ।
अत्यश्रवसि सत्य श्रवसि वाय्ये । सुजाते सु जाते अश्वसूनृते अ श्व सूनृते ॥३॥

पदार्थः—हे **उषः** प्रभातदीप्तिरिव ममात्मलोके समुदीयमाने अध्यात्मप्रभे ! **दिवित्मती**[4] विवेकख्यातिप्रदीपकगुणैर्युक्ता त्वम् । दिव् पूर्वात् इन्धी दीप्तौ धातोः क्विपि सम्पन्नात् 'दिवित्' प्रातिपदिकात्

---

१. न सम्प्रति—इति भ० ।

२. स्वयङ्कृताभिः दोषवर्जिताभिः स्तुतिभिः—इति सा० ।

३. ऋ० ५।७६।१, साम० १७४० ।

४. (दिवित्मता) दिवं प्रकाशम् इन्धते यैः प्रशस्तैः स्वगुणैः तद्वता इति ऋ० १।२६।२ भाष्ये द० ।

मतुपि स्त्रियां रूपम् । **नः** अस्मान् **अद्य** अस्मिन् दिने **महे राये** योगसिद्धिरूपाय महते ऐश्वर्याय **बोधय** बोधं प्रयच्छ, **यथा** येन प्रकारेण, इतः पूर्वं त्वम्, हे **सुजाते** शोभनजन्मवति, **अश्वसूनृते**[1] अश्वा व्याप्तिमती सूनृता प्रिया दिव्या वाग् यस्याः तादृशि उषः ! **सत्यश्रवसि** सत्ययशसि । श्रवः श्रवणीयं यशः । निरु० ११।९ । सत्यं श्रवो यस्यास्तादृशि । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । **वाय्ये**[2] सन्ताननीये विस्तारणीये अस्माकं जीवने । वेञ् तन्तुसन्ताने धातोर्ण्यति रूपम् । **नः** अस्मान् **अबोधयः** बोधं प्रायच्छः ।। सुजाते इत्यस्यामन्त्रितत्वेऽपि पादादित्वान्निघाताभावः । तस्य चाविद्यमानवत्त्वे पदात्परत्वाभावात् अश्वसूनृते इत्यपि न निहन्यते, किन्तु तत्र षाष्ठेनाद्युदात्तत्वमेव ।।३।।[3]

भावार्थः—यथा प्रभातदीप्तिरूपा उषाः सर्वान् शयनाज्जागरयति तथैवाध्यात्मिक्युषा अस्मान् जागरयेत् प्रबोधयेच्च ।।३।।

अगले मन्त्र का उषा देवता है । इसमें उषा से बोध प्रदान करने की प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **उषः** प्राकृतिक उषा के समान मेरे आत्मलोक में उदित होती हुई अध्यात्मप्रभा ! **दिवित्मती** विवेकख्याति को प्रदीप्त करने वाले गुणों से युक्त तू **नः** हमें **अद्य** आज **महे राये** योगसिद्धिरूप महान् ऐश्वर्य के लिए **बोधय** बोध प्रदान कर, **यथा** जैसे हे **सुजाते** शुभ जन्म वाली, **अश्वसूनृते** व्यापक प्रिय दिव्य वाणी वाली उषा ! तू **सत्यश्रवसि** सत्य यश वाले **वाय्ये** विस्तार योग्य जीवन में, हमें **अबोधयः** बोध प्रदान करती रही है ।।३।।

भावार्थ—जैसे प्रभातदीप्ति रूप उषा सबको निद्रा से जगाती है, वैसे ही आध्यात्मिक उषा हमें जागृति और प्रबोध प्रदान करे ।।३।।

अथ सोमो देवता । स प्रार्थ्यते ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १
४२२. भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम् ।
१ २ ३ १ २ २ १ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
अथा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे रणा गावो न यवसे विवक्षसे ।।४।।[4]

३ २ ३ १ २ १ ३ १ २ १ १ २ १ ३ २ १ २ १ १ २ १ ३ २ ३ २
भद्रम् नः अपि वातय । मनः दक्षम् उत क्रतुम् ।। अथ ते सख्ये स ख्ये
१ २ १ ३ १ २ १ १ २ १ २ १ १ २ १ १ २ १
अन्धसः वि वः मदे । रण गावः न यवसे विवक्षसे ।।४।।

पदार्थः—हे सोम रसागार परमात्मन् ! त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **भद्रम्** श्रेष्ठम् **मनः** मनोबलम्, **दक्षम्** शारीरं बलम्, **उत** अपि च **क्रतुम्** प्रज्ञानं कर्म च **अपि वातय**[5] अपि गमय, प्रापय । **अथ** अपि च त्वम् **ते**

१. अश्वा महती सूनृता वाग् यस्यास्तत्सम्बुद्धौ । अश्व इति महन्नाम (निघं० ३।६) इति ऋ० ५।७९।१ भाष्ये द० । अश्वा आशुकारिणी सूनृता वाक् यस्याः सा अश्वसूनृता—इति भ० ।

२. (वाय्ये) तन्तुसदृशे सन्ताननीये विस्तारणीये सन्ततिरूपे इति तत्रैव ऋग्भाष्ये द० । सत्यश्रवसि ऋषौ विद्यमानान्, तस्य मम वश्यानित्यर्थः । वाय्ये वयस्य अपत्ये च विद्यमानान् यथा अबोधयः तथा अस्मान् अद्य बोधय । त्वमाविथ नर्यं तुर्वशं यदुं त्वं तुर्वीति वय्यं शतक्रतो, ऋ० १।५४।६ इत्यादिषु वय्यश्च श्रूयते—इति भ० । वाय्ये वयपुत्रे सत्यश्रवसि मयि अनुगृहाणेत्यर्थः—इति सा० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्ऋचमिमां स्त्री कीदृशी भवेदिति विषये व्याख्यातवान् । तथा च तदीयो भावार्थः—'यथा प्रातर्वेला दिनं जनयित्वा सर्वाञ्जागरयति तथैव विदुषी स्त्री स्वसन्तानानविद्यानिद्रात उत्थाप्य विद्यां बोधयति' इति ।

४. ऋ० १०।२५।१ ऋषिः विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद् वा वासुक्रः । 'अथा', 'रणा' इत्यत्र क्रमेण 'अधा', 'रणन्' इति पाठः । केवलं पूर्वार्द्धः ऋ० १०।२०।१ इत्यत्रापि दृश्यते ।

५. वात सुखसेवनयो. गतौ च चुरादिः । अपि पूर्वोऽन्यत्रापि प्रयुज्यते, यथा 'सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा' ऋ० ७।४६।३ इत्यत्र ।

तव **अन्धसः** शान्तरूपस्य रसस्य **सख्ये** सखित्वे अपि च **वः** तव **मदे** आनन्दे **वि रण**[1] विशेषेण रमय। अत्र पादादित्वान्निघाताभावः। **गावः न** यथा धेनवः **यवसे** घासे रमन्ते तद्वत्। हे सोम परमात्मन्! त्वम् **विवक्षसे** महान् असि ॥४॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥४॥

भावार्थः—परमेश्वरोपासनया जनैरात्ममनोबुद्ध्यादिबलमानन्दश्च प्राप्तुं शक्यते ॥४॥

अगले मन्त्र का सोम देवता है। उससे याचना की गयी है।

पदार्थ—हे सोम! हे रसागार परमात्मन्! आप **नः** हमारे लिए **भद्रम्** श्रेष्ठ **मनः** मनोबल, **दक्षम्** शारीरिक बल, **उत** और **क्रतुम्** प्रज्ञान तथा कर्म **अपि वातय** प्राप्त कराओ। **अथ** और **ते** आपके अपने **अन्धसः** शान्तिरस के **सख्ये** सखित्व में, तथा **वः** आपके अपने **मदे** आनन्द में, हमें **वि रण** विशेष रूप से रमाओ, **गावः न** जैसे गौएँ **यवसे** घास में रमती हैं। हे सोम परमात्मन्! आप **विवक्षसे** महान् हो ॥४॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥४॥

भावार्थ—परमेश्वर की उपासना से मनुष्य आत्मा, मन, बुद्धि आदि के बल को और आनन्द को प्राप्त कर सकते हैं ॥४॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मनः सेनापतेश्च कर्म वर्णयति।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २
४२३. क्रत्वा महाँ अनुष्वधं भीम आ वावृते शवः।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
श्रिय ऋष्व उपाकयोर्नि शिप्री हरिवान् दधे हस्तयोर्वज्रमायसम् ॥५॥[2]

क्रत्वा महान् अनुष्वधम् अनु स्वधम्। भीमः आ वावृते शवः। श्रिये ऋष्वः
उपाकयोः। नि शिप्री हरिवान् दधे। हस्तयोः वज्रम् आयसम् ॥५॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। **क्रत्वा** दिव्यप्रज्ञया जगद्धारणादिकर्मणा च **महान्** महिमवान्, **भीमः** नियमभञ्जकेभ्यो भयङ्करः स इन्द्रः परमेश्वरः **अनुस्वधम्** स्वधारणशक्त्यनुरूपम् **शवः** बलवत् सूर्य-चन्द्रपृथिव्यादिकम्। शवः शवस्वत्। अत्र मतुपो लुक्। यद्वा बलवाचिनः शवस् शब्दस्य तद्वति लक्षणा। **आ वावृते** आवर्तयति। वृतु वर्तने, णिजर्थगर्भः। लडर्थे लिट्। 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य। अ० ६।१।७' इत्यभ्यासदीर्घः। **ऋष्वः** लोकलोकान्तराणां स्वस्वकक्षासु गमयिता। ऋषी गतौ धातोर्बाहुलकाद् औणादिको व प्रत्ययः। **शिप्री**[3] सृप्री जगद्विस्तारयिता, **हरिवान्** दोषहरणसामर्थ्योपेतः सः **श्रिये** ऐश्वर्यप्रदानाय **उपाकयोः**[4] समीपस्थयोः परस्परसंबद्धयोः **हस्तयोः** मनुष्यस्य करयोः **आयसम्** दृढम् **वज्रम्** शस्त्रास्त्रसमूहम् **नि दधे** स्थापयति॥ अत्र जगत्सञ्चालके देवे 'भीमः' इति विशेषणम् 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः। कठ० ६।२, इत्याद्यर्थकमनुसन्धेयम् ॥

---

१. शब्दार्थे पठितो रण धातुः रमणार्थेऽपि भवति, तथा च 'रणाय रमणीयाय संग्रामाय' इति (निरु० ४।८)। 'रण रमय'—इति वि०। 'रणा रमन्तां स्तोतारः'—इति भ०। 'रणाः प्रीतियुक्ता गावो न'—इति सायणीयं व्याख्यानं तु पदकार-विरुद्धम्, पदपाठे 'रण' इति पाठात्। दीर्घत्वं तु 'द्व्यचोऽतस्तिङः' इति नियमाद् भवति।

२. ऋ० १।८१।४, 'वावृते' इत्यत्र 'वावृधे' इति पाठः।

३. शिप्र शब्दः सर्पणार्थात् सृप धातोर्यस्केन निष्पादितः। सृप्रः सर्पणात्। सुशिप्रमेतेन व्याख्यातम् (निरु० ६।१७) इति।

४. उपाकयोः समीपवर्तिन्योः द्यावापृथिव्योः—इति भ०। उपाके इत्यन्तिकनामसु पठितम्। निघं० २।१६।

अथ **द्वितीयः** सेनापतिपरः। **ऋत्वा** क्रतुना वृत्रवधादिकर्मणा **महान्** महिमोपेतः, **भामः** दुष्टानां भयङ्करः इन्द्रः वीरः सेनापतिः **अनुस्वधम्** पौष्टिकान्न भक्षणानुरूपम्। स्वधा इत्यन्ननाम। निघं० २।७। स्वशरीरे **शवः** बलम् **आ वावृते** आपादयति। **ऋष्वः** गतिमान् कर्मण्यः, **शिप्री**[1] शत्रुषु आक्रोशजनकः, **हरिवान्** प्रशस्ता हरयः यस्य तथाविधः सः **श्रिये** विजयश्रियमधिगन्तुम् **उपाकयोः** उपक्रान्तयोः शत्रुसैन्ययोरुपरि प्रहरणार्थम् **हस्तयोः** करयोः **आयसम्** लौहं, लोहवद् दृढं वा **वज्रम्** शस्त्रास्त्रसमूहम् **नि दधे** निधत्ते ॥५॥[2]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—यथा परमेश्वरो निष्कर्मणामपि हृदये वीरतां सञ्चार्य तेषां हस्तयोः शस्त्रास्त्राणि निधत्ते, तथा सेनापतिः स्वहस्तयोः शत्रुवधसमर्थानि दृढानि शस्त्रास्त्राणि गृहीत्वा शत्रुषु प्रहृत्य तान् पराजयेत ॥५॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और सेनापति का कर्म वर्णित है।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा के पक्ष में। **ऋत्वा** दिव्य प्रज्ञा और जगत् के धारण आदि कर्म से **महान्** महान्, **भीमः** नियम तोड़ने वालों के लिए भयंकर वह इन्द्र परमेश्वर **अनु स्वधम्** अपनी धारणशक्ति के अनुरूप **शवः** बलवान् सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि को **आ वावृते** घुमा रहा है। **ऋष्वः** लोकलोकान्तरों को अपनी-अपनी कक्षाओं में गति कराने वाला, **शिप्री** जगत् का विस्तारक, **हरिवान्** अकर्मण्यता आदि दोषों को हरने के सामर्थ्य वाला वह **श्रिये** ऐश्वर्यप्रदानार्थ **उपाकयोः** परस्पर सम्बद्ध **हस्तयोः** मनुष्य के हाथों में **आयसम्** दृढ़ **वज्रम्** शस्त्रास्त्रसमूह को **आ दधे** थमाता है॥

द्वितीय सेनापति के पक्ष में। **ऋत्वा** शत्रुवध आदि कर्म से **महान्** महान्, **भीमः** दुष्टों के लिए भयंकर इन्द्र अर्थात् वीर सेनापति **अनुस्वधम्** पौष्टिक अन्न के भक्षण के अनुरूप, अपने शरीर में **शवः** बल **आ वावृते** उत्पन्न करता है। **ऋष्वः** गतिमान्, कर्मण्य, **शिप्री** शत्रुओं में आक्रोश या हाहाकार पैदा करने वाला, **हरिवान्** प्रशस्त घोड़ों अथवा हरणसाधन विमानादि यानों वाला वह **श्रिये** विजयश्री प्राप्त करने के लिए **उपाकयोः** निकट पहुँचे शत्रुदलों के ऊपर प्रहारार्थ **हस्तयोः** हाथों में **आयसम्** लोहे के बने, अथवा लोहे जैसे दृढ़ **वज्रम्** शस्त्रास्त्रसमूह को **नि दधे** धारण करता है॥५॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥५॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर अकर्मण्य लोगों के भी हृदय में वीरता का संचार करके उनके हाथों में शस्त्रास्त्र ग्रहण करा देता है, वैसे ही सेनापति अपने हाथों में शत्रु का वध करने में समर्थ दृढ़ शस्त्रास्त्रों को धारण कर, शत्रुओं पर प्रहार करके उन्हें पराजित करे ॥५॥

अथ को मानवदेहरूपं रथं प्राप्नोतीत्याह।

४२४. स घा तं वृषणं रथमधि तिष्ठाति गोविदम्।
यः पात्रं हारियोजनं पूर्णमिन्द्र चिकेतति योजा न्विन्द्र ते हरी ॥६॥[3]
सः घ तम् वृषणम् रथम्। अधि तिष्ठाति गोविदम् गो विदम्॥ यः पात्रम्
हारियोजनम् हारि योजनम्। पूर्णम् इन्द्र चिकेतति॥ योज नु इन्द्र ते हरीइति ॥६॥

१. शत्रूणाम् आक्रोशयिता इति ऋग्भाष्ये द०। शप आक्रोशे।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्ऋचमिमां सेनापतिविषये व्याख्यातवान्—"मनुष्यैर्यो बुद्धिमान् महोत्तमगुणविशिष्टः शत्रूणां भयंकरः सेनाशिक्षकोऽतियोद्धा वर्तते तं सेनापतिं कृत्वा धर्मेण राज्यं प्रशासनीयम्' इति।
३. ऋ० १।८२।४ 'मिन्द्रा' इत्यत्र 'मिन्द्र' इति पाठः।

पदार्थः—हे **इन्द्र** मदीय अन्तरात्मन् ! संहितायाम् 'इन्द्रा' इति दीर्घश्छान्दसः । **सः घ** स एव जनः । संहितायाम् 'ऋचि तुनुघ० । अ० ६।३।१३३' इति दीर्घः । **तम्** श्रेष्ठम् **वृषणम्** बलवन्तम्, **गोविदम्** गाः इन्द्रियरूपान् वृषभान् विन्दते प्राप्नोति यस्तम् **रथम्** मानवशरीररूपं शकटम् **अधि तिष्ठाति** अधिष्ठाय वर्तते । तिष्ठतेर्लेटि रूपम् । **यः हारियोजनम्** हरयः प्राणाः युज्यन्ते यस्मिन् तत् हरियोजनम् शरीरम्, तत्सम्बन्धि हारियोजनम् मानवदेहप्रदानक्षमम् **पात्रम्** सत्कर्मकोषम् **पूर्णम्** परिपूर्णम् **चिकेतति** जानाति । कित ज्ञाने जुहोत्यादिः, ततो लेटि रूपम् । अतः हे **इन्द्र** मदीय आत्मन् ! त्वम् **ते हरी** ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपौ अश्वौ **नु** क्षिप्रम् **योज** युङ्क्ष्व । जन्मान्तरे पुनर्मानवदेहं प्राप्तुं ज्ञानेन्द्रियैः सत्यं ज्ञानं प्राप्नुहि, कर्मेन्द्रियैश्चोत्कृष्टकर्माणि कुर्विति भावः ॥६॥[1]

अगले मन्त्र में मानवदेहरूप रथ को कौन प्राप्त करता है इसका वर्णन है ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** मेरे अन्तरात्मन् ! **स घ** वही मनुष्य **तम्** उस श्रेष्ठ, **वृषणम्** बलवान्, **गोविदम्** इन्द्रियरूप बैलों से युक्त **रथम्** मानव-शरीर-रूप रथ का **अधितिष्ठाति** अधिष्ठाता बनता है, **यः** जो **हारियोजनम्** प्राणयुक्त मानव-शरीर को प्रदान करने में समर्थ **पात्रम्** सत्कर्मों के कोष को **पूर्णम्** भरा हुआ **चिकेतति** जान लेता है । इसलिए, हे **इन्द्र** मेरे अन्तरात्मन् ! तू **ते हरी** अपने ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय रूप घोड़ों को **नु** शीघ्र ही **योज** नियुक्त कर, अर्थात् पुनर्जन्म में मनुष्य-शरीर प्राप्त करने के लिए ज्ञानेन्द्रियों से सत्य ज्ञान प्राप्त कर और कर्मेन्द्रियों से उत्कृष्ट कर्म कर ॥६॥

भावार्थ—जो मनुष्य इस जन्म में मानवदेह प्राप्त कराने योग्य सत्कर्मों को करता है, वही अगले जन्म में मानवदेह प्राप्त करता है, यह जानकर सब मनुष्यों को श्रेष्ठ ही कर्म करने चाहिएँ ॥६॥

अथाग्निर्देवता । सर्वे परमेश्वरादेव शक्तिं गृह्णन्तीत्याह ।

३ १२ २१ ३ २३ ३ २ ३ १२ २१ ३ १ २
४२५. अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः ।
२ ३ १ २ ३ २३ ३ १ २ ३ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥७॥[2]
३ २ ३ २ १ २१ १ २१ १ २१ ३ १ २ १ २१ १ २१
अग्निम् तम् मन्ये यः वसुः । अस्तम यम् यन्ति धेनवः ॥ अस्तम् अर्वन्तः
३ १ २ १ २१ १ २१ ३ १ २ १ २१ ३ १ २ ३
आशवः । अस्तम् नित्यासः वाजिनः । इषम् स्तोतृभ्यः आ भर ॥७॥

पदार्थः—अहम् **तम् अग्निम्** तम् अग्रनायकम् अग्निवत् प्रकाशमानं प्रकाशकं च परमेश्वरम् **मन्ये** अर्चामि । मन्यते अर्चतिकर्मा । निघं० ३।१४ । **यः वसुः** सर्वेषां निवासप्रदो विद्यते, **अस्तम्** गृहरूपम् **यम्** **धेनवः** वाचः । धेनुरिति वाङ्नाम । निघं० १।११ । **यन्ति** शक्तिप्राप्त्यर्थं गच्छन्ति । **अस्तम्** गृहरूपं यम् **आशवः** आशुगामिनः **अर्वन्तः** प्राणाः, शक्तिप्राप्त्यर्थं गच्छन्ति । **अस्तम्** गृहरूपं यम् **नित्यासः** नित्याः अनाद्यनन्ताः **वाजिनः** बलवन्तः आत्मानः, शक्तिप्राप्त्यर्थं यन्ति । हे अग्ने परमेश्वर ! त्वम् **स्तोतृभ्यः** तव गुणकर्मस्वभाववर्णनं कुर्वद्भ्यो जनेभ्यः **इषम्** अभीष्टपदार्थसमूहम् अभीष्टगुणसमूहं च । इषु इच्छायाम्, क्विपि रूपम् 'इष्' इति, ताम् । **आ भर** आहर ॥७॥[3]

अत्राग्नौ अस्तस्यारोपाद् रूपकालङ्कारः ॥७॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्ऋचमिमां सेनाध्यक्षविषये व्याख्यातवान् । तथा हि, तत्र तत्कृतो **भावार्थः**—सेनाध्यक्षेण पूर्णशिक्षाबलहर्षितां हस्त्यश्वरथशस्त्रादिसामग्रीपरिपूर्णां सेनां संपाद्य शत्रवो विजेयाः' इति ।

२. ऋ० ५।६।१, य० १५।४१ ऋषिः परमेष्ठी; साम० १७३७ ।

३. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये विद्युदग्निविषये यजुर्भाष्ये च विद्यार्थ्यध्यापकव्यवहारविषये व्याख्यातवान्।

भावार्थः—परमात्मनः सकाशादेव सूर्यचन्द्रपृथिव्यादय आत्ममनश्चक्षुःश्रोत्रप्राणादयश्च स्वस्व-क्रियाशक्तिं लभन्ते । स एव च स्तोतॄणां मनोरथान् पूरयति ॥७॥

अगले मन्त्र का अग्नि देवता है। सब परमेश्वर से ही शक्ति ग्रहण करते हैं, इस विषय का वर्णन है।

पदार्थ—मैं **तम् अग्निम्** उस अग्रनायक एवं अग्नि के समान प्रकाशमान और प्रकाशक परमेश्वर की **मन्ये** अर्चना करता हूँ, **यः** जो **वसुः** सबका निवास-प्रदाता है, **अस्तम्** गृहरूप **यम्** जिसके पास **धेनवः** वाणियाँ **यन्ति** शक्ति पाने के लिए जाती हैं, **अस्तम्** गृहरूप **यम्** जिसके पास **आशवः** शीघ्रगामी **अर्वन्तः** प्राण **यन्ति** शक्ति पाने के लिए जाते हैं, **अस्तम्** गृहरूप **यम्** जिसके पास **नित्यासः** अनादि और अनन्त **वाजिनः** बलवान् आत्माएँ **यन्ति** शक्ति पाने के लिए जाती हैं। हे परमात्मन् ! तू **स्तोतृभ्यः** तेरे गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन करनेवालों के लिए **इषम्** अभीष्ट पदार्थों व अभीष्ट गुणों के समूह को **आ भर** प्रदान कर ॥७॥

इस मन्त्र में अग्नि परमेश्वर में 'अस्त' (गृह) का आरोप होने से रूपकालंकार है ॥७॥

भावार्थ—परमात्मा के पास से ही सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि और आत्मा, मन, चक्षु, श्रोत्र, प्राण आदि अपनी-अपनी क्रियाशक्ति पाते हैं। वही स्तोताओं के मनोरथों को पूर्ण करता है ॥७॥

अथ विश्वेदेवाः देवताः। मित्रवरुणार्यम्णामनुग्रहस्य फलमाह।

२७ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २
४२६. न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयति वरुणो अति द्विषः ॥८॥[1]

२ १ २१ ३ २ ३ २ १२१ ३ १ २१ ३ १ २ ३
न तम् अंहः न दुरितम् दुः इतम् । देवासः अष्ट मर्त्यम् ॥ सजोषसः स
१ २१ ३ २ ३ २ १२१ १२१ १२१ १२१
जोषसः यम् अर्यमा । मित्रः मि त्रः नयति वरुणः अति द्विषः ॥८॥

पदार्थः—हे **देवासः** विद्वज्जनाः ! **तं मर्त्यम्** तं जनम् **न अंहः** अपराधः, **न दुरितम्** न पापम् **अष्ट** अश्नुते व्याप्नोति । आष्ट इति व्याप्तिकर्मसुपठितम् । निघं० २।१८ अशू व्याप्तौ संघाते च इति धातोः लडर्थे लुङि अनिट्पक्षे रूपम्, आडभावश्छान्दसः । **यम्** जनम् **सजोषसः** सप्रीतयः, परस्परं समञ्जसाः **अर्यमा** मनः, आदित्यः, न्यायाधीशो वा, **मित्रः** प्राणः वायुः, सुहृद् वा **वरुणः** आत्मा, चन्द्रः, राजा वा **द्विषः** विपत्तेः, विघ्नसमूहात्, शत्रुसंघाद् वा **अति नयति** अति नयन्ति, पारयन्ति । अत्र वचनव्यत्ययः, ऋग्वेदे तु 'नयन्ति' इत्येव पाठः ॥८॥

भावार्थः—शरीरे, जडात्मके जगति, समाजे, राष्ट्रे च क्रमशः ये मनःप्राणादयो, ये सूर्यादयो, ये सन्मित्रादयो, ये च नृपत्यमात्यादयः प्रधानभूताः सन्ति तेषां रक्षणं प्राप्य मनुष्याः पापानि शत्रूंश्च पराजेतुं शक्नुवन्ति ॥८॥

अत्रेन्द्रस्य तत्सम्बद्धानाम् अग्न्युषःसोममित्रवरुणार्यम्णां च गुणकर्मवर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन संगतिरस्तीति बोध्यम् ।

इति पञ्चमे प्रपाठके प्रथमार्द्धे चतुर्थी दशतिः ।
इति चतुर्थेऽध्यायेऽष्टमः खण्डः ॥

---

१. ऋ० १०।१२६।१, ऋषिः कुल्मलबर्हिषः शैलूषिः अंहोमुग् वा वामदेव्यः । 'नयति' इत्यत्र 'नयन्ति' इति पाठः ।

अगले मन्त्र का देवता विश्वेदेवाः है। इसमें मित्र, वरुण और अर्यमा के अनुग्रह का फल वर्णित है।

पदार्थ—हे **देवासः** विद्वानो ! **तं मर्त्यम्** उस मनुष्य को **न अंहः** न अपराध, **न दुरितम्** न पाप **अष्ट** प्राप्त होता है, **यम्** जिसे **सजोषसः** समान प्रीति वाले, परस्पर सामंजस्य रखने वाले, **अर्यमा** मन, सूर्य वा न्यायाधीश, **मित्रः** प्राण, वायु वा मित्र और **वरुणः** आत्मा, चन्द्रमा वा राजा **द्विषः** विपत्ति, विघ्नसमूह वा शत्रुसंघ से **अति नयति** पार कर देते हैं ॥८॥

भावार्थ—शरीर में, जड़ जगत् में, समाज में और राष्ट्र में क्रमशः जो मन, प्राण आदि, जो सूर्य आदि, जो श्रेष्ठ मित्र आदि और जो राजा आदि मुख्य हैं, उनकी रक्षा प्राप्त करके मनुष्य पापों और शत्रुओं को पराजित कर सकते हैं ॥८॥

इस दशति में इन्द्र के तथा इन्द्र से सम्बद्ध अग्नि, उषा, सोम, मित्र, वरुण और अर्यमा के गुण-कर्म वर्णित होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

पञ्चम प्रपाठक में प्रथम अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त।
चतुर्थ अध्याय में अष्टम खण्ड समाप्त ॥

॥५॥ अथ 'परि प्र धन्वेन्द्राय' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ३-५, १० धिष्ण्या ऐश्वरयोऽग्नयः; २, ६ त्र्यरुणत्रसदस्यू; ७ वसिष्ठः; ८, ९ वामदेवः ॥ देवता—१-६, १० पवमानः; ७ मरुतः; ८ अग्निः; ९ वाजिनां स्तुतिः ॥ छन्दः—१, ३, ४, ५, ७, १० द्विपदा पङ्क्तिः; २, ६ त्रिपदा अनुष्टुप्पिपीलिकमध्या; ८ पदपङ्क्तिः; ९ पुर उष्णिक् ॥ स्वरः—१, ३-५, ७, ८, १० पञ्चमः; २, ६ गान्धारः; ९ ऋषभः ॥

अथाद्यानां षण्णां पवमानः सोमो देवता। सोमः परमात्मा प्रार्थ्यते।

४२७. परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूष्णे भगाय ॥१॥[1]

परि प्र धन्व इन्द्राय सोम। स्वादुः मित्राय मि त्राय पूष्णे भगाय ॥१॥

पदार्थः—हे **सोम** रसागार, शान्तिमय जगदीश्वर ! **स्वादुः** मधुरः त्वम्, मदीयाय **इन्द्राय** आत्मने, **मित्राय** मित्रभूताय मनसे, **पूष्णे** पोषकाय प्राणाय, **भगाय** सेवनीयाय बुद्धितत्त्वाय च **परि प्र धन्व** सर्वतः प्रक्षर, माधुर्यं शान्तिं च प्रस्रावयेत्यर्थः। धन्वतिः गतिकर्मा। निघं० २।१४ ॥१॥

भावार्थः—रसागारः शान्तश्च परमेश्वर एवास्मान् रसमयान् शान्तिप्रियांश्च कर्तुमर्हति ॥१॥

आदि की छः ऋचाओं का पवमान सोम देवता है। इस मन्त्र में सोम परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **सोम** रसागार एवं शान्तिमय जगदीश्वर ! **स्वादुः** मधुर आप, मेरे **इन्द्राय** आत्मा के लिए, **मित्राय** मित्रभूत मन के लिए, **पूष्णे** पोषक प्राण के लिए और **भगाय** सेवनीय बुद्धितत्त्व के लिए **परि प्र धन्व** सब ओर से माधुर्य और शान्ति को क्षरित करो ॥१॥

भावार्थ—रसागार और शान्त परमेश्वर ही हमें रसमय और शान्तिप्रिय कर सकता है ॥१॥

---

१. ऋ० ९।१०९।१।

अथ स्वान्तरात्मा वीरपुरुषश्च वीरकर्मकरणाय प्रोत्साह्यते ।

२ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
४२८. पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
द्विषस्तरध्या ऋणया न ईरसे ॥२॥[1]
१ २ १ ३ २ ३ १ २ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २
परि उ सु प्र धन्व वाजसातये वाज सातये । परि वृत्राणि सक्षणिः
३ १ २ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
स क्षणिः ॥ द्विषः तरध्यै ऋणयाः ऋण याः नः ईरसे ॥२॥

पदार्थः—हे सोम मदीय अन्तरात्मन् वीरपुरुष वा ! त्वम् **वाजसातये**[2] संग्रामाय, शत्रुभिः सह योद्धुमित्यर्थः। वाजसातिरिति संग्रामनाम। निघं० २।१७। वाजानां बलानां धनानां वा सातिः प्राप्तिर्यस्मिन् स वाजसातिः संग्रामः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । **उ सु** सम्यक् **परि प्र धन्व** परि प्रयाहि, परितः प्रयाणं कुरु । **सक्षणिः**[3] क्षणिः हिंसा क्षणोतेः, तया सहितः सक्षणिः, हिंसकः त्वम् **वृत्राणि** आवरकाणि पापानि **परि** परिधन्व सर्वतः आक्रमस्व । **ऋणयाः**[4] ऋणानां यापयिता त्वम् । ऋणोपपदात् ण्यर्थगर्भात् या धातोः, क्विपि रूपम् । **द्विषः** लोभादीन् द्वेष्टॄन् **तरध्यै** तर्तुम् । तरतेः 'तुमर्थे से सेनसे अ० ३।४।९' इति अध्यै प्रत्ययः । **नः** अस्मान् **ईरसे** प्रेरय । ईर गतौ कम्पने च धातोर्लेटि अडागमे रूपम् ॥२॥

भावार्थः—मनुष्यैर्लोभवृत्तिं परित्यज्य ऋणानि समये प्रतियातनीयानि वीरतया शत्रवश्च पराजेतव्याः ॥२॥

अगले मन्त्र में अपने अन्तरात्मा और वीरपुरुष को वीरकर्म करने के लिए प्रोत्साहित किया गया है।

पदार्थ—हे वीररसमय मेरे अन्तरात्मन् अथवा वीर पुरुष ! तू **वाजसातये** संग्राम के लिए अर्थात् शत्रुओं के साथ युद्ध करने के लिए **उ सु** भलीभाँति **परि प्र धन्व** चारों ओर प्रयाण कर, **सक्षणिः** हिंसक होकर तू **वृत्राणि** आच्छादक पापों पर **परि** चारों ओर से आक्रमण कर। **ऋणयाः** ऋणों को चुकाने वाला होकर तू **द्विषः** लोभ आदि द्वेषियों को **तरध्यै** पार करने के लिए **नः** हमें **ईरसे** प्रेरित कर ॥२॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि लोभवृत्तियों को छोड़कर ऋण समय पर चुकायें और वीरतापूर्वक शत्रुओं को पराजित करें ॥२॥

अथ सोमनाम्ना परमेश्वरो राजा च प्रार्थ्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
४२९. पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम ॥३॥[5]
१ २ १ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ १ ३ २ १ २ १
पवस्व सोम महान् समुद्रः सम् उद्रः । पिता देवानाम् विश्वा अभि धाम ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । हे **सोम** सर्वजगदुत्पादक परमेश्वर ! त्वम् **महान्** महिमोपेतः असि, **समुद्रः** रसस्य पारावारोऽसि, **देवानाम्** प्रकाशकानां विदुषां, सूर्यचन्द्रविद्युदग्न्यादीनां, ज्ञानेन्द्रियमनोबुद्धचा-

१. ऋ० ९।११०।१ 'ईरसे' इत्यत्र 'ईयसे' इति पाठः । साम० १३६४ ।

२. वाजसातये अस्मभ्यमन्नदानायैव परिप्रधन्व परितः प्रगच्छ । यद्वा अन्नलाभाय संग्रामं संग्रामं प्रगच्छ—इति सा० ।

३. अभिभावुकः —इति भ० । सहनशीलः—इति सा० । षहतेरभिभवार्थात् तद्व्युत्पत्तिस्तयोरभिमता । अस्माभिस्तु 'सक्षणिः' इति पदकारमनुसृत्य व्याख्यातम् ।

४. यत्तु सत्यव्रतसामश्रमिण आहुः 'ऋणया' इति तु 'सुपां सुलुगित्यादिना' सुपोऽयाचि साधितुं बहु सुकरं यथा कौमुद्यां दर्शितं च स्वप्नयेति", तन्न सङ्गच्छते, पदपाठे 'ऋणयाः' इति सविसर्गस्य दर्शनात् ।

५. ऋ० ९।१०९।४, साम० १२४१ ।

दीनां च **पिता** पालकः असि । त्वम् **विश्वा धाम** विश्वानि धामानि, सर्वाणि स्थानानि हृदयधामानि वा । शेश्छन्दसि बहुलम् । अ०६।१।७०' इति शसः शेर्लोपः । **अभि पवस्व** अभिव्याप्य पुनीहि । पूङ् पवने, भ्वादिः ॥

अथ **द्वितीयो** राजपरः । हे **सोम** चन्द्रवदाह्लादक प्रजारञ्जक राजन् ! त्वम् **महान्** गुणैः कर्मभिश्च महत्त्वयुक्तोऽसि, **समुद्रः** प्रेमरसस्य, शौर्यस्य, सम्पदां च सागरोऽसि, **देवानाम्** दानादिगुणयुक्तानां प्रजाजनानाम् **पिता** पालकोऽसि । त्वम् **विश्वा धाम** राष्ट्रस्य सर्वान् विभागान् शिक्षान्यायकृषिव्यापारोद्योगसैन्यादीन् **अभि** अभिव्याप्य, तानि **पवस्व** निर्दोषाणि पवित्राणि च विधेहि ॥३॥

अत्र श्लेषालङ्कारः, सोमे समुद्रत्वारोपाद् रूपकं चः ॥३॥

भावार्थः—यथा परमात्मा सर्वेषां हृदयानि पुनाति, तथा राजा राष्ट्रस्य सर्वान् विभागान् भ्रष्टाचाररहितान् पवित्रांश्च विदधातु ॥३॥

अगले मन्त्र में सोम नाम से परमेश्वर और राजा से प्रार्थना की जा रही है ।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हे **सोम** सब जगत् के उत्पन्न करने वाले परमेश्वर ! आप **महान्** महान् हो, **समुद्रः** रस के पारावार हो, **देवानाम्** प्रकाशक विद्वानों के, सूर्य-चन्द्र-विद्युत्-अग्नि आदियों के और ज्ञानेन्द्रिय-मन-बुद्धि आदियों के **पिता** पालनकर्ता हो । आप **विश्वा धाम** सब स्थानों को वा हृदय-धामों को **अभि पवस्व** व्याप्त करके पवित्र करो ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में । हे **सोम** चन्द्रमा के समान आह्लादक प्रजारञ्जक राजन् ! आप **महान्** गुणों और कर्मों में महान् हो, **समुद्रः** प्रेमरस, शौर्य और सम्पदाओं के सागर हो, **देवानाम्** दानादि गुणों से युक्त प्रजाजनों के **पिता** पालक हो । आप **विश्वा धाम** राष्ट्र के शिक्षा, न्याय, कृषि, व्यापार, उद्योग, सेना आदि सब विभागों में **अभि** पहुँचकर **पवस्व** उन्हें निर्दोष और पवित्र करो ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है और सोमपदवाच्य परमात्मा और राजा में समुद्र का आरोप होने से रूपकालंकार भी है ॥३॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा सबके हृदयों को पवित्र करता है, वैसे ही राजा राष्ट्र के सब विभागों को भ्रष्टाचार से रहित तथा पवित्र करे ॥३॥

अथ पुनः परमेश्वरं राजानं च प्रार्थयते ।

१२ ३२७ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १९ २९
४३०. **पवस्व सोम महे दक्षायाश्वो न निक्तो वाजी धनाय ॥४॥**[1]

१२९ ३ २ १२९ १२९ ३२ ३२ १२९
पवस्व सोम महे दक्षाय । अश्वः न निक्तः वाजी धनाय ॥४॥

पदार्थः—हे **सोम** रसागार परमेश्वर राजन् वा ! **अश्वः**[2] **न** अग्निरिव, पर्जन्य इव, सूर्य इव वा **निक्तः** शुद्धः, शुद्धगुणकर्मस्वभावः । णिजिर् शौचपोषणयोः, भावे क्तः । **वाजी** बलवांश्च त्वम् **महे** महते **दक्षाय** बलाय, **धनाय** ऐश्वर्याय च **पवस्व** अस्मान् पुनीहि ॥४॥

अत्रोपमालङ्कारोऽर्थश्लेषश्च ॥४॥

भावार्थः—परमेश्वर इव नृपतिरपि स्वयं शुद्धाचारः सन् सर्वेषामाचरणं पवित्रं कुर्यात् । तदेव बलं धनञ्च सर्वोपकारकं जायते यत् पवित्रतापूर्वकं पवित्रसाधनैश्च समर्जितं भवति ॥४॥

---

१. ऋ० ९।१०९।१०, 'महे' इत्यत्र 'क्रत्वे' इति पाठः । साम० १३३२ ।

२. वेदेऽग्निः पर्जन्यः सूर्यश्च अश्वनाम्ना व्यपदिष्टाः । यथा, ऋ० १०।१८८।१, ५।८३।६, ७।७७।३ ।

अगले मन्त्र में पुनः परमेश्वर और राजा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **सोम** रसागार परमेश्वर और राजन् ! **अश्वः न** अग्नि, बादल वा सूर्य के समान **निक्तः** शुद्ध, शुद्ध गुण-कर्म-स्वभाव वाले और **वाजी** बलवान् आप **महे** महान् **दक्षाय** बल के लिए तथा **धनाय** धन के लिए **पवस्व** हमें पवित्र कीजिए ॥४॥

इस मन्त्र में उपमालंकार तथा अर्थश्लेषालंकार है ॥४॥

भावार्थ—परमेश्वर के समान राजा भी स्वयं शुद्ध आचरण वाला होकर सबके आचरण को पवित्र करे। वही बल और धन सबका उपकारक होता है, जो पवित्रता के साथ तथा पवित्र साधनों से कमाया जाता है ॥४॥

अथ पुनरपि परमेश्वरनृपत्योर्विषयमाह।

४३१. इन्दुः पविष्ट चारुर्मदायापामुपस्थे कविर्भगाय ॥५॥[1]

इन्दुः पविष्ट चारुः मदाय। अपाम् उपस्थे उप स्थे कविः भगाय ॥५॥

पदार्थः—**चारुः** रमणीयः **कविः** क्रान्तद्रष्टा, मेधावी **इन्दुः** चन्द्रवदाह्लादकः सोमौषधिवद् रसागारः, शान्तेः सौम्यप्रकाशेन प्रदीपयिता परमेश्वरो नृपतिर्वा। इन्दुः इन्धेः उनत्तेर्वा। निरु० १०।४१। **मदाय** आनन्दं जनयितुम् **भगाय** ऐश्वर्यं च जनयितुम् **अपाम्** प्राणानाम्। प्राणा वा आपः। तै० ब्रा० ३।२।५।२। जलवत् शान्तानां प्रजानां[2] वा **उपस्थे** मध्ये स्थित्वा **पविष्ट** पवित्रतां सम्पादयेत्। पूङ् पवने, लिङर्थे लुङ्, अडागमाभावश्छान्दसः ॥५॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—परमेश्वर इव नृपतिरपि चारुदर्शनो, विवेकी, क्रान्तद्रष्टा, चन्द्र इव मधुरः, प्रेमरसेन वीररसेन च परिप्लुतः, परमानन्दधनप्रदः, पवित्रः पावकश्च भवेत् ॥५॥

अगले मन्त्र में पुनः परमेश्वर और राजा का विषय है।

पदार्थ—**चारुः** रमणीय, **कविः** दूरदर्शी, मेधावी, **इन्दुः** चन्द्रमा के समान आह्लादक और सोम ओषधि के समान रसागार, शान्ति के सौम्य प्रकाश से प्रदीप्त करने वाला परमेश्वर और राजा **मदाय** आनन्द उत्पन्न करने के लिए, और **भगाय** ऐश्वर्य उत्पन्न करने के लिए **अपाम्** प्राणों के वा जल के समान शान्त प्रजाओं के **उपस्थे** मध्य में स्थित होकर **पविष्ट** पवित्रता देवे ॥५॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥५॥

भावार्थ—परमेश्वर के समान राजा भी चारुदर्शन, विवेकी, क्रान्तदर्शी, चन्द्रमा के समान मधुर, प्रेमरस तथा वीररस से परिप्लुत, परमानन्द और धन का दाता, पवित्र एवं पवित्रतादायक होवे ॥५॥

अथ सोमनाम्ना परमात्मानं जीवात्मानं राजानं च सम्बोधयति।

४३२. अनु हि त्वा सुतं सोम मदामसि महे समर्यराज्ये।
वाजाँ अभि पवमान प्र गाहसे ॥६॥[3]

---

१. ऋ० ९।१०९।१३।

२. (आपः) जलानीव प्रजाः इति ऋ० ५।३४।९ भाष्ये द०।

३. ऋ० ९।११०।२; साम० १३६६।

१२१ ३ २ ३ १२१ ३२ ३ १ २ ३ १२१
अनु हि त्वा सुतम् सोम मदामसि । महे समर्यराज्ये समर्य राज्ये ॥
१२१ ३ २ ३ २ ३
वाजान् अभि पवमान प्र गाहसे ॥६॥

पदार्थः—हे **सोम** परमात्मन् जीवात्मन् राजन् वा ! **सुतम्** अभिषिक्तम् **त्वा** त्वाम् **अनु** अनुगम्य **महे** महति **समर्यराज्ये** समर्याणां देवासुरसमरे कुशलानां देवभावानां क्षत्रिययोद्धृणां वा राज्ये । समर प्रातिपदिकात् कुशलार्थे यत् । वयम् **मदामसि हि** निश्चयेन मदामः आनन्दमुपलभामहे । अत्र हि-योगान्निघाताभावः । हे **पवमान** पवित्रकर्तः देव ! त्वम् **वाजान् अभि** बलानि विज्ञानानि ऐश्वर्याणि वा अभिप्रापयितुम् **प्र गाहसे** अस्मान् प्रकर्षेण आलोडयसि, आलोड्य क्रियाशीलान् करोषीति भावः ॥६॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥६॥

भावार्थः—परमात्मानं जीवात्मानं वीरं मनुष्यं वा राजपदेऽभिषिच्य संग्रामकुशलानां वीरभावानां वीरजनानां च राज्ये निवसन्तो वयं देवासुरसंग्रामे विजयमुत्कर्षं च प्राप्नुयाम ॥६॥

अगले मन्त्र में सोम नाम से परमात्मा, जीवात्मा और राजा को सम्बोधित किया गया है ।

पदार्थ—हे **सोम** परमात्मन्, जीवात्मन् वा राजन् ! **सुतम्** अभिषिक्त किये हुए **त्वा** तुम्हारा **अनु** अनुगमन करके, हम **महे** महान् **समर्यराज्ये** देवासुरसंग्राम में कुशल दिव्य भावों व वीर क्षत्रियों के राज्य में **मदामसि हि** निश्चय ही आनन्द लाभ करते हैं । हे **पवमान** पवित्रकर्ता देव ! तुम **वाजान् अभि** हमें बल, विज्ञान वा ऐश्वर्य प्राप्त कराने के लिए **प्र गाहसे** प्रकृष्ट रूप से आलोडित करते हो अर्थात् आलोडित करके क्रियाशील बना देते हो ॥६॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलङ्कार है ॥६॥

भावार्थ—परमात्मा, जीवात्मा और वीर मनुष्य को राजा के पद पर अभिषिक्त करके संग्रामकुशल वीरभावों व वीरजनों के राज्य में निवास करते हुए हम देवासुरसंग्राम में विजय और उत्कर्ष पायें ॥६॥

अथ मरुतो देवताः । प्राणानां योद्धृणां च विषये प्रश्नपूर्वकमाह ।

२ ३कृ २१ ३ २ ३ १ २ ३२ ३ २ ३ २ ३ १ २
४३३. क ईं व्यक्ता नरः सनीडा रुद्रस्य मर्या अधा स्वश्वाः ॥७॥[1]
२ ३ १२ ३ १२१ १२१ ३
के ईम् व्यक्ताः वि अक्ताः नरः सनीडाः स नीडाः ।
१ २ १२१ १२१ १ २१ ३ १ २१
रुद्रस्य मर्याः अथ स्वश्वाः सु अश्वाः ॥७॥

पदार्थः—**के ईम्** के इमे **व्यक्ताः** प्रकाशमानाः **नरः** नेतारः **सनीडाः** समानाश्रयाः **रुद्रस्य मर्याः** रुद्रस्य पुत्रत्वेनोच्यमानाः **अथ** अपि च **स्वश्वाः** शोभनाश्वाः सन्तीति प्रश्नः । अथोत्तरम्, **प्राणपक्षे** इमे **व्यक्ताः** विशेषेण गतिमन्तः । वि पूर्वः अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । **नरः** शरीरस्य नेतारः, **सनीडाः** देहरूपसमानगृहवासिनः, **रुद्रस्य मर्याः** रुद्रनाम्नो मुख्यप्राणस्य सहचराः **स्वश्वाः** इन्द्रियरूपशोभनाश्वाः, मरुतः प्राणापानव्यानोदानसमानाः सन्तीति । अथ **सैनिकपक्षे**—इमे **व्यक्ताः** परिचायकचिह्नैः[2] अंसेषु ऋष्टिभिः, पत्सु खादिभिः, वक्षःसु रुक्मैः, गभस्त्योः विद्युद्भिः, शीर्षसु शिप्रैः व्यक्तिं भजमानाः, **सनीडाः** समाने राष्ट्र-

१. ऋ० ७।५६।१ ।

२. अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षसुः रुक्मा मरुतो रथे शुभः ।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः ॥
ऋ० ५।५४।११ इत्यत्र वर्णितैः परिचायकचिह्नैरित्यर्थः ।

रूपे नीडे निवसन्तः **रुद्रस्य मर्याः** शत्रुरोदकस्य सेनापतेः मनुष्याः **स्वश्वाः** शोभनेषु तुरंगमेष्वारूढाः, यद्वा शोभनानश्वान् अग्निविद्युदादीन् युद्धरथे योक्तारः, मरुतः राष्ट्रस्य वीराः सैनिकाः सन्तीति ॥७॥

अत्र प्रश्न एव उत्तरस्य समावेशाद् गूढोत्तररूपः प्रहेलिकालङ्कारः ॥७॥

भावार्थः—यथा देहरूपे गृहे व्यवस्थापूर्वकं विभज्य विभिन्नान्यङ्गान्याश्रयन्तः प्राणाः देहं रक्षन्ति, तथैव राष्ट्रे निवसन्तो वीराः सैनिकाः राष्ट्रं रक्षन्तीति हेतोर्देहे प्राणा राष्ट्रे च सैनिका उत्तमखाद्यपेयादिभिः सत्करणीयाः ॥७॥

अगले मन्त्र के 'मरुतः' देवता हैं। प्राणों और योद्धाओं के विषय में प्रश्न उठाते हुए कहा गया है।

पदार्थ—**के ईम्** कौन ये **व्यक्ताः** प्रकाशमान, **नरः** नेता, **सनीडाः** समान आश्रय वाले, **रुद्रस्य मर्याः** रुद्र के पुत्र कहे जाने वाले, **अथ** और **स्वश्वाः** उत्तम घोड़ों वाले हैं ? यह प्रश्न है। इसका उत्तर इस प्रकार है—

प्रथम प्राणों के पक्ष में। ये **व्यक्ताः** विशेष गति वाले, **नरः** शरीर के नेता, **सनीडाः** शरीर-रूप समान गृह में निवास करने वाले, **रुद्रस्य मर्याः** रुद्र नामक मुख्य प्राण के सहचर, **स्वश्वाः** इन्द्रियरूप उत्तम घोड़ों वाले, **मरुतः** प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान हैं॥ **द्वितीय** सैनिकों के पक्ष में। ये **व्यक्ताः** कन्धों पर बन्दूकें, पैरों में पादत्राण, छातियों पर सोने के तमगे, भुजाओं में विद्युत्-यन्त्र, शिरों पर शिरस्त्राण इन परिचायक चिह्नों से व्यक्त होते हुए, **सनीडाः** समान राष्ट्ररूप गृह में निवास करने वाले, **रुद्रस्य मर्याः** शत्रुओं को रुलाने वाले सेनापति के मनुष्य, **स्वश्वाः** उत्तम घोड़ों पर सवार अथवा उत्तम अग्नि, विद्युत् आदि को युद्ध-रथ में प्रयुक्त करने वाले **मरुतः** राष्ट्र के वीर सैनिक हैं ॥७॥

इस मन्त्र में प्रश्न में ही उत्तर समाविष्ट होने से गूढ़ोत्तर नामक प्रहेलिकालंकार है ॥७॥

भावार्थ—जैसे शरीर-रूप गृह में व्यवस्थापूर्वक अपना-अपना स्थान बाँटकर विभिन्न अंगों में आश्रय लेने वाले प्राण शरीर की रक्षा करते हैं, वैसे ही राष्ट्र में निवास करने वाले वीर सैनिक राष्ट्र की रक्षा करते हैं, इस कारण शरीर में प्राणों का और राष्ट्र में सैनिकों का उत्तम खाद्य, पेय आदि से सत्कार करना चाहिए ॥७॥

अथाग्निर्देवता। कीदृशं परमात्मानं वयं परिचरेमेत्याह।

२३ २३ २ ३ २३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
४३४. अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम्।
३ १ २ ३ १ २
ऋध्यामा त ओहैः ॥८॥[1]

१ २१ ३ २ ३ २ १ २१ १ २१ १ २१
अग्ने तम् अद्य अ श्व। अश्वम् न स्तोमैः ॥ क्रतुम् न
३ २ ३ १ २ ३ १ २१ ३ १ २ ३ १ २१
भद्रम्। हृदिस्पृशम् हृदि स्पृशम् ॥ ऋध्याम ते ओहैः ॥८॥

पदार्थः—हे **अग्ने** अग्रणीः प्रकाशक परमेश्वर ! **अश्वं न** तुरगम् इव, **क्रतुं न** कर्तारं शिल्पिनम् इव च। करोतीति क्रतुः। 'कृञः कतुः उ० १।७६' इति कृञ् धातोः कतुः प्रत्ययः। **भद्रम्** कल्याणकरम्, **हृदिस्पृशम्** हृदयस्पर्शिनम्। हृदि स्पृशतीति हृदिस्पृक् 'हृद्युभ्यां डेः अ० ६।३।९ वा०' इति सप्तम्या अलुक्। **तम्** जगत्प्रसिद्धं त्वाम् **अद्य** अस्मिन् दिने **ते ओहैः**[2] अस्मदभिमुखं त्वद्वाहकैः। वह प्रापणे धातोः छान्दसे

१. ऋ० ४।१०।१; य० १५।४४; १७।७७ ऋषिः परमेष्ठी। साम० १७७७।

२. ओहैः वाहकैः इति स्तोमविशेषणम्—इति भ०। 'विद्यासुखप्रापकैः' इति य० १५।४४ भाष्ये—द०।

सम्प्रसारणे गुणे रूपम् । **स्तोमैः** स्तोत्रैः **ऋध्याम** परिचरेम । ऋध्नोति ऋणद्धि इति परिचरणकर्माणौ । निघं० ३।५ । संहितायाम् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते अ० ६।३।१३७' इति दीर्घः ॥८॥[1]

अत्रोपमालङ्कारः ॥८॥

भावार्थः—यथाश्वो देशान्तरगमने साधनतां प्राप्य शिल्पी च विविधान् यन्त्रकलादीन्निर्माया-स्माकं हितं साध्नोति, तथैव परमेश्वरोऽस्मानुत्कर्षं नीत्वास्माकं कृते सूर्यचन्द्रवायुफलमूलादीनि विविध-वस्तूनि च निर्माय हितकर्ता जायते ॥८॥

अगले मन्त्र का अग्नि देवता है । इसमें यह विषय है कि कैसे परमात्मा की हम पूजा करें ।

पदार्थ—हे **अग्ने** अग्रनेता प्रकाशक परमेश्वर ! **अश्वं न** घोड़े के समान, और **ऋतुं न** रचयिता शिल्पी के समान **भद्रम्** कल्याणकर्ता, **हृदिरपृशम्** हृदय को स्पर्श करने वाले **तम्** उस जगत्प्रसिद्ध तुझको **अद्य** आज **ते ओहैः** तुझे हमारी ओर लाने वाले **स्तोमैः** स्तोत्रों से **ऋध्याम** पूजित करें ॥८॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥८॥

भावार्थ—जैसे घोड़ा देशान्तर को जाने में साधन बनकर और शिल्पी विविध यन्त्रकला आदि का निर्माण करके हमारा हित करता है, वैसे ही परमेश्वर हमें उन्नति की ओर ले जाकर और हमारे लिए सूर्य, चन्द्र, वायु, फल, मूल आदि विविध वस्तुओं का निर्माण कर हमारा हितकर्ता होता है ॥८॥

अथ वाजिनां स्तुतिः ।

४३५. **आविर्मर्या आ वाजं वाजिनो अग्मन् देवस्य सवितुः सवम् ।**
स्वर्गा अर्वन्तो जयत ॥९॥

आविः आ विः मर्याः आ वाजम् वाजिनः अग्मन् ।
देवस्य सवितुः सवम् ॥ स्वर्गान् स्वः गान् अर्वन्तः जयत ॥९॥

पदार्थः—**वाजिनः** ज्ञानवन्तो जनाः **वाजम्** बलम्, **देवस्य** प्रकाशकस्य **सवितुः** प्रेरकस्य परमात्मनः **सवम्** प्रेरणां च । षू प्रेरणे, 'ऋदोरप् अ० ३।३।५७' इत्यप् । **आ अग्मन्** आप्नुवन्ति । हे **मर्याः** मनुष्याः ! यूयमपि **आविः** स्वात्मनि बलं परमात्मनः प्रेरणां च आविष्कुणुत । हे **अर्वन्तः** उद्योगिनो जनाः ! ऋ गति-प्रापणयोः धातोर्वनिप्प्रत्यये रूपम् । यूयम् **स्वर्गान्** सुखमयान् ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासलोकान् मुक्ति-लोकांश्च **जयत** अधिगच्छत ॥९॥

अत्र 'अर्वन्तः' इति शब्दप्रयोगाद् यथा अश्वाः संग्रामं जयन्तीत्युपमालंकारो ध्वन्यते । 'वाजं, वाजि', 'सवि, सव' इत्यत्र छेकानुप्रासः, वकारस्य चासकृदावृत्तौ वृत्त्यनुप्रासः ॥९॥

भावार्थः—मनुष्यैरात्मबलं संचित्य परमात्मनः सकाशात् सत्प्रेरणां च गृहीत्वा शुभकर्माणि कृत्वा लौकिक-पारलौकिकसुखं प्राप्तव्यम् ॥९॥

अगले मन्त्र में वाजियों की स्तुति का विषय है ।

पदार्थ—**वाजिनः** ज्ञानवान् लोग **वाजम्** बल को, और **देवस्य** प्रकाशक **सवितुः** प्रेरक परमात्मा की **सवम्** प्रेरणा को **आ अग्मन्** प्राप्त करते हैं । हे **मर्याः** मनुष्यो ! तुम भी **आविः** अपने आत्मा में बल

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतम् ऋ० ४।१०।१ भाष्ये, य० १५।४४ भाष्ये च विद्वद्विषये, य० १७।७७ भाष्ये चाध्यापकाध्येतृ-विषये व्याख्यातवान् ।

और परमात्मा की प्रेरणा को प्रकट करो। हे **अर्वन्तः** उद्योगी मनुष्यो ! तुम **स्वर्गान्** सुखमय ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास लोकों को तथा मुक्तिलोकों को **जयत** जीत लो ॥९॥

इस मन्त्र में 'अर्वन्तः' शब्द के प्रयोग से 'जैसे घोड़े संग्राम को जीत लेते हैं' यह उपमालंकार ध्वनित होता है। 'वाजं, वाजि' तथा 'सवि, सव' में छेकानुप्रास और वकार की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ॥९॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि आत्मबल का संचय करके और परमात्मा से सत्प्रेरणा लेकर, शुभ कर्म करके लौकिक तथा पारलौकिक सुख को प्राप्त करें ॥९॥

अथ पवमानः सोमो देवता। सोमः परमात्मा प्रार्थ्यते।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ २
४३६. पवस्व सोम द्युम्नी सुधारो महाँ अवीनामनुपूर्व्यः ॥१०॥[1]

१ २ १ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ १ १ २ १ ३ २
पवस्व सोम द्युम्नी सुधारः सु धारः। महान् अवीनाम् अनु पूर्व्यः ॥१०॥

पदार्थः—हे **सोम** आनन्दरसागार परमात्मन् ! **द्युम्नी** यशस्वी। 'द्युम्नं द्योततेः यशो वाऽन्नं वा' इति यास्कः। निरु० ५।५। **अवीनां महान्** समवेतानां बह्वीनां पृथिवीनामपि विशालतरः। इयं **पृथिवी** वा अविः, इयं हीमाः सर्वाः प्रजा अवति। श० ६।१।२।३३। **पूर्व्यः** पूर्वस्मिन्नपि काले भवः, सनातनः इत्यर्थः, त्वम् **सुधारः** शोभनाभिः आनन्दरसधाराभिः सहितः **पवस्व** मम हृदये परिस्रव ॥१०॥

भावार्थः—समाहितेन मनसा सततमुपासितो रसनिधिः परमेश्वर आनन्दधाराभिर्हृदये वर्षति ॥१०॥

अत्र सोमनाम्ना परमात्मनो रसमयत्वमुपवर्ण्य तत आनन्दरसस्य पवित्रतायाश्च याचनात्, अग्निनाम्ना तस्य तेजोमयत्ववर्णनाद्, मरुन्नाम्ना प्राणादीनां च वर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्तीति विज्ञेयम् ॥

इति पञ्चमे प्रपाठके प्रथमार्द्धे पञ्चमी दशतिः।

इति प्रथमोऽर्द्धः।

इति चतुर्थेऽध्याये नवमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र का पवमान सोम देवता है। सोम परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **सोम** आनन्दरसागार परमात्मन् ! **द्युम्नी** यशस्वी, **अवीनां महान्** बहुत-सी भूमियों से भी अधिक महान्, **पूर्व्यः** सनातन, **सुधारः** आनन्दरस की उत्तम धारों सहित आप **पवस्व** मेरे हृदय में परिस्रुत हों ॥१०॥

भावार्थ—समाहित मन से निरन्तर उपासना किया गया रसनिधि परमेश्वर आनन्द की बौछारों के साथ हृदय में बरसता है ॥१०॥

इस दशति में सोम नाम से परमात्मा की रसमयता का वर्णन करके उससे आनन्दरस और पवित्रता की याचना होने से, अग्नि नाम से उसके तेजोमय रूप का वर्णन होने से, और मरुतों के नाम से प्राणादि का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

पञ्चम प्रपाठक में प्रथम अर्ध की पञ्चमी दशति समाप्त।

प्रथम अर्ध समाप्त हुआ।

चतुर्थ अध्याय में नवम खण्ड समाप्त ॥

---

१. ऋ० ९।१०९।७, 'महाँ अवीनामन्' इत्यत्र 'महामवीनामनु' इति पाठः।

॥६॥ अथ 'विश्वतोदावन्' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, २, ५, ६, ८-१० वामदेवः; ३, ४ अवस्युः; ७ संवर्तः ॥ देवता—१-५, ८-१० इन्द्रः; ६ विश्वेदेवाः; ७ उषाः ॥ छन्दः—द्विपदा पंक्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

तत्राद्ये मन्त्रे इन्द्रो धनादिकं याच्यते ।

४३७. विश्वतोदावन् विश्वतो न आ भर यं त्वा शविष्ठमीमहे ॥१॥

विश्वतोदावन् विश्वतः दावन् विश्वतः नः आ भर ।
यम् त्वा शविष्ठम् ईमहे ॥१॥

पदार्थः—हे **विश्वतोदावन्** सर्वतो दानकर्तः इन्द्र परमात्मन् राजन् वा ! विश्वतस्पूर्वाद् ददातेः 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । अ० ३।२।७४' इति वनिप् प्रत्ययः । त्वम् **विश्वतः** सर्वतः **नः** अस्मभ्यम्, **आ भर** विद्याधनबलादिकम् आहर, **यम् शविष्ठम्** बलिष्ठम् **त्वा** त्वाम्, वयम् **ईमहे** याचामहे । ईमहे इति याञ्चाकर्मसु पठितम् । निघं० ३।१९ ॥१॥

अत्र अर्थश्लेषः, 'विश्वतो' इत्यस्यावृत्तौ च लाटानुप्रासोऽलङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—यथा परमेश्वरोऽस्मभ्यं वेदज्ञानम् आत्मबलं देहबलं सूर्यवायुपृथिवीहिरण्यादिकं धनं च प्रयच्छति तथैव नृपतिरपि राष्ट्रे निरक्षरेभ्यो विद्यां निर्बलेभ्यो बलं निर्धनेभ्यश्च धनं प्रदद्यात् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र से धनादि की याचना की गयी है ।

पदार्थ—हे **विश्वतोदावन्** सब ओर दान करने वाले परमात्मन् वा राजन् ! आप **विश्वतः** सब ओर से **नः** हमारे लिए **आ भर** विद्या, धन, बल आदि लाइए, **यम्** जिन **शविष्ठम्** बलिष्ठ **त्वा** आपसे, हम **ईमहे** याचना कर रहे हैं ॥१॥

इस मन्त्र में अर्थ-श्लेष अलंकार, तथा 'विश्वतो' की आवृत्ति में लाटानुप्रास अलंकार है ॥१॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर हमारे लिए वेदज्ञान, आत्मबल, देहबल तथा सूर्य, वायु, पृथिवी, सुवर्ण आदि धन देता है, वैसे ही राजा भी राष्ट्र में निरक्षरों को विद्या, निर्बलों को बल और निर्धनों को धन प्रदान करे ॥१॥

अथेन्द्रं परमात्मानं वर्णयति ।

४३८. एष ब्रह्मा य ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुतो गृणे ॥२॥[1]

एषः ब्रह्मा यः ऋत्वियः । इन्द्रः नाम श्रुतः गृणे ॥२॥

पदार्थः—**एषः** अयं मयाऽनुभूयमानः परमेश्वरः **ब्रह्मा** ज्ञानगुणकर्मादिना परिवृढत्वात् ब्रह्मा वर्तते । ब्रह्मा परिवृढः श्रुतः, ब्रह्म परिवृढं सर्वतः । निरु० १।८ । **यः ऋत्वियः**[2] यः सर्वदा प्राप्तकालः, ऋतौ ऋतौ उपास्यः इति यावत् । ऋतुः प्राप्तोऽस्य । तदस्य प्राप्तमित्यर्थे 'छन्दसि घस् । अ० ५।१।१०६' इत्यनेन घस् प्रत्ययः । यश्च **इन्द्रो नाम श्रुतः** इन्द्र इति नाम्ना प्रसिद्धः वर्वर्त्ति । तम् अहम् **गृणे** स्तौमि ॥२॥

भावार्थः—परमेश्वरः सर्वतो वृद्धः, सर्वतो भद्रः सर्वऋतूपास्यश्च वर्तते ॥२॥

---

१. साम० १७६८ ।

२. ऋत्वियः ऋतुषु काले-काले प्रादुर्भवन्—इति भ० । ऋतौ वसन्तादिसमये भवः—इति सा० ।

अगले मन्त्र में इन्द्र परमात्मा का वर्णन किया गया है।

पदार्थ—**एषः** यह मेरे द्वारा अनुभव किया जाता हुआ परमेश्वर **ब्रह्मा** ज्ञान, गुण, कर्म आदि से सर्वतोवृद्ध होने के कारण ब्रह्मा कहलाता है, **यः ऋत्वियः** जिसकी पूजा की ऋतु सदा ही रहती है, और जो **इन्द्रो नाम श्रुतः** इन्द्र नाम से प्रसिद्ध है, उसकी मैं **गृणे** स्तुति करता हूँ ॥२॥

भावार्थ—परमेश्वर सब दृष्टियों से वृद्ध, सब दृष्टियों से भद्र और सब ऋतुओं में उपासनीय है ॥२॥

अथेन्द्रस्यार्चनसत्कारविषयमाह।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
४३९. ब्रह्माण इन्द्रं महयन्तो अर्केरवर्धयन्नहये हन्तवा उ ॥३॥[1]

३ १ २ १ २ १ ३ १ २ ३ २ १ २ १ २ ३ २ ३
ब्रह्माणः इन्द्रम् महयन्तः अर्कैः। अवर्धयन् अहये हन्तवै उ ॥३॥

पदार्थः—**ब्रह्माणः**[2] आस्तिकाः देशभक्ताश्च जनाः **अर्कैः** वेदमन्त्रैः। अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति। निरु० ५।४। **इन्द्रम्** विघ्नविदारकं परमेश्वरं राजानं वा **महयन्तः** पूजयन्तः सत्कुर्वन्तो वा। महयतिः अर्चनाकर्मा। निघं० ३।१४। मह पूजायाम्, चुरादिः। **अहये हन्तवै** अहिं सर्पवत् कुटिलगतिं विघ्नसमूहं पापं शत्रुं वा हन्तुम्। अहये इत्यत्र 'क्रिययापि यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्। वा०, अ० १।४।३२' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। हन्तवै, हन्तेस्तुमर्थे तवै प्रत्ययः। 'अन्तश्च तवै युगपत्। अ० ६।१।२००' इति आद्यन्तौ युगपदुदात्तौ। **उ** खलु **अवर्द्धयन्** स्वहृदये राष्ट्रे च वर्द्धयन्ति ॥३॥[3]

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—यथा परमेश्वरो योगमार्गे समागतान् विघ्नान्, अन्तःकरणे समाजे च प्राप्तप्रसरान् पापरूपाञ्छत्रून्, दुष्टांश्च हिनस्ति, तथैव नृपतिना राष्ट्रोन्नतये शत्रवो हिंसनीयाः ॥३॥

अगले मन्त्र में इन्द्र के पूजन वा सत्कार का विषय है।

पदार्थ—**ब्रह्माणः** आस्तिक तथा देशभक्त लोग **अर्कैः** वेदमन्त्रों से **इन्द्रम्** विघ्नविदारक परमेश्वर वा राजा को **महयन्तः** पूजित वा सत्कृत करते हुए **अहये हन्तवै** सर्प के समान कुटिल गति वाले विघ्नसमूह, पाप वा शत्रु को नष्ट करने के लिए **उ** निश्चय ही **अवर्द्धयन्** अपने हृदय में वा राष्ट्र में बढ़ाते हैं ॥३॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥३॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर योगमार्ग में आये विघ्नों का, अन्तःकरण और समाज में प्रसार पाये पापरूप शत्रुओं का तथा दुष्टों का संहार करता है, वैसे ही राजा को चाहिए कि राष्ट्र की उन्नति के लिए शत्रुओं का विनाश करे ॥३॥

अथेन्द्रस्य रथवज्रतक्षणविषयमाह।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
४४०. अनवस्ते रथमश्वाय तक्षुस्त्वष्टा वज्रं पुरुहूत द्युमन्तम् ॥४॥[4]

१ २ १ ३ १ २ १ १ २ १ ३ १ २ १ २ १ ३ १ २
अनवः ते रथम् अश्वाय तक्षुः। त्वष्टा वज्रम् पुरुहूत पुरु हूत द्युमन्तम् ॥४॥

---

१. ऋ० ५।३१।४ उत्तरार्धः।

२. ब्रह्माणः मदीया ऋत्विजः—इति वि०। श्रुतशीलादिभिः परिवृढाः स्तोतारः—इति भ०। ब्रह्माणः ब्राह्मणाः—इति सा०।

३. (ब्रह्माणः) चतुर्वेदविदः (इन्द्रम्) अखण्डैश्वर्यं राजानम् (महयन्तः) पूजयन्तः (अर्कैः) सत्कारसाधनतमैर्विचारैर्वचनैः कर्मभिर्वा (अवर्धयन्) वर्धयन्ति इति ऋ० ५।३१।४ भाष्ये द०।

४. एतं चतुर्थं मन्त्रं पूर्वार्द्धं विधाय तृतीयं मन्त्रं चोत्तरार्धं कृत्वा ऋग्वेदस्य ५।३१।४ मन्त्रो निष्पद्यते, यत्र 'तक्षुस्' इत्यस्य स्थाने 'तक्षन्' इति पाठः। अवस्युरात्रेयः ऋषिः, त्रिष्टुप् छन्दः।

पदार्थः—**प्रथमो** जीवात्मपरः। हे **पुरुहूत** बहुभिः कीर्तितगुण जीवात्मन् ! **ते** तुभ्यम् **अनवः** प्राणाः। अन्यते प्राण्यते यैः साधनभूतैः ते अनवः प्राणाः। अन प्राणने, बाहुलकाद् औणादिकः उ प्रत्ययः। **अश्वाय**[1] आशुगमनाय **रथम्** देहरूपं यानम् **तक्षुः** तक्षन्ति, रचयन्ति। तक्षू तनूकरणे धातोर्लङर्थे लिट्। ततक्षुः इति प्राप्ते द्वित्वाभावश्छान्दसः। **त्वष्टा** जगच्छिल्पी परमेश्वरः **द्युमन्तम्** तेजोमयम् **वज्रम्** वाग्रूपम् आयुधम् तक्षति। वाग् घि वज्रः। ऐ० ब्रा० ४।१। तेन यशोमयेन देहरथेन जीवनयात्रां निर्वहंस्त्वं वाग्वज्रेण पाखण्डिनो विखण्डय ॥४॥

अथ **द्वितीयो** राजपरः। हे **पुरुहूत** बहुभिः प्रजाजनैः सत्कृत इन्द्र अखण्डैश्वर्य राजन् ! **ते** तुभ्यम् **अनवः** शिल्पिजनाः। अनवः इति मनुष्यनामसु पठितम्। निघं० २।३। **अश्वाय** सद्योगमनाय **रथम्** यात्रा-साधनं, युद्धसाधनं च भूजलान्तरिक्षयानसमूहम् **तक्षुः** रचयन्तु। लोडर्थे लिट्। **त्वष्टा** शस्त्रास्त्रनिर्माता शिल्पी **द्युमन्तम्** दीप्तिमन्तम् **वज्रम्** शस्त्रास्त्रसमूहं तक्षतु रचयतु॥ एवं रथशस्त्रास्त्रादिभिर्युद्धसाधनैर्युक्तस्त्वं शत्रून् पराजित्य प्रजां सुखय ॥४॥[2]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥४॥

भावार्थः—जीवात्मा यथा शरीररथमधिष्ठाय वाग्वज्रेण कुतर्कान् खण्डयन् सत्यपक्षं रक्षति, तथैव राजा भूजलान्तरिक्षयानान्यधिष्ठाय वज्रेण शत्रूनुच्छिद्य राष्ट्रं रक्षतु ॥४॥

अगले मन्त्र में इन्द्र के रथ और वज्र के रचे जाने का विषय है।

पदार्थ—**प्रथम** जीवात्मा के पक्ष में। हे **पुरुहूत** बहुतों से गुणकीर्तन किये गये जीवात्मन् ! **ते** तेरे लिए **अनवः** प्राण **अश्वाय** शीघ्रगमनार्थ **रथम्** शरीररूप रथ को **तक्षुः** रचते हैं, **त्वष्टा** जगत् का शिल्पी परमेश्वर **द्युमन्तम्** तेजोमय **वज्रम्** वाणी रूप वज्र को, रचता है। उस यशोमय शरीर-रथ से जीवनयात्रा करता हुआ तू वाणीरूप वज्र से पाखण्डियों का खण्डन कर ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। हे **पुरुहूत** बहुत-से प्रजाजनों द्वारा सत्कृत अखण्ड ऐश्वर्य वाले राजन् ! **ते** आपके लिए **अनवः** शिल्पी मनुष्य **अश्वाय** शीघ्रगमनार्थ **रथम्** यात्रा के तथा युद्ध के साधनभूत भूमि, जल और अन्तरिक्ष में चलने वाले यान-समूह को **तक्षुः** रचें, **त्वष्टा** शस्त्रास्त्रों का निर्माता शिल्पी **द्युमन्तम्** चमचमाते हुए **वज्रम्** शस्त्रास्त्र-समूह को रचे। इस प्रकार रथ, शस्त्रास्त्र आदि युद्धसाधनों से युक्त होकर आप शत्रुओं को पराजित कर प्रजा को सुखी करें ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥४॥

भावार्थ—जैसे जीवात्मा शरीर-रथ पर स्थित होकर वाणीरूप वज्र से कुतर्कों को खण्डित करता हुआ सत्यपक्ष की रक्षा करता है, वैसे ही राजा भूयान, जलयान और अन्तरिक्षयान में बैठकर वज्र से शत्रुओं का उच्छेद कर राष्ट्र की रक्षा करे ॥४॥

अथ धनादिकं कः प्राप्नोतीत्याह।

२ ३२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
४४१. शं पदं मघं रयीषिणे न कामव्रतो हिनोति न स्पृशद्रयिम् ॥५॥
२ ३२ ३२ ३ १ २ १२ ३ २ ३ २
शम् पदम् मघम् रयीषिणे। न कामम् अव्रतः अ व्रतः
३ २ ३ २
हिनोति न स्पृशत् रयिम् ॥५॥

१. अश्वाय वाहनाय—इति सा०।

२. हे पुरुहूत बहुभिः स्तुत राजन् ! (अनवः) मनुष्याः (ते) तव (अश्वाय) सद्योगमनाय (रथम् तक्षन्) रचयन्तु, (त्वष्टा) सर्वतो विद्यया प्रदीप्तः (द्युमन्तम् वज्रम्) शस्त्रास्त्रसमूहं निपातयति इति ऋ० ५।३१।४ भाष्ये—द०।

पदार्थः—हे इन्द्र मदीय अन्तरात्मन् ! **शम्** सुखम्, शान्तिः, **पदम्** उच्चपदम्, **मघम्** आध्यात्मिकं भौतिकं च धनम् **रयीषिणे** धनेच्छुकाय, धनादिप्राप्तिमहत्त्वाकाङ्क्षिणे एव भवति । **अव्रतः** व्रतरहितः अकर्मा च जनः **कामम्** उच्चाकाङ्क्षाम् **न हिनोति** न प्राप्नोति । हि गतौ वृद्धौ च । **न** नैव च **रयिम्** ऐश्वर्यम् **स्पृशत्** स्पृशति, प्राप्नोति । स्पृशतेर्लेटि रूपम् ।।५।।

भावार्थः—धनं, सुखं, शान्ति, नृपत्वसचिवत्वन्यायाधीशत्वाद्युच्चं पदं, मोक्षपदं च ये प्राप्तुमिच्छन्ति तैस्तदर्थं तीव्रां महत्त्वाकाङ्क्षां मनसि निधाय तत्प्राप्त्यर्थं महान् प्रयत्नोऽनुष्ठेयः ।।५।।

अगले मन्त्र में यह विषय है कि धनादि को कौन प्राप्त करता है ।

पदार्थ—हे मेरे अन्तरात्मा रूपी इन्द्र ! **शम्** सुख, शान्ति, **पदम्** उच्च पद, **मघम्** आध्यात्मिक और भौतिक धन **रयीषिणे** ऐश्वर्यप्राप्ति की महत्त्वाकांक्षा वाले को ही मिलता है । **अव्रतः** व्रतरहित और अकर्मण्य मनुष्य **कामम्** किसी उच्च आकांक्षा को **न हिनोति** नहीं प्राप्त होता, और **न** न ही **रयिम्** ऐश्वर्य को **स्पृशत्** स्पर्श कर पाता है ।।५।।

भावार्थ—धन, सुख, शान्ति और राजा, मन्त्री, न्यायाधीश आदि के उच्च पद एवं मोक्षपद को जो पाना चाहते हैं, उन्हें उसके लिए तीव्र महत्त्वाकांक्षा मन में धारण करके उसकी प्राप्ति के लिए महान् प्रयत्न करना चाहिए ।।५।।

अथ विश्वेदेवा देवताः । तेषां पवित्रत्वं वर्णयति ।

२ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
४४२. सदा गावः विश्वधायसः सदा देवा अरेपसः ।।६।।
१ २१ १ २१ १ २१ ३ १ २ ३ २ ३
सदा गावः शुचयः विश्वधायसः विश्व धायसः ।
१ २१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सदा देवाः अरेपसः अ रेपसः ।।६।।

पदार्थः—**सदा** सर्वदा **विश्वधायसः** विश्वं धापयन्ति रसं पाययन्ति यास्ताः **गावः**[1] धेनवः, सूर्यदीधितयः, वेदवाचो वा **शुचयः** पवित्राः पाविकाश्च भवन्ति । **सदा** सर्वदा **देवाः** दानदीपनद्योतनादिगुणवन्तः सदाचारिणो विद्वांसः **अरेपसः** निर्दोषाः पवित्राश्च भवन्ति ।।६।।

भावार्थः—सर्वैः स्त्रीपुरुषैर्धेनुवत् सूर्यरश्मिवद् वेदवाग्वद् विद्वद्वच्च सदा निर्दोषैः पवित्रैश्च भाव्यम् ।।६।।

अगले मन्त्र में 'विश्वेदेवाः' देवता हैं । उनकी पवित्रता का वर्णन किया गया है ।

पदार्थ—**सदा** हमेशा **विश्वधायसः** सबको अपना रस पिलाने वाली **गावः** धेनुएँ, सूर्यकिरणें और वेदवाणियाँ **शुचयः** पवित्र और पवित्रताकारक होती हैं । **सदा** हमेशा **देवाः** दान करने, प्रकाशित होने, प्रकाशित करने आदि गुण वाले सदाचारी विद्वान् लोग **अरेपसः** निर्दोष एवं पवित्र होते हैं ।।६।।

भावार्थ—सब स्त्री-पुरुषों को गौओं, सूर्यकिरणों, वेदवाणियों और विद्वानों के समान सदा निर्दोष और पवित्र रहना चाहिए ।।६।।

---

१. गावः शुचयः शुद्धाः पवित्राः । विश्वधायसः विश्वं सर्वं धारयन्ति, सर्वस्य धारयित्र्यः क्षीरादिभिर्हविर्भिः । अथवा गावः आदित्यरश्मयः, अमेध्येऽपि पतमानाः शुद्धाः । अथवा गावः आपः भूमिगताः । अथवा गावः वाचः ऋग्यजुःसामलक्षणाः शुचयः विश्वधायसः विश्वस्य धारयित्र्यः । सदा देवाः अरेपसः अलेपकाः अपापाः । रेप इति पापनाम—इति वि० । गावः गन्तारः ये इन्द्रम् उपगच्छन्ति परिचरणादिभिः ते । विश्वधायसः बह्वन्नाः—इति भ० । गावः गन्तारः स्तोतारो वा—इति सा० ।

अथ उषा देवता। उषोनाम्ना जगन्मातरमाह्वयति।

१ २ ३ १२ ३१२ २१ ३१२ २१
४४३. आ याहि वनसा सह गावः सचन्त वर्तनिं यदूधभिः ॥७॥[1]

२ ३ १२१ ३२ १२१ ३ २ १२१
आ याहि वनसा सह। गावः सचन्त वर्तनिम् यत् ऊधभिः ॥७॥

पदार्थः—हे उषः उषर्वत् तेजोमयि जगन्मातः ! त्वम् **वनसा सह** संभजनीयेन तेजसा साकम्। वनम् इति रश्मिनामसु पठितम्। निघं० १।५। वन षण सम्भक्तौ, असुन्, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। **आ याहि** आगच्छ, मदीये हृदये आविर्भव, **यत्** यदा **गावः** वेदरूपाः धेनवः **ऊधभिः** ज्ञानरसपूर्णैः मन्त्रात्मकैः आपीनैः सहिताः **वर्तनिम्** मम आत्मरूपं दोहनगृहम् **सचन्त** सेवन्ताम्। सिषक्तु सचते इति सेवमानस्य इति यास्कः। निरु० ३।२१ ॥७॥

अत्र उपमानैरुपमेयानां निगरणादतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥७॥

भावार्थः—उषसः प्रादुर्भावे यथा घटोध्न्यो धेनवो पयःप्रदानाय दोहनगृहमुपतिष्ठन्ति, तथैव जगन्मातुः प्रादुर्भावे ज्ञानरसपूर्णा वेदवाग्रूपा गावो ज्ञानरसप्रदानाय स्तोतुरात्मानमुपतिष्ठन्ति ॥७॥

अगले मन्त्र का देवता उषा है। उषा के नाम से जगन्माता का आह्वान किया गया है।

पदार्थ—हे उषा के समान तेजोमयी जगन्माता ! तू **वनसा सह** अपने संभजनीय तेज के साथ **आ याहि** आ, मेरे हृदय में प्रादुर्भूत हो, **यत्** जब **गावः** वेदरूपिणी गौएँ **ऊधभिः** ज्ञानरस से भरे मन्त्र रूप ऊधसों के साथ **वर्तनिम्** मेरे आत्मारूप दोहनगृह में **सचन्त** पहुँचें ॥७॥

इस मन्त्र में उपमानों द्वारा उपमेयों के निगरण होने से अतिशयोक्ति अलंकार है ॥७॥

भावार्थ—उषा का प्रादुर्भाव होने पर जैसे घड़े के समान विशाल ऊधस वाली गौएँ दूध देने के लिए दोहनगृह को प्राप्त होती हैं, वैसे ही जगन्माता के प्रादुर्भूत होने पर ज्ञानरस से पूर्ण वेदरूपिणी गौएँ अपना ज्ञान रूप दूध देने के लिए स्तोता के आत्मा में पहुँचती हैं ॥७॥

अथेन्द्रनाम्ना जगदीश्वरः सम्बोध्यते।

१ २ ३१२ २१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२
४४४. उप प्रक्षे मधुमति क्षियन्तः पुष्येम रयिं धीमहे त इन्द्र ॥८॥[2]

१२१ ३२ ३ २ १२१ ३१२ १२१ ३२ ३१२ ३
उप प्रक्षे प्र क्षे मधुमति क्षियन्तः। पुष्येम रयिम् धीमहे ते इन्द्र ॥८॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** मधुवर्षक जगदीश्वर ! वयम् **ते** त्वाम् **धीमहे** स्वान्तःकरणे धारयामः। डुधाञ् धारणपोषणयोः। लटि 'छन्दस्युभयथा। अ० ३।४।११७ इत्यार्द्धधातुकत्वात् शपोऽभावः। तव **मधुमति** मधुरे **प्रक्षे** आनन्दनिर्झरे। पृषु सेचने धातोः औणादिकः क्सः प्रत्ययः। **क्षियन्तः** निवसन्तः। क्षि निवासगत्योः, तुदादिः। वयम् **रयिम्** आनन्दरूपं धनम् **पुष्येम** पुष्णीयाम ॥८॥

भावार्थः—जगदीश्वरस्योपासनया तदानन्दनिर्झरे स्वात्मानं स्नपयन्तो वयं धन्या भवेम ॥८॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से जगदीश्वर को सम्बोधन किया गया है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** मधु बरसाने वाले जगदीश्वर ! हम **ते** तुझे **धीमहे** अपने अन्तःकरण में धारण करते हैं। तेरे **मधुमति** मधुर **प्रक्षे** आनन्द के झरने में **क्षियन्तः** निवास करते हुए, हम **रयिम्** आनन्द रूप धन को **पुष्येम** परिपुष्ट करें ॥८॥

---

१. ऋ० १०।१७२।१।

२. साम० १११५।

भावार्थ—जगदीश्वर की उपासना से उसके आनन्द के झरने में अपने-आप को नहलाते हुए हम धन्य हों ॥८॥

अथ परमेश्वराराधनस्य फलमाह।

४४५. अर्चन्त्यर्कं मरुतः स्वर्का आ स्तोभति श्रुतो युवा स इन्द्रः ॥९॥[1]

अर्चन्ति अर्कम् मरुतः स्वर्काः सु अर्काः। आ स्तोभति श्रुतः युवा सः इन्द्रः ॥९॥

पदार्थः—**स्वर्काः** सुस्तुतयः सूच्चारितमन्त्राः वा। ऋच स्तुतौ, अर्च पूजायाम्। 'अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति'। निरु० ५।४। मरुतः ऋत्विजः। मरुतः इति ऋत्विङ्नाम। निघं० ३।१८। **अर्कम्** अर्चनीयम् इन्द्रं परमेश्वरम्। अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति। निरु० ५।४। **अर्चन्ति** पूजयन्ति। **श्रुतः** वेदेषु प्रसिद्धः, आकर्णितो वा, **युवा** नित्यतरुणः, तरुण इव असीमबलः **सः** असौ **इन्द्रः** परमेश्वरः, तान् **आ स्तोभति** अवलम्बं प्रयच्छति। स्तुभ स्तम्भे भ्वादिः ॥९॥

अत्रानुप्रासालङ्कारः। किञ्च, परस्परोपकाररूपेण वस्तुना परिवृत्तिरलङ्कारो व्यज्यते[2] ॥९॥

भावार्थः—ये मनुष्या वेदमन्त्रगानपुरस्सरं परमात्मानमाराधनुवन्ति तान् सोऽक्षयावलम्बप्रदानेनानुगृह्णाति ॥९॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर की आराधना का फल वर्णित है।

पदार्थ—**स्वर्काः** उत्तम स्तुति करने वाले, अथवा उत्तम विधि से वेदमन्त्रों का उच्चारण करने वाले **मरुतः** ऋत्विज् लोग **अर्कम्** अर्चनीय परमेश्वर की **अर्चन्ति** पूजा करते हैं। **श्रुतः** वेदों में प्रसिद्ध अथवा सुना गया, **युवा** सदा युवा, युवा के समान असीम बल वाला **सः** वह **इन्द्रः** परमेश्वर, उन्हें **आ स्तोभति** सहारा देता है ॥९॥

इस मन्त्र में अनुप्रास अलंकार है, साथ ही परस्पर उपकार करने रूप वस्तु से परिवृत्ति अलंकार व्यंग्य है ॥९॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेदमन्त्रों के गानपूर्वक परमात्मा की आराधना करते हैं, उन्हें वह अक्षय अवलम्ब देकर अनुगृहीत करता है ॥९॥

अथ जनान् प्रेरयति।

४४६. प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय गाथं गायत यं जुजोषते ॥१०॥[3]

प्र वः इन्द्राय वृत्रहन्तमाय वृत्र हन्तमाय। विप्राय वि प्राय
गाथम् गायत यम् जुजोषते ॥१०॥

पदार्थः—हे सखायः! **वः** यूयम् **वृत्रहन्तमाय**[4] अतिशयेन पापाज्ञानादीनां हन्त्रे, **विप्राय** विपश्चिते, मेधाविने **इन्द्राय** वीराय परमेश्वराय **गाथम्** स्तोत्रम्। गीयते इति गाथः। गायतेः 'उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन्' उ० २।४ इति थन्। **गायत** कीर्तयत, **यम्** यं गाथं स्तोत्रम्, सः **जुजोषते**[5] प्रीत्या सेवते। जुषी प्रीतिसेवनयोः

१. साम० १११४।
२. परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्। सा० द० १०।८० इति तल्लक्षणात्। प्रकृते समेन विनिमयः।
३. साम० १११३।
४. वृत्रहन्तमाय अतिशयेन पापानां हन्त्रे—इति भ०।
५. जुजोषते भृशं सेवते प्रीयते वा—इति भ०।

तुदादिः, लेटि 'बहुलं छन्दसि अ० २।४।७६' इति शपः श्लौ द्वित्वम्, 'लेटोऽडाटौ अ० ३।४।९४' इत्यडागमः ॥१०॥

भावार्थः—सामस्तोत्रैः परमेश्वरमाराध्य ततः पुरुषार्थस्य पापविनाशस्य मेधायाश्च प्रेरणा सर्वैर्ग्राह्या ॥१०॥

अत्रेन्द्रस्य गुणवर्णनपूर्वकं तत्स्तुतिं प्रति प्रेरणात्, तदीयरथवज्रवर्णनात्, तत्सम्बद्धानां वाग्धेनुकिरणानां विदुषां च पवित्रत्ववर्णनात्, तत्सम्बद्धाया उषस आह्वानात्, तदीयार्चनफलकथनाच्चैतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सङ्गतिरस्ति ॥

इति पञ्चमे प्रपाठके द्वितीयार्द्धे प्रथमा दशतिः ।
इति चतुर्थेऽध्याये दशमः खण्डः

अगले मन्त्र में मनुष्यों को प्रेरणा दी गयी है ।

पदार्थ—हे मित्रो ! **वः** तुम **वृत्रहन्तमाय** सबसे बढ़कर पाप, अज्ञान आदि के विनाशक, **विप्राय** विद्वान्, मेधावी **इन्द्राय** वीर परमेश्वर के लिए **गाथम्** स्तोत्र को **गायत** गाओ, **यम्** जिस स्तोत्र को, वह **जुजोषते** प्रीतिपूर्वक सेवन करता है ॥१०॥

भावार्थ—सामस्तोत्रों से परमेश्वर की आराधना करके उससे पुरुषार्थ, पापविनाश और धारणावती बुद्धि की प्रेरणा सबको लेनी चाहिए ॥१०॥

इस दशति में इन्द्र के गुणवर्णनपूर्वक उसकी स्तुति की प्रेरणा होने से, उसके रथ और वज्र का वर्णन होने से, उससे सम्बद्ध वाणियों, गायों, किरणों और विद्वानों की पवित्रता का वर्णन होने से, उससे सम्बद्ध उषा का आह्वान होने से और उसकी अर्चना का फल वर्णित होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

पंचम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की प्रथम दशति समाप्त ।
चतुर्थ अध्याय में दशम खण्ड समाप्त ॥

॥७॥ अथ 'अचेत्यग्नि' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ३, ४, ७, ९, १० वामदेवः; २ बन्धुः; ५ संवर्तः; ६ भुवन आप्त्यः; ८ भरद्वाजः । देवता—१, २, ३ अग्निः; ४, ८, १० इन्द्रः; ५ उषाः; ६, ७, ९ विश्वेदेवाः । छन्दः—१, ३, ४, ७ द्विपदा गायत्री; २, ५, ६ द्विपदा पङ्क्तिः; ८, ९ द्विपदा त्रिष्टुप्; १० एकपदा गायत्री । स्वरः—१, ३, ४, ७, १० षड्जः; २, ५, ६ पञ्चमः; ८, ९ धैवतः ॥

तत्राद्यास्तिस्रोऽग्निदेवताकाः । प्रथमायामग्निनाम्ना परमात्मानं वर्णयति ।

४४७. अचेत्यग्निश्चिकितिर्हव्यवाड् न सुमद्रथः ॥१॥[1]

अचेति अग्निः चिकितिः । हव्यवाट् हव्य वाट् न सुमद्रथः सुमत् रथः ॥१॥

पदार्थः—**अग्निः** अग्रणीः परमेश्वरः **अचेति** अस्माभिः अज्ञायि, अनुभूतः इत्यर्थः, यः **चिकितिः**[2]

१. ऋ० ८।५६।५ पूर्वार्द्धः ।
२. चिकितिः ज्ञाता विश्वस्य—इति भ० ।

सर्वज्ञः। अत्र किती संज्ञाने धातोः 'किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात्' अ० ३।२।१७१ वा० इति किन् प्रत्ययः लिड्वच्च। नित्त्वादाद्युदात्तः। किञ्च, यः **सुमद्रथः**[1] सुमन्तः शोभनाः रथाः विमानादियानानि यस्मात् सः **हव्यवाड् न** विद्युदग्निः इव **सुमद्रथः** सुमन्तः श्रेष्ठाः रथाः शरीररथाः, रंहणशीलाः सूर्यचन्द्रभूगोलादयो वा यस्मात् तादृशः वर्तते ॥१॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—यथा परमात्मा सर्वैः साक्षात्करणीयस्तथैव विद्युदग्निरपि ज्ञेयः, ज्ञात्वा च तं शिल्पोन्नत्या समाचारप्रेषणविमानादियानचालनप्रभृतीनि कार्याणि करणीयानि ॥१॥

आदि की तीन ऋचाएँ अग्नि देवता की हैं। प्रथम ऋचा में अग्नि नाम से परमात्मा का वर्णन है।

पदार्थ—**अग्निः** अग्रनेता परमेश्वर **अचेति** हमसे जान लिया या अनुभव कर लिया गया है, जो **चिकितिः** सर्वज्ञ, तथा **सुमद्रथः** श्रेष्ठ विमानादि रथों में प्रयुक्त किये जाने वाले **हव्यवाड् न** विद्युत् रूप अग्नि के समान **सुमद्रथः** श्रेष्ठ शरीर-रथों को या वेगवान् सूर्य, चन्द्र, भूगोल आदियों को रचने वाला है ॥१॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा का सबको साक्षात्कार करना चाहिए, वैसे ही विद्युत्रूप अग्नि को भी जानना चाहिए और उसे जानकर समाचार भेजने, विमानादि यानों को चलाने आदि के कार्य सिद्ध करने चाहिएँ ॥१॥

अथाग्निनाम्ना परमात्मानं राजानं च प्रार्थयते।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ क २ १
४४८. अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भुवो वरूथ्यः ॥२॥[2]

१ २ १ ३ १ २ १ ३ २ ३ २ ३ २ ३ क २
अग्ने त्वम् नः अन्तमः। उत त्राता शिवः भुवः वरूथ्यः ॥२॥

पदार्थः—हे **अग्ने** अग्रणीः परमात्मन् राजन् वा ! **त्वम् नः** अस्मभ्यम् **अन्तमः** अन्तिकतमः, **उत** अपिच **त्राता** विपद्भ्यो रक्षकः, **शिवः** कल्याणकरः, **वरूथ्यः**[3] वरणीयः गृहेभ्यो हितश्च **भुवः** भव। वृञ् वरणे धातोः 'जॄवृञ्भ्यामूथन्' उ० २।६ इति ऊथन् प्रत्ययः। वरूथः वरणीयः, स एव वरूथ्यः, स्वार्थे यत्। यद्वा, वरूथमिति गृहनाम। निघं० ३।४। वरूथेभ्यो गृहेभ्यो हितः वरूथ्यः। हितार्थे यत् ॥२॥

अत्र अर्थश्लेषालंकारः ॥२॥

भावार्थः—यथा परमेश्वरोऽस्माकं निकटतमो विघ्नविद्वेषपापादिभ्यस्त्राता, मङ्गलकरः शरीरगृहाणां हितावहश्च जायते, तथा निर्वाचनपद्धत्या वृतो राजा प्रजानां समीपतमो भूत्वा विपत्त्राता, सुखशान्तिकर आवासगृहाणां निर्माणाय धनादिप्रदाता च भवेत् ॥२॥

अगले मन्त्र में अग्नि नाम द्वारा परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **अग्ने** अग्रनायक परमात्मन् वा राजन् ! **त्वम्** आप **नः** हमारे **अन्तमः** समीपतम **उत** और **त्राता** विपत्तियों से त्राणकर्ता, **शिवः** कल्याणकारी तथा **वरूथ्यः** वरणीय एवं घरों के लिए हितकर **भुवः** होवो ॥२॥

---

१. सुमद्रथः प्रशस्तरथः—इति भ०। सुमतां प्रशस्तज्ञानानां रथ इव रथो यस्मात् सः इति ऋ० ३।३।६ भाष्ये—द०।

२. ऋ० ५।२४।१, ऋषयः बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा। यजुर्वेदे ३।२५, १५।४८, २५।४७ इत्यत्र पूर्वभागत्वेन प्राप्यते, यत्र ऋषिः क्रमेण सुबन्धुः, परमेष्ठी, गोतमश्च। सर्वत्र 'भुवो' इत्यत्र 'भवा' इति पाठः।

३. वरूथ्यः वरणीयः संभजनीयः। अथवा वरुथं गृहम्, गृहे भवः नित्यसंनिहितः। वरुथैः परिधिभिर्वृत इति शाटचायनकम्—इति भ०।

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥२॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर हमारे निकटतम, विघ्न-विद्वेष-पाप आदि से त्राण करने वाला, मंगलकारी और शरीररूप गृहों का हितकर्ता होता है, वैसे ही निर्वाचन-पद्धति से चुना हुआ राजा प्रजाओं के समीपतम होकर विपत्तियों से बचाने वाला, सुखशान्ति देने वाला और आवासगृहों के निर्माणार्थ धनादि देने वाला हो ॥२॥

अथाग्निनाम्ना परमेश्वरस्य नृपतेश्च महिमानमाह ।

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
४४९. भगो न चित्रो अग्निर्महोनां दधाति रत्नम् ॥३॥
१ २१ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २१ १ २१
भगः न चित्रः अग्निः महोनाम् । दधाति रत्नम् ॥३॥

पदार्थः—**भगः न** सेवनीयः सूर्यः इव **चित्रः** अद्भुतगुणकर्मस्वभावः **अग्निः** अग्रणीः परमेश्वरो राजा वा **महोनाम्** तेजस्विनां महत्त्वाकाङ्क्षिणां वा जनानाम् **रत्नम्** रमणीयम् ऐश्वर्यम् **दधाति** पुष्णाति ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—ये स्वयं महत्त्वाकाङ्क्षिणस्तेजस्विनो वा न सन्ति तेषां परमात्मा नृपतिश्चापि किं साहाय्यं करिष्यतः ॥३॥

अगले मन्त्र में अग्नि नाम से परमेश्वर और राजा की महिमा वर्णित है ।

पदार्थ—**भगः न** सेवनीय सूर्य के समान **चित्रः** अद्भुत गुण, कर्म, स्वभाव वाला **अग्निः** अग्रनेता परमेश्वर वा राजा **महोनाम्** तेजस्वी वा महत्त्वाकांक्षी जनों के **रत्नम्** रमणीय ऐश्वर्य को **दधाति** परिपुष्ट करता है ॥३॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ।

भावार्थ—जो स्वयं महत्त्वाकांक्षी वा तेजस्वी नहीं हैं, उनकी परमात्मा वा राजा भी भला क्या सहायता करेंगे !

अथेन्द्रो देवता । स प्रार्थ्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २१ ३२ ३ २
४५०. विश्वस्य प्र स्तोभ पुरो वा सन् यदि वेह नूनम् ॥४॥
१ २१ ३ २ ३ २ १२१ ३ २ ३ २
विश्वस्य प्र स्तोभ । पुरः वा सन् यदि वा इह नूनम् ॥४॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** सर्वेषां साहाय्यप्रद जगदीश्वर ! त्वम् **विश्वस्य** सर्वस्य, सर्वानपीत्यर्थः । द्वितीयार्थे षष्ठी । **प्र स्तोभ** प्रकर्षेण स्तभान, अवलम्ब प्रयच्छ । ष्टुभु स्तम्भे, भ्वादिः । 'तिङ्ङतिङः' अ० ८।१।२८ इति निघातः । **पुरो वा सन्** प्रत्यक्षं वा विद्यमानः, **यदि वा** अथवा **इह** अस्मिन् जीवने **नूनम्** अप्रत्यक्षं विद्यमानः भवेः । नूनम् इति उक्ताद् विपरीतं गमयति, यथा 'न नूनमस्ति नो श्वः' ऋ० १।१७०।१ इत्यत्र 'श्वः' इत्यस्माद् विपरीतम् 'अद्य' इत्यर्थम् ॥४॥

भावार्थः—प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा सदैव परमेश्वरोऽस्मानवलम्बते । यद्यपि स सर्वदा सर्वेषां समक्षमेव विद्यते, तथापि दिवान्धत्वग्रस्ता जनाः सांसारिकपदार्थानिव दुर्विवेकग्रस्ता वयं तं यदा न निभालयामस्तदा स परोक्ष उच्यते ॥४॥

अगले मन्त्र का देवता इन्द्र है। उससे प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** सबको सहायता प्रदान करने वाले जगदीश्वर! आप **विश्वस्य** सबको **प्र स्तोभ** भली भाँति अवलम्ब दो, **पुरो वा सन्** चाहे आप प्रत्यक्ष सामने विद्यमान होवो, **यदि वा** अथवा चाहे **नूनम्** परोक्ष विद्यमान होवो ॥४॥

भावार्थ—प्रत्यक्ष हो चाहे परोक्ष, सदा ही परमेश्वर हमें अवलम्ब देता है। यद्यपि वह सदा सबके समक्ष ही है, तो भी जैसे दिनौंधी रोग से ग्रस्त लोग सांसारिक पदार्थों को नहीं देख पाते हैं, वैसे ही अज्ञान से ग्रस्त हम जब उसे नहीं देख पाते, तब वह परोक्ष कहलाता है ॥४॥

अथ उषा देवता। उषसो महत्त्वमाह।

३ २ ७ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
४५१. उषा अप स्वसुष्टमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता ॥५॥[1]

३ २ १ २ १ १ २ १ १ २ १ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
उषाः अप स्वसुः तमः। सम् वर्त्तयति वर्त्तनिम् सुजातता सु जातता ॥५॥

पदार्थः—यथा **उषाः** प्रभातदीप्तिः **स्वसुः** स्वभगिन्याः रात्र्याः **तमः** अन्धकारम् **अप** अपवर्तयति, अपसारयति, किञ्च **सुजातता** सुजन्मना। सुजातता सुजाततया। 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति तृतीयैकवचने पूर्वसवर्णदीर्घः। **वर्तनिम्** मार्गम् **सं वर्तयति** प्रकाशयति, तथा **उषाः** योगशास्त्रे प्रसिद्धा आत्मख्यातिः **स्वसुः** जीवात्मनि रागद्वेषादिप्रक्षेप्त्र्याः अविद्यायाः। सु तीव्रतया अस्यति क्षिपतीति स्वसा तस्याः। सुपूर्वात् असु क्षेपणो धातोः 'सावसेर्ऋन्। उ० २।९८' इति ऋन् प्रत्ययः। **तमः** तामसं प्रभावम् **अप** अपसारयति, किञ्च **सुजातता** सुजन्मना **वर्तनिम्** साधकस्य योगमार्गम् **सं वर्तयति** अध्यात्मप्रकाशेन प्रकाशयति ॥५॥

भावार्थः—ये जना अविद्यारात्रिमपगमय्य विवेकख्यातिरूपाया उषसः प्रकाशं प्राप्नुवन्ति ते मुक्तेरधिकारिणो जायन्ते ॥५॥

अगले मन्त्र का देवता उषा है। उषा के महत्त्व का वर्णन है।

पदार्थ—जैसे **उषाः** प्रभातकालीन प्राकृतिक उषा **स्वसुः** अपनी बहिन रात्रि के **तमः** अन्धकार को **अप** हटा देती है, और **सुजातता** अपने श्रेष्ठ जन्म से **वर्तनिम्** मार्ग को **सं वर्तयति** प्रकाशित कर देती है, वैसे ही **उषाः** योगशास्त्र में प्रसिद्ध आत्मख्याति **स्वसुः** आत्मा में राग, द्वेष आदि को प्रक्षिप्त करने वाली अविद्या के **तमः** तामसिक प्रभाव को **अप** दूर कर देती है और **सुजातता** अपने शुभ जन्म से **वर्तनिम्** साधक के योगमार्ग को **सं वर्तयति** अध्यात्मप्रकाश से प्रकाशित कर देती है ॥५॥

भावार्थ—जो मनुष्य अविद्यारूप रात्रि को दूर करके विवेकख्यातिरूप उषा के प्रकाश को प्राप्त करते हैं, वे मुक्ति के अधिकारी हो जाते हैं ॥५॥

अथ द्वयोः विश्वेदेवाः देवताः। भुवनप्रसाधनविषयमाह।

३ २ ७ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
४५२. इमा नु कं भुवना सीषधेमेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ॥६॥[2]

३ २ ३ १ २ १ ३ १ २ १ ३ २ २
इमा नु कम् भुवना सीषधेम। इन्द्रः च विश्वे च देवाः ॥६॥

पदार्थः—**प्रथमो**ऽध्यात्मपरः। वयम् **इन्द्रः च** द्रष्टा अस्माकं जीवात्मा च **विश्वे देवाः च** सर्वाणि

---

१. ऋ० १०।१७२।४। अथ० १९।१२।१ पूर्वार्द्धः, ऋषिः वसिष्ठः।

२. ऋ० १०।१५७।१, ऋषिः भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः। 'सीषधामेन्द्रश्च' इति पाठः। य० २५।४६ इत्यत्र, अथ० २०।६३।१, २०।१२४।४ इत्यत्र च पूर्वभागरूपेण प्राप्यते।

ज्ञानप्रकाशकानि मनोबुद्धिज्ञानेन्द्रियाणि च **इमा भुवना** इमानि भुवनानि अन्नमयप्राणमयादिकोशरूपाणि **कम्** सुखपूर्वकम् **सीषधेम** प्रसाधयेम। सीषधाति प्रसादयतु इति यास्कः। निरु० ५।१२। साध्नोतेर्णिजन्ता-ल्लिङर्थे लुङि छान्दसः अडभावः ॥

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रपरः। वयं प्रजाजनाः, **इन्द्रः च** वीरो राजनीतिविद् राजा च, **विश्वे देवाः च** सर्वे विद्वांसः राजसभासदश्च, सर्वे संभूय **इमा भुवना** राष्ट्रस्य इमानि सर्वाणि नगराणि **कम्** सुखपूर्वकम् **सीषधेम** प्रसाधयेम, समर्धयेम वा ॥६॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥६॥

भावार्थः—जीवात्ममनोबुद्ध्यादीनां साहाय्येन शारीरं, नृपत्यमात्यसभासदादीनां साहाय्येन राष्ट्रियं चोत्कर्षं संसाध्य सर्वे सफलजन्मानो जायन्ताम् ॥६॥

अगले दो मन्त्रों के देवता 'विश्वेदेवाः' हैं। इस मन्त्र में भुवनों के प्रसाधन का विषय वर्णित है।

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्मपक्ष में। हम, **इन्द्रः च** तथा द्रष्टा हमारा जीवात्मा, **विश्वेदेवाः च** और ज्ञान के साधन सब मन, बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियाँ **इमा भुवना** इन अन्नमय, प्राणमय आदि कोश रूप सब भुवनों को **कम्** सुखपूर्वक **सीषधेम** प्रसाधित करें ॥

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। हम प्रजाजन, **इन्द्रः च** और वीर राजनीतिज्ञ राजा, **विश्वेदेवाः च** और सब विद्वान् राजसभासद्, मिलकर **इमा भुवना** राष्ट्र के इन सब नगरों को **कम्** सुखपूर्वक **सीषधेम** अलंकृत और समृद्ध करें ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥६॥

भावार्थ—जीवात्मा, मन, बुद्धि आदि की सहायता से शरीर के और राजा, मन्त्री, सभासदों आदि की सहायता से राष्ट्र के उत्कर्ष को भलीभाँति सिद्ध कर सब लोग सफल जन्म वाले हों ॥६॥

अथ विश्वेषां देवानाम् इन्द्रस्य च दानानि प्रार्थ्यन्ते।

२३ ३ २ ३ १ २ ३ २४ ३ १ २ ३ १ २
४५३. वि स्रुतयो यथा पथ इन्द्र त्वद्यन्तु रातयः ॥७॥[1]
२ ३ १ २ १ २ १ ३ २ १ २ १ ३ १ २
वि स्रुतयः यथा पथः। इन्द्र त्वत् यन्तु रातयः ॥७॥

पदार्थः—हे विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसः, अथ च हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर, जीवात्मन्, राजन् वा! **त्वत्** तव सकाशात् **रातयः** दानानि **वि यन्तु** विविधं गच्छन्तु, **यथा** येन प्रकारेण **पथः**[2] राजमार्गात् **स्रुतयः** लघुमार्गाः, वियन्ति विभिन्नदिशासु गच्छन्ति तद्वत् ॥७॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥७॥

भावार्थः—परमेश्वराज्जीवात्मनो नृपतेश्च धनधर्मसत्याहिंसान्यायविद्यादयादाक्षिण्यस्वास्थ्य-दीर्घायुष्यादीनि दानानि प्राप्य वयं श्रेष्ठा नागरिका भवेम ॥७॥

अगले मन्त्र में सब विद्वानों तथा इन्द्र के दानों की प्रार्थना है।

पदार्थ—हे सब विद्वानो तथा हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर, जीवात्मन् वा राजन्! **त्वत्** तेरे पास से **रातयः** दान **वि यन्तु** विविध दिशाओं में जाएँ, **यथा** जैसे **पथः** राजमार्ग से **स्रुतयः** छोटे-छोटे मार्ग विविध दिशाओं में जाते हैं ॥७॥

---

१. साम० १७७०।

२. 'पथा' इति संहितायां पाठान्तरम्।

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥७॥

भावार्थ—परमेश्वर, जीवात्मा और राजा से धन, धर्म, सत्य, अहिंसा, न्याय, विद्या, दया, उदारता, स्वास्थ्य, दीर्घायुष्य आदि दानों को प्राप्त करके हम श्रेष्ठ नागरिक बनें ॥७॥

अथेन्द्रो देवता। तस्माद् धनादिकमाशंसते।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
४५४. अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥८॥[1]

३ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अया वाजम् देवहितम् देव हितम् सनेम। मदेम शतहिमाः

३ २ ३ १ २ ३ १ २
शत हिमाः सुवीराः सु वीराः ॥८॥

पदार्थः—हे इन्द्र परमात्मन् मदीय अन्तरात्मन् राजन् वा ! वयम् **अया**[2] अनया तन्वा अनया धिया[3] वा **देवहितम्**[4] देवेभ्यो विद्वद्भ्य इन्द्रियेभ्यो वा हितं हितकरम् **वाजम्** धनं बलं विज्ञानं वा **सनेम** लभेमहि, किञ्च **सुवीराः** शोभनवीरोपेताः वयम् **शतहिमाः** शतवर्षाणि **मदेम** हृष्येम ॥८॥[5]

भावार्थः—तदेव धनं बलं विज्ञानं वा श्रेष्ठं यत् परोपकारे प्रयुज्यते। तत् प्राप्य न्यूनान्यूनं शतवर्षजीविनः सर्वे स्त्रीपुरुषा भवेयुः ॥८॥

अगले मन्त्र का देवता इन्द्र है। उससे धनादि की आकांक्षा की गयी है।

पदार्थ—हे इन्द्र परमात्मन्, जीवात्मन् अथवा राजन् ! हम **अया** इस देह से अथवा इस बुद्धि से **देवहितम्** विद्वानों वा इन्द्रियों के लिए हितकर **वाजम्** धन, बल और विज्ञान को **सनेम** प्राप्त करें, और **सुवीराः** उत्तम वीर पुत्रों सहित, हम **शतहिमाः** सौ वर्ष **मदेम** आनन्द लाभ करते रहें ॥८॥

भावार्थ—वही धन, बल और विज्ञान श्रेष्ठ होता है, जो परोपकार में प्रयुक्त हो। उसे पाकर कम से कम सौ वर्ष जीने वाले सब स्त्री-पुरुष होवें ॥८॥

अथ विश्वेदेवा देवताः। इन्द्रमित्रवरुणा अस्मभ्यं किं कुर्वन्त्वित्याह।

३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
४५५. ऊर्जा मित्राः वरुणः पिन्वतेडाः पावरीमिषं कृणुहीं न इन्द्र ॥९॥

३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
ऊर्जा मित्रः मि त्रः वरुणः पिन्वत इडाः। पावरीम् इषम् कृणुहि नः इन्द्र ॥९॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मादिपरः। हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन् परमात्मन् ! त्वम्, **मित्रः** सूर्यः, **वरुणः** वायुश्च संभूय **ऊर्जा** रसेन। ऊर्ग् वा आपो रसः। कौ० ब्रा० १२।१। **इडाः** भूमीः। इडा इति पृथिवीनाम। निघं० १।१। **पिन्वत** सिञ्चत। पिवि सेवने सेचने च, भ्वादिः। हे इन्द्र परमात्मन् ! त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **पावरीम्** स्थूलां, प्रचुरामित्यर्थः **इषम्** सस्यसम्पदम् **कृणुहि** कुरु, येन वयं दुर्भिक्षादिभिर्न पीड्येमहि ॥

अथ **द्वितीयः** शरीरपरः। हे **इन्द्र** मदीय जीवात्मन् ! त्वम्, **मित्रः** प्राणः, **वरुणः** अपानश्च। प्राणापानौ मित्रावरुणौ। तां० ब्रा० ६।१०।५। संभूय **ऊर्जा** बलेन। ऊर्ज बलप्राणनयोः, चुरादिः। **इडाः** मधुरा

---

१. ऋ० ६।१७।१५। अथर्ववेदेऽपि १९।१२।१; २०।६३।३, २०।१२४।६ इत्यत्र उत्तरार्द्धत्वेन प्राप्यते।

२. (अया) अनया नीत्या इति ऋ० ६।१७।१५ भाष्ये द०। अनया स्तुत्या—इति वि०, भ०, सा०।

३. अया धिया वामभाजः स्याम। ऋ० ६।७१।६ इति श्रुतेः।

४. देवहितं देवैः स्थापितम्—इति वि०। देवेन इन्द्रेण हितं दत्तम्—इति भ०।

५. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं कीदृशी राजनीतिर्भवेदिति विषये व्याख्यातवान्।

वाचः। इडा इति वाङ्नाम। निघं० १।११। **पिन्वत** प्रेरयत। हे मदीय अन्तरात्मन्! त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **पीवरीम्** प्रचुराम् **इषम्** ज्ञानसम्पत्तिम् **कृणुहि** कुरु ॥

अथ **तृतीयः** राष्ट्रपरः। हे **इन्द्र** ऐश्वर्यवन् राजन्! त्वम्, **मित्रः** अमात्यः, **वरुणः** सेनापतिश्च, संभूय **ऊर्जा** अन्नेन सह। ऊर्क् इति अन्ननाम। निघं० २।७। **इडाः** भूमीः धेनूश्च। इडा इति पृथिवीनाम गोनाम च। निघं० १।१, २।११। **पिन्वत** बाहुल्येन प्रयच्छत। हे इन्द्र राजन्! त्वम् **इषम्** प्रजाम्। प्रजा वा इषः। श० १।७।३।१४। **पीवरीम्** समृद्धाम् **कृणुहि** कुरु ॥९॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—परमात्मा जीवात्मा नृपतिश्च मनोबुद्धिप्राणापानसूर्यवायुसचिवसेनापत्यादिभिः सह संभूय भोज्यपेयबलवाग्भूमिधेन्वादिसम्पद्भिः सर्वान् समृद्धान् कुर्वन्तु ॥९॥

अगले मन्त्र के देवता विश्वेदेवाः हैं। इसमें यह विषय है कि इन्द्र, मित्र और वरुण हमारे लिए क्या करें।

पदार्थ—प्रथम परमात्मा आदि के पक्ष में। हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परमात्मन्! आप, **मित्रः** सूर्य और **वरुणः** वायु, मिलकर **ऊर्जा** रस से **इडाः** भूमियों को **पिन्वत** सींचो। हे इन्द्र परमात्मन्! आप **नः** हमारे लिए **पीवरीम्** प्रचुर **इषम्** धान्य-सम्पत्ति को **कृणुहि** उत्पन्न करो, जिससे हम दुर्भिक्ष आदि से पीड़ित न हों ॥

द्वितीय शरीर के पक्ष में। हे **इन्द्र** मेरे जीवात्मन्! तू, **मित्रः** प्राण और **वरुणः** अपान मिलकर **ऊर्जा** बल के साथ **इडाः** मधुर वाणियों को **पिन्वत** प्रेरित करो। हे इन्द्र जीवात्मन्! तू **नः** हमारे लिए **पीवरीम्** प्रचुर **इषम्** ज्ञान-सम्पदा को **कृणुहि** उत्पन्न कर ॥

तृतीय राष्ट्र के पक्ष में। हे **इन्द्र** ऐश्वर्यवान् राजन्! आप, **मित्रः** राजमन्त्री, और **वरुणः** सेनापति, मिलकर **ऊर्जा** अन्न के साथ **इडाः** भूमियों और गौओं को **पिन्वत** बहुतायत से प्रदान करो। हे इन्द्र राजन्! आप **इषम्** प्रजा को **पीवरीम्** समृद्ध **कृणुहि** करो ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥९॥

भावार्थ—परत्मात्मा, जीवात्मा और राजा मन, बुद्धि, प्राण, अपान, सूर्य, वायु, सचिव, सेनापति आदियों के साथ मिलकर भोज्य, पेय, बल, वाणी, भूमि, गाय आदि सम्पदाओं से हमें समृद्ध करें ॥९॥

अथेन्द्रस्य महत्त्वमाह।

४५६. इन्द्रो विश्वस्य राजति ॥१०॥[1]

इन्द्रः विश्वस्य राजति ॥१०॥

पदार्थः—**इन्द्रः** परब्रह्म परमेश्वरः **विश्वस्य** सकलस्य ब्रह्माण्डस्य, **इन्द्रः** अखण्डो जीवात्मा **विश्वस्य** सकलस्य शरीरस्य, **इन्द्रः** प्रजाभिर्निर्वाचितो राजा च **विश्वस्य** सकलस्य राष्ट्रस्य **राजति** सम्राड् भवति ॥१०॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥१०॥

भावार्थः—परमात्मानं जीवात्मानं नृपतिं च स्वस्वक्षेत्रस्य सम्राजं मत्वा यथायोग्यं लाभास्तेभ्यः प्राप्तव्याः ॥१०॥

अत्राग्निनाम्ना इन्द्रनाम्ना च परमात्मनृपत्यादीनां गुणकर्मवर्णनाद्, उषर्नाम्ना प्राकृतिक्या

१. य० ३६।८, 'शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे' इत्यधिकम्। ऋषिः दध्यङ्ङाथर्वणः, छन्दः द्विपाद् विराड् गायत्री।

आध्यात्मिक्याश्च उषसो वर्णनाद्, ब्रह्माण्डे शरीरे राष्ट्रे च विश्वेषां देवानां कर्तृत्वादिनिरूपणाच्चैतद्-शत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह सङ्गतिरस्ति ॥

इति पञ्चमे प्रपाठके द्वितीयार्द्धे द्वितीया दशतिः ।
इति चतुर्थेऽध्याय एकादशः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में इन्द्र के महत्त्व का वर्णन है ।

पदार्थ—**इन्द्रः** परब्रह्म परमेश्वर **विश्वस्य** सकल ब्रह्माण्ड का, **इन्द्रः** अखण्ड जीवात्मा **विश्वस्य** सकल शरीर का, और **इन्द्रः** प्रजाओं से निर्वाचित राजा **विश्वस्य** सकल राष्ट्र का **राजति** सम्राट् है ॥१०॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है ॥१०॥

भावार्थ—परमात्मा, जीवात्मा और राजा को अपने-अपने क्षेत्र का सम्राट् मानकर उनसे यथा-योग्य लाभ प्राप्त करने चाहिएँ ॥१०॥

इस दशति में अग्नि और इन्द्र नामों से परमात्मा, राजा आदि के गुण-कर्मों का वर्णन होने से, उषा नाम से प्राकृतिक और आध्यात्मिक उषा का वर्णन होने से, और ब्रह्माण्ड, शरीर तथा राष्ट्र में सब देवों के कर्तृत्व आदि का निरूपण होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

पंचम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त ।
चतुर्थ अध्याय में ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

॥८॥ अथ 'त्रिकद्रुकेषु' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, १० गृत्समदः; २ घोर आङ्गिरसः; ३, ५, ९ परुच्छेपः; ४ रेभः; ६ एवयामरुत्; ७ अनानतः पारुच्छेपिः; ८ नकुलः ॥ देवता—१, ३, ४, १० इन्द्रः; २ सूर्यः; ५ विश्वेदेवाः; ६ मरुतः; ७ पवमानः; ८ सविता; ९ अग्निः ॥ छन्दः—१, १० अष्टिः; २, ४, ६ जगती; ३, ५, ७-९ अत्यष्टिः; (८, १० अतिशक्वरी वा) ॥ स्वरः—१, १० मध्यमः; २, ४, ६ निषादः; ३, ५, ७-९ गान्धारः; (८, १० पञ्चमो वा) ॥

तत्राद्ये मन्त्रे सूर्यचन्द्रसम्बन्धवर्णनपूर्वकं गुरोः सकाशाज्ज्ञानरसरूपं सोमं पातुमाह ।

४५७. त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृम्पत् सोममपिबद् विष्णुना सुतं यथावशम् ।
स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥१॥[1]

त्रिकद्रुकेषु त्रि कद्रुकेषु महिषः यवाशिरम् यव आशिरम् तुविशुष्मः तुवि शुष्मः । तृम्पत् सोमम् अपिबत् विष्णुना सुतम् यथावशम् यथा वशम् ॥ सः ईम् ममाद महि कर्म कर्त्तवे महाम् उरुम् । स एनम् सश्चत् देवः देवम् सत्यः इन्दुः सत्यम् इन्द्रम् ॥१॥

पदार्थः—**प्रथमः** सूर्यचन्द्रपरः । **त्रिकद्रुकेषु**[2] त्रीणि कद्रुकाणि वायुविद्युत्पर्जन्याख्यानि येषु तेषु

१. ऋ० २।२२।१, अथ० २०।९५।१ । उभयत्र 'तृम्पत्', 'सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम्' अस्य स्थाने क्रमेण 'तृपत्', 'सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः' इति पाठः । साम० १४८६ ।

२. त्रिकद्रुकेषु ज्योतिर्गौ रायुरित्येतन्नामकेषु अभिप्लाविकेष्वहःसु—इति सा० । अत्र कदि धातोरौणादिकः क्रुन् प्रत्ययः, पुनः समासान्तः कप् च—इति ऋ० १।३२।३ भाष्ये द० । कदि वैक्लव्ये, भ्वादिः ।

अन्तरिक्षभागेषु **महिषः** महान्। महिष इति महन्नाम। निघं० ३।३। **तुविशुष्मः** बहुबलः सूर्यरूपः इन्द्रः। तुवि इति बहुनाम। निघं० ३।१। शुष्म इति बलनाम। निघं० २।९। **यवाशिरम्** यवैः संयोगवियोगं प्राप्तैः सूर्यकिरणैः आशीः परिपाकः पूर्णता यस्य तम् **सोमम्** चन्द्रमसम् **तृम्पत्** तर्पयति। तृम्प तृप्तौ, तुदादिः। चन्द्रमाश्च **विष्णुना** व्याप्तिमता सूर्येण **सुतम्** उत्पादितं किरणसमूहम् **यथावशम्** यथेच्छम्। वशः अभिलाषः। वश कान्तौ। **अपिबत्** पिबति। **सः** चन्द्रमसं प्रविष्टः सूर्यकिरणसमूहः **महाम्** गुणैर्महान्तम् **उरुम्** विशालम् **ईम्** एनं चन्द्रमसम्। ईम एनम्। निरु० १०।४५। **महि** महत् **कर्म** प्रकाशनप्राणप्रदान-चान्द्रमासनिर्माणादिकं कार्यम् **कर्तवे** कर्तुम् **ममाद** हर्षयति। **सः** असौ **देवः** प्रकाशमानः **सत्यः** सत्यनियमः **इन्दुः** चन्द्रमाः **एनम्** इमम् **देवम्** प्रकाशकम् **सत्यम्** सत्यनियमम् **इन्द्रम्** सूर्यम् सश्चत् सेवते ॥[1]

अथ **द्वितीयः** गुरुशिष्यपरः। **त्रिकद्रुकेषु** त्रीणि कद्रुकाणि सवनानि ज्ञानकर्मोपासनाकाण्डरूपाणि येषु तेषु शिक्षायज्ञेषु **महिषः** महान्, **तुविशुष्मः** विद्यार्थिनः बहुप्रतिभाबलः आत्मा **तृम्पत्** तृप्यन् **विष्णुना** व्याप्तविद्येन आचार्येण। वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वा विद्याः सर्वाणि शास्त्राणि वा यः स विष्णुः आचार्यः। **सुतम्** अभिषुतम्, **यवाशिरम्** यवैः व्रतपालनरूपैः कर्मभिः आशिरम् पक्वम्। यवाः कर्माणि, यु मिश्रणा-मिश्रणयोः, आशिर् श्रीञ् पाके। **सोमम्** ज्ञानरसम् **यथावशम्** यथेच्छम् **अपिबत्** पिबति। **सः** पीतः ज्ञान-रसः **महाम्** विद्यया महान्तम् **उरुम्** विशालहृष्टपुष्टशरीरम् **ईम्** एनं विद्यार्थिनः आत्मानम् **महि** महत् **कर्म** समाजसुधारादिकार्यम् **कर्तवे** कर्तुम् **ममाद** हर्षयति। **सत्यः** अवितथः **देवः** दिव्यगुणः **सः** असौ **इन्द्रः** विद्या-रसः **देवम्** दिव्यगुणम्, **सत्यम्** सत्यप्रियम् **इन्द्रम्** आत्मानम् **सक्षत्** निरन्तरं प्राप्नोति। सश्चतिः गतिकर्मा। निघं० २।१४। सैनम् इत्यत्र 'सः एनम्' इति स्थिते 'सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्'। अ० ६।१।१३४ इत्यनेन सुलोपे वृद्धिरेकादेशः ॥१॥

अत्र श्लेषालङ्कारः। 'देवो, देवं' इत्यत्र छेकानुप्रासः। 'सत्य, सत्य' इति यमकम् ॥१॥

भावार्थः—छात्रस्यात्मा गुरोः सकाशाज्ज्ञानरसं पीत्वा तथैव महान्ति कर्माणि कर्तुं योग्यो जायते यथा चन्द्रः सूर्यस्य सकाशात् प्रकाशं पीत्वा प्राणप्रदानादीनि महान्ति कर्माणि करोति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में सूर्य और चन्द्रमा के सम्बन्ध-वर्णन-पूर्वक गुरु के समीप से ज्ञानरसरूप सोम के पान का विषय है।

पदार्थ—**प्रथम** सूर्य-चन्द्र के पक्ष में। **त्रिकद्रुकेषु** वायु, बिजली और बादल रूप तीन पदार्थों से युक्त अन्तरिक्षभागों में **महिषः** महान्, **तुविशुष्मः** बहुत बलवान् सूर्यरूप इन्द्र **यवाशिरम्** संयुक्त-वियुक्त होने वाली सूर्यकिरणों से पूर्णता को प्राप्त होने वाले **सोमम्** चन्द्रमा को **तृम्पत्** तृप्ति प्रदान करता है, और चन्द्रमा **विष्णुना** उस व्याप्तिमान् सूर्य से **सुतम्** उत्पन्न किये किरणसमूह को **यथावशम्** यथेच्छ **अपिबत्** पान करता है। **सः** वह चन्द्रमा में प्रविष्ट सूर्यकिरणसमूह **ईम्** इस चन्द्रमा को **महि** महान् **कर्म** प्राण-प्रदान, चान्द्र मासों के निर्माण आदि कार्य **कर्तवे** करने के लिए **ममाद** हर्षित करता है। **सः** वह **देवः** प्रकाशमान **सत्यः** सत्य नियम वाला **इन्दुः** चन्द्रमा **एनम्** इस **देवम्** प्रकाशक **सत्यम्** सत्य नियमों वाले **इन्द्रम्** सूर्य का **सश्चत्** सेवन करता रहता है॥

द्वितीय गुरु-शिष्य के पक्ष में। **त्रिकद्रुकेषु** ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड रूप तीन सवनों वाले शिक्षायज्ञों में **महिषः** महान्, **तुविशुष्मः** विद्यार्थी का अतिशय प्रतिभा-बल से युक्त आत्मा **तृम्पत्** तृप्ति लाभ करता हुआ **विष्णुना** व्याप्त विद्या वाले आचार्य से **सुतम्** अभिषुत, **यवाशिरम्** व्रतपालनरूप कर्मों से परिपक्व **सोमम्** ज्ञानरस को **यथावशम्** यथेच्छ **अपिबत्** पान करता है। **सः** पान किया हुआ वह

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं सूर्यचन्द्रविषये व्याख्यातवान्।

ज्ञान-रस **महाम्** विद्या में महान्, **उरुम्** विशाल हृष्टपुष्ट शरीर वाले, **ईम्** विद्यार्थी के इस आत्मा को **महि** महान् **कर्म** समाजसुधार आदि कर्म **कर्तवे** करने के लिए **ममाद** हर्षित करता है। **देवः** दिव्यगुणयुक्त, **सत्यः** सत्य **सः** वह **इन्दुः** विद्यारस **देवम्** दिव्य गुण वाले **सत्यम्** सत्यप्रिय **इन्द्रम्** आत्मा को **सक्षत्** निरन्तर प्राप्त होता रहता है ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'देवो, देवं' में छेकानुप्रास और 'सत्य, सत्य' में यमक है ॥१॥

भावार्थ—विद्यार्थी का आत्मा गुरु के पास से ज्ञानरस का पान करके वैसे ही महान् कर्म करने योग्य हो जाता है, जैसे चन्द्रमा सूर्य के पास से प्रकाश का पान कर प्राणप्रदान आदि महान् कर्मों को करता है ॥१॥

अथ सूर्यो देवता। आदित्यं, परमेश्वरम्, आचार्यं च वर्णयति।

४५८. **अयं सहस्रमानवो दृशः कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि।**
ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयदरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमन्तश्चिता गोः ॥२॥[1]

अयम् सहस्रम् आनवः। दृशः कवीनाम् मतिः ज्योतिः विधर्म्म वि धर्म्म ॥ ब्रध्नः समीचीः सम् ईचीः उषसः सम् ऐरयत् अरेपसः अ रेपसः। सचेतसः स चेतसः स्वसरे मन्युमन्तः चिताः गोः ॥२॥

पदार्थः—**अयम्** एष सूर्यः परमेश्वर आचार्यो वा **सहस्रम्** एकोऽपि सन् शक्त्या सहस्रतुल्यः, **आनवः**[2] अनुभ्यो मनुष्येभ्यो हितः। अनवः इति मनुष्यनामसु पठितम्। निघं० २।३, तेभ्यो हितः। **दृशः** द्रष्टा दर्शयिता वा, **कवीनाम्** विदुषाम् **मतिः** मतिप्रदाता **विधर्म ज्योतिः** विशेषधारकप्रकाशश्च वर्तते। **ब्रध्नः** महान् एषः। ब्रध्न इति महन्नाम। निघं० ३।३। **समीचीः** सम्यगञ्चनाः, **अरेपसः** निर्मलाः **उषसः** प्रभातदीप्तीः ज्ञानदीप्तीर्वा **समैरयत्** सम्यक् प्रेरयति, येन **स्वसरे** उज्ज्वले दिवसे, दिवसवदुज्ज्वले विवेके वा जाते सति। स्वसराणि अहानि भवन्ति स्वयंसारीणि, अपि वा स्वः आदित्यो भवति स एनानि सारयति। निरु० ५।४। **सचेतसः** सहृदयाः जनाः **मन्युमन्तः** तेजोयुक्ताः ब्रह्मवर्चस्विनो वा सन्तः **गोः** किरणसमूहस्य वेदवाचो वा **चिताः** ज्ञातारः, भवन्तीति शेषः। चिती संज्ञाने धातोः 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। अ० ३।१।१३५' इति कः प्रत्ययः ॥२॥[3]

अत्र श्लेषालङ्कारः। मतिः, ज्योतिः इत्यनयोः क्रमेण मतिप्रदातरि ज्योतिष्मति च लक्षणा। 'तिर्, तिर्', 'समी, समै', 'चेत, चिता' इत्यत्र छेकानुप्रासः, सकाररेफतकाराणां पृथक् पृथगसकृदावृत्तौ च वृत्त्यनुप्रासः ॥२॥

भावार्थः—यथा सूर्यः प्रकाशवतीरुषसः प्रेरयति तथैव परमेश्वर आचार्यश्च जनेषु विद्याविवेककान्तीर्जनयतः ॥२॥

---

१. अथ० ७।२२।१, २। ऋषिः ब्रह्मा, देवता ब्रध्नः। अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि ॥१॥ ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन्। अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ॥२॥ इति पाठः।

२. 'सहस्रमानवः सहस्रसंख्याकाः मनुष्या यस्य सः। सहस्रसंख्याकैर्मनुष्यैरिवावस्थितैः रश्मिभिर्युक्तः' इति सायणीयं व्याख्यानं तु पदकारविरुद्धं 'सहस्रम् आनवः' इति पदपाठात्, स्वरविरुद्धं च।

३. तेजस्विनः चन्द्रमःप्रभृतयः गोः आदित्यात् चिताः उपचिताः भवन्ति तेजसा—इति भ०। तेजस्विनश्चन्द्रमःप्रभृतयः गोः आदित्यस्य तेजसा चिताः अपचिताः भवन्ति, विगततेजस्का भवन्तीत्यर्थः—इति सा०।

अगले मन्त्र का देवता सूर्य है। आदित्य, परमेश्वर और आचार्य का वर्णन है।

पदार्थ—**अयम्** यह सूर्य, परमेश्वर वा आचार्य **सहस्रम्** अकेला भी सहस्र के तुल्य, **आनवः** मनुष्यों के लिए हितकर, **दृशः** द्रष्टा अथवा दर्शन कराने वाला, **कवीनाम्** मेधावी विद्वानों का **मतिः** मतिप्रदाता, और **विधर्म ज्योतिः** विशेष धारक प्रकाश से युक्त है। **ब्रध्नः** महान् यह सूर्य, परमेश्वर वा आचार्य **समीची:** सम्यक् गति वाली, **अरेपसः** निर्मल **उषसः** उषाओं को अथवा ज्ञानदीप्तियों को **समैरयत्** भलीभाँति प्रेरित करता है, जिससे **स्वसरे** उज्ज्वल दिन अथवा दिन के समान उज्ज्वल विवेक के प्रकट हो जाने पर **सचेतसः** सहृदय जन **मन्युमन्तः** तेजयुक्त अथवा ब्रह्मवर्चस्वी होकर **गोः** किरणसमूह के अथवा वेदवाणी के **चिताः** ज्ञाता हो जाते हैं ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। मतिः और ज्योतिः के अर्थ लक्षणा द्वारा क्रमशः मतिप्रदाता और ज्योतिष्मान् होते हैं। 'तिर्, तिर्', 'समी, समै' और 'चेत, चिता' में छेकानुप्रास तथा सकार, रेफ व तकार की पृथक्-पृथक् अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है ॥२॥

भावार्थ—जैसे सूर्य प्रकाशवती उषाओं को प्रेरित करता है, वैसे ही परमात्मा और आचार्य मनुष्यों में विद्या एवं विवेक की कान्तियों को उत्पन्न करते हैं ॥२॥

अथेन्द्रनाम्ना परमात्मानमाचार्यं चाह्वयति।

१ २ ३ १२ ३२ ३ १९ २९ ३१२ ३ १ ९ ३२ ३ १२३१२
४५९. **एन्द्र याह्युप नः परावतो नायमच्छा विदथानीव सत्पतिरस्ता राजेव सत्पतिः।**
१२ ३ १२ ३२३ ३ २ ३ २ ३२३ १२ ३ १२३१२
हवामहे त्वा प्रयस्वन्तः सुतेष्वा पुत्रासो न पितरं वाजसातये मंहिष्ठं वाजसातये ॥३॥[1]
२ ३ १२९३ १२ ३२ १ २९ ३१२ ३ १२९ ३
आ इन्द्र याहि उप नः परावतः न। अयम् अच्छ विदथानि इव सत्पतिः सत् पतिः॥
१ २९ १२९ ३ १२९ ३ १२९ ३१२ ३१२३
अस्ता राजा इव सत्पतिः सत् पतिः। हवामहे त्वा प्रयस्वन्तः सुतेषु आ। पुत्रासः पुत्
१२९ ३१२ १२९ १२९ ३ १ २९ १२९ १२९ ३
त्रासः न पितरम् वाजसातये वाज सातये। मंहिष्ठम् वाजसातये वाज सातये ॥३॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् विद्यैश्वर्ययुक्त आचार्य वा! **अयम्** एष त्वम् **नः अच्छ** अस्मान् प्रति **उप आ याहि** उपागच्छ, **परावतः न** यथा कश्चिद् दूरदेशादुपागच्छति तद्वत्, किञ्च, **सत्पतिः** श्रेष्ठो गृहपतिः **विदथानि इव** यथा यज्ञान् उपागच्छति तद्वत्। विदथ इति यज्ञनाम। निघं० ३।१७। अपिच **सत्पतिः** सतां पालकः **राजा** नृपतिः **अस्ता इव** यथा अस्तम् आस्थानगृहम् उपागच्छति तद्वत्। अस्तमिति गृहनाम। निघं० ३।४। 'सुपां सुलुक्' इति विभक्तेराकारादेशः। सत्पतिः इत्यत्र 'पत्यावैश्वर्ये। अ० ६।२।१८' इति तत्पुरुषे पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। **प्रयस्वन्तः**[2] प्रयत्नवन्तो वयम् **त्वा** त्वाम् **सुतेषु** आनन्दरसेषु वीररसेषु विद्यारसेषु च निमित्तेषु। अत्र निमित्तार्थे सप्तमी। **आ हवामहे** आह्वयामः। **पुत्रासः न** पुत्राः यथा **पितरम्** जनकम् **वाजसातये** अन्नप्राप्तये आह्वयन्ति तथा **मंहिष्ठम्** धनविद्यादीनां दातृतमम् त्वाम्। मंहते दानकर्मा। निघं० ३।२०। अतिशयेन मंहिता मंहिष्ठः। वयम् **वाजसातये** धनबलविद्यादिप्राप्तये आह्वयामः ॥३॥[3]

अत्र चतस्र उपमाः। 'सत्पति', 'वाजसातये' इत्यनयोः सकृदावृत्तौ च यमकम् ॥३॥

भावार्थः—जगदीश्वरो गुरवश्च यस्यानुकूला भवन्ति स सर्वं विपत्समूहमुत्तीर्य परमैश्वर्याणि लभते ॥३॥

---

१. ऋ० १।१३०।१, 'रस्ता', 'त्वा प्रयस्वन्तः सुतेष्वा' इत्यत्र क्रमेण 'रस्तं', 'त्वा वयं प्रयस्वन्तः सुते सचा' इति पाठः।

२. (प्रयस्वन्तः) बहुप्रयत्नशीलाः इति ऋ० १।१३०।१ भाष्ये द०।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्ऋचमिमां राजप्रजाविषये व्याख्यातवान्।

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा और आचार्य का आह्वान किया गया है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् एवं विद्या के ऐश्वर्य से युक्त आचार्य ! **अयम्** यह आप **नः अच्छ** हमारे प्रति **उप आ याहि** आइये, **परावतः न** जैसे कोई दूरदेश से आता है, और **सत्पतिः** श्रेष्ठ गृहपति **विदथान् इव** जैसे यज्ञों में आता है, और **सत्पतिः** सज्जनों का पालक **राजा** राजा **अस्ता इव** जैसे राजदरबार में आता है। **प्रयस्वन्तः** प्रयत्नवान् हम **त्वा** आपको **सुतेषु** आनन्द-रसों, वीर-रसों और विद्या-रसों के निमित्त से **आ हवामहे** बुलाते हैं। **पुत्रासः न** जैसे पुत्र **पितरम्** पिता को **वाजसातये** अन्नादि की प्राप्ति के लिए बुलाते हैं, वैसे ही **मंहिष्ठम्** धन, बल, विद्या आदि के अतिशय दानी आपको, हम **वाजसातये** धन, बल, विद्या आदि की प्राप्ति के लिए बुलाते हैं ॥३॥

इस मन्त्र में चार उपमाएँ हैं। 'सत्पति' और 'वाजसातये' की एक-एक बार आवृत्ति में यमक अलंकार है ॥३॥

भावार्थ—जगदीश्वर और गुरुजन जिसके अनुकूल होते हैं, वह सब विपत्तियों को पार करके उत्कृष्ट ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेता है ॥३॥

अथ परमात्मानं राजानमाचार्यं चाभिलक्ष्य प्राह।

४६०. तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं श्रवांसि भूरि।
मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्त राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥४॥[1]

तम् इन्द्रम् जोहवीमि मघवानम् उग्रम्। सत्रा दधानम् अप्रतिष्कुतम् अ प्रतिष्कुतम्
श्रवाꣳसि भूरि॥ मꣳहिष्ठः गीर्भिः आ च यज्ञियः ववर्त्त।
राये नः विश्वा सुपथा सु पथा कृणोतु वज्री ॥४॥

पदार्थः—अहम् **तम्** प्रसिद्धम् **मघवानम्** ऐश्वर्यवन्तम्, **उग्रम्** अन्यायेषु अन्यायिषु च प्रचण्डम्, **सत्रा दधानम्** सत्यं धारयन्तम्। सत्रा इति सत्यनाम। निघं० ३।१०। **अप्रतिष्कुतम्** अप्रतिरुद्धं शत्रुभिः। स्कुतम्, स्कुञ् आप्रवणे क्र्यादिः। **इन्द्रम्** परमात्मानं राजानम् आचार्यं वा **भूरि** भूरीणि बहूनि। 'शेश्छन्दसि बहुलम्। अ० ६।१।७०' इति शेर्लोपः। **श्रवांसि** यशांसि **जोहवीमि** अतिशयेन पुनः पुनः प्रार्थये। **मंहिष्ठः** दातृतमः **यज्ञियः** पूजार्हः सत्कारार्हश्च सः **गीर्भिः** उपदेशवाग्भिः सह **आ ववर्त** अस्मान् प्रति आवर्तताम्। **वज्री** अविद्याऽन्यायादिषु हिंसाऽसत्यस्तेयादिषु हिंसकेषु च उद्यतवज्रः सः **राये** ऐश्वर्याय **विश्वा नः** सर्वान् अस्मान्। विश्वशब्दाच्छन्दसि 'सुपां सुलुक्०' इति विभक्तेराकारादेशः। **सुपथा** सुमार्गेण **कृणोतु** नयतु ॥४॥

अत्रार्थश्लेषालङ्कारः ॥४॥

भावार्थः—परमेश्वरो नृपतिराचार्यश्च याननुगृह्णन्ति ते सुमार्गगामिनो यशस्विनश्च जायन्ते ॥४॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, राजा और आचार्य को लक्ष्य करके कहा गया है।

पदार्थ—मैं **तम्** उस प्रसिद्ध **मघवानम्** ऐश्वर्यवान्, **उग्रम्** अन्यायों और अन्यायियों के प्रति उग्र, **सत्रा दधानम्** सत्य को धारण करने वाले, **अप्रतिष्कुतम्** शत्रुओं से प्रतिरुद्ध न होने वाले **इन्द्रम्** परमात्मा, राजा वा आचार्य से **भूरि** अनेकानेक **श्रवांसि** यशों की **जोहवीमि** बार-बार याचना करता हूँ। **मंहिष्ठः**

१. ऋ० ८।९७।१३, अथ० २०।५५।१। उभयत्र 'भूरि' इति नास्ति, 'ववर्त राये' इत्यत्र च 'ववर्तद्राये' इति पाठः।

अतिशय दानी, **यज्ञियः** पूजा वा सत्कार के योग्य वह **गीर्भिः** उपदेशवाणियों के साथ **आ ववर्त** हमारे अभिमुख होवे। **वज्री** अविद्या-अन्याय आदि पर, हिंसा-असत्य-तस्करी आदि पर और हिंसकों पर वज्र उठाने वाला वह **राये** ऐश्वर्य के लिए **विश्वा नः** हम सबको **सुपथा** सुपथ से **कृणोतु** ले चले ॥४॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥४॥

भावार्थ—परमेश्वर, राजा और आचार्य जिन पर अनुग्रह करते हैं, वे सन्मार्ग पर चलने वाले और यशस्वी होते हैं ॥४॥

अथ विश्वेदेवाः देवताः। परमात्मजीवात्ममनःप्राणवह्निसूर्यवायुविद्युद्विषयमाह।

४६१. अस्तु श्रौषट् पुरो अग्निं धिया दध
आ नु त्यच्छर्धो दिव्यं वृणीमह इन्द्रवायू वृणीमहे।
यद्ध क्राणा विवस्वते नाभा सन्दाय नव्यसे।
अध प्र नूनमुप यन्ति धीतयो देवाँ अच्छ न धीतयः ॥५॥[1]

अस्तु श्रौषट् पुरः अग्निम् धिया दधे। आ नु त्यत् शर्धः दिव्यम् वृणीमहे।
इन्द्रवायू इन्द्र वायूइति वृणीमहे ॥ यत् ह क्राणा विवस्वते वि वस्वते।
नाभा सन्दाय सम् दाय नव्यसे ॥ अध प्र नूनम् उप यन्ति धीतयः।
देवान् अच्छ न धीतयः ॥५॥

पदार्थः—**प्रथमो**ऽध्यात्मपरः। **अस्तु श्रौषट्**[2] अस्माकं प्रार्थनायाः श्रवणं भवतु, अस्मत्कामनाः पूर्यन्तामित्यर्थः। अहम् **अग्निम्** अग्रनेतारं परमात्मानम् **धिया** ध्यानेन पुरः दधे सम्मुखं स्थापयामि। वयम् **त्यत्** तद् महोपयोगि **दिव्यं शर्धः** प्रकाशपूर्णम् आत्मबलम्। शर्धः इति बलनाम। निघं० २।९। **नु** सद्यः **आ वृणीमहे** उपयुञ्ज्महे। **इन्द्रवायू** मनःप्राणौ। मन इवेन्द्रः। श० १२।९।१।१३। प्राणो हि वायुः। ता० ४।६।८। प्राणो वै वायुः। श० ४।४।१।१५। **वृणीमहे** उपयुञ्ज्महे। **यद् ह** यदा हि, तौ इन्द्रवायू मनःप्राणौ **नाभा** नाभौ, केन्द्रभूते हृत्प्रदेशे **सन्दाय**[3] स्वात्मानं बद्ध्वा। सं पूर्वो दातिर्बन्धने वर्तते। **नव्यसे** नवीयसे, अतिशयेन स्तुत्याय **विवस्वते**[4] अज्ञानान्धकारनिवारकाय आत्मने **क्राणा** क्राणौ, उच्चसंकल्पन-प्राणवशीकरणादिकं कर्म कुर्वाणौ भवतः। क्राणाः कुर्वाणाः इति निरुक्तम्। ४।१९। तदा **नूनम्** निश्चयेन **धीतयः** धारणाध्यानसमाधयः **उप प्रयन्ति** योगिनः समीपमागच्छन्ति, **न** यथा **धीतयः** अंगुलयः। धीतय इत्यंगुलिनामसु पठितम्। निघं० २।५। **देवान् अच्छ** मातापित्रतिथ्यादीन् विदुषो नमस्कर्तुम् **उप प्रयन्ति** उद्युक्ता भवन्ति ॥

अथ **द्वितीयो**ऽधिदैवतपरः। **अस्तु श्रौषट्** मदीयं वचनं श्रुतं भवेत्। अहम् **अग्निम्** भौतिकं वह्निम् **धिया** बुद्धया कर्मकौशलेन वा **पुरः दधे** शिल्पादिकर्मसु उपयुञ्जे। वयम् **त्यत्** तत् **दिव्यम्** दिवि भवम्

१. ऋ० १।१३९।१, 'आ नु तच्छर्धो', 'यद्ध क्राणा विवस्वति नाभा सन्दायि नव्यसी। अध प्र सू न उप यन्तु' इति पाठः।
२. अस्तु भवतु श्रौषट् श्रावणं स्तोत्रस्य। शृण्वन्तु देवाः स्तोत्रमित्यर्थः—इति भ०।
३. सन्दाय सम्यग् बद्ध्वा, स्वीकृत्य इत्यर्थः—इति भ०। सम्यग् बद्ध्वा, मिथः संयुज्य—इति सा०।
४. विवस्यते विवासयित्रे—इति वि०। विवो धनं तद्वते, हविष्मते—इति भ०, तत्तु न पदकारसम्मतम् 'वि-वस्वते' इति पदपाठात्।

शर्धः शर्धस्वन्तं बलवन्तं सूर्याग्निम् । अत्र मतुपो लुक् । **नु** सद्यः **आ वृणीमहे** शिल्पकर्मणि उपयुञ्ज्महे । **इन्द्रवायू** विद्युद्वातौ **वृणीमहे** शिल्पकर्मणि उपयुञ्ज्महे । **यद् ह** यदा हि, तौ इन्द्रवायू विद्युद्वातौ **नाभा** नाभौ केन्द्रभूते अन्तरिक्षे **सन्दाय** पृथिव्यादिलोकान् आकर्षणगुणेन बद्ध्वा **नव्यसे** प्रतिऋतु नवीनतराय **विवस्वते** तमोनिवारकाय सूर्याय, सूर्यं परितः इत्यर्थः **क्राणा** परिक्रमां कारयन्तौ भवतः, **अध** तदा **नूनम्** निश्चयेन **धीतयः** सूर्यकिरणाः **उपप्रयन्ति** तान् पृथिव्यादिलोकान् प्राप्नुवन्ति । शिष्टं पूर्ववत् ॥५॥[1]

अत्र श्लेष उपमालङ्कारश्च । 'वृणीमह, वृणीमहे' इत्यत्र लाटानुप्रासः । 'धीतयो, धीतयः' इत्यत्र यमकम् ॥५॥

भावार्थः—यथा शिल्पविद्योन्नत्या वह्निसूर्यविद्युद्वायूनां यन्त्रयानादिषु सम्यक् प्रयोगेण मनुष्यैर्महत् सुखं प्राप्तुं शक्यते, तथैव योगविद्योन्नत्या जीवात्ममनःप्राणेन्द्रियाणां सामञ्जस्येन योगसमाधिः कैवल्यं च प्राप्तुं शक्यते ॥५॥

अगले मन्त्र के विश्वेदेवाः देवता हैं। इसमें परमात्मा, जीवात्मा, मन, प्राण, अग्नि, सूर्य, वायु एवं बिजली का विषय है।

पदार्थ—प्रथम अध्यात्म पक्ष में। **अस्तु श्रौषट्** हमारी प्रार्थना सुनी जाए, अर्थात् हमारी कामनाएँ पूर्ण हों। मैं **अग्निम्** अग्रनायक परमात्मा को **पुरः दधे** सम्मुख स्थापित करता हूँ। हम सब **त्यत्** उस अति उपयोगी **दिव्यं शर्धः** प्रकाशपूर्ण आत्म-बल का **नु** शीघ्र ही **आ वृणीमहे** उपयोग करते हैं। **इन्द्रवायू** मन और प्राण का **वृणीमहे** उपयोग करते हैं। **यत् ह** जब वे मन और प्राण **नाभा** केन्द्रभूत हृदय-प्रदेश में **सन्दाय** स्वयं को बाँधकर **नव्यसे** अतिशय प्रशंसनीय **विवस्वते** अज्ञानान्धकार के निवारक आत्मा के लिए **क्राणा** उच्च संकल्प, प्राणवशीकरण आदि कर्म को करने वाले होते हैं, **अध** तब **नूनम्** अवश्य ही **धीतयः** धारणा, ध्यान, समाधियाँ **उप प्रयन्ति** योगी के समीप आ जाती हैं, सिद्ध हो जाती हैं, **न** जिस प्रकार **धीतयः** अंगुलियाँ **देवान् अच्छ** माता, पिता, अतिथि आदि विद्वानों को 'नमस्ते' करने के लिए **उप प्रयन्ति** तत्पर होती हैं ॥

द्वितीय अधिदैवत पक्ष में। **अस्तु श्रौषट्** मेरा वचन सुना जाए। मैं **अग्निम्** भौतिक आग का **धिया** बुद्धि या कर्मकौशल से **पुरः दधे** शिल्पादि कर्मों में उपयोग लेता हूँ। हम सभी **त्यत्** उस **दिव्यम्** द्युलोक में विद्यमान **शर्धः** बलवान् सूर्य का **नु** शीघ्र ही **आ वृणीमहे** शिल्पकर्म में उपयोग करते हैं। **इन्द्रवायू** विद्युत् और वायु का **वृणीमहे** उपयोग करते हैं। **यद् ह** जब वे विद्युत् और वायु **नाभा** केन्द्रभूत अन्तरिक्ष में **सन्दाय** पृथिवी आदि लोकों को आकर्षण-गुण से बाँधकर **नव्यसे** हर ऋतु में नवीन रूप में प्रकट होने वाले **विवस्वते** अन्धकार-निवारक सूर्य के चारों ओर **क्राणा** परिक्रमा कराते हैं, **अध** तब **नूनम्** निश्चय ही **धीतयः** सूर्य-किरणें **उप प्रयन्ति** उन पृथिवी आदि लोकों को प्राप्त होती हैं। शेष पूर्ववत् ॥५॥

इस मन्त्र में श्लेष और उपमालंकार है। 'वृणीमह, वृणीमहे' में लाटानुप्रास और 'धीतयो, धीतयः' में यमक है ॥५॥

भावार्थ—जैसे शिल्पविद्या की उन्नति से अग्नि, सूर्य, बिजली और वायु को यन्त्र, यान आदियों में भलीभाँति प्रयुक्त करके मनुष्य महान् सुख प्राप्त कर सकते हैं, वैसे ही योगविद्या की उन्नति से जीवात्मा, मन, प्राण एवं इन्द्रियों के सामंजस्य द्वारा योगसमाधि और मोक्ष प्राप्त किये जा सकते हैं ॥५॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं पुरुषार्थप्रशंसाविषये व्याख्यातवान्।

अथ मरुतो देवताः । विष्णोर्मरुतां च साहाय्येनात्मिकं राष्ट्रियं चोत्कर्षं प्राप्तुं प्रेरयति ।

४६२. प्र वो महे मतयो यन्तु विष्णवे मरुत्वते गिरिजा एवयामरुत् ।
प्र शर्धाय प्र यज्यवे सुखादये तवसे भन्ददिष्टये धुनिव्रताय शवसे ॥६॥[1]

प्र वः महे मतयः यन्तु विष्णवे । मरुत्वते गिरिजाः गिरि जाः एवयामरुत् एवया मरुत् ॥ प्र शर्धाय प्र यज्यवे सुखादये सु खादये । तवसे भन्ददिष्टये भन्दत् इष्टये धुनिव्रताय धुनि व्रताय शवसे ॥६॥

पदार्थः—**प्रथमो**ऽध्यात्मपरः । हे सखायः ! **महे** महते, **मरुत्वते** प्राणवते **विष्णवे** सर्वस्मिन् शरीरे व्याप्तक्रियाय जीवात्मने, जीवात्मनः प्रोत्साहनायेत्यर्थः **वः** युष्माकम् **मतयः** बुद्धयः वाचो वा । वाग् वै मतिः । श० ८।१।२।७ । **प्र यन्तु** प्रवर्तन्ताम्, यः विष्णुः जीवात्मा **गिरिजाः** गिरौ पर्वतवद् विद्यमाने देहे गृहीतजन्मा, **एवयामरुत्** वेगवत्प्राणश्च वर्तते । एवेन वेगेन यान्तीति एवयाः । एवयाः वेगगामिनः मरुतः प्राणाः सहचराः यस्य स एवयामरुत् । किञ्च, **यज्यवे** शरीरसञ्चालनरूपयज्ञकर्त्रे, **सुखादये** रोगादीनां सुभक्षकाय, **तवसे** शरीरेण वृद्धिशीलाय । तौति वर्द्धते इति तवाः तस्मै । तु गतिवृद्धिहिंसासु सौत्रो धातुः, तत औणादिकः असुन् प्रत्ययः । **भन्ददिष्टये** भन्दन्ती सुखयन्ती इष्टिः शतसंवत्सरजीवनरूपा यस्मात् तस्मै, **धुनिव्रताय** धुनि शारीरमानसदोषप्रकम्पकं व्रतं कर्म यस्य तस्मै, **शवसे** बलवते **शर्धाय** मारुताय गणाय प्राणसमूहाय । शृधु प्रसहने चुरादिः, शर्धयति प्रसहते इति शर्धः तस्मै । वः मतयः बुद्धयो वाचो वा **प्र प्र** प्र यन्तु, प्र यन्तु, प्रकर्षेण प्रवर्तन्ताम् ॥

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रपरः । हे राष्ट्रवासिनः ! **महे** महते, **मरुत्वते** प्रशस्ताः मरुतः योद्धारः सैनिकाः अस्य सन्तीति तस्मै **विष्णवे** त्रिविक्रमाय जलस्थलाकाशगामिने नृपतये, तं स्तोतुं बोधयितुं वा **वः** युष्माकम् **मतयः** वाचः **प्र यन्तु** प्रवर्तन्ताम्, यः विष्णुः नृपतिः **गिरिजाः** पर्वतवद् राष्ट्रस्य सर्वोन्नते पदेऽभिषिक्तः **एवयामरुत्** वेगवत्सैनिकश्च वर्तते । किञ्च, **यज्यवे** राष्ट्ररक्षायज्ञस्य अनुष्ठात्रे, **सुखादये** उत्कृष्टाः खादयः पादत्राणाः हस्तत्राणाश्च यस्य तस्मै । अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयः । ऋ० ५।५४।११, हस्तेषु खादिश्च कृतिश्च संदधे । ऋ० १।१६८।३ इति श्रुतिः । **तवसे** गतिमते, कर्मण्याय । तवतेर्गतिकर्मणः असुन् । **भन्ददिष्टये** भन्दन्ती सुखयित्री इष्टिः संग्रामरूपा यस्य तस्मै, **धुनिव्रताय** शत्रुप्रकम्पककर्मणे, **शवसे** बलवते **शर्धाय** मारुताय वीरभटानां सैन्याय, वः मतयः वाचः **प्र प्र** अतिशयने प्रवर्तन्ताम् । यूयं विष्णुं राजानं तदीयं सैन्यगणं च प्रशंसत प्रोद्बोधयत चेत्यर्थः ॥[2]

क्रीळं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथेशुभम् । कण्वा अभिप्रगायत ॥ ऋ० १।३७।१, प्र वः शर्धाय घृष्वये त्वेषद्युम्नाय शुष्मिणे । देवत्तं ब्रह्म गायत ॥ ऋ० १।३७।४ इत्यादिवचनात् शर्धशब्देन मारुतो गण उच्यते । ते क्रीडयो धुनयो भ्राजदृष्टयः स्वयं महित्वं पनयन्त धूतयः ॥' ऋ० १।८७।३ इति वचनाच्च मरुतां धुनिव्रतत्वम् ॥६॥

---

१. ऋ० ५।८७।१ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् 'अथ मनुष्यान् कथं किं प्राप्नोति' इति विषये व्याख्यातवान् ।

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥६॥

भावार्थः—मनुष्या यदा प्राणायामेन शारीरं मानसं च मलं दग्ध्वाऽऽत्मबलं वर्द्धयन्ति तदा सर्वाः सिद्धयस्तेषां हस्तगता भवन्ति । तथैव राष्ट्रस्य वीरसैनिकाः सर्वान् रिपून् प्रकम्प्य यदा राजबलं वर्द्धयन्ति तदा राष्ट्रे सर्वा उन्नतयो विभासन्ते ॥६॥

अगले मन्त्र के देवता 'मरुतः' हैं। इसमें विष्णु और मरुतों की सहायता से आत्मिक और राष्ट्रिय उत्कर्ष पाने की प्रेरणा है।

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्म-पक्ष में। हे साथियो ! **महे** महान्, **मरुत्वते** प्राणयुक्त **विष्णवे** सारे शरीर में व्याप्त क्रिया वाले अपने जीवात्मा के प्रोत्साहनार्थ **वः** तुम्हारी **मतयः** बुद्धियाँ वा वाणियाँ **प्र यन्तु** प्रवृत्त हों, जो जीवात्मा **गिरिजाः** पर्वत-सदृश शरीर में जन्मा हुआ और **एवयामरुत्** वेगवान् प्राण वाला है। **यज्यवे** शरीर-संचालन रूप यज्ञ के कर्ता, **सुखादये** रोग आदियों को पूर्णतः खा जाने वाले **तवसे** शरीर से वृद्धिशील, **भन्ददिष्टये** सुखजनक शतायुष्य रूप इष्टि को करने वाले, **धुनिव्रताय** शारीरिक और मानसिक दोषों को कंपित करने वाले कर्म से युक्त **शवसे** बलवान् **शर्धाय** प्राणबल को पाने के लिए भी, तुम्हारी बुद्धियाँ वा वाणियाँ **प्र प्र यन्तु** प्रकृष्ट रूप से प्रवृत्त हों ॥

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। हे राष्ट्रवासियो ! **महे** महान्, **मरुत्वते** प्रशस्त योद्धा सैनिकों से युक्त, **विष्णवे** यानों द्वारा जल, स्थल, अन्तरिक्ष तीनों स्थानों में व्याप्त होने वाले राजा के लिए **वः** तुम्हारी **मतयः** वाणियाँ **प्र यन्तु** प्रवृत्त हों, जो राजा **गिरिजाः** पर्वततुल्य सर्वोच्च पद पर अभिषिक्त और **एवया-मरुत्** वेगवान् सैनिकों वाला है। और, **यज्यवे** राष्ट्ररक्षा-रूप यज्ञ के अनुष्ठाता, **सुखादये** उत्कृष्ट पाद-त्राणों और हस्तत्राणों से युक्त, **तवसे** गतिमान्, कर्मण्य, **भन्ददिष्टये** संग्रामरूप यज्ञ से सुख पाने वाले, **धुनिव्रताय** शत्रुप्रकम्पक कर्मों वाले, **शवसे** बलवान् **शर्धाय** वीर योद्धाओं के सैन्य के लिए भी, तुम्हारी वाणियाँ **प्र प्र यन्तु** अतिशय प्रवृत्त हों, अर्थात् तुम राजा की तथा उसके सैन्यगण की प्रशंसा करो और उन्हें उत्तम उद्बोधन दो ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥६॥

भावार्थ—मनुष्य जब प्राणायाम से शारीरिक और मानसिक दोषों को जलाकर आत्मिक बल बढ़ाते हैं, तब सब सिद्धियाँ उन्हें हस्तगत हो जाती हैं। वैसे ही राष्ट्र के वीर सैनिक सब शत्रुओं को कँपा कर जब राजा के बल को बढ़ाते हैं, तब राष्ट्र में सब उन्नतियाँ भासित होने लगती हैं ॥६॥

अथ पवमानो देवता। सूर्योपमानेन जीवात्मरूपं सोमं वर्णयति।

४६३. अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि
तरति स्वयुग्वभिः सूरो न स्वयुग्वभिः।
धारा पृष्ठस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः।
विश्वा यद्रूपा परियास्यृक्वभिः सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः ॥७॥[1]

अया रुचा हरिण्या पुनानः। विश्वा द्वेषाꣳसि तरति स्वयुग्वभिः स युग्वभिः।
सूरः न स्वयुग्वभिः स युग्वभिः। धारा पृष्ठस्य रोचते। पुनानः अरुषः हरिः।

१. ऋ० ९।१११।१, 'स्वयुग्वभिः सूरो न स्वयुग्वभिः', 'धारा सुतस्य रोचते', 'परियात्यृक्वभिः' इति पाठः। साम १५९०।

विश्वा यत् रूपा परियासि परि यासि ऋक्वभिः । सप्तास्येभिः
सप्त आस्येभिः ऋक्वभिः ॥७॥

पदार्थः—एष सोमः इन्द्रियादीनां कर्मसु प्रेरकः आत्मा **अया** अनया **हरिण्या** हृदयहारिण्या **रुचा** कान्त्या **पुनानः** पवित्रतामापादयन् **सयुग्वभिः** सह युज्यमानैः प्राणैः सह संमिल्य **विश्वा द्वेषांसि** समस्तानि द्वेष्टॄणि कामक्रोधादिरिपुजातानि **तरति** अतिक्रामति, **सूरः न** यथा सूर्यः **सयुग्वभिः** सहयोगिभिः किरणैः **विश्वा द्वेषांसि** समस्तानि शत्रुभूतानि तमांसि **तरति** अतिक्रामति तद्वत् । **पृष्ठस्य** प्रकाशसेचकस्य आत्मरूपस्य सोमस्य । पृषु सेचने धातोः औणादिकः थक् प्रत्ययः । **धारा** प्रकाशधारा **रोचते** भासते । **अरुषः** तेजसा आरोचमानः । अरुष इति रूपनाम । निघं० ३।७ । ततो मत्वर्थे अच् प्रत्ययः । **हरिः** पापहर्ता आत्मरूपः सोमः त्वम् **पुनानः** मनोबुद्ध्यादीन् पवित्रीकुर्वन्, भवसीति शेषः **यत्** यदा, त्वम् **ऋक्वभिः**[1] प्रशस्तस्तुतिमद्भिः कर्मभिः सह, **ऋक्वभिः**[2] प्रशंसनीयैः **सप्तास्येभिः** सप्तमुखैः प्राणैः सह । सप्तास्याः प्राणास्तु, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्च । सप्त वै शीर्षन् प्राणाः । ऐ० ब्रा० १।१७ । **विश्वा रूपा** विश्वानि रूपाणि, रूपवतः सर्वान् मनुष्यान् **परि यासि** परिप्राप्नोषि, तदा पुनानो भवसीति ।

अत्र 'सूरो न सयुग्वभिः' इति सूर्यस्योपमानत्वे शिष्टोऽपि मन्त्रः सूर्यपक्षे घटते । कीदृशः सूरः ? यः **अया** अनया **हरिण्या** तमोहारिण्या **रुचा** दीप्त्या **पुनानः** भुवं पवित्रीकुर्वन् **सयुग्वभिः** सहयोगिभिः किरणैः **विश्वा द्वेषांसि** समस्तानि द्वेष्टॄणि तमोरोगादीनि **तरति** अभिभवति, **पृष्ठस्य** वृष्टिकर्तुः यस्य सूर्यस्य **धारा** प्रकाशधारा वृष्टिधारा वा **रोचते** दीप्यते, यः **अरुषः** तेजस्विरूपः, आरोचमानः **हरिः** आकर्षणबलेन पृथिव्यादिलोकानां धर्ता सूर्यः **पुनानः** पावको भवति, **यत्** यदा **सप्तास्येभिः** सप्तमुखैः सप्तवर्णैरिति यावत् **ऋक्वभिः** प्रशंसनीयैः किरणैः **विश्वा रूपा** सर्वाणि रूपवन्ति वस्तूनि **परि याति** परितो गच्छति ॥७॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः । सयुग्वभिः ऋक्वभिः इत्यनयोः सकृदावृत्तौ च यमकम् ॥७॥

भावार्थः—यथा सूर्यः स्वकिरणै रोगमालिन्यादीन्यपहृत्य भूमण्डलं पुनाति, तथा मनुष्याणामात्मा सर्वाणि पापद्वेषादीनि कल्मषाणि संहृत्य जीवनं पुनातु ॥७॥

अगले मन्त्र का देवता पवमान सोम है । सूर्य के उपमान से आत्मा का वर्णन किया गया है ।

पदार्थ—यह सोम अर्थात् इन्द्रियों को कर्मों में प्रेरित करने वाला आत्मा **अया** इस **हरिण्या** हृदयहारिणी **रुचा** तेजस्विता से **पुनानः** पवित्रता देता हुआ **सयुग्वभिः** साथ नियुक्त होने वाले प्राणों के साथ मिलकर **विश्वा द्वेषांसि** सब द्वेषी विघ्नों अथवा काम, क्रोध आदि छहों रिपुओं को **तरति** पार कर लेता है, **सूरः न** जैसे सूर्य **सयुग्वभिः** सहयोगी किरणों से **विश्वा द्वेषांसि** सब शत्रुभूत अन्धकारों को **तरति** पार करता है । **पृष्ठस्य** प्रकाशसेचक आत्मारूप सोम की **धारा** प्रकाश-धारा **रोचते** भासित होती है । **अरुषः** तेज से आरोचमान **हरिः** पापहारी तू आत्मारूप सोम **पुनानः** मन, बुद्धि आदि को पवित्र करता है, **यत्** जबकि तू **ऋक्वभिः** प्रशस्तस्तुतियुक्त कर्मों के साथ, और **ऋक्वभिः** प्रशंसनीय **सप्तास्यैः** पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन सप्तमुख प्राणों के साथ **विश्वा रूपा** सब रूपधारी मनुष्यों को **परियासि** प्राप्त होता है ।

---

१. (ऋक्वभिः) प्रशस्ता ऋचः स्तुतयो विद्यन्ते येषु कर्मसु तैः इति ऋ० १।८७।६ भाष्ये द० ।

२. ऋक्वभिः स्तोतृभिः, सप्तास्येभिः सप्त छन्दांसि आस्यभूतानि येषाम् ऋत्विजांते सप्तास्याः···अथवा सप्त वषट्कारिणो होत्राः सप्तास्यानि, अथवा सप्त सोमसंस्थाः सप्तास्यानि ताभिः । ऋक्वभिः ऋत्विग्भिः—इति वि० । ऋक्वभिः स्तुत्यैः तेजोभिः, सप्तास्येभिः सर्पणशीलमुखैः—इति भ० । सप्तास्येभिः रसाहरणशीलास्यैः ऋक्वभिः स्तुतिमद्भिः ऋक्वभिः तेजोभिः—इति सा० ।

यहाँ 'सूरो न सयुग्वभिः' द्वारा सूर्य को उपमान बनाने से शेष मन्त्र सूर्य के पक्ष में भी घटता है। कैसा सूर्य ? जो **अया** इस **हरिण्या** तमोहारिणी **रुचा** दीप्ति से **पुनानः** भूमि को पवित्र करता हुआ **सयुग्वभिः** सहयोगी किरणों से **विश्वा द्वेषांसि** सब द्वेषकारी अन्धकार, रोग आदियों को **तरति** निवारण करता है, **पृष्ठस्य** वृष्टिकर्ता जिस सूर्य की **धारा** प्रकाशधारा या वृष्टिधारा **रोचते** चमकती है, जो **अरुषः** तेजस्वी रूप वाला **हरिः** आकर्षण-बल से पृथिवी आदि लोकों का धारणकर्ता सूर्य **पुनानः** पवित्रता देता है, **यत्** जबकि **सप्तास्येभिः** सात मुखों अर्थात् रंगों वाली **ऋक्वभिः** प्रशंसनीय किरणों से **विश्वा रूपाणि** सब रूपवान् वस्तुओं को **परियाति** प्राप्त होता है ॥७॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है। 'सयुग्वभिः' और 'ऋक्वभिः' की एक-एक बार आवृत्ति में यमक है ॥७॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपनी किरणों से रोग, मलिनता आदि को दूर कर समस्त भूमण्डल को पवित्र करता है, वैसे ही मनुष्यों का आत्मा सब पाप, द्वेष आदि कल्मषों को दूर कर जीवन को पवित्र करे ॥७॥

अथ सविता देवता। सवितृनाम्ना परमेश्वरनृपतिसूर्यान् वर्णयति।

४६४. अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतु-
मर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम्।
ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः ॥८॥[1]

अभि त्यम् देवम् सवितारम् ओण्योः कविक्रतुम् कवि क्रतुम्। अर्चामि सत्यसवम् सत्य सवम् रत्नधाम् रत्न धाम् अभि प्रियम् मतिम्॥ ऊर्ध्वा यस्य अमतिः भाः अदिद्युतत् सवीमनि। हिरण्यपाणिः हिरण्य पाणिः अमिमीत सुक्रतुः सु क्रतुः कृपा स्वा३रिति ॥८॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः। अहम् **त्यम्** तं प्रसिद्धगुणकर्मस्वभावम्, **ओण्योः** द्यावापृथिव्योः वाङ्मनसोर्वा। ओण्योः इति द्यावापृथिवीनामसु पठितम्। निघं० ३।३०। **देवम्** प्रकाशकम्, **कविक्रतुम्** क्रान्तप्रज्ञं मेधाविकर्माणं वा, **सत्यसवम्** सत्यैश्वर्यं सत्यप्रेरणं वा, **रत्नधाम्** रमणीयानां लोकानां धारयितारम्, **प्रियम्** प्रेमार्हम्, **मतिम्** मन्तारम्। मनु अवबोधने धातोः कर्तरि क्तिन्। **सवितारम्** जगतः प्रसवितारं परमेश्वरम् **अभि अर्चामि** आभिमुख्येन पूजयामि। **यस्य** सवितुः परमेश्वरस्य **ऊर्ध्वा** उत्कृष्टा **अमतिः भाः** आत्मिकदीप्तिः। अमतिः अमामयी मतिः आत्ममयी। निरु० ६।१२। **अदिद्युतत्** द्योतयति प्रकाशयति उपासकान्, तस्य **सवीमनि** अनुशासने, वयं स्यामेति शेषः। सः **हिरण्यपाणिः**[2] ज्योतिषां व्यवहारे आनेता। ज्योतिर्हि हिरण्यम्। श० ४।३।४।२१। **सुक्रतुः** सुप्रज्ञः सुकर्मा वा परमेश्वरः **कृपा** कृपया। कृपा प्रातिपदि-

१. अथ० ७।१४।१, २ ऋषिः अथर्वा, द्वयोः ऋचोः पृथक् पृथग् अनुष्टुप् छन्दः। 'कृपा' इत्यत्र 'कृपात्' इति पाठः। य० ४।२५, 'मतिम्' इत्यस्यानन्तरं 'कविम्' इति, अन्ते च 'प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वाऽनु प्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि' इत्यधिकः पाठः।

२. '(हिरण्यपाणिः) हिरण्यानि ज्योतींषि सूर्य्यादीनि सुवर्णादीनि वा पाणौ व्यवहारे यस्य सः' इति य० ४।२५ भाष्ये द०।

कात् तृतीयैकवचने 'सुपां सुलुक्०' इति पूर्वसवर्णदीर्घः। यद्वा, कृपू सामर्थ्ये धातोर्भावे क्विपि तृतीयैकवचने रूपम्। **स्वः** ज्योतिष्मन्तम् आदित्यम्। स्वः आदित्यो भवति इति यास्कः। निरु० २।१४। **अमिमीत** निर्मितवान्॥

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रपरः। अहं प्रजाजनः **त्यम्** तं विशिष्टगुणकर्मस्वभावम्, **ओण्योः** राष्ट्रवासिनोः स्त्रीपुरुषयोः **देवम्** विद्यादिभिः प्रकाशकम्, **कविक्रतुम्** मेधाविकर्माणम्, **सत्यसवम्** सत्यज्ञानम्, **रत्नधाम्** रमणीयानां धनानां प्रदातारम्, **प्रियम्** प्रजानां प्रेमास्पदम्, **मतिम्** विचारशीलम् **सवितारम्** सदाचारप्रेरकं राजानम् **अभि अर्चामि** सत्करोमि। **यस्य** राज्ञः **ऊर्ध्वा अमतिः** सर्वातिशायि तेजस्वि रूपम्। अमतिः इति रूपनाम। निघं० ३।७। **भाः** यशोदीप्तिश्च **अदिद्युतत्** अन्यानपि तेजसा यशसा च प्रकाशयति, तस्य **सवीमनि** अनुशासने वयं स्याम। **हिरण्यपाणिः** सुवर्णादिधनहस्तः, **सुक्रतुः** सुकर्मा स नृपतिः **कृपा** स्वसामर्थ्येन, राष्ट्रे **स्वः** सुखम् **अमिमीत** निर्मिमीते॥[1]

अथ **तृतीयः** सूर्यपरः। अहम् **त्यम्** तं दूरे विद्यमानम्, **ओण्योः** द्यावापृथिव्योः **देवम्** प्रकाशकम्, **कविक्रतुम्** कवेः मेधाविनः क्रतवः कर्माणीव क्रतवः कर्माणि भूमण्डलधारणऋतुचक्रप्रवर्तनादीनि यस्य तम्, **सत्यसवम्** सत्यं जलं सुवति उपर्यधः प्रेरयतीति सत्यसवः तम्। सत्यम् इति जलनाम। निघं० १।१२। **रत्नधाम्** रत्नानि स्वर्णरजतहीरकमुक्तादीनि दधाति भुवि स्थापयति यस्तम्, **प्रियम्** तृप्तिप्रदम्। प्रीणातीति प्रियः। प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च। **मतिम्** ज्ञानसाधनम्, **सवितारम्** सूर्यम् **अभि अर्चामि** स्तौमि, तद्गुणकर्माणि वर्णयामीत्यर्थः। **यस्य** सूर्यस्य **अमतिः भाः** रूपवती प्रभा **सवीमनि** उत्पन्ने भूमण्डले **अदिद्युतत्** सर्वान् पदार्थान् प्रकाशयति, सः **हिरण्यपाणिः** सुवर्णकिरणः, **सुक्रतुः** उत्कृष्टकर्मा सूर्यः **कृपा** स्वसामर्थ्येन **स्वः** प्रकाशम् **अमिमीत** निर्मिमीते॥८॥

अत्र श्लेषालङ्कारः॥८॥

भावार्थः—अनुपमगुणकर्मस्वभावयुक्तं परमेश्वरं सम्पूज्य नृपतिं सत्कृत्य सूर्यं चोपयुज्य प्रजाः सुखं प्राप्नुवन्ति॥८॥

अगले मन्त्र का देवता सविता है। सविता नाम से परमेश्वर, राजा और सूर्य का वर्णन किया गया है।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। मैं **त्यम्** उस प्रसिद्ध गुण-कर्म-स्वभाव वाले, **ओण्योः** द्यावापृथिवी के अथवा वाणी और मन के **देवम्** प्रकाशक, **कविक्रतुम्** क्रान्तदर्शिनी प्रज्ञा वाले अथवा बुद्धिपूर्ण कर्मों वाले, **सत्यसवम्** सत्य ऐश्वर्य वाले अथवा सत्य प्रेरणा वाले, **रत्नधाम्** रमणीय लोकों के धारणकर्ता, **प्रियम्** प्रिय, **मतिम्** ज्ञानी **सवितारम्** जगदुत्पादक परमेश्वर की **अभि अर्चामि** अभिमुख होकर पूजा करता हूँ। **यस्य** जिस परमेश्वर की **ऊर्ध्वा** उत्कृष्ट **अमतिः भाः** आत्मदीप्ति **अदिद्युतत्** उपासकों को आत्मिक प्रकाश देती है, उसके **सवीमनि** अनुशासन में, हम होवें। **हिरण्यपाणिः** ज्योतियों को व्यवहार में लाने वाले, **सुक्रतुः** उत्तम प्रज्ञा व कर्मों वाले उस परमेश्वर ने **कृपा** अपनी कृपा से **स्वः** ज्योतिष्मान् सूर्य को **अमिमीत** बनाया है॥

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में। मैं प्रजाजन **त्यम्** उस विशिष्ट गुण-कर्म-स्वभाव वाले, **ओण्योः** स्त्रीपुरुषों को **देवम्** विद्या आदि से प्रकाशित करने वाले, **कविक्रतुम्** बुद्धिपूर्ण कर्मों वाले, **सत्यसवम्** सत्य ज्ञान वाले, **रत्नधाम्** रमणीय धनों को प्रदान करने वाले, **प्रियम्** प्रिय, **मतिम्** विचारशील, **सवितारम्** सदाचार

---

१. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं परमेश्वरविषये राजप्रजाविषये च व्याख्यातवान्।

के प्रेरक राजा का **अभि अर्चामि** सत्कार करता हूँ। **यस्य** जिस राजा का **ऊर्ध्वा** उच्च **अमतिः** सर्वाधिक तेजस्वी रूप, और जिसकी **भाः** यश की कान्ति **अदिद्युतत्** अन्यों को भी तेजस्वी और यशस्वी करते हैं, उसके **सवीमनि** अनुशासन में, हम रहें। **हिरण्यपाणिः** सुवर्ण आदि धन को दानार्थ हाथ में ग्रहण करने वाला, **सुक्रतुः** शुभ कर्मों वाला वह राजा **कृपा** अपने सामर्थ्य से, राष्ट्र में **स्वः** सुख को **अमिमीत** रचता है॥

तृतीय सूर्य के पक्ष में। मैं **त्यम्** उस सुदूरस्थ, **ओण्योः** भूमि-आकाश के **देवम्** प्रकाशक, **कविक्रतुम्** मेधावियों के कर्मों के सदृश भूमण्डल-धारण, ऋतुचक्रप्रवर्तन आदि कर्मों को करने वाले, **सत्यसवम्** जल को ऊपर-नीचे ले जाने वाले, **रत्नधाम्** सोना, चाँदी, हीरे, मोती आदि रत्नों को भूमि में स्थापित करने वाले, **प्रियम्** तृप्तिप्रदाता, **मतिम्** ज्ञान में साधन बनने वाले **सवितारम्** सूर्य की **अभि अर्चामि** स्तुति करता हूँ, अर्थात् उसके गुण-कर्मों का वर्णन करता हूँ। **यस्य** जिस सूर्य की **अमतिः भाः** रूपवती प्रभा **सवीमनि** उत्पन्न भूमण्डल पर **अदिद्युतत्** सब पदार्थों को प्रकाशित करती है, वह **हिरण्यपाणिः** सुनहरी किरणों वाला, **सुक्रतुः** उत्तम कर्मों वाला सूर्य **कृपा** अपने सामर्थ्य से **स्वः** प्रकाश को **अमिमीत** उत्पन्न करता है॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है॥८॥

भावार्थ—अनुपम गुण-कर्म-स्वभाव वाले परमेश्वर की पूजा करके, राजा का सत्कार करके और सूर्य का उपयोग करके प्रजाएँ सुख प्राप्त करती हैं॥८॥

अथाग्निर्देवता। परमेश्वरस्य महिमानमाह।

३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२
४६५. अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसोः सूनुं
२१ ३ १ २ ३ २३ २ ३ १ २
सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्।
२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा॥९॥[1]
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
घृतस्य विभ्राष्टिमनु शुक्रशोचिष आजुह्वानस्य सर्पिषः॥९॥[1]

३ २ १ २१ ३ १ २१ १ २१ ३ २ १ २१ ३ १ २ ३ २ ३
अग्निम् होतारम् मन्ये दास्वन्तम्। वसोः सूनुम् सहसः जातवेदसम् जात वेदसम्॥
१ २१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २
विप्रम् वि प्रम् न जातवेदसम् जात वेदसम्॥ यः ऊर्ध्वया स्वध्वरः सु अध्वरः।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २१ ३ १ २
देवः देवाच्या कृपा। घृतस्य विभ्राष्टिम् वि भ्राष्टिम् अनु शुक्रशोचिषः
३ २ ३ १ २१ ३ १ २१ ३ १ २
शुक्र शोचिषः। आजुह्वानस्य आ जुह्वानस्य सर्पिषः॥९॥

पदार्थः—अहम् **होतारम्** सृष्ट्युत्पत्तिप्रलयकर्तारम्, **वसोः** वसुनः धनस्य **दास्वन्तम्** दातारम्। दासृ दाने, क्वसुः। **सहसः सूनुम्** बलस्य प्रेरकम्। षू प्रेरणे धातोः 'सुवः कित्। उ० ३।३५' इति नुः प्रत्ययः किच्च। **जातवेदसम्** जाते-जाते विद्यमानम्, सर्वव्यापकं सर्वान्तर्यामिनम्, **विप्रं न** विपश्चितमिव **जातवेदसम्** जातं यो वेत्ति तम्, जातप्रज्ञानम् **अग्निम्** अग्रनेतारं परमात्मानम् **मन्ये** अर्चामि। मन्यते अर्चतिकर्मा। निघं० ३।१४। **देवः** स्वयं प्रकाशितः अन्येषां प्रकाशकश्च **यः** परमात्मा **ऊर्ध्वया** उन्नतया **देवाच्या** देवान् सूर्यचन्द्रादीन् प्रति अक्तया गतया **कृपा** शक्त्या। देवाच्या कृपा देवान् प्रत्यक्तया कृपा इति यास्कः। निरु० ६।८। **स्वध्वरः** उत्कृष्टसृष्टियज्ञस्य सञ्चालको वर्तते। किञ्च **आजुह्वानस्य** अग्नौ आहूयमानस्य **शुक्रशोचिषः** उज्ज्वलदीप्तेः **घृतस्य** आज्यस्य **विभ्राष्टिम्** प्रदीप्तिम् **अनु** अनुप्रविष्टोऽस्ति, 'अग्नावग्निश्चरति

१. ऋ० १।१२७।१, य० १५।४७, अथ० २०।६७।३। सर्वत्र 'वसोः', 'शुक्रशोचिष' इत्यत्र 'वसुं', 'वष्टि शोचिषा' इति पाठः। यजुर्वेदे ऋषिः परमेष्ठी।

प्रविष्टः ।' यजु० ५।४ इति श्रुतेः । अग्निज्वलनादिकाः क्रियाः अपि परमेश्वरस्यैव सामर्थ्येन भवन्तीत्यर्थः । तथा चोपनिषद्वर्णः 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।' श्वेता० ६।१४ इति ॥९॥[1]

अत्रोपमालङ्कारः । 'जातवेदसम्' इत्यस्य पुनरुक्तौ यमकम्, 'देवो, देवा' इत्यत्र च छेकानुप्रासः ॥९॥

भावार्थः—अग्नौ घृताहुत्या या प्रभा जायते सा धनबलज्ञानादिप्रदातुः सृष्टिव्यवस्थापकस्य जगदीश्वरस्यैव प्रभाया निदर्शनम् ॥९॥

अगले मन्त्र का देवता अग्नि है । परमेश्वर की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ—मैं **होतारम्** सृष्ट्युत्पत्ति और प्रलय के कर्ता, **वसोः** धन के **दास्वन्तम्** दाता, **सहसः सूनुम्** बल के प्रेरक, **जातवेदसम्** प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान, सर्वान्तर्यामी, **विप्रं न** विद्वान् के समान **जातवेदसम्** उत्पन्न पदार्थों के ज्ञाता **अग्निम्** अग्रनेता परमेश्वर की **मन्ये** पूजा करता हूँ । **देवः** स्वयं प्रकाशित तथा अन्यों का प्रकाशक **यः** जो परमेश्वर **ऊर्ध्वया** उन्नत, **देवाच्या** सूर्य, चन्द्र आदि देवों के प्रति गयी हुई **कृपा** अपनी शक्ति से **स्वध्वरः** उत्कृष्ट सृष्टि-यज्ञ को चला रहा है, वही **आजुह्वानस्य** अग्नि में आहुत किये जाते हुए, **शुक्रशोचिषः** उज्ज्वल दीप्ति वाले **घृतस्य** घृत की **विभ्राष्टिम्** प्रदीप्ति में भी **अनु** अनुप्रविष्ट है, अर्थात् अग्नि का प्रदीप्त होना आदि क्रियाएँ भी परमेश्वर के ही सामर्थ्य से हो रही हैं, जैसाकि उपनिषद् में भी कहा है 'उसी की चमक से यह सब-कुछ चमक रहा है' (श्वेता० ६।१४) ॥९॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है । 'जातवेदसम्' की पुनरुक्ति में यमक और 'देवो, देवा' में छेकानुप्रास है ॥९॥

भावार्थ—अग्नि में घृत की आहुति देने से जो प्रभा होती है, वह धन, बल, ज्ञान आदि के प्रदाता, सृष्टि के व्यवस्थापक जगदीश्वर की ही प्रभा की ओर निर्देश करती है ॥९॥

अथेन्द्रो देवता । तस्य लोकोपकारकाणि कर्माणि वर्णयति ।

४६६. तव त्यन्नर्यं नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्व्यं दिवि प्रवाच्यं कृतम् ।
यो देवस्य शवसा प्रारिणा असु रिणन्नपः ।
भुवो विश्वमभ्यदेवमोजसा विदेदूर्जं शतक्रतुर्विदादिषम् ॥१०॥[2]

तव त्यत् नर्यम् नृतो अपः इन्द्र । प्रथमम् पूर्व्यम् दिवि प्रवाच्यम् प्र वाच्यम्
कृतम् ॥ यः देवस्य शवसा प्रारिणाः प्र अरिणाः असु रिणन् अपः ॥
भुवः विश्वम् अभि अदेवम् अ देवम् ओजसा । विदेत् ऊर्जम्
शतक्रतुः शत क्रतुः विदेत् इषम् ॥१०॥

पदार्थः—हे **नृतो** पृथिव्यादिलोकानां नर्तयितः **इन्द्र** जगदीश्वर ! **तव** त्वदीयम् **त्यत्** तत् प्रसिद्धम् **नर्यम्** नराणां हितकरम्, **प्रथमम्** श्रेष्ठम्, **पूर्व्यम्** पूर्वकालादागतम् **दिवि कृतम्** आकाशे विहितम् **अपः** कर्म । अपस् इति कर्मनाम । निघं० २।१ । **प्रवाच्यम्** प्रशंसनीयम् अस्ति, **यः** यस्त्वम् **देवस्य** प्रकाशकस्य सूर्यस्य **शवसा** बलेन **असु** असुं प्राणम् । असु शब्दात् 'सुपां सुलुक्० । अ० ७।१।३९' इति विभक्तेर्लुक् । **रिणन्**

१. दयानन्दर्षिर्ऋग्भाष्ये मन्त्रमिमं 'कीदृशयोः स्त्रीपुरुषयोर्विवाहो भवितुं योग्यः' इति विषये, यजुर्भाष्ये च विद्वद्विषये व्याख्यातवान् ।

२. ऋ० २।२२।४, 'यद् देवस्य', 'असुं', 'भुवद् विश्वमभ्यादेवमोजसा विदादूर्जं शतक्रतुर्विदादिषम्' इति भेदः ।

प्रवर्तयन्, प्रवर्तयितुमिच्छन्नित्यर्थः **अपः** अन्तरिक्षस्थान्युदकानि, **प्रारिणाः** वर्षणेन अधः प्रगमयसि। रिणातिः गतिकर्मा। निघं० २।१४। किञ्च **विश्वम्** समस्तम् **अदेवम्** अप्रकाशनिमित्तम् भौतिकं मानसं चान्धकारम् **ओजसा** बलेन **अभिभुवः** अभिभवसि। अथ परोक्षकृतमाह। **शतक्रतुः** अनन्तप्रज्ञः अनन्तकर्मा च स इन्द्रः परमेश्वरः **ऊर्जम्** बलं प्राणं च **विदेत्** लम्भयतु, **इषम्** इच्छासिद्धिम् **विदेत्** लम्भयतु ॥१०॥[1]

अत्र 'रिणा, रिण', 'देव, देव', 'विदेदू, विदेदि' इत्यत्र छेकानुप्रासोऽलङ्कारः ॥१०॥

भावार्थः—परमेश्वर एव सूर्यद्वारा पृथिव्यादीन् लोकान् नर्तयन् सूर्यं परितः स्वधुरि च परिक्रमयति। स एव यथाऽन्तरिक्षेऽवरुद्धा अपो वर्षति तथैवात्मलोकेऽवरुद्धा आनन्दधारा मनोभूमौ प्रवाहयति। स एव महत् तमोऽवदीर्य यथा भौतिकं प्रकाशं जनयति तथैव मनोभूमौ व्याप्तं तमोजालं विच्छिद्यात्मप्रकाशं प्रकटयति ॥१०॥

अत्रेन्द्रसूर्यपवमानहरिसवित्रग्निविष्णुनामभिः परमेश्वरादेर्गुणकर्मवर्णनाद् विश्वेषां देवानां मरुतां चाह्वानादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन संगतिरस्तीति वेद्यम् ॥

इति पञ्चमे प्रपाठके द्वितीयार्द्धे तृतीया दशतिः। इति चतुर्थेऽध्याये द्वादशः खण्डः।
समाप्तश्चायं चतुर्थाध्यायः।

अगले मन्त्र का देवता इन्द्र है। उसके लोकोपकारक कार्यों का वर्णन है।

पदार्थ—हे **नृतो** पृथिवी आदि लोकों को नचाने वाले **इन्द्र** जगदीश्वर! **तव** तुम्हारा **त्यत्** वह प्रसिद्ध, **नर्यम्** नरों का हितकर, **प्रथमम्** श्रेष्ठ, **पूर्व्यम्** पूर्वकाल से चला आ रहा **अपः** कर्म **प्रवाच्यम्** प्रशंसनीय है, **यः** जो तुम **देवस्य** प्रकाशक सूर्य के **शवसा** बल से **असु** प्राण को **रिणन्** प्रेरित करना चाहते हुए, **अपः** अन्तरिक्ष में स्थित जलों को **प्रारिणाः** वर्षा द्वारा नीचे गिराते हो, और **विश्वम्** सब **अदेवम्** अप्रकाश के कारणभूत भौतिक और मानसिक अन्धकार को **ओजसा** बल से **अभिभुवः** परास्त करते हो। आगे परोक्षकृत वर्णन है—**शतक्रतुः** अनन्त प्रज्ञा वाला और अनन्त कर्मों वाला वह जगदीश्वर **ऊर्जम्** बल तथा प्राण को **विदेत्** प्राप्त कराये, **इषम्** इच्छासिद्धि को **विदेत्** प्राप्त कराये ॥१०॥

इस मन्त्र में 'रिणा, रिण', 'देव, देव', 'विदेदू, विदेदि' में छेकानुप्रास अलंकार है ॥१०॥

भावार्थ—परमेश्वर ही सूर्य द्वारा पृथिवी आदि लोकों को नचाता हुआ सूर्य के चारों ओर तथा अपनी धुरी पर घुमाता है। वही जैसे अन्तरिक्ष में रुके हुए जलों को बरसाता है, वैसे ही आत्मलोक में रुकी हुई आनन्द-धाराओं को मनोभूमि पर प्रवाहित करता है। वही जैसे विशाल अन्धकार को विदीर्ण कर भौतिक प्रकाश को उत्पन्न करता है, वैसे ही मन की भूमि पर व्याप्त तमोगुण के जाल को विच्छिन्न करके आत्म-प्रकाश को प्रकट करता है ॥१०॥

इस दशति में सूर्य, पवमान, हरि, सविता, अग्नि, विष्णु नामों से जगदीश्वर आदि के गुण-कर्मों का वर्णन होने से तथा 'विश्वे देवाः' और मरुतों का आह्वान होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

पंचम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की तृतीय दशति समाप्त। चतुर्थ अध्याय में द्वादश खण्ड समाप्त।
यह चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥

इति बरेलीमण्डलान्तर्गतफरीदपुरवास्तव्यश्रीमद्गोपालरामभगवतीदेवीतनयेन हरिद्वारीयगुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयेऽधीतविद्येन विद्यामार्तण्डेनाचार्यरामनाथवेदालङ्कारेण महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतवेदभाष्यशैलीमनुसृत्य विरचिते संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते सामवेदभाष्ये ऐन्द्रं काण्डं पर्व वा समाप्तिमगात् ॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्ऋचमिमां जीवेश्वरविषये व्याख्यातवान्।

अथ पावमानं काण्डं पर्व वा

ऐन्द्रं काण्डं पर्व वा व्याख्याय सम्प्रति पावमानं काण्डं पर्व वाऽऽरभ्यते । पावमाने तावत् साकल्येन एकोनविंशत्युत्तरैकशतं (११९) मन्त्रा विद्यन्ते, सर्वेषामेव च पवमानः सोमो देवता । पवमानदेवताकत्वादेव पावमानम् इति नाम । अग्निर्देवता यथा प्रमुखत्वेन तेजसः प्रकाशस्य च प्रतीकम्, इन्द्रश्च मुख्यत ऐश्वर्यस्य वीरतायाश्च प्रतीकम्, तथा पवमानः सोमः पवित्रतायाः, समस्वरतायाः, शान्तेरानन्दस्य च प्रतीकम् ।

'सोम' शब्दस्य प्रचलितोऽर्थः सोम ओषधिश्चन्द्रमा वा । यथाह यास्काचार्यः—"सोम ओषधिः । सोमः सुनोतेः, यदेनमभिषुण्वन्ति । बहुलमस्य नैघण्टुकं वृत्तम्, आश्चर्यमिव प्राधान्येन । तस्य पावमानीषु निदर्शनायोदाहरिष्यामः—स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया । इन्द्राय पातवे सुतः ।। ऋ० ९।१।१। इति सा निगदव्याख्याता । अथैषाऽपरा भवति चन्द्रमसो वैतस्य वा—सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषन्त्योषधिम् । सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ।। ऋ० १०।८५ ३ । सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्त्योषधिमिति वृथासुतम् असोममाह । सोमं यं ब्रह्माणो विदुरिति न तस्याश्नाति कश्चन अयज्वा इत्यधियज्ञम् । अथाधिदैवतम्—सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्त्योषधिमिति यजुःसुतमसोममाह । सोमं यं ब्रह्माणो विदुश्चन्द्रमसं न तस्याश्नाति कश्चन अदेव इति । अथैषाऽपरा भवति चन्द्रमसो वैतस्य वा—यत् त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ।। ऋ० १०।८५।५। यत् त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः । वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ।। ऋ० १०।८५।५ । यत् त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनरिति नाराशंसान् अभिप्रेत्य, पूर्वपक्षापरपक्षाविति वा । वायुः सोमस्य रक्षिता, वायुमस्य रक्षितारमाह साहचर्याद् रसहरणाद् वा । समानां संवत्सराणां मास आकृतिः सोमः, रूपविशेषैरोषधिश्चन्द्रमा वा ।। निरु० ११।२-४ ।

एवं निरुक्तमतेन स्वादिगणात् 'षुञ् अभिषवे' धातोः सोमशब्दः सिद्ध्यति । सोममोषधिम् अभिषुण्वन्ति रसक्षारणेन रिक्तीकुर्वन्ति याज्ञिकाः सोमं चन्द्रमसं च अभिषुणोति एकैककलाक्षपणेन रिक्तीकरोति सूर्यः । तस्मात् तदुभयं सोमनाम्नाऽऽख्यायते । अस्मिन् प्रकरणे निरुक्तकारेणैको महत्त्वपूर्णः संकेतोऽपि विहितो यदोषधिवाचकः सोमशब्दः प्रधानदेवतारूपेण वेदेषु विरलतयैव प्रयुक्त इति । ऋग्वेदे यद्यपि सोमदेवताकाः पवमानसोमदेवताका वा सहस्रादप्यधिकमृचः सन्ति, तथापि निरुक्तकारदृष्ट्या न ताः प्रायेण सोमौषधिपराश्चन्द्रपरा वा, किन्तु कश्चिदन्य एवार्थस्तत्र तत्र प्रकरणवशादुन्नेय इति ।

उणादौ तावद् सु धातोः 'अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन् । उ० १।१४०' इत्यनेन मन् प्रत्यये 'सोम' शब्दः साधितः । तत्र सूत्रे 'सु' इति पाठेन 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' इति भ्वादिरदादिश्च, 'षुञ्' अभिषवे इति स्वादिश्च ग्रहीतुं शक्यते । ततश्च सवति सौति वा उत्पादयति ऐश्वर्यहेतुर्वा भवति, यद् वा सूयते निश्च्योत्यते इति सोमः । तथा हि "सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः कर्पूरश्चन्द्रमा वा" इत्युणादि-

कोशव्याख्याने दयानन्दः । यद्यप्युणादिसूत्रे उकारान्त एव 'सु' धातुः पठितः तथापि 'षू प्रेरणे, तुदादिः' षूङ् प्राणिगर्भविमोचने, अदादिः' इत्येताभ्यामपि धातुभ्यां मन् प्रत्यये सोमशब्दः साध्यते ।

दयानन्दर्षिणा स्वकीये वेदभाष्ये सोमशब्दस्य येऽर्थाः प्रतिपादिताः, तेषु केचिदत्रोल्लिख्यन्ते । तद्यथा—सुवति चराचरं जगद् यः स **जगदीश्वरः**, सूयन्ते रसा यस्मात् स **सोमौषधिराजः** (य० ३।५६), सोमविद्यासम्पादको **विद्वान्** (य० ४।३७), शुभकर्मगुणेषु प्रेरकः **परमेश्वरो विद्वान्** वा (ऋ० १।९१।३), सकलैश्वर्याढ्यः, सौम्यगुणसम्पन्नः **राजा** (य० ७।२१; ८।५०), बहुसुखप्रसावकः **वायुः** (ऋ० १।९१।५, **चन्द्रः** (ऋ० ३।६२।१४), सेनाप्रेरकः **सेनाध्यक्षः** (य० १७।४०), सौम्यगुणसम्पन्नः **सभ्यो जनः** (ऋ० ४।१७।६) इति ।

पावमानकाण्डेऽस्मिन् पारमार्थिकदृष्ट्या सोमशब्दस्य मुख्योऽर्थः परमात्मा । अत्र वर्णिता बहवोऽर्थाः केवलं परमात्मन्येव घटन्ते, तद्यथा—जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः । जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य (५२७), जनिता रोदस्योः (५३६), पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद् रोदसी उभे (५४६), अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः (५५९), त्वमेतदधारयः कृष्णासु रोहिणीषु च परुष्णीषु रुशत् पयः (५९५), इति । 'सोमो वै प्रजापतिः' इति च ब्राह्मणम् (श० ५।१।३।७) ।

धारारूपेण प्रवहन् परमात्मनः सकाशाज्जनितो ब्रह्मानन्दरसोऽपि सोम उच्यते, 'तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः (५००), इषे पवस्व धारया (५०५), पवमाना असृक्षत पवित्रमति धारया (५२२) इत्यादिवर्णनात् ।

परमात्मब्रह्मानन्दातिरिक्तं सत्यश्रीसौम्यज्योतिर्मनःप्राणरेतोयशोब्रह्मवर्चसप्रभृतयोऽपि परमार्थे सोमशब्दवाच्या भवन्ति । सत्यं श्रीर्ज्योतिः सोमः (श० ५।१।२।१०), यत्तन्मन एष स चन्द्रमाः (श० १०।३।३।७), प्राणः सोमः (श० ७।३।१।२), प्राणो वै सोमः (श० ७।३।१।४५), प्राणो हि सोमः (तां० ब्रा० ९।९।१।५), रेतः सोमः (कौ० ब्रा० १३।७), यशो वै सोमः (श० ४।२।४।९), सोमो वै शुक्रो ब्रह्मवर्चसम् (मै० सं० १।६।८) इत्यादिप्रामाण्यात् ।

व्यावहारिकदृष्ट्या सोमौषधिः, सोमौषधिरसः, चन्द्रमाः, संवत्सरः, राजा, ब्राह्मणः, यजमानः, सेनानीः इत्यादयः सोमशब्दस्य वाच्यार्था भवन्ति । सोम ओषधीनामधिराजः (गो० उ० १।१७), गिरिषु हि सोमः (श० ३।३।४।७), रसः सोमः (श० ७।३।१।३), चन्द्रमा वै सोमो राजा (काठ० ११।३), संवत्सरो वै सोमः पितृमान् (तै० ब्रा० १।६।८।२), संवत्सरो वै सोमो राजा (कौ० ब्रा० ७।१०), राजा वै सोमः (श० १४।४।३।१२), सोमो वै ब्राह्मणः (तां० ब्रा० २३।१६।५), एष वै यजमानो यत् सोमः (तै० ब्रा० १।३।३।५), प्र सेनानीः शूरो अग्र रथानां गव्यन्नेति हर्षते अस्य सेना (साम० ५३३) इत्यादिप्रामाण्यात् ।

सोमो हि अद्रिभिः अभिषुतः सन् अव्या वारैः पूयमानः कलशमभिगच्छतीति वैदिकवर्णनान्युपलभ्यन्ते । यथाह—आविशन् कलशं सुतः (४८९), अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आ नय (४९९), आ सोम स्वानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया (५१३), पुनानः सोम जागृविरव्या वारैः परि प्रियः (५१९), सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति (५२०), प्र ते धारा मधुमतीरसृग्रन् वारं यत् पूतो अत्येष्यव्यम् (५३४), स्वादुः पवतामति वारमव्यमा सीदतु कलशं देव इन्दुः (५३५), हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणं ननक्षे अत्यो न

---

१. योगिनोऽरविन्दस्य व्याख्यानुसारतो दिव्यानन्दः (Divine Beatitude) सोम उच्यते ।

वाजी (५३८), प्राणा सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रदत् (५५९), पुनानो वारमत्येष्यव्ययम् (५६२), आ कलशं मधुमान्त्सोम नः सदः (५७१), सोमः पुनान ऊर्मिणायं वारं वि धावति (५७२), एष स्य धारया सुतोऽव्या वारेभिः पवते मदिन्तमः (५८४) इति । सोमौषधिपक्षे अद्रयः पाषाणा भवन्ति, यैः कुट्यमानो निष्पीड्यमानोऽभिषूयमाणश्च सोमः दशापवित्रान्निष्यन्दमानो द्रोणकलशमभिगच्छति। अध्यात्मपक्षे चानन्दरसागारः परमेश्वररूपः सोमो ध्यानरूपैरद्रिभिरभिषुतः शुद्धचित्तवृत्तिरूपैर्दशापवित्रैः क्षारितः आत्मरूपं द्रोणकलशं प्रविशति, ज्ञानरूपो वा सोमो ज्ञानेन्द्रियरूपैरद्रिभिरभिषुतः मनोबुद्धिरूपैर्दशापवित्रैः शोधितः सन्नात्मरूपं द्रोणकलशमभिगच्छति । वेदे सोमशब्दस्य मुख्योऽर्थो न सोमौषधिरिति वेदः स्वयमेवोद्घोषयति—'सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन (ऋ० १०।८५।३) इति ।

एतस्य पावमानकाण्डस्य व्याख्याने पवमानसोमेन परमात्मपरो ब्रह्मानन्दपरो वार्थः प्रदर्शयिष्यते. सोमौषधिपरोऽथवा राजसेनापत्यादिपरोऽर्थस्तु क्वाचित्कतयैव ।

ऐन्द्र काण्ड अथवा पर्व की व्याख्या करके अब पावमान पर्व या काण्ड की व्याख्या आरम्भ की जाती है । पावमान पर्व या काण्ड में कुल ११९ मन्त्र हैं, और सभी का देवता पवमान सोम है । पवमान देवता होने से ही इसका नाम 'पावमान' रखा गया है । जैसे अग्नि देवता प्रमुख रूप से तेज एवं प्रकाश का प्रतीक है, और इन्द्र देवता मुख्यतः ऐश्वर्य एवं वीरता का प्रतीक है, वैसे ही पवमान सोम पवित्रता, समस्वरता, शान्ति एवं आनन्द का प्रतीक है ।

सोम शब्द का प्रचलित अर्थ सोम ओषधि अथवा चन्द्रमा है । यास्काचार्य लिखते हैं—"सोम एक ओषधि होती है । 'सोम' शब्द निचोड़ने अर्थ वाली 'षुञ्' धातु से निष्पन्न होता है । सोम ओषधि को सोम इस कारण कहते हैं, क्योंकि उसे निचोड़कर उसका रस निकाला जाता है । गौण रूप से इसका वर्णन वेदों में बहुत हुआ है, किन्तु प्रधानतया वर्णन बहुत कम पाया जाता है । उदाहरण रूप में हम यहाँ पवमान सोम देवता की ऋचाओं में से कुछ उद्धृत कर रहे हैं । एक ऋचा यह है—स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया । इन्द्राय पातवे सुतः ।। ऋ० ९।१।१ । इसका अर्थ स्पष्ट है—'हे सोम, तू स्वादिष्ठ और मदिष्ठ धारा के साथ प्रवाहित हो, तू इन्द्र के पीने के लिए अभिषुत किया गया है । एक दूसरी ऋचा इस प्रकार है, जो चन्द्रमा के पक्ष में भी घटती है और सोम ओषधि के पक्ष में भी—सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषन्त्योषधिम् । सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ।। ऋ० १०।८५।३ । इस ऋचा का अधियज्ञ अर्थ यह है कि पीने वाला तो उसी को सोमरस समझ लेता है जो बिना ही यज्ञविधि के ओषधि को कूट-पीसकर, निचोड़कर तैयार कर लिया जाता है, किन्तु ब्रह्मा लोग जिसे सोमरस समझते हैं उसे कोई भी अयाज्ञिक खा-पी नहीं सकता, अर्थात् ब्रह्मा लोग तो उसे ही सोमरस मानते हैं जो यज्ञविधिपूर्वक तैयार होता है । इस ऋचा का अधिदैवत अर्थ इस प्रकार है—सोमपायी याज्ञिक मनुष्य तो केवल उसे सोम मानता है जो यज्ञविधिपूर्वक सोमलता को कूट-पीसकर तैयार किया जाता है, पर ज्ञानी जन जिस चन्द्रमा को सोम समझते हैं उसे सूर्यदेव के अतिरिक्त अन्य कोई खा-पी नहीं सकता । निम्नलिखित एक अन्य ऋचा भी है जो चन्द्रमा तथा सोमरस दोनों पक्षों में चरितार्थ होती है—यत् त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः । वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ।। ऋ० १०।८५।५ । चन्द्रपक्ष में इसका अर्थ यह है कि हे देव, हे प्रकाशमान चन्द्र ! जब तुझे कृष्णपक्ष में सूर्य-रश्मियाँ पी लेती हैं,

तब तू शुक्लपक्ष आने पर पुनः बढ़ जाता है। वायु तुझ चन्द्रमा का रक्षक है, और तू चान्द्र वर्षों एवं चान्द्र मासों का निर्माणकर्ता है। सोमलता के पक्ष में लता के पत्तों की दृष्टि से कहा गया है कि हे सोमलता, जब कृष्णपक्ष में तेरे पत्ते एक-एक करके गिर जाते हैं, तब भी शुक्लपक्ष में तू पुनः पत्तों से पूर्ण हो जाती है, वायु तुझ सोमलता का रक्षक है, और तू अपने रूपविशेषों से चान्द्र वर्षों एवं चान्द्र मासों को भी सूचित करने वाली है (निरु० ११।२-४)।।"

इस प्रकार निरुक्त के मत में स्वादिगणी 'षुञ् अभिभवे' धातु से सोम शब्द सिद्ध होता है। सोम ओषधि को याज्ञिक लोग रस निकालकर रिक्त करते हैं और सोम चन्द्रमा को सूर्य एक-एक कला कम करके रिक्त करता है। इस कारण सोम ओषधि और चन्द्रमा दोनों सोम कहाते हैं। इस प्रकरण में निरुक्तकार ने एक महत्त्वपूर्ण संकेत भी किया है, वह यह कि ओषधिवाचक सोम शब्द प्रधान देवता रूप से वेदों में बहुत कम प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में यद्यपि सोम देवता वाली या पवमान सोम देवता वाली हजार से भी अधिक ऋचाएँ हैं, तथापि निरुक्तकार की दृष्टि से वे प्रायः सोमओषधि-परक या चन्द्रमा-परक नहीं हैं, किन्तु कोई अन्य ही अर्थ प्रकरण का ध्यान रखते हुए वहाँ समझा जाना चाहिए।

उणादि कोश में 'सु' धातु से 'अर्तिस्तुसुहुसृवृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन्' (उ० १।१४०) सूत्र द्वारा मन् प्रत्यय करके सोम शब्द सिद्ध किया गया है। उस सूत्र में पठित 'सु' धातु से 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' भ्वादि तथा अदादि, और 'षुञ् अभिषवे' स्वादि ग्रहण की जा सकती हैं। तदनुसार जो उत्पन्न करता है, जो ऐश्वर्य का हेतु होता है या जो निचोड़ा जाता है, वह सोम है। उणादिकोश की व्याख्या में स्वामी दयानन्द ने सोम का यह व्याख्यान किया है कि जो ऐश्वर्य का हेतु होता है उस कपूर या चन्द्रमा को सोम कहते हैं। यद्यपि उणादि सूत्र में उकारान्त 'सु' धातु ही पठित है, तो भी 'षू प्रेरणे' तुदादि तथा 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' अदादि धातुओं से भी मन् प्रत्यय करके सोम शब्द की सिद्धि की जाती है।

महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में सोम शब्द के जो अर्थ प्रतिपादित किये हैं उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

१. जो चराचर जगत् को उत्पन्न करता है वह जगदीश्वर। य० ३।५६
२. जिससे रस निकाले जाते हैं वह ओषधिराज सोम। य० ३।५६
३. सोमविद्या का सम्पादक विद्वान्। य० ४।३७
४. शुभ कर्मों एवं गुणों में प्रेरक परमेश्वर या विद्वान्। ऋ० १।९१।३
५. सकल ऐश्वर्यों से समृद्ध, सौम्यगुणसम्पन्न राजा। य० ७।२१, ८।५०
६. बहुत सुख का उत्पादक वायु। ऋ० १।९१।५
७. चन्द्रमा। ऋ० ३।६२।१४
८. सेनाप्रेरक सेनाध्यक्ष। य० १७।४०
९. सौम्यगुणसम्पन्न सभ्य जन। ऋ० ४।१७।६

इस पावमान काण्ड में पारमार्थिक दृष्टि से सोम शब्द का मुख्य अर्थ परमात्मा है। इसमें वर्णित अनेक अर्थ केवल परमात्मा में ही घटित होते हैं। यथा, 'सोम द्युलोक का उत्पादक है, पृथिवी का उत्पादक है, अग्नि का उत्पादक है, सूर्य का उत्पादक है (साम०, ५३६), सोम सम्पूर्ण भूमा का पति है, उसने द्यावापृथिवी दोनों को प्रकाशित किया है (साम, ५४६), सोम दिनों को, उषाओं को और द्युलोक या सूर्य को पार करने वाला है (साम०, ५५९), हे सोम! तूने काली और लाल रक्तनाडियों में चमकीले रक्त को स्थित किया है, (साम०, ५९५), 'प्रजापति ही सोम है' यह ब्राह्मणग्रन्थ का वचन है (श० ५।१।३।७)।

परमात्मा के पास से धारा रूप में प्रवाहित होता हुआ ब्रह्मानन्द-रस[1] भी सोम कहाता है, क्योंकि वेद में इस प्रकार के वर्णन प्राप्त होते हैं कि—'अभिषुत सोमरस की धारा से आनन्दित हुआ उपासक तर जाता है, उन्नति की ओर दौड़ने लगता है' (साम०, ५००), 'हे सोम ! तू अभीष्ट सिद्धि प्रदान करने के लिए धारारूप में प्रवाहित हो' (साम० ५२२)।

परमात्मा एवं ब्रह्मानन्द के अतिरिक्त सत्य, श्री, सौम्य ज्योति, मन, प्राण, रेतस्, यश, ब्रह्मवर्चस आदि भी परमार्थ दृष्टि में सोम शब्द के वाच्यार्थ होते हैं। इसमें निम्नलिखित वचन प्रमाण हैं—'सत्य, श्री और ज्योति सोम है (श० ५।१।२।१०), 'जो मन है, वही यह चन्द्र या सोम है (श० १०।३।३।७), प्राण ही सोम है (तां० ब्रा० ६।६।१।५), रेतस् सोम है (कौ० ब्रा० १३।७), यश सोम है (श० ४।२।४।६), तेजस्वी ब्रह्मवर्चस ही सोम है (मै० १।६।८)।

व्यावहारिक दृष्टि से सोम ओषधि, सोम ओषधि का रस, चन्द्रमा, वर्ष, राजा, ब्राह्मण, यजमान, सेनापति इत्यादि सोम शब्द के वाच्यार्थ होते हैं। इसमें निम्न प्रमाण हैं—'सोम ओषधियों का राजा है (गो० उ० १।१७),' 'पहाड़ोंपर सोम उगता है (श० ३।३।४।७), 'रस सोम कहाता है (श० ७।३।१।३)', 'चन्द्रमा ही सोम राजा है (काठ० ११।३)', 'वर्ष ही पितृमान् सोम है (तै० ब्रा० १।६।८।२)', 'वर्ष ही सोम राजा है (कौ० ७।१०)', 'राजा ही सोम है (श० १४।४।३।१२)', 'ब्राह्मण ही सोम है (तां० ब्रा० २३।१६।५), 'यह यजमान ही सोम है (तै० ब्रा० १।३।३।५)', 'सेनापति सोम शत्रुओं से अपहृत गौओं को छुड़ाना चाहता हुआ रथों के आगे-आगे चलता है, यह देख इसकी सेना उत्साहित होती है (साम० ५३३)'।

सोम के सम्बन्ध में वैदिक वर्णनों में यह भी मिलता है कि सोम 'अद्रियों' से अभिषुत होकर 'अवि के वारों' (बालों) से पवित्र किया जाता हुआ कलश में पहुँचता है। इस विषय में निम्न वर्णन द्रष्टव्य हैं—'वह अभिषुत होकर कलश में प्रवेश करता है (साम०, ४८६)', 'हे अध्वर्यु ! तू अद्रियों से अभिषुत सोम को छाननी (पवित्र) में ला (साम०, ४६६)', 'हे सोम ! तू अद्रियों से अभिषुत किया जाता हुआ अवि के वारों में से छनकर पार होता है (साम०, ५१३)', 'हे सोम ! जागरूक और प्रिय तू 'अवि के वारों' से पवित्र किया जाता है (साम० ५१६)', 'सहस्र धारों वाला होकर सोम 'अवि की छन्नी' में से पार होता है (साम० ५२०)', 'हे सोम ! जब पवित्र किया गया तू 'अवि की छन्नी' में से छनकर पार होता है, तब तेरी मधुर धाराएँ छूटती हैं (साम० ५३४)', 'इन्दु नामक स्वादु सोम 'अवि के वार' को पार करके कलश में स्थित हो (साम० ५३५)', 'हरि नामक सोम, जो सूर्य का जनयिता है, बह रहा है और जैसे घोड़ा द्रुममय रथ को प्राप्त होता है, वैसे ही द्रोणकलश को प्राप्त हो रहा है (साम० ५३८),' 'सिन्धुओं का प्राण सोम कल-कल शब्द करता हुआ कलशों में पहुँचा है (साम०, ५५६)', 'पवित्र किया जाता हुआ या पवित्रता देता हुआ सोम 'अवि के वार' में से गुजरता है (साम० ५६२)', 'हे सोम ! मधुमान् तू हमारे कलश में आकर स्थित हो (साम० ५७१)', 'पवित्रता देता हुआ सोम लहर के साथ 'अवि के वार' की ओर दौड़ रहा है (साम० ५७२)', 'यह धारा रूप में अभिषुत, अतिशय आनन्ददायक सोम 'अवि के वारों' में से छनकर बह रहा है (साम० ५८४)'।

सोम ओषधि के पक्ष में 'अद्रि' सिल-बट्टे हैं, जिनसे कूटा, निचोड़ा और अभिषुत किया जाता हुआ सोम दशापवित्र (भेड़ के बालों से बनी छन्नी) में से छनता हुआ द्रोणकलश (लकड़ी के कुण्डों) में पहुँचता है। अध्यात्मपक्ष में आनन्द-रस का अगार परमेश्वर-रूप सोम ध्यान-रूप अद्रियों (सिल-बट्टों)

१. योगी श्री अरविन्द की व्याख्यानुसार दिव्य आनन्द (Divine Beatitude) ही सोम है।

से अभिषुत होकर शुद्ध-चित्तवृत्ति-रूप दशापवित्रों से छाना जाकर आत्मा-रूप द्रोणकलश में प्रवेश करता है, अथवा ज्ञान-रूप सोम ज्ञानेन्द्रिय-रूप अद्रियों (सिल-बट्टों) से अभिषुत होकर मन-बुद्धि-रूप दशापवित्रों से शोधित होकर आत्मा-रूप द्रोणकलश में जाता है। वेद में सोम शब्द का मुख्य अर्थ सोम ओषधि नहीं है, यह वेद स्वयं ही उद्घोषित करता हुआ कहता है कि—"जिसे ब्रह्मज्ञानी लोग सोम समझते हैं, उसे कोई खा-पी नहीं सकता है (ऋ० १०।८५।३)।

इस पावमान काण्ड की व्याख्या में पवमान सोम से परमात्मा-परक अथवा ब्रह्मानन्द-परक अर्थ प्रदर्शित किया जाएगा, सोम-ओषधि-परक अथवा राजा, सेनापति आदि परक अर्थ का तो कहीं-कहीं ही संकेत किया जाएगा।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

॥६॥ अथ 'उच्चा ते जात' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ४ अमहीयुः; २ मधुच्छन्दाः; ३ भृगुर्वारुणिः; ५ त्रितः; ६ कश्यपः; ७ जमदग्निः; ८ दृढच्युत आगस्त्यः; ९, १० काश्यपोऽसितः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

तत्र प्रथमम् उपरिष्टादधः सोमः प्रवहतीत्याह।

४६७. **उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद् भूम्या ददे।**
उग्रं शर्म महि श्रवः ॥१॥[1]
उच्चा उत् चा ते जातम् अन्धसः। दिवि सत् भूमि आ ददे ॥
उग्रम् शर्म महि श्रवः ॥१॥

पदार्थः—हे पवमान सोम! पवित्रकर्तः रसागार परमेश्वर! **ते** तव **अन्धसः** आनन्दरसस्य **जातम्** समूहः **उच्चा** उच्चम् अस्ति। **दिवि सत्** द्योतमाने आनन्दमयकोशे विद्यमानं तत् **भूमि** भूमिष्ठो जनः। अत्र 'सुपां सुलुक्' इति विभक्तेर्लुक्। **आददे** गृह्णाति। तेन अन्धसा आनन्दरसेन **उग्रं शर्म** प्रबलं कल्याणम् **महि श्रवः** महद् यशश्च, प्राप्यते इति शेषः ॥१॥[2]

भावार्थः—उपर्यन्तरिक्षे विद्यमानं पर्जन्यरसं चन्द्रमसः सौम्यप्रकाशरूपं रसं वा गृहीत्वा यथा भूमिः सस्य-श्यामला जायते, तथैवानन्दमयकोशेऽभिषूयमाणं ब्रह्मानन्दरसं पीत्वा सामान्यो जनः कृतार्थतां भजते ॥१॥

---

१. ऋ० ९।६१।१० 'सद्' इत्यत्र 'षद्' इति पाठः। य० २६।१६ ऋषिः महीयवः। साम० ६७२।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वत्पक्षे व्याख्यातवान्। एष च तत्र तत्कृतो भावार्थः—विद्वद्भिर्मनुष्यैः सूर्यकिरणवायुमन्त्यन्नादियुक्तानि महान्त्युच्चानि गृहाणि रचयित्वा तत्र निवासेन सुखं भोक्तव्यम्' इति। देवता च तत्र तेन अग्निः स्वीकृता ॥

प्रथम मन्त्र में ऊपर से नीचे की ओर सोम का प्रवाह वर्णित है।

पदार्थ—हे पवमान सोम ! पवित्रकर्ता रसागार परमेश्वर ! **ते** तेरा **अन्धसः** आनन्दरस का **जातम्** समूह **उच्चा** उच्च है, **दिवि सत्** प्रकाशमान आनन्दमय कोश में विद्यमान उसको **भूमि** भूमि अर्थात् भूमि पर स्थित मनुष्य **आददे** ग्रहण करता है। उस आनन्दरस से **उग्रं शर्म** तीव्र कल्याण, और **महि श्रवः** महान् यश, प्राप्त होता है ॥१॥

भावार्थ—जैसे ऊपर अन्तरिक्ष में विद्यमान बादल के रस को अथवा चन्द्रमा की चाँदनी के रस को ग्रहण कर भूमि सस्यश्यामला हो जाती है, वैसे ही उच्च आनन्दमय कोश में अभिषुत होते हुए ब्रह्मानन्द-रस का पान कर सामान्य मनुष्य कृतार्थ हो जाता है ॥१॥

अथ स सोमः स्वधारयाऽस्मान् पुनीयादित्याह।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
४६८. स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया।
१ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्राय पातवे सुतः ॥२॥[1]
१ २१ १ २१ १ २१ ३ १ २१
स्वादिष्ठया मदिष्ठया। पवस्व सोम धारया॥
१ २१ १ २१ ३ २
इन्द्राय पातवे सुतः ॥२॥

पदार्थः—हे **सोम** आनन्दरसागार परमेश्वर ! त्वम् **स्वादिष्ठया** स्वादुतमया **मदिष्ठया** अतिशयेन हर्षप्रदया **धारया** आनन्दसन्तत्या **पवस्व** अस्मान् पुनीहि। त्वम् **इन्द्राय** मम आत्मने **पातवे**[2] पातुम्। अत्र पा धातोः तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः। नित्वादाद्युदात्तत्वम्। **सुतः** अभिषुतो भव ॥२॥[3]

भावार्थः—स्वान्तःकरणे स्रवन्तीं पावयित्रीमानन्दरसतरङ्गिणीमनुभवन्नुपासको ब्रूते यत् परमात्मरूपात् सोमादभिषूयमाणो ब्रह्मानन्दरस इत्थमेव ममात्मनः पानाय निरन्तरं धारारूपेण प्रस्रवेदिति ॥२॥

अगले मन्त्र में यह वर्णित है कि वह सोम अपनी धारा से हमें पवित्र करे।

पदार्थ—हे **सोम** रसागार परमेश्वर ! तुम **स्वादिष्ठया** स्वादिष्ठ, **मदिष्ठया** अतिशय हर्षप्रद **धारया** आनन्दधारा से **पवस्व** हमें पवित्र करो। तुम **इन्द्राय** मेरे आत्मा के **पातवे** पान के लिए **सुतः** अभिषुत हो ॥२॥

भावार्थ—अपने अन्तःकरण में बहती हुई पवित्रतासम्पादिनी आनन्द-रस की सरिता को अनुभव करता हुआ उपासक कह रहा है कि परमात्मा-रूप सोम से अभिषुत होता हुआ ब्रह्मानन्द-रस इसी प्रकार मेरे आत्मा के पानार्थ निरन्तर धारा-रूप में प्रवाहित होता रहे ॥२॥

अथ पुनरपि सोमरसस्य धाराप्रवाहमाकाङ्क्षते।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
४६९. वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः।
२ ३ १ २ ३ १ २
विश्वा दधान ओजसा ॥३॥[4]

---

१. ऋ० ९।१।१, य० २६।२५, साम० ६८९।

२. इन्द्राय इन्द्रार्थम् पातवे पातुम्। असमानकर्तृकेष्वपि छन्दसि तुमर्थीया दृश्यन्ते—इति भ०।

३. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं 'ये विद्वांसो मनुष्याः सर्वरोगप्रणाशकमानन्दप्रदमोषधिरसं पीत्वा शरीरात्मानौ पवित्रयन्ति ते धनाढ्या जायन्ते" इति विषये व्याख्यातवान्॥

४. ऋ० ९।६५।१० ऋषिः भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा। साम० ८०३।

१२१ ३ १२१ ३१२ ३ २
वृषा पवस्व धारया । मरुत्वते च मत्सरः ॥
१ २१ १२१ १२१
विश्वा दधानः ओजसा ॥३॥

पदार्थः—हे परमात्मसोम ! **वृषा** अध्यात्मसंपद्वर्षकस्त्वम् **धारया** धारारूपेण **पवस्व** प्रवह, **मरुत्वते च** प्राणसहचराय जीवात्मने च **मत्सरः** आनन्दस्रावको भवेति शेषः । मदम् आनन्दं सारयतीति मत्सरः[1] । "मत्सरः सोमो, मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः" इति यास्कः । निरु० २।५ । किञ्च **ओजसा** बलेन **विश्वा** विश्वानि आत्ममनोबुद्ध्यादीनि **दधानः** धारयन् भवेति शेषः ॥३॥

भावार्थः—यदा प्राणायामसाधनेन, ध्यानेन च रसनिधेः परमेश्वराद् धारारूपेणानन्दरससंदोहः प्रस्रवति तदा शरीरराज्यस्यात्ममनोबुद्ध्यादीनि सर्वाण्येवाङ्गानि तृप्यन्ति ॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः सोमरस के धाराप्रवाह का आह्वान है ।

पदार्थ—हे परमात्म-सोम ! **वृषा** अध्यात्म-संपत्ति की वर्षा करने वाला तू **धारया** धारा-रूप में **पवस्व** प्रवाहित हो, **मरुत्वते च** और प्राणों के सहचर आत्मा के लिए **मत्सरः** आनन्ददायक हो । **ओजसा** अपने ओज से **विश्वा** सब आत्मा, मन, बुद्धि आदियों को **दधानः** धारण करने वाला बन ॥३॥

भावार्थ—जब प्राणायाम-साधन और ध्यान के द्वारा रसनिधि परमेश्वर से धारारूप में आनन्द-रस का सन्दोह प्रस्रुत होता है, तब शरीर-राज्य के आत्मा, मन, बुद्धि आदि सभी अंग तृप्त हो जाते हैं ॥३॥

अथ परमात्मसोमः प्रार्थ्यते ।

२ ३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
४७०. **यस्ते मदो वरेण्यस्तेना पवस्वान्धसा ।**
३ १ २ ३ २
देवावीरघशंसहा ॥४॥[2]
२ ३ १२१ १२१ १२१ ३ १२१ ३ २ ३
यः ते मदः वरेण्यः । तेन पवस्व अन्धसा ॥ देवावीः देव
२ ३ २ ३ २
अवीः अघशꣳसहा अघशꣳस हा ॥४॥

पदार्थः—हे पवित्रतादायक परमात्मसोम ! **यः ते** यस्तव **वरेण्यः** वरणीयः **मदः** आनन्दरसः अस्ति **तेन अन्धसा** तेन रसेन । तेना इति संहितायां छान्दसो दीर्घः । **पवस्व** प्रवाहितो भव । प्रवाहितो भूत्वा च **देवावीः** मन-इन्द्रियादीनां देवानां सन्मार्गप्रवर्तनेन रक्षकः । 'अवितस्तृतन्त्रिभ्यः' उ० ३।१५८ इति अव धातोः ई प्रत्यये अवी इति सिध्यति । देवानाम् अवीः देवावीः । **अघशंसहा** पापप्रशंसकानां भावानां हन्ता च भवेति शेषः ॥४॥

भावार्थः—रसनिधेः परमात्मन उपासनेन य आनन्दरसः प्राप्यते तेन शरीरस्य सर्वाणि मन-इन्द्रियादीनि वक्रपथं विहाय ऋजुगामीनि जायन्ते पापप्रशंसका भावाश्च पराजीयन्ते ॥४॥

अगले मन्त्र में परमात्मा-रूप सोम से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे पवित्रतादायक परमात्म-सोम ! **यः ते** जो तेरा **वरेण्यः** वरणीय **मदः** आनन्द-रस है, **तेन अन्धसा** उस रस के साथ **पवस्व** प्रवाहित हो, और प्रवाहित होकर **देवावीः** सन्मार्ग में प्रवृत्त करने के द्वारा मन, इन्द्रिय आदि देवों का रक्षक, तथा **अघशंसहा** पापप्रशंसक भावों का विनाशक बन ॥४॥

---

१. मदि धातोरौणादिके सरप्रत्यये रूपम् इति सत्यव्रतसामश्रमिणः ।

२. ऋ० ९।६१।१९, साम० ८१५ ।

भावार्थ—रसनिधि परमात्मा की उपासना से जो आनन्दरस प्राप्त होता है, उससे शरीर के सब मन, इन्द्रियाँ आदि कुटिल मार्ग को छोड़कर सरलगामी बन जाते हैं और पापप्रशंसक भाव पराजित हो जाते हैं ॥४॥

अथानन्दरसनिर्झरं वर्णयति ।

४७१. तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः ।
हरिरेति कनिक्रदत् ॥५॥[1]
तिस्रः वाचः उत् ईरते । गावः मिमन्ति धेनवः ॥
हरिः एति कनिक्रदत् ॥५॥

पदार्थः—**तिस्रः वाचः** ऋग्यजुःसामलक्षणाः **उदीरते** उद्गच्छन्ति, **धेनवः** नवप्रसूताः प्रस्नुतपयोधराः **गावः** पयस्विन्यः इव **मिमन्ति** तर्णकान् प्रति शब्दायन्ते । माङ् माने शब्दे च । परस्मैपदं छान्दसम् । **हरिः** कल्मषहारी आनन्दमयः सोमरसनिर्झरः । हरिः सोमो हरितवर्णः इति निरुक्तम् ४।१९ । **कनिक्रदत्** झर-झर शब्दं कुर्वन् **एति** उपासकानां मानसभुवि निर्झरति । क्रदि आह्वाने रोदने च । 'दार्धर्तिदर्धर्ति० अ० ७।४।६५' इति क्रन्देर्यङ्लुङन्तस्य शतरि अभ्यासस्य चुत्वाभावो निगागमश्च निपात्यते ॥५॥

अत्र व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा स्वभावोक्तिरनुप्रासश्चालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—परमात्माराधने लीना जनाः प्रेम्णा मुहुर्मुहुर्ऋग्यजुःसामलक्षणा वाच उदीरयन्ति । मन्ये वत्सान् प्रति स्नेहाकुला धेनवः शब्दायन्ते । उपासकानां मानसभूमयो रसनिधेः परमात्मनः सकाशात् प्रस्नुतेनानन्दरसनिर्झरेण स्नाता जायन्ते । अहो, कीदृशमानन्दमयं वातावरणं वर्तते ॥५॥

अगले मन्त्र में आनन्द-रस के झरने का वर्णन है ।

पदार्थ—**तिस्रः वाचः** ऋग्, यजुः, साम रूप तीन वाणियाँ **उदीरते** उठ रही हैं, ऐसा प्रतीत होता है मानो **धेनवः** नवप्रसूत दुधारू **गावः** गौएँ **मिमन्ति** बछड़ों के प्रति रंभा रही हों । **हरिः** कल्मषहारी, आनन्दमय सोमरस का झरना **कनिक्रदत्** झर-झर शब्द करता हुआ **एति** उपासकों की मनोभूमि पर झर रहा है ॥५॥

इस मन्त्र में व्यंग्योत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति और अनुप्रास अलंकार हैं ॥५॥

भावार्थ—परमात्मा की आराधना में लीन जन पुनः पुनः ऋग्, यजुः, साम रूप वाणियों का उच्चारण कर रहे हैं, मानो बछड़ों के प्रति प्रेम में भरी हुई धेनुएँ रंभा रही हों । उपासकों की मनोभूमियाँ रसनिधि परमात्मा के पास से प्रस्नुत आनन्दरस के झरने में नहा रही हैं । अहो, कैसा आनन्दमय वातावरण है ॥५॥

अथेन्दुनाम्ना परमात्मसोम आहूयते ।

४७२. इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः ।
अर्कस्य योनिमासदम् ॥६॥[2]

---

१. ऋ० ९।३३।४, साम० ८६९ ।

२. ऋ० ९।६४।२२ 'अर्कस्य' इत्यत्र 'ऋतस्य' इति पाठः । साम० १०७६ ।

इन्द्राय इन्द्रो मरुत्वते । पवस्व मधुमत्तमः ॥
अर्कस्य योनिम् आसदम् आ सदम् ॥६॥

पदार्थः—हे **इन्दो** चन्द्रवदाह्लादक पवित्रतादायक रसेनार्द्रयितः रसनिधे परमात्मन् ! **मधुमत्तमः** अतिशयेन मधुरः त्वम् **मरुत्वते इन्द्राय** प्राणसहचराय मम आत्मने, आत्मनो लाभार्थमित्यर्थः । **अर्कस्य** अर्चयितुः आत्मदेवस्य **योनिम्** निवासगृहं हृदयम् । योनिरिति गृहनाम । निघं० ३।४ । **आसदम्**[1] आसत्तुम् । आङ्पूर्वात् षद्लृ धातोः तुमर्थे णमुल् प्रत्ययः । **पवस्व** गच्छ । पूङ् पवने भ्वादिः, पवते गतिकर्मा । निघं० २।१४ ॥६॥

भावार्थः—समाधिदशायां रसागारात् परमेश्वरात् स्यन्दमान आनन्दसंदोहो हृदयमभिव्याप्योपासितुर्जीवस्य महत् कल्याणं करोति ॥६॥

अगले मन्त्र में इन्दु नाम से परमात्मा-रूप सोम का आह्वान है ।

पदार्थ—हे **इन्दो** चन्द्रमा के सदृश आह्लादक, रस से आर्द्र करने वाले रसनिधि परमात्मन् ! **मधुमत्तमः** अतिशय मधुर आप **मरुत्वते इन्द्राय** प्राणयुक्त मेरे आत्मा के लाभार्थ, **अर्कस्य** उपासक उस आत्मा के **योनिम्** निवासगृह हृदय में **पवस्व** प्राप्त हों ॥६॥

भावार्थ—समाधि-दशा में रसागार परमेश्वर से प्रवाहित होता हुआ आनन्द-संदोह हृदय में व्याप्त होकर उपासक जीव का महान् कल्याण करता है ॥६॥

अथानन्दरसो वर्ण्यते ।

४७३. **असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः ।**
श्येनो न योनिमासदत् ॥७॥[2]
असावि अंशुः मदाय । अप्सु दक्षः गिरिष्ठाः गिरि स्थाः ॥
श्येनः न योनिम् आ असदत् ॥७॥

पदार्थः—**गिरिष्ठाः** पर्वते स्थितः । गिरौ तिष्ठतीति गिरिष्ठाः 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च अ० ३।२।७४' इति विच् प्रत्ययः । **दक्षः** बलप्रदः **अंशुः** सोमौषधिः । अंशुः शमष्टमात्रो भवति, अनन्नाय शं भवतीति वा । निरु० २।५ । यथा **अप्सु** उदकेषु **असावि** सूयते, तथा **गिरिष्ठाः** पर्वतवदुन्नते परब्रह्मणि विद्यमानः **दक्षः** आत्मबलवर्द्धकः **अंशुः** आनन्दरसः **मदाय** हर्षाय **अप्सु** मम प्राणेषु कर्मसु च **असावि** मया अभिषुतोऽस्ति । **श्येनः न** श्येनपक्षी यथा **योनिम्** स्वनीडं प्राप्नोति, तथा एष आनन्दरसः **योनिम्** मम हृदयमन्दिरम् **आ असदत्** आगतोऽस्ति ॥७॥

अत्र पूर्वार्द्धे श्लेषमूलो व्यङ्ग्योपमालङ्कारः । उत्तरार्द्धे वाच्योपमा ॥७॥

भावार्थः—यथा श्येनादयः पक्षिणः सायंकाले स्वस्वावासभूतं वृक्षं प्रत्यागच्छन्ति तथैव परब्रह्मणः सकाशान्निर्झरन्नानन्दरसो हृदयप्रदेशमभ्यागच्छति । यथा च सोमो वसतीवर्याख्यपात्रस्थे जलेऽभिषूयते तथाऽऽनन्दरसः स्तोतुः प्राणेषु कर्मसु च ॥७॥

---

१. आसदम् आसत्तुम् इति भ० । आसदम् उपवेष्टुम् इति सा० । विवरणकार 'आसदम्' इति क्रियापदत्वेन व्याचष्टे—आसदम् आसीदम् इति । तत्तु स्वरविरुद्धम्, क्रियापदत्वे निघातप्राप्तेः ।

२. ऋ० ९।६२।४, साम० १००८ ।

अगले मन्त्र में आनन्दरस का वर्णन है ।

पदार्थ—**गिरिष्ठाः** पर्वत पर स्थित, **दक्षः** बलप्रद **अंशुः** सोम ओषधि, जैसे **अप्सु** जलों में **असावि** अभिषुत की जाती है, वैसे ही **गिरिष्ठाः** पर्वत के समान उन्नत परब्रह्म में स्थित, **दक्षः** आत्मबल को बढ़ाने वाला **अंशुः** आनन्द-रस **मदाय** हर्ष के लिए **अप्सु** मेरे प्राणों वा कर्मों में **असावि** मेरे द्वारा अभिषुत किया गया है । **श्येनः न** बाज पक्षी, जैसे **योनिम्** अपने घोंसले को प्राप्त होता है, वैसे ही यह आनन्दरस **योनिम्** मेरे हृदय-गृह में **आ असदत्** आकर स्थित हो गया है ॥७॥

इस मन्त्र में पूर्वार्द्ध में श्लिष्ट व्यङ्ग्योपमा तथा उत्तरार्ध में वाच्योपमा अलंकार है ॥७॥

भावार्थ—जैसे बाज आदि पक्षी सायंकाल अपने आवासभूत वृक्ष पर आ जाते हैं, वैसे ही परब्रह्म के पास से झरता हुआ आनन्द-रस हृदय-प्रदेश में आता है । और जैसे सोमलता का सोमरस वसतीवरी नामक पात्र में स्थित जल में अभिषुत किया जाता है, वैसे ही आनन्द-रस स्तोता के प्राणों और कर्मों में अभिषुत होता है ॥७॥

अथानन्दरसस्य प्रस्रवणं प्रार्थ्यते ।

१२ ३ १२ ३१२ ३१२
४७४. **पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे ।**
३१ २ ३२३ १२
मरुद्भ्यो वायवे मदः ॥८॥[1]
१२१ ३ १२ ३ १२१ ३१२ ३१२३
पवस्व दक्षसाधनः दक्ष साधनः । देवेभ्यः पीतये हरे ॥
१ २ ३१२१२१
मरुद्भ्यः वायवे मदः ॥८॥

पदार्थः—हे **हरे** ऊर्ध्वहरणशील रसागार परब्रह्म ! **दक्षसाधनः** बलसाधकस्त्वम् **देवेभ्यः पीतये** विद्वद्भ्यः पानाय **पवस्व** आनन्दरसं परिस्रावय, किञ्च तेषां विदुषाम् **मरुद्भ्यः** प्राणेभ्यः **वायवे** गतिशीलाय मनसे च **मदः** तृप्तिकरो भव ॥ वाति गच्छतीति वायुः । मनसश्च गतिशीलत्वं 'यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति । दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु । य० ३४।१ इत्यादिवर्णनात् सिद्धम् ॥८॥

भावार्थः—परब्रह्मणः सकाशाद् य आनन्दरसः प्रस्रवति स साधकस्योर्ध्वयात्रायां सहायको जायते । तेन च रसेन तस्य मनोबुद्धिप्राणादिकं सर्वमेव परमां तृप्तिं भजते ॥

अगले मन्त्र में आनन्दरस के झरने की प्रार्थना है ।

पदार्थ—हे **हरे** उन्नति की ओर ले जाने वाले रसागार परब्रह्म ! **दक्षसाधनः** बल के साधक आप **देवेभ्यः पीतये** विद्वानों द्वारा पान के लिए **पवस्व** आनन्दरस को परिस्रुत करो । उन विद्वानों के **मरुद्भ्यः** प्राणों के लिए तथा **वायवे** गतिशील मन के लिए **मदः** तृप्तिप्रदाता होवो ॥८॥

भावार्थ—परब्रह्म के पास से जो आनन्द-रस झरता है वह साधक की ऊर्ध्वयात्रा में सहायक होता है, और उस रस से उसका मन, बुद्धि, प्राण आदि सब-कुछ परमतृप्ति को पा लेता है ॥८॥

---

१. ऋ० ९।२५।१, साम० ९१९ ।

अथानन्दरसप्रवाहं वर्णयति ।

४७५. परि स्वानो गिरिष्ठाः पवित्रे सोमो अक्षरत् ।
मदेषु सर्वधा असि ॥९॥[1]
परि स्वानः गिरिष्ठाः गिरि स्थाः । पवित्रे सोमः अक्षरत् ॥
मदेषु सर्वधाः सर्व धाः असि ॥९॥

पदार्थः—**गिरिष्ठाः** पर्वतोत्पन्नः **सोमः** सोमौषधिः यथा **स्वानः** सुवानः अभिषूयमाणः सन् । षुञ् अभिषवे स्वादिः, कर्मणि शानच् । छन्दसि बाहुलकाद् उवङभावे यण् । **पवित्रे** दशापवित्रे क्षरति तथा **गिरिष्ठाः** गिरिवदुन्नते परब्रह्मणि स्थितः **स्वानः** तत अभिषूयमाणश्च **सोमः** आनन्दरसः **पवित्रे** पवित्रे हृदये **अक्षरत्** प्रस्रवति । हे आनन्दरसागार परमात्मन् ! त्वम् **मदेषु** आनन्दरसेषु क्षरितेषु सत्सु **सर्वधाः** सर्वेषाम् उपासकानां धारकः **असि** भवसि ॥९॥

अत्र श्लेषमूलो वाचकलुप्तोपमालंकारः ॥९॥

भावार्थः—यदा रसनिधेः परमात्मनः सकाशादानन्दरसो हृदये प्रस्रवति तदा रससंतृप्तो योगी सर्वात्मना ध्रियते ॥९॥

अगले मन्त्र में आनन्दरस के प्रवाह का वर्णन है ।

पदार्थ—**गिरिष्ठाः** पर्वत पर उत्पन्न **सोमः** सोम ओषधि, जैसे **स्वानः** निचोड़ने पर **पवित्रे** दशा-पवित्र में क्षरित होती है, वैसे ही **गिरिष्ठाः** पर्वत के समान उन्नत परब्रह्म में स्थित और **स्वानः** वहाँ से अभिषुत किया जाता हुआ **सोमः** आनन्दरस **पवित्रे** पवित्र हृदय में **अक्षरत्** क्षरित हो रहा है । हे रसागार परमात्मन् ! तुम **मदेषु** आनन्दरसों के क्षरित होने पर **सर्वधाः** सर्वात्मना धारणकर्ता **असि** होते हो ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषमूलक वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥९॥

भावार्थ—जब रसनिधि परमात्मा से आनन्दरस हृदय में प्रस्रुत होता है, तब रस से संतृप्त योगी पूर्णतः धृत हो जाता है ॥९॥

अथ परमात्मसोमस्य रसव्याप्तिमाह ।

४७६. परि प्रिया दिवः कविर्वयांसि नप्त्योर्हितः ।
स्वानैर्याति कविक्रतुः ॥१०॥[2]
परि प्रिया दिवः कविः । वयाꣳसि नप्त्योः हितः ॥
स्वानैः याति कविक्रतुः कवि क्रतुः ॥१०॥

पदार्थः—**नप्त्योः हितः** द्यावापृथिव्योः प्राणापानयोर्वा हितकरः **कविः** क्रान्तदर्शनः । कविः क्रान्त-दर्शनो भवति, कवतेर्वा । निरु० १२।१२ । **कविक्रतुः** मेधाविकर्मा सोमः, रसागारः परमेश्वरः **स्वानैः**

---

१. ऋ० ९।१८।१ ऋषिः असितः काश्यपो देवलो वा । 'परिसुवानो गिरिष्ठाः पवित्रे सोमो अक्षाः' इति पाठः । साम० १०९३ ।

२. ऋ० ८।९।१, ऋषिः असितः काश्यपो देवलो वा । 'सुवानो याति' इति पाठः । साम० ९३५ ।

अभिषूयमाणैः आनन्दरसैः सह **दिवः** द्योतमानस्य जीवात्मनः **प्रिया वयांसि** प्रियान् लोकान् मनोबुद्ध्यादीन् **परियाति** परिगच्छति, व्याप्नोति ॥१०॥

भावार्थः—रसनिधेः परमात्मनो दिव्यानन्दो यदाऽऽत्मानं व्याप्नोति तदाऽऽत्मसम्बद्धाः सर्वेऽपि मनोबुद्ध्यादयो हर्षेण नृत्यन्तीव ॥१०॥

अत्र परमात्मरूपस्य पवमानसोमस्य तदानन्दरसस्य च वर्णनात्, पूर्वदशत्यामपीन्द्रसूर्याग्निपवमानादिनामभिः परमात्मन एव वर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्तीति वेद्यम् ॥

इति पञ्चमे प्रपाठके द्वितीयार्धे चतुर्थी दशतिः ।
इति पञ्चमेऽध्याये प्रथमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में परमात्मा-रूप सोम की रस द्वारा व्याप्ति का वर्णन है ।

पदार्थ—**नप्त्योः हितः** द्यावापृथिवी अथवा प्राणापानों का हितकर, **कविः** क्रान्तद्रष्टा, **कविक्रतुः** बुद्धिपूर्ण कर्मों वाला रसागार सोम परमात्मा **स्वानैः** अभिषुत किये जाते हुए आनन्द-रसों के साथ **दिवः** द्योतमान जीवात्मा के **प्रिया वयांसि** प्रिय मन, बुद्धि, आदि लोकों में **परि याति** व्याप्त हो जाता है ॥१०॥

भावार्थ—रसनिधि परमात्मा का दिव्य आनन्द जब आत्मा में व्याप्त होता है, तब आत्मा से सम्बद्ध सब मन, बुद्धि आदि मानो हर्ष से नाच उठते हैं ॥१०॥

इस दशति में परमात्मा रूप पवमान सोम का तथा उसके आनन्दरस का वर्णन होने से और पूर्व दशति में भी इन्द्र, सूर्य, अग्नि, पवमान आदि नामों से परमात्मा का ही वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

पंचम प्रपाठक में द्वितीयार्ध की चतुर्थ दशति समाप्त ।
पंचम अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ॥

॥१०॥ अथ 'प्र सोमासो मदच्युतः' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ श्यावाश्वः; २ व्रितः, ३, ८ अमहीयुः; ४ भृगुः; ५, ६ कश्यपः; निध्रुविः काश्यपः; ९, १० काश्यपोऽसितः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अथ दिव्यानन्दरसान् वर्णयति ।

४७७. प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनाम् ।
सुता विदथे अक्रमुः ॥१॥[1]
प्र सोमासः मदच्युतः मद च्युतः । श्रवसे नः मघोनाम् ॥
सुताः विदथे अक्रमुः ॥१॥

पदार्थः—**सुताः** रसागारात् परमात्मनः अभिषुताः **मदच्युतः** उत्साहवर्षिणः **सोमासः** दिव्यानन्दरसाः **मघोनाम्** ऐश्वर्यवताम् **नः** अस्माकम् **श्रवसे** यशसे **विदथे** अस्माकं जीवनयज्ञे । विदथ इति यज्ञनाम । निघं० ३।१७ । **प्र अक्रमुः** प्रकर्षेण पदं निदधति ॥१॥

१. ऋ० ९।३२।१, 'मघोनाम्' इत्यत्र 'मघोनः' इति पाठः । साम० ७६९ ।

भावार्थः—परमात्मना सह योगेन यो दिव्यानन्दरसः प्राप्यते स मानवस्य समग्रं जीवनयज्ञमभिव्याप्य तं यशस्विनं करोति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में दिव्य आनन्दरसों का वर्णन है।

पदार्थ—**सुताः** रसागार परमात्मा से अभिषुत, **मदच्युतः** उत्साहवर्षी **सोमासः** दिव्य आनन्द-रस **मघोनाम्** हम ऐश्वर्यवानों के **श्रवसे** यश के लिए **विदथे** हमारे जीवन-यज्ञ में **प्र अक्रमुः** व्याप्त हो रहे हैं ॥१॥

भावार्थ—परमात्मा के साथ योग से जो दिव्य आनन्दरस प्राप्त होता है वह मानव के सम्पूर्ण जीवन-यज्ञ में व्याप्त होकर उसे यशस्वी बनाता है ॥१॥

अथ दिव्यानन्दरसतरङ्गाः किं कुर्वन्तीत्याह।

४७८. प्र सोमासो विपश्चितोऽपां नयन्त ऊर्मयः।
वनानि महिषा इव ॥२॥[1]

प्र सोमासः विपश्चितः विपः चितः। अपः नयन्ते ऊर्मयः॥
वनानि महिषा इव ॥२॥

पदार्थः—**ऊर्मयः** तरङ्गरूपाः **विपश्चितः** बुद्धिवर्धकाः **सोमासः** परमात्मनः प्रस्रुताः आनन्दरसाः **अपः** कर्म। अपस् इति कर्मनाम। निघं० २।१। **प्र नयन्ते** प्रकृष्टमार्गे प्रेरयन्ति **वनानि** अन्तरिक्षस्थानि उदकानि। वनमित्युदकनाम। निघं० १।१२। **महिषाः इव** महान्तो माध्यमिका वायवः यथा प्र नयन्ते वेगेन प्रेरयन्ति, तद्वत्। महिष इति महन्नाम। निघं० ३।३। 'अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत। ऋ० ६।८।४ इत्यस्य व्याख्याने महिषा माध्यमिका देवगणा इत्याह निरुक्तकारः। निरु० ७।२६ ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—योगिनां योगे सिद्धे सति दिव्यानन्दरसतरङ्गैस्तेषां कर्माण्यपि परमोत्कृष्टानि जायन्ते ॥२॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि दिव्य आनन्दरस की तरंगें क्या करती हैं।

पदार्थ—**ऊर्मयः** तरंगरूप, **विपश्चितः** बुद्धिवर्धक, **सोमासः** परमात्मा से प्रस्रुत आनन्दरस **अपः** कर्मों को **प्र नयन्ते** उत्कृष्ट मार्ग में प्रेरित कर देते हैं, **वनानि** अन्तरिक्षस्थ जलों को **महिषाः इव** जैसे माध्यमिक देवगण पवन **प्र नयन्ते** वेग से प्रेरित करते हैं ॥२॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ—योगियों का योग सिद्ध हो जाने पर दिव्य आनन्दरस की तरंगों से उनके कर्म भी परम उत्कृष्ट हो जाते हैं ॥२॥

---

१. ऋ० ९।३३।१ 'ऽपां न यन्त्यूर्मयः' इति पाठः। साम० ७६४।

अथ सोमं परमात्मानं प्रार्थयते ।

४७९. पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने ।
विश्वा अप द्विषो जहि ॥३॥[1]

पवस्व इन्दो वृषा सुतः । कृधी नः यशसः जने ॥
विश्वाः अप द्विषः जहि ॥३॥

पदार्थः—हे **इन्दो** चन्द्रवदाह्लादक सोमवल्लीव रसागार परमात्मन् ! **वृषा** पर्जन्य इव वर्षकः त्वम् **सुतः** हृदयेऽभिषुतः सन् **पवस्व** अस्मान् पुनीहि, **जने** जनसमाजे **नः** अस्मान् **यशसः** यशस्विनः । अत्र मतुबर्थीयस्य लोपः । **कृधि** कुरु । संहितायां छान्दसं दीर्घत्वम् । **विश्वाः** समस्ताः **द्विषः** द्वेषवृत्तीः काम-क्रोधादीनां द्वेष्ट्रीः सेनाश्च **अपजहि** विध्वंसय ॥३॥

भावार्थः—परब्रह्मरूपात् सोमात् प्रस्यन्दमाना दिव्यानन्दधारा योगसाधकान् कीर्तिभाजो निः-सपत्नांश्च कुर्वन्ति ॥३॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **इन्दो** चन्द्रमा के समान आह्लादक और सोमवल्ली के समान रसागार परमात्मन् ! **वृषा** बादल के समान वर्षा करने वाले आप **सुतः** हृदय में अभिषुत होकर **पवस्व** हमें पवित्र कीजिए । **जने** जनसमाज में **नः** हमें **यशसः** यशस्वी **कृधि** कीजिए । **विश्वाः** सब **द्विषः** द्वेषवृत्तियों को, और काम-क्रोधादि की द्वेषकर्त्री सेनाओं को **अप जहि** विनष्ट कीजिए ॥३॥

भावार्थ—परब्रह्मरूप सोम से प्रवाहित होती हुई दिव्य आनन्द की धाराएँ योगसाधकों को यशस्वी और शत्रुरहित कर देती हैं ॥३॥

अथ सोमं परमात्मानमाह्वयति ।

४८०. वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे ।
पवमान स्वर्दृशम् ॥४॥[1]

वृषा हि असि भानुना । द्युमन्तम् त्वा हवामहे ॥
पवमान स्वर्दृशम् स्वः दृशम् ॥४॥

पदार्थः—हे **पवमान** चित्तशोधक पवित्रकर्तः रसागार परमात्मन् ! त्वम् **हि** यस्मात् **भानुना** स्वतेजसा **वृषा** आनन्दरसवर्षकः **असि** विद्यसे । तस्मात् **द्युमन्तम्** देदीप्यमानम्, **स्वर्दृशम्** स्वः मोक्षसुखं दर्शयतीति स्वर्दृक् तम् **त्वा** त्वाम्, वयम् **हवामहे** आह्वयामः ॥४॥

भावार्थः—यथा सूर्यः स्वतेजसा जलस्य वृष्टिं करोति तथा परमेश्वर आनन्दरसस्य वर्षको भवति । स रसनिधी रसवर्षकस्तेजोवर्धक आनन्दमयो मोक्षानन्ददर्शकः परमेश्वरः सर्वैरुपास्यः ॥४॥

---

१. ऋ० ९।६१।२८, साम० ७७८ ।

२. ऋ० ९।६५।४, ऋषिः भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा । 'स्वर्दृशम्' इत्यत्र 'स्वाध्यः' इति पाठः । साम० ७८४ ।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा का आह्वान किया गया है।

पदार्थ—हे **पवमान** पवित्रता देने वाले रसागार परमात्मन् ! आप **हि** क्योंकि **भानुना** अपने तेज से **वृषा** आनन्द-रस की वृष्टि करने वाले **असि** हो, इसलिए **द्युमन्तम्** देदीप्यमान, **स्वर्दृशम्** मोक्षसुख को दर्शाने वाले **त्वा** आपको, हम **हवामहे** पुकारते हैं ॥४॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने तेज से जल की वर्षा करता है, वैसे ही परमेश्वर आनन्द-रस का वर्षक होता है। उस रसनिधि, रसवर्षक, तेजस्वी, तेज-वर्द्धक, आनन्दमय, मोक्षानन्द का दर्शन कराने वाले परमेश्वर की सबको उपासना करनी चाहिए ॥४॥

अथ सोमस्य परमात्मनो गुणकर्माणि वर्णयति।

४८१. इन्दुः पविष्ट चेतनः प्रियः कवीनां मतिः।
सृजदश्वं रथीरिव ॥५॥[1]
इन्दुः पविष्ट चेतनः। प्रियः कवीनाम् मतिः॥
सृजत् अश्वम् रथीः इव ॥५॥

पदार्थः—**चेतनः** चेतयिता, **कवीनां प्रियः** मेधाविनां प्रेमपात्रभूतः, **मतिः** मन्ता **इन्दुः** चन्द्रवदाह्लादकः सोमलतावद् रसागारश्च परमेश्वरः **पविष्ट** अन्तःकरणं पुनाति। अत्र लोडर्थे लुङ्, अडभावश्छान्दसः। **अश्वम्** प्राणं च **सृजत्** ऊर्ध्वारोहणाय प्रेरयति। सृज विसर्गे, लेटि रूपम्। **रथीः इव** यथा सारथिः **अश्वम्** रथे नियुक्तं घोटकम् **सृजत्** गन्तुं प्रेरयति तद्वत् ॥५॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—समुपासितः परमात्मसोमो योगिनश्चित्तं पवित्रीकृत्य तस्य प्राणान् योगसिद्धीः प्राप्तुम् ऊर्ध्वारोहणाय प्रेरयति ॥५॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा के गुण-कर्मों का वर्णन है।

पदार्थ—**चेतनः** चेतना प्रदान करने वाला, **कवीनां प्रियः** मेधावियों का प्रिय, **मतिः** ज्ञाता, **इन्दुः** चन्द्रमा के समान आह्लादक, सोमलता के समान रसागार परमेश्वर **पविष्ट** अन्तःकरण को पवित्र करता है, और **अश्वम्** प्राण को **सृजत्** ऊर्ध्वारोहण के लिए प्रेरित कर देता है, **रथीः इव** जैसे सारथि **अश्वम्** रथ में नियुक्त घोड़े को **सृजत्** चलने के लिए प्रेरित करता है ॥५॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है ॥५॥

भावार्थ—उपासना किया हुआ परमात्मा-रूप सोम योगी के चित्त को पवित्र करके उसके प्राणों को योगसिद्धियों के प्राप्त्यर्थ ऊर्ध्वारोहण के लिए प्रेरित कर देता है ॥५॥

अथ भक्तिरसाभिषवस्य प्रयोजनमाह।

४८२. असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया।
शुक्रासो वीरयाशवः ॥६॥[2]

---

१. ऋ० ९।६४।१०, 'मतिः' इत्यत्र 'मती' इति पाठः।

२. ऋ० ९।६४।४, साम० १०३४।

१ २१ २ ३ १ २ ३ २ १ २१ ३ २
असृक्षत प्र वाजिनः । गव्या सोमासः अश्वया ॥
३ १ २ ३ २ ३ १ २
शुक्रासः वीरया आशवः ॥६॥

पदार्थः—**वाजिनः** सबलाः, **शुक्रासः** पवित्राः, **आशवः** वेगवन्तः **सोमासः** परमात्मभक्तिरसाः **गव्या** अन्तःप्रकाशप्राप्तीच्छया, **अश्वया** प्राणानामूर्ध्वप्रेरणेच्छया, **वीरया** वीरत्वप्राप्तीच्छया च **प्र असृक्षत** मया प्रकर्षेण सृज्यन्ते अभिषूयन्ते । सृज विसर्गे धातोः कर्मणि छान्दसं रूपम् । गव्या, अश्वया, वीरया इत्यत्र गो-अश्व-वीर शब्देभ्यः आत्मन इच्छायां क्यच्, 'अ प्रत्ययात्' ३।३।१०२, इति अ प्रत्ययः, स्त्रियां टाबन्तस्य अश्वयया, गव्ययया, वीरयया इति प्राप्ते 'सुपां सुलुगिति' तृतीयाया लुक् ॥६॥

भावार्थः—अन्तःकरणे भगवद्भक्तिरसप्रवाहेणान्तःप्रकाशस्फुरणं प्राणानामूर्ध्वारोहो दिव्यकर्मसु चोत्साहः प्रवर्तते ॥६॥

अगले मन्त्र में भक्तिरस को अभिषुत करने का प्रयोजन वर्णित है ।

पदार्थ—**वाजिनः** सबल, **शुक्रासः** पवित्र, **आशवः** वेगवान् **सोमासः** प्रभु-भक्ति के रस **गव्या** अन्तःप्रकाश-प्राप्ति की इच्छा से, **अश्वया** प्राणों की ऊर्ध्वप्रेरणा की इच्छा से, और **वीरया** वीरता-प्राप्ति की इच्छा से **प्र असृक्षत** मेरे द्वारा प्रवाहित किये गये हैं ॥६॥

भावार्थ—अन्तःकरण में भगवद्भक्ति के रस को प्रवाहित करने से अन्तःप्रकाश की स्फूर्ति, प्राणों का ऊर्ध्वारोहण और दिव्यकर्मों में उत्साह पैदा होता है ॥६॥

अथ परमात्मसोमः प्रार्थ्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
४८३. **पवस्व देव आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः ।**
३ १ २ ३ १ २
वायुमा रोह धर्मणा ॥७॥[1]
१ २ १ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ १ ३ १ २ १
पवस्व देवः आयुषक् आयु सक् । इन्द्रम् गच्छतु ते मदः ॥
३ २ ३ १ २ १
वायुम् आ रोह धर्मणा ॥७॥

पदार्थः—हे पवमान सोम ! हे पवित्रतासम्पादक रसागार परब्रह्म ! **देवः** दिव्यगुणः त्वम् **आयुषक्**[2] आयुषु उपासकेषु मनुष्येषु सक्तं यथा स्यात् तथा । आयवः इति मनुष्यनाम । निघं० २।३, षच समवाये । **पवस्व** प्रस्रव, आनन्दरसं प्रवाहय । **ते मदः** त्वज्जनितः आनन्दरसः **इन्द्रम्** आत्मानम् **गच्छतु** प्राप्नोतु । त्वम् **धर्मणा** स्वकीयधारकबलेन **वायुम्** प्राणम् **आरोह** आरूढो भव, मदीयाः प्राणा अपि त्वत्तरङ्गेण तरङ्गिता भवेयुरिति भावः ॥७॥

भावार्थः—परमात्मरूपात् सोमात् प्रस्रुत आनन्दरसस्तदैव प्रभावकारी जायते यदा स आत्म-प्राणादीन् पूर्णतो व्याप्नोति ॥७॥

---

१. ऋ० ९।६३।२२, 'देवायुषगिन्द्रं' इति पाठः । साम० १२३५ ।

२. आयुषु मनुष्येषु सक्तः, मनुष्यैः सेव्यमान इति वा—इति भ० । अनुषक्तं यथा भवति तथा—इति सा० । सत्यव्रतसामश्रमिणस्तु विवरणकारनाम्ना आहुः—"सचते रूपम् । आनुषक् आयुषक् इति शाखाभेदेन पठ्यते "आनुषगिति नामानुपूर्वस्य अनुषक्तो भवति"—इति वि० ।" इति । परं मुद्रिते विवरणकारभाष्ये 'आयुषक् सुजनमनाः' इत्युपलभ्यते । 'आयु-सक्' इति पदपाठाद् भरतस्वामिव्याख्यानमेव समञ्जसं प्रतिभाति ।

अगले मन्त्र में परमात्मारूप सोम से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे पवमान सोम ! हे पवित्रताकारी रसागार परब्रह्म ! **देवः** दिव्यगुण वाले आप **आयुषक्** उपासक मनुष्यों में समवेत होकर **पवस्व** प्रस्रुत होवो, आनन्द-रस को प्रवाहित करो। **ते मदः** आपका आनन्द-रस **इन्द्रम्** आत्मा को **गच्छतु** प्राप्त हो। आप **धर्मणा** अपने धारक बल से **वायुम्** मेरे प्राण पर **आरोह** आरूढ़ होवो, अर्थात् मेरे प्राण भी आपकी तरंग से तरंगित हों ॥७॥

भावार्थ—परमात्मा-रूप सोम से झरा हुआ आनन्द-रस तभी प्रभावकारी होता है, जब वह आत्मा, प्राण आदि में पूर्णतः व्याप जाता है ॥७॥

अथ सोमाख्यात् परमात्मनः प्राप्तं ज्योतिर्वर्णयति।

४८४. पवमानो अजीजनद् दिवश्चित्रं न तन्यतुम्।
ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् ॥८॥[1]
पवमानः अजीजनत्। दिवः चित्रम् न तन्यतुम्॥
ज्योतिः वैश्वानरम् वैश्व नरम् बृहत् ॥८॥

पदार्थः—**पवमानः** पवित्रतादायकः सोमः परमेश्वरः **दिवः** आकाशस्य **चित्रम्** चित्ररूपम् **तन्यतुम् न** विद्युतमिव **बृहत्** विस्तीर्णम् **वैश्वानरम्** विश्वनेतृत्वकारि। यद् विश्वं नृणाति नयति तद् वैश्वानरम्। **ज्योतिः** दिव्यं तेजः **अजीजनत्** जनयति ॥८॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥८॥

भावार्थः—ईश्वराराधनेन हृदि विद्युदिव अद्भुतं ज्योतिः परिस्फुरति, येन विवेकख्यातिं लभते जनः ॥८॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा से प्राप्त ज्योति का वर्णन है।

पदार्थ—**पवमानः** पवित्रतादायक सोम परमेश्वर **दिवः** आकाश की **चित्रम्** चित्र-विचित्र **तन्यतुं न** विद्युत् के समान **बृहत्** विस्तीर्ण **वैश्वानरम्** विश्व का नेतृत्व करने वाली **ज्योतिः** दिव्य ज्योति को **अजीजनत्** उत्पन्न कर देता है ॥८॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥८॥

भावार्थ—ईश्वर की आराधना से हृदय में विद्युत् के समान अद्भुत ज्योति परिस्फुरित हो जाती है, जिससे मनुष्य विवेकख्याति प्राप्त कर लेता है ॥८॥

अथानन्दरसान् वर्णयति।

४८५. परि स्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा।
मधो अर्षन्ति धारया ॥९॥[2]
परि स्वानासः इन्दवः। मदाय बर्हणा गिरा॥
मधो अर्षन्ति धारया ॥९॥

---

१. ऋ० ९।६१।१६। साम० ८८९।

२. ऋ० ९।१०।४, 'स्वानास', 'मधो' इत्यत्र 'सुवानास', 'सुता' इति पाठः। साम० ११२२।

पदार्थः—हे **मधो** मधुरानन्द सोम परमात्मन् ! अत्र पादादित्वात् आद्युदात्तः सम्बुद्धिस्वरः। **बर्हणा** बर्हणया श्रेष्ठया। बर्ह प्राधान्ये, भ्वादिः। बर्हणा प्रातिपदिकात् तृतीयैकवचने 'सुपां सुलुक्०' इति पूर्वसवर्णदीर्घः। **गिरा** वेदवाचा **स्वानासः** सुवानाः, त्वत्तः अभिषूयमाणाः **इन्दवः** आनन्दरसाः **मदाय** मम हर्षाय, उत्साहायेत्यर्थः **धारया** धारारूपेण **परि अर्षन्ति** मदीयं मानसं प्रविशन्ति। ऋषिर्गत्यर्थः ॥९॥

भावार्थः—भक्तिलीनेन मनसा स्तोतारो यदा परमात्मानमाराधनुवन्ति तदा तैः परमानन्दोऽनुभूयते ॥९॥

अगले मन्त्र में आनन्द-रसों का वर्णन है।

पदार्थ—हे **मधो** मधुर आनन्द से भरपूर सोम परमात्मन् ! **बर्हणा** श्रेष्ठ **गिरा** स्तुति वाणी के द्वारा **स्वानासः** आपसे झरते हुए **इन्दवः** आनन्द-रस **मदाय** मेरे उत्साह के लिए **धारया** धारा रूप में **परि अर्षन्ति** मेरे अन्तःकरण में प्रवेश कर रहे हैं ॥९॥

भावार्थ—भक्ति में लीन मन से स्तोता जन जब परमात्मा की आराधना करते हैं, तब उन्हें परम आनन्द की अनुभूति होती है ॥९॥

अथ सोमेन परमात्मना सह तरङ्गदोलारोहणं वर्ण्यते।

४८६. परि प्रासिष्यदत् कविः सिन्धोरूर्मावधि श्रितः।
कारुं बिभ्रत् पुरुस्पृहम् ॥१०॥[1]

परि प्र असिष्यदत् कविः। सिन्धोः ऊर्मौ अधि श्रितः॥
कारुम् बिभ्रत् पुरुस्पृहम् पुरु स्पृहम् ॥१०॥

पदार्थः—**कविः** वेदकाव्यस्य कर्ता, काव्यानन्दतरङ्गितहृदयः सोमः परमेश्वरः **सिन्धोः** आनन्दसागरस्य **ऊर्मौ** तरङ्गे **अधिश्रितः** अधिष्ठितः सन् **पुरुस्पृहम्** बहुस्पृहणीयम् **कारुम्** स्तुतिकर्तारम् जीवम्। कारुरिति स्तोतृनाम। निघं० ३।१६। कारुः कर्ता स्तोमानाम्। निरु० ६।५। **बिभ्रत्** धारयन् **परि प्रासिष्यदत्** आनन्दलहरीषु दोलारोहणम् अनुभवति ॥१०॥

अत्र वस्तुतः परमात्मनो दोलादिसम्बन्धाभावाद् असम्बन्धे सम्बन्धरूपोऽतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥१०

भावार्थः—सच्चिदानन्दस्वरूपो रसमयः परमेश्वरः स्वसहचरं जीवात्मानं मां हस्ताभ्यामिव धारयन्नानन्दोदधेस्तरङ्गेषु दोलायते। अहो, तेन सह कीदृक् अननुभूतपूर्वम् अवर्णनीयं सुखं मयाऽनुभूयते। सत्यं, कृतकृत्योऽस्मि। लब्धं मया जीवनस्य साफल्यम् ॥१०॥

अत्रापि रसागारस्य सोमस्य परमेश्वरस्य तज्जनितानन्दरसस्य च वर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन संगतिरस्तीति विद्वाङ्कुर्वन्तु ॥

इति पञ्चमे प्रपाठके द्वितीयार्धे पञ्चमी दशतिः।

समाप्तोऽयं पञ्चमः प्रपाठकः ॥

इति पञ्चमेऽध्याये द्वितीयः खण्डः।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा के साथ तरंगों के झूले में झूलना वर्णित है।

पदार्थ—कविः वेदकाव्य का कर्ता, काव्यजनित आनन्द से तरंगित हृदय वाला सोम परमेश्वर

१. ऋ० ९।१४।१, 'कारुं' इत्यत्र 'कारं' इति पाठः।

सिन्धोः आनन्दसागर की **ऊर्मौ** लहरों पर **अधिश्रितः** स्थित हुआ **पुरुस्पृहम्** अतिप्रिय **कारुम्** स्तुतिकर्ता जीव को **बिभ्रत्** अपने साथ धारण किये हुए **परि प्रासिष्यदत्** आनन्द की लहरों पर झूला झूल रहा है ॥१०॥

वस्तुतः परमात्मा का झूले आदि से सम्बन्ध न होने के कारण यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अलंकार है ॥१०॥

भावार्थ—सच्चिदानन्दस्वरूप रसमय परमेश्वर अपने सहचर मुझ जीवात्मा का मानो हाथ पकड़े हुए आनन्द-सागर की लहरों पर झूल रहा है। अहो, उसके साथ कैसा पहले कभी अनुभव में न आया हुआ सुख मैं अनुभव कर रहा हूँ। सचमुच, कृतकृत्य हो गया हूँ। मैंने जीवन की सफलता पा ली है ॥१०॥

इस दशति में भी रसागार सोम परमेश्वर का तथा तज्जनित आनन्दरस का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

पंचम प्रपाठक में द्वितीयार्ध की पाँचवीं दशति समाप्त।
यह पंचम प्रपाठक समाप्त हुआ ॥
पंचम अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त।

—०—

अथ षष्ठः प्रपाठकः

॥१॥ तत्र 'उपो षु जातमप्तुरम्' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ८, ९ अमहीयुः; २ बृहन्मतिः आङ्गिरसः; ३ जमदग्निः; ४ प्रभूवसुः; मेध्यातिथिः; ६, ७ निध्रुविः काश्यपः; १० उचथ्यः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः ॥

अथ विद्वांसः कीदृशं परमेश्वरमवलम्बन्त इत्याह।

४८७. उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम्।
इन्दुं देवा अयासिषुः ॥१॥[1]
उप उ सु जातम् अप्तुरम्। गोभिः भङ्गम् परिष्कृतम् परि कृतम् ॥
इन्दुम् देवाः अयासिषुः ॥१॥

पदार्थः—**सुजातम्** सुख्यातम्, **अप्तुरम्** कर्मसु सत्वरम्, **भङ्गम्** दुःखभञ्जकम्, **गोभिः परिष्कृतम्** प्रकाशरश्मिभिः अलङ्कृतम्, तेजस्विनमिति यावत् **इन्दुम्** चन्द्रवदाह्लादकं, रसेन क्लेदकं, सोमौषधिवद् रसमयं च परमात्मानम् **देवाः** विद्वांसः **उप उ अयासिषुः** उपगच्छन्ति ॥१॥

भावार्थः—यः परमेश्वरः प्रख्यातकीर्तिर्जगत्सर्जनधारणादिक्रियायुक्तो दुःखिनां दुःखद्रावको दिव्यतेजोभिरलङ्कृतः स्वकीयेन शान्तिप्रदेनानन्दरसेन स्नपयिता चन्द्र इव चारुः सोमवल्लीव रसपूर्णश्चास्ति स सर्वैर्जनैरुपासनीयः ॥१॥

१. ऋ० ९।६१।१३, साम० ७६२।

प्रथम मन्त्र में यह वर्णन है कि विद्वान् लोग कैसे परमेश्वर का अवलम्ब लेते हैं।

पदार्थ—**सु जातम्** सुप्रसिद्ध, **अप्तुरम्** कर्म करने में शीघ्रतायुक्त, **भङ्गम्** दुःखों के भंजक, **गोभिः परिष्कृतम्** प्रकाश-किरणों से अलंकृत अर्थात् तेजस्वी **इन्दुम्** चाँद के समान आह्लादक, रस से आर्द्र करने वाले तथा सोम ओषधि के समान रसमय परमात्मा को **देवाः** विद्वान् लोग **उप उ अयासिषुः** निकटता से प्राप्त करते हैं ॥१॥

भावार्थ—जो परमेश्वर प्रसिद्ध कीर्ति वाला, जगत् की उत्पत्ति, धारण आदि क्रियाओं को करने वाला, दुःखियों का दुःख दूर करने वाला, दिव्य तेजों से अलंकृत, अपने शान्तिदायक आनन्द-रस में स्नान कराने वाला, चन्द्रमा के समान सुन्दर और सोमलता के समान रस से पूर्ण है, उसकी सबको उपासना करनी चाहिए ॥१॥

अथ सोमं परमात्मानं वर्णयति।

४८८. पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणिः।
शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः ॥२॥[1]

पुनानः अक्रमीत् अभि। विश्वाः मृधः विचर्षणिः वि चर्षणिः॥
शुम्भन्ति विप्रम् वि प्रम् धीतिभिः ॥२॥

पदार्थः—**पुनानः** उपासकानां मनः पवित्रं कुर्वन् ,**विचर्षणिः** सर्वद्रष्टा सोमः परमेश्वरः। विचर्षणिः इति पश्यतिकर्मसु पठितम्। निघं० ३।११। **विश्वाः मृधः** कामक्रोधादीनां सर्वाः सङ्ग्रामकारिणीः सेनाः, निखिला हिंसावृत्तीर्वा **अभि अक्रमीत्** अभ्याक्रामति। तम् **विप्रम्** मेधाविनं परमेशम्, उपासकाः **धीतिभिः** ध्यानैः **शुम्भन्ति**[2] स्वहृदयाभ्यन्तरे शोभयन्ति। शुम्भ शोभार्थे, तुदादिः ॥२॥

भावार्थः—ध्यातः परमेश्वरः साधकस्य मार्गे विघ्नभूताः सर्वा आसुरीः सेनाः पराजित्य चित्तं पवित्रयति ॥२॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा का वर्णन है।

पदार्थ—**पुनानः** मन को पवित्र करता हुआ **विचर्षणिः** सर्वद्रष्टा परमेश्वर **विश्वाः मृधः** काम, क्रोध आदियों की सब संग्रामकारिणी सेनाओं पर अथवा समस्त हिंसावृत्तियों पर **अभि अक्रमीत्** आक्रमण कर देता है। उस **विप्रम्** मेधावी परमेश्वर को, उपासक जन **धीतिभिः** ध्यानों के द्वारा **शुम्भन्ति** अपने हृदय के अन्दर शोभित करते हैं ॥२॥

भावार्थ—ध्यान किया हुआ परमेश्वर साधक के मार्ग में विघ्नभूत सब आसुरी सेनाओं को पराजित कर चित्त को पवित्र करता है ॥२॥

स सोमः परमात्मा विश्वाः श्रियः प्रयच्छतीत्याह।

४८९. आविशन् कलशं सुतो विश्वा अर्षन्नभि श्रियः।
इन्दुरिन्द्राय धीयते ॥३॥[3]

---

१. ऋ० ९।४०।१, साम० ९२४।

२. शुम्भन्ति शोभन्ति अलङ्कुर्वन्ति—इति वि०। दीपयन्ति—इति भ०।

३. ऋ० ९।६२।१९, 'शूरो न गोषु तिष्ठति' इति ततीयः पादः।

आविशन् आ विशन् कलशम् सुतः । विश्वाः अर्षन् अभि श्रियः ॥
इन्दुः इन्द्राय धीयते ॥३॥

पदार्थः—**सुतः** अभिषुतः, ध्यानद्वारा प्रकटितः, **कलशम्** हृदयरूपं द्रोणकलशम् **आविशन्** प्रविशन्, **विश्वाः** समस्ताः **श्रियः** शोभाः सद्गुणैश्वर्याणि वा **अर्षन्** आर्षयन् प्रापयन् । ऋषी गतौ, तुदादिः । लुप्तणिच्कः प्रयोगः । **इन्दुः** चन्द्रवत् सौम्यकान्तिः सोमौषधिवद् रसपूर्णः परमेश्वरः **इन्द्राय** जीवात्मने, तदुन्नतये इत्यर्थः **धीयते** पुरतः स्थाप्यते ॥३॥

भावार्थः—परमात्मनि ध्यानेन जीवात्मा सर्वविधमुत्कर्षं प्राप्तुं शक्नोति ॥३॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि परमात्मा सब शोभाओं को प्रदान करता है ।

पदार्थ—**सुतः** अभिषुत किया हुआ अर्थात् ध्यान द्वारा प्रकट किया हुआ, **कलशम्** हृदय-रूप द्रोणकलश में **आविशन्** प्रवेश करता हुआ, **विश्वाः** समस्त **श्रियः** शोभाओं को अथवा सद्गुणरूप ऐश्वर्यों को **अर्षन्** प्राप्त कराता हुआ **इन्दुः** चन्द्रमा के समान सौम्य कान्ति वाला और सोम ओषधि के समान रस से परिपूर्ण परमेश्वर **इन्द्राय** जीवात्मा की उन्नति के लिए **धीयते** संमुख स्थापित किया जाता है ॥३॥

भावार्थ—परमात्मा में ध्यान लगाने से जीवात्मा सब प्रकार का उत्कर्ष प्राप्त कर सकता है ॥३॥

अथ परमेश्वराराधनेन स्तोता कीदृशं बलं प्राप्नोतीत्याह ।

४९०. **असर्जि रथ्यो यथा पवित्रे चम्वोः सुतः ।**
काष्मन् वाजी न्यक्रमीत् ॥४॥[1]
असर्जि रथ्यः यथा । पवित्रे चम्वोः सुतः ॥
काष्मन् वाजी नि अक्रमीत् ॥४॥

पदार्थः—**चम्वोः** आत्मबुद्धिरूपयोः अधिषवणफलकयोः **सुतः** अभिषुतः, ध्यानेन प्रकटीकृतः सोमः रसनिधिः परमेश्वरः **पवित्रे** दशापवित्रे इव पवित्रे हृदये **असर्जि** विसृष्टोऽस्ति, **रथ्यः यथा** येन प्रकारेण रथनियुक्तः अश्वः मार्गे विसृज्यते तद्वत् । तेन **वाजी** बलवान् सन् उपासकः **काष्मन्** योगमार्गे । कृष्यते विलिख्यते पादाघातैः इति काष्मा मार्गः तस्मिन् । अत्र सप्तम्या लुक् । **न्यक्रमीत्** निक्रमते, योगविघ्नान् उल्लङ्घयते, यथा **वाजी** बलवान् सेनापतिः **काष्मन्** संग्रामे । कृषतः अन्योन्यं विलिखतः उभे सेने यत्र स काष्मा रणः तस्मिन् । **न्यक्रमीत्** शत्रुसेनाः पराजयते ॥४॥

अत्र पूर्वार्द्धे श्रौती उपमा, उत्तरार्द्धे च श्लेषमूला लुप्तोपमा ॥४॥

भावार्थः—यदा हृदये सोमः परमात्माऽवतरति तदा मनुष्यः सर्वा अपि विघ्नबाधाः क्षणेनैव पराजयते ॥४॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि परमेश्वर की आराधना से स्तोता कैसा बल प्राप्त कर लेता है ।

पदार्थ—**चम्वोः** आत्मा और बुद्धिरूप अधिषवणफलकों में **सुतः** अभिषत अर्थात् ध्यान द्वारा प्रकटीकृत रसनिधि परमेश्वर **पवित्रे** दशापवित्र के तुल्य पवित्र हृदय में **असर्जि** छोड़ा जाता है, **रथ्यः यथा**

---

१. ऋ० ९।३६।१ ।

जैसे रथ में नियुक्त घोड़ा मार्ग में छोड़ा जाता है। उससे **वाजी** बलवान् हुआ उपासक **कार्ष्मन्** योग-मार्ग में **न्यक्रमीत्** सब विघ्नों को पार कर लेता है, जैसे **वाजी** बलवान् सेनापति **कार्ष्मन्** युद्ध में **न्यक्रमीत्** शत्रु-सेनाओं को परास्त करता है ॥४॥

इस मन्त्र में पूर्वार्द्ध में श्रौति उपमा और उत्तरार्द्ध में श्लेषमूलक लुप्तोपमा है ॥४॥

भावार्थ—जब हृदय में सोम परमात्मा अवतीर्ण होता है, तब मनुष्य सभी विघ्न-बाधाओं को क्षण-भर में ही परास्त कर लेता है ॥४॥

अथ परमात्मनः प्राप्ता आनन्दरसाः किं कुर्वन्तीत्याह।

४९१. **प्र यद्गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः।**
घ्नन्तः कृष्णामप त्वचम् ॥५॥[1]

प्र यत् गावः न भूर्णयः। त्वेषाः अयासः अक्रमुः॥
घ्नन्तः कृष्णाम् अप त्वचम् ॥५॥

पदार्थः—**यत्** यदा **गावः न** सूर्यकिरणाः इव **भूर्णयः** धारणपोषणकराः। डुभृञ् धारणपोषणयोः। बिभर्तीति भूर्णिः, 'घृणिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णयः।' उ० ४।५३ इति निः प्रत्ययः। धातोरूत्वम्। **त्वेषाः** दीप्ताः। त्विष दीप्तौ, भ्वादिः। **अयासः** गमनशीलाः सोमाः आनन्दरसाः। अयन्ते गच्छन्तीति अयाः, जसोऽसुगागमः। **प्र अक्रमुः** पराक्रमन्ते, तदा **त्वचम्** संवरणकरीम्। त्वच संवरणे, तुदादिः। **कृष्णाम्** तमोगुणमयीं रात्रिम्। 'कृष्णा कृष्णवर्णा रात्रिः' इति निरुक्तम् २।२०। **घ्नन्तः** ध्वंसयन्तो, भवन्तीति शेषः ॥५॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—ब्रह्मानन्दरसान् यदा योगिनो जनाः पिबन्ति तदा सर्वा अपि मोहनिशास्तेषां मार्गादपयन्ति ॥५॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि परमात्मा से प्राप्त आनन्द-रस क्या करते हैं।

पदार्थ—**यत्** जब **गावः न** सूर्य-किरणों के समान **भूर्णयः** धारण-पोषण करने वाले, **त्वेषाः** दीप्तिमान्, **अयासः** क्रियाशील आनन्द-रस रूपी सोम **प्र अक्रमुः** पराक्रम दिखाते हैं, तब **त्वचम्** आवरण डालने वाली **कृष्णाम्** तमोगुण की काली रात्रि को **घ्नन्तः** नष्ट कर देते हैं ॥५॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥५॥

भावार्थ—ब्रह्मानन्द-रूप रसों को जब योगी जन पान कर लेते हैं, तब सभी मोह-निशाएँ उनके मार्ग से हट जाती हैं ॥५॥

अथ सोमः परमात्मा प्रार्थ्यते।

४९२. **अपघ्नन् पवसे मृधः क्रतुवित् सोम मत्सरः।**
नुदस्वादेवयुं जनम् ॥६॥[2]

---

१. ऋ० ९।४१।१, 'यद्' इत्यत्र 'ये' इति पाठः। साम० ८९२।

२. ऋ० ९।६३।२४, साम० १२३७।

३ २ ३ २ ३ १२१ ३ २ ३ २ ३ २
अपघ्नन् अप घ्नन् पवसे मृधः । ऋतुवित् ऋतु वित् सोम मत्सरः ॥
३१२१२१ ३ १२१
नुदस्व अदेवयुम् अ देवयुम् जनम् ॥६॥

पदार्थः—हे **सोम** आनन्दरसागार परमेश्वर ! त्वम् **मृधः** संग्रामकारिणः कामक्रोधादीन् रिपून् **अपघ्नन्** हिंसन् **पवसे** अस्मान् पुनासि । **ऋतुवित्** प्रज्ञाकर्मलम्भकः, **मत्सरः** आनन्दस्य वाहकः त्वम् **अदेवयुम्** देवान् दिव्यगुणान् आत्मनः कामयते इति देवयुः, न देवयुः अदेवयुः, तम् **जनम्** मनुष्यम् **नुदस्व** दिव्यगुणान् प्राप्तुं प्रेरय, तं देवयुं कुरु इत्यर्थः ॥६॥

भावार्थः—आनन्दरसनिधेः परमेश्वरस्य सत्प्रेरणया अपावना अपि पावनाः, अदिव्या अपि दिव्यगुणा भवन्ति ॥६॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **सोम** आनन्दरसागार परमेश्वर ! आप **मृधः** संग्रामकारी काम, क्रोध आदि रिपुओं को **अपघ्नन्** विनष्ट करते हुए **पवसे** हमें पवित्र करते हो। **ऋतुवित्** बुद्धि और कर्म दोनों प्राप्त कराने वाले, **मत्सरः** आनन्द-प्रदाता आप **अदेवयुम्** दिव्य गुणों की कामना न करने वाले **जनम्** मनुष्य को **नुदस्व** दिव्य गुण प्राप्त करने के लिए प्रेरित करो ॥६॥

भावार्थ—आनन्द-रस के खजाने परमेश्वर की सत्प्रेरणा से अपावन भी पावन और अदिव्य भी दिव्यगुणी हो जाते हैं ॥६॥

अथ सोमं परमात्मनं तेजोधारां प्रार्थयते।

३ १ २ ३ १२३ २३ २३१२
४९३. **अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः ।**
३ १२ २१ ३२
हिन्वानो मानुषीरपः ॥७॥[1]
३२ ३ १२१ १२१ १२१ १२१
अया पवस्व धारया । यया सूर्यम् अरोचयः ॥
३ २ १२१ ३२
हिन्वानः मानुषीः अपः ॥७॥

पदार्थः—हे तेजोरसस्य अगार सोम परमेश्वर ! त्वम् **अया** अनया । अया एना इत्युपदेशस्य इति निरुक्तम् । ३।२१ । **धारया** तेजोधारया **पवस्व** अस्मान् प्रति समागच्छ । पवते गतिकर्मा । निघं० २।१४। **यया** तेजोधारया, त्वम् **सूर्यम्** आदित्यम् **अरोचयः** रोचितवानसि । त्वम् **मानुषीः अपः** मनुष्यसम्बन्धिनीः प्रजाः[2] **हिन्वानः** तेजसा प्रीणयन् भवेति शेषः । हिवि प्रीणनार्थः भ्वादिः ॥७॥

भावार्थः—यः परमेश्वरस्तेजसा सूर्यवह्निविद्युदादीन् प्रदीपयति, तत्प्रत्तेन तेजसा सर्वे जनास्तेजस्विनो भवन्तु ॥७॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा से तेज की धारा माँगी गयी है।

पदार्थ—हे तेज-रूप रस के भण्डार परमेश्वर ! आप **अया** इस **धारया** तेज की धारा के साथ **पवस्व** हमें प्राप्त हों, **यया** जिस तेज की धारा से, आपने **सूर्यम्** सूर्य को **अरोचयः** चमकाया है। आप **मानुषीः अपः** सब मानव प्रजाओं को **हिन्वानः** तेज से तृप्त करो ॥७॥

---

१. ऋ० ९।६१।२२।

२. 'आपः जलानीव प्रजाः' इति ऋ० ५।३४।९ भाष्ये द०।

भावार्थ—जो परमेश्वर तेज से सूर्य, अग्नि, बिजली आदियों को चमकाता है, उसके दिये हुए तेज से सब मनुष्य तेजस्वी होवें ॥७॥

अथ पापवृत्रस्य वधविषयमाह ।

१ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
४९४. स पवस्व य आविथेन्द्रं वृत्राय हन्तवे ।
३ १ २ ३ २ ३ २
वव्रिवांसं महीरपः ॥८॥[1]
२ ३ २ १ २ १ १ २ १ ३ १ २ १ २ १
सः पवस्व यः आविथ । इन्द्रम् वृत्राय हन्तवे ॥
३ १ २ ३ २ ३ २
वव्रिवाꣳसम् महीः अपः ॥८॥

पदार्थः—हे वीररसनिधे सोम परमेश्वर ! **सः** प्रसिद्धः त्वम्, अस्मान् **पवस्व** स्वकीयया रक्षया सह समागच्छ, **यः** यस्त्वम् **महीः अपः** महतीः धर्मधाराः **वव्रिवांसम्** वृतवन्तम् । वृणोतेर्लिटः क्वसौ रूपम् । **इन्द्रम्** जीवात्मानम् **वृत्राय हन्तवे** अधर्मपापादिकस्य हननाय **आविथ** प्राप्नोषि । अवतेर्गत्यर्थस्य लिटि रूपम् ॥८॥

भावार्थः—देवासुरसंग्रामे विजयं लब्धुं परमेश्वरात् प्रेरणां लब्ध्वा पुरुषार्थः कार्यः ॥८॥

अगले मन्त्र में पापरूप वृत्र के वध का विषय है ।

पदार्थ—हे वीर-रस के भण्डार सोम परमेश्वर ! **सः** वह प्रसिद्ध आप, हमारे पास **पवस्व** अपनी रक्षा-शक्ति के साथ आओ, **यः** जो आप **महीः अपः** बड़ी धर्मरूप धाराओं को **वव्रिवांसम्** वरण करने वाले **इन्द्रम्** जीवात्मा को **वृत्राय हन्तवे** अधर्म, पाप आदि के विनाशार्थ **आविथ** प्राप्त होते हो ॥८॥

भावार्थ—देवासुरसंग्राम में विजय पाने के लिए परमेश्वर से प्रेरणा पाकर पुरुषार्थ करना चाहिए ॥८॥

अथ सोमरसेन तृप्तो जनः किं कुर्यादित्याह ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
४९५. अया वीती परि स्रव यस्त इन्दो मदेष्वा ।
३ १ २ ३ १ २ २
अवाहन्नवतीर्नव ॥९॥[2]
३ २ ३ २ १ २ १ ३ २ ३ १ २ १
अया वीती परि स्रव । यः ते इन्दो मदेषु आ ॥
३ १ २ ३ १ २ १ ३ २ १ २ १
अवाहन् अव अहन् नवतीः नव ॥९॥

पदार्थः—हे **इन्दो** आनन्दरसस्य वीररसस्य वा अगारभूत परमात्मन् ! त्वम् **अया वीती** अनया रीत्या । वी गत्यादिषु, भावे क्तिन् । तृतीयैकवचने 'सुपां सुलुक्' इति पूर्वसवर्णदीर्घः । **परिस्रव** उपासकानाम् अन्तःकरणे परिस्यन्द, यथा **यः** उपासकः **ते मदेषु** त्वज्जनितेषु हर्षेषु **आ** आ भवेत् सः **नव नवतीः** वृत्राणां नवनवतिम् **अवाहन्** अवहन्यात् । अत्र लिङर्थे लङ् । शतायुर्वै पुरुषः । तस्य नव मासा दश मासा वा गर्भे व्यतीयन्ते । एवं प्रायेण नवनवतिवर्षाणि स जीवति । तेषु नवनवतिवर्षेषु जायमाना ये विघ्नास्ते नव-नवतिर्वृत्राण्युच्यन्ते । तानि मनुष्यः सोमस्य मदे हन्यादिति भावः ॥९॥

---

१. ऋ० ९।६१।२२ ।

२. ऋ० ९।६१।१, साम० १२१० ।

भावार्थः—परमेश्वरात् प्रस्रुत आनन्दरसो वीररसो वा स्तोतारं तथा मादयति यथा स जीवने समागच्छतः सर्वानेव विघ्नान् शत्रून् वा हन्तुं प्रभवति ॥९॥

सोमरस से तृप्त हुआ मनुष्य क्या करे यह कहते हैं।

पदार्थ—हे **इन्दो** आनन्दरस वा वीररस के भंडार परमात्मन्! आप **अया वीती** इस रीति से **परिस्रव** उपासकों के अन्तःकरण में प्रवाहित होवो, कि **यः** जो उपासक **ते मदेषु** आपसे उत्पन्न किये गये हर्षों में **आ** मग्न हो, वह **नव नवतीः** निन्यानवे वृत्रों को **अवाहन्** विनष्ट कर सके।

मनुष्य की औसत आयु वेद के अनुसार सौ वर्ष है। उसमें से नौ या दस मास क्योंकि माता के गर्भ में बीत जाते हैं, इसलिए शेष लगभग निन्यानवे वर्ष वह जीता है। उन निन्यानवे वर्षों में आने वाले विघ्न निन्यानवे वृत्र कहाते हैं। सोमजनित आनन्द एवं वीरत्व से तृप्त होकर मनुष्य उन सब वृत्रों का संहार करने में समर्थ हो, यह भाव है॥९॥

भावार्थ—परमेश्वर से झरा हुआ आनन्दरस वा वीररस स्तोता को ऐसा आह्लादित कर देता है कि वह जीवन में आने वाले सभी विघ्नों वा शत्रुओं का संहार कर सकता है॥९॥

अथ परमात्मसोमः किं किं प्रयच्छेदित्याह।

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
४९६. परि द्युक्षं सनद्रयिं भरद्वाजं नो अन्धसा।
३ १ २ ३ २ ३ २
स्वानो अर्ष पवित्र आ ॥१०॥[1]
१ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ २ १ २ १ २ ३ १ २
परि द्युक्षम् द्यु क्षम् सनत् रयिम्। भरत् वाजम् नः अन्धसा॥
३ २ ३ ३ १ २
स्वानः अर्ष पवित्रे आ॥१०॥

पदार्थः—हे सोम! हे रसागार परमात्मन्! **द्युक्षम्** दीप्तेनिवासकम् **रयिम्** दिव्यम् ऐश्वर्यम् **सनत्** प्रयच्छन्, किञ्च **अन्धसा** आनन्दरसेन सह **नः** अस्मभ्यम् **वाजम्** आत्मबलम् **भरत्** आहरन् **स्वानः** अभिषूयमाणः, निर्झरन्, त्वम् **पवित्रे** दशापवित्रे इव पवित्रे हृदये **आ अर्ष** आगच्छ॥१०॥

भावार्थः—उपासकस्य हृदये परमात्मनः सकाशात् प्रस्रुत आनन्दरसोऽनुपममैश्वर्यं ब्रह्मवर्चसम् आत्मबलादिकं च प्रयच्छति॥१०॥

अत्र परमात्मरूपस्य सोमस्य, ततः प्रस्रुतस्यानन्दवीरत्वादिरसस्य च वर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन संगतिरस्तीति वेद्यम्॥१०॥

इति षष्ठे प्रपाठके प्रथमार्द्धे प्रथमा दशतिः।
इति पञ्चमेऽध्याये तृतीयः खण्डः॥

परमात्मा-रूप सोम क्या-क्या प्रदान करे, यह कहते हैं।

पदार्थ—हे सोम! हे रसागार परमात्मन्! **द्युक्षम्** दीप्ति के निवासक **रयिम्** दिव्य ऐश्वर्य को **सनत्** देते हुए, और **अन्धसा** आनन्द-रस के साथ **नः** हमारे लिए **वाजम्** आत्म-बल को **भरत्** लाते हुए, **स्वानः** झरते हुए, आप **पवित्रे** दशापवित्र के तुल्य पवित्र हृदय में **आ अर्ष** आओ॥१०॥

भावार्थ—उपासक के हृदय में परमात्मा से झरा हुआ आनन्द-रस अनुपम ऐश्वर्य, ब्रह्मवर्चस और आत्मबल आदि प्रदान करता है॥१०॥

---

१. ऋ० ९।५२।१, 'द्युक्षं सनद् रयिं', 'स्वानो', इत्यत्र क्रमेण 'द्युक्षः सनद्रयिः', 'सुवानो' इति पाठः।

इस दशति में परमात्मा-रूप सोम और उससे झरे हुए आनन्द, वीरता आदि के रस का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

षष्ठ प्रपाठक में प्रथम अर्ध की प्रथम दशति समाप्त।
पञ्चम अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ॥

॥२॥ अथ 'अचिक्रदद् वृषा' इत्याद्यायाः दशतेः ऋषयः—१ मेधातिथिः; २, ७ भृगुः; ३ उचथ्यः; ४ अवत्सारः; ५ निध्रुविः काश्यपः; ६, १० असितः; ८, ९ कश्यपो मारीचः; ११ कविः; १२ जमदग्निः; १३ अयास्य आङ्गिरसः; १४ अमहीयुः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

तत्रादौ सोमस्य परमात्मनो महिमानमाह ।

४९७. अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान् मित्रो न दर्शतः ।
सं सूर्येण दिद्युते ॥१॥[1]
अचिक्रदत् वृषा हरिः । महान् मित्रः मि त्रः न दर्शतः ॥
सम् सूर्येण दिद्युते ॥१॥

पदार्थः—**वृषा** कामवर्षकः **हरिः** पापहर्ता सोमः परमेश्वरः, सर्वेषां हृदि स्थितः सन् **अचिक्रदत्** शब्दायते, उपदिशति, सत्प्रेरणां करोति । क्रदि आह्वाने रोदने च, क्रद इत्येके, स्वार्थे णिचि, लुङि रूपम् । **महान्** महत्त्वोपेतः सः **मित्रः न** सुहृदिव **दर्शतः** दर्शनीयः अस्ति । स एव **सूर्येण** आदित्येन **सम्** संगतः सन् **दिद्युते** प्रकाशते, 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्' य० ४०।१७ इति श्रुतेः ॥१॥[2]

'अचिक्रदद् वृषा' इत्यत्र शब्दशक्तिमूलेन ध्वनिना 'वर्षकः पर्जन्यो गर्जति' इति द्वितीयेऽप्यर्थे द्योतिते सति पर्जन्यसोमयोरुपमानोपमेयभावो व्यज्यते, तेनोपमाध्वनिः । 'मित्रो न दर्शतः' इत्यत्र च वाच्या पूर्णोपमा ॥१॥

भावार्थः—ये सूक्ष्मदर्शिनः सन्ति ते सूर्यपर्जन्यादौ परमेश्वरमेव साक्षात्कुर्वते, यतस्तत्र सर्वा ताप-प्रकाशजलवर्षणादिशक्तिस्तत्प्रदत्तैवास्ते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में सोम परमात्मा की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ—**वृषा** मनोरथों को पूर्ण करने वाला, **हरिः** पापहारी सोम परमेश्वर, सबके हृदयों में स्थित हुआ **अचिक्रदत्** शब्द कर रहा है अर्थात् उपदेश व सत्प्रेरणा दे रहा है । **महान्** महान् वह **मित्रः न** मित्र के समान **दर्शतः** दर्शनीय है । वही **सूर्येण** सूर्य से **सम्** संगत हुआ **दिद्युते** प्रकाशित हो रहा है । कहा भी है—'जो वह आदित्य में पुरुष है, वह मैं ही हूँ', य० ४०।१७ ॥१॥

इस मन्त्र में 'अचिक्रदत् वृषा' यहाँ पर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि से 'वर्षा करने वाला बादल गर्ज

---

१. ऋ० ९।२।६, य० ३८।२२ ऋषिः दीर्घतमाः, 'सं सूर्येण दिद्युतदुदधिर्निधिः' इति पाठः, परोष्णिक् छन्दः। साम० १०४२।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्युदग्निपक्षे व्याख्यातवान् ।

रहा है' यह दूसरा अर्थ भी सूचित होकर बादल और सोम परमात्मा में उपमानोपमेयभाव को ध्वनित कर रहा है, इसलिए उपमाध्वनि है। 'मित्रो न दर्शतः' में वाच्या पूर्णोपमा है ॥१॥

भावार्थ—जो सूक्ष्मदर्शी लोग हैं वे सूर्य, पर्जन्य आदि में परमेश्वर के ही दर्शन करते हैं, क्योंकि ताप, प्रकाश, जल बरसाने आदि की सब शक्ति उसी की दी हुई है ॥१॥

अथ सोमं परमात्मानं बलं प्रार्थयते।

४९८. आ ते दक्षं मयोभुवं वह्निमद्या वृणीमहे।
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥२॥[1]
आ ते दक्षम् मयोभुवम् मयः भुवम्। वह्निम् अद्य अ द्य वृणीमहे ॥
पान्तम् आ पुरुस्पृहम् पुरु स्पृहम् ॥२॥

पदार्थः—हे पवमान सोम ! पवित्रतादायक आनन्दरसमय परमात्मन् ! वयम् **ते** तव **मयोभुवम्** सुखदायकम्, **वह्निम्** लक्ष्यं प्रति वाहकम्, **पान्तम्** रक्षकम्, **पुरुस्पृहम्** बहु स्पृहणीयम् **दक्षम्** बलम्। दक्ष इति बलनाम। निघं० २।९। **अद्य** अस्मिन् दिने। संहितायां निपातत्वाद् दीर्घश्छान्दसः। **आ वृणीमहे** स्वीकुर्महे ॥२॥

भावार्थः—परमात्मनः सकाशाद् यद् बलं शुभकर्मसूत्साहश्च प्राप्यते, तेन सुखं लक्ष्यपूर्ती रक्षा च वर्धते ॥२॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा से बल की प्रार्थना है।

पदार्थ—हे पवमान सोम, हे पवित्रतादायक आनन्दरसमय परमात्मन् ! हम **ते** आपके **मयोभुवम्** सुखदायक, **वह्निम्** लक्ष्य की ओर ले जाने वाले, **पान्तम्** रक्षक, **पुरुस्पृहम्** बहुत चाहने योग्य **दक्षम्** बल को **अद्य** आज **आ वृणीमहे** स्वीकार करते हैं ॥२॥

भावार्थ—परमात्मा से जो बल और शुभकर्मों में उत्साह प्राप्त होता है, उससे सुख, लक्ष्यपूर्ति और रक्षा की वृद्धि होती है ॥२॥

अथाध्वर्युं प्रेरयति।

४९९. अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आ नय।
पुनाहीन्द्राय पातवे ॥३॥[2]
अध्वर्यो अद्रिभिः अ द्रिभिः सुतम्। सोमम् पवित्रे आ नय ॥
पुनाहि इन्द्राय पातवे ॥३॥

पदार्थः—हे **अध्वर्यो** यज्ञविधिनिष्पादकोऽध्वर्युरिव ज्ञानयज्ञस्य निष्पादक मानव ! त्वम् **अद्रिभिः** अभिषवणपाषाणैरिव ज्ञानेन्द्रियैः **सुतम्** अभिषुतम् **सोमम्** सोमौषधिरसमिव ज्ञानरसम् **पवित्रे** दशापवित्रे इव मनसि **आनय** आदत्स्व, तं ज्ञानरूपं सोमरसम् **इन्द्राय पातवे** जीवात्मनः पानाय **पुनाहि** पुनीहि, मनन-

१. ऋ० ९।६५।२८, ऋषिः भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा। साम० ११३७।
२. ऋ० ९।५१।१ 'आ सृज', 'पुनीहीन्द्राय' इति पाठः। य० २०।३१ देवता इन्द्रः, ऋषिः प्रजापतिः, 'पुनीहीन्द्राय' इति पाठः।

द्वारा शोधय । अत्र 'वा छन्दसि ।' अ० ६।४।८८ इति हेरपित्त्वविकल्पनाद् अपित्त्वाभावे ङिद्वत्त्वस्याप्यभावाद् ईत्वं न भवति ॥३॥[1]

अत्र श्लेषेणाभिहितो भौतिकसोमपरो द्वितीयोऽर्थ उपमानत्वे पर्यवस्यति ॥३॥

भावार्थ—यथा यज्ञे पेषणसाधनैः पाषाणैरभिषुतः सोमो दशापवित्रद्वारा संशोध्यैव पीयते पाय्यते च तथैव ज्ञानार्जनसाधनैर्ज्ञानेन्द्रियैर्जितं ज्ञानं मनसा मननद्वारा संशोधनीयम् ॥३॥

अगले मन्त्र में अध्वर्यु को प्रेरित किया गया है ।

पदार्थ—हे **अध्वर्यो** यज्ञविधि के निष्पादक अध्वर्यु नामक ऋत्विज् के समान ज्ञानयज्ञ को निष्पन्न करने वाले मानव ! तू **अद्रिभिः** सिलबट्टों के सदृश ज्ञानेन्द्रियों से **सुतम्** अभिषुत **सोमम्** सोम ओषधि के रस के सदृश ज्ञानरस को **पवित्रे** दशापवित्र के सदृश मन में **आ नय** ला, उस ज्ञान-रूप सोम-रस को **इन्द्राय पातवे** जीवात्मा के पान के लिए **पुनाहि** मनन द्वारा शुद्ध कर ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेष से अभिहित भौतिक सोमपरक द्वितीय अर्थ उपमान-भाव में परिणत हो रहा है ॥३॥

भावार्थ—जैसे यज्ञ में पीसने के साधन सिल-बट्टों से अभिषुत सोम दशापवित्र द्वारा छानकर ही पिया और पिलाया जाता है, वैसे ही ज्ञानार्जन की साधनभूत ज्ञानेन्द्रियों से अर्जित ज्ञान को मन से मनन द्वारा शुद्ध करना चाहिए ॥३॥

अथ सोमधाराप्रवाहेण किमाप्यत इत्याह ।

२३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१२ २१
५००. तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।
२३ २ ३ १ २
तरत् स मन्दी धावति ॥४॥[2]
१२१ ३ २ ३ १२१ ३१ २ १२१
तरत् सः मन्दी धावति । धारा सुतस्य अन्धसः ॥
१२१ ३ २ ३
तरत् सः मन्दी धावति ॥४॥

पदार्थः—**सुतस्य** आचार्यसकाशात् परमात्मसकाशाद् वा अभिषुतस्य **अन्धसः** ज्ञानकर्मरसस्य आनन्दरसस्य वा **धारा** धारया । अत्र तृतीयैकवचने 'सुपां सुलुक्' इति विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । **मन्दी** तृप्तिमान् **सः** आत्मा **तरत्** तरति दुःखविघ्नविपदादिसागरम् । तरतेर्लेटि रूपम् । **धावति** वेगेन गच्छति च ऐहलौकिकं लक्ष्यं प्रति । **मन्दी** ज्ञानकर्मरसस्य आनन्दरसस्य वा धारया तृप्तः सन् **सः** असौ आत्मा **तरत्** तरति दुःखादिसागरम्, **धावति** वेगेन गच्छति च पारलौकिकं लक्ष्यं मोक्षं प्रति ॥४॥

यास्काचार्यो मन्त्रमिममेवं व्याख्यातवान्—"तरति स पापं सर्वं मन्दी यः स्तौति । धावति गच्छति ऊर्ध्वां गतिम् । धारा सुतस्य अन्धसः, धारयाऽभिषुतस्य सोमस्य मन्त्रपूतस्य वाचा स्तुतस्य" इति (निरु० १३।६) ।

मन्त्रेऽस्मिन् 'तरत् स मन्दी धावति' इत्यस्य पुनरुक्तौ लाटानुप्रासोऽलङ्कारः ॥४॥

भावार्थः—गुरोः सकाशात् प्राप्तेन ज्ञानकाण्डरसेन कर्मकाण्डरसेन च, परमात्मनः सकाशात् प्राप्तेनानन्दरसेन च तृप्तः सन् मनुष्यः सर्वामप्यैहिकीं पारलौकिकीं चोन्नतिं कर्तुं शक्नोति ॥४॥

---

१. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सोमवल्ल्याद्योषधिसारविषये व्याख्यातवान् । तथा हि तत्र तत्कृतो भावार्थः—"वैद्यराजैः शुद्धदेशोत्पन्नौषधिसारान् निर्मायैतद्दानेन सर्वेषां रोगनिवृत्तिः सततं कार्या" इति ।

२. ऋ० ९।५८।१, साम० १०५७ ।

अब सोम के धाराप्रवाह से क्या फल प्राप्त होता है, यह कहते हैं।

पदार्थ—**सुतस्य** आचार्य के अथवा परमात्मा के पास से अभिषुत **अन्धसः** ज्ञान और कर्म के रस की अथवा आनन्द-रस की **धारा** धारा से **मन्दी** तृप्त हुआ **सः** वह आत्मा **तरत्** दुःख, विघ्न, विपत्ति आदि के सागर को पार कर लेता है, और **धावति** ऐहलौकिक लक्ष्य की ओर वेग से अग्रसर होने लगता है। **मन्दी** ज्ञान और कर्म के रस वा आनन्दरस की धारा से तृप्त हुआ **सः** वह आत्मा **तरत्** दुःखादि के सागर को पार कर लेता है, और **धावति** पारलौकिक लक्ष्य मोक्ष की ओर अग्रसर होने लगता है ॥४॥

इस मन्त्र में 'तरत् स मन्दी धावति' की पुनरुक्ति में लाटानुप्रास अलंकार है ॥४॥

भावार्थ—गुरु के पास से प्राप्त ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड के रस से तथा परमात्मा के पास से प्राप्त आनन्दरस से तृप्त होकर मनुष्य समस्त ऐहलौकिक एवं पारलौकिक उन्नति करने में समर्थ हो जाता है ॥४॥

अथ सोमं परमात्मानमाचार्यं च प्रार्थयते।

५०१. आ पवस्व सहस्रिणं रयिं सोम सुवीर्य्यम्।
अस्मे श्रवांसि धारय ॥५॥[1]

आ पवस्व सहस्रिणम्। रयिम् सोम सुवीर्यम् सु वीर्यम् ॥
अस्मेइति श्रवाꣳसि धारय ॥५॥

पदार्थः—हे **सोम** सर्वैश्वर्यशालिन् जगदीश्वर विद्वन् आचार्य वा ! त्वम् अस्मभ्यम् **सहस्रिणम्** सहस्रसंख्यं प्रचुरं वा **सुवीर्यम्** शोभनवीर्योपेतम् **रयिम्** ऐश्वर्यं विद्याधनं वा **आ पवस्व** प्रवाहय। **अस्मे** अस्मासु। अत्र अस्मच्छब्दात् 'सुपां सुलुक्।' अ० ७।१।३९ इति सप्तम्याः शे आदेशः। **श्रवांसि** यशांसि **धारय** स्थापय ॥५॥

भावार्थः—परमेशकृपया वयं धनधान्यहिरण्यादिकं सत्यन्यायबलवीर्यादिकं च सर्वविधमपारमैश्वर्यम् आचार्यकृपया चापारं सद्विद्यासदाचारधनं प्राप्नुयाम येनास्माकं प्रभूता कीर्तिः सर्वत्र प्रसरेत् ॥५॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा तथा आचार्य से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **सोम** सर्वैश्वर्यवान् जगदीश्वर अथवा विद्वन् आचार्य ! आप हमारे लिए **सहस्रिणम्** सहस्रों की संख्या वाले अथवा प्रचुर, **सुवीर्यम्** शुभ बल से युक्त **रयिम्** ऐश्वर्य को अथवा विद्याधन को **आ पवस्व** प्रवाहित कीजिए, और **अस्मे** हममें **श्रवांसि** यशों को **धारय** स्थापित कीजिए ॥५॥

भावार्थ—परमेश्वर की कृपा से हम धन, धान्य, सुवर्ण आदि और सत्य, न्याय, बल, वीर्य आदि सब प्रकार के अपार ऐश्वर्य को तथा आचार्य की कृपा से अपार सद्विद्या एवं सदाचार के धन को प्राप्त करें, जिससे हमारी अधिकाधिक कीर्ति सर्वत्र फैले ॥५॥

अथ सोमस्य परमात्मनः साहाय्येन जनाः किं प्राप्नुवन्तीत्याह।

५०२. अनु प्रत्नास आयवः पदं नवीयो अक्रमुः।
रुचे जनन्त सूर्यम् ॥६॥[2]

---

१. ऋ० ९।६३।१।

२. ऋ० ९।२३।२, ऋषिः असितः काश्यपो देवलो वा।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३
अनु प्रत्नासः आयवः । पदम् नवीयः अक्रमुः ॥
२ ३ १ २
रुचे जनन्त सूर्यम् ॥६॥

पदार्थः—सोमस्य परमात्मनः साहाय्येन **प्रत्नासः** प्रत्नाः ज्ञानेन पुराणाः **आयवः** मनुष्याः **नवीयः** नूतनतरम् **पदम्** अमात्यन्यायाधीशत्वादिरूपं मोक्षरूपं वा । तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । ऋ० १।२२।२० इति श्रुतेः । **अनु अक्रमुः** आनुकूल्येन प्राप्नुवन्ति । **रुचे** प्रकाशाय, ते **सूर्यम्** विद्यासूर्यम् अध्यात्मसूर्यं वा **जनन्त** प्रकटयन्ति । जनी प्रादुर्भावे णिजन्तः, लडर्थे लङ्, अडभावः, णेर्लुक् ॥६॥

अत्र 'प्रत्नासः वृद्धा जीर्णा जनाः नवीयः पदम् अक्रमुः' इति नवीनतरपदप्राप्तिहेत्वभावेऽपि तत्प्राप्तिवर्णनाद् विभावनालङ्कारो ध्वन्यते । किञ्च, 'आयवः मनुष्याः सूर्यं जनन्त' इत्यत्र मनुष्याणां सूर्य-जननासंभवात् सूर्यस्य विद्याप्रकाशेऽध्यात्मप्रकाशे वा लक्षणा ॥६॥

भावार्थः—परमात्मनः कृपया स्वपुरुषार्थेन च मनुष्याः सांसारिकमुच्चोच्चपदं परमं मुक्तिपदं चापि प्राप्तुं, राष्ट्रे जगति च ज्ञानविज्ञानस्य सदाचारस्य च सूर्यं जनयितुं क्षमन्ते ॥६॥

अब यह वर्णन है कि परमात्मा की सहायता से मनुष्य क्या प्राप्त कर लेते हैं।

पदार्थ—सोम परमात्मा की सहायता से **प्रत्नासः** ज्ञान की दृष्टि से पुरातन अर्थात् ज्ञानवृद्ध मनुष्य **नवीयः** नवीनतर **पदम्** राजमन्त्री, न्यायाधीश आदि के पद को अथवा मोक्षपद को **अनु अक्रमुः** अनुकूलतापूर्वक प्राप्त कर लेते हैं, और **रुचे** प्रकाश के लिए, वे **सूर्यम्** विद्या के सूर्य को अथवा अध्यात्म के सूर्य को **जनन्त** प्रकट कर देते हैं ॥६॥

इस मन्त्र में 'बूढ़े जीर्ण लोग नवीन पद को प्राप्त करते हैं' में नवीन पद की प्राप्ति के हेतु के अभाव में भी उसकी प्राप्ति का वर्णन होने से विभावनालंकार ध्वनित हो रहा है। 'मनुष्य सूर्य को उत्पन्न करते हैं' में मनुष्यों द्वारा सूर्य का उत्पन्न किया जाना असम्भव होने से सूर्य की विद्या-प्रकाश अथवा अध्यात्म-प्रकाश में लक्षणा है ॥६॥

भावार्थ—परमात्मा की कृपा से और अपने पुरुषार्थ से मनुष्य सांसारिक उच्च से उच्च पद को और परम मुक्तिपद को भी प्राप्त करने तथा राष्ट्र और जगत् में ज्ञान-विज्ञान एवं सदाचार के सूर्य को प्रकट करने में समर्थ हो जाते हैं ॥६॥

अथ सोमः परमात्मा वानप्रस्थो वाऽऽहूयते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ ३ १ २
५०३. **अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत् ।**
२ ३ २ ३ २ ३ २
सीदन् योनौ वनेष्वा ॥७॥[1]
१ २ ३ १ २ ३ २ १ २ १ २
अर्ष सोम द्युमत्तमः । अभि द्रोणानि रोरुवत् ॥
१ २ १ १ २ १ १ २ १
सीदन् योनौ वनेषु आ ॥७॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । हे **सोम** रसागार परमात्मन् ! **वनेषु** अरण्येषु, अरण्यस्थेषु लता-कुञ्जादिषु, **योनौ** नगरस्थे गृहे च, सर्वत्र इति यावत् । योनिरिति गृहनाम । निघं० ३।४ । जातौ एक-वचनम् । **आसीदन्** विराजमानः **द्युमत्तमः** तेजस्वितमः, त्वम् **रोरुवत्** उपदिशन् **द्रोणानि अभि** अस्माकं

१. ऋ० ९।६५।१९, ऋषिः भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा । 'सीदञ्छ्येनो न योनिमा' इति तृतीयः पादः ।

हृदयरूपान् द्रोणकलशान् प्रति **अर्ष** आयाहि । ऋ गतौ, लेटि रूपम् । 'द्व्यचोऽतस्तिङः ।' अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः ॥

अथ **द्वितीयो** वानप्रस्थपरः । हे **सोम** विद्वन् वानप्रस्थ ! **वनेषु** अरण्येषु **योनौ** वृक्षमूलरूपे गृहे, वृक्षमूलनिकेतनः । मनु० ६।२६ इति वचनात् । **आसीदन्** निवसन् **द्युमत्तमः** तेजस्वितमः त्वम् **रोरुवत्** पुनः पुनः उपदेक्ष्यन् **द्रोणानि अभि** गृहस्थैरायोजितान् यज्ञान् प्रति । यज्ञो वै द्रोणकलशः । श० ४।५।८।५ । **अर्ष** गच्छ ॥७॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥७॥

भावार्थः—यथा वनेषु प्ररूढः सोमस्तत आनीतो दशापवित्रेण संशोध्यमानः सशब्दं द्रोणकलशमागच्छति, यथा च रसनिधिः परमेश्वर उपदिशन् स्तोतॄणां हृदयप्रदेशं समेति तथैव वानप्रस्थो नगरवासिभिरायोजितान् यज्ञानुपदेशार्थं गच्छेत् ॥७॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा तथा वानप्रस्थ मनुष्य का आह्वान किया गया है ।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हे **सोम** रस के भंडार परमात्मन् ! **वनेषु** वनों में, वन के लता-कुंज आदियों में, और **योनौ** नगरस्थ घरों में, सर्वत्र **सीदन्** विराजमान होते हुए **द्युमत्तमः** अतिशय तेजस्वी आप **रोरुवत्** उपदेश करते हुए **द्रोणानि अभि** हमारे हृदय-रूप द्रोण-कलशों में **अर्ष** आइए ।

द्वितीय वानप्रस्थ के पक्ष में । हे **सोम** विद्वन् वानप्रस्थ ! **वनेषु** वनों में **योनौ** वृक्ष-मूल रूप घर में **आसीदन्** निवास करते हुए, **द्युमत्तमः** अतिशय तेजस्वी आप **रोरुवत्** पुनः पुनः उपदेश करने की इच्छा रखते हुए **द्रोणानि अभि** गृहस्थों से आयोजित यज्ञों में **अर्ष** आइए ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥७॥

भावार्थ—जैसे वनों में उगने वाला सोम वहाँ से लाया जाकर दशापवित्र से छाना जाता हुआ शब्द के साथ द्रोण-कलश में आता है और जैसे रसनिधि परमेश्वर उपदेश देता हुआ स्तोताओं के हृदय में प्रकट होता है, वैसे ही वानप्रस्थ मनुष्य नगरवासियों से आयोजित यज्ञों में उपदेशार्थ आये ॥७॥

अथ सोमाख्यस्य जगदीश्वरस्य महिमानमाह ।

५०४. **वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः ।**
वृषा धर्माणि दध्रिषे ॥८॥[1]
वृषा सोम द्युमान् असि । वृषा देव वृषव्रतः वृष व्रतः ॥
वृषा धर्माणि दध्रिषे ॥८॥

पदार्थः—हे **सोम** रसनिधे जगदीश्वर ! **द्युमान्** द्युतिमान् त्वम् **वृषा** तेजोवर्षकः सूर्यः इव **असि** वर्तसे । हे **देव** दानादिगुणयुक्त ! **वृषव्रतः** सद्गुणादीनां वर्षणकर्मा त्वम् **वृषा** वर्षकः पर्जन्यः इव असि । **वृषा** धर्मवर्षकः त्वम् **धर्माणि** धर्मकर्माणि **दध्रिषे** धारयसि । धृञ् धारणे, भ्वादिः । लडर्थे लिट् ॥८॥

अत्र 'वृषा' इत्यस्यावृत्तौ यमकालङ्कारः । 'वृषा असि' वर्षकः सूर्य इव पर्जन्य इव च वर्तसे इति लुप्तोपमम् ॥८॥

भावार्थः—उपासितः परमेश्वरः सूर्यवन्मेघवच्च वर्षको भूत्वा धनधर्मतेजःशान्तिसुखादीनां वृष्टिभिरुपासकं कृतार्थयति ॥८॥

१. ऋ० ९।६४।१, 'दध्रिषे' इत्यत्र 'दधिषे' इति पाठः । साम० ७८१ ।

अगले मन्त्र में सोम जगदीश्वर की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ—हे **सोम** रसनिधि जगदीश्वर ! **द्युमान्** तेजस्वी आप **वृषा** तेज के वर्षक सूर्य के समान **असि** हो, हे **देव** दान आदि गुणों से युक्त ! **वृषव्रतः** सद्गुण आदि की वृष्टि करने वाले आप **वृषा** वर्षा करने वाले बादल के समान हो । **वृषा** धर्म की वर्षा करने वाले आप **धर्माणि** धर्म कर्मों को **दधिषे** धारण करते हो ॥८॥

इस मन्त्र में 'वृषा' की आवृत्ति में यमक अलंकार है । 'वृषा असि' में लुप्तोपमा है ॥८॥

भावार्थ—उपासना किया हुआ परमेश्वर सूर्य और बादल के समान वर्षक होकर धन, धर्म, तेज, शान्ति, सुख आदि की वर्षा से उपासक को कृतार्थ करता है ॥८॥

अथ सोमं परमात्मानं प्रार्थयते ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५०५. इषे पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः ।
१ २ ३ १ २ २
इन्दो रुचाभि गा इहि ॥९॥[1]
३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
इषे पवस्व धारया । मृज्यमानः मनीषिभिः ॥
१ २ २ ३ २ ३ २ ३
इन्दो रुचा अभि गाः इहि ॥९॥

पदार्थः—हे **इन्दो** रसागार चन्द्रवदाह्लादक परब्रह्म परमेश्वर ! **मनीषिभिः** चिन्तनशीलैरुपासकैः अस्माभिः **मृज्यमानः** स्तुतिभिः अलङ्क्रियमाणः त्वम् । मृजू शौचालङ्कारयोः । **इषे** इच्छासिद्धये **धारया** आनन्दप्रवाहसन्तत्या **पवस्व** अस्माकमन्तःकरणे परिस्रव, त्वम् **रुचा** तेजसा सह **गाः अभि** स्तोतॄन् अस्मान् प्रति । गौः इति स्तोतृनाम । निघं० ३।१६ । **इहि** प्रयाहि ॥९॥

भावार्थः—स्तोतृभिरुपासितो रसनिधिः परमेश्वरस्तानन्दरसेन तर्पयति ॥९॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **इन्दो** रस के भण्डार, चन्द्रमा के समान आह्लाददायक परब्रह्म परमेश्वर! **मनीषिभिः** चिन्तनशील हम उपासकों द्वारा **मृज्यमानः** स्तुतियों से अलंकृत किये जाते हुए आप **इषे** इच्छासिद्धि के लिए **धारया** आनन्द की धारा के साथ **पवस्व** हमारे अन्तःकरण में प्रवाहित होवो । आप **रुचा** तेज के साथ **गाः अभि** हम स्तोताओं के प्रति **इहि** आओ ॥९॥

भावार्थ—स्तोताओं से उपासना किया गया रसनिधि परमेश्वर आनन्दरस से उन्हें तृप्त करता है ॥९॥

अथ पुनः सोमं परमात्मानं प्रार्थयते ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
५०६. मन्द्रया सोम धारया वृषा पवस्व देवयुः ।
२ ३ १ २ ३ २
अव्या वारेभिरस्मयुः ॥१०॥[2]
३ १ २ ३ १ २ २ १ २ ३ २
मन्द्रया सोम धारया । वृषा पवस्व देवयुः ॥
१ २ १ १ २ २ ३ २
अव्याः वारेभिः अस्मयुः ॥१०॥

१. ऋ० ९।६४।१३, साम० ८४१ ।

२. ऋ० ९।६।१ ऋषिः असितः काश्यपो देवलो वा । 'अव्यो वारेष्वस्मयुः' इति पाठः ।

पदार्थः—हे **सोम** सोमौषधिरिव रसागार परमेश्वर ! **वृषा** आनन्दवर्षकः, **देवयुः** अस्माकं दिव्यगुणान् कामयमानः त्वम् । देवान् दिव्यगुणान् परेषां कामयते इति देवयुः, 'छन्दसि परेच्छायां क्यच उपसंख्यानम् । अ० ३।१।८ वा० इति परेच्छायां क्यच् । 'क्याच्छन्दसि । अ० ३।२।१७०' इति उ प्रत्ययः । **अस्मयुः** अस्मान् कामयमानः सन् **अव्याः वारेभिः** अविबालनिर्मितैः दशापवित्रैरिव अस्माकं मनसः सात्त्विकैः भावैः, तन्माध्यमेन इत्यर्थः **मन्द्रया धारया** आनन्दप्रदया धारया सह **पवस्व** द्रोणकलशे इव अस्माकं हृदयकलशे परिस्रव ॥१०॥

भावार्थः—यथा सोमौषध्या रसोऽविबालनिर्मितदशापवित्रद्वारा द्रोणपात्रे धारया पतति तथैवानन्दरसनिधिः परमेश्वरो मनसः सात्त्विकभावैरानन्दधारया स्तोतुर्हृत्कलशे प्रकटीभवति ॥१०॥

अगले मन्त्र में पुनः सोम परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **सोम** सोम ओषधि के समान रसागार परमेश्वर ! **वृषा** आनन्द के वर्षक, **देवयुः** हमें दिव्य गुण प्रदान करने के इच्छुक, **अस्मयुः** हमसे प्रीति करने वाले आप **अव्याः वारेभिः** भेड़ों के बालों से निर्मित दशापवित्रों के सदृश हमारे मन के सात्त्विक भावों के माध्यम से **मन्द्रया धारया** आनन्दप्रद धारा के साथ **पवस्व** द्रोणकलश के तुल्य हमारे हृदय-कलश में परिस्रुत होवो ॥१०॥

भावार्थ—जैसे सोम ओषधि का रस भेड़ के बालों से निर्मित दशापवित्र से छनकर द्रोणपात्र में धारारूप से गिरता है, वैसे ही परमेश्वर मन के सात्त्विक भावों के माध्यम से आनन्द-धारा के साथ स्तोता के हृदय-कलश में प्रकट होता है ॥१०॥

अथ सोमः परमात्मा किं करोतीत्याह ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ७ ३ क २ १
५०७. अया सोम सुकृत्यया महान्त्सन्नभ्यवर्धथाः ।
३ १ १ २ १
मन्दान इद् वृषायसे ॥११॥[1]

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
अया सोम सुकृत्यया सु कृत्यया । महान् सन् अभि अवर्धथाः ॥
२ ३
मन्दानः इत् वृषायसे ॥११॥

पदार्थः—हे **सोम** रसागार परमेश्वर ! **महान् सन्** पूज्यो भवन् त्वम् **अया** अनया **सुकृत्यया** स्तुतिगानरूपया शोभनक्रियया **अभ्यवर्धथाः** हृदयेऽभिवृद्धिं गतोऽसि । त्वम् **मन्दानः** आनन्दं प्रयच्छन् **इत्** सत्यमेव **वृषायसे** वृषो वर्षको मेघः इवाचरसि, यथा मेघो जलं वर्षन् सर्वान् प्राणिनः ओषधिवनस्पत्यादींश्च तर्पयति तथैव त्वमानन्दवर्षणेनास्मान् तर्पयसीत्यर्थः ॥११॥

भावार्थः—यथा यथा स्तोता स्तुतिगानेन परमेश्वरमाराध्नोति तथा तथा परमेश्वरआनन्दवर्षणेन तं प्रफुल्लयति ॥११॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा क्या करता है, यह वर्णित है ।

पदार्थ—हे **सोम** रसागार परमेश्वर ! **महान् सन्** महान् होते हुए आप **अया** इस **सुकृत्यया** स्तुतिगान रूप शुभ क्रिया से **अभ्यवर्द्धथाः** हृदय में वृद्धि को प्राप्त हो गये हो । आप **मन्दानः** आनन्द प्रदान करते हुए **इत्** सचमुच **वृषायसे** वृष्टिकर्ता बादल के समान आचरण करते हो, अर्थात् जैसे बादल जल

---

१. ऋ० ९।४७।१, 'अया सोमः सुकृत्यया महश्चिदभ्यवर्धत । मन्दान उद्वृषायसे' ॥ इति पाठः ।

बरसाता हुआ सब प्राणियों को और ओषधि-वनस्पति आदियों को तृप्त करता है, वैसे ही आप आनन्द की वर्षा करके हमें तृप्त करते हो ॥११॥

भावार्थ—जैसे-जैसे स्तोता स्तुतिगान से परमेश्वर की आराधना करता है, वैसे-वैसे परमेश्वर आनन्द की वृष्टि से उसे प्रसन्न करता है ॥११॥

अथ कीदृशः परमात्मा किं करोतीत्याह ।

३ १२ २१ ३ १२ २१ ३ १ २
५०८. अयं विचर्षणिर्हितः पवमानः स चेतति ।
३ १२ २१ ३ २
हिन्वान आप्यं बृहत् ॥१२॥[1]
३ २ १ २१ ३ २ १ २१ ३
अयम् विचर्षणिः वि चर्षणिः हितः । पवमानः सः चेतति ॥
२ १ २१ ३ २
हिन्वानः आप्यम् बृहत् ॥१२॥

पदार्थः—**सः** पूर्व-वर्णितः **विचर्षणिः** विशेषद्रष्टा **हितः** सर्वेषां हितकरः **अयम्** एष रसनिधिः परमेश्वरः **पवमानः** अन्तःकरणं शोधयन् **बृहत्** महत् **आप्यम्** आप्तित्वं बन्धुत्वम् **हिन्वानः** निर्वहन् । हि गतौ वृद्धौ च, भ्वादिः । **चेतति** चेतयति बोधयति । णिज्गर्भोऽयं प्रयोगः ॥१२॥

भावार्थः—उपासितः परमेश्वरोऽन्तःकरणं संशोध्य जीवान् जागरूकान् विधाय बन्धुत्वं निर्वहति ॥१२॥

कैसा परमात्मा क्या करता है, यह अगले मन्त्र में कहा है ।

पदार्थ—**सः** वह पूर्ववर्णित **विचर्षणिः** विशेष द्रष्टा, **हितः** सबका हितकर्ता **अयम्** यह रसनिधि परमेश्वर **पवमानः** अन्तःकरण को शुद्ध करता हुआ **बृहत्** महान् **आप्यम्** बन्धुत्व को **हिन्वानः** निर्वाह करता हुआ **चेतति** बोध दे रहा है ॥१२॥

भावार्थ—उपासना किया हुआ परमेश्वर अन्तःकरण को शुद्ध करके, जीवों को जागरूक करके **बन्धुत्व** का निर्वाह करता है ॥१२॥

अथ सोमं परमात्मानमाह्वयति ।

१ २ ३ १२ २१ ३ १२ २१
५०९. प्र न इन्दो महे तु न ऊर्मिं न बिभ्रदर्षसि ।
३ २ ३ २ ३ १ २
अभि देवाँ अयास्यः ॥१३॥[2]
२ ३ २ ३ १ २ १ २१ ३
प्र नः इन्दो महे तु नः । ऊर्मिम् न बिभ्रत् अर्षसि ॥
२ ३ २ ३ १ २
अभि देवान् अयास्यः ॥१३॥

पदार्थः—हे **इन्दो** आनन्दरसेन क्लेदयितः रससागर परमात्मन् । **अयास्यः**[3] प्राणप्रियः त्वम् । स प्राणो वा अयास्यः । जै० उ० ब्रा० २।८।८ । **ऊर्मिं न** तरङ्गमिव **बिभ्रत्** धारयन् **नः** अस्माकम् **महे** वृद्धयै

---

१. ऋ० ९।६२।१०

२. ऋ० ९।४४।१ 'प्र ण इन्दो महे तने' इति प्रथमः पादः ।

३. माधवसायणौ 'अयास्य' इति ऋषेर्नाम मत्वा व्याचक्षाते । अयास्यः गमनशील इति वा उपगन्तव्य इति वा—इति भरतः ।

तु[1] क्षिप्रम् **देवान् नः अभि** विदुषः अस्मान् उपासकान् अभिलक्ष्य **अर्षसि** प्राप्नुहि। गत्यर्थाद् ऋषतेर्लेटि रूपम् ॥१३॥

'ऊर्मिं न बिभ्रत्' इत्यत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥१३॥

भावार्थः—उपासितः प्राणप्रियः परमेश्वरः प्रियमुपासकमानन्दतरङ्गैरिव संप्लावयति ॥१३॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा का आह्वान किया गया है।

पदार्थ—हे **इन्दो** आनन्द-रस से आर्द्र करने वाले रस के सागर परमात्मन्! **अयास्यः** प्राणप्रिय तू **ऊर्मिं न** मानो लहर को **बिभ्रत्** धारण करता हुआ **नः** हमारी **महे** वृद्धि के लिए **तु** शीघ्र ही **देवान् नः अभि** हम विद्वान् उपासकों को लक्ष्य करके **अर्षसि** प्राप्त हो ॥१३॥

इस मन्त्र में 'ऊर्मिं न बिभ्रत्' में उत्प्रेक्षालंकार है ॥१३॥

भावार्थ—उपासना किया गया प्राणप्रिय परमेश्वर अपने प्यारे उपासक को मानो आनन्द की तरंगों से आप्लावित कर देता है ॥१३॥

अथ सोमस्य परमात्मनः कर्म वर्णयति।

३ १ २ ३ २३ ३ २ ३ १ २
५१०. **अपघ्नन् पवते मृधोऽप सोमो अराव्णः।**
२ ३ १ २ ३ २
गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥१४॥[2]
३ २ ३ २ ३ १२१ १२१ १२१ १२१ ३
अपघ्नन् अप घ्नन् पवते मृधः। अप सोमः अराव्णः अ राव्णः ॥
१२१ १२१ ३ २ ३ ३ २
गच्छन् इन्द्रस्य निष्कृतम् निः कृतम् ॥१४॥

पदार्थः—**सोमः** पवित्ररसनिधिः परमेश्वरः **इन्द्रस्य** जीवात्मनः **निष्कृतम्**[3] संस्कृतं हृदयरूपं गृहम् **गच्छन्** प्रसर्पन्, **मृधः**[4] संग्रामकारिणः पापरूपान् शत्रून् **अपघ्नन्** अपध्वंसयन्, **अराव्णः** अदानशीलान् स्वार्थभावांश्च **अप** अपघ्नन् विनाशयन्। उपसर्गावृत्या क्रियापदावृत्तिरध्याह्रियते इति वैदिकी शैली। **पवते** पवित्रतां प्रयच्छति ॥१४॥

भावार्थः—यदा पावकस्यानन्दरसस्य धारां प्रवाहयन् परमेश्वरः साधकस्य हृदये प्रकटीभवति तदा तदीयं हृदयं सर्ववासनारहितं स्वार्थवृत्तिविहीनं च भूत्वा पवित्रं जायते ॥१४॥

अत्र सोमस्य परमात्मनस्तज्जन्यायाः आनन्दरसधारायाश्च वर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन संगतिरस्तीति विजानीत ॥

इति षष्ठे प्रपाठके प्रथमार्धे द्वितीया दशतिः।
इति पञ्चमेऽध्याये चतुर्थः खण्डः।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा का कर्म वर्णित है।

पदार्थ—**सोमः** पवित्र रस का भण्डार परमेश्वर **इन्द्रस्य** जीवात्मा के **निष्कृतम्** संस्कृत किये हुए

---

१. भरतस्वामिसायणौ 'तुन' इति संयुक्तं पाठं मत्वा 'तुने धनाय' इति व्याचक्षाते। तत्तु पदकारविरुद्धम्, पदपाठे 'तु नः' इति विभज्य दर्शनात्।

२. ऋ० ९।६१।२५, साम० १२१३।

३. निष्कृतं संस्कृतं द्रोणकलशम्—इति भ०।

४. मृधः संग्रामं पाप्मनो वा—इति वि०। हिंसकान् शत्रून्—इति भ०।

हृदय रूप घर में **गच्छन्** जाता हुआ, **मृधः** संग्रामकर्ता पापरूप शत्रुओं को **अपघ्नन्** विध्वस्त करता हुआ, और **अराव्णः** अदानशील स्वार्थभावों को **अप** विनष्ट करता हुआ **पवते** पवित्रता प्रदान करता है ॥१४॥

भावार्थ—जब पवित्रतादायक आनन्दरस की धार को प्रवाहित करता हुआ सोम परमेश्वर साधक के हृदय में प्रकट होता है तब उसका हृदय सब वासनाओं से रहित और स्वार्थवृत्ति से विहीन होकर पवित्र हो जाता है ॥१४॥

इस दशति में सोम परमात्मा तथा उससे उत्पन्न होने वाली आनन्दरसधारा का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

षष्ठ प्रपाठक में प्रथम अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त।
पंचम अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥

॥३॥ अथ 'पुनानः सोम' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—भरद्वाजः कश्यपो गोतमोऽत्रिर्विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठः इति सप्त ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

तत्रादौ सोमस्य परमात्मनो गुणकर्माणि वर्णयति।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १
५११. पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि।
१ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः ॥१॥[1]
३ २ ३ १ २ १ ३ २ १ २ १ ३ २ ३ २ ३ २
पुनानः सोम धारया। अपः वसानः अर्षसि ॥ आ रत्नधाः रत्न धाः
१ २ १ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ २ ३ १ २
योनिम् ऋतस्य सीदसि। उत्सः उत् सः देवः हिरण्ययः ॥१॥

पदार्थः—हे **सोम** पवित्ररसागार परमात्मन्! त्वम् **धारया** स्वकीयया आनन्दधारया **पुनानः** पवित्रतामापादयन्, **अपः** कर्म **वसानः** आच्छादयन्, प्रभावयन्नित्यर्थः **अर्षसि** उपासकानां हृदयं व्याप्नोषि। **रत्नधाः** रमणीयानां गुणानां आधाता त्वम् **ऋतस्य** सत्यस्य **योनिम्** गृहम्, जीवात्मानमित्यर्थः। योनिरिति गृहनाम। निघं० ३।४। **आ सीदसि** प्राप्नोषि। त्वम् **उत्सः** आनन्दनिर्झरः, **देवः** विद्यासुखादीनां दाता, **हिरण्ययः** ज्योतिर्मयः यशोमयश्च, विद्यसे इति शेषः। ज्योतिर्वै हिरण्यम्। तां० ब्रा० ६।६।१०। यशो वै हिरण्यम्। ऐ० ब्रा० ७।१८ ॥१॥

भावार्थः—पवित्रः परमेश्वरः स्वोपासकानां हृदयानि कर्माणि च पावयन् तेषामात्मनि निवसंस्तानानन्दनिर्झरे स्नपयन् ज्योतिषा दीपयन् यशस्विनः करोति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में सोम परमात्मा के गुण-कर्मों का वर्णन है।

पदार्थ—हे **सोम** पवित्र रस के भण्डार परमात्मन्! आप **धारया** अपनी आनन्द-धारा से **पुनानः** पवित्रता लाते हुए, **अपः** कर्म को **वसानः** आच्छादित अर्थात् प्रभावित करते हुए **अर्षसि** उपासकों के हृदय में व्याप्त होते हो। **रत्नधाः** रमणीय गुणरूप रत्नों के प्रदाता आप **ऋतस्य** सत्य के **योनिम्** गृहरूप जीवात्मा को **आ सीदसि** प्राप्त होते हो। आप **उत्सः** आनन्द के झरने, **देवः** विद्या, सुख आदि के प्रदाता और **हिरण्ययः** ज्योतिर्मय तथा यशोमय हो ॥१॥

---

१. ऋ० ९।१०७।४ 'देवो' इत्यत्र 'देव' इति पाठः। साम० ६७५

भावार्थ—पवित्र परमेश्वर अपने उपासकों के हृदयों और कर्मों को पवित्र करता हुआ, उनके आत्मा में निवास करता हुआ, उन्हें आनन्द के झरने में स्नान कराता हुआ, ज्योति से प्रदीप्त करता हुआ यशस्वी बनाता है ॥१॥

अथ जनान् सोमं सेक्तुं प्रेरयति ।

५१२. **परीतो षिञ्चता सुतं सोमो य उत्तमं हविः ।**
दधन्वान् यो नर्यो अप्स्वा३न्तरा सुषाव सोममद्रिभिः ॥२॥[1]

परि इतः सिञ्चत सुतम् । सोमः यः उत्तमम् हविः ॥ दधन्वान् यः
नर्यः अप्सु अन्तः आ । सुषाव सोमम् अद्रिभिः अद्रिभिः ॥२॥

पदार्थः—**प्रथमः** सोमौषधिरसपक्षे । हे मनुष्याः ! **यः सोमः** यः सोमरसः **उत्तमम्** उत्कृष्टतमम् **हविः** हव्यं भोज्यं वा अस्ति तम् **सुतम्** अभिषुतं सोमरसम् **इतः**[2] अस्मात् यज्ञवेदिस्थलात् भोजनालयाद् वा **परि सिञ्चत** यज्ञाग्नौ जाठराग्नौ वा परितः जुहुत । संहितायाम् 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्' अ० ६।३।१३३ इति दीर्घः । **नर्यः** नृभ्यो हितः **यः** सोमरसः **दधन्वान्** यजमानं पातारं वा धृतवान् । धन धान्ये जुहोत्यादिः । अत्र धारणार्थः । लिटि क्वसौ रूपम् । यं च **सोमम्** सोमरसम्, अभिषोता **अद्रिभिः** ग्रावभिः अभिषवपाषाणैः, तीव्रताया न्यूनीकरणाय **अप्सु अन्तः** जलेषु मध्ये **आ सुषाव** अभिषुणोति[3] ॥

अथ **द्वितीयो**ऽध्यात्मपरः । हे मनुष्याः ! **यः सोमः** यो भक्तिरसः, उपासनायज्ञे **उत्तमं हविः** उत्कृष्टतमं हव्यम् अस्ति तम् **सुतम्** अभिषुतं भक्तिरसम्, यूयम् **इतः** अस्मात् हृदयात् **परि सिञ्चत** परितः प्रवाहयत, **नर्यः** नराणां हितकर्ता **यः** भक्तिरसः **दधन्वान्** उपासितारं धृतवान् भवति, यं च **सोमम्** भक्तिरसम्, उपासनायज्ञस्य यजमानः आत्मा **अद्रिभिः** ध्यानरूपैः अभिषवपाषाणैः **अप्सु अन्तः** प्राणेषु मध्ये **आ सुषाव** आ सुनोति ॥२॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—यथा बाह्ययज्ञे भोजने वा सोमौषधिरसो ग्रावभिरभिषुत्य जलेषु सम्मिश्र्यते तथैवाध्यात्मयज्ञे भक्तिरसो ध्यानरूपैर्ग्रावभिरभिषुत्य स्वजीवनाङ्गतां नेयः ॥२॥

अगले मन्त्र में मनुष्यों को सोम के सेचनार्थ प्रेरित किया गया है ।

पदार्थ—**प्रथम** सोम ओषधि के रस के पक्ष में । हे मनुष्यो ! **यः सोमः** जो सोमरस **उत्तमम्** उत्तम **हविः** हव्य अथवा भोज्य है, उस **सुतम्** अभिषुत सोमरस को **इतः** इस यज्ञवेदि से अथवा भोजनालय से **परि सिञ्चत** यज्ञाग्नि अथवा जाठराग्नि में चारों ओर सींचो । **नर्यः** मनुष्यों का हितकर्मा **यः** जो सोमरस **दधन्वान्** यजमान को अथवा पीने वाले को धारण करता है, और जिस **सोमम्** सोमरस को अभिषोता

---

१. ऋ० ९।१०७।१, य० १९।२ ऋषिः भारद्वाजः, साम० १३१३ ।

२. परीतो षिञ्चत । संहितायां सिञ्चतौ परे ओकारश्छान्दसः । तथा हि, 'तो षि' ७।१ इति हि ऋक्तन्त्रप्रातिशाख्यम् । 'इदं च रूपग्रहणम् । इतः सिञ्चत' इत्यत्र सकारप्राप्तस्य विसर्जनीयस्य ग्रहणादोकारप्राप्तिः । परि इतः सिञ्चत, 'परीतो षिञ्चत' । इति च तत्र विवरणम् ।

३. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सोमौषधिविषये व्याख्यातवान् । तथाहि तत्र तत्कृतो भावार्थः—"मनुष्यैरुत्तमा ओषधीर्जले संस्थाप्य मथित्वाऽऽसवं निस्सार्यानेन यथायोग्यं जाठराग्नि सेचित्वा बलारोग्ये वर्द्धनीये" इति ।

अद्रिभिः यज्ञिय सिलबट्टों से, तीव्रता कम करने के लिए **अप्सु अन्तः** जलों के अन्दर **आ सुषाव** अभिषुत करता है ।।

द्वितीय अध्यात्मपक्ष में । हे मनुष्यो ! **यः सोमः** जो भक्तिरस, उपासनायज्ञ में **उत्तमं हविः** उत्कृष्टतम हवि है, उस **सुतम्** अभिषुत भक्तिरस को, तुम **इतः** इस हृदय से **परि सिञ्चत** चारों ओर प्रवाहित करो, **नर्यः** मनुष्यों का हितकर्ता **यः** जो भक्तिरस, **दधन्वान्** उपासक को धारण करता है, और जिस **सोमम्** भक्तिरस को, उपासनायज्ञ का यजमान आत्मा **अद्रिभिः** ध्यानरूप सिलबट्टों से **अप्सु अन्तः** प्राणों के अन्दर **आ सुषाव** अभिषुत करता है ।।२।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।२।।

भावार्थ—जैसे बाह्य यज्ञ में अथवा भोजन में सोम ओषधि का रस सिलबट्टों द्वारा अभिषुत करके जलों में मिलाया जाता है, वैसे ही अध्यात्मयज्ञ में भक्तिरस को ध्यानरूप सिलबट्टों से अभिषुत करके अपने जीवन का अंग बनाना चाहिए ।।२।।

अथ सोमः परमात्मा सम्बोध्यते ।

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ० ३ १ २
५१३. आ सोम स्वानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया ।
२ ३ २ ३ २ ३ क २ १ ३ २ ३ २ ३ १ २
जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो वनेषु दधिषे ।।३।।[1]
२ ३ २ १ २ १ ३ २ १ २ ३ १ २
आ सोम स्वानः अद्रिभिः अ द्रिभिः । तिरः वाराणि अव्यया ।।
१ २ १ ३ २ ३ क २ ३ १ २ १ १ २ १ २ ३
जनः न पुरि चम्वोः विशत् हरिः । सदः वनेषु दधिषे ।।३।।

पदार्थः—हे **सोम** परमात्म-सोम ! **अद्रिभिः** ध्यानरूपैः अभिषवपाषाणैः **आ स्वानः** आसूयमानः त्वम् **अव्यया वाराणि तिरः** अविबालजनितदशापवित्रमध्यादिव शुद्धचित्तवृत्तिमध्यात् क्षरितो भवसि । अविभ्यो जातानि अव्यानि । 'सुपां सुलुक्०' इति द्वितीयाबहुवचनस्य याऽऽदेशे 'अव्यया' इति । अथ परोक्षकृतमाह । शुद्धचित्तवृत्तिरूपदशापवित्रमध्यात् क्षरितः **हरिः** दुःखपापादिहर्ता स रसागारः परमेश्वरः **चम्वोः** अधिषवणफलकयोरिव बुद्ध्यात्मनोः **विशत्** निविशति, **जनः न** मनुष्यो यथा **पुरि** नगर्यां विशति तद्वत् । अथ पुनः प्रत्यक्षकृतमाह । ततश्च हे सोम परमात्मन् ! त्वं **वनेषु** उदकेषु, अम्मयेषु प्राणेषु । वनमित्युदकनाम । निघं० १।१२ । आपो वै प्राणाः । श० ३।८।२।४ । **सदः** स्थितिम् **दधिषे** धारयसि । डुधाञ् धारणपोषणयोः । लडर्थे लिटि सिपि दधिषे इति प्राप्ते 'बहुलं छन्दसि' अ० ७।१।८ इति रुडागमः ।।३।।

अत्र 'जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः' इत्यत्रोपमा ।।३।।

भावार्थः—यथा ग्रावभिरभिषुतोऽविबालमयैर्दशापवित्रैः क्षारितः सोमौषधिरसो द्रोणकलशयोः प्रविष्टो जलेन मिश्रितो जायते तथैवानन्दरसागारः परमेश्वरो यदा ध्यानैरभिषुतः शुद्धचित्तवृतिभिः क्षारित. वुद्ध्यात्मनोः प्रविष्टः सन् प्राणानभिव्याप्नोति तदैव साधकस्योपासना सफलीभवति ।।३।।

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा को सम्बोधन किया गया है ।

पदार्थ—हे **सोम** परमात्मरूप सोम ! **अद्रिभिः** ध्यानरूप यज्ञिय सिलबट्टों से **आ स्वानः** अभिषुत होता हुआ तू **अव्यया वाराणि तिरः** भेड़ों के बालों से निर्मित दशापवित्रों के समान शुद्धचित्तवृत्तियों से छनकर क्षरित होता है । शुद्ध चित्तवृत्तिरूप दशापवित्रों से क्षरित **हरिः** दुःख पाप आदि का हर्ता वह रसा-

---

१. ऋ० ९।१०७।१० 'स्वानो, दधिषे' इत्यत्र क्रमेण 'सुवानो, दधिषे' इति पाठः । साम० १६८९

गार परमेश्वर, **चम्वोः** अधिषवणफलकों के तुल्य बुद्धि और मन में **विशत्** प्रवेश करता है, **जनः न** जैसे मनुष्य **पुरि** नगरी में प्रवेश करता है। तदनन्तर हे परमात्म-सोम ! तू **वनेषु** प्राणों में **सदः** स्थिति को **दधिषे** धारण करता है ॥३॥

इस मन्त्र में 'जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः' में उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ—जैसे यज्ञिय सिलबट्टों से अभिषुत, भेड़ के बालों से निर्मित दशापवित्रों द्वारा क्षारित सोमलता का रस द्रोणकलशों में प्रविष्ट होकर जल से मिल जाता है, वैसे ही आनन्दरसागार परमेश्वर जब ध्यानों द्वारा अभिषुत, शुद्ध चित्तवृत्तियों से क्षारित और बुद्धि तथा आत्मा में प्रविष्ट होकर प्राणों में अभिव्याप्त हो जाता है, तभी साधक की उपासना सफल होती है ॥३॥

अथ जीवात्मानं प्रेरयति।

५१४. **प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा।**
अंशोः पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम् ॥४॥[1]

प्र सोम देववीतये देव वीतये। सिन्धुः न पिप्ये अर्णसा ॥ अंशोः
पयसा मदिरः न जागृविः। अच्छ कोशम् मधुश्चुतम् मधु श्चुतम् ॥४॥

पदार्थः—हे **सोम** जीवात्मन् ! **देववीतये** दिव्यजीवनस्य प्राप्तये। देवस्य दिव्यजीवनस्य वीतिः प्राप्तिः तस्यै। अयं शब्दो दासीभारादिषु पठितव्यः। तेन अ० ६।२।४२ इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। त्वम् **अर्णसा** जलेन **सिन्धुः न** महानदी इव **अर्णसा** ज्ञानरसेन **प्र पिप्ये** आप्यायस्व। ओप्यायी वृद्धौ धातोर्लोडर्थे लिटि रूपम्। पुरुषव्यत्ययः। 'लिङ्यडोश्च' अ० ६।१।२९ इति प्यायः पी आदेशः। **अंशोः** पर्जन्यस्य **पयसा** जलेन **मदिरः न** हृष्टः कृषीवलः इव **जागृविः** जागरूकः सन् **मधुश्चुतम्** आनन्दस्राविणम् **कोशम्** आनन्दरसस्य निधिं परमात्मानम् **अच्छ** अभिमुखो भव। यथा कृषीवलो जागरूको भूत्वा मधुश्चुतं सस्योत्पादकं कोशं भूक्षेत्रमभिमुखो जायते तद्वदित्यर्थः ॥४॥

अत्र 'सिन्धुर्न' 'मदिरो न' इत्युभयोरुपमयोः संसृष्टिः ॥४॥

भावार्थः—यथा महानदी वृष्टिपूरेण वर्धते तथा मनुष्यो ज्ञानरसेन वर्धेत। वृष्ट्या तृप्तः कर्षको यथा जागरूकः सन् क्षेत्रात् सस्यसम्पदं प्राप्तुं यतते तथा मनुष्यो ज्ञानरसेन तृप्तः सततं जागरूको भूत्वा भक्त्या परमात्मनः सकाशादानन्दरसं प्राप्तुं प्रयतेत ॥४॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा को प्रेरणा दी गयी है।

पदार्थ—हे **सोम** जीवात्मन् ! **देववीतये** दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिए, तू **अर्णसा** जल से **सिन्धुः न** महानदी के समान **अर्णसा** ज्ञानरस से **प्र पिप्ये** वृद्धि को प्राप्त कर। **अंशोः** बादल के **पयसा** जल से **मदिरः न** हर्ष को प्राप्त किसान के समान **जागृविः** जागरूक होकर **मधुश्चुतम्** आनन्द को प्रवाहित करने वाले **कोशम्** आनन्दरस के खजाने परमात्मा के **अच्छ** अभिमुख हो। जैसे किसान जागरूक होकर धान्यरूप मधु के उत्पादक खेत के अभिमुख होता है, यह अभिप्राय है ॥४॥

इस मन्त्र में 'सिन्धुर्न' और 'मदिरो न' इस प्रकार दो उपमाओं की संसृष्टि है ॥४॥

भावार्थ—जैसे बड़ी नदी वर्षा के जल से बढ़ जाती है, वैसे ही मनुष्य ज्ञानरस से बढ़े। जैसे वर्षा से तृप्त किसान जागरूक रहकर खेत से फसल प्राप्त करने का यत्न करता है, वैसे ही मनुष्य ज्ञानरस

१. ऋ० ९।१०७।१२, साम० ७६७।

से तृप्त होकर निरन्तर जागरूक रहकर भक्ति द्वारा परमात्मा के पास से आनन्दरस पाने का प्रयत्न करे ॥४॥

अथ सोमरस आनन्दरसो वा कथं प्रवहतीत्याह ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
५१५. सोम उ ष्वाणः सोतृभिरधि ष्णुभिरवीनाम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अश्वयेव हरिता याति धारया मन्द्रया याति धारया ॥५॥[1]
१ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ १ २
सोमः उ स्वानः सोतृभिः । अधि स्नुभिः अवीनाम् ॥ अश्वया
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
इव हरिता याति धारया । मन्द्रया याति धारया ॥५॥

पदार्थः—**प्रथमः** सोमरसपरः । **सोतृभिः** सवनकर्तृभिः जनैः **अवीनां स्नुभिः** अविबालनिर्मितैः सानुवत् समुच्छ्रितैः दशापवित्रैः **अधिष्वाणः** अधिषूयमाणः **सोमः** सोमौषधिरसः **अश्वया इव** वडवया इव **हरिता** वेगवत्या । हरिता हरितया 'सुपां सुलुक्०' इति पूर्वसवर्णदीर्घः । **धारया** प्रवाहसन्तत्या **याति** द्रोणकलशं प्राप्नोति, **मन्द्रया** मदकारिण्या **धारया** प्रवाहसन्तत्या **याति** द्रोणकलशं गच्छति ॥

अथ **द्वितीयो**ऽध्यात्मपरः **सोतृभिः** परमात्मनः सकाशाद् आनन्दरसं सुन्वद्भिः उपासकैः **अवीनां स्नुभिः** अविबालनिर्मितैः समुच्छ्रितैः दशापवित्रैरिव समुच्छ्रिताभिः मनसां सात्त्विकवृत्तिभिः **अधिष्वाणः** अभिषूयमाणः **सोमः** आनन्दरसः **अश्वया इव** वडवया इव **हरिता** वेगवत्या **धारया** प्रवाहसन्तत्या **याति** आत्मानं प्राप्नोति, **मन्द्रया** हर्षकारिण्या **धारया** प्रवाहसन्तत्या **याति** आत्मानमुपगच्छति ॥५॥

अत्र श्लेष उपमा चालङ्कारः, 'याति धारया' इत्यस्य पुनरावृत्तौ च लाटानुप्रासः ॥५॥

भावार्थः—उपासका यदा तल्लीनेन मनसा परमात्मानं ध्यायन्ति तदा स्वात्मनि दिव्यानन्दधारासम्पातमनुभवन्ति ॥५॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि सोमरस अथवा आनन्दरस किस प्रकार प्रवाहित होता है ।

पदार्थ—**प्रथम** सोमरस के पक्ष में । **सोतृभिः** सोम-रस निचोड़ने वाले मनुष्यों से **अवीनां स्नुभिः** भेड़ों के बालों से निर्मित ऊँचे उठाये दशापवित्रों द्वारा **अधिष्वाणः** अभिषुत किया जाता हुआ **सोमः** सोम ओषधि का रस **अश्वया इव** घोड़ी के समान **हरिता** वेगवती **धारया** धारा के साथ **याति** द्रोणकलश में जाता है, **मन्द्रया** हर्षकारिणी **धारया** धारा के साथ **याति** द्रोणकलश में जाता है ॥

द्वितीय अध्यात्मपक्ष में । **सोतृभिः** परमात्मा के पास से आनन्दरस को अभिषुत करने वाले उपासकों से **अवीनां स्नुभिः** भेड़ों के बालों से निर्मित ऊपर उठाये दशापवित्रों के तुल्य मन की समुन्नत सात्त्विक वृत्तियों द्वारा **अधिष्वाणः** अभिषुत किया जाता हुआ **सोमः** आनन्दरस **अश्वया इव** घोड़ी के समान **हरिता** वेगवती **धारया** धारा के साथ **याति** आत्मा को प्राप्त होता है, **मन्द्रया** हर्षकारिणी **धारया** धारा के साथ **याति** आत्मा में पहुँचता है ॥५॥

इस मन्त्र में श्लेष और उपमालंकार हैं । 'याति धारया' की पुनरावृत्ति में लाटानुप्रास है ॥५॥

भावार्थ—उपासक लोग जब तल्लीन मन से परमात्मा का ध्यान करते हैं, तब अपने आत्मा के अन्दर दिव्य आनन्द के धाराप्रवाह का अनुभव करते हैं ॥५॥

---

१. ऋ० ९।१०७।८ 'ष्वाणः' इत्यत्र 'षुवाणः' इति पाठः । साम० ९९७

अथ परमात्मनः सख्यं प्रार्थयते ।

५१६. तवाहं सोम रारण सख्य इन्दो दिवेदिवे ।
पुरूणि बभ्रो नि चरन्ति मामव परिधीँ रति ताँ इहि ॥६॥[1]
तव अहम् सोम रारण । सख्ये स ख्ये इन्दो दिवेदिवे दिवे दिवे ॥
पुरूणि बभ्रो नि चरन्ति माम् अव । परिधीन् परि धीन् अति तान् इहि ॥६॥

पदार्थः—हे **सोम** चन्द्रवदाह्लादक सोमौषधिवद् रसागार **इन्दो** रसेन क्लेदयितः परमात्मन् ! **अहम्** उपासकः **तव सख्ये** त्वदीये सखित्वे **दिवे दिवे** दिने दिने **रारण** रमेय । रण शब्दे रमणार्थेऽपि प्रयुज्यते । यथा रणाय रमणीयाय । निरु० ९।२७ । लिङर्थे लिट्, अभ्यासस्य छान्दसो दीर्घः । हे **बभ्रो** भरणपोषणकर्तः परमेश ! बिभर्तीति बभ्रुः । 'कुर्भ्रश्च' उ० १।२२ इति कु प्रत्ययः धातोर्द्वित्वं च । **पुरूणि** बहूनि कामक्रोधादीनि रक्षांसि **माम्** तवोपासकम् **नि अव चरन्ति** उद्वेजयन्ति, **परिधीन्** परिवारकान् **तान्** राक्षसान् **अति इहि** अतिक्रमस्व पराजयस्व ॥६॥

भावार्थः—परमात्मनः सख्येन मनुष्यः सर्वान् परिवारकान् कामक्रोधलोभमोहहिंसाऽसत्याऽन्यायादीन् शत्रून् जित्वोन्नतिपथे प्रवर्तते ॥६॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के सखित्व की याचना है ।

पदार्थ—हे **सोम** चन्द्रमा के समान आह्लादक तथा सोम ओषधि के समान रसागार **इन्दो** रस से आर्द्र करने वाले परमात्मन् ! **अहम्** मैं उपासक **तव सख्ये** तेरी मित्रता में **दिवेदिवे** प्रतिदिन **रारण** रमूँ । हे **बभ्रो** भरणपोषणकर्ता परमेश ! **पुरूणि** बहुत-से काम, क्रोध आदि राक्षस **माम्** मुझ तेरे उपासक को **नि अव चरन्ति** उद्विग्न कर रहे हैं, **परिधीन्** घेरने वाले **तान्** उन राक्षसों को **अति इहि** पराजित कर दो ॥६॥

भावार्थ—परमात्मा की मित्रता से मनुष्य सब काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, असत्य, अन्याय आदि शत्रुओं को पराजित कर उन्नति के मार्ग में प्रवृत्त होता है ॥६॥

अथोपासितः परमेश्वरः किं करोतीत्याह ।

५१७. मृज्यमानः सुहस्त्या समुद्रे वाचमिन्वसि ।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्षसि ॥७॥[2]
मृज्यमानः सुहस्त्य सु हस्त्य । समुद्रे सम् उद्रे वाचम् इन्वसि ॥
रयिम् पिशङ्गम् बहुलम् पुरुस्पृहम् पुरु स्पृहम् । पवमान अभि अर्षसि ॥७॥

पदार्थः—हे **सुहस्त्य** हस्ते भवानि हस्त्यानि ऐश्वर्याणि, शोभनानि हस्त्यानि यस्य तादृश शोभनैश्वर्य सोम रसागार परमात्मन् ! छन्दसि 'अन्येषामपि दृश्यते' अ० ६।३।१३७ इति दीर्घः । **मृज्यमानः** स्तुतिभिः अलङ्क्रियमाणः त्वम् । मृजू शौचालङ्कारयोः, चुरादिः । **समुद्रे** उपासकस्य हृदयान्तरिक्षे । समुद्र इत्यन्तरिक्षनाम । निघं० १।३ **वाचम्** सत्प्रेरणात्मिकां वाणीम् **इन्वसि** प्रेरयसि । इन्वति गतिकर्मा । निघं०

१. ऋ० ९।१०७।१९, साम० ९२२ ।
२. ऋ० ९।१०७।२१ 'सुहस्त्या' इत्यत्र 'सुहस्त्य' इति पाठः ।

२।१४। हे **पवमान** पवित्रतादायक जगदीश्वर ! त्वम् **बहुलम्** प्रचुरम्, **पुरुस्पृहम्** बहु बहुभिर्वा स्पृहणीयम् **पिशङ्गं रयिम्** पिङ्गलवर्णं धनं हिरण्यम् यद्वा तेजोयुक्तम् आध्यात्मिकं धनं सत्याहिंसादिकम् **अभ्यर्षसि** अभिगमयसि प्रयच्छसीत्यर्थः ॥७॥

अत्र द्वितीयचतुर्थपादयोरन्त्यानुप्रासः, पवर्गपराणामनेकेषामनुस्वाराणां सह प्रयोगे च वृत्त्यनुप्रासः ॥७॥

भावार्थः—सर्वेषां हृदि स्थितः परमेश्वरो दिव्यसन्देशं निरन्तरं प्रयच्छति, स एव जीवनं पवित्रं कुर्वन् तेजोमयम् आध्यात्मिकं भौतिकं चापि धनं प्रददाति ॥७॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि उपासना किया हुआ परमेश्वर क्या करता है।

पदार्थ—हे **सुहस्त्य** उत्तम ऐश्वर्यों वाले रसागार सोम परमात्मन् ! **मृज्यमानः** स्तुतियों से अलंकृत किये जाते हुए आप **समुद्रे** उपासक के हृदयान्तरिक्ष में **वाचम्** सत्प्रेरणारूप वाणी को **इन्वसि** प्रेरित करते हो। हे **पवमान** पवित्रता देने वाले जगदीश्वर ! आप **बहुलम्** बहुत सारे **पुरुस्पृहम्** बहुत चाहने योग्य अथवा बहुतों से चाहने योग्य **पिशङ्गं रयिम्** पीले धन सुवर्ण को अथवा तेज से युक्त आध्यात्मिक धन सत्य, अहिंसा आदि को **अभ्यर्षसि** प्रदान करते हो ॥७॥

इस मन्त्र में द्वितीय और चतुर्थ पादों में अन्त्यानुप्रास अलंकार है, पवर्ग जिनके बाद आता है ऐसे अनेक अनुस्वारों के सहप्रयोग में वृत्त्यनुप्रास है ॥७॥

भावार्थ—सबके हृदय में स्थित परमेश्वर दिव्य सन्देश निरन्तर देता रहता है, वही जीवन को पवित्र करता हुआ तेजोमय आध्यात्मिक और भौतिक धन भी प्रदान करता है ॥७॥

अथ के कुत्रानन्दरसं प्रवाहयन्तीत्युच्यते।

३ १२ २१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
५१८. अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम्।
३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
समुद्रस्याधि विष्टपे मनीषिणो मत्सरासो मदच्युतः ॥८॥[1]
३ २ १ २१ ३ १ २ १ २१ १ २१ १ २१ ३ १ २ ३ १ २
अभि सोमासः आयवः। पवन्ते मद्यम् मदम्॥ समुद्रस्य सम् उद्रस्य
१ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २१
अधि विष्टपे मनीषिणः। मत्सरासः मदच्युतः मद च्युतः ॥८॥

पदार्थः—**मनीषिणः** मननवन्तः, **मत्सरासः** उल्लासमयाः, **मदच्युतः** आनन्दस्राविणः **सोमासः** पीतब्रह्मानन्दरूपसोमाः। अत्र सोमशब्दस्य सोमवति लक्षणा विज्ञेया, यद्वा सोमासः सोमवन्तः, मतुब्लुक्। **आयवः** मनुष्याः। आयव इति मनुष्यनाम। निघं० २।३। **समुद्रस्य विष्टपे अधि** राष्ट्ररूपस्य अन्तरिक्षस्य लोके, राष्ट्रवासिषु जनेषु इत्यर्थः। **मद्यम्** उल्लासजनकम् **मदम्** ब्रह्मानन्दरसम् **पवन्ते** प्रवाहयन्ति। 'मत्सरासः', 'सोमासः' इत्युभयत्र 'आज्जसेरसुक्' इति जसोऽसुगागमः ॥८॥

भावार्थः—स्वयं ब्रह्मानन्दरसे मग्ना योगिनो जना अन्यानपि ब्रह्मानन्दरसमग्नान् कुतो न कुर्युः ॥८॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि कौन कहाँ आनन्दरस को प्रवाहित करते हैं।

पदार्थ—**मनीषिणः** मनन करने वाले, **मत्सरासः** उल्लासयुक्त, **मदच्युतः** आनन्द बहाने वाले **सोमासः** ब्रह्मानन्दरूप सोमरस का पान किये हुए **आयवः** मनुष्य **समुद्रस्य विष्टपे अधि** राष्ट्ररूप अन्तरिक्ष

---

१. ऋ० ९।१०७।१४, विष्टपे, मदच्युतः' इत्यत्र क्रमेण 'विसृपि, स्वर्विदः' इति पाठः। साम० ८५६।

के लोक में अर्थात् राष्ट्रवासी जनों में **मद्यम्** उल्लासजनक **मदम्** ब्रह्मानन्द-रस को **पवन्ते** प्रवाहित करते हैं ॥८॥

भावार्थ—स्वयं ब्रह्मानन्द-रस में मग्न योगी जन अन्यों को भी ब्रह्मानन्द-रस में मग्न क्यों न करें ? ॥८॥

अथ सोमं जीवात्मानमुद्बोधयति ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
५१९. पुनानः सोम जागृविरव्या वारैः परि प्रियः ।
१२ २२ ३ १ २ ३ १ २
त्वं विप्रो अभवोऽङ्गिरस्तम मध्वा यज्ञं मिमिक्ष णः ॥९॥[1]
३ २ ३ १ २ १ १ २ १ २ १ २ १ २ १ २ ३ २ १ २ ३
पुनानः सोम जागृविः । अव्याः वारैः परि प्रियः ॥ त्वम् विप्रः वि प्रः
१ २ १ ३ २ ३
अभवः अङ्गिरस्तम । मध्वा यज्ञम् मिमिक्ष नः ॥९॥

पदार्थः—हे **अङ्गिरस्तम** अतिशयेन तेजस्विन् ! अङ्गारेष्वङ्गिराः इति हि निरुक्तम् ३।१७। **सोम** मदीय अन्तरात्मन् ! **जागृविः** जागरूकः, **अव्याः वारैः** अविबालनिर्मितदशापवित्रैरिव बुद्धेस्तर्कैः **परि पुनानः** असत्यं परित्यज्य सत्यं स्वीकृत्य स्वात्मानं पवित्रं कुर्वन् **प्रियः** सर्वेषां स्नेहभाजनभूतः **त्वम् विप्रः** प्रशस्त-ज्ञानवान् **अभवः** अजायथाः । स त्वम् **नः** अस्माकम् **यज्ञम्** जीवनयज्ञम् **मध्वा** मधुना, माधुर्येण **मिमिक्ष** सेक्तुं प्रयतस्व । मिह सेचने धातोः सनि लोण्मध्यमैकवचने रूपम् ॥९॥

भावार्थः—मनुष्यैर्जागरूकैः सर्वेषां प्रियैर्ज्ञानवद्भिस्तेजस्विभिर्मधुरव्यवहारैश्च भवितव्यम् ॥९॥

अगले मन्त्र में सोम जीवात्मा को उद्बोधित किया गया है ।

पदार्थ—हे **अङ्गिरस्तम** अतिशय तेजस्वी **सोम** मेरे अन्तरात्मन् ! **जागृविः** जागरूक, **अव्याः वारैः** भेड़ों के बालों से निर्मित दशापवित्रों के सदृश बुद्धि के तर्कों से **परि पुनानः** असत्य के त्याग तथा सत्य के स्वीकार द्वारा स्वयं को पवित्र करता हुआ **प्रियः** सबका प्रिय **त्वम्** तू **विप्रः** ज्ञानी **अभवः** हो गया है । वह तू **नः** हमारे **यज्ञम्** जीवन-यज्ञ को **मध्वा** माधुर्य से **मिमिक्ष** सींचने का प्रयत्न कर ॥९॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि वे जागरूक, पवित्र, सबके प्रिय, ज्ञानी, तेजस्वी और मधुर व्यवहार करने वाले होवें ॥९॥

अथ सोमः परमात्मा कस्मै पवत इत्याह ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
५२०. इन्द्राय पवते मदः सोमो मरुत्वते सुतः ।
३ १ २ ३ १ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २
सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति तमी मृजन्त्यायवः ॥१०॥[2]
१ २ १ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्राय पवते मदः । सोमः मरुत्वते सुतः ॥ सहस्रधारः
३ १ २ ३ १ २ १ १ २ ३ २ ३ १ २
सहस्र धारः अति अव्यम् अर्षति । तम् ई मृजन्ति आयवः ॥१०॥

पदार्थः—**मदः** तृप्तिकरः, **सुतः** ध्यानरूपैः ग्रावभिः अभिषुतः **सोमः** रसनिधिः परमात्मा **मरुत्वते** प्राणवते **इन्द्राय** आत्मने **पवते** प्रस्रवति । **सहस्रधारः** सहस्रं बह्व्यः धारा आनन्दधारा यस्य सः **अव्यम् अति**

---

१. ऋ० ९।१०७।६, 'जागृविरव्या, अभवोऽङ्गिरस्तम, णः' इत्यत्र क्रमेण 'जागृविरव्यो, अभवोऽङ्गिरस्तमः, नः' इति पाठः ।
२. ऋ० ९।१०७।१७ ।

अविः पृथिवी तस्यायम् अव्यः पार्थिवः अन्नमयकोशः तम् अतिक्रम्य, प्राणमयमनोमयादिकोशान् **अर्षति** गच्छति। **तम् ई**[1] तं किल। ई इति वाक्यालङ्कारे, यद्वा ई ईम् एनम्। **आयवः** मनुष्याः **मृजन्ति** भक्तिप्रसूनैः अलङ्कुर्वन्ति ॥१०॥

भावार्थः—रसागारः परमेश्वरो ध्यानानुष्ठातारं भक्तिप्रवणं जीवात्मानमानन्दनिर्झरेण स्नपयति ॥१०॥

अगले मन्त्र में यह वर्णित है कि सोम परमात्मा किसके लिए झरता है।

पदार्थ—**मदः** तृप्ति देने वाला, **सुतः** ध्यानरूपी सिलबट्टों से अभिषुत **सोमः** रसनिधि परमात्मा **मरुत्वते** प्राण से सहचरित **इन्द्राय** आत्मा के लिए **पवते** झरता है। **सहस्रधारः** अनेकों आनन्दधाराओं से युक्त वह **अव्यम् अति** पार्थिव अन्नमय कोश को पार कर प्राणमय, मनोमय आदि कोशों में **अर्षति** पहुँचता है। **तम् ई** उसे **आयवः** मनुष्य **मृजन्ति** भक्तिपुष्पों से अलंकृत करते हैं ॥१०॥

भावार्थ—रसागार परमेश्वर ध्यानी, भक्तिपरायण जीवात्मा को आनन्द के झरने में स्नान कराता है ॥१०॥

अथ सोमनाम्ना परमात्मानं राजानं वा प्रार्थयते।

५२१. पवस्व वाजसातमोऽभि विश्वानि वार्या।
त्वं समुद्रः प्रथमे विधर्मन् देवेभ्यः सोम मत्सरः ॥११॥[2]

पवस्व वाजसातमः वाज सातमः। अभि विश्वानि वार्या॥ त्वम् समुद्रः
सम् उद्रः प्रथमे विधर्मन् वि धर्मन्। देवेभ्यः सोम मत्सरः ॥११॥

पदार्थः—हे **सोम** ऐश्वर्यशालिन् जगदीश्वर राजन् वा! **वाजसातमः** ऐश्वर्याणां दातृतमः त्वम्। वाजान् अन्नधनबलादीन् सनोतीति वाजसाः, अतिशयेन वाजसाः वाजसातमः। वाजोपपदात् सनोतेः 'जनसनखनक्रमगमो विट्। अ० ३।२।६७' इति विट् प्रत्ययः, 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्। अ० ६।४।४१' इति नकारस्याकारादेशः। **विश्वानि** सर्वाणि **वार्या** वरणीयानि ऐश्वर्याणि **अभिपवस्व** अभिप्रापय। **त्वम्** परमेश्वरो राजा वा **समुद्रः** परमेश्वरोचितानां राजोचितानां वा बलवीर्यादीनां पारावारः असि। त्वम् **प्रथमे** श्रेष्ठे **विधर्मन्**[3] विधर्मणि विशिष्टे जगद्धारणयज्ञे प्रजापालनयज्ञे वा। अत्र 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति सप्तम्या लुक्। **देवेभ्यः** विद्वद्भ्यः **मत्सरः** आनन्दप्रदः, भवेति शेषः ॥११॥

भावार्थः—यथा जगदीश्वरो जगति सर्वेषामैश्वर्याणां दातास्ति, तथा राष्ट्रे नृपतिः प्रजाभ्य ऐश्वर्याणि प्रयच्छेत् ॥११॥

अगले मन्त्र में सोम नाम से परमात्मा वा राजा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **सोम** ऐश्वर्यशाली जगदीश्वर वा राजन्! **वाजसातमः** ऐश्वर्यों के अतिशय दानी आप **विश्वानि** सब **वार्या** वरणीय ऐश्वर्यों को **अभिपवस्व** प्राप्त कराइये। **त्वम्** आप **समुद्रः** परमेश्वरोचित वा

१. ऋग्वेदे यत्र मूलमन्त्रे 'ई' इति पठ्यते तत्र पदकारः 'ईम्' इति पठति। परं सामवेदीयपदपाठे 'ई' इत्येव प्राप्यते।

२. ऋ० ९।१०७।२३ "पवस्व वाजसातयेऽभि विश्वानि काव्या। त्वं समुद्रं प्रथमो विधारयो देवेभ्यः सोम मत्सरः॥' इति पाठः।

३. विर्धमन् विधर्मणि विविधकर्मधारणे—इति वि०। विधारके यज्ञे—इति भ०। 'विधर्मन् विशेषेण पोषक'—इति सायणीये व्याख्याने तु स्वरो न सङ्गच्छते।

राजोचित बल, वीर्य आदि के समुद्र हो। आप **प्रथमे** श्रेष्ठ **विधर्मन्** विशिष्ट जगद्धारण-यज्ञ में वा प्रजा-पालन-यज्ञ में **देवेभ्यः** विद्वानों के लिए **मत्सरः** आनन्ददायक होवो ॥११॥

भावार्थ—जैसे जगदीश्वर जगत् में सब ऐश्वर्यों को देने वाला है, वैसे राष्ट्र में राजा प्रजाओं को ऐश्वर्य प्रदान करे ॥११॥

अथ ज्ञानरसानां प्राप्तिं वर्णयति।

१२ ३२३२३ १२
५२२. पवमाना असृक्षत पवित्रमति धारया।
३१२ ३१२३१२१ ३२३१२१ २१
मरुत्वन्तो मत्सरा इन्द्रिया हया मेधामभि प्रयांसि च ॥१२॥[1]

१२१ ३ १२ १२१ १२१ ३१२ ३ २
पवमानाः असृक्षत। पवित्रम् अति धारया॥ मरुत्वन्तः मत्सराः
३ २ १२१ ३२ ३२ १२१ ३
इन्द्रियाः हयाः। मेधाम् अभि प्रयाꣳसि च ॥१२॥

पदार्थः—**पवमानाः** पवित्रतां सम्पादयन्तः एते ज्ञानरसरूपाः सोमाः **धारया** धारारूपेण **पवित्रम् अति** पवित्रहृदयरूपं दशापवित्रमतिक्रम्य **असृक्षत** आत्मरूपे द्रोणकलशे विसृज्यन्ते। **मरुत्वन्तः** प्राणयुक्ताः, **मत्सराः** तृप्तिकराः, **इन्द्रियाः** इन्द्रेण आत्मना जुष्टाः। इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्र-दत्तमिति वा' अ० ५।२।८३ इति जुष्टार्थे घच्प्रत्ययान्तो निपातः। **हयाः** गन्तारः। हय गतौ भ्वादिः। एते ज्ञानरसाः **मेधाम्** धारणावतीं बुद्धिम् **प्रयांसि च** आनन्दरसांश्च। प्रय इति उदकनामसु पठितम्, निघं० १।१२। **अभि** अभिवर्षन्ति। उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ॥१२॥

भावार्थः—मनसा प्राणेन च पूता ज्ञानरसा यदाऽऽत्मानमुपतिष्ठन्ते तदा मेधाया आनन्दस्य च वर्षका जायन्ते ॥१२॥

अत्रापि सोमस्य परमात्मनस्तत आगतायाः आनन्दधारायाश्च वर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन संगतिरस्ति ॥

इति षष्ठे प्रपाठके प्रथमार्धे तृतीया दशतिः।
इति पञ्चमेऽध्याये पञ्चमः खण्डः॥

अगले मन्त्र में ज्ञानरसों की प्राप्ति का वर्णन है।

पदार्थ—**पवमानाः** पवित्रता देते हुए ये ज्ञानरूप सोमरस **धारया** धारा रूप में **पवित्रम् अति** पवित्र हृदयरूप दशापवित्र में से छनकर **असृक्षत** आत्मारूप द्रोणकलश में छोड़े जा रहे हैं। **मरुत्वन्तः** प्राणों से युक्त, **मत्सरासः** तृप्तिप्रदाता, **इन्द्रियाः** आत्मा रूप इन्द्र से सेवित, **हयाः** प्राप्त होने वाले ये ज्ञानरस **मेधाम्** धारणावती बुद्धि को **प्रयांसि च** और आनन्दरसों को **अभि** बरसाते हैं ॥१२॥

भावार्थ—मन और प्राण से पवित्र किये गये ज्ञानरस जब आत्मा को प्राप्त होते हैं, तब मेधा और आनन्द के बरसाने वाले होते हैं ॥१२॥

इस दशति में भी सोम परमात्मा और उससे प्राप्त आनन्दधारा का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

षष्ठ प्रपाठक में प्रथम अर्ध की तृतीय दशति समाप्त।
पंचम अध्याय में पंचम खण्ड समाप्त॥

---

१. ऋ० ९।७।१२५।

॥४॥ अथ 'प्र तु द्रव' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ९ उशना काव्यः;
२ वृषगणो वासिष्ठः; ३, ७ पराशरः शाक्त्यः; ४, ६ वसिष्ठो मैत्रावरुणः;
५, १० प्रतर्दनो दैवोदासिः; ८ प्रस्कण्वः काण्वः ॥
देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अथ जीवात्मानमुद्बोधयति ।

१ २१ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २१ २१
५२३. प्र तु द्रव परि कोशं नि षीद नृभिः पुनानो अभि वाजमर्ष ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोऽच्छा बर्हीं रशनाभिर्नयन्ति॥१॥[1]
२ ३ १ २१ १ २१ ३ १ २१ ३ २ ३ २ १ २१ ३
प्र तु द्रव परि कोशम् नि सीद । नृभिः पुनानः अभि वाजम् अर्ष ॥
१ २१ ३ १ २ ३ १ २ १ २१ ३ २ ३ १ २ ३
अश्वम् न त्वा वाजिनम् मर्जयन्तः । अच्छ बर्हिः रशनाभिः नयन्ति ॥१॥

पदार्थः—हे आत्मन् ! त्वम् **तु** क्षिप्रम् **प्र द्रव** प्रकृष्टायां दिशि धाव, **कोशम्** आनन्दमयकोशम् **परि निषीद** अभिव्याप्य स्थितो भव । **नृभिः** नेतृभिः स्वकीयैः पौरुषैः **पुनानः** मनोबुद्ध्यादिकं पवित्रं कुर्वन् **वाजम् अभि** देवासुरसङ्ग्रामं प्रति **अर्ष** असुराणां पराजयार्थं गच्छ । **वाजिनम्** ज्ञानवन्तम् **त्वा** त्वाम् **मर्जयन्तः** सद्गुणैरलङ्कुर्वन्तः **रशनाभिः** यमनियमरज्जुभिः सन्नियन्त्र्य, शिक्षकाः योगिनः **बर्हिः अच्छ** परब्रह्म[2] प्रति । बृंहति वर्द्धते महिमान्वितो भवतीति बर्हिः ब्रह्म । 'बृंहेर्नलोपश्च' उ० २।१११ इति इसि प्रत्ययः, नकारलोपश्च । **नयन्ति** प्रेरयन्ति, **न** यथा **वाजिनम्** बलिनम् **अश्वम्** तुरगम् **मर्जयन्तः** शोधयन्तोऽलङ्कुर्वन्तो वा योद्धारः **रशनाभिः** प्रग्रहैः संनियन्त्र्य **बर्हिः अच्छ** संग्रामयज्ञं प्रति **नयन्ति** प्रापयन्ति ॥१॥

अत्र उत्तरार्द्धे श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—यथा बलवन्तमश्वं साङ्ग्रमिका जना रशनाभिः संनियन्त्र्य संग्रामं प्रति नयन्ति तथा योगप्रशिक्षका जना मनुष्यस्यात्मानं यमनियमादियोगसाधनैः संनियन्त्र्य परब्रह्म प्रति नयन्तु ॥१॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा को उद्बोधन दिया गया है ।

पदार्थ—हे आत्मन् ! तू **तु** शीघ्र ही **प्र द्रव** उत्कृष्ट दिशा में दौड़, **कोशम्** आनन्दमय कोश में **परि निषीद** व्याप्त होकर स्थित हो, **नृभिः** आगे ले जाने वाले अपने पौरुषों से **पुनानः** मन, बुद्धि आदि को पवित्र करता हुआ **वाजम् अभि** देवासुरसंग्राम में **अर्ष** असुरों के पराजय के लिए जा । **वाजिनम्** ज्ञानवान् **त्वा** तुझे **मर्जयन्तः** सद्गुणों से अलंकृत करते हुए **रशनाभिः** यम-नियम की रस्सियों से नियन्त्रित करके, शिक्षक योगी जन **बर्हिः अच्छ** परब्रह्म के प्रति **नयन्ति** प्रेरित कर रहे हैं, **न** जैसे **वाजिनम्** बलवान् **अश्वम्** घोड़े को **मर्जयन्तः** साफ या अलंकृत करते हुए योद्धा लोग **रशनाभिः** लगामों से नियन्त्रित करके **बर्हिः अच्छ** संग्राम में **नयन्ति** ले जाते हैं ॥१॥

इस मन्त्र में उत्तरार्ध में श्लिष्टोपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ—जैसे बलवान् घोड़े को योद्धा लोग लगामों से नियन्त्रित करके युद्ध में ले जाते हैं, वैसे ही योग-प्रशिक्षक लोग मनुष्य के आत्मा को यम, नियम आदि योग-साधनों से नियन्त्रित करके परब्रह्म के प्रति ले जाएँ ॥१॥

---

१. ऋ० ९।८७।१, साम० ६७७ ।
२. 'बर्हिः अन्तरिक्षवद् व्यापकं ब्रह्म' इति य० २९।२९ भाष्ये द०।

अथ सोमः परमात्मा किं करोतीत्याह ।

१२ २१३१२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
५२४. प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३क २१ ३ १ २
महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन् ॥२॥[1]

२ १ २१ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २१ ३
प्र काव्यम् उशना इव ब्रुवाणः । देवः देवानाम् जनिम विवक्ति ॥
१ २१ १ २१ ३ १ २१ १ २१ ३ २
महिव्रतः महि व्रतः शुचिबन्धुः शुचि बन्धुः पावकः ।
३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २१
पदा वराहः अभि एति रेभन् ॥२॥

पदार्थः—**उशना इव**[2] धर्मकामो विद्वान् इव । वष्टि कामयते धर्मादिप्रचारं स उशना । वश कान्तौ । उशनस् शब्दात् सौ 'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च' अ० ७।१।९४ इत्यनङ् । **काव्यम्** वेदकाव्यम् **प्र ब्रुवाणः** उपदिशन् **देवः** दानादिगुणयुक्तः सोमः परमेश्वरः **देवानाम्** प्रकाशकानाम् अग्निसूर्यविद्युदादीनाम् इन्द्रियाणां च **जनिम** जन्म, उत्पत्तिप्रकारम् । संहितायां दीर्घश्छान्दसः । **प्र विवक्ति** वेदद्वारा प्रकर्षेण व्याचष्टे । अत्र वचेर्लटि 'बहुलं छन्दसि' अ० २।४।७६ इति शपः श्लुः ।[3] **महिव्रतः** महाकर्मा, **शुचिबन्धुः**[4] शुचयः पवित्रात्मानो जनाः बन्धवो यस्य तथाविधः, **पावकः** जनानां पवित्रयिता स जगदीश्वरः **रेभन्** गर्जन् **वराहः**[5] वराहारो मेघः इव । वराहो मेघो भवति वराहारः । निरु० ५।४ । **रेभन्** उद्बोधनशब्दान् ब्रुवन् । रेभृ शब्दे भ्वादिः । **पदा** पदानि गन्तव्यानि सत्पात्राणि, सत्पात्रभूतान् जनानित्यर्थः **अभ्येति** प्राप्नोति ॥२॥

'उशनेव' इत्यत्र वाच्योपमा । 'वराहः' इत्यत्र लुप्तोपमा । 'देवो-देवा' इत्यत्र छेकानुप्रासः ॥२॥

भावार्थः—यथा सोमरसो धारापातशब्दं कुर्वन् पात्राणि गच्छति, यथा वा मेघो गर्जन् भूमौ वर्षति, तथैव सौम्यः परमेश्वरो रसनां विनापि सत्कर्माण्युपदिशन् स्तोतॄन् जनानुपगच्छति ॥२॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि सोम परमात्मा क्या करता है ।

पदार्थ—**काव्यम्** काव्य का **प्र ब्रुवाणः** प्रवचन करते हुए **उशना इव** धर्मेच्छु विद्वान् के समान **काव्यम्** वेदरूप काव्य का **प्र ब्रुवाणः** उपदेश करता हुआ **देवः** दान आदि गुणों से युक्त सोम परमात्मा **देवानाम्** प्रकाशक अग्नि, सूर्य, विद्युत् आदि पदार्थों के तथा इन्द्रियों के **जनिम** उत्पत्ति-प्रकार को **प्र विवक्ति** वेद द्वारा भलीभाँति बतलाता है । **महिव्रतः** महान् कर्मों वाला, **शुचिबन्धुः** पवित्रात्मा जनों से बन्धुत्व स्थापित करने वाला, **पावकः** मनुष्यों को पवित्र करने वाला वह जगदीश्वर **रेभन्** गर्जते हुए **वराहः** मेघ के समान **रेभन्** उद्बोधन के शब्द बोलता हुआ **पदा** गन्तव्य सत्पात्र जनों के पास **अभ्येति** पहुँचता है ॥२॥

इस मन्त्र में 'उशनेव' में वाच्योपमा और 'वराहः' में लुप्तोपमा अलंकार है । 'देवो-देवा' में छेकानुप्रास है ॥२॥

भावार्थ—जैसे सोमरस धारापात शब्द करता हुआ पात्रों में जाता है, और जैसे मेघ गर्जना करता हुआ भूमि पर बरसता है, वैसे ही सौम्य परमेश्वर जीभ के बिना भी सत्कर्मों का उपदेश करता हुआ स्तोता जनों के पास पहुँचता है ॥२॥

---

१. ऋ० ९।९७।७, साम० १११६ ।
२. (उशना) धर्मकामुकः इति ऋ० १।१२१।१२ भाष्ये द० ।
३. न त्वत्र व्युपसर्गो वचिः ग्राह्यः पदपाठेऽविभज्य दर्शनात् ।
४. बध्नन्ति शत्रूनिति बन्धूनि तेजांसि बलानि वा । दीप्ततेजस्कः—इति सा० ।
५. वराहः वराणां धनानाम् आगमयिता सोमः—इति भ० । वरञ्च तदहश्च वराहः । 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' इति टच् समासान्तः । तस्मिन्नहनि अभिषूयमाणत्वेन तद्वान् । अर्श आदित्वान्मत्वर्थीयोऽच् ।—इति सा० ।

अथ सोमनाम्ना परमात्मानं जीवात्मानमाचार्यं च वर्णयति ।

५२५. तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम् ।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ॥३॥[1]

तिस्रः वाचः ईरयति प्र वह्निः । ऋतस्य धीतिम् ब्रह्मणः मनीषाम् ॥
गावः यन्ति गोपतिम् गो पतिम् पृच्छमानाः ।
सोमम् यन्ति मतयः वावशानाः ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । **वह्निः** जगतो वोढा सोमः परमेश्वरः **तिस्रः वाचः** ऋग्यजुःसामरूपाः तिस्रो वाणीः । तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्दः । जै० सू० २।१।३५-३७ । **प्र ईरयति** प्रजानां कल्याणाय उपदिशति, स एव **ऋतस्य** सत्यमयस्य यज्ञस्य । ऋतस्य योगे यज्ञस्य योगे । निरु० ६।२२ इति निरुक्तप्रामाण्याद् ऋतं यज्ञः । **धीतिम्** धारणम्, **ब्रह्मणः** ज्ञानस्य **मनीषाम्** मननं च, प्र ईरयति उपदिशति । **गावः** पृथिव्यादयो लोकाः सूर्यकिरणाः वा **गोपतिम्** निजस्वामिनम् **पृच्छमानाः** पृच्छन्त्यः इव **यन्ति** गच्छन्ति,—क्वाऽस्माकमधिपतिर्योऽस्मान् सञ्चालयतीति ज्ञीप्समाना इव पर्यटन्तीत्यर्थः । तथैव **मतयः** मम स्तुतयः **वावशानाः** अतिशयेन पुनः पुनः कामयमानाः । वश कान्तौ यङ्लुगन्तात् शानच् । **सोमम्** रसागारं परमात्मानम् **यन्ति** प्राप्नुवन्ति ।।

अथ **द्वितीयो** जीवात्मपरः । **वह्निः** शरीरस्य वोढा जीवात्मा **तिस्रः वाचः** ज्ञानरूपे, विचाररूपे, जिह्वायाः कण्ठतालवादिसंयोगजन्यशब्दरूपे च विद्यमानाः त्रिविधाः वाणीः **प्र ईरयति** प्रकटयति । स एव **ऋतस्य** सत्यस्य **धीतिम्** धारणम्, **ब्रह्मणः** उपार्जितज्ञानस्य **मनीषाम्** मननं च करोति । **गावः** मनःसहितानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि **पृच्छमानाः** कर्तव्याकर्तव्यं पृच्छन्त्यः इव **गोपतिम्** इन्द्रियाणां स्वामिनम् आत्मानम् **यन्ति** उपगच्छन्ति । **मतयः** मदीयाः बुद्धयः **वावशानाः** अध्यवसायात्मके ज्ञाने साधनीभवितुं कामयमानाः इव **सोमम्** ज्ञातारम् आत्मानम् **यन्ति** उपगच्छन्ति ।।

अथ **तृतीयः** आचार्यपरः । **वह्निः** ज्ञानस्य वाहकः सौम्यः आचार्यः, शिष्याय **तिस्र वाचः** ज्ञानकर्मोपासनाकाण्डप्रतिपादिकाः, सत्त्वरजस्तमःप्रतिपादिकाः, सृष्टचुत्पत्तिस्थितिप्रलय प्रतिपादिकाः, जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिप्रतिपादिकाः, धर्मार्थकामप्रतिपादिकाः वा तिस्रो वाणीः **प्र ईरयति** प्रोच्चारयति । स एव **ऋतस्य** सत्यस्य **धीतिम्** धारणम्, **ब्रह्मणः** परमेश्वरस्य मोक्षस्य वा **मनीषाम्** प्रज्ञाम् च **प्र ईरयति** प्रयच्छति । **गावः** मदीयाः वाचः **पृच्छमानाः** ब्रह्मविद्याविषयकान् प्रश्नान् कुर्वाणाः **गोपतिम्** वाचस्पतिम् आचार्यम् **यन्ति** प्राप्नुवन्ति । **मतयः** मदीयाः बुद्धयः **वावशानाः** ज्ञानोद्घाटनं कामयमानाः **सोमम्** ज्ञानरसागारं सौम्यम् आचार्यम् **यन्ति** प्राप्नुवन्ति ।।३।।[2]

---

१. ऋ० ९।९७।३४, साम० ८५९

२. अस्या ऋचो व्याख्याने विवरणकृन्माधव एवमाह—"तिस्रो वाचः ऋग्यजुःसामानि । वह्निः वोढा सोमः । ऋतस्य धीतिं कर्म । ब्रह्मणो मनीषां मन्त्राणि वेदोक्तानि प्रेरयति । गोपतिं यजमानम् ।। यद्यपि पावमानीषु सोमं मुक्त्वा अन्या देवता न सम्भवन्ति तथाप्यष्टादशे व्याख्यातेति कृत्वा तेनापि आत्मानुस्मरणार्थमालिख्यते । तिस्रो वाचः ऋग्यजुःसामानि । अथवा तिस्रो वाचः सत्त्वरजस्तमांसि । अथवा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिवृत्तयः । ईरयति प्रेरयति । उदकं रश्मींश्च वहतीति वह्निरादित्यः । ऋतस्य आदित्यस्य धीतिम् अथवा ऋतस्य सत्यस्य ब्रह्मणः, अथवा ऋतस्य अन्तस्य धीतिं यज्ञस्य वा आदित्यस्य वा ।···एतमेव गोपतिं रश्मिस्वामिनं वा पृच्छन्त इव सोमं यन्ति । पृथिवीं वसानाः सर्वोपकाराय

यास्काचार्य ऋचमिमामेवं व्याख्यातवान्—वह्निरादित्यो भवति, स तिस्रो वाचः प्रेरयति ऋचो यजूंषि सामानि। एतस्यादित्यस्य कर्माणि ब्रह्मणो मतानि। एष एवैतत् सर्वमक्षरमित्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम् वह्निरात्मा भवति, स तिस्रो वाच ईरयति प्रेरयति विद्यामतिबुद्धिमतानि ऋतस्य आत्मनः कर्माणि ब्रह्मणो मतानि, अयमेवैतत् सर्वमनुभवतीत्यात्मगतिमाचष्टे" इति (निरु० १४।१४)।

अत्र श्लेषालङ्कारः। आद्यपक्षद्वये 'गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः' इत्यत्र व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा च ॥३॥

भावार्थः—वाचां प्रेरकः, सत्यस्य यज्ञस्य वा धापयिता, ज्ञानस्य प्रदाता, मनोबुद्ध्यादीनां संस्कर्ता च परमेश्वरो जीवात्मा गुरुश्च सदा सेवनीयः सत्कर्तव्यश्च ॥३॥

अगले मन्त्र में सोम नाम से परमात्मा, जीवात्मा और आचार्य का वर्णन है।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। **वह्निः** जगत् का वहनकर्ता सोम परमेश्वर **तिस्रः वाचः** ऋग्, यजुः, साम रूप तीन वाणियों का **प्र ईरयति** प्रजाओं के कल्याणार्थ उपदेश करता है। वही **ऋतस्य** सत्यमय यज्ञ के **धीतिम्** धारण की, और **ब्रह्मणः** ज्ञान के **मनीषाम्** मनन की **प्र ईरयति** प्रेरणा करता है। **गावः** पृथिवी आदि लोक अथवा सूर्यकिरण **गोपतिम्** अपने स्वामी के विषय में **पृच्छमानाः** मानो पूछते हुए **यन्ति** चले जा रहे हैं—अर्थात् मानो यह पूछ रहे हैं कि कौन हमारा स्वामी है, जो हमें संचालित करता है। इसी प्रकार **मतयः** मेरी स्तुतियाँ **वावशानाः** अतिशय पुनः-पुनः चाह रखती हुई **सोमम्** रसागार परमात्मा को **यन्ति** प्राप्त हो रही हैं॥

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में। **वह्निः** शरीर का वहनकर्ता जीवात्मा **तिस्रः वाचः** ज्ञानरूप में, विचाररूप में तथा जिह्वा के कण्ठ तालु आदि के संयोग से जन्य शब्दरूप में विद्यमान त्रिविध वाणियों को **प्र ईरयति** प्रकट करता है। वही **ऋतस्य** सत्य के **धीतिम्** धारण को, और **ब्रह्मणः** उपार्जित ज्ञान के **मनीषाम्** मनन को करता है। **गावः** मन-सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ **पृच्छमानाः** मानो कर्तव्याकर्तव्य को पूछती हुई **गोपतिम्** इन्द्रियों के स्वामी आत्मा के पास **यन्ति** पहुँचती हैं। **मतयः** मेरी बुद्धियाँ **वावशानाः** निश्चय में साधन बनना चाहती हुई **सोमम्** ज्ञाता आत्मा के पास **यन्ति** पहुँच रही हैं॥

तृतीय आचार्य के पक्ष में। **वह्निः** ज्ञान का वाहक आचार्य, शिष्य के लिए **तिस्रः वाचः** त्रिविध ज्ञान-कर्म-उपासना की प्रतिपादक, अथवा सत्त्व-रजस्-तमस् की प्रतिपादक, अथवा सृष्टि-स्थिति-प्रलय की प्रतिपादक, अथवा जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति की प्रतिपादक, अथवा धर्म-अर्थ-काम की प्रतिपादक वाणियों का

सोमम् आदित्यं, मतयः।···रश्मयः वावशाना आदित्यं यन्ति प्रविशन्ति। अध्यात्मं वा—वह्निरात्मा भवति, वश्यादि-गुणसंयोगात्। स तिस्रो वाचः प्रेरयति विद्याबुद्धिमनांसि। विद्या महान्, बुद्धिरहङ्कारो मन इति प्राधान्याद् भूतेन्द्रियाणि। ऋतस्य आत्मनः। गावः यन्ति आत्मानम् इन्द्रियाणां स्वामिनं पृच्छमानाः आत्मानम्। तदभिप्रायेण शब्दाद्यनुगमात्। एतमेवात्मानं सोमं कामयमाना इव यन्ति मतयः तदर्थं प्रादुर्भवन्ति" इति।

अथ भरतः—"तिस्रः त्रिविधाः मन्द्रमध्यमोत्तमाः। वह्निः वोढा यज्ञस्य। ऋतस्य यज्ञस्य। धीतिं विधानम् अनुष्ठानं च प्रेरयति। सोमे अभिषुते कर्माणि प्रवर्त्यन्ते। ब्रह्मणः ब्राह्मणानाम्। मनीषां स्तुतिं च प्रेरयति। सामान्यवाची ब्रह्मशब्दः नपुंसकलिङ्गः। गावः यन्ति अभिगच्छन्ति गोपतिं सोमम् पृच्छमाना अन्विच्छन्त्यः। सोमं यन्ति मतयः स्तुतयः। वावशानाः कामयमानाः" इति।

अथ सायणः—"वह्निः वोढा यजमानः तिस्रो वाचः ऋग्यजुःसामात्मिकाः स्तुतीः प्रेरयति। तथा ऋतस्य यज्ञस्य धीतिं धारयित्रीं ब्रह्मणः परिवृढस्य सोमस्य मनीषां मनस ईशित्रीं कल्याणवाचं च प्रेरयति। किञ्च गोपतिं वृषभं यथा गावोऽभिगच्छन्ति तद्वत् गवां स्वामिनं सोमं गावः पृच्छमानाः पृच्छन्त्यः सत्यो यन्ति स्वपयसा आश्रयितुमभिगच्छन्ति, तथा वावशानाः कामयमानाः मतयः स्तोतारः सोमं यन्ति स्तोतुमभिगच्छन्ति" इति।

प्र ईरयति उच्चारण करता है। वही **ऋतस्य** सत्य के **धीतिम्** धारण को, और **ब्रह्मणः** ब्रह्म की अथवा मोक्ष की **मनीषाम्** प्रज्ञा को **प्र ईरयति** देता है। **गावः** मेरी वाणियाँ **पृच्छमानाः** ब्रह्मविद्याविषयक प्रश्न पूछती हुई **गोपतिम्** वाचस्पति आचार्य को **यन्ति** प्राप्त होती हैं। **मतयः** मेरी बुद्धियाँ **वावशानाः** ज्ञानोद्घाटन को चाहती हुई **सोमम्** ज्ञानरस के अगार, सौम्य आचार्य को **यन्ति** प्राप्त होती हैं ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है। प्रथम दो पक्षों में 'गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः' में व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा है ॥३॥

भावार्थ—वाणियों के प्रेरक, सत्य वा यज्ञ को धारण कराने वाले, ज्ञान के प्रदाता और मन-बुद्धि आदियों के संस्कर्ता परमेश्वर, जीवात्मा तथा गुरु का सदा सेवन एवं सत्कार करना चाहिए ॥३॥

अथात्मपरमात्मविषयमाह।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
५२६. अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो देवो देवेभिः समपृक्त रसम्।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सुतः पवित्रं पर्येति रेभन् मितेव सद्म पशुमन्ति होता ॥४॥[1]

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्य प्रेषा हेमना पूयमानः। देवः देवेभिः सम् अपृक्त रसम् ॥
३ २ ३ १ २ १ २ ३ ३ १ २ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १
सुतः पवित्रम् परि एति रेभन्। मिता इव सद्म पशुमन्ति होता ॥४॥

पदार्थः—**अस्य** सौम्यज्योतिषः परमात्मनः **प्रेषा** प्रेरणया **हेमना** ज्योतिषा च। अत्र हेम्ना इति प्राप्ते सर्वेषां विधीनां छन्दसि विकल्पनात् 'अल्लोपोऽनः' इति प्राप्तः अकारलोपो न भवति। **पूयमानः** पवित्रीक्रियमाणः **देवः** द्योतमानः आत्मा **देवेभिः** मनःसहितैः ज्ञानेन्द्रियैः सह संभूय **रसम्** आनन्दम् **समपृक्त** स्वात्मनि संपृणक्ति। **सुतः** ध्यानद्वारा अभिषुतः परमात्मसोमः **रेभन्** कर्तव्यमुपदिशन्। रेभृ शब्दे भ्वादिः। **पवित्रम्** मनोरूपं दशापवित्रम् **पर्येति** परिगच्छति, **इव** यथा **होता** होतृनामकः ऋत्विक् **पशुमन्ति** पशुयुक्तानि **मिता** मितानि निर्मितानि **सद्म** सद्मानि गृहाणि पयोघृताद्यानयनाय गच्छति तद्वत्। मिता, सद्म इत्युभयत्र 'शेश्छन्दसि बहुलम्' अ० ६।१।७० इति शसः शेर्लोपः ॥४॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥४॥

भावार्थः—उपासकानामन्तःकरणे प्रकटितः परमेश्वरस्तान् पवित्रांस्तेजस्विनश्च विदधाति ॥४॥

अगले मन्त्र में आत्मा और परमात्मा का विषय वर्णित है।

पदार्थ—**अस्य** इस सौम्य ज्योति वाले सोम परमात्मा की **प्रेषा** प्रेरणा से, और **हेमना** ज्योति से **पूयमानः** पवित्र किया जाता हुआ **देवः** द्युतिमान् आत्मा **देवेभिः** मनसहित ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर **रसम्** आनन्द को **समपृक्त** अपने अन्दर संपृक्त करता है। **सुतः** ध्यान द्वारा अभिषुत परमात्मारूप सोम **रेभन्** कर्तव्य का उपदेश करता हुआ **पवित्रम्** पवित्र मन में **पर्येति** पहुँचता है, **इव** जैसे **होता** होता नामक ऋत्विज् **पशुमन्ति** पशु-युक्त **मिता** निर्मित **सद्म** गो-सदनों में दूध, घृत आदि लाने के लिए जाता है ॥४॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥४॥

भावार्थ—उपासकों के अन्तःकरण में प्रकट हुआ परमेश्वर उन्हें पवित्र और तेजस्वी बना देता है ॥४॥

---

१. ऋ० ९।९७।१, साम० १३९९।

अथ परमात्मनः सर्वजनकत्वमाह ।

५२७. सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥५॥[1]
सोमः पवते जनिता मतीनाम् । जनिता दिवः जनिता पृथिव्याः ॥
जनिता अग्नेः जनिता सूर्यस्य । जनिता इन्द्रस्य जनिता उत विष्णोः ॥५॥

पदार्थः—**सोमः** सर्वोत्पादकः, रसागारः, चन्द्रवत् कमनीयः परमेश्वरः **पवते** हृदयानि पुनाति, यः **मतीनाम्** मनीषाणाम् **जनिता** उत्पादकः, **दिवः** द्युलोकस्य मनोमयकोशस्य वा **जनिता** उत्पादकः, **पृथिव्याः** भूलोकस्य, अन्नमयकोशस्य वा **जनिता** उत्पादकः, **अग्नेः** वह्नेः वाचो, वा । वागेवाग्निः । श० ३।२।२।१३ । **जनिता** उत्पादकः, **सूर्यस्य** आदित्यस्य, चक्षुषो वा । आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाअक्षिणी प्राविशत् । ऐ० उ० २।४ । **जनिता** उत्पादकः, **इन्द्रस्य** वायोः, प्राणमयकोशस्य वा । यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः । श० ४।१।३।१९ । प्राण एवेन्द्रः । श० १२।९।१।१४ । **जनिता** उत्पादकः, **उत** अपि च **विष्णोः** यज्ञस्य । यज्ञो वै विष्णुः । श० १।१।२।१३ । **जनिता** उत्पादकः वर्तते । जनयिता इति प्राप्ते 'जनिता मन्त्रे' अ० ६।४।५३ इति णिलोपो निपात्यते ॥५॥

ऋचमिमां निरुक्तकार एवं व्याचष्टे—सोमः पवते । सोमः सूर्यः प्रसवनात् जनयिता मतीनां प्रकाशनकर्मणामादित्यरश्मीनां, दिवो द्योतनकर्मणामादित्यरश्मीनां, अग्नेर्गतिकर्मणामादित्यरश्मीनां, सूर्यस्य स्वीरणकर्मणामादित्यरश्मीनाम्, इन्द्रस्य ऐश्वर्यकर्मणामादित्यरश्मीनां, विष्णोर्व्याप्तिकर्मणामादित्यरश्मीनाम् इत्यधिदैवतम् । अथाध्यात्मम्—सोम आत्मापि एतस्मादेव इन्द्रियाणां जनिता इत्यर्थः । अपि वा सर्वाभिर्विभूतिभिः विभूततम आत्मा इति आत्मगतिमाचष्टे । (निरु० १४।१२) ॥

मुहुर्मुहुः 'जनिता' इति कथनाद् अन्येषामपि बहूनां पदार्थानां जनकत्वं सूच्यते । लाटानुप्रासोऽलङ्कारः । कुवलयानन्दानुसरणे तु आवृत्तिदीपकालङ्कारः[2] ॥५॥

भावार्थः—सर्वोत्पादकेन परमात्मनैव ब्रह्माण्डस्य सूर्यचन्द्रवायुविद्युदादीनि शरीरपिण्डस्य च प्राण-मनोबुद्धिवाक्चक्षुःश्रोत्रादीनि रचितानि सन्ति, तन्निर्माणे कस्यचिन्मनुष्यस्य सामर्थ्याभावात् ॥५॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के सर्वजनकत्व का वर्णन है ।

पदार्थ—**सोमः** सर्वोत्पादक, रसागार और चन्द्रमा के समान कमनीय परमेश्वर **पवते** हृदयों को पवित्र करता है, जो **मतीनाम्** बुद्धियों का **जनिता** उत्पादक है, **दिवः** द्युलोक का तथा मनोमय कोश का **जनिता** उत्पादक है, **पृथिव्याः** भूलोक का तथा अन्नमयकोश का **जनिता** उत्पादक है, **अग्नेः** आग का तथा वाणी का **जनिता** उत्पादक है, **सूर्यस्य** सूर्य का तथा चक्षु का **जनिता** उत्पादक है, **इन्द्रस्य** वायु का तथा प्राणमयकोश का **जनिता** उत्पादक है, **उत** और **विष्णोः** यज्ञ का **जनिता** उत्पादक है ॥५॥

इस मन्त्र में पुनः-पुनः 'जनिता' कहने से यह सूचित होता है कि इसी प्रकार अन्य भी अनेक पदार्थों का जनिता है । लाटानुप्रास अलंकार है । कुवलयानन्द का अनुसरण करने पर आवृत्तिदीपक अलंकार है ॥५॥

भावार्थ—सर्वोत्पादक परमात्मा ने ही ब्रह्माण्ड के सूर्य, चन्द्र, वायु, विद्युत् आदि और शरीर-पिण्ड के प्राण, मन, बुद्धि, वाक्, चक्षु, श्रोत्र आदि रचे हैं, क्योंकि उनकी रचना करना किसी मनुष्य के सामर्थ्य में नहीं है ॥५॥

---

१. ऋ० ९।९६।५, साम० ९४३ ।

२. 'माद्यन्ति चातकास्तृप्ता माद्यन्ति च शिखावलाः' (कु० ५०) इतिवत् ।

अथ कीदृशः परमात्मा किं करोतीत्याह ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५२८. अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामङ्गोषिणमवावशन्त वाणीः ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वना वसानो वरुणो न सिन्धुर्वि रत्नधा दयते वार्याणि ॥६॥[1]

३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अभि त्रिपृष्ठम् त्रि पृष्ठम् वृषणम् वयोधाम् वयः धाम् । अङ्गोषिणम्
३ १ २ १ २ १ २ १ २ १ २ १ २
अवावशन्त वाणीः ॥ वना वसानः वरुणः न सिन्धुः ।
३ २ ३ २ ३ १ २ १ २
वि रत्नधाः रत्न धाः दयते वार्याणि ॥६॥

पदार्थः—**त्रिपृष्ठम्**[2] त्रीणि ऋग्यजुःसामरूपाणि, पृथिव्यन्तरिक्षद्युरूपाणि, अग्निवाय्वादित्यरूपाणि, सत्त्वरजस्तमोरूपाणि, मनःप्राणात्मरूपाणि वा पृष्ठानि यस्य तम्, **वृषणम्** सुखादीनां वर्षकम् **वयोधाम्**[3] आयुष्प्रदातारम्, **अङ्गोषिणम्**[4] अङ्गे अङ्गे निवसन्तं स्तुत्यं वा परमात्मरूपं सोमम् । अङ्गपूर्वाद् वस धातोरिनि प्रत्यये सम्प्रसारणे रूपम् । यद्वा आङ्गूषः स्तोमः तद्वन्तं स्तुत्यमित्यर्थः । 'आङ्गूषः स्तोमः आघोषः' इति यास्कः । निरु० ५।११ । **वाणीः** वेदवाण्यः । जसि छान्दसः पूर्वसवर्णदीर्घः । **अभि अवावशन्त**[5] भृशं गायन्ति । वाशृ शब्दे इति धातोः यङ्लुकि छान्दसं रूपम् । **वरुणः न** सूर्यः इव **वना** तेजोरश्मीन् । वनमिति रश्मिनाम । निघं० १।५ । **वसानः** धारयन् स परमात्मा, **रत्नधाः** रत्नप्रदाता **सिन्धुः** समुद्रः इव इति लुप्तोपमम् **वार्याणि** वरणीयानि रत्नानि भौतिकाध्यात्मिकानि **विदयते** विशेषेण ददाति । दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु भ्वादिः ॥६॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥६॥

भावार्थः—सूर्य इव समुद्र इव च तेजसां रत्नानां च निधिः परमेश्वरस्तेजांसि रत्नानि च प्रदाय सर्वान् सुसमृद्धान् करोति ॥६॥

अगले मन्त्र में कैसा परमात्मा क्या करता है इसका वर्णन है ।

पदार्थ—**त्रिपृष्ठम्** ऋग्-यजुः-साम रूप, पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ रूप, अग्नि-वायु-आदित्य रूप, सत्त्व-रजस्-तमस् रूप और मन-प्राण-आत्मा रूप तीन पृष्ठों वाले, **वृषणम्** सुख आदि के वर्षक, **वयोधाम्** आयु प्रदान करने वाले, **अङ्गोषिणम्** अंग-अंग में निवास करने वाले अथवा स्तुति-योग्य परमात्मा का **वाणीः** वेदवाणियाँ **अभि अवावशन्त** गान करती हैं । **वरुणः न** सूर्य के समान **वना** तेज की किरणों को **वसानः** धारण करता हुआ वह परमात्मा **रत्नधाः** रत्नप्रदाता **सिन्धुः** समुद्र के समान **वार्याणि** वरणीय भौतिक एवं आध्यात्मिक रत्नों को **वि दयते** विशेष रूप से प्रदान करता है ॥६॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥६॥

भावार्थ—सूर्य के समान तेजों का और समुद्र के समान रत्नों का भण्डार परमेश्वर तेजों तथा रत्नों को प्रदान कर सबको समृद्ध करता है ॥६॥

---

१. ऋ० ९।९०।२ 'मङ्गोषिण' 'सिन्धुर्' इत्यत्र क्रमेण 'माङ्गूषाणा' 'सिन्धून्' इति पाठः । साम १४०८ ।

२. त्रिपृष्ठम् त्रीणि पृष्ठानि सवनानि लोकाः देवाः वेदा वा—इति वि० । त्रिपृष्ठं त्रिस्थानम्, सवनानि त्रीणि द्रोणकलशपूतभृदाहवनीयाख्यानि वा स्थानानि—इति भ० ।

३. वयोधाम् अन्नानां दातारं यशसां वा—इति वि० ।

४. अङ्गोषिणं मतिसमूहम्—इति वि० । आघोषिणम्—इति भ० । आघोषन्तं सोमम्—इति सा० ।

५. अवावशन्त कामयन्ते शब्दायन्ते वा—इति सा० ।

अथ सोमनाम्ना पर्जन्यं परमात्मानं च वर्णयति ।

५२९. अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मञ्जनयन् प्रजा भुवनस्य गोपाः ।
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत् सोमो वावृधे स्वानो अद्रिः ॥७॥[1]

अक्रान् समुद्रः सम् उद्रः प्रथमे विधर्मन् वि धर्मन् । जनयन् प्रजाः प्र जाः
भुवनस्य गोपाः गो पाः ॥ वृषा पवित्रे अधि सानौ अव्ये ।
बृहत् सोमः वावृधे स्वानः अद्रिः अ द्रिः ॥७॥

पदार्थः—**प्रथमः** पर्जन्यपरः । **समुद्रः** उदकस्य पारावारः मेघः **प्रथमे** श्रेष्ठे **विधर्मन्** विधर्मणि विशेषेण धारके अन्तरिक्षे । अत्र "सुपां सुलुक्०" अ० ७।१।३९ इति विभक्तेर्लुक् । **अक्रान्**[2] क्रामति, व्याप्नोति । **प्रजाः** वृक्षवनस्पत्यादिरूपाः **जनयन्** उत्पादयन् सः **भुवनस्य** भूतलस्य **गोपाः** रक्षको जायते । **वृषा** वर्षकः **स्वानः** भूमिं स्नपयन् । षुञ् अभिषवे, णिगर्भः । **अद्रिः** मेघरूपः । अद्रिरिति मेघनाम । निरु० १।१० । **सोमः** सोमः **पवित्रे** पूते **अव्ये** अविमये पार्थिवे इत्यर्थः । इयं **पृथिवी** वा अविः इयं हीमाः सर्वाः प्रजा अवति । श० ६।१।२।३३ । **सानौ**[3] **अधि** पर्वतशृङ्गे **बृहत्** बहु **वावृधे** वर्धते । वृधु वर्द्धने, लिटि 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' अ० ६।१।७ इत्यभ्यासस्य दीर्घः ॥

अथ **द्वितीयः** परमात्मपरः । **समुद्रः** शक्तेः पारावारः परमेश्वरः **प्रथमे** श्रेष्ठे **विधर्मन्** विधर्मणि विशेषेण जडचेतनानां धारके ब्रह्माण्डे **अक्रान्** पदं निधत्ते, व्याप्नोति । **प्रजाः** जडचेतनरूपाः **जनयन्** उत्पादयन् सः **भुवनस्य** जगतः **गोपाः** रक्षको भवति । **वृषा** सद्गुणानां सेचकः, अन्तरिक्षस्थानाम् उदकानां वर्षको वा **स्वानः** सत्कर्मसु प्रेरयन् **अद्रिः** अविनश्वरः, न केनापि विदारयितुं शक्यः[4] **सोमः** स परमेश्वरः **पवित्रे** मेध्ये **अव्ये** अव्यये अविनाशिनि **सानौ अधि** उन्नते जीवात्मनि **बृहत्** बहु **वावृधे** वर्धते महिमानमाप्नोतीत्यर्थः । यतो जीवात्मनो महत्सु कार्येषु तस्यैव महिमा दरीदृश्यते ॥७॥

निरुक्तकार ऋचमिमाम् आदित्यपक्षे आत्मपक्षे[5] च व्याख्यातवान्—"अत्यक्रमीत् समुद्र आदित्यः परमे व्यवने वर्षकर्मणा जनयन् प्रजा भुवनस्य राजा सर्वस्य राजा । वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत् सोमो वावृधे सुवान इन्दुरित्यधिदैवतम् । अथाध्यात्मम्—अत्यक्रमीत् समुद्र आत्मा परमे व्यवने ज्ञानकर्मणा जनयन् प्रजा भुवनस्य राजा सर्वस्य राजा । वृषा पवित्रे अधिसानो अव्ये बृहत् सोमो वावृधे सुवान इन्दुरित्यात्मगतिमाचष्टे" (निरु० १४।१६) इति ।

अत्र पर्जन्यपरमेश्वरयोर्द्वयोरर्थयोर्वर्णनाच्छ्लेषोऽलङ्कारः । द्वयोश्चोपमानोपमेयभावो ध्वन्यते ॥७॥

भावार्थः—यथाऽगाधजलराशिर्मेघोऽन्तरिक्षं व्याप्नोति तथा परमेश्वरः सकलं ब्रह्माण्डं व्याप्नोति । यथा मेघो वर्षित्वा वृक्षवनस्पतीन् जनयति तथा परमेश्वरो जडचेतनान् सर्वान् पदार्थान् जनयति । यथा

१. ऋ० ९।९७।४० 'गोपाः', 'स्वानो अद्रिः' अत्र क्रमेण 'राजा', 'सुवान इन्दुः' इति पाठः । साम० १२५३ ।
२. अक्रान् सर्वमतिक्रामति । क्रमतेर्लुङि, तिपि, इडभावे वृद्धौ च कृतायां सिज्लोपे भकारस्य 'मो नो धातो' रिति नकारे रूपम्—इति सा० ।
३. नौ । ऋक्तन्त्रप्रातिशाख्यम् १०।१० । नौ शब्दश्च ह्रस्वे अकारे प्रत्यये ओ भवति । सानौ अव्ये—'वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये' । अकार इति किम् ? अश्विनौ ऋषिः—'स्तोता वामश्विनावृषिः' । इति विवरणम् ।
४. पदपाठे 'अ-द्रि' इति च्छेदात् नञ्पूर्वो दृ विदारणे धातुरत्र बोध्यः । न दीर्यते दार्यते वा केनचिद् यः सोऽद्रिः ।
५. विवरणकारोऽपि आदित्यपक्षे आत्मपक्षे च व्याचष्टे—"अतीत्य गच्छत्युदयादस्तं सदा समुद्रः आदित्यः···अद्रिः आदित्य आदरणः ।···समुद्रः आत्मा अभिद्रवन्ते तं भूतानि" इत्यादि ।

मेघो भूतलस्य रक्षकस्तथा परमेश्वरः सर्वेषां भुवनानां रक्षकः। यथा मेघः पर्वतानां सानुषु विस्तारमाप्नोति तथा परमेश्वरो जनानामात्मसु ॥७॥

अगले मन्त्र में सोम नाम से मेघ और परमात्मा का वर्णन है।

पदार्थ—**प्रथम** मेघ के पक्ष में। **समुद्रः** जलों का पारावार मेघ **प्रथमे** श्रेष्ठ **विधर्मन्** विशेष धारण-कर्ता अन्तरिक्ष में **अक्रान्** व्याप्त होता है। **प्रजाः** वृक्ष, वनस्पति आदि रूप प्रजाओं को **जनयन्** उत्पन्न करता हुआ वह **भुवनस्य** भूतल का **गोपाः** रक्षक होता है। **वृषा** वर्षा करने वाला, **स्वानः** स्नान कराता हुआ **अद्रिः** मेघरूप **सोमः** सोम **पवित्रे** पवित्र **अव्ये** पार्थिव **सानौ अधि** पर्वत-शिखर पर **बृहत्** बहुत **वावृधे** वृद्धि को प्राप्त करता है ॥

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। **समुद्रः** शक्ति का पारावार परमेश्वर **प्रथमे** श्रेष्ठ, **विधर्मन्** विशेष रूप से जड़-चेतन के धारक ब्रह्माण्ड में **अक्रान्** व्याप्त है, **प्रजाः** जड़-चेतन प्रजाओं को **जनयन्** जन्म देता हुआ वह **भुवनस्य** जगत् का **गोपाः** रक्षक है। **वृषा** सद्गुणों की अथवा अन्तरिक्षस्थ जलों की वर्षा करने वाला, **स्वानः** सत्कर्मों में प्रेरित करता हुआ, **अद्रिः** अविनश्वर **सोमः** वह परमात्मा **पवित्रे** पवित्र **अव्ये** अव्यय अर्थात् अविनाशी **सानौ अधि** उन्नत जीवात्मा में **बृहत्** बहुत **वावृधे** महिमा को प्राप्त है, क्योंकि जीवात्मा द्वारा किये जाने वाले महान् कार्यों में उसी की महिमा दृष्टिगोचर होती है ॥७॥

इस मन्त्र में मेघ और परमेश्वर दो अर्थों का वर्णन होने से श्लेषालंकार है। दोनों अर्थों का उपमानोपमेयभाव भी ध्वनित हो रहा है ॥७॥

भावार्थ—जैसे अगाध जलराशि वाला मेघ अन्तरिक्ष में व्याप्त होता है, वैसे परमेश्वर सकल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। जैसे मेघ बरसकर वृक्ष, वनस्पति आदियों को उत्पन्न करता है, वैसे परमेश्वर जड़-चेतन सब पदार्थों को उत्पन्न करता है। जैसे मेघ भूतल का रक्षक है, वैसे परमेश्वर सब भुवनों का रक्षक है। जैसे मेघ पर्वतों के शिखरों पर विस्तार प्राप्त करता है, वैसे परमेश्वर मनुष्यों के आत्माओं में ॥७॥

अथ हरिनाम्ना सोमौषधिं परमात्मानं च वर्णयति।

५३०. कनिक्रन्ति हरिरा सृज्यमानः सीदन् वनस्य जठरे पुनानः।
नृभिर्यतः कृणुते निर्णिजं गामतो मतिं जनयत स्वधाभिः ॥८॥[1]

कनिक्रन्ति हरिः आ सृज्यमानः। सीदन् वनस्य जठरे पुनानः॥
नृभिः यतः कृणुते निर्णिजम् निः निजम् गाम्।
अतः मतिम् जनयत स्वधाभिः स्व धाभिः ॥८॥

पदार्थः—**प्रथमः** सोमौषधिपरः। **हरिः** हरितवर्णः सोमः। हरिः सोमो हरितवर्णः इति निरुक्तम्। ४।१९। **आसृज्यमानः** द्रोणकलशे विसृज्यमानः **कनिक्रन्ति**[2] शब्दायते। **वनस्य** अरण्यस्य **जठरे** मध्ये **सीदन्** तिष्ठन् सः **पुनानः** वायुमण्डलं पवित्रं कुर्वन् भवति। **नृभिः** यज्ञस्य नेतृभिः ऋत्विग्भिः **यतः** नियन्त्रितः स सोमः। यम उपरमे, निष्ठायां रूपम्। **गाम्** गव्यं पयः। अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति।

---

१. ऋ० ९।९५।१ 'निर्णिजं गा अतो मतीर्जनयत' इति पाठः।

२. कृन्दतेर्यङ्लुकि तिपि इडभावे 'दाधर्तिदर्धर्ती'त्यादिना निपातनादभ्यासस्य निगागमः। अभ्यस्तस्वरः—इति सा०।

'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' इति पयसः, इति निरुक्तम् २।५ । **निर्णिजम्** स्वसंयोगेन पुष्टम् णिजिर् शौच-पोषणयोः । **कृणुते** करोति । **अतः** अस्मात् कारणात् हे यजमानाः ! यूयम् **स्वधाभिः** हविर्लक्षणैः अन्नैः सह, सोमयागं प्रति **मतिम्** बुद्धिम् **जनयत** कुरुत, सोमयज्ञनिष्पादने रुचिं कुरुतेत्यर्थः ॥

अथ **द्वितीयः** परमात्मपरः । **हरिः** पापहरणशीलः परमेश्वरः **आ सृज्यमानः** मनुष्यस्य जीवात्मना सह संसृज्यमानः सन् **कनिक्रन्ति** शब्दायते, कर्तव्यकर्माण्युपदिशतीति भावः । **वनस्य** कमनीयस्य स्वसुहृदो जनस्य । वनतिः कान्तिकर्मा । **जठरे** हृदभ्यन्तरे **सीदन्** उपविशन् सः **पुनानः** पवित्रतां कुर्वन् भवति । **नृभिः** उपासकैर्जनैः **यतः** हृदये निगृहीतः सन् **गाम्** इन्द्रियसमूहम् **निर्णिजम्** शुद्धं **कृणुते** करोति । **अतः** अस्मात् कारणात्, हे जनाः ! यूयम् **स्वधाभिः** स्वात्मसमर्पणैः सह, तं परमेश्वरं प्रति **मतिम्** स्तुतिम् **जनयत** प्रकटीकुरुत ॥८॥

अत्र श्लेषालङ्कारः । उपमानोपमेयभावश्च व्यज्यते ॥८॥

भावार्थः—यथा द्रोणकलशं प्रविशन् सोमः शब्दायते तथैव मनुष्यस्यात्मानमुपगतः परमेश्वरः कर्तव्यमुपदिशति । यथा गव्येन पयसा संसक्तः सोमस्तत् पयः पुष्टियुक्तं करोति तथा हृदये निगृहीतः परमेश्वरः इन्द्रियसमूहं पुष्टं निर्मलं च विधत्ते । अतः परमेश्वरं प्रति सर्वैः स्तुतिगीतानि गातव्यानि ॥८॥

अगले मन्त्र में हरि नाम से सोम ओषधि और परमात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ—**प्रथम** सोम ओषधि के पक्ष में । **हरिः** हरे रंग का सोम **आ सृज्यमानः** द्रोणकलश में छोड़ा जाता हुआ **कनिक्रन्ति** शब्द करता है । **वनस्य** जंगल के **जठरे** मध्य में **सीदन्** स्थित वह **पुनानः** वायुमण्डल को पवित्र करता है । **नृभिः** यज्ञ के नेता ऋत्विजों से **यतः** पकड़ा हुआ वह सोम **गाम्** गोदुग्ध को **निर्णिजम्** अपने संयोग से पुष्ट **कृणुते** करता है । **अतः** इस कारण, हे यजमानो ! तुम **स्वधाभिः** हवि-रूप अन्नों के साथ, सोमयाग के प्रति **मतिम्** बुद्धि **जनयत** उत्पन्न करो, अर्थात् सोमयाग के निष्पादन में रुचि लो ॥

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में । **हरिः** पापहारी परमेश्वर **आसृज्यमानः** मनुष्य के जीवात्मा के साथ संयुक्त होता हुआ **कनिक्रन्ति** कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश करता है । **वनस्य** चाहनेयोग्य अपने मित्र उपासक मनुष्य के **जठरे** हृदय के अन्दर **सीदन्** बैठा हुआ वह **पुनानः** पवित्रता देता रहता है । **नृभिः** उपासक जनों से **यतः** हृदय में नियत किया हुआ वह **गाम्** इन्द्रिय-समूह को **निर्णिजम्** शुद्ध **कृणुते** करता है । **अतः** इस कारण, हे मनुष्यो ! तुम **स्वधाभिः** आत्मसमर्पणों के साथ, उस परमेश्वर के प्रति **मतिम्** स्तुति **जनयत** प्रकट करो ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । उपमानोपमेयभाव गम्य है ॥८॥

भावार्थ—जैसे द्रोणकलश में पड़ता हुआ सोम टप-टप शब्द करता है, वैसे ही मनुष्यों के आत्मा में उपस्थित परमेश्वर कर्तव्य का उपदेश करता है । जैसे गोदुग्ध से मिलकर सोम उस दूध को पुष्ट करता है, वैसे हृदय में निगृहीत किया परमेश्वर इन्द्रियों को पुष्ट और निर्मल करता है । अतः परमेश्वर के प्रति सबको स्तुतिगीत गाने चाहिएँ ॥८॥

अथ परमात्मन आनन्दरसं वर्णयति ।

३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
५३१. एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमो वृषा वृष्णः परि पवित्रे अक्षाः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३क २१
सहस्रदाः शतदा भूरिदावा शश्वत्तमं बर्हिरा वाज्यस्थात् ॥९॥[1]

१. ऋ० ९।८७।४, 'वृष्णः', 'सहस्रदाः शतदा' इत्यत्र क्रमेण 'वृष्णे' 'सहस्रसाः, शतसा' इति पाठः ।

३ २ ३ १ २ १ ३ १ २ १ १ २ १ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २
एषः स्यः ते मधुमान् इन्द्र सोमः । वृषा वृष्णः परि पवित्रे अक्षारिति ॥
३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १
सहस्रदाः सहस्र दाः शतदाः शत दाः भूरिदावा भूरि दावा ।
३ २ ३ २ ३ २ ३
शश्वत्तमम् बर्हिः आ वाजी अस्थात् ॥९॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! **वृष्णः** वर्षकस्य **ते** तव **एषः** अयम् **स्यः** सः प्रख्यातः **वृषा** शक्तिवर्षकः, **मधुमान्** माधुर्योपेतः **सोमः** आनन्दरसः **पवित्रे** मदीये पावने हृदयरूपे द्रोणकलशे **परि अक्षाः** परिक्षरति । 'अक्षाः' इति क्षरतेर्लुङि तिपि रूपम् । **सहस्रदाः** सहस्रगुणानां प्रदाता, **शतदाः** शतबलानां प्रदाता । अत्र क्रमेण सहस्र-शतपूर्वाद् ददातेः कर्तरि क्विपि रूपम् । **भूरिदावा** बहुलाभप्रदः । भूर्ययुपपदाद् ददातेः 'आतो मनिन् क्वनिब्वनिपश्च । अ० ३।२।७४ इति वनिप् । **वाजी** वेगवान् सः आनन्दरसरूपः सोमः **शश्वत्तमम्** सनातनम् **बर्हिः** आत्मरूपं दर्भपात्रम् **आ अस्थात्** आतिष्ठति ॥९॥

अत्र वृष्णस्तव रसोऽपि वृषेति योग्यसमागमद्योतनाद् 'वृषा वृष्णः' इत्यत्र समालंकारो ध्वन्यते । 'वृषा, वृष्' इत्यत्र छेकानुप्रासः । 'दा' इत्यस्य त्रिश आवृत्तौ वृत्त्यनुप्रासः ॥९॥

भावार्थः—यथा मधुररसभरितः सोमः पवित्रे द्रोणकलशे क्षरति तथा परमेश्वरस्य माधुर्योपेत आनन्दरसो हृदयद्रोणे क्षरति । यथा सोमरसः बहुशक्तिप्रदो भवति तथैष आनन्दरसोऽपि ॥९॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के आनन्दरस का वर्णन है ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवान् परमात्मन् ! **वृष्णः ते** तुझ वर्षक का **एषः** यह **स्यः** वह प्रसिद्ध, **वृषा** शक्तिवर्षक, **मधुमान्** मधुर **सोमः** आनन्दरस **पवित्रे** मेरे पवित्र हृदयरूप द्रोणकलश में **परि अक्षाः** झर रहा है । **सहस्रदाः** सहस्र गुणों का प्रदाता, **शतदाः** शत बलों का प्रदाता, **भूरिदावा** बहुत से लाभों को देने वाला, **वाजी** वेगवान् आनन्दरस-रूप सोम **शश्वत्तमम्** सनातन **बर्हिः** आत्मा रूप दर्भपात्र में **आ अस्थात्** आकर स्थित हो गया है ॥९॥

इस मन्त्र में 'तुझ वृषा का रस भी वृषा है', इस प्रकार योग्य समागम की सूचना होने से समालंकार ध्वनित होता है । 'वृषा, वृष्' में छेकानुप्रास है । 'दा' की तीन बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ॥९॥

भावार्थ—जैसे मधुर रस से भरा सोम पवित्र द्रोणकलश में क्षरित होता है, वैसे ही परमेश्वर का मधुर आनन्दरस हृदय-रूप द्रोणकलश में झरता है । जैसे सोमरस बहुशक्तिप्रद होता है, वैसे ही आनन्दरस भी ॥९॥

अथ परमात्मरूपं सोममाह ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ १ ३ २ ३ २ ३ १ २
५३२. **पवस्व सोम मधुमाँ ऋतावापो वसानो अधि सानो अव्ये ।**
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अव द्रोणानि घृतवन्ति रोह मदिन्तमो मत्सर इन्द्रपानः ॥१०॥[1]
१ २ १ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ २ १ २ १ १ २ १ १ २ १ १ २ १
पवस्व सोम मधुमान् ऋतावा । अपः वसानः अधि सानौ अव्ये ॥
१ २ १ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १
अव द्रोणानि घृतवन्ति रोह । मदिन्तमः मत्सरः इन्द्रपानः इन्द्र पानः ॥१०॥

पदार्थः—हे **सोम** रसागार परमात्मन् ! **मधुमान्** मधुमयानन्दरसोपेतः, **ऋतावा** सत्यवान् त्वम् । अत्र ऋतशब्दात् 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ' अ० ५।२।१०९ इति वनिप् । 'अन्येषामपि दृश्यते' अ०

१. ऋ० ९।९६।१३ 'घृतवन्ति रोह' इत्यत्र 'घृतवान्ति सीद' इति पाठः ।

६।३।१३७ इति ऋताऽकारस्य दीर्घः । **पवस्व** अस्मान् प्रति परिस्रव, अस्मान् पुनीहि वा । **अपः** अस्माकं कर्माणि **वसानः** स्वात्मना आच्छादयन् **अव्ये** अव्यये अविनाशिनि **सानौ**[1] उन्नते आत्मनि **अधि** अधिरोह । **मदिन्तमः** अतिशयेन आनन्दमयः, **मत्सरः** आनन्दप्रदः, **इन्द्रपानः** इन्द्रेण जीवात्मना पातव्यः त्वम् **घृतवन्ति**[2] तेजोमयानि **द्रोणानि** इन्द्रियमनःप्राणरूपान् द्रोणकलशान् **अवरोह** अवाप्नुहि ॥१०॥

भावार्थः—श्लेषेण सोमौषधिपक्षेऽपि योजनीयम् । परमात्मा सोमौषधिवद् मधुररसागारो विद्यते । यथा सोमौषधिरसो जलैः संसृज्य अविबालमये पवित्रे परिस्रुतः सन् द्रोणकलशानवरोहति तथा परमात्मसोमोऽस्माकं कर्मभिः संसृज्यात्मरूपे पवित्रे परिस्रुत इन्द्रियमनःप्राणरूपान् द्रोणकलशानवरोहति ॥१०॥

अत्रापि सोमस्य परमात्मनः ततोऽभिषुतस्यानन्दरसस्य च वर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्तीति वेद्यम् ॥

इति षष्ठे प्रपाठके प्रथमार्धे चतुर्थी दशतिः ।
इति पञ्चमेऽध्याये षष्ठः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में परमात्मा-रूप सोम को कहा जा रहा है ।

पदार्थ—हे **सोम** रसागार परमात्मन् ! **मधुमान्** मधुर आनन्द से युक्त, **ऋतावा** सत्यमय आप **पवस्व** हमारे प्रति झरो अथवा हमें पवित्र करो । **अपः** हमारे कर्मों को **वसानः** आच्छादित करते हुए आप **अव्ये** अविनाशी **सानौ** उन्नत आत्मा में **अधि** अधिरोहण करो । **मदिन्तमः** अतिशय आनन्दमय, **मत्सरः** आनन्दप्रद, **इन्द्रपानः** जीवात्मा से पान किये जाने योग्य आप **घृतवन्ति** तेजोमय **द्रोणानि** इन्द्रिय, मन, प्राण रूप द्रोणकलशों में **अवरोह** अवरोहण करो ॥१०॥

भावार्थ—यहाँ श्लेष से सोम ओषधि के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए । परमात्मा सोम ओषधि के सदृश मधुर रस का भण्डार है । जैसे सोम ओषधि का रस जलों से मिलकर भेड़ के बालों से बने दशापवित्र में परिस्रुत होकर द्रोणकलशों में जाता है, वैसे ही परमात्मा हमारे कर्मों से संसृष्ट होकर आत्मा में परिस्रुत हो इन्द्रिय, मन, प्राण रूप द्रोणकलशों में अवरोहण करता है ॥१०॥

इस दशति में भी सोम परमात्मा तथा उससे अभिषुत आनन्दरस का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ।

षष्ठ प्रपाठक, प्रथम अर्ध में चतुर्थ दशति समाप्त ।
पंचम अध्याय में षष्ठ खण्ड समाप्त ॥

---

१. ऋग्वेदिनः सामवेदिनश्चोभयेऽपि 'सानो अव्ये' इत्यस्य 'सानौ अव्ये' इति पदपाठमामनन्ति । द्रष्टव्या, ५२९ मन्त्रभाष्ये टिप्पणी ।

२. घृतवन्ति उदकवन्ति—इति वि० । दीप्तिमन्ति—इति भ० ।

॥५॥ अथ 'प्र सेनानीः' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ प्रतर्दनः; २, १० पराशरः शाक्त्यः; ३ इन्द्रप्रमतिर्वासिष्ठः; ४ वसिष्ठो मैत्रावरुणः, ५ मृडीको वासिष्ठः; ६ नोधा गौतमः; ७ कण्वो घौरः; ८ मन्युर्वासिष्ठः; ९ कुत्स आङ्गिरसः; ११ कश्यपो मारीचः; १२ प्रस्कण्वः काण्वः ॥ देवता—पवमानः सोमः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

तत्रादौ सोमं परमात्मानं सेनानीत्वेन वर्णयति ।

५३३. प्र सेनानीः शूरो अग्रे रथानां गव्यन्नेति हर्षते अस्य सेना ।
भद्रान् कृण्वन्निन्द्रहवान्त्सखिभ्य आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते ॥१॥[1]

प्र सेनानीः सेना नः शूरः अग्रे रथानाम् । गव्यन् एति हर्षते अस्य सेना ॥
भद्रान् कृण्वन् इन्द्रहवान् इन्द्र हवान् सखिभ्यः स खिभ्यः ।
आ सोमः वस्त्रा रभसानि दत्ते ॥१॥

पदार्थः—**सेनानीः** देवजनानां सेनापतिः **शूरः** वीरः सोमः परमेश्वरः **गव्यन्** गाः दिव्यान् प्रकाश-किरणान् प्रापयितुमिच्छन् । अत्र छन्दसि परेच्छायां क्यच् । **रथानाम्** शरीररथारोहिणां जीवात्मरूपाणां योद्धृणाम् । अत्र लक्षणया रथैः रथारोहिणो गृह्यन्ते । **अग्रे**[2] अग्रपदे **प्र एति** प्रकृष्टतया याति, अतः **अस्य** सोमस्य परमेश्वरस्य **सेना** देवसेना **हर्षते** मोदते, उत्सहते । **सखिभ्यः** सुहृद्भ्यः स्वोपासकेभ्यः **इन्द्रहवान्** रक्षां प्राप्तुम् इन्द्रं वीरं सेनापतिं राजानं वा उद्दिश्य ये हवाः यानि आह्वानानि क्रियन्ते ते इन्द्रहवा इत्युच्यन्ते तान् **भद्रान्** सुखजनकान् **कृण्वन्** कुर्वन् तेषामाह्वानानि सफलयन्नित्यर्थः **सोमः** वीररसपूर्णः परमेश्वरः **रभसानि** बलवेगादीनि **वस्त्रा** वस्त्राणि इव इति लुप्तोपमम्, **आदत्ते** गृह्णाति, यथा कश्चिच्छरीरे वस्त्राणि धारयति तथा वीरः परमेश्वरो नायकत्वं निर्वोढुं स्वात्मनि बलवेगादीनि धारयतीत्यर्थः ॥१॥

अत्र वीरो रसः । सोमे परमात्मनि सेनानीत्वारोपाद् रूपकालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—यथा कश्चिच्छूरः सेनापतिर्वीरोचितानि वस्त्राणि धारयन् रथारोहिणां सुभटानामग्रे गच्छंस्तान् प्रोत्साहयति स्वकीयां सेनां च हर्षयति तथैव परमेश्वरोऽपि वीरोचितानि बलवेगादीनि धारयन् मानसे देवासुरसंग्रामे सेनानीरिव भूत्वा दुर्विचाररूपान् शत्रून् हन्तुं दिव्यविचारांश्च वर्धयितुं देवजनान् समुत्साहयति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा का सेनानी रूप में वर्णन है ।

पदार्थ—**सेनानीः** देवजनों का सेनापति **शूरः** शूरवीर सोम नामक परमेश्वर **गव्यन्** दिव्य प्रकाश-किरणों को प्राप्त कराना चाहता हुआ **रथानाम्** शरीररथारोही जीवात्मारूप योद्धाओं के **अग्रे** आगे-आगे **प्र एति** चलता है, इस कारण **अस्य** इसकी **सेना** देवसेना **हर्षते** प्रमुदित एवं उत्साहित होती है । **सखिभ्यः** अपने सखा उपासकों के लिए **इन्द्रहवान्** सेनापति के प्रति की गयी पुकारों को **भद्रान्** भद्र **कृण्वन्** करता हुआ, अर्थात् उपासकों की पुकारों को सफल करता हुआ **सोमः** वीररसपूर्ण परमेश्वर **रभसानि** बल, वेग आदियों को **वस्त्रा** वस्त्रों के समान **आदत्ते** ग्रहण करता है, अर्थात् जैसे कोई वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही वीर परमेश्चर अपने सेनापतित्व का निर्वाह करने के लिए बल, वेग आदि को धारण करता है ॥१॥

---

१. ऋ० ९।९६।१ ।

२. संहितायां केषुचित् पुस्तकेषु अग्ने इति पाठः, तत्र स्वरो न संगच्छते ।

इस मन्त्र में वीररस है। सोम परमात्मा में सेनानीत्व का आरोप होने से रूपक अलंकार है ॥१॥

भावार्थ—जैसे कोई शूर सेनापति वीरोचित वस्त्रों को धारण कर रथारोही योद्धाओं के आगे-आगे चलता हुआ उन्हें प्रोत्साहित करता है और अपनी सेना को हर्षित करता है, वैसे ही परमेश्वर वीरोचित बल, वेग आदि को धारण करता हुआ मानसिक देवासुरसंग्राम में मानो सेनानी बनकर दुर्विचाररूप शत्रुओं का संहार करने के लिए और दिव्य विचारों को बढ़ाने के लिए देवजनों को समुत्साहित करता है ॥१॥

अथ पवमानस्य सोमस्य कृत्यं वर्णयति ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
५३४. प्र ते धारा मधुमतीरसृग्रन् वारं यत्पूतो अत्येष्यव्यम् ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
पवमान पवसे धाम गोनां जनयन्त्सूर्यमपिन्वो अर्कैः ॥२॥[1]

२ ३ १ २ १ १ २ १ ३ १ २ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ १ २ १
प्र ते धाराः मधुमतीः असृग्रन् । वारम् यत् पूतः अत्येषि अति एषि अव्यम् ॥
१ २ १ १ २ १ १ २ १ २ १ ३ १ २ १ २ ३ २
पवमान पवसे धाम गोनाम् । जनयन् सूर्यम् अपिन्वः अर्कैः ॥२॥

पदार्थः—हे सोम ! रसमय परमात्मन् ! **ते** तव **मधुमतीः** मधुराः **धाराः** प्रवाहसन्ततयः **प्र असृग्रन्** प्रसृष्टाः भवन्ति। अत्र सृज विसर्गे धातोर्लङर्थे लङि 'बहुलं छन्दसि' अ० ७।१।८ इति रुडागमः वर्णव्यत्ययेन जकारस्थाने गकारश्च। **यत्** यदा **पूतः** पवित्रः त्वम् **अव्यम्** पार्थिवम्, अन्नमयमित्यर्थः। इयं **पृथिवी** वा अविः। श० ६।१।२।३३। **वारम्** कोशम्। वारयति आवृणोतीति वारः कोशः, वृञ् आवरणे चुरादिः। **अत्येषि** अतिक्रामसि, अन्नमयकोशमतिक्रम्य क्रमेण प्राणमयं, मनोमयं, विज्ञानमयम् चापि कोशमतिक्राम्यन् आनन्दमयं कोशं यदाधितिष्ठसि, तदा ते मधुरा आनन्दधाराः शरीरे, प्राणे, मनसि, आत्मनि च प्रवहन्तीत्यर्थः। हे **पवमान** पावित्र्यसम्पादक जगदीश्वर ! त्वम् **गोनाम्** गवां पृथिव्यादिलोकानामिव इन्द्रिय-प्राणमनोबुद्ध्यात्मनाम् **धाम** स्थानम् **पवसे** पुनासि। पूङ् पवने, भ्वादिः। किञ्च **सूर्यम्**[2] गगनवर्तिनम् आदित्यमिव अध्यात्मप्रकाशस्य सूर्यम् **जनयन्** उत्पादयन्, तस्य **अर्कैः** किरणैः। सूर्यवाचकाः शब्दाः बहुवचने प्रयुक्ताः किरणार्थं गमयन्ति। **अपिन्वः** उपासकस्य आत्मानं सिञ्चसि। पिबि सेचने, लङर्थे लङ्। अत्र किरणैः सेचनासंभवात् पूरणार्थो लक्ष्यते, शान्तिप्रदत्वं च व्यङ्ग्यम्, उपासकस्यात्मानमध्यात्मसूर्यस्य किरणैर्निरतिशयं प्रपूर्य शान्तिं प्रयच्छसीत्यर्थः ॥२॥

भावार्थः—यथा यदा सोमरसः अविबालमयं दशापवित्रम् अतिक्रामति तदा तस्य मधुरा धारा द्रोणकलशं प्रति प्रवहन्ति, तथैव यदा परमेश्वरोऽन्नमयादिकोशानतिक्रम्यानन्दमयकोशमधितिष्ठति तदा तस्य मधुरा आनन्दधाराः शरीरस्य प्राणमनोबुद्ध्यात्मधामान्याप्लावयन्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में पवमान सोम का कार्य वर्णित किया गया है ।

पदार्थ—हे सोम ! हे रसमय परमात्मन् ! **ते** तेरी **मधुमतीः** मधुर **धाराः** धाराएँ **प्र असृग्रन्** प्रवाहित होती हैं, **यत्** जब **पूतः** पवित्र तू **अव्यम्** पार्थिव अर्थात् अन्नमय **वारम्** कोश को **अत्येषि** अतिक्रान्त

१. ऋ० ९।९७।३१ 'वारान् यत्पूतो अत्येष्यव्यान्' इति 'जज्ञानः सूर्यमपिन्वो अर्कैः' इति च पाठः।

२. यद्यप्यस्य मन्त्रस्य सोमौषधिपरोऽप्यर्थः संभवति, तथापि मन्त्रेषु यत्र तत्र कानिचिदेवंविधानि पदानि वाक्यांशा वाक्यानि वा समागच्छन्ति यानि सूचयन्ति यन्मन्त्रः स्थूलार्थ एव न पर्यवस्यति। यथाप्रस्तुते मन्त्रे 'जनयन् सूर्यम्' इति वाक्यांशः परमात्मपरमर्थं सङ्केतयति, यत ओषध्यात्मके सोमे सूर्यजननसामर्थ्यं नास्ति। सायणस्तु 'जनयन् जायमानः' इत्यसंभाविनमर्थमाविष्करोति, परं तथा कृतेऽप्यसंगतिस्तदवस्थैव, यतः 'जनयन् जायमानस्त्वम् अर्कैः अर्चनीयैः स्वतेजोभिः सूर्यम् आदित्यम् अपिन्वः पूरयसि' इति तदीयोऽप्यर्थः सोमौषधिपक्षे न संगच्छते।

करता है अर्थात् अन्नमयकोश को पार कर क्रमशः प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमयकोश को भी पार करता हुआ जब तू आनन्दमयकोश में अधिष्ठित हो जाता है तब तेरी मधुर आनन्दधाराएँ शरीर, प्राण, मन और आत्मा में प्रवाहित होने लगती हैं। हे **पवमान** पवित्रकारी जगदीश्वर! तू **गोनाम्** पृथिव्यादि लोकों के तुल्य इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, आत्मा के **धाम** धाम को **पवसे** पवित्र करता है और **सूर्यम्** आकाशवर्ती सूर्य के समान अध्यात्मप्रकाश के सूर्य को **जनयन्** उत्पन्न करता हुआ, उसकी **अर्कैः** किरणों से **अपिन्वः** उपासक के आत्मा को सींचता है, अर्थात् उपासक के आत्मा को अध्यात्मसूर्य की किरणों से अतिशय भरकर शान्ति प्रदान करता है ॥२॥

भावार्थ—जैसे सोमरस जब भेड़ों के बालों से निर्मित दशापवित्र में से पार होता है तब उसकी मधुर धाराएँ द्रोणकलश की ओर बहती हैं, वैसे ही जब परमेश्वर अन्नमय आदि कोशों को पार कर आनन्दमय कोश में अधिष्ठित हो जाता है, तब उसकी मधुर आनन्दधाराएँ शरीर, प्राण, मन, बुद्धि और आत्मा के धामों को आप्लावित कर देती हैं ॥२॥

अथ सोमं प्रति जनान् प्रेरयति।

१ २ ३क २१ ३१२ २१ ३१२ २१
५३५. प्र गायताभ्यर्चाम देवान्त्सोमं हिनोत महते धनाय।
३१ २ ३ २ ३ २ ३२ ३१ २ ३१ २ ३१२ २१
स्वादुः पवतामति वारमव्यमा सीदतु कलशं देव इन्दुः ॥३॥[1]
२ ३ २ ३ २ १२१ ३ २ १२१
प्र गायत अभि अर्चाम देवान्। सोमम् हिनोत महते धनाय॥
३२ ३ १२१ १२१ १२१ ३ १२ ३२ १२१
स्वादुः पवताम् अति वारम् अव्यम्। आ सीदतु कलशम् देवः इन्दुः ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमः** सोमौषधिपरः। हे सखायः! यूयम् **प्र गायत** वेदमन्त्रान् प्रकर्षेण गायत। वयम् **देवान्** यज्ञे समागतान् विदुषः **अभ्यर्चाम** सत्कुर्याम। यूयम् **महते** विपुलाय **धनाय** ऐश्वर्याय, यज्ञेन प्राप्तव्याय फलायेत्यर्थः **सोमम्** सोमरसम् **हिनोत** प्रेरयत। **स्वादुः** मधुरः सोमः **अव्यम्** अविजनितम् **वारम्** बालमयं दशापवित्रम् **अति पवताम्** अतिक्रम्य क्षरतु। **देवः** द्योतमानः सः **इन्दुः** सोमरसः **कलशम्** द्रोणकलशम् **आ सीदतु** आ तिष्ठतु।

अथ **द्वितीयः** परमात्मपरः। हे उपासकाः! यूयम् **प्र गायत** रसागारं सोमनामकं परमेश्वरमुद्दिश्य गीतानि प्रकर्षेण गायत। यूयं वयं च संभूय हृदि समागतान् **देवान्** सत्याहिंसादीन् दिव्यगुणान् **अभ्यर्चाम** सत्कुर्याय। यूयम् **महते** विपुलाय **धनाय** दिव्यैश्वर्यस्य प्राप्तये **सोमम्** रसागारं परमेश्वरम् **हिनोत** स्वान्तःकरणे प्रेरयत। **स्वादुः** मधुररसः स परमेश्वरः **अव्यं वारम्** पार्थिवम् अन्नमयकोशम् **अति** अतिक्रम्य **पवताम्** प्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयकोशेषु प्रवहतु। **देवः** दानादिगुणविशिष्टः सः **इन्दुः** आनन्दरसेनार्द्रीकर्ता परमेश्वरः। इन्दुः इन्धेः उनत्तेर्वा। निरु० १०।४१। **कलशम्** षोडशकलम् आत्मानम्। कलशः कस्मात्? कला अस्मिन् शेरते मात्राः इति निरुक्तम्। ११।१२। **आ सीदतु** प्राप्नोतु ॥३॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—यथा यजमानैः सोमलतां ग्रावसु सम्पिष्य रसं दशापवित्रैः क्षारयित्वा मधुरः सोमरसो द्रोणकलशे निवेश्यते तथैव परमात्माराधकैर्मधुरो ब्रह्मानन्दरस आत्मरूपे कलशे प्रवेशनीयः ॥३॥

---

१. ऋ० ९।९७।४ 'स्वादुः पवाते अति वारमव्यया सीदाति कलशं देवयुर्नः' इति पाठः।

अगले मन्त्र में सोम के प्रति मनुष्यों को प्रेरित किया गया है।

पदार्थ—**प्रथम** सोम ओषधि के पक्ष में। हे साथियो ! तुम **प्र गायत** वेदमन्त्रों का गान करो। हम **देवान्** यज्ञ में आये हुए विद्वानों को **अभ्यर्चाम** सत्कृत करें। तुम **महते** महान् **धनाय** यज्ञफल-रूप धन के लिए **सोमम्** सोम ओषधि के रस को **हिनोत** प्रेरित करो। **स्वादुः** स्वादु सोमरस **अव्यम्** भेड़ के बालों से बने हुए **वारम्** दशापवित्र में से **अति पवताम्** छनकर पार हो। **देवः** द्युतिमान्, वह **इन्दुः** सोमरस **कलशम्** द्रोणकलश में **आ सीदतु** आकर स्थित हो।

द्वितीय—परमात्मा के पक्ष में। हे उपासको ! तुम **प्र गायत** रसागार सोम परमात्मा को लक्ष्य करके गीत गाओ। तुम और हम मिलकर हृदय में आये हुए **देवान्** सत्य, अहिंसा आदि दिव्य गुणों को **अभ्यर्चाम** सत्कृत करें। तुम **महते** महान् **धनाय** दिव्य-धन की प्राप्ति के लिए **सोमम्** रसागार परमेश्वर को **हिनोत** अपने अन्तःकरण में प्रेरित करो। **स्वादुः** मधुर रस वाला वह परमेश्वर **अव्यं वारम्** पार्थिव अन्नमय कोश को **अति** पार करके **पवताम्** प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोशों में प्रवाहित हो। **देवः** दानादिगुणविशिष्ट वह **इन्दुः** रस से आर्द्र करने वाला परमेश्वर **कलशम्** सोलह कलाओं से युक्त आत्मा को **आ सीदतु** प्राप्त हो ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ—जैसे यजमान लोग सोमलता को यज्ञिय सिल-बट्टों पर पीसकर, रस को दशापवित्रों से छानकर, मधुर सोमरस को द्रोणकलशों में भरते हैं, उसी प्रकार परमात्मा के आराधक लोग मधुर ब्रह्मानन्द-रस को आत्मा-रूप कलश में प्रविष्ट करायें ॥३॥

अथ सोमं परमात्मानं वर्णयति।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५३६. प्र हिन्वानो जनिता रोदस्यो रथो न वाजं सनिषन्नयासीत्।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रं गच्छन्नायुधा संशिशानो विश्वा वसु हस्तयोरादधानः ॥४॥[1]
२ ३ २ ३ २ १ २ १ १ २ १ २ ३ २ ३
प्र हिन्वानः जनिता रोदस्योः। रथः न वाजम् सनिषन् अयासीत् ॥
१ २ १ १ २ १ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ १ २ १ २ १ २
इन्द्रम् गच्छन् आयुधा संशिशानः सम् शिशानः। विश्वा वसु हस्तयोः
३ १ २ ३ १ २ १
आदधानः आ दधानः ॥४॥

पदार्थः—**रोदस्योः**[2] द्यावापृथिव्योः **जनिता** जनयिता। जनयिता इति प्राप्ते 'जनिता मन्त्रे' अ० ६।४।५३ इति निपातनम्। **हिन्वानः** द्यावापृथिव्यौ गमयंश्च सोमः सर्वेषां प्रेरकः परमेश्वरः। हि गतौ वृद्धौ च, शानच्। **वाजम्** आत्मबलम् **सनिषन्** दातुमिच्छन्। षणु दाने सनि शतरि सिषनिषन् इति प्राप्ते द्वित्वाभावश्छान्दसः। **प्र अयासीत्** प्र याति, प्रवर्तते इत्यर्थः। या प्रापणे धातोः सामान्यार्थे लुङ्। **रथः न** रथो यथा **वाजम्** अन्नम् **सनिषन्** प्रदास्यन् **प्र अयासीत्** प्र याति। किञ्च **इन्द्रम्** जीवात्मानम् **गच्छन्** व्रजन्, तस्य **आयुधा** आयुधानि शत्रुपराजयसाधनानि शमदमादीनि **सं शिशानः** सम्यक् तीक्ष्णीकुर्वन्, **विश्वा वसु** विश्वानि वसूनि आध्यात्मिकानि ऐश्वर्याणि **हस्तयोः** तस्य पाण्योः **आदधानः** धारयन्, भवतीति शेषः ॥४॥

अत्र 'रथो न वाजम्' इत्यादौ श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥४॥

---

१. ऋ० ९।९०।१ 'सनिषन्' इत्यत्र 'सनिष्यन्' इति पाठः।

२. यथा प्रस्तुताया दशतेर्द्वितीये मन्त्रे 'जनयन्त्सूर्यम्' इति वाक्यांशो मन्त्रस्य परमात्मपरत्वं सङ्केतयति तथैवात्र 'जनिता रोदस्योः' इति वाक्यांशोऽपि सूचयति यदेते सोमदेवताका मन्त्राः सोमौषध्यामेव न पर्यवस्यन्तीति।

भावार्थः—रथो यथा प्रचुरान्नादिप्राप्तिसाधनं भवति तथा परमेश्वरो जीवात्मने विपुलबल-वेगादिप्राप्तिसाधनं जायते ॥४॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ—**रोदस्योः** द्यावापृथिवी का **जनिता** उत्पादक और **हिन्वानः** द्यावापृथिवी को गति देता हुआ सर्वप्रेरक सोम परमात्मा **वाजम्** आत्मबल को **सनिषन्** देना चाहता हुआ **प्र अयासीत्** प्रवृत्त होता है, **रथः न** जैसे रथ, मानो **वाजम्** अन्न को **सनिषन्** देने के लिए **प्र अयासीत्** चलता है । वह **इन्द्रम्** जीवात्मा के प्रति **गच्छन्** जाता हुआ, उसके **आयुधा** हथियारों को अर्थात् शम, दम आदि शत्रुपराजय के साधनों को **सं शिशानः** भलीभाँति तीक्ष्ण करता हुआ **विश्वा वसु** सब आध्यात्मिक ऐश्वर्यों को **हस्तयोः** उसके हाथों में **आदधानः** थमा देता है ॥४॥

इस मन्त्र में 'रथो न वाजम्' आदि में श्लिष्टोपमालंकार है ॥४॥

भावार्थ—रथ जैसे प्रचुर अन्नादि की प्राप्ति का साधन बनता है, वैसे ही परमात्मा जीवात्मा के लिए प्रचुर बल, वेग आदि की प्राप्ति का साधन बनता है ॥४॥

अथ कदा स्तोतारो जीवात्मानं परमात्मनि नयन्तीत्याह ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २
५३७. तक्षद्यदी मनसो वेनतो वाग् ज्येष्ठस्य धर्म द्युक्षोरनीके ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
आदीमायन् वरमा वावशाना जुष्टं पतिं कलशे गाव इन्दुम् ॥५॥[1]

तक्षत् यदि मनसः वेनतः वाक् । ज्येष्ठस्य धर्मन् द्युक्षोः द्यु क्षोः अनीके ॥
आत् ईम् आयन् वरम् आ वावशानाः । जुष्टम् पतिम् कलशे गावः इन्दुम् ॥५॥

पदार्थः—**यदि** यदा । संहितायां 'निपातस्य च । अ० ६।३।१३६' इति दीर्घः । **वेनतः** कामय-मानस्य, संकल्पवतः इत्यर्थः । वेनतिः कान्तिकर्मा । निघं० २।६ । **मनसः** मननसाधनस्य मनोनामकस्य अन्तरिन्द्रियस्य **वाक्** संकल्पलक्षणा वाणी, स्तोतारम् **ज्येष्ठस्य** महत्तमस्य परमात्मनः **धर्मन्** धर्मणि गुणग्रामे इत्यर्थः । अत्र 'सुपां सुलुक्० । अ० ७।१।३९' इति सप्तम्या लुक् । **द्युक्षोः** दीप्तिनिवासकस्य तस्य परमात्मनः । दिवं दीप्तिं क्षाययति निवासयतीति द्युक्षुः तस्य । क्षि निवासगत्योः । **अनीके** समीपे च **तक्षत्** करोति, स्थापयतीत्यर्थः । तक्षतिः करोतिकर्मा । निरु० ४।१९ । तस्य लेटि रूपम् । **आत्** तदनन्तरम् एव **आ वावशानाः** समन्ततः अतिशयेन पुनः पुनः कामयमानाः । वष्टेः कान्तिकर्मणो यङ्लुगन्तस्य शानचि रूपम् । **गावः** स्तोतारः । गौः इति स्तोतृनामसु पठितम् । निघं० ३।१६ । **ईम्** एनम् **वरम्** वरणीयं श्रेष्ठं वा, **जुष्टम्** प्रियम्, **पतिम्** शरीरस्य पालकं स्वामिनं वा **इन्दुम्** दीप्तं चन्द्रतुल्यं वा जीवात्मानम् । इन्दुः इन्धेरुनत्तेर्वेति निरुक्तम् १०।४० । **कलशे** षोडशकले परमात्मरूपे द्रोणकलशे **आयन्** प्रापयन्ति । इण् गतौ धातोर्णिजर्थ-गर्भस्य लङि रूपम् ॥५॥

भावार्थः—मनसः संकल्पे सहायके सत्येव जीवात्मा परमात्मानं प्राप्तुमर्हति ॥५॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि कब स्तोताजन जीवात्मा को परमात्मा में ले जाते हैं ।

पदार्थ—**यदि** जब **वेनतः** कामना करने वाले अर्थात् संकल्पवान् **मनसः** मन की **वाक्** संकल्परूप वाणी, स्तोता को **ज्येष्ठस्य** सबसे महान् परमात्मा के **धर्मन्** धर्म में अर्थात् गुण-समूह में, और **द्युक्षोः** दीप्ति

---

१. ऋ० ९।९७।१२ 'ज्येष्ठस्य वा धर्मणि क्षोरनीके' इति पाठः ।

के निवासक उस परमात्मा के **अनीके** समीप **तक्षत्** करती है, **आत्** उसके अनन्तर ही **आ वावशानाः** अतिशय पुनः-पुनः प्रीति करते हुए **गावः** स्तोता जन **ईम्** इस **वरम्** वरणीय वा श्रेष्ठ, **जुष्टम्** प्रिय **पतिम्** शरीर के पालनकर्ता अथवा स्वामी **इन्दुम्** तेजोमय अथवा चन्द्रतुल्य जीवात्मा को **कलशे** सोलह कलाओं से युक्त परमात्मा रूप द्रोणकलश में **आयन्** पहुँचाते हैं ॥५॥

भावार्थ—मन का संकल्प सहायक होने पर ही जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त कर सकता है ॥५॥

अथ कदा जीवात्मा परमात्मानं प्राप्नोतीत्याह।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
५३८. साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुत्रीः।
२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी ॥६॥[1]
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ १ २ १ २ ३ १ २ १ २
साकमुक्षः साकम् उक्षः मर्जयन्त स्वसारः। दश धीरस्य धीतयः धनुत्रीः॥
१ २ १ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ २
हरिः परि अद्रवत् जाः सूर्यस्य सु ऊर्यस्य। द्रोणम् ननक्षे अत्यः न वाजी ॥६॥

पदार्थः—**प्रथमः** सोमौषधिपरः। **धीरस्य** धीमतो यागकर्तुः **साकमुक्षः** साकं सह मिलित्वा उक्षन्ति सिञ्चन्ति निश्च्योतयन्ति सोमरसं यास्ताः **स्वसारः** भगिन्यः, भगिनीवत् सह मिलिताः, **धनुत्रीः**[2] धनुत्र्यः प्रेरयित्र्यः। धिन्वन्ति प्रीणयन्ति यास्ताः। धिवि प्रीणने, जसि पूर्वसवर्णदीर्घः। **दश** दशसंख्यकाः **धीतयः** अङ्गुलयः। स्वसारः, धीतयः इत्युभयमपि अङ्गुलिनामसु पठितम्। निघं० २।५। यदा सोमम् **मर्जयन्त** शोधयन्ति। मृजू शौचालङ्कारयोः चुरादिः। लडर्थे लङ्। अमार्जयन्त इति प्राप्ते अडागमाभावश्छान्दसः, वृद्धिस्थाने गुणश्च। तदा **सूर्यस्य** आदित्यस्य **जाः**[3] अपत्यम्। जाः इत्यपत्यनाम। निघं० २।२। **हरिः** हरितवर्णः सोमरसः। हरिः सोमो हरितवर्णः इति निरुक्तम् ४।१९। **पर्यद्रवत्** परितो विस्तीर्यते। किञ्च **वाजी** वेगवान् **अत्यः न** अश्वो यथा। अत्यः, वाजी इत्युभयमपि अश्वनामसु पठितम्। निघं० १।१४। अत्र वाजी इति अत्यः इत्यस्य विशेषणत्वेन प्रयुक्तः सन् योगार्थं प्रयच्छति। यः अतति सततं व्याप्नोति अध्वानं सोऽत्यः। अत सातत्यगमने। **द्रोणम्** द्रुमयं रथम्। द्रोणं द्रुममयं भवति इति निरुक्तम् ५।२६। **ननक्षे** व्याप्नोति, तत्र युज्यते, तथैव सोमरसः **द्रोणम्** द्रोणकलशम् **ननक्षे** व्याप्नोति। नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा। निघं० २।१८॥

अथ **द्वितीयः** परमात्मपरः। **धीरस्य** ध्यानस्थस्य योगिनः **साकमुक्षः** साकं सह मिलित्वा उक्षन्ति सिञ्चन्ति ज्ञानैः कर्मभिश्च यास्ताः, **स्वसारः** भगिनीवत् परस्परं सहकारिण्यः, **धनुत्रीः** धनुत्र्यः प्रेरयित्र्यः **दश** दशसंख्यकाः **धीतयः** यम-नियम-भावनाः, यदा **मर्जयन्त** जीवात्मानं शोधयन्ति, तदा **सूर्यस्य** परमात्मनः **जाः** पुत्रः **हरिः** उन्नतिपथे यः ह्रियते स जीवात्मा **पर्यद्रवत्** परिद्रवति, समन्ततः क्रियाशीलो भवति। किञ्च **वाजी** वेगवान् **अत्यः न** अश्वो यथा **द्रोणम्** द्रुमयं रथम् **ननक्षे** प्राप्नोति, तत्र युज्यते इत्यर्थः, तथैव स जीवात्मा **द्रोणम्** क्रियाशीलं परमात्मानम्। गत्यर्थाद् द्रवतेः 'कृवृजॄसि' उ० ३।१० इति नः प्रत्ययः। **ननक्षे** प्राप्नोति ॥६॥

अत्र श्लेषालङ्कारः। 'द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी' इत्यत्र श्लिष्टोपमा। सकार-धकार-नकार-रेफाणामसकृदावर्तनाद् वृत्त्यनुप्रासः ॥६॥

---

१. ऋ० ९।९३।१, साम० १४१८।

२. धनुत्रीः धनुः त्रायन्त्यः—इति वि०। धिनोतेर्धनुत्र्यः प्रीणयित्र्यः धन्वतेर्वा गतिकर्मणः, प्राप्नुवन्त्यः प्राप्तव्यानि—इति भ०।

३. जाः जनयिता सूर्यस्य। जन जनने इत्यस्माद् धातोर्विटि प्रत्यये 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' इति आकारः। जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य (ऋ० ९।९६।५) इति च भवति—इति भ०।

भावार्थः—दशाङ्गुलिभिः परिशोधितः सोमरसो यथा द्रोणकलशं व्याप्नोति तथैव यमनियमभावनाभिः परिशोधितो जीवात्मा परमात्मानं प्राप्नोति ॥६॥

अगले मन्त्र में यह वर्णित है कि कब जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त करता है।

पदार्थ—**प्रथम** सोम ओषधि के पक्ष में। **धीरस्य** बुद्धिमान् यजमान के **साकमुक्षः** साथ मिलकर सोमरस को निचोड़ने वाली, **धनुत्रीः** प्रेरक, **दश** दस **धीतयः** अंगुलियाँ, जब सोमरस को **मर्जयन्ति** शुद्ध करती हैं, तब **सूर्यस्य** सूर्य का **जाः** पुत्र **हरिः** हरे रंग का सोमरस **पर्यद्रवत्** चारों ओर फैल जाता है। **न** जैसे **वाजी** वेगवान् **अत्यः** घोड़ा **द्रोणम्** लकड़ी से बने रथ को **ननक्षे** व्याप्त करता है अर्थात् रथ में नियुक्त होता है, वैसे ही सोमरस **द्रोणम्** द्रोणकलश में **ननक्षे** व्याप्त होता है॥

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। **धीरस्य** ध्यान में स्थित योगी की **साकमुक्षः** साथ मिलकर ज्ञानों और कर्मों से सींचने वाली, **स्वसारः** बहिनों के समान परस्पर सहायता करने वाली, **धनुत्रीः** प्रेरक **दश** दस **धीतयः** यम-नियम-भावनाएँ, जब **मर्जयन्त** आत्मा को शुद्ध करती हैं, तब **सूर्यस्य** परमात्मा का **जाः** पुत्र **हरिः** उन्नति के मार्ग पर जाने वाला आत्मा **पर्यद्रवत्** क्रियाशील हो जाता है, और **न** जैसे **वाजी** वेगवान् **अत्यः** घोड़ा **द्रोणम्** लकड़ी से बने रथ को **ननक्षे** प्राप्त करता है, अर्थात् उसमें जुड़ता है, वैसे ही वह आत्मा **द्रोणम्** क्रियाशील परमात्मा-रूप द्रोणकलश को **ननक्षे** प्राप्त कर लेता है॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी' में श्लिष्टोपमा है। सकार-धकार-नकार तथा रेफ की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है॥६॥

भावार्थ—अंगुलियों से परिशुद्ध सोमरस जैसे द्रोणकलश को प्राप्त करता है, वैसे ही यम-नियम की भावनाओं से परिशुद्ध हुआ जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त करता है॥६॥

अथ सोमः परमात्मा कदा किं कुरुत इत्याह।

२ ३ १ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १
५३९. अधि यदस्मिन् वाजिनीव शुभः स्पर्धन्ते धियः सूरे न विशः।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ ३ १ २ ३ १ २
अपो वृणानः पवते कवीयान् व्रजं न पशुवर्धनाय मन्म ॥७॥[1]
१ २ १ ३ ३ १ २ ३ १ २ १ १ २ १ १ २ १ १ २ १ १ २ १
अधि यत् अस्मिन् वाजिनि इव शुभः। स्पर्धन्ते धियः सूरे न विशः॥
३ २ ३ २ ३ १ २ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ १ २ १
अपः वृणानः पवते कवीयान्। व्रजम् न पशुवर्धनाय पशु वर्धनाय मन्म ॥७॥

पदार्थः—**यत्** यदा **अस्मिन्** सोमनाम्नि परमात्मनि **धियः** उपासकस्य ध्यानवृत्तयः **अधि स्पर्धन्ते** अहमहमिकया प्रवेष्टुमुत्सहन्ते इव। कथमित्याह—**वाजिनि इव** अश्वे यथा **शुभः** अलङ्काराः। शोभयन्तीति शुभः, अलङ्काराः। यद्वा **वाजिनि इव** बलवति पुरुषे यथा **शुभः** शोभयितारो गुणाः व्याप्तुमुत्सहन्ते इव; **सूरे न** सूर्ये च यथा **विशः** प्रजाभूताः रश्मयः अधि स्पर्धन्ते अहमहमिकया व्याप्तुमुत्सहन्ते इव, तदा **कवीयान्** कवितरः अतिशयेन प्राज्ञः सः सोमः परमेश्वरः। अतिशयेन कविः कवीयान्, कविशब्दादतिशायने ईयसुन् प्रत्ययः। **अपः** उपासकस्य प्राणान्। प्राणा वा आपः। तै० ब्रा० ३।२।५।२, आपो वै प्राणाः। श० ३।८।२।४। **वृणानः** वृण्वन्, तस्य **मन्म** मनः। मन्म मनः इति निरुक्तम् ६।२२। **पवते** पुनाति। पूङ् पवने, भ्वादिः। तत्रोपमामाह—गोपालः **पशुवर्धनाय** गवादिपशूनां पोषणाय **व्रजं**[2] **न** गोष्ठं यथा पुनाति स्वच्छं रक्षति तद्वत्॥७॥

१. ऋ० ९।९४।१ 'सूरे', 'कवीयान्' इत्यत्र क्रमेण 'सूर्ये', 'कवीयन्' इति पाठः।

२. व्रजन् न इति पदपाठः। तत्पक्षे तु 'अपो वृणानः प्राणान् वृण्वन् कवीयान् मेधावितरः सोमः परमात्मा मन्म मननशीलं जीवात्मानं पवते गच्छति (पवते गतिकर्मा। निघं० २।१४)। तत्रोपमामाह—पशूनां वर्धनाय व्रजन् न गच्छन्निव गोपालकः। स यथा पशुवर्धनाय गोष्ठं गच्छति तद्वदित्यर्थः।

अत्र 'वाजिनीव शुभः', 'सूरे न विशः', 'व्रजं न पशुवर्धनाय' इति तिस्र उपमाः। स्पर्धायाश्च चेतनधर्मस्य अलङ्कार-शुभगुण-ध्यानवृत्तिभिरचेतनैर्योगे स्पर्धन्ते इव इत्यर्थद्योतनाद् व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा ॥७॥

भावार्थः—यदा साधकैः परमात्मनि ध्यानं केन्द्रितं क्रियते तदा परमात्मा तेषां हृदयानि पवित्रीकृत्य तान् सर्वात्मना वर्धयति ॥७॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा कब क्या करता है, इसका वर्णन है।

पदार्थ—**यत्** जब **अस्मिन्** इस सोमनामक परमात्मा में **धियः** उपासक की ध्यानवृत्तियाँ **अधि स्पर्धन्ते** मानो 'मैं पहले प्रवेश करूँ—मैं पहले प्रवेश करूँ' इस प्रकार स्पर्धा-सी करती हैं, किस प्रकार ? **वाजिनि इव** जैसे घोड़े पर **शुभः** शोभाकारक अलंकार मानो उसे शोभित करने की स्पर्धा करते हैं, अथवा **वाजिनि इव** जैसे बलवान् पुरुष में **शुभः** शोभाकारी गुण निवास करने की स्पर्धा करते हैं, और **सूरे न** जैसे सूर्य में **विशः** उसकी प्रजाभूत किरणें व्याप्त होने की स्पर्धा करती हैं, तब **कवीयान्** अतिशय मेधावी सोम परमेश्वर **अपः** उपासक के प्राणों को **वृणानः** वरण करता हुआ, उसके **मन्म** मन को **पवते** पवित्र करता है, **न** जैसे, गोपालक मनुष्य **पशुवर्धनाय** गाय आदि पशुओं के पोषण के लिए **व्रजम्** गोशाला को स्वच्छ-पवित्र करता है ॥७॥

इस मन्त्र में 'वाजिनीव शुभः', 'सूरे न विशः', 'व्रजं न पशुवर्धनाय' ये तीन उपमाएँ हैं। चेतन के धर्म स्पर्धा का अलंकार, शुभगुण और ध्यानवृत्ति रूप अचेतनों के साथ योग में "मानो स्पर्धा करते हैं" यह अर्थ द्योतित होने से व्यंग्योत्प्रेक्षा है ॥७॥

भावार्थ—जब साधक लोग परमात्मा में ध्यान केन्द्रित करते हैं, तब परमात्मा उनके हृदयों को पवित्र करके उनकी सब प्रकार से वृद्धि करता है ॥७॥

अथ सोमस्य परमात्मनः कर्माण्याह।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
५४०. इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा इन्द्रे सोमः सह इन्वन्मदाय।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
हन्ति रक्षो बाधते पर्यराति वरिवस्कृण्वन् वृजनस्य राजा ॥८॥[1]

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ १ २ १ २ १ २
इन्दुः वाजी पवते गोन्योघाः गो न्योघाः। इन्द्रे सोमः सहः इन्वन् मदाय॥
१ २ १ २ १ २ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २
हन्ति रक्षः बाधते परि अरातिम् अ रातिम्। वरिवः कृण्वन् वृजनस्य राजा ॥८॥

पदार्थः—**गोन्योघाः**[2] गवां गोपयोवन्मधुराणाम् आनन्दरसानां न्योघाः समूहा यस्य सः। अत्र समासान्तः असच् प्रत्ययः। **वाजी** वेगवान् **इन्दुः** प्रदीप्तः, रसेन आर्द्रीकर्ता च परमात्मा **पवते** उपासकस्य अन्तःकरणं पवित्रीकरोति। **सोमः** शान्तिदायकः स परमेश्वरः **मदाय** आनन्दाय **इन्द्रे** जीवात्मनि **सहः** बलम् **इन्वन्** प्रेरयन्, भवतीति शेषः। इन्वतिः गतिकर्मा। निघं० २।१४। किञ्च **वृजनस्य**[3] बलस्य। वृजनमिति बलनाम। निघं० २।९। **राजा** अधिपतिः स परमेश्वरः, स्वोपासकानाम् **वरिवः** गुणगणैश्वर्यं योगसिद्धचैश्वर्यं

---

१. ऋ० ९।९७।१० 'पर्यरातीर्वरिवः कृण्वन्' इति पाठः।

२. गोन्योघाः गवां न्योघाः सङ्घाः—इति वि०। गमनशीलः नीचीनोऽवाङ्मुखः ओघः प्रवाहः यस्य स गोन्योघाः—इति भ०। गमनशीलनीचीनाग्ररसमङ्घातः—इति सा०। यत्तु 'गोनीशब्दो गमनशीलार्थेऽपभ्रंश इत्युदाजहार च पस्पशे पतञ्जलिः' इत्याह सत्यव्रतः सामश्रमी, तत्त्वत्र न समञ्जसम्, पदपाठे 'गो-न्योघाः' इति पदच्छेदात्, पतञ्जलिना चापि अपभ्रंशशब्दस्यैवोल्लेखाद् न तु वैदिकशब्दस्येत्यवधेयम्।

३. वृजनस्य बलस्य यज्ञस्य वा—इति भ०।

वा। वरिवः इति धननाम। निघं० २।१०। **कृण्वन्** प्रयच्छन् सन् **रक्षः** पापरूपं राक्षसम् **हन्ति** हिनस्ति, **अरातिम्** अदानभावं च **परि बाधते** सर्वथा निरस्यति ॥८॥

भावार्थः—परमेश्वर उपासकानां गोपयोवन्मधुरानानन्दरसान्, आत्मबलं, सद्गुणान्, अणिमादि-योगसिद्धीश्च प्रयच्छन् तेषां हृदयाददानवृत्तिं बाधमानस्तेषां पापरूपं शत्रुं संहरंश्च तान् विजयिनः करोति ॥८॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा के कर्मों का वर्णन है।

पदार्थ—**गोन्योघाः** गो-रसों के समान मधुर आनन्दरसों के समूह का स्वामी, **वाजी** वेगवान् **इन्दुः** तेजस्वी और रस से आर्द्र करने वाला परमात्मा **पवते** उपासक के अन्तःकरण को पवित्र करता है। **सोमः** शान्तिदायक वह परमात्मा **मदाय** आनन्द देने के लिए **इन्द्रे** जीवात्मा में **सहः** बल को **इन्वन्** प्रेरित करता है। **वृजनस्य** बल का **राजा** राजा वह परमात्मा, अपने उपासकों को **वरिवः** शुभगुणों का अथवा योग-सिद्धियों का ऐश्वर्य **कृण्वन्** प्रदान करता हुआ **रक्षः** पापरूप राक्षस को **हन्ति** विनष्ट करता है, **अरातिम्** अदानभाव को **परि बाधते** सर्वथा दूर कर देता है ॥८॥

भावार्थ—परमेश्वर उपासकों को गाय के दूध के समान मधुर आनन्दरसों को, आत्मबल को, सद्गुणों को एवं अणिमा आदि योगसिद्धियों को प्रदान करता हुआ उनके हृदय से अदानवृत्ति को बाधित करता हुआ और उनके पापरूप शत्रु का संहार करता हुआ उन्हें विजयी बनाता है ॥८॥

अथ सोमः परमात्मा प्रार्थ्यते।

५४१. १ २ ३ १ २ ३ १ २ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अया पवा पवस्वैना वसूनि माँश्चत्व इन्दो सरसि प्र धन्व।
३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
ब्रध्नश्चियस्य वातो न जूतिं पुरुमेधाश्चित्तकवे नरं धात् ॥९॥[1]
३ २ ३ २ ३ २ १ २१ ३ २ ३ १ २१ ३ २ ३ १ २१
अया पवा पवस्व एना वसूनि। माꣳश्चत्वे इन्दो सरसि प्र धन्व ॥
२ ३ १ २१ १ २१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २१ ३ १ २१ १ २१ ३
ब्रध्नः चित् यस्य वातः न जूतिम्। पुरुमेधाः पुरु मेधाः चित् तकवे नरम् धात् ॥९॥

पदार्थः—हे **इन्दो** रसेनार्द्रीकर्तः परमात्मन्! त्वम् **अया** अनया **पवा**[2] प्रवाहवत्या धारया **एना** एनानि वसूनि सत्याहिंसाप्रभृतीनि ऐश्वर्याणि **पवस्व** क्षर। **मांश्चत्वे**[3] मीयन्ते शब्द्यन्ते इति माः शब्दाः, मान् स्तुतिशब्दान् चातयति गमयति उत्थापयतीति मांश्चत्वं तस्मिन्, स्तुतिशब्दयुक्ते इत्यर्थः। माङ् माने शब्दे च। चततिः गतिकर्मा। निघं० २।१४। **सरसि** मम हृदयसरोवरे **प्र धन्व** प्रकर्षेण याहि। धन्वतिः गति-कर्मा। निघं० २।१४। **यस्य** यस्य तव **ब्रध्नः चित्** महान्। ब्रध्न इति महन्नाम। निघं० ३।३। **वातः** वायुः **न** यथा **जूतिम्** वेगम्। जु गतौ धातोः 'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च' अ० ३।३।९७ इति क्तिनि दीर्घत्वं निपात्यते, उदात्तः स्वरश्च। **धात्** दधाति, तथा **पुरुमेधाः चित्** बहुप्रज्ञः स्तोता। अत्र नित्यमसिच् प्रजामे-

---

१. ऋ० ९।९७।५२ 'ब्रध्नश्चिदत्र वातो न जूतः पुरुमेधाश्चित् तकवे नरं दात्' इत्युत्तरार्धपाठः। साम० ११०४।

२. पूञ् पवने (क्र्यादिः)। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' पा० ३।२।१०१ इति विन् प्रत्ययः। आर्धधातुकलक्षणो गुणः। 'सावेकाचः' पा० ६।१।१६९ इति तृतीयाया उदात्तत्वम्—इति सा०।

३. मांश्चत्वे अश्वे आरूढः, मांश्चत्वे वा सरसि—इति वि०। मांश्चत्व इत्यश्वनाम। निघं० १।४। अभिमन्यमानान् शत्रून् चातयति नाशयति इति मांश्चत्वम्, तस्मिन् सरसि कलशे प्रधन्व प्रगच्छ—इति भ०। मन्यमानानां चातके सरसि उदके वसतीवर्याख्ये कलशे—इति सा०।

धयोः[1] । अ० ५।४।१२२ इति बहुव्रीहेः समासान्तः असिच् प्रत्ययः । ब्रध्नश्चित्, पुरुमेधाश्चित् इत्युभयत्रापि चिदिति पूजायां बोध्यम् । **तकवे**[2] गमनाय कर्मयोगाय इत्यर्थः । तकतिः गतिकर्मा । निघं० २।१४ । **नरम्** नेतृत्वगुणम् **धात्** धारयति । दधातेर्लडर्थे लुङि रूपम् । छान्दसत्वादडागमाभावः ॥९॥

अत्र 'वातो न जूतिम्' इत्युपमालङ्कारः । 'पवा, पव' इति छेकानुप्रासः ॥९॥

भावार्थः—यथा परमेश्वररचितो महान् वायुस्तीव्रवेगं धारयति, तथैव परमेश्वरस्य स्तोता नेतृत्वगुणं धारयति ॥९॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **इन्दो** रस से आर्द्र करने वाले परमात्मन् ! आप **अया** इस **पवा** प्रवाहमयी धारा के साथ **एना** इन **वसूनि** सत्य, अहिंसा आदि ऐश्वर्यों को **पवस्व** क्षरित करो । **मांश्चत्वे** स्तुतिशब्दयुक्त **सरसि** मेरे हृदय-सरोवर में **प्र धन्व** भलीभाँति आओ, **यस्य** जिन आपका **ब्रध्नः चित्** महान् **वातः** वायु **न** जैसे **जूतिम्** वेग को **धात्** धारण करता है, वैसे ही **पुरुमेधाः चित्** बुद्धिमान् स्तोता **तकवे** कर्मयोग के लिए **नरम्** नेतृत्व के गुण को **धात्** धारण करता है ॥९॥

इस मन्त्र में 'वातो न जूतिम्' आदि में उपमालंकार है । 'पवा, पव' में छेकानुप्रास है ॥९॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर से रचित महान् वायु तीव्र वेग को धारण करता है, वैसे ही परमेश्वर का स्तोता महान् नेतृत्व-गुण को धारण करता है ॥९॥

अथ सोमस्य परमात्मनः महत् कर्म वर्ण्यते ।

५४२. ३ १ २ २१ ३ १ २ ३ १ २ २१ ३ २
महत् तत् सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान् ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २१ ३ २ ३ २ ३ १ २
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥१०॥[3]
३ २ १ २१ ३ २ ३ ३ २ १ २१ १ २१ ३ २
महत् तत् सोमः महिषः चकार । अपाम् यत् गर्भः अवृणीत देवान् ॥
१ २१ १ २१ १ २१ १ २१ १ २१ १ २१ १ २१ १ २१
अदधात् इन्द्रे पवमानः ओजः । अजनयत् सूर्ये ज्योतिः इन्दुः ॥१०॥

पदार्थः—महिषः महान् । महिषः इति महन्नाम । निघं० ३।३ **सोमः**[4] सोमौषधिवद् रसागारः, चन्द्रवदाह्लादकः प्रेरकश्च परमेश्वरः **तत्** प्रसिद्धम् अग्रे निर्दिश्यमानम् **महत्** महिमान्वितं कर्म **चकार** करोति, **यद् अपां गर्भः** सर्वेषां प्राणेषु गर्भवद् विद्यमानः सः । प्राणा वा आपः (तै० ३।२।५।२) । **देवान्** मनःसहितानि सर्वाणि चक्षुःश्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि **अवृणीत** रक्ष्यत्वेन स्वीकरोति । **पवमानः** पवित्रता-

---

१. यद्यपि तस्मिन् सूत्रे उपरिष्टनात् सूत्रात् 'नञ् दुःसुभ्यः' इत्यनुवर्तितुमुचितम्, तथापि "नित्यग्रहणादन्यत्रापि भवतीति सूच्यते" इति काशिकावृत्तिः । उदाहृतं च तत्र, 'श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्यागमेधसः । अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी' इति ।

२. तकतिर्गतिकर्मसु पठितः, अस्मादौणादिक उन् प्रत्ययः—इति सा० ।

३. ऋ० ९।९७।४१, साम० १२५५ ।

४. अधिदैवतपक्षे महत् सोमः आदित्यः । महिषः पूजनीयः महत्त्वात् । ज्योतिरिन्दुः आदित्यः । अध्यात्मम्—सोमः अहो महदसंभाव्यं तत्कर्म । महिषः पूजनीयः । अपां यद् गर्भः दर्शनमात्रम् । पञ्चानां भूतानां गर्भः अधिष्ठानं भूत्वा । अवृणीत अधिष्ठितवान् । देवान् इन्द्रियाणि । अवृणीत शरीरमध्ये तिष्ठतीति कृत्वा । अदधादिन्द्रे आत्मनि ईश्वरे, पवमानः पूयमानः विषयप्रमाणेन । ओजः बलम् अणिमादि । अजनयच्च सूर्ये ज्योतिः । तथा चोक्तम्—'येन सूर्यस्तपति तेज इन्द्रः' —इति वि० ।

संपादकः सः **इन्द्रे** जीवात्मनि विद्युति वा **ओजः** पवित्रतां बलं वा **अदधात्** स्थापयति। **इन्दुः** दीप्तः प्रकाशमयः सः **सूर्ये** आदित्ये **ज्योतिः** प्रकाशम् **अदधात्** दधाति, यद्वा **सूर्ये** शरीरस्थे चक्षुषि। आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत् इति स्मरणात्। ऐ० उ० २।४। **ज्योतिः** दर्शनशक्तिम् **अदधात्** स्थापयति ॥१०॥

एष मन्त्रो यास्काचार्येण निरुक्ते १४।१७ इत्यत्र व्याख्यातः।

अत्र इन्दुशब्दस्य प्रसिद्धे चन्द्रार्थे गृहीते 'इन्दुः चन्द्रः अपि सूर्ये ज्योतिः अजनयत्' इति विरोधः, सूर्यश्चन्द्रे ज्योतिर्जनयति, न तु चन्द्रः सूर्ये इत्यतः। स च विरोधः इन्दुशब्दस्य योगार्थग्रहणेन समाधीयते। विरोधवाचकस्य अपिशब्दस्याभावाद् विरोधाभासो व्यङ्ग्यः ॥१०॥

भावार्थः—शरीराभ्यन्तरे मनश्चक्षुःश्रोत्रादौ, बाह्यजगति च सूर्यचन्द्रविद्युत्पर्जन्यादौ यद्यत् सामर्थ्यं ज्योतिर्वा विद्यते तत्तत्सर्वं परमात्मनैव प्रदत्तमस्ति ॥१०॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा का महान् कर्म वर्णित है।

पदार्थ—**महिषः** महान् **सोमः** सोम ओषधि के समान रस का भण्डार, चन्द्रमा के समान आह्लादक तथा प्रेरक परमेश्वर **तत्** उस प्रसिद्ध **महत्** महान् कर्म को **चकार** करता है **यत्** कि **अपां गर्भः** सबके प्राणों में गर्भ के समान अन्तर्यामी वह **देवान्** मन सहित सब आँख, कान आदि इन्द्रियों को **अवृणीत** रक्ष्य रूप में वरण करता है। **पवमानः** पवित्र करने वाला वह **इन्द्रे** जीवात्मा तथा विद्युत् में **ओजः** पवित्रता को वा बल को **अदधात्** स्थापित करता है। **इन्दुः** प्रकाशमय वह **सूर्ये** सूर्य में **ज्योतिः** ज्योति को **अदधात्** स्थापित करता है, अथवा **सूर्ये** शरीरस्थ आँख में **ज्योतिः** दर्शनशक्ति को **अदधात्** स्थापित करता है ॥१०॥

इस मन्त्र में 'इन्दु' का प्रसिद्ध अर्थ चन्द्रमा लेने पर 'चन्द्रमा सूर्य में ज्योति उत्पन्न करता है' यह विरोध आभासित होता है, क्योंकि सूर्य चन्द्रमा को ज्योति देता है, न कि चन्द्रमा सूर्य को। 'इन्दु' का यौगिक अर्थ ग्रहण करने पर उस विरोध का समाधान हो जाता है। 'अपि' शब्द न होने से यहाँ विरोधाभास अलंकार व्यंग्य है ॥१०॥

भावार्थ—शरीर के अन्दर मन, चक्षु, श्रोत्र आदि में और बाह्य जगत् में सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, बादल आदि में जो शक्ति या ज्योति है, वह सब परमात्मा की ही दी हुई है ॥१०॥

अथ प्राणप्रेरणजीवात्मशोधनविषयमाह।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
५४३. असर्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ धिया मनोता प्रथमा मनीषा।
२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
दश स्वसारो अधि सानो अव्ये मृजन्ति वह्निं सदनेष्वच्छ ॥११॥[1]
१ २१ १ २१ १ २१ १ २१ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
असर्जि वक्वा रथ्ये यथा आजौ। धिया मनोता प्रथमा मनीषा॥
१ २१ १ २१ १ २१ १ २१ १ २१ ३ १ २ १ २१ १ २१ १ २१
दश स्वसारः अधि सानौ अव्ये। मृजन्ति वह्निम् सदनेषु अच्छ ॥११॥

पदार्थः—**यथा** येन प्रकारेण **रथ्ये** रथैः योद्धृभिर्हे **आजौ** सङ्ग्रामे। आजिः इति सङ्ग्रामनाम। निघं० २।१७। **वक्वा**[2] शब्दकर्ता अश्वः **असर्जि** प्रेर्यते, तथा **मनोता**[3] मना ज्ञानानि ओतानि यस्यां सा

---

१. ऋ० ९।६१।१ 'प्रथमो मनीषी' इति 'अव्येऽजन्ति वह्निं सदनान्यच्छ' इति च पाठः।

२. वक्वा शब्दायमानः, वच परिभाषणे, वनिप्—इति सा०। अन्ये तु तृतीयान्तत्वेन व्याचक्षिरे। 'वक्वा वक्त्रा'—इति वि०। 'वक्वा स्तोत्रा वचेर्वकुः'—इति भ०।

३. ओतानि मनांसि देवानां यस्मिन् सोमे स मनोता—इति वि०। यस्यां (धियाम्) देवानां मनांसि ओतानि स मनोता—इति भ०।

मनोता तया, **प्रथमा** प्रथमया श्रेष्ठया **मनीषा** मनसः प्रेरयित्र्या । मनः ईषयते गमयति इति मनीषा तया । ईषतिः गतिकर्मा । निघं० २।१४ । मनोता, प्रथमा, मनीषा इति सर्वत्र तृतीयैकवचने 'सुपां सुलुक्' अ० ७।१।३९ इति पूर्वसवर्णदीर्घः । **धिया** बुद्धया, **वक्वा** शब्दकर्ता प्राणः **असर्जि** प्रेर्यते । यथा च **दश** दशसंख्यकाः **स्वसारः** अङ्गुलयः । स्वसारः इत्यङ्गुलिनामसु पठितम् । निघं० २।५ । **सदनेषु अच्छ** यज्ञगृहेषु **अव्ये** अविबालमये **सानौ अधि** उच्छ्रिते दशापवित्रे **वह्निम्**[1] यज्ञस्य वाहकं सोमौषधिरसम् **मृजन्ति** शोधयन्ति । मृजूष् शुद्धौ, अदादिः । तथा **दश** दशसंख्यकाः **स्वसारः** भगिनीवत् परस्परसम्बद्धाः प्राणशक्तयः **सदनेषु अच्छ** देहरूपेषु सदनेषु **अव्ये** अव्यये नाशरहिते **सानौ अधि** उच्छ्रिते परमात्मनि, परमात्मसान्निध्ये इत्यर्थः । **वह्निम्** शरीरस्य वाहकं जीवात्मानम् **मृजन्ति** शोधयन्ति ॥११॥

अत्र पूर्वार्द्धे वाच्य उपमालङ्कारः । उत्तरार्द्धे श्लेषमूला व्यङ्ग्योपमा । 'मनो, मनी' इति छेकानुप्रासः । 'मनोता, प्रथमा, मनीषा, इत्यत्र मकारानुप्रासः ।' 'रथ्ये यथाजौ धिया' इत्यत्र च यकारानुप्रासः ॥११॥

भावार्थः—परमात्मन आश्रयं प्राप्य जीवात्मा तथैव शुद्धचति यथा दशापवित्रं प्राप्य सोमरसः ॥११॥

अगले मन्त्र में प्राण को प्रेरित करने और जीवात्मा को शुद्ध करने का विषय है ।

पदार्थ—**यथा** जिस प्रकार **रथ्ये** रथों से युद्ध करने योग्य **आजौ** संग्राम में **वक्वा** शब्द करने वाला घोड़ा **असर्जि** प्रेरित किया जाता है, वैसे ही **मनोता** जिसमें ज्ञान ओत-प्रोत है ऐसी **प्रथमा** श्रेष्ठ **मनीषा** मन को गति देने वाली **धिया** बुद्धि से **वक्वा** शब्दकारी प्राण **असर्जि** प्रेरित किया जाता है । जैसे **दश** दस **स्वसारः** अंगुलियाँ **सदनेषु अच्छ** यज्ञ-सदनों में **अव्ये** भेड़ के बालों से निर्मित **सानौ अधि** ऊपर उठाये हुए दशापवित्र में **वह्निम्** यज्ञ के वाहक सोमरस को **मृजन्ति** छानकर शुद्ध करती हैं, वैसे ही **दश** दस **स्वसारः** बहिनों के समान परस्पर सम्बद्ध प्राणशक्तियाँ **सदनेषु अच्छ** शरीर रूप सदनों में **अव्ये** नाशरहित **सानौ अधि** सर्वोन्नत परमात्मा के सान्निध्य में **वह्निम्** शरीर के वाहक जीवात्मा को **मृजन्ति** शुद्ध करती हैं ॥११॥

इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में वाच्य उपमालंकार है । उत्तरार्द्ध में श्लेषमूलक व्यङ्ग्योपमा है । 'मनो, मनी' में छेकानुप्रास है । 'मनोता, प्रथमा, मनीषा' में मकार का और 'रथ्ये यथाजौ धिया' में यकार का अनुप्रास है ॥११॥

भावार्थ—परमात्मा के आश्रय को प्राप्त करके जीवात्मा वैसे ही शुद्ध हो जाता है, जैसे दशापवित्र रूप छन्नी को प्राप्त कर सोमरस शुद्ध होता है ॥११॥

अथ स्तोतुर्मनीषाः सोमं परमात्मानं प्रति कथं यन्तीत्याह ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
५४४. अपामिवेदूर्मयस्तर्तुराणाः प्र मनीषा ईरते सोममच्छ ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
नमस्यन्तीरुप च यन्ति सं च विशन्त्युशतीरुशन्तम् ॥१२॥[2]
३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ १ १ २
अपाम् इव इत् ऊर्मयः ततुराणाः । प्र मनीषाः ईरते सोमम् अच्छ ॥
३ १ २ १ २ १ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
नमस्यन्तीः उप च यन्ति सम् च । आ च विशन्ति उशतीः उशन्तम् ॥१२॥

१. वह्नि वोढारं यज्ञस्य—इति भ० ।
२. ऋ० ९।९५।३ ।

पदार्थः—**अपाम्** उदकानाम् **ऊर्मयः इव** लहर्यः इव **इत्** निश्चयेन **तर्तुराणाः**[1] अतिशयेन त्वरमाणाः **मनीषाः** मदीयाः प्रज्ञाः **सोमम् अच्छ** रसागारं परमात्मानं प्रति **प्र ईरते** प्रकर्षेण यन्ति । किञ्च, ताः **नमस्यन्तीः** सोमाख्यं परमात्मानं नमस्कुर्वन्त्यः **उप यन्ति च** उपगच्छन्ति च **सं यन्ति च** संगच्छन्ते च । **उशतीः** उशत्यः कामयमानाः ताः **उशन्तम्** कामयमानं तं परमात्मानम् **आ विशन्ति च** समन्ततः प्रविशन्ति च ॥१२॥

अत्र 'अपामिवेदूर्मयः' इत्यादौ पूर्णोपमालङ्कारः ॥१२॥

भावार्थः—यथा नदीनामूर्मयः क्वचिन्निम्ना भवन्ति, क्वचित् परस्परम् उपयन्ति, क्वचिच्च संयन्ति, सुदीर्घं च मार्गं तीर्त्वाऽन्ततः समुद्रमाविशन्ति, तथैव स्तोतुर्मनीषा अपि परस्परमुपगच्छन्त्यः संगच्छन्त्यश्च परमात्मानमुपधावन्ति तमाविशन्ति च ॥१२॥

अत्र परमात्मसोमस्य सेनानीत्वेनानन्दधाराप्रवाहकत्वेन पापादिनाशकत्वेन ज्योतिर्जनकत्वेन च वर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्ति ॥

इति षष्ठे प्रपाठके प्रथमार्द्धे पञ्चमी दशतिः ।
इति पञ्चमेऽध्याये सप्तमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में स्तोता की बुद्धियाँ सोम परमात्मा के प्रति कैसे जाती हैं, इसका वर्णन है ।

पदार्थ—**अपाम्** जलों की **ऊर्मयः इव** लहरों के समान **इत्** निश्चय ही **तर्तुराणाः** अतिशय शीघ्रता करती हुई **मनीषाः** मेरी बुद्धियाँ **सोमम् अच्छ** रस के भण्डार परमात्मा के प्रति **प्र ईरते** प्रकृष्ट रूप से जा रही हैं । **नमस्यन्तीः** परमात्मा को नमस्कार करती हुई **उपयन्ति च** परस्पर समीप आती हैं, **सं यन्ति च** परस्पर मिलती हैं, और **उशतीः** परमात्मा से प्रीति रखती हुई वे **उशन्तम्** प्रीति करने वाले परमात्मा में **आ विशन्ति च** प्रविष्ट हो जाती हैं ॥१२॥

इस मन्त्र में 'अपामिवेदूर्मयः' इत्यादि में पूर्णोपमालंकार है ।

भावार्थ—जैसे नदियों की लहरें कहीं नीची होती हैं, कहीं परस्पर पास जाती हैं, कहीं परस्पर मिलती हैं और लम्बा मार्ग तय करके अन्ततः समुद्र में प्रविष्ट हो जाती हैं, वैसे ही स्तोता की बुद्धियाँ भी परस्पर सान्निध्य करती हुई, परस्पर मिलती हुई परमात्मा की ओर चलती चली जाती हैं और परमात्मा में प्रविष्ट हो जाती हैं ॥१२॥

इस दशति में परमात्मा-रूप सोम का सेनापति-रूप में, आनन्दधाराओं को प्रवाहित करने वाले के रूप में, पापादि के नष्टकर्ता के रूप में और ज्योति को उत्पन्न करने वाले के रूप में वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

षष्ठ प्रपाठक में प्रथम अर्ध की पाँचवीं दशति समाप्त ।
पंचम अध्याय में सप्तम खण्ड समाप्त ॥

—०—

१. तर्तुराणाः—तुर त्वरणे जौहोत्यादिकः, यङ्लुगन्तस्य शानचि रूपम् । अभ्यासस्य उवर्णस्य रेफादेशश्छान्दसः । अभ्यस्तस्वरः । तादृशाः ऋत्विजः—इति सा० ।

द्वितीयोऽर्धः

॥६॥ अथ 'पुरोजिती' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ आन्धीगुः श्यावाश्विः; २ नहुषो मानवः; ३ ययातिर्नाहुषः; ४ मनुः सांवरणः; ५, ८ ऋजिष्वाम्बरीषौ; ६, ७ रेभसूनू काश्यपौ; ९ प्रजापतिर्वाच्यो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—१-६, ८, ९ अनुष्टुप्; ७ बृहती ॥ स्वरः—१-६, ८, ९ गान्धारः; ७ मध्यमः ॥

तत्रादौ परमानन्दमाप्तुं किं कर्तव्यमित्याह ।

५४५. पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्नवे ।
अप श्वानं श्नथिष्टन सखायो दीर्घजिह्वयम् ॥१॥[1]
पुरोजिती पुरः जिती वः अन्धसः । सुताय मादयित्नवे ॥
अप श्वानम् श्नथिष्टन श्नथिष्ट न । सखायः स खायः
दीर्घजिह्वयम् दीर्घ जिह्वयम् ॥१॥

पदार्थः—हे **सखायः** सुहृदः ! **वः** यूयम् **अन्धसः** आध्यायनीयस्य परमात्मरूपस्य सोमस्य । अन्धः आध्यायनीयं भवति । निरु० ५।१ । **मादयित्नवे** हर्षकरस्य **सुताय** आनन्दरसस्य । उभयत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वक्तव्यम् अ० २।३।६२ वा० इत्यनेन षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । **पुरोजिती** पुरोजित्यै अग्रेजयाय । अत्र 'सुपां सुलुक्० । अ० ७।१।३९' इति चतुर्थ्यैकवचनस्य पूर्वसवर्णदीर्घः । **दीर्घजिह्वयम्** दीर्घजिह्वम्, सतत-विस्तारशीलम् । दीर्घा जिह्वा यस्य स दीर्घजिह्वः, ततः 'पादार्घाभ्यां च । अ० ५।४।२५' इत्यत्र चकार-स्यानुक्तसमुच्चयत्वेन दीर्घजिह्वशब्दात् स्वार्थे यत् प्रत्ययः[2] । **श्वानम्**[3] सांसारिकविषयलालसारूपम् सारमेयस्वभावम् **अप श्नथिष्टन** स्वान्तःकरणात् विनाशयत । श्नथतिः हन्तिकर्मा । निघं० २।१९ । 'तप्तनप्तनथनाश्च । अ० ७।१।४५' इति तस्य तनादेशः । सांसारिकविषयेभ्यो मनः प्रतिनिवर्त्य परमात्मन्येव केन्द्रीकुरुतेति भावः ॥१॥[4]

अत्र लोभस्य श्वशब्देन कथनादसम्बन्धे सम्बन्धरूपोऽतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—दीर्घजिह्वया विषयरसान् लेलिहानं लोभरूपं श्वानं विनाश्यैव जनैः परमात्मयोग-जन्योऽमन्दानन्दोऽधिगन्तुं शक्यते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में यह कथन है कि परमानन्द पाने के लिए क्या करना चाहिए ।

पदार्थ—हे **सखायः** साथियो ! **वः** तुम **अन्धसः** ध्यान करने योग्य परमात्मा रूप सोम के **मादयित्नवे** हर्षित करने वाले **सुताय** आनन्द-रस को **पुरोजिती** आगे बढ़ कर प्राप्त करने के लिए **दीर्घजिह्वयम्** लम्बी

१. ऋ० ९।१०१।१, साम० ६९७ ।
२. दीर्घा जिह्वा अस्य स दीर्घजिह्वी 'दीर्घजिह्वी च छन्दसि' अ० ४।१।५९ इति ङीषन्तत्वेन निपातितः । तादृशम्—इति सा० । तत्तु न समञ्जसम्, 'श्वानम्' इति पुल्लिङ्गेन 'दीर्घजिह्वयम्' इति स्त्रिया घटनाऽयोगात् ।
३. श्वानम् कञ्चिदुपद्रवकर्तारम् अपघ्नत—इति वि० । श्वानम् उपघातकम्—इति भ० । यथा श्वा राक्षसा वा सुतं सोमं न लिहन्ति तथा कुरुत—इति सा० ।
४. पशुपक्ष्यादिनामभिः केषाञ्चिद् दुर्गुणानां व्यक्तीकरणं वेदेष्वन्यत्रापि दृश्यते । यथा 'समिन्द्र गर्दभं मृण नुवन्तं पापया-मुया । ऋ० १।२९।५, 'उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् । ऋ० ७।१०४।२२ इत्यादौ ।

जीभ वाले अर्थात् निरन्तर बढ़ते रहने वाले **श्वानम्** श्वान के स्वभाव को अर्थात् सांसारिक विषय-भोगों के प्रति लोभ को **श्नथिष्टन** नष्ट कर दो। अभिप्राय यह है कि सांसारिक विषयों से मन को हटा कर परमात्मा में केन्द्रित करो ॥१॥

इस मन्त्र में लोभवृत्ति को कुत्तेवाची 'श्वन्' शब्द से कथित करने के कारण असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अलंकार है ॥१॥

भावार्थ—लम्बी जीभ से विषयभोगों के रस को चाटने वाले लोभ रूप श्वान को विनष्ट करके ही मनुष्य परमात्मयोग-जन्य तीव्र आनन्द को पा सकते हैं ॥१॥

अथ सोमस्य परमात्मनो महिमानमाह।

५४६. अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्षति।
पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद्रोदसी उभे ॥२॥[1]

अयम् पूषा रयिः भगः। सोमः पुनानः अर्षति॥
पतिः विश्वस्य भूमनः। वि अख्यत् रोदसीइति उभेइति ॥२॥

पदार्थः—**पूषा** पोषकः **रयिः** ऐश्वर्यवान् ऐश्वर्यप्रदाता वा। अत्र रयिशब्दस्य तद्वति तत्प्रदातरि वा लक्षणा, भूयस्त्वं च व्यज्यते। **भगः** भजनीयः **अयं सोमः** एष रसागारः प्रेरकः परमेश्वरः **पुनानः** रचितानि सर्वाणि वस्तूनि पवित्रीकुर्वन् **अर्षति** गच्छति, सक्रियो भवति। **विश्वस्य** सर्वस्य **भूमनः** ब्रह्माण्डस्य **पतिः** स्वामी रक्षको वा एष परमेश्वरः **उभे** द्वे अपि **रोदसी** द्यावापृथिव्यौ। **व्यख्यत्** तेजसा प्रकाशयति। एतेन परमेश्वरस्य जगच्छिल्पित्वं व्यज्यते ॥२॥

भावार्थः—सर्वस्य जगतो रचयिता धारकः, प्रकाशकः, परमैश्वर्यवान् परमैश्वर्यप्रदाता च जगदीश्वरः सर्वैर्भजनीयः ॥२॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा की महिमा वर्णित की गयी है।

पदार्थ—**पूषा** पुष्टिकर्ता, **रयिः** ऐश्वर्यवान् और ऐश्वर्यप्रदाता, **भगः** भजनीय **अयं सोमः** यह रसागार प्रेरक परमेश्वर **पुनानः** रची हुई सब वस्तुओं को पवित्र करता हुआ **अर्षति** सक्रिय हो रहा है। **विश्वस्य** सकल **भूमनः** ब्रह्माण्ड का **पतिः** स्वामी वा रक्षक यह परमेश्वर **उभे** दोनों **रोदसी** भूगोल व खगोल को **व्यख्यत्** तेज से प्रकाशित करता है। इस वर्णन से परमेश्वर का जगत् का शिल्पी होना व्यंजित हो रहा है ॥२॥

भावार्थ—सब जगत् का रचयिता, धारक, प्रकाशक, ऐश्वर्यशाली तथा ऐश्वर्य का दाता जगदीश्वर सबके द्वारा भजन करने योग्य है ॥२॥

अथ परमानन्दरूपसोमरसविषयमाह।

५४७. सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः।
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदाः ॥३॥[2]

---

१. ऋ० ९।१०१।७, साम० ८१८।

२. ऋ० ९।१०१।४, साम० ८७२, अथ० २०।१३७।४।

३ १ २ १२१ १२१ १ २१ ३ १ २
सुतासः मधुमत्तमाः । सोमाः इन्द्राय मन्दिनः ॥
३ १ २ ३ २ ३ १२१
पवित्रवन्तः अक्षरन् । देवान् गच्छन्तु वः मदाः ॥३॥

पदार्थः—**मधुमत्तमाः** अतिशयमधुराः **मन्दिनः** हर्षकराः **सोमाः** परमानन्दरसाः **इन्द्राय** जीवात्मने **सुतासः** अभिषुताः **पवित्रवन्तः**[1] मनोरूपदशापवित्रयुक्ताः **अक्षरन्** आत्मकलशे प्र क्षरन्ति । ते **मदाः** परमानन्दरसाः **वः** युष्मान् **देवान्** सर्वान् विदुषः **गच्छन्तु** प्राप्नुवन्तु ॥३॥

भावार्थः—ध्यानद्वारा परमात्मनः सकाशात् प्रादुर्भूता मधुरमधुराः परमानन्दरसा मनसो माध्यमेन जीवात्मानमधिगच्छन्ति ॥३॥

अगले मन्त्र में परमानन्दरूप सोमरस का विषय है ।

पदार्थ—**मधुमत्तमाः** सबसे अधिक मधुर, **मन्दिनः** हर्षजनक **सोमाः** परमानन्द-रस **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए **सुतासः** अभिषुत किये हुए, **पवित्रवन्तः** मन रूप दशापवित्र से युक्त होकर **अक्षरन्** आत्मा रूप कलश में क्षरित होते हैं । वे **मदाः** परमानन्दरस **वः** आप **देवान्** सब विद्वान् जनों को **गच्छन्तु** प्राप्त होवें ॥३॥

भावार्थ—ध्यान द्वारा परमात्मा के पास से प्रादुर्भूत अत्यन्त मधुर परमानन्दरस मन के माध्यम से जीवात्मा को प्राप्त होते हैं ॥३॥

कीदृशाः परमानन्दरसाः अस्मान् पवित्रीकुर्वन्तीत्याह ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५४८. **सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः ।**
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २१ ३ १ २
मित्राः स्वाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः ॥४॥[2]
१ २१ ३ १ २१ ४ १ २ ३ १ २ ३ १ २१
सोमाः पवन्ते इन्दवः । अस्मभ्यम् गातुवित्तमाः गातु वित्तमाः ॥
३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
मित्राः मि त्राः स्वानाः अरेपसः अ रेपसः ।
३क २ ३ क २ ३ १ २ ३ १ २१
स्वाध्यः सु आध्यः स्वर्विदः स्वः विदः ॥४॥

पदार्थः—**इन्दवः** प्रकाशमयाः रसेन क्लेदयितारो वा । इन्दुः इन्धेः उनत्तेर्वा । निरु० १०।४१ । **सोमाः** परमानन्दरसाः **पवन्ते** अस्मान् पवित्रीकुर्वन्ति । ये **अस्मभ्यम्** अस्माकं कृते **गातुवित्तमाः** अतिशयेन सन्मार्गलम्भकाः, **मित्राः** मित्रभूताः । वेदे सुहृद्वाचको मित्रशब्दः पुंस्यपि दृश्यते । **स्वानाः** सुवानाः सद्-गुणान् प्रति प्रेरयन्तः, **अरेपसः** निष्पापाः, निष्कलङ्काः, निर्दोषाः **स्वाध्यः** उत्कृष्टध्याने सहायकाः, **स्वर्विदः** मोक्षप्रापकाश्च सन्तीति शेषः । स्वः मोक्षसुखं वेदयन्ते प्रापयन्तीति तादृशाः ॥४॥

अत्र साभिप्रायाणां बहूनां विशेषणानां योगात् परिकरालङ्कारः ॥४॥[3]

भावार्थः—ये ब्रह्मानन्दरसा जीवने सन्मार्गदर्शकाः सुहृद्वत् परमोपकारकाः शुभगुणप्रेरकाः ध्याने सहायकाः मोक्षप्रापकाश्च भवन्ति ते पावकाः कुतो न स्युः ॥४॥

---

१. पवित्रवन्तः दशापवित्रेण संसृष्टाः—इति भ० ।
२. ऋ० ९।१०१।१० 'सुवाना' इति पाठः । साम० ११०१ ।
३. विशेषणैर्यत् साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः (का० प्र० १०।८७), इति तल्लक्षणात् ।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि कैसे परमानन्दरस हमें पवित्र करते हैं।

पदार्थ—**इन्दवः** प्रकाशमय अथवा रस से आर्द्र करने वाले **सोमाः** परमानन्दरस **पवन्ते** हमें पवित्र करते हैं, जो **अस्मभ्यम्** हमारे लिए **गातुवित्तमाः** अतिशय सन्मार्ग को प्राप्त कराने वाले, **मित्राः** मित्रभूत, **स्वानाः** सद्गुणों की ओर प्रेरित करने वाले, **अरेपसः** निष्पाप, निष्कलंक, निर्दोष, **स्वाध्यः** उत्कृष्ट ध्यान में सहायक और **स्वर्विदः** मोक्ष प्राप्त कराने वाले हैं ॥४॥

इस मन्त्र में अनेक साभिप्राय विशेषणों का योग होने से परिकरालंकार है ॥४॥

भावार्थ—जो ब्रह्मानन्दरस जीवन में सन्मार्ग दिखाने वाले, मित्र के सदृश परम उपकारक, शुभगुण-प्रेरक, ध्यान में सहायक और मोक्षप्रापक होते हैं, वे पवित्रता देने वाले क्यों न होंगे ॥४॥

अथ सोमं परमात्मानं धनं प्रार्थयते।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५४९. **अभी नो वाजसातमं रयिमर्ष शतस्पृहम्।**
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्दो सहस्रभर्णसं तुविद्युम्नं विभासहम् ॥५॥[1]
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अभि नः वाजसातमम् वाज सातमम्। रयिम् अर्ष शतस्पृहम् शत स्पृहम् ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इन्दो सहस्रभर्णसम् सहस्र भर्णसम्। तुविद्युम्नम् तुवि द्युम्नम्
३ १ २ ३ १ २
विभासहम् विभा सहम् ॥५॥

पदार्थः—हे **इन्दो** आनन्दरसेन क्लेदक परमात्मन्! त्वम् **वाजसातमम्** अतिशयेन बलस्य प्रदातारम्। वाजं बलं सनोति ददातीति वाजसाः, वाजोपपदात् षणु दाने धातोः 'जनसनखनक्रमगमो विट्। अ० ३।२।६७' इति नकारस्यात्त्वम्। ततोऽतिशायने तमप् प्रत्ययः। **शतस्पृहम्** बहुभिः स्पृहणीयम् **सहस्रभर्णसम्**[2] सहस्रगुणानां धारयितारम्, यद्वा सहस्राणां जनानां पोषयितारम्। सहस्रं बिभर्तीति सहस्रभर्णाः तम्। **तुविद्युम्नम्** बहुयशस्करम्। **विभासहम्**[3] शत्रुप्रतापस्य अभिभावकम्। विभां शात्रवं तेजः सहते पराभवतीति तम्। **रयिम्** आध्यात्मिकं भौतिकं च ऐश्वर्यम् **नः** अस्मान् **अभि अर्ष** प्रापय। संहितायाम् 'अभी' इति दीर्घश्छान्दसः ॥५॥

भावार्थः—परमात्मनः कृपया स्वपुरुषार्थेन च सर्वैः सत्याहिंसाऽणिममहिमलघिमादिकमाध्यात्मिकं स्वर्णरजतमणिमुक्तादिकं भौतिकं च धनं प्राप्तुं शक्यते, येनात्मिकं शारीरं च बलं, सहस्रगुणगगं, सहस्राणां पोषणसामर्थ्यं, कीर्तिं चाप्तुं शत्रूणां तेजः पराभवितुं च ते क्षमन्ते ॥५॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा से धन की प्रार्थना है।

पदार्थ—हे **इन्दो** आनन्दरस से आर्द्र करने वाले परमात्मन्! आप **वाजसातमम्** अतिशय बल के प्रदाता, **शतस्पृहम्** बहुतों से स्पृहणीय, **सहस्रभर्णसम्** सहस्र गुणों को धारण कराने वाले अथवा सहस्रों जनों का पोषण करने वाले, **तुविद्युम्नम्** बहुत यश को देने वाले, **विभासहम्** शत्रु के प्रताप को अभिभूत करने वाले **रयिम्** आध्यात्मिक तथा भौतिक ऐश्वर्य को **नः** हमें **अभि अर्ष** प्राप्त कराइए ॥५॥

---

१. ऋ० ९।९८।१, 'अभी, शतस्पृहम्, विभासहम्' इत्यत्र क्रमेण 'अभि, पुरुस्पृहम्, विभ्वासहम्' इति पाठः। साम० १२३८।

२. सहस्रभर्णसं बहूनां पोषकम्—इति भ०। बहुविधभरणम् अनेकपोषणयुक्तमित्यर्थः—इति सा०।

३. विभासहं विदीप्तीनां शत्रूणाम् अभिभवितारम्—इति भ०। महतः प्रकाशस्याभिभवितारम् अतितेजस्विनमित्यर्थः—इति सा०।

भावार्थ—परमात्मा की कृपा से और अपने पुरुषार्थ से सब लोग सत्य, अहिंसा, अणिमा, महिमा, लघिमा आदि आध्यात्मिक तथा सोना, चाँदी, मणि, मोती आदि भौतिक धन प्राप्त कर सकते हैं, जिससे वे आत्मिक और शारीरिक बल, सहस्रों गुण, सहस्रों के पोषण का सामर्थ्य और कीर्ति प्राप्त करने में तथा शत्रु के तेज को परास्त करने में समर्थ हो जाते हैं ॥५॥

अथ मनोवृत्तयः परमात्मानं कथमास्वादयन्तीत्याह ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
५५०. अभी नवन्ते अद्रुहः प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
वत्सं न पूर्व आयुनि जातं रिहन्ति मातरः ॥६॥[1]

३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ २ १ २ १ २ १
अभि नवन्ते अद्रुहः अ द्रुहः । प्रियम् इन्द्रस्य काम्यम् ॥
३ २ १ २ १ ३ २ ३ १ २
वत्सम् न पूर्वे आयुनि । जातम् रिहन्ति मातरः ॥६॥

पदार्थः—**अद्रुहः** न द्रुह्यन्ति प्रत्युत स्निह्यन्ति यास्ताः **मातरः** जननीवत् पालयित्र्यः मनोवृत्तयः **प्रियम्** स्निग्धम्, **इन्द्रस्य** जीवात्मनः **काम्यम्** अभिलषणीयम् सोमं परमात्मानम् **अभि** अभिलक्ष्य **नवन्ते** गच्छन्ति । नवते गतिकर्मा । निघं० २।१४ । **जातम्** हृदि आविर्भूतं च तम् **रिहन्ति** लिहन्ति, आस्वादयन्ति, तेन संसृज्यन्ते इत्यर्थः । रिह आस्वादने । **जातम्** उत्पन्नम् **वत्सम्** स्वतर्णकम् **न** यथा **पूर्वे आयुनि** प्रथमे वयसि । अत्र छान्दसस्य उकारान्तस्य आयुशब्दस्य नपुंसि सप्तम्येकवचने रूपं विज्ञेयम् । **मातरः** तज्जनन्यो धेनवः **रिहन्ति** जिह्वया लिहन्ति ॥६॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः । लेहनं तावज्जिह्वया भवति, तच्च मनोवृत्तीनां पक्षे न घटते । तेनात्र लक्षणया संसर्गार्थो बोध्यते, सामीप्यातिशयश्च व्यङ्ग्यः । धेनुपक्षे तु जिह्वया लेहनं संभवत्येव, अतस्तत्र न लक्षणा ॥६॥

भावार्थः—यथा नवजातं वत्सं धेनवः प्रेम्णा लिहन्ति, तथैव हृदि प्रादुर्भूतं परमेश्वरं मनोवृत्तयस्तत्प्रेमपरिप्लुताः सत्य आस्वादयन्ति ॥६॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि मनोवृत्तियाँ परमात्मा का कैसे स्वाद लेती हैं ।

पदार्थ—**अद्रुहः** द्रोह न करने वाली, प्रत्युत स्नेह करने वाली, **मातरः** माताओं के समान पालन करने वाली मनोवृत्तियाँ **प्रियम्** प्रिय, **इन्द्रस्य** जीवात्मा के **काम्यम्** चाहने योग्य परमात्मा की **अभि** ओर **नवन्ते** जाती हैं, और **जातम्** हृदय में प्रकट हुए उसे **रिहन्ति** चाटती हैं अर्थात् उससे सम्पर्क करती हैं, **जातम्** उत्पन्न हुए **वत्सम्** अपने बछड़े को **न** जैसे **पूर्वे आयुनि** प्रथम आयु में **मातरः** गौ-माताएँ **रिहन्ति** चाटती हैं ॥६॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है । चाटना जिह्वा से होता है, वह मनोवृत्तियों के पक्ष में घटित नहीं होता । इसलिए यहाँ लक्षणा से संसर्ग अर्थ का बोध होता है, सामीप्य का अतिशय व्यङ्ग्य है । गाय के पक्ष में जिह्वा से चाटना सम्भव होने से लक्षणा नहीं है ॥६॥

भावार्थ—जैसे नवजात बछड़े को गौएँ प्रेम से चाटती हैं, वैसे ही हृदय में प्रादुर्भूत परमेश्वर का उसके प्रेम में भरकर मनोवृत्तियाँ रसास्वादन करती हैं ॥६॥

---

१. ऋ० ९।१००।१ ।

अथ सोमं परमेश्वरमधिगन्तुमुपासका जनाः किं कुर्वन्तीत्युच्यते ।

१ २,३ १ २ ३ २,३ १ २ ३ १ २
५५१. **आ हर्यताय धृष्णवे धनुष्टन्वन्ति पौंस्यम् ।**
३,२,३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १,२ २,१ ३ १ २
शुक्रा वि यन्त्यसुराय निर्णिजे विपामग्रे महीयुवः ॥७॥[1]

२ ३ १,२,३ १,२ १,२,१ ३ १ २,१ ३ २ ३
आ हर्यताय धृष्णवे । धनुः तन्वन्ति पौंस्यम् ॥ शुक्राः वि यन्ति
१,२,१ ३ ३ १,२ ३ १,२,१ ३,२ १,२,१ ३ १,२
असुराय अ सुराय निर्णिजे निः निजे । विपाम् अग्रे महीयुवः ॥७॥

पदार्थः—**हर्यताय** स्पृहणीयाय । हर्य गतिकान्त्योः 'भृमृदृशियजिपर्विपच्यमितमिनमिहर्येभ्योऽतच्' उ० ३।११० इत्यतच् प्रत्ययः । **धृष्णवे** कामादिशत्रूणां धर्षणशीलाय सोमाय परमात्मने, सोमं परमात्मानं प्राप्तुमित्यर्थः । हर्यताय, धृष्णवे इत्यत्र 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । अ० २।३।१४' इति कर्मणि कारके चतुर्थी । योगसाधका जनाः **पौंस्यम्** पुरुषार्थरूपम् । पौंस्यमिति बलनाम । निघं० २।९ । पुंसो भावः कर्म वा पौंस्यम् । **धनुः** चापम् **आ तन्वन्ति** अधिज्यं कुर्वन्ति, तत्र ध्यानरूपां प्रत्यञ्चामधिरोहयन्तीति भावः । **शुक्राः** पवित्रान्तःकरणाः ते **महीयुवः** पूजाकामाः साधकाः । महीं पूजामिच्छन्तीति ते, क्यचि 'क्याच्छन्दसि । अ० ३।२।१७०' इति उः प्रत्ययः । **असुराय** प्राणप्रदातुः जीवात्मनः । असून् प्राणान् राति ददातीत्यसुरः । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । **निर्णिजे** शोधनाय । निर् पूर्वाद् णिजिर् शौचपोषणयोः इति क्विबन्तस्य चतुर्थ्येकवचने रूपम् । **विपाम्** मेधाविनाम् । विप इति मेधाविनाम निघं० ३।१५ । **अग्रे** सम्मुखम् **वि यन्ति** विशेषतः शिष्यभावेन गच्छन्ति ॥७॥

अत्र पौंस्ये धनुष्ट्वस्यारोपणाद् रूपकालङ्कारः । योगसाधनायां धनुषो रूपकं मुण्डकेऽपि प्रपञ्चितम् । तथाहि—"धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत । आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥ प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्" इति मु० २।२।३, ४ ॥७॥

भावार्थः—योगसाधका जनाः स्वपुरुषार्थेन, ध्यानेन, गुरोः कृपया च स्वकीयमात्मानं संशोध्य परमात्मानं प्राप्तुमर्हन्ति ॥७॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि सोम परमेश्वर को पाने के लिए उपासक जन क्या करते हैं ।

पदार्थ—**हर्यताय** चाहने योग्य, **धृष्णवे** कामादि शत्रुओं का धर्षण करने वाले सोम परमात्मा को पाने के लिए, योगसाधक लोग **पौंस्यम्** पुरुषार्थ-रूप **धनुः** धनुष को **आ तन्वन्ति** तानते हैं अर्थात् पुरुषार्थरूप धनुष पर ध्यानरूप डोरी को चढ़ाते हैं । **शुक्राः** पवित्र अन्तःकरण वाले वे **महीयुवः** पूजा के इच्छुक साधक लोग **असुराय** प्राणप्रदायक जीवात्मा को **निर्णिजे** शुद्ध करने के लिए **विपाम्** मेधावी विद्वानों के **अग्रे** संमुख **वि यन्ति** विशेष शिष्यभाव से पहुँचते हैं ॥७॥

इस मन्त्र में पौंस्य में धनुष का आरोप होने से रूपकालंकार है । योगसाधना में धनुष का रूपक मुण्डकोपनिषद् में इस प्रकार बाँधा गया है—"उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मविद्यारूप धनुष को पकड़कर, उस पर उपासनारूप बाण चढ़ाये । तन्मय चित्त से धनुष को खींचकर अक्षर ब्रह्म रूप लक्ष्य को बींधे । प्रणव धनुष है, आत्मा शर है, ब्रह्म उसका लक्ष्य है । अप्रमत्त होकर ब्रह्म को बींधना चाहिए, उपासक उस समय बाण की भाँति तन्मय हो जाये" (मु० २।२।३, ४) ॥७॥

---

१. ऋ० ९।९९।१ 'धनुस्तन्वन्ति' इति 'शुक्रां वयन्त्यसुराय निर्णिजं' इति च पाठः ।

भावार्थ—योगसाधक लोग अपने पुरुषार्थ से, ध्यान से और गुरु की कृपा से अपने आत्मा को शुद्ध कर परमात्मा को पाने योग्य हो जाते हैं ॥७॥

अथ जीवात्मनः शोधनविषयमाह ।

५५२. परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण ।
यो देवान् विश्वाँ इत् परि मदेन सह गच्छति ॥८॥[1]
परि त्यम् हर्यतम् हरिम् । बभ्रुम् पुनन्ति वारेण ॥
यः देवान् विश्वान् इत् परि । मदेन सह गच्छति ॥८॥

पदार्थः—योगसाधनपरायणा जनाः **त्यम्** तम् । अस्ति तावद् वेदे त्यच्छब्दः तच्छब्दपर्यायः । **हर्यतम्** स्पृहणीयम्, **बभ्रुम्** शरीरस्य भरणपोषणकर्तारम् । बिभर्तीति बभ्रुः, डुभृञ् धारणपोषणयोः 'कुभ्रश्च । उ० १।२२' इति कु प्रत्ययो धातोर्द्वित्वं च । **हरिम्** स्वकीयम् आत्मानम् **वारेण** दोषनिवारकेण यमनियमादिना ईश्वरप्रणिधानेन च **पुनन्ति** शोधयन्ति, **यः** आत्मा **मदेन सह** आनन्देन सार्धम् **विश्वान् इत्** सर्वान् एव **देवान्** प्राणमनोबुद्धिचित्ताहंकारेन्द्रियादीन् **परिगच्छति** व्याप्नोति ।

सोमौषधिरसरूपः सोमोऽपि हरिरुच्यते । श्लेषेण तत्पक्षेऽप्यर्था योजनीयः । तत्पक्षे बभ्रुः बभ्रुवर्णः । वारः अविबालनिर्मितं दशापवित्रम्, येन सोमरसं पुनन्ति । स च सोमरसः मदेन सह सर्वान् पातॄन् गच्छति ॥८॥

भावार्थः—असत्यहिंसाछलकपटसंशयप्रमादालस्यभ्रान्त्यादिदोषैर्दूषितं स्वकीयमात्मनं योगोपायैः संशोध्यैव मनुष्यः पारमार्थिकमैहिकं चोत्कर्षं प्राप्तुमर्हति ॥८॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा के शोधन का विषय वर्णित है ।

पदार्थ—योगसाधना करने वाले लोग **त्यम्** उस **हर्यतम्** चाहने योग्य, **बभ्रुम्** शरीर के भरण-पोषणकर्ता **हरिम्** अपने आत्मा को **वारेण** दोष-निवारक यम, नियम आदि तथा ईश्वरप्रणिधान के द्वारा **पुनन्ति** शुद्ध करते हैं, **यः** जो आत्मा योगसिद्ध होने पर **मदेन सह** आनन्द के साथ **विश्वान् इत्** सभी **देवान्** प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन्द्रिय आदियों को **परिगच्छति** व्याप्त कर लेता है ॥

सोम ओषधि का रस भी हरि कहलाता है । श्लेष से उसके पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए । उस पक्ष में 'बभ्रु' का अर्थ होता है भूरे रंग का और 'वार' का अर्थ भेड़ के बालों से निर्मित दशापवित्र, जिससे सोमरस को छानकर शुद्ध करते हैं । वह सोमरस आनन्द देता हुआ सब पानकर्ताओं को प्राप्त होता है ॥८॥

भावार्थ—असत्य, हिंसा, छल, कपट, संशय, प्रमाद, आलस्य, भ्रान्ति आदि दोषों से दूषित अपने आत्मा को योग के उपायों से शुद्ध करके ही मनुष्य ऐहिक और पारमार्थिक उत्कर्ष पाने योग्य होता है ॥८॥

अथ कीदृशो जनः समाजाद् बहिष्कार्य इत्याह ।

५५३. प्र सुन्वानायान्धसो मर्तो न वृत तद्वचः ।
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥९॥[2]

१. ऋ० ९।९८।७ ।

२. ऋ० ९।१०१।१३, एकः प्रजापतिरेव ऋषिः । 'प्र सुन्वानस्यान्धसो मर्तो न वृत तद्वचः' इति पाठः । साम० ७७४, १३८६ ।

२ ३ १ २ १ २१ १ २१ ३ २ १ २१
प्र सुन्वानाय अन्धसः । मर्तः न वष्ट तत् वचः ॥
१ २१ १ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २१
अप श्वानम् अराधसम् अ राधसम् । हत मखम् न भृगवः ॥९॥

पदार्थः—**अन्धसः** सोमरसस्य । द्वितीयार्थे षष्ठी । **सुन्वानाय** अभिषवं कुर्वते, सोमयागपरायणाय समाजसेवापरायणाय प्रभुभक्तिपरायणाय वा जनाय, यः **मर्तः** मनुष्यः **तत्** प्रशंसात्मकम् **वचः** वचनम् **न प्र वष्ट** न कामयते, तस्य प्रशंसां न करोति, प्रत्युत तस्मै द्रुह्यतीत्यर्थः । वश कान्तौ अदादिः, आत्मनेपदं छान्दसम् । लडर्थे लङ्, अडागमाभावः । तम् **अराधसम्**[1] यज्ञस्य, समाजस्य, परमेश्वरस्य च अनाराधकम् **श्वानम्**[2] श्ववृत्तिं लोभपरायणं स्वोदरंभरिं जनम् **अप हत** दूरीकुरुत । हन्तेर्लोटि मध्यमबहुवचने रूपम् । संहितायाम् 'द्व्यचोऽतस्तिङः अ० ६।३।१३५' इति दीर्घः । **न** यथा **भृगवः** तपस्विनो जनाः । भृज्जति तपसा शरीरमिति भृगुः । भ्रस्ज पाके धातोः 'प्रथिभ्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च । उ० १।२८' इति कु प्रत्ययः सम्प्रसारणं सकारलोपश्च । **मखम्**[3] चाञ्चल्यम् अपघ्नन्ति तद्वत् । मख गत्यर्थः, भ्वादिः । यद्वा मखो मखासुरः, छद्मयज्ञो नरः, तं भृगवः तेजस्विनो राजपुरुषाः यथा अपघ्नन्ति दण्डयन्ति तद्वदित्यर्थोऽध्यवसेयः ॥९॥[4]

'श्वानम्' इत्यत्र साध्यवसानलक्षणामूलोऽतिशयोक्तिरलङ्कारः । निरुक्तपद्धत्या तु लुप्तोपमाऽर्थोपमा व्यङ्ग्योपमा वा, यथाह यास्काचार्यः—"अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते । सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम्, श्वा काक इति कुत्सायाम् । (निरु० ३।१८)' इति । 'मखं न भृगवः' इत्यत्रोपमालङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—परमेश्वरद्रोही, यज्ञद्रोही, समाजद्रोही, श्ववद् विषयलुब्धो जनः समाजाद् बहिष्कार्यः ॥९॥

अत्र परमात्मसोमस्य तज्जन्यब्रह्मानन्दरससोमस्य च प्राप्त्युपायवर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्ति ॥

इति षष्ठे प्रपाठके द्वितीयार्धे प्रथमा दशतिः ।
इति पञ्चमेऽध्यायेऽष्टमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में कहा गया है कि कैसे मनुष्य को समाज से बहिष्कृत करना चाहिए ।

पदार्थ—**अन्धसः** सोमरस के **सुन्वानाय** अभिषुत करने वाले अर्थात् सोमयाग, समाजसेवा और प्रभुभक्ति करने वाले जन के लिए, जो **मर्तः** मनुष्य **तत्** उस प्रशंसात्मक **वचः** वचन को **न प्र वष्ट** नहीं कहना चाहता, उस **अराधसम्** अयज्ञसेवी, असमाजसेवी और अप्रभुसेवी तथा **श्वानम्** श्वान के समान लोभी, अपना ही पेट भरने वाले मनुष्य को **अपहत** दूर कर दो, **न** जैसे **भृगवः** तपस्वी लोग **मखम्** चंचलता को दूर करते हैं, अथवा **न** जैसे **भृगवः** तेजस्वी राजपुरुष **मखम्** मखासुर को अर्थात् यज्ञ का ढोंग रचने वाले को दण्डित करते हैं ॥९॥

'श्वानम्' में साध्यवसानालक्षणामूलक अतिशयोक्ति अलंकार है । निरुक्त की पद्धति से 'श्वानम्' में लुप्तोपमा, अर्थोपमा या व्यंग्योपमा है, जैसा कि निरुक्त (३।१८) में लुप्तोपमा के प्रसंग में

---

१. अराधसम् असमृद्धिहेतुककर्माणम्—इति भ० ।

२. श्वानम् श्वानमिव अराधसम्—इति वि० ।

३. 'अमघमिव यथा अमघम् अदातारं यज्ञे न प्रवेशयन्ति तद्वत् भृगवः दीप्ताः यूयं हे मदीयाः जनाः' इति भरतव्याख्यानं तु पदपाठविरुद्धं स्वरविरुद्धं च ।

४. इन्द्रोऽपि मखस्य शिरश्छिनत्ति—त्वं मखस्य दोधतः शिरोऽव त्वचोऽभरः (ऋ० १०।१७१।२)। सायणमते तु 'यथा पुरा अराधसं मखम् एतन्नामानं भृगवोऽपहृतवन्तः तथा अपहतेत्यर्थः ।

कहा है कि श्वा और काक निन्दा अर्थ में लुप्तोपमा के रूप में आते हैं। 'मखं न भृगवः' में उपमालंकार है ॥९॥

भावार्थ—परमेश्वरद्रोही, यज्ञद्रोही, समाजद्रोही और श्वान के समान विषयलोभी जन को समाज से बहिष्कृत कर देना चाहिए ॥९॥

इस दशति में परमात्मारूप सोम तथा परमात्मजन्य ब्रह्मानन्दरस की प्राप्ति का उपाय वर्णित होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

षष्ठ प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की प्रथम दशति समाप्त।

पञ्चम अध्याय में अष्टम खण्ड समाप्त ॥

॥७॥ अथ 'अभि प्रियाणि' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१-३, ५ कविर्भार्गवः; ४, ६ ऋषिगणः; ७ रेणुर्वैश्वामित्रः; ८ वेनो भार्गवः; ९ वसुर्भारद्वाजः; १० वत्सप्रीः; ११ अत्रिर्भौमः; १२ पवित्र आङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

तत्रादौ सोमस्य परमात्मनो महिमानमाह।

५७४. अभि प्रियाणि पवते चनोहितो नामानि यह्वो अधि येषु वर्धते।
आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि रथं विष्वञ्चमरुहद् विचक्षणः ॥१॥[1]

अभि प्रियाणि पवते चनोहितः चनः हितः। नामानि यह्वः अधि येषु वर्धते ॥
आ सूर्यस्य बृहतः बृहन् अधि। रथम् विष्वञ्चम् वि स्वञ्चम् अरुहत्
विचक्षणः वि चक्षणः ॥१॥

पदार्थः—**चनोहितः** चनसि आस्वादे हितः हितकरः। चनः इत्यन्नाम। निरु० ६।१६। **यह्वः** महान् परमात्मसोमः **प्रियाणि** स्निग्धानि **नामानि** नमनशीलानि हृदयानि **अभि** अभिलक्ष्य **पवते** प्रवाहितो भवति, **येषु अधि** येषु हृदयेषु अयम् **वर्द्धते** वृद्धिमाप्नोति। किञ्च **विचक्षणः** विशेषेण द्रष्टा **बृहन्** महाशक्तिः एष परमात्मा **बृहतः** विशालस्य **सूर्यस्य** आदित्यस्य **वि-स्वञ्चम्** विविधतया शोभनगतियुक्तम् **रथम् अधि** रथस्योपरि **आ अरुहत्** आरूढवानस्ति। स एव सूर्यमण्डलस्य कार्यविधिं सञ्चालयतीत्यर्थः। "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्" (य० ४०।१७) इति श्रुतेः ॥१॥

भावार्थः—सर्वस्याः सूर्यचन्द्रादिसृष्टेः सञ्चालकः परमेश्वरो ध्यातः सन्नुपासकानां हृदये प्रकटीभवति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में सोम परमात्मा की महिमा का वर्णन है।

पदार्थ—**चनोहितः** आस्वाद में हितकर, **यह्वः** महान् परमात्मारूप सोम **प्रियाणि** प्रिय, **नामानि** नमनशील हृदयों की **अभि** ओर **पवते** प्रवाहित होता है, **येषु अधि** जिन हृदयों में, यह **वर्द्धते** बढ़ता है। **विचक्षणः** विशेष द्रष्टा, **बृहन्** बड़ी शक्ति वाला यही परमात्मा **बृहतः** विशाल **सूर्यस्य** सूर्य के **विष्वञ्चम्** विविध उत्कृष्ट गति वाले **रथम् अधि** रथ के ऊपर **आ अरुहत्** आरूढ़ है, अर्थात् आदित्यमण्डल की कार्य-

१. ऋ० ९।७५।१, साम० ७००।

विधि का संचालन भी वही कर रहा है, जैसा कि वेद में परमात्मा स्वयं कहता है—'जो आदित्य में पुरुष है, वह मैं ही हूँ' (य० ४०।१७) ॥१॥

भावार्थ—सूर्य-चन्द्र आदि सकल सृष्टि का सञ्चालक परमेश्वर ध्यान करने पर उपासकों के हृदय में प्रकट हो जाता है ॥१॥

अथ ब्रह्मानन्दरसादीन् प्रार्थयते।

५५५. अचोदसो नो धन्वन्त्विन्दवः प्र स्वानासो बृहद् देवेषु हरयः।
वि चिदश्नाना इषयो अरातयोऽर्यो नः सन्तु सनिषन्तु नो धियः ॥२॥[1]

अचोदसः अ चोदसः नः धन्वन्तु इन्दवः। प्र स्वानासः बृहत् देवेषु हरयः ॥
वि चित् अश्नानाः इषयः अरातयः अ रातयः।
अर्यः नः सन्तु सनिषन्तु नः धियः ॥२॥

पदार्थः—**अचोदसः** अन्येन केनापि अप्रेरिताः स्वाभाविनिःसृता इत्यर्थः, **स्वानासः** शब्दकारिणः दिव्यसन्देशवाहिनः इत्यर्थः। स्वनन्ति शब्दायन्ते इति स्वानाः, त एव स्वानासः। **हरयः** पापहारिणः **इन्दवः** ब्रह्मानन्दरसाः **नः** अस्माकम् **देवेषु** राष्ट्रस्य विद्वत्सु, शरीरस्य मनोबुद्धीन्द्रियादिषु वा **बृहत्** बहु **प्र धन्वन्तु** प्रकृष्टतया प्राप्नुवन्तु। धन्वतिः गतिकर्मा। निघं० २।१४। **इषयः** भोगेच्छामात्रपरायणाः। इषु इच्छायाम्। **अश्नानाः** स्वयमेव भुञ्जानाः, **अरातयः** अदानशीलाः **नः अर्यः** अस्माकम् अरयः आध्यात्मिका बाह्याश्च शत्रवः। अत्र 'जसादिषु छन्दसि वावचनं प्राङ् णौ चङ्युपधायाः। अ० ७।३।१०९ वा०' इति गुणाभावे यणि रूपम्। **वि चित् सन्तु** अस्मत्तो दूरे एव भवन्तु, **धियः** सद्विचाराश्च **नः** अस्मान् **सनिषन्तु** संभजन्तु। षण सम्भक्तौ भ्वादिः, लोटि सनन्तु इति प्राप्ते बहुलं सिब्विकरणे रूपम् ॥२॥

अत्र नकारादीनामसकृदावर्तनाद् वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः। 'नः सन्तु, नि षन्तु' इति च छेकानुप्रासः ॥२॥

भावार्थः—अस्माभिर्दुर्विचाररूपाः कामक्रोधादिरूपास्तस्करवञ्चकादिरूपाश्च शत्रवोऽपनेयाः, सद्विचाराः पल्लवनीयाः, ब्रह्मानन्दरसाश्च स्वात्मनि प्रवाहयितव्याः ॥२॥

अगले मन्त्र में ब्रह्मानन्दरस आदि की याचना है।

पदार्थ—**अचोदसः** अन्य किसी से अप्रेरित अर्थात् स्वभाव से निकले हुए, **स्वानासः** शब्दकारी अर्थात् दिव्य सन्देश सुनाने वाले, **हरयः** पापहारी **इन्दवः** ब्रह्मानन्दरस **नः** हमारे **देवेषु** राष्ट्र के विद्वानों में और शरीर के मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि में **बृहत्** बहुत अधिक **प्र धन्वन्तु** भलीभाँति प्राप्त हों। **इषयः** केवल भोग की इच्छा करने वाले, **अश्नानाः** स्वयं खाते रहने वाले **अरातयः** अदानशील **नः अर्यः** हमारे आत्मिक और बाह्य शत्रु **वि चित् सन्तु** हमसे दूर ही हो जाएँ, और **धियः** सद्विचार **नः** हमें **सनिषन्तु** प्राप्त हों ॥२॥

इस मन्त्र में नकार आदि की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास अलंकार है। 'नः सन्तु, निषन्तु' में छेकानुप्रास है ॥२॥

---

१. ऋ० ९।७९।१, 'प्र सुवानासो बृहद्दिवेषु हरयः। वि च नशन् न इषो अरातयोऽर्यो नशन्त सनिषन्त नो धियः॥' इति पाठः।

भावार्थ—हमें चाहिए कि दुर्विचार रूप, कामक्रोधादि रूप और चोर-ठग आदि रूप शत्रुओं को दूर करें, सद्विचारों को पल्लवित करें और ब्रह्मानन्दरसों को अपने आत्मा में प्रवाहित करें ॥२॥

अथ परमात्मसोमप्राप्तेः फलं वर्णयति ।

३२३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २३ १२
५५६. एष प्र कोशे मधुमाँ अचिक्रददिन्द्रस्य वज्रो वपुषो वपुष्टमः ।
३ २ १ २ ३१२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३१२
अभ्यृ३तस्य सुदुघा घृतश्चुतो वाश्रा अर्षन्ति पयसा च धेनवः ॥३॥[1]

३२ १ २१ १२१ ३ १ २१ १२१ १२१ १२१
एषः प्र कोशे मधुमान् अचिक्रदत् । इन्द्रस्य वज्रः वपुषः वपुष्टमः ॥
३ २ ३ १ २ ३१२ ३ १२१ ३ १२ ३ १२१
अभि ऋतस्य सुदुघाः सु दुघाः घृतश्चुतः घृत श्चुतः ।
३ २ ३ १२१ ३ १२
वाश्राः अर्षन्ति पयसा च धेनवः ॥३॥

पदार्थः—**एषः** अयम् **मधुमान्** मधुररसमयः परमात्मसोमः **कोशे** अस्माकं मनोमयकोशे **प्र अचिक्रदत्** दिव्यं शब्दं कारयति । क्रदतेः शब्दकर्मणो णिचि लुङि रूपम् । येन **इन्द्रस्य** जीवात्मनः **वज्रः** कामक्रोधादिरिपुगणानां वर्जनसामर्थ्यम् **वपुषः वपुष्टमः**[2] दीप्तात् दीप्ततमः यद्वा वपुष्मतो वपुष्मत्तमः विशालाद् विशालतमः इत्यर्थः, सञ्जातः । **वाश्राः**[3] शब्दायमानाः । वाशृ शब्दे । वाशन्ते शब्दायन्ते इति वाश्राः, अत्र 'स्फायितञ्चि०। उ० २।१२' इति रक् प्रत्ययः । **धेनवः**[4] वेदवाग्लक्षणा गावः **ऋतस्य** सत्यस्य **सुदुघाः** सुष्ठु दोग्ध्र्यः, **घृतश्चुतः** तेजोरूपस्य घृतस्य स्रावयित्र्यश्च सत्यः **पयसा च** वेदार्थरूपेण दुग्धेन च सह **अभि अर्षन्ति** अस्मान् प्रति प्राप्नुवन्ति ॥३॥

अत्र वेदवाचि धेनुत्वारोपाद् वेदार्थे च पयस्त्वारोपाद् उपमानेनोपमेयस्य निगरणाच्चातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—यदा वेदवाग्रूपा धेनवः पवित्रं पावकं च वेदार्थरूपं स्वकीयं पयः पाययन्ति तदा तेन पयसा मनुष्यस्यात्मा सत्यमयस्तेजोमयो बलवत्तमः पवित्रः परिपुष्टश्च जायते ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा रूप सोम की प्राप्ति का फल वर्णित किया गया है।

पदार्थ—**एषः** यह **मधुमान्** मधुर परमात्मारूप सोम **कोशे** हमारे मनोमय कोश में **प्र अचिक्रदत्** दिव्य शब्द करा रहा है, जिससे **इन्द्रस्य** जीवात्मा का **वज्रः** काम, क्रोध आदि रिपुओं के वर्जन का सामर्थ्य **वपुषः वपुष्टमः** दीप्त से दीप्ततम अथवा विशाल से विशालतम हो गया है । **वाश्राः** शब्दायमान **धेनवः** वेदवाणी रूप गौएँ **ऋतस्य** सत्य की **सुदुघाः** उत्तम दोहन करने वाली और **घृतश्चुतः** तेजरूप घी को क्षरित करने वाली होती हुई **पयसा** वेदार्थरूप दूध के साथ **अभि अर्षन्ति** हमें प्राप्त हो रही हैं ॥३॥

इस मन्त्र में वेदवाणियों में धेनुओं का और वेदार्थ में दूध का आरोप होने से तथा उपमान द्वारा उपमेय का निगरण हो जाने से अतिशयोक्ति अलंकार है ॥३॥

---

१. ऋ० ९।७७।१ 'वपुष्टरः', 'अभीमृतस्य', 'पयसेव धेनवः' इति पाठः ।
२. वपुषः वपुष्टमः दीप्तेः दीप्ततमः—इति वि० । वपुषः वपुष्मतः दीप्तिमतः वपुष्टमः दीप्तिमत्तमः—इति भ० । वपुषः बीजानां वप्तुः अन्यस्मात् वपुष्टमः अतिशयेन वप्ता, बीजावापस्य सोमकर्तृकत्वात्, 'सोमो वै रेतोधाः' इति श्रुतेः—इति सा० ।
३. वाश्राः कामयमानाः—इति वि० [वश कान्तौ] । शब्दयन्त्यः—इति सा० ।
४. धेनवः धेट् पाने । पिबन्त्यः उदकम् आदित्यरश्मयः कामयमानाः । क्षरन्ति पयः धेनवः आदित्यरश्मयश्च—इति वि० । धेनवः आशीर्दुहः—इति भ० । ऋतस्य सत्यफलस्य सोमस्य धाराः इति शेषः । वाश्रा धेनवः इव लुप्तोपममेतत्—इति सा० ।

भावार्थ—जब वेदवाणी-रूपिणी गौएँ अपना पवित्र और पवित्रताकारी वेदार्थरूप दूध पिलाती हैं, तब उस दूध से मनुष्य का आत्मा सत्यमय, तेजोमय, अतिशय बलवान्, पवित्र और परिपुष्ट हो जाता है ॥३॥

अथ परमात्मनो जीवात्मनश्च मैत्रीविषयमाह ।

५५७. प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न प्र मिनाति सङ्गिरम् ।
मर्यइव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे शतयामना पथा ॥४॥[1]

प्र उ अयासीत् इन्दुः इन्द्रस्य निष्कृतम् निः कृतम् ।
सखा स खा सख्युः स ख्युः न प्र मिनाति सङ्गिरम् सम् गिरम् ॥
मर्यः इव युवतिभिः सम् अर्षति । सोमः कलशे शतयामना शत यामना पथा ॥४॥

पदार्थः—**इन्दुः** तेजसा दीप्तः श्रद्धारसभरितो वा जीवात्मा **इन्द्रस्य** परमात्मनः **निष्कृतम्** शरणरूपं गृहम् **प्र उ अयासीत्** प्रयाति खलु । **सखा** सुहृत् परमात्मा **सख्युः** स्वसुहृदो जीवात्मनः **संगिरम्** स्तुतिं प्रार्थनां च **न प्रमिनाति** न विफलयति, प्रत्युत पूरयत्येव । **मर्यः इव** मनुष्यो यथा **शतयामना पथा** बहुपद्धतिना व्यवहारमार्गेण **युवतिभिः** तरुणीभिः पत्नी-पुत्री-भगिन्यादिभिः सह **समर्षति** संमिलति तथा **सोमः** जीवात्मा **शतयामना पथा** । शतसाधनोपेतेन योगमार्गेण **कलशे** परमात्मरूपे द्रोणकलशे **युवतिभिः** तरुणीभिः शक्तिभिः **समर्षति** संगच्छते ॥४॥

अत्र श्लेषेण सोमौषधिरसपरोऽप्यर्थो योजनीयः । ततश्च सोमौषधिरसेन जीवात्मन उपमानोपमेयभावो व्यज्यते । सोमौषधिरसो यथा दशापवित्रस्य बहुच्छिद्रेण मार्गेण द्रोणकलशे अद्भिः सह संगच्छते तथा जीवात्मा बहुसाधनेन योगमार्गेण परमात्मनि शक्तिभिः संगच्छते इति । 'मर्य इव युवतिभिः' इत्यादौ श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥४॥

भावार्थः—परमात्मना सह सख्यस्थापनेन मनुष्यस्यात्मा कृतकृत्यो जायते ॥४॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और जीवात्मा का मैत्रीविषय वर्णित है ।

पदार्थ—**इन्दुः** तेज से दीप्त, श्रद्धारस से परिपूर्ण जीवात्मा **इन्द्रस्य** परमात्मा के **निष्कृतम्** शरणरूप घर को **प्र उ अयासीत्** प्रयाण करता है । **सखा** मित्र परमेश्वर **सख्युः** अपने मित्र जीवात्मा की **संगिरम्** स्तुति और प्रार्थना को **न प्रमिनाति** विफल नहीं करता, प्रत्युत पूर्ण ही करता है । **मर्यः** मनुष्य **इव** जैसे **शतयामना पथा** बहुत पद्धतियों वाले व्यवहारमार्ग द्वारा **युवतिभिः** पत्नी, पुत्री, बहिन आदि युवतियों से **समर्षति** मिलता है, वैसे ही **सोमः** जीवात्मा **शतयामना पथा** अनेक साधनों वाले योगमार्ग द्वारा **कलशे** षोडशकल परमात्मा रूप द्रोणकलश में **युवतिभिः** तरुण शक्तियों से **समर्षति** मिलता है ॥४॥

इस मन्त्र में श्लेष से सोमरस-परक अर्थ की भी योजना करनी चाहिए। सोमरस और जीवात्मा में उपमानोपमेयभाव व्यंजित होता है । सोमरस जैसे दशापवित्र के बहुच्छिद्र मार्ग से द्रोणकलश में पहुँचकर 'आपः' रूप युवतियों से मिलता है, वैसे ही जीवात्मा बहुत साधनों वाले योगमार्ग से परमात्मा को प्राप्त कर शक्तियों से संगत होता है ॥ 'मर्य इव युवतिभिः' इत्यादि में श्लिष्टोपमालंकार है ॥४॥

भावार्थ—परमात्मा के साथ मित्रता स्थापित करके मनुष्य का आत्मा कृतकृत्य हो जाता है ॥४॥

१. ऋ० ९।८६।१६ ऋषिः सिकता निवावरी । 'शतयाम्ना' इति पाठः । अथ० १८।४।६० ऋषिः अथर्वा । 'प्र वा एतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं' इति 'मर्य इव योषाः समर्षसे' इति च प्रथमतृतीयचरणयोर्भेदः । साम० ११५२ ।

अथ सोमस्य परमात्मनः कर्माण्याह ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ॐ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
५५८. धर्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो दक्षो देवानामनुमाद्यो नृभिः ।
१ २ ३ २ ३ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
हरिः सृजानो अत्यो न सत्वभिर्वृथा पाजांसि कृणुषे नदीष्वा ॥५॥[1]
३ २ ३ २ ३ १ २ १ १ २ १ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ १ २ १ १
धर्त्ता दिवः पवते कृत्व्यः रसः । दक्षः देवानाम् अनुमाद्यः अनु माद्यः नृभिः ॥
१ २ १ ३ २ १ २ १ १ २ १ १ २ ३ १ २
हरिः सृजानः अत्यः न सत्वभिः । वृथा पाजाꣳसि कृणुषे नदीषु आ ॥५॥

पदार्थः—**दिवः** द्युलोकस्य सूर्यस्य वा **धर्ता** धारयिता, **कृत्व्यः**[2] कर्मसु साधुः, कर्मकुशलः । कृत्वी इति कर्मनाम । निघं० २।१ । तत्र साधुः कृत्व्यः । साध्वर्थे यत् । **रसः** आनन्दरसमयः, **देवानाम्** विदुषाम् **दक्षः** बलप्रदः । दक्ष इति बलनाम । निघं० २।९ । **नृभिः** पुरुषार्थिभिः मनुष्यैः **अनुमाद्यः** प्रसाद्यः सोमः परमात्मा **पवते** जडचेतनात्मकं सर्वं जगत् पुनाति । अथ प्रत्यक्षकृतमाह । **हरिः** आकर्षणबलेन सूर्यचन्द्र-पृथिव्यादिलोकानां नियन्ता **सृजानः** जगद् रचयन् त्वम् **वृथा** अनायासेन **सत्वभिः** स्वकीयैः बलैः **नदीषु** सरित्सु **पाजांसि** बलानि वेगान् वा । पाजः इति बलनाम । निघं० २।९ । **आ कृणुषे** आकरोषि । तदेव उपमिमीते, **अत्यः न** अश्वः इव । अश्वो यथा रथादिषु वेगान् आकृणुते तद्वदित्यर्थः । अत्यः इत्यश्वनाम । निघं० १।१४ ॥५॥

अत्र रसः रसवान् दक्षः दक्षकारी इत्यत्र क्रमेण तद्वति तत्कारिणि च लक्षणा । 'अत्यो न' इत्युपमा ॥५॥

भावार्थः—यः परमेश्वरः सर्वस्य जगतः स्रष्टा धर्ता बलवेगादिप्रदश्चास्ति स सर्वैर्जनैः कुतो नाराधनीयः ॥५॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा के कर्मों का वर्णन है ।

पदार्थ—**दिवः** द्युलोक अथवा सूर्य का **धर्ता** धारण करने वाला, **कृत्व्यः** कर्मकुशल, **रसः** आनन्द-रसमय, **देवानाम्** विद्वानों का **दक्षः** बलप्रदाता, **नृभिः** पुरुषार्थी मनुष्यों से **अनुमाद्यः** प्रसन्न किये जाने योग्य परमात्मा **पवते** सब जड़-चेतन जगत् को पवित्र करता है । आगे प्रत्यक्षकृत वर्णन है—**हरिः** आकर्षण के बल से सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि लोकों के नियामक, **सृजानः** जगत् की रचना करने वाले आप **वृथा** अनायास ही **सत्वभिः** अपने बलों से **नदीषु** नदियों में **पाजांसि** बलों और वेगों को **आ कृणुषे** स्थापित करते हो, **अत्यः न** जैसे घोड़ा रथ आदि में वेगों को स्थापित करता है ॥५॥

इस मन्त्र में लक्षणावृत्ति से रस का अर्थ रसवान् और दक्ष का अर्थ दक्षकारी है । 'अत्यो न' में उपमालंकार है ॥५॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सारे संसार को रचने वाला, धारण करने वाला और बल, वेग आदि देने वाला है, उसकी सब मनुष्य आराधना क्यों न करें ? ॥५॥

---

१. ऋ० ९।७६।१, 'कृणुषे' इत्यत्र 'कृणुते' इति पाठः । साम० १२२८ ।

२. कृत्व्यान् कर्मसु साधून् इति ऋ० १।१२१।७ भाष्ये दयानन्दः । कृत्व्यः संस्कृतः—इति भ० । कर्तव्यः शोध्य इत्यर्थः—इति सा० ।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

६६९. वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सोमो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः ।
प्राणा सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्द्याविशन्मनीषिभिः ॥६॥[1]

वृषा मतीनाम् पवते विचक्षणः वि चक्षणः ।
सोमः अह्नाम् अ ह्नाम् प्रतरीता प्र तरीता उषसाम् दिवः ॥
प्राणा प्र आना सिन्धूनाम् कलशान् अचिक्रदत् ।
इन्द्रस्य हार्दि आविशन् आ विशन् मनीषिभिः ॥६॥

पदार्थः—**विचक्षणः**[2] विशेषेण द्रष्टा दृष्टिप्रदो वा **सोमः** परमात्मा **मतीनाम्** प्रज्ञानाम् **वृषा** वर्षकः सन् **पवते** उपासकान् प्राप्नोति । स एव **अह्नाम्** दिवसानाम्, **उषसाम्** उषःकालानाम्, **दिवः** सूर्यस्य च **प्रतरीता**[3] सन्तारकः सञ्चालकश्च भवति । **प्राणा**[4] सर्वेषां प्राणभूतः सः । अत्र 'सुपां सुलुक्० । अ० ७।१।३९' इति सोः आकारादेशः । **सिन्धूनाम्** नदीनाम् **कलशान्** कल-कल-निनादयुक्तान् प्रवाहान् **अचिक्रदत्** शब्दापयति । स एव **मनीषिभिः**[5] मनः सन्मार्गे प्रेरणशीलैः स्तोत्रैः । मनः ईषन्ते प्रेरयन्तीति मनीषिणः तैः । **इन्द्रस्य** जीवात्मनः **हार्दि** हृत्प्रदेशे । हृदयवाचिनः हार्द् शब्दस्य सप्तम्यैकवचने रूपमिदम् । **आविशन्** प्रविशन्, जायते इति शेषः ॥६॥

भावार्थः—सर्वद्रष्टा, सर्वेषां विवेकप्रदः, उषःसूर्यदिवसादीनां व्यवस्थापयिता, नदीनां निनादयिता परमात्मा सर्वैर्जनैर्हृदि धारणीयः ॥६॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ—**विचक्षणः** विशेष द्रष्टा और दृष्टिप्रदाता **सोमः** परमात्मा **मतीनाम्** प्रज्ञाओं का **वृषा** वर्षक होता हुआ **पवते** उपासकों को प्राप्त होता है । वही **अह्नाम्** दिनों का, **उषसाम्** उषाओं का, और **दिवः** सूर्य का **प्रतरीता** संतारक और संचालक होता है । **प्राणा** सबका प्राणभूत वह **सिन्धूनाम्** नदियों के **कलशान्** कल-कल निनाद करने वाले प्रवाहों को **अचिक्रदत्** शब्दयुक्त करता है । वही **मनीषिभिः** मन को सन्मार्ग में प्रेरित करने वाले स्तोत्रों से **इन्द्रस्य** जीवात्मा के **हार्दि** हृत्प्रदेश में **आ विशन्** प्रविष्ट होता है ॥६॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिए कि सर्वद्रष्टा, सबको विवेक प्रदान करने वाले, उषा-सूर्य-दिन आदि के व्यवस्थापक, नदियों को कल-कल निनाद कराने वाले परमात्मा को हृदय में धारण करें ॥६॥

१. ऋ० ९।८६।१९ ऋषिः सिकता निवावरी । 'क्राणा सिन्धूनां कलशाँ अवीवशदिन्द्रस्य' इति पाठः । अथ० १८।४।५८ ऋषिः अथर्वा । 'प्राणः सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्दिमाविशन् मनीषया' इत्युत्तरार्धपाठः । साम० ८२१ ।

२. मतीनां व्रतानाम् विचक्षणः विविधं प्रकाशयिता—इति वि० । मतीनां स्तोत्राणां विचक्षणः विद्रष्टा—इति भ० । मतयः स्तोतारः तेषां वृषा वर्षकः कामानाम् । विचक्षणः विद्रष्टा—इति सा० ।

३. प्रतरीता प्रकर्षेण तारयिता—इति वि० । प्रवर्द्धयिता—इति सा० ।

४. प्रा पूरणे इत्यस्माद्धातोः, पॄ पालनपूरणयोः इत्यस्माद् वा लिटः कानच् । अभ्यासाभावः छान्दसः । सोराकारादेशे रूपं प्राणा इति । पूर्णः । सिन्धूनां नदीनां पूर्णः इत्यर्थः—इति भ० । सिन्धूनां स्यन्दमानानामुदकानां प्राणा, प्रकर्षेण अनिति चेष्टते इति प्राणा, कर्ता सोमः—इति सा० ।

५. मनीषिभिः मनसः ईशित्रीभिः स्तुतिभिः—इति सा० ।

अथ स्तोता किं फलं प्राप्नोतीत्याह ।

५६०. त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे सत्यामाशिरं परमे व्योमनि ।
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत ॥७॥[२]

त्रिः अस्मै सप्त धेनवः दुदुह्रिरे ।
सत्याम् आशिरम् आ शिरम् परमे व्योमनि वि ओमनि ॥
चत्वारि अन्या अन् या भुवनानि निर्णिजे निः निजे ।
चारूणि चक्रे यत् ऋतैः अवर्धत ॥७॥

पदार्थः—**परमे** उत्कृष्टे **व्योमनि** हृदयाकाशे **अस्मै** स्तोत्रे जनाय **त्रिः सप्त** एकविंशतिसंख्यका एकविंशतिच्छन्दोयुताः **धेनवः** वेदवाग्रूपा गावः **सत्याम् आशिरम्** सत्यरूपं दुग्धम् **दुदुह्रिरे** दुहन्ति । अत्र 'बहुलं छन्दसि । अ० ७।१।८' इति रुडागमः । **यत्** यदा एष **ऋतैः** सत्यैः ज्ञानकर्मभिः **अवर्द्धत** वृद्धिं गच्छति, तदायम् **निर्णिजे** आत्मनः शोधनाय पोषणाय वा । णिजिर् शौचपोषणयोः । **चत्वारि** चतुःसंख्यकानि **अन्या** अन्यानि **चारूणि** सुरम्याणि **भुवनानि** धर्मार्थिकाममोक्षरूपाणि **चक्रे** सम्पादयति ॥७॥[२]

---

१. ऋ० ९।७०।१ 'दुदुह्रिरे, परमे' इत्यत्र क्रमेण 'दुदुह्रे, पूर्व्ये' इति पाठः ।

२. विवरणकार एतामृचमेवं व्याचष्टे—"अस्मै सोमाय सप्त धेनवः सप्त छन्दांसि, त्रिः प्रातःसवनमाध्यन्दिनसवनतृतीयसवनेषु दुदुह्रिरे । अथवा त्रिः त्रिभिः सवनैः सप्त धेनवः सप्त होत्रा वषट्कारिणः—होता, मैत्रावरुणः ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाकः, आग्नीध्रः—एतेषां वाचः दुह्यन्ते । सत्याम् आशिरम् आश्रयणीयं मिश्रणं वा । परमे प्रकृष्टे व्योमनि व्याप्तिस्थाने यज्ञे वा । चत्वारि अग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी, अतिरात्रश्चतुर्थः । अथवा पृथिवी, अन्तरिक्षं द्यौर्दिश इति । अथवा चत्वारो वेदाः । अथवा चत्वारो महर्त्विजः, अथवा चत्वारः समुद्राः । अन्या भुवनानि निर्णिजे चतुर्दश भुवनानि । सप्त भूरादयो लोकाः, सप्त पातालानि । तान्यपि चारूणि चक्रे कृतवान् । केन प्रकारेण ? यद् ऋतैः अन्नैः यज्ञैः सत्यैर्वा अवर्धत । अथवा त्रिः अस्मै सप्त धेनवः सप्त रश्मयः दुदुह्रिरे । अथवा सप्ताश्वाः । अथवा सप्त पावकजिह्वाः, सप्त मातरो वा, सप्त भूरादयो लोकाः, सप्त पातालानि, सप्त सोमसंस्थाः, सप्त समुद्राः, सप्त द्वीपानि, सप्त स्वराः—एताः दुदुह्रिरे । सत्याम् आशिरम् उदकं परमे व्योमनि । चत्वारि अन्या भुवनानि पृथिव्यादीनि चारूणि चक्रे । यद् ऋतैः यज्ञैः अवर्धत इति । अथवा त्रिः अस्मै सप्त धेनवः सप्त प्राणाः शीर्षण्या ईरिताः उत्पत्तिस्थितिप्रलयेषु । सत्याम् अवितथाम् । आशिरं ज्ञानम् । चत्वारि अन्यानि भुवनानि जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुरीयासु अद्वैतावस्थेति । यद् ऋतैर्जनैः अवर्धत विज्ञानाय" इति ।

अथ भरतः—"त्रिः सप्त एकविंशतिः, धेनवः छन्दांसि माध्यमिकवाग्रूपेण अवतिष्ठन्ते इत्येतत्—'अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता' ऋ० १।१६४।२९ इत्यस्यामृचि ज्ञायते । वाचः छन्दांस्यभिव्यक्तिस्थानानीति वाचः छन्दोवृष्टिः । चत्वारि अन्या अन्यानि भुवनानि उदकानि । अस्य निर्णिजे रूपाय भवन्ति । एकं वासतीवरं त्रीणि ऐकधनानीति भुवनचतुष्टयम् । अयं च सोमः चारूणि भद्राणि चक्रे करोति यजमानानाम्, यत् यदा ऋतैः उदकैः अवर्धत वर्धते । तदा चारूणि चक्रे" इति ।

अथ सायणः—"परमे उत्कृष्टे व्योमनि विविधम् ओम अवनं गमनं देवानामत्रेति व्योमा यज्ञः तस्मिन् स्थिताय । यद्वा परमे व्योमनि अन्तरिक्षे वर्तमानाय । त्रिः सप्त एकविंशतिसंख्याकाः धेनवः प्रीणयित्र्यो गावः···। यद्वा त्रिः सप्त द्वादशमासाः, पञ्चर्तवः, त्रय इमे लोकाः, असावादित्य एकविंश इति । एतैः सर्वैः सह गोषु पय उत्पाद्यते तद् गावो दुहन्तीति । चत्वारि भुवना उदकानि वसतीवरीस्तिस्रश्चैकधना इति चतुःसंख्यानि···। निर्णिजे निर्णेजनाय परिशोधनाय परिपोषणाय वा···। ऋतैः यज्ञैः" इति ।

धेनुः इति वाङ्नामसु पठितम्। निघं० १।११। 'वाग् वै धेनुः' इति च ब्राह्मणम्, तां० ब्रा० १८।९।२१, गो० पू० २।२१। यद्वा वेदवाचि धेनुत्वारोपाद्, उपमेयस्योपमानेन निगरणाच्चातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥७॥

भावार्थः—सप्त गायत्र्यादीनि सप्त अतिजगत्यादीनि सप्त च कृत्यादीनि मिलित्वा एकविंशतिश्छन्दांसि भवन्ति। तन्मय्य एकविंशतिविधा वेदवाचः साक्षाद् धेनव इव सन्ति, याः स्वगोपालाय सत्यज्ञानरूपं सत्कर्तव्यबोधरूपं च पयः प्रयच्छन्ति, येन परिपुष्टः स धर्मार्थिकाममोक्षरूपेषु चतुर्षु भुवनेषु कृतनिवासो जीवनसाफल्यमधिगच्छति ॥७॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि स्तोता क्या फल प्राप्त करता है।

पदार्थ—**परमे** उत्कृष्ट **व्योमनि** हृदयाकाश में **अस्मै** इस स्तोता के लिए **त्रिः सप्त** इक्कीस छन्दों वाली **धेनवः** वेदवाणी रूप गौएँ **सत्याम् आशिरम्** सत्य रूप दूध को **दुदुह्रिरे** देती हैं। **यत्** जब यह स्तोता **ऋतैः** सत्य ज्ञानों और सत्य कर्मों से **अवर्द्धत** वृद्धि को प्राप्त करता है, तब **निर्णिजे** अपने आत्मा के शोधन वा पोषण के लिए **चत्वारि** चार **अन्या** अन्य **चारूणि** सुरम्य **भुवनानि** धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप भुवनों को **चक्रे** उत्पन्न कर लेता है ॥७॥

धेनु निघण्टु (१।११) में वाणीवाची नामों में पठित है। ताण्डच एवं गोपथ ब्राह्मण में भी कहा है कि 'वाणी ही धेनु है' (तां० ब्रा० १८।९।२१, गो० पू० २।२१)। अथवा वेदवाणी में धेनुत्व का आरोप होने से तथा उपमेय का उपमान द्वारा निगरण होने से अतिशयोक्ति अलंकार है ॥७॥

भावार्थ—सात गायत्र्यादि छन्द, सात अतिजगत्यादि छन्द और सात कृत्यादि छन्द मिलकर इक्कीस छन्द वेद में होते हैं। उन छन्दों वाली इक्कीस प्रकार की वेदवाणियाँ मानो साक्षात् गौएँ हैं, जो अपने सेवक को सत्यज्ञानरूप और सत्कर्तव्यबोध रूप दूध देती हैं, जिससे परिपुष्ट हुआ वह धर्मार्थिकाममोक्षरूप भुवनों में निवास करता हुआ जीवन की सफलता को प्राप्त कर लेता है ॥७॥

अथ ब्रह्मानन्दरसप्रवाहं प्रार्थयते।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
५६१. इन्द्राय सोम सुषुतः परि स्रवापामीवा भवतु रक्षसा सह।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
मा ते रसस्य मत्सत द्व्याविनो द्रविणस्वन्त इह सन्त्विन्दवः ॥८॥[1]
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्राय सोम सुषुतः सु सुतः परि स्रव। अप अमीवा भवतु रक्षसा सह ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
मा ते रसस्य मत्सत द्व्याविनः। द्रविणस्वन्तः इह सन्तु इन्दवः ॥८॥

पदार्थः—हे **सोम** परब्रह्म परमात्मन्! **सुषुतः** ध्यानेन सम्यक् निष्पीडितः त्वम् **इन्द्राय** जीवात्मने **परिस्रव** परिस्रुतो भव, आनन्दरसं प्रवाहय। त्वत्साहाय्येन **रक्षसा सह** कामक्रोधाद्यात्मकेन राक्षसेन सार्द्धम् **अमीवा** मनस्तापरूपो रोगः **अप भवतु** अस्मत्तः पृथग् जायताम्। **द्व्याविनः**[2] मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् इति द्विविधाचरणाः कपटिनो धूर्ता वञ्चकाः। द्वयं येषां ते द्व्याविनः। द्वयशब्दात् 'छन्दोविन्प्रकरणेऽष्ट्रामेखलाद्वयोभयरुजाहृदयानां दीर्घश्चेति वक्तव्यम्। अ० ५।२।१२२, वा०' इति वार्तिकेन मत्वर्थे विन् दीर्घश्च। **ते** तव **रसस्य** रसम् मधुरम् आनन्दम् **मा मत्सत** न स्वदितुं शक्नुयुः। मदी हर्षे। लुङ्। माङ्योगे अडागमाभावः। **इह** सरलस्वभावेषु अस्मासु पुनः **इन्दवः** क्लेदनकरा ब्रह्मानन्दरसाः **द्रविणस्वन्तः** ऐश्वर्यवन्तो बलवन्तो वा। द्रविणः धनं बलं वा तद्वन्तः। **सन्तु** भवन्तु, अस्मभ्यं स्वकीयम् ऐश्वर्यं बलं च प्रयच्छन्त्विति भावः ॥८॥

१. ऋ० ९।८५।१।
२. द्व्याविनो द्वयवन्तः वञ्चकाः। येषां वाच्येकं कर्मणि अन्यत् ते द्व्याविनः—इति भ०। द्वयं सत्यानृतं तेन युक्ताः मायिन इत्यर्थः—इति सा०।

अत्र सकारस्यासकृदावृत्तौ वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः ॥८॥

भावार्थः—सरलवृत्तय एव जना ब्रह्मानन्दरसस्याधिकारिणो भवन्ति, न तु कुटिलवृत्तयः परप्रतारकाश्च ॥८॥

अगले मन्त्र में ब्रह्मानन्द-रस के प्रवाह की प्रार्थना है।

पदार्थ—हे **सोम** परब्रह्म परमात्मन् ! **सुषुतः** ध्यान द्वारा भलीभाँति निचोड़े हुए तुम **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए **परिस्रव** परिस्रुत होवो, आनन्दरस को प्रवाहित करो। तुम्हारी सहायता से **रक्षसा सह** कामक्रोधादि रूप राक्षस के सहित **अमीवा** मन का सन्ताप रूप रोग **अप भवतु** हमसे दूर हो जाए। **द्व्याविनः** मन में कुछ तथा वाणी में कुछ, इस प्रकार दोहरे आचरणवाले कपटी, धूर्त, ठग लोग **ते** तुम्हारे **रसस्य** आनन्दरस का **मा मत्सत** स्वाद न ले सकें। **इह** हम सरल स्वभाव वालों के अन्दर **इन्दवः** आर्द्र करने वाले ब्रह्मानन्दरस **द्रविणस्वन्तः** समृद्ध और सबल **सन्तु** होवें ॥८॥

इस मन्त्र में सकार की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है ॥८॥

भावार्थ—सरलवृत्ति वाले मनुष्य ही ब्रह्मानन्दरस के अधिकारी होते हैं, कुटिल वृत्ति वाले और दूसरों को ठगने वाले लोग नहीं ॥८॥

अथ परमात्मनः सकाशात् प्राप्तमानन्दरसप्रवाहं वर्णयति।

५६२. असावि सोमो अरुषो वृषा हरी राजेव दस्मो अभि गा अचिक्रदत्।
पुनानो वारमत्येष्यव्ययं श्येनो न योनिं घृतवन्तमासदत् ॥९॥[1]

असावि सोमः अरुषः वृषा हरिः। राजा इव दस्मः अभि गाः अचिक्रदत्॥
पुनानः वारम् अति एषि अव्ययम्। श्येनः न योनिम् घृतवन्तम् आ असदत् ॥९॥

पदार्थः—**अरुषः** आरोचमानः। अरुषः इति रूपनाम। निघं० ३।७। ततो मत्वर्थीयः अच् प्रत्ययः। **वृषा** सुखादीनां वर्षकः, **हरिः** पापादीनां हर्ता **सोमः** रसागारः परमात्मा **असावि** मया स्वहृदये अभिषुतः अस्ति। **दस्मः** दर्शनीयः दुर्गुणानामुपक्षपयिता वा सः। दसि दंशनदर्शनयोः। ततः 'इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक्। उ० १।१४५' इति मक् प्रत्ययः। **राजा इव** सम्राड् यथा **गाः अभि** राष्ट्रभूमीः, राट्रवासिनीः प्रजाः इत्यर्थः, अभिलक्ष्य **अचिक्रदत्** उपदिशति, राजनियमान् उद्घोषयति, तथा **गाः अभि** स्तोतॄन् अभिलक्ष्य। गौः इति स्तोतृनामसु पठितम्। निघं० ३।१६। **अचिक्रदत्** उपदिशति। अथ प्रत्यक्षकृतमाह। हे भगवन् ! **पुनानः** पवित्रतामापादयन् त्वम् **वारम्** निवारकं बाधकं कामक्रोधादिकम् **अति** अतिक्रम्य **अव्ययम्** विनाशरहितं जीवात्मानम् **एषि** प्राप्नोषि। सम्प्रति पुनः परोक्षकृतं ब्रवीति। **श्येनः न** वायुर्यथा। श्येनः इति निरुक्ते मध्यमस्थानीयेषु देवेषु पठितत्वात् श्येनपक्षिवायुप्राणादिवाचको भवति। **घृतवन्तम्** उदकवन्तम्। घृतम् इत्युदकनाम जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः। निरु० ७।२४। **योनिम्** अन्तरिक्षम्। योनिः अन्तरिक्षं, महानवयवः। निरु० २।८। आसीदति, तथा स परमेश्वरः **घृतवन्तम्** आज्यजलदीप्त्यादियुक्तम् **योनिम्** ब्रह्माण्डगृहम्। योनिरिति गृहनाम। निघं० ३।४। **आसदत्** आतिष्ठति ॥९॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—पूर्वमेव सर्वेषां हृदि समुपविष्टोऽपि गूढतया स्थितः परमेश्वरः सर्वैः श्रवणमननिदिध्यासनादिभिः साक्षात्करणीयः ॥९॥

---

१. ऋ० ९।८२।१ 'पुनानो वारं पर्येत्यव्ययं श्येनो न योनिं घृतवन्तमासदम्' इत्युत्तरार्द्धपाठः। साम० १३१६।

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्राप्त आनन्दरस के प्रवाह का वर्णन है ।

पदार्थ—**अरुषः** तेजस्वी, **वृषा** सुख आदि की वर्षा करने वाले, **हरिः** पाप आदि को हरने वाले **सोमः** आनन्दरस के भण्डार परमात्मा को **असावि** मैंने अपने हृदय में अभिषुत किया है, अर्थात् उससे आनन्दरस को पाया है । **दस्मः** दर्शनीय अथवा दुर्गुणों का संहारक वह परमात्मा **राजा इव** जैसे राजा **गाः अभि** भूमियों अर्थात् भूमिवासियों को लक्ष्य करके **अचिक्रदत्** उपदेश करता है, राजनियमों को घोषित करता है, वैसे ही **गाः अभि** स्तोताओं को लक्ष्य करके **अचिक्रदत्** उपदेश कर रहा है । हे भगवन् ! **पुनानः** पवित्रता देते हुए आप **वारम्** निवारक या बाधक काम-क्रोधादि को **अति** अतिक्रमण करके **अव्ययम्** विनाशरहित जीवात्मा को **एषि** प्राप्त होते हो । **श्येनः न** जैसे वायु **घृतवन्तम्** जलयुक्त **योनिम्** अन्तरिक्ष में **आसदत्** आकर स्थित हुआ है, वैसे ही वह परमात्मा **घृतवन्तम्** घी, जल, दीप्ति आदि से युक्त **योनिम्** ब्रह्माण्ड रूप घर में **आसदत्** स्थित है ॥९॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है ॥९॥

भावार्थ—पहले से ही सबके हृदय में बैठे हुए भी गुप्त रूप में स्थित परमेश्वर का श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि से साक्षात्कार करना चाहिए ॥९॥

अथ विद्वद्विषयमाह ।

२ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २
६६३. प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवोऽसिष्यदन्त गाव आ न धेनवः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
बर्हिषदो वचनावन्त ऊधभिः परिस्रुतमुस्रिया निर्णिजं धिरे ॥१०॥[1]

२ ३ २ १ २ १ २ १ २ १ २ १ २
प्र देवम् अच्छ मधुमन्तः इन्दवः । असिष्यदन्त गावः आ न धेनवः ॥
३ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
बर्हिषदः बर्हि सदः वचनावन्तः ऊधभिः । परिस्रुतम् परि स्रुतम् उस्रियाः
३ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ १ ३
उ स्रियाः निर्णिजम् निः निजम् धिरे ॥१०॥

पदार्थः—**मधुमन्तः** मधुरव्यवहारोपेताः **इन्दवः** श्रद्धारसभरिताः विद्वांसः **देवम् अच्छ** दिव्यगुणयुक्तं परमात्मानमभिलक्ष्य **प्र असिष्यदन्त** श्रद्धारसं प्रस्रावयन्ति, **न** यथा **धेनवः** प्रीणयित्र्यः **गावः** पयस्विन्यः **असिष्यदन्त** वत्सं प्रति स्वदुग्धं प्रस्रावयन्ति । **बर्हिषदः** यज्ञिये दर्भासने स्थिताः **वचनावन्तः** स्तुतिमन्तः ते विद्वांसः । उच्यते इति वचना स्तुतिः तद्वन्तः । **निर्णिजम्** शुद्धम् **परिस्रुतम्** उत्पन्नं श्रद्धारसम् **ऊधभिः** हृदयरूपैः आपीनैः **धिरे** धारयन्ति, **उस्रियाः** उस्रिया गावः ताः इव इति लुप्तोपमम् । यथा **बर्हिषदः** यज्ञे स्थिताः **वचनावत्यः** हम्भारवयुक्ताः । गोपक्षे विशेष्यानुसारं लिङ्गं विपरिणेतव्यम् । **उस्रियाः** गावः **परिस्रुतम्** उत्पन्नम् **निर्णिजम्** शुद्धं दुग्धम् **ऊधभिः** आपीनैः **धिरे** धारयन्ति तथेत्यर्थः ॥१०॥

'गाव आ न धेनवः' इत्युपमालङ्कारः पुनरुक्तवदाभासश्च । उत्तरार्द्धे 'उस्रियाः' इति लुप्तोपमम् ॥१०॥

भावार्थः—परमात्मानं प्रति सर्वैर्जनैस्तथैव क्षरद्भक्तिरसैर्भाव्यं यथा गावो वत्सं प्रति प्रस्नुतपयोधरा भवन्ति ॥१०॥

अगले मन्त्र में विद्वानों का विषय है ।

पदार्थ—**मधुमन्तः** मधुर व्यवहार वाले **इन्दवः** श्रद्धा-रस से भरपूर विद्वान् जन **देवम् अच्छ** दिव्यगुणों से युक्त परमात्मा को लक्ष्य करके **प्र असिष्यदन्त** श्रद्धारस को प्रवाहित करते हैं, **न** जैसे **धेनवः**

१. ऋ० ९।६८।१ ।

तृप्ति प्रदान करने वाली **गावः** गौएँ **असिष्यदन्त** बछड़ों के प्रति अपने दूध को प्रवाहित करती हैं। **बर्हिषदः** यज्ञिय कुशासन पर स्थित, **वचनावन्तः** स्तुति के उद्गार प्रकटकरने वाले वे विद्वान् लोग **निर्णिजम्** शुद्ध **परिस्रुतम्** उत्पन्न श्रद्धारस को **ऊधभिः** हृदयरूप ऊधसों में **धिरे** धारण करते हैं, जैसे **बर्हिषदः** यज्ञ में स्थित **वचनावत्यः** हम्भा शब्द करने वाली **उस्रियाः** गौएँ **निर्णिजम्** शुद्ध दूध को **ऊधभिः** ऊधसों में **धिरे** धारण करती हैं ॥१०॥

इस मन्त्र में 'गाव आ न धेनवः' में उपमा और पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। उत्तरार्द्ध में 'उस्रियाः' में लुप्तोपमा है ॥१०॥

भावार्थ—परमात्मा के प्रति सब मनुष्यों को उसी प्रकार भक्तिरस क्षरित करना चाहिए, जैसे गौएँ बछड़ों के प्रति दूध क्षरित करती हैं ॥१०॥

अथ विदुषां कर्म वर्णयति।

३ २ ३क २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३क २१
५६४. **अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मध्वाभ्यञ्जते।**
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमप्सु गृभ्णते ॥११॥[3]

३ १ २ ३ २ ३ १२१ ३ १२१ ३ २ ३
अञ्जते वि अञ्जते सम् अञ्जते। क्रतुम् रिहन्ति मध्वा अभि अञ्जते।
१२१ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २
सिन्धोः उच्छ्वासे उत् श्वासे पतयन्तम् उक्षणम्।
३ २ ३ २ ३ २ ३
हिरण्यपावाः हिरण्य पावाः पशुम् अप्सु गृभ्णते ॥११॥

पदार्थः—उपासकाः जनाः **क्रतुम्** क्रतुमन्तं कर्मवन्तं प्रज्ञावन्तं च परमात्मसोमम्। अत्र मत्वर्थीयस्य लुक्। **अञ्जते** स्वात्मनि व्यक्तीकुर्वन्ति, **व्यञ्जते** विविधरूपेषु व्यक्तीकुर्वन्ति, **समञ्जते** तेन सह संमिलन्ति, तम् **रिहन्ति** लिहन्ति, तत आगतम् आनन्दरसमास्वादयन्तीत्यर्थः, **मध्वा** मधुरेण श्रद्धारसेन तम् **अभ्यञ्जते** लिम्पन्तीव। **सिन्धोः** आनन्दसागरस्य **उच्छ्वासे** तरङ्गनिचये **पतयन्तम्** दोलारोहणमिव कुर्वाणम् **उक्षणम्** स्वसखीनपि आनन्दतरङ्गैः सिञ्चन्तम् **पशुम्** द्रष्टारं दर्शयितारं च तं परमेश्वरम्। पशुः पश्यतेः। निरु० ३।१६। **हिरण्यपावाः** हिरण्येन ज्योतिषा सत्येन आनन्दामृतेन च स्वात्मानं पुनन्ति ये ते विद्वांसो जनाः। ज्योतिर्हि हिरण्यम्। श० ४।३।४।२१। सत्यं वै हिरण्यम्। गो० उ० ३।१७। अमृतं वै हिरण्यम्। श० ९।४।४।५। **अप्सु** स्वकीयेषु प्राणेषु। प्राणा वा आपः। तै० ३।२।५।२। **गृभ्णते** गृह्णते। अत्र ग्रह धातोः 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि। अ० ३।१।८४, वा०' इत्यनेन हस्य भः ॥११॥

'ञ्जते' इति निरर्थकानां सर्वेषां बहुकृत्व आवर्तनात् यमकालङ्कारः। 'अञ्जते, व्यञ्जते, समञ्जते, रिहन्ति, अभ्यञ्जते, गृभ्णते' इत्यनेकक्रियाणामेककारकसम्बन्धाद् दीपकालङ्कारः। समुद्रस्योच्छ्वासे उड्डीयमानं बलीवर्दं पशुम् उदकेषु गृह्णन्ति चिक्कणीकुर्वन्ति चेत्याद्यर्थस्याप्यभिधानात् प्रहेलिकालङ्कारोऽपि। 'अभ्यञ्जते लिम्पन्तीव', 'पतयन्तं दोलारोहणमिव कुर्वाणम्' इत्युभयत्र गम्योत्प्रेक्षा। सिन्धोः उच्छ्वासो न भवितुमर्हतीति तस्य तरंगनिचये लक्षणा, तरंगाणामूर्ध्वगामित्वं व्यङ्ग्यम् ॥११॥

भावार्थः—परमेश्वरस्योपासका योगिनस्तं हृदयेऽभिव्यज्य स्वभक्तिरसेन स्नपयित्वा स्वकीयानां प्राणानामङ्गतां यदा नयन्ति तदैव तेषामुपासना सफला ॥११॥

---

१. ऋ० ९।८६।४३ 'मधुनाभ्यञ्जते' इति 'पशुमासु' इति च पाठः। अथ० १८।३।१८, ऋषिः अथर्वा, देवता यमः, पाठः ऋग्वेदवत्। साम० १६१४।

अगले मन्त्र में विद्वानों का कर्म वर्णित है।

पदार्थ—उपासक लोग **क्रतुम्** कर्मवान् और प्रज्ञावान् परमात्मारूप सोम को **अञ्जते** अपने अन्दर व्यक्त करते हैं, **व्यञ्जते** विविध रूपों में व्यक्त करते हैं, **समञ्जते** उसके साथ संगम करते हैं, **रिहन्ति** उसका आस्वादन करते हैं, अर्थात् उससे प्राप्त आनन्दरस का पान करते हैं, **मध्वा** मधुर श्रद्धारस से **अभ्यञ्जते** उसे मानो लिप्त कर देते हैं। **सिन्धोः** आनन्दसागर के **उच्छ्वासे** तरंग-समूह में **पतयन्तम्** मानो झूला झूलते हुए, **उक्षणम्** अपने सखाओं को भी आनन्द की लहरों से सींचते हुए **पशुम्** सर्वद्रष्टा तथा सबको दृष्टि प्रदान करने वाले परमेश्वर को **हिरण्ययावाः** ज्योति, सत्य और आनन्दामृत से स्वयं को पवित्र करने वाले वे विद्वान् जन **अप्सु** अपने प्राणों में **गृभ्णते** ग्रहण कर लेते हैं ॥११॥

इस मन्त्र में 'ञ्जते' इस अर्थहीन शब्दांश की अनेक बार आवृत्ति होने से यमकालंकार है। अञ्जते, व्यञ्जते, समञ्जते, रिहन्ति, अभ्यञ्जते, गृभ्णते इन अनेक क्रियाओं का एक कारक से योग होने के कारण दीपक अलंकार है। 'समुद्र के उच्छ्वास में उड़ते हुए बैल को जलों में गोता लगवाते हैं, और चिकना करते हैं' इस वाच्यार्थ के भी प्रतीत होने से प्रहेलिकालंकार भी है। 'अभ्यञ्जते (मानो लिप्त करते हैं), पतयन्तम् (मानो झूला झूलते हुए) में गम्योत्प्रेक्षा है। समुद्र अचेतन होने से उच्छ्वास नहीं छोड़ता अतः उच्छ्वास की तरंगसमूह में लक्षणा है, तरंगों का ऊर्ध्वगमन व्यङ्ग्य है ॥११॥

भावार्थ—परमेश्वर के उपासक योगी जन उसे हृदय में अभिव्यक्त करके, भक्तिरस से मानो स्नान कराकर जब अपने प्राणों का अंग बना लेते हैं तभी उनकी उपासना सफल होती है ॥११॥

अथ सोमस्य परमात्मनः पावकत्वं वर्णयति।

५६५. पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते श्रृतास इद् वहन्तः सं तदाशत ॥१२॥[1]

पवित्रम् ते विततम् वि ततम् ब्रह्मणः पते।
प्रभुः प्र भुः गात्राणि परि एषि विश्वतः॥
अतप्ततनूः अतप्त तनूः न तत् आमः अश्नुते।
श्रृतासः इत् वहन्तः सम् तत् आशत ॥१२॥

पदार्थः—हे **ब्रह्मणः पते** ब्रह्माण्डस्य ज्ञानस्य वा अधिपते सोम परमात्मन्! **ते** तव **पवित्रम्** पावकत्वम् **विततम्** सर्वत्र व्याप्तं वर्तते। **प्रभुः** पावित्र्यसम्पादनसमर्थः त्वम् **विश्वतः** सर्वतः **गात्राणि** शरीराणि, शरीरधारिणः इत्यर्थः, **पर्येषि** पावयितुं परिगच्छसि। किन्तु **अतप्ततनूः**[2] तपस्यया अतप्तशरीरः **आमः** अपरिपक्वः जनः **तत्** पवित्रत्वम् **न अश्नुते** न प्राप्नोति, **श्रृतासः इत्** परिपक्वाः एव जनाः। श्रा पाके निष्ठायाम् 'शृतं पाके। अ० ६।१।२७' इति धातोः शृ भावः। जसोऽसुगागमः। **वहन्तः** त्वां हृदये धारयन्तः सन्तः **तत्** त्वज्जन्यं पवित्रत्वम् **सम् आशत** सम्यक् प्राप्नुवन्ति ॥१२॥

१. ऋ० ९।८३।१ 'वहन्तस्तत् समाशत' इति पाठः। साम ८७५।

२. "तप्तमुद्राधारिणां वैष्णवसम्प्रदायविशेषाणां नयेऽयमेव मन्त्रः शरीरे तप्तचक्राद्यङ्कनस्य। तथा च 'अतप्ततनूः' शङ्ख-चक्रादिभिः न तप्ता तनूः अस्य स पुरुषः आमः अपरिपक्वः असंस्कृतः, अत एव 'तत्' प्रसिद्धं कैवल्यं न अश्नुते इत्यर्थः। वस्तुतोऽस्य विनियोगो ज्योतिष्टोमे तृतीयेऽहनि"—इति सत्यव्रतसामश्रमी। एतद्विषये दयानन्दर्षिकृतसत्यार्थप्रकाश-ग्रन्थस्यैकादशः समुल्लासोऽपि द्रष्टव्यः।

भावार्थः—ये तपस्विनः सन्ति तेषामेव हृदयान्याचरणानि च पवित्राणि जायन्ते ॥१२॥

अत्रापि सोमस्य परमात्मनस्तदानन्दरसस्य च प्राप्तिवर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्तीति वेद्यम् ॥

इति षष्ठे प्रपाठके द्वितीयार्धे द्वितीया दशतिः ।
इति पञ्चमेऽध्याये नवमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा की पावकता का वर्णन है ।

पदार्थ—हे **ब्रह्मणः पते** ब्रह्माण्ड के अथवा ज्ञान के अधिपति सोम परमात्मन् ! **ते** आपका **पवित्रम्** पवित्रता-सम्पादन का गुण **विततम्** सर्वत्र व्याप्त है । **प्रभुः** पवित्रता करने में समर्थ आप **विश्वतः** सब ओर से **गात्राणि** शरीरों अर्थात् शरीरधारियों के पास **पर्येषि** उन्हें पवित्र करने के लिए पहुँचते हो । किन्तु **अतप्ततनूः** जिसने तपस्या से शरीर को तपाया नहीं है ऐसा **आमः** कच्चा मनुष्य **तत्** उस पवित्रता को **न अश्नुते** प्राप्त नहीं कर पाता । **शृतासः इत्** पके हुए लोग ही **वहन्तः** आपको हृदय में धारण करते हुए **तत्** आपसे होने वाली पवित्रता को **सम् आशत** भलीभाँति प्राप्त करते हैं ॥१२॥

भावार्थ—जो लोग तपस्वी हैं उन्हीं के हृदय और आचरण पवित्र होते हैं ॥१२॥

इस दशति में भी सोम परमात्मा तथा उसके आनन्दरस की प्राप्ति का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ।

षष्ठ प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त ।
पञ्चम अध्याय में नवम खण्ड समाप्त ॥

॥८॥ अथ 'इन्द्रमच्छ' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ७, ११ अग्निश्चाक्षुषः; २ चक्षुर्मानवः; ३, ४, ९, १० पर्वतनारदौ; ५ त्रित आप्त्यः; ६ मनुराप्सवः; ८, १२ द्वित आप्त्यः ॥ देवता—पवमानः सोमः[1] ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

तत्रादौ ब्रह्मानन्दरसविषयमाह ।

६६६. इन्द्रमच्छ सुता इमे वृषणं यन्तु हरयः ।
श्रुष्टे जातास इन्दवः स्वर्विदः ॥१॥[2]

इन्द्रम् अच्छ सुताः इमे । वृषणम् यन्तु हरयः ॥
श्रुष्टे जातासः इन्दवः स्वर्विदः स्वः विदः ॥१॥

पदार्थः—**सुताः** अभिषुताः **इमे** एते **हरयः** दुःखहर्तारो ब्रह्मानन्दरसाः **वृषणम्** बलिनम् **इन्द्रम्** जीवात्मानम् **अच्छ** प्रति **यन्तु** गच्छन्तु । किञ्च **जातासः** जाताः उत्पन्नाः ते **इन्दवः** उपासकस्य क्लेदकाः ब्रह्मानन्दरसाः **श्रुष्टे** सद्य एव । श्रुष्टीति क्षिप्रनाम, आशु अष्टीति । निरु० ६।१३ । श्रुष्टे इत्यपि तत्पर्यायो बोध्यः । **स्वर्विदः** दिव्यप्रकाशस्य लम्भकाः, भवन्तिवति शेषः ॥१॥

भावार्थः—धन्यास्ते जीवात्मानो ये परमात्मोपासनया ब्रह्मानन्दरसं प्राप्नुवन्ति ॥१॥

---

१. वैदिकयन्त्रालयमुद्रितायां सामसंहितायां तु इन्द्रो देवता निर्दिष्टः ।
२. ऋ० ९।१०६।१ 'श्रुष्टे' इत्यत्र 'श्रुष्टी' इति पाठः । साम० ६९४ ।

प्रथम मन्त्र में ब्रह्मानन्दरस का विषय है।

पदार्थ—**सुताः** प्रवाहित किये गये **इमे** ये **हरयः** दुःखहारी ब्रह्मानन्दरस **वृषणम्** बलवान् **इन्द्रम्** जीवात्मा की **अच्छ** ओर **यन्तु** जाएँ। **जातासः** उत्पन्न हुए वे **इन्दवः** उपासक को भिगो देने वाले ब्रह्मानन्दरस **श्रुष्टे** शीघ्र ही **स्वर्विदः** दिव्य प्रकाश को प्राप्त कराने वाले हों ॥१॥

भावार्थ—वे जीवात्मा धन्य हैं जो परमात्मा की उपासना से ब्रह्मानन्दरस प्राप्त करते हैं ॥१॥

अथ सोमं परमात्मानं प्रार्थयते।

६६७. प्र धन्वा सोम जागृविरिन्द्रायेन्दो परि स्रव।
द्युमन्तं शुष्ममा भर स्वर्विदम् ॥२॥[1]

प्र धन्व सोम जागृविः। इन्द्राय इन्द्रो परि स्रव॥
द्युमन्तम् शुष्मम् आ भर स्वर्विदम् स्वः विदम् ॥२॥

पदार्थः—हे **सोम** रसागार परमात्मन्! **जागृविः** जागरूकः त्वम् **प्र धन्व** प्रकर्षेण सक्रियो भव। धन्वतिः गतिकर्मा। निघं० २।१४। संहितायाम् 'द्व्यचोऽतस्तिङः। अ० ६।३।१३५' इति दीर्घः। हे **इन्दो** भक्तानाम् आनन्दरसेन क्लेदक! त्वम् **इन्द्राय** जीवात्मने **परिस्रव** परिक्षर। तस्मै **द्युमन्तम्** देदीप्यमानम् **स्वर्विदम्** विवेकख्यातिरूपस्य दिव्यप्रकाशस्य लम्भकम् **शुष्मम्** बलम्। शुष्म इति बलनाम। निघं० २।९। **आ भर** आहर ॥२॥

भावार्थः—मनोयोगेनोपासितः परमेश्वर उपासकानां ज्योतिष्प्रदमध्यात्मबलं प्रयच्छति ॥२॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **सोम** रस के भण्डार परमात्मन्! **जागृविः** जागरूक आप **प्र धन्व** सक्रिय होवो। हे **इन्दो** भक्तों को आनन्दरस से भिगोने वाले! आप **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए **परिस्रव** परिस्रुत होवो। उसे **द्युमन्तम्** देदीप्यमान, **स्वर्विदम्** विवेकख्यातिरूप दिव्य प्रकाश को प्राप्त कराने वाला **शुष्मम्** बल **आ भर** प्रदान करो ॥२॥

भावार्थ—मनोयोग से उपासना किया गया परमेश्वर उपासकों को ज्योति-प्रदायक अध्यात्मबल प्रदान करता है ॥२॥

अथोपासनायज्ञे सखीन् निमन्त्रयते।

६६८. सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्र गायत।
शिशुं न यज्ञैः परि भूषत श्रिये ॥३॥[2]

सखायः स खायः आ नि सीदत। पुनानाय प्र गायत।
शिशुम् न यज्ञैः परि भूषत श्रिये ॥३॥

पदार्थः—हे **सखायः** सुहृदः! यूयम् **आ निषीदत** समेत्य उपासनायज्ञे उपविशत, **पुनानाय** हृदयस्य पवित्रतां कुर्वाणाय परमात्मसोमाय **प्र गायत** भक्तिभावभरितान् वेदमन्त्रान् गायत। किञ्च तं परमात्म-

१. ऋ० ९।१०६।४ 'भर' इत्यत्र 'भरा' इति पाठः।
२. ऋ० ९।१०४।१, साम० ११५७।

सोमम् **श्रिये** शोभायै **यज्ञैः** उपासनायज्ञैः **शिशुं न** शिशुमिव **परिभूषत** परितः अलङ्कुरुत । यथा शोभासम्पादनाय शिशुम् आभरणवस्त्रादिभिरलङ्कुर्वन्ति तथा शोभापूर्वकं स्वात्मनि प्रतिष्ठापनाय परमात्मानम् उपासनायज्ञैरलङ्कुरुतेति भावः ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः । 'निषीदत, प्रगायत, परिभूषत' इत्यनेकक्रियाणामेककारकयोगाच्च दीपकालङ्कारोऽपि ॥३॥

भावार्थः—उपासनायोगेन रसागारं परमात्मानं साक्षात्कृत्य सर्वैरानन्दरस उपभोक्तव्यः ॥३॥

उपासनायज्ञ में मित्रों को निमन्त्रित किया जा रहा है ।

पदार्थ—हे **सखायः** मित्रो ! तुम **आ निषीदत** आकर उपासनायज्ञ में बैठो । **पुनानाय** हृदय को पवित्र करने वाले परमात्मारूप सोम के लिए **प्र गायत** भक्ति-भरे वेदमन्त्रों को गाओ । उस परमात्मारूप सोम को **श्रिये** शोभा के लिए **यज्ञैः** उपासनायज्ञों से **शिशुं न** शिशु के समान **परिभूषत** चारों ओर से अलंकृत करो अर्थात् जैसे शोभा के लिए शिशु को अलंकार-वस्त्र आदियों से अलंकृत करते हैं, वैसे ही शोभापूर्वक अपने आत्मा में प्रतिष्ठापित करने के लिए परमात्मा को उपासना-यज्ञों से अलंकृत करो ॥३॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । निषीदत, प्रगायत, परिभूषत इन अनेक क्रियाओं का एक कारक से योग होने के कारण दीपकालंकार भी है ॥३॥

भावार्थ—उपासना-योग द्वारा रसागार परमात्मा को साक्षात् करके सबको आनन्दरस का उपभोग करना चाहिए ॥३॥

पुनस्तमेव विषयमाह ।

६६०. तं वः सखायो मदाय पुनानमभि गायत ।
शिशुं न हव्यैः स्वदयन्त गूर्तिभिः ॥४॥[1]
तम् वः सखायः स खायः मदाय । पुनानम् अभि गायत ॥
शिशुम् न हव्यैः स्वदयन्त गूर्त्तिभिः ॥४॥

पदार्थः—हे **सखायः** सुहृदः **वः** यूयम् **पुनानम्** पवित्रीकुर्वाणम् **तम्** प्रसिद्धं सोमाख्यं परमात्मानम् **अभि** अभिलक्ष्य **मदाय** आनन्दलाभाय **गायत** सामगानं कुरुत । उपासकाः तं परमात्मानम् **हव्यैः** आत्मसमर्पणैः **गूर्तिभिः**[2] स्तुतिभिः उद्यमैश्च । गॄ शब्दे, गूर उद्यमने, ततः क्तिन् । **स्वदयन्त** प्रसादयन्ति । स्वद आस्वादने, णिजन्तः, लङर्थे लङ्, अडागमाभावश्छान्दसः । **शिशुं न** शिशुं यथा **हव्यैः** देयपदार्थैः क्रीडनकादिभिः **गूर्तिभिः** क्रोडोद्यमनैश्च मातरः प्रसादयन्ति तद्वत् ॥४॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥४॥

भावार्थः—आराधनेन पुरुषार्थेन च प्रसादितः परमेश्वरः पावित्र्यादिसम्पादनद्वारेणानन्दप्रदानेन चाराधकस्य हिताय जायते ॥४॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय को कहा गया है ।

पदार्थ—हे **सखायः** मित्रो ! **वः** तुम **पुनानम्** पवित्र करने वाले **तम्** उस प्रसिद्ध सोम नामक परमात्मा को **अभि** लक्ष्य करके **मदाय** आनन्दप्राप्ति के लिए **गायत** सामगान करो । उपासक जन उस

१. ऋ० ९।१०५।१ 'हव्यैः' इत्यत्र 'यज्ञैः' इति पाठः । साम० १०९८ ।
२. गूर्तिभिः उद्यमनैः—इति वि० । गूर्तिभिः स्तुतिभिः, गृणातेः गूर्तिः—इति भ० ।

परमात्मा को **हव्यैः** आत्मसमर्पणों द्वारा, और **गूर्तिभिः** स्तुतियों तथा उद्यमों द्वारा **स्वदयन्त** प्रसन्न करते हैं, **शिशुं न** जैसे किसी शिशु को **हव्यैः** खिलौने आदि देय पदार्थों द्वारा, और **गूर्तिभिः** गोद में उठाने के द्वारा माताएँ प्रसन्न करती हैं ॥४॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है ॥४॥

भावार्थ—आराधना और पुरुषार्थ से प्रसन्न किया हुआ परमेश्वर पवित्रता आदि के सम्पादन द्वारा और आनन्द-प्रदान द्वारा आराधक का हित करता है ॥४॥

अथ सोमस्य परमात्मनो महिमानमाह ।

३ १२ २१ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
५७०. प्राणा शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम् ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता ॥५॥[1]

३ २ ३ २ १ २१ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २१
प्राणा प्र आना शिशुः महीनाम् । हिन्वन् ऋतस्य दीधितिम् ॥
१ २१ १ २१ ३ २ ३ १ २१ ३ २
विश्वा परि प्रिया भुवत् अध द्विता ॥५॥

पदार्थः—**प्राणा**[2] प्राणः उपासकानां प्राण इव प्रियः । अत्र 'सुपां सुलुक्० । अ० ७।१।३९' इति सोराकारादेशः । **महीनाम्** वेदवाचाम् । मही इति वाङ्नाम । निघं० १।११ । **शिशुः** शिशुरिव शंसनीयः । शिशुः शंसनीयो भवति । निरु० १०।३७ । हृदये **ऋतस्य** सत्यस्य **दीधितिम्** निधानं प्रकाशं वा **हिन्वन्** प्रेरयन् सोमः परमात्मा **विश्वा** सर्वाणि **प्रिया** अस्माकं प्रियाणि मनोबुद्ध्यादीनि अग्निजलवाय्वादीनि च **परि भुवत्** परि व्याप्नोति । **अध** अतः कारणात् **द्विता** द्विधा महिमानं प्राप्नोति, अन्तर्जगति बाह्यजगति च । द्विता द्वैधम् । निरु० ५।३।१९ ॥५॥

अत्र प्राण इव, शिशुरिव इति लुप्तोपमम् ॥५॥

भावार्थः—शरीरपिण्डे ब्रह्माण्डे च सर्वत्र यस्य महिमा प्रकाशते स जगदीश्वरः कस्य न वन्द्यः ॥५॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा की महिमा वर्णित है ।

पदार्थ—**प्राणा** उपासकों को प्राण के समान प्रिय, **महीनाम्** वेदवाणियों का **शिशुः** शिशु-तुल्य स्तवनीय, हृदय में **ऋतस्य** सत्य के **दीधितिम्** खजाने को या प्रकाश को **हिन्वन्** प्रेरित करता हुआ सोम परमात्मा **विश्वा** सब **प्रिया** प्रिय मन, बुद्धि आदि और अग्नि, जल, वायु आदियों को **परि भुवत्** व्याप्त किये हुए है । **अध** इस कारण **द्विता** अन्दर और बाहर दो प्रकार से महिमा को प्राप्त है ॥५॥

इस मन्त्र में 'प्राणा' तथा 'शिशुः' में लुप्तोपमालंकार है ॥५॥

भावार्थ—शरीररूप पिण्ड में तथा ब्रह्माण्ड में सर्वत्र जिसकी महिमा प्रकाशित है, वह जगदीश्वर किसका वन्दनीय नहीं है ॥५॥

अथानन्दरसनिर्झरणं प्रार्थयते ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
५७१. पवस्व देववीतय इन्दो धाराभिरोजसा ।
२ ३ २ ३ १ २
आ कलशं मधुमान्त्सोम नः सदः ॥६॥[3]

---

१. ऋ० ९।१०२।१, साम० १०१३ ।

२. प्राणा प्राणभूतः—इति वि० । प्राणा पूर्णः—इति भ० ।

३. ऋ० ९।१०६।७, साम० १३२६ ।

१२१ ३१२ ३२ ३ १२१ १२१ १ २१
पवस्व देववीतये देव वीतये । इन्दो धाराभिः ओजसा ।।
३१२ १२१ ३
आ कलशम् मधुमान् सोम नः सदः ।।६।।

पदार्थः—हे **इन्दो** आनन्दरसेन क्लेदयितः रसागार परमात्मन् ! त्वम् **देववीतये** देवानां दिव्यगुणानां वीतिः उत्पत्तिः देववीतिः, तस्यै । देववीतिः इति पदस्य दासीभारादित्वात् 'कुरुगार्हपत० । अ० ६।२।४२' इत्यनेन पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । **धाराभिः** प्रवाहसन्ततिभिः सह **ओजसा** वेगेन **पवस्व** अस्माकमन्तःकरणे प्रवाहितो भव । हे **सोम** जगदीश्वर ! **मधुमान्** मधुरानन्दोपेतः त्वम् **नः** अस्माकम् **कलशम्** कलाभिः पूर्णम् आत्मानम् **आ सदः** आगत्य स्थितो भव ।।६।।

अत्र श्लेषेण भौतिकसोमपरोऽप्यर्थो ग्राह्यः । तेन सोमपरमात्मनोरुपमानोपमेयभावः सूचितो भवति । तत उपमाध्वनिः ।।६।।

भावार्थः—यथा सोमौषधिरसो धाराभिर्द्रोणकलशमागच्छति तथा मधुरो ब्रह्मानन्दरस आत्मकलशं समागच्छेत् ।।६।।

अगले मन्त्र में आनन्द-रस के झरने की प्रार्थना है ।

पदार्थ—हे **इन्दो** आनन्दरस से भिगोने बाले रसागार परमात्मन् ! आप **देववीतये** दिव्यगुणों की उत्पत्ति के लिए **धाराभिः** धाराओं के साथ **ओजसा** वेग से **पवस्व** हमारे अन्तःकरण में झरो । हे **सोम** जगदीश्वर ! **मधुमान्** मधुर आनन्द से परिपूर्ण आप **नः** हमारे **कलशम्** कलाओं से पूर्ण आत्मा में **आ सदः** आकर स्थित होओ ।।६।।

इस मन्त्र में श्लेष से भौतिकसोम-परक अर्थ भी ग्राह्य होता है । उससे भौतिक सोम तथा परमात्मा का उपमानोपमेयभाव सूचित होता है । अतः उपमाध्वनि है ।।६।।

भावार्थ—जैसे सोम ओषधि का रस धाराओं के साथ द्रोणकलश में आता है, वैसे ही **मधुर** ब्रह्मानन्दरस आत्मा में आये ।।६।।

अथ पुनर्ब्रह्मानन्दरसविषयमाह ।

१ २ ३ २ ३ २३ ३ २३ १ २
७७२. सोमः पुनान ऊर्मिणाव्यं वारं वि धावति ।
१ २ ३१२ २१ ३ १ २
अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत् ।।७।।[1]
१२१ ३ २ ३ १ २ १२१ १२१ ३
सोमः पुनानः ऊर्मिणा । अव्यम् वारम् वि धावति ।।
१२१ ३ २ १२१ १२१
अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत् ।।७।।

पदार्थः—**सोमः** ब्रह्मानन्दरसः **पुनानः** उपासकं पवित्रं कुर्वन् **ऊर्मिणा** तरङ्गेण साकम् **अव्यं वारम्** ऊर्णामयदशापवित्रमिव दोषनिवारकम् अविनश्वरं जीवात्मानं प्रति **वि धावति** वेगेन गच्छति । **वाचः** प्रोच्चारितायाः स्तुत्यात्मिकायाः गिरः **अग्रे** पूर्वमेव **पवमानः** धारारूपेण प्रवहन् सः । पवते गतिकर्मा । निघं० २।१४ । **कनिक्रदत्** कल-कलध्वनिमिव कुर्वन्, अस्तीति शेषः । 'दाधर्तिदर्धर्ति० । अ० ७।४।६५' इति क्रन्देर्यङ्लुगन्तात् शतरि निपात्यते ।।७।।

अत्र ब्रह्मानन्दे कारणभूतायाः स्तुतिवाचः उच्चारणात् पूर्वमेव ब्रह्मानन्दप्रवाहस्योदयवर्णनात् कारणात् प्राक् कार्योदयरूपोऽतिशयोक्तिरलङ्कारः ।।७।।

१. ऋ० ९।१०६।१० 'ऊर्मिणाव्यं' इत्यत्र 'ऊर्मिणाव्यो' इति पाठः । साम० ९४० ।

भावार्थः—उपासकैर्ध्यातः परमेश्वरः स्वसकाशादानन्दरसस्य प्रचुरा धारा उपासकानां हृदये प्रेरयति ॥७॥

अगले मन्त्र में पुनः ब्रह्मानन्दरस का विषय है।

पदार्थ—**सोमः** ब्रह्मानन्दरस **पुनानः** उपासक को पवित्र करता हुआ **ऊर्मिणा** लहर के साथ **अव्यं वारम्** भेड़ की ऊन से बने दशापवित्र के तुल्य दोषनिवारक अविनश्वर आत्मा के प्रति **वि धावति** वेग से दौड़ रहा है। **वाचः** प्रोच्चारित स्तुतिवाणी से **अग्रे** पहले ही **पवमानः** धारा रूप से बहता हुआ **कनिक्रदत्** कलकल ध्वनि कर रहा है ॥७॥

इस मन्त्र में ब्रह्मानन्द में कारणभूत स्तुति वाणी के उच्चारण से पूर्व ही ब्रह्मानन्द की उत्पत्ति का वर्णन होने से कारण के पूर्व कार्योदय वर्णित होना रूप अतिशयोक्ति अलंकार है ॥७॥

भावार्थ—उपासकों से ध्यान किया गया परमेश्वर अपने पास से आनन्दरस की प्रचुर धाराओं को उपासकों के हृदय में प्रेरित करता है ॥७॥

अथ परमात्मानं प्रति मनुष्यस्य कर्तव्यमाह।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
५७३. प्र पुनानाय वेधसे सोमाय वच उच्यते।
३ १ २ २ १ ३ १ २ ३ १ २
भृतिं न भरा मतिभिर्जुजोषते ॥८॥[1]
२ ३ १ २ ३ १ २ १ २ १ १ २ १ ३
प्र पुनानाय वेधसे। सोमाय वचः उच्यते॥
२ ३ १ २ ३ १ २
भृतिम् न भर मतिभिः जुजोषते ॥८॥

पदार्थः—**पुनानाय** उपासकस्य हृदयं पवित्रं कुर्वते, **वेधसे** आनन्दस्य विधात्रे **सोमाय** रसागाराय परमात्मने **वचः** धन्यवादवचनम् **प्र उच्यते** अस्माभिः प्रोच्चार्यते। हे सखे! **मतिभिः** मेधाभिः **जुजोषते** त्वां प्रीणयते तस्मै परमात्मने। जुषी प्रीतिसेवनयोः तुदादिः, शतरि 'बहुलं छन्दसि। अ० २।४।७३' इति शपः श्लौ द्वित्वम्। त्वमपि **भृतिं न** वेतनमिव, उपहारमिव वा **भर** आहर। यथा कर्मकराय कश्चिद् वेतनम् उपहारं वा प्रयच्छति तथा मेधाभिः प्रीणयते तस्मै त्वं विनिमयरूपेण धन्यवादं प्रदेहीति भावः ॥८॥

'भृतिं न भर' इत्यत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥८॥

भावार्थः—यः परमेश्वरोऽस्मान् सुमतिप्रदानादिभिरुपकरोति तत्कृते वयं कृतज्ञतां कुतो न प्रकाशयेम ॥८॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के प्रति मनुष्य का कर्तव्य बताया गया है।

पदार्थ—**पुनानाय** उपासक के हृदय को पवित्र करने वाले, **वेधसे** आनन्द के विधायक **सोमाय** रसागार परमात्मा के लिए **वचः** धन्यवाद का वचन **प्र उच्यते** हमारे द्वारा कहा जा रहा है। हे मित्र! तुम भी **मतिभिः** बुद्धियों से **जुजोषते** तुम्हें तृप्त करने वाले उस परमात्मा के लिए **भृतिं न** वेतन-रूप या उपहार-रूप धन्यवादादि वचन को **भर** प्रदान करो, अर्थात् कार्य करने वाले को जैसे कोई बदले में वेतन या उपहार देता है, वैसे ही बुद्धि देने वाले उसे तुम बदले में धन्यवाद दो ॥८॥

इस मन्त्र में 'भृतिं न भर' में उत्प्रेक्षालंकार है ॥८॥

---

१. ऋ० ९।१०३।१ 'उच्यते' इत्यत्र 'उद्यतम्' इति पाठः।

भावार्थ—जो परमेश्वर सुमति-प्रदान आदि के द्वारा हमारा उपकार करता है, उसके प्रति हम कृतज्ञता क्यों न प्रकाशित करें ॥८॥

अथ परमात्मानं राजानमाचार्यं च प्रार्थयते ।

५७४. गोमन्न इन्दो अश्ववत् सुतः सुदक्ष धनिव ।
शुचि च वर्णमधि गोषु धारय ॥९॥[1]
गोमत् नः इन्दो अश्ववत् । सुतः सुदक्ष सु दक्ष धनिव ॥
शुचिम् च वर्णम् अधि गोषु धारय ॥९॥

पदार्थः—हे **सुदक्ष** सुसमृद्ध । दक्षतिः समृद्धिकर्मा । निरु० १।६ । **इन्दो** चन्द्रः समुद्राणामिव जनानां समृद्धिकर परमात्मन्, राजन्, आचार्य वा ! **सुतः** हृदये प्रकटितः, राष्ट्रे निर्वाचितः, समित्पाणिभिरस्माभिः शिष्यैः वृतो वा त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **गोमत्** धेनुयुक्तं, पृथिवीयुक्तं वेदवाग्युक्तं च, **अश्ववत्** तुरगयुक्तं प्राणयुक्तं च रयिमिति शेषः **धनिव** धन्वय प्रापय । धन्वतिः गतिकर्मा । निघं० २।१४ । अत्र णिजर्थगर्भः । ततो 'धन्व' इति प्राप्ते इकारोपजनश्छान्दसः । ऋग्वेदे 'धन्व' इत्येव पाठः । **गोषु अधि** राष्ट्रभूमिषु **शुचिं वर्णं च** पवित्रहृदयं ब्राह्मणादिवर्णं च, यद्वा **गोषु अधि** वाणीषु **शुचिं वर्णं च** पवित्रम् ॐकाररूपम् अक्षरं च **धारय** धेहि ॥९॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—परमेश्वरो राजाऽऽचार्यो वा स्वयं धनविद्यादिना सुसमृद्धः सन् कृपयास्मभ्यमपि धनज्ञानादिकं प्रयच्छेत् । यस्मिन् राष्ट्रे पवित्रहृदया ब्राह्मणक्षत्रियादयो वर्णा जायन्ते, यत्र प्रजानां वाणीषु ॐकाररूपमक्षरं च जपादिरूपेण सततं विराजते तद् राष्ट्रं खलु धन्यमुच्यते ॥९॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, राजा और आचार्य से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **सुदक्ष** अत्यन्त समृद्ध और **इन्दो** जैसे चन्द्रमा समुद्रों की वृद्धि करता है वैसे ही मनुष्यों की समृद्धि करने वाले परमात्मन्, राजन् वा आचार्य ! **सुतः** हृदय में प्रकट हुए, राष्ट्र में निर्वाचित हुए अथवा हम समित्पाणि शिष्यों से वरण किये गये आप **नः** हमारे लिए **गोमत्** गायों से अथवा भूमियों से अथवा वेदवाणियों से युक्त और **अश्ववत्** घोड़ों अथवा प्राणों से युक्त ऐश्वर्य को **धनिव** प्राप्त कराइये । और **गोषु अधि** राष्ट्र-भूमियों में **शुचिं वर्णं च** पवित्र हृदय वाले ब्राह्मणादि वर्ण को भी, अथवा **गोषु अधि** वाणियों में **शुचिं वर्णं च** पवित्र अक्षर 'ओम्' को भी **धारय** धारण कराइये ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है ॥९॥

भावार्थ—परमेश्वर, राजा और आचार्य स्वयं धन, विद्या आदि से सुसमृद्ध होकर कृपापूर्वक हमें भी धन, विद्या आदि प्रदान करें । जिस राष्ट्र में पवित्र हृदय वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण होते हैं और जहाँ प्रजाओं की वाणियों में ओंकाररूप अक्षर जप आदि रूप में निरन्तर विराजमान रहता है, वह राष्ट्र धन्य कहाता है ॥९॥

---

१. ऋ० ९।१०५।४ 'धनिव', 'शुचि च', 'धारय' इत्यत्र क्रमेण 'धन्व', 'शुचि ते', 'दीधरम्' इति पाठः । साम० १६११ ।

अथ सोमाख्यं परमात्मानं वैद्यं चाह ।

३ १ २ ३ १२३१२ २१
५७८. अस्मभ्यं त्वा वसुविदमभि वाणीरनूषत ।
१ २३ १२३ १ २
गोभिष्टे वर्णमभि वासयामसि ॥१०॥[1]

३ १ २ ३ १२ ३ १२१ ३२ १२१ ३
अस्मभ्यम् त्वा वसुविदम् वसु विदम् । अभि वाणीः अनूषत ॥
१२१ ३ १२१ ३२ ३
गोभिः ते वर्णम् अभि वासयामसि ॥१०॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपरः । हे सोमाख्य परमात्मन् ! **अस्मभ्यम्** नः **वसुविदम्** ऐश्वर्यस्य लम्भकम् **त्वा अभि** त्वाम् अभिलक्ष्य **वाणीः** अस्माकं वाण्यः **अनूषत** स्तुवन्ति । णु स्तुतौ, लङर्थे लुङि छान्दसं रूपम् । वयम् **गोभिः** वेदवाग्भिः **ते** तव **वर्णम्** स्वरूपम् **अभिवासयामसि** स्वात्मनि निवासयामः ॥

अथ **द्वितीयो** वैद्यपरः । यः अभिषुणोति सोमाद्योषधीनां रसान् भैषज्यार्थं स सोमो वैद्यः ।[2] 'हे वैद्यराज ! **अस्मभ्यम्** रुग्णेभ्यो नः **वसुविदम्** स्वास्थ्यसम्पत्प्रापकम् **त्वा अभि** त्वामभिलक्ष्य **वाणीः** कृतज्ञानामस्माकं वाचः **अनूषत** स्तुवन्ति, तव आयुर्वेदज्ञानं प्रशंसन्ति' इत्यातुराणामुक्तिः । अथ वैद्योक्तिः—हे त्वग्रोगग्रस्त जन ! **गोभिः** गोविकारैः पयोदधिघृतमूत्रगोमयलक्षणैः वयम् **ते** तव **वर्णम्** स्वाभाविकं त्वग्रूपम् **अभिवासयामसि** त्वयि निवासयामः, कुष्ठादि रोगवशाद् विकृतं तव त्वग्रूपम् अपनीय स्वाभाविकं त्वग्वर्णं जनयाम इति भावः । एतेन कुष्ठादीनां त्वग्रोगाणां पञ्चगव्येन चिकित्सा सूचिता भवति ॥१०॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१०॥

भावार्थः—सर्वैश्वर्यप्रदस्य परमात्मनः सत्यं शिवं सुन्दरं सच्चिदानन्दमयं स्वरूपमस्माभिः स्वहृदये धारणीयम् । तथैव सद्वैद्योक्तरीत्या पञ्चगव्यचिकित्सया त्वगादीनां रोगा अपनेयाः ॥१०॥

अगले मन्त्र में सोमनामक परमात्मा वा वैद्य को कहा गया है ।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हे सोम परमात्मन् ! **अस्मभ्यम्** हमारे लिए **वसुविदम्** ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाले **त्वा अभि** आपको लक्ष्य करके **वाणीः** हमारी वाणियाँ **अनूषत** स्तुति कर रही हैं । हम **गोभिः** वेद-वाणियों द्वारा **ते** आपके **वर्णम्** स्वरूप को **अभिवासयामसि** अपने अन्दर बसाते हैं ॥

द्वितीय वैद्य के पक्ष में । हे चिकित्सा के लिए सोम आदि ओषधियों का रस अभिषुत करने वाले वैद्यराज ! **अस्मभ्यम्** हम रोगियों के लिए **वसुविदम्** स्वास्थ्य-सम्पत्ति प्राप्त कराने वाले **त्वा अभि** आपको लक्ष्य करके **वाणीः** हम कृतज्ञों की वाणियाँ **अनूषत** आपकी स्तुति कर रही हैं, अर्थात् आपके आयुर्वेद के ज्ञान की प्रशंसा कर रही हैं—यह रोगियों की उक्ति है । आगे वैद्य कहता है—हे त्वचारोग से ग्रस्त रोगी ! **गोभिः** गाय से प्राप्त होने वाले दूध, दही, घी, मूत्र और गोबर रूप पंच गव्यों से हम **ते** तेरे, तेरी त्वचा के **वर्णम्** स्वाभाविक रंग को **अभिवासयामसि** पुनः तुझमें बसा देते हैं, अर्थात् कुष्ठ आदि रोग के कारण तेरी त्वचा के विकृत हुए रूप को दूर करके त्वचा का स्वाभाविक रंग ला देते हैं । इससे कुष्ठ आदि त्वचा-रोगों की पंचगव्य द्वारा चिकित्सा की जाने की सूचना मिलती है ॥१०॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१०॥

भावार्थ—सब ऐश्वर्य देने वाले परमात्मा के सत्य, शिव, सुन्दर, सच्चिदानन्दमय स्वरूप को

---

१. ऋ० ९।१०४।४ ऋषी पर्वतनारदौ, द्वे शिखण्डिन्यौ वा काश्यप्यावप्सरसौ ।

२. सोमम् सोमलताद्योषधिसारपातारम् (वैद्यम्) इति ऋ० २।११।११ भाष्ये द० ।

हमें अपने हृदय में धारण करना चाहिए। इसी प्रकार श्रेष्ठ वैद्यों की बतायी रीति से पंचगव्यों द्वारा चिकित्सा से त्वचा आदि के रोग दूर करने चाहिएँ ॥१०॥

अथ परमात्मसोमः प्रार्थ्यते।

१२ ३२७ ३२३ १२३ १२
५७६. पवते हर्यतो हरिरति ह्वरांसि रंह्या।
३क२१ ३१ २ १२३१२
अभ्यर्ष स्तोतृभ्यो वीरवद्यशः ॥११॥[1]
१२१ ३२ ३२१ १२१ १२१ १२१
पवते हर्यतः हरिः। अति ह्वराꣳसि रꣳह्या ॥
३२ ३ १ २ ३१२ १२१
अभि अर्ष स्तोतृभ्यः वीरवत् यशः ॥११॥

पदार्थः—हे सोम परमात्मन्! **हर्यतः** गतिमान्, कर्मण्यः, पुरुषार्थी, त्वत्कामः, तव प्रियः। हर्य गतिकान्त्योः। 'भृमृदृशि०। उ० ३।११०' इत्यतच् प्रत्ययः। चित्त्वादन्तोदात्तत्वम्। **हरिः** मनुष्यः। हरयः इति मनुष्यनामसु पठितम्। निघं० २।३। **रंह्या**[2] वेगेन। रंहिः गतिः। निरु० १०।२६। **ह्वरांसि** कुटिलतायाः मार्गान् **अति** अतिक्रम्य **पवते** सन्मार्गाननुधावति। त्वम् **स्तोतृभ्यः** त्वद्गुणकर्मस्वभाववर्णनपरायणेभ्यः तवोपासकेभ्यः **वीरवत्** वीरभावैर्युक्तं वीरपुत्रैर्वा युक्तम् **यशः** कीर्तिसमूहम् **अभ्यर्ष** अभिप्रापय ॥११॥

अत्र रेफहकारादीनां पृथक् पृथगनेकश आवृत्तौ वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः ॥११॥

भावार्थः—पुरुषार्थी कर्मण्यः परमेश्वरोपासको जनः स्वजीवने कौटिल्यं परिहृत्य सरलतां स्वीकृत्य वीरभावैर्वीरसन्ततिभिश्च युक्तः सन् परमोज्ज्वलेन यशसा देदीप्यते ॥११॥

अगले मन्त्र में परमात्मा रूप सोम से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे सोम परमात्मन्! **हर्यतः** गतिमान्, कर्मण्य, पुरुषार्थी और तुम्हारी चाहवाला तुम्हारा प्रिय **हरिः** मनुष्य **रंह्या** वेग के साथ **ह्वरांसि** कुटिलता के मार्गों को **अति** अतिक्रमण करके **पवते** सन्मार्गों पर दौड़ रहा है। **त्वम्** तुम **स्तोतृभ्यः** तुम्हारे गुण-कर्म-स्वभाव की स्तुति करने वाले अपने उपासकों को **वीरवत्** वीरभावों अथवा वीर पुत्रों से युक्त **यशः** यश **अभ्यर्ष** प्राप्त कराओ ॥११॥

इस मन्त्र में र्, ह् आदि की पृथक्-पृथक् अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है ॥११॥

भावार्थ—पुरुषार्थी, कर्मण्य परमेश्वरोपासक मनुष्य अपने जीवन में कुटिलता छोड़कर और सरलता को स्वीकार करके वीरभावों और वीर सन्ततियों से युक्त होता हुआ परम उज्ज्वल यश से चमकता है ॥११॥

अथ परमात्मनः सकाशादागच्छन्तमानन्दरसं वर्णयति।

२३ १२ ३ २३ १२ ३१ २
५७७. परि कोशं मधुश्चुतं सोमः पुनानो अर्षति।
३२७ ३१२ ३ १ २
अभि वाणीरृषीणां सप्ता नूषत ॥१२॥[3]

---

१. ऋ० ९।१०५।१३ 'अभ्यर्षन्त्स्तोतृभ्यो' इति पाठः।

२. रंहि शब्दस्य स्त्रियां तृतीयैकवचने रूपमिदम्। 'अत्र तृतीयाया आकारः' इति सायणीयं वचनं, तत्र 'सुपां सुलुक्० (७।१।३९) इत्यादिनेति भावः' इति सत्यव्रतसामश्रमिटिप्पणं च चिन्त्यम्।

३. ऋ० ९।१०३।३ 'मधुश्चुतमव्यये वारे अर्षति', 'सप्त नूषत' इति पाठः।

परि कोशम् मधुश्चुतम् मधु श्चुतम् । सोमः पुनानः अर्षति ॥
अभि वाणीः ऋषीणाम् सप्त नूषत ॥१२॥

पदार्थः—**पुनानः** अन्तःकरणस्य पवित्रतां सम्पादयन् **सोमः** प्रेरकः परमेश्वरः ब्रह्मानन्दरसो वा **मधुश्चुतम्** मधुरश्रद्धारसस्राविणम् **कोशम्** मनोमयकोशम् **परि अर्षति** परिगच्छति । तं परमेश्वरं ब्रह्मानन्दरसं वा **ऋषीणां सप्त वाणीः** वेदानाम् आर्षेयगायत्र्यादिसप्तच्छन्दोमय्यः ऋचः । संहितायां 'सप्ता' इति छान्दसो दीर्घः । **अभि नूषत** सोमनाम्ना अभिष्टुवन्ति । णू स्तवने धातोर्लङर्थे लङि छान्दसं रूपम् । अडागमाभावः ॥

चतुर्विंशत्यक्षरेभ्य आरभ्य क्रमेण चतुश्चतुर्वृद्ध्या सम्पद्यमानानि गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्ति-त्रिष्टुब्जगत्याख्यानि सप्त च्छन्दांसि ऋषीणां छन्दांस्युच्यन्ते । तान्येवात्र 'ऋषीणां सप्त वाणीः' इत्यनेन गृह्यन्ते ॥१२॥

भावार्थः—परब्रह्मणो ब्रह्मानन्दरसस्य च महिमानं गायन्तीभिर्वेदवाग्भिः संमनसो भूत्वा ब्रह्मोपासकाः स्वहृदये ब्रह्मानन्दरसस्य प्रवाहमनुभवेयुः ॥१२॥

अत्र सोमं परमात्मानं प्रति सामानि गातुं प्रेरणात् परमात्मनस्तदानन्दरसस्य च महिमवर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्ति ॥

इति षष्ठे प्रपाठके द्वितीयार्धे तृतीया दशतिः ।
इति पञ्चमेऽध्याये दशमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से आने वाले आनन्दरस का वर्णन है ।

पदार्थ—**पुनानः** अन्तःकरण को पवित्र करता हुआ परमेश्वर अथवा ब्रह्मानन्दरस **मधुश्चुतम्** मधुर श्रद्धारस को प्रस्रुत करने वाले **कोशम्** मनोमय कोश में **परि अर्षति** व्याप्त हो रहा है । उस परमेश्वर वा ब्रह्मानन्दरस की **ऋषीणां सप्त वाणीः** वेदों की आर्षेय गायत्री आदि सात छन्दों वाली ऋचाएँ **अभि नूषत** सोम नाम से स्तुति करती हैं ॥

चौबीस अक्षरों से आरम्भ करके क्रमशः चार-चार अक्षरों की वृद्धि करके गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती नामक सात छन्द ऋषि-छन्द कहाते हैं। वे ही यहाँ 'ऋषीणां सप्त वाणीः' शब्दों से ग्राह्य हैं ॥१२॥

भावार्थ—परब्रह्म और ब्रह्मानन्द रस की महिमा को गाने वाली वेदवाणियों के साथ अपना मन मिलाकर ब्रह्म के उपासक जन अपने हृदय में ब्रह्मानन्दरस के प्रवाह का अनुभव करें ॥१२॥

इस दशति में सोम परमात्मा के प्रति सामगान की प्रेरणा होने से तथा परमात्मा और उसके आनन्दरस की महिमा का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय से संगति है ॥

षष्ठ प्रपाठक, द्वितीय अर्ध की तृतीय दशति समाप्त ।
पञ्चम अध्याय का दशम खण्ड समाप्त ॥

॥६॥ अथ 'पवस्व मधुमत्तम' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ गौरिवीतिः शाक्त्यः; २ ऊर्ध्वसद्मा आङ्गिरसः; ३, ८ ऋजिश्वा भारद्वाजः[1]; ४ कृतयशा आङ्गिरसः; ५ ऋणञ्चयः; ६ शक्तिर्वासिष्ठः; ७ उरुराङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—१-४, ६ ककुबुष्णिक्; ५ यवमध्या गायत्री; ७, ८ काकुभः प्रगाथः (७ ककुबुष्णिक्; ८ सतोबृहती) ॥ स्वरः—१-४, ६ ऋषभः; ५ षड्जः; ७, ८ मध्यमः ॥

तत्राद्ये मन्त्रे सोमं परमात्मानं प्रार्थयते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५७८. पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मदः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
महि द्युक्षतमो मदः ॥१॥[2]
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
पवस्व मधुमत्तमः । इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमः क्रतु वित्तमः मदः ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
महि द्युक्षतमः द्यु क्षतमः मदः ॥१॥

पदार्थः—हे **सोम** आनन्दरसागार परमात्मन् ! **मधुमत्तमः** अतिशयेन मधुरः, **क्रतुवित्तमः** अतिशयेन कर्मणः प्रज्ञायाश्च लम्भकः **मदः** हर्षकरश्च त्वम् **इन्द्राय** मदीयाय आत्मने **पवस्व** प्रस्रव, आनन्दरसं प्रवाहय । **मदः** त्वज्जनितः आनन्दः **महि** अत्यर्थम् । महि यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणमेतत् । **द्युक्षतमः** अतिशयेन तेजसो निवासकः भवति । द्यां दीप्तिं क्षाययति निवासयतीति द्युक्षः, अतिशयेन द्युक्षः द्युक्षतमः ॥१॥

'तमो मदः' इत्यस्यावृत्तौ यमकालङ्कारः । 'तम, तमो, तमो' इत्यत्र च वृत्त्यनुप्रासः ॥१॥

भावार्थः—मधुरमधुरं ज्ञानकर्मोपदेष्टारमानन्दप्रदं परमात्मानं ध्यायं ध्यायं योगिनो निरतिशयानन्दरसनिर्भरा जायन्ते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में सोम परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **सोम** आनन्दरसागार परमात्मन् ! **मधुमत्तमः** सबसे अधिक मधुर, **क्रतुवित्तमः** सबसे अधिक प्रज्ञा और कर्म को प्राप्त कराने वाले, और **मदः** हर्षप्रदाता आप **इन्द्राय** मेरे आत्मा के लिए **पवस्व** आनन्द-रस को प्रवाहित कीजिए । **मदः** आपसे दिया हुआ आनन्द **महि** अत्यधिक **द्युक्षतमः** तेज का निवास कराने वाला होता है ॥१॥

इस मन्त्र में 'तमो मदः' की आवृत्ति में यमक अलंकार है । 'तम, तमो, तमो' में वृत्त्यनुप्रास है ॥१॥

भावार्थ—अत्यन्त मधुर, ज्ञान तथा कर्म के उपदेशक, आनन्ददाता परमात्मा का ध्यान कर-करके योगीजन अपार आनन्दरस से परिपूर्ण हो जाते हैं ॥१॥

---

१. वैदिकयन्त्रालयमुद्रितायां सामसंहितायां तु अष्टम्या उरुराङ्गिरसः ऋषिर्निर्दिष्टः ।
२. ऋ० ९।१०८।१, साम० ६९२ ।

पुनस्तमेव विषयमाह ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
५७९. अभि द्युम्नं बृहद्यश इषस्पते दिदीहि देव देवयुम् ।
१ २ २ १ ३ १ २
वि कोशं मध्यमं युव ॥२॥[1]
३ २ ३ २ ३ २ १ २ १ ३ १ २ १ ३ २ ३ २
अभि द्युम्नम् बृहत् यशः । इषः पते दिदीहि देव देवयुम् ॥
१ २ १ ३ २ ३
वि कोशम् मध्यमम् युव ॥२॥

पदार्थः—हे **इषः पते** अन्नरसधनबलविज्ञानादीनाम् अधिपते सोम परमात्मन् ! त्वम् **द्युम्नम्** तेजः । द्युम्नं द्योततेः । निरु० ५।५ । **बृहद् यशः** महतीं कीर्तिं च **अभि** अस्मान् अभिप्रापय । उपसर्ग-श्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः । हे **देव** दानदीपनद्योतनादिदिव्यकर्मन् भगवन् ! त्वम् **देवयुम्** दिव्यगुणान् कामय-मानं माम् । देवान् आत्मनः कामयते इति देवयुः । क्यचि 'क्याच्छन्दसि । अ० ३।२।१७०' इति उ प्रत्ययः । **दिदीहि** दिव्यगुणैः प्रकाशय । दीदयतिः ज्वलतिकर्मा । निघं० १।१६ । किञ्च, **मध्यमम्** मध्यस्थम् **कोशम्** मनोमयरूपम् **वि युव** वियोजय, समुद्घाटय । येन तत उपरितनं विज्ञानमयमानन्दमयं च कोशमारोढुं प्रभवेयम् ॥२॥

भावार्थः—यथा मेघरूपस्य मध्यमकोशस्यापावरणेनैव ऊर्ध्वस्थः सूर्यप्रकाशः प्राप्तुं शक्यते, तथैव मध्यस्थस्य मनोमयकोशस्यापावृत्त्यैव विज्ञानमयस्याऽऽनन्दमयस्य च कोशस्य विपुला समृद्धिरधिगन्तुं पार्यते, अन्यथा योगसाधको मनोमयभूमिकास्वेव रममाणस्तिष्ठति ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः वही विषय है ।

पदार्थ—हे **इषः पते** अन्न, रस, धन, बल, विज्ञान आदि के स्वामी सोम परमात्मन् ! आप **द्युम्नम्** तेज को, और **बृहद् यशः** महान् यश को **अभि** हमें प्राप्त कराइये । हे **देव** दान करने, चमकने, चमकाने आदि दिव्य कर्मों से युक्त भगवन् ! आप **देवयुम्** दिव्य गुणों के अभिलाषी मुझे **दिदीहि** दिव्य गुणों से प्रकाशित कर दीजिए । मेरे **मध्यमम्** मध्यम **कोशम्** कोश को, अर्थात् मध्यस्थ मनोमय कोश को **वि युव** खोल दीजिए, जिससे उपरले विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोश में पहुँच सकूँ ॥२॥

भावार्थ—जैसे मेघरूप मध्यम कोश के खुलने से ही ऊपर का सूर्यप्रकाश प्राप्त हो सकता है, वैसे ही कोशों में मध्यस्थ मनोमय कोश के खुलने से ही विज्ञानमय और आनन्दमय कोश की विपुल समृद्धि प्राप्त की जा सकती है, अन्यथा योग का साधक मनोमय भूमिका में ही रमता रहता है ॥२॥

अथ जनान् परमात्माराधनाय प्रेरयति ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५८०. आ सोता परि षिञ्चताश्वं न स्तोममप्तुरं रजस्तुरम् ।
३ १ २ ३ १ २
वनप्रक्षमुदप्रुतम् ॥३॥[2]
२ ३ १ २ १ ३ १ २ १ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २
आ सोत परि सिञ्चत । अश्वम् न स्तोमम् अप्तुरम् रजस्तुरम् ॥
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १
वनप्रक्षम् वन प्रक्षम् उदप्रुतम् उद प्रुतम् ॥३॥

---

१ ऋ० ९।१०८।९ 'देवयुम्' इत्यत्र देवयुः' इति पाठः । साम० १०११ ।

२. ऋ० ९।१०८।७ 'वनप्रक्ष' इत्यत्र 'वनक्रक्ष' इति पाठः । साम० १३९४ ।

पदार्थः—हे सखायः यूयम् **स्तोमम्** समूहरूपेण विद्यमानम्, **अप्तुरम्** यः अप्सु नदीनदसमुद्रवर्तिषु उदकेषु तोरयति वेगेन गमयति यानानि तम् । अप्पूर्वकात् तुर त्वरणे धातोर्णिजन्तात् क्विप् । **रजस्तुरम्** यः रजसि अन्तरिक्षलोके तोरयति वेगेन गमयति यानानि तम्, **वनप्रक्षम्** यो वनानि अरण्यानि पृणक्ति संस्पृशति दहति वा तम् । वनपूर्वात् पृची सम्पर्के धातोः बाहुलकाद् औणादिकः सः प्रत्ययः । **उदप्रुतम्** यः उदकं प्रवयति वाष्पीकृत्य ऊर्ध्वं गमयति तम् । उदकपूर्वात् प्रुङ् गतौ धातोः क्विप् । उदकस्य उदभावः । **अश्वम्**[1] वह्निविद्युदादिरूपम् अग्निम् **न** यथा, शिल्पिनः **आ सुन्वन्ति** उत्पादयन्ति **परि सिञ्चन्ति** जलादिभिः परितः संयोजयन्ति, तथा **स्तोमम्** स्तुतिपात्रम् । स्तूयते इति स्तोमः । ष्टुञ् स्तुतौ धातोः 'अर्तिस्तुसु० । उ० १।१४०' इति मन् प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । **अप्तुरम्**[2] यः अपः प्राणान् तोरयति प्रेरयति तम् । आपो वै प्राणाः । श० ३।८।२।४, प्राणा वा आपः । तै० ३।२।५।२ । **रजस्तुरम्** यो रजांसि पृथिवीचन्द्र-सूर्यनक्षत्रादिलोकान् तोरयति शीघ्रं गमयति तम्, **वनप्रक्षम्** यो वनानि सूर्यरश्मीन् मेघोदकानि च पर्षति सिञ्चति भूमण्डले तम् । वनम् इति रश्मिनाम उदकनाम च । निघं० १।५, १।२२, पृषु सेचने, भ्वादिः । **उदप्रुतम्** यः उदकानि शरीरस्थानि रुधिराणि नदीभवानि जलानि च प्रवयते प्रवाहयति तम् परमात्म-सोमम् **आ सोत** आ सुनुत हृदये प्रकटयत । षुञ् अभिषवे, स्वादिः, लोटि 'तप्तनप्तनथनाश्च । अ० ७।१।१४५ इति तस्य तबादेशः, पित्त्वान्ङित्त्वाभावे न गुणनिषेधः । विकरणस्य लुक् । **परि सिञ्चत** श्रद्धा-रसैः सर्वतः सिञ्चत च ॥३॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः । आपः, वनम्, उदकम् इति सर्वेषां जलनामसु पठितत्वात् (निघं० १।१२), निरुक्ते रजःशब्दस्यापि च जलवाचित्वात् (निरु० १२।७) । 'अप्तुरम्-रजस्तुरम्-वनप्रक्षम्-उद-प्रुतम्' इति सर्वे समानार्थकाः प्रतीयन्ते, किन्तु वस्तुतः प्रदर्शितव्याख्यानानुसारं ते भिन्नार्थाः, अतः पुनरुक्त-वदाभासोऽलङ्कारः । तकारमकारादीनामावृत्तौ च वृत्त्यनुप्रासः । 'तुरं-तुरम्' इत्यत्र लाटानुप्रासः ॥३॥

भावार्थः—यथा शिल्पिनो विद्युदाद्यग्निं यानेषु संयोजयन्ति जलवाय्वादिभिश्च सिञ्चन्ति तथा सर्वे मनुष्याः प्राणानां प्रेरकं, द्यावापृथिव्यादिलोकानां धारकं, सूर्यकिरणानां मेघजलानां च वर्षकं परमात्मानं हृदये संयोज्य श्रद्धारसेनाभिषिञ्चेयुः ॥३॥

अगले मन्त्र में मनुष्यों को परमात्मा की आराधना के लिए प्रेरणा दी गयी है।

पदार्थ—हे मित्रो ! तुम **स्तोमम्** समूह रूप में विद्यमान, **अप्तुरम्** नदी-नद-समुद्र के जलों में वेग से यान चलाने के साधनभूत, **रजस्तुरम्** अन्तरिक्षलोक में यानों को तेजी से ले जाने में साधनभूत, **वनप्रक्षम्** वनों को जलाने वाले, **उदप्रुतम्** जलों को भाप बनाकर ऊपर ले जाने वाले **अश्वम्** आग, विद्युत् आदि रूप अग्नि को **न** जैसे, शिल्पी लोग **आ सुन्वन्ति** उत्पन्न करते हैं तथा **परि सिञ्चन्ति** जलादि से संयुक्त करते हैं, वैसे ही **स्तोमम्** स्तुति के पात्र, **अप्तुरम्** प्राणों को प्रेरित करने वाले, **रजस्तुरम्** पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र आदि लोकों को वेग से चलाने वाले, **वनप्रक्षम्** सूर्यकिरणों अथवा मेघ-जलों को भूमण्डल पर सींचने वाले, **उदप्रुतम्** शरीरस्थ रक्त-जलों को अथवा नदियों के जलों को प्रवाहित करने वाले सोम परमात्मा को **आ सोत** हृदय में प्रकट करो, और **परि सिञ्चत** श्रद्धारसों से सींचो ॥३॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है । आपः, वनम्, उदकम् ये सब निघण्टु (१।१२) में जलवाची पठित होने से तथा निरुक्त (१२।७) में रजस् शब्द के भी जलवाची होने से 'अप्तुरम्, रजस्तुरम्, वन-

---

१. 'प्र नूनं जातवेदसम् अश्वं हिनोत वाजिनम् । ऋ० १०।१८८।१ इत्याग्नेये जातवेदसे सूक्ते अग्निरश्वः उक्तः । अग्निरेष यदश्वः । श० ६।३।३।२२ इति च ब्राह्मणम् ।

२. (अप्तुरम्) योऽपः प्राणान् जलानि वा तोरयति प्रेरयति तम् इति ऋ० ३।२७।११ भाष्ये द० ।

प्रक्षम्, उदप्रुतम्' ये सब समानार्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु प्रदर्शित व्याख्या के अनुसार वस्तुतः भिन्न अर्थ वाले हैं, अतः यहाँ पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। त्, म् आदि की आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है। 'तुरम्' की आवृत्ति में लाटानुप्रास है ॥३॥

भावार्थ—जैसे शिल्पी लोग विद्युत् आदि रूप अग्नि को यानों में संयुक्त करते तथा जल, वायु आदि से सिक्त करते हैं, वैसे ही मनुष्यों को चाहिए कि प्राणों के प्रेरक, द्यावापृथिवी आदि लोकों के धारक, सूर्यकिरणों और मेघजलों के वर्षक परमात्मा को हृदय में संयुक्त कर श्रद्धा-रसों से सींचें ॥३॥

अथ कीदृशं सोमाख्यं परमेश्वरं श्रद्धारसैः सिञ्चतेत्याह।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५८१. एतमु त्यं मदच्युतं सहस्रधारं वृषभं दिवोदुहम्।
२ ३ १ २ ३ १ २
विश्वा वसूनि बिभ्रतम् ॥४॥[1]

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
एतम् उ त्यम् मदच्युतम् मद च्युतम्। सहस्रधारम् सहस्र धारम्
३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ १ २ १ १ २ १
वृषभम् दिवोदुहम् दिवः दुहम्॥ विश्वा वसूनि बिभ्रतम् ॥४॥

पदार्थः—**एतम् उ** इमं सर्वेषां समीपस्थम्, **त्यम्** प्रसिद्धम्, **मदच्युतम्** आनन्दस्राविणम्, **सहस्रधारम्** सहस्रम् अनेकाः धाराः सत्याहिंसान्यायदयादिगुणानां प्रवाहाः यस्मात् तम्, **वृषभम्** महाबलम्, **दिवोदुहम्** द्युरूपाया धेनोः दोग्धारम्, दिवः सूर्यरश्मिमेघजलादीनां वर्षकमित्यर्थः। अत्र दोहनसम्बन्धाद् दिवि धेनुत्वारोपः कार्यः। **विश्वा** विश्वानि **वसूनि** ऐश्वर्याणि **बिभ्रतम्** धारयन्तम् सोमं परमात्मानम्, 'आसोत परिषिञ्चत' चेति पूर्वमन्त्रादाकृष्यते। हृदये प्रकटयत श्रद्धारसैः स्नपयत चेति भावः ॥४॥

भावार्थः—मनुष्यैरानन्दप्राप्तये रसागारः सहस्रधाराभी रसवर्षकश्च परमात्मसोमः स्वहृदि श्रद्धाभावेन धारणीयः ॥४॥

अगले मन्त्र में बताया गया है कि कैसे परमात्मा को श्रद्धारसों से सींचो।

पदार्थ—**एतम् उ** इस, सबके समीपस्थ, **त्यम्** प्रसिद्ध, **मदच्युतम्** आनन्दस्रावी, **सहस्रधारम्** सत्य, अहिंसा, न्याय, दया आदि गुणों की सहस्र धाराएँ बहाने वाले, **वृषभम्** महाबली, **दिवोदुहम्** आकाशरूपी गाय को दुहने वाले अर्थात् आकाश से सूर्य-किरणों, मेघजलों आदि की वर्षा करने वाले, **विश्वा** सब **वसूनि** ऐश्वर्यों को **बिभ्रतम्** धारण करने वाले सोम परमात्मा को **आ सोत** हृदय में प्रकट करो, तथा **परि षिञ्चत** श्रद्धारसों से सींचो ॥४॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि आनन्द की प्राप्ति के लिए रस के भण्डार और सहस्रों धाराओं से रस बरसाने वाले परमात्मा रूप सोम को अपने हृदय में श्रद्धाभाव से धारण करें ॥४॥

अथ सोमः परमेश्वरः कीदृशोऽस्तीत्याह।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
५८२. स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इडानाम्।
२ ३ १ २ ३ २
सोमो यः सुक्षितीनाम् ॥५॥[2]

---

१. ऋ० ९।१०८।११ 'दिवोदुहम्' इत्यत्र 'दिवो दुहः' इति पाठः।
२. ऋ० ९।१०८।१३।

सः सुन्वे यः वसूनाम् । यः रायाम् आनेता आ नेता यः इडानाम् ॥
सोमः यः सुक्षितीनाम् सु क्षितीनाम् ॥५॥

पदार्थ—**सः** असौ **सोमः** सर्वोत्पादको रसमयः परमेश्वरः **सुन्वे** ध्यानद्वारा हृदि अभिषूयते, **यः वसूनाम्** रश्मीनाम् । वसु इति रश्मिनाम । निघं० १।५ । **यः रायाम्** धनानाम्, **यः इडानाम्** भूमीनाम्, वाचाम्, अन्नानां गवां च । इडेति पृथिवीनाम, वाङ्नाम, अन्ननाम, गोनाम च । निघं० १।१, १।११, २।७, २।११ । **यः** यश्च **सुक्षितीनाम्** श्रेष्ठानां मनुष्याणाम् । क्षितय इति मनुष्यनाम । निघं० २।३ । **आनेता** प्रापयिता, भवतीति शेषः ॥५॥

अत्र यो य इति चतुष्कृत्वः पुनरुक्तिः स एवैतेषां पदार्थानामानेताऽस्ति नान्यः कोऽपीति द्योतनार्था । प्रथमदृष्ट्या 'वसूनां-रायाम्' इत्युभयोर्धनवाचित्वादेकार्थता, एवम् 'इडानाम्-सुक्षितीनाम्' इत्युभयोः पृथिवीवाचित्वादेकार्थता प्रतीयते, व्याख्यातप्रकारेण चार्थभेदः, अतः पुनरुक्तवदाभासोऽलङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—यः परमेश्वरो जगति दृश्यमानानां सर्वेषामेव पदार्थानां जनकः प्रापयिता च वर्तते तदुपासनया सर्वैरानन्दरसः प्राप्तव्यः ॥५॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा कैसा है, इसका वर्णन है ।

पदार्थ—**सः** वह **सोमः** सर्वोत्पादक रसमय परमेश्वर, **सुन्वे** ध्यान द्वारा हृदय में अभिषुत किया जाता है, **यः** जो **वसूनाम्** किरणों का, **यः** जो **रायाम्** धनों का, **यः** जो **इडानाम्** भूमियों, वाणियों, अन्नों और गायों का, और **यः** जो **सुक्षितीनाम्** श्रेष्ठ मनुष्यों का **आनेता** प्राप्त कराने वाला है ॥५॥

इस मन्त्र में 'यः' की चार बार पुनरुक्ति यह द्योतित करने के लिए है कि वह परमेश्वर ही इन पदार्थों को प्राप्त कराने वाला है, अन्य कोई नहीं । 'वसूनाम्, रायाम्' इन दोनों के धनवाची होने के कारण और 'इडानाम्, सुक्षितीनाम्' इनके भूमिवाची होने के कारण प्रथम दृष्टि में एकार्थता प्रतीत होती है, किन्तु व्याख्यात रूप में अर्थ-भेद है । अतः पुनरुक्तवदाभास अलंकार है ॥५॥

भावार्थ—जो परमेश्वर जगत् में दिखायी देने वाले सभी पदार्थों का उत्पादक और प्राप्त कराने वाला है, उसकी उपासना से सबको आनन्दरस प्राप्त करना चाहिए ॥५॥

अथ सोमः परमात्मा किं करोतीत्याह ।

६८३. **त्वं ह्या३ङ्ग दैव्यं पवमान जनिमानि द्युमत्तमः ।**
अमृतत्वाय घोषयन् ॥६॥[1]
त्वम् हि अङ्ग दैव्यम् । पवमान जनिमानि द्युमत्तमः ॥
अमृतत्वाय अ मृतत्वाय घोषयन् ॥६॥

पदार्थः—**अङ्ग** हे प्रिय **पवमान** पवित्रतासम्पादक परमात्मसोम ! **त्वम् हि** त्वं खलु **दैव्यम्** देवेभ्यो विद्वद्भ्यो हितं कर्म, धारयसीति शेषः । तदेव निदर्शयति—**द्युमत्तमः** अतिशयेन देदीप्यमानः त्वम् **जनिमानि** जन्मानि, जन्मधारिणो विदुषः सदाचारिणो मनुष्यान् इत्यर्थः । अत्र जनी प्रादुर्भावे धातोः 'जनिमृङ्भ्या-

१. ऋ० ९।१०८।३ 'दैव्यं, घोषयन्' इत्यत्र क्रमेण 'दैव्या, घोषयः' इति पाठः । साम० ९३८ ।

मिमनिन्। उ० ४।१५०' इति इमनिन् प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। **अमृतत्वाय** सांसारिकदुःखविमोक्षाय **घोषयन्** अधिकारित्वेन विज्ञापयन् भवसि ॥६॥

भावार्थः—परमेश्वरो हि कर्मानुसारं फलं प्रयच्छन् देवजनानां हितमेव साधयति। स एव मोक्षाधिकारिणो जनान् मोक्षप्रदानेन सत्करोति ॥६॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा क्या करता है, इसका वर्णन है।

पदार्थ—**अङ्ग** हे प्रिय **पवमान** पवित्रताकारी सोम परमात्मन्! **त्वं हि** आप निश्चय ही **दैव्यम्** विद्वानों के हितकर कर्म को, धारण करते हो। **द्युमत्तमः** सबसे अधिक देदीप्यमान आप **जनिमानि** जन्मों अर्थात् जन्मधारी विद्वान् सदाचारी मनुष्यों को **अमृतत्वाय** सांसारिक दुःखों से मुक्ति के लिए **घोषयन्** अधिकारी घोषित करते हो ॥६॥

भावार्थ—परमेश्वर कर्मानुसार फल प्रदान करता हुआ देव पुरुषों का हित ही सिद्ध करता है। वही मोक्ष के अधिकारी जनों को मोक्ष देकर सत्कृत करता है ॥६॥

अथ सोमो धारया पवते इत्याह।

३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
५८४. एष स्य धारया सुतोऽव्या वारेभिः पवते मदिन्तमः।
१ २ ३ २ ३ १ २
क्रीडन्नूर्मिरपामिव ॥७॥[1]

३ २ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
एषः स्यः धारया सुतः। अव्याः वारेभिः पवते मदिन्तमः॥
१ २ ३ २ ३ २ ३
क्रीडन् ऊर्मिः अपाम् इव ॥७॥

पदार्थः—**प्रथमः** सोमौषधिरसपक्षे। **एषः** अयम् **स्यः** सः अस्माभिः पर्वतादानीतः **अव्याः वारेभिः** अवेर्बालैः, अविबालनिर्मितदशापवित्रैरित्यर्थः। **सुतः** अभिषुतः, **मदिन्तमः** अतिशयानन्दजनकः सोमौषधिरसः **अपाम्** उदकानाम् **ऊर्मिः इव** तरङ्गः इव **क्रीडन्** क्रीडां कुर्वन् **धारया** धारारूपेण **पवते** द्रोणकलशं गच्छति। पवते गतिकर्मा। निघं० २।१४॥

अथ **द्वितीयः** परमात्मपक्षे। **एषः** अयम् अनुभूयमानः **स्यः** स प्रसिद्धः **अव्याः वारेभिः** अविबालनिर्मितदशापवित्रैरिव पवित्रताकारकैः यमनियमादिभिर्योगाङ्गैः **सुतः** हृदये प्रकटीकृतः **मदिन्तमः** अतिशयानन्दजनकः सोमः परमात्मा **अपाम् ऊर्मिः इव** नदीनां तरङ्गः इव **क्रीडन्** क्रीडां कुर्वन् **धारया** आनन्दप्रवाहेण सह **पवते** मदीयमात्मानं प्राप्नोति ॥७॥

अत्र श्लेष उपमालङ्कारश्च। अपां तरङ्ग इव क्रीडन् सोमौषधिरसो यथा दशापवित्रैः सुतः सन् द्रोणकलशं प्राप्नोति तथा यमनियमादिभिर्योगसाधनैः हृदये प्रकटीकृतः क्रीडन्निव परमात्मसोम आनन्दप्रवाहेण सार्द्धं योगिनामात्मानमधिगच्छति ॥७॥

भावार्थः—समाधिस्था उपासकाः परमात्मनः सकाशाद् वेगेन स्वात्मानमागच्छन्तीमानन्दधारां साक्षादनुभवन्ति ॥७॥

अगले मन्त्र में सोम का धाराप्रवाह वर्णित है।

पदार्थ—प्रथम सोम ओषधि के रस के पक्ष में। **एषः** यह **स्यः** वह हमारे द्वारा पर्वत से लाया गया, **अव्याः वारेभिः** भेड़ के बालों से अर्थात् भेड़ की ऊन से निर्मित दशापवित्रों से **सुतः** अभिषुत किया

१. ऋ० ९।१०८।५।

गया, **मदिन्तमः** अतिशय आनन्द उत्पन्न करने वाला सोमरस **अपाम्** नदियों की **ऊर्मिः इव** लहर के समान **क्रीडन्** क्रीडा करता हुआ **धारया** धारा रूप से **पवते** द्रोणकलश में जा रहा है ॥

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में। **एषः** यह अनुभव किया जाता हुआ **स्यः** वह **अव्याः वारेभिः** भेड़ के बालों से निर्मित दशापवित्रों के तुल्य पवित्रताकारक यम, नियम आदि योङ्गागों से **सुतः** हृदय में प्रकट किया गया, **मदिन्तमः** अतिशय आनन्द-उत्पन्न करने वाला सोम परमात्मा **अपाम् ऊर्मिः इव** नदियों की लहर के समान **क्रीडन्** क्रीडा करता हुआ **धारया** आनन्द की धारा के साथ **पवते** मेरे आत्मा में पहुँच रहा है ॥७॥

इस मन्त्र में श्लेष और उपमालंकार है। जलों की लहर के समान क्रीडा करता हुआ सोम ओषधि का रस जैसे दशापवित्रों से छाना हुआ द्रोणकलश में पहुँचता है, वैसे ही यम, नियम आदि योग-साधनों से हृदय में प्रकट किया गया परमात्मारूप सोम मानो क्रीडा करता हुआ आनन्दप्रवाह के साथ योगियों के आत्मा को प्राप्त होता है ॥७॥

भावार्थ—समाधिस्थ उपासक लोग परमात्मा के पास से अपने आत्मा में वेगपूर्वक आती हुई आनन्दधारा को साक्षात् अनुभव करते हैं ॥७॥

अथ सोमः परमेश्वरो वर्ण्यते।

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २
५८५. य उस्रिया अपि या अन्तरश्मनि निर्गा अकृन्तदोजसा।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अभि व्रजं तत्निषे गव्यमश्व्यं वर्मीव धृष्णवा रुज ॥८॥[1]

२ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ १ २ १ २ १ २
यः उस्रियाः उ स्रियाः अपि याः अन्तः अश्मनि। निः गाः अकृन्तत्
१ २ १ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३
ओजसा ॥ अभि व्रजम् तत्निषे गव्यम् अश्व्यम्। वर्मी इव
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
धृष्णो आ रुज ॥ ओम् वर्मीवधृष्णवारुज ॥८॥

पदार्थः—**उस्रियाः अपि**[2] निस्सरणयोग्या अपि सत्यः **याः अश्मनि अन्तः** मेघाभ्यन्तरे अवरुद्धा भवन्ति ताः। अश्मा इति मेघनाम। निघं० १।१०। **गाः** सूर्यदीधितीः। गावः इति रश्मिनाम। निघं० १।५। **यः** यो भवान् **ओजसा** स्वप्रतापेन **निर् अकृन्तत्**[3] निस्सारयति। स त्वम् **गव्यम्** भूमिसम्बन्धिनम् **अश्व्यम्** सूर्यसम्बन्धिनं च। असौ वा आदित्यो अश्वः। तै० ३।९।२३।२। **व्रजम्** मण्डलम् **अभि तत्निषे** अभितो विस्तारयसि। हे **धृष्णो** विपद्धर्षणशील परमात्मन्! त्वम् **वर्मी इव** कवचधारी योद्धेव **आरुज** अस्माकं विपदः शत्रून् वा विदारय ॥८॥

अत्रोपमालङ्कारः। किञ्च 'उस्रियाः अपि प्रवहमाना अपि अन्तरश्मनि निरुद्धाः' इति विरोधः। प्रस्रवणयोग्या अपि अश्मनि रुद्धा इति परिहारः। तेन विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥८॥

भावार्थः—यथा परमेश्वरो मध्यस्थां मेघबाधां विच्छिद्य सूर्यरश्मीन् भूमौ प्रसारयति, तथैव जीवात्मा योगमार्गे समागतान् सकलान् विघ्नान् विदार्य साफल्यमधिगच्छेत् ॥८॥

---

१. ऋ० ९।१०८।६। 'अपिया अन्तरश्मनि' इत्यत्र 'अप्या अन्तरश्मनो' इति पाठः।

२. सायणस्तु 'अपियाः' इत्येकं पदं स्वीकृत्य "अपियाः अप्याः, आप इत्यन्तरिक्षनाम (निघं० १।३।८) अस्माद् 'भवे छन्दसि' पा० ४।४।११० इति यत्, अन्तरिक्षस्थाः" इति व्याख्यातवान्, तत्तु पदकारविरुद्धम्, पदपाठे 'अपि याः' इति विभिद्य दर्शनात्। भरतोऽपि 'अपियाः अप्सु अन्तरिक्षे भवाः' इत्येव व्याचष्टे।

३. समानेनाख्यानात् अत्र प्रथमपुरुषः। लोकेऽपि तथा दृश्यते, 'य एवमकार्षीत् स त्वमिति'—इति भरतः।

अत्रापि सोमनाम्ना परमात्मनस्तदानन्दरसस्य च वर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्ति ।।

इति षष्ठे प्रपाठके द्वितीयार्द्धे चतुर्थी दशतिः ।
इति पञ्चमेऽध्याये एकादशः खण्डः ।
समाप्तश्च पञ्चमोऽध्यायः ।

अगले मन्त्र में सोम परमेश्वर का वर्णन किया गया है ।

पदार्थ—**उस्रियाः अपि** निकलने योग्य होती हुई भी **याः** जो **अश्मनि अन्तः** मेघ के अन्दर रुक जाती हैं, उन **गाः** सूर्य-किरणों को **यः** जो आप **ओजसा** अपने प्रताप से **निर् अकृन्तत्** मेघ के बाहर निकाल देते हो, वह आप **गव्यम्** भूमि-सम्बन्धी, और **अश्व्यम्** सूर्यसम्बन्धी **व्रजम्** मण्डल को **अभितत्निषे** चारों ओर विस्तीर्ण करते हो । हे **धृष्णो** विपत्तियों का धर्षण करने वाले परमात्मन् ! आप **वर्मी इव** कवचधारी योद्धा के समान **आरुज** हमारी विपदाओं को और हमारे शत्रुओं को भग्न कर दो ।।८।।

इस मन्त्र में उपमालंकार है । 'उस्रियाः अपि याः अन्तरश्मनि' का यदि यह अर्थ करें कि 'जो बहती हुई भी पत्थर के अन्दर रुकी हुई हैं' तो विरोध प्रतीत होता है, 'बहने के योग्य होती हुई भी मेघ में निरुद्ध' इस अर्थ से विरोध का परिहार हो जाता है । अतः विरोधाभास अलंकार है ।।८।।

भावार्थ—जैसे परमेश्वर मध्य में स्थित मेघ की बाधा को विच्छिन्न करके सूर्यकिरणों को भूमि पर प्रसारित कर देता है, वैसे ही जीवात्मा योगमार्ग में आये सब विघ्नों का विदारण कर सफलता प्राप्त करे ।।८।।

इस दशति में भी सोम नाम से परमात्मा का और उसके आनन्दरस का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ।।

षष्ठ प्रपाठक में द्वितीय अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त ।
पंचम अध्याय में एकादश खण्ड समाप्त ।
पंचम अध्याय समाप्त ।।

इति बरेलीमण्डलान्तर्गतफरीदपुरवास्तव्यश्रीमद्गोपालरामभगवतीदेवीतनयेन हरिद्वारीयगुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयेऽधीतविद्येन विद्यामार्तण्डेन आचार्यरामनाथवेदालङ्कारेण महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतवेदभाष्यशैलीमनुसृत्य विरचिते संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते सामवेदभाष्ये पावमानं काण्डं पर्व वा समाप्तिमगात् ।।

—०—

अथ आरण्यं काण्डं पर्व वा

साम्प्रतमारण्यं काण्डं पर्व वा व्याख्यायते, यत्र केवलं पञ्चपञ्चाशद् (५५) मन्त्रा विद्यन्ते। तेषु दश इन्द्रस्य, षट् पवमानसोमस्य, त्रयो विश्वदेवानाम्, पञ्च अग्नेः, पञ्च पुरुषस्य, त्रयोदश सूर्यस्य, एकैकश्च वरुण-अन्न-वायु-प्रजापति-रात्रि-वैश्वानर-आत्म-ऋतु-द्यावापृथिवी-गो-पवमानाग्निदेवानाम्, एकस्मिन् लिङ्गोक्ता द्यावापृथिवीन्द्रबृहस्पतिभगाः, एकस्मिंश्च आत्मन आशीः। एवमस्मिन् काण्डे पर्वणि वा देवानां वैविध्यं दृश्यते। अत एव 'आरण्यकम्' इति नाम। पूर्वाणि पर्वाणि काण्डानि वा प्रायेण एकैकदेवता-संबद्धानि सजातीयपादपोपशोभितानि उद्यानानीव सन्ति, एतच्च विविधवृक्षवनस्पतिभिराकीर्णमरण्यमिव नानादेवतासम्बद्धम् 'आरण्यकम्' अस्तीति। यद्वा, अरण्ये यस्य सामानि गीयन्ते तदारण्यकम् इति।

अब आरण्य काण्ड या पर्व की व्याख्या की जाती है, जिसमें केवल ५५ मन्त्र हैं। उनमें से १० इन्द्र के, ६ पवमान सोम के, ३ विश्वेदेवाः के, ५ अग्नि के, ५ पुरुष के, १३ सूर्य के और एक-एक वरुण, अन्न, वायु, प्रजापति, रात्रि, वैश्वानर, आत्मा, ऋतु, द्यावापृथिवी, गौ और पवमान अग्नि का है। १ में लिंगोक्त द्यावापृथिवी, इन्द्र, बृहस्पति और भग देवता हैं और १ में निज की आशीः है। इस प्रकार इस पर्व या काण्ड में देवों का वैविध्य दिखायी देता है। इसीलिए इसका 'आरण्यक' नाम है। पूर्व पर्व अथवा काण्ड प्रायः एक-एक देवता से सम्बद्ध होने के कारण सजातीय वृक्षों से उपशोभित उद्यानों के समान हैं और यह आरण्यक काण्ड नाना देवताओं से सम्बद्ध होने के कारण विविध वृक्ष-वनस्पतियों से आकीर्ण अरण्य के तुल्य है। अथवा, इसके सामों का अरण्य में गान किया जाता है इस कारण इसे 'आरण्य' कहते हैं।

अथ षष्ठोऽध्यायः

॥१॥ तत्र 'इन्द्र ज्येष्ठं न आ भर' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ भरद्वाजः; २ वसिष्ठः; ३, ६ वामदेवः; ४ शुनःशेपः; ५ गृत्समदः; ७, ८ अमहीयुः; ९ आत्मा॥
देवता—१-३ इन्द्रः; ४ वरुणः; ५, ७, ८ पवमानः सोमः; ६ विश्वे देवाः; ९ अन्नम्॥ छन्दः—१ बृहती; २, ४, ५, ९ त्रिष्टुप्; ३, ७, ८ गायत्री; ६ एकपदा जगती॥ स्वरः—१ मध्यमः; २, ४, ५, ९ धैवतः; ३, ७, ८ षड्जः; ६ निषादः॥

अथाद्यानां तिसृणाम् इन्द्रो देवता। तत्रादौ परमात्मानं यशः प्रार्थयते।

५८६. इन्द्र ज्येष्ठं न आ भर ओजिष्ठं पुपुरि श्रवः।
यद्दिधृक्षेम वज्रहस्त रोदसी उभे सुशिप्र पप्राः ॥१॥[1]

१. ऋ० ६।४६।५, अथ० २०।८०।१, उभयत्र ऋषिः शंयुः, 'पुपुरि' इत्यत्र 'पपुरि', उत्तरार्द्धे च 'येनेमे चित्र वज्रहस्त रोदसी ओभे सुशिप्र पप्राः' इति पाठः।

१२१ १२१ ३ २ ३ १२१ १२१ १२१ १२१ ३
इन्द्र ज्येष्ठं नः आ भर । ओजिष्ठम् पुपुरि श्रवः ॥ यत् दिधृक्षेम वज्रहस्त
१२१३१२ ३ १ २ ३
वज्र हस्त रोदसीइति । उभेइति सुशिप्र सु शिप्र पप्राः ॥१॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमयशोमय परमात्मन् ! त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **ज्येष्ठम्** प्रशस्यतमम्, **ओजिष्ठम्** ओजस्वितमम्, **पुपुरि** पूरकं पालकं वा । पिपर्ति इति पुपुरिः । पॄ पालनपूरणयोः, 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च ।' अ० ३।३।१७५ इति किन् प्रत्ययो लिड्वद्भावश्च । 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' । अ० ७।१।१०२ इति ऋकारस्य उत्वम्[1] । **श्रवः** यशः । श्रवः श्रवणीयं यशः । निरु० ११।७ । **आ भर** आ हर, **यत्** यशः, वयम् **दिधृक्षेम** धारयितुमिच्छेम । हे **वज्रहस्त** कुलिशपाणिः इव यशोबाधकानां पापदुर्व्यसनादीनां चूर्णयितः ! हे **सुशिप्र** सुसृप्र सर्वव्यापक ! शिप्रशब्दो निरुक्तमते सृप धातोः सिध्यति । 'सृप्रः सर्पणात् ।···सुशिप्रमेतेन व्याख्यातम् । निरु० ६।१७ । त्वम् **उभे रोदसी** द्वे अपि द्यावापृथिव्यौ **पप्राः** यशसा पूरितवानसि । प्रा पूरणे, अदादिः । लङि 'बहुलं छन्दसि ।' अ० २।४।७६ इति शपः श्लौ, द्वित्वे, अडागमाभावे सिपि रूपम् ॥१॥

भावार्थः—यथा परमात्मना रचितं सकलमपि ब्रह्माण्डं यशोमयं वर्तते तथा वयमपि यशस्विनः स्याम ॥१॥

आदि की तीन ऋचाओं का इन्द्र देवता है। प्रथम मन्त्र में परमात्मा से यश की प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परम यशस्वी परमात्मन् ! आप **नः** हमें **ज्येष्ठम्** अत्यधिक प्रशंसनीय, **ओजिष्ठम्** अत्यधिक ओजस्वी, **पुपुरि** पूर्णता देने वाला अथवा पालन करने वाला **श्रवः** यश **आ भर** प्रदान कीजिए, **यत्** जिस यश को, हम **दिधृक्षेम** धारण करना चाहें । हे **वज्रहस्त** वज्रहस्त के समान यशोबाधक पाप, दुर्व्यसन आदि को चूर-चूर करने वाले ! हे **सुशिप्र** सर्वव्यापक ! आपने **उभे रोदसी** भूमि-आकाश दोनों को **पप्राः** यश से परिपूर्ण किया हुआ है ॥१॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा से रचा हुआ सारा ब्रह्माण्ड यशोमय है, वैसे ही हम भी यशस्वी बनें ॥१॥

अथेन्द्रस्य परमात्मनो राजत्वं वर्णयन् राष्ट्रे को राजा भवितुमर्हतीत्याह ।

२ ३ २ ३ १२ ३ १२ २१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
५८७. इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमा विश्वरूपं यदस्य ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद्राध उपस्तुतं चिदर्वाक् ॥२॥[2]
१२१ १२१ १२१ ३ २ १२१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
इन्द्रः राजा जगतः चर्षणीनाम् । अधि क्षमा विश्वरूपम् विश्व रूपम्
२ ३ १२१ ३ १२ १२१ ३ २ १२१ १२१
यत् अस्य ॥ ततः ददाति दाशुषे वसूनि । चोदत् राधः उपस्तुतम्
१२१ ३ २
उप स्तुतम् चित् अर्वाक् ॥२॥

---

१. निरुक्तमते तु 'पपुरि' शब्दवत् 'पुपुरि' शब्दोऽपि पृणातेः प्रीणातेर्वेति मन्तव्यम् । 'पपुरिः, पृणातेः प्रीणातेर्वा' इति निरुक्तम् (४।२४) ।

२. ऋ० ७।२७।३ 'क्षमा विश्वरूपं यदस्य' इत्यत्र 'क्षमि विषुरूपं यदस्ति' इति, 'उपस्तुतं चिदर्वाक्' इत्यत्र च 'उपस्तुतश्चिदर्वाक्' इति पाठः ।

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपक्षे। **इन्द्रः** परमैश्वर्यवान् परमात्मा **जगतः** संसारस्य **चर्षणीनाम्** मनुष्याणाम् **राजा** सम्राड्, वर्तते। **अधि क्षमा** पृथिव्याम्। क्षमायाम् इति प्राप्ते 'सुपां सुलुक्' अ० ७।१।३९ इति विभक्तेः आकारः। **यत् विश्वरूपम्** सर्वरूपं धनम् अस्ति, तत् **अस्य** अस्यैव परमात्मनः विद्यते। **ततः** तस्मादेव धनात् सः **दाशुषे** दानशालिने। दाशृ दाने इति धातोः क्वसुप्रत्यये 'दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च।' अ० ६।१।१२ इति निपात्यते। **वसूनि** धनानि **ददाति** प्रयच्छति। सः **अर्वाक्** अस्मदभिमुखम् **उपस्तुतं चित्** प्रशंसितमेव **राधः** भौतिकं धनं योगैश्वर्यं वा **चोदत्** प्रेरयेत्। चुद प्रेरणे धातोर्लेटि रूपम्।

अथ **द्वितीयः** राजपक्षे। **इन्द्रः** शत्रूणां विदारकः, यज्ञशीलानाम् आदरयिता, निखिलसद्गुणसम्पद्युक्त एव जनः **जगतः** राष्ट्रस्य **चर्षणीनाम्** मनुष्याणाम् **राजा** नृपतिः भवितुं योग्यः। **अधिक्षमा** राष्ट्रभूमौ **यद् विश्वरूपम्** विविधरूपं धनागारम् **अस्य** नृपतेः वर्तते **ततः** तस्मात् सः **दाशुषे** करप्रदात्रे प्रजाजनाय **वसूनि** धनानि **ददाति** प्रयच्छतु। लेटो रूपमिदम्। सः **उपस्तुतम्** प्रशंसितम् **राधः** धनम् **अर्वाक्** नीचैः निर्धनाभिमुखम् इत्यर्थः **चोदत्** प्रेरयेत् ॥२॥[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—यथा राजराजेश्वरः परमेश्वरो दात्रे धनं ददाति तथैव मानवः सम्राडपि करादिप्रदातुः प्रजावर्गस्य सुसमृद्धिं कुर्यात्। एतदर्थमपि प्रयतेत यत् प्रजायां धनदृष्ट्याऽधिकं वैषम्यं न भवेत् ॥२॥

अगले मन्त्र में इन्द्र परमेश्वर का राजा रूप में वर्णन करते हुए राष्ट्र में कौन राजा हो सकता है यह बताया गया है।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। **इन्द्रः** परमैश्वर्यवान् परमात्मा **जगतः** जगत् के **चर्षणीनाम्** मनुष्यों का **राजा** राजा है। **अधिक्षमा** पृथिवी पर **यत्** जो **विश्वरूपम्** सभी रूपों वाला धन है, वह **अस्य** इसी का है। **ततः** उसी धन में से, वह **दाशुषे** दानी को **वसूनि** धन **ददाति** देता है। वह **अर्वाक्** हमारी ओर **उपस्तुतं चित्** प्रशंसित ही **राधः** भौतिक धन को एवं योगैश्वर्य को **चोदत्** प्रेरित करे।

द्वितीय राजा के पक्ष में। **इन्द्रः** शत्रुओं का विदारणकर्ता, यज्ञशीलों का आदरकर्ता, समस्त सद्गुणों की सम्पत्ति से युक्त ही मनुष्य **जगतः** राष्ट्र के **चर्षणीनाम्** मनुष्यों का **राजा** राजा होने योग्य है। **अधिक्षमा** राष्ट्रभूमि पर **यत्** जो **विश्वरूपम्** सब रूपों वाला धन का भण्डार **अस्य** इसका है, **ततः** उसमें से, वह **दाशुषे** कर देने वाले प्रजाजन के लिए **वसूनि** धनों को **ददाति** देवे। वह **उपस्तुतम्** प्रशंसित **राधः** धन को **अर्वाक्** नीची स्थिति वाले निर्धनों की ओर **चोदत्** प्रेरित करे ॥२॥

भावार्थ—जैसे राजराजेश्वर परमेश्वर दानी को धन देता है, वैसे ही मानव-सम्राट् भी कर देने वाले प्रजावर्ग को सुसमृद्ध करे। इसके लिए भी प्रयत्न करे कि प्रजा में धन की दृष्टि से अधिक विषमता न हो ॥२॥

अथ तस्य परमेश्वरस्य धनं वर्णयति।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३क २१
६८८. यस्येदमा रजोयुजस्तुजे जने वनं स्वः।
१ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्रस्य नन्त्यं बृहत् ॥३॥[2]

---

१. दयानन्दर्षिरपि मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये राजविषये व्याख्यातवान्।

२. ऋ० ६।३३।१, ऋषिः जाटिकायनः।

यस्य इदम् आरजः आ रजः युजः । तुजे जने वनम् स्वा३रिति ॥
इन्द्रस्य रन्त्यम् बृहत् ॥३॥

पदार्थः— **आरजः**[1] लोकलोकान्तरपर्यन्तम् **युजः** सर्वैः पदार्थैः योगकारिणः **यस्य** परमेश्वरस्य **तुजे जने** क्षिप्रं कार्यकारिणि कर्मयोगिनि मनुष्ये । निघण्टौ (२।१५) तूतुजानः, तुज्यमानः, तूतुजिः इत्येतेषां क्षिप्रवाचिषु पाठात् तुज धातुः क्षिप्रार्थः । **वनम्** वननीयं सेवनीयम् । वनषण सम्भक्तौ । **स्वः** भौतिक-माध्यात्मिकं च धनम्, संसृज्यते इति शेषः, तस्य **इन्द्रस्य** परमेश्वरस्य **रन्त्यम्** रमणीयं ऐश्वर्यम् **बृहत्** महत् वर्तते ॥३॥

भावार्थः—जगति यत्रतत्र यद् विविधं धनं विकीर्णमस्ति तत् सर्वं परमात्मन एव विद्यते । पुरुषार्थिन एव जनास्तत् प्राप्तुमर्हन्ति ॥३॥

अगले मन्त्र में उस परमेश्वर के धन का वर्णन है।

पदार्थ—**आरजः** लोकलोकान्तर पर्यन्त **युजः** सब पदार्थों से योग करने वाले **यस्य** जिस परमेश्वर का **तुजे जने** शीघ्र कार्य करने वाले कर्मयोगी मनुष्य को **वनम्** सेवनीय **स्वः** धन प्राप्त होता है, उस **इन्द्रस्य** परमेश्वर का **रन्त्यम्** रमणीय ऐश्वर्य **बृहत्** बहुत बड़ा है ॥३॥

भावार्थ—संसार में जहाँ-तहाँ जो अनेक प्रकार का धन बिखरा पड़ा है, वह सब परमात्मा का ही है । पुरुषार्थी जन ही उसे प्राप्त करने के अधिकारी हैं ॥३॥

अथ वरुणो देवता । परमात्मा प्रार्थ्यते ।

५८९. **उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।**
अथादित्य व्रते वयं तवानागसो अदितये स्याम ॥४॥[2]
उत् उत्तमम् वरुण पाशम् अस्मत् । अव अधमम् वि मध्यमम् श्रथाय ॥
अथ आदित्य आ दित्य व्रते वयम् तव । अनागसः अन् आगसः
अदितये अ दितये स्याम ॥४॥

पदार्थः—हे **वरुण** मोक्षप्राप्तये सर्वैर्जनैर्व्रियमाण परमात्मन् ! त्वम् **उत्तमं पाशम्** उत्कृष्टकर्म-बन्धनरूपम् उत्तमं पाशम् **अस्मत्** अस्माकं सकाशात् **उत्** उत्-श्रथाय उत्कृष्टफलप्रदानेन उन्मोचय, **अधमम्** निकृष्टकर्मबन्धनरूपम् अधमं पाशम् **अव** अवश्रथाय निकृष्टफलप्रदानेन अवमोचय, **मध्यमम्** मध्यमकर्म-बन्धनरूपं मध्यमं पाशम् **वि श्रथाय** विविधफलप्रदानेन विमोचय । श्रथ दौर्बल्ये, श्रथान इति प्राप्ते 'छन्दसि शायजपि । अ० ३।१।८४' इति श्नः शायजादेशः । **अथ** तदनन्तरम्, हे **आदित्य** नित्यमुक्त, अविनश्वर, आदित्यवत् प्रकाशमान, सर्वप्रकाशक परमात्मन् ! **तव व्रते** त्वदीयनिष्कामकर्मणि चलन्तः **वयम् अनागसः**

---

१. सायणस्तु 'रजोयुजः' इति समस्तं मत्वा व्याचष्टे—'रजोयुजः ज्योतिर्भिर्युक्तस्य' इति । तत्तु पदकारविरुद्धम्, पदपाठे 'आरजः' इति समस्तपदस्वीकारात् 'युजः' इति च पृथक् प्रदर्शनात् ।

२. ऋ० १।२४।१५, य० १२।१२ 'अथा वयमादित्य व्रते तवा' इति पाठः । अथ० ७।८३।३, १८।४।६९ उभयत्र 'अधा वयमादित्य व्रते तवा' इति पाठः, द्वितीये स्थले ऋषिः अथर्वा ।

निष्पापाः सन्तः **अदितये** मोक्षाय **स्याम** अधिकारिणः सम्पद्येमहि ।[1]

उत्कृष्टनिकृष्टमध्यमकर्मभिस्तथातथाविधमेव फलं प्राप्नोतीत्यन्यत्राप्युक्तम् । 'अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापम्, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्' (प्रश्न० ३।७) इति, "यथाकारी यथाचारी तथा भवति । साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति । पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन" (बृहदा० ४।४।५) इति च ।। निष्कामकर्मणश्च महत्त्वमेवं वर्ण्यते—'योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।। तदेष श्लोको भवति—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' इति । बृहदा० ४।४।६-७ ।।

यद्वा उत्तमः पाशः आत्मनो ज्ञानादिग्रहणे ये बाधकास्तत्कृतं बन्धनम्, मध्यमः पाशः मनसः श्रेष्ठसंकल्पादौ ये बाधकास्तत्कृतं बन्धनम्, **अधमः** पाशः शरीरस्य व्यापारे ये बाधका रोगादयस्तत्कृतं बन्धनम् । तेभ्यः पाशेभ्यः उन्मुच्य परमेश्वरो योगी गुरुर्वाऽस्मान् सुखाधिकारिणः कुर्यात् ।

भावार्थः—मनुष्यः सर्वेषामेव सकामकर्मणां फलमवश्यं प्राप्नोति । ये तु निष्कामाः सन्तः परमेश्वरस्य व्रते निष्पापं जीवनं यापयन्ति त एव मोक्षाधिकारिणो जायन्ते ।।४।।

अगले मन्त्र का वरुण देवता है । परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **वरुण** मोक्षप्राप्ति के लिए सब मनुष्यों से वरे जानेवाले परमात्मन् ! आप **उत्तमं पाशम्** उत्कृष्ट कर्मों के बन्धन रूप उत्तम पाश को **अस्मत्** हमसे **उत्** उत्कृष्ट फलप्रदान द्वारा छुड़ा दीजिए, **अधमम्** निकृष्ट कर्मों के बन्धन रूप अधम पाश को **अव** निकृष्ट फलप्रदान द्वारा छुड़ा दीजिए, **मध्यमम्** मध्यम कर्मों के बन्धन रूप मध्यम पाश को **वि श्रथाय** विविध फल देकर छुड़ा दीजिए । **अथ** उसके पश्चात्, हे **आदित्य** नित्यमुक्त, अविनाशी, आदित्य के समान प्रकाशमान, सर्वप्रकाशक परमात्मन् ! **तव** आपके **व्रते** निष्काम कर्म में चलते हुए **वयम्** हम **अनागसः** निष्पाप होते हुए **अदितये** मोक्ष के अधिकारी **स्याम** हो जाएँ ।

अथवा उत्तम पाश है आत्मा के ज्ञान आदि के ग्रहण में जो बाधक होते हैं उनसे किया गया बन्धन, मध्यम पाश है मन के श्रेष्ठ संकल्प आदि में जो बाधक होते हैं उनसे किया गया बन्धन, अधम पाश है शरीर के व्यापार में जो बाधक रोग आदि होते हैं उनसे किया गया बन्धन । उन पाशों से छुड़ाकर परमेश्वर अथवा योगी गुरु हमें सुख का अधिकारी बना देवे ।।४।।

भावार्थ—मनुष्य सभी सकाम कर्मों का फल अवश्य पाता है । जो लोग निष्काम होकर परमेश्वर के व्रत में रहते हुए निष्पाप जीवन व्यतीत करते हैं, वे ही मोक्ष के अधिकारी होते हैं ।।४।।

अथ पवमानः सोमो देवता । तं प्रार्थयते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५९०. त्वया वयं पवमानेन सोम भरे कृतं वि चिनुयाम शश्वत् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ।।५।।[2]

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रेऽस्मिन् वरुणशब्देन ऋग्वेदे स्वीकर्तुमर्हमीश्वरम् यजुर्वेदे च शत्रूणां बन्धकं राजानं गृह्णाति । 'अदितये' इति पदं च ऋग्वेदे 'अखण्डितसुखाय' इति, यजुर्वेदे च 'पृथिवीराज्याय' इति व्याचष्टे । यजुर्वेदभाष्ये भावार्थमित्थं लिखति—"यथेश्वरस्य गुणकर्मस्वभावानुकूला धार्मिका जनाः सत्याचरणे वर्तमानाः सन्तः पापबन्धनान्मुक्त्वा सुखिनो भवन्ति तथैवोत्तमं राजानं प्राप्य प्रजाजना आनन्दिता जायन्ते" इति ।

२. ऋ० ९।९७।५८ ऋषिः कुत्सः ।

१२१ ३२ १२१ ३ १२१ ३२ ३ १२१ ३
त्वया वयम् पवमानेन सोम । भरे कृतम् वि चिनुयाम शश्वत् ॥ तत् नः
२ ३ २ १२१ ३ १२१ ३ १२१ ३ २ ३२
मित्रः मि त्रः वरुणः मामहन्ताम् । अदितिः अ दितिः सिन्धु पृथिवी उत द्यौः ॥५॥

पदार्थः—हे **सोम** प्रेरक परमात्मन् ! **पवमानेन** पवित्रतासम्पादकेन **त्वया** सहायकेन **वयम्** शूराः जनाः **भरे** जीवनसंग्रामे । भर इति संग्रामनाम । निघं० २।१७ । भर इति संग्रामनाम, भरतेर्वा हरतेर्वा । निरु० ४।२३ । **शश्वत्** निरन्तरम् **कृतम्** कर्म **वि चिनुयाम** विशेषेण संगृह्णीयाम । **तत्** तस्मात् **मित्रः** वायुः । अयं वै वायुर्मित्रो योऽयं पवते । श० ६।५।७।१४ । **वरुणः** अग्निः । यो वै वरुणः सोऽग्निः । श० ५।२।४।१३ । यो वाऽग्निः स वरुणः तदप्येतद् ऋषिणोक्तम्—त्वमग्ने वरुणो जायसे यदिति । ऐ० ६।२६ । **अदितिः** उषाः । निरुक्ते उत्तमस्थानीयासु देवतासु पठितत्वाद् अदितिरित्यनेन उषा गृह्यते । **सिन्धुः** अन्तरिक्षसमुद्रः, पार्थिवसमुद्रो वा, **पृथिवी** भूमिः, **उत** अपि च **द्यौः** द्युलोकः सूर्यो वा **नः** अस्मान् **मामहन्ताम्** सत्कारेण वर्धयन्ताम् । मह पूजायाम्, भ्वादिः लोट् । व्यत्ययेन शपः श्लुः । द्वित्वे तुजादित्वादभ्यासस्य दीर्घः । व्यत्ययेनात्मनेपदम् । **यद्वा**—**मित्रः** प्राणः, **वरुणः** अपानः । प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणः । श० ८।२।५।६ । **अदितिः** वाक् । अदितिरिति वाङ्नामसु पठितम् । निघं० १।११ । **सिन्धुः** हृदयसमुद्रः, **पृथिवी** देहयष्टिः । पृथिवी शरीरम् इति श्रुतेः । अथर्व ५।९।७ । **उत** अपि च **द्यौः** द्योतमाना बुद्धिः द्युतिमान् आत्मा वा **नः मामहन्ताम्** अस्मान् वर्धयन्ताम् । **यद्वा**—**मित्रः** ब्राह्मणवर्णः, **वरुणः** क्षत्रियवर्णः । ब्रह्मैव मित्रः क्षत्रं वरुणः । श० ४।१।४।१ इति श्रुतेः । **अदितिः** अपीडनीया नारीजातिः, **सिन्धुः** समुद्रवद् धनसंचयकारी वैश्यवर्णः, **पृथिवी** राष्ट्रभूमिः **उत** अपि च **द्यौः** यशस्विनी राजसभा **नः मामहन्ताम्** अस्मान् प्रजाजनान् अतिशयेन वर्धयन्ताम् ॥५॥

भावार्थः—'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।' अथ० ७।५०।८ इति नयानुसारं संसारे यः कर्म विचिनुते स एव विजयं समश्नुते । कर्ममार्गेऽस्मिन् परमेश्वरातिरिक्तम् अग्निवायुसूर्यादयो बाह्या देवाः, प्राणापानवाङ्मनःप्रभृतय आभ्यन्तरा देवाः, ब्राह्मणक्षत्रियाद्याः राष्ट्रदेवाश्चास्माकं सहायकाः प्रेरकाश्च भवितुमर्हन्ति ॥५॥

अगली ऋचा का देवता पवमान सोम है । उससे प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **सोम** प्रेरक परमात्मन् ! **पवमानेन** पवित्रकर्ता **त्वया** तुझ सहायक के द्वारा **वयम्** हम शूरवीर लोग **भरे** जीवन-संग्राम में **शश्वत्** निरन्तर **कृतम्** कर्म को **वि चिनुयाम** विशेषरूप से चुनें । **तत्** इस कारण **मित्रः** वायु, **वरुणः** अग्नि, **अदितिः** उषा, **सिन्धुः** अन्तरिक्ष-समुद्र अथवा पार्थिव समुद्र, **पृथिवी** भूमि **उत** और **द्यौः** द्युलोक अथवा सूर्य **नः** हमें **मामहन्ताम्** सत्कार से बढ़ाएँ । **अथवा**—**मित्रः** प्राण, **वरुणः** अपान, **अदितिः** वाणी, **सिन्धुः** हृदय-समुद्र, **पृथिवी** शरीर **उत** और **द्यौः** प्रकाशयुक्त बुद्धि वा आत्मा **नः मामहन्ताम्** हमें बढ़ाएँ । **अथवा**—**मित्रः** ब्राह्मणवर्ण, **वरुणः** क्षत्रियवर्ण, **अदितिः** न पीडित की जाने योग्य नारी जाति, **समुद्रः** समुद्र के तुल्य धन का संचय करने वाला वैश्यवर्ण, **पृथिवी** राष्ट्रभूमि **उत** और **द्यौः** यशोमयी राजसभा **नः मामहन्ताम्** हम प्रजाजनों को अतिशय समृद्ध करें ॥५॥

भावार्थ—'मेरे दाहिने हाथ में कर्म है, बाएँ हाथ में विजय रखी हुई है ।' अथ० ७।५०।८, इस सिद्धान्त के अनुसार संसार में जो कर्म को अपनाता है, वही विजय पाता है । इस कर्मयोग के मार्ग में परमेश्वर के अतिरिक्त अग्नि-वायु-सूर्य आदि बाह्य देव, प्राण-अपान-वाणी-मन आदि आन्तरिक देव और ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि राष्ट्र के देव हमारे सहायक और प्रेरक बन सकते हैं ॥५॥

अथ विश्वेदेवाः देवताः । तान् प्रार्थयते ।

३ १ १ २ १ ३ २ ३ ३ २
५९१. इमं वृषणं कृणुतैकमिन्माम् ॥६॥
३ २ १ २ १ ३ १ २ १
इमम् वृषणम् कृणुत एकम् इत् माम् ॥६॥

पदार्थः—हे विश्वेदेवाः परमात्मजीवात्ममनोबुद्ध्यादयः, सर्वे विद्वांसो गुरुजनाः, राज्याधिकारिणश्च ! यूयम् **इमम्** पुरो दृश्यमानम् **माम्** प्रार्थिनम् **एकम् इत्** अद्वितीयमेव **वृषणम्** धनान्नसुखादीनां मेघवद् वर्षकम् **कृणुत** सम्पादयत ॥६॥

भावार्थः—यथा सोमः परमात्मा, शरीरस्थाः समाजस्था राष्ट्रस्थाः सर्वे देवाश्च परोपकारिणः सन्ति, तथा तेषां सकाशात् प्रेरणां गृहीत्वाऽहमपि निर्धनानामुपरि धनान्नादीनां वृष्टिकरो दीनानामाश्रयोऽनाथानां नाथः परदुःखविद्रावकश्च भूयासम् ॥६॥

अगली ऋचा का देवता 'विश्वेदेवाः' है । उनसे प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे परमात्मा, जीवात्मा, मन, बुद्धि आदि सब देवो, सब विद्वान् गुरुजनो तथा राज्याधिकारियो ! तुम **इमम्** इस **माम्** मुझको **एकम् इत्** अद्वितीय **वृषणम्** मेघ के समान धन, अन्न, सुख आदि की वर्षा करने वाला **कृणुत** कर दो ॥६॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा और शरीर में स्थित, समाज में स्थित तथा राष्ट्र में स्थित सब देव परोपकारी हैं, वैसे ही उनसे प्रेरणा लेकर मैं भी निर्धनों के ऊपर धन, अन्न आदि की वर्षा करने वाला, अनाथों का नाथ और दूसरों के दुःख को हरने वाला बनूँ ॥६॥

अथ द्वयोः पवमानः सोमो देवता । अत्र परमात्मानं राजानं चाह ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५९२. स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।
३ १ २ १
वरिवोवित् परिस्रव ॥७॥[1]
२ ३ १ २ १ १ २ १ ३ १ २
सः नः इन्द्राय यज्यवे । वरुणाय मरुद्भ्यः ॥
३ २ ३ २ १ २ ३
वरिवोवित् वरिवः वित् परि स्रव ॥७॥

पदार्थः—**प्रथमो**ऽध्यात्मपरः । हे पवमान सोम सर्वोत्पादक समग्रैश्वर्याधिपते रसमय पवित्रतादायक परमात्मन् ! **सः** सुप्रसिद्धः त्वम् **नः** अस्माकम् **यज्यवे** देहयज्ञसञ्चालकाय **इन्द्राय** जीवात्मने, **वरुणाय** सत्संकल्पानां वरणकर्त्रे मनसे, **मरुद्भ्यः** प्राणेभ्यश्च **वरिवोवित्** तत्तद्बलरूपस्य ऐश्वर्यस्य लम्भकः सन् । वरिवः इति धननाम । निघं० २।१० । **परिस्रव** हृदये प्रवहस्व, सञ्चरेत्यर्थः ॥

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रपरः । हे पवमान सोम सर्वेषां राज्याधिकारिणां स्वस्वकर्तव्यकर्मसु प्रेरक तदीयदोषाणां हरणेन पवित्रतादायक राजन् ! **सः** प्रजाभिः राजपदेऽभिषिक्तः त्वम् **नः** अस्माकम् **यज्यवे** राष्ट्रयज्ञस्य यष्ट्रे **इन्द्राय** सेनाध्यक्षाय, **वरुणाय** अनृताचारिणां पाशबन्धकाय कारागाराधिकारिणे । अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति । तै० ब्रा० १।७।२।६ इति श्रुतेः । **मरुद्भ्यः** योद्धृभ्यः सैनिकेभ्यश्च **वरिवोवित्** समुचितवेतनरूपस्य धनस्य लम्भकः सन् **परिस्रव** राष्ट्रे सञ्चर ॥७॥[2]

---

१. ऋ० ९।६१।१२, य० २६।१७ ऋषिः महीयवः, साम० ६७३ ।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं यजुर्भाष्ये विद्वत्पक्षे व्याख्यातवान् ।

भावार्थः—परमेश्वरः कृपयाऽस्माकमात्ममनःप्राणेन्द्रियादिभ्यः शरीरराज्यनिर्वहणशक्तिरूपं धनं, राजा च नियुक्तेभ्यो राज्याधिकारिभ्यो देयवेतनरूपं धनं सर्वदा प्रयच्छेत् । यो नृपतिरन्यायेन सेवकान् वेतनाद् वञ्चयते तं ते सर्वात्मनाभिद्रुह्यन्ति ॥७॥

अगले दो मन्त्रों का पवमान सोम देवता है। इस मन्त्र में परमात्मा और राजा को कहा जा रहा है।

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्म-पक्ष में। हे पवमान सोम अर्थात् सर्वोत्पादक, सकल ऐश्वर्य के अधिपति, रसमय, पवित्रतादायक परमात्मन् ! **सः** सुप्रसिद्ध आप **नः** हमारे **यज्यवे** देह-रूप यज्ञ के संचालक **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए, **वरुणाय** श्रेष्ठ संकल्पों का वरण करने वाले मन के लिए, और **मरुद्भ्यः** प्राणों के लिए **वरिवोवित्** उनके बलरूप ऐश्वर्य के प्राप्त कराने वाले होकर **परिस्रव** हृदय में संचार करो।

द्वितीय राष्ट्र-परक। हे पवमान सोम अर्थात् सब राज्याधिकारियों को अपने-अपने कर्तव्य कर्मों में प्रेरित करने तथा उनके दोषों को दूर कर पवित्रता देने वाले राजन् ! **सः** वह प्रजाओं द्वारा राजा के पद पर अभिषिक्त किये हुए आप **नः** हमारे **यज्यवे** राष्ट्र-यज्ञ के कर्ता **इन्द्राय** सेनाध्यक्ष के लिए, **वरुणाय** असत्याचरण करने वालों को बन्धन में बाँधने वाले कारागार-अधिकारी के लिए और **मरुद्भ्यः** योद्धा सैनिकों के लिए **वरिवोवित्** देने योग्य उचित वेतनरूप धन के प्राप्त कराने वाले होकर **परिस्रव** राष्ट्र में संचार करो ॥७॥

भावार्थ—परमेश्वर कृपा करके हमारे आत्मा, मन, प्राण, इन्द्रिय आदि को शरीर-राज्य चलाने का बलरूप धन और राजा नियुक्त राज्याधिकारियों को देय वेतनरूप धन सदा देता रहे। जो राजा अन्याय से सेवकों को वेतन से वंचित करता है, उसके प्रति वे पूर्णतः विद्रोह कर देते हैं ॥७॥

अथ परमात्मसोमं धनं याचते।

३ १२ २१ ३ ३ ३ २ ३ १ २
५९३. एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम् ।
१ २
सिषासन्तो वनामहे ॥८॥[1]
३ २ १ २१ ३ ३ ३ १ २ १ २१
एना विश्वानि अर्यः आ । द्युम्नानि मानुषाणाम् ॥
१ २१ ३
सिषासन्तः वनामहे ॥८॥

पदार्थः—हे पवमान सोम पवित्रतादायक सर्वोत्पादक परमैश्वर्यशालिन् परमात्मन् ! **अर्यः** सर्वेषां स्वामी त्वम् । अर्यः स्वामिवैश्ययोः । अ० ३।१।१०३' इति स्वाम्यर्थे यत्प्रत्ययान्तो निपातः । 'यतोऽनावः । अ० ६।१।२१३' इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते 'स्वामिन्यन्तोदात्तत्वं च वक्तव्यम्' इति वार्तिकेनान्तोदात्तत्वम् । **एना** एनानि **विश्वानि** सर्वाणि **द्युम्नानि** धनानि । द्युम्नमिति धननाम । निघं० २।१० । **आ** आगमय । उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः । एतानि धनानि वयम् **मानुषाणाम्** सत्पात्रभूतानां मनुष्याणाम् **सिषासन्तः** दातुमिच्छन्तः सन्तः । षणु दाने धातोः सन्नन्तं रूपम् । **वनामहे** संभजामहे, प्राप्तुमिच्छाम इत्यर्थः । वन संभक्तौ भ्वादिः, व्यत्ययेनात्मनेपदम् ॥८॥[2]

भावार्थः—येन धनेन परेषां हितं न सम्पद्यते तद् धनं धनं न किन्त्वपयश एव पुञ्जीभूतं विद्यते, 'केवलाघो भवति केवलादी' ऋ० १०।११७।६ इति श्रुतेः ॥८॥

१. ऋ० ९।६१।११, य० २६।१८ ऋषिः महीयवः, साम० ६७४।
२. दयानन्दर्षिरपि मन्त्रमिमं यजुर्भाष्ये परमेश्वरपक्षे व्याख्यातवान् ।

अगले मन्त्र में परमात्मारूप सोम से धन की याचना की गयी है।

पदार्थ—हे पवमान सोम अर्थात् सर्वोत्पादक पवित्रतादायक परमात्मन् ! **अर्यः** सबके स्वामी आप **एना** इन **सर्वाणि** सब **द्युम्नानि** धनों को **आ** प्राप्त कराओ। इन धनों को हम **मानुषाणाम्** सत्पात्र मनुष्यों को **सिषासन्तः** दान करने के अभिलाषी होते हुए **वनामहे** पाना चाहते हैं ॥८॥

भावार्थ—जिस धन से दूसरों का हित नहीं होता वह धन धन नहीं, किन्तु पुंजित अपयश ही है, क्योंकि वेद कहता है कि "अकेला खाने वाला पाप का भागी होता है (ऋ० १०।११७।६)" ॥८॥

अन्नम् देवता। परमेश्वरः स्वपरिचयं ददाति।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५९४. अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
२ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
यो मा ददाति स इदेव मावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥९॥

३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १
अहम् अस्मि प्रथमजाः प्रथम जाः ऋतस्य। पूर्वम् देवेभ्यः अमृतस्य अ मृतस्य
१ २ १ ३ १ २ १ ३ २ ३ २ १ २ १
नाम ॥ यः मा ददाति सः इत् एव मा अवत्। अहम् अन्नम्
१ २ १ ३ १ २ ३
अन्नम् अदन्तम् अद्मि ॥९॥

पदार्थः—**अहम्** परमेश्वरः **ऋतस्य** जगति सर्वत्र दृश्यमानस्य सत्यनियमस्य **प्रथमजाः** प्रथमो जनयिता। प्रथमोपपदात् जनी प्रादुर्भावे धातोर्ण्यन्तात् 'जनसनखनक्रमगमो विट्। अ० ३।२।६७' इति विट् प्रत्ययः। 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्। अ० ६।४।४१' इत्यात्त्वम्। **अस्मि** वर्ते। अहम् **देवेभ्यः** सर्वेभ्यः दीप्यमानेभ्यः विद्युदग्नितारामण्डलादिभ्यः, तदुत्पत्तेः इत्यर्थः **पूर्वम्** प्रागपि आसम्। अहम् **अमृतस्य** मोक्षावस्थाजन्यस्य आनन्दामृतस्य **नाम** नाभिः केन्द्रम् स्रोतःस्थानं वा अस्मि। नमन्ति नता भवन्ति एकत्र तिष्ठन्ति अत्र इति नाम नाभिः केन्द्रं स्रोतःस्थलं वा। तथा च 'अमृतस्य नाभिः' इति तैत्तिरीयोपनिषदि पाठः। तै० उ० भृगुवल्ली १०।७। **यः** जनः **मा** माम् **ददाति** स्वात्मनि समर्पयति **सः इद् एव** निश्चयेन स एव **मा** माम् **अवत्** प्राप्नोति। अवतिः गतिकर्मा। निघं० २।१४, लेटिरूपम्। **अहम्** परमेश्वरः **अन्नम्** अन्ननामा अस्मि। अद्यते भक्तैर्भुज्यते इत्यन्नम् इति व्युत्पत्तेः। किञ्च, अहम् **अन्नम् अदन्तम्** भोगं भुञ्जानम् प्रत्येकं जनम् **अद्मि** भक्षयामि, तस्माद् 'अत्ता' अप्यस्मि। उक्तं चान्यत्र 'अहमन्नम्, अहमन्नम्, अहमन्नम्, अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः। तै० उ० ३।१०।६', 'अत्ता चराचरग्रहणात्। ब्र० सू० १।२।९' इति ॥ निरुक्ते याः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्चेति त्रिविधा ऋचः प्रोक्तास्तासु आध्यात्मिकीयम् ऋक्। 'अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना' निरु० ७।२ इति तल्लक्षणात् ॥९॥

अत्र 'अहमन्नम्' 'अन्नमदन्तमद्मि' इति विरोधप्रतीतेर्विरोधालङ्कारो व्यङ्ग्यः ॥९॥

भावार्थः—यथा प्राणिनो भोजनं विना न जीवन्ति, तथा भक्ताः परमेश्वरं विना। यथा प्राणिनोऽन्नं ग्रसन्ते, तथा परमेश्वरश्चराचरं जगत् ॥९॥

पूर्वदशत्यां सोमनाम्ना परमात्मनो वर्णनादत्र चेन्द्रवरुणसोमादिनामभिस्तस्यैव वर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्तीति बोध्यम् ॥

इति षष्ठे प्रपाठके तृतीयार्द्धे प्रथमा दशतिः।

इति षष्ठेऽध्याये प्रथमः खण्डः ॥

अगले मन्त्र का अन्न देवता है। परमेश्वर अपना परिचय दे रहा है।

पदार्थ—**अहम्** मैं परमेश्वर **ऋतस्य** जगत् में सर्वत्र दिखायी देने वाले सत्य नियम का **प्रथमजाः** प्रथम उत्पादक **अस्मि** हूँ। मैं **देवेभ्यः** सब चमकने वाले सूर्य, बिजली, अग्नि, तारामण्डल आदियों की उत्पत्ति से **पूर्वम्** पहले विद्यमान था। मैं **अमृतस्य** मोक्षावस्था में प्राप्त होने वाले आनन्दामृत का **नाम** केन्द्र या स्रोत हूँ। **यः** जो मनुष्य **मा** मुझे **ददाति** अपने आत्मा में समर्पित करता है **सः इत् एव** निश्चय से वही **मा** मुझे **अवत्** प्राप्त होता है। **अहम्** मैं **अन्नम्** अन्न हूँ, भक्तों का भोजन हूँ और मैं **अन्नम् अदन्तम्** भोग भोगने वाले प्रत्येक प्राणी को **अद्मि** खाता भी हूँ, अर्थात् प्रलयकाल में ग्रस भी लेता हूँ, इस कारण मैं अत्ता भी हूँ।

परमेश्वर के अन्न और अत्ता रूप को उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र में इस प्रकार कहा है—मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ (तै० उप० ३।१०।६)। 'परमेश्वर अत्ता इस कारण है, क्योंकि चर-अचर को ग्रसता है' (ब्र० सू० १।२।९)।

निरुक्त में जो परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत तथा आध्यात्मिक तीन प्रकार की ऋचाएँ कही गयी हैं, उनमें यह ऋचा आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक ऋचाएँ वे होती हैं जिनमें उत्तम पुरुष की क्रिया तथा 'अहम्' सर्वनाम का प्रयोग हो अर्थात् जिसमें देवता अपना परिचय स्वयं दे रहा हो ॥९॥

इस मन्त्र में 'मैं अन्न हूँ, मैं अन्न खाने वाले को खाता हूँ' में विरोध प्रतीत होने से विरोधालंकार व्यंग्य है ॥९॥

भावार्थ—जैसे प्राणी भोजन के बिना, वैसे ही भक्तजन परमेश्वर के बिना नहीं जी सकते। जैसे प्राणी अन्न का ग्रास लेते हैं, वैसे ही परमेश्वर चराचर जगत् को ग्रसता है ॥९॥

पूर्व दशति में सोम नाम से परमात्मा का वर्णन होने से तथा इस दशति में भी इन्द्र, वरुण, सोम आदि नामों से परमात्मा का ही वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है।

षष्ठ प्रपाठक में तृतीय अर्ध की प्रथम दशति समाप्त।
षष्ठ अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ॥

॥२॥ अथ 'त्वमेतदधारयः' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ श्रुतकक्षः; २ पवित्रः; ३, ४ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः; ५ प्रथः; ६ गृत्समदः; ७ नृमेधपुरुमेधौ ॥ देवता—१, ३, ४, ७ इन्द्रः; २ पवमानः; ५ विश्वेदेवाः; ६ वायुः ॥ छन्दः—१, ३, ४, ६ गायत्री; २ जगती; ५ त्रिष्टुप्; ७ अनुष्टुप् ॥ स्वरः—१, ३, ४, ६ षड्जः; २ निषादः; ५ धैवतः; ७ गान्धारः ॥

तत्र प्रथमाया इन्द्रो देवता। इन्द्रस्य परमात्मनः कौशलं वर्णयति।

५९५. त्वमेतदधारयः कृष्णासु रोहिणीषु च।
परुष्णीषु रुशत् पयः ॥१॥[1]
त्वम् एतत् अधारयः। कृष्णासु रोहिणीषु च॥
परुष्णीषु रुशत् पयः ॥१॥

१. ऋ० ८।९३।१३ ऋषिः सुकक्षः।

पदार्थः—अथ **प्रथमो** धेनुपक्षे । हे इन्द्र जगदीश्वर ! **त्वम्** सर्वशक्तिमान् **कृष्णासु** कृष्णवर्णासु **रोहिणीषु च** लोहितवर्णासु च **परुष्णीषु** बहुस्नेहशीलासु मातृभूतासु गोषु । पुरु बहु स्निह्यन्तीति परुष्ण्यः । **एतत्** इदमस्माभिः प्रत्यहमास्वाद्यमानम् **रुशत्** उज्ज्वलम् । रुशदिति वर्णनाम, रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः । निरु० ६।१३ । **पयः** दुग्धम् **अधारयः** धारितवानसि ।।

अथ **द्वितीयो** नदीपक्षे । हे इन्द्र परमात्मन् ! **त्वम्** जगद्व्यवस्थापकः **कृष्णासु** कृषिकर्मसाधिकासु **रोहिणीषु च** वृक्षवनस्पत्यादीनां रोहणकर्त्रीषु च **परुष्णीषु** पर्ववतीषु वक्रगामिनीषु नदीषु । परुष्णी पर्ववती भास्वती कुटिलगामिनी । निरु० ९।२४ । **एतत्** इदम् **रुशत्** उज्ज्वलम् **पयः** जलम् **अधारयः** निहितवानसि ।।

अथ **तृतीयो** नाडीपक्षे । हे इन्द्र जगत्पते परमात्मन् ! **त्वम्** प्राणिदेहसञ्चालकः **कृष्णासु** नीलवर्णासु शिरानाम्ना प्रसिद्धासु **रोहिणीषु च** लोहितवर्णासु धमनिनाम्ना ख्यातासु च **परुष्णीषु** परुषि परुषि अङ्गे अङ्गे नीयन्ते रक्तं नयन्तीति वा ताः परुष्ण्यः, तासु रक्तनाडीषु **एतत्** इदम् **रुशत्** दीप्तम्—शिरासु नीलवर्णतया दीप्तं, धमनिषु च लोहितवर्णतया दीप्तम् **पयः** रक्तजलम् **अधारयः** धृतवानसि ।।

अथ **चतुर्थो** रात्रिपक्षे । हे इन्द्र राजाधिराज परमेश्वर ! **त्वम्** दिनरात्रिचक्रप्रवर्तकः **कृष्णासु** अंशतः पूर्णतो वा कृष्णवर्णासु **रोहिणीषु च** प्रकाशोज्ज्वलासु च **परुष्णीषु** कृष्णशुक्लपर्वयुक्तासु रात्रिषु **एतत्** सर्वैर्दृश्यमानम् **रुशत्** दीप्यत् **पयः** अवश्यायजलम् **अधारयः** धृतवानसि ।।१।।

अत्र श्लेषालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः—परमात्मन एवेदं कौशलं यत् स विविधवर्णासु गोषु श्वेतं पयः, नदीषु समुज्ज्वलं जलं, शरीरस्थासु नाडीषु नीलं लोहितं च रुधिरं, कृष्णशुक्लासु रात्रिषु चावश्यायसलिलं जनयति ।।१।।

प्रथम मन्त्र का इन्द्र देवता है । इसमें इन्द्र परमात्मा के कौशल का वर्णन है ।

पदार्थ—**प्रथम** गौओं के पक्ष में । हे इन्द्र जगदीश्वर ! **त्वम्** सर्वशक्तिमान् आपने **कृष्णासु** काले रंग की, **रोहिणीषु च** और लाल रंग की **परुष्णीषु** बहुत स्नेहशील मातृभूत गौओं में **एतत्** इस, हमसे प्रतिदिन पान किये जाने वाले **रुशत्** उज्ज्वल **पयः** दूध को **अधारयः** निहित किया है ।।

द्वितीय नदियों के पक्ष में । हे इन्द्र परमात्मन् ! **त्वम्** जगत् की व्यवस्था करने वाले आपने **कृष्णासु** कृषिकर्म को सिद्ध करने वाली, **रोहिणीषु च** और वृक्ष-वनस्पति आदियों को उगाने वाली **परुष्णीषु** पर्वों वाली अर्थात् टेढ़ा चलने वाली नदियों में **एतत्** इस **रुशत्** उज्ज्वल **पयः** जल को **अधारयः** निहित किया है ।

तृतीय नाड़ियों के पक्ष में । हे इन्द्र जगत्पति परमात्मन् ! **त्वम्** प्राणियों के देहों के संचालक आपने **कृष्णासु** नीले रंग वाली शिरारूप **रोहिणीषु च** और लाल रंग वाली धमनिरूप **परुष्णीषु** अंग-अंग में जाने वाली अथवा रक्त को ले जाने वाली रक्तनाड़ियों में **एतत्** इस **रुशत्** चमकीले नीले रंग के और चमकीले लाल रंग के **पयः** रक्तरूप जल को **अधारयः** निहित किया है ।

चतुर्थ रात्रियों के पक्ष में । हे इन्द्र राजाधिराज परमेश्वर ! **त्वम्** दिन-रात्रि के चक्र के प्रवर्तक आपने **कृष्णासु** आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से काले रंग वाली **रोहिणीषु च** और प्रकाश से उज्ज्वल **परुष्णीषु** कृष्ण और शुक्ल पक्षों से युक्त रात्रियों में **एतत्** सबको दीखने वाले इस **रुशत्** चमकीले **पयः** ओस-कण रूप जल को **अधारयः** निहित किया है ।।१।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।१।।

भावार्थ—परमात्मा का ही यह कौशल है कि वह विविध रंगों वाली गौओं में श्वेत दूध को, नदियों में उज्ज्वल जल को, शरीरस्थ नाड़ियों में नीले और लाल रुधिर को तथा कृष्णपक्ष एवं शुक्लपक्ष की रात्रियों में ओसरूप जल को उत्पन्न करता है ।।१।।

अथ पवमानो देवता । परमात्मन एव कौशलेन सूर्यादयः स्वस्वकार्यं कुर्वन्तीत्याह ।

५९६. अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा मिमेति भुवनेषु वाजयुः ।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ॥२॥[1]

अरूरुचत् उषसः पृश्निः अग्रियः । उक्षा मिमेति भुवनेषु वाजयुः ॥
मायाविनः ममिरे अस्य मायया । नृचक्षसः नृ चक्षसः
पितरः गर्भम् आ दधुः ॥२॥

पदार्थः—**अस्य** पवमानस्य सर्वत्र गन्तुः सोमस्य प्रेरकस्य परमात्मनः **मायया** बुद्धिकौशलेन कर्मकौशलेन च **अग्रियः** अग्रे भवः । 'अग्राद्यत् अ० ४।४।११६ इत्यतः अग्रानुवृत्तौ 'घच्छौ च' अ० ४।४।११७ इति भवार्थे घ प्रत्ययः । **पृश्निः** सूर्यः । पृश्निरादित्यो भवति, प्राश्नुत एनं वर्णः इति नैरुक्ताः । संस्प्रष्टा रसान्, संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषां, संस्पृष्टो भासेति वा । निरु० २।१४ । **उषसः** प्रभातवेलाः **अरूरुचत्** आरोचयति, किञ्च **उक्षा** सेचकः पर्जन्यः **भुवनेषु** भूतलेषु **वाजयुः** वाजयुः इव, अन्नोत्पादनकामः इव, इति व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा । वाजान् अन्नानि परेषां कामयते इति वाजयुः । 'क्यचि, क्याच्छन्दसि' अ० ३।२।१७० इति उ प्रत्ययः । **मिमेति** गर्जति । माङ् माने शब्दे च जुहोत्यादिः, परस्मैपदं छान्दसम् । अपि च **मायाविनः** मेधाविनः इव विद्यमानाः वायवः इति लुप्तोपमम् । **ममिरे** स्वगत्या सुदीर्घान् प्रदेशान् इयत्तया परिच्छिन्दन्ति, तथा च **नृचक्षसः** मनुष्याणां प्रकाशप्रदातारः **पितरः** पालकाः सूर्यकिरणाः **गर्भम् आदधुः** ओषधिषु गर्भं धारयन्ति यद्वा उदकं वाष्पीकृत्य गर्भरूपेण गृह्णन्ति ॥२॥

भावार्थः—परमात्मनैव स्वकौशलैरुषःसूर्यपर्जन्यपवनादित्यकिरणसदृशानि यन्त्राणि रचितानि सन्ति यान्यस्मान् महदुपकुर्वन्ति ॥२॥

अगले मन्त्र का पवमान देवता है । परमात्मा के ही कौशल से सूर्य आदि अपना-अपना कार्य करते हैं, इसका वर्णन है ।

पदार्थ—**अस्य** इस पवमान सोम के अर्थात् सर्वव्यापक प्रेरक परमात्मा के **मायया** बुद्धि और कर्म के कौशल से **अग्रियः** आगे रहने वाला **पृश्निः** सूर्य **उषसः** उषाओं को **अरूरुचत्** चमकाता है, और **उक्षा** वर्षक बादल **भुवनेषु** भूतलों पर **वाजयुः** मानो अन्न उत्पन्न करना चाहता हुआ **मिमेति** गर्जता है, **मायाविनः** मेधावियों के तुल्य विद्यमान पवन **ममिरे** अपनी गति से सुदीर्घ प्रदेशों को मापते हैं और **नृचक्षसः** मनुष्यों को प्रकाश देने वाली **पितरः** पालक सूर्य-किरणें **गर्भम् आदधुः** ओषधियों में गर्भ धारण कराती हैं अथवा पानी को भाप बनाकर गर्भरूप में ग्रहण करती हैं ॥२॥

भावार्थ—परमात्मा ने ही अपने कौशलों से उषा, सूर्य, बादल, पवन एवं किरणों जैसे यन्त्र रचे हैं, जो हमारा बड़ा उपकार करते हैं ॥२॥

अथ द्वयोरिन्द्रो देवता । अत्र परमात्मनो महिमानमाचष्टे ।

५९७. इन्द्र इद्धर्योः सचा सम्मिश्ल आ वचोयुजा ।
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥३॥[2]

---

१. ऋ० ९।८३।३ 'मिमेति भुवनेषु' इत्यत्र 'बिभर्ति भुवनानि' इति पाठः । साम० ८७७ ।

२. ऋ० १।७।२, साम० ७९७, अथ० २०।३८।५, ४७।५, ७०।८ ।

१२१ १२१ १२१ १२१ ३ २ ३ १२ ३ १२१
इन्द्रः इत् हर्योः सचा । सम्मिश्लः सम् मिश्लः आ वचोयुजा वचः युजा ॥
१२१ ३ २ ३ १२
इन्द्रः वज्री हिरण्ययः ॥३॥

पदार्थः—**इन्द्रः इत्** जगदीश्वर एव **वचोयुजा** वचोयुजोः, आदेशसमकालमेव युज्यमानयोः । अत्र 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ 'इत्यनेन षष्ठीद्विवचनस्य आकारादेशः । **हर्योः** द्यावापृथिवीरूपयोः, अहोरात्ररूपयोः, शुक्लकृष्णपक्षरूपयोः, प्राणापानरूपयोः, ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपयोः, ऋक्सामरूपयोश्च अश्वयोः **सचा** सह **सम्मिश्लः** सम्मिश्रः 'संयोजयिता विद्यते । अत्र संज्ञाछन्दसोर्वा कपिलकादीनामिति वक्तव्यम्' अ० ८।२।१८ वा० इत्यनेन रेफस्य लत्वादेशः । **इन्द्रः** स जगदीश्वरः **वज्री** अङ्कुशधर इव निरङ्कुशानां नियामकः, लुप्तोपममेतत् **हिरण्ययः** प्रतापवांश्च विद्यते इति शेषः ।[1]

इमे **द्यावापृथिवी** वै हरी विपक्षसा । तै० ३।९।४।२, अहोरात्रौ वा अस्य हरी । जै० ब्रा० २।७९, पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी । ष० ब्रा० १।१ ऋक्सामे वै हरी । श० ४।४।३।६, प्राणापानौ वा अस्य हरी । जै० ब्रा० २।७९ । हिरण्ययः इत्यत्र 'ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि' अ० ६।४।१७५ इति हिरण्यशब्दाद् विहितस्य मयटो मशब्दलोपो निपात्यते । ज्योतिर्हि हिरण्यम् । श० ४।३।१।२१ ॥३॥

भावार्थः—महाप्रतापेन परमेश्वरेणैव सौरमण्डले द्यावापृथिव्यादिरूपौ, शरीरे प्राणापानादिरूपौ, मनोभूमौ च ऋक्सामादिरूपावश्वौ सामञ्जस्यपूर्वकं नियुक्तौ स्तः ॥३॥

अगले दो मन्त्रों में इन्द्र देवता है । यहाँ परमात्मा की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ—**इन्द्रः इत्** जगदीश्वर ही **वचोयुजा** आदेशवचन होते ही नियुक्त हो जाने वाले **हर्योः** भूमि-आकाश, दिन-रात, शुक्लपक्ष-कृष्णपक्ष, प्राण-अपान, ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय, ऋक्-साम रूप घोड़ों का **सचा** एक साथ **सम्मिश्लः** संयुक्त करने वाला है । **इन्द्रः** वह जगदीश्वर **वज्री** वज्रधारी के समान निरंकुशों को नियम में रखने वाला और **हिरण्ययः** प्रतापी है ॥३॥

भावार्थ—महाप्रतापी परमेश्वर ने ही सौरमण्डल में द्यावापृथिवी आदि रूप, शरीर में प्राण-अपान आदि रूप तथा मनोभूमि में ऋक्-साम आदि रूप अश्वों को सामञ्जस्यपूर्वक नियुक्त किया है ॥३॥

अथेन्द्रनाम्ना परमेश्वरो नृपतिश्च प्रार्थ्यते ।

२ ३ १ २ ३ १ २
५९८. **इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च ।**
३ २ ३ १ २ ३ १ २
उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥४॥[2]
१२१ १२१ ३ १ २ ३ १ २ ३
इन्द्र वाजेषु नः अव । सहस्रप्रधनेषु सहस्र प्रधनेषु च ॥
२ ३ १ २ ३ १ २
उग्रः उग्राभिः ऊतिभिः ॥४॥

पदार्थः—हे **उग्र** शत्रुषु प्रचण्ड **इन्द्र** रिपुविदारक जगदीश्वर राजन् वा ! त्वम् **वाजेषु** संकटेषु । वाज इति संग्रामनाम । निघं० २।१७ । **सहस्रप्रधनेषु**[3] **च** घोरेषु देवासुरसंग्रामेषु च । सहस्राणि असंख्या-

१. दयानन्दर्षिणा मन्त्रेऽस्मिन् ऋग्भाष्ये प्रथमेन इन्द्रशब्देन वायुः, द्वितीयेन च इन्द्रशब्देन सूर्यो गृहीतः ।

२. ऋ० १।७।४, साम० ७९८, अथ० २०।७०।१० ।

३. (सहस्रप्रधनेषु) 'सहस्राणि असंख्यातानि प्रकृष्टानि धनानि प्राप्नुवन्ति येषु तेषु चक्रवर्तिराज्यसाधकेषु महायुद्धेषु' इति ऋ० १।७।४ भाष्ये द० । सहस्रशब्दः कर्दमादीनां च । फि० सू० ५९ इति मध्योदात्तः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् इति तत्रैव सा० ।

तानि प्रधनानि निधनानि येषु तानि सहस्रप्रधनानि घोरयुद्धानि तेषु। **उग्राभिः** उत्कटाभिः **ऊतिभिः** रक्षण-शक्तिभिः **नः** धार्मिकान् अस्मान् **अव** रक्ष ॥४॥[1]

अत्र अर्थश्लेषालंकारः। 'उग्र, उग्रा' इत्यत्र छेकानुप्रासः ॥४॥

भावार्थः—जीवने पदे पदे समायातेषु संकटेषु, बाह्याभ्यन्तरेषु भीषणसंग्रामेषु, योगमार्गे समुपस्थितेषु व्याधिस्त्यानसंशयादिषु विघ्नेषु राष्ट्रे चोद्बुद्धेषु राज्यविप्लवशत्रुसंनाहादिषु वीरः परमेश्वरो नृपतिश्चास्मान् सततं रक्षेत् ॥४॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर और राजा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **उग्र** शत्रुओं पर प्रचण्ड **इन्द्र** शत्रुविदारक जगदीश्वर अथवा राजन्! आप **वाजेषु** संकटों में **सहस्रप्रधनेषु च** और सहस्रों का संहार करने वाले घोर देवासुर-संग्रामों में **उग्राभिः** उत्कट **ऊतिभिः** रक्षा-शक्तियों से **नः** हम धार्मिकों की **अव** रक्षा कीजिए ॥४॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है। 'उग्र, उग्रा' में छेकानुप्रास है ॥४॥

भावार्थ—जीवन में पग-पग पर आये हुए संकटों में, बाह्य तथा आभ्यन्तर भीषण संग्रामों में, योगमार्ग में उपस्थित व्याधि, स्त्यान, संशय आदि विघ्नों में और राज्य में उत्पन्न राज्यविप्लव, शत्रु द्वारा चढ़ाई आदि में वीर परमेश्वर और राजा हमारी निरन्तर रक्षा करते रहें ॥४॥

अथ विश्वेदेवाः देवताः। परमेश्वरो धातृ-सवितृ-विष्णुनामभिः स्मर्यते।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
५९९. प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हविषो हविर्यत्।
३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
धातुर्द्युतानात् सवितुश्च विष्णो रथन्तरमा जभारा वसिष्ठः ॥५॥[2]

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
प्रथः च यस्य सप्रथः स प्रथः च नाम। आनुष्टुभस्य आनु स्तुभस्य हविषः हविः यत्॥
३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २
धातुः द्युतानात् सवितुः च विष्णोः। रथन्तरम् रथम् तरम्
३ १ २
आ जभार वसिष्ठः ॥५॥

पदार्थः—**यस्य** परमेश्वरस्य **प्रथः च सप्रथः च** सर्वत्र प्रख्यातत्वात् 'प्रथः' इति, सर्वत्र विस्तीर्णत्वात् 'सप्रथः' इति च **नाम** अभिधानं वर्तते। प्रथते प्रख्यातो भवतीति प्रथः। प्रथ प्रख्याने। प्रथेन विस्तरेण सह विद्यते इति सप्रथः सुविस्तीर्णः सर्वव्यापकः। प्रथतिर्विस्तारार्थोऽपि वेदे प्रयुज्यते, यथा पृथिवीत्यत्र। **यत्** यः। अत्र हविःसम्बन्धान्नपुंसकत्वम्। **आनुष्टुभस्य** अनुष्टुप्छन्दस्कमन्त्रपाठपुरस्सरं कृतस्य **हविषः** उपासकानाम् आत्मसमर्पणरूपस्य हव्यस्य **हविः**[3] केन्द्रम् भवति, तस्मात् **द्युतानात्** द्योतमानात्। द्युत दीप्तौ धातोः शानचि मुगभावे छान्दसं रूपम्। **धातुः** सर्वजगद्धारकात् **सवितुः च** सर्वजगदुत्पादकाच्च **विष्णोः** सर्वव्यापकात् परमेश्वरात् **वसिष्ठः** अतिशयेन वसुमान् विद्याविनयादिधनयुक्तो विद्वज्जनः **रथन्तरम्** आत्ममनोबुद्धिप्राणेन्द्रियाद्यधिष्ठितदेहरथद्वारेण भवसागरसन्तारकं ब्रह्मवर्चसम्। ब्रह्मवर्चसं वै रथन्तरम्।

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् परमेश्वरपक्षे व्याचष्टे।

२. ऋ० १०।१८१।१।

३. हूयतेऽस्मिन्निति हविः। तथा च 'यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः' ऋ० १०।९०।६ इति पुरुषसूक्ते, 'हूयतेऽस्मिन्' इति व्युत्पत्त्या पुरुषो हविरुक्तः, 'हूयते यत्' इति व्युत्पत्त्या च शरद् हविः कथितः।

तै० ब्रा० २।७।१।१। **आ जभार** आ हरति। आ जहार, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' इति हस्य भः।

रथन्तरमिति साम्नोऽपि नाम, यद्धि वसिष्ठ-ऋषिकायाम् "अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः। ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः" साम० २३३ इत्यस्यामृच्यध्यूढं गीयते ॥५॥

अत्र 'प्रथश्च' 'हवि' इत्यनयोरावृत्तौ यमकालङ्कारः, उत्तरार्धे तकारावृत्तौ रेफावृत्तौ च वृत्त्यनुप्रासः ॥५॥

भावार्थः—ध्यातः परमेश्वरः साधकाय योगिने तद् ब्रह्मवर्चसं प्रयच्छति येन स विषयभोगपङ्के निर्लिप्तः सन्नात्ममनोबुद्धिप्राणेन्द्रियशरीरैर्मोक्षसाधकानि कर्माणि कुर्वाणो भवसागरमुत्तीर्य परं ब्रह्म प्राप्नोति ॥५॥

अगले मन्त्र के 'विश्वेदेवाः' देवता हैं। परमेश्वर को धाता, सविता और विष्णु नामों से स्मरण किया गया है।

पदार्थ—**यस्य** जिस परमेश्वर के **प्रथः च सप्रथः च** सर्वत्र प्रख्यात होने से 'प्रथ' और सर्वत्र विस्तीर्ण या व्यापक होने से 'सप्रथ' **नाम** नाम हैं, **यत्** जो **आनुष्टुभस्य** अनुष्टुप् छन्द वाले मन्त्रों के पाठ-पूर्वक दी गयी **हविषः** उपासकों की आत्मसमर्पणरूप हवि का **हविः** केन्द्र है, उसी **द्युतानात्** द्योतमान **धातुः** सम्पूर्ण जगत् के धारक, **सवितुः च** और सम्पूर्ण जगत् के उत्पादक **विष्णोः** सर्वव्यापक परमेश्वर से **वसिष्ठः** अतिशय वसुयुक्त अर्थात् विद्या, विनय आदि धन से सम्पन्न विद्वान् मनुष्य **रथन्तरम्** आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों आदि से अधिष्ठित शरीर-रथ द्वारा भवसागर को पार कराने वाले ब्रह्मवर्चस को **आ जभार** प्राप्त कर लेता है।

रथन्तर साम का भी नाम है जो वसिष्ठ ऋषि से दृष्ट 'अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः (साम० २३३) आदि ऋचा पर गाया जाता है ॥५॥

इस मन्त्र में 'प्रथश्च' और 'हवि' की आवृत्ति में यमकालङ्कार तथा उत्तरार्ध में तकार और रेफ की आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है ॥५॥

भावार्थ—ध्यान किया हुआ परमेश्वर साधक योगी को वह ब्रह्मवर्चस प्रदान करता है, जिससे वह विषयभोगों की कीचड़ में लिप्त न होता हुआ आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों और शरीर से मोक्ष-साधक कर्मों को करता हुआ भव-सागर पार करके परम ब्रह्म को पा लेता है ॥५॥

अथ वायुर्देवता। वायुनाम्ना परमेश्वरमाह्वयति।

६००. **नियुत्वान् वायवा गह्ययं शुक्रो अयामि ते।**
गन्तासि सुन्वतो गृहम् ॥६॥[1]
नियुत्वान् नि युत्वान् वायो आ गहि। अयम् शुक्रः अयामि ते ॥
गन्ता असि सुन्वतः गृहम् ॥६॥

पदार्थः—हे **वायो**[2] वायुवदनन्तबल सर्वशोधक सर्वेषां जीवनाधार प्राणप्रिय परमात्मन्! तदेवा-

१. ऋ० २।४१।२, य० २७।२९।

२. 'अनन्तबलवत्त्वसर्वधातृत्वाभ्यां परमेश्वरो वायुशब्दवाच्यः' इति य० ३२।१ भाष्ये 'वायुरिव सर्वशोधक सर्वत्र गन्तः सर्वप्रियेश्वर' इति च य० २७।२९ भाष्ये—द०।

ग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। य० ३२।१ इति प्रामाण्याद् वायुशब्दः परमेश्वरवाचकः। **नियुत्वान्** नियमन-नियोजन-सामर्थ्यवान् त्वम्। नियुतो नियमनाद् वा नियोजनाद् वेति यास्कः। निरु० ५।२७। **आ गहि** मम नियमनाय सत्कर्मसु नियोजनाय वा आगच्छ। **अयम्** एषः **शुक्रः** पवित्रः प्रदीप्तश्च ज्ञान-कर्म-भक्ति-रसः। शुचिर् पूतीभावे, शुच दीप्तौ। **ते** तुभ्यम् **अयामि** मया अर्पितोऽस्ति। यच्छतेः कर्मणि लुङि रूपम्। अनुपसृष्टोऽप्ययं क्वचिद् दानार्थे दृश्यते। त्वम् **सुन्वतः** ज्ञान-कर्म-भक्तिमयं यज्ञं कुर्वतो यजमानस्य **गृहम्** हृदयसदनम् **गन्ता**[1] गमनकर्ता **असि** भवसि ॥६॥[2]

भावार्थः—ज्ञानयज्ञः कर्मयज्ञो भक्तियज्ञश्च संमिलिता एव परमात्मनः कृपां लम्भयन्ते ॥६॥

अगले मन्त्र का वायुदेवता है। वायु नाम से परमात्मा का आह्वान किया गया है।

पदार्थ—हे **वायो** वायु के सदृश अनन्त बल वाले, सबको शुद्ध करने वाले, सबके जीवनाधार, प्राणप्रिय परमात्मन्! **नियुत्वान्** नियन्त्रण और नियोजन के सामर्थ्य वाले आप **आ गहि** मुझे नियन्त्रण में रखने तथा सत्कर्मों में नियुक्त करने के लिए आइए। **अयम्** यह **शुक्रः** पवित्र तथा प्रदीप्त ज्ञान, कर्म और भक्ति का सोमरस **ते** आपके लिए **अयामि** मेरे द्वारा अर्पित है। आप **सुन्वतः** ज्ञान, कर्म और भक्ति का यज्ञ करने वाले यजमान के **गृहम्** हृदय-रूप गृह में **गन्ता** पहुँचने वाले **असि** हो ॥६॥

भावार्थ—ज्ञानयज्ञ, कर्मयज्ञ और भक्तियज्ञ सम्मिलित होकर ही परमात्मा की कृपा प्राप्त कराते हैं ॥६॥

अथेन्द्रो देवता। इन्द्रः परमात्मैव द्यावापृथिव्यौ प्रथितवानित्याह।

६०१. यज्जायथा अपूर्व्य मघवन् वृत्रहत्याय।
तत् पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उतो दिवम् ॥७॥[3]
यत् जायथाः अपूर्व्य अ पूर्व्य। मघवन् वृत्रहत्याय वृत्र हत्याय॥
तत् पृथिवीम् अप्रथयः। तत् अस्तभ्नाः उत उ दिवम् ॥७॥

पदार्थः—हे **अपूर्व्य** अपूर्व। नास्ति पूर्वं यस्मात् सोऽपूर्वः। अपूर्व एव अपूर्व्यः। 'पादार्घाभ्यां च' अ० ५।४।२५ इति तादर्थ्ये यत्। **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन् परमात्मन्! **यत्** यदा त्वम् **वृत्रहत्याय** सृष्टयुत्पत्तिकाले वृत्राणां द्यावापृथिवीप्रथनोत्तम्भनविघ्नभूतानां मेघानां हननाय। वृत्रोपपदाद् हन्तेः 'हनस्त च' अ० ३।१।१०८' इति क्यप् तकारान्तादेशश्च। **जायथाः** उद्युक्तोऽभवः। अडभावश्छान्दसः। **तत्** तदैव त्वम् **पृथिवीम्** भुवम् **अप्रथयः** विस्तारितवान्, **उत उ** अपि च **तत्** तदैव **दिवम्** सूर्यम् **उत् अस्तभ्नाः** उपरि धारितवान् ॥७॥

भावार्थः—अस्माकं सौरमण्डलस्य जन्मनः पूर्वं गगने ज्वलद्वायुसंघातरूपा प्रकाशपुञ्जमयी काचिन्नीहारिकाऽविद्यत। अस्माकं भूमिरन्ये च ग्रहाःस्तत एव प्रविभक्ताः। नीहारिकाया अवशिष्टोंऽशः सूर्यो जातः। नीहारिकायाः प्रविभक्ताऽस्माकं भूरपि प्रथमं ज्वलद्वायुपिण्डरूपैवासीत्, शनैः शनैः शैत्यमापद्यमाना सा द्रवरूपतां प्रपेदे। ततो भूयान् जलराशिः सूर्यस्य तीव्रतापाद् वाष्पीभवन् मेघत्वं प्राप्य

१. गन्ता गमनशीलः। तृन्नन्तोऽयं गन्ता, उदात्तः। तद्धर्मा वा तत्साधुकारी वा एते हि तृनोऽर्थाः इति य० २७।२६ भाष्ये उवटः। महीधरोऽपि 'तृन्नन्त आद्युदात्तत्वात्' इत्याह।

२. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्वेदे विद्वत्पक्षे यजुर्वेदे च परमेश्वरपक्षे व्याख्यातः।

३. ऋ० ८।८६।५ 'उतो दिवम्' इत्यत्र 'उत द्याम्' इति पाठः। साम० १४२६।

सूर्यपृथिव्योरन्तराले स्थितः । ततो मेघकृताऽन्धतमसवशात् पृथिव्यां सर्वत्र चिरस्थायिनी रात्रिर्व्याप्ता । सूर्यतापस्पर्शाभावाच्च द्रवरूपा पृथिवी शैत्यं प्राप्य स्थलरूपतां गतवती । तत ईश्वरीयनियमैः स विकरालो मेघराशिर्वृष्ट्या पुनरपि भूमिमेव प्राप्य समुद्राकारेण स्थितः । मेघरूपवृत्रहननानन्तरं च स्थलरूपा पृथिवी ग्रीष्मवर्षादिविविधऋतूनां प्रादुर्भावेण सरित्पर्वतवृक्षवनस्पत्यादियुता सुविस्तीर्णा सञ्जाता । सूर्यश्चापि स्वाकर्षणबलेन तां स्वं परितः परिभ्रामयन्नूर्ध्वमाकाशे परमेश्वरमहिम्ना निरालम्बं स्थितः । स एवार्थो मन्त्रगिरा समासेनोक्तः ॥७॥

अत्रेन्द्रपवमानधातृसवितृविष्णुवायुनाम्ना परमेश्वरस्य स्मरणादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्तीति वेद्यम् ॥

इति षष्ठे प्रपाठके तृतीयार्धे द्वितीया दशतिः ।
इति षष्ठेऽध्याये द्वितीयः खण्डः ॥

अगले मन्त्र का देवता इन्द्र है । इसमें यह वर्णन है कि इन्द्र परमात्मा ने ही भूमि और सूर्य को विस्तीर्ण किया है ।

पदार्थ—हे **अपूर्व्य** अद्वितीय **मघवन्** ऐश्वर्यशाली परमात्मन् ! **यत्** जब, आप **वृत्रहत्याय** सृष्टि के उत्पत्तिकाल में द्यावापृथिवी को फैलाने तथा आकाश में टिकाने में विघ्नभूत मेघों के वध के लिए **जायथाः** तत्पर हुए **तत्** तभी, आपने **पृथिवीम्** भूमि को **अप्रथयः** विस्तीर्ण किया, **उत उ** और **तत्** तभी **दिवम्** सूर्य को **उत् अस्तभ्नाः** आकाश में धारण किया ॥७॥

भावार्थ—हमारे सौरमण्डल के जन्म से पूर्व आकाश में जलती हुई गैसों का समूह रूप प्रकाश-पुंजमयी एक नीहारिका थी । हमारी भूमि और अन्य ग्रह उसी से अलग हुए । नीहारिका का बचा हुआ अंश सूर्य कहलाया । नीहारिका से अलग हुई हमारी भूमि भी पहले जलती हुई गैसों का पिण्ड ही थी । शनैः-शनैः ठण्डी होती हुई वह द्रव रूप को प्राप्त हुई । तब बहुत-सी जलराशि सूर्य के तीव्र ताप से भाप बनकर बादल का रूप धारण कर सूर्य और भूमि के बीच में स्थित हो गयी । तब बादल से किये हुए गाढ़ अन्धकार के कारण भूमि पर सर्वत्र चिरस्थायिनी रात्रि व्याप गयी । सूर्य के ताप का स्पर्श न होने से द्रवरूप भूमि ठण्ड पाकर स्थल रूप को प्राप्त हो गयी । तब ईश्वरीय नियमों से वह विकराल मेघ-राशि बरसकर फिर भूमि पर ही आकर समुद्ररूप में स्थित हो गयी । मेघरूप वृत्र के संहार के पश्चात् स्थलरूप पृथिवी ग्रीष्म, वर्षा आदि विविध ऋतुओं के प्रादुर्भाव से नदी, पर्वत, वनस्पति आदि से युक्त होकर बहुत विस्तीर्ण हो गयी । सूर्य भी अपने आकर्षण के बल से उसे अपने चारों ओर घुमाता हुआ ऊपर आकाश में परमेश्वर को महिमा से बिना ही आधार से स्थित रहा । यही बात इस मन्त्र के शब्दों द्वारा संक्षेप में कही गयी है ।

इस दशति में इन्द्र, पवमान, धाता, सविता, विष्णु, वायु नामों से परमेश्वर का स्मरण होने से इसके विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ।

षष्ठ प्रपाठक में तृतीय अर्ध की द्वितीय दशति समाप्त ।
षष्ठ अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ॥

॥३॥ अथ 'मयि वर्चो' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१, ५, ७, १० वामदेवः; २, ३ गौतम; ४ मधुच्छन्दाः; ६ गृत्समदः; ८, ९ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः; ११ हिरण्यस्तूपः; १२, १३ विश्वामित्रः ॥ देवता—१ प्रजापतिः; २, ३ पवमानः सोमः; ४-६, १३ अग्निः। ७ रात्रिः; ८ वैश्वानरः; ९ विश्वेदेवाः; १० लिङ्गोक्ताः; ११ इन्द्रः; १२ आत्मा ॥ छन्दः—१, ७ अनुष्टुप्; २, ३, ५, ६, ९, ११-१३ त्रिष्टुप्; ४ गायत्री; ८ जगती; १० महापङ्क्तिः ॥ स्वरः— १, ७ गान्धारः; २, ३, ५, ६, ९, ११-१३ धैवतः; ४ षड्जः; ८ निषादः; १० पञ्चमः ॥

अथ प्रथमायाः प्रजापतिर्देवता। तं प्रजापतिं परमात्मानं जीवात्मानं राजानं वा प्रार्थयते।

६०२. मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः।
परमेष्ठी प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥१॥[1]

मयि वर्चः अथ उ यशः। अथ उ यज्ञस्य यत् पयः॥ परमेष्ठी
परमे स्थौ प्रजापतिः प्रजा पतिः। दिवि द्याम् इव दृंहतु ॥१॥

पदार्थः—**परमेष्ठी** सर्वोच्चपदप्रतिष्ठितः। परमे स्थाने सर्वोच्चे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी। परमोपपदात् स्था धातोः 'परमे कित्' उ० ४।१० इति इनिः प्रत्ययः, किद्वच्च, कित्त्वाद्धातोराकारलोपः, सप्तम्या अलुक्। **प्रजापतिः** ब्रह्माण्डस्थानां सकलानां प्रजानाम् अधिपतिः परमेश्वरः, शरीरस्थानां मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियादीनां प्रजानां पतिः जीवात्मा, राष्ट्रस्थानां प्रजानां पतिः राजा च **मयि** प्रार्थयितरि **वर्चः** ब्रह्मवर्चसम्, **अथ उ** अपि च **यशः** कीर्तिम्, **अथ उ** अन्यच्च **यज्ञस्य** उपासनायज्ञस्य, राष्ट्रयज्ञस्य वा **यत् पयः** यत् आनन्दरूपं समृद्धिरूपं वा फलं भवति तत् **दृंहतु** स्थिरयतु, **द्याम् इव** यथा प्रजापतिः परमेश्वरः आकाशे सूर्यं, प्रजापतिः आत्मा मस्तिष्के दीप्तं विज्ञानम्, प्रजापतिः राजा च राष्ट्रे विद्याप्रकाशं द्रढयति तद्वत् ॥१॥

अत्र श्लेषोपमालङ्कारौ ॥१॥

भावार्थः—परमात्मकृपया, आत्मनः पुरुषार्थेन, राज्ञश्च राजधर्मपालनेन मनुष्यैर्ब्रह्मवर्चसं यशो यज्ञानुष्ठानफलं च सद्य एव प्राप्तुं शक्यते ॥१॥

प्रथम मन्त्र का प्रजापति देवता है। प्रजापति परमात्मा, जीवात्मा वा राजा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—**परमेष्ठी** सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित **प्रजापतिः** ब्रह्माण्ड की सब प्रजाओं का अधिपति परमात्मा, शरीर की मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि प्रजाओं का पति जीवात्मा और राष्ट्र की प्रजाओं का पति राजा **मयि** मुझ प्रार्थी में **वर्चः** ब्रह्मवर्चस, **अथ उ** और **यशः** कीर्ति, **अथ उ** और **यज्ञस्य** उपासना-यज्ञ का अथवा राष्ट्र-यज्ञ का **यत् पयः** आनन्दरूप वा समृद्धिरूप जो फल है, उसे **दृंहतु** वैसे ही स्थिर करे, **इव** जिस प्रकार **दिवि द्याम्** प्रजापति परमेश्वर आकाश में सूर्य को, प्रजापति जीवात्मा मस्तिष्क में उज्ज्वल विज्ञान को और प्रजापति राजा राष्ट्र में विद्याप्रकाश को स्थिर करता है ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेष और उपमा अलंकार हैं ॥१॥

---

१. अथ० ६।६९।३, ऋषिः अथर्वा। देवता बृहस्पतिः। 'परमेष्ठी प्रजापतिः' इत्यत्र 'तन्मयि प्रजापतिः' इति पाठः।

भावार्थ—परमात्मा की कृपा से, आत्मा के पुरुषार्थ से और राजा के राजधर्मपालन से मनुष्य ब्रह्मवर्चस, यश और यज्ञानुष्ठान के फल को शीघ्र प्राप्त कर सकते हैं ॥१॥

अथ द्वयोः पवमानः सोमो देवता। परमात्मानं प्रार्थयते।

६०३. सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः।
आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व ॥२॥[1]

सम् ते पयाꣳसि सम् उ यन्तु वाजाः। सम् वृष्ण्यानि अभिमातिषाहः
अभिमाति साहः ॥ आप्यायमानः आ प्यायमानः अमृताय अ मृताय
सोम। दिवि श्रवाꣳसि उत्तमानि धिष्व ॥२॥

पदार्थः—हे **सोम** पवित्रतासंपादक करुणारसागार परमात्मन्! **अभिमातिषाहः** कामादिशत्रु-पराजयकारिणः **ते** तव **पयांसि** प्रेमरसाः आनन्दरसाश्च **सं यन्तु** अस्मान् प्राप्नुवन्तु, **उ** अपि च **वाजाः** बलानि **सम्** अस्मान् प्राप्नुवन्तु। **वृष्ण्यानि** पुरुषार्थयुक्तकर्माणि **सम्** अस्मान् प्राप्नुवन्तु। **आप्यायमानः** हृदि वर्द्धमानः त्वम्। ओप्यायी वृद्धौ। **अमृताय** अमरत्वप्रदानाय **दिवि** अस्माकम् आत्मनि **उत्तमानि** उत्कृष्टतमानि **श्रवांसि** यशांसि **धिष्व** निधेहि। अत्र 'सुधितवसुधितनेमधितधिष्वधिषीय च। अ० ७।४।४५' इति लोण्मध्यमैकवचने दधातेरित्वमिडागमो वा प्रत्ययस्य द्विर्वचनाभावश्च निपात्यते ॥२॥[2]

अत्र यथा सोमश्चन्द्रो वर्धमानः सन् गगने उत्तमां चन्द्रिकां प्रसारयतीति ध्वन्यते। तेन परमात्मा चन्द्र इवेत्युपमाध्वनिः ॥२॥

भावार्थः—यथा यथा परमात्मध्यानमस्माकं वर्द्धते तथा तथास्मदन्तःकरणे परमात्मा वर्धमान इवास्मभ्यमानन्दमात्मबलं कर्मनिष्ठत्वमुत्तमानि यशांसि च प्रयच्छति ॥२॥

अगले दो मन्त्रों का पवमान सोम देवता है। इस मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **सोम** पवित्रतादायक, करुणारसागार परमात्मन्! **अभिमातिषाहः** कामादि शत्रुओं का पराजय करने वाले **ते** आपके **पयांसि** प्रेमरस और आनन्दरस **संयन्तु** हमें प्राप्त हों, **उ** और **वाजाः** बल **सम्** हमें प्राप्त हों, **वृष्ण्यानि** पुरुषार्थयुक्त कर्म **सम्** हमें प्राप्त हों। **आप्यायमानः** हृदय में बढ़ते हुए आप **अमृताय** अमरत्व-प्रदान के लिए **दिवि** हमारे आत्मा में **उत्तमानि** उत्कृष्टतम **श्रवांसि** यशों को **धिष्व** निहित कीजिए ॥२॥

यहाँ बढ़ते हुए चन्द्रमा का आकाश में उत्तम चाँदनी को फैलाने का अर्थ ध्वनित हो रहा है। उससे परमात्मा चन्द्रमा के समान है, यह उपमाध्वनि निकलती है ॥२॥

भावार्थ—जैसे-जैसे परमात्मा में हमारा ध्यान बढ़ता है, वैसे-वैसे हमारे अन्तःकरण में परमात्मा मानो बढ़ता हुआ हमें आत्मबल, कर्मनिष्ठता और उत्तम यश प्रदान करता है ॥२॥

अथ सोमाख्यस्य परमेश्वरस्य महिमानमाह।

६०४. त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।
त्वमातनोरुर्वा३न्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥३॥[3]

---

१. ऋ० १।९१।१८, य० १२।११३।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये श्लेषालङ्कारेण विद्वत्पक्षे सोमौषधिपक्षे च, यजुर्भाष्ये च मनुष्यपक्षे व्याख्यातवान्।

३. ऋ० १।९१।२२, य० ३४।२२ 'त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं' इति पाठः।

त्वम् इमाः ओषधीः ओष धीः सोम विश्वाः । त्वम् अपः अजनयः त्वम् गाः ॥
त्वम् आ अतनोः उरु अन्तरिक्षम् । त्वम् ज्योतिषा वि तमः ववर्थ ॥३॥

पदार्थः—हे **सोम** सर्वोत्पादक परमात्मन् ! यः सवति चराचरं जगत् स सोमः । षु प्रसवैश्वर्ययोः । 'अर्तिस्तुसु०' उ० १।१४ इति मन् । **त्वम्** सर्वशक्तिमान् **इमाः** एताः दृश्यमानाः **विश्वाः** समस्ताः **ओषधीः** रोगनिवारिकाः सोमलताद्याः, **त्वम्** सर्वोपकारी **अपः** जलानि, **त्वम्** सर्वप्राणिपालकः **गाः** धेनूः **अजनयः** उत्पादितवानसि । **त्वम्** सर्वविस्तारकः **उरु** विशालम् **अन्तरिक्षम्** मध्यलोकम् **आ अतनोः** विस्तारितवानसि । **त्वम्** सर्वप्रकाशकः **ज्योतिषा** सूर्यप्रकाशेन **तमः** रात्र्याः अन्धकारम् **वि ववर्थ** निवारयसि । वृञ् वरणे धातोः सामान्यार्थे लिटि 'बभूथाततन्थजगृम्भववर्थेति निगमे' अ० ७।२।६४ इति निपातनाद् इट्-प्रतिषेधे रूपम् । "ववरिथेति भाषायाम् । क्रादिसूत्रादेवास्य प्रतिषेधे सिद्धे नियमार्थं वचनम् । निगम एव, न भाषाया" मिति काशिकावृत्तिः ॥३॥[1]

भावार्थः—परमात्मनैवेदं चराचररूपं सर्वं जगदुत्पादितं पालितं पोषितं व्यवस्थापितं च सर्वान् सुखयति ॥३॥

अगले मन्त्र में सोम परमेश्वर की महिमा वर्णित की गयी है ।

पदार्थ—हे **सोम** सर्वोत्पादक परमात्मन् ! **त्वम्** सर्वशक्तिमान् आपने **इमाः** इन दृश्यमान **विश्वाः** सब **ओषधीः** रोगनिवारक सोमलता आदि ओषधियों को, **त्वम्** सर्वोपकारी आपने **अपः** जलों को, **त्वम्** सब प्राणियों के पालनकर्ता आपने **गाः** गौओं को **अजनयः** उत्पन्न किया है । **त्वम्** सबके विस्तारक आपने **उरु** विशाल **अन्तरिक्षम्** अन्तरिक्ष को **आतनोः** विस्तीर्ण किया है । **त्वम्** सर्वप्रकाशक आप **ज्योतिषा** सूर्य की ज्योति से **तमः** रात्रि के अन्धकार को **वि ववर्थ** निवारण करते हो ॥३॥

भावार्थ—परमात्मा द्वारा ही यह चराचररूप सब जगत् उत्पन्न, पालित, पोषित और व्यवस्थित किया जाकर सबको सुख दे रहा है ॥३॥

अथ तिसृणामग्निर्देवता । परमात्मस्तवनविषयमाह ।

६०५. **अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।**
होतारं रत्नधातमम् ॥४॥[2]
अग्निम् ईडे पुरोहितम् पुरः हितम् । यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम् ॥
होतारम् रत्नधातमम् रत्न धातमम् ॥४॥

पदार्थः—अहम् **पुरोहितम्** ध्यानावस्थायां समक्षं निहितम्, **यज्ञस्य** देवपूजासंगतिकरणदानात्मकस्य यागस्य **देवम्** प्रकाशकम्, **ऋत्विजम्** सर्वान् ऋतून् ग्रीष्मवर्षादीन् यजते संगमयतीति तम्, ऋतौ ऋतौ इज्यते पूज्यते यः तं वा । अत्र ऋतु शब्द उपपदे यजेः 'ऋत्विग्दधृक्०' अ० ३।२।५९ इति क्विन् प्रत्ययो निपात्यते । **होतारम्** दातारम् । जुहोति ददाति सुखादिकं यः स होता तम् । हु दानादनयोः । **रत्नधातमम्** सद्गुणरूपाणां सुवर्णरजतहीरकादिरूपाणां वा रत्नानां दातृतमम् **अग्निम्** अग्निवत् प्रकाश-

---

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये परमेश्वरपक्षे यजुर्भाष्ये च राजपक्षे व्याख्यातवान् ।
२. ऋ० १।१।१ ।

मानं प्रकाशकं मालिन्यदाहकम् अग्रनायकं परमात्मानम् ईडे पूजयामि ॥४॥[1]

यास्काचार्य इमामृचमेवं व्याचष्टे—'अग्निम् ईडे अग्निं याचामि। ईडिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा। पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च। [पुरोहितः पुर एनं दधति। निरु० २।१२। यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः। याच्यो भवतीति वा। यजुरुन्नो भवतीति वा। बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः। यजूंष्येनं नयन्तीति वा। निरु० ३।१९।] देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता। होतारं ह्वातारम्, जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः। रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम्। निरु० ७।१५। ऋत्विक् शब्दं च स एवं निर्वक्ति—"ऋत्विक् कस्मात्? ईरणः, ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः। ऋतुयाजी भवतीति वा। निरु० ३।१९॥

भावार्थः—परमेश्वरपूजनाय न कोऽप्येक एव ऋतुः, प्रत्युत स सदा सर्वत्र सर्वैराराधनीयस्तत्सकाशात् प्रेरणां बलं च प्राप्य यज्ञादिषु प्रवृत्तिर्विधेया ॥४॥

अगले तीन मन्त्रों का अग्नि देवता है। इस मन्त्र में परमात्मा की स्तुति का विषय है।

पदार्थ—मैं **पुरोहितम्** जो ध्यानावस्था में सामने स्थित रहता है ऐसे, **यज्ञस्य** देवपूजा, संगतिकरण और दानरूप यज्ञ के **देवम्** प्रकाशक, **ऋत्विजम्** ग्रीष्म, वर्षा आदि सब ऋतुओं को संगत करने वाले, अथवा प्रत्येक ऋतु में पूजा करने योग्य, **होतारम्** सुख आदि के देने वाले, **रत्नधातमम्** सद्गुणरूप तथा सोना, चाँदी, हीरे आदि रूप रत्नों के अतिशय दानी **अग्निम्** अग्नि के समान प्रकाशमान, प्रकाशक, मलिनता के दाहक, अग्रनायक परमात्मा की **ईडे** पूजा करता हूँ ॥४॥

भावार्थ—परमेश्वर की पूजा के लिए कोई एक ही ऋतु नहीं है, प्रत्युत उसकी सदा सर्वत्र सबको पूजा करनी चाहिए और उससे प्रेरणा तथा बल प्राप्त कर यज्ञ आदि में प्रवृत्त होना चाहिए ॥४॥

अथ वेदवाचः परमात्मन एव यशो गायन्तीत्याह।

१ २ ३ २३ ३ २ ३ २ ३ १ २३१२ २१
६०६. ते मन्वत प्रथमं नाम गोनां त्रिः सप्त परमं नाम जानन्।
१ २ ३२३क२१ ३ २ ३ १२ ३१२ २१ ३ १ २
ता जानतीरभ्यनूषत क्षा आविर्भुवन्नरुणीर्यशसा गावः ॥५॥[2]

ते अमन्वत प्रथमम् नाम गोनाम्। त्रिः सप्त परमम् नाम जानन्॥
ताः जानतीः अभि अनूषत क्षाः। आविः आ विः भुवन् अरुणीः यशसा गावः ॥५॥

पदार्थः—हे अग्रणीः परमात्मन्! **ते**[3] प्रसिद्धा विद्वांसः **नाम** त्वदीयं नामधेयम् **प्रथमम्** श्रेष्ठम् **अमन्वत** मन्यन्ते। **गोनां त्रिःसप्त** वेदवाचाम् एकविंशतिः अपि, सप्त गायत्र्यादीनि, सप्त अतिजगत्यादीनि, सप्त च कृत्यादीनि इति वेदानाम् एकविंशतिः छन्दांसि अपि इत्यर्थः। गवाम् इति प्राप्ते पादान्तत्वाद् 'गोः पादान्ते। अ० ७।१।५७ इति नुडागमः। **नाम** त्वदीयं नामधेयम् **परमम्** श्रेष्ठम् **जानन्** ज्ञापयन्ति। **जानतीः** तव नाम श्रेष्ठं ज्ञापयन्त्यः **ताः** प्रसिद्धाः **क्षाः** अर्थगर्भा वेदवाचः। क्षा क्षियतेर्निवासकर्मणः। निरु० २।६। क्षाययन्ति निवासयन्ति गूढमर्थं स्वात्मनि यास्ताः क्षाः। क्षि निवासगत्योः। **अभ्यनूषत** त्वां स्तुवन्ति। अत एव **गावः** ताः वेदवाचः **यशसा** त्वन्महिमगानजनितया कीर्त्या **अरुणीः** अरुण्यः आरोचमानाः

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं परमेश्वरपक्षे शिल्पाग्निपक्षे च व्याख्यातवान्।

२. ऋ० ४।१।१६, 'ते मन्वत प्रथमं नाम धेनोस्त्रिःसप्त मातुः परमाणि विन्दन्। तज्जानतीरभ्यनूषत व्रा आविर्भुवदरुणीर्यशसा गोः'॥ इति पाठः।

३. 'ते' इति पदं प्रसिद्धपरामर्शकम्। न च युष्मदादेशोऽयमिति मन्तव्यं पादादौ तस्याप्राप्तेः स्वरविरोधाच्च।

सत्यः **आविर्भुवन्** अध्येतृणां हृदि स्वार्थसमुद्घाटनेन प्रकटिता जायन्ते। तथा चोक्तम्—उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं१ विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ऋ० १०।७१।४ इति ॥५॥

अत्र 'जानन्, जानतीः' इत्युभयत्र ण्यर्थगर्भो ज्ञाधातुर्विज्ञेयः, वेदवाचामचेतनत्वेन ज्ञानासंभवात् ॥५॥

भावार्थः—वेदवाचः संभूय यस्य परब्रह्मणो महिमानं गायं गायं न श्राम्यन्ति, यस्य च यशोमयस्य माहात्म्यकीर्तनेन ताः स्वयमपि यशोमय्यः सञ्जाताः, तन्महिमाऽस्माभिरपि कुतो न गेयः ॥५॥

वेदवाणियाँ परमात्मा का ही यश गाती हैं, यह कहते हैं।

पदार्थ—हे अग्रनायक परमात्मन्! **ते** प्रसिद्ध विद्वान् जन **नाम** आपके नाम को **प्रथमम्** श्रेष्ठ **अमन्वत** मानते हैं। **गोनां त्रिःसप्त** इक्कीस वेदवाणियाँ, अर्थात् गायत्री आदि इक्कीस छन्दों वाली ऋचाएँ भी **नाम** आपके नाम को **परमम्** श्रेष्ठ **जानन्** जनाती हैं। **जानतीः** आपके नाम को सर्वश्रेष्ठ जनाती हुई **ताः** वे अर्थगर्भित वेदवाणियाँ **यशसा** आपके महिमागान-जनित यश से **अरुणीः** आरोचमान होती हुई **आविर्भुवन्** अध्येताओं के हृदय में प्रकट हो जाती हैं, अपने रहस्यार्थ को खोल देती हैं ॥५॥

भावार्थ—वेदवाणियाँ मिलकर जिस परब्रह्म की महिमा को गाते-गाते नहीं थकतीं और जिस यशस्वी परब्रह्म के माहात्म्य-कीर्तन से वे स्वयं भी यशोमयी हो गयी हैं, उसकी महिमा को हम भी क्यों न गायें ? ॥५॥

अथ नदीदृष्टान्तेन परमात्मनो महिमानमाह।

२ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ २ ३ ३ ३क २१
६०७. **समन्या यन्त्युपयन्त्यन्याः समानमूर्वं नद्यस्पृणन्ति।**
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २
तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसमपान्नपातमुप यन्त्यापः ॥६॥[1]
२ ३ २ ३ २ १ २१ १ २१ ३ २ ३ २ ३ २ ३
सम् अन्याः अन् याः यन्ति उप यन्ति अन्याः अन् याः। समानम् सम्
२ ३ २ ३क २ ३ २ ३ १ २१ १ २१ ३ १ २
आनम् ऊर्वम् नद्यः पृणन्ति॥ तम् उ शुचिम् शुचयः दीदिवाꣳसम्।
३ २ १ २१ १ २१ ३ १ २१
अपाम् नपातम् उप यन्ति आपः ॥६॥

पदार्थः—**अन्याः** काश्चन नद्यः **सं यन्ति** परस्परं संसृज्य समुद्रं गच्छन्ति, **अन्याः** इतराश्च **उप यन्ति** स्वतन्त्रतया पृथक् पृथक् समुद्रम् उपगच्छन्ति, **नद्यः** ताः सर्वा अपि सरितः **समानम्** एकमेव **ऊर्वम्** समुद्राग्निम् **पृणन्ति** प्रीणयन्ति। पृण प्रीणने, तुदादिः। तथैव **तम् उ** तमेव **शुचिम्** पवित्रम्, **दीदिवांसम्** देदीप्यमानम्। दिवुः दीप्त्यर्थ, लिटः क्वसुः। **अपाम्** आप्तानां प्रजानाम्[2] **नपातम्** न पातयितारम् अग्निं परमात्मानम् **आपः** आप्ताः प्रजाः **उप यन्ति** उपगच्छन्ति ॥६॥

अत्र व्यङ्ग्यसाम्ययोर्द्वयोर्वाक्ययोरेकोऽपि सामान्यो धर्मः 'पृणन्ति, उपयन्ति' इति पृथक्शब्दाभ्यां निर्दिष्ट इति प्रतिवस्तूपमालङ्कारः[3]। 'सम, समा', 'न्या, न्या', 'यन्त्यु, यन्त्य', 'शुचि, शुच', 'पयन्त्य, पयन्त्या' इति च सर्वत्र छेकानुप्रासः ॥६॥

---

१. ऋ० २।३५।३, 'नद्यः पृणन्ति', 'परितस्थुरापः' इति पाठः।

२. '(आपः) आप्ताः प्रजाः' इति य० ६।२७ भाष्ये द०।

३. प्रतिवस्तूपमा सा स्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः। एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पथक् ॥ सा० द० १०।४९-५० इति तल्लक्षणात्।

भावार्थः—यथा व्याप्ता नद्य एकमेव समुद्राग्नि प्रीणयन्ति तथैवाप्ताः प्रजा एकमेव परमात्माग्नि प्राप्नुवन्ति ॥६॥

अगले मन्त्र में नदियों के दृष्टान्त से परमात्मा की महिमा वर्णित है।

पदार्थ—**अन्याः** कुछ नदियाँ **सं यन्ति** एक-दूसरी से मिलकर समुद्र को प्राप्त होती हैं, **अन्याः** और दूसरी कुछ नदियाँ **उपयन्ति** स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् समुद्र में पहुँचती हैं। **नद्यः** वे सभी नदियाँ **समानम्** एक ही **ऊर्वम्** समुद्र की अग्नि को **पृणन्ति** तृप्त करती हैं। इसी प्रकार **तम् उ** उसी **शुचिम्** पवित्र **दीदिवांसम्** देदीप्यमान, **अपाम्** आप्त प्रजाओं को **नपातम्** पतित न करने वाले, प्रत्युत उन्नत करने वाले परमात्मारूप अग्नि को **आपः** आप्त प्रजाएँ **उपयन्ति** प्राप्त होती हैं ॥६॥

इस मन्त्र में व्यङ्ग्य-साम्य वाले दो वाक्यों में एक ही सामान्य धर्म 'पृणन्ति' और 'उपयन्ति' इन पृथक्-पृथक् शब्दों से वर्णित होने के कारण प्रतिवस्तूपमा अलंकार है। 'सम, समा', 'न्या, न्या', 'यन्त्यु, यन्त्य', 'पयन्त्य, पयन्त्या' में छेकानुप्रास है ॥६॥

भावार्थ—जैसे व्याप्त नदियाँ एक ही समुद्र को भरती हैं, वैसे ही आप्त प्रजाएँ एक ही परमात्मा को प्राप्त होती हैं ॥६॥

अथ रात्रिर्देवता। रात्रिरूपां युवतिं वर्णयति।

६०८. आ प्रागाद् भद्रा युवतिरह्नः केतून्त्समीर्त्सति।
अभूद् भद्रा निवेशनी विश्वस्य जगतो रात्री ॥७॥
आ प्र आ अगात् भद्रा युवतिः। अह्नः अ ह्नः केतून् सम् ईर्त्सति ॥
अभूत् भद्रा निवेशनी नि वेशनी। विश्वस्य जगतः रात्री ॥७॥

पदार्थः—**प्रथमः** रात्रिपक्षे। **भद्रा** सुखकरी **युवतिः** रात्रिरूपा युवतिः **आ प्रागात्** प्रकृष्टतया आगतास्ति, **अह्नः** दिवसस्य **केतून्** किरणान् **समीर्त्सति** संवेष्टयति। ऋधु वृद्धौ, संपूर्वोऽत्र वेष्टनार्थः। स्वार्थे सनि 'आप्ज्ञप्यृधामीत्। अ० ७।४।५५ इति धातोरच ईकारादेशः। एषा **रात्री** रात्रि-युवतिः। रात्रेश्चाजसौ। अ० ४।१।३१ इति रात्रिशब्दात् ङीपि दीर्घान्तं रूपम्। **विश्वस्य** सम्पूर्णस्य **जगतः** संसारस्य **निवेशनी** विश्रामदायिनी **भद्रा** कल्याणकरी च **अभूत्** जाताऽस्ति।

अथ **द्वितीयः** योगनिद्रापक्षे। **भद्रा** सुखकरी **युवतिः** योगनिद्रारूपा युवतिः **आ प्रागात्** सद्य एव योगमार्गे प्राप्ताऽस्ति। **अह्नः** दिवसोपलक्षितस्य सांसारिकविषयभोगस्य **केतून्** प्रभावान् **समीर्त्सति** संकोचयति। एषा **रात्री** समाधिदशारूपा योगनिद्रा **विश्वस्य** सम्पूर्णस्य **जगतः** क्रियामयस्य मनोव्यापारस्य **निवेशनी** प्रस्वापयित्री, अत एव **भद्रा** आनन्दजनिका **अभूत्** सम्पन्नाऽस्ति ॥७॥

अत्र रात्रौ युवतित्वारूपाद् रूपकालङ्कारः। यथा काचिद् युवतिरितस्ततो गृहे विकीर्णं वस्तुजातं सञ्चिनोति, पत्ये च सुखकरी विश्रामदायिनी च भवति, तथैवेयं रात्रिर्दिवसे विकीर्णान् किरणान् संकोचयति सर्वेभ्यो विश्रामदायिनी च जायते इति तात्पर्यम् ॥७॥

भावार्थः—रात्रिरिव योगसमाधिनिद्रा योगिभ्यो भद्राऽऽह्लादकरी विश्रामदायिनी च भवति ॥७॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरस्य मन्त्रस्य भावार्थमेवमाह—'यथा नद्यः स्वयं समुद्रं प्राप्य स्थिरोदका जायन्ते, यथा आपो मेघमण्डलं प्राप्य दिव्या भवन्ति, तथा स्त्री अभीष्टं पतिं पतिरभीष्टां स्त्रियं च प्राप्य स्थिरमनस्कौ शुद्धभावौ भवतः' इति।

अगले मन्त्र का रात्रि देवता है। रात्रिरूप युवति का वर्णन है।

पदार्थ—**प्रथम** रात्रि के पक्ष में। **भद्रा** सुखदायिनी **युवतिः** रात्रिरूप युवति **आ प्रागात्** भले प्रकार आयी है, **अह्नः** दिन की **केतून्** किरणों को **समीर्त्सति** समेट रही है। यह **रात्री** रात्रिरूप युवति **विश्वस्य** सम्पूर्ण **जगतः** संसार की **निवेशनी** विश्रामदायिनी और **भद्रा** कल्याणकारिणी **अभूत्** हुई है।

द्वितीय योगनिद्रा के पक्ष में। **भद्रा** सुखदायिनी **युवतिः** योगनिद्रारूप युवति **आ प्रागात्** शीघ्र ही योगमार्ग में आयी है, **अह्नः** सांसारिक विषयभोग रूप दिन के **केतून्** प्रभावों को **समीर्त्सति** संकुचित कर रही है। यह **रात्री** समाधिदशा रूप योगनिद्रा **विश्वस्य** सम्पूर्ण **जगतः** क्रियामय मनोव्यापार को **निवेशनी** सुलाने वाली और इसीलिए **भद्रा** आनन्दजनक **अभूत्** हुई है ॥७॥

इस मन्त्र में रात्रि में युवतित्व के आरोप के कारण रूपकालंकार है। तात्पर्य यह है कि जैसे कोई युवति घर में इधर-उधर बिखरी हुई वस्तुओं को समेटती है और पति के लिए सुखदायिनी और विश्रामदायिनी होती है, वैसे ही यह रात्रि दिन में बिखरी किरणों को समेटती है और सबके लिए विश्रामदायिनी होती है ॥७॥

भावार्थ—रात्रि के समान योगसमाधिरूप निद्रा योगियों के लिए भद्र, आह्लाददायक और विश्रामदायिनी होती है ॥७॥

अथ वैश्वानरोऽग्निर्देवता। परमेश्वरं प्रति स्तुतिवचांसि गच्छन्तीत्याह।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
६०९. प्रक्षस्य वृष्णो अरुषस्य नू महः प्र नो वचो विदथा जातवेदसे।
३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वैश्वानराय मतिर्नव्यसे शुचिः सोम इव पवते चारुरग्नये ॥८॥[1]

३ १ २ ३ १ २ १ १ २ १ ३ १ २ १ ३ १ २ १ ३ १ २
प्रक्षस्य प्र क्षस्य वृष्णः अरुषस्य नु महः। प्र नः वचः विदथा जातवेदसे
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ १ १ २
जात वेदसे॥ वैश्वानराय वैश्व नराय मतिः नव्यसे शुचिः।
१ २ १ ३ १ २ १ ३ १ २
सोमः इव पवते चारुः अग्नये ॥८॥

पदार्थः—**प्रक्षस्य** सर्वैः पदार्थैः संपृक्तस्य, सर्वव्यापकस्य। पृची सम्पर्के, बाहुलकाद् औणादिकः सः प्रत्ययः। **वृष्णः** सुखादिवर्षकस्य, **अरुषस्य** आरोचमानस्य वैश्वानरस्य परमात्मनः। अरुषीः आरोचनात् इति निरुक्तम्। १२।७। **नु** निश्चयेन **महः** अतीव महत्त्वं पूज्यत्वं वा वर्तते। महि वृद्धौ, मह पूजायाम्। **विदथा** विदथे ज्ञानयज्ञे। अत्र 'सुपां सुलुक्०। अ० ७।१।३९' इति सप्तम्या आकारादेशः। **जातवेदसे** सर्वेषाम् उत्पन्नपदार्थानां ज्ञात्रे तस्मै वैश्वानराय परमात्मने **नः वचः** अस्माकं स्तुतिवचनम् **प्र** प्रपवते प्रकर्षेण गच्छति। किञ्च **नव्यसे** नवीयसे **वैश्वानराय** सर्वजनहितकराय तस्मै **अग्नये** अग्रनायकाय परमात्मने, अस्माकम् **शुचिः** पवित्रा, **चारुः** रम्या **मतिः** बुद्धिः, विचारसरणिः **पवते** प्रवृत्ता भवति। कथमिव ? **इव** यथा **शुचिः** पवित्रः **चारुः** मनोज्ञः **सोमः** सोमौषधिरसः **पवते** द्रोणकलशं गन्तुं प्रवाहितो भवति, यद्वा, यथा **शुचिः** प्रदीप्तः **चारुः** आह्लादकः **सोमः** चन्द्रः **वैश्वानराय** सूर्याय, सूर्यं परितः इत्यर्थः **पवते** अन्तरिक्षे गच्छति ॥८॥[2]

अत्रोपमालङ्कारः ॥८॥

---

१. ऋ० ६।८।१, 'प्रक्षस्य', 'महः प्र नो वचो', 'जातवेदसे', 'नव्यसे' इत्यत्र क्रमेण 'पृक्षस्य', 'सहः प्र नु वोचं', 'जातवेदसः', 'नव्यसी' इति पाठः।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतम् अग्निविद्यापक्षे व्याख्यातवान्।

भावार्थः—सर्वान्तर्यामिणं सुखवर्षकं तेजस्विनं सर्वज्ञं सर्वजनहितकारिणं मार्गदर्शकं परमेश्वरं प्रति सुस्तोत्राणि सर्वैः प्रवर्तनीयानि ॥८॥

देवता वैश्वानर अग्नि है। परमेश्वर के प्रति स्तुतिवचनों को प्रवृत्त करने का वर्णन है।

पदार्थ—**प्रक्षस्य** सब पदार्थों से संपृक्त अर्थात् सर्वव्यापक, **वृष्णः** सुख आदि की वर्षा करने वाले, **अरुषस्य** दीप्तिमान् परमात्मा का **नु** निश्चय ही **महः** अत्यन्त महत्त्व व पूज्यत्व है। **विदथा** ज्ञानयज्ञ में **जातवेदसे** सब उत्पन्न पदार्थों के ज्ञाता वैश्वानर परमात्मा के लिए **नः वचः** हमारा स्तुति-वचन **प्र** भली-भाँति प्रवृत्त होता है। और, **नव्यसे** अतिशय नवीन **वैश्वानराय** सब जनों का हित करने वाले **अग्नये** उस अग्रनायक परमात्मा के लिए, हमारी **शुचिः** पवित्र **चारुः** रमणीय **मतिः** बुद्धि, विचारधारा **पवते** प्रवृत्त हो रही है, **इव** जैसे **शुचिः** पवित्र **चारुः** मनोहर **सोमः** सोम ओषधि का रस **पवते** द्रोणकलश में जाने के लिए प्रवाहित होता है, अथवा जैसे **शुचिः** चमकीला, **चारुः** आह्लादकारी **सोमः** चन्द्रमा **वैश्वानराय** सूर्य की परिक्रमा करने के लिए **पवते** अन्तरिक्ष में गति करता है ॥८॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥८॥

भावार्थ—सर्वान्तर्यामी, सुखवर्षक, तेजस्वी, सर्वज्ञ, सब जनों के हितकर्ता, मार्गदर्शक परमेश्वर के प्रति उत्तम स्तोत्र सबको प्रवृत्त करने चाहिएँ ॥८॥

अथ विश्वेदेवाः देवताः। तान् प्रत्युच्यते।

६१०. विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञमुभे रोदसी अपां नपाच्च मन्म।
मा वो वचांसि परिचक्ष्याणि वोचं सुम्नेष्विद्वो अन्तमा मदेम ॥९॥[1]

विश्वे देवाः मम शृण्वन्तु यज्ञम्। उभेइति रोदसीइति अपाम् नपात् च मन्म॥
मा वः वचाꣳसि परिचक्ष्याणि परि चक्ष्याणि वोचम्।
सुम्नेषु इत् वः अन्तमाः मदेम ॥९॥

पदार्थः—**प्रथमो**ऽध्यात्मविषयकः। **विश्वे देवाः** ज्ञानप्रकाशकाः शरीरस्थाः सर्वे मनोबुद्धिज्ञानेन्द्रिय-रूपाः देवाः, **उभे रोदसी** उभौ प्राणापानौ, **अपां**[2] **नपात् च** प्राणानां न पातयिता जीवात्मा परमेश्वरश्च **मम** मदीयम् **यज्ञम्** विषयेन्द्रियसंसर्गेण प्राप्यम् **मन्म** विज्ञानम् **शृण्वन्तु** पूरयन्तु। श्रवणार्थानां धातूनां पूरणार्थे बहुधा प्रयोगदर्शनात्। हे शरीरस्थाः देवाः! **वः** युष्मदर्थम् अहम् **परिचक्ष्याणि** निन्द्यानि **वचांसि** वचनानि **मा वोचम्** न कथयेयम्—अहो, कुण्ठितं मदीयं मनः, कुण्ठिता बुद्धिः, अशक्तानि इन्द्रियाणि इत्यादिप्रकारेण निराशावचनानि नोच्चारयेयम्, प्रत्युत युष्मच्छक्तेर्गुणगानपूर्वकं युष्मत्सकाशादधिकाधिकं लाभं प्राप्नुयाम्। वयं सर्वेऽपि **वः** युष्माकं, पूर्वोक्तानां मनोबुद्धीन्द्रियप्राणजीवात्मनाम् **अन्तमाः**[3] निकट-तमाः सन्तः **सुम्नेषु** युष्मत्प्रदत्तेषु सुखेषु **मदेम** तृप्येम ॥

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रविषयकः। **विश्वे देवाः** सर्वे विद्वांसः, **उभे रोदसी** उभे राजपरिषदौ—सभा

---

१. ऋ० ६।५२।१४, ऋषिः ऋजिश्वा, 'यज्ञमुभे' इत्यत्र 'यज्ञिया उभे' इति पाठः।

२. (अपाम्) प्राणानाम् (नपात्) अनाशकम् (मन्म) विज्ञानम् इति ऋ० ६।५२।१४ भाष्ये द०।

३. "अन्तः सामीप्यमेषामस्ति ते ऽन्तिकाः, अतिशयेनान्तिका अन्तमाः। अत्रान्तिकशब्दात् तमपि कृते पृषोदरादित्वात् तिकलोपः। अन्तमानाम् इत्यन्तिकनामसु पठितम्। निघ० २।१६" इति ऋ० १।४।३ भाष्ये द०।

समितिश्च । सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने । अथर्व० ७।१२।१ इति मन्त्रोक्ते । **अपां नपात् च** प्रजानां न पातयिता राजा च **मम** मदीयम् **यज्ञम्** राष्ट्रयज्ञविषयकम् **मन्म** विचारम् **शृण्वन्तु** आकर्णयन्तु । हे उक्ताः देवाः ! **वः** युष्मदर्थम्, अहम् **परिचक्ष्याणि** निन्द्यानि **वचांसि** वचनानि **मा वोचम्** न प्रोच्चारयेयम् । वयम् **वः** युष्माकम् **अन्तमाः** अन्तिकतमाः सन्तः **सुम्नेषु** युष्मत्प्रदत्तेषु सुखेषु **मदेम** आनन्देम ॥९॥[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—मनुष्यैः शरीरस्थानां देवानामात्ममनोबुद्धिप्राणेन्द्रियाणां, राष्ट्रस्थानां च देवानां विद्वदमात्यन्यायाधीशनृपत्यादीनां साहाय्येन सर्वविधः समुत्कर्षः साधनीयः ॥९॥

अगले मन्त्र के देवता विश्वेदेवाः हैं । उनके प्रति कहा जा रहा है ।

पदार्थ—**प्रथम** अध्यात्म-पक्ष में । **विश्वे देवाः** ज्ञानप्रकाशक शरीरस्थ सब मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय रूप देव, **उभे रोदसी** प्राण-अपान दोनों, **अपां नपात् च** और प्राणों को पतित न होने देने वाला जीवात्मा तथा परमेश्वर **मम** मेरे **यज्ञम्** विषय और इन्द्रियों के संसर्ग से प्राप्त होने वाले **मन्म** विज्ञान को **शृण्वन्तु** पूर्ण करें । हे शरीरस्थ देवो ! **वः** तुम्हारे लिए, मैं **परिचक्ष्याणि** निन्दनीय **वचांसि** वचनों को **मा वोचम्** न बोलूँ—'अहो, मेरा मन कुण्ठित हो गया है, बुद्धि कुण्ठित हो गयी है, इन्द्रियाँ अशक्त हो गयी हैं' इत्यादि प्रकार से निराशाभरे वचन न कहूँ, प्रत्युत तुम्हारी शक्ति का गुणगान करते हुए तुम्हारे पास से अधिकाधिक लाभ प्राप्त करूँ । हम सभी **वः** तुम्हारे **अन्तमाः** निकटतम होकर **सुम्नेषु** तुम्हारे दिये हुए सुखों में **मदेम** तृप्त होवें ।

द्वितीय राष्ट्र-पक्ष में । **विश्वे देवाः** सब विद्वान् लोग, **उभे रोदसी** दोनों राज-परिषदें अर्थात् सभा और समिति **अपां नपात् च** और प्रजाओं का पतन न होने देने वाला राजा **मम** मेरे **यज्ञम्** राष्ट्रयज्ञ-विषयक **मन्म** विचार को **शृण्वन्तु** सुनें । हे उक्त देवो ! **वः** तुम्हारे लिए, मैं **परिचक्ष्याणि** निन्दायोग्य **वचांसि** वचन **मा वोचम्** न बोलूँ । हम **वः** तुम्हारे **अन्तमाः** निकटतम रहते हुए **सुम्नेषु** तुम्हारे दिये हुए सुखों में **मदेम** आनन्दित रहें ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥९॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि शरीरस्थ देव आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण ब इन्द्रियों की और राष्ट्रस्थ देव विद्वज्जन, राजमन्त्री, न्यायाधीश, राजा आदि की सहायता से सब प्रकार के उत्कर्ष को प्राप्त करें ॥९॥

अथ मन्त्रोक्ता द्यावापृथिव्यादयो देवताः । यशः प्रार्थ्यते ।

६११. यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती ।
यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रति मुच्यताम् ।
यशस्या३स्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम् ॥१०॥[2]

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं विद्वत्परो व्याख्यातः ।

२. 'यशसा३स्याः' इति पाठभेदः ।

यशः मा द्यावा पृथिवीइति । यशः मा इन्द्रबृहस्पती इन्द्र बृहस्पतीइति ॥
यशः भगस्य विन्दतु । यशः मा प्रति मुच्यताम् ॥ यशस्वी अस्याः सꣳसदः
सम् सदः । अहम् प्रवदिता प्र वदिता स्याम् ॥१०॥

पदार्थः—**द्यावापृथिवी** द्यावाभूमी प्राणापानौ मातापितरौ सभासमिती वा **मा** माम् **यशः** कीर्तिं प्रापयताम्, **इन्द्रबृहस्पती** विद्युद्वायू परमात्मजीवात्मानौ क्षत्रियब्राह्मणौ वा **मा** माम् **यशः** कीर्तिं प्रापयताम् । **भगस्य** रजतसुवर्णमणिमुक्तादिरूपस्य सत्याहिंसास्तेयज्ञानवैराग्यादिरूपस्य सुराज्यचक्रवर्तिराज्यादिरूपस्य च धनस्य **यशः** कीर्तिः **विन्दतु** मां प्राप्नोतु । **यशः** सर्वविधा कीर्तिः **मा**[3] माम् **प्रतिमुच्यताम्** धारयतु । मुच्लृ मोचने तुदादौ पठ्यते, वाहुलकादत्र दिवादिः प्रयुक्तः, प्रतिपूर्वश्च धारणार्थेऽपि वर्तते ।[2] **अहम्** प्रार्थी **अस्याः** एतस्याः **संसदः** परिषदः **यशस्वी** कीर्तिशाली **प्रवदिता** वक्ता **स्याम्** भूयासम् ॥१०॥

अत्र 'यशः' इत्यस्य पुनःपुनरावृत्त्या यशसो बहुस्पृहणीयत्वं सूच्यते । 'यशो' इत्यस्य चतुःकृत्वः 'यशो मा' इत्यस्य च द्विरावृत्तौ लाटानुप्रासः ॥१०॥

भावार्थः—ब्रह्माण्डे द्यावापृथिव्यौ, देहे प्राणापानौ, समाजे मातापितरौ, राष्ट्रे सभासमित्यौ स्वस्वयशसा यथा भासेते, यथा च परमात्मजीवात्मनोर्विद्युत्पवनयोर्ब्राह्मणक्षत्रिययोश्च यशः सर्वत्र व्याप्तं, तथैव वयमपि धनधान्यज्ञानस्वास्थ्यदीर्घायुष्यचक्रवर्तिराज्याध्यात्मयोगादिसम्पद्भिः परमकीर्तिशालिनो विविधानां परिषदां यशस्विनो वक्तारश्च भूयास्म ॥१०॥

अगले मन्त्र में मन्त्रोक्त द्यावापृथिवी आदि देवता हैं। इसमें यश की प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—**द्यावापृथिवी** सूर्य-भूमि, प्राण-अपान, पिता-माता, सभा-समिति **मा** मुझे **यशः** कीर्ति प्राप्त करायें । **इन्द्रबृहस्पती** विद्युत्-वायु, परमात्मा-जीवात्मा, क्षत्रिय-ब्राह्मण **मा** मुझे **यशः** कीर्ति प्राप्त करायें । **भगस्य** चाँदी-सोना-मणि-मोती आदि रूप, सत्य-अहिंसा-अस्तेय-ज्ञान-वैराग्य आदि रूप, सुराज्य-चक्रवर्ती-राज्य आदि रूप धन की **यशः** कीर्ति **विन्दतु** मुझे प्राप्त हो । **यशः** सब प्रकार की कीर्ति **मा** मुझे **प्रतिमुच्यताम्** धारण करे । **अहम्** मैं **अस्याः** इस **संसदः** संसत् का **यशस्वी** यशस्वी **प्रवदिता** वक्ता **स्याम्** होऊँ ॥१०॥

इस मन्त्र ने 'यशः' शब्द की पुनः-पुनः आवृत्ति से यश की अत्यन्त स्पृहणीयता सूचित होती है । 'यशो' की चार बार तथा 'यशो मा' की दो बार आवृत्ति में लाटानुप्रास अलंकार है ॥१०॥

भावार्थ—जैसे ब्रह्माण्ड में सूर्य-भूमि, शरीर में प्राण-अपान, समाज में माता-पिता और राष्ट्र में सभा-समिति अपने-अपने यश से भासित हैं और जैसे परमात्मा-जीवात्मा, बिजली-वायु और ब्राह्मण-क्षत्रिय का यश सर्वत्र फैला हुआ है, वैसे ही हम भी धन, धान्य, ज्ञान, स्वास्थ्य, दीर्घायु, चक्रवर्ती राज्य, अध्यात्म-योग आदि की सम्पदाओं से परम कीर्तिमान् और विविध सभाओं के यशस्वी वक्ता होवें ॥१०॥

अथेन्द्रो देवता । इन्द्रनाम्ना परमात्मनृपत्यादेर्वीर्याणि वर्ण्यन्ते ।

६१२. इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥११॥[3]

---

१. कैश्चित्तु 'यशो मा प्रतिमुच्यताम्' यशो न मत्सकाशान्मुक्तं भवतु इत्यर्थं मनसि निधाय 'मा' इति प्रतिषेधार्थो गृहीतः, तच्चिन्त्यं स्वरविरोधात् ।

२. यथा यज्ञोपवीतधारणमन्त्रे 'आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः' (पार० गृह्य० २।२।११) इति ।

३. ऋ० १।३२।१, अथ० २।५।५ ऋषिः भृगुराथर्वणः ।

१२१ ३क२ २ ३ १२१ ३१२३ १ २ ३२
इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम् । यानि चकार प्रथमानि वज्री ॥
१२१ १२१ १२१३२ ३ २ ३१२ ३ १२१
अहन् अहिम् अनु अपः ततर्द । प्र वक्षणाः अभिनत् पर्वतानाम् ॥११॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मसूर्यविद्युत्परः । अहम् **इन्द्रस्य** वीरस्य परमात्मनः, पदार्थविच्छेदकस्य सूर्यस्य, परमैश्वर्यसाधनभूतायाः विद्युतो वा **नु** शीघ्रम् **वीर्याणि** सृष्टयुत्पत्तिस्थितिसंहारादिरूपाणि, आकर्षणप्रकाशनादिरूपाणि, भूजलान्तरिक्षयानयन्त्रसञ्चालनरूपाणि वा वीरकर्माणि **प्रवोचम्** वर्णयामि, **यानि प्रथमानि** यानि उत्कृष्टानि कर्माणि सः **वज्री** शक्तिधरः **चकार**[1] करोति । तेषामेव वीरकर्मणामन्यतमम् आह—स परमात्मा, स सूर्यः, सा विद्युद् वा **अहिम्** अन्तरिक्षस्थं मेघम् । अहिरिति मेघनाम । निघं० १।१० । **अहन्** हन्ति, **अपः** मेघस्थानि उदकानि **अनु ततर्द** तर्दनेन अधः पातयति, **पर्वतानाम्** गिरीणाम् **वक्षणाः**[2] नदीः । वक्षणाः इति नदीनामसु पठितम् । निघं० १।१३ । **प्र अभिनत्** हिमभेदनेन प्रवाहयति । अत्र प्रवोचम्, अहन्, अनुततर्द, प्र अभिनत् इति लुङ्-लङ्-लिट्प्रयोगाः सामान्यकाले विज्ञेयाः 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः । अ० ३।४।६' इति पाणिनिप्रामाण्यात् ।

अथ **द्वितीयो** राष्ट्रपरः । अहम् **इन्द्रस्य** शत्रुविदारकस्य नृपतेः **नु** सद्यः **वीर्याणि** वीरतापूर्णानि कर्माणि शत्रुविजयराष्ट्रनिर्माणादीनि **प्रवोचम्** प्रकृष्टतया वर्णयामि, **यानि प्रथमानि** यानि श्रेष्ठानि कर्माणि **वज्री** असिः, भुशुण्डीशतघ्नीगोलकादिशस्त्रास्त्रयुक्तः सः **चकार** कृतवान् करोति च । सः **अहिम्** अहिवत् कुटिलगामिनं विषधरं राष्ट्रोन्नतौ बाधकं शत्रुम् **अहन्** हन्ति, **अपः** जलवत् प्रवहणशीलानि शत्रुदलानि, **ततर्द** तृणत्ति, **पर्वतानाम्** दुर्गाणाम् **वक्षणाः** सेनाः । नदीवाचिनः शब्दाः सेनावाचका अपि भवन्ति । **अभिनत्** भिनक्ति ॥११॥[3]

भावार्थः—यथा परमेश्वरः सूर्यद्वाराऽऽकाशीयविद्युद्द्वारा वा मेघं हत्वाऽवरुद्धानि जलान्यधः पातयति नदीश्च प्रवाहयति, तथैव राष्ट्रस्य राजा विघ्नकारिणः शत्रून् हत्वा दुर्गस्था अपि सेनाः पराजित्य राष्ट्रे सकलान्यैश्वर्याणि प्रवाहयेत् ॥११॥

अगले मन्त्र का देवता इन्द्र है । इन्द्र नाम से परमात्मा, राजा आदि के पराक्रमों का वर्णन है ।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा, सूर्य और विद्युत् के पक्ष में । मैं **इन्द्रस्य** वीर परमात्मा, पदार्थों को अवयव रूप में विच्छिन्न करने वाले सूर्य और परमैश्वर्य की साधनभूत विद्युत् के **नु** शीघ्र **वीर्याणि** क्रमशः सृष्टि के उत्पत्ति-स्थिति-संहाररूप, आकर्षण-प्रकाशन आदि रूप और भूयान, जलयान, अन्तरिक्षयान तथा विविध यन्त्रों के चलाने रूप वीरता के कर्मों का **प्र वोचम्** वर्णन करता हूँ, **यानि प्रथमानि** जिन उत्कृष्ट कर्मों को, वह **वज्री** शक्तिधारी **चकार** करता है । उन्हीं वीरता के कर्मों में से एक का कथन करते हैं—वह परमात्मा, वह सूर्य और वह विद्युत् **अहिम्** अन्तरिक्ष में स्थित बादल का **अहन्** संहार करता है, **अपः** बादल में स्थित जलों को **अनु ततर्द** तोड़-तोड़कर नीचे गिराता है, **पर्वतानाम्** पहाड़ों की **वक्षणाः** नदियों को **प्र अभिनत्** बर्फ तोड़-तोड़ कर प्रवाहित करता है ।

द्वितीय राष्ट्र के पक्ष में । मैं **इन्द्रस्य** शत्रुविदारक राजा के **नु** शीघ्र ही **वीर्याणि** शत्रुविजय, राष्ट्रनिर्माण आदि वीरतापूर्ण कर्मों को **प्र वोचम्** भली-भाँति वर्णित करता हूँ, **यानि प्रथमानि** जिन श्रेष्ठ

---

१. (चकार) कृतवान् करोति करिष्यति वा । अत्र सामान्यकाले लिट् इति ऋ० १।३२।१ भाष्ये द० ।

२. (वक्षणाः) वहन्ति जलानि यास्ताः नद्यः इति तत्रैव द० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं सूर्योपमानेन राजपरो व्याख्यातः—'(इन्द्रस्य) सर्वपदार्थविदारकस्य सूर्यलोकस्येव सभापते राज्ञः (वीर्याणि) आकर्षणप्रकाशयुक्तादिवत् कर्माणि' इत्यादि ।

कर्मों को **वज्री** तलवार, बन्दूक, तोप, गोले आदि शस्त्रास्त्रों से युक्त वह **चकार** करता है। वह **अहिम्** साँप के समान टेढ़ी चाल वाले, विषधर, राष्ट्र की उन्नति में बाधक शत्रु का **अहन्** संहार करता है, **अपः** जलों के समान उमड़ने वाले शत्रु-दलों को **ततर्द** छीलता है, **पर्वतानाम्** किलों की **वक्षणाः** सेनाओं को **अभिनत्** छिन्न-भिन्न करता है ॥११॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। अहन्, अनुततर्द, प्राभिनत् इन अनेक क्रियाओं में एक कारक का योग होने से दीपकालंकार भी है ॥११॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर सूर्य द्वारा अथवा आकाशीय बिजली द्वारा मेघ का संहार कर रुके हुए जलों को नीचे बरसाता और नदियों को बहाता है, वैसे ही राष्ट्र का राजा विघ्नकारी शत्रुओं को मार कर, किलों में भी स्थित सेनाओं को हरा कर राष्ट्र में सब ऐश्वर्यों को प्रवाहित करे ॥११॥

अथ द्वयोरग्निर्देवता। अत्र परमात्मा जीवात्मा च स्वपरिचयं ददाति।

६१३. अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
त्रिधातुरर्को रजसो विमानोऽजस्रं ज्योतिर्हविरस्मि सर्वम् ॥१२॥[1]

अग्निः अस्मि जन्मना जातवेदाः जात वेदाः। घृतम् मे चक्षुः अमृतम् अ मृतम्
मे आसन् ॥ त्रिधातुः त्रि धातुः अर्कः रजसः विमानः वि मानः।
अजस्रम् अ जस्रम् ज्योतिः हविः अस्मि सर्वम् ॥१२॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपक्षे। अहं परमेश्वरः **अग्निः अस्मि** सर्वेषामग्रणीत्वाद् अग्निवत् प्रकाशकत्वाच्च अग्निनामा वर्ते, **जन्मना** स्वरूपेणैव **जातवेदाः** सर्वज्ञः, सर्वव्यापकः, वेदानां प्रकाशकः, सर्ववित्तोत्पादकश्च अस्मि। **मे** मम **चक्षुः** चक्षुरुपलक्षितं दर्शनसामर्थ्यम् **घृतम्** अतीव प्रदीप्तं तीव्रं वा वर्तते। घृ क्षरणदीप्त्योः, अत्र दीप्त्यर्थः। **मे** मम **आसन्** आसनि मुखे। अत्र 'सुपां सुलुक्। अ० ७।१।३९' इति विभक्तेर्लुक्। **अमृतम्** अमृतरसः सदा विद्यमानो भवति, नित्यमहम् अमृतत्वमास्वादयामि, अमरोऽस्मीत्यर्थः। अहम् **त्रिधातुः त्रयः** धातवः क्रियाः सृष्टिस्थितिसंहृतयः यस्मात् तादृशः, **अर्कः** अर्चनीयः। अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति। निरु० ५।५। **रजसः** सूर्यचन्द्रतारापृथिव्यादिलोकसमूहस्य। लोका रजांस्युच्यन्ते। निरु० ४।१९। **विमानः**[2] निर्माता अधिष्ठाता वा, **अजस्रं ज्योतिः** अक्षयं तेजः, अक्षयतेजोमयः इत्यर्थः, **हविः** सर्वेषाम् आह्वानयोग्यः। आहूयते इति हविः। 'अर्चिशुचिहुसृ०। उ० २।११०' इति हु धातोः इति प्रत्ययः प्रोक्तः, स ह्वेञ् धातोरपि ज्ञेयः। 'बहुलं छन्दसि। अ० ६।१।३४' इति ह्वः सम्प्रसारणम्। **सर्वम्** सर्वशक्तिमांश्च **अस्मि** वर्ते ॥

अत्र 'अमरोऽस्मि' इति व्यङ्ग्यार्थस्यैव 'अमृतं म आसन्' इति भङ्ग्यन्तरेणाभिधानात् पर्यायोक्तालङ्कारः[3]।

अथ **द्वितीयो** जीवात्मपरः। देहधारी जीवात्मा ब्रवीति—अहम् **अग्निः अस्मि** वह्निः अस्मि,

---

१. ऋ० ३।२६।७, य० १८।६६, उभयत्र 'अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम' इति पाठः। यजुषि देवश्रवोदेववातौ ऋषी।

२. 'रजसो विमानः, रज उदकं तस्य निर्माता। विमिमीते इति विमानः। नन्द्यादित्वात् कर्तरि ल्युट्' इति य० १८।६६ भाष्ये महीधरः। विमानः विमाता अधिष्ठातास्मि—इति सा०।

३. पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते (सा० द० १०।६०) इति तल्लक्षणात्।

वह्निरिव प्रकाशको दुर्गुणानां दुर्जनानां च दाहकः अस्मि, **जन्मना** आचार्यगर्भाद् द्वितीयजन्मप्राप्तेरारभ्यैव **जातवेदाः** प्राप्तवेदविज्ञानः अस्मि। **मे चक्षुः** मम चक्षुषि **घृतम्** स्नेहः अस्ति, सर्वानहं स्निग्धेन चक्षुषा पश्यामीत्यर्थः। **मे आसन्** मम मुखे **अमृतम्** पीयूषं, वाङ्माधुर्यं विद्यते। चक्षुः, आसन् इत्युभयत्र 'सुपां सुलुक्० अ० ७।१।३९' इति सप्तम्या लुक्। अहम् **त्रिधातुः** सत्त्वरजस्तमो-जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति तपःस्वाध्यायेश्वर-प्रणिधान-ऋग्यजुःसामादिरूपत्रिधातुमयः, **अर्कः** परमेश्वरस्य अर्चकः, सदाचारिणां विद्यावयोवृद्धानां च सत्कर्ता, सूर्यसमतेजस्कः, **रजसः** ग्रहोपग्रहसूर्यादिलोकानाम् **विमानः** परिमाणादिकरणे समर्थः, **अजस्रं ज्योतिः** अक्षयज्योतिर्मयः, **सर्वं हविः** सदुद्देश्याय सर्वस्वबलिदानकर्ता च **अस्मि** वर्ते ॥१२॥[1]

अत्र 'अग्निः **वह्निः** अस्मि, अर्कः **सूर्यः** अस्मि' इति रूपकालङ्कारः। 'अजस्रं ज्योतिः' इत्यस्य अजस्रज्योतिर्मये लक्षणा। एवं 'सर्वं हविः' इत्यस्य सर्वस्वहविर्दातरि लक्षणा। निरुक्तप्रोक्तासु त्रिविधासु ऋक्षु आध्यात्मिकीयम् ऋक् ॥१२॥

भावार्थः—परमेश्वर इव मनुष्यस्यात्मापि बहुविशिष्टगुणो महाशक्तिसम्पन्नश्च वर्तते। तेन महत्त्वाकाङ्क्षिणा भूत्वा महत्सु कर्मसु पदं निधेयम् ॥१२॥

अगले दो मन्त्रों का अग्नि देवता है। इस मन्त्र में परमात्मा और जीवात्मा अपना परिचय दे रहे हैं।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। मैं परमात्मा **अग्निः अस्मि** सबका अग्रनायक और अग्नि के समान प्रकाशक होने से अग्नि नाम वाला हूँ, **जन्मना** स्वरूप से ही **जातवेदाः** सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, वेदों का प्रकाशक तथा सब धनों का उत्पादक हूँ। **मे** मेरी **चक्षुः** आँख अर्थात् देखने की शक्ति **घृतम्** अत्यन्त तीव्र है। **मे** मेरे **आसन्** मुख में **अमृतम्** अमृत है, मैं सदा अमृतत्व का आस्वादन करता रहता हूँ अर्थात् अमर हूँ। मैं **त्रिधातुः** जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहार रूप तीनों क्रियाओं को करने वाला हूँ, मैं **अर्कः** अर्चनीय हूँ। मैं **रजसः** सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथिवी आदि लोकों का **विमानः** निर्माता अथवा अधिष्ठाता, **अजस्रं ज्योतिः** अक्षय तेज वाला, **हविः** सबका आह्वानयोग्य, और **सर्वभ्** सर्वशक्तिमान् **अस्मि** हूँ।

यहाँ 'मैं अमर हूँ' इस व्यङ्ग्यार्थ को ही 'मेरे मुख में अमृत है' इस रूप में अभिहित करने से पर्यायोक्त अलंकार है।

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में। शरीरधारी जीवात्मा कह रहा है—मैं **अग्निः अस्मि** आग हूँ, आग के समान प्रकाशक तथा दुर्गुणों और दुर्जनों को भस्म करने वाला हूँ, **जन्मना** आचार्य के गर्भ से द्वितीय जन्म पाने के आरम्भ से ही **जातवेदाः** वेदविद्या का विद्वान् हूँ। **मे चक्षुः** मेरी आँख में **घृतम्** स्नेह है, अर्थात् मैं सबको स्नेहयुक्त आँख से देखता हूँ। **मे आसन्** मेरे मुख में **अमृतम्** अमृत अर्थात् वाणी का माधुर्य है। मैं **त्रिधातुः** सत्त्व-रजस्-तमस्, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान, ऋग्-यजुः-साम आदि त्रिगणों से युक्त हूँ। मैं **अर्कः** परमेश्वर की अर्चना करने वाला, सदाचारी तथा विद्यावृद्धों एवं वयोवृद्धों का सत्कार करने वाला और सूर्य के समान तेजस्वी हूँ। मैं **रजसः** ग्रह-उपग्रह, सूर्य आदि लोकों को **विमानः** खगोल-गणित द्वारा मापने आदि में समर्थ, **अजस्रं ज्योतिः** अक्षय ज्योति वाला, और **सर्वं हविः** श्रेष्ठ उद्देश्य के लिए सर्वस्व बलिदान कर देने वाला **अस्मि** हूँ ॥१२॥

इस मन्त्र में 'अग्निः अस्मि, अर्कः अस्मि', 'मैं आग हूँ, मैं सूर्य हूँ' इस अर्थ में रूपकालंकार है। 'अजस्रं ज्योतिः' की 'अजस्र ज्योति वाले' में और 'सर्वं हविः' की 'सर्वस्व हवि देने वाले' में लक्षणा है।

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये 'विद्युद्वद् मनुष्यैर्वर्तितव्यम्' इति विषये, यजुर्भाष्ये च 'यज्ञेन किं जायते' इति विषये व्याख्यातवान्।

निरुक्तप्रोक्त त्रिविध ऋचाओं परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत तथा आध्यात्मिक में से यह ऋचा आध्यात्मिक है ॥१२॥

भावार्थ—परमेश्वर के समान मनुष्य का आत्मा भी बहुत-से विशिष्ट गुणों वाला तथा महाशक्तिसम्पन्न है। अतः उसे चाहिए कि महत्त्वाकांक्षी होकर महान् कर्मों में कदम रखे ॥१२॥

अथ जगदीश्वरस्य महिमानं वर्णयति।

६१४. पात्यग्निर्विपो अग्रं पदं वेः पाति यह्वश्चरणं सूर्यस्य।
पाति नाभा सप्तशीर्षाणमग्निः पाति देवानामुपमादमृष्वः ॥१३॥[1]

पाति अग्निः विपः अग्रम् पदम् वेः। पाति यह्वः चरणम् सूर्यस्य॥
पाति नाभा सप्तशीर्षाणम् सप्त शीर्षाणम् अग्निः।
पाति देवानाम् उपमादम् उप मादम् ऋष्वः ॥१३॥

पदार्थः—**विपः**[2] मेधावी। विपः इति मेधाविनामसु पठितम्। निघं० ३।१५। **अग्निः** अग्रणीः जगदीश्वरः **वेः** पक्षिणः, गन्तुः पवनस्य वा। विः इति शकुनिनाम, वेतेर्गतिकर्मणः। निरु० २।६। **अग्रम्** अग्रगन्तृ **पदम्** उड्डयनं गमनं वा। पद गतौ, दिवादिः। **पाति** रक्षति। **यह्वः** स एव महान् जगदीश्वरः। यह्वः इति महन्नाम। निघं० ३।३। यह्व इति महतो नामधेयम्, यातश्च हूतश्च भवति। निरु० ८।८। **सूर्यस्य** आदित्यस्य **चरणम्** संवत्सरचक्रप्रवर्तनादिव्यापारम् **पाति** रक्षति। **अग्निः** स एव अग्रणीः जगदीश्वरः **नाभा** नाभौ, केन्द्रभूते हृदये मस्तिष्के वा। नाभिशब्दात् 'सुपां सुलुक्०। अ० ७।१।३९' इति सप्तम्या आकारादेशः। **सप्तशीर्षाणम्**[3] सप्त शिरांसि शीर्षण्याः प्राणाः मनोबुद्धिज्ञानेन्द्रियरूपाः यस्य तं जीवात्मानम्। अत्र 'शीर्षश्छन्दसि। अ० ६।१।६०' इति शिरसः शीर्षन्नादेशः। **पाति** रक्षति। **ऋष्वः** स एव दर्शनीयः जगदीश्वरः। ऋषी गतौ तुदादिः, दर्शनार्थोऽप्ययं दृश्यते। तथा च निरुक्तम् ऋषिर्दर्शनात् २।१ इति। **देवानाम्** विदुषाम् **उपमादम्** यज्ञम्। उपेत्य माद्यन्ति हृष्यन्ति विद्वांसः अत्र इति उपमादो यज्ञः। **पाति** रक्षति ॥१३॥[4]

अत्र 'पाति' इत्यस्यासकृदावृत्तौ लाटानुप्रासोऽलङ्कारः। पुनः पुनः 'पाति' इति कथनाद् अन्येषामपि कर्माणि स पातीति सूच्यते। पूर्वार्द्धे पठितम् अग्निपदम् उत्तरार्द्धे पुनरावृत्तं सद् उत्तरार्द्धस्य पृथगर्थयोजनाद्योतकम् ॥१३॥

भावार्थः—जगदीश्वर एव सूर्यवायुपृथिवीचन्द्रादीनां, जीवात्ममनोबुद्धिप्राणेन्द्रियादीनां, सर्वेषां विद्वज्जनानां च यज्ञमयस्य व्यापारस्य रक्षको जायते ॥१३॥

---

१. ऋ० ३।५।५, 'पात्यग्निर्विपो' इत्यत्र 'पाति प्रियं रिपो' इति पाठः।

२. सायणस्तु ऋग्वेदे 'रिपः' इति पाठात् 'रिपः' इत्यस्य च निघण्टौ पृथिवीनामसु दर्शनाद् 'वेः गन्त्र्याः सर्वत्र व्याप्तायाः विपः रिपः भूम्याः अग्रं मुख्यं पदं स्थानं पाति रक्षति' इति व्याचष्टे। 'विविधं पातीति विपो मेधावी', इति य० ७।१७ भाष्ये द०।

३. नाभौ अन्तरिक्षस्य मध्ये सप्तशीर्षाणं सप्तगणं मरुद्गणम् इति सा०। (नाभा) मध्ये वर्तमानेऽन्तरिक्षे (सप्तशीर्षाणम्) सप्तविधानि शिरांसि किरणा यस्मिंस्तम् (सूर्यमण्डलम्) इति ऋग्भाष्ये द०।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् 'हे विद्वन्, यथा वह्निर्गतिमतां पृथिव्यादीनां रक्षाप्रकाशनिमित्तेन रक्षको वर्तते तथा त्वं सर्वेषां रक्षको भवेः' इत्यर्थे व्याख्यातवान्।

अत्र प्रजापतिसोमाग्न्यपांनपादिन्द्रनामभिर्जगदीश्वरमहिमवर्णनाद् वर्चोयशःप्रार्थनाद् दिव्यरात्रि-वर्णनाच्चैतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन संगतिरस्तीति बोध्यम् ।

इति षष्ठे प्रपाठके तृतीयार्धे तृतीया दशतिः ।
इति षष्ठेऽध्याये तृतीयः खण्डः ॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ—**विपः** मेधावी **अग्निः** अग्रनायक जगदीश्वर **वेः** पक्षी की अथवा वेगवान् पवन की **अग्रम्** अग्रगामी **पदम्** उड़ान की **पाति** रक्षा करता है । **यह्वः** वही महान् जगदीश्वर **सूर्यस्य** सूर्य के **चरणम्** संवत्सरचक्रप्रवर्तन आदि व्यापार की **पाति** रक्षा करता है । **अग्निः** वही अग्रगन्ता जगदीश्वर **नाभा** केन्द्र-भूत हृदय अथवा मस्तिष्क में **सप्तशीर्षाणम्** मन, बुद्धि तथा पंच ज्ञानेन्द्रिय रूप सात शीर्षस्थ प्राणों के स्वामी जीवात्मा की **पाति** रक्षा करता है । **ऋष्वः** वही दर्शनीय जगदीश्वर **देवानाम्** विद्वानों के **उपमादम्** यज्ञ की **पाति** रक्षा करता है ॥१३॥

इस मन्त्र में 'पाति' की अनेक बार आवृत्ति में लाटानुप्रास अलंकार है । पुनः पुनः 'पाति' कहने से यह सूचित होता है कि इसी प्रकार अन्यों के भी कर्मों की जगदीश्वर रक्षा करता है । पूर्वार्ध में पठित भी 'अग्निः' पद को उत्तरार्ध में पुनः पठित करने से यह सूचित होता है कि उत्तरार्ध की अर्थयोजना पृथक् करनी है ॥१३॥

भावार्थ—जगदीश्वर ही सूर्य, वायु, पृथिवी, चन्द्र आदि के, जीवात्मा, मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों आदि के और सब विद्वान् लोगों के यज्ञमय व्यापार का रक्षक होता है ॥१३॥

इस दशति में प्रजापति, सोम, अग्नि, अपांनपात् एवं इन्द्र नामों से जगदीश्वर की महिमा का वर्णन होने से, तेज और यश की प्रार्थना होने से तथा दिव्य रात्रि का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्वदशति के विषय के साथ संगति है ॥

षष्ठ प्रपाठक में तृतीयार्ध की तृतीय दशति समाप्त ।
षष्ठ अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ॥

॥४॥ अथ 'भ्राजन्त्यग्ने' इत्याद्यायाः दशतेः ऋषयः—१, २, ८-१२ वामदेवः; ३-७ नारायणः ॥
देवता—१ अग्निः; २ ऋतुः; ३-७ पुरुषः; ८ द्यावापृथिवी; ९, ११ इन्द्रः;
१० आत्मन आशीः; १२ गौः । छन्दः—१, २ पङ्क्तिः;
३-७, ९, १० अनुष्टुप्; ८, ११, १२ त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—१, २ पञ्चमः, ३-७, ९, १० गान्धारः;
८, ११, १२ धैवतः ॥

तत्राद्याया अग्निर्देवता । अग्निनाम्ना परमेश्वर आचार्यो राजा च सम्बोध्यते ।

६१५. भ्राजन्त्यग्ने समिधान दीदिवो जिह्वा चरत्यन्तरासनि ।
स त्वं नो अग्ने पयसा वसुविद्रयिं वर्चो दृशेऽदाः ॥१॥
भ्राजन्ती अग्ने समिधान सम् इधान दीदिवः । जिह्वा चरति अन्तः आसनि ॥
सः त्वम् नः अग्ने पयसा वसुवित् वसु वित् । रयिम् वर्चः दृशे दाः ॥१॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपक्षे । हे **समिधान** अतिशयप्रकाशमान, **दीदिवः**[1] सर्वप्रकाशक **अग्ने** जगन्नायक परमात्मन् ! त्वत्कृपया **आसनि अन्तः** अस्माकं मुखाभ्यन्तरे **भ्राजन्ती** शोभमाना **जिह्वा** रसना **चरति** रसानास्वादयति शब्दानुच्चारयति च । चर गतौ भक्षणे च, भ्वादिः । **सः** तथाविधः **वसुवित्** ऐश्वर्याणां लम्भकः **त्वम्**, हे **अग्ने** परमात्मन् ! **नः** अस्मभ्यम् **पयसा** जलदुग्धघृतादिरसेन सह **रयिम्** धनम्, **दृशे** दर्शनाय । अत्र दृश् धातोः 'दृशे विख्ये च । अ० ३।४।११' इति तुमर्थे के प्रत्ययः । **वर्चः** ज्ञानरूपं तेजश्च **दाः** अदाः, प्रत्तवानसि ।।

अथ **द्वितीयः** आचार्यपक्षे । आचार्याग्नौ स्वात्मानं होतुं गुरुकुलमागताः समित्पाणयः शिष्या ब्रुवते—हे **समिधान** ज्ञानेन प्रदीप्त, **दीदिवः** ज्ञानेन प्रदीपयितः **अग्ने** विद्वन् आचार्यवर ! तव **आसनि अन्तः** मुखाभ्यन्तरे **भ्राजन्ती** शास्त्रोपदेशप्रदानेन यशोमयी **जिह्वा** रसना **चरति** शब्दोच्चारणाय तालुदन्तादिषु स्थानेषु विचरति । **सः** तादृशो महामहिमशाली, **वसुवित्** विविधविद्याधनप्रदः **त्वम्**, हे **अग्ने** आचार्यवर ! **नः** अस्माकम् **दृशे** कर्तव्यदर्शनाय **पयसा** वेदज्ञानरूपदुग्धेन सह **रयिम्** सदाचारसम्पत्तिम् **वर्चः** ब्रह्मवर्चसं च **दाः** प्रदेहि ।।

अथ **तृतीयः** राजपक्षे । सिंहासनारूढं राजानं प्रति प्रजानां वचनमिदम् । हे **समिधान** राजोचित-प्रतापेन दीप्यमान, **दीदिवः** यशसा प्रजाः प्रदीपयितः **अग्ने** अग्रणीः राजन् ! **आसनि अन्तः** तव शरासने **भ्राजन्ती** भ्राजमाना **जिह्वा** प्रत्यञ्चा **चरति** चलति, आकृष्यते मुच्यते शरानस्यति च । **सः** तादृशः **वसुवित्** प्रजानां निवासप्रदायकः **त्वम्**, हे **अग्ने** अग्निवज्जाज्वल्यमान राष्ट्राधिपते ! **दृशे** राष्ट्रस्य ख्यातये **पयसा** दुग्धादिना रसेन सह **रयिम्** धनधान्यादिसम्पदम्, **वर्चः** ब्राह्मं तेजश्च **दाः** देहि ।।

अथ **चतुर्थः** यज्ञाग्निपक्षे । यजमाना आहुः—हे **समिधान** प्रदीप्यमान, **दीदिवः** तेजसा प्रदीपयितः **अग्ने** यज्ञवह्ने ! **आसनि अन्तः** यज्ञकुण्डरूपमुखाभ्यन्तरे **राजन्ती** भ्राजमाना **जिह्वा** तव ज्वाला **चरति** लेलायते । **सः** तादृशः **वसुवित्** वसु हविर्धनं विन्दते प्राप्नोतीति तथाविधः **त्वम्**, हे **अग्ने** यज्ञवह्ने ! **पयसा** वृष्टिजलेन सह **रयिम्** सस्यसम्पद्रूपं बलबुद्धिदीर्घायुष्यादिरूपं च धनम्, **दृशे** दर्शनाय **वर्चः** प्रकाशं च **दाः** देहि । यज्ञाग्नौ हवींषि प्रयच्छन्तो वयं वृष्टिं सस्यसम्पदं बलबुद्धिस्वास्थ्यदीर्घायुष्यादिकं च लभेमहीति भावः ।

उपनिषत्कारेण ऋषिणा वह्नेर्जिह्वा एवं प्रोक्ताः—काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा । स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ।। मु० २।४ इति । वह्नेर्मुखजिह्वावर्णनाद् असम्बन्धे सम्बन्धरूपोऽतिशयोक्तिरलङ्कारः ।।१।।

भावार्थः—यथा जगदीश्वरो मनुष्येभ्यो जलदुग्धघृतज्ञानादिकं यज्ञाग्निश्च वृष्टिजलबलबुद्धि-दीर्घायुष्यादिकं प्रयच्छति तथैवाचार्येण शिष्येभ्यो वेदविद्यासदाचारब्रह्मवर्चसादिकं प्रदेयम्, नृपेण च राष्ट्रे ब्रह्मक्षत्रविशामुत्कर्षेण प्रजाः सुखयितव्याः ।।१।।

प्रथम ऋचा का अग्नि देवता है। अग्नि नाम से परमेश्वर, आचार्य और राजा को सम्बोधित किया गया है।

पदार्थ—**प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हे **समिधान** अतिशय प्रकाशयुक्त, **दीदिवः** सबको प्रकाशित

१. दीदिवः प्रकाशमयानन्दप्रद । अत्र दिवु धातोः 'छन्दसि लिट्' । अ० ३।२।१०५ इति लिट्, 'क्वसुश्च' । अ० ३।२।१०७ इति लिटः स्थाने क्वसुः, छन्दस्युभयथा । अ० ३।४।११७ इति लिडादेशस्य क्वसोः सार्वधातुकत्वादिडभावः, 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' । अ० ६।१।७ इत्यभ्यासदीर्घः, 'मतुवसोरु सम्बुद्धौ छन्दसि' । अ० ८।३।१ इति रुरादेशश्च—इति य० ३।२६ भाष्ये द० ।

करने वाले **अग्ने** जगन्नायक परमात्मन् ! आपकी कृपा से **आसनि अन्तः** हमारे मुख के अन्दर **भ्राजन्ती** शोभित होती हुई **जिह्वा** जीभ **चरति** रसों का स्वाद लेती और शब्दों का उच्चारण करती है। **सः** वह **वसुवित्** ऐश्वर्यों को प्राप्त कराने वाले **त्वम्** आप, हे **अग्ने** परमात्मन् ! **नः** हमें **पयसा** जल, दूध, घी आदि रस के साथ **रयिम्** धन को, और **दृशे** कर्तव्याकर्तव्य के दर्शन के लिए **वर्चः** ज्ञान रूप तेज **दाः** प्रदान किये हुए हो ॥

द्वितीय आचार्य के पक्ष में। आचार्य रूप अग्नि में स्वयं को आहुत करने के लिए गुरुकुल में आये हुए समित्पाणि शिष्य कह रहे हैं—हे **समिधान** स्वयं ज्ञान से प्रदीप्त तथा **दीदिवः** शिष्यों को ज्ञान से प्रदीप्त करने वाले **अग्ने** विद्वान् आचार्यप्रवर ! आपके **आसनि अन्तः** मुख के अन्दर **भ्राजन्ती** शास्त्रों का उपदेश देने के कारण यश से जगमगाती हुई **जिह्वा** जीभ **चरति** शब्दों के उच्चारण के लिए तालु, दन्त आदि स्थानों में विचरती है। **सः** वह महिमाशाली, **वसुवित्** विविध विद्याधनों को प्राप्त कराने वाले **त्वम्** आप, हे **अग्ने** आचार्यवर ! **नः** हमारे **दृशे** कर्तव्य-दर्शन के लिए **पयसा** वेदज्ञान रूप दूध के साथ **रयिम्** सदाचार की सम्पदा को, और **वर्चः** ब्रह्मवर्चस को **दाः** हमें प्रदान कीजिए ॥

तृतीय राजा के पक्ष में। सिंहासन पर चढ़े हुए राजा के प्रति प्रजाजन कह रहे हैं—हे **समिधान** राजोचित प्रताप से देदीप्यमान, **दीदिवः** प्रजाओं को यश से प्रदीप्त करने वाले **अग्ने** अग्रनायक राजन् ! **आसनि अन्तः** आपके धनुष पर **भ्राजन्ती** दमकती हुई **जिह्वा** डोरी **चरति** चलती है अर्थात् खिंचती, छूटती और बाणों को फेंकती है। **सः** वह **वसुवित्** प्रजाओं को निवास प्राप्त कराने वाले **त्वम्** आप, हे **अग्ने** अग्नि के समान जाज्वल्यमान राष्ट्राधिपति ! **दृशे** राष्ट्र की ख्याति के लिए, प्रजा को **पयसा** दूध आदि रसों के साथ **रयिम्** धन, धान्य आदि सम्पदा और **वर्चः** ब्राह्म तेज **दाः** प्रदान कीजिए ॥

चतुर्थ यज्ञाग्नि के पक्ष में। यजमान कह रहे हैं—हे **समिधान** प्रज्वलित, **दीदिवः** याज्ञिक को तेज से प्रज्वलित करने वाले **अग्ने** यज्ञाग्नि ! **आसनि अन्तः** यज्ञकुण्ड रूप मुख के अन्दर **भ्राजन्ती** जगमगाती हुई **जिह्वा** तेरी ज्वाला रूप जीभ **चरति** लपलपाती है। **सः** वह **वसुवित्** हविरूप धन को प्राप्त करने वाला **त्वम्** तू हे **अग्ने** यज्ञाग्नि ! **पयसा** वर्षाजल के साथ **रयिम्** सस्य-सम्पदा रूप तथा बल, बुद्धि, दीर्घायु आदि रूप धन को तथा **दृशे** देखने के लिए **वर्चः** प्रकाश को **दाः** प्रदान कर ॥

मुण्डक उपनिषद् के ऋषि ने अग्नि की जिह्वाएँ इस प्रकार वर्णित की हैं—काली, कराली, मन जैसे वेग वाली, अत्यन्त लाल, धुमैले रंग की, चिनगारियाँ छोड़ने वाली और सब रंगों वाली ज्वालाएँ ये अग्नि की सात लपलपाती जिह्वाएँ हैं (मु० २।४)। अग्नि के मुख और जिह्वाओं का वर्णन करने के कारण यज्ञाग्निपरक अर्थ में असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अलंकार है ॥१॥

भावार्थ—जैसे जगदीश्वर मनुष्यों को जल, दूध, घी, ज्ञान आदि और यज्ञाग्नि वृष्टि, जल, बल, बुद्धि, दीर्घायुष्य आदि देता है, वैसे ही आचार्य को शिष्यों के लिए वेदविद्या, सदाचार, ब्रह्मतेज आदि प्रदान करना चाहिए और राजा को राष्ट्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों की उन्नति द्वारा प्रजाओं को सुखी करना चाहिए ॥१॥

अथ ऋतुर्देवता। सर्वेषामृतूनां रमणीयत्वमाह।

३ १२ २१ ३ १२ २१
६१६. वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।
३ १२ २१ ३ १.२ ३ १२ २१३ १२ २१
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः ॥२॥

३ २ १ २१ ३ २ १ २१ ३ १ २ १ २१
वसन्तः इत् नु रन्त्यः। ग्रीष्मः इत् नु रन्त्यः॥ वर्षाणि अनु
३ १ २ ३ २ १ २१ १ २१
शरदः हेमन्तः। शिशिरः इत् नु रन्त्यः ॥२॥

पदार्थः—परमेश्वरस्य सृष्टौ **वसन्तः** वसन्तर्तुः **इत् नु** निश्चयेन **रन्त्यः** रमणीयः रमयिता च अस्ति, **ग्रीष्मः** ग्रीष्मर्तुः **इत् नु** निश्चयेन **रन्त्यः** रमणीयः रमयिता च अस्ति । **वर्षाणि अनु** वर्षर्तुदिनानामनन्तरम् **शरदः** शरद्दिवसाः, **हेमन्तः** हेमन्त ऋतुश्चापि रन्त्याः रमणीयाः रमयितारश्च भवन्ति । **शिशिरः** शिशिरर्तुरपि **इत् नु** निश्चयेन **रन्त्यः** रमणीयो रमयिता च भवति । रमु क्रीडायाम् इति धातोः बाहुलकात् त्यन् प्रत्ययः ॥२॥

अत्र 'इन्नु रन्त्यः' इत्यस्यावृत्तौ लाटानुप्रासः ॥२॥

भावार्थः—ये परमेश्वरविश्वासिनो भवन्ति ते प्रत्येकमृतुं रमणीयमाह्लाददायकं च मन्यमानास्तज्जनितमानन्दमनुभवन्ति । ये तु 'अहह, संतापको निदाघः, पङ्कबहुला प्रावृट्, कष्टशीतो हेमन्तः' इत्यादिप्रकारेण छिद्राण्यन्विष्यन्तः सर्वानेव ऋतून् धिक्कुर्वन्ति ते खलु दुर्भाग्यग्रस्ता एव ॥२॥

अगले मन्त्र का ऋतु देवता है । ऋतुओं की रमणीयता प्रतिपादित की गयी है ।

पदार्थ—परमेश्वर की सृष्टि में **वसन्तः** वसन्त ऋतु **इत् नु** निश्चय ही **रन्त्यः** रमणीय है, **ग्रीष्मः** ग्रीष्म ऋतु **इत् नु** निश्चय ही **रन्त्यः** रमणीय है । **वर्षाणि अनु** वर्षा-दिनों के अनन्तर **शरदः** शरद् ऋतु के दिवस, और **हेमन्तः** हेमन्त ऋतु भी, रमणीय हैं । **शिशिरः** शिशिर ऋतु भी **इत् नु** निश्चय ही **रन्त्यः** रमणीय है ॥२॥

इस मन्त्र में 'इन्नु रन्त्यः' की आवृत्ति में लाटानुप्रास है ॥२॥

भावार्थ—जो लोग परमेश्वर-विश्वासी होते हैं वे प्रत्येक ऋतु को रमणीय और आह्लाददायक मानते हुए उससे उत्पादित आनन्द को अनुभव करते हैं । किन्तु जो लोग 'अहह, ग्रीष्मऋतु बड़ी संतापक है, वर्षा ऋतु में कीचड़ ही कीचड़ हो जाती है, हेमन्त का शीत बड़ा कष्टदायक होता है' इत्यादि प्रकार से दोष खोजते हुए सभी ऋतुओं को धिक्कारते हैं, वे निश्चय ही अभागे हैं ॥२॥

अथ पञ्चानां पुरुषो देवता । परमपुरुषं परमात्मानं वर्णयति ।

६१७. सहस्रशीर्षा॑ः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥३॥[1]

सहस्रशीर्षाः सहस्र शीर्षाः पुरुषः । सहस्राक्षः सहस्र अक्षः सहस्रपात्
सहस्र पात् ॥ सः भूमिम् सर्वतः वृत्वा । अति अतिष्ठत्
दशाङ्गुलम् दश अङ्गुलम् ॥३॥

पदार्थः—**पुरुषः** सर्वेषाम् अग्रणीः, सर्वस्मिन् जगति परिपूर्णः, सर्वेषां पालयिता वा परमेश्वरः । पुर अग्रगमने, पॄ पालनपूरणयोः इति वा धातोः 'पुरः कुषन्' । उ० ४।७५ इति कुषन् प्रत्ययः । **सहस्रशीर्षाः** सहस्राणि असंख्यातानि शीर्षाणि शिरउपलक्षितानि ज्ञानानि यस्य सः । 'शीर्षश्छन्दसि' । अ० ६।१।६० इति शिरःशब्दपर्यायः शीर्षन् शब्दो वेदे प्रोक्तः, अत्र तस्य सान्तत्वम् । **सहस्राक्षः**[2] सहस्राणि अक्षीणि दर्शनसामर्थ्यानि यस्य सः । छान्दसः समासान्तोऽच् प्रत्ययः । **सहस्रपात्**[3] सहस्राणि असंख्याताः पादाः

१. ऋ० १०।९०।१, 'सहस्रशीर्षा', इति 'सर्वतो' इत्यत्र च 'विश्वतो' इति पाठः । य० ३१।१, 'सहस्रशीर्षा' इति, 'सर्वतो वृत्वा' इत्यत्र च 'सर्वतः स्पृत्वा' इति पाठः । अथ० १९।६।१, 'सहस्रशीर्षाः', 'सर्वतो' इत्यत्र 'सहस्रबाहुः', 'विश्वतो' इति च पाठः ।

२,३. अक्षिग्रहणं सर्वज्ञानेन्द्रियोपलक्षकम् । पादग्रहणं कर्मेन्द्रियोपलक्षकम्—इति यजुर्भाष्ये म० ।

अथ पुनरपि तमेव परमपुरुषं वर्णयति ।

३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
६१८. त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः ।
२ ३ २ ३क २१ ३२ ३ २
तथा विष्वङ् व्यक्रामदशनानशने अभि ॥४॥[1]
३ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ २१ १ २१ ३ २ ३ २ ३१ १ २
त्रिपात् त्रि पात् ऊर्ध्वः उत् ऐत् पुरुषः । पादः अस्य इह अभवत् पुनरिति ॥
१ २१ १ २१ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
तथा विष्वङ् वि स्वङ् वि अक्रामत् । अशनानशने अशन अनशनेइति अभि ॥४॥

पदार्थः—**त्रिपात्** त्रि-चतुर्थांशः **पुरुषः** पूर्वोक्तः परमेश्वरः **ऊर्ध्वः उत्-ऐत्** अस्माज्जगतः ऊर्ध्वम् उद्गतोऽस्ति, **इह पुनः** अस्मिन् संसारे तु **अस्य** पूर्णस्य परमेश्वरस्य **पादः** एकश्चतुर्थांश एव **अभवत्** विद्यते । **तथा** तेनैव प्रकारेण एकचतुर्थांशव्याप्त्या इत्यर्थः **वि-स्वङ्**[2] विविधपदार्थान् सम्यक् प्राप्तः सन् । वि विविधतया सु सम्यग् अञ्चतीति विष्वङ् । **अनशनानशने अभि** चेतनाचेतने अभिलक्ष्य । अश्नाति भोगान् भुङ्क्ते इति अशनं चेतनं तद्भिन्नम् अनशनं, ते अशनानशने । **व्यक्रामत्** विचेष्टते, चेतनाचेतनानां मनुष्यादिप्राणिनाम् अग्निसूर्यपवनगिरिनद्यादीनां च यथायोग्यं प्राणनादिव्यापारं स्थित्यादिव्यापारं च विधत्ते इति भाव ॥४॥[3]

भावार्थः—चेतनाचेतनात्मकेऽस्मिन् जगति यन्महत् कर्तृत्वं दृष्टिगोचरतां याति तत्र परमेश्वर-सामर्थ्यस्य स्वल्पांश एव क्रियाशीलो भवति, परमेश्वरस्य वास्तवं सामर्थ्यं स्वरूपं च लोकातिगं वर्तते ॥४॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी परमपुरुष का वर्णन है ।

पदार्थ—**त्रिपात्** तीन-चौथाई अंशवाला **पुरुषः** पूर्वोक्त परमेश्वर **ऊर्ध्वः उत् ऐत्** इस जगत् से ऊपर उठा हुआ है । **इह पुनः** इस जगत् में तो **अस्य** इस पूर्ण परमेश्वर का **पादः** एक-चतुर्थांश ही **अभवत्** विद्यमान है । **तथा** उसी प्रकार से अर्थात् एक-चतुर्थांश की ही व्याप्ति से **वि-स्वङ्** विविध पदार्थों में सम्यक् प्राप्त हुआ वह **अशनानशने अभि** चेतन-अचेतन को लक्ष्य करके **व्यक्रामत्** विविध रूप से चेष्टा कर रहा है, अर्थात् मनुष्य आदि प्राणियों तथा अग्नि, सूर्य, पवन, पर्वत, नदी आदि चेतन-अचेतन के यथायोग्य प्राणन आदि व्यापार को तथा स्थिति आदि व्यापार को कर रहा है ॥४॥

भावार्थ—इस चेतन-अचेतन-रूप जगत् में जो महान् कर्तृत्व दृष्टिगोचर हो रहा है, उसमें परमेश्वर के सामर्थ्य का थोड़ा-सा अंश ही क्रियाशील है, परमेश्वर का वास्तविक सामर्थ्य और स्वरूप तो लोकातिक्रान्त है ॥४॥

अथ पुनरपि स एव परमपुरुषो वर्ण्यते ।

१ २ ३ २उ ३ २ ३ २उ ३ १ २
६१९. पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥५॥[4]

---

१. ऋ० १०।९०।४, य० ३१।४ उभयत्र 'ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि' इति पाठः। अथ० १९।६।२ 'त्रिभिः पदिभर्द्यामरोहत् पादस्येहाभवत् पुनः। तथा व्यक्रामद् विष्वङ्शनानशने अनु' ॥ इति पाठः।

२. विष्वङ् देवतिर्यगादिरूपेण विविधः सन्— इति सा०। विषु सर्वत्राञ्चतीति विष्वङ् देवतिर्यगादिरूपेण विविधः सन्— इति यजुर्भाष्ये म०। यो विषु सर्वत्राञ्चति प्राप्नोति—इति तत्रैव द०। अस्माभिस्तु वि-स्वङ् इति पदपाठ आदृतः।

३. दयानन्दर्षिरपि मन्त्रमेतं यजुर्भाष्ये परमेश्वरपक्षे व्याख्यातवान्।

४. ऋ० १०।९०।२ 'भाव्यम्' इत्यत्र 'भव्यम्' इति, उत्तरार्द्धे च 'उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति' इति पाठः। य० ३१।२ उत्तरार्द्धपाठः ऋग्वेदवत्। अथ० १९।६।४ 'उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह' इत्युत्तरार्द्धपाठः।

१२१ ३२ ३२ १२१ ३२ ३ १ २१ १२१३
पुरुषः एव इदम् सर्वम् । यत् भूतम् यत् च भाव्यम् ॥ पादः अस्य
१२१ ३१२ ३२ ३२ ३ १२ ३१२१ ३२
सर्वा भूतानि । त्रिपात् त्रि पात् अस्य अमृतम् अ मृतम् दिवि ॥५॥

पदार्थः—**पुरुषः एव** सर्वत्र परिपूर्णः परमेश्वरः एव **इदम्** प्रत्यक्षाप्रत्यक्षात्मकम् **सर्वम्** निखिलम् **यत् भूतम्** यद् उत्पन्नम् **यत् च भाव्यम्** यच्च उत्पत्स्यमानम् अस्ति, तत्सर्वम् अधितिष्ठतीति शेषः । **सर्वा** सर्वाणि **भूतानि** उत्पन्नानि सूर्यपृथिव्यादीनि **अस्य** पुरुषाख्यस्य परमेश्वरस्य महिम्नः **पादः** चतुर्थांशमात्रं सन्ति, **अस्य** जगत्स्रष्टुः महिम्नः **त्रिपात्** त्रिचतुर्थांशात्मकं रूपम् **अमृतम्** विनाशरहितं विद्यते, यत् **दिवि** द्योतनात्मके मोक्षलोके मुक्तात्मभिरनुभूयते ॥५॥

भावार्थः—भूतं वर्तमानं भावि च सर्वं पदार्थजातं परमात्मैव रचयति व्यवस्थापयति च । परमात्मनो भौतिकलोकातिगं तात्त्विकं स्वरूपं चर्मचक्षुषा न प्रत्युत आभ्यन्तरचक्षुषैव साक्षात्कर्तुं शक्यते ॥५॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी परम पुरुष का वर्णन है ।

पदार्थ—**पुरुषः एव** सर्वत्र परिपूर्ण परमेश्वर ही **इदम्** इस प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष-रूप **सर्वम्** सब **यद् भूतम्** जो उत्पन्न हो चुका है, **यत् च भाव्यम्** और जो भविष्य में उत्पन्न होने वाला है, उस सबका अधिष्ठाता है । **सर्वा** सब **भूतानि** उत्पन्न सूर्य, पृथिवी आदि **अस्य** इस पुरुष परमेश्वर की महिमा के **पादः** चतुर्थांश-मात्र हैं, **अस्य** इस जगत्स्रष्टा की महिमा का **त्रिपात्** तीन-चौथाई रूप **अमृतम्** विनाशरहित है, जो **दिवि** प्रकाशमान मोक्षलोक में मुक्तात्माओं से अनुभव किया जाता है ॥५॥

भावार्थ—भूत, वर्तमान और भावी सब पदार्थों को परमात्मा ही रचता है, और उनकी व्यवस्था करता है । परमात्मा का भौतिक लोकों से अतिक्रान्त तात्त्विक स्वरूप चर्म-चक्षु से नहीं, प्रत्युत आन्तरिक चक्षु से ही देखा जा सकता है ॥५॥

अथ पुनस्तस्यैव परमपुरुषस्य महिमानमाह ।

१ २ ३२३ ३ १ २ ३ १२
६२०. तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
३ १२३ १२ २१ ३ १२ २१ ३ १२
उतामृतत्वस्येशाना यदन्नेनातिरोहति ॥६॥[1]
१२१ ३ २ १२१ १ २१ ३ १२१ ३ २ ३ १ २
तावान् अस्य महिमा । ततः ज्यायान् च पूरुषः ॥ उत अमृतत्वस्य
३ १ २ १२१ १२१ ३ १२१ ३ १२१
अ मृतत्वस्य ईशानः । यत् अन्नेन अतिरोहति अति रोहति ॥६॥

पदार्थः—**तावान्** तत्परिमाणः पूर्वोक्तः **अस्य** परमेश्वरस्य **महिमा** महत्त्वम् अस्ति, वस्तुतस्तु **पूरुषः** स पूर्णः परमेश्वरः । अत्र 'अन्येषामपि दृश्यते । अ० ६।३।१३७' इति दीर्घः । **ततः** तस्मादपि **ज्यायान्** वर्षीयान् विद्यते । **उत** अपि च, सः **अमृतत्वस्य** मोक्षस्य, **यत्** यच्च **अन्नेन** अन्नभक्षणेन **अतिरोहति** वर्द्धते तस्य सांसारिकस्य प्राणिजातस्य च **ईशानः** अधिष्ठाता वर्तते ॥६॥[2]

भावार्थः—अवर्णनीयः खलु परमेश्वरस्य महिमायः संसारचक्रप्रवर्तनं मोक्षं चाप्यधितिष्ठति ॥६॥

१. ऋ० १०।९०।३, य० ३१।३, उभयत्र 'एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति पाठः ।

२. किं च, यज्जीवजातम् अन्नेन अतिरोहति उत्पद्यते तस्य सर्वस्य चेशानः—इति यजुर्भाष्ये म० । यदन्नेनातिरोहति तदिदं सर्वममृतत्वस्येशानः पुरुष एव रचयति—इति च तत्रैव द० ।

अगले मन्त्र में पुनः उसी परमपुरुष की महिमा का वर्णन है।

पदार्थ—**तावान्** उतनी पूर्वोक्त **अस्य** इस परमेश्वर की **महिमा** महिमा है, वस्तुतः तो **पुरुषः** वह पूर्ण परमेश्वर **ततः** उससे भी **ज्यायान्** अधिक बड़ा है। **उत** और **सः** वह **अमृतत्वस्य** मोक्ष का तथा **यत्** जो **अन्नेन** अन्न के खाने से **अतिरोहति** बढ़ता है उस सांसारिक प्राणी-समुदाय का भी **ईशानः** अधिष्ठाता है ॥६॥

भावार्थ—परमेश्वर की महिमा अवर्णनीय है, जो संसार-चक्रप्रवर्तन और मोक्ष दोनों का अधिष्ठाता है ॥६॥

अथ परमपुरुषात् सृष्टयुत्पत्तिमाह।

६२१. ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥७॥[1]

ततः विराट् वि राट् अजायत। विराजः वि राजः अधि पूरुषः॥
सः जातः अति अरिच्यत। पश्चात् भूमिम् अथ उ पुरः ॥७॥

पदार्थः—**ततः** तस्मादेव निमित्तकारणरूपात् परमपुरुषात् परमेश्वरात्। निमित्तकारणेऽपि क्वचित् पञ्चमी दृश्यते, यथा 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' इति मनुः ३।७६। **विराट्** विशेषेण देदीप्यमानं पिण्डम् **अजायत** उत्पन्नम्। **पूरुषः** सर्वत्र पूर्णः परमेश्वरः एव **विराजः अधि**[2] तद् विशेषेण राजमानं पिण्डम् अधितिष्ठति स्म। **जातः सः** उत्पन्नं तत् विराडाख्यं पिण्डम् **अत्यरिच्यत**[3] अतिरिक्तं जातं, भूम्यादिखण्डेषु प्रविभक्तम् इत्यर्थः। स परमेश्वरः **भूमिम्** भूम्यादिलोकोत्पत्तेः **पश्चात्** अनन्तरम् **अथ उ** अथ च **पुरः**[4] पूर्वम्, विद्यमानः आसीत् ॥७॥[5]

भावार्थः—अस्माकं सौरमण्डलस्य जन्म कथं सञ्जातमिति मन्त्रेऽस्मिन् वर्णितम्। आदौ तावद् बृहन्नीहारिकारूपं देदीप्यमानं प्रज्वत् पिण्डमेकमुत्पन्नम्। आकाशे वेगेन परिभ्राम्यतः तस्मात् कानिचित् खण्डानि पृथग्भूतानि। अवशिष्टो भागः सूर्यो जातः, पृथग्भूतानि खण्डानि च भूमिमंगलबुधबृहस्पत्यादीनि संजातानि। एवमेवान्येषामपि सौरमण्डलानामुत्पत्तिर्जातेति बोध्यम्। परमात्मनोऽधिष्ठातृत्व एव एतत्सर्वं सम्पन्नम् ॥७॥

अगले मन्त्र में परमपुरुष से सृष्टि की उत्पत्ति वर्णित है।

पदार्थ—**ततः** उसी निमित्तकारणभूत परम पुरुष परमेश्वर से **विराट्** विशेषरूप से देदीप्यमान पिण्ड **अजायत** उत्पन्न हुआ। **पूरुषः** वह सर्वत्र पूर्ण परमेश्वर ही **विराजः अधि** उस विशेषरूप से देदीप्य-

---

१. ऋ० १०।९०।५, 'ततो' इत्यत्र 'तस्माद्' इति पाठः। य० ३१।५। अथ० १९।६।९, 'ततो विराडजायत' इत्यत्र 'विराडग्रे समभवत्' इति पाठः।

२. विराजः अधि उपरि अधिष्ठाता पूरुषः परिपूर्णः परमात्मा—इति य० ३१।५ भाष्ये द०।

३. अत्यरिच्यत अतिरिक्तोऽभूत्। विराड् व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभवत्—इति सा०। यजुर्भाष्ये महीधरोऽपि तथैवाह।

४. पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि—इति सा०। यजुर्भाष्ये महीधरोऽपि तथैवाह। तत्तु स्वरविरुद्धम्। पुरः पुरस्ताद् वर्तमानः—इति द०।

५. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं यजुर्भाष्ये "परमेश्वरादेव सर्वं समष्टिरूपं जगज्जायते, स च तस्मात् पृथग्भूतो व्याप्तोऽपि तत्कलमषालिप्तोऽस्य सर्वस्याधिष्ठाता" इत्यादिरूपेण व्याख्यातवान्।

मान पिण्ड का अधिष्ठाता था। **जातः सः** उत्पन्न हुआ वह विराट् पिण्ड **अत्यरिच्यत** भूमि आदि खण्डों में बँट गया। वह परमेश्वर **भूमिम्** भूमि आदि लोकों की उत्पत्ति के **पश्चात्** पश्चात् **अथ उ** और **पुरः** पूर्व भी विद्यमान था ॥७॥

भावार्थ—हमारे सौरमण्डल का जन्म कैसे हुआ यह इस मन्त्र में वर्णित किया गया है। प्रारम्भ में विशाल नीहारिका-रूप देदीप्यमान एक पिण्ड उत्पन्न हुआ। आकाश में वेग के साथ घूमते हुए उसमें से कुछ टुकड़े अलग हो गये। बचा भाग सूर्य हुआ और टूटकर अलग हुए खण्ड भूमि, मंगल, बुध, बृहस्पति आदि हो गये। इसी प्रकार अन्य सौरमण्डलों की भी उत्पत्ति हुई, यह जानना चाहिए। यह सब परमात्मा के अधिष्ठातृत्व में ही सम्पन्न हुआ ॥७॥

अथ द्यावापृथिवी देवते। मातापितरौ अध्यापिकोपदेशिके वा प्रार्थयते।

६२२. मन्ये वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ ये अप्रथेथाममितमभि योजनम्।
द्यावापृथिवी भवतं स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥८॥[1]

मन्ये वाम् द्यावापृथिवी द्यावा पृथिवीइति सुभोजसौ सु भोजसौ।
येइति अप्रथेथाम् अमितम् अ मितम् अभि योजनम्॥ द्यावापृथिवी द्यावा
पृथिवीइति भवतम् स्योनेइति। तेइति नः मुञ्चतम् अंहसः ॥८॥

पदार्थः—हे **द्यावापृथिवी**[2] भूम्याकाशौ इव मातापितरौ, अध्यापिकोपदेशिके वा! अहम् **वाम्** युवाम् **सुभोजसौ** सुपालनकर्त्र्यौ **मन्ये** जानामि। **ये** ये युवाम् **अमितम् योजनम् अभि** अपरिमितयोजनपर्यन्तम् **अप्रथेथाम्** यशसा प्रख्याते स्थः। हे **द्यावापृथिवी** पृथिवीसूर्यौ इव मातापितरौ अध्यापिकोपदेशिके वा! युवाम् अस्मभ्यम् **स्योने** सुखकारिण्यौ **भवतम्** जायेथाम्। **ते** ते युवाम् **नः** अस्मान् **अंहसः** पापात् **मुञ्चतम्** मोचयतम् ॥८॥

भावार्थः—मातापित्रोरध्यापिकोपदेशिकयोश्च सकाशात् सच्छिक्षां सदुपदेशं च प्राप्य सन्तानाः सुज्ञानाः शुभकर्माणो निष्पापाश्च भवन्तु ॥८॥

अगली ऋचा का द्यावापृथिवी देवता है। माता-पिता से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **द्यावापृथिवी** भूमि-आकाश के सदृश माता-पिताओ अथवा अध्यापिका-उपदेशिकाओ! मैं **वाम्** तुम दोनों को **सुभोजसौ** शुभ पालनकर्ता **मन्ये** जानता हूँ, **ये** जो तुम दोनों **अमितं योजनम् अभि** अपरिमित योजन पर्यन्त **अप्रथेथाम्** यश से प्रख्यात हो। हे **द्यावापृथिवी** पृथिवी और सूर्य के तुल्य माता-पिताओ अथवा अध्यापिका-उपदेशिकाओ! तुम हमारे लिए **स्योने** सुखदायक **भवतम्** होवो। **ते** वे तुम दोनों **नः** हमें **अंहसः** पाप से **मुञ्चतम्** छुड़ाओ ॥८॥

भावार्थ—माता-पिताओं और अध्यापिका-उपदेशिकाओं के पास से उत्तम विद्या और उत्तम उपदेश प्राप्त कर सन्तान श्रेष्ठ ज्ञानी, शुभ कर्म करने वाले और निष्पाप होवें ॥८॥

---

१. अथ० ४।२६।१, ऋषिः मृगारः। 'मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता योजनानि। प्रतिष्ठे-ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः॥ इति पाठः।

२. द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता। अथ० २।२८।४, द्यौरहं पृथिवी त्वम्। अथ० १४।२।७१। द्यावापृथिव्यौ अध्यापिकोपदेशिके स्त्रियौ—इति य० ३७।३ भाष्ये द०।

अथेन्द्रो देवता। इन्द्रनाम्ना परमात्मा वर्ण्यते।

६२३. हरी त इन्द्र श्मश्रूण्युता ते हरितौ हरी।
तं त्वा स्तुवन्ति कवयः परुषासो वनर्गवः ॥९॥
हरी ते इन्द्र श्मश्रूणि। उत उ ते हरितौ हरीइति॥
तम् त्वा स्तुवन्ति कवयः। परुषासः वनर्गवः ॥९॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन्! **ते** तव, त्वद्रचितानीत्यर्थः **श्मश्रूणि** कूर्चानीव प्रतीयमानाः सूर्यकिरणाः **हरी** हरीणि, मालिन्यापहारकाणि सन्ति। अत्र 'शेश्छन्दसि बहुलम्। अ० ६।१।७०' इत्यनेन शेर्लुक्। **उत** उ अपि च **ते** तव, त्वद्रचिते **हरितौ** पूर्वपश्चिमरूपे, उत्तरदक्षिणरूपे, ध्रुवोर्ध्वरूपे वा दिशौ। हरितः इति दिङ्नाम। निघं० १।६। **हरी** हर्यौ मालिन्यापहारिके स्तः। अत्र प्रथमाद्विवचने पूर्वसवर्णदीर्घः। **तं त्वा** तादृशम् अपूर्वकर्तृत्वयुक्तं त्वाम् **वनर्गवः**[1] वनगामिनः वानप्रस्थाः। वनर्गू वनगामिनौ इति यास्कः। निरु० ३।१४। **कवयः परुषासः** मेधाविनः पुरुषाः। परुषासः इत्यत्र 'आज्जसेरसुक्। अ० ७।१।५०' इति जसोऽसुगागमः। उकारस्य अकारादेशश्छान्दसः। **स्तुवन्ति** स्तुतिविषयीकुर्वन्ति ॥९॥

अत्र 'हरी-हरी' इत्यावृत्तौ यमकालङ्कारः। 'हरी-हरि-हरी' इत्यत्र च वृत्त्यनुप्रासः। सूर्यकिरणानां श्मश्रुनाम्ना वर्णनादसम्बन्धे सम्बन्धरूपोऽतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—परमात्मना रचिताः सूर्यचन्द्रतारादिग्विदिक्प्रभृतयः सर्वेऽपि पदार्था विलक्षणास्तन्महिमप्रकाशकाश्च सन्ति ॥९॥

अगले मन्त्र का देवता इन्द्र है। इन्द्र नाम से परमात्मा का वर्णन है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परमात्मन्! **ते** तेरी रचित **श्मश्रूणि** मूँछों के समान प्रतीत होने वाली सूर्यकिरणें **हरी** मलिनताओं को हरने वाली हैं, **उत** और **ते** तेरी रचित **हरितौ** पूर्व-पश्चिमरूप, उत्तर-दक्षिणरूप अथवा ध्रुवा-ऊर्ध्वरूप दिशाएँ **हरी** मलिनता को हरने वाली हैं। **तं त्वा** उस तेरी **वनर्गवः** वनगामी वानप्रस्थ **कवयः परुषासः** मेधावी पुरुष **स्तुवन्ति** स्तुति करते हैं ॥९॥

इस मन्त्र में 'हरी' की आवृत्ति में यमक तथा 'हरी, हरि, हरी' में वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है। सूर्यकिरणों को श्मश्रु कहने में असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥९॥

भावार्थ—परमात्मा द्वारा रचित सूर्य, चन्द्र, तारे, दिशाएँ, विदिशाएँ आदि सभी पदार्थ विलक्षण और उसकी महिमा के प्रकाशक हैं ॥९॥

अथ आत्मनः आशीः। वर्चः आकाङ्क्षते।

६२४. यद्वर्चो हिरण्यस्य यद्वा वर्चो गवामुत।
सत्यस्य ब्रह्मणा वर्चस्तेन मा सं सृजामसि ॥१०॥
यत् वर्चः हिरण्यस्य। यत् वा वर्चः गवाम् उत॥
सत्यस्य ब्रह्मणः वर्चः। तेन मा सम् सृजामसि ॥१०॥

१. वननीयाः सम्भजनीयाः सेवनीयाः गावो येषां ते वनर्गवः। मध्यरेफश्छान्दसः, गोस्त्रियो (१।२।४८) रिति ह्रस्वत्वम्'—इति सा०।

पदार्थः—**यद्** अनुपमम् **वर्चः** तेजः **हिरण्यस्य** सुवर्णस्य भवति, **उत** अपि च **यद् वा** यद् अद्भुतम् **वर्चः** तेजः **गवाम्** धेनूनां सूर्यदीधितीनां वा भवति, यच्च **सत्यस्य ब्रह्मणः** सत्यस्य ज्ञानस्य **वर्चः** तेजः भवति **तेन** वर्चसा, वयम् **मा** अस्मान् । अत्र व्यत्ययेन नः इत्यस्य स्थाने मा इत्येकवचनप्रयोगः । **संसृजामसि** संयुक्तान् कुर्मः । सृज विसर्गे, 'इदन्तो मसि । अ० ७।१।४६' इति मस इदन्तत्वम् ॥१०॥

भावार्थः—यद् हिरण्ये रमणीयत्वरूपं बहुमूल्यत्वरूपं च, धेनुषु परोपकारित्वरूपं, सूर्यरश्मिषु प्राणप्रदानत्वरूपं, सत्ये वेदज्ञाने च शुद्धत्वरूपं तेजो भवति तत्तेजो मनुष्यैरपि प्राप्तव्यम् ॥१०॥

अगले मन्त्र में वर्चस् की आकांक्षा की गयी है ।

पदार्थ—**यत्** जो अनुपम **वर्चः** तेज **हिरण्यस्य** सुवर्ण का होता है, **उत** और **यद् वा** जो अद्भुत **वर्चः** तेज **गवाम्** गौओं का अथवा सूर्य-किरणों का होता है, और जो **सत्यस्य ब्रह्मणः** सत्य ज्ञान का **वर्चः** तेज होता है, **तेन** उस तेज से, हम **मा** अपने-आपको **संसृजामसि** संयुक्त करते हैं ॥१०॥

भावार्थ—जो सुवर्ण में रमणीयता और बहुमूल्यता का, गायों में परोपकारिता का, सूर्यकिरणों में प्राणप्रदानता का, सत्य वेदज्ञान में शुद्धता का तेज होता है, वह तेज मनुष्यों को भी प्राप्त करना चाहिए ॥१०॥

अथेन्द्रो देवता । परमात्मानं राजानं वा प्रार्थयते ।

२३ १ २ ३ २३ ऊ३ुक २१ २३ १ २
६२५. सहस्तन्न इन्द्र दद्धचोज ईशे ह्यस्य महतो विरप्शिन् ।
२३ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३२३ १२ ३१२
कृतुं न नृम्णं स्थविरं च वाजं वृत्रेषु शत्रून्त्सहना कृधी नः ॥११॥

१२१ ३ १२१ ३ २ ३
सहः तत् नः इन्द्र दद्धि ओजः । ईशे हि अस्य महतः विरप्शिन् वि रप्शिन् ॥
१२१ ३ २ १२१ ३ १२१ ३१२ १२१
क्रतुम् न नृम्णम् स्थविरम् स्थ विरम् च वाजम् । वृत्रेषु शत्रून्
३१२ ३ १२१ ३
सुहना सु हना कृधि नः ॥११॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** महावीर परमात्मन् राजन् वा ! त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **तत्** सर्वैः स्पृहणीयम् **सहः** शत्रुपराजयकरम् **ओजः** अध्यात्मं शारीरं च बलम् **दद्धि** देहि, **हि** यस्मात् हे **विरप्शिन्** महामहिम ! विरप्शीति महन्नाम । निघं० ३।३ । **अस्य** एतस्य **महतः** महत्त्वयुक्तस्य बलस्य, त्वम् **ईशे** ईशिषे अधीश्वरोऽसि । त्वम् अस्मभ्यम् **क्रतुम् न नृम्णम्** प्रज्ञामिव बलम्, प्रज्ञा च बलं चेत्यर्थः । क्रतुरिति प्रज्ञानाम । निघं० ३।९, नृम्णं च बलं, नन् नतम् । निरु० ११।७ । **स्थविरं च वाजम्** प्रचुरम् ऐश्वर्यं च दद्धि देहि । किञ्च, **वृत्रेषु** दुष्टेषु शत्रुषु **नः** अस्मान् **सहना**[1] प्रहारसहनशीलान् **शत्रून्** शातयितॄन् । सहना इत्यत्र 'सुपां सुलुक्० । अ० ७।१।३९' इति शसः आकारादेशः । **कृधि** कुरु ॥११॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥११॥

भावार्थः—परमेश्वरस्य कृपया, नृपतेः साहाय्येन, स्वपुरुषार्थेन च वयं बलिनो धनिनः शत्रुविजयिनश्च भूयास्म ॥११॥

अगले मन्त्र का इन्द्र देवता है । परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** महावीर परमात्मन् अथवा राजन् ! आप **नः** हमें **तत्** वह सबके चाहने योग्य **सहः** शत्रुपराजयकारी **ओजः** आत्मिक और शारीरिक बल **दद्धि** प्रदान करो, **हि** क्योंकि, हे **विरप्शिन्**

१. अस्माभिः सामसंहितासु 'सहना' इत्येव पाठो दृष्टः । 'सुहना' इति पदकाराभिमतः पाठः । स्वरे न कश्चिद् भेदः । पदपाठानुसरणे तु—'वृत्रेषु शत्रुषु, नः अस्मान्, सुहना सुष्ठु वधकर्तॄन्, शत्रून् रिपून् कृधि' इत्यर्थयोजना कार्या ।

महामहिम ! **अस्य** इस **महतः** महान् बल के आप **ईशे** अधीश्वर हो। आप हमें **क्रतुं न नृम्णम्** प्रज्ञा को और बल को **स्थविरं च वाजम्** और प्रचुर ऐश्वर्य को **दद्धि** प्रदान करो। और **वृत्रेषु** दुष्ट शत्रुओं के प्रति **नः** हमें **सहना** प्रहारों को सह सकने वाला **शत्नून्** वधकर्ता **कृधि** बनाओ ॥११॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलङ्कार है ॥११॥

भावार्थ—परमेश्वर की कृपा से, राजा की सहायता से और अपने पुरुषार्थ से हम बलवान्, धनवान् और शत्रु-विजयी होवें ॥११॥

अथ गौर्देवता। गवां साम्येनेन्द्रियाण्युच्यन्ते।

३१२ ३१२ ३२३ १२ ३२३ १२
६२६. सहर्षभाः सहवत्सा उदेत विश्वा रूपाणि बिभ्रतीर्घृचूध्नीः।
३२ ३२३१२ ३२३११ २१ ३२३१२
उरुः पृथुरयं वो अस्तु लोक इमा आपः सुप्रपाणा इह स्त ॥१२॥

३१२ ३२३ १२ ३२३ १२३ १२१ १२१
सहर्षभाः सह ऋषभाः सहवत्साः सह वत्साः उदेत उत् एत। विश्वा
३१२ १२१ ३ २ ३२ ३२ ३ २
रूपाणि बिभ्रतीः घृचूध्नीः द्वि ऊध्नीः॥ उरुः पृथुः अयम् वः अस्तु लोकः।
३२ १२१ ३ २ ३ २ ३२३
इमाः आपः सुप्रपाणाः सु प्रपाणाः इह स्त ॥१२॥

पदार्थः—हे इन्द्रियरूपा[1] गावः ! **सहर्षभाः** जीवात्मरूपेण वृषभेण सहिताः, **सहवत्साः** मनोरूपेण वत्सेन च सहिताः **विश्वा रूपाणि** सर्वाणि चक्षुःश्रोत्रत्वगाद्यानि नामानि **बिभ्रतीः** धारयन्त्यः **घृचूध्नीः** ज्ञान-कर्मरूपेण आपीनद्वयेन युक्ताः यूयम् **उदेत** उद्यमं कुरुत। **उरुः** सुदीर्घः **पृथुः** सुविस्तीर्णः **अयम्** एषः **लोकः** भुवनम् **वः** युष्मभ्यम् **अस्तु** भवतु। **इमाः** एताः **सुप्रपाणाः** सुखेन पातुम् आस्वादयितुं योग्याः **आपः** जलानीव आप्तव्याः रूपरसगन्धाद्याः विषयाः सन्ति, **इह स्त** एषु भवत, इमान् यथायोग्यम् आस्वादयध्वमित्यर्थः ॥१२॥

भावार्थः—धेनुपक्षेऽपि योजनीयम्। यथा गावो वृषभेण वत्सेन च सह विचरन्ति, तथा इन्द्रियाण्यात्मना मनसा च सह। यथा गावः श्वेतकृष्णादिरूपाणि बिभ्रति तथेन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रादिरूपाणि। यथा गावः सायंप्रातरुभयोः कालयोः पूर्णोधस्त्वेन घृचूध्नीः, तथेन्द्रियाणि ज्ञानेन कर्मणा च। यथा गावो विस्तीर्णेषु गोचरेषु विचरन्ति तथेन्द्रियाणि विस्तीर्णेषु विषयेषु। यथा गावः सुपेयानि जलानि पिबन्ति, तथेन्द्रियाणि विषयरसान्। एषामिन्द्रियरूपाणां गवां सज्ज्ञान-सत्कर्मरूपं पयः संसेव्य सततं दैहिक्याध्यात्मिकी च पुष्टिः सर्वैः प्राप्तव्या ॥१२॥

अत्राग्निजिह्वा - सर्वर्तुरमणीयत्व- परमपुरुषमहिम - मातापितृकर्तव्य - वर्चःसहःप्राप्त्यादिवर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्ति।

इति षष्ठे प्रपाठके तृतीयार्धे चतुर्थी दशतिः।
इति षष्ठेऽध्याये चतुर्थः खण्डः॥

अगले मन्त्र का गौ देवता है। गौओं के साम्य से इन्द्रियों को कहा जा रहा है।

पदार्थ—हे इन्द्रिय रूप गौओ ! **सहर्षभाः** जीवात्मारूप वृषभ से युक्त, **सहवत्साः** मन रूप बछड़े से युक्त, **विश्वा रूपाणि** आँख, कान, त्वचा आदि विभिन्न नामों को **बिभ्रतीः** धारण करती हुई, **घृचूध्नीः** ज्ञान-कर्म रूप दो ऊधसों से युक्त होती हुई तुम **उदेत** उद्यम करो। **उरुः** बहुत लम्बा, **पृथुः** बहुत चौड़ा

१. (गाः) इन्द्रियाणि—इति ऋ० १।१०।८ भाष्ये द०।

अयम् यह **लोकः** लोक **वः** तुम्हारे उपयोग के लिए **अस्तु** हो। **इमाः** ये **सुप्रपाणाः** सुख से आस्वादन किये जाने योग्य **आपः** जलों के समान प्राप्तव्य रूप, रस, गन्ध आदि विषय हैं, **इह** इनमें **स्त** रहो, अर्थात् इनका यथायोग्य आस्वादन करो ॥१२॥

भावार्थ—गायों के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए। जैसे गायें वृषभ और बछड़ों के साथ विचरती हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ आत्मा और मन के साथ। जैसे गायें सफेद, काले आदि रूपों को धारण करती हैं, वैसे इन्द्रियाँ आँख, कान आदि रूपों को। जैसे गायें प्रातः-सायं दोनों कालों में भरे हुए ऊधस् वाली होने से 'द्वयूध्नी' कहलाती हैं, वैसे इन्द्रियाँ ज्ञान और कर्म रूप ऊधस् वाली होने से 'द्वयूध्नी' होती हैं। जैसे गायें विस्तीर्ण चरागाहों में विचरती हैं, वैसे इन्द्रियाँ विस्तीर्ण विषयों में। जैसे गायें सुपेय जलों को पीती हैं, वैसे इन्द्रियाँ विषयरसों को। इन इन्द्रिय रूप गायों के श्रेष्ठ ज्ञान और श्रेष्ठ कर्म रूप दूध का सेवन कर निरन्तर शारीरिक और आत्मिक उन्नति सबको प्राप्त करनी चाहिए ॥१२॥

इस दशति में अग्नि की ज्वाला रूप जिह्वा, सब ऋतुओं की रमणीयता, परम पुरुष परमेश्वर की महिमा, माता-पिता के कर्तव्य, ब्रह्मवर्चस एवं बल की प्राप्ति आदि विषयों का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

षष्ठ प्रपाठक में तृतीय अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त ॥
षष्ठ अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥

॥५॥ अथ 'अग्न आयूंषि' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ शतं वैखानसाः; २ विभ्राट् सौर्यः; ३ कुत्सः; ४-६ सार्पराज्ञी; ७-१४ प्रस्कण्वः काण्वः ॥ देवता—१ अग्निः पवमानः; २-१४ सूर्यः ॥ छन्दः—१, ४-१४ गायत्रीः; २ जगती; ३ त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—१, ४-१४ षड्जः; २ निषादः; ३ धैवतः ॥

तत्राद्याया अग्निः पवमानो देवता। अग्निनाम्ना परमात्मा, विद्वान्, राजा च प्रार्थ्यते।

६२७. अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥१॥[1]

अग्ने आयूंषि पवसे। आ सुव ऊर्जम् इषम् च नः॥
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥१॥

पदार्थः—हे **अग्ने** अग्रनायक परमात्मन् विद्वन् राजन् वा! त्वम् **आयूंषि** अस्माकं जीवनानि **पवसे** पवित्रीकुर्याः। पूङ् पवने भ्वादिः, लेटि रूपम्। **नः** अस्मभ्यम् **ऊर्जम्** बलं प्राणं च। ऊर्ज बलप्राणनयोः, चुरादिः। **इषं च**[2] विज्ञानं च। इष गतौ दिवादिः। गतेस्त्रयोऽर्था ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च। **आ सुव** समन्तात्

१. ऋ० ९।६६।१९, य० १९।३८ ऋषिः वैखानसः। य० ३५।१६ ऋषयः आदित्या देवाः। साम० १४६४, १५१८।
२. (इषम्) इच्छासिद्धिम्—इति य० १९।३८ भाष्ये, (इषम्) विज्ञानम्-इति च य० ३५।१६ भाष्ये द०।

प्रेरय, आगमय। षू प्रेरणे तुदादिः। **दुच्छुनाम्**[1] दुर्गतिम् **आरे** दूरम् **बाधस्व** प्रक्षिप ॥१॥[2]

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—मनुष्यैः परमात्मानमुपास्य, विद्वांसौ स्त्री-पुरुषौ राजानं च संगत्य जीवनेषु पवित्रतामानीय, बलप्राणविज्ञानादिकं च संचित्य दुःखदुर्गत्यादयो विनाशनीयाः ॥१॥

प्रथम ऋचा का अग्नि पवमान देवता है। अग्नि नाम से परमात्मा, विद्वान् और राजा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **अग्ने** अग्रनायक परमात्मन्, विद्वन् अथवा राजन्! आप **आयूंषि** हमारे जीवनों को **पवसे** पवित्र करो। **नः** हमारे लिए **ऊर्जम्** बल एवं प्राण को **इषं च** और विज्ञान को **आसुव** चारों ओर से प्रेरित करो, लाओ। **दुच्छुनाम्** दुर्गति को **आरे** दूर **बाधस्व** धकेल दो ॥१॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥१॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि परमात्मा की उपासना कर, विद्वान् स्त्री-पुरुषों की और राजा की संगति कर, जीवनों में पवित्रता लाकर, बल, प्राणशक्ति, विज्ञान आदि का संचय कर दुःख, दुर्गति आदि को विनष्ट करें ॥१॥

अथाग्रे सर्वासां सूर्यो देवता। सूर्यदृष्टान्तेन परमात्मानं वर्णयति।

३ २ ३ १ २ ३ २३ ३ १२३१२३१ २
६२८. विभ्राड् बृहत् पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविहुतम्।
१२ ३ १ २ ३१२ ३ १२ ३ १ २ ३१२ २१
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पिपर्त्ति बहुधा वि राजति ॥२॥[3]

३ २ ३ २ ३२ ३ २ १२१ १२१ १२१ ३१२ ३२३
विभ्राट् वि भ्राट् बृहत् पिबतु सोम्यम् मधु। आयुः दधत् यज्ञपतौ यज्ञ पतौ
१२१ १२१ ३ १२१ १२१ ३ २ ३ १२ ३
अविहुतम् अवि हुतम्॥ वातजूतः वात जूतः यः अभिरक्षति अभि
१२१ १२१ ३२ ३२ ३ २ ३
रक्षति त्मना। प्रजाः प्र जाः पिपर्त्ति बहुधा वि राजति ॥२॥

पदार्थः—**विभ्राट्** सूर्यवद् विभ्राजमानः परमात्मा **बृहत्** महत् **सोम्यम्** ज्ञानकर्मरूपेण सोमेन युक्तम्। अत्र सोमशब्दात् 'मये च। अ० ४।४।१३८' इति मयडर्थे यः प्रत्ययः। **मधु** मधुरं भक्तिरसम् **पिबतु** आस्वादयतु, किञ्च सः **यज्ञपतौ** यजमाने **अविहुतम्** अकुटिलम्। ह्वृ कौटिल्ये, 'ह्वु ह्वरेश्छन्दसि। अ० ७।२।३१' इति धातोः ह्वु आदेशः। **आयुः** जीवनम् **दधत्** स्थापयन्, भवत्विति शेषः, **वातजूतः** वातेन प्राणायामेन जूतः प्रेरितः **यः** परमात्मा **त्मना** आत्मना। 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः। अ० ६।४।१४१' इत्याकारलोपः। **प्रजाः** जनान् **अभिरक्षति** परित्रायते, **पिपर्ति** शक्त्या पूरयति, **बहुधा** बहुप्रकारेण सच्चिदानन्दस्वरूप-निराकार-सर्वशक्तिमद्-दयाल्वादिरूपेण **विराजति** विशेषेण शोभते च। अत्र श्लेषेण सूर्यपक्षेऽप्यर्थो योजनीयः ॥२॥[4]

---

१. आकारान्तोऽयं शब्दः दुच्छुना ऋ० २।२३।६, दुच्छुनाः ऋ० १।११६।२१, दुच्छुनाभ्यः ऋ० २।३२।२, दुच्छुनायै ऋ० १।१८६।५ इत्यादिप्रयोगदर्शनात्। शुना गतिः (टुओश्वि गतिवृद्धयोः), दुष्टा शुना दुच्छुना दुर्गतिः। न तु 'दुच्छ्वा' इत्यस्य षष्ठ्यन्तं रूपं दुच्छुनामिति।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं यजुर्भाष्ये १९।३८ इत्यत्र विद्वत्पितृपितामहप्रपितामहपक्षे, ३५।१६ इत्यत्र च परमेश्वरपक्षे विद्वत्पक्षे च व्याख्यातवान्।

३. ऋ० १०।१७०।१, य० ३३।३०, उभयत्र 'प्रजाः पुपोष पुरुधा विराजति' इति पाठः। साम० १४५३।

४. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं यजुर्भाष्ये "हे राजादयो मनुष्याः! यथा सूर्यो वृष्टिद्वारा सर्वेषां जीवनं पालयति तद्वत् सद्गुणैर्महान्तो भूत्वा न्यायविनयाभ्यां प्रजाः सततं रक्षन्तु" इत्यर्थे व्याख्यातवान्।

भावार्थः—यथा भ्राजमानः सूर्यः समुद्रादीनां सलिलं पिबति तथा विभ्राजमानः परमेश्वरः भक्तजनानां भक्तिरसं पिबति। यथा सूर्यो दीर्घायुष्यं प्रयच्छति तथा परमेश्वरोऽकुटिलं जीवनं प्रयच्छति। यथा स्वाभ्यन्तरे विद्यमानैर्घनीभूतैर्वायुभिर्गतिमयः सूर्यो जनानभिरक्षति, तथा योगिनां प्राणायामाभ्यासैर्हृदये प्रेरितः परमेश्वरस्तान् रक्षति। यथा सूर्यः प्रजाः पालयति प्रतिमासं विभिन्नरूपैश्च प्रकटीभवति तथा परमेश्वरो जनान् पालयति पूरयति वा, बहुभी रूपैश्चोपासकानां हृदि प्रकाशते ॥२॥

आगे इस दशति में सब ऋचाओं का सूर्य देवता है। इस ऋचा में सूर्य के दृष्टान्त से परमात्मा का वर्णन किया गया है।

पदार्थ—**विभ्राट्** सूर्य के समान तेजस्वी परमात्मा **बृहत्** महान्, **सोम्यम्** ज्ञान एवं कर्म रूप सोम से युक्त **मधु** मधुर भक्तिरस को **पिबतु** पान करे। और वह **यज्ञपतौ** यजमान को **अविह्रुतम्** अकुटिल **आयुः** जीवन **दधत्** प्रदान करे, **वातजूतः** प्राणायाम से प्रेरित **यः** जो परमात्मा **त्मना** स्वयम् **प्रजाः** प्रजाओं की **अभिरक्षति** रक्षा करता है तथा **पिपर्ति** उन्हें शक्ति से पूर्ण करता है, और **बहुधा** सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान् आदि अनेक रूपों में **विराजति** विशेष रूप से शोभित होता है। यहाँ श्लेष से सूर्य के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए ॥२॥

भावार्थ—जैसे तेजस्वी सूर्य समुद्र आदि के जल का पान करता है, वैसे तेजस्वी परमेश्वर भक्तजनों के भक्तिरस का पान करता है। जैसे सूर्य दीर्घायुष्य प्रदान करता है, वैसे परमेश्वर अकुटिल जीवन प्रदान करता है। जैसे अपने अन्दर विद्यमान घनीभूत हवाओं से गतिमान् हुआ सूर्य मनुष्यों की रक्षा करता है, वैसे योगियों के प्राणायाम के अभ्यासों द्वारा हृदय में प्रेरित परमेश्वर उन योगीजनों की रक्षा करता है। जैसे सूर्य प्रजाओं का पालन करता है और प्रतिमास विभिन्न रूपों में प्रकट होता है, वैसे परमेश्वर प्रजाजनों का पालन करता तथा उन्हें पूर्ण बनाता है और अनेक रूपों में उपासकों के हृदय में प्रकाशित होता है ॥२॥

अथ सूर्योदयमिव परमात्मोदयं वर्णयति।

६२९. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥३॥[1]

चित्रम् देवानाम् उत् अगात् अनीकम्। चक्षुः मित्रस्य मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः ॥
आ अप्राः द्यावा पृथिवीइति अन्तरिक्षम्। सूर्य्यः आत्मा जगतः तस्थुषः च ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमः** सूर्यपक्षे। **देवानाम्** प्रकाशकानां सूर्यरश्मीनां **चित्रम्** अद्भुतम् चित्रवर्णं वा **अनीकम्** सैन्यम् **उद् अगात्** उद्गतम् अस्ति, यत् **मित्रस्य** शरीरे प्राणस्य बहिश्च अह्नः, **वरुणस्य** शरीरे अपानस्य बहिश्च रात्रेः। प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणः। श० ८।४।२।६। अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुणः। ऐ० ब्रा० ४।१०। किञ्च **अग्नेः** शरीरे वाचः बहिश्च पार्थिवाग्नेः। वागेवाग्निः। श० ३।२।२।१३। **चक्षुः** प्रकाशकं विद्यते। चक्षुः ख्यातेर्वा चष्टेर्वा। निरु० ४।३। दर्शनार्थात् चक्षिङ् धातोः 'चक्षेः शिच्च। उ० २।११९' इति उसिः प्रत्ययः। **सूर्यः** आदित्यः **द्यावापृथिवी** द्युलोकभूलोकौ। द्यौश्च पृथिवी च इति देवता-

१. ऋ० १।११५।१, य० ७।४२ अन्ते 'स्वाहा' इत्यधिकम्, य० १३। ४६ ऋषिः विरूपः। अथ० १३।२।३५ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः, 'आप्रा' इत्यत्र 'आप्राद्' इति पाठः। अथ० २०।१०७।१४ अत्रापि 'आप्राद्' इत्येव पाठः, ऋषिदेवते सामवत्।

द्वन्द्वे 'दिवो द्यावा । अ० ६।३।२९' इति दिवो द्यावादेशः । **अन्तरिक्षम्** अन्तरिक्षलोकं च **आ अप्राः** प्रकाशेन पूरितवानस्ति । स सूर्यः **जगतः** जङ्गमस्य मनुष्यपशुपक्ष्यादिकस्य **तस्थुषः** स्थावरस्य वृक्षपर्वतादेश्च **आत्मा** जीवनाधारः अस्ति ॥

अथ **द्वितीयः** परमात्मपक्षे । **देवानाम्** सत्याहिंसादीनां दिव्यगुणानाम् **चित्रम्** स्पृहणीयम् **अनीकम्** सैन्यम् **उद् अगात्** मदीये हृदये उदितम् अस्ति, यत् **मित्रस्य** मैत्रीगुणस्य, **वरुणस्य** पापनिवारणगुणस्य, **अग्नेः** अध्यात्मज्योतिषश्च **चक्षुः** प्रकाशकं वर्तते । हे परमात्मसूर्य ! त्वम्, **द्यावापृथिवी** दिवम् आनन्दमयकोशं, पृथिवीम् अन्नमयकोशम्, **अन्तरिक्षम्** मध्यस्थं प्राणमयं मनोमयं विज्ञानमयं च कोशम् **आ अप्राः** स्वतेजसा पूरितवानसि, यद्वा **द्यावापृथिवी** दिवं भूमिं च **अन्तरिक्षम्** मध्यलोकं च **आप्राः** स्वयशसा पूरितवानसि । **सूर्यः** तादृशः सूर्यवत् प्रकाशमानः प्रकाशकश्च त्वम् **जगतः** जङ्गमस्य **तस्थुषः च** स्थावरस्य च **आत्मा** अन्तर्यामी असि ॥३॥[1]

यास्कमुनिरिमं मन्त्रमेवं व्याचष्टे—चायनीयं देवानामुदगादनीकं ख्यानं मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्च, अपूपुरद् द्यावापृथिवी चान्तरिक्षं च महत्त्वेन, सूर्य आत्मा जङ्गमस्य स्थावरस्य च । निरु० १२।१६ ।

अत्र श्लेषालङ्कारः स्वभावोक्तिश्च ॥३॥

भावार्थः—यथा सूर्यः किरणान् विकीर्य स्थावरजङ्गमानुपकरोति तथा परमेश्वरो हृदये दिव्यगुणान् विकीर्य जनानां हितं साधयति ॥३॥

अगले मन्त्र में सूर्योदय के समान परमात्मा के उदय का वर्णन है।

पदार्थ—प्रथम सूर्य के पक्ष में । **देवानाम्** प्रकाशक सूर्य-किरणों की **चित्रम्** अद्भुत अथवा रंग-बिरंगी **अनीकम्** सेना **उद् अगात्** उदय को प्राप्त हुई है, जो **मित्रस्य** शरीर में प्राण की तथा बाहर दिन की, **वरुणस्य** शरीर में अपान की तथा बाहर रात्रि की और **अग्नेः** शरीर में वाणी की तथा बाहर पार्थिव अग्नि की **चक्षुः** प्रकाशक है । **सूर्यः** सूर्य ने **द्यावापृथिवी** द्युलोक और भूमिलोक को तथा **अन्तरिक्षम्** मध्यवर्ती अन्तरिक्षलोक को **आ अप्राः** प्रकाश से परिपूर्ण कर दिया है । वह सूर्य **जगतः** जंगम मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का तथा **तस्थुषः** स्थावर वृक्ष, पर्वत आदि का **आत्मा** जीवनाधार है ।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में । **देवानाम्** सत्य, अहिंसा आदि दिव्यगुणों की **चित्रम्** चाहने योग्य **अनीकम्** सेना **उद् अगात्** मेरे हृदय में उदित हुई है, जो **मित्रस्य** मैत्री के गुण की, **वरुणस्य** पापनिवारण के गुण की, और **अग्नेः** अध्यात्म-ज्योति की **चक्षुः** प्रकाशक है । हे परमात्मसूर्य ! आपने **द्यावापृथिवी** आनन्दमयकोश तथा अन्नमयकोश को और **अन्तरिक्षम्** मध्य के प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय कोश को **आ अप्राः** अपने तेज से भर दिया है, अथवा **द्यावापृथिवी** द्युलोक और भूलोक को, तथा **अन्तरिक्षम्** अन्तरिक्षलोक को **आ अप्राः** अपनी कीर्ति से भर दिया है । **सूर्यः** वह सूर्यवत् प्रकाशक आप **जगतः** जंगम के और **तस्थुषः** स्थावर के **आत्मा** अन्तर्यामी हो ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेष और स्वभावोक्ति अलंकार है ॥३॥

भावार्थ—जैसे सूर्य किरणों को बखेर कर स्थावर-जंगम का उपकार करता है, वैसे ही परमेश्वर हृदय में दिव्यगुणों को विकीर्ण कर मनुष्यों का हित सिद्ध करता है ॥३॥

---

१. दयानन्दर्षिरपि मन्त्रमेतम् ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च परमेश्वरविषय एव व्याख्यातवान् ।

अथ गोनाम्ना सूर्यो भूलोकः परमात्मा जीवात्मा स्तोता च वर्ण्यते ।

६३०. आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः ।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥४॥[1]
आ अयम् गौः पृश्निः अक्रमीत् । असदत् मातरम् पुरः ॥
पितरम् च प्रयन् प्र यन् स्वाऽ३रिति ॥४॥

पदार्थः—**प्रथमः** सूर्यपक्षे । **अयम्** एषः **पृश्निः गौः** चित्रवर्णः सूर्यः । पृश्निः आदित्यो भवति, प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः । संस्पृष्टा रसान्, संस्पृष्टा भासं ज्योतिषां, संस्पृष्टो भासेति वा । गौः आदित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे । निरु० २।१४ । **आ अक्रमीत्** परितः क्राम्यति, अक्षपरिभ्रमणं करोतीत्यर्थः । **पुरः** समक्षं स्थितः सन् **मातरम्** अस्मन्मातृभूतां भूमिम् **असदत्** आसीदति, किरणैः प्राप्नोति । पद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु । अत्र गत्यर्थात् सामान्यार्थे लुङ् । **पितरम्** अस्मत्पितृभूतम् **स्वः च** अन्तरिक्षं च **प्रयन्** स्वरश्मिभिः प्रगच्छन्, स्थितोऽस्तीति शेषः ।

अथ **द्वितीयो** भूमण्डलपक्षे । **अयम्** एषः **पृश्निः** नानावर्णः **गौः** भूगोलः । इयं **पृथिवी** पृश्निः । तै० ब्रा० १।४।१।५ । इति ह पृथिव्याः पृश्नित्वं विज्ञायते । **आ अक्रमीत्** आ समन्तात् अक्षपरिभ्रमणं करोति । **पुरः** पश्चिमतः पूर्वं पूर्वम् **पितरम्** पितृभूतम् **स्वः** आदित्यं परितः । स्वः आदित्यो भवति इति निरुक्तम् । २।१४ । **प्रयन्** अण्डाकृतिमार्गे वेगेन धावन् **मातरम्** मातृभूतम् अन्तरिक्षम्, मातुः अन्तरिक्षस्य अङ्कम् इत्यर्थः । माता अन्तरिक्षम्, निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि । निरु० २।८ । **असदत्** आसीदति । पृथिव्या भ्रमणमपि सूर्यस्यैव महत्त्वं द्योतयतीत्यत्रापि मन्त्रस्य सूर्यदेवतात्वं न व्याहन्यते ॥[2]

अथ **तृतीयः** परमेश्वरपक्षे, ऋचोऽस्या वैकल्पिकत्वेनात्मदेवताकत्वात् ।[3] **अयम्** एषः **पृश्निः** भासा संस्पृष्टः **गौः** सर्वज्ञः सर्वव्यापी परमेश्वरः । गच्छति व्याप्नोति जानाति वा सर्वमिति गौः परमेश्वरः । **आ अक्रमीत्** पिण्डे ब्रह्माण्डे वा सर्वत्र पादविक्षेपं करोति, अन्तर्यामित्वेन तिष्ठतीत्यर्थः । **मातरम्** अध्यवसायात्मकज्ञानस्य निर्मात्रीं बुद्धिम् **पुरः** समक्षम् **असदत्** तिष्ठति, **पितरम्** पालकम् **स्वः च** सुखस्य भोक्तारं जीवात्मानं च **प्रयन्** प्राप्नुवन् भवति ॥

अथ **चतुर्थः** जीवात्मपक्षे । **अयम्** एषः **पृश्निः** चित्रविचित्रकर्मसंस्कारः **गौः** प्रयत्नशीलो विज्ञाता वा जीवात्मा । गच्छति चेष्टते जानाति वा स गौः आत्मा । **आ अक्रमीत्** कर्मानुसारं मानवदेहं प्राप्नोति, **पुरः** प्रथमम् **मातरम्** जननीम्, तस्या उदरम् इत्यर्थः **असदत्** गच्छति, **च** पश्चाच्च जन्मानन्तरम् **स्वः** विज्ञानप्रकाशयुक्तम् **पितरम्** जनकम् **प्रयन्** प्रगच्छन् भवति ॥

अथ **पञ्चमः** स्तोतृपक्षे । **अयम्** एषः **पृश्निः** चित्रगुणोपेतः **गौः** सूर्यवत् ज्ञानमयेन ज्योतिषा युक्तः स्तोता । गौरिति स्तोतृनामसु पठितम् । निघं० ३।१६ । **आ अक्रमीत्** सर्वतः पुरुषार्थरूपं पादविक्षेपं करोति, **पुरः** अग्रे भूत्वा **मातरम्** वेदवाग्रूपां मातरम् **असदत्** प्राप्नोति, ततस्तन्माध्यमेन **स्वः** प्रकाशमयम् **पितरम् च** परमात्मरूपं जनकं च **प्रयन्** प्राप्नुवन् भवतीति शेषः, प्राप्तुं यतते इत्यर्थः ॥४॥

१. ऋ० १०।१८३।१ देवता सार्पराज्ञी सूर्यो वा । य० ३।६ ऋषिः सर्पराज्ञी कद्रूः । देवता अग्निः । साम० १३७६ । अथ० ६।३१।१ ऋषिः उपरिबभ्रवः, देवता गौः । अथ० २०।४८।४ ऋषिः सर्पराज्ञी, देवता सूर्यः, गौः ।

२. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां पृथिव्यादिलोकभ्रमणप्रकरणे भूगोलसूर्यचन्द्रादिलोकभ्रमणविषये, यजुर्भाष्ये च भूलोकस्य सूर्यं परितो भ्रमणविषये व्याख्यातः ।

३. आयं गौ पृश्निरित्यस्य सार्पराज्ञी समैक्षत । ऋचस्तिस्रो भवेदासां विकल्पेनात्मदेवता ॥ इति सा० ।

अत्र श्लेषालङ्कारः ।।४।।

भावार्थः—सूर्यस्य स्थानान्तरगतिर्नास्ति, स स्वधुर्येव परिभ्रमति, पृथिवीमितरांश्च ग्रहोपग्रहान् सोममंगलबुधबृहस्पत्यादीन् स्वकीयै रश्मिभिरुपगम्य प्रकाशयति। पृथिव्याश्च द्विविधा गतिरस्ति, प्रथमा स्वधुरि ययाऽहोरात्रौ भवतः, द्वितीया च नियतकक्षायां सूर्यं परितः, यया संवत्सरचक्रं प्रवर्तते। परमेश्वरः सर्वव्यापकः सन् शरीरस्थान् आत्ममनोबुद्ध्यादीन् ब्रह्माण्डस्थांश्च सूर्यचन्द्रपृथिव्यादीन् सञ्चालयति। जीवात्मा शुभाशुभकर्मानुसारं मातुर्गर्भं प्राप्य जन्म गृह्णाति। परमात्मनः स्तोता च पुरुषार्थी भूत्वा वेदवाग्रूपां मातरं पितरं परमात्मानं चोपगच्छति ।।४।।

अगले मन्त्र में सूर्य, पृथिवीलोक, परमात्मा, जीवात्मा और स्तोता का वर्णन है।

पदार्थ—**प्रथम** सूर्य के पक्ष में। **अयम्** यह **पृश्निः गौः** रंग-बिरंगा सूर्य **आ अक्रमीत्** चारों ओर अक्ष-परिभ्रमण कर रहा है। **पुरः** सामने स्थित हुआ **मातरम्** हमारी मातृभूमि को **असदत्** किरणों द्वारा प्राप्त होता है, **च** और **पितरम्** हमारे पितृतुल्य **स्वः** अन्तरिक्ष को भी **प्रयन्** किरणों द्वारा प्राप्त होता हुआ स्थित है ।।

द्वितीय भूमण्डल के पक्ष में। **अयम्** यह **पृश्निः** रंग-बिरंगा **गौः** भूमण्डल **आ अक्रमीत्** अपने चारों ओर अक्ष-परिभ्रमण कर रहा है, और **पुरः** पश्चिम से पूर्व-पूर्व की ओर **पितरम्** अपने पिता **स्वः** सूर्य के चारों ओर भी **प्रयन्** गति करता हुआ **मातरम्** अन्तरिक्ष रूप माता की गोद में **असदत्** स्थित है। पृथिवी का भ्रमण भी सूर्य के ही महत्त्व को प्रकट करता है, अतः इस पक्ष में भी मन्त्र का देवता सूर्य होने में कोई दोष नहीं आता ।।

तृतीय परमेश्वर के पक्ष में। **अयम्** यह **पृश्निः** ज्योतिर्मय **गौः** सर्वज्ञ, सर्वव्यापी परमेश्वर **आ अक्रमीत्** शरीर में और ब्रह्माण्ड में चारों ओर गया हुआ है, अर्थात् अन्तर्यामी है, **मातरम्** निश्चयात्मक ज्ञान की जननी बुद्धि के **पुरः** आगे **असदत्** स्थित होता है, **च** और **पितरम्** पालनकर्ता **स्वः** सुख के भोक्ता जीवात्मा को **प्रयन्** प्राप्त होता है ।।

चतुर्थ जीवात्मा के पक्ष में। **अयम्** यह **पृश्निः** चित्र-विचित्र कर्मसंस्कारों से युक्त **गौः** प्रयत्नशील, विज्ञाता जीवात्मा **आ अक्रमीत्** कर्मों के अनुसार मनुष्य-शरीर को प्राप्त होता है। **पुरः** पहले **मातरम्** माता को अर्थात् माता के गर्भाशय को **असदत्** प्राप्त होता है, **च** और जन्म के अनन्तर **स्वः** विज्ञानप्रकाश से युक्त **पितरम्** पिता को **प्रयन्** प्राप्त होता है ।।

पंचम स्तोता के पक्ष में। **अयम्** यह **पृश्निः** आश्चर्यमय गुणों वाला **गौः** ज्ञानज्योति से सूर्यवत् भासमान स्तोता **आ अक्रमीत्** चारों ओर पुरुषार्थ करता है, **पुरः** आगे होकर **मातरम्** वेदवाणी रूप माता को **असदत्** प्राप्त करता है, **च** और **स्वः** प्रकाशमान **पितरम्** परमात्मा रूप पिता को **प्रयन्** प्राप्त करने का यत्न करता है ।। निघण्टु ३।१६ के अनुसार गौ स्तोता का वाचक होता है ।।४।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।४।।

भावार्थ—सूर्य की स्थानान्तर गति नहीं है, वह अपनी धुरी पर ही घूमता है और पृथिवी तथा अन्य ग्रहों-उपग्रहों सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति आदियों को अपनी किरणों से प्राप्त होकर प्रकाशित करता है। पृथिवी की दो प्रकार की गति है, पहली उसकी अपनी धुरी पर, जिसके द्वारा अहोरात्र बनते हैं, दूसरी अपनी नियत कक्षा में सूर्य के चारों ओर, जिससे संवत्सरचक्र चलता है। परमेश्वर सर्वव्यापक होता हुआ शरीर में स्थित आत्मा, मन और बुद्धि आदियों का तथा ब्रह्माण्ड में स्थित सूर्य, चन्द्रमा एवं पृथिवी आदियों का संचालन करता है। जीवात्मा शुभ और अशुभ कर्म के अनुसार माता के गर्भ को

प्राप्त करके जन्म ग्रहण करता है, और परमात्मा का स्तोता पुरुषार्थी होकर वेदवाणीरूप माता को तथा पिता परमात्मा को प्राप्त करता है ॥४॥

अथ सूर्यस्य परमात्मनश्च तेजो वर्णयति ।

६३१. अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती ।
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥५॥[1]

अन्तरिति चरति रोचना । अस्य प्राणात् प्र आनात्
अपानती अप अनती ॥ वि अख्यत् महिषः दिवम् ॥५॥

पदार्थः—**अस्य** एतस्य गोः सूर्यस्य परमात्मनो वा **रोचना** दीप्तिः **प्राणात्** प्राणनव्यापारानन्तरम् **अपानती** अपाननव्यापारं कारयन्ती **अन्तः** भुवो हृदयस्य चाभ्यन्तरे **चरति** विचरति । एष **महिषः** महान् सूर्यः परमेश्वरो वा । महिष इति महन्नाम । निघं० ३।३ । **दिवम्** आकाशं जीवात्मानं वा **व्यख्यत्** प्रकाशयति ॥५॥[2]

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—योऽयं प्राणः प्राणापानव्यानसमानोदानरूपेण देहेऽवस्थितः प्राणनापाननादिव्यापारं कुरुते तत्परमेश्वरमहिम्नैव, 'स उ प्राणस्य प्राणः' (केन० १।२) इति वचनात् । अपि च तद्विरचितः सूर्योऽपि स्वरश्मिभिः प्राणिभ्यः प्राणं प्रयच्छन् प्राणापानादिक्रियासु सहायको भवति, 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' (प्रश्न० १।८) इत्यादि स्मरणात् । परमेश्वर एव सूर्यद्वारेणाकाशस्थानि पिण्डान्यपि प्रकाशयति ॥५॥

अगले मन्त्र में सूर्य और परमात्मा के तेज का वर्णन है ।

पदार्थ—**अस्य** इस सूर्य वा परमात्मा की **रोचना** दीप्ति **प्राणात्** प्राण-व्यापार के पश्चात् **अपानती** अपान व्यापार कराती हुई **अन्तः** भूमि पर वा हृदय के अन्दर **चरति** विचरती है। यह **महिषः** महान् सूर्य वा परमात्मा **दिवम्** आकाश को वा जीवात्मा को **व्यख्यत्** प्रकाशित करता है ॥५॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है ॥५॥

भावार्थ—जो यह प्राण प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान रूप से शरीर में स्थित हुआ प्राणन, अपानन आदि व्यापार करता है, वह परमेश्वर की ही महिमा से करता है, जैसाकि उपनिषद् के ऋषि ने कहा है—'परमेश्वर प्राण का भी प्राण है (केन० १।२)'। परमेश्वर से रचित सूर्य भी अपनी किरणों से प्राणियों को प्राण प्रदान करता हुआ प्राणापान आदि क्रियाओं में सहायक होता है, जैसाकि प्रश्न उपनिषद् में कहा है—'यह सूर्य प्रजाओं का प्राण होकर उदित हो रहा है (प्रश्न० १।८)'। परमेश्वर ही सूर्य के द्वारा आकाशस्थ पिण्डों को भी प्रकाशित करता है ॥५॥

---

१. ऋ० १०।१८६।२, देवता सार्पराज्ञी सूर्यो वा। य० ३।७ ऋषिः सार्पराज्ञी कद्रूः, देवता अग्निः। साम० १३७७। अथ० ६।३१।२ ऋषिः उपरिबभ्रवः, देवता गौः। अथ० २०।४८।५ ऋषिः सर्पराज्ञी, देवता सूर्यः, गौः।

२. दयानन्दर्षिर्यजुर्भाष्ये मन्त्रमेतं विद्युदग्निपक्षे व्याख्यातवान्।

अथ पुनरपि सूर्यः परमात्मा च वर्ण्यते ।

३ २,३ ३ १ २ ३ १ २,३,१ २
६३२. त्रिंशद्धाम वि राजति वाक् पतङ्गाय धीयते ।
२ ३ २ ३,२,३ १ २
प्रति वस्तोरह द्युभिः ॥६॥[1]

३ २ १,२,१ ३ २ ३ १ २ ३
त्रिंशत् धाम वि राजति । वाक् पतङ्गाय धीयते ॥
१,२,१ १ २,१ १,२,१ १ २,१
प्रति वस्तोः अह द्युभिः ॥६॥

पदार्थः—एष सूर्यः परमात्मा वा **त्रिंशद् धाम** मासस्य त्रिंशत्संख्यकेष्वपि अहोरात्रेषु **वि राजति** विशेषेण भासमानो भवति । त्रिंशद् धाम इत्यत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । अ० २।३।५' इति द्वितीया । धाम इत्यत्र 'शेश्छन्दसि बहुलम् । अ० ६।१।७०' इति शिलोपः । तस्मै **पतङ्गाय** अक्षपरिभ्रमणशीलाय सूर्याय, कर्मयोगिने परमात्मने वा । पतति गच्छतीति पतङ्गः 'पतेरङ्गच् पक्षिणि[2] । उ० १।११९' इति पत धातोः अङ्गच् प्रत्ययः । चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् । **वाक्** वाणी **धीयते** धार्य्यते, वाचा तद्गुणकर्मस्वरूपं वर्ण्यते इत्यर्थः । स सूर्यः परमात्मा च **प्रतिवस्तोः** प्रतिदिनम् । वस्तोः इत्यहर्नामसु पठितम् । निघं० १।९ । **अह** एव **द्युभिः** किरणैः तेजोभिर्वा, सर्वं प्रकाशयति इति शेषः ॥६॥[3]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥६॥

भावार्थः—यथा सूर्यः प्रतिदिनं दिव्यन्तरिक्षे भुवि च प्रकाशते, तथा परमात्मापि स्वकृतिभिः सर्वत्र यशसा भासते । तस्य सूर्यस्य परमात्मनश्च गुणकर्मादिकमुपवर्ण्य लाभाः सर्वैः प्राप्तव्याः ॥६॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ—यह सूर्य वा परमात्मा **त्रिंशद् धाम** मास के तीसों दिन-रातों में **वि राजति** विशेष रूप से भासित होता है । उस **पतङ्गाय** अक्ष-परिभ्रमण करने वाले सूर्य के लिए वा कर्मण्य परमात्मा के लिए अर्थात् उनका गुण-कर्म-स्वरूप वर्णन करने के लिए **वाक्** वाणी **धीयते** प्रयुक्त की जाती है। वह सूर्य और परमात्मा **प्रतिवस्तोः** प्रतिदिन **अह** ही **द्युभिः** किरणों वा तेजों से, सबको प्रकाशित करता है ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥६॥

भावार्थ—जैसे सूर्य प्रतिदिन द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और भूलोक में प्रकाशित होता है, वैसे ही परमात्मा भी अपनी कृतियों से सर्वत्र यश से भासमान है । उस सूर्य और परमात्मा के गुण-कर्म आदि वर्णन करके लाभ सबको प्राप्त करने उचित हैं ॥६॥

अथ पुनरपि सूर्यस्य परमात्मनश्च महिमा वर्ण्यते ।

२,३ २ ३,१,२ ३ १,२ ३ १,२
६३३. अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः ।
१ २ ३,१,२
सूराय विश्वचक्षसे ॥७॥[4]

---

१. ऋ० १०।१८९।३ देवता सार्पराज्ञी सूर्यो वा । य० ३।८ ऋषिः सर्पराज्ञी कद्रूः, देवता अग्निः । साम० १३७८ । अथ० ६।३१।३ ऋषिः उपरिबभ्रवः, देवता गौः । अथ० २०।४८।६ ऋषिः सर्पराज्ञी, देवता सूर्यः, गौः ।

२. पक्षिणीत्युच्यमानेऽपि बाहुलकात् 'पतङ्गः सूर्योऽग्निरश्वः शलभः शालिभेदो वा' इत्यादीनामपि नामानि भवन्ति' इत्युणादिकोशव्याख्याने द० ।

३. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् यजुर्भाष्ये "या वाणी प्राणयुक्तेन शरीरस्थेन विद्युदाख्येनाग्निना नित्यं प्रकाश्यते सा तद्गुणप्रकाशाय विद्वद्भिर्नित्यमुपदेष्टव्या श्रोतव्या चेति" विषये व्याख्यातः ॥

४. ऋ० १।५०।२, अथ० १३।२।१७ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः । अथ० २०।४७।१४ ।

१ २१ ३ १ २ ३ १ २१ ३ १ २
अप त्ये तायवः यथा । नक्षत्रा यन्ति अक्तुभिः ।।
१ २१ ३ १ २ ३ २ ३
सूराय विश्वचक्षसे विश्व चक्षसे ।।७।।

पदार्थः—**प्रथमः** सूर्यपक्षे । **विश्वचक्षसे** सर्वप्रकाशकाय **सूराय** सूर्याय, भिया तस्मै अवकाशं प्रदातुमिवेत्यर्थः, **अक्तुभिः** रात्रिभिः सह । अक्तुरिति रात्रिनाम । निघं० १।७ । **नक्षत्रा** तारावल्यः । नक्षत्राणि इति प्राप्ते, 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शिलोपः । **अप यन्ति** अप गच्छन्ति, निलीयन्ते । कथमिव ? **त्ये** ते, रात्रौ परगृहे सन्धिच्छेदादिकं कुर्वाणाः **तायवः यथा** तस्कराः यथा सूर्यागमे निलीयन्ते तद्वदित्यर्थः । तायुरिति स्तेननाम । निघं० ३।२४ ।

अथ **द्वितीयः** परमात्मपक्षे । यदा हृदयगगने परमात्मसूर्यं उदयोन्मुखो भवति तदा **विश्वचक्षसे** सर्वद्रष्ट्रे सर्वप्रकाशकाय वा **सूराय** तस्मै प्रेरकाय परमात्मने । षू प्रेरणे धातोः 'सुसूधाञ् । उ० २।२४' इति क्रन् प्रत्ययः । भिया तस्मै अवकाशं प्रदातुमिव **त्ये तायवः यथा** ते परविद्रावकाः तस्कराः इव **नक्षत्रा** सक्रियाः कामक्रोधलोभमोहादयः । नक्षतेर्गतिकर्मणः 'अभिनक्षियजि० । उ० ३।१०५' इति अत्रन् प्रत्ययः । **अक्तुभिः** तमोगुणव्याप्तिरूपाभिर्निशाभिः सह **अपयन्ति** अपगच्छन्ति ।।७।।[1]

अत्रोपमालङ्कारः श्लेषश्च ।।७।।

भावार्थः—यथा गगने सूर्यमुदयोन्मुखं वीक्ष्य तीव्रप्रभाभीता इव तारागणाश्चौरा इव निलीयन्ते तथैव तेजोनिधिं परमेश्वरं हृदयाकाशे समुद्यन्तं विलोक्य दुर्धर्षात् तत्प्रतापात् त्रस्ताः कामक्रोधादयः पलायन्ते ।।७।।

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ—**प्रथम** सूर्य के पक्ष में । **विश्वचक्षसे** सर्वप्रकाशक **सूराय** सूर्य के लिए, अर्थात् मानो भय के मारे उसे स्थान देने के लिए **अक्तुभिः** रात्रियों सहित **नक्षत्रा** तारावलियाँ **अप यन्ति** अदृश्य हो जाती हैं, **यथा** जैसे **त्ये** वे, दूसरों के घर में सेंध लगाने वाले **तायवः** चोर, सूर्य के आने पर कहीं छिप जाते हैं ।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में । जब हृदयाकाश में परमात्मारूप सूर्य उदयोन्मुख होता है तब **विश्वचक्षसे** सर्वप्रकाशक **सूराय** उस प्रेरक परमात्मा के लिए, अर्थात् मानो भय के मारे उसे स्थान देने के लिए **त्ये तायवः यथा** वे उन परपीडक प्रसिद्ध चोरों की भाँति **नक्षत्रा** सक्रिय काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि **अक्तुभिः** तमोगुण की व्याप्ति रूप रात्रियों सहित **अपयन्ति** हट जाते हैं ।।७।।

इस मन्त्र में उपमा और श्लेष अलंकार हैं ।।७।।

भावार्थ—जैसे आकाश में सूर्य को उदयोन्मुख देखकर मानो उसकी तीव्र प्रभा से भयभीत हुए तारागण चोरों के समान छिप जाते हैं, वैसे ही तेज के निधि परमेश्वर को हृदयाकाश में उदित होता हुआ देख, उसके दुर्धर्ष प्रताप से त्रस्त हुए काम-क्रोध आदि भाग खड़े होते हैं ।।७।।

पुनरपि सूर्यः परमात्मा च वर्ण्यते ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
६३४. **अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु ।**
१ २ ३ १ २
भाजन्तो अग्नयो यथा ।।८।।[2]

---

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये (ऋ० १।५०।२) "यथा रात्रौ नक्षत्राणि चन्द्रेण प्राणाश्च शरीरेण सह वर्तन्ते तथा विवाहितस्त्रीपुरुषौ वर्त्तेयाताम्" इति विषये व्याख्यातवान् ।

२. ऋ० १।५०।३, अथ० १३।२।१८ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः । अथ० २०।४७।१५ ।

अदृश्रन् अस्य केतवः । वि रश्मयः जनान् अनु ॥
भ्राजन्तः अग्नयः यथा ॥८॥

पदार्थः—**अस्य** सूर्यस्य, तद्वद् भासमानस्य परमात्मनो वा **केतवः** प्रज्ञापकाः **रश्मयः** किरणाः प्रकाशाः वा **जनान् अनु** जातान् पदार्थान्, उपासकान् मनुष्यान् वा अनुप्राप्य **भ्राजन्तः** भ्राजमानाः **अग्नयः यथा** वह्नयः इव **वि अदृश्रन्** विलोक्यन्ते। दृश् धातोः कर्मणि लङर्थे लुङि 'इरितो वा। अ० ३।१।५७' इति अङ्, 'बहुलं छन्दसि। अ० ७।१।८' इति रुडागमः, 'ऋदृशोऽङि गुणः। अ० ७।४।१६' इति प्राप्तौ गुणाभावश्च ॥८॥[1]

अत्र श्लेषोपमालङ्कारौ, नतूत्प्रेक्षा काव्यसम्प्रदाये यथाशब्दस्योत्प्रेक्षावाचकत्वास्वीकरणात्।

भावार्थः—सूर्यस्य किरणा यदा स्वच्छेषु सुवर्णरजतताम्रपित्तलकाचादिषु पतन्ति तदा तत्र भासमानास्ते प्रज्वलद्वह्निसदृशाः प्रतीयन्ते। तथैव मनोभूमौ पतत् परमेश्वरस्य तेजोऽपि योगिभिः प्रज्वलितो विभावसुरिवानुभूयते ॥८॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा का वर्णन है।

पदार्थ—**अस्य** इस सूर्य के अथवा सूर्य के समान भासमान परमात्मा के **केतवः** प्रज्ञापक **रश्मयः** किरणों वा प्रकाश **जनान् अनु** उत्पन्न पदार्थों को वा उपासक मनुष्यों को प्राप्त होकर **भ्राजमानाः** चमकती हुई **अग्नयः यथा** अग्नियों के समान **वि अदृश्रन्** दिखायी देते हैं ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेष और उपमालंकार हैं, उत्प्रेक्षा नहीं, क्योंकि काव्यसम्प्रदाय में यथा शब्द उत्प्रेक्षावाचक नहीं माना गया है ॥८॥

भावार्थ—सूर्य की किरणें जब स्वच्छ सोने, चाँदी, तांबे, पीतल, काँच आदि पर पड़ती हैं तब उन पर चमकती हुई वे जलती हुई अग्नि के तुल्य प्रतीत होती हैं। उसी प्रकार मनोभूमि पर पड़ते हुए परमेश्वर के तेज को भी योगी लोग प्रज्वलित अग्नि के तुल्य अनुभव करते हैं ॥८॥

पुनरपि सूर्यः परमात्मा च वर्ण्यते।

६३८. तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य।
विश्वमाभासि रोचनम् ॥९॥[2]
तरणिः विश्वदर्शतः विश्व दर्शतः। ज्योतिष्कृत् ज्योतिः कृत् असि सूर्य ॥
विश्वम् आ भासि रोचनम् ॥९॥

पदार्थः—हे **सूर्य** आदित्यवद् भासमान सर्वप्रेरक परमात्मन्! त्वम् **तरणिः** भवसागरात् तारयिता, **विश्वदर्शतः** सर्वैर्मुमुक्षुभिर्दर्शनीयः सर्वद्रष्टा वा, **ज्योतिष्कृत्** विवेकख्यातिरूपस्य अन्तर्ज्योतिषः कर्ता **असि** विद्यसे। किञ्च, **विश्वम्** सकलम् **रोचनम्** रोचमानं ब्रह्माण्डम् **आभासि** समन्तात् प्रकाशयसि।

भौतिकः सूर्योऽपि **तरणिः** रोगेभ्यस्तारकः, **विश्वदर्शतः** स्वप्रकाशेन सर्वेषां पदार्थानां दर्शयिता,

---

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये (ऋ० १।५०।३) "यथास्य सूर्यस्य भ्राजन्तोऽग्नयः केतवो रश्मयो जनाननुभ्राजन्तः सन्ति तथाहं स्वस्त्रियं स्वपुरुषञ्चैव गम्यत्वेन व्यदृश्रं नान्यथेति यावत्।" इति विषये व्याख्यातवान्।

२. ऋ० १।५०।४, य० ३३।३६, अथ० १३।२।१६ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः। अथ० २०।४७।१६। अथर्ववेदे उभयत्र 'रोचनम्' इत्यत्र 'रोचन' इति पाठः।

ज्योतिष्कृत् पृथिव्यादिलोकेषु प्रकाशस्य कर्त्ता च अस्ति। किञ्च, **विश्वम्** सर्वम् **रोचनम्** दीप्तं मंगलबुधचन्द्रादिकं ग्रहोपग्रहगणम् आभाति समन्तात् प्रकाशयति ॥९॥[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—सूर्यपरमात्मनोर्मन्त्रोक्तान् गुणधर्मान् ज्ञात्वा सूर्यसेवनेन रोगाद्या निवारणीयाः, परमात्मध्यानेन च दुःखानि परिहृत्य मोक्षानन्दः प्रापणीयः ॥९॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा का वर्णन है।

पदार्थ—हे **सूर्य** सूर्य के समान तेजस्वी सर्वप्रेरक परमात्मन्! आप **तरणिः** भवसागर से तराने वाले, **विश्वदर्शतः** सब मुमुक्षुओं से दर्शन किये जाने योग्य और सर्वद्रष्टा, तथा **ज्योतिष्कृत्** विवेकख्यातिरूप अन्तर्ज्योति को उत्पन्न करने वाले **असि** हो। और **विश्वम्** समस्त **रोचनम्** चमकीले ब्रह्माण्ड को **आभासि** चारों ओर से प्रकाशित करते हो।

भौतिक सूर्य भी **तरणिः** रोगों से तराने वाला, **विश्वदर्शतः** अपने प्रकाश से सब पदार्थों को दिखाने वाला और **ज्योतिष्कृत्** पृथिवी आदि लोकों में प्रकाश देने वाला है, और **विश्वम्** सब **रोचनम्** प्रदीप्त मंगल, बुध, चन्द्रमा आदि ग्रहोपग्रहों को प्रकाशित करता है ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥९॥

भावार्थ—सूर्य तथा परमात्मा के मन्त्रोक्त गुण-धर्मों को जानकर सूर्य के सेवन द्वारा रोगादि का निवारण करना चाहिए तथा परमात्मा के ध्यान द्वारा दुःखों को दूर कर मोक्ष का आनन्द प्राप्त करना चाहिए ॥९॥

पुनरपि सूर्यः परमात्मा च वर्ण्यते।

६३६. प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान्।
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥१०॥[2]
प्रत्यङ् प्रति अङ् देवानाम् विशः। प्रत्यङ् प्रति अङ् उत् एषि मानुषान् ॥
प्रत्यङ् प्रति अङ् विश्वम् स्वः दृशे ॥१०॥

पदार्थः—हे परमात्मसूर्य! त्वम् **देवानाम्** विद्याप्रकाशकानाम् आचार्याणाम् **विशः** प्रजाः, अधीतविद्यान् स्नातकान् इत्यर्थः **प्रत्यङ्** अभिमुखो भवन्, किञ्च **मानुषान्** अन्यान् मननशीलान् जनान् **प्रत्यङ्** अभिमुखो भवन् **उदेषि** तेषामन्तःकरणे आविर्भवसि। अपि च **विश्वम्** सकलं वर्णाश्रमधर्मपालन-

---

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये सूर्यविद्युदुपमानत्वेन परमेश्वरपक्षे, यजुर्भाष्ये च राजपक्षे व्याख्यातवान्। सायणाचार्यश्च मन्त्रमेतं सूर्यपक्षे परमात्मपक्षे च व्याचष्टे। तथा हि परमात्मपक्षे तद्व्याख्यानम्—हे सूर्य अन्तर्यामितया सर्वस्य प्रेरक परमात्मन्, त्वम् तरणिः संसाराब्धेस्तारकोऽसि। यस्मात् त्वं विश्वदर्शतः विश्वैः सर्वैर्मुमुक्षुभिः दर्शतो द्रष्टव्यः साक्षात्कर्तव्य इत्यर्थः [अधिष्ठानसाक्षात्कारे हि आरोपितं निवर्तते।], ज्योतिष्कृत् ज्योतिषः सूर्यादेः कर्ता [तच्चाम्नायते 'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत' इति।] ईदृशस्त्वं चिद्रूपतया विश्वं सर्वं दृश्यजातं रोचमानं दीप्यमानं यथा भवति तथा आभासि प्रकाशयसि। तथा चाम्नायते "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति।

२. ऋ० १।५०।५, अथ० १३।२।२० ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः। अथ० २०।४७।१७। अथर्ववेदे उभयत्र 'मानुषान्' इत्यत्र 'मानुषीः' इति पाठः।

कर्तारं जनम् **प्रत्यङ्** अभिमुखो भवन् त्वम् **दृशे** कर्त्तव्याकर्त्तव्ये द्रष्टुम् **स्वः** ज्ञानरूपं ज्योतिः, प्रयच्छसीति शेषः ॥[1]

भौतिकः सूर्योऽपि **देवानां विशः** देवानां पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां विशः प्रजाः मृत्पाषाणगिरि-सरिद्वृक्षवनस्पत्याद्याः **प्रत्यङ्** अभिमुखो भवन्, किञ्च **मानुषान्** मनुष्यान् **प्रत्यङ्** अभिमुखो भवन् उदेति । अपि च **विश्वम्** सकलं सोममङ्गलबुधबृहस्पत्यादिकं ग्रहोपग्रहजातम् **प्रत्यङ्** अभिमुखो भवन् **दृशे** अस्माकं दर्शनाय **स्वः** ज्योतिः प्रयच्छति ॥१०॥

अत्र श्लेषालङ्कारः, 'प्रत्यङ्' इत्यस्यावृत्तौ च लाटानुप्रासः ॥१०॥

भावार्थः—यथा सूर्यः सर्वान् पदार्थान् स्वकिरणैः प्राप्य प्रकाशयति, तथा जगदीश्वरः सकलान् चेतनाचेतनान् प्रकाशयति, सर्वेषां हृदि ज्ञानप्रकाशं च सञ्चारयति ॥१०॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ—हे परमात्मारूप सूर्य ! आप **देवानाम्** विद्या के प्रकाशक आचार्यों की **विशः** प्रजाओं अर्थात् विद्या पढ़े हुए स्नातकों के **प्रत्यङ्** अभिमुख होते हुए और **मानुषान्** अन्य मननशील मनुष्यों के **प्रत्यङ्** अभिमुख होते हुए **उदेषि** उनके अन्तःकरणों में प्रकट होते हो । और **विश्वम्** सभी वर्णाश्रमधर्मों का पालन करने वाले जनों के **प्रत्यङ्** अभिमुख होते हुए आप **दृशे** कर्तव्याकर्तव्य को देखने के लिए **स्वः** ज्ञानरूप ज्योति प्रदान करते हो ।

भौतिक सूर्य भी **देवानां विशः** पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश रूप देवों की प्रजाओं मिट्टी, पत्थर, पर्वत, नदी, वृक्ष, वनस्पति आदियों के **प्रत्यङ्** अभिमुख होता हुआ, और **मानुषान्** मनुष्यों के **प्रत्यङ्** अभिमुख होता हुआ उदय को प्राप्त होता है । और **विश्वम्** समस्त सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति आदि ग्रहोपग्रहों के **प्रत्यङ्** अभिमुख होता हुआ **दृशे** हमारे देखने के लिए **स्वः** ज्योति प्रदान करता है ॥१०॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । 'प्रत्यङ्' की आवृत्ति में लाटानुप्रास है ॥१०॥

भावार्थ—जैसे सूर्य सब पदार्थों को अपनी किरणों से प्राप्त होकर प्रकाशित करता है, वैसे ही जगदीश्वर समस्त चेतन-अचेतनों को प्रकाशित करता है और सबके हृदय में ज्ञान-प्रकाश को संचारित करता है ॥१०॥

पुनरपि सूर्यः परमात्मा च वर्ण्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
६३७. येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।
१ २ ३ १ २
त्वं वरुण पश्यसि ॥११॥[2]
१२१३ १२१ ३ १ २ १२१ १२१
येन पावक चक्षसा । भुरण्यन्तम् जनान् अनु ॥
३ १२१
त्वम् वरुण पश्यसि ॥११॥

पदार्थः—हे **पावक** हृदयानां पावित्र्यसम्पादक, **वरुण** पापनिवारक मुमुक्षुभिर्वरणीय सर्वश्रेष्ठ सूर्यसदृश परमात्मन् ! त्वम् **भुरण्यन्तम्** क्षिप्रं पुरुषार्थं कुर्वाणं जीवात्मानम् । भुरण्युरिति क्षिप्रनाम । निरु० १२।२२ **जनान्** उपासकजनांश्च **येन** अद्भुतेन **चक्षसा** ज्ञानेन **अनु** अनुगृह्णासि, तेन ज्ञानेन **त्वम् पश्यसि**

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये जगदीश्वरपक्षे व्याख्यातवान् । एष च तत्कृतो भावार्थः—"यत ईश्वरः सर्वव्यापकः सकलान्तर्यामी समस्तकर्मसाक्षी वर्तते तस्मादयमेव सर्वैः सज्जनैरुपासनीयोऽस्ति" इति ।

२. ऋ० १।५०।६, य० ३३।३२, अथ० १३।२।२१ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः । अथ० २०।४७।१८ ।

स्वयमपि सर्वं किञ्चित् प्राणिनां शुभाशुभकर्मादिकं वेत्ति ।[1]

भौतिकः सूर्योऽपि **पावकः** शोधकः, **वरुणः** वरणीयः रोगादिनिवारकश्च वर्तते । सोऽपि **जनान्** जातान् उत्पन्नान् प्राणिनः **भुरण्यन्तम्** धारयन्तम् भूमण्डलम् । भुरण धारणपोषणयोः कण्ड्वादिः । **येन चक्षसा** प्रकाशेन, **अनु** अनुगृह्णाति, तेन **पश्यति** स्वयमपि प्रकाशितोऽस्ति ॥११॥

यास्काचार्यो मन्त्रमिममेवं व्याचष्टे—अनेन पावक ख्यानेन भुरण्यन्तं जनान् अनु त्वं वरुण पश्यसि, तत्ते वयं स्तुम इति वाक्यशेषः । अपि वोत्तरस्याम्—"येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु । त्वं वरुण पश्यसि ॥ वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः । पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥ ऋ० १।५०।६,७ [तेन चक्षसा] व्येषि द्यां रजश्च पृथु महान्तं लोकम्, अहानि च मिमानो अक्तुभी रात्रिभिः सह पश्यन् जन्मानि जातानि सूर्य । अपि वा पूर्वस्याम्—"येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु । त्वं वरुण पश्यसि ॥ प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान् । प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥ ऋ० १।५०।६,५ [तेन चक्षसा] प्रत्यङ्ङिदं सर्वमुदेषि प्रत्यङ्ङिदं सर्वमभिविपश्यसि ॥ अपि वैतस्यामेव···तेन नो जनानभिविपश्यसि ॥" निरु० १२।२१-२४ ।

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥११॥

भावार्थः—यथा प्रकाशमानः सर्योऽन्यान् प्रकाशयति तथा ज्ञानवान् परमेश्वरोऽन्येभ्यो ज्ञानं प्रयच्छति ॥११॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ—हे **पावक** हृदयों को पवित्र करने वाले **वरुण** पापनिवारक, मुमुक्षुओं से वरणीय, सर्वश्रेष्ठ सूर्यसदृश परमात्मन् ! आप **भुरण्यन्तम्** शीघ्र पुरुषार्थ करने वाले जीवात्मा को तथा **जनान्** उपासक जनों को **येन** जिस अद्भुत **चक्षसा** ज्ञान से **अनु** अनुगृहीत करते हो, उस ज्ञान से **त्वम्** आप **पश्यसि** स्वयं भी सब कुछ प्राणियों के शुभाशुभ कर्म आदि को जानते हो ।

भौतिक सूर्य भी **पावकः** शोधक और **वरुणः** रोगादि का निवारक होता है, तथा वह **जनान्** उत्पन्न प्राणियों को **भुरण्यन्तम्** धारण करने वाले भूमण्डल को **येन** जिस **चक्षसा** प्रकाश से **अनु** अनुगृहीत करता है, उससे वह **पश्यति** स्वयं भी प्रकाशमान है ॥११॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥११॥

भावार्थ—जैसे प्रकाशमान सूर्य अन्यों को प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञानवान् परमेश्वर अन्यों को ज्ञान देता है ॥११॥

पुनरपि सूर्यः परमात्मा च वर्ण्यते ।

६३८. उद् द्यामेषि रजः पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः ।
पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥१२॥[2]
उत् द्याम् एषि रजः पृथु । अहा अ हा मिमानः अक्तुभिः ॥
पश्यन् जन्मानि सूर्य ॥१२॥

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये जगदीश्वरविषये, यजुर्भाष्ये च राजधर्मविषये व्याख्यातवान् ।

२. ऋ० १।५०।७ 'वि द्यामेषि राजस्पृथ्वहा' इति पाठः । अथ० १३।२।२२ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः, 'रजस्पृथ्वहर्मिमानो' इति पाठः । अथ० २०।४७।१९ 'रजस्पृथ्वहर्मिमानो', 'पश्यं जन्मानि' इति पाठः ।

पदार्थः—हे **सूर्य** चराचरान्तर्यामिन् सूर्यसदृश जगदीश्वर ! त्वम् **अक्तुभिः** प्रलयरात्रिभिः सह **अहा** अहानि सृष्टिरूपाणि दिनानि **मिमानः** निर्मिमाणः। अनुपसृष्टोऽपि 'माङ् माने शब्दे च' इति धातुर्निर्माणार्थे दृश्यते। **जन्मानि** प्राणिनां पूर्वापराणि जन्तूंषि **पश्यन्** जानन् **पृथु** यशोमयम्। प्रथ प्रख्याने। **रजः** लोकम् **द्याम्** दीप्तिमयं ब्रह्माण्डम् **उद् एषि** उद्गमयसि, सञ्चालयसीत्यर्थः। 'इण् गतौ' अत्र ण्यर्थगर्भः।

भौतिकः सूर्योऽपि **अक्तुभिः** रात्रिभि सह, **अहा** अहानि **मिमानः** निर्मिमाणः **जन्मानि** जातानि वस्तूनि **पश्यन्** प्रकाशयन् **पृथु** विस्तीर्णम् **रजः** लोकम् **द्याम्** दिवम्, विस्तीर्णे लोके दिवि इत्यर्थः, **उदेति** उद्गतोऽस्ति ॥१२॥[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१२॥

भावार्थः—सौरलोके परमात्मना सञ्चालितः सूर्य एवाहोरात्रपक्षमासऋत्वयनसंवत्सरचक्रं प्रवर्तयति सर्वाणि प्रकाशयति च। परमात्माऽपि प्रलयरात्र्यनन्तरं सृष्टिरूपं ब्राह्मं दिवसं रचयति, जन्मनि जन्मनि कृतानि जनानां शुभाशुभकर्माणि च पश्यन् तेभ्यः शुभाशुभानि फलानि ददाति ॥१२॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा का वर्णन है।

पदार्थ—हे **सूर्य** चराचर में अन्तर्यामी जगदीश्वर ! आप **अक्तुभिः** प्रलय-रात्रियों के साथ **अहा** सृष्टिरूप दिनों को **मिमानः** रचते हुए तथा **जन्मानि** प्राणियों के पूर्वापर जन्मों को **पश्यन्** जानते हुए **पृथु** यशोमय **रजः** लोक **द्याम्** प्रकाशपूर्ण ब्रह्माण्ड को **उद् एषि** संचालित करते हो।

भौतिक सूर्य भी **अक्तुभिः** रात्रियों के साथ **अहा** दिनों को **मिमानः** रचता हुआ और **जन्मानि** उत्पन्न पदार्थों को **पश्यन्** प्रकाशित करता हुआ **पृथु** विस्तीर्ण **रजः** लोक **द्याम्** द्यौ में **उदेति** उदित है ॥१२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१२॥

भावार्थ—सौर लोक में परमात्मा से संचालित सूर्य ही दिन-रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर आदि के चक्र का प्रवर्तन करता है और सबको प्रकाशित करता है। परमात्मा भी प्रलयरात्रि के अनन्तर सृष्टिरूप ब्राह्म दिन को रचता है और मनुष्यों के जन्म-जन्म में किये हुए शुभाशुभ फल प्रदान करता है ॥१२॥

अथ सूर्यो जीवात्मा परमात्मा च वर्ण्यते।

६३०. अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥१३॥[2]

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः। सूरः रथस्य नप्त्यः॥
ताभिः याति स्वयुक्तिभिः स्व युक्तिभिः ॥१३॥

पदार्थः—**प्रथमः** सूर्यपक्षे। **सूरः** सर्यः **रथस्य** सौरमण्डलरूपस्य रथस्य **नप्त्यः** नप्त्रीः न पातयित्रीः। अत्र छान्दसः पूर्वसवर्णदीर्घाभावः। **सप्त** सप्तसंख्यकाः **शुन्ध्युवः** शुन्ध्यूः शोधिकाः दीधितीः। अत्र 'इयङुवङ्प्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलमुपसंख्यानम्। अ० ६।४।७७ वा०' इति शसि उवङादेशः। **अयुक्त**

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये सूर्योपमानेन जगदीश्वरविषये व्याख्यातवान्।

२. ऋ० १।५०।९, अथ० १३।२।२४ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः, २०।४७।२१। सर्वत्र 'नप्त्यः' इत्यस्य स्थाने 'नप्त्यः' इति पाठः।

पृथिव्यादिभिः ग्रहोपग्रहैः युङ्क्ते, **स्वयुक्तिभिः** स्वेन नियुक्ताभिः **ताभिः** शोधिकाभिः दीधितिभिः असौ **याति** गच्छति, सक्रियो भवति, भूमण्डलादीनामुपकाराय चेष्टते इत्यर्थः ।

अथ **द्वितीयो** जीवात्मपक्षे । **सूरः** प्रेरको जीवात्मा **रथस्य** शरीररथस्य **नप्त्यः** न पातयित्रीः **सप्त** सप्तसंख्यकाः **शुन्ध्युवः** ज्ञानशोधिकाः ज्ञानेन्द्रियमनोबुद्धीः **अयुक्त** शरीररथे नियुङ्क्ते, **स्वयुक्तिभिः** स्वेन नियुक्ताभिः **ताभिः याति** जीवनयात्रां निर्वहति ।

उक्तं च कठोपनिषदि—"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च । इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।" (कठ० ३।३,४) इति ।।

अथ **तृतीयः** परमात्मपक्षे । **सूरः** सूर्यचन्द्रादीनां लोकानां प्रेरकः परमात्मा । षू प्रेरणे धातोः 'सुसूधाञ्० । उ० २।२५' इति क्रन् प्रत्ययः । **रथस्य** ब्रह्माण्डरथस्य **नप्त्यः** न पातयित्रीः **सप्त** सप्तसंख्यकाः **शुन्ध्युवः** शुद्धाः भूमीः भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्यम् इत्याख्याः क्रमश उपर्युपरि विद्यमानाः सप्तलोक-रूपाः पृथिवीः **अयुक्त** कार्ये नियुक्तवानस्ति, **स्वयुक्तिभिः** स्वेन नियुक्ताभिः ताभिर्भूमिभिः सः **याति** ब्रह्माण्डसंचालनव्यापारं निर्वहति ।।१३।।[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः ।।१३।।

भावार्थः—आदित्यः सप्तवर्णैः किरणैः सौरमण्डलम्, जीवात्मा मनोबुद्धिज्ञानेन्द्रियरूपैः सप्ततत्त्वैः शरीरम्, परमेश्वरश्च स्वात्मना सृष्टैः सप्तलोकैर्ब्रह्माण्डं सञ्चालयति ।।१३।।

अगले मन्त्र में सूर्य, जीवात्मा और परमात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ—**प्रथम** सूर्य के पक्ष में । **सूरः** सूर्य **रथस्य** सौरमण्डलरूप रथ को **नप्त्यः** न गिरने देने वाली **सप्त** सात **शुन्ध्युवः** शोधक किरणों को **अयुक्त** पृथिवी आदि ग्रह उपग्रहों के साथ युक्त करता है । **स्व-युक्तिभिः** स्वयं युक्त की गयी **ताभिः** उन किरणों से, वह **याति** भूमण्डल आदि के उपकार के लिए चेष्टा करता है ।

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में । **सूरः** प्रेरक जीवात्मा **रथस्य** शरीर-रूप रथ को **नप्त्यः** न गिरने देने वाली **शुन्ध्युवः** ज्ञान-शोधक ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि **सप्त** इन सात को **अयुक्त** शरीर-रथ में जोड़ता है, और **स्वयुक्तिभिः** स्वयं जोड़ी हुई **ताभिः** उनके द्वारा **याति** जीवन-यात्रा को करता है ।

तृतीय परमात्मा के पक्ष में । **सूरः** सूर्य, चन्द्र आदि लोकों को चलाने वाले परमात्मा ने **रथस्य** ब्रह्माण्डरूप रथ को **नप्त्यः** न गिरने देने वाली **सप्त** सात **शुन्ध्युवः** शुद्ध भूमियों को अर्थात् भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् इन क्रमशः ऊपर-ऊपर विद्यमान सात लोकों को **अयुक्त** कार्य में नियुक्त किया है, **स्वयुक्तिभिः** स्वयं नियुक्त की हुई उन सात भूमियों अर्थात् लोकों से, वह **याति** ब्रह्माण्ड-संचालन के व्यापार को कर रहा है ।।१३।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।१३।।

भावार्थ—सूर्य सात रंग की किरणों से सौरमण्डल का, जीवात्मा मन, बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियरूप सात तत्त्वों से शरीर का और परमेश्वर स्वरचित सात लोकों से ब्रह्माण्ड का संचालन करता है ।।१३।।

---

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये वाचकलुप्तोपमालङ्कारमुखेन सूर्यवत् प्रकाशमानं परमेश्वरमुद्दिश्य व्याख्यातवान् ।

अथ पुनरपि सूर्यो जीवात्मा परमात्मा च वर्ण्यते ।

६४०. ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।
३ १ २
शोचिष्केशं विचक्षण ॥१४॥[1]

३ २ ३ १ २ १ २ १ २ १ २ ३
सप्त त्वा हरितः रथे । वहन्ति देव सूर्य ॥
१ २ ३ २ ३
शोचिष्केशम् शोचिः केशम् विचक्षण वि चक्षण ॥१४॥

पदार्थः—**प्रथमः** जीवात्मपक्षे । हे **देव** दिव्यशक्तिसम्पन्न **विचक्षण** विविधज्ञानयुक्त **सूर्य** शरीर-रथस्य सुष्ठु ईरयितः जीवात्मन् ! **शोचिष्केशम्** तेजोरूपकेशयुक्तम् **त्वा** त्वाम् **सप्त हरितः** मनोबुद्धि-ज्ञानेन्द्रियरूपाः सप्त अश्वाः **रथे** शरीररूपे स्यन्दने **वहन्ति** धारयन्ति ।

अथ **द्वितीयः** परमात्मपक्षे । हे **देव** दानादिगुणयुक्त दिव्यगुणकर्मस्वभाव **विचक्षण** सर्वद्रष्टः **सूर्य** शुभमार्गे सुष्ठु प्रेरयितः परमात्मन् ! **शोचिष्केशम्** शोचींषि ज्ञानरश्मयः एव केशाः केशस्थानीया यस्य तम् **त्वा** त्वाम् परमपुरुषम् **सप्त हरितः** गायत्र्यादिसप्तछन्दोयुक्ताः सप्तविधा वेदवाचः **रथे** उपासकस्य रमणीये हृदये । रमु क्रीडायाम्, 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् । उ० २।२' इति क्थन् । **वहन्ति** प्रापयन्ति ।

भौतिकः सूर्योऽपि **देवः** द्युतिमान् द्योतयिता च, **विचक्षणः** विविधानां पदार्थानां दर्शयिता, **शोचिष्केशः** शोचींषि रश्मय एव केशा यस्य तादृशः अस्ति । तं च **सप्त** सप्तसंख्यकाः **हरितः** दिशः । हरितः इति दिङ्नाम । निघं० १।६ । **रथे** आकाशरूपे स्यन्दने **वहन्ति** नयन्ति ।[2]

अत्र सूर्यस्य शिशुत्वं व्यज्यते दिशां च मातृत्वम् । यथा मातरः शिशुं लघुरथे समुपवेश्य पर्यटनं कारयन्ति, तथैव दिशः सूर्यं गगनरथे समारोप्य ।

दिशश्चतस्रः पञ्च षट् सप्ताष्टौ दशेति विभिन्नसंख्याः श्रूयन्ते । 'सप्तदिशो नाना सूर्याः' । ऋग् ९।११४।३ इति श्रुतेः दिशां सप्तसंख्यत्वमपि प्रमाणीभवति । चतस्रः पूर्वाद्याः, अधः ऊर्ध्वा चेति षट्, सप्तमी मध्यभूता ॥१४॥

अत्र श्लेषालङ्कारः । शोचिष्षु केशानामारोपः शाब्दः, सूर्ये च पुरुषारोपः आर्थः, तस्मादेकदेश-विवर्ति रूपकम् ॥१४॥

भावार्थः—यथा कञ्चित् प्रतापिनं पुरुषं सप्त अश्वा रथे वहेयुस्तथा रश्मिकेशं सूर्यं पुरुषं दिशो गगनरथे, तेजःकेशं जीवात्मपुरुषम् इन्द्रियाश्वाः शरीररथे, ज्ञानकेशं परमात्मपुरुषं च सप्तच्छन्दांसि योगिनो हृदयरथे वहन्ति ॥१४॥

अत्राग्न्याख्यात् परमेश्वरात् पावित्र्यदुःखविनाशादिप्रार्थनात्, सूर्यनाम्ना च भौतिकसूर्यजीवात्म-परमात्मनां वर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्ति ।

इति षष्ठे प्रपाठके तृतीयार्धे पञ्चमी दशतिः ।
इति षष्ठाध्याये पञ्चमः खण्डः ।
समाप्तश्चायं षष्ठः प्रपाठकः षष्ठाध्यायश्च ॥

---

१. ऋ० १।५०।८, अथ० १३।२।२३ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः, अथ० २०।४७।२० । अथर्ववेदे उभयत्र 'विचक्षणम्' इति पाठः ।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये वाचकलुप्तोपमालङ्कारमाश्रित्य "हे मनुष्याः ! यथा किरणैर्विना सूर्यस्य दर्शनं न भवति तथैव वेदाभ्यासमन्तरा परमात्मनो दर्शनं नैव जायत इति वेद्यम्" इति विषये व्याख्यातवान् ।

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य, जीवात्मा और परमात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ—**प्रथम** जीवात्मा के पक्ष में । हे **देव** दिव्यशक्तिसम्पन्न, **विचक्षण** विविध ज्ञानों से युक्त **सूर्य** शरीररथ को भलीभाँति चलाने वाले जीवात्मन् ! **शोचिष्केशम्** तेजरूप केशों वाले **त्वा** तुझे **सप्त हरितः** मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय रूप सात घोड़े **रथे** शरीररूप रथ में **वहन्ति** वहन करते हैं ।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में । हे **देव** दानादिगुणयुक्त, दिव्यगुणकर्मस्वभाव, **विचक्षण** सर्वद्रष्टा, **सूर्य** शुभ मार्ग में भलीभाँति प्रेरित करने वाले परमात्मन् ! **शोचिष्केशम्** ज्ञानरश्मिरूप केशों वाले **त्वा** तुझ परम पुरुष को **सप्त हरितः** गायत्री आदि सात छन्दों से युक्त सात प्रकार की वेदवाणियाँ **रथे** उपासक के रमणीय हृदय में **वहन्ति** पहुँचाती हैं ।

भौतिक सूर्य भी **देवः** प्रकाशमान तथा प्रकाशक, **विचक्षणः** विविध पदार्थों का दर्शन कराने वाला और **शोचिष्केशः** किरणरूप केशों वाला है । उसे **सप्त** सात **हरितः** दिशाएँ **रथे** आकाशरूप रथ में बैठाकर **वहन्ति** यात्रा कराती हैं ।

यहाँ सूर्य का शिशु होना तथा दिशाओं का माता होना ध्वनित हो रहा है । जैसे माताएँ शिशु को बच्चागाड़ी में बैठाकर सैर कराती हैं, वैसे ही दिशाएँ सूर्य को आकाश-रथ में बैठाकर घुमाती हैं ।

दिशाएँ चार, पाँच, छः, सात, आठ, दस आदि विभिन्न संख्या वाली सुनी जाती हैं । 'सात दिशाएँ हैं, नाना सूर्य हैं' (ऋ० ९।११४।३) इस श्रुति के अनुसार दिशाओं की सात संख्या भी प्रमाणित होती है । चार पूर्व आदि हैं, अधः, ऊर्ध्वा मिलकर छह होती हैं और सातवीं मध्य दिशा है । इस प्रकार सात संख्या पूरी होती है ॥१४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । शोचियों में केशों का आरोप शाब्द तथा सूर्य में पुरुष का आरोप आर्थ होने से एकदेशविवर्ती रूपक भी है ॥१४॥

भावार्थ—जैसे किसी प्रतापी पुरुष को सात घोड़े रथ में वहन करें, वैसे ही किरण-रूप केशों वाले सूर्य-रूप पुरुष को दिशाएँ आकाश-रथ में तथा तेज-रूप केशों वाले जीवात्मा-रूप पुरुष को इन्द्रिय-रूप घोड़े शरीर-रथ में और ज्ञान-रूप केशों वाले परमात्मा-रूप पुरुष को वेदों के सात छन्द उपासक के हृदय-रथ में वहन करते हैं ॥१४॥

इस दशति में अग्नि नामक परमेश्वर से पवित्रता, दुःख-विनाश आदि की प्रार्थना होने से और सूर्य नाम से भौतिक सूर्य, जीवात्मा एवं परमात्मा का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ।

षष्ठ प्रपाठक में तृतीय अर्ध की पंचम दशति समाप्त ।
षष्ठ अध्याय में पंचम खण्ड समाप्त ।
यह षष्ठ प्रपाठक और षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ ॥

इति बरेलीमण्डलान्तर्गतफरीदपुरवास्तव्यश्रीमद्गोपालरामभगवतीदेवीतनयेन हरिद्वारीय-गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयेऽधीतविद्येन विद्यामार्तण्डेन आचार्यरामनाथवेदालङ्कारेण महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतवेदभाष्यशैलीमनुसृत्य विरचिते संस्कृतार्य-भाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते सामवेदभाष्ये आरण्यकं काण्डं पर्व वा पूर्वार्चिकश्च समाप्तिमगात् ॥

व्याप्तयः यस्य तादृशश्च विद्यते । संख्यासुपूर्वस्य । अ० ५।४।१४० इति पादस्यान्तलोपः । परमेश्वरस्य निरवयवत्वात् अत्र शीर्षशब्देन मस्तिष्कशक्तिः अक्षिशब्देन दर्शनशक्तिः, पादशब्देन च व्यापनशक्तिर्लक्ष्यते । सोऽनन्तबुद्धिरनन्तदर्शनः सर्वव्यापकश्च विद्यते इत्यर्थः । किञ्च **सः** असौ **भूमिम्** पृथिवीम् **सर्वतः** परितः **वृत्वा** आवृत्य **दशाङ्गुलम्**[1] दश च तानि अङ्गुलानि इन्द्रियाणि तेषां समाहारः दशाङ्गुलम् तत् **अति अतिष्ठत्** अतिक्रम्य तिष्ठति, दशेन्द्रियाणामगोचर इत्यर्थः । न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनः (केन० १।३) इत्यादिश्रुतेः ॥३॥[2]

यास्काचार्यः पुरुषशब्दमेवं निर्वक्ति—पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा । पूरयत्यन्तरित्यन्तः-पुरुषमभिप्रेत्य । "यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चिद् । वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" इत्यपि निगमो भवति, इति । निरु० २।३ ।

अत्र सहस्रशीर्षत्वादिरूपस्य भूमौ सर्वत्र व्यापकत्वरूपस्य च कारणस्य सद्भावेऽपि इन्द्रियगोचर-त्वरूपकार्यानुत्पत्तेर्विशेषोक्तिरलङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—सर्वविद्यं सर्वद्रष्टारं सर्वव्यापकं सर्वतो भूगोलमावृत्य स्थितं तथापि वाक्चक्षुःश्रोत्र-हस्तपादाद्यगोचरं परमपुरुषं परमात्मानं साक्षात्कृत्य सर्वैरनन्तसुखभोगः कार्यः ॥३॥

अगली पाँच ऋचाओं का पुरुष देवता है । परम पुरुष परमात्मा का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ—**पुरुषः** सबका अग्रनेता, सब जगत् में परिपूर्ण और सबका पालनकर्ता परमेश्वर **सहस्र-शीर्षाः** सहस्रों सिरों वाला अर्थात् अनन्तज्ञानी, **सहस्राक्षः** सहस्रों आँखों वाला अर्थात् सर्वद्रष्टा, और **सहस्रपात्** सहस्रों पैरों वाला अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है । **सः** वह **भूमिम्** पृथिवी को **सर्वतः** सब ओर से **वृत्वा** घेरकर **दशाङ्गुलम्** दसों इन्द्रियों को **अति** अतिक्रान्त करके **अतिष्ठत्** स्थित है, अर्थात् दसों इन्द्रियों की पहुँच से परे है । कहा भी है—न वहाँ आँख की पहुँच है, न वाणी की, न मन की (केन उप० १।३) ॥३॥

यास्काचार्य पुरुष शब्द का निर्वचन करते हुए लिखते हैं—पुरी में बैठने से या पुरी में शयन करने से पुरुष कहाता है (पुरिसद् या पुरिश=पुरुष) अथवा यह वृद्ध्यर्थक पूरी धातु से निष्पन्न हुआ है (पूरी आप्यायने) । अन्तःपुरुष परमात्मा को पुरुष इस कारण कहते हैं, क्योंकि वह सारे ब्रह्माण्ड को अपनी सत्ता से पूर्ण किये हुए है । कहा भी है, "जिससे अधिक पर या अपर कोई वस्तु नहीं है, जिससे अधिक अणु या महान् कोई वस्तु नहीं है । वह एक पुरुष परमेश्वर वृक्ष के समान निश्चल होकर अपने तेजःस्वरूप में स्थित है, उस पुरुष से यह सकल ब्रह्माण्ड परिपूर्ण है" (निरु० २।३) ।

इस मन्त्र में सहस्र सिर वाला होने आदि रूप तथा भूमि में सर्वत्र व्यापक होने रूप कारण के विद्यमान होते हुए भी इन्द्रियगोचर होने रूप कार्य की उत्पत्ति न होने से विशेषोक्ति अलंकार है ॥३॥

भावार्थ—सबको उचित है कि सर्वज्ञाता, सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक, सर्वत्र भूगोल को व्याप्त करके स्थित, तथापि वाणी, आँख, कान, हाथ, पैर आदि की पहुँच से परे विद्यमान परमपुरुष परमात्मा का साक्षात्कार करके अनन्त सुख का भोग करें ॥३॥

---

१. दश च तानि अंगुलानि दशांगुलानि इन्द्रियाणि । केचिदन्यथा रोचयन्ति दशांगुलप्रमाणं हृदयस्थानम् । अपरे तु नासिकाग्रं दशांगुलमिति शौनकः (उवटकृते यजुर्भाष्ये शौनकनाम्ना उद्धृतम्) । नाभेः सकाशाद् दशांगुलमतिक्रम्य हृदि स्थितः इति तत्रैव महीधरस्य वैकल्पिकोऽर्थः । (दशांगुलम्) पञ्च स्थूलसूक्ष्मभूतानि दश अंगुलानि अंगानि यस्य तज्जगत्—इति तत्रैवद० ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिरपि मन्त्रमिमं परमात्मपक्षे व्याख्यातवान्, (पुरुषः) सर्वत्र पूर्णो जगदीश्वर इति ।

अथ पुनरपि तमेव परमपुरुषं वर्णयति ।

३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
६१८. त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः ।
२ ३ २ ३क २१ ३२ ३ २
तथा विष्वङ् व्यक्रामदशनानशने अभि ॥४॥[1]
३ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ २१ १ २१ ३ २ ३ २ ३१ १ २
त्रिपात् त्रि पात् ऊर्ध्वः उत् ऐत् पुरुषः । पादः अस्य इह अभवत् पुनरिति ॥
१ २१ १ २१ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
तथा विष्वङ् वि स्वङ् वि अक्रामत् । अशनानशने अशन अनशनेइति अभि ॥४॥

पदार्थः—**त्रिपात्** त्रि-चतुर्थांशः **पुरुषः** पूर्वोक्तः परमेश्वरः **ऊर्ध्वः उत्-ऐत्** अस्माज्जगतः ऊर्ध्वम् उद्गतोऽस्ति, **इह पुनः** अस्मिन् संसारे तु **अस्य** पूर्णस्य परमेश्वरस्य **पादः** एकश्चतुर्थांश एव **अभवत्** विद्यते । **तथा** तेनैव प्रकारेण एकचतुर्थांशव्याप्त्या इत्यर्थः **वि-स्वङ्**[2] विविधपदार्थान् सम्यक् प्राप्तः सन् । वि विविधतया सु सम्यग् अञ्चतीति विष्वङ् । **अनशनानशने अभि** चेतनाचेतने अभिलक्ष्य । अश्नाति भोगान् भुङ्क्ते इति अशनं चेतनं तद्भिन्नम् अनशनं, ते अशनानशने । **व्यक्रामत्** विचेष्टते, चेतनाचेतनानां मनुष्यादिप्राणिनाम् अग्निसूर्यपवनगिरिनद्यादीनां च यथायोग्यं प्राणनादिव्यापारं स्थित्यादिव्यापारं च विधत्ते इति भाव ॥४॥[3]

भावार्थः—चेतनाचेतनात्मकेऽस्मिन् जगति यन्महत् कर्तृत्वं दृष्टिगोचरतां याति तत्र परमेश्वर-सामर्थ्यस्य स्वल्पांश एव क्रियाशीलो भवति, परमेश्वरस्य वास्तवं सामर्थ्यं स्वरूपं च लोकातिगं वर्तते ॥४॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी परमपुरुष का वर्णन है ।

पदार्थ—**त्रिपात्** तीन-चौथाई अंशवाला **पुरुषः** पूर्वोक्त परमेश्वर **ऊर्ध्वः उत् ऐत्** इस जगत् से ऊपर उठा हुआ है । **इह पुनः** इस जगत् में तो **अस्य** इस पूर्ण परमेश्वर का **पादः** एक-चतुर्थांश ही **अभवत्** विद्यमान है । **तथा** उसी प्रकार से अर्थात् एक-चतुर्थांश की ही व्याप्ति से **वि-स्वङ्** विविध पदार्थों में सम्यक् प्राप्त हुआ वह **अशनानशने अभि** चेतन-अचेतन को लक्ष्य करके **व्यक्रामत्** विविध रूप से चेष्टा कर रहा है, अर्थात् मनुष्य आदि प्राणियों तथा अग्नि, सूर्य, पवन, पर्वत, नदी आदि चेतन-अचेतन के यथायोग्य प्राणन आदि व्यापार को तथा स्थिति आदि व्यापार को कर रहा है ॥४॥

भावार्थ—इस चेतन-अचेतन-रूप जगत् में जो महान् कर्तृत्व दृष्टिगोचर हो रहा है, उसमें परमेश्वर के सामर्थ्य का थोड़ा-सा अंश ही क्रियाशील है, परमेश्वर का वास्तविक सामर्थ्य और स्वरूप तो लोकातिक्रान्त है ॥४॥

अथ पुनरपि स एव परमपुरुषो वर्ण्यते ।

१ २ ३ २उ ३ २ ३ २उ ३ १ २
६१९. पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥५॥[4]

---

१. ऋ० १०।९०।४, य० ३१।४ उभयत्र 'ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि' इति पाठः। अथ० १९।६।२ 'त्रिभिः पदिभर्द्यामरोहत् पादस्येहाभवत् पुनः। तथा व्यक्रामद् विष्वङ्शनानशने अनु' ॥ इति पाठः।

२. विष्वङ् देवतिर्यगादिरूपेण विविधः सन्— इति सा०। विषु सर्वत्राञ्चतीति विष्वङ् देवतिर्यगादिरूपेण विविधः सन्— इति यजुर्भाष्ये म०। यो विषु सर्वत्राञ्चति प्राप्नोति—इति तत्रैव द०। अस्माभिस्तु वि-स्वङ् इति पदपाठ आदृतः।

३. दयानन्दर्षिरपि मन्त्रमेतं यजुर्भाष्ये परमेश्वरपक्षे व्याख्यातवान्।

४. ऋ० १०।९०।२ 'भाव्यम्' इत्यत्र 'भव्यम्' इति, उत्तरार्द्धे च 'उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति' इति पाठः। य० ३१।२ उत्तरार्द्धपाठः ऋग्वेदवत्। अथ० १९।६।४ 'उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह' इत्युत्तरार्द्धपाठः।

१२१ ३२ ३२ १२१ ३२ ३ १ २१ १२१३
पुरुषः एव इदम् सर्वम् । यत् भूतम् यत् च भाव्यम् ॥ पादः अस्य
१२१ ३१२ ३२ ३२ ३ १२ ३१२१ ३२
सर्वा भूतानि । त्रिपात् त्रि पात् अस्य अमृतम् अ मृतम् दिवि ॥५॥

पदार्थः—**पुरुषः एव** सर्वत्र परिपूर्णः परमेश्वरः एव **इदम्** प्रत्यक्षाप्रत्यक्षात्मकम् **सर्वम्** निखिलम् **यत् भूतम्** यद् उत्पन्नम् **यत् च भाव्यम्** यच्च उत्पत्स्यमानम् अस्ति, तत्सर्वम् अधितिष्ठतीति शेषः । **सर्वा** सर्वाणि **भूतानि** उत्पन्नानि सूर्यपृथिव्यादीनि **अस्य** पुरुषाख्यस्य परमेश्वरस्य महिम्नः **पादः** चतुर्थांशमात्रं सन्ति, **अस्य** जगत्स्रष्टुः महिम्नः **त्रिपात्** त्रिचतुर्थांशात्मकं रूपम् **अमृतम्** विनाशरहितं विद्यते, यत् **दिवि** द्योतनात्मके मोक्षलोके मुक्तात्मभिरनुभूयते ॥५॥

भावार्थः—भूतं वर्तमानं भावि च सर्वं पदार्थजातं परमात्मैव रचयति व्यवस्थापयति च । परमात्मनो भौतिकलोकातिगं तात्त्विकं स्वरूपं चर्मचक्षुषा न प्रत्युत आभ्यन्तरचक्षुषैव साक्षात्कर्तुं शक्यते ॥५॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी परम पुरुष का वर्णन है ।

पदार्थ—**पुरुषः एव** सर्वत्र परिपूर्ण परमेश्वर ही **इदम्** इस प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष-रूप **सर्वम्** सब **यद् भूतम्** जो उत्पन्न हो चुका है, **यत् च भाव्यम्** और जो भविष्य में उत्पन्न होने वाला है, उस सबका अधिष्ठाता है । **सर्वा** सब **भूतानि** उत्पन्न सूर्य, पृथिवी आदि **अस्य** इस पुरुष परमेश्वर की महिमा के **पादः** चतुर्थांश-मात्र हैं, **अस्य** इस जगत्स्रष्टा की महिमा का **त्रिपात्** तीन-चौथाई रूप **अमृतम्** विनाशरहित है, जो **दिवि** प्रकाशमान मोक्षलोक में मुक्तात्माओं से अनुभव किया जाता है ॥५॥

भावार्थ—भूत, वर्तमान और भावी सब पदार्थों को परमात्मा ही रचता है, और उनकी व्यवस्था करता है । परमात्मा का भौतिक लोकों से अतिक्रान्त तात्त्विक स्वरूप चर्म-चक्षु से नहीं, प्रत्युत आन्तरिक चक्षु से ही देखा जा सकता है ॥५॥

अथ पुनस्तस्यैव परमपुरुषस्य महिमानमाह ।

१ २ ३२३ ३ १ २ ३ १२
६२०. तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
३ १२३ १२ २१ ३ १२ २१ ३ १२
उतामृतत्वस्येशाना यदन्नेनातिरोहति ॥६॥[1]
१२१ ३ २ १२१ १ २१ ३ १२१ ३ २ ३ १ २
तावान् अस्य महिमा । ततः ज्यायान् च पूरुषः ॥ उत अमृतत्वस्य
३ १ २ १२१ १२१ ३ १२१ ३ १२१
अ मृतत्वस्य ईशानः । यत् अन्नेन अतिरोहति अति रोहति ॥६॥

पदार्थः—**तावान्** तत्परिमाणः पूर्वोक्तः **अस्य** परमेश्वरस्य **महिमा** महत्त्वम् अस्ति, वस्तुतस्तु **पूरुषः** स पूर्णः परमेश्वरः । अत्र 'अन्येषामपि दृश्यते । अ० ६।३।१३७' इति दीर्घः । **ततः** तस्मादपि **ज्यायान्** वर्षीयान् विद्यते । **उत** अपि च, सः **अमृतत्वस्य** मोक्षस्य, **यत्** यच्च **अन्नेन** अन्नभक्षणेन **अतिरोहति** वर्द्धते तस्य सांसारिकस्य प्राणिजातस्य च **ईशानः** अधिष्ठाता वर्तते ॥६॥[2]

भावार्थः—अवर्णनीयः खलु परमेश्वरस्य महिमायः संसारचक्रप्रवर्तनं मोक्षं चाप्यधितिष्ठति ॥६॥

१. ऋ० १०।९०।३, य० ३१।३, उभयत्र 'एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति पाठः ।

२. किं च, यज्जीवजातम् अन्नेन अतिरोहति उत्पद्यते तस्य सर्वस्य चेशानः—इति यजुर्भाष्ये म० । यदन्नेनातिरोहति तदिदं सर्वममृतत्वस्येशानः पुरुष एव रचयति—इति च तत्रैव द० ।

अगले मन्त्र में पुनः उसी परमपुरुष की महिमा का वर्णन है।

पदार्थ—**तावान्** उतनी पूर्वोक्त **अस्य** इस परमेश्वर की **महिमा** महिमा है, वस्तुतः तो **पुरुषः** वह पूर्ण परमेश्वर **ततः** उससे भी **ज्यायान्** अधिक बड़ा है। **उत** और **सः** वह **अमृतत्वस्य** मोक्ष का तथा **यत्** जो **अन्नेन** अन्न के खाने से **अतिरोहति** बढ़ता है उस सांसारिक प्राणी-समुदाय का भी **ईशानः** अधिष्ठाता है ॥६॥

भावार्थ—परमेश्वर की महिमा अवर्णनीय है, जो संसार-चक्रप्रवर्तन और मोक्ष दोनों का अधिष्ठाता है ॥६॥

अथ परमपुरुषात् सृष्टयुत्पत्तिमाह।

६२१. ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥७॥[1]

ततः विराट् वि राट् अजायत। विराजः वि राजः अधि पूरुषः॥
सः जातः अति अरिच्यत। पश्चात् भूमिम् अथ उ पुरः ॥७॥

पदार्थः—**ततः** तस्मादेव निमित्तकारणरूपात् परमपुरुषात् परमेश्वरात्। निमित्तकारणेऽपि क्वचित् पञ्चमी दृश्यते, यथा 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' इति मनुः ३।७६। **विराट्** विशेषेण देदीप्यमानं पिण्डम् **अजायत** उत्पन्नम्। **पूरुषः** सर्वत्र पूर्णः परमेश्वरः एव **विराजः अधि**[2] तद् विशेषेण राजमानं पिण्डम् अधितिष्ठति स्म। **जातः सः** उत्पन्नं तत् विराडाख्यं पिण्डम् **अत्यरिच्यत**[3] अतिरिक्तं जातं, भूम्यादिखण्डेषु प्रविभक्तम् इत्यर्थः। स परमेश्वरः **भूमिम्** भूम्यादिलोकोत्पत्तेः **पश्चात्** अनन्तरम् **अथ उ** अथ च **पुरः**[4] पूर्वम्, विद्यमानः आसीत् ॥७॥[5]

भावार्थः—अस्माकं सौरमण्डलस्य जन्म कथं सञ्जातमिति मन्त्रेऽस्मिन् वर्णितम्। आदौ तावद् बृहन्नीहारिकारूपं देदीप्यमानं प्रज्वत् पिण्डमेकमुत्पन्नम्। आकाशे वेगेन परिभ्राम्यतः तस्मात् कानिचित् खण्डानि पृथग्भूतानि। अवशिष्टो भागः सूर्यो जातः, पृथग्भूतानि खण्डानि च भूमिमंगलबुधबृहस्पत्यादीनि संजातानि। एवमेवान्येषामपि सौरमण्डलानामुत्पत्तिर्जातेति बोध्यम्। परमात्मनोऽधिष्ठातृत्व एव एतत्सर्वं सम्पन्नम् ॥७॥

अगले मन्त्र में परमपुरुष से सृष्टि की उत्पत्ति वर्णित है।

पदार्थ—**ततः** उसी निमित्तकारणभूत परम पुरुष परमेश्वर से **विराट्** विशेषरूप से देदीप्यमान पिण्ड **अजायत** उत्पन्न हुआ। **पूरुषः** वह सर्वत्र पूर्ण परमेश्वर ही **विराजः अधि** उस विशेषरूप से देदीप्य-

---

१. ऋ० १०।९०।५, 'ततो' इत्यत्र 'तस्माद्' इति पाठः। य० ३१।५। अथ० १९।६।९, 'ततो विराडजायत' इत्यत्र 'विराडग्रे समभवत्' इति पाठः।

२. विराजः अधि उपरि अधिष्ठाता पूरुषः परिपूर्णः परमात्मा—इति य० ३१।५ भाष्ये द०।

३. अत्यरिच्यत अतिरिक्तोऽभूत्। विराड् व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभवत्—इति सा०। यजुर्भाष्ये महीधरोऽपि तथैवाह।

४. पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि—इति सा०। यजुर्भाष्ये महीधरोऽपि तथैवाह। तत्तु स्वरविरुद्धम्। पुरः पुरस्ताद् वर्तमानः—इति द०।

५. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं यजुर्भाष्ये "परमेश्वरादेव सर्वं समष्टिरूपं जगज्जायते, स च तस्मात् पृथग्भूतो व्याप्तोऽपि तत्कलमषालिप्तोऽस्य सर्वस्याधिष्ठाता" इत्यादिरूपेण व्याख्यातवान्।

मान पिण्ड का अधिष्ठाता था। **जातः सः** उत्पन्न हुआ वह विराट् पिण्ड **अत्यरिच्यत** भूमि आदि खण्डों में बँट गया। वह परमेश्वर **भूमिम्** भूमि आदि लोकों की उत्पत्ति के **पश्चात्** पश्चात् **अथ उ** और **पुरः** पूर्व भी विद्यमान था ॥७॥

भावार्थ—हमारे सौरमण्डल का जन्म कैसे हुआ यह इस मन्त्र में वर्णित किया गया है। प्रारम्भ में विशाल नीहारिका-रूप देदीप्यमान एक पिण्ड उत्पन्न हुआ। आकाश में वेग के साथ घूमते हुए उसमें से कुछ टुकड़े अलग हो गये। बचा भाग सूर्य हुआ और टूटकर अलग हुए खण्ड भूमि, मंगल, बुध, बृहस्पति आदि हो गये। इसी प्रकार अन्य सौरमण्डलों की भी उत्पत्ति हुई, यह जानना चाहिए। यह सब परमात्मा के अधिष्ठातृत्व में ही सम्पन्न हुआ ॥७॥

अथ द्यावापृथिवी देवते। मातापितरौ अध्यापिकोपदेशिके वा प्रार्थयते।

६२२. मन्ये वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ ये अप्रथेथाममितमभि योजनम्।
द्यावापृथिवी भवतं स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥८॥[1]

मन्ये वाम् द्यावापृथिवी द्यावा पृथिवीइति सुभोजसौ सु भोजसौ।
येइति अप्रथेथाम् अमितम् अ मितम् अभि योजनम्॥ द्यावापृथिवी द्यावा
पृथिवीइति भवतम् स्योनेइति। तेइति नः मुञ्चतम् अंहसः ॥८॥

पदार्थः—हे **द्यावापृथिवी**[2] भूम्याकाशौ इव मातापितरौ, अध्यापिकोपदेशिके वा! अहम् **वाम्** युवाम् **सुभोजसौ** सुपालनकर्त्र्यौ **मन्ये** जानामि। **ये** ये युवाम् **अमितम् योजनम् अभि** अपरिमितयोजनपर्यन्तम् **अप्रथेथाम्** यशसा प्रख्याते स्थः। हे **द्यावापृथिवी** पृथिवीसूर्यौ इव मातापितरौ अध्यापिकोपदेशिके वा! युवाम् अस्मभ्यम् **स्योने** सुखकारिण्यौ **भवतम्** जायेथाम्। **ते** ते युवाम् **नः** अस्मान् **अंहसः** पापात् **मुञ्चतम्** मोचयतम् ॥८॥

भावार्थः—मातापित्रोरध्यापिकोपदेशिकयोश्च सकाशात् सच्छिक्षां सदुपदेशं च प्राप्य सन्तानाः सुज्ञानाः शुभकर्माणो निष्पापाश्च भवन्तु ॥८॥

अगली ऋचा का द्यावापृथिवी देवता है। माता-पिता से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **द्यावापृथिवी** भूमि-आकाश के सदृश माता-पिताओ अथवा अध्यापिका-उपदेशिकाओ! मैं **वाम्** तुम दोनों को **सुभोजसौ** शुभ पालनकर्ता **मन्ये** जानता हूँ, **ये** जो तुम दोनों **अमितं योजनम् अभि** अपरिमित योजन पर्यन्त **अप्रथेथाम्** यश से प्रख्यात हो। हे **द्यावापृथिवी** पृथिवी और सूर्य के तुल्य माता-पिताओ अथवा अध्यापिका-उपदेशिकाओ! तुम हमारे लिए **स्योने** सुखदायक **भवतम्** होवो। **ते** वे तुम दोनों **नः** हमें **अंहसः** पाप से **मुञ्चतम्** छुड़ाओ ॥८॥

भावार्थ—माता-पिताओं और अध्यापिका-उपदेशिकाओं के पास से उत्तम विद्या और उत्तम उपदेश प्राप्त कर सन्तान श्रेष्ठ ज्ञानी, शुभ कर्म करने वाले और निष्पाप होवें ॥८॥

---

१. अथ० ४।२६।१, ऋषिः मृगारः। 'मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता योजनानि। प्रतिष्ठे-ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः॥ इति पाठः।

२. द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता। अथ० २।२८।४, द्यौरहं पृथिवी त्वम्। अथ० १४।२।७१। द्यावापृथिव्यौ अध्यापिकोपदेशिके स्त्रियौ—इति य० ३७।३ भाष्ये द०।

अथेन्द्रो देवता। इन्द्रनाम्ना परमात्मा वर्ण्यते।

६२३. हरी त इन्द्र श्मश्रूण्युता ते हरितौ हरी।
तं त्वा स्तुवन्ति कवयः परुषासो वनर्गवः ॥९॥
हरी ते इन्द्र श्मश्रूणि। उत उ ते हरितौ हरीइति॥
तम् त्वा स्तुवन्ति कवयः। परुषासः वनर्गवः ॥९॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन्! **ते** तव, त्वद्रचितानीत्यर्थः **श्मश्रूणि** कूर्चानीव प्रतीयमानाः सूर्यकिरणाः **हरी** हरीणि, मालिन्यापहारकाणि सन्ति। अत्र 'शेश्छन्दसि बहुलम्। अ० ६।१।७०' इत्यनेन शेर्लुक्। **उत** उ अपि च **ते** तव, त्वद्रचिते **हरितौ** पूर्वपश्चिमरूपे, उत्तरदक्षिणरूपे, ध्रुवोर्ध्वरूपे वा दिशौ। हरितः इति दिङ्नाम। निघं० १।६। **हरी** हर्यौ मालिन्यापहारिके स्तः। अत्र प्रथमाद्विवचने पूर्वसवर्णदीर्घः। **तं त्वा** तादृशम् अपूर्वकर्तृत्वयुक्तं त्वाम् **वनर्गवः**[1] वनगामिनः वानप्रस्थाः। वनर्गू वनगामिनौ इति यास्कः। निरु० ३।१४। **कवयः परुषासः** मेधाविनः पुरुषाः। परुषासः इत्यत्र 'आज्जसेरसुक्। अ० ७।१।५०' इति जसोऽसुगागमः। उकारस्य अकारादेशश्छान्दसः। **स्तुवन्ति** स्तुतिविषयीकुर्वन्ति ॥९॥

अत्र 'हरी-हरी' इत्यावृत्तौ यमकालङ्कारः। 'हरी-हरि-हरी' इत्यत्र च वृत्त्यनुप्रासः। सूर्यकिरणानां श्मश्रुनाम्ना वर्णनादसम्बन्धे सम्बन्धरूपोऽतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—परमात्मना रचिताः सूर्यचन्द्रतारादिग्विदिक्प्रभृतयः सर्वेऽपि पदार्था विलक्षणास्तन्महिमप्रकाशकाश्च सन्ति ॥९॥

अगले मन्त्र का देवता इन्द्र है। इन्द्र नाम से परमात्मा का वर्णन है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परमात्मन्! **ते** तेरी रचित **श्मश्रूणि** मूँछों के समान प्रतीत होने वाली सूर्यकिरणें **हरी** मलिनताओं को हरने वाली हैं, **उत** और **ते** तेरी रचित **हरितौ** पूर्व-पश्चिमरूप, उत्तर-दक्षिणरूप अथवा ध्रुवा-ऊर्ध्वरूप दिशाएँ **हरी** मलिनता को हरने वाली हैं। **तं त्वा** उस तेरी **वनर्गवः** वनगामी वानप्रस्थ **कवयः परुषासः** मेधावी पुरुष **स्तुवन्ति** स्तुति करते हैं ॥९॥

इस मन्त्र में 'हरी' की आवृत्ति में यमक तथा 'हरी, हरि, हरी' में वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है। सूर्यकिरणों को श्मश्रु कहने में असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥९॥

भावार्थ—परमात्मा द्वारा रचित सूर्य, चन्द्र, तारे, दिशाएँ, विदिशाएँ आदि सभी पदार्थ विलक्षण और उसकी महिमा के प्रकाशक हैं ॥९॥

अथ आत्मनः आशीः। वर्चः आकाङ्क्षते।

६२४. यद्वर्चो हिरण्यस्य यद्वा वर्चो गवामुत।
सत्यस्य ब्रह्मणा वर्चस्तेन मा सं सृजामसि ॥१०॥
यत् वर्चः हिरण्यस्य। यत् वा वर्चः गवाम् उत॥
सत्यस्य ब्रह्मणः वर्चः। तेन मा सम् सृजामसि ॥१०॥

१. वननीयाः सम्भजनीयाः सेवनीयाः गावो येषां ते वनर्गवः। मध्यरेफश्छान्दसः, गोस्त्रियो (१।२।४८) रिति ह्रस्वत्वम्'—इति सा०।

पदार्थः—**यद्** अनुपमम् **वर्चः** तेजः **हिरण्यस्य** सुवर्णस्य भवति, **उत** अपि च **यद् वा** यद् अद्भुतम् **वर्चः** तेजः **गवाम्** धेनूनां सूर्यदीधितीनां वा भवति, यच्च **सत्यस्य ब्रह्मणः** सत्यस्य ज्ञानस्य **वर्चः** तेजः भवति **तेन** वर्चसा, वयम् **मा** अस्मान् । अत्र व्यत्ययेन नः इत्यस्य स्थाने मा इत्येकवचनप्रयोगः । **संसृजामसि** संयुक्तान् कुर्मः । सृज विसर्गे, 'इदन्तो मसि । अ० ७।१।४६' इति मस इदन्तत्वम् ॥१०॥

भावार्थः—यद् हिरण्ये रमणीयत्वरूपं बहुमूल्यत्वरूपं च, धेनुषु परोपकारित्वरूपं, सूर्यरश्मिषु प्राणप्रदानत्वरूपं, सत्ये वेदज्ञाने च शुद्धत्वरूपं तेजो भवति तत्तेजो मनुष्यैरपि प्राप्तव्यम् ॥१०॥

अगले मन्त्र में वर्चस् की आकांक्षा की गयी है ।

पदार्थ—**यत्** जो अनुपम **वर्चः** तेज **हिरण्यस्य** सुवर्ण का होता है, **उत** और **यद् वा** जो अद्भुत **वर्चः** तेज **गवाम्** गौओं का अथवा सूर्य-किरणों का होता है, और जो **सत्यस्य ब्रह्मणः** सत्य ज्ञान का **वर्चः** तेज होता है, **तेन** उस तेज से, हम **मा** अपने-आपको **संसृजामसि** संयुक्त करते हैं ॥१०॥

भावार्थ—जो सुवर्ण में रमणीयता और बहुमूल्यता का, गायों में परोपकारिता का, सूर्यकिरणों में प्राणप्रदानता का, सत्य वेदज्ञान में शुद्धता का तेज होता है, वह तेज मनुष्यों को भी प्राप्त करना चाहिए ॥१०॥

अथेन्द्रो देवता । परमात्मानं राजानं वा प्रार्थयते ।

२३ १ २ ३ २३ ऊ३ुक २१ २३ १ २
६२५. सहस्तन्न इन्द्र दद्धचोज ईशे ह्यस्य महतो विरप्शिन् ।
२३ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३२३ १२ ३१२
कृतुं न नृम्णं स्थविरं च वाजं वृत्रेषु शत्रून्त्सहना कृधी नः ॥११॥

१२१ ३ १२१ ३ २ ३
सहः तत् नः इन्द्र दद्धि ओजः । ईशे हि अस्य महतः विरप्शिन् वि रप्शिन् ॥
१२१ ३ २ १२१ ३ १२१ ३१२ १२१
क्रतुम् न नृम्णम् स्थविरम् स्थ विरम् च वाजम् । वृत्रेषु शत्रून्
३१२ ३ १२१ ३
सुहना सु हना कृधि नः ॥११॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** महावीर परमात्मन् राजन् वा ! त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **तत्** सर्वैः स्पृहणीयम् **सहः** शत्रुपराजयकरम् **ओजः** अध्यात्मं शारीरं च बलम् **दद्धि** देहि, **हि** यस्मात् हे **विरप्शिन्** महामहिम ! विरप्शीति महन्नाम । निघं० ३।३ । **अस्य** एतस्य **महतः** महत्त्वयुक्तस्य बलस्य, त्वम् **ईशे** ईशिषे अधीश्वरोऽसि । त्वम् अस्मभ्यम् **क्रतुम् न नृम्णम्** प्रज्ञामिव बलम्, प्रज्ञा च बलं चेत्यर्थः । क्रतुरिति प्रज्ञानाम । निघं० ३।९, नृम्णं च बलं, नन् नतम् । निरु० ११।७ । **स्थविरं च वाजम्** प्रचुरम् ऐश्वर्यं च दद्धि देहि । किञ्च, **वृत्रेषु** दुष्टेषु शत्रुषु **नः** अस्मान् **सहना**[1] प्रहारसहनशीलान् **शत्रून्** शातयितॄन् । सहना इत्यत्र 'सुपां सुलुक्० । अ० ७।१।३९' इति शसः आकारादेशः । **कृधि** कुरु ॥११॥

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥११॥

भावार्थः—परमेश्वरस्य कृपया, नृपतेः साहाय्येन, स्वपुरुषार्थेन च वयं बलिनो धनिनः शत्रुविजयिनश्च भूयास्म ॥११॥

अगले मन्त्र का इन्द्र देवता है । परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** महावीर परमात्मन् अथवा राजन् ! आप **नः** हमें **तत्** वह सबके चाहने योग्य **सहः** शत्रुपराजयकारी **ओजः** आत्मिक और शारीरिक बल **दद्धि** प्रदान करो, **हि** क्योंकि, हे **विरप्शिन्**

१. अस्माभिः सामसंहितासु 'सहना' इत्येव पाठो दृष्टः । 'सुहना' इति पदकाराभिमतः पाठः । स्वरे न कश्चिद् भेदः । पदपाठानुसरणे तु—'वृत्रेषु शत्रुषु, नः अस्मान्, सुहना सुष्ठु वधकर्तॄन्, शत्रून् रिपून् कृधि' इत्यर्थयोजना कार्या ।

महामहिम ! **अस्य** इस **महतः** महान् बल के आप **ईशे** अधीश्वर हो। आप हमें **क्रतुं न नृम्णम्** प्रज्ञा को और बल को **स्थविरं च वाजम्** और प्रचुर ऐश्वर्य को **दद्धि** प्रदान करो। और **वृत्रेषु** दुष्ट शत्रुओं के प्रति **नः** हमें **सहना** प्रहारों को सह सकने वाला **शत्नून्** वधकर्ता **कृधि** बनाओ ॥११॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलङ्कार है ॥११॥

भावार्थ—परमेश्वर की कृपा से, राजा की सहायता से और अपने पुरुषार्थ से हम बलवान्, धनवान् और शत्रु-विजयी होवें ॥११॥

अथ गौर्देवता। गवां साम्येनेन्द्रियाण्युच्यन्ते।

३१२ ३१२ ३२३ १२ ३२३ १२
६२६. सहर्षभाः सहवत्सा उदेत विश्वा रूपाणि बिभ्रतीर्घृचूध्नीः।
३२ ३२३१२ ३२३११ २१ ३२३१२
उरुः पृथुरयं वो अस्तु लोक इमा आपः सुप्रपाणा इह स्त ॥१२॥

३१२ ३२३ १२ ३२३ १२३ १२१ १२१
सहर्षभाः सह ऋषभाः सहवत्साः सह वत्साः उदेत उत् एत। विश्वा
३१२ १२१ ३ २ ३२ ३२ ३ २
रूपाणि बिभ्रतीः घृचूध्नीः द्वि ऊध्नीः॥ उरुः पृथुः अयम् वः अस्तु लोकः।
३२ १२१ ३ २ ३ २ ३२३
इमाः आपः सुप्रपाणाः सु प्रपाणाः इह स्त ॥१२॥

पदार्थः—हे इन्द्रियरूपा[1] गावः ! **सहर्षभाः** जीवात्मरूपेण वृषभेण सहिताः, **सहवत्साः** मनोरूपेण वत्सेन च सहिताः **विश्वा रूपाणि** सर्वाणि चक्षुःश्रोत्रत्वगाद्यानि नामानि **बिभ्रतीः** धारयन्त्यः **घृचूध्नीः** ज्ञान-कर्मरूपेण आपीनद्वयेन युक्ताः यूयम् **उदेत** उद्यमं कुरुत। **उरुः** सुदीर्घः **पृथुः** सुविस्तीर्णः **अयम्** एषः **लोकः** भुवनम् **वः** युष्मभ्यम् **अस्तु** भवतु। **इमाः** एताः **सुप्रपाणाः** सुखेन पातुम् आस्वादयितुं योग्याः **आपः** जलानीव आप्तव्याः रूपरसगन्धाद्याः विषयाः सन्ति, **इह स्त** एषु भवत, इमान् यथायोग्यम् आस्वादयध्वमित्यर्थः ॥१२॥

भावार्थः—धेनुपक्षेऽपि योजनीयम्। यथा गावो वृषभेण वत्सेन च सह विचरन्ति, तथा इन्द्रियाण्यात्मना मनसा च सह। यथा गावः श्वेतकृष्णादिरूपाणि बिभ्रति तथेन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रादिरूपाणि। यथा गावः सायंप्रातरुभयोः कालयोः पूर्णोधस्त्वेन घृचूध्नीः, तथेन्द्रियाणि ज्ञानेन कर्मणा च। यथा गावो विस्तीर्णेषु गोचरेषु विचरन्ति तथेन्द्रियाणि विस्तीर्णेषु विषयेषु। यथा गावः सुपेयानि जलानि पिबन्ति, तथेन्द्रियाणि विषयरसान्। एषामिन्द्रियरूपाणां गवां सज्ज्ञान-सत्कर्मरूपं पयः संसेव्य सततं दैहिक्याध्यात्मिकी च पुष्टिः सर्वैः प्राप्तव्या ॥१२॥

अत्राग्निजिह्वा - सर्वर्तुरमणीयत्व- परमपुरुषमहिम - मातापितृकर्तव्य - वर्चःसहःप्राप्त्यादिवर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्ति।

इति षष्ठे प्रपाठके तृतीयार्धे चतुर्थी दशतिः।
इति षष्ठेऽध्याये चतुर्थः खण्डः॥

अगले मन्त्र का गौ देवता है। गौओं के साम्य से इन्द्रियों को कहा जा रहा है।

पदार्थ—हे इन्द्रिय रूप गौओ ! **सहर्षभाः** जीवात्मारूप वृषभ से युक्त, **सहवत्साः** मन रूप बछड़े से युक्त, **विश्वा रूपाणि** आँख, कान, त्वचा आदि विभिन्न नामों को **बिभ्रतीः** धारण करती हुई, **घृचूध्नीः** ज्ञान-कर्म रूप दो ऊधसों से युक्त होती हुई तुम **उदेत** उद्यम करो। **उरुः** बहुत लम्बा, **पृथुः** बहुत चौड़ा

१. (गाः) इन्द्रियाणि—इति ऋ० १।१०।८ भाष्ये द०।

अयम् यह **लोकः** लोक **वः** तुम्हारे उपयोग के लिए **अस्तु** हो। **इमाः** ये **सुप्रपाणाः** सुख से आस्वादन किये जाने योग्य **आपः** जलों के समान प्राप्तव्य रूप, रस, गन्ध आदि विषय हैं, **इह** इनमें **स्त** रहो, अर्थात् इनका यथायोग्य आस्वादन करो ॥१२॥

भावार्थ—गायों के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए। जैसे गायें वृषभ और बछड़ों के साथ विचरती हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ आत्मा और मन के साथ। जैसे गायें सफेद, काले आदि रूपों को धारण करती हैं, वैसे इन्द्रियाँ आँख, कान आदि रूपों को। जैसे गायें प्रातः-सायं दोनों कालों में भरे हुए ऊधस् वाली होने से 'द्वयूध्नी' कहलाती हैं, वैसे इन्द्रियाँ ज्ञान और कर्म रूप ऊधस् वाली होने से 'द्वयूध्नी' होती हैं। जैसे गायें विस्तीर्ण चरागाहों में विचरती हैं, वैसे इन्द्रियाँ विस्तीर्ण विषयों में। जैसे गायें सुपेय जलों को पीती हैं, वैसे इन्द्रियाँ विषयरसों को। इन इन्द्रिय रूप गायों के श्रेष्ठ ज्ञान और श्रेष्ठ कर्म रूप दूध का सेवन कर निरन्तर शारीरिक और आत्मिक उन्नति सबको प्राप्त करनी चाहिए ॥१२॥

इस दशति में अग्नि की ज्वाला रूप जिह्वा, सब ऋतुओं की रमणीयता, परम पुरुष परमेश्वर की महिमा, माता-पिता के कर्तव्य, ब्रह्मवर्चस एवं बल की प्राप्ति आदि विषयों का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ॥

षष्ठ प्रपाठक में तृतीय अर्ध की चतुर्थ दशति समाप्त ॥
षष्ठ अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥

॥५॥ अथ 'अग्न आयूंषि' इत्याद्याया दशतेः ऋषयः—१ शतं वैखानसाः; २ विभ्राट् सौर्यः; ३ कुत्सः; ४-६ सार्पराज्ञी; ७-१४ प्रस्कण्वः काण्वः ॥ देवता—१ अग्निः पवमानः; २-१४ सूर्यः ॥ छन्दः—१, ४-१४ गायत्रीः; २ जगती; ३ त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—१, ४-१४ षड्जः; २ निषादः; ३ धैवतः ॥

तत्राद्याया अग्निः पवमानो देवता। अग्निनाम्ना परमात्मा, विद्वान्, राजा च प्रार्थ्यते।

६२७. अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥१॥[1]

अग्ने आयूंषि पवसे। आ सुव ऊर्जम् इषम् च नः॥
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥१॥

पदार्थः—हे **अग्ने** अग्रनायक परमात्मन् विद्वन् राजन् वा! त्वम् **आयूंषि** अस्माकं जीवनानि **पवसे** पवित्रीकुर्याः। पूङ् पवने भ्वादिः, लेटि रूपम्। **नः** अस्मभ्यम् **ऊर्जम्** बलं प्राणं च। ऊर्ज बलप्राणनयोः, चुरादिः। **इषं च**[2] विज्ञानं च। इष गतौ दिवादिः। गतेस्त्रयोऽर्था ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च। **आ सुव** समन्तात्

१. ऋ० ९।६६।१९, य० १९।३८ ऋषिः वैखानसः। य० ३५।१६ ऋषयः आदित्या देवाः। साम० १४६४, १५१८।
२. (इषम्) इच्छासिद्धिम्—इति य० १९।३८ भाष्ये, (इषम्) विज्ञानम्-इति च य० ३५।१६ भाष्ये द०।

प्रेरय, आगमय। षू प्रेरणे तुदादिः। **दुच्छुनाम्**[1] दुर्गतिम् **आरे** दूरम् **बाधस्व** प्रक्षिप ॥१॥[2]

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—मनुष्यैः परमात्मानमुपास्य, विद्वांसौ स्त्री-पुरुषौ राजानं च संगत्य जीवनेषु पवित्रतामानीय, बलप्राणविज्ञानादिकं च संचित्य दुःखदुर्गत्यादयो विनाशनीयाः ॥१॥

प्रथम ऋचा का अग्नि पवमान देवता है। अग्नि नाम से परमात्मा, विद्वान् और राजा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **अग्ने** अग्रनायक परमात्मन्, विद्वन् अथवा राजन्! आप **आयूंषि** हमारे जीवनों को **पवसे** पवित्र करो। **नः** हमारे लिए **ऊर्जम्** बल एवं प्राण को **इषं च** और विज्ञान को **आसुव** चारों ओर से प्रेरित करो, लाओ। **दुच्छुनाम्** दुर्गति को **आरे** दूर **बाधस्व** धकेल दो ॥१॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ॥१॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि परमात्मा की उपासना कर, विद्वान् स्त्री-पुरुषों की और राजा की संगति कर, जीवनों में पवित्रता लाकर, बल, प्राणशक्ति, विज्ञान आदि का संचय कर दुःख, दुर्गति आदि को विनष्ट करें ॥१॥

अथाग्रे सर्वासां सूर्यो देवता। सूर्यदृष्टान्तेन परमात्मानं वर्णयति।

३ २ ३ १ २ ३ २३ ३ १२३१२३१ २
६२८. विभ्राड् बृहत् पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविहुतम्।
१२ ३ १ २ ३१२ ३ १२ ३ १ २ ३१२ २१
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पिपर्त्ति बहुधा वि राजति ॥२॥[3]

३ २ ३ २ ३२ ३ २ १२१ १२१ १२१ ३१२ ३२३
विभ्राट् वि भ्राट् बृहत् पिबतु सोम्यम् मधु। आयुः दधत् यज्ञपतौ यज्ञ पतौ
१२१ १२१ ३ १२१ १२१ ३ २ ३ १२ ३
अविहुतम् अवि हुतम्॥ वातजूतः वात जूतः यः अभिरक्षति अभि
१२१ १२१ ३२ ३२ ३ २ ३
रक्षति त्मना। प्रजाः प्र जाः पिपर्त्ति बहुधा वि राजति ॥२॥

पदार्थः—**विभ्राट्** सूर्यवद् विभ्राजमानः परमात्मा **बृहत्** महत् **सोम्यम्** ज्ञानकर्मरूपेण सोमेन युक्तम्। अत्र सोमशब्दात् 'मये च। अ० ४।४।१३८' इति मयडर्थे यः प्रत्ययः। **मधु** मधुरं भक्तिरसम् **पिबतु** आस्वादयतु, किञ्च सः **यज्ञपतौ** यजमाने **अविहुतम्** अकुटिलम्। ह्वृ कौटिल्ये, 'ह्वु ह्वरेश्छन्दसि। अ० ७।२।३१' इति धातोः ह्वु आदेशः। **आयुः** जीवनम् **दधत्** स्थापयन्, भवत्विति शेषः, **वातजूतः** वातेन प्राणायामेन जूतः प्रेरितः **यः** परमात्मा **त्मना** आत्मना। 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः। अ० ६।४।१४१' इत्याकारलोपः। **प्रजाः** जनान् **अभिरक्षति** परित्रायते, **पिपर्ति** शक्त्या पूरयति, **बहुधा** बहुप्रकारेण सच्चिदानन्दस्वरूप-निराकार-सर्वशक्तिमद्-दयाल्वादिरूपेण **विराजति** विशेषेण शोभते च। अत्र श्लेषेण सूर्यपक्षेऽप्यर्थो योजनीयः ॥२॥[4]

---

१. आकारान्तोऽयं शब्दः दुच्छुना ऋ० २।२३।६, दुच्छुनाः ऋ० १।११६।२१, दुच्छुनाभ्यः ऋ० २।३२।२, दुच्छुनायै ऋ० १।१८६।५ इत्यादिप्रयोगदर्शनात्। शुना गतिः (टुओश्वि गतिवृद्धयोः), दुष्टा शुना दुच्छुना दुर्गतिः। न तु 'दुच्छ्वा' इत्यस्य षष्ठ्यन्तं रूपं दुच्छुनामिति।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं यजुर्भाष्ये १९।३८ इत्यत्र विद्वत्पितृपितामहप्रपितामहपक्षे, ३५।१६ इत्यत्र च परमेश्वरपक्षे विद्वत्पक्षे च व्याख्यातवान्।

३. ऋ० १०।१७०।१, य० ३३।३०, उभयत्र 'प्रजाः पुपोष पुरुधा विराजति' इति पाठः। साम० १४५३।

४. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं यजुर्भाष्ये "हे राजादयो मनुष्याः! यथा सूर्यो वृष्टिद्वारा सर्वेषां जीवनं पालयति तद्वत् सद्गुणैर्महान्तो भूत्वा न्यायविनयाभ्यां प्रजाः सततं रक्षन्तु" इत्यर्थे व्याख्यातवान्।

भावार्थः—यथा भ्राजमानः सूर्यः समुद्रादीनां सलिलं पिबति तथा विभ्राजमानः परमेश्वरः भक्तजनानां भक्तिरसं पिबति। यथा सूर्यो दीर्घायुष्यं प्रयच्छति तथा परमेश्वरोऽकुटिलं जीवनं प्रयच्छति। यथा स्वाभ्यन्तरे विद्यमानैर्घनीभूतैर्वायुभिर्गतिमयः सूर्यो जनानभिरक्षति, तथा योगिनां प्राणायामाभ्यासैर्हृदये प्रेरितः परमेश्वरस्तान् रक्षति। यथा सूर्यः प्रजाः पालयति प्रतिमासं विभिन्नरूपैश्च प्रकटीभवति तथा परमेश्वरो जनान् पालयति पूरयति वा, बहुभी रूपैश्चोपासकानां हृदि प्रकाशते ॥२॥

आगे इस दशति में सब ऋचाओं का सूर्य देवता है। इस ऋचा में सूर्य के दृष्टान्त से परमात्मा का वर्णन किया गया है।

पदार्थ—**विभ्राट्** सूर्य के समान तेजस्वी परमात्मा **बृहत्** महान्, **सोम्यम्** ज्ञान एवं कर्म रूप सोम से युक्त **मधु** मधुर भक्तिरस को **पिबतु** पान करे। और वह **यज्ञपतौ** यजमान को **अविह्रुतम्** अकुटिल **आयुः** जीवन **दधत्** प्रदान करे, **वातजूतः** प्राणायाम से प्रेरित **यः** जो परमात्मा **त्मना** स्वयम् **प्रजाः** प्रजाओं की **अभिरक्षति** रक्षा करता है तथा **पिपर्ति** उन्हें शक्ति से पूर्ण करता है, और **बहुधा** सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान् आदि अनेक रूपों में **विराजति** विशेष रूप से शोभित होता है। यहाँ श्लेष से सूर्य के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए ॥२॥

भावार्थ—जैसे तेजस्वी सूर्य समुद्र आदि के जल का पान करता है, वैसे तेजस्वी परमेश्वर भक्तजनों के भक्तिरस का पान करता है। जैसे सूर्य दीर्घायुष्य प्रदान करता है, वैसे परमेश्वर अकुटिल जीवन प्रदान करता है। जैसे अपने अन्दर विद्यमान घनीभूत हवाओं से गतिमान् हुआ सूर्य मनुष्यों की रक्षा करता है, वैसे योगियों के प्राणायाम के अभ्यासों द्वारा हृदय में प्रेरित परमेश्वर उन योगीजनों की रक्षा करता है। जैसे सूर्य प्रजाओं का पालन करता है और प्रतिमास विभिन्न रूपों में प्रकट होता है, वैसे परमेश्वर प्रजाजनों का पालन करता तथा उन्हें पूर्ण बनाता है और अनेक रूपों में उपासकों के हृदय में प्रकाशित होता है ॥२॥

अथ सूर्योदयमिव परमात्मोदयं वर्णयति।

६२९. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥३॥[1]

चित्रम् देवानाम् उत् अगात् अनीकम्। चक्षुः मित्रस्य मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः ॥
आ अप्राः द्यावा पृथिवीइति अन्तरिक्षम्। सूर्य्यः आत्मा जगतः तस्थुषः च ॥३॥

पदार्थः—**प्रथमः** सूर्यपक्षे। **देवानाम्** प्रकाशकानां सूर्यरश्मीनां **चित्रम्** अद्भुतम् चित्रवर्णं वा **अनीकम्** सैन्यम् **उद् अगात्** उद्गतम् अस्ति, यत् **मित्रस्य** शरीरे प्राणस्य बहिश्च अह्नः, **वरुणस्य** शरीरे अपानस्य बहिश्च रात्रेः। प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणः। श० ८।४।२।६। अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुणः। ऐ० ब्रा० ४।१०। किञ्च **अग्नेः** शरीरे वाचः बहिश्च पार्थिवाग्नेः। वागेवाग्निः। श० ३।२।२।१३। **चक्षुः** प्रकाशकं विद्यते। चक्षुः ख्यातेर्वा चष्टेर्वा। निरु० ४।३। दर्शनार्थात् चक्षिङ् धातोः 'चक्षेः शिच्च। उ० २।११९' इति उसिः प्रत्ययः। **सूर्यः** आदित्यः **द्यावापृथिवी** द्युलोकभूलोकौ। द्यौश्च पृथिवी च इति देवता-

१. ऋ० १।११५।१, य० ७।४२ अन्ते 'स्वाहा' इत्यधिकम्, य० १३। ४६ ऋषिः विरूपः। अथ० १३।२।३५ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः, 'आप्रा' इत्यत्र 'आप्राद्' इति पाठः। अथ० २०।१०७।१४ अत्रापि 'आप्राद्' इत्येव पाठः, ऋषिदेवते सामवत्।

द्वन्द्वे 'दिवो द्यावा । अ० ६।३।२९' इति दिवो द्यावादेशः । **अन्तरिक्षम्** अन्तरिक्षलोकं च **आ अप्राः** प्रकाशेन पूरितवानस्ति । स सूर्यः **जगतः** जङ्गमस्य मनुष्यपशुपक्ष्यादिकस्य **तस्थुषः** स्थावरस्य वृक्षपर्वतादेश्च **आत्मा** जीवनाधारः अस्ति ॥

अथ **द्वितीयः** परमात्मपक्षे । **देवानाम्** सत्याहिंसादीनां दिव्यगुणानाम् **चित्रम्** स्पृहणीयम् **अनीकम्** सैन्यम् **उद् अगात्** मदीये हृदये उदितम् अस्ति, यत् **मित्रस्य** मैत्रीगुणस्य, **वरुणस्य** पापनिवारणगुणस्य, **अग्नेः** अध्यात्मज्योतिषश्च **चक्षुः** प्रकाशकं वर्तते । हे परमात्मसूर्य ! त्वम्, **द्यावापृथिवी** दिवम् आनन्दमयकोशं, पृथिवीम् अन्नमयकोशम्, **अन्तरिक्षम्** मध्यस्थं प्राणमयं मनोमयं विज्ञानमयं च कोशम् **आ अप्राः** स्वतेजसा पूरितवानसि, यद्वा **द्यावापृथिवी** दिवं भूमिं च **अन्तरिक्षम्** मध्यलोकं च **आप्राः** स्वयशसा पूरितवानसि । **सूर्यः** तादृशः सूर्यवत् प्रकाशमानः प्रकाशकश्च त्वम् **जगतः** जङ्गमस्य **तस्थुषः च** स्थावरस्य च **आत्मा** अन्तर्यामी असि ॥३॥[1]

यास्कमुनिरिमं मन्त्रमेवं व्याचष्टे—चायनीयं देवानामुदगादनीकं ख्यानं मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्च, अपूपुरद् द्यावापृथिवी चान्तरिक्षं च महत्त्वेन, सूर्य आत्मा जङ्गमस्य स्थावरस्य च । निरु० १२।१६ ।

अत्र श्लेषालङ्कारः स्वभावोक्तिश्च ॥३॥

भावार्थः—यथा सूर्यः किरणान् विकीर्य स्थावरजङ्गमानुपकरोति तथा परमेश्वरो हृदये दिव्यगुणान् विकीर्य जनानां हितं साधयति ॥३॥

अगले मन्त्र में सूर्योदय के समान परमात्मा के उदय का वर्णन है।

पदार्थ—प्रथम सूर्य के पक्ष में । **देवानाम्** प्रकाशक सूर्य-किरणों की **चित्रम्** अद्भुत अथवा रंग-बिरंगी **अनीकम्** सेना **उद् अगात्** उदय को प्राप्त हुई है, जो **मित्रस्य** शरीर में प्राण की तथा बाहर दिन की, **वरुणस्य** शरीर में अपान की तथा बाहर रात्रि की और **अग्नेः** शरीर में वाणी की तथा बाहर पार्थिव अग्नि की **चक्षुः** प्रकाशक है । **सूर्यः** सूर्य ने **द्यावापृथिवी** द्युलोक और भूमिलोक को तथा **अन्तरिक्षम्** मध्यवर्ती अन्तरिक्षलोक को **आ अप्राः** प्रकाश से परिपूर्ण कर दिया है । वह सूर्य **जगतः** जंगम मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का तथा **तस्थुषः** स्थावर वृक्ष, पर्वत आदि का **आत्मा** जीवनाधार है ।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में । **देवानाम्** सत्य, अहिंसा आदि दिव्यगुणों की **चित्रम्** चाहने योग्य **अनीकम्** सेना **उद् अगात्** मेरे हृदय में उदित हुई है, जो **मित्रस्य** मैत्री के गुण की, **वरुणस्य** पापनिवारण के गुण की, और **अग्नेः** अध्यात्म-ज्योति की **चक्षुः** प्रकाशक है । हे परमात्मसूर्य ! आपने **द्यावापृथिवी** आनन्दमयकोश तथा अन्नमयकोश को और **अन्तरिक्षम्** मध्य के प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय कोश को **आ अप्राः** अपने तेज से भर दिया है, अथवा **द्यावापृथिवी** द्युलोक और भूलोक को, तथा **अन्तरिक्षम्** अन्तरिक्षलोक को **आ अप्राः** अपनी कीर्ति से भर दिया है । **सूर्यः** वह सूर्यवत् प्रकाशक आप **जगतः** जंगम के और **तस्थुषः** स्थावर के **आत्मा** अन्तर्यामी हो ॥३॥

इस मन्त्र में श्लेष और स्वभावोक्ति अलंकार है ॥३॥

भावार्थ—जैसे सूर्य किरणों को बखेर कर स्थावर-जंगम का उपकार करता है, वैसे ही परमेश्वर हृदय में दिव्यगुणों को विकीर्ण कर मनुष्यों का हित सिद्ध करता है ॥३॥

---

१. दयानन्दर्षिरपि मन्त्रमेतम् ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च परमेश्वरविषय एव व्याख्यातवान् ।

अथ गोनाम्ना सूर्यो भूलोकः परमात्मा जीवात्मा स्तोता च वर्ण्यते ।

६३०. आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः ।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥४॥[1]
आ अयम् गौः पृश्निः अक्रमीत् । असदत् मातरम् पुरः ॥
पितरम् च प्रयन् प्र यन् स्वाऽ३रिति ॥४॥

पदार्थः—**प्रथमः** सूर्यपक्षे । **अयम्** एषः **पृश्निः गौः** चित्रवर्णः सूर्यः । पृश्निः आदित्यो भवति, प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः । संस्पृष्टा रसान्, संस्पृष्टा भासं ज्योतिषां, संस्पृष्टो भासेति वा । गौः आदित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे । निरु० २।१४ । **आ अक्रमीत्** परितः क्राम्यति, अक्षपरिभ्रमणं करोतीत्यर्थः । **पुरः** समक्षं स्थितः सन् **मातरम्** अस्मन्मातृभूतां भूमिम् **असदत्** आसीदति, किरणैः प्राप्नोति । पद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु । अत्र गत्यर्थात् सामान्यार्थे लुङ् । **पितरम्** अस्मत्पितृभूतम् **स्वः च** अन्तरिक्षं च **प्रयन्** स्वरश्मिभिः प्रगच्छन्, स्थितोऽस्तीति शेषः ।

अथ **द्वितीयो** भूमण्डलपक्षे । **अयम्** एषः **पृश्निः** नानावर्णः **गौः** भूगोलः । इयं **पृथिवी** पृश्निः । तै० ब्रा० १।४।१।५ । इति ह पृथिव्याः पृश्नित्वं विज्ञायते । **आ अक्रमीत्** आ समन्तात् अक्षपरिभ्रमणं करोति । **पुरः** पश्चिमतः पूर्वं पूर्वम् **पितरम्** पितृभूतम् **स्वः** आदित्यं परितः । स्वः आदित्यो भवति इति निरुक्तम् । २।१४ । **प्रयन्** अण्डाकृतिमार्गे वेगेन धावन् **मातरम्** मातृभूतम् अन्तरिक्षम्, मातुः अन्तरिक्षस्य अङ्कम् इत्यर्थः । माता अन्तरिक्षम्, निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि । निरु० २।८ । **असदत्** आसीदति । पृथिव्या भ्रमणमपि सूर्यस्यैव महत्त्वं द्योतयतीत्यत्रापि मन्त्रस्य सूर्यदेवतात्वं न व्याहन्यते ॥[2]

अथ **तृतीयः** परमेश्वरपक्षे, ऋचोऽस्या वैकल्पिकत्वेनात्मदेवताकत्वात् ।[3] **अयम्** एषः **पृश्निः** भासा संस्पृष्टः **गौः** सर्वज्ञः सर्वव्यापी परमेश्वरः । गच्छति व्याप्नोति जानाति वा सर्वमिति गौः परमेश्वरः । **आ अक्रमीत्** पिण्डे ब्रह्माण्डे वा सर्वत्र पादविक्षेपं करोति, अन्तर्यामित्वेन तिष्ठतीत्यर्थः । **मातरम्** अध्यवसायात्मकज्ञानस्य निर्मात्रीं बुद्धिम् **पुरः** समक्षम् **असदत्** तिष्ठति, **पितरम्** पालकम् **स्वः च** सुखस्य भोक्तारं जीवात्मानं च **प्रयन्** प्राप्नुवन् भवति ॥

अथ **चतुर्थः** जीवात्मपक्षे । **अयम्** एषः **पृश्निः** चित्रविचित्रकर्मसंस्कारः **गौः** प्रयत्नशीलो विज्ञाता वा जीवात्मा । गच्छति चेष्टते जानाति वा स गौः आत्मा । **आ अक्रमीत्** कर्मानुसारं मानवदेहं प्राप्नोति, **पुरः** प्रथमम् **मातरम्** जननीम्, तस्या उदरम् इत्यर्थः **असदत्** गच्छति, **च** पश्चाच्च जन्मानन्तरम् **स्वः** विज्ञानप्रकाशयुक्तम् **पितरम्** जनकम् **प्रयन्** प्रगच्छन् भवति ॥

अथ **पञ्चमः** स्तोतृपक्षे । **अयम्** एषः **पृश्निः** चित्रगुणोपेतः **गौः** सूर्यवत् ज्ञानमयेन ज्योतिषा युक्तः स्तोता । गौरिति स्तोतृनामसु पठितम् । निघं० ३।१६ । **आ अक्रमीत्** सर्वतः पुरुषार्थरूपं पादविक्षेपं करोति, **पुरः** अग्रे भूत्वा **मातरम्** वेदवाग्रूपां मातरम् **असदत्** प्राप्नोति, ततस्तन्माध्यमेन **स्वः** प्रकाशमयम् **पितरम् च** परमात्मरूपं जनकं च **प्रयन्** प्राप्नुवन् भवतीति शेषः, प्राप्तुं यतते इत्यर्थः ॥४॥

१. ऋ० १०।१८३।१ देवता सार्पराज्ञी सूर्यो वा । य० ३।६ ऋषिः सर्पराज्ञी कद्रूः । देवता अग्निः । साम० १३७६ । अथ० ६।३१।१ ऋषिः उपरिबभ्रवः, देवता गौः । अथ० २०।४८।४ ऋषिः सर्पराज्ञी, देवता सूर्यः, गौः ।

२. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां पृथिव्यादिलोकभ्रमणप्रकरणे भूगोलसूर्यचन्द्रादिलोकभ्रमणविषये, यजुर्भाष्ये च भूलोकस्य सूर्यं परितो भ्रमणविषये व्याख्यातः ।

३. आयं गौ पृश्निरित्यस्य सार्पराज्ञी समैक्षत । ऋचस्तिस्रो भवेदासां विकल्पेनात्मदेवता ॥ इति सा० ।

अत्र श्लेषालङ्कारः ।।४।।

भावार्थः—सूर्यस्य स्थानान्तरगतिर्नास्ति, स स्वधुर्येव परिभ्रमति, पृथिवीमितरांश्च ग्रहोपग्रहान् सोममंगलबुधबृहस्पत्यादीन् स्वकीयै रश्मिभिरुपगम्य प्रकाशयति। पृथिव्याश्च द्विविधा गतिरस्ति, प्रथमा स्वधुरि ययाऽहोरात्रौ भवतः, द्वितीया च नियतकक्षायां सूर्यं परितः, यया संवत्सरचक्रं प्रवर्तते। परमेश्वरः सर्वव्यापकः सन् शरीरस्थान् आत्ममनोबुद्ध्यादीन् ब्रह्माण्डस्थांश्च सूर्यचन्द्रपृथिव्यादीन् सञ्चालयति। जीवात्मा शुभाशुभकर्मानुसारं मातुर्गर्भं प्राप्य जन्म गृह्णाति। परमात्मनः स्तोता च पुरुषार्थी भूत्वा वेदवाग्रूपां मातरं पितरं परमात्मानं चोपगच्छति ।।४।।

अगले मन्त्र में सूर्य, पृथिवीलोक, परमात्मा, जीवात्मा और स्तोता का वर्णन है।

पदार्थ—**प्रथम** सूर्य के पक्ष में। **अयम्** यह **पृश्निः गौः** रंग-बिरंगा सूर्य **आ अक्रमीत्** चारों ओर अक्ष-परिभ्रमण कर रहा है। **पुरः** सामने स्थित हुआ **मातरम्** हमारी मातृभूमि को **असदत्** किरणों द्वारा प्राप्त होता है, **च** और **पितरम्** हमारे पितृतुल्य **स्वः** अन्तरिक्ष को भी **प्रयन्** किरणों द्वारा प्राप्त होता हुआ स्थित है ।।

द्वितीय भूमण्डल के पक्ष में। **अयम्** यह **पृश्निः** रंग-बिरंगा **गौः** भूमण्डल **आ अक्रमीत्** अपने चारों ओर अक्ष-परिभ्रमण कर रहा है, और **पुरः** पश्चिम से पूर्व-पूर्व की ओर **पितरम्** अपने पिता **स्वः** सूर्य के चारों ओर भी **प्रयन्** गति करता हुआ **मातरम्** अन्तरिक्ष रूप माता की गोद में **असदत्** स्थित है। पृथिवी का भ्रमण भी सूर्य के ही महत्त्व को प्रकट करता है, अतः इस पक्ष में भी मन्त्र का देवता सूर्य होने में कोई दोष नहीं आता ।।

तृतीय परमेश्वर के पक्ष में। **अयम्** यह **पृश्निः** ज्योतिर्मय **गौः** सर्वज्ञ, सर्वव्यापी परमेश्वर **आ अक्रमीत्** शरीर में और ब्रह्माण्ड में चारों ओर गया हुआ है, अर्थात् अन्तर्यामी है, **मातरम्** निश्चयात्मक ज्ञान की जननी बुद्धि के **पुरः** आगे **असदत्** स्थित होता है, **च** और **पितरम्** पालनकर्ता **स्वः** सुख के भोक्ता जीवात्मा को **प्रयन्** प्राप्त होता है ।।

चतुर्थ जीवात्मा के पक्ष में। **अयम्** यह **पृश्निः** चित्र-विचित्र कर्मसंस्कारों से युक्त **गौः** प्रयत्नशील, विज्ञाता जीवात्मा **आ अक्रमीत्** कर्मों के अनुसार मनुष्य-शरीर को प्राप्त होता है। **पुरः** पहले **मातरम्** माता को अर्थात् माता के गर्भाशय को **असदत्** प्राप्त होता है, **च** और जन्म के अनन्तर **स्वः** विज्ञानप्रकाश से युक्त **पितरम्** पिता को **प्रयन्** प्राप्त होता है ।।

पंचम स्तोता के पक्ष में। **अयम्** यह **पृश्निः** आश्चर्यमय गुणों वाला **गौः** ज्ञानज्योति से सूर्यवत् भासमान स्तोता **आ अक्रमीत्** चारों ओर पुरुषार्थ करता है, **पुरः** आगे होकर **मातरम्** वेदवाणी रूप माता को **असदत्** प्राप्त करता है, **च** और **स्वः** प्रकाशमान **पितरम्** परमात्मा रूप पिता को **प्रयन्** प्राप्त करने का यत्न करता है ।। निघण्टु ३।१६ के अनुसार गौ स्तोता का वाचक होता है ।।४।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।४।।

भावार्थ—सूर्य की स्थानान्तर गति नहीं है, वह अपनी धुरी पर ही घूमता है और पृथिवी तथा अन्य ग्रहों-उपग्रहों सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति आदियों को अपनी किरणों से प्राप्त होकर प्रकाशित करता है। पृथिवी की दो प्रकार की गति है, पहली उसकी अपनी धुरी पर, जिसके द्वारा अहोरात्र बनते हैं, दूसरी अपनी नियत कक्षा में सूर्य के चारों ओर, जिससे संवत्सरचक्र चलता है। परमेश्वर सर्वव्यापक होता हुआ शरीर में स्थित आत्मा, मन और बुद्धि आदियों का तथा ब्रह्माण्ड में स्थित सूर्य, चन्द्रमा एवं पृथिवी आदियों का संचालन करता है। जीवात्मा शुभ और अशुभ कर्म के अनुसार माता के गर्भ को

प्राप्त करके जन्म ग्रहण करता है, और परमात्मा का स्तोता पुरुषार्थी होकर वेदवाणीरूप माता को तथा पिता परमात्मा को प्राप्त करता है ॥४॥

अथ सूर्यस्य परमात्मनश्च तेजो वर्णयति ।

६३१. अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती ।
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥५॥[1]

अन्तरिति चरति रोचना । अस्य प्राणात् प्र आनात्
अपानती अप अनती ॥ वि अख्यत् महिषः दिवम् ॥५॥

पदार्थः—**अस्य** एतस्य गोः सूर्यस्य परमात्मनो वा **रोचना** दीप्तिः **प्राणात्** प्राणनव्यापारानन्तरम् **अपानती** अपाननव्यापारं कारयन्ती **अन्तः** भुवो हृदयस्य चाभ्यन्तरे **चरति** विचरति । एष **महिषः** महान् सूर्यः परमेश्वरो वा । महिष इति महन्नाम । निघं० ३।३ । **दिवम्** आकाशं जीवात्मानं वा **व्यख्यत्** प्रकाशयति ॥५॥[2]

अत्र अर्थश्लेषालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः—योऽयं प्राणः प्राणापानव्यानसमानोदानरूपेण देहेऽवस्थितः प्राणनापाननादिव्यापारं कुरुते तत्परमेश्वरमहिम्नैव, 'स उ प्राणस्य प्राणः' (केन० १।२) इति वचनात् । अपि च तद्विरचितः सूर्योऽपि स्वरश्मिभिः प्राणिभ्यः प्राणं प्रयच्छन् प्राणापानादिक्रियासु सहायको भवति, 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' (प्रश्न० १।८) इत्यादि स्मरणात् । परमेश्वर एव सूर्यद्वारेणाकाशस्थानि पिण्डान्यपि प्रकाशयति ॥५॥

अगले मन्त्र में सूर्य और परमात्मा के तेज का वर्णन है ।

पदार्थ—**अस्य** इस सूर्य वा परमात्मा की **रोचना** दीप्ति **प्राणात्** प्राण-व्यापार के पश्चात् **अपानती** अपान व्यापार कराती हुई **अन्तः** भूमि पर वा हृदय के अन्दर **चरति** विचरती है। यह **महिषः** महान् सूर्य वा परमात्मा **दिवम्** आकाश को वा जीवात्मा को **व्यख्यत्** प्रकाशित करता है ॥५॥

इस मन्त्र में अर्थश्लेषालंकार है ॥५॥

भावार्थ—जो यह प्राण प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान रूप से शरीर में स्थित हुआ प्राणन, अपानन आदि व्यापार करता है, वह परमेश्वर की ही महिमा से करता है, जैसाकि उपनिषद् के ऋषि ने कहा है—'परमेश्वर प्राण का भी प्राण है (केन० १।२)'। परमेश्वर से रचित सूर्य भी अपनी किरणों से प्राणियों को प्राण प्रदान करता हुआ प्राणापान आदि क्रियाओं में सहायक होता है, जैसाकि प्रश्न उपनिषद् में कहा है—'यह सूर्य प्रजाओं का प्राण होकर उदित हो रहा है (प्रश्न० १।८)'। परमेश्वर ही सूर्य के द्वारा आकाशस्थ पिण्डों को भी प्रकाशित करता है ॥५॥

---

१. ऋ० १०।१८६।२, देवता सार्पराज्ञी सूर्यो वा। य० ३।७ ऋषिः सार्पराज्ञी कद्रूः, देवता अग्निः। साम० १३७७। अथ० ६।३१।२ ऋषिः उपरिबभ्रवः, देवता गौः। अथ० २०।४८।५ ऋषिः सर्पराज्ञी, देवता सूर्यः, गौः।

२. दयानन्दर्षिर्यजुर्भाष्ये मन्त्रमेतं विद्युदग्निपक्षे व्याख्यातवान्।

अथ पुनरपि सूर्यः परमात्मा च वर्ण्यते ।

३ २,३ ३ १ २ ३ १ २,३,१ २
६३२. त्रिंशद्धाम वि राजति वाक् पतङ्गाय धीयते ।
२ ३ २ ३,२,३ १ २
प्रति वस्तोरह द्युभिः ॥६॥[1]

३ २ १,२,१ ३ २ ३ १ २ ३
त्रिंशत् धाम वि राजति । वाक् पतङ्गाय धीयते ॥
१,२,१ १ २,१ १,२,१ १ २,१
प्रति वस्तोः अह द्युभिः ॥६॥

पदार्थः—एष सूर्यः परमात्मा वा **त्रिंशद् धाम** मासस्य त्रिंशत्संख्यकेष्वपि अहोरात्रेषु **वि राजति** विशेषेण भासमानो भवति । त्रिंशद् धाम इत्यत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । अ० २।३।५' इति द्वितीया । धाम इत्यत्र 'शेश्छन्दसि बहुलम् । अ० ६।१।७०' इति शिलोपः । तस्मै **पतङ्गाय** अक्षपरिभ्रमणशीलाय सूर्याय, कर्मयोगिने परमात्मने वा । पतति गच्छतीति पतङ्गः 'पतेरङ्गच् पक्षिणि[2] । उ० १।११९' इति पत धातोः अङ्गच् प्रत्ययः । चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् । **वाक्** वाणी **धीयते** धार्य्यते, वाचा तद्गुणकर्मस्वरूपं वर्ण्यते इत्यर्थः । स सूर्यः परमात्मा च **प्रतिवस्तोः** प्रतिदिनम् । वस्तोः इत्यहर्नामसु पठितम् । निघं० १।९ । **अह** एव **द्युभिः** किरणैः तेजोभिर्वा, सर्वं प्रकाशयति इति शेषः ॥६॥[3]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥६॥

भावार्थः—यथा सूर्यः प्रतिदिनं दिव्यन्तरिक्षे भुवि च प्रकाशते, तथा परमात्मापि स्वकृतिभिः सर्वत्र यशसा भासते । तस्य सूर्यस्य परमात्मनश्च गुणकर्मादिकमुपवर्ण्य लाभाः सर्वैः प्राप्तव्याः ॥६॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ—यह सूर्य वा परमात्मा **त्रिंशद् धाम** मास के तीसों दिन-रातों में **वि राजति** विशेष रूप से भासित होता है । उस **पतङ्गाय** अक्ष-परिभ्रमण करने वाले सूर्य के लिए वा कर्मण्य परमात्मा के लिए अर्थात् उनका गुण-कर्म-स्वरूप वर्णन करने के लिए **वाक्** वाणी **धीयते** प्रयुक्त की जाती है। वह सूर्य और परमात्मा **प्रतिवस्तोः** प्रतिदिन **अह** ही **द्युभिः** किरणों वा तेजों से, सबको प्रकाशित करता है ॥६॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥६॥

भावार्थ—जैसे सूर्य प्रतिदिन द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और भूलोक में प्रकाशित होता है, वैसे ही परमात्मा भी अपनी कृतियों से सर्वत्र यश से भासमान है । उस सूर्य और परमात्मा के गुण-कर्म आदि वर्णन करके लाभ सबको प्राप्त करने उचित हैं ॥६॥

अथ पुनरपि सूर्यस्य परमात्मनश्च महिमा वर्ण्यते ।

२,३ २ ३,१,२ ३ १,२ ३ १,२
६३३. अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः ।
१ २ ३,१,२
सूराय विश्वचक्षसे ॥७॥[4]

---

१. ऋ० १०।१८९।३ देवता सार्पराज्ञी सूर्यो वा । य० ३।८ ऋषिः सर्पराज्ञी कद्रूः, देवता अग्निः । साम० १३७८ । अथ० ६।३१।३ ऋषिः उपरिबभ्रवः, देवता गौः । अथ० २०।४८।६ ऋषिः सर्पराज्ञी, देवता सूर्यः, गौः ।

२. पक्षिणीत्युच्यमानेऽपि बाहुलकात् 'पतङ्गः सूर्योऽग्निरश्वः शलभः शालिभेदो वा' इत्यादीनामपि नामानि भवन्ति' इत्युणादिकोशव्याख्याने द० ।

३. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् यजुर्भाष्ये "या वाणी प्राणयुक्तेन शरीरस्थेन विद्युदाख्येनाग्निना नित्यं प्रकाश्यते सा तद्गुणप्रकाशाय विद्वद्भिर्नित्यमुपदेष्टव्या श्रोतव्या चेति" विषये व्याख्यातः ॥

४. ऋ० १।५०।२, अथ० १३।२।१७ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः । अथ० २०।४७।१४ ।

१ २१ ३ १ २ ३ १ २१ ३ १ २
अप त्ये तायवः यथा । नक्षत्रा यन्ति अक्तुभिः ।।
१ २१ ३ १ २ ३ २ ३
सूराय विश्वचक्षसे विश्व चक्षसे ।।७।।

पदार्थः—**प्रथमः** सूर्यपक्षे । **विश्वचक्षसे** सर्वप्रकाशकाय **सूराय** सूर्याय, भिया तस्मै अवकाशं प्रदातुमिवेत्यर्थः, **अक्तुभिः** रात्रिभिः सह । अक्तुरिति रात्रिनाम । निघं० १।७ । **नक्षत्रा** तारावल्यः । नक्षत्राणि इति प्राप्ते, 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शिलोपः । **अप यन्ति** अप गच्छन्ति, निलीयन्ते । कथमिव ? **त्ये** ते, रात्रौ परगृहे सन्धिच्छेदादिकं कुर्वाणाः **तायवः यथा** तस्कराः यथा सूर्यागमे निलीयन्ते तद्वदित्यर्थः । तायुरिति स्तेननाम । निघं० ३।२४ ।

अथ **द्वितीयः** परमात्मपक्षे । यदा हृदयगगने परमात्मसूर्यं उदयोन्मुखो भवति तदा **विश्वचक्षसे** सर्वद्रष्ट्रे सर्वप्रकाशकाय वा **सूराय** तस्मै प्रेरकाय परमात्मने । षू प्रेरणे धातोः 'सुसूधाञ् । उ० २।२४' इति क्रन् प्रत्ययः । भिया तस्मै अवकाशं प्रदातुमिव **त्ये तायवः यथा** ते परविद्रावकाः तस्कराः इव **नक्षत्रा** सक्रियाः कामक्रोधलोभमोहादयः । नक्षतेर्गतिकर्मणः 'अभिनक्षियजि० । उ० ३।१०५' इति अत्रन् प्रत्ययः । **अक्तुभिः** तमोगुणव्याप्तिरूपाभिर्निशाभिः सह **अपयन्ति** अपगच्छन्ति ।।७।।[1]

अत्रोपमालङ्कारः श्लेषश्च ।।७।।

भावार्थः—यथा गगने सूर्यमुदयोन्मुखं वीक्ष्य तीव्रप्रभाभीता इव तारागणाश्चौरा इव निलीयन्ते तथैव तेजोनिधिं परमेश्वरं हृदयाकाशे समुद्यन्तं विलोक्य दुर्धर्षात् तत्प्रतापात् त्रस्ताः कामक्रोधादयः पलायन्ते ।।७।।

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ—**प्रथम** सूर्य के पक्ष में । **विश्वचक्षसे** सर्वप्रकाशक **सूराय** सूर्य के लिए, अर्थात् मानो भय के मारे उसे स्थान देने के लिए **अक्तुभिः** रात्रियों सहित **नक्षत्रा** तारावलियाँ **अप यन्ति** अदृश्य हो जाती हैं, **यथा** जैसे **त्ये** वे, दूसरों के घर में सेंध लगाने वाले **तायवः** चोर, सूर्य के आने पर कहीं छिप जाते हैं ।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में । जब हृदयाकाश में परमात्मारूप सूर्य उदयोन्मुख होता है तब **विश्वचक्षसे** सर्वप्रकाशक **सूराय** उस प्रेरक परमात्मा के लिए, अर्थात् मानो भय के मारे उसे स्थान देने के लिए **त्ये तायवः यथा** वे उन परपीडक प्रसिद्ध चोरों की भाँति **नक्षत्रा** सक्रिय काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि **अक्तुभिः** तमोगुण की व्याप्ति रूप रात्रियों सहित **अपयन्ति** हट जाते हैं ।।७।।

इस मन्त्र में उपमा और श्लेष अलंकार हैं ।।७।।

भावार्थ—जैसे आकाश में सूर्य को उदयोन्मुख देखकर मानो उसकी तीव्र प्रभा से भयभीत हुए तारागण चोरों के समान छिप जाते हैं, वैसे ही तेज के निधि परमेश्वर को हृदयाकाश में उदित होता हुआ देख, उसके दुर्धर्ष प्रताप से त्रस्त हुए काम-क्रोध आदि भाग खड़े होते हैं ।।७।।

पुनरपि सूर्यः परमात्मा च वर्ण्यते ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
६३४. **अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु ।**
१ २ ३ १ २
भाजन्तो अग्नयो यथा ।।८।।[2]

---

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये (ऋ० १।५०।२) "यथा रात्रौ नक्षत्राणि चन्द्रेण प्राणाश्च शरीरेण सह वर्तन्ते तथा विवाहितस्त्रीपुरुषौ वर्त्तेयाताम्" इति विषये व्याख्यातवान् ।

२. ऋ० १।५०।३, अथ० १३।२।१८ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः । अथ० २०।४७।१५ ।

अदृश्रन् अस्य केतवः । वि रश्मयः जनान् अनु ॥
भ्राजन्तः अग्नयः यथा ॥८॥

पदार्थः—**अस्य** सूर्यस्य, तद्वद् भासमानस्य परमात्मनो वा **केतवः** प्रज्ञापकाः **रश्मयः** किरणाः प्रकाशाः वा **जनान् अनु** जातान् पदार्थान्, उपासकान् मनुष्यान् वा अनुप्राप्य **भ्राजन्तः** भ्राजमानाः **अग्नयः यथा** वह्नयः इव **वि अदृश्रन्** विलोक्यन्ते। दृश् धातोः कर्मणि लङर्थे लुङि 'इरितो वा। अ० ३।१।५७' इति अङ्, 'बहुलं छन्दसि। अ० ७।१।८' इति रुडागमः, 'ऋदृशोऽङि गुणः। अ० ७।४।१६' इति प्राप्तौ गुणाभावश्च ॥८॥[1]

अत्र श्लेषोपमालङ्कारौ, नतूत्प्रेक्षा काव्यसम्प्रदाये यथाशब्दस्योत्प्रेक्षावाचकत्वास्वीकरणात्।

भावार्थः—सूर्यस्य किरणा यदा स्वच्छेषु सुवर्णरजतताम्रपित्तलकाचादिषु पतन्ति तदा तत्र भासमानास्ते प्रज्वलद्वह्निसदृशाः प्रतीयन्ते। तथैव मनोभूमौ पतत् परमेश्वरस्य तेजोऽपि योगिभिः प्रज्वलितो विभावसुरिवानुभूयते ॥८॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा का वर्णन है।

पदार्थ—**अस्य** इस सूर्य के अथवा सूर्य के समान भासमान परमात्मा के **केतवः** प्रज्ञापक **रश्मयः** किरणों वा प्रकाश **जनान् अनु** उत्पन्न पदार्थों को वा उपासक मनुष्यों को प्राप्त होकर **भ्राजमानाः** चमकती हुई **अग्नयः यथा** अग्नियों के समान **वि अदृश्रन्** दिखायी देते हैं ॥८॥

इस मन्त्र में श्लेष और उपमालंकार हैं, उत्प्रेक्षा नहीं, क्योंकि काव्यसम्प्रदाय में यथा शब्द उत्प्रेक्षावाचक नहीं माना गया है ॥८॥

भावार्थ—सूर्य की किरणें जब स्वच्छ सोने, चाँदी, तांबे, पीतल, काँच आदि पर पड़ती हैं तब उन पर चमकती हुई वे जलती हुई अग्नि के तुल्य प्रतीत होती हैं। उसी प्रकार मनोभूमि पर पड़ते हुए परमेश्वर के तेज को भी योगी लोग प्रज्वलित अग्नि के तुल्य अनुभव करते हैं ॥८॥

पुनरपि सूर्यः परमात्मा च वर्ण्यते।

६३८. तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य।
विश्वमाभासि रोचनम् ॥९॥[2]
तरणिः विश्वदर्शतः विश्व दर्शतः। ज्योतिष्कृत् ज्योतिः कृत् असि सूर्य ॥
विश्वम् आ भासि रोचनम् ॥९॥

पदार्थः—हे **सूर्य** आदित्यवद् भासमान सर्वप्रेरक परमात्मन्! त्वम् **तरणिः** भवसागरात् तारयिता, **विश्वदर्शतः** सर्वैर्मुमुक्षुभिर्दर्शनीयः सर्वद्रष्टा वा, **ज्योतिष्कृत्** विवेकख्यातिरूपस्य अन्तर्ज्योतिषः कर्ता **असि** विद्यसे। किञ्च, **विश्वम्** सकलम् **रोचनम्** रोचमानं ब्रह्माण्डम् **आभासि** समन्तात् प्रकाशयसि।

भौतिकः सूर्योऽपि **तरणिः** रोगेभ्यस्तारकः, **विश्वदर्शतः** स्वप्रकाशेन सर्वेषां पदार्थानां दर्शयिता,

---

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये (ऋ० १।५०।३) "यथास्य सूर्यस्य भ्राजन्तोऽग्नयः केतवो रश्मयो जनाननुभ्राजन्तः सन्ति तथाहं स्वस्त्रियं स्वपुरुषञ्चैव गम्यत्वेन व्यदृश्रं नान्यथेति यावत्।" इति विषये व्याख्यातवान्।

२. ऋ० १।५०।४, य० ३३।३६, अथ० १३।२।१६ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः। अथ० २०।४७।१६। अथर्ववेदे उभयत्र 'रोचनम्' इत्यत्र 'रोचन' इति पाठः।

ज्योतिष्कृत् पृथिव्यादिलोकेषु प्रकाशस्य कर्त्ता च अस्ति। किञ्च, **विश्वम्** सर्वम् **रोचनम्** दीप्तं मंगलबुधचन्द्रादिकं ग्रहोपग्रहगणम् आभाति समन्तात् प्रकाशयति ॥९॥[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥९॥

भावार्थः—सूर्यपरमात्मनोर्मन्त्रोक्तान् गुणधर्मान् ज्ञात्वा सूर्यसेवनेन रोगाद्या निवारणीयाः, परमात्मध्यानेन च दुःखानि परिहृत्य मोक्षानन्दः प्रापणीयः ॥९॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा का वर्णन है।

पदार्थ—हे **सूर्य** सूर्य के समान तेजस्वी सर्वप्रेरक परमात्मन्! आप **तरणिः** भवसागर से तराने वाले, **विश्वदर्शतः** सब मुमुक्षुओं से दर्शन किये जाने योग्य और सर्वद्रष्टा, तथा **ज्योतिष्कृत्** विवेकख्यातिरूप अन्तर्ज्योति को उत्पन्न करने वाले **असि** हो। और **विश्वम्** समस्त **रोचनम्** चमकीले ब्रह्माण्ड को **आभासि** चारों ओर से प्रकाशित करते हो।

भौतिक सूर्य भी **तरणिः** रोगों से तराने वाला, **विश्वदर्शतः** अपने प्रकाश से सब पदार्थों को दिखाने वाला और **ज्योतिष्कृत्** पृथिवी आदि लोकों में प्रकाश देने वाला है, और **विश्वम्** सब **रोचनम्** प्रदीप्त मंगल, बुध, चन्द्रमा आदि ग्रहोपग्रहों को प्रकाशित करता है ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥९॥

भावार्थ—सूर्य तथा परमात्मा के मन्त्रोक्त गुण-धर्मों को जानकर सूर्य के सेवन द्वारा रोगादि का निवारण करना चाहिए तथा परमात्मा के ध्यान द्वारा दुःखों को दूर कर मोक्ष का आनन्द प्राप्त करना चाहिए ॥९॥

पुनरपि सूर्यः परमात्मा च वर्ण्यते।

६३६. प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान्।
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥१०॥[2]
प्रत्यङ् प्रति अङ् देवानाम् विशः। प्रत्यङ् प्रति अङ् उत् एषि मानुषान् ॥
प्रत्यङ् प्रति अङ् विश्वम् स्वः दृशे ॥१०॥

पदार्थः—हे परमात्मसूर्य! त्वम् **देवानाम्** विद्याप्रकाशकानाम् आचार्याणाम् **विशः** प्रजाः, अधीतविद्यान् स्नातकान् इत्यर्थः **प्रत्यङ्** अभिमुखो भवन्, किञ्च **मानुषान्** अन्यान् मननशीलान् जनान् **प्रत्यङ्** अभिमुखो भवन् **उदेषि** तेषामन्तःकरणे आविर्भवसि। अपि च **विश्वम्** सकलं वर्णाश्रमधर्मपालन-

---

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये सूर्यविद्युदुपमानत्वेन परमेश्वरपक्षे, यजुर्भाष्ये च राजपक्षे व्याख्यातवान्। सायणाचार्यश्च मन्त्रमेतं सूर्यपक्षे परमात्मपक्षे च व्याचष्टे। तथा हि परमात्मपक्षे तद्व्याख्यानम्—हे सूर्य अन्तर्यामितया सर्वस्य प्रेरक परमात्मन्, त्वम् तरणिः संसाराब्धेस्तारकोऽसि। यस्मात् त्वं विश्वदर्शतः विश्वैः सर्वैर्मुमुक्षुभिः दर्शतो द्रष्टव्यः साक्षात्कर्तव्य इत्यर्थः [अधिष्ठानसाक्षात्कारे हि आरोपितं निवर्तते।], ज्योतिष्कृत् ज्योतिषः सूर्यादेः कर्ता [तच्चाम्नायते 'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत' इति।] ईदृशस्त्वं चिद्रूपतया विश्वं सर्वं दृश्यजातं रोचमानं दीप्यमानं यथा भवति तथा आभासि प्रकाशयसि। तथा चाम्नायते "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति।

२. ऋ० १।५०।५, अथ० १३।२।२० ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः। अथ० २०।४७।१७। अथर्ववेदे उभयत्र 'मानुषान्' इत्यत्र 'मानुषीः' इति पाठः।

कर्तारं जनम् **प्रत्यङ्** अभिमुखो भवन् त्वम् **दृशे** कर्त्तव्याकर्त्तव्ये द्रष्टुम् **स्वः** ज्ञानरूपं ज्योतिः, प्रयच्छसीति शेषः ॥[1]

भौतिकः सूर्योऽपि **देवानां विशः** देवानां पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां विशः प्रजाः मृत्पाषाणगिरि-सरिद्वृक्षवनस्पत्याद्याः **प्रत्यङ्** अभिमुखो भवन्, किञ्च **मानुषान्** मनुष्यान् **प्रत्यङ्** अभिमुखो भवन् उदेति । अपि च **विश्वम्** सकलं सोममङ्गलबुधबृहस्पत्यादिकं ग्रहोपग्रहजातम् **प्रत्यङ्** अभिमुखो भवन् **दृशे** अस्माकं दर्शनाय **स्वः** ज्योतिः प्रयच्छति ॥१०॥

अत्र श्लेषालङ्कारः, 'प्रत्यङ्' इत्यस्यावृत्तौ च लाटानुप्रासः ॥१०॥

भावार्थः—यथा सूर्यः सर्वान् पदार्थान् स्वकिरणैः प्राप्य प्रकाशयति, तथा जगदीश्वरः सकलान् चेतनाचेतनान् प्रकाशयति, सर्वेषां हृदि ज्ञानप्रकाशं च सञ्चारयति ॥१०॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ—हे परमात्मारूप सूर्य ! आप **देवानाम्** विद्या के प्रकाशक आचार्यों की **विशः** प्रजाओं अर्थात् विद्या पढ़े हुए स्नातकों के **प्रत्यङ्** अभिमुख होते हुए और **मानुषान्** अन्य मननशील मनुष्यों के **प्रत्यङ्** अभिमुख होते हुए **उदेषि** उनके अन्तःकरणों में प्रकट होते हो । और **विश्वम्** सभी वर्णाश्रमधर्मों का पालन करने वाले जनों के **प्रत्यङ्** अभिमुख होते हुए आप **दृशे** कर्तव्याकर्तव्य को देखने के लिए **स्वः** ज्ञानरूप ज्योति प्रदान करते हो ।

भौतिक सूर्य भी **देवानां विशः** पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश रूप देवों की प्रजाओं मिट्टी, पत्थर, पर्वत, नदी, वृक्ष, वनस्पति आदियों के **प्रत्यङ्** अभिमुख होता हुआ, और **मानुषान्** मनुष्यों के **प्रत्यङ्** अभिमुख होता हुआ उदय को प्राप्त होता है । और **विश्वम्** समस्त सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति आदि ग्रहोपग्रहों के **प्रत्यङ्** अभिमुख होता हुआ **दृशे** हमारे देखने के लिए **स्वः** ज्योति प्रदान करता है ॥१०॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । 'प्रत्यङ्' की आवृत्ति में लाटानुप्रास है ॥१०॥

भावार्थ—जैसे सूर्य सब पदार्थों को अपनी किरणों से प्राप्त होकर प्रकाशित करता है, वैसे ही जगदीश्वर समस्त चेतन-अचेतनों को प्रकाशित करता है और सबके हृदय में ज्ञान-प्रकाश को संचारित करता है ॥१०॥

पुनरपि सूर्यः परमात्मा च वर्ण्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
६३७. येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।
१ २ ३ १ २
त्वं वरुण पश्यसि ॥११॥[2]
१२१३ १२१ ३ १ २ १२१ १२१
येन पावक चक्षसा । भुरण्यन्तम् जनान् अनु ॥
३ १२१
त्वम् वरुण पश्यसि ॥११॥

पदार्थः—हे **पावक** हृदयानां पावित्र्यसम्पादक, **वरुण** पापनिवारक मुमुक्षुभिर्वरणीय सर्वश्रेष्ठ सूर्यसदृश परमात्मन् ! त्वम् **भुरण्यन्तम्** क्षिप्रं पुरुषार्थं कुर्वाणं जीवात्मानम् । भुरण्युरिति क्षिप्रनाम । निरु० १२।२२ **जनान्** उपासकजनांश्च **येन** अद्भुतेन **चक्षसा** ज्ञानेन **अनु** अनुगृह्णासि, तेन ज्ञानेन **त्वम् पश्यसि**

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये जगदीश्वरपक्षे व्याख्यातवान् । एष च तत्कृतो भावार्थः—"यत ईश्वरः सर्वव्यापकः सकलान्तर्यामी समस्तकर्मसाक्षी वर्तते तस्मादयमेव सर्वैः सज्जनैरुपासनीयोऽस्ति" इति ।

२. ऋ० १।५०।६, य० ३३।३२, अथ० १३।२।२१ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः । अथ० २०।४७।१८ ।

स्वयमपि सर्वं किञ्चित् प्राणिनां शुभाशुभकर्मादिकं वेत्ति ।[1]

भौतिकः सूर्योऽपि **पावकः** शोधकः, **वरुणः** वरणीयः रोगादिनिवारकश्च वर्तते । सोऽपि **जनान्** जातान् उत्पन्नान् प्राणिनः **भुरण्यन्तम्** धारयन्तम् भूमण्डलम् । भुरण धारणपोषणयोः कण्ड्वादिः । **येन चक्षसा** प्रकाशेन, **अनु** अनुगृह्णाति, तेन **पश्यति** स्वयमपि प्रकाशितोऽस्ति ॥११॥

यास्काचार्यो मन्त्रमिममेवं व्याचष्टे—अनेन पावक ख्यानेन भुरण्यन्तं जनान् अनु त्वं वरुण पश्यसि, तत्ते वयं स्तुम इति वाक्यशेषः । अपि वोत्तरस्याम्—"येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु । त्वं वरुण पश्यसि ॥ वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः । पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥ ऋ० १।५०।६,७ [तेन चक्षसा] व्येषि द्यां रजश्च पृथु महान्तं लोकम्, अहानि च मिमानो अक्तुभी रात्रिभिः सह पश्यन् जन्मानि जातानि सूर्य । अपि वा पूर्वस्याम्—"येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु । त्वं वरुण पश्यसि ॥ प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान् । प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥ ऋ० १।५०।६,५ [तेन चक्षसा] प्रत्यङ्ङिदं सर्वमुदेषि प्रत्यङ्ङिदं सर्वमभिविपश्यसि ॥ अपि वैतस्यामेव···तेन नो जनानभिविपश्यसि ॥" निरु० १२।२१-२४ ।

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥११॥

भावार्थः—यथा प्रकाशमानः सर्योऽन्यान् प्रकाशयति तथा ज्ञानवान् परमेश्वरोऽन्येभ्यो ज्ञानं प्रयच्छति ॥११॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ—हे **पावक** हृदयों को पवित्र करने वाले **वरुण** पापनिवारक, मुमुक्षुओं से वरणीय, सर्वश्रेष्ठ सूर्यसदृश परमात्मन् ! आप **भुरण्यन्तम्** शीघ्र पुरुषार्थ करने वाले जीवात्मा को तथा **जनान्** उपासक जनों को **येन** जिस अद्भुत **चक्षसा** ज्ञान से **अनु** अनुगृहीत करते हो, उस ज्ञान से **त्वम्** आप **पश्यसि** स्वयं भी सब कुछ प्राणियों के शुभाशुभ कर्म आदि को जानते हो ।

भौतिक सूर्य भी **पावकः** शोधक और **वरुणः** रोगादि का निवारक होता है, तथा वह **जनान्** उत्पन्न प्राणियों को **भुरण्यन्तम्** धारण करने वाले भूमण्डल को **येन** जिस **चक्षसा** प्रकाश से **अनु** अनुगृहीत करता है, उससे वह **पश्यति** स्वयं भी प्रकाशमान है ॥११॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥११॥

भावार्थ—जैसे प्रकाशमान सूर्य अन्यों को प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञानवान् परमेश्वर अन्यों को ज्ञान देता है ॥११॥

पुनरपि सूर्यः परमात्मा च वर्ण्यते ।

६३८. उद् द्यामेषि रजः पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः ।
पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥१२॥[2]
उत् द्याम् एषि रजः पृथु । अहा अ हा मिमानः अक्तुभिः ॥
पश्यन् जन्मानि सूर्य ॥१२॥

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये जगदीश्वरविषये, यजुर्भाष्ये च राजधर्मविषये व्याख्यातवान् ।

२. ऋ० १।५०।७ 'वि द्यामेषि राजस्पृथ्वहा' इति पाठः । अथ० १३।२।२२ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः, 'रजस्पृथ्वहर्मिमानो' इति पाठः । अथ० २०।४७।१९ 'रजस्पृथ्वहर्मिमानो', 'पश्यं जन्मानि' इति पाठः ।

पदार्थः—हे **सूर्य** चराचरान्तर्यामिन् सूर्यसदृश जगदीश्वर ! त्वम् **अक्तुभिः** प्रलयरात्रिभिः सह **अहा** अहानि सृष्टिरूपाणि दिनानि **मिमानः** निर्मिमाणः। अनुपसृष्टोऽपि 'माङ् माने शब्दे च' इति धातुर्निर्माणार्थे दृश्यते। **जन्मानि** प्राणिनां पूर्वापराणि जन्तूंषि **पश्यन्** जानन् **पृथु** यशोमयम्। प्रथ प्रख्याने। **रजः** लोकम् **द्याम्** दीप्तिमयं ब्रह्माण्डम् **उद् एषि** उद्गमयसि, सञ्चालयसीत्यर्थः। 'इण् गतौ' अत्र ण्यर्थगर्भः।

भौतिकः सूर्योऽपि **अक्तुभिः** रात्रिभि सह, **अहा** अहानि **मिमानः** निर्मिमाणः **जन्मानि** जातानि वस्तूनि **पश्यन्** प्रकाशयन् **पृथु** विस्तीर्णम् **रजः** लोकम् **द्याम्** दिवम्, विस्तीर्णे लोके दिवि इत्यर्थः, **उदेति** उद्गतोऽस्ति ॥१२॥[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१२॥

भावार्थः—सौरलोके परमात्मना सञ्चालितः सूर्य एवाहोरात्रपक्षमासऋत्वयनसंवत्सरचक्रं प्रवर्तयति सर्वाणि प्रकाशयति च। परमात्माऽपि प्रलयरात्र्यनन्तरं सृष्टिरूपं ब्राह्मं दिवसं रचयति, जन्मनि जन्मनि कृतानि जनानां शुभाशुभकर्माणि च पश्यन् तेभ्यः शुभाशुभानि फलानि ददाति ॥१२॥

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य और परमात्मा का वर्णन है।

पदार्थ—हे **सूर्य** चराचर में अन्तर्यामी जगदीश्वर ! आप **अक्तुभिः** प्रलय-रात्रियों के साथ **अहा** सृष्टिरूप दिनों को **मिमानः** रचते हुए तथा **जन्मानि** प्राणियों के पूर्वापर जन्मों को **पश्यन्** जानते हुए **पृथु** यशोमय **रजः** लोक **द्याम्** प्रकाशपूर्ण ब्रह्माण्ड को **उद् एषि** संचालित करते हो।

भौतिक सूर्य भी **अक्तुभिः** रात्रियों के साथ **अहा** दिनों को **मिमानः** रचता हुआ और **जन्मानि** उत्पन्न पदार्थों को **पश्यन्** प्रकाशित करता हुआ **पृथु** विस्तीर्ण **रजः** लोक **द्याम्** द्यौ में **उदेति** उदित है ॥१२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१२॥

भावार्थ—सौर लोक में परमात्मा से संचालित सूर्य ही दिन-रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर आदि के चक्र का प्रवर्तन करता है और सबको प्रकाशित करता है। परमात्मा भी प्रलयरात्रि के अनन्तर सृष्टिरूप ब्राह्म दिन को रचता है और मनुष्यों के जन्म-जन्म में किये हुए शुभाशुभ फल प्रदान करता है ॥१२॥

अथ सूर्यो जीवात्मा परमात्मा च वर्ण्यते।

६३०. अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥१३॥[2]

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः। सूरः रथस्य नप्त्यः॥
ताभिः याति स्वयुक्तिभिः स्व युक्तिभिः ॥१३॥

पदार्थः—**प्रथमः** सूर्यपक्षे। **सूरः** सर्यः **रथस्य** सौरमण्डलरूपस्य रथस्य **नप्त्यः** नप्त्रीः न पातयित्रीः। अत्र छान्दसः पूर्वसवर्णदीर्घाभावः। **सप्त** सप्तसंख्यकाः **शुन्ध्युवः** शुन्ध्यूः शोधिकाः दीधितीः। अत्र 'इयङुवङ्प्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलमुपसंख्यानम्। अ० ६।४।७७ वा०' इति शसि उवङादेशः। **अयुक्त**

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये सूर्योपमानेन जगदीश्वरविषये व्याख्यातवान्।

२. ऋ० १।५०।९, अथ० १३।२।२४ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः, २०।४७।२१। सर्वत्र 'नप्त्यः' इत्यस्य स्थाने 'नप्त्यः' इति पाठः।

पृथिव्यादिभिः ग्रहोपग्रहैः युङ्क्ते, **स्वयुक्तिभिः** स्वेन नियुक्ताभिः **ताभिः** शोधिकाभिः दीधितिभिः असौ **याति** गच्छति, सक्रियो भवति, भूमण्डलादीनामुपकाराय चेष्टते इत्यर्थः ।

अथ **द्वितीयो** जीवात्मपक्षे । **सूरः** प्रेरको जीवात्मा **रथस्य** शरीररथस्य **नप्त्यः** न पातयित्रीः **सप्त** सप्तसंख्यकाः **शुन्ध्युवः** ज्ञानशोधिकाः ज्ञानेन्द्रियमनोबुद्धीः **अयुक्त** शरीररथे नियुङ्क्ते, **स्वयुक्तिभिः** स्वेन नियुक्ताभिः **ताभिः याति** जीवनयात्रां निर्वहति ।

उक्तं च कठोपनिषदि—"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च । इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।" (कठ० ३।३,४) इति ।।

अथ **तृतीयः** परमात्मपक्षे । **सूरः** सूर्यचन्द्रादीनां लोकानां प्रेरकः परमात्मा । षू प्रेरणे धातोः 'सुसूधाञ्० । उ० २।२५' इति क्रन् प्रत्ययः । **रथस्य** ब्रह्माण्डरथस्य **नप्त्यः** न पातयित्रीः **सप्त** सप्तसंख्यकाः **शुन्ध्युवः** शुद्धाः भूमीः भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्यम् इत्याख्याः क्रमश उपर्युपरि विद्यमानाः सप्तलोक-रूपाः पृथिवीः **अयुक्त** कार्ये नियुक्तवानस्ति, **स्वयुक्तिभिः** स्वेन नियुक्ताभिः ताभिर्भूमिभिः सः **याति** ब्रह्माण्डसंचालनव्यापारं निर्वहति ।।१३।।[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः ।।१३।।

भावार्थः—आदित्यः सप्तवर्णैः किरणैः सौरमण्डलम्, जीवात्मा मनोबुद्धिज्ञानेन्द्रियरूपैः सप्ततत्त्वैः शरीरम्, परमेश्वरश्च स्वात्मना सृष्टैः सप्तलोकैर्ब्रह्माण्डं सञ्चालयति ।।१३।।

अगले मन्त्र में सूर्य, जीवात्मा और परमात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ—**प्रथम** सूर्य के पक्ष में । **सूरः** सूर्य **रथस्य** सौरमण्डलरूप रथ को **नप्त्यः** न गिरने देने वाली **सप्त** सात **शुन्ध्युवः** शोधक किरणों को **अयुक्त** पृथिवी आदि ग्रह उपग्रहों के साथ युक्त करता है । **स्व-युक्तिभिः** स्वयं युक्त की गयी **ताभिः** उन किरणों से, वह **याति** भूमण्डल आदि के उपकार के लिए चेष्टा करता है ।

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में । **सूरः** प्रेरक जीवात्मा **रथस्य** शरीर-रूप रथ को **नप्त्यः** न गिरने देने वाली **शुन्ध्युवः** ज्ञान-शोधक ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि **सप्त** इन सात को **अयुक्त** शरीर-रथ में जोड़ता है, और **स्वयुक्तिभिः** स्वयं जोड़ी हुई **ताभिः** उनके द्वारा **याति** जीवन-यात्रा को करता है ।

तृतीय परमात्मा के पक्ष में । **सूरः** सूर्य, चन्द्र आदि लोकों को चलाने वाले परमात्मा ने **रथस्य** ब्रह्माण्डरूप रथ को **नप्त्यः** न गिरने देने वाली **सप्त** सात **शुन्ध्युवः** शुद्ध भूमियों को अर्थात् भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् इन क्रमशः ऊपर-ऊपर विद्यमान सात लोकों को **अयुक्त** कार्य में नियुक्त किया है, **स्वयुक्तिभिः** स्वयं नियुक्त की हुई उन सात भूमियों अर्थात् लोकों से, वह **याति** ब्रह्माण्ड-संचालन के व्यापार को कर रहा है ।।१३।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।१३।।

भावार्थ—सूर्य सात रंग की किरणों से सौरमण्डल का, जीवात्मा मन, बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियरूप सात तत्त्वों से शरीर का और परमेश्वर स्वरचित सात लोकों से ब्रह्माण्ड का संचालन करता है ।।१३।।

---

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये वाचकलुप्तोपमालङ्कारमुखेन सूर्यवत् प्रकाशमानं परमेश्वरमुद्दिश्य व्याख्यातवान् ।

अथ पुनरपि सूर्यो जीवात्मा परमात्मा च वर्ण्यते ।

६४०. ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।
३ १ २
शोचिष्केशं विचक्षण ॥१४॥[1]

३ २ ३ १ २ १ २ १ २ १ २ ३
सप्त त्वा हरितः रथे । वहन्ति देव सूर्य ॥
१ २ ३ २ ३
शोचिष्केशम् शोचिः केशम् विचक्षण वि चक्षण ॥१४॥

पदार्थः—**प्रथमः** जीवात्मपक्षे । हे **देव** दिव्यशक्तिसम्पन्न **विचक्षण** विविधज्ञानयुक्त **सूर्य** शरीर-रथस्य सुष्ठु ईरयितः जीवात्मन् ! **शोचिष्केशम्** तेजोरूपकेशयुक्तम् **त्वा** त्वाम् **सप्त हरितः** मनोबुद्धि-ज्ञानेन्द्रियरूपाः सप्त अश्वाः **रथे** शरीररूपे स्यन्दने **वहन्ति** धारयन्ति ।

अथ **द्वितीयः** परमात्मपक्षे । हे **देव** दानादिगुणयुक्त दिव्यगुणकर्मस्वभाव **विचक्षण** सर्वद्रष्टः **सूर्य** शुभमार्गे सुष्ठु प्रेरयितः परमात्मन् ! **शोचिष्केशम्** शोचींषि ज्ञानरश्मयः एव केशाः केशस्थानीया यस्य तम् **त्वा** त्वाम् परमपुरुषम् **सप्त हरितः** गायत्र्यादिसप्तछन्दोयुक्ताः सप्तविधा वेदवाचः **रथे** उपासकस्य रमणीये हृदये । रमु क्रीडायाम्, 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् । उ० २।२' इति क्थन् । **वहन्ति** प्रापयन्ति ।

भौतिकः सूर्योऽपि **देवः** द्युतिमान् द्योतयिता च, **विचक्षणः** विविधानां पदार्थानां दर्शयिता, **शोचिष्केशः** शोचींषि रश्मय एव केशा यस्य तादृशः अस्ति । तं च **सप्त** सप्तसंख्यकाः **हरितः** दिशः । हरितः इति दिङ्नाम । निघं० १।६ । **रथे** आकाशरूपे स्यन्दने **वहन्ति** नयन्ति ।[2]

अत्र सूर्यस्य शिशुत्वं व्यज्यते दिशां च मातृत्वम् । यथा मातरः शिशुं लघुरथे समुपवेश्य पर्यटनं कारयन्ति, तथैव दिशः सूर्यं गगनरथे समारोप्य ।

दिशश्चतस्रः पञ्च षट् सप्ताष्टौ दशेति विभिन्नसंख्याः श्रूयन्ते । 'सप्तदिशो नाना सूर्याः' । ऋग् ९।११४।३ इति श्रुतेः दिशां सप्तसंख्यत्वमपि प्रमाणीभवति । चतस्रः पूर्वाद्याः, अधः ऊर्ध्वा चेति षट्, सप्तमी मध्यभूता ॥१४॥

अत्र श्लेषालङ्कारः । शोचिष्षु केशानामारोपः शाब्दः, सूर्ये च पुरुषारोपः आर्थः, तस्मादेकदेश-विवर्ति रूपकम् ॥१४॥

भावार्थः—यथा कञ्चित् प्रतापिनं पुरुषं सप्त अश्वा रथे वहेयुस्तथा रश्मिकेशं सूर्यं पुरुषं दिशो गगनरथे, तेजःकेशं जीवात्मपुरुषम् इन्द्रियाश्वाः शरीररथे, ज्ञानकेशं परमात्मपुरुषं च सप्तच्छन्दांसि योगिनो हृदयरथे वहन्ति ॥१४॥

अत्राग्न्याख्यात् परमेश्वरात् पावित्र्यदुःखविनाशादिप्रार्थनात्, सूर्यनाम्ना च भौतिकसूर्यजीवात्म-परमात्मनां वर्णनादेतद्दशत्यर्थस्य पूर्वदशत्यर्थेन सह संगतिरस्ति ।

इति षष्ठे प्रपाठके तृतीयार्धे पञ्चमी दशतिः ।
इति षष्ठाध्याये पञ्चमः खण्डः ।
समाप्तश्चायं षष्ठः प्रपाठकः षष्ठाध्यायश्च ॥

---

१. ऋ० १।५०।८, अथ० १३।२।२३ ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः, अथ० २०।४७।२० । अथर्ववेदे उभयत्र 'विचक्षणम्' इति पाठः ।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये वाचकलुप्तोपमालङ्कारमाश्रित्य "हे मनुष्याः ! यथा किरणैर्विना सूर्यस्य दर्शनं न भवति तथैव वेदाभ्यासमन्तरा परमात्मनो दर्शनं नैव जायत इति वेद्यम्" इति विषये व्याख्यातवान् ।

अगले मन्त्र में पुनः सूर्य, जीवात्मा और परमात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ—**प्रथम** जीवात्मा के पक्ष में । हे **देव** दिव्यशक्तिसम्पन्न, **विचक्षण** विविध ज्ञानों से युक्त **सूर्य** शरीररथ को भलीभाँति चलाने वाले जीवात्मन् ! **शोचिष्केशम्** तेजरूप केशों वाले **त्वा** तुझे **सप्त हरितः** मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय रूप सात घोड़े **रथे** शरीररूप रथ में **वहन्ति** वहन करते हैं ।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में । हे **देव** दानादिगुणयुक्त, दिव्यगुणकर्मस्वभाव, **विचक्षण** सर्वद्रष्टा, **सूर्य** शुभ मार्ग में भलीभाँति प्रेरित करने वाले परमात्मन् ! **शोचिष्केशम्** ज्ञानरश्मिरूप केशों वाले **त्वा** तुझ परम पुरुष को **सप्त हरितः** गायत्री आदि सात छन्दों से युक्त सात प्रकार की वेदवाणियाँ **रथे** उपासक के रमणीय हृदय में **वहन्ति** पहुँचाती हैं ।

भौतिक सूर्य भी **देवः** प्रकाशमान तथा प्रकाशक, **विचक्षणः** विविध पदार्थों का दर्शन कराने वाला और **शोचिष्केशः** किरणरूप केशों वाला है । उसे **सप्त** सात **हरितः** दिशाएँ **रथे** आकाशरूप रथ में बैठाकर **वहन्ति** यात्रा कराती हैं ।

यहाँ सूर्य का शिशु होना तथा दिशाओं का माता होना ध्वनित हो रहा है । जैसे माताएँ शिशु को बच्चागाड़ी में बैठाकर सैर कराती हैं, वैसे ही दिशाएँ सूर्य को आकाश-रथ में बैठाकर घुमाती हैं ।

दिशाएँ चार, पाँच, छः, सात, आठ, दस आदि विभिन्न संख्या वाली सुनी जाती हैं । 'सात दिशाएँ हैं, नाना सूर्य हैं' (ऋ० ९।११४।३) इस श्रुति के अनुसार दिशाओं की सात संख्या भी प्रमाणित होती है । चार पूर्व आदि हैं, अधः, ऊर्ध्वा मिलकर छह होती हैं और सातवीं मध्य दिशा है । इस प्रकार सात संख्या पूरी होती है ॥१४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । शोचियों में केशों का आरोप शाब्द तथा सूर्य में पुरुष का आरोप आर्थ होने से एकदेशविवर्ती रूपक भी है ॥१४॥

भावार्थ—जैसे किसी प्रतापी पुरुष को सात घोड़े रथ में वहन करें, वैसे ही किरण-रूप केशों वाले सूर्य-रूप पुरुष को दिशाएँ आकाश-रथ में तथा तेज-रूप केशों वाले जीवात्मा-रूप पुरुष को इन्द्रिय-रूप घोड़े शरीर-रथ में और ज्ञान-रूप केशों वाले परमात्मा-रूप पुरुष को वेदों के सात छन्द उपासक के हृदय-रथ में वहन करते हैं ॥१४॥

इस दशति में अग्नि नामक परमेश्वर से पवित्रता, दुःख-विनाश आदि की प्रार्थना होने से और सूर्य नाम से भौतिक सूर्य, जीवात्मा एवं परमात्मा का वर्णन होने से इस दशति के विषय की पूर्व दशति के विषय के साथ संगति है ।

षष्ठ प्रपाठक में तृतीय अर्ध की पंचम दशति समाप्त ।
षष्ठ अध्याय में पंचम खण्ड समाप्त ।
यह षष्ठ प्रपाठक और षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ ॥

इति बरेलीमण्डलान्तर्गतफरीदपुरवास्तव्यश्रीमद्गोपालरामभगवतीदेवीतनयेन हरिद्वारीय-गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयेऽधीतविद्येन विद्यामार्तण्डेन आचार्यरामनाथवेदालङ्कारेण महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतवेदभाष्यशैलीमनुसृत्य विरचिते संस्कृतार्य-भाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते सामवेदभाष्ये आरण्यकं काण्डं पर्व वा पूर्वार्चिकश्च समाप्तिमगात् ॥

अथ महानाम्नी आर्चिकः

अस्ति तावत् सामवेदस्य पूर्वार्चिकोत्तरार्चिकयोर्मध्ये महानाम्न्यार्चिको दशमन्त्रात्मकः[1]। केचिदिमं पूर्वार्चिकान्तर्गतमेव मन्यन्ते। तन्मते छन्दआर्चिको महानाम्न्यार्चिकश्च मिलित्वा पूर्वार्चिकः सम्पद्यते।

एतदन्तर्गतानां सर्वासामृचाम् इन्द्र एव देवता। एतासां महानाम्नीसंज्ञायाश्चैतत् कारणं प्रतीयते यदेता इन्द्रस्य महान्ति नामानि वर्णयन्ति। तद्यथा—मघवान्, शचीनां पतिः, अंशुः, प्रचेतनः, शक्रः, वज्रिवान्, वज्री, शविष्ठः, मंहिष्ठः, वाजानां पतिः, चिकित्वान्, जेता, अपराजितः, अद्रिवान्, वसुः, वशी, प्रभुः, वृत्रहा, शूरः, सखा, सुशेवः, अद्वयुः इति बहूनि महत्त्वपूर्णानि नामान्यत्र परिगणितानि। एभिर्महद्भिर्नामभिरिन्द्रः परमेश्वरो महान् सम्पन्नः, तस्मान् महानाम्नी इति। अथापि ब्राह्मणं भवति—"इन्द्रो वा एताभिर्महानात्मानं निरमिमीत, तस्मान्महानाम्न्यः" (ऐ० ब्रा० ५।२।२) इति।

एताभिरिन्द्रो वृत्रं हन्ति, वृत्रवधसमये च महान् घोषो भवति तस्मादेता महानाम्न्य इत्यपि ब्राह्मणग्रन्थकारा आचक्षते। तथाहि, 'महान् घोष आसीत् (वृत्रवधसमये) तन्महानाम्न्यः' इति हि ताण्ड्यम् (१३।४।१)। क्वचित्तु, इन्द्रेण महतो वृत्रस्य हननात् इमा महानाम्न्यः प्रोक्ताः। तथाहि, 'तानि सर्वाणि छन्दांसि संभृत्य तैरिन्द्रो वृत्रमहन्, यन्महान्तमहंस्तस्मान्महानाम्न्यः' इति हि जैमिनीयकम् (३।१११)। अथापि महामानित्वाद् एता महानाम्न्य उक्ताः। यथाह जैमिनीयम् "यदब्रवीद् (प्रजापतिः) महद् बतासामिदं मानमभूदिति तन्महामानीनां महामानित्वम्, महामानयो ह वै नामैतास्ता महानाम्न्य इति परोक्षमाख्यायन्ते (जै० ब्रा० ३।१०४)" इति।

महानाम्न्यार्चिकेऽस्मिन् दश ऋचः सन्ति। तत्र प्रथमायाम् ऋचि ६+७+७+७=३० इत्येवं चत्वारः पादाः, अतो विराड् अनुष्टुप् छन्दः। द्वितीयस्याम् ७+३+८+७=२५ इति चत्वारः पादाः, ततश्चतुष्पदा भुरिग् गायत्री। तृतीयस्याम् ५+८+८+८+७=३६ इत्येवं पञ्च पादाः, अतः पञ्चपदा बृहती। चतुर्थ्याम् ७+११+८+७=३३ इति चत्वारः पादाः, ततो भुरिग् अनुष्टुप्। पञ्चम्याम् ७+५+८+७=२७ इति चत्वारः पादाः, ततश्चतुष्पदा निचृदुष्णिक्। षष्ठ्याम् ५+८+८+८+८=३७ इति पञ्च पादाः, ततः पञ्चपदा भुरिग् बृहती। सप्तम्याम् १२+८+८+८=३६ इति चत्वारः पादाः, ततः पुरस्ताद् बृहती। अष्टम्याम् ८+४+८+८+५+८=४१ इति षट् पादाः, ततो भुरिग् पङ्क्तिः। नवम्याम् ८+८+८+८=३२ इति चत्वारः पादाः, ततोऽनुष्टुप्। दशम्याम् ४+४+५+५=१८ इति चत्वारः पादाः, तेन चतुष्पदाऽऽर्ची गायत्री।

एता महानाम्न्यः शक्वर्योऽपि प्रोच्यन्ते। अत्र दशसु ऋक्षु त्रीणि त्रिकाणि, अन्ते चैका ऋक् पुरीषपदात्मिका विद्यते। परम्परानुसारेण प्रतित्रिकम् उपसर्गान् विहाय एकैका शक्वरी सम्पद्यते। एवं दशसु तिस्रः शक्वर्यः सन्ति। शक्वर्यां च षट्पञ्चाशदक्षराणि भवन्ति। उपसर्गपदानां वियोजनेन तिस्रः शक्वर्य एवं जायन्ते—

---

१. "महानाम्नीनां पाठस्तु न तु छन्दआर्चिके नापि उत्तरार्चिके, परं छन्दआर्चिके समाप्ते तत्पुस्तकान्त्यभाग एव सर्वत्र दृश्यते"—इति सामवेदसंहितायाः सायणभाष्ये सत्यव्रतसामश्रमिकृता पादटिप्पणी।

प्रथमत्रिकस्था शक्वरी

शिक्षा शचीनाम्पते (१) पूर्वीणां पुरुवसो (२) आभिष्ट्वमभिष्टिभिः (३) इन्द्र द्युम्नाय न इषे (४) राये वाजाय वज्रिवः (५) शविष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे (६) मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे (७) ॥

प्रथमे त्रिके उपसर्गाः

विदा मघवन् विदा गातुमनुशंसिषो दिशः (१)। स्वा ३ऽन्नांशुः (२)। प्रचेतन प्रचेतये (३)। एवा हि शक्रः (४)। आ याहि पिब मत्स्व (५) ॥

द्वितीयत्रिकस्था शक्वरी

मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे (१) यः शविष्ठः शूराणाम् (२) यो मंहिष्ठो मघोनाम् (३) इन्द्रो विदे तमु स्तुहि (४) तमूतये हवामहे (५) जेतारमपराजितम् (६) स नः स्वर्षदति द्विषः (७) ॥

द्वितीये त्रिके उपसर्गाः

विदा राये सुवीर्यं भवो वाजानां पतिर्वशाँ अनु (१)। अंशुर्न शोचिः (२)। चिकित्वो अभि नो नय (३)। ईशे हि शक्रः (४)। ऋनुश्छन्द ऋतं बृहत् (५) ॥

तृतीयत्रिकस्था शक्वरी

स नः स्वर्षदति द्विषः (१) स नः स्वर्षदति द्विषः (२) पूर्वस्य यत्ते अद्रिवः (३) पूर्तिः शविष्ठ शस्यते (४) नूनं तन्नव्यं संन्यसे (५) प्रभो जनस्य वृत्रहन् (६) समर्येषु ब्रवावहै (७) ॥

तृतीये त्रिके उपसर्गाः

इन्द्रं धनस्य सातये हवामहे, जेतारमपराजितम् (१)। अंशुर्मदाय (२)। सुम्न आ धेहि नो वसो (३)। वशी हि शक्रः (४)। शूरो यो गोषु गच्छति (५)। सखा सुशवो अद्वयुः (६) ॥

एवं प्रथमे त्रिके सप्त शाक्वराणि पदानि, पञ्च उपसर्गाः। द्वितीयेऽपि त्रिके तथैव सप्त शाक्वराणि पदानि, पञ्च उपसर्गाः। तृतीये त्रिके सप्त शाक्वराणि पदानि, षड् उपसर्गाः। उपसृज्यन्ते छन्दोभिरितरैरित्युपसर्गाः। उक्तं चैतरेयके षोडशिप्रकरणे 'महानाम्नीनामुपसर्गानुपसृजति' (ऐ० ब्रा० ४।१।४) इति।

प्रतित्रिकं शक्वरीं निर्मातुम् उपसर्गपदानां पृथक्करणक्रमस्तु यः सौकर्यार्थं निदानकल्पे पूर्वाचार्यैः श्लोकद्वयेन प्रदर्शितः स सायणाचार्येण स्वकीये सामसंहिताभाष्ये एवमुद्धृतः—

प्रथमं द्विपदा, त्रीणि शाक्वराणि पदान्यतः।
पञ्चार्णाष्टाक्षरौ चोपसर्गाविकश्च शाक्वरः ॥१॥
पञ्चार्ण उपसर्गोऽथ, त्रयस्ते, बहिरन्तिमः।
इयमाद्या, द्वितीयैवं, तृतीया पुनरन्तिमः।
अधिकोऽष्टाक्षरः पाद उपसर्ग इति स्थितिः ॥२॥

प्रथमे द्वितीये च त्रिके आदौ पठिता द्विपदा एकः उपसर्गः, तत उत्तरं त्रीणि पदानि शाक्वराणि, ततो द्वौ उपसर्गौ, तत एकं शाक्वरं पदम्, तत एकः उपसर्गः, ततस्त्रीणि शाक्वराणि पदानि, ततोऽन्तिम उपसर्गः इति क्रमः। तृतीये त्रिके त्वेतावानेव विशेषो यदन्तिमौ द्वौ उपसर्गौ, शिष्टं प्रथमद्वितीयवत्।

महानाम्नीषु नवर्चोत्तरं तिसृणां शक्वरीणां वाऽनन्तरं पञ्चपुरीषपदात्मिका दशमी ऋग् विद्यते।

इन्द्र एवाग्निपूषन्नादिभिरपि नामभिर्वेदे स्मृत इतीन्द्रस्य पूर्णताप्रतिपादकत्वादिमानि पदानि पुरोषपदान्युच्यन्ते । महानाम्नीनां शक्वरीणां वा विषये ताण्ड्यमहाब्राह्मणे गाथेयमुपलभ्यते—

"इन्द्रः प्रजापतिम् उपाधावद् वृत्रं हनानीति । तस्मा एतच्छन्दोभ्य इन्द्रियं वीर्यं निर्माय प्रायच्छद्, एतेन शक्नुहीति । तच्छक्वरीणा छं **शक्वरीत्वम्** । सीमानमभिनत् तत् **सिमाः** । महन्यम् अकरोत् **तन्मह्न्याः** । महान् घोष आसीत् **तन्महानाम्न्यः** (तां० ब्रा० १३।४।१)" इति ।

तथा कुरु यथाहं वृत्रं हन्यामिति प्रार्थयन् इन्द्रः प्रजापतिमुपागच्छत् । ततः प्रजापतिः वृत्रहनने शक्तं शक्वर्यात्मकं बलम् इन्द्राय दत्तवान्, एतेन त्वं वृत्रं हन्तुं शक्ष्यसीति । यतः शक्वरीभिरिन्द्रो वृत्रहनने शक्तोऽभवत् तस्मात्ताः **शक्वर्यः** उच्यन्ते । 'शक्लृ शक्तौ' धातोः 'स्नामदिपद्यर्तिपृशकिभ्यो वनिप्' उ० ४।११४ इत्यनेन वनिप् प्रत्यये स्त्रियां ङीपि नकारस्य च रेफे कृते शक्वरीशब्दः सिध्यति ।

एताः शक्वर्यः सिमाः मह्न्याः, महानाम्न्यश्चाप्युच्यन्ते, तत्र कारणमाह । यत आभिः वृत्रस्य सीमानं शिरःसन्धिम् अभिनत् इन्द्रः, तस्मात् एताः **सिमाः** । शिरसो भेदनकाले यत इन्द्रः श्रमजन्यं 'मह्न्यम्' इति कण्ठनासिकोत्पन्नं शब्दमकरोत्, तस्मादेतासां शक्वरीणां **'मह्न्याः'** इति नाम सम्पन्नम् । वृत्रवधानन्तरं विजयिनां देवानां यत् महत् नाम महान् विजयघोषः उत्थितः, तस्मादेतासां शक्वरीणां महानाम्न्यः इति संज्ञा जाता ।

एतस्याः काल्पनिककथाया एतदेव तात्पर्यमध्यवसेयं यदेतासु शक्वरीष्वधिरूढस्य शाक्वरसाम्नो गानेन, अत्र वर्णितानाम् इन्द्रस्य परमात्मनो महन्नाम्नामर्थचिन्तनेन च पापवृत्राणि समूलमुन्मूलयितुं शक्यन्ते इति । उक्तं चापि ताण्ड्यमहाब्राह्मणेऽन्यत्र—"एताभिर्वा इन्द्रो वृत्रमहन्, क्षिप्रं वा एताभिः पाप्मानं हन्ति, क्षिप्रं वसीयान् भवति (तां० ब्रा० १२।१३।२३)" इति ।

सामवेद के पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक के मध्य में दस मन्त्रों का एक महानाम्नी आर्चिक है । कुछ लोग इसे पूर्वार्चिक के ही अन्तर्गत मानते हैं । उनके मत में छन्द आर्चिक और महानाम्नी आर्चिक मिलकर पूर्वार्चिक होता है ।

इस महानाम्नी आर्चिक के अन्दर आयी सब ऋचाओं का इन्द्र ही देवता है । इनके महानाम्नी संज्ञा होने का कारण यह प्रतीत होता है कि ये ऋचाएँ इन्द्र के महान् नामों का वर्णन करती हैं, यथा मघवान्, शचीपति, अंशु, प्रचेतन, शक्र, वज्रिवान्, वज्री, शविष्ठ, मंहिष्ठ, वाजपति, चिकित्वान्, जेता, अपराजित, अद्रिवान्, वसु, वशी, प्रभु, वृत्रहा, शूर, सखा, सुशेव, अद्वयु ये बहुत से महत्त्वपूर्ण नाम इस आर्चिक में परिगणित हैं । इन महान् नामों से क्योंकि इन्द्र महान् बना है, इसलिए इस आर्चिक का नाम महानाम्नी पड़ गया । ब्राह्मणग्रन्थ में भी कहा है—"इन्द्र ने इन ऋचाओं के द्वारा स्वयं को महान् निर्मित किया, अतः ये महानाम्नी कहलायीं (ऐ० ब्रा० ५।२।२)" ।

ब्राह्मणग्रन्थकार यह भी कहते हैं कि इन ऋचाओं से इन्द्र वृत्र का वध करता है और वृत्रवध के समय महान् घोष होता है, इस कारण इनका नाम महानाम्नी पड़ा है । ताण्ड्य महाब्राह्मण में लिखा है कि "क्योंकि (वृत्रवध के समय) महान् घोष हुआ, अतः ये महानाम्नी कहलायीं (तां० १३।४।१) ।" कहीं-कहीं इन्हें महानाम्नी इस हेतु से कहा है कि इन्द्र द्वारा महान् वृत्र के वध किये जाने के कारण ये महानाम्नी हैं, जैसे कि जैमिनीय ब्राह्मण में लिखा है कि "उन सब छन्दों को मिलाकर उनसे इन्द्र ने वृत्र का संहार किया । क्योंकि महान् वृत्र का संहार किया, इससे ये महानाम्नी हुईं (जै० ब्रा० ३।१११) । अन्यत्र महामानी होने के कारण इन्हें महानाम्नी कहा गया है, जैसाकि जैमिनीय ब्राह्मण में ही लिखा है कि "क्योंकि प्रजापति ने यह कहा कि इनका परिमाण तो बहुत बड़ा हो गया, इससे ये महानाम्नी कह-

लायीं । असल में इनका नाम महामानी था, परोक्षवृत्ति का आश्रय लेकर महामानियों को ही महानाम्नी कह दिया गया (जै० ३।१०४) ।

इस महानाम्नी आर्चिक में दस ऋचाएँ हैं । प्रथम ऋचा में ९+७+७+७=३० इस प्रकार चार पाद हैं, अतः इसमें विराट् अनुष्टुप् छन्द है । द्वितीय ऋचा में ७+३+८+७=२५ इस प्रकार चार पाद हैं, अतः चतुष्पदा भुरिग् गायत्री है । तृतीय ऋचा में ५+८+८+८+७=३६ इस प्रकार पांच पाद हैं, अतः पञ्चपदा बृहती है । चतुर्थ ऋचा में ७+११+८+७=३३ इस प्रकार चार पाद हैं, अतः भुरिग् अनुष्टुप् है । पाँचवीं ऋचा में ७+५+८+७=२७ इस प्रकार चार पाद हैं, अतः चतुष्पदा निचृद् उष्णिक् है । छटी ऋचा में ५+८+८+८+८=३७ इस क्रम से पाँच पाद हैं, अतः पञ्चपदा भुरिग् बृहती है । सातवीं ऋचा में १२+८+८+८=३६ इस क्रम से चार पाद हैं, अतः पुरस्ताद् बृहती है । आठवीं ऋचा में ८+४+८+८+५+८=४१ इस क्रम से छह पाद हैं, अतः भुरिक् पंक्ति है । नौवीं ऋचा में ८+८+८+८=३२ इस क्रम से चार पाद हैं, अतः अनुष्टुप् है । दसवीं ऋचा में ४+४+५+५=१८ इस क्रम से चार पाद हैं, अतः चतुष्पदा आर्ची गायत्री है ।

इन महानाम्नियों को शक्वरी भी कहते हैं । इसकी दस ऋचाओं में तीन त्रिक हैं और अन्त में एक ऋचा पुरीषपदों वाली है । परम्परानुसार प्रत्येक त्रिक में उपसर्गों को हटा देने पर एक-एक शक्वरी हो जाती है । इस प्रकार दस ऋचाओं में तीन शक्वरी हैं और शक्वरी छन्द में ५६ अक्षर होते हैं । उपसर्ग पदों को हटा देने पर तीन शक्वरियाँ इस प्रकार बनती हैं—

प्रथम त्रिक में स्थित शक्वरी

शिक्षा शचीनाम्पते (१) पूर्वीणां पुरुवसो (२) आभिष्ट्वमभिष्टिभिः (३) इन्द्र द्युम्नाय न इषे (४) रायो वाजाय वज्रिवः (५) शविष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे (६) मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे (७) ॥

इसमें ८-८ अक्षर के सात पाद होने से ८×७=५६ अक्षरों की शक्वरी हो जाती है । यद्यपि प्रथम तीन पादों में प्रत्यक्षतः ७-७ अक्षर ही हैं, तो भी व्यूह से उन्हें ८-८ अक्षर का बना लिया जाता है ।

प्रथम त्रिक के उपसर्ग

विदा मघवन् विदा गातुम्, अनुशंसिषो दिशः (१) । स्व ३ र्ज्योतिः (२) । प्रचेतन प्रचेतये (३) । एवा हि शक्रः (४) । आ याहि पिब मत्स्व (५) ॥

द्वितीय त्रिक में स्थित शक्वरी

मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे (१) यः शविष्ठः शूराणाम् (२) यो मंहिष्ठो मघोनाम् (३) इन्द्रो विदे तमु स्तुहि (४) तमूतये हवामहे (५) जेतारमपराजितम् (६) स नः स्वर्षदति द्विषः (७) ॥

इसमें भी ८-८ अक्षर के सात पाद होने से ८×७=५६ अक्षरों की शक्वरी हो जाती है । यद्यपि द्वितीय और तृतीय पादों में प्रत्यक्षतः ७-७ अक्षर हैं, तो भी पूर्ववत् व्यूह से उन्हें ८-८ अक्षर का कर लिया जाता है ।

द्वितीय त्रिक के उपसर्ग

विदा रायो सुवीर्यं भवो वाजानां पतिर्वशाँ अनु (१) । अंशुर्न शोचिः (२) । चिकित्वो अभि नो नय (३) । ईशे हि शक्रः (४) । क्रतुश्छन्द ऋतं बृहत् (५) ॥

तृतीय त्रिक में स्थित शक्वरी

स न: स्वर्षदति द्विषः (१) स न: स्वर्षदति द्विषः (२) पूर्वस्य यत्ते अद्रिवः (३) पूर्तिः शविष्ठ शस्यते (४) नूनं तन्नव्यं संन्यसे (५) प्रभो जनस्य वृत्रहन् (६) समर्येषु ब्रवावहै (७) ॥

इसमें भी ८-८ अक्षर के सात पाद होने से ८×७=५६ अक्षर की शक्वरी बनती है।

तृतीय त्रिक के उपसर्ग

इन्द्रं धनस्य सातये हवामहे, जेतारमपराजितम् (१)। अंशुर्मदाय (२)। सुम्न आ धेहि नो वसो (३)। वशी हि शक्रः (४)। शूरो यो गोषु गच्छति (५)। सखा सुशेवो अद्वयुः (६) ॥

इस प्रकार प्रथम त्रिक में सात शाक्वर पाद और पाँच उपसर्ग हैं। द्वितीय त्रिक में उसी प्रकार सात शाक्वर पाद और पाँच उपसर्ग हैं। तृतीय त्रिक में सात शाक्वर पाद और छह उपसर्ग हैं। इन्हें उपसर्ग इस कारण कहते हैं, क्योंकि ये पूर्ति के लिए अन्य छन्दों के साथ जोड़े जाते हैं, उपसर्ग में उपपूर्वक सृज धातु है, जो जोड़ने अर्थ में होती है। ऐतरेय ब्राह्मण के षोडशी प्रकरण में कहा भी है कि "महानाम्नियों के उपसर्गों को छन्दों के साथ जोड़े (ऐ० ब्रा० ४।१।४)।"

प्रत्येक त्रिक में शक्वरी बनाने के लिए उपसर्ग-पदों को पृथक् करने का क्रम सुगमता के लिए निदानकल्प में पूर्व आचार्यों ने दो श्लोकों से प्रदर्शित किया था, जिसे सायणाचार्य ने अपने सामसंहिता के भाष्य में उद्धृत किया है। श्लोक ऊपर संस्कृत-भाग में दर्शाये जा चुके हैं। उनका भाव यह है कि प्रथम और द्वितीय त्रिक में आदि में पठित द्विपदा एक उपसर्ग है, तत्पश्चात् तीन पाद शाक्वर हैं, तदनन्तर एक उपसर्ग और पुनः तीन पाद शाक्वर हैं, फिर अन्तिम उपसर्ग-पद हैं। तीसरे त्रिक में भी ऐसा ही क्रम है, केवल इतना अन्तर है कि अन्त के दो पाद उपसर्ग हैं।

महानाम्नियों में नौ ऋचाओं अथवा तीन शक्वरियों के अनन्तर पञ्च पुरीष-पदों वाली दसवीं ऋचा है। इन्हें पुरीष-पद इस कारण कहते हैं, क्योंकि इनमें यह वर्णित है कि इन्द्र ही वेद में अग्नि, पूषन् आदि नामों से भी स्मरण किया गया है, इस प्रकार ये इन्द्र की पूर्णता के प्रतिपादक हैं।

महानाम्नियों या शक्वरियों के विषय में ताण्ड्यमहाब्राह्मण में यह गाथा उपलब्ध होती है—

"इन्द्र प्रजापति के पास दौड़कर पहुँचा और कहा कि ऐसा उपाय कीजिए जिससे मैं वृत्र का वध कर सकूँ। प्रजापति ने छन्दों से इन्द्र के लिए एक सबल वस्तु निर्मित करके दी और कहा कि इससे तू वृत्र का वध करने में शक्त हो। वह वस्तु 'शक्वरी' थी; क्योंकि उससे इन्द्र वृत्र के वध में शक्त हुआ, इसी कारण उसका नाम 'शक्वरी' पड़ा। उससे इन्द्र ने वृत्र की सीमा (शिरःसन्धि) का विदारण किया, अतः उस शक्वरी को 'सिमा' भी कहा गया। क्योंकि इन्द्र ने वृत्र का वध करते समय श्रमजन्य, मुख और नासिका से उत्पन्न 'मह्न्य' शब्द किया, इस कारण 'शक्वरी' का नाम 'मह्न्या' भी पड़ गया। क्योंकि वृत्र-वध के समय महान् विजय-घोष (नाम) उठा, इस कारण उन शक्वरियों को ही 'महानाम्नी' भी कहा गया (तां० ब्रा० १३।४।१)।"

इस काल्पनिक कथा का इतना ही तात्पर्य समझना चाहिए कि इन शक्वरियों में अधिरूढ शाक्वर साम के गान से और इनमें वर्णित इन्द्र परमात्मा के महान् नामों के अर्थ-चिन्तन से पाप-रूप वृत्र समूल नष्ट किये जा सकते हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण में ही अन्यत्र कहा भी है—"इन शक्वरियों या महानाम्नियों के द्वारा इन्द्र ने वृत्र का जैसे संहार किया, वैसे ही इनके द्वारा मनुष्य शीघ्र ही पाप का संहार कर सकता है और शीघ्र ही निवासयुक्त हो जाता है (तां० ब्रा० १२।१३।२३)।"

महानाम्नीनां सर्वासाम्—ऋषिः प्रजापतिर्वा विष्णुर्वा विश्वामित्रो वा, देवता इन्द्रः, यथोक्तम् आर्षेयब्राह्मणे—"ऐन्द्र्यो महानाम्न्यः, प्रजापतेर्वा विष्णोर्वा विश्वामित्रस्य वा, सिमा वा मह्न्या वा शक्वर्यो वा" (३।२९) इति।

तत्राद्ये मन्त्रे परमात्मा मार्गनिर्देशार्थं प्रार्थ्यते।

६४१. विदा मघवन् विदा गातुमनुशंसिषो दिशः।
शिक्षा शचीनां पते पूर्वीणां पुरूवसो ॥१॥
विदाः मघवन् विदाः गातुम्। अनु शꣳसिषः दिशः॥
शिक्ष शचीनाम् पते। पूर्वीणाम् पुरूवसो पुरु वसो ॥१॥

पदार्थः—हे **मघवन्** ज्ञानैश्वर्यशालिन् परमात्मन्! त्वम् **विदाः** अस्मान् विद्धि जानीहि, **गातुम्** अस्माकम् आचरणम् **विदाः** विद्धि जानीहि, **दिशः** गन्तव्यान् मार्गान् **अनुशंसिषः** अनुशाधि। हे **शचीनां पते** प्रज्ञानां कर्मणां च अधिपते! त्वम् अस्मभ्यम् अपि **शिक्ष** सत्प्रज्ञाः सत्कर्माणि च प्रदेहि। हे **पुरूवसो** प्रभूतधन! त्वम् **पूर्वीणाम्** श्रेष्ठानां रातीनां, पतिः असि इति शेषः, तासां रातीनाम् अस्मानपि पात्रं कुरु। अत्र पूर्वीशब्देन श्रेष्ठा रातयो गृह्यन्ते, 'पूर्वीरिन्द्रस्य रातयः।' ऋ० १।११।३ इति श्रुतेः।

विदाः विदज्ञाने, लेटि रूपम्, 'लेटोऽडाटौ', अ० ३।४।९४ इत्याडागमः। **अनुशंसिषः,** अनुपूर्वात् शंसतेः लेटि रूपम्। **शचीनां पते,** शची इति कर्मनाम प्रज्ञानाम च, निघं० २।१, ३।९। **शिक्षा,** शिक्षतिः दानकर्मा, निघं० ३।२०। संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः', अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः ॥१॥

अत्र बहूनां क्रियाणामेककारकयोगाद् दीपकालङ्कारः। 'विदा' इत्यस्यावृत्तौ लाटानुप्रासः। 'पूर्वी, पुरूव' इत्यत्र छेकानुप्रासः ॥१॥

भावार्थः—परमात्मनः सकाशात् सर्वैर्जनैः कर्तव्यज्ञानं कर्मसम्पत्तिं च प्राप्य पुरुषार्थेन धनान्यर्जयित्वा सदाचारेण समृद्धं जीवनं यापनीयम् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा से मार्गनिर्देशन की प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **मघवन्** ज्ञानरूप ऐश्वर्य के धनी परमात्मन्! आप **विदाः** हमें जानिए, **गातुम्** हमारे आचरण को **विदाः** जानिए, **दिशः** गन्तव्य दिशाओं का **अनुशंसिषः** उपदेश कीजिए। हे **शचीनां पते** ज्ञानों और कर्मों के अधिपति! आप हमें भी **शिक्ष** ज्ञान और कर्म प्रदान कीजिए। हे **पुरुवसो** प्रचुर धन वाले! आप **पूर्वीणाम्** श्रेष्ठ दानों के स्वामी हैं, हमें भी उन दानों का पात्र बनाइए ॥१॥

इस मन्त्र में अनेक क्रियाओं का एक कारक से योग होने के कारण दीपक अलंकार है। 'विदा' की आवृत्ति में लाटानुप्रास है। 'पूर्वी, पुरूव' में छेकानुप्रास है ॥१॥

भावार्थ—परमात्मा से सब मनुष्यों को कर्तव्यज्ञान और कर्मसम्पत्ति प्राप्त करके, पुरुषार्थ से धन कमा कर सदाचारपूर्वक समृद्ध जीवन बिताना चाहिए ॥१॥

अथ परमात्मस्तुत्या वयं किं किं प्राप्नुयामेत्याह।

६४२. आभिष्टवमभिष्टिभिः स्वा३ऽर्नाशुः।
प्रचेतन प्रचेतयेन्द्र द्युम्नाय न इषे ॥२॥

३ २ ३ ३ १ २ १२ ३ २
आभिः त्वम् अभिष्टिभिः । स्वः न अꣳशुः ॥
१ २१ ३ २ ३ १२१ ३ १ २ ३ ३ २
प्रचेतन प्र चेतन प्र चेतय । इन्द्र द्युम्नाय नः इषे ॥२॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! त्वम् **आभिः** एताभिः अस्मत्प्रार्थिताभिः **अभिष्टिभिः** अभीष्टसिद्धिभिः अस्मान् कृतार्थय इति शेषः । त्वम् **स्वः न** आदित्यः इव **अंशुः** अंशुमान् असि । हे **प्रचेतन** प्रकृष्टचैतन्य जागरूक परमेश्वर ! त्वम् अस्मान् **प्रचेतय** प्रकृष्टचेतनान् जागरूकान् कुरु । हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन् ! त्वम् **नः** अस्मान् **द्युम्नाय** धनाय, यशसे, तेजसे च, **इषे** अन्नाय, रसाय, विज्ञानाय च, पुरुषार्थिनः कुरु ।

अभिष्टिभिः अभिपूर्वात् इष गतौ धातोः 'मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः, अ० ३।३।८६' इति क्तिनि, 'एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वाच्यम्, अ० ६।१।९४ वा' इत्यनेन पररूपम् । **अंशुः** अंशुशब्दस्य अंशुमति लक्षणा, यद्वा मतुबर्थकस्य लुक् ॥२॥

अत्र 'प्रचेत' इत्यस्यावृत्तौ यमकालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—परमात्मसंगत्या वयमध्यात्मज्योतिषा प्रकाशमाना जागरूका धनान्नवन्तस्तेजस्विनो यशस्विनो विज्ञानिनश्च भूयास्म ॥२॥

परमात्मा की स्तुति से हम क्या-क्या प्राप्त करें यह कहते हैं ।

पदार्थ—हे परमात्मन् ! आप **आभिः** इन हमसे माँगी गयी **अभिष्टिभिः** अभीष्टसिद्धियों से, हमें कृतार्थ कीजिए । आप **स्वः न** सूर्य के समान **अंशुः** अंशुमाली हैं । हे **प्रचेतन** प्रकृष्ट चेतना वाले जागरूक परमेश्वर ! आप हमें **प्रचेतय** प्रकृष्ट चेतना वाला जागरूक बनाइए । हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन् ! आप **नः** हमें **द्युम्नाय** धन, यश और तेज के लिए, तथा **इषे** अन्न, रस और विज्ञान के लिए, पुरुषार्थी कीजिए ॥२॥

इस मन्त्र में 'प्रचेत' की आवृत्ति में यमक अलंकार है ॥२॥

भावार्थ—परमात्मा की संगति से हम अध्यात्म-ज्योति से प्रकाशमान, जागरूक, धनवान्, अन्नवान्, तेजस्वी, यशस्वी और विज्ञानवान् होवें ॥२॥

अथ परमात्मानं प्रार्थयते ।

६४३. ३ २उ ३ २ ३ १२ २१
एवा हि शक्रो राये वाजाय वज्रिवः ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शविष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे मꣳहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जस आ याहि पिब मत्स्व ॥३॥
३ २ ३ २ १२१ ३ १२१ ३ १२
एव हि शक्रः । राये वाजाय वज्रिवः ॥ शविष्ठ वज्रिन् ऋञ्जसे ॥
१ २१ ३ १२ ३ १२१ १२१
मꣳहिष्ठ वज्रिन् ऋञ्जसे । आ याहि पिब मत्स्व ॥३॥

पदार्थः—हे इन्द्र परमैश्वर्यशालिन् परमात्मन् ! त्वम् **एव हि** सत्यमेव **शक्रः** शक्तिमान्, असि इति शेषः । हे **वज्रिवः** वज्रधर इव शत्रुविदारक ! अस्मान् **राये** अध्यात्मसंपदे, **वाजाय** दैहिकात्मिकबलाय च, कुरु । हे **शविष्ठ** बलिष्ठ ! हे **वज्रिन्** पापविदारक ! त्वम् **ऋञ्जसे** अस्मान् सद्गुणालङ्कारैः अलंकुरु । हे **मंहिष्ठ** अतिशयदानशील ! हे **वज्रिन्** ओजस्विन्, त्वम् अस्मान् **ऋञ्जसे** भर्जस्व, परिपाकेन ओजस्विनः कुरु । हे भगवन् ! **आ याहि** आगच्छ, **पिब** अस्माकं श्रद्धारसम् आस्वादय, **मत्स्व** अस्मान् कर्तव्यपरायणान् दृष्ट्वा हृष्टो भव ॥

ऋञ्जसे ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा । निघं० ३।५, ऋजि भर्जने, भ्वादिः, लेटि रूपम् । **मंहिष्ठ**, मंहते दानकर्मा । निघं० ३।२० । **वज्रिन्** ओजस्विन्, वज्रो वा ओजः, श० ८।४।१।२० ॥३॥

अत्र 'ष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे' इत्यस्यावृत्तौ यमकालङ्कारः। 'वज्रि' इत्यस्य त्रिश आवृत्तौ वृत्त्यनुप्रासः। आयाहि, पिब, मत्स्व इत्यनेकक्रियाणामेककारकयोगाद् दीपकम् ॥३॥

भावार्थः—यः परमेश्वरः सर्वकर्मक्षमो बलिष्ठस्तेजस्वी दातृतमः पापादीनां हन्ता गुणैरलङ्कर्ता च विद्यते तस्मिन् श्रद्धा सर्वैः कार्या ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे परमैश्वर्यशालिन् इन्द्र परमात्मन्! आप **एव हि** सचमुच ही **शक्रः** शक्तिशाली हैं। हे **वज्रिवः** वज्रधर के समान शत्रुविदारक! हमें **राये** अध्यात्म-सम्पदा और **वाजाय** शारीरिक एवं आत्मिक बल का पात्र बनाओ। हे **शविष्ठ** बलिष्ठ! हे **वज्रिन्** पापों पर वज्र-प्रहार करने वाले! आप **ऋञ्जसे** हमें सद्गुणों के अलंकारों से अलंकृत कीजिए। हे **मंहिष्ठ** अतिशय दानशील! हे **वज्रिन्** ओजस्वी! आप, हमें **ऋञ्जसे** परिपक्व करके ओजस्वी बना दीजिए। हे भगवन्! **आ याहि** आइए, **पिब** हमारे श्रद्धारस का पान कीजिए, **मत्स्व** हमें कर्तव्यपरायण देखकर प्रसन्न होइए ॥३॥

इस मन्त्र में 'ष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे' की आवृत्ति में यमकालंकार है। 'वज्रि' की तीन बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है। 'आयाहि, पिब, मत्स्व' इन अनेक क्रियाओं का एक कारक के साथ योग होने के कारण दीपक है ॥३॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सब कर्मों में समर्थ, बलिष्ठ, तेजस्वी, सबसे बड़ा दानी, पापादि का विनाशक और गुणों से अलंकृत करने वाला है, उसमें सबको श्रद्धा करनी चाहिए ॥३॥

अथ पुनः परमात्मानं प्रार्थयते।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
६४४. विदा राये सुवीर्यं भवो वाजानां पतिर्वशाँ अनु।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे यः शविष्ठः शूराणाम् ॥४॥
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ १ २ १ १ २ १ २ १ २ १ २
विदाः राये सुवीर्यम् सु वीर्यम्। भुवः वाजानाम् पतिः वशान् अनु॥
१ २ १ ३ १ २ १ २ १ २ १
मंहिष्ठ वज्रिन् ऋञ्जसे। यः शविष्ठः शूराणाम् ॥४॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर! त्वम् **राये** विद्यारोग्यधनस्वराज्यचक्रवर्तिराज्यादिकाय ऐश्वर्याय मोक्षैश्वर्याय च, अस्मान् **सुवीर्यम्** उत्कृष्टं शारीरम् आत्मिकं च बलम् **विदाः** वेदय, लम्भय। त्वम् **वाजानाम्** बलानाम् **पतिः** अधीश्वरः **भवः** अभवः, भूतोऽसि। **वशान्** त्वां कामयमानान् त्वत्प्रीतिपरवशान् अस्मान् **अनु** अनुगृहाण। हे **मंहिष्ठ** दातृतम, हे **वज्रिन्** ओजस्विन्! त्वम् **ऋञ्जसे** अस्मान् ओजःप्रभृतिभिः गुणैः प्रसाधय, **यः** यस्त्वम् **शूराणाम्** वीराणाम् **शविष्ठः** बलवत्तमः, असि।

विदाः विद्लृ लाभे, ण्यर्थगर्भः, लेटि रूपम्। **भवः** भवतेर्लङि रूपम्, अडागमाभावश्छान्दसः। **वशान्**, वश कान्तौ ॥४॥

भावार्थः—यः शरीरेणात्मना च बलवान् स एवैश्वर्याणि लभते। अतो बलिष्ठपरमेश्वरवद् वयमपि बलवन्तो भवेम ॥४॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे जगदीश्वर! आप **राये** विद्या, आरोग्य, धन, स्वराज्य, चक्रवर्ती राज्य आदि ऐश्वर्य के लिए तथा मोक्ष-रूप ऐश्वर्य के लिए हमें **सुवीर्यम्** उत्कृष्ट शारीरिक तथा आत्मिक बल **विदाः** प्राप्त

कराइए । आप **वाजानाम्** बलों के **पतिः** अधीश्वर **भवः** हैं । **वशान्** आपकी कामना करने वाले, आपकी प्रीति के अधीन हमें **अनु** अनुगृहीत कीजिए । हे **मंहिष्ठ** सबसे बड़े दानी, हे **वज्रिन्** ओजस्वी परमेश्वर ! आप **ऋञ्जसे** हमें ओज आदि गुणों से अलंकृत कीजिए, **यः** जो आप **शूराणाम्** शूरवीरों में **शविष्ठः** सबसे अधिक बली हैं ।।४।।

भावार्थ—जो शरीर और आत्मा से बलवान् है, वही ऐश्वर्य प्राप्त करता है । अतः बलिष्ठ परमेश्वर के समान हम भी बलवान् बनें ।।४।।

अथ परमात्मानमुपवर्ण्य तत्स्तवनाय जनान् प्रेरयति ।

६४५. या मंहिष्ठो मघोनाम् अंशुर्न शोचिः ।
चिकित्वो अभि नो नयेन्द्रो विदे तमु स्तुहि ।।५।।
यः मंहिष्ठः मघोनाम् । अंशुः न शोचिः ।।
चिकित्वः अभि नः नय । इन्द्रः विदे तम् उ स्तुहि ।।५।।

पदार्थः—**यः** यस्त्वम् **मघोनाम्** धनवताम् **मंहिष्ठः** दातृतमः असि, किञ्च **अंशुः न** सूर्यरश्मिः इव **शोचिः** शोचिष्मान् असि, सः हे **चिकित्वः** ज्ञानवन्, सदा जागरूक परमात्मन् ! त्वम् **नः अभि** अस्मान् प्रति **नय** दातृत्वतेजोज्ञानजागरूकत्वादिकं प्रापय । हे मनुष्य ! **इन्द्रः** परमेश्वरः **विदे** उपकर्तुं जानाति, **तम् उ** तमेव **स्तुहि** स्तुत्या सभाजय ।

शोचिः अत्र मत्वर्थीयस्य लोपः । **चिकित्वः** कित ज्ञाने, लिटः क्वसुः, सम्बुद्धौ 'मतुवसोरु सम्बुद्धौ छन्दसि' अ० ८।३।१ इति रुत्वम् । **विदे** विद ज्ञाने, आत्मनेपदं छान्दसम्, 'वित्ते' इति प्राप्ते 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' अ० ७।१।४१ इति तलोपः ।।५।।

अत्र 'अंशुर्न शोचिः' इत्युपमालङ्कारः ।।५।।

भावार्थः—यो जगदीश्वरः परमो दाता, परमस्तेजस्वी, परमो विद्वान्, परमो जागरूकः, परमः परोपकर्ता च विद्यते तमुपास्य सर्वैर्दातृभिस्तेजस्विभिर्विद्वद्भिर्जागरूकैः परोपकर्तृभिश्च भाव्यम् ।।५।।

अगले मन्त्र में परमात्मा का वर्णन करके उसकी स्तुति के लिए मनुष्यों को प्रेरणा दी गयी है ।

पदार्थ—**यः** जो आप **मघोनाम्** धनियों में **मंहिष्ठः** सबसे अधिक दानी हैं, और **अंशुः न** सूर्यकिरण के समान **शोचिः** तेजस्वी हैं, वह, हे **चिकित्वन्** ज्ञानी, जागरूक परमात्मन् ! आप **नः अभि** हमारी ओर भी **नय** इन दान, तेज, ज्ञान, जागरूकता आदि को लाइए । हे मनुष्य ! **इन्द्रः** परमेश्वर **विदे** उपकार करना जानता है, **तम् उ** उसी को **स्तुहि** स्तुति से सम्मानित कर ।।५।।

इस मन्त्र में 'अंशुः न शोचिः' में उपमालंकार है ।।५।।

भावार्थ—जो जगदीश्वर परम दानी, परम तेजस्वी, परम विद्वान्, परम जागरूक और परम परोपकारी है, उसकी उपासना करके सबको दानी, तेजस्वी, विद्वान्, जागरूक और परोपकारी बनना चाहिए ।।५।।

अथ परमात्मानमाह्वयति ।

६४६. ईशे हि शक्रस् तमूतये हवामहे जेतारमपराजितम् ।
स नः स्वर्षदति द्विषः क्रतुश्छन्द ऋतं बृहत् ।।६।।

१२१ ३२ ३१२३ १२१ १२१ ३
ईशे हि शक्रः । तम् ऊतये हवामहे । जेतारम् अपराजितम् अ पराजितम् ॥
२ ३ १२१ १२१ १२१ १२१ ३२ ३२
सः नः स्वर्षत् अति द्विषः । ऋतुः छन्दः ऋतम् बृहत् ॥६॥

पदार्थः—**शक्रः** शक्तिशाली इन्द्रः परमेश्वरः **हि** निश्चयेन **ईशे** ईष्टे, सकलजगदधीश्वरोऽस्ति । **तम्** परमेश्वरम्, वयम् **ऊतये** रक्षायै **हवामहे** आह्वयामः । कीदृशं परमेश्वरम् ? **जेतारम्** सकलरिपुविजयिनम्, किञ्च **अपराजितम्** स्वयं केनापि अविजितम् । **सः** परमेश्वरः **नः** अस्मान् **द्विषः** आन्तराद् बाह्याद् वा शत्रोः **अति स्वर्षत्** अतिपारयतु । **ऋतुः** प्रज्ञानं, कर्म, शिवसंकल्पः, यज्ञश्च, **छन्दः** गायत्र्यादीनि छन्दांसि, **ऋतम्** सत्यम्, **बृहत्** बृहदाख्यं साम च, अस्माकमुपकारकाणि सन्तु ।

त्वामिद्धि हवामहे (साम २३४) इत्यस्यामृचि अध्यूढं साम बृहदित्युच्यते ।

ईशे 'ईष्टे' इति प्राप्ते 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' अ० ७।१।४१ इति तकारलोपः । **स्वर्षत्** स्वरतिः गतिकर्मा । निघं० २।१४ ॥६॥

भावार्थः—विजेतारमपराजितं परमात्मानमाश्रित्य तदुपासका अपि जेतारोऽपराजिताश्च जायन्ते ॥६॥

अगले मन्त्र में परमात्मा का आह्वान किया गया है ।

पदार्थ—**शक्रः** शक्तिशाली इन्द्र परमेश्वर **हि** निश्चय ही **ईशे** सकल जगत् का अधीश्वर है । **तम्** उसे, हम **ऊतये** रक्षा के लिए **हवामहे** पुकारते हैं । कैसे परमेश्वर को ? **जेतारम्** जो सब वस्तुओं को जीत लेने वाला है, तथा **अपराजितम्** जो स्वयं किसी से पराजित नहीं होता । **सः** वह परमेश्वर **नः** हमें **द्विषः** आन्तरिक तथा बाह्य शत्रु से **अति स्वर्षत्** पार करे । **ऋतुः** ज्ञान, कर्म, शिव संकल्प और यज्ञ, **छन्दः** गायत्री आदि छन्द, **ऋतम्** सत्य, और **बृहत्** बृहत् नामक साम, हमारे उपकारक हों ।

'त्वामिद्धि हवामहे (साम २३४) इस ऋचा पर गाया जाने वाला साम बृहत् साम कहलाता है ॥६॥

भावार्थ—विजेता, अपराजित परमात्मा का आश्रय लेकर उसके उपासक भी विजयी तथा अपराजित हो जाते हैं ॥६॥

अथ पुनरपि परमात्मानमाह्वयति ।

२ ३ १२ ३ १२ ३ १ २३१२
६४७. इन्द्रं धनस्य सातये हवामहे जेतारमपराजितम् ।
१ २ ३२३ १२ १ २ ३२३ १२
स नः स्वर्षदति द्विषः स नः स्वर्षदति द्विषः ॥७॥
१२१ १२१ ३१२३ १२१ १२१ ३
इन्द्रम् धनस्य सातये हवामहे । जेतारम् अपराजितम् अ पराजितम् ॥
२ ३ १२१ १२१ ३ १२१ १२१
सः नः स्वर्षत् अति द्विषः । सः नः स्वर्षत् अति द्विषः ॥७॥

पदार्थः—**इन्द्रम्** शूरं परमैश्वर्यशालिनं परमेश्वरम्, वयं योगाभ्यासिनः **धनस्य** विवेकख्यातिरूपस्य ऐश्वर्यस्य **सातये** प्राप्तये **हवामहे** आह्वयामः । कीदृशं परमेश्वरम् ? **जेतारम्** शत्रूणां विघ्नानां च विजेतारम्, किञ्च **अपराजितम्** कोटिसंख्यकैरपि शत्रुभिर्विघ्नैश्च अपराभूतम् । **सः** विजेता परमेश्वरः **नः** अस्मान् **द्विषः** अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशेभ्यः पञ्चक्लेशेभ्यः **अति स्वर्षत्** अतिपारयेत्, **सः** अपराजितः परमेश्वरः **नः** अस्मान् **द्विषः** व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वात्मकचित्तविक्षेपरूपेभ्यो योगमार्गान्तरायेभ्यः **अति स्वर्षत्** अतिपारयेत् ॥७॥

भावार्थः—परमेश्वरस्यैव कृपया योगाभ्यासिनो जना योगविघ्नान् विजित्य विवेकख्यात्या कैवल्यमधिगन्तुमर्हन्ति ॥७॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा का आह्वान किया गया है।

पदार्थ—**इन्द्रम्** शूरवीर परमैश्वर्यशाली परमेश्वर को हम योगाभ्यासी **जन धनस्य** विवेकख्याति-रूप ऐश्वर्य की **सातये** प्राप्ति के लिए **हवामहे** पुकारते हैं। कैसे परमेश्वर को ? **जेतारम्** जो शत्रुओं और विघ्नों का विजेता, तथा **अपराजितम्** करोड़ों भी शत्रुओं एवं विघ्नों से न हारने वाला है। **सः** वह विजेता परमेश्वर **नः** हमें **द्विषः** अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप पंच क्लेशों से **अति स्वर्षत्** पार कर दे, **सः** वह अपराजित परमेश्वर **नः** हमें **द्विषः** व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व इन चित्तविक्षेपरूप योगमार्ग के विघ्नों से **अति स्वर्षत्** पार कर दे ॥७॥

भावार्थ—परमेश्वर की ही कृपा से योगाभ्यासी जन योग के विघ्नों को जीतकर विवेकख्याति द्वारा मोक्ष प्राप्त करने योग्य होते हैं ॥७॥

अथ संन्यासाश्रमं प्रविविक्षुराह।

६४८. पूर्वस्य यत्ते अंशुमदाय।
सुम्न आ धेहि नो वसो पूर्तिः शविष्ठ शस्यते।
वशी हि शक्रो नूनं तन्नव्यं संन्यसे ॥८॥

पूर्वस्य यत् ते अद्रिवः अ द्रिवः। अंशुः मदाय ॥ सुम्ने आ धेहि नः वसो।
पूर्तिः शविष्ठ शस्यते ॥ वशी हि शक्रः। नूनम् तत् नव्यम् संन्यसे ॥८॥

पदार्थः—हे **अद्रिवः** मेघानां स्वामिन् धर्ममेघसमाधौ सहायक वा परमेश्वर ! **यत्** यस्मात् **पूर्वस्य** श्रेष्ठस्य **ते** तव **अंशुः** तेजोरश्मिः **मदाय** आनन्दाय भवति, तस्मात्, हे **वसो** निवासक ! **नः** अस्मान् **सुम्ने** सुखे, मोक्षानन्दे **आ धेहि** आस्थापय। हे **शविष्ठ** बलिष्ठ परमात्मन् ! **पूर्तिः** त्वज्जनिता परिपूर्णता **शस्यते** सर्वैः प्रशस्यते। **शक्रः** सर्वशक्तिमान् त्वम् **नूनम्** अद्य **वशी हि** मम वशकर्ता किल सञ्जातः, **तत्** तस्मात् त्वद्वशवर्ती अहम् **नव्यम्** नूतनत्वेन आभासमानं पुत्रैषणावित्तैषणालोकैषणारूपं लौकिकचाकचक्यम् **संन्यसे**[1] परित्यजामि, परित्यज्य संन्यासाश्रमं प्रविशामीत्यर्थः। तत्र च **नव्यम्** स्तुत्यम् इन्द्रं परमेश्वरम् **संन्यसे** सम्यग् हृदि धारयामि इति द्वितीयोऽपि श्लेषमूलोऽर्थोऽध्यवसेयः।

संन्यसे इत्यत्र हि योगात् 'छन्दस्यनेकमपि साकाङ्क्षम्' अ० ८।१।३५ इति निघातप्रतिषेधः। **अद्रिवः** अद्रिः मेघनाम। निघं० १।१० ॥८॥

भावार्थः—आपातरमणीयाः खलु भोगाः। धन्यास्ते ये तान् परिहृत्य संन्यासाश्रमं प्रविश्य निष्कामलोकसेवाव्रतमङ्गीकृत्य ब्रह्मणि लीना भवन्ति ॥८॥

---

१. नव्यं नूतनं वलीपलितादिलक्षणेन पुराणत्वेन वर्जितं तमिन्द्रं त्वाम् नूनम् अवश्यम् संन्यसे अहं सम्यक् नितरां प्रक्षिपामि, अस्मिन् कर्मणि हविषो भोक्तृत्वेन स्थापयामीत्यर्थः। यद्वा, हे इन्द्र, नव्यमिति क्रियाविशेषणम्, नूतनम् अन्यैरक्षतपूर्वं यथा भवति तथा नूनम् इदानीं संन्यसे अस्माभिः सेव्यसे, षण सम्भक्तौ, यकि रूपम्—इति सायणः।

संन्यासाश्रम में प्रवेश का अभिलाषी कह रहा है।

पदार्थ—हे **अद्रिवः** मेघों के स्वामिन् अथवा धर्ममेघ समाधि में सहायक परमेश्वर ! **यत्** क्योंकि **पूर्वस्य** श्रेष्ठ **ते** आपकी **अंशुः** तेज की किरण **मदाय** आनन्द के लिए होती है, इस कारण, हे **वसो** निवासक ! **नः** हमें **सुम्ने** मोक्ष के आनन्द में **आ धेहि** स्थित करो। हे **शविष्ठ** बलिष्ठ परमात्मन् ! **पूतिः** आपसे उत्पन्न की हुई पूर्णता **शस्यते** सबसे प्रशंसा की जाती है। **शक्रः** सर्वशक्तिमान् आप **नूनम्** आज **वशी हि** मेरे वश-कर्ता हो गये हो, **तत्** इसलिए, आपके वशवर्ती हुआ मैं **नव्यम्** नवीन प्रतीत होने वाली पुत्रैषणा, वित्तै-षणा, लोकैषणा रूप लौकिक चमक-दमक का **संन्यसे** परित्याग करता हूँ, परित्याग करके संन्यासाश्रम में प्रवेश करता हूँ और उस आश्रम में रहता हुआ **नव्यम्** स्तुति करने योग्य इन्द्र परमेश्वर को **संन्यसे** भली-भांति हृदय में धारण करता हूँ, श्लेष से यह दूसरा अर्थ भी जानना चाहिए ॥८॥

भावार्थ—भोग-विलास देखने में ही रमणीय प्रतीत होते हैं। वे लोग धन्य हैं जो उनका परि-त्याग करके, संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होकर, निष्काम लोकसेवा के व्रत को स्वीकार कर ब्रह्म में लीन रहते हैं ॥८॥

अथोपासकः परमात्मना संवादं कुरुते।

६४९. **प्रभो जनस्य वृत्रहन्त्समर्येषु ब्रवावहै।**
शूरो यो गोषु गच्छति सखा सुशेवो अद्वयुः ॥९॥
प्रभो प्र भो जनस्य वृत्रहन् वृत्र हन्। सम् अर्येषु ब्रवावहै॥
शूरः यः गोषु गच्छति। सखा स खा सुशेवः सु शेवः अद्वयुः अ द्वयुः ॥९॥

पदार्थः—हे **प्रभो** जगदीश्वर ! हे **जनस्य** उपासकस्य मम **वृत्रहन्** पापहन्तः ! आयाहि, अहं च त्वं च **अर्येषु**[1] प्राप्तव्येषु आध्यात्मिकेषु ऐश्वर्येषु, तानि विषयीकृत्य इति भावः, अत्र विषयसप्तमी, **सं ब्रवावहै** संवादं कुर्याव, कानि कानि ऐश्वर्याणि मया प्राप्तव्यानि त्वया च देयानि सन्तीति संलपेव, **शूरः** विघ्नानां वधे पराक्रमवान् **यः** यो भवान् **गोषु** स्तोतृषु, तेषां हृदयेषु **गच्छति** व्रजति, यश्च भवान् **सखा** स्तोतणां सुहृत्, **सुशेवः** उत्कृष्टसुखप्रदः, **अद्वयुः** प्रत्यक्षमन्यत् परोक्षमन्यद् इति द्विविधाचरणवर्जितः, सदा हितकर एव, भवति।

गोषु गौः स्तोतृनाम, निघं० ३।१६। **सुशेवः** शेवः सुखनाम, निघं० ३।६ ॥९॥

भावार्थः—उपासकानां हार्दिकं प्रेम दृष्ट्वा तैः संवादमिव कुर्वन् परमेश्वरः तेषां सखा, विघ्न-हर्ता, मोक्षानन्दप्रदश्च जायते ॥९॥

अगले मन्त्र में उपासक परमात्मा से संवाद कर रहा है।

पदार्थ—हे **प्रभो** जगदीश्वर ! हे **जनस्य** मुझ उपासक के **वृत्रहन्** पापहर्ता ! आओ, मैं और तुम **अर्येषु** प्राप्तव्य आध्यात्मिक ऐश्वर्यों के विषय में **सं ब्रवावहै** संवाद करें कि कौन-कौन-से ऐश्वर्य मुझे प्राप्त करने तथा तुम्हें देने हैं, **शूरः** विघ्नों के वध में शूर **यः** जो तुम **गोषु** स्तोताओं के हृदयों में **गच्छति** पहुँचते

१. अर्येषु प्राप्तव्येषु यज्ञादिषु कर्मसु—इति सा०। अत्र स्वामिवैश्यभिन्नेऽप्यर्थे गत्यर्थाद् ऋधातोः यत् प्रत्ययः।

हो और जो तुम **सखा** स्तोताओं के सखा, **सुशेवः** उत्कृष्ट सुख के दाता तथा **अद्वयुः** सामने कुछ और पीछे कुछ इस प्रकार के दोहरे आचरण से रहित अर्थात् सदा हितकर ही, होते हो ।।९।।

भावार्थ—उपासकों का हार्दिक प्रेम देखकर उनके साथ मानो संवाद करता हुआ परमेश्वर उनका सखा, विघ्नों को हरने वाला तथा मोक्ष के आनन्द को देने वाला हो जाता है ।।९।।

अथ पुरीषपदैः परमात्मनः स्वरूपमाह ।

६८०. एवाद्येऽ३ऽ३ऽ३व । एवा ह्यग्ने । एवाहीन्द्र ।
एवा हि पूषन् । एवा हि देवाः ।।१०।।

एव हि एव । एव हि अग्ने ।। एव हि इन्द्र । एव हि पूषन् ।।
एव हि देवाः । ओम् एवाहिदेवाः ।।१०।।

इमानि पञ्च पुरीषपदानीत्युच्यन्ते । एतेषां देवता इन्द्र एव, 'ऐन्द्रं हि पुरीषम् । श० ८।७।३।७' इति स्मरणात् । इन्द्रस्य पूर्णताद्योतकानि पदानीमानि, तस्मात् पुरीषपदानि । 'पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा' इति हि निरुक्तम् (२।२२) ।

पदार्थः—हे इन्द्र परमेश्वर ! **एव हि एव** एवं खलु एवम्, सत्यमेव त्वं पूर्वोक्तगुणविशिष्टोऽसीति भावः ।। हे **अग्ने** अग्रनायक इन्द्र परमात्मन् ! **एव हि** एवमेव खलु, सत्यमेव त्वम् उक्तगुणविशिष्टोऽसि ।। हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन्, रिपुविदारक, विद्याविवेकादिप्रकाशक जगदीश्वर ! **एव हि** एवमेव किल, सत्यमेव त्वम् उक्तगुणविशिष्टोऽसि ।। हे **पूषन्** परिपोषक इन्द्र जगत्पते ! **एव हि** एवं खलु, सत्यमेव त्वम् उक्तगुणविशिष्टोऽसि ।। हे **देवाः** इन्द्राख्यपरमेश्वराधीनाः दिव्यगुणविशिष्टा विद्वांसः ! **एव हि** सत्यं खलु यूयम् इन्द्रस्य प्रजाः स्थ ।।

एवा संहितायां 'निपातस्य च' अ० ६।३।१३६ इति दीर्घः । **पूषन्** अथ यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति, निरु० १२।१७ । **देवाः** 'अथ यदिन्द्रे सर्वा देवतास्तस्थानाः, तस्मादाहुः इन्द्रः सर्वा देवताः । श० १।६।३।२२ ।।१०।।

भावार्थः—इन्द्रे परमात्मनि सत्यमेव मघवत्व-शचीपतित्व-प्रचेतनत्व-शक्रत्व-मंहिष्ठत्व-शविष्ठत्व-वज्रित्व-जेतृत्वप्रभृतयो वेदोक्ता गुणाः सन्ति, ये सर्वैरनुकरणीयाः ।।१०।।

अगले मन्त्र में पुरीष-पदों से परमात्मा का स्वरूप वर्णित किया गया है । मन्त्रोक्त पाँच खण्ड पाँच पुरीष-पद कहलाते हैं । इनका देवता इन्द्र ही है, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि 'पुरीष इन्द्र देवता वाले हैं । श० ८।७।३।७' । ये पद इन्द्र के पूर्णता-द्योतक होने से पुरीष संज्ञा वाले हैं । निरुक्त (२।२२) में 'पुरीष' की निष्पत्ति पूरणार्थक पॄ अथवा पूर धातु से की गयी है ।

पदार्थ—हे इन्द्र परमेश्वर ! **एव हि एव** सचमुच आप ऐसे ही पूर्वोक्त गुणों वाले हो ।। हे **अग्ने** अग्रनायक इन्द्र परमात्मन् ! **एव हि** सचमुच आप ऐसे ही हो ।। हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन्, शत्रुविदारक, विद्या-विवेक आदि के प्रकाशक जगदीश्वर ! **एव हि** सचमुच आप पूर्वोक्त गुणों से विशिष्ट हो ।। हे **पूषन्** पुष्टि-प्रदाता जगत्पते ! **एव हि** सचमुच आप पूर्वोक्त गुणों से युक्त हो ।। हे **देवाः** इन्द्र परमेश्वर की अधीनता में रहने वाले दिव्यगुणविशिष्ट विद्वानो ! **एव हि** सचमुच तुम इन्द्र परमेश्वर की प्रजा हो ।।

अन्तिम 'पुरीष पद' भी इन्द्र-विषयक ही है, जैसा कि शतपथकार कहते हैं—'क्योंकि इन्द्र में ही सब देवता स्थित हैं, अतः इन्द्र को सर्वदेवतात्मक कहा गया है (श० १।६।३।२२) ॥१०॥

भावार्थ—इन्द्र परमात्मा में सचमुच मघवत्व, शचीपतित्व, प्रचेतनत्व, शक्रत्व, मंहिष्ठत्व, शविष्ठत्व, वज्रित्व, जेतृत्व आदि वेदोक्त गुण विद्यमान हैं, जिनका सबको अनुकरण करना चाहिए ॥१०॥

इति बरेलीमण्डलान्तर्गतफरीदपुरवास्तव्यश्रीमद्गोपालरामभगवतीदेवीतनयेन हरिद्वारीय-गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयेऽधीतविद्येन विद्यामार्तण्डेन आचार्यरामनाथ वेदालङ्कारेण महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतवेदभाष्यशैलीमनुसृत्य विरचिते संस्कृतार्य-भाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते सामवेदभाष्ये महानाम्न्यार्चिकः समाप्तिमगात् ॥

वेदवेदखनेत्रेऽब्दे पौषे मासि सिते दले।
द्वादश्यां गुरुवारे च व्याख्येयं पूर्तिमागता ॥

●●

सामवेदभाष्यम्

उत्तरार्चिकः

अथ प्रथमः प्रपाठकः प्रथमोऽध्यायश्च

तत्र प्रथमे प्रपाठके प्रथमोऽर्धः प्रथमेऽध्याये प्रथमः खण्डश्च प्रारभ्यते ।

॥१॥ अथ 'उपास्मै' इत्यादिकस्य प्रथमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः**—असितः काश्यपः देवलो वा । **देवता**— पवमानः सोमः। **छन्दः**— गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ परमात्मानं प्रति मनुष्याणां कर्तव्यं वर्णयति ।

६५१ . उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे । अभि देवाँ इयक्षते ॥१॥[1]

उप अस्मै गायत नरः । पवमानाय इन्दवे । अभि देवान् इयक्षते ॥१॥

पदार्थः— हे **नरः** मनुष्याः ! यूयम् **देवान्** अहिंसासत्यन्यायादिदिव्यगुणान् **अभि इयक्षते** प्रदातुमिच्छते [यजतेर्दानार्थात् सनि शतरि रूपम्। यियक्षते इति प्राप्ते अभ्यासयकारलोपश्छान्दसः।] **अस्मै** एतस्मै **पवमानाय** पवित्रताप्रदायिने **इन्दवे** आनन्दरसेन क्लेदकाय सोमाख्याय परमात्मने [उनत्ति क्लेदयति उपासकान् स्वरसेन यः स इन्दुः। 'उन्देरिच्चादेः' उ० १.१२ इति उन्दी क्लेदने धातोः उः प्रत्ययः धातोरुकारस्येकारादेशश्च।] **उपगायत** सामीप्येन स्तुतिगीतानि उच्चारयत ॥१॥[2]

भावार्थः— सर्वैः स्त्रीपुरुषैर्जगदीशस्य स्तुतिगीतानि कीर्तयित्वा ततः प्रेरणां प्राप्यात्मोन्नतिर्विधेया ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा के प्रति मनुष्यों का कर्तव्य वर्णित किया गया है ।

पदार्थ—हे **नरः** मनुष्यो ! तुम **देवान्** अहिंसा, सत्य, न्याय आदि दिव्यगुणों को **इयक्षते** प्रदान करने की इच्छा वाले **अस्मै** इस **पवमानाय** पवित्रता देने वाले, **इन्दवे** आनन्दरस से भिगोने वाले परमात्मा के लिए **उपगायत** समीप होकर स्तुतिगीत गाया करो ॥१॥

भावार्थ—सब स्त्री-पुरुषों को चाहिए कि जगदीश के स्तुतिगीतों का कीर्तन कर और उससे प्रेरणा पाकर अपनी उन्नति करें ॥१॥

---

१. ऋ० ९।११।१, य० ३३।६२ ऋषिः देवलः, देवता सोमः। साम० ७६३।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं गुरुशिष्यविषये व्याख्यातः।

अथ ब्रह्मानन्दरसस्योपादेयत्वमाह ।

६५२. **अभि ते मधुना पयोऽथर्वाणो अशिश्रयुः । देवं देवाय देवयु ॥२॥**[1]

अभि ते मधुना पयः । अथर्वाणः अशिश्रयुः । देवम् देवाय देवयु ॥२॥

पदार्थः— हे पवमान सोम परमात्मन् ! **अथर्वाणः** अचञ्चलचित्तवृत्तयः उपासका जनाः । [अथर्वाणोऽथर्वणवन्तः । थर्वतिश्चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः इति निरुक्तम् ११।१९।] **ते** तव **मधुना** मधुरेण आनन्दरसेन **पयः** स्वकीयं विशुद्धं ज्ञानकर्मरूपं दुग्धम् **अभि अशिश्रयुः**[2] संमिश्रयन्ति। **देवयु**[3] देवं दिव्यगुणयुक्तं परमेश्वरम् आत्मनः कामयते इति देवयुः, सर्वोऽपि भगवद्भक्तो जनः। [देवयुशब्दात् प्रथमैकवचने 'सुपां सुलुक्०' अ० ७.१.३९ इति सोर्लुक् ।] **देवाय** दिव्यप्रकाशप्राप्तये **देवम्** प्रकाशकं त्वाम् उपास्ते इति शेषः ॥२॥

अत्र 'देवाय देवयु' इति छेकानुप्रासः, 'देवं, देवा, देव' इति च वृत्त्यनुप्रासः । उभयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूपः संङ्करः ॥२॥

भावार्थः— ज्ञानकर्मसमन्वितैव भक्तिः सर्वजनानां कल्याणकरी जायते ॥२॥

अगले मन्त्र में ब्रह्मानन्दरस की उपादेयता वर्णित है।

पदार्थ— हे पवित्रतादायक सोम परमात्मन् ! **अथर्वाणः** अचंचल चित्तवृत्ति वाले उपासक जन **ते** तेरे **मधुना** मधुर आनन्द-रस के साथ **पयः** अपने विशुद्ध ज्ञान और कर्म के दूध को **अभि अशिश्रयुः** मिलाते हैं। **देवयु** दिव्यगुणयुक्त परमेश्वर से प्रीति चाहने वाला सारा ही भगवद्भक्त-समाज **देवाय** दिव्य प्रकाश पाने के लिए **देवम्** तुझ प्रकाशदाता की उपासना करता है ॥२॥

इस मन्त्र में 'देवाय, देवयु' में छेकानुप्रास तथा 'देवं, देवा, देव' में वृत्त्यनुप्रास होने से दोनों अलंकारों का एकाश्रयानुप्रवेशरूप संकर है॥२॥

भावार्थ— ज्ञान और कर्म से समन्वित भक्ति ही सब मनुष्यों का कल्याण करती है ॥२॥

अथ परमेश्वरः प्रार्थ्यते ।

६५३. **स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते । शं राजन्नोषधीभ्यः ॥३॥**[4]

सः नः पवस्व शम् गवे । शम् जनाय शम् अर्वते ।

शम् राजन् ओषधीभ्यः ओष धीभ्यः ॥३॥

पदार्थः— हे **राजन्** विश्वसम्राट् परमात्मन् ! **सः** प्रसिद्धः त्वम् **नः अस्माकम् गवे** धेनवे, वाचे, इन्द्रियादिकाय वा **शम्** कल्याणम्, **जनाय** मातापितृपुत्रपौत्रकलत्रसेवकादिजनाय **शम्** कल्याणम्, **अर्वते** अश्वाय, प्राणाय, शत्रुहिंसकाय वीराय वा **शम्** कल्याणम्, **ओषधीभ्यः** व्रीहियवगोधूमलतागुल्मवृक्षवनस्पत्यादिभ्यो दोषनिवारिकाभ्यः शुद्धचित्तवृत्तिभ्यो वा **शम्** कल्याणम् **पवस्व** प्रक्षारय । [ओषधय ओषद् धयन्तीति वा, ओषत्येना धयन्तीति वा, दोषं धयन्तीति वा । निरु० ९।२७] ॥३॥

---

१. ऋ० ९।११।२ ।

२. श्रिञ् सेवायाम् भ्वादिः। ''अत्र लङि प्रथमस्य वहुबचने विकरणव्यत्ययेन शपः स्थाने श्लुः 'सिजभ्यस्त०' इति झेर्जुस्, 'जुसि च' इति गुणः'' इति ऋ० १।९२।२ भाष्ये द०।

३. सत्यव्रतसामश्रमिसम्पादिते सायणभाष्ये वैदिकयन्त्रालयमुद्रिते च सामवेदे 'देवयुः' इति सविसर्गः पाठः। सामपदपाठेषु अन्यासु च सामसंहितासु ऋग्वेदवद् विसर्गरहित एव पाठो दृश्यते ।

४. ऋ० ९।११।३ ।

भावार्थः— परमेश्वरोपासनेन सर्वैर्दैहिकं मानसमात्मिकं पारिवारिकं सामाजिकं राष्ट्रियं च कल्याणं प्राप्तुं योग्यम् ॥३॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **राजन्** विश्व के सम्राट परमात्मन् ! **सः** वह प्रसिद्ध आप **नः** हमारे **गवे** गाय, वाणी और इन्द्रियों आदि के लिए **शम्** कल्याण को, **जनाय** माता, पिता, पुत्र, पौत्र, पत्नी, सेवक आदि जनों के लिए **शम्** कल्याण को, **अर्वते** घोड़े, प्राण और शत्रुहिंसक वीर के लिए **शम्** कल्याण को, **ओषधीभ्यः** धान, जौ, गेहूं, लता, गुल्म, वृक्ष, वनस्पति आदियों के लिए और दोषनिवारक शुद्ध चित्तवृत्तियों के लिए **शम्** कल्याण को **पवस्व** बरसाइये ॥३॥

भावार्थ— परमेश्वर की उपासना से सबको शारीरिक, मानसिक, आत्मिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रिय कल्याण प्राप्त करना योग्य है ॥३॥

॥२॥ अथ 'दविद्युतत्या' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः**—कश्यपो मारीचः । **देवता**—पवमानः सोमः। **छन्दः**—गायत्री । **स्वरः**—षड्जः ॥

तत्राद्ये मन्त्रे ब्रह्मानन्दरूपान् सोमान् वर्णयति ।

६५४. **दविद्युतत्या रुचा परिष्टोभन्त्या कृपा। सोमाः शुक्रा गवाशिरः ॥१॥**[1]

दविद्युतत्या रुचा। परिष्टोभन्त्या परि स्तोभन्त्या कृपा।

सोमाः शुक्राः गवाशिरः गो आशिरः ॥१॥

पदार्थः— **दविद्युतत्या** अतिशयेन दीप्तया [द्युतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि अभ्यासस्य सम्प्रसारणाभावः, अत्वं विगागमश्च 'दाधर्तिदर्द्धर्ति० । अ० ७.४.६५ इत्यनेन निपात्यते ।] **रुचा कान्त्या,** किञ्च **परिष्टोभन्त्या** परितः आश्रयं प्रयच्छन्त्या। [ष्टुभु स्तम्भे, भ्वादिः, स्त्रियां शत्रन्तं रूपम्] **कृपा** शक्त्या। [कृपतेः क्विपि तृतीयैकवचनम्, 'कृप् कृपतेर्वा कल्पतेर्वा' इति निरुक्तम्, ६।८।] **गवाशिरः** गवि उपासकस्य आत्मनि आशिरः आश्रिताः **सोमाः** ब्रह्मानन्दरसाः **शुक्राः** स्तोतुः अतिशयेन पावकाः जायन्ते । [शुचिर् पूतीभावे, दिवादिः, शोचयन्तीति शुक्राः ऋज्रेन्द्राग्र० । उ० २.२९ इति रन् प्रत्यये निपातनादन्तोदात्तत्वं च] ॥१॥

भावार्थः— यदा ब्रह्मानन्दरसा उपासकं प्राप्नुवन्ति तदा ते तस्यात्मानं स्थायित्वेन नितरां निर्मलं सम्पादयन्ति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में ब्रह्मानन्दरूप सोमरसों का वर्णन करते हैं।

पदार्थ— **दविद्युतत्या** अतिशय देदीप्यमान **रुचा** कान्ति तथा **परिष्टोभन्त्या** चारों ओर से सहारा देने वाली **कृपा** शक्ति के साथ **गवाशिरः** उपासक के आत्मा में आश्रित **सोमाः** ब्रह्मानन्द-रस **शुक्राः** अत्यन्त पवित्रकारी हो जाते हैं ॥१॥

भावार्थ— जब ब्रह्मानन्द-रस उपासक को प्राप्त होते हैं तब वे उसके आत्मा को स्थायी रूप से अतिशय निर्मल कर देते हैं॥१॥

---

१. ऋ० ९।६४।२८ ।

अथ हृदि धारितः परमात्मसोमः किं करोतीत्याह ।

६५५. ३ २ ३१ २ ३१र २र ३क २र १ २ ३१ २
हिन्वानो हेतृभिर्हित आ वाजं वाज्यक्रमीत् । सीदन्तो वनुषो यथा॥२॥[1]

३ २ ३१ २ ३ २ १२र ३ २ ३ १२र ३१ २ ३
हिन्वानः हेतृभिः हितः। आ वाजम् वाजी अक्रमीत् । सीदन्तः वनुषः यथा ॥२॥

पदार्थः—हेतृभिः प्रेरकैः गुरुभिः । [हि गतौ वृद्धौ च, तृच् ।] **हितः** शिष्यस्य आत्मनि स्थापितः। [निष्ठायां दधातेर्हिः ।] **हिन्वानः** प्रीणयन् । [हिवि प्रीणनार्थः, आत्मनेपदं छान्दसम् ।] **वाजी** बलवान् परमात्मसोमः **वाजम्** अन्तःकरणे प्रवृत्तं देवासुरसंग्राममम्। [वाज इति बलनामसु संग्रामनामसु च पठितम्। निघं० २।९, २।७।] **आ अक्रमीत्** आक्रामति। कथम् ? **यथा** येन प्रकारेण **सीदन्तः** प्रयान्तः। [षदलृ विशरणगत्यवसादनेषु।] **वनुषः**[2] हिंसकाः योद्धारः। [वनुष्यतिर्हन्तिकर्मा। निरु० ५।२।८ ।] शत्रून् आक्रामन्ति तद्वत् ॥२॥

अत्रोपमालंकारः ॥२॥

भावार्थः— हृदि धृतः परमेश्वरो मानसे देवासुरसंग्रामे स्वोपासकं सदा विजयिनं कुरुते ॥२॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि हृदय में धारण किया हुआ परमात्मारूप सोम क्या करता है ।

पदार्थ— हेतृभिः प्रेरक गुरुजनों के द्वारा **हितः** शिष्य के आत्मा में स्थापित किया हुआ, **हिन्वानः** तृप्ति प्रदान करता हुआ, **वाजी** बलवान् परमात्मा-रूप सोम **वाजम्** अन्तःकरण में चल रहे देवासुरसंग्राम पर **आ अक्रमीत्** चारों ओर से आक्रमण कर देता है, **यथा** जैसे **सीदन्तः** प्रयाण करते हुए **वनुषः** हिंसक योद्धा लोग [शत्रुओं पर आक्रमण करते हैं।] ॥२॥

इस मंत्र में उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— हृदय में धारण किया हुआ परमेश्वर आन्तरिक देवासुरसंग्राम में अपने उपासक को सदा विजय दिलाता है। ॥२॥

अथ जीवात्मचन्द्रयोर्विषयमाह।

६५६. ३१ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २ १२ ३ १ २ ३२
ऋधक्सोम स्वस्तये संजग्मानो दिवा कवे । पवस्व सूर्यो दृशे ॥३॥[3]

३२ ३ १२ ३ १२ ३ २ ३ २ ३२ ३
ऋधक् सोम स्वस्तये सु अस्तये । संजग्मानः सम् जग्मानः दिवा कवे ।

१२र १२र ३२
पवस्व सूर्यः दृशे ॥३॥

पदार्थः— प्रथमः जीवात्मपरः । हे **कवे** मेधाविन् क्रान्तदर्शिन् **सोम** चन्द्रवद् वृद्धिशील जीवात्मन् ! त्वम् **दिवा** परमात्मज्योतिषा **संजग्मानः** संगच्छमानः सन् **स्वस्तये** उत्कृष्टजीवनाय। [अस्तिरभिपूजितः स्वस्तिरिति निरुक्तम्। ३।२१।१२।] **ऋधक्** ऋध्नुवन्, वर्धमानः भव। [ऋधगिति पृथग्भावस्यानुप्रवचनं भवति, अथापि ऋध्नोत्यर्थे दृश्यते। निरु. ४।२५।] **सूर्यः** सूर्य इव प्रकाशमानः सन् **दृशे** मुक्तिमार्गं द्रष्टुम् **पवस्व** प्रयतस्व। [पवते गतिकर्मा। निघं० २।१४] ॥३॥

---

१. ऋ० ९।६४।२९, 'हेतृभिर्यत' इति भेदः ।

२. वनुषः हन्तारो भटाः, सीदन्तः युद्धं प्रविशन्तः आक्रामन्ति तद्वत्—इति सा०। वनुषाः मनुष्याः उच्यन्ते । यथा, उपविशन्तो मनुष्या आसनमाक्रामन्ति तद्वत् द्रोणकलशं सोमः— इति वि० ।

३. ऋ० ९।६४।३० 'द्विः कविः' इति भेदः ।

द्वितीयः चन्द्रपरः । हे **कवे** पृथिवीं परितो गन्तः। [कवते गतिकर्मा। निघं० २।१४।] **सोम** चन्द्र ! त्वम् **दिवा** सूर्यप्रकाशेन **संजग्मानः** संगच्छमानः **स्वस्तये** अस्मत्कल्याणाय **ऋधक्** एकैकया कलया प्रत्यहं वर्धमानो भव। तथा च पूर्णिमायाम् **सूर्यः** सूर्य इव सम्पूर्णप्रभामण्डलः सन् **दृशे** अस्माकं दर्शनाय **पवस्व** भूमण्डले स्वचन्द्रिकां प्रक्षारय ।।३।।

अत्र श्लेषालंकारः । सूर्यः इति लुप्तोपमम्। चन्द्रपक्षे जडे चेतनवद् व्यवहार आलङ्कारिकः ।।३।।

भावार्थः— यथा सूर्याच्चन्द्रः प्रकाशते तथैव परमात्मसूर्याद् वयं प्रकाशिता भवामः ।।३।।

अगले मन्त्र में जीवात्मा और चन्द्रमा का विषय वर्णित है।

पदार्थ— प्रथम जीवात्मा के पक्ष में । हे **कवे** बुद्धिमान्, दूरदर्शी **सोम** चन्द्रमा के समान उन्नतिशील जीवात्मन् ! तू **दिवा** परमात्मा की ज्योति से **संजग्मानः** संयुक्त होता हुआ **स्वस्तये** उत्कृष्ट जीवन के लिए **ऋधक्** उन्नति प्राप्त कर। **सूर्यः** सूर्य के समान प्रकाशमान होकर **दृशे** मुक्ति का मार्ग देखने के लिए **पवस्व** प्रयत्न कर ।

द्वितीय चन्द्रमा के पक्ष में । हे **कवे** पृथिवी की परिक्रमा करने वाले **सोम** चन्द्रमा ! तू **दिवा** सूर्य के प्रकाश से **संजग्मानः** संयुक्त होता हुआ **स्वस्तये** हमारे सुख के लिए **ऋधक्** एक-एक कला से प्रतिदिन बढ़ता चल। पूर्णिमा को **सूर्यः** सूर्य के समान सम्पूर्ण प्रभामण्डल वाला होकर **दृशे** हमारे देखने के लिए **पवस्व** भूमण्डल पर अपनी चांदनी को फैला ।।३।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। 'सूर्यः' अर्थात् 'सूर्य के सदृश' में लुप्तोपमा है। चन्द्रमा के पक्ष में जड़ वस्तु में चेतनवत् व्यवहार आलंकारिक है ।।३।।

भावार्थ— जैसे सूर्य से चन्द्रमा प्रकाशित होता है वैसे ही परमात्मारूप सूर्य से हम प्रकाशित होते हैं ।।३।।

।।३।। अथ 'पवमानस्यस्य ते' इत्यादिकस्य तृतीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषयः**— शतं वैखानसाः । **देवता— पवमानः** सोमः । **छन्दः**— गायत्री । **स्वरः**— षड्जः ।।

तत्रादौ परमात्मसोमस्य रसधारा वर्ण्यन्ते ।

६५७. पवमानस्य ते कवे वाजिन्त्सर्गा असृक्षत । अर्वन्तो न श्रवस्यवः ।।१।।[1]

पवमानस्य ते कवे । वाजिन् सर्गाः असृक्षत । अर्वन्तः न श्रवस्यवः ।।१।।

पदार्थः— हे **कवे** वेदकाव्यकार ! हे **वाजिन्** बलवन् परमेश्वर ! **पवमानस्य** पवित्रीकुर्वतः **ते** तव **सर्गाः** आनन्दधाराः। [सृज्यन्ते इति सर्गाः धाराः।] **श्रवस्यवः** अस्माकं कीर्तिं कामयमानाः सत्यः। [छन्दसि परेच्छायां क्यच्। ततश्च 'क्याच्छन्दसि' अ० ३।२।१७० इति उः प्रत्ययः।] **असृक्षत** विसृष्टा भवन्ति, प्रस्यन्दन्ते। [सृज विसर्गे, कर्मणि लुङि छान्दसं रूपम्।] कथमिव ? **अर्वन्तः न** यथा अश्वाः, [अश्वशालायाः विसृष्टा भवन्ति।] अर्वन्तः अपि कीदृशाः ? **श्रवस्यवः** श्रवः घासादिकम् अन्नम् आत्मनः कामयमानाः। बहिर्गत्वा गोचरेषु घासं चरितुकामाः अश्वाः यथा सद्यो मन्दुरातो निर्गच्छन्ति तथेत्यर्थः। [श्रवः इत्यन्ननाम यशोनाम च। निघं० २।७, ११।७] ।।१।।

अत्रोपमालंकारः। 'श्रवस्यवः' इत्यत्र श्लेषः।।१।।

भावार्थः— परमात्मोपासका जनाः परमात्मनः सकाशात् स्वात्मानं प्रविशतोऽमन्दानन्दनिर्झरान् साक्षादनुभवन्ति ।।१।।

---

१. ऋ० ९।६६।१०।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा-रूप सोम की रसधाराओं का वर्णन है।

पदार्थ—हे **कवे** वेदकाव्य के कवि ! हे **वाजिन्** बली परमेश्वर ! **पवमानस्य ते** तुझ पवित्र करने वाले की **सर्गाः** आनन्द-धाराएं **श्रवस्यवः** हमें यशस्वी बनाना चाहती हुई **असृक्षत** छूट रही हैं, **न** जैसे **अर्वन्तः** घोड़े [घुड़साल से छूटते हैं।] घोड़े भी कैसे होते हैं? **श्रवस्यवः** घासादि भोज्य को चाहने वाले। अभिप्राय यह है कि जैसे बाहर जाकर चरागाहों में घास चरना चाहने वाले घोड़े घुड़साल में से उत्सुकतापूर्वक निकलते हैं, ऐसे ही आपकी आनन्दधाराएं आप में से निकलकर हमें आनन्दित कर रही हैं।।१।।

इस मन्त्र में उपमालंकार है। 'श्रवस्यवः' में श्लेष है।।१।।

भावार्थ—परमात्मा के उपासक लोग परमात्मा से अपने आत्मा में प्रवेश करते हुए महान् आनन्द के झरनों को साक्षात् अनुभव करते हैं।।१।।

अथ पुनः सोमरसविषयमाह ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
६५८. **अच्छा कोशं मधुश्चुतमसृग्रं वारे अव्यये। अवावशन्त धीतयः ।।२।।**[1]

१ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २र १ २र १ २र ३ १ २
अच्छ कोशम् मधुश्चुतम् मधु श्चुत म् । असृग्रम् वारे अव्यये।

१ २र ३ १ २
अवावशन्त धीतयः।।२।।

पदार्थः—**प्रथमः** सोमौषधिरसपक्षे। अहम् **मधुश्चुतम्** मधुस्रावि‍णं सोमौषधिरसम्, **कोशम् अच्छ** द्रोणकलशम् अभिलक्ष्य **अव्यये वारे** अविस्वभूते बाले, अविबालमये दशापवित्रे इत्यर्थः **असृग्रम्**[2] विसृजामि । मम **धीतयः** अङ्गुलयः। [धीतयः इत्यङ्गुलिनाम। निघं० २।५।] **अवावशन्त** सोमं क्षारयितुं कामयन्ते, प्रवर्तन्ते इत्यर्थः। [वश कान्तौ, यङ्लुगन्तः] ।

द्वितीयः ब्रह्मानन्दपक्षे। अहम् **मधुश्चुतम्** माधुर्यस्रावि‍णं ब्रह्मानन्दरूपं सोमरसम् **कोशम् अच्छ** मनोबुद्धिज्ञानेन्द्रियरूपं विज्ञानमयकोशं प्रापयितुम् **अव्यये वारे** अविनश्वरे कामक्रोधादिशत्रुनिवारयितरि आत्मनि **असृग्रम्** विसृजामि। मम **धीतयः** स्तुतयः **अवावशन्त** प्रभुगीतानि शब्दायन्ते। [वाशृ शब्दे धातोर्यङ्लुकि छान्दसं रूपम्] ।।२।।

अत्र श्लेषालंकारः ।।२।।

भावार्थः—यथा सोमौषधिरसो दशापवित्रमाध्यमेन द्रोणकलशं प्रवेश्यते तथैव ब्रह्मानन्दरस आत्मद्वारेण सर्वस्मिन्नपि मनोबुद्ध्यादौ प्रवेशनीयो येनास्माकं दर्शनश्रवणमननिदिध्यासनादिकं सर्वमपि व्यवहारजातं ब्रह्मानन्दमयं भवेत् ।।२।।

अगले मन्त्र में पुनः सोमरस का विषय वर्णित है।

पदार्थ—**प्रथम** सोमौषधिरस के पक्ष में। मैं **मधुश्चुतम्** मधुस्रावी सोमरस को **कोशम् अच्छ** द्रोणकलश में पहुंचाने के लिए **अव्यये वारे** भेड़ के बालों से बनी हुई छन्नी में **असृग्रम्** छोड़ता हूं। मेरी **धीतयः** अंगुलियां **अवावशन्त** सोमरस को छानने में प्रवृत्त हो रही हैं ।

---

१. ऋ० ९।६६।११

२. असृग्रम् 'बहुलं छन्दसि' अ० ७।१।८ अनेन सृजधातोः रुडागमः, वर्णव्यत्ययेन जकारस्थाने गकारः, लडर्थे लङ् च इति ऋ० १।९।४ भाष्ये द०।

द्वितीय ब्रह्मानन्द के पक्ष में । मैं **मधुश्चुतम्** माधुर्यस्रावी ब्रह्मानन्दरूप सोमरस को **कोशम् अच्छ** मन, बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियरूप विज्ञानमय कोश में पहुंचाने के लिए **अव्यये वारे** अविनश्वर तथा कामक्रोधादि शत्रुओं का निवारण करने वाले आत्मा में **असृग्रम्** छोड़ता हूं। मेरी **धीतयः** स्तुतियां **अवावशन्त** प्रभु के गीतों का गान कर रही हैं ।।२।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।२।।

भावार्थ—जैसे सोमौषधि का रस छन्नी के माध्यम से द्रोणकलश में प्रविष्ट कराया जाता है, वैसे ही ब्रह्मानन्दरस को आत्मा के माध्यम से सभी मन-बुद्धि आदियों में प्रविष्ट कराना चाहिए, जिससे हमारे दर्शन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि सब व्यवहार ब्रह्मानन्दमय हो जाएं ।।२।।

अथ ब्रह्मानन्दरसाः कथं जनानुपकुर्वन्तीत्याह ।

१ २ ३२उ ३ २ ३ २ ३ २ ३१ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
६५९. **अच्छा समुद्रमिन्दवोऽस्तं गावो न धेनवः। अग्मन्नृतस्य योनिमा।।३।।**[1]

१ २र ३ २ ३ २ १ २र १ २र १ २र ३१ २
अच्छ समुद्रम् सम् उद्रम् इन्दवः। अस्तम् गावः न धेनवः।

१ २र ३१ २ १ २र
अग्मन् ऋतस्य योनिम् आ ।।३।।

पदार्थः—**इन्दवः** ब्रह्मानन्दरसाः **समुद्रम् अच्छ** हृदयसिन्धुं प्रति प्रवहन्तः **ऋतस्य** सत्यस्य **योनिम्** गृहभूतं मम अन्तरात्मानम् **आ अग्मन्** प्राप्ताः सन्ति । कथमिव ? **धेनवः** दुग्धेन प्रीणयन्त्यः **गावः** अघ्न्याः **अस्तं न** यथा गोगृहं, गच्छन्ति तद्वत् ।।३।।

अत्रोपमालंकारः ।।३।।

भावार्थः—यथा गावो गोसदनं प्राप्य स्वदुग्धादिना जनान् प्रीणयन्ति तथैव ब्रह्मानन्दाः हृदयमात्मानञ्च प्रविश्योपासकान् प्रीणयन्ति ।।३।।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि ब्रह्मानन्द-रस किस प्रकार मनुष्यों का उपकार करते हैं।

पदार्थ—**इन्दवः** ब्रह्मानन्द-रस **समुद्रम् अच्छ** हृदय-समुद्र की ओर बहते हुए **ऋतस्य** सत्य के **योनिम्** गृहरूप मेरे अन्तरात्मा को **आ अग्मन्** प्राप्त हुए हैं। किस प्रकार ? **न** जैसे **धेनवः** दूध से तृप्ति प्रदान करने वाली **गावः** गौएं **अस्तम्** गोशाला को प्राप्त होती हैं ।।३।।

इस मन्त्र में उमालंकार है ।।३।।

भावार्थ—जैसे गौएं गोशाला को प्राप्त करके अपने दूध आदि से लोगों को तृप्त करती हैं, वैसे ही ब्रह्मानन्द हृदय और आत्मा में प्रविष्ट होकर उपासकों को तृप्ति प्रदान करते हैं ।।३।।

प्रथम अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त

।।४।। अथ 'अग्न आ' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। **देवता** अग्निः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः।।

---

१. ऋ० ९।६६।१२।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १ क्रमाङ्के परमात्मविद्वन्नृपतीनां पक्षे व्याख्यातपूर्वा। अत्र यज्ञाग्निपक्षे जीवात्मपक्षे च व्याख्यायते ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १र २र ३ १ २
६६०. अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि॥१॥[1]

१ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
अग्ने आ याहि वीतये। गृणानः हव्यदातये हव्य दातये।

२ १ २र ३ १ २
नि होता सत्सि बर्हिषि॥१॥

पदार्थः—प्रथमो यज्ञाग्निपरः। अग्निहोत्रमाध्यमेन दिव्यं तेजः स्वान्तरात्मनि संदिदीपयिषुर्यज्ञाग्निमाह्वयति— हे **अग्ने** यज्ञवहे ! त्वम् **आयाहि** अस्मद्यज्ञमागच्छ। किमर्थम् ? **वीतये** हविषां भक्षणाय। **गृणानः**[2] मन्त्रपाठद्वारा ऽस्माभिः स्तूयमानः रोगपापादीन् निगिरन् वा त्वम् [गृ शब्दे क्र्यादिः, गृ निगरणे तुदादिः]। **हव्यदातये** हव्यानां देयानां तेजआदीनां दातिः दानं तस्मै, यद्वा हव्यानां हुतानां सुगन्धिमिष्ट—पुष्टिरोगनाशकगुणैर्युक्तानां हविषां दातिः सूक्ष्मीकृत्य वायुमण्डले प्रसारणं तस्मै, आयाहि। **होता** हुतद्रव्याणाम् आदाता आरोग्यदीर्घायुष्यादीनां प्रदाता च त्वम् **बर्हिषि** यज्ञवेद्या अन्तरिक्षे [बर्हिः इत्यन्तरिक्षनाम। निघं० १।३]। **नि सत्सि** निषीद। अत्राचेतने यज्ञाग्नौ चेतनवद् व्यवहार आलङ्कारिकः।

द्वितीयः जीवात्मोद्बोधनपरः । हे **अग्ने** मदीय अन्तरात्मन् ! त्वम् **आयाहि** कर्मभूमिम् आगच्छ। किमर्थम् ? **वीतये** कर्मकरणाय । [वी धातुरत्र गत्यर्थः।] **गृणानः** कर्मयोगम् उपदिशन् **हव्यदातये** परोपकाराय स्वात्मार्पणं कर्त्तुम्, आयाहि। **होता** राष्ट्रसंघटनाय जनानाम् आह्वाता सन् **बर्हिषि** उच्चपदे **नि सत्सि** निषीद॥१॥[3]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—सर्वैर्ऋत्वनुकूलहव्यैरग्निहोत्रेण वायुमण्डलं सुगन्धि रोगकृमिरहितं च निष्पाद्य यज्ञाग्निवत् तीव्रं तेजः परमात्मज्योतिश्च स्वान्तःकरणे निधाय भौतिकाध्यात्मिकसम्पत् प्राप्तव्या। किञ्च, 'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।' अथ० ७।५२।८ इति वैदिकसन्देशं मुखरीकृत्य स्वात्मानं समुद्बोध्य जनहितकराणि महान्ति कर्माणि करणीयानि, राष्ट्रहिताय स्वबलिदानादपि च न भेतव्यम् ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक क्रमांकः १ पर परमात्मा, विद्वान् और राजा के पक्ष में व्याख्या हो चुकी है। यहां यज्ञाग्नि और जीवात्मा के पक्ष में व्याख्या की जा रही है।

पदार्थ—प्रथम यज्ञाग्नि के पक्ष में। अग्निहोत्र के माध्यम से परमात्मा के तेज को अपने हृदय में प्रदीप्त करना चाहता हुआ उपासक यज्ञाग्नि का आह्वान कर रहा है। हे **अग्ने** यज्ञाग्नि ! तू **आयाहि** हमारे यज्ञ में आ। किसलिए ? **वीतये** हवियों को खाने के लिए। **गृणानः** मन्त्रपाठ द्वारा हमसे स्तुति किया जाता हुआ अथवा हमारे रोग, पाप आदि को निगलता हुआ तू **हव्यदातये** दातव्य तेज आदि को देने के लिए, अथवा

---

१. ऋ० ६।१६।१०, साम० १ ।

२. गृणानः स्तूयमानः इति वि०। गृणानः स्तूयमानः, गृणातेः 'भावकर्मणोः' पा० १।३।१३ । इत्यात्मनेपदम्, यक्स्थाने श्ना प्रत्ययो व्यत्ययेन छान्दसः । 'गृणाना जमदग्निना' ऋ० ३।६२।१८ इति हि भवति—इति भ०। गृणानः अस्माभिः स्तूयमानः इति सा०।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वत्पक्षे व्याख्यातवान् ।

होती हुई सुगन्धित, मधुर, पुष्टिप्रद तथा रोगनाशक गुणों से युक्त हवियों को सूक्ष्म करके वायुमण्डल में फैलाने के लिए आ। **होता** होमे हुए द्रव्यों का स्वीकार करनेवाला तथा आरोग्य, दीर्घायुष्य आदि को देनेवाला तू **बर्हिषि** यज्ञवेदि के आकाश में **नि सत्सि** बैठ। यहाँ अचेतन यज्ञाग्नि में चेतन के समान व्यवहार आलंकारिक है।

द्वितीय– आत्मोद्बोधन के पक्ष में। हे **अग्ने** मेरे अन्तरात्मन्! तू **आयाहि** कर्मभूमि में पदार्पण कर। किसलिए? **वीतये** कर्म करने के लिए। **गृणानः** कर्मयोग का उपदेश करता हुआ तू **हव्यदातये** परोपकारार्थ आत्मोत्सर्ग करने के लिए आ। **होता** राष्ट्र के संगठन के लिए लोगों का आह्वान करनेवाला तू **बर्हिषि** उच्च पद पर **नि सत्सि** बैठ ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥१॥

भावार्थ– सबको चाहिए कि ऋतु के अनुकूल हवियों से अग्निहोत्र द्वारा वायुमंडल को सुगन्धित तथा रोग के कीटाणुओं से रहित करके और यज्ञाग्नि के समान तीव्र तेज को तथा परमात्मा की ज्योति को अपने अन्तःकरण में धारण करके भौतिक एवम् आध्यात्मिक सम्पत्ति प्राप्त करें। साथ ही 'मेरे दाहिने हाथ में कर्म है तो बाएं हाथ में विजय रखी हुई है' अ० ७। ५२। ८ इस वैदिक सन्देश को मुखर करके अपने अन्तरात्मा को उद्बोधन देकर जनहित के महान् कर्म करने चाहिएं और राष्ट्र के हितार्थ अपना बलिदान देने से भी नहीं हिचकना चाहिए ॥१॥

अथ यज्ञाग्निमात्माग्निं परमात्मात्माग्निं च सम्बोधयति।

६६।१ **तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि।**
बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥२॥[1]

तम् त्वा समिद्भिः सम् इद्भिः अङ्गिरः। धृतेन वर्द्धयामसि।
बृहत् शोच यविष्ठ्य ॥२॥

पदार्थः– **प्रथमो** यज्ञाग्निपरः। हे **अङ्गिरः** चपलज्वाल यज्ञाग्ने! (अगि गतौ। यः अङ्गति गच्छति सोऽङ्गिराः, तत्सम्बुद्धौ अङ्गिरः इति। अगि धातोः अङ्गिराः। उ० ४। २३७' इति निपातनाद् असिप्रत्ययः इरुडागमश्च।) **तं त्वा** तादृशं त्वाम्, वयम् **समिद्भिः** काष्ठैः **घृतेन** आज्येन च **वर्धयामसि** वर्धयामः। हे **यविष्ठ्य**[2] युवतम! (अतिशयेन युवा यविष्ठः, यविष्ठ एव यविष्ठ्यः, स्वार्थे यत्।) त्वम् **बृहत्** अत्यधिकम् **शोच** दीप्यस्व।

द्वितीयः जीवात्मपरः। स्वात्मानं समुद्बोधयति—हे **अङ्गिरः** कर्मशील मदीय अन्तरात्मन् **तं त्वा** तादृशं बहुकर्मक्षमं त्वाम् वयम् समिद्भिः ज्ञानेन्धनैः **घृतेन** सत्कर्मरूपेण आज्येन च **वर्धयामसि** वर्धयामः। हे **यविष्ठ्य** तरुणतम! त्वम्, संसारे **बृहत्** अत्यधिकम् **शोच** प्रदीप्यस्व।

तृतीयः परमात्मपरः। हे **अङ्गिरः** प्राणप्रिय परमात्मन्! **तं त्वा** तादृशं सर्वकर्म समर्थं त्वाम्, वयम् समिद्भिः समिन्धनसाधनैः योगाङ्गैः घृतैः स्नेहयुतैः भक्तिभावैश्च, स्वान्तः करणे **वर्धयामसि** वर्धयामः। हे **यविष्ठ्य** समृद्धतम भगवन्! त्वम् अस्मदन्तःकरणे **बृहत्** अत्यधिकम् **शोच** दीप्यस्व[3] ॥२॥

---

१. ऋ० ६। १६। १९, य० ३।३।

२. यविष्ठ्यः अतिशयेन बलवान्—इति वि०।

३. दयानन्दर्षिर्मन्त्रभिमम् ऋग्भाष्ये वाचकलुप्तोपमामाश्रित्य ये राजादयो जनाः घृतेनाग्निमिव शिक्षासत्काराभ्यां शूरान् वर्धयन्ति ते सदा विजयमाप्नुवन्तीत्यादिरुपेण, यजुर्भाष्ये च 'भौतिकोऽग्निर्होमशिल्पविद्यासिद्धये साधनैरिन्धनादिभिर्नित्यं वर्धनीय इत्यादिरुपेण' व्याख्यातवान्।

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यज्ञाग्निं समिध्य संवर्ध्य च स्वयमपि तेजसा समिद्धैः संवृद्धैश्च भाव्यम्। तथैव मनुष्यैः स्वात्मानमुद्बोध्य निर्भ्रान्तं ज्ञानराशिं संचित्य महोज्ज्वलानि कर्माणि कृत्वा महती कीर्तिः प्राप्तव्या। अथ च योगाभ्यासैः भक्त्या च परमात्माग्निः स्वात्मनि प्रदीपनीयः ॥२॥

अगले मन्त्र में यज्ञाग्नि, आत्माग्नि तथा परमात्माग्नि को सम्बोधन किया गया है।

पदार्थ—प्रथम यज्ञाग्नि के पक्ष में। हे **अङ्गिरः** चंचल ज्वाला वाले यज्ञाग्नि ! **तं त्वा** उस तुझको, हम **समिद्भिः** समिधाओं से, और **घृतेन** घृत से **वर्धयामसि** बढ़ाते है। हे **यविष्ठ्य** अतिशय युवा अग्ने ! तू **बृहत्** बहुत अधिक **शोच** चमक।

द्वितीय—जीवात्मा के पक्ष में। मनुष्य अपने अन्तरात्मा को उद्बोधन दे रहा है—हे **अङ्गिरः** कर्मशील मेरे अन्तरात्मन् ! **तं त्वा** उस बहुत कर्म करने में समर्थ तुझे, हम **समिद्भिः** ज्ञानरूप समिधाओं से, और **घृतेन** सत्कर्मरूप घृत से **वर्धयामसि** बढ़ाते हैं। हे **यविष्ठ्य** अतिशय तरुण ! तू संसार में **बृहत्** बहुत अधिक **शोच** चमक।

तृतीय—परमात्मा के पक्ष में। है **अङ्गिरः** प्राणप्रिय परमात्मन् ! **तं त्वा** सब कर्मों में समर्थ उन आपको हम **समिद्भिः** प्रदीप्त करने के साधन योगांगों से, और **घृतेन** स्नेहयुक्त भक्तिभावों से, अपने अन्तःकरण में **वर्धयामसि** बढ़ाते हैं। हे **यविष्ठ्य** सर्वातिशय समृद्ध भगवन् ! तुम, हमारे अन्तःकरण में **बृहत्** अधिक **शोच** चमको ॥२॥

यहां श्लेषालङ्कार है ॥२॥

भावार्थ मनुष्यों को चाहिए कि यज्ञाग्नि को प्रदीप्त [और संवृद्ध करके स्वयं भी तेज से प्रदीप्त] तथा संवृद्ध हों। इसी प्रकार अपने अन्तरात्मा को उद्बोधन देकर निर्भ्रान्त ज्ञानराशि का संचय करके महान् कीर्ति प्राप्त करें और योगाभ्यास एवं भक्ति से परमात्मा-रूप अग्नि को अपने आत्मा में प्रदीप्त करें ॥२॥

अथ पुनरपि यज्ञाग्निमात्माग्निं परमात्माग्निं च सम्बोधयति।

६६२ **स नः पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि।**
बृहदग्ने सुवीर्यम् ॥३॥[1]
सः नः पृथु श्रवाय्यम्। अच्छ देव विवाससि।
बृहत् अग्ने सुवीर्यम् सु वीर्यम् ॥३॥

पदार्थः—हे **देव** सुप्रकाशक **अग्ने** भौतिकाग्ने, अन्तरात्मन्, परमात्मन् वा ! **सः** प्रसिद्धः त्वम् **नः अच्छ** अस्मान् प्रति **पृथु** विपुलम्, **श्रवाय्यम्** कीर्तिजनकम्। [श्रावयतीति श्रवाय्यः। श्रु धातोः 'श्रुदक्षिस्पृहिगृहिभ्य आय्यः उ० ३।९६। इति आय्यप्रत्ययः।] **बृहत्** महत्। **सुवीर्यम्** सुवीर्योपेतम् भौतिकाध्यात्मिकं धनम् **विवाससि**[2] परिचर. प्रेषय इत्यर्थः'। (विवासतिः परिचर्याकर्मा। निघं० ३।५, विध्यर्थे लेट् परिचरणं चात्र प्रापणम् ॥३॥[3]

---

१. ऋगवेद ६।१६।१२

२. विवाससि... दीप्तिकरोषि— इति वि०।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं मनुष्यैः परस्परं कथं वर्तितव्यमिति विषये व्याख्यातवान्।

भावार्थः— भौतिकाग्निर्यथा यज्ञे शिल्पकर्मणि च योजितः स्वास्थ्यधनधान्यादिकं प्रापयति तथैवात्माग्नि-रुद्बोधितः परमात्माग्निश्चोपासितो महतीमध्यात्मसम्पदं प्रयच्छति ॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः यज्ञाग्नि, आत्माग्नि और परमात्माग्नि को सम्बोधन करते हैं।

पदार्थ—हे **देव** उत्तम प्रकाशक **अग्ने** भौतिक अग्नि, अन्तरात्मन् और परमात्मन् ! **सः** वह प्रसिद्ध, तू **नः अच्छ** हमारी ओर **पृथु** विस्तीर्ण, **श्रवाय्यम्** कीर्तिजन, **बृहत्** प्रचुय, तथा **सुवीर्यम** श्रेष्ठ बल-युक्त भौतिक एवं आध्यात्मिक ऐश्वर्य **विवाससि** प्रेरित कर ॥३॥

भावार्थ—भौतिक अग्नि जैसे यज्ञ में और शिल्पकर्म में उपयोग करने पर स्वास्थ्य, धन, धान्य आदि प्राप्त कराता है, वैसे ही आत्माग्नि उद्बोधन देने पर तथा परमात्माग्नि उपासना करने पर महान् अध्यात्म-सम्पत्ति प्रदान करता है। ॥३॥

॥५॥ अथ 'आ नो मित्रावरुणा' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** विश्वामित्रो गाथिनः जमदग्निर्वा भार्गवः । **देवते** मित्रावरुणौ। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २२० क्रमाङ्के ब्राह्मणक्षत्रियविषये व्याख्याता । अत्र परमात्मजीवात्मानौ प्रार्थ्येते ।

६६३. **आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् । मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥१॥**[1]

आ नः मित्रा मि त्रा वरुणा । घृतैः गव्यूतिम् गो यूतिम् उक्षतम् ।
मध्वा रजांसि सुक्रतू सु क्रतूइति ॥१॥

पदार्थः—हे **मित्रावरुणा** मित्रावरुणौ परमात्मजीवात्मानौ ! युवाम् **नः** अस्माकम् **गव्यूतिम्** गवाम् इन्द्रियाणाम् यूतिः सहावस्थानं यत्र तां तनूम् **घृतैः** तेजोभिः [जिघर्तेः दीप्त्यर्थस्य रूपम्।] **आ उक्षतम्** आ सिञ्चतम् [उक्ष सेचने]। हे **सुक्रतू** सुकर्माणौ ! युवाम् **रजांसि** शरीरस्थान् अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञान-मयानन्दमयलोकान् [लोका रजांस्युच्यन्ते। निरु० ४।१९।] **मध्वा** मधुना **आ उक्षतम्** आ सिञ्चतम् ॥१॥

भावार्थः—परमात्मोपासनया जीवात्मोद्बोधनेन च मनुष्यैः शरीरमङ्गप्रत्यङ्गानि मनोबुद्ध्यादीनि च तेजोमयानि कार्याणि ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में क्रमांक २२० पर ब्राह्मण क्षत्रिय के पक्ष में व्याख्या की गयी थी । यहां परामात्मा जीवात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **मित्रावरुणा** परमात्मा और जीवात्मा ! तुम **नः** हमारे **गव्यूतिम्** इन्द्रियों के स्थितिस्थान देह को **घृतैः** तेजों से **आ उक्षतम्** सींच दो। हे **सुक्रतू** उत्कृष्ट कर्म करने वालो ! तुम **रजांसि** देह में स्थित अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय लोकों को **मध्वा** मधु से **आ उक्षतम्** सींच दो ॥१॥

भावार्थ— मनुष्यों को चाहिए कि परमात्मा की उपासना करके और जीवात्मा को उद्बोधन देकर शरीर, अंग-प्रत्यंग तथा मन, बुद्धि आदि को तेजस्वी बनायें ॥१॥

---

१. ऋ० ३।६२।१६, साम० २२० । ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिमन्त्रमेतमध्यापकोपदेशकपक्षे यजुर्भाष्ये च जलयानविषये व्याचष्टे ।

अथ पुनर्मित्रावरुणनाम्ना परमात्मजीवात्मानौ स्तौति ।

३ १.२ ३१ २ ३ १र २र १ २
६६४. उरुशंसा नमोवृधा मह्ना दक्षस्य राजथः । द्राघिष्ठाभिः शुचिव्रता ॥२॥[1]

३ १ २ ३ १२र ३ १ २ ३ १ २र ३ २ १ २र ३
उरुशंसा उरु शंसा नमोवृधा नमः वृधा । मह्ना दक्ष स्य राजथः ।

१ २र ३
द्राघिष्ठाभिः शुचिव्रता शुचि व्रता ॥२॥

पदार्थः—हे **शुचिव्रता** शुचिव्रतौ पवित्रकर्माणौ मित्रावरुणौ परमात्मजीवात्मानौ ! **उरुशंसा** उरुशंसौ बहुप्रशंसितौ, **नमोवृधा** नमोवृधौ नमसा नमस्कारग्रहणेन नमस्कारदानेन च वर्धकवृद्धौ[2] युवाम् **दक्षस्य** बलस्य मह्ना महिम्ना, **द्राघिष्ठाभिः**[3] अतिशयेन दीर्घाभिः क्रियाभिः सम्पद्भिः स्तुतिभिश्च **राजथः** राजेथे ॥२॥

भावार्थः—सम्पूर्णस्य ब्रह्माण्डस्य सम्राजं महाबलं परमेश्वरं ध्यात्वा देहपिण्डस्य सम्राजं जीवात्मानं च समुद्बोध्य सर्वैः स्त्रीपुरुषैः स्वोन्नतिः कार्या ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर मित्र वरुण नाम से परमात्मा और जीवात्मा की स्तुति की गयी है ।

पदार्थ—हे **शुचिव्रता** पवित्र कर्मों वाले परमात्मा और जीवात्मा ! **उरुशंसा** बहुत प्रशंसा को प्राप्त, **नमोवृधा** नमस्कार को ग्रहण कर बढ़ाने वाले व नमस्कार के प्रदान से वृद्धि[4] को प्राप्त तुम **दक्षस्य** बल की **मह्ना** महिमा से और **द्राघिष्ठाभिः** अतिशय दीर्घ क्रियाओं, सम्पत्तियों वा स्तुतियों से **राजथः** राजा बने हुए हो ॥२॥

भावार्थ—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सम्राट् महाबली परमेश्वर का ध्यान करके और देहपिण्ड के सम्राट् जीवात्मा को भलींभांति उद्बोधन देकर सब स्त्री-पुरुषों को अपनी उन्नति करनी चाहिए ॥२॥

अथ परमात्मजीवात्मानौ आह्वयति ।

३ २ ३१२ ३ १ २३१ २ ३१र २र
६६५. गृणाना जमदग्निना योनावृतस्य सीदतम् । पातं सोममृतावृधा ॥३॥[5]

३ २ ३१२ ३२ ३ १२र ३१ २ ३
गृणाना जमदग्निना । जमत् अग्निना । योनौ ऋतस्य सीदतम् ।

२ १२र ३
पातम् सोमम् ऋतावृधा ऋत वृधा ॥३॥

पदार्थः—हे मित्रावरुणौ परमात्मजीवात्मानौ **जमदग्निना**[6] प्रज्वलिताग्निना यजमानेन। [जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा । निरु० ७।२५।] **गृणाना** गीर्यमाणौ स्तूयमानौ युवाम्। [अत्र कर्मणि शानच्।] **ऋतस्य योनौ** सत्यस्य सदने हृदये **सीदतम्** तिष्ठतम्। हे **ऋतावृधौ**[7] ऋतावृधौ सत्यस्य वर्धकौ ! युवाम् **सोमम्** शान्तिम् **पातम्** रक्षतम् ॥३॥

---

१. ऋ० ३।६२।१७, ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमध्यापकोपदेशकविषये व्याख्यातः।
२. नमस्कारैर्वृद्धौ—इति वि०। परमात्मा नमस्कारग्रहणेन मनुष्यं वर्धयति, जीवात्मा च नमस्कारदानेन वर्धते उन्नतिं प्राप्नोति ।
३. द्राघिष्ठाभिः अत्यन्तं दीर्घाभिः पुरुषार्थयुक्ताभिः क्रियाभिः इति ऋ० ३।६२।१७ भाष्ये द०।
४. परमात्मा नमस्कार को ग्रहण कर मनुष्य को बढ़ाता है और जीवात्मा नमस्कार के प्रदान से उन्नत होता है।
५. ऋ० ३।६२।१८, ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिममध्यापकोपदेशकविषये व्याख्यातवान्।
६. जमदग्निना एतन्नामकेन महर्षिणा, यद् वा जमदग्निना प्रज्वलिताग्निना विश्वामित्रेण—इति सा० ।
७. ऋतावृधौ यज्ञेन वर्द्धितौ—इति वि०।

भावार्थः– परमात्मनः सकाशात् प्रेरणां प्राप्य जीवात्मानो यदा जगति शान्तिरक्षणाय प्रयतन्ते तदैव परस्परं सहृदयत्वं सांमनस्यं च जायते ।।३।।

अगले मन्त्र में परमात्मा और जीवात्मा का आह्वान किया गया है।

पदार्थ–हे परमात्मा-जीवात्मा रूप मित्र-वरुणो ! **जमदग्निना** अग्निहोत्रार्थ अग्नि को प्रज्वलित करने वाले यजमान से **गृणाना** स्तुति किये जाते हुए तुम दोनों **ऋतस्य यौनौ** सत्य के मन्दिर हृदय में **सीदतम्** स्थित रहो । हे **ऋतावृधा** सत्य के बढ़ाने वालो ! तुम दोनों **सोमम्** शान्ति की **पातम्** रक्षा करो ।।३।।

भावार्थ–परमात्मा से प्रेरणा पाकर जीवात्माएं जब जगत् में शान्ति-रक्षा का प्रयत्न करती हैं तभी आपस में सौहार्द और सांमनस्य उत्पन्न होता है ।।३।।

।।६।। अथ 'आयाहि सुषुमा' इत्याद्यस्य षष्ठस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** इरिम्बिठिः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १९१ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्याचार्यविषये व्याख्याता। अत्र जीवात्म[1] विषये व्याख्यायते। इन्द्रनाम्ना स्वान्तरात्मानं सम्बोधयति ।

१ २ ३ २उ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २उ ३ १ २ ३ १ २र
६६६. **आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम्। एदं बर्हिः सदो मम ।।१।।**[2]
२ ३ २ ३ १ २र १ २र १ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २र
आ याहि सुषुम हि ते। इन्द्र सोमम् पिब इमम्। आ इदम् बर्हि सदः मम ।।१।।

पदार्थः–हे **इन्द्र** अन्तरात्मन् ! **त्वम् आयाहि** आगच्छ, वयम् **ते** तुभ्यम् **सोमम्** ज्ञानरसं **सुषुम** चक्षुःश्रोत्रादिभिः ज्ञानसाधनैः अभिषुतवन्तः। त्वम् **इमम्** ज्ञानरसम् **पिब** आस्वादय, ज्ञानेन्द्रियैरुपलब्धं ज्ञानं मनसा मनुष्वेत्यर्थः। त्वम् **इदम्** एतत् **मम** मदीयम् **बर्हिः** हृदयासनम् **आ सदः** आसन्नोऽसि ।।१।।

भावार्थः–मनोमाध्यमेन ज्ञानेन्द्रियैः प्राप्तस्य ज्ञानस्य मननिदिध्यासनाभ्यां पूर्णसाक्षात्कारो विधेयः ।।१।।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में १९१ क्रमांक पर परमात्मा, राजा और आचार्य के विषय में व्याख्या की जा चुकी है । अब जीवात्मा के विषय में व्याख्या दी जा रही है । इन्द्र नाम से अपने अन्तरात्मा को सम्बोधन किया गया है ।

पदार्थ–हे **इन्द्र** अन्तरात्मन् ! तू **आयाहि** आ, **ते** तेरे लिए, हमने **सोमम्** ज्ञानरस को **सुषुम** आंख, कान आदि ज्ञान के साधनों से अभिषुत किया है। तू **इमम्** इस ज्ञानरस को **पिब** पी, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त इस ज्ञान का मनन कर । तू **इदम्** इस **मम** मेरे **बर्हिः** हृदयासन पर **आ सदः** बैठा हुआ है ।।१।।

भावार्थ–मन के माध्यम से ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान का मनन और निदिध्यासन द्वारा पूर्ण साक्षात्कार करना चाहिए ।।१।।

---

१. इन्द्रः इन्द्रियवान् जीवः, इति ऋ० १।१०१।५ भाष्ये, इन्द्रस्य इन्द्रियस्वामिनो जीवस्य–इति च य० १९।३ भाष्ये द०। 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा' अ० ५।२।९३ इति पाणिनिसूत्रमपि इन्द्रस्य जीवात्मवाचकत्वं प्रमाणीकरोति ।

२. ऋ० ८।१७।१, साम० १९१, अथ० २०।३।१,३८।१,४७।७।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
६६७. **आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना । उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥२॥**[1]

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आ त्वा ब्रह्मयुजा ब्रह्म युजा हरी इति । वहताम् इन्द्र केशिना ।

१ २ १ २ ३
उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥२॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** जीवात्मन् ! **ब्रह्मयुजा** ब्रह्मणा परमात्मना शरीरे नियुक्तौ **केशिना** केशिनौ प्राप्तप्रकाशौ । [केशी काशनाद् वा प्रकाशनाद् वा। निरु० १२।२६।] **हरी** ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपौ अश्वौ **त्वा** त्वाम् **वहताम्** ज्ञाने कर्मणि च प्रवर्तयेताम्। त्वम् **नः** गुरूणाम् अस्माकम् **ब्रह्माणि** ज्ञानवचांसि **शृणु** आकर्णय ॥२॥

भावार्थः—शरीरे नियुक्तानामिन्द्रियाणां सदुपयोगेन गुरूणां चोपदेशश्रवणेन सर्वैरधिकाधिकं ज्ञानमर्जनीयम् ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** जीवात्मन्! **ब्रह्मयुजा** परमात्मा द्वारा शरीर में नियुक्त, **केशिना** प्रकाश को प्राप्त **हरी** ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूप अश्व **त्वा** तुझे **वहताम्** ज्ञान और कर्म में प्रवृत्त करें। तू **नः** हम गुरुओं के **ब्रह्माणि** ज्ञानमय वचनों को **शृणु** सुन ॥२॥

भावार्थ—शरीर में नियुक्त इन्द्रियों के सदुपयोग से और गुरुओं का उपदेश सुनकर सबको अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
६६८. **ब्रह्माणस्त्वा युजा वयं सोमपामिन्द्र सोमिनः । सुतावन्तो हवामहे ॥३॥**[2]

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
ब्रह्माणः त्वा युजा वयम् । सोमपाम् सोम पाम् इन्द्र सोमिनः ।

३ १ २ ३
सुतावन्तः हवामहे ॥३॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** आत्मन् ! हे शिष्य ! **सोमपाम्** ज्ञानस्य पातारम् **त्वा** त्वाम् **सोमिनः** ज्ञानवन्तः, **सुतावन्तः** अनेके सुताः शिष्यरूपाः पुत्राः येषां सन्तीति तादृशाः। [सुतवन्तः इति प्राप्ते दीर्घश्छान्दसः।] **ब्रह्माणः** ब्रह्मज्ञानिनः **वयम्** गुरवः **युजा** पारस्परिकसहयोगेन त्वया सह घनिष्ठसम्बन्धेन वा **हवामहे** विद्याध्यापनार्थं सदाचारशिक्षणार्थं च आह्वयामः ॥३॥

भावार्थः—ये स्वयं विद्यावन्तः सदाचारिणः प्राप्तब्रह्मानुभवाश्च गुरवो भवन्ति त एव शिष्यान् विदुषः सदाचारिणो ब्रह्मज्ञानिनश्च कर्त्तुं पारयन्ति ॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का उपदेश किया गया है ।

---

१. ऋ० ८।१७।२, अथ० २०।३।२,३८।२,४७।८।

२. ऋ० ८।१७।३, अथ० २०।३।३, ३८।३, ४७।९, अथर्ववेदे सर्वत्र 'युजा वयं' इत्यत्र 'वयं युजा' इति पाठः ।

पदार्थ—हे **इन्द्र** आत्मन् ! हे शिष्य ! **सोमपाम्** ज्ञान का पान करने वाले **त्वा** तुझे **सोमिनः** ज्ञानवान्, **सुतावन्तः** शिष्यरूप पुत्रों वाले, **ब्रह्माणः** ब्रह्मज्ञानी **वयम्** हम गुरुजन **युजा** पारस्परिक सहयोग के साथ अथवा तेरे साथ घनिष्ठ सम्बन्धपूर्वक **हवामहे** विद्या पढ़ाने और सदाचार सिखाने के लिए बुलाते हैं ।।३।।

भावार्थ—जो स्वयं विद्यावान्, सदाचारी और ब्रह्म का अनुभव प्राप्त किये हुए गुरु होते हैं वे ही शिष्यों को विद्वान्, सदाचारी और ब्रह्मज्ञानी बना सकते हैं ।।३।।

।।७।। अथ 'इन्द्राग्नी आगत'मित्यादिकस्य सप्तमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** विश्वामित्रो गाथिनः। **देवते** इन्द्राग्नी । **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ 'इन्द्राग्नी' इत्यनेन जीवात्मानं मनश्च आह्वयति । इन्द्रः आत्मा प्रसिद्धः । अग्निश्च मनः, 'मन एवाग्निः' श० १०।१।२।३ इति प्रामाण्यात् ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
६६९. इन्द्राग्नी आ गतं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम् । अस्य पातं धियेषिता ।।१।।[1]

१ २र १ २र ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २र १२र
इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति आ गतम् सुतम् । गीर्भिः नभः वरेण्यम् ।
३ २ ३ २ ३ २
अस्य पातम् धिया इषिता ।।१।।

पदार्थः—हे **इन्द्राग्नी** आत्ममनसी ! युवाम् **गीर्भिः** गुरूणां वाग्भिः **सुतम्** अभिषुतम्, निष्पादितम् **नभः** सूर्यमिव प्रकाशमानम् । [नभः आदित्यो भवति, नेता रसानां, नेता भासां, ज्योतिषां प्रणयः, अपि वा भन एव स्याद् विपरीतः, न न भातीति वा निरु० २।१४।] **वरेण्यम्** वरणीयं श्रेष्ठं वा ज्ञानरूपं सोमरसं प्रति। [वृञ् वरणे धातोः 'वृञ एण्यः' उ० ३।९८, इति एण्यः प्रत्ययः।] **आ गतम्**[2] आगच्छतम् । **धिया** बुद्ध्या **इषिता** इषितौ तत्परौ प्रयतमानौ युवाम् **अस्य** एतस्य ज्ञानरसस्य इमं ज्ञानरसमित्यर्थः । [द्वितीयार्थे, षष्ठी।] **पातम्** रक्षतम् ।।१।।[3]

अत्र 'नभ' इत्यत्र वाचकधर्मलुप्तोपमालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः—वाचस्पतिना गुरुणा शिष्याय यज्ज्ञानमुपदिश्यते तत् तेन सावधानतया स्वात्ममनोबुद्धि-योगपूर्वकं श्रुत्वा मत्वा च हृदि धारणीयं प्रचारणीयं तदनुकूलमाचरणीयं च ।।१।।

प्रथम मन्त्र में 'इन्द्राग्नी' नाम से जीवात्मा और मन का आह्वान किया गया है। इन्द्र आत्मा अर्थ में प्रसिद्ध है । अग्नि के विषय में शतपथ ब्राह्मण १०।१।२।३ में कहा है कि 'मन ही अग्नि है'।

पदार्थ—हे **इन्द्राग्नी** आत्मा और मन ! तुम दोनों **गीर्भिः** गुरुओं की वाणियों से **सुतम्** निष्पादित, **नभः** सूर्य के समान प्रकाशयुक्त **वरेण्यम्** वरणीय् श्रेष्ठ ज्ञानरस को ग्रहण करने के लिए **आगतम्** आओ । **इषिता** तत्पर एवं प्रयत्नशील होकर तुम दोनों **धिया** बुद्धि द्वारा **अस्य** इस ज्ञान की **पातम्** रक्षा करो ।।१।।

इस मन्त्र में 'नभः' अर्थात् 'सूर्य के समान प्रकाशमान' में वाचकधर्मलुप्तोपमालंकार है ।।१।।

---

१. ऋ० ३।१२।१

२. अत्र गम्लृ गतौ इत्यस्माद् 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुकि सति शित्वाभावाच्छस्याभावो 'अनुदात्तोपदेश' इत्यादिना मलोपश्च—इति य० ७।८ भाष्ये द० ।

३. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये अध्यापकोपदेशकविषये व्याख्यातवान् ।

भावार्थ—वाणी का अधिपति गुरु शिष्य को जिस ज्ञान का उपदेश करता है उसे उसको सावधानी के साथ अपने आत्मा, मन और बुद्धि के योगपूर्वक सुनकर और उस पर मनन करके हृदय में धारण कर लेना चाहिए, उसका प्रचार करना चाहिए तथा उसके अनुसार आचरण करना-करवाना चाहिए॥१॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
६७०. इन्द्राग्नी जरितुः सचा यज्ञो जिगाति चेतनः । अया पातमिमं सुतम् ॥२॥[1]

१ २र १ २र ३ १ २ ३ २ १ २र ३ २ ३ १ २र
इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति जरितुः सचा। यज्ञः जिगाति चेत नः।

३ २ ३ २ ३ २
अया पातम् इमम् सुतम् ॥२॥

पदार्थः—हे **इन्द्राग्नी** आत्ममनसी ! **जरितुः** स्तोतुः उपदेष्टुः आचार्यस्य **सचा** गुरुशिष्याभ्यां सह मिलित्वा सम्पादितः **चेतनः** चेतयिता ज्ञापयिता **यज्ञः** विद्यायज्ञः **जिगाति**[2] प्रवर्तते । [जिगाति गतिकर्मा। निघ० २।१४।] युवाम् **अया** अनया दिशा **सुतम्** निष्पादितम् **इमम्** एतं ज्ञानयज्ञम् **पातम्** रक्षतम् ॥२॥

भावार्थः— गुरुशिष्याः परस्परं मिलित्वैव ज्ञानयज्ञमनुष्ठाय राष्ट्रे सर्वप्रकारा विद्याः प्रचारयन्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— हे **इन्द्राग्नी** आत्मा और मन ! **जरितुः** विद्याओं का वर्णन करने वाले उपदेष्टा आचार्य का **सचा** गुरु-शिष्यों द्वारा साथ मिलकर किया हुआ **चेतनः** चेताने वाला **यज्ञः** विद्यायज्ञ **जिगाति** प्रवृत्त हो रहा है । तुम दोनों **अया** इस पद्धति से **सुतम्** निष्पादित **इमम्** इस विद्या-यज्ञ की **पातम्** रक्षा करते हो ॥२॥

भावार्थ— गुरु-शिष्य आपस में मिलकर ही ज्ञान-यज्ञ का अनुष्ठान करके राष्ट्र में सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार करते हैं ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १र २र ३ १ २
६७१. इन्द्रमग्निं कविच्छदा यज्ञस्य जूत्या वृणे । ता सोम स्येह तृम्पताम् ॥३॥[3]

१ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३
इन्द्रम् अग्निम् कविच्छदा कवि छदा। यज्ञस्य जूत्या वृणे।

२ १ २र ३ २ ३
ता सोम स्य इह तृम्पताम् ॥३॥

पदार्थः—अहम् **यज्ञस्य** विद्यायज्ञस्य **जूत्या**[4] जूत्यै वेगाय, सद्यः साधनाय। [जु गतौ। जूतिशब्दात् चतुर्थ्यैकवचने 'सुपां सुलुक्०' इति विभक्तेराकारादेशः।] **कविच्छदा** कविच्छदौ, कवीन् मेधाविनः छादयतः दुःखविपदादिभ्यः अपवारयतः इति तौ । [छद अपवारणे 'सुपां सुलुक्०' इति विभक्तेराकारादेशः।] **इन्द्रम् अग्निम्** आत्मानं मनश्च **वृणे** संभजामि । [वृङ् सम्भक्तौ, क्र्यादि।] **ता** तौ **इह** अस्मिन् विद्यायज्ञे **सोमस्य** ज्ञानरसेन [तृतीयार्थे षष्ठी।] **तृम्पताम्** तृप्तिं कारयताम् । [तृम्प तृप्तौ, तुदादिः] ॥३॥[5]

---

१. ऋ० ३।१२।२, ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरेतमपि मन्त्रमध्यापकोपदेशकविषये व्याचख्यौ ।

२. जिगाति गायति चेतनः, लुप्तोपमानमिदं चेतन इव—इति वि० ।

३. ऋ० ३।१२।३ ।

४. जूत्या अभिवृद्ध्या निमित्तभूतया—इति वि० ।

५. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वत्सङ्गविषये व्याख्यातवान् ।

भावार्थः—आत्ममनोरूपाभ्यां यजमानहोतृभ्याम् आचार्यरूपेण ब्रह्मणा च सम्पादितो विद्यायज्ञः सफलः प्रभावकारी च जायते ॥३॥

प्रथमे खण्डे परब्रह्मणो ब्रह्मानन्दस्य च वर्णनाद् द्वितीये च खण्डे स ब्रह्मानन्दरसस्तदैव प्राप्तुं शक्यते यदा जीवात्मा मनश्च तदर्थं प्रयतेते इति प्रदर्शनाद् द्वितीयखण्डस्य प्रथमखण्डेन संगतिरस्तीति विज्ञेयम् ।

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ—मैं **यज्ञस्य** विद्यायज्ञ की **जूत्या** शीघ्र सिद्धि के लिए **कविच्छदा** मेधावियों को दुःख, विपत्ति आदि से बचाने वाले **इन्द्रम् अग्निम्** आत्मा और मन को **वृणे** स्वीकार करता हूं। **ता** वे दोनों **इह** इस विद्यायज्ञ में **सोमस्य** ज्ञानरस से **तृम्पताम्** तृप्ति प्रदान करें ॥३॥

भावार्थ—आत्मा-रूप यजमान, मन-रूप होता और आचार्य-रूप ब्रह्मा के द्वारा सम्पादित विद्या- यज्ञ सफल एवं प्रभावकारी होता है ॥३॥

प्रथम खण्ड में परब्रह्म और ब्रह्मानन्द का वर्णन है और द्वितीय खण्ड में यह वर्णन है कि वह ब्रह्मानन्द तभी प्राप्त किया जा सकता है जब आत्मा और मन उसके लिए प्रयत्नशील होते हैं । अतः द्वितीय खण्ड की प्रथम खण्ड के साथ संगति है ।

प्रथम अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ।

॥८॥ अथ 'उच्चा ते जातम्'[1] इत्यादिकस्य अष्टमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अमहीयुराङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४६७ क्रमांके रसागारस्य परमेश्वरस्यानन्दरसविषये व्याख्याता । अत्र विद्यागारस्य गुरोर्ज्ञानरसविषये व्याख्यायते ।

६७२. उच्चा ते जात मन्धसो दिवि सद् भूम्या ददे । उग्रं शर्म महि श्रवः ॥१॥[1]

उच्चा उत् चा ते जातम् अन्धसः । दिवि सत् भूमि आ ददे ।
उग्रम् शर्म महि श्रवः ॥१॥

पदार्थः—हे पवमान सोम जीवनस्य पवित्रतासम्पादक गुरो ! **ते** तव **अन्धसः** ज्ञानरसस्य **जातम्** उत्पन्नं रूपम् **उच्चा** अत्युच्चं वर्त्तते। **दिवि सत्** प्रकाशे विद्यमानं तत् **भूमि** भूमिः, भूमिवत् स्वतःप्रकाशरहितोऽहम् [सोर्लोपः सन्धिश्च छान्दसः।] **आ ददे** गृह्णामि । तज्ज्ञानग्रहणेन च मम **उग्रम्** प्रबलम् **शर्म** सुखम्, **महि** महत् **श्रवः** यशः धनं च जनिष्यते ॥१॥[2]

भावार्थः—गुरोः सकाशाच्छास्त्राण्यधीत्य ब्रह्मविद्यां चानुभूय शिष्याः स्वजीवने शान्ताः सुखिनो यशस्विनश्च जायन्ते ॥१॥

---

१. ऋ० ९।६१।१०, 'दिविषद्' इति पाठः। य० २६।१६, साम ४६७।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं 'विद्वद्भिर्मनुष्यैः सूर्यकिरणवायुमन्त्यन्नादियुक्तानि महान्त्युच्चानि गृहाणि रचयित्वा तत्र निवासेन सुखं भोक्तव्यम्' इति विषये व्याख्यातवान्। यजुर्वेदे तन्मते अस्य मन्त्रस्य महीयव ऋषिः, अग्निर्देवता ।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में क्रमांक ४६७ पर रसागार परमेश्वर के आनन्दरस के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां विद्या के भण्डार गुरु के ज्ञानरस के पक्ष में व्याख्या की जा रही है ।

पदार्थ—हे जीवन को पवित्र करने वाले गुरु ! **ते** आपके **अन्धसः** ज्ञानरस का **जातम्** उत्पन्न स्वरूप **उच्चा** अत्यन्त उच्च है । **दिवि सत्** प्रकाश में विद्यमान अर्थात् प्रकाशित उस ज्ञान को **भूमि** भूमि के समान स्वतः प्रकाश से रहित मैं **आददे** ग्रहण करता हूं । उसके ग्रहण करने से मुझे **उग्रम्** प्रबल **शर्म** सुख और **महि** महान् **श्रवः** यश तथा धन, प्राप्त होगा ॥१॥

भावार्थ— गुरु से शास्त्रों का अध्ययन करके और ब्रह्मविद्या का अनुभव प्राप्त करके शिष्य अपने जीवन में शान्त, सुखी और यशस्वी होते हैं ॥१॥

द्वितीया ऋक् पूर्वार्चिक ५९२ क्रमांके परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता । अत्र गुरुशिष्यविषयो वर्ण्यते ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ र २ र
६७३. **स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः । वरिवोवित् परि स्रव ॥२॥**[1]

२ ३ १ २ र १ २ र १ २ र ३ १ २
सः नः इन्द्राय यज्यवे । वरुणाय मरुद्भ्यः ।
३ २ ३ २ १ २ र ३
वरिवोवित् वरिवः वित् परि स्रव ॥२॥

पदार्थः—हे ज्ञानरसागार गुरो ! **सः** असौ अतिशयगुणवाँस्त्वम् **नः** अस्माकम् **यज्यवे** विद्यायज्ञस्य यजमानभूताय **इन्द्राय** आत्मने, **वरुणाय** श्रेष्ठाय मनसे, **मरुद्भ्यः** प्राणेभ्यश्च **वरिवोवित्** तत्तदैश्वर्याणां लम्भकः सन् **परिस्रव** शिष्याणां मध्ये विचर ॥२॥[2]

भावार्थः—गुरूणामुचितमस्ति यत् ते विद्याध्यापनातिरिक्तं शिष्यस्यात्ममनःप्राणानामपि विकासं कुर्युः ॥२॥

द्वितीय ऋचा की पूर्वार्चिक में ५९२ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में व्याख्या हुई थी । यहां गुरु शिष्य का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ—हे ज्ञानरस के भंडार गुरु ! **सः** वह अतिशय गुणी आप **नः** हमारे **यज्यवे** विद्याध्ययन-यज्ञ के यजमानभूत **इन्द्राय** आत्मा के लिए, **वरुणाय** श्रेष्ठ मन के लिए और **मरुद्भ्यः** प्राणों के लिए **वरिवोवित्** उन-उनके अपने-अपने ऐश्वर्यों को प्राप्त कराने वाले होकर **परिस्रव** शिष्यों के मध्य विचरण कीजिए ॥२॥

भावार्थ— गुरुओं को उचित है कि वे विद्या पढ़ाने के अतिरिक्त शिष्य के आत्मा, मन और प्राणों का भी विकास करें ॥२॥

तृतीया ऋक् पूर्वार्चिके ५९३ क्रमांके परमात्मानं संबोध्य व्याख्याता । अत्र गुरुः सम्बोध्यते ।

३ १ र २ र ३ २ उ ३ २ ३ १ २ १ २
६७४. **एनाविश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम् । सिषासन्तो वनामहे ॥३॥**[3]

३ २ १ २ र ३ २ ३ १ २ १ २ र १ २ र ३
एना विश्वानि अर्यः आ । द्युम्नानि मानुषाणाम् । सिषासन्तः वनामहे ॥३॥

---

१. ऋ० ९।६१।१२ य० २६।१७ साम० ५९२।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वत्पक्षे व्याख्यातवान् । तत्र तन्मते महीयव ऋषिः, इन्द्रो देवता ।

३. ऋ० ९।६१।११, य० २६।१८, साम० ५९३ ।

पदार्थः—हे पवमान सोम ! अस्मदन्तःकरणानां पवित्रकर्त्तः गुरो ! **अर्यः**[१] विद्यानामधीश्वरः त्वम् **एना** एनानि **विश्वानि** सर्वाणि **द्युम्नानि** विद्याधनानि **मानुषाणाम्** मननशीलानां शिष्याणामस्माकम् **आ** आगमय, प्रापय । तानि विद्याधनानि **सिषासन्तः** अन्येभ्यो दातुमिच्छन्तो वयम् **वनामहे**[२] संभजामहे ।।३।।[३]

भावार्थः—ये मनुष्या गुरूणां सकाशाद् विविधा भौतिकविद्या अध्यात्मविद्याश्चाधीत्यान्यान् पाठयन्ति त एव गुरुऋणान्मुच्यन्ते ।।३।।

तृतीय ऋचा पूर्वार्चिक में ५९३ क्रमांक पर परमात्मा को सम्बोधित करके व्याख्यात की गयी है। यहां गुरु को सम्बोधन है ।

पदार्थ—हे हमारे अन्तःकरणों को पवित्र करने वाले गुरुवर ! **अर्यः** विद्याओं के स्वामी आप **एना** इन **विश्वानि** सब **द्युम्नानि** विद्याधनों को **मानुषाणाम्** हम मननशील शिष्यों को **आ** प्राप्त कराओ। उन विद्याधनों को **सिषासन्तः** अन्यों को प्रदान करने की इच्छावाले हम **वनामहे** आपसे सीखते हैं ।।३।।

भावार्थ—जो मनुष्य गुरुओं के पास से अनेक प्रकार की भौतिक विद्याओं तथा आध्यात्मिक विद्याओं को पढ़कर अन्यों को पढ़ाते हैं वे ही गुरु-ऋण से मुक्त होते हैं ।।३।।

।।९।। अथ पुनानः सोम इत्यादिकस्य नवमस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषयः** सप्तर्षयः— १. भरद्वाजो वार्हस्पत्यः, २. कश्यपो मारीचः, ३. गोतमो राहूगणः, ४. अत्रिर्भौमः, ५. विश्वामित्रो गाथिनः, ६. जमदग्नि-र्भार्गवः, ७. वसिष्ठो मैत्रावरुणिः। **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः[४] १ विषमा बृहती २ समा सतोबृहती । **स्वरः** १. मध्यमः, २. पञ्चमः।

प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५११ क्रमांके परमात्मपक्षे व्याख्याता । अत्र गुरुर्वर्ण्यते ।

६७५. पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि ।
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः ।।१।।[५]

पुनानः सोम धारया । अपः वसानः अर्षसि ।
आ रत्नधाः रत्न धाः योनिम् ऋतस्य सीदसि । उत्सः उत् सः देवः हिरण्ययः ।।१।।

पदार्थः—हे **सोम** ज्ञानरसनिधे गुरो ! त्वम् **धारया** ज्ञानधारया **पुनानः** शिष्यान् पवित्रीकुर्वन्, **अपः** कर्त्तव्यानि कर्माणि **वसानः** धारयन् **अर्षसि** शिष्याणां मध्ये गच्छसि । **रत्नधाः** रमणीयानां गुणानां धारयिता त्वम् **ऋतस्य योनिम्** सत्यस्य गृहभूतं परमात्मानम् **आसीदसि** उपास्से। त्वम् **उत्सः** विद्यायाः स्रोतः, **देवः** प्रकाशकः, **हिरण्ययः** ज्योतिर्मयश्च, विद्यसे ।।१।।

---

१. अर्यः यजमानः—इति वि० ।

२. सिषासन्तः साधयन्तः। वनामहे आह्वयामः—इति वि० ।

३. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् 'ईश्वरः कथमुपास्यः' इति विषये व्याचष्टे । तत्र तन्मते महीयव ऋषिः, विद्वान् देवता ।

४. प्रकर्षेणग्रन्थनं यत्र स प्रगाथः । प्रकर्षो नाम आम्नाताद् ऋक्पाठादाधिक्यम् । इति मी० द० अ० ९,३,६ अधि० १ वर्णके माधवव्याख्यानम् । एष च प्रगाथः पादाभ्यासपुरःसरमृगन्तरसम्पादनेनोपजायते—इति सामश्रमी ।

५. ऋ० ९।१०७।४ 'देवो' इत्यत्र 'देव' इति पाठः । साम० ५११ ।

भावार्थः—स एव गुरुर्भवितुं योग्यो यः सकलविद्यापारंगतोऽध्यापनकलाप्रवीणश्चारित्र्यवान् सच्चरित्रस्य ग्राहयिता शिष्याणां पितृतुल्यस्तेजस्वी गुणवान् गुणप्रशंसकः कृतपरब्रह्मसाक्षात्कारो ब्रह्मानुभूतिं कारयितुं समर्थश्च भवेत् ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ५११ क्रमांक पर परमात्मा के पक्ष में व्याख्यात की गयी थी । यहां गुरु का वर्णन है ।

पदार्थ—हे **सोम** ज्ञानरस के खजाने गुरुवर ! आप **धारया** ज्ञान की धारा से **पुनानः** शिष्यों को पवित्र करते हुए **अर्षसि** शिष्यों के मध्य जाते हो। **रत्नधाः** रमणीय गुणों को धारण करने वाले आप **ऋतस्य योनिम्** सत्य के भण्डार परमात्मा को **आसीदसि** उपासते हो। आप **उत्सः** विद्या के स्रोत, **देवः** प्रकाशक और **हिरण्ययः** तेजस्वी हो ॥१॥

भावार्थ—वही गुरु होने योग्य है जो सब विद्याओं में पारंगत, अध्यापनकला में प्रवीण, चारित्र्यवान्, सच्चरित्र बनाने वाला, शिष्यों का पितृतुल्य, तेजस्वी, गुणवान्, गुणप्रशंसक, परब्रह्म का द्रष्टा और परब्रह्म का साक्षात्कार कराने में समर्थ हो ॥१॥

अथ गुरोरन्तेवासिनं शिष्यं वर्णयति ।

३ १र २र ३ १र २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
६७६. **दुहान ऊधर्दिव्यं मधु प्रियं प्रत्नं सधस्थमासदत् ।**
३१ २ ३१२ ३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
आपृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षसि नृभिर्धौतो विचक्षणः ॥२॥[1]

३ २ १ २र ३ २ १ २र ३ २ ३ २ ३१ २ ३ २ ३ २ ३
दुहानः ऊधः दिव्यम् मधु प्रियम् । प्रत्नम् सधस्थम् सध स्थम् आ असदत् ।
३१ २ ३ १ २र ३१ २ ३ २ ३
आपृच्छयम् आ पृच्छयम् धरुणम् वाजी अर्षसि ।
१ २र ३ २ ३ २ ३ २
नृभिः धौतः विचक्षणः वि चक्षणः ॥२॥

पदार्थः—एष शिष्यः **ऊधः** ऊधस्वतीं गुरुरूपां गाम् [अत्र तद्वति लक्षणा।] **दिव्यम्** अलौकिकम् **प्रियम्** रुचिकरम् **मधु** ब्रह्मविद्यारूपं मधु **दुहानः** क्षारयन् **प्रत्नम्** पुरातनम् **सधस्थम्** गुरूणां छात्राणां च सहस्थानं गुरुकुलम् **आसदत्** आसन्नः अस्ति। अथ प्रत्यक्षकृतमाह, हे शिष्य ! **नृभिः** नेतृभिः गुरुभिः **धौतः** शोधितः, **विचक्षणः** पण्डितः, **वाजी** आत्मबलयुक्तः सन् त्वम् **आपृच्छ्यम्** सर्वैः प्रष्टुं योग्यम् । [तं पृच्छता स जगामा स वेद । ऋ० १।१४५।१ इति श्रुतेः ।] **धरुणम्** सर्वस्य जगतः आधारस्तम्भं परमेश्वरम् **अर्षसि** प्राप्नोषि, आवागमन-चक्रादात्मानमुन्मुच्य आत्यन्तिकीं दुःखनिवृत्तिमधिगच्छसीत्यर्थः ॥२॥

भावार्थः—योग्यं गुरुं प्राप्यैव मनुष्यो ब्रह्मसाक्षात्कारं मोक्षं च प्राप्तुमर्हति ॥२॥

अगले मन्त्र में गुरु के अन्तेवासी शिष्य का वर्णन है ।

पदार्थ—यह शिष्य **ऊधः** विशाल ऊधवाली गुरुरूप गाय से **दिव्यम्** अलौकिक, **प्रियम्** प्रिय **मधु** ब्रह्मविद्यारूप मधु को **दुहानः** दुहता हुआ **प्रत्नम्** प्राचीन, **सधस्थम्** गुरु और छात्र जहां एकसाथ रहते हैं

---

१. ऋ० ९।१०७।५ 'आपृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षति नृभिर्धूतो विचक्षणः' इत्युत्तरार्धपाठः।

उस गुरुकुल में **आसदत्** निवास करता है । आगे प्रत्यक्ष पद्धति से कहते हैं– हे शिष्य ! **नृभिः** नेता गुरुओं से **धौतः** पवित्र किया हुआ, **विचक्षणः** पण्डित, और **वाजी** आत्मबल से बली बना हुआ तू **आपृच्छ्यम्** सबसे प्रश्न करने योग्य, **धरुणम्** सब जगत् के आधारस्तम्भ परमेश्वर को **अर्षसि** पा लेता है अर्थात् आवागमन के चक्र से छूटकर दुःखों से सदा के लिए मुक्ति प्राप्त कर लेता है। ।।२।।

भावार्थ–योग्य गुरु को पाकर ही मनुष्य ब्रह्म का साक्षात्कार और मोक्ष प्राप्त कर सकता है।।२।।

।।१०।। अथ 'प्र तु द्रव' इत्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** उशना काव्यः। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** त्रिष्टुप्। **स्वरः** धैवतः।।

प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिकके ५२३ क्रमांके जीवात्मोद्बोधनविषये व्याख्याता । अत्र शिष्यं प्रति प्रोच्यते ।

१र २र३ २ ३ २ ३ १ २३ १ २ ३ २ ३ १र २र
६७७. **प्र तु द्रव परि कोशं नि षीद नृभिः पुनानो अभि वाजमर्ष ।**
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोऽच्छा बर्ही रशनाभिर्नयन्ति ।।१।।[1]

२ ३ १ २र १ २र ३ १ २र ३ २ ३ २ १ २र ३
प्र तु द्रव परि कोशं म नि सीद । नृभिः पुनानः अभि वाजम् अर्ष ।
१ २र ३ १ २ ३ १ २ १ २र ३ २ ३ १ २ ३
अश्वम् न त्वा वाजिनम् मर्जयन्तः । अच्छ बर्हिः रशनाभिः नयन्ति ।।१।।

पदार्थः–हे शिष्य ! त्वम् **तु** सद्यः एव **प्र द्रव** प्रकर्षाय प्रयतस्व। तदर्थं **कोशम्** विद्यायाः निधिभूतं गुरुम् **परि निषीद** परिसेवस्व । **नृभिः** नेतृभिः गुरुजनैः **पुनानः** स्वात्मानं पावयन् **वाजम्** शारीरम् आत्मिकं च बलम् **अभ्यर्ष** प्राप्नुहि । एते गुरवः **वाजिनम्** बलिनम् **त्वा** त्वाम् **मर्जयन्तः** शोधयन्तः सद्गुणालङ्कारैः अलङ्कुर्वन्तश्च । [मृजू शौचालङ्कारयोः, वृद्ध्याभावश्छान्दसः।] **रशनाभिः** नियन्त्रणैः मर्यादाभिश्च **बर्हिः अच्छ** ज्ञानकाण्डं कर्मकाण्डं[2] च प्रति **नयन्ति** प्रेरयन्ति । कथामिव? **वाजिनम् अश्वं न** बलवन्तं तुरगं यथा साङ्ग्रामिकाः जनाः **रशनाभिः** अभीषुभिः **बर्हिः अच्छ** संग्रामं प्रति । [बर्हयन्ति हिंसन्ति यत्र परस्परं तद् बर्हिः सङ्ग्रामः । बर्ह हिंसायाम् चुरादिः।] **नयन्ति** प्रेरयन्ति ।।१।।

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः–महान् खल्वस्मासु गुरूणामुपकारो ये निर्बोधानस्मान् विद्यावतस्तपस्विनः पवित्राचरणांश्च विधाय समुन्नयन्ति ।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ५२३ क्रमांक पर जीवात्मा को उद्बोधन देने के पक्ष में की जा चुकी है । यहां शिष्य के प्रति कहते हैं ।

पदार्थ–हे शिष्य ! तू **तु** शीघ्र ही **प्र द्रव** उत्कृष्ट बनने के लिए प्रयत्न कर, उसके लिए **कोशम्** विद्या के खजाने गुरु का **परि निषीद** सेवन कर । **नृभिः** नेता गुरुओंकी सहायतासे **पुनानः** स्वयंको पवित्रकर **वाजम्**

---

१. ऋ० ९।८७।२, साम० ५२३ ।

२. बृंहन्ते वर्धयन्ते येन तत् **बर्हिर्ज्ञानं** प्राप्तं कर्मकाण्डं वा– इति य० २।१८ भाष्ये द० ।

शारीरिक और आत्मिक बल **अभ्यर्ष** प्राप्त कर । ये गुरुजन **वाजिनम्** बलवान् **त्वा** तुझे **मर्जयन्तः** शुद्ध करते हुए **रशनाभिः** नियन्त्रणों और मर्यादाओं से **बर्हिः अच्छ** ज्ञानकाण्ड व कर्मकाण्ड के प्रति **नयन्ति** प्रेरित करते हैं । कैसे ? **वाजिनम् अश्वं न** जैसे बलवान् घोड़े को योद्धा लोग **रशनाभिः** लगामों से नियन्त्रित करके **बर्हिः अच्छ** संग्राम की ओर **नयन्ति** ले जाते हैं ।।१।।

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालङ्कार है ।।१।।

भावार्थ—गुरुओं का हम पर महान् उपकार है, जो हम अबोध जनों को विद्यावान्, तपस्वी तथा पवित्र आचरण वाला बनाकर समुन्नत करते हैं ।।१।।

अथ गुरुः किंगुणविशिष्टः स्यादित्याह ।

३ १ २ ३१र २र ३ २ ३ २ ३ १ २
६७८. **स्वायुधः पवते देव इन्दुरशस्तिहा वृजना रक्षमाणः ।**

३ २ ३ १ २ ३ २ ३१ २ ३ २ ३ २ ३१ २ ३ २
पिता देवानां जनिता सुदक्षो विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्याः ।।२।।[1]

३ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ २ ३ २ ३१ २ १ २र
स्वायुधः सु आयुधः पवते देवः इन्दुः । अशस्तिहा अशस्ति हा वृजना रक्षमाणः ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३१ २ ३ १ २र
पिता देवानाम् जनिता सुदक्षः सु दक्षः ।

३ २ ३ २ ३ २ ३१ २ ३ २
विष्टम्भः विस्तम्भः दिवः धरुणः पृथिव्याः ।।२।।

पदार्थः—**स्वायुधः**[2] भद्रदण्डः, **देवः** सुखादीनां दाता, **अशस्तिहा**[3] अप्रशस्तेः हन्ता, **वृजना** वृजनानि बलानि [वृजनम् इति बलनाम। निघं० २।९ ।] रक्षमाणः त्रायमाणः, **पिता** पितृवद् वर्तमानः, **देवनाम्** विदुषाम्, **जनिता** जनयिता, **सुदक्षः** शोभनबलः, **दिवः** विद्यासूर्यस्य **विष्टम्भः** आधारभूतः, **पृथिव्याः** राष्ट्रभूमेः **धरुणः** धारयिता, **इन्दुः** तेजसा दीप्तः गुरुः **पवते** पवित्रतां प्रयच्छति ।।२।।

भावार्थः—मन्त्रोक्तगुणयुक्तं गुरुं ये सेवन्ते ते विद्वांसः सदाचाराः प्रशस्तकीर्तयश्च जायन्ते ।।२।।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि गुरु किन गुणों से युक्त हो ।

पदार्थ—**स्वायुधः** भद्र दण्ड वाला, **देवः** सुख आदि का दाता, **अशस्तिहा** अप्रशस्ति को दूर करने वाला, **वृजना** बलों की **रक्षमाणः** रक्षा करने वाला, **पिता** पितृतुल्य, **देवानां जनिता** विद्वानों को उत्पन्न करने वाला, **सुदक्षः** उत्तम बल वाला, **दिवः** विद्या के सूर्य का **विष्टम्भः** आधारभूत, **पृथिव्याः** राष्ट्रभूमि का **धरुणः** धारण करने वाला **इन्दुः** तेजस्वी गुरु **पवते** पवित्रता प्रदान करता है ।।२।।

भावार्थ—मन्त्रोक्त गुणों से युक्त गुरु का जो सेवन करते हैं वे विद्वान्, सदाचारी और प्रशस्त कीर्ति वाले होते हैं ।।२।।

---

१. ऋ० ९।८७।२ 'वृजना' 'इत्यत्र' 'वृजनं' इति पाठः ।

२. स्वायुधः असिखड्गपरशुप्रासादिभिरायुधैः स्वायुधः । अथवा वज्र-सुव-सुक्-शम्याकप्रभृतिभिर्यज्ञायुधैः स्वायुधः—इति वि० ।

३. अशस्तिहा अशस्तयः शत्रवः, अथवा अशस्ता वाचः अशस्तानि वा कर्माणि ये कुर्वन्ति तेषां हन्ता—इति वि० ।

अथ पुनरपि गुरुं वर्णयति ।

२ ३ १ २　३ १र २र ३ १र २र ३ २ ३ १ २
६७९. **ऋषिर्विप्रः पुरएता जनानामृभुर्धीर उशना काव्येन ।**
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २
स चिद्विवेद निहितं यदासामपीच्यां३ गुह्यं नाम गोनाम् ॥३॥[1]
१ २र १ २र ३ २ ३ २ १ २र
ऋषिः विप्रः वि प्रः पुरएता पुरः एता जनानाम् ।
३ २ ३ २ १ २र ३ १ २ १ २र
ऋभुः ऋ भुः धीरः उशना काव्येन ।
३ १ २र ३ २ ३
सः चित् विवेद निहितम् नि हितम् यत् आसाम् ।
१ २ १ २र १ २र १ २र
अपीच्यम् गुह्यम् नाम गोनाम् ॥३॥

पदार्थः—अस्माकं गुरुः **ऋषिः** वेदमन्त्राणां रहस्यस्य द्रष्टा, **विप्रः** ब्राह्मणवृत्तिः, **जनानाम्** मनुष्याणाम **पुरः एता** अग्रगन्ता, **ऋभुः** मेधावी । [ऋभु इति मेधाविनाम। निघ० ३।१५ ।] **धीरः** धैर्यशाली, **काव्येन** काव्यरचनया **उशना** जगतो हितं कामयमानः, अस्ति इति शेषः। [वष्टि हितं कामयते यः स उशना । वश कान्तौ ।] **सः चित्**[2] स एव **आसां गोनाम्**[3] एतासां वेदवाचाम् **यत् अपीच्यम्** अन्तर्हितम्। [अपीच्यमिति निर्णीतान्तर्हितनाम । निघं ३।२५ ।] [अपीच्यम् अपचितम् अपगतम् अपहितम् अन्तर्हितं वा निरु० ४।२४ ।] **गुह्यम्** रहस्यमयम् **नाम** अर्थः **निहितम्** अवस्थितमस्ति, तद् **विवेद** विशेषेण वेत्ति ॥३॥

भावार्थः—यः सुगम्भीरस्यापि वेदादिवाङ्मयस्य रहस्यार्थं हस्तामलकवत् प्रत्यक्षतो वेत्ति स एव ऋषिर्मेधावी विप्रो गुरुत्वेन स्वीकरणीयः ॥३॥

अस्मिन् खण्डे गुरुशिष्यसम्बन्धवर्णनाद् गुरोः सकाशाल्लौकिकीं विद्यां ब्रह्मविद्यां चाधीत्यैव जनाः परब्रह्मसाक्षात्कारं कर्तुं प्रभवन्तीत्येतद्वर्णनाच्चास्य खण्डस्य पूर्वखण्डेन सह संगतिरस्तीति वेद्यम् ।

अगले मन्त्र में पुनः गुरु का वर्णन है।

पदार्थ—हमारा गुरु **ऋषिः** वेदमन्त्रो के रहस्य का द्रष्टा, **विप्रः** ब्राह्मण वृत्ति वाला, **जनानाम्** मनुष्यों में **पुरः एता** आगे चलने वाला, **ऋभुः** मेधावान्, **धीरः** धैर्यवान् और **काव्येन** काव्य-रचना से **उशना** जगत् का हित चाहने वाला है । **सः चित्** वही **आसां गोनाम्** इन वेदवाणियों का **यत्** जो **अपीच्यम्** छिपा हुआ, **गुह्यम्** रहस्यमय **नाम** अर्थ है उसे **विवेद** विशेष रूप से जानता है ॥३॥

भावार्थ—जो अति गम्भीर भी वेदादि वाङ्मय के रहस्यार्थ को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष रूप से जानता हो उसी ऋषि, मेधावी ब्राह्मण को गुरुरूप में स्वीकार करना चाहिए ॥३॥

इस खण्ड में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध का वर्णन है और गुरु से लौकिक विद्या तथा ब्रह्मविद्या का अध्ययन करके ही मनुष्य परब्रह्म का साक्षात्कार कर सकते हैं इसका वर्णन है,अतः इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है यह जानना चाहिए ।

प्रथम अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त।

---

१. ऋ० ९।८७।३
२. चित् शब्दः च शब्दस्यार्थे द्रष्टव्यः—इति वि० ।
३. आसां गोनां गवामादित्यरश्मीनां वा—इति वि० ।

।।११।। अथ 'अभि त्वा शूर' इत्यादिकस्य एकादशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठः। **देवता:** इन्द्रः। **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः– १. विषमा बृहती, २. समा सतोबृहती। **स्वरः** १. मध्यमः, २. पञ्चमः।

प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २३३ क्रमांके जगदीश्वरविषये व्याख्याता। अत्र स्वकीय आत्मा सम्बोध्यते।

६८०. अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ।।१।।[1]

अभि त्वा शूर नोनुमः। अदुग्धाः अ दुग्धाः इव धेनवः।
ईशानम् अस्य जगतः स्वर्दृशम् स्वः दृशम् ईशानम् इन्द्र तस्थुषः ।।१।।

पदार्थः–हे **शूर इन्द्र** वीर अस्मदीय अन्तरात्मन् ! वयम् **त्वा अभि** त्वाम् अभिलक्ष्य नोनुमः भूयोभूयोऽतिशयेन स्तुमः। [णु स्तुतौ अदादिः, णू स्तवने वा तुदादिः, यङ्लुकि रुपम्।] कथमिव ? **अदुग्धाः** दोहनम् अप्राप्ताः **धेनवः इव** गावो यथा दोहनोत्कण्ठाद्योतनाय नोनुवन्ति रम्भायन्ते। कीदृशं त्वाम् ? **अस्य** एतस्य **जगतः** जङ्गमस्य मनसः। [ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः। ऋ० ६।९।५ दूरङ्गमं ज्यौतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। य० ३४।१ इति श्रुतेः।] **ईशानम्** स्वामिनम्, किञ्च **स्वर्दृशम्** स्वः आनन्दः तस्य द्रष्टारम्, अपि च **तस्थुषः** शरीरे अजङ्गमरूपे स्थितस्य अङ्गप्रत्यङ्गजातस्य **ईशानम्** स्वामिनं त्वां वयम् **नोनुमः** भूयो भूयो भृशं स्तुमः, उद्बोधयामः ।।१।।[2]

अत्र उपमालंकारः ।।१।।

भावार्थः–मनुष्यस्यात्मनि महत्यः शक्तयः प्रसुप्ताः सन्ति। सर्वस्यापि शरीरचक्रस्याधिष्ठातारं तं समुद्बोध्य निखिला अपि लौकिक्योऽध्यात्मिक्यश्च सिद्धयः प्राप्तुं पार्यन्ते ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २३३ कम्रांक पर जगदीश्वर के पक्ष में व्याख्यात हो चुकी है। यहां अपने अन्तरात्मा को सम्बोधन है।

पदार्थः–हे **शूर इन्द्र** शूरवीर हमारे अन्तरात्मन् ! हम **त्वा अभि** तेरे प्रति **नोनुमः** बारम्बार स्तुति-शब्द बोलते हैं। किस तरह ? **अदुग्धाः** न दुही हुई **धेनवः इव** गौएं जैसे दुहे जाने की उत्कण्ठा को प्रकट करने के लिए बारम्बार शब्द करती हैं। तू कैसा है ? **अस्य** इस **जगतः** दूर-दूर तक जाने वाले मन का **ईशानम्** स्वामी, **स्वर्दृशम्** आनन्द का द्रष्टा और **तस्थुषः** शरीर में अजंगम रूप में स्थित अंग–प्रत्यंगों का भी **ईशानम्** स्वामी है। अतः हम **नोनुमः** तेरे गुणों का बार-बार वर्णन करते हैं, तुझे उद्बोधन देते हैं ।।१।।

इस मन्त्र में उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ– मनुष्य के आत्मा में महान् शक्तियां प्रसुप्त पड़ी हैं। सारे शरीरचक्र के अधिष्ठाता उस आत्मा को उद्बोधन देकर सभी लौकिक और आध्यात्मिक सिद्धियां प्राप्त की जा सकती हैं।।१।।

---

१. ऋ० ७।३२।२२, य० २७।३५, अथ० २०।१२१।१, साम० २३३।

२. दयानन्दस्वामी मन्त्रमिममृग्भाष्ये परमात्मविषये यजुर्भाष्ये च राजधर्मविषये व्याचष्टे।

एवं स्वात्मानमुद्बोध्य परमात्मानमाह्वयति ।

६८१ . न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥२॥[1]

न त्वावान् अन्यः अन् यः दिव्यः न पार्थिवः । न जातः न जनिष्यते ।
अश्वायन्तः मघवन् इन्द्र वाजिनः । गव्यन्तः त्वा हवामहे ॥२॥

पदार्थः—हे परमेश्वर ! **अन्यः** इतरः **त्वावान्** त्वत्सदृशः **न दिव्यः** न दिवि भवः, **न पार्थिवः** न पृथिव्यां भवः कश्चिद् अस्ति। **न जातः** न पूर्वमुत्पन्नः, **न जनिष्यते** न भाविनि काले कदाचित् उत्पत्स्यते। हे **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन् **इन्द्र** परमात्मन् ! **वाजिनः** बलवन्तः पुरुषार्थिनो वयम् **अश्वायन्तः** श्रेष्ठान् प्राणान् कामयमानाः **गव्यन्तः** इन्द्रियधेनूनां श्रेष्ठं ज्ञानकर्मरूप दुग्धं च कामयमानाः **त्वा** त्वाम् **हवामहे** आह्वयामः ॥२॥[2]

अत्र 'तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते न वा नयनतुल्यम्' इति दर्पणोदाहृतवद् (सा० द० १०।२०) उपमानलुप्तोपमालंकारः ॥२॥

भावार्थः—अलौकिकमद्वितीयं परमात्मानमुपास्य बलवन्तः पुरुषार्थिनश्च भूत्वा सर्वे ऐहलौकिकं पारलौकिकं च समीहितं प्राप्तुमर्हन्ति ॥२॥

इस प्रकार अपने अन्तरात्मा को उद्बोधन देकर अब परमात्मा का आह्वान करते हैं ।

पदार्थ— हे परमेश्वर ! **अन्यः** दूसरा **त्वावान्** तेरे समान **न दिव्यः** न आकाशवर्ती और **न पार्थिवः** न भूमिवर्ती कोई पदार्थ है । तेरे समान **न जातः** न कोई पदार्थ उत्पन्न हुआ है, **न जनिष्यते** न भविष्य में उत्पन्न होगा । हे **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन् **इन्द्र** परमात्मन् ! **वाजिनः** बलवान् तथा पुरुषार्थी हम **अश्वायन्तः** श्रेष्ठ प्राणों की कामना वाले और **गव्यन्तः** इन्द्रियरूप गौओं के श्रेष्ठ ज्ञान व कर्म रूप दूध की कामना वाले होकर **त्वा** तुझे **हवामहे** पुकार रहे हैं ॥२॥

इस मन्त्र में 'उसके मुख के तुल्य कोई अन्य वस्तु नहीं है, न ही नेत्रों के तुल्य है' इस अर्थ वाली साहित्यदर्पण १०।२० में उदाहृत उक्ति के समान उपमानलुप्तोपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ—अलौकिक तथा अद्वितीय परमात्मा की उपासना करके बलवान् और पुरुषार्थी होकर सब लोग ऐहलौकिक तथा पारलौकिक अभीष्ट को प्राप्त कर सकते हैं ॥२॥

॥१२॥ अथ 'कया नश्चित्र' इत्यादिकस्य द्वादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वामदेवः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः ॥

---

१. ऋ० ७।३२।२३, य० २७।३६, अथ० २०।१२१।२।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिममृग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च परमेश्वरेण तुल्योऽधिको वा कोऽपि नास्तीति विषये व्याख्यातवान् ।

प्रथम ऋक् पूर्वार्चिके १६९ क्रमांके परमेश्वरपक्षे राजपक्षे च व्याख्याता । अत्र जीवात्मनो महिमानमाह ।

१ २ ३१र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २
६८२. कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता॥१॥[1]

१ २र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २र ३
कया नः चित्रः आ भुवत्। ऊती सदावृधः सदा वृधः सखा स खा।

१ २र १ २र ३ २
कया शचिष्ठया वृता॥१॥

पदार्थः—एष **चित्रः** अद्भुतबलः इन्द्रः शरीराध्यक्षो जीवात्मा **कया** अपूर्वया **ऊती** ऊत्या रक्षया, **कया** अद्वितीयया **शचिष्ठया** अतिशयेन शचीमत्या प्रज्ञावत्या क्रियावत्या वा। [शची इति कर्मनाम प्रज्ञानाम् च। अतिशायने इष्ठनि 'विन्मतोर्लुक्। अ० ५। ३।६५ इति मतुपो लुक्।] **वृता** वृत्त्या च **नः** अस्माकम् **सदावृधः** सदैव वृद्धिकरः **सखा** सुहृत् **भुवत्** भवति ॥१॥[2]

भावार्थः— यस्यात्मनो बलेन सर्वे सर्वामैहलौकिकीं पारलौकिकीं चोन्नतिं कर्तुं क्षमन्ते स खलु नूनं सर्वैः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च ॥१॥

इस ऋचा की पूर्वार्चिक में क्रमांक १६९ पर परमेश्वर तथा राजा के पक्ष में व्याख्या हो चुकी है। यहां जीवात्मा की महिमा वर्णित करते हैं ।

पदार्थ—यह **चित्रः** अद्भुत शक्तिवाला शरीर का अध्यक्ष इन्द्र आत्मा **कदा** किस अपूर्व **ऊती** रक्षा के द्वारा, और **कया** किस अद्वितीय **शचिष्ठया** अत्यन्त बुद्धिपूर्ण तथा क्रियाकौशलपूर्ण **वृता** वृत्ति के द्वारा **नः** हमारा **सदावृधः** सदा बढ़ाने वाला **सखा** मित्र **भुवत्** होता है। ॥१॥

भावार्थ—जिस आत्मा के बल से सब लोग सम्पूर्ण ऐहलौकिक और पारलौकिक उन्नति करने में समर्थ होते हैं उस आत्मा का अवश्य सबको श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए ॥१॥

पूर्वमन्त्रे जीवात्मनो बलं स्मृत्वाऽथ परमात्मनो महिमानमाह ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
६८३. कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः। दृढा चिदारुजे वसु॥२॥[3]

२ ३ २ १ २र १ २र ३ १ २र
कः त्वा सत्यः मदानाम्। मंहिष्ठः मत्सत् अन्धसः।

३ २ ३ १ २ ३ १ २र १ २र
दृढा चित् आरुजे आ रुजे वसु॥२॥

पदार्थः—हे मदीय आत्मन्! **कः** कमनीयः सर्वातिक्रान्तः, सुखस्वरूपश्च। [कः कमनो व क्रमणो वा सुखो वा। निरु० १०।२२।] **सत्यः** सत्यमयः, **मदानाम्** आनन्दानाम् **मंहिष्ठः** अतिशयेन दाता इन्द्रः परमेश्वरः। [मंहतिः दानकर्मा। निघं० ३।२०। अतिशयेन मंहिता मंहिष्ठः। तुरिष्ठेमेयस्सु अ० ६।४।१५४ इति तृचो लोपः।] **त्वा** त्वाम् **अन्धसः** आनन्दरसात् **मत्सत्** आनन्दयेत्। [मदी हर्षे धातोर्लेटि रूपम्।] अपि च सः **दृढा चित्** दृढानि अपि विघ्नबाधादीनि **आरुजे** आ समन्तात् भङ्क्तुम् **वसु** शक्तिरूपम् ऐश्वर्यं प्रयच्छेदिति शेषः ॥२॥[4]

भावार्थः— जीवात्मा परमात्मना प्रदत्तेनैव बलेनानन्देन च बलवानानन्दवाँश्च जायते ॥२॥

---

१. ऋ० ४।३१।१, य० २७।३९, ३६।४ साम० १६९, अथ० २०।१२४।१।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये राजप्रजाधर्मविषये यजुर्भाष्ये च क्रमशो विद्वत्पक्षे परमेश्वरपक्षे च व्याख्यातवान्।

३. ऋ० ४।३१।२, य० २७।४०, ३६।५, अथ० २०।१२४।२।

४. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये ब्रह्मचर्यादिधर्माचरणपक्षे, यजुर्भाष्ये च क्रमशो विद्वत्पक्षे परमेश्वरपक्षे च व्याख्यातवान्।

पूर्व मन्त्र में जीवात्मा के बल को स्मरण करके अगले मन्त्र में परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ—हे मेरे अन्तरात्मन् ! **कः** सुन्दर, सबसे बड़ा तथा सुखस्वरूप, **सत्यः** सत्यमय, **मदानाम्** आनन्दों का **मंहिष्ठः** सबसे अधिक दाता इन्द्र परमेश्वर **त्वा** तुझे **अन्धसः** आनन्द रस से **मत्सत्** आनन्दित करे और वह **दृढा चित्** दृढ़ से दृढ़ विघ्न-बाधा आदियों को **आरुजे** छिन्न-भिन्न करने के लिए **वसु** शक्तिरूप ऐश्वर्य प्रदान करे ।।२।।

भावार्थ—जीवात्मा परमात्मा द्वारा दिये हुए बल और आनन्द से ही बली और आनन्दवान् बनता है ।।२।।

अथ परमात्मानं प्रार्थयते ।

६८४. **अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् । शतं भवास्यूतये ।।३।।**[1]

अभि सु नः सखीनाम् स खीनाम् । अविता जरितॄणाम् शतम् भवासि ऊतये ।।३।।

पदार्थः—हे इन्द्र जगदीश्वर ! त्वम् **सखीनाम्** त्वया सह सख्यं स्थापितवताम् **जरितॄणाम्** स्तोतॄणाम् **नः** अस्माकम् **शतम् ऊतये** शतवर्षपर्यन्तं प्रीतये **अविता** रक्षकः **सु** सम्यक् **अभि** अभितः **भवासि** भव । [संहितायाम् अभी षु णः इत्यत्र 'इकः सुञि' अ० ६।३।१३४ इति दीर्घः 'सुञः' अ० ८।३।१०७ इति षत्वम् । 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' अ० ८।४।२७ इति णत्वम्। भवासि, भवतेर्लेटि रूपम् ।] ।।३।।[2]

भावार्थः—ये जीवात्मानः परमात्मनः सखायो जायन्ते तेषां स महत् कल्याणं करोति ।।३।।

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे इन्द्र जगदीश्वर ! आप **सखीनाम्** आपके सखा **जरितॄणां नः** हम स्तोताओं की **शतम् ऊतये** सौ वर्ष तक प्रीति के लिए **अविता** रक्षक **सु** भलीभांति **अभि** चारों ओर **भवासि** होओ ।।३।।

भावार्थ—जो जीवात्मा परमात्मा के सखा हो जाते हैं उनका वह महान् कल्याण करता है ।।३।।

।।१३।। अथ 'तं वो दस्म'मित्यादिकस्य त्रयोदशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** नोधा गौतमः। **देवता ।** इन्द्रः। **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः— १. विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती । **स्वरः** १. मध्यमः, २. पञ्चमः ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २३६ क्रमांके परमात्मपक्षे व्याख्याता । अत्र जीवात्मविषयः प्रस्तूयते।

६८५. **तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।**
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ।।१।।[3]

तम् वः दस्मम् ऋतीषहम् ऋती सहम् । वसोः मन्दानम् अन्धसः ।
अभि वत्सम् न स्वसरेषु धेनवः । इन्द्रम् गीर्भिः नवामहे ।।१।।

---

१. ऋ० ४।३१।३, य० २७।४१, ३६।६, अथ० २०।१२४।३ ।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये राजप्रजाधर्मविषये, यजुर्भाष्ये च क्रमशो विद्वद्विषये जगदीश्वरविषये च व्याख्यातवान् ।

३. ऋ० ८।८८।१, य० २६।११, साम० २३६, अथ० २०।९।२, २०।४९।५ ।

पदार्थः—हे मनइन्द्रियादयः प्राणाः ! वयम् **वः** युष्माकम् **दस्मम्** दोषाणाम् उपक्षपयितारम्। [दसु उपक्षये।] **ऋतीषहम्** ऋतीः आक्रान्तॄन् कामक्रोधाद्यान् शत्रून् सहते अभिभवतीति तम्, **वसोः** निवास- कात् **अन्धसः** आनन्दरसात् **मन्दानम्** आनन्दन्तम् **इन्द्रम्** स्वान्तरात्मानम् **अभि** अभिमुखीभूय **स्वसरेषु** दिवसाविर्भावेषु सत्सु, प्रभाते इत्यर्थः। [स्वसराणि अहानि भवन्ति स्वयंसारीणि, अपि वा स्वरादित्यो भवति स एनानि सारयति निरु० ५।४। स्वसराणीति गृहनाम, निघ० ३।४।] **गीर्भिः** उद्बोधनप्रदाभिः वाग्भिः **नवामहे** स्तुवीमहे। [णु स्तुतौ अदादिः, आत्मनेपदं छान्दसम्।] कथमिव? **स्वसरेसु** गोगृहेषु, गोष्ठेषु **धेनवः** गावः **वत्सम् अभि** नवजातं तर्णकम् अभिमुखीभूय **न** यथा, नुवन्ति हम्भारवं कुर्वन्ति ॥१॥[1]

अत्र श्लिष्टोपमालंकारः ॥१॥

भावार्थः—स्वकीयमन्तरात्मानं समुद्बोध्य वयं सर्वान् दोषान् दूरीकृत्य सद्गुणांश्च प्राप्य परमयशस्विनो भवितुं शक्नुमः ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में २३६ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्या कर चुके हैं । यहां जीवात्मा का विषय प्रस्तुत किया जाता है ।

पदार्थ—हे मन, इन्द्रिय आदि प्राणो ! हम **वः** तुम्हारे **दस्मम्** दोषों को नष्ट करने वाले, **ऋतीषहम्** आक्रमणकारी काम, क्रोध आदि शत्रुओं को परास्त करने वाले, **वसोः** निवासप्रद **अन्धसः** आनन्दरस से **मन्दानम्** आनन्दित होने वाले **इन्द्रम्** अपने अन्तरात्मा के **अभि** अभिमुख होकर **स्वसरेषु** दिनों के उदय के समय अर्थात् प्रभात कालों **गीर्भिः** उद्बोधक वाणियों से **नवामहे** गुण वर्णनरूप स्तुति करते हैं। किस प्रकार ? **स्वसरेषु** गोशालाओं में **धेनवः** गौएं **वत्सम् अभि** नवजात बछड़े के अभिमुख होकर **न** जैसे रंभाती हैं ॥१॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ—अपने अन्तरात्मा को भलीभांति उद्बोधन देकर , दोषों को दूर करके तथा सद्गुणों को प्राप्त करके हम परम यशस्वी बन सकते हैं॥१॥

अथ परमेश्वरं याचते ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २
६८६. द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे ॥२॥[2]

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २ २ १ २ ३
द्युक्षम् द्यु क्षम् सुदानुम् सु दानुम् तविषीभिः आवृतम् आ वृतम् ।

२ ३ १ २ ३ १ २ २
गिरिम् न पुरुभोजसम् पुरु भोजसम् ।

३ १ २ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ २ ३
क्षुमन्तम् वाजम् शतिनम् सहस्रिणम् । मक्षु गोमन्तम् ईमहे ॥२॥

---

१. दयानन्दर्षिर्भन्त्रमिमं यजुर्भाष्ये राजप्रजाविषये व्याख्यातवान् ।

२. ऋ० ८।८८।२; अथ० २०।९।२,२०।४९।५।

पदार्थः—द्युक्षम् अन्तरात्मनि दीप्तिनिवासकम् [द्युं दीप्तिं क्षाययति निवासयति इति द्युक्षः तम् । क्षि निवासगत्योः।] **सुदानुम्** श्रेष्ठदानम्, **तविषीभिः** बलैः। [तविषी इति बलनाम । निघं० २।९।] **आवृतम्** आच्छादितम्, परिपूर्णमिति यावत्, **गिरिं न**[1] पर्वतमिव मेघमिव वा **पुरुभोजसम्** बहुपालयितारम्, यथा पर्वतो मेघो वा बह्वीभिरोषधीभिः वृष्टिभिश्च पालकः, तथाविधम्। [भुज पालनाभ्यवहारयोः।] **क्षुमन्तम्** बह्वन्नोपेतम्, **शतिनम्** शतैश्वर्ययुक्तम्, **सहस्रिणम्** सहस्रगुणैर्युक्तम्, **गोमन्तम्** गोभिः गतिमद्भिः सूर्यचन्द्रग्रहन- क्षत्रादिभिः युक्तम् इन्द्रं परमेश्वरं, वयम् **मक्षु** सद्य एव **वाजम्** अन्नधनज्ञानबलसुखादिकम् **ईमहे** याचामहे। [ईमहे इति याच्ञाकर्मसु पठितम् । निघं० ३।१९।] ॥२॥

अत्रोपमालंकारः। विशेषणानां सभिप्रायत्वाच्च परिकरः ॥२॥

भावार्थः— यः परमेश्वरः सकलानां विद्यानामैश्वर्याणां च परमो निधिर्विद्यते तस्योपासनेन **सर्वैर्जनैः** सर्वा विद्याः सर्वाणि भौतिकाध्यात्मिकान्यैश्वर्याणि च प्राप्तव्यानि ॥२॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर से याचना करते हैं।

पदार्थ—द्युक्षम् अन्तरात्मा में तेज के निवासक, **सुदानुम्** श्रेष्ठ दानी, **तविषीभिः** बलों से **आवृतम्** परिपूर्ण, **गिरि न** पर्वत और बादल के समान **पुरुभोजसम्** बहुत पालन करने वाले, अर्थात् जैसे पर्वत और बादल अनेक ओषधियों तथा वर्षाओं द्वारा पालन करते हैं वैसे ही जड़-चेतन जगत् का पालन करने वाले, **क्षुमन्तम्** अन्न-भण्डार के भण्डारी, **शतिनम्** सैंकड़ों ऐश्वर्यों से युक्त, **सहस्रिणम्** सहस्रों गुणों से युक्त, **गोमन्तम्** गति करने वाले सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदियों के स्वामी इन्द्र परमेश्वर से हम **मक्षु** शीघ्र ही **वाजम्** अन्न, धन, ज्ञान, बल, वेग, सुख आदि की **ईमहे** याचना करते हैं ॥२॥

यहां उपमालंकार है। विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर है ॥२॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को उचित है कि जो परमेश्वर सब विद्याओं और सब ऐश्वर्यों का परम खजाना है उसकी उपासना करके सब विद्याओं तथा समस्त भौतिक और आध्यात्मिक सम्पदाओं को प्राप्त करें ॥२॥

॥१४॥ अथ 'तरोभिर्वो' इत्यादिकस्य चतुर्दशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** कलिः प्रागाथः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः—१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती । **स्वरः—** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २३७ क्रमांके परमेश्वरपक्षे व्याख्याता । अत्र ब्रह्मविद्योपदेष्टारमाचार्यमाह्वयति ।

१ २ ३१२३ १ २ ३ १ २ ३१२
६८७. तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये।
३१र २र ३ १ २ ३२ ३२उ ३ २ ३ १ २
बृहद्गायन्तः सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम् ॥१॥[2]
१ २र ३ १२ ३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र ३१२
तरोभिः वः विदद्वसुम् वि दत् वसुम् । इन्द्रम् सबाधः स बाधः ऊतये।
३२ १२र १ २ ३२ ३ २ ३२ १२र ३१२
बृहत् गायन्तः सुतसोमे सुत सोमे अध्वरे। हुवे भरम् न कारिणम् ॥१॥

---

१. गिरि न पुरुभोजसम्। न शब्द उपरिष्टादुपचारत्वादुपमार्थीयः। गिरिमिव बहुभोज्यम्। गिरौ पर्वते बहुभोजनतृणकाष्ठान्युपजीवन्ति। अथवा गिरिर्मेघः, तं सर्वं जगदुपजीवति –इति वि० ।

२. ऋ० ८।६६।१, साम० २३७ ।

पदार्थः—हे जनाः **सबाधः** अविद्याबाधया पीडिताः सन्तः **वः** यूयम् **ऊतये** रक्षायै **तरोभिः** वेगैः **विदद्वसुम्** ब्रह्मविद्याधनस्य लम्भकम् **इन्द्रम्** आचार्यम् **बृहत्** बहु **गायन्तः** प्रशंसन्तः, भवत इति शेषः। अहमपि **सुतसोमे** सुतः निष्पादितः सोमः विद्यारसो यस्मिन् तादृशे **अध्वरे** यज्ञे **भरं न** कुटुम्बभरणक्षमं गृहपतिमिव **कारिणम्** कर्मयोगिनम् आचार्यम् **हुवे** ब्रह्मविद्याग्रहणाय आह्वयामि ॥१॥

अत्रोपमालंकारः ॥१॥

भावार्थः—ब्रह्मसाक्षात्काराय जनैः स्वयमपि कृतब्रह्मसाक्षात्कारः सुयोग्यः कश्चिद् गुरुराश्रयणीयः॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में क्रमांक २३७ पर परमेश्वरपक्ष में व्याख्या की गयी थी। यहां ब्रह्मविद्या के उपदेष्टा आचार्य को बुला रहे हैं ॥१॥

पदार्थ—हे मनुष्यो ! **सबाधः** अविद्यारूप बाधा से पीडित होने पर **वः** आप लोग **ऊतये** रक्षा के लिए **तरोभिः** वेगों के साथ **विदद्वसुम्** ब्रह्मविद्यारूप धन को प्राप्त कराने वाले **इन्द्रम्** आचार्य का **बृहत्** बहुत अधिक **गायन्तः** महिमा-गान करो। मैं भी **सुतसोमे** जिसमें विद्यारस का निष्पादन होता है उस **अध्वरे** विद्या-यज्ञ में **भरं न** कुटुम्बभार को वहन करने वाले गृहस्वामी के समान **कारिणम्** कर्मयोगी आचार्य को **हुवे** ब्रह्मविद्या ग्रहण करने के लिए पुकारता हूं ॥१॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि ब्रह्म का साक्षात्कार पाने के लिए ऐसे सुयोग्य गुरु का आश्रय लें जिसने स्वयं भी ब्रह्म का साक्षात्कार किया हो ॥१॥

अथ स परमेश्वरः कीदृशो यमाचार्यः साक्षात्कारयतीत्याह ।

२ञ ३ १र २र ३ २ ३ २ञ ३ १ २ ३ १र २र
६८८. न यं दुध्रा वरन्ते न स्थिरा मुरो मदेषु शिप्रमन्धसः ।
२ ३१ २ ३ १ २ ३१र २र ३ २ ३क २र
य आदृत्या शशमानाय सुन्वते दाता जरित्र उक्थ्यम् ॥२॥[1]

२ ३ २ १२र ३ २ १ २र १२र ३ २ १ २र
न यम् दुध्राः वरन्ते न स्थिराः। मुरः मदेषु शिप्रम् अन्धसः।
३१ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ २ १ २र ३ २ ३क २
यः आदृत्य आ दृत्य शशमानाय सुन्वते। दाता जरित्रे उक्थ्यम् ॥२॥

पदार्थः—**शिप्रम्** सृप्रं, सर्वान्तर्यामिणम्। [सृप्रः सर्पणात्। सुशिप्रमेतेन व्याख्यातम् । निरु० ६।१७।७२।] **यम्** परमेश्वरम् **अन्धसः** आनन्दरसस्य **मदेषु** तृप्तिप्रदानेषु **दुध्राः** दुर्धराः अपि शत्रवः **न वरन्ते** न वारयन्ति । [वृञ् आवरणे चुरादिः, तत्र 'आधृषाद् वा' इति नियमेन पक्षे शप्, आत्मनेपदं छान्दसम्।] **न** न च **स्थिराः** अविचलाः **मुरः** मर्त्याः। [म्रियन्ते इति मुरः मर्त्याः।] वरन्ते वारयन्ति, **यः** यश्च परमेश्वरः **शशमानाय**[2] उद्योगिने, पुरुषार्थिने [शश प्लुतगतौ।] **सुन्वते** भक्तिरसं निष्पादयते **जरित्रे**[3] स्तोत्रे **उक्थ्यम्** वक्तव्यप्रशंसं दिव्यम् ऐश्वर्यम् **आदृत्य** विदार्य, स्वधनागारात् उद्धृत्य इति भावः, **दाता** अर्पयिता, भवतीति शेषः ॥२॥

भावार्थः—यदा परमेश्वरः स्वोपासकाय ब्रह्मानन्दवृष्ट्या तर्पयितुकामो जायते तदा तं तस्मात् कोऽपि निवारयितुं न शक्नोति ॥२॥

---

१. ऋ० ८।६६।२, 'मदे सुशिप्रमन्धसः' इति पाठः ।

२-३. वैदिकी स्तुतिस्तु द्विधा भवति शस्त्रैर्मन्त्रैः स्तोमैर्मन्त्रैश्च । तथा चात्र अप्रगीतमन्त्रात्मकशस्त्रैः स्तुतिं कुर्वाणः शशमान उच्यते, तस्मै । किञ्च प्रगीतमन्त्रात्मकस्तोत्रैः स्तुतिकारी स्तोता तस्मै चेति विवेकः-इति सामश्रमी।

पूर्वखण्डे गुरुशिष्यवर्णनादस्मिन् खण्डे च जीवात्मपरमात्मनोः परमात्मसाक्षात्कारयितुराचार्यस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन सह संगतिरस्ति ।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि वह परमेश्वर कैसा है, जिसका साक्षात्कार आचार्य कराता है।

पदार्थ–शिप्रम् सर्वान्तर्यामी **यम्** जिस परमेश्वर को **अन्धसः** आनन्दरस के **मदेषु** तृप्ति-प्रदानों में **दुध्राः** दुर्धर शत्रु भी **न वरन्ते** नहीं रोक सकते, **न** न ही **स्थिराः** स्थिर, अविचल **मुरः** मनुष्य रोक सकते हैं, **यः** जो परमेश्वर **शशमानाय** उद्योगी, पुरुषार्थी, **सुन्वते** भक्तिरस बहाने वाले **जरित्रे** स्तोता के लिए **उक्थ्यम्** प्रशंसनीय दिव्य ऐश्वर्य **आदृत्य** अपने खजाने में से निकालकर **दाता** देने वाला होता है ।।२।।

भावार्थ– जब परमेश्वर अपने उपासक को ब्रह्मानन्द की वर्षा से तृप्त करना चाहता है तब उसे उस कार्य से रोकने का किसी में सामर्थ्य नहीं होता है ।।२।।

पूर्व खण्ड में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध वर्णित होने से तथा इस खण्ड में जीवात्मा और परमात्मा का एवं परमात्मा का साक्षात्कार कराने वाले आचार्य का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है।

प्रथम अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त

।।१५।। अथ 'स्वादिष्ठया' इत्यादिकस्य पञ्चदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः**– मधुच्छन्दाः। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४६८ क्रमांके परमेश्वरात् प्राप्तव्यस्यानन्दरसस्य विषये व्याख्याता। अत्र आचार्यात् प्राप्तव्यस्य ब्रह्मज्ञानरसस्य विषयो वर्ण्यते ।

६८९. स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया । इन्द्राय पातवे सुतः ।।१।।[1]

स्वादिष्ठया मदिष्ठया । पवस्व सोम धारया । इन्द्राय पातवे सुतः ।।१।।

पदार्थः–हे **सोम** ब्रह्मज्ञानरस ! त्वम् **स्वादिष्ठया** स्वादुतमया, **मदिष्ठया** अतिशयेन हर्षप्रदया **धारया** प्रवाहसन्तत्या **पवस्व** अस्मान् पुनीहि। [पूङ् पवने, भ्वादिः ।] त्वम् **इन्द्राय** मदीयात्मने **पातवे** पातुम् **सुतः** आचार्यद्वारा प्रेरितोऽसि ।।१।।[2]

भावार्थः–आचार्योच्छिष्येण यद् भौतिकविज्ञानं ब्रह्मविज्ञानं वा प्राप्यते तत् स्वात्मनि स्थिरत्वेन धारणीयम् ।।१।।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ४६८ क्रमांक पर परमेश्वर से प्राप्त होने वाले आनन्दरस के विषय में व्याख्या की जा चुकी है। यहां आचार्य से प्राप्त होने वाले ब्रह्मज्ञानरस के विषय में व्याख्या करते हैं।

पदार्थ–हे **सोम** ब्रह्मज्ञानरस ! तू **स्वादिष्ठया** अत्यन्त स्वादु, **मदिष्ठया** अतिशय हर्षप्रदायक **धारया** धारा से **पवस्व** हमें पवित्र कर। तू **इन्द्राय** मेरे आत्मा के **पातवे** पान करने के लिए **सुतः** आचार्य द्वारा प्रेरित किया गया है।।१।।

भावार्थ–शिष्य को चाहिए कि आचार्य से वह जो भौतिक विज्ञान या ब्रह्मविज्ञान प्राप्त करता है उसे अपने आत्मा में स्थिर रूप से धारण कर ले ।।१।।

---

१. ऋ० ९।१।१, य० २६।२५, साम० ४६८ ।

२. दयानन्दर्षिणा यजुर्भाष्ये मन्त्रोऽयं विद्वत्पक्षे व्याख्यातः ।

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

६९०. ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २
रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि योनिमयोहते। द्रोणे सधस्थमासदत् ॥२॥[1]

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २र १ २र १ २र ३
रक्षोहा रक्षः हा विश्वचर्षणिः विश्व चर्षणिः। अभि योनिम् अयोहते अयः हते।
१ २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
द्रोणे सधस्थम् सध स्थम् आ असदत् ॥२॥

पदार्थः—**रक्षोहा** रक्षसां कामक्रोधलोभमोहादीनां हन्ता, **विश्वचर्षणिः** विश्वात्मकस्य परमात्मनो दर्शयिता ब्रह्मज्ञानरसरूपः सोमः **योनिम्** शरीरस्थित्यादिकारणभूतम्, **सधस्थम्** सह तिष्ठन्ति सर्वैः ज्ञानेन्द्रियैरुपलब्धानि ज्ञानानि अत्र इति सधस्थः आत्मा तम् **अभि** अभिलक्ष्य, तं प्राप्तुमित्यर्थः **अयोहते** यमनियमादिरूपैः अयोभिः हते ताडिते, संस्कृते इति यावत् **द्रोणे** मनोरूपे द्रोणकलशे **आ असदत्** आसन्नो भवति॥२॥[2]

भावार्थः—गुरुभिः समित्पाणिं शिष्यं प्रति प्रवाहितो ब्रह्मज्ञानरसो मनोमाध्यमेनात्मानमेव प्राप्नोति॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है।

पदार्थ—**रक्षोहा** काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि राक्षसों का विनाशक, **विश्वचर्षणिः** विश्वरूप परमात्मा का दर्शन कराने वाला ब्रह्मज्ञानरूप सोम **योनिम्** शरीर-स्थिति इत्यादि के कारणभूत, **सधस्थम् अभि** जिसमें सब ज्ञानेन्द्रियों से उपलब्ध ज्ञान एकत्र स्थित होते हैं उस आत्मा को लक्ष्य करके अर्थात् आत्मा में जाने के लिए **अयोहते** यम-नियम आदि रूप लोहे के हथौड़ों से ताड़ित अर्थात् संस्कृत **द्रोणे** मनरूप द्रोणकलश में **आ असदत्** आकर स्थित होता है ॥२॥

भावार्थ—गुरुओं से समित्पाणि शिष्य के प्रति प्रवाहित किया हुआ ब्रह्मज्ञान का रस मन के माध्यम से आत्मा को ही प्राप्त होता है॥२॥

अथ परमात्मानं प्रार्थयते ।

६९१. ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ ३ १ २
वरिवोधातमो भुवो मंहिष्ठो वृत्रहन्तमः। पर्षि राधो मघोनाम् ॥३॥[3]

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र
वरिवोधातमः वरिवः धातमः भुवः। मंहिष्ठः वृत्रहन्तमः वृत्र हन्तमः।
१ २र १ २र ३ १ २
पर्षि राधः मघोनाम् ॥३॥

पदार्थः—हे इन्द्र परमात्मन् ! त्वम् **वरिवोधातमः** धनानाम् अतिशयेन धारयिता। [वरिवः इति धननाम निघ० २।१०।] **मंहिष्ठः**[4] दातृतमः [मंहते दानकर्मा। निघ० ३।२०।] **वृत्रहन्तमः** पापानाम् अतिशयेन हन्ता च **भुवः** जातोऽसि। त्वमेव **मघोनाम्** भौतिकधनवताम् अस्माकम् **राधः** सत्यन्यायदयामोक्षादिकं दिव्यं धनम् **पर्षि** प्रयच्छ। [पॄ पालनपूरणयोः जुहोत्यादिः, लेटि मध्यमैकवचने छान्दसं रूपम्।]॥३॥

भावार्थः—स एव वस्तुतो धनिको यो भौतिकधनेन साकमध्यात्मं धनमपि समर्जति ॥३॥

---

१. ऋ० ९।१।२, य० २६।२६, यजुषि 'योनिमयोहते' इति पाठः।
२. दयानन्दर्षिणा यजुर्भाष्येऽयमपि मन्त्रो विद्वत्पक्षे व्याख्यातः।
३. ऋ० ९।१।२, 'भुवो' इत्यत्र 'भव' इति पाठः।
४. मंहिष्ठः मंहनीयतमः— इति वि०।

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ—हे इन्द्र परमात्मन् ! आप **वरिवोधातमः** अतिशय ऐश्वर्य को धारण करने वाले, **मंहिष्ठः** सबसे बढ़कर दानी, **वृत्रहन्तमः** सबसे बड़े पापहन्ता **भुवः** सिद्ध हुए हो। आप ही **मघोनाम्** हम भौतिक धनों के धनियों को **राधः** सत्य, न्याय, दया, मोक्ष, आदि दिव्य धन **पर्षि** प्रदान करो ॥३॥

भावार्थ—वही मनुष्य वस्तुतः धनी है जो भौतिक धन के साथ अध्यात्म धन भी कमाता है ॥३॥

॥१६॥ अथ 'पवस्व मधुमत्तम' इत्यादिकस्य षोडशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गौरवीतिः। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** काकुभः प्रगाथः १. विषमा ककुप्, २. समा सतोबृहती। **स्वरः** १. ऋषभः २. पञ्चमः।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५७८ क्रमांके परमात्मन आनन्दरसविषये व्याख्याता। अत्र आचार्यात् प्राप्तव्यस्य ज्ञानरसस्य विषयमाह ।

६९२. **पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मदः।**
महि द्युक्षतमो मदः ॥१॥[1]

पवस्व मधुमत्तमः । इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमः क्रतु वित्तमः मदः।
महि द्युक्षतमः द्यु क्षतमः मदः ॥१॥

पदार्थः—हे **सोम** ब्रह्मज्ञानरस ! **मधुमत्तमः** अतिशयेन मधुरः त्वम् **पवस्व** अस्मान् पुनीहि। तव **मदः** आनन्दः **इन्द्राय** अन्तरात्मने **क्रतुवित्तमः** अतिशयेन प्रज्ञायाः कर्मणश्च लम्भकः भवतीति शेषः। त्वदीयः **मदः** आनन्दः **महि** महत् **द्युक्षतमः** दीप्तेः निवासयितृतमः, जायते इति शेषः ॥१॥

भावार्थः—आचार्याद् ब्रह्मज्ञानं प्राप्य ब्रह्मणो गुणकर्मस्वभावान् ध्यायं-ध्यायं स्वजीवनं पावनीयम् ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ५७८ क्रमांक पर परमात्मा से प्राप्त होने वाले आनन्दरस के विषय में व्याख्या की जा चुकी है। यहां आचार्य से प्राप्त होने वाले ज्ञानरस का वर्णन है।

पदार्थ—हे **सोम** ब्रह्मज्ञान-रस ! **मधुमत्तमः** सबसे अधिक मधुर तू **पवस्व** हमें पवित्र कर । तेरा **मदः** आनन्द **इन्द्राय** मेरे अन्तरात्मा के लिए **क्रतुवित्तमः** प्रज्ञा तथा कर्म को अत्यधिक प्राप्त कराने वाला होता है। तेरा **मदः** आनन्द **महि** अत्यधिक **द्युक्षतमः** तेज को बसाने वाला होता है॥१॥

भावार्थ—आचार्य से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके ब्रह्म के गुण-कर्म-स्वभाव का ध्यान कर-करके अपने जीवन को पवित्र करना चाहिए ॥१॥

अथ परमात्मनः शान्तिरसविषयमाह।

६९३. **यस्य ते पीत्वा वृषभो वृषायतेऽस्य पीत्वा स्वर्विदः।**
स सुप्रकेतो अभ्यक्रमीदिषोऽच्छा वाजं नैतशः ॥२॥[2]

यस्य ते पीत्वा वृषभः वृषायते। अस्य पीत्वा स्वर्विदः स्वः विदः।
सः सुप्रकेतः सु प्रकेतः अभि अक्रमीत् इषः । अच्छ वाजम् न एतशः ॥२॥

---

१. ऋ० ९।१०८।१, साम० ५७८।
२. ऋ० ९।१०८।२

पदार्थः—हे पवमान सोम ! हे पावक रसागार परमात्मन् ! **यस्य ते** यस्य तव शान्तिरसम् **पीत्वा** आस्वाद्य **वृषभः** भक्तिरससेक्ता उपासकः **वृषायते** वर्षको मेघ इव आचरति। यथा मेघः घर्मतप्तानामुपरि शान्तिदायकं वारि वर्षति तथैवासौ अशान्तितप्तानामुपरि शान्तिरसं वर्षतीत्यर्थः। [उपमानादाचारे इत्यनुवृत्तौ 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इति वृषशब्दाद् आचारेऽर्थे क्यङ् प्रत्ययः।]**अस्य** तस्यास्य तव शान्तिरसम् **पीत्वा** आस्वाद्य जनाः **स्वर्विदः** मोक्षसुखाधिगन्तारः जायन्ते। **सुप्रकेतः**[1] प्रकृष्टप्रज्ञः **सः** असौ तव उपासकः **इषः** इच्छासिद्धीः **अभि** अभिलक्ष्य **अक्रमीत्** प्रयाणं कुरुते। कथमिव ? **एतशः** अश्वः। [एतशः इति अश्वनाम। निघं० २।१४।] **न** यथा **वाजम् अच्छ** संग्रामं प्रति क्रामति तथा ॥२॥

'वृषभो वृषायते' इत्यत्र मम्मटमतेन वाचकलुप्तोपमा, दर्पणकारमतेन तु धर्मलुप्तोपमा। 'वृष, वृषा' इति छेकानुप्रासः। उत्तरार्धे पूर्णोपमा ॥२॥

भावार्थः—परमेश्वरोपासनया भगवद्भक्तो यथा स्वयं शान्तिमधिगच्छति तथाऽन्येभ्योऽपि शान्तिं वर्षति। तस्य च सर्वेऽपि धर्मानुकूलाः मनोरथाः सद्य एव फलन्ति ॥२॥

अगले मंत्र में परमात्मा के शान्तिरस का विषय वर्णित है।

पदार्थ—हे पवमान सोम ! हे पवित्रतादायक रसागार परमात्मन् ! **यस्य ते** जिन आपके शान्तिरस का **पीत्वा** पान करके **वृषभः** भगवान् को भक्तिरस से सींचने वाला उपासक **वृषायते** वर्षाकारी बादल के समान आचरण करने लगता है, अर्थात् जैसे बादल गर्मी से झुलसते हुओं पर शान्तिदायक जल बरसाता है, वैसे ही वह अशान्ति से झुलसते हुओं पर शान्तिरस बरसाता है **अस्य** उन आपके शान्तिरस को **पीत्वा** पीकर, लोग **स्वर्विदः** मोक्षसुख के प्राप्तकर्ता हो जाते हैं। **सुप्रकेतः** उत्कृष्ट ज्ञानी **सः** वह आपका उपासक **इषः अभि** इच्छासिद्धियों की ओर **अक्रमीत्** कदम बढ़ाता चलता है, **न** जैसे **एतशः** घोड़ा **वाजम् अच्छ** संग्राम की ओर पग बढ़ाता है ॥२॥

इस मन्त्र में 'वृषभो वृषायते' में मम्मट के मत से वाचकलुप्तोपमा तथा दर्पणकार के मत से धर्मलुप्तोपमा है। 'वृष, वृषा' में छेकानुप्रास है। उत्तरार्ध में पूर्णोपमा है॥२॥

भावार्थ—परमेश्वर की उपासना से भगवान् का भक्त जैसे स्वयं शान्ति प्राप्त करता है वैसे ही अन्यों के लिए भी शान्ति बरसाता है और उसके सब धर्मानुकूल मनोरथ शीघ्र ही फल जाते हैं॥२॥

॥१७॥ अथ 'इन्द्रमच्छ' इत्यादिकस्य सप्तदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अग्निश्चाक्षुषः। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** उष्णिक्। **स्वरः** ऋषभः।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५६६ क्रमांके ब्रह्मानन्दरसविषये व्याख्याता। अत्र ज्ञानकर्मोपासनारसविषयमाह।

२ ३ १ २ ३ २ ३१२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
६९४. **इन्द्रमच्छ सुता इमे वृषणं यन्तु हरयः। श्रुष्टे जातास इन्दवः स्वर्विदः॥१॥**[2]

१ २२ १ २२ ३ २ ३ २ १२२ ३ १२२
इन्द्रम् अच्छ सुताः इमे। वृषणम् यन्तु हरयः।
३ २ ३ १ २ १ २२ ३ १ २ ३ १२२
श्रुष्टे जातासः इन्दवः स्वर्विदः स्वः विदः॥१॥

---

१. सुप्रकेतः सुगृहः—इति वि०।
२. ऋ० ९।१०६।१, 'श्रुष्टे' इत्यत्र 'श्रुष्टी' इति पाठः। साम० ५६६।

पदार्थः—**सुताः** आचार्येण प्रेरिताः ज्ञानकर्मोपासनारूपाः सोमरसाः **वृषणम्** बलवन्तम् **इन्द्रम्** आत्मानम् **अच्छ** प्रति **यन्तु** गच्छन्तु। **जातासः** जाताः उत्पन्नाः **इन्दवः** चन्द्रकिरणवदाह्लादकाः एते रसाः **श्रुष्टे** सद्यः एव **स्वर्विदः** मोक्षसुखस्य लम्भकाः जायन्ताम् ॥१॥

भावार्थः—ज्ञानकर्मोपासनारसा एव यथार्थं सोमाः सन्ति ये पीताः सन्तो मानवमुन्नयन्ति ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ५६६ क्रमांक पर ब्रह्मानन्दरस के विषय में व्याख्या की जा चुकी है। यहां ज्ञानकर्मोपासनारस का विषय वर्णित है।

पदार्थ—**सुताः** आचार्य द्वारा प्रेरित **इमे** ये **हरयः** ज्ञान-कर्म-उपासनारूप सोमरस **वृषणम्** बलवान् **इन्द्रम्** आत्मा की **अच्छ** ओर **यन्तु** जाएं। **जातासः** उत्पन्न हुए **इन्दवः** चन्द्रकिरणों के समान आह्लाददायक ये रस **श्रुष्टे** शीघ्र ही **स्वर्विदः** मोक्षसुख को प्राप्त कराने वाले हों ॥१॥

भावार्थ—ज्ञान, कर्म और उपासना के रस ही वास्तविक सोम हैं, जो पीने पर मनुष्य को उन्नत कर देते हैं॥१॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

६९५. **अयं भराय सानसिरिन्द्राय पवते सुतः।**
सोमो जैत्रस्य चेतति यथा विदे ॥२॥[1]

अयम् भराय सानसिः। इन्द्राय पवते सुतः। सोमः जैत्रस्य चेतति यथा विदे ॥२॥

पदार्थः—**भराय** संग्रामाय, देवासुरसंग्रामं विजेतुमित्यर्थः **सानसिः**[2] संभजनीयः । [सानसिवर्णसिपर्णसि०। उ० ४।१०८ इत्यनेन संभजनार्थात् षण धातोः असिप्रत्ययः उपधावृद्धिश्च।] **सुतः** आचार्येण शिष्ये प्रेरितः **अयम्** एष ज्ञानकर्मोपासनारूपः सोमरसः **इन्द्राय** आत्मने **पवते** प्रवहति। [पवते गतिकर्मा। निघं० २।१४।] **जैत्रस्य** विजयशीलस्य तस्य इन्द्रस्य जीवात्मनः सः **सोमः** ज्ञानकर्मोपासनारसः **चेतति** सदैव जागृयात्, **यथा** येन, सः **विदे** सर्वदा कर्तव्याकर्तव्यं विजानीयात् । [विद ज्ञाने आत्मनेपदं छान्दसम्। वित्ते इति प्राप्ते 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' इति तकारलोपः] ॥२॥

भावार्थः— ज्ञानं, तदनुकूलं कर्म, परमेश्वरोपासना च सदैव मनुष्यं संसारसमराङ्गणे विजयिनं कुर्वन्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है।

पदार्थ—**भराय** देवासुरसंग्राम में जीतने के लिए **सानसिः** संभजनीय, **सुतः** आचार्य द्वारा शिष्यों में प्रेरित **अयम्** यह ज्ञान-कर्म-उपासना का रस **इन्द्राय** आत्मा के लिए **पवते** प्रवाहित हो रहा है। **जैत्रस्य** विजयशील उस आत्मा का **सोमः** वह ज्ञान-कर्म-उपासना का रस **चेतति** सदैव जागता रहे, **यथा** जिससे, वह **विदे** सदा कर्तव्य-अकर्तव्य को पहचानता रहे ॥२॥

---

१. ऋ० ९।१०६।२।
२. सानसिः साधयिता—इति वि० ।

भावार्थ—ज्ञान, तदनुकूल कर्म और परमेश्वर की उपासना सदैव मनुष्य को संसार के समरांगण में विजय दिलाते हैं ।।२।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

६९६. **अस्येदिन्द्रो मदेष्वा ग्राभं गृभ्णाति सानसिम् ।**
वज्रं च वृषणं भरत् समप्सुजित् ।।३।।[1]

अस्य इत् इन्द्रः मदेषु आ । ग्राभम् गृभ्णाति सानसिम् ।
वज्रम् च वृषणम् भरत् सम् अप्सुजित् अप्सु जित् ।।३।।

पदार्थः—**अस्य इत्** अस्य ज्ञानकर्मोपासनारूपस्य सोमरसस्य एव **मदेषु** उत्साहेषु **इन्द्रः** वीरो जनः **सानसिम्** संभजनीयम् **ग्राभम्** ग्रहीतव्यं धनुः। [गृह्यते इति ग्राहः, स एव ग्राभः, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' इति हस्य भः।] **आ गृभ्णाति** आगृह्णाति। [ग्रह धातोः पूर्ववद् हस्य भः।] **च** किञ्च, **अप्सुजित्** समुद्रजलेषु अन्तरिक्षे चापि शत्रूणां जेता स वीरः । [आपः इति अन्तरिक्षनाम उदकनाम च। निघं० १।३, १।१२।] **वृषणम्** गुलिकानां गोलकानां वा वर्षकम् **वज्रम्** भुशुण्डीशतघ्न्यादिकम् वज्रायुधम् **संभरत्** संदधाति ।।३।।

भावार्थः—ज्ञानकर्मोपासनारूपस्य दिव्यस्य सोमरसस्य पानादपूर्वोत्साहसम्पन्नो नरो भुवि वा जले वान्तरिक्षे वा क्वापि विद्यमानान् दुर्दान्तानपि रिपून् जेतुं पारयति ।।३।।

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन करते हैं।

पदार्थ—अस्य इत् इस ज्ञान-कर्म-उपासना रूप सोमरस के ही **मदेषु** उत्साहों में **इन्द्रः** वीर मनुष्य **सानसिम्** ग्रहण करने योग्य **ग्राभम्** धनुष को **आ गृभ्णाति** थामता है, **च** और **अप्सुजित्** समुद्र के जल में तथा अन्तरिक्ष में भी शत्रु को जीतने वाला वह वीर **वृषणम्** गोली या गोले बरसाने वाले **वज्रम्** बन्दूक, तोप आदि सुदृढ़ हथियार का **संभरत्** संधान कर लेता है।।३।।

भावार्थ—ज्ञान-कर्म-उपासना रूप दिव्य सोमरस के पान से अपूर्व उत्साहवान् होकर मनुष्य भूमि, जल, आकाश कहीं भी विद्यमान दुर्दान्त शत्रुओं को भी जीतने में समर्थ हो जाता है।।३।।

।।१८।। अथ 'पुरोजिती वो' इत्यादिकस्याष्टादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अन्धीगुः। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** आनुष्टुभः प्रगाथः। १ अनुष्टुप २-३ गायत्री। **स्वरः** गान्धारः, २-३ षड्जः ।।

प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५४५ क्रमांके ब्रह्मानन्दविषये व्याख्याता । अत्र प्रकृतं ज्ञानकर्मोपासनाविषयमाह।

६९७. **पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्नवे।**
अप श्वानं श्नथिष्टन सखायो दीर्घजिह्वयम् ।।१।।[2]

पुरोजिती पुरः जिती वः अन्धसः। सुताय मादयित्नवे।
अप श्वानम् श्नथिष्टन श्नथिष्ट न ।
सखायः स खायः दीर्घजिह्वयम् दीर्घ जिह्वयम् ।।१।।

---

१. ऋ० ९।१०६।३, गृभ्णीत इति भेदः।
२. ऋ० ९।१०१।१, साम० ५४५।

पदार्थः—हे **सखायः** सुहृदः ! **वः** यूयम् **अन्धसः** ज्ञानकर्मोपासनारूपस्य सोमस्य **पुरोजिती** अग्रेजयाय, अपि च तस्य सोमस्य **मादयित्नवे** आनन्दप्रदाय **सुताय** रसाय, रसं प्राप्तुमित्यर्थः **दीर्घजिह्वयम्** दीर्घजिह्वायुक्तं, दूरस्थानामपि विषयाणां ग्रहणे समर्थमित्यर्थः। **श्वानम्** दिव्यं श्वानं, जविष्ठं मनः इत्यर्थः। [श्वयति दूरं गच्छतीति श्वा। 'श्वन्नुक्षन्०' उ० १।१५९ इत्यनेन कनिन्प्रत्ययान्तो निपात्यते] **अपश्नथिष्टन** अपश्नथयथ, प्रवर्तयत इति यावत्। [अपपूर्वः श्रथ दौर्बल्ये चुरादिः, रेफस्य नकारश्छान्दसः।] ॥१॥

भावार्थः—ज्ञानकर्मोपासनासु मनः प्रवर्त्य तज्जन्य आनन्दः सर्वैः प्राप्तव्यः ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में क्रमांक ५४५ पर ब्रह्मानन्द के विषय में व्याख्या हो चुकी है। यहां प्रकरणप्राप्त ज्ञान कर्म उपासना का विषय है।

पदार्थ—हे **सखायः** मित्रो ! **वः** तुम **अन्धसः** ज्ञान-कर्म-उपासनारूप सोम को **पुरोजिती** आगे बढ़कर जीतने के लिए. और उस सोम के **मादयित्नवे** आनन्दप्रदायक **सुताय** रस को प्राप्त करने के लिए **दीर्घजिह्वयम्** लम्बी जीभ वाले अर्थात् दूरस्थ विषयों के भी ग्रहण में समर्थ **श्वानम्** वेगवान् मन को **अपश्नथिष्टन** प्रवृत्त करो॥१॥

भावार्थ—ज्ञान, कर्म और उपासना में मन को प्रवृत्त करके उससे मिलने वाला आनन्द सबको प्राप्त करना चाहिए॥१॥

अथ ज्ञानकर्मोपासनाजन्यमानन्दं वर्णयति ।

६९८. यो धारया पावकया परिप्रस्यन्दते सुतः। इन्दुरश्वो न कृत्व्यः ॥२॥[2]

यः धारया पावकया। परिप्रस्यन्दते परि प्रस्यन्दते सुतः। इन्दुः अश्वः न कृत्व्यः ॥२॥

पदार्थः—**सुतः** निष्पादितः **यः** यः **पावकया** पवित्रतादायिन्या **धारया** प्रवाहसन्ततया **परिप्रस्यन्दते** सर्वतः प्रवहति, सः **इन्दुः** ज्ञानकर्मोपासनाजन्यः आनन्दः **कृत्व्यः** संग्रामकर्मणि कुशलः **अश्वः न** तुरगः इव **कृत्व्यः**[2] कृतार्थयिता भवति। [कृत्वी इति कर्मनाम, निघं० २।१, तत्र साधुः कृत्व्यः। साध्वर्थे यत्।] ॥२॥

अत्र श्लिष्टोपमालंकारः॥२॥

भावार्थः—धन्याः खलु ते ये ज्ञानकर्मोपासनाजन्यं प्रचुरमानन्दमनुभवन्ति ॥२॥

अगले मत्र में ज्ञान, कर्म और उपासना से मिलने वाले आनन्द का वर्णन है।

पदार्थ—**सुतः** उत्पन्न किया गया **यः** जो **पावकया** पवित्र करने वाली **धारया** धारा के साथ **परिप्रस्यन्दते** चारों ओर बहता है, वह **इन्दुः** ज्ञान, कर्म और उपासना से मिलने वाला आनन्द **कृत्व्यः** संग्राम में कुशल **अश्वः न** घोड़े के समान **कृत्व्यः** कृतार्थ करने वाला होता है॥२॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है॥२॥

---

१. ऋ०९।१०१।२

२. कृत्व्यः कृतिमान् वेगवानित्यर्थः—इति वि०। कर्मणि साधुः—इति सा०। कृत्व्यान् कर्मसु साधून्—इति ऋ० १।१२१।७ भाष्ये द०।

भावार्थ—वे लोग धन्य हैं जो ज्ञान, कर्म और उपासना से प्राप्त होने वाले अगाध आनन्द का अनुभव करते हैं ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

२ ३ १२३ ३१२ ३ १२ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २
६९९. **तं दुरोषमभीनरः भीनरः सोमं विश्वाच्या धिया। यज्ञा सन्त्वद्रयः ॥३॥**[1]

२ ३ १ २ ३ २ १ २र १ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२र ३
तम् दुरोषम् अभि नरः। सोमम् विश्वाच्या धिया। यज्ञाय सन्तु अद्रयः अ द्रयः ॥३॥

पदार्थः—**दुरोषम्**[2] दुर्दहं दुःशोषं वा। [दुःखेन उष्यते दह्यते इति दुरोषः तम्। दुर्पूर्वः उष दाहे भ्वादिः ।] पूर्ववर्णितम् **सोमम्** ज्ञानकर्मोपासनारूपम् सोमरसम् **नरः** सज्जनाः **विश्वाच्या**[3] सर्वान् सद्विषयान् व्याप्नुवानया । [विश्वान् सर्वान् विवेचनीयान् विषयान् प्रति अञ्चति गच्छतीति तया।] **धिया** बुद्ध्या **अभि** अभिषुण्वन्तु । [उपसर्गबलेन योग्यक्रियाध्याहारः ।] येन **अद्रयः**[4] केनापि आन्तरिकेण बाह्येन वा शत्रुणा अविदृताः ते **यज्ञाय** ईशपूजनाय विद्वत्सत्काराय संगतिकरणाय परोपकाराय च **सन्तु** भवन्तु ॥३॥

भावार्थः—सज्ज्ञानं सत्कर्म परमेश्वरोपासनां च ये स्वजीवने गृह्णन्ति ते सदा विजयिनो यज्ञपरायणाश्च जायन्ते ॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है।

पदार्थ—**दुरोषम्** जलाये या सुखाये न जा सकने योग्य **तम्** उस पूर्ववर्णित **सोमम्** ज्ञान-कर्म-उपासनारूप सोमरस को **नरः** सज्जन लोग **विश्वाच्या** सब उत्कृष्ट विषयों के विवेचन में व्याप्त होने वाली **धिया** बुद्धि से **अभि** अभिषुत करें, जिससे **अद्रयः** किसी भी आन्तरिक या बाह्य शत्रु से विदीर्ण न होने वाले वे लोग **यज्ञाय** परमेश्वर की पूजा, विद्वानों के सत्कार, संगठन और परोपकार-रूप यज्ञ के लिए **सन्तु** होवें ॥३॥

भावार्थ—श्रेष्ठज्ञान, सत्कर्म और परमेश्वर की उपासना को जो अपने जीवन में ग्रहण करते हैं वे सदा विजयी और यज्ञपरायण होते हैं॥३॥

॥१९॥ अथ 'अभि प्रियाणि' इत्यादिकस्य एकोनविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** कविर्भार्गवः। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** जगती। **स्वरः** निषादः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५५४ क्रमांके परमात्मपक्षे व्याख्याता। अत्र जीवात्मविषयमाह ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
७००. **अभि प्रियाणि पवते चनोहितो नामानि यह्वो अधि येषु वर्धते।**

१र २र ३ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ २
आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि रथं विष्वञ्चमरुहद्विचक्षणः ॥१॥[5]

३ २ ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २र ३ २ १ २र १ २र १ २र
अभि प्रियाणि पवते चनोहितः चनः हितः। नामानि यह्वः अधि येषु वर्धते ।

१ २र ३ २ ३ २ १ २र
आ सूर्यस्य बृहतः बृहन् अधि ।

१ २र १ २र ३ २ ३ २
रथम् विष्वञ्चम् वि स्वञ्चम् अरुहत् विचक्षणः वि चक्षणः ॥१॥

---

१. ऋ० ९।१०१।३ 'यज्ञं हिन्वन्त्यद्रिभिः' इति तृतीयः पादः ।

२. रोषतेर्हिंसार्थस्य रेफलोपे दीर्घाभावे ओषतेर्दाहार्थस्य वा णलि रूपमिति सन्देहादनवग्रहः—इति सा०। दुरोषम् अरोषम्—इति वि०।

३. विश्वाच्या विश्वगामिन्या—इति वि०। सर्वान् कामान् अञ्चित्या कामान् प्रापयित्र्या—इति सा०।

४. अद्रयः मेघाः वर्षस्वभावाः अथवा अद्रयः अभिषवग्राव्णः—इति वि०। अद्रयः अदारणयुक्ताः—इति सा०।

५. ऋ० ९।७५।१, साम० ५५४ ।

पदार्थः—चनोहितः चनसे भोगाय हितः देहं प्रेषितः, **यह्वः** महाबलः **सोमः** जीवात्मा **प्रियाणि** चारूणि **नामानि** नमनयोग्यानि अङ्गानि **पवते** गच्छति, **येषु अधि** येषु अङ्गेषु एषः **वर्धते** महिमानं प्राप्नोति। **बृहन्** महान्, **विचक्षणः** ज्ञानवान् एष जीवात्मा **बृहतः** महतः **सूर्यस्य** सरणकर्त्तुः प्राणस्य। ['**प्राणो ह सूर्यः**' इति श्रुतेः। अथ० ११।४।१२।] **वि-स्वञ्चम्** विशेषेण शोभनगतियुक्तम् **रथम् अधि** देहरथम् अधिकृत्य **आ अरुहत्** आरूढोऽस्ति।।१।।

भावार्थः—आत्मा कर्मफलभोगार्थं प्राणसहचरितं देहमाश्रित्य शुभाशुभान् भोगान् भुङ्क्ते ।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में क्रमांक ५५४ पर परमेश्वर के विषय में की गयी थी । यहां जीवात्मा का विषय है।

पदार्थ—चनोहितः भोगों को भोगने के लिए शरीर में प्रेषित, **यह्वः** महाशक्तिशाली जीवात्मा **प्रियाणि** प्रिय **नामानि** लचकीले अंगों में **पवते** जाता है, **येषु अधि** जिनमें, यह **वर्धते** महिमा को प्राप्त करता है। **बृहन्** महान्, **विचक्षणः** ज्ञानवान् यह जीवात्मा **बृहतः** महान् **सूर्यस्य** गतिमय प्राण के **वि-स्वञ्चम्** विशिष्ट शुभगति वाले **रथम् अधि** देहरूप रथ पर **आ अरुहत्** चढ़कर बैठा हुआ है।।१।।

भावार्थ—आत्मा कर्मफल-भोग के लिए प्राणयुक्त देह का आश्रय लेकर शुभाशुभ भोगों को भोगता है।।१।।

अथेश्वररचितेभ्यो वेदेभ्य उपासकः कि प्राप्नोतीत्याह ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १र २र
७०१ . **ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियं वक्ता पतिर्धियो अस्या अदाभ्यः।**
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
दधाति पुत्रः पित्रोरपीच्यां३ नाम तृतीयमधि रोचनं दिवः।।२।।[1]
३ १ २ ३ २ ३ १ २र ३ २ ३ २ १ २र ३ २ ३ २ १ २र ३
ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियम्। वक्ता पतिः धियःअस्याः अदाभ्यः अ दाभ्यः।
१ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३क २र १ २र ३ १ २ १ २र ३ २ ३ २
दधाति पुत्रः पुत् त्र पित्रोः अपीच्यम्। नाम तृतीयम् अधि रोचनम् दिवः।।२।।

पदार्थः—ऋतस्य सत्यस्वरूपस्य पवमानस्य सोमस्य जगदीश्वरस्य **जिह्वा** वेदवाणी। [जिह्वेति वाङ्नाम। निघं० १।११, जिह्वा सरस्वती। श० १२।९।१।१४ ।] **प्रियम्** मनोहरम् **मधु** अध्यात्मज्ञानरूपं मधु **पवते** क्षरति। **अस्याः धियः** अस्याः ज्ञानमय्याः वेदवाण्याः **वक्ता** उच्चारयिता **पतिः** जगत्पतिः परमेश्वरः **अदाभ्यः** अहिंस्यः, अजरामरः विद्यते। अस्याः वेदवाचः माध्यमेन **पुत्रः** अमृतपुत्रः उपासकः। [शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः। ऋ० १०।१३।१ इति श्रुतेः मानवस्य अमृतपुत्रत्वम्] **पित्रोः** मातापित्रोः **अपीच्यम्** अन्तर्हितम्, अज्ञातम् **दिवः रोचनम्** जीवात्मनः प्रकाशकम् **तृतीयं नाम** तृतीयं पदम् ओंकाररूपम् **अधि दधाति** हृदि धारयति। [यथोक्तम्—**तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्**' इति य० ६।५]।।२।।

भावार्थः—प्रकृतिर्जीवात्मा ओंकारः इति त्रीणि पदानि। ईश्वररचितानां वेदानां रहस्यार्थज्ञानेन मानवः स्वकीयौ मातापितरावप्यतिक्रम्य ओंकाररूपं पदं प्राप्तुमर्हति ।।२।।

अगले मन्त्र में ईश्वररचित वेदों से उपासक क्या फल प्राप्त करता है यह वर्णित है।

---

१. ऋ० ९।७५।२ 'रोचनं' इत्यत्र 'रोचने' इति पाठः।

पदार्थ—ऋतस्य सत्यस्वरूप जगदीश्वर की **जिह्वा** वेदवाणी **प्रियम्** प्रिय **मधु** अध्यात्मज्ञानरूप मधु को **पवते** बहा रही है। **अस्याः धियः** इस ज्ञानमयी वेदवाणी का **वक्ता** वक्ता **पतिः** जगत्पति परमेश्वर **अदाभ्यः** अजर-अमर है। इस वेदवाणी के माध्यम से **पुत्रः** अमृतमय परमात्मा का पुत्र उपासक **पित्रोः** माता-पिता से **भी अपीच्यम्** छिपे हुए, **दिवः रोचनम्** जीवात्मा को प्रकाशित करने वाले **तृतीयं नाम** तृतीय पद ओंकार को **अभिदधाति** हृदय में धारण कर लेता है। कहा भी है— "तत्वदर्शी विद्वान् लोग विष्णु परमात्मा के उस परमपद का वैसे ही स्वाभाविक रूप से दर्शन करते हैं, जैसे सूर्यप्रकाश में आंख पदार्थों को देखती है (य० ६।५)॥२॥

भावार्थ—प्रकृति, जीवात्मा और ओंकार ये तीन पद हैं। ईश्वररचित वेदों का रहस्यार्थ जानकर मनुष्य अपने माता-पिता से भी अधिक ज्ञानी होकर ओंकार-रूप परमपद को प्राप्त करने योग्य हो जाता है॥२॥

अथ ब्रह्मानन्दरसं वर्णयति।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
७०२. **अव द्युतानः कलशाँ अचिक्रदन्नृभिर्येमाणः कोश आ हिरण्यये।**
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अभी ऋतस्य दोहना अनूषताधि त्रिपृष्ठ उषसो वि राजसि॥३॥[1]

१ २ र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ र ३ २ १ २ र ३ १ २
अव द्युतानः कलशान् अचिक्रदत्। नृभिः येमानः कोशे आ हिरण्यये।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३
अभि ऋतस्य दोहनाः अनूषत। अधि त्रिपृष्ठः त्रि पृष्ठः उषसः वि राजसि॥३॥

पदार्थः—नृभिः उपासकजनैः **हिरण्यये कोशे** ज्योतिर्मये विज्ञानमयकोशे **येमाणः**[2] नियम्यमानः **द्युतानः दीप्ययानः** । [द्युत दीप्तौ, भ्वादिः।] ब्रह्मानन्दरूपः सोमरसः **कलशान्** आत्मरूपान् द्रोणकलशान् प्रति **अव अचिक्रदत्** कलकलध्वनिमिव कुर्वन् गच्छति। **ऋतस्य** सत्यस्य ब्रह्मानन्दरसस्य **दोहनाः** दोग्धारः उपासकाः तं रसम् **अभि अनूषत** अभिष्टुवन्ति। **त्रिपृष्ठः**[3] त्रीणि ज्ञानकर्मोपासनानि पृष्ठानि आधारा यस्य सः ब्रह्मानन्दरूप-सोमः त्वम् **उषसः अधि** उषर्वेलायां सन्ध्योपासने **वि राजसि** विशेषेण प्रकाशसे ॥३॥

भावार्थः—योगद्वारा ब्रह्मानन्दरसेन स्वात्मानमुपसिच्य योगिनो जनाः कृतार्था भवन्तु॥३॥

अस्मिन् खण्डे आचार्यपरमात्मजीवात्मज्ञानकर्मोपासनावेदब्रह्मानन्दविषयवर्णनादस्य खण्डस्य पूर्वखण्डेन सह संगतिर्वेद्या।

अगले मन्त्र में ब्रह्मानन्द-रस का वर्णन है।

पदार्थ—नृभिः उपासक जनों द्वारा **हिरण्यये कोशे** ज्योतिर्मय विज्ञानमय कोश में **येमाणः** नियन्त्रित किया जाता हुआ, **द्युतानः** प्रकाशमान ब्रह्मानन्दरूप सोमरस **कलशान्** आत्मारूप द्रोणकलशों में **अव अचिक्रदत्** कल-कल ध्वनि-सी करता हुआ प्रवेश करता है। **ऋतस्य** सच्चे ब्रह्मानन्द-रस को **दोहनाः** दुहने वाले उपासक लोग उस रस की **अभि अनूषत** स्तुति करते हैं। **त्रिपृष्ठः** ज्ञानकर्मोपासनारूप तीन आधारों वाला तू, हे ब्रह्मानन्द-रस! **उषसः अधि** उषाकाल में सन्ध्योपासना में **विराजसि** विशेष रूप से प्रकाशित होता है ॥३॥

---

१. ऋ० ९।७५।३, 'येमानः' 'अभीमृतस्य' 'विराजति' इति पाठः।

२. येमानः, छन्दसि कर्मणि लिटि कानचि रूपम्—इति सा०।

३. त्रिपृष्ठः त्रिस्थाने त्रिलोकावस्थानः, अथवा त्रिपृष्ठः ऋग्यजुःसामभिः अथवा त्रिभिर्गुणैर्देवैः सवनैर्वा—इति वि०।

भावार्थ—योग द्वारा ब्रह्मानन्द-रस से अपने आत्मा को सींचकर योगी जन कृतार्थ होवें।।३।।

इस खण्ड में आचार्य, परमात्मा, जीवात्मा, ज्ञानकर्मोपासना, वेद एवं ब्रह्मानन्द का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिये।

प्रथम अध्याय में पंचम खण्ड समाप्त।

।।२०।। अथ 'यज्ञायज्ञा' इत्यादिकस्य विंशस्य द्वयृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** शंयुर्बार्हस्पत्यः। **देवता** अग्निः। **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः, १ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती। **स्वरः** १ मध्यमः, २ पंचमः।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३५ क्रमांके परमेश्वरोपासना-विषये व्याख्याता। अत्रात्मोद्बोधनविषयमाह।

३ १ २　　३ १ २　३ १ २　३ १ २
७०३. **यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे।**
१ २ ३ २ ३ १ २　३ १ २　३ २　३ १ २　२ २
प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ।।१।।[1]
३ १ २　३ २ ३　१ २　३ १ २　३ २ ३　१ २ २
यज्ञायज्ञा यज्ञा यज्ञा वः अग्नये। गिरागिरा गिरा गिरा च दक्षसे।
१ २ २　३ ३ २　३ १ २　३ १ २ २　३ १ २　३ २ ३
प्रप्र प्र प्र वयम् अमृतम् अ मृतम् जातवेदसम् जात वेदसम्।
२　३ २　३ २　३
प्रियम् मित्रं मि त्रम् न शंसिषम् ।।१।।

पदार्थः—हे भ्रातरः ! अहम् **यज्ञायज्ञा** प्रतियज्ञम् **वः** युष्मान् **अग्नये** स्वात्मनि अग्निं प्रज्वालयितुम् प्रेरयामि। **गिरागिरा च** वाचा वाचा च **दक्षसे** स्वात्मानम् उन्नेतुं प्रेरयामि। **वयम्** वयं सर्वे मिलित्वा **अमृतम्** अमरणधर्माणम्, **जातवेदसम्** उत्पन्नानां पदार्थानां वेत्तारं जीवात्मानम् **प्रप्र** प्रशंसामः प्रशंसाम, प्रोद्बोधयामः इत्यर्थः। अहं पृथगपि **मित्रं न** सुहृदमिव **प्रियम्** प्रीतिपात्रम् तं जीवात्मानम् **प्रप्र शंसिषम्** प्रकर्षेण स्तौमि, तद्गुणान् कीर्तयामि।।१।।[2]

अत्रोपमालङ्कारः।।१।।

भावार्थः—मनुष्यस्यान्तरात्मनि महती शक्तिर्निहितास्ति, तां प्रोद्बोध्य महान्ति कार्याणि साद्धुं शक्यन्ते।।१।।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में क्रमांक ३५ पर परमेश्वरोपासना विषय में व्याख्या हो चुकी है। यहां आत्मोद्बोधन का विषय है।

पदार्थ—हे भाइयो ! मैं **यज्ञायज्ञा** प्रत्येक यज्ञ में **वः** तुम्हें **अग्नये** अपने अन्तरात्मा में अग्नि प्रज्वलित करने के लिये प्रेरित करता हूं। **गिरागिरा च** और प्रत्येक वाणी द्वारा **दक्षसे** आत्मोन्नति के लिऐ, प्रेरित करता हूं। **वयम्** हम सब मिल कर **अमृतम्** अमर, **जातवेदसम्** उत्पन्न पदार्थों के ज्ञाता जीवात्मा को **प्रप्र** अधिकाधिक प्रोद्बोधन देते हैं। मैं अलग भी **मित्रं न** मित्र के समान **प्रियम्** प्रिय उस जीवात्मा का **प्रप्र शंसिषम्** अधिकाधिक गुणकीर्तन करता हूं।।१।।

---

१. ऋ० ६।४८।१, य० २७।४२, साम० ३५।

२. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमृग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च विद्वत्कर्तव्यविषये व्याख्यातः।

इस मन्त्र में उपमालंकार है।।१।।

भावार्थ—मनुष्य के अन्तरात्मा के अन्दर महान् शक्ति छिपी पड़ी है, उसे जगाकर बड़े-बड़े कार्य सिद्ध किये जा सकते हैं।।१।।

अथ परमेश्वरं कामयते।

३ १र २र३ २ ३ १र २र ३१र २र ३ १ २
७०४. **ऊर्जो नपातं स हिनायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये।**
२ ३ १ २ ३ १र २र३ २ ३ २ ३ २ ३१ २
भुवद्वाजेष्वविता भुवद्वृध उत त्राता तनूनाम् ।।२।।[1]

३ २ १ २र ३ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ १ २ ३ २ ३
ऊर्जः नपातम् सः हिन अयम् अस्मयुः। दाशेम हव्यदातये हव्य दातये।
१ २र १ २र ३ २ १ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३१ २
भुवत् वाजेषु अविता भुवत् वृधे। उत त्राता तनूनाम् ।।२।।

पदार्थः—**ऊर्जः** बलस्य **नपातम्** न पातयितारम् अग्निं परमेश्वरम्, अहम् **प्रप्र शंसिषम्** पुनः पुनः प्रशंसामि। [प्रप्र शंसिषम् इति पूर्वमन्त्रादाकृष्यते।] **सः अयम्** स एषः **हिन**[2] निश्चयेन **अस्मयुः** अस्मान् कामयमानः अस्ति। **हव्यदातये** दातव्यानां सद्गुणादीनां दात्रे तस्मै परमेश्वराय, वयम् **दाशेम** आत्मानं समर्पयेम। [हव्यानां दातिः दानं यस्मात् स हव्यदातिः। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः।] सः **वाजेषु** देवासुरसंग्रामेषु, अस्माकम् **अविता** रक्षकः **भुवत्** भवेत्, **वृधः** वर्धकः **भुवत्** भवेत्, **उत** अपि च **तनूनाम्** अस्माकम् अन्नमयप्राणमयमनोमयादिदेहानाम् **त्राता** त्राणकर्ता, भुवत् भवेत् ।।२।।[3]

भावार्थः—मनुष्याः स्वात्मानं परमात्मने समर्प्य महत् कल्याणं प्राप्तुमर्हन्ति।।२।।

अगले मन्त्र में परमेश्वर की कामना की गयी है।

पदार्थ—ऊर्जः बल के **नपातम्** न गिरने देने वाले परमेश्वर की, मैं **प्रप्र शंसिषम्** पुनः-पुनः प्रशंसा करता हूं। **सः अयम्** वह यह **हिन** निश्चय ही **अस्मयुः** हमसे प्रीति करने वाला है। **हव्यदातये** देने योग्य सद्गुण आदि के दाता उस परमेश्वर के लिये, हम **दाशेम** आत्मसमर्पण करें। वह **वाजेषु** देवासुरसंग्रामों में, हमारा **अविता** रक्षक **भुवत्** होवे, **वृधः** वृद्धिकर्ता **भुवत्** होवे, **उत** और **तनूनाम्** हमारे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय आदि शरीरों का **त्राता** त्राणकर्ता, होवे।।२।।

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि परमात्मा को आत्मसमर्पण करके महान् कल्याण प्राप्त करें।।२।।

।।२१।। **अथ** 'एह्यू षु' इत्यादिकस्यैकविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। **देवता** अग्निः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः।।

---

१. ऋ० ६।४८।२, य० २७।४४।

२. हिन इति निपातद्वयसमुदायो हीत्यस्यार्थे— इति सा०। (हिन) खलु— इति ऋ० ६।४८।२ **भाष्ये** द०। **हिनः** हिनो मनुष्यः हीनायुर्हीनशक्तिर्हीनप्रज्ञो वा इति वि०।

३. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिममृग्भाष्ये राजप्रजाविषये यजुर्भाष्ये च गुरुविद्यार्थिविषये व्याख्यातवान्।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ७ क्रमांके परमेश्वरोपासनाविषये व्याख्याता। अत्र गुरुः शिष्यं सम्बोधयति।

२ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
७०५. एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः। एभिर्वर्धास इन्दुभिः ॥१॥[1]

२ ३ २ १ २र ३ १ २र ३ २ १ २र १ २र ३ २ ३ १ २र
आ इहि ऊ सु ब्रवाणि ते। अग्ने इत्था इतराः गिरः। एभिः वर्धासे इन्दुभिः ॥१॥

पदार्थः—हे अग्ने तपस्विन् विद्यार्थिन्! [तपो वा अग्निः। श० ३।४।३।२।] **एहि उ** आगच्छ खलु। अहम् **ते** तुभ्यम् **सु** सम्यक् **इत्था** सत्यम् **इतराः** सामान्यविलक्षणाः **गिरः** शास्त्रवाचः **ब्रवाणि** उपदिशानि। त्वम् **एभिः** एतैः **इन्दुभिः** विद्यारसैः **वर्धासे** वर्धस्व ॥१॥[2]

भावार्थः— गुरुभिः प्रेम्णा समाहूय शिष्या मनोयोगेन पाठनीयाः॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में क्रमांक ७ पर परमेश्वरोपासना के विषय में की गयी थी। यहां गुरु शिष्य को सम्बोधन कर रहा है।

पदार्थ—हे **अग्ने** तपस्वी विद्यार्थी! **एहि उ** आ, मैं **ते** तेरे लिये **सु** भलीभांति **इत्था** सच्चे रूप में **इतराः** सामान्य वाणियों से विलक्षण प्रकार की **गिरः** शास्त्रवाणियों का **ब्रवाणि** उपदेश करूं। तू **एभिः** इन **इन्दुभिः** विद्या-रसों से **वर्धासे** वृद्धि को प्राप्त कर॥१॥

भावार्थ—गुरुओं को चाहिऐ कि प्रेम से बुलाकर शिष्यों को मनोयोग से पढ़ाएं॥१॥

पुनरपि तमेव विषयमाह।

२ ३क २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
७०६. यत्र क्व च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम्। तत्र योनिं कृणवसे ॥२॥[3]

१ २र १ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २र १ २र १ २र ३
यत्र क्व च ते मनः। दक्षम् दधसे उत्तरम्। तत्र योनिम् कृणवसे ॥२॥

पदार्थः—हे विद्यार्थिन्! **यत्र क्व च** यत्र कुत्रापि, यस्मिन् कस्मिन्नपि विज्ञाने **ते मनः** तव चित्तम्, अस्ति, तत्र **उत्तरम्** अधिकतरम् **दक्षम्** बलम्, नैपुण्यम् **दधसे** धत्स्व। अपि च **तत्र** तस्मिन् विज्ञाने **योनिम्** गृहम् **कृणवसे** कुरुष्व, तस्यां विद्यायां पारंगतो भवेत्यर्थः॥२॥[4]

भावार्थः—यास्वपि विद्यासु शिष्याणां रुचिर्ग्रहणशक्तिश्च भवेत्, तासु विद्यासु ते गुरुभिर्निष्णाताः कार्याः॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है।

पदार्थ—हे विद्यार्थिन्! **यत्र क्व च** जिस किसी भी विज्ञान में **ते मनः** तेरा मन है, अर्थात् तेरी रुचि है, उसमें **उत्तरम्** अधिकाधिक **दक्षम्** बल को, निपुणता को **दधसे** धारण कर। और **तत्र** उस विज्ञान में **योनिम्** घर **कृणवसे** कर ले, अर्थात् उस विद्या में पारंगत हो जा॥२॥

भावार्थ—जिन भी विद्याओं में शिष्यों की रुचि तथा ग्रहणशक्ति हो उन विद्याओं में गुरुजन उन्हें निष्णात करें॥२॥

---

१. ऋ० ६।१६।१६, य० २६।१३, साम० ७।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतमृग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च विद्वद्विषये व्याख्यातवान्।

३. ऋ० ६।१६।१७, 'तत्रा सदः कृणवसे' इति तृतीयः पादः।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वत्पक्षे व्याख्यातवान्।

अथ शिष्या गुरुं प्राहुः।

७०७. न हि ते पूर्तमक्षिपद् भुवन्नेमानां पते। अथा दुवो वनवसे ॥३॥[1]

न हि ते पूर्त्तम् अक्षिपत् अक्षि पत्। भुवत् नेमानाम् पते। अथ दुवः वनवसे ॥३॥

पदार्थः—हे **नेमानां**[2] **पते** अपूर्णानाम् अस्माकम् [त्वो नेम इत्यर्धस्य। निरु० ३।२०।] पालक आचार्यवर ! **ते** तव **पूर्तम्** पालनं, पूरणं **अक्षि-पत्** नेत्रादीनाम् इन्द्रियाणां पातयितृ **नहि** नैव **भुवत्** भवेत्। **अथ** अपि च, त्वम् अस्माकम् **दुवः** परिचरणम्। [दुवस्यतिः परिचरणकर्मा निघं० ३।५।] **वनवसे** सम्भजस्व। [वन सम्भक्तौ, लेटि रूपम्] ॥३॥[3]

भावार्थः—गुरवः शिष्यान् सम्यगध्याप्य सदाचारे प्रवर्त्तयेयुः, शिष्याश्च तान् श्रद्धया सत्कुर्युः॥३॥

अगले मन्त्र में शिष्य गुरु को कह रहे हैं।

पदार्थ—हे नेमानां पते हम अपूर्णों के पालनकर्ता आचार्यवर ! **ते** आपका **पूर्तम्** पालनपूरण **अक्षिपत्** आंख आदि इन्द्रियों को पतन की ओर ले जाने वाला **नहि** न **भुवत्** होवे। **अथ** और, आप हमारे **दुवः** सत्कार को **वनवसे** स्वीकार कीजिए ॥३॥

भावार्थ—गुरुजन शिष्यों को भली-भांति पढ़ाकर सदाचार में प्रवृत्त करें और शिष्य उनका श्रद्धा के साथ सत्कार करें ॥३॥

॥२२॥ अथ 'वयमु त्वामपूर्व्य' इत्यादिकस्य द्वाविंशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सोभरिः काण्वः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** काकुभः प्रगाथः १. विषमा ककुप्, २ समा सतोबृहती।
स्वरः १ ऋषभः, २. पंचमः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४०८ क्रमांके परमेश्वराचार्यभिषग्विषये व्याख्याता। अत्र जीवात्मानमाह।

७०८. वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यवः। वज्रिञ्चित्रं हवामहे ॥१॥[4]

वयम् उ त्वाम् अपूर्व्य अ पूर्व्य। स्थूरम् न कत् चित् भरन्तः अवस्यवः।
वज्रिन् चित्रम् हवामहे ॥१॥

पदार्थः—हे **अपूर्व्य** अद्वितीयबलयुक्त **वज्रिन्** कामक्रोधादिषु रिपुषु उद्यतवज्र इन्द्र मदीय अन्तरात्मन्! **अवस्यवः** प्रगतिं कामयमानाः **वयम् उ** वयंखलु **चित्रम्** अद्भुतगुणकर्मस्वभावम् **त्वाम् हवामहे** आह्वयामः। कथमिव? **न** यथा **कच्चित्** किमपि **स्थूरम्** स्थूलं विशालं वस्तु **भरन्तः** हरन्तः, स्थानान्तरं प्रापयन्तो जनाः सहायतार्थं कमपि हवन्ते आह्वयन्ति तद्वत्। [हृञ् हरणे, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' इति वार्तिकेन हस्य भः] ॥१॥

---

१. ऋ० ६।१६।१८।
२. नेमानां शरीरिणाम् इन्द्रियाणां वा—इति वि०।
३. ऋग्भाष्ये दानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं 'ये मनुष्याः सत्याचारं कुर्वन्ति तेषां कामपूर्तिः कदापि न हन्यते' इति विषये व्याख्यातवान्।
४. ऋ० ८।२१।१, अथ० २०।१४।१ (ऋषिः सौभरि), २०।६२।१, सर्वत्र 'वाजे चित्रं हवामहे' इति पाठः। साम० ४०८।

अत्रोपमालंकारः ।।१।।

भावार्थः—प्रगतिमार्गमनुधावितुं मनुष्यस्य स्वकीय अन्तरात्मा खलु परमः सहायकः ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में क्रमांक ४०८ पर परमेश्वर, आचार्य और वैद्यराज के पक्ष में व्याख्यात हो चुकी है। यहां जीवात्मा को कहा जा रहा है।

पदार्थ—हे **अपूर्व्य** अद्वितीय बल से युक्त, **वज्रिन्** काम, क्रोध आदि शत्रुओं पर वज्र-प्रहार करने वाले मेरे अन्तरात्मा! **अवस्यवः** प्रगति को चाहने वाले **वयम्** हम **चित्रम्** अद्भुत गुण कर्म-स्वभाव वाले **त्वाम्** आपको **आह्वयामः** पुकारते हैं। किस प्रकार? **न** जैसे **कच्चित्** किसी **स्थूरम्** स्थूल बड़ी वस्तु को **हरन्तः** दूसरे स्थान पर ले जाते हुए लोग, सहायता के लिये किसी को पुकारते हैं।।१।।

इस मंत्र में उपमालंकार है।।१।।

भावार्थ— प्रगति के मार्ग पर दौड़ने के लिये अपना अन्तरात्मा मनुष्य का परम सहायक होता है।।१।।

अथ परमात्मानं वृणुते ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
७०९. **उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत्।**
१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
त्वामिध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ।।२।।[1]

१ २र ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र ३ २ ३ २ ३ २
उप त्वा कर्मन् ऊतये। सः नः युवा उग्रः चक्राम यः धृषत्।
३ १ २ ३ १ २ १ २र ३ २
त्वाम् इत् हि अवितारम् ववृमहे। सखायः स खायः इन्द्र सानसिम् ।।२।।

पदार्थः—हे **इन्द्र** परमसहायक परमात्मन्! **कर्मन्**[2] कर्मणि। [अत्र 'सुपां सुलुक्' इति विभक्तेर्लुक्।] **ऊतये** रक्षार्थम् **त्वा** त्वाम् **उप** उपगच्छामः। द्वितीयः पादः परोक्षकृतः। पश्यत, **सः** असौ **नः** अस्माकम् **युवा** नित्यतरुणः **उग्रः** वीरः परमेश्वरः तम् **चक्राम** आक्रामति। [क्रमु पादविक्षेपे। लडर्थे लिट्] **यः** आन्तरो बाह्यो वा शत्रुः **धृषत्** अस्मान् प्रसहते। [धृष प्रसहने, लेट्।] हे परमेश! **सखायः** तव सुहृदो वयम् **अवितारम्** रक्षकम्, **सानसिम्** संभजनीयम् **त्वाम् इत् हि** त्वामेव **ववृमहे** वृण्महे।।२।।

भावार्थः— महाशक्तिरपि जीवः संसारसमरांगणे विजेतुं परमात्मनः साहाय्यमपेक्षते।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा का वरण करते हैं।

पदार्थ—हे **इन्द्र** परमसहायक परमात्मन्! **कर्मन्** कर्मों में **ऊतये** रक्षा के लिये हम **त्वा** आपको **उप** प्राप्त होते हैं। भाइयो! देखो **सः** वह **नः** हमारा **युवा** सदा युवा रहने वाला **उग्रः** वीर प्रभु, उस पर **चक्राम** आक्रमण कर देता है, **यः** जो आन्तरिक या बाह्य शत्रु **धृषत्** हमें दबाता है। हे परमेश! **सखायः** आपके सखा हम **अवितारम्** रक्षक, **सानसिम्** संभजनीय **त्वाम् इत हि** आपको ही **ववृमहे** वरण करते हैं।।२।।

भावार्थ—महाशक्तिशाली भी जीव को संसार-समरांगण में विजय पाने के लिये परमात्मा की सहायता अपेक्षित होती है।।२।।

---

१. ऋ० ८।२१।२, अथ० २०।१४।२ (ऋषिः सौभरिः), २०।६२।२ ।

२. कर्मन्, कर्मणा यः सम्भजते तस्य सम्बोधनं, हे कर्मन् इति—वि० । तत्तु चिन्त्यं स्वरविरोधात्

।।२३।। 'अधा हीन्द्र' इत्यादिकस्य त्रयोविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** नृमेध आङ्गिरसः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** १. ककुबुष्णिक् २. उष्णिक्, ३. पुर उष्णिक्। **स्वरः** ऋषभः।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४०६ क्रमांके जगदीश्वरविषये व्याख्याता। अत्र शिष्या ब्रह्मविदमाचार्यं प्राहुः।

२ ३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
७१०. अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा काम ईमहे ससृग्महे। उदेव ग्मन्त उदभिः ।।१।।[1]

१ २र ३ १ २र ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
अध हि इन्द्र गिर्वणः गिः वनः। उप त्वा कामे ईमहे ससृग्महे।
३ २ ३ १ २र ३ १ २
उदा इव ग्मन्त उदभिः ।।१।।

पदार्थः—हे **गिर्वणः** गीर्भ्यः उपदेशवाग्भ्यः वननीय संभजनीय **इन्द्र** ब्रह्मविद् आचार्यप्रवर! **अध हि** अथ खलु, वयं शिष्याः **कामे** ब्रह्मसाक्षात्काररूपमनोरथपूर्त्यर्थम् **त्वा** त्वाम् **उप ईमहे** उप गच्छामः, **ससृग्महे** त्वया सह निकटसंसर्गं च प्राप्नुमः। कथम्? **उदा इव** यथा उदकेन जलमध्येन **ग्मन्तः** गच्छन्तः जनाः **उदभिः** उदकैः संसृज्यन्ते तद्वत्। उक्तं च यथा— आचार्यऽ उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः अथ० ११।५।३। इति ।।१।।

अत्रोपमालङ्कारः। 'महे, महे', 'उदे, उद' इत्यत्र च छेकानुप्रासः।।१।।

भावार्थः—यदा जिज्ञासुजनाः समित्पाणयो भूत्वाऽऽचार्यं प्रत्यात्मानं समर्प्य तत्सान्निध्ये वसन्ति, ततो न किमपि निगूहन्ति, तदैव तत्सकाशादपराविद्यां पराविद्यां च प्राप्तुं क्षमन्ते।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ४०६ क्रमांक पर जगदीश्वर के विषय में की गयी थी। यहां शिष्य ब्रह्मवेत्ता आचार्य को कह रहे हैं।

पदार्थ—हे **गिर्वणः** उपदेशवाणियों के लिये सेवनीय **इन्द्र** ब्रह्मवेत्ता आचार्यप्रवर! **अध हि** अब हम शिष्यलोग **कामे** ब्रह्मसाक्षात्काररूपी मनोरथ की पूर्ति के लिये **त्वा** तेरे **उप ईमहे** समीप पहुंचते है, और **ससृग्महे** तेरे साथ निकट संसर्ग प्राप्त करते हैं। कैसे? **उदा इव** जैसे जलों के बीच से **ग्मन्तः** जाते हुए लोग **उदभिः** जलों से संसर्ग को पाते हैं।।१।।

इस मंत्र में उपमालंकार है। 'महे, महे' और 'उदे, उद' में छेकानुप्रास है।।१।।

भावार्थ—जब जिज्ञासुजन समित्पाणि होकर आचार्य के प्रति स्वयं को समर्पित करके उसके सन्निध्य में रहते है और उससे कुछ भी नही छिपाते हैं, तभी वे उसके पास से अपरा विद्या और परा विद्या सीख पाते हैं।।१।।

अथ परमात्मविषय उच्यते।

१र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
७११. वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि। वावृध्वांसं चिदद्रिवो दिवेदिवे ।।२।।[2]

२ ३ १ २ १ २र ३ १ २र
वाः न त्वा यव्याभिः। वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
वावृध्वांसम् चित् अद्रिवः अ द्रिवः दिवेदिवे दिवे दिवे ।।२।।

---

१. ऋ० ८।९८।७, अथ० २०।१००।१ उभयत्र 'कामान् महः ससृज्महे। उदेव यन्त उदभिः' इति पाठः। साम० ४०६।
२. ऋ० ८।९८।८, अथ० २०।१००।२।

पदार्थः—हे **शूर** वीर, **अद्रिवः** विदारयितुमशक्य अजरामर इन्द्र प्रभो! **यव्याभिः** कुल्याभिः। [यव्याः इति नदीनामसु पठितम्। निघं० १।१३।] **वाः न** सरोवरादौ उदकं यथा वर्धयन्ति जनाः, तथैव **वावृध्वांसं चित्** वृद्धमपि **त्वा** त्वाम् **ब्रह्माणि** उपासकानां स्तोत्राणि **वर्धन्ति** स्वहृदये समेधयन्ति समाजे वा प्रचारयन्ति।।२।।

यः पूर्वमेव वृद्धस्तमपि वर्धन्तीति विरोधालङ्कारः। वर्धनेन स्मरणं प्रचारणं च गृह्यते इति विरोधपरिहारः।।२।।

भावार्थः—सर्वान्तर्यामी ह्रासवृद्धिरहितोऽपि जनैर्विस्मृतत्वाद् नास्तिकत्वप्रचाराच्च ह्रसित इव भवति। भक्तजनैस्तदीयस्तोत्रगानैः स वर्धनीयः प्रचारणीयश्च।।२।।

अगले मंत्र में परमात्मा का विषय है।

पदार्थ—हे **शूर** शूरवीर, **अद्रिवः** किसी से विदारण न किये जा सकने वाले अजर-अमर इन्द्र प्रभु! **यव्याभिः** नहरों द्वारा जल लाकर **वाः न** जैसे सरोवर आदि में लोग जल के परिमाण को बढ़ाते रहते हैं, वैसे ही **वावृध्वांसं चित्** पहले से बढ़े हुए भी **त्वा** तुझे **ब्रह्माणि** उपासक के स्तोत्र **वर्धन्ति** अपने हृदय में बढ़ाते हैं या समाज में प्रचारित करते हैं।।२।।

'जो पहले से ही बढ़ा हुआ है उसे भी बढ़ाते हैं' इसमें विरोधालंकार है। **बढ़ाने से स्मरण तथा प्रचार** अभिप्रेत होने पर विरोध का परिहार हो जाता है।।२।।

भावार्थ—सर्वान्तर्यामी ह्रासवृद्धिरहित भी परमेश्वर लोगों द्वारा भुला दिये जाने से और नास्तिकता का प्रचार हो जाने के कारण मानो ह्रास को प्राप्त हो जाता है। भक्तजनों को चाहिए कि उसके स्तोत्रों का गान करके उसे बढ़ायें तथा उसका प्रचार करें।।२।।

अथोपासकाः किं कुर्वन्तीत्याह।

३ २ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३१र २र ३१ २ ३१ २
७१२. युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे वचोयुजा।
३ १ २ ३ १ २
इन्द्रवाहा स्वर्विदा।।३।।[1]

३ १ २ १ २र१ २ ३ १ २ १ २र ३ २ १ २र ३१ २ ३२ ३ १ २ ३ १ २र
युञ्जन्ति हरीइति इषिरस्य गाथया। उरौ रथे उरुयुगे उरु युगे वचोयुजा वचः युजा।
३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र
इन्द्रवाहा इन्द्र वाहा स्वर्विदा स्वः विदा ।।३।।

पदार्थः—उपासका जनाः किल **इषिरस्य** सर्वान्तर्यामिनः परमेश्वरस्य **गाथया** यशोगीतिकया सह **उरुयुगे** पृष्ठवंशरूपविस्तीर्णधुरायुक्ते **उरौ** विशाले **रथे** देहरथे **वचोयुजा** वचनसमकालमेव युज्यमानौ **इन्द्रवाहा** इन्द्रेण जीवात्मना उह्यमानौ प्रेर्यमाणौ **स्वर्विदा** ज्ञानकर्मप्रापकौ **हरी** ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपौ अश्वौ **युञ्जन्ति** योजयन्ति।।३।।

भावार्थः—परमेश्वरोपासनया सह जीवने ज्ञानसंचयः पुरुषार्थश्चापि कार्यः।।३।।

अस्मिन् खण्डे आत्मोद्बोधनजीवात्मपरमात्मगुरुशिष्यादिवर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन सह संगतिर्वेद्या।

---

१. ऋ० ८।९८।९, अथ० २०।१००।३, उभयत्र 'उरुयुगे। इन्द्रवाहा' वचोयुजा। इति पाठः।

अगले मंत्र में उपासक क्या करते हैं, यह कहा गया है।

पदार्थ—उपासक लोग **इषिरस्य** सर्वान्तर्यामी परमेश्वर के **गाथया** कीर्तिगान के साथ **उरुयुगे** जिसमें पृष्ठवंशरूप विस्तीर्ण धुरा लगा है ऐसे, **उरौ** विशाल **रथे** देहरूप रथ में **वचोयुजा** कहते ही कार्यसंलग्न हो जाने वाले, **इन्द्रवाहा** आत्मा से प्रेरित होने वाले, **स्वर्विदा** ज्ञान तथा कर्म को प्राप्त कराने वाले **हरी** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-रूप घोड़ों को **युञ्जन्ति** कार्यतत्पर कर देते हैं ।।३।।

भावार्थ—परमेश्वर की उपासना के साथ जीवन में ज्ञान का संचय तथा पुरुषार्थ भी करना चाहिये।।३।।

इस खण्ड में आत्मोद्बोधन, जीवात्मा, परमात्मा, गुरु-शिष्य आदि का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिये।

प्रथम अध्याय में षष्ठ खण्ड समाप्त। प्रथम अध्याय समाप्त।

प्रथम प्रपाठक में प्रथम अर्ध समाप्त।

प्रथम प्रपाठक में प्रथम अर्ध समाप्त।

अथ द्वितीयोऽध्यायः प्रथमे प्रपाठके द्वितीयोऽर्धश्च

।।१।। अथ 'पान्तमा' इत्यादिकस्य प्रथमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** श्रुतकक्ष अङ्गिरसः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** आनुष्टुभः प्रगाथः, १ अनुष्टुप्, २-३ गायत्री। **स्वरः** १ गान्धारः, २-३ षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १५५ क्रमांके परमात्मनृपत्योः पक्षे व्याख्याता। अत्र गुरुशिष्यविषयमाह ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
७१३. पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम् ।।१।।[1]

१ २र ३ १ २र १ २र ३ २ ३
पान्तम् आ वः अन्धसः। इन्द्रम् अभि प्र गायत।
१ २ ३ १२र ३ १ २ ३ २ ३ १ २र ३ २
विश्वासाहम् विश्वा साहम् शतक्रतुम् शत क्रतुम्। मंहिष्ठम् चर्षणीनाम् ।।१।।

पदार्थः—हे शिष्याः ! **वः** यूयम् **अन्धसः** विद्यारसस्य **पान्तम्** रक्षां कुर्वाणम्, **विश्वासाहम्** कामक्रोधाज्ञानालस्यादिसमस्तरिपूणां पराभवितारम्, **शतक्रतुम्** बहुप्रज्ञं बहुकर्माणं च, **चर्षणीनाम्** पुरुषार्थिनां छात्राणाम् **मंहिष्ठम्** अतिशयेन विद्यायाः सद्वृत्तस्य च दातारम् **इन्द्रम् अभि** अगाधज्ञानाद्यैश्वर्येण शोभमानम् आचार्यम् अभिलक्ष्य **प्र गायत** प्रकृष्टतया स्तुतिं कुरुत ।।१।।

भावार्थः—ये शिष्या विद्यायाः समुद्रं शिक्षणकलाकुशलं सदाचारिणं **ब्रह्मिष्ठं** गुरुं श्रद्धया परिचरन्ति ते विद्वांसः सदाचारिणो ब्रह्मवेत्तारः सन्तोऽभ्युदयं लभन्ते ।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में १५५ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के पक्ष में हो चुकी है। यहां गुरु शिष्य विषय का वर्णन करते हैं।

पदार्थ—हे शिष्यो ! **वः** तुम **अन्धसः** विद्या-रस की **पान्तम्** रक्षा करने वाले, **विश्वासाहम्** काम, क्रोध, अज्ञान, आलस्य आदि सब शत्रुओं को पराजित करने वाले, **शतक्रतुम्** बहुत बुद्धिमान् तथा बहुत कर्मण्य,

---

१. ऋ० ८।९२।१, साम० १५५।

चर्षणीनाम् पुरुषार्थी छात्रों को **मंहिष्ठम्** अतिशय विद्या और सदाचार का दान करने वाले **इन्द्रम् अभि** अगाध ज्ञान आदि ऐश्वर्य से शोभायमान आचार्य को लक्ष्य करके **प्र गायत** भलीभांति स्तुति करो ।।१।।

भावार्थ—जो शिष्य विद्या के समुद्र, शिक्षण-कला में कुशल, सदाचारी, ब्रह्मिष्ठ गुरु की श्रद्धा के साथ सेवा करते हैं वे विद्वान्, सदाचारी, ब्रह्मज्ञानी होकर अभ्युदय प्राप्त करते हैं ।।१।।

अथाचार्यः शिष्यान् प्राह।

३ १ २ ३१ २ ३ २ १ २ २ ३ १ २
७१४. पुरुहूतं पुरुष्टुतं गाथान्यं३ सनश्रुतम्। इन्द्र इति ब्रवीतन ।।२।।[1]

३ १ ३ २ २ ३२ ३ २ ३क २ १२र १२र ३
पुरुहूतम् पुरु हूतम् पुरुष्टुतम् पुरु स्तुतम्। गाथान्यम् सन श्रुतम् सन श्रुतम्।
१ २र १ २र ३
इन्द्रः इति ब्रवीतन ब्रवीत न ।।२।।

पदार्थः—भोः शिष्याः यूयम् **पुरुहूतम्** पुरुभिः बहुभिः आहूतम्, **पुरुष्टुतम्** बहुस्तुतम्, **गाथान्यम्**[2] गीयन्ते इति गाथाः वेदवाचः ताः नयति प्रापयतीति गाथानीः तम्, वेदवाचामुपदेष्टारम्, **सनश्रुतम्**[3] सनातनतया प्रसिद्धम् परमेश्वरमेव **इन्द्रः इति** इन्द्र इति नाम्ना **ब्रवीतन** ब्रूत। [ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि, अदादिः, ईडागमश्छान्दसः, तस्य तनबादेशः] ।।२।।

भावार्थः—यद्यप्याचार्योऽपि 'इन्द्र' पदवाच्योऽस्ति तथापि इन्द्राणामपि इन्द्रः परमेश्वर एव विद्यते, ''स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'' (योग० १।२६) इत्युक्तेः ।।२।।

अगले मंत्र में आचार्य शिष्यों को कह रहा है।

पदार्थ—हे शिष्यो! तुम **पुरुहूतम्** बहुतों से पुकारे जाने वाले, **पुरुस्तुतम्** बहुत स्तुति किये जाने वाले, **गाथान्यम्** वेदवाणियों को प्राप्त कराने वाले अर्थात् वेदवाणियों के उपदेष्टा, **सनश्रुतम्** सनातन रूप से प्रसिद्ध परमेश्वर को ही **इन्द्रः इति** इन्द्र नाम से **ब्रवीतन** कहा करो।।२।।

भावार्थ—यद्यपि इन्द्र का अर्थ आचार्य भी होता है तथापि इन्द्रों का भी इन्द्र परमेश्वर ही है, जैसा कि योगदर्शन १।२६ में वर्णित है कि 'ईश्वर काल से बंधा न होने के कारण प्राचीनों का भी गुरु हैं।।२।।

अथ जगदीश्वरो वर्ण्यते।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
७१५. इन्द्र इन्नो महोनां दाता वाजानां नृतुः। महाँ अभिज्ञ्वा यमत् ।।४।।[4]

१ २र ३ १ २ ३ २ १ २र ३ २
इन्द्रः इत् नः महोनाम्। दाता वाजानाम् नृतुः।
३ २ ३ २ ३ २ ३
महान् अभिज्ञु अभि ज्ञु आ यमत् ।।३।।

---

१. ऋ० ८।९२।२

२. गाथाः स्तोत्रशस्त्रमन्त्राणि ताभिः नीयते यः स गाथान्यः तं गाथान्यम्—इति वि० । गाथान्यं गानयोग्यं गातव्यम्—इति सा०। (गाथान्यः) यो गाथा नयति तस्य—इति ऋ० १।१९०।१ भाष्ये द०।

३. सनशब्दः सदावाची, सदैव विश्रुतम्—इति वि०।

४. ऋ० ८।९२।।३ ।

पदार्थः—**इन्द्रः इत्** जगदीश्वर एव **नः** अस्मभ्यम् **महोनाम्** महताम् **वाजानाम्** धनान्नबलवेगविज्ञानादीनाम् **दाता** अर्पयिता, **नृतुः**[1] जगत्प्रांगणे सर्वेषां प्राणिनां तत्तत्कर्मानुसारं नर्तयिता च विद्यते। **महान्** महिमोपेतः सः मातुः गर्भे प्राणिनः **अभिज्रु**[2] अभिगतजानुकं यथा स्यात् तथा **आयमत्**[3] बध्नाति।।३।।

भावार्थः—जगदीश्वर एव सर्वेषां जनयिता पालयिता मारयिता कर्मफलप्रदाता च विद्यते।।३।।

अगले मंत्र में जगदीश्वर का वर्णन है।

पदार्थः—**इन्द्रः इत्** जगदीश्वर ही **नः** हमारे लिये **महोनाम्** महान् **वाजानाम्** धन, अन्न, बल, वेग, विज्ञान आदि का **दाता** दाता, और **नृतुः** जगत् के प्रागंण में सब प्राणियों को उन-उनके कर्मों के अनुसार नचाने वाला है। **महान्** महान् वह माता के गर्भ में प्राणियों को **अभिज्रु** घुटने मोड़े हुए **आयमत्** बांधे रखता है।।३।।

भावार्थ—जगदीश्वर ही सबका उत्पादक, पालक, संहारक और कर्मफलों का प्रदाता है।।३।।

।।२।। अथ 'प्र व इन्द्राय' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठः मैत्रावरुणिः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १५६ क्रमांके परमात्मपक्षे नृपतिपक्षे च व्याख्याता। अत्र जीवात्मपक्षे व्याख्यायते।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
७१६. **प्र व इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत। सखायः सोमपाव्ने।।१।।**[4]

२ ३ १ २र १ २र १ २र १ २र ३
प्र वः इन्द्राय मादनम्। हर्यश्वाय हरि अश्वाय गायत।

१ २र ३ १ २ ३ १ २र
सखायः स खायः सोमपाव्ने सोम पाव्ने।।१।।

पदार्थः—हे **सखायः** सुहृदः! **वः** यूयम् **हर्यश्वाय** हरयः ज्ञानकर्माहरणशीलाः अश्वाः ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपाः यस्य तस्मै, **सोमपाव्ने** ब्रह्मानन्दरसस्य पात्रे **इन्द्राय** स्वान्तरात्मने **मादनम्** हर्षकरम् उद्बोधकं गीतम् **प्रगायत** प्रकृष्टतया उच्चारयत।।१।।[5]

भावार्थः—आत्मोद्बोधनेनैव सर्वैः संसारसमरे विजयो ब्रह्मानन्दरसश्च प्राप्तुं शक्यते।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में मंत्रसंख्या १५६ पर परमात्मा और राजा के पक्ष में व्याख्यात हो चुकी है। यहां जीवात्मा के पक्ष में व्याख्या करते हैं।

पदार्थ—हे **सखायः** साथियो! **वः** तुम **हर्यश्वाय** ज्ञान ग्रहण कराने और कर्मों को कराने वाले ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय रूप घोड़े जिसके पास हैं ऐसे, **सोमपाव्ने** ब्रह्मानन्दरस का पान करने वाले **इन्द्राय** अपने अंतरात्मा के लिये **मादनम्** हर्षक एवं उद्बोधक गीत **प्र गायत** भली-भांति गाया करो।।१।।

---

१. नृतुः नृभ्यो हितः—इति वि०।

२. अभिज्रु सर्वस्य ज्ञाता—इति वि०।

३. आयमत्—यमु बन्धने, सर्वं जगत् कर्मभवैः पाशैर्बध्नाति—इति वि०।

४. ऋ० ७।३१।१, साम० १५६।

५. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सखिभिर्मित्राय किं कर्तव्यमिति विषये व्याख्याति।

भावार्थ—अपने आत्मा को उद्बोधन देकर ही सब लोग संसार-समर में विजय तथा ब्रह्मानन्दरस पा सकते हैं।।१।।

अथ परमात्मशंसनाय प्रेरयति।

२उ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
७१७. शंसेदुक्थं सुदानव उत द्युक्षं यथा नरः। चकृमा सत्यराधसे ।।२।।[1]

१ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २ ३ २ ३ २ १ २र १ २र
शंस इत् उक्थम् सुदानवे सु दानवे। उत द्युक्षम् द्यु क्षम् यथा नरः।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३
चकृम सत्यराधसे सत्य राधसे ।।२।।

पदार्थः—हे सखे! त्वम् **सुदानवे** उत्कृष्टदानाय इन्द्राय परमात्मने **उक्थम्**[2] स्तोत्रम् **उत** अपि च तस्य **द्युक्षम्** दीप्तिनिवासकं गुणकर्मस्वभावम् **शंस इत्** कीर्तय खलु, **यथा** येन प्रकारेण **नरः** नेतारो मनुजाः वयम् **सत्यराधसे**[3] सत्यधनाय तस्मै **चकृम** स्तोत्रं तद्गुणकर्मस्वभावकीर्तनं च कुर्मः।।२।।[4]

अत्रोपमालङ्कारः।।२।।

भावार्थः-सर्वैर्मानवैर्जगदीश्वरस्य गुणकर्मस्वभावान् संकीर्त्य तदनुकूलं स्वजीवनं कार्यम्।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा की स्तुति के लिये प्रेरणा है।

पदार्थ—हे साथी! तू **सुदानवे** उत्कृष्ट दानी इन्द्र परमात्मा के लिए **उक्थम्** स्तोत्र का **उत** और **द्युक्षम्** तेज का निवास कराने वाले उसके गुण-कर्म-स्वभाव का **शंस इत्** अवश्य कीर्तन कर, **यथा** जिस प्रकार **नरः** नेता हम लोग **सत्यराधसे** सच्चे धन वाले उसके लिये **चकृम** स्तोत्र का तथा उसके गुण-कर्म-स्वभाव का कीर्तन करते हैं।।२।।

इस मंत्र में उपमालंकार है।।२।।

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिये कि जगदीश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का कीर्तन करके उसके अनुकूल अपना जीवन बनायें।।२।।

अथ जगदीश्वरं स्तौति

१ २ ३ २उ ३ १ २ १ २ ३ १ २
७१८. त्वं न इन्द्र वाजयुस्त्वं गव्युः शतक्रतो। त्वं हिरण्ययुर्वसो ।।३।।[5]

२ ३ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३
त्वम् नः इन्द्र वाजयुः। त्वम् गव्युः शतक्रतो शत क्रतो । त्वम् हिरण्ययुः वसो ।।३।।

---

१. ऋ० ७।३१।२

२. उक्थम्—उक्थानि सामानि, हे उद्गातः गायस्व सामानि। अथवा उक्थं शस्त्रमुच्यते, तच्छंस होतः। एकवचनं जात्यपेक्षम् उक्थजातिं शंस इति—वि०।

३. सत्यराधसे— राधः अन्नं धनं वा सत्यं वा। सत्यान्नाय, सत्यधनाय सत्यसत्याय वा—इति वि०।

४. ऋ०भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं 'हे विद्वांसो यस्य धर्मजं धनं सुपात्रेभ्यो दानं च वर्तते तमेवोत्तमं विजानीत' इति विषये व्याख्यातः।

५. ७।३१।३।

पदार्थः—हे **इन्द्र** सर्वान्तर्यामिन् जगदीश्वर! **नः** अस्मभ्यम् **वाजयुः** अन्नधनबलविज्ञानादिप्रदानकामो भव, हे **शतक्रतो**[1] अनन्तप्रज्ञ अनन्तकर्मन्! **त्वम् गव्युः** गोप्रदानकामो भव। हे **वसो** निवासप्रद ! **त्वम् हिरण्ययुः** सुवर्णप्रदानकामो ज्योतिष्प्रदानकामो वा भव ॥३॥[2]

भावार्थः—परमात्मानमुपास्य तत्कृपया वयम् अन्नधनधेनुबलवेगविज्ञानसत्संकल्पसद्विचारसद्विवेक-सत्प्रकाशसत्कर्मसद्गुणदुःखमोक्षादिरूपां सर्वामपि भौतिकीं दिव्यां च सम्पदं प्राप्तुमर्हेम॥३॥

अगले मंत्र में जगदीश्वर की स्तुति है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर! **त्वम्** आप **नः** हमारे लिये **वाजयुः** अन्न, धन, बल, विज्ञान आदि प्रदान करने के इच्छुक होवो। हे **शतक्रतो** अनन्त ज्ञान तथा अनन्त कर्मों वाले जगदीश्वर! **त्वम्** आप **गव्युः** हमें गाय प्रदान करने के इच्छुक होवो। हे **वसो** निवास देने वाले जगदीश्वर! **त्वम्** आप **हिरण्ययुः** हमें सुवर्ण और ज्योति प्रदान करने के इच्छुक होवो॥३॥

भावार्थ—परमात्मा की उपासना करके उसकी कृपा से हम अन्न, धन, गाय, बल, वेग, विज्ञान, श्रेष्ठ संकल्प, श्रेष्ठ विचार, श्रेष्ठ विवेक, श्रेष्ठ प्रकाश, श्रेष्ठ कर्म, श्रेष्ठ गुण तथा दुःखों से मोक्ष आदि सभी भौतिक और दिव्य सम्पदा पाने योग्य होवें॥३॥

॥३॥ अथ 'वयमु त्वा' इत्यादिकस्य तृतीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषी** मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १५७ क्रमांके परमात्मार्चनविषये व्याख्याता। अत्र शिष्या आचार्यं निवेदयन्ति।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
७१९. वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः। कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥१॥[3]

३ २ ३ १ २ ३ २ ३
वयम् उ त्वा तदिदर्थाः तदित् अर्थाः।
१ २र ३ १ २ १ २र ३ १ २र ३ १ २ ३
इन्द्र त्वायन्तः सखायः स खायः। कण्वाः उक्थेभिः जरन्ते ॥१॥

पदार्थः—हे आचार्यप्रवर! **तदिदर्थाः** तदित् तदेव लौकिकविद्याब्रह्मविद्याध्ययनम् अर्थः प्रयोजनं येषां तथाविधाः **वयम्** विद्यार्थिनः **त्वा** त्वाम्, उपैमः इति शेषः। हे **इन्द्र** विद्याधिपते! **सखायः** सहाध्यायिनो वयम् **त्वायन्तः** त्वां कामयमानाः स्मः। सर्वे एव **कण्वाः** मेधाविनो विद्यार्थिनः **उक्थेभिः** स्तोत्रैः, त्वाम् **जरन्ते** स्तुवन्ति॥१॥

भावार्थः—शिष्यैर्गुरून् प्रति सदैव विनयेन वर्तनीयं, नित्यं ते परिचरणीयाश्च। उक्तञ्च यथा, "अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा। यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्" (निरु०२।४) इति ॥१॥

---

१. शतक्रतो—बहुभिः क्रतुभिरिष्टवान् यः स शतक्रतुः। अथवा क्रतुरिति कर्मनाम प्रज्ञानाम वा बहुकर्मा बहुप्रज्ञो वा – इति वि०।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वान् कीदृशो भवेदिति विषये व्याख्यातवान्।

३. ऋ० ८।२।१६, अथ० २०।१८।१, साम० १५७।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में क्रमांक १५७ पर परमात्मोपासना के विषय में व्याख्यात हो चुकी है। यहां शिष्यगण आचार्य को कह रहे हैं।

पदार्थ—हे आचार्यप्रवर! **तदिदर्थाः** वह लौकिक विद्या तथा ब्रह्मविद्या का अध्ययन ही जिनका उद्देश्य है ऐसे **वयम्** हम विद्यार्थी **त्वा** आपके समीप आते हैं। हे **इन्द्र** विद्याओं के अधिपति! **सखायः** सहाध्यायी हम **त्वायन्तः** आपको चाहते हैं। सभी **कण्वाः** मेधावी विद्यार्थी **उक्थेभिः** स्तोत्रों से आपकी **जरन्ते** स्तुति करते हैं।।१।।

भावार्थ—शिष्यों को चाहिये कि गुरुओं के प्रति सदा ही विनय का व्यवहार करें, नित्य उनकी सेवा करें। कहा भी है— ''पढ़ाए हुए जो विप्र छात्र मन-वाणी-कर्म से गुरु का आदर नहीं करते, वे गुरु के कृपापात्र नहीं बनते और न ही पढ़ी हुई विद्या उनकी रक्षा करती है (निरु० २।४) ।।१।।

अथ पुनरप्याचार्यं प्राह।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ ३ १ २
७२०. न घेमन्यदा पपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ। तवेदु स्तोमैश्चिकेत ।।२।।[1]

२ ३ २ ३ २ ३
न घ ईम् अन्यत् अन् यत् आ पपन।
१ २र ३ १ २ १ २र १ २र ३ १ २र ३
वज्रिन् अपसः नविष्टौ। तव इत् उ स्तोमैः चिकेत ।।२।।

पदार्थः—हे **वज्रिन्** वज्रधर, कठोरनियन्त्रणरूपेण वज्रेण शिष्यान् संस्कर्तः गुरो! **अपसः** विद्याध्ययनकर्मणः **नविष्टौ** नूतनसत्रारम्भे। [नवा चासौ इष्टिः नविष्टिः। नवेष्टिः इति प्राप्ते 'एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वाच्यम्' अ० ६।१।७० वा० इति पररूपम्।] **अन्यत्** अन्यं कञ्चित् **न घ ईम्** न खलु **आ पपन** स्तौमि। [आङ्पूर्वात् पण व्यवहारे स्तुतौ च इति धातोर्लडर्थे लिटि उत्तमैकवचने रूपम्।] **तव इत् उ** तवैव **स्तोमैः** सूक्तैः **चिकेत** ज्ञानवान् भवामि।।२।।

भावार्थः—शिष्यैरेकस्यै विद्यायै यथासम्भवं तद्विद्यानिष्णात एक एव गुरुः स्वीकरणीयः, अनेकेषां वरणे तेषां पारस्परिकविप्रतिपत्तिभिर्नानासन्देहोदयप्रसङ्गात्।।२।।

अगले मन्त्र में पुनः आचार्य को कहा जा रहा है।

पदार्थ—हे **वज्रिन्** कठोर नियन्त्रण रूप वज्र से शिष्यों को संस्कृत करने वाले गुरुवर ! **अपसः** विद्याध्ययनरूप कर्म के **नविष्टौ** नवीन सत्र के आरम्भ में, मैं **अन्यत्** किसी अन्य की **न घ ईम्** नहीं **आ पपन** स्तुति करता हूं **तव इत् उ** आपकी ही **स्तोमैः** सूक्तियों से **चिकेत** ज्ञानी बनता हूं ।।२।।

भावार्थ—शिष्यों को चाहिए कि विद्या के लिए यथासंभव उस विद्या में निष्णात एक ही गुरु को चुनें, क्योंकि अनेकों को चुनने में उनके पारस्परिक मतभेदों के कारण नाना सन्देह उत्पन्न हो सकते हैं।।२।।

अथ पुनरपि गुरुशिष्यविषयमाह।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र १ २ ३ २ ३ १ २
७२१. इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। यन्ति प्रमादमतन्द्राः ।।३।।[2]

३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २र ३
इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तम्। न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
१ २र ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३
यन्ति प्रमादम् प्र मादम् अतन्द्राः अ तन्द्राः ।।३।।

---

१. ऋ. ८।२।१७, अथ. २०।१८।२

२. ऋ. ८।२।१८, अथ. २०।१८।३ उभयत्र 'स्तोमं चिकेत' इति पाठः।

पदार्थः—**देवाः** विद्वांसो गुरवः **सुन्वन्तम्** पुरुषार्थरूपसोमनिष्पादिनम् एव विद्यार्थिनम् **इच्छन्ति** शिष्यत्वेन वाञ्छन्ति, ते **स्वप्नाय** निद्रालवे शिष्याय **न स्पृहयन्ति** न रुचिं कुर्वन्ति। **प्रमादम्** यो विद्याध्ययनेन प्रकर्षतो माद्यति स प्रमादः तम् **अतन्द्राः** अनलसाः सन्तः **यन्ति** प्राप्नुवन्ति।।३।।

भावार्थः—लौकिकविद्याया ब्रह्मविद्यायाश्चापि प्राप्तिः पुरुषार्थादेव जायते। पुरुषार्थिन एवेतरेऽपि जनाः साहाय्यं कुर्वन्ति न निष्कर्मण्यस्य।।३।।

अगले मन्त्र में पुनः गुरु-शिष्य का विषय वर्णित है।

पदार्थ—**देवाः** विद्वान् गुरुजन **सुन्वन्तम्** पुरुषार्थरूप सोमयाग करने वाले विद्यार्थी को ही **इच्छन्ति** शिष्य-रूप में स्वीकार करना चाहते हैं। वे **स्वप्नाय** निद्रालु आलसी शिष्य को **न स्पृहयन्ति** नहीं पसन्द करते। **प्रमादम्** जो विद्याध्ययन से प्रहृष्ट हो जाने वाला है उसके पास वे **अतन्द्राः** निरालस्य होकर **यन्ति** जाते हैं।।३।।

भावार्थ—लौकिक विद्या और ब्रह्मविद्या की भी प्राप्ति पुरुषार्थ से ही होती है। पुरुषार्थी की ही दूसरे लोग भी सहायता करते हैं, निष्कर्मण्य की नहीं।।३।।

।।४।। अथ 'इन्द्राय मद्वने' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** श्रुतकक्षः आङ्गिरसः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १५८ क्रमांके परमात्मार्चनविषये व्याख्याता। अत्र गुरवो ब्रुवन्ति।

७२२. **इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः। अर्कमर्चन्तु कारवः।।१।।**[1]

इन्द्राय मद्वने सुतम्। परि स्तोभन्तु नः गिरः। अर्कम् अर्चन्तु कारवः।।१।।

पदार्थः—**मद्वने** ब्रह्मविद्यायामानन्दमनुभवते। [यो विद्यया माद्यति स मद्वा। मदी हर्षे क्वनिप्।] **इन्द्राय** शिष्याणाम् अन्तरात्मने **नः** अस्माकम् **गिरः** वाचः **सुतम्** अभिषुतं ज्ञानम् **परिष्टोभन्तु** परिधारयन्तु। [स्तुभु स्तम्भे, भ्वादिः।] येन **कारवः** स्तुतिकर्तारः सन्तस्ते **अर्कम्** अर्चनीयं परमात्मदेवम् **अर्चन्तु** पूजयन्तु।।१।।

भावार्थः—गुरुभ्यो लौकिकं ज्ञानं ब्रह्मज्ञानं च प्राप्य शिष्या गुरूपदिष्टमार्गेण परमात्मानं ध्यायन्तस्तं साक्षात्कुर्वन्तु।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में क्रमांक १५८ पर परमात्मोपासना के विषय में की गयी है। यहां गुरुजन कह रहे हैं।

पदार्थ—**मद्वने** ब्रह्मविद्या में आनन्द अनुभव करने वाले **इन्द्राय** शिष्यों के आत्मा के लिए **नः** हमारी **गिरः** वाणियां **सुतम्** अभिषुत ज्ञान को **परिष्टोभन्तु** परिधारित करें, देवें, जिससे **कारवः** स्तुतिकर्त्ता होते हुए वे **अर्कम्** पूजनीय परमात्मदेव की **अर्चन्तु** पूजा किया करें।।१।।

भावार्थ—शिष्यों को चाहिए कि गुरुओं से लौकिक ज्ञान और ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके गुरुजनों द्वारा उपदेश किये गये मार्ग से परमात्मा का ध्यान करते हुए उसका साक्षात्कार करें।।१।।

---

१. ऋ० ८।९२।१९।, अथ० २०।११०।१, साम० १५८।

अथ गुरुणानुशिष्टाः शिष्याः परमात्मानमाह्वयन्ति।

७२३. यस्मिन् विश्वा अधि श्रियो रणन्ति सप्त संसदः। इन्द्रं सुते हवामहे ॥२॥[1]

यस्मिन् विश्वाः अधि श्रियः। रणन्ति सप्त संसदः सम् सदः।
इन्द्रम् सुते हवामहे ॥२॥

पदार्थः—यस्मिन् अधि यम् अधिष्ठाय **विश्वाः श्रियः** सर्वाः शोभाः विद्यन्ते, यं च **सप्त संसदः**[2] सप्तऋत्विजः, सप्तदिशः, सप्तविधाः सूर्यरश्मयः, सप्त छन्दांसि, सप्त मनोबुद्धिसहितानि ज्ञानेन्द्रियाणि, सप्त आकाशस्थाः ऋषयः **रणन्ति** स्तुवन्ति। [रण शब्दार्थः भ्वादिः।] तम् **इन्द्रम्** जगदीश्वरम् **सुते** उपासनायज्ञे जीवनयज्ञे वा वयम् **हवामहे** आह्वयामः।

सप्त ऋत्विजस्तावद् ऋग्वेदे २।१।२ इत्यत्र एवं परिगणिताः— होता, पोता, नेष्टा, अग्नीत्, प्रशास्ता, अध्वर्युः, ब्रह्मा इति॥ यद्वा, त्रयः उद्गातारः, होता, मैत्रावरुणः, ब्राह्मणाच्छंसी, अच्छावाकश्च इत्येते सोमयागीयाः सप्त ऋत्विजः॥ सप्त दिशस्तावत् प्राची, प्रतीची, दक्षिणा, उदीची, ध्रुवा, ऊर्ध्वा, केन्द्रगता च॥ आकाशस्थाः सप्त ऋषयश्च मरीचिः, वसिष्ठः, अङ्गिराः, अत्रिः, पुलस्त्यः, पुलहः, क्रतुरिति।

ऋग्वेदे सप्तसंख्यकानि वस्तूनि एवमुदीरितानि—"सप्त दिशो नानासूर्याः सप्त होतार ऋत्विजः। देवा आदित्या ये सप्त तेभिः सोमाभि रक्ष न इन्द्रायेन्दो परि स्रव।" ऋ० ९।११४।३ इति।

यजुर्वेदे २६।१ इत्यत्र सप्त संसदः एवमुक्ताः— अग्निः, वायुः, अन्तरिक्षम्, आदित्यः, द्यौः, आपः, वरुणश्चेति। अष्टमी च भूतसाधनी' इति॥२॥

भावार्थः— ब्रह्माण्डस्थाः सर्वेऽपि दिग्विदिगादयः पदार्थाः, शरीरस्थाः सर्वेऽपि मनोबुद्ध्यादयः, यज्ञस्थाः सर्वेऽपि ऋत्विजश्च जगदीश्वरस्यैव महिमानं गायन्ति॥२॥

अगले मन्त्र में गुरु से उपदेश किये हुए शिष्य परमात्मा का आह्वान कर रहे हैं।

पदार्थ—यस्मिन् अधि जिसके अधिष्ठातृत्व में **विश्वाः श्रियः** सब शोभाएं विद्यमान हैं, और जिसकी **सप्त संसदः** सात ऋत्विज्, सात दिशाएं, सात प्रकार की सूर्यकिरणें, सात छन्द, सात मन-बुद्धि-सहित ज्ञानेन्द्रियां और सात आकाशस्थ ऋषि **रणन्ति** स्तुति कर रहे हैं, उस **इन्द्रम्** जगदीश्वर को **सुते** उपासना-यज्ञ में या जीवन-यज्ञ में, हम **हवामहे** पुकारते हैं।

सात ऋत्विज् ऋग्वेद २।१।२ में इस प्रकार परिगणित किये गये हैं— होता, पोता, नेष्टा, अग्नीत्, प्रशास्ता, अध्वर्यु और ब्रह्मा। सोमयाग के सात ऋत्विज् हैं —तीन उद्गाता, एक होता, एक मैत्रावरुण, एक ब्राह्मणाच्छंसी और एक अच्छावाक।

सात दिशाएं हैं—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ध्रुवा, ऊर्ध्वा और केन्द्र। आकाश में स्थित सप्तर्षियों के नाम ये हैं— मरीचि, वसिष्ठ, अङ्गिरस्, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु।

---

१. ऋ० ८।९२।२०, अथ० २०।११०।२।

२. **सप्त संसदः** — सप्तर्त्विजः, त्रय उद्गातारः, होता, मैत्रावरुणः, ब्राह्मणाच्छंसी, अच्छावाकः—एते ऋत्विजः — इति वि०।

ऋग्वेद ९।११४।३ में सात-सात वस्तुएं गिनाते हुए कहा गया है कि सात दिशाएं हैं, सात होता ऋत्विज् हैं, सात आदित्य-किरणें हैं।

यजुर्वेद २६।१ में सप्त संसद् बतायी गयी हैं—अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, आपः और वरुण। आठवीं भूतसाधनी पृथिवी कही गयी है।।२।।

भावार्थ—ब्रह्माण्ड में स्थित सभी दिशा, विदिशा आदि पदार्थ, शरीर में स्थित मन, बुद्धि आदि और यज्ञ में स्थित सब ऋत्विज् जगदीश्वर की ही महिमा का गान करते प्रतीत होते हैं।।२।।

अथोपासनायज्ञविषयमाह ।

७२४. त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत । तमिद्वर्धन्तु नो गिरः।।३।।[1]

त्रिकद्रुकेषु त्रि कद्रुकेषु चेतनम् । देवासः यज्ञम् अत्नत ।
तम् इत् वर्धन्तु नः गिरः ।।३।।

पदार्थः—**देवासः** विद्वांसो जनाः **त्रिकद्रुकेषु**[2] त्रीणि कद्रुकाणि केन्द्रकीलकानि आत्ममनोबुद्धयाख्यानि येषु तेषु व्यवहारेषु **चेतनम्** चेतयितारम् **यज्ञम्** उपासनायज्ञम् **अत्नत** विस्तारयन्ति। **तम् इत्** तमेव उपासनायज्ञम् **नः** अस्माकम् **गिरः** स्तुतिवाचः **वर्धन्तु** वर्धयन्तु ।।३।।

भावार्थः— परमेश्वरोपासनया मनुष्यस्यात्मनि चेतनाप्रवाहो जागरूकता कर्तव्यनिष्ठा शूरता कर्मण्यता विजेतृता परोपकारितेत्यादयो गुणाः स्वत एव समायान्ति।।३।।

अस्मिन् खण्डे जीवात्मपरमात्मगुरुशिष्यविषयवर्णनादेत त्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या।

अगले मन्त्र में उपासना-यज्ञ का विषय है।

पदार्थ—देवासः विद्वान् लोग **त्रिकद्रुकेषु** जिनमें आत्मा, मन और बुद्धि ये तीन मूल केन्द्र होते हैं उन व्यवहारों में **चेतनम्** चेतना प्रदान करने वाले **यज्ञम्** उपासनायज्ञ को **अत्नत** फैलाते हैं। **तम् इत्** उसी उपासनायज्ञ को **नः** हमारी **गिरः** स्तुतिवाणियां **वर्धन्तु** बढायें।।३।।

भावार्थ—परमेश्वर की उपासना से मनुष्य की आत्मा में चेतना का प्रवाह, जागरूकता, कर्त्तव्यनिष्ठा, शूरता, कर्मण्यता, विजयशीलता, परोपकारिता इत्यादि गुण स्वयं ही आ जाते हैं।।३।।

इस खण्ड में जीवात्मा-परमात्मा व गुरु-शिष्य विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए।

द्वितीय अध्याये में प्रथम खण्ड समाप्त

---

१. ऋ० ८।१३।१८ अन्ते 'सदावृधम्' इत्यधिकम्, ऋषिः नारदः काण्वः, छन्दः उष्णिक्। ८।९२।२१, अथ० २०।११०।३।

२. त्रिकद्रुकेषु अभिप्लाविकेषु अहस्सु ज्योतिर्गौरायुरिति त्रिकद्रुकाः तेषु—इति सा०। ज्योतिर्गौरायुरितीति चतुर्थपञ्चमषष्ठानामाभिप्लाविकानामहनां नाम्नां प्रतीकमात्रम्। अस्ति गवामयनादिकं सत्रं, तच्च एकषष्ट्युत्तरत्रिशतदिननिर्वर्त्यं भवति। तत्र प्रायणीयोऽतिरात्रनाम प्रथममहः, चतुर्विंशनाम द्वितीयमहः, उक्थनाम तृतीयम्, ज्योतिर्गौः चतुर्थमहः, आयुर्गौः पञ्चममहः, आयुर्ज्योतिरिति नामकं षष्ठमहः। एतान्येव षडहानि आभिप्लाविकान्युच्यन्ते, तेष्वेव शेषाण्यहानि चतुर्थादीनि त्रीणि त्रिकद्रुकाणीति—सामश्रमी।

॥५॥ अथ 'अयं त' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** इरिम्बिठिः काण्वः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १५९ क्रमाङ्के भक्तिरसविषये व्याख्याता । अत्र ज्ञानरसविषयः प्रस्तूयते ।

७२५. अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि। एहीमस्य द्रवा पिब ॥१॥[1]

अयम् ते इन्द्र सोमः । निपूतः नि पूतः अधि बर्हिषि ।
आ इहि ईम् अस्य द्रव पिब ॥१॥

पदार्थः—आचार्यो ब्रूते— हे **इन्द्र** शिष्यस्य अन्तरात्मन् ! **अयम्** एषः **सोमः** अध्यात्मविद्यारसः **ते** तुभ्यम् **बर्हिषि अधि** विद्यायज्ञे **निपूतः** नितरां पवित्रीकृतोऽस्ति । **एहि** आगच्छ, **ईम्** एनं प्रति **द्रव** त्वरस्व, **अस्य** एतस्य अध्यात्मविद्यारसस्य **पिब** आस्वादनं कुरु ॥१॥

भावार्थः—यस्य आत्माऽध्यात्मविद्याग्रहणाय प्रकाममुत्कण्ठितः स एव गुरोः सकाशाद् ब्रह्मज्ञानमधिगन्तुमर्हति ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में १५९ क्रमांक पर भक्तिरस के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां ज्ञान-रस का विषय प्रस्तुत है ।

पदार्थ—आचार्य कह रहा है—हे **इन्द्र** शिष्य के अन्तरात्मन् ! **अयम्** यह **सोमः** अध्यात्म-विद्या का रस **ते** तेरे लिए **बर्हिषि अधि** विद्या-यज्ञ में **निपूतः** अत्यधिक पवित्र रूप में उपस्थित है। **एहि** आ, **ईम्** इसके प्रति **द्रव** झपट,**अस्य** इस अध्यात्म-विद्या के रस को **पिब** पान कर ॥१॥

भावार्थ—जिसका आत्मा अध्यात्मविद्या के ग्रहण के लिए अत्यधिक उत्कण्ठित है वही गुरु के पास से ब्रह्मज्ञान पा सकता है ॥१॥

गुरोरध्यात्मविद्याग्रहणानन्तरं शिष्याः परमेश्वरमाह्वयन्ति।

७२६. शाचिगो शाचिपूजनायं रणाय ते सुतः। आखण्डल प्र हूयसे ॥२॥[2]

शाचिगो शाचि गो शाचिपूजन शाचि पूजन ।
अयम् रणाय ते सुतः। आखण्डल प्र हूयसे ॥२॥

पदार्थः—हे **शाचिगो**[3] शाचयः ज्ञानकर्मोपदेशिकाः गावः वेदवाचः यस्य तादृश जगदीश्वर! हे **शाचिपूजन** शाचिभिः ज्ञानिभिः पुरुषार्थिभिश्च पूज्यते यः तादृश परमात्मन्! [शचीशब्दस्य प्रज्ञानामसु निघं० ३।९ कर्मनामसु च निघं० २।१ पाठात् शच धातुः ज्ञानकर्मार्थो बोध्यः।] **अयम्** एषः भक्तिरसः **ते** तव **रणाय** रमणाय **सुतः** अस्माभिः उत्पादितः अस्ति। हे **आखण्डल** दुःखदुर्गुणदुर्व्यसनादीनाम् आखण्डयितः देव! त्वम् तं भक्तिरसं प्रति **प्रहूयसे** अस्माभिः प्रकृष्टतया सोत्कण्ठम् आहूयसे ॥२॥

---

१. ऋ० ८।१७।११, अथ० २०।५।५, साम०१५९।

२. ऋ० ८।१७।१२, अथ० २०।५।६।

३. शाचयः शक्ता गावो यस्य स शाचिगुः, यद् वा शच व्यक्तायां वाचि अस्मादौणादिक इञ् प्रत्ययः। शाचयः व्यक्ताः प्रख्याता गावो रश्मयो वा यस्य तादृश—इति सा०। शचीति कर्मनाम, कर्मणि प्रयुक्ते गावः प्रदीयन्ते यस्य **असौ** शाचिगुः। कर्मणि पूज्यते इति शाचिपूजनः—इति वि०।

भावार्थः—ज्ञानपुरुषार्थपूर्वकं भक्तिभावेनाराधितः परमेश्वर उपासकानां दुःखदारिद्र्यादिकं विखण्ड्य तान् ऋद्धिसिद्धिप्रदानेन सुखयति।।२।।

गुरु से अध्यात्मविद्या ग्रहण कर चुकने के पश्चात् शिष्य परमेश्वर को पुकार रहे हैं।

पदार्थ—हे **शाचिगो** जिसकी वाणियां ज्ञान और कर्म का उपदेश करने वाली हैं ऐसे जगदीश्वर! हे **शाचिपूजन** ज्ञानी पुरुषार्थियों से पूजे जाने वाले परमात्मन्! **अयम्** यह भक्ति-रस **ते** आपके **रणाय** रमने के लिए **सुतः** हमारे द्वारा उत्पन्न किया गया है। हे **आखण्डल** दुःख, दुर्गुण, दुर्व्यसन आदि को खण्ड-खण्ड करने वाले देव! आप उस भक्ति-रस का पान करने के लिए **प्रहूयसे** हमारे द्वारा चाव से बुलाए जा रहे हो।।२।।

भावार्थ—ज्ञान और पुरुषार्थपूर्वक भक्तिभाव से आराधना किया हुआ परमेश्वर उपासकों के दुःख, दारिद्र्य आदि को खण्डित करके उन्हें ऋद्धि-सिद्धि प्रदान करके सुखी करता है।।२।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह।

७२७. यस्ते शृङ्गवृषो णपात् प्रणपात् कुण्डपाय्यः। न्यस्मिन् दध्र आ मनः ।।३।।[1]

यः ते शृङ्गवृषः शृङ्ग वृषः नपात् । प्रणपात् प्र नपात् कुण्डपाय्यः कुण्ड पाय्यः।
नि अस्मिन् दध्रे आ मनः ।।३।।

पदार्थः—हे **शृङ्गवृषः नपात्**[2] शृङ्गैः रश्मिभिः वर्षतीति शृङ्गवृट् सूर्यः तस्य न पातयितः निरालम्बमेव गगने स्थापयितः जगदीश्वर! **यः ते** यः तव **प्र नपात्** प्रकर्षेण न पातयिता, प्रत्युत रक्षकः, **कुण्डपाय्यः**[3] समुद्ररूपाणि कुण्डानि पीयन्ते यस्मिन् तादृशः वृष्टिरूपो यज्ञः, अस्ति। ['क्रतौ कुण्डपाय्यसंचाय्यौ' अ० ३।१।१३० इत्यनेन क्रत्वर्थे निपात्यते।] **अस्मिन्** एतस्मिन् उपासकाः **मनः** स्वीयचित्तम् **आ निदध्रे** आ निदधिरे, निहित कुर्वन्ति। ['इरयो रे'। अ० ६।४।७६ इति इरे इत्यस्य रे भाव]।।३।।

भावार्थः—यथा सूर्यः समुद्रकुण्डानि पीत्वा मेघान् निर्माय वृष्टिं करोति तथैव जनैरपि धनान्यर्जयित्वा योगसिद्धीश्च प्राप्य सत्पात्रेषु तद्वृष्टिर्विधेया।।३।।

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है।

पदार्थ—हे **शृङ्गवृषः नपात्** रश्मियों से वर्षा करने वाले सूर्य को बिना ही आधार के आकाश में स्थिर करने वाले जगदीश्वर! **यः ते** जो आपका **प्र नपात्** प्रकृष्ट रूप से रक्षक **कुण्डपाय्यः** समुद्ररूप कुण्ड जिसमें सूर्य द्वारा पिये जाते हैं, ऐसा वृष्टिरूप यज्ञ है, **अस्मिन्** इसमें, उपासक लोग **मनः** अपने मन को **आ निदध्रे** निहित करते हैं।।३।।

भावार्थ—जैसे सूर्य समुद्ररूप कुण्डों को पीकर बादल बना कर वर्षा करता है, वैसे ही मनुष्यों को चाहिए कि धन कमाकर और योगसिद्धियां प्राप्त करके सत्पात्रों में उनकी वर्षा करें।।३।।

---

१. ऋ० ८।१७।१३, अथ० २०।५।७।

२. गृणन्ति हिंसन्तीति शृङ्गाणि रश्मयः तैर्वर्षतीति शृङ्गवृड् आदित्यः, तस्य न पातयितः स्वकीयेऽवस्थानेऽवस्थापयितः। 'सुब्-मन्त्रिते' पा० २।१।२ इति षष्ठ्यन्तस्य पराङ्गवद्भावेनामन्त्रितानुप्रवेशात् समुदायस्याष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम्—इति सा०।

३. कुण्डैः पीयते अस्मिन् सोम इति कुण्डपाय्यः क्रतुविशेषः—इति सा०। अत्र कुण्डाश्चमसाः कुण्डप्रतिरूपाः तैः पीयते कुण्डपाय्यः—इति वि०।

॥६॥ अथ 'आ तू न इन्द्र' इत्यादिकस्य षष्ठस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** कुसीदी काण्वः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १६७ क्रमाङ्के परमेश्वरविषये राजविषये च व्याख्याता। अत्राचार्यः सम्बोध्यते।

७२८. आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं सं गृभाय। महाहस्ती दक्षिणेन ॥१॥[1]

आ तु नः इन्द्र क्षुमन्तम्। चित्रम् ग्राभम् सम् गृभाय।

महाहस्ती महा हस्ती दक्षिणेन ॥१॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** विद्यैश्वर्यसम्पन्न गुरुवर! त्वम् **तु** सद्यः एव **दक्षिणेन** दाक्षिण्येन **नः** अस्मासु **क्षुमन्तम्** शब्दशास्त्रवन्तम्। [टुक्षु शब्दे इत्यनेन क्षु शब्दनिष्पतिः।] **चित्रम्** अद्भुतम्, दिव्यम् **ग्राभम्** ब्रह्मविद्यारूपं धनम् **सं गृभाय** संगृहाण। कथमिव? यथा **महाहस्ती** महाहस्तः कश्चित् पुरुषः **दक्षिणेन** वामेतरेण करेण **ग्राभम्** ग्रहीतुं योग्यं धनम् संगृह्णाति तद्वत्॥१॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—गुरूणां सकाशाच्छिष्यैः समस्ता लौकिकविद्या ब्रह्मविद्याश्च यत्नेन संचेतव्याः, गुरुभिश्च प्रेम्णा यत्नेन दातव्याः॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में क्रमांक १६७ पर परमेश्वर के विषय में व्याख्यात की जा चुकी है। यहां आचार्य को सम्बोधन किया जा रहा है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** विद्या के ऐश्वर्य से युक्त गुरुवर! आप **तु** शीघ्र ही **दक्षिणेन** उदारता से **नः** हमारे अन्दर **क्षुमन्तम्** शब्दशास्त्र के ज्ञान से युक्त, **चित्रम्** अद्भुत, दिव्य **ग्राभम्** ब्रह्मविद्यारूप धन को **सं गृभाय** संगृहीत कीजिए, जैसे **महाहस्ती** बड़े हाथों वाला कोई पुरुष **दक्षिणेन** दाहिने हाथ से **ग्राभम्** ग्राह्य धन को संगृहीत करता है॥१॥

यहां वाचकलुप्तोपमालंकार है॥१॥

भावार्थ—शिष्यों को चाहिए कि गुरुओं के पास से सब लौकिक विद्याओं तथा ब्रह्मविद्याओं को यत्न से संचित करें और गुरुओं को चाहिए कि वे प्रेमपूर्वक यत्न से उन्हें दें॥१॥

अथाचार्याद् गृहीतब्रह्मविद्याः शिष्या ब्रह्मणः स्वरूपमाहुः।

७२९. विद्मा हि त्वा तुविकूर्मिं तुविदेष्णं तुवीमघम्। तुविमात्रमवोभिः ॥२॥[2]

विद्म हि त्वा तुविकूर्मिम् तुवि कूर्मिम्।

तुविदेष्णम् तुवि देष्णम् तुवीमघम् तुवि मघम्। तुविमात्रम् तुवि मात्रम् अवोभिः ॥२॥

---

१. ऋ० ८।८१।१, साम० १६७।

२. ऋ० ८।८१।२।

पदार्थः—हे इन्द्र सर्वान्तर्यामिन् परब्रह्म ! वयम् **हि** निश्चयेन **त्वा** त्वाम् **तुविकूर्मिम्**[1] बहूनां सर्जनधारण-पालनादिकर्मणां कर्त्तारम्। [तुवि इति बहुनाम। निघं० ३।१ । कूर्मिः इत्यत्र करोतेरौणादिको मिः प्रत्ययः] **तुवि-देष्णम्**[2] बहूनां पदार्थानां सुखादीनां च दातारम्। [दिश अतिसर्जने धातोः औणादिकः नः प्रत्ययः। मूर्धन्यादेशश्छान्दसः।] **तुवीमघम्** बहुधनम्, अपि च **अवोभिः** रक्षणैः सह **तविमात्रम्** बहूनां सूर्यचन्द्रतारामण्डलादीनां परिमातारम् **विद्म** जानीमः॥२॥

भावार्थः—परमेश्वरस्य गुणकर्मस्वभावान् विज्ञाय तदुपकारान् प्रति कृतज्ञता सर्वैर्ज्ञापनीया॥२॥

अगले मन्त्र में आचार्य से ब्रह्मविद्या सीखे हुए शिष्य ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं।

पदार्थ—हे सर्वान्तर्यामिन् परब्रह्म! हम **हि** निश्चयपूर्वक **त्वा** आपको **तुविकूर्मिम्** उत्पति, धारण, पालन आदि बहुत से कर्मों का कर्त्ता, **तुविदेष्णम्** वहुत से पदार्थों तथा सुख आदियों का दाता, **तुवीमघम्** बहुत धनी और **अवोभिः** रक्षाओं के साथ **तुविमात्रम्** सूर्य, चन्द्र, तारामण्डलादि बहुतों को मापनेवाला **विद्म** जानते हैं॥२॥

भावार्थ—परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव को जानकर उसके उपकारों के प्रति कृतज्ञता सबको प्रकट करनी चाहिए॥२॥

अथ परमेश्वरस्य दानं वर्णयति।

७३०. न हि त्वा शूर देवा न मर्तासो दित्सन्तम्। भीमं न गां वारयन्ते ॥३॥[3]

न हि त्वा शूर देवाः। न मर्तासः दित्सन्तम्। भीमम् न गाम् वारयन्ते ॥३॥

पदार्थः—हे **शूर** दानशौण्ड परमात्मन्! **दित्सन्तम्** भौतिकं दिव्यं चैश्वर्यं दातुमिच्छन्तम् **त्वा** त्वाम् **नहि** नैव **देवाः** दीप्यमानाः अग्निसूर्यचन्द्रविद्युदादयः, **न** नापि च **मर्तासः** मनुष्याः **वारयन्ते** निरोद्धुं शक्नुवन्ति। कथमिव? **भीमं गां न** भयंकरं विद्युदग्निमिव। यथा दुर्दान्तं विद्युदग्निं केचिद् वारयितुं नोत्सहन्ते तद्वदित्यर्थः॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः॥३॥

भावार्थः—यः कृपालुः परमेश्वरः सूर्यरश्मिपत्रपुष्पफलवायुवारिप्रभृतीनि वस्तूनि सत्यन्यायदयादाक्षिण्यादीनि च निःशुल्कमेव प्रयच्छति स सर्वैः कृतज्ञतया वन्दनीयः॥३॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर के दान का वर्णन है।

पदार्थ—हे **शूर** दानशूर परमात्मन्! **दित्सन्तम्** जब आप किसी को भौतिक या दिव्य एश्वर्य देना चाहते हो तब **त्वा** आपको **नहि** न तो **देवाः** चमकीले अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि कोई जड़ पदार्थ और **न** न ही **मर्तासः** मनुष्य **वारयन्ते** रोक सकते हैं, **भीमं गां न** जैसे भयंकर दुर्दान्त विद्युत् रूप अग्नि को कोई नहीं रोक सकता॥३॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है॥३॥

---

१. तुविकूर्मिं बहुकर्माणम्—इति सा०। तुविशब्दो बहुवाची, कूर्मिशब्दो मनुष्यवाची कर्मवाची वा—इति वि०।

२. तुविदेष्णम् बहुप्रदेयम्—इति सा०। देष्णं दानम्, बहुदानम्—इति वि०।

३. ऋ० ८।८१।३।

भावार्थ—जो कृपालु परमेश्वर सूर्यकिरण, पत्र, पुष्प, फल, वायु, जल आदि वस्तुओं को और सत्य, न्याय, दया, उदारता आदि को बिना मूल्य के ही प्रदान करता है उसकी सबको कृतज्ञता के साथ वन्दना करनी चाहिए।।३।।

।।७।। अथ 'अभि त्वा' इत्यादिकस्य सप्तमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** त्रिशोकः काण्वः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १६१ क्रमाङ्के परमात्मपक्षे गुरुशिष्यपक्षे च व्याख्याता। अत्र स्वान्तरात्मानमाह।

७३१. अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये। तृम्पा व्यश्नुही मदम् ।।१।।[1]

अभि त्वा वृषभ सुते। सुतम् सृजामि पीतये। तृम्प वि अश्नुहि मदम् ।।१।।

पदार्थः—हे **वृषभ** शक्तिशालिन् ममान्तरात्मन्! **सुते** प्रवृत्तेऽस्मिन् उपासनायज्ञे **त्वा अभि** त्वां प्रति **पीतये** पानाय **सुतम्** श्रद्धारसम् **सृजामि** उत्पादयामि। एतेन त्वम् **तृम्प** तृप्तिं लभस्व, **मदम्** हर्षम् **व्यश्नुहि** प्राप्नुहि।।१।।

भावार्थः—सर्वैः स्वान्तरात्मानमुद्बोध्य तस्मिन् श्रद्धारसः सञ्चारणीयः।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में क्रमांक १६१ पर परमात्मा तथा गुरु-शिष्य के विषय में व्याख्यात हो चुकी है। यहां अपने अन्तरात्मा को सम्बोधन है।

पदार्थ—हे **वृषभ** शक्तिशाली मेरे अन्तरात्मन्! **सुते** इस उपासना-यज्ञ के प्रवृत्त होने पर **त्वा अभि** तेरे प्रति **पीतये** पान करने के लिए **सुतम्** श्रद्धा-रस **सृजामि** उत्पन्न कर रहा हूं। इससे तू **तृम्प** तृप्त हो, **मदम्** हर्ष को **व्यश्नुहि** प्राप्त कर।।१।।

भावार्थ—सबको चाहिए कि अपने अन्तरात्मा को उद्बोधन देकर उसके अन्दर श्रद्धा-रस का संचार करें।।१।।

अथ पुनरपि स्वान्तरात्मानमुद्बोधयति।

७३२. मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन्। मा कीं ब्रह्मद्विषं वनः ।।२।।[2]

मा त्वा मूराः अविष्यवः। मा उपहस्वानः उप हस्वानः आ दभन्।
मा कीम् ब्रह्मद्विषम् ब्रह्म द्विषम् वनः ।।२।।

पदार्थः—हे मदीय अन्तरात्मन्! **मा** नैव **मूराः** मूढाः **अविष्यवः** भक्षकाः, जिघांसवः इत्यर्थः। [अविष्यति अत्तिकर्मा। निघं० २।८।] **मा** नैव च **उपहस्वानः** उपहासपरायणाः जनाः **त्वा** त्वाम् **आ दभन्** हिंसन्तु। [दभ्नोतिर्वधकर्मा। निघं० २।१९।] **मा कीम्** नैव च, त्वम् **ब्रह्मद्विषम्** ब्रह्मद्वेष्टारं जनम् **वनः** संभजस्व। [वन संभक्तौ, भ्वादिः, लेटि रूपम्]।।२।।

---

१. ऋ० ८।४५।२२, अथ० २०।२२।१, साम० १६१।
२. ऋ० ८।४५।२३, अथ० २०।२२।२, उभयत्र 'ब्रह्मद्विषो' इति पाठः।

भावार्थः—मनुष्यस्यान्तरात्मा यदि जागरुको भवेत् तदा तं को ऽपि बाह्य आभ्यन्तरो वा रिपुः पराजेतुं न शक्नुयात् ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः अपने अन्तरात्मा को उद्बोधन है।

पदार्थ—हे मेरे अन्तरात्मन्! **मा** न तो **मूराः** मूढ़, अविवेकी **अविष्यवः** हिंसा करने के इच्छुक लोग और **मा** न ही **उपहस्वानः** उपहास करने वाले लोग **त्वा** तेरी **आ दभन्** हिंसा कर सकें और **मा कीम्** न ही तू **ब्रह्मद्विषम्** ब्रह्मद्वेषी का **वनः** संग कर॥२॥

भावार्थः—मनुष्य का अन्तरात्मा यदि जागरूक रहे तो उसे कोई भी बाहरी या आन्तरिक शत्रु पराजित नहीं कर सकता॥२॥

अथ पुनरप्यन्तरात्मानमुद्बोधयति।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १र २र
७३३. इह त्वा गोपरीणसं महे मन्दन्तु राधसे। सरो गौरो यथा पिब ॥३॥[1]

३ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २र १ २र ३ २ १ २र ३
इह त्वा गोपरीणसम् गो परीणसम्। महे मन्दन्तु राधसे। सरः गौरः यथा पिब ॥३॥

पदार्थः—हे मदीय अन्तरात्मन्! **इह** अस्मिन् देहे **गोपरीणसम्** गावः मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियादिरूपाः परीणसा बह्वयो यस्य तादृशम्। [परीणसा इति बहुनाम। निघं० ३।१।] **त्वा** त्वाम्, अस्मदीया उद्बोधनवाचः **महे राधसे** महते एश्वर्याय, महदैश्वर्यं प्राप्तुमित्यर्थः **मन्दन्तु** उत्साहयन्तु। [मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु भ्वादिः, परस्मैपदं छान्दसम्।] **गौरः** गौरमृगः, पिपासाक्रान्तो **यथा** यद्वत् उत्कण्ठया **सरः** उदकं पिबति, तथैव त्वम् **सरः**[2] वेदवाग्रसं ज्ञानरसं कर्मरसं ब्रह्मानन्दरसं च **पिब** आस्वादय। [सरः इति वाङ्नाम उदकनाम च। निघं० १।११।, १।१२]॥३॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः॥३॥

भावार्थः—मनुष्यैरात्मानमुद्बोध्य स्वमहत्त्वाकाङ्क्षानुरूपं सर्वा लौकिक्यो दिव्याश्च सम्पदः प्राप्तुं शक्यन्ते॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः अन्तरात्मा को उद्बोधन है।

पदार्थ—हे मेरे अन्तरात्मन्! **इह** इस शरीर में **गोपरीणसम्** मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियां आदि बहुत सी गौएं जिसके पास हैं ऐसे **त्वा** तुझे, हमारी उद्बोधक वाणियां **महे राधसे** महान् ऐश्वर्य के लिए **मन्दन्तु** उत्साहित करें। **गौरः** गौर मृग, प्यास से व्याकुल होकर **यथा** जैसे, उत्कण्ठा के साथ **सरः** जल को, पीता है, वैसे ही तू **सरः** वेदवाणी के रस, ज्ञान-रस, कर्म-रस और ब्रह्मानन्द के रस को **पिब** पी ॥३॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है॥३॥

भावार्थ—मनुष्य अपने अन्तरात्मा को उद्बोधन देकर अपनी महत्त्वाकांक्षा के अनुरूप सब लौकिक और दिव्य सम्पदाओं को प्राप्त कर सकते हैं॥३॥

॥८॥ अथ 'इदं वसो' इत्यादिकस्य अष्टमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मेधातिथिः काण्वः, प्रियमेधश्च आङ्गिरसः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः॥

---

१. ऋ० ८।४५।२४, अथ० २०।२२।३, उभयत्र 'गोपरीणसा' इति पाठः।

२. 'सरन्ति जानन्ति येन तत् सरो ज्ञानम्' इति य० २।२० भाष्ये, 'सरो वेदादिशास्त्रविज्ञानम्' इति च य० ९।२७ भाष्ये द०।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिक १२४ क्रमाङ्के परमात्मविषयेऽतिथिविषये च व्याख्याता। अत्र गुरवः शिष्यं ब्रह्मज्ञानरसं पाययन्ति।

३ १ २ ३ २ उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
७३४. **इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम्। अनाभयिन् ररिमा ते ॥१॥**[1]

३ २ ३ २ १ २ र १ २ र १ २ र ३ १ २ र
इदम् वसो सुतम् अन्धः। पिब सुपूर्णम् सु पूर्णम् उदरम् उ दरम्।

१ २ र ३ २ ३
अनाभयिन् अन् आभयिन् ररिम ते ॥१॥

पदार्थः—हे **वसो** गुरुकुले कृतनिवास व्रतपालक ब्रह्मचारिन्! **इदम् अन्धः** एतद् ब्रह्मविज्ञानम् तुभ्यम् **सुतम्** अभिषुतमस्ति, त्वम् एतत् **सुपूर्णम् उदरम्** कणेहत्य **पिब** आस्वादय। हे **अनाभयिन्** निर्भय शिष्यः! वयम् **ते** तुभ्यम, एतद् विज्ञानम् **ररिम** प्रयच्छामः॥१॥

भावार्थः—कृतब्रह्मसाक्षात्कारैर्गुरुभिश्छात्रा ब्रह्मज्ञानदानेनानुग्राह्याः॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में क्रमांक १२४ पर परमात्मा और अतिथि के विषय में व्याख्यात हो चुकी है। यहां गुरुजन शिष्य को ब्रह्मानन्दरस का पान करा रहे हैं।

पदार्थ—हे वसो गुरुकुलनिवासी, व्रतपालक ब्रह्मचारी! **इदम् अन्धः** यह ब्रह्मविज्ञान, तेरे लिए **सुतम्** अभिषुत है, तू इसे **सुपूर्णम् उदरम्** पेट भरकर **पिब** पान कर। हे **अनाभयिन्** निर्भय शिष्य! हम **ते** तेरे लिए, यह विज्ञान **ररिम** दे रहे हैं॥१॥

भावार्थ—जिन्होंने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है ऐसे गुरुजनों को उचित है कि वे छात्रों को ब्रह्मज्ञान देकर अनुगृहीत करें॥१॥

अथ कीदृशः स ब्रह्मविज्ञानरस इत्याह।

१ २ ३ २ ३ २ उ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
७३५. **नृभिर्धौतः सुतो अश्नैरव्या वारैः परिपूतः। अश्वो न निक्तो नदीषु ॥२॥**[2]

१ २ र ३ २ ३ २ १ २ र १ २ र १ २ र १ २ र ३
नृभिः धौतः सुतः अश्नैः। अव्याः वारैः परिपूतः परि पूतः।

१ २ र ३ २ ३ १ २
अश्वः न निक्तः नदीषु ॥२॥

पदार्थः—हे शिष्य! मया तुभ्यं दीयमानः एष ब्रह्मविज्ञानरसः **नृभिः** उन्नायकैः सद्विचारैः **धौतः** प्रक्षालितः अस्ति, **अश्नैः** अश्मभिरिव कठोरैः व्रताचरणैः **सुतः अभिषुतः** अस्ति, **अव्याः** रक्षिकायाः बुद्धेः **वारैः** दोषनिवारयितृभिः तर्कैः **परिपूतः** पवित्रीकृतः अस्ति, किञ्च, **नदीषु** सरित्प्रवाहेषु **निक्तः** स्नानेन शोधितः **अश्वः न** तुरगः इव **नदीषु** वेदवाम्धारासु **निक्तः**[3] शोधितः विद्यते॥२॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः। किञ्च श्लेषेण सोमौषधिपक्षेऽप्यर्थो योजनीयः। तेन ब्रह्मविज्ञानं सोमरस इवेत्युपमानोपमेयभावो द्योत्यते॥२॥

---

१. ऋ० ८।२।१, साम०१२४।

२. ऋ० ८।२।२, 'नृभिर्धुतः', 'रव्योवारैः' इति पाठः।

३. निक्तः निर्णिक्तः शोधितः। यथा अप्सु स्नातो अश्वः अपगतमलः सन् दीप्तो भवति—इति सा०। निक्तः स्नातः—इति वि०।

भावार्थः—यथा ऋत्विजः सोमलतां पवित्रेण जलेन प्रक्षाल्य पाषाणैः कुटट्यित्वा रसं निश्चोत्य दशापवित्रेण परिपूय शुद्धं सोमरसम् अग्नौ जुह्वति तथैव गुरवो ब्रह्मविद्यालतां सद्विचारैः प्रक्षाल्य, कठोरव्रताचरणैः संकुट्टच, बुद्धेस्तर्कैः परिपूय, वेदवाग्धारासु पवित्रीकृत्य शिष्यस्यात्माग्नौ जुह्वति।।२।।

अगले मन्त्र में यह बताया गया है कि वह ब्रह्मविज्ञान-रस कैसा है।

पदार्थः—हे शिष्य! मेरे द्वारा जो तुझे ब्रह्मज्ञान-रस दिया जा रहा है, वह **नृभिः** उन्नायक श्रेष्ठ विचारों द्वारा **धौतः** धोया गया है, **अश्नैः** पाषाणों के समान कठोर व्रताचरणों द्वारा **सुतः** अभिषुत किया गया है, **अव्याः** रक्षा करने वाली बुद्धि के **वारैः** दोषनिवारक तर्कों द्वारा **परिपूतः** पवित्र किया गया है, और **नदीषु** नदियों में **निक्तः** नहलाकर साफ किये गये **अश्वः न** घोड़े के समान **नदीषु** वेदवाणी की धाराओं में **निक्तः** शुद्ध किया गया है।।२।।

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है। यहां श्लेष से सोम ओषधि के पक्ष में भी अर्थ-योजना करनी चाहिए। इससे 'ब्रह्मविज्ञान सोमरस के समान है' यह उपमानोपमेयभाव द्योतित होगा।।२।।

भावार्थ—जैसे ऋत्विज् लोग सोमलता को पवित्र जल से धोकर, सिल-बट्टों से कूटकर, रस निचोड़ कर, दशापवित्र नामक छन्नी से छानकर शुद्ध हुए सोमरस को अग्नि में होम करते हैं, वैसे ही गुरुजन ब्रह्मविद्यारूप लता को सद्विचारों से धोकर, कठोर व्रताचरणों से कूटकर, बुद्धि के तर्कों से छानकर, वेदवाणी की धाराओं में पवित्र करके शिष्य की आत्माग्नि में होम करते हैं।।२।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १
७३६. तं ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः। इन्द्र त्वास्मिन्त्सधमादे ॥३॥

३ १ २ र १ २ र १ २ र ३ २ ३ १ २
तं ते यवम् यथा गोभिः। स्वादुम् अकर्म श्रीणन्तः।

१ २ र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ र
इन्द्र त्वा अस्मिन् सधमादे सध मादे ॥३॥

पदार्थः—हे शिष्य! **तम्** ब्रह्मविज्ञानरूपं सोमरसम् **गोभिः** मधुराभिः वाग्भिः **श्रीणन्तः** परिपचन्तः वयम्। [श्रीञ् पाके, क्र्यादिः।] **स्वादुम्** मधुरम् **अकर्म**[२] अकार्ष्म। कथमिव? **यथा येन** प्रकारेण **यवम्** यवरसम् **गोभिः** गव्यैः क्षीरैः स्वादुं कुर्मः तद्वत्। हे **इन्द्र** प्रिय शिष्य! **अस्मिन्** एतस्मिन् **सधमादे** सह माद्यन्ति ब्रह्मज्ञानदानेन शिष्या अत्र इति सधमादः विद्यायज्ञः तत्र **त्वा** त्वाम् ब्रह्मज्ञानरसं पातुम् आह्वयाम इति शेषः।।३।।

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः।।३।।

भावार्थः—गुरुभिः शिष्येभ्यो लौकिकं ज्ञानं ब्रह्मज्ञानं च नीरसरूपेण न किन्तु सरसरूपेण प्रदातव्यं, येन तत्र तेषां रुचिर्भवेत्।।३।।

अस्मिन् खण्डे गुरुशिष्यविषयस्य, परमेश्वरजीवात्मविषयस्य, ब्रह्मज्ञानविषयस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन सह संगतिरस्ति।

---

१. ऋ० ८।२।३।

२. करोतेर्लुङि 'मन्त्रे घस०' पा० २।४।८० इति च्लेर्लुक्—इति सा०।

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है।

पदार्थ—हे शिष्य! **तम्** उस ब्रह्मविद्यारूप सोमरस को **गोभिः** मधुर वाणियों से **श्रीणन्तः** परिपक्व करते हुए हमने **स्वादुम्** स्वादु **अकर्म** कर लिया है, **यथा** जैसे **यवम्** जौ के रस को **गोभिः** गाय के दूध से मधुर कर लेते हैं। हे **इन्द्र** प्रिय शिष्य! **अस्मिन्** इस **सधमादे** जिसमें साथ मिलकर ब्रह्मज्ञान का पान करते हैं ऐसे विद्या-यज्ञ में **त्वा** तुझे, हम ब्रह्मज्ञान का रस पीने के लिए बुला रहे हैं।।३।।

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है।।३।।

भावार्थ—गुरुओं को चाहिए कि वे शिष्यों को लौकिक ज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान नीरस रूप में नहीं, किन्तु सरस रूप में दें, जिससे उनकी उसमें रुचि हो।।३।।

इस खण्ड में गुरुशिष्य का विषय, परमेश्वर-जीवात्मा का विषय तथा ब्रह्मज्ञान का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्वखण्ड के साथ संगति है।

द्वितीय अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त

।।९।। अथ 'इदं ह्यन्वोजसा' इत्यादिकस्य नवमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** विश्वामित्रो गाथिनः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १६५ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता। अत्र स्वात्मानं सम्बोधयति।

७३७. इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते। पिबा त्वा३स्य गिर्वणः।।१।।[1]

इदम् हि अनु ओजसा। सुतम् राधानाम् पते। पिब तु अस्य गिर्वणः गिः वनः।।१।।

पदार्थः—हे **राधानां पते** सदिच्छामहत्त्वाकाङ्क्षासत्प्रयत्नसुखज्ञानादीनां स्वामिन् मदीय अन्तरात्मन्! **इदं हि** एष खलु ब्रह्मानन्दरसः **ओजसा** बलेन वेगेन च **अनु सुतम्** आनुकूल्येन अभिषुतः अस्ति। हे **गिर्वणः** गीर्भिः प्रभुभक्तिपरायण आत्मन्! [गीर्भिः वनति संभजते यः स गिर्वणाः, तत्सम्बुद्धौ।] त्वम् **अस्य** एतं ब्रह्मानन्दरूपं सोमरसम् **तु** शीघ्रम् **पिब** आस्वादय।।१।।[2]

भावार्थः—योगानुष्ठानेन ब्रह्मानन्दरसप्रवाहसन्ततिर्यदाऽऽत्मानं व्याप्नोति तदा योगी कृतकृत्यो जायते।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में क्रमांक १६५ पर परमात्मा के विषय में की गयी थी। यहां अपने अन्तरात्मा को सम्बोधन है।

पदार्थ—हे **राधानां पते** सदिच्छा, महत्त्वाकाङ्क्षा, सत्प्रयत्न, सुख, ज्ञान आदि के स्वामी मेरे अन्तरात्मन्! **इदं हि** यह ब्रह्मानन्द-रस **ओजसा** बल और वेग के साथ **अनु सुतम्** अनुकूल रूप में अभिषुत हुआ है। हे **गिर्वणः** वाणियों से प्रभुभक्ति में संलग्न आत्मन्! तू **अस्य** इस ब्रह्मानन्दरूप सोमरस को **तु** शीघ्र **पिब** पान कर ले।।१।।

---

१. ऋ० ३।५१।१०, साम० १६५।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं राजविषये व्याख्यातः।

भावार्थ—योग का अनुष्ठान करने से ब्रह्मानन्द के रस की धारा जब आत्मा को व्याप लेती है तब योगी कृतकृत्य हो जाता है॥१॥

अथ पुनरप्यात्मानं सम्बोधयति।

७३८. यस्ते अनु स्वधामसत् सुते नि यच्छ तन्वम्। स त्वा ममत्तु सोम्य ॥२॥[1]

यः ते अनु स्वधाम् स्व धाम् असत्। सुते नि यच्छ तन्वम्। सः त्वा ममत्तु सोम्य ॥२॥

पदार्थः—हे मदीय अन्तरात्मन्! **यः** ब्रह्मानन्दरसः **ते** तव **स्वधाम् अनु** आनन्दभोगेच्छानुकूलम् **असत्** उत्पन्नोऽस्ति। [अस्तेर्लेटि रूपम्। यद्वृत्तनियोगान्निधाताभावः।] तस्मिन् ब्रह्मानन्दरूपे सोमरसे **सुते** अनुभूते सति, त्वम् **तन्वम्**[2] स्वकीयं शरीरम् **नियच्छ** यमनियमरज्जुभिः सन्नियन्त्रय चालय। हे **सोम्य**[3] सौम्य आत्मन्! **सः** ब्रह्मानन्दरसः **त्वा** त्वाम् **ममत्तु** हर्षयतु तरङ्गयतु च॥२॥[4]

भावार्थः—उपासनया यदा ब्रह्मानन्दरस आत्मानं प्राप्नोति तदा शरीरस्य मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियादीनां चापि सर्वे व्यवहाराः सात्त्विका एव जायन्ते॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः आत्मा को सम्बोधन है।

पदार्थ—हे मेरे अन्तरात्मन्! **यः** जो ब्रह्मानन्दरस **ते** तेरी **स्वधाम् अनु** आनन्द-भोगेच्छा के अनुकूल **असत्** उत्पन्न हुआ है, उस ब्रह्मानन्द-रूप सोमरस के **सुते** अनुभव में आने पर, तू **तन्वम्** अपने शरीर को **नियच्छ** यम-नियम की रस्सियों से नियन्त्रित करते हुए चला। हे **सोम्य** सौम्य आत्मन्! **सः** वह ब्रह्मानन्द-रस **त्वा** तुझे **ममत्तु** हर्षित एवं तरंगित कर दे॥२॥

भावार्थ—उपासना से जब ब्रह्मानन्द-रस आत्मा को प्राप्त होता है तब शरीर के तथा मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों आदि के भी सब व्यवहार सात्त्विक हो जाते है॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह।

७३९. प्र ते अश्नोतु कुक्ष्योः प्रेन्द्र ब्रह्मणा शिरः। प्र बाहू शूर राधसा ॥३॥[5]

प्र ते अश्नोतु कुक्ष्योः। प्र इन्द्र ब्रह्मणा शिरः। प्र बाहूइति शूर राधसा ॥३॥

पदार्थः—हे **इन्द्र** मदीय अन्तरात्मन्! स ब्रह्मानन्दरसः **ते** तव **कुक्ष्योः** उभयोः कुक्षिप्रदेशयोर्मध्ये **प्र अश्नोतु** प्रकर्षेण व्याप्नोतु, **ब्रह्मणा**[6] ब्रह्मज्ञानेन सह **शिरः** मूर्धानम् **प्र** प्रकर्षेण व्याप्नोतु। हे **शूर** वीर मदीय अन्तरात्मन्! **राधसा** संसिद्ध्या साफल्येन वा सह **बाहू** भुजौ **प्र** प्रकर्षेण व्याप्नोतु॥३॥[7]

---

१. ऋ० ३।५१।११, 'सोम्य' इत्यत्र 'सोम्यम्' इति पाठः।

२. 'छन्दस्युभयथा' (अ० ६।४।८६) इति सूत्रस्थेन 'तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्' इति वार्तिकवचनेनोवङो वैकल्पिकत्वं बोध्यम्—इति सामश्रमी।

३. सोम्य सोमार्ह—इति सा०। सोमानां स्वामिन् पते—इति वि०।

४. इममपि मन्त्रमृग्भाष्ये दयानन्दर्षी राजविषये व्याचष्टे।

५. ऋ० ३।५१।१२ 'राधसा' इत्यत्र 'राधसे' इति पाठः।

६. ब्रह्मणा अन्नेन शिरः, अथवा ब्रह्मणा त्रैविद्यलक्षणेन शिरः—इति वि०।

७. दयानन्दर्षिरिममपि मन्त्रमृग्भाष्ये राजविषये व्याचख्यौ।

भावार्थः—ब्रह्मज्ञानं ब्रह्मानन्दश्च यदा जीवात्मानं व्याप्नोति तदा तत्प्रभावः देहस्थेषु सर्वेष्वङ्गेषु संजायते। मनसि सत्संकल्पाः, शिरसि ज्ञानेन्द्रियाणां बुद्धेश्च व्यापाराः बाह्वोश्च सत्कर्माणि सुतरां तरङ्गायन्ते।।३।।

अगले मन्त्र में फिर उसी विषय का वर्णन है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** मेरे अन्तरात्मन्! वह ब्रह्मानन्द-रस **ते** तेरे **कुक्ष्योः** दोनों कोखों में **प्र अश्नोतु** भली-भांति व्याप जाए, **ब्रह्मणा** ब्रह्मज्ञान के साथ **शिरः** सिर में **प्र** भलीभांति व्याप जाए, हे **शूर** शूरवीर मेरे अन्तरात्मन्! **राधसा** सिद्धि एवं सफलता के साथ **बाहू** दोनों भुजाओं में **प्र** भली-भांति व्याप जाए।।३।।

भावार्थ—ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मानन्द जब जीवात्मा में व्यापता है तब उसका प्रभाव देह में स्थित सभी अंगों पर पड़ता है। मन में श्रेष्ठ संकल्प, सिर में ज्ञानेन्द्रियों तथा बुद्धि के व्यापार और भुजाओं में सत्कर्म भली-भांति तरंगित होने लगते हैं।।३।।

।।१०।। अथ 'आ त्वेता' इत्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १६४ क्रमाङ्के परमात्मपक्षे राष्ट्रपक्षे च व्याख्याता। अत्र आत्मोद्बोधनमाह।

२उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र १ २ ३ १ २
७४०. **आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत। सखाय स्तोमवाहसः ।।१।।**[1]

२ ३ २ ३ १ २र ३ २ ३
आ तु आ इत नि सीदत। इन्द्रम् अभि प्र गायत।
१ २र ३ १ २र १ २र ३
सखायः स खायः स्तोमवाहसः स्तोम वाहसः ।।१।।

पदार्थः—हे **स्तोमवाहसः** स्तोमान् गीतानि वाहयन्ति गायन्तीति तादृशाः **सखायः** सुहृदः! यूयम् **तु** क्षिप्रम् **आ एत** आगच्छत, **नि षीदत** उपविशत, **इन्द्रम् अभि** स्वान्तरात्मानमभिलक्ष्य **प्र गायत** प्रकृष्टतया उद्बोधनगीतानि उच्चारयत।।१।।[2]

भावार्थः—परस्परमेकीभूयाऽऽत्मोद्बोधनेन सा शक्तिर्जागर्ति यया मार्गस्य सर्वा अपि बाधा निराकर्त्तुं शक्यन्ते।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में क्रमांक १६४ पर परमात्मा तथा राष्ट्र के विषय में व्याख्यात हो चुकी है। यहां आत्मोद्बोधन का विषय है

पदार्थ—हे **स्तोमवाहसः** गीतों को गानेवाले **सखायः** मित्रो! तुम **तु** शीघ्र ही **आ एत** आओ, **निषीदत** बैठो, **इन्द्रम् अभि** अपने अन्तरात्मा को लक्ष्य करके **प्र गायत** भली भांति उद्बोधन-गीत गाओ।।१।।

भावार्थ—परस्पर मिलकर आत्मा को उद्बोधन देने से वह शक्ति जागती है, जिससे मार्ग की सभी बाधाएं हटायी जा सकती हैं।।१।।

---

१. ऋ० १।५।१, अथ० २०।६८।११, साम० १६४।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं परमेश्वरपक्षे शिल्पविद्यापक्षे च व्याख्यातः।

आत्मोद्बोधनानन्तरमथ परमात्मविषयमाह ।

७४१. पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम्। इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥२॥[1]

पुरूतमम् पुरूणाम्। ईशानम् वार्याणाम्। इन्द्रम् सोमे सचा सुते ॥२॥

पदार्थः—हे सखायः! **पुरूणाम्** पूर्णानां पालकानां वा **पुरूतमम्**[2] पूर्णतमं पालकतमं वा। [पॄ पालनपूरणयोः इत्यस्मात् 'पॄभिदिव्यधिगृधिधृषिहृषिभ्यः। उ० १।२३ इत्यनेन कुः प्रत्ययः।] **वार्याणाम्** वरणीयानां गुणानाम् **ईशानम्** अधीश्वरम् **इन्द्रम्** परमात्मानं प्रति **सुते** श्रद्धारसे अभिषुते सति **सचा** सम्मिल्य, 'प्रगायत' इति पूर्वमन्त्रादाकृष्यते, स्तुतिगीतानि गायत॥२॥[3]

भावार्थः—यः स्वयं पूर्णोऽन्येषां च पूरको निखिलगुणगणविभूषितः परमेश्वरोऽस्ति स सर्वैः सम्मिल्य श्रद्धया समुपास्यः॥२॥

आत्मा को उद्बोधन देने के अनन्तर अब परमात्मा के विषय में कहते हैं।

पदार्थ—हे साथियो! **पुरूणाम्** पूर्णों एवं पालनकर्त्ताओं में **पुरुतमम्** पूर्णतम और सर्वाधिक पालक, **वार्याणाम्** वरणीय गुणों के **ईशानम्** अधीश्वर **इन्द्रम्** परमात्मा के प्रति **सुते** श्रद्धारस के तैयार हो जाने पर **सचा** साथ मिलकर **प्र गायत** स्तुति-गीत गाओ। [यहां 'प्रगायत' शब्द पूर्व मन्त्र से आया है]॥२॥

भावार्थ—जो स्वयं पूर्ण और अन्यों को पूर्ण करने वाला, समस्त गुणों से विभूषित परमेश्वर है उसकी सबको मिलकर श्रद्धा के साथ उपासना करनी चाहिए॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह।

७४२. स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरन्ध्या। गमद् वाजेभिरा स नः ॥३॥[4]

स घ नः योगे आ भुवत्। सः राये सः पुरन्ध्या पुरम् ध्या।
गमत् वाजेभिः आ सः नः॥३॥

पदार्थः—**सः** असौ प्रसिद्धः इन्द्रः परमात्मा, **नः** अस्माकम् **योगे** अष्टाङ्गयोगसाधने **आ भुवत्** सहायको भवतु। **सः** असौ **राये** अणिमलघिममहिमाद्यैश्वर्यप्राप्तये, अस्माकं सहायको भवतु। **सः** असौ **पुरन्ध्या** पालनकर्त्र्या बुद्ध्या अस्मान् संयुनक्तु इति शेषः। **सः** असौ **वाजेभिः** अध्यात्मबलैः सह **नः** अस्मान् **आ गमत्** आगच्छतु॥३॥[5]

---

१. ऋ० १।५।२, अथ० २०।६८।१२।

२. पुरुतमं पुरून् बहून् शत्रून् तामयति ग्लापयतीति पुरुतमः, तमु ग्लानौ इति धातोर्ण्यन्तात् पचाद्यचि चित्त्वादन्तोदात्तेऽपि पा० ६।१।१६३ कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरं पा० ६।२।१३ बाधित्वा "परादिश्छन्दसि बहुलम्" पा० ६।२।१९९ इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम्—इति सा०। तत्तु पदकारविरुद्धम् पदपाठेऽवग्रहाभावात्।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं परमात्मपक्षे भौतिकवायुपक्षे च व्याचष्टे।

४. ऋ० १।५।३, अथ० २०।६९।१, उभयत्र 'पुरन्ध्याम्' इति पाठः।

५. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरिममपि मन्त्रं परमेश्वरपक्षे वायुपक्षे च व्याख्यातवान्।

भावार्थः—योगसिद्धिमार्गे ये विघ्नाः समुपतिष्ठन्ते ते परमात्मसाहाय्येन निराकर्तुं शक्यन्ते।।३।।

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है।

पदार्थ—सः वह प्रसिद्ध इन्द्र परमात्मा **नः** हमारे **योगे** अष्टांगयोग की सिद्धि में **आ भुवत्** सहायक होवे। **सः** वह **राये** अणिमा, लघिमा, महिमा आदि ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए, हमारा सहायक होवे। **सः** वह **पुरन्ध्या** पालन करने वाली बुद्धि से हमें संयुक्त करे। **सः** वह **वाजेभिः** अध्यात्म-बलों के साथ **नः** हमारे पास **आगमत्** आये।।३।।

भावार्थ—योगसिद्धि के मार्ग में जो विघ्न उपस्थित होते हैं वे परमात्मा की सहायता से दूर किये जा सकते हैं।।३।।

।।११।। अथ 'योगे योगे' इत्यादिकस्यैकादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** शुनःशेप आजीगर्तिः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १६३ क्रमाङ्के योगपक्षे सेनाध्यक्षपक्षे च व्याख्याता। अत्र परमेश्वर आचार्यो विद्युदग्निश्चाहूयते।

७४३. योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये।।१।।[1]

योगेयोगे योगे योगे तवस्तरम्। वाजेवाजे वाजे वाजे हवामहे।
सखायः स खायः इन्द्रम् ऊतये।।१।।

पदार्थः—प्रथमः परमेश्वरपरः। **सखायः** सहयोगिनः उपासकाः वयम् **योगेयोगे** अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः प्रतिनूतनोपलब्धिनिमित्तम्, **वाजेवाजे** प्रतिबलप्राप्तिनिमित्तम्, **ऊतये** प्रगतये च **तवस्तरम्** बलवत्तरम् **इन्द्रम्** विघ्नविघातकं परमैश्वर्यवन्तं परमेश्वरम् **हवामहे** स्तुमः।।

द्वितीयः आचार्यपरः। **सखायः** परस्परं सख्येन आबद्धाः सहाध्यायिनो वयम् **योगेयोगे** प्रतिविद्यायोगम् **वाजेवाजे** वाजः अविद्याकामक्रोधलोभमोहादिभिः संग्रामः, प्रतिसंग्रामम् **ऊतये** रक्षणाय **तवस्तरम्** अतिशयेन विद्याबलयोगबलादिभिर्युक्तम् **इन्द्रम्** आचार्यम् **हवामहे** आह्वयामः।।[2]

तृतीयः शिल्पविद्यापरः। यन्त्रकलासु विद्युतं प्रयुञ्जानः शिल्पी प्राह—**सखायः** सहयोगिनो वयम् **योगेयोगे** पदार्थानां परस्परं योजनेन नवीनानां वस्तूनां निर्माणं योगः, प्रतिनिर्माणम् **वाजेवाजे** वाजो बलम्, प्रतिबलकर्म च **ऊतये** शिल्पविद्याव्यवहाराय **तवस्तरम्** बलवत्तरम् **इन्द्रम्** विद्युदग्निम् **हवामहे** आह्वयामः, यन्त्रकलासु प्रयुञ्ज्महे इत्यर्थः।।१।।

अत्र श्लेषालङ्कारः।।१।।

भावार्थः—यथा बलादिप्राप्तये परमेश्वर उपासनीयस्तथैव निखिलविद्याध्ययनाय अभ्यन्तरं जायमानेषु देवासुरसंग्रामेषु विजयाय च विद्वान् सदाचारी गुरुरङ्गीकार्यः। यन्त्रागारेषु व्यवहारोपयोगिनां पदार्थानां निर्माणाय संग्रामेषु शस्त्रास्त्रचालनाय च विद्युत्प्रयोगः कार्यः।।१।।

---

१. ऋ० १।३०।७, य० ११।१४, अथ० १९।२४।७, २०।२६।१, साम० १६३।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये परमात्मपक्षे सेनाध्यक्षपक्षे च, यजुर्भाष्ये च राजपक्षे व्याख्यातवान्।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में क्रमांक १६३ पर योग तथा सेनाध्यक्ष के पक्ष में व्याख्या की गयी थी। यहां परमेश्वर, आचार्य तथा बिजली रूप अग्नि का आह्वान है।

पदार्थ—प्रथम परमेश्वर के पक्ष में। **सखायः** हम सहयोगी उपासक लोग **योगेयोगे** प्रत्येक नवीन उपलब्धि के लिए, और **वाजेवाजे** प्रत्येक बल की प्रप्ति के लिए और **ऊतये** प्रगति के लिए **तवस्तरम्** अतिशय बलवान् **इन्द्रम्** विघ्नविघातक तथा परमैश्वर्यशाली परमेश्वर की **हवामहे** स्तुति करते हैं।

द्वितीय आचार्य के पक्ष में। **सखायः** परस्पर मित्रता में बंधे हुए हम सहाध्यायी लोग **योगेयोगे** प्रत्येक विद्या की प्राप्ति में, और **वाजेवाजे** अविद्या, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदियों के साथ होने वाले प्रत्येक संग्राम में **ऊतये** रक्षा के लिए **तवस्तरम्** विद्याबल, योगबल आदि में सर्वाधिक समृद्ध **इन्द्रम्** आचार्यप्रवर को **हवामहे** बुलाते हैं।।

तृतीय शिल्पविद्या के पक्ष में। यन्त्रकलाओं में बिजली का प्रयोग करने वाला शिल्पी कह रहा है— **सखायः** हम सहयोगीगण **योगेयोगे** पदार्थों के मिश्रण से बनने वाली प्रत्येक नवीन वस्तु के निर्माण में और **वाजेवाजे** प्रत्येक बलसाध्य कार्य में **ऊतये** शिल्पविद्या के व्यवहार के लिए **तवस्तरम्** अतिशय बलवान् **इन्द्रम्** बिजलीरूप अग्नि को **हवामहे** बुलाते हैं, अर्थात् यन्त्रकलाओं में प्रयुक्त करते हैं।।१।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है।।१।।

भावार्थ—जैसे बल आदि की प्राप्ति के लिए परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए, वैसे ही सब विद्याएं पढ़ने के लिए और अन्तःकरण में होने वाले देवासुरसंग्रामों में विजय के लिए विद्वान्, सदाचारी गुरु को स्वीकार करना चाहिए। कारखानों में व्यवहारोपयोगी पदार्थों के निर्माण के लिए तथा संग्रामों में शस्त्रास्त्र चलाने के लिए बिजली का प्रयोग करना चाहिएं।।१।।

अथ परमेश्वरस्तुतिं गुरुशिष्यविषयं चाह।

१ २ ३१र २र ३ १ २ ३ १र २र २ ३ १ २ ३ २ ३२
७४४. **अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम्। यं ते पूर्वं पिता हुवे ।।२।।**[1]

१२र ३ १ २ १२र ३२ ३ २ ३ २ १२र
अनु प्रत्नस्य ओकसः। हुवे तुविप्रतिम् तुवि प्रतिम् नरम्।
३ १२र ३ २ ३२
यम् ते पूर्वम् पिता हुवे ।।२।।

पदार्थः—प्रथमः परमेश्वरपरः। अहम् उपासकः **प्रत्नस्य** चिरन्तनस्य **ओकसः**[2] ब्रह्माण्ड-गृहस्य **नरम्** नेतारम्, **तुविप्रतिम्**[3] बहूनां पदार्थानां प्रतिमातारम् इन्द्रं जगदीश्वरं त्वाम् **अनुहुवे** अनुकूलयितुम् आह्वयामि, **यं ते** यं त्वाम् **पूर्वम्** प्राक् **पिता** मम जनकः **हुवे** आह्वयति स्म।।

द्वितीयः आचार्यपरः। हे बालक! अहं त्वदीयः पितृव्यादिः **तुविप्रतिम्** बह्वीनां विद्यानां प्रतिकृतिभूतम्, **प्रत्नस्य** पुरातनस्य **ओकसः** विद्यागृहस्य **नरम्** नेतारम् आचार्यम् **अनु** अनुकूल्य , तवाध्यापनाय सदाचार-शिक्षणाय च **हुवे** आह्वयामि, **यम्** आचार्यम् **पूर्वम्** प्राक् **ते** तव **पिता** जनकः, अन्येषां बालकानामध्यापनाय **हुवे** आह्वयति स्म।।२।।[4]

---

१. ऋ० १।३०।९, अथ० २०।२६।३।

२. ओकसः गृहस्य उदकस्य बलस्यान्नस्य वा—इति वि०।

३. **तुविप्रतिम्** तुवीनां बहूनां पदार्थानां प्रतिमातारम्। अत्रैकदेशेन प्रतिशब्देन प्रतिमातृशब्दार्थो गृह्यते इति ऋ०१।३०।९ भाष्ये द०।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ईश्वरपक्षे सभाध्यक्षपक्षे च व्याख्यातवान्।

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैः परमेश्वर उपासनीयः। किञ्च बालकानां संरक्षकैः पितृपितृव्यादिभिर्विद्याध्ययनाय बालकाः सुयोग्यस्य गुरोः समीपं प्रेषणीयाः, येन ते विद्वांसो भूत्वा कुशला नागरिका भवेयुः।।२।।

अगले मन्त्र में परमेश्वर की स्तुति तथा गुरु-शिष्य का विषय है।

पदार्थ—प्रथम परमेश्वर के पक्ष में। मै उपासक **प्रत्नस्य** चिरकाल से बने हुए **ओकसः** ब्रह्माण्डरूप घर के **नरम्** नेता, **तुविप्रतिम्** बहुत से पदार्थों का निर्माण करने वाले तुझ इन्द्र जगदीश्वर को **अनुहुवे** अनुकूल करने के लिए पुकारता हूं, **यं ते** जिस तुझ जगदीश को **पूर्वम्** पहले **पिता** मेरा पिता **हुवे** पुकारा करता था।।

द्वितीय आचार्य के पक्ष में। हे बालक! मैं तेरा चाचा आदि **तुविप्रतिम्** बहुत सी विद्याओं की प्रतिमूर्ति, **प्रत्नस्य** पुरातन **ओकसः** विद्यागृह के **नरम्** नेता आचार्य को **अनु** अनुकूल करके, तेरे पढ़ाने तथा सदाचार सिखाने के लिए **हुवे** पुकारता हूं, **यम्** जिस आचार्य को **पूर्वम्** पहले **ते** तेरा **पिता** पिता अन्य बालकों को पढ़ाने के लिए **हुवे** पुकारता रहा है।।२।।

भावार्थ—सब मनुष्यों को परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए और बालकों के संरक्षक पिता, चाचा आदि को चाहिए कि विद्या पढ़ने के लिए बालकों को सुयोग्य गुरु के पास भेजें, जिससे वे विद्वान् होकर कुशल नागरिक बनें।।२।।

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
७४५. आ घा गमद्यदि श्रवत्सहस्रिणीभिरूतिभिः। वाजेभिरुप नो हवम् ।।३।।[1]

२ ३ १ २र १२र ३ १ २ ३ १ २ १२र १२र ३ १२र
आ घ गमत् यदि श्रवत्। सहस्रिणीभिः ऊतिभिः। वाजेभिः उप नः हवम् ।।३।।

पदार्थः—प्रथमः परमेश्वरपरः। इन्द्रो जगदीश्वरः **यदि** चेत् **श्रवत्** अस्मदीयम् आह्वानं शृणुयात्, तर्हि सः **घ** अवश्यमेव **सहस्रिणीभिः** सहस्रसंख्याकाभिः **ऊतिभिः** रक्षाभिः **वाजेभिः** बलैः ऐश्वर्यैश्च सह **नः** अस्माकम् **हवम्** आह्वानम् **उप आगमत्** उपागच्छेत्।।

द्वितीयः गुरुशिष्यपरः। **यदि** एष विद्यार्थी चेत् **श्रवत्** गुरुमुखात् **शास्त्राणि** श्रोष्यति, तदा **सहस्रिणीभिः** सहस्रसंख्याकाभिः **ऊतिभिः** विद्यातृप्तिभिः। [अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यादिषु, क्तिनि रूपम्।] **वाजेभिः** आत्मबलैश्च सह **नः** नागरिकाणाम् अस्माकम् **हवम्** उत्सवादिसमारोहम् **घ** निश्चयेन **उप आ गमत्** उपागमिष्यति, स्वकीयैर्विद्वत्तापूर्णैर्विचारैश्चास्मान् कृतार्थयिष्यति। [श्रु श्रवणे, गम्लृ गतौ। लेटि प्रथमैकवचने श्रवत्, गमत् इति]।।३।।[2]

भावार्थः— हार्दिकमाह्वानं जगदीश्वरो ऽवश्यमेव शृणोति। सुयोग्यानां गुरूणां सान्निध्ये गुरुकुले वसन्तो विद्यार्थिनो विद्वांसो भूत्वा समावर्तनानन्तरं यदा बहिरागच्छेयुस्तदा सर्वानुपदिश्य सन्मार्गे प्रवर्तयेयुः।।३।।

आगे पुनः उसी विषय का वर्णन है।

---

१. ऋ० १।३०।८, अथ० २०।२६।२।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सभासेनाध्यक्षपक्षे व्याख्यातवान्।

पदार्थ—प्रथम परमेश्वर के पक्ष में। इन्द्र जगदीश्वर **यदि** यदि **श्रवत्** हमारी पुकार को सुन ले, तो वह **घ** अवश्य ही **सहस्रिणीभिः** हजारों **ऊतिभिः** रक्षाओं के साथ और **वाजेभिः** बलों तथा ऐश्वर्यों के साथ **नः** हमारी **हवम्** पुकार पर **उप आ गमत्** हमारे समीप आ जाए ।।

द्वितीय गुरु-शिष्य के पक्ष में। **यदि** यदि, यह विद्यार्थी **श्रवत्** गुरु-मुख से शास्त्रों को सुन चुकेगा, तो **सहस्रिणीभिः** सहस्रों **ऊतिभिः** विद्याजन्य तृप्तियों तथा **वाजेभिः** आत्मबलों के साथ **नः** हम नागरिकों के **हवम्** उत्सव आदि समारोह में **घ** निश्चय ही **उप आ गमत्** आयेगा, और अपने विद्वतापूर्ण विचारों से हमें कृतार्थ करेगा।।३।।

भावार्थ—हृदय से निकली हुई पुकार को जगदीश्वर अवश्य सुनता है। सुयोग्य गुरुओं के सान्निध्य में गुरुकुल में निवास करने वाले विद्यार्थी विद्वान् होकर समावर्तन संस्कार के पश्चात् जब बाहर आयें तब सबको उपदेश देकर श्रेष्ठ मार्ग में प्रवृत करें।।३।।

।।१२।। अथ 'इन्द्र सुतेषु' इत्यादिकस्य द्वादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** नारदः काण्वः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** उष्णिक्। **स्वरः** ऋषभः।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३८१ क्रमाङ्के परमेश्वरमहत्त्वविषये व्याख्याता। अत्राचार्यस्य महत्त्वं वर्ण्यति।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र
७४६. **इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थ्यम्।**
३२ ३ २ ३ १ २ ३ २
विदे वृधस्य दक्षस्य महाँ हि षः ।।१।।[1]
१ २र ३ १ २ १ २र १ २र ३ क२ ३२ ३ १ २ १ २र ३ २
इन्द्र सुतेषु सोमेषु। क्रतुम् पुनीषे उक्थ्यम्। विदे वृधस्य दक्षस्य महान् हि सः ।।१।।

पदार्थः—हे **इन्द्र** विद्यैश्वर्यसम्पन्न आचार्यवर! त्वम् **सोमेषु** ज्ञानरसेषु **सुतेषु** अभिषुतेषु, विद्यार्थिनाम् अस्माकम् **क्रतुम्** कर्म अपि **उक्थ्यम्** प्रशंसनीयं यथा स्यात्तथा **पुनीषे** पवित्रयसि। **वृधस्य** वृद्धस्य **दक्षस्य** उत्साहस्य। [दक्षतिः उत्साहकर्मा। निरु० १।७।] **विदे** लम्भनार्थम् **सः** स त्वम् **महान् हि** महत्त्ववान् खलु वर्तसे।।१।।

भावार्थः—यथा विद्याप्रदानमाचार्यस्य कर्त्तव्यं तथैव पवित्राचारप्रदानमपि। यथोक्तम्— आचार्यः कस्मात्? आचारं ग्राहयतीति (निरु० १।४) ।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ३८१ क्रमाङ्क पर परमेश्वर के महत्त्व के विषय में हो चुकी है। यहां आचार्य का महत्त्व वर्णित है।

पदार्थ—हे **इन्द्र** विद्या के ऐश्वर्य से युक्त आचार्यवर! आप **सोमेषु** ज्ञानरसों के **सुतेषु** अभिषुत करने के साथ-साथ, हम विद्यार्थियों के **क्रतुम्** कर्म को भी **उक्थ्यम्** प्रशंसनीय रूप में **पुनीषे** पवित्र करते हो। **वृधस्य** बढ़े हुए **दक्षस्य** उत्साह के **विदे** प्राप्त कराने के लिए **सः** वह आप **महान् हि** बड़े महत्त्वपूर्ण हो।।१।।

---

१. ऋ० ८।१३।१, इन्द्रः सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीत उक्थ्यम्। विदे वृधस्य दक्षसो महान् हि षः।। इति पाठः। साम० ३८१।

भावार्थ– जैसे विद्याप्रदान करना आचार्य का कर्त्तव्य है, वैसे पवित्र आचार का प्रदान करना भी कर्त्तव्य है। कहा भी है– ''आचार्य को आचार्य इस कारण कहते हैं क्योंकि वह आचार का ग्रहण कराता है, (निरु० १।४)''।।१।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
७४७. स प्रथमे व्योमनि देवानां सदने वृधः। सुपारः सुश्रवस्तमः समप्सुजित् ।।२।।[1]

२ ३ २ १ २ ३ ३ १ २ १ २ र ३ २
सः प्रथमे व्योमनि वि ओमनि। देवानाम् सदने वृधः।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ र ३ २ ३ २
सुपारः सु पारः सुश्रवस्तमः सु श्रवस्तमः सम् अप्सुजित् अप्सु जित् ।।२।।

पदार्थः–**सः** असौ विद्यादाता आचार्यः **प्रथमे** श्रेष्ठे **व्योमनि** व्योमवद् व्यापके ओङ्कारपदवाच्ये ब्रह्मणि[2] स्थितः **देवानां सदने** विदुषां गृहे, गुरुकुले इत्यर्थः विद्यमानः **वृधः** छात्राणां वर्धयिता, **सुपारः** विद्यार्णवात् सम्यक् पारयिता, **सुश्रवस्तमः** यशस्वितमः। [शोभनं श्रवः यशो यस्य स सुश्रवाः, अतिशयेन सुश्रवाः सुश्रवस्तमः।] **अप्सुजित्** अप्सु व्याप्तासु विद्यासु[3] शुभकर्मसु च अन्यान् जयतीति तादृशः **अस्ति**, अहं तम् **सम्** सम्यक् स्तौमि।।२।।

भावार्थः– सुयोग्यं विद्यार्णवं कर्मयोगिनमाचार्यं प्राप्य विद्यार्थिनोऽपि तादृशा एव जायन्ते।।२।।

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है।

पदार्थ–**सः** वह विद्याप्रदाता आचार्य **प्रथमे** श्रेष्ठ **व्योमनि** आकाश के समान व्यापक ओंकारपदवाच्य ब्रह्म में स्थित हुआ **देवानां सदने** विद्वानों के सदन गुरुकुल में रहता हुआ **वृधः** छात्रों की उन्नति कराने वाला, **सुपारः** विद्या के समुद्र से पार करने वाला, **सुश्रवस्तमः** अत्यन्त यशस्वी, **अप्सुजित्** व्याप्त विद्याओं में तथा शुभकर्मों में अन्यों को जीत लेने वाला अर्थात् अन्यों की अपेक्षा अधिक पारंगत है! मैं **सम्** उसकी भलीभांति स्तुति करता हूं।।२।।

भावार्थ– सुयोग्य, विद्या के सागर, कर्मयोगी आचार्य को पाकर विद्यार्थी भी वैसे ही बनते हैं।।२।।

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
७४८. तमु हुवे वाजसातय इन्द्रं भराय शुष्मिणम्।

१ २ ३ १ र २ र ३ १ २ ३ २
भवा नः सुम्ने अन्तमः सखा वृधे ।।३।।[4]

२ ३ १ २ र १ २ र ३ १ २ र १ २ र ३ १ २
तम् उ हुवे वाजसातये वाज सातये। इन्द्रम् भराय शुष्मिणम्।

१ २ र ३ २ १ २ र १ २ र ३ २
भव नः सुम्ने अन्तमः सखा स खा वृधे।।३।।

---

१. ऋ० ८।१३।२।

२. तुलनीयः ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् ऋ० १।१६४।३९।

३. अप्सु विद्याव्यापकेषु वेदादिषु–इति ऋ० १।११७।४ भाष्ये द०।

४. ऋ० ८।१३।३, 'तमु हुवे' इत्यत्र 'तमह्वे' इति पाठः।

पदार्थः—अहं विद्यार्थी **वाजसातये** वाजानां विद्याबलानाम् आत्मबलानां च सातिः प्राप्तिः यस्मिन् तस्मै **भराय** अध्ययनाध्यापनयज्ञाय[1]। [भ्रियन्ते धार्यन्ते विविधा विद्या यस्मिन् स भरः ज्ञानयज्ञः।] **तम् उ** तमेव **शुष्मिणम्** आत्मबलेन विद्याबलेन च युक्तम् **इन्द्रम्** आचार्यम् **हुवे** आह्वयामि। हे आचार्यवर! त्वम् **सुम्ने** सुखे निमित्ते, सुखाय इत्यर्थः **वृधे** वर्धनाय च **नः** अस्माकम् **अन्तमः** अन्तिकतमः **सखा** सुहृद् **भव** सम्पद्यस्व॥३॥

भावार्थः—सान्निध्येन सखित्वेन सौहार्देन च सर्वा लोकविद्या ब्रह्मविद्याश्च शिक्षयन् सुखं प्रयच्छन्नाचार्यश्छात्राणां चतुर्मुखीमुन्नतिं कुर्यात्॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मविषयस्यात्मोद्बोधनविषयस्य गुरुशिष्यविषयस्य प्रसङ्गतः शिल्पविज्ञानविषयस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेदितव्या॥

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है।

पदार्थ—मैं विद्यार्थी **वाजसातये** विद्या-बलों तथा आत्म-बलों की प्राप्ति कराने वाले **भराय** अध्ययनाध्यापन रूप यज्ञ के लिए **तम् उ** उस **शुष्मिणम्** आत्म-बल तथा विद्या-बल से युक्त **इन्द्रम्** आचार्य को **हुवे** पुकारता हूँ। हे आचार्यवर! आप **सुम्ने** सुख के लिए, और **वृधे** उन्नति के लिए **नः** हमारे **अन्तमः** निकटतम **सखा** मित्र **भव** होवो॥३॥

भावार्थ—निकटता, सखिभाव और सौहार्द के साथ सब लोक-विद्याओं और ब्रह्म-विद्याओं की शिक्षा देता हुआ तथा सुख प्रदान करता हुआ आचार्य छात्रों की चहुंमुखी उन्नति करता रहे॥३॥

इस खण्ड में परमात्मा, आत्मोद्बोधन एवं गुरुशिष्य विषयों का तथा प्रसंगतः शिल्पविज्ञान का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए।

द्वितीय अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त

॥१३॥ अथ 'एना वो अग्निं' इत्यादिकस्य त्रयोदशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठः मैत्रावरुणः। **देवता** अग्निः। **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २समा सतोबृहती)। **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४५ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता। अत्राग्निहोत्रविषय उच्यते।

३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र३ १ २
७४९. एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे।
३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥१॥[2]

३ २ ३ २ १ २र ३ २ १ २र ३
एना वः अग्निम् नमसा। ऊर्जः नपातम् आ हुवे।
२ १ २र ३ २ ३ २ ३ २
प्रियम् चेतिष्ठम् अरतिम् स्वध्वरम् सु अध्वरम्।
१ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
विश्वस्य दूतम् अमृतम् अ मृतम्॥१॥

---

१. भ्रियन्ते तस्मिन् हवींषीति भरो यज्ञः। प्रायेण संग्रामनामानि यज्ञनामत्वेन च दृश्यन्ते—इति सा०।

२. ऋ० ७।१६।१, य० १५।३२, साम० ४५।

पदार्थः—हे सखायः! अहम् **ऊर्जोनपातम्** बलस्य प्राणशक्तेश्च न पातयितारम्, वर्द्धकमिति यावत्, **प्रियम्** प्रेमार्हम्, **चेतिष्ठम्** अतिशयेन चेतयितारम्, **अरतिम्** गतिशीलम्, **स्वध्वरम्** शोभनः अध्वरः यज्ञः येन तम्, **विश्वस्य दूतम्** सर्वस्यापि यजमानजनस्य दौत्यमिवाचरन्तम्, यथा दूतो वार्ताहरणे उभयोः पक्षयोः माध्यमं जायते तथैव योऽग्निर्हुतं द्रव्यं सूक्ष्मीकृत्य तत्सुगन्धस्य सर्वत्र प्रसारणे माध्यमं भवतीति कृत्वा तस्य दूतत्वमुक्तम्, **अमृतम्** सर्वेषु पदार्थेष्वव्यक्ततयाऽक्स्थानाद् अमरणधर्माणम् **अग्निम्** यज्ञाग्निम् **वः** युष्मभ्यम्, अस्मभ्यं चेत्यपि द्योत्यते, युष्मदस्मद्धितायेति भावः **एना** एनेन प्रत्यक्षं दृश्यमानेन **नमसा** श्रद्धाभावेन, अन्नादिहविषा वा। [नमः इत्यन्ननामसु पठितम्।] **आहुवे** आजुहोमि।[हु दानादनयोः, जुहोत्यादिः, छान्दसः शपः श्लोरभावः] ।।१।।[1]

भावार्थः—अग्निहोत्रेण यथा जलवाय्वादिकस्य शुद्धिर्जायते तथैवान्तःकरणस्यापि शुद्धिर्भवति, देहात्मबलं प्राणशक्तिजागरूकता त्यागभावना चापि प्राप्यते।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में क्रमांक ४५ पर परमात्मा के विषय में की जा चुकी है। यहां अग्निहोत्र का विषय वर्णित करते हैं।

पदार्थ—हे साथियो! मैं **ऊर्जः नपातम्** बल और प्राणशक्ति को बढ़ाने वाले, **प्रियम्** प्रिय, **चेतिष्ठम्** अतिशय जागरूक करने वाले, **अरतिम्** गतिशील, **स्वध्वरम्** उत्कृष्ट यज्ञ जिससे चलता है ऐसे, **विश्वस्य दूतम्** सब यजमानों के लिए दूत का कार्य करने वाले, अर्थात् दूत जैसे सन्देश लाने और ले जाने में दोनों पक्षों के बीच में माध्यम बनता है वैसे ही होमे हुए पदार्थ को सूक्ष्म करके उसके सुगन्ध को सब जगह फैलाने में माध्यम बनने वाले, **अमृतम्** सब पदार्थों में अव्यक्त रूप से स्थित होने के कारण अमर **अग्निम्** यज्ञाग्नि में **वः** तुम्हारे व अपने हित के लिए **एना** इस प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले **नमसा** श्रद्धाभाव से वा अन्नादि की हवि से **आहुवे** आहुति देता हूं।।१।।

भावार्थ—अग्निहोत्र से जैसे जल, वायु आदि की शुद्धि होती है, वैसे ही अन्तःकरण की भी शुद्धि होती है तथा शारीरिक बल, आत्मबल, प्राणशक्ति, जागरूकता और त्यागभावना की उपलब्धि होती है।।१।।

अथाग्निहोत्रस्य लाभानाह ।

७५०. **स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः।**
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवं राधो जनानाम् ।।२।।[2]

सः योजते अरुषा विश्वभोजसा विश्व भोजसा। सः दुद्रवत् स्वाहुतः सु आहुतः।
सुब्रह्मा सु ब्रह्मा यज्ञः सुशमी सु शमी वसूनाम्। देवम् राधः जनानाम् ।।२।।

पदार्थः—**सः** असौ यज्ञाग्निः **विश्वभोजसा** विश्वपालकेन। [विश्वं सर्वं यजमानहोत्रादिकं भुनक्ति पालयतीति विश्वभोजाः तेन।] **अरुषा** आरोचमानेन तेजसा। [अरुषम् इति रूपनाम। निघं० ३।७।] **योजते** युज्यते योजयति वा यजमानान्। **सः** यज्ञाग्निः **स्वाहुतः** सम्यक् प्राप्ताहुतिः सन् **दुद्रवत्** भृशं द्रवति गच्छति, ज्वाला-

---

१. मन्त्र एष दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्ये राजप्रजाविषये यजुर्भाष्ये च विद्युद्विद्याविषये व्याख्यातः।
२. ऋ० ७।१६।२।

भिर्लेलायते। [द्रु गतौ, यङ्लुगन्तः, लङ्, अडभावः।] **सुब्रह्मा** उत्कृष्टो ब्रह्मा ऋत्विग् यत्र तादृशः **यज्ञः** अध्वरः **वसूनाम्** आहिताग्नीनां यजमानानाम् **सुशमी** सुशान्तिकरः जायते। स च यज्ञः **जनानाम्** अग्निहोत्रिणां प्रजानाम् **देवं** प्रकाशकम् **राधः** ज्योतीरूपं धनं, प्रयच्छतीति शेषः ॥२॥[1]

भावार्थः—सुयोग्यं ब्रह्माणमध्यक्षपदे नियुज्य कृतो यज्ञः सुखशान्तिस्वास्थ्यकरो जनानां ज्योतिष्प्रदोऽध्यात्ममार्गे प्रेरकश्च जायते ॥२॥

अगले मन्त्र में अग्निहोत्र के लाभों का वर्णन है।

पदार्थ—सः वह यज्ञाग्नि **विश्वभोजसा** सबका पालन करने वाले **अरुषा** चमकते तेज से **योजते** संयुक्त होता है तथा यजमानों को संयुक्त करता है। **सः** वह यज्ञाग्नि **स्वाहुतः** भले प्रकार आहुति दिये जाने पर **दुद्रवत्** अत्यधिक गतिमय हो जाता है, ज्वालाओं को लपलपाने लगता है। **सुब्रह्मा** श्रेष्ठ ब्रह्मा जिसमें बना है ऐसा **यज्ञः** यज्ञ **वसूनाम्** आहिताग्नि यजमानों को **सुशमी** उत्तम शान्ति देने वाला होता है। वह यज्ञ **जनानाम्** अग्निहोत्री जनों को **देवम्** प्रकाशक **राधः** ज्योतिरूप धन, देता है॥२॥

भावार्थ—सुयोग्य ब्रह्मा को अध्यक्ष पद पर नियुक्त करके किया हुआ यज्ञ, सुख, शान्ति और स्वास्थ्य देने वाला, लोगों को ज्योति प्रदान करने वाला तथा अध्यात्ममार्ग में प्रेरित करने वाला होता है॥२॥

॥१४॥ अथ 'प्रत्यु अदर्श्यी' इत्यादिकस्य चतुर्दशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठः मैत्रावरुणिः। **देवता** उषाः। **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती)। **स्वरः** १. मध्यमः, २. पञ्चमः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३०३ क्रमाङ्के प्राकृतिक्या उषसः पक्षे व्याख्याता। अत्राध्यात्मिकी उषा वर्ण्यते।

७५१. **प्रत्यु अदर्श्यायत्यू३च्छन्ती दुहिता दिवः।**
अपो मही वृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी ॥१॥[2]
प्रति उ अदर्शि आयती आ यती। उच्छन्ती दुहिता दिवः।
अप उ मही वृणुते चक्षुषा तमः। ज्योतिः कृणोति सूनरी सु नरी ॥१॥

पदार्थः—आयती आगच्छन्ती **उच्छन्ती** हृदयप्राङ्गणे उदयं भजमाना **दिवः दुहिता** द्योतमानस्य परमात्मनः पुत्रीव विद्यमाना अध्यात्मप्रभारूपिणी उषाः **प्रति अदर्शि उ** उपासकेन मया अनुभूताऽस्ति खलु। **मही** महती एषा अध्यात्मप्रभा **चक्षुषा** चक्षसा, स्वकीयेन दिव्यप्रकाशेन **तमः** मोहान्धकारम् **अप उ वृणुते** अपाकरोति। **सूनरी** सुनेत्री एषा अध्यात्मप्रभारूपिणी उषाः **ज्योतिः** विवेकख्यातिरूपं ज्योतिः **कृणोति** जनयति॥१॥

---

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिममृग्भाष्ये राजा कीदृशः स्यादिति विषये व्याचष्टे।
२. ऋ० ७।८१।१ 'अपो॒ महि॒ व्यय॑ति॒ चक्ष॑से॒' इति पाठः। साम० ३०३।

भावार्थः—परमात्मोपासनेन हृदये प्रादुर्भवन्ती दिव्यप्रभा सर्वं तमोजालं विच्छिद्यान्तःकरणं निर्मलं करोति।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में क्रमांक ३०३ पर प्राकृतिक उषा के पक्ष में व्याख्यात की जा चुकी है। यहां आध्यात्मिक उषा का वर्णन करते हैं।

पदार्थ—आयती आती हुई, **उच्छन्ती** हृदय-प्राङ्गण में उदित होती हुई, **दिवः दुहिता** तेजस्वी परमात्मा की पुत्री के समान विद्यमान अध्यात्मप्रभा **चक्षुषा** अपने दिव्य प्रकाश से **तमः** मोहरूप अंधकार को **अप उ वृणुते** दूर कर रही है। **सूनरी** उत्कृष्ट नेतृत्व करने वाली यह अध्यात्मप्रभारूप उषा **ज्योतिः** विवेकख्यातिरूप ज्योति को **कृणोति** उत्पन्न कर रही है।।१।।

भावार्थ—परमात्मा की उपासना से हृदय में प्रकट होती हुई दिव्यप्रभा समस्त तामसिकता के जाल को विच्छिन्न करके अन्तःकरण को निर्मल बना देती है।।१।।

अथ सूर्योषसौ वर्ण्येते।

७५२. **उदुस्रियाः सृजते सूर्यः सचा उद्यन्नक्षत्रमर्चिवत्।**
तवेदुषो व्युषि सूर्यस्य च सं भक्तेन गमेमहि ।।२।।[1]

ऽत् उस्रियाः उ स्रियाः सृजते सूर्यः सचा। उद्यत् उत् यत् नक्षत्रम् अर्चिवत्।
तव इत् उषः व्युषि वि उषि सूर्यस्य च। सम् भक्तेन गमेमहि ।।२।।

पदार्थः—प्रथमः प्राकृतिकसूर्योषःपक्षे। **सूर्यः** आदित्यः **सचा** सह, युगपत् **उस्रियाः** किरणान्। [उस्रा इति रश्मिनाम। निघं० १।५। द्वितीयैकवचने इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्। अ० ७।१।३९ वा० इति शसः स्थाने डियाज् आदेशः।] **उत्सृजते** उद्गमयति, येन **उद्यत्** उद्गच्छत् **नक्षत्रम्** गतिमयं ग्रहोपग्रहादिकम्। [नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः इति निरुक्तम्।३।२०।] **अर्चिवत्** दीप्तियुक्तं जायते इति शेषः। हे **उषः** प्रभातवेले! **तव इत्** तव खलु **सूर्यस्य च** आदित्यस्य च **व्युषि** विवासने प्रकाशने सति, वयम् **भक्तेन** ऐश्वर्येण **संगमेमहि** संगच्छेमहि।।

द्वितीयः अध्यात्मपरः। **सूर्यः** सूर्यवत् प्रकाशमानः प्रकाशकश्च परमात्मा **सचा** युगपत् **उस्रियाः** दिव्यप्रकाशस्य रश्मीन् **उत्सृजते** विसृजति, तेन च **उद्यत्** उद्गच्छत् **नक्षत्रम्** प्रगतिशीलं मनोबुद्ध्यादिकम् **अर्चिवत्** प्रकाशमयं जायते। हे **उषः** अध्यात्मप्रभे! **तव इत्** तव खलु **सूर्यस्य च** परमात्मरूपस्य आदित्यस्य च **व्युषि** प्रकाशने सति, वयम् **भक्तेन** दिव्येन ऐश्वर्येण **सं गमेमहि** संगच्छेमहि।।२।।

अत्र श्लेषालङ्कारः। उपमानोपमेयभावश्च गम्यते।।२।।

भावार्थः—यथोषसः सूर्यस्य चोदये सर्वं प्रकाशते तथैवाध्यात्मिक्याः प्रभायाः परमात्मनश्चोदयादुपासकानां हृदयं प्रकाशते।।२।।

अगले मन्त्र में सूर्य और उषा का वर्णन है।

---

१. ऋ० ७।८१।२, 'सचाँ' इति भेदः।

पदार्थ—प्रथम प्राकृतिक सूर्य और उषा के पक्ष में। **सूर्यः** सूर्य **सचा** एक साथ **उस्रियाः** किरणों को **उत्सृजते** छोड़ता है, जिससे **उद्यत्** उदित होते हुए **नक्षत्रम्** गतिमय ग्रह-उपग्रह आदि **अर्चिवत्** दीप्तिमान् हो जाते हैं। **उषः** हे उषा! **तव इत्** तेरे **सूर्य्यस्य च** और सूर्य के **व्युषि** प्रकाशित होने पर, हम **भक्तेन** ऐश्वर्य से **संगमेमहि** संयुक्त होवें।।

द्वितीय अध्यात्म पक्ष में। **सूर्यः** सूर्य के समान प्रकाशमय और प्रकाशक परमात्मा **सचा** एक साथ **उस्रियाः** दिव्य प्रकाश की रश्मियों को **उत्सृजते** छोड़ता है, जिससे **उद्यत्** उन्नत होते हुए **नक्षत्रम्** प्रगतिशील मन, बुद्धि आदि **अर्चिवत्** प्रकाशमान हो जाते हैं। **उषः** हे अध्यात्मप्रभा! **तव इत्** तेरे **सूर्यस्य च** और परमात्मारूप सूर्य के **व्युषि** प्रकाशित होने पर, हम **भक्तेन** दिव्य ऐश्वर्य से **संगमेमहि** संयुक्त होवें।।२।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। उपमानोपमेयभाव व्यङ्ग्य है।।२।।

भावार्थ—जैसे उषा और सूर्य के उदय होने पर सब कुछ प्रकाशित हो उठता है, वैसे ही आध्यात्मिक प्रभा और परमात्मा के उदय होने पर उपासकों का हृदय प्रकाशित हो जाता है।।२।।

।।१५।। अथ 'इमा उ वां' इत्यादिकस्य पञ्चदशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः। **देवते** अश्विनौ। **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती)। **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः।।

तत्र अश्विदेवताका प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३०४ क्रमाङ्के परमात्मजीवात्मपक्षेऽध्यापकोपदेशकपक्षे च व्याख्याता। अत्र राष्ट्रोन्नतये ब्राह्मणक्षत्रियौ आह्वयति।

७५३. इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना।
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथः ।।१।।[1]

इमाः उ वाम् दिविष्टयः। उस्रा उ स्रा हवन्ते अश्विना।
अयम् वाम् अह्वे अवसे शचीवसू शची वसूइति।
विशंविशम् विशम् विशम् हि गच्छथः ।।१।।

पदार्थः—हे **अश्विना** ज्ञानेन रक्षया च व्याप्तिमन्तौ ब्राह्मणक्षत्रियौ! **इमाः उ** एताः खलु **दिविष्टयः** यशःप्रकाशेच्छवः प्रजाः **उस्रा वाम्** वासकौ युवाम् **हवन्ते** आह्वयन्ति। हे **शचीवसू** कर्मधनौ प्रज्ञाधनौ वा! **अयम्** एषः अहमपि **अवसे** रक्षणाय **वाम्** युवाम् **अह्वे** आह्वयामि, **हि** यतः, युवाम् **विशं विशं** प्रजां प्रजाम् **गच्छथः** प्राप्नुथः।।१।।

भावार्थः—यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह। तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषम् (य० २०।२५) इति श्रुत्युक्तदिशा यौ ब्राह्मणक्षत्रियौ राष्ट्रं सौभाग्यशालिनं कर्तुमर्हतः, तयोः संरक्षणं सर्वाभिः प्रजाभिः प्राप्तव्यम्।।१।।

'अश्विनौ' देवता वाली प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में क्रमांक ३०४ पर परमात्मा-जीवात्मा और अध्यापक-उपदेशक के पक्ष में व्याख्यात हो चुकी है। यहां राष्ट्र की उन्नति के लिए ब्राह्मण-क्षत्रियों का आह्वान किया गया है।

---

१. ऋ० ७।७४।१, साम० ३०४।

पदार्थ—हे **अश्विना** ज्ञान एवं रक्षा से व्याप्त होने वाले ब्राह्मण और क्षत्रियो ! **इमाः उ** ये **दिविष्टयः** यशः प्रकाश की इच्छुक **उम्राः** प्रजाएं **वाम्** तुम निवासकों को **हवन्ते** पुकार रही हैं। हे **शचीवसू** कर्म-धन और प्रज्ञा-धन के धनियो ! **अयम्** यह मैं भी **अवसे** रक्षा के लिए **वाम्** तुम्हें **अह्वे** पुकारता हूं, **हि** क्योंकि, तुम **विशं विशम्** प्रत्येक प्रजा के पास **गच्छथः** पहुंचा करते हो ॥१॥

भावार्थ—"जहां ब्रह्म और क्षत्र एक साथ मिलकर रहते हैं उस राष्ट्र को मैं पुण्यवान् समझता हूं (य० २०।२५)।" इस वेदोक्ति के अनुसार जो ब्राह्मण और क्षत्रिय राष्ट्र को सौभाग्यशाली बनाने के योग्य होते हैं उनका संरक्षण सब प्रजाओं को प्राप्त करना चाहिए॥१॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
७५४. **युवं चित्रं ददथुर्भोजनं नरा चोदेथां सूनृतावते।**
३ २ऽ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ऽ २ऽ
अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतं पिबतं सोम्यं मधु ॥२॥[1]

३ २ ३ २ ३ १२ऽ ३ १२ऽ ३ १ २ ३ १ २ऽ
युवम् चित्रम् ददथुः भोजनम् नरा । चोदेथाम् सूनृतावते सु नृतावते।
३ २ १२ऽ १२ऽ ३ २ ३ १२ऽ ३ २ १२ऽ
अर्वाक् रथम् समनसा स मनसा नि यच्छतम् । पिबतम् सोम्यम् मधु ॥२॥

पदार्थः—हे **नरा** नरौ नेतारौ अश्विनौ ब्राह्मणक्षत्रियौ ! **युवम्** युवाम् **चित्रम्** अद्भुतम् **भोजनम्** पालनम् **ददथुः** प्रयच्छथः, तद् भोजनं पालनम् युवाम् **सूनृतांवते** प्रियसत्यवाग्युक्ताय मह्यम् अपि। [सूनृता इति वाङ्-नाम। निघं० १।११ ।] **चोदेथाम्** प्रेरयतम्, प्रयच्छतम् । **समनसा** समनसौ समानमनस्कौ सन्तौ युवाम्, स्वकीयम् **रथम्** वाहनम् **अर्वाक्** अस्मदभिमुखम् **नि यच्छतम्** नियमयतम्, कुरुतम्, अस्मान् प्रति आगच्छतम् इत्यर्थः, आगत्य च **सोम्यम्** सोममयम् । [मये च अ० ४।४।१३८ इति सोमशब्दात् मयडर्थे यः प्रत्ययः।] **मधु** क्षौद्रम् **पिबतम्** आस्वादयतम्, अस्माभिः कृतं सत्कारं गृह्णीतम् इत्यर्थः ॥२॥

भावार्थः—ब्राह्मणा ज्ञानप्रदानेन क्षत्रियाश्च रक्षणप्रदानेन प्रजाजनानुपकुरुतः, अतस्तेषां यथायोग्यं सत्कारस्तेभ्यो लाभग्रहणं च सर्वैः करणीयम्॥२॥

अस्मिन् खण्डेऽग्निहोत्रस्य, दिव्याया उषसो, दिव्यस्य सूर्यस्य, ब्रह्मक्षत्रयोश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्व-खण्डेन संगतिरस्ति ॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ—हे **नरा** नेतृत्व करने वाले ब्राह्मण और क्षत्रियो ! **युवम्** तुम **चित्रम्** अद्भुत **भोजनम्** पालन को **ददथुः** देते हो । उस पालन को तुम **सूनृतावते** प्रिय-सत्य वाणी वाले मेरे लिए भी **चोदेथाम्** प्रेरित करो, प्रदान करो । **समनसा** अनुकूल मन वाले होते हुए तुम दोनों, अपने **रथम्** रथ को **अर्वाक्** हमारी ओर **नि यच्छतम्** मोड़ो, अर्थात् हमारी ओर आओ, और आकर **सोम्यम्** सोमरस से युक्त **मधु** मधु को **पिबतम्** पिओ, अर्थात् हमारे द्वारा किये गये सत्कार को ग्रहण करो ॥२॥

---

१. ऋ० ७।७४।२ ।

भावार्थ—ब्राह्मण लोग ज्ञान-दान के द्वारा और क्षत्रिय लोग रक्षा-प्रदान द्वारा प्रजाजनों का उपकार करते हैं, अतः उनका यथोचित सत्कार और उनसे लाभग्रहण सबको करना चाहिए ॥२॥

इस खण्ड में अग्निहोत्र, दिव्य उषा, दिव्य सूर्य तथा ब्रह्म-क्षत्र का वर्णन होने से पूर्व खण्ड के साथ इस खण्ड की संगति है ॥

द्वितीय अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त

॥१६॥ अथ 'अस्य प्रत्नामनु' इत्यादिकस्य षोडशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अवत्सारः काश्यपः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

अथ सोमस्य परमात्मनो विषयमाह ।

३ २ ३ २उ ३ ३१ २१ २ ३ १ २ १ २ ३ १र २र
७५५. अस्य प्रत्नामनु द्युतं शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः । पयः सहस्रसामृषिम् ॥१॥[1]

३ २ ३ २ १२र १२र ३ २ ३ १२र ३
अस्य प्रत्नाम् अनु द्युतम् । शुक्रम् दुदुह्रे अह्रयः अ ह्रयः ।
१२र ३ २ ३ २ १२र
पयः सहस्रसाम् सहस्र साम् ऋषिम् ॥१॥

पदार्थः—**अस्य** सोमस्य सौम्यतेजसः परमात्मनः **प्रत्नाम्** पुराणीम् **सहस्रसाम्**[2] या सहस्राणि असंख्यातानि फलानि सनोति ददाति ताम् **ऋषिम्**[3] बहुकार्यसाधिकाम् **द्युतम्** सौम्यां द्युतिम् **अनु** अनुध्याय **अह्रयः**[4] व्याप्त-विद्याः उपासकाः **शुक्रम्** शुद्धम् **पयः** ब्रह्मानन्दरसम् **दुदुह्रे** दुदुहिरे, प्राप्नुवन्ति । [दुह प्रपूरणे धातोः, वर्त्तमाने लिट्। इरयोरे अ० ६।४।७६ इति इरेज् इत्यस्य स्थाने रे आदेशः] ॥१॥[5]

---

१. ऋ० ९।५४।१। य० ३।१६ गोऽग्निपयोदेवत्या ।

२. सहस्रसाम् या सहस्राण्यसंख्यातानि कार्याणि सनोति ताम् इति य० ३।१६ भाष्ये द० ।

३. ऋषिम् कार्यसिद्धिप्राप्तिहेतुम् । अत्र इगुपधात् कित् । उ० ४।१२०, अनेन ऋषी गतौ इत्यस्माद् धातोरिन् प्रत्ययः-इति तत्रैव द०।

४. **अह्रयः** अहुवन्ति व्याप्नुवन्ति सर्वा विद्या ये ते विद्वांसः। अत्र अह व्याप्तौ इत्यस्माद् बाहुलकेनौणादिकः क्रिः प्रत्ययः। मही-धरेणायं ह्री लज्जायाम् इत्यस्य प्रयोगोऽशुद्ध एव व्याख्यातः इति य० ३।१६ भाष्ये द० ।

५. 'अग्निर्देवता' इति यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिः। स मन्त्रमिमं तत्र भौतिकाग्निपक्षे व्याख्यातवान्। 'गायत्री अवत्सारद्रष्टा गोऽग्नि-पयोदेवत्या' इति महीधरः। तन्मते ''अर्षति दोहनस्थाने गच्छतीति ऋषिर्गौः। तां होमार्थं दुग्धवन्तः। सायंदोहनकालेऽग्नि-प्रकाशाभावे दुह्यमानं पयो भूमौ पतिष्यतीति शङ्कया दोग्धृणां लज्जा भवति। सत्यामग्निदीप्तौ स्कन्नशङ्कानुदयाल्लज्जा-भावाद् अह्रयो दोग्धारः । किंभूताम् **ऋषिम्** ? सहस्राम् । 'षोऽन्तकर्मणि' । सहस्रसंख्याकानि कर्माणि स्यति समापयति क्षीर-दध्याज्यहविःप्रदानेनेति सहस्रसा ताम्, स्यतेः क्विप् । यद्वा- अह्रयः गावः, नास्ति ह्रीर्लज्जा यासां ता अह्रयः अलज्जाः उज्ज्वलाः प्रशस्ता इत्यर्थः । मलिनो हि लज्जते । **अह्रयो** गावोऽस्याग्नेः प्रत्नां चिरन्तनीम् आत्मानुषक्तां द्युतं दीप्तिं शुक्रं शुक्ररूपापन्नां द्युतमेव पयो दुग्धं दुदुह्रे दुहन्ति क्षरन्ति, अग्निना शुक्ररूपेण सिक्तां स्वकान्तिमेव गावो दुग्धरूपेण क्षरन्तीत्यर्थः । 'सहस्रसाम् ऋषिम्' इति विशेषणद्वयं पयसः। सहस्रं सनोति सहस्रसास्तम्, चातुर्मास्यपशुसोमानां संभक्तारम्। पुंस्त्वमार्षम्। 'जनसनखनक्रमगमो विट्' पा० ३।२।६७ इति विट् प्रत्यये विड्वनोरनुनासिकस्यात् पा० ६।४।४१ इत्याकारे वर्लोपे सहस्रसा इति रूपम् । तथा ऋषिं द्रष्टारम् । गवि वर्तमानं द्रष्टृत्वं पयस्युपचर्यते।-यद्वा 'सहस्रसाम् ऋषिम्' इति विभक्तिलिंगवचन-व्यत्ययेन अह्रयः इत्यस्य विशेषणद्वयम्। किंभूता अह्रयः ? सहस्रसाः, ऋषयः'' इति ।

भावार्थः—यः सौम्यः शुद्धः परमात्मा स्वोपासकानां हृदि सौम्यं शुद्धं ब्रह्मानन्दरसं स्रावयति तस्य सौम्यायां द्युतौ ध्यानं सर्वैः करणीयम् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में सोम नामक परमात्मा का विषय है ।

पदार्थ—अस्य इस सोम की अर्थात् सौम्य तेज वाले परमात्मा की **प्रत्नाम्** पुरातन, **सहस्रसाम्** असंख्यात फल प्रदान करने वाली, **ऋषिम्** अनेक कार्यों को सिद्ध करने वाली **द्युतम्** सौम्य द्युति का **अनु** अनुकूल ध्यान करके **अह्रयः** व्याप्त विद्या वाले विद्वान् उपासकजन **शुक्रम्** शुद्ध **पयः** ब्रह्मानन्दरूप रस को **दुदुह्रे** दुह लेते हैं, पा लेते हैं ॥१॥

भावार्थ—जो सौम्य, शुद्ध परमात्मा अपने उपासकों के हृदय में शुद्ध ब्रह्मानन्द रस को बहाता है उसकी सौम्य द्युति में ध्यान सबको लगाना चाहिए ॥१॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

७५६. अयं सूर्य इवोपदृगयं सरांसि धावति । सप्त प्रवत आ दिवम् ॥२॥[1]

अयम् सूर्यः इव उपदृक् उप दृक् । अयम् सरांसि धावति । सप्त प्रवतः आ दिवम् ॥२॥

पदार्थः—अयम् एषः सोमः सौम्यः परमात्मा **सूर्यः इव** आदित्यः इव **उपदृक्** उपदर्शयिता अस्ति। **अयम्** एषः सौम्यः परमात्मा **सरांसि**[2] हृदयसरोवरान् **धावति** द्रुतं गच्छति, शोधयति वा । [धावु गतिशुद्धयोः भ्वादिः।] अयम् **सप्त** सप्तसंख्यकान् **प्रवतः**[3] ज्ञानेन्द्रियसहितान् मनोबुद्धिलोकान्, **दिवम्** द्योतमानम् जीवात्मानं च **आ** आधावति आगच्छति शोधयति वा ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—यथा सूर्यः सर्वेषां पदार्थानामुपदर्शको भवति, स्वकिरणैः मेघसरोवरान् गच्छति, भूमिचन्द्रादीन् सप्त ग्रहोपग्रहान् स्वप्रकाशेन शोधयति, दिवि तिष्ठति तथैव परमात्मा सर्वेषां दृष्टिप्रदाता, हृदयसरांसि गन्ता, देहवर्तिनः सप्त प्राणान् शोधयिता, आत्मपुरि च स्थाता वर्तते ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ—अयम् यह सोम अर्थात् सौम्य परमात्मा **सूर्यः इव** सूर्य के समान **उपदृक्** दर्शाने वाला है । **अयम्** यह सौम्य परमात्मा **सरांसि** हृदय-सरोवरों में **धावति** शीघ्र पहुंचता है तथा उन्हें धोकर शुद्ध कर देता है । यह सौम्य परमात्मा **सप्त** सात **प्रवतः** ज्ञानेन्द्रियों सहित मन और बुद्धि को और **दिवम्** तेजस्वी जीवात्मा को **आ** प्राप्त होता है तथा उन्हें धोकर शुद्ध करता है ॥२॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥२॥

---

१. ऋ० ९।५४।२ ।

२. सरांसि त्रिंशत् उक्थपात्राणि इति केचिद् वदन्ति, अपरे तु त्रिंशदहोरात्राणि सरांसि, तानि धावति प्रतिगच्छति । तथा च यास्कः- तत्रैतद् याज्ञिका वेदयन्ते त्रिंशदुक्थपात्राणि माध्यन्दिने सवने एकदेवतानि, तान्येतस्मिन् काल एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति, तान्यत्र **सरांस्युच्यन्ते** । त्रिंशदपरपक्षस्याहोरात्राः, त्रिंशत् पूर्वपक्षस्येति नैरुक्ताः (निरु० ५।११)-इति सा० ।

३. सप्त प्रवतः सप्त नदीः—इति सा० । सप्त लोकान् अथवा सप्त छन्दांसि-इति वि० ।

भावार्थ—जैसे सूर्य सब वस्तुओं को दिखाता है, अपनी किरणों से बादलरूप सरोवरों में पहुंचता है, भूमि-चन्द्रमा आदि सात ग्रहों-उपग्रहों को अपने प्रकाश से शुद्ध करता है और द्युलोक में स्थित होता है, वैसे ही परमात्मा सबको दृष्टि प्रदान करने वाला, सबके हृदय-सरोवरों में पहुंचने वाला, देहवर्ती सात प्राणों को शुद्ध करने वाला और आत्मपुरी में स्थित होने वाला है ।।२।।

अथ पुनस्तमेव विषयं वर्णयति ।

७५७. अयं विश्वानि तिष्ठति पुनानो भुवनोपरि। सोमो देवो न सूर्यः ।।३।।[1]

अयम् विश्वानि तिष्ठति। पुनानः भुवना उपरि। सोमः देवः न सूर्यः ।।३।।

पदार्थः—**अयम्** एषः **सोमः** सौम्यो जगत्सष्टा परमात्मा **देवः** प्रकाशकः **सूर्यः न** आदित्यः इव **विश्वानि** सर्वाणि हृदयानि **पुनानः** पावयन् **भुवना उपरि** सर्वेषां भुवनानाम् उपरि तेषामधिष्ठाता सन् **तिष्ठति** विराजते।।३।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।३।।

भावार्थः—यथा सूर्यः सौरमण्डलस्याधिष्ठाता तथा परमात्मा विश्वब्रह्माण्डस्याधिष्ठाता विद्यते।।३।।

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ—**अयम्** यह **सोमः** सौम्य, जगत्स्रष्टा परमात्मा **देवः** प्रकाशक **सूर्यः न** सूर्य के समान **विश्वानि** सब हृदयों को **पुनानः** पवित्र करता हुआ **भुवना उपरि** सब भुवनों के ऊपर, उनका अधिष्ठाता बनकर **तिष्ठति** विराजमान है ।।३।।

इस मन्त्र में उपमालंकार है ।।३।।

भावार्थ—जैसे सूर्य सौरमण्डल का अधिष्ठाता है, वैसे ही परमात्मा विश्वब्रह्माण्ड का अधिष्ठाता है।।३।।

।।१७।। अथ 'एष प्रत्नेन' इत्यादिकस्य सप्तदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** १ शुनःशेप आजीगर्तिः, २,३ मेधातिथिः काण्वः। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः।।

तत्र प्रथमायामृचि परमात्मसोमं वर्णयति ।

७५८. एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवेभ्यः सुतः। हरिः पवित्रे अर्षति ।।१।।[2]

एषः प्रत्नेन जन्मना। देवः देवेभ्यः सुतः। हरिः पवित्रे अर्षति ।।१।।

पदार्थः— **प्रत्नेन जन्मना**[3] पुरातनेन स्वभावेन **देवेभ्यः** प्रकाशकेभ्यः आत्ममनोबुद्धिज्ञानेन्द्रियेभ्यः **सुतः** अभिषुतः **एषः** अयम् **देवः** प्रकाशकः **हरिः** पापहारी परमात्मसोमः **पवित्रे** पवित्रे हृदये **अर्षति** गच्छति ।।१।।

---

१. ऋ० ९।५४।३।

२. ऋ० ९।३।९, साम० १२६४।

३. जन्मना जननेन— इति सा० । कर्मणा नाम्ना वा— इति वि० ।

भावार्थः—सुचारुविधिना सम्यगाराधितः परमात्माऽवश्यमुपासकं स्वानुभूतिं कारयति ॥१॥

प्रथम ऋचा में परमात्मारूप सोम का वर्णन है ।

पदार्थ—प्रत्नेन जन्मना पुरातन स्वभाव के अनुसार **देवेभ्यः** प्रकाशक आत्मा तथा मन, बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियों के लिए **सुतः** अभिषुत हुआ **एषः** यह **देवः** प्रकाशक **हरिः** पापहारी परमात्मारूप सोम **पवित्रे** पवित्र हृदय में **अर्षति** पहुंचता है ॥१॥

भावार्थ—सुचारु विधि से भली भांति आराधना किया गया परमात्मा अवश्य ही उपासक को अपनी अनुभूति कराता है ॥१॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
७५९. **एष प्रत्नेन मन्मना देवो देवेभ्यस्परि। कविर्विप्रेण वावृधे ॥२॥**[1]

३ २ ३ १ २ १ २र ३ २ ३ १ २ १ २र ३ २ १ २र ३
एषः प्रत्नेन मन्मना । देवः देवेभ्यः परि। कविः विप्रेण वि प्रेण वावृधे ॥२॥

पदार्थः—एषः अयम् **देवः** प्रकाशकः **कविः** मेधावी सोमः परमात्मा **प्रत्नेन मन्मना**[2] पुराणेन वैदिकस्तोत्रेण **देवेभ्यः** दिव्यगुणेभ्यः, दिव्यगुणप्रदानाय इत्यर्थः **विप्रेण** मेधाविना विदुषा उपासकेन, तद्द्वारा इत्यर्थः **परि वावृधे** परितोवर्धते॥२॥

अत्र परमात्मनि वस्तुतो वृद्धेरभावाद् असम्बन्धे सम्बन्धरूपोऽतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥२॥

भावार्थः—उपासकेन वेदमन्त्रद्वारा सम्यगुपासितः परमात्मा सर्वत्र प्रचारं प्राप्य वृद्धिंगत इव भवति॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है।

पदार्थ—एषः यह **देवः** प्रकाशक, **कविः** बुद्धिमान् परमात्मारूप सोम **प्रत्नेन मन्मना** पुरातन वैदिक स्तोत्र द्वारा **देवेभ्यः** दिव्य गुणों के प्रदान के लिए **विप्रेण** बुद्धिमान् विद्वान् उपासक के द्वारा **परि वावृधे** चारों ओर बढ़ता है ॥२॥

परमात्मा में वस्तुतः बढ़ना रूप धर्म न होने से यहां असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अलंकार है॥२॥

भावार्थ—उपासक से वेदमन्त्रों द्वारा भलीभांति उपासना किया गया परमात्मा सर्वत्र प्रचार पाकर मानो बढ़ता है ॥२॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
७६०. **दुहानः प्रत्नमित्पयः पवित्रे परि षिच्यसे। क्रन्दं देवाँ अजीजनः ॥३॥**[3]

३ ३ २ १२र ३ १ २ १ २र ३ १ २ ३ २ ३
दुहानः प्रत्नम् इत् पयः। पवित्रे परि सिच्यसे । क्रन्दन् देवान् अजीजनः ॥३॥

---

१. ऋ० ९।४२।२, 'धारया पवते सुतः' इति तृतीयः पादः ।

२. प्रत्नेन पुराणेन मन्मना साधनेन स्तोत्रेण युक्तः— इति सा०। मन्म बलमभिधीयते, बलेन— इति वि०।

३. ऋ० ९।४२।४।

पदार्थः—हे रसागार परमात्मसोम ! **प्रत्नम् इत्** पुराणम् एव **पयः** आनन्दरसम् **दुहानः** प्रयच्छन्, त्वम् **पवित्रे** परिपूते हृदये **परिषिच्यसे** प्रवाह्यसे । **क्रन्दन्** कल-कलशब्दं कुर्वन्निव त्वम् हृदये **देवान्** दिव्यतरङ्गान् **अजीजनः** जनयसि ॥३॥

भावार्थः— परमात्मस्तवनादुपासकस्य हृदये ब्रह्मानन्दप्रवाहाः प्रवहन्ति ॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ—हे रस के भण्डार परमात्मारूप सोम ! **प्रत्नम् इत्** सनातन **पयः** आनन्द-रस को **दुहानः** दुहकर देते हुए, आप **पवित्रे** पवित्र हृदय में **परिषिच्यसे** चारों ओर सींचे जाते हो । **क्रन्दन्** मानो कल-कल शब्द करते हुए, आप **देवान्** दिव्य तरंगों को **अजीजनः** उत्पन्न करते हो ॥३॥

भावार्थ—परमात्मा की स्तुति से उपासक के हृदय में ब्रह्मानन्द के प्रवाह बहने लगते हैं ॥३॥

॥१८॥ अथ "उप शिक्षा" इत्यादिकस्य अष्टादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** १,३ असितः काश्यपो देवलो वा, २ अमहीयुराङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

अथ प्रथमायामृचि परमात्मा नृपतिश्च सम्बोध्यते।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २
७६१. उप शिक्षापतस्थुषो भियसमा धेहि शत्रवे। पवमान विदा रयिम् ॥१॥[1]

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
उप शिक्ष अपतस्थुषः अप तस्थुषः। भियसम् आ धेहि शत्रवे।

१ २ ३ २ ३ २
पवमान विदाः रयिम् ॥१॥

पदार्थः—**प्रथमः** परमात्मपक्षे। हे **पवमान** पवित्रताप्रदायक सर्वान्तर्यामिन् सोम परमात्मन्! त्वम् **अपतस्थुषः** अस्मद्दूरे स्थितान् सद्गुणान् **उपशिक्ष** अस्मत्समीपम् आनय। **शत्रवे** कामक्रोधादिकाय रिपवे **भियसम्** भीतिम् **आधेहि** कुरु। अस्मभ्यं च **रयिम्** सत्याहिंसान्यायादिरूपां दिव्यां सम्पदम् **विदाः** प्रापय॥

द्वितीयः नृपतिपक्षे । हे **पवमान** गतिमय कर्मशूर राजन् ! [पवते गतिकर्मा निघं० २।१४ ।] त्वम् **अपतस्थुषः** अस्मत्सकाशादपगत्य विरोधिपक्षे स्थितान् वीरान् **उपशिक्ष** दण्डय, **शत्रवे** रिपवे **भियसम्** भयम् **आधेहि** उत्पादय । अस्मभ्यं च **रयिम्** धनधान्यसुवर्णसम्पत्तिम् **विदाः**[2] लम्भय ॥१॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—यथा परमेश्वरः कामक्रोधादिकान् शत्रून् पराजित्य स्तोत्रे सद्गुणसम्पत्तिं प्रयच्छति तथैव राष्ट्रे राजा शत्रून् धूलिसात्कृत्य प्रजायै सर्वं धनधान्यादिकं प्रयच्छेत् ॥१॥

प्रथम ऋचा में परमात्मा और राजा को सम्बोधन किया गया है।

पदार्थ— प्रथम परमात्मा के पक्ष में । हे **पवमान** पवित्रताप्रदायक, सर्वान्तर्यामी सोम परमात्मन् ! आप **अप तस्थुषः** हमसे दूर स्थित सद्गुणों को **उप शिक्ष** हमारे समीप ले आओ। **शत्रवे** काम, क्रोध आदि शत्रु के लिए **भियसम्** भय **आधेहि** प्रदान करो, और हमें **रयिम्** सत्य, अहिंसा, न्याय आदि दिव्य सम्पत्ति **विदाः** प्राप्त कराओ ॥

---

१. ऋ० ९।१९।६।

२. विद् ज्ञाने, विद्लृ लाभे, विद सत्तायाम् इत्यस्येदं रूपम्-इति वि० ।

द्वितीय राजा के पक्ष में । हे **पवमान** गतिमय, कर्मवीर राजन् ! आप **अप तस्थुषः** हमसे दूर होकर विरोधी पक्ष में स्थित हुए वीरों को **उप शिक्ष** दण्डित करो, **शत्रवे** शत्रु के लिए **भियसम्** भय **आधेहि** उत्पन्न करो और हमें **रयिम्** धन, धान्य, सुवर्ण आदि सम्पत्ति **विदाः** प्राप्त कराओ ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर काम, क्रोध आदि शत्रुओं को पराजित करके स्तोता को सद्गुणों की सम्पदा प्रदान करता है, वैसे ही राष्ट्र में राजा को चाहिए कि शत्रुओं को धूल में मिलाकर प्रजा को सब धन, धान्य आदि प्रदान करे ॥१॥

द्वितीया ऋक् पूर्वार्चिके ४८७ क्रमाङ्के परमेश्वरविषये व्याख्याता। अत्र जीवात्मविषयं नृपतिविषयं चाह।

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र १ २ ३ १ २
७६२. **उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम्। इन्दुं देवा अयासिषुः ॥२॥**[1]

१ २र ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २र ३ २ १ २र १ २र ३
उप उ सु जातम् अप्तुरम्। गोभिः भङ्गम् परिष्कृतम् परि कृतम्।

१ २र ३ २ ३
इन्द्रम् देवाः अयासिषुः ॥२॥

पदार्थः—**प्रथमः** जीवात्मपक्षे । **सु जातम्** सुख्यातम्, **अप्तुरम्** अप्सु कर्मसु तुरः सत्वरः तम् कर्मशूरम्, **भङ्गम्** शत्रुविपदादिभञ्जकम्, **गोभिः परिष्कृतम्** वाग्भिः इन्द्रियैश्च सुसज्जितम् **इन्दुम्** दीप्तिमन्तं जीवात्मानम् **देवाः** मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियादयः **उप उ अयासिषुः** बलप्राप्त्यर्थम् उपगच्छन्ति॥

द्वितीयः नृपतिपक्षे । **सु जातम्** सम्यक् प्रजामध्याद् निर्वाचितम्, **अप्तुरम्** कर्मयोगिनम्, **भङ्गम्** शत्रूणां भञ्जकम्, **गोभिः परिष्कृतम्** भूमिभिः परिष्कृतम्, परिष्कृतभूमिकमित्यर्थः **इन्दुम्** तेजस्विनं मधुरस्वभावं च राजानम् **देवाः** दिव्यगुणयुक्ताः प्रजाजनाः **उप उ अयासिषुः** उप प्राप्नुवन्ति ॥२॥

अत्र श्लेषालङ्कारः विशेषणानां साभिप्रायत्वात् परिकरश्च ॥२॥

भावार्थः—यदा देहस्था मनोबुद्ध्यादयो जीवात्मनः सकाशादेव बलं लभन्ते तथा प्रजाजना वीरेण नृपतिना बलवन्तो जायन्ते ॥२॥

द्वितीय ऋचा पूर्वार्चिक में क्रमांक ४८७ पर परमेश्वर के विषय में व्याख्यात हो चुकी है। यहां जीवात्मा और राजा का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ—**प्रथम** जीवात्मा के पक्ष में । **सुजातम्** सुप्रसिद्ध, **अप्तुरम्** कर्म में त्वरा करने वाले, कर्मशूर, **भङ्गम्** शत्रु, विपत्ति आदि के भञ्जक, **गोभिः परिष्कृतम्** वाणियों तथा इन्द्रियों से सुसज्जित **इन्दुम्** दीप्तिमान् जीवात्मा को **देवाः** मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय आदि देव, बलप्राप्ति के लिए **उप उ अयासिषुः** समीपता से प्राप्त करते हैं॥

द्वितीय राजा के पक्ष में । **सु जातम्** भली भांति प्रजाओं के बीच से चुनकर बने हुए, **अप्तुरम्** कर्मयोगी, **भङ्गम्** शत्रुओं के भंजक, **गोभिः परिष्कृतम्** भूमियों से परिष्कृत अर्थात् परिष्कृत भूमियों वाले **इन्दुम्** तेजस्वी तथा मधुर स्वभाव वाले राजा को **देवाः** दिव्यगुणों वाले प्रजाजन **उप उ अयासिषुः** निकटता से प्राप्त करते हैं॥२॥

---

१. ऋ० ९।६१।१३, साम० ४८७ ।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर अलंकार भी है ।।२।।

भावार्थ—जैसे देह में स्थित मन, बुद्धि आदि जीवात्मा से ही बल पाते हैं, वैसे ही प्रजाजन वीर राजा से बलवान् बनते हैं ।।२।।

तृतीया ऋग् उत्तरार्चिकारम्भे ६५१ क्रमाङ्के परमात्मोपासनाविषये गुरूणां शिष्यान् प्रति कर्त्तव्यविषये च व्याख्याता । अत्र जीवात्मनो नृपतेश्च विषयमाह ।

७६३. उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे । अभि देवाँ इयक्षते ।।३।।[1]

उप अस्मै गायत नरः । पवमानाय इन्दवे । अभि देवान् इयक्षते ।।३।।

पदार्थः—प्रथमः जीवात्मपक्षे । हे **नरः** मनुष्याः ! यूयम् **देवान्** प्रकाशकान् मनोबुद्धिज्ञानेन्द्रियरूपान् **अभि इयक्षते** परस्परं संगमयित्रे। [अत्र स्वार्थे सन् ।] **पवमानाय** मनःपावित्र्यं कुर्वाणाय **अस्मै** एतस्मै **इन्दवे** दीप्तिमते जीवात्मने, दीप्तिमन्तं जीवात्मानमभिलक्ष्य इति भावः **गायत** उद्बोधनगीतानि प्रोच्चारयत ।।

द्वितीयः नृपतिपक्षे । हे **नरः** राष्ट्रस्य प्रजाजनाः ! यूयम् **देवान्** विदुषो जनान् **अभि इयक्षते** पूजयते, **पवमानाय** राष्ट्रप्रदेशेषु इतस्ततः संचरते । [पवते गतिकर्मा निघं० २।१४।] **अस्मै** एतस्मै **इन्दवे** तेजस्विने धन-धान्यदुग्धादिभिः राष्ट्रभूमिक्लेदकाय च नृपतये । [इन्दुः इन्धेरुनत्तेर्वा। निरु०१०।२७।] **गायत** प्रोद्बोधनगीतानि अभिनन्दनगीतानि च प्रोच्चारयत ।।३।।[2]

अत्र श्लेषालङ्कारः ।।३।।

भावार्थः—जनैः स्वात्मानं स्वकीयराष्ट्रस्य नृपतिं चोद्बोध्य वैयक्तिको राष्ट्रियश्चोत्कर्षः सम्पादनीयः।।३।।

अस्मिन् खण्डे जनानामभ्युदयनिःश्रेयसार्थं परमात्मनो नृपतेश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन सह संगतिरस्ति ।।

तृतीय ऋचा उत्तरार्चिक के आरम्भ में क्रमांक ६५१ पर परमात्मोपासना के विषय में तथा गुरुओं के शिष्यों के प्रति कर्तव्य के विषय में व्याख्यात की गयी थी । यहां जीवात्मा और राजा का विषय वर्णित करते हैं।

पदार्थ—प्रथम जीवात्मा के पक्ष में । हे **नरः** मनुष्यो ! तुम **देवान्** प्रकाशक मन, बुद्धि और ज्ञानेन्द्रिय रूप देवों में **अभि इयक्षते** परस्पर संगति कराने वाले, **पवमानाय** मन को पवित्र करने वाले **अस्मै** इस **इन्दवे** तेजस्वी जीवात्मा के लिए अर्थात् तेजस्वी जीवात्मा को लक्ष्य करके **गायत** उद्बोधन-गीत गाओ ।।

द्वितीय राजा के पक्ष में । हे **नरः** राष्ट्र के प्रजाजनो ! तुम **देवान्** विद्वान् जनो की **अभि इयक्षते** पूजा करने वाले, **पवमानाय** राष्ट्र के प्रदेशों में इधर-उधर संचार करने वाले **अस्मै** इस **इन्दवे** तेजस्वी, धन-धान्य-दूध आदि से राष्ट्रभूमि को सींचने वाले राजा के लिए अर्थात् राजा को लक्ष्य करके **गायत** उद्बोधन-गीत तथा अभिनन्दन-गीत गाओ ।।३।।

---

१. ऋ० ९।११।१, य० ३३।६२, ऋषिः देवलः, देवता सोमः । साम० ६५१।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् 'अध्यापकाध्येतारः कथं वर्तेरन्' इति विषये व्याख्यातवान् ।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।३।।

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि अपने आत्मा को तथा स्वराष्ट्र के राजा को उद्बोधन देकर वैयक्तिक तथा राष्ट्रिय उन्नति करें ।।३।।

इस खण्ड में मनुष्यों के अभ्युदय और निःश्रेयस के लिए परमात्मा तथा राजा का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है।।

द्वितीय अध्याय में पञ्चम खण्ड समाप्त ।

।।१९।। अथ 'प्र सोमासो' इत्यादिकस्य एकोनविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** त्रित आप्त्यः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४७८ क्रमाङ्के ब्रह्मानन्दरसविषये व्याख्याता । अत्र विद्वद्विषयमाह ।

१र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
७६४. प्र सोमासो विपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्मयः। वनानि महिषा इव ।।१।।[1]

२ १ २र ३ १ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २
प्र सोमासः विपश्चितः विपः चितः। अपः नयन्ते ऊर्मयः।
१ २र ३ २ ३
वनानि महिषाः इव ।।१।।

पदार्थः—विपश्चितः विद्वांसः **ऊर्मयः** पठिताभिः विद्याभिः शिष्यहृदयानामाच्छादकाः यद्वा क्रियाशीलाः। [उर्मिः ऊर्णोतेः । निरु० ५।६९ । यद्वा ऋ गतौ इति धातोः 'अर्तेरुच्च' । उ० ४।४५ इति मिः प्रत्ययः धातोश्च उत्।] **सोमासः** प्रसवितारः, शिष्याणां द्वितीयजन्मप्रदातारः आचार्याः। [सवन्ति जन्म प्रयच्छन्तीति सोमाः। सु प्रसवैश्वर्ययोः इति धातोः अर्त्तिस्तुसु उ० १।१४० इत्यनेन मन् प्रत्ययः।] **अपः** शिष्याणां कर्म **प्र नयन्त** प्रकृष्टायां दिशि नयन्ति । कथम् ? **महिषाः** महान्तः सूर्यकिरणाः। [महिष इति महन्नाम । निघं० ३।३।]**वनानि इव** यथा उदकानि, मेघनिर्माणाय **प्र नयन्त** अन्तरिक्षं नयन्ति तद्वत्। [वनम् इति उदकनाम । निघं० १।१२]।।१।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः—यथा विपश्चितो गुरवो ज्ञानदानेनाचारनिर्माणेन च विद्यार्थिन उपकुर्वन्ति तथैव विद्यार्थिभिरपि ते मनसा वाचा कर्मणा च सत्कर्त्तव्याः।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या क्रमांक ४७८ पर ब्रह्मानन्द-रस के विषय में की जा चुकी है । यहां विद्वान् का विषय वर्णित करते हैं ।।

पदार्थ—विपश्चितः विद्वान्, **ऊर्मयः** पढ़ायी हुई विद्याओं से शिष्य के हृदय को आच्छादित करने वाले अथवा क्रियाशील, **सोमासः** शिष्यों को द्वितीय जन्म देने वाले आचार्य लोग **अपः** शिष्यों के कर्म को **प्र नयन्त** उत्कृष्ट दिशा में ले जाते हैं, **इव** जैसे **महिषाः** महान् सूर्यकिरणें **वनानि** जलों को, बादल बनाने के लिए **प्र नयन्त** ऊपर अन्तरिक्ष में ले जाती हैं।।१।।

इस मन्त्र में उपमालंकार है ।।१।।

---

१. ऋ० ९।३३।१ 'ऽपां न यन्त्यूर्मयः' इति द्वितीयः पादः। साम० ४७८।

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् गुरुजन ज्ञान-दान तथा आचार-निर्माण के द्वारा विद्यार्थियों का उपकार करते हैं, वैसे ही विद्यार्थियों को भी चाहिए कि मन, वचन और कर्म से उनका सत्कार करें ॥१॥

अथ विदुषाऽऽचार्येण दीयमानान् ज्ञानरसान् वर्णयति ।

३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १२ २ ३ १ २
७६५. अभि द्रोणानि बभ्रवः शुक्रा ऋतस्य धारया । वाजं गोमन्तमक्षरन् ॥२॥[1]

३ २ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १२र १ २र १ २र ३
अभि द्रोणानि बभ्रवः । शुक्राः ऋतस्य धारया । वाजम् गोमन्तम् अक्षरन् ॥२॥

पदार्थः—आचार्येण प्रदीयमानाः **बभ्रवः** धारण-पोषणकर्त्तारः । [डुभृञ् धारणपोषणयोः, जुहोत्यादिः । बिभर्ति इति बभ्रुः । 'कुर्भ्रश्च उ० १।२२' इति कुः प्रत्ययः धातोश्च द्वित्वम् ।] **शुक्राः** पवित्राः दीप्ताः वा ज्ञानरसरूपाः सोमाः । [शुचिर् पूतीभावे दिवादिः । शोचतिः ज्वलतिकर्मा निघं० १।१६, शोचिष् शब्दस्य दीप्तिनामसु पाठात् (निघं० १।१७) दीप्त्यर्थोऽपि । ऋज्रेन्द्र उ० २।१९ इति रन् प्रत्ययः । शुच्यते पवित्रीभवति, शोचति दीप्यते वा यः स शुक्रः।] **ऋतस्य** सत्यस्य **धारया** प्रवाहसन्तत्या **द्रोणानि** शिष्याणां हृदयरूपान् द्रोणकलशान् **अभि** अभिद्रवन्ति [उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः।] किञ्च **गोमन्तम्** प्रकाशवन्तम् **वाजम्** आत्मबलम् **अक्षरन्** स्रावयन्ति ॥२॥

भावार्थः— सुयोग्यमाचार्यं प्राप्य विद्यार्थिनो विद्यावन्तो विवेकवन्तः सत्यवन्तो ज्योतिष्मन्तः पवित्रहृदया आत्मबलयुक्ताश्च भवेयुः ॥२॥

अगले मन्त्र में विद्वान् आचार्य के द्वारा दिये जाते हुए ज्ञानरसों का वर्णन है।

पदार्थ— आचार्य से दिये जाते हुए **बभ्रवः** धारण-पोषण करने वाले, **शुक्राः** पवित्र और प्रदीप्त ज्ञानरसरूप सोम **ऋतस्य** सत्य की **धारया** धारा के साथ **द्रोणानि** शिष्यों के हृदय-रूप द्रोण-कलशों को **अभि** लक्ष्य करके तीव्रता से बहते हैं, और **गोमन्तम्** प्रकाशमय **वाजम्** आत्मबल को **अक्षरन्** स्रवित करते हैं ॥२॥

भावार्थ— सुयोग्य आचार्य को पाकर विद्यार्थी लोग विद्यावान्, विवेकवान्, सत्यवान् ज्योतिष्मान्, पवित्रहृदय तथा आत्मबलयुक्त होवें ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह।

३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ ३ २ १ २ ३ १ २
७६६. सुता इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः । सोमा अर्षन्तु विष्णवे ॥३॥[2]

३ २ १ २र ३ १ २ १२र ३ ३ २ १ २र ३ १ २र
सुताः इन्द्राय वायवे । वरुणाय मरुद्भ्यः । सोमाः अर्षन्तु विष्णवे ॥३॥

पदार्थः—**सुताः** आचार्येण अभिषुताः, प्रेरिताः **सोमाः** ज्ञानरसाः **इन्द्राय** जीवात्मने, **वायवे** प्राणाय, **वरुणाय** वरणीयाय मनसे, **मरुद्भ्यः** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-रूपेभ्यः दशप्राणेभ्यः, एतान् प्रति इत्यर्थः **विष्णवे** यज्ञार्थम् । [यज्ञो वै विष्णुः श० १।१।२।१३।] **अर्षन्तु** गच्छन्तु ॥३॥

---

१. ऋ० ९।३३।२

२. ऋ० ९।३३।३, 'अर्षन्ति' इति भेदः ।

भावार्थः—गुरुभिः प्रदत्तैर्ज्ञानरसैर्विद्यार्थिनाम् आत्मा, प्राणः, मनः इन्द्रियाणि सर्वाण्यपि तरंगितानि भूत्वा देवपूजासंगतिकरणदानरूपाय यज्ञाय कल्पन्ते ॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है।

पदार्थ—**सुताः** आचार्य द्वारा प्रेरित **सोमाः** ज्ञानरस **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए, **वायवे** प्राण के लिए, **वरुणाय** वरणीय मन के लिए, **मरुद्भ्यः** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय रूप प्राणों के लिए, अर्थात् इन सबके प्रति **विष्णवे** यज्ञार्थ **अर्षन्तु** पहुंचें ॥३॥

भावार्थ—गुरुजनों से प्रदत्त ज्ञानरसों से विद्यार्थियों के आत्मा, प्राण, मन, इन्द्रियां सब तरंगित होकर देवपूजा, संगतिकरण और दान रूप यज्ञ के लिए समर्थ हो जाते हैं ॥३॥

॥२०॥ अथ 'प्र सोम' इत्यादिकस्य विंशस्य द्वयृचस्य सूक्तस्य **ऋषयः** भरद्वाजादयः सप्त (१ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः, २ कश्यपो मारीचः, ३ गोतमो राहूगणः, ४ अत्रिर्भौमः, ५ विश्वामित्रो गाथिनः, ६ जमदग्निर्भार्गवः, ७ वसिष्ठो मैत्रावरुणिः) । **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती पङ्क्तिः । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५१४ क्रमाङ्के जीवात्मविषये व्याख्याता । अत्र परमात्मन उपासकस्य च विषयमाह ।

१ २ ३१ २ ३ २ ३१ २ ३ १ २
७६७. प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा ।
३ १र २र ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अंशोः पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम् ॥१॥[1]
२ ३ ३१ २ ३ २ ३ १ २र ३ १ २र
प्र सोम देववीतये देव वीतये । सिन्धुः न पिप्ये अर्णसा ।
३ २ १ २र ३ २ १ २र १ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २र
अंशोः पयसा मदिरः न जागृविः । अच्छ कोशम् मधुश्चुतम् मधु श्चुतम् ॥१॥

पदार्थः—हे **सोम** रसागार परमात्मन्! त्वम् **देववीतये** देवानां दिव्यगुणानां वीतिः उपासकस्य हृदये प्रजननं तदर्थाय **अर्णसा** आनन्दरसेन **प्र पिप्ये** आप्यायितोऽसि, **अर्णसा** जलेन **सिन्धुः न** पर्जन्यो यथा आप्यायते। अथ उपासकं प्रत्युच्यते— हे उपासक! **अंशोः** अंशुमालिनः सूर्य्यस्य। [अत्र अंशोः अंशुमति लक्षणा। यद्वा मतुपो लुक्।] **पयसा** वृष्टिजलेन **मदिरः न** हृष्टः कर्षकः इव **जागृविः** जागरूकः त्वम् **मधुश्चुतम्** आनन्दमधुस्राविणम् **कोशम्** आनन्दनिधिं परमात्मानम् **अच्छ** अभिमुखो भव ॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः।

भावार्थः—आनन्दरसलाभायानन्दरसनिधिः परमेश्वर एव जनैर्ध्यातव्यः, किं भौतिकानां प्रतिमादीनां पूजनेन ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में क्रमांक ५१४ पर जीवात्मा के विषय में व्याख्यात हुई थी। यहां परमात्मा और उपासक का विषय वर्णित करते हैं।

पदार्थ—हे **सोम** रसागार परमात्मन्! आप **देववीतये** उपासक के हृदय में दिव्य गुण उत्पन्न करने के लिए **अर्णसा** आनन्द-रस से **प्र पिप्ये** भरपूर हो, **अर्णसा** जल से **सिन्धुः न** जैसे बादल भरपूर होता है। आगे

---

१. ऋ० ९।१०७।१२, साम० ५१४ ।

उपासक के प्रति कहते हैं– हे उपासक! **अंशोः** अंशुमाली सूर्य के **पयसा** वर्षाजल से **मदिरः** हर्ष को प्राप्त किसान के समान **जागृविः** जागरूक हुआ तू **मधुश्चुतम्** आनन्दरूप मधु को चुआने वाले **कोशम्** आनन्द के निधि परमात्मा के **अच्छ** अभिमुख हो ।।१।।

इस मंत्र ने उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ–आनन्द-रस की प्राप्ति के लिए आनन्द-रस के खजाने परमेश्वर का ही मनुष्यों को ध्यान करना चाहिए, भौतिक प्रतिमा आदियों के पूजने से क्या लाभ है ।।१।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
७६८. **आ हर्यतो अर्जुनो अत्के अव्यत प्रियः सूनुर्न मर्ज्यः।**
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
तमीं हिन्वन्त्यपसो यथा रथं नदीष्वा गभस्त्योः ।।२।।[1]

२ ३ २ १ २र १ २र ३ २ ३ २ १ २र
आ हर्यतः अर्जुनः अत्के अव्यत । प्रियः सूनुः न मर्ज्यः ।
३ १ २ १ २र १ २र ३ १ २ १ २र
तम् ईम् हिन्वन्ति अपसः यथा रथम् । नदीषु आ गभस्त्योः ।।२।।

पदार्थः–**हर्यतः** कमनीयः । [हर्य गतिकान्त्योः । भृमृदृशि० उ० ३।११० इति अतच् प्रत्ययः।] **अर्जुनः** गौरवर्णः, **प्रियः** प्रीतिपात्रभूतः, **मर्ज्यः** अलङ्कार्यः । [मृजू शौचालंकारयोः ।] **सूनुः** पुत्रः **न** यथा **अत्के** अश्वे, आ अव्यते आरोह्यते तथा **हर्यतः** सर्वान्तर्यामी, कमनीयः, **अर्जुनः** शुद्धः, सात्त्विकः, **प्रियः** प्रेमार्हः, **मर्ज्यः** वक्षसि अलंकारवद् हृदि धारणीयः सोमः सौम्यः परमेश्वरः **अत्के** उपासकानाम् आत्मनि[2] **आ अव्यत** आनीयते । [आङ्पूर्वस्य अवतेर्गत्यर्थस्य कर्मणि रूपम् ।] **तम् ईम्** तम् एनम् **अपसः** अपस्विनः कर्मण्याः जनाः **आ हिन्वन्ति** सर्वत्र गमयन्ति प्रचारयन्ति । कथमिव ? **यथा** येन प्रकारेण, नाविकाः **नदीषु** सरित्सु **गभस्त्योः** गभस्तिभ्यां, बाहुभ्याम्। [तृतीयार्थे षष्ठी।] **रथम्** जलपोतम् **आ हिन्वन्ति** चालयन्ति तद्वत् ।।२।।

अत्र द्वयोरुपमयोः संसृष्टिः। पूर्वार्धे श्लिष्टोपमा ।।२।।

भावार्थः–उपासकैर्योगिभिः परमात्मानं स्वात्मनि संधार्य स सर्वत्र प्रचारणीयो येन जगत्यास्तिकताया वातावरणं भवेत् ।।२।।

आगे पुनः उसी विषय का वर्णन है।

पदार्थ–**हर्यतः** चाहने योग्य, **अर्जुनः** गौरवर्ण, **प्रियः** प्यारा, **मर्ज्यः** अलंकार पहनाने योग्य **सूनुः** पुत्र **न** जैसे **अत्के** घोड़े पर बैठाया जाता है, वैसे ही **हर्यतः** सर्वान्तर्यामी और कमनीय, **अर्जुनः** शुद्ध, सात्त्विक, **प्रियः** प्यारा, **मर्ज्यः** वक्ष पर अलंकार के समान हृदय में धारण करने योग्य सौम्य परमेश्वर **अत्के** उपासकों की आत्मा में **आ अव्यत** बैठाया जाता है। **तम् ईम्** उसे **अपसः** कर्मण्य लोग **आ हिन्वन्ति** सर्वत्र ले जाते हैं, प्रचारित करते हैं, **यथा** जैसे नाविक लोग **नदीषु** नदियों में **गभस्त्योः** बाहुओं से **रथम्** जलयान को **आ हिन्वन्ति** ले जाते हैं ।।२।।

इस मन्त्र में दो उपमाओं की संसृष्टि है। पूर्वार्ध में श्लिष्टोपमा है ।।२।।

---

१. ऋ० ९।१०७।१३, अर्जुने इति पाठः ।

२. अततीति अत्कः वायुः आत्मा च 'इति दशपाद्युणादिवृत्तौ इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन्' द० पा० उ०३।२१ सूत्रे माणिक्यः।

भावार्थ—उपासक योगी लोगों को चाहिए कि परमात्मा को अपने आत्मा में धारण करके सर्वत्र उसका प्रचार करें, जिससे संसार में आस्तिकता का वातावरण **पैदा हो** ।।२।।

।।२१।। अथ 'प्र सोमासो' इत्यादिकस्य एकविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** श्यावाश्वः आत्रेयः । **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४७७ क्रमाङ्के दिव्यानन्दरसविषये व्याख्याता। अत्र ज्ञानरसविषयमाह ।

७६९. प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनाम् । सुता विदथे अक्रमुः ।।१।।[1]

प्र सोमासः मदच्युतः मद च्युतः। श्रवसे नः मघोनाम् । सुताः विदथे अक्रमुः ।।१।।

पदार्थः—**सुताः** आचार्येण अभिषुताः, सम्पादिताः **मदच्युतः** आनन्दवर्षिणः **सोमासः** अध्यात्मज्ञानरसाः **मघोनाम् नः** विद्याधनवताम् अस्माकम् **श्रवसे** यशसे **विदथे** विद्यायज्ञे **प्र अक्रमुः** प्रक्रमन्ते प्रवहन्ति ।।१।।

भावार्थः—शिष्याः सुयोग्यान् गुरूनुपगम्य तत्सकाशात् सर्वमध्यात्मविज्ञानं गृहीत्वा परमात्मानं साक्षात्कुर्युः ।।१।।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में क्रमांक ४७७ पर दिव्य आनन्द-रस के विषय में व्याख्या की गयी थी। यहां ज्ञानरस का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ—**सुताः** आचार्य के द्वारा उत्पन्न किये गए, **मदच्युतः** आनन्दवर्षक **सोमासः** अध्यात्मविद्या के रस **मघोनाम् नः** हम विद्याधन के धनियों के **श्रवसे** यश के लिए **विदथे** विद्या-यज्ञ में **प्र अक्रमुः** प्रवाहित हो रहे हैं।।१।।

भावार्थ—शिष्यों को चाहिए कि सुयोग्य गुरुओं के पास जाकर उनके पास से सब अध्यात्म विज्ञान ग्रहण करके परमात्मा का साक्षात्कार करें ।।१।।

अथाध्यात्मज्ञानस्य ब्रह्मानन्दस्य च कर्तृत्वमाह ।

७७०. आदीं हंसो यथा गणं विश्वस्यावीवशन्मतिम् । अत्यो न गोभिरज्यते ।।२।।[2]

आत् ईम् हंसः यथा गणम् । विश्वस्य अवीवशत् मतिम् ।
अत्यः न गोभिः अज्यते ।।२।।

पदार्थः—**आत्** ग्रहणानन्तरम् **ईम्** एषः अध्यात्मज्ञानरसः ब्रह्मानन्दरसश्च **यथा** येन प्रकारेण **हंसः** सूर्यः **गणम्** पृथिवीचन्द्रादिकं ग्रहोपग्रहगणं वशं नयति, तथैव **विश्वस्य** सर्वस्य उपासकजनस्य **मतिम्** बुद्धिम् **अवीवशत्** वशं नयति। [वशं करोति वशयति, तस्य लुङि रूपम्। वर्तमाने लुङ्।] किञ्च **अत्यः न** अश्वः यथा । [अत्यः इति अश्वनाम । निघं० १।१४ ।] **गोभिः** उदकैः [गावः उदकानि निरुक्ते (६।५) प्रोक्तानि।] **अज्यते** मृज्यते, तथैव एषः अध्यात्मज्ञानरसः **गोभिः** वेदवाग्भिः **अज्यते** व्यज्यते प्रकाश्यते।] [अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु]।।२।।

अत्र द्वयोरुपमयोः संसृष्टिः ।।२।।

---

१. ऋ० ९।३२।१, 'मघोनाम्' इत्यत्र 'मघोनः' इति पाठः । साम० ४७७ ।
२. ऋ० ९।३२।३।

भावार्थः—ब्रह्मज्ञानरसो ब्रह्मानन्दरसश्चोपासकस्यात्ममनोबुद्ध्यादिकं यदा व्याप्नोति तदा तत्तरङ्गैस्तरङ्गितः स माहाभाग्यमनुभवति ॥२॥

अगले मन्त्र में अध्यात्मज्ञान और ब्रह्मानन्द का कर्तृत्व वर्णित है।

पदार्थ—आत् ग्रहण किये जाने के अनन्तर **ईम्** यह अध्यात्मज्ञान का और ब्रह्मानन्द का रस **यथा** जैसे **हंसः** सूर्य **गणम्** भूमि, चन्द्रमा आदि ग्रह-उपग्रहों के गण को वश में किये हुए है, वैसे ही **विश्वस्य** सब उपासकों की **मतिम्** बुद्धि को **अवीवशत्** वश में कर लेता है, बुद्धि में छा जाता है। और, **अत्यः न** घोड़ा जैसे **गोभिः** जलों से **अज्यते** स्नान करा कर साफ किया जाता है, वैसे ही यह अध्यात्मज्ञान का रस **गोभिः** वेदवाणियों से **अज्यते** प्रकट किया जाता है ॥२॥

इस मन्त्र में दो उपमाओं की संसृष्टि है ॥२॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञान का और ब्रह्मानन्द का रस उपासक के आत्मा, मन, बुद्धि आदि में जब व्याप जाता है तब उसकी तरंगों से तरंगित हुआ वह उपासक महाभाग्य का अनुभव करता है ॥२॥

अथ पुनः ब्रह्मानन्दरसविषयमाह ।

७७१. आदीं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः । इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥३॥[1]

आत् ईम् त्रितस्य योषणः । हरिम् हिन्वन्ति अद्रिभिः अ द्रिभिः ।
इन्दुम् इन्द्राय पीतये ॥३॥

पदार्थः—**आत्** अथ **त्रितस्य** त्रिभिर्ज्ञानकर्मोपासनैः युक्तस्य जीवात्मनः **योषणः**[2] योषा इव सहचारिण्यो मेधाः **इन्द्राय** जीवात्मने **पीतये** पानाय **ईम्** एनम् **इन्दुम्** क्लेदकम् **हरिम्** पापहारिणं ब्रह्मानन्दरसम् **अद्रिभिः** न विदारयितुं शक्यैः मनः संकल्पैः **हिन्वन्ति** जीवात्मनि प्रेरयन्ति । [हि गतौ वृद्धौ च स्वादिः] ॥३॥

भावार्थः—यदा ब्रह्मानन्दरसो जीवात्मानं व्याप्नोति तदोपासकः परमं माहात्म्यमनुभवति ॥३॥

अगले मन्त्र में फिर ब्रह्मानन्द-रस का विषय है।

पदार्थ—आत् और तब **त्रितस्य** ज्ञान-कर्म-उपासना इन तीनों से युक्त जीवात्मा की **योषणः** पत्नियों के समान सहचारिणी बुद्धियां **इन्द्राय** जीवात्मा के **पीतये** पान के लिए **ईम्** इस **इन्दुम्** भिगोने वाले **हरिम्** पाप हर्ता ब्रह्मानन्दरस को **अद्रिभिः** विदीर्ण न होने वाले मनः संकल्पों द्वारा **हिन्वन्ति** जीवात्मा में पहुंचाती हैं ॥३॥

भावार्थ—जब ब्रह्मानन्द-रस जीवात्मा में व्याप जाता है तब उपासक को परम माहात्म्य का अनुभव होता है॥३॥

॥२२॥ अथ 'अया पवस्व' इत्यादिकस्य द्वाविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** १, २ अग्निश्चाक्षुषः, ३ प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** १, २ उष्णिक्, ३ अनुष्टुप् । **स्वरः** १, २ ऋषभः ३ गान्धारः॥

---

१. ऋ० ९।३२।२।

२. योषणः अङ्गुलयः-इति सा० । यु मिश्रणे, मिश्रणकर्तार ऋत्विजः-इति वि० ।

अथ सोमं परमात्मानं तदीयम् आनन्दरसं च वर्णयति ।

७७२. अया पवस्व देवयू रेभन् पवित्रं पर्येषि विश्वतः । मधोर्धारा असृक्षत ॥१॥[1]

अया पवस्व देवयुः । रेभन् पवित्रम् परि एषि विश्वतः । मधोः धाराः असृक्षत ॥१॥

पदार्थः—हे पवमान रसागार सोम परमात्मन् ! **देवयुः** देवं स्तोतारम् उपासकं कामयमानः त्वम् **अया** अनया आनन्दधारया । [अया पवस्व धारया । साम ४९३ इति वचनात्।] **पवस्व** परिस्रव । **रेभन्** उपदिशन् त्वम्। [रेभृ शब्दे, भ्वादिः ।] **विश्वतः** सर्वतः **पवित्रम्** परिपूतम् अन्तःकरणम् **पर्येषि** परि प्राप्नोषि । त्वत्सकाशात् **मधोः** मधुनः, मधुरस्य आनन्दस्य **धाराः** प्रवाहसन्ततयः **असृक्षत** सृज्यन्ते ॥१॥

भावार्थः—आनन्दरसागारात् परमेश्वरात् प्राप्ता आनन्दधारा उपासकं कृतकृत्यं कुर्वन्ति ॥१॥

प्रथम ऋचा में परमात्मा का तथा उसके आनन्द-रस का वर्णन है।

पदार्थ—हे पवित्र करने हारे रसागार परमात्मन् ! **देवयुः** स्तोता उपासक से प्रीति करने वाले आप **अया** इस आनन्दधारा के साथ **पवस्व** प्रवाहित होवो। **रेभन्** उपदेश करते हुए आप **विश्वतः** सब ओर से **पवित्रम्** पवित्र अन्तःकरण मे **पर्येषि** आते हो। आपके पास से **मधोः** मधुर आनन्द की **धाराः** धाराएं **असृक्षत** छूटती हैं ॥१॥

भावार्थ—आनन्द-रस के भण्डार परमेश्वर से प्राप्त आनन्द-धाराएं उपासक को कृतकृत्य कर देती हैं ॥१॥

द्वितीया ऋक् पूर्वार्चिके ५७६ क्रमाङ्के मनुष्योत्साहकर्मविषये व्याख्याता। अत्र परमात्मविषयो वर्ण्यते ।

७७३. पवते हर्यतो हरिरति ह्वरांसि रंह्या । अभ्यर्ष स्तोतृभ्यो वीरवद्यशः ॥२॥[2]

पवते हर्यतः हरिः । अति ह्वरांसि रंह्या । अभि अर्ष स्तोतृभ्यः वीरवत् यशः ॥२॥

पदार्थः—**हर्यतः** कमनीयः **हरिः** अज्ञानपापादीनां हर्ता जगदीश्वरः **रंह्या** वेगेन **ह्वरांसि अति** कौटिल्यानि अतिगमय्य। [ह्वृ कौटिल्ये, सर्वधातुभ्योऽसुन् उ० ४।१९०।] **पवते** उपासकान् पुनाति। हे जगदीश्वर ! त्वम् **स्तोतृभ्यः** स्तुतिपरायणेभ्यः उपासकेभ्यः **वीरवत्** वीरभावोपेतम् **यशः** कीर्तिम् **अभ्यर्ष** प्रापय ॥२॥

भावार्थः— परमात्मोपासका जना दुर्गुणदुर्व्यसनदुःखपापकौटिल्यादिभ्यो मुक्ता वीर्योत्साहयुक्ताः सन्तः पवित्रं जीवनं यापयन्ति ॥२॥

द्वितीय ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में क्रमांक ५७६ पर मनुष्य के उत्साह-कर्म के विषय में की गयी थी। यहां परमात्मा के विषय में वर्णन है ।

पदार्थ—**हर्यतः** चाहने योग्य, **हरिः** अज्ञान, पाप आदि का हर्ता जगदीश्वर **रंह्या** वेग के साथ **ह्वरांसि अति** कुटिलताओं को पार कराकर **पवते** उपासकों को पवित्र करता है। हे जगदीश्वर! आप **स्तोतृभ्यः** स्तुति करने वाले उपासकों के लिए **वीरवत्** वीर भावों से युक्त **यशः** कीर्ति **अभ्यर्ष** प्राप्त कराओ ॥२॥

---

१. ऋ० ९।१०६।१४, 'अया पवस्व देवयुर्मधोर्धारा असृक्षत । रेभन् पवित्रं पर्येषि विश्वतः ॥ इति पाठः।

२. ऋ० ९।१०६।१३, अभ्यर्षन्त्स्तोतृभ्यो इति पाठः । साम० ५७६ ।

भावार्थ—परमात्मा के उपासक जन दुर्गुण, दुर्व्यसन, दुःख, पाप, कुटिलता आदियों से छूटकर वीर्य तथा उत्साह से युक्त होकर जीवन बिताते हैं ॥२॥

तृतीया ऋक् पूर्वार्चिके ५५३ क्रमाङ्के 'कीदृशो जनः समाजाद् बहिष्कार्यः' इति विषये व्याख्याता। अत्र प्रकारान्तरेण व्याख्यायते ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
७७४. प्र सुन्वानायान्धसो मर्तो न वष्ट तद्वचः।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥३॥[1]
२ ३ १ २ १ २र १ २र ३ २ १ २र
प्र सुन्वानाय अन्धसः। मर्तः न वष्ट तत् वचः।
१ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २र
अप श्वानम् अराधसम् अ राधसम् हत मखम् न भृगवः ॥३॥

पदार्थः— अन्धसः अन्नादिकान् भोज्यपदार्थान्। [अन्धः इत्यन्ननाम । निघं० २।७। द्वितीयार्थे षष्ठी ।] **सुन्वानाय** उत्पादयते जगदीश्वराय **मर्तः न** उपासको जनः इव, यूयम् **तत्** स्तुत्यात्मकम् **वचः** वचनम् **वष्ट** उष्ट, कामयध्वम् । [वश कान्तौ अदादिः, सम्प्रसारणाभावश्छान्दसः।] अपि च **अराधसम्** अनाराधकम् **श्वानम्** श्ववृत्तिं सांसारिकपदार्थेषु लोभपरायणं जनम् **अप हत** दूरीकुरुत। कथमिव ? **भृगवः** तपस्विनो महर्षयः **मखं न** यथा मनश्चाञ्चल्यम् अपघ्नन्ति तद्वत् । [मखिः गत्यर्थः] ॥३॥

अत्र द्वयोरुपमयोः संसृष्टिः ॥३॥

भावार्थः—परमेश्वराराधकैर्जनैरनाराधकानां सांसारिकभोगगृध्नूनां संगतिः परिहरणीया ॥३॥

अस्मिन् खण्डे विदुष आचार्यस्य, ततः प्राप्यमाणस्य भौतिकाध्यात्मिकस्य ज्ञानरसस्य, परमात्मनस्ततः प्राप्यमाणस्यानन्दरसस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन सह संगतिरस्ति॥

तृतीय ऋचा पूर्वार्चिक में क्रमांक ५५३ पर 'कैसा मनुष्य समाज से बहिष्कृत करने योग्य है' इस विषय में व्याख्यात हो चुकी है। यहां अन्य प्रकार से व्याख्या की जा रही है।

पदार्थ—अन्धसः अन्नादि भोज्य पदार्थों को **सुन्वानाय** उत्पन्न करने वाले जगदीश्वर के लिए **मर्तः न** उपासक मनुष्य के समान, तुम **तत्** उस स्तुति-रूप **वचः** वचन को बोलने की **वष्ट** कामना करो । और, **अराधसम्** भक्ति न करने वाले **श्वानम्** कुत्ते की वृत्ति वाले अर्थात् सांसारिक पदार्थों का लोभ करने वाले मनुष्य को **अप हत** दूर कर दो, किस प्रकार ? **भृगवः** तपस्वी महर्षि जन **मखं न** जैसे मन की चंचलता को दूर करते हैं ॥३॥

इस मन्त्र में दो उपमाओं की संसृष्टि है ॥३॥

भावार्थ—परमेश्वर की भक्ति करने वाले लोगों को चाहिए कि वे भक्ति न करने वाले, सांसारिक भोगों के लोभियों की संगति न करें ॥३॥

---

१. ऋ० ९।१०१।१३, प्रजापतिः ऋषिः। 'प्र सुन्वानस्यान्धसो मर्तो न वृत तद्वचः' इति पाठः। साम० ५५३, १३८६।

इस खण्ड में विद्वान् आचार्य, उससे मिलने वाले भौतिक तथा आध्यात्मिक ज्ञानरस, परमात्मा और उससे मिलने वाले आनन्द-रस का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है।।

द्वितीय अध्याय का षष्ठ खण्ड समाप्त । द्वितीय अध्याय समाप्त ।

प्रथम प्रपाठक का द्वितीय अर्ध समाप्त ।

इति बरेलीमण्डलान्तर्गतफरीदपुरवास्तव्यश्रीमद्गोपालरामभगवतीदेवीतनयेन हरिद्वारीयगुरुकुल-कांगड़ीविश्वविद्यालयेऽधीतविद्येन विद्यामार्तण्डेन आचार्यरामनाथवेदालङ्कारेण महर्षिदयानन्द-सरस्वतीस्वामिकृतवेदभाष्यशैलीमनुसृत्य विरचिते संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते सामवेदभाष्ये उत्तरार्चिके प्रथमः प्रपाठकः समाप्तिमगात् ।।

अथ तृतीयोऽध्यायः द्वितीये प्रपाठके प्रथमोऽर्धश्च

।।१।। अथ 'पवस्व वाचो' इत्यादिकस्य प्रथमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** जमदग्निर्भार्गवः। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ सोमं जगदीश्वरं प्रार्थयते।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र३ १ २
७७५. पवस्व वाचो अग्रियः सोम चित्राभिरूतिभिः। अभि विश्वानि काव्या।।१।।[1]

१२र ३ २ ३ २ १२र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २र १ २र
पवस्व वाचः अग्रियः। सोम चित्राभिः ऊतिभिः। अभि विश्वानि काव्या।।१।।

पदार्थः—हे **सोम** सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक, सर्वैश्वर्यवन्, रसागार, चन्द्रवदाह्लादक जगदीश्वर! अस्माकम् **वाचः** जिह्वायाः, **अग्रिय** अग्रेभवः त्वम् । [अग्रशब्दाद् 'घच्छौ च' । अ० ४।४।११७ इति भवार्थे घः प्रत्ययः ।] **चित्राभिः** अद्भुताभिः **ऊतिभिः** रक्षाभिः सह **पवस्व** अस्मान् पुनीहि । त्वम् **विश्वानि** सर्वाणि **काव्या** वेदकाव्यानि **अभि** अभिव्याप्नोषि। तथा चोक्तम्—'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद्विदुस्त इमे समासते (ऋ० १।१६४।३९) इति ।।१।।

भावार्थ—यं जगदीश्वरो रक्षति तस्य बालमपि वक्रं कर्त्तुं कोऽपि न शक्नोति ।।१।।

प्रथम मन्त्र में सोम जगदीश्वर से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थः—हे **सोम** सबको उत्पन्न करने वाले, सबको प्रेरणा देने वाले, सब ऐश्वर्यों से युक्त, रस के भण्डार, चन्द्रमा के समान आह्लादक जगदीश्वर ! हमारी **वाचः** जिह्वा के **अग्रियः** आगे रहने वाले आप **चित्राभिः** अद्भुत **ऊतिभिः** रक्षाओं के साथ **पवस्व** हमें पवित्र कीजिए। आप **विश्वानि** सब **काव्या** वेद काव्यों में **अभि** चारों ओर व्याप्त हैं । कहा भी है— "जिसने ऋचाएं पढ़कर भी जगदीश्वर को नहीं जाना वह ऋचाओं से क्या करेगा ? जो ऋचाओं से उसे जान लेते हैं वे समाधिस्थ हो जाते हैं (ऋ० १।१६४।३९)" ।।१।।

भावार्थ—जिसकी जगदीश्वर रक्षा करता है उसका कोई बाल भी बांका नहीं कर सकता ।।१।।

---

१. ऋ० ९।६२।२५।

अथ पुनर्जगदीश्वरं प्रार्थयते ।

७७६. त्वं समुद्रिया अपोऽग्रियो वाच ईरयन् । पवस्व विश्वचर्षणे ॥२॥[1]

त्वम् समुद्रियाः सम् उद्रियाः अपः ।
अग्रियः वाचः ईरयन् । पवस्व विश्वचर्षणे विश्व चर्षणे ॥२॥

पदार्थः—हे **विश्वचर्षणे** विश्वद्रष्टः, विश्वेषां मनुष्याणां स्वामिन् वा जगदीश्वर ! **वाचः** उपासकानां वाण्याः **अग्रियः** अग्रेभवः **त्वम्** पवित्रकर्ता **समुद्रियाः** समुद्रे आनन्दसागरे भवाः । [समुद्राभ्राद् घः अ० ४।४।११ इति भवार्थे घः प्रत्ययः।] **अपः** रससन्ततीः **ईरयन्** अस्मान् प्रति गमयन् । [ईर क्षेपे चुरादिः, यद्वा ईर गतौ कम्पने च अदादिः, ण्यन्तः।] अस्मान् **पवस्व** पुनीहि ॥२॥

भावार्थः—परमेश्वरस्य स्तुतिर्निष्फला न जायते, प्रत्युत स स्वोपासकान् आनन्दरसेन सरसान् पवित्रांश्च करोति ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः जगदीश्वर से प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ—हे **विश्वचर्षणे** सबके द्रष्टा, अथवा सब मनुष्यों के स्वामी जगदीश्वर ! **वाचः** उपासकों की वाणी के **अग्रियः** आगे रहने वाले **त्वम्** पवित्रकर्ता आप **समुद्रियाः** आनन्दसागर के **अपः** रसों को **ईरयन्** हमारी ओर भेजते हुए, हमें **पुनीहि** पवित्र कीजिए ॥२॥

भावार्थ—परमेश्वर की स्तुति निष्फल नहीं जाती, प्रत्युत वह अपने उपासकों को आनन्दरस से सरस और पवित्र कर देता है ॥२॥

अथ सोमस्य जगदीश्वरस्य महिमानं वर्णयति ।

७७७. तुभ्येमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे । तुभ्यं धावन्ति धेनवः ॥३॥[2]

तुभ्य इमा भुवना कवे । महिम्ने सोम तस्थिरे । तुभ्यम् धावन्ति धेन वः ॥३॥

पदार्थः—हे **कवे** मेधाविन् क्रान्तदर्शिन् **सोम** जगदीश्वर ! **इमा भुवना** इमानि भुवनानि लोक-लोकान्तराणि **तुभ्य** तुभ्यम्, त्वत्पूजार्थम् एव । [मकारलोपश्छान्दसः ।] **महिम्ने तस्थिरे** महिमवन्ति जातानि । **तुभ्यम्** त्वत्पूजार्थमेव **धेनवः**[3] गावः मेघमालाः सूर्यदीधितयो वा **धावन्ति** वेगेन गच्छन्ति ॥३॥

भावार्थः—विशाले ब्रह्माण्डेऽस्मिन् सूर्यश्चन्द्रस्तारका भूमिर्ऋतवो नद्यः समुद्रा मेघघटा धेनवोऽश्वा मनुष्या मङ्गलबुधबृहस्पत्यादयो ग्रहाः सर्वाणि परमेश्वरस्यैव महिमानं गायन्ति ॥३॥

अगले मन्त्र में सोम जगदीश्वर की महिमा का वर्णन है।

---

१. ऋ० ९।६२।२६ 'पवस्व विश्वमेजय' इति तृतीयः पादः ।

२. ऋ० ९।६२।२७ 'तुभ्यमर्षन्ति सिन्धवः' इति तृतीयः पादः ।

३. धेनवः गावः । अथवा धेनवः आदित्यरश्मयः -इति वि० ।

पदार्थ—हे **कवे** मेधावी, दूरदर्शी **सोम** जगदीश्वर ! **इमा भुवना** ये लोकलोकान्तर **तुभ्य** आपकी ही पूजा के लिए **महिम्ने तस्थिरे** महिमावान् हुए हैं। **तुभ्यम्** आपकी ही पूजा के लिए **धेनवः** गौएं, मेघमालाएं और सूर्यकिरणें **धावन्ति** दौड़ लगा रही हैं ।।३।।

भावार्थ—इस विशाल ब्रह्माण्ड में सूर्य, चांद, तारे, भूमि, ऋतुएं, नदियां, समुद्र, मेघघटाएं, गौएं घोड़े, मनुष्य, मंगल-बुध-बृहस्पति आदि ग्रह सब परमेश्वर की ही महिमा का गान कर रहे हैं ।।३।।

।।२।। अथ 'पवस्वेन्दो' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अमहीयुराङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४७९ क्रमाङ्के परमात्मानं सम्बोधिता । अत्र परमात्माऽऽचार्यो नृपतिश्च प्रार्थ्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
७७८. **पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने । विश्वा अप द्विषो जहि ।।१।।**[1]

१२र ३ १२र ३ २ ३ २ ३ १ २ १२र १ २र १२र १२र ३
पवस्व इन्दो वृषा सुतः । कृधि नः यशसः जने । विश्वाः अप द्विषः जहि ।।१।।

पदार्थः—हे **इन्दो** तेजस्विन् परमात्मन् आचार्य नृपते च **वृषा** विद्यावर्षकः सुखवर्षकश्च, **सुतः** अस्माभिः प्रार्थितः प्रेरितश्च त्वम् **पवस्व** अस्मान् पुनीहि। **जने** जनसमाजे **नः** अस्मान् **यशसः** यशस्विनः **कृधि** कुरु । **विश्वाः द्विषः** सर्वाः द्वेषवृत्तीः, सर्वान् द्वेष्टॄन् वा **अप जहि** विनाशय ।।१।।

अत्रार्थश्लेषालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः—जगदीश्वरादाचार्यान्नृपतेश्च विद्यां सुखं पवित्रतां कीर्तिं द्वेषपापादिविनाशं चं प्राप्य सर्वे जनाः सफलजीवना भवेयुः ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४७९ क्रमांक पर परमात्मा को सम्बोधित की गयी थी। यहां परमात्मा, आचार्य तथा राजा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **इन्दो** तेजस्वी परमात्मन्, आचार्य और राजन्! **वृषा** विद्या और सुख की वर्षा करने वाले, **सुतः** हमसे प्रार्थना और प्रेरणा किये गये आप **पवस्व** हमें पवित्र कीजिए । **जने** जन-समुदाय में **नः** हमें **यशसः** यशस्वी **कृधि** कीजिए, **विश्वाः द्विषः** सब द्वेष-वृत्तियों को और सब द्वेषियों को **अप जहि** विनष्ट कर दीजिए ।।१।।

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है ।।१।।

भावार्थ—जगदीश्वर, आचार्य और राजा से विद्या, सुख, पवित्रता, कीर्ति और द्वेष-पाप आदि का विनाश प्राप्त करके सब लोग सफल जीवन वाले होवें ।।१।।

अथ पुनस्तानेव प्रार्थयते ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ २
७७९. **यस्य ते सख्ये वयं सासह्याम पृतन्यतः । तवेन्दो द्युम्न उत्तमे ।।२।।**[2]

१ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १२र ३ २ ३ २
यस्य ते सख्ये स ख्ये वयम् । सासह्याम पृतन्यतः । तव इन्दो द्युम्ने उत्तमे ।।२।।

---

१. ऋ० ९।६१।२८, साम० ४७९ ।

२. ऋ० ९।६१।२९, 'अस्य॑ ते सु॒ख्ये व॒यं तवे॑न्दो द्यु॒म्न उ॑त्त॒मे । सा॒स॒ह्याम॑ पृतन्य॒तः ॥ इति पाठः ।

पदार्थः—हे **इन्दो** तेजस्विन् जगदीश्वर आचार्य नृपते वा! **यस्य ते** यस्य तव **सख्ये** सखित्वे **वयम्** वयं स्मः, ते वयम् **पृतन्यतः** पृतनया अभिगच्छतः आन्तरान् बाह्यांश्च शत्रून् **सासह्याम** अतिशयेन पुनः पुनः पराभवेम। अपि च **तव** त्वदीये, त्वया प्रदत्ते **उत्तमे** उत्कृष्टतमे **द्युम्ने** यशसि, स्याम इति शेषः ॥२॥

भावार्थः—सर्वैः परमेश्वरमुपास्य, गुरुं शिष्यत्वेनोपगम्य, नृपतेश्च साहाय्यं प्राप्य सर्वान् कामक्रोधादीनान्तरान् बाह्यांश्च रिपून् निर्मूल्य यशस्विभिर्भाव्यम् ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः उन्हीं से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **इन्दो** तेजस्वी जगदीश्वर, आचार्य और राजन्! **यस्य ते** जिन आपकी **सख्ये** मित्रता में **वयम्** हम हैं, वे हम लोग **पृतन्यतः** सेना से चढ़ाई करने वाले आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं को **सासह्याम** अतिशय रूप से बार-बार पराजित कर देवें। और **तव** आपके दिये हुए **उत्तमे** उत्तम **द्युम्ने** यश में, हम रहें ॥२॥

भावार्थ—सबको चाहिए कि परमेश्वर की उपासना करके, गुरु को शिष्यभाव से प्राप्त करके और राजा की सहायता पाकर सब काम, क्रोध आदि आन्तरिक रिपुओं को एवं बाह्य शत्रुओं को निर्मूल करके यशस्वी बनें ॥२॥

अथ पुनरपि तानेव प्रार्थयते।

७८०. या ते भीमान्यायुधा तिग्मानि सन्ति धूर्वणे। रक्षा समस्य नो निदः ॥३॥[1]

या ते भीमानि आयुधा। तिग्मानि सन्ति धूर्वणे। रक्ष समस्य नः निदः ॥३॥

पदार्थः—हे पवमान सोम! हे कर्मशूर जगदीश्वर आचार्य नृपते वा! **धूर्वणे** हिंसकाय।[धुर्वी हिंसार्थः। धूर्वति हिनस्ति यः स धूर्वा तस्मै।] **या** यानि **ते** तव **भीमानि** भयङ्कराणि, **तिग्मानि** तीक्ष्णानि **आयुधा** आयुधानि [सर्वत्र 'शेश्छन्दसि बहुलम्। अ० ६।१।७० इति शेर्लोपः।] **सन्ति** वर्त्तन्ते, तैः **समस्य** सर्वस्य शत्रोः **निदः** निन्दायाः **नः** अस्मान् **रक्ष** त्रायस्व ॥३॥

अत्रार्थश्लेषालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः—जगदीश्वरो दण्डशक्तिरूपैराचार्यो ब्रह्मतेजोरूपैर्नृपतिश्च भौतिकैः शस्त्रास्त्रैर्दुष्टानां दुष्टतां निराकृत्य तत्कृतान्निन्दनाद् मनुष्यान् शिष्यान् प्रजाजनांश्च रक्षन्तु ॥३॥

अगले मन्त्र में फिर उन्हीं से प्रार्थना है।

पदार्थ—हे पवमान सोम! हे कर्मशूर जगदीश्वर, आचार्य और राजन्! **धूर्वणे** हिंसक के लिए **या** जो **ते** आपके **भीमानि** भयंकर, **तिग्मानि** तीक्ष्ण **आयुधा** हथियार **सन्ति** हैं, उनके द्वारा आप **समस्य** सब शत्रुओं से की जाने वाली **निदः** निन्दा से **नः** हमें **रक्ष** बचाइये ॥३॥

यहां अर्थश्लेष अलंकार है ॥३॥

भावार्थ—जगदीश्वर दण्डशक्तिरूप शस्त्रास्त्रों से, आचार्य ब्रह्मतेजरूप शस्त्रास्त्रों से और राजा भौतिक शस्त्रास्त्रों से दुष्टों की दुष्टता को दूर करके उनसे की जाने वाली निन्दा से मनुष्यों, शिष्यों और प्रजाजनों की **रक्षा** करें ॥३॥

---

१. ऋ० ९।६१।३०।

।।३।। अथ 'वृषा सोम' इत्यादिकस्य तृतीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** कश्यपो मारीचः। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५०४ क्रमाङ्के परमेश्वरपक्षे व्याख्याता। अत्र जगदीश्वर आचार्यो नृपतिश्च त्रयोऽपि सम्बोध्यन्ते।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
७८१. **वृषा सोम द्युमां असि वृषा देव वृषव्रतः। वृषा धर्माणि दधिषे ।।१।।**[1]

१ २र ३ २ ३ १ २र ३ १२र १२र ३ १ २र १ २र ३
वृषा सोम द्युमान् असि। वृषा देव वृषव्रतः वृष व्रतः। वृषा धर्माणि दधिषे ।।१।।

पदार्थः—हे **सोम** सत्कर्मसु प्रेरक जगदीश्वर आचार्य नृपते वा! **वृषा** सुखवर्षको विद्यावर्षकः समृद्धिवर्षकश्च त्वम् **द्युमान्** द्युतिमान् **असि** वर्तसे। हे **देव** सूर्यादीनां प्रकाशक जगदीश, वेदविद्याप्रकाशक आचार्य राजनियमप्रकाशक नृपते च! **वृषव्रतः** वृषं धर्मस्य विद्यायाः समृद्धेश्च वर्षणमेव व्रतं यस्य तादृशः त्वम् **वृषा** सत्यं पर्जन्यः असि। **वृषा** आत्मबलेन दैहिकबलेन वा युक्तः त्वम् **धर्माणि** चरित्रनियमान्, विद्यानियमान्, राजनियमांश्च **दधिषे** स्थापयसि ।।१।।

अत्रार्थश्लेषालङ्कारः। 'वृषा असि पर्जन्योऽसि' इति सोमे वृषत्वस्य (पर्जन्यत्वस्य) आरोपाच्च रूपकम्। तस्मिन्नारोपे 'वृषव्रतः' इति पदार्थस्य हेतुत्वाच्च काव्यलिङ्गम्। 'वृषा' इत्यस्यावृत्तौ च यमकम् ।।१।।

भावार्थः—यत्र महान् परमेश्वरः सुखादिं विद्वानाचार्यो विद्यां धनिको राजा च धनं वर्षति तद् राष्ट्रं महिम्ना बहु शोभते ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ५०४ क्रमांक पर परमेश्वर के विषय में व्याख्यात हुई थी। यहां जगदीश्वर, आचार्य और राजा तीनों को सम्बोधन है।

पदार्थ—हे **सोम** सत्क्रर्मों में प्रेरणा करने वाले जगदीश्वर, आचार्य वा राजन्! **वृषा** सुख, विद्या एवं समृद्धि की वर्षा करने वाले आप **द्युमान्** तेजस्वी **असि** हो। हे **देव** सूर्यादियों के प्रकाशक परमात्मन्, वेदविद्या के प्रकाशक आचार्य तथा राजनियमों के प्रकाशक राजन्! **वृषव्रतः** धर्म, विद्या एवं समृद्धि की वर्षा करना ही जिनका व्रत है ऐसे आप **वृषा** सचमुच बादल हो। **वृषा** ब्रह्मबल, आत्मबल अथवा देहबल से युक्त आप **धर्माणि** चरित्र के नियमों, विद्या के नियमों तथा राजनियमों को **दधिषे** धारण करते हो ।।१।।

इस मन्त्र में अर्थश्लेष अलंकार है। सोम में वृषत्व (पर्जन्यत्व) का आरोप होने से रूपक है। उस आरोप में 'वृषव्रतः' इस पद का अर्थ हेतु बन रहा है, अतः काव्यलिंग है। 'वृषा' की आवृत्ति में यमक है ।।१।।

भावार्थ—जिस राष्ट्र में महान् परमेश्वर सुख आदि की, विद्वान् आचार्य विद्या की और धनी राजा धन की वर्षा करते हैं वह राष्ट्र महिमा से बहुत शोभा पाता है ।।१।।

अथ पुनरपि परमात्माऽऽचार्यनृपतयः स्तूयन्ते।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १र २र३ १र २र
७८२. **वृष्णस्ते वृष्ण्यं शवो वृषा वनं वृषा सुतः। स त्वं वृषन् वृषेदसि ।।२।।**[2]

१ २र ३ १ २र १ २र १ २र १ २र १ २र ३ २ ३ १ २र ३
वृष्णः ते वृष्ण्यम् शवः। वृषा वनम् वृषा सुतः। सः त्वम् वृषन् वृषा इत् असि ।।२।।

---

१. ऋ० ९।६४।१ 'दधिषे' इत्यत्र 'दधिषे' इति पाठः। साम० ५०४।

२. ऋ० ९।६४।२, 'सुतः' इत्यत्र 'मदः' इति भेदः। 'स त्वं' इत्यत्र च 'सत्यं' इति पाठः।

पदार्थः—हे **वृषन्** सुखसम्पद्विद्यादिवर्षक परमात्मन् आचार्य नृपते च! **वृष्णः ते** वर्षकस्य तव **शवः** बलम् **वृष्ण्यम्** सुखशान्तिधनादीनां वर्षणशीलं भवति, **वनम्** तव तेजः अपि **वृषा** सुखादीनां वर्षकं भवति। [वनम् इति रश्मिनाम। निघं० १।५। वृषा इत्यत्र लिङ्व्यत्ययः।] **सुतः** त्वया उत्पादितः वृष्टिरसः, विद्यारसः रक्षारसश्चापि **वृषा** सुखादिवर्षको भवति। **सः त्वम्** तादृशः त्वम् **वृषा इत्** मेघः एव **असि** वर्तसे ॥२॥

अत्र सोमवाच्येषु परमेश्वरादिषु मेघारोपाद् रूपकालङ्कारः। 'वृष्ण वृष्ण' इति छेकानुप्रासः। वृषा वृषा इति लाटानुप्रासः। वृष्, वृष्, वृषा, वृषा, वृष, वृषे इति वृत्त्यनुप्रासः ॥२॥

भावार्थः—जगदीश्वरो नृपतिराचार्यश्च त्रयोऽप्येते जनानामैहिकपारलौकिकोत्कर्षप्रदानाय सहायका जायन्ते ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा, आचार्य और राजा की स्तुति है।

पदार्थ—हे **वृषन्** सुख, सम्पति, विद्या आदि की वर्षा करने वाले परमात्मन्, आचार्य और राजन्! **वृष्णः ते** वर्षक आपका **शवः** बल **वृष्ण्यम्** सुख, शान्ति, धन आदि की वर्षा करने के स्वभाव वाला है। आपका **वनम्** तेज भी **वृषा** सुख आदि की वर्षा करने वाला है। **सुतः** आपसे उत्पन्न किया गया वृष्टिरस, विद्यारस और रक्षारस भी **वृषा** सुख आदि की वर्षा करने वाला है। **सः त्वम्** वह आप **वृषा इत्** बादल ही **असि** हो ॥२॥

इस मन्त्र में सोमपदवाच्य परमेश्वर आदि में बादल का आरोप होने से रूपकालंकार है। 'वृष्ण, वृष्ण' में छेकानुप्रास, 'वृषा, वृषा' में लाटानुप्रास और 'वृष्, वृष्, वृषा, वृषा, वृष, वृषे' में वृत्त्यनुप्रास है ॥२॥

भावार्थ—जगदीश्वर, राजा और आचार्य ये तीनों ही मनुष्यों को ऐहिक तथा पारलौकिक उन्नति प्राप्त कराने में सहायक होते हैं ॥२॥

अथ पुनरपि परमात्मानमाचार्यं नृपतिं च सम्बोधयति ।

७८३. अश्वो न चक्रदो वृषा सं गा इन्दो समर्वतः । वि नो राये दुरो वृधि ॥३॥[1]

अश्वः न चक्रदः वृषा । सम् गाः इन्दो सम् अर्वतः । वि नः राये दुरः वृधि ॥३॥

पदार्थः—हे पवमान सोम पावक जगदीश्वर, आचार्य नृपते च ! **वृषा** धर्मार्थकाममोक्षाणां वर्षकः त्वम् **अश्वः**[2] **न** पर्जन्यः इव **चक्रदः** क्रन्दसि। [क्रद आह्वाने रोदने च, अनिदितोऽपि पठ्यते। क्रदति-क्रदयति । लुङि 'अचक्रदः'। अडभावश्छान्दसः। लडर्थे लुङ्।] हे **इन्दो** तेजस्विन् । त्वम् **गाः** धेनूः, पृथिवीः, वेदवाचश्च **सम्** संगमय, **अर्वतः** अश्वान् बलानि प्राणांश्च **सम्** संगमय। किञ्च, **नः** अस्माकम् **राये** ऐश्वर्यप्राप्तये **दुरः** द्वाराणि **वि वृधि** अपावृणु, उद्घाटय, ऐश्वर्यप्राप्तौ ये विघ्नाः सन्ति तान् दूरीकुरु इत्यर्थः। [विपूर्वाद् वृञ् वरणे धातोः 'बहुलं छन्दसि' अ० २।४।७३ इति श्नोर्लुक् 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' अ० ६।४।१०२ इति हेर्धिः] ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारोऽर्थश्लेषश्च ॥३॥

---

१. ऋ० ९।६४।३।

२. 'प्र पिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः' (ऋ०५।८३।६) इति प्रामाण्यादश्वः पर्जन्यः।

भावार्थः—जगदीश्वरः सर्वेषां हृदेशे तिष्ठन् क्रन्दति सत्प्रेरणां ददाति, आचार्यो विद्यागृहे तिष्ठन् शिष्यानुपदिशति, नृपतिश्च राष्ट्रे तिष्ठन् राजनियमानुद्घोषयति। ते सर्वेऽपि यथायोग्यं दीर्घायुष्यप्राण-प्रजापशुकीर्तिद्रविणब्रह्मवर्चसादिकं प्रयच्छन्ति, मार्गाद् विघ्नबाधाश्च निराकुर्वन्ति ॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा, आचार्य और राजा को सम्बोधन है ।

पदार्थ—हे पवमान सोम अर्थात् पवित्रताप्रदायक जगदीश्वर, आचार्य और राजन्! **वृषा** धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की वर्षा करने वाले आप **अश्वः न** फैले हुए बादल के समान **चक्रदः** शब्द करते हो। हे **इन्दो** तेजस्विन्! आप **गाः** गौओं, भूमियों और वेदवाणियों को **सम्** हमें संप्राप्त कराओ। **अर्वतः** घोड़ों, बलों और प्राणों को **सम्** संप्राप्त कराओ। और **नः** हमारी **राये** ऐश्वर्यप्राप्ति के लिए **दुरः** द्वारों को **विवृधि** खोल दो ॥३॥

इस मन्त्र में उपमालंकार तथा अर्थश्लेष है ॥३॥

भावार्थ—जगदीश्वर सबके हृदय में स्थित हुआ सत्प्रेरणा देता है, आचार्य विद्यागृह में स्थित हुआ शिष्यों को उपदेश करता है और राजा राष्ट्र में स्थित हुआ राजनियमों को उद्घोषित करता है। वे सभी यथायोग्य दीर्घायुष्य, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन, ब्रह्मवर्चस आदि प्रदान करते और रास्ते से विघ्न- बाधाओं को दूर करते हैं ॥३॥

॥४॥ अथ 'वृषा ह्यसि' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४८० क्रमाङ्के परमात्मपक्षे व्याख्याता । अत्र जगदीश्वरं नरेश्वरं चाह्वयति ।।

७८४. वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे । पवमान स्वर्दृशम् ॥१॥[1]

वृषा हि असि भानुना । द्युमन्तम् त्वा हवामहे । पवमान स्वर्दृशम् स्वः दृशम् ॥१॥

पदार्थः—हे **पवमान** पवित्रतादायक जगदीश्वर राजन् वा! त्वम् **वृषा हि** सद्गुणविद्यासुराज्यधनादि-वर्षकः **खलु असि** वर्तसे। **भानुना** तेजसा **द्युमन्तम्** देदीप्यमानम्, **स्वर्दृशम्** मोक्षानन्दस्य लौकिकसुखस्य वा दर्शकम् **त्वा** त्वाम्, वयम् **हवामहे** आह्वयामः ॥१॥

भावार्थः— यथोपासितः परमेश्वरो हृदयस्य पवित्रतां सम्पाद्य तत्र दिव्यान्यैश्वर्याणि वर्षति मोक्षानन्दं च प्रयच्छति तथैव राज्ये नृपती राष्ट्रवासिनां भ्रष्टाचारं दूरीकृत्य पवित्राचरणं प्रचार्य विविधान्यैश्वर्याणि वर्षित्वा प्रजाभ्यः सुखं प्रयच्छेत् ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४८० क्रमांक पर परमात्मा के पक्ष में व्याख्यात हो चुकी है। यहां जगदीश्वर तथा राजा का आह्वान है।

पदार्थ—हे **पवमान** पवित्रता देने वाले जगदीश्वर और राजन्! आप **वृषा हि** सचमुच सद्गुण, विद्या, सुराज्य, धन आदि की वर्षा करने वाले **असि** हो। **भानुना** तेज से **द्युमन्तम्** देदीप्यमान, **स्वर्दृशम्** मोक्ष के आनन्द वा लौकिक सुख का दर्शन कराने वाले **त्वा** आपको, हम **हवामहे** पुकारते हैं ॥१॥

---

१. ऋ० ९।६५।४, 'स्वर्दृशम्' इत्यत्र 'स्वार्ध्यः' इति पाठः। साम० ४८०।

भावार्थ—जैसे उपासना किया हुआ परमेश्वर हृदय को पवित्र करके उसमें दिव्य ऐश्वर्यों को बरसाता है और मोक्ष का आनन्द देता है, वैसे ही राज्य में राजा राष्ट्रवासियों के भ्रष्टाचार को दूर करके, पवित्र आचरण का प्रचार करके, विविध ऐश्वर्यों की वर्षा करके प्रजाओं को सुख प्रदान करे ॥१॥

अथ पुनरपि जगदीश्वरो नरेश्वरश्च वर्ण्यते ।

७८५. **यदद्भिः परिषिच्यसे मर्मृज्यमान आयुभिः । द्रोणे सधस्थमश्नुषे ॥२॥**[1]

यत् अद्भिः परिषिच्यसे परि सिच्यसे ।

मर्मृज्यमानः आयुभिः । द्रोणे सधस्थम् सध स्थम् अश्नुषे ॥२॥

पदार्थः—प्रथमः जगदीश्वरपक्षे । हे जगदीश्वर ! **यत्** यदा **आयुभिः** उपासकैः मनुष्यैः। [आयुरिति मनुष्यनाम। निघं २।३।] **मर्मृज्यमानः** भूयोभूयोऽतिशयेन सात्त्विकैर्भावैरलङ्क्रियमाणः त्वम् **अद्भिः** भक्तिरसैः **परिषिच्यसे** आर्द्रीक्रियसे, तदा **द्रोणे** हृदयरूपे द्रोणकलशे **सधस्थम्** स्थानम् **अश्नुषे** प्राप्नोषि । [अशूङ् व्याप्तौ संघाते च, स्वादिः] ॥

द्वितीयः नरेश्वरपक्षे । हे नरेश्वर ! **यत्** यदा **आयुभिः** राष्ट्रवासिभिः प्रजाजनैः **मर्मृज्यमानः** माल्यादिभिरलङ्क्रियमाणः त्वम् **अद्भिः** अभिषेकजलैः **परिषिच्यसे** आर्द्रीकियसे, तदा **द्रोणे** द्रुममये सिंहासने **सधस्थम्** स्थानम् **अश्नुषे** प्राप्नोषि ॥२॥

अत्र श्लेषालङ्कारः। सोमौषधिपक्षेऽप्यर्थो योजनीयः ॥२॥

भावार्थः—यथा याज्ञिकैः सोमौषधिरसोऽद्भिः सह द्रोणकलशे परिषिच्यते, यथा वा प्रजाजनैः कश्चित् सुयोग्यो जनो राजपदेऽभिषिच्यते तथैव स्तोतृभिः परमेश्वरो भक्तिरसैर्हृदयेऽभिषेचनीयः ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः जगदीश्वर और राजा का वर्णन है ।

पदार्थ—प्रथम जगदीश्वर के पक्ष में । हे राजन् ! **यत्** जब **आयुभिः** उपासक मनुष्यों से **मर्मृज्यमानः** बार-बार अत्यधिक सात्त्विक भावों से अलंकृत किये जाते हुए आप **अद्भिः** भक्तिरसों से **परिषिच्यसे** सींचे जाते हो, तब **द्रोणे** हृदयरूप द्रोणकलश में **सधस्थम्** स्थान **अश्नुषे** पा लेते हो ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में । हे राजन् ! **यत्** जब **आयुभिः** राष्ट्रवासी प्रजाजनों द्वारा **मर्मृज्यमानः** मालाओं आदि से अलंकृत किये जाते हुए आप **अद्भिः** अभिषेकजलों से **परिषिच्यसे** सींचे जाते हो, तब **द्रोणे** लकड़ी के बने सिंहासन पर **सधस्थम्** स्थान **अश्नुषे** पा लेते हो ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । सोम ओषधि के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए ॥२॥

भावार्थ—जैसे याज्ञिकों द्वारा सोम ओषधि का रस जलों के साथ द्रोणकलश में सींचा जाता है और जैसे प्रजाजनों द्वारा कोई सुयोग्य मनुष्य राजा के पद पर अभिषिक्त किया जाता है, वैसे ही स्तोताओं को चाहिए कि परमेश्वर को भक्तिरसों द्वारा हृदय में अभिषिक्त करें ॥२॥

---

१. ऋ० ९।६५।६ 'मृज्यमानो गभस्त्योः। द्रुणा' इति पाठः ।

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

७८६. आ पवस्व सुवीर्यं मन्दमानः स्वायुध । इहो ष्विन्दवा गहि ॥३॥[1]

आ पवस्व सुवीर्यम् सु वीर्यम् ।

मन्दमानः स्वायुध सु आयुध । इह उ सु इन्दो आ गहि ॥३॥

पदार्थः—हे **स्वायुध** उत्कृष्टदण्डसामर्थ्ययुक्त जगदीश्वर तीव्रशस्त्रास्त्रसुसज्जित राजन् वा ! **मन्दमानः** मोदमानः त्वम् । [मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु।] **सुवीर्यम्** श्रेष्ठम् आत्मबलम् धैर्यबलम् उत्साहबलं दैहिकबलं च **आ पवस्व** अस्मासु प्रवाहय। हे **इन्दो** तेजस्विन् राजराजेश्वर परमात्मन् नृपते वा ! त्वम् **इह उ** अत्रास्माकं हृदये राजासने वा **सु आ गहि** शोभया साकम् आगच्छ ॥३॥

भावार्थः—यथा परमात्मा स्वोपासकानां हार्दिकं निवेदनं श्रुत्वा सज्जनानुत्साहयति दुर्जनान् दण्डयति च तथैव नृपतिना राष्ट्रवासिनां निवेदनमाकर्ण्य प्रजा रक्षणीया उत्साहनीयाश्च पापाः शत्रवश्च भुशुण्डीशतघ्न्याकाशगोलकादिभिरायुधैर्विध्वंसनीयाः ॥३॥

अगले मन्त्र में फिर वही विषय वर्णित है।

पदार्थ—हे **स्वायुध** उत्कृष्ट दण्डसामर्थ्य वाले जगदीश्वर तथा तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित राजन् ! **मन्दमानः** प्रसन्न होते हुए आप **सुवीर्यम्** श्रेष्ठ आत्मबल, धैर्यबल, उत्साहबल और शारीरिक बल को **आ पवस्व** हमारे अन्दर प्रवाहित कीजिए। हे **इन्दो** तेजस्वी राजराजेश्वर परमात्मन् और राजन्! आप **इह उ** यहां हमारे हृदय में वा राजगद्दी पर **सु आगहि** भली भांति पधारिए ॥३॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा अपने उपासकों का हार्दिक निवेदन सुनकर सज्जनों को उत्साहित और दुर्जनों को दण्डित करता है, वैसे ही राजा को चाहिए कि वह राष्ट्रवासियों का निवेदन सुनकर प्रजा को रक्षित और उत्साहित करे तथा पापी शत्रुओं को बन्दूक, तोप, आकाशीय गोले आदि हथियारों से विनष्ट करे ॥३॥

॥५॥ अथ 'पवमानस्य ते' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अमहीयुराङ्गिरसः। **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ परमात्मा ऽऽचार्यश्च सम्बोध्यते ।

७८७. पवमानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः । सखित्वमा वृणीमहे ॥१॥[2]

पवमानस्य ते वयम् । पवित्रम् अभ्युन्दतः अभि उन्दतः ।

सखित्वम् स खित्वम् आ वृणीमहे ॥१॥

पदार्थः—हे सोम ज्ञानप्रेरक परमात्मन् आचार्य वा ! **पवमानस्य** हृदयस्य पवित्रतां सम्पादयतः, **पवित्रम्** पवित्रीभूतं हृदयम् **अभ्युन्दतः** आनन्दरसेन विद्यारसेन वा क्लेदयतः **ते** तव **सखित्वम्** सख्यम्, वयम् **आ वृणीमहे** स्वीकुर्महे ॥१॥

---

१. ऋ० ९।६५।५।

२. ऋ० ९।६१।४।

भावार्थः—परमेश्वर उपासकानामाचार्यश्च शिष्याणां हृदयं पावयित्वा तत्रानन्दरसं विद्यारसं च सिञ्चतः।।१।।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा और आचार्य को सम्बोधन किया गया है।

पदार्थ—हे सोम ! ज्ञान को प्रेरित करने वाले परमात्मा और आचार्य ! **पवमानस्य** हृदय को पवित्र करने वाले, तथा **पवित्रम्** पवित्र हृदय को **अभ्युन्दतः** आनन्दरस वा विद्यारस से भिगोने वाले **ते** आपकी **सखित्वम्** मित्रता को, हम **आ वृणीमहे** स्वीकार करते हैं ।।१।।

भावार्थ—परमेश्वर उपासकों के और आचार्य शिष्यों के हृदय को पवित्र करके उसमें आनन्दरस वा विद्यारस को सींचते हैं ।।१।।

अथ पुनरपि तावेव सम्बोध्येते।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २
७८८. ये ते पवित्रमूर्मयोऽभिक्षरन्ति धारया। तेभिर्नः सोम मृडय ।।२।।[1]

२ ३ १ २ ३ १ २
ये ते पवित्रम् ऊर्मयः।
३ १ २ ३ १२र १२र १ २र ३
अभिक्षरन्ति अभि क्षरन्ति धारया। तेभिः नः सोम मृडय ।।२।।

पदार्थः—हे **सोम** ज्ञानप्रेरक परमात्मन् आचार्य वा ! **ये ते** ये तव **ऊर्मयः** आनन्दरसस्य ज्ञानरसस्य वा तरङ्गाः **धारया** धारारूपेण **पवित्रम्** पावनं हृदयम् **अभि** अभिलक्ष्य **क्षरन्ति** प्रवहन्ति **तेभिः** तैः **नः** अस्मान् **मृडय** सुखय ।।२।।

भावार्थः—परमेश्वरः स्तोतॄनानन्दरसतरङ्गैराचार्यश्च शिष्यान् ज्ञानरसतरङ्गैस्तरङ्गयतः ।।२।।

अगले मन्त्र में फिर उन्हीं को सम्बोधन है।

पदार्थ—हे **सोम** ज्ञान के प्रेरक परमात्मन् वा आचार्य ! **ये ते** जो आपकी **ऊर्मयः** आनन्दरस और ज्ञानरस की लहरें **धारया** धारारूप से **पवित्रम्** पवित्र हृदय को **अभि** लक्ष्य करके **क्षरन्ति** बहती हैं, **तेभिः** उनसे **नः** हमें **मृडय** सुखी कीजिए ।।२।।

भावार्थ—परमेश्वर स्तोताओं को आनन्दरस की लहरों से और आचार्य शिष्यों को ज्ञानरस की लहरों से तरंगित करते हैं।।२।।

अथ पुनरपि तावेव प्रार्थ्येते।

१ २ ३१र २र ३ २ ३१२ ३ १२ १ २ ३ १ २
७८९. स नः पुनान आ भर रयिं वीरवतीमिषम्। ईशानः सोम विश्वतः ।।३।।[2]

२ ३ २ ३ २ ३१२ १२र १ २र ३ १ २
सः नः पुनानः आ भर। रयिम् वीरवतीम् इषम्। ईशानः सोम् विश्वतः ।।३।।

पदार्थः—हे **सोम** परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर आचार्य वा ! **ईशानः** अधीश्वरः **सः** प्रसिद्धः त्वम् **नः** अस्मान् **पुनानः** पवित्रान्तःकरणान् कुर्वन् **विश्वतः** सर्वतः **रयिम्** आध्यात्मिकं भौतिकं च ऐश्वर्यम्, अपि च **वीरवतीम्** वीरत्वोपेताम् **इषम्** प्रगतिम् । [इषु गतौ, दिवादिः, ततः क्विप्।] **आ भर** आहर, प्रयच्छ ।।३।।

---

१. ऋ० ९।६१।५।

२. ऋ०९।६१।६।

भावार्थः—जगदीश्वरादाचार्याच्च सत्प्रेरणां प्राप्य पवित्रहृदया भूत्वा जना महतीमुन्नतिं कर्त्तुं प्रभवन्ति।।३।।

अस्मिन् खण्डे जगदीश्वराचार्यनृपतीनां गुणकर्मादिवर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन सह संगतिर्वेद्या ।।

अगले मन्त्र में फिर उन्हीं से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ—हे **सोम** परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर वा आचार्य! **ईशानः** समर्थ **सः** वह प्रसिद्ध आप **नः** हमें **पुनानः** पवित्र अन्तःकरण वाला करते हुए **विश्वतः** सब ओर से **रयिम्** आध्यात्मिक तथा भौतिक ऐश्वर्य को, और **वीरवतीम्** वीरतायुक्त **इषम्** प्रगति को **आ भर** प्रदान कीजिए ।।३।।

भावार्थ—जगदीश्वर और आचार्य से सत्प्रेरणा प्राप्त करके पवित्र हृदय वाले होकर मनुष्य महान् उन्नति कर सकते हैं ।।३।।

इस खण्ड में जगदीश्वर, आचार्य और राजा के गुण-कर्म आदि का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्वखण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ।

तृतीय अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ।

।।६।। अथ 'अग्निं दूतं' इत्यादिकस्य षष्ठस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मेधातिथिः काण्वः । **देवता** अग्निः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३ क्रमाङ्के परमात्मपक्षे व्याख्यातपूर्वा । अत्राचार्यनृपतिभौतिकाग्नीनां विषये व्याख्यायते ।

३ २ ३१ २ ३ १ २ ३ १२ ३ २ ३१ २ ३१२
७९०. **अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् । अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ।।१।।**[1]

३ २ ३२ ३ १२ ३ १२ ३ २ ३
अग्निम् दूतम् वृणीमहे । होतारम् विश्ववेदसम् विश्व वेदसम् ।

२ ३१ २ ३१२ ३ १२
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् सु क्रतुम् ।।१।।

पदार्थः—**प्रथमः** आचार्यपक्षे । वयम् **होतारम्** विद्यायाः आचारस्य च दातारम्, **विश्ववेदसम्** सर्वस्य वाङ्मयस्य वेत्तारम्, **अस्य** अनुष्ठीयमानस्य एतस्य **यज्ञस्य** विद्यायज्ञस्य **सुक्रतुम्** सुकर्त्ताम्, **दूतम्** शिष्यजनस्य दोषादीनाम् उपतापकम् । [टुदु उपतापे, दुनोति उपतपति दुर्गुणदुर्व्यसनप्रमादालस्यदुःखादीनि यः तम्।] **अग्निम्** तेजस्विनं कर्मनिष्ठम् अग्रनेतारम् आचार्यम् **वृणीमहे** गुरुत्वेन स्वीकुर्महे ।।

द्वितीयः नृपतिपक्षे । वयम् **होतारम्** सुराज्यव्यवस्थया प्रजाभ्यः सुखदातारं राजदेयकरस्य च आदातारम् । [हु दानादनयोः, आदाने चेत्येके।] **विश्ववेदसम्** विश्वस्य सकलस्य राजनीतिविज्ञानस्य वेत्तारम्, **अस्य** अनुष्ठीयमानस्य एतस्य **यज्ञस्य** राष्ट्रयज्ञस्य **सुक्रतुम्** सुकर्तारम् **दूतम्** शत्रूणां भ्रष्टाचारिणां च सन्तापकम् **अग्निम्** अग्रणीं कर्मठं सुयोग्यं जनम् **वृणीमहे** प्रजामध्याद् नृपतित्वेन स्वीकुर्महे ।।

तृतीयःभौतिकाग्निपक्षे । वयं शिल्पविद्यावेत्तारो विद्वांसः **होतारम्** यानेषु यन्त्रेषु च वेगादिगुणदातारम्, **विश्ववेदसम्** विश्वानि सुखसाधनानि विद्यन्ते प्राप्यन्ते यस्मात् तम्, **अस्य** अनुष्ठीयमानस्य एतस्य **यज्ञस्य**

---

१. ऋ० १।१२।१, साम० ३, अथ० २०।१०१।१ ।

शिल्पयज्ञस्य **सुक्रतुम्** सुसम्पादनसाधनभूतम्, **दूतम्** यो दावयति गमयति यन्त्रकलाः तम् **अग्निम्** विद्युतम् **वृणीमहे** शिल्पक्रियासु प्रयुञ्ज्महे ॥१॥[1]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—मनुष्यैर्जगदीश्वरोपासनया सत्प्रेरणां प्राप्य सुयोग्यं सुशिक्षकमाचार्यं वृत्वा सर्वा विद्या अधीत्य सदाचारमङ्गीकृत्य विद्युद्विद्यया शिल्पविद्योन्नत्या भूजलान्तरिक्षयानानि विविधानि यन्त्राणि च निर्माय राष्ट्रोन्नतिः संसाधनीया ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में क्रमांक ३ पर परमात्मा के पक्ष में व्याख्यात हो चुकी है। यहां आचार्य, राजा और भौतिक अग्नि के पक्ष में व्याख्या करते हैं।

पदार्थ—प्रथम आचार्य के पक्ष में। हम **होतारम्** विद्या और आचार के दाता, **विश्ववेदसम्** सम्पूर्ण वाङ्मय के ज्ञाता, **अस्य** इस किये जाते हुए **यज्ञस्य** विद्या-यज्ञ के **सुक्रतुम्** सुकर्ता, **दूतम्** दुर्गुण, दुर्व्यसन, प्रमाद, आलस्य, दुःख आदि को संतप्त करने वाले **अग्निम्** तेजस्वी, कर्मनिष्ठ, अग्रनेता आचार्य को **वृणीमहे** गुरुरूप से वरते हैं॥

द्वितीय राजा के पक्ष में। हम **होतारम्** सुराज्य-व्यवस्था से प्रजाओं को सुख देने वाले, **विश्ववेदसम्** सम्पूर्ण राजनीतिविज्ञान के ज्ञाता, **अस्य** इस किये जाते हुए **यज्ञस्य** राष्ट्र-यज्ञ के **सुक्रतुम्** सुकर्ता, **दूतम्** शत्रुओं तथा भ्रष्टाचारियों के संतापक, **अग्निम्** अग्रनेता, कर्मठ, सुयोग्य जन को **वृणीमहे** प्रजा के बीच से राजारूप में चुनते हैं॥

तृतीय भौतिक अग्नि के पक्ष में। हम शिल्पविद्या के ज्ञाता विद्वान् लोग **होतारम्** यानों और यन्त्रों में वेगादि गुण को देने वाले, **विश्ववेदसम्** सब सुख के साधन जिससे प्राप्त होते हैं ऐसे, **अस्य** इस किये जाते हुए **यज्ञस्य** शिल्पयज्ञ के **सुक्रतुम्** सुसम्पादन में साधनभूत, **दूतम्** यन्त्रकलाओं को गति देने वाले **अग्निम्** विद्युत् को **वृणीमहे** शिल्पक्रियाओं में प्रयुक्त करते हैं॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि जगदीश्वर की उपासना से शुभ प्रेरणा पाकर, सुयोग्य, उत्तम शिक्षा देने वाले आचार्य को वरकर, सब विद्याएं पढ़कर, सदाचार को स्वीकार करके, विद्युद् विद्या से शिल्पविद्या की उन्नति द्वारा भू-यान, जल-यान और अन्तरिक्ष-यानों को तथा तरह-तरह के यन्त्रों को बना कर राष्ट्र की उन्नति करें ॥१॥

अथ विविधानग्नीनाह्वयति।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
७९१. अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम्। हव्यवाहं पुरुप्रियम् ॥२॥[2]

३ १ २ ३ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २
अग्निमग्निम् अग्निम् अग्निम् हवीमभिः। सदा हवन्त विश्पतिम्।

३ १ २ ३ १२र ३ २ ३ २
हव्यवाहम् हव्य वाहम् पुरुप्रियम् पुरु प्रियम् ॥२॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं भौतिकाग्निप्रयोगेण शिल्पविद्योन्नतिविषये व्याख्यातवान्।

२. ऋ० १।१२।२।

पदार्थः—अग्निम्-अग्निम् प्रत्येकम् अग्निम्—परमात्माग्निम्, आत्माग्निं, जाठराग्निं, यज्ञाग्निं, शिल्पाग्निम्, आचार्याग्निं, नृपाग्निम् **हवीमभिः** हविर्भिः सह। [हु दानादनयोः इत्यस्मात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते। अ० ३।२।७५ इति मनिन् छान्दसः ईडागमश्च।] जनाः **सदा** सर्वदा **हवन्त** आह्वयन्तु, स्वीकुर्वन्तु। [ह्वेञ् धातोर्लोडर्थे लङि 'बहुलं छन्दसि' अ० ६।१।३४ इति सम्प्रसारणम्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि'। अ० ६।४।७५ इत्यडागमाभावः।] कीदृशम् अग्निम् ? **विश्पतिम्** विशां प्रजानां पतिं पालकम्, **हव्यवाहम्**[1] हव्यं दातव्यं वस्तुजातं सद्गुणविद्यादिकं वा वहति प्रापयतीति तादृशम्, यद्वा हव्यानि आदातुं योग्यानि विमानादीनि यानानि इतस्ततो वहति प्रापयतीति तादृशम्, अपि च **पुरुप्रियम्** बहु प्रियं, बहूनां प्रियं वा ॥२॥[2]

भावार्थः—आराधितः परमात्माग्निरुपासकस्यात्मसमर्पणं स्वीकृत्य तस्मै भद्रान् गुणकर्मस्वभावान् प्रयच्छति। उद्बोधित आत्माग्निर्मनश्चक्षुरादिभिर्ज्ञानसाधनैर्ज्ञानं स्वीकृत्य मनुष्याय बलं प्रयच्छति। जाठराग्निर्भोज्यपेयादिकं हविः स्वीकृत्य तद् रसरक्तादिरूपेण परिणमयति। यजमानेन हुतो यज्ञाग्निर्हवींषि स्वीकृत्य वायुमाध्यमेनारोग्यकरं सुगन्धमितस्ततो वहति। यानयन्त्रादिषु प्रयुक्तो विद्युदग्निर्विमानादीनि यानानि स्थानान्तरं प्रापयति, यन्त्रकलाश्च संचाल्य विविधपदार्थानां निर्माणे साधनतां गच्छति। आचार्याग्निः समित्पाणीनां शिष्याणां समर्पणं स्वीकृत्य तान् विद्यां सदाचारं च ग्राहयति। नृपाग्निः प्रजाभ्यो राजदेयकरं स्वीकृत्य तं सार्वजनिकनिर्माणकार्येषु व्ययित्वा प्रजाभ्यः सुखं ददाति। अत एतेऽग्नयः यथायोग्यं व्यवहारे प्रयोक्तव्याः ॥२॥

अगले मन्त्र में विविध अग्नियों का आह्वान है।

पदार्थ—अग्निम् अग्निम् प्रत्येक अग्नि को —परमात्माग्नि को, आत्माग्नि को, जाठराग्नि को, यज्ञाग्नि को, शिल्पाग्नि को, आचार्याग्नि को, राजाग्नि को **हवीमभिः** हवियों के साथ, मनुष्य **सदा** हमेशा **हवन्त** पुकारें, स्वीकार करें। कैसे अग्नि को ? **विश्पतिम्** जो प्रजाओं का पालक, **हव्यवाहम्** दातव्य वस्तुओं को या सद्गुण, विद्या आदि को प्राप्त कराने वाला, तथा **पुरुप्रियम्** बहुत प्रिय अथवा बहुतों का प्रिय है ॥२॥

भावार्थ—आराधना किया हुआ परमात्माग्नि उपासक के आत्मसमर्पण को स्वीकार करके उसे भद्र गुण-कर्म-स्वभाव प्रदान करता है। उद्बोधन दिया गया आत्माग्नि मन, आंख आदि ज्ञानसाधनों से ज्ञान को स्वीकार करके मनुष्य को बल देता है। जाठराग्नि भोज्य, पेय आदि हवि को स्वीकार करके उसे रस-रक्त आदि के रूप में परिणत करता है। यजमान से होमा हुआ यज्ञाग्नि हवियों को स्वीकार करके वायु के माध्यम से आरोग्यकारी सुगन्ध को इधर-उधर ले जाता है। यान-यन्त्र आदि में प्रयुक्त विद्युत्-रूप अग्नि विमानादि यानों को स्थानान्तर में पहुंचाता है और यन्त्र-कलाओं का संचालन कर विविध पदार्थों के निर्माण में साधन बनता है। आचार्यरूप अग्नि समित्पाणि शिष्यों के समर्पण को स्वीकार करके उन्हें विद्या और सदाचार ग्रहण

---

१. हव्यवाहम् होतुं दातुम् अत्तुम् आदातुं च योग्यानि ददाति, वा यानादीनि वस्तूनीतस्ततो वहति प्रापयति तम्-इति ऋ० १।१२।२ भाष्ये द०।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं परमेश्वरपक्षे भौतिकाग्निपक्षे च व्याचष्टे। एष च तत्र तत्कृतो भावार्थः— 'हे मनुष्या युष्माभिर्विद्युदाख्यस्य प्रसिद्धस्याग्नेश्च सकाशात् कलाकौशलादिसिद्धिं कृत्वाऽभीष्टानि सुखानि सदैव भोक्तव्यानि भोजयितव्यानि चेति ॥'

कराता है। राजारूप अग्नि प्रजाओं से राजकर स्वीकार करके प्रजाओं को सुख देता है। इसलिए सबको चाहिए कि इन अग्नियों का व्यवहार में यथायोग्य प्रयोग करें ।।२।।

अथ परमात्मानमाचार्यं नृपतिं च सम्बोधयति।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
७९२. अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे। असि होता न ईड्यः ।।३।।[1]

१२र ३ २ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २र १ २र ३ १२र
अग्ने देवान् इह आ वह। जज्ञानः वृक्तबर्हिषे वृक्त बर्हिषे। असि होता नः ईड्यः ।।३।।

पदार्थः—हे **अग्ने** अग्रणीः तेजस्विन् परमात्मन् आचार्य नृपते वा ! **वृक्तबर्हिषे** उपासनायज्ञार्थं विद्यायज्ञार्थं राष्ट्रसेवायज्ञार्थं वा आस्तीर्णासनाय जनाय । [वृक्तं त्यक्तम् आस्तीर्णं बर्हिः दर्भासनं येन तस्मै । वृक्तबर्हिषः इति ऋत्विङ्नामसु पठितम् । निघं० ३।१८।] **जज्ञानः** प्रादुर्भवन्, स्वदर्शनं प्रयच्छन् । [जनी प्रादुर्भावे दिवादिः, लिटः कानच्।] त्वम् **इह** उपासनायज्ञे विद्यायज्ञे राष्ट्रयज्ञे वा **देवान्** दिव्यगुणान् विदुषः राष्ट्रसेवकान् वा **आ वह** जनय। त्वम् **होता** सुखसम्पद्विद्यासद्वृत्तादीनां दाता, **नः** अस्माकम् **ईड्यः** स्तुत्यश्च **असि** विद्यसे ।।३।।[2]

भावार्थः—यथा जगदीश्वर उपासनायज्ञे स्तोतॄणां हृदये दिव्यगुणान् जनयति तथैवाचार्यो विद्यायज्ञे विद्वज्जनान् राजा च राष्ट्रयज्ञे राष्ट्रसेवकान् जनयेत् ।।३।।

अगले मन्त्र में परमात्मा, आचार्य और राजा को सम्बोधन है।

पदार्थ—हे **अग्ने** अग्रनायक तेजस्वी परमात्मन्, आचार्य और राजन् ! **वृक्तबर्हिषे** उपासना-यज्ञ, विद्या-यज्ञ और राष्ट्रसेवा-यज्ञ के हेतु जिसने आसन बिछा लिया है ऐसे मनुष्य के लिए **जज्ञानः** प्रकट होते हुए अर्थात् अपने दर्शन देते हुए आप **इह** इस उपासना-यज्ञ, विद्या-यज्ञ और राष्ट्र-यज्ञ में **देवान्** दिव्यगुणों को, विद्वानों को और राष्ट्रसेवकों को **आवह** उत्पन्न कीजिए । आप **होता** सुख, संपत्ति, विद्या, सदाचार आदि के दाता, और **नः** हमारे **ईड्यः** स्तुति-योग्य **असि** हो ।।३।।

भावार्थ—जैसे जगदीश्वर उपासना-यज्ञ में स्तोताओं के हृदय में दिव्यगुण उत्पन्न करता है, वैसे ही आचार्य विद्या-यज्ञ में विद्वान् जनों को तथा राजा राष्ट्र-यज्ञ में राष्ट्र-सेवकों को उत्पन्न करे ।।३।।

।।७।। अथ 'मित्रं वयं' इत्यादिकस्य सप्तमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मेधातिथिः काण्वः । **देवते** मित्रावरुणौ । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

अथ प्राणोदानब्रह्मक्षत्रविषयमाह ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
७९३. मित्रं वयं हवामहे वरुणं सोमपीतये। या जाता पूतदक्षसा ।।१।।[3]

३२ ३ २ ३२ ३ १२र १२र १२र ३ २ ३ २
मित्रम् मि त्रम् वयम् हवामहे। वरुणम् सोमपीतये सोम पीतये। या जाता

३ १ २ ३ २ ३
पूतदक्षसा पूत दक्षसा ।।१।।

---

१. ऋ० १।१२।३।

२. दयानन्दर्षिर्ऋग्भाष्ये मन्त्रमिममीश्वरविषये भौतिकाग्निविषये च व्याख्यातवान् ।

३. ऋ० १।२३।४ 'जज्ञाना पूतदक्षसा' इति पाठः ।

पदार्थः—वयम् जनाः **सोमपीतये** यशोरक्षणाय । [यशो वै सोमः श० ४।२।४।९।] **मित्रम्** बहिरभ्यन्तरस्थं जीवनहेतुं प्राणं, ब्रह्मबलं वा, **वरुणम्** ऊर्ध्वगमनबलहेतुम् उदानं, क्षत्रबलं वा । [प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ श० १।८।३।१२, ब्रह्मैव मित्रः । श० ४।१।४।१, क्षत्रं वै वरुणः । श० २।५।२।६।] **हवामहे** आह्वयामः, गृह्णीमः, **या** यौ **पूतदक्षसा** पूतदक्षसौ पवित्रबलौ, बलस्य पवित्रकर्तारौ वा **जाता** जातौ स्तः । [सर्वत्र, 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति विभक्तेराकारादेशः।] ॥१॥[1]

भावार्थः—शरीरे प्राणनक्रियाहेतुं प्राणम् ऊर्ध्वगमनहेतुमुदानं च संवर्द्धर्य, राष्ट्रे च **ब्रह्मबलं क्षत्रबलं** च संवर्द्धर्य शरीरस्य राष्ट्रस्य च स्वास्थ्यं सर्वे जना उन्नयन्तु ॥१॥

अगले मन्त्र में प्राण-उदान तथा ब्रह्म-क्षत्र विषयों का वर्णन है।

पदार्थ—वयम् हम लोग **सोमपीतये** यश की रक्षा के लिए **मित्रम्** बाहर और अन्दर स्थित जीवन-हेतु प्राण को अथवा ब्रह्म-बल को, **वरुणम्** ऊर्ध्वगति तथा बल के हेतु उदान को अथवा क्षत्र-बल को **हवामहे** पुकारते हैं, ग्रहण करते हैं, **या** जो **पूतदक्षसा** पवित्र बल वाले अथवा बल को पवित्र करने वाले **जाता** हुए हैं॥१॥

भावार्थ—सब लोगों को चाहिए कि शरीर में प्राणनक्रिया के हेतु प्राण को और ऊर्ध्वगति के हेतु उदान को तथा राष्ट्र में ब्रह्म-बल और क्षत्र-बल को बढ़ाकर शरीर तथा राष्ट्र के स्वास्थ्य को उन्नत करें ॥१॥

अथ पुनस्स एव विषयो वर्ण्यते ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १र २र
७९४. ऋतेन यावृतावृधावृतस्य ज्योतिषस्पती । ता मित्रावरुणा हुवे ॥२॥[2]

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ १ २र ३र१ २
ऋतेन यौ ऋतावृधौ ऋत वृधौ । ऋतस्य ज्योतिषः पतीइति ।

३ २ ३ २ १२र ३
ता मित्रा मि त्रा वरुणा हुवे ॥२॥

पदार्थः—प्रथमः प्राणोदानपक्षे । **यौ ऋतेन** प्राणनोदाननरूपेण सत्यव्यापारेण **ऋतावृधौ** ऋतयोः सत्यक्रियायुक्तयोः मनोमयविज्ञानमयकोशयोः वर्द्धकौ, **ऋतस्य** ऋतम्भरायाः प्रज्ञायाः **ज्योतिषः** ज्योतिष्मत्याः वृत्तेश्च **पती** रक्षकौ रतः **ता** तौ **मित्रावरुणा** मित्रावरुणौ प्राणोदानौ, अहम् **हुवे** आह्वयामि, स्वस्थरूपेण शरीरे प्रवर्तयामि ॥

द्वितीयः ब्रह्मक्षत्रपक्षे । **यौ ऋतेन** सत्येन ज्ञानेन सत्येन क्षात्रबलेन च **ऋतावृधौ** सत्यस्य राष्ट्रस्य वर्धकौ, **ऋतस्य ज्योतिषः** सत्यरूपस्य प्रकाशस्य **पती** रक्षकौ स्तः, **ता** तौ **मित्रावरुणा** मित्रावरुणौ ब्राह्मणक्षत्रियौ, अहम् **हुवे** आह्वयामि ॥२॥[3]

भावार्थः—यथा प्राणोदानाभ्यां देहस्य स्वास्थ्यं तथा ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां राष्ट्रस्य स्वास्थ्यं चिरस्थायि जायते॥२॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं प्राणोदानपक्षे व्याचष्टे ।

२. ऋ० १।२३।५।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सूर्यवायुपक्षे व्याचष्टे ।

अगले मन्त्र में पुनः वही विषय वर्णित है।

पदार्थ—**प्रथम** प्राण-उदान के पक्ष में। **यौ** जो **ऋतेन** प्राण-क्रिया एवं उदान-क्रिया रूप सत्य व्यापार से **ऋतावृधौ** सत्यक्रियायुक्त मनोमय एवं विज्ञानमय कोशों को बढ़ाने वाले, **ऋतस्य** ऋतम्भरा प्रज्ञा, एवं **ज्योतिषः** ज्योतिष्मती वृत्ति के **पती** रक्षक हैं, **ता** उन **मित्रावरुणा** प्राण-उदान को, मैं **हुवे** पुकारता हूं, स्वस्थरूप से शरीर में प्रवृत्त करता हूं॥

द्वितीय ब्रह्म-क्षत्र के पक्ष में। **यौ** जो **ऋतेन** सत्य ज्ञान और सत्य क्षात्र-बल से **ऋतावृधौ** सत्यमय राष्ट्र को बढ़ाने वाले, और **ऋतस्य ज्योतिषः** सत्यरूप ज्योति के **पती** रक्षक हैं, **ता** उन **मित्रावरुणा** ब्राह्मण और क्षत्रियों को, मैं **हुवे** पुकारता हूं॥२॥

भावार्थ—जैसे प्राण और उदान से शरीर का स्वास्थ्य, वैसे ही ब्राह्मण और क्षत्रियों से राष्ट्र का स्वास्थ्य चिरस्थायी होता है॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह।

७९५. वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः। करतां नः सुराधसः॥३॥[1]

वरुणः प्राविता प्र अविता भुवत्। मित्रः मि त्रः विश्वाभिः ऊतिभिः। करताम् नः सुराधसः सु राधसः॥३॥

पदार्थः—**वरुणः** शरीरे उदानः, राष्ट्रे क्षत्रियश्च **मित्रः** शरीरे प्राणः, राष्ट्रे ब्राह्मणश्च **विश्वाभिः** सर्वाभिः **ऊतिभिः** रक्षाभिः **प्राविता** अस्माकं प्रकर्षेण रक्षिता **भुवत्** भवतु। अपि च **नः** अस्मान् **सुराधसः**[2] सुधनान् सुसिद्धिमतश्च। [राधस् इति धननाम। निघं० २।१०। राध संसिद्धौ।] **करताम्** कुरुताम्। [डुकृञ् करणे, व्यत्ययेन शप्] ॥३॥[3]

भावार्थः—प्राणोदानाभ्यां देहे स्वास्थ्यरूपं योगसिद्धिरूपं च धनं, ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां च राष्ट्रे विद्याचक्रवर्तिराज्यादिरूपं धनं सर्वे प्राप्नुवन्तु॥३॥

अगले मन्त्र में भी वही विषय है।

पदार्थ—**वरुणः** शरीर में उदान और राष्ट्र में क्षत्रिय, **मित्रः** शरीर में प्राण और राष्ट्र में ब्राह्मण **विश्वाभिः** सब **ऊतिभिः** रक्षाओं से **प्राविता** हमारे प्रकृष्ट रूप से रक्षक **भुवत्** होवें। साथ ही **नः** हमें **सुराधसः** उत्तम धन से युक्त तथा उत्तम सिद्धि वाला **करताम्** करें॥३॥

भावार्थः—प्राण-उदान द्वारा शरीर में स्वास्थ्यरूप तथा योगसिद्धिरूप धन को और ब्राह्मण-क्षत्रिय द्वारा राष्ट्र में विद्या, चक्रवर्ती राज्य आदि धन को सब प्राप्त करें॥३॥

---

१. ऋ० १।२३।६।

२. सुराधसः शोभनानि विद्याचक्रवर्तिराज्यसंबन्धीनि राधांसि धनानि येषां तान्-इति ऋ० १।२३।६ भाष्ये द०।

३. एतमपि मन्त्रमृग्भाष्ये दयानन्दर्षिः सूर्यवायुपक्षे व्याचष्टे।

॥८॥ अथ 'इन्द्रमिद् गाथिनो' इत्यादिकस्याष्टमस्य चतुर्ऋचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १९८ क्रमाङ्के परमात्मपक्षे व्याख्याता। अत्र जीवात्मविषय उच्यते।

२ ३ २ ३ १ २ ३१र २र३ १ २३ १ २ २ ३ १ २
७९६. **इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत ॥१॥**[1]

१ २र ३ १ २ ३ २ १ २र ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रम् इत् गाथिनः बृहत्। इन्द्रम् अर्केभिः अर्किणः।
१ २र १ २र ३
इन्द्रम् वाणीः अनूषत ॥१॥

पदार्थः— (**इन्द्रम्**) देहाधिष्ठातारं कामक्रोधादिशत्रुविद्रावकं वीरं जीवात्मानम् **इत्** किल **गाथिनः** गाथो गानं येषामस्तीति ते गाथिनः गायकाः **बृहत्** महत् **अनूषत** स्तुवन्ति। **इन्द्रम्** जीवात्मानम् **अर्किणः** मन्त्रपाठिनः **अर्कैः** वेदमन्त्रैः **अनूषत** स्तुवन्ति। **इन्द्रम्** तमेव जीवात्मानम् **वाणीः** इतराः वाचः **अनूषत** स्तुवन्ति॥१॥[2]

भावार्थः— जीवात्मैव देहराज्यस्य सम्राड् विद्यते, यो मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियाणि यथास्थानं सन्निधाय देहराज्यं सञ्चालयति ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में १९८ क्रमांक पर परमात्मा के पक्ष में व्याख्यात की जा चुकी है। यहां जीवात्मा का विषय कहा जा रहा है।

पदार्थ— इन्द्रम् देह के अधिष्ठाता, काम-क्रोध आदि शत्रुओं को पराजित करने वाले वीर जीवात्मा की **इत्** निश्चय ही **गाथिनः** गायक लोग **बृहत्** बहुत अधिक **अनूषत** स्तुति करते हैं। **इन्द्रम्** जीवात्मा की **अर्किणः** मन्त्रपाठी लोग **अर्कैः** वेदमन्त्रों से **अनूषत** स्तुति करते हैं। **इन्द्रम्** उसी जीवात्मा की **वाणीः** अन्य वाणियां **अनूषत** स्तुति करती हैं॥१॥

भावार्थ— जीवात्मा ही देहराज्य का सम्राट् है, जो मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय आदियों को यथास्थान बैठाकर देहराज्य का संचालन करता है ॥१॥

द्वितीया ऋक् पूर्वार्चिके ५९७ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता। अत्र जीवात्मविषय उच्यते।

२ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २ १ २ ३ १ २३ १ २
७९७. **इन्द्र इद्धर्योः सचा सम्मिश्ल आ वचोयुजा। इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥२॥**[3]

१ २र १ २र १ २र १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
इन्द्रः इत् हर्योः सचा। सम्मिश्लः सम् मिश्लः आ वचोयुजा वचः युजा।
१ २र ३ २ ३ १ २
इन्द्रः वज्री हिरण्ययः ॥२॥

पदार्थः— इन्द्रः इत् देहाधिष्ठाता जीवात्मैव **वचोयुजा** वचोयुजोः वचनसमकालमेव युज्यमानयोः **हर्योः** ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपयोः अश्वयोः **सचा** सह, युगपत् **आ सम्मिश्लः** आ सम्मिश्रः, ज्ञानकर्मसु नियोक्ता विद्यते।

---

१. ऋ० १।७।१, साम० १९८।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रेऽस्मिन् प्रथमेन इन्द्रशब्देन परमेश्वरं, द्वितीयेन सूर्यम्, तृतीयेन च महाबलवन्तं वायुं गृह्णाति।
३. ऋ० १।७।२, साम० ५९७, अथ० २०।३८।५, ४७।५, ७०।८।

इन्द्रः स जीवात्मा **वज्री** वाग्वज्रधरः । [वाग्घि वज्रः । ऐ० ब्रा० ४।१ ।] **हिरण्ययः** प्राणमयो ज्योतिर्मयो यशोमयो वा विद्यते । [प्राणो वै हिरण्यम् । श० ७।५।२।८। ज्योतिर्वै हिरण्यम् । तां० ब्रा० ६।६।१०, यशो वै हिरण्यम् । ऐ० ब्रा० ७।१८] ॥२॥[1]

भावार्थः— यस्य जीवात्मनः प्रेरणया ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च स्वस्वव्यापारेषु नियुज्यन्ते, यो जीवात्मा वाग्वज्रेण कुतार्किकाणां कुतर्कान् खण्डयति, यः प्राणाधिष्ठाता तेजस्वी यशस्वी चास्ति तमुद्बोध्य सर्वे समीहितानि साध्नुवन्तु ॥२॥

द्वितीय ऋचा पूर्वार्चिक में ५९७ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां जीवात्मा का विषय कहते हैं ।

पदार्थ— **इन्द्रः इत्** देह का अधिष्ठाता जीवात्मा ही **वचोयुजा** कहते ही जुड़ जाने वाले **हर्योः** ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय रूप घोड़ों का **सचा** एक साथ **आ सम्मिश्लः** ज्ञान और कर्मों में जोड़ने वाला है । **इन्द्रः** वह जीवात्मा **वज्री** वाणी रूप वज्र का धारण करने वाला और **हिरण्ययः** प्राणमय, ज्योतिर्मय, तथा कीर्तिमय है॥२॥

भावार्थ —जिस जीवात्मा की प्रेरणा से ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां अपने-अपने व्यापारों में नियुक्त होती हैं, जो जीवात्मा वाणीरूप वज्र से कुतार्किकों के कुतर्कों का खण्डन करता है, जो प्राणों का अधिष्ठाता, तेजस्वी और यशस्वी है, उसे उद्बोधन देकर सब लोग अपने अभीष्टों को सिद्ध करें ॥२॥

तृतीया ऋक् पूर्वार्चिके ५९८ क्रमाङ्के परमेश्वरपक्षे नृपतिपक्षे च व्याख्याता । अत्र जीवात्मविषय उच्यते ।

२ ३ १ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
७९८. इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च । उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥३॥[2]

१ २र १ २र ३ १ २ ३१२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्र वाजेषु नः अव । सहस्रप्रधनेषु सहस्र प्रधनेषु च । उग्रः उग्राभिः ऊतिभिः ॥३॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** शरीराधिष्ठातः जीवात्मन् ! **उग्रः** वीरः त्वम् **वाजेषु** संग्रामेषु । [वाज इति संग्रामनाम निघं० २।१७।] **सहस्रप्रधनेषु च** सहस्राण्यसंख्यातानि प्रकृष्टानि धनानि प्राप्नुवन्ति येषु तेषु चक्रवर्तिराज्यसाधकेषु महायुद्धेषु च[3] **उग्राभिः** अत्यन्तोत्कृष्टाभिः **ऊतिभिः** रक्षाभिः **नः** अस्मान् **अव** रक्ष ॥३॥[4]

भावार्थः— मनुष्यस्यात्मा चेद् बलवानस्ति तदा तं न कोऽपि पराजेतुं समर्थः ॥३॥

तृतीय ऋचा की पूर्वार्चिक में ५९८ क्रमांक पर परमेश्वर और राजा के पक्ष में व्याख्या की गयी थी । यहां जीवात्मा का विषय कहते हैं ।

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं वायुसूर्यपक्षे व्याचष्टे ।

२. ऋ० १।७।४, साम० ५९८, अथ० २०।७०।१०।

३. अयमर्थो दयानन्दस्वामिन ऋग्भाष्यादुद्धृतः ।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रेऽस्मिन्निन्द्रशब्देनेश्वरो गृहीतः ।

पदार्थ– हे **इन्द्र** शरीर के अधिष्ठाता जीवात्मन् ! **उग्रः** वीर तू **वाजेषु** संग्रामों में **सहस्रप्रधनेषु च** तथा सहस्रों प्रकृष्ट धन जिनमें प्राप्त होते हैं ऐसे चक्रवर्ती-राज्य-साधक महायुद्धों में **उग्राभिः** अत्यन्त उत्कृष्ट **ऊतिभिः** रक्षाओं से **नः** हमारी **रक्ष** रक्षा कर ।।३।।

भावार्थ– मनुष्य का आत्मा यदि बलवान् है तो उसे कोई भी पराजित नहीं कर सकता ।।३।।

अथ जीवात्मनोऽप्यधिष्ठातुर्जगदीश्वरस्य महिमानमाह ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ २उ ३ १ २
७९९. **इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि । वि गोभिरद्रिमैरयत् ।।४।।**[1]

१ २र ३ १ २ १ २र १ २र ३ २
इन्द्रः दीर्घाय चक्षसे । आ सूर्यम् रोहयत् दिवि ।

१ २र १ २र ३
वि गोभिः अद्रिम् अ द्रिम् ऐरयत् ।।४।।

पदार्थः– **इन्द्रः** सकलजगदुत्पादकः परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः **दीर्घाय** विपुलाय **चक्षसे** प्रकाशाय **दिवि** द्युलोके **सूर्यम्** आदित्यम् **आ रोहयत्** आरूढं कृतवान् । स एव **गोभिः** सूर्यरश्मिभिः ।[गावः इति रश्मिनाम। निघं० १।५ ।] **अद्रिम्** मेघम् [अद्रिरिति मेघनाम । निघं० १।१० ।] **वि ऐरयत्** विकम्पयति, वर्षति । [वि पूर्वः ईर गतौ कम्पने च अदादिः, ण्यन्तः] ।।४।।[2]

भावार्थः– जगदीश्वरस्यैवायं महिमा यत् स सूर्यं विरच्य तद्द्वारा वस्तुप्रकाशनमहोरात्रपक्षमासऋत्वयनसंवत्सरचक्रचालनं मेघनिर्माणं वृष्टिं प्राणप्रदानादिकं च कार्यं करोति।।४।।

अगले मन्त्र में जीवात्मा के भी अधिष्ठाता जगदीश्वर की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ– **इन्द्रः** सारे संसार को उत्पन्न करने वाले परमैश्वर्यशाली जगदीश्वर ने **दीर्घाय** दीर्घ **चक्षसे** प्रकाश के लिए **दिवि** द्युलोक में **सूर्यम्** सूर्य को **आरोहयत्** चढ़ाया हुआ है । वही **गोभिः** सूर्य-किरणों से **अद्रिम्** बादल को **वि ऐरयत्** विकंपित करता है, बरसाता है ।।४।।

भावार्थ– जगदीश्वर की ही यह महिमा है कि वह सूर्य को रच कर उसके द्वारा पदार्थों को प्रकाशित करता, दिन-रात-पक्ष-मास-ऋतु-अयन-वर्ष के चक्र को चलाता, बादल बनाता, वर्षा करता और प्राण-प्रदान आदि कार्य करता है ।।४।।

।।९।। अथ 'इन्द्रे अग्ना' इत्यादिकस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवते** इन्द्राग्नी । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रेन्द्राग्निनाम्ना जीवात्मपरमात्मविषयमाह ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र १र ३ १र २र ३ १ २
८००. **इन्द्रे अग्ना नमो बृहत् सुवृक्तिमेरयामहे । धिया धेना अवस्यवः ।।१।।**[3]

१ २र ३ २ १ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३
इन्द्रे अग्ना नमः बृहत् । सुवृक्तिम् सु वृक्तिम् आ ईरयामहे ।

२ १ २र ३ १ २
धिया धेनाः अवस्यवः ।।१।।

---

१. ऋ० १।७।३ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरपि मन्त्रमिममीश्वरविषये व्याख्यातवान् ।

३. ऋ० ७।९४।४।

पदार्थः— **अवस्यवः** रक्षणेच्छवः वयम् **इन्द्रे** जीवात्मानमधिकृत्य **अग्ना** परमात्मानमधिकृत्य च **बृहत्** महत् **नमः** नमस्कारम्, **सुवृक्तिम्** निर्दोषां क्रियाम् । [सुष्ठु वृक्तयो दोषवर्जनानि यस्यां तां क्रियाम्[1] । वृजी वर्जने] **धिया** ध्यानेन बुद्धया च सह **धेनाः** स्तुतिरूपा वाचश्च । [धेना इति वाङ्नाम । निघं० १।११।] **आ ईरयामहे** प्रेरयामः।।१।।

भावार्थः— परमात्मानमुपासितुं जीवात्ममुद्बोधयितुं च नमस्कारो गुणवर्णनरूपा स्तुतिः तदनुरूपा क्रिया च सततमपेक्ष्यते । पुरुषार्थं विना केवलं नमस्कारेण स्तुत्या वा न किमपि सिद्धयति ।।१।।

प्रथम मन्त्र में इन्द्र और अग्नि के नाम से जीवात्मा-परमात्मा का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— **अवस्वयवः** रक्षा के इच्छुक, हम लोग **इन्द्रे** जीवात्मा को लक्ष्य करके **बृहत्** महान् **नमः** नमस्कार को, **सुवृक्तिम्** निर्दोष क्रिया को और **धिया** ध्यान तथा बुद्धि के साथ **धेनाः** स्तुतिरूप वाणियों को **आ ईरयामहे** प्रेरित करते हैं।।१।।

भावार्थ— परमात्मा की उपासना के लिए और जीवात्मा को उद्बोधन देने के लिए नमस्कार, गुणवर्णनरूप स्तुति और तदनुरूप क्रिया निरन्तर अपेक्षित होती है । पुरुषार्थ के बिना केवल नमस्कार से या स्तुति से कुछ भी नहीं सिद्ध होता।।१।।

पुनरपि स एव विषय उच्यते ।

८०१. ता हि शश्वन्त ईडत इत्था विप्रास ऊतये। सबाधो वाजसातये ।।२।।[2]

ता हि शश्वन्तः इडते । इत्था विप्रासः वि प्रासः ऊतये।

सबाधः स बाधः वाजसातये वाज सातये ।।२।

पदार्थः— **ता हि** तौ खलु इन्द्राग्नी जीवात्मपरमात्मानौ **इत्था** सत्यभावेन । [इत्था इति सत्यनाम । निघं० ३।१०] **शश्वन्तः** बहवः। [शश्वत् इति बहुनाम । निघं० ३।१] **सबाधः** बाधाभिः पीडिताः **विप्रासः** विप्रजनाः **ऊतये** रक्षायै **वाजसातये** बलप्राप्तये च **ईडते** स्तुवन्ति, तद्गुणकर्मस्वभावान् कीर्तयन्तीत्यर्थः ।।२।।

भावार्थः— संसारदुःखदलनाय विपत्सु रक्षाप्राप्तये बलप्राप्तये च जगदीश्वर उपासनीयो जीवात्मा चोद्बोधनीयः ।।२।।

अगले मन्त्र में फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— **ता हि** उन दोनों इन्द्र और अग्नि अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की **इत्था** सत्यभाव से **शश्वन्तः** बहुत से, **सबाधः** बाधाओं से पीड़ित **विप्रासः** विप्र जन **ऊतये** रक्षा के लिए, और **वाजसातये** बलप्राप्ति के लिए **ईडते** स्तुति करते हैं, अर्थात् उनके गुण-कर्म-स्वभावों का वर्णन करते हैं।।२।।

---

१. सुवृक्तिभिः सुष्ठु वृक्तयो दोषवर्जनानि याभ्यस्ताभिः क्रियाभिः-इति ऋ० १।६२।१ भाष्ये द० ।

२. ऋ० ७।९४।५।

भावार्थ– सांसारिक दुःखों को दूर करने के लिए तथा विपत्तियों में रक्षा की प्राप्ति और बल की प्राप्ति के लिए जगदीश्वर की उपासना करनी चाहिए और जीवात्मा को उद्बोधन देना चाहिए ।।२।।

अथ जीवात्मपरमात्मानौ आह्वयति ।

८०२. ता वां गीर्भिर्विपन्युवः प्रयस्वन्तो हवामहे । मेधसाता सनिष्यवः ।।३।।[1]

ता वाम् गीर्भिः विपन्युवः । प्रयस्वन्तः हवामहे । मेधसाता मेध साता सनिष्यवः।।३।।

पदार्थः– **ता** तौ **वाम्** इन्द्राग्नी जीवात्मपरमात्मानौ युवाम् **विपन्युवः** विशिष्टस्तुतिमन्तः । [विपूर्वात् पण व्यवहारे स्तुतौ च इत्यतो बाहुलकादौणादिको युच् प्रत्ययः । जसि छान्दसः उवङादेश ः।] **प्रयस्वन्तः**[2] प्रयासवन्तः पुरुषार्थिनः । [प्रयः प्रयासः तद्वन्तः, प्रपूर्वाद् यसु प्रयत्ने इत्यतः क्विप् ।] **सनिष्यवः** संभजनकामाः श्रद्धालवो वयम्। [षण सम्भक्तौ, सनिशब्दात् आत्मन इच्छायामर्थे क्यचि लालसायां सुक्, तत उः ।] **मेधसाता** मेधसातौ संगमप्राप्ति-निमित्ताय । [मेधः संगमः, मेधृ हिंसायां संगमे च, तस्य सातिः प्राप्तिः, तन्निमित्ताय, निमित्तसप्तम्येषा । 'सुपां सुलुक्० । अ० ७।१।३९ इति विभक्तेर्डादेशः।] **गीर्भिः** वेदवाग्भिः **हवामहे** आह्वयामः ।।३।।

भावार्थः– परमात्मानं जीवात्मानं चानुकूलयितुं वाचा स्तुतिः, कायेन प्रयासः, मनसा श्रद्धा च त्रय-मप्यपेक्ष्यते ।।३।।

अस्मिन् खण्डे विविधानामग्नीनाम् आचार्यनृपत्योः प्राणोदानयोः ब्रह्मक्षत्रयोः जीवात्मपरमात्मनोश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन सह संगतिर्वेद्या ।।

अगले मन्त्र में जीवात्मा और परमात्मा का आह्वान किया गया है ।

पदार्थ– **ता** उन **वाम्** तुम दोनों जीवात्मा और परमात्मा को **विपन्यवः** विशेष स्तुति से युक्त, **प्रयस्वन्तः** पुरुषार्थ से युक्त, **सनिष्यन्तः** पाने के इच्छुक हम श्रद्धालु लोग **मेधसाता** संगम की प्राप्ति के निमित्त **गीर्भिः** वेदवाणियों से **हवामहे** पुकारते हैं ।।३।।

भावार्थ– परमात्मा और जीवात्मा को अनुकूल करने के लिए वाणी से स्तुति, शरीर से प्रयत्न और मन से श्रद्धा तीनों अपेक्षित होते हैं।।३।।

इस खण्ड में विविध अग्नियों का, आचार्य और राजा का, प्राण-अपान का, ब्रह्म-क्षत्र का और जीवात्मा-परमात्मा का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ।।

तृतीय अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त

।।१०।। अथ 'वृषा पवस्व' इत्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा। **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

---

१. ऋ० ७।९४।६।

२. प्रयस्वन्तः हविर्लक्षणेन अन्नेनोपेताः – इति सा० । प्रकर्षेण यजमानगृहान् प्रति गच्छन्तः– इति वि० ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४६९ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्राचार्यविषयः प्रदर्श्यते ।

८०३. वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः । विश्वा दधान ओजसा ॥१॥[1]

वृषा पवस्व धारया । मरुत्वते च मत्सरः । विश्वा दधानः ओजसा ॥१॥

पदार्थः— हे पवमान सोम पावित्र्यसम्पादक आचार्य ! **वृषा** विद्यावर्षकः त्वम् **धारया** ज्ञानधारया **पवस्व** शिष्यान् पुनीहि । **मरुत्वते** प्राणायामाभ्यासिने शिष्याय **मत्सरः** ब्रह्मानन्दस्रावको भवेति शेषः । किञ्च, **ओजसा** विद्याबलेन सदाचारबलेन ब्रह्मचर्यबलेन च **विश्वा** विश्वान् शिष्यान् । [अत्र 'सुपां सुलुक् ०' । अ० ७।१।३९ इति शसः आकारादेशः।] **दधानः** धारयन् पुष्णंश्च भवेति शेषः ॥१॥

भावार्थः— स एवाचार्यो यः शिष्यान् विद्याधाराभिः स्नपयन् तान् पितृवत् पालयन् पण्डित-प्रकाण्डांस्तेजस्विनो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मानन्दमग्नान् सदाचारिणश्च कुर्यात् ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ४६९ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्या दी गयी थी । यहां आचार्य का विषय प्रदर्शित किया जा रहा है ।

पदार्थ— हे पवमान सोम अर्थात् पवित्र करने वाले आचार्य ! **वृषा** विद्या के वर्षक आप **धारया** ज्ञान-धारा से **पवस्व** शिष्यों को पवित्र कीजिए । **मरुत्वते** प्राणायाम का अभ्यास करने वाले शिष्य के लिए **मत्सरः** ब्रह्मानन्द के स्रावक होइए। साथ ही **ओजसा** विद्या-बल, सदाचार-बल और ब्रह्मचर्य-बल से **विश्वा** सब शिष्यों को **दधानः** धारण कीजिए ॥१॥

भावार्थ— वही आचार्य होता है जो शिष्यों को विद्या की धाराओं से स्नान कराता हुआ, उनका पिता के समान पालन करता हुआ उन्हें महान् पण्डित, तेजस्वी, ब्रह्मचारी, ब्रह्मानन्द में मग्न तथा सदाचारी बनाये॥१॥

एवं ब्रह्मविद्यायामाचार्यस्य योगदानमुक्त्वा सम्प्रति परमात्मविषयमाह ।

८०४. तं त्वा धर्त्तारमोण्यो३: पवमान स्वर्दृशम् । हिन्वे वाजेषु वाजिनम् ॥२॥[2]

तम् त्वा धर्त्तारम् ओण्योः । पवमान स्वर्दृशम् स्वः दृशम् ।

हिन्वे वाजेषु वाजिनम् ॥२॥

पदार्थः— हे **पवमान** पवित्रकर्तः सर्वान्तर्यामिन् जगदीश्वर ! **ओण्योः** द्यावापृथिव्योः। [ओण्यौ इति द्यावा-पृथिव्योर्नाम । निघं० ३।३० ।] **धर्तारम्** धारकम्, **स्वर्दृशम्** सूर्यस्य मोक्षानन्दस्य वा दर्शकम्, **वाजिनम्** बलवन्तम् **तं त्वा** तादृशं प्रसिद्धं त्वाम्, अहम् **वाजेषु** बलेषु निमित्तेषु **हिन्वे** प्रीणयामि । [हिवि प्रीणनार्थो भ्वादिः, आत्मनेपदं छान्दसम्] ॥२॥

भावार्थः— यो जगदीश्वरो द्यावापृथिव्यादिकस्य धर्ताऽस्तिस विपत्सु बलप्रदानेन स्वोपासकानपि कुतो न धारयेत् ॥२॥

इस प्रकार ब्रह्मविद्या में आचार्य का योगदान कहकर अब परमात्मा का विषय वर्णित करते हैं ।

---

१. ऋ० ९।६५।१०, साम० ४६९।

२. ऋ० ९।६५।११ ।

पदार्थ– हे **पवमान** पवित्रकर्त्ता, सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर ! **ओण्योः** द्युलोक और भूलोक को **धर्तारम्** धारण करने वाले, **स्वर्दृशम्** सूर्य वा मोक्षानन्द का दर्शन कराने वाले, **वाजिनम्** बलवान् **तं त्वा** उस प्रसिद्ध तुझको, मैं **वाजेषु** बलों के निमित्त से **हिन्वे** प्रसन्न करता हूं।।२।।

भावार्थ– जो जगदीश्वर सूर्य, भूमि आदि को धारण करता है वह विपत्तियों में बल-प्रदान द्वारा अपने उपासकों को भी क्यों न धारण करेगा ।।२।।

अथ पुनः परमात्मविषयमाह ।

३ २ ३ २ ३ २ऽ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
८०५. अया चित्तो विपानया हरिः पवस्व धारया । युजं वाजेषु चोदय ।।३।।[1]
३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २र ३ १२र १ २र १ २र ३
अया चित्तः विपा अनया । हरिः पवस्व धारया । युजम् वाजेषु चोदय ।।३।।

पदार्थः– हे पवमान सोम ! हे पवित्रकर्त्तः परमात्मन् ! **विपा** मेधाविना मया । [विप इति मेधाविनामसु पठितम् । निघं० ३।१५ ।] **चित्तः** विज्ञातः, **हरिः** दुःखानां पापानां च हर्ता त्वम् **अया** अयया सवेगया । [अय गतौ, पचाद्यच् । स्त्रियाम् अया । ततस्तृतीयैकवचने 'सुपां सुलुक्०'। अ० ७।१।३९ इति विभक्तेराकारादेशः] **अनया** एतया पाविकया **धारया** आनन्दधारया **पवस्व** स्तोतारं मां पुनीहि । **युजम्** सखायं माम् **वाजेषु** जीवनसंग्रामेषु **चोदय** विजयाय प्रेरय ।।३।।

भावार्थः– स्तुतः परमात्मा स्तोतॄनानन्दधारया संसिच्य बलं प्रदाय देवासुरसंग्रामेषु विजयिनं कुरुते।।३।।

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा का विषय है ।

पदार्थ– हे पवमान सोम ! हे पवित्रकर्त्ता परमात्मन् ! **विपा** मुझ मेधावी के द्वारा **चित्तः** जाने हुए **हरिः** दुःखों एवं पापों के हर्ता आप **अया** वेगवती **अनया** इस **धारया** आनन्द-धारा से **पवस्व** मुझ स्तोता को पवित्र कीजिए । **युजम्** अपने सखा मुझको **वाजेषु** जीवनसंग्रामों में **चोदय** विजय के लिए प्रेरित कीजिए ।।३।।

भावार्थः– स्तुति किया गया परमात्मा स्तोताओं को आनन्द-धाराओं से सींचकर, बल देकर देवासुरसंग्रामों में विजयी करता है ।।३।।

।।११।। अथ 'वृषा शोणो' इत्यादिकस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** उपमन्युर्वासिष्ठः । **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ।।

तत्रादौ परमात्मैव मेघान् गर्जयतीत्याह ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
८०६. वृषा शोणो अभिकनिक्रदद् गा नदयन्नेषि पृथिवीमुत द्याम् ।
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
इन्द्रस्येव वग्नुरा शृण्व आजौ प्रचोदयन्नर्षसि वाचमेमाम् ।।१।।[2]
१ २र १ २र ३ १ २ ३ २ १ २र
वृषा शोणः अभिकनिक्रदत् अभि कनिक्रदत् गाः ।
३ १ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ २ ३ २
नदयन् एषि पृथिवीम् उत द्याम् । इन्द्रस्य इव वग्नुः आ शृण्वे आजौ ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २
प्रचोदयन् प्र चोदयन् अर्षसि वाचम् आ इमाम् ।।१।।

---

१. ऋ० ९।६५।१२ ।
२. ऋ० ९।९७।१३, 'नदयन्नेति' 'प्रचेतयन्नर्षति' इति भेदः ।

पदार्थः— हे सोम परमात्मन् ! **वृषा** वर्षकः, **शोणः** क्रियाशीलः त्वम् [शोणृ वर्णगत्योः, भ्वादिः।] **गाः** स्तनयित्नुवाचः **अभिकनिक्रदत्** अभिक्रन्दयन्, तेन च **पृथिवीम्** भूमिम् **उत** अपि च **द्याम्** आकाशम् **नदयन्** शब्दापयन् **एषि** व्यवहरसि । **आजौ** युद्धे **इन्द्रस्य इव** सेनापतेः इव **वग्नुः** दुन्दुभ्यादिनादः । [वग्नुः वाङ्नाम । निघं० १।११ ।] **आशृण्वे** आश्रूयते । त्वमेव **इमाम्** एताम् **वाचम्** मनुष्यैरुदीर्यमाणां व्यक्तां वाणीम् **प्रचोदयन्** प्रेरयन् **आ अर्षसि** आगच्छसि ॥१॥

अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥१॥

भावार्थ— जलवाष्पाणामुपरिगमनं, मेघघटानां निर्माणं, विद्युच्चाकचक्यं, मेघगर्जनमित्यादि सर्वमपि कार्यं सूर्यपवनादिमाध्यमेन परमेश्वर एव करोति, नास्य सम्पादनेऽस्मादृशां सामर्थ्यमस्ति । स एव मनुष्यान् व्यक्तवाचः करोति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में यह वर्णन है कि परमात्मा ही मेघों को गर्जाता है ।

पदार्थ— हे सोम परमात्मन् ! **वृषा** वर्षा करने वाले, **शोणः** क्रियाशील आप **गाः** विद्युद्वाणियों को **अभि कनिक्रदत्** गर्जाते हुए, तथा उससे **पृथिवीम्** भूमि को **उत** और **द्याम्** आकाश को **नदयन्** नादयुक्त करते हुए **एषि** व्यवहार करते हो । उस समय ऐसा लगता है कि **आजौ** युद्ध में **इन्द्रस्य इव** मानों सेनापति का **वग्नुः** दुन्दभि आदि का नाद **आ शृण्वे** सुनाई दे रहा हो । आप ही **इमाम्** इस **वाचम्** मनुष्यों से उच्चारण की जाने वाली व्यक्त वाणी को **प्रचोदयन्** प्रेरित करते हुए **आ अर्षसि** आते हो ॥१॥

इस मन्त्र में उत्प्रेक्षालंकार है ॥१॥

भावार्थ— जल-वाष्पों का ऊपर जाना, मेघघटाओं का निर्माण, विद्युत् का चमकना, मेघों का गरजना इत्यादि सभी कार्य सूर्य, पवन आदि के माध्यम से परमेश्वर ही करता है । इसके करने में हम जैसों का सामर्थ्य नहीं है । वही मनुष्यों को व्यक्त वाणी प्रदान करता है ॥१॥

अथ जीवात्मनि ब्रह्मानन्दरसप्रवाहो वर्ण्यते ।

८०७. **रसाय्यः पयसा पिन्वमान ईरयन्नेषि मधुमन्तमंशुम् ।**
पवमान सन्तनिमेषि कृण्वन्निन्द्राय सोम परिषिच्यमानः ॥२॥[1]
रसाय्यः पयसा पिन्वमानः । ईरयन् एषि मधुमन्तम् अंशुम् ।
पवमान सन्तनिम् सम् तनिम् एषि कृण्वन् ।
इन्द्राय सोम परिषिच्यमानः परि सिच्यमानः ॥२॥

पदार्थः— हे **पवमान सोम** सर्वजगत्स्रष्टः शुभगुणप्रेरक सर्वान्तर्यामिन् जगदीश्वर! **रसाय्यः** रसेन पूर्णः । [रसेर्बाहुलकादौणादिक आय्यप्रत्ययः ।] **पयसा** रसेन **पिन्वमानः** उपासकस्य मम हृदयं सिञ्चमानः, त्वम् **मधुमन्तम्** मधुरम् **अंशुम्** आनन्दम् **ईरयन्** गमयन् **एषि** मां प्राप्नोषि । **इन्द्राय** जीवात्मने **परिषिच्यमानः** निर्झरन् त्वम् तत्र **सन्तनिम्** विस्तारम् **कृण्वन्** कुर्वन् **एषि** व्याप्नोषि ॥२॥

---

१. ऋ० ९।९७।१४।

भावार्थः—आनन्दरसपूर्णस्य परमात्मन आनन्दधारया सिक्तानि स्तोतॄणां हृदयानि सरसानि जायन्ते।।२।।

अगले मन्त्र में जीवात्मा में ब्रह्मानन्दरस का प्रवाह वर्णित है ।

पदार्थ— हे **पवमान सोम** सम्पूर्ण जगत् के स्रष्टा, शुभगुणों के प्रेरक, सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर ! **रसाय्यः** रस से पूर्ण, **पयसा** रस से **पिन्वमानः** मुझ उपासक के हृदय को सींचते हुए आप **मधुमन्तम्** मधुर **अंशुम्** आनन्द को **ईरयन्** प्रेरित करते हुए **एषि** मुझे प्राप्त होते हो । **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए **परिषिच्यमानः** झरते हुए आप, वहां **सन्तनिम्** विस्तार को **कृण्वन्** प्राप्त करते हुए **एषि** व्याप्त होते हो ।।२।।

भावार्थ— आनन्दरस से पूर्ण परमात्मा की आनन्दरस की धारा से सिंचे हुए स्तोताओं के हृदय सरस हो जाते हैं। ।।२।।

अथ पुनरपि स एव विषयो वर्ण्यते ।

३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
८०८. **एवा पवस्व मदिरो मदायोदग्राभस्य नमयन् वधस्नुम् ।**
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
परि वर्णं भरमाणो रुशन्तं गव्युर्नो अर्ष परि सोम सिक्तः।।३।।[1]

३ २ ३ २ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
एव पवस्व मदिरः मदाय । उदग्राभस्य उद ग्राभस्य नमयन् वधस्नुम् वध स्नुम् ।
१ २र १ २र १२र १२र ३ २ ३ १ २र ३ २
परि वर्णम् भरमाणः रुशन्तम् । गव्युः नः अर्ष परि सोम सिक्तः ।।३।।

पदार्थः— हे **सोम** रसागार परमात्मन् ! **उदग्राभस्य** उदके निवसतो ग्राहस्य इव हिंसकस्य कामादिशत्रोः **वधस्नुम्** वज्रसानुम्, हिंसाव्यापारमित्यर्थः । [वध इति वज्रनाम । निघं० २।२० । स्नुशब्दः सानुपर्यायः ।] **नमयन्** अधः कुर्वन् **मदिरः** आनन्दजनकः त्वम् **मदाय** आनन्दाय **एव** यथायथम् **पवस्व** प्रस्रव । किञ्च, **सिक्तः** हृदये क्षारितः त्वम् **रुशन्तं वर्णम्** तेजस्विरूपम् **परि भरमाणः** परिधारयन् **गव्युः** गाः दिव्यप्रकाशरश्मीन् अस्मभ्यं प्रदातुकामः **नः** अस्मान् **परि अर्ष** परिप्राप्नुहि ।।३।।

भावार्थः— परमात्मोपासनेन दुर्विचारा नश्यन्ति, सद्विचाराः सद्गुणाश्चोत्पद्यन्ते, दिव्यं ज्योतिर्दीप्यते, आनन्दरसधाराश्चोपासकमाप्लावयन्ति ।।३।।

अस्मिन् खण्डे ब्रह्मविद्यायामाचार्यस्य योगदानमुक्त्वा परमात्मनः सकाशाज्जीवात्मनि ब्रह्मानन्दप्रवाहस्य वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन सह संगतिरस्ति ।।

अगले मन्त्र में पुनः वही विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे **सोम** रस के भण्डार परमात्मन् ! **उदग्राभस्य** जल में निवास करने वाले ग्राह के समान हिंसक कामादि शत्रु के **वधस्नुम्** वज्रशिखर को अर्थात् उसके हिंसकव्यापार को **नमयन्** नीचे करते हुए, दूर करते हुए **मदिरः** आनन्दजनक आप **मदाय** आनन्द के लिए **एव** यथोचित रूप से **पवस्व** प्रसुत होवो, बहो । और **सिक्तः** हृदय में सिंचे हुए आप **रुशन्तं वर्णम्** तेजस्वी रूप को **परि भरमाणः** धारण करते हुए **गव्युः** दिव्य प्रकाश की किरणें प्रदान करना चाहते हुए **नः** हमें **परि अर्ष** चारों ओर से प्राप्त होवो ।।३।।

---

१. ऋ० ९।९७।१५, 'वधस्नैः' इति भेदः ।

भावार्थ– परमात्मा की उपासना से दुर्विचार नष्ट होते हैं, सद्विचार तथा सद्गुण उत्पन्न होते हैं, दिव्य ज्योति चमकने लगती है और आनन्दरस की धाराएं उपासक को आप्लुत कर देती हैं ।।३।।

इस खण्ड में ब्रह्मविद्या में आचार्य का योगदान कहकर परमात्मा के पास से जीवात्मा में ब्रह्मानन्द का प्रवाह वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

तृतीय अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ।।

।।१२।। अथ 'त्वामिद्धि' इत्यादिकस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** शंयुर्बार्हस्पत्यः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २३४ क्रमाङ्के परमेश्वरनृपत्योः पक्षे व्याख्याता । अत्र परमात्मा जीवात्मा चाहूयते ।

८०९. त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ।।१।।[1]

त्वाम् इत् हि हवामहे । सातौ वाजस्य कारवः ।
त्वाम् वृत्रेषु इन्द्र सत्पतिम् सत् पतिम् । नरः त्वाम् काष्ठासु अर्वतः ।।१।।

पदार्थः– हे **इन्द्र** परमात्मन् जीवात्मन् वा ! कर्मशूराः वयम् **वाजस्य** संग्रामस्य **सातौ** प्राप्तौ **त्वाम् इत् हि** त्वामेव खलु **हवामहे** आह्वयामः उद्बोधयामो वा । **वृत्रेषु** शत्रुषु विघ्नेषु वा उपद्रुतेषु **सत्पतिम्** सतां पालकम् **त्वाम्** त्वामेव हवामहे आह्वयामः उद्बोधयामो वा । **नरः** सर्वेऽपि मनुष्याः **काष्ठासु** दिक्षु **अर्वतः** हिंसकात् शत्रोः त्रातुम् इति शेषः । [अर्व हिंसायाम्, भ्वादिः ।] **त्वाम्** त्वामेव हवन्ते आह्वयन्ति उद्बोधयन्ति वा।।१।।[2]

भावार्थः– परमात्मनः कृपयाऽऽत्मोद्बोधनेन च सर्वेऽपि विघ्नाः सर्वेऽपि च शत्रवः क्षणेन पराजेतुं शक्यन्ते ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २३४ क्रमांक पर परमेश्वर और राजा के पक्ष में व्याख्यात हुई थी। यहां परमात्मा और जीवात्मा का आह्वान है ।

पदार्थ– हे **इन्द्र** परमात्मन् वा जीवात्मन् ! **कारवः** कर्मशूर हम **वाजस्य** संग्राम की **सातौ** प्राप्ति होने पर **त्वाम् इत् हि** तुझे ही **हवामहे** पुकारते या उद्बोधन देते हैं। **वृत्रेषु** शत्रुओं वा विघ्नों के उमड़ने पर **सत्पतिम्** सज्जनों के पालनकर्ता **त्वाम्** तुझे ही पुकारते या उद्बोधन देते हैं। **नरः** सभी मनुष्य **काष्ठासु** दिशाओं में **अर्वतः** हिंसक शत्रु से रक्षार्थ **त्वाम्** तुझे ही पुकारते या उद्बोधन देते हैं ।।१।।

भावार्थ– परमात्मा की कृपा से और आत्मोद्बोधन से सभी विघ्न और सभी शत्रु क्षण भर में पराजित किये जा सकते हैं।।१।।

---

१. ऋ० ६।४६।१, अथ० २०।९८।१, उभयत्र 'सा॒ता' इति पाठः । य० २७।३७। साम० २३४ ऋषिः भरद्वाजः बार्हस्पत्यः ।।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये शिल्पविद्याविषयं यजुर्भाष्ये च राजधर्मविषयमधिकृत्य व्याख्यातवान् ।।

अथ पुनः परमात्मा जीवात्मा च सम्बोध्यते ।

८१०. स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया महस्तवानो अद्रिवः ।
गामश्वं रथ्यमिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे ॥२॥[1]

सः त्वम् नः चित्र वज्रहस्त वज्र हस्त धृष्णुया । महः स्तवानः अद्रिवः अ द्रिवः ।
गाम् अश्वम् रथ्यम् इन्द्र सम् किर । सत्रा वाजम् न जिग्युषे ॥२॥

पदार्थः— हे **चित्र** अद्भुतगुणकर्मस्वभाव, **वज्रहस्त** दण्डसामर्थ्ययुक्त शस्त्रास्त्रपाणे वा, **अद्रिवः** शत्रुभिर्न विदारयितुं शक्य **इन्द्र** परमैश्वर्य परमात्मन् जीवात्मन् वा! **स्तवानः** स्तूयमानः **धृष्णुया** धर्षकबलेन । [धृष्णुशब्दात् तृतीयैकवचने 'सुपां सुलुक्' अ० ७।१।३९ इति विभक्तेर्याजादेशः ।] **महः** महान् **सः** प्रसिद्धः **त्वम् नः** अस्मभ्यम् **रथ्यम्** शरीररथवाहकम् **गाम्** प्राणबलम् **अश्वम्** इन्द्रियबलं च **संकिर** प्रयच्छ, **न** यथा **जिग्युषे** संग्रामं जितवते योद्धृजनाय । [जि जये धातोर्लिटः क्वसौ चतुर्थ्येकवचने रूपम् ।] **सत्रा** सदा **वाजम्** अन्नधनादिपुरस्कारं नृपत्यादिः संकिरति प्रयच्छति ॥२॥[2]

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— अध्यात्मविजयार्थं बाह्यविजयार्थं चाप्यात्मोद्बोधनेन साकं परमात्मनोऽपि साहाय्यमपेक्ष्यते॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा और जीवात्मा को सम्बोधन है ।

पदार्थ— हे **चित्र** अद्भुत गुण, कर्म, स्वभाव वाले, **वज्रहस्त** दण्डसामर्थ्ययुक्त अथवा शस्त्रास्त्र हाथ में धारण करने वाले, **अद्रिवः** शत्रुओं से विदारण न किये जा सकने वाले **इन्द्र** परमैश्वर्यवान् परमात्मन् वा जीवात्मन् ! **स्तवानः** स्तुति या गुण वर्णन किया जाता हुआ, **धृष्णुया** धर्षक बल से **महः** महान् **सः** वह प्रसिद्ध **त्वम्** तू **नः** हमें **रथ्यम्** शरीर-रथ के वाहक **गाम्** प्राण-बल को तथा **अश्वम्** इन्द्रिय-बल को **संकिर** प्रदान कर, **न** जैसे **जिग्युषे** संग्राम को जीत लेने वाले योद्धाजन को **सत्रा** सदा **वाजम्** अन्न, धन आदि का पुरस्कार राजा आदि प्रदान करते हैं ॥२॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ।

भावार्थ— आध्यात्मिक विजय के लिए और बाह्य विजय के लिए भी आत्मोद्बोधन के साथ परमात्मा की भी सहायता अपेक्षित होती है ॥२॥

॥१३॥ अथ 'अभि प्र वः' इत्यादिकस्य त्रयोदशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** प्रस्कण्वः काण्वः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती)। **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

---

१. ऋ० ६।४२।२ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजधर्मपक्षे व्याख्याय शिल्पविद्याविषये योजितवान् ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २३५ क्रमाङ्के परमेश्वरार्चनविषये व्याख्याता । अत्राचार्यविषयो वर्ण्यते ।

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
८११. **अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे।**
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति ॥१॥[1]
३ २ ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २र ३ २
अभि प्र वः सुराधसम् सु राधसम् । इन्द्रम् अर्च यथा विदे ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र
यः जरितृभ्यः मघवा पुरूवसुः पुरु वसुः । सहस्रेण इव शिक्षति ॥१॥

पदार्थः— हे छात्राः ! **वः** यूयम् **सुराधसम्** सुसिद्धिप्रदायकम् **इन्द्रम्** तपोरूपैश्वर्यवन्तम् आचार्यम् **अर्च** अर्चत, समित्पाणयो भूत्वा तच्छरणमुपगम्य तं परिचरत । [अत्र पुरुषव्यत्ययः।] **यथा विदे** येन स युष्माकं विद्याग्रहणयोग्यतां जानीयात् । कीदृशम् आचार्यम्? **यः पुरूवसुः** बहुविद्याधनः **मघवा** विद्यादानवान्[2] आचार्यः **जरितृभ्यः** स्तोतृभ्यः छात्रेभ्यः **सहस्रेण इव** मुखसहस्रेण इव **शिक्षति** शिक्षयति । [णिज्गर्भोऽयं प्रयोगः] ॥१॥

सहस्रेण इव इत्यत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— आचार्यसकाशादेव लोकविद्या ब्रह्मविद्या च प्राप्यत इति तन्महत्त्वं विज्ञाय कृतज्ञतया स सर्वैः संमाननीयः ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २३५ क्रमांक पर परमेश्वर की अर्चना के विषय में व्याख्यात की गयी थी। यहां आचार्य का विषय वर्णित करते हैं ।।

पदार्थ— हे छात्रों ! **वः** तुम **सुराधसम्** उत्तम सिद्धि देने वाले **इन्द्रम्** तपस्यारूप ऐश्वर्य से युक्त आचार्य की **अर्च** अर्चना करो, अर्थात् समित्पाणि होकर उसकी शरण में जाकर उसकी सेवा करो, **यथा विदे** जिससे वह तुम्हारी विद्याग्रहण की योग्यता को जाने । कैसे आचार्य की?**यः** जो **पुरूवसुः** बहुत विद्यारूप धन वाला, **मघवा** विद्या का दान करने वाला आचार्य **जरितृभ्यः** स्तोता छात्रों को **सहस्रेण इव** मानों हजार मुखों से **शिक्षति** शिक्षा देता है॥१॥

इस मन्त्र में 'मानो हजार मुखों से' में उत्प्रेक्षालंकार है ॥१॥

भावार्थ— आचार्य के पास से ही लोकविद्या और ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है । इस रूप में उसका महत्त्व जानकर कृतज्ञतापूर्वक उसका सबको सम्मान करना चाहिए ॥१॥

अथ परमात्मानमाचार्यं च वर्णयति ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
८१२. **शतानीकेव प्र जिगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे।**
३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः ॥२॥[3]
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
शतानीका शत अनीका इव प्र जिगाति धृष्णुया । हन्ति वृत्राणि दाशुषे ।
३ २ ३ २ १ २र ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र
गिरेः इव प्र रसाः अस्य पिन्विरे । दत्राणि पुरुभोजसः पुरु भोजसः ॥२॥

---

१. ऋ० ८।४९।१, साम० २३५, अथ० २०।५१।१ ।
२. मघं दानं मंहतेः, दानवान् नित्यदानः -इति भ० ।
३. ऋ० ८।४९।२, अथ० २०।५१।२ ।

पदार्थः— एष इन्द्रः परमैश्वर्यवान् परमात्मा विद्यैश्वर्यवान् आचार्यो वा **दाशुषे** आत्मसमर्पकस्य उपासकस्य शिष्यस्य वा हितार्थम् **धृष्णुया** स्वकीयेन धर्षकगुणेन **शतानीका इव** शतानीकानि शतसंख्यकानि शत्रुसैन्यानि इव **वृत्राणि** उपासकस्य शिष्यस्य वा छिद्राणि **प्र जिगाति** प्र गच्छति आक्रामति इति यावत् । [जिगातिः गतिकर्मा । निघं० २।१४ ।] **हन्ति** हिनस्ति च । **पुरुभोजसः** बहुपालकस्य **अस्य** परमात्मनः आचार्यस्य वा **दत्राणि** दानानि **पिन्विरे** उपासकं शिष्यं वा प्रति प्रवहन्ति, **गिरेः इव रसाः** पर्वतस्य यथा जलानि प्रवहन्ति॥२॥

अत्र द्वयोरुपमयोः संसृष्टिः ॥२॥

भावार्थः— परमात्मानमाचार्यं च प्रति समर्पणभावेन गत्वा, तत्साहाय्येन दोषान् दूरीकृत्यानन्दरसा विद्यारसाश्च प्राप्तव्याः ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और आचार्य दोनों का वर्णन है ।

पदार्थ— यह इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा वा विद्या के ऐश्वर्य से युक्त आचार्य **दाशुषे** आत्मसमर्पण करने वाले उपासक वा शिष्य के हितार्थ **धृष्णुया** अपने धर्षक गुण से **शतानीका इव** सौ शत्रुसेनाओं के तुल्य **वृत्राणि** उपासक या शिष्य के दोषों पर **प्र जिगाति** आक्रमण करता है, और **हन्ति** उन्हें नष्ट कर देता है । **पुरुभोजसः** बहुत पालन करने वाले **अस्य** इस परमात्मा वा आचार्य के **दत्राणि** दान **पिन्विरे** उपासक वा शिष्य के प्रति प्रवाहित होते हैं, **गिरेः इव रसाः** जैसे पर्वत के जल प्रवाहित हुआ करते हैं॥२॥

इस मन्त्र में दो उपमाओं की संसृष्टि है ॥२॥

भावार्थ— परमात्मा वा आचार्य के प्रति समर्पणभाव से पहुंचकर उनकी सहायता से दोषों को दूर कर आनन्द-रस और विद्या-रस प्राप्त करने चाहिएं ॥२॥

॥१४॥ अथ 'त्वामिदा' इत्यादिकस्य चतुर्दशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** नृमेध आङ्गिरसः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३०२ क्रमाङ्के परमेश्वरनृपत्योः पक्षे व्याख्याता । अत्र विद्वद्विषय उच्यते ।

८१३. **त्वामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन् वज्रिन् भूर्णयः ।**
स इन्द्र स्तोमवाहस इह श्रुध्युप स्वसरमा गहि ॥१॥[1]

त्वाम् इदा ह्यः नरः । अपीप्यन् वज्रिन् भूर्णयः ।
सः इन्द्र स्तोमवाहसः स्तोम वाहसः इह श्रुधि । उप स्वसरम् आ गहि ॥१॥

पदार्थः— हे **वज्रिन्** दोषवर्जक विद्वन् ! **त्वाम् इत्** त्वां खलु **भूर्णयः** वैभवशालिनः । [बिभ्रति धनानि ये ते भूर्णयः । डुभृञ् धारणपोषणयोः इत्यस्मात् 'घृणिपृश्निपार्श्विचूर्णि भूर्णयः' । उ० ४।५३ इत्यनेन निः प्रत्ययः धातोः ऋकारस्य ऊत्वं च ।] **नरः** जनाः **इदा** अस्मिन् वर्तमाने काले **ह्यः** गते काले च **अपीप्यन्** उपहारादिप्रदानैः वर्धयन्ति वर्द्धितवन्तश्च । [ओप्यायी वृद्धौ इत्यस्येदं रूपम् ।] **सः** असौ, हे **इन्द्र** विद्यैश्वर्ययुक्त विद्वन् ! **स्तोम-**

१. ऋ० ८।९९।१, 'स्तोमवाहसामिह' इति पाठः, साम० ३०२ ।

वाहसः स्तोमं स्तोत्रं पदार्थसंभारं वा त्वां प्रति वाहयन्ति प्रापयन्ति ये तान् अस्मान् **इह** अत्र **श्रुधि** शृणु, अस्मन्निवेदनं शृणु इत्यर्थः, श्रुत्वा चास्मदातिथ्यं ग्रहीतुमस्मानुपदेष्टुं च **स्वसरम्** अस्मद्गृहम् । [स्वसराणि इति गृहनामसु पठितम् । निघं० ३।४ ।] **उप आगहि** उपागच्छ ॥१॥

भावार्थः— सर्वैरुन्नतिकामैर्जनैर्विद्वांसः सत्करणीया विद्वद्भिरपि चाधीताः सर्वा विद्यास्तेभ्यो दातव्याः॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ३०२ क्रमांक पर परमेश्वर और राजा के पक्ष में की गयी थी। यहां विद्वान् का विषय वर्णित किया जा रहा है ।

पदार्थ— हे **वज्रिन्** दोषों का वर्जन करने वाले विद्वन् ! **त्वाम् इत्** आपको ही **भूर्णयः** वैभवशाली **नरः** लोग **इदा** इस काल में और **ह्यः** अतीत काल में **अपीप्यन्** उपहार आदि प्रदान कर बढ़ाते हैं और बढ़ाते रहे हैं। **सः** वह, हे **इन्द्र** विद्या के ऐश्वर्य से युक्त विद्वन् ! **स्तोमवाहसः** आपके प्रति स्तोत्र या पदार्थसमूह पहुंचाने वाले हम लोगों को, अर्थात् हमारे निवेदन को **इह** यहां **श्रुधि** आप सुनिए, और सुनकर हमारा आतिथ्य ग्रहण करने तथा हमें उपदेश देने के लिए **स्वसरम्** हमारे घर **उप आगहि** आइए ॥१॥

भावार्थ— सब उन्नति चाहने वाले लोगों को चाहिए कि विद्वानों का सत्कार करें और विद्वानों को भी चाहिए कि अध्ययन की हुई सब विद्याएं उन्हें दें ॥१॥

अथ गुरूणामपि गुरुं परमात्मानं स्तौति ।

८१४. मत्स्वा सुशिप्रिन् हरिवस्तमीमहे त्वया भूषन्ति वेधसः ।
तव श्रवांस्युपमान्युक्थ्य सुतेष्विन्द्र गिर्वणः ॥२॥[1]

मत्स्व सुशिप्रिन् सु शिप्रिन् हरिवः तम् ईमहे । त्वया भूषन्ति वेधसः ।
तव श्रवांसि उपमानि उप मानि उक्थ्य । सुतेषु इन्द्र गिर्वणः गिः वनः ॥२॥

पदार्थः— हे **सुशिप्रिन्** सुसर्पिन् सर्वान्तर्यामिन् ! **हरिवः** हरीणाम् आकर्षणशीलानां सूर्यचन्द्रादिलोकानां स्वामिन् परमात्मन् ! त्वम् **मत्स्व** अस्मान् आनन्दय, **तम्** आनन्दप्रदं त्वाम्, वयम् **ईमहे** याचामहे । [ईमहे इति याञ्चाकर्मसु पठितम् । निघं० ३।१९।] **वेधसः** मेधाविनः उपासकाः । [वेधाः इति मेधाविनाम । निघं० ३।१५ ।] **त्वया परमात्मा भूषन्ति** आत्मानम् अलङ्कुर्वन्ति । [भूष अलङ्कारे भ्वादिः ।] हे **उक्थ्य** प्रशंसनीय, **गिर्वणः** गीर्भिः वननीय संभजनीय **इन्द्र** जगदीश्वर! **तव** त्वदीयानि **श्रवांसि** यशांसि **सुतेषु** त्वत्पुत्रेषु मानवेषु **उपमानि** उपमातुं योग्यानि भवन्ति, मानवानां यशांसि परमात्मयशांसीव उज्ज्वलानि भवन्त्विति उपमानतां गच्छन्तीत्यभिप्रायः॥२॥

भावार्थः— हृदि परमात्मनो धारणेनैव जना अलङ्क्रियन्ते, न तु शरीराङ्गेषु कटककुण्डलस्वर्णहारादिधारणेन ॥२॥

अस्मिन् खण्डे विदुषामाचार्यस्य च ब्रह्मविद्यादौ योगदानमुक्त्वा जीवात्मपरमात्मविषयवर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन सह संगतिर्वेद्या ॥

---

१. ऋ० ८।९९।२ मत्स्वा सुशिप्र हरिवस्तदीमहे त्वे आ भूषन्ति वेधसः । तव श्रवांस्युपमान्युक्थ्या' इति पाठः ।

अगले मन्त्र में गुरुओं के भी गुरु परमात्मा की स्तुति है ।

पदार्थ– हे **सुशिप्रिन्** सर्वान्तर्यामी, **हरिवः** आकर्षणशील सूर्य, चन्द्र आदि लोकों के स्वामी परमात्मन् ! आप **मत्स्व** हमें आनन्दित कीजिए । **तम्** उन आनन्दप्रद आपसे हम **ईमहे** याचना करते हैं। **वेधसः** मेधावी उपासक **त्वया** आप से **भूषन्ति** स्वयं को अलंकृत करते हैं। हे **उक्थ्य** प्रशंसनीय, **गिर्वणः** वाणियों से संभजनीय **इन्द्र** जगदीश्वर ! **तव** आपके **श्रवांसि** यश **सुतेषु** आपके पुत्र मनुष्यों में **उपमानि** उपमान योग्य होते हैं, अर्थात् मनुष्यों के यश परमात्मा के यशों के समान उज्ज्वल हों इस प्रकार उपमान बनते हैं। ॥२॥

भावार्थ– हृदय में परमात्मा को धारण करने से ही लोग अलंकृत होते हैं, शरीर के अंगों में कटक, कुण्डल, स्वर्णहार आदि धारण करने से नहीं ॥२॥

इस खण्ड में विद्वानों का और आचार्य का ब्रह्मविद्या में योगदान कहकर जीवात्मा और परमात्मा के विषय का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ॥

तृतीय अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ।

॥१५॥ अथ 'यस्ते मदो' इत्यादिकस्य पञ्चदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अमहीयुराङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४७० क्रमाङ्के परमात्मानन्दरसविषये व्याख्याता । अत्र परमेश्वर आचार्यश्च प्रार्थ्यते।

२ ३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३ २
८१५. **यस्ते मदो वरेण्यस्तेना पवस्वान्धसा । देवावीरघशंसहा ॥१॥**[1]

२ ३ १ २र १२र १२र ३ १ २र
यः ते मदः वरेण्यः । तेन पवस्व अन्धसा ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २
देवावीः देव अवीः अघशंसहा अघशंस हा॥१॥

पदार्थः– हे पवमान सोम पवित्रकर्तः आनन्दरसागार परमात्मन् ज्ञानरसागार आचार्य वा ! **यः ते** यः तव **वरेण्यः** वरणीयः **मदः** उत्साहप्रदः आनन्दरसो ज्ञानरसो वा अस्ति, **तेन अन्धसा** तेन आनन्दरसेन ज्ञानरसेन वा **पवस्व** उपासकान् शिष्यान् वा अस्मान् पुनीहि । किञ्च, त्वम् **देवावीः** दिव्यगुणानां प्रापयिता, **अघशंसहा** पापप्रशंसकानां दुर्विचाराणां हन्ता च भवेति शेषः ॥१॥

भावार्थः– यथा जगदीश्वर उपासकेभ्य आनन्दरसं प्रयच्छति, दिव्यगुणान् प्रापयति, तेषां दुर्विचारांश्च हन्ति तथैव शिष्येभ्यो विद्याप्रदानं, तेषामानन्दवर्धनं, दोषाणां हननं, तेषु सद्गुणारोपणं च गुरूणां कर्त्तव्यमस्ति॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४७० क्रमांक पर परमात्मा के आनन्दरस के विषय में व्याख्यात हुई थी । यहां परमेश्वर और आचार्य से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ– हे पवमान सोम अर्थात् पवित्रकर्त्ता आनन्दरसागार परमात्मन् वा ज्ञानरसागार आचार्य ! **यः ते** जो आपका **वरेण्यः** वरणीय, **मदः** उत्साहप्रद आनन्द-रस वा ज्ञानरस है, **तेन अन्धसा** उस आनन्दरस वा ज्ञान-

---

१. ऋ० ९।६१।१९, साम० ४७० ।

रस से **पवस्व** हम उपासकों वा शिष्यों को पवित्र करो । और, आप **देवावीः** दिव्यगुणप्राप्ति कराने वाले, तथा **अघशंसहा** पापप्रशंसक दुर्विचारों का विनाश करने वाले, होवो ।।१।।

भावार्थ— जैसे जगदीश्वर उपासकों को आनन्दरस प्रदान करता, दिव्य गुण प्राप्त कराता और उनके दुर्विचारों को नष्ट करता है, वैसे ही शिष्यों को विद्या देना, उनका आनन्द बढ़ाना, उनके दोषों को नष्ट करना और उनमें सद्गुणों का आरोपण करना गुरुओं का कर्त्तव्य है ।।१।।

अथ परमेश्वरमाचार्यं च वर्णयति ।

८१६. **जघ्निर्वृत्रममित्रियं सस्निर्वाजं दिवेदिवे । गोषातिरश्वसा असि ।।२।।**[1]

जघ्निः वृत्रम् अमित्रियम् अ मित्रियम् । सस्निः वाजम् दिवेदिवे दिवे दिवे ।
गोषातिः गो सातिः अश्वसाः अश्व साः असि ।।२।।

पदार्थः— हे पवमान सोम पवित्रकर्त्तः सद्बुद्धिप्रेरक परमात्मन् आचार्य वा ! त्वम् **अमित्रियम्** अमित्रादागतम् **वृत्रम्** पापम् **जघ्निः** हन्ता, **दिवेदिवे** प्रतिदिनम् **वाजम्** बलम् **सस्निः** शोधकः । [जघ्निः, सस्निः इत्यत्र हन् हिंसागत्योः ष्णा शौचे ण्यन्तः इत्यनयोः आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च' । अ० ३।२।१७१ इत्यनेन किन् प्रत्ययः लिड्वद्भावश्च ।] **गोषातिः** गवां भूमीनां धेनूनां वाचां वा दाता। [गवां सातिः प्राप्तिः यस्मात् स गोषातिः।] **अश्वसाः** अश्वानां, प्राणानां वा दाता च । [अश्वान् सनोतीति अश्वसाः । अश्वपूर्वात् सनोतेः 'जनसनखनक्रमगमो विट् '। अ० ३।२।६७ इति विट् प्रत्ययः 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' अ० ६।४।४१ इत्यनुनासिकस्य आत्वम् ।] **असि** विद्यसे ।।२।।

भावार्थः— जगदीश्वर इव गुरुरपि पापादीनां हन्ताऽऽत्मबलमनोबलबुद्धिबलचित्तबलादीनां पवित्रयिता, निखिलस्य वेदवाङ्मयस्याध्यापयिता, प्राणानां परिष्कर्त्ता च भवेत् ।।२।।

अगले मन्त्र में परमेश्वर और आचार्य का वर्णन है ।

पदार्थ— हे पवमान सोम अर्थात् पवित्रकर्त्ता सद्बुद्धिप्रेरक परमात्मन् वा आचार्य! आप **आमित्रियम्** शत्रु से आने वाले **वृत्रम्** पाप के **जघ्निः** नष्ट करने वाले, **दिवेदिवे** प्रतिदिन **वाजम्** बल को **सस्निः** शुद्ध करने वाले, **गोषातिः** भूमियों, गायों वा वाणियों के दाता और **अश्वसाः** घोड़ों वा प्राणों के दाता **असि** हो ।।२।।

भावार्थ— जगदीश्वर के समान गुरु भी पाप आदियों का विनाशक, आत्मबल, मनोबल, बुद्धिबल, चित्तबल आदि को पवित्र करने वाला, समस्त वाङ्मय को पढ़ाने वाला और प्राणों को परिष्कृत करने वाला होवे ।।२।।

अथ परमेश्वरमाचार्यं च प्रार्थयते ।

८१७. **सम्मिश्लो अरुषो भुवः सूपस्थाभिर्न धेनुभिः । सीदञ्छ्येनो न योनिमा ।।३।।**[2]

सम्मिश्लः सम् मिश्लः अरुषः भुवः । सूपस्थाभिः सु उपस्थाभिः न धेनुभिः ।
सीदन् श्येनः न योनिम् आ ।।३।।

---

१. ऋ० ९।६१।२०, 'गोषा उ अश्वसा असि' इति तृतीयः पादः ।

२. ऋ० ९।६१।२१, 'भुवः' इत्यत्र 'भव' इति पाठः ।

पदार्थः— हे पवमान सोम पवित्रकर्त्तः सद्गुणकर्मस्वभावप्रेरक परमात्मन् आचार्य वा! **अरुषः** तेजसा आरोचमानः त्वम् [अरुषम् इति रूपनाम । निघं ३।७।] **सूपस्थाभिः धेनुभिः** शोभनतया उपस्थिताभिः प्रीणयित्रीभिः अस्माकं स्तुतिवाग्भिः गोभिर्वा । [धेनुरिति वाङ्नाम । निघं० १।११ । धेनुः धयतेर्वा धिनोतेर्वा । निरु० ११।४३।] **न**[1] सम्प्रति **सम्मिश्लः भुवः** सम्मानितः भव । अपि च **श्येनः योनिं न** श्येनः पक्षी यथा आवासवृक्षं यद्वा आदित्यो यथा द्युलोकरूपं गृहमासीदति तथा **श्येनः** शंसनीयगमनः त्वम् **योनिम्** हृदयसदनं गुरुकुलगृहं वा **आसीदन्** निवसन् **भुवः** भव । [श्येनः शंसनीयं गच्छति । निरु० ४।२४ । श्येन आदित्यो भवति, श्यायतेर्गतिकर्मणः। निरु० १३।७२ । योनिरिति गृहनाम । निघं० ३।४] ॥३॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— यथा द्रोणकलशे स्थापितः सोमरसः गोदुग्धैः संमिय सम्मान्यते, तथैव हृदयसदने स्थापितः परमेश्वरः स्तुतिवाग्भिर्गुरुकुले स्थापित आचार्यश्च धेनुभिः संमाननीयः ॥३॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर और आचार्य से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे पवमान सोम अर्थात् पवित्रकर्त्ता, सद्गुणकर्मस्वभावप्रेरक परमात्मन् वा आचार्य ! **अरुषः** तेज से देदीप्यमान आप **सूपस्थाभिः धेनुभिः** भलीभांति उपस्थित तृप्तिप्रद स्तुतिवाणियों वा गायों से **न** इस समय **सम्मिश्लः** संमानित **भुवः** होवो । और, **श्येनः योनिं न** बाज पक्षी जैसे आवासवृक्ष पर अथवा सूर्य जैसे द्युलोकरूप घर में स्थित होता है, वैसे ही **श्येनः** प्रशंसनीय गति वाले आप **योनिम्** हृदय-मन्दिर वा गुरुकुलरूप गृह में **आसीदन्** निवास करने वाले **भुवः** होवो ॥३॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है॥३॥

भावार्थ— जैसे द्रोणकलश में स्थापित सोमरस गोदुग्ध के साथ मिश्रित कर संमानित किया जाता है, वैसे ही हृदय-गृह में स्थापित परमेश्वर का स्तुति-वाणियों से और गुरुकुल में स्थापित आचार्य का धेनुओं से संमान करना चाहिए ॥३॥

॥१६॥ अथ 'अयं पूषा' इत्यादिकस्य षोडशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** नहुषो मानवः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५४६ क्रमाङ्के परमात्मपक्षे व्याख्याता । अत्राचार्यविषयो वर्ण्यते ।

३ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
८१८. **अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्षति ।**
२ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ १ २ ३ २
पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद्रोदसी उभे ॥१॥[2]
३ २ ३ २ ३ २ १ २र १ २र ३ २ ३ १ २र १ २र १ २र
अयम् पूषा रयिः भगः । सोमः पुनानः अर्षति । पतिः विश्वस्य भूमनः ।
३ १२र ३ १ २ ३ १ २
वि अख्यत् रोदसीइति उभेइति ॥१॥

पदार्थः— **पूषा** दैहिकात्मिकपुष्टिप्रदाता **रयिः** रयिमान् विद्यैश्वर्यवान् । [अत्र मतुपो लुक् ।] **भगः** भजनीयः, समित्पाणिभिः शिष्यैः सेवनीयः **अयं सोमः** एष सद्विद्याप्रेरकः आचार्यः **पुनानः** शिष्यान् पवित्रीकुर्वन् **अर्षति** क्रियाशीलो जायते । **विश्वस्य भूमनः** सकलस्य विस्तीर्णस्य ज्ञानस्य **पतिः** अधिपतिः एष आचार्यो ज्ञानप्रदानद्वारा शिष्याणां सम्मुखम् **उभे रोदसी** द्वे अपि द्यावापृथिव्यौ **व्यख्यत्** प्रकाशयति । उक्तं च यथा—

---

१. न सम्प्रत्यर्थे इति सा० ।

२. ऋ० ९।१०१।७, साम० ५४६ ।

आचार्य स्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च । ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति (अथ० ११।५।८) इति ॥१॥

भावार्थः— विद्वानाचार्यो ब्रह्मचारिभ्य उभयोर्द्यावापृथिव्योः सूर्यनक्षत्रजलवायुविद्युन्मेघसरित्समुद्रौषधि-वनस्पतिभूगर्भादीनां ज्ञानं चारित्रिकीं च शिक्षां प्रयच्छन् तान् पुनीयात् ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में क्रमांक ५४६ पर परमात्मा के पक्ष में व्याख्या की गयी थी । यहां आचार्य का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— **पूषा** शारीरिक तथा आत्मिक पुष्टि का प्रदाता, **रयिः** विद्याधन से युक्त, **भगः** भजनीय, समित्पाणि शिष्यों से सेवनीय **अयं सोमः** यह सद्विद्याओं का प्रेरक आचार्य **पुनानः** शिष्यों को पवित्र करता हुआ **अर्षति** क्रियाशील होता है । **विश्वस्य भूमनः** समस्त विस्तृत ज्ञान का **पतिः** स्वामी यह आचार्य, ज्ञान-प्रदान द्वारा शिष्यों के सम्मुख **उभे रोदसी** आकाश-भूमि दोनों को **व्यख्यत्** प्रकाशित कर देता है । कहा भी है— "आचार्य विस्तृत, गम्भीर इन दोनों द्यावापृथिवी को ब्रह्मचारी के सम्मुख घड़कर प्रकट कर देता है । उन्हें वह ब्रह्मचारी तप से अपने अन्दर धारण करता है । उसमें सब देव अनुकूल मन वाले हो जाते हैं (अथ० ११।५।८)॥१॥

भावार्थ— विद्वान् आचार्य को चाहिए कि वह ब्रह्मचारियों को आकाश-भूमि दोनों के सूर्य, नक्षत्र, जल, वायु, विद्युत्, मेघ, नदी, समुद्र, ओषधि, वनस्पति, भूगर्भ आदि का ज्ञान और चारित्रिक शिक्षा देता हुआ उन्हें पवित्र करे ॥१॥

अथ ब्रह्मानन्दरसा गुरवश्च वर्ण्यन्ते ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
८१९. **समु प्रिया अनूषत गावो मदाय घृष्वयः ।**
१ २ ३ १र २र ३ १ २
सोमासः कृण्वते पथः पवमानास इन्दवः ॥२॥[1]
२ ३ २ ३ १ २र १ २र १ २र १ २र ३ २
सम् उ प्रियाः अनूषत । गावः मदाय घृष्वयः । सोमासः कृण्वते पथः ।
१२र १ २र
पवमानासः इन्दवः ॥२॥

पदार्थः— **प्रथमः** ब्रह्मानन्दरसपक्षे । **प्रियाः** परमेश्वरप्रियाः **घृष्वयः** मानससंघर्षरताः **गावः** स्तोतारः । [गौः इति स्तोतृनामसु पठितम् । निघं० ३।१६।] **मदाय** आनन्दप्राप्तये **सम् उ अनूषत** परमेश्वरं संस्तुवन्ति । तत्स्तवनेन प्राप्ताः **इन्दवः** दीप्ताः क्लेदनकराः वा । [इन्दुः इन्धेः उनत्तेर्वा । निरु० १०।४१।] **सोमासः** ब्रह्मानन्दरसाः **पवमानासः** स्तोतॄन् पवित्रीकुर्वन्तः, तेषां सम्मुखं **पथः** कर्तव्यमार्गान् **कृण्वते** स्पष्टीकुर्वन्ति ॥

द्वितीयः गुरूणां पक्षे । **प्रियाः** प्रीतिकर्यः, मधुराः **घृष्वयः**[2] घर्षणेन पुनः पुनरभ्यासेन उज्ज्वलाः **गावः** शिष्याणां वाचः **मदाय** आनन्दप्राप्तये **सम् उ अनूषत** गुरून् संस्तुवन्ति । ते **इन्दवः** ज्ञानेन दीप्ताः **सोमासः** ज्ञानप्रेरकाः गुरुजनाः **पवमानासः** शिष्यान् पुनन्तः, तेषां पुरतः **पथः** गन्तव्यान् मार्गान् **कृण्वते** स्पष्टी-कुर्वन्ति,॥२॥

---

१. ऋ० ९।१०१।८।

२. घृष्वयः अत्यन्तदीप्ताः— इति सा०।

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— जनैः परमात्मानं गुरुजनांश्च संस्तूय तत आनन्दरसं ज्ञानरसं च दुग्ध्वा तत्पानेन स्वात्मानं पवित्वा सन्मार्गोऽनुसरणीयः ॥२॥

अगले मन्त्र में ब्रह्मानन्दरसों का तथा गुरुओं का वर्णन है ।

पदार्थ— प्रथम ब्रह्मानन्द-रस के पक्ष में । **प्रियाः** परमेश्वर के प्रिय, **घृष्वयः** मानसिक संघर्ष में संलग्न **गावः** स्तोताजन **मदाय** आनन्द-प्राप्ति के लिए **सम् उ अनूषत** भलीभांति परमेश्वर की स्तुति करते हैं। उसकी स्तुति से प्राप्त **इन्दवः** दीप्त या सराबोर करने वाले **सोमासः** ब्रह्मानन्द-रस **पवमानासः** स्तोताओं को पवित्र करते हुए, उनके सम्मुख **पथः** कर्त्तव्य-मार्गों को **कृण्वते** स्पष्ट कर देते हैं ॥

द्वितीय गुरुओं के पक्ष में । **प्रियाः** प्रिय, मधुर, **घृष्वयः** घर्षण अर्थात् पुनः पुनः अभ्यास से उज्ज्वल **गावः** शिष्यों की वाणियां **मदाय** आनन्द-प्राप्ति के लिए **सम् उ अनूषत** गुरुओं की सम्यक् स्तुति करती हैं। वे **इन्दवः** ज्ञान से दीप्त **सोमासः** ज्ञानप्रेरक गुरूजन **पवमानासः** शिष्यों को पवित्र करते हुए, उनके सम्मुख **पथः** गन्तव्य मार्गों को **कृण्वते** स्पष्ट कर देते हैं ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ— मनुष्यों को चाहिए कि परमात्मा की और गुरुजनों की भली-भांति स्तुति करके आनन्द-रस तथा ज्ञान-रस को दुहकर उसके पान से स्वयं को पवित्र करके सन्मार्ग का अनुसरण करें ॥२॥

अथ परमात्मानमाचार्यं च प्राह ।

१र २र ३ १र २र३ १ २ ३ १ २
८२०. **य ओजिष्ठस्तमा भर पवमान श्रवाय्यम् ।**
१र २र ३ २३ २ ३ २उ ३ १ २
यः पञ्च चर्षणीरभि रयिं येन वनामहे ॥३॥[1]
२ १ २र ३ १२र ३ १ २ १ २र ३ २ ३ २
यः ओजिष्ठः तम् आ भर । पवमान श्रवाय्यम् । यः पञ्च चर्षणीः अभि ।
३ २ १२र १ २र
रयिम् येन वनामहे ॥३॥

पदार्थः— हे **पवमान** पवित्रकर्त्तः परमात्मन् आचार्य वा ! **यः** यः त्वदीयः **ओजिष्ठः** ओजस्वितमः आनन्दरसः ज्ञानरसो वा अस्ति **तम् श्रवाय्यम्** तं यशोहेतुकं रसम् । [श्रावयतीति श्रवाय्यः । शृणोतेः 'श्रुदक्षिस्पृहिभ्य आय्यः । उ० ३।९६ इति आय्यप्रत्ययः।] **आ भर** आ हर, **यः** आनन्दरसो ज्ञानरसो वा **पञ्च चर्षणीः**[2] पञ्च ज्ञानसाधनानि इन्द्रियाणि पञ्च प्राणान् वा **अभि** आभिव्याप्नुयात् **येन** आनन्दरसेन ज्ञानरसेन वा, वयम् **रयिम्** भौतिकम् आध्यात्मिकं च धनम् **वनामहे** सम्भजामहे ॥३॥

भावार्थः— यथा परमात्मा स्वोपासकाय तादृशमानन्दं प्रयच्छति येन स दिव्यां सम्पदं लभते तथैव गुरुभिर्विद्यार्थिभ्यस्तादृशं ज्ञानं देयं येन धनार्जनं सुलभं स्यात् ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और आचार्य को कहा जा रहा है ।

---

१. ऋ० ९।१०१।९, 'वनामहे' इत्यत्र 'वनामहै' इति पाठः ।

२. पञ्च चर्षणीः पञ्च जनान् निषादपञ्चमान् चतुरो वर्णान्—इति सा०। चर्षणयो मनुष्याः। चत्वारो महर्त्विजः, पञ्चमो यजमानः- इति वि० ।

पदार्थ– हे **पवमान** पवित्रकर्त्ता परमात्मन् वा आचार्य **यः** जो आपका **ओजिष्ठः** अतिशय ओजस्वी आनन्दरस वा ज्ञानरस है **तम्** उस **श्रवाय्यम्** यश के हेतु रस को **आ भर** प्रदान कीजिए, **यः** जो आनन्द-रस या ज्ञान-रस **पञ्च चर्षणीः** पांच ज्ञान की साधन इन्द्रियों को या पांच प्राणों को **अभि** अभिव्याप्त कर लेवे, और **येन** जिस आनन्द-रस वा ज्ञान-रस से, हम **रयिम्** भौतिक और आध्यात्मिक धन को **वनामहे** प्राप्त करें ॥३॥

भावार्थ– जैसे परमात्मा अपने उपासक को ऐसा आनन्द प्रदान करता है जिससे वह दिव्य सम्पत्ति पा लेता है, वैसे ही गुरुओं को चाहिए कि वे विद्यार्थियों को वैसा ज्ञान देवें जिससे धन कमाना सुलभ हो ॥३॥

॥१७॥ अथ 'वृषा मतीनां' इत्यादिकस्य सप्तदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** १, २ सिकता निवावरी, ३ पृष्णयोऽजाः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** जगती । **स्वरः** निषादः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५५९ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता। अत्र बहूनां सोमानां परिचयो दीयते।

१ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
८२१. **वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सोमो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः ।**
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
प्राणा सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्द्याविशन्मनीषिभिः ॥१॥[1]

१ २र ३ २ ३ २ ३ २
वृषा मतीनाम् पवते विचक्षणः वि चक्षणः ।
१ २र १ २र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
सोमः अह्नाम् अ ह्नाम् प्रतरीता प्र तरीता उषसाम् दिवः ।
३ २ ३ २ १ २र ३ १ २ ३
प्राणा प्र आना सिन्धूनाम् कलशान् अचिक्रदत् ।
१ २र १ २र ३ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रस्य हार्दि आविशन् आ विशन् मनीषिभिः ॥१॥

पदार्थः– **सोमः** एकः सोमः **विचक्षणः** विद्वान् आचार्यो वर्तते, यः **मतीनाम्** ज्ञानानाम् **वृषा** वर्षकः सन् **पवते** शिष्यान् पुनाति । द्वितीयः सोमः परमेश्वरोऽस्ति यः **अह्नाम्** दिवसानाम्, **उषसाम्** प्रभातरक्तिम्नाम्, **दिवः** सूर्य्यस्य च **प्रतरीता** प्रकर्षेण तारयिता वर्तते । तृतीयः सोमः चन्द्रमाः अस्ति यः **सिन्धूनाम्** समुद्राणाम् **प्राणा** प्राणः प्राणयिता प्रवर्द्धको भवति । चतुर्थः सोमः सोमौषध्याः रसो विद्यते यः **कलशान्** द्रोणकलशपात्राणि **अचिक्रदत्** क्रन्दयति शब्दयति । पञ्चमः सोमो ब्रह्मानन्दरसोऽस्ति यः **मनीषिभिः** मनसा क्रियमाणैः स्तोत्रैः सह **इन्द्रस्य** जीवात्मनः **हार्दि** हृदयम् **आ विशत्** प्रविशति ॥१॥

भावार्थः– वेदेषु 'सोम' शब्दस्य बहवो वाच्यार्था भवन्ति ये प्रकरणानुसारं वेदज्ञैः सुधीभिरुन्नेयाः ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में क्रमांक ५५९ पर परमात्मा के विषय में व्याख्यात की जा चुकी है । यहां बहुत से सोमों का परिचय दिया जा रहा है ।

पदार्थ– **सोमः** एक सोम **विचक्षणः** विद्वान् आचार्य है, जो **मतीनाम्** ज्ञानों का **वृषा** बरसाने वाला होता हुआ **पवते** शिष्यों को पवित्र करता है । द्वितीय सोम परमेश्वर है, जो **अह्नाम्** दिनों का, **उषसाम्** उषाओं का और **दिवः** सूर्य का **प्रतरीता** उत्तम रूप से तराने वाला अर्थात् व्यतीत कराने वाला है । तृतीय सोम चन्द्रमा है, जो **सिन्धूनाम्** समुद्रों का **प्राणा** बढ़ाने वाला होता है । चौथा सोम सोमौषधि का रस है, जो **कलशान्** द्रोण-

---

१. ऋ० ९।८६।१९ 'सोमो अह्नः' 'क्राणा सिन्धूनां कलशाँ अवीवशदिन्द्रस्य' इति पाठः। साम० ५५९ । अथ० १८।४।५८ प्राणः सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्दिमाविशन्मनीषया' इत्युत्तरार्द्धपाठः ।

कलशों को **अचिक्रदत्** शब्दायमान करता है। पांचवां सोम ब्रह्मानन्द-रस है, जो **मनीषिभिः** मन से किये जाते हुए स्तोत्रों के साथ **इन्द्रस्य** जीवात्मा के **हार्दि** हृदय में **आ विशत्** प्रविष्ट होता है ॥१॥

भावार्थ— वेदों में सोम शब्द के बहुत से वाच्यार्थ होते हैं, जो प्रकरणानुसार वेदज्ञ विद्वानों को समझ लेने चाहिएं ॥१॥

अथ परमात्मसोमो वर्ण्यते।

८२२. **मनीषिभिः पवते पूर्व्यः कविर्नृभिर्यतः परि कोशाँ असिष्यदत्।**
त्रितस्य नाम जनयन्मधु क्षरन्निन्द्रस्य वायुं सख्याय वर्धयन् ॥२॥[1]

मनीषिभिः पवते पूर्व्यः कविः। नृभिः यतः परि कोशान् असिष्यदत्।
त्रितस्य नाम जनयन् मधु क्षरन्। इन्द्रस्य वायुम् सख्याय स ख्याय वर्धयन् ॥२॥

पदार्थः— **पूर्व्यः** श्रेष्ठः **कविः** वेदकाव्यस्य कविः, क्रान्तद्रष्टा, मेधावी स सोमः परमेश्वरः **पवते** हृदयानि पुनाति। **मनीषिभिः** मेधाविभिः **नृभिः** उपासकजनैः **यतः** परिगृहीतः, ध्यातः सः। [यमु उपरमे, निष्ठान्तं रूपम्।] **कोशान्** देहस्थेषु पञ्चकोशेषु **परि असिष्यदत्** परिस्रावयति रसम्, किञ्च, सः **त्रितस्य** त्रिभिर्ज्ञानकर्मोपासनैर्युक्तस्य उपासकस्य **नाम** यशः **जनयन्** उत्पादयन्, **मधु** आनन्दम् **क्षरन्** स्रावयन् **इन्द्रस्य** जीवात्मनः **सख्याय** सखित्वाय, तस्य **वायुम्** प्राणम् **वर्धयन्** वृद्धिं गमयन्, भवतीति शेषः ॥२॥

भावार्थः— परमेश्वर उपासकं स्वसखायं कृत्वा तस्मै दिव्यमानन्दरूपं मधु स्रावयति ॥२॥

अगले मंत्र में परमात्मारूप सोम का वर्णन है।

पदार्थ— **पूर्व्यः** श्रेष्ठ, **कविः** वेदकाव्य का कवि, क्रान्तद्रष्टा, मेधावी वह सोम परमेश्वर **पवते** हृदयों को पवित्र करता है। **मनीषिभिः** बुद्धिमान् **नृभिः** उपासक जनों से **यतः** ग्रहण किया हुआ, ध्यान किया गया वह **कोशान्** शरीरस्थ पंच कोशों में **परि असिष्यदत्** रस को प्रवाहित करता है। वह **त्रितस्य** ज्ञान, कर्म, उपासना तीनों से युक्त उपासक के **नाम** यश को **जनयन्** उत्पन्न करता हुआ, **मधु** आनन्द को **क्षरन्** झराता हुआ **इन्द्रस्य** जीवात्मा के **सख्याय** सहयोग के लिए, उसके **वायुम्** प्राण को **वर्धयन्** बढ़ाता रहता है ॥२॥

भावार्थ— परमेश्वर उपासक को अपना सखा बनाकर उसके लिए दिव्य आनन्द-रूप मधु टपकाता रहता है ॥२॥

अथ पुनः परमात्मविषयमाह।

८२३. **अयं पुनान उषसो अरोचयदयं सिन्धुभ्यो अभवदु लोककृत्।**
अयं त्रिः सप्त दुदुहान आशिरं सोमो हृदे पवते चारु मत्सरः ॥३॥[2]

अयम् पुनानः उषसः अरोचयत्। अयम् सिन्धुभ्यः अभवत् उ लोककृत् लोक कृत्।
अयम् त्रिः सप्त दुदुहानः आशिरम् आ शिरम्।
सोमः हृदे पवते चारु मत्सरः ॥३॥

---

१. ऋ० ९।८६।२० 'परि कोशाँअचिक्रदत्' 'मधु क्षरदिन्द्रस्य वायोः सख्याय कर्तवे' इति पाठः।

२. ऋ० ९।८६।२१, 'अरोचयदयं' इत्यत्र 'विरोचयदुयं' इति पाठः।

पदार्थः— **अयम्** एषः सोमः सर्वोत्पादकः परमात्मा **पुनानः** पावयन् **उषसः** प्रभातकान्तीः **अरोचयत्** अदीपयत् । **अयम्** एषः सोमः सर्वप्रेरकः परमात्मा **सिन्धुभ्यः** नदीभ्यः **लोककृत्** यशस्कृत् **अभवत् उ** अजायत **खलु** । **अयम्** एषः **सोमः** रसागारः परमात्मा **त्रिः सप्त** एकविंशतिच्छन्दोयुक्ता वेदवाग्रूपाः गाः **आशिरम्** ज्ञानदुग्धम् **दुदुहानः** दुहानः । [द्विकर्मकोऽयं दुह् धातुः ।] **हृदे** उपासकस्य हृदयाय **मत्सरः** आनन्दजनकः सन् **चारु** रुचिरं यथा स्यात् तथा **पवते** प्रवहति ॥३॥

अत्रैकेन सोमरूपेण कर्तृकारकेणानेकक्रियायोगाद् दीपकालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— परमात्मैव सर्वं सृष्टिकर्म सञ्चालयति, स एव वेदरूपां गां नः प्रददौ, स एव च स्तोतुर्हृदये रसं सञ्चारयति ॥३॥

अस्मिन्नपि खण्डे परमेश्वरस्याचार्यस्य ब्रह्मानन्दरसादेश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन सह संगतिरस्ति॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा का विषय है ।

पदार्थ— **अयम्** इस **पुनानः** पवित्र करते हुए सोम ने, सर्वोत्पादक परमात्मा ने **उषसः** उषाओं को **अरोचयत्** चमकाया है । **अयम्** यह सोम, सर्वप्रेरक परमात्मा **सिन्धुभ्यः** नदियों के लिए **लोककृत्** यश करने वाला **अभवत् उ** हुआ है । **अयम्** यह **सोमः** रसागार परमात्मा **त्रिः सप्त** इक्कीस छन्दों से युक्त वेदवाणी रूप **गौओं** से **आशिरम्** ज्ञानरूप दुग्ध **दुदुहानः** दुहता हुआ **हृदे** उपासक के हृदय के लिए **मत्सरः** आनन्दजनक होता हुआ **चारु** सुन्दर रूप में **पवते** प्रवाहित हो रहा है ॥३॥

यहां एक सोमरूप कर्त्ता कारक से अनेक क्रियाओं का योग होने से दीपक अलंकार है ॥३॥

भावार्थ— परमात्मा ही सारे सृष्टि के कार्य का संचालन करता है, उसी ने हमें वेद-रूपिणी गाय दी है, वही स्तोता के हृदय में रस का संचार करता है ॥३॥

इस खण्ड में भी परमेश्वर, आचार्य तथा ब्रह्मानन्द-रस आदि का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

तृतीय अध्याय में पञ्चम खण्ड समाप्त ।

॥१८॥ अथ 'एवा ह्यसि' इत्यादिकस्य अष्टादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरसः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २३२ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता । अत्र स्वान्तरात्मा समुद्बोध्यते ।

३ १र २र ३ २३ १र २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
८२४. एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः । एवा ते राध्यं मनः ॥१॥[1]
३ २ १ २र ३ २ ३ २ १ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २र १ २र
एव हि असि वीरयुः । एव शूरः उत स्थिरः । एव ते राध्यम् मनः ॥१॥

पदार्थः— हे मदीय अन्तरात्मन् ! त्वम् **एव हि** सत्यमेव **वीरयुः** वीरान् कामयमानः **असि** वर्तसे, **एव** सत्यमेव त्वम् **शूरः** वीरः **उत** अपि च **स्थिरः** विपत्सु युद्धेषु च अविचलः असि । **एव** सत्यमेव **ते** तव **मनः** चित्तम् **राध्यम्** साद्धुं योग्यम् अस्ति ॥१॥

---

१. ऋ० ८।९२।२८, अथ० २०।६०।१ । साम० २३२ ऋषिः श्रुतकक्षः ।

भावार्थः— मनुष्यस्यात्मा चेत् स्वशक्तिं परिचिनुयात् तर्हि जगति महान्ति कर्माणि कर्त्तुं शक्नुयात् ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २३२ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां अपने अन्तरात्मा को उद्बोधन है ।

पदार्थ— हे मेरे अन्तरात्मा ! तू **एव हि** सचमुच **वीरयुः** वीरों का प्रेमी **असि** है, **एव** सचमुच, तू **शूरः** शूर **उत** और **स्थिरः** विपत्तियों तथा युद्धों में अविचल रहने वाला है । **एव** सचमुच **ते** तेरा **मनः** मन **राध्यम्** सिद्धि प्राप्त करने योग्य है ॥१॥

भावार्थ— मनुष्य का आत्मा यदि अपनी शक्ति को पहचान ले तो संसार में महान् कार्यों को कर सकता है ॥१॥

एवं स्वात्मानमुद्बोध्य सम्प्रति परमात्मानं ब्रूते ।

८२५. **एवा रातिस्तुविमघ विश्वेभिर्धायि धातृभिः । अधा चिदिन्द्र नः सचा ॥२॥**[1]

एव रातिः तुविमघ तुवि मघ । विश्वेभिः धायि धातृभिः ।
अध चित् इन्द्र नः सचा ॥२॥

पदार्थः— हे **तुविमघ** बहुधन परमेश ! **एव** सत्यमेव, तव **रातिः** दानम् **विश्वेभिः** सर्वैः **धातृभिः** धारकैः **धायि** अधायि, धियते । **अध चित्** तदतिरिक्तम्, हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् विपत्तिविदारक परमात्मन्, त्वम् **नः** अस्माकम् **सचा** नित्यं सहभवः सखा भवसि ॥२॥

भावार्थः— जगदीश्वरश्चेदस्माकं सखा जायते तर्हि न किमप्यस्यभ्यं दुर्लभम् ॥२॥

इस प्रकार अपने आत्मा को उद्बोधन देकर अब परमात्मा को कहते हैं ।।

पदार्थ— हे तुविमघ बहुत धनी परमेश ! **एव** सचमुच, तेरा **रातिः** दान **विश्वेभिः** सब **धातृभिः** धारकों **के द्वारा धायि** धारण किया हुआ है । **अध चित्** इसके अतिरिक्त, हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवान् विपत्तिविदारक **परमात्मन्** ! तू **नः** हमारा **सचा** नित्य का साथी है ॥२॥

भावार्थ— जगदीश्वर यदि हमारा सखा हो जाता है तो हमारे लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता ॥२॥

अथ पुनरन्तरात्मानमुद्बोधयति ।

८२६. **मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते । मत्स्वा सुतस्य गोमतः ॥३॥**[2]

मा उ सु ब्रह्मा इव तन्द्रयुः । भुवः वाजानां पते । मत्स्व सुतस्य गोमतः ॥३॥

पदार्थः— हे **वाजानां पते** बलानामधिपते मदीय अन्तरात्मन् ! **ब्रह्मा इव** यज्ञस्य ब्रह्मा इव उच्चपदे विद्यमानः त्वम् **मा उ सु** न खलु कदापि **तन्द्रयुः** आलस्यकामः **भुवः** भव । अपि च, **गोमतः सुतस्य** गोदुग्धयुक्तेन सोमरसेन, ज्ञानकर्मयुक्तेन उपासनारसेन इत्यर्थः । [तृतीयार्थे षष्ठी ।] **मत्स्व** आनन्दं लभस्व । [मदी हर्षग्लेपनयोः भ्वादिः, आत्मनेपदं छान्दसम्] ॥३॥

---

१. ऋ० ८।९२।२९, अथ० २०।६०।२ उभयत्र 'तुविमघ' इत्यत्र 'तुवीमघ' 'नः' इत्यत्र च 'मे' इति पाठः ।
२. ऋ० ८।९२।३०, अथ० २०।६०।३ ।

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— मनुष्यैः कदापि प्रमादो न कार्यः प्रत्युत जागरूकैर्भूत्वा सर्वेषु शुभकर्मसूत्साहः सदा धारणीयः॥३॥

अगले मन्त्र में फिर अन्तरात्मा को उद्बोधन है ।

पदार्थ— हे **वाजानां पते** बलों के अधिपति मेरे अन्तरात्मन् ! **ब्रह्मा इव** यज्ञ के ब्रह्मा के समान उच्च पद पर विद्यमान तू **मा उ सु** कभी मत **तन्द्रयुः** आलसी **भुवः** हो । और **गोमतः सुतस्य** गोदुग्धयुक्त सोमरस से अर्थात् ज्ञानकर्मयुक्त उपासना-रस से **मत्स्व** आनन्द लाभ करता रह ॥३॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ— मनुष्यों को चाहिए कभी प्रमाद न करें, प्रत्युत जागरूक होकर सब शुभकर्मों में उत्साह धारण करें ॥३॥

॥१९॥ अथ 'इन्द्रं विश्वा' इत्यादिकस्य एकोनविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** जेता माधुच्छन्दसः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३४३ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता । अत्र जगदीश्वरस्याचार्यस्य च विषयो वर्ण्यते ।

८२७. **इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।**
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥१॥[1]

इन्द्रम् विश्वाः अवीवृधन् । समुद्रव्यचसम् समुद्र व्यचसम् गिरः ।
रथीतमम् रथीनाम् । वाजानाम् सत्पतिम् सत् पतिम् पतिम् ॥१॥

पदार्थः— **विश्वाः** सर्वाः **गिरः** वाचः **समुद्रव्यचसम्** समुद्रवद् अन्तरिक्षवद् वा विशालम्, उदारहृदयमित्यर्थः, **रथीनाम्** रथस्वामिनां मध्ये **रथीतमम्** श्रेष्ठं रथस्वामिनम्, **वाजानाम्** आत्मबलानां विद्याबलानां च **पतिम्** अधीश्वरम्, **सत्पतिम्** सतां जनानां विद्यार्थिनां वा पतिं पालकम् **इन्द्रम्** जगदीश्वरं विद्वांसम् आचार्यं वा **अवीवृधन्** महिम्ना वर्धयन्ति ॥१॥[2]

'समुद्रव्यचसम् इन्द्रम्' इत्यत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— यथा जगदीश्वरो ब्रह्माण्डरथस्य श्रेष्ठः स्वामी वर्तते तथाऽऽचार्यो गुरुकुलरथस्य श्रेष्ठः कुलपतिर्भवति ॥१॥

प्रथम ऋचा का पूर्वार्चिक में ३४३ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में भाष्य किया गया था । यहां जगदीश्वर और आचार्य का विषय वर्णित है ।

---

१. ऋ० १।११।१, य० १२।५६, १५।६१, १७।६१, साम० ३४३ ।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतमृग्भाष्ये ईश्वरविजेतृशूरयोर्विषये, यजुर्भाष्ये च १२।५६ इत्यत्र कुमारकुमारीणां कर्त्तव्यविषये, १५।६१ इत्यत्र राजप्रजाविषये, १७।६१ इत्यत्र च जगत्स्रष्टुरीश्वरस्य गुणविषये व्याख्यातवान् ॥

पदार्थ– विश्वाः सब **गिरः** वाणियां **समुद्रव्यचसम्** समुद्र या अन्तरिक्ष के समान विशाल अर्थात् उदारहृदय, **रथीनाम्** रथस्वामियों के मध्य **रथीतमम्** श्रेष्ठ रथस्वामी, **वाजानाम्** आत्मबलों और विद्याबलों के **पतिम्** अधीश्वर, **सत्पतिम्** श्रेष्ठ मनुष्यों वा श्रेष्ठ विद्यार्थियों के पालनकर्ता **इन्द्रम्** जगदीश्वर वा विद्वान् आचार्य को **अवीवृधन्** महिमा से बढ़ाती हैं।।१।।

'समुद्रव्यचसम् इन्द्रम्' में वाचकलुप्तोपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ– जैसे जगदीश्वर ब्रह्माण्डरूप रथ का श्रेष्ठ स्वामी है, वैसे ही आचार्य गुरूकुलरूप रथ का श्रेष्ठ कुलपति होता है ।।१।।

अथ जगदीश्वरमाचार्यं च प्रार्थयते ।

८२८. **सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते ।**
त्वामभि प्र नोनुमो जेतारमपराजितम् ।।२।।[1]

सख्ये स ख्ये ते इन्द्र वाजिनः । मा भेम शवसः पते । त्वाम् अभि प्र नोनुमः ।
जेतारम् अपराजितम् अ पराजितम् ।।२।।

पदार्थः– हे **शवसः पते** बलस्य अधीश्वर **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् अविद्याविदारक जगदीश्वर आचार्य वा ! **वाजिनः** बलवन्तो वयम् **ते** तव **सख्ये** सखित्वे **मा भेम** मा भैष्म । [बिभी भये इत्यस्माल्लुङि बहुलं छन्दसीति च्लेर्लुक् ।] **जेतारम्** सर्वविघ्नविजयिनम् , **अपराजितम्** कयापि बाधया न पराजितम् **त्वाम्** जगदीश्वरमाचार्यं वा **अभि** अभिलक्ष्य, वयम् **प्र नोनुमः** अतिशयेन पुनः पुनः स्तुमः । [णु स्तुतौ इत्यस्माद् यङ्लुकि प्रयोगः ।] ।।२।।[2]

भावार्थः– ब्रह्मबलात्मबलविद्याबलादिषु बलिष्ठो निखिलविपद्विजेता केनाप्यपराजितो जगदीश्वर आचार्यश्च यद्यस्माकं सखा जायते तर्हि निर्भयाः सन्तो वयं सर्वमप्युत्कर्षमधिगन्तुं पारयामः ।।२।।

अगले मन्त्र में जगदीश्वर वा आचार्य से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ– हे **शवसः पते** बल के अधीश्वर **इन्द्र** परमैश्वर्यवान्, अविद्याविदारक जगदीश्वर वा आचार्य ! **वाजिनः** बलवान् हम **ते** आपकी **सख्ये** मित्रता में रहते हुए **मा भेम** भयभीत न हो । **जेतारम्** सब विघ्नों पर विजय पाने वाले, **अपराजितम्** किसी भी बाधा से पराजित न होने वाले **त्वाम्** तुझ जगदीश्वर वा आचार्य को **अभि** लक्ष्य करके, हम **प्र नोनुमः** अतिशय बार-बार स्तुति करते हैं।।२।।

भावार्थ– ब्रह्मबल, आत्मबल, विद्याबल आदियों में बलिष्ठ, सब विपत्तियों पर विजय पाने वाले, किसी से भी पराजित न होने वाले जगदीश्वर और आचार्य यदि हमारे साथी हो जाते हैं तो निर्भय रहते हुए हम सम्पूर्ण उत्कर्ष को पा सकते हैं।।२।।

---

१. ऋ० १।११।२, 'प्र णोनुमो' इति पाठः ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतमीश्वरविषये सभाध्यक्षविषये च व्याख्यातवान् ।

अथ पुनर्जगदीश्वराचार्ययोर्विषयमाह ।

३ १र २र ३ २ ३ १र २र ३ १ २
८२९. **पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न वि दस्यन्त्यूतयः ।**
३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १२ ३ २
यदा वाजस्य गोमत स्तोतृभ्यो मंहते मघम् ॥३॥[1]
३ २ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १२र १२र
पूर्वीः इन्द्रस्य रातयः । न वि दस्यन्ति ऊतयः । यदा वाजस्य गोमतः ।
३ १ २ १२र ३ २
स्तोतृभ्यः मंहते मघम् ॥३॥

पदार्थः— **इन्द्रस्य** परमैश्वर्यवतः अविद्याविदारकस्य जगदीश्वरस्य आचार्यस्य च **रातयः** दत्तयः **पूर्वीः** पूर्व्यः श्रेष्ठाः सन्ति । तस्य जगदीश्वरस्य आचार्यस्य च **ऊतयः** रक्षाः **न विदस्यन्ति** कदापि न क्षीयन्ते, **यदा** यस्मिन् काले सः **स्तोतृभ्यः** स्वसद्गुणकर्मप्रशंसकेभ्यः **गोमतः** प्रशस्तधेनुवाग्विद्यापृथिवीन्द्रियादियुक्तस्य **वाजस्य** बलस्य **मघम्** धनम् **मंहते** ददाति । [मंहते दानकर्मा । निघं० ३।२० ।] ॥३॥[2]

भावार्थः— यथा जगदीश्वरस्य दानरक्षणादीनि सर्वैर्नित्यं प्राप्यन्ते तथैवाचार्यस्यापि सदाचारविद्यादि-दानान्यविद्यादुर्गुणदुर्व्यसनादिभ्यो रक्षणानि च सततं प्रजाभिः प्राप्तव्यानि ॥३॥

अस्मिन् खण्डेऽन्तरात्मोद्बोधनपूर्वकं जगदीश्वराचार्ययोर्विषयस्य वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन सह संगतिरस्ति ॥

अगले मन्त्र में पुनः जगदीश्वर और आचार्य का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— **इन्द्रस्य** परमैश्वर्यवान् अविद्याविदारक जगदीश्वर वा आचार्य के **रातयः** दान **पूर्वीः** श्रेष्ठ हैं। उस जगदीश्वर वा आचार्य की **ऊतयः** रक्षाएं **न विदस्यन्ति** कभी क्षीण नहीं होतीं, **यदा** जब वह **स्तोतृभ्यः** अपने सद्गुण व सत्कर्मों के प्रशंसकों को **गोमतः** प्रशस्त गाय, वाणी, विद्या, भूमि, इन्द्रिय आदि से युक्त **वाजस्य** बल का **मघम्** धन **मंहते** प्रदान करता है ॥३॥

भावार्थ— जैसे जगदीश्वर के दान, रक्षण आदि सबको नित्य प्राप्त होते हैं, वैसे ही आचार्य के भी सदाचार-विद्या आदि के दान और अविद्या, दुर्गुण, दुर्व्यसन आदि से रक्षण निरन्तर प्रजाओं को प्राप्त करने चाहिएं ॥३॥

इस खण्ड में अन्तरात्मा के उद्बोधनपूर्वक जगदीश्वर तथा आचार्य का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्वखण्ड के साथ संगति है ॥

तृतीय अध्याय में षष्ठ खण्ड समाप्त ।

तृतीय अध्याय समाप्त ।

द्वितीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध समाप्त ।

---

१. ऋ० १।११।३, 'यदा वाजस्य गोमत' इत्यत्र 'यदी वाजस्य गोमतः' इति पाठः ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं श्लेषेण परमेश्वरविषये सभासेनाध्यक्षविषये च व्याख्यातवान् ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः, द्वितीये प्रपाठके द्वितीयोऽर्धश्च ।

॥१॥ अथ 'एते असृग्र०' इत्यादिकस्य प्रथमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** जमदग्निर्भार्गवः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमायामृचि उपासकव्यवहारमाह ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ २ र
८३०. एते असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाशवः। विश्वान्यभि सौभगा ॥१॥[1]

३ २ ३ १ २ र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
एते असृग्रम् इन्दवः । तिरः पवित्रम् आशवः ।
१ २ र ३ २ १ २ र ३
विश्वानि अभि सौभगा सौ भगा ॥१॥

पदार्थः— **एते** इमे **तिरः** तिरश्चीनगत्या **आशवः** आशु अग्रगामिनः **इन्दवः** तेजस्विनः उपासकाः **पवित्रम्** पवित्रव्यवहारम् **असृग्रम्** असृजन् सृजन्ति । [सृज विसर्गे धातोः लडर्थे लङि प्रथमपुरुषबहुवचने असृजन् इति प्राप्ते 'बहुलं छन्दसि' अ० ७।१।८ इति रुडागमः, वर्णव्यत्ययेन जकारस्य गकारः, नकारस्य च मकारः ।] अत एव **विश्वानि** सर्वाणि **सौभगा** सौभगानि, सौभाग्यानि **अभि** अभिप्राप्नुवन्ति ॥१॥

भावार्थः— जगदीश्वरोपासनया स्वहृदयं पवित्रं कृत्वा समाजे सर्वान् प्रति पवित्रो व्यवहारश्चेत् क्रियते तर्हि नूनं सर्वाणि सौभाग्यानि प्राप्यन्ते ॥१॥

प्रथम ऋचा में उपासक का व्यवहार वर्णित है ।

पदार्थ— **एते** ये **तिरः** तिरछी गति से **आशवः** शीघ्र आगे बढ़ने वाले **इन्दवः** तेजस्वी उपासक लोग **पवित्रम्** पवित्र व्यवहार को **असृग्रम्** उत्पन्न करते हैं। इसीलिए **विश्वानि** सब **सौभगा** सौभाग्यों को **अभि** प्राप्त कर लेते हैं॥१॥

भावार्थ— जगदीश्वर की उपासना से अपने हृदय को पवित्र करके समाज में सबके प्रति पवित्र व्यवहार यदि किया जाए तो निश्चय ही सब सौभाग्य प्राप्त हो जाते हैं॥१॥

अथ पुनरपि स एव विषय उच्यते ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २
८३१. विघ्नन्तो दुरिता पुरु सुगा तोकाय वाजिनः। त्मना कृण्वन्तो अर्वतः ॥२॥[2]

१ २ ३ १ २ र ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
विघ्नन्तः वि घ्नन्तः दुरिता दुः इता पुरु। सुगा सु गा तोकाय वाजिनः।
१ २ र ३ १ २ १ २ र
त्मना कृण्वन्तः अर्वतः ॥२॥

पदार्थः— **वाजिनः** आत्मबलयुक्ताः एते सोमासः सौम्यगुणाः उपासकाः **पुरु** पुरूणि **दुरिता** दुरितानि, **दुर्गुणान्** दुर्व्यसनानि दुःखानि च **विघ्नन्तः** विनाशयन्तः, **तोकाय** अपत्याय **सुगा** सुगानि सुप्राप्याणि **भद्राणि**

---

१. ऋ० ९।६२।१ ।
२. ऋ० ९।६२।२, 'तना कृण्वन्तो अर्वते' इति तृतीयः पादः ।

सृजन्तः, **त्मना** आत्मनश्च । [मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः अ० ६।४।१४१ इत्याकारलोपः।] **अर्वतः** अश्वान्, अश्वानिव प्रगतिशीलान् **कृण्वन्तः** कुर्वन्तः **सुष्टुतिम्** शोभनां स्तुतिम् **अभ्यर्षन्ति** प्राप्नुवन्ति। ['अभ्यर्षन्ति सुष्टुतिम्' इत्युत्तर-मन्त्रादाकृष्यते]॥२॥

भावार्थः— हार्दिक्या उपासनाया इदमनिवार्यं फलं यदुपासकस्य दुरितनाशो भद्रप्राप्तिरग्रेसरत्वं चेति ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर वही विषय है ।

पदार्थ— **वाजिनः** आत्मबल से युक्त ये सोम अर्थात् सौम्यगुणी उपासक **पुरु** बहुत से **दुरिता** दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को **विध्नन्तः** विनष्ट करते हुए, **तोकाय** सन्तान के लिए **सुगा** आसानी से प्राप्त होने योग्य भद्रों को रचते हुए, और **त्मना** स्वयं को **अर्वतः** घोड़ों के समान प्रगतिशील **कृण्वन्तः** करते हुए **सुष्टुतिम्** उत्तम प्रशस्ति को **अभ्यर्षन्ति** प्राप्त करते हैं। [अभ्यर्षन्ति सुष्टुतिम्—यह वाक्य अगले मन्त्र से यहां लाया गया है] ॥२॥

भावार्थ— हृदय से की गयी उपासना का यह अनिवार्य फल होता है कि उपासक के दुरित नष्ट हों, भद्र की प्राप्ति हो और वह आगे बढ़े ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३क २र ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
८३२. कृण्वन्तो वरिवो गवेऽभ्यर्षन्ति सुष्टुतिम् । इडामस्मभ्यं संयतम् ॥३॥[1]

३ १ २ १२र १२र ३ २ ३ २ ३ २
कृण्वन्तः वरिवः गवे। अभि अर्षन्ति सुष्टुतिम् सु स्तुतिम् ।

१२र ३ १ २ ३ १ २ ३ १२र
इडाम् अस्मभ्यम् संयतम् सम् यतम् ॥३॥

पदार्थः— एते सोमासः तेजस्विनः उपासकाः **गवे** स्वकीयाय जीवात्मने इन्द्रियगणाय च **वरिवः** ऐश्वर्यम् [वरिवः इति धननाम । निघं०२।१०।] किञ्च **अस्मभ्यम्** सखिभ्यो नः **संयतम्** संयमयुक्तां । [संपूर्वात् यम उपरमे धातोः क्विपि स्त्रियां द्वितीयैकवचने रूपम् ।] **इडाम्** भद्रां वाचम् [इडा इति वाङ्नाम निघं १।११] **कृण्वन्तः** कुर्वन्तः, प्रयुञ्जानाः **सुष्टुतिम्** सुप्रशस्तिम् **अभ्यर्षन्ति** प्राप्नुवन्ति ॥३॥

भावार्थः— उपासकस्यात्ममनोबुद्धिवाक्प्राणेन्द्रियादीनि सर्वाण्यपि दिव्यैश्वर्यमयानि जायन्ते, स चान्यान् प्रति मधुरां भद्रामेव वाचं प्रयुञ्जानः सुप्रशस्तिं लभते ॥३॥

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— ये सोम अर्थात् तेजस्वी उपासक लोग **गवे** अपने जीवात्मा और इन्द्रियसमूह के लिए **वरिवः** ऐश्वर्य को, और **अस्मभ्यम्** हम सखाओं के लिए **संयतम्** संयमयुक्त **इडाम्** भद्र वाणी को **कृण्वन्तः** प्रयुक्त करते हुए **सुष्टुतिम्** उत्तम प्रशस्ति को **अभ्यर्षन्ति** प्राप्त करते हैं ॥३॥

भावार्थ— उपासक के आत्मा, मन, बुद्धि, वाणी, प्राण, इन्द्रिय आदि सब दिव्य ऐश्वर्य से युक्त हो जाते हैं और वह अन्यों के प्रति मधुर तथा भद्र वाणी का ही प्रयोग करता हुआ सुप्रशस्ति प्राप्त करता है ॥३॥

---

१. ऋ० ९।६२।३ ।

॥२॥ अथ 'राजा मेधाभि०' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् परमेश्वरनृपतियोगिचन्द्रविषयमाह ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
८३३. **राजा मेधाभिरीयते पवमानो मनावधि। अन्तरिक्षेण यातवे ॥१॥**[1]

१ २र ३ १ २ ३ १२र ३ २ १ २र ३ १ २ १२र
राजा मेधाभिः ईयते। पवमानः मनौ अधि। अन्तरिक्षेण यातवे ॥१॥

पदार्थः— प्रथमः परमेश्वरपरः। **राजा** विश्वब्रह्माण्डस्य सम्राट्, **पवमानः** पवित्रतादायकः सोमः परमेश्वरः **मनौ अधि** मननशीलस्य उपासकस्य अन्तःकरणे **मेधाभिः** धारणावतीभिः बुद्धिभिः सह **ईयते** गच्छति। [ईङ् गतौ दिवादिः।] स एव मंगलबुधबृहस्पतिपृथिवीचन्द्रादीन् ग्रहोपग्रहान् पक्ष्यादींश्च **अन्तरिक्षेण** आकाश-मार्गेण **यातवे** यातुम् समर्थान् करोति। [या प्रापणे धातोः 'तुमर्थे०' अ० ३।४।९ इत्यनेन तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः] ॥

द्वितीयः नृपतिपरः। **राजा** राष्ट्रस्य नृपतिः **पवमानः** राष्ट्रवासिनामाचरणेषु पवित्रतां जनयन् **मनौ अधि** विदुषः प्रजावर्गस्य मध्ये **मेधाभिः** शिल्पिनां बुद्धिकोशलैः **अन्तरिक्षेण यातवे** विमानद्वारा आकाशमार्गेण गन्तुम् **ईयते** समर्थो भवति ॥

तृतीयः योगिपरः। **राजा** योगिराट् **पवमानः** स्वान्तःकरणं व्यवहारं च पवित्रं कुर्वन् **अन्तरिक्षेण यातवे** आकाशमार्गेण गन्तुम्, आकाशगमनसिद्धिं प्राप्तुमित्यर्थः **मेधाभिः** ध्यानैः **मनौ अधि** मननशीले स्वान्तरात्मनि सर्वज्ञे परमात्मनि वा **ईयते** गच्छति, स्वकीयं मनः स्वात्मनि परमात्मनि च केन्द्रितं करोतीत्याशयः ॥

चतुर्थः चन्द्रपरः। **राजा** राजमानः सोमः चन्द्रमाः **पवमानः** स्वज्योत्स्नया भूमण्डलं पावयन् **मनौ अधि** दीप्तिमतः सूर्यस्य अधिष्ठातृत्वे। [मन्यते दीप्तिकर्मा। निरु० १०।२९।] **मेधाभिः** आकर्षणद्वारा सूर्येण सह संगमैः। [मेधृ मेधाहिंसनयोः संगमे च भ्वादिः।] **अन्तरिक्षेण यातवे** आकाशमार्गेण यातुम् **ईयते** प्रवर्तते ॥१॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— यथा पक्षिणो ग्रहोपग्रहाश्चाकाशे भ्रमन्ति, मनुष्याश्च विमानैराकाशयात्रां कुर्वन्ति, तथैव योगसिद्ध्या योगिनोऽप्याकाशे भ्रमितुं क्षमन्ते ॥१॥[2]

प्रथम ऋचा परमेश्वर, राजा, योगी व चन्द्रमा के विषय में है ।

पदार्थ— प्रथम परमेश्वर के पक्ष में। **राजा** विश्वब्रह्माण्ड का सम्राट्, **पवमानः** पवित्रतादायक सोम परमेश्वर **मनौ अधि** मननशील उपासक के अन्तःकरण में **मेधाभिः** धारणावती बुद्धियों के साथ **ईयते** पहुंचता है। वही मंगल, बुध, बृहस्पति, पृथिवी, चन्द्र आदि ग्रहोपग्रहों को तथा पक्षी आदियों को **अन्तरिक्षेण** आकाश मार्ग से **यातवे** गति करने के लिए समर्थ करता है ॥

---

१. ऋ० ९।६५।१६।

२. द्रष्टव्यम् —"कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्।" इति पतञ्जलिः (योग० ३।४२)। "यदा मनुष्यः स्वात्मना सह परमात्मानं युङ्क्ते तदाणिमादयः सिद्धयः प्रादुर्भवन्ति, ततोऽव्याहतगत्याभीष्टानि स्थानानि गन्तुं शक्नोति नान्यथा" इति य० १७।६७ भाष्यस्य भावार्थे दयानन्दः ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में । **राजा** राष्ट्र का सम्राट् **पवमानः** राष्ट्रवासियों के आचरण में पवित्रता उत्पन्न करता हुआ **मनौ अधि** विद्वान् प्रजावर्ग के मध्य में **मेधाभिः** शिल्पियों के बुद्धिकौशलों से **अन्तरिक्षेण यातवे** विमानों द्वारा आकाशमार्ग से यात्रा करने के लिए **ईयते** समर्थ होता है ।।

तृतीय योगी के पक्ष में । **राजा** योगिराज **पवमानः** अपने अन्तःकरण व व्यवहार को पवित्र करता हुआ **अन्तरिक्षेण यातवे** अन्तरिक्ष से जाने के लिए अर्थात् आकाशगमन की सिद्धि प्राप्त करने के लिए **मेधाभिः** ध्यानों के द्वारा **मनौ अधि** मननशील अपनी अन्तरात्मा में तथा सर्वज्ञ परमात्मा में **ईयते** पहुंचता है, अर्थात् मन को अपने अन्तरात्मा में और परमात्मा में केन्द्रित करता है ।।

चतुर्थ चन्द्रमा के पक्ष में । **राजा** देदीप्यमान चन्द्ररूप सोम **पवमानः** अपनी चांदनी से भूमण्डल को पवित्र करता हुआ **मनौ अधि** दीप्तिमान् सूर्य के अधिष्ठातृत्व में **मेधाभिः** आकर्षण द्वारा सूर्य के साथ संगम करके **अन्तरिक्षेण यातवे** आकाशमार्ग से भूमि और सूर्य की परिक्रमा करने के लिए **ईयते** प्रवृत्त होता है।।१।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।१।।

भावार्थ— जैसे पक्षी और ग्रह-उपग्रह आकाश में भ्रमण करते हैं और मनुष्य विमानों के द्वारा आकाश में यात्रा करते हैं, वैसे ही योगसिद्धि से योगी लोग भी आकाश में भ्रमण कर सकते हैं।।१।।[1]

अथ परमात्मानं प्रार्थयते ।।

८३४. **आ नः सोम सहो जुवो रूपं न वर्चसे भर । सुष्वाणो देववीतये ।।२।।**[2]

आ नः सोम सहः जुवः । रूपम् न वर्चसे भर । सुष्वाणः देववीतये देव वीतये ।।२।।

पदार्थः— हे **सोम** रसागार परमात्मान् । **देववीतये** दिव्यगुणानां प्राप्तये **सुष्वाणः** अभिषुतानन्दरसः त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **सहः** आत्मबलम् जुवः वेगांश्च । [गत्यर्थाद् जवतेः क्विपि द्वितीयाबहुवचने रूपम् ।] **आ भर** आहर, कथमिव ? **वर्चसे** कान्त्यै **रूपं न** यथा रूपम् आहरसि ।।२।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।२।।

भावार्थः— यदा परमात्मनः प्राप्ता आनन्दरसतरङ्गा उपासकस्य हृद्भूमिमाप्लावयन्ति तदा तत्र सर्वे सद्गुणाः स्वयम् अहमहमिकयेव प्रादुर्भवन्ति ।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **सोम** रसागार परमात्मन् ! **देववीतये** दिव्य गुणों की प्राप्ति कराने के लिए **सुष्वाणः** आनन्द-रस को अभिषुत किये हुए आप **नः** हमारे लिए **सहः** आत्मबल और **जुवः** वेगों को **आभर** लाओ, प्रदान करो, **वर्चसे** कान्ति के लिए **रूपं न** जैसे रूप प्रदान करते हो ।।२।।

यहां उपमालंकार है ।।२।।

भावार्थ— जब परमात्मा से प्राप्त आनन्द-रस की तरंगें उपासक की हृदयभूमि को आप्लावित करती हैं **तब उसके अन्दर सब** सद्गुण स्वयं मानों 'मैं पहले' 'मैं पहले' की होड़ लगाते हुए प्रकट हो जाते हैं।।२।।

---

१. द्रष्टव्यः योग ३।४२, य० १७।६७ दयानन्दभाष्य ।

२. ऋ० ९।६५।१८ ।

अथ पुनरपि परमात्मानं प्रार्थयते ।

८३५. आ न इन्दो शातग्विनं गवां पोषं स्वश्व्यम् । वहा भगत्तिमूतये ॥३॥[1]

आ नः इन्दो शतग्विनम् शत ग्विनम् । गवाम् पोषम् स्वश्व्यम् सु अश्व्यम् ।
वह भगत्तिम् ऊतये ॥३॥

पदार्थः— हे **इन्दो** तेजस्विन् धनाधीश परमात्मन् ! **ऊतये** रक्षायै **नः** अस्मभ्यम् **शातग्विनम्** बहून् प्रति गमनशीलम् । [शतानि इच्छतीति शतग्वी तम् । संहितायाम् 'शात' इत्यत्र दीर्घश्छान्दसः।] **गवाम्** धेनूनां वाचां वा **पोषम्** पोषणम्, **स्वश्व्यम्** शोभनानाम् अश्वानां प्राणबलानां वा समूहम्, किञ्च **भगत्तिम्** भगदत्तिम्, ऐश्वर्यदानम् **आ वह** प्रापय ॥३॥

भावार्थः— परमात्मोपासनया पुरुषार्थाय प्रेरणां प्राप्य सर्वं भौतिकमाध्यात्मिकं च वैभवं प्राप्तुं सुशकम्॥३॥

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे **इन्दो** तेजस्विन् धनाधीश परमात्मन् ! **ऊतये** रक्षा के लिए **नः** हमें **शातग्विनम्** सैंकड़ों लोगों के पास जाने वाले **गवां पोषम्** गायों या वाणियों के पोषण को, **स्वश्व्यम्** उत्कृष्ट घोड़ों व प्राणबलों के समूह को, और **भगत्तिम्** ऐश्वर्यों को दान को **आ वह** प्राप्त कराओ ॥३॥

भावार्थ— परमात्मा की उपासना से पुरुषार्थ के लिए प्रेरणा प्राप्त कर सब भौतिक और आध्यात्मिक **वैभव** पाया जा सकता है ॥३॥

॥३॥ अथ 'तं त्वा' इत्यादिकस्य तृतीयस्य पञ्चर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** कविर्भार्गवः । **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

अथ परमात्मानं कामयते ।

८३६. तं त्वा नृम्णानि बिभ्रतं सधस्थेषु महो दिवः । चारुं सुकृत्ययेमहे ॥१॥[2]

तम् त्वा नृम्णानि बिभ्रतम् । सधस्थेषु सध स्थेषु महः दिवः ।
चारुम् सुकृत्यया सु कृत्यया ईमहे ॥१॥

पदार्थः— हे सोम जगत्स्रष्टः परमात्मन् ! **महः दिवः** महतः आकाशस्य **सधस्थेषु** लोकेषु सूर्यग्रहनक्षत्रचन्द्रादिषु, यद्वा **महः दिवः** महवः प्रकाशमयस्य जीवात्मनः **लोकेषु** मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियादिषु **नृम्णानि** धनानि बलानि च । [नृम्णमिति धननाम बलनाम च । निघं० २।६, २।१० । नृम्णं च बलं नृन् नतम् । निरु०

---

१. ऋ० ९।६५।१७ ।
२. ऋ० ९।४८।१ ।

११।७।५] **बिभ्रतम्** धारयन्तम् **चारुम्** रमणीयं **तं त्वा** तं सुप्रसिद्धं त्वां, वयम् **सुकृत्यया** पुण्यकर्मणा **ईमहे** प्राप्नुमः ॥१॥

भावार्थः— भूगोले खगोले देहे च सर्वत्र धनबलयोरुत्पादकः परमेश्वरः शुभैरेव कर्मभिः प्राप्तुं शक्यते, नाशुभैः ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा की कामना की गयी है ।।

पदार्थ— हे सोम अर्थात् जगत्स्रष्टा परमात्मन् ! **महः दिवः** महान् आकाश के **सधस्थेषु** सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, चन्द्र आदि लोकों में, अथवा **महः दिवः** महान् प्रकाशमय जीवात्मा के **लोकेषु** मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय आदि लोको में **नृम्णानि** धन और बल **बिभ्रतम्** स्थापित करने वाले, **चारुम्** रमणीय **तं त्वा** उस सुप्रसिद्ध तुझको हम **सुकृत्यया** पुण्य कर्म से **ईमहे** प्राप्त करते हैं॥१॥

भावार्थ— भूगोल, खगोल और शरीर में सर्वत्र धन और बल को उत्पन्न करने वाला परमेश्वर शुभ कर्मों से ही पाया जा सकता है, अशुभों से नहीं ॥१॥

अथ परमात्मानं राजानं च विशिनष्टि ।

१ २ ३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
८३७. संवृक्तधृष्णुमुक्थ्यं महामहिव्रतं मदम् । शतं पुरो रुरुक्षणिम् ।२॥[1]

१२र १२र ३ क २ ३ १ २ ३ २ ३ १२र
संवृक्तधृष्णुम् संवृक्त धृष्णुम् उक्थ्यम् । महामहिव्रतम् महा महिव्रतम् मदम् ।
३ २ १२र ३ १ २
शतम् पुरः रुरुक्षणिम् ॥२॥

पदार्थः— संवृक्तधृष्णुम् संवृक्ताः संछिन्नाः धृष्णवो धर्षणशीलाः कामक्रोधाद्या आन्तरा बाह्या वा रिपवो येन तम्, **उक्थ्यम्** प्रशंसार्हम्, **महामहिव्रतम्** अतिशयपूजनीयकर्माणम्, **मदम्** आनन्दजनकम्, **शतं पुरः** शतसंख्यकाः शत्रुनगरीः **रुरुक्षणिम्** भङ्क्तुं कृतसंकल्पम् । [रुजो भङ्गे सन्नन्तः । बाहुलकाद् औणादिकः अनिप्रत्ययः। आङि शुषेः सनश्छन्दसि उ० २।१०५ आशुशुक्षणिः इति वत् ।] पवमानं पवित्रकर्तारं सोमं जगदीश्वरं राजानं वा वयम् **ईमहे** प्राप्नुमः। [अत्र 'ईमहे' इति पूर्वमन्त्रादाकृष्यते]॥२॥

भावार्थः— यथा जगदीश्वर आन्तरान् सपत्नान् हिनस्ति, प्रशंसनीयानि कर्माणि करोति, स्वोपासकानानन्दयति च तथैव राजा सर्वान् विघ्नकरान् शत्रूनुच्छिद्य राज्योन्नतिकराणि कर्माणि कृत्वा प्रजा आनन्दयेत्॥२॥

पदार्थ— संवृक्तधृष्णुम् काम, क्रोध आदि आन्तरिक अथवा बाह्या धर्षणशील शत्रुओं को नष्ट करने वाले, **उक्थ्यम्** प्रशंसायोग्य, **महामहिव्रतम्** अतिशय पूजनीय कर्मों वाले, **मदम्** आनन्दजनक, **शतं पुरः** सौ शत्रु-नगरियों को **रुरुक्षणिम्** तोड़-फोड़ देने के लिए कृतसंकल्प पवमान सोम को अर्थात् पवित्रकर्ता जगदीश्वर वा राजा को, हम **ईमहे** प्राप्त करते है। [यहां 'ईमहे' पद पूर्व मन्त्र से लाया गया है]॥२॥

भावार्थ— जैसे जगदीश्वर आन्तरिक रिपुओं को नष्ट करता, प्रशंसनीय कर्म करता और अपने उपासकों को आनन्दित करता है, वैसे ही राजा सब विघ्नकारी शत्रुओं को उच्छिन्न करके राज्य की उन्नति वाले कर्म करके प्रजाओं को आनन्दित करे ॥२॥

---

१. ऋ०९।४८।२ ।

अथ परमात्मविषयं चन्द्रविषयं चाह ।

८३८. **अतस्त्वा रयिरभ्ययद्राजानं सुक्रतो दिवः । सुपर्णो अव्यथी भरत् ॥३॥**[1]

अतः त्वा रयिः अभि अयत् । राजानम् सुक्रतो सु क्रतो दिवः।
सुपर्णः सु पर्णः अव्यथी अ व्यथी भरत् ॥३॥

पदार्थः— प्रथमः परमात्मपरः । हे **सुक्रतो** सुकर्मन् मनुष्य ! **राजानं त्वा** राजमानं त्वाम् **दिवः** द्योतमानात् **अतः** अस्मात् पवमानात् सोमात् पवित्रकर्तुः जगदुत्पादकात् परमेश्वरादेव **रयिः** ऐश्वर्यम् **अभ्ययत्** प्राप्तमस्ति, यं रयिं **सुपर्णः** सुपालनकर्त्ता **अव्यथीः** व्यथारहितः स परमेश्वरः, तुभ्यम् **भरत्** भृतवान्, दत्तवान् अस्ति । [अभ्ययत्, भरत् इति क्रमेण अभि पूर्वात् अयतेः, डुभृञ् धारणपोषणयोः इत्यस्माच्च लङि तिपि रूपम्, आडडागमाभावश्छान्दसः]॥

द्वितीयः चन्द्रपरः । हे पवमान सोम गतिमन् चन्द्र ! **राजानं त्वा** दीप्तिमन्तं त्वाम् **अतः दिवः** अस्मात् सूर्यलोकादेव **रयिः** प्रकाशरूपं धनम् **अभ्ययत्** आगच्छति, यम् **सुपर्णः** शोभनकिरणः **अव्यथी** अविचलः स्थिरः सूर्यः । [व्यथ भयसंचलनयोः । न व्यथते संचलति, किन्तु आकाशे स्थिरो भवतीति अव्यथी सूर्यः।] **भरत्** त्वयि आहरति । [हृञ् हरणे, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' इति हस्य भः] ॥३॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— यथा मनुष्यो जगदीश्वरात् सर्वविधं धनं तथा चन्द्रमाः सूर्याद् दीप्तिम् प्राप्नोति ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और चन्द्रमा का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— प्रथम परमात्मा के पक्ष में । हे **सुक्रतो** शुभ कर्म करने वाले मनुष्य ! **राजानं त्वा** यश से जगमगाने वाले तुझे **दिवः** देदीप्यमान **अतः** इस पवमान सोम अर्थात् पवित्रकर्त्ता जगदुत्पादक परमेश्वर से ही **रयिः** ऐश्वर्य **अभ्ययत्** प्राप्त हुआ है, जिस ऐश्वर्य को **सुपर्णः** शुभ पालनकर्त्ता, **अव्यथी** किसी प्रकार की व्यथा से रहित उस परमेश्वर ने तेरे लिए **भरत्** दिया है ॥

द्वितीय चन्द्रमा के पक्ष में । हे पवमान सोम अर्थात् गति करने वाले चन्द्रमा ! **राजानं त्वा** दीप्तिमान् तुझे **अतः दिवः** इस सूर्यलोक से ही **रयिः** प्रकाशरूप धन **अभ्ययत्** मिलता है, जिसे **सुपर्णः** सुन्दर किरणों वाला **अव्यथी** अविचल स्थिर सूर्य **भरत्** तेरे अन्दर लाता है ॥३॥

यहां श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ— जैसे मनुष्य जगदीश्वर से सब प्रकार का धन प्राप्त करता है, वैसे ही चन्द्रमा सूर्य से दीप्ति पाता है ॥३॥

---

१. ऋ० ९।४८।३, 'रयिमभि राजानं', 'अव्यथिर्भरत्' इति पाठः ।

अथ परमात्मविषयमाह ।

८३९. अधा हिन्वान इन्द्रियं ज्यायो महित्वमानशे । अभिष्टिकृद्विचर्षणिः ॥४॥[1]

अध हिन्वानः इन्द्रियम् । ज्यायः महित्वम् आनशे ।
अभिष्टिकृत् अभिष्टिकृत् विचर्षणिः वि चर्षणिः ॥४॥

पदार्थः— अध अथ, स पवमानः सोमः पवित्रतादायकः जगत्स्रष्टा परमात्मा **इन्द्रियम्** चक्षुरादि इन्द्रियम् आत्मबलं वा । [इन्द्रस्य आत्मनः लिङ्गम्, इन्द्रेण आत्मना जुष्टं वा इन्द्रियम् । 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्ट० । अ० ५।२।९३ इत्यनेन घच्प्रत्ययान्तो निपातः।] **हिन्वानः** प्रीणयन् प्रेरयन् । [हिवि प्रीणनार्थः । यद्वा हि गतौ वृद्धौ च स्वादिः । आत्मनेपदं छान्दसम् ।] **ज्यायः** अतिप्रशस्तम् **महित्वम्** महत्त्वम् **आनशे** प्राप्नोति । स एव **अभिष्टिकृत्** अभीष्टप्रदः । [अभिपूर्वाद् इषु इच्छायाम् इति धातोः क्तिनि अभीष्टि इति प्राप्ते 'एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वाच्यम्' इति वार्तिकेन पररूपम्।] **विचर्षणिः** विशेषेण सर्वेषां साक्षाद् द्रष्टा च अस्ति । [विचर्षणिः पश्यतिकर्मा । निघं० ३।११] ॥४॥

भावार्थः— यो मनश्चक्षुःश्रोत्रादिषु मननदर्शनश्रवणादिसामर्थ्यमात्मनि च बलं निदधाति तस्य कामपूरकस्य विश्वद्रष्टुः परमात्मनो महत्त्वं सर्वैर्ज्ञातव्यम् ॥४॥

अगले मन्त्र में परमात्मा का विषय है ।

पदार्थ— **अध** और यह बात भी है कि वह पवमान सोम अर्थात् पवित्रता देने वाला जगत्स्रष्टा परमात्मा **इन्द्रियम्** आंख आदि इन्द्रिय को अथवा आत्मबल को **हिन्वानः** प्रेरित करता हुआ **ज्यायः** अत्यन्त प्रशस्त **महित्वम्** महत्त्व को **आनशे** प्राप्त करता है । वही **अभिष्टिकृत्** अभीष्ट प्रदाता और **विचर्षणिः** विशेषरूप से सबका साक्षात् द्रष्टा है ॥४॥

भावार्थ— जो मन, आंख, कान आदि में मनन करने, देखने, सुनने आदि के सामर्थ्य को तथा आत्मा में बल को निहित करता है उस कामना पूर्ण करने वाले, विश्वद्रष्टा परमात्मा का महत्त्व सबको जानना चाहिए॥४॥

अथ पुनरपि परमात्मविषयमाह ।

८४०. विश्वस्मा इत्स्वर्दृशे साधारणं रजस्तुरम् । गोपामृतस्य विर्भरत् ॥५॥[2]

विश्वस्मै इत् स्वः दृशे । साधारणम् रजस्तुरम् ।
गोपाम् गो पाम् ऋतस्य विः भरत् ॥५॥

पदार्थः— विश्वस्मै इत् सर्वस्मै एव **स्वः** सुखस्य **दृशे** दर्शनाय **साधारणम्** अविशेषम्, कृतकर्मानुरूपं सर्वस्मै एव पात्रभूताय जनाय निष्पक्षपातं सुखं दर्शयन्तमिति भावः, **रजस्तुरम्** रजसा रजोगुणेन त्वरयति क्रियां कारयतीति रजस्तूः तम्, **ऋतस्य** सत्यस्य **गोपाम्** रक्षकम् पवमानं सोमं पावकं जगत्स्रष्टारं परमात्मानम् **विः** गतिशीलो जीवात्मा **भरत्** स्वान्तःकरणे बिभृयात् । [डुभृञ् धारणपोषणयोः, लेटि रूपम्] ॥५॥

---

१. ऋ० ९।४८।५ ।
२ ऋ० ९।४८।४ ।

भावार्थः– परमात्मा सत्यस्यैव रक्षकोऽस्ति नासत्यस्य । तस्य न्याये विश्वस्य सर्वैः सत्कर्माण्येव कर्तव्यानि ।।५।।

अगले मन्त्र में भी परमात्मा का ही विषय है ।

पदार्थ– विश्वस्मै इत् सभी के लिए **स्वः दृशे** सुखदर्शनार्थ **साधारणम्** जो साधारण है, अर्थात् किये कर्मों के अनुसार जो सभी सत्पात्र जनों को बिना पक्षपात के सुख दर्शाता है, **रजस्तुरम्** जो रजोगुण के द्वारा क्रिया करवाता है, **ऋतस्य** सत्य का **गोपाम्** जो रक्षक है, ऐसे पवमान सोम अर्थात् पवित्र करने हारे जगत्स्रष्टा परमात्मा को **विः** गतिशील जीवात्मा **भरत्** अपने अन्तःकरण में धारण करे ।।५।।

भावार्थ– परमात्मा सत्य का ही रक्षक है, असत्य का नहीं । उसके न्याय में विश्वास करके सबको सत्कर्म ही करने चाहिएं ।।५।।

।।४।। अथ 'इषे पवस्व' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** कश्यपो मारीचः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५०५ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र गुरुशिष्यविषयः प्रदर्श्यते ।

३ १ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १र २र
८४१. **इषे पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः । इन्दो रुचाभि गा इहि ।।१।।**[1]

३ २ ३ १२र ३ १ २ ३ १ २ १ २र ३ २ ३ २ ३
इषे पवस्व धारया । मृज्यमानः मनीषिभिः । इन्दो रुचा अभि गाः इहि ।।१।।

पदार्थः– हे **इन्दो** तेजस्विन् विद्यानिधे आचार्य ! त्वम् **मनीषिभिः** चिन्तनशीलैः शिष्यैः **मृज्यमानः** नमोवाग्भिः अलङ्क्रियमाणः सन् **इषे** इच्छासिद्धये **धारया** विद्याधारया **पवस्व** शिष्यान् पुनीहि । त्वम् **रुचा** दीप्त्या सह **गाः अभि** स्तोतॄन् शिष्यान् प्रति **इहि** गच्छ ।।१।।

भावार्थः– शिष्याः समर्पणभावेन गुरून् प्रति गच्छन्तु, गुरवश्च निश्छलेन मनसा शिष्यानुपगम्य सकला विद्याः प्रयच्छन्तु ।।१।।

प्रथम ऋचा का भाष्य पूर्वार्चिक में क्रमांक ५०५ पर परमात्मा के विषय में किया गया था । यहां गुरु-शिष्य का विषय दर्शाया जा रहा है ।

पदार्थ– हे **इन्दो** तेजस्वी, विद्या के खजाने आचार्य ! **मनीषिभिः** चिन्तनशील शिष्यों के द्वारा **मृज्यमानः** नमस्कारों से अलंकृत किये जाते हुए आप **इषे** इच्छासिद्धि के लिए **धारया** विद्या की धारा से **पवस्व** शिष्यों को पवित्र कीजिए । आप **रुचा** दीप्ति के साथ **गाः अभि** स्तोता शिष्यों के प्रति **इहि** जाइए ।।१।।

भावार्थ– शिष्य समर्पणभाव से गुरुओं के प्रति जाएं और गुरू निश्छल मन से शिष्यों के पास पहुंचकर सब विद्याएं प्रदान करें ।।१।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

३ १र २र ३ २ ३ १ २ १२ ३ २ ३ १ २
८४२. **पुनानो वरिवस्कृध्यूर्जं जनाय गिर्वणः । हरे सृजान आशिरम् ।।२।।**[2]

३ २ १ २र ३ १ २र १ २र ३
पुनानः वरिवः कृधि । ऊर्जम् जनाय गिर्वणः गिः वनः ।
१२र ३ २ ३ १२ ३ १२र
हरे सृजानः आशिरम् आ शिरम् ।।२।।

---

१. ऋ० ९।६४।१३, साम० ५०५ ।

२. ऋ० ९।६४।१४ ।

पदार्थः— हे **गिर्वणः** गीर्भ्यः वेदादिवाङ्मयेभ्यः वननीय सेवनीय, **हरे** दोषदुर्व्यसनदुःखादीनां हर्तः आचार्य! **पुनानः** आचरणस्य पवित्रतामापादयन्, किञ्च **आशिरम्** परिपक्वं ज्ञानम् । श्रीञ् पाके, आश्रीयते परिपच्यते इति आशीः ।] **सृजानः** उत्पादयन् त्वम् **जनाय** शिष्यजनाय **वरिवः** धनम् । [वरिवः इति धननाम । निघं० २।१० ।] **ऊर्जम्** शारीरं बलं प्राणवत्तां च **कृधि** कुरु ॥२॥

भावार्थः— शास्त्राणामध्यापनं, चरित्रस्य पावनं, दोषाणां हरणं, व्यायामप्राणायामादिद्वारा बलप्राणयोः प्रदानमर्थकर्या विद्यायाः शिक्षणं च गुरूणां कर्त्तव्यमस्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः वही विषय है ।

पदार्थ— हे **गिर्वणः** वेदादि वाङ्मय के लिए सेवनीय ! **हरे** दोष, दुर्व्यसन, दुःख आदि को हरने वाले आचार्य ! **पुनानः** आचरण को पवित्र करते हुए, तथा **आशिरम्** परिपक्व ज्ञान को **सृजानः** उत्पन्न करते हुए आप **जनाय** शिष्यजनों के लिए **वरिवः** धन और **ऊर्जम्** शारीरिक बल तथा प्राणवत्ता **कृधि** प्रदान कीजिए ॥२॥

भावार्थ— शास्त्र पढ़ाना, चरित्र को पवित्र करना, दोषों को हरना, व्यायाम, प्राणायाम आदि द्वारा बल और प्राण प्रदान करना, अर्थकरी विद्या सिखाना गुरुओं का कर्त्तव्य है ॥२॥

अथ विद्यार्थिनं सम्बोधयति ।

८४३. **पुनानो देववीतय इन्द्रस्य याहि निष्कृतम् । द्युतानो वाजिभिर्हितः ॥३॥**[1]

पुनानः देववीतये देव वीतये । इन्द्रस्य याहि निष्कृतम् निः कृतम् ।
द्युतानः वाजिभिः हितः ॥३॥

पदार्थः— हे विद्यार्थिन् ! त्वम् **देववीतये** अहिंसासत्यास्तेयन्यायदयादाक्षिण्यादीनां दिव्यगुणानां प्राप्तये **पुनानः स्वात्मानं** पवित्रयन् **इन्द्रस्य** कुलपतेराचार्यस्य **निष्कृतम्** गृहम्, गुरुकुलमित्यर्थः **याहि** गच्छ । तत्र च **हितः स्थापितः** प्रवेशितः त्वम् **वाजिभिः** विज्ञानवद्भिः गुरुभिः **द्युतानः** विद्यातेजसा सच्चारित्र्यतेजसा च द्योतमानो भवेति शेषः ॥३॥

भावार्थः— विद्यार्थिनो गुरुकुले ब्रह्मचर्यपूर्वकं यथाविधि वेदादिशास्त्राण्यधीत्य सदाचारशिक्षां गृहीत्वा योगाभ्यासेनाध्यात्मिकीमुन्नतिं विधाय विद्वांसो भूत्वा समावर्तनानन्तरं बहिर्गत्वाऽधीतां विद्यां सर्वत्र प्रचारयेयुः॥३॥

अस्मिन् खण्डे उपासकयोगिपरमात्मगुरुशिष्यविषयाणां प्रसंगतश्च नृपतिचन्द्रादिविषयाणां प्रतिपादनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन सह संगतिरस्ति ॥

अगले मन्त्र में विद्यार्थी को सम्बोधन किया गया है ।

पदार्थ— हे विद्यार्थी ! तू **देववीतये** अहिंसा, सत्य, अस्तेय, न्याय, दया, उदारता आदि दिव्य गुणों की **प्राप्ति** के लिए **पुनानः** स्वयं को पवित्र करता हुआ **इन्द्रस्य** कुलपति आचार्य के **निष्कृतम्** घर अर्थात् गुरुकुल

---

१. ऋ० ९।६४।१५।

को याहि जा । और वहां **हितः** प्रविष्ट किया गया तू **वाजिभिः** विज्ञानी गुरुओं के द्वारा **द्युतानः** विद्या के तेज से **और सच्चरित्रता** के तेज से चमकने वाला बन ॥३॥

भावार्थ– विद्यार्थी गुरुकुल में ब्रह्मचर्यपूर्वक विधि के अनुसार वेदादि शास्त्रों को पढ़कर, सदाचार की शिक्षा लेकर, योगाभ्यास से आध्यात्मिक उन्नति करके, विद्वान् होकर, समावर्तन के बाद बाहर जाकर पढ़ी हुई विद्या का सब जगह प्रचार करें ॥३॥

इस खण्ड में उपासक, योगी, परमात्मा, गुरु-शिष्य और प्रसंगतः राजा, चन्द्रमा आदि के विषय का प्रतिपादन होने से इस खण्ड की पूर्वखण्ड के साथ संगति है ॥

चतुर्थ अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ।

॥५॥ अथ 'अग्निनाग्निः' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मेधातिथिः काण्वः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

अथ परमात्मविषयं यज्ञविषयं चाह ।

३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३क २र
८४. **अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा । हव्यवाड् जुह्वास्यः ॥१॥**[1]

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २र
अग्निना अग्निः सम् इध्यते । कविः गृहपतिः गृह पतिः युवा ।

३ २ ३ २ ३क २ ३ २ ३
हव्यवाट् हव्य वाट् जुह्वास्यः जुहू आस्यः ॥१॥

पदार्थः– **प्रथमः** परमात्मपरः । **अग्निना** नायकेन जीवात्मना **अग्निः** नायकः परमात्मा **समिध्यते** हृदये प्रदीप्यते, यः परमात्मा **कविः क्रान्तद्रष्टा**, मेधावी, **गृहपतिः** गृहाणां रक्षकः **युवा** नित्यतरुणः, तरुण इव अपारसामर्थ्यवान्, **हव्यवाट्** हव्यम् आत्मसमर्पणं वहति स्वीकरोतीति सः, यद्वा हव्यानि दातव्यानि वस्तूनि **वहति प्रापयतीति** सः, **जुह्वास्य** जुहूः वेदवागेव आस्यं मुखं यस्य सः, वर्तते ॥

द्वितीयः यज्ञाग्निपरः । **अग्निना** आहिताग्निना यजमानेन **अग्निः** आहवनीयाग्निः **समिध्यते** प्रदीप्यते, यः आहवनीयाग्निः **कविः** गतिमयज्वालः । [कवते गतिकर्मा । निघं० २।१४।] **गृहपतिः** गृहाणां रक्षकः, **युवा** हुतस्य द्रव्यस्य विभाजकः । [यु मिश्रणामिश्रणयोः । यौति मिश्रयति अमिश्रयति वा यः सः । 'कनिन् युवृषि' उ० १।५६ इत्यनेन कनिन् प्रत्ययः ।], **हव्यवाट्** हव्यं हुतं द्रव्यं वहति दाहेन सूक्ष्मीकृत्य स्थानान्तरं प्रापयतीति सः । [वहश्च। अ० ३।२।६४ । इति ण्विप्रत्ययः ।] **जुह्वास्यः** जुहूः घृतपूर्णा स्रुग् आस्ये ज्वालारूपे यस्य तादृशश्च वर्तते ॥१॥[2]

अत्र श्लेषालङ्कारः । प्रथमेऽर्थे च 'जुह्वास्यः' इत्यत्र रूपकम् ॥१॥

भावार्थः–यथाऽऽत्माग्निः परमात्माग्निं समेध्य तत्तेजसा पूर्वतोऽप्यधिकं दीप्तः सन्नुत्कर्षं धत्ते, तथा मनुष्यो यज्ञाग्निं प्रदीप्य तत्र होमकरणेन वायुशुद्धिं कृत्वाऽऽरोग्यं प्राप्याऽग्निवत् तेजस्वी च भूत्वा स्वात्मान-मुन्नयति ॥१॥

---

१. ऋ० १।१२।६ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम्– "अग्निना व्यापकेन विद्युदाख्येन अग्निः प्रसिद्धो रूपवान् दहनशीलः पृथिवीरथः सूर्य-लोकस्थश्च समिध्यते सम्यक् सम्यक् प्रदीप्यते" इत्यादिरूपेण भौतिकपक्षे व्याख्यातवान् ।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा का विषय और यज्ञ का विषय वर्णित है ।।

पदार्थ– प्रथम परमात्मा के पक्ष में । **अग्निना** नेता जीवात्मा द्वारा **अग्निः** नेता परमात्मा **समिध्यते** हृदय में प्रदीप्त किया जाता है, जो परमात्मा **कविः** दूरदर्शी, बुद्धिमान् **गृहपतिः** घरों का रक्षक, **युवा** सदा युवक, अर्थात् युवक के समान अपार सामर्थ्य वाला, **हव्यवाट्** आत्मसमर्पण को स्वीकार करने वाला अथवा दातव्य पदार्थों को प्राप्त कराने वाला, और **जुह्वास्यः** वेदवाणी रूप मुख वाला है ।।

द्वितीय यज्ञाग्नि के पक्ष में । **अग्निना** आहिताग्नि यजमान द्वारा उत्पन्न आग से **अग्निः** आहवनीय अग्नि **समिध्यते** प्रदीप्त किया जाता है, जो आहवनीय अग्नि **कविः** गतिमय ज्वालाओं वाला, **गृहपतिः** घरों का रक्षक, **युवा** होमे हुए द्रव्य को जलाकर सूक्ष्म करके स्थानान्तर में पहुंचाने वाला, और **जुह्वास्यः** घृत से भरी हुई सुवा जिसके ज्वालारूप मुख में पड़ती है ऐसा है ।।१।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । प्रथम अर्थ में 'जुह्वास्यः' में रूपक है ।।१।।

भावार्थ– जैसे आत्माग्नि परमात्माग्नि को प्रदीप्त करके उसके तेज द्वारा पहले से भी अधिक दीप्त होकर उत्कर्ष धारण करता है, वैसे ही मनुष्य यज्ञाग्नि को प्रदीप्त करके उसमें होम के द्वारा वायुशुद्धि करके, आरोग्य प्राप्त कर, अग्नि के समान तेजस्वी होकर स्वयं को उन्नत करता है ।।१।।

अथ पुनरपि परमात्मयज्ञयोर्विषयो वर्ण्यते ।

८४५. **यस्त्वामग्ने हविष्पतिर्दूतं देव सपर्यति । तस्य स्म प्राविता भव ।।२।।**[1]

यः त्वाम् अग्ने हविष्पतिः हविः पतिः । दूतम् देव सपर्यति ।
तस्य स्म प्राविता प्र अविता भव ।।२।।

पदार्थः– प्रथमः परमात्मपरः । हे **देव** स्वतः प्रकाशमान, सर्वप्रकाशक, दानादिगुणयुक्त, सर्वान्तर्यामिन् **अग्ने** अग्रणीः जगदीश्वर ! **यः हविष्पतिः** हविषां पतिः स्वामी, आत्मानं हविष्कृत्वा तवोपासको जनः **दूतम्** दुर्गुणदुर्व्यसनदुःखादीनाम् उपतापकम् । [यो दुनोति उपतपति स दूतः । 'दुतनिभ्यां दीर्घश्च उ० ३।९० इत्यनेन टुदु उपतापे इति धातोः क्त प्रत्ययो धातोर्दीर्घश्च ।] **त्वा** त्वां परमात्मानम् **सपर्यति** उपास्ते **तस्य** उपासकस्य, त्वम् **प्राविता** प्रकर्षेण रक्षकः **भव स्म** जायस्व । [स्म इति अवश्यार्थे स्पष्टार्थे वा] ।।

द्वितीयः यज्ञपरः । हे **देव** प्रकाशमान प्रकाशक **अग्ने** गतिमयज्वाल यज्ञवह्न ! **यः हविष्पतिः** हविषां होतुं योग्यानां सुगन्धिमिष्टपुष्ट्यारोग्यकराणां द्रव्याणां पतिः स्वामी याज्ञिको जनः **दूतम्** रोगाऽऽलस्यादीनामुपतापकम् **त्वा** त्वां यज्ञवह्निम् **सपर्यति** यज्ञानुष्ठानेन परिचरति **तस्य** याज्ञिकजनस्य, त्वम् **प्राविता** प्रकर्षेण रक्षकः **भव स्म** जायस्व ।।२।।[2]

अत्र श्लेषालङ्कारः ।।२।।

---

१. ऋ० १।१२।८

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं– "परमेश्वरपक्षे यानयन्त्रादिषु भौतिकाग्निप्रयोगविषये च व्याख्यातवान् ।।

भावार्थः— यथोपासितः परमेश्वर उपासकस्य दुर्गुणादीनि दग्ध्वा तं सन्मार्गे प्रवर्त्य रक्षति, तथैवारोग्यादिकरैर्द्रव्यैर्हुतो यज्ञवह्निर्यजमानमारोग्यादिप्रापणेन बहूपकरोति ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा और यज्ञ का विषय वर्णित करते हैं ।।

पदार्थ— प्रथम परमात्मा के पक्ष में । हे **देव** स्वतः प्रकाशमान, सबके प्रकाशक, दानादि गुणों से युक्त, सर्वान्तर्यामी **अग्ने** अग्रनायक जगदीश्वर ! **यः** जो **हविष्पतिः** हवियों का स्वामी अर्थात् अपनी हवि देकर तेरी उपासना करने वाला मनुष्य **दूतम्** दुर्गुण, दुर्व्यसन, दुःख आदियों को दग्ध करने वाले **त्वा** तुझ परमात्मा की **सपर्यति** उपासना करता है **तस्य** उस उपासक का, तू **प्राविता** प्रकृष्ट रक्षक **भव स्म** हो जा ॥

द्वितीय यज्ञ के पक्ष में । हे **देव** प्रकाशमान, प्रकाशक गतिमय ज्वालाओं वाले यज्ञाग्नि ! **यः** जो **हविष्पतिः** होम के योग्य सुगन्धित, मधुर, पुष्टिप्रद तथा आरोग्यप्रद द्रव्यों का स्वामी याज्ञिक जन **दूतम्** रोग, आलस्य आदियों को दग्ध करने वाले **त्वा** तेरी **सपर्यति** यज्ञानुष्ठान द्वारा सेवा करता है **तस्य** उस याज्ञिक मनुष्य का, तू **प्राविता** प्रकृष्ट रक्षक **भव स्म** हो जा ॥२॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ— जैसे उपासना किया गया परमेश्वर उपासक के दुर्गुण आदि को दग्ध करके उसे सन्मार्ग पर चलाकर उसकी रक्षा करता है, वैसे ही आरोग्य आदि करने वाले द्रव्यों से होम किया गया यज्ञाग्नि यजमान को आरोग्य आदि प्राप्त कराकर उसका बहुत उपकार करता है ॥२॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २
८४६. यो अग्निं देववीतये हविष्माँ आविवासति । तस्मै पावक मृडय ॥३॥[1]

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
यः अग्निम् देववीतये देव वीतये ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३
हविष्मान् आविवासति आ विवासति । तस्मै पावक मृडय ॥३॥

पदार्थः— **प्रथमः** परमात्मपरः । **यः हविष्मान्** आत्मसमर्पणवान् उपासको जनः **देववीतये** दिव्यगुणकर्मणां प्राप्तये **अग्निम्** सर्वसुखप्रापकं परमात्मानं त्वाम् **आविवासति** परिचरति । [विवासतिः परिचरणकर्मा । निघं० ३।५।] **तस्मै** तम् उपासकम् । [अत्र कर्मणि चतुर्थी ।] हे **पावक** पवित्रतासम्पादक परमात्मन् ! त्वम् **मृडय सुखय** ॥

द्वितीयः यज्ञपरः । **यः हविष्मान्** उत्तमानि होतुं योग्यानि द्रव्याणि विद्यन्ते यस्य सः याज्ञिको जनः **देववीतये** तेजःप्राप्तये दिव्यसुखसम्पादनाय वा **अग्निम्** यज्ञवह्निं त्वाम् **आ विवासति** होमेन सत्करोति **तस्मै** तम्, हे **पावक** वायुशुद्धेः हृदयशुद्धेश्च सम्पादक यज्ञवह्ने ! त्वम् **मृडय** आरोग्यादिप्रापणेन सुखय । पावकोऽग्निः सुखयतु इति तात्पर्यम् ॥३॥[2]

---

१. ऋ० १।१२।९।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं श्लेषेण परमेश्वरविषये भौतिकाग्निविषये च व्याख्यातः ।

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— यथा श्रद्धयाऽऽत्मसमर्पणेनोपासितः परमेश्वरो दिव्यगुणकर्माणि प्रेरयति तथोत्तमोत्तमहव्यद्रव्यैर्हुतो यज्ञवह्निरारोग्यप्रदानेन हृदि तेजःशौर्यादिदिव्यगुणानां समेधनेन च सुखयति ॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः वही विषय है ।

पदार्थ— प्रथम परमात्मा के पक्ष में । **यः** जो **हविष्मान्** आत्मसमर्पण वाला उपासक **देववीतये** दिव्य गुण-कर्मों की प्राप्ति के लिए **अग्निम्** सब सुख प्राप्त कराने वाले तुझ परमात्मा को **आ विवासति** पूजता है, **तस्मै** उस उपासक को, हे **पावक** पवित्रतादायक परमात्मन् ! आप **मृडय** सुखी कीजिए ॥

द्वितीय यज्ञ के पक्ष में । **यः** जो **हविष्मान्** उत्तम होम के द्रव्यों से युक्त याज्ञिक मनुष्य **देववीतये** तेज की प्राप्ति के लिए अथवा दिव्य सुख के सम्पादनार्थ **अग्निम्** तुझ यज्ञाग्नि का **आ विवासति** होम से सत्कार करता है **तस्मै** उसे, हे **पावक** वायुशुद्धि तथा हृदयशुद्धि करने वाले यज्ञाग्नि ! तू **मृडय** आरोग्य आदि प्राप्त कराने के द्वारा सुखी कर, अर्थात् यज्ञाग्नि सुखी करे ॥३॥

यहां श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ— जैसे श्रद्धा के साथ आत्मसमर्पणपूर्वक उपासना किया गया परमेश्वर दिव्य गुण-कर्मों को प्रेरित करता है, वैसे ही उत्तमोत्तम हव्य-द्रव्यों से होम किया हुआ यज्ञाग्नि आरोग्य प्रदान से तथा हृदय में तेज, शूरता आदि दिव्य गुणों की प्रदीप्ति से सुखी करता है ॥३॥

॥६॥ अथ 'मित्रं हुवे' इत्यादिकस्य षष्ठस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । **देवते** मित्रावरुणौ । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ ब्रह्मक्षत्रे आह्वयति ।

३ १ २ ३ १२ ३ १२ ३ १२ १२ ३ २ ३ १२
८४७. **मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम् । धियंघृताचीं साधन्ता ॥१॥**[1]

३२ ३ २ ३ १२ ३२ ३ १२र ३ १२
मित्रम् मि त्रम् हुवे पूतदक्षम् पूत दक्षम् । वरुणम् च रिशादसम् ।

१२र ३ १ २ १२र
धियम् घृताचीम् साधन्ता ॥१॥

पदार्थः— अहम् **पूतदक्षम्** पूतः पवित्रः दक्षः बलं यस्य यस्माद् वा सः पूतदक्षः तम् **मित्रम्** सर्वमित्रं ब्राह्मणम्, **रिशादसम्** रिशन्ति हिंसन्ति ये ते रिशाः तान् हिंसकान् शत्रून् दस्यति नाशयति यः सः रिशादसः तम्। [रिश हिंसायाम्, दसु उपक्षये । 'शा' इत्यत्र **दीर्घश्छान्दसः** । रिशादसः रेशयदासिनः इति निरुक्तम् ६।१४।] **वरुणं च** शत्रुवारकं क्षत्रियं च **हुवे** आह्वयामि । **तौ घृताचीम्** राष्ट्रस्य तेजःप्रापयित्रीम् । [घृतं तेजः अञ्वति प्रापयतीति ताम् । घृ क्षरणदीप्त्योः, अञ्चू गतौ।] **धियम् ज्ञानशृङ्खलां** कर्मशृङ्खलां च । धीः इति कर्मनाम

---

१. ऋ० १।२।७, य० ३३।५७।

प्रज्ञानाम च । निघं० २।१, ३।९।] **साधन्ता** साधन्तौ, संसाधयन्तौ भवतः इति शेषः । [ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः। श० ४।१।४।१] ॥१॥[1]

भावार्थः— राष्ट्रे ब्राह्मणाः पवित्रं ज्ञानविज्ञानबलं वर्धयन्ति क्षत्रियाश्च शत्रुभ्यो राष्ट्रं रक्षन्तीत्युन्नति-कामैरुभये सदा सत्कर्तव्याः पोषणीयाश्च ॥१॥

प्रथम मन्त्र में ब्रह्म-क्षत्र का आह्वान किया गया है ।

पदार्थ— मैं **पूतदक्षम्** पवित्र बल को देने वाले **मित्रम्** सबके मित्र ब्राह्मण को, और **रिशादसम्** हिंसक शत्रुओं को नष्ट करने वाले **वरुणं च** शत्रुनिवारक क्षत्रिय को **हुवे** पुकारता हूं । वे दोनों **घृताचीम्** राष्ट्र को तेज प्राप्त कराने वाली **धियम्** ज्ञानशृंखला एवं कर्मशृंखला को **साधन्तौ** सिद्ध करने वाले होते हैं ॥१॥

भावार्थ— राष्ट्र में ब्राह्मण पवित्र ज्ञान-विज्ञान के बल को बढ़ाते हैं और क्षत्रिय शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा करते हैं, इसलिए उन्नति चाहने वालों को दोनों का सदा सत्कार और पोषण करना चाहिए ॥१॥

अथ पुनर्ब्रह्मक्षत्रविषयमाह ।

८४८. ऋतेन[३१२] मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा । क्रतुं[१२ ३१ १] बृहन्तमाशाथे ॥२॥[2]

ऋतेन[३१२] मित्रा[३] मि त्रा वरुणौ । ऋतावृधौ ऋत वृधौ ऋतस्पृशा ऋत स्पृशा ।
क्रतुम्[१२र ३११२] बृहन्तम्[३] आशाथे[१२]इति ॥२॥

पदार्थः— हे **ऋतस्पृशा** ऋतं सत्यं ज्ञानं सत्यं कर्म च स्पृशतः प्राप्नुतः यौ तौ, **ऋतावृधा** ऋतं सत्यं ज्ञानं सत्यं कर्म च वर्धयतः यौ तौ । [पूर्वपदान्तस्य दीर्घश्छान्दसः । सुपां सुलुक्० अ० ७।१।३९ इति विभक्तेराकारादेशः] **मित्रावरुणौ** ब्राह्मणक्षत्रियौ ! **युवाम्** **ऋतेन** सत्यज्ञानेन सत्यकर्मणा च **बृहन्तम्** विशालम् **क्रतुम्** राष्ट्रयज्ञम् **आशाथे** आनशाथे व्याप्नुतः। [अशू व्याप्तौ संघाते च । छन्दसि लुङ्लङ्लिटः । अ० ३।४।६ इति वर्तमाने लिट् । वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति नुडभावः] ॥२॥[3]

भावार्थः— ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्च सत्यं ज्ञानं सत्यं कर्म च स्वयमुपादायान्यांश्च शिक्षयित्वा राष्ट्रोन्नयन-यज्ञं निर्वहतः ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर ब्रह्म-क्षत्र का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे **ऋतस्पृशा** सत्य ज्ञान और सत्य कर्म को प्राप्त करने वाले, **ऋतावृधा** सत्य ज्ञान और सत्य कर्म को बढ़ाने वाले **मित्रावरुणौ** ब्राह्मण-क्षत्रियो ! तुम दोनों **ऋतेन** सत्य ज्ञान और सत्य कर्म से **बृहन्तम्** विशाल **क्रतुम्** राष्ट्रयज्ञ को **आशाथे** व्याप्त करते हो ॥२॥

भावार्थ— ब्राह्मण और क्षत्रिय लोग सत्य ज्ञान और सत्य कर्म को स्वयं ग्रहण करके तथा अन्यों को उसकी शिक्षा देकर राष्ट्र की उन्नति रूप यज्ञ को करते हैं॥२॥

---

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये सूर्यवाय्वोः प्राणापानयोश्च विषये, यजुर्भाष्ये च विद्वद्विषये व्याख्यातवान् ।
२. ऋ० १।२।८ ।
३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं सूर्यवाय्वोः प्राणापानयोश्च विषये व्याख्यातः ॥

अथ पुनरपि ब्रह्मक्षत्रविषय एवोच्यते ।

३ १ २ ३ १र २र ३ १ २३ १ २ १ २ ३ १ २
८४९. **कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया। दक्षं दधाते अपसम् ॥३॥**[1]

३ १ २ ३ २ ३ २ १२र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
कवीइति नः मित्रा मि त्रा वरुणा । तुविजातौ तुवि जातौ उरुक्षया उरु क्षया ।

१ २र ३ १ २ ३ १ २
दक्षम् दधातेइति अपसम् ॥३॥

पदार्थः— **कवी** क्रान्तदर्शिनौ, मेधाविनौ, **तुविजाता** बहुप्रसिद्धौ, **उरुक्षया** विशालनिवासप्रदौ । [उरुःक्षयो निवासो ययोः तौ । बहुवीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' । अ० ६।२।१९९ इति परादिरुदात्तः ।] **मित्रावरुणौ** ब्राह्मणक्षत्रियौ **नः** अस्माकम् **दक्षम्** बलम् **अपसम्** कर्म च [अपः इति कर्मनाम । निघं २।१ ।] **दधाते** पुष्णीतः ॥३॥[2]

भावार्थः— राष्ट्रवासिनां बलं कर्म सुरक्षितनिवासश्च ब्रह्मक्षत्रयोः समन्वयेनैव सम्यक् सिध्यति ॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः ब्रह्म-क्षत्र का ही विषय है ।

पदार्थ— **कवी** क्रान्तद्रष्टा, बुद्धिमान्, **तुविजाता** बहुत प्रसिद्ध, **उरुक्षया** विशाल निवास को देने वाले **मित्रावरुणा** ब्राह्मण-क्षत्रिय **नः** हमारे **दक्षम्** बल को, तथा **अपसम्** कर्म को **दधाते** पुष्ट करते हैं ॥३॥

भावार्थ— राष्ट्रवासियों का बल, कर्म और सुरक्षित निवास ब्रह्म-क्षत्र के समन्वय से ही भलीभांति सिद्ध होता है ॥३॥

॥७॥ अथ 'इन्द्रेण' इत्यादिकस्य सप्तमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । **देवताः** मरुत इन्द्रश्च । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ जीवात्मप्राणविषय उच्यते ।

१ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
८५०. **इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा । मन्दू समानवर्चसा ॥१॥**[3]

१ २र १ २र ३ २ ३ २ १ २र ३
इन्द्रेण सम् हि दृक्षसे । संजग्मानः सम् जग्मानः अबिभ्युषा अ बिभ्युषा ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३
मन्दूइति समानवर्चसा समान वर्चसा ॥१॥

पदार्थः— हे मरुतां गण प्राणगण ! त्वम् **अबिभ्युषा** निर्भयेन **इन्द्रेण** जीवात्मना **संजग्मानः** संगच्छमानः **संदृक्षसे** संदृष्यसे । [संपूवाद् दृश धातोः लडर्थे लेटि अडागमे सिबागमे रूपम् । युवाम् **मन्दू** आनन्दप्रदौ [मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु, भ्वादिः, ततो बाहुलकादौणादिकः कुः प्रत्ययः ।] किञ्च **समानवर्चसा** समानवर्चसौ तुल्यतेजस्कौ स्थः इति शेषः ॥१॥[4]

---

१. ऋ० १।२।९ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं सूर्यवाय्वोः प्राणापानयोश्च विषये व्याख्यातः ॥

३. ऋ० १।६।७, अथ० २०।४०।१, ७०।३ ।

४. ऋग्भाष्येऽत्र दयानन्दर्षिः 'इन्द्र' इति पदेन परमेश्वरं सूर्यं च 'अबिभ्युषा' इति पदेन च भयनिवारणहेतुं किरणसमूहं वायुगणं च गृह्णाति ॥

निरुक्ते यास्काचार्येण मन्त्रोऽयमेवं व्याख्यातः- [इन्द्रेण हि सन्दृश्यसे संगच्छमानोऽबिभ्युषा गणेन । मन्दू मदिष्णू युवां स्थः, अपि वा मन्दुना तेनेति स्यात्, समानवर्चसेत्येतेन व्याख्यातम् । निरु० ४।१२।]

भावार्थः— देहे जीवात्मप्राणयोरुभयोरपि समं महत्त्वम् । प्राणं बिना जीवात्मा जीवात्मानं बिनां च प्रणोऽकिञ्चित्करः खलु ।।१।।

प्रथम मन्त्र में जीवात्मा और प्राण का विषय है ।

पदार्थ— हे मरुतों के गण अर्थात् प्राण-गण ! तू **अबिभ्युषा** निर्भय **इन्द्रेण** जीवात्मा के साथ **संजग्मानः** संगत होता हुआ **संदृक्षसे** दिखायी देता है । तुम दोनों अर्थात् प्राण-गण और जीवात्मा **मन्दू** आनन्द देने वाले, तथा **समानवर्चसा** तुल्य तेज वाले हो ।।१।।

भावार्थ— शरीर में जीवात्मा और प्राण दोनों का समान महत्त्व है । प्राण के बिना जीवात्मा और जीवात्मा के बिना प्राण कुछ नहीं कर सकता ।।१।।

अथ जीवात्मनः पुनर्जन्मविषयमाह ।

१र २र ३ २ड ३ १ २ ३ १ २ ३र १ २ ३ १ २ ३ १ २

८५१. आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। दधाना नाम यज्ञियम् ।२।।[1]

२ १२र ३ २ ३ २ १२र १ २र ३ २ ३ २ ३ २

आत् अह स्वधाम् स्व धाम् अनु। पुनः गर्भत्वम् एरिरे आ इरिरे ।

१ २र १ २र ३ १ २

दधानाः नाम यज्ञियम् ।।२।।

पदार्थः— **आत् अह** देहत्यागानन्तरं खलु, सूक्ष्मशरीरसमाविष्टा एते मरुतः प्राणाः पूर्वजन्मकृतकर्म-संस्कारानुसारम् **स्वधाम् अनु** भोगम् अनुलक्ष्य, इन्द्रेण जीवात्मना सहचारिताः **यज्ञियम्** देहयज्ञसंचालनार्हम् । [यज्ञमर्हति इति यज्ञियः, 'यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ । अ० ५।१।७१ इति घः प्रत्ययः।] **नाम** कर्म **दधानाः** धारयन्तः **पुनः** पूर्वजन्मवत् भूयोऽपि **गर्भत्वम्** मातुर्गर्भे स्थितिम् **एरिरे** प्राप्नुवन्ति । [आङ्पूर्वः **ईर** गतौ कम्पने च अदादिः, लिटि रूपम्] ।।२।।[2]

भावार्थः— पञ्च प्राणाः, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च सूक्ष्मभूतानि, मनो बुद्धिश्चेति सप्तदशलिङ्गकं सूक्ष्म-शरीरं जीवात्मना सह मृत्योरनन्तरमपि तिष्ठति । पूर्वजन्मकर्मसंस्कारानुसारेण फलानि भोक्तुं सूक्ष्मशरीरेण सह जीवात्मा पुनर्जन्म ग्रहीतुं मातुर्गर्भं प्रविशति ।।२।।

अगले मन्त्र में जीवात्मा के पुनर्जन्म का विषय है ।

पदार्थ— आत् अह देहत्याग के अनन्तर सूक्ष्म शरीर में समाविष्ट ये प्राण **पूर्वजन्मकृत कर्मों के संस्कारों के अनुसार स्वधाम् अनु** भोग को लक्ष्य करके, जीवात्मासहित **यज्ञियम्** देहयज्ञ के संचालन-योग्य **नाम कर्म को दधानाः** धारण करते हुए **पुनः** पूर्वजन्म के समान फिर भी **गर्भत्वम्** माता के गर्भ में स्थिति को **एरिरे प्राप्त** करते हैं।।२।।

भावार्थ— पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच सूक्ष्मभूत, मन और बुद्धि यह सत्रह लिंगों वाला **सूक्ष्म शरीर** जीवात्मा के साथ मृत्यु के बाद भी रहता है । पूर्वजन्म के कर्मों के संस्कारानुसार फल भोगने के लिए **सूक्ष्म शरीर** के साथ जीवात्मा पुनर्जन्म ग्रहण करने के लिए माता के गर्भ में प्रवेश करता है।।२।।

---

१. **ऋ०** १।६।४, **अथ०** २०।४०।३, ६९।१२ सर्वत्र देवताः मरुतः ।

२. **ऋग्भाष्ये** दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं वायूनां वृष्टिकर्मविषये व्याख्यातः ।

अथ योगमार्गे प्राणायामस्य महत्त्वमाह ।

८५२. **वीडु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः । अविन्द उस्रिया अनु ॥३॥**[1]

वीडु चित् आरुजत्नुभिः आ रुजत्नुभिः । गुहा चित् इन्द्र वह्निभिः ।
अविन्दः उस्रियाः उ स्रियाः अनु ॥३॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** जीवात्मन् ! **त्वम् वीडु चित्** दृढमपि व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्यादिविघ्नजातम् **आरुजद्भिः** समन्ताद् भञ्जद्भिः **वह्निभिः** वाहकैः मरुद्भिः प्राणैः, तेषां सहयोगेनेत्यर्थः **गुहा चित्** गुहायामपि विद्यमानाः, विघ्नैर्निगूढा अपि इति यावत् **उस्रियाः** परमात्मनः सकाशादागच्छतः तेजोरश्मीन्[2] **अनु अविन्दः** अनुक्रमेण प्राप्नोषि ॥३॥[3]

भावार्थः— यथा सूर्यकिरणान् मेघ आवृणोति तथैव परमात्मसूर्यस्य सकाशादागच्छतः तेजःकिरणान् योगमार्गे समुपस्थिता विघ्ना आवृण्वन्ति । प्राणायामस्य साहाय्येन ते विघ्नाः पराभवितुं शक्यन्ते ॥३॥[4]

अगले मन्त्र में योगमार्ग में प्राणायाम का महत्त्व कहा गया है ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** जीवात्मन् ! तू **वीडु चित्** दृढ़ भी व्याधि ,स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य आदि विघ्नों को **आरुजद्भिः** चारों ओर से तोड़ते हुए **वह्निभिः** वाहक प्राणों के सहयोग से **गुहा चित्** गुफा में भी विद्यमान अर्थात् विघ्नों से निगूढ़ हुई भी **उस्रियाः** परमात्मा के पास से आती हुई तेज की किरणों को **अनु अविन्दः** एक-एक करके प्राप्त कर लेता है ॥३॥

भावार्थ— जैसे सूर्य किरणों को बादल ढक लेता है, वैसे ही परमात्मारूप सूर्य के पास से आती हुई तेज की किरणों को योगमार्ग में उपस्थित विघ्न ढक लेते हैं। प्राणायाम की सहायता से वे विघ्न परास्त किये जा सकते हैं॥३॥

॥८॥ अथ 'ता हुवे' इत्यादिकस्याष्टमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । **देवते** इन्द्राग्नी। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः॥

तत्रादौ परमात्मजीवात्मविषयमाह ।

८५३. **ता हुवे ययोरिदं पप्ने विश्वं पुरा कृतम् । इन्द्राग्नी न मर्धतः ॥१॥**[5]

ता हुवे ययोः इदम् । पप्ने विश्वम् पुरा कृतम् ।
इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति न मर्धतः ॥१॥

---

१. ऋ॰ १।६।५, अथ॰ २०।७०।१ ।
२. उस्रियाः इति गोनामसु पठितम् । निघं २।११, गोनामानि प्रायेण रश्मिनामान्यपि भवन्ति ।
३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं भौतिकसूर्यवायुपक्षे व्याख्यातः ।
४. द्रष्टव्यम्: योग॰ १।३०-३४ ।
५. ऋ॰ ६।६०।४ ।

पदार्थः— अहम् **ता** तौ इन्द्राग्नी परमात्मजीवात्मानौ **हुवे** आह्वयामि **ययोः** परमात्मजीवात्मनोः **इदम्** एतत् पुरतोऽवलोक्यमानम् **पुरा** प्राक्काले **कृतम्** संपादितम् **विश्वम्** समस्तं कार्यम् **पप्ने** सर्वैः स्तूयते । [पनायते स्तुतिकर्मा, भ्वादिः।] **इन्द्राग्नी** उपासितः परमात्मा उद्बोधितो जीवात्मा च, तौ उभौ **न मर्धतः** कदापि न हिंस्तः, **हानिं न कुरुतः** प्रत्युत सदा लाभकरौ भवतः [मर्धतिः हिंसाकर्मा]॥१॥[1]

भावार्थः— परमात्मना यद् ब्रह्माण्डं रचितं **जीवात्मा च** देहं धृत्वा यानि महान्ति **कार्याणि** स्वबुद्धिकौशलेन सम्पादयति तैस्तयोर्महद् गौरवं द्योत्यते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा और जीवात्मा का विषय है ।

पदार्थ— मैं **ता** उन इन्द्र और अग्नि अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा को **हुवे** बुलाता हूँ, **ययोः** जिनका **इदम्** यह सामने दिखाई देने वाला **पुरा** पहले का **कृतम्** किया हुआ **विश्वम्** समस्त कार्य **पप्ने** सबके द्वारा स्तुति पाता है । **इन्द्राग्नी** उपासना किया हुआ परमात्मा और उद्बोधन दिया हुआ जीवात्मा दोनों **न मर्धतः** कभी हानि नहीं पहुंचाते, प्रत्युत सदा लाभकारी होते हैं॥१॥

भावार्थ— परमात्मा ने जो ब्रह्माण्ड रचा है और जीवात्मा देह धारण करके जिन महान् कार्यों को अपने बुद्धिकौशल से करता है, उनसे उन दोनों का महान् गौरव प्रकट होता है ॥१॥

अथ पुनः परमात्मजीवात्मनोरेव विषय उच्यते।

८५४. उग्रा विघनिना मृध इन्द्राग्नी हवामहे । ता नो मृडात ईदृशे॥२॥[2]

उग्रा विघनिना वि घनिना मृधः । इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति हवामहे ।
ता नः मृडातः ईदृशे ॥२॥

पदार्थः— **मृधः** हिंसकान् कामक्रोधादीन् रिपून् **विघनिना** हन्तारौ, **उग्रा** उग्रौ उद्गूर्णबलौ **इन्द्राग्नी** परमात्मजीवात्मानौ, वयम् **हवामहे** आह्वयामः। **ता** तौ **ईदृशे** एवंविधे संग्रामे उपस्थिते **नः** अस्मान् **मृडातः सुखयेताम्** । [मृड सुखने, तुदादिः, लेटि आडागमे रूपम्] ॥२॥[3]

भावार्थः— परमात्मानमुपास्य जीवात्मानं चोद्बोध्य सर्वैः सर्वे विघ्नाः सर्वे शत्रवश्च पराजेयाः ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा और जीवात्मा का ही विषय वर्णित है ।

पदार्थ— **मृधः** हिंसक काम, **क्रोध आदि** शत्रुओं के **विघनिना** विनाशक, **उग्रा** उग्र बल वाले **इन्द्राग्नी** परमात्मा और जीवात्मा को, हम **हवामहे** पुकारते हैं। **ता** वे दोनों **ईदृशे** ऐसे विकट देवासुरसंग्राम के उपस्थित **होने पर नः** हमें **मृडातः** सुखी करें ॥२॥

भावार्थ— सबको चाहिए कि परमात्मा की उपासना करके **और** जीवात्मा को उद्बोधन देकर सब **विघ्नों** तथा सब शत्रुओं **को** पराजित करें ॥२॥

---

१. **ऋग्भाष्ये** दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं वायुविद्युत्पक्षे व्याख्यातः ।

२. **ऋ०** ६।६०।५, य० ३३।६१ ।

३. **दयानन्दर्षिणा** मन्त्रोऽयमृग्भाष्ये **वायुविद्युतोः** प्रयोगेण संग्रामजयविषये यजुर्भाष्ये च सभासेनाधीशविषये **व्याख्यातः**।

अथ पुनरपि तमेव विषयं प्राह ।

८५५. हथो वृत्राण्यार्या हथो दासानि सत्पती । हथो विश्वा अप द्विषः ॥३॥[1]

हथः वृत्राणि आर्या। हथः दासानि सत्पती सत् पतीइति।
हथः विश्वाः अप द्विषः ॥३॥

पदार्थः— हे **सत्पती** सतां श्रेष्ठानां पालकौ परमात्मजीवात्मानौ ! **आर्या** आर्यौ श्रेष्ठौ युवाम् **वृत्राणि** पापानि **हथः** विनाशयथः, **दासानि** उपक्षपयितॄणि कामक्रोधादीनि **हथः** विनाशयथः, अपि च **विश्वाः** सर्वाः **द्विषः** द्वेषवृत्तीः **अप हथः** अप विनाशयथः ॥३॥[2]

अत्र 'हथो' इत्यस्य त्रिधाऽऽवृत्तौ लाटानुप्रासः । पुनः पुनः 'हथः' इति वचनादन्यान्यपि दुर्गुणदुर्व्यसन-दुःखादीन्यपहथः इति द्योत्यते ॥३॥

भावार्थः— परमात्मजीवात्मनोः साहाय्येनास्माभिः पापादीनि निरस्य द्वेषवृत्तीः समाप्य परस्परं सौहार्देन वर्त्तितव्यम् ॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मयज्ञयोर्ब्रह्मक्षत्रयोर्जीवात्मप्राणयोर्जीवस्य पुनर्जन्मनः प्राणायामस्य परमात्म-जीवात्मनोः **सम्बन्धादेश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य** पूर्वखण्डेन सह संगतिरस्ति ॥

अगले मन्त्र में पुनः वही विषय है ।

पदार्थ— हे **सत्पती** श्रेष्ठों के पालनकर्ता परमात्मा और जीवात्मा ! **आर्या** श्रेष्ठ तुम दोनों **वृत्राणि** पापों को **हथः** विनष्ट करते हो, **दासानि** क्षय करने वाले काम, क्रोध आदियों को **हथः** विनष्ट करते हो, और **विश्वाः** सब **द्विषः** द्वेष-वृत्तियों को **अप हथः** मार भगाते हो ॥३॥

यहां 'हथो' की तीन बार आवृत्ति में लाटानुप्रास है । पुनः पुनः 'हथः' कहने से यह द्योतित होता है कि इसी प्रकार अन्य भी दुर्गुण, दुर्व्यसन, दुःख आदियों को तुम विनष्ट करते हो ॥३॥

भावार्थ— हमें चाहिए कि परमात्मा और जीवात्मा की सहायता से पाप आदियों को नष्ट करके द्वेषवृत्तियों को समाप्त करके आपस में सौहार्द से बर्तें ॥३॥

इस खण्ड में परमात्मा और यज्ञ, ब्रह्म और क्षत्र, जीवात्मा और प्राण, जीवात्मा के पुनर्जन्म, प्राणा-याम, परमात्मा और जीवात्मा के सम्बन्ध आदि का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है॥

चतुर्थ अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ।

॥९॥ अथ 'अभि सोमास' इत्यादिकस्य नवमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सप्तर्षयः (१ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः, २ कश्यपो मारीचः, ३ गोतमो राहूगणः, ४ अत्रिर्भौमः, ५ विश्वामित्रो गाथिनः, ६ जमदग्निर्भार्गवः, ७ **वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**) । **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** १,२ बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतो-बृहती), ३ द्विपदा । **स्वरः** १ मध्यमः, २-३ पञ्चमः ॥

---

१. ऋ० ६।६०।६ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतम् वायुविद्युद्विषये व्याख्यातवान् ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५१८ क्रमाङ्के पीतानन्दरसानां मनुष्याणां विषये व्याख्याता । अत्र ज्ञानिनां गुरूणां विषय उच्यते ।

३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
८५६. **अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम् ।**
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
समुद्रस्याधि विष्टपे मनीषिणो मत्सरासो मदच्युतः ॥१॥[1]
३ २ १ २र ३ १ २ १ २र १ २र १ २र
अभि सोमासः आयवः । पवन्ते मद्यम् मदम् ।
३ १ २ ३ १ २ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
समुद्रस्य सम् उद्रस्य अधि विष्टपे मनीषिणः। मत्सरासः मदच्युतः मद च्युतः ॥१॥

पदार्थः— **आयवः** क्रियाशीलाः । [आ समन्तात् यन्ति गच्छन्ति क्रियाशीला भवन्तीति आयवः। इण् गतौ धातोः 'छन्दसीणः' उ० १।२ इत्यनेन उण् प्रत्ययः ।] **मनीषिणः** मननशीलाः, **मत्सरासः** उत्साहसञ्चारिणः, **मदच्युतः** हर्षवर्षिणः **सोमासः** विद्यारसपूर्णा गुरवः **समुद्रस्य** ज्ञानसागरस्य **विष्टपे अधि** लोके, गुरुकुले इत्यर्थः **मद्यम्** आनन्दजनकम् **मदम्** तृप्तिप्रदं ज्ञानरसम् **अभि पवन्ते** शिष्यान् प्रति अभिस्रावयन्ति ॥१॥

भावार्थः— विद्यार्थिजनाः सुयोग्यानां गुरूणां सकाशादमृतवर्षिणं ज्ञानरसमधिगम्य स्नातका भूत्वाऽन्येभ्यस्तं तृप्तिप्रदं ज्ञानरसं पाययन्तु ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में क्रमांक ५१८ पर आनन्दरस का पान किये हुए मनुष्यों के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां ज्ञानी गुरुओं का विषय कहा जाता है ।

पदार्थ— **आयवः** क्रियाशील, **मनीषिणः** मननशील, **मत्सरासः** उत्साह का संचार करने वाले, **मदच्युतः** हर्ष की वर्षा करने वाले **सोमासः** विद्यारस से परिपूर्ण गुरुजन **समुद्रस्य** ज्ञानसागर के **विष्टपे अधि** लोक में अर्थात् गुरुकुल में **मद्यम्** आनन्दजनक **मदम्** तृप्तिप्रद ज्ञानरस को **अभि पवन्ते** शिष्यों के प्रति प्रवाहित करते हैं॥१॥

भावार्थ— विद्यार्थी जन सुयोग्य गुरुओं के पास से अमृतवर्षी ज्ञानरस को पाकर, स्नातक होकर अन्यों को वह तृप्तिप्रद ज्ञान रस पिलाया करें ॥१॥

अथ स्नातको वर्ण्यते ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
८५७. **तरत्समुद्रं पवमान ऊर्मिणा राजा देव ऋतं बृहत् ।**
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
अर्षा मित्रस्य वरुणस्य धर्मणा प्र हिन्वान ऋतं बृहत् ॥२॥[2]
१२र ३ २ ३ २ १२र ३ १ २ १ २र ३ २ ३ २ ३ २
तरत् समुद्रम् सम् उद्रम् पवमानः ऊर्मिणा। राजा देवः ऋतम् बृहत् ।
१२र ३ १ २ ३ १ २र १२र १२र ३ २ ३ २ ३ २
अर्ष मित्रस्य मि त्रस्य वरुणस्य धर्मणा । प्र हिन्वानः ऋतम् बृहत् ॥२॥

---

१. ऋ० ९।१०७।१४ 'विष्टपे' 'मदच्युतः' इत्यत्र क्रमेण 'विष्टपि' 'स्वर्विदः' इति पाठः । साम० ५१८ ।
२. ऋ० ९। १०७।१५ 'अर्षा' इत्यत्र 'अर्षन्' इति पाठः ।

पदार्थः— शिष्यः **राजा** तेजसा राजमानः **देवः** विद्वांश्च सन् **बृहत् ऋतम्** महत् सत्यज्ञानं सत्याचरणं सत्यं ब्रह्मानन्दं च **ऊर्मिणा** तरङ्गेण **पवमानः** स्वात्मनि प्रवाहयन् **समुद्रम्** ब्रह्मचर्याश्रमरूपम् अर्णवम् **तरत्** तरति, स्नातको भवति । सम्प्रति प्रत्यक्षकृतमाह—हे विद्वन् स्नातक ! त्वम् **मित्रस्य** मैत्रीनिर्वाहकस्य, **वरुणस्य** शिष्यरूपेण तव वरणकर्तुः आचार्यस्य **धर्मणा** उपदिष्टधर्मानुसारम्, जनसमाजे **बृहत्** महत् सत्यज्ञानं सत्याचरणं सत्यं ब्रह्मानन्दं च **हिन्वानः** प्रेरयन् **अर्ष** गच्छ, व्यवहर । [ऋषीगतौ, तुदादिः] ॥२॥

अथर्ववेदः स्नातकं वर्णयन्नेवमाह- ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः । प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥ तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे । स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते । (अथ० ११।५।२४-२६) इति ।

भावार्थः— स्नातकैर्गुरुभ्योऽधीतं सर्वमपि लौकिकमाध्यात्मिकं च ज्ञानं समाजे प्रसारणीयम् ॥२॥

अगले मन्त्र में स्नातक का वर्णन है ।

पदार्थ— **शिष्य राजा** तेज से दीप्त तथा **देवः** विद्वान् होता हुआ **बृहत् ऋतम्** महान् सत्यज्ञान, सत्य आचरण और सत्य ब्रह्मानन्द को **ऊर्मिणा** तरंगरूप में **पवमानः** अपने आत्मा में प्रवाहित करता हुआ **समुद्रम्** ब्रह्मचर्याश्रमरूप समुद्र को **तरत्** तैर जाता है, अर्थात् स्नातक **बन जाता है** । आगे प्रत्यक्षरूप से वर्णन है— हे विद्वान् स्नातक ! तू **मित्रस्य** मैत्री के निर्वाहक तथा **वरुणस्य शिष्य रूप में** तुझे वरने वाले आचार्य के **धर्मणा** उपदिष्ट धर्म के अनुसार, जनसमाज में **बृहत्** महान् सत्यज्ञान, **सत्य आचरण** और सत्य ब्रह्मानन्द को **हिन्वानः** प्रेरित करता हुआ **अर्ष** गति कर, व्यवहार कर ॥२॥

अथर्ववेद में स्नातक का वर्णन इस रूप में किया गया है— "ब्रह्मचारी देदीप्यमान ज्ञान को अपने अन्दर धारण करता है । उसके अन्दर सब दिव्य गुण समाविष्ट हो जाते हैं। हे ब्रह्मचारी, तू प्राण, अपान, व्यान, वाणी, मन, हृदय, ब्रह्म, मेधा इन सबकी शक्ति को अपने अन्दर उत्पन्न करता हुआ हमें भी चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, रेतस्, रक्त एवं पाचनशक्ति प्रदान कर। इन सब शक्तियों को ब्रह्मचारी ज्ञानसलिल के पृष्ठ ब्रह्मचर्याश्रम-रूप समुद्र में तप करता हुआ प्राप्त करता है । वह जब सनातक बनता है तब अन्यों का धारक-पोषक और पीतवेषधारी होकर पृथिवी पर बहुत चमकता है । (अथ० ११।५।२४-२६) ॥

भावार्थ— स्नातकों को चाहिए कि गुरुओं से अध्ययन किये हुए सब लौकिक और आध्यात्मिक ज्ञान को समाज में फैलाएं ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

८५८. नृभिर्येमाणो हर्यतो विचक्षणो राजा देवः समुद्रयः ॥३॥[1]

नृभिः येमानः हर्यतः विचक्षणः वि चक्षणः । राजा देवः समुद्रयः सम् उद्रयः ॥३॥

पदार्थः— **नृभिः** नेतृभिः गुरुजनैः **येमाणः** नियम्यमानः, **हर्यतः** प्रियः, **राजा** तेजसा राजमानः, **समुद्रयः** ब्रह्मचर्याश्रमरूपे समुद्रे निवसन् ब्रह्मचारी **देवः** दिव्यगुणयुक्तः, **विचक्षणः** विद्वांश्च भवतीति शेषः ॥३॥

---

१. ऋ० ९।१०७।१६, 'येमानो' इति 'समुद्रियः इति च पाठः ।

भावार्थः— गुरुकुले गुरुजनानां सान्निध्ये वसन् ब्रह्मचारी विद्वान् सदाचारी च भूत्वा स्नातको जायते ॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— नृभिः नेता गुरुजनों से **येमाणः** नियन्त्रण में रखा जाता हुआ, **हर्यतः** प्रिय, **राजा** तेज से देदीप्यमान, **समुद्र्यः** ब्रह्मचर्याश्रमरूप समुद्र में निवास करता हुआ ब्रह्मचारी **देवः** दिव्य गुणों से युक्त, और **विचक्षणः** विद्वान् हो जाता है ॥३॥

भावार्थ— गुरुकुल में गुरुजनों के सान्निध्य में निवास करता हुआ ब्रह्मचारी विद्वान् और सदाचारी होकर स्नातक बनता है ॥३॥

॥१०॥ अथ 'तिस्रो वाच' इत्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** पराशरः शाक्त्यः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५२५ क्रमाङ्के परमात्मनो जीवात्मन आचार्यस्य च विषये व्याख्याता। अत्र महाकविकर्म वर्ण्यते ।।

३ १र २र ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र ३ २
८५९. **तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम् ।**
१ २ १ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ॥१॥[2]

३ २ १ २र ३ २ १ २र ३ १ २ ३ २ १ २र ३ २
तिस्रः वाचः ईरयति प्र वह्निः । ऋतस्य धीतिम् ब्रह्मणः मनीषाम् ।
१२र ३ १२र ३ १ २ १ २र ३ २ ३
गावः यन्ति गोपतिम् गो पतिम् पृच्छमानाः । सोमम् यन्ति मतयः वावशानाः ॥१॥

पदार्थः— **वह्निः** काव्यस्य वाहकः महाकविः **तिस्रः** गद्यपद्योभयात्मिकीः **अभिधालक्षणाव्यञ्जनात्मिकाः** वा **वाचः** गिरः **प्र ईरयति** प्रयुङ्क्ते । स स्वकाव्ये **ऋतस्य** सत्यस्य **धीतिम् धारणम्, ब्रह्मणः** परमात्मनः **मनीषाम्** स्तुतिं च प्र ईरयति प्रयुङ्क्ते । **गावः** वाचः **गोपतिम्** वाचस्पतिं तं **महाकविं, तद्विषये** इत्यर्थः **पृच्छमानाः** प्रश्नं कुर्वत्यः इव **यन्ति** गच्छति, क्वाऽऽस्ते स महाकविर्यः स्वकाव्ये प्रयुज्यास्मान् कृतार्थयिष्यति इति पृच्छन्ती-वेत्यर्थः। **मतयः** स्तुतयः अपि **सोमम्** तमेव रससिद्धं कविं **वावशानाः** कामयमानाः अन्विष्यन्त्यः इव **यन्ति** गच्छन्ति ॥१॥

अत्रोत्तरार्द्धेऽसम्बन्धे सम्बन्धरूपोऽतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— केचन विरला एव रससिद्धाः कवयोऽभिधालक्षणाव्यञ्जनावतीं गद्यपद्योभयात्मिकीः वाचं प्रयुञ्जानाः सात्त्विकानि शान्तिरसमयानि ब्रह्मस्तोत्राणि विरच्य स्वां वाचं कृतकृत्यां कुर्वन्ति ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ५२५ क्रमांक पर परमात्मा, जीवात्मा और आचार्य के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां महाकवि के कर्म का वर्णन किया जाता है ।

पदार्थ— वह्निः काव्य का वाहक महाकवि **तिस्रः** गद्य, पद्य एवं उभयात्मक अथवा अभिधात्मक, लक्षणात्मक एवं व्यंजनात्मक, **वाचः** वाणियों को **प्र ईरयति** प्रयुक्त करता है । वह अपने काव्य में **ऋतस्य**

---

१. ऋ० ९।९७।३४, साम० ५२५ ।

सत्य के धीतिम् धारण को, और **ब्रह्मणः** परमात्मा की **मनीषाम्** स्तुति को भी प्रयुक्त करता है। **गावः** वाणियां **गोपतिम्** उस वागीश्वर महाकवि के विषय में **पृच्छमानाः** पूछती हुई **यन्ति** जा रही हैं– कहां है वह महाकवि जो अपने काव्य में प्रयुक्त करके हमें कृतार्थ करेगा, मानो यह पूछती हैं। **मतयः** स्तुतियां भी, मानो **सोमम्** उसी रससिद्ध कवि को **वावशानाः** चाहती हुई, खोजती हुई **यन्ति** जा रही हैं ॥१॥

यहां उतरार्ध में असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अलंकार है ॥१॥

भावार्थः– कोई विरले ही रससिद्ध कवि अभिधा, लक्षणा, व्यंजना वाली गद्य, पद्य, उभय रूप वाणी को प्रयुक्त करते हुए सात्त्विक, शान्तरसमय ब्रह्मस्तोत्रों को रचकर अपनी वाणी को कृतकृत्य करते हैं ॥१॥

अथ परमकविं परमात्मानं वर्णयति।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
८६०. **सोमं गावो धेनवो वावशानाः सोमं विप्रा मतिभिः पृच्छमानाः।**
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सोमः सुत ऋच्यते पूयमानः सोमे अर्कास्त्रिष्टुभः सं नवन्ते ॥२॥[1]

१ २ र १ २ र ३ १ २ ३ २ १ २ र १ २ र ३ १ २ ३ १ २
सोमम् गावः धेनवः वावशानाः। सोमम् विप्राः वि प्राः मतिभिः पृच्छमानाः।
१ २ र ३ २ ३ १ २ १ २ र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ र ३
सोमः सुतः ऋच्यते पूयमानः। सोमे अर्काः त्रिष्टुभः त्रि स्तुभः सम् नवन्ते ॥२॥

पदार्थः– **धेनवः** प्रीणयित्र्यः **गावः** क्षीरिण्यः वाचो वा **सोमम्** परमकविं परमात्मानमेव **वावशानाः** कामयमानाः, यन्ति इति पूर्वमन्त्रादाकृष्यते। **विप्राः** ज्ञानिनः **मतिभिः** स्तोत्रैः **सोमम्** परमकविं परमात्मानमेव **पृच्छमानाः** पृच्छन्तः यन्ति। **सुतः** ध्यातः **सोमः** परमात्मा **पूयमानः** हृदये प्रेर्यमाणः। [पवते गतिकर्मा। निघं० २।१४।] **ऋच्यते** सहृदयैः स्तूयते। [ऋच स्तुतौ तुदादेः कर्मणि रूपम्।] **सोमे** तस्मिन् परमात्मनि **त्रिष्टुभः** त्रिष्टुप्छन्दस्काः त्रिपाद्गायत्रीछन्दस्काः वा **अर्काः** मन्त्राः। [अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति। निरु० ५।५।२४।] **सं नवन्ते** संगताः सन्ति, तमेव प्रतिपादयन्तीत्यर्थः। [नवते गतिकर्मा निघं० २।१४] ॥२॥

अत्र पूर्वार्द्धेऽसम्बन्धे सम्बन्धरूपोऽतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥२॥

भावार्थः– जगति सर्वे प्राणिनः सर्वे चाचेतनाः पदार्थाः स्वस्वकर्मणि संलग्नाः स्वरचयितारं परमात्मानमिवान्विष्यन्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमकवि परमात्मा का वर्णन है।

पदार्थ– **धेनवः** तृप्ति प्रदान करने वाली **गावः** गौएं या वाणियां **सोमम्** परमकवि परमात्मा की ही **वावशानाः** कामना करती हुई **यन्ति** जा रही हैं। **विप्राः** ज्ञानी लोग **मतिभिः** स्तोत्रों से **सोमम्** परमकवि परमात्मा को ही **पृच्छमानाः** पूछते हुए, जा रहे हैं। **सुतः** ध्यान किया हुआ **सोमः** परमात्मा **पूयमानः** हृदय में प्रेरित होता हुआ **ऋच्यते** सहृदयों से स्तुति पाता है। **सोमे** उस परमात्मा में **त्रिष्टुभः** त्रिष्टुप् छन्द वाले अथवा तीन-तीन पादों से थमे हुए गायत्री छन्द वाले **अर्काः** मन्त्र **सं नवन्ते** संगत हुए-हुए हैं, अर्थात् उसी का प्रतिपादन कर रहे हैं ॥२॥

---

१. ऋ० ९।९७।३५, 'सोमः सुतः पूयते अज्यमानः' इति तृतीयः पादः।

इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अलंकार है ।।२।।

भावार्थ– जगत् में सब प्राणी और सब अचेतन पदार्थ अपने-अपने कर्म में लगे हुए मानो अपने रचयिता परमात्मा को ही खोज रहे हैं ।।२।।

अथ परमकवेः परमात्मनः काव्यरसं वर्णयन्नाह ।

३ १ २　　३ १ २३　१ २　　३१ २　३ २
८६१. **एवा नः सोम परिषिच्यमान आ पवस्व पूयमानः स्वस्ति ।**
२ ३ १ २　३ १र २र ३ २ ३　१ २ ३२ ३ १२
इन्द्रमा विश बृहता मदेन वर्धया वाचं जनया पुरन्धिम् ।।३।।[1]
३२ ३　　१ २　३　　१ २　　३　　१ २　३ २ ३　२
एव नः सोम परिषिच्यमानः परि सिच्यमानः । आ पवस्व पूयमानः स्वस्ति सु अस्ति ।
१ २र　३　२ १२र　३१२　१२र　३१२ १२र　१२र　३
इन्द्रम् आ विश बृहता मदेन । वर्धय वाचम् जनय पुरन्धिम् पुरम् धिम् ।।३।।

पदार्थः– हे **सोम** परमकवेः परमात्मनः काव्याज्जनित काव्यानन्दरस ! **एव** सत्यम् **परिषिच्यमानः** परिक्षार्यमाणः, **पूयमानः** अस्मान् प्रति प्रेर्यमाणः त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **स्वस्ति** भद्रम् **आ पवस्व** आनय । **बृहता** महता **मदेन** तृप्तियोगेन **इन्द्रम्** जीवात्मानम् **आ विश** प्र विश, **वाचम्** स्तुतिवाचम् **वर्धय** वृद्धिं गमय, स्तोतारं च **पुरन्धिम्** बहुधियं बहुकर्माणं वा **जनय** कुरु । [पुरन्धिर्बहुधीः । निरु० ६।१३।५१] ।।३।।

अत्रानेककियाणामेकेन कर्तृकारकेण योगाद् दीपकालङ्कारः ।।३।।

भावार्थः– हृदये परिषिच्यमानो महाकवेः परमात्मनः काव्यानन्दरसः सहृदयस्य हृदयं चमत्कृत्य तं प्रभुगीतानां गायकं बहुप्रज्ञं बहुक्रियमुत्साहवन्तं सरसं कारुणिकं च कुरुते ।।३।।

अस्मिन् खण्डे गुरूणां, स्नातकस्य, महाकविकर्मणः, परमकवेः परमात्मनस्तत्काव्यरसस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन सह संगतिरस्ति ।।

अगले मन्त्र में परमकवि परमात्मा के काव्यरस का वर्णन है ।

पदार्थ– हे **सोम** परमकवि परमात्मा के काव्य से उत्पन्न काव्यानन्दरस ! **एव** सचमुच **परिषिच्यमानः** चारों ओर सींचा जाता हुआ, **पूयमानः** हमारे प्रति प्रेरित होता हुआ, तू **नः** हमारे लिए **स्वस्ति** कल्याण को **आ पवस्व** ला । **बृहता** महान् **मदेन** तृप्ति के साथ **इन्द्रम्** जीवात्मा में **आ विश** प्रवेश कर, **वाचम्** स्तुतिवाणी को **वर्धय** बढ़ा, और स्तोता को **पुरन्धिम्** बहुत बुद्धिमान् वा बहुत कर्मवान् **जनय** कर ।।३।।

यहां अनेक क्रियाओं का एक कर्त्ता कारक से योग होने के कारण दीपक अलंकार है ।।३।।

भावार्थ– हृदय में सींचा जाता हुआ महाकवि परमात्मा का काव्यानन्दरस सहृदय के हृदय को चमत्कृत करके उसे प्रभुगीतों का गायक, बहुत मेधावी, बहुत कर्मनिष्ठ, उत्साहवान्, सरस और दयालु बना देता है ।।३।।

इस खण्ड में गुरुजन, स्नातक, महाकविकर्म, परमकवि परमात्मा एवं उसके काव्यरस का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्वखण्ड के साथ संगति है ।

चतुर्थ अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ।

---

१. ऋ० ९।९७।३६, 'मदेन' इत्यत्र 'रवेण' इति भेदः ।

॥११॥ अथ 'यद् द्याव' इत्यादिकस्यैकादशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** पुरुहन्मा आङ्गिरसः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २७८ क्रमांके परमेश्वरमहत्त्वविषये व्याख्याता । अत्र जीवात्मविषयो वर्ण्यते।

८६२. यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥१॥[1]

यत् द्यावः इन्द्र ते शतम् । शतम् भूमीः उत स्युः ।
न त्वा वज्रिन् सहस्रम् सूर्याः अनु । न जातम् अष्ट रोदसीइति ॥१॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** शूरवीर जीवात्मन् ! **यत्** यदि **ते** तुभ्यम्, त्वत्सम्मुखम् **द्यावः** द्युलोकाः **शतम्** शतसंख्यकाः **उत** अपि च **भूमीः** भूमयः **शतम्** शतसंख्यकाः **स्युः** भवेयुः, किञ्च **सूर्याः** आदित्याः **सहस्रम्** सहस्रसंख्यकाः स्युः, तथापि हे **वज्रिन्** वज्रधर इव शत्रून् प्रतिरोद्धुं समर्थ जीवात्मन् ! ते **त्वा** त्वाम् **न अनु** न अन्वश्नुवते त्वन्महिमानं न प्राप्तुं शक्नुवन्तिः **न** नैव **रोदसी** रोदस्योः द्यावापृथिव्योः मध्ये **जातम्** उत्पन्नम् किञ्चिदपि वस्तु **अष्ट** त्वन्महिमानं प्राप्तुं शक्नोति । [अन्यत्र जीवात्मा स्वयं स्वमहिमानमुद्घोषयन्नाह—अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं न मृत्यवे ऽवतस्थे कदाचन (ऋ० १०।४८।५)] इति ॥१॥

अत्रातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— यो जीवात्माऽजरामरश्चेतनश्चास्ति तस्य महिमानं शतसहस्रलक्षकोटिगुणिता अपि भूत्वा जडा एते सूर्यपृथिव्यादयो नाप्तुं समर्थाः ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २७८ क्रमांक पर परमेश्वर के महत्त्व विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां जीवात्मा का विषय वर्णित करते हैं।

पदार्थ— हे **इन्द्र** शूरवीर जीवात्मन् ! **यत्** यदि **ते** तेरे सम्मुख **द्यावः** द्युलोक **शतम्** संख्या में सौ, **उत** और **भूमीः** भूमियां भी **शतम्** संख्या में सौ **स्युः** हो जाएं, और **सूर्याः** सूर्य **सहस्रम्** हजार हो जाएं, तो भी हे **वज्रिन्** वज्रधारी के समान शत्रुओं का प्रतिरोध करने में समर्थ जीवात्मन् ! वे **त्वा** तेरी **न अनु** महिमा को नहीं पा सकते, **न** न ही **रोदसी** धरती-आसमान के बीच **जातम्** उत्पन्न कोई भी वस्तु **अष्ट** तेरी महिमा को पा सकती है । [अन्यत्र जीवात्मा स्वयं अपनी महिमा उद्घोषित करता हुआ कहता है— "मैं इन्द्र हूं, मैं कभी धन को हार नहीं सकता । मैं कभी मरता नहीं" (ऋ० १०।४८।५)]॥१॥

यहां अतिशयोक्ति अलंकार है ॥१॥

भावार्थ— जो जीवात्मा अजर, अमर और चेतन है उसकी महिमा को सौ, हजार, लाख, करोड़ गुणा भी होकर ये जड़ सूर्य, पृथिवी आदि प्राप्त नहीं कर सकते ॥१॥

---

१. ऋ० ८।७०।५, साम० २७८, अथ० २०।८१।१, ९२।२० ।

अथ परमात्मजीवात्मनोरुभयोर्विषयमाह ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
८६३. **आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन् विश्वा शविष्ठ शवसा ।**
३ १ २ ३ १ २ १र २र ३ १ २ ३ १ २
अस्माँ अव मघवन् गोमति व्रजे वज्रिञ्चित्राभिरूतिभिः ॥२॥[1]

२ ३ २ १२र ३ १ २र ३ १२र
आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन् । विश्वा शविष्ठ शवसा ।
३ २ ३ १२र ३ २ १ २र ३ १ २ ३ १ १
अस्मान् अव मघवन् गोमति व्रजे वज्रिन् चित्राभिः ऊतिभिः ॥२॥

पदार्थः— **प्रथमः** परमात्मपरः । हे **वृषन्** सुखवर्षक, **शविष्ठ** बलवत्तम जगदीश्वर ! त्वम् **महिना** महिम्ना **शवसा** बलेन च **विश्वा** सर्वाणि **वृष्ण्या** वृष्ण्यानि **बलानि आत्मबल**विद्युद्बलवायुबलसूर्यबलादीनि । [वृषसु वीर्यवत्सु भवं वृष्ण्यम्, भवार्थे यत् ।] **आ पप्राथ** विस्तारितवानसि । हे **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन् ! हे **वज्रिन्** वज्रधर इव दण्डसामर्थ्ययुक्त ! त्वम् **गोमति व्रजे** सूर्यचन्द्रनक्षत्रादिलोकलोकान्तरयुक्तेऽस्मिन् ब्रह्माण्डे **चित्राभिः** अद्भुताभिः **ऊतिभिः** रक्षाभिः **अस्मान्** उपासकान् **अव** पालय ॥

द्वितीयः जीवात्मपरः । हे **वृषन्** देहस्थेषु मनोबुद्ध्यादिषु बलवत्तम मदीय आत्मन् ! त्वम् **महिना** महिम्ना **शवसा** बलेन च **विश्वा** सर्वाणि **वृष्ण्या** वृष्ण्यानि प्राणमनोबुद्धीन्द्रियादीनां बलानि **आ पप्राथ** विस्तारयसि । हे **मघवन्** सद्गुणैश्वर्यवन् ! हे **वज्रिन्** वाग्वज्रयुक्त ! [वाग्घि वज्रः । ऐ० ब्रा० ४।१ ।] त्वम् **गोमति व्रजे** इन्द्रियरूपगोयुक्ते देहरूपे गोष्ठे **चित्राभिः** अद्भुताभिः **ऊतिभिः** रक्षाभिः **अस्मान् अव** पालय ॥२॥

अत्र श्लेषालङ्कारः । 'वृष्, वृष' 'शवि, शव' इत्यत्र छेकानुप्रासः ॥२॥

भावार्थः— यथा ब्रह्माण्डे सर्वेषु बलवत्सु पदार्थेषु परमेश्वरकृतं बलमस्ति तथा देहपिण्डे प्राणमनो-बुद्धीन्द्रियादिषु जीवात्मदत्तं सामर्थ्यं विद्यते, जीवात्मापि च परमेश्वरादेव तादृशं सामर्थ्यं प्राप्नोति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और जीवात्मा दोनों का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ— **प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हे **वृषन्** सुखों की वर्षा करने वाले, **शविष्ठ** सबसे अधिक बली जगदीश्वर ! आपने **महिना** महिमा से और **शवसा** बल से **विश्वा** सब **वृष्ण्या** बलों को अर्थात् आत्मबल, विद्युद्बल, वायुबल, सूर्यबल आदि को **आ पप्राथ** फैलाया है । हे **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन् ! हे **वज्रिन्** वज्रधर के समान दण्डसामर्थ्ययुक्त ! आप **गोमति व्रजे** सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि लोकलोकान्तरों से युक्त इस ब्रह्माण्ड में **चित्राभिः** अद्भुत **ऊतिभिः** रक्षाओं से **अस्मान्** हम उपासकों की **अव** रक्षा कीजिए ॥

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में । हे **वृषन्** शरीरस्थ मन, बुद्धि आदि में सबसे अधिक बली मेरे आत्मा! तू **महिना** महिमा से और **शवसा** बल से **विश्वा** सब **वृष्ण्या** प्राण, मन, बुद्धि आदि के बलों को **आ पप्राथ** फैलाता है । हे **मघवन्** सद्गुणों के ऐश्वर्य से युक्त ! हे **वज्रिन्** वाणीरूप वज्र वाले ! तू **गोमति व्रजे** इन्द्रियरूप गौओं से युक्त शरीररूप गोशाला में **चित्राभिः** अद्भुत **ऊतिभिः** रक्षाओं से **अस्मान्** हमारा **अव** पालन कर ॥२॥

---

१. ऋ० ८।७०।६, अथ० २०।८१।२, ९२।२१ ।

यहां श्लेषालंकार है 'वृष्, वृष' और 'शवि, शव' में छेकानुप्रास है ॥२॥

भावार्थ– जैसे ब्रह्माण्ड में सब बलवान् पदार्थों में परमेश्वर से उत्पन्न किया हुआ बल है, वैसे ही शरीररूप पिण्ड में प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि में जीवात्मा से दिया हुआ सामर्थ्य है, और जीवात्मा भी परमेश्वर से ही वैसा सामर्थ्य प्राप्त करता है ॥२॥

॥१२॥ अथ 'वयं घ' इत्यादिकस्य द्वादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मेध्यातिथिः काण्वः । **देवता इन्द्रः** । **छन्दः** बृहती । **स्वरः** मध्यमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २६१ क्रमाङ्के परमेश्वरोपासनाविषये व्याख्याता । अत्राचार्यविषयो वर्ण्यते।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
८६४. **वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः ।**
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते ॥१॥[1]

३ २ ३ १ २ १ २र ३ १ २ ३ २ ३
वयम् घ त्वा सुतावन्तः । आपः न वृक्तबर्हिषः वृक्त बर्हिषः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र ३ १ २ ३
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु प्र स्रवणेषु वृत्रहन् वृत्र हन् । परि स्तोतारः आसते ॥१॥

पदार्थः– पुत्रान् गुरुकुले प्रवेशयितुं तैः सहागताः पितरः आचार्यं ब्रुवते – हे आचार्यप्रवर ! **वृक्तबर्हिषः** परित्यक्तान्तरिक्षाः **आपः न** मेघजलानि इव **वृक्तबर्हिषः** परित्यक्तगृहाः[2] **सुतवन्तः** पुत्रैः सहिताः **वयम्** पितरः **त्वा घ** त्वां खलु प्राप्ताः स्मः । हे **वृत्रहन्** दोषाणां हन्तः आचार्यश्रेष्ठ ! **स्तोतारः** समित्पाणयो भूत्वा त्वत्सकाशमागताः त्वद्गुणान् गातारः शिष्याः **पवित्रस्य** विशुद्धस्य ज्ञानस्य आचरणस्य च **प्रस्रवणेषु** प्रवाहेषु **परिआसते** परिप्लवन्ति । अतोऽस्मत्पुत्रानुपनीय विदुषः कुर्विति भावः ॥१॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः । कारणरूपेणोत्तरार्द्धवाक्येन कार्यरूपस्य पूर्वार्द्धवाक्यस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽपि ॥१॥

भावार्थः– सर्वैर्मातापितृभिः स्वबालकान् स्वबालिकाश्चाचार्यस्याचार्याया वा सकाशे समर्प्य ते ताश्च विद्वांसो विदुष्यश्च कार्याः ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २६१ क्रमांक पर परमेश्वरोपासना विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां आचार्य का विषय वर्णित है ।

पदार्थ– पुत्रों को गुरुकुल में प्रविष्ट कराने के लिए उनके साथ आए हुए पितृजन आचार्य को कह रहे हैं– हे आचार्यप्रवर ! **वृक्तबर्हिषः** जिन्होंने अन्तरिक्ष को छोड़ दिया है ऐसे **आपः न** बादल के जलों के समान **वृक्तबर्हिषः** घरों को छोड़कर आये हुए, **सुतवन्तः** पुत्रों सहित **वयम्** हम लोग **त्वा घ** आपको ही प्राप्त हुए हैं। हे **वृत्रहन्** दोषों को मारने वाले श्रेष्ठ आचार्य ! **स्तोतारः** समित्पाणि होकर आपके पास आये हुए, आपके गुणों

---

१. ऋ० ८।३३।१, अथ० २०।५२।१, ५७।१४ । साम० २६१, ऋषिः मेधातिथिः काण्वः ।

२. (बर्हिः) उत्तमं गृहं शरीरं वा-इति ऋ० ७।२।८ भाष्ये द० ।

का गान करने वाले शिष्यजन **पवित्रस्य** विशुद्ध ज्ञान और **विशुद्ध** आचरण के **प्रस्रवणेषु** प्रवाहों में **परि आसते** तैरा करते हैं। अतः हमारे पुत्रों का भी उपनयन संस्कार **करके इन्हें** विद्वान् बनाइये, यह भाव है ।।१।।

यहां श्लिष्टोपमालंकार है । कारणरूप उत्तरार्ध वाक्य से कार्यरूप पूर्वार्ध वाक्य का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास भी है ।।१।।

भावार्थः— सब माता-पिताओं को चाहिए कि अपने बालकों वा बालिकाओं को आचार्य वा आचार्या के पास सौंपकर उन्हें विद्वान् और विदुषियां बनायें ।।१।।

अथ परमात्मानमाचार्यं चाह्वयति ।

१ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
८६५. **स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः ।**
३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः ।।२।।[1]

१२र ३ २ १ २र १ २र ३ २ ३ १ २
स्वरन्ति त्वा सुते नरः । वसो निरेके उक्थिनः ।
३ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ १ २र ३ २ ३ १ २र
कदा सुतम् तृषाणः ओक आ गमः । इन्द्र स्वब्दी इव वंसगः ।।२।।

पदार्थः— **प्रथमः** परमात्मपक्षे । हे **वसो** उपासकानां धनरूप, तेषु सद्गुणानां च निवासयितः परमात्मन्! **उक्थिनः** स्तोतारः **नरः** मनुष्याः **सुते** श्रद्धारसे **निरेके**[2] निर्गते, उद्वेल्लिते सति **त्वा** त्वाम् **स्वरन्ति** आह्वयन्ति। [स्वृ शब्दोपतापयोः, भ्वादिः ।] हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् दुर्गुणविदारक ! **कदा** कस्मिन् काले **सुतम् अभिषुतं** श्रद्धारसम् **तृषाणः** पिपासुः, त्वम् **ओकः** हृदय-सदनम् **आगमः** आगमिष्यसि, **इव** यथा **वंसगः वननीयगमनः** सेवनीयगतिः **स्वब्दी**[3] शोभनस्य उदकस्य दाता सूर्यः **ओकः** समुद्ररूपं गृहम् आगच्छति । [वंसः, वन संभक्तौ, वंसं वननीयं सम्भजनीयं यथा स्यात्तथा गच्छतीति वंसगः । स्वब्दी, शोभनाः मेघस्थाः अपः ददातीति तादृशः] ।।

द्वितीयः आचार्यपक्षे । कार्यवशाद् गुरुकुलाद् बर्हिर्गतमागमने विलम्बमानं चाचार्यं शिष्याः सोत्कमाह्वयन्ति—हे **वसो** शिष्येषु विद्यादिनिवासक आचार्य ! **उक्थिनः** वेदपाठिनः **नरः** ब्रह्मचारिणः **सुते** विद्याध्ययनसत्रे **निरेके** आगते सति **त्वा** त्वाम् **स्वरन्ति** आह्वयन्ति। हे **इन्द्र** अविद्यादुर्गुणादिविदारक आचार्यवर! **कदा** कस्मिन् काले **तृषाणः** शिष्यान् कामयमानः त्वम् **ओकः** गुरुकुलगृहम् **आगमः** आगमिष्यसि ? **वंसगः** संभजनीयगतिः **अब्दी** वृष्टिजलप्रदाता सूर्यः **इव** यथा जलं वर्षितुम् **ओकः** अन्तरिक्षरूपं गृहम् आगच्छति तद्वत्।।२।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।२।।

भावार्थः— यथा जलस्य पिपासुः सूर्यः किरणैः समुद्रं प्राप्नोति तथा भक्तिरसं पिपासन् परमेश्वर उपासकानां हृदयं गच्छति, यथा च सूर्योऽन्तरिक्षस्थं जलं भूमौ वर्षति तथाऽऽचार्यो विद्यारसं छात्रेषु वर्षति।।२।।

---

१. ऋ० ८।३३।२, अथ० २०।५२।२, ५७।१५ ।

२. निरेके निर्गमे—इति सा० । दानवति यज्ञे— इति वि० ।

३. स्वब्दीव स्वभूतशब्द इव । वंसगः वननीयगमनो वृषभः—इति सा० । स्वब्दी इन्द्रः शोभनं शब्दं करोति, पर्जन्यो भूत्वा वृष्टिं धारणम्-इति वि० ।

अगले मन्त्र में परमात्मा और आचार्य को पुकारा गया है ।

पदार्थ– प्रथम परमात्मा के पक्ष में । हे **वसो** उपासकों के धनरूप तथा उनमें सद्गुणों का निवास कराने वाले परमात्मन् ! **उक्थिनः** स्तोता **नरः** मनुष्य **सुते** श्रद्धारस के **निरेके** उमड़ने पर **त्वा** आपको **स्वरन्ति** पुकार रहे हैं। हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन्, दुर्गुणविदारक ! **कदा** कब **सुतम्** अभिषुत श्रद्धारस के **तृषाणः** प्यासे आप **ओकः** हृदय-सदन में **आगमः** आओगे, **इव** जैसे **वंसगः** सेवनीय गति वाला, **स्वब्दी** उत्कृष्ट वृष्टि जलों का दाता सूर्य **तृषाणः** जल का प्यासा होता हुआ, किरणों द्वारा **ओकः** भूमिष्ठ समुद्ररूप घर पर आता है ।।

द्वितीय आचार्य के पक्ष में । गुरुकुल से बाहर गये हुए तथा आने में देर करते हुए आचार्य को शिष्यगण उत्सुकता से बुला रहे हैं– हे **वसो** शिष्यों में विद्या आदि का निवास कराने वाले आचार्य ! **उक्थिनः** वेदपाठी **नरः** ब्रह्मचारी लोग **सुते** विद्याध्ययन-सत्र के **निरेके** आ जाने पर **त्वा** आपको **स्वरन्ति** बुला रहे हैं। हे **इन्द्र** अविद्या एवं दुर्गुण आदि को विदीर्ण करने वाले आचार्यवर ! **कदा** कब **तृषाणः** शिष्यों की कामना करने वाले आप **ओकः** गुरुकुलरूप घर में **आगमः** आओगे, **इव** जैसे **वंसगः** संभजनीय गति वाला **स्वब्दी** जल की वर्षा करने वाला सूर्य [जल बरसाने के लिए] **ओकः** अन्तरिक्ष रूप घर में आता है ।।२।।

इस मन्त्र में उपमालंकार है ।।२।।

भावार्थ–जैसे जल का प्यासा सूर्य किरणों से समुद्र के पास पहुंचता है, वैसे ही भक्तिरस का प्यासा परमेश्वर उपासकों के हृदय में जाता है । और जैसे सूर्य अन्तरिक्ष में स्थित जल को भूमि पर बरसाता है, वैसे ही आचार्य विद्यारस को छात्रों पर बरसाता है ।।२।।

अथ परमात्मानमाचार्यं च प्रार्थयते ।

८६६. **कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद् वाजं दर्षि सहस्रिणम् ।**
पिशङ्गरूपं मघवन्विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ।।३।।[1]

कण्वेभिः धृष्णो आ धृषत् । वाजम् दर्षि सहस्रिणम् ।
पिशङ्गरूपम् पिशङ्ग रूपम् मघवन् विचर्षणे वि चर्षणे । मक्षु गोमन्तम् ईमहे ।।३।।

पदार्थः– हे **धृष्णो** अविद्यादोषादिधर्षणशील परमात्मन् आचार्य वा ! **कण्वेभिः** मेधाविभिर्विद्वद्भिः **धृषन्** अविद्यादैन्यादिकं धर्षयन् त्वम् **सहस्रिणम्** सहस्रसंख्याकम् **वाजम्** विद्यादिधनम् **आ दर्षि** प्रयच्छ । [आङ्पूर्वाद् दृ विदारणे क्र्यादिः । ततो लोटि सिपि 'बहुलं छन्दसि' अ० २।४।७३ इति विकरणस्य लुक्।] हे **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन् **विचर्षणे**[2] सर्वद्रष्टः परमात्मन् शास्त्रद्रष्टः आचार्य वा ! **पिशङ्गरूपम्** पिङ्गलवर्णं तेजोमयं वा, **गोमन्तम्** उत्तमवाग्धेनुपृथिव्यादियुक्तं च **वाजम्** सुवर्णाख्यं ब्रह्मचर्याख्यं वा धनम्, वयम् **मक्षु** सद्य एव **ईमहे** याचामहे । [ईमहे इति याञ्चाकर्मसु पठितम् । निघं० ३।१९] ।।३।।

---

१. ऋ० ८।३३।३, अथ० २०।५२।३, ५७।१६।

२. विचर्षणे विविधाश्चर्षणयः पुरुषा यस्य स विचर्षणिः अथवा विश्वस्य द्रष्टा– इति वि०।

भावार्थः— परमात्मा गुरुश्च सुयोग्यानुपासकान् शिष्यांश्च प्रति सर्वं सुवर्णमणिमुक्ताधेन्वादिकं विद्या-ब्रह्मचर्यसद्वृत्तादिकं च विपुलमैश्वर्यं प्रापयतः ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और आचार्य से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **धृष्णो** अविद्या, दोष आदि को दूर करने के स्वभाव वाले परमात्मन् वा आचार्य ! **कण्वेभिः** मेधावी विद्वानों के द्वारा **धृषत्** अविद्या, दीनता आदि को दूर करते हुए आप **सहस्रिणम्** संख्या में हजार **वाजम्** विद्या आदि धन को **आ दर्षि** प्रदान करते हो । हे **मघवन्** एश्वर्यशालिन्, **विचर्षणे** सर्वद्रष्टा परमात्मन् वा शास्त्रद्रष्टा आचार्य ! **पिशङ्गरूपम्** पीले रंग वाले वा तेजस्वी रूप वाले, **गोमन्तम्** उत्तम वाणी, गाय, भूमि आदि से **युक्त वाजम्** सुवर्णरूप वा ब्रह्मचर्यरूप धन को, हम **मक्षु** शीघ्र ही **ईमहे** आपसे चाहते हैं ॥३॥

भावार्थ— परमात्मा और गुरु सुयोग्य उपासकों और शिष्यों को सब सोना, मणि, मोती, गाय आदि तथा विद्या, ब्रह्मचर्य, सदाचार आदि विशाल ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं ॥३॥

॥१३॥ 'तरणिरित्' इत्यादिकस्य त्रयोदशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २३८ क्रमाङ्के परमेश्वरनृपत्योर्विषये व्याख्यातपूर्वा । अत्र धनदः प्रशस्यते ।

३२ ३ १ २ ३ २ ३ १२ ३ २
८६७. **तरणिरित्सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा ।**
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्रुवम् ॥१॥[1]
३ १ २ ३ १ २र १२र १२र ३ २
तरणिः इत् सिषासति । वाजम् पुरन्ध्या पुरम् ध्या युजा ।
३ १ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ १ २ ३ १२र
आ वः इन्द्रम् पुरुहूतम् पुरु हूतम् नमे गिरा । नेमिम् तष्टा इव सुद्रुवम् सु द्रुवम् ॥१॥

पदार्थः— **तरणिः इत्** आपद्गतान् दुःखेभ्यः तारयितुकाम एव जनः **युजा** सहायभूतया **पुरन्ध्या** बहु-धारिकया सहानुभूतिपूर्णया धिया **वाजम्** धनम् **सिषासति** अन्येभ्यो दातुमिच्छति । [सनितुं दातुमिच्छतीति सिषासति । षणु दाने सन्नन्तं रूपम् ।] अतोऽहम् **पुरुहूतम्** बहुभिराहूतम् **वः** युष्माकम् **इन्द्रम्** धनिकं जनम् **गिरा** वाचा **आनमे** आनमये, निर्धनेभ्यो धनं दातुम् सुप्रवर्तये, **तष्टा इव** शिल्पकारो यथा **नेमिम्** रथचक्रवलयम् **सुद्रुवम्** सुप्रवर्तनयोग्यां करोति तद्वत् । [सुष्ठु द्रवतीति सुद्रुः तां सुद्रुवम्] ॥१॥[2]

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः—मनुष्यैरीश्वरोपासनया सह धनादिदानेन दीनानां साहाय्यमपि विधेयम् ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २३८ क्रमांक पर परमेश्वर और राजा के विषय में व्याख्यात की जा चुकी है। यहां धनदाता की प्रशंसा है ।

---

१. ऋ० ७।३२।२०, 'सुद्रुवम्' इत्यत्र 'सुद्रवम्' इति पाठः । साम० २३८ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजप्रजाजनाः परस्परं कथं वर्तेरन्निति विषये व्याख्यातवान् ।

पदार्थ– **तरणिः इत्** आपत्ति में पड़े हुओं को दुःखों से तराने की इच्छावाला मनुष्य ही **युजा** सहायक भूत, **पुरन्ध्या** बहुतों का धारण करने वाली सहानुभूतिपूर्ण बुद्धि से **वाजम्** धन **सिषासति** दूसरों को देना चाहता है । इसलिए मैं **पुरुहूतम्** बहुतों से पुकारे जाने वाले **वः** तुम्हारे **इन्द्रम्** धनिक वर्ग को **गिरा** वाणी से, उपदेश के द्वारा **आनमे** झुकाता हूं, अर्थात् गरीबों को धन देने के लिए प्रवृत करता हूं, **तष्टा इव** जैसे शिल्पी **नेमिम् रथ** के पहिए की परिधि को **सुद्रुवम्** सुचारु रूप से घूमने योग्य वनाता है ।।१।।

यहां उपामलंकार है ।।१।।

भावार्थ– मनुष्यों को चाहिए कि ईश्वरोपासना के साथ धनादि के दान द्वारा **दीनों की सहायता भी** करें।।१।।

अथ पुनरपि धनदाः प्रशस्यन्ते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
८६८. **न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते न स्रेधन्तं रयिर्नशत् ।**
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
सुशक्तिरिन् मघवन् तुभ्यं मावते देष्णं यत्पार्ये दिवि ।।२।।[1]

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२र ३ २ १२र ३ २ ३
न दुष्टुतिः दुः स्तुतिः द्रविणोदेषु द्रविणः देषु शस्यते । न स्रेधन्तम् रयिः नशत् ।
३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र १२र ३ २ १२र ३ २
सुशक्तिः सु शक्तिः इत् मघवन् तुभ्यम् मावते । देष्णम् यत् पार्ये दिवि।।२।।

पदार्थः– **द्रविणोदेषु** धनदेषु । [द्रविणांसि धनानि ददतीति द्रविणोदाः तेषु ।] **दुष्टुतिः** निन्दा **न शस्यते** न प्रोच्यते । **स्रेधन्तम्** धनान्नवस्त्रादिदानेन दीनानां साहाय्यं न कृत्वा तान् हिंसन्तम् **रयिः** धनम् **न नशत्** न व्याप्नोति । हे **मघवन्** धनिकजन ! **पार्ये दिवि** पारणीये जीवनव्यवहारे । [दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहाराद्यर्थः ।] **मावते** मत्सदृशाय जनाय । [युष्मदस्मदोः सादृशे वतुब् वाच्यः' इति वर्तिकेन अस्मच्छब्दात् सादृश्यार्थे वतुप् ।] **यत् देष्णम्** दातव्यं धनमस्ति, तत् प्राप्तुमहम् **तुभ्यम्** त्वत्संमुखम् **सुशक्तिः इत्** सुपुरुषार्थः एव सन्, आगच्छामीति शेषः, अन्यथा पौरुषहीनस्य जनस्य सदैव धनादिदानेन कः साहाय्यं कुर्यात् ?।।२।।[2]

भावार्थः– दानवीराणां कीर्तिः सर्वत्र गीयते । निर्धनैरपि स्वपुरुषार्थेन धनमर्जनीयम् । सदा याचनेन जनस्य स्वाभिमानो नश्यति ।।२।।

अस्मिन् खण्डे जीवात्मपरमात्माचार्याणां विषयवर्णनाद् धनदप्रशंसाकरणाच्चैतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्तीति वेद्यम् ।।

अगले मन्त्र में फिर धनदाताओं की प्रशंसा है।

पदार्थ– **द्रविणोदेषु** धन का दान करने वालों की **दुष्टुतिः** निन्दा **न शस्यते** नहीं कही जाती । **स्रेधन्तम्** धन, अन्न, वस्त्र आदि के दान द्वारा दीनों की सहायता न करके उन्हें चोट पहुंचाने वाले को **रयिः** धन **न नशत्**

---

१. ऋ० ७।३२।२१, 'न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु' इति प्रथमः पादः ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं मनुष्या धनप्राप्तये किं किं कर्म कुर्युरिति विषये व्याख्यातः ।

प्राप्त नहीं होता। हे **मघवन्** धनिक जन ! **पार्ये दिवि** पार करने योग्य जीवन-व्यवहार में **मावते** मुझ जैसे जन के लिए **यत्** जो **देष्णम्** दातव्य धन है, उसे पाने के लिए मैं **तुभ्यम्** आपके सम्मुख **सुशक्तिः इत्** सुपुरुषार्थी होता हुआ ही, आता हूं। अन्यथा पौरुषहीन मनुष्य की धनादि के दान से सदा सहायता कौन **करता** रहेगा?।।२।।

भावार्थ– दानवीरों का सर्वत्र कीर्तिगान होता है। निर्धनों को भी अपने पुरुषार्थ से धन कमाना चाहिए। सदा मांगते रहने से मनुष्य **का स्वाभिमान** नष्ट होता है ।।२।।

इस खण्ड में **जीवात्मा, परमात्मा और** आचार्य का विषय वर्णित होने से तथा धन के दानी की प्रशंसा **होने** से इस खण्ड **की पूर्व खण्ड के साथ संगति है** यह जानना चाहिए ।।

चतुर्थ अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ।

।।१४।। **अथ** 'तिस्रो वाच' इत्यादिकस्य चतुर्दशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** त्रित आप्त्यः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४७१ क्रमाङ्के ब्रह्मानन्दरसविषये व्याख्यातपूर्वा । अत्र गुरुकुलस्य दृश्यं वर्ण्यते।।

८६९. ३ २ड ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः । हरिरेति कनिक्रदत् ।।१।।[1]

३ २ १ २र ३ १ २र ३ १ २ १ २र ३ १ २र
तिस्रः वाचः उत् ईरते । गावः मिमन्ति धेनवः । हरिः एति कनिक्रदत् ।।१।।

पदार्थः– विद्यार्थिनः **तिस्रः वाचः** ऋग्यजुःसामलक्षणाः तिस्रो वेदगिरः **उदीरते** उच्चारयन्ति । **धेनवः** दुग्धनवनीतादिभिः प्रीणयित्र्यः **गावः** क्षीरिण्यः **मिमन्ति** रम्भायन्ते । **हरिः** दोषाणां हर्ता आचार्यः **कनिक्रदत्** शास्त्राण्युपदिशन् **एति** सञ्चरति ।।१।।

अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः ।।१।।

भावार्थः– सस्वरवेदपाठो, वेदार्थव्याख्यानानि, यज्ञियघृतार्थं गोदुग्धदधिनवनीतादिप्रदानार्थं च गावो, गुरूणामुपदेशश्चेति गुरुकुलानां दृश्यमतीव चेतोहरं जायते ।।१।।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ४७१ क्रमांक पर ब्रह्मानन्द-रस के विषय में व्याख्या की जा चुकी है । यहां गुरुकुल का दृश्य वर्णित है ।

पदार्थ– विद्यार्थी लोग **तिस्रः वाचः** ऋग्, यजुः, साम रूप तीन वेदवाणियों **को उदीरते** उच्चारण कर रहे हैं। **धेनवः** दूध, मक्खन आदि से तृप्ति देने वाली **गावः** गाएं **मिमन्ति** रंभा रही हैं । **हरिः** दोषों को हरने वाले आचार्य **कनिक्रदत्** शास्त्रों का उपदेश करते हुए **एति संचार** कर रहे हैं।।१।।

इस मन्त्र में स्वभावोक्ति अलंकार है ।।१।।

---

१. ऋ० ९।३३।४, साम० ४७१ ।

भावार्थ– सस्वर वेदपाठ, वेदार्थों के व्याख्यान, यज्ञार्थ घी देने के लिए तथा गोदुग्ध, दही, मक्खन आदि प्रदान करने के लिए गायें, और गुरुओं का उपदेश । यह गुरुकुलों का दृश्य अत्यन्त मनोहर होता है।।१।।

अथ वेदवाग्विषयं चन्द्रविषयं चाह ।

८७०. अभि ब्रह्मीरनूषत यह्वीर्ऋतस्य मातरः । मर्जयन्तीर्दिवः शिशुम् ।।२।।[1]

अभि ब्रह्मीः अनूषत । यह्वीः ऋतस्य मातरः । मर्जयन्तीः दिवः शिशुम् ।।२।।

पदार्थः– **प्रथमः** वेदवाग्विषयकः । **यह्वीः** यह्व्यः महत्यः । [यह्व इति महतो नामधेयं यातश्च हूतश्च भवति । निरु० ८।८ ।] **ऋतस्य मातरः**[2] सत्यज्ञानस्य निर्मात्र्यः, **दिवः शिशुम्** द्योतमानस्य परमात्मनः पुत्रभूतं मानवम् **मर्जयन्तीः** मर्जयन्त्यः शोधयन्त्यः **ब्रह्मीः** ब्रह्म्यः, ब्रह्मणा प्रोक्ताः वेदवाचः **अभि अनूषत** गुणवर्णनेन सर्वान् पदार्थान् अभिष्टुवन्ति ।।

द्वितीयः चन्द्रविषयकः । **यह्वीः** महत्यः, **ऋतस्य मातरः** वृष्टिजलस्य निर्मात्र्यः । [ऋतमिति उदकनाम । निघं० १।१२।] **मर्जयन्तीः** प्रकाशेन सर्वान् शोधयन्त्यः अलङ्कुर्वत्यो वा **ब्रह्मीः** ब्रह्मणः महतः सूर्यस्य इमाः, सूर्यसम्बन्धिन्यः दीधितयः **दिवः शिशुम्** आकाशस्य शिशुमिव विद्यमानं चन्द्रम् **अभि** अभिलक्ष्य, तं प्रकाशयितुम् **अनूषत** गच्छन्ति । [नवते गतिकर्मा । निघं० २।१४] ।।२।।

अत्र श्लेषालङ्कारः । द्वितीये व्याख्याने 'दिवः शिशुम्' इत्यत्र लुप्तोपमम् ।।२।।

भावार्थः– यथा मातरः शिशुमुपगच्छन्ति तथैव वेदवाचः गुणवर्णनद्वारा सर्वान् पदार्थानुपगच्छन्ति, सूर्य-रश्मयश्च चन्द्रं प्रकाशयितुं तमुपगच्छन्ति ।।२।।

अगले मन्त्र में वेदवाणी का और चन्द्रमा का विषय वर्णित है ।

पदार्थ– **प्रथम** वेदवाणी के पक्ष में । **यह्वीः** महत्त्वशालिनी, **ऋतस्य मातरः** सत्यज्ञान का निर्माण करने वाली, **दिवः शिशुम्** तेजस्वी परमात्मा के पुत्र मानव को **मर्जयन्तीः** शुद्ध-पवित्र करती हुई **ब्रह्मीः** ब्रह्मा से प्रोक्त वेदवाणियां **अभि अनूषत** गुण-वर्णन द्वारा सब पदार्थों की स्तुति करती हैं ।।

द्वितीय चन्द्र के पक्ष में । **यह्वीः** महान् **ऋतस्य मातरः** वृष्टि-जल का निर्माण करने वाली, **मर्जयन्तीः** अपने प्रकाश द्वारा सबका शोधन करने वाली या **सबको अलंकृत करने** वाली **ब्रह्मीः** महान् सूर्य की कान्तियां **दिवः** शिशुम् आकाश के शिशु के समान विद्यमान **चन्द्रमा को अभि** लक्ष्य करके अर्थात् उसे प्रकाशित करने के लिए **अनूषत** जाती हैं।।२।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । द्वितीय व्याख्या में **चन्द्रमा को** 'आकाश का शिशु' कहने में लुप्तोपमा **है।।२।।**

भावार्थ– जैसे माताएं शिशु को प्राप्त होती हैं वैसे ही वेदवाणियां गुणवर्णन द्वारा सब पदार्थों को प्राप्त **होती हैं** और सूर्यकिरणें चन्द्रमा को प्रकाशित करने के लिए उसे प्राप्त होती हैं।।२।।

---

१. ऋ० ९।३३।५, 'मर्मृज्यन्ते दिवः शिशुम्' इति तृतीयः पादः ।

२. ऋतस्य यज्ञस्य मातरः निर्मात्र्यः स्तुतयः– इति सा० । मातरः धेनवः आदित्यरश्मयो वा आपो वा-इति वि० ।

अथ परमात्माऽऽचार्यश्च प्रार्थ्यते ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
८७१. रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः । आ पवस्व सहस्रिणः ॥३॥[1]

३ २ ३ २ ३ २ ३१२ ३ १ २ ३ १ २
रायः समुद्रान् सम् उद्रान् चतुरः । अस्मभ्यम् सोम विश्वतः ।

३ १ २
आ पवस्व सहस्रिणः ॥३॥

पदार्थः— हे **सोम** विद्यादीनामस्मासु प्रेरक पावक परमात्मन् आचार्य वा ! त्वम् **अस्मभ्यम्** नः **विश्वतः** सर्वतः **रायः** ऐश्वर्यस्य **सहस्रिणः** सहस्रफलप्रदान् **चतुरः** चतुःसंख्यकान् **समुद्रान्** अर्णवान्, धर्मार्थकाममोक्षरूपान् **आ पवस्व** प्रवाहय ॥३॥

अत्र धर्मार्थकाममोक्षेषु रायः समुद्रत्वकथनात् तेषां समुद्रवदगाधत्वं परोपकारित्वं च व्यज्यते ॥३॥

भावार्थः— दयानिधेरीश्वरस्य गुरोश्च कृपयाऽध्ययनाध्यापनयमनियमप्राणायामब्रह्मचर्यजपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और आचार्य से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **सोम** विद्या आदि की हमारे अन्दर प्रेरणा करने वाले, पवित्रकर्त्ता परमात्मन् वा आचार्य आप **अस्मभ्यम्** हमारे लिए **विश्वतः** सब ओर से **रायः** ऐश्वर्य के **सहस्रिणः** सहस्र फल प्रदान करने वाले **चतुरः** चार **समुद्रान्** समुद्रों को अर्थात् **धर्म, अर्थ,** काम और मोक्ष को **आ पवस्व** प्रवाहित कर दीजिए ॥३॥

यहां धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष को धन के समुद्र कहने से उनका समुद्र के समान अगाध तथा परोपकारी होना द्योतित होता है ॥३॥

भावार्थ— दयानिधि ईश्वर की और गुरु की कृपा से अध्ययन-अध्यापन, यम-नियम, प्राणायाम, **ब्रह्मचर्य,** जप, उपासना आदि कर्म से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की शीघ्र ही सिद्धि हमें प्राप्त होवे ॥३॥

॥१५॥ अथ 'सुतासो मधुमत्तमा' इत्यादिकस्य पञ्चदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** ययातिर्नाहुषः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५४७ क्रमाङ्के परमानन्दरसविषये व्याख्याता । अत्र ज्ञानरसविषयो वर्ण्यते।।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
८७२. सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पवित्रवन्तो अक्षरं देवान् गच्छन्तु वो मदाः ॥१॥[2]

३ १ २ १२ऽ १ २ऽ १ २ऽ ३ १ २ ३ १ २ ३
सुतासः मधुमत्तमाः । सोमाः इन्द्राय मन्दिनः । पवित्रवन्तः अक्षरन् ।

२ ३ १ २ऽ
देवान् गच्छन्तु वः मदाः ॥१॥

---

१. ऋ० ९।३३।६।

२. ऋ० ९।१०१।४, साम० ५४७, अथ० २० । १३७।४ ।

पदार्थः— मधुमत्तमाः अतिशयेन मधुराः, **मन्दिनः** आनन्दजनकाः **सोमाः** ज्ञानरसाः **इन्द्राय** शिष्यस्य जीवात्मने **सुतासः** आचार्येण अभिषुताः सन्ति । **पवित्रवन्तः** पवित्रेण मनसा सम्बद्धाः ते **अक्षरन्** आत्मनि क्षरन्ति । **हे शिष्याः** ! **वः मदाः** युष्माकं मदकराः ते ज्ञानरसाः **देवान्** दिव्यगुणयुक्तान् अन्यान् जनान् अपि **गच्छन्तु** प्राप्नुवन्तु ॥१॥

भावार्थः— सुयोग्यैर्गुरुभिर्मधुरपद्धत्या पाठिताः शिष्या ज्ञानवन्तः स्नातका भूत्वा वहिर्गत्वाऽन्येभ्यो जनेभ्यो विद्यादानं कुर्युः ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ५४७ क्रमांक पर परमानन्द-रस के विषय में व्याख्या हो चुकी है । यहां ज्ञानरस का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— मधुमत्तमाः अतिशय मधुर, **मन्दिनः** आनन्दजनक **सोमाः** ज्ञान-रस **इन्द्राय** शिष्य के जीवात्मा के लिए **सुतासः** आचार्य द्वारा अभिषुत किये गये हैं। **पवित्रवन्तः** पवित्र मन से सम्बद्ध वे **अक्षरन्** आत्मा में क्षरित हो रहे हैं। हे शिष्यो ! **वः मदाः** तुम्हें आनन्दित करने वाले वे ज्ञान-रस **देवान्** दिव्य गुणों वाले दूसरे लोगों को भी **गच्छन्तु** प्राप्त हों ॥१॥

भावार्थ— सुयोग्य गुरुओं से मधुर पद्धति द्वारा पढ़ाये गये शिष्य ज्ञानी स्नातक होकर, बाहर जाकर अन्य जनों को भी विद्यादान करें ॥१॥

अथ ब्रह्मानन्दज्ञानयोरुभयोर्विषयमाह ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
८७३. **इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन् ।**
३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसः ॥२॥[1]
१ २र १ २र ३ १ २र ३ १ २ ३
इन्दुः इन्द्राय पवते । इति देवासः अब्रुवन् ।
२ १ २र ३ १ २र १ २र १ २र
वाचः पतिः मखस्यते । विश्वस्य ईशानः ओजसः ॥२॥

पदार्थः— इन्दुः ज्ञानरसः ब्रह्मानन्दरसो वा **इन्द्राय** जीवात्मने **पवते** क्षरति **इति** एवम् **देवासः** विद्वांसो जनाः **अब्रुवन्** कथयन्ति । **वाचःपतिः** वागीशः परमेश्वरः आचार्यो वा **मखस्यते** आनन्दप्रदानयज्ञम् अध्यापनयज्ञं वा **आचरति** । [मखशब्दात् इच्छार्थे क्यचि 'सर्वप्रातिपदिकानां क्यचि लालसायां सुगसुकौ । वा० ७।१।५१ इत्यनेन लालसायां सुगागमः।] यः **विश्वस्य ओजसः** सर्वस्य ब्रह्मबलस्य ज्ञानबलस्य वा **ईशानः** अधीश्वरः वर्त्तते । अतस्तत्सकाशाद् ब्रह्मबलं **ज्ञानबलं च सर्वैः** प्राप्तव्यमित्याशयः ॥२॥

भावार्थः— आत्मैव **खलु ज्ञानस्य ग्रहीता** सुखस्य च भोक्तेति विद्वदनुभवः । परमेश्वरस्य सकाशाद् ब्रह्मानन्दमाचार्यस्य सकाशाज्ज्ञानं **च ये गृह्णन्ति** तेषां जीवनं सफलं जायते ॥२॥

अगले मन्त्र में ब्रह्मानन्द और ज्ञान दोनों का विषय वर्णित है ।

---

१. ऋ० ९।१०१।५, अथ० २०।१३७।५ ।

पदार्थ— इन्दुः ज्ञानरस वा ब्रह्मानन्द-रस **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए **पवते** क्षरित होता है **इति** यह **देवाः** विद्वान् लोग **अब्रुवन्** कहते हैं। **वाचः पतिः** वाणी का स्वामी परमेश्वर वा आचार्य **मखस्यते** आनन्दप्रदान-यज्ञ वा अध्यापन-यज्ञ करता है, जो **विश्वस्य ओजसः** सब ब्रह्मबल वा **ज्ञानबल** का **ईशानः** अधीश्वर है । अतः उसके पास से सबको ब्रह्मबल और ज्ञानबल प्राप्त करना योग्य है, यह आशय है ।।२।।

भावार्थ— आत्मा ही ज्ञान को ग्रहण करने वाला और सुख को भोगने वाला है, यह विद्वानों का अनुभव है। परमेश्वर के पास से ब्रह्मानन्द को और आचार्य के पास से ज्ञान को जो ग्रहण करते हैं उनका जीवन सफल होता है ।।२।।

अथ परमात्मविषय आचार्यविषयश्चोच्यते ।

८७४. **सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः ।**
सोमस्पती रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे ।।३।।[1]

सहस्रधारः सहस्र धारः पवते । समुद्रः सम् उद्रः वाचमीङ्खयः वाचम् ईङ्खयः ।
सोमः पतिः रयीणाम् । सखा स खा इन्द्रस्य दिवेदिवे दिवे दिवे ।।३।।

पदार्थः— समुद्रः आनन्दस्य ज्ञानस्य वा पारावारः, **वाचमीङ्खयः** वाचः प्रेरयिता । [ईखि गतौ, ण्यन्तः, वाचम् ईङ्खयति प्रेरयति सः।], **रयीणां पतिः** सद्गुणकर्मस्वभावरूपाणां धनानामधीश्वरः, **इन्द्रस्य सखा** जीवात्मनः सुहृत् **सोमः** परमात्मा आचार्यो वा **दिवे दिवे** प्रतिदिनम् **सहस्रधारः** सहस्रधाराभिः उद्वेल्लितः सन् **पवते** उपासकान् शिष्यान् वा प्रति आनन्दरसं ज्ञानरसं वा प्रवाहयति ।।३।।

भावार्थः— परमेश्वरः सदुपासकान् प्राप्य तान् प्रति मधुरमानन्दरसम्, आचार्यश्च सच्छिष्यान् प्राप्य तान् प्रति मधुरं ज्ञानरसं प्रवाहयति ।।३।।

अगले मन्त्र में परमात्मा और आचार्य का विषय है ।

पदार्थ— समुद्रः आनन्द वा ज्ञान का समुद्र, **वाचमीङ्खयः** वाणी को प्रेरित करने वाला, **रयीणां पतिः** श्रेष्ठ गुण, कर्म, स्वभाव रूप धनों का स्वामी, **इन्द्रस्य सखा** जीवात्मा का सखा **सोमः** परमात्मा वा आचार्य **दिवे दिवे** प्रतिदिन **सहस्रधारः** हजारों धाराओं से उमड़ता हुआ **पवते** उपासकों वा शिष्यों के प्रति आनन्दरस वा ज्ञानरस को प्रवाहित करता है ।।३।।

भावार्थ— परमेश्वर श्रेष्ठ उपासकों को प्राप्त होकर उनके प्रति मधुर आनन्दरस को और आचार्य श्रेष्ठ शिष्यों को प्राप्त होकर उनके प्रति मधुर ज्ञानरस को प्रवाहित करता है ।।३।।

।।१६।। अथ 'पवित्रं ते' इत्यादिकस्य षोडशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** पवित्र आङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** जगती । **स्वरः** निषादः ।।

---

१. ऋ० ९।१०१।६, अथ० २०।१३७।६, उभयत्र 'सोमः पती' इति पाठः ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५६५ क्रमाङ्के परमात्मनः पावकत्वविषये व्याख्याता । अत्र परमात्मन आचार्यस्य चविषयो वर्ण्यते ।

८७५. पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तः सं तदाशत ॥१॥[1]

पवित्रम् ते विततम् वि ततम् ब्रह्मणः पते । प्रभुः प्र भुः गात्राणि परि एषि विश्वतः ।
अतप्ततनूः अतप्त तनूः न तत् आमः अश्नुते।
शृतासः इत् वहन्तः सम् तत् आशत ॥१॥

पदार्थः— हे **ब्रह्मणः पते** ब्रह्माण्डस्य अधिपते परमात्मन्, ज्ञानस्य अधिपते आचार्य वा ! **ते** तव **पवित्रम्** पूतम् आनन्दतत्त्वं ज्ञानतत्त्वं वा **विततम्** त्वयि प्रसृतमस्ति । **प्रभुः** आनन्दप्रदाने ज्ञानप्रदाने वा समर्थः त्वम् **विश्वतः** सर्वतः **गात्राणि** शरीराणि, शरीरधारिण इत्यर्थः **पर्येषि** तद् दातुं परिगच्छसि । किन्तु **अतप्ततनूः** न तप्ता तनूः येन सः तपश्चर्यारहितः **आमः** अपरिपक्वो जनः **तत्** आनन्दतत्त्वं ज्ञानतत्त्वं वा **न अश्नुते** न प्राप्नोति। **शृतासः इत्** परिपक्वा एव जनाः **वहन्तः** उद्योगिनः सन्तः **तत्** आनन्दतत्त्वं ज्ञानतत्त्वं वा **सम् आशत** सम्यक् प्राप्तुं समर्था जायन्ते । [संपूर्वाद् अशूङ् व्याप्तौ धातोर्लडर्थे लुङ्, च्लेरभावश्छान्दसः] ॥१॥

भावार्थः— परमात्मनः सकाशादानन्दरसमाचार्यस्य सकाशाच्च ज्ञानरसं तपस्विन एव जनाः प्राप्तुमर्हन्ति, न विलासिनः ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ५६५ क्रमांक पर परमात्मा के पवित्र करने वाले गुण के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां परमात्मा और आचार्य का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे **ब्रह्मणः पते** ब्रह्माण्ड के अधिपति परमात्मन् अथवा ज्ञान के अधिपति आचार्य ! **ते** आपका **पवित्रम्** पवित्र आनन्दतत्त्व या ज्ञानतत्त्व **विततम्** आप में फैला हुआ है । **प्रभुः** आनन्द के देने वा ज्ञान के देने में समर्थ आप **विश्वतः** सब ओर से **गात्राणि** शरीरों अर्थात् शरीरधारियों को उसे देने के लिए **पर्येषि** प्राप्त होते हो । किन्तु **अतप्ततनूः** जिसने शरीर को तपाया नहीं है, अर्थात् जिसने तपस्या **नहीं की** ऐसा **आमः** कच्चा मनुष्य **तत्** उस आनन्दतत्त्व या ज्ञानतत्त्व को **न अश्नुते** नहीं प्राप्त करता है । **शृतासः इत्** पके हुये लोग ही **वहन्तः** उद्योगी होते हुए **तत्** उस आनन्दतत्त्व या ज्ञानतत्त्व को **सम् आशत** भली-भांति प्राप्त करने में समर्थ होते हैं॥१॥

भावार्थ— परमात्मा के पास से आनन्दरस को और आचार्य के पास से ज्ञानरस को तपस्वी मनुष्य ही प्राप्त करने योग्य होते हैं, विलासी लोग नहीं ॥१॥

---

१. ऋ० ९।८३।१, 'वहन्तस्तत् समाशत' इति पाठः । साम० ५६५ ।

अथ परमात्मविरचितस्य सूर्य्यस्य कर्माणि वर्णयति ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र
८७६. तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदेऽर्चन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन् ।
१ २ ३ १२ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
अवन्त्यस्य पवितारमाशवो दिवः पृष्ठमधि रोहन्ति तेजसा ॥२॥[1]
१ २र ३ १ २ १ २र ३ २ ३ २ ३ १ २र ३ १ २र ३
तपोः पवित्रम् विततम् वि ततम् दिवः पदे । अर्चन्तः अस्य तन्तवः वि अस्थिरन् ।
१ २र ३ १२ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ १ २र
अवन्ति अस्य पवितारम् आशवः । दिवः पृष्ठम् अधि रोहन्ति तेजसा ॥२॥

पदार्थः— **तपोः** तेजस्विनः सोमस्य परमात्मनः कृतिः **पवित्रम्** पवित्रतासाधनं सूर्यः । [सूर्यः पवित्रमुच्यते। निरु० ५।६ ।] **दिवः पदे** द्युलोके **विततम्** विस्तीर्णमस्ति । **अस्य** सूर्यस्य **अर्चन्तः** दीप्यमानाः[2] **तन्तवः** किरणाः **व्यस्थिरन्** विविधेषु स्थानेषु तिष्ठन्ति । [विपूर्वात् ष्ठा गतिनिवृत्तौ इति धातोः लुङि छान्दसो झस्य रन् आदेशः सिचो लोपश्च ।] **अस्य** सूर्यस्य **आशवः** शीघ्रगामिनः किरणाः **पवितारम्** शोधकं वायुम् **अवन्ति** रक्षन्ति, अस्यैव सूर्यस्य **तेजसा** तापेन समुद्रजलानि वाष्पीभूय **दिवः पृष्ठम्** आकाशस्य पृष्ठम् **अधि रोहन्ति** अधिगच्छन्ति, मेघाकारतां च प्रपद्यन्ते ॥२॥

भावार्थः— परमात्मनैव तेजोमयः सूर्यो रचितो यस्य रश्मयः पदार्थशोधनं, समुद्रजलानां वाष्पीकरणं, बाष्पतस्योपरि नयनं, मेघनिर्माणमित्यादीनि विविधानि कार्याणि कुर्वन्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से रचे गए सूर्य के कर्मों का वर्णन है ।

पदार्थ— **तपोः** तेजस्वी सोम परमात्मा की कृति **पवित्रम्** पवित्रता का साधन सूर्य **दिवः पदे** द्युलोक में **विततम्** फैला हुआ है । **अस्य** इस सूर्य की **अर्चन्तः** दीप्त होती हुई **तन्तवः** किरणें **व्यस्थिरन्** विविध स्थानों में स्थित होती हैं। **अस्य** इस सूर्य की **आशवः** शीघ्रगामी किरणें **पवितारम्** शुद्धिकर्ता वायु की **अवन्ति** रक्षा करती हैं। इसी सूर्य के **तेजसा** ताप से, समुद्र के जल भाप बनकर **दिवः पृष्ठम्** आकाश के पृष्ठ पर **अधि रोहन्ति** चढ़ते हैं और मेघ के आकार को प्राप्त करते हैं॥२॥

भावार्थः— परमात्मा ने ही तेजोमय सूर्य रचा है, जिसकी किरणें पदार्थों का शोधन, समुद्रजलों को भाप बनाना, भाप को ऊपर ले जाना, बादल बनाना इत्यादि विविध कार्य करती हैं॥२॥

तृतीया ऋक् पूर्वार्चिके ५९६ क्रमाङ्के परमात्मसोमविषये व्याख्याता । अत्र सोमः सूर्यात्मना वर्ण्यते ।

१ २ ३ २ ३ १ २३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
८७७. अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा मिमेति भुवनेषु वाजयुः ।
३ १ २ ३ १ २' ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमा दधुः ॥३॥[3]
१ २र ३ १ २ १ २र ३ २ ३ २ ३ १ २र ३ २
अरूरुचत् उषसः पृश्निः अग्रियः । उक्षा मिमेति भुवनेषु वाजयुः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ १ २र ३
मायाविनः ममिरे अस्य मायया । नृचक्षसः नृ चक्षसः पितरः गर्भम् आ दधुः ॥३॥

---

१. ऋ० ९।८३।२, 'ऽर्चन्तो,' 'पवितार,' 'रोहन्ति तेजसा' इत्यत्र क्रमेण 'रोचन्तो', 'पवी तार,' 'तिष्ठन्ति 'चेतसा' इति पाठः।

२. अर्चन्तः दीप्यमानाः इति सा० । ऋग्वेदे 'अर्चन्तः' इत्यत्र 'शोचन्तः' इत्येव पाठः ।

३. ऋ० ९।८३।३ 'मिमेति भुवनेषु' इत्यत्र 'बिभर्ति भुवनानि' इति पाठः । साम० ५९६ ।

पदार्थः— एषः **अग्रियः** अग्रेभवः **पृश्निः** सूर्यरूपः पवमानः सोमः **उषसः** प्रभातकान्तीः **अरूरुचत्** आरोचयति । एषः **उक्षा** वृष्टिजलेन सेचकः सूर्यः **भुवनेषु** भूखण्डेषु **वाजयुः**[1] परेषाम् अन्नकामः सन् **मिमेति** मिनोति, मेघोदकम् अधः प्रक्षिपति । [डुमिञ् प्रक्षेपणे, स्वादिः । विकरणव्यत्ययेन शपः श्लुः ।] **अस्य** सूर्यस्यैव **मायया** कर्मणा **मायाविनः** कर्मवन्तः वायुजलविद्युदादयः **ममिरे** पदार्थान् निर्मिमते । किञ्च अस्य सूर्यस्यैव मायया **नृचक्षसः** नृणां प्रकाशप्रदाः **पितरः** पालकाः रश्मयः **गर्भम् आदधुः** ओषध्यादिषु गर्भं स्थापयन्ति ॥३॥

भावार्थः— सौरमण्डले उषःप्रादुर्भाव-जलवृष्टि-विद्युत्प्रकाशन-वायुगमन-बीजाङ्कुरणादिकं यत्किञ्चिदपि कर्म विद्यते तत्सर्वं सूर्यकृतमेवेति तन्महत्त्वं विज्ञाय तदुपयोगः सम्यक् शिल्पादिषु कार्यः । सूर्येऽपि सर्वा शक्तिः परमात्मकृतेति सूर्यस्यापि सूर्यः परमात्माऽस्तीत्यपि ज्ञातव्यम् ॥३॥

तृतीय ऋचा की पूर्वार्चिक में ५९६ क्रमांक पर परमात्मारूप सोम के विषय में व्याख्या हो चुकी है । यहां सोम का वर्णन सूर्यरूप में दर्शाते हैं।

पदार्थ— यह **अग्रियः** आगे जाने वाला **पृश्निः** सूर्यरूप पवमान सोम **उषसः** उषाओं को **अरूरुचत्** चमकाता है । यह **उक्षा** वर्षाजल से सींचने वाला सूर्य **भुवनेषु** भूमण्डलों में **वाजयुः** दूसरों को अन्न देना चाहता हुआ **मिमेति** बादल के जल को नीचे फेंकता है । **अस्य** इस सूर्य के ही **मायया** कर्म से **मायाविनः** कर्मयुक्त होते हुए वायु, जल, बिजली आदि **ममिरे** पदार्थों का निर्माण करते हैं। और इस सूर्य के ही कर्म से **नृचक्षसः** मनुष्यों को प्रकाश देने वाली **पितरः** पालक किरणें **गर्भम् आदधुः** ओषधी आदियों में गर्भ स्थापित करती हैं॥३॥

भावार्थ— सौरमण्डल में उषा का प्रादुर्भाव, जल की वर्षा, बिजली चमकना, वायु का चलना, बीजों का अंकुरित होना आदि जो कुछ भी कर्म है वह सब सूर्य के द्वारा ही किया जाता है । इस रूप में उसका महत्त्व जानकर उसका उपयोग शिल्प आदि में करना चाहिए । सूर्य में भी सब शक्ति परमात्मा की ही दी हुई है, इस कारण सूर्य का भी सूर्य परमात्मा है यह भी जानना चाहिए ॥३॥

चतुर्थ अध्याय में पंचम खण्ड समाप्त ।

॥१७॥ अथ 'प्र मंहिष्ठाय' इत्यादिकस्य सप्तदशस्य द्व्यृचस्य **सूक्तस्य ऋषिः** सोभरिः काण्वः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** काकुभः प्रगाथः (१ ककुबुष्णिक्, २ **सतोवृहती**) । **स्वरः १ ऋषभः, २ पञ्चमः** ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १०७ क्रमाङ्के परमेश्वरविषये व्याख्याता । अत्राचार्यनृपतियज्ञाग्निविषय उच्यते ।

८७८. प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे । उपस्तुतासो अग्नये ॥१॥[2]

प्र मंहिष्ठाय गायत । ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे शुक्र शोचिषे ।

उपस्तुतासः उप स्तुतासः अग्नये ॥१॥

---

१. वाजयुः वाजमन्नं तदिप्सुः, अथवा वाजयुः वाजप्रदः, वाजयुः वेगवान् इति वि० ।

२. ऋ० ८।१०३।८, साम० १०७ ।

पदार्थः— हे **उपस्तुतासः** प्रशंसिता जनाः ! यूयम् **मंहिष्ठाय** दातृतमाय, **ऋताव्ने** सत्यपरायणाय, **बृहते** महते, **शुक्रशोचिषे** दीप्ततेजस्काय **अग्नये** अग्रनायकाय आचार्याय, नृपतये, यज्ञेषु अग्रं प्रणीताय यज्ञाग्नये वा **प्र गायत** प्रकृष्टतया महिमानं वर्णयत ।।१।।

भावार्थः— मनुष्यैर्धनविद्यादीनां दाता सत्यनिष्ठस्तेजस्वी महान् जन एवाचार्यत्वेन नृपतित्वेन च वरणीयः, बहुलाभप्रदे सत्यगुणकर्मस्वभावे प्रदीप्तशोचिष्के यज्ञाग्नौ च मन्त्रोच्चारणपूर्वकं होमः कार्यः ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में १०७ क्रमांक पर परमेश्वर के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां आचार्य, राजा और यज्ञाग्नि का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे **उपस्तुतासः** प्रशंसित लोगों ! तुम **मंहिष्ठाय** अतिशय दानी, **ऋताव्ने** सत्यपरायण, **बृहते** महान्, **शुक्रशोचिषे** दीप्त तेज वाले **अग्नये** अग्रनायक आचार्य, राजा वा यज्ञाग्नि के लिए **प्र गायत** प्रकृष्ट रूप से महिमागान करो ।।१।।

भावार्थ— मनुष्यों को चाहिए कि धन, विद्या आदि के दाता, सत्यनिष्ठ, तेजस्वी महान् जन को ही आचार्यरूप में और राजारूप में चुनें, और उन्हें उचित है कि वे बहुत लाभ देने वाले, सत्य गुण-कर्म-स्वभाव वाले, प्रदीप्त ज्वाला वाले यज्ञाग्नि में मन्त्रोच्चारणपूर्वक होम किया करें ।।१।।

अथ परमात्माचार्यनृपतियज्ञाग्निविषयमाह ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ १ २
८७९. **आ वंसते मघवा वीरवद्यशः समिद्धो द्युम्न्याहुतः ।**
३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
कुविन्नो अस्य सुमतिर्भवीयस्यच्छा वाजेभिरागमत् ।।२।।[1]

२ ३ १ २ ३ १ २ १ २ २ १ २ ३ २ १ २ २ ३
आ वंसते मघवा वीरवत् यशः । समिद्धः सम् इद्धः द्युम्नी आहुतः आ हुतः ।

२ ३ २ ३ २ १ २ २
कुवित् नः अस्य सुमतिः सु मतिः भवीयसी ।

१ २ २ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २
अच्छ वाजेभिः आगमत् आ गमत् ।।२।।

पदार्थः— **मघवा** ऐश्वर्यवान्, **समिद्धः** तेजस्वी, **द्युम्नी** यशस्वी, **आहुतः** आत्मसमर्पणेन राजकरादि-प्रदानेन हविष्प्रदानेन वा आहुतः **अग्निः** परमेश्वरः आचार्यः नृपतिः यज्ञाग्निर्वा **वीरवद् यशः** वीरैः पुत्रैः वीर, भावैर्वा युक्तां कीर्तिम् **आ वंसते** उपासकेभ्यः, शिष्येभ्यः, प्रजाजनेभ्यः, यजमानेभ्यो वा प्रयच्छति । [वन संभक्तौ, लेटि रूपम् ।] **अस्य** परमेश्वरस्य, आचार्यस्य, नृपतेः, यज्ञाग्नेर्वा **भवीयसी** अतिशयेन भवितुं योग्या **सुमतिः** अनुग्रहबुद्धिः आनुकूल्यं वा **नः अच्छ** अस्मान् प्रति **वाजेभिः** अन्नैर्धनैर्बलैर्विज्ञानैश्च सह **कुवित्** बहु। [कुवित् इति बहुनाम । निघं० ३।१ ।] **आगमत्** आगच्छतु ।।२।।

भावार्थः— परमेश्वरोपासनया, गुरुं प्रति श्रद्धया, राजनियमानां पालनेन, यज्ञाग्नौ हविष्प्रदानेन च जना यथायोग्यं वीरसन्तानवीरभावधनान्नबलविद्यारोग्यकीर्त्यादिप्राप्तिं कर्तुमर्हन्ति ।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा, आचार्य, राजा और यज्ञाग्नि का विषय है ।

---

१. ऋ० ८।१०३।९, 'भवीयस्यच्छा' इत्यत्र 'नवीयस्यच्छा' इति पाठः ।

पदार्थ— मघवा ऐश्वर्यवान्, **समिद्धः** तेजस्वी **द्युमी** यशस्वी, **आहुतः** आत्मसमर्पण से, राजकर आदि के प्रदान से एवं हवि-प्रदान से आहुति दिया हुआ परमेश्वर, आचार्य, राजा वा यज्ञाग्नि **वीरवद् यशः** वीरपुत्रों या वीरभावों से युक्त कीर्ति को **आ वंसते** उपासकों, शिष्यों, प्रजाजनों वा यजमानों को प्रदान करता है। **अस्य** इस परमेश्वर, आचार्य, राजा वा यज्ञाग्नि की **भवीयसी** अतिशय होने योग्य **सुमतिः** अनुग्रहबुद्धि या अनुकूलता **नः अच्छ** हमारे प्रति **वाजेभिः** अन्नों, धनों, बलों वा विज्ञानों के साथ **कुवित्** बहुत अधिक **आगमत्** आये ॥२॥

भावार्थ— मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर की उपासना से, गुरु के प्रति श्रद्धा से, राजनियमों के पालन में और यज्ञाग्नि में हवि देने से यथायोग्य वीर सन्तान, वीरभाव, धन, अन्न, बल, आरोग्य, कीर्ति आदि की प्राप्ति करें ॥२॥

॥१८॥ अथ 'तं ते मदं' इत्यादिकस्याष्टादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** उष्णिक्। **स्वरः** ऋषभः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३८३ क्रमाङ्के परमेश्वरगुणकर्मविषये व्याख्याता। अत्र परमेश्वराचार्यनृपतीनां विषयो वर्ण्यते।

८८०. **तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृक्षु सासहिम्।**
उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥१॥[1]

तम् ते मदम् गृणीमसि। वृषणम् पृक्षु सासहिम्।
उ लोककृत्नुम् लोक कृत्नुम् अद्रिवः अ द्रिवः हरिश्रियम् हरि श्रियम् ॥१॥

पदार्थः— हे **अद्रिवः** अविदारणीय, स्वयं च दोषाणां शत्रूणां वा विदारक परमात्मन् आचार्य राजन् वा! **ते** तव **तम्** प्रसिद्धम् **मदम्** आनन्दप्रद ज्ञानं बलं वा, वयम् **गृणीमसि** स्तुमः। कीदृशं ज्ञानं बलं वा? **वृषणम्** सुखादीनां वर्षकम्, **पृक्षु** देवासुरसंग्रामेषु **सासहिम्** अतिशयेन असुराणाम् अभिभवितारम्, **लोककृत्नुम्** यशःकरम् **उ** अपि च **हरिश्रियम्** मनोहारिशोभम् ॥१॥

भावार्थः— परमात्मन इव आचार्यस्य नृपतेश्चापि ज्ञानं बलं चातिविशालं, प्रजाभ्यः शिष्येभ्यश्च सुखकरं, विपद्विदारकं, कीर्तिकरमुज्ज्वलं च भवेत् ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में क्रमांक ३८३ पर परमेश्वर के गुण-कर्मों के विषय में व्याख्या की जा चुकी है। यहां परमेश्वर, आचार्य और राजा का विषय वर्णित है।

पदार्थ— हे **अद्रिवः** किसी से विदारण न किये जा सकने वाले तथा स्वयं दोषों और शत्रुओं का विदारण करने वाले परमात्मन्, आचार्य वा राजन्! **ते** आपके **तम्** उस प्रसिद्ध **मदम्** आनन्दप्रद ज्ञान वा बल की हम **गृणीमसि** स्तुति करते हैं, जो ज्ञान वा बल **वृषणम्** सुख आदि की वर्षा करने वाला, **पृक्षु** देवासुरसंग्रामों में **सासहिम्** अतिशय रूप से असुरों का पराभव करने वाला, **उ** और **हरिश्रियम्** मनोहर शोभा वाला है ॥१॥

भावार्थ— परमात्मा के समान आचार्य और राजा का भी ज्ञान वा बल अत्यधिक विशाल, प्रजाओं और शिष्यों को सुख देने वाला, विपत्तियों का विदारण करने वाला, कीर्ति देने वाला और उज्ज्वल होवे ॥१॥

---

१. ऋ० ८।१५।४, अथ० २०।६१।१, उभयत्र 'पृक्षु' इत्यत्र 'पृत्सु' इति पाठः। साम० ३८३।

अथ परमेश्वरमाचार्यं नृपतिं च सम्बोधयति ।

३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
८८१. **येन ज्योतींष्यायवे मनवे च विवेदिथ।**
३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि ॥२॥[1]

१२र १ २र ३ १ २ १२र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३
येन ज्योतींषि आयवे। मनवे च विवेदिथ । मन्दानः अस्य बर्हिषः वि राजसि ॥२॥

पदार्थः— हे इन्द्र परमात्मन् आचार्य राजन् वा ! **येन** आनन्देन ज्ञानेन बलेन वा, त्वम् **आयवे** कर्मयोगिने पुरुषार्थिने । [एति कर्मशीलो भवतीत्यायुः 'छन्दसीणः' । उ० १।२ इत्यनेन इण् गतौ धातोः उः प्रत्ययः ।] **मनवे च** मननशीलाय च जनाय । [मन्यते जानाति मनुते अवबुध्यते वा यः स मनुः । 'शृस्वृ०'। उ० १।१० इत्यनेन मन ज्ञाने, मनु अवबोधने वा धातोः उः प्रत्ययः ।] **ज्योतींषि** अन्तःप्रकाशान् बाह्यप्रकाशान् वा **विवेदिथ** लम्भयसि, तेन आनन्देन ज्ञानेन बलेन वा **मन्दानः** मोदमानः त्वम् **अस्य वर्हिषः** अस्मिन् बर्हिषि हृदयासने, दर्भासने, राजासने वा **वि राजसि** विशेषेण शोभसे ॥२॥

भावार्थः— परमेश्वरादाचार्यान्नृपतेश्चानन्दं ज्ञानं बलं च प्राप्य सर्वे सुखिनो विज्ञानवन्तो बलवन्तः पुरुषार्थिनो मननशीलाश्च सन्तो जीवने सफला भवन्तु ॥२॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर, आचार्य और राजा को सम्बोधन है ।

पदार्थ— हे इन्द्र अर्थात् परमात्मन्, आचार्य वा राजन् ! **येन** जिस आनन्द, ज्ञान वा बल से, आप **आयवे** कर्मयोगी, पुरुषार्थी **मनवे च** और मननशील जन के लिए **ज्योतींषि** अन्तःप्रकाशों एवं बाह्य प्रकाशों को **विवेदिथ** प्राप्त कराते हो, उस आनन्द, ज्ञान वा बल से **मन्दानः** आनन्दित होते हुए आप **अस्य बर्हिषः** इस हृदयासन पर, कुशासन पर वा राजसिंहासन पर **वि राजसि** विशेष रूप से शोभित होते हो ॥२॥

भावार्थ— परमेश्वर आचार्य और राजा से आनन्द, ज्ञान वा बल प्राप्त करके सब लोग सुखी, विज्ञानवान्, बलवान्, पुरुषार्थी और मननशील होते हुए जीवन में सफल हों ॥२॥

अथ पुनरपि त एव सम्बोध्यन्ते ।

२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
८८२. **तदद्या चित्त उक्थिनोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा।**
१ २ ३ १ २ ३ १ २
वृषपत्नीरपो जया दिवेदिवे ॥३॥[2]

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ १२र ३ १ २
तत् अद्य अ द्य चित् ते उक्थिनः । अनु स्तुवन्ति पूर्वथा ।
१२र १२र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
वृषपत्नीः वृष पत्नीः अपः जय दिवेदिवे दिवे दिवे ॥३॥

पदार्थः— हे इन्द्र परमात्मन्, आचार्य राजन् वा ! **पूर्वथा** पूर्वस्मिन् काले इव **अद्य** अस्मिन् कालेऽपि **उक्थिनः** स्तोतारो जनाः, शास्त्राध्येतारः शिष्याः, प्रशंसकाः प्रजाजना वा **ते** तव **तत्** आनन्दज्ञानबलधन-प्रदानादिकं कर्म **अनु स्तुवन्ति** अनुक्रमेण कीर्तयन्ति । त्वम् **दिवेदिवे** प्रतिदिनम् **वृषपत्नीः** वृषो धर्मः पतिः रक्षको यासां ताः **अपः** कर्माणि **जय** वशे कुरु, अस्मान् प्रापय, यथा सूर्यरूपः इन्द्रः **वृषपत्नीः** वृषो मेघः पतिर्यासां ताः **अपः** उदकानि जयति वशीकरोति, वशीकृत्य च वर्षति ॥३॥

---

१. ऋ० ८।१५।५, अथ० २०।६१।२ ।
२. ऋ० ८।१५।६, अथ० २०।६१।३ ।

अत्र श्लिष्टा व्यङ्ग्योपमा ।।३।।

भावार्थः— यथा परमेश्वरः सर्वेषां हृदि धर्मप्रेरणां करोति तथैव गुरुभिः शिष्येषु नृपेण च प्रजाजनेषु धर्मप्रेरणा सदैव कार्या ।।३।।

अगले मन्त्र में फिर उन्हीं परमेश्वर, आचार्य और राजा को सम्बोधन है ।

पदार्थ— हे इन्द्र अर्थात् परमात्मन् आचार्य वा राजन् ! **पूर्वथा** पूर्वकाल के समान **अद्य** आज भी **उक्थिनः** स्तोताजन, शास्त्रों का अध्ययन करने वाले शिष्यजन वा प्रशंसक प्रजाजन **ते** आपके **तत्** उस आनन्द-ज्ञान-बल-धन-प्रदान आदि के कर्म की **अनु स्तुवन्ति** अनुक्रम से स्तुति करते हैं। आप **दिवे दिवे** प्रतिदिन **वृषपत्नीः** वृष अर्थात् धर्म जिनका रक्षक है ऐसे **अपः** कर्मों को **जय** वश में कीजिए व हमें प्राप्त कराइये, जैसे सूर्यरूप इन्द्र **वृषपत्नीः**बादल जिनका पति है, ऐसे **अपः** जलों को वश करता तथा बरसाता है ।।३।।

इस मन्त्र में श्लिष्ट व्यङ्ग्योपमालङ्कार है ।।३।।

भावार्थ— जैसे परमेश्वर सबके हृदय में धर्म की प्रेरणा करता है, वैसे ही गुरुजनों को शिष्यों में और राजा को प्रजाजनों में धर्म की प्रेरणा सदा करनी चाहिए ।।३।।

।।१९।। अथ 'श्रुधी हवं' इत्यादिकस्यैकोनविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** तिरश्चीराङ्गिरसः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३४६ क्रमाङ्के परमात्मप्रार्थनाविषये व्याख्याता । अत्र परमात्माऽऽचार्यो नृपतिश्च त्रयोऽपि सम्बोध्यन्ते ।

३ १र २र ३ २ञ ३ १ २ ३ १ २
८८३. **श्रुधी हवं तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति।**
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्धि महाँ असि ।।१।।[1]

३ २ १ २र ३ २ ३ २ १ २र ३ १ २
श्रुधि हवम् तिरश्च्याः तिरः च्याः । इन्द्र यः त्वा सपर्यति।
३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ २ ३ २ ३
सुवीर्यस्य सु वीर्यस्य गोमतः रायः पूर्धि महान् असि ।।१।।

पदार्थः— हे **इन्द्र** दोषापहारक परमात्मन्, आचार्य, राजन् वा ! **यः** जनः **त्वा** त्वाम् **सपर्यति** सत्करोति, तस्य **तिरश्च्याः** तिरः अञ्चनशीलस्य, पुरुषार्थिनः **हवम्** आह्वानम् **श्रुधि** शृणु ।**सुवीर्यस्य** सुबलोपेतस्य, **गोमतः** प्रशस्तधेनुवागादियुक्तस्य, **रायः** विद्याधनधान्यादिरूपस्य ऐश्वर्यस्य **पूर्धि** पूर्तिं कुरु । त्वम् **महान्** महिमवान् **असि** विद्यसे ।।१।।

भावार्थः— यथा जगदीश्वरः स्वपूजकान् पुरुषार्थिनो जनान् सर्वैरैश्वर्यैः प्रपूरयति तथैव नृपतिः प्रजाभिः पुरुषार्थं कारयित्वा ताः समग्रेण धनधान्यादिना प्रपूरयेत्, आचार्यश्च पुरूषार्थिनः शिष्यान् अपरापराविद्यारोग्य-सदाचारादिभिः परिपूर्णान् कुर्यात् ।।१।।

---

१. ऋ० ८।९५।४, साम० ३४६ ।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ३४६ क्रमांक पर परमात्म-प्रार्थना के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां परमात्मा, आचार्य और राजा तीनों को सम्बोधन है ।

पदार्थ– हे **इन्द्र** दोष दूर करने वाले परमात्मन्, आचार्य वा राजन् ! **यः** जो मनुष्य **त्वा** आपको **सपर्यति** पूजता वा सत्कृत करता है, उस **तिरश्च्याः** पुरुषार्थी की **हवम्** पुकार को **श्रुधि** सुनो । **सुवीर्यस्य** उत्कृष्ट बल से युक्त **गोमतः** प्रशस्त गाय, वाणी आदि से युक्त **रायः** विद्या, धन-धान्य आदि ऐश्वर्य की **पूर्धि** पूर्ति करो। आप **महान्** महान् **असि** हो ।।१।।

भावार्थ– जैसे जगदीश्वर अपने पूजक पुरुषार्थी जनों को सब ऐश्वर्यों से पूर्ण करता है वैसे ही राजा प्रजाओं से पुरुषार्थ करवाकर उन्हें धन-धान्य आदि से पूर्ण करे और आचार्य पुरुषार्थी शिष्यों को अपरा विद्या, परा विद्या, आरोग्य, सदाचार आदियों से परिपूर्ण करे ।।१।।

अथ परमात्माचार्यनृपतयः सम्बोध्यन्ते ।

८८४. यस्त इन्द्र नवीयसीं गिरं मन्द्रामजीजनत् ।
चिकित्विन्मनसं धियं प्रत्नामृतस्य पिप्युषीम् ।।२।।[1]

यः ते इन्द्र नवीयसीम् । गिरम् मन्द्राम् अजीजनत् ।
चिकित्विन्मनसम् चिकित्वित् मनसम् धियम् । प्रत्नाम् ऋतस्य पिप्युषीम् ।।२।।

पदार्थः– हे **इन्द्र** परमात्मन्, आचार्य राजन् वा ! **यः** उपासकः, शिष्यः, प्रजाजनो वा **ते** तुभ्यम् **नवीयसीम्**[2] अतिशयेन नूतनाम्, **मन्द्राम्** आनन्दकरीम् **गिरम्** प्रार्थनावाचम् **अजीजनत्** उत्पादितवानस्ति, किञ्च **चिकित्विन्मनसम्**[3] चिकित्वित् जागरूकं मनः यया तादृशीम् **प्रत्नाम्**[4] श्रेष्ठाम्, **ऋतस्य पिप्युषीम्**[5] सत्यस्य वर्धयित्रीम् । [ओप्यायी वृद्धौ, लिटः क्वसुः, स्त्रियां ङीप् ।] **धियम्** ध्यानधारां बुद्धिं वा **अजीजनत्** त्वां प्रति प्रेरितवान् अस्ति, तदर्थम् **रायः** सद्गुणसद्धनसद्विद्यासद्वृत्तादिकस्य ऐश्वर्यस्य **पूर्धि** पूर्तिं कुरु । [अत्र 'रायः पूर्धि' इति वाक्यपूर्त्यर्थं पूर्वमन्त्रादाकृष्यते] ।।२।।

भावार्थः– यो निश्छलेन मनसा समर्पणभावनया हृदयस्पर्शिशब्दैश्च परमात्मानमाचार्यं राजानं वा याचते तस्य सद्गुणसद्धर्मसद्धनसद्विद्यादिवृद्धिं ते सदा कुर्वन्ति ।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा, आचार्य और राजा को सम्बोधन है ।

---

१. ऋ० ८।९५।५ 'इन्द्र यस्ते नवीयसीं' इति पाठः ।

२. नवीयसीं मृदुपदवर्णस्वरोदाहरणयुक्ताम्-इति वि० ।

३. कित ज्ञाने, क्वसौ रूपम्, अकारस्येकारश्छान्दसः । चिकित्वांसि ज्ञातानि सर्वेषां हृदयानि यया-इति सा०।

४. प्रत्नाम् ऋग्यजुःसामलक्षणाम्-इति वि०।

५. ऋतो यज्ञः अथवा ऋतो मन्त्रः अथवा ऋतः प्रजापतिः अथवा ऋतं सत्यं परं ब्रह्म तस्य पिप्युषीं पोषणसमर्थाम्-इति वि०।

पदार्थ– हे **इन्द्र** परमात्मन्, आचार्य वा राजन् ! **यः** जिस उपासक, शिष्य वा प्रजाजन ने **ते** आपके लिए **नवीयसीम्** अतिशय नवीन, **मन्द्राम्** आनन्दजनक **गिरम्** प्रार्थना की वाणी **अजीजनत्** उच्चारण की है, और **चिकित्विन्मनसम्** मन को जागरूक करने वाली, **प्रत्नाम्** श्रेष्ठ, **ऋतस्य पिप्युषीम्** सत्य को बढ़ाने वाली **धियम्** ध्यान-धारा वा बुद्धि को **अजीजनत्** तेरे प्रति प्रेरित किया है, उसके लिए **रायः** श्रेष्ठ गुण, श्रेष्ठ धन, श्रेष्ठ विद्या, श्रेष्ठ आचरण आदि ऐश्वर्य की **पूर्धि** पूर्ति कीजिए । [यहां 'रायः पूर्धि' यह वाक्य-पूर्ति के लिए पूर्व मन्त्र से यहां लाया गया है] ॥२॥

भावार्थ– जो निश्छल मन, समर्पण-भावना और हृदयस्पर्शी शब्दों से परमात्मा, आचार्य वा राजा से याचना करता है उसकी उत्तम गुण, उत्तम धर्म, उत्तम धन, उत्तम विद्या आदि की वृद्धि वे सदा करते हैं ॥२॥

अथ पुनरपि परमात्माचार्यनृपतिविषयमाह ।

१ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
८८५. **तमु ष्टवाम यं गिर इन्द्रमुक्थ्यानि वावृधुः ।**
३ १ २ ३ २ ३ १ २
पुरूण्यस्य पौंस्या सिषासन्तो वनामहे ॥३॥[1]

२ ३ २ १२र १२र ३ १ २ ३ २
तम् उ स्तवाम यम् गिरः । इन्द्रम् उक्थानि वावृधुः ।
३ १ २ ३ १ २र १ २र ३
पुरूणि अस्य पौंस्या । सिषासन्तः वनामहे ॥३॥

पदार्थः– **तम् उ** तमेव **इन्द्रम्** परमात्मानमाचार्यं राजानं वा वयम् **स्तवाम** स्तुयाम, प्रशंसेम । [स्तवतेर्लेटि उत्तमबहुवचनम् ।] **यम्** परमात्मानमाचार्यं राजानं वा **गिरः** वेदवाचः **उक्थ्यानि** उक्थानि स्तोत्राणि, स्वागतवचांसि, अभिनन्दनवचांसि वा । [वचेस्थकि उक्थम्, ततः स्वार्थे यत् ।] **वावृधुः** कीर्तिगानेन वर्धयन्ति । वयम् **अस्य** परमात्मनः आचार्यस्य राज्ञो वा **पुरूणि** बहूनि **पौंस्या** पौंस्यानि बलधनविद्यासद्गुणादीनि। [पुंसि भवं पौंस्यम् ।] **सिषासन्तः** अन्येभ्यः संभक्तुमिच्छन्तः। [षण सम्भक्तौ, सनि रूपम् ।] **वनामहे** याचामहे । [वनु याचने तनादिः, विकरणव्यत्ययः] ॥३॥

भावार्थः– परमात्मन आचार्यान्नृपतेर्वा यद् धनबलविद्यादिकं प्राप्यते तन्न स्वयमेवोपभोक्तव्यं किन्त्वन्येभ्योऽपि देयम्, यतो न केनापि केवलमात्मोन्नत्या सन्तोष्टव्यं, प्रत्युत सर्वेषामुन्नतौ स्वोन्नतिः संभावनीया ॥३॥

अस्मिन् खण्डेऽध्ययनाध्यापनज्ञानरसब्रह्मानन्दरसपरमेश्वराचार्यनृपत्यादीनां विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा, आचार्य और राजा का विषय है ।

पदार्थ– **तम् उ** उसी **इन्द्रम्** परमात्मा, आचार्य वा राजा की, हम **स्तवाम** स्तुति करें, प्रशंसा करें, **यम्** जिसे **गिरः** वेदवाणियां और **उक्थ्यानि** स्तोत्र, स्वागत-वचन वा अभिनन्दन-वचन **वावृधुः** कीर्तिगान द्वारा

---

१. ऋ० ८।९५।६ ।

बढ़ाते हैं। हम **अस्य** इस परमात्मा, आचार्य वा राजा के **पुरूणि** बहुत से **पौंस्या** बल, धन, विद्या, सद्गुण आदियों को **सिषासन्तः** अन्यों को देने की इच्छा वाले होकर **वनामहे** मांगते हैं।।३।।

भावार्थ– परमात्मा, आचार्य वा राजा से जो धन, बल, विद्या आदि प्राप्त होता है उसे स्वयं अकेले ही उपभोग नहीं करना चाहिए, किन्तु अन्यों को भी देना चाहिए; क्योंकि किसी को केवल अपनी उन्नति से ही सन्तोष करना उचित नहीं है, प्रत्युत सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए ।।३।।

इस खण्ड में अध्ययन, अध्यापन, ज्ञानरस, ब्रह्मानन्दरस, परमेश्वर, आचार्य, राजा आदि विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

चतुर्थ अध्याय में षष्ठ खण्ड समाप्त । चतुर्थ अध्याय समाप्त ।

द्वितीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध समाप्त ।

इति बरेलीमण्डलन्तार्गतफरीदपुरवास्तव्यश्रीमद्गोपालरामभगवतीदेवीतनयेन हरिद्वारीयगुरुकुल-कांगड़ीविश्वविद्यालयेऽधीतविद्येन विद्यामार्तण्डेन आचार्यरामनाथवेदालङ्कारेण महर्षिदयानन्द-सरस्वतीस्वामिकृतवेदभाष्यशैलीमनुसृत्य विरचिते संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते साम-वेदभाष्ये उत्तरार्चिके द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तिमगात् ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः तृतीये प्रपाठके प्रथमोऽर्धश्च

॥१॥ अथ 'प्र त आश्विनीः' इत्यादिकस्य प्रथमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अकृष्टा माषाः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** जगती । **स्वरः** निषादः ॥

तत्रादौ परमेश्वरस्य तदुपासकस्य च विषयो वर्ण्यते ।

८८६. **प्र त आश्विनीः पवमान धेनवो दिव्या असृग्रन् पयसा धरीमणि ।**
प्रान्तरिक्षात् स्थाविरीस्ते असृक्षत ये त्वा मृजन्त्यृषिषाण वेधसः॥१॥[1]

प्र ते आश्विनीः पवमान धेनवः । दिव्याः असृग्रन् पयसा धरीमणि ।
प्र अन्तरिक्षात् स्थाविरीः स्था विरीः ते असृक्षत ।
ये त्वा मृजन्ति ऋषिषाण ऋषि सान वेधसः ॥१॥

पदार्थः— हे **पवमान** पवित्रकर्तः परमात्मन् ! **ते** तव **आश्विनीः**[2] व्याप्ताः, **दिव्याः** दिवि आकाशे भवाः **धेनवः** प्रीणयित्र्यो मेघरूपाः गावः **पयसा** वृष्टिजलरूपेण दुग्धेन **धरीमणि**[3] धरण्याम् **प्र असृग्रन्** प्र गच्छन्ति ।

---

१. ऋ० ९।८६।४, प्रथमे पादे 'धेनवो' इत्यत्र 'धीजुवो' इति पाठः । 'प्रान्तर्ऋषयः स्थाविरीरसृक्षत' इति च तृतीयः पादः ।
२. आश्विनीः व्याप्ताः, अशू व्याप्तौ, तस्मादौणादिको विनिः, ततोऽण्, व्यत्ययेनाद्युदात्तः—इति सा० ।
३. धृञ् धारणे धातोः 'हृभृधृसृस्तृशृभ्य ईमनिन्' उ० ४।१४९ इति ईमनिन् प्रत्ययः । सूत्रे क्वचित्तु 'इमनिच्, इमनिच्' इत्यपि पाठो दृश्यते ।

तथैव, हे **ऋषिषाण** ऋषिभिः संभजनीय परमेश ! [ऋषिभिः सन्यते सेव्यते इति ऋषिषाणः, षण सम्भक्तौ ।] **ये वेधसः** स्तुतीनां विधातारः तवोपासकाः **त्वा** त्वाम् **मृजन्ति** स्तुतिभिः अलङ्कुर्वन्ति । [मृजू शौचालंकारयोः, चुरादिः, विकरणव्यत्ययः ।] **ते** उपासकाः **अन्तरिक्षात्** हृदयाकाशात् **स्थाविरीः**[1] समृद्धाः भक्तिधाराः **प्र असृक्षत** त्वां प्रति प्रकर्षेण विसृजन्ति ॥१॥

भावार्थः— यथा जगदीश्वरो वृष्टिधारा अस्मान् प्रति विसृजति तथैवास्माभिस्तं प्रति भक्तिधारा विसृष्टव्याः ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमेश्वर तथा उसके उपासक का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे **पवमान** पवित्रकर्ता परमात्मन् ! **ते** आपकी **आश्विनीः** व्याप्त, **दिव्याः** आकाश में स्थित, **धेनवः** तृप्ति प्रदान करने वाली मेघरूप गौएं **पयसा** वर्षाजलरूप दूध से **धरीमणि** भूमि पर **प्र असृग्रन्** छूटकर आती हैं। वैसे ही, हे **ऋषिषाण** ऋषियों से सेवनीय परमेश ! **ये** जो **वेधसः** स्तुतियों के विधाता आपके उपासक **त्वा** आपको **मृजन्ति** स्तुतियों से अलंकृत करते हैं **ते** वे **अन्तरिक्षात्** हृदयाकाश से **स्थाविरीः** समृद्ध भक्तिधाराओं को **प्र असृक्षत** आपके प्रति प्रकृष्ट रूप से छोड़ते हैं ॥१॥

भावार्थ— जैसे जगदीश्वर वर्षा-धाराओं को हमारे प्रति छोड़ता है, वैसे ही उसके प्रति हमें भक्ति-धाराएं छोड़नी चाहिएं ॥१॥

अथ परमात्मनस्तद्रचितस्य सूर्यस्य च विषयमाह ।

३ २३ १२ ३ १२ ३१ २ ३१र २र ३१२
८८७. **उभयतः पवमानस्य रश्मयो ध्रुवस्य सतः परि यन्ति केतवः ।**

१२ ३ २३ १ २ ३ २३ २ ३ २ ३ १र २र ३१२
यदी पवित्रे अधि मृज्यते हरिः सत्ता नि योनौ कलशेषु सीदति ॥२॥[2]

३ १ २ १२र ३ १ २ ३१ २ ३ २ १ २र ३ १ २
उभयतः पवमानस्य रश्मयः । ध्रुवस्य सतः परि यन्ति केतवः ।

१ २र ३ १ २ १ २र ३ १ २ १ २र १ २र १ २र ३१ २ ३
यदि पवित्रे अधि मृज्यते हरिः । सत्ता नि योनौ कलशेषु सीदति ॥२॥

पदार्थः— **प्रथमः** सूर्यपक्षे । **ध्रुवस्य सतः** दिवि स्थिररूपेण विद्यमानस्य **पवमानस्य** शोधकस्य सूर्यस्य **केतवः** प्रकाशकाः **रश्मयः** किरणाः **उभयतः** भूगोलस्य उभयोः गोलार्धयोः **परि यन्ति** परिगच्छन्ति । **यदा** यदा **हरिः** रसानां हर्ता किरणसमूहः **पवित्रे अधि** अन्तरिक्षे । [अन्तरिक्षं वै पवित्रम् । काठ सं० २६।१० ।] **मृज्यते** प्रेष्यते। [मार्ष्टिः गतिकर्मा । निघं० २।१४ ।] तदा **योनौ सत्ता** अन्तरिक्षे स्थितः सः । [योनिरन्तरिक्षम् इति निरुक्तम् २।८।] **कलशेषु** मंगलबुधचन्द्रादिषु ग्रहोपग्रहेषु **निषीदति** निगच्छति, गत्वा च तान् प्रकाशितान् करोति । [षदॢ विशरणगत्यवसादनेषु, भ्वादिः] ॥

द्वितीयः परमात्मपक्षे । **ध्रुवस्य सतः** स्थिरस्य अजरामरस्य सनातनस्य सतः **पवमानस्य** पवित्रताकरस्य परमात्मनः **केतवः** प्रज्ञापकाः **रश्मयः** दिव्यप्रकाशकिरणाः **उभयतः** उभयोः कालयोः प्रातः सायं च सन्ध्यावन्दन-समये **परि यन्ति** उपासकं परि प्राप्नुवन्ति । **यदि** यदा **हरिः** दोषापहारकः परमात्मा **पवित्रे अधि** पवित्र-

---

१. स्थाविरीः स्थविराः धाराः -इति सा० । स्थिराः स्थूला वा स्थविरीर्वा गावः रश्मयः—इति वि० ।

२. ऋ० ९।८६।६, 'योनौ' इत्यत्र 'योना' इति पाठः ।

हृदयाभ्यन्तरे **मृज्यते** भक्तिभावरूपैरलङ्कारैरलङ्क्रियते तदा **योनौ सत्ता** हृदयगृहे स्थितः सः ।[योनिरिति गृहनाम निघं० ३।४ ।] **कलशेषु** अन्नमयप्राणमयमनोमयादिकोशेषु **निषीदति** निषदनं करोति, तत्र निषण्णश्च आत्ममनोबुद्ध्यादीनि सर्वाणि प्रभावयति ।।२।।

अत्र श्लेषालङ्कारः ।।२।।

भावार्थः— यथा सोमरसो दशापवित्रमार्गेण द्रोणकलशेषु तिष्ठति, यथा वा सूर्यरश्मिरन्तरिक्षमार्गेण ग्रहोपग्रहेषु निषीदति तथैव परमेश्वरो हृदयमार्गेण देहस्थपञ्चकोशेषु तिष्ठति ।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा तथा उससे रचित सूर्य का विषय है ।

पदार्थ— प्रथम सूर्य के पक्ष में । **ध्रुवस्य सतः** आकाश में स्थिर रूप से विद्यमान **पवमानस्य** पवित्रकर्ता सूर्य की **केतवः** प्रकाशक **रश्मयः** किरणें **उभयतः** भूगोल के दोनों गोलार्धों में **परियन्ति** पहुंचती हैं। **यदि** जब **हरिः** रसों को हरने वाला किरण-समूह **पवित्रे अधि** अन्तरिक्ष में **मृज्यते** भेजा जाता है, तब **योनौ सत्ता** अन्तरिक्ष में स्थित वह **कलशेषु** मंगल, बुध, चन्द्रमा आदि ग्रहोपग्रह-रूप कलशों में **नि षीदति** पहुंचता है, और पहुंचकर उन्हें प्रकाशित करता है ।।

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में । **ध्रुवस्य सतः** स्थिर, अजर, अमर, सनातन **पवमानस्य** पवित्रकर्ता परमात्मा की **केतवः** प्रज्ञापक **रश्मयः** दिव्य प्रकाश-किरणें **उभयतः** प्रातः सायं दोनों कालों में, संध्या-वंदन के समय **परि यन्ति** उपासक को प्राप्त होती हैं। **यदि** जब **हरिः** दोषों का हर्ता परमात्मा **पवित्रे अधि** पवित्र हृदय के अन्दर **मृज्यते** भक्तिभावरूप अलंकारों से अलंकृत होता है, तब **योनौ सत्ता** हृदयरूप घर में स्थित वह **कलशेषु** अन्नमय, प्राणमय, मनोमय आदि कोशों में **निषीदति** स्थिति-लाभ करता है, और वहां स्थित होता हुआ आत्मा, मन, बुद्धि आदि सबको प्रभावित करता है ।।२।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।।२।।

भावार्थ— जैसे सोमरस दशापवित्र नामक छन्नी के मार्ग से होता हुआ द्रोणकलशों में स्थित होता है, और जैसे सूर्य-रश्मि अन्तरिक्ष-मार्ग से ग्रहोपग्रहों में स्थित होती है, वैसे ही परमेश्वर हृदय-मार्ग से देहस्थ पंच कोशों में स्थित होता है ।।२।।

अथ परमेश्वरो वर्ण्यते ।

८८८. **विश्वा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वसः प्रभोष्टे सतः परि यन्ति केतवः ।**
व्यानशी पवसे सोम धर्मणा पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि ।।३।।[1]

विश्वा धामानि विश्वचक्षः विश्च चक्षः ऋभ्वसः ।
प्रभोः प्र भोः ते सतः परि यन्ति केतवः । व्यानशी वि आनशी पवसे सोम धर्मणा ।
पतिः विश्वस्य भुवनस्य राजसि ।।३।।

---

१. ऋ० ९।८६।५, द्वितीय पादे 'प्रभोस्ते' इति पाठः । 'व्यानशिः पवसे सोम धर्मभिः' इति तृतीय पादः ।

पदार्थः— हे विश्वचक्षः विश्वद्रष्टः परमेश ! **ऋभ्वसः**[1] ऋभून् आदित्यरश्मीन् अस्यति क्षिपति ग्रहोपग्रहादिषु यः स ऋभ्वाः तस्य, यद्वा ऋभून् मेधाविन उपासकान् असति स्वशरणे आदत्ते यः स ऋभ्वाः तस्य। [आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते । निरु० ११।१६। असु क्षेपणे दिवादिः । ऋभुरिति मेधाविनाम । निघं० ३।१५ । अस गतिदीप्त्यादानेषु भ्वादिः ।] **प्रभोः सतः** समर्थस्य सतः **ते** तव **केतवः** प्रज्ञाः । [केतुः इति प्रज्ञानाम । निघं० ३।९ ।] **विश्वा धामानि** सर्वान् लोकान् **परि यन्ति** परिगच्छन्ति, सर्वेषु लोकेषु तव बुद्धिकौशलं दरीदृश्यते इति भावः । हे **सोम** पावक परमात्मन् ! **व्यानशी** सर्वान्तर्यामी । [व्याङ्पूर्वाद् नशतेर्व्याप्तिकर्मणो रूपम् । नशत् इति व्याप्तिकर्मसु पठितम् । निघं० २।१८ ।] त्वम् **धर्मणा** स्वकीयेन गुणकर्मस्वभावेन **पवसे** सर्वान् पुनासि । **विश्वस्य** सकलस्य **भूमनः** ब्रह्माण्डस्य **पतिः** अधीश्वरः त्वम् **राजसि** अतितरां शोभसे ॥३॥

श्लेषेण मन्त्रोऽयं सूर्यपक्षेऽपि योजनीयः ॥३।

भावार्थः— यथा सूर्यस्य किरणाः सर्वेषु ग्रहोपग्रहादिषु दृश्यन्ते तथैव परमेश्वरस्य प्रज्ञाकौशलानि सर्वत्र विलोक्यन्ते । यथा सूर्यः सर्वान् पुनाति तथैव परमेश्वरोऽपि । यथा सूर्यः सौरलोकस्य पतिस्तथा परमेश्वरः सकलब्रह्माण्डस्य ॥३॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर का वर्णन है ।

पदार्थ— हे **विश्वचक्षः** विश्वद्रष्टा परमेश ! **ऋभ्वसः** सूर्यकिरणों को ग्रहोपग्रहों में फेंकने वाले अथवा बुद्धिमान् उपासकों को अपनी शरण में लेने वाले **प्रभोः सतः** समर्थ होते हुए **ते** आपकी **केतवः** प्रज्ञाएं **विश्वा धामानि** सब लोकों में **परि यन्ति** पहुंचती हैं, अर्थात् सब लोकों में आपका बुद्धिकौशल दिखायी देता है । हे **सोम** पवित्रकर्ता परमात्मन् ! **व्यानशी** सर्वान्तर्यामी आप **धर्मणा** अपने धर्म अर्थात् गुण-कर्म-स्वभाव से **पवसे** सबको पवित्र करते हो । **विश्वस्य** सम्पूर्ण **भूमनः** ब्रह्माण्ड के **पतिः** अधीश्वर आप **राजसि** अत्यधिक शोभा पाते हो॥३॥

श्लेष से इस मन्त्र की सूर्य के पक्ष में भी योजना करनी चाहिए ॥३॥

भावार्थ— जैसे सूर्य की किरणें ग्रह-उपग्रह आदियों में दिखायी देती हैं, वैसे ही परमात्मा के बुद्धि-कौशल सर्वत्र दिखायी देते हैं। जैसे सूर्य सबको पवित्र करता है, वैसे ही परमेश्वर भी करता है । जैसे सूर्य सौरलोक का अधिपति है, वैसे ही परमेश्वर समस्त ब्रह्माण्ड का अधिपति है ॥३॥

॥२॥ अथ 'पवमानो' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अमहीयुराङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४८४ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र परमात्माचार्ययोरुभयोर्विषयो वर्ण्यते ।

१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ २
८८९. **पवमानो अजीजनद्दिवश्चित्रं न तन्यतुम् । ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् ॥१॥**[2]

१ २ २ ३ २ ३ २ ३ २
पवमानः अजीजनत् । दिवः चित्रम् न तन्यतुम् ।

१ २ २ ३ २ ३ २ ३ २
ज्योतिः वैश्वानरम् वैश्व नरम् बृहत् ॥१॥

---

१. ऋभ्वाः इति महन्नाम—इति सा० । ऋभ्वसः प्रभुत्वस्य-इति वि० । ऋभ्वसम् ऋभून् मनुष्यादीन् पदार्थान् वा ऽस्यन्ति क्षिपन्ति तेन तम्' इति ऋ० १।५६।१ भाष्ये, ऋभुं मेधाविनमसते गृह्णाति तम्' इति च ऋ० ५।५२।८ भाष्ये द० ।

२. ऋ० ९।६१।१६, साम० ४८४ ।

पदार्थः— **पवमानः** चरित्रस्य शोधकः परमात्माऽऽचार्यो वा **दिवः** आकाशस्य **चित्रम्** अद्भुतम् **तन्यतुम् न** विद्युतमिव **वैश्वानरम्** सर्वनेतृत्वकारि सर्वहितकरं वा **बृहत्** महत् **ज्योतिः** विज्ञानप्रकाशम्, ज्योतिष्मतीं प्रज्ञां वा **अजीजनत्** उत्पादितवानस्ति ।।१।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः— परमात्मनो योगप्रशिक्षकस्याचार्यस्य च कृपया जनानामन्तःकरणेषु तमोवृत्तेरुच्छेदो दिव्यस्य ज्योतिषो विज्ञानप्रकाशस्य ज्योतिष्मत्याः प्रज्ञायाश्चोदयः सञ्जायते ।।१।।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ४८४ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्या हो चुकी है । यहां परमात्मा और आचार्य दोनों का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— **पवमानः** चरित्र को पवित्र करने वाले परमात्मा वा आचार्य ने **दिवः** आकाश की **चित्रम्** अद्भुत **तन्यतुं न** बिजली के समान **वैश्वानरम्** सबका नेतृत्व करने वाली **बृहत्** महान् **ज्योतिः** विज्ञान-ज्योति को अथवा ज्योतिष्मती प्रज्ञा को **अजीजनत्** उत्पन्न कर दिया है ।।१।।

यहां उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ— परमात्मा और योगप्रशिक्षक आचार्य की कृपा से मनुष्यों के अन्तःकरणों में तमोवृत्ति का विनाश और दिव्य ज्योति, विज्ञान-प्रकाश तथा ज्योतिष्मती प्रज्ञा का उदय होता है ।।१।।

अथ पुनः परमात्माचार्ययोर्विषयमाह ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २
८९०. **पवमान रसस्तव मदो राजन्नदुच्छुनः । वि वारमव्यमर्षति ।।२।।**[1]

१ २ र १ २ र १ २ र १ २ र ३ २ ३ २
पवमान रसः तव । मदः राजन् अदुच्छुनः अ दुच्छुनः ।

१ २ र १ २ र ३
वि वारम् अव्यम् अर्षति ।।२।।

पदार्थः— हे **पवमान** पवित्रताप्रद **राजन्** तेजस्विन् परमात्मन् आचार्य वा ! यः **तव** त्वदीयः **अदुच्छुनः** न विद्यते दुच्छुना दुर्गतिः दुखं वा येन तादृशः **मदः** उत्साहकरः **रसः** आनन्दरसो ज्ञानरसो वा विद्यते, सः **अव्यम्** अव्ययम् अविनश्वरम् **वारम्** दोषनिवारकम् आत्मानम् **वि अर्षति** विविधं प्राप्नोति ।।२।।

भावार्थः—परमेश्वरादाचार्याच्च प्रसुतमानन्दरसं विज्ञानरसं च प्राप्य मानवानामात्मा कृतार्थो जायते।।२।।

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा और आचार्य के विषय का कथन है ।

पदार्थ— हे **पवमान** जीवन को पवित्र करने वाले **राजन्** तेजस्वी परमात्मन् वा आचार्य ! जो **तव** आपका **अदुच्छुनः** दुर्गति तथा दुःख न उत्पन्न करने वाला, **मदः** उत्साहकारी **रसः** आनन्दरस वा ज्ञानरस है, वह **अव्यम्** अविनश्वर, **वारम्** दोषनिवारक आत्मा को **वि अर्षति** विविध रूप में प्राप्त होता है ।।२।।

भावार्थ— परमेश्वर वा आचार्य से प्रसुत आनन्दरस वा विज्ञानरस को प्राप्त करके मनुष्य का आत्मा कृतार्थ हो जाता है ।।२।।

---

१. ऋ० ९।६१।१७, 'पवमानस्य ते रसो' इति प्रथमः पादः ।

अथ पुनरपि तयोरेव विषयो वर्ण्यते ।

८९१. पवमानस्य ते रसो दक्षो वि राजति द्युमान् । ज्योतिर्विश्वं स्वर्दृशे ॥३॥[1]

पवमानस्य ते रसः । दक्षः वि राजति द्युमान् । ज्योतिः विश्वम् स्वः दृशे ॥३॥

पदार्थः— हे परमात्मन् आचार्य वा ! **पवमानस्य** चित्तशोधकस्य **ते** तव **द्युमान्** दीप्तिमान् **रसः** आनन्दरसो ज्ञानरसो वा **दक्षः** ब्रह्मबलं च **विराजति** विशेषेण शोभते । सः **स्वःदृशे** मोक्षसुखं द्रष्टुम् **विश्वं ज्योतिः** सम्पूर्णाम् अन्तर्दृष्टिं, ददातीति शेषः ॥३॥

भावार्थः— आचार्यस्य सेवां परमात्मन उपासनां च कृत्वा लोकविद्यां ब्रह्मविद्यां परमाह्लादं ब्रह्मवर्चसं दिव्यदृष्टिञ्च प्राप्य जनाः मोक्षमधिगन्तुमर्हन्ति ॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः उन्हीं का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे परमात्मन् वा आचार्य ! **पवमानस्य** चित्त की शुद्धि करने वाले **ते** आपका **द्युमान्** दीप्तिमान् **रसः** आनन्दरस वा ज्ञानरस और **दक्षः** ब्रह्मबल **वि राजति** विशेष रूप से शोभित है । वह **स्वःदृशे** मोक्ष-सुख के दर्शनार्थ **विश्वं ज्योतिः** सम्पूर्ण अन्तर्दृष्टि को देता है ॥३॥

भावार्थ— आचार्य की सेवा और परमात्मा की उपासना करके लोकविद्या, ब्रह्मविद्या, परम आह्लाद, ब्रह्मवर्चस और दिव्य दृष्टि प्राप्त करके मनुष्य मोक्ष पाने योग्य हो जाते हैं॥३॥

॥३॥ अथ 'प्र यद् गावो' इत्यादिकस्य तृतीयस्य षड्ऋचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मेध्यातिथिः काण्वः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४९१ क्रमाङ्के परमात्मजन्यानन्दरसविषये व्याख्याता । अत्राचार्यजन्यज्ञान-विषयो वर्ण्यते ॥

८९२. प्र यद् गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः । घ्नन्तः कृष्णामप त्वचम् ॥१॥[2]

प्र यत् गावः न भूर्णयः । त्वेषाः अयासः अक्रमुः । घ्नन्तः कृष्णाम् अप त्वचम् ॥१॥

पदार्थः— **यत्** यदा **गावः न** धेनवः इव **भूर्णयः** भरणपोषणकारिणः । [बिभर्ति इति भूर्णिः । 'घृणिपृश्निपार्श्वीचूर्णिभूर्णयः' उ० ४।५३ इत्यनेन डुभृञ् धारणपोषणयोः इति धातोः निः प्रत्ययः, धातोरूत्वं च ।] **त्वेषाः** उज्ज्वलाः **अयासः** शिष्यान् प्रति गमनशीलाः सोमाः ज्ञानरसाः **प्र अक्रमुः** प्र क्रमन्ते, तदा **त्वचम्** संवरणकरीम् **कृष्णाम्** अविद्यारात्रिम् **घ्नन्तः** नाशयन्तः, भवन्तीति शेषः ॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— यदा शिष्या आचार्याद् विविधा लोकविद्या ब्रह्मविद्याश्च प्राप्नुवन्ति तदा निखिला अविद्या-निशा अपगच्छन्ति ॥१॥

---

१. ऋ० ९।६१।१८ 'पवमान॒ रस॒स्तव॒' इति प्रथमः पादः ।

२. ऋ० ९।४१।१, 'यद्' इत्यत्र 'ये' इति पाठः । साम० ४९१ ।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४९१ क्रमांक पर परमात्मा से उत्पन्न होने वाले आनन्दरस के विषय में व्याख्यात हुई थी । यहां आचार्य से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का विषय वर्णित है ।।

पदार्थ– **यत्** जब **गावः न** गायों के समान **भूर्णयः** भरण-पोषण करने वाले, **त्वेषाः** उज्ज्वल, **अयासः** शिष्यों के प्रति जाने वाले ज्ञानरस **प्र अक्रमुः** प्रदान किये जाने आरंभ होते हैं, तब वे **त्वचम्** ढकने वाली **कृष्णाम्** अविद्या-रात्रि को **घ्नन्तः** नष्ट कर देते हैं।।१।।

यहां उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ– जब शिष्य विविध लौकिक विद्याओं और ब्रह्मविद्याओं को प्राप्त कर लेते हैं, तब सारी अविद्यारूप निशाएं दूर हो जाती है।।१।।

अथ परमात्मविषयमाचार्यविषयं चाह ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३क २र ३ २ ३ १ २ ३ २
८९३. **सुवितस्य वनामहेऽति सेतुं दुराय्यम् । साह्याम दस्युमव्रतम् ।।२।।**[1]

३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ क २ ३ क २
सुवितस्य वनामहे । अति सेतुम् दुराय्यम् दुः आय्यम् ।

३ १ २ १ २र ३ २ ३ २
साह्याम दस्युम् अव्रतम् अ व्रतम् ।।२।।

पदार्थः– वयम् **सेतुम्** अवरोधम् **अति** अतिक्रम्य **सुवितस्य** सुप्राप्तस्य आनन्दरसागारस्य परमात्मनः विद्यारसागारस्य आचार्यस्य वा **दुराय्यम्** दुष्प्राप्यम् आनन्दरसं विद्यारसं वा **वनामहे**[2] संभजामहे । तेन् वयम् **अव्रतम्** व्रतविरोधिनं सत्कर्मविरोधिनं वा **दस्युम्** उपक्षयकारिणं कामक्रोधादिषड्रिपुवर्गम् **साह्याम** अभिभवेम । [सहतेराशीर्लिङि रूपम्, उपधादीर्घः परमस्मैपदं च छान्दसम्] ।।२।।

भावार्थः– गुरूणां सत्कारेण, परमात्मोपासनेन च विद्यामानन्दं चाधिगम्य बाह्यानान्तरांश्च रिपून् पराजित्य सत्कर्माण्याचरणीयानि ।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा और आचार्य का विषय वर्णित है ।

पदार्थ– हम **सेतुम्** रुकावट को **अति** अतिक्रान्त अर्थात् पार करके **सुवितस्य** सुप्राप्त आनन्दरसागार परमात्मा के एवं विद्यारसागार आचार्य के **दुराय्यम्** दुष्प्राप्य आनन्दरस वा विद्यारस को **वनामहे** सेवन करते हैं। उससे हम **अव्रतम्** व्रतविरोधी वा सत्कर्मविरोधी **दस्युम्** उपक्षयकारी काम, क्रोध, आदि छहों रिपुओं को **साह्याम** पराजित कर देवें ।।२।।

भावार्थ– गुरुओं के सत्कार से और परमात्मा की उपासना से विद्या और आनन्द को प्राप्त करके, बाह्य तथा आन्तरिक शत्रुओं को पराजित करके सत्कर्मों का आचरण करना चाहिए ।।२।।

अथः पुनः परमात्माचार्ययोरेव विषयो वर्ण्यते ।

३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ १२ ३ १ २ ३ २
८९४. **शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः । चरन्ति विद्युतो दिवि ।।३।।**[3]

३ २ ३ २ ३ २ १२र ३ १ २ १२र ३ १ २ ३ १ २र ३ २
शृण्वे वृष्टेः इव स्वनः । पवमानस्य शुष्मिणः । चरन्ति विद्युतः वि द्युतः दिवि ।।३।।

---

१. ऋ० ९।४१।२, 'दुराव्यम्', 'साह्वांसो', इति पाठः ।
२. वनामहे वनतिः स्तुतिकर्मा, स्तुतिं कुर्मः– इति वि० ।
३. ऋ० ९।४१।३ ।

पदार्थः— **शुष्मिणः** बलवतः **पवमानस्य** चित्तशोधकस्य परमात्मनः आचार्यस्य वा **स्वनः** आनन्दप्रवाहस्य ज्ञानप्रवाहस्य वा शब्दः **वृष्टेः स्वनः इव** वृष्टेः शब्दः इवास्ति, तम् अहम् **शृण्वे** शृणोमि । **दिवि** आकाशे इव ममात्मनि **विद्युतः चरन्ति** सौदामिन्यः इव अध्यात्मज्योतींषि चलन्ति ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— यथा वर्षाकाले सस्वनं मेघाद् वारिधाराः पतन्ति विद्युतश्च विद्योतन्ते तथैवाचार्यसकाशाज्ज्ञानप्रवाहे सति शब्दा आचार्यमुखान्निस्सरन्ति ज्ञानग्राहके जीवात्मनि च ज्ञानज्योतींषि दीप्यन्ते। तथैव परमात्मनः सकाशादानन्दरसप्रवाहेऽपि दिव्यः कश्चन वृष्टिस्वन इव श्रूयतेऽलौकिकानि ज्योतींषि चाप्यनुभूयन्ते॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा और आचार्य का ही विषय वर्णित है ।

पदार्थ— **शुष्मिणः** बलवान् **पवमानस्य** चित्तशुद्धिकर्ता परमात्मा वा आचार्य का **स्वनः** आनन्दप्रवाह वा ज्ञानप्रवाह का शब्द **वृष्टेः स्वनः इव** वर्षा के शब्द के समान है, उसे मैं **शृण्वे** सुन रहा हूं । **दिवि** आकाश के समान मेरे आत्मा में **विद्युतः चरन्ति** बिजलियों के सदृश अध्यात्म-ज्योतियां विचर रही हैं॥३॥

यहां उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ— जैसे वर्षाकाल में शब्द के साथ बादल से जल-धाराएं गिरती हैं और बिजलियां चमकती हैं, वैसे ही आचार्य के पास से ज्ञान का प्रवाह होने पर शब्द आचार्य के मुख से निकलते हैं और ज्ञान को ग्रहण करने वाले जीवात्मा में ज्ञान की ज्योतियां चमकती हैं। उसीप्रकार परमात्मा के पास से आनन्दरस का प्रवाह होने पर भी कोई दिव्य वर्षा की रिमझिम सी सुनाई देती है और अलौकिक ज्योतियों का भी अनुभव होता है॥३॥

अथ पुनस्तयोरेव विषयं प्राह ।

८९५. **आ पवस्व महीमिषं गोमदिन्दो हिरण्यवत् । अश्ववत् सोम वीरवत् ॥४॥**[1]

आ पवस्व महीम् इषम् । गोमत् इन्दो हिरण्यवत् । अश्ववत् सोम वीरवत् ॥४॥

पदार्थः— हे **इन्दो** दीप्तिमन् ज्ञानरसेन क्लेदक **सोम** प्रेरक परमात्मन् आचार्य वा ! त्वम् अस्मभ्यम् **गोमत्** प्रशस्तधेनुयुक्तां यशोयुक्तां वा, **हिरण्यवत्** सुवर्णयुक्तां, ज्योतिर्युक्तां, यशोयुक्तां वा **अश्ववत्** तुरगयुक्तां प्राणयुक्तां वा, **वीरवत्** वीरपुत्रैर्युक्तां वीरभावैर्युक्तां वा **महीम्** महतीम् **इषम्** इच्छासिद्धिम् **आ पवस्व** आ प्रापय ॥४॥

भावार्थः— परमात्मन आचार्यस्य च कृपया विद्यावन्तो भूत्वा वयं सर्वविधां लौकिकीमाध्यात्मिकीं च सम्पदं प्राप्य सुखिनो भवेम ॥४॥

अगले मन्त्र में पुनः उन्हीं का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे **इन्दो** दीप्तिमान्, ज्ञानरस से भिगोने वाले **सोम** प्रेरक परमात्मन् वा आचार्य ! आप हमारे लिए **गोमत्** श्रेष्ठ गाय से युक्त वा श्रेष्ठ वाणी से युक्त, **हिरण्यवत्** सुवर्ण से युक्त, ज्योति से युक्त वा यश से

---

१. ऋ० ९।४१।४, 'अश्वावद् वाजवत् सुतः' इति तृतीयः पादः ।

युक्त, **अश्ववत्** घोड़ों से युक्त वा प्राणों से युक्त, **वीरवत्** वीर पुत्रों से युक्त वा वीरभावों से युक्त, **महीम्** बड़ी **इषम्** इच्छासिद्धि को **आ पवस्व** प्राप्त कराइये ॥४॥

भावार्थ– परमात्मा और आचार्य की कृपा से विद्यावान् होकर हम सबप्रकार की लौकिक और आध्यात्मिक सम्पत्ति प्राप्त करके सुखी होवें ॥४॥

अथ पुनरपि तयोरेव विषयः प्रोच्यते ।

८९६. पवस्व विश्वचर्षण आ मही रोदसी पृण । उषाः सूर्यो न रश्मिभिः ॥५॥[1]

पवस्व विश्वचर्षणे विश्व चर्षणे । आ महीइति रोदसीइति पृण ।

उषाः सूर्यः न रश्मिभिः ॥५॥

पदार्थः– हे **विश्वचर्षणे** विश्वब्रह्माण्डस्य द्रष्टः परमात्मन्, सर्वासां विद्यानां द्रष्टः आचार्य वा ! त्वम् **पवस्व** अन्तःप्रकाशं ज्ञानरसं वा प्रवाहय, तेन **मही रोदसी** महती आत्ममनसी **आ पृण** परिपूरय, **न** यथा **उषाः** प्रभातकान्तिः **सूर्यः** आदित्यश्च **रश्मिभिः** किरणैः **मही रोदसी** महत्यौ द्यावापृथिव्यौ आपृणाति ॥५॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः– यथोषसः सूर्यस्य च प्रकाशेन द्यावापृथिव्यौ प्रपूर्येते तथैव परमात्मनाचार्येण च प्रदत्तेन दिव्येनान्तर्ज्योतिषा ज्ञानज्योतिषा च मनुष्यस्यात्मा मनश्च परिपूर्येते ॥५॥

अगले मन्त्र में फिर में उन्हीं का विषय कहा गया है ।

पदार्थ–हे **विश्वचर्षणे** विश्व ब्रहाण्ड के द्रष्टा परमात्मन् वा सब विद्याओं के द्रष्टा आचार्य ! आप **पवस्व** अन्तःप्रकाश एवं ज्ञानरस को प्रवाहित करो । उससे **मही रोदसी** महिमामय आत्मा और मन को **आपृण** पूर्ण कर दो, **न** जैसे **उषाः** उषा और **सूर्यः** सूर्य **रश्मिभिः** किरणों से **मही रोदसी** महान् द्यावापृथिवी को, पूर्ण करते हैं ॥५॥

यहां श्लिष्टोपलंकार है ॥५॥

भावार्थ–जैसे उषा और सूर्य के प्रकाश से द्यावापृथिवी भर जाते हैं, वैसी ही परमात्मा और आचार्य द्वारा दी गयी दिव्य अन्तर्ज्योति तथा ज्ञानज्योति से मनुष्य के आत्मा और मन परिपूर्ण होते हैं॥५॥

अथ परमात्माऽऽचार्यश्च प्रार्थ्यते ॥

८९७. परि णः शर्मयन्त्या धारया सोम विश्वतः । सरा रसेव विष्टपम् ॥६॥[2]

परि नः शर्मयन्त्या । धारया सोम विश्वतः । सर रसा इव विष्टपम् ॥६॥

पदार्थः– हे **सोम** रसागार परमात्मन् आचार्य वा ! त्वम् **शर्मयन्त्या** सुखयन्त्या **धारया** अध्यात्मप्रकाश-धारया ज्ञानधारया वा सह **विश्वतः** सर्वतः **नः** अस्मान् **परि सर** परिप्राप्नुहि। [सृ गतौ। संहितायां द्व्यचोऽतस्तिङः। अ० ६।३।१३५ इत्यनेन दीर्घः।] **रसा इव** रसमयी वृष्टिः यथा **विष्टपम्** भूलोकं प्राप्नोति तथा ॥६॥

---

१. ऋ० ९।४१।५ ।

२. ऋ० ९।४१।६ ।

अत्रोपमालङ्कारः। 'सरा, रसे' इत्यत्र वृत्त्यनुप्रासः ॥६॥

भावार्थः— यथा पर्जन्यात् पर्वतेषु जाता वृष्टिर्नदीरूपेण भूप्रदेशान् सिञ्चन्ती समुद्रं प्राप्नोति तथैव परमात्मन आचार्याद् वा निःसृतान्तःप्रकाशधारा ब्रह्मानन्दधारा ज्ञानधारा वा मनोबुद्ध्यादीन् सिञ्चन्ती जीवात्मानं प्राप्नोति ॥६॥

अस्मिन् खण्डे परमेश्वरोपासकयोः परमेश्वरतद्रचितसूर्ययोः, परमात्माचार्ययोश्च विषयस्य वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन सह संगतिरस्ति ॥

अगले मन्त्र में परमात्मा तथा आचार्य से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **सोम** रसागार परमात्मन् वा आचार्य ! आप **शर्मयन्त्या** सुख देने वाली **धारया** अध्यात्मप्रकाश की धारा वा ज्ञान की धारा के साथ **विश्वतः** सब ओर से **नः** हमें **परि सर** प्राप्त हों । **रसा इव** जैसे रसीली वर्षा **विष्टपम्** भूलोक को प्राप्त होती है ॥६॥

यहां उपमालंकार है । 'सरा, रसे' में वृत्त्यनुप्रास है ॥६॥

भावार्थ— जैसे बादल में से पर्वतों पर हुई वर्षा नदीरूप में भूमि के प्रदेशों को सींचती हुई समुद्र को प्राप्त होती है, वैसे ही परमात्मा वा आचार्य से निकली हुई अन्तःप्रकाश की धारा मन, बुद्धि आदियों को सींचती हुई जीवात्मा को प्राप्त होती है ॥६॥

इस खण्ड में परमेश्वर और उपासक, परमेश्वर और उसके रचे हुए सूर्य एवं परमात्मा और आचार्य का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।

पंचम अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त।

॥४॥ अथ 'आशुरर्ष' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य षड्ऋचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** बृहन्मतिराङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ परमात्मानमाह्वयति ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ ३ १ २
८९८. आशुरर्ष बृहन्मते परि प्रियेणा धाम्ना । यत्रा देवा इति ब्रुवन् ॥१॥[1]

३ २ ३ १ २र ३ १ २ १ २र १ २र ३ २ १ २र १ २र
आशुः अर्ष बृहन्मते बृहत् मते । परि प्रियेण धाम्ना । यत्र देवाः इति ब्रुवन् ॥१॥

पदार्थः— हे **बृहन्मते** महामते, महामतिप्रदायक परमेश ! [बृहती मतिः यस्य यस्माद् वा स बृहन्मतिः।] **यत्र देवाः** यत्र दिव्यगुणाः सन्ति तत्र मम निवासः **इति ब्रुवन्** इति कथयन् त्वम् **प्रियेण धाम्ना** स्वकीयेन मधुरेण तेजसा सह **आशुः** शीघ्रः सन् **परि अर्ष** अस्माकं जीवनं परितो व्याप्नुहि ॥१॥

भावार्थः— परमात्मनः कृपां प्राप्तुं स्वात्मनि दिव्यगुणा धारणीयाः ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा का आह्वान है ।।

पदार्थ— हे **बृहन्मते** महामति से युक्त एवं महामति को देने वाले परमेश ! **यत्र देवाः** जहां दिव्यगुण रहते हैं वहां मेरा निवास है **इति ब्रुवन्** यह कहते हुए आप **प्रियेण धाम्ना** अपने मधुर तेज के साथ **आशुः** शीघ्रकारी होते हुए **परि अर्ष** हमारे जीवन में चारों ओर व्याप्त हो जाएं ॥१॥

---

१. ऋ० ८।३९।१, 'ब्रुवन्' इत्यत्र 'ब्रवन्' इति पाठः ।

भावार्थ– परमात्मा की कृपा प्राप्त करने के लिए अपने आत्मा में दिव्य गुणों को धारण करना चाहिए।।१।।

अथ परमेश्वरः प्रार्थ्यते ।

८९९. परिष्कृण्वन्ननिष्कृतं जनाय यातयन्निषः। वृष्टिं दिवः परि स्रव ।।२।।[1]

परिष्कृण्वन् परि कृण्वन् अनिष्कृतम् अ निष्कृतम् । जनाय यातयन् इषः ।
वृष्टिम् दिवः परि स्रव ।।२।।

पदार्थः– हे पवमान सोम, पवित्रतादायक रसागार परमेश ! त्वम् **अनिष्कृतम्** अपरिष्कृतं हृदयम् **परिष्कृण्वन्** परिष्कुर्वन्, किञ्च **जनाय** उपासकाय **इषः** आक्रान्तॄन् विघ्नान् । [इष्यन्ति आक्रामन्ति इति इषः । इष गतौ, दिवादिः।] **यातयन्** हिंसन् [यातयतिः वधकर्मा। निघं २।१९] **दिवः** आनन्दमयकोशात् **वृष्टिम्** आनन्दरसस्य धारासारम् **परि स्रव** प्रवाहय ।।२।।

भावार्थः– यथा मेघाद् वृष्टौ सत्यां शुष्का भूमिः सरसा जायते तथैव सर्वेषामात्मनि स्थितात् परमात्मनः सकाशाद् आनन्दरसस्य वृष्टौ सत्यामात्ममनोबुद्ध्यादयः सर्वे सरसाः सप्राणाश्च भवन्ति ।।२।।

अब परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ– हे पवमान सोम अर्थात् पवित्रतादायक रसागार परमेश्वर ! आप **अनिष्कृतम्** अपरिष्कृत हृदय को **परिष्कृण्वन्** परिष्कृत करते हुए, और **जनाय** उपासक मनुष्य के लिए **इषः** आक्रमणकारी विघ्नों की **यातयन्** हिंसा करते हुए **दिवः** आनन्दमय कोश से **वृष्टिम्** आनन्दरस की वर्षा **परि स्रव** प्रवाहित कीजिए ।।२।।

भावार्थ–जैसे बादल से वर्षा होने पर सूखी भूमि सरस हो जाती है, वैसे ही सबके आत्मा में स्थित परमात्मा के पास से आनन्दरस की वर्षा होने पर आत्मा, मन, बुद्धि आदि सब सरस और सप्राण हो जाते हैं।।२।।

अथ ब्रह्मानन्दरसप्रवाहं वर्णयति ।

९००. अयं स यो दिवस्परि रघुयामा पवित्र आ । सिन्धोरूर्मा व्यक्षरत् ।।३।।[2]

अयम् सः यः दिवः परि । रघुयामा रघु यामा पवित्रे आ ।
सिन्धोः उर्मा व्यक्षरत् वि अक्षरत् ।।३।।

पदार्थः– **अयम्** एषः अस्माभिरनुभूयमानः **सः** प्रसिद्धः ब्रह्मानन्दरसो वर्तते । **यः रघुयामा** शीघ्रगतिः सन् **दिवः परि** आनन्दमयात् परमेश्वरात् । [दिवु धातोरर्थेषु मोदार्थोऽपि परिगणितः ।] **पवित्रे आ** पवित्रे हृदये आगम्य **सिन्धोः ऊर्मौ** आत्मसमुद्रस्य तरङ्गे **व्यक्षरत्** परिस्रवति ।।३।।

भावार्थः– यथा सोमौषधिरसो दशापवित्रात् क्षरित्वा द्रोणकलशे पतति यथा वा चन्द्रिकारसः पवित्रादन्तरिक्षात् क्षरित्वा समुद्रे पतति तथैव परमात्मनः सकाशादागत आनन्दरसः पवित्राद् हृदयात् क्षरित्वाऽन्तरात्मानमागच्छति ।।३।।

---

१. ऋ० ९।३९।२ ।
२. ऋ० ९।३९।४ ।

अगले मन्त्र में ब्रह्मानन्द-रस का प्रवाह वर्णित है ।

पदार्थ– **अयम्** यह हमसे अनुभव किया जाता हुआ **सः** वह प्रसिद्ध ब्रह्मानन्दरस है, **यः** जो **रँघुयामा** शीघ्र गति वाला होता हुआ **दिवः परि** आनन्दमय परमेश्वर के पास से **पवित्रे आ** पवित्र हृदय में आकर **सिन्धोः ऊर्मौ** आत्मारूप समुद्र की तरंग में **व्यक्षरत्** क्षरित हो रहा है ।।३।।

भावार्थ– जैसे सोमौषधि का रस दशापवित्र नामक छन्नी से क्षरित होकर द्रोणकलश में गिरता है, अथवा जैसे चांदनी का रस पवित्र अन्तरिक्ष से क्षरित होकर समुद्र में गिरता है, वैसे ही परमात्मा के पास से आया हुआ आनन्दरस पवित्र हृदय से क्षरित होकर अन्तरात्मा में आता है ।।३।।

अथ ब्रह्मानन्दप्रदाता परमेश्वरो वर्ण्यते ।

३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
९०१. सुत एति पवित्र आ त्विषिं दधान ओजसा । विचक्षाणो विरोचयन् ।।४।।[1]

३ २ ३ १ २ १ २र १ २र १ २र
सुतः एति पवित्रे आ । त्विषिम् दधानः ओजसा ।

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
विचक्षाणः वि चक्षाणः विरोचयन् वि रोचयन् ।।४।।

पदार्थः– **सुतः** परिसुतानन्दरसः एष सोमः परमात्मा **त्विषिम्** दीप्तिम् **दधानः** धारयन् **ओजसा** बलेन **पवित्रे** परिपूते हृदये आत्मनि वा **आ एति** आगच्छति । तदानीं च **विचक्षाणः** विशेषेण अन्तर्दृष्टिं प्रयच्छन् **विरोचयन्** विशेषेण प्रदीपयंश्च भवति ।।४।।

भावार्थः– परमात्मना सख्यं स्थापयन्नुपासको ऽन्तर्दृष्ट्या ब्रह्मतेजसा च युक्तः परमानन्दवान् संजायते।।४।।

अगले मन्त्र में ब्रह्मानन्द-प्रदाता परमेश्वर का वर्णन है ।

पदार्थ– **सुतः** जिसने अपने में से आनन्दरस को प्रवाहित किया है ऐसा यह सोमनामक परमात्मा **त्विषिम्** दीप्ति को **दधानः** धारण करता हुआ **ओजसा** बलपूर्वक **पवित्रे** पवित्र हृदय वा आत्मा में **आ एति** आ रहा है, और **विचक्षाणः** विशेष रूप से अन्तर्दृष्टि को दे रहा है तथा **विरोचयन्** विशेष कान्ति को प्रदान कर रहा है ।।४।।

भावार्थ– परमात्मा के साथ मैत्री स्थापित करता हुआ उपासक अन्तर्दृष्टि तथा ब्रह्मतेज से युक्त होकर परमानन्दमय हो जाता है ।।४।।

अथ पुनः स एव विषयो वर्ण्यते ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २
९०२. आविवासन् परावतो अथो अर्वावतः सुतः । इन्द्राय सिच्यते मधु ।।५।।[2]

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ १ २र ३ १ २ ३ २ १ २र ३ १ २र
आविवासन् आ विवासन् परावतः । अथ उ अर्वावतः सुतः । इन्द्राय सिच्यते मधु ।।५।।

पदार्थः– पवमानः चित्तशोधकः सोमः परमेश्वरः **सुतः** हृदये प्रकटीकृतः सन् **परावतः** पराविद्यायुक्तान् **अथ उ** अथ च **अर्वावतः** अपराविद्यायुक्तान् उपासकान् **आ विवासन्** सम्मानयन् भवति । तस्मात् परमेश्वरादभिषुतम् **मधु** मधुरः आनन्दरसः **इन्द्राय** जीवात्मने **सिच्यते** क्षार्यते ।।५।।

---

१. ऋ० ९।३९।३ ।

२. ऋ० ९।३९।५ ।

भावार्थः— ये स्वात्मानं मधुरेण ब्रह्मानन्दरसेन स्नपयन्ति ते निर्मलान्तःकरणा उपासकाः सर्वथा विमुक्तक्लेशाः सन्तः परमां गतिं प्राप्नुवन्ति ॥५॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— पवमान सोम अर्थात् चित्तशोधक परमेश्वर **सुतः** हृदय में प्रकट होकर **परावतः** पराविद्या के ज्ञानी **अथ उ** और **अर्वावतः** अपरा विद्या के ज्ञानी उपासकों को **आ विवासन्** संमानित करता है । उस परमेश्वर से झरा हुआ **मधु** मधुर आनन्दरस **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए **सिच्यते** सींचा जाता है ॥५॥

भावार्थ— जो अपने आपको मधुर ब्रह्मानन्द- रस से स्नान कराते हैं वे निर्मल अन्तःकरण वाले उपासक सर्वथा क्लेशों से छूटकर परमगति मोक्ष को प्राप्त करते हैं॥५॥

अथ के ब्रह्मानन्दं प्राप्नुवन्तीत्याह ।

९०३. समीचीना अनूषत हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः । इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥६॥[1]

समीचीनाः सम् ईचीनाः अनूषत । हरिम् हिन्वन्ति अद्रिभिः अ द्रिभिः ।
इन्दुम् इन्द्राय पीतये ॥६॥

पदार्थः— ये उपासकाः **समीचीनाः** परस्परं संगताः सन्तः **अनूषत** पवमानं परमात्मानं स्तुवन्ति, अपि च **हरिम्** अज्ञानदुःखादीनां हर्तारं तम् **अद्रिभिः** अखण्डितैः ध्यानैः **हिन्वन्ति** स्वात्मनि वर्धयन्ति । [हि गतौ वृद्धौ च।] ते **इन्दुम्** क्लेदकं ब्रह्मानन्दरसम् **इन्द्राय** स्वजीवात्मने **पातवे** पाययितुं प्रभवन्ति इति शेषः ॥६॥

भावार्थः— ध्यानयोगेन परमात्मानमाराध्य जना ब्रह्मानन्दं प्राप्तुमर्हन्ति ॥६॥

अगले मन्त्र में कौन ब्रह्मानन्द को प्राप्त करते हैं इसका कथन है ।

पदार्थ— जो उपासक लोग **समीचीनाः** परस्पर मिलकर **अनूषत** पवित्रकर्ता परमात्मा की स्तुति करते हैं, और **हरिम्** अज्ञान, दुःख आदि को हरने वाले उसे **अद्रिभिः** अखण्डित ध्यानों से **हिन्वन्ति** अपने अन्दर बढ़ाते हैं, वे **इन्दुम्** सराबोर करने वाले ब्रह्मानन्द-रस को **इन्द्राय** अपने जीवात्मा को **पातवे** पिलाने में समर्थ होते हैं॥६॥

भावार्थ— मनुष्यों को योग्य है कि ध्यानयोग द्वारा परमात्मा की आराधना करके ब्रह्मानन्द को प्राप्त करें॥६॥

॥५॥ अथ 'हिन्वन्ति सूर' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा। **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ परमात्मविषयमाह ।

९०४. हिन्वन्ति सूरमुस्रयः स्वसारो जामयस्पतिम् । महामिन्दुं महीयुवः ॥१॥[2]

हिन्वन्ति सूरम् उस्रयः । स्वसारः जामयः पतिम् । महाम् इन्दुम् महीयुवः ॥१॥

---

१. ऋ० ९।३९।६ 'योनावृतस्य सीदत' इति तृतीयः पादः ।
२. ऋ० ९।६५।१ ।

पदार्थः— **सूरम्** सूर्यम् **उस्रयः** रश्मयः **हिन्वन्ति** प्राप्नुवन्ति, **स्वसारः** सुष्ठु परत्र प्रक्षिप्ताः, विवाहिताः इत्यर्थः **जामयः** भगिन्यः **पतिम्** स्वीयं भर्तारम् **हिन्वन्ति** प्राप्नुवन्ति। तथैव **महीयुवः** पूजाकामाः उपासकाः **महाम्** महान्तम् **इन्दुम्** रसेन क्लेदकम् उपास्यं परमात्मानम् **हिन्वन्ति** प्राप्नुवन्ति ॥ [सुष्ठु अस्यते इति स्वसा। सुपूर्वाद् असु क्षेपणे धातोः 'सावसेर्ऋन्' उ० २।९८ इति ऋन् प्रत्ययः। 'जामये भगिन्यै। जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जामपत्यम्, जमतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो निर्गमनप्राया भवति'। निरु० ३।६। महीयुवः-, मही पूजा, मह पूजायाम्, तां कामयन्ते इति, क्यचि उ प्रत्ययः]॥१॥

अत्राप्रस्तुतयोः उस्रिजाम्योः प्रस्तुतानां च महीयुवां 'हिन्वन्ति' इत्येकक्रियायोगाद् दीपकालङ्कारः। किञ्च 'स्वसारो जामयः' इत्युभयोर्भगिनीवाचकत्वात् पुनरुक्तिप्रतीतेः व्याख्यातदिशा च तत्परिहारात् पुनरुक्तवदाभासोऽपि। 'सूर, सारो' 'महा, मही' इत्यत्र च छेकानुप्रासः ॥१॥

भावार्थः— ये परमात्मानमाप्तुं सर्वात्मना तत्परा जायन्ते तेऽन्ततस्तमाप्नुवन्त्येव ॥१॥

प्रथम ऋचा में परमात्मा का विषय कहते हैं।

पदार्थ— **सूरम्** सूर्य को **उस्रयः** किरणें **हिन्वन्ति** प्राप्त होती हैं, **स्वसारः** विवाहित **जामयः** बहिनें **पतिम्** अपने पति को **हिन्वन्ति** प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार **महीयुवः** पूजा के इच्छुक उपासक **महाम्** महान्, **इन्दुम्** रस से सराबोर करने वाले उपास्य परमात्मा को **हिन्वन्ति** प्राप्त होते हैं ॥१॥

यहां अप्रस्तुत किरणों (उस्रा) और बहिनों (जामयः) का तथा प्रस्तुत पूजेच्छुक उपासकों (महीयुवः) का 'हिन्वन्ति' रूप एक क्रिया से योग होने के कारण दीपक अलंकार है। साथ ही 'स्वसारः' और 'जामयः' दोनों पदों के बहिन वाचक होने के कारण पुनरुक्ति प्रतीत होने से तथा व्याख्यात प्रकार से उसका परिहार हो जाने से पुनरुक्तवदाभास अलंकार भी है। 'सूर, सारो' तथा 'महा, मही' में छेकानुप्रास है ॥१॥

भावार्थ— जो लोग परमात्मा को पाने के लिए सर्वभाव से तत्पर होते हैं वे अन्त में उसे पा ही लेते हैं ॥१॥

अथ पुनरपि परमात्मविषय उच्यते।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २
९०५. **पवमान रुचारुचा देव देवेभ्यः सुतः। विश्वा वसून्या विश ॥२॥**[1]

१२र ३ १२ ३ २ ३ १२र ३१ २ ३ २ १ २र १ २र ३
पवमान रुचारुचा रुचा रुचा। देव देवभ्यः सुतः। विश्वा वसूनि आ विश ॥२॥

पदार्थः— हे **पवमान** चित्तं शोधयन् **देव** मोददायक सर्वप्रकाशक परमात्मन्! **देवेभ्यः** प्रकाशकेभ्यः ज्ञानसाधनेभ्यः मनोबुद्धिचक्षुःश्रोत्रघ्राणत्वग्रसनाभ्यः, तेभ्यः प्रकाशनशक्तिं दातुमित्यर्थः **सुतः** प्रवृत्तः त्वम् **रुचारुचा** अधिकाधिकया प्रकाशनशक्त्या **विश्वा वसूनि** सर्वाणि निवासकानि तानि मनोबुद्ध्यादीनि **आ विश** प्रविश। त्वत्प्रदत्तया ज्ञानप्रदानशक्त्या भूयो भूयोऽनुप्राणितान्येतानि मनोबुद्ध्यादीनि सदैव ज्ञानार्जने जीवात्मनः साधनतां प्रयान्त्वित्यभिप्रायः ॥२॥

---

१. ऋ० ९।६५।२, 'देवो देवेभ्यस्परि' इति द्वितीयः पादः।

भावार्थः— यथा सूर्यप्रकाशेन सर्वे ग्रहोपग्रहाः प्रकाशिता जायन्ते तथैव परमेश्वरेण प्रकाशितानि मनोबुद्धिनेत्रादीनि ज्ञानग्राहकाणि भवन्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा का विषय है ।

पदार्थ— हे **पवमान** चित्त को शुद्ध करने वाले **देव** आनन्ददायक सर्वप्रकाशक परमात्मन् ! **देवेभ्यः** प्रकाशक, ज्ञान की साधन मन, बुद्धि, आंख, कान, नासिका, त्वचा और जिह्वा के लिए अर्थात् उन्हें प्रकाशन-शक्ति देने के लिए **सुतः** प्रवृत्त आप **रुचारुचा** अधिकाधिकप्रकाशन-शक्ति से **विश्वा वसूनि** उन सब निवासक मन, बुद्धि आदियों में **आ विश** प्रविष्ट होवो । भाव यह है कि आपके द्वारा दी गयी ज्ञान-प्रदान-शक्ति से पुनः-पुनः अनुप्राणित ये मन, बुद्धि आदि सदा ही ज्ञान अर्जन करने में जीवात्मा के साधन बने रहें ॥२॥

भावार्थ— जैसे सूर्य के प्रकाश से सब ग्रहोपग्रह प्रकाशित होते हैं, वैसे ही परमेश्वर के द्वारा प्रकाशित मन, बुद्धि, चक्षु आदि ज्ञान के ग्राहक होते हैं ॥२॥

अथ परमेश्वरः प्रार्थ्यते ।

९०६. आ पवमान सुष्टुतिं वृष्टिं देवेभ्यो दुवः ! इषे पवस्व संयतम् ॥३॥[1]

आ पवमान सुष्टुतिम् सु स्तुतिम् । वृष्टिम् देवेभ्यः दुवः ।

इषे पवस्व संयतम् सम् यतम् ॥३॥

पदार्थः— हे **पवमान** चित्तशोधक परमेश्वर ! त्वम् **देवेभ्यः** प्रकाशयुक्तेभ्यः उपासकेभ्यः अस्मभ्यम् **इषे** अभीष्टसिद्धये **सुष्टुतिम्** शोभनस्तुतियुक्ताम्, सुप्रशंसितामित्यर्थः **वृष्टिम्** आनन्दवर्षाम्, **दुवः** परिचर्याभावनां **संयतम्** संयमभावनां च । [संपूर्वात् यम उपरमे धातोः क्विपि रूपम् ।] **आ पवस्व** आगमय॥३॥

भावार्थः— उपासकैः परमेश्वरोपासनया परमानन्दो, दीनानां सेवायां रसो, विषयेभ्यो मनस इन्द्रियाणां च निग्रहः प्राप्यते॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमेश्वरस्य ततः प्राप्यमाणस्य ब्रह्मानन्दस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति॥

अब परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे **पवमान** चित्तशोधक परमेश्वर ! आप **देवेभ्यः** हम प्रकाशयुक्त उपासकों के लिए **इषे** अभीष्टसिद्धि के अर्थ **सुष्टुतिम्** शुभ स्तुतियुक्त अर्थात् सुप्रशंसित **वृष्टिम्** आनन्दवर्षा को, **दुवः** सेवा की भावना को और **संयतम्** संयम की भावना को **आ पवस्व** प्राप्त कराइऐ ॥३॥

भावार्थ— उपासकों को परमेश्वर की उपासना से परम आनन्द, दीनों की सेवा में रस और विषयों से मन तथा इन्द्रियों का निग्रह प्राप्त होता है ॥३॥

---

१. ऋ० ९।६५।३ ।

इस खण्ड में परमेश्वर का तथा उससे प्राप्त होने वाले ब्रह्मानन्द का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

पंचम अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ।

।।६।। अथ 'जनस्य गोपा' इत्यादिकस्य षष्ठस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सुतंभर आत्रेयः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** जगती । **स्वरः** निषादः ।।

तत्रादौ परमेश्वरस्य स्वरूपमाह ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
९०७. **जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे ।**

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ १ २
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्विभाति भरतेभ्यः शुचिः ।।१।।[1]

१ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ १ २ २
जनस्य गोपाः गो पाः अजनिष्ट जागृविः । अग्निः सुदक्षः सु दक्षः सुविताय नव्यसे ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
घृतप्रतीकः घृत प्रतीकः बृहता दिविस्पृशा दिवि स्पृशा।

३ २ ३ १ २ १ २ २
द्युमत् वि भाति भरतेभ्यः शुचिः ।।१।।

पदार्थः— **जागृविः** जागरूकः परमेश्वरः **जनस्य** सर्वेषां जनानाम् **गोपाः** रक्षकः **अजनिष्ट** जातोऽस्ति । **सुदक्षः** सुबलः सः **अग्निः** अग्रणीः परमेश्वरः **नव्यसे** अतिशयेन नवीनाय **सुविताय** भद्रप्राप्तये सहायको जायते। **घृतप्रतीकः** तेजःस्वरूपः। [घृतं तेजोमयं प्रतीकं रूपं यस्य सः । घृ क्षरणदीप्त्योः।] **शुचिः** पवित्रः सः **भरतेभ्यः**[2] धारणाध्यानसमाधिस्थेभ्यो जनेभ्यः। [डुभृञ् धारणपोषणयोः इत्यस्मात् 'भृमृदृशि' उ० ३।११० इत्यनेन अतच् प्रत्ययः।] **दिविस्पृशा** आत्मस्पर्शिना **बृहता** महता तेजसा **द्युमत्** भासमानः सन् **विभाति** शोभते ।।१।।[3]

भावार्थः— तेजःस्वरूपः परमेश्वर उपासकानां रक्षकः सन् तान् दिव्यतेजःप्रदानेन कृतार्थयति ।।१।।

प्रथम ऋचा में परमेश्वर का स्वरूप वर्णित है ।।

पदार्थ—जागृविः जागरूक परमेश्वर **जनस्य** सब मनुष्यों का **गोपाः** रक्षक **अजनिष्ट** बना हुआ है । **सुदक्षः** उत्तम बल वाला वह **अग्निः** अग्रनायक परमेश्वर **नव्यसे** अतिशय नवीन **सुविताय** भद्र-प्राप्ति के लिए सहायक होता है । **घृतप्रतीकः** तेजःस्वरूप, **शुचिः** पवित्र वह **भरतेभ्यः** धारणा, ध्यान, समाधि में स्थित जनों के लिए **दिविस्पृशा** आत्मा को छूने वाले **बृहता** महान् तेज से **द्युमत्** दीप्यमान होता हुआ **वि भाति** शोभित होता है।।१।।

भावार्थ— तेजःस्वरूप परमेश्वर उपासकों का रक्षक होता हुआ उन्हें दिव्य तेज प्रदान करके कृतार्थ करता है ।।१।।

---

१. ऋ० ५।११।१, यजु० १५।२७ ।

२. भरत इति ऋत्विङ्नाम । निघं० ३।१८ । **भरतेभ्यः** धारणपोषणकृद्द्भ्यो मनुष्येभ्यः इति ऋ० ५।११।१ भाष्ये द० ।

३. दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च मन्त्रोऽयं क्रमेण पावकपक्षे विद्युत्पक्षे च व्याख्यातः ।

अथ परमात्मप्राप्तिविषयमाह ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१र २र ३१र २र
९०८. **त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वनेवने ।**
१ २ ३ १ २३ १ २ ३१र २र३ १ २ ३ १ २
स जायसे मथ्यमानः सहो महत्त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः ॥२॥[1]

२ ३ १ २र १ २र ३ २ १२र ३ २ १२र २ १२र १२र ३
त्वाम् अग्ने अङ्गिरसः गुहा हितम् । अनु अविन्दन् शिश्रियाणम् वनेवने वने वने ।
२ ३ १ २ १ २र ३ २ ३ १२र ३ २ ३ २ ३
सः जायसे मथ्यमानः सहः महत् । त्वाम् आहुः सहसः पुत्रम् पु त्रम् अङ्गिरः ॥२॥

पदार्थः— हे **अग्ने** अग्रणीः परमेश्वर ! **गुहा हितम्** गुहायां निहितम्, गुह्यम्, **वने वने** किरणे किरणे । [वनमिति रश्मिनाम । निघं० १।५ ।] जीवे जीवे वा[2] **शिश्रियाणम् श्रयन्तम् ।** [श्रिञ् सेवायाम्, शानच् ।] **त्वाम् अङ्गिरसः** तपस्विनः प्राणायामाभ्यासिनो जनाः **अन्वविन्दन्** प्राप्नुवन्ति । **सः** असौ त्वम् **मथ्यमानः** ध्यायमानः **महत् सहः** उपासकस्य महद् बलम् **जायसे** भवसि । हे **अङ्गिरः** प्राणवत् प्रिय ! **त्वाम्** भवन्तम् **सहसः** बलस्य **पुत्रम्** पुत्तलम् **आहुः** कथयन्ति ॥२॥[3]

भावार्थः— परमेश्वरः पदार्थे पदार्थे विद्यमानोऽपि चर्मचक्षुषाऽदृश्यत्वाद् गुह्यो वर्तते । तपसा ध्यानेनैव च स लभ्योऽस्ति । ध्यानिनो जनास्तस्य महद् बलं तेजश्च साक्षात्कुर्वन्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की प्राप्ति का विषय है ।

पदार्थ— हे **अग्ने** अग्रनायक परमेश्वर ! **गुहा हितम्** गुहा में निहित अर्थात् गुह्य, **वने वने** प्रत्येक किरण में वा प्रत्येक जीव में **शिश्रियाणम्** विद्यमान **त्वाम्** आपको **अङ्गिरसः** तपस्वी प्राणायामाभ्यासी जन **अन्वविन्दन्** प्राप्त कर लेते हैं। **सः** वह आप **मथ्यमानः** ध्यान किये जाते हुए **महत् सहः** उपासक के महान् बल **जायसे** हो जाते हो । हे **अङ्गिरः** प्राणों के समान प्रिय ! **त्वाम्** आपको **सहसः** बल का **पुत्रम्** पुतला **आहुः** कहते हैं ॥२॥

भावार्थ— परमेश्वर प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान होता हुआ भी चर्मचक्षु से दिखायी न देने के कारण गुह्य है । तप और ध्यान से ही वह प्राप्त होने योग्य है । ध्यानी लोग उसके महान् बल और तेज का साक्षात्कार करते हैं ॥२॥

अथ पुनः परमात्मविषयो वर्ण्यते ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र
९०९. **यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितमग्निं नरस्त्रिषधस्थे समिन्धते ।**
१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रेण देवैः सरथं स बर्हिषि सीदन् नि होता यजथाय सुक्रतुः ॥३॥[4]

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
यज्ञस्य केतुम् प्रथमम् पुरोहितम् पुरः हितम् ।
२ १ २र ३ २ ३ २ ३
अग्निम् नरः त्रिषधस्थे त्रि सधस्थे सम् इन्धते ।
१ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
इन्द्रेण देवैः सरथम् स रथम् सः बर्हिषि ।
१२र १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
सीदन् नि होता यजथाय सुक्रतुः सु क्रतुः ॥३॥

---

१. ऋ० ५।११।६, य० १५।२८ ।
२. वने वने जङ्गले जङ्गलेऽग्नाविव जीवे जीवे इति ऋ० ५ ।११।६ भाष्ये द० ।
३. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमृग्भाष्ये परमात्मपक्षे यजुर्भाष्ये च बाह्याभ्यन्तराग्निपक्षे व्याख्यातः ।
४. ऋ० ५।११।२, 'समिन्धते' इत्यत्र 'समीधिरे' इति पाठः ।

पदार्थः— **यज्ञस्य** अध्यात्मयज्ञस्य **केतुम्** ध्वजवत् स्थितम् प्रज्ञापकं वा, **प्रथमम्** मुख्यम्, **पुरोहितम्** सम्मुखे निहितम् **अग्निम्** तेजस्विनं परमेश्वरम् **नरः** उपासकाः मनुष्याः **त्रिषधस्थे** त्रीणि ज्ञानकर्मोपासनानि सह तिष्ठन्ति यत्र तस्मिन् जीवात्मनि **समिन्धते** सम्यक् प्रदीपयन्ति । **इन्द्रेण** जीवात्मना **देवैः** मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियैः सह **सरथम्** समाने देहरथे स्थितः , यद्वा **इन्द्रेण** सूर्येण **देवैः** वायुजलपृथिवीमङ्गलबुधचन्द्रनक्षत्रादिभिः सह **सरथम्** एकस्मिन् ब्रह्माण्डरथे स्थितः **सः** असौ **होता** सुखादीनां दाता, **सुक्रतुः** सुप्रज्ञः सुकर्मा वा अग्निः परमेश्वरः **यजथाय** देहे सर्वेषामिन्द्रियादीनां बहिश्च सर्वेषां सूर्यचन्द्रपृथिव्यादीनां सङ्गमनाय **बर्हिषि** देहयज्ञे ब्रह्माण्डयज्ञे वा **निषीदत्** निषीदति ॥३॥[1]

भावार्थः— स्वान्तरात्मनि महान्तं परमात्माग्निं सम्यक् प्रदीप्योपासनायज्ञोऽनुष्ठातव्यः ॥३॥

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा का ही विषय वर्णित है ।।

पदार्थ— यज्ञस्य अध्यात्म यज्ञ के **केतुम्** ध्वज के समान स्थित अथवा प्रज्ञापक, **प्रथमम्** मुख्य, **पुरोहितम्** सम्मुख निहित **अग्निम्** तेजस्वी परमेश्वर को **नरः** उपासक मनुष्य **त्रिषधस्थे** ज्ञान, कर्म और उपासना ये तीनों जहां एक साथ स्थित होते हैं उस जीवात्मा में **समिन्धते** भली भांति प्रदीप्त करते हैं। **इन्द्रेण** जीवात्मा तथा **देवैः** मन, बुद्धि, प्राण एवं इन्द्रिय रूप देवों के साथ **सरथम्** शरीररूप समान रथ में स्थित, अथवा **इन्द्रेण** सूर्य तथा **दैवैः** वायु, जल, पृथिवी, मंगल, बुध, चन्द्र नक्षत्र आदि देवों के साथ **सरथम्** ब्रह्माण्डरूप समान रथ में स्थित **सः** वह **होता** सुख आदि का दाता, **सुक्रतुः** शुभ प्रज्ञा वाला तथा शुभ कर्मों वाला अग्नि नामक परमेश्वर **यजथाय** देह में सब इन्द्रिय आदि में और बाहर सब सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि में सामंजस्य करने के लिए **बर्हिषि** शरीर-यज्ञ वा ब्रहाण्ड-यज्ञ में **निषीदत्** बैठा हुआ है ॥३॥

भावार्थ— अपने अन्तरात्मा में महान् परमात्मा- रूप अग्नि को भली-भांति प्रदीप्त करके उपासना-यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए ॥३॥

॥७॥ अथ 'अयं वां' इत्यादिकस्य सप्तमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गृत्समदः शौनकः। **देवते** मित्रावरुणौ । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।

तत्रादौ आत्ममनसोर्नृपतिप्रधानमन्त्रिणोश्च विषयमाह ।

९१०. अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोम ऋतावृधा । ममेदिह श्रुतं हवम् ॥१॥[2]

अयम् वाम् मित्रा मि त्रा वरुणा । सुतः सोमः ऋतावृधा ऋत वृधा ।
मम इत् इह श्रुतम् हवम् ॥१॥

पदार्थः— **प्रथमः** आत्ममनःपक्षे । हे **ऋतावृधा** सत्यस्य वर्धकौ **मित्रावरुणा** आत्ममनसी । **वाम्** युवाभ्याम् **अयम्** एषः **सोमः** ज्ञानकर्मरसः **सुतः** अभिषुतः अस्ति । युवाम् **इह** अत्र **मम** मदीयम् **हवम्** उद्बोधनम् **श्रुतम्** शृणुतम् [श्रु श्रवणे भ्वादिः । 'बहुलं छन्दसि' । अ० २।४।७३ इति शपो लुकि 'श्रुवः शृ च' । अ ३।१।७४ इति न प्रवर्तते।] ॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वद्विषये व्याख्यातवान् ।

२. ऋ० २।४१।४ ।

द्वितीयः— नृपतिप्रधानमन्त्रिपक्षे । हे **ऋतावृधा** न्यायस्य वर्धकौ **मित्रावरुणा** नृपतिप्रधानमन्त्रिणौ[1]! **वाम्** युवाभ्याम् **अयम्** एषः **सोमः** राजकरः **सुतः** अर्पितः अस्ति । युवाम् **इह** राष्ट्रे **मम** मदीयम् **हवम्** राष्ट्रोन्नतेः आह्वानम् **श्रुतम्** शृणुतम् ॥१॥[2]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— मनुष्यैः स्वकीये आत्ममनसी उद्बोध्य सर्वविधः समुत्कर्षः साधनीयः । नृपतिप्रधानामात्ययोश्च कर्तव्यमस्ति यत् तौ प्रजाभ्यो राजकरं गृहीत्वा प्रजाहिताय तस्य व्ययं कुर्याताम् ॥१॥

प्रथम ऋचा में आत्मा और मन तथा राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री का विषय कहते हैं।

पदार्थ— प्रथम आत्मा और मन के पक्ष में । हे **ऋतावृधा** सत्य को बढ़ाने वाले **मित्रावरुणा** आत्मा और मन ! **वाम्** तुम दोनों के लिए **अयम्** यह **सोमः** ज्ञान एवं कर्म का रस **सुतः** अभिषुत है । तुम दोनों **इह** यहां **मम** मेरे **हवम्** उद्बोधन को **श्रुतम्** सुनो ॥

द्वितीय राजा और प्रधानमन्त्री के पक्ष में । हे **ऋतावृधा** न्याय को बढ़ाने वाले **मित्रावरुणा** राजा और प्रधानमन्त्री ! **वाम्** तुम दोनों के लिए **अयम्** यह **सोमः** राजकर **सुतः** अर्पित है । तुम दोनों **इह** इस राष्ट्र में **मम** मेरे **हवम्** राष्ट्रोन्नति के आह्वान को **श्रुतम्** सुनो ॥१॥

यहां श्लेषालंकार है ॥१॥

भावार्थ— मनुष्यों को चाहिए कि अपने आत्मा और मन को उद्बोधन देकर सब प्रकार का उत्कर्ष सिद्ध करें । इसीप्रकार राजा और प्रधानमन्त्री का कर्तव्य है कि वे प्रजाओं से राजकर लेकर प्रजा के हित के लिए उसे व्यय करें ॥१॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

९११. राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे । सहस्रस्थूण आशाते ॥२॥[3]

राजानौ अनभिद्रुहा अन् अभिद्रुहा । ध्रुवे सदसि उत्तमे ।
सहस्रस्थूणे सहस्र स्थूणे आशातेइति ॥२॥

पदार्थः— **प्रथमः** आत्ममनःपक्षे । **अनभिद्रुहा** द्रोहरहितौ **राजानौ** राजवद् विद्यमाने आत्ममनसी **ध्रुवे** दृढावयवे, **उत्तमे** सर्वोत्कृष्टे, **सहस्रस्थूणे** अस्थिरूपबहुस्तम्भे **सदसि** देहगृहे **आशाते** आनशाते व्याप्नुतः निवसतः। [अशूङ् व्याप्तौ छन्दसि लुङ्लङ्लिटः । अ० ३।४।६ इति वर्तमाने लिट् । नुडभावश्छान्दसः] ॥

द्वितीयः नृपतिप्रधानमन्त्रिपक्षे । **अनभिद्रुहा** प्रजां प्रति द्रोहरहितौ, **राजानौ** राष्ट्रस्य उच्चपदयोः विराजमानौ नृपतिप्रधानमन्त्रिणौ **ध्रुवे** स्थिरे, **उत्तमे** सर्वोत्कृष्टे, **सहस्रस्थूणे** सहस्रस्तम्भे **सदसि** सभागृहे **आशाते** व्याप्नुतः, आगत्य तिष्ठतः ॥२॥[4]

---

१. मित्रवरुणा प्राणोदानवद् राजप्रधानामात्यौ इति ऋ० ४।३९।५ भाष्ये द० ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् अध्यापकाध्येतृविषये व्याचष्टे ।

३. ऋ० २।४१।५ 'आशाते' इत्यत्र 'आसाते' इति पाठः ।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं राजप्रधानपुरुषविषये व्याख्यातवान् ।

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— यथाऽऽत्ममनसौ मनुष्यस्य जीवनमुन्नयतस्तथैव नृपति प्रधानमन्त्रिणौ राष्ट्रस्य जीवनमुन्नयेताम् ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः वही विषय है ।

पदार्थ— प्रथम आत्मा और मन के पक्ष में । **अनभिद्रुहा** द्रोह न करने वाले, **राजानौ** राजाओं के समान विद्यमान आत्मा और मन **ध्रुवे** दृढ अंगों वाले, **उत्तमे** सर्वोत्कृष्ट, **सहस्रस्थूणे** हड्डीरूप बहुत सारे खम्भों वाले **सदसि** देहरूप घर में **आशाते** निवास करते हैं ॥

द्वितीय राजा और प्रधानमन्त्री के पक्ष में । **अनभिद्रुहा** प्रजा से द्रोह न करने वाले, **राजानौ** राष्ट्र के उच्चपदों पर विराजमान राजा और प्रधानमन्त्री **ध्रुवे** स्थिर, **उत्तमे** सर्वोत्कृष्ट, **सहस्रस्थूणे** हजार खम्भों वाले **सदसि** सभागृह में **आशाते** आकर बैठते हैं ॥२॥

यहां श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ— जैसे आत्मा और मन मनुष्य के जीवन को उन्नत करते हैं, वैसे ही राजा और प्रधानमन्त्री राष्ट्र के जीवन को उन्नत करें ॥२॥

अथ पुनरपि स एव विषय उच्यते ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र३ १ २ १ २ ३ १ २
९१२. **ता सम्राजा घृतासुती आदित्या दानुनस्पती । सचेते अनवह्वरम् ॥३॥**[1]

२ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
ता सम्राजा सम् राजा घृतासुती घृत आसुतीइति ।

३ २ ३ २ १ २र ३र१ २ १ २र३१ २ १ २र ३
आदित्या आ दित्या दानुनः पती इति । सचेतेइति अनवह्वरम् अन् अवह्वरम् ॥३॥

पदार्थः— प्रथमः आत्ममनःपक्षे । **ता** तौ **घृतासुती** तेजःप्रेरकौ । [घृतं तेजः, घृ क्षरणदीप्त्योः ।] **आदित्या** आदित्यौ, ज्ञानेन प्रकाशमानौ **दानुनः पती** दानस्य अधीश्वरौ। [दा धातोः दाभाभ्यां नुः । उ० ३।३२ इति नुः प्रत्ययः ।] **सम्राजा** देहस्य सम्राजौ आत्ममनसौ **अनवह्वरम्** अकुटिलं सरलं मार्गम् । [हवृ कौटिल्ये ।] **सचेते** सेवेताम् । [षच सेवने च भ्वादिः, लेट्] ॥

द्वितीयः नृपतिप्रधानमन्त्रिपक्षे । **ता** तौ **घृतासुती** राष्ट्रे घृतदुग्धादिसेक्तारौ, **आदित्या** ज्ञानप्रकाशेन भासमानौ, **दानुनः पती** दानस्य स्वामिनौ, दानदातारावित्यर्थः, **सम्राजा** सम्राजौ तेजस्विनौ नृपतिप्रधानमन्त्रिणौ **अनवह्वरम्** अकुटिलं व्यवहारम् **सचेते** सेवेताम् ॥३॥[2]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— आत्ममनसोरगाधा शक्तिरन्तर्निहिता। किन्तु ताभ्यां सरल एव पन्था आश्रयणीयो न वक्रः । तथैव नृपतिप्रधानमन्त्रिणावपि सरलेनैव पथा व्यवहरन्तौ राष्ट्रमुन्नेतुं प्रभवतः ॥३॥

---

१. ऋ० २।४१।६ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सूर्यचन्द्रविषये व्याख्यातवान् ।

अगले मन्त्र में फिर वही विषय वर्णित है ।

पदार्थ– **प्रथम** आत्मा और मन के पक्ष में । **ता** वे दोनों **घृतासुती** तेज को प्रेरित करने वाले, **आदित्या** ज्ञान से प्रकाशमान, **दानुनः पती** दान के अधीश्वर , **सम्राजा** देह के सम्राट् आत्मा और मन **अनवह्वरम्** अकुटिल अर्थात् सरल मार्ग को **सचेते** सेवन करें ।।

द्वितीय राजा और प्रधानमन्त्री के पक्ष में । **ता** वे दोनों **घृतासुती** राष्ट्र में घी-दूध आदि को सींचने वाले, **आदित्या** ज्ञान-प्रकाश से भासमान, **दानुनः पती** दान के स्वामी अर्थात् दान के देने वाले **सम्राजा** तेजस्वी राजा और प्रधानमन्त्री **अनवह्वरम्** अकुटिल व्यवहार को **सचेते** सेवन करें ।।३।।

यहां श्लेषालंकार है ।।३।।

भावार्थ– आत्मा और मन में अगाध शक्ति निहित है । किन्तु उन्हें चाहिए कि वे सरल मार्ग का ही आश्रय लें, कुटिल का नहीं । इसीप्रकार राजा और प्रधानमन्त्री भी सरल मार्ग से ही व्यवहार करते हुए राष्ट्र को उन्नत कर सकते हैं।।३।।

।।८।। अथ 'इन्द्रो दधीचो' इत्यादिकस्याष्टमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गोतमो राहूगणः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री ।**स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १७९ क्रमाङ्के जीवात्मपरमात्मविषये व्याख्याता । अत्र जगदीश्वर-कर्मोच्यते।

९१३. इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः जघान नवतीर्नव ।।१।।[1]

इन्द्रः दधीचः अस्थभिः । वृत्राणि अप्रतिष्कुतः अ प्रतिष्कुतः ।
जघान नवतीः नव ।।१।।

पदार्थः– **अप्रतिष्कुतः** केनापि शत्रुणा अप्रतिकृतः **इन्द्रः** शत्रुविदारको जगदीश्वरः **दधीचः** आदित्यस्य । [दधातीति दधिः । आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । अ० ३।२।१७१ इत्यनेन दधातेः किः प्रत्ययः । दधिः धारकः सन् अञ्चति स्वधुरि भ्रमतीति दध्यङ्, तस्य दधीचः आदित्यस्य ।] **अस्थभिः** अस्थितुल्यैः किरणसमूहैः **नवनवतीः** प्रतिशतं नवनवतिम् **वृत्राणि** रोगमालिन्यादीनि **जघान** हन्ति ।।१।।[2]

भावार्थः– अहो, कीदृशं जगदीश्वरस्य महत् कर्म यत् स विशालेन सूर्यरूपेण साधनेन प्रायशः सर्वाण्येव रोगमलादीनि हत्वाऽस्माकं जीवनानि सुरक्षितानि करोति । यदि स मलापहारकं सूर्यं न व्यरचयिष्यत् तर्हि भूमण्डलं नानाव्याधिभिर्निखिलैर्मलैश्च परिपूर्णं सन्निवासयोग्यमपि नाभविष्यत् ।।१।।[3]

---

१. ऋ० १।८४।१३, साम० १७९ , अथ० २०।४१।१ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरस्मिन् मन्त्रे सूर्यदृष्टान्तेन सेनापतिकृत्यं वर्णितवान् ।

३. अस्मिन् मन्त्रे सायणादिभिर्य इतिहासः प्रदर्शितः स पूर्वार्चिके १७९ संख्यकस्य मन्त्रस्य व्याख्यानेऽस्माभिर्निर्दिष्टः । स इतिहास-स्तत्रास्माकं टिप्पण्यश्च तत्रैव द्रष्टव्याः ।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में १७९ क्रमांक पर जीवात्मा और परमात्मा के विषय में व्याख्यात की जा चुकी है। यहां जगदीश्वर का कर्म वर्णित किया जा रहा है।

पदार्थ– **अप्रतिष्कुतः** कोई भी शत्रु जिसका मुकाबला नहीं कर सकता ऐसा **इन्द्रः** शत्रुविदारक जगदीश्वर **दधीचः** लोकों के धारणकर्ता तथा अपनी धुरी पर घूमने वाले सूर्य की **अस्थभिः** अस्थियों के तुल्य किरणों से **नव नवतीः** निन्यानवे प्रतिशत **वृत्राणि** रोग, मलिनता आदियों को **जघान** नष्ट कर देता है ॥१॥

भावार्थ– अहो, कैसा है जगदीश्वर का महान् कर्म कि वह विशाल सूर्यरूप साधन से प्रायः सभी रोग, मल आदि को नष्ट करके हमारे जीवनों को सुरक्षित कर देता है। यदि वह मलों को हरने वाले सूर्य को न रचता तो भूमण्डल अनेक व्याधियों से और सारे मलों से परिपूर्ण होकर निवासयोग्य भी न रहता ॥१॥

अथ पुनर्जगदीश्वरकर्म वर्णयति।

३ १र २र ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
९१४. **इच्छन्नश्वस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपश्रितम्। तद्विदच्छर्यणावति ॥२॥**[1]

३ २ १ २र १२र १२र १२र १२र ३
इच्छन् अश्वस्य यत् शिरः। पर्वतेषु अपश्रितम् अप श्रितम्।
२ ३ १ २
तत् विदत् शर्यणावति ॥२॥

पदार्थः– इन्द्रः जगदीश्वरः **अश्वस्य** अन्तरिक्षे व्याप्तस्य मेघस्य **पर्वतेषु** शैलेषु **अपश्रितम्** पतितम् **यत् शिरः** शीर्णम् उदकम् **इच्छन्** पुनः वाष्पतां नेतुम् वाञ्छन् भवति **तत्** उदकम् सः **शर्यणावति** शर्यणाः नद्यः शृणन्ति कूलानि तद्वान् शर्यणावान् समुद्रः तस्मिन् समुद्रे **विदत्** लभते। यन्मेघोदकं भूमौ पतित्वा नदीभिः समुद्रं गच्छति तज्जगदीश्वरः पुनरपि वाष्पीकृत्यान्तरिक्षं नीत्वा मेघरूपेण परिणमयतीति भावः ॥२॥[2]

भावार्थः– मेघाद् वृष्टिर्वृष्टाज्जलाच्च पुनर्मेघ इति चक्रं जगदीश्वर एव चालयति। यदीदृशी तत्कृता सुव्यवस्था नाभविष्यत् तर्हि भूमण्डलमिदं शुष्कं वृक्षौषधिलतादिविहीनं चावर्तिष्यत ॥२॥

एतन्मन्त्रविषयकः सायणाचार्यप्रोक्त इतिहासस्तत्प्रत्याख्यानं च पूर्वार्चिके १७९ संख्यकमन्त्रस्य भाष्ये द्रष्टव्यम्॥

अगले मन्त्र में पुनः जगदीश्वर का कर्म वर्णित है।

पदार्थ– इन्द्र जगदीश्वर **अश्वस्य** अन्तरिक्ष में व्याप्त बादल के **पर्वतेषु** पहाड़ों पर **अपश्रितम्** गिरे हुए **यत्** जिस **शिरः** जीर्ण-शीर्ण जल को **इच्छन्** फिर से भाप बनाना चाहता है **तत्** उस जल को वह **शर्यणावति** नदियों से युक्त समुद्र में **विदत्** पा लेता है। अभिप्राय यह है कि जो बादल का जल भूमि पर बरस कर नदियों द्वारा समुद्र में चला जाता है उसे फिर वह सूर्य द्वारा भाप बनाकर अन्तरिक्ष में ले जाकर बादल के रूप में परिणत कर देता है ॥२॥

---

१. ऋ० १।८४।१४, अथ० २०।४१।२।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं 'यथा सूर्योऽन्तरिक्षमाश्रितं मेघं छित्त्वा भूमौ निपातयति तथैव पर्वतदुर्गाश्रितमपि शत्रुं हत्वा भूमौ निपातयेत्' इति विषये व्याख्यातवान्।

भावार्थ– बादल से वर्षा और बरसे हुए जल से फिर बादल का निर्माण इस चक्र को जगदीश्वर ही चला रहा है । यदि ऐसी उसकी की हुई सुव्यवस्था न होती तो यह भूमण्डल शुष्क एवं वृक्ष-ओषधि-लता आदि से विहीन हो जाता ।।२।।

इस मन्त्र पर सायणाचार्य द्वारा प्रोक्त इतिहास एवं उसका प्रत्याख्यान पूर्वार्चिक मन्त्र क्रमांक १७९ के भाष्य में देखना चाहिए ।।

तृतीया ऋक् पूर्वार्चिके १४७ क्रमाङ्के सूर्याच्चन्द्रप्रकाशनविषये परमेश्वराद् हृदयप्रकाशनविषये च व्याख्याता । अत्र प्रकारान्तरेण व्याख्यायते ।

२उ ३ १२ ३ २३ १ २ ३क २र ३ २ ३ १ २ ३ २
९१५. अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् । इत्था चन्द्रमसो गृहे ।।३।।[1]

१ २र १ २र ३ १ २र १ २र ३ क २
अत्र अह गोः अमन्वत । नाम त्वष्टुः अपीच्यम् ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
इत्था चन्द्रमसः चन्द्र मसः गृहे ।।३ ।।

पदार्थः– **अत्र ह** अत्र खलु **त्वष्टुः** दीप्तात् सूर्यात् **अपीच्यम्** अपगतं प्रकाशम् । [अप अञ्चतीति अपीचिः, तम् अपीच्यम् । पूर्वरूपाभावश्छान्दसः । ततो यण् ।] **गोः नाम** पृथिव्यां नतम् **अमन्वत** मन्वते जनाः। **इत्था** इत्थम् पृथिवीं मध्ये कृत्वा स प्रकाशः **चन्द्रमसः गृहे** चन्द्रमण्डले पतति, ततः चन्द्रः प्रकाशितो जायते । एष इन्द्रस्य परमेश्वरस्यैव महिमाऽस्ति ।।३।।[2]

भावार्थः– पृथिवी खल्वण्डाकृतिमार्गेण सूर्यं परितो याति, चन्द्रश्च पृथिवीं परिक्राम्यन् पृथिव्या सह सूर्यमपि परिक्रामति । सूर्यचन्द्रयोर्मध्ये पृथिव्या आगमनात् प्रत्यहं चन्द्रमसः सम्पूर्णे गोलार्धे सूर्यप्रकाशो न पतति। चन्द्रस्य यावानंशः पृथिव्या अवरुद्धो जायते तावत्यंशे सूर्यप्रकाशस्यापतनात् सोंऽशस्तमसावृत् एव तिष्ठति । चन्द्रमसः कलानां ह्रासवृद्ध्योरिदमेव रहस्यम् । अमावस्यायां सम्पूर्णस्य चन्द्रस्य पृथिव्या आवृतत्वात् सम्पूर्ण एव चन्द्रोऽन्धकारावृतो भवति, पूर्णिमायां च सम्पूर्णस्य चन्द्रस्य पृथिव्या मुक्तत्वात् सम्पूर्ण एव चन्द्रः प्रकाशितो भवति । इयमेव परमेश्वरकृता व्यवस्था मन्त्रेऽस्मिन् वर्णिता ।।३।।

तृतीय ऋचा पूर्वार्चिक में क्रमांक १४७ पर सूर्य द्वारा चन्द्रमा के प्रकाशित होने के विषय में तथा परमेश्वर द्वारा हृदयों के प्रकाशन के विषय में व्याख्यात की गयी थी। यहां उससे भिन्न व्याख्या दी जा रही है।

पदार्थ– **अत्र ह** यहां **त्वष्टुः** प्रदीप्त सूर्य से **अपीच्यम्** बाहर गये हुए प्रकाश को, लोग **गोः नाम** पृथिवी पर नत हुआ **अमन्वत** जानते हैं। **इत्था** इस प्रकार, पृथिवी को मध्य में करके वह प्रकाश **चन्द्रमसः गृहे** चन्द्रमण्डल में गिरता है, उसी से चन्द्रमा प्रकाशित होता है । यह इन्द्र परमेश्वर की ही महिमा है ।।३।।

भावार्थ– पृथिवी अण्डाकृति मार्ग से सूर्य की परिक्रमा करती है और चन्द्रमा पृथिवी की परिक्रमा करता हुआ पृथिवी के साथ-साथ सूर्य की भी परिक्रमा करता है । सूर्य और चन्द्रमा के बीच में पृथिवी के आ

---

१. ऋ० १।८४।१५, अथ० २०।४१।३, साम० १४७ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं 'यथा सूर्यस्य पृथिव्या सहाकर्षणप्रकाशादिसम्बन्धाः सन्ति तथैवान्यभूगोलैः (चन्द्रलोकादिभिः) सह सन्तीति विषये व्याख्यातवान् ।।

जाने से प्रतिदिन चन्द्रमा के सम्पूर्ण गोलार्ध पर सूर्य का प्रकाश नहीं पड़ता । चन्द्रमा का जितना अंश पृथिवी की ओट में आ जाता है उतने अंश में सूर्य का प्रकाश न पड़ने से वह अंश अन्धकार से आच्छन्न ही रहता है । चन्द्रमा की कलाओं की ह्रास-वृद्धि का यही रहस्य है । अमावस्या को सम्पूर्ण चन्द्र के पृथिवी से ढक जाने के कारण पूरा ही चन्द्रमा अन्धकार से आवृत रहता है और पूर्णिमा को सम्पूर्ण चन्द्रमा के पृथिवी से छूटे रहने के कारण सम्पूर्ण ही चन्द्रमा प्रकाशित रहता है । यही परमेश्वर द्वारा की हुई व्यवस्था इस मन्त्र में वर्णित हुई है।।३।।

।।९।। अथ 'इयं वामस्य' इत्यादिकस्य नवमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवते** इन्द्राग्नी । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ परमेश्वरस्तुतिविषयमाह ।

३ १ २ ३ १र २र३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
९१६. **इयं वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी पूर्व्यस्तुतिः । अभ्राद् वृष्टिरिवाजनि ।।१।।**[1]

३ २ ३ २ १ २र १ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
इयम् वाम् अस्य मन्मनः । इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति पूर्व्यस्तुतिः पूर्व्य स्तुतिः ।

२ ३ २ ३
अभ्रात् वृष्टिः इव अजनि ।।१।।

पदार्थः— हे **इन्द्राग्नी** आत्ममनसी ! **मन्मनः** मन्तुः **अस्य** परमेश्वरस्य **इयम्** एषा **वाम्** युवयोः, युष्मत्कृता इत्यर्थः **पूर्व्यस्तुतिः** पूर्व्या श्रेष्ठा स्तुतिः **अभ्रात्** मेघात् **वृष्टिः इव** वर्षा इव **अजनि** जाताऽस्ति ।।१।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः— यथा मेघाद् वृष्टा वारिधारा भुवमार्द्रां करोति तथैवात्ममनःकृता स्तुतिः परमेश्वरमार्द्रयति । आर्द्रा भूर्यथा वृक्षवनस्पत्यादीन् प्रसूते तथा ऽऽर्द्रितः परमेश्वरः स्तोतुर्हृदये सद्गुणान् प्रसूते ।।१।।

प्रथम मन्त्र में परमेश्वर की स्तुति का विषय है ।

पदार्थ— हे **इन्द्राग्नी** आत्मा और मन ! **मन्मनः** ज्ञानी **अस्य** इस परमेश्वर की **इयम्** यह **वाम्** तुम्हारे द्वारा की गयी **पूर्व्यस्तुतिः** श्रेष्ठ स्तुति **अभ्रात्** बादल से **वृष्टिः इव** वर्षा के समान **अजनि** हुई है ।।१।।

यहां उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ— जैसे बादल से बरसी हुई जलधारा भूमि को आर्द्र करती है, वैसे ही आत्मा और मन से की गयी स्तुति परमेश्वर को आर्द्र (स्नेहयुक्त) करती है । आर्द्र भूमि जैसे वृक्ष, वनस्पति आदियों को उत्पन्न करती है, वैसे ही आर्द्र किया गया परमेश्वर स्तोता के हृदय में सद्गुणों को उत्पन्न करता है ।।१।।

अथात्ममनसी प्रोद्बोध्येते ।

३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
९१७. **शृणुतं जरितुर्हवमिन्द्राग्नी वनतं गिरः । ईशाना पिप्यतं धियः ।।२।।**[2]

२ ३ २ १ २र १ २र १ २र ३ १ २ १ २र १ २र
शृणुतम् जरितुः हवम् । इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति वनतम् गिरः ।

३ २ ३ १ २र
ईशाना पिप्यतम् धियः ।।२।।

---

१. ऋ० ७।९४।१ ।

२. ऋ० ७।९४।२ ।

पदार्थः– हे **इन्द्राग्नी** आत्ममनसी ! युवाम् **जरितुः** प्रशंसकस्य **हवम्** उद्बोधनम् **शृणुतम्** आकर्णयतम् । **गिरः** स्तुतिवाचः **वनतम्** उच्चारयतम् । [वन शब्दे संभक्तौ च ।] **ईशाना** ईशानौ, देहस्य अधिष्ठातारौ युवाम् **धियः** प्रज्ञाः कर्माणि च **पिप्यतम्** वर्धयतम् ।। [ओप्यायी वृद्धौ धातोर्लोटि प्यायः पीभावश्छान्दसः] ।।२।।

अत्रैकेन कर्तृकारकेणानेकक्रियायोगाद् दीपकालङ्कारः ।।२।।

भावार्थः– मनुष्येणात्ममनसी उपयुज्य परमेश्वरोपासना ज्ञानार्जनं सत्कर्माणि च कार्याणि ।।२।।

अगले मन्त्र में आत्मा और मन को उद्बोधन देते हैं ।।

पदार्थ– हे **इन्द्राग्नी** आत्मा और मन ! तुम दोनों **जरितुः** प्रशंसक के **हवम्** उद्बोधन को **शृणुतम्** सुनो। **गिरः** स्तुतिवाणियों को **वनतम्** उच्चारित करो । **ईशाना** देह के अधिष्ठाता तुम दोनों **धियः** ज्ञानों और कर्मों को **पिप्यतम्** बढ़ाओ ।।२।।

यहां एक कर्त्ता-कारक से अनेक क्रियाओं का योग होने से दीपक अलंकार है ।।२।।

भावार्थ– मनुष्य को चाहिए कि आत्मा और मन का उपयोग करके परमेश्वर की उपासना, ज्ञान का संग्रह तथा सत्कर्म करे ।।२।।

अथात्ममनसी प्रार्थयते ।

१ २ ३ १ २ ३१ २ ३ १र २र १ २ ३ २
९१८. **मा पापत्वाय नो नरेन्द्राग्नी माभिशस्तये । मा नो रीरधतं निदे ।।३।।**[1]

२ ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३
मा पापत्वाय नः नरा । इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति मा अभिशस्तये अभि शस्तये ।

२ ३ २
मा नः रीरधतम् निदे ।।३।।

पदार्थः– हे **इन्द्राग्नी** आत्ममनसी ! **नरा** नरौ नेतारौ युवाम् **मा** नैव **पापत्वाय** पापकर्मणे, **मा** नैव **अभिशस्तये** हिंसायै, **मा** नैव च **नः** अस्मान् **निदे** निन्दकाय **रीरधतम्** वशे कुरुतम् । [रध हिंसासंराध्योः, दिवादिः, ण्यन्ताल्लुङि रूपम् । 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इत्यडभावः] ।।३।।

भावार्थः– आत्ममनसी उद्बोध्य मनुष्यैः पापहिंसानिन्दादिभ्यो मुक्तिः प्राप्तव्या ।।३।।

आस्मिन् खण्डे परमेश्वरस्वरूपस्य, परमेश्वरस्तुतेः, परमात्मप्राप्तेः, आत्ममनसोः, प्रसङ्गतश्च नृपति-प्रधानमन्त्रिणोर्विषयवर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ।।

आगे आत्मा और मन से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ– हे **इन्द्राग्नी** आत्मा और मन ! **नरा** नेतृत्व करने वाले तुम दोनों **मा** न तो **पापत्वाय** पाप कर्म के, **मा** न **अभिशस्तये** हिंसा के, और **मा** न ही **नः** हमें **निदे** निन्दक के **रीरधतम्** वश में करो ।।३।।

भावार्थ– मनुष्यो को चाहिए कि आत्मा और मन को उद्बोधन देकर पाप, हिंसा, निन्दा आदि से मुक्ति पायें ।।३।।

---

१. ऋ० ७।९४।३ ।

इस खण्ड में परमेश्वर के स्वरूप, परमेश्वर-स्तुति, परमात्म-प्राप्ति, आत्मा-मन तथा प्रसंगतः राजा और प्रधानमन्त्री का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ।।

पञ्चम अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ।

।।१०।। अथ 'पवस्व' इत्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** दृढच्युत आगस्त्यः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४७४ क्रमाङ्के ब्रह्मणः सकाशादानन्दरसप्रवहणविषये व्याख्याता । अत्र गुरु-शिष्यविषयो वर्ण्यते ।।

१ २ ३ १ २ ३१ २ ३१२ ३१ २ ३२३ १ २
९१९. **पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे । मरुद्भ्यो वायवे मदः ।।१।।**[1]

१२र ३ १ २ ३ १२र ३१ २ ३१२३ १ २ ३१२ १२र
पवस्व दक्षसाधनः दक्ष साधनः । देवेभ्यः पीतये हरे । मरुद्भ्यः वायवे मदः ।।१।।

पदार्थः— हे **हरे** दोषहर्तः आचार्य ! **दक्षसाधनः** सच्चारित्र्यविद्याब्रह्मचर्यादिबलानां साधयिता त्वम् **देवेभ्यः पीतये** दिव्यगुणयुक्तानां शिष्याणां पानाय **पवस्व** ज्ञानरसं प्रवाहय । किञ्च **मरुद्भ्यः** तेषां प्राणायामसाधकानां शिष्याणां **वायवे** प्रगतये **मदः** उत्साहकरः, भवेति शेषः । [देवेभ्यः मरुद्भ्यः इत्युभयत्र 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्' वा० २।३।६२ इति वार्तिकेन षष्ठ्यर्थे चतुर्थी] ।।१।।

भावार्थः— आचार्येण शिष्याणां कृते यद्यदावश्यकं तत्तत् सर्वं कर्तव्यं येन ते विद्यापारंगताः सच्चरित्रा ब्रह्मचारिणः प्रगतिशीलाः कर्मयोगिनश्च भवेयुः ।।१।।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में क्रमांक ४७४ पर ब्रह्म के पास से आनन्दरस-प्रवाह के विषय में व्याख्या हो चुकी है । यहां गुरु-शिष्य का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ— हे **हरे** दोषों को हरने वाले आचार्य ! **दक्षसाधनः** विद्या, सच्चरित्रता, ब्रह्मचर्य आदि बलों को सिद्ध करने वाले आप **देवेभ्यः पीतये** दिव्यगुणी शिष्यों के पान के लिए **पवस्व** ज्ञानरस प्रवाहित करो और **मरुद्भ्यः** उन प्राणायाम के साधक शिष्यों की **वायवे** प्रगति के लिए **मदः** उत्साहकारी होवो ।।१।।

भावार्थ— आचार्य को चाहिए कि शिष्यों के लिए जो-जो आवश्यक हो वह-वह सब करे, जिससे वे विद्या में पारंगत, सच्चरित्र, ब्रह्मचारी, प्रगतिशील और कर्मयोगी होवें ।।१।।

अथ पुनरपि गुरुशिष्यविषयमाह ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३१ २ ३ २ १ २ ३ १ २
९२०. **सं देवैः शोभते वृषा कविर्योनावधि प्रियः । पवमानो अदाभ्यः ।।२।।**[2]

२ ३ २ ३ १२र ३ २ १२र १२र ३ २ १२र ३ १२र ३
सम् देवैः शोभते वृषा । कविः योनौ अधि प्रियः । पवमानः अदाभ्यः अ दाभ्यः ।।२।।

---

१. ऋ० ९।२५।१, साम० ४७४ ।

२. ऋ० ९।२५।३, 'वृत्रहा देववीतमः' इति तृतीयः पादः।

पदार्थः— **वृषा** ज्ञानवर्षकः, **कविः** मेधावी, **प्रियः** शिष्याणां वत्सलः, **अदाभ्यः** दब्धुं वञ्चयितुमशक्यः **पवमानः** पवित्रयिता आचार्यः **योनौ अधि** गृहे, गुरुकुले इत्यर्थः । [योनिरिति गृहनाम । निघं० १।१२ ।] **देवैः** दिव्यगुणयुक्तैः शिष्यैः सह **सं शोभते** संविभाति ।।२।।

भावार्थः— सुयोग्या गुरवः सुयोग्याः शिष्याश्च परस्परं मिलित्वाऽतितरां शोभन्ते ।।२।।

आगे फिर गुरु-शिष्य का ही विषय है ।

पदार्थ— **वृषा** ज्ञान की वर्षा करने वाला, **कविः** मेधावी, **प्रियः** शिष्यों से प्रीति रखने वाला, **अदाभ्यः** ठगा न जा सकने वाला **पवमानः** पवित्रतादायक आचार्य **यौनौ अधि** गुरुकुलरुप घर में **देवैः** दिव्यगुणी शिष्यों के साथ **सं शोभते** भली-भांति शोभा पाता है ।।२।।

भावार्थ— सुयोग्य गुरु और सुयोग्य शिष्य आपस में मिलकर बहुत अधिक शोभा पाते हैं ।।२।।

अथ पुनस्तमेव विषयं वर्णयति ।

९२१ . पवमान धिया हितो३ऽभि योनिं कनिक्रदत् । धर्मणा वायुमारुहः ।।३।।[1]

पवमान धिया हितः । अभि योनिम् कनिक्रदत् । धर्मणा वायुम् आ अरुहः ।३।।

पदार्थः— हे **पवमान** चित्तशोधक आचार्य ! **धिया** प्रज्ञया कर्मणा च **हितः** शिष्याणां हितकरः **त्वम् योनिम् अभि** यमनियमादीनामाश्रयभूतं शिष्यवर्गं प्रति **कनिक्रदत्** शास्त्राणि उपदिशन् **धर्मणा** धर्मेण वायुम् प्रगतिशीलं शिष्यवर्गम् **आरुहः** परमोत्कर्षसोपानम् आरोहयसि । [आङ्पूर्वाद् रुहेर्णिजभ्यर्ल्लडर्थे लङि रूपम्]।।३।।

भावार्थः— आचार्यो विद्यादिदानेन शिष्याणां महदुपकरोतीति स शिष्यैर्मनसा वाचा कर्मणा च सम्माननीयः, परेभ्यो विद्यादिदानेन च तदीयमृणं प्रतियातनीयम् ।।३।।

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— हे **पवमान** चित्तशोधक आचार्य ! **धिया** प्रज्ञा और कर्म से **हितः** शिष्यों के हितकारी आप **योनिम् अभि** यम-नियम आदियों के आश्रय शिष्यवर्ग के प्रति **कनिक्रदत्** शास्त्रों का उपदेश करते हुए **धर्मणा** धर्म से **वायुम्** प्रगतिशील शिष्यवर्ग को **आरुहः** परम उन्नति की सीढ़ी पर चढ़ा देते हो ।।३।।

भावार्थ— आचार्य विद्या आदि के दान से शिष्यों का बहुत उपकार करते हैं, अतः शिष्यों को चाहिए कि मन, वचन, कर्म से उनका सम्मान करें और दूसरों को विद्या आदि देकर उनका ऋण चुकायें ।।३।।

।।११।। अथ 'तवाहं सोम' इत्यादिकस्यैकादशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषयः** सप्तर्षयः (१ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः, २ कश्यपो मारीचः, ३ गोतमो राहूगणः, ४ अत्रिर्भौमः, ५ विश्वामित्रो गाथिनः , ६ जमदग्निर्भार्गवः, ७ वसिष्ठो मैत्रावरुणिः) । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः , २ पञ्चमः ।।

---

१. ऋ० ९।२५।२, 'धर्मणा वायुमा विश' इति तृतीयः पादः ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५१६ क्रमाङ्के उपास्योपासकविषये व्याख्याता । अत्र गुरुशिष्यविषयो वर्ण्यते।

२ ३१ २ ३ १ २ ३१ २
९२२. तवाहं सोम रारण सख्य इन्दो दिवेदिवे ।

३१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ु ३ १ २
पुरूणि बभ्रो नि चरन्ति मामव परिधीँ रति ताँ इहि ॥१॥[1]

१२र ३२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३२ ३
तव अहम् सोम रारण । सख्ये स ख्ये इन्दो दिवेदिवे दिवे दिवे ।

१ २ ३ २ ३ २ १२र ३ २ ३ २ १२र ३
पुरूणि बभ्रो नि चरन्ति माम् अव । परिधीन् परि धीन् अति तान् इहि ॥१॥

पदार्थः— हे **इन्दो** विद्यारसेन क्लेदयितः, तेजस्विन् **सोम** विद्यारसागार आचार्य ! **अहम्** शिष्यः **तव सख्ये** त्वदीये सखित्वे **दिवे-दिवे** दिने दिने **रारण** वेदशास्त्राणि उच्चारयामि । [रण शब्दे, लडर्थे लिट् । उत्तमैकवचने ररण इति प्राप्तेऽभ्यासदीर्घश्छान्दसः ।] हे **बभ्रो** सर्वेषां शिष्याणां भरणपोषणकर्तः आचार्य ! **पुरूणि** बहूनि दोषजातानि **माम्** शिष्यम् **नि अव चरन्ति** बाधन्ते, **परिधीन् तान्** परिवारकान् तान् दोषान् **अति इहि** अतिक्रमस्व, विनाशय ॥१॥

भावार्थः— गुरूणामिदं कर्त्तव्यं यत्ते शिष्येषु प्रादुर्भूतान् सर्वान् दोषान् दूरीकृत्य तान् निर्मलचरित्रान् विदुषश्च कुर्युः ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ५१६ क्रमांक पर उपास्य-उपासक विषय में व्याख्या हो चुकी है । यहां गुरु-शिष्य का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे **इन्दो** विद्यारस से सराबोर करनेवाले, तेजस्वी **सोम** विद्यारस के भण्डार आचार्य ! **अहम्** मैं शिष्य **तव सख्ये** आपकी मैत्री में **दिवे-दिवे** प्रतिदिन **रारण** वेदादि शास्त्रों का उच्चारण करता हूं । हे **बभ्रो** सब शिष्यों का भरण-पोषण करने वाले आचार्य ! **पुरूणि** बहुत से दोष **माम्** मुझ शिष्य को **नि अव चरन्ति** कष्ट दे रहे हैं, **परिधीन् तान्** चारों ओर से घेरने वाले उन दोषों को **अति इहि** दूर कर दीजिए ॥१॥

भावार्थ— गुरुओं का यह कर्त्तव्य है कि वे शिष्यों में उत्पन्न हुए दोषों को दूर करके उन्हें निर्मल चरित्र वाला और विद्वान् बनायें ॥१॥

आचार्यसाहाय्येन दोषान् दूरीकृत्य सम्प्रति परमात्मानगाह ।

२ ३१र २र ३१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
९२३. तवाहं नक्तमुत सोम ते दिवा दुहानो बभ्र ऊधनि ।

३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
घृणा तपन्तमति सूर्यं परः शकुना इव पप्तिम ॥२॥[2]

१२र ३२ १ २र ३ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २र
तव अहम् नक्तम् उत सोम ते दिवा । दुहानः बभ्रो ऊधनि ।

३ २ १२र १ २र १२र ३ २ ३ २ ३
घृणा तपन्तम् अति सूर्यम् परः । शकुनाः इव पप्तिम ॥२॥

---

१. ऋ० ९।१०७।१९ । साम० ५१६ ।

२. ऋ० ९।१०७।२०, 'तवाहं' 'दुहानो' इत्यत्र क्रमेण 'उताहं' 'सख्याय' इति पाठः ।

पदार्थः— हे **बभ्रो** भरणपोषणकर्तः **सोम** आनन्दरसागार परमेश्वर ! **तव** त्वदीयः **अहम्** उपासकः **ते** तव **ऊधनि** आनन्दरसकोशात् । [पञ्चम्यर्थे सप्तमी ।] **नक्तम्** रात्रौ **उत** अपि च **दिवा** दिवसे **दुहानः** आनन्दरसम् आददानः अस्मि । किञ्च, **घृणा** तेजसा । [घृणिः इति ज्वलतो नामधेयम् । निरु० १।१७ । तृतीयैकवचने 'सुपां सुलुक्०' इति विभक्तेर्डादेशः ।] **तपन्तम्** ज्वलन्तम् **सूर्यम्** आदित्यम् अपि **अति** अतिक्रम्य, सूर्यादप्यधिकतरं तेजस्विनः सन्तः इत्यर्थः **शकुनाः इव** पक्षिणः इव **परः** भौतिकाज्जगतः परस्तात् विद्यमानं परमात्मानं त्वां प्रति **पप्तिम** वयं पतामः । [पत्लृ धातोर्लडर्थे लिटि 'तनिपत्योश्छन्दसि' । अ० ६।४।९९ इत्युपधालोपः] ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— मनुष्यस्तेजस्वी तपस्वी च भूत्वा परात्मानं साक्षात्कृत्य तस्यानन्दरसमास्वाद्य मोक्षपदं लभेत॥२॥

आचार्य की सहायता से दोषों को दूर करके अब परमात्मा से निवेदन करते हैं।

पदार्थ— हे **बभ्रो** भरण-पोषण करने वाले **सोम** आनन्दरसागार परमेश्वर ! **तव** तेरा **अहम्** मैं उपासक **ते** तेरे **ऊधनि** आनन्दरस के कोश में से **नक्तम्** रात्रि को **उत** और **दिवा** दिन में भी **दुहानः** आनन्दरस को दुह रहा हूं। और **घृणा** तेज से **तपन्तम्** तपते हुए **सूर्यम्** सूर्य को भी **अति** अतिक्रान्त करके अर्थात् सूर्य से भी अधिक तेजस्वी होते हुए हम **शकुनाः इव** पक्षियों के समान **परः** भौतिक जगत् से परे विद्यमान तुझ परमात्मा की ओर **पप्तिम** उड़ रहे हैं ॥२॥

यहां उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— मनुष्य को चाहिए कि वह तेजस्वी और तपस्वी होकर परमात्मा का साक्षात्कार करके उसके आनन्द-रस का आस्वाद लेकर मोक्ष पद को पाये ॥२॥

॥१२॥ अथ 'पुनानो' इत्यादिकस्य द्वादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** बृहन्मतिराङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमाया ऋचः परमात्मविषयोऽर्थः पूर्वार्चिके ४८८ क्रमाङ्के द्रष्टव्यः । अत्राचार्यशिष्यविषयो वर्ण्यते ।

९२४. **पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणिः ।**
शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः ॥१॥[1]

पुनानः अक्रमीत् अभि । विश्वाः मृधः विचर्षणिः वि चर्षणिः ।
शुम्भन्ति विप्रम् वि प्रम् धीतिभिः ॥१॥

पदार्थः— **पुनानः** मनांसि शोधयन् **विचर्षणिः** सर्वशास्त्रपारदृश्वा सोमः आचार्यः **विश्वाः मृधः** शिष्याणां सर्वा हिंसावृत्तीः **अभि अक्रमीत्** अभ्याक्रामति, विनाशयति । तम् **विप्रम्** मेधाविनं ब्राह्मणम् आचार्यम् शिष्याः **धीतिभिः** शिष्योचितकर्मभिः **शुम्भन्ति** शोभयन्ति, तदुक्तानि कर्माण्याचरन्तस्तद्गौरवं वर्द्धयन्तीत्यर्थः ॥१॥

---

१. ऋ० ९।४०।१, साम० ४८८ ।

भावार्थः— यथाचार्यः शिष्याणां दोषान् परिमृज्य तान् निष्कलुषान् विधत्ते तथैव शिष्यैरप्याचार्यस्यादेशं शिरसि धारयित्वा स प्रसादनीयः ॥१॥

प्रथम ऋचा का परमात्मा विषयक अर्थ पूर्वार्चिक में ४८८ क्रमांक पर देखना चाहिए । यहां आचार्य-शिष्य का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— पुनानः मनों को शुद्ध करता हुआ **विचर्षणिः** सब शास्त्रों का पार-द्रष्टा सोम आचार्य, शिष्यों की **विश्वाः मृधः** सब हिंसावृत्तियों को **अभि अक्रमीत्** विनष्ट कर देता है । उस **विप्रम्** मेधावी ब्राह्मण आचार्य को, शिष्यगण **धीतिभिः** शिष्यों के योग्य कर्मों द्वारा **शुम्भन्ति** शोभित करते हैं, अर्थात् उससे बताये हुए कर्मों को करते हुए उसके गौरव को बढ़ाते हैं ॥१॥

भावार्थ— जैसे आचार्य शिष्यों के दोषों का परिमार्जन करके उन्हें निष्पाप करता है, वैसे ही शिष्यों को भी चाहिए कि वे आचार्य के आदेश को शिरोधार्य करके उसे प्रसन्न करें ॥१॥

अथ ब्रह्मानन्दविषयं गुरुशिष्यविषयं च वर्णयति ।

१र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३१र २र
९२५. **आ योनिमरुणो रुहद्गमदिन्द्रो वृषा सुतम् । ध्रुवे सदसि सीदतु ॥२॥**[1]

२ १ २र ३ २ ३ १ २र १ २र १ २र ३ २ ३ २ १ २र ३
आ योनिम् अरुणः रुहत् । गमत् इन्द्रः वृषा सुतम् । ध्रुवे सदसि सीदतु ॥२॥

पदार्थः— प्रथमः ब्रह्मानन्दपक्षे । **अरुणः** आरोचमानः ब्रह्मानन्दसोमः **योनिम्** हृदयगृहम् **आ रुहत्** आरोहति । **वृषा** बलवान् **इन्द्रः** अन्तरात्मा **सुतम्** अभिषुतं ब्रह्मानन्दरूपं सोमरसम् **गमत्** प्राप्नोति । वयं कामयामहे यत् स ब्रह्मानन्दः **ध्रुवे सदसि** अविचले आत्मसदने **सीदतु** उपविशतु, तदङ्गतां गच्छत्वित्यर्थः ॥२॥

द्वितीयः गुरुशिष्यविषये । **अरुणः** आरोचमानः विद्यार्थी **योनिम्** गुरुगृहम् **आ रुहत्** आरोहति, प्रविशतीत्यर्थः । **वृषा** विद्यावर्षकः **इन्द्रः** आचार्यः **सुतम्** पुत्रतुल्यं तं विद्यार्थिनम् **गमत्** अभिनन्दितुं गच्छति । स विद्यार्थी **ध्रुवे** स्थिरे **सदसि** विद्यागृहे **सीदतु** निवसतु, आविद्यासमाप्तिं तत्र निश्चिन्ततया तिष्ठत्वित्यर्थः ॥२॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— यथा मनुष्यस्यात्मा ब्रह्मानन्दपानेन कृतार्थो जायेत तथा गुरुकुलं प्रविष्टो विद्यार्थी विद्यासु पारं गत्वा कृतकृत्यो भवेत् ॥२॥

अगले मन्त्र में ब्रह्मानन्द का विषय तथा गुरु-शिष्यों का विषय वर्णित है ।।

पदार्थ— प्रथम ब्रह्मानन्द के पक्ष में । **अरुणः** ज्योतिर्मय ब्रह्मानन्दरूप सोम **योनिम्** हृदयरूप गृह में **आ रुहत्** आरूढ़ होता है । **वृषा** बलवान् **इन्द्रः** अन्तरात्मा **सुतम्** अभिषुत ब्रह्मानन्दरूप सोमरस को **गमत्** प्राप्त करता है । हम चाहते हैं कि वह ब्रह्मानन्द **ध्रुवे सदसि** अविचल आत्मारूप सदन में **सीदतु** स्थित हो जाए, अर्थात् उसका अंग बन जाए ॥२॥

---

१. ऋ० ९।४०।२ 'गमदिन्द्रं वृषा सुतः । ध्रुवे सदसि सीदति' इति पाठः ।

द्वितीय गुरु-शिष्य के विषय में । **अरुणः** तेज से चमकता हुआ विद्यार्थी **योनिम्** गुरुकुल में **आ रुहत्** प्रविष्ट होता है । **वृषा** विद्या की वर्षा करने वाला **इन्द्रः** आचार्य **सुतम्** पुत्रतुल्य उस विद्यार्थी के पास **गमत्** उसका अभिनन्दन करने के लिए जाता है । वह विद्यार्थी **ध्रुवे** स्थिर **सदसि** विद्यागृह में **सीदतु** निवास करे, अर्थात् जब तक विद्या पूर्ण न हो जाए तब तक निश्चिन्त होकर वहां रहे ।।२।।

भावार्थ– जैसे मनुष्य का आत्मा ब्रह्मानन्द-रस के पाने से कृतार्थ हो, वैसे ही गुरुकुल में प्रविष्ट विद्यार्थी विद्याओं में पारंगत होकर कृतकृत्य हो ।।२।।

यहाँ श्लेषालंकार है ।

अथ परमात्मानमाचार्यं च प्रार्थयते ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
९२६. नू नो रयिं महामिन्दोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः । आ पवस्व सहस्रिणम् ।।३।।[1]

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
नु नः रयिम् महाम् इन्दो । अस्मभ्यम् सोम विश्वतः । आ पवस्व सहस्रिणम् ।।३।।

पदार्थः– हे **इन्दो** तेजस्विन्, आनन्दरसेन विद्यारसेन वा क्लेदयितः **सोम** शुभगुणप्रेरक परमात्मन् आचार्य वा ! त्वम् **नु** निश्चयेन **अस्मभ्यम्** नः **विश्वतः** सर्वतः **महाम्** महान्तम् **सहस्रिणम्** सहस्रसंख्यावन्तम् **रयिम्** धनधान्यविद्यारोग्यसच्चारित्र्यन्यायदयादिकम् ऐश्वर्यम् **आ पवस्व** आ गमय ।।३।।

भावार्थः– परमात्मकृपयाऽऽचार्यस्य च प्रयत्नेन मनुष्याः सर्वामप्याध्यात्मिकीं भौतिकीं च सम्पदं प्राप्तुं शक्नुवन्ति ।।३।।

अस्मिन् खण्डे गुरुशिष्यविषयस्य परमात्मविषयस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन सह संगतिरस्ति।।

अगले मन्त्र में परमात्मा और आचार्य से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ– हे **इन्दो** तेजस्वी तथा आनन्दरस वा विद्यारस से आर्द्र करने वाले **सोम** शुभगुणप्रेरक परमात्मन् वा आचार्य ! आप **नु** निश्चय से **अस्मभ्यम्** हमारे लिए **विश्वतः** सब ओर से **महाम्** महान्, **सहस्रिणम्** हजार की संख्या वाले **रयिम्** धन, धान्य, विद्या, आरोग्य, सच्चरित्रता, न्याय, दया आदि ऐश्वर्य को **आ पवस्व** प्राप्त कराओ ।।३।।

भावार्थ– परमात्मा की कृपा से और आचार्य के प्रयत्न से मनुष्य सभी आध्यात्मिक और भौतिक सम्पत्ति को प्राप्त कर सकते हैं।।३।।

इस खण्ड में गुरुशिष्य के विषय तथा परमात्मा के विषय का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

पंचम अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ।

।।१३।। अथ 'पिबा सोम' इत्यादिकस्य त्रयोदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवता इन्द्रः** । **छन्दः** विराडनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ।।

---

१. ऋ० ९।४०।३ ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३९८ क्रमांके सेनापतिपक्षे राजपक्षे जीवात्मपक्षे च व्याख्याता । अत्र परमात्मा सम्बोध्यते ।

९२७. पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः ।
सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा ॥१॥[1]

पिब सोमम् इन्द्र मन्दतु त्वा। यम् ते सुषाव हर्यश्व हरि अश्व अद्रि अ द्रिः ।
सोतुः बाहुभ्याम् सुयतः सु यतः न अर्वा ॥१॥

पदार्थः— हे **हर्यश्व** हरयः आकर्षणयुक्ताः अश्वाः व्याप्ताः सूर्यचन्द्रपृथिव्यादयो लोका यस्य तादृश **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! त्वम् **सोमम्** मदीयं भक्तिरसम् **पिब** आस्वादय, स्वीकुरु इति भावः । स सोमः मदीयः भक्तिरसः **त्वा** त्वाम् **मन्दतु** मोदयतु, **यम्** भक्तिरसम् **सोतुः** रथप्रेरकस्य सारथेः **बाहुभ्याम्** भुजाभ्याम् **सुयतः** सुनियन्त्रितः **अर्वा न** अश्वः इव **सुयतः** यमनियमादिभिः सुनियन्त्रितः **अद्रिः** अविनश्वरः मदीयः अन्तरात्मा । [न दीर्यते विनश्यतीति अद्रिः ।] **ते** तुभ्यम् **सुषाव** अभिषुतवान् अस्ति ॥१॥[2]

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— मनुष्यस्यात्मा तपसा श्रद्धया च सह वेदमन्त्रान् गायं गायं यदा परमात्मने भक्तिरसं प्रवाहयति तदा परमात्मा तस्मिन् सद्गुणान् सत्कर्माणि च सम्प्रेर्य तं महान्तं करोति ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ३९८ क्रमांक पर सेनापति, राजा तथा जीवात्मा के पक्ष में व्याख्यात की जा चुकी है । यहां परमात्मा को सम्बोधन है ।

पदार्थ— हे **हर्यश्व** आकर्षणशक्तियुक्त हैं व्याप्त सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि लोक जिसके ऐसे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! आप **सोमम्** मेरे भक्तिरस को **पिब** पान कीजिए, स्वीकार कीजिए । वह मेरा भक्तिरस **त्वा** आपको **मन्दतु** आनन्दित करे, जिस भक्तिरस को **सोतुः** रथप्रेरक सारथि की **बाहुभ्याम्** भुजाओं से **सुयतः** सुनियन्त्रित **अर्वा न** घोड़े के समान **सुयतः** यम-नियम आदियों से सुनियन्त्रित **अद्रिः** अविनश्वर मेरे अन्तरात्मा ने **ते** आपके लिए **सुषाव** अभिषुत किया है ॥१॥

यहां उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— मनुष्य का आत्मा तप और श्रद्धा के साथ वेदमन्त्रों को गा-गाकर जब परमात्मा के लिए भक्तिरस प्रवाहित करता है तब परमात्मा उसके अन्दर सद्गुणों और सत्कर्मों को प्रेरित कर उसे महान् बना देता है ॥१॥

---

१. ऋ० ७।२२।१, अथ० २०।११७।१, साम० ३९८ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा 'इन्द्र' शब्देन रोगनिवारको वैद्यः 'सोम' शब्देन च महौषधिरसो गृहीतः ।

अथ परमात्मा जीवात्मानमाह ।

२ ३ २ ३ २ ३ २३२ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
९२८. यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि ।
१र २र
स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु ॥२॥[1]

२ ३ १ २र १ २र १ २र १ २र १२र ३ १ २ ३ १ २र
यः ते मदः युज्यः चारुः अस्ति । येन वृत्राणि हर्यश्व हरि अश्व हंसि ।
३
सः त्वाम् इन्द्र प्रभूवसो प्रभु वसो ममत्तु ॥२॥

पदार्थः— हे **हर्यश्व** हरयः ज्ञानकर्मणाम् आहर्तारः अश्वाः ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपाः यस्य तादृश जीवात्मन् ! **यः ते** तव **मदः** उत्साहः **युज्यः** तव सहयोगी **चारुः** श्रेष्ठश्च **अस्ति** विद्यते, **येन** मदेन उत्साहेन त्वम् **वृत्राणि** बाह्यान् आन्तरिकांश्च रिपून् **हंसि** विनाशयसि, **सः** असौ मदः उत्साहः, हे **प्रभूवसो** बहुगुण **इन्द्र** जीवात्मन् ! **त्वा** त्वाम् **ममत्तु** आनन्दयतु ॥२॥[2]

भावार्थः— मनुष्यस्यात्मा स्वशक्तिं परिचित्य सोत्साहो भूत्वा यदा जीवनसंग्राममवतरति तदा तस्य विजयः सुनिश्चितः ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा जीवात्मा को कह रहा है ।

पदार्थ— हर्यश्व ज्ञान कर्म के आहर्ता हैं ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय रूप घोड़े जिसके ऐसे हे जीवात्मन् ! **यः** जो **तव** तेरा **मदः** उत्साह **युज्यः** तेरा सहयोगी, और **चारुः** श्रेष्ठ **अस्ति** है, **येन** जिस उत्साह से तू **वृत्राणि** बाह्य और आन्तरिक रिपुओं को **हंसि** विनष्ट करता है, **सः** वह उत्साह, हे **प्रभूवसो** बहुत गुणों वाले **इन्द्र** जीवात्मन्! **त्वा** तुझे **ममत्तु** आनन्दित करे ॥२॥

भावार्थ— मनुष्य का आत्मा अपनी शक्ति को पहचानकर जब जीवन-संग्राम में उतरता है तब उसकी विजय सुनिश्चित है ॥२॥

अथोपासकः परमात्मानं सम्बोधयति ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
९२९. बोधा सु मे मघवन् वाचमेमां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम् ।
३ १र २र ३ १२
इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व ॥३॥[2]

१२र ३ १२र ३ २
बोध सु मे मघवन् वाचम् आ इमाम् ।
३ १ २र १२र १२र ३
याम् ते वसिष्ठः अर्चति प्रशस्तिम् प्र शस्तिम् ।
२ १ २र ३ १२ ३ १२र ३
इमा ब्रह्म सधमादे सध मादे जुषस्व ॥३॥

---

१. ऋ० ७।२२।२, अथ० २०।११७।२ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजपक्षे व्याचष्टे ।

पदार्थः— हे **मघवन्** ऐश्वर्यवन् दानवन् वा परमात्मन् ! त्वम् **मे** मम **इमाम्** एताम् **प्रशस्तिं वाचम्** त्वद्गुणावलिगानरूपां वाणीम् **सु आ बोध** सम्यग् जानीहि, **याम्** वाचम् **ते** तुभ्यम् **वसिष्ठः अर्चति** स्वाभ्यन्तरे सद्गुणानाम् अतिशयेन वासकः जनः उच्चारयति, वसिष्ठोऽहमुच्चारयामीत्यर्थः । [अत्र स्वात्मार्थे प्रथमपुरुषप्रयोगः ।] त्वम् **सधमादेः** सामूहिके उपासनायज्ञे । [सह माद्यन्ति जना अत्र इति सधमादो यज्ञः ।] **इमा ब्रह्म** इमानि ब्रह्माणि एतानि स्तोत्राणि **जुषस्व** स्वीकुरु । [इमा, ब्रह्म इत्युभयत्र 'शेश्छन्दसि बहुलम् । अ० ६।१।७० इति शेर्लोपः] ॥३॥[1]

भावार्थः— ये श्रद्धया परमात्मनो गुणावलिं प्रशंसन्ति ते स्वयमपि गुणिनो भूत्वोत्कर्षं लभन्ते ॥३॥

अब उपासक परमात्मा को सम्बोधन करता है ।

पदार्थ— हे **मघवन्** ऐश्वर्यवान् वा दानवान् परमात्मन् ! आप **मे** मेरी **इमाम्** इस **प्रशस्तिं वाचम्** आपके गुण-गान की वाणी को **सु आ बोध** भली भांति जानिए, **याम्** जिस वाणी को **ते** आपके लिए **वसिष्ठः अर्चति** अपने अन्दर सद्गुणों को अतिशयरूप से बसाने वाला मनुष्य उच्चारण कर रहा है— अर्थात् मैं उच्चारण कर रहा हूं । आप **सधमादे** सामूहिक उपासना-यज्ञ में **इमा ब्रह्म** इन स्तोत्रों को **जुषस्व** स्वीकार कीजिए ॥३॥

भावार्थ— जो लोग श्रद्धा से परमात्मा की गुणावलि की प्रशंसा करते हैं वे स्वयं भी गुणी होकर उत्कर्ष प्राप्त करते हैं ॥३॥

॥१४॥ अथ 'विश्वाः पृतनाः' इत्यादिकस्य चतुर्दशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** रेभः काश्यपः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** १ अतिजगती, २-३ उपरिष्टाद् बृहती । **स्वरः** १ निषादः , २-३ मध्यमः ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३७० क्रमाङ्के कीदृशं परमेश्वरं वीरपुरुषं च जनाः सम्राजं कुर्वन्तीति विषये व्याख्याता । अत्र जीवात्मन आचार्यस्य च विषयो वर्ण्यते ।।

२ ३ १ २ ३ १ २३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३

९३०. विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरः सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

क्रत्वे वरे स्थेमन्यामुरीमुतोग्रमोजिष्ठं तरसं तरस्विनम् ॥१॥[2]

१ २ २ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २ २

विश्वाः पृतनाः अभिभूतरम् अभि भूतरम् नरः।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

सजूः स जूः ततक्षुः इन्द्रम् जजनुः च राजसे।

१ २ २ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ १ २ २ ३ १ २

क्रत्वे वरे स्थेमनि आमुरीम् आ मुरीम् उत। उग्रम् ओजिष्ठम् तरसम् तरस्विनम् ॥१॥

पदार्थः— **विश्वाः** सर्वाः **पृतनाः** बाह्यानामान्तराणां च शत्रूणां सेनाः **अभिभूतरम्** अतिशयेन पराजेतारम्, **वरे** उत्कृष्टे **स्थेमनि** स्थैर्ये दार्ढ्ये विद्यमानम्, **आ मुरीम्** सर्वतो विघ्नानां विपदां वा मारयितारम्, **उत** अपि च **उग्रम्** अन्यायम् अन्यायिनं च प्रति प्रचण्डम्, **ओजिष्ठम्** ओजस्वितमम्, **तरसम्** दुःखेभ्यस्तारणसमर्थम्, **तरस्विनम्** अतिशयेन वेगवन्तम् **इन्द्रम्** जीवात्मानम् **नरः** नेतारो मनुष्याः **ततक्षुः** उद्बोधयन्ति, **राजसे** साम्राज्याय **क्रत्वे** महते कर्मणे **जजनुः च** नियोजयन्ति च ॥१॥

---

१. दयानन्दस्वामिना ऋग्भाष्ये मन्त्रोऽयं विद्वद्विषये व्याख्यातः ।

२. ऋ० ८।९७।१०, अथ० २०।५४।१, उभयत्र 'नरः' इत्यत्र 'नरं', उत्तरार्धे च 'क्रत्वा वरिष्ठं वरं आ मुरिमु तोग्रमोजिष्ठं तवसंतरस्विनम्' इति पाठः साम० ३७० ।

भावार्थः— मनुष्यः स्वकीयमात्मानमुद्बोध्य महान्ति कर्माणि कर्तुं चक्रवर्तिसाम्राज्यं मोक्षसाम्राज्यं चापि लब्धुं पारयति ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ३७० क्रमांक पर कैसे परमेश्वर को और कैसे वीर पुरुष को लोग अपना सम्राट् बनाते हैं इस विषय में व्याख्यात हुई थी । यहां जीवात्मा का विषय वर्णित है ॥

पदार्थ— विश्वाः सब **पृतनाः** बाह्य और आन्तरिक शत्रुओं की सेनाओं के **अभिभूतरम्** अतिशय पराजेता, **वरे** उत्कृष्ट **स्थेमनि** स्थिरता या दृढ़ता में विद्यमान, **आ मुरीम्** सब ओर विघ्नों और विपत्तियों को मारने वाले, **उत** और **उग्रम्** अन्याय तथा अन्यायी के प्रति प्रचण्ड, **ओजिष्ठम्** सबसे बढ़कर ओजस्वी, **तरसम्** दुःखों से तराने में समर्थ, **तरस्विनम्** अतिशय वेगवान् **इन्द्रम्** जीवात्मा को **नरः** नेता मनुष्य **ततक्षुः** उद्बोधन देते हैं , **च** और **राजसे** साम्राज्य के लिए, तथा **क्रत्वे** महान् कर्म के लिए **जजनुः** नियुक्त करते हैं ॥१॥

भावार्थ— मनुष्य अपने आत्मा को उद्बोधन देकर बड़े-बड़े कर्म करने में, यहां तक कि चक्रवर्ती साम्राज्य एवं मोक्ष का साम्राज्य पाने में भी, समर्थ हो सकता है ॥१॥

अथोपास्योपासकविषयमाह ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
९३१. **नेमिं नमन्ति चक्षुसा मेषं विप्रा अभिस्वरे ।**

३ १ २ ३ २ड ३ १ २ ३ २ ३ र १र २र
सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः ॥२॥[1]

३ २ ३ १ २ र ३ २ १ २ र ३ १ २ ३ २ ३ २
नेमिम् नमन्ति चक्षसा । मेषम् विप्राः वि प्राः अभिस्वरे अभि स्वरे ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ र १ २ र २ १ २ १ २ र
सुदीतयःसु दीतयः वः अद्रुहः अ द्रुहः । अपि कर्णे तरस्विनः सम् ऋक्वभिः ॥२॥

पदार्थः— **विप्राः** मेधाविनो ब्राह्मणाः **अभिस्वरे**[2] **वेदस्तोत्रे** । [**स्वृ** शब्दोपतापयोः ।] **नेमिम्** रथचक्रे नेमिमिव सर्वत्र व्याप्तम् । [परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभवत्' ऋ० २।५।३ इति श्रुतेः ।] **मेषम्** सुखेन सेक्तारम् । [मेषति सिञ्चतीति मेषः । मिष सेचने, भ्वादिः ।] इन्द्रं परमेश्वरम् **चक्षसा** साक्षात्कारेण **नमन्ति** स्वाभिमुखं कुर्वन्ति । अथ मानवाः सम्बोध्यन्ते — हे **सुदीतयः** सम्यग् अविद्यायाः क्षयकर्तारः उपासकाः । [दीतिः दीङ् क्षये, शोभना दीतिः अविद्यायाः क्षयो येषां ते सुदीतयः ।] **वः** यूयम् **अद्रुहः** अद्रोहकारिणः भवत । **अपि** अपि च **कर्णे** स्वकीयायाः परकीयायाश्च जीवननौकायाः कर्णधारत्वे **तरस्विनः** वेगवन्तो भवत । **ऋक्वभिः**[3] प्रशस्ताः ऋचः स्तुतयो विद्यन्ते येषां तैः सुस्तोतृभिः जनैः सह **सम्** संगच्छध्वम् । [ऋचः मत्वर्थे प्रशंसायां 'छन्दसीवनिपौ' अ० ५।२।१०९ वा० इत्यनेन वनिप् प्रत्यये ऋक्वा इति सिध्यति ।] ॥२॥

भावार्थः— मनुष्यैः परमेश्वरं साक्षात्कृत्य द्रोहरहितैः सर्वमित्रैः कर्णधारैः क्रियाशीलैः सत्संगतिपरायणैः परोपकारिभिर्भूत्वा विचरणीयम् ॥२॥

अगले मन्त्र में उपास्य-उपासक विषय का वर्णन है ।

---

१. ऋ० ८।९७।१२, अथ० २०।५४।३, उभयत्र "अभिस्वरा॑" इति पाठः ।

२. अभिस्वरे अभिस्वरो यज्ञस्तस्मिन् अभिस्वरे यज्ञे-इति वि०

३. ऋक्वभिः अर्चनायुक्तैः मन्त्रैः-इति सा० । ऋग्यजुः सामभिः-इति वि० ।

पदार्थ– **विप्राः** मेधावी ब्राह्मण लोग **अभिस्वरे** वेद-स्तोत्र में **नेमिम्** रथचक्र में परिधि के समान व्याप्त, **मेषम्** सुख से सींचने वाले इन्द्र परमेश्वर को **चक्षसा** साक्षात्कार से **नमन्ति** अपनी ओर झुका लेते हैं। आगे मनुष्यों को सम्बोधन है– हे **सुदीतयः** भलीभांति अविद्या का क्षय करने वाले जनो ! **वः** तुम **अद्रुहः** द्रोह न करने वाले होवो। **अपि** साथ ही **कर्णे** अपनी और दूसरों की जीवननौका के कर्णधार होने में **तरस्विनः** वेगवान् बनो। **ऋक्वभिः** प्रशस्त स्तुति वाले स्तोता जनों के साथ **सम्** संगति करो ॥२॥

भावार्थ– मनुष्यों को चाहिए कि परमेश्वर का साक्षात्कार करके द्रोहरहित, सबके मित्र, कर्णधार, क्रियाशील, सत्संगतिपरायण और परोपकारी होकर विचरें ॥२॥

अथ पुनः स एव विषयो वर्ण्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
९३२. **समु रेभासो अस्वरन्निन्द्रं सोमस्य पीतये ।**

२र ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
स्वः पतिर्यदी वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः ॥३॥[1]

२ ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २
सम् उ रेभासः अस्वरन् । इन्द्रम् सोमस्य पीतये ।

१ २ १ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ २ २ १ २र ३ १ २
स्वःपतिः स्वा३रिति पतिः यदि वृधे । धृतव्रतः धृत व्रतः हि ओजसा सम् ऊतिभिः ॥३॥

पदार्थः– **रेभासः** स्तोतारः । [रेभ इति स्तोतृनाम । निघं० ३।१६ । रेभति अर्चतिकर्मा । निघं० ३।१४।] **इन्द्रम्** विघ्नविदारकं परमात्मानम् **सोमस्य पीतये** भक्तिरसस्य पानाय **सम् उ अस्वरन्** समाह्वयन्ति । **स्वःपतिः** दिव्यप्रकाशस्य आनन्दस्य मोक्षस्य वा अधिपतिः सः **यदि** चेत् **वृधे** वृद्धिं कर्तुम् **धृतव्रतः** गृहीतसंकल्पोभवति, तर्हि उपासकम् **ओजसा** आत्मबलेन **ऊतिभिः** रक्षाभिश्च **सम्** संयोजयति ॥३॥

भावार्थः– उपासकस्य दृढां श्रद्धां दृष्ट्वा परमेश्वरस्तस्मिन्नोजः पुरुषार्थं च प्रेरयित्वा तं सततं रक्षति॥३॥

अगले मन्त्र में फिर वही विषय है ।

पदार्थ– **रेभासः** स्तोता लोग **इन्द्रम्** विघ्नविनाशक परमात्मा को **सोमस्य पीतये** भक्तिरस के पान के लिए **सम् उ अस्वरन्** भलिभांति पुकारते हैं। **स्वः पतिः** दिव्य प्रकाश, आनन्द वा मोक्ष का अधिपति वह **यदि** यदि **वृधे** वृद्धि करने के लिए **धृतव्रतः** संकल्प कर लेता है, तो उपासक को **ओजसा** आत्मबल से और **ऊतिभिः** रक्षाओं से **सम्** संयुक्त कर देता है ॥३॥

भावार्थ– उपासक की दृढ़ श्रद्धा को देखकर परमेश्वर उसमें ओज और पुरुषार्थ की प्रेरणा करके उसकी निरन्तर रक्षा करता है ॥३॥

॥१५॥ अथ 'यो राजा' इत्यादिकस्य पञ्चदशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** पुरुहन्मा आङ्गिरसः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

---

१. ऋ० ८।९७।११, अथ० २०।५४।२ । समीं रेभासो अस्वरन्', स्वर्पतिं यदीं वृधे' इति पाठः ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २७३ क्रमांके परमात्मविषये राजविषये च व्याख्याता । अत्र जीवात्मविषयो वर्ण्यते ।।

९३३. यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः ।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठं यो वृत्रहा गृणे ।।१।।[1]

यः राजा चर्षणीनाम् । याता रथेभिः अध्रिगुः अध्रि गुः ।
विश्वासाम् तरुता पृतनानाम् । ज्येष्ठम् यः वृत्रहा वृत्र हा गृणे ।।१।।

पदार्थः— **यः** मम आत्मा **चर्षणीनाम्** मनुष्याणाम् **राजा** सम्राट् अस्ति, किञ्च **अध्रिगुः** अधृतगमनः, अवारितक्रियः यः **रथेभिः** देहरथैः **याता** गन्ता भवति, अपि च यः **विश्वासाम्** सर्वासाम् **पृतनानाम्** आन्तरिकीणां बाह्यानां च रिपुसेनानाम् **तरुता** तर्ता जायते, **यः** यश्च **वृत्रहा** पापविघ्नदीनां हन्ता वर्तते, तम् **ज्येष्ठम्** श्रेष्ठम् अहम् **गृणे** स्तौमि, गुणैर्वर्णयामि ।।१।।

भावार्थः— मनुष्यस्यात्मनि महती शक्तिर्निहितास्ति । उद्बोधितः स महान्ति कर्माणि कर्तुं समर्थो जायते ।।१।।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में क्रमांक २७३ पर परमात्मा और राजा के विषय में व्याख्या की जा चुकी है । यहां जीवात्मा का विषय वर्णित है ।।

पदार्थ— **यः** जो मेरा आत्मा **चर्षणीनाम्** मनुष्यों में **राजा** सम्राट् है, और **अध्रिगुः** किसी से न रोकी जा सकने योग्य क्रिया वाला जो **रथेभिः** देहरूप रथों से **याता** यात्रा करता है, और जो **विश्वासाम्** सब **पृतनानाम्** आन्तरिक वा बाह्य शत्रु-सेनाओं का **तरुता** अतिक्रमण करने वाला है, और **यः** जो वृत्रहा पाप, विघ्न आदि का विनाशक है, उस **ज्येष्ठम्** श्रेष्ठ आत्मा का, मैं **गृणे** गुण-वर्णन करता हूं ।।१।।

भावार्थ— मनुष्य के आत्मा में महान् शक्ति निहित है । उद्बोधन मिलने पर वह बड़े से बड़े कार्य कर सकता है ।।१।।

अथ मानवं प्रेरयति ।

९३४. इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्त्तरि ।
हस्तेन वज्रः प्रति धायि दर्शतो महान्देवो न सूर्यः ।।२।।[2]

इन्द्रम् तम् शुम्भ पुरुहन्मन् पुरू हन्मन् अवसे ।
यस्य द्विता विधर्तरि वि धर्तरि । हस्तेन वज्रः प्रति धायि दर्शतः ।
महान् देवः न सूर्यः ।।२।।

---

१. ऋ० ८।७०।१, अथ० २०।९२।१६, १०५।४, सर्वत्र 'ज्येष्ठं' इयत्र ज्येष्ठो' इति पाठः । साम०२७३ ।

२. ऋ० ८।७०।२, अथ० २०।९२।१७, १०५।५, सर्वत्र 'हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न सूर्यः' इत्युत्तरार्धपाठः ।

पदार्थः— हे **पुरुहन्मन्** बहूंना शत्रूणां हन्तः मानव ! त्वम् **अवसे** प्रगतये **तम्** प्रसिद्धम् **इन्द्रम्** परमवीरं परमेश्वरम् **शुम्भ** स्वात्मनि शोभय, **यस्य विधर्तरि** यस्य विधारके जने **द्विता** द्विधा शक्तिरूत्पद्यते । तेन परमात्मविधारकेण जनेन एकतः **हस्तेन** पाणिना **दर्शतः** दर्शनीयः **वज्रः** आयुधम् **प्रति धायि**[1] प्रतिधीयते, अपरतश्च सः **देवः सूर्यः न** प्रकाशकः आदित्यः इव **महान्** महिमवान् जायते ॥२॥

भावार्थः— स्वात्मनि परमात्मधारणेन मनुष्ये महद् बलं साहसं तेजो धैर्यं शत्रुपराजयसामर्थ्यं चोत्पद्यते॥२॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मजीवात्मनोरुपास्योपासकयोर्मानवप्रेरणायाश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेदितव्या ॥

अगले मन्त्र में मनुष्य को प्रेरणा दी गयी है ।

पदार्थ— हे **पुरुहन्मन्** बहुत से शत्रुओं के विनाशक मानव ! तू **अवसे** प्रगति के लिए **तम्** उस प्रसिद्ध **इन्द्रम्** परमवीर परमेश्वर को **शुम्भ** अपने अन्तरात्मा में शोभित कर, **यस्य विधर्तरि** जिसे धारण करने वाले मनुष्य के अन्दर **द्विता** दो प्रकार की शक्ति उत्पन्न हो जाती है । परमेश्वर को अपने अन्दर धारण करने वाले उस मनुष्य द्वारा एक ओर तो **हस्तेन** हाथ से **दर्शतः** दर्शनीय **वज्रः** शस्त्रास्त्र **प्रति धायि** पकड़ा जाता है, और दूसरी ओर वह **देवः सूर्यः न** प्रकाशक सूर्य के समान **महान्** महिमाशाली हो जाता है ॥२॥

भावार्थ— अपने अन्तरात्मा में परमात्मा को धारण करने से मनुष्य के अन्दर महान् बल, साहस, तेज, धैर्य और शत्रुपराजय-सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है ।

इस खण्ड में परमात्मा-जीवात्मा, उपास्य-उपासक एवं मानव प्रेरणा के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

पंचम अध्याय में पञ्चम खण्ड समाप्त ।

॥१६॥ अथ 'परि प्रिया' इत्यादिकस्य षोडशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** असितः काश्यपो देवलो वा । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४७६ क्रमाङ्के परमात्मन आनन्दरसविषये व्याख्याता । अत्र गुरुशिष्यविषयो वर्ण्यते ॥

९३५. **परि प्रिया दिवः कविर्वयांसि नप्त्योर्हितः । स्वानैर्याति क्रविक्रतुः ॥१॥**[2]

परि प्रिया दिवः कविः । वयांसि नप्त्योः हितः । स्वानैः याति कविक्रतुः कविः क्रतुः॥१॥

पदार्थः— शिष्याणाम् **नप्त्योः** आत्ममनसोः **हितः** हितकरः, **कविक्रतुः** मेधावी सत्कर्मा च आचार्यः **दिवः** यशसा प्रकाशितस्य गुरुकुलस्य **प्रिया वयांसि** प्रियान् शिष्यान् **स्वानैः** शास्त्रोपदेश-कर्तृभिः शब्दैः सह **परियाति** परि प्राप्नोति ॥१॥

---

२. ऋ० ९।९।१, 'सुवानो यांति' इति पाठः । साम० ४७६, **ऋषिः** काश्यपोऽसितः ।

१. **हस्तेन वज्रः प्रतिधायिः**=हस्तेन गृहीतः वज्रः प्रति धायि धेट् पाने, सर्वप्राणिनां वीर्यं रसं शोणितादि पिबते-इति वि० ।

भावार्थः— यः स्वयं विद्वान् सदाचारवान् अध्यापनकुशलश्चास्ति स एवाचार्यः शिष्यान् सुयोग्यान् कर्तुं प्रभवति ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४७६ क्रमांक पर परमात्मा के आनन्दरस के विषय में व्याख्यात हुई थी । यहां गुरू-शिष्य का विषय वर्णित है ।।

पदार्थ— शिष्यों के **नप्त्योः** आत्मा और मन का **हितः** हित करने वाला, **कविक्रतुः** मेधावान् और सदाचारी आचार्य **दिवः** यश से प्रकाशित गुरूकुल के **प्रिया वयांसि** प्रिय शिष्यों को **स्वानैः** शास्त्रोपदेश के शब्दों के साथ **परियाति** प्राप्त होता है ।।१।।

भावार्थ— जो स्वयं विद्वान् सदाचारी और पढ़ाने में चतुर है, वही आचार्य शिष्यों को सुयोग्य बना सकता है ।।१।।

अथाचार्येणाध्यापितः कीदृशः पुत्रो मातापित्रोर्यशस्करो जायत इत्याह ।।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

९३६. स सूनुर्मातरा शुचिर्जातो जाते अरोचयत् । महान्महो ऋतावृधा ।।२।।[1]

२ ३ २ ३ १ २ १ २र ३ २ ३ १ २ ३

सः सूनुः मातरा शुचिः । जातः जातेइति अरोचयत् ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र

महान् महीइति ऋतावृधा ऋत वृधा ।।२।।

पदार्थः— **सः** सुयोग्येन आचार्येण शिक्षितः असौ **शुचिः** पवित्रहृदयः, **जातः** स्नातको भूतः **महान्** महागुणविशिष्टः **सूनुः** पुत्रः **जाते** जातौ विद्याभिः **प्रसिद्धौ मही** महागुणविशिष्टौ **ऋतावृधा** सत्यस्य वर्धकौ **मातरा** मातापितरौ **अरोचयत्** यशसा प्रदीपयति ।।२।।

भावार्थः— सुयोग्यैर्गुरूभिरध्यापितः सुयोग्यः पुत्रः सुयोग्ययोर्मातापित्रोः सुयोग्यानां गुरूणां च कीर्तिं प्रसारयति ।।२।।

अब आचार्य से पढ़ाया हुआ कैसा पुत्र माता-पिता का यश फैलाने वाला होता है, यह कहते हैं ।।

पदार्थ— **सः** वह सुयोग्य आचार्य से शिक्षा दिया हुआ, **शुचिः** पवित्र हृदय वाला, **जातः** स्नातक बना हुआ **महान्** गुणों में महान् **सूनुः** पुत्र **जाते** विद्याओं से प्रसिद्ध, **मही** महागुणविशिष्ट, **ऋतावृधा** सत्य को बढ़ाने वाले **मातरा** माता-पिता को **अरोचयत्** यश से प्रदीप्त करता है ।

भावार्थ— सुयोग्य गुरुओं से पढ़ाया हुआ सुयोग्य पुत्र सुयोग्य माता-पिताओं और सुयोग्य गुरुओं की कीर्ति फैलाता है ।।२।।

अथ नवस्नातक उच्यते ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३क २र ३ १ २

९३७. प्रप्र क्षयाय पन्यसे जनाय जुष्टो अद्रुहः । वीत्यर्ष पनिष्टये।।३।।[2]

१ २र ३ १ २र १ २र १ २र १ २र ३१ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २र

प्रप्र प्र प्र क्षयाय पन्यसे । जनाय जुष्टः अद्रुहः अ द्रुहः । वीती अर्ष पनिष्टये ।।३।।

---

१. ऋ० ९।९।३।

२. ऋ० ९।९।२, 'अद्रुहः' 'पनिष्टये' इत्यत्रक्रमेण 'अद्रुहे' 'चनिष्ठया' इति पाठः ।

पदार्थः— हे सोम विद्यारसस्नात नवस्नातक ! **जुष्टः** जनानां प्रिय, **अद्रुहः** अद्रोग्धा त्वम् **क्षयाय** प्रजासु सद्गुणादीनां निवासाय । [क्षि निवासगत्योः । 'क्षयो निवासे' । अ० ६।१।२०१ इत्याद्युदात्तः ।] **पन्यसे जनाय** पनीयसे अतिशयेन स्तोत्रे जनाय, तादृशं जनमुत्पादयितुमिति भावः । [पण व्यवहारे स्तुतौ च । पनति स्तौतीति पनः, अतिशयेन पनः पनीयान्, तस्मै पन्यसे । ईकारलोपश्छान्दसः ।] **पनिष्टये** शुद्धव्यवहाराय च **वीती** वीत्या तीव्रगत्या । [वी गत्यादौ । वीती इत्यस्मात् तृतीयैकवचने 'सुपां सुलुक्०' इति पूर्वसवर्णदीर्घः ।] **प्र प्र अर्ष** प्रकर्षेण विचर ॥३॥

भावार्थः— नवस्नातकानामिदं कर्तव्यं यत्ते गुरुकुलाद् बहिरागत्य वेदार्थानुपदिशन्तो जनान् सद्गुणकर्मयुक्तान् परमेश्वरस्तोतॄन् शुद्धव्यवहारनिष्ठांश्च सम्पादयेयुः ॥३॥

अगले मन्त्र में नवस्नातक को कहा जा रहा है ।।

पदार्थ— हे सोम अर्थात् विद्यारस से स्नान किये हुए नवस्नातक ! **जुष्टः** लोगों का प्रिय, **अद्रुहः** द्रोह न करने वाला तू **क्षयाय** प्रजाओं में सद्गुण आदि के निवास के लिए, **पन्यसे जनाय** अतिशय स्तोता जन उत्पन्न करने के लिए, और **पनिष्टये** शुद्ध व्यवहार के लिए **वीती** तीव्रगति से **प्र प्र अर्ष** विचरण कर ॥३॥

भावार्थ— नवस्नातकों का यह कर्त्तव्य है कि वे गुरुकुल से बाहर आकर वेदार्थ का उपदेश करते हुए लोगों को श्रेष्ठ गुण कर्मों से युक्त, परमेश्वर के स्तोता और शुद्ध व्यवहार वाला बनायें ॥३॥

॥१७॥ अथ 'त्वं ह्या३ङ्ग' इत्यादिकस्य सप्तदशस्य द्वयृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** १ शक्तिर्वासिष्ठः, २ उरुराङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** काकुभः प्रगाथः (१ विषमा ककुब् उष्णिक्, २ समा सतोबृहती)। **स्वरः** १ ऋषभः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५८३ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्राचार्यशिष्य विषय उपदिश्यते।।

९३८. त्वं ह्या३ङ्ग दैव्य पवमान जनिमानि द्युमत्तमः । अमृतत्वाय घोषयन् ॥१॥[1]

त्वम् हि अङ्ग दैव्य पवमान । जनिमानि द्युमत्तमः ।
अमृतत्वाय अ मृतत्वाय घोषयन् ॥१॥

पदार्थः— हे **अङ्ग** भद्र, **दैव्य** विदुषः शिष्य ! [देवाद् विदुषः गुरोरागतः दैव्यः ।] **पवमान** चित्तशुद्धि-प्रदातः आचार्य ! **द्युमत्तमः** अतिशयेन ज्ञानप्रकाशयुक्तः **त्वं हि** त्वं खलु **अमृतत्वाय** सुख प्रदानाय **जनिमानि** शिष्याणां द्वितीयजन्मानि ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यरूपाणि **घोषयन्** विज्ञापयन् भव ॥१॥

भावार्थः— मातापितृसकाशाज्जायमानमेकं जन्म, द्वितीयं च जन्माचार्यसकाशात् प्राप्यते । यदा शिष्या विद्याव्रतस्नातका जायन्ते तदाऽऽचार्यो गुणकर्मानुसारं ब्राह्मणोऽयं क्षत्रियोऽयं वैश्योऽयमिति स्नातकेभ्यो वर्णं प्रयच्छति । तस्मिन् काले प्रथमजन्मना ब्राह्मणोऽपि कश्चित् गुणकर्मनिकषेण क्षत्रियत्वं वैश्यत्वं वा, क्षत्रियोऽपि कश्चिद् ब्राह्मणत्वं वैश्यत्वं वा, वैश्यः शूद्रोऽपि वा कश्चिद् ब्राह्मणत्वं क्षत्रियत्वं वा प्राप्तुमर्हति ॥१॥

---

१. ९।१०८।३ दिव्य' 'घोषयन्' इत्यत्र क्रमेण 'दैव्या' 'घोषयः' इति पाठः । साम० ५८३ 'दैव्य' इत्यत्र 'दैव्यं' इति पाठः ।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में क्रमांक ५८३ पर परमात्मा के विषय में व्याख्या की गयी थी । यहां आचार्य और शिष्य के विषय का उपदेश करते हैं।

पदार्थ– हे **अङ्ग** भद्र, **दैव्य** विद्वान् गुरु के शिष्य, **पवमान** चित्तशुद्धिप्रदाता आचार्य ! **द्युमत्तमः** अतिशय ज्ञानप्रकाश से युक्त **त्वं हि** आप **अमृतत्वाय** सुख के प्रदानार्थ **जनिमानि** शिष्यों के ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य रूप द्वितीय जन्मों की **घोषयन्** घोषणा किया करो ।।१।।

भावार्थ– माता-पिता से एक जन्म मिलता है, दूसरा जन्म आचार्य से प्राप्त होता है । जब शिष्य विद्याव्रतस्नातक होते हैं उस समय आचार्य गुणकर्मानुसार यह ब्राह्मण है, यह क्षत्रिय है, यह वैश्य है इस प्रकार स्नातकों को वर्ण देते हैं । उस काल में प्रथम जन्म का कोई ब्राह्मण भी गुण कर्म की कसौटी से क्षत्रिय या वैश्य बन सकता है, क्षत्रिय भी ब्राह्मण या वैश्य बन सकता है और वैश्य या शूद्र भी ब्राह्मण या क्षत्रिय बन सकता है ।।१।।

अथाचार्यस्य महत्त्वमाह ।

९३९. येना नवग्वा दध्यङ्ङपोर्णुते येन विप्रास आपिरे ।
देवानां सुम्ने अमृतस्य चारुणो येन श्रवांस्याशत ।।२।।[1]

येन नवग्वा नव ग्वा दध्यङ् अपोर्णुते अप ऊर्णुते । येन विप्रासः वि प्रासः आपिरे ।
देवानाम् सुम्ने अमृतस्य अ मृतस्य चारुणः । येन श्रवांसि आशत ।।२।।

पदार्थः– **येन** येन **पवमानेन** सोमेन पवित्रकर्त्रा विद्यारसागारेण आचार्येण, **नवग्वा** नवीनशिक्षाप्राप्तः[2] नवस्नातकः । [नवग्वाः नवगतयो वा नवीनगतयो वा निरु.११।१९ ।] **दध्यङ्** धारकान् गुणान् प्राप्तः[3] सन् **अपोर्णुते** अविद्याया आवरणमपनयति, **येन** येन आचार्येण उपदिष्टाः **विप्रासः** मेधाविनो ब्राह्मणाः **आपिरे** सच्चारित्र्यशिक्षां प्राप्नुवन्ति, **येन** येन आचार्येण लब्धविद्याः शिष्याः **श्रवांसि** यशांसि **आशत** लभन्ते, स आचार्यः स्वयम् **देवानाम्** दिव्यगुणानाम्, **चारुणः** रमणीयस्य **अमृतस्य** मोक्षस्य च **सुम्ने** सुखे निवसति।।२।।

भावार्थः– सुयोग्येनाचार्येण शिक्षिताश्छात्रा विद्वांसः सच्चरित्रा दिव्यगुणवन्तो जीवन्मुक्ताश्च भूत्वा सर्वत्र विद्यासच्चारित्र्यादीन् गुणान् प्रसारयन्तः कीर्तिमन्तो जायन्ते ।।२।।

अगले मन्त्र में आचार्य का महत्त्व कहा गया है ।

पदार्थ– **येन** जिस पवमान सोम से अर्थात् पवित्रकर्ता, विद्यारस के भण्डार आचार्य से **नवग्वा** नवीन शिक्षा प्राप्त नवस्तानक **दध्यङ्** धारक गुणों को प्राप्त होकर **अपोर्णुते** अविद्या के आवरण को दूर करता है , **येन** जिस आचार्य से उपदेश किये हुए **विप्रासः** मेधावी ब्राह्मण **आपिरे** सच्चरित्र की शिक्षा को प्राप्त करते हैं , **येन** जिस आचार्य से विद्या पाये हुए शिष्य **श्रवांसि** यशों को **आशत** प्राप्त करते हैं , वह आचार्य स्वयम् **देवानाम्** दिव्य गुणों के और **चारुणः** रमणीय **अमृतस्य** मोक्ष के **सुम्ने** सुख में निवास करता है ।।२।।

---

१. ऋ० ९।१०८।४ 'नवग्वो', श्रवांस्यानशुः इति पाठः ।

२. नवग्वाः नवीनशिक्षाविद्याप्राप्ताः इति ऋ० १।३३।६ भाष्ये द०।

३. दध्यङ् दधाति यैस्ते दधयः सद्गुणास्तानञ्चति प्रापयति वा सः इति ऋ० १।८०।१६ भाष्ये द० ।

भावार्थ— सुयोग्य आचार्य से शिक्षा दिये हुए छात्र विद्वान्, सच्चरित्र, दिव्यगुणों वाले और जीवन्मुक्त होकर सब जगह विद्या, सच्चरित्रता आदि गुणों को फैलाते हुए यशस्वी होते हैं ।।२।।

।।१८।। अथ 'सोमः पुनान' इत्यादिकस्याष्टादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अग्निश्चाक्षुषः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** उष्णिक् । **स्वरः** ऋषभः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५७२ क्रमाङ्के ब्रह्मानन्दरसविषये व्याख्याता । अत्र स एव विषयः प्रकारान्तरेण प्रदर्श्यते ।

१ २ ३ २ ३ २३ ३ २३ १ २
९४०. **सोमः पुनान ऊर्मिणाव्यं वारं वि धावति ।**
१ २ ३ १र २र ३ १ २
अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत् ।।१।।[1]

१ २र ३ २ ३ १ २ १ २र १२र ३
सोमः पुनानः ऊर्मिणा । अव्यम् वारम् वि धावति ।
१२र ३ २ १२र १ २र
अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत् ।।१।।

पदार्थः— **सोमः** रसनिधिः परमेश्वरः **ऊर्मिणा** आनन्दरसतरङ्गेण **पुनानः** पवित्रतामापादयन् **अव्यम्** अव्ययम् अविनश्वरम् **वारम्** वरणीयम् आत्मानम् **वि धावति** वेगेन गच्छति । सः **वाचः** स्तुतिगिरः **अग्रे** पूर्वमेव **पवमानः** प्रवहन् **कनिक्रदत्** कलकलशब्दं कुर्वन्, भवति इति शेषः ।।१।।

अत्र ब्रह्मानन्दरसप्रवाहे कारणभूतायाः स्तुतिवाचः पूर्वमेव ब्रह्मानन्दप्रवाहवर्णनात् कारणात् प्राक् कार्योदयरूपोऽतिशयोक्तिरलङ्कारः। किञ्च वस्तुतः ब्रह्मानन्दप्रवाहे ऊर्मेः कलकलशब्दस्य चाभावात् तद्वर्णनेऽसम्बन्धे सम्बन्धातिशयोक्तिः ।।१।।

भावार्थः— परमात्मध्याने मग्नः स्तोता परमात्मसकाशान्निर्झरन्तीमानन्दतरङ्गिणीं स्वात्माभ्यन्तरे समाविशन्तीमनुभूय कृतार्थो जायते ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ५७२ क्रमांक पर ब्रह्मानन्द-रस के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां वही विषय प्रकारान्तर से दर्शाया जा रहा है ।

पदार्थ— सोमः रसनिधि परमेश्वर **ऊर्मिणा** आनन्दरस की तरंग से **पुनानः** पवित्र करता हुआ **अव्यम्** अविनश्वर **वारम्** वरणीय आत्मा के प्रति **वि धावति** वेग से जाता है । वह **वाचः** स्तुतिवाणी से **अग्रे** पूर्व ही **पवमानः** बहता हुआ **कनिक्रदत्** कल-कल शब्द करता है ।।१।।

यहां ब्रह्मानन्दरसप्रवाह में कारणभूत स्तुतिवाणी के प्रयोग से पहले ही ब्रह्मानन्द का प्रवाह वर्णित होने से 'कारण से पूर्व कार्योदय होना रूप' अतिशयोक्ति अलंकार है । साथ ही वस्तुतः ब्रह्मानन्द-प्रवाह में लहर और कलकल शब्द न होने पर भी उसमें लहर और कलकल शब्द का सम्बन्ध कथित होने से असम्बन्ध में सम्बन्धरूप अतिशयोक्ति भी है ।।१।।

भावार्थ— परमात्मा के ध्यान में मग्न स्तोता परमात्मा के पास से झरती हुई आनन्द की तरंगिणी को अपने अन्दर प्रविष्ट होते हुए अनुभव करके कृतार्थ हो जाता है ।।१।।

---

१. ऋ० ९।१०६।१०, 'ऊर्मिणाव्यो' इति पाठः। साम० ५७२

अथ परमात्मस्तुतिविषयमाह ।

९४१ . धीभिर्मृजन्ति वाजिनं वने क्रीडन्तमत्यविम् ।
अभि त्रिपृष्ठं मतयः समस्वरन् ॥२॥[1]

धीभिः मृजन्ति वाजिनम् । वने क्रीडन्तम् अत्यविम् अति अविम् ।
अभि त्रिपृष्ठम् त्रि पृष्ठम् मतयः सम् अस्वरन् ॥२॥

पदार्थः— उपासकाः जनाः **वाजिनम्** बलवन्तम्, **वने क्रीडन्तम्** ब्रह्माण्डरूपे विपिने क्रीडां कुर्वन्तम्, **अत्यविम्** अविं बुद्धिम् अतिक्रम्य स्थितम् अबुद्धिगम्यं तं पवमानं सोमं पावकं परमात्मानम् **धीभिः** ध्यानवृत्तिभिः **मृजन्ति** स्वाभ्यन्तरे अलङ्कुर्वन्ति । ते **मतयः** मननशीलाः उपासकाः **त्रिपृष्ठम्** त्रीणि पृष्ठानि पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकाख्यानि यद्वा आत्ममनःप्राणाख्यानि निवासभूतानि यस्य तादृशम् तम् परमात्मानम् **अभि** अभिलक्ष्य **समस्वरन्** संगत्य स्तुतिगीतानि गायन्ति ॥२॥

भावार्थः— यः परमेश्वरश्चेतनाचेतनैः परिपूर्णं ब्रह्माण्डवनं निर्माय तत्र क्रीडां कुर्वन् जगत् सञ्चालयति तं सर्वान्तर्यामिणं स्वात्मनोऽलङ्कारं कृत्वा योगिनो जना यदा तं ध्यायन्ति तदा ते सर्वाः सिद्धीर्लभन्ते ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की स्तुति का विषय है ।

पदार्थ— उपासक लोग **वाजिनम्** बलवान्, **वने क्रीडन्तम्** ब्रह्माण्डरूप वन में क्रीडा करते हुए, **अत्यविम्** अबुद्धिगम्य उस पवमान सोम अर्थात् पवित्रकर्ता परमात्मा को **धीभिः** ध्यानवृत्तियों से **मृजन्ति** अपने अन्तरात्मा में अलंकृत करते हैं। वे **मतयः** मननशील उपासक **त्रिपृष्ठम्** पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौरूप अथवा आत्मा-मन-प्राणरूप तीन स्तरों में निवास करने वाले उस परमात्मा को **अभि** लक्ष्य करके **समस्वरन्** मिलकर स्तुतिगीत गाते हैं ॥२॥

भावार्थ— जो परमेश्वर जड़-चेतन से परिपूर्ण ब्रह्माण्डरूप वन को रचकर उसमें क्रीड़ा करता हुआ जगत् का संचालन कर रहा है उस सर्वान्तर्यामी को अपने आत्मा का अलंकार बनाकर योगी जन जब उसका ध्यान करते हैं तब वे सब सिद्धियां पा लेते हैं ॥२॥

अथ पुनः परमात्मविषयमाह ।

९४२ . असर्जि कलशाँ अभि मीढ्वान्त्सप्तिर्न वाजयुः ।
पुनानो वाचं जनयन्नसिष्यदत् ॥३॥[2]

असर्जि कलशान् अभि । मीढ्वान् सप्तिः न वाजयुः ।
पुनानः वाचम् जनयन् असिष्यदत् ॥३॥

---

१. ऋ० ९।१०६।११, 'मृजन्ति' इत्यत्र 'हिन्वन्ति' इति पाठः।
२. ऋ० ९।१०६।१२, 'मीळ्हे सप्तिर्न वाजयुः' इति द्वितीयः पादः।

पदार्थः— मीढ्वान् आनन्दरसस्य सेक्ता । [मिह सेचने, लिटः क्वसुः ।] **वाजयुः** वाजम् आत्मबलं स्तोतॄणां कामयमानः । [छन्दसि परेच्छायां क्यच्, 'क्याच्छन्दसि' इति उः प्रत्ययः ।] पवमानः सोमः पावकः रसनिधिः परमेश्वरः **कलशान् अभि** अन्नमय-प्राणमय-मनोमयादिकोशान् अभिलक्ष्य **असर्जि** विसृष्टोऽस्ति, **सप्तिः न** यथा अश्वः संग्राममभिलक्ष्य विसृज्यते तद्वत् । **पुनानः** पवित्रतां सम्पादयन् सः **असिष्यदत्** अन्तरात्मं स्यन्दते ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— परमात्मोपासनेनानन्दरस आत्मबलमन्तःकरणस्य पावित्र्यमात्मोत्थानसन्देशश्च प्राप्यते॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा का विषय है ।

पदार्थ— मीढ्वान् आनन्दरस को सींचने वाला, **वाजयुः** स्तोताओं को आत्मबल देने का इच्छुक पवमान सोम अर्थात् पवित्रकर्ता रसनिधि परमेश्वर **कलशान् अभि** अन्नमय-प्राणमय-मनोमय आदि कोशों को लक्ष्य करके **असर्जि** छोड़ा गया है, **सप्तिः न** जैसे घोड़ा संग्राम को लक्ष्य करके छोड़ा जाता है । **पुनानः** पवित्रता देता हुआ वह **वाचं जनयन्** उपदेश-वाणी को उत्पन्न करता हुआ **असिष्यदत्** अन्तरात्मा में प्रवाहित हो रहा है॥३॥

यहां उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ— परमात्मा की उपासना से आनन्दरस, आत्मबल, अन्तःकरण की पवित्रता और आत्मोत्थान का सन्देश प्राप्त होता है ॥३॥

॥१९॥ अथ 'सोमः पवते' इत्यादिकस्यैकोनविंशस्य सूक्तस्य **ऋषिः** प्रतर्दनो दैवोदासिः। **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५२७ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्रापि स एव विषयो वर्ण्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
९४३. **सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।**
३ १र २र ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥१॥[1]

१ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
सोमः पवते जनिता मतीनाम् । जनिता दिवः जनिता पृथिव्याः ।
३ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ २ १ २र ३ २ ३ २ १ २र
जनिता अग्नेः जनिता सूर्यस्य । जनिता इन्द्रस्य जनिता उत विष्णोः ॥१॥

पदार्थः— सोमः सकलजगदुत्पादकः परमेश्वरः **पवते** सर्वत्र गच्छति, सर्वान्तर्यामी अस्ति । [पवते गतिकर्मा निघं० २।१४] यः **मतीनाम्** बुद्धीनां **जनिता** जनयिता, **दिवः** द्युलोकस्य **जनिता** जनयिता, **पृथिव्याः** पृथिवीलोकस्य **जनिता** जनयिता, **अग्नेः** वह्नेः **जनिता** जनयिता, **सूर्यस्य** आदित्यस्य **जनिता** जनयिता, **इन्द्रस्य** विद्युतः **जनिता** जनयिता, **उत** अपि च **विष्णोः** व्यापकस्य सूत्रात्मनः प्राणस्य **जनिता** जनयिता वर्तते ॥१॥

भावार्थः— परमात्मनैवेमानि लोकलोकान्तराणि तत्रस्थाः सर्वेऽद्भुताः पदार्थाश्च रचिताः सन्ति, यदुत्पद्यते तस्य कर्त्ताऽवश्यमस्तीति नियमाद्, अस्मादृशां च जगत्कर्तृत्वसामर्थ्याभावात् ॥१॥

---

१. ऋ० ९।९६।५, साम० ५२७ ।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में क्रमाङ्क ५२७ पर परमात्मा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां भी वही विषय वर्णित है ।।

पदार्थ– **सोमः** सकल जगत् का उत्पत्तिकर्ता परमेश्वर **पवते** सर्वगत है, सर्वान्तर्यामी है, जो **मतीनाम्** बुद्धियों का **जनिता** उत्पादक, **दिवः** द्युलोक का **जनिता** उत्पादक,**पृथिव्याः** पृथ्वीलोक का **जनिता** उत्पादक, **अग्नेः** आग का **जनिता** उत्पादक, **सूर्यस्य** सूर्य का **जनिता** उत्पादक, **इन्द्रस्य** बिजली का **जनिता** उत्पादक, **उत** और **विष्णोः** व्यापक सूत्रात्मा प्राण का **जनिता** उत्पादक है ।।१।।

भावार्थ– परमात्मा ने ही इन लोकलोकान्तरों को और उनमें स्थित सब अद्भुत पदार्थों को रचा है, क्योंकि जो भी उत्पन्न होता है उसका कर्ता अवश्य होता है यह नियम है और हम जैसे लोगों में जगत् के रचने का सामर्थ्य नहीं है ।।१।।

अथ परमात्मनो गुणकर्माणि वर्णयति ।

३ २ ३ १ २ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
९४४. **ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् ।**

३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ।।२।।[1]

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
ब्रह्मा देवानाम् पदवीः पद वीः कवीनाम् ।

१ २ २ १ २ २ ३ २ ३ १ २
ऋषिः विप्राणाम् वि प्राणाम् महिषः मृगाणाम् ।

३ २ १ २ २ १ २ २ ३ १ २ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २
श्येनः गृध्राणाम् स्वधितिः स्व धितिः वनानाम् । सोमः पवित्रम् अति एति रेभन् ।।२।।

पदार्थः– **देवानाम्** विदुषाम् ऋत्विजां मध्ये **ब्रह्मा** ब्रह्मवन्मुख्यः, **कवीनाम्** मेधाविनां काव्यकाराणां मध्ये **पदवीः** पदप्रयोगज्ञ इव प्रवीणः । [यः पदं पदप्रयोगं वेति व्याप्नोति स पदवीः । पदपूर्वाद् गतिव्याप्त्याद्यर्थाद् वी धातोः क्विपि रूपम्।] **विप्राणाम्** ज्ञानिनां ब्राह्मणानां मध्ये **ऋषिः** ऋषिकोटिको जनः इव द्रष्टा, **मृगाणाम्** पशूनां मध्ये **महिषः** गुरुभारवहनक्षमः सैरिभः इव जगद्भारस्य वोढा, **गृध्राणाम्** गृध्राख्यपक्षिणां मध्ये **श्येनः** श्येनः पक्षीव द्रुतगत्या शत्रूणामुच्छेत्ता, **वनानाम्** मेघजलानां मध्ये **स्वधितिः** विद्युद्वज्र इव ज्योतिष्मान् । [वनम् इत्युदकनामसु पठितम् । निघं १।१२। स्वधितिः इति वज्रनाम । निघं० २।२० ।] **सोमः** सर्वोत्पादकः परमेश्वरः **रेभन्** उपदिशन् । [रेभृ शब्दे, भ्वादिः।] **पवित्रम्** शुद्धं मनः **अति** अतिक्रम्य **एति** जीवात्मानं प्राप्नोति ।।२।।

यास्काचार्यो मन्त्रमिममेवं व्याचख्यौ- [''ब्रह्मा देवानामित्येष हि ब्रह्मा भवति देवानां देवनकर्मणा-मादित्यरश्मीनां, पदवीः कवीनामित्येष हि पदं वेति कवीनां कवीयमानानामादित्यरश्मीनाम्, ऋषिर्विप्राणा-मित्येष हि ऋषणो भवति विप्राणां व्यापनकर्मणामादित्यरश्मीनां, महिषो मृगाणामित्येष हि महान् भवति मृगाणां मार्गनकर्मणामादित्यरश्मीनां, श्येनो गृध्राणामिति श्येन आदित्यो भवति श्यायतेर्गतिकर्मणः, गृध्र आदित्यो भवति गृध्यतेः स्थानकर्मणो यत एतस्मिंस्तिष्ठति, स्वधितिर्वनानामित्येष हि स्वयं कर्माण्यादित्यो धत्ते वनानां वननकर्मणामादित्यरश्मीनां, सोमः पवित्रमत्येति रेभन्नित्येष हि पवित्रं रश्मीनामत्येति स्तूयमानः । एष एवैतत् सर्वमक्षरमित्यधिदैवतम् ।।

---

१. ऋ० ९।९६।६ ।

अथाध्यात्मम्– ब्रह्मा देवानामित्ययमपि ब्रह्मा भवति देवानां देवनकर्मणामिन्द्रियाणाम्, पदवीः कवीनामित्ययमपि पदं वेति कवीयमानानामिन्द्रियाणाम्, ऋषिर्विप्राणामित्ययमप्यृषणो भवति विप्राणां व्यापनकर्मणामिन्द्रियाणाम्, महिषो मृगाणामित्ययमपि महान् भवति मृगाणां मार्गणकर्मणामिन्द्रियाणाम्, श्येनो गृध्राणामिति श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः गृध्राणीन्द्रियाणि गृध्यतेर्ज्ञानकर्मणो यत एतस्मिंस्तिष्ठति, स्वधितिर्वनानामित्ययमपि स्वयं कर्माण्यात्मनि धत्ते वनानां वननकर्मणामिन्द्रियाणाम्, सोमः पवित्रमत्येति रेभन्नित्ययमपि पवित्रमिन्द्रियाण्यत्येति स्तूयमानः। अयमेवैतत् सर्वमनुभवतीत्यात्मगतिमाचष्टे ।।] निरु० १४।१३।

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः ।।२।।

भावार्थः– जगति यस्मिन् गुणे कर्मणि वा यान्युत्कृष्टतमानि वस्तूनि सन्ति तानि तस्मिन् गुणे कर्मणि वा कथञ्चित् परमात्मन उपमानानि कथ्यन्ते । वस्तुतस्तु परमात्मनः सर्वातिशायित्वात् तदुपमानं लोके नोपलब्धुं शक्यते ।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा के गुण-कर्म वर्णित हैं।

पदार्थ– **देवानाम्** विद्वान् ऋत्विजों के मध्य में **ब्रह्मा** ब्रह्मा के समान मुख्य, **कवीनाम्** मेधावी काव्यकारों के मध्य में **पदवीः** पदप्रयोग के ज्ञाता के समान प्रवीण, **विप्राणाम्** ज्ञानी ब्राह्मणों के मध्य में **ऋषिः** ऋषि कोटि के मनुष्य के समान द्रष्टा, **मृगाणाम्** पशुओं के मध्य में **महिषः** भारी बोझ को ढोने में समर्थ भैंसे के समान जगत् के भार को वहन करने वाला, **गृध्राणाम्** गिद्ध पक्षियों के मध्य में **श्येनः** बाज के समान शीघ्र गति से शत्रुओं का उच्छेद करने वाला, **वनानाम्** मेघ-जलों के मध्य में **स्वधितिः** विद्युद्वज्र के समान ज्योतिष्मान् **सोमः** सर्वोत्पादक परमेश्वर **रेभन्** उपदेश देता हुआ **पवित्रम्** पवित्र मन को **अति** लांघकर **एति** जीवात्मा को प्राप्त होता है ।।२।।

इस मन्त्र में लुप्तोपमालंकार है ।।२।।

भावार्थ– संसार में जिस गुण या कर्म में जो सबसे अधिक उत्कृष्ट वस्तुएं हैं वे उस गुण या कर्म में कथंचित् परमात्मा का उपमान कह दी जाती हैं। वास्तव में तो क्योंकि परमात्मा सबसे बड़ा है, अतः उसका उपमान लोक में मिलना संभव नहीं है ।।२।।

अथोपास्योपासकविषयमाह ।

१ २ ३ २ ३ २उ ३ २३ २ ३ १ २ ३ २
९४५. **प्रावीविपद्वाच ऊर्मिं न सिन्धुर्गिर स्तोमान् पवमानो मनीषाः ।**

३ १र २र ३ २३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
अन्तः पश्यन् वृजनेमावराण्या तिष्ठति वृषभो गोषु जानन् ।।३।।[1]

३ २ ३ २ १ २र १२र १ २र १२र ३ २
प्र अवीविपत् वाचः ऊर्मिम् न सिन्धुः । गिरः स्तोमान् पवमानः मनीषाः ।

३ १ २ १ २र ३ १ २ ३ २ १२र ३ २ १२र ३ २
अन्तरिति पश्यन् वृजना इमा अवराणि । आ तिष्ठति वृषभः गोषु जानन् ।।३।।

पदार्थः– **सिन्धुः** समुद्रः **ऊर्मिं न** तरङ्गं यथा प्रेरयति तथा उपासकः परमात्मानं प्रति **वाचः** स्तुतिगिरः **प्रावीविपत्**[2] प्रेरयति। परमात्मा च तस्य **गिरः** स्तुतिवाचः **स्तोमान्** समूहान् **मनीषाः** धियश्च **पवमानः** पवित्री-

---

१. ऋ० ९।९६।७, 'गिर स्तोमान्' इत्यत्र 'गिरः सोमः' इति पाठः ।

२. प्रावीविपत् प्रकर्षेण वेपयति प्रेरयति-इति सा०।

कुर्वन् भवति । ततः **वृषभः** स्तुतिवर्षकः उपासकः **गोषु जानन्**[1] गवाम् इन्द्रियाणां विषये जानन् इन्द्रियाणि पराञ्चि भवन्तीति जानन्नित्यर्थः । [पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूरित्युक्तेः । कठ० उ० २।४।१।] **अन्तः पश्यन्** अन्तर्दृष्टिं कुर्वन् **इमा** इमानि **अवराणि** बाह्यानि **वृजना**[2] वृजनानि विषयभोगानां बलानि । [वृजनमिति बलनाम निघं० २।९ ।] **आतिष्ठति** आक्रम्य तिष्ठति ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— मनुष्या भोगविलासेभ्यो मनो निवर्त्यान्तर्दृष्टिं विधाय परमात्मानमुपास्याऽऽनन्दिनो भवन्तु॥३॥

अस्मिन् खण्डे गुरुशिष्ययोः परमात्मनो ब्रह्मानन्दस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

अगले मन्त्र में उपास्य-उपासक का विषय है ।

पदार्थ— **सिन्धुः** समुद्र **ऊर्मिं न** जैसे लहर को प्रेरित करता है, वैसे ही उपासक परमात्मा के प्रति **वाचः** स्तुतिवाणियों को **प्रावीविपत्** प्रेरित करता है । परमात्मा उसकी **गिरः** स्तुति-वाणी के **स्तोमान्** समूहों को और **मनीषाः** बुद्धियों को **पवमानः** पवित्र करता है । तब **वृषभः** स्तुतियों की वर्षा करने वाला उपासक **गोषु जानन्** इन्द्रियों के विषय में जानता हुआ अर्थात् इन्द्रियां बाहर की ओर जाने वाली होती हैं यह जानता हुआ **अन्तः पश्यन्** अन्तर्दृष्टि करता हुआ **इमा** इन **अवराणि** बाह्य **वृजना** विषय भोगों के बलों को **आतिष्ठति** दबा देता है॥३॥

यहां उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ— मनुष्यों को चाहिए कि विषय-विलासों से मन लौटाकर अन्तर्दृष्टि करके परमात्मा की उपासना कर आनन्दयुक्त हों ॥३॥

इस खण्ड में गुरु-शिष्य, परमात्मा और ब्रह्मानन्द का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्वखण्ड के साथ संगति है ॥

पञ्चम अध्याय में षष्ठ खण्ड समाप्त ।

॥२०॥ अथ 'अग्निं वो' इत्यादिकस्य विंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** प्रयोगो भार्गवः, अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः, गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ, तयोर्वान्यतरः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २१ क्रमाङ्के परमात्मपक्षे व्याख्याता । अत्र तस्मिन्नेव विषये प्रकारान्तरेण व्याख्यायते ।

३१ २ ३१ २ ३१ २ ३१२ २ ३ २ ३ १२
९४६. **अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम् । अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥१॥**[3]

३२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ १ २र १ २र १२र
अग्निम् वः वृधन्तम् । अध्वराणाम् पुरूतमम् । अच्छ नप्त्रे सहस्वते ॥१॥

---

१. गोषु जानन्-गोशब्देन रश्मयः, ता एव नाड्यो गृह्यन्ते । बृषभो वर्षिता । गोषु अप्सु नाडीषु जानन्-इति वि० ।
२. वृजना वृजनानि छिद्राणि शरीरावस्थितानि-इति वि०।
३. ऋ० ८।१०२।७, साम० २१।

पदार्थः— हे जनाः । यूयम् **वः** युष्मान् **वृधन्तम्** वर्धयन्तम्, **अध्वराणाम्** यज्ञानाम्, परोपकाराय अनुष्ठीयमानानां कर्मणाम् **पुरूतमम्** पूरयितृतमम् **अग्निम्** ज्ञानप्रकाशकं परमेश्वरम्, उपाध्वम् इति शेषः । **नप्त्रे** न पातयित्रे, प्रत्युत उत्थापयित्रे, **सहस्वते** बलवते तस्मै अग्नये परमात्मने **अच्छ** आभिमुख्यं भजत ॥१॥

भावार्थः— सर्वैः शुभकर्मसूत्साहयिता दुष्कर्मभ्यो निवारयिता बलवानुत्कर्षकरो बलप्रदः परमेश्वरो नित्यमुपासनीयः ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में २१ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्या की जा चुकी है । यहां भी प्रकारान्तर से वही विषय दर्शाया जा रहा है ।

पदार्थ— हे मनुष्यो ! तुम **वः** तुम्हें **वृधन्तम्** बढ़ाने वाले, **अध्वराणाम्** यज्ञों के अर्थात् परोपकारार्थ किये जाने वाले कर्मों के **पुरूतमम्** अतिशय पूरक, **अग्निम्** ज्ञानप्रकाशक परमेश्वर की, उपासना करो । **नप्त्रे** पतित न होने देने वाले, अपितु उठाने वाले, **सहस्वते** बलवान् उस परमेश्वर के **अच्छ** अभिमुख होवो ॥१॥

भावार्थ— सबको चाहिए कि शुभ कर्मों में उत्साहित करने वाले, दुष्कर्मों से निवारण करने वाले, बलवान्, उत्कर्षकारी, बलप्रदाता परमेश्वर की नित्य उपासना करें ॥१॥

अथ कुतो वयं परमेश्वरस्याभिमुखाः स्यामेत्याह ।

३ १ २ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ७ ३ १ २
९४७. **अयं यथा न आभुवत् त्वष्टा रूपेव तक्ष्या । अस्य क्रत्वा यशस्वतः ॥२॥**[1]

३ २ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २ २ ३ २ ३ १ २ २
अयम् यथा नः आभुवत् आ भुवत् । त्वष्टा रूपा इव तक्ष्या ।

३ २ १ २ २ १ २ २
अस्य क्रत्वा यशस्वतः ॥२॥

पदार्थः— वयमग्निं परमेश्वरमभिमुखाः भवेम **यथा** येन **अयम्** एषः परमेश्वरः **नः** अस्मान्, अस्माकं जीवनानीत्यर्थः **आभुवत्** व्याप्नुयात् । कथमिव ? **त्वष्टा** वर्धकिः **तक्ष्या रूपा इव** तक्षणीयानि रूपाणि यथा व्याप्नोति तथा । [शेश्छन्दसि बहुलम् । अ० ६।१।७० इति शेर्लोपः ।] **यशस्वतः** कीर्तिमतः **अस्य** अग्नेः परमेश्वरस्य **क्रत्वा** क्रतुना प्रज्ञया कर्मणा वा, वयमनुगृहीताः स्याम ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— जगदीश्वरो यद्यस्माकं जीवनानि व्याप्नोति तर्हि सदैव सदसद्विवेकिनः पुण्यकर्मणः सन्तो वयं कीर्तिभाजो भवामः ॥२॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि क्यों हम परमेश्वर के अभिमुख हों ।

पदार्थ— हम परमेश्वर के अभिमुख होवें **यथा** जिससे, वह **नः** हममें, हमारे जीवनों में **आभुवत्** रम जाए, **त्वष्टा** बढ़ई **तक्ष्या रूपा इव** जैसे घड़े जाने वाले रूपों में रम जाता है । हम **यशस्वतः** यशस्वी **अस्य** इस परमेश्वर के **क्रत्वा** ज्ञान एवं कर्म से, संयुक्त होवें ॥२॥

यहां उपमालंकार है ॥२॥

---

१. ऋ० ८।१०२।८ ।

भावार्थ– जगदीश्वर यदि हमारे जीवनों में व्याप्त हो जाता है तो सदा ही अच्छे-बुरे के विवेक से युक्त हम पुण्य कर्मों को ही करते हुए कीर्तिशाली होते हैं ।।२।।

अथोपासितः परमेश्वरोऽस्मभ्यं किं करोतीत्याह ।

३।१र २र ३ २उ ३ २ ३ १ २ २उ ३।१ २
९४८. **अयं विश्वा अभि श्रियोऽग्निर्देवेषु पत्यते । आ वाजैरुप नो गमत् ।।३।।**[1]

३ २ १ २र ३ २ १२र ३ २ ३।१ २ ३ २ १ २र १२र ३
अयम् विश्वाः अभि श्रियः । अग्निः देवेषु पत्यते । आ वाजैः उप नः गमत् ।।३।।

पदार्थः– **अयम्** एषः **अग्निः** अग्रनायकः परमेश्वरः **देवेषु** उपासकेषु सदाचारिषु विद्वत्सु **विश्वाः श्रियः** सर्वाः आध्यात्मिकीः बाह्याश्च सम्पदः **अभि पत्यते** अभि प्रापयति। [पत्लृ गतौ भ्वादिः, विकरणव्यत्ययः, लुप्त-णिच्कः प्रयोगः।] सः **वाजैः** दिव्यैः ऐश्वर्यैः बलैश्च सह **नः** अस्मान् **उप गमत्** उपगच्छतु ।।३।।

भावार्थः– परमेश्वरोपासकः सर्वविधानि भौतिकान्याध्यात्मिकानि बलान्यैश्वर्याणि च स्वपुरुषार्थेन प्राप्तुमर्हति ।।३।।

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि उपासना किया गया परमेश्वर हमारे लिए क्या करता है ।

पदार्थ– **अयम्** यह **अग्निः** अग्रनायक परमेश्वर **देवेषु** उपासक सदाचारी विद्वानों में **विश्वाः श्रियः** सब आध्यात्मिक और बाह्य सम्पदाओं को **अभि पत्यते** प्राप्त कराता है । वह **वाजैः** दिव्य ऐश्वर्यों तथा बलों के साथ **नः** हमें **उप गमत्** प्राप्त होवे ।।३।।

भावार्थ– परमेश्वर का उपासक सब प्रकार के भौतिक एवं आध्यात्मिक बल और ऐश्वर्य अपने पुरुषार्थ से पाने योग्य हो जाता है ।।३।।

।।२१।। अथ 'इममिन्द्र' इत्यादिकस्यैकविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गोतमो राहूगणः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** अनुष्टुप् । स्वरः गान्धारः ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३४४ क्रमाङ्के उपास्योपासकविषये गुरुशिष्यविषये च व्याख्याता । अत्र जीवात्मविषयो वर्ण्यते ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
९४९. **इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम् ।**

३ १ २ ३क २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन् धारा ऋतस्य सादने ।।१।।[2]

३ २ ३ २ ३ १ २र १ २र ३ १२र
इमम् इन्द्र सुतम् पिब । ज्येष्ठम् अमर्त्यम् अ मर्त्यम् मदम् ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २र ३ १ २ १ २र
शुक्रस्य त्वा अभि अक्षरन् । धाराः ऋतस्य सादने ।।१।।

---

१. ऋ० ८।१०२।९ ।

२. ऋ० १।८४।४, साम० ३४४ ।

सत्यस्य सदने तव हृदये **शुक्रस्य** प्रदीप्तस्य वीररसस्य पवित्रस्य भक्तिरसस्य च **धाराः** प्रवाहाः **त्वा अभि** त्वां प्रति **अक्षरन्** क्षरन्ति ॥१॥[1]

भावार्थः— स्वान्तरात्मानं वीरतातरङ्गैर्भक्तिरसतरङ्गैश्चाप्लाव्य दुर्दान्तान् दुर्गुणदुर्व्यसनादीन् दुष्टजनांश्च विद्राव्य देवासुरसंग्रामे विजयः सर्वैः प्राप्तव्यः ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ३४४ क्रमांक पर उपास्य- उपासक और गुरु-शिष्य के विषय में व्याख्यात हुई थी । यहां जीवात्मा का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** विघ्नों के विदारण करने में समर्थ जीवात्मन् ! तू **इमम्** इस **सुतम्** उत्पन्न हुए, **ज्येष्ठम्** अतिशय प्रशंसनीय, **अमर्त्यम्** अमर **मदम्** उत्साहप्रद वीररस और भक्तिरस का **पिब** पान कर । **ऋतस्य सादने** सत्य के सदन तेरे हृदय में **शुक्रस्य** प्रदीप्त वीर रस की और पवित्र भक्तिरस की **धाराः** धाराएं **त्वा अभि** तेरे प्रति **अक्षरन्** क्षरित हो रही हैं ॥१॥

भावार्थ— अपने आत्मा को वीरता की और भक्तिरस की तरंगों से आप्लावित करके, सब दुर्दान्त दुर्गुण, दुर्व्यसन आदियों को और दुष्टजनों को भगा कर देवासुरसंग्राम में विजय सबको प्राप्त करनी चाहिए॥१॥

अथ पुनर्जीवात्मा सम्बोध्यते ।

२ ३ २३ १२३ २३ १२ ३ १ २ ३ १ २
९५०. **न किष्ट्वद्रथीतरो हरी यदिन्द्र यच्छसे ।**

२ ३ १२ ३ २ ३ २ ३ १ २
न किष्ट्वानु मज्मना न किः स्वश्व आनशे ॥२॥[2]

२ ३ २ ३ १२ ३र१ २ ३ १ २र
न किः त्वत् रथीतरः । हरीइति यत् इन्द्र यच्छसे ।

३ १२र ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र ३
न किः त्वा अनु मज्मना। न किः स्वश्वः सु अश्वः आनशे ॥२॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** विघ्नविद्रावक जीवात्मन् ! **न किः** न को ऽपि **त्वत्** त्वदपेक्षया **रथीतरः** अतिशयेन प्रशस्तः रथारोही अस्ति, **यत्** यस्मात्, त्वम् **हरी** ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपौ अश्वौ **यच्छसे** देहरथे नियन्त्रयसि । **न किः** न कश्चित् **त्वा** त्वाम् **मज्मना** बलेन । [मज्म इति बलनाम । निघं० २।९ ।] **अनु** अनुकरोति । **न किः** नैव कश्चित् **स्वश्वः** शोभनाश्वः अपि **आनशे** त्वां व्याप्नोति, त्वत्तुल्योऽस्तीति भावः ॥२॥[3]

भावार्थः— प्रोद्बोधितो जीवात्मा यदा वीररसं स्वात्मनि सञ्चारयति तदा न कोऽप्यन्यस्तत्तुल्यतां कर्तुमर्हति ॥२॥

पुनः जीवात्मा को सम्बोधन किया गया है ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** विघ्नों को विदीर्ण करने वाले जीवात्मन् ! **न किः** कोई भी नहीं **त्वत्** तेरी अपेक्षा **रथीतरः** अधिक प्रशस्त रथारोही है, **यत्** क्योंकि, तू **हरी** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-रूप घोड़ों को **यच्छसे** शरीररूप रथ में नियन्त्रित किये रखता है । **न किः** कोई भी नहीं **त्वा** तेरी **मज्मना** बल में **अनु** बराबरी करता है । **न किः** कोई भी नहीं **स्वश्वः** उत्कृष्ट घोड़ों वाला भी **आनशे** तेरे बराबर हो सकता है ॥२॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं सेनाध्यक्षविषये व्याख्यातः ।

२. ऋ० १।८४।६ ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सभाध्यक्षसेनाध्यक्षविषये व्याख्यातवान् ।

भावार्थ– प्रोद्बोधन दिया हुआ जीवात्मा जब वीररस को अपने अन्दर संचारित करता है तब कोई भी अन्य उसकी बरावरी नहीं कर सकता ।।२।।

अथ पुनर्जीवात्मोद्बोधनविषयमाह ।

१ २ ३१२ ३ १ २
९५१. **इन्द्राय नूनमर्चतोक्थानि च ब्रवीतन ।**
३ १ २ ३१२३ १ २ ३ १ २
सुता अमत्सुरिन्दवो ज्येष्ठं नमस्यता सहः ।।३।।[1]
१ २र ३२ ३ १ २ ३
इन्द्राय नूनम् अर्चत । उक्थानि च ब्रवीतन ब्रवीत न ।
२ ३ १२र १ २र ३ १ २र
सुताः अमत्सुः इन्दवः । ज्येष्ठम् नमस्यत सहः ।।३।।

पदार्थः– हे मनुष्याः ! यूयम् **इन्द्राय** स्वान्तरात्मने **नूनम्** अवश्यम् **अर्चत** स्तुत, **उक्थानि च** उद्बोधनगीतानि च **ब्रवीतन** उच्चारयत । **सुताः** प्रेरिताः **इन्दवः** वीररसाः भक्तिरसाश्च, तम् **अमत्सुः** हर्षयेयुः उत्साहयेयुः । [मदी हर्षे, लिङर्थे लुङ् ।] अस्य इन्द्रस्य जीवात्मनः **ज्येष्ठम्** वृद्धतमम् **सहः** बलम्, यूयम् **नमस्यत** प्रशंसत ।।३।।[2]

भावार्थः– मनुष्यस्याऽऽत्मनि महद् बलं निहितमस्ति, तमुद्बोध्य प्रभुभक्त्या च संमार्ज्य सर्वाणि कार्याणि साद्धुं शक्यन्ते ।।३।।

अगले मन्त्र में पुनः जीवात्मा के उद्बोधन का विषय है ।

पदार्थ– हे मनुष्यो ! तुम **इन्द्राय** अपने अन्तरात्मा की **नूनम्** अवश्य **अर्चत** स्तुति करो, **उक्थानि च** और उद्बोधनगीतों को **ब्रवीतन** उच्चारण करो । **सुताः** प्रेरित **इन्दवः** वीररस और भक्तिरस तुम्हारे अन्तरात्मा को **अमत्सुः** हर्षित और उत्साहित करें । इस आत्मा के **ज्येष्ठम्** ज्येष्ठ **सहः** बल की, तुम **नमस्यत** प्रशंसा करो।।३।।

भावार्थ– मनुष्य के अपने अन्तरात्मा में महान् बल निहित है । उसे उद्बोधन देकर और प्रभुभक्ति से मांजकर सब कार्य सिद्ध किये जा सकते हैं ।।३।।

।।२२।। अथ 'इन्द्र जुषस्व' इत्यादिकस्य द्वाविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भृगुराथर्वणः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** बृहती । **स्वरः** मध्यमः ।।

अथ जीवात्मविषय उच्यते ।

१ २ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
९५२. **इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिह ।**
१ २ ३१ २ ३ १र २र ३२उ ३ १ २
पिबा सुतस्य मतिर्न मधोश्चकानश्चारुर्मदाय ।।१।।[3]
१ २र ३१ २ ३ २ ३ १ २र १ २र ३१ २ ३ २ १ २र
इन्द्र जुषस्व प्र वह । आ याहि शूर हरिह । पिब सुतस्य मतिः न मधोः ।
३ २ १२र १ २र
चकानः चारुः मदाय ।।१।।

---

१. ऋ० १।८४।५ ।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरिममपि मन्त्र सभाध्यक्षसेनाध्यक्षविषये व्याख्यातवान् ।
३. अथ० २।५।१, 'हरिह' 'मतिर्न' इत्यत्र क्रमेण 'हरिभ्याम्' 'मतेरिह' इति पाठः ।

पदार्थः— हे इन्द्र जीवात्मन्! त्वम् **जुषस्व** प्रीयस्व, **प्र वह** देहयात्रां प्रकर्षेण वह। हे **शूर** वीर, हे **हरिह** ज्ञानेन्द्रियः कर्मेन्द्रियाभ्यां व्यवहर्तः! [हरिभ्यां ज्ञानकर्मेन्द्रियाभ्यां हन्ति गच्छति व्यवहरतीति हरिहा, तत्संबुद्धौ।] त्वम् **आ याहि** आगच्छ। त्वम् **सुतस्य** अभिषुतस्य वीररसस्य **पिब** पानं कुरु। **मतिः न** मेधावी पुरुष इव। [मतिरिति मेधाविनाम। निघं० ३।१५।] **चारुः** श्रेष्ठः त्वम् **मदाय** उत्साहाय **मधोः** मधुरस्य भक्तिरसस्य **चकानः** कामयमानः भव ॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— मनुष्यस्यात्मा वीररसं पीत्वोत्साहवान् भूत्वा भक्तिरसतरङ्गैस्तरङ्गितो भूत्वा कठिनतमान्यपि कार्याणि कर्तुं शक्नोति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में जीवात्मा का विषय है।

पदार्थ— हे **इन्द्र** जीवात्मन्! तू **जुषस्व** प्रसन्न हो, **प्र वह** शरीरयात्रा को भली-भांति वहन कर। हे **शूर** वीर, हे **हरिह** ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियों से व्यवहार करने वाले! तू **आ याहि** आ। तू **सुतस्य** तैयार हुए वीररस का **पिब** पान कर। **मतिः** न मेधावी पुरुष के समान **चारुः** श्रेष्ठ तू **मदाय** उत्साह के लिए **मधोः** मधुर भक्ति-रस का **चकानः** प्रेमी बन ॥१॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— मनुष्य का आत्मा वीररस का पान कर, उत्साहवान् होकर, भक्तिरस की तरंगों से तरंगित होकर कठिन से कठिन कार्यों को कर सकता है ॥१॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह।

१ २ ३ २३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
९५३. इन्द्र जठरं नव्यं न पृणस्व मधोर्दिवो न।
३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्य सुतस्य स्वा३र्नोप त्वा मदाः सुवाचो अस्थुः ॥२॥[1]
१ २र ३ १ २ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १र
इन्द्र जठरं नव्यम् न। पृणस्व मधोः दिवः न। अस्य सुतस्य स्वः न।
१२र ३ १ २र ३ १ २ ३
उप त्वा मदाः सुवाचः अस्थुः ॥२॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** जीवात्मन्! **दिवः न मधोः** अन्तरिक्षादागतस्य मधुरस्य वृष्टिजलस्य इव मधुरस्य ब्रह्मानन्दरसस्य भागेन त्वम् **न** सम्प्रति **नव्यं न** नवीनमिव **जठरम्** स्वकीयमुदरम्, स्वात्मानमित्यर्थः **पृणस्व** तर्पय। **स्वः न** सूर्यादिव जगदीश्वरात् **सुतस्य** अभिषुतस्य **अस्य** ब्रह्मानन्दरसस्य **सुवाचः** शोभना वाचः स्तुतिगिरः यैः प्रेर्यन्ते तादृशाः **मदाः** तृप्तयः **त्वा उप अस्थुः** त्वाम् उपस्थिताःभवन्तु ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः। 'नव्यं न' इत्युत्प्रेक्षा। नित्यः पुरातनोऽप्यात्मा नूतनं देहं संधार्य नूतन इव जायते॥२॥

भावार्थः—मनुष्यस्यात्मा ब्रह्मानन्दरसेन तृप्तो भूत्वा स्वयं सुखशान्तिमधिगम्य परेभ्योऽपि प्रयच्छेत्॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः जीवात्मा का ही विषय है।

---

१. अथ० २।५।२, 'नव्यं न' इत्यत्र 'नव्यो न', 'स्वा३र्नोप' इत्यत्र च 'स्वर्१णोप' इति पाठः।

पदार्थ– हे **इन्द्र** जीवात्मन् ! **दिवः न मधोः** अन्तरिक्ष से प्राप्त मधुर वृष्टिजल के समान मधुर ब्रह्मानन्दरस के अंश से, तू **नव्यं न** नवीनसदृश **जठरम्** अपने उदर को अर्थात् स्वयं को **पृणस्व** तृप्त कर । **स्वः न** सूर्य के सदृश जगदीश्वर के पास से **सुतस्य** अभिषुत **अस्य** इस ब्रह्मानन्दरस की **सुवाचः** शुभ स्तुति-वाणियों को प्रेरित करने वाली **मदाः** तृप्तियां **त्वा उप अस्थुः** तेरे संमुख उपस्थित हों ।।२।।

यहां उपमालंकार है । 'नव्यं न' में उत्प्रेक्षा है, नित्य पुरातन भी आत्मा नवीन शरीर को धारण कर मानो नवीन हो जाता है ।।२।।

भावार्थ– मनुष्य का आत्मा ब्रह्मानन्द-रस से तृप्त होकर स्वयं सुख-शान्ति प्राप्त करके दूसरों को भी प्रदान करे ।।२।।

अथ जीवात्मनः कार्याणि वर्ण्यन्ते ।

१ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २उ ३ २
९५४. **इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो न जघान वृत्रं यतिर्न ।**

३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
बिभेद वलं भृगुर्न ससाहे शत्रून् मदे सोमस्य ।।३।।[1]

१ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २र
इन्द्रः तुराषाट् मित्रः मि त्रः न । जघान वृत्रम् यतिः न ।

३ १ २ ३ २ १ २र ३ २ १ २र १ २र १ २र
बिभेद वलम् भृगुः न । ससाहे शत्रून् मदे सोमस्य ।।३।।

पदार्थः– **इन्द्रः** मनुष्यस्यात्मा **मित्रः न** सूर्यः इव **तुराषाट्** सत्वरं विघ्नानां पराजेता भवति । [छन्दसि सहः अ० ३।२।६३ इति सहेर्ण्विः प्रत्ययः । सहेः साढः सः' । अ० ८।३।५६ इति षत्वम् । तूरं तुर्णं सहते अभिभवति विघ्नादीनिति तुराषाट् ।] **यतिः न** संन्यासी इव **वृत्रं** पापदुर्व्यसनादिकं **जघान** हन्ति । **भृगुः न** तपस्वी इव । [भृज्जति तपसा शरीरमिति भृगुः । भ्रस्ज पाके धातोः 'प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च उ० १।२८ इति कुः प्रत्ययो धातोः सकारस्य लोपश्च] **वलम्** आच्छादकम् अज्ञानम् । [वल संवरणे ।] **बिभेद** भिनत्ति । अपि च **सोमस्य** वीर-रसस्य **मदे** उत्साहे **शत्रून्** आन्तरान् बाह्यांश्च रिपून् **ससहे** अभिभवति। [जघान, बिभेद, ससाहे इति सर्वत्र वर्तमानेऽर्थे लिट्]।।३।।

अत्र मालोपमालङ्कारः ।।३।।

भावार्थः– वीररसस्य मदे मनुष्यस्यात्मा निखिलान्यज्ञानविघ्नपापादीनि पराजेतुं प्रभवति ।।३।।

अस्मिन् खण्डे परमात्मजीवात्मनोर्विषयस्य वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ।।

अगले मन्त्र में जीवात्मा के कार्यों का वर्णन है।

पदार्थ– **इन्द्रः** मनुष्य का आत्मा **मित्रः न** सूर्य के समान **तुराषाट्** शीघ्रता के साथ विघ्नों को पराजित करता है, **यतिः न** संन्यासी के समान **वृत्रम्** पाप, दुर्व्यसन आदि को **जघान** नष्ट करता है, **भृगुः न** तपस्वी के समान **वलम्** आच्छादक अज्ञान को **बिभेद** छिन्न भिन्न करता है, और **सोमस्य** वीररस के **मदे** उत्साह में **शत्रून्** आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं को **ससहे** परास्त करता है ।।३।।

यहां मालोपमा अलंकार है ।।३।।

---

१. अथ० २।५।३, 'इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न' इति पूर्वार्धपाठः, उत्तरार्धे 'ससाहे' इत्यत्र 'ससहे'।

भावार्थ– वीररस के मद में मनुष्य का आत्मा सब अज्ञान, विघ्न, पाप आदियों को पराजित करने में समर्थ हो जाता है ।।३।।

इस खण्ड में परमात्मा और जीवात्मा के विषय का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ।।

पञ्चम अध्याय में सप्तम खण्ड समाप्त ।

पञ्चम अध्याय समाप्त ।

तृतीय प्रपाठक में प्रथम अर्ध समाप्त ।

अथ षष्ठोऽध्यायः तृतीये प्रपाठके द्वितीयोऽर्धर्च

।।१।। तत्र 'गोवित्पवस्व' इत्यादिकस्य प्रथमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषयः** अकृष्टा माषाः, सिकता निवावरी, पृश्नयोऽजास्त्रय ऋषिगणाः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** जगती । **स्वरः** निषादः ।।

अथ सोमनाम्ना परमात्मविषयो वर्ण्यते ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
९५५. **गोवित्पवस्व वसुविद्धिरण्यविद्रेतोधा इन्दो भुवनेष्वर्पितः ।**

२ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३१र २र
त्वं सुवीरो असि सोम विश्ववित्तं त्वा नर उप गिरेम आसते ।।१।।[1]

३ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ २ ३ २
गोवित् गो वित् पवस्व वसुवित् वसु वित् हिरण्यवित् हिरण्य वित् ।

३ २ ३ २ ३ १२र १ २र
रेतोधाः रेतः धाः इन्दो भुवनेषु अर्पितः ।

३ १२ ३ १२र ३ २ ३
त्वम् सुवीरः सु वीरः असि सोम विश्ववित् विश्व वित् ।

३ १२र १२र ३ २ ३ २ ३
तम् त्वा नरः उप गिरा इमे आसते ।।१।।

पदार्थः— हे **इन्दो** तेजस्विन् ऐश्वर्यवर्षक परमात्मन् ! **गोवित्** गवां लम्भकः, **वसुवित्** धनानां लम्भकः, **हिरण्यवित्** सुवर्णानां लम्भकश्च त्वम् **पवस्व** अस्मान् पुनीहि । **रेतोधाः** वीर्यप्रदाता त्वम् **भुवनेषु** लोकेषु **अर्पितः** व्याप्तः असि । हे **सोम** सर्वोत्पादक परमात्मन् ! **त्वम् सुवीरः** श्रेष्ठानां वीराणां प्रापकः **विश्ववित्** सर्वज्ञः च **असि** वर्तसे । **तं त्वा** तादृशं त्वाम् **इमे** एते **नरः** उपासकाः जनाः **गिरा** स्तुतिवाचा **उप आसते** उप- तिष्ठन्ते ।।१।।

भावार्थः— जगदीश्वरेणैवास्माकमुपयोगाय बहुमूल्याः सर्वे पदार्था निश्शुल्कं प्रदत्ताः सन्ति । एतावदुपकारकः स कृतज्ञतयाऽस्माभिः कुतो न स्मरणीयः ।।१।।

प्रथम मन्त्र में सोम नाम से परमात्मा का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ— हे **इन्दो** तेजस्वी तथा ऐश्वर्य की वर्षा करने वाले परमात्मन् ! **गोवित्** गौएं प्राप्त कराने वाले, **वसुवित्** धन प्राप्त कराने वाले और **हिरण्यवित्** सुवर्ण प्राप्त कराने वाले आप **पवस्व** हमें पवित्र करें **रेतोधाः**

---

१. ऋ० ९।८६।३९ 'नर' इत्यत्र 'विप्रा' इति पाठः ।

वीर्यप्रदाता आप **भुवनेषु** लोकों में **अर्पितः** व्याप्त हो । हे **सोम** सर्वोत्पादक परमात्मन् ! **त्वम्** आप **सुवीरः** श्रेष्ठ वीर प्राप्त कराने वाले और **विश्ववित्** सर्वज्ञाता **असि** हो । **तं त्वा** ऐसे आपकी **इमे** ये **नरः** उपासक जन **गिरा** स्तुतिवाणी से **उप आसते** उपासना कर रहे हैं ।।१।।

भावार्थ– जगदीश्वर ने ही हमारे उपयोग के लिए बहुमूल्य सब पदार्थ निःशुल्क दिये हुए हैं । ऐसे उपकारक उसको हम कृतज्ञता के साथ स्मरण क्यों न करें ?।।१।।

अथ पुनः परमात्मन एव विषयमाह ।

९५६. **त्वं नृचक्षा असि सोम विश्वतः पवमान वृषभ ता वि धावसि ।**
स नः पवस्व वसुमद्धिरण्यवद्वयं स्याम भुवनेषु जीवसे ।।२।।[1]

त्वम् नृचक्षाः नृ चक्षाः असि सोम विश्वतः । पवमान वृषभ ता वि धावसि ।
सः नः पवस्व वसुमत् हिरण्यवत् । वयम् स्याम भुवनेषु जीवसे ।।२।।

पदार्थः– हे **सोम** सर्वजगदुत्पादक शुभगुणप्रेरक परमात्मन् ! **त्वम् विश्वतः** सर्वतः **नृचक्षाः** सर्वेषां नृणां द्रष्टा **असि** वर्तसे । हे **पवमान** पवित्रकर्तः, **वृषभ** सुखवर्षक ! त्वम् **ता** तानि दृश्यमानानि **सर्वाणि वस्तूनि वि धावसि** व्याप्नोषि। **सः** तादृशः त्वम् **वसुमत्** वासकधनयुक्तम्, **हिरण्यवत्** सुवर्णयुक्तं **ज्योतिर्युक्तंवर्चोयुक्तं** यशोयुक्तं च ऐश्वर्यम् । [ज्योतिर्वै हिरण्यम् ! तां० ब्रा० ६।६।१०, वर्चो वै हिरण्यम् । तै० ब्रा० १।८।९।१, यशो वै हिरण्यम् । ऐ० ब्रा० ७।१८।] **नः** अस्मभ्यम् **पवस्व** प्रापय । **वयम् भुवनेषु** भूलोकेषु **जीवसे** जीवितुम् **स्याम** प्रभवेम।।२।।

भावार्थः– यः परमेश्वरः सर्वद्रष्टा सर्वान्तर्यामी धनधान्यरजतसुवर्णसज्यादिप्रदो ज्योतिष्प्रदो यशस्प्रद आरोग्यप्रदो दीर्घायुष्प्रदश्चास्ति तमुपास्य तद्रक्षणे तन्मार्गप्रदर्शने च वयं सदैव वर्तेमहि ।।२।।

आगे पुनः परमात्मा का ही विषय है ।

पदार्थ– हे **सोम** सब जगत् को उत्पन्न करने वाले, शुभ गुणों के प्रेरक परमात्मन् ! **त्वम्** आप **विश्वतः** सब ओर **नृचक्षाः** सब मनुष्यों के द्रष्टा **असि** हो । हे **पवमान** पवित्रकर्ता ! हे **वृषभ** सुखों की वर्षा करने वाले ! आप **ता** उन दृश्यमान सब वस्तुओं में **विधावसि** व्याप्त हो । **सः** वह आप **वसुमत्** निवासक धन से युक्त, **हिरण्यवत्** सुवर्ण से युक्त ज्योति से युक्त, वर्चस् से युक्त और यश से युक्त ऐश्वर्य को **नः** हमारे लिए **पवस्व** प्राप्त कराओ । **वयम्** हम **भुवनेषु** भूलोकों में **जीवसे** जीने के लिए **स्याम** समर्थ हों ।।२।।

भावार्थ– जो परमेश्वर सर्वद्रष्टा, सर्वान्तर्यामी, धन-धान्य-चांदी-सोना-राज्य आदि देने वाला, ज्योति-प्रदाता, कीर्तिप्रदाता, आरोग्यप्रदाता और दीर्घायुप्रदाता है उसकी उपासना करके उसके रक्षण तथा मार्ग-प्रदर्शन में हम सदा ही रहें ।।२।।

---

१. ऋ० ९।८६।३८ ।

अथ पुनः स एव विषयो वर्ण्यते ।

९५७. ईशान इमा भुवनानि ईयसे युजान इन्दो हरितः सुपर्ण्यः ।
तास्ते क्षरन्तु मधुमद् घृतं पयस्तव व्रते सोम तिष्ठन्तु कृष्टयः ॥३॥[1]

ईशानः इमा भुवनानि ईयसे । युजानः इन्दो हरितः सुपर्ण्यः सु पर्ण्यः ।
ताः ते क्षरन्तु मधुमत् घृतम् पयः । तव व्रते सोम तिष्ठन्तु कृष्टयः ॥३॥

पदार्थः— हे **इन्दो** तेजस्विन्, चन्द्रवदाह्लादक परमात्मन् ! त्वम् **इमा भुवनानि** इमान् लोकान् **ईशानः** अधितिष्ठन् **ईयसे** व्याप्नोषि । त्वम् **सुपर्ण्यः हरितः** सुपतनान् आदित्यरश्मीन् । [हरितः इति रश्मिनाम । निघं० १।६। हरितः हरणान् आदित्यरश्मीन् इति निरुक्तम् ।४।११।] **युजानः** भूचन्द्रादिषु ग्रहोपग्रहेषु योजयन् **ईयसे** व्याप्नोषि । **ते** तव **ताः** आदित्यदीधितयः **मधुमत्** मधुरम् **घृतम्** प्रवहणशीलम् **पयः** वृष्ट्युदकम् । [पयः इत्युदकनाम । निघं० १।१२।] **क्षरन्तु** वर्षन्तु । हे **सोम** शुभगुणप्रेरक परमात्मन् ! **तव व्रते** त्वया उपदिष्टे कर्मणि **कृष्टयः**[2] प्रजाः । [कृष्टय इति मनुष्यनाम । निघं० २।३ ।] **तिष्ठन्तु** वर्तन्ताम् । [संहितायाम् 'भुवनानि ईयसे' इत्यत्र 'ईषाअक्षादीनां छन्दसि प्रकृतिभावो वक्तव्यः' । वा० ६।१।१२६ इत्यनेन प्रकृतिभावो बोध्यः] ॥३॥

भावार्थः— यः परमेश्वरः सकलं जगदुत्पाद्य तत् सम्यग् व्यवस्थापयति, यो मेघेषु जलं निदधाति वर्षति च, तदुक्तानि व्रतानि पालयन्तः सर्वे जनाः सुखिनो भवन्तु ॥३॥

आगे पुनः वही विषय है ।

पदार्थ— हे **इन्दो** तेजस्विन्, चन्द्रमा के समान आह्लाददायक परमात्मन् ! आप **इमा भुवनानि** इन लोकों के **ईशानः** अधिष्ठाता होते हुए **ईयसे** व्याप्त हो । आप **सुपर्ण्यः हरितः** तीव्र गति वाली सूर्यकिरणों को **युजानः** भूमि, चन्द्रमा आदि ग्रहोपग्रहों में जोड़ते हुए **ईयसे** व्याप्त होते हो । **ते** आपकी **ताः** वे सूर्य-किरणें **मधुमत्** मधुर, **घृतम्** प्रवाहशील **पयः** वर्षाजल को **क्षरन्तु** बरसायें । हे **सोम** शुभगुणप्रेरक परमात्मन् ! **तव व्रते** आपके उपदेश किये हुए कर्म में **कृष्टयः** प्रजाएं **तिष्ठन्तु** स्थित रहें ॥३॥

भावार्थ— जो परमेश्वर सब जगत् को उत्पन्न करके उसकी भली भांति व्यवस्था करता है, जो मेघों में जल निहित करता तथा बरसाता है, उसके बताये व्रतों का पालन करते हुए सब लोग सुखी हों ॥३॥

॥२॥ अथ 'पवमानस्य' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** कश्यपो मारीचः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ परमात्मविषयः प्रोच्यते ।

९५८. पवमानस्य विश्ववित् प्र ते सर्गा असृक्षत । सूर्यस्येव न रश्मयः ॥१॥[3]

पवमानस्य विश्ववित् विश्व वित् । प्र ते सर्गाः असृक्षत ।
सूर्यस्य इव न रश्मयः ॥१॥

---

१. ऋ० ९।८६।३७ 'ईयसे' इत्यत्र 'वीयसे' इति पाठः ।
२. कृष्टयः कवयः पण्डिताः मेधाविनः— इति वि० ।
३. ऋ० ९।६४।७ ।

पदार्थः— हे **विश्ववित्** सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामिन् जगदीश्वर ! [विश्वं वेत्ति विश्वस्मिन् विद्यते इति वा विश्ववित् ।] **पवमानस्य** पवित्रतां प्रयच्छतः **ते** तव **सर्गाः** पावन्य आनन्दधाराः **न**[1] सम्प्रति **सूर्यस्य** आदित्यस्य **रश्मयः इव** किरणाः इव **प्र असृक्षत** प्र सृज्यन्ते ॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— परमात्मनः सर्वज्ञतां सर्वव्यापकतां च विचार्य मनुष्यैः पापविचारेभ्यः पापकर्मभ्यश्च स्वात्मानमपनीय सदा पवित्रान्तःकरणैर्भाव्यम् ॥१॥

प्रारम्भ में परमात्मा का विषय कहते हैं ।

पदार्थ— हे **विश्ववित्** सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामिन् जगदीश्वर ! **पवमानस्य** पवित्रता देने वाले **ते** आपकी **सर्गाः** पावन आनन्दधाराएं **न** इस समय **सूर्यस्य** सूर्य की **रश्मयः इव** किरणों के समान **प्र असृक्षत** छूट रही हैं ॥१॥

यहां उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— परमात्मा की सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता का विचार करके मनुष्यों को पाप विचारों तथा पाप कर्मों से स्वयं को हटाकर सदा पवित्र अन्तःकरण वाला होना चाहिए ॥१॥

अथ पुनस्तमेव परमात्मानं वर्णयति ।

३ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
९५९. **केतुं कृण्वन्दिवस्परि विश्वा रूपाभ्यर्षसि । समुद्रः सोम पिन्वसे ॥२॥**[2]

३ २ ३ २ ३ २ १ २र १ २र ३ २ ३ २ ३
केतुम् कृण्वन् दिवः परि । विश्वा रूपा अभि अर्षसि ।

२ ३ २ ३
समुद्रः सम् उद्रः सोम पिन्वसे ॥२॥

पदार्थः— हे **सोम** जगदुत्पादक परमात्मन् ! त्वम् **दिवः परि** द्योतमानाद् आदित्यात् **केतुं** प्रकाशम् **कृण्वन्** कुर्वन् **विश्वा रूपा** विश्वानि रूपाणि **अभ्यर्षसि**[3] व्याप्नोषि । स त्वम् **समुद्रः** मेघः इव **पिन्वसे** रसवृष्टिं करोषि ॥२॥

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— जगदीश्वरो यथा सूर्यात् प्रकाशं पर्जन्याच्च वृष्टिं विसृजति तथैव ज्ञानप्रकाशमानन्दवृष्टिं चापि वितनोति ॥२॥

आगे फिर उसी परमात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ— हे **सोम** जगत् को उत्पन्न करने वाले परमात्मन् ! आप **दिवः परि** चमकीले सूर्य से **केतुम्** प्रकाश को **कृण्वन्** करते हुए **विश्वा रूपा** सब रूपों में **अभ्यर्षसि** व्याप्त हो । वह आप **समुद्रः** मेघ के समान **पिन्वसे** रस की वर्षा करते हो ॥२॥

---

१. न सम्प्रत्यर्थे— इति सा० ।

२. ऋ० ९।६४।८ ।

३. अभ्यर्षसि आभिमुख्येन रक्षसि-इति वि० ।

यहां लुप्तोपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ– जगदीश्वर जैसे सूर्य से प्रकाश को और बादल से वर्षा को बखेरता है, वैसे ही ज्ञान का प्रकाश और आनन्द की वर्षा भी करता है ॥२॥

अथ पुनरपि परमात्मविषयमाह ।

९६०. जज्ञानो वाचमिष्यसि पवमान विधर्मणि । क्रन्दन् देवो न सूर्यः ॥३॥[1]

जज्ञानः वाचम् इष्यसि । पवमान विधर्मणि वि धर्मणि । क्रन्दन् देवः न सूर्यः ॥३॥

पदार्थः– हे **पवमान** पवित्रताप्रदायक परमकारुणिक परमेश ! **विधर्मणि**[2] ज्ञानेच्छासुखादीनां विधारके जीवात्मनि **जज्ञानः** आविर्भवन्, **क्रन्दन्** उपदिशन् त्वम् **वाचम्** दिव्यसन्देशम् **इष्यसि** प्रेरयसि । [इष गतौ, दिवादिः ।] किञ्च, त्वम् **देवः सूर्यः न** प्रकाशकः आदित्यः इव असि ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः– सर्वेषामन्तरात्मा पूर्वमेव विद्यमानः परमेश्वरः प्राणायामधारणाध्यानादिभिः साधनैर्यदा प्रकटीक्रियते तदा स दिव्यसन्देशं श्रावयन् सूर्य इव दिव्यं प्रकाशं प्रयच्छन् मार्गदर्शको जायते ॥३॥

आगे पुनः परमात्मा का ही विषय है ।

पदार्थ– हे **पवमान** पवित्रताप्रदायक, परमकारुणिक परमेश्वर! **विधर्मणि** ज्ञान, इच्छा, सुख आदि के धारणकर्ता जीवात्मा में **जज्ञानः** प्रकट होते हुए, **क्रन्दन्** उपदेश करते हुए आप **वाचम्** दिव्य सन्देश को **इष्यसि** प्रेरित करते हो । और, आप **देवः सूर्यः न** प्रकाशक सूर्य के समान हो ॥३॥

यहां उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ– सबके अन्तरात्मा में पहले ही विद्यमान परमेश्वर प्राणायाम, धारणा, ध्यान आदि साधनों से जब प्रकट कर लिया जाता है, तब वह दिव्य सन्देश को सुनाता हुआ, सूर्य के समान प्रकाश देता हुआ मार्गदर्शक होता है ॥३॥

॥३॥ अथ 'प्र सोमासो' इत्यादिकस्य तृतीयस्य सप्तर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** असितः काश्यपो देवलो वा । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ ब्रह्मानन्दरूपान् सोमरसान् वर्णयति ।

९६१. प्र सोमासो अधन्विषुः पवमानास इन्दवः । श्रीणाना अप्सु वृञ्जते ॥१॥[3]

प्र सोमासः अधन्विषुः । पवमानासः इन्दवः । श्रीणानाः अप्सु वृञ्जते ॥१॥

---

१. ऋ० ९।६४।९, 'जज्ञानो', 'क्रन्दन्' इत्यत्र क्रमेण 'हिन्वानो', 'अक्रान्' इति पाठः ।

२. विर्धमणि विविधे कर्मणि-इति वि०।

३. ऋ० ९।२४।१, 'अप्सु मृञ्जत' इति पाठः ।

पदार्थः— पवमानासः पवित्रताप्रदायकाः **इन्दवः** दीप्ताः, रसेन क्लेदकाश्च **सोमासः** ब्रह्मानन्दरसाः **अधन्विषुः** जीवात्मानमुपगताः सन्ति ।[धन्वतिः गतिकर्मा । निघं० २।१४।] ते **श्रीणानाः**[1] तं जीवात्मानं परिपचन्तः **अप्सु** तेन क्रियमाणेषु कर्मसु **वृञ्जते** स्वात्मानं परित्यजन्ति, व्याप्नुवन्तीत्यर्थः । [वृजी वर्जने , अदादिः] ।।१।।

भावार्थः— ब्रह्मणः सकाशात् प्राप्तैरानन्दरसैः परिपक्वः पूर्णतां च गतो मनुष्यः शुभान्येव कर्माण्याचरति नाशुभानि ।।१।।

प्रथम मन्त्र में ब्रह्मानन्दरूप सोमरसों का वर्णन है ।

पदार्थ— पवमानासः पवित्रता देने वाले, **इन्दवः** दीप्त तथा रस से सराबोर करने वाले **सोमासः** ब्रह्मानन्दरस **अधन्विषुः** जीवात्मा को प्राप्त हुए हैं। वे **श्रीणानाः** उस आत्मा को परिपक्व करते हुए **अप्सु** उसके द्वारा किये जाते हुए कर्मों में **वृञ्जते** अपने आपको छोड़ते हैं अर्थात् व्याप्त होते हैं।।१।।

भावार्थ— ब्रह्म के पास से प्राप्त आनन्दरसों से परिपक्व और पूर्णता को प्राप्त मनुष्य शुभकर्मों का ही आचरण करता है, अशुभों का नहीं ।।१।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

३ १र २र ३ २ ३ २ ३१ २ ३ २ ३ १र २र
९६२. अभि गावो अधन्विषुरापो न प्रवता यतीः । पुनाना इन्द्रमाशत ।।२।।[2]

२ १२र ३ १२र ३१ २ ३ २
अभि गावः अधन्विषुः । आपः न प्रवता यतीः ।
३ २ १ २र ३
पुनानाः इन्द्रम् आशत ।।२।।

पदार्थः— प्रवता प्रवणवता देशेन **यतीः** गच्छन्त्यः, प्रवहन्त्यः **आपः न** उदकानि इव **गावः**[3] गतिमयाः सक्रियाः ब्रह्मानन्दसोमधाराः **अभि अधन्विषुः** जीवात्मानं प्रति धावन्ति । **पुनानाः** पवित्रतां कुर्वाणाः ताः **इन्द्रम्** जीवात्मानम् **आशत** व्याप्नुवन्ति ।।२।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।२।।

भावार्थः— आपो यथा निम्नप्रदेशं प्रति धावन्त्यस्तं पवित्रयन्ति तथैव ब्रह्मानन्द नम्रं जीवात्मानं प्रति द्रवन्तस्तं पुनन्ति ।।२।।

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— प्रवता ढालू प्रदेश पर **यतीः** बहते हुए **आपः न** जलों के समान **गावः** गतिमय अर्थात् सक्रिय ब्रह्मानन्दरूप सोमरस की धाराएं **अभि अधन्विषुः** जीवात्मा की ओर दौड़ रही हैं। **पुनानाः** पवित्रता करती हुई वे **इन्द्रम्** जीवात्मा को **आशत** व्याप्त कर रही हैं ।।२।।

यहां उपमालंकार है।।२।।

भावार्थ— जल जैसे निचले प्रदेश की ओर दौड़ते हुए उस प्रदेश को पवित्र करते हैं वैसे ही ब्रह्मानन्द नम्र जीवात्मा के प्रति दौड़ते हुए उसे पवित्र करते हैं।।२।।

---

१. श्रीणानाः श्रीणनं मिश्रणं, मिश्रयमाणाः-इति वि० ।

२. ऋ० ९।२४।२ ।

३. गावः आदित्यरश्मयः उदकानि सोमरसा गावश्च-इति वि०।

अथ परमात्मानं सम्बोधयति ।

९६३. प्र पवमान धन्वसि सोमेन्द्राय मादनः । नृभिर्यतो वि नीयसे ॥३॥[1]

प्र पवमान धन्वसि । सोम इन्द्राय मादनः । नृभिः यतः वि नीयसे ॥३॥

पदार्थः— हे **पवमान** पवित्रतां कुर्वाण **सोम** आनन्दरसागार परमात्मन् ! **इन्द्राय** जीवात्मने **मादनः** आनन्दकरः त्वम् **प्र धन्वसि** तं प्राप्नोषि । **नृभिः** उपासकैः नरैः **यतः**[2] गृहीतः, ध्यातः त्वम् **वि नीयसे** विशेषेण हृदयदेशं प्राप्यसे ॥३॥

भावार्थः— अरण्योर्व्याप्तोऽप्यग्निर्यथाऽऽविर्भावाय मन्थनमपेक्षते तथैव हृदये जीवात्मनि च पूर्वत एव विद्यमानोऽपि परमेश्वर आविर्भावाय ध्यानमपेक्षते ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा को सम्बोधन है ।

पदार्थ— हे **पवमान** पवित्रता करने वाले **सोम** आनन्दरस के भण्डार परमात्मन् ! **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए **मादनः** आनन्ददायक आप **प्र धन्वसि** उसे प्राप्त होते हो । **नृभिः** उपासक नरों से **यतः** ध्यान किये हुए आप **वि नीयसे** विशेष रूप से हृदयप्रदेश में ले जाये जाते हो ॥३॥

भावार्थ— अरणियों में व्याप्त भी अग्नि जैसे प्रकट होने के लिए मन्थन की अपेक्षा रखता है, वैसे ही हृदय और जीवात्मा में पहले से ही विद्यमान भी परमेश्वर प्रकट होने के लिए ध्यान की अपेक्षा करता है॥३॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

९६४. इन्दो यदद्रिभिः सुतः पवित्रं परिदीयसे । अरमिन्द्रस्य धाम्ने ॥४॥[3]

इन्दो यत् अद्रिभिः अ द्रिभिः सुतः । पवित्रम् परिदीयसे परि दीयसे ।
अरम् इन्द्रस्य धाम्ने ॥४॥

पदार्थः— हे **इन्दो** रसागार, चन्द्रवदाह्लादक परमेश ! **यत्** यदा **अद्रिभिः** पाषाणैरिव ध्यानैः **सुतः** अभिषुतः त्वम् **पवित्रम्** परिपूतं हृदयदेशम् **परि दीयसे** परिगच्छसि, व्याप्नोषि। [दीयते गतिकर्मा। निघं०२।१४।] तदा **इन्द्रस्य** जीवात्मनः **धाम्ने** तेजसे, जीवात्मानं तेजसा दीपयितुमिति भावः **अरम्** पर्याप्तं भवसि॥४॥

भावार्थः— ध्यानेन प्रकटीकृतः परमेश्वरो जीवात्मानं तेजसा ब्रह्मवर्चसेन चानुप्राणयति ॥४॥

अगले मन्त्र में पुनः वही विषय है ।

पदार्थ— हे **इन्दो** रस के भण्डार, चन्द्रमा के समान आह्लाददायक परमेश्वर ! **यत्** जब **अद्रिभिः** सिल-बट्टों के तुल्य ध्यानों से सुतः अभिषुत आप **पवित्रम्** पवित्र हृदय-देश में **परि दीयसे** व्याप्त होते हो, तब **इन्द्रस्य** जीवात्मा के **धाम्ने** तेज के लिए, अर्थात् जीवात्मा को तेज से प्रदीप्त करने के लिए **अरम्** पर्याप्त होते हो॥४॥

---

१. ऋ० ९।२४।३, 'मादनः' इत्यत्र 'पातवे' इति पाठः ।

२. यतः गृहीतः इति सा० । यतः नियतः संयत इति यावत् । अथवा यमु बन्धने, ऋत्विग्भिर्बद्धः सोमवहनेन- इति वि० ।

३. ऋ० ९।२४।५, 'परिदीयसे' इत्यत्र 'परि धावसि' इति पाठः ।

भावार्थ– ध्यान से प्रकट किया गया परमेश्वर जीवात्मा को तेज से और ब्रह्मवर्चस से अनुप्राणित कर देता है ।।४।।

अथ पुनरपि परमात्मविषयमाह ।

१ २ ३ १२३ १ २ ३१ २ २ ३ १ २३ १ २
९६५. **त्वं सोम नृमादनः पवस्व चर्षणीधृतिः । सस्निर्यो अनुमाद्यः ।।५।।**[1]

२ ३ १२ ३ १२र १२र ३ १ २ ३ १ २र
त्वम् सोम नृमादनः नृ मादनः । पवस्व चर्षणीधृतिः चर्षणि धृतिः ।
१ २र ३ १ २ ३ १ २र
सस्निः यः अनुमाद्यः अनु माद्यः ।।५।।

पदार्थः– हे **सोम** रसागार, शुभकर्मसु प्रेरक, चन्द्रवदाह्लादक, सर्वान्तर्यामिन् परमपितर्जगदीश ! **नृमादनः** नॄन् मनुष्यान् मादयति हर्षयतीति तथाविध **चर्षणीधृतिः** मनुष्याणां धारयिता **त्वम् पवस्व** अस्मान् पवित्रीकुरु, **यः** यः त्वम् **सस्निः** सर्वथा शुद्धः । [ष्णा शौचे धातोः 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । अ० ३।२।१७१ इत्यनेन किन् प्रत्ययः, तस्य च लिड्वत्त्वाद् द्वित्वम् ।] **अनुमाद्यः** अनुनयेन प्रसादनीयश्च असि ।।५।।

भावार्थः– यस्मिन् विशुद्धे परमात्मनि कल्मषस्य कणिकापि नास्ति स उपासकान् निर्मलान् कृत्वा पूतेनानन्दरसेन परिप्रीणाति ।।५।।

आगे पुनः परमात्मा के विषय का वर्णन है ।

पदार्थ–हे **सोम** रस के भण्डार, शुभकर्मों में प्रेरक, चन्द्रमा के समान आह्लाददायक, सर्वान्तर्यामी, परमपिता जगदीश्वर ! **नृमादनः** मनुष्यों को आनन्दित करने वाले, **चर्षणीधृतिः** मनुष्यों को धारण करने वाले **त्वम्** आप **पवस्व** हमें पवित्र कीजिए, **यः** जो आप सस्निः **सर्वथा** शुद्ध और **अनुमाद्यः** अनुनय द्वारा प्रसन्न करने योग्य हो ।।५।।

भावार्थ–जिस विशुद्ध परमात्मा में पाप की कणिका भी नहीं है वह उपासकों को निर्मल करके पवित्र आनन्दरस से तृप्त करता है ।।५।।

अथ पुनः परमात्मानं प्रार्थयते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २र
९६६. **पवस्व वृत्रहन्तम उक्थेभिरनुमाद्यः । शुचिः पावको अद्भुतः ।।६।।**[2]

१२र ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १२र
पवस्व वृत्रहन्तमः वृत्र हन्तमः । उक्थेभिः अनुमाद्यः अनु माद्यः ।
१ २र ३ २ १ २र ३
शुचिः पावकः अद्भुतः अत् भुतः ।।६।।

पदार्थः– हे सोम ! हे रसागार परमाह्लादक जगदाधार परमेश ! **वृत्रहन्तमः** पापानामतिशयेन हन्ता, **उक्थेभिः** स्तोत्रैः **अनुमाद्यः** प्रसादनीयः, **शुचिः** पवित्रः, **पावकः** पवित्रयिता, **अद्भुतः** आश्चर्यकरगुणकर्मस्वभावः त्वम् **पवस्व** उपासकानस्मान् पुनीहि ।।६।।

भावार्थः– यः स्वयं पापानां हन्तृतमः पवित्रोऽद्भुतोऽस्निसोऽन्यानपि निष्पापान् पवित्रान्तःकरणानद्भुतांश्च कुतो न कुर्यात् ?।।६।।

---

१. ऋ० ९।२४।४ 'चर्षणीसहे' इति पाठः ।
२. ऋ० ९।२४।६ 'वृत्रहन्तमोक्थेभि' इति पाठः ।

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ– हे सोम ! हे रसागार, परमाह्लादक, जगदाधार परमेश्वर ! **वृत्रहन्तमः** पापों को अतिशय नष्ट करने वाले, **उक्थेभिः** स्तोत्रों से **अनुमाद्यः** प्रसन्न करने योग्य, **शुचिः** पवित्र, **पावकः** पवित्र करने वाले, **अद्भुतः** आश्चर्यकारी गुण–कर्म स्वभाव वाले आप, हम उपासकों को **पवस्व** पवित्र कीजिए ।।६।।

भावार्थ– जो स्वयं पापों का सबसे बढ़कर विनाशक, पवित्र और अद्भुत है वह अन्यों को भी निष्पाप, पवित्र अन्तःकरण वाला और अद्भुत क्यों न करे ? ।।६।।

अथ परमेश्वरः कीदृशोऽस्तीत्याह ।

१ २ ३,१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २
९६७. **शुचिः पावक उच्यते सोमः सुतः स मधुमान् । देवावीरघशंसहा ।।७।।**[1]

१ २र ३ २ ३ १ २र ३ २ १ २र
शुचिः पावकः उच्यते । सोमः सुतः सः मधुमान् ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २
देवावीः देव अवीः अघशंसहा अघशंस हा ।।७।।

पदार्थः– **सुतः** अभिष्यन्दितः **स सोमः** असौ रसागारः परमेशः **शुचिः** पवित्रः, **पावकः** पवित्रयिता, **मधुमान्** मधुरः, **देवावीः** देवान् दिव्यगुणयुक्तान् विदुषः अवति रक्षतीति तादृशः, **अघशंसहा** पापप्रशंसकानां हन्ता च **उच्यते** कथ्यते ।।७।।

भावार्थः– स्तवनेनोपासनया च प्रसादितः परमेश्वरः परमानन्दसन्दोहं प्रवाहयन्नुपासकैर्मधुरमधुरः पापानामुन्मूलयिता चानुभूयते ।।७।।

अस्मिन् खण्डे परमात्मनः स्वरूपवर्णनपुरस्सरं तत्स्तुतिप्रार्थनोपासनाया ब्रह्मानन्दस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।।

अगले मन्त्र में परमेश्वर कैसा है, यह बताया गया है ।

पदार्थ– **सुतः** अभिषुत किया गया **स सोमः** वह रसों का भण्डार परमेश्वर **शुचिः** पवित्र, **पावकः** पवित्र करने वाला, **मधुमान्** मधुर, **देवावीः** दिव्यगुणी विद्वानों की रक्षा करने वाला, और **अघशंसहा** पापप्रशंसकों का विनाशक **उच्यते** कहा जाता है ।।७।।

भावार्थ– स्तुति और उपासना से प्रसन्न किया गया परमेश्वर परम आनन्द के समूह को प्रवाहित करता हुआ उपासकों द्वारा अत्यन्त मधुर और पापों का उन्मूलन करने वाला अनुभव किया जाता है ।।७।।

इस खण्ड में परमात्मा के स्वरूपवर्णनपूर्वक उसकी स्तुति-प्रार्थना-उपासना का और ब्रह्मानन्द का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्वखण्ड के साथ संगति है ।।

षष्ठ अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ।

।।४।। अथ 'प्र कविर्' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य सप्तर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** असितः काश्यपो देवलो वा । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

---

१. ऋ० ९।२४।७ 'सुतः स मधुमान्' इत्यत्र 'सुतस्य मध्वः'।

तत्रादौ परमात्मप्राप्तिविषयमाह।

९६८. प्र कविर्देववीतयेऽव्या वारेभिरव्यत। साह्वान्विश्वा अभि स्पृधः ॥१॥[1]

प्र कविः देववीतये देव वीतये। अव्याः वारेभिः अव्यत।
साह्वान् विश्वाः अभि स्पृधः ॥१॥

पदार्थः— **कविः** क्रान्तद्रष्टा मेधावी च एष सोमः रसागारः परमात्मा **देववीतये** दिव्यगुणानां प्रजननाय **अव्याः** शुद्धचित्तवृत्तेः **वारेभिः** विघ्ननिवारणोपायैः प्रणवजपादिभिः **प्र अव्यत** प्राप्यते। [प्रपूर्वाद् अव धातोः कर्मणि लङि रूपम्। आडागमाभावश्छान्दसः।] **साह्वान्** विपदाम् अभिभविता सः। [दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च। अ० ६।१।१२ इति षह धातोः क्वस्वन्तो निपातः।] **विश्वाः स्पृधः** सर्वान् स्पर्धालून् आन्तरिकान् बाह्यांश्च शत्रून् **अभि** अभिभवति पराजयते। [उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः] ॥१॥

भावार्थः— परमात्मोपासनया सर्वे दिव्यगुणाः स्वयमेव प्राप्यन्ते विघ्नकारिणः शत्रवश्च पराजीयन्ते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा की प्राप्ति का विषय है।

पदार्थ— **कविः** क्रान्तद्रष्टा और मेधावी यह सोम अर्थात् रस का भण्डार परमात्मा **देववीतये** दिव्यगुणों को उत्पन्न करने के लिए **अव्याः** शुद्ध चित्तवृत्ति के **वारेभिः** विघ्ननिवारक उपाय प्रणव-जप आदियों से **प्र अव्यत** प्राप्त होता है। **साह्वान्** विपत्तियों को दूर करने वाला वह **विश्वाः स्पृधः** सब स्पर्धा करने वाले आन्तरिक एवं बाह्य शत्रुओं को **अभि** पराजित कर देता है॥१॥

भावार्थ— परमात्मा की उपासना से सब दिव्यगुण स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं और विघ्नकारी शत्रु परास्त हो जाते हैं॥१॥

अथ परमात्मन उपकारं वर्णयति।

९६९. स हि ष्मा जरितृभ्य आ वाजं गोमन्तमिन्वति। पवमानः सहस्रिणम् ॥२॥[2]

सः हि स्म जरितृभ्यः। आ वाजम् गोमन्तम् इन्वति। पवमानः सहस्रिणम् ॥२॥

पदार्थः— **पवमानः** चित्तस्य आत्मनश्च शुद्धिमापादयन् **स हि** स खलु सोमः जगदुत्पादकः परमेश्वरः **जरितृभ्यः** स्तोतृभ्यः **सहस्रिणम्** सहस्रसंख्यकम् **गोमन्तम्** प्रशस्तधेनुवागादियुक्तम् **वाजम्** धनम्, यद्वा **गोमन्तम्** अन्तःप्रकाशयुक्तम् **वाजम्** आत्मबलम् **आ इन्वति स्म** आ प्रापयति। [इन्वति गतिकर्मा। निघं० २।१४]॥२॥

भावार्थः— प्रेयोमार्गिभिः श्रेयोमार्गिभिश्च ध्यातः परमेश्वरस्तेभ्यो मनोवाञ्छितं सर्वं प्रेयः श्रेयश्च प्रयच्छति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के उपकारों का वर्णन है।।

पदार्थ— **पवमानः** चित्त और आत्मा की शुद्धि करने वाला **स हि** वह सोम अर्थात् जगत् को उत्पन्न करने वाला परमेश्वर **जरितृभ्यः** स्तोताओं के लिए **सहस्रिणम्** हजार संख्या वाले, **गोमन्तम्** प्रशस्त गाय, प्रशस्त वाणी आदि से युक्त **वाजम्** धन को, अथवा **गोमन्तम्** अन्तःप्रकाशयुक्त **वाजम्** आत्मबल को **आ इन्वति स्म** प्राप्त कराता है ॥२॥

---

१. ऋ० ९।२०।२ "अण्या वारेभिर्षति" इति द्वितीयः पादः।

२. ऋ० ९।२०।२।

भावार्थ– प्रेय मार्ग का और श्रेय मार्ग का अवलम्बन करने वाले लोगों से ध्यान किया हुआ परमेश्वर उन्हें मनोवांछित सब श्रेय और प्रेय प्रदान कर देता है ।।२।।

अथ परमात्मानं प्रार्थयते।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २
९७०. **परि विश्वानि चेतसा मृज्यसे पवसे मती। स नः सोम श्रवो विदः ।।३।।**[1]

१ २र १ २र १ २र ३ १ २ १२र ३ २ ३ १ २ ३
परि विश्वानि चेतसा। मृज्यसे पवसे मती। सः नः सोम श्रवः विदः ।।३।।

पदार्थः– हे परमात्मन्! **विश्वानि** सर्वाणि सांसारिकभोगविलासादीनि **परि** परिहृत्य त्वमेव **चेतसा** चित्तेन **मती** मत्या च । [अत्र 'सुपां सुलुक्०' । अ० ७।१।३९ इत्यनेन तृतीयैकवचने पूर्वसवर्णदीर्घः ।] **मृज्यसे** अलङ्क्रियसे, यतः त्वम् **नः** अस्मान् **पवसे** पुनासि । हे **सोम** परमैश्वर्यवन्! **सः** असौ त्वम् **नः** अस्मान् **श्रवः** यशः **विदः** लम्भय ।।३।।

भावार्थः– यदा मनुष्यो बाह्यविषयेभ्यो मनः प्रतिनिवर्त्य परमात्मन्येव च केन्द्रीकृत्य तं ध्यायति तदा स तस्मै नितान्तं पावित्र्यमविनश्वरं यशश्च प्रयच्छति ।।३।।

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ– हे परमात्मन्! **विश्वानि** सब सांसारिक भोगविलास आदि को **परि** छोड़कर, आप ही हमारे द्वारा **चेतसा** चित्त से और **मती** मति से **मृज्यसे** अलंकृत किये जा रहे हो, क्योंकि आप हमें **पवसे** पवित्र करते हो । हे **सोम** परमैश्वर्यशालिन्! **सः** वह आप **नः** हमें **श्रवः** यश **विदः** प्राप्त कराओ ।।३।।

भावार्थ– जब मनुष्य बाह्य विषयों से मन को हटाकर और परमात्मा में ही केन्द्रित करके परमात्मा का ध्यान करता है तब वह उसे अत्यधिक पवित्रता और अविनश्वर यश प्रदान करता है।।३।।

अथ पुनः परमात्मानं प्रार्थयते ।

३क २र ३१र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २
९७१. **अभ्यर्ष बृहद्यशो मघवद्भ्यो ध्रुवं रयिम्। इषं स्तोतृभ्य आ भर ।।४।।**[2]

२ ३ २ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ २ १२र ३१ २ ३
अभि अर्ष बृहत् यशः। मघवद्भ्यः ध्रुवम् रयिम्। इषम् स्तोतृभ्यः आ भर ।।४।।

पदार्थः– हे पवमान सोम पवित्रकर्तः परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर ! त्वम् **मघवद्भ्यः** दानवद्भ्यो धनिकेभ्यः । [मघमिति धननामधेयं मंहतेर्दानकर्मणः । निरु० १।७।] **ध्रुवं** स्थिरम् **रयिम्** धनम् **बृहत्** महत् **यशः** कीर्तिं च **अभ्यर्ष** प्रापय । अपि च **स्तोतृभ्यः** उपासकेभ्यः **इषम्**[3] विज्ञानम् इष्टं सुखं च **आ भर** आहर ।।४।।

भावार्थः– दानशीला एव जना धनप्राप्त्यधिकारिणो भवन्ति । किञ्च ये परमात्मानमुपासते ते विवेकिनः सुखिनश्च जायन्ते ।।४।।

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा से प्रार्थना है ।

पदार्थ– हे पवमान सोम अर्थात् पवित्रकर्ता परमैश्वर्यशाली परमेश्वर ! आप **मघवद्भ्यः** दानी धनियों को **ध्रुवम्** स्थिर **रयिम्** धन, और **बृहत्** महान् **यशः** कीर्ति **अभ्यर्ष** प्राप्त कराओ । और **स्तोतृभ्यः** उपासकों के लिए **इषम्** विज्ञान तथा इष्ट सुख **आ भर** लाओ ।।४।।

---

१. ऋ० ९।२०।३ 'मृज्यसे' इत्यत्र 'मृशसे' ।

२. ऋ० ९।२०।४ ।

३. 'इषं विज्ञानम्' इति य० ३५।१६ भाष्ये 'इष्टं सुखम्' इति च ऋ० १।१८४।६ भाष्ये द० । इष गतौ दिवादिः, इषु इच्छायाम्, तुदादिः ।

भावार्थ– दानशील लोग ही धनप्राप्ति के अधिकारी होते हैं। और जो परमात्मा की उपासना करते हैं वे विवेकी तथा सुखी होते हैं ॥४॥

अथ परमात्मा कीदृश इति वर्णयति ।

९७२. त्वं राजेव सुव्रतो गिरः सोमा विवेशिथ । पुनानो वह्ने अद्भुत ॥५॥[1]

त्वम् राजा इव सुव्रतः सु व्रतः । गिरः सोम आ विवेशिथ ।

पुनानः वह्ने अद्भुत अत् भुत ॥५॥

पदार्थः– हे **वह्ने** जगद्भारस्य वोढः **अद्भुत** आश्चर्यगुणकर्मस्वभाव **सोम** सर्वोत्पादक, सद्भावप्रेरक, ऐश्वर्यशालिन् जगदीश ! **पुनानः** हृदयानि पवित्रीकुर्वन् **त्वम् राजा इव** सम्राडिव **सुव्रतः** सुकर्मा असि । [व्रतमिति कर्मनाम । निघं० २।१।] किञ्च त्वं **गिरः** वेदवाचः **आविवेशिथ** प्रविष्टोऽसि, वेदवाचस्त्वामेवोपास्यत्वेन वर्णयन्तीत्यर्थः, ["यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति" ऋ० १।१६४।३९ इति श्रुतेः] ॥५॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः– यथा कश्चिद् राजा राष्ट्रोन्नतिकराण्येव कार्याणि करोति तथैव विश्वब्रह्माण्डाधीश्वरस्य परमात्मनः सर्वाणि जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयादीनि कर्माणि शुभानि निःस्वार्थानि परोपकारकराणि च भवन्ति॥५॥

अब परमात्मा कैसा है यह वर्णन करते हैं।

पदार्थ– हे **वह्ने** जगत् के भार के ढोने वाले, **अद्भुत** आश्चर्यकारी गुण-कर्म-स्वभाव वाले, **सोम** सबको उत्पन्न करने वाले, सद्भावों को प्रेरित करने वाले, ऐश्वर्यशालिन् जगदीश्वर ! **पुनानः** हृदयों को पवित्र करते हुए **त्वम्** आप **राजा इव** सम्राट् के समान **सुव्रतः** सुकर्म करने वाले हो। आप **गिरः** वेदवाणियों में **आविवेशिथ** प्रविष्ट हो, अर्थात् वेदवाणियां आपका ही वर्णन कर रही हैं, [क्योंकि ऋग्वेद कहता है कि 'जिसने ऋचा पढ़कर परमेश्वर को नहीं जाना उसे ऋचा से क्या लाभ (ऋ० १।१६४।३९)] ॥५॥

यहां उपमालंकार है ॥५॥

भावार्थ– जैसे कोई राजा राष्ट्र को उन्नत करने वाले ही कार्य करता है, वैसे ही विश्वब्रह्माण्ड के अधीश्वर परमात्मा के जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि सब कर्म, शुभ, निःस्वार्थ तथा परोपकार करने वाले ही होते हैं॥५॥

अथ परमात्मनः सर्वव्यापकत्वं वर्ण्यते ।

९७३. स वह्निरप्सु दुष्टरो मृज्यमानो गभस्त्योः । सोमश्चमूषु सीदति ॥६॥[2]

सः वह्निः अप्सु दुष्टरः दुः तरः । मृज्यमानः गभस्त्योः ।

सोमः चमूषु सीदति ॥६॥

---

१. ऋ० ९।२०।५।

२. ऋ० ९।२०।६।

पदार्थः— **वह्निः** जगद्भारस्य वोढा, **दुष्टरः** दुरतिक्रमः, **मृज्यमानः** सद्गुणकर्मस्वभावैः अलङ्क्रियमाणः **स सोमः** असौ जगत्पतिः परमेश्वरः **अप्सु** नदनदीसमुद्रपर्जन्यादिवर्तिषु उदकेषु, **गभस्त्योः** सौम्यतैजसरूपयोः चन्द्रसूर्यकिरणयोः । [गभस्तिरिति रश्मिनामसु पठितम् । निघं० २।४।] **चमूषु** द्यावापृथिव्योरन्तराले विद्यमानेषु विभिन्नेषु लोकेषु चापि [चम्वौ इति द्यावापृथिव्योर्नाम । निघं० ३।३०।] **सीदति** निषण्णोऽस्ति ॥६॥

भावार्थः— अगणितग्रहोपग्रहसूर्यनक्षत्रादियुते सुविस्तीर्णे विश्वब्रह्माण्डेऽस्मिन् कणपरिमितमपि स्थानं न विद्यते यत्र परमेश्वरो नास्ति ॥६॥

आगे परमात्मा की सर्वव्यापकता का वर्णन है ।

पदार्थ— वह्निः जगत् के भार को ढोने वाला, **दुष्टरः** दुस्तर, **मृज्यमानः** श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभावों से अलंकृत होने वाला **स सोमः** वह जगत्पति परमेश्वर **अप्सु** नद, नदी, समुद्र, बादल आदि के जलों में, **गभस्त्योः** सौम्य एंव तैजस रूप वाली चन्द्र-सूर्य की किरणों में, **चमूषु** द्यावापृथिवी के मध्य विद्यमान विभिन्न लोकों में **सीदति** बैठा हुआ है ॥६॥

भावार्थ— अगणित ग्रह, उपग्रह, सूर्य नक्षत्र आदियों से युक्त इस अति विस्तीर्ण विश्वब्रह्माण्ड में कोई कण भर भी स्थान नहीं है जहां परमेश्वर विद्यमान न हो ॥६॥

अथ किं कुर्वन् परमात्मा कुत्र गच्छतीत्याह ।

९७४. क्रीडुर्मखो न मंहयुः पवित्रं सोम गच्छसि । दधत् स्तोत्रे सुवीर्यम् ॥७॥[1]

क्रीडुः मखः न मंहयुः । पवित्रम् सोम गच्छसि । दधत् स्तोत्रे सुवीर्यम् सु वीर्यम् ॥७॥

पदार्थः— हे **सोम** जगत्स्रष्टः परमात्मन् ! **क्रीडुः** जगत्सञ्चालनक्रीडाकरः, किञ्च **मखः न** यज्ञः इव **मंहयुः** दानेच्छुकः त्वम् । [मंहते दानकर्मा निघं० ३।२० । मंहं दानं परेषां कामयते इति मंहयुः । परेच्छायां क्यचि उः प्रत्ययः।] **स्तोत्रे** स्तुतिपरायणाय जनाय **सुवीर्यम्** सुवीर्योपेतम् आत्मबलम् **दधत्** प्रयच्छन्, तस्य **पवित्रम्** निर्मलम् अन्तःकरणम् **गच्छसि** व्याप्नोषि ॥७॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥७॥

भावार्थः— यथा यज्ञः सर्वेषामुपकाराय भवति तथा परमेश्वरोऽपि परेषामुपकारे संलग्नः स्तोतुरन्तरात्मनि बलमुत्साहं पुरुषार्थं कर्मयोगं च प्रेरयति ॥७॥

अगले मन्त्र में यह कहते हैं कि क्या करता हुआ परमात्मा कहां जाता है ।

पदार्थ—हे **सोम** जगत् के सर्जन करने हारे परमात्मन् ! **क्रीडुः** खेल-खेल में विश्व को चलाने वाले तथा **मखः न** यज्ञ के समान **मंहयुः** दूसरों को लाभ पहुंचाने की इच्छा वाले आप **स्तोत्रे** स्तुतिपरायण मनुष्य के लिए **सुवीर्यम्** सुवीर्य से युक्त आत्म-बल **दधत्** प्रदान करते हुए, उसके **पवित्रम्** निर्मल अन्तःकरण में **गच्छसि** व्याप्त होते हो ॥७॥

यहां उपमालंकार है ॥७॥

भावार्थ— जैसे यज्ञ सबके उपकार के लिए होता है वैसे ही परमेश्वर भी दूसरों के उपकार में लगा हुआ स्तोता के अन्तरात्मा में बल, उत्साह, पुरुषार्थ और कर्मयोग की प्रेरणा देता है ॥७॥

---

१. ऋ० ९।२०।७ ।

॥५॥ अथ 'यवंयवं' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य चतुर्ऋचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अवत्सारः काश्यपः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ जगदीश्वरः प्रार्थ्यते ।।

९७५. यवंयवं नो अन्धसा पुष्टंपुष्टं परि स्रव । विश्वा च सोम सौभगा ॥१॥[1]

यवंयवम् यवम् यवम् नः अन्धसा । पुष्टंपुष्टम् पुष्टम् पुष्टम् परि स्रव ।
विश्वा च सोम सौभगा सौ भगा ॥१॥

पदार्थः— हे **सोम** जगदाधार सर्वैश्वर्य ब्रह्माण्डाधिपते परमात्मन् ! त्वम् **अन्धसा** रसेन **पुष्टंपुष्टम्** अतिशयेन परिपुष्टम् **यवंयवम्** यवादिकं समग्रं भोग्यं पदार्थजातम् । [यव इत्युपलक्षणं समस्तस्य भोग्यपदार्थसमूहस्य।] **विश्वा सौभगा च** सर्वाणि सौभाग्यानि च **नः** अस्मभ्यम् **परिस्रव** परिप्रवाहय ॥१॥

भावार्थः— येन जगत्पतिना सर्वे बहुमूल्याः पदार्था रचितास्तत्कृपयैव मनुष्यः स्वपुरुषार्थेन तानधिगन्तुं पारयति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में जगदीश्वर से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ—हे **सोम** जगदाधार, सर्वैश्वर्यवान्, ब्रह्माण्ड के अधिपति परमात्मन् ! आप **अन्धसा** रस से **पुष्टंपुष्टम्** अत्यधिक परिपुष्ट **यवंयवम्** जौ आदि सब भोग्य पदार्थों को **विश्वा सौभगा च** और सब सौभाग्यों को **नः** हमारे लिए **परिस्रव** चारों ओर प्रवाहित करो ॥१॥

भावार्थ— जिस जगत्पति ने सब बहुमूल्य पदार्थ रचे हैं, उसी की कृपा से मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा उन्हें पा सकता है ॥१॥

अथ परमात्मनः स्तुतिपूर्वकं तं प्रार्थयते ।

९७६. इन्दो यथा तव स्तवो यथा ते जातमन्धसः । नि बर्हिषि प्रिये सदः ॥२॥[2]

इन्दो यथा तव स्तवः । यथा ते जातम् अन्धसः ।
नि बर्हिषि प्रिये सदः ॥२॥

पदार्थः— हे **इन्दो** चन्द्रवदाह्लादक प्रेममय प्रभो ! **यथा** यादृशो महान् **तव** त्वदीयः **स्तवः** स्तुतिः महिमा च वर्तते **यथा** यादृङ् महच्च **ते** तव **अन्धसः** आनन्दरसस्य **जातम्** समूहो विद्यते, तथा तादृगेव **नि सदः** निषीद॥२॥

भावार्थः— स्वमहिमानुरूपं महान् रसमयो जगदीश्वरोऽस्मान् प्राप्यानन्दरसार्द्रान् कुर्यात् ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की स्तुति के साथ उससे प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **इन्दो** चन्द्रमा के समान आह्लादक प्रेममय प्रभो! **यथा** जैसी महान् **तव** आपकी **स्तवः** स्तुति एवं महिमा है और **यथा** जितना महान् **ते** आपके **अन्धसः** आनन्दरस का **जातम्** समूह है, वैसे ही महान् आप हमारे **प्रिये बर्हिषि** प्रिय हृदयासन पर **नि सदः** बैठिए॥२॥

---

१. ऋ० ९।५५।१, 'सोम॒ विश्वा॑ च॒ सौभगा' इति तृतीयः पादः ।
२. ऋ० ९।५५।२ ।

भावार्थ– अपनी महिमा के अनुरूप महान् रसमय जगदीश्वर हमें प्राप्त होकर आनन्दरस से सराबोर कर दे ।।२।।

अथ जगदीश्वर आहूयते ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
९७७. **उत नो गोविदश्ववित् पवस्व सोमान्धसा । मक्षूतमेभिरहभिः ।।३।।**[1]

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ १२र ३ १ २र
उत नः गोवित् गो वित् अश्ववित् अश्व वित् । पवस्व सोम अन्धसा ।

३ १ २ १२र ३
मक्षूतमेभिः अहभिः अ हभिः ।।३।।

पदार्थः– हे **सोम** सर्वैश्वर्यसम्पन्न राजाधिराज परमात्मन् ! **उत** अपि च, त्वम् **अन्धसा** आनन्दरसेन सह **गोवित्** धेनूनां प्रापयिता, प्राणबलानां वा प्रापयिता सन् **मक्षूतमेभिः अहभिः** शीघ्रतमैः दिवसैः, सद्य एवेति भावः **नः** अस्मान् **पवस्व** प्राप्नुहि ।।३।।

भावार्थः– जगदीश्वरोऽस्मान् पुरुषार्थिनो विधाय दिव्यसम्पदा भौतिकसम्पदा च परिपूर्णान् करोतु ।।३।।

अब जगदीश्वर का आह्वान करते हैं ।

पदार्थ– हे **सोम** सर्वैश्वर्यसम्पन्न राजाधिराज परमात्मन् ! **उत** और, आप **अन्धसा** आनन्दरस के साथ **गोवित्** गौएं प्राप्त कराने वाले वा दिव्य प्रकाश प्राप्त कराने वाले, **अश्ववित्** घोड़े प्राप्त कराने वाले वा प्राण-बल प्राप्त कराने वाले होकर **मक्षूतमेभिः अहभिः** शीघ्रतम दिनों में अर्थात् जल्दी ही **नः** हमें **पवस्व** प्राप्त होवो।।३।।

भावार्थ– जगदीश्वर हमें पुरुषार्थी बनाकर दिव्य सम्पत्ति वा भौतिक सम्पत्ति से परिपूर्ण करे ।।३।।

अथ जीवात्मनः शक्तिं वर्णयंस्तमाह्वयति।

२ ३ २ ३ १र २र३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २
९७८. **यो जिनाति न जीयते हन्ति शत्रुमभीत्य । स पवस्व सहस्रजित् ।।४।।**[2]

२ ३ १ २ १२र १ २र १२र ३ १ २ ३ १ २र
यः जिनाति न जीयते । हन्ति शत्रुम् अभीत्य अभि इत्य ।

३
सः पवस्व सहस्रजित् सहस्र जित् ।।४।।

पदार्थः– हे पवमान सोम क्रियाशील जीवात्मन् ! **यः** यो भवान् **जिनाति** विघ्नान् विपदो वा विनाशयति । [ज्या वयोहानौ, क्र्यादिः ।] **न जीयते** केनापि न पराजीयते, प्रत्युत **अभीत्य** आक्रम्य **शत्रुम्** वैरिणं कामक्रोधादिकम् **हन्ति** मारयति, **सः** असौ **सहस्रजित्** सहस्राणाम् आन्तराणां बाह्यानां च सम्पदां विजेता सन् त्वम् **पवस्व** प्रगतिं कुरु ।।४।।

भावार्थः– परमेश्वरस्योपासकस्तत्सख्यं प्राप्य प्रचण्डानपि बाह्यानान्तरांश्च रिपून् विजेतुं क्षमते ।।४।।

अगले मन्त्र में जगदीश्वर की शक्ति का वर्णन करते हुए उसका आह्वान किया गया है ।

पदार्थ– हे पवमान सोम अर्थात् क्रियाशील जीवात्मन् ! **यः** जो आप **जिनाति** विघ्नों वा विपत्तियों को विनष्ट करते हो, **न जीयते** किसी से पराजित नहीं होते हो, प्रत्युत **अभीत्य** आक्रमण करके **शत्रुम्** शत्रु काम, क्रोध आदि को **हन्ति** मारते हो, **सः** वह आप **सहस्रजित्** हजारों आन्तरिक एवं बाह्य संपदाओं के विजेता होते हुए **पवस्व** प्रगति करो।।४।।

---

१. ऋ० ९।५५।३ ।
२. ऋ० ९।५५।४ ।

भावार्थ– परमेश्वर का उपासक उसकी मित्रता प्राप्त करके प्रचण्ड से प्रचण्ड बाह्य तथा आन्तरिक शत्रुओं को जीत सकता है ।।४।।

।।६।। अथ 'यास्ते' इत्यादिकस्य षष्ठस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** जमदग्निर्भार्गवः । **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः।।

तत्रादौ जगत्पतिं परमेश्वरं प्रार्थयते।

२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २
९७९. **यास्ते धारा मधुश्चुतोऽसृग्रमिन्द ऊतये । ताभिः पवित्रमासदः ।।१।।**[1]

२ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २
याः ते धाराः मधुश्चुतः मधु श्चुतः । असृग्रम् इन्दो ऊतये ।
१ २र ३ १ २ ३
ताभिः पवित्रम् आ असदः ।।१।।

पदार्थः– हे **इन्दो** आह्लादक चन्द्रोपम रसागार जगदीश्वर! **याः ते** याः तव **मधुश्चुतः** मधुस्राविण्यः **धाराः** आनन्दतरङ्गिण्यः **ऊतये** अस्माकं रक्षणाय **असृग्रम्** त्वतः विसृज्यन्ते **ताभिः** धाराभिः, त्वम् **पवित्रम्** अस्माकं पवित्रम् अन्तरात्मानम् **आसदः** आसीद ।।१।।

भावार्थः– परमेश्वरं ध्यातारो योगिनः स्वान्तरात्मनि निर्झरन्तमानन्दनिर्झरमनुभवन्तः परां तृप्तिं प्राप्नुवन्ति ।।१।।

प्रथम मन्त्र में जगत्पति परमेश्वर से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ– हे **इन्दो** आह्लाद देने वाले, चन्द्रतुल्य, रस के भण्डार जगदीश्वर! **याः ते** जो आपकी **मधुश्चुतः** मधुस्राविणी **धाराः** आनन्द की धाराएं **ऊतये** हमारी रक्षा के लिए **असृग्रम्** आपके पास से छूटती हैं **ताभिः** उन धाराओं के साथ, आप **पवित्रम्** हमारे पवित्र अन्तरात्मा में **आसदः** विराजो ।।१।।

भावार्थ– परमेश्वर के ध्यानी योगी लोग अपने अन्तरात्मा में झरते हुए आनन्द के झरने का अनुभव करते हुए परम तृप्ति प्राप्त करते हैं।।१।।

अथानन्दरसप्रवाहमाकाङ्क्षते।

२ ३१ २ ३१ २ ३१र २र ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
९८०. **सो अर्षेन्द्राय पीतये तिरो वाराण्यव्यया । सीदन्नृतस्य योनिमा ।।२।।**[2]

२ ३ १ २र ३१२ ३ २ १ २र ३ १ २ १ २र ३१ २ १ २र
सः अर्ष इन्द्राय पीतये । तिरः वाराणि अव्यया । सीदन् ऋतस्य योनिम् आ ।।२।।

पदार्थः– हे पवमान सोम प्रवहणशील ब्रह्मानन्दरस! **ऋतस्य योनिम्** सत्यस्य गृहं परमात्मानम् **आसीदन्** उपतिष्ठमानः **सः** प्रशंसनीयः त्वम् **अव्यया** अव्ययानि दुरतिक्रमणीयानि **वाराणि** योगमार्गाद् निवारकाणि व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्यादीनि विघ्नजालानि **तिरः** तिरस्कृत्य **इन्द्राय पीतये** जीवात्मनः पानाय **अर्ष** प्रस्रव।।२।।

---

१. ऋ० ९।६२।७ ।

२. ऋ० ९।६२।८, 'रोमाण्यव्यया सीदन् योना वनेष्वा' इति पाठः ।

भावार्थः— परमात्मनः प्रस्रुतः परमानन्दप्रवाहः स्तोतुरात्मभूमिं सिञ्चंस्तां सद्गुणसस्यैः श्यामलां करोति॥२॥

अगले मन्त्र में आनन्दरस के प्रवाह की आकांक्षा की गयी है।

पदार्थ— हे पवमान सोम अर्थात् प्रवाहशील ब्रह्मानन्दरस ! **ऋतस्य योनिम्** सत्य के आश्रय परमात्मा के **आसीदन्** पास स्थित हुआ **सः** वह प्रशंसनीय तू **अव्यया** कठिनाई से अतिक्रमण किये जाने योग्य तथा **वाराणि** योगमार्ग से रोकने वाले व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य आदि विघ्नों को **तिरः** तिरस्कृत करके **इन्द्राय पीतये** जीवात्मा के पान के लिए **अर्ष** प्रवाहित हो॥२॥

भावार्थ— परमात्मा के पास से बहा हुआ परमानन्द का प्रवाह स्तोता की आत्मभूमि को सींचता हुआ उसे सद्गुणरूप सस्यों से श्यामल कर देता है ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह।

९८१ . त्वं सोम परि स्रव स्वादिष्ठो अङ्गिरोभ्यः । वरिवोविद् घृतं पयः ॥३॥[1]

त्वम् सोम परि स्रव । स्वादिष्ठः अङ्गिरोभ्यः । वरिवोवित् वरिवः वित् घृतं पयः ॥३॥

पदार्थः— हे **सोम** रसागार परमेश ! **स्वादिष्ठः** मधुरतमः, **वारिवोवित्** ऐश्वर्यस्य लम्भकश्च । [वरिवः इति धननाम । निघं० २।१०।] **त्वम् अङ्गिरोभ्यः** प्राणायामाभ्यासिभ्यो योगसाधकेभ्यः। [प्राणो वा अङ्गिराः श० ६।१।२।२८ ।] **घृतम्** तेजः **पयः** आनन्दरसं च **परिस्रव** परिक्षर ॥३॥

भावार्थः— ये परमात्मनो ध्याने मग्ना जायन्ते तैः स रसवत्तमो मधुरतमस्तेजस्वितमश्चानुभूयते ॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मस्वरूपवर्णनपुरस्सरं तत्स्तुतिकरणात् तदाह्वानात् तत आनन्दरसप्रवाहप्रार्थनाच्चै-तत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्तीति विज्ञेयम् ॥

आगे फिर वही विषय है।

पदार्थ— हे **सोम** रसागार परमेश्वर! **स्वादिष्ठः** सबसे अधिक मधुर और **वरिवोवित्** ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाले **त्वम्** आप **अङ्गिरोभ्यः** प्राणायाम के अभ्यासी योगसाधकों के लिए **घृतम्** तेज और **पयः** आनन्दरस को **परिस्रव** क्षरित कीजिए ॥३॥

भावार्थ— जो लोग परमात्मा के ध्यान में मग्न हो जाते हैं उन्हें वह सर्वाधिक रसीला, सर्वाधिक मधुर और सर्वाधिक तेजस्वी अनुभूत होता है ॥३॥

इस खण्ड में परमात्मा के स्वरूपवर्णनपूर्वक उसकी स्तुति करने, उसका आह्वान करने और उससे आनन्दरस के प्रवाह की प्रार्थना करने के कारण इस खण्ड की पूर्वखण्ड के साथ संगति है यह जानना चाहिए॥

षष्ठ अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ।

॥७॥ अथ 'तव श्रियो' इत्यादिकस्य सप्तमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अरुणो वैतहव्यः। **देवता** अग्निः । **छन्दः** जगती । **स्वरः** निषादः ।

---

१. ऋ० ९।६२।९, 'त्वं सोम' इत्यत्र 'त्वमिन्दो' इति पाठः ।

तत्रादौ भौतिकाग्निवर्णनमुखेन परमात्मनो महिमानं प्रकाशयति।

२ ३ १ २ ३क २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
९८२. **तव श्रियो वर्ष्यस्येव विद्युतोऽग्नेश्चिकित्र उषसामिवेतयः।**

१र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १. २ ३ १र २र ३ १ २
यदोषधीरभिसृष्टो वनानि च परि स्वयं चिनुषे अन्नमासनि ॥१॥[1]

१२र १ २र ३क २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १२र ३
तव श्रियः वर्ष्यस्य इव विद्युतः वि द्युतः। अग्नेः चिकित्रे उषसाम् इव एतयः आ इतयः।

२ १२र १२र ३ १ २ ३ २ ३ १ २र ३
यत् ओषधीः ओष धीः अभिसृष्टः अभि सृष्टः वनानि च।

१ २र ३ २ ३ २ १२र ३ १ २
परि स्वयम् चिनुषे अन्नम् आसनि ॥१॥

पदार्थः— हे **अग्ने** वह्ने ! **तव** त्वदीयाः **श्रियः** शोभाः **वर्ष्यस्य** वर्षोन्मुखस्य मेघस्य **विद्युतः इव** सौदामन्यः इव, किञ्च **उषसाम्** प्रभातकान्तीनाम् **इतयः इव** प्रादुर्भावाः इव **आ चिकित्रे** प्रज्ञायन्ते, **यत्** यदा **ओषधीः** वनस्पतीन् **वनानि च** अरण्यानि च अभिलक्ष्य **सृष्टः** प्रज्वलितः त्वम् **स्वयम्** आत्मनैव **आसनि** स्वकीये ज्वालारूपे मुखे **अन्नम्** खाद्यम् **परि चिनुषे** परितः चिनोषि॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— जगदीश्वरस्यैवेयं प्रशस्तिः यत्तेन करालज्वालाजालजटिलो वनानि भस्मसात् कृत्वा नूतनवनस्पत्यङ्कुरणे सहायको दीप्तिमानग्निरुत्पादितः ॥१॥

प्रथम मन्त्र में भौतिक अग्नि के वर्णन द्वारा परमात्मा की महिमा का प्रकाशन है।

पदार्थ— हे **अग्ने** भौतिक अग्नि! **तव** तेरी **श्रियः** शोभाएं **वर्ष्यस्य** बरसाऊ मेघ की **विद्युतः इव** बिजलियों के समान, और **उषसाम्** उषाओं के **इतयः इव** आगमनों के समान **आ चिकित्रे** ज्ञात होती हैं, **यत्** जब **ओषधीः** ओषधियों को **वनानि च** और जंगलों को **अभि** लक्ष्य करके **सृष्टः** प्रज्वलित हुआ तू **स्वयम्** अपने आप **आसनि** अपने ज्वालारूप मुख में **अन्नम्** खाद्य को **परि चिनुषे** चारों ओर से संगृहीत करता है ॥१॥

यहां उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— जगदीश्वर की ही यह प्रशस्ति है कि उसने भयंकर ज्वालाओं से जटिल उस देदीप्यमान अग्नि को उत्पन्न किया है जो जंगलों को भस्म करके नवीन वनस्पतियों को अंकुरित करने में सहायक होता है॥१॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह।

१ २ ३ २उ ३ १ २ ३२उ ३ १ २ ३ १ २
९८३. **वातोपजूत इषितो वशाँ अनु तृषु यदन्ना वेविषद्वितिष्ठसे।**

१ ३ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २
आ ते यतन्ते रथ्यो३ यथा पृथक् शर्द्धांस्यग्ने अजरस्य धक्षतः ॥२॥[2]

१ २र १२र ३ २ १ २र १२र
वातोपजूतः वात उपजूतः इषितः वशान् अनु।

३ २ १ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २र
तृषु यत् अन्ना वेविषत् वितिष्ठसे वि तिष्ठसे।

३ क २ १ २र १२र १ २र ३ १२ ३ १२र १ २र
आ ते यतन्ते रथ्यः यथा पृथक्। शर्धांसि अग्ने अजरस्य अ जरस्य धक्षतः ॥२॥

---

१. ऋ० १०।९१।५ 'विद्युतश्चित्राश्चिकित्र उषसांन केतव', 'अन्नमास्ये' इति पाठः।

२. ऋ० १०।९१।७, 'वातोपधूतः', 'अजराणि धक्षतः' इति पाठः।

पदार्थः— हे **अग्ने** वह्ने! **वातोपजूतः** वायुना उपकम्पितः **वशान् अनु** अभीष्टान् वनस्पतीन् अनुलक्ष्य । [वश कान्तौ ।] **इषितः** प्रेरितः त्वम् **तृषु** क्षिप्रम् **यत्** यदा **अन्ना** अन्नानि, अदनीयानि वनस्पत्यादीनि **वेविषत्** व्याप्नुवन् । [विष्लृ व्याप्तौ, जुहोत्यादिः ।] **वितिष्ठसे** इतस्ततः प्रचलसि, तदा **अजरस्य** अजीर्णस्य **धक्षतः** दहतः। [दह भस्मीकरणे, शतरि छान्दसं रूपम्।] **ते** तव **शर्धांसि** ज्वालारूपाणि तेजांसि **रथ्यः यथा** रथिनः इव, रथारोहिणो योद्धार इव । [रथशब्दात् 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ' इति वार्त्तिकेन मत्वर्थे ई प्रत्ययः, ततः प्रथमाबहुवचने रूपम् ।] **पृथक्** विभिन्नासु दिक्षु **आयतन्ते** उद्यच्छन्ति ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— यथा रथारोहिणो योद्धारः संग्रामे पृथक् पृथक् विभिन्नासु दिक्षु शत्रून् प्रहरन्ति तथैव वनानि भस्मीकर्तुमुद्यता अग्निज्वालाः पृथक् पृथग् विभिन्नासु दिक्षु दहन्ति॥२॥

अगले मन्त्र में फिर वही विषय है ।

पदार्थ— हे **अग्ने** भौतिक अग्नि! **वातोपजूतः** वायु से कंपित किया हुआ, **वशान् अनु** अभीष्ट वनस्पतियों को लक्ष्य करके **इषितः** प्रेरित हुआ तू **तृषु** तुरन्त **यत्** जब **अन्ना** अन्नों अर्थात् भक्ष्य वनस्पति आदियों में **वेविषत्** व्याप्त होता हुआ **वितिष्ठसे** इधर-उधर चंचल होता है, तब **अजरस्य** जीर्ण न होते हुए तथा **धक्षतः** जलाते हुए **ते** तुझ अग्नि के **शर्धांसि** ज्वालारूपी तेज **रथ्यः यथा** रथारोही योद्धाओं के समान **पृथक्** पृथक् पृथक् दिशाओं में **आयतन्ते** उठते हैं॥२॥

यहां उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— जैसे रथारोही योद्धा लोग संग्राम में पृथक्-पृथक् विभिन्न दिशाओं में शत्रुओं पर प्रहार करते हैं, वैसे ही जंगलों को भस्म करने के लिए उद्यत अग्नि-ज्वालाएं पृथक्-पृथक् विभिन्न दिशाओं में जलाने का कार्य करती हैं॥२॥

एंव भौतिकाग्निमुखेन परमात्मनो महिमानं प्रकाश्य सम्प्रत्यग्निनाम्ना जगदीश्वरं स्तौति।

९८४. मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निं होतारं परिभूतरं मतिम् ।
त्वामर्भस्य हविषः समानमित् त्वां महो वृणते नान्यं त्वत् ॥३॥[1]

मेधाकारम् मेधा कारम् विदथस्य प्रसाधनम् प्र साधनम् ।
अग्निम् होतारम् परिभूतरम् परि भूतरम् मतिम् ।
त्वाम् अर्भस्य हविषः समानम् सम् आनम् इत् ।
त्वाम् महः वृणते न अन्यम् अन् यम् त्वत् ॥३॥

पदार्थः— **मेधाकारम्** मेधायाः धारणावत्याः बुद्धेः प्रदातारम्, **विदथस्य** ब्रह्माण्डयज्ञस्य जनानां जीवनयज्ञस्य वा **प्रसाधनम्** साधयितारम्, **होतारम्** सुखादीनां दातारम्, **परिभूतरम्** अतिशयेन विघ्नानां

१. ऋ०१०।९१।८, 'परि भूतमं', 'तमिदर्भस्य हविषा समानमित् तमिन्महे' इति पाठः॥

परिभवकर्तारम्, **मतिम्** सर्वज्ञम् । [मन्यते जानाति सर्वमिति मतिः ।] **त्वाम् अग्निम्** त्वाम् अग्रनेतारं **समानम् इत्** तुल्यरूपेण **अर्भस्य हविषः** स्वल्पस्य त्यागस्य कृते, **त्वाम्** त्वामेव च **महः** महतः हविषः, महतः त्यागस्य कृते, जनाः **वृणते** वृण्वते, आदर्शरूपेण स्वस्य पुरतः स्थापयन्ति, **त्वत् अन्यम्** त्वद् भिन्नम् **न** नैव वृणते ।।३।।

अत्र विशेषणानां साभिप्रायत्वात् परिकरालङ्कारः । 'तारम्' 'तरम्' इति छेकानुप्रासः ।।३।।

भावार्थः— त्यागस्य परोपकारस्य च कृते परमेश्वर एवादर्शरूपेण सर्वैः स्वसंमुखं स्थापनीयस्तमनुसृत्य च स्वयमपि त्यागः परोपकारश्च विधेयः ।।३।।

इसप्रकार भौतिक अग्नि के वर्णन द्वारा परमात्मा की महिमा प्रकाशित करके अब अग्नि नाम से जगदीश्वर की स्तुति करते हैं।

पदार्थ— **मेधाकारम्** धारणावती बुद्धि के प्रदाता, **विदथस्य** ब्रह्माण्ड-यज्ञ के वा मनुष्यों के जीवनयज्ञ के **प्रसाधनम्** सिद्ध करने वाले, **होतारम्** सुख आदि के दाता, **परिभूतरम्** अतिशय रूप से विघ्नों को दूर करने वाले, **मतिम्** सर्वज्ञ **त्वाम् अग्निम्** तुझ अग्रनायक को **समानम् इत्** समानरूप से **अर्भस्य हविषः** छोटे त्याग के लिए, और **त्वाम्** तुझे ही **महः** महान् त्याग के लिए, लोग **वृणते** चुनते हैं, अर्थात् आदर्श रूप से अपने संमुख स्थापित करते हैं, **त्वत् अन्यम्** तुझसे भिन्न को **न** नहीं ।।३।।

यहां विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर अलंकार है । 'तारम्' 'तरम्' में छेकानुप्रास है ।।३।।

भावार्थ— त्याग और परोपकार के लिए परमेश्वर को ही आदर्श रूप में सबको अपने संमुख रखना चाहिए और उसके पीछे चलकर स्वयं भी त्याग एवं परोपकार करना चाहिए ।।३।।

।।८।। अथ 'पुरूरुणा' इत्यादिकस्याष्टमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** उरुचक्रिरात्रेयः । **देवते** मित्रावरुणौ। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः।।

तत्रादौ मित्रावरुणौ स्तौति ।।

९८५. पुरूरुणा चिद्ध्यस्त्यवो नूनं वां वरुण । मित्र वंसि वां सुमतिम् ।।१।।[1]

पुरूरुणा पुरु उरुणा चित् हि अस्ति । अवः नूनम् वाम् वरुण ।
मित्र मि त्र वंसि वाम् सुमतिम् सु मतिम् ।।१।।

पदार्थः— हे **मित्र वरुण** मित्रावरुणौ परमात्मजीवात्मानौ राष्ट्रपतिप्रधानमन्त्रिणौ, अध्यापकोपदेशकौ, प्राणापानौ वा ! **वाम्** युवयोः **अवः** रक्षणम् **नूनम्** निश्चयेन **पुरूरुणा चित् हि** पुरूरुणम् एव, अतिशयेन विशालं खलु । [पुरूरुणम् इति प्राप्ते 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इत्यनेन सोराकारादेशः] **अस्ति** वर्तते । अतः, अहम् **वाम्** युवयोः **सुमतिम्** अनुग्रहबुद्धिम् **वंसि** संभजेयम् । [वन संभक्तौ, उत्तमैकवचने छान्दसं रूपम्] ।।१।।[2]

भावार्थः— परमात्मजीवात्मनो राष्ट्रपतिप्रधानमन्त्रिणोरध्यापकोपदेशकयोः प्राणापानयोश्च सुरक्षां प्राप्य दैहिकात्मिकसामाजिकदृष्ट्या वयमत्युन्नता भवितुं शक्नुमः ।।१।।

प्रथम मन्त्र में मित्र और वरुण की स्तुति है ।

---

१. ऋ० ५।७०।१ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं राजपुरुषविषये व्याख्यातवान् ।

पदार्थ– हे **मित्र वरुण** परमात्मा और जीवात्मा, राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री, अध्यापक और उपदेशक, प्राण-अपान ! **वाम्** तुम्हारी **अवः** रक्षा **नूनम्** निश्चय ही **पुरूरुणा चित् हि** अतिशय विशाल **अस्ति** है । इसलिए मैं **वाम्** तुम्हारी **सुमतिम्** अनुग्रह-बुद्धि को **वंसि भजूं** ।।१।।

भावार्थ– परमात्मा-जीवात्मा, राष्ट्रपति-प्रधानमन्त्री, अध्यापक-उपदेशक और प्राण-अपान की सुरक्षा पाकर शारीरिक, आत्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से हम अति उन्नत हो सकते हैं ।।१।।

अथ मित्रावरुणौ प्रार्थयते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
९८६. ता वां सम्यगद्रुह्वाणेषमश्याम धाम च । वयं वां मित्रा स्याम ।।२।।[1]

२ ३ २ ३ १ २र ३ १ २र ३
ता वाम् सम्यक् अद्रुह्वाणा अ द्रुह्वाणा । इषम् अश्याम धाम च।

२ ३
वयम् वाम् मित्रा मि त्रा स्याम ।।२।।

पदार्थः– हे **अद्रुह्वाणा** अद्रुह्यन्तौ मित्रावरुणौ परमात्मजीवात्मानौ राष्ट्रपतिप्रधानमन्त्रिणौ अध्यापकोपदेशकौ प्राणापानौ वा ! **ता वाम्** तौ युवाम्, वयं स्तुमः इति शेषः । युवयोः आनुकूल्येन वयम् **इषम्** अन्नरसधनविज्ञानादिकम् **धाम च** तेजश्च **सम्यक्** समुचितप्रकारेण **अश्याम** प्राप्नुयाम । हे **मित्रा** मित्रौ सर्वेषां सुहृद्भूतौ ! **वयम्** स्तोतारः **वाम्** युवयोः **स्याम** भवेम ।।२।।[2]

भावार्थः– परमात्मजीवात्मानौ राष्ट्रपतिप्रधानमन्त्रिणौ अध्यापकोपदेशकौ प्राणापानौ च यथायोग्यमुपयुक्तौ महान्तमुपकारं जनयतः ।।२।।

अगले मन्त्र में मित्र और वरुण से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ–हे **अद्रुह्वाणा** द्रोह न करने वाले, मित्र-वरुण अर्थात् परमात्मा-जीवात्मा, राष्ट्रपति-प्रधानमन्त्री, अध्यापक-उपदेशक, और प्राण-अपानो ! **ता वाम्** उन तुम दोनों की, हम स्तुति करते हैं। तुम्हारी अनुकूलता से हम **इषम्** अन्न, रस, धन, विज्ञान आदि **धाम च** और तेज **सम्यक्** समुचित प्रकार से **अश्याम** प्राप्त करें । हे **मित्रा** सबके मित्रों ! **वयम्** हम स्तोता लोग **वाम्** तुम्हारे **स्याम** हो जाएं ।।२।।

भावार्थ– परमात्मा-जीवात्मा, राष्ट्रपति-प्रधानमन्त्री, अध्यापक-उपदेशक और प्राण-अपान यथायोग्य उपयोग किये जाने पर महान् उपकार करते हैं ।।२।।

अथ पुनरपि तौ प्रार्थयते ।

३१ २ ३१ २३१ २ ३ २ ३ २३ १ २ ३१ २
९८७. पातं नो मित्रा पायुभिरुत त्रायेथां सुत्रात्रा । साह्याम दस्यून् तनूभिः ।।३।।[3]

२ ३ १ २ ३२ ३ २ ३ २
पातम् नः मित्रा मि त्रा पायुभिः । उत त्रायेथाम् सुत्रात्रा सु त्रात्रा।

३ १२१ २र ३१ २
साह्याम दस्यून् तनूभिः ।।३।।

---

१. ऋ० ५।७०।२, 'धाम च' इत्यत्र 'धायसे', 'वां मित्रा' इत्यत्र च 'ते रुद्रा' इति पाठः ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतमध्यापकोपदेशकविषये व्याख्यातवान् ।

३. ऋ० ५।७०।३, 'मित्रा' इत्यत्र 'रुद्रा', 'सासह्याम' इत्यत्र 'तुर्य्याम्' इति पाठः ।

पदार्थः— हे **मित्रा** सुहृद्भूतौ मित्रावरुणौ परमात्मजीवात्मानौ राष्ट्रपतिप्रधानमन्त्रिणौ अध्यापकोपदेशकौ प्राणापानौ वा ! युवाम् **पायुभिः** पालनसाधनैः। [पान्ति एभिरिति पायवः। पा रक्षणे धातोः 'कृवापा०'। उ० १।१ इत्युण् प्रत्ययः।] **नः** अस्मान् **पातम्** पालयतम्। **उत** अपि च **सुत्रात्रा** सुत्राणकर्त्रा गुणगणेन **त्रायेथाम्** रक्षतम्। युवयोः साहाय्येन वयम् **तनूभिः** शरीरैः **दस्यून्** क्षयकारिणः आन्तरान् बाह्यांश्च शत्रून् **सासह्याम** पाराजयेमहि ॥३॥[1]

भावार्थः— परमात्मजीवात्मनो राष्ट्रपतिप्रधानमन्त्रिणोरध्यापकोपदेशकयोः प्राणापानयोश्च साहाय्यं प्राप्य पुरुषार्थं कृत्वा वयं सदैव सुरक्षिता भवितुं शक्नुमः ॥३॥

अगले मन्त्र में फिर उनसे प्रार्थना है ।

पदार्थ— हे **मित्रा** मित्रभूत परमात्मा-जीवात्मा, राष्ट्रपति-प्रधानमन्त्री, अध्यापक-उपदेशक वा प्राण-अपानो ! तुम **पायुभिः** पालन-साधनों से **नः** हमारी **पातम्** पालना करो। **उत** और **सुत्रात्रा** उत्तम त्राण करने वाले गुण-समूह से **त्रायेथाम्** हमारा त्राण करो। तुम्हारी सहायता से हम **तनूभिः** शरीरों द्वारा **दस्यून्** क्षयकारी आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं को **सासह्याम** पराजित कर देवें ॥३॥

भावार्थ— परमात्मा-जीवात्मा, राष्ट्रपति-प्रधानमन्त्री, अध्यापक-उपदेशक, और प्राण-अपान की सहायता पाकर पुरुषार्थ करके हम सदा ही सुरक्षित हो सकते हैं ॥३॥

॥९॥ अथ 'उत्तिष्ठन्' इत्यादिकस्य नवमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः**— कुरुसुतिः काण्वः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ जीवात्मनो वीररसपानविषयमाह ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र १ २ ३ २ ३ २
९८८. **उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वा शिप्रे अवेपयः । सोममिन्द्र चमू सुतम् ॥१॥**[2]

३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३
उत्तिष्ठन् उत् तिष्ठन् ओजसा सह। पीत्वा शिप्रेइति अवेपयः ।

१ २र ३ १ २ ३ २
सोमम् इन्द्र चमूइति सुतम् ॥१॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** विघ्नविदारणसमर्थ जीवात्मन् ! त्वम् **ओजसा सह** तेजसा साकम् **उत्तिष्ठन्** उद्यच्छन् **चमू** चम्वोः मनोबुद्धिरूपयोः अधिषवणफलकयोः **सुतम्** अभिषुतम् **सोमम्** वीररसम् **पीत्वा** आस्वाद्य **शिप्रे** हनू जम्भौ इति यावत्। [शिप्रे हनू नासिके वा इति निरुक्तम् (६।१७)। हनू इत्युपलक्षणम् अन्येषामङ्गानामपि।] **अवेपयः** चालयसि। [टुवेपृ कम्पने, णिजन्तः, लङर्थे लङ्।] हन्वादिचालनं च शत्रुं प्रत्युग्रभावप्रकाशनार्थम् ॥१॥[3]

भावार्थः— मनुष्यः स्वात्मनि वीरताया भावान् तरङ्गितान् कृत्वा सर्वान् विघ्नान् विदार्यान्तरान् बाह्यांश्च शत्रूनुच्छिन्द्यात् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में जीवात्मा के वीररस-पान का विषय है ।

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं सभासेनेशविषये व्याख्यातः।

२. ऋ० ८।७६।१०, अथ० २०।४२।३, उभयत्र 'पीत्वी' इति पाठः।

३. यजुर्वेदे ८।३९ कण्डिकायाः प्रारम्भोऽप्यनेनैव मन्त्रेण भवति। तत्र दयानन्दर्षिर्मन्त्रांशमिमं सभापतिपक्षे व्याख्यातवान्।

पदार्थ– हे **इन्द्र** विघ्नों का विदारण करने में समर्थ जीवात्मन् ! तू **ओजसा सह** तेज के साथ **उत्तिष्ठन्** ऊंचा उठता हुआ **चमू** मन-बुद्धि रूप कटोरों में **सुतम्** निचोड़े गए **सोमम्** वीर-रस को **पीत्वा** पीकर **शिप्रे** जबड़े आदि अंगों को **अवेपयः** चलाता है। [जबड़े आदि को चलाना शत्रु के प्रति उग्रभाव के प्रकाशनार्थ होता है] ॥१॥

भावार्थ– मनुष्य अपने आत्मा में वीरता के भावों को तरंगित करके, सब विघ्नों का विदारण करके आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं का उच्छेद करे ॥१॥

अथ जीवात्मनो वीरकर्म प्रशस्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र २ ३ १ २ ३ १ २
९८९. **अनु त्वा रोदसी उभे स्पर्धमानमददेताम् । इन्द्र यद्दस्युहाभवः ॥२॥**[1]

१ २र ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र ३
अनु त्वा रोदसीइति उभेइति। स्पर्धमानम् अददेताम् ।

१ २र ३ २ ३ २ १ २र
इन्द्र यत् दस्युहा दस्यु हा अभवः ॥२॥

पदार्थः– हे **इन्द्र** शरीरधर जीवात्मन् ! **स्पर्धमानम्** स्पर्धां कुर्वन्तम् **त्वा** त्वाम् **उभे रोदसी** उभे द्यावापृथिव्यौ मातापितरौ वा **अनु अददेताम्** अनुकूलम् उत्साहं साधुवादं च प्रयच्छतः [दद दाने भ्वादिः, लडर्थे लङ्।] **यत्** यदा, त्वम् **दस्युहा** दस्यूनां हन्ता **अभवः** जायसे । [अत्रापि लडर्थे लङ्] ॥२॥

भावार्थः– यदा मनुष्य उत्साहितो भूत्वा दुर्विचारान् दुष्टजनांश्च हन्ति तदा तस्मिन् कर्मणि सर्वे तस्य समर्थका जायन्ते ॥२॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा के वीरकर्म की प्रशंसा है ।

पदार्थ– हे **इन्द्र** शरीरधारी जीवात्मन् ! **स्पर्धमानम्** स्पर्धा करते हुए **त्वा** तुझे **उभे रोदसी** धरती-आकाश दोनों अथवा माता-पिता दोनों **अनु अददेताम्** अनुकूल उत्साह वा साधुवाद देते हैं, **यत्** जब तू **दस्युहा** दस्युओं का विनाशक **अभवः** होता है ॥२॥

भावार्थ– जब मनुष्य उत्साहित होकर दुर्विचारों और दुष्टजनों का वध करता है तब उस कार्य में सब उसका समर्थन करते हैं ॥२॥

जीवात्मनि वीरता तदैव समागच्छति यदा स ज्ञानी भवतीति शिष्यस्याचार्यसकाशाज्ज्ञानग्रहणमाह ।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ २ ३ १ २ ३क २र
९९०. **वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतावृधम् । इन्द्रात् परितन्वं ममे ॥३॥**[2]

१ २र ३ १ २ ३ २ ३ २
वाचम् अष्टापदीम् अष्ट पदीम् अहम् ।

१ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २र
नवस्रक्तिम् नव स्रक्तिम् ऋतावृधम् ऋत वृधम् ।

१ २र १ २र ३क २ ३
इन्द्रात् परि तन्वम् ममे ॥३॥

पदार्थः– शिष्यो ब्रूते । **अहम्** शिष्यः **इन्द्रात्** विद्यैश्वर्ययुक्ताद् आचार्यात् **अष्टापदीम्** प्रथमादिसप्त-विभक्तिभिः सम्बोधनेनच युक्तां सुबन्तरूपामिति यावत्, **नवस्रक्तिम्** प्रथममध्यमोत्तमपुरुषेष्वेकवचनद्विवचन-

---

१. ऋ० ८।७६।११, अथ० २०।४२।२, उभयत्र 'क्रक्ष्माणमकृपेताम्' इति द्वितीयः पादः ॥

२. ऋ० ८।७६।१२ अथ० २०।४२।१, उभयत्र 'ऋतावृधम्' इत्यत्र 'ऋतस्पृशम्' इति पाठः ।

बहुवचनरूपां नवविभागयुक्तां, तिङन्तरूपामिति यावत्, **ऋतावृधम्** सत्यज्ञानस्य वर्द्धिकाम्, **तन्वम्** विस्तृताम् **वाचम्** वाणीम् **परिममे** परिच्छिनद्मि, परिगृह्णामि । सर्वाणि सुबन्ततिङन्तरूपाणि ज्ञात्वा निखिलेऽपि वाङ्मये पण्डितो भवामीति भावः ।।३।।[1]

भावार्थः— सर्वैर्विद्यार्थिभिर्व्याकरणशास्त्रं सम्यग् अधीत्यान्येषु च वेदाङ्गेषु प्रवीणतां प्राप्य वेदार्थान् ज्ञात्वा विद्वद्भिर्भूत्वा स्वाविद्यार्थिनोऽध्यापनीयाः ।।३।।

जीवात्मा में वीरता तभी आती है जब वह ज्ञानी होता है । इसलिए अगले मंत्र में आचार्य के पास से शिष्य के ज्ञानग्रहण का विषय है ।।

पदार्थ— शिष्य कह रहा है— **अहम्** मैं शिष्य **इन्द्रात्** विद्या के ऐश्वर्य से युक्त आचार्य से **अष्टापदीम्** सात विभक्तियों तथा सम्बोधन इन आठ पदों से युक्त अर्थात् सुबन्तरूप, **नवस्रक्तिम्** प्रथम-मध्यम-उत्तम पुरुषों के एकवचन, द्विवचन बहुवचन रूप नौ विभागों से युक्त अर्थात् तिङन्तरूप, **ऋतावृधम्** सत्यज्ञान को बढ़ाने वाली, **तन्वम्** विस्तृत **वाचम्** वाणी को **परिममे** ग्रहण करता हूं । अभिप्राय यह है कि सब सुबन्त और तिङन्त रूपों को जानकर सम्पूर्ण वाङ्मय में पण्डित हो जाता हूं ।।३।।

भावार्थ— सब विद्यार्थियों को चाहिए कि व्याकरणशास्त्र को भलीभांति पढ़कर तथा अन्य वेदांगों में भी प्रवीण होकर, वेदार्थों को जानकर, विद्वान् होकर अपने विद्यार्थियों को पढाएं ।।३।।

।।१०।। अथ 'इन्द्राग्नी' इत्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । **देवते** इन्द्राग्नी । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादाविन्द्राग्निनाम्नाऽऽत्ममनसी नृपतिसेनापती चाह्वयति ।

९९१. इन्द्राग्नी युवामिमे३ऽभि स्तोमा अनूषत । पिबतं शम्भुवा सुतम् ।।१।।[2]

इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति युवाम् इमे । अभि स्तोमाः अनूषत ।
पिबतम् शम्भुवा शम् भुवा सुतम् ।।१।।

पदार्थः— हे **इन्द्राग्नी** आत्ममनसी नृपतिसेनापती वा ! **युवाम्** वाम् **इमे स्तोमाः** इमानि स्तोत्राणि **अभि अनूषत** प्रशंसन्ति । हे **शम्भुवा** शम्भुवौ कल्याणकर्तारौ । [यौ शं सुखं भावयतस्तौ शम्भुवौ ।] युवाम् **सुतम्** अभिषुतं वीररसम् **पिबतम्** आस्वादयतम् ।।१।।[3]

भावार्थः— वीरतामुद्बोधनं च प्राप्यैव मनुष्यस्यात्मा मनश्च राष्ट्रस्य राजा सेनापतिश्च वैयक्तिकीं सामाजिकीं चोन्नतिं कर्तुमर्हन्ति ।।१।।

---

१. अष्टापदीम् अष्टाभिर्दिग्भिर्विदिग्भिश्चाष्टापदीम्, नवस्रक्तिम् उपरिस्थितेनादित्येन नवस्रक्तिम् वाचं स्तुतिमयीम्-इति सा०। अष्टापदीम्-चत्वारो वेदाः शास्त्राणि च अष्टापदानि । नवस्रक्तिम् नवस्रक्तयः कोणाः ताः बहिष्पवमानाः ऋचो नव, अथवा नवस्रक्तिं त्रिवृत्स्तौमिकीम्-इति वि०।

२. ऋ० ६।६०।७ ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं सभासेनेशपक्षे व्याख्यातवान्, सुतशब्देन च अभिनिष्पादितं दुग्धादिरसं गृहीतवान् ।

प्रथम मन्त्र में इन्द्र और अग्नि के नाम से आत्मा और मन तथा राजा एवं सेनापति का आह्वान किया गया है ।

पदार्थ– हे **इन्द्राग्नी** आत्मा और मन तथा राजा और सेनापति ! **युवाम्** तुम्हारी **इमे स्तोमाः** ये स्तोत्र **अभि अनूषत** प्रशंसा कर रहे हैं। हे **शम्भुवा** कल्याणकारियों ! तुम **सुतम्** अभिषुत वीररस को **पिबतम्** पिओ।।१।।

भावार्थ– वीरता और उद्बोधन को प्राप्त करके ही मनुष्य के आत्मा और मन तथा राजा और सेनापति वैयक्तिक एवं सामाजिक उन्नति करने योग्य होते हैं।।१।।

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३१२ १ २ ३ २ ३१ २
९९२. या वां सन्ति पुरुस्पृहो नियुतो दाशुषे नरा । इन्द्राग्नी ताभिरा गतम् ।।२।।[1]

२ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र ३१ २ ३ १ २र ३१२ ३
याः वाम् सन्ति पुरुस्पृहः पुरु स्पृहः । नियुतः नि युतः दाशुषे नरा ।

१ २र १ २र ३ १ २ १ २र ३
इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति ताभिः आ गतम् ।।२।।

पदार्थः– हे **नरा** नरौ नेतारौ **इन्द्राग्नी** आत्ममनसी नृपतिसेनापती वा! **दाशुषे** दत्तवते त्यागशीलाय परोपकारिणे जनाय **याः वाम्** युवयोः **नियुतः** लक्षसंख्यकाः **पुरुस्पृहः** बहुमहत्त्वाकाङ्क्षण्यः उदात्ताः कामनाः सन्ति **ताभिः** उदात्ताभिः कामनाभिः युवाम् **आ गतम्**[2] आगच्छतम् ।।२।।[3]

भावार्थः– देहे मनुष्यस्यान्तरात्मा मनश्च राष्ट्रे राजा सेनाध्यक्षश्च परहितकारिणमेव जनमुपकुर्वन्ति न स्वार्थपङ्कलिप्तम् ।।२।।

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय को कहते हैं।

पदार्थ– हे **नरा** नेता **इन्द्राग्नी** आत्मा और मन वा राजा एवं सेनापति! **दाशुषे** त्यागशील, परोपकारी जन के लिए **याः** जो **वाम्** तुम्हारी **नियुतः** लाख संख्या वाली **पुरुस्पृहः** बहुत महत्त्वाकांक्षा वाली उदात्त कामनाएं हैं **ताभिः** उनके साथ, तुम **आ गतम्** आओ ।।२।।

भावार्थ– शरीर में मनुष्य का अन्तरात्मा और मन तथा राष्ट्र में राजा और सेनाध्यक्ष दूसरों का हित करने वाले मनुष्य का ही उपकार करते हैं, स्वार्थ की कीचड़ से लिप्त मनुष्य का नहीं ।।२।।

अथ पुनरपि स एव विषय उच्यते ।

२ ३ १ २ ३ २ ३१२ २र ३ २ १ २ ३ १ २
९९३. ताभिरा गच्छतं नरोपेदं सवनं सुतम् । इन्द्राग्नी सोमपीतये ।।३।।[4]

१ २र ३ १२र ३ २ १२र ३ २
ताभिः आ गच्छतम् नरा । उप इदम् सवनम् सुतम् ।

१ २र १ २र ३ १ २ १२र १२र ३
इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति सोमपीतये सोम पीतये ।।३।।

---

१. ऋ० ६।६०।८ ।

२. अत्र गम्लृ गतौ इत्यस्माद् 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुकि सति शित्वाभावाच्छस्याभावो 'अनुदात्तोपदेश' इत्यादिना मलोपश्च इति य० ७।८ भाष्ये द० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिममध्यापकोपदेशकपक्षे व्याख्यातवान् ।

४. ऋ० ६।६०।९ ।

पदार्थः— हे **नरा** नरौ नेतारौ **इन्द्राग्नी** आत्ममनसी नृपतिसेनापती वा! **इदं सवनम् उप सुतम्** युवाभ्याम् इदम् उद्बोधनस्तोत्रं गीतमस्ति । युवाम् **ताभिः** पूर्वमन्त्रोक्ताभिः नियुद्भिः लक्षसंख्यकाभिः उदात्ताभिः कामनाभिः सह **सोमपीतये** वीररसस्य पानाय **आ गच्छतम्** आयातम् ।।३।।[1]

भावार्थः— मनुष्यस्यात्मनि नृपतौ सेनाध्यक्षे वा या बह्व्यो महत्त्वाकाङ्क्षास्तिष्ठन्ति ता वीरतयैव साद्धुं शक्यन्ते । आध्यात्मिकोत्कर्षोऽपि वीरतयैव संभवति न त्वलसत्वेन ।।३।।

अस्मिन् खण्डेऽग्निस्तुत्या परमात्मस्तुतिवर्णनाद् मित्रावरुणनाम्ना परमात्मजीवात्मनोः प्राणापानयोश्च वर्णनाद्, इन्द्रनाम्ना जीवात्मन उद्बोधनाद्, इन्द्राग्निनाम्नाऽऽत्ममनसोरुद्बोधनात्, प्रसंगतश्च मित्रावरुणनाम्ना राष्ट्रपतिप्रधानमन्त्रिणोरध्यापकोपदेशकयोश्च, इन्द्राग्निनाम्ना च नृपतिसेनापत्योः कर्तव्यादिकथनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्तीति वेद्यम् ।

अगले मन्त्र में फिर वही विषय है ।

पदार्थ— हे **नरा** नेता **इन्द्राग्नी** आत्मा और मन एवं राजा और सेनापति! **इदं सवनम् उप सुतम्** तुम्हारे लिए यह उद्बोधनस्तोत्र गाया गया है। तुम **ताभिः** उन पूर्वमन्त्रोक्त लाख उदात्त कामनाओं के साथ **सोमपीतये** वीररस के पानार्थ **आगच्छतम्** आओ ।।३।।

भावार्थ— मनुष्य के आत्मा में तथा राजा एवं सेनाध्यक्ष में जो बहुत सी महत्त्वाकांक्षाएं रहती हैं वे वीरता से ही सिद्ध की जा सकती हैं। आध्यात्मिक उत्कर्ष भी वीरता से ही संभव है, आलसीपन से नहीं।।३।।

इस खण्ड में अग्नि की स्तुति द्वारा परमात्मा की स्तुति का वर्णन करने से, मित्र-वरुण नाम से परमात्मा-जीवात्मा एवं प्राण-अपान का वर्णन होने से, इन्द्र नाम से जीवात्मा को उद्बोधन होने से, इन्द्राग्नी नाम से आत्मा और मन को उद्बोधन होने से तथा प्रसंगतः मित्र-वरुण नाम से राष्ट्रपति एवं प्रधानमन्त्री तथा अध्यापक एवं उपदेशक और इन्द्राग्नि नाम से राजा एवं सेनापति के भी कर्तव्य आदि कथित होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है यह जानना चाहिए ।।

षष्ठ अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ।

।।११।। अथ 'अर्षा सोम' इत्यादिकस्यैकादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा। **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५०३ क्रमाङ्के परमात्मविषये वानप्रस्थविषये च व्याख्याता । अत्र प्रकारान्तरेण परमात्मपक्ष एव प्रदर्श्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ २
९९४. अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत् । सीदन्योनौ वनेष्वा ।।१।।[2]

१२र ३ १ २ ३ २ १ २र १२र १२र १२र १ २र १२र
अर्ष सोम द्युमत्तमः । अभि द्रोणानि रोरुवत् । सीदन् योनौ वनेषु आ ।।१।।

पदार्थः— हे **सोम** जगत्स्रष्टः परमात्मन्! **योनौ** अन्तरिक्षे **वनेषु** उदकेषु **आसीदन्** तिष्ठन्, **द्युमत्तमः** अतिशयेन द्युतिमान्, **रोरुवत्** गर्जनां कुर्वन् विद्युदग्निरिव **यौनौ** गृहे **वनेषु** अरण्येषु च, सर्वत्रैवेत्यर्थः **आसीदन्**

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वत्पक्षे व्याख्यातवान् ।

२. ऋ० ९।६५।१९, 'सीदञ्छ्येनो न योनिमा' इति पाठः । साम० ५०३, ऋषिः भृगुः ।

आतिष्ठन् **द्युमत्तमः** तेजस्वितमः **रोरुवत्** कर्त्तव्यमुपदिशन् त्वम् **द्रोणानि अभि** आत्ममनोबुद्ध्यादीन् द्रोणकलशान् प्रति **अर्ष** आगच्छ ॥१॥

अत्र श्लेषमूलो वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— गृहे वाऽरण्ये वा, गिरौ वा गह्वरेषु वा, सरित्सु वा समुद्रे वा, भुवि वा दिवि वा, विद्युति वाऽन्तरिक्षे वा, देहे वाऽऽत्मनि वा सर्वत्रैव विराजमानोऽपि जगदीश्वरो यावद् ध्यानेन प्रकाशितो न जायते तावत् प्रत्यक्षतां नो याति ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ५०३ क्रमांक पर परमात्मा और वानप्रस्थ के विषय में व्याख्यात की गयी थी। यहां प्रकारान्तर से परमात्मा का विषय दर्शाते हैं ।।

पदार्थ— हे **सोम** जगत् के स्रष्टा परमात्मन्! **योनौ** अन्तरिक्ष में **वनेषु** जलों में **आसीदन्** रहने वाले, **द्युमत्तमः** देदीप्यमान, **रोरुवत्** गर्जना करते हुए बिजलीरूप अग्नि के समान, **योनौ** घर में, और **वनेषु** जंगलों में, सब जगह **आसीदन्** स्थित हुए, **द्युमत्तमः** सबसे बढ़कर तेजस्वी, **रोरुवत्** कर्तव्य का उपदेश करने वाले आप **द्रोणानि अभि** आत्मा, मन, बुद्धि, आदि द्रोणकलशों के प्रति **अर्ष** आइए ॥१॥

यहां श्लेषमूलक वाचकलुप्तोपमालंकार है॥१॥

भावार्थ— घर हो या जगंल हो, पहाड़ हो या गुफा हो, नदियां हों या समुद्र हो, भूमि हो या आकाश हो, बिजली हो या अन्तरिक्ष हो, शरीर हो या आत्मा हो, सभी जगह विराजमान भी जगदीश्वर जब तक ध्यान से प्रकाशित न हो जाए तब तक प्रत्यक्ष नहीं होता ॥१॥

अथ ब्रह्मानन्दरसानाह्वयति।।

३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
९९५. **अप्सा इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः। सोमा अर्षन्तु विष्णवे ॥२॥**[1]

३ २ १ २र ३ १ २ १२र ३ १ २ १ २र ३ १ २र
अप्साः इन्द्राय वायवे। वरुणाय मरुद्भ्यः। सोमाः अर्षन्तु विष्णवे ॥२॥

पदार्थः— **सोमाः** ब्रह्मानन्दरसाः **इन्द्राय** जीवात्मने, **वायवे** वेगवते मनसे, **वरुणाय** वर्तुं योग्याय बुद्धितत्त्वाय, **मरुद्भ्यः** इन्द्रियगणेभ्यः, **विष्णवे** देहे व्यापकाय प्राणाय च **अप्साः** कर्मप्रदातारः, पुरुषार्थप्रेरकाः सन्तः। [अपः कर्माणि सन्वन्ति प्रयच्छन्ति इति अप्साः।] **अर्षन्तु** प्रवर्तन्ताम् ॥२॥

भावार्थः— यदा परमात्मनः सकाशाद् ब्रह्मानन्दरसा आत्मन्यवतरन्ति तदा शरीरस्याङ्गमङ्गं स्फूर्तिमत् पौरुषयुक्तञ्च संजायते ॥२॥

अगले मन्त्र में ब्रह्मानन्द-रसों का आह्वान है।

पदार्थ— **सोमाः** ब्रह्मानन्द-रस **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए, **वायवे** वेगवान् मन के लिए, **वरुणाय** वरने योग्य बुद्धितत्त्व के लिए, **मरुद्भ्यः** इन्द्रियों के लिए, और **विष्णवे** शरीर में व्यापक प्राण के लिए **अप्साः** कर्म को देने वाले एवं पुरुषार्थ की प्रेरणा करने वाले होकर **अर्षन्तु** प्रवृत्त होवें ॥२॥

भावार्थ— जब परमात्मा के पास से ब्रह्मानन्द-रस आत्मा में उतरते हैं तब शरीर का अंग-अंग स्फूर्तिमान् और पौरुषयुक्त हो जाता है ॥२॥

---

१. ऋ० ९।६५।२०, 'सोमा अर्षन्ति विष्णवे' इति तृतीयः पादः।

अथ परमेश्वरः प्रार्थ्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
९९६. **इषं तोकाय नो दधदस्मभ्यं सोम विश्वतः । आ पवस्व सहस्रिणम् ॥३॥**[1]

१२र ३ १ २ ३ १२र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इषम् तोकाय नः दधत् । अस्मभ्यम् सोम विश्वतः । आ पवस्व सहस्रिणम् ॥३॥

पदार्थः— हे **सोम** परमैश्वर्यशालिन् जगदीश्वर! त्वम् **नः** अस्माकम् **तोकाय** सन्तानाय **अस्मभ्यम्** अस्मदर्थं च **विश्वतः** सर्वतः **इषम्** अन्नं विज्ञानं च **दधत्** प्रयच्छन् सन् **सहस्रिणम्** सहस्रसंख्याकम् आन्तरं बाह्यं च ऐश्वर्यम् **आ पवस्व** आ प्रापय ॥३॥

भावार्थः— परमेश्वरस्य ध्यानेन बलं प्राप्य मनुष्यः सर्वमपि दिव्यं भौतिकं चैश्वर्यं लब्धुं शक्नोति ॥३॥

अब परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे **सोम** परमैश्वर्यशालिन् जगदीश्वर! आप **नः** हमारे **तोकाय** सन्तान के लिए और **अस्मभ्यम्** हमारे लिए **विश्वतः** सब ओर से **इषम्** अन्न तथा विज्ञान **दधत्** प्रदान करते हुए **सहस्रिणम्** हजार संख्या वाले आन्तरिक तथा बाह्य ऐश्वर्य को **आ पवस्व** प्राप्त कराइये ॥३॥

भावार्थ— परमेश्वर के ध्यान से बल पाकर मनुष्य सारे विशाल दिव्य एवं भौतिक ऐश्वर्य को पा सकता है॥३॥

॥१२॥ अथ 'सोम उ' इत्यादिकस्य द्वादशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषयः** सप्तर्षयः (१ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः, २ कश्यपो मारीचः, ३ गोतमो राहूगणः, ४ अत्रिर्भौमः, ५ विश्वामित्रो गाथिनः, ६ जमदग्निर्भार्गवः, ७ वसिष्ठो मैत्रावरुणिः) । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** बृहती । **स्वरः** मध्यमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५१५ क्रमाङ्के सोमौषधिरसविषये ब्रह्मानन्दविषये च व्याख्याता । अत्र अविबालनिर्मितैर्वस्त्रखण्डैर्गोदुग्धक्षरणं वर्ण्यते ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
९९७. **सोम उ ष्वाणः सोतृभिरधि ष्णुभिरवीनाम् ।**

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अश्वयेव हरिता याति धारया मन्द्रया याति धारया ॥१॥[2]

१ २र ३ २ ३ १ २ १ २र १ २र १ २र
सोमः उ स्वानः सोतृभिः । अधि स्नुभिः अवीनाम् ।

१ २र ३ १ २ ३ १२र ३ १ २ ३ १२र
अश्वया इव हरिता याति धारया । मन्द्रया याति धारया ॥१॥

पदार्थः— **सोतृभिः** गोदुग्धक्षारकैः **अवीनां स्नुभिः** अविबालनिर्मितैः सानुवत् प्रततैः वस्त्रैः । [मांसृत्स्नूनामुपसंख्यानम् । अ० ६।१।६३ वा० इत्यनेन सानुशब्दस्य स्नुरादेशः ।] **अधिष्वाणः** अधिषूयमाणः अधिक्षार्यमाणः **सोमः** गवां पयः[3] **अश्वया इव** आशुगामिन्या नद्या इव **हरिता** शीघ्रया **धारया** प्रवाहसन्ततत्या **याति** कटाहेषु क्षरति, **मन्द्रया** आनन्दप्रदया **धारया** प्रवाहसन्ततत्या **याति** कटाहेषु क्षरति ॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः । 'याति धारया' इत्यस्य पुनरुक्तौ च लाटानुप्रासः ॥१॥

---

१. ऋ० ९।६५।२१ ।

२. ९।१०७।८, 'ष्वाणः' इत्यत्र 'षुवाणः' इति पाठः । साम० ५१५।

३. 'अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः' । ऋ० ९।१०७।९, साम० ९९८ इति प्रामाण्याद् गवां पयोऽपि सोम उच्यते।

भावार्थः— यस्मिन् देशे गोदुग्धस्य धाराः प्रवहन्ति तत्रत्या जना हृष्टाः पुष्टा बलीयांसः सन्तो दीर्घायुष्यं लभमानाः सुचिरं यज्ञादिकर्माणि कुर्वन्तोऽध्यात्मजीवनं च यापयन्तो मोदन्ते ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ५१५ क्रमांक पर सोम ओषधि के रस के विषय में तथा ब्रह्मानन्द के विषय में व्याख्या हो चुकी है। यहां भेड़ के बालों से निर्मित वस्त्रखण्डों से गोदुग्ध को छानने का वर्णन है ।

पदार्थ— सोतृभिः गोदुग्ध को छानने वालों द्वारा **अवीनां स्नुभिः** भेड़ के बालों से निर्मित, पर्वतशिखर के समान फैले हुए वस्त्रों से **अधिष्वाणः** छाना जाता हुआ **सोमः** गोदुग्ध **अश्वया इव** शीघ्रगामिनी नदी के समान **हरिता** तेज **धारया** धारा से **याति** कड़ाहों में छनता है, **मन्द्रया** आनन्ददायिनी **धारया** धारा के साथ **याति** कड़ाहों में छनता है ॥१॥

यहां उपमालंकार है। 'याति धारया' की पुनरुक्ति में लाटानुप्रास है ॥१॥

भावार्थ— जिस देश में गोदुग्ध की धाराएं बहती हैं वहां के लोग हृष्ट, पुष्ट, अधिक बलवान् होते हुए, दीर्घायुष्य पाते हुए, चिरकाल तक यज्ञादि कर्म करते हुए और आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते हुए आनन्दित रहते हैं ॥१॥

अथ दोग्ध्यो गावो वर्ण्यन्ते।

९९८. अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः ।
समुद्रं न संवरणान्यग्मन् मन्दी मदाय तोशते ॥२॥[1]

अनूपे गोमान् गोभिः अक्षारिति । सोमः दुग्धाभिः अक्षारिति ।
समुद्रम् सम् उद्रम् न संवरणानि सम् वरणानि अग्मन् । मन्दी मदाय तोशते ॥२॥

पदार्थः— यदा **गोमान्** गोस्वामी **गोभिः** धेनुभिः सह **अनूपे** जलप्रचुरे देशे **अक्षाः** क्षियति निवसति तदा **दुग्धाभिः** दुग्धाभ्योऽपि गोभ्यः । [पञ्चम्यर्थे तृतीया।] **सोमः** पयः **अक्षाः** क्षरति । एतावत् प्रचुरं गोदुग्धं गोषु भवति यद् दोहनानन्तरमपि पर्याप्तं पयः स्तनेष्ववशिष्यमाणः स्रवतीति भावः । **समुद्रं न** पयोधिं यथा **संवरणानि** नदीनाम् उदकानि गच्छन्ति, तद्वद् गवां दुग्धानि विशालं कटाहादिकम् **अग्मन्** गच्छन्ति। **मन्दी** हर्षकरः गोदुग्धरूपः सोमः **मदाय** गोस्वामिनां हर्षाय **तोशते** दोहनकाले शब्दं करोति । [तुस शब्दे भ्वादिः, सकारस्य शकारादेशश्छान्दसः] ॥२॥

एतन्मन्त्रस्य पूर्वार्धो यास्काचार्येणैवं व्याख्यातः [अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः । क्षियति-निगमः पूर्वः, क्षरति-निगम उत्तरः इत्येके । अनूपे गोमान् गोभिर्यदा क्षियत्यथ सोमो दुग्धाभ्यः क्षरति । सर्वे क्षियतिनिगमा इति शाकपूणिः । निरु० ५।१३ । इति] ॥

अत्रोपमालङ्कारः । 'रक्षाः' इत्यस्यावृत्तौ च यमकम् ॥२॥

भावार्थः— यस्मिन् गृहे परिवारे वा प्रचुरदुग्धदात्र्यो धेनवः सन्ति तन्निवासिनो यथेच्छं गोदुग्धदधिनवनीतादिकं सेवमाना गव्येन घृतेन यज्ञांश्च कुर्वन्तः परमात्मानं च ध्यायन्तः सदा सुप्रसन्नास्तिष्ठन्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में दुधारू गायों का वर्णन है ।

---

१. ऋ० ९।१०७।९ ।

पदार्थ– **यदा** जब **गोमान्** गायों का स्वामी **गोभिः** गायों के साथ **अनूपे** अधिक जल वाले देश में **अक्षाः** निवास करता है, तब **दुग्धाभिः** दुही हुई भी गायों से **सोमः** दूध **अक्षाः** झरता रहता है, अर्थात् गायों में इतना अधिक दूध होता है कि दुह लेने के बाद भी पर्याप्य दूध थनों में बचा होकर चूता रहता है। **समुद्रं न** समुद्र में जैसे **संवरणानि** नदियों के जल पहुंचते हैं, वैसे ही गायों के दूध विशाल कड़ाह आदि में **अग्मन्** जाते हैं। **मन्दी** हर्षदायक गोदुग्ध-रूप सोम **मदाय** गोस्वामियों के हर्ष के लिए **तोशते** दुहने के समय शब्द करता है ॥२॥

यहां उपमालंकार है। 'रक्षाः' की आवृत्ति में यमक है ॥२॥

भावार्थ– जिस घर या परिवार में बहुत दूध देने वाली धेनुएं हैं वहां के निवासी यथेच्छ गाय के दूध, दही, मक्खन आदि का सेवन करते हुए और गाय के घी से यज्ञ करते हुए तथा परमात्मा का ध्यान करते हुए सदा खूब प्रसन्न रहते हैं॥२॥

॥१३॥ अथ 'यत्सोम' इत्यादिकस्य त्रयोदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** असितः काश्यपो देवलो वा। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः॥

तत्रादौ परमात्मानमाचार्यं च प्रार्थयते।

१ २ ३ २ ३क २र ३ १र २र३ १ २ १ २ ३१र २र
९९९. **यत्सोम चित्रमुक्थ्यं दिव्यं पार्थिवं वसु। तन्नः पुनान आ भर ॥१॥**[1]

२ ३ २ ३क २ ३ २ १ २र १ २र ३ २ ३
यत् सोम चित्रम् उक्थ्यम्। दिव्यम् पार्थिवम् वसु। तत् नः पुनानः आ भर ॥१॥

पदार्थः– हे **सोम** दिव्यानन्दविद्यादिपरमैश्वर्ययुक्त जगदीश्वर आचार्य वा! **यत् चित्रम्** अद्भुतम्, **उक्थ्यम्** प्रशंसनीयम्, **दिव्यम्** योगसिद्धिमोक्षादिकम् अलौकिकम् **पार्थिवम्** भौतिकं च सुवर्ण-हीरकमुक्ताचक्रवर्तिराज्यादिकम् **वसु** धनं विद्यते **तत्** धनम्, त्वम् **नः** अस्मान् **पुनानः** पवित्रयन् **आ भर** आहर॥१॥

भावार्थः– परमात्मनः कृपां प्राप्ता आचार्यद्वारा च विविधास्वाध्यात्मिकीषु भौतिकीषु च विद्यासु पारं गमिता वयं सर्वं दिव्यं पार्थिवं च धनमर्जयितुं शक्नुमः ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा और आचार्य से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ– हे **सोम** दिव्य आनन्द, विद्या आदि परम ऐश्वर्य से युक्त जगदीश्वर वा आचार्य! **यत्** जो **चित्रम्** अद्भुत, **उक्थ्यम्** प्रशंसनीय, **दिव्यम्** योगसिद्धि, मोक्ष आदि दिव्य, तथा **पार्थिवम्** सोना, हीरे, मोती, चक्रवर्ती राज्य आदि भौतिक **वसु** धन है, **तत्** उस धन को, आप **नः** हमें **पुनानः** पवित्र करते हुए **आ भर** प्रदान कीजिए ॥१॥

भावार्थ– परमात्मा की कृपा को प्राप्त हुए और आचार्य द्वारा तरह-तरह की आध्यात्मिक तथा भौतिक विद्याओं में पारंगत किये हुए हम सकल दिव्य एवं पार्थिव धन को एकत्र कर सकते हैं॥१॥

---

१. ऋ० ९।१९।१।

अथ पुनः परमात्मविषयमाचार्यविषयं चाह।

१०००. वृषा पुनान आयूंषि स्तनयन्नधि बर्हिषि। हरिः सन्योनिमासदः ॥२॥[1]

वृषा पुनानः आयूंषि। स्तनयन् अधि बर्हिषि। हरिः सन् योनिम् आ असदः ॥२॥

पदार्थः— हे परमात्मन् आचार्य वा! **वृषा** आनन्दविद्यादीनां वर्षकः त्वम् **आयूंषि** अस्माकं जीवनानि **पुनानः** पवित्रयन्, **बर्हिषि अधि** अध्यात्मयज्ञे विद्यायज्ञे वा **स्तनयन्** उपदिशन्, **हरिः सन्** पापदुर्व्यसनदुःखादीनां हर्ता सन् **योनिम्** आत्मसदनं गुरुकुलगृहं वा आ **असदः** आसीदसि ॥२॥

भावार्थः— परमात्माऽस्माकं हृदये स्थितः स्वप्रेरणया गुरुश्च गुरुकुले स्थितः सकलविद्याध्यापनेन चरित्रनिर्माणेन चास्मानुपकुरुतोऽतस्तयोः पूजनं सत्कारश्च सर्वैर्विधेयम्॥२॥

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा और आचार्य का विषय है ।

पदार्थ— हे परमात्मन् वा आचार्य! **वृषा** आनन्द, विद्या आदि की वर्षा करने वाले आप **आयूंषि** हमारे जीवनों को **पुनानः** पवित्र करते हुए **बर्हिषि अधि** अध्यात्मयज्ञ वा विद्यायज्ञ में **स्तनयन्** उपदेश करते हुए **हरिः सन्** पाप, दुर्व्यसन, दुःख आदि को हरने वाले होते हुए **योनिम्** आत्मारूप सदन में वा गुरुकुल-सदन में **आ असदः** विराजमान होते हो ॥२॥

भावार्थ— परमात्मा हमारे हृदय में स्थित होकर अपनी प्रेरणा द्वारा और गुरु गुरुकुल में स्थित होकर सब विद्याओं के पढ़ाने तथा चरित्रनिर्माण के द्वारा हमारा उपकार करते हैं, इसलिए उनका पूजन और सत्कार सबको करना चाहिए ॥२॥

अथ सोमनाम्ना परमेश्वर इन्द्रनाम्ना चाचार्य उच्यते ।

१००१. युवं हि स्थः स्वःपती इन्द्रश्च सोम गोपती। ईशाना पिप्यतं धियः ॥३॥[2]

युवम् हि स्थः स्वःपती स्वा३रिति पतीइति।

इन्द्रः च सोम गोपती गो पतीइति। ईशाना पिप्यतम् धियः ॥३॥

पदार्थः— हे **सोम** जगत्स्रष्टः परमात्मन्! त्वम् **इन्द्रः च** अज्ञानविदारकः आचार्यश्च **युवम् हि** युवाम् खलु उभावपि **स्वःपती** ज्ञानप्रकाशस्य स्वामिनौ, **गोपती** वाक्पती च **स्थः** विद्येथे। **ईशाना** ईशानौ ज्ञानस्य वाचश्च स्वामिनौ युवाम् अस्माकम् **धियः** सत्प्रज्ञाः सत्कर्माणि च **पिप्यतम्** वर्धयतम्। [ओप्यायी वृद्धौ, प्यायः पी] ॥३॥

भावार्थः— परमात्मन उपासनेन गुरोश्च सत्कारेण श्रेष्ठं सत्यं ज्ञानं प्राप्य तदनुकूलानि कर्माणि च कृत्वा मनुष्याः स्वजीवनमुन्नेतुं पारयन्ति ॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मनो ब्रह्मानन्दरसस्याऽऽचार्यस्य प्रसंगतश्च गवां गोदुग्धक्षारणस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति॥

---

१. ऋ० ९।१९।३ 'आयुषु', 'योनिमासदत्' इति पाठः।

२. ऋ० ९।१९।२, 'स्वर्पती' इति पाठः।

अगले मन्त्र में सोम नाम से परमेश्वर तथा इन्द्र नाम से आचार्य को कहा जा रहा है।

पदार्थ– हे **सोम** जगत्स्रष्टा परमात्मन्! आप **इन्द्रः च** और अज्ञान को दूर करने वाले आचार्य **युवं हि** तुम दोनों ही **स्वःपती** ज्ञानप्रकाश के स्वामी, और **गोपती** वाणी के अधिपति **स्थः** हो। **ईशाना** ज्ञान और वाणी के स्वामी आप दोनों हमारी **धियः** श्रेष्ठ प्रज्ञाओं और श्रेष्ठ क्रियाओं को **पिप्यतम्** बढ़ाओ ॥३॥

भावार्थ– परमात्मा की उपासना से और गुरु के सत्कार से श्रेष्ठ सत्यज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य अपने जीवन को उन्नत कर सकते हैं॥३॥

इस खण्ड में परमात्मा, ब्रह्मानन्दरस, आचार्य एवं प्रसंगतः गौओं तथा गोदुग्ध का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्वखण्ड के साथ संगति है॥

षष्ठ अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त।

॥१४॥ अथ 'इन्द्रो मदाय' इत्यादिकस्य चतुर्दशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गोतमो राहूगणः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** पङ्क्तिः। **स्वरः** पञ्चमः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४११ क्रमाङ्के परमात्मजीवात्मनृपतिसेनापतिविषये व्याख्याता। अत्र मनोरूपं सेनापतिं प्रबोधयति।

१००२. इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः।
तमिन्महत्स्वाजिषूतिमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत् ॥१॥[1]

इन्द्रः मदाय वावृधे। शवसे वृत्रहा वृत्र हा नृभिः। तम् इत् महत्सु आजिषु।
ऊतिम् अर्भे हवामहे। सः वाजेषु प्र नः अविषत् ॥१॥

पदार्थः– **वृत्रहा** पापानां हन्ता **इन्द्रः** वीरं मनः। [यन्मनः स इन्द्रः। गो० ब्रा०, उ० ४।११।] **नृभिः** विजयाकाङ्क्षिभिः मनुष्यैः **मदाय** हर्षाय **शवसे** बलाय च **वावृधे** वर्ध्यते, उत्साह्यते। **ऊतिम्** रक्षकम् **तम् इत्** तदेव मनः, वयम् **महत्सु** विकटेषु **आजिषु** आन्तरेषु बाह्येषु च संग्रामेषु, अपि च **अर्भे** अल्पे संग्रामे **हवामहे** आह्वयामः। **सः** इन्द्रः मनः **वाजेषु** तेषु युद्धेषु **नः** अस्मान् **अविषत्** रक्षेत्। [अवते रक्षणार्थाद् लेटि रूपम्] ॥१॥[2]

भावार्थः– मनुष्यस्य मनश्चेन्मृतं तर्हि स जीवने कामप्युन्नतिं कर्तुं न क्षमते, मनश्चेदुत्साहपूर्णं तर्हि सर्वान् विघ्नान् रिपूंश्च तिरस्कुर्वन् सर्वत्र विजयं लभते ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४११ क्रमांक पर परमात्मा, जीवात्मा, राजा और सेनापति के विषय में व्याख्यात हो चुकी है। यहां मन रूप सेनापति को प्रबोधन दिया गया है।

---

१. ऋ० १।८१।१, अथ० २०।५६।१, उभयत्र 'षूतिमर्भे' इत्यत्र 'षूतेमर्भे' इति पाठः। साम० ४११।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सभाध्यक्षविषये व्याख्यातवान्।

पदार्थ– **वृत्रहा** पाप-नाशक **इन्द्रः** वीर मन **नृभिः** विजय की आकांक्षा वाले मनुष्यों द्वारा **मदाय** हर्ष के लिए, और **शवसे** बल के लिए **वावृधे** बढ़ाया अर्थात् उत्साहित किया जाता है । **ऊतिम्** रक्षक **तम् इत्** उस मन को ही, हम **महत्सु** बड़े **आजिषु** आन्तरिक और बाह्य संग्रामों में, तथा **अल्पे** छोटे संग्राम में **हवामहे** पुकारते हैं। **सः** वह मन **वाजेषु** उन युद्धों में **नः** हमारी **अविषत्** रक्षा करे ।।१।।

भावार्थ– मनुष्य का मन यदि मर गया तो वह जीवन में कोई भी उन्नति नहीं कर सकता, और मन यदि उत्साह से भर गया तो सब विघ्नों को और शत्रुओं को तिरस्कृत करता हुआ वह सब जगह विजय प्राप्त करता है ।।१।।

अथ पुनरपि मनः प्रबोधयति ।

१००३. **असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि पराददिः ।**
असि दभ्रस्य चिद्वृधो यजमानाय शिक्षसि सुन्वते भूरि ते वसु ।।२।।[1]
असि हि वीर सेन्यः । असि भूरि पराददिः परा ददिः ।
असि दभ्रस्य चित् वृधः । यजमानाय शिक्षसि । सुन्वते भूरि ते वसु ।।२।।

पदार्थः– हे **वीर** वीर इन्द्र, पराक्रमशालि मनः ! त्वम् **सेन्यः**[2] सेनासु साधुः, सेनापतिः **असि** विद्यसे, किञ्च **भूरि** बहु **पराददिः** शत्रून् दूरं प्रक्षेप्ता **असि** विद्यसे । अपि च **दभ्रस्य चित्** क्षुद्रस्य अपि **वृधः** वर्धयिता **असि** विद्यसे। त्वम् **यजमानाय** यजनशीलाय परोपकारिणे जनाय **शिक्षसि** बलं प्रयच्छसि । [शिक्षतिः दानकर्मा । निघं० ३।२० ।] **सुन्वते** वीररसाभिषवं कुर्वते जनाय **ते** तव **भूरि** बहु **वसु** ऐश्वर्यं भवतीति शेषः ।।२।।[3]

भावार्थः– यदा मनुष्याः स्वकीयं मनः सैनापत्येऽभिषिच्यान्तरान् बाह्यांश्च शत्रून् विजेतुं यतन्ते तदा विजयो निश्चितो जायते ।।२।।

अगले मन्त्र में पुनः मन को प्रबोधित किया गया है ।

पदार्थ– हे **वीर** पराक्रमशील मन! तू **सेन्यः** सेनाओं में निपुण अर्थात् सेनापति **असि** है, और **भूरि** भूरि-भूरि **पराददिः** शत्रुओं को दूर फेंकने वाला **असि** है । साथ ही **दभ्रस्य चित्** क्षुद्र का भी **वृधः** बढ़ाने वाला **असि** है। तू **यजमानाय** यजनशील, परोपकारी मनुष्य के लिए **शिक्षसि** बल प्रदान करता है । **सुन्वते** वीररस उत्पन्न करने वाले मनुष्य को **ते** तेरा **भूरि** बहुत अधिक **वसु** ऐश्वर्य प्राप्त होता है ।२।।

भावार्थ– जब मनुष्य अपने मन को सेनापति पद पर अभिषिक्त करके आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं को जीतने का यत्न करते हैं तब विजय निश्चित मिलती है ।।२।।

---

१. ऋ० १।८१।२, अथ० २०।५६।२ ।

२. विवरणनये 'वीरसेन्यः' इत्येकं पदम् । अत एवैवं व्याख्यातम्–वीरसेन्यः वीराः सेन्या यस्य असौ वीरसेन्य इति । परमेतत् पदग्रन्थविरुद्धम्, तत्र 'वीर । सेन्यः' इति छेदस्वरयोर्दर्शनात्-इति सामश्रमी ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरिममपि मन्त्रं सभाष्यक्षविषय एव व्याचष्टे ।।

तृतीया ऋक् पूर्वार्चिके ४१४ क्रमाङ्के जीवात्मनृपतिसेनापतिविषये व्याख्याता । अत्र प्रसङ्गगतो मनोविषय एवोच्यते।

२३ १२ ३ १ २ ३ १२ ३ १२
१००४. **यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धनम् ।**

३ १ २३ २ ३ २ ३ २उ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ ३
युङ्क्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः ।।३।।[1]

२ ३ १२ ३ १२र ३ १ २ ३ १ २ ३ १२र
यत् उदीरते उत् ईरते आजयः । धृष्णवे धीयते धनम् ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३र१ २ १ २र १ २र ३
युङ्क्ष्व मदच्युता मद च्युता हरीइति। कम् हनः कम् वसौ दधः ।

२ ३ १ २र ३
अस्मान् इन्द्र वसौ दधः ।।३।।

पदार्थः— **यत्** यदा **आजयः** आन्तरा बाह्या वा देवासुरसंग्रामाः **उदीरते** उद्गच्छन्ति, तदा **धृष्णवे** शत्रुधर्षणशीलाय एव जनाय **धनम्** ऐश्वर्यम् **धीयते** स्थाप्यते । हे **इन्द्र** विघ्नविदारक वीर मदीय मनः ! त्वम् **मदच्युता** मदच्युतौ, शत्रूणां मदं च्यावयितारौ **हरी** ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपौ अश्वौ **युङ्क्ष्व** ज्ञानग्रहणे कर्मकरणे च नियोजय । **कम्** कञ्चित्, शत्रुमिति भावः **हनः** जहि, **कम्** कञ्चित्, मित्रमिति भावः **वसौ दधः** वसुनि ऐश्वर्ये स्थापय । **अस्मान्** मित्रभूतान् **वसौ दधः** ऐश्वर्य एव स्थापय ।।३।।[2]

भावार्थः— आन्तरिकेषु बाह्येषु वा युद्धेषूपस्थितेषु मन उत्साह्य ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च स्वेषु स्वेषु विषयेषु सम्यङ् नियोज्य यथावच्छत्रूणां गतिविधिं ज्ञात्वा प्रहृत्य च समस्ता रिपवः पराजेया मित्राणि च सत्कर्तव्यानि ।।३।।

तृतीय ऋचा की पूर्वार्चिक में ४१४ क्रमांक पर जीवात्मा, राजा और सेनापति के विषय में व्याख्या हो चुकी है । यहां प्रसंगागत मन का विषय ही वर्णित है ।

पदार्थ— **यत्** जब **आजयः** आन्तरिक या बाह्य देवासुरसंग्राम **उदीरते** उठते हैं, तब **धृष्णवे** जो शत्रुओं को परास्त करने वाला है उसी मनुष्य को **धनम्** ऐश्वर्य **धीयते** मिलता है । हे **इन्द्र** विघ्नों को विदीर्ण करने वाले मेरे वीर मन! तू **मदच्युता** शत्रुओं के मद को चूर करने वाले **हरी** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-रूप घोड़ों को **युङ्क्ष्व** ज्ञान के ग्रहण और कर्म के करने के लिए नियुक्त कर । **कम्** किसी को अर्थात् शत्रु को **हनः** मार, **कम्** किसी को अर्थात् मित्र को **वसौ दधः** ऐश्वर्य में स्थापित कर । **अस्मान्** हम मित्रों को **वसौ दधः** ऐश्वर्य में स्थापित कर अर्थात् ऐश्वर्य प्रदान कर ।।३।।

भावार्थ— आन्तरिक या बाह्य युद्धों के उपस्थित होने पर मन को उत्साहित करके, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में भली-भांति नियुक्त करके, ठीक-ठीक शत्रुओं की गतिविधि जानकर, उन पर प्रहार करके सब शत्रुओं को पराजित करना और मित्रों को सत्कृत करना चाहिए ।।३।।

।।१५।। अथ 'स्वादोरित्था' इत्यादिकस्य पञ्चदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गोतमो राहूगणः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** पंक्तिः। **स्वरः** पञ्चमः ।।

---

१. ऋ० १।८१।३, अथ० २०।५६।३, उभयत्र 'धनम्' 'युङ्क्ष्वा' इत्यत्र 'धना', 'युक्ष्वा' इति पाठः । साम० ४१४।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सेनापतिविषये व्याचष्टे ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४०९ क्रमाङ्के आत्मिकस्य राष्ट्रियस्य च स्वराज्यस्य विषये व्याख्याता । अत्र सूर्यस्य स्वराज्यं वर्ण्यते ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३क २र
१००५. स्वादोरित्था विषूवतो मधोः पिबन्ति गौर्यः।
१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभथा वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥१॥[1]

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २र ३ क २
स्वादोः इत्था विषूवतः वि सूवतः । मधोः पिबन्ति गौर्यः।
१ २र ३ १ २ ३ १ २र १ २र १ २र ३ १ २
याः इन्द्रेण सयावरीः स यावरीः । वृष्णा मदन्ति शोभथा।
१ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २र
वस्वीः अनु स्वराज्यम् स्व राज्यम् ॥१॥

पदार्थः— **गौर्यः** रोचमानाः सूर्यदीधितयः । [गौरी रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः । निरु० ११।३९।] **इत्था** सत्यम् **वि-सुवतः** विशेषेण भूमौ वर्षतः पर्जन्यस्य **स्वादोः** उत्कृष्टस्वादवतः **मधोः** मधुरस्य उदकस्य । [द्वितीयार्थे षष्ठी।] **पिबन्ति** पानं कुर्वन्ति, **याः** सूर्यदीधितयः **वृष्णा** वर्षकेण **इन्द्रेण** सूर्येण **सयावरीः** सयावर्यः, सह वर्तमानाः सत्यः **शोभथा** शोभनप्रकारेण **मदन्ति** मदयन्ति । [मदी हर्षग्लेपनयोः भ्वादिः, णिजाभः ।] **वस्वीः** वस्व्यः निवासयित्र्यः ताः **स्वराज्यम्** सूर्यस्य स्वकीयं साम्राज्यम् **अनु** अनुसरन्ति। [उपसर्गबलाद् योग्यक्रियाध्याहारः] ॥१॥[2]

भावार्थः— अहो, दर्शनीयं सूर्यस्य स्वराज्यम्। कथं सूर्यरश्मयो निर्बाधाः सन्तो मेघाभिवृष्टं नदीनदसमुद्रादिषु व्याप्तं पयः पीत्वा पुनर्मेधान् निर्माय पुनरप्युदकं भूमौ वर्षन्ति । तथैवास्माभिरप्यन्तःस्वराज्यं राष्ट्रस्य च स्वराज्यमर्चनीयम् ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ४०९ क्रमांक पर आत्मिक तथा राष्ट्रिय स्वराज्य के विषय में व्याख्या की जा चुकी है । यहां सूर्य के स्वराज्य का वर्णन करते हैं।

पदार्थ— **गौर्यः** चमकीली सूर्यकिरणें **इत्था** सचमुच **वि-सुवतः** विशेषरूप से भूमि पर बरसते हुए बादल के **स्वादोः** स्वादु **मधोः** मधुर जल का **पिबन्ति** पान करती हैं, **याः** जो सूर्यकिरणें **वृष्णा** वर्षा करने वाले **इन्द्रेण** सूर्य की **सयावरीः** सहगामिनी होती हुई **शोभथा** शोभन प्रकार से **मदन्ति** आनन्दित करती हैं। **वस्वीः** निवासक वे किरणें **स्वराज्यम्** सूर्य के स्वराज्य के **अनु** अनुकूल चलती हैं ॥१॥

भावार्थ— अहो, सूर्य का स्वराज्य कैसा दर्शनीय है ! किस प्रकार सूर्य-किरणें निर्बाध होकर मेघ से बरसाये हुए नदी, नद, समुद्र आदि में व्याप्त जल को पीकर, पुनः बादल बनाकर फिर मेघ-जल को भूमि पर बरसा देती हैं। वैसे ही हमें भी चाहिए कि हम भी आन्तरिक स्वराज्य तथा अपने राष्ट्र के स्वराज्य की अर्चना करें ॥१॥

---

१. ऋ० १।८४।१०, अथ० २०।१०९।१, उभयत्र 'मधोः', शोभथा' इत्यत्र 'मध्वः', 'शोभसे' इति पाठः । साम० ४०९ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं 'नहि स्वसेनापतिभिर्वीरसेनाभिश्च विना स्वराज्यस्य शोभारक्षणे भवितुं शक्ये' इति विषये व्याख्यातवान् ।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह।

१००६. ता अस्य पृशनायुवः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः।
प्रिया इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥२॥[1]

ताः अस्य पृशनायुवः। सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः। प्रियाः इन्द्रस्य धेनवः।
वज्रम् हिन्वन्ति सायकम्। वस्वीः अनु स्वराज्यम् स्व राज्यम् ॥२॥

पदार्थः— **अस्य** इन्द्राख्यस्य सूर्यस्य **ताः पृश्नयः** ताः नानावर्णा दीधितयः **पृशनायुवः**[2] चन्द्रमसा पृशनं स्पर्शं कामयमाना इव **सोमम्** चन्द्रमसम् **श्रीणन्ति** प्रकाशेन परिपक्वं कुर्वन्ति। [श्रीञ् पाके क्र्यादिः।] **इन्द्रस्य** सूर्यस्य, ताः **प्रियाः** प्रेमार्हाः **धेनवः** दीधितयः **सायकम्** दुर्भिक्षादीनाम् अन्तकरम्। [स्यति विनाशयतीति सायकः, षो अन्तकर्मणि।] **वज्रम्** मेघस्थं विद्युद्वज्रम् **हिन्वन्ति** प्रेरयन्ति। एवम् **वस्वीः** वस्व्यः निवासहेतुकास्ताः **स्वराज्यम्** सूर्यस्य स्वकीयं साम्राज्यम् **अनु** अनुसरन्ति ॥२॥[3]

अत्र 'पृशनायुवः' इत्यत्र व्यङ्ग्योत्प्रेक्षालङ्कारः॥२॥

भावार्थः—सूर्यरश्मीनामेवेदं प्रशंसनीयं महत् कार्यं यत्ते सूर्यस्य स्वराज्यमनुसरन्तश्चन्द्रादीन् लोकान् प्रकाशयन्ति, मेघेषु विद्युद्वज्रं गर्जयन्तो वृष्टिं कुर्वन्ति, सर्वान् निवासयन्ति च। तथैव मनुष्यैरपि स्वकीयमान्तरं बाह्यं च स्वराज्यं प्रकाशनीयम् ॥२॥

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है।

पदार्थ— **अस्य** इस इन्द्रनामक सूर्य की **ताः पृश्नयः** वे रंग-विरंगी किरणें **पृशनायुवः** मानो चन्द्रमा के साथ स्पर्श को चाहती हुई **सोमम्** चन्द्रमा को **श्रीणन्ति** प्रकाश से परिपक्व करती हैं। **इन्द्रस्य** सूर्य की, वे **प्रियाः** प्रिय **धेनवः** किरणें **सायकम्** दुर्भिक्ष आदि का अन्त करने वाले **वज्रम्** मेघ के विद्युत्रूप वज्र को **हिन्वन्ति** प्रेरित करती हैं। इसप्रकार **वस्वीः** वे निवासक किरणें **स्वराज्यम्** सूर्य के स्वराज्य के **अनु** अनुकूल चलती हैं ॥२॥

यहां 'पृशनायुवः में व्याङ्ग्योत्प्रेक्षा अलंकार है॥२॥

भावार्थ— सूर्य-किरणों का ही यह महान् कार्य है कि वे सूर्य के स्वराज्य का अनुसरण करती हुई चन्द्र आदि लोकों को प्रकाशित करती हैं, मेघों में विद्युत्रूप वज्र को गरजाती हुई वर्षा करती हैं और सबको बसाती हैं। उसीप्रकार मनुष्यों को भी अपना आन्तरिक एवं बाह्य स्वराज्य प्रकाशित करना चाहिए ॥२॥

अथ सूर्यदीधितीनां सेनानां च स्वराज्यं वर्णयति।

१००७. ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः।
व्रतान्यस्य सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥३॥[4]

ताः अस्य नमसा सहः। सपर्यन्ति प्रचेतसः प्र चेतसः।
व्रतानि अस्य सश्चिरे। पुरूणि पूर्वचित्तये पूर्व चित्तये।
वस्वीः अनु स्वराज्यम् स्व राज्यम् ॥३॥

---

१. ऋ० १।८४।११।

२. पृशनायुवः स्पर्शनकामाः-इति सा०। आत्मनः स्पर्शमिच्छन्त्यः, अत्र छान्दसो वर्णलापो वेति सलोपः-इति ऋ० १।८४।११ भाष्ये द०।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सूर्यकिरणपक्षे सेनापक्षे च व्याख्यातवान्।

४. ऋ० १।८४।१२।

पदार्थः— प्रथमः सूर्यदीधितिपक्षे । **प्रचेतसः** प्रज्ञापिकाः **ताः** सूर्यदीधितयः **नमसा** चन्द्रादिलोकानां प्रति नमनेन **अस्य** एतस्य इन्द्रस्य सूर्यस्य **सहः** बलम् **सपर्यन्ति** वर्धयन्ति । किञ्च **पूर्वचित्तये**[1] सूर्यस्य क्षितिजे उदयात् पूर्वमेव चित्तये प्रज्ञानाय **अस्य** सूर्यस्य **पुरूणि** बहूनि **व्रतानि** प्रकाशनादीनि कर्माणि **सश्चिरे** प्राप्नुवन्ति, कुर्वन्तीत्यर्थः । [सश्चतिः गतिकर्मा । निघं० २।१४।] एवम् **वस्वीः** वस्व्यः निवासहेतुभूताः ताः **स्वराज्यम्** सूर्यस्य आत्मनः साम्राज्यम् **अनु** अनुक्रमेण वर्धयन्ति ।।

द्वितीयः सेनापक्षे । **प्रचेतसः** प्रकृष्टचित्ताः **ताः** सेनाः **नमसा** नमस्कारेण **अस्य** एतस्य इन्द्रस्य सेनाध्यक्षस्य **सहः** बलम् **सपर्यन्ति** प्रशंसन्ति । किञ्च **अस्य** सेनाध्यक्षस्य **पूर्वचित्तये** पूर्वमेव विज्ञापनाय **पुरूणि** बहूनि **व्रतानि** शत्रुषु भयोत्पादनादीनि कर्माणि **सश्चिरे** कुर्वन्ति। एवम् **वस्वीः** वस्व्यः स्वराष्ट्रनिवासहेतुभूताः ताः **स्वराज्यम्** स्वकीयराष्ट्रस्य राज्यम् **अनु** अनुकूलमाचरन्ति ।।३।।[2]

भावार्थः— सूर्यदीधितयो यथा सूर्येण मिलित्वा सेनाश्च यथा सेनापतिना मिलित्वा स्वराज्यं वर्धयन्ति तथैव मनुष्यैः परमेश्वरेण मिलित्वा स्वकीयमाध्यात्मिकं स्वराज्यं वर्धनीयम् ।।३।।

अस्मिन् खण्डे मनःप्रबोधनात् सूर्यस्य सूर्यरश्मीनां च स्वराज्यवर्णनमुखेन प्रजानामाध्यात्मिकस्वराज्य-द्योतनाच्चैतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ।।

अगले मन्त्र में सूर्यकिरणों और सेनाओं के स्वराज्य का वर्णन हे ।

पदार्थ— प्रथम सूर्य-किरणों के पक्ष में । **प्रचेतसः** प्रज्ञापक **ताः** वे सूर्यकिरणें **नमसा** चन्द्र आदि लोकों के प्रति झुकने के द्वारा **अस्य** इस सूर्यरूप इन्द्र के **सहः** बल को **सपर्यन्ति** बढाती हैं। और **पूर्वचित्तये** सूर्य के क्षितिज में उदय होने से पूर्व ही उसका ज्ञान कराने के लिए **अस्य** इस सूर्य के **पुरूणि** बहुत से **व्रतानि** प्रकाशप्रदान आदि कर्मों को **सश्चिरे** कर देती हैं। इस प्रकार **वस्वीः** वे निवासक किरणें **स्वराज्यम्** सूर्य के अपने साम्राज्य को **अनु** अनुक्रम से बढाती हैं।।

द्वितीय सेना के पक्ष में । **प्रचेतसः** प्रकृष्ट चित्त वाली **ताः** वे सेनाएं **नमसा** नमस्कार के साथ **अस्य** इस सेनाध्यक्षरूप इन्द्र के **सहः** बल की **सपर्यन्ति** प्रशंसा करती हैं। और **अस्य** इस सेनाध्यक्ष को **पूर्वचित्तये** पहले ही ज्ञान करा देने के लिए **पूरूणि** बहुत से **व्रतानि** शत्रुओं में भय उत्पन्न करना आदि कर्मों को **सश्चिरे** कर देती हैं। इस प्रकार **वस्वीः** अपने राष्ट्र के निवास में कारणभूत वे सेनाएं **स्वराज्यम्** स्वराज्य के **अनु** अनुकूल आचरण करती हैं ।।३।।

भावार्थ— सूर्यकिरणें जैसे सूर्य के साथ मिल कर और सेनाएं जैसे सेनापति के साथ मिल कर स्वराज्य को बढ़ाती हैं, वैसे ही मनुष्यों को चाहिए कि परमेश्वर के साथ मिलकर अपने आध्यात्मिक स्वराज्य को बढायें।।३।।

इस खण्ड में मन को प्रबुद्ध करने एवं सूर्य तथा सूर्यरश्मियों के स्वराज्य के वर्णन द्वारा प्रजाओं के आध्यात्मिक स्वराज्य की सूचना देने के कारण इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ।।

षष्ठ अध्याय में पंचम खण्ड समाप्त ।

---

१. पूर्वचित्तये पूर्वप्रसादनाय-इति वि० । युयुत्सूनां शत्रूणां पूर्वमेव प्रज्ञापनाय-इति सा० । पूर्वेषां संज्ञानाम संज्ञापनाय वा इति द०।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सभासेनाध्यक्षविषये व्याख्यातवान् ।

।।१६।। अथ 'असाव्यंशुर्' इत्यादिकस्य षोडशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** जमदग्निर्भार्गवः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४७३ क्रमाङ्के आनन्दरसविषये व्याख्याता। अत्र सोमौषधिरसविषयो ज्ञानरसविषयश्च वर्ण्यते ।

१००८. असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः । श्येनो न योनिमासदत् ।।१।।[1]

असावि अंशुः मदाय । अप्सु दक्षः गिरिष्ठाः गिरि स्थाः ।
श्येनः न योनिम् आ असदत् ।।१।।

पदार्थः— प्रथमः सोमौषधिरसविषये । **गिरिष्ठाः** पर्वतेषु उत्पन्नः, **दक्षः** बलप्रदः **अंशुः** सोमौषधिरसः **मदाय** पाने सति उत्साहवर्धनाय **अप्सु** उदकेषु **असावि** अभिषुतोऽस्ति । **श्येनः न योनिम्** श्येनपक्षी यथा स्वनीडम् आगत्य स्थितो भवति, तथा एष सोमौषधिरसः **योनिम्** द्रोणकलशम् **आसदत्** आगत्य स्थितोऽस्ति ।।

द्वितीयः ज्ञानरसविषये । **गिरिष्ठाः** वेदवाचि स्थितः, **दक्षः** आत्मबलप्रदः **अंशुः** ज्ञानरसः **मदाय** आनन्दप्रापणाय **अप्सु** विद्यार्थिनां कर्मसु **असावि** आचार्येण अभिषूयते । **श्येनः न योनिम्** श्येनपक्षी यथा स्वनीडम् आगत्य स्थितो भवति तथा एष ज्ञानरसः **योनिम्** जीवात्मरूपं सदनम् **आसदत्** आगत्य स्थितो भवति।।१।।

अत्रोपमालङ्कारः श्लेषश्च ।।१।।

भावार्थः— कर्मरहितं केवलं ज्ञानं नीरसं निष्फलं च भवति ।।१।।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ४७३ क्रमांक पर आनन्दरस के विषय में व्याख्या हो चुकी है। यहां सोम ओषधि के रस का तथा ज्ञानरस का विषय वर्णित किया जाता है ।

पदार्थ— प्रथम सोमौषधि के रस के विषय में । **गिरिष्ठाः** पर्वतों पर उत्पन्न, **दक्षः** बलदायक **अंशुः** सोम ओषधि का रस **मदाय** पीने पर उत्साहवर्धन के लिए **अप्सु** जलों में **असावि** निचोड़ा गया है । **श्येनः न योनिम्** बाज पक्षी जैसे अपने आवासवृक्ष पर बैठता है, वैसे ही यह सोम ओषधि का रस **योनिम्** द्रोणकलश में **आसदत्** आकर स्थित हो गया है ।।

द्वितीय—ज्ञानरस के विषय में । **गिरिष्ठाः** वेदवाणी में स्थित, **दक्षः** आत्मबल देने वाला **अंशु** ज्ञानरस **मदाय** आनन्द प्राप्त कराने के लिए **अप्सु** विद्यार्थियों के कर्मों में **असावि** अभिषुत किया जाता है । **श्येनः न योनिम्** बाज पक्षी जैसे अपने आवास-वृक्ष पर बैठता है, वैसे ही यह ज्ञानरस **योनिम्** जीवात्मारूप सदन में **आसदत्** आकर स्थित होता है।।१।।

इस मन्त्र में उपमालंकार तथा श्लेष है।।१।।

भावार्थ— कर्मरहित अकेला ज्ञान नीरस और निष्फल होता है ।।१।।

---

१. ऋ० ९।६२।४, साम० ४७३ ।

अथ पुनरपि स एव विषय उच्यते ।

३१र २र ३१ २ ३ २ ३१र २र ३ २ १ २ ३ २३ १ २
१००९. शुभ्रमन्धो देववातमप्सु धौतं नृभिः सुतम् । स्वदन्ति गावः पयोभिः ॥२॥[1]

३ २ १ २र ३१ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ २
शुभ्रम् अन्धः देववातम् देव वातम् । अप्सु धौतम् नृभिः सुतम् ।

१ २र १२र १ २र
स्वदन्ति गावः पयोभिः ॥२॥

पदार्थः— प्रथमः सोमौषधिरसविषये । **देववातम्** देवेन सूर्येण मेघेन वा वातं वृद्धिं गमितम्, **अप्सु** उदकेषु **धौतम्** प्रक्षालितम् । [धावु गतिशुद्धयोः ।] **नृभिः** ऋत्विग्जनैः **सुतम्** अभिषुतम् **शुभ्रम् अन्धः** स्वच्छं सोमरसम् **गावः** धेनवः **पयोभिः** स्वकीयैः दुग्धैः **स्वदन्ति** स्वादयन्ति ॥

द्वितीयः ज्ञानरसविषये । **देववातम्** देवेन विदुषा आचार्येण प्रेरितम्, **अप्सु** कर्मसु, आचरणेषु **धौतम्** प्रापितम् । [धावुरत्र गत्यर्थः।] **नृभिः** इतरैः नेतृभिः मार्गदर्शकैः गुरुजनैः **सुतम्** उत्पादितम् **शुभ्रम् अन्धः** स्वच्छं ज्ञानरसम् **गावः** वेदवाचः **पयोभिः** ओंकारलक्षणैः दुग्धैः **स्वदन्ति** मधुरं कुर्वन्ति ॥२॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— भौतिकं ज्ञानमध्यात्मज्ञानेन सहचरितं महाकल्याणकरं जायते ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः वही विषय है ।

पदार्थ— प्रथम सोम ओषधि के रस के विषय में । **देववातम्** सूर्य या मेघ द्वारा बढ़ाये हुए **अप्सु** जलों में **धौतम्** धोये हुए, **नृभिः** ऋत्विज् मनुष्यों से **सुतम्** अभिषुत किये गये **शुभ्रम् अन्धः** स्वच्छ सोमरस को **गावः** गौएं **पयोभिः** अपने दूधों से **स्वदन्ति** स्वादु बनाती हैं ॥

द्वितीय ज्ञानरस के विषय में । **देववातम्** विद्वान् आचार्य से प्रेरित, **अप्सु** कर्मों में, आचरणों में **धौतम्** पहुंचाये हुए, **नृभिः** अन्य मार्गदर्शक गुरुजनों से **सुतम्** उत्पन्न किये गये **शुभ्रम् अन्धः** स्वच्छ ज्ञानरस को **गावः** वेदवाणियां **पयोभिः** ओंकाररूप दूध से **स्वदन्ति** मधुर कर देती हैं ॥२॥

यहां श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ— भौतिक ज्ञान अध्यात्म ज्ञान से मिलकर महान् कल्याण करने वाला हो जाता है ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह।

२ ३ २ ३ १र २र३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
१०१०. आदीमश्वं न हेतारमशूशुभन्नमृताय । मधो रसं सधमादे ॥३॥[2]

२ ३ १ २र १ २र १ २र ३१ २ ३ १ २र
आत् ईम् अश्वम् न हेतारम् । अशूशुभन् अमृताय अ मृताय ।

१ २र १२र ३ १ २ ३ १२र
मधोः रसम् सधमादे सध मादे ॥३॥

---

१. ऋ० ९।६२।५, 'मप्सु धूतो नृभिः सुतः' इति द्वितीयः पादः ।

२. ऋ० ९।६२।६, 'हेतारो', 'मध्वो' इति पाठः।

पदार्थः— प्रथमः सोमौषधिरसविषये । **आत्** तदनन्तरम्, सोमरसे गोदुग्धमिश्रणानन्तरमित्यर्थः **हेतारम्** बलस्य वर्धयितारम् । [हि गतौ वृद्धौ च।] **ईम् मधोः रसम्** एतम् मधुरस्य सोमस्य रसम्, योद्धारः **अमृताय** युद्धे विजयलाभाय **अशूशुभन्** पातुं पात्रेषु शोभयन्ति । कथमिव? **हेतारम् अश्वं न** यथा आशुगामिनं तुरङ्गमम् अश्वपालाः अश्वोचितैरलङ्कारैः शोभयन्ति तद्वत् ।।

द्वितीयः ज्ञानरसविषये । **आत्** तदनन्तरम्, गुरोः सकाशाज्ज्ञानोपलब्धेरनन्तरमित्यर्थः, **हेतारम्** पुरुषार्थ-वर्धकम् **ईम् मधोःरसम्** एतं मधुरस्य ज्ञानस्य रसम्, शिष्याः **अमृताय** मोक्षलाभाय **अशूशुभन्** योगाभ्यासैः शोभयन्ति । कथमिव? **हेतारम्**[1] **अश्वं न** यथा गन्तारं तुरङ्गमम् अश्वपालाः अश्वोचितैरलङ्कारैः शोभयन्ति तद्वत् ।।३।।

अत्र श्लेषः श्लिष्टोपमा चालङ्कारः ।।३।।

भावार्थः— यथा पीतः सोमौषधिरसो बलवृद्धिकरः सन् युद्धे विजयं प्रापयति तथाऽऽचार्याद् गृहीतं ज्ञानं योगाभ्यासेन सहचरितं मोक्षप्रापकं जायते ।।३।।

अगले मन्त्र में फिर वही विषय है।

पदार्थ— प्रथम सोम ओषधि के रस के विषय में । **आत्** उसके अनन्तर अर्थात् सोमरस में गाय का दूध मिलाने के पश्चात्, **हेतारम्** बल बढ़ाने वाले **ईम् मघोः रसम्** इस मधुर सोम के रस को, योद्धा लोग **अमृताय** युद्ध में विजय की प्राप्ति के निमित्त **अशूशुभन्** पीने के लिए पात्रों में अलंकृत करते हैं, **हेतारम् अश्वं न** जैसे शीघ्रगामी घोड़े को अश्वपाल योग्य अलंकारों से अलंकृत करते हैं।।

द्वितीय ज्ञानरस के विषय में । **आत्** गुरु के पास से ज्ञान की उपलब्धि के अनन्तर **हेतारम्** पुरुषार्थ को बढ़ाने वाले **ईम् मघोः रसम्** इस मधुर ज्ञानरस को, शिष्यगण **अमृताय** मोक्ष की प्राप्ति के लिए **अशूशुभन्** योगाभ्यासों से अलंकृत करते हैं।।३।।

यहां श्लेष और श्लिष्टोपमा अलंकार हैं।।३।।

भावार्थ— जैसे पिया हुआ सोम ओषधि का रस बल की वृद्धि करने वाला होता हुआ युद्ध में विजय प्राप्त कराता है, वैसे ही आचार्य से ग्रहण किया गया ज्ञान योगाभ्यास से मिलकर मोक्ष प्राप्त कराता है ।।३।।

।।१७।। अथ 'अभि द्युम्नं' इत्यादिकस्य सप्तदशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** १ ऊर्ध्वसद्मा आङ्गिरसः, २ कृतयशा आङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** काकुभः प्रगाथः (१ विषमा ककुबुष्णिक्, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ ऋषभः, २ पञ्चमः।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५७९ क्रमाङ्के परमात्मानं सम्बोधिता । अत्र योगिराड् आचार्यः सम्बोध्यते ।

१०११. अभि द्युम्नं बृहद्यश इषस्पते दिदीहि देव देवयुम् ।
वि कोशं मध्यमं युव ।।१।।[2]

अभि द्युम्नम् बृहत् यशः । इषः पते दिदीहि देव देवयुम् ।
वि कोशम् मध्यमम् युव ।।१।।

---

१. हेतारं शीघ्रगामिनम्- इति वि० ।

२. ऋ० ९।१०८।९, 'देवयुः' इति पाठः। साम० ५७९ ।

पदार्थः— हे **इषः पते** विज्ञानस्य स्वामिन् योगिप्रवर आचार्य! त्वम् **द्युम्नम्** अध्यात्मं तेजः, **बृहद् यशः** विशालां कीर्तिं च **अभि** शिष्यानस्मान् अभिप्रापय । हे **देव** योगविद्यया प्रकाशित विद्वन्! त्वम् **देवयुम्** देवं परमात्मानं कामयमानं माम्, **दिदीहि** परमात्मदर्शनेन प्रकाशय । **मध्यमं कोशम्** पञ्चकोशेषु मध्यस्थं मदीयं मनोमयं कोशम् **वि युव** समुद्घाटय, येनाहं विज्ञानमयमानन्दमयं च कोशमारोढुं प्रभवेयम् ॥१॥

भावार्थः— योगविद्यानिष्णातस्याचार्यस्यानुशासने तिष्ठन् शिष्यः सर्वामध्यात्मविद्यामुपलभ्य परमात्म-साक्षात्कारे समर्थो जायते ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ५७९ क्रमांक पर परमात्मा को सम्बोधन की गयी थी। यहां योगिराज आचार्य को सम्बोधन है ।

पदार्थ— हे **इषः पते** विज्ञान के स्वामी योगिप्रवर आचार्य! आप **द्युम्नम्** अध्यात्म तेज, **बृहद् यशः** विशाल कीर्ति, हम शिष्यों को **अभि** प्राप्त कराइये । हे **देव** योगविद्या से प्रकाशित विद्वन् ! आप **देवयुम्** परमात्मदेव के इच्छुक मुझको **दिदीहि** परमात्मा का दर्शन कराकर प्रकाशित कर दीजिए । **मध्यमं कोशम्** पंच कोशों में से बीच में स्थित मेरे मनोमय कोश को **वि युव** उद्घाटित् कर दीजिए, जिससे मैं विज्ञानमय और आनन्दमय कोश में आरोहण कर सकूं ॥१॥

भावार्थ— योगविद्या में निष्णात आचार्य के अनुशासन में स्थित शिष्य सारी अध्यात्म-विद्या पाकर परमात्मा के साक्षात्कार में समर्थ हो जाता है ॥१॥

अथ पुनरप्याचार्य उच्यते ।

१०१२. **आ वच्यस्व सुदक्ष चम्वोः सुतो विशां वह्निर्न विश्पतिः ।**
वृष्टिं दिवः पवस्व रीतिमपो जिन्वन् गविष्टये धियः ॥२॥[1]

आ वच्यस्व सुदक्ष सु दक्ष चम्वोः सुतः । विशाम् वह्निः न विश्पतिः ।
वृष्टिम् दिवः पवस्व रीतिम् अपः । जिन्वन् गविष्टये गो इष्टये धियः ॥२॥

पदार्थः— हे **सुदक्ष** शुभयोग बलयुक्त आचार्यप्रवर! **चम्वोः** द्यावापृथिव्योरिव पराऽपराविद्ययोः **सुतः** निष्णातः त्वम् **विशाम्** प्रजानाम् **वह्निः** भारवाहकः **विश्पतिः न** प्रजापालकः नृपतिरिव **आ वच्यस्व** प्रशंसां लभस्व । [वच परिभाषणे, कर्मणि 'उच्यस्व' इति प्राप्ते सम्प्रसारणाभावश्छान्दसः ।] **गविष्टये** गोकामाय दिव्यप्रकाशेच्छुकाय शिष्याय मह्यम् **धियः** प्रज्ञानानि **जिन्वन्** प्रेरयन् त्वम् **दिवः** मूर्धलोकात् **वृष्टिम्** धर्ममेघसमाधौ जायमानां ज्योतिर्वृष्टिम् **अपः** आनन्दवारिणश्च **रीतिम्** धाराम् । [री गतिरेषणयोः, क्र्यादिः ।] **पवस्व** प्रवाहय ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— योगविद्यापारंगत आचार्यो भौतिकविज्ञानेषु पाण्डित्येन साकं योगविद्यापाण्डित्यमपि शिष्याणां कुर्वन् तेषां पुरतो दिव्यज्योतिषो ब्रह्मानन्दस्य च धारामिव प्रवाहयति ॥२॥

---

१. ऋ० ९।१०८।१०, 'रीतिमृयां जिन्वा' इति पाठः ।

अगले मन्त्र में फिर आचार्य को कहा जा रहा है ।

पदार्थ– हे **सुदक्ष** शुभ योगबल से युक्त आचार्यप्रवर! **चम्वोः** द्यावापृथिवी के तुल्य परा और अपरा विद्याओं में **सुतः** निष्णात आप **विशाम्** प्रजाओं के **वह्निः** भार को उठाने वाले **विश्पतिः न** प्रजापालक राजा के समान **आ वच्यस्व** प्रशंसा प्राप्त कीजिए, **गविष्टये** दिव्य प्रकाश के इच्छुक मुझ शिष्य के लिए **धियः** प्रज्ञानों को **जिन्वन्** प्रेरित करते हुए आप **दिवः** मूर्धा-लोक से **वृष्टिम्** धर्ममेघ समाधि में होने वाली ज्योति की वर्षा को, और **अपः** आनन्द-जल की **रीतिम्** धारा को **पवस्व** प्रवाहित कीजिए ।।२।।

यहां उपमालंकार है ।।२।।

भावार्थ– योगविद्या में पारंगत आचार्य भौतिक विज्ञानों के पाण्डित्य के साथ-साथ योगविद्या का पाण्डित्य भी शिष्यों में उत्पन्न करता हुआ उनके संमुख मानो दिव्य ज्योति एवं ब्रह्मानन्द की धारा को प्रवाहित कर देता है ।।२।।

।।१८।। अथ 'प्राणा' इत्यादिकस्याष्टादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** त्रित आप्त्यः। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** उष्णिक् । **स्वरः** ऋषभः।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५७० क्रमाङ्के परमात्ममहत्त्वविषये व्याख्याता । अत्र स एव विषयः प्रकारान्तरेणोच्यते।

१०१३. प्राणा शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम् ।
विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता ।।१।।[1]

प्राणा प्र आना शिशुः महीनाम् । हिन्वन् ऋतस्य दीधितिम् ।
विश्वा परि प्रिया भुवत् अध द्विता ।।१।।

पदार्थः– **प्राणा** प्राणः, सर्वेषां प्राणयिता, **शिशुः** शिशुरिव स्पृहणीयः, **महीनाम्** मंगलबुधबृहस्पति-चन्द्रादिषु विद्यमानानां पृथिवीनां पृष्ठे **ऋतस्य** सूर्यस्य । [ऋतमित्येष (सूर्यः) वै सत्यम् । ऐ० ब्रा० ४।२०।] **दीधितिम्** किरणावलीम् **हिन्वन्** प्रेषयन्, पवमानः सोमः सर्वान्तर्यामी परमेश्वरः **विश्वा** विश्वानि **प्रिया** प्रियाणि वस्तूनि **परि भुवत्** सर्वतः व्याप्नोति । **अध** अथ च **द्विता** द्विधा अस्य कार्याणि सन्ति-हिमनदनदीसमुद्रचन्द्र-पर्जन्यप्रभृतीनि सौम्यानि अग्निविद्युत्सूर्यादीनि तैजसानि च ।।१।।

भावार्थः– यो जगदीश्वरः सर्वान् प्राणिनः प्राणयति, सूर्यप्रकाशं सर्वत्र विकिरति, सर्वान्तर्यामी सन् सर्वजगद्व्यवस्थां करोति स सर्वैर्जनैः कुतो नाराधनीयः ।।१।।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ५७० क्रमांक पर परमात्मा के महत्त्व के विषय में व्याख्या की गयी थी । यहां वही विषय प्रकारान्तर से कहा जा रहा है ।

पदार्थ– **प्राणा** सबको प्राण देने वाला, **शिशुः** शिशु के समान प्रेम करने योग, **महीनाम्** मंगल, बुध, बृहस्पति, चन्द्रमा आदि की भूमियों के पृष्ठ पर **ऋतस्य** सूर्य की **दीधितिम्** किरणावलि को **हिन्वन्** भेजता हुआ, पवमान सोम अर्थात् सर्वान्तर्यामी परमेश्वर **विश्वा** सब **प्रिया** प्रिय वस्तुओं में **परि भुवत्** चारों ओर से व्याप्त

---

१. ऋ० ९।१०२।१, साम० ५७०।

है। **अध** और **द्विता** दो प्रकार के इसके कार्य हैं-बर्फ, नद, नदी, समुद्र, चन्द्रमा, बादल आदि सौम्य कार्य तथा आग, बिजली, सूर्य आदि तैजस कार्य ।।१।।

भावार्थ– जो जगदीश्वर सब प्राणियों को प्राण देता है, सूर्य के प्रकाश को सब जगह बखेरता है, सर्वान्तर्यामी होता हुआ सब जगत् की व्यवस्था करता है, उसकी सब मनुष्य आराधना क्यों न करें? ।।१।।

अथ पुनः परमात्मविषयमाह।

१ २ ३१ २ ३ २ १ २ ३ १र २र ३ २
१०१४. **उप त्रितस्य पाष्यो३रभक्त यद् गुहा पदम्।**
३१ २ ३ १र २र ३१ २ ३ २
यज्ञस्य सप्त धामभिरध प्रियम् ।।२।।[1]

१२र ३१ २ ३क २ १२र १ २र ३ २
उप त्रितस्य पाष्योः। अभक्त यत् गुहा पदम्।
३१ २ ३ २ १२र १२र ३ २
यज्ञस्य सप्त धामभिः अध प्रियम् ।।२।।

पदार्थः– **यत्** यस्मात् सः पवमानः सोमः सर्वान्तर्यामी जगत्स्रष्टा परमेश्वरः **पाष्योः** द्यावापृथिव्योः। [पष गतौ बन्धने च। पाषयतः बध्नीतः सर्वान् पदार्थान् स्वान्तराले ते पाष्यौ द्यावापृथिव्यौ।] **गुहा** गुहासु अपि **त्रितस्य** पृथिव्यन्तरिक्षद्युरूपत्रिस्थानस्य सूर्यस्य। [त्रितः त्रिस्थान इन्द्रः। निरु० ९।४५।] **पदम्** किरणरूपम् **उप अभक्त** उपधत्ते, **अध** तस्मात् **यज्ञस्य** देहे संगतस्य जीवात्मनः **सप्त धामभिः** पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति सप्त धामानि तैः **प्रियम्** तं प्रीत्यास्पदं परमेश्वरम्, सपर्यत इति शेषः ।।२।।

भावार्थः– परमात्मनः कीदृश्यद्भुता व्यवस्था विद्यते यत् सूर्यकिरणा विभिन्नलोकानां भूगर्भमपि प्राप्य तत्र स्वतापेन सुवर्णादिधातून् जनयन्ति।।२।।

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा का विषय है।

पदार्थ– **यत्** क्योंकि, वह पवमान सोम अर्थात् सर्वान्तर्यामी जगत्स्रष्टा परमेश्वर **पाष्योः** द्यावापृथिवी की **गुहा** गुफाओं में भी **त्रितस्य** पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ रूप तीन स्थानों में स्थित सूर्य के **पदम्** किरण-समूह को **उप अभक्त** पहुंचाता है, **अध** इस कारण **यज्ञस्य** शरीर में संगत जीवात्मा के **सप्त धामभिः** पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि इन सात धामों से **प्रियम्** उस प्रिय परमेश्वर की, पूजा करो ।।२।।

भावार्थ– परमात्मा की कैसी अद्भुत व्यवस्था है कि सूर्य की किरणें विभिन्न लोकों के भूगर्भ में भी पहुंचकर वहां अपने ताप से सुवर्ण आदि धातुओं को उत्पन्न कर देती हैं।।२।।

अथ परमात्मनः कर्माणि वर्ण्यन्ते।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
१०१५. **त्रीणि त्रितस्य धारया पृष्ठेष्वैरयद्रयिम्।**
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
मिमीते अस्य योजना वि सुक्रतुः ।।३।।[2]

१ २र ३१ २ १२र ३ १ २ ३ २
त्रीणि त्रितस्य धारया। पृष्ठेषु आ ऐरयत् रयिम्।
१ २र ३ १२र ३१ २ ३ १ २र
मिमीते अस्य योजना वि सुक्रतुः सु क्रतुः ।।३।।

---

१. ऋ० ९।१०२।२।
२. ऋ० ९।१०२।३ 'पृष्ठेष्वैरया रयिम्' इति पाठः।

पदार्थः— **त्रितस्य** सूर्यस्य **त्रीणि** त्रीणि पृष्ठानि पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकाख्यानि सन्ति । तेषु **पृष्ठेषु** त्रिष्वपि पृष्ठेषु, स पवमानः सोमः जगत्स्रष्टा परमेश्वरः **रयिम्** ऐश्वर्यम् **ऐरयत्** प्रेरितवान् अस्ति । अपि च **सुक्रतुः** सुकर्मा स परमेश्वरः **अस्य** सूर्यस्य **योजना** योजनानि, कियद्विस्तीर्णः सूर्य इति मानानि अपि **वि मिमीते** विशेषेण इयत्तया परिच्छिनत्ति । [माङ् माने शब्दे च । जुहोत्यादिः]॥३॥

भावार्थः— भूमावन्तरिक्षे दिवि च सर्वत्रैव जगदीश्वरेण विशिष्टान्यैश्वर्याणि निहितानि सन्ति । सर्वेषां ग्रहोपग्रहसूर्यनक्षत्रनीहारिकादीनां रचयिता स तत्परिमाणमपि यथार्थतया जानाति ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के कार्यों का वर्णन है।

पदार्थ— **त्रितस्य** सूर्य के **त्रीणि** तीन पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक रूप पृष्ठ हैं। उन **पृष्ठेषु** तीनों पृष्ठों में, उस पवमान सोम अर्थात् जगत्स्रष्टा परमेश्वर ने **रयिम्** ऐश्वर्य को **ऐरयत्** प्रेरित किया हुआ है । साथ ही **सुक्रतुः** उस सुकर्मा परमेश्वर ने **अस्य** इस सूर्य के **योजना** योजनों को, अर्थात् सूर्य कितने योजन विस्तार वाला है इस माप को भी **वि मिमीते** मापा हुआ है ॥३॥

भावार्थ— भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक में सब जगह ही जगदीश्वर ने विशिष्ट ऐश्वर्य रखे हुए हैं। सब ग्रह-उपग्रह-सूर्य-नक्षत्र-नीहारिका आदियों का बनाने वाला वह उनके परिमाण को भी ठीक-ठाक जानता है॥३॥

॥१९॥ अथ 'पवस्व' इत्यादिकस्यैकोनविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषी** रेभसूनू काश्यपौ । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः अनुष्टुप्** । **स्वरः** गान्धारः ॥

तत्रादौ जगदीश्वरमाह्वयति ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
१०१६. पवस्व वाजसातये पवित्रे धारया सुतः ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्राय सोम विष्णवे देवेभ्यो मधुमत्तरः ॥१॥[1]

१ २र १ २र १ २र ३ १ २ १ २र ३ २
पवस्व वाजसातये वाज सातये । पवित्रे धारया सुतः ।

१ २र ३ १ २र ३ १ २ १ २र
इन्द्राय सोम विष्णवे देवेभ्यः मधुमत्तरः ॥१॥

पदार्थः— हे **सोम** रसागार जगत्पते परमात्मन्! **सुतः** आत्मनि प्रकटीकृतः, **मधुमत्तरः** अतिशयेन मधुरः त्वम् **इन्द्राय** जीवात्मने, **विष्णवे** देहे व्यापकाय प्राणाय, **देवेभ्यः** इन्द्रियेभ्यश्च **वाजसातये** बलप्रदानाय **पवित्रे** स्वच्छे हृदये **धारया** आनन्दधारया सह **पवस्व** प्रस्रव ॥१॥

भावार्थः— परमात्मनः सकाशादानन्दनिर्झरे निर्झरिते सति जीवात्ममनोबुद्ध्यादयः सर्वेऽपि रससिक्ताः कृतकृत्या जायन्ते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में जगदीश्वर का आह्वान है ।

पदार्थः— हे **सोम** रस के भण्डार जगत्पति परमात्मन्! **सुतः** आत्मा में प्रकट हुए, **मधुमत्तरः** अत्यन्त मधुर आप **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए, **विष्णवे** शरीर में व्यापक प्राण के लिए, और **देवेभ्यः** इन्द्रियों के लिए **वाजसातये** बलप्रदानार्थ **पवित्रे** पवित्र हृदय में **धारया** आनन्द की धारा के साथ **पवस्व** प्रवाहित होवो ॥१॥

---

१. ऋ० ९।१००।६ ।

भावार्थ— परमात्मा के पास से आनन्द का झरना झरने पर जीवात्मा, मन, बुद्धि आदि सभी रस से सिक्त और कृतकृत्य हो जाते हैं ॥१॥

अथ जगदीश्वरं वर्णयति ।

१०१७. त्वां रिहन्ति धीतयो हरिं पवित्रे अद्रुहः ।
वत्सं जातं न मातरः पवमान विधर्मणि ॥२॥[1]

त्वाम् रिहन्ति धीतयः । हरिम् पवित्रे अद्रुहः अ द्रुहः ।
वत्सम् जातम् न मातरः पवमान विधर्मणि वि धर्मणि ॥२॥

पदार्थः— हे **पवमान** पवित्रतासम्पादक रसागार जगदीश्वर! **हरिम्** पापहारिणम् **त्वाम्** विधर्मणि विशेषेण सद्गुणानां धारके, **पवित्रे** निर्मले अन्तरात्मनि **अद्रुहः** द्रोहरहिताः **धीतयः** धीवृत्तयः **रिहन्ति** लिहन्ति, ध्यायन्ति, **जातम्** नवजातम् **वत्सम्** तर्णकम् **मातरः न** गावो यथा रिहन्ति लिहन्ति तद्वत् ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः । 'रिहन्ति' इत्यनेन ध्यानं लक्ष्यते, ध्यानातिशयश्च व्यङ्ग्यः ॥२॥

भावार्थः— यथा धेनवो स्ववत्सं जिह्वया लिहन्त्य आनन्दमनुभवन्ति तथैव मनुष्याः परमात्मानं ध्यायन्त आनन्देन तरङ्गिता जायन्ते ॥२॥

अगले मन्त्र में जगदीश्वर का वर्णन है ।

पदार्थ— हे **पवमान** पवित्रतादायक रस के भण्डार जगदीश्वर! **हरिम्** पाप के हरने वाले आपको **विधर्मणि** विशेष रूप से सद्गुणों के धारक **पवित्रे** पवित्र अन्तरात्मा में **अद्रुहः** द्रोहरहित **धीतयः** धी-वृत्तियाँ **रिहन्ति** चाटती हैं, ध्याती हैं, **जातम्** नवजात **वत्सम्** बछड़े को **मातरः न** जैसे गौ माताएं चाटती हैं ॥२॥

भावार्थ— जैसे धेनुएं अपने बछड़े को जीभ से चाटती हुई आनन्द अनुभव करती हैं, वैसे ही मनुष्य परमात्मा को ध्याते हुए आनन्द से तरंगित होते हैं ॥२॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१०१८. त्वं द्यां च महिव्रत पृथिवीं चाति जभ्रिषे ।
प्रति द्रापिममुञ्चथाः पवमान महित्वना ॥३॥[2]

त्वम् द्याम् च महिव्रत महि व्रत । पृथिवीम् च अति जभ्रिषे ।
प्रति द्रापिम् अमुञ्चथाः । पवमान महित्वना ॥३॥

पदार्थः— हे **महिव्रत** महाकर्मन् सोम जगत्स्रष्टः परमात्मन् ! **त्वम् द्यां च** द्युलोकं च **पृथिवीं च** भूलोकं चापि **अति** अतिक्रम्य **जभ्रिषे** सर्वं विभर्षि । [डुभृञ् धारणपोषणयोः बभृषे इति प्राप्ते वर्णव्यत्ययेन बकारस्य जकारः,

---

१. ऋ० ९।१००।७, 'धीतयो' इत्यत्र 'मातरो', 'मातरः' इत्यत्र 'धेनवः' इति भेदः ।
२. ऋ० ९।१००।९ ।

छान्दसः इडागमश्च।] हे **पवमान** सर्वान्तर्यामिन्! त्वम् **महित्वना** स्वमहिम्ना **द्रापिम्** कवचम् **प्रति अमुञ्चथाः**[1] धृतवानसि, त्वन्महिमैव तव कवचमित्यर्थः, अलौकिकस्य तव कवचादीनां भौतिकसाधनानामनपेक्षितत्वात्। यद्वा **द्रापिम्**[2] निद्राम् **प्रति अमुञ्चथाः** परित्यक्तवानसि, सर्वदैव जागरूकत्वात् ॥३॥

भावार्थः— न केवलं द्यावापृथिव्यौ किन्तु तयोः परस्तादपि यत्किञ्चिदस्ति तत्सर्वं जगदीश एव धारयति। स च भौतिकं कवचं विनापि रक्षितो निद्रां विनापि च विश्रान्तः॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः वही विषय है ।

पदार्थ— हे **महिव्रत** महान् कर्मों के कर्ता सोम अर्थात् जगत्स्रष्टा परमात्मन्! **त्वम्** आप **द्यां च** द्यौ लोक को **पृथिवीं च** और भूलोक को भी **अति** लांघकर **जभ्रिषे** सबको धारण किये हुए हो। हे **पवमान** सर्वान्तर्यामिन् आपने **महित्वना** अपनी महिमा से **द्रापिम्** रक्षा-कवच को **प्रति अमुञ्चथाः** धारण किया हुआ है, अर्थात् आपकी महिमा ही आपका रक्षा-कवच है, क्योंकि अलौकिक आपको कवच आदि भौतिक साधनों की अपेक्षा नहीं होती । अथवा, **द्रापिम्** निद्रा को **प्रति अमुञ्चथाः** छोड़ा हुआ है, अर्थात् सदैव जागरुक होने से आप निद्रा-रहित हो ॥३॥

भावार्थ— न केवल द्युलोक तथा भूलोक को, किन्तु उनसे परे भी जो कुछ है उस सबको भी जगदीश्वर ही धारण करता है। वह भौतिक कवच के बिना भी रक्षित रहता है और नींद के विना भी विश्राम को प्राप्त रहता है ॥३॥

॥२०॥ अथ 'इन्दुर्वाजी' इत्यादिकस्य विंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मन्युर्वासिष्ठः। **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५४० क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र ब्रह्मानन्दरसो वर्ण्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१०१९. इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा इन्द्रे सोमः सह इन्वन्मदाय ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
हन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिं वरिवस्कृण्वन् वृजनस्य राजा ॥१॥[3]

१ २र ३ २ ३ १ २र ३ १ २र १ २र १ २र १ २र १ २र
इन्दुः वाजी पवते गोन्याघाः गो न्योघाः । इन्द्रे सोमः सहः इन्वन् मदाय ।

१ २र १ २र १ २र १ २र १ २र ३ १ २र ३ २ ३ १ २ १ २र
हन्ति रक्षः बाधते परि अरातिम् अ रातिम् । वरिवः कृण्वन् वृजनस्य राजा ॥१॥

पदार्थः— **गोन्योघाः** गोषु मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियेषु न्योघः प्रवाहो यस्य सः, **वाजी** वेगवान् **इन्दुः** क्लेदयिता ब्रह्मानन्दरसः **इन्द्रे** जीवात्मनि **मदाय** उत्साहाय **सहः** बलम् **इन्वन्** प्रेरयन् भवतीति शेषः । स रसः **रक्षः** पापम् **हन्ति** विनाशयति, **अरातिम्** अदानवृत्तिम् **परि बाधते** दूरीकरोति । **वृजनस्य** आत्मिकबलस्य **राजा** अधीश्वरः सः **वरिवः** आध्यात्मिकं धनम् **कृण्वन्** कुर्वन्, भवतीति शेषः॥१॥

---

१. प्रति अमुञ्चणाः प्रतिमुञ्चसि संवृणोषि-इति सा० । प्रतिपूर्वो मुञ्चतिर्धारणार्थेऽपि दृश्यते, यथा यज्ञोपवीतमन्त्रे 'आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्चशुभ्रम्' (पार० गृह्य० २।२।११, क्वाचित्कः पाठः) इति ।

२. द्रापिं कवचं निद्रां वा । अत्र 'द्रै स्वप्ने' इत्यस्माद् 'इञ् वपादिभ्यः' इति इञ्- इति ऋ० १।२५।१३ भाष्ये द० ।

३. ऋ० ९।९७।१०, 'पर्यरातीर्वरिवः कृण्वन्' इति पाठः। साम० ५४० ।

भावार्थः— योगाभ्यासेनानन्दरसतरङ्गिणी जीवात्मप्रदेशे यदा प्रवहति तदा सर्वे दोषा दूरीभवन्ति चित्तं च निर्मलं जायते ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ५४० क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्या हो चुकी है । यहां ब्रह्मानन्दरस का वर्णन है।

पदार्थ— **गोन्योघाः** मन, बुद्धि, प्राण एवं इन्द्रियों में प्रवाहित होने वाला, **वाजी** वेगवान्, **इन्दुः** सराबोर करने वाला ब्रह्मानन्दरस **पवते** प्रवाहित हो रहा है । **सोमः** अभिषुत वह ब्रह्मानन्दरस **इन्द्रे** जीवात्मा में **मदाय** उत्साह के लिए **सहः** बल **इन्वन्** प्रेरित करता है। वह रस **रक्षः** पाप को **हन्ति** विनष्ट करता है, **अरातिम्** अदानवृत्ति को **परिबाधते** दूर करता है । **वृजनस्य** आत्मिक बल का **राजा** राजा, वह **वरिवः** आध्यात्मिक धन को **कृण्वन्** उत्पन्न करता है ॥१॥

भावार्थ— योगाभ्यास द्वारा आनन्दरस की नदी जीवात्मप्रदेश में जब बहती है तब सब दोष दूर हो जाते हैं और चित्त निर्मल हो जाता है ॥१॥

अथ पुनरपि ब्रह्मानन्दरसं वर्णयति।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
१०२०. अध धारया मध्वा पृचानस्तिरो रोम पवते अद्रिदुग्धः ।
२ ३ १ २ ३ १. २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
इन्दुरिन्द्रस्य सख्यं जुषाणो देवो देवस्य मत्सरो मदाय ॥२॥[1]

१ २र १ २र १ २र ३ २ ३ २ १ २र ३ १ २र १ २र ३
अध धारया मध्वा पृचानः । तिरः रोम पवते अद्रिदुग्धः अद्रि दुग्धः ।
१ २र १ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २र
इन्दुः इन्द्रस्य सख्यम् स ख्यम् जुषाणः । देवः देवस्य मत्सरः मदाय ॥२॥

पदार्थः— **अध** अपि च **अद्रिदुग्धः** अद्रिभ्यां मनोबुद्धिरूपाभ्यां पाषाणाभ्यां दुग्धः अभिषुतः स ब्रह्मानन्दसोमः **मध्वा धारया** मधुरया प्रवाहसन्तत्या **पृचानः** सम्पर्चयन् । [पृची सम्पर्चने, अदादिः ।] **तिरः रोम** रोमाञ्चं कुर्वन् **पवते** प्रवहति। **देवः** प्रकाशप्रदः, **मत्सरः** मदजनकः **इन्दुः** क्लेदकः स ब्रह्मानन्दरसः **देवस्य** दिव्यगुणयुक्तस्य **इन्द्रस्य** जीवात्मनः **सख्यम्** सखित्वम् **जुषाणः** सेवमानः । [जुषी प्रीतिसेवनयोः, तुदादिः ।] तस्य **मदाय** उत्साहाय जायते ॥२॥

अत्र धकार-रेफ-दकार-मकारादीनामसकृदावृत्तेर्वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः। 'देवो-देव' इत्यत्र छेकः ॥२॥

भावार्थः— ब्रह्मणः सकाशात् प्रसुता आनन्दधारा यदा जीवात्मानं स्नपयन्ति तदा नितान्तनिर्मलस्वान्तो जीवन्मुक्तः स महान्तमपि दुःखं न तृणाय मन्यते ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर ब्रह्मानन्दरस का वर्णन है।

पदार्थ— **अध** और, **अद्रिदुग्धः** मन-बुद्धिरूप सिलबट्टों से अभिषुत वह ब्रह्मानन्द-रूप सोम **मध्वा धारया** मधुर धारा से **पृचानः** संपृक्त करता हुआ **तिरः रोम** रोमांच उत्पन्न करता हुआ **पवते** प्रवाहित होता है । **देवः** प्रकाश का दाता, **मत्सरः** मद-जनक **इन्दुः** सराबोर करने वाला वह ब्रह्मानन्दरस **देवस्य** दिव्यगुणयुक्त **इन्द्रस्य** जीवात्मा की **सख्यम्** मैत्री को **जुषाणः** सेवन करता हुआ, उसके **मदाय** उत्साह के लिए, होता है॥२॥

---

१. ऋ० ९।९७।११ ।

यहां ध-र-द-म आदियों की अनेक बार आवृति होने से वृत्त्यनुप्रास अलंकार है । 'देवो, देव' में छेकानुप्रास है ।।२।।

भावार्थ– ब्रह्म के पास से बही हुई आनन्दधाराएं जब जीवात्मा को नहला देती हैं तब अत्यन्त निर्मल अन्तःकरण वाला जीवन्मुक्त वह बड़े से बड़े दुःख को भी तिनके के बराबर भी नहीं समझता ।।२।।

अथ प्रवहमानो ब्रह्मानन्दरसः किं करोतीत्याह।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २
१०२१. अभि व्रतानि पवते पुनानो देवो देवान्त्स्वेन रसेन पृञ्चन् ।
२ १ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इन्दुर्धर्माण्यृतुथा वसानो दश क्षिपो अव्यत सानो अव्ये ।।३।।[1]

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ १२र १२र ३ २
अभि व्रतानि पवते पुनानः । देवो देवान् स्वेन रसेन पृञ्चन् ।
१ २र १ २र ३ २ १ २र १२र १२र ३ १ २र १ २र
इन्दुः धर्माणि ऋतुथा वसानः । दश क्षिपः अव्यत सानौ अव्ये ।।३।।

पदार्थः– **देवः** दिव्यगुणमयः ब्रह्मानन्दरूपः सोमरसः **देवान्** मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियादीन् **पुनानः** पवित्रीकुर्वन् **स्वेन रसेन** आत्मनीनेन रसेन **पृञ्चन्** स्नपयन् **व्रतानि अभि** कर्माणि अभिलक्ष्य, कर्मसु इत्यर्थः **पवते** प्रवाहितो भवति । **इन्दुः** क्लेदकः आनन्दरसः **ऋतुथा** ऋतौ ऋतौ, काले काले । [ऋतुथा ऋतावृतौ। निरु० ८।१६, ऋतुथा काले काले। निरु० १२।२७।] **धर्माणि** सत्यन्यायदयादीन् धर्मान् **वसानः** धारयन् **दश क्षिपः** दश इन्द्रियाणि दश प्राणान् वा। [क्षिप्यन्ते स्वस्वविषयेषु देहस्याङ्गेषु वा इति क्षिपः इन्द्रियाणि प्राणा वा।] **अव्ये सानौ** गन्तुं योग्ये उन्नतिशिखरे । [अवतिर्गत्यर्थः, अवितुं गन्तुं योग्यम् अव्यम्।] **अव्यत** प्रापयति। [अवतेर्गत्यर्थाद् णिजर्भाद् विकरणव्यत्ययेन श्यनि लङि रूपम्। आडभावश्छान्दसः] ।।३।।

भावार्थः– ब्रह्मानन्दरसो यदा जीवनमभिव्याप्नोति तदा मनुष्यस्य सर्वाण्यङ्गानि सर्वान् प्राणान् सर्वाणि मनोबुद्ध्यादीनि च स्वप्रभावेण नर्तयन्निव चमत्करोति ।।३।।

अस्मिन् खण्डे आचार्यस्य ज्ञानरसस्य परमात्मनो ब्रह्मानन्दरसस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।।

अगले मन्त्र में यह बताया गया है कि बहता हुआ ब्रह्मानन्दरस क्या करता है।

पदार्थ– **देवः** दिव्यगुणमय ब्रह्मानन्दरूप सोमरस **देवान्** मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय आदियों को **पुनानः** पवित्र करता हुआ **स्वेन रसेन** अपने रस से **पृञ्चन्** स्नान कराता हुआ **व्रतानि अभि** कर्मों में **पवते** प्रवाहित होता है। **इन्दुः** आर्द्र करने वाला आनन्दरस **ऋतुथा** समय-समय पर **धर्माणि** सत्य, न्याय, दया आदि धर्मों को **वसानः** धारण करता हुआ **दश क्षिपः** दस इन्द्रियों या दस प्राणों को **अव्ये सानौ** पहुंचने योग्य उन्नति-शिखर पर **अव्यत** पहुंचा देता है ।।३।।

भावार्थ– ब्रह्मानन्द-रस जब जीवन में व्याप्त हो जाता है तब मनुष्य के सब अंगों को, सब प्राणों को, सब मन-बुद्धि आदियों को अपने प्रभाव से नचाता हुआ सा चमत्कृत करता है ।।३।।

---

१. ऋ० ९।९७।१२, 'व्रतानि' इत्यत्र 'प्रियाणि' इति पाठः।

इस खण्ड में आचार्य, ज्ञानरस परमात्मा और ब्रह्मानन्दरस का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है।।

षष्ठ अध्याय में षष्ठ खण्ड समाप्त ।

।।२१।। अथ 'आ ते अग्न' इत्यादिकस्यैकविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसुश्रुत आत्रेयः। **देवता** अग्निः। **छन्दः** पङ्क्ति । **स्वरः** पञ्चमः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४१९ क्रमाङ्के परमात्मानं सम्बोधिता। अत्राचार्यः सम्बोध्यते ।।

१ २ ३१ २ ३१२
१०२२. आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् ।

२३ २३१२ ३२३१२३१र २र ३२३ १ २
यद्ध स्या ते पनीयसी समिद्दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आ भर ।।१।।[1]

२३ १२ ३ १२ ३ १२र
आ ते अग्ने इधीमहि । द्युमन्तम् देव अजरम् अ जरम् ।

३ २३१२र ३२ ३ २ ३१२ १२र
यत् ह स्या ते पनीयसी । समित् सम् इत् दीदयति द्यवि ।

१२र ३ १२ ३
इषम् स्तोतृभ्यः आ भर ।।१।।

पदार्थः— हे **देव** ज्ञानप्रकाशप्रदातः **अग्ने** विद्वन् आचार्य! वयम् **ते** तव **द्युमन्तम्** तेजोमयम्, **अजरम्** जरारहितम् ज्ञानस्तोमम् **इधीमहि** स्वाभ्यन्तरे प्रदीपयामः । **यत् ह** यत् खलु **स्या** सा **ते** तव **पनीयसी** स्तुत्यतरा **समित्** ज्ञानदीप्तिः **द्यवि** प्रकाशिते तवात्मनि **दीद्यति** दीप्यते, ताम् **इषम्** व्याप्तां ज्ञानदीप्तिम् **स्तोतृभ्यः** ईश्वरस्तोतृभ्यः शिष्येभ्यः अस्मभ्यम् **आ भर** आहर।।१।।[2]

भावार्थः— याः का अपि विद्या आचार्यो जानाति ताः सर्वा अपि शिष्येभ्यः सम्यक् प्रयच्छेत् येन शिष्या विद्वांसो भूत्वा स्वशिष्यान् पाठयेयुः । एवं विद्याध्ययनाध्यापनक्रम उत्तरोत्तरं निर्विघ्नं प्रवर्तेत ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४१९ क्रमांक पर परमात्मा को सम्बोधित की गयी थी। यहां आचार्य को सम्बोधन करते हैं ।

पदार्थ— हे **देव** ज्ञान-प्रकाश के प्रदाता **अग्ने** विद्वन् आचार्य! हम **ते** आपके **द्युमन्तम्** तेजस्वी, **अजरम्** पुराना न होने वाले ज्ञान-समूह को **इधीमहि** अपने अन्दर प्रदीप्त करते हैं। **यत् ह** जो **स्या** वह **ते** आपकी **पनीयसी** अतिशय स्तुति-योग्य **समित्** ज्ञान-दीप्ति **द्यवि** प्रकाशित आपके आत्मा में **दीदयति** प्रदीप्त हो रही है, उस **इषम्** व्याप्त ज्ञानदीप्ति को **स्तोतृभ्यः** ईश्वर-स्तोता हम शिष्यों को **आ भर** प्रदान कीजिए ।।१।।

भावार्थ— जो कोई भी विद्याएं आचार्य जानता है उन सभी को शिष्यों के लिए भली भांति देवे, जिससे शिष्य विद्वान् होकर अपने शिष्यों को पढ़ायें । इस प्रकार विद्या के पढ़ने-पढ़ाने का क्रम आगे-आगे बिना विघ्न के चलता रहे ।।१।।

---

१. ऋ० ५।६।४, अथ० १८।४।८८ (ऋषिः अथर्वा), अथर्ववेदे 'आ त्वाग्न, यद् घ सा', 'द्यवि इषं' इति पाठः साम० ४१८ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमग्निविद्याविदो विदुषो विषये व्याख्यातः।

अथाचार्याधीनो वसन् शिष्यो यज्ञाग्नौ हविर्जुह्वदाह।

१०२३. आ ते अग्न ऋचा हविः शुक्रस्य ज्योतिषस्पते।
सुश्चन्द्र दस्म विश्पते हव्यवाट् तुभ्यं हूयत इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥२॥[1]
आ ते अग्ने ऋचा हविः। शुक्रस्य ज्योतिषः पते। सुश्चन्द्र सु चन्द्र दस्म विश्पते।
हव्यवाट् हव्य वाट् तुभ्यम् हूयते। इषम् स्तोतृभ्यः आ भर ॥२॥

पदार्थः— हे **शुक्रस्य** दीप्तस्य **ज्योतिषः** तेजसः **पते** स्वामिन्! इदम् **ते** तुभ्यम् **ऋचा** वेदमन्त्रोच्चारणेन सह **हविः** होतव्यं द्रव्यम् अस्ति। हे **सुश्चन्द्र** स्वाह्लादक, [सुचन्द्र इति प्राप्ते 'ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे। अ० ६।१।१५१ इत्यनेन सुडागमः। चन्द्रः चदि आह्लादने दीप्तौ च इति धातोः 'स्फायितञ्चि' उ० २।१३ इति रक् प्रत्ययः।] **दस्म** रोगाणामुपक्षपयितः **विश्पते** प्रजापालक, **हव्यवाट्** हव्यं द्रव्यं हुतं दाहेन सूक्ष्मीकृत्य वहति वायुमाध्यमेन स्थानान्तरं प्रापयतीति तथाविध **अग्ने** यज्ञवह्ने! **तुभ्यम्** त्वदर्थम्, एतद् हविः **हूयते** प्रदीयते। त्वम् **स्तोतृभ्यः** मन्त्रपाठद्वारा त्वद्गुणवर्णनपरेभ्यः अस्मभ्यम् **इषम्** अभीष्टम् आरोग्यादिकम् **आ भर** आहर, प्रयच्छ ॥२॥[2]

भावार्थः— गुरुकुले विद्याध्ययनाय वसन्तः सर्वे छात्रा नियमेन प्रातःसायमग्निहोत्रं कुर्वन्तो वायुशुद्ध्यारोग्यादिकं तेजस्वितां च प्राप्य सुखिनः सन्तु ॥२॥

अगले मन्त्र में आचार्य के अधीन निवास करता हुआ शिष्य यज्ञाग्नि में हवि की आहुति देता हुआ कहता है।

पदार्थ— हे **शुक्रस्य** दीप्त **ज्योतिषः** तेज के **पते** स्वामिन्! यह **ते** तेरे लिए **ऋचा** वेदमन्त्र के उच्चारण के साथ **हविः** हवि है। हे **सुश्चन्द्र** उत्तम आह्लाद देने वाले, **दस्म** रोगों को नष्ट करने वाले, **विश्पते** प्रजापालक, **हव्यवाट्** होमी हुई हवि को जलाकर सूक्ष्म करके वायु के माध्यम से स्थानान्तर में पहुंचाने वाले **अग्ने** यज्ञाग्नि! **तुभ्यम्** तेरे लिए, यह हवि **हूयते** होमी जा रही है। तू **स्तोतृभ्यः** मन्त्रपाठ द्वारा तेरे गुणवर्णन में तत्पर हम लोगों के लिए **इषम्** अभीष्ट आरोग्य आदि **आ भर** प्रदान कर ॥२॥

भावार्थ— गुरुकुल में विद्या पढ़ने के लिए निवास करते हुए सब छात्र नियम से प्रातः-सायम् अग्निहोत्र करते हुए वायुशुद्धि द्वारा आरोग्य आदि को और तेजस्विता को प्राप्त कर सुखी होवें ॥२॥

अथ शिष्याः परमेश्वरं प्रार्थयन्ते।

१०२४. ओभे सुश्चन्द्र विश्पते दर्वी श्रीणीष आसनि।
उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥३॥[3]
आ उभेइति सुश्चन्द्र सु चन्द्र विश्पते। दर्वीइति श्रीणीषे आसनि।
उत उ नः उत् पुपूर्याः। उक्थेषु शवसः पते। इषम् स्तोतृभ्यः आ भर ॥३॥

---

१. ऋ० ५।६।५, 'ज्योतिषस्पते' इत्यत्र 'शोचिषस्पते'।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वद्विषये व्याख्यातवान्।
३. ऋ० ५।६।९, 'उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो' इति प्रथमः पादः।

पदार्थः— हे **सुश्चन्द्र** शुभाह्लादक, **विश्पते** प्रजापालक अग्ने अग्रणीः परमात्मन्! त्वम् **आसनि** व्यादत्ते मुखे इव अवकाशस्थले **उभे दर्वी** उभे द्यावापृथिव्यौ । [दीर्यते प्रलयकाले ये ते दर्वी । दृ विदारणे धातोः 'वृदृभ्यां विन्' । उ० ४।५४ इत्यनेन विन् प्रत्ययः । दर्व्यौ इति प्राप्ते पूर्वसवर्णदीर्घः।] **आश्रीणीषे** समन्ततः परिपक्वे करोषि। उत् उ अपि च हे **शवसः पते** बलस्य अधीश्वर! **उक्थेषु** प्रशंसितेषु धर्म्येषु कर्मसु[1] **नः** अस्मान् **उत्पुपूर्याः** पूर्णान् कुर्याः। [पॄ पालनपूरणयोः, जुहोत्यादिः, लिङ्।] **स्तोतृभ्यः** स्तावकेभ्यः अस्मभ्यम् **इषम्** अभीष्टं गुणकर्मस्वभावादिकम् **आ भर** आहर॥३॥[2]

भावार्थः— यथा जगदीश्वरो द्यावापृथिव्यौ परिपक्वे परिपूर्णे च करोति तथैव स स्तोतॄन् परिपक्वमतीन् धर्मकर्मसु पूर्णांश्च कुर्यात्॥३॥

अगले मन्त्र में शिष्य परमेश्वर से प्रार्थना कर रहे हैं।

पदार्थः— हे **सुश्चन्द्र** शुभ आह्लाद देने वाले, **विश्पते** प्रजापालक अग्रनायक परमात्मन् ! आप **आसनि** खोले हुए मुख के तुल्य खाली स्थान में **उभे दर्वी** द्युलोक-पृथिवीलोक दोनों को **आश्रीणीषे** चारों ओर से परिपक्व करते हो। **उत उ** और, हे **शवसः पते** बल के अधीश्वर! **उक्थेषु** प्रशंसित धर्म-कर्मों में **नः** हमें **उत्पुपूर्याः** पूर्ण करो। **स्तोतृभ्यः** हम स्तोताओं के लिए **इषम्** अभीष्ट गुण-कर्म-स्वभाव आदि **आभर** लाओ ॥३॥

भावार्थ— जैसे जगदीश्वर द्यावापृथिवी को परिपक्व और परिपूर्ण करता है वैसे ही वह स्तोताओं को परिपक्व मति वाला तथा धर्म-कर्म में पूर्ण करे ॥३॥

॥२२॥ अथ 'इन्द्राय साम' इत्यादिकस्य द्वाविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** नृमेध आङ्गिरसः। **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** उष्णिक् । **स्वरः** ऋषभः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३८८ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्राचार्यः शिष्यान् प्राह ।

१०२५. **इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ।**
ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥१॥[3]

इन्द्राय साम गायत । विप्राय वि प्राय बृहते बृहत् ।
ब्रह्मकृते ब्रह्म कृते विपश्चिते विपः चिते पनस्यवे ॥१॥

पदार्थः— भोः शिष्याः! यूयम् **विप्राय** मेधाविने। [विप्र इति मेधाविनाम । निघं० ३।१५।] **बृहते** महते, **ब्रह्मकृते** जलान्नधनवेदविद्युत्प्राणमनोवाक्छोत्रादीनां रचयित्रे। [ब्रह्मन् इति जलान्नधननामसु पठितम्। निघं० १।१२, २।७, २।१०। तद्यद् वै ब्रह्म स प्राणः। जै० उ० ब्रा० १।११।१।२। विद्युद् ब्रह्मेत्याहुः। श० १४।८।७।१। वेदो ब्रह्म। जै० उ० ब्रा० ४।११।४।३। मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। तै० आ० ९।४।१। श्रोत्रं वै ब्रह्म । ऐ० ब्रा० २।४०। वाग् वै ब्रह्म।

---

१. द्रष्टव्यम्: ऋ० ५।६।९ दयानन्दभाष्यम् ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं 'यो राजा सैन्यस्य भोजनप्रबन्धमुत्तममारोग्याय वैद्यान् रक्षति स एव प्रशंसितो भूत्वा राज्यं वर्धयति' इति विषये व्याख्यातवान् ।

३. ऋ० ८।९८।१, अथ० २०।६२।५, उभयत्र 'ब्रह्मकृते' इत्यत्र 'धर्मकृते' इति पाठः । साम० ३८८ ।

श० २।९।४।१०।] **विपश्चिते** विदुषे, सर्वज्ञाय, **पनस्यवे** पनः स्तुतिं कीर्तिं परेषामिच्छते । [छन्दसि परेच्छायां क्यच्, ततः उः प्रत्ययः।] **इन्द्राय** विघ्नविदारकाय परमेश्वराय **बृहत् साम** 'त्वामिद्धि हवामहे' साम० २३४, ८०९ इत्यस्यामृचि गीयमानं बृहदाख्यं साम **गायत** सस्वरमुच्चारयत।।१।।

भावार्थः— आचार्याधीनं गुरुकुले वसद्भिः शिष्यगणैर्बहुगुणगणविशिष्टं जगदीश्वरमभिलक्ष्य बृहदादीनि सामानि गेयानि स्वयमपि च तद्गुणा अनुकरणीयाः ।।१।।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ३८८ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्या की जा चुकी है । यहां आचार्य शिष्यों को कह रहा है ।

पदार्थ— हे शिष्यो! तुम **विप्राय** मेधावी, **बृहते** महान्, **ब्रह्मकृते** जल, अन्न, धन, वेद, विद्युत्, प्राण, मन, वाणी, श्रोत्र, हृदय आदियों के रचयिता, **विपश्चिते** विद्वान्, सर्वज्ञ **पवस्यवे** दूसरों को स्तुतिमान् अर्थात् कीर्तिमान् बनाना चाहने वाले, **इन्द्राय** विघ्नों के विदारक परमेश्वर के लिए **बृहत् साम** 'त्वामिद्धि हवामहे' साम० २३४, ८०९ इस ऋचा पर गाये जाने वाले बृहत् नामक साम को **गायत** गाओ ।।१।।

भावार्थ— आचार्य के अधीन गुरुकुल में निवास करने वाले शिष्यों को चाहिए कि वे अनेक गुणों वाले जगदीश्वर को लक्ष्य करके बृहत् आदि सामों को गायें और स्वयं भी उसके गुणों का अनुकरण करें ।।१।।

अथ परमेश्वरस्य गुणकर्माणि वर्ण्यन्ते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१०२६. **त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः । विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि ।।२।।**[1]

२ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३
त्वम् इन्द्र अभिभूः अभि भूः असि । त्वम् सूर्यम् अरोचयः ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
विश्वकर्मा विश्व कर्मा विश्वदेवः विश्व देवः महान् असि ।।२।।

पदार्थः— हे **इन्द्र** जगदीश्वर! **त्वम्** अभिभूः सर्वेषां विघ्नानां कामक्रोधादिशत्रूणां वा अभिभविता **असि** वर्तसे । **त्वम् सूर्यम्** आदित्यम् **अरोचयः** दीपितवानसि। त्वम् **विश्वकर्मा** सर्वकर्मा, **विश्वदेवः** सर्वमोदकः । [विश्वान् सर्वान् सज्जनान् देवयति मोदयते यः सः । दिवुः मोदार्थः।] **महान्** महामहिमश्च **असि** वर्तसे ।।२।।

भावार्थः— यो जगदुत्पत्तिस्थितिप्रकाशनादिकर्मभिरानन्दप्रदानेन चास्मानुपकरोति तस्याऽनन्तमहिम्नः परमेश्वरस्य स्तुतिगीतानि सर्वैर्गातव्यानि ।।२।।

अगले मन्त्र में परमेश्वर के गुण-कर्मों का वर्णन है।

पदार्थ— हे **इन्द्र** जगदीश्वर! **त्वम्** आप **अभिभूः** सब काम, क्रोध आदि शत्रुओं को परास्त करने वाले **असि** हो, **त्वम्** आपने **सूर्यम्** सूर्य को **अरोचयः** चमकाया है। आप **विश्वकर्मा** सब कर्मों को करने वाले, **विश्वदेवः** सबको आनन्द देने वाले, तथा **महान्** महान् **असि** हो ।।२।।

भावार्थ— जो संसार की उत्पत्ति, स्थिति, प्रकाशप्रदान आदि कर्मों से तथा आनन्द देने के द्वारा हमारा उपकार करता है, उस अनन्त महिमा वाले परमेश्वर के स्तुतिगीत सबको गाने चाहिएं ।।२।।

---

१. ऋ० ८।९८।२, अथ० २०।६२।६।

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

१०२७. विभ्राजञ्ज्योतिषा स्वा३रगच्छो रोचनं दिवः ।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ॥३॥[1]
विभ्राजन् वि भ्राजन् ज्योतिषा स्वः । अगच्छः रोचनम् दिवः ।
देवाः ते इन्द्र सख्याय स ख्याय येमिरे ॥३॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** महामहिम जगत्पते! **ज्योतिषा** तेजसा **विभ्राजन्** भ्राजमानः । [भ्राजृ दीप्तौ, परस्मैपदं छान्दसम् ।] त्वम् **दिवः** द्युलोकस्य **रोचनम्** दीप्तिमत् **स्वः** सूर्यम् । [स्वः आदित्यो भवति। सु-अरणः, सु-ईरणः, स्वृतो रसान्, स्वृतो भासं ज्योतिषां, स्वृतो भासेति वा। निरु० २।१४।] **अगच्छः** प्राप्तोऽसि। [योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । य० ४०।१७। इति श्रुतेः।] **देवाः** विद्वांसः **ते** तव **सख्याय** सखित्वाय **येमिरे** स्वात्मानं नियच्छन्ति। [यमु उपरमे भ्वादिः, लडर्थे लिट्, आत्मनेपदं छान्दसम्] ॥३॥

भावार्थः— ज्योतिष्मतः परमेश्वरादेव ज्योतिर्लब्ध्वा वह्निविद्युत्सूर्यनक्षत्ररजतसुवर्णहीरकादिकं सर्वं भासते। अतो मनुष्यैरपि ज्योतिर्लाभाय तस्य सख्यमाश्रयणीयम् ॥३॥

आगे फिर वही विषय कहा गया है ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** महान् महिमा वाले जगत्पति! **ज्योतिषा** तेज से **विभ्राजन्** देदीप्यमान, आप **दिवः** द्युलोक के **रोचनम्** दीप्तिमान् **स्वः** सूर्य में **अगच्छः** पहुंचे हुए हो। **देवाः** विद्वान् लोग **ते** आपकी **सख्याय** मैत्री के लिए **येमिरे** स्वयं को केन्द्रित करते हैं, लालायित रहते हैं ॥३॥

भावार्थ— ज्योतिष्मान् परमेश्वर से ही ज्योति पाकर आग, बिजली, सूर्य, तारे, चांदी, सोना, हीरे आदि सब चमकते हैं। इसलिए मनुष्यों को भी ज्योति पाने के लिए उसकी मित्रता का आश्रय लेना चाहिए॥३॥

॥२३॥ अथ 'असावि सोम' इत्यादिकस्य त्रयोविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गोतमो राहूगणः। **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३४७ क्रमाङ्के जीवात्मसेनाध्यक्षयोर्विषये व्याख्याता । अत्र परमात्मा जीवात्मानं ब्रूते ।

१०२८. असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवा गहि ।
आ त्वा पृणक्त्विन्द्रियं रजः सूर्यो न रश्मिभिः ॥१॥[2]
असावि सोमः इन्द्र ते । शविष्ठ धृष्णो आ गहि ।
आ त्वा पृणक्तु इन्द्रियम् । रजः सूर्यः न रश्मिभिः ॥१॥

---

१. ऋ० ८।९८।३, अथ० २०।६२।७ ।
२. ऋ० १।८४।१, साम० ३४७ ।

पदार्थः— हे **इन्द्र** सखे जीवात्मन् । मया **ते** तुभ्यम् **सोमः** आनन्दरसः **असावि** अभिषुतोऽस्ति । हे **शविष्ठ** बलिष्ठ! हे **धृष्णो** कामादिशत्रूणां धर्षणशील ! **आगहि** आगच्छ । **इन्द्रियम्** आत्मबलम् **त्वा** त्वाम् **आ पृणक्तु** आपूरयतु, **सूर्यः न** आदित्यो यथा **रश्मिभिः** किरणैः **रजः** पृथिवीचन्द्रादिकं लोकम् आपृणक्ति आपूरयति ।।१।।[1]

अत्रोपमालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः— परमात्मना सख्यं कृत्वा जीवात्माऽविच्छिन्नामानन्दरसधारामनन्तमात्मबलं च लभते ।।१।।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में क्रमांक ३४७ पर जीवात्मा और सेनाध्यक्ष के विषय में व्याख्या हो चुकी है। यहां परमात्मा जीवात्मा को कह रहा है ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** सखा जीवात्मा! मैंने **ते** तेरे लिए **सोमः** आनन्दरस **असावि** उत्पन्न किया है। हे **शविष्ठ** बलिष्ठ! हे **धृष्णो** कामादि शत्रुओं के पराजेता! **आगहि** आ । **इन्द्रियम्** आत्मबल **त्वा** तुझे **आ पृणक्तु** परिपूर्ण करे, **सूर्यः न** जैसे सूर्य **रश्मिभिः** किरणों से **रजः** पृथिवी, चन्द्रमा आदि लोकों को, परिपूर्ण करता है ।।१।।

यहां उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ— परमात्मा के साथ मैत्री करके जीवात्मा अविच्छिन्न आनन्द-रस की धारा को और अनन्त आत्मबल को पा लेता है ।।१।।

अथ परमेश्वरो जीवात्मानं नवजन्मनि देहं प्रवेशयति ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१०२९. **आ तिष्ठ वृत्रहन् रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी ।**

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अर्वाचीनं सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना ।।२।।[2]

२ ३ १ २ र ३ २ ३ १ २ र ३ र १ २
आ तिष्ठ वृत्रहन् वृत्र हन् रथम् । युक्ता ते ब्रह्मणा हरीइति ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ र १ २ र ३ १ २
अर्वाचीनम् अर्व अचीनम् सु ते मनः । ग्रावा कृणोतु वग्नुना ।।२।।

पदार्थः— हे **वृत्रहन्** पापविघ्नादीन् हन्तः जीवात्मन् ! त्वम् **रथम्** नूतनं देहरूपं रथम् **आ तिष्ठ** अधिरोह। **ब्रह्मणा** परमेश्वरेण मया **ते** तुभ्यम् **हरी** प्राणापानौ ज्ञानकर्मेन्द्रिये वा **युक्ता** युक्तौ, नियुक्तौ स्तः । कुमारावस्थायां गुरुकुलप्रवेशानन्तरं **ग्रावा** विद्वान् उपदेष्टा गुरुः । [विद्वांसो हि ग्रावाणः। श० ३।९।३।१४ । गृणाति उपदिशति इति ग्रावा गुरुः ।] **वग्नुना** उपदेशात्मकेन शब्देन । [**वग्नुरिति** वाङ्नाम । निघं० १।११। वच परिभाषणे धातोः 'वचेर्गश्च'। उ० ३।३३ इति सूत्रेण नुः प्रत्ययः, धातोश्च गान्तादेशः ।] **ते मनः** तव चित्तम् **अर्वाचीनम्** धर्माभिमुखम् **सु कृणोतु** सम्यक् करोतु ।।२।।[3]

भावार्थः— जीवात्मा मातुर्गर्भं प्रविश्य जन्म गृहीत्वा मातापित्रोरङ्के क्रीडन् तयोः सकाशात् प्रारम्भिक-शिक्षां प्राप्य कुमारः सन् यथाकालं गुरुकुलं गत्वा गुरुभ्यः शास्त्राध्ययनं कुर्वन् मनो धर्मे प्रवर्तयेत् ।।२।।

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिमन्त्रमेतं सेनाध्यक्षपक्षे व्याचष्टे ।

२. ऋ० १।८४।३ ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिमन्त्रमेतं सेनाध्यक्षो योद्धन् किमादिशेदिति विषये व्याचष्टे ।

पदार्थ– हे **वृत्रहन्** पाप, विघ्न आदि के विनाशक जीवात्मन् ! तू **रथम्** नवीन शरीर-रूप रथ पर **आ तिष्ठ** आकर बैठ। **ब्रह्मणा** मुझ परमेश्वर ने **ते** तेरे लिए **हरी** प्राण-अपान वा ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय **युक्ता** तुझमें नियुक्त किये हैं। कुमारावस्था में गुरुकुल में प्रविष्ट होने के पश्चात् **ग्रावा** विद्वान् उपदेष्टा गुरु **वग्नुना** उपदेश-रूप शब्द से **ते मनः** तेरे मन को **अर्वाचीनम्** धर्म के अभिमुख **सु कृणोतु** भली-भांति करे ॥२॥

अथ गुरुकुलात् स्नातको भूत्वा कथं किं करोतीत्याह ।

१०३०. इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम् ।
ऋषीणां सुष्टुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम् ॥३॥[1]

इन्द्रम् इत् हरीइति वहतः । अप्रतिधृष्टशवसम् अप्रतिधृष्ट शवसम् ।
ऋषीणाम् सुष्टुतीः सु स्तुतीः उप । यज्ञम् च मानुषाणाम् ॥३॥

पदार्थः– **अप्रतिधृष्टशवसम्** अप्रतिदब्धबलम्, **इन्द्रम्** आचार्येभ्यो गृहीतविद्यं विद्वांसं स्नातकम् **इत्** खलु **हरी** रथे नियुक्तौ अश्वौ, जलयाने विमानयाने च नियुक्तौ विद्युद्वायू वा **ऋषीणाम्** मन्त्रार्थद्रष्टॄणां मुनीनाम् **सुष्टुतीः** शुभान् मन्त्रार्थोपदेशान् **मानुषाणाम् यज्ञं च** मनुष्याणाम् यज्ञसमारोहं च **उपवहतः** प्रापयताम् ॥३॥[2]

भावार्थः– आचार्यगर्भाद् द्वितीयं जन्म प्राप्य विद्वान् द्विजः सामाजिकेषूत्थानकार्येषु भागं गृह्णन् धर्मपूर्णान् यज्ञादिसमारोहान् गच्छेत् ॥३॥

अस्मिन् खण्डे गुरुशिष्ययोः परमात्मजीवात्मनोश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।

अगले मन्त्र में यह बताया गया है कि गुरुकुल से स्नातक बनकर किस प्रकार क्या करे ।

पदार्थ– **अप्रतिधृष्टशवसम्** जिसके बल को कोई दबा नहीं सकता ऐसे, **इन्द्रम्** आचार्यों से विद्या ग्रहण किये हुए विद्वान् स्नातक को **इत्** ही **हरी** रथ में नियुक्त उत्तम घोड़े एवं जलयान तथा विमान में नियुक्त विद्युत् और वायु **ऋषीणाम्** मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों के **सुष्टुतीः** शुभ मन्त्रार्थोपदेशों में **मानुषाणां यज्ञं च** और मनुष्यों के यज्ञ-समारोह में **उपवहतः** ले जाएं ॥३॥

भावार्थ– आचार्य के गर्भ से द्वितीय जन्म प्राप्त करके विद्वान् द्विज सामाजिक उत्थान के कार्यों में भाग लेता हुआ धर्मपूर्ण यज्ञादि समारोहों में जाए ॥३॥

इस खण्ड में गुरु-शिष्य और परमात्मा-जीवात्मा का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्वखण्ड के साथ संगति है ।

षष्ठ अध्याय में सप्तम खण्ड समाप्त ।

षष्ठ अध्याय समाप्त ।

तृतीय प्रपाठक में द्वितीय अर्ध समाप्त ।

---

१. ऋ० १।८४।२, 'ऋषीणां च स्तुतीरुप' इति तृतीयः पादः ।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं प्रजासेनापतेः सत्कारविषये व्याचष्टे ।

इति बरेलीमण्डलान्तर्गतफरीदपुरवास्तव्यश्रीमद्गोपालरामभगवतीदेवीतनयेन हरिद्वारीय गुरुकुल-कांगड़ीविश्वविद्यालयेऽधीतविद्येन विद्यामार्तण्डेन आचार्यरामनाथवेदालङ्कारेण महर्षिदयानन्द-सरस्वतीस्वामि-कृतवेदभाष्यशैलीमनुसृत्य विरचिते संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते सामवेदभाष्ये उत्तरार्चिके तृतीयः प्रपाठकः समाप्तिमगात् ॥

अथ सप्तमोऽध्यायश्चतुर्थे प्रपाठके प्रथमोऽर्धश्च

॥१॥ अथ 'ज्योतिर्यज्ञस्य' इत्यादिकस्य प्रथमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषयः** अकृष्टा माषाः, सिकता निवावरी, पृश्नयोऽजाश्च । **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** जगती । **स्वरः** निषादः ॥

तत्रादौ परमात्मानं तदीयं रसं च वर्णयति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१०३१. ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधु प्रियं पिता देवानां जनिता विभूवसुः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
दधाति रत्नं स्वधयोरपीच्यं मदिन्तमो मत्सर इन्द्रियो रसः ॥१॥[1]

१ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
ज्योतिः यज्ञस्य पवते मधु प्रियम् । पिता देवानाम् जनिता विभूवसुः विभु वसुः ।
१ २ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दधाति रत्नम् स्वधयोः स्व धयोः अपीच्यम् । मदिन्तमः मत्सरः इन्द्रियः रसः ॥१॥

पदार्थः— **यज्ञस्य ज्योतिः** देवपूजासंगतिकरणदानाद्यात्मकस्य यज्ञस्य प्रकाशकः, **देवानाम्** प्रकाशकानां सूर्यचन्द्रादीनां विदुषां वा **पिता** पालकः, **जनिता** सर्वेषां जनयिता, **विभूवसुः** प्रभूतधनः व्यापकधनो वा पवमानः सोमः पावकः जगत्पतिः परमेश्वरः **प्रियं मधु** प्रीतिकरं मधुरं वृष्टिजलं ज्ञानरसम् आनन्दरसं वा **पवते** भूमौ उपासकस्यान्तरात्मनि वा प्रवाहयति, **अपि च स्वधयोः** द्यावापृथिव्योः । [स्वधे इति द्यावापृथिव्योर्नाम । निघं० ३।३०।] **अपीच्यम्** अन्तर्हितम् । [अपीच्यमिति निर्णीतान्तर्हितनाम । निघं० ३।२५।] **रत्नम्** रजतसुवर्णमणि-मुक्तादिकम् **दधाति** पुष्णाति । अस्य **इन्द्रियः रसः** इन्द्रेण जीवात्मना जुष्टः ज्ञानरसः आनन्दरसो वा **मत्सरः** स्फूर्तिजनकः । [मदी हर्षे, 'कृधूमदिभ्यः कित्' । उ० ३।७३ इत्यनेन सरन् प्रत्ययः ।] **मदिन्तमः** अतिशयेन उत्साह-प्रदश्च भवति ॥१॥

भावार्थः— यः सर्वान् भौतिकान् रसानाध्यात्मिकं रसं च प्रवाहयति, द्यावापृथिव्योर्गर्भे बहुमूल्यानि रत्नानि च निदधाति स खलु जगदीश्वरः कस्य न वन्द्यः ॥१॥

आरम्भ में परमात्मा का और उसके रस का वर्णन है ।

पदार्थ— यज्ञस्य ज्योतिः देवपूजा, संगतिकरण, दान आदि रूप यज्ञ का प्रकाश करने वाला, **देवानाम्** प्रकाशक सूर्य, चन्द्रमा आदियों का और विद्वानों का **पिता** पालनकर्ता, **जनिता** सबको जन्म देने वाला, **विभूवसुः** प्रचुर वा व्यापक धन वाला पवमान सोम अर्थात् पवित्रकर्ता जगत्पति परमेश्वर **प्रियं मधु** प्रिय मधुर वर्षाजल को, ज्ञानरस को वा आनन्दरस को **पवते** भूमि पर वा उपासक के अन्तरात्मा में प्रवाहित करता है, और **स्वधयोः** द्यावापृथिवी में **अपीच्यम्** छिपे हुए **रत्नम्** चांदी, सोना, मणि, मोती आदि रत्नों को **दधाति** परिपुष्ट करता है । इसका **इन्द्रियः रसः** जीवात्मा से सेवित ज्ञानरस वा आनन्दरस **मत्सरः** स्फूर्तिदायक तथा **मदिन्तमः** अत्यन्त उत्साहप्रद होता है॥१॥

---

१. ऋ० ९।८६।१०, ऋषयः अकृष्टा माषाः ।

भावार्थः— जो सब भौतिक रसों को तथा आध्यात्मिक रस को प्रवाहित करता है वह जगदीश्वर किसका वन्दनीय नहीं है ॥१॥

अथ वर्षकं पर्जन्यं परमात्मानं च वर्णयति ।

१०३२. अभिक्रन्दन् कलशं वाज्यर्षति पतिर्दिवः शतधारो विचक्षणः ।
हरिर्मित्रस्य सदनेषु सीदति मर्मृजानोऽविभिः सिन्धुभिर्वृषा ॥२॥[1]

अभिक्रन्दन् अभि क्रन्दन् कलशम् वाजी अर्षति ।
पतिः दिवः शतधारः शत धारः विचक्षणः वि चक्षणः ।
हरिः मित्रस्य मि त्रस्य सदनेषु सीदति । मर्मृजानः अविभिः सिन्धुभिः वृषा ॥२॥

पदार्थः— **प्रथमः** पर्जन्यपरः । **वाजी** बलवान् सोमः वर्षकः पर्जन्यः **अभिक्रन्दन्** स्तनयन्, वृष्टिजलेन **कलशम्** भूमण्डलरूपं घटम् **अर्षति** गच्छति । सः **दिवः पतिः** अन्तरिक्षस्य अधिपतिः, **शतधारः** बहुधारः, **विचक्षणः** कार्यकुशलश्च वर्तते । **हरिः** उदकानां यत्र तत्र हर्ता सः **मित्रस्य** सूर्यस्य **सदनेषु** स्थितिस्थानेषु पर्वतादिषु **सीदति** गच्छति । किञ्च **वृषा** वर्षकः सः **अविभिः** गन्त्रीभिः, वेगगामिनीभिः । [अवतिर्गत्यर्थः।] **सिन्धुभिः** नदीभिः **मर्मृजानः** अतिशयेन भूभागान् शोधयन् भवति ॥

द्वितीयः परमात्मपरः **वाजी** बलवान् सोमः आनन्दवर्षकः परमात्मा **अभिक्रन्दन्** उपदिशन् **कलशम्** आत्मरूपं घटम् **अर्षति** गच्छति। सः **दिवः पतिः** जीवात्मनः पालयिता, **शतधारः** आनन्दस्य बह्वीनां धाराणां प्रवाहकः, **विचक्षणः** विशेषेण द्रष्टा च वर्तते । **हरिः** पापहर्ता सः **मित्रस्य** सख्युः जीवात्मनः **सदनेषु** अन्नमयप्राणमयमनोमयादिकोशेषु **सीदति** आस्ते । किञ्च **वृषा** सुखवर्षकः सः **अविभिः** रक्षिकाभिः **सिन्धुभिः** आनन्दरसतरङ्गिणीभिः **मर्मृजानः** उपासकस्यान्तःकरणं शोधयन् भवति ॥२॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— पर्जन्यस्य जलवृष्ट्या पृथिवीव परमात्मन आनन्दरसवृष्ट्या योगसाधकस्य मनोभूमिः सरसा निर्मला च जायते ॥२॥

अगले मन्त्र में वर्षक बादल और परमात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ— **प्रथम** बादल के पक्ष में । **वाजी** बलवान् सोम अर्थात् वर्षा करने वाला बादल **अभिक्रन्दन्** गर्जता हुआ, वर्षाजल द्वारा **कलशम्** भूमण्डलरूप कलश में **अर्षति** जाता है । वह **दिवः पतिः** अन्तरिक्ष का अधिपति, **शतधारः** बहुत धारों वाला, और **विचक्षणः** कार्यकुशल है । **हरिः** जलों को जहां-तहां ले जाने वाला वह **मित्रस्य** सूर्य के **सदनेषु** स्थिति-स्थान पर्वत आदियों में **सीदति** जाता है । साथ ही **वृषा** वर्षा करने वाला वह **अविभिः** वेगगामिनी **सिन्धुभिः** नदियों के द्वारा **मर्मृजानः** भूमि के भागों को अतिशय शुद्ध करता है ॥

द्वितीय परमात्मा के पक्ष में । **वाजी** बलवान् सोम अर्थात् आनन्दवर्षक परमात्मा **अधिक्रन्दन्** उपदेश देता हुआ **कलशम्** आत्मा रूप कलश में **अर्षति** जाता है । वह **दिवः पतिः** जीवात्मा का पालनकर्ता, शतधारः आनन्द की सैंकड़ों धाराओं को बहाने वाला, और **विचक्षणः** विशेष द्रष्टा है। **हरिः** पापों का हर्ता वह **मित्रस्य**

---

१. ऋ० ९।८६।११, ऋषिः सिकता निवावरी ।

अपने सखा जीवात्मा के **सदनेषु अन्नमय-प्राणमय-मनोमय आदि कोशों में सीदति** स्थित होता है । साथ ही, **वृषा** सुख बरसाने वाला वह **अविभिः** रक्षा करने वाली **सिन्धुभिः** आनन्दरस की नदियों से **मर्मृजानः** उपासक के अन्तःकरण को शुद्ध करता है ।।२।।

यहां श्लेषालंकार है ।।२।।

भावार्थ— बादल की जल-वर्षा से पृथिवी के समान परमात्मा की आनन्दवर्षा से योगसाधक की मनोभूमि सरस और निर्मल हो जाती है ।।२।।

अथ परमेश्वरस्य कर्तृत्वमाह ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
१०३३. अग्रे सिन्धूनां पवमानो अर्षस्यग्रे वाचो अग्रियो गोषु गच्छसि ।

२ ३ १ २ ३११र २र ३ २ ३ १ २
अग्रे वाजस्य भजसे महद् धनं स्वायुधः सोतृभिः सोम सूयसे ।।३।।[1]

१२र १ २र १२र ३ १२र ३ २ ३ २ १२र ३
अग्रे सिन्धूनाम् पवमानः अर्षसि । अग्रे वाचः अग्रियः गोषु गच्छसि ।

१२र १२र ३ २ १२र ३ २ ३ २ ३१ २ ३
अग्रे वाजस्य भजसे महत् धनम् । स्वायुधः सु आयुधः सोतृभिः सोम सूयसे ।।३।।

पदार्थः— हे सोम जगत्स्रष्टः परमात्मन् ! **पवमानः** पवित्रकर्ता त्वम् **सिन्धूनाम्** नदीनाम् **अग्रे** अग्रतः **अर्षसि** गच्छसि, त्वमेव ताः प्रवाहयसीत्यर्थः । **वाचः** मनुष्यैः प्रोच्यमानायाः वाण्याः **अग्रे** अग्रतः **गच्छसि** यासि, त्वत्प्रदत्तया शक्त्यैव जनाः व्यक्तां वाचमुच्चारयन्तीत्यर्थः । **अग्रियः** अग्रे भवः सन् । ['अग्राद्यत्' अ० ४।४।११६ इत्यनुवृत्तौ 'घच्छौ च' । अ० ४।४।११७ इत्यनेन अग्रशब्दाद् भावार्थे घप्रत्ययः ।] **गोषु** सूर्यकिरणेषु **गच्छसि** यासि, सूर्यकिरणान् त्वमेव प्रकाशयसि प्रेरयसि चेत्यर्थः । अपि च **वाजस्य** अन्नस्य संग्रामस्य वां **अग्रे** अग्रतः गच्छसि, अन्नाद्युत्पत्तिं संग्रामे विजयं चापि त्वमेव कारयसीत्यर्थः । त्वम् **महद् धनम्** विपुलम् ऐश्वर्यम् **भजसे** प्राप्नोषि। हे **सोम** परमात्मन्! **स्वायुधः** सुशस्त्रास्त्रः सेनापतिरिव रक्षासमर्थः त्वम् **सोतृभिः** ध्यानयज्ञं कुर्वद्भिः उपासकैः **सूयसे** अभिषूय आनन्दं क्षार्यसे ।।३।।

भावार्थः— बाह्ये जगति शरीराभ्यन्तरे च संजायमानां सर्वां व्यवस्थां सर्वान्तर्यामी परमेश्वर एव कारयति।।३।।

अगले मन्त्र में परमेश्वर का कर्तृत्व वर्णित है ।

पदार्थ— हे सोम अर्थात् जगत्स्रष्टा परमात्मन्! **पवमानः** पवित्रकर्ता आप **सिन्धूनाम्** नदियों के **अग्रे** आगे-आगे **अर्षसि** चलते हो, अर्थात् उन्हें आप ही प्रवाहित करते हो। **वाचः** मनुष्यों से उच्चारण की जाती हुई वाणी के **अग्रे** आगे **गच्छसि** चलते हो, अर्थात् आपकी दी हुई वाक्शक्ति से ही मनुष्य व्यक्त वाणी का उच्चारण करते हैं। **अग्रियः** आगे स्थित आप **गोषु** सूर्य किरणों में **गच्छसि** पहुंचते हो, अर्थात् सूर्य किरणों को भी आप ही प्रकाशित एवं प्रेरित करते हो। और, **वाजस्य** अन्न तथा संग्राम के भी **अग्रे** आगे, आप ही जाते हो, अर्थात् अन्न आदि की उत्पत्ति और संग्राम में विजय भी आप ही कराते हो । आप **महत् धनम्** महान् ऐश्वर्य को **भजसे** प्राप्त किये हुए हो। हे **सोम** परमात्मन्! **स्वायुधः** उत्तम शस्त्रास्त्र जिसके पास हैं ऐसे सेनापति के

---

१. ऋ० ९।८६।१२ ऋषिः सिकता निवावरी । 'अर्षत्यग्रे' 'गच्छति' 'अग्रे वाजस्य भजते महाधनं स्वायुधः सोतृभिः पूयते वृषा' इति पाठः ।

समान रक्षा करने में समर्थ आप **सोतृभिः** ध्यानयज्ञ करने वाले उपासकों के द्वारा **सूयसे** अभिषुत किये जाते हो, अर्थात् वे आप से अपने लिए आनन्द-रस को क्षरित करते हैं ।।३।।

भावार्थ— बाहरी जगत् में और शरीर के अन्दर होने वाली सारी व्यवस्था को सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ही कराता है ।।३।।

।।२।। अथ 'असृक्षत' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** कश्यपो मारीचः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४८२ क्रमाङ्के भक्तिरसविषये व्याख्याता। अत्र ब्रह्मानन्दरसप्रवाहो वर्ण्यते ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
१०३४. असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया । शुक्रासो वीरयाशवः ।।१।।[1]

१ २र ३ १ २ ३ २ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
असृक्षत प्र वाजिनः । गव्या सोमासः अश्वया । शुक्रासः वीरया आशवः ।।१।।

पदार्थः— वाजिनः बलवन्तः, **शुक्रासः** पवित्राः, **आशवः** आशुगामिनः **सोमासः** ब्रह्मानन्दरसाः **गव्या** गवाम् इन्द्रियाणाम् इन्द्रियबलानां प्राप्तीच्छया, **अश्वया** अश्वानां प्राणानां प्राणबलानां प्राप्तीच्छया, **वीरया** वीराणां वीरभावानां प्राप्तीच्छया च **प्र असृक्षत** ब्रह्मणः सकाशात् प्रसृज्यन्ते अभिषूयन्ते ।।१।।

भावार्थः— उपासकस्यात्मनि यदा ब्रह्मानन्दरसधाराः प्रवहन्ति तदा मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियादीनां सात्त्विकं बलं स्वयमेवोपतिष्ठते ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४८२ क्रमांक पर भक्तिरस के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां ब्रह्मानन्द-रस का प्रवाह वर्णित है ।

पदार्थ— वाजिनः बलवान्, **शुक्रासः** पवित्र, **आशवः** शीघ्रगामी **सोमासः** ब्रह्मानन्द-रस **गव्या** इन्द्रियबलों की प्राप्ति की इच्छा से, **अश्वया** प्राण-बलों की प्राप्ति की इच्छा से, और **वीरया** वीर-भावों की प्राप्ति की इच्छा से **प्र असृक्षत** परमेश्वर के पास से अभिषुत किये जा रहे हैं ।।१।।

भावार्थ— उपासक के आत्मा में जब ब्रह्मानन्द-रस की धाराएं बहती हैं तब मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों आदि का सात्त्विक बल स्वयं ही उपस्थित हो जाता है ।।१।।

अथ पुनरपि ब्रह्मानन्दरसप्रवाहं वर्णयति।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१०३५. शुम्भमाना ऋतायुभिर्मृज्यमाना गभस्त्योः । पवन्ते वारे अव्यये ।।२।।[2]

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १२र १२र १२र ३ १ २
शुम्भमानाः ऋतायुभिः । मृज्यमानाः गभस्त्योः । पवन्ते वारे अव्यये ।।२।।

पदार्थः— शुम्भमानाः शोभमानाः, [शुम्भ शोभार्थे, तुदादिः ।] **ऋतायुभिः** अध्यात्मयज्ञेच्छुभिः । [ऋतायुः यज्ञकामः। निरु० १०।४५। ऋतम् उपासनायज्ञमात्मनः कामयन्ते इति ऋतायवः तैः ।] **गभस्त्योः** मनोबुद्धिरूपयोः द्यावापृथिव्योः **मृज्यमानाः** अलङ्क्रियमाणाः, [मृजू शौचालङ्कारयोः ।] सोमाः ब्रह्मानन्दरसाः **अव्यये** अविनाशिनि **वारे** दोषाणां वारके अन्तरात्मनि **पवन्ते** प्रवहन्ति ।।२।।

---

१. ऋ० ९।६४।४, साम० ४८२ ।

२. ऋ० ९।६४।५ ।

भावार्थः— धर्ममेघसमाधौ यदा योगिनोऽन्तरात्मनि ब्रह्मानन्दनिर्झरा निर्झरन्ति तदा तस्य मनोबुद्धि-प्राणेन्द्रियादीनि सर्वाण्यपि रससिक्तानीव जायन्ते ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर ब्रह्मानन्द-रस के प्रवाह का वर्णन है ।

पदार्थ— शुम्भमानाः शोभित होते हुए, **ऋतायुभिः** अध्यात्म-यज्ञ के अभिलाषियों द्वारा **गभस्त्योः** मन-बुद्धि-रूप द्यावापृथिवियों में **मृज्यमानाः** अलंकृत किये जाते हुए ब्रह्मानन्द-रूप सोमरस **अव्यये** अविनाशी **वारे** दोषों के निवारक अन्तरात्मा में **पवन्ते** प्रवाहित हो रहे हैं ॥२॥

भावार्थ— धर्ममेघ-समाधि में जब योगी के अन्तरात्मा में ब्रह्मानन्द के झरने झरते हैं तब उसके मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय आदि सभी रस से सिंचे हुए के सदृश हो जाते हैं ॥२॥

अथ ब्रह्मानन्दरसाः किं कुर्वन्त्वित्याह ।

१२ २र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १र २र
१०३६. ते विश्वा दाशुषे वसु सोमा दिव्यानि पार्थिवा । पवन्तामान्तरिक्ष्या ॥३॥[1]

२ १ २र ३ १ २ १ २र १ २र ३ १ २ १ २र १ २र ३ १ २
ते विश्वा दाशुषे वसु । सोमाः दिव्यानि पार्थिवा । पवन्ताम् आ अन्तरिक्ष्या ॥३॥

पदार्थः— ते सोमाः उपासकस्यात्मनि प्रस्रवन्तः ते ब्रह्मानन्दरसाः **दाशुषे** परमात्मानं प्रति आत्मसमर्पकाय तस्मै उपासकाय **दिव्यानि** आनन्दमयविज्ञानमयलोकसम्बद्धानि, **पार्थिवा** पार्थिवानि अन्नमयप्राणमयलोक-सम्बद्धानि, **आन्तरिक्ष्या** आन्तरिक्ष्याणि मनोमयलोकसम्बद्धानि च **विश्वा वसु** सर्वाणि वसूनि, ऐश्वर्याणि **पवन्ताम्** प्रवाहयन्तु । [विश्वा, वसु, पार्थिवा, आन्तरिक्ष्या इति सर्वत्र 'शेश्छन्दसि बहुलम्' । अ० ६।१।७० इत्यनेन शसः शेर्लोपः]॥३॥

भावार्थः— ब्रह्मानन्देऽधिगते सति देहप्राणमनोबुद्ध्यात्मसम्बद्धाः सर्वा अपि सम्पदः सिद्धयो वा योगिभिः प्राप्यन्ते ॥३॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि ब्रह्मानन्द-रस क्या करें ।

पदार्थ— ते सोमाः उपासक के अन्तरात्मा में बहते हुए वे ब्रह्मानन्द-रस **दाशुषे** परमात्मा को आत्मसमर्पण करने वाले उस उपासक के लिए **दिव्यानि** आनन्दमय और विज्ञानमय लोकों से सम्बद्ध, **पार्थिवा** अन्नमय और प्राणमय लोकों से सम्बद्ध तथा **आन्तरिक्ष्या** मनोमय लोक से सम्बद्ध **विश्वा वसु** सब ऐश्वर्यों को **पवन्ताम्** प्रवाहित करें ॥३॥

भावार्थ— ब्रह्मानन्द अधिगत हो जाने पर देह, प्राण, मन, बुद्धि एवं आत्मा से सम्बद्ध सभी सम्पदाएं वा सिद्धियां योगियों को प्राप्त हो जाती हैं ॥३॥

॥३॥ अथ 'पवस्व' इत्यादिकस्य तृतीयस्य दशर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मेधातिथिः काण्वः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः ॥

---

१. ऋ० ९।३६।५, 'ते' 'सोमाः', 'पवन्ताम्' इत्यत्र 'स' 'सोमो' 'पवताम्' इति पाठः । ऋ० ९।६४।६ ।

तत्रादौ सोमनाम्ना जगदीश्वरं प्रार्थयते ।

१०३७. पवस्व देववीरति पवित्रं सोम रंह्या । इन्द्रमिन्दो वृषा विश ॥१॥[1]

पवस्व देववीः देव वीः अति । पवित्रम् सोम रंह्या । इन्द्रम् इन्दो वृषा आ विश ॥१॥

पदार्थः— हे **सोम** रसागार जगदीश्वर! **देववीः** देवान् सदाचारिणो विदुषः वेति प्राप्नोतीति देववीः, तादृशस्त्वम् **रंह्या** वेगेन **पवित्रम् अति** परिपूतं हृदयरूपं दशापवित्रम् अतिक्रम्य **पवस्व** अन्तरात्मनि परिस्रव । हे **इन्दो** रसेन क्लेदक जगत्पते! **वृषा** आनन्दवर्षकः त्वम् **इन्द्रम्** जीवात्मानम् **विश** प्रविश ॥१॥

भावार्थः— यथा सोमौषधिरसो दशापवित्रमाध्यमेन द्रोणकलशमुपतिष्ठते तथैव परमेश्वरादागच्छन्नानन्द-रसो हृदयमाध्यमेनान्तरात्मानमुपतिष्ठते ॥१॥

प्रथम ऋचा में सोम नाम द्वारा जगदीश्वर से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **सोम** रस के भण्डार जगदीश्वर! **देववीः** सदाचारी विद्वानों को प्राप्त होने वाले आप **रंह्या** वेग से **पवित्रम् अति** पवित्र हृदय-रूप छन्नी को पार करके **पवस्व** अन्तरात्मा में परिस्रुत होवो। हे **इन्दो** रस से आर्द्र करने वाले जगत्पति! **वृषा** आनन्द की वर्षा करने वाले आप **इन्द्रम्** जीवात्मा में **विश** प्रवेश करो ॥१॥

भावार्थ— जैसे सोमौषधि का रस दशापवित्र नामक छन्नी के माध्यम से द्रोणकलश में पहुंचता है, वैसे ही परमेश्वर से आता हुआ आनन्दरस हृदय के माध्यम से अन्तरात्मा में पहुंचता है ॥१॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१०३८. आ वच्यस्व महि प्सरो वृषेन्दो द्युम्नवत्तमः । आ योनिं धर्णसिः सदः ॥२॥[2]

आ वच्यस्व महि प्सरः । वृषा इन्दो द्युम्नवत्तमः । आ योनिम् धर्णसिः सदः ॥२॥

पदार्थः— हे परमात्मन्! त्वम् अस्माभिः **आ वच्यस्व** आ स्तूयस्व। [वच परिभाषणे, कर्मणि लोण्मध्यमैकवचने उच्यस्व इति प्राप्ते सम्प्रसारणाभावश्छान्दसः।] त्वम् अस्मभ्यम् **महि प्सरः** सत्यन्यायशौर्यदया-दाक्षिण्यादिकं महद् रूपम्, प्रयच्छेति शेषः । हे **इन्दो** रसागार, रसेन क्लेदक भगवन्! त्वम् **वृषा** आनन्दवर्षकः, **द्युम्नवत्तमः** तेजस्वितमश्च, असि। **धर्णसिः** जगद्धारकः त्वम् । [धृङ् धारणे धातोः 'सानसिवर्णसिपर्णसि० । उ० ४।१०८ इति बाहुलकाद् असि प्रत्ययो नुगागमश्च ।] **योनिम्** अस्माकम् आत्मसदनम् । [योनिः गृहनाम । निघं० ३।४।] **आसदः** आसीद ॥२॥

अत्र जगद्धारको विराट् परमेश्वरः स्वल्पे जीवात्मगृहे कथं समेयादिति विरूपसंघटनारूपो विषमा-लङ्कारः॥२॥

भावार्थः— आराधितः परमेश्वर उपासकस्यान्तरात्मन्यानन्दं वर्षं वर्षं तं महदुपकरोति ॥२॥

आगे पुनः वही विषय कहा गया है ।

---

१. ऋ० ९।२।१।
२. ऋ० ९।२।२।

पदार्थ– हे परमात्मन्! आप हमारे द्वारा **आ वच्यस्व स्तुति किये** जाओ। आप हमारे लिए **महि प्सरः** सत्य, न्याय, शूरता, दया, उदारता आदि के महान् रूप **को प्रदान करो**। हे **इन्दो** रसागार, रस से आर्द्र करने वाले भगवन्! आप **वृषा** आनन्दवर्षी और **द्युम्नवत्तमः** सबसे अधिक तेजस्वी हो। **धर्णसिः** जगत् के धारणकर्ता आप **योनिम्** हमारे आत्म-गृह में **आ सदः** आकर बैठो ॥२॥

यहां जगत् का धारक विराट् परमेश्वर छोटे से जीवात्मारूप घर में कैसे समा सकता है, अतः विरूपसंघटनारूप विषमालंकार है ॥२॥

भावार्थ– आराधना किया गया परमेश्वर उपासक के अन्तरात्मा में आनन्द बरसा-बरसा कर उसका महान् उपकार करता है ॥२॥

अथ परमात्मध्यानस्य फलमाह।

१ २ ३२उ ३ १ २ ३१ २ ३१ २ ३ १ २ ३१ २
१०३९. अधुक्षत प्रियं मधु धारा सुतस्य वेधसः। अपो वसिष्ट सुक्रतुः ॥३॥[1]

१२र ३२ १२र १२र३१ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
अधुक्षत प्रियम् मधु। धारा सुतस्य वेधसः। अपः वसिष्ट सुक्रतुः सु क्रतुः ॥३॥

पदार्थः– **सुतस्य** अन्तरात्मनि प्रकटीकृतस्य **वेधसः** सर्वजगद्विधातुः सोमस्य परमात्मनः **धारा** वेदवाक्, [धारा इति वाङ्नाम। निघं० १।११।] **प्रियम्** प्रीत्यास्पदम् **मधु** मधुरम् आनन्दरसम् **अधुक्षत** उपासकस्य अन्तरात्मनि दोग्धि। **सुक्रतुः** सुकर्मा स परमात्मा **अपः** उपासकस्य कर्माणि **वसिष्ट** आच्छादयति, व्याप्नोति, तद्द्वारा शुभानि लोकहितकराण्येव कर्माणि कारयति नाशुभानीत्यर्थः। [वस आच्छादने, लडर्थे लुङि अडागमाभावश्छान्दसः] ॥३॥

भावार्थः– मनुष्याणां योग्यमस्ति यत्ते परमेश्वरस्य ध्यानेनानन्दप्राप्तिं शुभकर्मसु प्रवृत्तिं च प्राप्नुयुः॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के ध्यान का फल वर्णित है।

पदार्थ– **सुतस्य** अन्तरात्मा में प्रकट किये गए, **वेधसः** सब जगत् के विधाता सोम नामक परमात्मा की **धारा** वेदवाणी की धारा **प्रियम्** प्रिय, **मधु** मधुर आनन्दरस को **अधुक्षत** उपासक के अन्तरात्मा में दुहती है। **सुक्रतुः** शुभकर्मों का कर्ता वह परमात्मा **अपः** उपासक के कर्मों को **वसिष्ट** व्याप्त कर लेता है अर्थात् उपासक के द्वारा शुभ लोकहितकारी कर्म ही कराता है, अशुभ नहीं ॥३॥

भावार्थ– मनुष्यों को योग्य है कि वे परमेश्वर के ध्यान से आनन्द की प्राप्ति और शुभकर्मों में प्रवृत्ति करें ॥३॥

अथ परमात्मनो महिमानमाह।

३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ १र २र ३ १ २
१०४०. महान्तं त्वा महीरन्वापो अर्षन्ति सिन्धवः। यद्गोभिर्वासयिष्यसे ॥४॥[2]

३ १ २ ३ २ १२र १ २र ३ १ २र १ २र ३ १ २
महान्तम् त्वा महीः अनु। आपः अर्षन्ति सिन्धवः। यत् गोभिः वासयिष्यसे ॥४॥

---

१. ऋ० ९।२।३।
२. ऋ० ९।२।४।

पदार्थः— हे सोम जगत्स्रष्टः परमात्मन्! **महान्तम्** अतिशयमहिमवन्तम् **त्वाम् अनु** त्वाम् अनुसृत्य, त्वदादेशानुसारेणेत्यर्थः **महीः** महत्यः, **सिन्धवः** स्यन्दमानाः प्रवहणशीलाः **आपः** नद्यः **अर्षन्ति** गच्छन्ति, **यत्** यस्मात्, त्वम् **गोभिः** सूर्यरश्मिभिः **वासयिष्यसे** वृष्टिद्वारा ताः निवासयिष्यसि ॥४॥

भावार्थः— नद्यादयः सर्वे पदार्थाः परमात्मनिर्धारितनियमानुसारेणैव चलन्ति, यतः स जगतः सम्राडस्ति॥४॥

अब परमात्मा की महिमा वर्णित करते हैं।

पदार्थ— हे सोम अर्थात् जगत्स्रष्टा परमात्मन्! **महान्तम्** अतिशय महान् **त्वा अनु** आपके आदेशानुसार **महीः** विशाल, **सिन्धवः** प्रवाहमयी **आपः** नदियां **अर्षन्ति** गति करती हैं, **यत्** क्योंकि, आप **गोभिः** सूर्यकिरणों से **वासयिष्यसे** वर्षा द्वारा उन्हें बसाये रखोगे ॥४॥

भावार्थ— नदी आदि सब पदार्थ परमात्मा के निर्धारित नियमों के अनुसार ही चलते हैं, क्योंकि वह जगत् का सम्राट् है ॥४॥

अथ परमात्मनः शुद्धिकार्यं वर्णयति ।

१०४१ . समुद्रो अप्सु मामृजे विष्टम्भो धरुणो दिवः। सोमः पवित्रे अस्मयुः ॥५॥[1]

समुद्रः सम् उद्रः अप्सु मामृजे। विष्टम्भः वि स्तम्भः धरुणः दिवः।
सोमः पवित्रे अस्मयुः ॥५॥

पदार्थः— **समुद्रः** आनन्दरसान् उद्रेचयिता । [समुद्रः कस्मात्? समुद्द्रवन्त्यस्मादापः । निरु० २।१० ।] **विष्टम्भः** सर्वेषामाश्रयदाता, **दिवः** सूर्यस्य **धरुणः** धारकः । [धरतीति धरुणः । धृञ् धारणे बाहुलकादौणादिकः उन प्रत्ययः ।] **अस्मयुः** अस्मान् कामयमानः **सोमः** जगत्स्रष्टाः परमेश्वरः **पवित्रे** वायौ । [वायुः पवित्रमुच्यते । निरु० ५।६।] **अप्सु** उदकेषु च **मामृजे** नित्यं मार्जनं शुद्धिं करोति। [पवित्रम् अपः ममृजे इति प्राप्ते द्वितीयार्थे सप्तमी । मृजूष् शुद्धौ, लिटि 'तुजादीनां दीर्घोभ्यासस्य। अ० ६।१।७ इत्यभ्यासदीर्घः]॥५॥

भावार्थः— यदि जलवाय्वादीन् प्राकृतिकपदार्थान् सूर्यद्वारा दिने दिने जगदीश्वरो नामार्क्ष्यत् तर्हि मलानां पुञ्जभूतास्ते कस्यचिदुपयोगयोग्या अपि नाभविष्यन् ॥५॥

अगले मन्त्र में परमात्मा का शुद्धिकार्य वर्णित है ।

पदार्थ— **समुद्रः** आनन्द-रसों को उमड़ाने वाला, **विष्टम्भः** सबको सहारा देने वाला, **दिवः** सूर्य का **धरुणः** थामने वाला, **अस्मयुः** हमसे प्रीति करने वाला **सोमः** जगत्स्रष्टा परमेश्वर **पवित्रे** वायु में और **अप्सु** जलों में **मामृजे** नित्य शुद्धि करता रहता है ॥५॥

भावार्थ— यदि जल, वायु आदि प्राकृतिक पदार्थों को सूर्य द्वारा प्रतिदिन जगदीश्वर शुद्ध न करता रहता तो मलों के पुंज होकर वे किसी के उपयोग के योग्य भी न रहते ॥५॥

---

१. ऋ० ९।२।५ ।

षष्ठी ऋक् पूर्वार्चिके ४९७ क्रमाङ्के परमेश्वरविषये व्याख्याता । अत्र पर्जन्यवर्णनमुखेन परमात्म-महिमानं प्रकटयति ।

१०४२. अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः । सं सूर्येण दिद्युते ॥६॥[1]

अचिक्रदत् वृषा हरिः । महान् मित्रः मि त्रः न दर्शतः । सम् सूर्येण दिद्युते ॥६॥

पदार्थः— परमेश्वरस्यैवायं महिमा यत् **हरिः** वायुना इतस्ततो ह्रियमाणः **वृषा**: वर्षकः पर्जन्यः **मित्रः न** सुहृदिव **दर्शतः** दर्शनीयो भवति । किञ्च स पर्जन्यः **सूर्येण** आदित्यद्वारा **सं दिद्युते** सम्यक् दीप्यते, विद्युच्छटाभिर्भासते ॥६॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥६॥

भावार्थः— पर्जन्यो यदा गर्जति विद्युतं विद्योतयति वर्षति च तदा ग्रीष्मतापेन तप्ता जनास्तस्य मित्र-वत् स्वागतं कुर्वन्ति । पर्जन्यस्य य उपकारास्सन्ति ते वस्तुतः परमेश्वरस्यैवोपकारा मन्तव्यास्तेनैव तस्य सञ्चा-लितत्वात् ॥६॥

छठी ऋचा ४९७ क्रमांक पर परमेश्वर के विषय में व्याख्यात की गयी थी । यहां बादल के वर्णन द्वारा परमात्मा की महिमा प्रकट की गयी है ।

पदार्थ— परमेश्वर की ही यह महिमा है कि **हरिः** वायु से इधर-उधर ले जाया जाता हुआ, **वृषा** वर्षा करने वाला बादल **अचिक्रदत्** स्वयं को गरजाता है । **महान्** विशाल वह बादल **मित्रः न** मित्र के समान **दर्शतः** दर्शनीय होता है । और वह बादल **सूर्येण** सूर्य द्वारा **सं दिद्युते** भली भांति दीप्त होता है, बिजली की छटाओं से भासित होता है ॥६॥

यहां उपमालंकार है ॥६॥

भावार्थ— बादल जब गरजता है, बिजली चमकाता है और बरसता है तब गरमी की धूप से तप्त लोग उसका मित्र के समान स्वागत करते हैं। बादल के जो उपकार हैं वे वास्तव में परमेश्वर के ही उपकार समझने चाहिएं, क्योंकि वह उसी से संचालित होता है ॥६॥

अथोपासकः सम्बोध्यते ।

१०४३. गिरस्त इन्द ओजसा मर्मृज्यन्ते अपस्युवः । याभिर्मदाय शुम्भसे ॥७॥[2]

गिरः ते इन्दो ओजसा । मर्मृज्यन्ते अपस्युवः । याभिः मदाय शुम्भसे ॥७॥

पदार्थः— हे **इन्दो** परमेश्वरोपासक मानव! **ते** तव **अपस्युवः** कर्मकामाः । [अपः कर्माणि आत्मनः कामयन्ते इति अपस्युवः । क्यचि उः प्रत्ययः ।] **गिरः** वाचः, त्वाम् **ओजसा** तेजसा **मर्मृज्यन्ते** भृशं पुनः पुनः अलङ्कुर्वन्ति, **याभिः** गीर्भिः, त्वम् **मदाय** आनन्दाय **शुम्भसे** शोभसे ॥७॥

---

१. ऋ० ९।२।६, साम० ४९७ ।
२. ऋ० ९।२।७ ।

भावार्थः— वाक् कर्मणैव साकं मनुष्यस्य भूषणं भवति, न निष्क्रिया ॥७॥

अगले मन्त्र में उपासक को सम्बोधन किया गया है।

पदार्थ— हे इन्दो परमेश्वर के उपासक मानव! **ते** तेरी **अपस्युवः** कर्म की कामना वाली **गिरः** वाणियां तुझे **ओजसा** तेज से **मर्मृज्यन्ते** अधिकाधिक बार-बार अलंकृत करती हैं, **याभिः** जिनसे, तू **मदाय** आनन्द-प्राप्ति के लिए **शुभ्भसे** शोभित होता है ॥७॥

भावार्थ— वाणी कर्म के साथ ही मनुष्य का भूषण होती है, कर्म के बिना नहीं ॥७॥

अथोपासकः परमात्मानमाह ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २
१०४४. तं त्वा मदाय घृष्वय उ लोककृत्नुमीमहे । तव प्रशस्तये महे ॥८॥[1]

२ ३ १ २र १ २र ३ २ ३ २ ३
तम् त्वा मदाय घृष्वये । उ लोककृत्नुम् लोक कृत्नुम् ईमहे ।

१ २र १ २र ३ २
तव प्रशस्तये प्र शस्तये महे ॥८॥

पदार्थः— हे पवमान सोम पवित्रकर्तः रसागार परमात्मन् ! **तम् उ** तं खलु **लोककृत्नुम्** लोकानां रचयितारम् **त्वा** त्वाम्, वयम् **घृष्वये** संघर्षक्षमाय **मदाय** उत्साहाय **ईमहे** प्राप्नुमः । वयम् **महे** महत्यै **प्रशस्तये** प्रशंसायै कीर्तये वा **तव** त्वत्सखायः, स्यामेति शेषः ॥८॥

भावार्थः— परमात्मना सह सख्यं संस्थाप्यैव मानवो जीवने साफल्यं विजयं यशश्च प्राप्तुं शक्नोति ॥८॥

अब उपासक परमात्मा को कह रहा है ।

पदार्थ— हे पवमान सोम अर्थात् पवित्रकर्ता रसागार परमात्मन्! **तम् उ** उस **लोककृत्नुम्** लोकों के रचयिता **त्वा** तुझे हम **घृष्वये** बुराइयों से संघर्ष करने में समर्थ **मदाय** उत्साह के लिए ईमहे प्राप्त करते हैं। हम **महे** महती **प्रशस्तये** प्रशस्ति पाने के लिए **तव** तेरे हो जाएं ॥८॥

भावार्थ— परमात्मा के साथ मित्रता संस्थापित करके ही मनुष्य जीवन में सफलता, विजय और यश पा सकता है ॥८॥

अथ परमात्मनो गुणकर्माणि वर्णयति ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
१०४५. गोषा इन्दो नृषा अस्यश्वसा वाजसा उत । आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः ॥९॥[2]

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३
गोषाः गो साः इन्दो नृषाः नृ साः असि । अश्वसाः अश्व साः

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
वाजसाः वाज साः उत । आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः ॥९॥

पदार्थः— हे **इन्दो** तेजस्विन्, आनन्दरसेन क्लेदयितः परमात्मदेव! त्वम् **गोषाः** गाः धेनूः वेदवाचः पृथिवीः इन्द्रियाणि वा सनोति ददातीति तादृशः, **नृषाः** नॄन् पुरुषार्थिनः वीरान् सन्तानान् सनोति ददातीति

---

१. ऋ० ९।२।८, 'तव प्रशस्तयो महीः' इति तृतीयः पादः ।

२. ऋ० ९।२।१०।

तादृशः, **अश्वसाः** अश्वान् तुरङ्गान् प्राणान् वा सनोति ददातीति तथाविधः, **उत** अपि च **वाजसाः** वाजं बलम् अन्नं धनं विज्ञानं वा सनोति ददातीति तथाविधः **असि** वर्तसे । त्वम् **यज्ञस्य** परोपकाररूपस्य अध्वरस्य **पूर्व्यः** पूर्वकालादागतः **आत्मा** प्राणः, असि ॥९॥

भावार्थः— अहो, महान्तः किल जगदीश्वरस्योपकारा योऽस्मभ्यमनेकानि बहुमूल्यानि वस्तून्युत्पाद्य ददाति, एवं च कुर्वन्नसौ सर्वान् परोपकारमुपदिशति ॥९॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के गुण-कर्मों का वर्णन है ।

पदार्थ— हे **इन्दो** तेजस्वी, आनन्द-रस से आर्द्र करने वाले परमात्मदेव! आप **गोषाः** गायों, वेदवाणियों, भूमियों वा इन्द्रियों को देने वाले, **नृषाः** पुरुषार्थी वीर सन्तानों को देने वाले, **अश्वसाः** घोड़ों और प्राणों को देने वाले, **उत** और **वाजसाः** बल, अन्न, धन और विज्ञान को देने वाले **असि** हो। आप **यज्ञस्य** परोपकार-रूप यज्ञ के **पूर्व्यः** सनातनकाल से चले आये **आत्मा** प्राण हो ॥९॥

भावार्थ— अहो, महान् हैं जगदीश्वर के उपकार, जो हमें अनेक बहुमूल्य वस्तुएं उत्पन्न करके देता है, और ऐसा करता हुआ वह सबको परोपकार का उपदेश करता है ॥९॥

अथ परमेश्वरं प्रार्थयते ।

१०४६. अस्मभ्यमिन्दविन्द्रियं मधोः पवस्व धारया । पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव ॥१०॥[1]

अस्मभ्यम् इन्दो इन्द्रियम् । मधोः पवस्व धारया । पर्जन्यो वृष्टिमान् इव ॥१०॥

पदार्थः— हे **इन्दो** रसागार करुणावरुणालय परमेश! **वृष्टिमान्** वृष्टिकर्ता **पर्जन्यः इव** मेघः इव, त्वम् **मधोः** मधुरस्य आनन्दरसस्य **धारया** प्रवाहसन्त्या सह **अस्मभ्यम्** उपासकेभ्यो नः **इन्द्रियम्** इन्द्रेण जीवात्मना जुष्टम् आत्मबलम् **पवस्व** प्रक्षर ॥१०॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१०॥

भावार्थः— पर्जन्यस्य रसवृष्ट्या पृथिवीव परमेश्वरस्यानन्दवृष्ट्या मनुष्यस्यात्मभूमिः सरसा सद्गुणप्ररोहा हरिता भरिता च जायते ॥१०॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मनो गुणकर्मणामुपास्योपासकसंबन्धस्य ब्रह्मानन्दरसस्य प्रसङ्गतः पर्जन्यस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेदितव्या ॥

अब परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे **इन्दो** रस के भण्डार, करुणासागर परमेश ! **वृष्टिमान्** वर्षा करने वाले **पर्जन्यः इव** बादल के समान, आप **मधोः** मधुर आनन्द-रस की **धारया** धारा के साथ **अस्मभ्यम्** हम उपासकों के लिए **इन्द्रियम्** जीवात्मा से सेवित आत्मबल **पवस्व** प्रवाहित कीजिए ॥१०॥

यहां उपमालंकार है ॥१०॥

---

१. ऋ० ९।२।९ 'विन्द्रियं मधोः' इत्यत्र विन्द्रयुर्मध्वः' इति पाठः ।

भावार्थ– बादल की रस-वर्षा से पृथिवी के समान परमेश्वर की आनन्द-वर्षा से मनुष्य की आत्मभूमि सरस, सद्गुणों से अंकुरित और हरी-भरी हो जाती है।।१०।।

इस खण्ड में परमात्मा के गुण-कर्मों का, उपास्य-उपासक सम्बन्ध का, ब्रह्मानन्द-रस का और प्रसंगतः पर्जन्य का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ।।

सप्तम अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ।

।।४।। अथ 'सना च' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य दशर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

अथ सोमनाम्ना जीवात्मानमुद्बोधयति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
१०४७. सना च सोम जेषि च पवमान महि श्रवः । अथा नो वस्यसस्कृधि ।।१।।[1]

१२र ३ १२र ३ १२र १२र १२र १२र ३ १२र ३
सन च सोम जेषि च। पवमान महि श्रवः। अथ नः वस्यसः कृधि ।।१।।

पदार्थः– हे **पवमान** गतिशील, कर्मशूर पवित्रताप्रद **सोम** ऐश्वर्यवन् शुभगुणकर्मप्रेरक जीवात्मन् ! त्वम् **महि श्रवः** महद् यशः, महत् शास्त्रश्रवणं वा **सन**[2] संभजस्व । [षण सम्भक्तौ, लोटि मध्यमैकवचने रूपम् । संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः । अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः ।] **जेषि च** संसारसमराङ्गणे विजयस्व च । **अथ** तदनन्तरं च **नः** अस्मानपि **वस्यसः** वसीयसः, अतिशयेन वसुमतः **कृधि** कुरु । [संहितायाम् 'कः करत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः । अ० ८।३।५० इत्यनेन विसर्जनीयस्य सकारादेशः] ।।१।।

भावार्थः– यः स्वयं परमात्मोपासकः पुरुषार्थी गृहीतशास्त्रमर्यादो विजयशीलश्चास्ति स एवान्यान् प्रशस्तगुणकर्मवतः परमैश्वर्यशालिनः कर्तुं शक्नोति ।।१।।

प्रथम मन्त्र में सोम नाम से जीवात्मा को उद्बोधन है ।

पदार्थ– हे **पवमान** गतिशील, कर्मशूर, पवित्रतादायक **सोम** ऐश्वर्यवान्, शुभगुणकर्मों के प्रेरक जीवात्मन् ! तू **महि श्रवः** महान् यश व महान् शास्त्रश्रवण को **सन** प्राप्त कर, **जेषि च** और संसार के समरांगण में विजयलाभ कर । **अथ** और उसके अनन्तर **नः** हमें भी **वस्यसः** अतिशय ऐश्वर्यवान् **कृधि** कर।।१।।

भावार्थ– जो स्वयं परमात्मा का उपासक, पुरुषार्थी, शास्त्र की मर्यादा को सीखा हुआ और विजयशील है वही दूसरों को प्रशस्त गुण- कर्मों वाला परमैश्वर्यशाली बना सकता है ।।१।।

अथ पुनरपि जीवात्मा समुद्बोध्यते ।।

२ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २
१०४८. सना ज्योतिः सना स्वा३र्विश्वा च सोम सौभगा ।
१ २ ३ १ २
अथा नो वस्यसस्कृधि ।।२।।[3]

१२र १२र १२र १२ १ २र ३ १२र ३ १२र ३ १ २र ३
सन ज्योतिः सन स्वः। विश्वा च सोम सौभगा सौ भगा। अथ नः वस्यसः कृधि।।२।।

---

१. ऋ० ९।४।१ ।

२. सनाशब्दः सदावाची । सदाजेषि च शत्रून्-इति वि० । सायणमते तु 'सना' इति क्रियापदम् द्व्यचोऽतस्तिङः (६।३।१३५) इति दीर्घः । विवरणकारमते तु 'सना' सदार्थमव्ययमिति 'निपातस्य च' (६।३।१३६) इति दीर्घः-इति सामश्रमी ।

३. ऋ० ९।४।२।

पदार्थः— हे **सोम** अग्रगामिन् जीवात्मन् ! त्वम् **ज्योतिः** दिव्यं प्रकाशं **सन** संभजस्व, **स्वः** ब्रह्मानन्दं च **सन** संभजस्व, **विश्वा च** विश्वानि च **सौभगा** सौभगानि सौभाग्यानि **सन** संभजस्व । **अथ** तदनन्तरं च **नः** अस्मानपि **वस्यसः** वसीयसः, अतिशयेन वसुमतः **कृधि** कुरु ॥२॥

भावार्थः— जीवात्मना सर्वोत्कृष्टो मानवदेहः सर्वविधोन्नतिकरणाय प्राप्तोऽस्ति। अतस्तेनाध्यात्मिकेषु भौतिकेषु च सर्वेष्वेव क्षेत्रेषूत्कर्षः सम्पादनीयः ॥२॥

आगे पुनः जीवात्मा को उद्‌बोधन है ।

पदार्थ— हे **सोम** अग्रेगामी जीवात्मन् ! तू **ज्योतिः** दिव्य प्रकाश को **सन** प्राप्त कर, **स्वः** ब्रह्मानन्द को **सन** प्राप्त कर, **विश्वा च** और सब **सौभगा** सौभाग्यों को **सन** प्राप्त कर । **अथ** और उसके अनन्तर **नः** हमें भी **वस्यसः** अतिशय ऐश्वर्यवान् **कृधि** कर ॥२॥

भावार्थ— जीवात्मा ने सबसे उत्कृष्ट मानव-शरीर सब प्रकार की उन्नति करने के लिए प्राप्त किया है। इसलिए उसे चाहिए कि आध्यात्मिक और भौतिक सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष प्राप्त करे ॥२॥

अथ पुनर्जीवात्मन एव विषय उच्यते ।

२ ३ १ २ ३ २ड ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ १
१०४९. सना दक्षमुत क्रतुमप सोम मृधो जहि । अथा नो वस्यसस्कृधि ॥३॥[1]

१ २र १ २र ३ २ १ २र १ २र ३ १ २र ३ १ २र ३ १ २र ३
सन दक्षम् उत क्रतुम् । अप सोम मृधः जहि । अथ नः वस्यसः कृधि ॥३॥

पदार्थः— हे **सोम** ऐश्वर्योत्पादनसमर्थ जीवात्मन्! त्वम् **दक्षम्** बलम् **उत** अपि च **क्रतुम्** कर्म प्रज्ञानं च **सन** संभजस्व । **मृधः** संग्रामकारिणः हिंसकान् कामक्रोधादीन् आन्तरान् बाह्यांश्च शत्रून् **अप जहि** विनाशय । **अथ** एवं स्वोत्कर्षसम्पादनानन्तरम् **नः** अस्मानपि **वस्यसः** अतिशयेन वसुमतः **कृधि** कुरु ॥३॥

भावार्थः— मनुष्यः स्वयं बलं कर्म प्रज्ञानं सर्वमप्यैश्वर्यं सञ्चित्य विघ्नकारिणश्च पराजित्य सर्वाग्रणी-र्भूत्वाऽन्यानप्युपकुर्यात् ॥३॥

अगले मन्त्र में फिर जीवात्मा का ही विषय है ।

पदार्थ— हे **सोम** ऐश्वर्य उत्पन्न करने में समर्थ जीवात्मन् ! तू **दक्षम्** बल को **उत** और **क्रतुम्** कर्म तथा प्रज्ञान को **सन** प्राप्त कर । **मृधः** संग्रामकारी हिंसक काम-क्रोध आदि आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं को **अप जहि** विनष्ट कर । **अथ** इस प्रकार अपना उत्कर्ष करने के अनन्तर **नः** हमें भी **वस्यसः** अतिशय ऐश्वर्यवान् **कृधि** कर ॥३॥

भावार्थ— मनुष्य को चाहिए कि स्वयं बल, कर्म, प्रज्ञान, सारे ही ऐश्वर्य को संचित करके तथा विघ्नकारियों को पराजित करके, सबका अगुआ बनकर दूसरों का भी उपकार करे ॥३॥

अथ मनुष्यान् प्रेरयति ।

१ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१०५०. पवीतारः पुनीतन सोममिन्द्राय पातवे । अथा नो वस्यसस्कृधि ॥४॥[2]

१ २र ३ १ २ ३ २ ३ १२र १ २र १२र १ २र ३ १ २र ३
पवीतारः पुनीतन पुनीत न । सोमम् इन्द्राय पातवे । अथ नः वस्यसः कृधि ॥४॥

---

१. ऋ० ९।४।३ ।

२. ऋ० ९।४।४ ।

पदार्थः— हे **पवीतारः** शोधनकर्मणि संलग्नाः जनाः ! यूयम् **इन्द्राय पातवे** जीवात्मनः पानाय **सोमम्** ज्ञानकर्मोपा स नारसम् **पुनीतन** पवित्रयत । [पूङ् पवने, क्र्यादिः; लोण्मध्यमबहुवचने 'तप्तनप्तनथनाश्च । अ० ७।१।४५ इत्यनेन तस्य तनादेशः।] **अथ** तदनन्तरम्, हे पवित्रज्ञानकर्मोपासन मानव ! त्वम् **नः** अस्मानपि **वस्यसः** अतिशयेन वसुमतः **कृधि** कुरु ॥४॥

भावार्थः— येषां ज्ञानं च कर्म चौपासनं च पवित्रं भवति तेषां संगत्याऽन्येऽपि पवित्रान्तःकरणा ऐश्वर्यवन्तश्च जायन्ते ॥४॥

अब मनुष्यों को प्रेरित करते हैं।

पदार्थ— हे **पवीतारः** पवित्रता के कार्य में संलग्न मनुष्यो ! तुम **इन्द्राय पातवे** जीवात्मा के पान के लिए **सोमम्** ज्ञान, कर्म, उपासना के रस को **पुनीतन** पवित्र करो । **अथ** और उसके अनन्तर, हे पवित्र ज्ञान, कर्म, उपासना वाले मानव ! तू **नः** हमें भी **वस्यसः** अतिशय ऐश्वर्यवान् **कृधि** कर ॥४॥

भावार्थ— जिनके ज्ञान, कर्म और उपासना पवित्र होते हैं उनकी संगति से दूसरे लोग भी पवित्र अन्तःकरण वाले तथा ऐश्वर्यवान् हो जाते हैं॥४॥

अथ परमात्मानं राजानं च प्रार्थयते ।

१र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
१०५१. त्वं सूर्ये न आ भज तव क्रत्वा तवोतिभिः । अथा नो वस्यसस्कृधि ॥५॥[1]

२ १२र ३ २ ३ १२र १ २र १२र ३ १ २ १२र ३ १ २र ३
त्वम् सूर्ये नः आ भज । तव क्रत्वा तव ऊतिभिः । अथ नः वस्यसः कृधि ॥५॥

पदार्थः— हे सोम जगत्स्रष्टः परमात्मन् राष्ट्रस्रष्टः राजन् वा! त्वम् **तव क्रत्वा** त्वदीयेन कर्मणा प्रज्ञानेन वा, **तव ऊतिभिः** त्वदीयाभिः रक्षाभिश्च **सूर्ये** सूर्यलोके इव प्रकाशमये सर्वोन्नतियुक्ते राष्ट्रे **नः** अस्मान् **आ भज** भागिनः कुरु । **अथ** तदनन्तरं च **नः** अस्मान् **वस्यसः** अतिशयेन वसुमतः **कृधि** कुरु ॥५॥

भावार्थः— यदि परमात्मनः कृपा नृपतेरुद्योगः प्रजाजनानां पुरुषार्थश्च स्यात् तर्हि राष्ट्रे सूर्यसम उन्नति-प्रकाशः सर्वत्र प्रसरेत् ॥५॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे सोम अर्थात् जगत्स्रष्टा परमात्मन् वा राष्ट्र के स्रष्टा राजन् ! आप **तव क्रत्वा** अपने कर्म वा प्रकृष्ट ज्ञान से, **तव ऊतिभिः** और अपनी रक्षाओं से **सूर्ये** सूर्यलोक के समान प्रकाशमय एवं सब उन्नतियों से युक्त राष्ट्र में **नः** हमें **आ भज** भागी बनाओ । **अथ** और उसके अनन्तर **नः** हमें **वस्यसः** अतिशय ऐश्वर्यवान् **कृधि** करो ॥५॥

भावार्थ— यदि परमात्मा की कृपा, राजा का उद्योग, और प्रजाजनों का पुरुषार्थ हो तो राष्ट्र में सूर्य के समान उन्नति का प्रकाश सर्वत्र फैल जाए ॥५॥

अथ पुनस्तमेव विषयं प्राह ।

२ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
१०५२. तव क्रत्वा तवोतिभिर्ज्योक् पश्येम सूर्यम् । अथा नो वस्यसस्कृधि ॥६॥[2]

१२र १ २र १२र ३ १ २ ३ १२र १२र ३ १ २र ३
तव क्रत्वा तव ऊतिभिः । ज्योक् पश्येम सूर्यम् । अथ नः वस्यसः कृधि ॥६॥

---

१. ऋ० ९।४।५ ।
२. ऋ० ९।४।६ ।

पदार्थः— हे पवमान पवित्रताकारक सोम शुभगुणकर्मप्रेरक परमात्मन् राजन् वा ! **तव क्रत्वा** त्वदीयेन कर्मणा प्रज्ञानेन वा **तव ऊतिभिः** तव रक्षाभिश्च, वयम् **ज्योक्** चिरकालं यावत् **सूर्यम्** आदित्यम् **पश्येम** अवलोकयेम, दीर्घजीविनो भवेमेत्यर्थः । **अथ** अपि च **नः** अस्मान् **वस्यसः** अतिशयेन वसुमतः **कृधि** कुरु ॥६॥

भावार्थः— परमात्मनो नृपतेश्च रक्षां प्रेरणां च प्राप्य विज्ञानवन्तः कर्मवन्तश्च भूत्वा प्रजाजनाः पुरुषायुषजीविनो जायन्ते ॥६॥

आगे पुनः उसी विषय का कथन है ।

पदार्थ— हे पवमान सोम अर्थात् पवित्रताकारक शुभ गुणकर्मों के प्रेरक परमात्मन् वा राजन् ! **तव क्रत्वा** आपके कर्म वा प्रकृष्ट ज्ञान से, **तव ऊतिभिः** और आपकी रक्षाओं से, हम **ज्योक्** चिरकाल तक **सूर्यम्** सूर्य को **पश्येम** देखते रहें, अर्थात् दीर्घजीवी होवें । **अथ** और **नः** हमें, आप **वस्यसः** अतिशय ऐश्वर्यवान् **कृधि** करो ॥६॥

भावार्थ— परमात्मा और राजा की रक्षा तथा प्रेरणा प्राप्त करके विज्ञानयुक्त एवं कर्मण्य होकर प्रजाजन पुरुष की पूर्ण आयु जीने वाले हो जाते हैं॥६॥

अथ पुनरपि परमात्मानं राजानं च प्रार्थयते ।

१०५३. अभ्यर्ष स्वायुध सोम द्विबर्हसं रयिम् । अथा नो वस्यसस्कृधि ॥७॥[1]

अभि अर्ष स्वायुध सु आयुध । सोम द्विबर्हसम् द्वि बर्हसम् रयिम् ।
अथ नः वस्यसः कृधि ॥७॥

पदार्थः— हे **स्वायुध सोम** शस्त्रधर इव शासनसमर्थ परमात्मन्, उत्कृष्टशस्त्रास्त्रसम्पन्न राजन् वा ! त्वम् **द्विबर्हसम्** द्वयोः व्यवहारपरमार्थयोर्वर्धकम्[2] **रयिम्** ऐश्वर्यम् **अभ्यर्ष** प्रापय । **अथ** एवं च **नः** अस्मान् **वस्यसः** अतिशयेन वसुमतः **कृधि** कुरु ॥७॥

भावार्थः— भौतिकमाध्यात्मिकं चोभयविधं धनं मनुष्यस्याभ्युदयाय निःश्रेयसाय चालं भवति ॥७॥

आगे फिर परमात्मा और राजा से प्रार्थना है ।

पदार्थ— हे **स्वायुध सोम** शस्त्रधारी के समान शासन करने में समर्थ परमात्मन् और उत्कृष्ट शस्त्रास्त्रों से युक्त राजन् ! आप **द्विबर्हसम्** व्यवहार और परमार्थ दोनों को बढ़ाने वाले **रयिम्** ऐश्वर्य को **अभ्यर्ष** प्राप्त कराइये । **अथ** इस प्रकार **नः** हमें **वस्यसः** अतिशय ऐश्वर्यवान् **कृधि** कर दीजिए ॥७॥

भावार्थ— भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार का धन मनुष्य के अभ्युदय और निःश्रेयस के लिए समर्थ होता है ॥७॥

---

१. ऋ० ९।४।७।

२. द्विबर्हाः द्वयोर्व्यवहारपरमार्थयोर्वर्धकः-इति ऋ० १।११४।१० भाष्ये द० ।

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

१०५४. अभ्या३र्षानपच्युतो वाजिन्त्समत्सु सासहिः । अथा नो वस्यसस्कृधि ॥८॥[1]

अभि अर्ष अनपच्युतः अन् अपच्युतः । वाजिन् समत्सु स मत्सु सासहिः ।
अथ नः वस्यसः कृधि ॥८॥

पदार्थः— हे **वाजिन्** बलवन् वीर परमात्मन् राजन् वा! **अनपच्युतः** अप्रतिस्खलितः, अविचलितः, **समत्सु सासहिः** देवासुरसंग्रामेषु शत्रूणां पराजेता त्वम् **अभ्यर्ष** क्रियाशीलो भव । **अथ** एवं च **नः** अस्मान् **वस्यसः** अतिशयेन वसुमतः **कृधि** कुरु ॥८॥

भावार्थः— परमात्मानमुपास्य राजानं चोद्बोध्य सर्वानान्तरान् बाह्यांश्च सपत्नानुच्छिद्य जना विजयिनो वसुमन्तः सुखिनश्च भवन्तु ॥८॥

अगले मन्त्र में पुनः वही विषय है ।

पदार्थ— हे **वाजिन्** बलवान् सोम अर्थात् वीर परमात्मन् वा राजन् ! **अनपच्युतः** विचलति न होने वाले, **समत्सु सासहिः** देवासुरसंग्रामों में शत्रुओं का पराजय करने वाले आप **अभ्यर्ष** क्रियाशील होवो । **अथ** और इस प्रकार **नः** हमें **वस्यसः** अतिशय ऐश्वर्यवान् **कृधि** करो ॥८॥

भावार्थ— परमात्मा की उपासना करके और राजा को उद्बोधन देकर सब आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं का उच्छेद करके लोग विजयी, ऐश्वर्यवान् तथा सुखी होवें ॥८॥

अथ पुनः स एव विषय उच्यते ।

१०५५. त्वां यज्ञैरवीवृधन् पवमान विधर्मणि । अथा नो वस्यसस्कृधि ॥९॥[2]

त्वाम् यज्ञैः अवीवृधन् । पवमान विधर्मणि वि धर्मणि । अथ नः वस्यसः कृधि ॥९॥

पदार्थः— हे **पवमान** जनमानसाय पवित्रतादायक क्रियाशील परमात्मन् राजन् वा! **विधर्मणि** विशेष धर्मयुक्ते अन्तरात्मनि राष्ट्रे वा **त्वाम्** परमात्मानं राजानं वा **यज्ञैः** उपासनायज्ञैः राष्ट्रयज्ञैर्वा, प्रजाः **अवीवृधन्** वर्धयन्ति । **अथ** अतः **नः** अस्मान् **वस्यसः** अतिशयेन वसुमतः **कृधि** कुरु ॥९॥

भावार्थः— परमेश्वरमुपासनयाऽन्तरात्मनि संवर्ध्य राजानं च राष्ट्रसेवारूपैर्यज्ञै राष्ट्रे संवर्ध्य ताभ्यां प्राप्तैर्यशोभिर्वसुभिश्च जना यशस्विनो वसुमन्तश्च जायन्ताम् ॥९॥

आगे पुनः वही विषय है ।

पदार्थ— हे **पवमान** जन-मानस को पवित्रता देने वाले, क्रियाशील परमात्मन् वा राजन् **विधर्मणि** विशेष-धर्म-युक्त अन्तरात्मा में वा राष्ट्र में **त्वाम्** आप परमात्मा वा राजा को **यज्ञैः** उपासनायज्ञों वा राष्ट्रयज्ञों से प्रजाएं **अवीवृधन्** बढ़ाती हैं । **अथ** अतः, आप **नः** हमें **वस्यसः** अतिशय ऐश्वर्यवान् **कृधि** कर दीजिए ॥९॥

---

१. ऋ० ९।४।८, 'रयिं समत्सु सासहिः' इति द्वितीयः पादः ।
२. ऋ० ९।४।९ ।

भावार्थ– परमेश्वर को उपासना द्वारा अन्तरात्मा में बढ़ाकर और राजा को राष्ट्रसेवा रूप यज्ञों से राष्ट्र में बढ़ाकर उनकी सहायता से प्राप्त कीर्तियों तथा ऐश्वर्यों से प्रजाजन यशस्वी और ऐश्वर्यवान् होवें ।।९।।

अथ पुनरपि परमात्मनृपत्योरेव विषयं प्राह ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१०५६. रयिं नश्चित्रमश्विनमिन्दो विश्वायुमा भर।
१ २ ३ १ २
अथा नो वस्यसस्कृधि।।१०।।[1]

३ २ ३ २ ३ १ २ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
रयिम् नः चित्रम् अश्विनम्। इन्दो विश्वायुम् विश्व आयुम् आ भर।
१ २र ३ १ २र ३
अथ नः वस्यसः कृधि ।।१०।।

पदार्थः– हे **इन्दो** चन्द्रवदाह्लादक परमैश्वर्यशालिन् जगदीश्वर नृपते वा! त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **चित्रम्** अद्भुतम्, चित्रविचित्रम्, **अश्विनम्** आशुगामिनम्, **विश्वायुम्** पूर्णायुष्करम् यद्वा विश्वजनहितकरम् । [आयुष् शब्दवदुकारान्तोऽप्यायुर्वाचक आयुशब्दोऽस्ति । 'आयु' इति मनुष्यनामसु च पठितम् निघं० २।३ ।] **रयिम्** धनम् आ भर आहर । **अथ** एवम् **नः** अस्मान् वस्यसः अतिशयेन वसुमतः **कृधि** कुरु ।।१०।।

भावार्थः– तदेव धनं वस्तुतो धनं भवति येन पूर्णमायुर्विश्वेषां मनुष्याणां हितं च साध्यते, यत्तु विलासे संलिप्यायुःक्षयकरं दीनजनविद्वेषकरं च तद्धनं धनं न किन्तु मृत्युरेव ।।१०।।

आगे पुनः परमात्मा और राजा का ही विषय कहा गया है ।

पदार्थ– हे **इन्दो** चन्द्रमा के समान आह्लाददायक परमैश्वर्यशालिन् जगदीश्वर वा राजन्! आप **नः** हमारे लिए **चित्रम्** अद्भुत, चित्र-विचित्र **अश्विनम्** शीघ्रगामी, **विश्वायुम्** पूर्ण आयु देने वाला अथवा सब मनुष्यों का हित करने वाला **रयिम्** धन **आ भर** प्राप्त कराओ । **अथ** इस प्रकार **नः** हमें **वस्यसः** अतिशय ऐश्वर्यवान् **कृधि** करो ।।१०।।

भावार्थ– वही धन वास्तव में धन होता है, जिससे पूर्ण आयु और सब मनुष्यों का हित सिद्ध हो । जो विलास में लिप्त करके आयु को क्षय करने वाला तथा दीनजनों से द्वेष करने वाला धन होता है वह धन नहीं, किन्तु मौत होती है ।।१०।।

।।५।। अथ 'तरत्स' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य चतुर्ऋचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अवत्सारः काश्यपः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५०० क्रमाङ्के ऐहिकपारलौकिकोत्कर्षविषये व्याख्याता । अत्र मोक्षप्राप्ति-विषयो वर्ण्यते ।

२३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१र २र २३ २ ३ १ २
१०५७. तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः। तरत्स मन्दी धावति ।।१।।[2]

१२र ३ २ ३ १२र ३१ २ १ २र १२र ३ २ ३
तरत् सः मन्दी धावति। धारा सुतस्य अन्धसः। तरत् सः मन्दी धावति ।।१।।

---

१. ऋ० ९।४।१० ।

२. ऋ० ९।५८।१, साम० ५०० ।

पदार्थः— **सः** असौ **मन्दी** स्तोता । [मन्दी मन्दतेः स्तुतिकर्मणः । निरु० ४।२३।] **सुतस्य** परमेश्वरस्य सकाशात् परिसुतस्य **अन्धसः** ब्रह्मानन्दरूपस्य सोमरसस्य **धारा** धारया **धावति** अन्तरात्मानं प्रक्षालयति । [धावु गतिशुद्धयोः, भ्वादिः ।] **तरत्** तरति च दुःखसागरम् । सत्यम् **मन्दीः सः** मुदितः असौ । [मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु, भ्वादिः ।] **धावति** लक्ष्यं प्रति वेगेन गच्छति, **तरत्** तरति च ब्रह्मानन्दसागरे । [यास्काचार्येण मन्त्रोऽयम् निरु० १३।६ इत्यत्र व्याख्यातः] ॥१॥

अत्र प्रथमचरणस्य तृतीयचरणे आवृत्तौ पादावृत्तियमकालङ्कारः॥१॥

भावार्थः— परमेश्वरस्य ध्याने ये मग्ना जायन्ते ते ततः स्रवन्त्याऽऽनन्दस्रोतस्विन्या धौता निर्मलात्मानः सन्तस्त्रिविधेभ्योऽपि दुःखेभ्यो निर्मुच्य मुक्ता जायन्ते ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ५०० क्रमांक पर ऐहिक एवं पारलौकिक उत्कर्ष के विषय में व्याख्यात हुई थी। यहां मोक्ष-प्राप्ति का विषय वर्णित किया जाता है ।

पदार्थः— **सः** वह **मन्दी** स्तुतिकर्ता मनुष्य **सुतस्य** परमेश्वर के पास से परिसुत होकर आये हुए **अन्धसः** ब्रह्मानन्दरूप सोमरस की **धारा** धारा से **धावति** अन्तरात्मा को धो लेता है, और **तरत्** दुःख सागर को तर जाता है । सचमुच, **मन्दी सः** मुदित हुआ वह **धावति** लक्ष्य के प्रति दौड़ लगाता है, और **तरत्** ब्रह्मानन्द-सागर में तैरता रहता है ॥१॥

यहां प्रथम चरण की तृतीय चरण में आवृत्ति होने पर पादावृत्ति यमक अलंकार है ॥१॥

भावार्थ— परमेश्वर के ध्यान में जो लोग मग्न हो जाते हैं वे उसके पास से बहती हुई आनन्द की तरंगिणी से धोये जाकर निर्मलात्मा होते हुए त्रिविध दुःखों से छूटकर मुक्त हो जाते हैं॥१॥

अथ ब्रह्मानन्दरसधारा किं करोतीत्याह ।

३ १ २३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २३ २ ३ १ २
१०५८. उस्रा वेद वसूनां मर्तस्य देव्यवसः । तरत्स मन्दी धावति ॥२॥[1]

३ २ ३ २ ३ १२र १२र ३ २ १२र १२र ३ २ ३
उस्रा उ स्रा वेद वसूनाम् । मर्तस्य देवी अवसः । तरत् सः मन्दी धावति ॥२॥

पदार्थः— **देवी** सत्यन्यायदयादिदिव्यगुणयुक्ता **उस्रा** ब्रह्मानन्दरूपस्य सोमरसस्य उत्स्राविणी धारा **मर्तस्य** मरणधर्मणो मानवस्य **वसूनाम्** ऐश्वर्याणाम् **अवसः** रक्षणस्य च । [वसूनि अवांसि च इति प्राप्ते द्वितीयार्थे षष्ठी ।] **वेद** दातुं जानाति। तया धारया **सः मन्दी** असौ स्तोता **धावति** स्वान्तरात्मानं शोधयति, **तरत्** तरति च जन्ममरणबन्धनं दुःखसमूहं च ॥२॥

भावार्थः— ब्रह्मानन्दरसधारया जना आध्यात्मिकमैश्वर्यं संकटेभ्यो रक्षां च प्राप्य सांसरिकं दुःखार्णवं तरन्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि ब्रह्मानन्द-रस की धारा क्या करती है ।

पदार्थ— **देवी** सत्य, न्याय, दया आदि दिव्य गुणों से युक्त, **उस्रा** ब्रह्मानन्दरूप सोमरस की परमेश्वररूप स्रोत से निकलती हुई धारा **मर्तस्य** मरणधर्मा मानव के **वसूनाम्** ऐश्वर्यों को **अवसः च** और रक्षा को **वेद** देना जानती है । उस धारा से **सः मन्दी** वह स्तोता **धावति** अपने अन्तरात्मा को धो लेता है, और **तरत्** जन्म-मरण के बन्धन से तथा दुःखसमूह से तर जाता है ॥२॥

---

१. ऋ० ९।५८।२।

भावार्थ– ब्रह्मानन्द-रस की धारा से लोग आध्यात्मिक ऐश्वर्य तथा संकटों से रक्षा पाकर सांसारिक दुःख-सागर को तर जाते हैं ।।२।।

अथ ध्वस्रपुरुषन्तिविशेषणाभ्यामात्ममनसोर्विषयमाह ।

१०५९. ध्वस्रयोः पुरुषन्त्योरा सहस्राणि दद्महे । तरत्स मन्दी धावति ।।३।।[1]

ध्वस्रयोः पुरुषन्त्योः पुरु सन्त्योः । आ सहस्राणि दद्महे ।
तरत् सः मन्दी धावति ।।३।।

पदार्थः– ब्रह्मानन्दरूपस्य सोमस्य धारया स्नाताः वयम् **ध्वस्रयोः**[2] दोषध्वंसकयोः **पुरुषन्त्योः**[3] बहुदानयोः आत्ममनसोः **सहस्राणि** अनेकसहस्रसंख्यकानि ऐश्वर्याणि **आ दद्महे** गृह्णीमहे, यतः **मन्दी** परमेश्वरस्य स्तोता **सः** आनन्दमग्नः जनः **धावति** स्वात्मानं प्रक्षालयति, **तरत्** दुःखजालं तरति च ।।३।।

भावार्थः– आत्ममनसी उद्बोध्य जनाः सहस्रतोऽप्यधिकान् लाभान् प्राप्तुं शक्नुवन्ति । अन्ते च ते परमात्ममग्नाः सन्तो मोक्षपदं लभन्ते ।।३।।

अत्र सायणाचार्यो 'ध्वस्रः, पुरुषन्तिः' इति राजविशेषयोर्नाम्नी मन्यते । तथा च तद्व्याख्यानम्– ["ध्वस्रयोः पुरुषन्त्योः । ध्वस्रः कश्चिद् राजा, पुरुषन्तिः कश्चित् । तयोरुभयोः । अत्र इतरेतरयोगविवक्षया द्विवचनं द्रष्टव्यम् । सहस्राणि, धनानां सहस्राणि, आदद्महे वयं प्रतिगृह्णीमः । तदस्माभिः प्रतिगृहीतं धनमुत्तममस्त्विति ऋषिः सोमं प्रार्थयते इति सोमस्य स्तुतिः"।] इति । तत्तु न समञ्जसम्, सृष्ट्यादौ प्रोक्तेषु वेदेषु पश्चाद्वर्तिन इतिहासस्यासम्भवात् ।।

अगले मन्त्र में ध्वस्र और पुरुषन्ति विशेषणों से आत्मा और मन के विषय में कहा गया है ।

पदार्थ– ब्रह्मानन्दरुप सोम की धारा से नहाए हुए हम **ध्वस्रयोः** दोषों का ध्वंस करने वाले, **पुरुषन्त्योः** बहुत से लाभों को देने वाले आत्मा और मन के **सहस्राणि** हजारों ऐश्वर्यों को **आदद्ध्महे** ग्रहण करते हैं, क्योंकि **मन्दी** परमेश्वर का स्तोता **सः** वह आनन्द-मग्न मनुष्य **धावति** स्वयं को धो लेता है, और **तरत्** दुःख-जाल को तर लेता है ।।३।।

भावार्थ– आत्मा और मन को उद्बोधन देकर लोग हजारों से भी अधिक लाभों को प्राप्त कर सकते हैं और अन्त में वे परमात्मा में मग्न होकर मोक्षपद पा लेते हैं ।।३।।

यहां सायणाचार्य 'ध्वस्र' और 'पुरुषन्ति' को किन्हीं विशेष राजाओं के नाम मानते हैं। तदनुसार उन्होंने इस मन्त्र का अर्थ करते हुए लिखा है कि 'ध्वस्र कोई एक राजा था, पुरुषन्ति कोई दूसरा । उन दोनों राजाओं के सहस्रों धन हम ले लें । वह हमारे द्वारा लिया हुआ धन उत्तम हो । इस प्रकार ऋषि सोम से प्रार्थना कर रहा है ।' सायण का यह लिखना संगत नहीं है, क्योंकि सृष्टि के आदि में प्रोक्त वेदों में परवर्ती इतिहास नहीं हो सकता ।।३।।

---

१. ऋ० ९।५८।३।

२. ध्वस्राः ध्वंसिकाः' इति ऋ० ४।१९।७ भाष्ये द०।

३. 'पुरुषन्तिम्' पुरूणां बहूनां सन्तिं विभाजितारम् इति ऋ० १।११२।२३ भाष्ये द०।

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

१०६०. आ ययोस्त्रिंशतं तना सहस्राणि च दद्महे । तरत्स मन्दी धावति ॥४॥[1]

आ ययोः त्रिंशतम् तना। सहस्राणि च दद्महे । तरत् सः मन्दी धावति ॥४॥

पदार्थः— ययोः ध्वंसयोः दोषध्वंसकयोः पुरुषन्त्योः बहुदानयोः आत्ममनसोः **त्रिंशतम्** त्रिंशत्संख्याकानि **सहस्राणि** बहुसहस्रणि **च तना** तनाभि विस्तृतानि ऐश्वर्याणि । [तना इति धननामसु पठितम् । निघं २।१० ।] वयम् **आदद्महे** गृह्णीमहे, तैः ऐश्वर्यैः **सः मन्दी** असौ स्तोता **धावति** स्वात्मानं प्रक्षालयति, **तरत्** तरति च शोकम्, मुक्तो भवतीत्यर्थः ।

आत्ममनसोः त्रिंशद् ऐश्वर्याणि तावदेवम्- ८ योगाङ्गानि, २ अभ्यासवैराग्ये, १. प्रणवजपः, १वशीकारः, १ अध्यात्मप्रसादः, ३ तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि, ४ वृत्तयः मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाः, ८अणिमाद्याः सिद्धयः, १ विवेकख्यातिः, १ कैवल्यम् । अनेकसहस्राण्यैश्वर्याणि तु एतेषामेव महिमानः। आत्ममनसोः शोधनेन यथोचितोपयोगेन चागणि- तान्यैश्वर्याणि लब्धुं शक्नोत्युपासक इति तात्पर्यम् ॥४॥

भावार्थः— केवलं भौतिकं धनमेव धनं नास्ति, प्रत्युत तदपेक्षया सुमहत्तरं धनमाध्यात्मिकं धनं विद्यते , यस्य प्राप्त्यै मनुष्यैर्यत्नो विधेयः ॥४॥

आगे पुनः आत्मा और मन का ही विषय वर्णित है ।

पदार्थ— ययोः दोषों का ध्वंस करने वाले और बहुत से लाभों को देने वाले जिन आत्मा और मन के **त्रिंशतम्** तीस और **सहस्राणि** हजारों **तना** विस्तीर्ण ऐश्वर्य, हम **आदद्महे** ग्रहण कर लेते हैं , उन ऐश्वर्यों से **स मन्दी** वह स्तोता **धावति** स्वयं को धो लेता है, और **तरत्** शोक को तर जाता है, अर्थात् मुक्ति पा लेता है ।।

आत्मा और मन के तीस ऐश्वर्य इस प्रकार हैं- ८ योगाङ्ग २ अभ्यास- वैराग्य, १ प्रणवजप, १वशीकार, १ अध्यात्मप्रसाद, ३ तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान, ४ वृत्तियां-मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा, ८ अणिमा आदि सिद्धियां, १ विवेकख्याति, १ कैवल्य । अनेक सहस्र ऐश्वर्य उन्हीं महिमारूप है। आत्मा और मन को शुद्ध करके तथा उनका यथोचित उपयोग करके उपासक अगणित ऐश्वर्य प्राप्त कर सकता है यह तात्पर्य है ॥४॥

भावार्थ— केवल भौतिक धन ही धन नहीं है, प्रत्युत उसकी अपेक्षा अधिक महान् धन आध्यात्मिक धन है, जिसे पाने के लिए मनुष्यों को यत्न करना चाहिए ॥४॥

॥६॥ अथ ' एते सोमा' इत्यादिकस्य षष्ठस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** जमदग्निर्भार्गवः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ गुरवो वर्ण्यन्ते ।

१०६१. एते सोमा असृक्षत गृणानाः शवसे महे। मदिन्तमस्य धारया ॥१॥[2]

एते सोमाः असृक्षत । गृणानाः शवसे महे । मदिन्तमस्य धारया ॥१॥

---

१. ऋ० ९।५८।४।

२. ऋ० ९।६२।२२, 'शवसे' इत्यत्र 'श्रवसे' ।

पदार्थः— **एते** इमे **गृणानाः** शास्त्राण्युपदिशन्तः **सोमाः** विद्यारसागाराः गुरवः **महे शवसे** महते बलाय **मदिन्तमस्य** आनन्दयितृतमस्य ज्ञानस्य **धारया** प्रवाहसन्तत्या **असृक्षत** विद्यादानं कुर्वन्ति ।।१।।

भावार्थः— योग्येभ्यो गुरुभ्यो गृहीता विद्या शिष्याणां कीर्तिकरी जायते ।।१।।

प्रथम मन्त्र में गुरुओं का वर्णन है ।

पदार्थ— **एते** ये **गृणानाः** शास्त्रों का उपदेश करते हुए **सोमाः** विद्यारस के भण्डार गुरुजन **महे शवसे** महान् बल के लिए **मदिन्तमस्य** अत्यधिक आनन्ददायक ज्ञान की **धारया** धारा के साथ **असृक्षत** विद्यादान कर रहे हैं।।१।।

भावार्थ— योग्य गुरुओं से ग्रहण की गयी विद्या शिष्यों की कीर्ति करने वाली होती है ।।१।।

अथ छात्रा आचार्यं ब्रुवन्ति ।

१०६२. अभि गव्यानि वीतय नृम्णा पुनानो अर्षसि । सनद्वाजः परि स्रव ।।२।।[1]

अभि गव्यानि वीतये। नृम्णा पुनानो अर्षसि । सनद्वाजः सनद् वाजः परि स्रव ।।२।।

पदार्थः— हे सोम विद्यारसागार आचार्य! **वीतये** शिष्याणामस्माकं प्रगतये **गव्यानि** इन्द्रियसंबन्धीनि **नृम्णा** नृम्णानि बलानि **पुनानः** पवित्रीकुर्वन् त्वम् **अभि अर्षसि** अस्मान् प्रति आगच्छसि । स त्वम् **सनद्वाजः** अन्नधनादिकं प्रयच्छन् **परिस्रव** प्रवहस्व, विद्यामध्यापयेत्यर्थः ।।२।।

भावार्थः— कुलपतय आचार्याश्छात्राणां चरित्राणि पुनन्तस्तेभ्योऽन्नवस्त्रबलादिकं सर्वं प्रयच्छन्तोऽगाधां विद्यां तानध्यापयेयुः ।।२।।

अगले मन्त्र में छात्र आचार्य को कह रहे हैं।

पदार्थ— हे सोम अर्थात् विद्यारस के भण्डार आचार्य ! **वीतये** हम शिष्यों की प्रगति के लिए **गव्यानि** इन्द्रियों के **नृम्णा** बलों को **पुनानः** पवित्र करते हुए, आप **अभि अर्षसि** हमारे प्रति आते हो । वे आप **सनद्वाजः** अन्न, धन आदि देते हुए **परि स्रव** बहो, अर्थात् हमें विद्या पढ़ाओ ।।२।।

भावार्थ— कुलपति आचार्य छात्रों के चरित्रों को पवित्र करते हुए, उन्हें अन्न-वस्त्र-बल आदि प्रदान करते हुए अगाध विद्या पढ़ाएं ।।२।।

अथ पुनः स एव विषय उच्यते ।

१०६३. उत नो गोमतीरिषो विश्वा अर्ष परिष्टुभः । गृणानो जमदग्निना ।।३।।[2]

उत नः गोमतीः इषः । विश्वाः अर्ष परिष्टुभः परि स्तुभः ।
गृणानः जमदग्निना जमत् अग्निना ।।३।।

पदार्थः— **उत** अपि च, हे सोम विद्वन् आचार्य ! **जमदग्निना** समित्पाणिना प्रज्वलिताग्निना शिष्यगणेन **गृणानः** स्तूयमानः त्वम् **नः** शिष्येभ्योऽस्मभ्यम् **गोमतीः** वेदवाग्युक्ताः **परिष्टुभः** आश्रयप्रदायिनी **विश्वाः** सर्वाः **इषः** अभीष्टाः अपरापराख्याः विद्याः **अर्ष** प्रयच्छ, अध्यापय ।।३।।

---

१. ऋ० ९।६२।२३ ।
२. ऋ० ९।६२।२४ ।

भावार्थः— आचार्यं सम्यक् सत्कृत्य तत्सकाशादध्यात्मविज्ञानानि भौतिकविज्ञानानि चापि सम्पूर्ण-निष्ठया गृहीत्वा विद्वांसो भूत्वा शिष्याः समाजे ज्ञानं विस्तारयेयुः ॥३॥

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ— **उत** और हे सोम अर्थात् विद्वन् आचार्य ! **जमदग्निना** समित्पाणि अग्निहोत्री शिष्यवर्ग से **गृणानः** स्तुति किये जाते हुए आप **नः** हम शिष्यों को **गोमतीः** वेदवाणी से युक्त, **परिष्टुभः** सहारा देने वाली **विश्वाः** सब **इषः** अभीष्ट अपरा तथा परा नामक विद्याएं **अर्ष** प्रदान करो, पढ़ाओ ॥३॥

भावार्थ— आचार्य का भली-भांति सत्कार करके, उसके पास से अध्यात्म विज्ञान और भौतिक विज्ञान सम्पूर्ण निष्ठा के साथ ग्रहण करके, विद्वान् होकर शिष्य समाज में ज्ञान का विस्तार करें ॥३॥

॥७॥ अथ 'इमं स्तोम' इत्यादिकस्य सप्तमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** कुत्स आङ्गिरसः । **देवता** अग्निः। **छन्दः** जगती । **स्वरः** निषादः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ६६ क्रमाङ्के परमेश्वरस्तुतिविषये व्याख्याता । अत्राचार्यशिष्यविषयो वर्ण्यते।

१०६४. इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया ।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥१॥[1]

इमम् स्तोमम् अर्हते जातवेदसे जात वेदसे । रथम् इव सम् महेम मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिः प्र मतिः अस्य संसदि सम् सदि।
अग्ने सख्ये स ख्ये मा रिषाम वयम् तव ॥१॥

पदार्थः— वयम् **अर्हते** सुयोग्याय **जातवेदसे** विदुषे आचार्याय **मनीषया** मनोयोगेन सह **इमं स्तोमम्** एतत् श्रद्धास्तोत्रम् **सं महेम** सम्यक् प्रापयेम, **रथम् इव** यथा रथम् अन्यत्र प्रापयन्ति तद्वत् । यथा कञ्चित् पूज्यं जनं स्वगृहमानेतुं तस्मै शोभनो रथः प्रेष्यते, तथैवाचार्यमनुकूलयितुं तं प्रति श्रद्धावचांसि प्रेरयेमेति भावः । **अस्य** विदुषः आचार्यस्य **संसदि** संगतौ **नः** अस्मान् **भद्रा हि** कल्याणकरी खलु **प्रमतिः** प्रकृष्टा विद्या प्राप्नोति । हे **अग्ने** विद्याविनयादिप्रकाशक आचार्य ! **तव सख्ये** त्वदीये साहचर्ये **वयम्** शिष्याः **मा रिषाम** अज्ञानकदा चारादिकृतां क्षतिं न प्राप्नुयाम ॥१॥[2]

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— विद्वांसं सदाचारिणं शिक्षणकलाकुशलमाचार्यं वृत्वा तत्संगतौ गुरुकुले निवसन्तो विनीता-श्छात्राः सुयोग्या निर्दोषाश्च जायन्ते ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ६६ क्रमांक पर परमेश्वरस्तुति के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां आचार्य और शिष्य का विषय वर्णित है ।

---

१. ऋ० १।९४।१, अथ० २०।१३।३, साम० ६६।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं ।वेद्वत्पक्षे भौतिकाग्निपक्षे च व्याचष्टे ।

पदार्थ– हम **अर्हते** सुयोग्य **जातवेदसे** विद्वान् आचार्य के लिए **मनीषया** मनोयोग के साथ **इमं स्तोमम्** इस श्रद्धा-स्तोत्र को **सं महेम** भली-भांति पहुंचाएं, **रथम् इव** जैसे रथ को अन्यत्र पहुंचाते हैं। अभिप्राय यह है कि जैसे किसी पूज्य जन को अपने घर लाने के निमित्त उसके लिए सुन्दर रथ भेजते हैं, ऐसे ही आचार्य को अपने प्रति अनुकूल करने के लिए उसके प्रति श्रद्धा-वचन प्रेरित करें। **अस्य** इस विद्वान् आचार्य की **संसदि** संगति में **नः** हमें **भद्रा हि** कल्याणकारी ही **प्रमतिः** श्रेष्ठ विद्या प्राप्त होती है। हे **अग्ने** विद्या, विनय आदि के प्रकाशक आचार्य ! **तव सख्ये** आपके साहचर्य में **वयम्** हम शिष्य **मा रिषाम** अज्ञान, दुराचार आदि से उत्पन्न होने वाली क्षति को न प्राप्त करें ॥१॥

यहां उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ– विद्वान्, सदाचारी शिक्षणकला में कुशल आचार्य को वर कर उसकी संगति में गुरुकुल में निवास करते हुए विनीत छात्र सुयोग्य और निर्दोष बनते हैं॥१॥

अथ पुनरप्याचार्यशिष्यविषयो वर्ण्यते ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१०६५. **भरामेध्मं कृणवामा हवींषि ते चितयन्तः पर्वणापर्वणा वयम् ।**

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १र २र
जीवातवे प्रतरां साधया धियोऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥२॥[1]

१ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १२र १ २र ३ २
भराम इध्मम् कृणवाम हवींषि ते । चितयन्तः पर्वणापर्वणा पर्वणा पर्वणा वयम् ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २र १ २र ३ २ ३ २ ३ २ १ २र
जीवातवे प्रतराम् साधय धियः । अग्ने सख्ये स ख्ये मा रिषाम वयम् तव ॥२॥

पदार्थः– हे आचार्यप्रवर! **वयम्** त्वच्छिष्या वयम् **इध्मम्** समिधम् **भराम** हराम, आहरेम। [हृञ् हरणे धातोर्लेट् ।] समित्पाणयो भूत्वा त्वदन्तिकमागच्छेम इत्यर्थः। **ते** तुभ्यम् **हवींषि** समर्पणानि **कृणवाम** कुर्याम। ततश्च **पर्वणा पर्वणा** खण्डशः खण्डशः **चितयन्तः** पूर्णज्ञानवन्तः भवेम। त्वम् **जीवातवे** जीवनाय **प्रतराम्** अत्यन्तम् **धियः** अस्माकं बुद्धीः **साधय** परिष्कुरु। हे **अग्ने** ज्ञानवन् आचार्य! **वयम्** शिष्याः **तव सख्ये** त्वदीये साहचर्ये **मा रिषाम** निन्दादिजनितां हिंसां न प्राप्नुयाम ॥२॥[2]

भावार्थः– आचार्यं प्रति ये सर्वथा समर्पिता जायन्ते त एव विद्वांसः सदाचारिणश्च भवन्ति। एकैकेन बिन्दुना यथा घटः प्रपूर्यते तथैव कणशः कणशो विद्यां गृहीत्वा पण्डिता जायन्ते ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः आचार्य और शिष्य का विषय वर्णित करते हैं।

पदार्थ– हे आचार्यप्रवर ! **वयम्** आपके शिष्य हम **इध्मम्** समिधा **भराम** लायें अर्थात् समित्पाणि होकर आपके समीप आयें। **ते** आपके लिए **हवींषि** समर्पण **कृणवाम** करें। और फिर **पर्वणा पर्वणा** एक-एक खण्ड करके **चितयन्तः** पूर्ण ज्ञानी हो जाएं। आप **जीवातवे** जीवन के लिए **प्रतराम्** अत्यन्त रूप से **धियः** हमारी बुद्धियों को **साधय** परिष्कृत कीजिए। हे **अग्ने** ज्ञानी आचार्य ! **वयम्** हम शिष्य **तव सख्ये** आपके साहचर्य में रहकर **मा रिषाम** निन्दा आदि से होने वाली हिंसा को न प्राप्त हों ॥२॥

भावार्थ– आचार्य के प्रति जो सर्वथा समर्पित हो जाते हैं वे ही विद्वान् और सदाचारी होते हैं। एक-एक बूंद से जैसे घड़ा भरता है वैसे ही कण-कण करके विद्या ग्रहण कर पण्डित बन जाते हैं॥२॥

---

१. ऋ० १।९४।४।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजप्रजाविषये व्याख्यातवान्।

अथ पुनरप्याचार्यशिष्ययोरेव विषयमाह ।

१०६६. शकेम त्वा समिधं साधया धियस्त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम् ।
त्वमादित्याँ आ वह तान् ह्युश्मस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥३॥[1]

शकेम त्वा समिधम् सम् इधम् साधय धियः ।
त्वेइति देवाः हविः अदन्ति आहुतम् आ हुतम् ।
त्वम् आदित्यान् आ दित्यान् आ वह तान् हि उश्मसि ।
अग्ने सख्ये स ख्ये मा रिषाम वयम् तव ॥३॥

पदार्थः— हे आचार्यप्रवर! वयं शिष्याः **त्वा** त्वाम् **समिधं शकेम** ज्ञानदानाय समिन्धितुं शक्नुयाम । [सं पूर्वाद् इन्धी दीप्तौ धातोः 'शकि णमुल्कमुलौ । अ० ३।४।१२ इत्यनेन तुमर्थे कमुल् प्रत्ययः । शक्लृ शक्तौ स्वादिः, विकरणव्यत्ययेन शप् ।] त्वम् **धियः** अस्माकं बुद्धीः **साधय** परिष्कुरु । **त्वे** त्वया । [युष्मच्छब्दात् तृतीयैकवचने 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इत्यनेन विभक्तेः शे आदेशः ।] **आहुतम्** प्रदत्तम् **हविः** आदातुं योग्यं ज्ञानम् **देवाः** प्रमुदिताः शिष्याः **अदन्ति** गृह्णन्ति । **त्वम्** आदित्यान् आदित्यब्रह्मचारिणः **आवह** समाजं प्रापय, **तान् हि** तान् खलु आदित्यान् आदित्यब्रह्मचारिणः वयम् **उश्मसि** कामयामहे । [वश कान्तौ, अदादिः । 'इदन्तो मसि । अ० ७।१।४६ ।] हे **अग्ने** विद्वन्, शिक्षणकलावित् आचार्य ! **वयम्** शिष्याः **तव सख्ये** त्वदीये साहचर्ये **मा रिषाम** कदापि दोषयुक्ता क्षतिग्रस्ता वा न भवेम ॥३॥[2]

भावार्थः— शिष्याणां समर्पणरूपया समिधा यदाऽऽचार्यः समिध्यते तदैव स शिष्यैः सहान्तरङ्गतां संस्थाप्य स्वार्जितां सर्वामपि विद्यां तेभ्यः प्रयच्छति तेषां चारित्रिकं विकासं चाप्यातनोति ॥३॥

अस्मिन् खण्डे जीवात्मोद्बोधनपुरस्सरं परमात्मजीवात्मब्रह्मानन्दमोक्षप्राप्तिवर्णनाद् आचार्यशिष्यविषय-वर्णनात् प्रसङ्गतो नृपतिविषयवर्णनाच्चैतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेदितव्या ॥

आगे फिर आचार्य और शिष्य का ही विषय कहा गया है ।

पदार्थ— हे आचार्यप्रवर! हम शिष्य **त्वा** आपको **समिधं शकेम** ज्ञान-दानार्थ प्रदीप्त कर सकें । आप **धियः** हमारी बुद्धियों को **साधय** परिष्कृत करो । **त्वे** आपसे **आहुतम्** दिये गये **हविः** ग्राह्य ज्ञान को **देवाः** प्रमुदित शिष्य **अदन्ति** ग्रहण करते हैं। आप **आदित्यान्** आदित्य ब्रह्मचारी **आवह** समाज को प्राप्त कराओ, **तान् हि** उन्हें हम **अश्मसि** चाह रहे हैं। हे **अग्ने** विद्वन्, शिक्षणकला के ज्ञाता आचार्य! **वयम्** हम शिष्य **तव सख्ये** आपके साहचर्य में **मा रिषाम** कभी दोषयुक्त वा क्षतिग्रस्त न हों ॥३॥

भावार्थः— शिष्यों की समर्पण-रूप समिधा से जब आचार्य प्रदीप्त हो जाता है तभी वह शिष्यों के साथ अन्तरंगता स्थापित करके अपनी कमायी हुई सब विद्या उन्हें दे देता है और उनका चारित्रिक विकास भी करता है ॥३॥

---

१. ऋ० १।९४।३ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजप्रजाविषये व्याख्यातवान् ।

इस खण्ड में जीवात्मा के उद्बोधनपूर्वक परमात्मा, जीवात्मा, ब्रह्मानन्द एवं मोक्षप्राप्ति का वर्णन, आचार्य-शिष्य विषय का वर्णन और प्रसंगतः राजा के विषय का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ।।

सप्तम अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ।

।।८।। अथ 'प्रति वां' इत्यादिकस्याष्टमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवता** आदित्याः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

अथ मित्रवरुणार्यम्णः स्तौति ।

१ २ ३ २३ १ २ ३१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१०६७. प्रति वां सूर उदिते मित्रं गृणीषे वरुणम् । अर्यमणं रिशादसम् ।।१।।[1]

१ २र ३ १२र १ २र ३ २ ३ २ ३ १२र
प्रति वाम् सूरे उदिते उत् इते । मित्रम् मि त्रम् गृणीषे वरुणम् ।
३ १ २ ३ १ २
अर्यमणम् रिशादसम् ।।१।।

पदार्थः— सूरे उदिते सूर्ये उदयं प्राप्ते सति, अहम् **वाम्** युवाम् **मित्रम्** सखायं जगदीश्वरम्, **वरुणम्** वरणीयं जीवात्मानं च, अपि च **रिशादसम्** दोषनाशकम्, [रिशान् हिंसकान् दोषान् दस्यति उपक्षयति यः स रिशादाः तम् ।] **अर्यमणम्** अरिनिग्रहीतारं प्राणं च **प्रतिगृणीषे** प्रत्येकशः गुणवर्णनेन स्तौमि । [गृणातेः स्तुतिकर्मणो लेटि उत्तमैकवचने रूपम्] ।।१।।

भावार्थः—प्रभातकाले मनुष्यैः स्वात्मोब्दोधनपुरस्सरं प्राणायामपूर्वकं च प्रत्यहं परमेश्वर उपासनीयः।।१।।

प्रथम मन्त्र में मित्र, वरुण, अर्यमा की स्तुति की गयी है ।

पदार्थ— सूरे उदिते सूर्य के उदय होने पर मैं **वाम्** तुम दोनों **मित्रम्** मित्र जगदीश्वर और **वरुणम्** वरणीय जीवात्मा को, तथा **रिशादसम्** हिंसक दोषों के नाशक **अर्यमणम्** प्राण को **प्रति गृणीषे** एक-एक करके गुणवर्णनरूप स्तुति का विषय बनाता हूं ।।१।।

भावार्थ— प्रभातकाल में मनुष्यों को चाहिए कि अपने आत्मा को उद्बोधन देते हुए प्राणायामपूर्वक प्रतिदिन परमेश्वर की उपासना करें ।।१।।

अथ मित्रं जगदीश्वरं प्रार्थयते ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३१र २र ३ १ २
१०६८. राया हिरण्यया मतिरियमवृकाय शवसे । इयं विप्रा मेधसातये ।।२।।[2]

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ १२र
राया हिरण्यया मतिः । इयम् अवृकाय अ वृकाय शवसे ।
३ २ १ २र ३ १ २ ३ २ ३
इयम् विप्रा वि प्रा मेधसातये मेध सातये ।।२।।

---

१. ऋ० ७।६६।७ ।

२. ऋ० ७।६६।८ ।

पदार्थः— हे सर्वमित्र जगदीश्वर! **इयं मतिः** एषाऽस्माकं बुद्धिः स्तुतिर्वा **हिरण्यया राया** हिरण्यरूपेण धनेन सह । [हिरण्येन इति प्राप्ते 'सुपां सुलुक्० अ० ७।१।३९ इत्यनेन तृतीयैकवचनस्य याजादेशः ।] **अवृकाय** अखण्डिताय **शवसे** आत्मबलाय अस्तु। अपि च **विप्रा**[1] **इयम्** विशेषेण प्राति पूरयतीति तादृशी इयं मतिः बुद्धिः स्तुतिर्वा । [प्रा पूरणे अदादिः ।] **मेधसातये**[2] भवत्संगमप्राप्तये भवतु [मेधृ हिंसायां संगमे च।] ॥२॥

भावार्थः— स्वबुद्धिबलेन परमेशस्तुत्या च वयं रजतसुवर्णमणिमुक्तादिधनमपराजितं बलं परमात्मसंगमं च प्राप्नुयाम ॥२॥

अगले मन्त्र में मित्र जगदीश्वर से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे सर्वमित्र जगदीश्वर ! **इयं मतिः** यह हमारी बुद्धि वा स्तुति **हिरण्यया राया** सुवर्णरूप धन के साथ **अवृकाय** अखण्डित **शवसे** आत्मबल के लिए होवे । और **विप्रा इयम्** विशेष रूप से पूर्ण करने वाली यह बुद्धि वा स्तुति **मेधसातये** आपके साथ संगम की प्राप्ति के लिए हो ॥२॥

भावार्थ— अपने बुद्धि के बल से और परमेश्वर की स्तुति से हम चांदी, सोना, मणि, मोती आदि धन को, पराजित न होने वाले बल को और परमात्मा के साथ मिलाप को प्राप्त कर लें ॥२॥

अथ वरुणं मित्रं च प्रार्थयते ।

१०६९. ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभिः सह । इषं स्वश्च धीमहि ॥३॥[3]

ते स्याम देव वरुण । ते मित्र मि त्र सूरिभिः सह ।
इषम् स्वा३रिति च धीमहि ॥३॥

पदार्थः— हे **देव** प्रकाशक, ज्ञानवन् **वरुण** वरणीय जीवात्मन् ! वयम् **ते** तव **स्याम** भवेम, हे **मित्र** सखे परमात्मन् ! **सूरिभिः सह** विद्वद्भिः साकम्, वयम् **ते** तव **स्याम** भवेम । **इषम्** अभीष्टम् ऐश्वर्यम् **स्वः च** आनन्दं च **धीमहि** दधीमहि । [डुधाञ् धातोर्लिङि 'छन्दस्युभयथा' इत्यार्धधातुकत्वात् शबभावः ईत्वं च]॥३॥

भावार्थः— परमात्मजीवात्मनोः सख्यं प्राप्य सर्वे मनुष्या ज्ञानवन्तः प्रकाशवन्तः सानन्दा ऐश्वर्यवन्तः प्राप्तमोक्षाश्च भवेयुः ॥३॥

आगे वरुण और मित्र से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे **देव** प्रकाशक, ज्ञानी **वरुण** वरणीय जीवात्मन्! हम **ते** तेरे **स्याम** होवें । हे **मित्र** मित्र परमात्मन् ! **सूरिभिः सह** विद्वानों सहित, हम **ते** तेरे **स्याम** होवें । **इषम्** अभीष्ट ऐश्वर्य को **स्वः च** और आनन्द को **धीमहि** धारण करें ॥३॥

भावार्थ— परमात्मा और जीवात्मा की मित्रता प्राप्त करके सब मनुष्य ज्ञानवान्, प्रकाशवान्, आनन्दवान् और ऐश्वर्यवान् हों तथा मुक्ति को प्राप्त करें ॥३॥

---

१. सायणेन तु 'हे विप्राः प्राज्ञाः' इति सम्बुद्ध्यन्तं व्याख्यातम्, तत्तु चिन्त्यं पदपाठविरोधात् स्वरविरोधाच्च ।
२. विप्राः ऋत्विजः, मेधसातये मेधालाभार्थम्-इति वि० ।
३. ऋ० ७।६६।९।

॥९॥ अथ 'भिन्धि विश्वा' इत्यादिकस्य नवमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** त्रिशोकः काण्वः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १३४ क्रमाङ्के परमात्मानं राजानमाचार्यं च संबोधिता । अत्र स्वान्तरात्मा समुद्बोध्यते ।।

३ २ड ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
१०७०. **भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः ।**
१ २ ३१र २र
वसु स्पार्हं तदा भर ॥१॥[1]
३ २ १ २र १२र १ २र १ २र १ २र ३ २ १ २र १२र ३ २ ३
भिन्धि विश्वाः अप द्विषः । परि बाधः जहि मृधः । वसु स्पार्हम् तत् आ भर ॥१॥

पदार्थः— हे इन्द्र वीर मदीय अन्तरात्मन्! त्वम् **विश्वाः द्विषः** समस्ताः द्वेष्ट्रीः रिपुसेनाः **अपभिन्धि** अप विदारय, **बाधः** बाधकान् **मृधः** हिंसकान् **परि जहि** परितो विनाशय । यत् **स्पार्हम्** स्पृहणीयम् **वसु** दिव्यं भौतिकं च धनमस्ति **तद्** धनम् आ भर आहर, उपार्जय ॥१॥

अत्रैकेन कारकेणानेकक्रियायोगाद् दीपकालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— मनुष्यस्यान्तरात्मा चेत् प्रबुद्धस्तर्हि स सर्वं किञ्चित् साद्धुं शक्नोति ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में १३४ क्रमांक पर परमात्मा, राजा और आचार्य को संबोधित की गयी थी । यहां अपने अन्तरात्मा को उद्बोधन दे रहे हैं ।

पदार्थ— हे इन्द्र अर्थात् मेरे वीर अन्तरात्मन्! तू **विश्वाः द्विषः** सब द्वेष करने वाली शत्रु-सेनाओं को **अपभिन्धि** चीर दे, **बाधः** बाधा डालने वाले **मृधः** हिंसकों को **परि जहि** चारों ओर नष्ट कर दे। जो **स्पार्हम्** चाहने योग्य **वसु** दिव्य तथा भौतिक धन है **तत्** उसका **आ भर** उपार्जन कर ॥१॥

यहां एक कर्ता कारक के साथ अनेक क्रियाओं का योग होने से दीपक अलंकार है ॥१॥

भावार्थ— मनुष्य का अन्तरात्मा यदि प्रबुद्ध है तो वह सब कुछ सिद्ध कर सकता है ॥१॥

अथ परमात्मा प्रार्थ्यते ।

१ २ ३ १ २ ३१र २र३ २ ३ १ २ १ २ ३१र २र
१०७१. **यस्य ते विश्वमानुषग्भूरेर्दत्तस्य वेदति । वसु स्पार्हं तदा भर ॥२॥**[2]
१ २र ३ १ २र ३ २ ३ २ १ २र ३ १ २ १ २र
यस्य ते विश्वम् अनुषक् अनु सक् । भूरेः दत्तस्य वेदति ।
१२र ३२ ३
वसु स्पार्हम् तत् आ भर ॥२॥

पदार्थः— हे इन्द्र ऐश्वर्यशालिन् परमात्मन्! **यस्य ते** यस्य तव **भूरेः** प्रचुरस्य **दत्तस्य** वितीर्णस्य धनस्य **विश्वम्** सकलं जगत् **आनुषक्** नैरन्तर्येण **वेदति** वेत्ति, [विद ज्ञाने, लेटि अडागमः।], **तत् स्पार्हम्** स्पृहणीयम् **वसु** आध्यात्मिकं भौतिकं च धनम् **आ भर** अस्मभ्यमपि प्रयच्छ ॥२॥

---

१. ऋ० ८।४५।४०, अथ० २०।४३।१, साम० १३४।
२. ऋ० ८।४५।४२,अथ०२०।४३।३, उभयत्र 'विश्वमानुषो' इति पाठः ।

भावार्थः— ब्रह्माण्डे यत्किञ्चिदपि धनं विकीर्णमस्ति तत् सर्वं परमात्मप्रदत्तमेव । वयमपि स्वपुरुषार्थेन तस्य धनस्य भागिनो भवेम ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्यशाली परमात्मन् ! **यस्य ते** जिस तेरे **भूरेः** बहुत अधिक **दत्तस्य** दिये हुए धन के विषय में **विश्वम्** सारा संसार **आनुषक्** निरन्तर **वेदति** जानता है **तत्** उस **स्पार्हम्** चाहने योग्य **वसु** आध्यात्मिक तथा भौतिक धन को **आ भर** हमें भी प्रदान कर ॥२॥

भावार्थ— ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी धन बिखरा पड़ा है वह सब परमात्मा का दिया हुआ ही है । हम भी अपने पुरुषार्थ से उस धन के भागी बनें ॥२॥

तृतीया ऋक् पूर्वार्चिके २०७ क्रमाङ्के परमात्मानं राजानमाचार्यं च सम्बोधिता । अत्र स्वान्तरात्मानं सम्बोधयति ।

१०७२. यद्वीडाविन्द्र यत् स्थिरे यत् पर्शाने पराभृतम् । वसु स्पार्हं तदा भर ॥३॥[1]

यत् वीडौ इन्द्र यत् स्थिरे । यत् पर्शाने पराभृतम् परा भृतम् ।
वसु स्पार्हम् तत् आ भर ॥३॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** वीर मदीय अन्तरात्मन्! **यत्** यद् वसु धनम् **वीडौ** दृढे मनुष्ये, **यत्** यद् वसु धनम् **स्थिरे** अविचले मनुष्ये, **यत्** यद् वसु धनम् **पर्शाने** मेघवत् सेचके दानशीले मनुष्ये । [पर्शान इति मेघनाम । निघं० १।१०।] **पराभृतम्** दूरदेशादपि हृतम् आनीतं भवति, **तत् स्पार्हम्** स्पृहणीयम् **वसु** आध्यात्मिकं भौतिकं च धनम् **आ भर** त्वम् उपलभस्व ॥३॥

भावार्थः— जगति दृढस्वभावा विघ्नशतैरप्यविचाल्यमानाः परोपकारिणो जनाः स्वपराक्रमेण यदैश्वर्यं प्राप्नुवन्ति तदहं कुतो न प्राप्तुं शक्नोमि । हे मदीय अन्तरात्मन् ! त्वमपि दृढोऽविचलो वर्षकश्च भूत्वा सर्वविधमपि धनं संचिनु ॥३॥

तृतीय ऋचा पूर्वार्चिक में २०७ क्रमांक पर परमात्मा, राजा और आचार्य को संबोधित की जा चुकी है। यहां अपने अन्तरात्मा को संबोधित कर रहे हैं ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** मेरे वीर अन्तरात्मन् ! **यत्** जो धन **वीडौ** दृढ़ मनुष्य में, **यत्** जो धन **स्थिरे** अविचल मनुष्य में, **यत्** जो धन **पर्शाने** बादल के समान सींचने वाले दानशील मनुष्य में **पराभृतम्** दूर देश से भी ले आया जाता है, **तत्** वह **स्पार्हम्** चाहने योग्य **वसु** आध्यात्मिक तथा भौतिक धन **आ भर** तू अपने पास ला, प्राप्त कर ॥३॥

भावार्थ— संसार में दृढ़ स्वभाव वाले, सैंकडों विघ्नों से भी विचलित न किये जाने वाले परोपकारी जन अपने पराक्रम से जिस ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेते हैं उसे मैं क्यों नहीं पा सकता । हे मेरे अन्तरात्मन् ! तू भी दृढ़, अविचल और बरसाने वाला होकर सब प्रकार का धन संचित कर ॥३॥

---

१. ऋ० ८।४५।४१, अथ० २०।४३।२, साम० २०७ ।

॥१०॥ अथ 'यज्ञस्य हि' इत्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** श्यावाश्व आत्रेयः **देवते** इन्द्राग्नी। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादाविन्द्राग्निनाम्ना जीवात्मप्राणौ नृपतिसेनापती च सम्बोधयति ।।

३ २ ३ २ञ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१०७३. यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सस्नी वाजेषु कर्मसु ।
१ २ ३ १ २
इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥१॥[1]

३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ २ १ २ २
यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा। सस्नीइति वाजेषु कर्मसु ।
१ २ २ १ २ २ ३ १ २ १ २ २ ३
इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति तस्य बोधतम् ॥१॥

पदार्थः— हे **इन्द्राग्नी** जीवात्मप्राणौ नृपतिसेनापती वा! युवाम् **यज्ञस्य** देहयज्ञस्य राष्ट्रयज्ञस्य वा **हि** निश्चयेन **ऋत्विजा** ऋत्विजौ, सञ्चालकौ **स्थः** वर्तेथे, **वाजेषु** विज्ञानेषु **कर्मसु** क्रियासु च **सस्नी** निष्णातौ स्थः । [ष्णा शौचे धातोः 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च' अ० ३।२।१७१ इति किन् प्रत्ययः, लिड्वद्भावाद् धातोर्द्वित्वम्।] युवाम् **तस्य** तं देहयज्ञं राष्ट्रयज्ञं वा । [द्वितीयार्थे षष्ठी।] **बोधतम्** कर्तुं कारयितुं च जानीतम् ॥१॥

भावार्थः— जीवात्मप्राणयोराधिपत्ये वैयक्तिकं देहयज्ञं सम्यक् सञ्चाल्य नृपतिसेनापत्योः सहयोगेन राष्ट्रमुन्नेतव्यम् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्राग्नी के नाम से जीवात्मा और प्राण तथा राजा और सेनापति को सम्बोधन करते हैं।

पदार्थ— हे **इन्द्राग्नी** जीवात्मा और प्राण एवं राजा और सेनापति ! तुम दोनों **यज्ञस्य** शरीर-यज्ञ एवं राष्ट्र- यज्ञ के **हि** निश्चय ही **ऋत्विजा** ऋत्विज्, संचालक **स्थः** हो, **वाजेषु** विज्ञानों में तथा **कर्मसु** कर्मों में **सस्नी** निष्णात हो । तुम दोनों **तस्य** उस देहयज्ञ एवं राष्ट्रयज्ञ को **बोधतम्** करना वा कराना जानो ॥१॥

भावार्थ— जीवात्मा और प्राण के आधिपत्य में वैयक्तिक शरीर-यज्ञ को भली-भांति सञ्चालित करके राजा और सेनापति के सहयोग से राष्ट्र को उन्नत करना चाहिए ॥१॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २ ३ १ २
१०७४. तोशासा रथयावाना वृत्रहणापराजिता । इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥२॥[2]

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३
तोशासा रथयावाना रथ यावाना । वृत्रहणा वृत्र हना अपराजिता अ पराजिता ।
१ २ २ १ २ २ ३ १ २ १ २ २ ३
इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति तस्य बोधतम् ॥२॥

पदार्थः— हे **इन्द्राग्नी** जीवात्मप्राणौ नृपतिसेनापती वा! **तोशासा**[3] तोशसौ सन्तुष्टिकरौ । [तुष प्रीतौ, बाहुलकादौणादिकः असच् प्रत्ययः । मध्यस्थस्य अत्त्वस्य दीर्घश्छान्दसः । वर्णव्यत्ययेन षकारस्य तालव्यादेशः।]

---

१. ऋ० ८।३८।१।
२. ऋ० ८।३८।२।
३. तोशासा शत्रून् हिंसन्तौ इति सा० । दीप्तिसम्पन्नौ-इति वि०।

रथयावाना रथयावानौ रथेन देहरथेन विमानादियानेन वा गन्तारौ । [रथोपपदात् या प्रापणे धातोः छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ । वा०, अ० ५।२।१२२ इत्यनेन वनिप् प्रत्ययः।] **वृत्रहणा** शत्रुविघ्नपापादीनां हन्तारौ, **अपराजिता** अपराजितौ च युवाम् **तस्य** तत्तत्कर्मणः **बोधतम्** कर्तुं कारयितुं च जानीतम् ।।२।।

भावार्थः— जीवात्मप्राणौ नृपतिसेनापती च नेतारौ वृत्वा वैयक्तिकी सामाजिकी राष्ट्रिया चोन्नतिः सर्वैः साधनीया ।।२।।

आगे फिर वही विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे **इन्द्राग्नी** जीवात्मा और प्राण एवं राजा और सेनापति ! **तोशासा** सन्तुष्टि करने वाले, **रथयावाना** देहरूप रथ से वा विमान आदि यान से गमन करने वाले, **वृत्रहणा** शत्रु, विघ्न, पाप आदि को नष्ट करने वाले, **अपराजिता** पराजित न होने वाले तुम दोनों **तस्य** उस-उस कर्म को **बोधतम्** करना वा कराना जानो ।।२।।

भावार्थ— जीवात्मा और प्राण एवं राजा और सेनापति को नेता बनाकर वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रिय उन्नति सबको सिद्ध करनी चाहिए ।।२।।

अथ पुनरपि तावेव सम्बोधयति ।

३१ २ ३१र २र३१ २ ३१२ १ २ ३ १ २
१०७५. इदं वां मदिरं मध्वधुक्षन्नद्रिभिर्नरः । इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ।।३।।[1]

३२ ३ २ १२र १२र १२र ३ १२र
इदम् वाम् मदिरम् मधु। अधुक्षन् अद्रिभिः अ द्रिभिः नरः ।
१ २र १ २र ३ १ २ १ २र ३
इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति तस्य बोधतम् ।।३।।

पदार्थः— हे **इन्द्राग्नी** जीवात्मप्राणौ नृपतिसेनापती वा! **वाम्** युवाम् उद्दिश्य **नरः** पुरुषार्थिनो मनुष्याः **अद्रिभिः** वाग्रूपैः पेषणपाषाणैः **इदम्** एतत् **मदिरम्** आनन्दजनकम् उत्साहजनकं च **मधु** वीररसम् **अधुक्षन्** दुग्धवन्तः । युवाम् **तस्य** तं वीररसं **बोधतम्** पातुं जानीतम् ।।३।।

भावार्थः— शरीराधिष्ठातृषु जीवात्ममनःप्राणादिषु राष्ट्राधिकारिषु नृपतिसेनापत्यादिषु च वीररसं सञ्चार्य तत्साहाय्येन सर्वैरुत्कर्षः साधनीयः ।।३।।

अस्मिन् खण्डे मित्रवरुणार्यमनामभिः परमेश्वरजीवात्मप्राणविषयस्य, स्वान्तरात्मोद्बोधनस्य, परमात्म-प्रार्थनस्य, इन्द्राग्निना च जीवात्मप्राणयोर्नृपतिसेनापत्योश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति।।

अगले मन्त्र में पुनः उन्हीं को सम्बोधन किया गया है ।

पदार्थ— हे **इन्द्राग्नी** जीवात्मा और प्राण एवं राजा और सेनापति ! **वाम्** आप दोनों को लक्ष्य करके **नरः** पुरुषार्थी मनुष्यों ने **अद्रिभिः** वाणीरूपी सिलबट्टों से **इदम्** इस **मदिरम्** आनन्दजनक एवं उत्साहजनक **मधु** मधुर वीर रस को **अधुक्षन्** दुहा है । आप दोनों **तस्य** उस वीररस को **बोधतम्** पीना जानो ।।३।।

भावार्थ— शरीर के अधिष्ठाता जीवात्मा, मन, प्राण, आदि तथा राष्ट्र के अधिकारी राजा, सेनापति आदि में वीररस का संचार करके उनकी सहायता से सबको उत्कर्ष सिद्ध करना चाहिए ।।३।।

---

१. ऋ० ८।३८।३।

इस खण्ड में मित्र-वरुण-अर्यमा नामों से परमेश्वर-जीवात्मा-प्राण के विषय का, अन्तरात्मा के उद्-बोधन का, परमात्मा से प्रार्थना का और इन्द्राग्नी नाम से जीवात्मा और प्राण एवं राजा और सेनापति के विषय का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है।

सप्तम अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त।

॥११॥ अथ 'इन्द्रायेन्दो इत्यादिकस्यैकादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** कश्यपो मारीचः। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४७२ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता। अत्र गुरुशिष्यविषयो वर्ण्यते।

१ २ ३१ २३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१०७६. **इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः। अर्कस्य योनिमासदम् ॥१॥**[1]

१ २र ३ १ २ १ २र १ २र ३१ २ १ २र ३१ २ ३ १२र
इन्द्राय इन्दो मरुत्वते। पवस्व मधुमत्तमः। अर्कस्य योनिम् आसदम् आ सदम्॥१॥

पदार्थः— हे **इन्दो** ज्ञानरसागार आचार्य! **मधुमत्तमः** अतिशयेन मधुरः त्वम् **मरुत्वते** उत्कृष्टप्राणवते **इन्द्राय** शिष्याय मह्यम् **पवस्व** ज्ञानरसं प्रवाहय। अहम् **अर्कस्य** पूजनीयस्य तव **योनिम्** विद्यागृहम्, गुरुकुलम् **आसदम्** आगतोऽस्मि ॥१॥

भावार्थः— गुरुकुलं प्रविष्टेभ्यश्छात्रेभ्यो विद्वांसो मधुरस्वभावा गुरवः प्रेम्णा सर्वा विद्याः प्रयच्छेयुः, शिष्याश्च तान् श्रद्धया सत्कुर्युः ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४७२ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है। यहां गुरु-शिष्य विषय का वर्णन करते हैं।

पदार्थ— हे **इन्दो** ज्ञानरस के भण्डार आचार्य! **मधुमत्तमः** अतिशय मधुर आप **मरुत्वते** उत्कृष्ट प्राण वाले **इन्द्राय** मुझ शिष्य के लिए **पवस्व** ज्ञानरस प्रवाहित कीजिए। मैं **अर्कस्य** पूजनीय आपके **योनिम्** विद्यागृह अर्थात् गुरुकुल में **आसदम्** आया हूं ॥१॥

भावार्थ— गुरुकुल में प्रविष्ट छात्रों को विद्वान्, मधुर स्वभाव वाले गुरुजन प्रेम से सब विद्याएं प्रदान करें, और शिष्य श्रद्धा से उनका सत्कार करें ॥१॥

अथ पुनरपि गुरुशिष्यविषयमेवाह।

२ ३ १ २ ३ २३ १ २ ३ २
१०७७. **तं त्वा विप्रा वचोविदः परिष्कृण्वन्ति धर्णसिम्।**

१ २ ३१ २
सं त्वा मृजन्त्यायवः ॥२॥[2]

२ ३ १ २र ३ १ २ ३ १२र १ २र ३ २
तम् त्वा विप्राः वि प्राः वचोविदः वचः विदः। परि कृण्वन्ति धर्णसिम्।

३ १ २
सम् त्वा मृजन्ति आयवः ॥२॥

पदार्थः— हे शिष्य! **धर्णसिम्** विद्याया ग्रहीतारम्, **तं त्वा** गुरुकुलं प्रविष्टं तादृशं त्वाम् **वचोविदः** निखिलवाङ्मयस्य वेत्तारः **विप्राः** ब्राह्मणा गुरुजनाः **परिष्कृण्वन्ति** परिष्कुर्वन्ति, **आयवः** क्रियाशीलाः आचार्याः

---

१. ऋ० ९।६४।२२, 'अर्कस्य' इत्यत्र 'ऋतस्य'। साम० ४७२।

२. ऋ० ९।६४।२३, 'धर्णसिम्' इत्यत्र 'वेधसः'।

[यन्ति क्रियातत्परास्तिष्ठन्तीति आयवः। इण् गतौ धातोः 'छन्दसीणः' उ० १।२ इत्यनेन उण् प्रत्ययः।] **त्वा** त्वाम् **सं मृजन्ति** सम्यक् शोधयन्ति, सद्गुणैः सम्यगलङ्कुर्वन्ति च ॥२॥

भावार्थः— गुरूणामिदं कर्त्तव्यं यत्ते विद्यायाः सदाचारस्य च दानेन शिष्याणां हृदयानि परिष्कृतानि शुद्धान्यलङ्कृतानि च कुर्वन्तु ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर गुरु-शिष्य का ही विषय है ।

पदार्थ— हे शिष्य! **धर्णसिम्** विद्या का ग्रहण करने वाले, **तं त्वा** गुरुकुल में प्रविष्ट हुए उस तुझको **वचोविदः** सम्पूर्ण वाङ्मय के ज्ञानी **विप्राः** ब्राह्मण गुरुजन **परिष्कृण्वन्ति** परिष्कृत करते हैं, **आयवः** क्रियाशील आचार्य लोग **त्वा** तुझे **सं मृजन्ति** भली भांति शुद्ध करते एवं सद्गुणों से अलंकृत करते हैं॥२॥

भावार्थ— गुरुओं का यह कर्त्तव्य है कि वे विद्या और सदाचार के दान से शिष्यों के हृदयों को परिष्कृत, शुद्ध और अलंकृत करें ॥२॥

अथ पुनरपि स एव विषय उच्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ १ २ ३१ २
१०७८. रसं ते मित्रो अर्यमा पिबन्तु वरुणः कवे । पवमानस्य मरुतः ॥३॥[1]

१२र ३ २ ३ २ ३ २ १२र १२र ३ १२र ३१ २
रसम् ते मित्रः मि त्रः अर्यमा । पिबन्तु वरुणः कवे । पवमानस्य मरुतः ॥३॥

पदार्थः— हे **कवे** मेधाविन् विद्वद्वर आचार्य! **पवमानस्य ते** शिष्याणां जीवनानि पवित्रीकुर्वतः तव **रसम्** विद्यारसम् **मित्रः** सर्वैः सह मित्रवद् व्यवहर्ता शिष्यः, **अर्यमा** शत्रुनिग्रहकर्ता शिष्यः। [अर्यमा अरीन् नियच्छति। निरु० ११।२३।] **वरुणः** स्वदोषनिवारणाय प्रयत्नशीलः शिष्यः, **मरुतः** अन्ये च शिष्याः **पिबन्तु** आस्वादयन्तु ॥३॥

भावार्थः— शिष्याणां विभिन्ना योग्यता विभिन्ना गुणाश्च भवन्ति। तेषां योग्यतानुसारं तद्विकासो गुरुभिः कर्त्तव्यः। यस्मिन् यस्मिन् ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्व-वैश्यत्वादिगुणाः सन्ति स तदनुरूपविद्यादानेन तत्तद्-वर्णाधिकारी कार्यः ॥३॥

आगे पुनः वही विषय कहा गया है ।

पदार्थ— हे **कवे** मेधावी विद्वद्वर आचार्य! **पवमानस्य ते** शिष्यों के जीवनों को पवित्र करने वाले आपके **रसम्** विद्यारस को **मित्रः** सबके साथ मित्रवत् व्यवहार करने वाला शिष्य, **वरुणः** अपने दोषों का निवारण करने के लिए प्रयत्नशील शिष्य, **अर्यमा** शत्रुओं का निग्रह करने वाला शिष्य, **मरुतः** और अन्य सभी शिष्य **पिबन्तु** पान करें ॥३॥

भावार्थ— शिष्यों की विभिन्न योग्यताएं और विभिन्न गुण होते हैं। उनकी योग्यता के अनुसार उनका विकास गुरुओं को करना चाहिए। जिस-जिस में ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व आदि के गुण हों उस-उसको उसके अनुरूप विद्यादान से उस-उस वर्ण का अधिकारी बनाना चाहिए ॥३॥

॥१२॥ अथ 'मृज्यमानः' इत्यादिकस्य द्वादशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषयः** सप्तर्षयः (१ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः, २ कश्यपो मारीचः, ३ गोतमो राहूगणः, ४ अत्रिर्भौमः, ५ विश्वामित्रो गाथिनः, ६ जमदग्नि-

---

१. ऋ० ९।६४।२४, 'पिबन्तु' इत्यत्र 'पिबन्ति'।

भार्गवः, ७ वसिष्ठो मैत्रावरुणिः) । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५१७ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता। अत्रापि स एव विषयः प्रकारान्तरेण वर्ण्यते ।

१०७९. मृज्यमानः सुहस्त्या समुद्रे वाचमिन्वसि ।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्षसि ॥१॥[1]

मृज्यमानः सुहस्त्य सु हस्त्य । समुद्रे सम् उद्रे वाचम् इन्वसि ।
रयिम् पिशङ्गम् बहुलम् पुरुस्पृहम् पुरु स्पृहम् । पवमान अभि अर्षसि ॥१॥

पदार्थः— हे **सुहस्त्य** सुहस्तकलाकुशल जगदीश्वर! [हस्ते हस्तक्रियायां साधुः हस्त्यः, शोभनश्चासौ हस्त्यः सुहस्त्यः ।] **मृज्यमानः** सद्गुणकर्मस्वभावैः अलङ्क्रियमाणः त्वम् **समुद्रे** अन्तरिक्षे । [समुद्र इत्यन्तरिक्षनाम। निघं० १।३।] **वाचम्** स्तनयित्नुशब्दम् **इन्वसि** प्रेरयसि । [इन्वति गतिकर्मा । निघं० २।१४।] अपि च, हे **पवमान** सर्वान्तर्यामिन् ! त्वम् **बहुलम्** प्रचुरम् **पुरुस्पृहम्** बहु स्पृहणीयम् **पिशङ्गं रयिम्** पिङ्गलवर्णं धनं सुवर्णादिकम् **अभि** अस्मान् प्रति **अर्षति** गमयसि ॥१॥

भावार्थः— अन्तरिक्षे मेघनिर्माणं, वृष्टिकर्मादिकं, निःशुल्कं बहुमूल्यधनाद्युत्पादनं च परमेश्वरस्यैव कर्म विद्यते ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ५१७ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्यात की जा चुकी है । यहां भी वही विषय प्रकारान्तर से वर्णित किया जा रहा है ।

पदार्थ— हे **सुहस्त्य** उत्कृष्ट हस्तकला में कुशल जगदीश्वर! **मृज्यमानः** श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभावों से अलंकृत होते हुए आप **समुद्रे** अन्तरिक्ष में **वाचम्** विद्युद्गर्जना के शब्द को **इन्वसि** प्रेरित करते हो । और, हे **पवमान** सर्वान्तर्यामिन्! आप **बहुलम्** प्रचुर, **पुरुस्पृहम्** बहुत चाहने योग्य **पिशङ्गं रयिम्** पीले वर्ण के धन सुवर्ण आदि को **अभि** हमारी ओर **अर्षसि** भेजते हो ॥१॥

भावार्थ— अन्तरिक्ष में बादलों का निर्माण, वर्षाकर्म आदि और बिना ही शुल्क लिए बहुमूल्य धन आदि को उत्पन्न करना परमेश्वर का ही कर्म है ॥१॥

अथ परमात्मनः कर्माणि वर्ण्यन्ते ।

१०८०. पुनानो वारे पवमानो अव्यये वृषो अचिक्रदद्वने ।
देवानां सोम पवमान निष्कृतं गोभिरञ्जानो अर्षसि ॥२॥[2]

पुनानः वारे पवमानः अव्यये । वृषा उ अचिक्रदत् वने ।
देवानाम् सोम पवमान निष्कृतम् निः कृतम् । गोभिः अञ्जानः अर्षसि ॥२॥

---

१. ऋ० ९।१०७।२१, 'सुहस्त्य' इति पाठः। साम० ५१७ ।

२. ऋ० ९।१०७।२२, 'मृंजानो वारे पवमानो अव्यये वृषावचक्रदो वने' इति पूर्वार्द्धपाठः ।

पदार्थः— **वारे** वरणीये **अव्यये** अविमये पार्थिवे लोके । [इयं (पृथिवी) वा अविः, इयं हीमाः सर्वाः प्रजा अवति । श० ६।१।२।३३।] **पवमानः** गच्छन् **पुनानः** पवित्रतां च कुर्वन् **वृषा उ**[1] सुखादिवर्षकः परमात्मा खलु **वने** मेघोदके । [वनमित्युदकनाम निघं० १।१२ ।] **अचिक्रदत्** स्तनयित्नुशब्दं कारयति। हे **पवमान** पवित्रतादायक **सोम** जगत्स्रष्टः परमात्मन्! त्वम् **देवानाम्** दिव्यानामग्निजलवाय्वादीनाम् **निष्कृतम्** गृहम् भूलोकमित्यर्थः **गोभिः** सूर्यरश्मिभिः **अज्जानः** व्यक्तं कुर्वन् प्रकाशयन् **अर्षसि** कर्मण्योऽसि ॥२॥

भावार्थः— अन्तरिक्षे मेघगर्जनं, वृष्टिद्वारा भूलोकस्य पवित्रीकरणं, सूर्यकिरणैर्भूमण्डलस्य प्रकाशनमित्यादि सर्वं कर्म जगत्पतिः परमेश्वर एव करोति, नान्यः कश्चित् ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के कर्मों का वर्णन है ।

पदार्थ— **वारे** वरणीय **अव्यये** पार्थिवलोक में **पवमानः** पहुंचता हुआ और **पुनानः** पवित्रता करता हुआ **वृषा उ** सुख आदि की वर्षा करने वाला परमात्मा **वने** मेघजल में **अचिक्रदत्** विद्युद्गर्जना कराता है । हे **पवमान** पवित्रतादायक **सोम** जगत्स्रष्टा परमात्मन्! आप **देवानाम्** दिव्य अग्नि, जल, वायु आदि के **निष्कृतम्** घर अर्थात् भूलोक को **गोभिः** सूर्यकिरणों से **अज्जानः** प्रकाशित करते हुए **अर्षसि** कर्मण्य बने हुए हो ॥२॥

भावार्थ— अन्तरिक्ष में बादल गर्जाना, वर्षाद्वारा भूलोक को पवित्र करना, सूर्यकिरणों द्वारा भूमण्डल को प्रकाशित करना इत्यादि सब कर्म जगत्पति परमेश्वर ही करता है, अन्य कोई नहीं ॥२॥

॥१३॥ अथ 'एतमु त्यं' इत्यादिकस्य त्रयोदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अमहीयुराङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ जीवात्मविषयो वर्ण्यते ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
१०८१ . **एतमु त्यं दश क्षिपो मृजन्ति सिन्धुमातरम् । समादित्येभिरख्यत ॥१॥**[2]

३ २ ३ २ १ २ र १ २ र ३ १ २ १ २ र १ २ र ३
एतम् उ त्यम् दश क्षिपः । मृजन्ति सिन्धुमातरम् सिन्धु मातरम् ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३
सम् आदित्येभिः आ दित्येभिः अख्यत ॥१॥

पदार्थः— **सिन्धुमातरम्** सिन्धुः आनन्दरसस्यन्दिनी जगदम्बा माता यस्य तथाविधम् **एतम् उ त्यम्** एतं खलु तम् सोमं जीवात्मानम् **दश क्षिपः** इन्द्रियदोषाणां प्रक्षेप्तारः दश प्राणाः **मृजन्ति** अलङ्कुर्वन्ति । एष सोमः जीवात्मा **आदित्येभिः** आदित्यवद् ज्ञानप्रकाशेन प्रकाशितैः गुरुजनैः **सम् अख्यत** विद्याप्रकाशं लभते ॥१॥

भावार्थः— प्राणैः सहचरित एव मनुष्यस्यात्मा देहं जीवयति देहाधिष्ठातृत्वं च करोति। गुरूणामुपदेशं विना स स्वयमेव ज्ञानवान् न भवति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में जीवात्मा का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— **सिन्धुमातरम्** आनन्द-रस बहाने वाली जगदम्बा जिसकी माता है ऐसे **एतम् उ त्यम्** इस उस सोम नामक जीवात्मा को **दश क्षिपः** इन्द्रियदोषों को दूर फेंकने वाले दस प्राण **मृजन्ति** अलंकृत करते हैं। यह सोम जीवात्मा **आदित्येभिः** सूर्य के समान ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित गुरुजनों से **सम् अख्यत** विद्याप्रकाश को प्राप्त करता है ॥१॥

---

१. 'वृषः वृषभसदृशः' इति सायणीयं व्याख्यानं तु पदकारविरुद्धम्, पदपाठे 'वृषा उ' (१ २ र ३) इति पदच्छेदात् ।
२. ऋ० ९।६१।७ ।

भावार्थ– प्राणों से युक्त ही मनुष्य का आत्मा शरीर को जीवित किये रखता है और शरीर का अधिष्ठातृत्व करता है। गुरुओं के उपदेश के बिना वह स्वयं ज्ञानी नहीं होता ।।१।।

अथात्मनि ज्ञानं कथं जायत इत्याह ।

१०८२. समिन्द्रेणोत वायुना सुत एति पवित्र आ । सं सूर्यस्य रश्मिभिः ।।२।।[1]

सम् इन्द्रेण उत वायुना । सुतः एति पवित्रे आ । सम् सूर्यस्य रश्मिभिः ।।२।।

पदार्थः–**इन्द्रेण** मनसा **उत** अपि च **वायुना** प्राणेन **सुतः** अभिषुतो ज्ञानरसः **पवित्रे** पवित्रे जीवात्मनि **सम् आ एति** समागच्छति, किञ्च **सूर्यस्य रश्मिभिः** आदित्यस्य किरणैः यद्वा चक्षुषो वृत्तिभिः । [चक्षुरसौ आदित्यः । ऐ० आ० २।१।५ ।] **सम्** समागच्छति ।।२।।

भावार्थः– मनुष्यस्यात्मा यज्ज्ञानं सञ्चिनोति तत्र मनः प्राणो नेत्रवृत्तयोऽग्निर्वायुः सूर्यरश्मयो गुरुजनाः सर्वेऽपि कारणतां प्रपद्यन्ते ।।२।।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि आत्मा में ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है ।

पदार्थ– **इन्द्रेण** मन से **उत** और वायुना प्राण से **सुतः** अभिषुत ज्ञानरस **पवित्रे** पवित्र जीवात्मा में **सम् आ एति** समागत होता है और **सूर्यस्य रश्मिभिः** सूर्य की किरणों से अथवा चक्षु की वृत्तियों से **सम्** समागत होता है ।।२।।

भावार्थ– मनुष्य का आत्मा जिस ज्ञान को संचित करता है उसमें मन, प्राण, नेत्र की वृत्तियां, अग्नि, वायु, सूर्यकिरणें, गुरुजन सभी कारण बनते हैं।।२।।

अथ पुनरपि ज्ञानरसविषय एव वर्ण्यते ।

१०८३. स नो भगाय वायवे पूष्णे पवस्व मधुमान् । चारुर्मित्रे वरुणे च ।।३।।[2]

सः नः भगाय वायवे । पूष्णे पवस्व मधुमान् । चारुः मित्रे मि त्रे वरुणे च ।।३।।

पदार्थः– हे सोम ज्ञानरस! **सः** असौ **मधुमान्** मधुरः त्वम् **नः** अस्माकम् **भगाय** सूर्यतुल्याय नृपतये, **वायवे** गतिमते सेनाध्यक्षाय, **पूष्णे** पशुपालनकृषिवाणिज्यादिना समाजस्य पोषकाय वैश्यजनाय च **पवस्व** प्रक्षर। अपि च **चारुः** रमणीयः त्वम् **मित्रे** राष्ट्रस्थे ब्राह्मणजने **वरुणे च** शत्रुनिवारके क्षत्रियजने चापि **पवस्व** प्रक्षर।।३।।

भावार्थः– राष्ट्रे ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या नृपतिसेनापतिन्यायाध्यक्षादयः सामान्याः प्रजाजनाश्च सर्वेऽपि स्वस्वयोग्यतानुसारं ज्ञानस्य संचेतारो भवन्तु, येन राष्ट्रं प्रगतिपथमनुसरेत् ।।३।।

अस्मिन् खण्डे गुरुशिष्ययोः परमात्मजीवात्मनोर्ज्ञानरसस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्तीति वेद्यम् ।।

अगले मन्त्र में फिर ज्ञानरस का विषय वर्णित है ।

---

१. ऋ० ९।६१।८ ।
२. ऋ० ९।६१।९ ।

पदार्थ– हे ज्ञानरस! **सः** वह **मधुमान्** मधुर तू **नः** हमारे **भगाय** सूर्य तुल्य राजा के लिए, **वायवे** गतिमान् सेनाध्यक्ष के लिए, और **पूष्णे** पशुपालन, कृषि, व्यापार आदि से समाज का पोषण करने वाले वैश्य के लिए **पवस्व** क्षरित हो। और **चारुः** रमणीय तू **मित्रे** राष्ट्र के मित्र ब्राह्मण में **वरुणे च** और शत्रु-निवारक क्षत्रिय में **पवस्व** क्षरित हो ॥३॥

भावार्थ– राष्ट्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, राजा, सेनापति, न्यायाध्यक्ष आदि और सामान्य प्रजाजन भी सभी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार ज्ञान का संचय करने वाले होवें, जिससे राष्ट्र प्रगतिपथ पर अग्रसर हो॥३॥

इस खण्ड में गुरु-शिष्य, परमात्मा-जीवात्मा और ज्ञानरस का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्वखण्ड के साथ संगति है यह जानना चाहिए ॥

सप्तम अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ।

॥१४॥ अथ 'रेवतीर्न' इत्यादिकस्य चतुर्दशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** शुनशेप आजीगर्तिः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १५३ क्रमाङ्के परमात्मनो नृपस्य च विषये व्याख्याता । अत्र योगविषयो व्याख्यायते ।

१०८४. रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः। क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥१॥[1]

रेवतीः नः सधमादे सध मादे। इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः तुवि वाजाः।
क्षुमन्तः याभिः मदेम ॥१॥

पदार्थः– **सधमादे** सह माद्यन्ति मनोबुद्धीन्द्रियादीनि यत्र स सधमादो योगयज्ञः तस्मिन् **नः** उपासकानाम् अस्माकम् **रेवतीः** रयिमत्यः ऐश्वर्यवत्यः मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षावृत्तयः **तुविवाजाः** बहुबलाः सत्यः **इन्द्रे** जीवात्मनि **सन्तु** विद्यमाना भवन्तु, **याभिः** वृत्तिभिः **क्षुमन्तः** निवासवन्तो वयम् [क्षि निवासगत्योः, औणादिको डुः प्रत्ययः।] **मदेम** आनन्देम ॥१॥[2]

भावार्थः– सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्, दुःखितेषु करुणाम्, पुण्यात्मकेषु मुदिताम्, अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च चित्तं प्रसीदति, प्रसन्नमेकाग्रं स्थिति-पदं लभते। एताश्चित्तवृत्तयो यदा मनुष्यस्यात्मनि समुद्भवन्ति तदा चित्तप्रसादनेन स निवासवानानन्दवांश्च जायते ॥१॥[3]

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में १५३ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां योग का विषय कहा जाता है ।

---

१. ऋ० १।३०।१३, अथ०, २०।१२२।१, साम० १५३।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं परमैश्वर्यप्राप्तिविषये व्याख्यातवान्।

३. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। योग० १।३३।

पदार्थ- सधमादे जहाँ मन, बुद्धि इन्द्रियां आदि सब मिलकर प्रहृष्ट होती हैं उस योगयज्ञ में **नः** हम उपासकों की **रेवतीः** ऐश्वर्यवती मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि वृत्तियां **तुविवाजाः** बहुत बलवती होती हुई **इन्द्रे** जीवात्मा में **सन्तु** विद्यमान होवें **याभिः** जिन वृत्तियों से **क्षुमन्तः** निवासयुक्त होकर हम **मदेम** आनन्दलाभ करें ।।१।।

भावार्थ– प्राणियों के सुखभोगयुक्त होने पर उनके प्रति मैत्री की भावना रखे, दुःखियों के प्रति करुणा की, पुण्यात्माओं के प्रति मुदिता की और अपुण्यशीलों के प्रति उपेक्षा की । इस प्रकार भावना करने वालों के अन्दर शुक्ल धर्म उत्पन्न हो जाता है । उससे चित्त प्रसादयुक्त होता है और प्रसन्न तथा एकाग्र होकर स्थितिपद को पा लेता है । ये चित्तवृत्तियां जब मनुष्य के आत्मा में उद्भूत होती हैं तब चित्तप्रसाद से वह निवासयुक्त और आनन्दवान् हो जाता है ।।१।।

अथ पुनरपि योगस्यैव विषयमाह ।

१०८५. आ घ त्वावान् त्मना युक्त स्तोतृभ्यो धृष्णवीयानः ।
ऋणोरक्षं न चक्रयोः ।।२।।[1]

आ घ त्वावान् त्मना युक्तः । स्तोतृभ्यः धृष्णो ईयानः ।
ऋणोः अक्षम् न चक्रयोः ।।२।।

पदार्थः– हे **धृष्णो** शत्रुधर्षणशील इन्द्र परमात्मन् ! **ईयानः** उपासकैः याच्यमानः । [ईमहे इति याञ्चाकर्मसु पठितम् । निघं० ३।१९।] **त्मना युक्तः** त्मना आत्मना आत्मबलेन युक्तः। [मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः । अ० ६।४।१४१ इत्याकारलोपः।] **त्वावान्** त्वादृशः त्वमेव । [वतुप्प्रकरणे युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानम् । अ० ५।२।३९ इत्यत्र स्थितेन वार्तिकेन युष्मच्छब्दात् सादृश्यार्थे वतुप् ।] **घ** खलु **स्तोतृभ्यः** उपासकेभ्यो योगिभ्यः, योगसिद्धिम् **ऋणोः** प्रापयसि । [ऋणोतिः गतिकर्मा । निघं २।१४। अत्र णिगर्भः । लडर्थे लङ्, अडभावश्छान्दसः।] कथमिव ? **चक्रयोः** द्वयोः रथचक्रयोः मध्ये **अक्षं न** धुरं यथा रथकारः प्रापयति तद्वत् । [चक्रिः इत्यत्र कृञ् धातोः 'आदृगमहनजनः । अ० ३।२।१७१ । इत्यनेन किः प्रत्ययः ।।२।।][2]

अत्रोपमालङ्कारः ।।२।।

भावार्थः– यथोभयो रथचक्रयोरक्षकीलकद्वारा योजनेनैव चक्रयोर्भ्रमणं रथस्याग्रे गमनं च संभवति तथैव योगिनो योगसिद्धिप्राप्त्यैव लक्ष्यारोहणं मोक्षलाभश्च सिध्यति ।।२।।

अगले मन्त्र में फिर योग का ही विषय है ।

पदार्थ– हे **धृष्णो** शत्रु को धर्षण करने के स्वभाव वाले परमात्मन् ! **ईयानः** उपासकों से याचना किये हुए, **त्मना युक्तः** आत्मबल से युक्त **त्वावान्** स्वसदृश स्वयमेव आप **घ** निश्चय ही **स्तोतृभ्यः** उपासक योगियों को योगसिद्धि **ऋणोः** प्राप्त कराते हो, **चक्रयोः** दो रथचक्रों के मध्य में **अक्षं न** जैसे धुरी को रथकार प्राप्त कराता है ।।२।।

यहां उपमालंकार है ।।२।।

---

१. ऋ० १।३०।१४, अथ० २०।१२२।२, उभयत्र 'त्मनाप्तः' 'धृष्णवियानः' इति पाठः।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं राजप्रजाविषये व्याख्यातः ।

भावार्थ– जैसे दोनों रथ के पहियों को धुरी की कीली से जोड़ने पर ही पहियों का घूमना और रथ का आगे जाना संभव होता है वैसे ही योगी को योगसिद्धि होने पर ही उसका लक्ष्य के प्रति आरोहण और मोक्षलाभ सिद्ध होता है ।।२।।

अथ जगदीश्वरं प्रार्थयते ।

१०८६. आ यद् दुवः शतक्रतवा कामं जरितॄणाम् । ऋणोरक्षं न शचीभिः ।।३।।[1]

आ यत् दुवः शतक्रतो शत क्रतो । आ कामम् जरितॄणाम् ।
ऋणोः अक्षम् न शचीभिः ।।३।।

पदार्थः– हे **शतक्रतो** शतकर्मन् इन्द्र जगत्पते परमात्मन् ! उपासकैः, त्वां प्रति **यत्** दुवः यत् परिचरणम् **आ** आक्रियते, तेन प्रेरितः त्वम् **जरितॄणाम्** स्तोतॄणाम् **कामम्** अभिलषितम् **आ ऋणोः** आ पूरय । कथमिव ? **शचीभिः** प्रज्ञाभिः कर्मभिश्च **अक्षं न** रथचक्रयोर्मध्ये यथा अक्षकीलकम् आपूरयति रथकारः ।।३।।[2]

अत्रोपमालङ्कार ।।३।।

भावार्थः– यथा रथचक्रयोर्मध्येऽक्षकीलकयोजनं विना रथगतिर्न संभवति तथैव परमात्मनः कृपा-योगेन विना स्तोतॄणामभिलषितपूर्तिर्न संभवा ।।३।।

अगले मन्त्र में जगदीश्वर से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ– हे **शतक्रतो** सैंकड़ो कर्मों को करने वाले इन्द्र अर्थात् जगत्पति परमात्मन् ! उपासकों द्वारा आपके प्रति **यत् दुवः** जो पूजन **आ** किया जाता है, उससे प्रेरित आप **जरितॄणाम्** स्तोताओं के **कामम्** मनोरथ को **आ ऋणोः** पूर्ण करो, रथ बनाने वाला कारीगर **शचीभिः** बुद्धिकौशलों वा कर्मों से **अक्षं न** जैसे रथचक्रों के मध्य में धुरी की कीली की पूर्ति करता है ।।३।।

यहां उपमालंकार है ।।३।।

भावार्थ– जैसे रथ के पहियों के मध्य में धुरी की कीली जोड़े विना रथ की गति नहीं हो सकती, वैसे ही परमात्मा के कृपायोग के विना स्तोताओं की मनोरथपूर्ति संभव नहीं होती ।।३।।

।।१५।। अथ 'सुरूप०' इत्यादिकस्य पञ्चदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १६० क्रमाङ्के परमात्मनो नृपतेराचार्यस्य च विषये व्याख्याता । अत्र योगमार्गस्य गुरुः शिल्पकारश्च आहूयते ।

१०८७. सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे । जुहूमसि द्यविद्यवि ।।१।।[3]

सुरूपकृत्नुम् सुरूप कृत्नुम् ऊतये । सुदुघाम् सु दुघाम् इव गोदुहे गो दुहे ।
जुहूमसि द्यविद्यवि द्यवि द्यवि ।।१।।

---

१. ऋ० १।३०।१५, अथ० २०।१२२।३ ।
२. ऋग्भाष्ये मन्त्रोऽयं दयानन्दर्षिणा सभापतिविषये व्याख्यातः ।
३. ऋ० १।४।१, अथ० २०।५७।१, ६८।१, साम० १६० ।

पदार्थः— वयम् **ऊतये** योगमार्गे प्रवेशाय, रूपवतां पदार्थानां प्राप्तये वा । [अव धातोरर्थेषु प्रवेशावाप्ती अप्त्यर्थौ पठितौ।] **सुरूपकृत्नुम्** शोभनानां रूपाणां यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधीनाम् कारयितारम् इन्द्रं गुरुम्, शोभनानां रूपवतां पदार्थानां कर्तारम् इन्द्रं शिल्पकारं वा **द्यविद्यवि** दिनेदिने **जुहूमसि** आह्वयामः । कथमिव ? **गोदुहे** गोदुग्धमिच्छवे गवां दोग्धे **सुदुघाम् इव** यथा सुष्टुदोग्ध्रीं गाम् आह्वयन्ति तद्वत्॥१॥[1]

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— यथा गोदुग्धप्राप्तये गौराहूयते तथा योगाभ्यासाय योगी गुरुः शिल्पोन्नतये च शिल्पकार आह्वातव्यः ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में १६० क्रमांक पर परमात्मा, राजा और आचार्य के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां योगमार्ग के गुरु और शिल्पकार का आह्वान किया जा रहा है ।

पदार्थ— हम **ऊतये** योगमार्ग में प्रवेश के लिए और सुरूपवान् पदार्थों की प्राप्ति के लिए **सुरूपकृत्नुम्** शुभ रूपों को अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान, समाधियों को कराने वाले गुरु को और सुन्दर रूपवान् पदार्थों के रचयिता शिल्पकार को **द्यविद्यवि** प्रतिदिन **जुहूमसि** बुलाते हैं, **गोदुहे** गोदुग्ध के इच्छुक गाय दुहने वाले के लिए **सुदुघाम् इव** जैसे दुधार गाय को बुलाते हैं ॥१॥

यहां उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— जैसे गोदुग्ध पाने के लिए गाय बुलायी जाती है, वैसे ही योगाभ्यास के लिए योगी गुरु और शिल्प की उन्नति के लिए शिल्पकार को बुलाना चाहिए ॥१॥

अथ परमात्मनो नृपतेराचार्यस्य योगिनः शिल्पकारस्य च विषयमाह ।

१०८८. उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब । गोदा इद्रेवतो मदः ॥२॥[2]

उप नः सवना आ गहि । सोमस्य सोमपाः सोम पाः पिब ।

गोदाः गो दाः इत् रेवतः मदः ॥२॥

पदार्थः— हे इन्द्र परमात्मन् राजन् आचार्य योगिन् शिल्पकार वा ! त्वम् **नः** अस्माकम् **सवना** उपासना-यज्ञान्, प्रजाभिः कृतानुत्सवान्, शिक्षासत्राणि, योगशिविराणि शिल्पयज्ञान् वा **आ गहि** आगच्छ । **सोमपाः** रसस्य पाता त्वम् **सोमस्य** भक्तिरसस्य वीररसस्य, विद्यारसस्य, ध्यानरसस्य, कलारसस्य वा **पिब** पानं कुरु । **रेवतः** रयिमतः ऐश्वर्यवतः तव **मदः** उत्साहः **इत्** सत्यमेव **गोदाः** गवाम् अध्यात्मप्रकाशानाम्, धेनूनाम्, वेदवाचाम् योगशास्त्रवाचाम्, शिल्पशास्त्रवाचां वा दाता अस्ति ॥२॥[3]

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्र एष परमेश्वरपक्षे व्याख्यातः ।

२. ऋ० १।४।२, अथ० २०।५७।२, ६८।२ ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं सूर्यपक्षे व्याख्यातः ।

भावार्थः— परमात्मानमुपास्य नृपतिमाचार्यं योगिनं शिल्पकारं च सत्कृत्य तत्सकाशाद् यथायोग्यं लाभाः सर्वैः प्राप्तव्याः ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, राजा, आचार्य, योगी और शिल्पकार का विषय वर्णित है।

पदार्थ— हे इन्द्र अर्थात् परमात्मा, राजा, आचार्य, योगी, वा शिल्पकार ! आप **नः** हमारे **सवना** उपासना-यज्ञों में, प्रजाओं से किये गये उत्सवों में, शिक्षा-सत्रों में, योग-शिविरों में वा शिल्प-यज्ञों में **आगहि** आओ **सोमपाः** रस का पान करने वाले आप **सोमस्य** भक्ति-रस, वीर-रस, विद्या-रस, ध्यान-रस वा कला-रस को **पिब** पान करो । **रेवतः** ऐश्वर्यवान् आपका **मदः** उत्साह **इत्** सचमुच **गोदाः** अध्यात्म प्रकाशों का, गायों का, वेदवाणियों का, योगशास्त्र के वचनों का वा शिल्पशास्त्र के वचनों का देने वाला है ॥२॥

भावार्थ— परमात्मा की उपासना करके और राजा, आचार्य, योगी तथा शिल्पकार का सत्कार करके उनसे यथायोग्य लाभ सबको पाने चाहिएं ॥२॥

अथ पुनरपि तानेव सम्बोधयति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २
१०८९. अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् । मा नो अति ख्य आ गहि ॥३॥[1]

१ २र ३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ २
अथ ते अन्तमानाम् । विद्याम सुमतीनाम् सु मतीनाम् ।

३ १ २र ३ २ ३
मा नः अति ख्यः आ गहि ॥३॥

पदार्थः— हे इन्द्र ! परमात्मन् राजन् आचार्य योगगुरो शिल्पकार वा ! **अथ** अपि च, वयम्, **ते** तव **अन्तमानाम्** अन्तिकतमानाम् **सुमतीनाम्** प्रशस्तानां मतीनाम् **विद्याम** जानीयाम । त्वम् **नः अति** अस्मान् अतिक्रम्य **मा ख्यः** स्वोपदेशं मा कार्षीः, प्रत्युत **आ गहि** अस्मान् आगच्छ, आगम्य च स्वदत्तीनां पात्रमस्मान् कुर्विति भावः ॥३॥[2]

भावार्थः— परमात्मनो नृपतेराचार्यस्य योगिनः शिल्पिनश्च यानि ज्ञानानि कर्माणि च सन्ति तत उपकारान् गृहीत्वा स्वात्मा समुन्नेयः ॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः उन्हीं को सम्बोधन किया गया है ।

पदार्थ— हे इन्द्र अर्थात् परमात्मा, राजा, आचार्य, योग के गुरु वा शिल्पकार ! **अथ** और हम **ते** आपकी **अन्तमानाम्** समीपतम **सुमतीनाम्** सुमतियों को **विद्याम** जानें । आप **नः अति** हमें लांघकर **मा ख्यः** अपना उपदेश मत करो, प्रत्युत **आगहि** हमारे पास आओ, और आकर अपनी देनों का पात्र हमें बनाओ ॥३॥

भावार्थ— परमात्मा, राजा, आचार्य, योगी और शिल्पी के जो ज्ञान और कर्म हैं उनसे उपकार लेकर अपने आपको उन्नत करना चाहिए ॥३॥

॥१६॥ अथ 'उभे यदिन्द' इत्यादिकस्य षोडशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** १, २ (पूर्वार्धस्य), ३ मान्धाता यौवनाश्वः, २ (उत्तरार्द्धस्य) गोधाः आङ्गिरसः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** महापङ्क्तिः जगती । **स्वरः** निषादः ॥

---

१. ऋ० १।४।३, अथ० २०।५७।३, ६८।३ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं परमेश्वरविषये व्याख्यातः ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३७९ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता । अत्र वीरो मानव उद्बोध्यते ।।

१०९०. उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषा इव ।
महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनाम् ।
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ।।१।।[1]

उभेइति यत् इन्द्र रोदसीइति। आपप्राथ आ पप्राथ उषाः इव ।
महान्तम् त्वा महीनाम् । सम्राजम् सम् राजम् चर्षणीनाम् ।
देवी जनित्री अजीजनत् । भद्रा जनित्री अजीजनत् ।१।।

पदार्थः— हे **इन्द्र** वीर मानव ! **यत्** यत्, त्वम् **उषाः इव** प्रभातकान्तिरिव **उभे रोदसी** उभे द्यावापृथिव्यौ **आ पप्राथ** स्वयशसा पूरितवानसि, तादृशम् **महीनां महान्तम्** महत्त्ववतामपि महत्त्ववन्तम्, **चर्षणीनां सम्राजम्** मनुष्याणाम् अधिराजं च **त्वा** त्वाम् **देवी जनित्री** दिव्यगुणयुक्ता माता **अजीजनत्** अजनयत्, **भद्रा जनित्री** श्रेष्ठा माता **अजीजनत्** अजनयत् ।।१।।

अत्रोपमालङ्कारः, वीरो रसः ।।१।।

भावार्थः— मनुष्यः स्वमहिमानं परिचित्य महान्ति कर्माणि कर्तुं शक्नोति ।।१।।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ३७९ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में व्याख्या हो चुकी है । यहां वीर मानव को उद्बोधन दिया जा रहा है ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** वीर मानव ! **यत्** जो तूने **उषाः इव** उषा के समान **उभे रोदसी** आकाश-पृथिवी दोनों को **आ पप्राथ** अपने यश से पूर्ण किया हुआ है, ऐसे **महीनां महान्तम्** महानों में महान् **चर्षणीनां सम्राजम्** मनुष्यों के सम्राट् **त्वा** तुझे **देवी जनित्री** दिव्यगुणमयी माता ने **अजीजनत्** जन्म दिया है, **भद्रा जनित्री** श्रेष्ठ माता ने **अजीजनत्** जन्म दिया है ।।१।।

यहां उपमालंकार और वीररस है ।।१।।

भावार्थ— मनुष्य अपनी महिमा को पहचानकर बड़े-बड़े कार्य कर सकता है ।।१।।

अथ पुनरपि वीरो मानवः सम्बोध्यते ।

१०९१. दीर्घं ह्यङ्कुशं यथा शक्तिं बिभर्षि मन्तुमः ।
पूर्वेण मघवन् पदा वयामजो यथा यमः ।
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ।।२।।[2]

दीर्घम् हि अङ्कुशम् यथा । शक्तिम् बिभर्षि मन्तुमः । पूर्वेण मघवन् पदा ।
वयाम् अजः यथा यमः । देवी जनित्री अजीजनत् । भद्रा जनित्री अजीजनत् ।।२।।

१. ऋ० १०।१३४।१, साम० ३७९ ।
२. ऋ० १०।१३४।६ ।

पदार्थः— हे **मन्तुमः** ज्ञानवन् इन्द्र वीर मानव! [मन्तुमन् इति प्राप्ते 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' । अ० ८।३।१ इत्यनेन नकारस्य रुः] त्वम् **दीर्घं हि अङ्कुशं यथा** सुदीर्घम् अङ्कुशमिव **शक्तिम्** बलम् **बिभर्षि** धारयसि । हे **मघवन्** धनवन्! **पूर्वेण पदा** अग्रेण पादेन **अजः** छागः **वयां यथा** शाखामिव, शाखां यथा गृह्णाति तथेत्यर्थः [वयाः शाखाः वेतेर्वातायना भवन्ति । निरु० १।४ ।] त्वम् शत्रून् **यमः** नियमय । [यमेर्लेटि अडागमः।] त्वाम् **देवी जनित्री** दिव्यगुणमयी जगन्माता **अजीजनत्** अजनयत्, **भद्रा जनित्री श्रेष्ठा** मानवी माता **अजीजनत्** अजनयत् ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः । द्वयोरुपमयोः संसृष्टिः ॥२॥

भावार्थः— हे मानव ! त्वं स्वकीयाया मातुर्नाम मा कलङ्कय । त्वं स्वकीयामद्वितीयां शक्तिं परिचिनु । मित्रैः सौहार्दं शत्रुभिश्च संघर्षं कृत्वा समराङ्गणे विजयस्व ॥२॥

आगे फिर वीर मानव को सम्बोधन किया गया है।

पदार्थ— हे **मन्तुमः** ज्ञानी वीर मानव! तू **दीर्घं हि अंकुशं यथा** लम्बे अंकुश के समान **शक्तिम्** शक्ति को **बिभर्षि** धारण किये हुए है। हे **मघवन्** धन के धनी! **पूर्वेण पदा** अगले पैर से **अजः** बकरा **वयां यथा** जैसे शाखा को पकड़ता है, वैसे तू शत्रुओं को **यमः** पकड़ । तुझे **देवी जनित्री** दिव्यगुणमयी जगन्माता ने **अजीजनत्** जन्म दिया है, **भद्रा जनित्री** श्रेष्ठ मानवी माता ने **अजीजनत्** जन्म दिया है ॥२॥

यहां उपमालंकार है । दो उपमाओं की संसृष्टि है ॥२॥

भावार्थ— हे मानव ! तू अपनी माता का नाम कलंकित मत करना । तू अपनी अद्वितीय शक्ति को पहचान । मित्रों से सौहार्द और शत्रुओं से संघर्ष करके समरांगण में विजय पा ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह।

१०९२. **अव स्म दुर्हृणायतो मर्तस्य तनुहि स्थिरम् ।**
अधस्पदं तमीं कृधि यो अस्माँ अभिदासति ।
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥३॥[1]

अव स्म दुर्हृणायतः दुः हृणायतः । मर्तस्य तनुहि स्थिरम् ।
अधस्पदम् अधः पदम् तम् ईम् कृधि । यः अस्मान् अभिदासति अभि दासति ।
देवी जनित्री अजीजनत् । भद्रा जनित्री अजीजनत् ॥३॥

पदार्थः— हे इन्द्र वीर मानव! त्वम् **दुर्हृणायतः मर्तस्य** दुःखप्रदं हननमाचरतः दुष्टस्य मनुष्यस्य **स्थिरम्** दृढं बलम् **अव तनुहि स्म** नीचीनं कुरु । **तम् ईम्** तम् एनम् **अधस्पदं कृधि** पादयोरधस्तात् कुरु **यः** शत्रुः **अस्मान्** वीरान् **अभिदासति** दासान् कर्तुमुद्युङ्क्ते । त्वाम् **देवीजनित्री** दिव्यगुणा जगज्जननी **अजीजनत्** जनितवती, **भद्रा जनित्री** श्रेष्ठा मानवी माता **अजीजनत्** जनितवती ॥३॥

---

१. ऋ० १०।१३४।२, 'दुर्हृणायतो' इत्यत्र 'दुर्हणायतो', 'अभिदासति' इत्यत्र 'आदिदेशति' ।

भावार्थः— हे मानव ! गाढनिद्रां परित्यज्य जागृहि । त्वं दिव्याया जनन्याः पुत्रोऽसि, भद्राया जगन्न्याः पुत्रोऽसि। यस्त्वां दासं कर्तुमिच्छति, जिघांसति वा तस्य मनोरथं स्ववीरतया विफलय । जगति सर्वोच्चस्थानं लभस्व ।।३।।

अस्मिन् खण्डे योगस्य, परमात्मनो, वीरोद्बोधनस्य, नृपत्याचार्ययोगिशिल्पकाराणां च विषयवर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।।

अगले मन्त्र में पुनः वही विषय है ।

पदार्थ— हे वीर मानव ! तू **दुर्हणायतः मर्तस्य** दुःखप्रद मार करने वाले दुष्ट मनुष्य के **स्थिरम्** दृढ बल को **अव तनुहि स्म** नीचा कर दे। **तम् ईम्** उसे **अधस्पदं कृधि** पादाक्रान्त कर दे **यः** जो शत्रु **अस्मान्** हम वीरों को **अभिदासति** दास बनाने का यत्न करता है। तुझे **देवी जनित्री** दिव्यगुणमयी जगन्माता ने **अजीजनत्** जन्म दिया है, **भद्रा जनित्री** श्रेष्ठ मानवी माता ने **अजीजनत्** जन्म दिया है ।।३।।

भावार्थ— हे मानव! गहरी नींद छोड़कर जाग उठ। तू दिव्य जननी का पुत्र है, भद्र जननी का पुत्र है । जो तुझे दास बनाना चाहता है उसके मनसूबे को अपनी वीरता से विफल कर दे । संसार में सबसे ऊंचा स्थान प्राप्त कर ।।३।।

इस खण्ड में योग, परमात्मा, वीरोद्बोधन तथा राजा, आचार्य, योगी एवं शिल्पकार का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

सप्तम अध्याय में पञ्चम खण्ड समाप्त।

।।१७।। अथ 'परि स्वानो' इत्यादिकस्य सप्तदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** असितः काश्यपो देवलो वा । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४७५ क्रमाङ्के आनन्दरसप्रवाहविषये व्याख्याता। अत्र गुरुशिष्यविषयो वर्ण्यते।

१०९३. परि स्वानो गिरिष्ठाः पवित्रे सोमो अक्षरत् । मदेषु सर्वधा असि ।।१।।[1]

परि स्वानः गिरिष्ठाः गिरि स्थाः । पवित्रे सोमः अक्षरत् ।
मदेषु सर्वधाः सर्व धाः असि ।।१।।

पदार्थः— **गिरिष्ठाः** गिरीणामुपह्वरे गुरुकुले स्थितः । [उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम् । धिया विप्रो अजायत ।। साम० १४३ इति श्रुतेः ।] **सोमः** ज्ञानरसागारः आचार्यः **स्वानः** सुवानः, ज्ञानरसं प्रेरयन् **पवित्रे** शिष्याणां पवित्रे आत्मनि **परि अक्षरत्** परिक्षरति, ज्ञानरसं सिञ्चति। हे आचार्यवर! त्वम् **मदेषु** प्रदत्तेषु आनन्देषु **सर्वधाः** सर्वेषां शिष्याणां धारयिता **असि** भवसि ।।१।।

भावार्थः— आचार्यः शिष्येभ्यो यज्ज्ञानं ब्रह्मानन्दं च प्रयच्छति तस्य तुला संसारे नास्ति ।।१।।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ४७५ क्रमांक पर आनन्दरसप्रवाह के विषय में व्याख्या हो चुकी है । यहां गुरु-शिष्य का विषय वर्णित है ।

---

१. ऋ० ९।१८।१ 'परिसुवानो गिरिष्ठाः पवित्रे सोमो अक्षाः' इति पाठः । साम ४७५।

पदार्थ– **गिरिष्ठाः** पर्वत के समीपस्थ गुरुकुल में स्थित, **सोमः** ज्ञानरस का भण्डार आचार्य **स्वानः** ज्ञानरस को प्रेरित करता हुआ **पवित्रे** शिष्यों के पवित्र आत्मा में **परि अक्षरत्** ज्ञानरस को सींचता है । हे आचार्यवर! **त्वम्** आप **मदेषु** प्रदान किये हुए आनन्दों में **सर्वधाः** सब शिष्यों को धारण करने वाले **असि** होते हो।।१।।

भावार्थ– आचार्य शिष्य को जो ज्ञान और ब्रह्मानन्द प्रदान करता है उसकी तुलना संसार में नहीं है।।१।।

अथ पुनर्गुरुशिष्यविषयमाह ।

२उ ३ २ ३ २उ ३ २ ३१र २र १२ ३ १ २
१०९४. त्वं विप्रस्त्वं कविर्मधु प्र जातमन्धसः । मदेषु सर्वधा असि ।।२।।[1]

२ १ २र ३ २ ३ २ १२र ३ २ १ २र
त्वम् विप्रः वि प्रः त्वम् कविः । मधु प्र जातम् अन्धसः ।
१२र ३ २ ३ २ ३
मदेषु सर्वधाः सर्व धाः असि ।।२।।

पदार्थः– हे सोम ज्ञानरसागार आचार्य! **त्वं विप्रः** त्वं ब्राह्मणस्वभावः असि, **त्वं कविः** त्वं मेधावी विद्वांश्च असि। तव **अन्धसः** ज्ञानरसात् **मधु प्रजातम्** मधुरः ब्रह्मानन्दः प्रजायते । त्वम् **मदेषु** प्रदत्तेषु विद्यानन्देषु **सर्वधाः** सर्वेषां शिष्याणां धारकः **असि** भवसि ।।२।।

भावार्थः– ज्ञानस्यागाधसमुद्रात् ब्राह्मणवृत्तेर्मेधाविनो विदुष आचार्यात् यद् भौतिकं दिव्यं च ज्ञानं तत्कृत आनन्दश्च प्राप्यते तत्कारणात् स सर्वेषां पूज्यो भवति ।।२।।

आगे फिर गुरु-शिष्य का विषय वर्णित है ।

पदार्थ– हे सोम अर्थात् ज्ञानरस के भण्डार आचार्य! **त्वं विप्रः** आप ब्राह्मण-स्वभाव वाले हो, **त्वं कविः** आप मेधावी और विद्वान् हो । आपके **अन्धसः** ज्ञानरस से **मधु प्रजातम्** मधुर ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है । आप **मदेषु** प्रदत्त विद्यानन्दों में **सर्वधाः** सब शिष्यों के धारणकर्ता **असि** होते हो ।।२।।

भावार्थ– ज्ञान के अगाध समुद्र, ब्राह्मणवृत्ति, मेधावी, विद्वान् आचार्य से जो भौतिक और दिव्य ज्ञान तथा उस ज्ञान से उत्पन्न आनन्द प्राप्त होता है उसके कारण वह सबका पूज्य होता है ।।२।।

अथ पुनरपि स एव विषय उच्यते।

१र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
१०९५. त्वे विश्वे सजोषसो देवासः पीतिमाशत । मदेषु सर्वधा असि ।।३।।[2]

३ २ १ २र ३ १ २ ३ १२र ३ १ २ ३ २ ३
त्वेइति विश्वे सजोषसः स जोषसः । देवासः पीतिम् आशत ।
१२र ३ २ ३ २ ३
मदेषु सर्वधाः सर्व धाः असि ।।३।।

पदार्थः– हे सोम ज्ञानरसागार आचार्य! **विश्वे** सर्वे **सजोषसः** सप्रीतयः **देवासः** दिव्यगुणयुक्ता ब्रह्मचारिणः शिष्याः **त्वे** त्वत्तः **पीतिम्** ज्ञानरसपानम् **आशत** प्राप्नुवन्ति। त्वम् **मदेषु** ज्ञानजनितेषु आनन्देषु **सर्वधाः** सर्वेषां शिष्याणां धारकः **असि** भवसि ।।३।।

---

१. ऋ० ९।१८।२ ।

२. ऋ० ९।१८।३, 'त्वे' इत्यत्र 'तव' इति पाठः ।

भावार्थः— ये शिष्यास्तपस्विनो ज्ञानानुरागिणो गुरूणां सत्कर्तारोऽहिंसासत्यास्तेयादिदिव्यगुणयुक्ताश्च भवन्ति त एवाचार्यसकाशाज्ज्ञानग्रहणाधिकारिणस्तत्प्रीतिपात्राणि च जायन्ते ॥३॥

अगले मन्त्र में फिर उसी विषय को कहा गया है ।

पदार्थ— हे सोम अर्थात् ज्ञानरसागार आचार्य! **विश्वे** सब **सजोषसः** परस्पर समान प्रीतिवाले **देवासः** दिव्यगुणयुक्त ब्रह्मचारी शिष्य **त्वे** आपसे **प्रतिम्** ज्ञानरस के पान को **आशत** प्राप्त करते हैं। आप **मदेषु** ज्ञानजनित आनन्दों में **सर्वधाः** सब शिष्यों को धारण करने वाले **असि** होते हो ॥३॥

भावार्थ— जो शिष्य तपस्वी, ज्ञानानुरागी, गुरुओं का सत्कार करने वाले और अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि दिव्य गुणों से युक्त होते हैं वे ही आचार्य के पास से ज्ञान ग्रहण करने के अधिकारी और उसके प्रीतिपात्र बनते हैं ॥३॥

॥१८॥ अथ 'स सुन्वे' इत्यादिकस्याष्टादशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** १ ऋणञ्चयो राजर्षिः, २ शक्तिर्वासिष्ठः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** १ यवमध्या गायत्री, २ सतोबृहती । **स्वरः** १ षड्जः, २ पञ्चमः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५८२ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्रापि स एव विषयो वर्ण्यते ।

१०९६. स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इडानाम् ।
सोमो यः सुक्षितीनाम् ॥१॥[1]

सः सुन्वे यःवसूनाम् । यः रायाम् आनेता आ नेता यः इडानाम् ।
सोमः यः सुक्षितीनाम् सु क्षितीनाम् ॥१॥

पदार्थः— **सः सोमः** असौ सर्वान्तर्यामी परमेश्वरः **सुन्वे** सुनुते उत्पादयति सर्वं जगत् । [षुञ् अभिषवे, स्वादिः, 'सुनुते' इति प्राप्ते 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' अ० ७।१।४१ इति तलोपे यणि रूपम् ।] कीदृशः असौ? **यः वसूनाम्** हिरण्यादिधनानाम्, **यः रायाम्** विद्यारोग्यसत्याहिंसान्यायवैराग्यादिधनानाम्, **यः इडानाम्** धेनूनां भूमीनां च, **यः सुक्षितीनाम्** । शोभनाः क्षितयो मनुष्या येषु तेषां राष्ट्राणां च । ['नञ्सुभ्याम्' अ० ६।२।१७२' इत्यनेन बहुव्रीहौ सोः परमुत्तरपदमन्तोदात्तम्।] **आनेता** प्रापयिता भवति ॥१॥

भावार्थः— परमात्मानमतिरिच्य कोऽन्यो रजतहिरण्यभूम्यन्तरिक्षसरित्समुद्राग्निवायुजलविद्युत्सूर्यवृक्षवनस्पतिमनुष्यधेनुतुरगादिजडचेतनपदार्थानां वेदविद्यासत्याहिंसादिगुणानां धार्मिकजनानां चोत्पादयिता भवेदिति सोऽस्माभिः कृतज्ञतया प्रशंसनीयो वन्दनीयः पूजनीयश्च ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में क्रमांक ५८२ पर परमात्मा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां भी वही विषय वर्णित है ।

पदार्थ— **सः सोमः** वह सर्वान्तर्यामी परमेश्वर **सुन्वे** सब जगत् को उत्पन्न करता है, **यः** जो **रायाम्** विद्या, आरोग्य, सत्य, अहिंसा, न्याय, वैराग्य आदि धनों का, **यः** जो **इडानाम्** गायों और भूमियों का, **यः** और जो **सुक्षितीनाम्** जिनमें उत्कृष्ट मनुष्य निवास करते हैं उन राष्ट्रों का **आनेता** लाने वाला है ॥१॥

---

१. ऋ० ९।१०८।१३, साम० ५८२ ।

भावार्थ– परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कौन चांदी, सोना, भूमि अन्तरिक्ष, नदी, समुद्र, अग्नि, वायु, जल, विद्युत्, सूर्य, वृक्ष, वनस्पति, मनुष्य, गाय, घोड़े आदि जड़-चेतन पदार्थों का, वेदविद्या, सत्य, अहिंसा आदि गुणों का और धार्मिक जनों का उत्पन्न करने वाला हो सकता है ? इसकारण उसकी हमें कृतज्ञतापूर्वक प्रशंसा, वन्दना और पूजा करनी चाहिए ।।१।।

अथ पुनः परमेश्वरस्य महिमानमाह ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

१०९७. यस्य त इन्द्रः पिबाद्यस्य मरुतो यस्य वार्यमणा भगः ।

१र २र ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

आ येन मित्रावरुणा करामह एन्द्रमवसे महे ।।२।।[1]

१ २र ३ १ २र १ २र १ २र ३ १ २

यस्य ते इन्द्रः पिबात् यस्य मरुतः ।

१ २र ३ १ २ १ २र १ २र ३ २ ३ २ १ २र १ २र

यस्य वा अर्यमणा भगः आ येन मित्रा मि त्रा वरुणा करामहे ।

१ २र १ २र ३ २

आ इन्द्रम् अवसे महे ।।२।।

पदार्थः– **यस्य ते** यस्य तव सोमस्य जगत्स्रष्टुर्जगदीश्वरस्य रसम् **इन्द्रः** सूर्यः **पिबात्** पिबति, **यस्य** यस्य तव रसम् **मरुतः** पवनाः पिबन्ति, **यस्य वा** यस्य च तव रसम् **अर्यमणा** अरि नियमनकर्त्रा बुद्धितत्त्वेन सह **भगः** मनः पिबति, **येन** त्वया सोमेन सर्वान्तर्यामिण सर्वप्रेरकेण परमेश्वरेण, वयम् **मित्रावरुणा** मित्रावरुणौ प्राणापानौ **आ करामहे** अनुकूलं कुर्महे, येन च **महे अवसे** महते रक्षणाय **इन्द्रम्** जीवात्मानम् **आ करामहे** अनुकूलं कुर्मः, **सः** असौ त्वं सोमः परमेश्वरः **सुनुषे** सर्वं भौतिकं रसं दिव्यमानन्दरसं च अभिषुणोषि । अत्र 'स सुन्वे' इत्यस्य परिवर्तितं रूपं 'स सुनुषे' इति पूर्वमन्त्रादा- कृष्यते।।२।।

भावार्थः– परमेश्वरस्यैव रसेन शक्त्या च सर्वे दैहिका मनोबुद्धिप्राणादयो बाह्याः सूर्यचन्द्रनक्षत्रपर्जन्य-पर्वतसमुद्रद्यावापृथिव्यादयश्च रसवन्तः शक्तिमन्तश्च दृश्यन्ते ।।२।।

अगले मन्त्र में पुनः परमेश्वर की महिमा वर्णित है।

पदार्थ– **यस्य ते** जिस जगत्स्रष्टा तुझ जगदीश्वर के उत्पन्न किये रस को **इन्द्रः** सूर्य **पिबात्** पीता है, **यस्य** जिस तेरे उत्पन्न किये रस को **मरुतः** पवन पीते हैं, **यस्य वा** और जिस तेरे उत्पन्न किये रस को **अर्यमणा** शत्रु का नियमन करने वाले बुद्धितत्त्व के साथ **भगः** मन पीता है, **येन** जिस तुझ सर्वान्तर्यामी और सर्वप्रेरक परमेश्वर की सहायता से, हम **मित्रावरुणा** प्राण-अपान को **आ करामहे** अपने अनुकूल करते हैं, और जिस तेरी सहायता से **महे अवसे** महान् रक्षा के लिए **इन्द्रम्** जीवात्मा को **आ करामहे** अनुकूल करते हैं। **सः** वह तू सोम परमेश्वर **सुनुषे** सब भौतिक रसों को वा दिव्य आनन्दरस को अभिषुत करता है । [यहां 'स सुन्वे' इसका परिवर्तित रूप 'स सुनुषे' पूर्वमन्त्र से लाया गया है ।] ।।२।।

भावार्थ– परमेश्वर के ही रस और शक्ति से सब शरीरस्थ मन, बुद्धि, प्राण आदि और बाह्य सूर्य, चांद, तारे, बादल, पहाड़, समुद्र, धरती-आकाश आदि रसवान् और शक्तिमान् दिखायी देते हैं।।२।।

।।१९।। अथ 'तं वः सखायो' इत्यादिकस्यैकोनविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषी** पर्वतनारदौ काश्यपौ । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** उष्णिक् । **स्वरः** ऋषभः ।।

---

१. ऋ० ९।१०८।१४, 'त इन्द्रः' इत्यत्र 'न इन्द्रः'।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५६९ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्रापि प्रकारान्तरेण स एव विषयो वर्ण्यते।

१०९८. तं वः सखायो मदाय पुनानमभि गायत ।
शिशुं न हव्यैः स्वदयन्त गूर्तिभिः ॥१॥[1]

तम् वः सखायः स खायः मदाय । पुनानम् अभि गायत ।
शिशुम् न हव्यैः स्वदयन्त गूर्तिभिः ॥१॥

पदार्थः— हे **सखायः** सुहृदः! **वः मदाय** युष्माकम् आनन्दप्राप्तये उत्साहप्राप्तये च, यूयम् **तम्** प्रसिद्धम् **पुनानम्** पवित्रयन्तं सोमं जगत्पतिं परमेश्वरम् **अभि** अभिलक्ष्य **गायत** स्तुतिगीतानि प्रोच्चारयत। अन्येऽअपि जनाः तम् **गूर्तिभिः** उद्यमैः, पुरुषार्थैः। [गुरी उद्यमने, तुदादिः । ततः क्तिच् ।] **स्वदयन्त** प्रसादयन्तु, कथमिव? **शिशुं न** शिशुं यज्ञाग्निं यथा **हव्यैः** हविर्भिः **स्वदयन्ति** तर्पयन्ति तथा ॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— यथा यज्ञाग्निर्हविर्भिर्जागर्ति तथा परमात्मा मनुष्यस्य पुरुषार्थैः प्रसीदति। तस्य स्तुतिगीतानि गायद्भिः सर्वैः स्वजीवनमुन्नेतव्यम् ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ५६९ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्यात हुई थी। यहां भी प्रकारान्तर से उसी विषय का वर्णन करते हैं।

पदार्थ— हे **सखायः** साथियो! **वः मदाय** अपनी आनन्दप्राप्ति एवं उत्साहप्राप्ति के लिए, तुम **तम्** उस प्रसिद्ध **पुनानम्** पवित्र करने वाले जगत्पति सोम परमेश्वर को **अभि** लक्ष्य करके **गायत** स्तुतिगीत गाओ। अन्य लोग भी उसे **गूर्तिभिः** अपने पुरुषार्थों से **स्वदयन्त** प्रसन्न किया करें, **शिशुं न** जैसे शिशुरूप यज्ञाग्नि को **हव्यैः** हवियों से तृप्त किया जाता है ॥१॥

यहां उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— जैसे यज्ञाग्नि हवियों से जागता है वैसे परमात्मा मनुष्य के पुरुषार्थों से प्रसन्न होता है । सबको चाहिए कि उसके स्तुतिगीत गाते हुए अपने जीवन को उन्नत करें ॥१॥

अथ पुनः परमात्मविषयमाह ।

१०९९. सं वत्स इव मातृभिरिन्दुर्हिन्वानो अज्यते ।
देवावीर्मदो मतिभिः परिष्कृतः ॥२॥[2]

सम् वत्सः इव मातृभिः । इन्दुः हिन्वानः अज्यते ।
देवावीः देव अवीः मदः मतिभिः परिष्कृतः परि कृतः ॥२॥

---

१. ऋ० ९।१०५।१ 'हव्यैः' इत्यत्र 'यज्ञैः' । साम० ५६९ ।

२. ऋ० ९।१०५।२ ।

पदार्थः—देवावीः सदाचारिणां विदुषां रक्षकः, **मदः** उत्साहकरः, **इन्दुः** आनन्दरसेन क्लेदकः रसागारः परमेश्वरः **हिन्वानः** स्तोतॄन् शुभगुणकर्मसु प्रेरयन्, **मातृभिः** धेनुभिः **परिष्कृतः** अलङ्कृतः, जिह्वया लेहनेन स्वच्छीकृत **वत्सः इव** तर्णकः इव **मतिभिः** स्तुतिभिः **परिष्कृतः** अलङ्कृतः सन्। [भूषणार्थे 'संपर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे' । अ० ६।१।१३७ इति सुडागमः, 'परिनिविभ्यः। अ० ८।३।७० इति षत्वम् ।] **सम् अज्यते** समक्तो भवति, अन्तरात्मनि प्रकटीभवति ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— गोभिर्जिह्वया लेहनेन वत्सो यथाऽलङ्क्रियते तथा स्तोतृभिः स्तुतिभिः परमेश्वरोऽलङ्क्रियते। तदैव प्रच्छन्नः स उपासकस्याऽन्तरात्मन्याविर्भवति ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा का विषय है ।

पदार्थ— देवावीः सदाचारी विद्वानों का रक्षक, **मदः** उत्साह देने वाला, **इन्दुः** रस से सराबोर करने वाला, रस का भण्डार परमेश्वर **हिन्वानः** स्तोताओं को शुभ गुण-कर्मों में प्रेरित करता हुआ, **मातृभिः** गौओं द्वारा **परिष्कृतः** जीभ से चाट कर स्वच्छ किये गये **वत्सः इव** बछड़े के समान **मतिभिः** स्तुतियों से **परिष्कृतः** अलंकृत होकर **समज्यते** अन्तरात्मा में प्रकट हो जाता है ॥२॥

यहां उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— गौओं द्वारा जीभ से चाटकर बछड़ा जैसे अलंकृत किया जाता है वैसे ही स्तोताओं द्वारा स्तुतियों से परमेश्वर अलंकृत किया जाता है । तभी छिपा बैठा हुआ वह उपासक के अन्तरात्मा में प्रकट होता है ॥२॥

अथ परमात्मा जनानां कमुपकारं करोतीत्याह ।

३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
११००. अयं दक्षाय साधनोऽयं शर्धाय वीतये । अयं देवेभ्यो मधुमत्तरः सुतः ॥३॥[1]

२ १ २ २ १ २ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ २ ३ २
अयम् दक्षाय साधनः । अयम् शर्धाय वीतये । अयम् देवेभ्यः मधुमत्तरः सुतः ॥३॥

पदार्थः— साधनः सिद्धिप्रदाता **अयम्** एषः पवमानः सोमः पवित्रयिता परमेश्वरः **दक्षाय** आत्मबलाय भवति । **अयम्** एषः परमेश्वरः **शर्धाय** उत्साहाय **वीतये** जनानां प्रगतये च भवति । **सुतः** ध्यातः **अयम्** एषः **देवेभ्यः** विद्वद्भ्यः सदाचारिभ्यः उपासकेभ्यः **मधुमत्तरः** अतिशयेन मधुरो भवति ॥३॥

भावार्थः— श्रद्धयोपासितः परमेश्वर उपासकायात्मबलमुत्साहं प्रगतिं वाचि कर्मणि व्यवहारे च माधुर्यं प्रयच्छति ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा मनुष्यों का क्या उपकार करता है यह कहते हैं ।

पदार्थ— साधनः सिद्धिप्रदाता **अयम्** यह पवमान सोम अर्थात् पवित्रकर्ता परमेश्वर **दक्षाय** आत्मबल के लिए होता है । **अयम्** यह परमेश्वर **शर्धाय** उत्साह देने के लिए, और **वीतये** लोगों की प्रगति के लिए होता है। **सुतः** ध्यान किया गया **अयम्** यह **देवेभ्यः** विद्वान् सदाचारी उपासकों के लिए **मधुमत्तरः** अतिशय मधुर होता है॥३॥

---

१. ऋ० ९।१०५।३, 'मधुमत्तमः' इति पाठः ।

भावार्थ– श्रद्धा से उपासना किया गया परमेश्वर उपासक को आत्मबल, उत्साह, प्रगति तथा वाणी, कर्म एवं व्यवहार में मधुरता प्रदान करता है ।।३।।

।।२०।। अथ 'सोमाः पवन्त' इत्यादिकस्य विंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मनुः सांवरणः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५४८ क्रमाङ्के परमानन्दरसविषये व्याख्याता । अत्र विदुषां गुरूणां राजपुरुषाणां च विषयमाह ।

११०१. सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः ।
मित्राः स्वाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः ।।१।।[1]

सोमाः पवन्ते इन्दवः । अस्मभ्यम् गातुवित्तमाः गातु वित्तमाः ।
मित्राः मित्राः स्वानाः अरेपसः अ रेपसः ।
स्वाध्यः सु आध्यः स्वर्विदः स्वः विदः ।।१।।

पदार्थः– **इन्दवः** मधुरव्यवहारेण ज्ञानरसेन वा क्लेदकाः, **अस्मभ्यं गातुवित्तमाः** अस्मभ्यमतिशयेन मार्गदर्शयितारः, **मित्राः** मित्रभूताः, **स्वानाः** सुवानाः सद्गुणानुत्पादयन्तः, **अरेपसः** निष्पापाः, **स्वाध्यः** शोभनध्यानाः, **स्वर्विदः** दिव्यप्रकाशस्य आनन्दस्य वा लम्भकाः **सोमाः** ज्ञानरसागाराः गुरवः सत्कर्मसु प्रेरकाः राजपुरुषाश्च **पवन्ते** शिष्याणां प्रजाजनानां च जीवनानि पवित्रीकुर्वन्ति ।।१।।

भावार्थः– गुरवो राजपुरुषाश्च यदि विद्वांसो मधुरा मार्गदर्शका मित्रवद् व्यवहरन्तः शिक्षया सद्गुणानुत्पादयन्तो निरपराधा निर्दोषाः स्वकर्मणि दत्तावधानाः पावकाश्च भवन्ति तदैव ते शिष्याणां प्रजानां चोन्नतिं कर्तुं पारयन्ति ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ५४८ क्रमांक पर परमानन्दरस के विषय में व्याख्यात की जा चुकी है । यहां विद्वान् गुरुओं और राजपुरुषों का विषय कहते हैं ।

पदार्थ– **इन्दवः** मधुर व्यवहार से वा ज्ञानरस से आर्द्र करने वाले, **अस्मभ्यं गातुवित्तमाः** हमारे लिए अतिशय मार्ग दिखाने वाले, **मित्राः** मित्रभूत, **स्वानाः** सद्गुणों को उत्पन्न करने वाले, **अरेपसः** निष्पाप, **स्वाध्यः** उत्तम ध्यान वाले, **स्वर्विदः** दिव्य प्रकाश वा आनन्द को प्राप्त कराने वाले **सोमाः** ज्ञानरस के भण्डार गुरुजन वा सत्कर्मों में प्रेरित करने वाले राजपुरुष **पवन्ते** शिष्यों वा प्रजाजनों के जीवनों को पवित्र करते हैं।।१।।

भावार्थ– गुरुजन और राजपुरुष यदि विद्वान्, मधुर, मार्गदर्शक, मित्र के समान व्यवहार करने वाले, शिक्षा द्वारा सद्गुण उत्पन्न करने वाले, निरपराध, निर्दोष, अपने कार्य में दत्तावधान और पवित्रकर्ता होते हैं, तभी वे शिष्यों और प्रजाओं की उन्नति करने में समर्थ हो पाते हैं।।१।।

---

१. ऋ० ९।१०१।१०, 'सुवाना' इति पाठः । साम० ५४८ ।।

अथ पुनरपि गुरवो राजपुरुषाश्च वर्ण्यन्ते ।

२ ३ १ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
११०२. **ते पूतासो विपश्चितः सोमासो दध्याशिरः ।**
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
सूरासो न दर्शतासो जिगत्नवो ध्रुवा घृते ॥२॥[1]

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र १ २र १ २र १ २र ३
ते पूतासः विपश्चितः विपः चितः । सोमासः दध्याशिरः दधि आशिरः ।
१ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
सूरासः न दर्शतासः । जिगत्नवः ध्रुवाः घृते ॥२॥

पदार्थः— **पूतासः** पवित्राः, **विपश्चितः** विद्वांसः, **दध्याशिरः** ज्ञानधारकाः परिपक्वाश्च । [दधति अन्यान् इति दधयः। 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । अ० ३।२।१७१ इत्यनेन डुधाञ् धातोः किन् प्रत्ययः। आश्रीणन्ति स्वात्मानं ये ते आशिरः । आङ्पूर्वः श्रीञ् पाके, क्विपि धातोः शिर आदेशश्छान्दसः ।] **सूरासः न** सूर्याः इव **दर्शतासः**[2] दर्शनीयाः दृष्टिप्रदाश्च, **जिगत्नवः** गतिमन्तः, कर्मण्याः, **घृते** विवेकप्रकाशे **ध्रुवाः** स्थिराः ये स्युः **ते** त एव **सोमासः** विद्याधर्मादिप्रेरकाः गुरवः राजपुरुषाश्च भवेयुः॥२॥

भावार्थः— ये पवित्राचरणा अधीतविविधविद्याः परेषां सहायकाः परिपक्वमतयः सूर्यवत् प्रकाशकाः कर्मशूराः स्थिरप्रकाशा विघ्नैः पुनः पुनः प्रतिहन्यमाना अपि गृहीतं कार्यमपरित्यजन्तो गुरवो राजपुरुषाश्च भवन्ति त एव सफला जायन्ते ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर गुरुजन और राजपुरुषों का वर्णन है ।

पदार्थ— **पूतासः** पवित्र, **विपश्चितः** विद्वान्, **दध्याशिरः** ज्ञान के धारणकर्ता और परिपक्व, **सूरासः न** सूर्यों के समान **दर्शतासः** दर्शनीय तथा दृष्टि देने वाले, **जिगत्नवः** गतिमान् एवं कर्मण्य और **घृते** विवेक के प्रकाश में **ध्रुवाः** स्थिर रहने वाले जो हों **ते** वे ही **सोमासः** विद्या, धर्म आदि की प्रेरणा करने वाले गुरु और राजपुरुष होवें ॥२॥

भावार्थ— जो पवित्र आचरण वाले, विविध विद्याओं को पढ़े हुए, दूसरों की सहायता करने वाले, परिपक्वमति, सूर्य के समान प्रकाशक, कर्मशूर, स्थिर प्रकाश वाले, विघ्नों से बार-बार प्रहार किये जाते हुए भी ग्रहण किये कार्य को न छोड़ने वाले गुरु और राजपुरुष होते हैं वे ही सफल होते हैं॥२॥

अथ पुनरपि त एव वर्ण्यन्ते ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
११०३. **सुष्वाणासो व्यद्रिभिश्चिताना गोरधि त्वचि ।**
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इषमस्मभ्यमभितः समस्वरन् वसुविदः ॥३॥[3]

३ १ २ १ २र ३ १ २र १ २र ३ २
सुष्वाणासः वि अद्रिभिः अ द्रिभिः । चिताना गोः अधि त्वचि ।
१२र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
इषम् अस्मभ्यम् अभितः । सम् अस्वरन् वसुविदः वसु विदः ॥३॥

---

१. ऋ० ९।१०१।१२, 'पूतासो', 'सूरासो' इत्यत्र 'पूता', 'सूर्यासो' ।
२. दर्शतासः सर्वैर्दर्शनीयाः-इति सा०। सर्वस्य द्रष्टारः-इति वि० ।
३. ऋ० ९।१०१।११ ।

पदार्थः— अद्रिभिः मेघैरिव सरसैर्मनोभिः **सुष्वाणासः** उपदिशन्तः । [स्वन शब्दे, लिटः कानच्, द्वित्वम्। आज्जसेरसुक् ।] **गोः** राष्ट्रभूम्याः **त्वचि अधि** पृष्ठे **चितानाः** शिक्षणकलां राजनीतिं च जानानाः, **वसुविदः** विद्याधनस्य सुवर्णादिधनस्य वा लम्भकाः, सोमासः गुरवो राजपुरुषाश्च **इषम्** अभीष्टं ज्ञानं धनं वा **अस्मभ्यम् अभितः** सर्वतः **समस्वरन्**[1] घोषयन्तु, प्रयच्छन्तु इति यावत् ॥३॥

भावार्थः— गुरुभी राजपुरुषैश्च विद्वद्भिः कीर्तिमद्भिर्विद्योपदेशकैरभीष्टधनादिप्रापकैश्च भाव्यम्॥३॥

आगे फिर उन्हीं का वर्णन है ।

पदार्थ— अद्रिभिः मेघों के समान सरस मनों से **सुष्वाणासः** उपदेश देने वाले, **गोः** राष्ट्रभूमि के **त्वचि अधि** पृष्ठ पर **चितानाः** शिक्षण कला वा राजनीति को जानने वाले, **वसुविदः** विद्याधन वा सुवर्ण आदि धन को प्राप्त कराने वाले गुरु वा राजपुरुष **इषम्** अभीष्ट ज्ञान वा धन **अस्मभ्यम्** हमारे लिए **अभितः** सब ओर से **समस्वरन्** घोषित करें अर्थात् प्रदान करें ॥३॥

भावार्थ— गुरुओं वा राजपुरुषों को विद्वान्, कीर्तिमान्, विद्योपदेशक तथा अभीष्ट धन आदि प्राप्त कराने वाला होना चाहिए ॥३॥

॥२१॥ 'अया पवा' इत्यादिकस्यैकविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** कुत्स आङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५४१ क्रमाङ्के परमात्मपक्षे व्याख्याता । अत्र स एव विषयः प्रकारान्तरेण वर्ण्यते ।

११०४. अया पवा पवस्वैना वसूनि मांश्चत्व इन्दो सरसि प्र धन्व ।
ब्रध्नश्चिद्यस्य वातो न जूतिं पुरुमेधाश्चित्तकवे नरं धात् ॥१॥[2]
अया पवा पवस्व एना वसूनि । मांश्चत्वे इन्दो सरसि प्र धन्व ।
ब्रध्नः चित् यस्य वातः न जूतिम् । पुरुमेधाः पुरु मेधाः चित् तकवे नरम् धात् ॥१॥

पदार्थः— हे **इन्दो** तेजस्विन् आनन्दरसेन क्लेदक परमात्मन्! त्वम् **अया** अनया **पवा** पवया, धारया । [पवते प्रवहति इति पवा तया, तृतीयैकवचने 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इत्यनेन विभक्तेराकारादेशः ।] **एना** एनानि **वसूनि** दिव्यानि भौतिकानि च धनानि **पवस्व** प्रवाहय, **मांश्चत्वे** मान् अभिमन्यमानान् कामक्रोधादि-शत्रून् चातयति नाशयतीति तस्मिन् **सरसि** गतिशीले जीवात्मनि । [सरति अग्रे गच्छतीति सरः ।] **प्र धन्व** प्रकर्षेण गच्छ, **पुरुमेधाः चित्** बहुमेधावान् जनोऽपि **तकवे** प्रगतये । [तकतिः गतिकर्मा। निघं० २।१४ ।] **यस्य** यस्य तव **नरम्** नेतृत्वगुणम् **धात्** दधाति, **ब्रध्नः चित्** महान् **वातः** वायुः **न** यथा **जूतिम्** वेगम् **धात्** दधाति॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

---

१. समस्वरन् सम्यक् शब्दयन्ति, प्रयच्छन्तीति यावत्— इति सा० ।

२. ऋ० ९।९७।५२' ब्रध्नश्चिदत्र वातो न जूतः पुरुमेधश्चित् तकवे नरं दात्' इत्युत्तरार्धपाठः । साम० ५४१ ।

भावार्थः— वाय्वादयः सर्वेऽपि प्राकृतिकाः पदार्था निखिला अपि मनुष्याश्च परमात्मन एव सकाशात् स्वां स्वां शक्तिमाप्नुवन्ति, तस्य संरक्षणं विना तेऽकिञ्चित्करा एव ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ५४१ क्रमांक पर परमात्मा के पक्ष में व्याख्यात की जा चुकी है। यहां वही विषय प्रकारान्तर से वर्णित किया जा रहा है ।।

पदार्थ— हे **इन्दो** तेजस्वी, आनन्दरस से सराबोर करने वाले परमात्मन्, आप **अया** इस **पवा** धारा के साथ **एना** इन **वसूनि** दिव्य और भौतिक धनों को **पवस्व** प्रवाहित करो, **मांश्चत्वे** अभिमानी काम-क्रोध आदि शत्रुओं को नष्ट करने वाले **सरसि** गतिशील जीवात्मा में **प्र धन्व** पहुंचो, **पुरुमेधाः चित्** बहुत मेधावी मनुष्य भी **तकवे** प्रगति के लिए **यस्य** जिन आपके **नरम्** नेतृत्व के गुण को **धात्** धारण करता है, **ब्रध्नः चित्** महान् **वातः** वायु **न** जैसे **जूतिम्** वेग को **धात्** धारण करता है ॥१॥

यहां उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— वायु आदि सभी प्राकृतिक पदार्थ और सभी मनुष्य परमात्मा के ही पास से अपनी-अपनी शक्ति पाते हैं, उसके संरक्षण के बिना वे कुछ भी नहीं कर सकते ॥१॥

अथ ब्रह्मज्ञानायाचार्यशिष्यविषयमाह ।

३१ २ ३ १ २३ १ २३ १ २ ३२ ३ १ २ ३२
११०५. उत न एना पवया पवस्वाधि श्रुते श्रवाय्यस्य तीर्थे ।

३ २ ३१ २ ३ १२ २र ३ २उ ३ १ २ ३१ २
षष्टिं सहस्रा नैगुतो वसूनि वृक्षं न पक्वं धूनवद्रणाय ॥२॥[1]

३२ ३ २ ३ २ ३ १ २र ३२ ३ १ २ ३२
उत नः एना पवया पवस्व । अधि श्रुते श्रवाय्यस्य तीर्थे ।

३ २ ३१ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ २ ३ २ ३ १ २र
षष्टिम् सहस्रा नैगुतः नै गुतः वसूनि । वृक्षम् न पक्वम् धूनवत् रणाय ॥२॥

पदार्थः— हे सोम ज्ञानरसागार आचार्य! **उत** अथ **श्रवाय्यस्य** श्रूयते गुरुमुखादिति श्रवाय्यः ज्ञानम्, तस्य। [श्रुदक्षिस्पृहिगृहिभ्य आय्यः । उ० ३।९६ इत्यनेन श्रु धातोः आय्य प्रत्ययः।] **श्रुते** प्रसिद्धे **तीर्थे** विद्यातीर्थे गुरुकुले। [तरन्ति विद्यार्णवं शिष्या यत्र तत् तीर्थम् गुरुकुलम् । पातॄतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक् । उ० २।७ इति तॄ प्लवन-संतरणयोः धातोस्थक् प्रत्ययः।] **एना** एनया **पवया** ज्ञानधारया **नः** अस्मान् **पवस्व** पुनीहि। सम्प्रति परोक्षकृतमाह । **नैगुतः**[2] नितरां गुप्तानां प्रच्छन्नानामर्थानां प्रकाशकः एष आचार्यः **रणाय** रमणीयाय सुखाय **षष्टिं सहस्रा** षष्टि सहस्राणि, असंख्येयानीति यावत् **वसूनि** ऐश्वर्याणि **धूनवत्** कम्पयति, प्रयच्छतीत्यर्थः । [धूञ् कम्पने, लेट् ।] कथमिव **पक्वं वृक्षं न** परिपक्वफलं वृक्षं कम्पयित्वा उद्यानाधिपः कस्मैचिदसंख्येयानि फलानि यथा प्रयच्छति तद्वत् ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— विद्यातीर्थे गुरुकुले वसन्नाचार्यो यथा शिष्येभ्यो विपुलं ज्ञानराशिं तथैवासंख्येयानि सद्गुण-रूपाण्यैश्वर्याणि प्रेम्णा प्रयच्छति ॥२॥

---

१. ऋ० ९।९७।५३ ।

२. नैगुत. निगुतानां नितरां गोपितानाम्-इति वि० । नैगुतः, नीचीनं गवन्ते शब्दायन्ते इति निगुतः शत्रवः । तेषां हन्तृत्वेन सम्बन्धो सोऽयं सोमः-इति सा० ।

अगले मन्त्र में ब्रह्मज्ञान के लिए आचार्य-शिष्य के विषय का वर्णन है ।

पदार्थ– हे सोम अर्थात् ज्ञानरस के भण्डार आचार्य! **उत** अब **श्रवाय्यस्य** गुरुमुख से सुने जाने वाले ज्ञान के **श्रुते** प्रसिद्ध **तीर्थे** विद्यातीर्थ गुरुकुल में **एना** इस **पवया** ज्ञानधारा से **नः** हमें **पवस्व** पवित्र करो । आगे परोक्षरूप में वर्णन है– **नैगुतः** अत्यन्त गुप्त अर्थों का प्रकाशक यह आचार्य **रणाय** रमणीय सुख के लिए **षष्टिं सहस्रा** साठ हजार अर्थात् असंख्येय **वसूनि** एश्वर्यों को **धूनवत्** कंपाता अर्थात् प्रदान करता है, **पक्वं वृक्षं न** पके फलों वाले वृक्ष को कंपाकर जैसे बाग का माली किसी को असंख्य फल प्रदान करता है ।।२।।

यहां उपमालंकार है ।।२।।

भावार्थ– विद्यातीर्थ गुरुकुल में निवास करता हुआ आचार्य जैसे शिष्यों को विशाल ज्ञानराशि प्रदान करता है, वैसे ही असंख्य सद्गुणों का ऐश्वर्य भी प्रेम से देता है ।।२।।

अथ नास्तिकानां शत्रूणां पराजयाय राष्ट्रे ब्रह्मप्रचाराय च नृपतिविषयमाह ।

२ ३१ २ ३ २३ १ २ ३१र २र ३ १ २ ३ १ २
११०६. **महीमे अस्य वृष नाम शूषे मांश्चत्वे वा पृशने वा वधत्रे ।**

१ २ ३१ २ ३२३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
अस्वापयन्निगुतः स्नेहयश्चापामित्राँ अपाचितो अचेतः ।।३।।[1]

१ २र३१ २ ३ १२र १ २र ३१ २ १ २र ३ १ २र ३ १ २र३१ २
मही इमेइति अस्य वृष नाम शूषेइति। मांश्चत्वे वा पृशने वा वधत्रेइति ।

१ २र ३१ २ ३ १ २र ३१ २ ३
अस्वापयत् निगुतः नि गुतः स्नेहयत् च ।

१२र ३ १ २ ३ १ २र १२र ३ १ २ ३ १ २र ३ २
अप अमित्रान् अ मित्रान् अप अचितः अ चितः अच इतः ।।३।।

पदार्थः– **अस्य** सोमस्य वीररसागारस्य नृपतेः **इमे** प्रत्यक्षं दृश्यमाने **वृष नाम** वृषनाम्नी वर्षकगुणे, **शूषे** बलवती **मही** महत्यौ बाहुयष्टी स्तः, ये **मांश्चत्वे वा** अश्वसंग्रामे वा **पृशने वा** परस्परस्पर्शयुक्ते मल्लयुद्धे वा **वधत्रे** शत्रूणां वधकरे भवतः । [मांश्चत्वः इत्यश्वनाम । निघं० १।१४, पृशनं स्पृशतेः, सकारलोपश्छान्दसः।, हन्ति येन तद् वधत्रम्, 'अभिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन् उ० ३।१०५ इत्यनेन अत्रन् प्रत्ययः।] असौ सोमः वीरः नृपतिः **निगुतः** निगुप्तान् दुर्गखातादिषु प्रच्छन्नान् शत्रून् **अस्वापयत्** स्वापयति, धराशायिनः करोतीत्यर्थः । **स्नेहयत् च** मित्रेषु स्निह्यति च। अथ प्रत्यक्षकृतमाह– हे सोम शान्तिप्रिय प्रजाध्यक्ष! त्वम् **इतः** अस्माद् राष्ट्रात् **अमित्रान्** द्रोहकारिणः रिपून् **अप अच** अपगमय, **अचितः** अविवेकिनः अधार्मिकान् नास्तिकान् **अप अच** अपगमय। एवं च राष्ट्रे परमेश्वरप्रचाराय वेदप्रचाराय च बद्धपरिकरो भव ।।३।।

भावार्थः– सर्वेऽपि वीरा राष्ट्रवासिनः शत्रूच्छेदकाः परमात्मपूजकाश्च तदैव भवन्ति यदा राष्ट्राध्यक्षस्तत्र रुचिं गृह्णाति ।।३।।

अस्मिन् खण्डे गुरुशिष्ययोरुपास्योपासकयोरास्तिकस्य नृपतेश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति।।

अब नास्तिक शत्रुओं के पराजय के लिए तथा राष्ट्र में परमात्मा के प्रचार के लिए राजा का विषय वर्णित करते हैं ।

---

१. ऋ० ९।९७।५४ ।

पदार्थ– **अस्य** इस सोम अर्थात् वीररस के भण्डार राजा की **इमे** ये **वृष नाम** वर्षक गुण वाली, **शूषे** बलवान् **मही** विशाल भुजाएं हैं, जो **मांश्चत्वे वा** घोड़ों से होने वाले संग्राम में **पृशने वा** अथवा परस्पर स्पर्श जिसमें होता है ऐसे मल्लयुद्ध में **वधत्रे** शत्रुओं का वध करने वाली हैं। वह वीर राजा **निगुतः** किले, खाई आदि में छिपे हुए शत्रुओं को **अस्वापयत्** सुला देता है, अर्थात् धराशायी कर देता है, **स्नेहयत् च** और मित्रों पर स्नेह करता है । आगे प्रत्यक्षरूप से वर्णन है- हे सोम, शान्तिप्रिय प्रजाध्यक्ष ! आप **इतः** इस राष्ट्र से **अमित्रान्** द्रोहकारी रिपुओं को **अप अच** दूर कर दो, **अचितः** अविवेकी, अधार्मिक नास्तिकों को **अप अच** दूर कर दो । इस प्रकार राष्ट्र में परमेश्वर के प्रचार के लिए और वेदप्रचार के लिए कटिबद्ध होवो ।।३।।

भावार्थ– सभी वीर राष्ट्रवासी शत्रुओं को नष्ट करने वाले तथा परमात्मा की पूजा करने वाले तभी होते हैं, जब राष्ट्र का अध्यक्ष उसमें रुचि ले ।।३।।

इस खण्ड में गुरु-शिष्य, उपास्य-उपासक और आस्तिक राजा के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

सप्तम अध्याय में षष्ठ खण्ड समाप्त ।

।।२२।। अथ 'अग्ने त्वं' इत्यादिकस्य द्वाविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषयः** बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धु-र्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा । **देवता** अग्निः । **छन्दः** द्विपदा विराट् । **स्वरः** पञ्चमः।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४४८ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता । अत्र परमात्मनृपत्याचार्या उच्यन्ते ।

११०७. अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भुवो वरूथ्यः ।।१।।[1]

अग्ने त्वम् नः अन्तमः । उत त्राता शिवः भुवः वरूथ्यः ।।१।।

पदार्थः– हे **अग्ने** अग्रणीः परमात्मन् राजन् विद्वन् आचार्य वा! त्वम् **नः** अस्माकम् **अन्तमः** अन्तिकतमः, **उत** अपि च **त्राता** अपराधेभ्यः रक्षकः, **शिवः** शिवरूपः, **वरूथ्यः** वरणीयश्च **भुवः** भव ।।१।।[2]

भावार्थः– परमात्मनो नृपतेर्विदुष आचार्यस्य च संरक्षणं प्राप्यैव जना दोषमुक्ता निरपराधा निश्छला निष्पापा विद्वांसो ब्रह्मज्ञाः सदाचारिणश्च जायन्ते ।।१।।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ४४८ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में व्याख्या की जा चुकी है । यहां परमात्मा, राजा और आचार्य तीनों का विषय है ।

पदार्थ– हे **अग्ने** अग्रनायक परमात्मन्, राजन् वा विद्वन् आचार्य! आप **नः** हमारे **अन्तमः** निकटतम **उत** और **त्राता** अपराधों से रक्षा करने वाले, तथा **शिवः** मंगलकारी, **वरूथ्यः** और वरणीय **भुवः** होवो ।।१।।

भादार्थ– परमात्मा, राजा और आचार्य का संरक्षण पाकर लोग दोषों से मुक्त, निरपराध, निश्छल, निष्पाप, विद्वान्, ब्रह्मज्ञ और सदाचारी हो जाते हैं।।१।।

---

१. ऋ० ५।२४।१, 'भुवो' इत्यत्र 'भवा' इति पाठः। साम० ४४८।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रेऽस्मिन् राजविषयमाह ।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

११०८. वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमो रयिं दाः ॥२॥[1]

वसुः अग्निः वसुश्रवाः वसु श्रवाः । अच्छ नक्षि द्युमत्तमः रयिम् दाः ॥२॥

पदार्थः— **अग्निः** अग्रनायकः परमात्मा राजा विद्वान् आचार्यो वा **वसुः** सुद्गुणानां वासयिता, **वसुश्रवाः** वसुभिः विद्यादिधनैः श्रवः कीर्तिर्यस्य तादृशश्च अस्ति । हे परमात्मन् राजन् आचार्य वा ! त्वम् **अच्छ** अस्मदभिमुखम् **नक्षि** प्राप्नुहि, **द्युमत्तमः** तेजस्वितमः त्वम् **रयिम्** विविधं दिव्यं भौतिकं च धनम् **दाः** देहि॥२॥[2]

भावार्थः— परमात्मनो नृपतेराचार्यस्य चगुणकर्माणिदृष्ट्वा तत्सकाशाल्लाभान् प्राप्तुमर्हन्ति जनाः ॥२॥

आगे पुनः उसी विषय को कहा गया है ।

पदार्थ— **अग्निः** अग्रनायक परमात्मा, राजा वा विद्वान् आचार्य **वसुः** सद्गुणों का निवासक, और **वसुश्रवाः** विद्यादि धनों से कीर्तिमान् है । हे परमात्मन्, राजन् वा आचार्य! आप **अच्छ** हमारे अभिमुख **नक्षि** प्राप्त होवो । **द्युमत्तमः** अत्यधिक तेजस्वी आप **रयिम्** विविध दिव्य और भौतिक धन **दाः** दो ॥२॥

भावार्थ— परमात्मा, राजा और आचार्य के गुण-कर्मों को देखकर उनसे लोगों को लाभ प्राप्त करना योग्य है ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

११०९. तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः ॥३॥[3]

तम् त्वा शोचिष्ठ दीदिवः। सुम्नाय नूनम् ईमहे सखिभ्यः स खिभ्यः ॥३॥

पदार्थः— हे **शोचिष्ठ** पवित्रतम अतिशयेन पवित्रकर्तः, **दीदिवः** सत्यप्रद्योतक परमात्मन् नृपते आचार्य वा! **तं त्वा** तादृशं त्वाम्, वयम् **नूनम्** निश्चयेन **सखिभ्यः** सुहृद्भ्यः **सुम्नाय** सुखाय **ईमहे** याचामहे । [ईमहे इति याञ्चा- कर्मसु पठितम् । निघं ३।१९] ॥३॥[4]

भावार्थः— यः स्वयं पवित्र हृदयः सत्यसमर्थकश्च स एवान्यान् तादृशान्कर्तुं प्रभवति ॥३॥

आगे पुनः वही विषय है ।

पदार्थ— हे **शोचिष्ठ** अत्यधिक पवित्र और अतिशय पवित्रकर्ता, **दीदिवः** सत्य के प्रकाशक परमात्मन्, राजन् वा आचार्य! **तं त्वा** उन आपसे हम **नूनम्** निश्चय ही **सखिभ्यः** साथियों के **सुम्नाय** सुख के लिए **ईमहे** याचना करते हैं॥३॥

भावार्थ— जो स्वयं पवित्र हृदय वाला और सत्य का समर्थक है वही दूसरों को वैसा बना सकता है॥३॥

---

१. ऋ० ५।२४।२, 'द्युमत्तमं' इति पाठः ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरस्मिन्नपि मन्त्रे राजधर्ममाह ।

३. ऋ० ५।२४।४ ।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिम विदुषो राज्ञो विषये व्याख्यातवान् ।

॥२३॥ अथ ' इमा नु' इत्यादिकस्य त्रयोविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भुवन आप्त्यः साधनो वा भौमनः। **देवताः** विश्वेदेवाः। **छन्दः** द्विपदा त्रिष्टुप्। **स्वरः** धैवतः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४५२ क्रमाङ्केऽध्यात्मविषये राष्ट्रविषये च व्याख्याता। अत्र भिन्नोऽर्थः प्रदर्श्यते॥

१११०. इमा नु कं भुवना सीषधेमेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ॥१॥[1]

इमा नु कम् भुवना सीषधेम। इन्द्रः च विश्वे च देवाः ॥१॥

पदार्थः— वयम्, **इन्द्रः च** अस्माकं जीवात्मा च **विश्वे च देवाः** मनोबुद्धिप्राणज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपा अन्ये च देवाः मिलित्वा **नु कम्** सद्य एव **इमा भुवना** इमानि सर्वाणि भुवनानि सूर्यचन्द्रमङ्गलबुधबृहस्पतिभूम्यादीनि **सीषधेम** साधयेम, तद्विषयकज्ञानेन साधनानां प्रयोगेण च स्वानुकूलानि कुर्याम ॥१॥

भावार्थः— विद्वद्भिः सर्वा भूगोलखगोलविद्या विज्ञायान्येभ्यो लोकेभ्यो जायमाना लाभाः सर्वे प्राप्तव्या हानयश्च परिहरणीयाः ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४५२ क्रमांक पर अध्यात्म विषय में और राष्ट्र के विषय में व्याख्यात हो चुकी है। यहां भिन्न अर्थ प्रदर्शित किया जाता है।

पदार्थ— हम **इन्द्रः च** हमारा जीवात्मा **विश्वे च देवाः** और मन, बुद्धि, प्राण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय रूप अन्य देव मिलकर **नु कम्** शीघ्र ही **इमा भुवना** इन सब सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, भूमि आदि भुवनों को **सीषधेम** सिद्ध करें, अर्थात् उनके विषय में ज्ञान प्राप्त कर तथा साधनों का प्रयोग करके उन्हें अपने अनुकूल करें ॥१॥

भावार्थ— विद्वानों को चाहिए कि सब भूगोल और खगोल की विद्याएं जानकर अन्य लोकों से होने वाले सब लाभों को प्राप्त करें तथा उनसे संभावित हानियों को दूर करें ॥१॥

अथाऽध्यात्मविषयो राष्ट्रविषयश्चोच्यते।

१११९. यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह सीषधातु ॥२॥[2]

यज्ञम् च नः तन्वम् च प्रजाम् प्र जाम् च।

आदित्यैः आ दित्यैः इन्द्रः सह सीषधातु ॥२॥

पदार्थः— **इन्द्रः** अस्माकं जीवात्मा **आदित्यैः सह** आदित्यवद् ज्ञानसाधनैर्मनोबुद्धिसहितैः ज्ञानेन्द्रियैः सार्धम्, यद्वा **इन्द्रः** राष्ट्रस्य राजा **आदित्यैः सह** विद्वद्भिः सार्धम् मिलित्वा **नः** अस्माकम् **यज्ञं च** अध्वरं च, **तन्वं च** देहं च, **प्रजां च** सन्ततिं राष्ट्रस्य प्रजां च **सीषधातु** साधयतु ॥२॥

---

१. ऋ० १०।१५७।१, साम० ४५२।

२. ऋ० १०।१५७।२ 'सीषधातु' इत्यत्र 'चीक्लृपाति' इति पाठः।

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— जीवात्मा मनोबुद्धिज्ञानेन्द्रियाण्युपयुज्य सर्वं साद्धुं शक्नोति । तथैव विद्वांसः प्रजाजना राजा राज्याधिकारिणश्च मिलित्वा पुरुषार्थेन सर्वं यज्ञसुखं, देहसुखं, सन्ततिसुखं, प्रजासुखं च साद्धुं शक्नुवन्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में अध्यात्म विषय तथा राष्ट्र का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— **इन्द्रः** हमारा जीवात्मा **आदित्यैः सह** सूर्य के समान ज्ञानसाधक मन-बुद्धि-सहित ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर, अथवा **इन्द्रः** राष्ट्र का राजा **आदित्यैः सह** विद्वानों के साथ मिलकर **नः** हमारे **यज्ञं च** यज्ञ को, **तन्वं च** शरीर को, **प्रजां च** और सन्तति वा राष्ट्र की प्रजा को **सीषधातु** सिद्ध करे ॥२॥

यहां श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ— जीवात्मा मन, बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग करके सब कुछ सिद्ध कर सकता है। उसी प्रकार विद्वान् प्रजाजन, राजा और राज्याधिकारी मिलकर पुरुषार्थ से सब यज्ञसुख, देहसुख, सन्ततिसुख और प्रजासुख सिद्ध कर सकते हैं ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

३ २उ ३ १ २ ३१ २३ १ २ ३ १ २
१११२. आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत् ॥३ ॥[1]

३ २ ३ २ १२र १२र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
आदित्यैः आ दित्यैः इन्द्रः सगणः स गणः मरुद्भिः । अस्मभ्यम् भेषजा करत् ॥३॥

पदार्थः— **इन्द्रः** जीवात्मा **आदित्यैः** मनोबुद्धिसहितैर्ज्ञानेन्द्रियैः **मरुद्भिः** प्राणैश्च **सगणः** ससमूहः सन्, यद्वा **इन्द्रः** नृपतिः **आदित्यैः** सूर्यवत् प्रकाशकैः ब्राह्मणैः **मरुद्भिः** योद्धृभिः सैनिकैश्च **सगणः** सव्यूहः सन् **अस्मभ्यम्** मनुष्येभ्यः **भेषजा** भेषजानि **करत्** करोतु ॥३॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— मनुष्यस्य देहे राष्ट्रे वा यत्किमपि कष्टं जायते तद् देहस्था जीवात्ममनोबुद्धिप्राणादयो राष्ट्रस्य राज्याधिकारिणो ब्राह्मणा वीराः सैनिकाश्च युक्त्या प्रतिकुर्वन्तु ॥३॥

आगे फिर उसी विषय में कहा गया है ।

पदार्थ— **इन्द्रः** जीवात्मा **आदित्यैः** मन-बुद्धिसहित ज्ञानेन्द्रियों और **मरुद्भिः** प्राणों के **सगणः** गण से युक्त होकर, अथवा **इन्द्रः** राजा **आदित्यैः** सूर्यसम प्रकाशक ब्राह्मणों और **मरुद्भिः** योद्धा सैनिकों के **सगणः** गण से युक्त होकर **अस्मभ्यम्** हम मनुष्यों के लिए **भेषजा** औषध **करत् करे ॥३॥**

यहां श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ— मनुष्य के शरीर वा राष्ट्र में जो कुछ भी कष्ट होता है उसका शरीर में स्थित जीवात्मा, मन, बुद्धि, प्राण आदि वा राष्ट्र में स्थित राज्याधिकारी ब्राह्मण और वीर सैनिक युक्ति से प्रतीकार करें ॥३॥

॥२४॥ अथ 'प्र व इन्द्राय' इत्यादिकस्य चतुर्विंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वामदेवः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** द्विपदा विराट्। **स्वरः** पञ्चमः ॥

---

१. ऋ० १०।१५७।३, 'मरुद्भिरस्माकं भूत्वविता तनूनाम्' इति पाठः ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४४६ क्रमाङ्के परमात्मस्तुतिविषये व्याख्याता । अत्र गुरुशिष्यविषयो राजप्रजाविषयश्च वर्ण्यते ।

२ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २
१११३. प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय गाथं गायत यं जुजोषते ॥१॥[1]

२ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३
प्र वः इन्द्राय वृत्रहन्तमाय वृत्र हन्तमाय विप्राय वि प्राय ।

२ ३ २ ३ १ २
गाथम् गायत यम् जुजोषते ॥१॥

पदार्थः— हे शिष्याः, हे प्रजाजनाश्च ! **वः** यूयम् **वृत्रहन्तमाय** अतिशयेन दोषाणां शत्रूणां वा विनाशकाय, **विप्राय** विदुषे **इन्द्राय** आचार्याय नृपतये वा **गाथम्** गुणवर्णनपरं स्तोत्रम् **प्र गायत** प्र कीर्तयत, **यम्** गाथं स्तोत्रम्, सः **जुजोषते** प्रीत्या सेवते ॥१॥

भावार्थः— शिष्यैर्गुरूणां प्रजाजनैश्च राज्ञो गुणान् कीर्तयित्वा तेभ्यो यथायोग्यं विद्याविनयराष्ट्रोत्थानादयो लाभाः प्राप्तव्याः ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४४६ क्रमांक पर परमात्मा की स्तुति के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां गुरु-शिष्य का और राजा-प्रजा का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे शिष्यो वा हे प्रजाजनो ! **वः** तुम **वृत्रहन्तमाय** दोषों वा शत्रुओं के अतिशय विनाशक, **विप्राय** विद्वान् **इन्द्राय** आचार्य वा राजा के लिए **गाथम्** गुणवर्णनपरक स्त्रोत्र **प्र गायत** भलीभांति गाओ, **यम्** जिस स्त्रोत्र को, वह **जुजोषते** प्रीति के साथ सेवन करे ॥१॥

भावार्थ— शिष्यों को गुरुओं के और प्रजाजनों को राजा के गुणों का कीर्तन करके उनसे **यथायोग्य** विद्या, विनय, राष्ट्र का उत्थान आदि लाभ प्राप्त करने चाहिएं ॥१॥

द्वितीया ऋक् पूर्वार्चिके ४४५ क्रमाङ्के परमात्मविषय एव व्याख्याता । अत्र गुरुशिष्यविषयो राजप्रजाविषयश्च वर्ण्यते ॥

१ २ ३ ३ ३१ २ ३ १र २र ३ २उ ३ १र २र
१११४. अर्चन्त्यर्कं मरुतः स्वर्का आ स्तोभति श्रुतो युवा स इन्द्रः ॥२॥[2]

१ २र ३ २ ३१ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २र १ २र
अर्चन्ति अर्कम् मरुतः स्वर्काः सु अर्काः । आ स्तोभति श्रुतः युवा सः इन्द्रः ॥२॥

पदार्थः— **प्रथमः** गुरुशिष्यपरः। **स्वर्काः** सुमन्त्रपाठिनः। [अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति । निरु० ५।४।] **मरुतः** प्राणायामाभ्यासिनः शिष्याः **अर्कम्** अर्चनीयम् आचार्यदेवम् । [अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति निरु०५।४।] **अर्चन्ति** सत्कुर्वन्ति । **श्रुतः** प्रसिद्धः **युवा** तरुणवत् सक्रियः **सः इन्द्रः** स आचार्यः, तान् **आ स्तोभति** विद्यादिप्रदानेन अवलम्बं प्रयच्छति ॥

द्वितीयः राजप्रजापरः **स्वर्काः** सूर्यवत् सुतेजस्विनः **मरुतः** राष्ट्रवासिनो मनुष्याः **अर्कम्** तेजस्विनं नृपम् **अर्चन्ति** सत्कुर्वन्ति । **श्रुतः** सर्वैः श्रुतगुणः, **युवा** यौवनसम्पन्नः **सः इन्द्रः** असौ वीरो राजा, तान् **आ स्तोभति** शरणप्रदानेन रक्षति ॥२॥

---

१. साम० ४४६ ।

२. साम० ४४५ ।

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— शिष्यैः सत्कृत आचार्यः प्रजाजनैश्च सत्कृतो राजा सर्वात्मना तेषां हितं सम्पादयति ॥२॥

द्वितीय ऋचा पूर्वार्चिक में ४४५ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां गुरु-शिष्य का और राजा-प्रजा का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— प्रथम गुरु और शिष्य के पक्ष में । **स्वर्काः** शुभ वेदमन्त्रों का पाठ करने वाले **मरुतः** प्राणायाम के अभ्यासी शिष्य **अर्कम्** पूजनीय आचार्यदेव का **अर्चन्ति** सत्कार करते हैं। **श्रुतः** प्रसिद्ध, **युवा** युवा के तुल्य सक्रिय **सः इन्द्रः** वह आचार्य, उन्हें **आ स्तोभति** विद्या आदि के प्रदान द्वारा सहारा देता है ॥

द्वितीय राजा और प्रजा के पक्ष में । **स्वर्काः** सूर्यसम अतितेजस्वी **मरुतः** राष्ट्रवासी मनुष्य **अर्कम्** तेजस्वी राजा का **अर्चन्ति** सत्कार करते हैं। **श्रुतः** सबके द्वारा जिसके गुण सुने गये हैं ऐसा **युवा** युवक **सः इन्द्रः** वह वीर राजा, उनकी **आ स्तोभति** शरण देकर रक्षा करता है ॥२॥

यहां श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ— शिष्यों से सत्कार किया गया आचार्य और प्रजाजनों से सत्कार किया गया राजा पूर्णरूप से उनका हित करता है ॥२॥

तृतीया ऋक् पूर्वार्चिके ४४४ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र गुरुशिष्यविषये राजप्रजाविषये च वर्ण्यते ।

१११५. उप प्रक्षे मधुमति क्षियन्तः पुष्येम रयिं धीमहे त इन्द्र ॥३॥[1]

उप प्रक्षे प्र क्षे मधुमति क्षियन्तः । पुष्येम रयिम् धीमहे ते इन्द्र ॥३॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** विद्वन् आचार्य परमैश्वर्यवन् वीर राजेन्द्र वा ! वयं **ते** त्वाम् **धीमहे** आचार्यपदे राजपदे वा प्रतिष्ठापयामः। तव **मधुमति** मधुरे **प्रक्षे** ज्ञाननिर्झरे ऐश्वर्यनिर्झरे वा **उप क्षियन्तः** निवसन्तः वयम् **रयिम्** विद्याधनम् सुवर्णवस्त्रालङ्कारादिधनं वा **पुष्येम** पुष्टतया प्राप्नुयाम ॥३॥

भावार्थः— आचार्यपदे नृपतिपदे वा सुयोग्यो विद्वान् पुरुषश्चेत् प्रतिष्ठाप्यते तर्हि स सर्वान् शिष्यान् प्रजाजनांश्च विदुषो धनाधीशांश्च कर्तुं पारयति ॥३॥

अस्मिन् खण्डेऽध्यात्माधिराष्ट्रयोर्गुरुशिष्यराजप्रजयोश्च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति॥

तृतीय ऋचा पूर्वार्चिक में ४४४ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है। यहां गुरु-शिष्य का और राजा-प्रजा का विषय वर्णित है ।।

पदार्थ— हे **इन्द्र** विद्वन् आचार्य वा परमैश्वर्यशाली वीर श्रेष्ठ राजन्! हम **ते** आपको **धीमहे** आचार्य के पद वा राजा के पद पर प्रतिष्ठित करते हैं। **तव** आपके **मधुमति** मधुर **प्रक्षे** ज्ञान के झरने में वा ऐश्वर्य के झरने में **उप क्षियन्तः** निवास करते हुए, हम **रयिम्** विद्याधन को वा सुवर्ण, वस्त्र, आभूषण आदि धन को **पुष्येम** पुष्ट रूप से प्राप्त करें ॥३॥

---

१. साम० ४४४।

भावार्थ– आचार्य के पद पर वा राजा के पद पर यदि सुयोग्य विद्वान् पुरुष प्रतिष्ठापित किया जाए तो वह सब शिष्यों वा प्रजाजनों को विद्वान् वा धनपति कर सकता है ।।३।।

इस खण्ड में अध्यात्म और अधिराष्ट्र तथा गुरु-शिष्य और राजा-प्रजा के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्वखण्ड के साथ संगति है।।

सप्तम अध्याय में सप्तम खण्ड समाप्त ।

सप्तम अध्याय समाप्त ।

चतुर्थ प्रपाठक में प्रथम अर्ध समाप्त ।

अथाष्टमोऽध्यायश्चतुर्थप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धश्च

।।१।। तत्र 'प्र काव्य०' इत्यादिकस्य प्रथमस्य द्वादशर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** १–३ वृषगणो वासिष्ठः, ४–१२ असितः काश्यपो देवलो वा। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** १–३ त्रिष्टुप्, ४–१२ षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५२४ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता। अत्राचार्यशिष्यविषय उच्यते ।

१११६. प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति ।
महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन् ।।१।।[1]

प्र काव्यम् उशना इव ब्रुवाणः । देवः देवानाम् जनिम विवक्ति ।
महिव्रतः महि व्रतः शुचिबन्धुः शुचि बन्धुः पावकः ।
पदा वराहः अभि एति रेभन् ।।१।।

पदार्थः– **उशना इव** जनानां हितकामः परमेश्वर इव, परमेश्वरो यथा सृष्ट्यादौ वेदकाव्यमुपदिष्टवान् तथा **काव्यम्** वेदकाव्यम् **प्र ब्रुवाणः** छात्रेभ्य उपदिशन् **देवः** दिव्यगुणयुक्तः सोमः विद्यारसागारः आचार्यः **देवानाम्** जगतो दिव्यपदार्थानां सूर्यचन्द्रविद्युन्नक्षत्रजलवाय्वग्निगिरिसरित्सागरप्रभृतीनाम् **जनिम** जन्म **विवक्ति** व्याख्याति। कथं तेषां पदार्थानां जन्म संजातं, किंगुणास्ते पदार्थाः, कश्च तेषामुपयोग इत्यादि शिष्याणां पुरतो व्याचष्टे । [वच परिभाषणे, अदादिः, वक्ति इति प्राप्ते व्यत्ययेन विकरणस्य श्लुः, बहुलं छन्दसि। अ० ७।४।७८ इत्यभ्यासस्य इत्वम्।] **महिव्रतः** महाव्रतः महाकर्मा वा, **शुचिबन्धुः** शुचिः पवित्रः परमेश्वरो बन्धुर्यस्य सः, **पावकः** पवित्रतासम्पादकः **वराहः** जलवर्षको मेघ इव विद्यावर्षकः आचार्यः । [वराहो मेघो भवति वराहारः। निरु० ५।४।२१ ।] **पदा** शास्त्राणां सुप्तिङन्तादीनि पदानि **रेभन्** उच्चारयन् । [रेभृ शब्दे, भ्वादिः ।] **अभ्येति** अध्यापनार्थमागच्छति।।१।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः– सर्वेषां शास्त्राणां पारंगतः सुयोग्य आचार्यो गूढमपि शास्त्रतत्त्वं तथोपदिशति यथा विद्यार्थिनां मतौ स विषयो हस्तामलकवत् स्पष्टो जायते। स्वयं पवित्रोऽन्येषां पावकः परमेश्वरस्य सखा स आचार्यश्छात्राणां वन्दनीयः खलु ।।१।।

---

१. ऋ० ९।९७।७, साम० ५२४ ।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ५२४ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्या की जा चुकी है। यहां आचार्य और शिष्य का विषय कहा जा रहा है ।।

पदार्थ— उशना इव मनुष्यों के हितकांक्षी परमेश्वर के समान अर्थात् जैसे परमेश्वर ने सृष्टि के आदि में वेदकाव्य का उपदेश किया था वैसे ही **काव्यम्** वेदकाव्य को **प्र ब्रुवाणः** छात्रों के लिए उपदेश करता हुआ **देवः** दिव्य गुणों से युक्त सोम अर्थात् विद्यारस का भण्डार आचार्य **देवानाम्** जगत् के दिव्य पदार्थ सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, नक्षत्र, जल, वायु, अग्नि, पर्वत, नदी, समुद्र आदियों के **जनिम** जन्म की **विवक्ति** व्याख्या करता है अर्थात् कैसे उन पदार्थों की उत्पत्ति हुई, उन पदार्थों में क्या गुण है, क्या उनका उपयोग है, आदि बातें शिष्यों को बतलाता है। **महिव्रतः** महान् व्रतों और महान् कर्मों वाला, **शुचिबन्धुः** पवित्र परमेश्वर जिसका बन्धु है ऐसा, **पावकः** पवित्रता देने वाला **वराहः** जलवर्षी बादल के समान विद्यावर्षी आचार्य **पदा** शास्त्रों के सुबन्त एवं तिङन्त पदों का **रेभन्** उच्चारण करता हुआ **अभ्येति** पढ़ाने के लिए आता है ।।१।।

यहां उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ— सब शास्त्रों में पारंगत, सुयोग्य आचार्य शास्त्र के गूढ़ तत्त्व का भी इस प्रकार उपदेश करता है जिससे विद्यार्थियों की बुद्धि में वह विषय हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाता है। स्वयं पवित्र, दूसरों को पवित्र करने वाला, परमेश्वर का सखा वह आचार्य छात्रों का वन्दनीय होता है ।।१।।

अथ कीदृशाः शिष्याः कीदृशमाचार्यं प्रति विद्याध्ययनाय गच्छन्तीत्याह ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २उ ३ १ २
१११७. प्र हंसासस्तृपला वग्नुमच्छामादस्तं वृषगणा अयासुः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १र २र ३ २
अङ्गोषिणं पवमानं सखायो दुर्मर्षं वाणं प्र वदन्ति साकम् ।।२।।[1]

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २र ३ २ १ २र १२र १२र ३
प्र हंसासः तृपला वग्नुम् अच्छ । अमात् अस्तम् वृषगणाः वृष गणाः अयासुः ।

१ २ १२र १ २र ३
अङ्गोषिणम् पवमानम् सखायः स खायः ।

१२ ३ १२र ३ २ ३ २
दुर्मर्षम् दुः मर्षम् वाणम् प्र वदन्ति साकम् ।।२।।

पदार्थः— तृपला शीघ्रकारिणः। [तृपल इति क्षिप्रनाम । निरु० ५।१२। सुपां सुलुक्० । अ०७।१।३९ इति जसः आकारादेशः] **वृषगणाः** वृषः धार्मिकः गणो येषां तथाविधाः **हंसासः** हंससदृशाः नीरक्षीरविवेकिनो निर्मलहृदयाः छात्राः **अमात्** बलाद्धेतोः, विद्याबलं प्राप्तुमित्यर्थः। [अम इति बलनाम । निरु० १०।२१।] **वग्नुम् अच्छ** वाचस्पतिम् आचार्यं प्रति । [वग्नुः इति वाङ्नाम। निघं० १।११, लक्षणया वाचस्पतिर्गृह्यते ।] **अस्तम्** गृहम्, गुरुकुलम् **प्र अयासुः** प्र गच्छन्ति। **सखायः** सहाध्यायिनः ते **साकम्** सार्धं मिलित्वा **अङ्गोषिणम्** वेदानाम् आघोषकर्तारम् । [आङ्गूषः स्तोम आघोषः। निरु० ५।११।] **पवमानम्** हृदयानि पवित्रयन्तम्, **दुर्मर्षम् दुर्धर्षम् वाणम्**[2] संभजनीयम् आचार्यम्। [वन संभक्तौ, वन्यते सेव्यते इति वाणः ।] **प्र वदन्ति** अध्यापनाय निवेदयन्ति।।२।।

---

१. ऋ० ९।९७।८, 'तृपलं मन्युमच्छा' इति पूर्वार्द्धे, 'आङ्गूषं ३ पवमानं सखायो दुर्मर्षं साकं प्र वदन्ति वाणम्' इति चोत्तरार्द्धे पाठः।

२. पवमानं सोममुद्दिश्य वाणं वाद्यविशेषं साकं सहैव प्रवदन्ति प्रवादयन्ति, तदुपलक्षितं गानं कुर्वन्तीत्यर्थः इति सा०। वाणं वादित्रविशेषम्, यथा वाणस्य शततन्त्रीकस्य जायते शब्दः तद्वत् सोमस्य जायमानस्य महान् शब्दः इति वि०।

अत्र हंसासः इति लुप्तोपमम् । वाग्वाचको वग्नुशब्दो लक्षणावृत्त्या वाचस्पतिं लक्षयति, वाग्मित्वातिशयो व्यङ्ग्यः ॥२॥

भावार्थः— सुयोग्या गुरवः सुयोग्यान् शिष्यान् यदा प्राप्नुवन्ति तदैवोभये कीर्तिमन्तः सञ्जायन्ते ॥२॥

कैसे शिष्य कैसे आचार्य के पास विद्या पढ़ने के लिए जाते हैं यह अगले मन्त्र में कहा गया है ।

पदार्थ— तृपला शीघ्रकारी, **वृषगणाः** धार्मिक गणवाले, **हंसासः** हंसों के समान नीरक्षीर विवेकी, निर्मल हृदय वाले छात्र **अमात्** विद्याबल प्राप्त करने के हेतु से **वग्नुम् अच्छ** वाचस्पति आचार्य के प्रति **अस्तम्** गुरुकुलरूप घर में **अयासुः** जाते हैं। **सखायः** सहाध्यायी वे **साकम्** एक साथ मिलकर **अङ्गोषिणम्** वेदों का आघोष करने वाले, **पवमानम्** हृदयों को पवित्र करने वाले, **दुर्मर्षम्** दुर्धर्ष, **वाणम्** सेवनीय आचार्य को **प्रवदन्ति** पढ़ाने के लिए निवेदन करते हैं ॥२॥

यहां 'हंसासः' में लुप्तोपमा है । वाणीवाचक 'वग्नु' शब्द लक्षणावृत्ति से 'वाचस्पति' अर्थ को लक्षित करता है, जिसमें वाणी पर अधिकार का अतिशय व्यङ्ग्य है ॥२॥

भावार्थ— सुयोग्य गुरुजन सुयोग्य शिष्यों को जब पा लेते हैं तभी दोनों यशस्वी होते हैं ॥२॥

अथाचार्यः शिष्यान् सूर्याच्चन्द्रमसः प्रकाशनमाह ।

१११८. स योजत उरुगायस्य जूतिं वृथा क्रीडन्तं मिमते न गावः ।
परीणसं कृणुते तिग्मशृङ्गो दिवा हरिर्ददृशे नक्तमृज्रः ॥३॥[1]

सः योजते उरुगायस्य उरु गायस्य जूतिम् । वृथा क्रीडन्तम् मिमते न गावः ।
परीणसम् परि नसम् कृणुते तिग्मशृङ्गः तिग्म शृङ्गः ।
दिवा हरिः ददृशे नक्तम् ऋज्रः ॥३॥

पदार्थः— **सः** असौ सोमः चन्द्रः **उरुगायस्य** उरुषु विस्तीर्णेषु लोकेषु ग्रहोपग्रहेषु गायः प्रकाशगतिः यस्य तस्य सूर्यस्य **जूतिम्** वेगवन्तं किरणसमूहम् **योजते** स्वात्मना योजयति। **वृथा** अनायासम् **क्रीडन्तम्** भूमिं सूर्यं च परितः आकाशे विहरन्तं तं चन्द्रम् **गावः** सूर्यकिरणाः **न मिमते** सम्पूर्णतया न परिच्छिन्दन्ति । [माङ् माने शब्दे च' जुहोत्यादिः।] यावति भागे सूर्यकिरणाः पतन्ति चन्द्रस्य तावानेव भागः प्रकाशितो दृश्यत इति भावः। तथापि कदाचित् **तिग्मशृङ्गः** तीक्ष्णकिरणः सूर्यः चन्द्रमसम् **परीणसम्** परितो व्याप्तम् । [नसतिः गतिकर्मा। निघं० २।१४।] **कृणुते** करोति, तदा च पूर्णिमायां चन्द्रः,पूर्णतः प्रकाशितो जायते। स चन्द्रः **दिवा** दिवसे **हरिः** हरितः कृष्णवर्णः **ददृशे** दृश्यते, **नक्तम्** रात्रौ च **ऋज्रः** शुभ्रः ॥३॥

भावार्थः— पृथिवी सूर्यं परितो भ्रमति, चन्द्रमाश्च पृथिवीं परितो भ्रमन् पृथिव्या सह सूर्यमपि परिक्राम्यति। चन्द्रः सूर्यकिरणैः प्रकाश्यते । यावतीषु चन्द्रकलासु सूर्यरश्मयः पतन्ति तावत्य एव चन्द्रकलाः प्रकाशिता दृश्यन्ते। प्रतिपद्येका कला, द्वितीयायां द्वे कले, तृतीयायां तिस्रः कलाः प्रकाशन्ते। अमावस्यायां च

---

१. ऋ० ९।९७।९ 'स रंहत उरुगायस्य' इति पाठः ।

चन्द्रे कुत्रापि सूर्यरश्मीनामपतनाच्चन्द्रमण्डलमन्धकारावृतं जायते। एतदप्यवधेयं यत् सूर्यरश्मयः सदा चन्द्र-स्यैकस्मिन्नेव गोलार्द्धे पतन्ति, तस्माद् द्वितीयो गोलार्धः सदाऽन्धकारित एव तिष्ठति। चन्द्रप्रकाशस्य स नियमो भूगोलखगोलयोरन्ये चापि नियमा गुरुभिः शिष्यान् प्रत्युपदेष्टव्याः।।३।।

अगले मन्त्र में आचार्य शिष्यों को यह उपदेश दे रहा है कि चन्द्रमा सूर्य से प्रकाशित होता है ।

पदार्थ– **सः** वह सोम चन्द्रमा **उरुगायस्य** विस्तीर्ण ग्रहोपग्रहों में जिसका प्रकाश पहुंचता है ऐसे सूर्य के **जूतिम्** वेगवान् किरणसमूह को **योजते** अपने साथ जोड़ता है । **वृथा** अनायास **क्रीडन्तम्** भूमि और सूर्य के चारों ओर क्रीड़ा करने वाले उस चन्द्रमा को **गावः** सूर्यकिरणें **न मिमते** सम्पूर्ण रूप में व्याप्त नहीं करती, किन्तु जितने भाग में सूर्यकिरणें पहुंचती हैं चन्द्रमा का उतना ही भाग प्रकाशित होता है । तो भी कभी-कभी **तिग्मशृङ्गः** तीक्ष्ण किरणों वाला सूर्य चन्द्रमा को **परीणसम्** परि व्याप्त **कृणुते** कर लेता है, तब पूर्मिणा में चन्द्रमा पूर्णतः प्रकाशित हो जाता है । वह चन्द्रमा **दिवा** दिन में **हरिः** हरा-काला सा **ददृशे** दिखाई देता है, **नक्तम्** रात्रि में **ऋज्रः** शुभ्र ।।३।।

भावार्थ– पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमती है और चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर घूमता-घूमता पृथिवी के साथ-साथ सूर्य की भी परिक्रमा करता है। चन्द्रमा सूर्य की किरणों से प्रकाशित होता है । चन्द्रमा की जितनी कलाओं पर सूर्य-किरणें पहुंचती हैं उतनी ही कलाएं प्रकाशित दीखती हैं। प्रतिपदा को एक कला, द्वितीया को दो कलाएं, तृतीया को तीन कलाएं, अष्टमी को आठ कलाएं, और पूर्णमासी को सब कलाएं प्रकाशित होती हैं। अमावस्या को चन्द्रमा पर कहीं भी सूर्य किरणों के न पहुंचने से सारा ही चन्द्र-मण्डल अन्धकार से ढका रहता है । यह भी ध्यान देने योग्य है कि सूर्य-किरणें हमेशा चन्द्रमा के एक गोलार्ध पर ही पड़ती हैं, अतः दूसरे गोलार्ध में सदा अन्धेरा ही रहता है । गुरुओं को चाहिए कि चन्द्रमा के प्रकाशित होने का यह नियम तथा भूगोल और खगोल सम्बन्धी अन्य भी नियम शिष्यों को उपदेश करते रहें ।।३।।

अथ गुरून् वर्णयति ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
१११९. प्र स्वानासो रथा इवार्वन्तो न श्रवस्यवः । सोमासो राये अक्रमुः ।।४।।[1]

२ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३
प्र स्वानासः रथाः इव । अर्वन्तः न श्रवस्यवः । सोमासः राये अक्रमुः ।।४।।

पदार्थ– **सोमासः** विद्वांसो गुरवः **रथाः इव** स्यन्दना इव **स्वानासः** शब्दान् कुर्वन्तः **अर्वन्तः इव** आक्रान्तारो योद्धारः इव **श्रवस्यवः** कीर्तिकामाः सन्तः **राये** विद्यैश्वर्याय, राष्ट्रे विद्यारूपमैश्वर्यं जनयितुमित्यर्थः **प्र अक्रमुः** उद्युञ्जते ।।४।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।४।।

भावार्थः– यथा मार्गे चलन्तो रथाः शब्दायन्ते तथा विद्वांसो गुरुजना अध्यापनकाले भाषन्ते । यथा रणोद्भटा योद्धारो विजयकीर्तिं कामयन्ते तथा गुरवो राष्ट्रे सुयोग्यान् विदुष उत्पाद्य तज्जनितां कीर्तिम-भिलषन्ति ।।४।।

---

१. ऋ० ९।१०।१

अगले मन्त्र में गुरुओं का वर्णन है ।

पदार्थ– सोमासः विद्वान् गुरु लोग **रथाः इव** रथों के समान **स्वानासः** शब्द करने वाले, और **अर्वन्तः इव** आक्रमणकारी योद्धाओं के समान **श्रवस्यवः** कीर्ति के इच्छुक होते हुए **राये** विद्या रूप ऐश्वर्य के लिए अर्थात् राष्ट्र में विद्या-रूप ऐश्वर्य उत्पन्न करने के लिए **प्र अक्रमुः** उद्योग करते हैं।।४।।

यहां उपमालंकार है ।।४।।

भावार्थ– जैसे सड़क पर चलते हुए रथ शब्द करते हैं वैसे ही गुरुजन पढ़ाते समय भाषण करते हैं। जैसे युद्ध करने में उद्भट योद्धागण विजय की कीर्ति चाहते हैं, वैसे ही गुरु लोग राष्ट्र में सुयोग्य विद्वानों को उत्पन्न करके उनसे प्राप्त होने वाली कीर्ति की कामना करते हैं।।४।।

अथ पुनरपि गुरूणामेव विषयमाह ।

११२०. हिन्वानासो रथा इव दधन्विरे गभस्त्योः । भरासः कारिणामिव ।।५।।[1]

हिन्वानासः रथाः इव । दधन्विरे गभस्त्योः । भरासः कारिणाम् इव ।।५।।

पदार्थः– हिन्वानासः गच्छन्तः **रथाः इव** शकटाः यथा किञ्च **कारिणाम्** भारवाहिनां कर्मकराणाम् **भरासः इव** भाराः यथा **गभस्त्योः** बाह्वोः **दधन्विरे** धीयन्ते, तथैव **सोमासः** विद्वांसो गुरवः, नृपतिना गृहस्थैः प्रजाजनैश्च धनादिदानेन **दधन्विरे** धीयन्ते। [अत्र 'सोमासः' इति पदं पूर्वमन्त्रादाकृष्यते] ।।५।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।५।।

भावार्थः– यथा मार्गं गच्छन्तो रथाः प्रग्रहनियन्त्रणेन बाहुभ्यां धीयन्ते यथा वा शिरसा भारं वहन्तः श्रमिकास्तं भारं बाहुभ्यां दधति, तथैव विद्वांसो गुरुजनाः राजसाहाय्यदानेन धारणीयाः ।।५।।

अगले मन्त्र में पुनः गुरुओं का ही विषय है ।

पदार्थ– इव जैसे **हिन्वानासः** चलते हुए **रथाः** रथ, और **इव** जैसे **कारिणाम्** भारवाहक कर्मचारियों के **भरासः** भार **गभस्त्योः** बाहुओं से **दधन्विरे** धारण किये जाते हैं। वैसे ही **सोमासः** विद्वान् गुरुजन राजा द्वारा और गृहस्थ प्रजाजनों द्वारा धन आदि के दान से **दधन्विरे** धारण किये जाते है। यहां **'सोमासः'** पद पूर्वमन्त्र से लाया गया है ।।५।।

यहां उपमालंकार है ।।५।।

भावार्थ– जैसे मार्ग पर चलते हुए रथ घोड़ों की लगाम के नियन्त्रण द्वारा बाहुओं से धारण किये जाते हैं और जैसे सिर पर भार ढोते हुए श्रमिक उस भार को बाहुओं से धारण किये रखते हैं, वैसे ही विद्वान् गुरुजन राजकीय सहायता द्वारा धारण किये जाने चाहिएं ।।५।।

अथ पुनरिप गुरवो वर्ण्यन्ते ।

११२१. राजानो न प्रशस्तिभिः सोमासो गोभिरञ्जते । यज्ञो न सप्त धातृभिः ।।६।।[2]

राजानः न प्रशस्तिभिः प्र शस्तिभिः । सोमासः गोभिः अञ्जते ।

यज्ञः न सप्त धातृभिः ।।६।।

---

१. ऋ० ९।१०।२।

२. ऋ० ९।१०।३।

पदार्थः— राजानः न नृपतयो यथा **प्रशस्तिभिः** विजयकीर्तिभिः भासन्ते, **यज्ञः न** मानसो यज्ञो यथा **सप्त धातृभिः**[1] मनोबुद्धिज्ञानेन्द्रियरूपैः सप्तभिः होतृभिः भासते, यद्वा **यज्ञः न** अग्निष्टोमयज्ञो यथा **सप्त धातृभिः** सप्तभिः होतृभिः भासते तथा **सोमासः** विद्वांसो गुरवः **गोभिः** ज्ञानरश्मिभिः, वेदवाग्भिर्वा **अञ्जते** भासन्ते । [अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु,रुधादिः]॥६॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥६॥

भावार्थः— नृपा यथा प्रशस्तिगीतैः शोभन्ते, यज्ञो यथा ऋत्विग्भिः शोभते तथैव गुरुजना विद्यया, ब्रह्मसाक्षात्कारेण, तेजसा, तपसा, प्रेम्णा, क्षमया, मधुरव्यवहारेण च शोभन्ते ॥६॥

आगे फिर गुरुओं का ही वर्णन है ।

पदार्थ— राजानः न राजा लोग जैसे **प्रशस्तिभिः** विजय-प्रशस्तियों से भासित होते हैं, **यज्ञः न** मानसयज्ञ जैसे **सप्त धातृभिः** मन, बुद्धि, पंच ज्ञानेन्द्रिय इन सात होताओं से भासित होता है, अथवा **यज्ञः न** अग्निष्टोम यज्ञ जैसे **सप्त धातृभिः** सप्त होताओं से शोभित होता है, वैसे ही **सोमासः** विद्वान् गुरुलोग **गोभिः** ज्ञान-रश्मियों से वा वेद-वाणियों से **अञ्जते** भासित होते हैं॥६॥

यहां उपमालंकार है ॥६॥

भावार्थ— राजा लोग जैसे प्रशस्ति-गीतों से शोभित होते हैं, यज्ञ जैसे ऋत्विजों से शोभित होता है, वैसे ही गुरुलोग विद्या, ब्रह्मसाक्षात्कार, तेज, तप, प्रेम, क्षमा, और मधुर व्यवहार से शोभा पाते हैं॥६॥

सप्तमी ऋक् पूर्वार्चिके ४८५ क्रमाङ्के आनन्दरसविषये व्याख्याता । अत्र गुरवो वर्ण्यन्ते ।

११२२. परि स्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा । मधो अर्षन्ति धारया ॥७॥[2]

परि स्वानासः इन्दवः । मदाय बर्हणा गिरा । मधोः अर्षन्ति धारया ॥७॥

पदार्थः— स्वानासः अध्यापनकाले शब्दोच्चारणतत्पराः, **इन्दवः** दीप्ताः, विद्यारसेन क्लेदकाः गुरवः **मदाय** शिष्याणाम् आनन्दाय **बर्हणा** विरोधिसिद्धान्तखण्डयित्र्या [बर्ह हिंसायाम्, चुरादिः ।] **गिरा** वाचा **मधोः** मधुरस्य ज्ञानरसस्य **धारया** प्रवाहसन्तत्या **परि अर्षन्ति** शिष्यान् परिप्राप्नुवन्ति । [संहितायां 'मधो रर्षन्ति' इति प्राप्ते विसर्जनीयलोपश्छान्दसः] ॥७॥

भावार्थः—शिष्यान् प्रत्यगाधप्रेमपरिप्लुता विद्वांसो गुरुजनास्तेषां हिताय तान् ज्ञानधारया सिञ्चन्ति॥७॥

सातवीं ऋचा पूर्वार्चिक में ४८५ क्रमांक पर आनन्दरस के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां गुरुओं का वर्णन है ।

पदार्थः— स्वानासः पढ़ाने के समय शब्दोच्चारण या भाषण करने वाले **इन्दवः** तेजस्वी, विद्यारस से भिगोने वाले गुरुलोग **मदाय** शिष्यों के आनन्द के लिए **बर्हणा** विरोधियों के सिद्धान्तों का खण्डन करने वाली **गिरा** वाणी से **मधो** मधुर ज्ञानरस की **धारया** धारा के साथ परिअर्षन्ति शिष्यों को चारों ओर प्राप्त होते हैं॥७॥

---

१. सप्तधातृभिः सप्त होत्राभिः-इति सा०। सप्तवषट्कारिणः सप्त धातारः,अथवा सप्तच्छन्दांसि सप्त धातारः— इति वि०।

२. ऋ० ९।१०।४, 'स्वानास', 'मधो' इत्यत्र 'सुवानास', 'सुता' । साम० ४८५ ।

भावार्थ– शिष्यों के प्रति अगाध प्रेम से परिप्लुत विद्वान् गुरु लोग उनके हित के लिए उन्हें ज्ञानधारा से सींचते हैं ॥७॥

अथ पुनर्गुरुशिष्यविषयो वर्ण्यते ।

३ १ २ ३१ २ ३ १ २ ३२ ३ १२
११२३. **आपानासो विवस्वतो जिन्वन्त उषसो भगम् ।**
२ ३ २ ३ १ २
सूरा अण्वं वि तन्वते ॥८॥[1]

३ १२ ३१२ ३ १२र १ २र ३१२ १२र
आपानासः विवस्वतः वि वस्वतः । जिन्वन्तः उषसः भगम् ।
१२र १ २र ३
सूराः अण्वम् वि तन्वते ॥८॥

पदार्थः– **आपानासः** आपानाः, ज्ञानरसस्य कूपभूताः, **सूराः** सूर्यसमतेजस्काः सोमाः गुरवः **विवस्वतः** अन्धकारोच्छेदकस्य आदित्यस्य **उषसः** प्रभातकान्तेश्च **भगम्** श्रियम् **जिन्वन्तः** शिष्याणां हृदयेषु प्रेरयन्त **अण्वम्**[2] सूक्ष्मपि विज्ञानम् **वि तन्वते** शिष्यबुद्धौ विस्तारयन्ति ॥८॥

भावार्थः– यथोषाः सूर्यश्च रात्रेरन्धकारं विच्छिद्य भूमौ प्रकाशं जनयतस्तथैव गुरुजनाः शिष्याणामज्ञानान्धकारमपनीय सूक्ष्मतममपि विज्ञानं हस्तामलकवदाविष्कुर्वन्ति विद्याज्योतिषा च तेषामात्मानं भासयन्ति॥८॥

अगले मन्त्र में फिर गुरु-शिष्य का विषय है ।

पदार्थ– **आपानासः** ज्ञानरस के कुएं के समान, **सूराः** सूर्य के समान तेजस्वी गुरु लोग **विवस्वतः** अन्धकार को दूर करने वाले सूर्य की, तथा **उषसः** उषा की **भगम्** शोभा को **जिन्वन्तः** शिष्यों के हृदयों में प्रेरित करते हुए **अण्वम्** सूक्ष्म से सूक्ष्म भी विज्ञान को **वितन्वते** शिष्य की बुद्धि में फैला देते हैं ॥८॥

भावार्थ– जैसे उषा और सूर्य रात्रि के अंधेरे को चीरकर भूमि पर प्रकाश फैलाते हैं, वैसे ही गुरुजन शिष्यों के अज्ञानरूप अन्धकार को दूर करके सूक्ष्म से सूक्ष्म विज्ञान को हस्तामलकवत् प्रकाशित कर देते हैं और विद्या की ज्योति से उनके आत्मा को चमका देते हैं ॥८॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३१२ २ ३ १२ ३१२
११२४. **अप द्वारा मतीनां प्रत्ना ऋण्वन्ति कारवः । वृष्णो हरस आयवः ॥९॥**[3]
१२र १ २र ३ २ ३ २ ३ १२ १ २र १२र ३१२
अप द्वारा मतीनाम् । प्रत्नाः ऋण्वन्ति कारवः । वृष्णः हरसे आयवः ॥९॥

पदार्थः– **प्रत्नाः** पुरातनाः ज्ञानवयोवृद्धाः, **कारवः** मौरिवकीनां व्यावहारिकीणां च विद्यानां शिल्पिनः, **आयवः** कर्मयोगिनो गुरुजनाः। [यन्ति क्रियाशीला भवन्ति इति आयवः। 'छन्दसीणः' उ० १।२ इत्यनेन इण् गतौ धातोः उण् प्रत्ययः।] **वृष्णः** सुखवर्षकस्य ज्ञानस्य **हरसे** शिष्याणामन्तरात्मनि आहरणाय **मतीनाम्** शिष्यबुद्धीनाम् **द्वारा** द्वाराणि **अप ऋण्वन्ति** अपवृण्वन्ति ॥९॥

---

१. ऋ० ९।१०।५, 'जिन्वन्त' इत्यत्र 'जन्ति' इति पाठः ।
२. अण्वं वितन्वते सूक्ष्मं वितानं कुर्वन्ति-इति वि०। अभिषवचेलायामुपरमेषु शब्दं कुर्वन्ति-इति सा० ।
३. ऋ० ९।१०।६

भावार्थः– गुरवः शिष्यबुद्धीनाम् अपावृतानि द्वाराणि समुद्घाट्य तान् गम्भीरज्ञानग्रहणक्षमान् विधाय पण्डितान् कुर्युः ।।९।।

आगे फिर वही विषय कहा गया है ।

पदार्थ– **प्रत्नाः** पुरातन अर्थात् ज्ञान एवं आयु में वृद्ध **कारवः** मौखिक एवं व्यावहारिक विद्याओं के शिल्पकार **आयवः** कर्मयोगी गुरुलोग **वृष्णः** सुख वर्षी ज्ञान को **हरसे** शिष्यों के अन्तरात्मा में लाने के लिए **मतीनाम्** शिष्यों की बुद्धियों के **द्वारा** द्वारों को **अप ऋण्वन्ति** खोल देते है ।।९।।

भावार्थ– गुरुओं को चाहिए कि वे शिष्यों की बुद्धियों के बन्द द्वारों को खोलकर उन्हें गम्भीर ज्ञान के ग्रहण करने योग्य करके पण्डित बना दें ।।९।।

अथ पुनर्गुरुशिष्यविषयमाह ।

११२५. समीचीनास आशत होतारः सप्तजानयः । पदमेकस्य पिप्रतः ।।१०।।[1]

समीचीनास सम् ईचीनासः आशत होतारः सप्तजानयः सप्त जानयः ।
पदम् एकस्य पिप्रतः ।।१०।।

पदार्थः– **समीचीनासः** सम्यग् अध्यापनादिकर्मणि व्यापृताः, **सप्तजानयः** अग्नेः सप्त ज्वालाः जायाः जायावत् प्रियाः येषां ते अग्निहोत्रिणः इत्यर्थः । [जायाया निङ् । अ० ५।४।१३४ इत्यनेन जायाशब्दान्तस्य निङादेशः ।] **होतारः** विद्यायज्ञस्य होतृतुल्याः सोमाः । विद्वांसोगुरवः **एकस्य** अद्वितीयस्य परमेश्वरस्य **पदम्** स्वरूपम् **पिप्रतः** छात्राणामन्तःकरणे पूरयन्तः **आशत** विद्यागृहे व्याप्नुवन्ति ।। १०।।

भावार्थः– गुरुशिष्याः परस्परं मिलित्वा विद्यायज्ञं साध्नुवन्तु । विविधविद्यानामध्ययनाध्यापनेन सह ब्रह्मणः स्वरूपमपि साक्षात् कुर्वन्तु कारयन्तु च ।।१०।।

आगे फिर गुरु-शिष्य का विषय है ।

पदार्थ– **समीचीनासः** भली-भांति पढ़ाने आदि कार्य में तत्पर, **सप्तजानयः** अग्नि की सात ज्वालाएं जिन्हें पत्नी के समान प्रिय हैं अर्थात् जो अग्निहोत्री हैं ऐसे, **होतारः** विद्यायज्ञ के होता के समान विद्वान् गुरुलोग **एकस्य** एक परमेश्वर के **पदम्** स्वरूप को **पिप्रतः** छात्रों के अन्तःकरण में भरते हुए **आशत** विद्यागृह में कार्यरत रहते हैं ।।

अग्नि की सात ज्वालाएं मु० उप० १।२।४ में प्रोक्त 'काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुची समझनी चाहिएं ।।१०।।

भावार्थ– गुरु-शिष्य आपस में मिलकर विद्या-यज्ञ को सिद्ध करें, और विविध विद्याओं के पढ़ने-पढ़ाने के साथ ब्रह्म के स्वरूप को भी साक्षात् करें तथा करायें ।।१०।।

अथ गुरुप्रोक्तेन मार्गेण परमात्मसाक्षात्कारमाह ।

११२६. नाभा नाभिं न आ ददे चक्षुषा सूर्यं दृशे । कवेरपत्यमा दुहे ।।११।।[2]

नाभा नाभिम् नः आ ददे । चक्षुषा सूर्यम् दृशे । कवेः अपत्यम् आ दुहे ।।११।।

---

१. ऋ० ९।१०।७, 'आशत', 'सप्तजानयः' इत्यत्र 'आसते', 'सप्तजामयः' ।
२. ऋ० ९।१०।८, चक्षुश्चित् सूर्ये सचा इति द्वितीयः पादः ।

पदार्थः— अहम् गुरुणा निर्दिष्टेन उपायेन **नाभा** नाभौ केन्द्रभूते अन्तरात्मनि । [सुपां सुलुक्० । अ० ७।१।३९ । इति सप्तम्येकवचनस्य डादेशः।] **नः** अस्माकम् **नाभिम्** केन्द्रभूतं परमात्मानम् **आ ददे** गृह्णामि । **चक्षुषा** अन्तर्नेत्रेण **सूर्यम्** सूर्यप्रभं तं परमात्मानम् **दृशे** द्रष्टुम् प्रभवामि इति शेषः । **कवेः** काव्यकर्तुः सोमस्य परमेश्वरस्य **अपत्यम्** सन्तानं वेदकाव्यम् **आ दुहे** आ दोह्मि ॥११॥

भावार्थः— आचार्यद्वारा वेदार्थदोहनकलां शिक्षित्वा ये वेदार्थान् दुहन्ति, वेदप्रतिपाद्यं परमेश्वरं चाराध्नुवन्ति तेषां जीवनं सफलं जायते ॥११॥

अगले मन्त्र में गुरु के बताये मार्ग द्वारा परमात्मा के साक्षात्कार का वर्णन है ।

पदार्थ— मैं गुरु द्वारा निर्दिष्ट उपाय से **नाभा** केन्द्रभूत अन्तरात्मा में **नः** अपने **नाभिम्** केन्द्रभूत परमात्मा को **आ ददे** ग्रहण करता हूं, **चक्षुषा** अन्दर की आंख से **सूर्यम्** सूर्यसम प्रभावान् उस परमात्मा को **दृशे** देखने के लिए, समर्थ होता हूं । **कवे** कवि सोम परमात्मा की **अपत्यम्** सन्तान वेदकाव्य को **आ दुहे** दुहता हूं॥११॥

भावार्थ— आचार्य द्वारा वेद दुहने की कला को सीखकर जो वेदार्थों को दुहते हैं और वेदप्रतिपाद्य परमेश्वर की आराधना करते हैं,उनका जीवन सफल हो जाता है ॥११॥

अथ पुनः परमात्मसाक्षात्कारं वर्णयति ।।

३ २ ३२ ३२ ३१२ ३२ ३१ २ ३२ १२ ३ १ २
११२७. अभि प्रियं दिवस्पदमध्वर्युभिर्गुहा हितम् । सूरः पश्यति चक्षसा ॥१२॥[1]

२ ३२ ३२ ३२ ३ १ २ १२२ ३२ १२२ ३ १ २२
अभि प्रियम् दिवः पदम् । अध्वर्युभिः गुहा हितम् । सूरः पश्यति चक्षसा ॥१२॥

पदार्थः— **प्रियम्** प्रीतिपात्रम्, **दिवः** द्युलोकस्य **पदम्** प्रतिष्ठापकम्, **गुहा हितम्** गुहायां निहितम्, गुह्यं सोमं परमात्मानम् **अध्वर्युभिः** योगयज्ञस्य अध्वर्युभूतैः योगप्रशिक्षकैः गुरुभिः शिक्षितः सन् **सूरः** प्राज्ञः उपासकः **चक्षसा** अन्तर्दृष्ट्या **अभिपश्यति** साक्षात्करोति ॥१२॥

भावार्थः— सुयोग्यैर्योगप्रशिक्षकैर्गुरुभिर्योगमभ्यस्योपासकजनाश्चर्मचक्षुर्भ्यामदृश्यं सर्वान्तर्यामिनं परमात्मानमनुभवितुं समर्था जायन्ते ॥१२॥

अस्मिन् खण्डे गुरुशिष्यविषयस्य गुरुप्रदर्शितमार्गेण परमात्मसाक्षात्कारस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

आगे पुनः परमात्मा के साक्षात्कार का वर्णन है ।

पदार्थ— **प्रियम्** प्रिय, **दिवः** द्युलोक के **पदम्** प्रतिष्ठापक, **गुहा हितम्** गुफा में निहित अर्थात् गुह्य सोम नामक परमात्मा को **अध्वर्युभिः** योग-यज्ञ के अध्वर्यु-रूप योगप्रशिक्षक गुरुओं के द्वारा शिक्षा दिया हुआ **सूरः** विद्वान् उपासक **चक्षसा** अन्तर्दृष्टि से **अभि पश्यति** साक्षात्कार कर लेता है ॥१२॥

भावार्थ— सुयोग्य योगप्रशिक्षक गुरुओं से योग का अभ्यास करके उपासक जन चर्म-चक्षुओं से अदृश्य, सर्वान्तर्यामी परमात्मा की अनुभूति पाने में समर्थ हो जाते हैं ॥१२॥

इस खण्ड में गुरु-शिष्य विषय का तथा गुरु द्वारा प्रदर्शित मार्ग से परमात्मा के साक्षात्कार का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

अष्टम अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ।।

---

१. ऋ० ९।१०।९ 'प्रियं' इत्यत्र 'प्रिया' इति पाठः ।

॥२॥ अथ 'असृग्रमिन्दवः' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य द्वादशर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** १-९ असितः काश्यपो देवलो वा, १०-१२ भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ विदुषां विषयमाह ।

११२८. असृग्रमिन्दवः पथा धर्मन्नृतस्य सुश्रियः । विदाना अस्य योजना ॥१॥[1]

असृग्रम् इन्दवः पथा । धर्मन् ऋतस्य सुश्रियः सु श्रियः ।
विदानाः अस्य योजना ॥१॥

पदार्थः— **सुश्रियः** सुशोभाः, **इन्दवः** तेजस्विनः, ज्ञानरसेन क्लेदकाः विद्वांसो गुरवः **ऋतस्य पथा** सत्यस्य मार्गेण **धर्मन्** धर्मे । [धर्मणि इति प्राप्ते 'सुपां सुलुक्० । अ० ७।१।३९ इत्यनेन विभक्तेर्लुक्।] **असृग्रम्** सृज्यन्ते, तत्परा भवन्ति, यतः ते **अस्य** धर्ममार्गस्य **योजना** योजनानि, क्रियान्वयनपद्धतीः [अत्र शेर्लोपः।] **विदानाः** जानानाः भवन्ति ॥१॥

भावार्थः— विद्वांसो जनाः स्वयमपि सत्यस्य धर्मस्य च मार्गे चलन्तु, योजना निर्मायान्यानपि च तस्मिन् मार्गे प्रवर्तयन्तु ॥१॥

प्रथम मन्त्र में विद्वानों का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— **सुश्रियः** उत्तम श्री वाले, **इन्दवः** तेजस्वी, ज्ञानरस से भिगोने वाले विद्वान् गुरु लोग **ऋतस्य पथा** सत्य के मार्ग से **धर्मन्** धर्म में **असृग्रम्** तत्पर होते हैं, क्योंकि वे **अस्य** इस धर्ममार्ग की **योजना** क्रियान्वयन-पद्धतियों को **विदानाः** जानते हैं ॥१॥

भावार्थ— विद्वान् लोग स्वयं भी सत्य और धर्म के मार्ग में चलें तथा योजनाएं बनाकर दूसरों को भी उस मार्ग पर चलाएं ॥१॥

अथ पुनरपि विद्वद्विषय एवोच्यते ।

११२९. प्र धारा मधो अग्रियो महीरपो वि गाहते । हविर्हविःषु वन्द्यः ॥२॥[2]

प्र धारा मधोः अग्रियः । महीः अपः वि गाहते । हविः हविःषु वन्द्यः ॥२॥

पदार्थः— **अग्रियः** अग्रेभवः श्रेष्ठः, **हविःषु** हविष्प्रदातृषु **हविः** उत्कृष्टो हविष्प्रदाता, **वन्द्यः** वन्दनीयः सोमः ज्ञानस्य अभिषोता विद्वान् **महीः अपः** महान्ति कर्माणि **वि गाहते** आलोडयति, ज्ञानानुकूलं कर्माण्याचरतीत्यर्थः। तस्य सकाशात् **मधोः** मधुरस्य ज्ञानरसस्य **धारा** नदी **प्र** प्रवहति । [उपसर्ग-बलाद् योग्यक्रियाध्याहारः, संहितायां 'मधोः' इत्यस्य विसर्गलोपश्छान्दसः] ॥२॥

भावार्थः— स एव विद्वान् प्रशस्यो यो ज्ञानानुकूलं कर्माण्यप्याचरति, सर्वेभ्यश्च ज्ञानस्य मधुरा धाराः प्रवाहयति ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः विद्वान् का विषय है ।

---

१. ऋ० ९।७।१, 'योजनम्' इति पाठः ।
२. ऋ० ९।७।२, 'मध्वो', 'हविष्षु' इति पाठः।

पदार्थ– **अग्रियः** अगुआ श्रेष्ठ, **हविःषु** हवि देने वालों में **हविः** उत्कृष्ट हवि देने वाला, **वन्द्यः** वन्दनीय सोम अर्थात् ज्ञान के उत्पादक विद्वान् **महीः** अपः महान् कर्मों को **विगाहते** आलोडित करता है अर्थात् ज्ञान के अनुकूल कर्मों का आचरण करता है । उसके पास से **मधोः** मधुर ज्ञानरस की **धारा** धारा **प्र** प्रवाहित होती है॥२॥

भावार्थ– वही विद्वान् प्रशंसनीय है जो ज्ञान के अनुकूल कर्म भी करता है और सबके लिए ज्ञान की मधुर धाराएं बहाता है ॥२॥

अथ कीदृशो गुरुः किं करोतीत्याह ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
११३०. प्र युजा वाचो अग्रियो वृषा अचिक्रदद्वने । सद्मा भि सत्यो अध्वरः ॥३॥[1]

२ ३ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ १२र १ २र ३ २ ३ २ ३ २
प्र युजा वाचः अग्रियः । वृषा उ अचिक्रदत् वने । सद्म अभि सत्यः अध्वरः ॥३॥

पदार्थः– **अग्रियः** अग्रे भवः श्रेष्ठः, **वृषा**[2] ज्ञानवर्षकः, **सत्यः** सत्यनिष्ठ, **अध्वरः** यज्ञमयजीवनः, सोमः विद्वान् गुरुः **वने** अरण्ये **सद्म अभि** गुरुकुलगृहे **वाचः युजा** वाण्याः योगेन **उ** निश्चयेन **प्र अचिक्रदत्** प्रक्रन्दति, शिष्यान् कर्तव्यानि उपदिशति ॥३॥

भावार्थः– उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनां गुरुकुलानि संचालयन्तः सत्यनिष्ठा गुरवः शिष्यानध्याप्य विदुषः कर्तव्य-परायणान् सदाचारिणश्च कुर्युः ॥३॥

अगले मन्त्र में यह बताया गया है कि कैसा गुरु क्या करता है ।

पदार्थ– **अग्रियः** श्रेष्ठ, **वृषा** ज्ञान की वर्षा करने वाला, **सत्यः** सत्यनिष्ठ, **अध्वरः** यज्ञमय जीवन वाला विद्वान् गुरु **वने** जंगल में **सद्म अभि** गुरुकुल रूप घर में **वाचः युजा** वाणी के योग से **उ** निश्चय ही **प्र अचिक्रदत्** शिष्यों को कर्तव्यों का उपदेश करता है ॥३॥

भावार्थ– पर्वतों के एकान्त में नदियों के संगम पर गुरुकुलों का संचालन करते हुए सत्यनिष्ठ गुरु शिष्यों को पढ़ाकर विद्वान्, कर्तव्यपरायण और सदाचारी करें ॥३॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

२ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १र २र २र ३ १ २
११३१. परि यत्काव्या कविर्नृम्णा पुनानो अर्षति । स्वर्वाजी सिषासति ॥४॥[3]

१ २र १ २र ३ २ ३ २ ३ २ १२र १ २ ३ २ ३
परि यत् काव्या कविः । नृम्णा पुनानः अर्षति । स्वः वाजी सिषासति ॥४॥

पदार्थः– **कविः** क्रान्तद्रष्टा मेधावी कविहृदयः सोमः विद्वान् आचार्यः **नृम्णा** नृम्णानि बलानि **पुनानः** पवित्रयन् **यत्** यदा **काव्या** वेदादिकाव्यानि **परि अर्षति** व्याख्याति, तदा **वाजी** बलविज्ञानवान् सः शिष्येभ्यः **स्वः** आनन्दम् **सिषासति** प्रदातुमिच्छति। [षण सम्भक्तौ षणु दाने वा धातोः सनि रूपम्] ॥४॥

---

१. ऋ० ९।७।३, 'प्र युजो वाचो अग्रियो वृषाव चक्रद्वने' इति पूर्वार्धपाठः ।

२. 'वृषो अचिक्रदत्' इति मूलस्य 'वृषः अचिक्रदत्' इति छेदमवलम्ब्य व्याचष्टे सायणः, परमेष पदग्रन्थविरुद्धः, तत्र 'वृषा उअचिक्रदत्' इति छेददर्शनात्। अत एव विवरणकार आह- वृषा सेक्ता, उ इति पदपूरणः इति– इति सामश्रमी ।

३. ऋ० ९।७।४, 'पुनानो' इत्यत्र 'वसानो'।

भावार्थः— विदुष आचार्यस्य वेदादिशास्त्रव्याख्यानं शिष्येभ्यः परमानन्दकरं ज्ञानवर्धकं च जायते।।४।।

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ— कविः क्रान्तद्रष्टा, बुद्धिमान्, कविहृदय, विद्वान् आचार्य **नृम्णा** बलों को **पुनानः** पवित्र करता हुआ **यत्** जब **काव्या** वेदादि काव्यों की **परि अर्षति** व्याख्या करता है, तब **वाजी** बलवान् और विज्ञानवान् वह, शिष्यों को **स्वः** आनन्द **सिषासति** प्रदान करना चाहता है।।४।।

भावार्थ— विद्वान् आचार्य की वेदादिशास्त्रों की व्याख्या शिष्यों को परमानन्द देने वाली और उनकी ज्ञानवृद्धि करने वाली होती है ।।४।।

अथ पुनर्गुरुशिष्यविषयमेवाह ।

११३२. पवमानो अभि स्पृधो विशो राजेव सीदति । यदीमृण्वन्ति वेधसः ।।५।।[1]

पवमानः अभि स्पृधः । विशः राजा इव सीदति । यत् ईम् ऋण्वन्ति वेधसः ।।५।।

पदार्थः— यत् यदा **ईम्** एनम् आचार्यम् **वेधसः** विद्वांस अन्ये गुरवः **ऋण्वन्ति** प्राप्नुवन्ति, तदा अयम् **विशः** प्रजाजनान् राजा इव नृपतिरिव, शिष्यान् **पवमानः** पवित्राचरणान् कुर्वन् **स्पृधः** स्पर्धमानान् विद्यायागविघ्नकारिणः **अभि सीदति** अभिभवति ।।५।।

अत्रोपमालङ्कारः।।५।।

भावार्थः— आचार्य इतरेषां सुयोग्यानां गुरुजनानां साहाय्येनैव छात्रान् विदुषः पवित्रहृदयांश्च कर्तुं पारयति ।।५।।

आगे फिर गुरु-शिष्य का ही विषय है ।

पदार्थ— यत जब **ईम्** इस आचार्य को **वेधसः** अन्य विद्वान् गुरु **ऋण्वन्ति** प्राप्त होते हैं, तब यह **विशः** प्रजाओं को **राजा इव** जैसे राजा, वैसे **पवमानः** पवित्र आचरण वाला करता हुआ **स्पृधः** विद्यायज्ञ में विघ्न डालने वाले स्पर्धालुओं को **अभि सीदति** दूर कर देता है ।।५।।

यहां उपामालंकार है ।।५।।

भावार्थ— आचार्य दूसरे सुयोग्य गुरुजनों की सहायता से ही छात्रों को विद्वान् और पवित्र हृदय वाला करने में समर्थ होता है ।।५।।

अथ पुनस्तमिव विषमाह ।

११३३. अव्या वारे परि प्रियो हरिर्वनेषु सीदति । रेभो वनुष्यते मति ।।६।।[2]

अव्याः वारे परि प्रियः । हरिः वनेषु सीदति । रेभः वनुष्यते मति ।।६।।

पदार्थः— प्रियः प्रीतियोग्यः, **हरिः** चित्ताकर्षको दोषाणामपहर्ता च आचार्यः **अव्याः वारे** पृथिव्याः वृते स्थाने **वनेषु** अरण्यस्य एकान्तप्रदेशेषु **परि सीदति** तिष्ठति । **रेभः** विद्योपदेशकः सः। [रेभते इति रेभः, रेभृ शब्दे

---

१. ऋ० ९।७।५।

२. ऋ० ९।७।६, 'अव्यो वारे' इति पाठः।

भ्वादिः ।] **मती** मत्या **वनुष्यते** विद्याविघ्नान् विनाशयति । [वनुष्यतिः हन्तिकर्माऽनवगतसंस्कारो भवति । निरु० ५।२।] ॥६॥

भावार्थः– विद्यायज्ञाय वनस्यैकान्तप्रदेश एव वरणीयो यत्र विघ्नकराणि नागरिकाणि प्रलोभनानि न भवेयुः ॥६॥

आगे पुनः वही विषय है ।

पदार्थ– प्रियः प्रियः, **हरिः** चित्त को हरने वाला वा दोषों को दूर करने वाला आचार्य **अव्याः वारे** पृथिवी के चुने हुए स्थान पर **वनेषु** एकान्त जंगलों में **परि सीदति** स्थित होता है । **रेभः** विद्या का उपदेष्टा वह **मती** मति से **वनुष्यते** विद्या के विघ्नों को नष्ट करता है ॥६॥

भावार्थ– विद्यारूप यज्ञ के लिए वन का एकान्त प्रदेश ही चुनना चाहिए, जहां विद्या में विघ्न डालने वाले नगरों के प्रलोभन न हों ॥६॥

अथ पुनर्गुरुशिष्यविषय उच्यते ।।

११३४. स वायुमिन्द्रमश्विना साकं मदेन गच्छति । रणा यो अस्य धर्मणा ॥७॥[1]

सः वायुम् इन्द्रम् अश्विना । साकम् मदेन गच्छति । रण यः अस्य धर्मणा ॥७॥

पदार्थः– **यः** शिष्यः **अस्य** सोमस्य विद्याप्रेरकस्य आचार्यस्य **धर्मणा** नियमेन **रण** रणति चलति । [रण शब्दार्थः गत्यर्थश्च, भ्वादिः । अत्र तिब्लोपश्छान्दसः ।] **सः** शिष्यः **मदेन साकम्** उत्साहेन सह **वायुम्** प्राणविद्यां पवनविद्यां वा, **इन्द्रम्** आत्मविद्यां विद्युद्विद्यां वा, **अश्विना** मनोबुद्धिविद्यां सूर्यचन्द्रविद्यां वा **गच्छति** प्राप्नोति ॥७॥

भावार्थः– शिष्यैः समर्पणभावेन गुरूणां संरक्षणे निवसद्भिः सर्वा विद्या अधीत्य वायुविद्युदादिप्रयोगेण यानयन्त्रादीनि चालनीयानि सर्वं भूगोलखगोलज्ञानं प्राप्तव्यमाध्यात्मिक्यः सिद्धयश्च सम्पादनीयाः ॥७॥

अगले मन्त्र में फिर गुरु-शिष्य का विषय है ।

पदार्थ– यः जो शिष्य **अस्य** इस सोम के अर्थात् विद्याप्रेरक आचार्य के **धर्मणा** नियम से **रण** चलता है, **सः** वह शिष्य **मदेन साकम्** उत्साह के साथ **वायुम्** प्राणविद्या वा पवनविद्या को, **इन्द्रम्** आत्मविद्या वा विद्युद्विद्या को, और **अश्विना** मन-बुद्धि की विद्या वा सूर्य-चन्द्र की विद्या को **गच्छति** प्राप्त कर लेता है ॥७॥

भावार्थ– शिष्यों को चाहिए कि समर्पण भाव से गुरुओं के संरक्षण में रहते हुए सब विद्याएं पढ़कर वायु, बिजली आदि के प्रयोग से यान, यन्त्र आदि चलाएं, सब भूगोल-खगोल का ज्ञान प्राप्त करें और आध्यात्मिक सिद्धियां पाएं ॥७॥

अथ ज्ञानस्य ब्रह्मानन्दस्य च विषयो वर्ण्यते ।

११३५. आ मित्रे वरुणे भगे मधोः पवन्त ऊर्मयः । विदाना अस्य शक्मभिः ॥८॥[2]

आ मित्रे मित्रे वरुणे भगे । मधोः पवन्ते ऊर्मयः । विदानाः अस्य शक्मभिः ॥८॥

पदार्थः– **मधोः** मधुरस्य ज्ञानरसस्य ब्रह्मानन्दरसस्य वा **ऊर्मयः** तरङ्गा **मित्रे** मित्रभूते जीवात्मनि, **वरुणे** दोषनिवारके मनसि, **भगे** सेवनीये प्राणे च **आ पवन्ते** आगच्छन्ति । **विदानाः** तान् तरङ्गान् प्राप्नुवन्तो जनाः

---

१. ऋ० ९।७।७, 'धर्मणा' इत्यत्र धर्मभिः ।

२. ऋ० ९।७।८, 'आ मित्रावरुणा भगं मध्वः पवन्त ऊर्मयः इति पूर्वार्धपाठः ।

अस्य मधुरस्य ज्ञानस्य ब्रह्मानन्दस्य वा **शक्मभिः**[1] सामर्थ्यैः, युज्यन्ते इति शेषः। [शक्लृ शक्तौ 'अशिशकिभ्यां छन्दसि' उ० ४।१४८ इति मनिन्।] ॥८॥

भावार्थः— ज्ञानस्य ब्रह्मानन्दस्य वा तरङ्गैः शरीररथं सर्वमपि मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियादिकं रोम रोम च तरङ्गायते ॥८॥

अब ज्ञान तथा ब्रह्मानन्द का विषय वर्णित करते हैं।

पदार्थ— मधोः मधुर ज्ञान-रस वा ब्रह्मानन्द-रस की **ऊर्मयः** तरंगें **मित्रे** मित्रभूत जीवात्मा में, **वरुणे** दोषनिवारक मन में, और **भगे** सेवनीय प्राण में **आ पवन्ते** आती हैं। **विदानाः** उन तरंगों को प्राप्त करने वाले लोग **अस्य** इस मधुर ज्ञान वा ब्रह्मानन्द की **शक्मभिः** शक्तियों से युक्त हो जाते हैं ॥८॥

भावार्थ— ज्ञान वा ब्रह्मानन्द की तरंगों से शरीर में स्थित सब कुछ मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियां आदि और रोम-रोम तरंगित हो जाता है ॥८॥

अथ पुनरपि ज्ञानस्य ब्रह्मानन्दस्य च विषयमाह ।

३ १ २ ३ २ड ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
११३६. अस्मभ्यं रोदसी रयिं मध्वो वाजस्य सातये। श्रवो वसूनि सञ्जितम् ॥९॥[2]

३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २र १ २र ३ १ २ १ २र १ २र ३
अस्मभ्यम् रोदसीइति रयिम्। मध्वः वाजस्य सातये। श्रवः वसूनि सम् जितम् ॥९॥

पदार्थः— हे **रोदसी** आत्ममनसी! युवाम् **मध्वः** मधुरस्य सोमस्य ज्ञानरसस्य आनन्दरसस्य चेत्यर्थः **सातये** प्राप्तये **अस्मभ्यम्** नः **रयिम्** भौतिकं रजतहिरण्यादिकं धनम्, **श्रवः**[3] यशः शास्त्रश्रवणं च, **वसूनि** आध्यात्मिकानि धारणाध्यानसमाधियोगसिद्धि विवेकख्याति प्रभृतानि धनानि च **संजितम्** संजयतम् ॥९॥

भावार्थः— ज्ञाने ब्रह्मानन्दे वा मनो निवेशयितुं पूर्वं धनधर्मादीनामुपार्जनमपेक्ष्यते ॥९॥

आगे पुनः ज्ञान और ब्रह्मानन्द का ही विषय है ।

पदार्थ— हे **रोदसी** आत्मा और मन! तुम दोनों **मध्वः** मधुर सोम की अर्थात् ज्ञानरस और आनन्दरस की **सातये** प्राप्ति के लिए **अस्मभ्यम्** हमारे लिए **रयिम्** भौतिक चांदी, सोना आदि धन, **श्रवः** यश वा शास्त्रश्रवण, और **वसूनि** आध्यात्मिक धारणा, ध्यान, समाधि, योगसिद्धि, विवेकख्याति आदि धन **संजितम्** जीतो ॥९॥

भावार्थ— ज्ञान वा ब्रह्मानन्द में मन लगाने के लिए पहले धन, धर्म आदि का उपार्जन अपेक्षित होता है॥९॥

दशमी ऋक् पूर्वार्चिके ४९८ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता। अत्र जगदीश्वर आचार्यश्च सम्बोध्यते।।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
११३७. आ ते दक्षं मयोभुवं वह्निमद्या वृणीमहे। पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥१०॥[4]

२ ३ १ २र ३ १ २ ३ १२र १ २र ३ २ ३ २ ३
आ ते दक्षम् मयोभुवम् मयः भुवम्। वह्निम् अद्य अद्य वृणीमहे।

१ २र ३ १ २ १ १२र
पान्तम् आ पुरुस्पृहम् पुरु स्पृहम् ॥१०॥

---

१. शक्मभिः सुखैः इति सा०। शक्तैः कर्मभिः इति वि०

२. ऋ० ९।७।९

३. श्रवः अन्नं यशो बलं वा- इति वि०

४. ऋ० ९।६५।२८, साम० ४९८

पदार्थः– हे पवमान सोम पवित्रतादायक विद्यासद्गुणादिप्रेरक जगदीश्वर आचार्य वा! वयम् **ते** तव **मयोभुवम्** सुखजनकम्, **वह्निम्** जीवनरथस्य वाहकम्, **पान्तम्** रक्षकम्, **पुरुस्पृहम्** बहुस्पृहणीयम् **दक्षम्** विद्याबलं धर्मबलं चारित्र्यबलं च **अद्य** अस्मिन् दिने **आ वृणीमहे** संभजामहे ॥१०॥

भावार्थः– परमात्मन आचार्याच्च गृहीतानि विद्याधर्मतपस्तेजो ब्रह्मवर्चससच्चारित्र्यादिबलानि शिष्याणां कल्याणकराणि जायन्ते ॥१०॥

दसवीं ऋचा पूर्वार्चिक में ४९८ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां जगदीश्वर और आचार्य को सम्बोधन किया जा रहा है ।

पदार्थ– हे पवमान सोम अर्थात् पवित्रतादायक, विद्या, सद्गुणों आदि के प्रेरक जगदीश्वर वा आचार्य! हम **ते** आपके **मयोभुवम्** सुखजनक, **वह्निम्** जीवनरथ को आगे ले जाने वाले, **पान्तम्** रक्षक, **पुरुस्पृहम्** बहुत चाहने योग्य **दक्षम्** विद्याबल, धर्मबल और सच्चरित्रता के बल को **अद्य** आज **आ वृणीमहे** पाना चाहते हैं॥१०॥

भावार्थ– परमात्मा और आचार्य से ग्रहण किये गए विद्या, धर्म, तप, तेज, ब्रह्मवर्चस, सच्चरित्रता आदि के बल शिष्यों का कल्याण करने वाले होते हैं॥१०॥

अथ पुनराचार्यविषयं परमात्मविषयं चाह ।

११३८. आ मन्द्रमा वरेण्यमा विप्रमा मनीषिणम् । पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥११॥[1]

आ मन्द्रम् आ वरेण्यम् । आ विप्रम् वि प्रम् आ मनीषिणम् ।
पान्तम् आ पुरुस्पृहम् पुरु स्पृहम् ॥११॥

पदार्थः– हे सोम ज्ञानरसस्य ब्रह्मानन्दरसस्य वा प्रेरक परमात्मन् आचार्य वा! वयम् **मन्द्रम्** आनन्दकरं त्वाम् **आ** आवृणीमहे, **वरेण्यम्** वरणीयं त्वाम् **आ** आवृणीमहे, **विप्रम्** विशेषेण प्राति धनधान्यविद्यारोग्यादिभिः पूरयतीति तादृशं त्वाम् **आ** आवृणीमहे, **मनीषिणम्** मेधाविनं प्राज्ञं त्वाम् **आ** आवृणीमहे, **पान्तम्** विघ्नविपद्विद्यादिभ्यो रक्षकम् **पुरुस्पृहम्** बहुस्पृहणीयं च त्वाम् **आ** आ-वृणीमहे । [आ इत्यस्यावृत्तौ वृणीमहे इति पूर्वमन्त्रादाकृष्यते] ॥११॥

भावार्थः– असंख्यगुणगणविभूषितं शुभगुणकर्मस्वभावं विपत्तिविदारकं संपत्प्रदातारं विद्यानन्दादिप्रदं सरसं सोमं परमात्मानमाचार्यं च वृत्वा समुपास्य सत्कृत्य चापरिमिता लाभाः सर्वैः प्राप्तव्याः ॥११॥

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा और आचार्य का विषय है ।

पदार्थ– हे सोम अर्थात् ज्ञानरस वा ब्रह्मानन्द-रस के प्रेरक परमात्मन् वा आचार्य! हम **मन्द्रम्** आनन्दप्रदायक आपको **आ** वरते हैं, **वरेण्यम्** वरणीय आपको **आ** वरते हैं, **विप्रम्** विशेष रूप से

---

१. ऋ० ९।६५।२९।

धन-धान्य-विद्या-आरोग्य आदियों से पूर्ण करने वाले आपको **आ** वरते हैं, **मनीषिणम्** मनीषी आपको **आ** वरते हैं, **पान्तम्** विघ्न, विपत्ति, अविद्या आदि से रक्षा करने वाले और **पुरुस्पृहम्** बहुत स्पृहणीय आपको **आ** वरते हैं। [यहां आ की बार-बार आवृत्ति की गयी है। उसके साथ 'वृणीमहे' पद पूर्वमन्त्र से आ जाता है]।।११।।

भावार्थ— असंख्य गुणों से विभूषित, शुभ गुण-कर्म-स्वभाव वाले, विपत्तियों को दूर करने वाले, संपत्तिप्रदाता, विद्या-आनन्द आदि प्राप्त कराने वाले, सरस सोम-नामक परमात्मा और आचार्य को वर कर, उपासना और सत्कार करके अपरिमित लाभ सबको प्राप्त करने चाहिएं ।।११।।

अथ पुनरपि परमात्मन आचार्यस्य च विषयो वर्ण्यते ।

२ ३ १र २र३ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २ १२

११३९. **आ रयिमा सुचेतुनमा सुक्रतो तनूष्वा । पान्तमा पुरुस्पृहम् ।।१२।।**[1]

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२

आ रयिम् आ सुचेतुनम् सु चेतुनम् । आ सुक्रतो सु क्रतो तनूषु आ ।

१ २र ३ १ २ ३ १२र

पान्तम् आ पुरुस्पृहम् पुरु स्पृहम् ।।१२।।

पदार्थः— हे **सुक्रतो** सुप्रज्ञ सुकर्मन् परमात्मन् आचार्य वा! त्वम् **आ** आयाहि। वयम् त्वत् **रयिम्** धनम् **आ** आवृणीमहे। **सुचेतुनम्** सुज्ञानम् । [चिती संज्ञाने, भावे औणादिक उनन्प्रत्ययः ।] **आ** आवृणीमहे, **तनूषु** शरीरेषु, शरीराणां हितायेत्यर्थः त्वाम् **आ** आवृणीमहे । **पान्तम्** रक्षकम् **पुरुस्पृहम्** बहुस्पृहणीयं च त्वाम् **आ** आवृणीमहे।।१२।।

भावार्थः— परमात्मानमाचार्यं च संसेव्य सर्वैर्धनज्ञानजागरूकतास्वास्थ्यादिसम्पत्तिः प्रापणीया ।।१२।।

अस्मिन् खण्डे विदुष आचार्यस्य परमात्मनो ब्रह्मानन्दस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्तीति वेद्यम् ।।

आगे फिर परमात्मा और आचार्य का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे **सुक्रतो** शुभ ज्ञान वाले वा शुभकर्मों वाले परमात्मन् और आचार्य! आप **आ** हमारे पास आओ । हम आपसे **रयिम्** धन **आ** पाना चाहते हैं, **सुचेतुनम्** उत्कृष्ट ज्ञान **आ** पाना चाहते हैं। **तनूषु** शरीरों के हित के लिए, हम आपको **आ** पाना चाहते हैं। **पान्तम्** रक्षा करने वाले तथा **पुरुस्पृहम्** बहुत स्पृहणीय आपको **आ** पाना चाहते हैं ।।१२।।

भावार्थ— परमात्मा और आचार्य का सेवन करके सबको धन, ज्ञान, जागरूकता, स्वास्थ्य आदि की सम्पत्ति प्राप्त करनी चाहिए ।।१२।।

इस खण्ड में विद्वान् आचार्य, परमात्मा और ब्रह्मानन्द का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्वखण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ।।

अष्टम अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ।

---

१. ऋ० ९।६५।३० ।

।।३।। अथ 'मूर्धानं दिवो' इत्यादिकस्य तृतीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भारद्वाजो बार्हस्पत्यः। **देवता** वैश्वानरः। **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ६७ क्रमाङ्के परमात्मसाक्षात्कारविषये व्याख्याता। अत्र पुनरपि तमेव विषयमाह ।

११४०. ३ १२ ३ १ २३ १ २ ३ १ २ ३२ ३२उ ३ २ ३ २
मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्नः पात्रं जनयन्त देवाः ।।१।।[1]

३ १२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३२ ३२ ३ २
मूर्धानम् दिवः अरतिम् पृथिव्याः । वैश्वानरम् वैश्व नरम् ऋते आ जातम् अग्निम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १२र १ २र १ २र
कविम् सम्राजम् सम् राजम् अतिथिम् जनानाम् ।
३ २ ३ १२र ३ २
आसन् नः पात्रम् जनयन्त देवाः ।।१।।

पदार्थः— **मूर्धानम्** मूर्धवत् सर्वोपरि विराजमानम्, **दिवः** सूर्यस्य **पृथिव्याः** धरित्र्याश्च **अरतिम्** स्वामिनम्। [ऋच्छति गच्छति स्वामित्वेन यः तम् । ऋ गतौ धातोः औणादिकः अतिप्रत्ययः।] **वैश्वानरम्** विश्वेषां नेतारम्, **ऋते** यज्ञे **आ जातम्** सर्वत्र प्रसिद्धम्, **कविम्** वेदकाव्यस्य कर्तारम् **सम्राजम्** ब्रह्माण्डस्य राजराजेश्वरम्, **जनानाम्** मनुष्याणाम् **अतिथिम्** अतिथिवत् पूज्यम्, **नः** अस्माकम् **पात्रम्** पातारम् **अग्निम्** अग्रनेतारं परमेश्वरम् **देवाः** विद्वांसः उपासका जनाः **आसन्** आस्ना मुखेन प्रणवजपविधिना **जनयन्त** जनयन्ति, अन्तरात्मनि प्रकटयन्ति । [आसन् आस्ना, तृतीयैकवचने 'सुपां सुलुक्० अ० ७।१।३९ इत्यनेन विभक्तेर्लुक्] ।।१।।[2]

भावार्थः— विश्ववन्द्यं निखिलशुभगुणकर्मस्वभावं विश्वस्य सम्राजं परमात्मानं विदित्वा स्तुत्वा समुपास्य च मनुष्यैरात्मनः परेषां चोन्नतिः साधनीया ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ६७ क्रमांक पर परमात्मा के साक्षात्कार के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां भी वही विषय है ।

पदार्थ— **मूर्धानम्** मूर्धा के समान सर्वोपरि विराजमान, **दिवः** सूर्य के और **पृथिव्याः** पृथिवी के **अरतिम्** स्वामी, **वैश्वानरम्** सबके नेता, **ऋते** यज्ञ में **आ जातम्** सर्वत्र प्रसिद्ध, **कविम्** वेदकाव्य के कवि, **सम्राजम्** ब्रह्माण्ड के राजराजेश्वर, **जनानाम्** मनुष्यों के **अतिथिम्** अतिथि के समान पूज्य, **नः** हमारे **पात्रम्** पालनकर्ता **अग्निम्** अग्रनायक परमेश्वर को **देवाः** विद्वान् उपासक जन **आसन्** मुख से प्रणव-जप आदि करके **जनयन्त** अन्तरात्मा में प्रकट करते हैं।।१।।

भावार्थ— सबके वन्दनीय, सब शुभ गुण-कर्म-स्वभावों से युक्त, विश्व के सम्राट् परमात्मा को जानकर, उसकी स्तुति और उपासना करके मनुष्यों को अपनी और दूसरों की उन्नति सिद्ध करनी चाहिए ।।१।।

---

१. ऋ० ६।७।१, य० ७।२४, ३३।८, सर्वत्र 'मासन्ना' इति पाठः । साम० ६७ ।

२. दयानन्दर्षिणा ऋग्यजुर्भाष्ये गोर्मन्त्र एष परमात्मपक्षे विद्वत्पक्षे भौतिकाग्निपक्षे विद्युत्पक्षे च व्याख्यातः ।

अथ परमात्मनो मोक्षस्य च विषयो वर्ण्यते ।

११४१ . त्वां विश्वे अमृत जायमानं शिशुं न देवा अभि सं नवन्ते ।
तव क्रतुभिरमृतत्वमायन् वैश्वानर यत्पित्रोरदीदेः ।।२।।[1]

त्वाम् विश्वे अमृत अ मृत जायमानम् । शिशुम् न देवाः अभि सम् नवन्ते ।
तव क्रतुभिः अमृतत्वम् अ मृतत्वम् आयन् ।
वैश्वानर वैश्व नर यत् पित्रोः अदीदेः ।।२।।

पदार्थः— हे **अमृत** अमर परमात्मन्! **जायमानं त्वाम्** अन्तरात्मनि आविर्भवन्तं त्वाम् **जायमानं शिशुं न** उत्पद्यमानं शिशुमिव **विश्वे देवाः** सर्वे विद्वांसः उपासकाः **अभि सं नवन्ते** अभि संस्तुवन्ति । **तव क्रतुभिः** त्वदीयैः कर्तृत्वैः, उपासकाः **अमृतत्वम्** मोक्षम् **आयन्** प्राप्नुवन्ति, **यत्** यस्मात्, हे **वैश्वानर** विश्वान् नरान् धर्मकार्येषु यो नयति तथाविध परमात्मन् ! त्वम् **पित्रोः** मातापित्रोरिव विद्यमानयोः द्यावापृथिव्योः **अदीदेः** दीप्तो भवसि।।२।।[2]

अत्रोपमालङ्कारः।।२।।

भावार्थः— यथा गृहे शिशौ जाते सर्वे गृहवासिनो हृष्यन्ति तथैव परमात्मनि हृदये प्रकटीभूते सति साधका जनाः प्रसीदन्ति। मोक्षाय प्रयतमाना जनाः परमात्मन एव व्यवस्थया मोक्षं लभन्ते । विद्वांसो भक्तजनाः दिवि भुवि च सर्वत्र परमेश्वरस्यैव विभूतिं पश्यन्ति।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा और मोक्ष का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे **अमृत** अमर परमात्मन्! **जायमानम् त्वाम्** अन्तरात्मा में प्रकट होते हुए आपकी **जायमानं शिशुं न** पैदा होते हुए शिशु के समान **विश्वे देवाः** सब विद्वान् उपासक लोग **अभि सं नवन्ते** स्तुति करते हैं। **तव क्रतुभिः** आपके कर्तृत्वों से, उपासक जन **अमृतत्वम्** मोक्ष को **आयन्** प्राप्त कर लेते हैं, **यत्** क्योंकि हे **वैश्वानर** सब मनुष्यों को धर्मकार्यों में प्रवृत्त करने वाले परमात्मन्! आप **पित्रोः** माता-पिता के समान विद्यमान द्यावापृथिवी में **अदीदेः** दीप्त हो, प्रख्यात हो ।।२।।

यहां उपमालंकार है ।।२।।

भावार्थ— जैसे घर में शिशु उत्पन्न होने पर सब गृहवासी हर्ष मनाते हैं, वैसे ही गुह्य परमात्मा के हृदय में प्रकट होने पर साधक जन प्रसन्न होते हैं। मोक्ष के लिए प्रयत्न करते हुए लोग परमात्मा की ही व्यवस्था से मोक्ष पाते हैं। विद्वान् भक्तजन आकाश में और भूमि पर सब जगह परमेश्वर की ही विभूति देखते हैं।।२।।

---

१. ऋ० ६।७।४ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं द्वितीयजन्मविषये व्याख्यातवान्।

अथ पुनः परमात्मविषयमाह ।

११४२. **नाभिं यज्ञानां सदनं रयीणां महामाहावमभि सं नवन्त ।**
वैश्वानरं रथ्यमध्वराणां यज्ञस्य केतुं जनयन्त देवाः ॥३॥[1]

नाभिम् यज्ञानाम् सदनम् रयीणाम् । महाम् आहावम् आ हावम् अभि सम् नवन्त ।
वैश्वानरम् वैश्व नरम् रथ्यम् अध्वराणाम् । यज्ञस्य केतुम् जनयन्त देवाः ॥३॥

पदार्थः— **यज्ञानाम्** पूजाकर्मणाम् **नाभिम्** केन्द्रम्, **रयीणाम्** धनानाम् **सदनम्** गृहम्, **महाम्** महतां तेजसाम् **आहावम्** निपानभूतम् परमात्मानं, जनाः **अभि सं नवन्त** अभि सं स्तुवन्ति । **अध्वराणाम्** हिंसारहितानां व्यवहाराणाम् **रथ्यम्** रथिनम्, **यज्ञस्य** परोपकारयज्ञस्य **केतुम्**[2] ध्वजमिव स्थितम् **वैश्वानरम्** विश्वेषां नेतारं परमात्मानम् **देवाः**[3] विद्वांसः उपासकाः **जनयन्त** स्वान्तरात्मनि प्रकटयन्ति ॥३॥[4]

भावार्थः— विविधगुणागारं जगदीश्वरं सम्पूज्य योगाभ्यासेन तत्साक्षात्कारः स्वान्तरात्मनि सर्वैः कर्तव्यः॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा का विषय है ।

पदार्थ— यज्ञानाम् पूजा-कर्मों के **नाभिम्** केन्द्र, **रयीणाम्** धनों के **सदनम्** सदन, **महाम्** महान् तेजों के **आहावम्** कूप परमात्मा की, लोग **अभि सं नवन्त** चारों ओर भली भांति स्तुति करते हैं। **अध्वराणाम्** हिंसारहित व्यवहारों के **रथ्यम्** रथी, **यज्ञस्य** परोपकाररूप यज्ञ के **केतुम्** ध्वज के समान स्थित **वैश्वानरम्** सबके नेता परमात्मा को **देवाः** विद्वान् उपासक **जनयन्त** अपने अन्तरात्मा में प्रकट करते हैं॥३॥

भावार्थ— विविध गुणों के भण्डार जगदीश्वर की पूजा करके योगाभ्यास द्वारा उसका साक्षात्कार अपने अन्तरात्मा में सबको करना चाहिए ॥३॥

॥४॥ अथ 'प्र वो मित्राय' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** यजत आत्रेयः । **देवते** मित्रावरुणौ । **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः॥

तत्रादौ मित्रावरुणनाम्ना परमात्मजीवात्मनोर्विषयमाह ।

११४३. **प्र वो मित्राय गायत वरुणाय विपा गिरा । महिक्षत्रावृतं बृहत् ॥१॥**[5]

प्र वः मित्राय मि त्राय गायत । वरुणाय विपा गिरा ।
महिक्षत्रौ महि क्षत्रौ ऋतम् बृहत् ॥१॥

१ऋ६।७।२ ।

२. केतुम् प्रज्ञापकम्-इति सा० । ध्वजम्-इति वि०।

३. देवाः स्तोतार ऋत्विजो देवा एव वा- इति सा० । दानवन्त ऋत्विजः-इति वि० ।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं भौतिकाग्निविषये व्याख्यातः।

५. ऋ० ५।६८।१ ।

पदार्थः— हे मनुष्याः! **वः** यूयम् **विपा** मेधापूर्णया। [विप इति मेधाविनाम । निघं० ३।१५ ।] **गिरा** वाचा **मित्राय** विपत्त्रात्रे परमात्मने । [मित्रः प्रमीतेस्त्रायते। निरु० १०।२२।] **वरुणाय** वरणीयाय जीवात्मने च **गायत** गानं कुरुत, तत्तद्गुणान् वर्णयत इत्यर्थः । हे **महिक्षत्रौ** महाबलौ परमात्मजीवात्मानौ! युवयोः **ऋतम्** सत्यं ज्ञानं सत्यं कर्म च **बृहत्** महत् अस्ति ॥१॥[1]

भावार्थः— जीवात्मा परमात्मना सह सख्यं संस्थाप्य महान्ति सत्यज्ञानानि प्राप्तुं महान्ति सत्यकर्माणि च कर्तुं पारयति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में मित्र-वरुण नाम से परमात्मा और जीवात्मा का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे मनुष्यो! **वः** तुम **विपा** बुद्धिपूर्ण **गिरा** वाणी से **मित्राय** विपत्ति से त्राण करने वाले परमात्मा के लिए, और **वरुणाय** वरण करने योग्य जीवात्मा के लिए **गायत** गाओ, अर्थात् उनका गुणगान करो। हे **महिक्षत्रौ** महान् बल वाले परमात्मा और जीवात्मा! तुम दोनों का **ऋतम्** सत्य ज्ञान और सत्य कर्म **बृहत्** महान् है ॥१॥

भावार्थ— जीवात्मा परमात्मा के साथ मित्रता स्थापित करके महान् सत्यज्ञानों को पा सकता है और महान् सत्यकर्मों को कर सकता है ॥१॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

११४४. **सम्राजा या घृतयोनी मित्रश्चोभा वरुणश्च । देवा देवेषु प्रशस्ता ॥२॥**[2]

सम्राजा सम् राजा या घृतयोनी घृत योनीइति । मित्रः मि त्रः च उभा वरुणः च ।
देवा देवेषु प्रशस्ता प्र शस्ता ॥२॥

पदार्थः— **या** यौ **सम्राजा** सम्राजौ, **घृतयोनी** तेजोगृहौ च **मित्रः च वरुणः च** परमात्मा च जीवात्मा च **उभा** उभौ **देवा** देवौ, प्रकाशकौ, **देवेषु** प्रकाशकेषु च अग्निसूर्यविद्युदादिषु मध्ये **प्रशस्ता** प्रशस्तौ स्तः, ताभ्याम् **गायत** गुणगानं कुरुत। [‘गायत’ इति पदं पूर्वमन्त्रादानीतम्] ॥२॥[3]

भावार्थः— यथा परमेश्वरो विश्वब्रह्माण्डस्य सम्राट् तथा जीवात्मा देहस्य सम्राडस्ति । उभयोः प्रकाशं प्राप्य मनुष्यो महान् भवितुमर्हति ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः उसी विषय का कथन है ।

पदार्थ— **या** जो **सम्राजा** सम्राट् और **घृतयोनी** तेज के घर **मित्रः च वरुणः च** परमात्मा और जीवात्मा **उभा** दोनों **देवा** प्रकाशक और **देवेषु** प्रकाश करने वाले अग्नि, सूर्य, बिजली आदियों के बीच **प्रशस्ता** प्रशस्त हैं, उनके लिए **गायत** गुण-गान करो। [‘गायत’ पद पूर्व मन्त्र से यहां लाया गया है] ॥२॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमध्यापकोपदेशकविषये व्याख्यातः ।

२. ऋ० ५।६८।२ ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजपुरुषविषये व्याख्यातवान् ।

भावार्थ– जैसे परमेश्वर विश्वब्रह्माण्ड का सम्राट् है वैसे ही जीवात्मा शरीर का सम्राट् है। दोनों के प्रकाश को पाकर मनुष्य को महान् बनना योग्य है ॥२॥

अथ पुनरपि स एव विषयो वर्ण्यते ।

११४५. ता नः शक्तं पार्थिवस्य महो रायो दिव्यस्य । महि वां क्षत्रं देवेषु ॥३॥[1]

ता नः शक्तम् पार्थिवस्य । महः रायः दिव्यस्य । महि वाम् क्षत्रम् देवेषु ॥३॥

पदार्थः– **ता** तौ युवाम् मित्रावरुणौ परमात्मजीवात्मानौ **पार्थिवस्य** सांसारिकस्य **दिव्यस्य** आध्यात्मिकस्य च **महः** महतः **रायः** धनस्य **नः** अस्मभ्यम् **शक्तम्** दातुं शक्नुतम्। **देवेषु** सूर्यचन्द्रविद्युदादिषु मनोबुद्धिप्राणादिषु वा **वाम्** युवयोः **महि** महत् **क्षत्रम्** बलं निहितमस्ति ॥३॥[2]

भावार्थः– परमात्मजीवात्मनोः साहाय्येन न केवलं लौकिकं किन्तु पारमार्थिकं दिव्यं धनमपि प्राप्तुं शक्यते । शरीरस्थानि मनोबुद्ध्यादीन्यात्मनः परमात्मनश्चोभयोर्बलेन, सूर्यग्रहनक्षत्रादीनि च परमात्मन एव बलेन बलवन्ति सन्ति। अतोऽस्माभिरपि तयोर्बलं कुतो न प्राप्तव्यम् ॥३॥

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ– **ता** वे तुम दोनों मित्र-वरुण अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा **पार्थिवस्य** सांसारिक **दिव्यस्य** तथा आध्यात्मिक **महः** महान् **रायः** धन को **नः** हमारे लिए **शक्तम्** देने में समर्थ होवो । **देवेषु** सूर्य, चन्द्रमा, बिजली आदियों में तथा प्रकाशक मन, बुद्धि, प्राण आदियों में **वाम्** तुम्हारा **महि** महान् **क्षत्रम्** बल, निहित है॥३॥

भावार्थ– परमात्मा और जीवात्मा की सहायता से न केवल लौकिक, किन्तु पारमार्थिक दिव्य धन भी प्राप्त किया जा सकता है । शरीर में स्थित मन, बुद्धि आदि आत्मा और परमात्मा दोनों के बल से और सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि परमात्मा के ही बल से बलवान् बने हुए हैं । अतः हम भी उन दोनों के बल को क्यों न प्राप्त करें ॥३॥

॥५॥ अथ 'इन्द्रा याहि' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः॥

अथेन्द्रनाम्ना परमेश्वर आहूयते ।

११४६. इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः । अण्वीभिस्तना पूतासः ॥१॥[3]

इन्द्र आ याहि चित्रभानो चित्र भानो । सुताः इमे त्वायवः ।
अण्वीभिः तना पूतासः ॥१॥

---

१. ऋ० ५।६८।३, साम० १४६५ ।

२. दयानन्दर्षिर्ऋग्भाष्ये मन्त्रमिमं राज्यं कथमुन्नेयमिति विषये व्याचष्टे ।

३. ऋ० १।३।४, य० २०।८७, अथ० २०।८४।१ ।

पदार्थः— हे **इन्द्र** ऐश्वर्यशालिन् परमात्मन् ! हे **चित्रभानो** अद्भुतदीप्ते ! त्वम् **आयाहि** आगच्छ, **इमे** एते **सुताः** अस्मत्पुत्राः **त्वायवः** त्वां कामयमानाः सन्ति, किञ्च **अण्वीभिः** सूक्ष्माभिः धार्मिकवृत्तिभिः **तना** धनेन [तना इति धननामसु पठितम् । निरु० २।१०।] **पूतासः** पूताः पवित्राः सन्ति । [उक्तं चान्यत्र- 'रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् । अथ० ७।११५।४ इति] ॥१॥[1]

भावार्थः— अस्माभिरस्मत्सन्तानैश्च परमेश्वरोपासकैः पवित्रलक्ष्मीकैश्च भाव्यम् । पापेनार्जितं धनं धनं न किन्तु साक्षात् पापमेव भवति ॥१॥

अगले मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर का आह्वान किया गया है ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** ऐश्वर्यशाली परमात्मन् ! हे **चित्रभानो** अद्भुत दीप्ति वाले ! आप **आयाहि** आओ, इमे ये **सुताः** हमारे पुत्र **त्वायवः** आपकी कामना कर रहे हैं, और **अण्वीभिः** सूक्ष्म धार्मिक वृत्तियों के कारण **तना** धन से **पूतासः** पवित्र हैं ॥१॥

भावार्थ— हमें और हमारी सन्तानों को परमेश्वर का उपासक और पवित्र लक्ष्मी वाला होना चाहिए । पाप से कमाया गया धन धन नहीं, किन्तु साक्षात् पाप ही होता है ॥१॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

११४७. इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः । उप ब्रह्माणि वाघतः ॥२॥[2]

इन्द्र आ याहि धिया इषितः । विप्रजूतः विप्र जूतः सुतावतः ।
उप ब्रह्माणि वाघतः ॥२॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! **धिया इषितः** ध्यानेन प्रेरितः, **विप्रजूतः** मेधाविना जीवात्मना स्तुतः त्वम् **सुतावतः** पुत्रवतः **वाघतः** अध्यात्मयज्ञवाहकस्य मम **ब्रह्माणि** स्तोत्राणि **उप आ याहि** उपागच्छ ॥२॥[3]

भावार्थः— परिवारे पत्नीपुत्रपौत्रादिसहितैः सर्वैः प्रातःसायं ध्यानेन परमेश्वर आराधनीयः ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर वही विषय है ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! **धिया इषितः** ध्यान द्वारा प्रेरित, **विप्रजूतः** मेधावी जीवात्मा से स्तुति किये गये आप **सुतावतः** पुत्रवान्, **वाघतः** अध्यात्मयज्ञ के वाहक मेरे **ब्रह्माणि** स्तोत्रों के **उप आ गहि** समीप आओ ॥२॥

भावार्थ— परिवार में पत्नी, पुत्र, पौत्र आदि सहित सबको प्रातः-सायम् ध्यानपूर्वक परमेश्वर की आराधना करनी चाहिए ॥२॥

---

१. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये परमेश्वरसूर्ययोर्विषये यजुर्भाष्ये च सभेशविषये व्याख्यातः।
२. ऋ० १।३।५, य० २०।८८, अथ० २०।८४।२।
३. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये परमेश्वरविषये यजुर्भाष्ये च विद्वद्विषये व्याख्यातः ।

अथ पुनरपि स एव विषय उच्यते ।

११४८. इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः । सुते दधिष्व नश्चनः ॥३॥[१]

इन्द्र आ याहि तूतुजानः । उप ब्रह्माणि हरिवः । सुते दधिष्व नः चनः ॥३॥

पदार्थः— हे **हरिवः** हरीणां परस्पराकर्षणवतां सूर्यचन्द्रपृथिव्यादिलोकानां स्वामिन् **इन्द्र** जगदीश्वर ! त्वम् **तूतुजानः** त्वरमाणः । [तूतुजानः इति क्षिप्रनामसु पठितम् । निघं० २।१४ ।] अस्माकम् **ब्रह्माणि** स्तोत्राणि **उप आयाहि** उपागच्छ । **नः** अस्माकम् **सुते** पुत्रादौ सन्ताने **चनः** उपासनाजन्यम् आनन्दरसम् **दधिष्व** धारय । [दध धारणे, भ्वादिः] ॥३॥[२]

भावार्थः— जनैः सपरिवारं परमेश्वरोपासनाया आनन्दरसं प्रत्यहं प्राप्य दैनिककार्येषु प्रवर्तितव्यम् ॥३॥

अगले मन्त्र में फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— हे **हरिवः** परस्पर आकर्षण वाले सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि लोकों के स्वामी **इन्द्र** जगदीश्वर ! आप **तूतुजानः** शीघ्रता करते हुए, हमारे **ब्रह्माणि** स्तोत्रों के **उप आ याहि** समीप आओ । **नः** हमारे **सुते** पुत्र आदि सन्तान में **चनः** उपासना से मिलने वाला आनन्द-रस **दधिष्व** धारण कराओ ॥३॥

भावार्थ— मनुष्यों को चाहिए कि सपरिवार परमेश्वरोपासना का आनन्द-रस प्रतिदिन प्राप्त करके दैनिक कार्यों में प्रवृत्त हों ॥३॥

॥६॥ अथ 'तमीडिष्व' इत्यादिकस्य षष्ठस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। **देवते** इन्द्राग्नी। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ भौतिकाग्निवर्णनमुखेन परमात्ममहिमानमाचष्टे ।

११४९. तमीडिष्व यो अर्चिषा वना विश्वा परिष्वजत् ।
कृष्णा कृणोति जिह्वया ॥१॥[३]

तम् ईडिष्व यः अर्चिषा । वना विश्वा परिष्वजत् परि स्वजत् ।
कृष्णा कृणोति जिह्वया ॥१॥

पदार्थः— हे मनुष्य! त्वम् **तम्** अग्निम् **ईडिष्व** गुणवर्णनेन स्तुहि, **यः** अग्निः **अर्चिषा** रोचिषा **विश्वा वना** विश्वानि वनानि **परिष्वजत्** परिष्वजति आलिङ्गति, अपि च **जिह्वया** ज्वालया, तानि वनानि **कृष्णा** कृष्णानि **करोति** सम्पादयति ॥१॥[४]

---

१. ऋ० १।३।६, य० २०।८९, अथ० २०।८४।३।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रनिमम् ऋग्भाष्ये वायुविषये यजुर्भाष्ये च विद्वद्विषये व्याख्यातवान् ।

३. ऋ० ६।६०।१० ।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दार्पणा मन्त्रोऽयं राजा कीदृशो भवेदिति विषये व्याख्यातः ।

भावार्थः– योऽयं भौतिकाग्निर्विशालानि वनानि दहन् कृष्णवर्णानि शष्पवनस्पत्यादिप्ररोहयोग्यानि च करोति स सर्वोऽपि महिमा परमेश्वरस्यैव विद्यते ।।१।।

प्रथम मन्त्र में भौतिक अग्नि के वर्णन द्वारा परमात्मा की महिमा प्रकट की गयी है ।

पदार्थ– हे मनुष्य! तू **तम्** उस अग्नि के **ईडिष्व** गुणों का वर्णन कर, **यः** जो **अर्चिषा** दीप्ति से **विश्वा वना** सब वनों का **परिष्वजत्** आलिंगन करता है, और **जिह्वया** ज्वाला से, उन वनों को **कृष्णा** काले **करोति** करता है ।।१।।

भावार्थ– जो यह भौतिक अग्नि विशाल वनों को जलाता हुआ उन्हें कृष्णवर्ण तथा घास- वनस्पति आदि के अंकुरित होने योग्य करता है वह सब महिमा परमेश्वर की ही है ।।१।।

अथाग्नौ परमेश्वरप्रदत्तमेव ज्योतिरस्तीत्याह ।

११५०. **य इद्ध आविवासति सुम्नमिन्द्रस्य मर्त्यः । द्युम्नाय सुतरा अपः ।।२।।**[1]

यः इद्धे आविवासति आ विवासति । सुम्नम् इन्द्रस्य मर्त्यः ।
द्युम्नाय सुतराः सु तराः अपः ।।२।।

पदार्थः– **यः मर्त्यः** यो मनुष्यः **इद्धे** अग्नौ प्रदीप्ते सति **इन्द्रस्य** परमात्मनः **सुम्नम्** सुखकरं दानम् **आ विवासति** परिचरति, प्रशंसतीत्यर्थः, सः **द्युम्नाय** तेजसे यशसे च **अपः** विकटान्यपि कर्माणि **सुतराः** सुतराणि, सुसाध्यानि करोति ।।२।।[2]

भावार्थः– समिद्धेऽग्नौ तस्य स्वकीयं ज्योतिर्नास्ति प्रत्युत परमात्मन एवेति यो मन्यते स परमात्माराधकः सन् तेजस्वी यशस्वी च जायते। यस्तु भौतिकवादी स भौतिकेष्वेव पदार्थेषु रममाणो भोगैरेव भुज्यते ।।२।।

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि अग्नि में परमेश्वर की ही दी हुई ज्योति है ।

पदार्थ– **यः मर्त्यः** जो मनुष्य **इद्धे** अग्नि के प्रदीप्त होने पर **इन्द्रस्य** परमात्मा के **सुम्नम्** सुखदायक दान की **आ विवासति** प्रशंसा करता है, वह **द्युम्नाय** तेज और यश के लिए **अपः** विकट भी कर्मों को **सुतराः** आसानी से सिद्ध होने वाला कर लेता है ।।२।।

भावार्थ– प्रज्वलित अग्नि में उसकी अपनी ज्योति नहीं है, प्रत्युत परमात्मा की ही है, ऐसा जो मानता है वह परमात्मा का आराधक होता हुआ तेजस्वी और यशस्वी बनता है । पर जो भौतिकवादी होता है वह भौतिक पदार्थों में ही रमता हुआ भोगों से ही भोगा जाता है ।।२।।

अथ परमेश्वररचितयोर्वायुविद्युतोर्विषयमाह ।

११५१. **ता नो वाजवतीरिष आशून् पिपृतमर्वतः । एन्द्रमग्निं च वोढवे ।।३।।**[3]

ताः नः वाजवतीः इषः। आशून् पिपृतम् अर्वतः । आ इन्द्रम् अग्निम् च वोढवे ।।३।।

---

१. ऋ० ६।६०।११ ।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं मनुष्यैर्यशसे धनाय च किं सेवितव्यमिति विषये व्याचष्टे ।
३. ऋ० ६।६०।१२ ।

पदार्थः— हे इन्द्राग्नी वायुविद्युतौ! [यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः। श० ४।१।३।१९।] **ता** तौ युवाम् **वाजवतीः** बलवतीः **इषः** अभीष्टाः अन्नधनादिसंहतीः, **आशून्** शीघ्रगामिनः **अर्वतः** भूजलान्तरिक्षयानयन्त्र-समूहान् च **पिपृतम्** प्रयच्छतम्। **इन्द्रम्** वायुम् **अग्निं च** विद्युतं च, वयम् **वोढवे** पदार्थान् वोढुम्, यानादिषु **आ** आनयेम, प्रयुञ्जीमहि ॥३॥[1]

भावार्थः— परमेश्वरस्यैवेदं महत्त्वं यत्तेनैतादृशे वायुविद्युतौ रचिते याभ्यामनेकानि कार्याणि साद्धुं शक्यन्ते ॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मजीवात्मनोर्मोक्षस्य परमात्मरचितानां भौतिकाग्निवायुविद्युतां च वर्णना-देतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर द्वारा रचित वायु और बिजली का विषय है ।

पदार्थ— हे इन्द्र-अग्नि अर्थात् वायु और बिजली ! **ता** वे तुम दोनों **वाजवतीः** बलसहित **इषः** अभीष्ट अन्न-धनादि को, और **आशून्** शीघ्रगामी **अर्वतः** भूमि, जल एवं अन्तरिक्ष में चलने वाले यानों तथा यन्त्रों को **पिपृतम्** प्रदान करो। **इन्द्रम्** वायु को **अग्निं च** और बिजली को, हम **वोढवे** पदार्थों को ढोने के लिए यान आदियों में **आ** प्रयुक्त करें ॥३॥

भावार्थ— परमेश्वर का ही यह महत्त्व है कि उसने ऐसे वायु और बिजली रचे हैं जिनसे बहुत से कार्य सिद्ध किये जा सकते हैं ॥३॥

इस खण्ड में परमात्मा-जीवात्मा, मोक्ष एवं परमात्मा से रचित भौतिक अग्नि, वायु तथा विद्युत् का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्वखण्ड के साथ संगति है ॥

अष्टम अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ।

॥७॥ अथ 'प्रो अयासी०' इत्यादिकस्य सप्तमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सिकता निवावरी। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** जगती। **स्वरः** निषादः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५५७ क्रमाङ्के जीवात्मपरमात्मनोर्मैत्रीविषये व्याख्याता । अत्र सोमौषधिरस-विषये व्याख्यायते ।

११५२. प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न प्र मिनाति सङ्गिरम् ।
मर्य इव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे शतयामना पथा ॥१॥[2]

प्र उ अयासीत् इन्दुः इन्द्रस्य निष्कृतम् निः कृतम् ।
सखा स खा सख्युः स ख्युः न प्र मिनाति सङ्गिरम् सम् गिरम् ।
मर्यः इव युवतिभिः सम् अर्षति । सोमः कलशे शतयामना शत यामना पथा ॥१॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं विद्युदादिपदार्थैर्विमानादिचालनविषये व्याख्यातः ।

२. ऋ० ९।८६।१६, अथ० १८।४।६० उभयत्र 'शुतर्यामना' इति पाठः। साम० ५५७।

पदार्थः— इन्दुः सोमौषधिरसः **इन्द्रस्य** यजमानस्य [यजमानो वै स्वे यज्ञ इन्द्रः । श० ८।५।३।८।] **निष्कृतम्** गृहम् **प्र उ अयासीत्** प्रगच्छति। **सखा** मित्रभूतः सोमरसः **सख्युः** मित्रस्य यजमानस्य **संगिरम्** यज्ञम् **न प्रमिनाति** न भनक्ति, प्रत्युत साध्नोति। **सोमः** सोमरसः **शतयामना पथा** दशापवित्रस्य शतच्छिद्रेण मार्गेण **कलशे** द्रोण-कलशे, **समर्षति** अद्भिः संगच्छते, कथमिव? **मर्यः इव युवतिभिः** यथा मनुष्यः गृहे तरुणीभिः **समर्षति** यथायोग्यं व्यवहरति ।।१।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः— यथा सोमौषधिरसः सोमयागं साधयति तथैव मनुष्यैर्व्यवहारयज्ञ उपासनायज्ञश्च संसाध-नीयः।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ५५७ क्रमांक पर जीवात्मा और परमात्मा की मित्रता के विषय में हो चुकी है । यहां सोम ओषधि के रस का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ— इन्दुः सोम ओषधि का रस **इन्द्रस्य** यजमान के **निष्कृतम्** घर में **प्र उ अयासीत्** पहुंचता है । **सखा** मित्रतुल्य सोमरस **सख्युः** अपने मित्र यजमान के **संगिरम्** यज्ञ को **न प्रमिनाति** भंग नहीं करता, प्रत्युत सिद्ध करता है । **सोमः** सोमरस **शतयामना पथा** दशापवित्र नामक छन्नी के सौ छिद्रों वाले मार्ग से छनकर **कलशे** द्रोणकलश में **समर्षति** जल की लहरियों के साथ मिलता है, **मर्यः इव युवतिभिः** जैसे मनुष्य घर की युवतियों के साथ **समर्षति** मिलता अर्थात् यथायोग्य व्यवहार करता है ।।१।।

यहां उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ— जैसे सोम ओषधि का रस सोमयाग को सिद्ध करता है, वैसे ही मनुष्यों को व्यवहार-यज्ञ और उपासना-यज्ञ सिद्ध करना चाहिए ।।१।।

अथ परमात्मस्तुत्यर्थं मनुष्यान् प्रेरयति।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
११५३. प्र वो धियो मन्द्रयुवो विपन्युवः पनस्युवः संवरणेष्वक्रमुः ।
२ ३ १ २ ३ क २ र ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
हरिं क्रीडन्तमभ्यनूषत स्तुभोऽभि धेनवः पयसेदशिश्रयुः ।।२।।[1]

२ ३ १ २ र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ र ३
प्र वः धियः मन्द्रयुवः विपन्युवः । पनस्युवः संवरणेषु सम् वरणेषु अक्रमुः ।
१ २ र १ २ र ३ २ ३ १ २ र ३ २ ३ १ २ १ २ र ३
हरिम् क्रीडन्तम् अभि अनूषत स्तुभः । अभि धेनवः पयसा इत् अशिश्रयुः ।।२।।

पदार्थः— हे मनुष्याः! **वः** युष्माकम् **मन्द्रयुवः** मन्द्रम् आनन्दप्रदं परमेश्वरं कामयमानाः, **पनस्युवः** उत्कृष्टव्यवहारेच्छुकाः । [पनः उत्कृष्टं व्यवहारं परेषां कामयन्ते यास्ताः। पणव्यवहारे स्तुतौ च ।] **विपन्युवः** विशेषेण स्तवनशीलाः **धियः** प्रज्ञाः **संवरणेषु** उपासनायज्ञेषु । [संव्रियते परमेश्वरोऽत्र इति संवरणास्तेषु।] **प्र अक्रमुः** उपासनामारभेरन् [प्रपूर्वात् क्रमतेर्विध्यर्थे लङ्।] । **क्रीडन्तम्** जगत्क्रीडाः कुर्वन्तम् **हरिम्** हृदयहारिणं परमात्मानम् **स्तुभः** अर्चयितारः [स्तोभतिः अर्चतिकर्मा। निघं० ३।१४ ।] **अभ्यनूषत** अभ्यर्चन्तु । परमात्मना दत्ताः **धेनवः** गावः **पयसा इत्** दुग्धेन खलु **अशिश्रयुः** सर्वान् सेवन्ताम्। [श्रिञ् सेवायाम्, भ्वादिः, लङि व्यत्ययेन शपः श्लुः।]

---

१. ऋ० ९।८६।१७, सं॒वर॑णेष्वक्रमुः। सोमं॑ मनी॒षा अ॒भ्य॑नूषत॒ स्तुभो॒ऽभि धे॒नव॒: पय॑सेमशिश्रयुः-इति पाठः ।

यद्वा परमात्मना प्रदत्ताः **धेनवः** वेदवाचः । [धेनुः इति वाङ्नाम। निघं० १।११।] **पयसा इत्** प्रतिपादनीयार्थलक्षणेन दुग्धेन खलु **अशिश्रयुः** सर्वान् सेवन्ताम् ।।२।।

भावार्थः— खगोले बहवः सूर्यनक्षत्रग्रहोपग्रहादयो लोका यदितस्ततो भ्रमन्ति तन्मन्यामहे जगदीश्वरः कन्दुकैः क्रीडतीति । स एव क्रीडाकरः स्वक्रीडया सर्वं जडचेतनात्मकं जगत् सञ्चालयतीति स कुतो नास्माभिरर्चनीयो वन्दनीयश्च।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा की स्तुति के लिए मनुष्यों को प्रेरणा दी गयी है ।

पदार्थ— हे मनुष्यो **वः** तुम्हारी **मन्द्रयुवः** आनन्दप्रद परमेश्वर की कामना करने वाली, **पनस्युवः** दूसरों के प्रति उत्कृष्ट व्यवहार करने की इच्छुक, **विपन्युवः** विशेष स्तुतिशील **धियः** बुद्धियां **संवरणेषु** उपासना-यज्ञों में **प्र अक्रमुः** उपासना आरम्भ करें । **क्रीडन्तम्** जगत् की खेलें खेलते हुए **हरिम्** हृदयहारी परमात्मा की **स्तुभः** अर्चना करने वाले जन **अभ्यनूषत** पूजा करें । परमात्मा की दी हुई **धेनवः** गौएं **पयसा इत्** दूध से **अशिश्रयुः** सबकी सेवा करती रहें, अथवा **धेनवः** वेदवाणियां **पयसा इत्** प्रतिपाद्य अर्थ रूप दूध से **अशिश्रयुः** सबकी सेवा करती रहें ।।२।।

भावार्थ— खगोल में बहुत से सूर्य, नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह आदि लोक जो इधर-उधर घूम रहे हैं वह मानो जगदीश्वर गेंदों से क्रीडा कर रहा है। वही खिलाड़ी अपने खेल से सब जड़-चेतन-रूप जगत् का संचालन कर रहा है। इस कारण हम क्यों न उसकी अर्चना और वन्दना करें ।।२।।

अथ परमात्मानं प्रार्थयते ।

११५४. **आ नः सोम संयतं पिप्युषीमिषमिन्दो पवस्व पवमान ऊर्मिणा ।**
या नो दोहत त्रिरहन्नसश्चुषी क्षुमद्वाजवन्मधुमत्सुवीर्यम् ।।३।।[1]

आ नः सोम संयतम् सम् यतम् पिप्युषीम् इषम् । इन्दो पवस्व पवमानः ऊर्मिणा ।
या नः दोहते त्रिः अहन् अ हन् असश्चुषी अ सश्चुषी ।
क्षुमत् वाजवत् मधुमत् सुवीर्यम् सु वीर्यम् ।।३।।

पदार्थः— हे **इन्दो** तेजस्विन्, आनन्दरसेन क्लेदक, **पवमान** पवित्रतादायक **सोम** रसागार जगत्स्रष्टः परमात्मन्! त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **संयतम्** सुबद्धाम्, **पिप्युषीम्** अतिशयेन प्रवृद्धाम् **इषम्** अभीष्टसंपत्तिम् **ऊर्मिणा** तरङ्गेण **पवस्व** प्रवाहय, **या** सम्पत्ति. **असश्चुषी** अप्रतिबन्धा सती । [सश्चतिः गतिकर्मा । निघं० २।१४।] **नः** अस्मभ्यम् **अहन्** अहनि **त्रिः** त्रिवारम्, सोमयागस्य त्रिष्वपि सवनेषु **क्षुमत्** निवासगृहयुक्तम्, **वाजवत्** अन्नधन-विज्ञानयुक्तम्, **मधुमत्** मधुरम्, **सुवीर्यम्** सुवीर्योपेतं फलम् **दोहते** दुग्धाम्। [दुह प्रपूरणे, लेट्] ।।३।।

भावार्थः— परमेश्वरकृपया पुरुषार्थिनो वयम् प्रचुरप्रचुरां भौतिकीमाध्यात्मिकीं च सम्पदं प्राप्नुयाम ।।३।।

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

---

१. ऋ० ९।८६।१८, 'संयन्तं', 'पवमानो असिष्यदम्' इति पाठः ।

पदार्थ– हे **इन्दो** तेजस्वी, आनन्द-रस से भिगोने वाले, **पवमान** पवित्रतादायक **सोम** रस के भण्डार जगत्स्रष्टा परमात्मन्! आप **नः** हमारे लिए **संयतम्** सुबद्ध, **पिप्युषीम्** अतिशय समृद्ध **इषम्** अभीष्ट सम्पत्ति को **ऊर्मिणा** तरंगरूप में **पवस्व** प्रवाहित कीजिए, **या** जो सम्पत्ति **असश्चुषी** बिना प्रतिबन्ध के **नः** हमारे लिए **अहन्** दिन में **त्रिः** तीन बार अर्थात् सोमयाग के तीनों सवनों में **क्षुमत्** निवासगृह से युक्त, **वाजवत्** अन्न, धन, विज्ञान से युक्त, **मधुमत्** मधुर, **सुवीर्यम्** श्रेष्ठ वीरता से युक्त फल को **दोहते** दुहे, प्रदान करे ।।३।।

भावार्थ– परमेश्वर की कृपा से हम पुरुषार्थी लोग अधिकाधिक भौतिक और आध्यात्मिक सम्पत्ति प्राप्त करें ।।३।।

।।८।। अथ 'नकिष्टं' इत्यादिकस्याष्टमस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** पुरुहन्मा आङ्गिरसः। **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती)। **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २४३ क्रमाङ्के परमेश्वरमहत्त्वविषये व्याख्याता। अत्र पुनरपि स एव विषयः प्रदर्श्यते ।

११५५. न किष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम् ।
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्णुमोजसा ।।१।।[1]

न किः तम् कर्मणा नशत् । यः चकार सदावृधम् सदा वृधम् ।
इन्द्रम् न यज्ञैः विश्वगूर्तम् विश्व गूर्तम् ऋभ्वसम् ।
अधृष्टम् अ धृष्टम् धृष्णुम् ओजसा ।।१।।

पदार्थः– **तम्** प्रसिद्धम् **इन्द्रम्** जगदीश्वरम् **कर्मणा** कार्येण **न किः** न कोऽपि **नशत्** व्याप्नोति, न कोऽपि कर्मणि तत्तुल्यो भवतीत्यर्थः, **यः** जगदीश्वरः **सदावृधम्** सदावृद्धिशीलम् इदं ब्रह्माण्डम् **चकार** ससर्ज । **न** नैव कोऽपि **विश्वगूर्तम्** विश्वगूर्णं सर्वोन्नतम्, **ऋभ्वसम्** उरु भासमानम्,[2] **अधृष्टम्** अपराजितम्, **ओजसा** प्रतापेन **धृष्णुम्** परेषां पराजेतारं च तम् इन्द्रुं जगदीश्वरम्, **यज्ञैः** जगत्सर्जनधारणपालनादिभिः **नशत्** व्याप्नोति, तत्तुल्यो भवति ।।१।।

भावार्थः– परमात्मतुल्यकर्मा परमात्मतुल्ययज्ञश्च जगति कोऽपि न भूतो, न वर्तते, न भविष्यति ।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में २४३ क्रमांक पर परमेश्वर के महत्त्व के विषय में की गयी थी। यहां फिर वही विषय प्रदर्शित किया जा रहा है ।

पदार्थ– **तम्** उस प्रसिद्ध **इन्द्रम्** जगदीश्वर को **कर्मणा** कर्म में **न किः** कोई नहीं **नशन्** प्राप्त कर सकता है, अर्थात् कोई भी उसकी कर्म में बराबरी नहीं कर सकता है, **यः** जिस जगदीश्वर ने **सदावृधम्** सदा बढ़ते

---

१. ऋ० ८।७०।३, अथ० २०।९२।१८, उभयत्र 'धृष्वौजसम्' इति पाठः । साम० २४३ ।

२. ऋभ्वसम् उरु भासमानम् । उरुभासम् इत्यस्य पृषोदरादित्वात् ऋभ्वसादेशः इति ऋ० १।५६।१ भाष्ये 'महान्तम्' इति च प्रकृतसामभाष्ये-सा० ।

रहने वाले इस ब्रह्माण्ड को **चकार** उत्पन्न किया है । **न** न ही **विश्वगूर्तम्** सर्वोन्नत, **ऋभ्वसम्** अत्यधिक भासमान, **अधृष्टम्** अपराजित, **ओजसा** प्रताप से **धृष्णुम्** दूसरों को पराजित करने वाले उस जगदीश्वर की **यज्ञैः** जगत् के उत्पादन, धारण, पालन आदि यज्ञों में **नशत्** कोई बराबरी कर सकता है ।।१।।

भावार्थ— परमात्मा के तुल्य कर्म करने वाला और परमात्मा के तुल्य यज्ञ करने वाला संसार में न कोई हुआ है, न है, न भविष्य में होगा ।।१।।

अथ पुनरपि जगदीश्वरमहिमानमाह।

११५६. अषाढमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन्महीरुरुज्रयः ।
सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्द्यावः क्षामीरनोनवुः ।।२।।[1]

अषाढम् उग्रम् पृतनासु सासहिम् । यस्मिन् महीः उरुज्रयः उरु ज्रयः ।
सम् धेनवः जायमाने अनोनवुः द्यावः क्षामीः अनोनवुः ।।२।।

पदार्थः— **अषाढम्** केनापि अनभिभूतम्, **उग्रम्** पापिभ्यः प्रचण्डम्, **पृतनासु** कामक्रोधादीनां सेनासु **सासहिम्** पुनः पुनः पराजयकारिणम्, तम् इन्द्रं परमेश्वरं कर्मणा न किः नशत् न यज्ञैः इति पूर्वेण सम्बन्धः। [सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ वा० ३।२।१७१ इति किः प्रत्ययः ।] **यस्मिन्** यस्याधीनतायाम् **उरुज्रयः** बहुवेगाः **महीः** भूचन्द्रादिलोकस्थाः पृथिव्यः सन्ति, यम् **जायमाने** जगदुत्पत्त्यनन्तरं प्रसिद्धिं भजमाने सति **धेनवः** वेदवाचः **सम् अनोनवुः** प्रशशंसुः **द्यावः** सूर्याः **क्षामीः** भूमिवासिन्यः प्रजाश्च **सम् अनोनवुः** प्रशशंसुः । [सप्त दिशो नाना सूर्याः । ऋ० ९।११४।३ इति श्रुतेः सूर्याणां नानात्वं प्रतिपद्यते] ।।२।।

भावार्थः— ब्रह्माण्डेऽनेकानि सौरमण्डलानि सन्ति येषां पृथक्-पृथक् सूर्या वर्तन्ते । ते सर्वे लोका मानव्यः प्रजाश्च सर्वविजेतुः परमात्मन एव महिमानं गायन्ति ।।२।।

अस्मिन् खण्डे परमात्मविषयवर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।।

अगले मन्त्र में फिर जगदीश्वर की महिमा वर्णित करते हैं।

पदार्थ— **अषाढम्** किसी से भी परास्त न होने वाले, **उग्रम्** पापियों के लिए प्रचण्ड, **पृतनासु** काम, क्रोध आदि की सेनाओं को **सासहिम्** पुनः पुनः पराजय देने वाले, उस परमेश्वर की [कर्मणा न किः नशत् न यज्ञैः] कर्म और यज्ञ में कोई बराबरी नहीं कर सकता, **यस्मिन्** जिसकी अधीनता में **उरुज्रयः** बहुत वेगवाली **महीः** पृथिवी, चन्द्र आदि लोकों में स्थित भूमियां हैं, जिसकी **जायमाने** जगत् की उत्पत्ति के अनन्तर प्रसिद्धि प्राप्त करने पर **धेनवः** वेदवाणियों ने **सम् अनोनवुः** प्रशंसा की, **द्यावः** सूर्यों ने, और **क्षामीः** भूमिवासिनी प्रजाओं ने **सम् अनोनवुः** प्रशंसा की [इस पदार्थ में 'कर्मणा न किः नशत् न यज्ञैः' ये शब्द पूर्व मन्त्र से लाये गये हैं।] ।।२।।

भावार्थ— ब्रह्माण्ड में अनेक सौरमण्डल हैं, जिनके पृथक् पृथक् सूर्य हैं। वे सब लोक और मानवी प्रजाएं सर्वविजेता परमात्मा की ही महिमा को गाते हैं।।२।।

इस खण्ड में परमात्मा का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है।।

अष्टम अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ।

---

१. ऋ० ८।७०।४, अथ० २०।९२।१९, उभयत्र 'द्याव॒: क्षामो अनोनवुः' इति पाठः ।

॥९॥ अथ 'सखाय' इत्यादिकस्य नवमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** पर्वतनारदौ काण्वौ शिखण्डिन्यावप्सरसौ काश्यपौ वा । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५६८ क्रमाङ्के परमात्मोपासनाविषये व्याख्याता। अत्र स्वान्तरात्मविषयमाह।

११५७. सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्र गायत ।
शिशुं न यज्ञैः परि भूषत श्रिये ॥१॥[1]

सखायः स खायः आ नि सीदत । पुनानाय प्र गायत ।
शिशुम् न यज्ञैः परि भूषत श्रिये ॥१॥

पदार्थः— हे **सखायः** सुहृदः! यूयम् **आ निषीदत** आगत्य निषण्णा भवत, **पुनानाय** मनोबुद्ध्यादीनां पावकाय स्वान्तरात्मने **प्र गायत** उद्बोधनगीतानि गायत । अपि च **श्रिये** शोभायै, तम् सोमम् आत्मानम् **यज्ञैः** देवपूजासंगतिकरणदानादिभिः **परिभूषत** अलङ्कुरुत, **शिशुं न** यथा शिशुं सुरम्यवस्त्रालङ्कारादिभिः अलङ्कुर्वन्ति ॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— जीवात्मनि महती शक्तिर्निहिताऽस्ति । उद्बोधनगीतैस्तस्य सा शक्तिर्जागरयितव्या, नूतनैर्गुणग्रामैर्यज्ञभावनाभिश्च जीवात्माऽलङ्करणीयः ॥१॥॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ५६८ क्रमांक पर परमात्मा की उपासना के विषय में की जा चुकी है । यहां अपने अन्तरात्मा का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ— हे **सखायः** साथियो! तुम **आ निषीदत** आकर बैठो, **पुनानाय** मन, बुद्धि आदि को पवित्र करने वाले अपने अन्तरात्मा के लिए **प्र गायत** उद्बोधन-गीत गाओ । और **श्रिये** शोभा के लिए उस सोम नामक अन्तरात्मा को **यज्ञैः** देवपूजा, संगतिकरण, दान आदियों से **परि भूषत** अलंकृत करो, **शिशुं न** जैसे शिशु को सुरम्य वस्त्र, आभूषण आदियों से अलंकृत करते हैं ॥१॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— जीवात्मा में महान् शक्ति निहित है । उद्बोधन-गीतों से उसकी उस शक्ति को जगाना चाहिए और नवीन-नवीन गुणों से तथा यज्ञ-भावनाओं से जीवात्मा को अलंकृत करना चाहिए ॥१॥

अथ पुनरपि स एव विषय उच्यते ।

११५८. समी वत्सं न मातृभिः सृजता गयसाधनम् ।
देवाव्यां३ मदमभि द्विशवसम् ॥२॥[2]

सम् ई वत्सम् न मातृभिः । सृजत गयसाधनम् गय साधनम् ।
देवाव्यम् देव अव्यम् मदम् अभि द्विशवसम् द्वि शवसम् ॥२॥

---

१. ऋ० ९।१०४।१, साम० ५६८ ।
२. ऋ० ९।१०४।२ ।

पदार्थः— हे सखायः! यूयम् **गयसाधनम्** देहगृहस्य परिष्कर्तारम् । [गय इति गृहनामसु पठितम् । निघं० ३।४ ।] **देवाव्यम्** देवानां प्रकाशकानां मनोबुद्धिज्ञानेन्द्रियाणाम् अवितारं रक्षकम्, **मदम्** ब्रह्मानन्दमनुभवितारम् **द्विशवसम्** आत्मिकदैहिकद्विविधबलयुक्तम् **ई** ईम् एनम् सोमं जीवात्मानम् **मातृभिः** जननीभिरिव हितकरीभिः श्रद्धाभिः[1] **अभि सं सृजत** अभिसंयोजयत, **वत्सं न** वत्सं यथा **मातृभिः** गोभिः अभिसंसृजन्ति तद्वत् ।।२।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।२।।

भावार्थः— विविधगुणगणविभूषितेऽप्यात्मनि जननीव हितकरी श्रद्धा चेन्नास्ति तर्हि सोऽकिञ्चित्कर एव। धेन्वा संसृष्टो वत्सो यथा तत्पयःपानेन पुष्टो भवति तथैव श्रद्धया संसृष्टो जीवात्मा ब्रह्मानन्दपानेन परिपुष्टो जायते ।।२।।

आगे पुनः उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— हे साथियो! तुम **गयसाधनम्** शरीर-रूप घर के परिष्कर्ता, **देवाव्यम्** प्रकाशक मन, बुद्धि व ज्ञानेन्द्रियों के रक्षक, **मदम्** ब्रह्मानन्द का अनुभव करने वाले, **द्विशवसम्** आत्मिक और शारीरिक दो प्रकार के बल से युक्त **ई** इस सोम नामक जीवात्मा को **मातृभिः** माताओं के समान हितकारिणी श्रद्धाओं से **अभि सं सृजत** चारों ओर से संयुक्त करो, **वत्सं न** जैसे बछड़े को **मातृभिः** गायों से संयुक्त करते हैं।।२।।

इस मन्त्र में उपमालंकार है ।।२।।

भावार्थ— विविध गुणों से विभूषित भी आत्मा में माता के समान हित करने वाली श्रद्धा यदि नहीं है, तो वह कुछ नहीं कर सकता । गाय से संयुक्त किया हुआ बछड़ा जैसे उसका दूध पीकर पुष्ट हो जाता है, वैसे ही श्रद्धा से संयुक्त जीवात्मा ब्रह्मानन्द के पान से परिपुष्ट होता है ।।२।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
११५९. **पुनाता दक्षसाधनं यथा शर्धाय वीतये ।**
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यथा मित्राय वरुणाय शन्तमम् ।।३।।[2]

१ २ ३ १ २ ३ १ २ र १ २ र ३ १ २
पुनात दक्षसाधनम् दक्ष साधनम् । यथा शर्धाय वीतये ।
१ २ र ३ १ २ ३ १ २ र १ २ र १ २ र
यथा मित्राय मि त्राय वरुणाय शन्तमम् ।।३।।

पदार्थः— हे सखायः! यूयम् **दक्षसाधनम्**[3] दक्षतायाः साधयितारम् सोमं जीवात्मानम् **पुनात** पुनीत । [पूञ् पवने क्र्यादिः, लोटि तप्तनप्तनथनाश्च। अ० ७।१।४५ इत्यनेन तस्य तबादेशे पित्वाद् ईत्वाभावः।] **यथा** येन, सः **शर्धाय** उत्साहाय **वीतये** प्रगतये च स्यात्, **यथा** येन च **मित्राय** मनसे **वरुणाय** दोषनिवारकाय प्राणाय च **शन्तमम्** शान्तिकरं यथा तथा भवेत्।।३।।

---

१. श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः । सा हि जननीव कल्याणी योगेनं पाति इति योग० १।२० भाष्ये व्यासः । श्रद्धा माता-साम०९० ।
२. ऋ० ९।१०४।३, 'शंतमः' इति भेदः ।
३. दक्षसाधनं बलस्य साधनम्- इति सा० । शीघ्रकर्मकर्तारम्— इति वि० ।

भावार्थः— जीवात्मनि पवित्रीभूते सति देहस्थानि मनोबुद्धिप्राणादीनि सर्वाण्यपि पवित्राणि जायन्ते।।३।।

अगले मन्त्र में फिर वही विषय है ।

पदार्थ— हे साथियो! तुम **दक्षसाधनम्** दक्षता के साधक सोम नामक जीवात्मा को **पुनात** पवित्र करो, **यथा** जिससे वह **शर्धाय** उत्साह के लिए, और **वीतये** प्रगति के लिए हो अर्थात् उत्साहित होकर प्रगति कर सके, और **यथा** जिससे **मित्राय** मित्र मन के लिए और **वरुणाय** दोषनिवारक प्राण के लिए **शन्तमम्** शान्ति-कारक हो ।।३।।

भावार्थ— जीवात्मा के पवित्र हो जाने पर शरीरस्थ मन, बुद्धि, प्राण आदि सब पवित्र हो जाते हैं।।३।।

।।१०।। अथ 'प्र वाज्यक्षाः' इत्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः। **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** द्विपदा विराट्। **स्वरः** पञ्चमः ।।

तत्रादौ ज्ञानरसविषय उच्यते ।

२ ३क २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २
११६०. **प्र वाज्यक्षाः सहस्रधारस्तिरः पवित्रं वि वारमव्यम् ।।१।।**[1]

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १२र १ २र
प्र वाजी अक्षारिति सहसधारः सहस्र धारः । तिरः पवित्रम् वि वारम् अव्यम् ।।१।।

पदार्थः— **वाजी** बलवान्, **सहसधारः** अनन्तधारः पवमानः सोमः पवित्रकारी ज्ञानरसः **पवित्रम्** पूतं मनः **तिरः** पारं कृत्वा **अव्यम्** अव्ययम् अविनश्वरम् **वारम्** दोषनिवारकं जीवात्मानं प्रति **प्र वि अक्षाः** प्रकर्षेण विविधं क्षरति । [अक्षाः क्षरति । निरु० ५।३] ।।१।।

भावार्थः— आचार्यात् प्रवहन् विज्ञानरसो मनोमाध्यमेन जीवात्मानं प्रविश्य तं पुनाति विद्वांसं च करोति।।१।।

प्रथम मन्त्र में ज्ञानरस का विषय कहा जा रहा है ।

पदार्थ— **वाजी** बलवान्, **सहस्रधारः** अनन्त धाराओं वाला पवमान सोम अर्थात् पवित्र करने वाला ज्ञानरस **पवित्रम्** पवित्र मन को **तिरः** पार करके **अव्यम्** अविनश्वर **वारम्** दोषनिवारक जीवात्मा के प्रति **प्र वि अक्षाः** उत्तम प्रकार से विविध रूप में क्षरित हो रहा है ।।१।।

भावार्थ— आचार्य से प्रवाहित होता हुआ विज्ञानरस मन के माध्यम से जीवात्मा में प्रविष्ट होकर उसे पवित्र और विद्वान् बना देता है ।।१।।

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

२ ३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
११६१. **स वाज्यक्षाः सहस्ररेता अद्भिर्मृजानो गोभिः श्रीणानः ।।२।।**[2]

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ २
सः वाजी अक्षारिति सहस्ररेताः सहस्र रेताः । अद्भिः मृजानः गोभिः श्रीणानः ।।२।।

पदार्थः— **वाजी** वेगवान् **सहस्ररेताः** सहस्रवीर्यः **अद्भिः** शुभैः कर्मभिः **मृजानः** जीवात्मानम् अलङ्कुर्वन् **गोभिः** विवेकप्रकाशैः **श्रीणानः** जीवात्मानं परिपक्वं कुर्वन् **सः** असौ सोमः ज्ञानरसः **अक्षाः** आचार्यसकाशात् क्षरति ।।२।।

---

१. ऋ० ९।१०९।१६, 'प्र सुवानो अक्षाः' इति भेदः ।
२. ऋ० ९।१०९।१७।

भावार्थः— आचार्यसकाशात् यो ज्ञानरसः शिष्येण प्राप्यते स तस्य कर्माणि शोधयति तस्यान्तरात्मानं परिपक्वं च करोति ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर उसी विषय को कहा गया है ।

पदार्थ— **वाजी** वेगवान्, **सहस्ररेताः** सहस्र वीर्य वाला, **अद्भिः** शुभकर्मों से **मृजानः** जीवात्मा को अलंकृत करता हुआ, **गोभिः** विवेक के प्रकाशों से **श्रीणानः** जीवात्मा को परिपक्व करता हुआ **सः** वह सोम अर्थात् ज्ञान-रस **अक्षाः** आचार्य के पास से क्षरित होता है ॥२॥

भावार्थ— आचार्य के पास से जो ज्ञान-रस शिष्य द्वारा प्राप्त किया जाता है वह उसके कर्मों को शुद्ध करता है और उसके अन्तरात्मा को परिपक्व करता है ॥२॥

अथ पुनः स एव विषय उच्यते ।

११६२. प्र सोम याहीन्द्रस्य कुक्षा नृभिर्येमानो अद्रिभिः सुतः ॥३॥[1]

प्र सोम याहि इन्द्रस्य कुक्षा । नृभिः येमानः अद्रिभिः अ द्रिभिः सुतः ॥३॥

पदार्थः— हे **सोम** ज्ञानरस ! **नृभिः** नायकैः गुरुभिः **येमानः** नियम्यमानः, **आद्रिभिः** अखण्डितैः पाण्डित्यैः **सुतः** प्रेरितः त्वम् **इन्द्रस्य** जीवात्मनः **कुक्षा** गर्भे। [कुक्षौ इति प्राप्ते 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति विभक्तेर्डादेशः] **प्र याहि** प्र गच्छ ॥३॥

भावार्थः— विद्वांसो नियमपरायणा गुरवो यदा छात्रानध्यापयन्ति तदा तेषां छात्राणामन्तरात्मनि विशुद्धज्ञानरसप्रवाहः सुतरामाविर्भवति ॥३॥

अगले मन्त्र में फिर वही विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे **सोम** ज्ञानरस ! **नृभिः** नेता गुरुओं से **येमानः** नियन्त्रित किया जाता हुआ, **अद्रिभिः** अखण्डित पाण्डित्यों से **सुतः** प्रेरित किया गया तू **इन्द्रस्य** जीवात्मा के **कुक्षा** गर्भ में **प्र याहि** उत्तम प्रकार से पहुंच ॥३॥

भावार्थ— विद्वान्, नियमपरायण गुरु लोग जब छात्रों को पढ़ाते हैं तब उन छात्रों के अन्तरात्मा में विशुद्ध ज्ञान-रस का प्रवाह सुगमता से प्रकट हो जाता है ॥३॥

॥११॥ अथ 'ये सोमासः' इत्यादिकस्यैकादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा। **देवता-** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

अथैकवाक्यतया सम्पूर्णे सूक्ते विद्वद्भिः प्राप्यमाणो ब्रह्मानन्दरसो वर्ण्यते ।

११६३. ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्विरे । ये वादः शर्यणावति ॥१॥[2]

ये सोमासः परावति । ये अर्वावति सुन्विरे । ये वा अदः शर्यणावति ॥१॥

---

१. ऋ० ९।१०९।१८ ।

२. ऋ० ९।६५।२२ ।

११६४. य आर्जीकेषु कृत्वसु ये मध्ये पस्त्यानाम् । ये वा जनेषु पञ्चसु ॥२॥[1]

ये आर्जीकेषु कृत्वसु । ये मध्ये पस्त्यानाम् । ये वा जनेषु पञ्चसु ॥२॥

११६५. ते नो वृष्टिं दिवस्परि पवन्तामा सुवीर्यम् । स्वाना देवास इन्दवः ॥३॥[2]

ते नः वृष्टिम् दिवः परि । पवन्ताम् आ सुवीर्यम् सु वीर्यम् ।

स्वानाः देवासः इन्दवः ॥३॥

पदार्थः— **ये सोमासः** ये ज्ञानप्रेरका विद्वांसः **परावति** पराविद्याविषये, **ये** ये च **अर्वावति** अपराविद्याविषये **ये वा** ये च **अदः** अस्मिन् । [अत्र सुपां सुलुक्० अ० ७।१।३९ इति सप्तम्या लुक् ।] **शर्यणावति**[3] शरीरविद्याविषये **सुन्विरे** ज्ञानं सुन्वन्ति प्रयच्छन्ति, **ये** ये विद्वांसः **आर्जीकेषु** ऋजुप्रवृत्तिषु **कृत्वसु** कर्मयोगिषु, **ये** ये विद्वांसः **पस्त्यानाम्** प्रजानाम् । [विशो वै पस्त्याः । श० ५।३।५।१९।] **मध्ये** अभ्यन्तरे, **ये वा** ये च **पञ्चसु जनेषु**[4] यजमानपञ्चमेषु चतुर्षु ब्रह्माध्वर्युहोत्रुद्गातृषु **सुन्विरे** ज्ञानं सुन्वन्ति प्रयच्छन्ति **ते स्वानाः** सुवानाः अध्यापयमानाः, **इन्दवः** ज्ञानरसेन क्लेदकाः **देवासः** विद्वांसः **नः** अस्मभ्यम् **दिवः परि** द्योतमानात् परमात्मनः **वृष्टिम्** आनन्दरूपं रसवर्षाम्, **सुवीर्यम्** सुवीर्योपेतम् अध्यात्मधनं च **आ पवन्ताम्** प्रवाहयन्तु ॥१-३॥

भावार्थः— आप्ता विद्वांसो विभिन्नान् जनान् तत्तत्सम्बद्धासु विद्यासु निष्णातान् कृत्वा ब्रह्मानन्दं च प्रदाय सुयोग्यान् कुर्वन्त्यतस्ते सर्वैः सत्करणीयाः ॥१-३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मनो विदुषां गुरूणां सकाशात् प्राप्यमाणस्य ज्ञानरसस्य ब्रह्मानन्दरसस्य च वर्णना-देतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ॥

इस सम्पूर्ण सूक्त में एक वाक्य में विद्वानों से प्राप्त कराये जाते हुए ब्रह्मानन्द का वर्णन है ।

पदार्थ— ये सोमासः जो ज्ञान-प्रेरक विद्वान् लोग **परावति** परा विद्या के विषय में, और **ये** जो **अर्वावति** अपरा विद्या के विषय में, **ये वा** और जो **अदः** इस **शर्यणावति** शरीर-विद्या के विषय में **सुन्विरे** ज्ञान देते हैं, **ये** जो विद्वान् लोग **पस्त्यानाम्** प्रजाओं के **मध्ये** अन्दर, **ये वा** और जो **पञ्चसु जनेषु** यजमान, ब्रह्मा, अध्वर्यु, होता और उद्गाता इन पांच जनों में **सुन्विरे** ज्ञान देते हैं, **ते** वे **स्वानाः** पढ़ाने वाले **इन्दवः** ज्ञान-रस से भिगोने वाले **देवासः** विद्वान् लोग **नः** हमारे लिए **दिवः परि** द्युतिमय परमात्मा के पास से **वृष्टिम्** आनन्दरस की वर्षा को, और **सुवीर्यम्** सुवीर्य से युक्त आध्यात्मिक धन को **आ पवन्ताम्** प्रवाहित करें ॥१-३॥

भावार्थ— आप्त विद्वान् लोग भिन्न-भिन्न लोगों को उन-उन से सम्बद्ध विद्याओं में निष्णात करके और ब्रह्मानन्द प्रदान करके सुयोग्य बनाते हैं, इसलिए उनका सबको सत्कार करना चाहिए ॥१-३॥

---

१. ऋ० ९।६५।२३ ।

२. ऋ० ९।६५।२४, 'सुवाना' इति भेदः ।

३. शर्यणावति । कुरुक्षेत्रस्य जघनार्द्धे शर्यणावत्संज्ञाकं मधुररसयुक्तं सोमवत् सरोऽस्ति । अदः अस्मिन् सरसि सुरसा ये सोमा इन्द्रायाभिषूयन्ते- इति सा० । शर्यणावति भूमौ- इति वि० ।

४. पञ्चजनाः यजमानश्चत्वार ऋत्विजः- इति वि० ।

इस खण्ड में परमात्मा का और विद्वान् गुरुओं के पास से प्राप्त होने वाले ज्ञानरस तथा ब्रह्मानन्दरस का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए।।

अष्टम अध्याय में पंचम खण्ड समाप्त ।

।।१२।। अथ 'आ ते वत्सो' इत्यादिकस्य द्वादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वत्सः काण्वः। **देवता** अग्निः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ८ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्रापि स एव विषयः प्रदर्श्यते ।

११६६. आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात् ।
अग्ने त्वां कामये गिरा ।।१।।[1]

आ ते वत्सः मनः यमत् । परमात् चित् सधस्थात् सध स्थात् ।
अग्ने त्वाम् कामये गिरा ।।१।।

पदार्थः— हे **अग्ने** अग्रनायक, सर्वज्ञ, तेजोमय परमात्मन् ! अहम् **गिरा** स्तुतिवाचा **त्वाम् कामये** त्वाम् इच्छामि । **ते वत्सः** त्वदीयः पुत्रः, त्वत्प्राप्त्यर्थम् **परमात् चित्** सुदूरादपि **सधस्थात्** लोकात् **मनः** स्वकीयं मानसम् **आयमत्** उप रमयति, प्रत्यावर्तयति ।।१।।[2]

भावार्थः— अन्तिके वा दूरे वा यत्र कुत्रापि मे मनो गतं ततस्तत् प्रत्यावर्त्य परमात्मन्येव केन्द्रयामि।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ८ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में की जा चुकी है । यहां भी उसी विषय को दर्शाते हैं ।

पदार्थ— हे **अग्ने** अग्रनायक, सर्वज्ञ, तेजस्वी परमात्मन् ! मैं **गिरा** स्तुति-वाणी से **त्वाम् कामये** तुझे चाहता हूं । **ते वत्सः** तेरा पुत्र तुझे पाने के लिए **परमात् चित्** सुदूर भी **सधस्थात्** लोक से **मनः** अपने मन को **आयमत्** लौटा लाया है ।।१।।

भावार्थ— समीप वा दूर जहां कहीं भी मेरा मन चला गया है वहां से उसे लौटाकर परमात्मा में ही केन्द्रित करता हूं।।१।।

अथ परमात्मानं स्तुवन् तमाह्वयति ।

११६७. पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि दिशो विश्वा अनु प्रभुः । समत्सु त्वा हवामहे ।।२।।[3]

पुरुत्रा हि सदृङ् स दृङ् असि । दिशः विश्वाः अनु प्रभुः प्र भुः ।
समत्सु स मत्सु त्वा हवामहे ।।२।।

---

१. ऋ० ८।११।७ । य० १२।११५, उभयत्र 'कायमा' इति पाठः । साम० ८।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं 'मनुष्यैः सदैव मनः स्ववशं विधेयं वाणी च' इति विषये व्याचष्टे ।

३. ऋ० ८।११।८, ४३।२१ उभयत्र 'विशो॒ विश्वा॒' इति पाठः ।

पदार्थः— हे अग्ने सर्वान्तर्यामिन् परमात्मन् ! त्वम् **पुरुत्रा** बहुषु, सर्वेष्वेवेति भावः। [देवमनुष्यपुरुष-पुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्। अ० ५।४।५६ इत्यनेन पुरुशब्दात् सप्तम्यर्थे त्रा प्रत्ययः।] **सदृङ्** समानद्रष्टा **असि** वर्तसे। **विश्वाः दिशः अनु** सर्वाः दिशः अनुलक्ष्य, सर्वेषु क्षेत्रेष्वित्यर्थः **प्रभुः** समर्थोऽसि। वयम् **समत्सु** आन्तरेषु बाह्येषु च देवासुरसंग्रामेषु। [समदः इति संग्रामनाम । निघं० २।१७।] **त्वा** त्वाम् **हवामहे** आह्वयामः॥२॥

भावार्थः— यः पक्षपातरहितः सर्वत्र समर्थः परमेश्वरो विपत्काले शक्तिप्रदानेन रक्षति स सर्वैर्ध्यातव्यः॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की स्तुति करते हुए उसका आह्वान किया गया है ।

पदार्थ- हे अग्नि अर्थात् सर्वान्तर्यामी परमात्मन् ! आप **पुरुत्रा** सभी के प्रति **सदृङ्** समदर्शी **असि** हो । **विश्वाः दिशः अनु** सब दिशाओं में अर्थात् सब क्षेत्रों में **प्रभुः** समर्थ हो । हम **समत्सु** आन्तरिक तथा बाह्य देवासुरसंग्रामों में **त्वा** आपको **हवामहे** पुकारते हैं॥२॥

भावार्थ— जो पक्षपात से रहित, सब बातों में समर्थ परमेश्वर विपत्ति के समय शक्ति-प्रदान द्वारा रक्षा करता है उसमें सबको ध्यान लगाना चाहिए ॥२॥

अथ पुनः परमात्मानमाह्वयति ।

११६८. समत्स्वग्निमवसे वाजयन्तो हवामहे । वाजेषु चित्रराधसम् ॥३॥[1]

समत्सु स मत्सु अग्निम् अवसे । वाजयन्तः हवामहे ।
वाजेषु चित्रराधसम् चित्र राधसम् ॥३॥

पदार्थः— **समत्सु** देवासुरसंग्रामेषु **वाजयन्तः** बलं कामयमानाः वयम् **अवसे** रक्षणाय **अग्निम्** अग्रनायकं जगदीश्वरम् **हवामहे** आह्वयामः । **चित्रराधसम्** अद्भुतधनं तम् **वाजेषु** धनेषु निमित्तेषु **हवामहे** आह्वयामः॥३॥

भावार्थः— परमेश्वरो बलं प्रदायैव जनान् रक्षति । अद्भुतानां दिव्यानां भौतिकानां च धनानां स्वामी स पुरुषार्थिभ्य एव धनानि ददाति ॥३॥

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा का आह्वान है ।

पदार्थ— **समत्सु** देवासुरसंग्रामों में **वाजयन्तः** बल की कामना करते हुए, हम **अवसे** रक्षा के लिए **अग्निम्** अग्रनायक जगदीश्वर को **हवामहे** पुकारते हैं। **चित्रराधसम्** अद्भुत धन वाले उसे **वाजेषु** धनप्राप्ति के निमित्त **हवामहे** हम पुकारते हैं॥३॥

भावार्थ— परमेश्वर बल देकर ही लोगों की रक्षा करता है । अद्भुत दिव्य एवं भौतिक धनों का स्वामी वह पुरुषार्थियों को ही धन देता है ॥३॥

---

१. ऋ० ८।११।९ ।

॥१३॥ अथ 'त्वं न इन्द्रा' इत्यादिकस्य त्रयोदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** नृमेध आङ्गिरसः। **देवता** इन्द्रः। छन्दः ककुबुष्णिक्। **स्वरः** ऋषभः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४०५ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता। अत्र क्षात्रधर्मशिक्षक आचार्य उच्यते।

११६९. त्वं न इन्द्रा भर ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे।
आ वीरं पृतनासहम्॥१॥[1]

त्वम् नः इन्द्र आ भर। ओजः नृम्णम् शतक्रतो शत क्रतो विचर्षणे वि चर्षणे।
आ वीरम् पृतनासहम् पृतना सहम्॥१॥

पदार्थः— हे **शतक्रतो** बहुप्रज्ञ, **विचर्षणे** शिष्याणां द्रष्टः **इन्द्र** क्षात्रधर्मशिक्षक आचार्य! **त्वम् नः** अस्मभ्यम् **ओजः** उत्साहम् **नृम्णम्** बलं च **आ भर**[2] आहर। अपि च **पृतनासहम्** शत्रुसेनापराजेतारम् **वीरम्** शूरं क्षत्रियं योद्धारम् **आ** आहर॥१॥

भावार्थः— तत्तद्विद्यानिष्णातो गुरुरेव ब्राह्मणं वा क्षत्रियं वा वैश्यं वा राष्ट्राय जनयति॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४०५ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है। यहां क्षात्रधर्म के शिक्षक आचार्य को कह रहे हैं।

पदार्थ— हे **शतक्रतो** बहुत बुद्धिमान्, **विचर्षणे** शिष्यों पर दृष्टि रखने वाले **इन्द्र** क्षात्रधर्म के शिक्षक आचार्य! **त्वम्** आप **नः** हमें **ओजः** उत्साह और **नृम्णम्** बल **आ भर** प्रदान कीजिए। साथ ही **पृतनासहम्** शत्रु-सेनाओं को हराने वाला **वीरम्** वीर क्षत्रिय योद्धा **आ** प्रदान कीजिए॥१॥

भावार्थ— उस-उस विद्या में निष्णात गुरु ही ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य राष्ट्र के लिए उत्पन्न करता है॥१॥

आचार्यं प्रार्थयित्वा सम्प्रति परमात्मानं स्तौति प्रार्थयते च।

११७०. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अथा ते सुम्नमीमहे॥२॥[3]

त्वम् हि नः पिता वसो। त्वम् माता शतक्रतो शत क्रतो बभूविथ।
अथ ते सुम्नम् ईमहे॥२॥

---

१. ऋ० ८।९८।१०, अथ० २०।१०८।१, उभयत्र भरँ॑, पृ॒त॒ना॒ष॒हम्' इति भेदः। साम० ४०५।

२. संहितायाम् 'भर ओजः' इत्यत्र 'भरौजः' इति वृद्धिरेकादेशो न भवति, 'ओजि। ऋक्तन्त्रम् ८६' पदादौ ओजि परे पूर्वो न सन्निकृष्यते इति नियमात्।

३. ऋ० ८।९८।११, अथ० २०।१०८।२, उभयत्र 'अधा' इति पाठः।

पदार्थः— हे **वसो** निवासक, **शतक्रतो** शतकर्मन् परमेश! **त्वं हि** त्वमेव खलु **नः** अस्माकम् **पिता** जनकः, **त्वम्** त्वमेव च **माता** जननी **बभूविथ** जज्ञिषे। **अथ** अतः, वयम् **ते** त्वाम् **सुम्नम्** सुखम् **ईमहे** याचामहे॥२॥

भावार्थः— परमेश्वर एक एव सन् सर्वेषां पितृवत् पालको मातृवत् स्नेहप्रदाता चरित्रनिर्माता च विद्यते। स मातापितृवत् सर्वेभ्यः सुखं प्रयच्छति ॥२॥

आचार्य से प्रार्थना करके अब परमात्मा की स्तुति तथा उससे प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ— हे **वसो** निवासप्रदाता, **शतक्रतो** सैंकड़ों कर्मों को करने वाले परमेश! **त्वं हि** आप ही **नः** हमारे **पिता** पिता और **त्वम्** आप ही **माता** माता **बभूविथ** हो। **अथ** इसलिए, हम **ते** आपसे **सुम्नम्** सुख **ईमहे** मांगते हैं ॥२॥

भावार्थ— परमेश्वर एक ही होता हुआ सबका पिता के समान पालनकर्ता और माता के समान स्नेह देने वाला वा चरित्र-निर्माता है। वह माता-पिता के तुल्य सबको सुख देता है ॥२॥

अथ पुनः परमात्मा प्रार्थ्यते।

११७१. त्वां शुष्मिन् पुरुहूत वाजयन्तमुप ब्रुवे सहस्कृत।
स नो रास्व सुवीर्यम् ॥३॥[1]

त्वाम् शुष्मिन् पुरुहूत पुरु हूत। वाजयन्तम् उप ब्रुवे सहस्कृत सहः कृत।
सः नः रास्व सुवीर्यम् सु वीर्यम् ॥३॥

पदार्थः— हे **शुष्मिन्** बलवन्, **पुरुहूत** बहुभिः आहूत, **सहस्कृत** बलप्रद जगदीश्वर! **वाजयन्तं त्वाम्** बलं परेषां कामयमानम् त्वाम्, अहम् **उपब्रुवे** प्रार्थये। **सः** असौ त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **सुवीर्यम्** सुबलोपेतं सन्तानम् **रास्व** प्रयच्छ ॥३॥

भावार्थः— वयमस्माकं सन्तानाश्च बलवन्तो भूत्वा शत्रून् पराजित्य स्वकीयं चक्रवर्तिराज्यं संस्थाप्य धर्मेण प्रजाः पालयेमहि ॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा से प्रार्थना है।

पदार्थ— हे **शुष्मिन्** बलवान्, **पुरुहूत** बहुतों से पुकारे गए, **सहस्कृत** बलप्रदाता जगदीश्वर! **वाजयन्तं त्वाम्** दूसरों को बल देना चाहने वाले आपसे, मैं **उपब्रुवे** प्रार्थना करता हूं। **सः** वह आप **नः** हमें **सुवीर्यम्** उत्कृष्ट वीरता से युक्त सन्तान **रास्व** दीजिए ॥३॥

भावार्थ— हम और हमारी सन्तानें बलवान् होकर, शत्रुओं को हराकर, अपना चक्रवर्ती राज्य संस्थापित करके धर्म से प्रजाओं का पालन करें ॥३॥

॥१४॥ अथ 'यदिन्द्र' इत्यादिकस्य चतुर्दशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अत्रिर्भौमः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** अनुष्टुप्। **स्वरः** गान्धारः ॥

---

१. ऋ० ८।९८।१२, अथ० २०।१०८।३, उभयत्र 'सहस्कृत' इत्यत्र 'शतक्रतो'।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३४५ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता। अत्र परमात्मन आचार्यस्य च विषयो निरूप्यते ।

११७२. यदिन्द्र चित्र म इह नास्ति त्वादातमद्रिवः ।
राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर ॥१॥[1]

यत् इन्द्र चित्र मे इह न । अस्ति त्वादातम् त्वा दातम् अद्रिवः अ द्रिवः ।
राधः तत् नः विदद्वसो विदत् वसो । उभयाहस्ति आ भर ॥१॥

पदार्थः— हे **चित्र** अद्भुत, **अद्रिवः** अविदीर्णगुण । [न केनापि दीर्यते यस्तत्सम्बुद्धौ।] **विदद्वसो** लब्धधन **इन्द्र** जगदीश आचार्य वा! **त्वादातम्** त्वया शोधितम् । [दातम् दैप् शोधने, निष्ठा।] **यत् राधः** यद् आत्मबल-धर्मविद्यादिधनम् **मे** मम **इह** अत्र **न अस्ति** न विद्यते, **तत्** धनम् त्वम् **उभयाहस्ति** उभाभ्यां हस्ताभ्यां यथा कस्मैचिद् दीयते तथा **नः** अस्मभ्यम् **आ भर** आहर ॥१॥[2]

यास्काचार्येण मन्त्रोऽयं निरुक्ते ४।४ इत्यत्र व्याख्यातः ।

भावार्थः— परमेशस्याचार्यस्य च कृपया शुद्धस्य भौतिकस्य च धनस्य वयमधिपतयः स्याम ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ३४५ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में की गयी थी। यहां परमात्मा और आचार्य का विषय दर्शाया जा रहा है ।

पदार्थ— हे **चित्र** अद्भुत, **अद्रिवः** अविनष्ट गुणों वाले **विदद्वसो** प्राप्त ऐश्वर्य वाले **इन्द्र** जगदीश्वर वा आचार्य! **त्वादातम्** आपसे शोधित **यत् राधः** जो आत्मबल, धर्म, विद्या आदि का धन **मे** मेरे पास **इह** यहां **न अस्ति** नहीं है **तत्** वह धन, आप **उभयाहस्ति** जैसे दोनों हाथों से किसी को दिया जाता है वैसे **नः** हमें **आ भर** दीजिए ॥१॥

भावार्थ— परमेश्वर और आचार्य की कृपा से शुद्ध दिव्य और भौतिक धन के हम अधिपति हो जाएं॥१॥

अथ पुनः परमेश्वराचार्ययोर्विषयमाह ।

११७३. यन्मन्यसे वरेण्यमिन्द्र द्युक्षं तदा भर ।
विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावनः ॥२॥[3]

यत् मन्यसे वरेण्यम् । इन्द्र द्युक्षम् द्यु क्षम् तत् आ भर ।
विद्याम तस्य ते वयम् अकूपारस्य दावनः ॥२॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर आचार्य वा ! **यत्** यत् त्वम् **वरेण्यम्** वरितुं ग्रहीतुमर्हम् **मन्यसे** जानासि **तत् द्युक्षम्** धर्मविद्याप्रकाशनिवासकं स्वकीयं दानम् । [द्यां प्रकाशं क्षाययति निवासयति यत् तादृशम्।]

---

१. ऋ० ५।३९।१, 'मेहनास्ति' इति भेदः । साम० ३४५ ।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजप्रजापक्षे व्याचष्टे ।
३. ऋ० ५।३९।२, 'दावने' इति पाठः ।

आ भर अस्मान् प्रापय । **ते** तव **अकूपारस्य** अकुत्सितः पारः पूरणं संग्रहः यस्य तादृशस्य **तस्य दावनः** दानस्य । [द्वितीयार्थे षष्ठी।] **वयम्** त्वदुपासकाः **विद्याम** लभेमहि । ['विद्याम तस्य ते वयमकुपरणस्य दानस्य' इति निरुक्तम्। ४।१८] ॥२॥[1]

भावार्थः— परमेश्वरस्याचार्यस्य च यत् सद्गुणविद्याधर्मसदाचारादिदानमस्ति तत् प्राप्य वयं स्वात्मान-मुन्नयेम ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर परमेश्वर और आचार्य का विषय है ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर वा आचार्य! **यत्** जिसे, आप **वरेण्यम्** ग्रहण करने योग्य **मन्यसे** मानते हो **तत्** उस **द्युक्षम्** धर्म और विद्या के प्रकाश के निवासक अपने दान को **आ भर** हमें प्राप्त कराओ । **ते** आपके **अकूपारस्य** जिसका भरना या संग्रह करना बुरा नहीं है ऐसे **तस्य** उस **दावनः** दान को **वयम्** हम **विद्याम** पा लेवें ॥२॥

भावार्थ— परमेश्वर और आचार्य का जो सद्गुण, विद्या, धर्म, सदाचार आदि का दान है उसे पाकर हम अपने आपको उन्नत करें ॥२॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

११७४. यत्ते दिक्षु प्रराध्यं मनो अस्ति श्रुतं बृहत् ।
तेन दृढा चिदद्रिव आ वाजं दर्षि सातये ॥३॥[2]

यत् ते दिक्षु प्रराध्यम् प्र राध्यम् । मनः अस्ति श्रुतम् बृहत् ।
तेन दृढा चित् अद्रिवः अ द्रिवः । आ वाजम् दर्षि सातये ॥३॥

पदार्थः— हे इन्द्र परमात्मन् आचार्य वा! **यत् ते** यत् तव **प्रराध्यम्** प्रसादयितुमर्हम् **बृहत् मनः** विपुलशक्तिकं मानसम् **दिक्षु** दिशासु **श्रुतम्** प्रसिद्धम् **अस्ति** विद्यते, **तेन** मनसा, हे **अद्रिवः** अविदीर्णबल! त्वम् **दृढा चित्** कठिनमपि दुष्प्राप्यमपि। [सुपां सुलुक्० अ० ७।१।३९ इति द्वितीयैकवचनस्य आकारादेशः।] **वाजम्** धर्मविद्यादिधनम् **सातये** अस्मासु प्राप्तये **आदर्षि** आनय। [दृ विदारणे, क्र्यादिः, छान्दसो विकरणस्य लुक्] ॥३॥[3]

भावार्थः— परमेश्वर आचार्यश्च सत्पात्रेभ्यो जनेभ्यो धर्ममार्गं सुशिक्ष्य विद्यादिदानं कृत्वा पुरुषार्थं प्रेरयित्वा तान् परमैश्वर्यवतः कुरुतः ॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मन आचार्यस्य च गुणवर्णनात् तदाह्वानात् ततः प्रार्थनाच्चैतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेदितव्या ॥

अगले मन्त्र में फिर वही विषय है ।

पदार्थ— हे इन्द्र परमात्मन् वा आचार्य! **यत् ते** जो आपका **प्र राध्यम्** प्रसन्न करने योग्य **बृहत् मनः** विशाल शक्ति वाला मन **दिक्षु** दिशाओं में **श्रुतम्** प्रसिद्ध **अस्ति** है, **तेन** उस मन से, हे **अद्रिवः** अविनष्ट बल

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वत्पक्षे व्याख्यातवान् ।

२. ऋ० ५।३९।३, 'दिक्षु' इत्यत्र 'दित्सु' ।

३. दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्ये मन्त्रोऽयं विद्वत्परो व्याख्यातः ।

वाले ! आप **दृढा चित्** कठिन और दुष्राय भी **वाजम्** धर्म, विद्या आदि के धन को **सातये** हमें प्राप्त कराने के लिए **आदर्षि** लाओ ।।३।।

भावार्थ- परमेश्वर और आचार्य सत्पात्र जनों को धर्ममार्ग की सुशिक्षा देकर, विद्या आदि का दान करके, पुरुषार्थ की प्रेरणा कर परमैश्वर्यवान् बनाते हैं ।।३।।

इस खण्ड में परमात्मा और आचार्य के गुण वर्णित होने से, उनका आह्वान होने से, और उनसे प्रार्थना की जाने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ।।

अष्टम अध्याय में षष्ठ खण्ड समाप्त ।

अष्टम अध्याय समाप्त ।

चतुर्थ प्रपाठक में द्वितीय अर्ध समाप्त ।

इति बरेली मण्डलान्तर्गतफरीदपुरवास्तव्यश्रीमद्गोपालरामभगवतीदेवीतनयेन हरिद्वारीयगुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयेऽधीतविद्येन, विद्यामार्तण्डेन आचार्यरामनाथवेदालङ्कारेण महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतवेदभाष्यशैलीमनुसृत्य विरचिते संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते सामवेदभाष्ये उत्तरार्चिके चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तिमगात ।।

प्रपाठकः समाप्तिमगात् ।।

अथ नवमोऽध्यायः पञ्चमः प्रपाठकश्च

।।१।। अथ 'शिशुं जज्ञान' इत्यादिकस्य प्रथमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** प्रतर्दनो दैवोदासिः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ।।

तत्रादौ परमात्माविर्भावं वर्णयति ।

१२ ३१२३१२ ३२३ १२ ३१२ ३१२
११७५. शिशुं जज्ञानं हर्यतं मृजन्ति शुम्भन्ति विप्रं मरुतो गणेन ।
३२३१२ २२ ३१२ २२ ३२३१२३१२
कविर्गीर्भिः काव्येन कविः सन्त्सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ।।१।।[1]

१२२ ३२३२३ १२१२२ ३ १२३१२
शिशुम् जज्ञानम् हर्यतम् मृजन्ति । शुम्भन्ति विप्रम् वि प्रम् मरुतः गणेन ।
३२३२१२२ ३२ १२२३ १२२३ १२२
कविःगीर्भिःकाव्येन कविःसन् । सोमः पवित्रम् अति एति रेभन् ।।२।।

पदार्थः- शिशुं जज्ञानम् उत्पद्यमानं शिशुमिव अन्तरात्मनि प्रकटीभवन्तम्, **हर्यतम्** प्रियं तं सोमं परमात्मानम्, उपासकाः जनाः **मृजन्ति** स्तोत्रैः अलङ्कुर्वन्ति । **विप्रम्** विशेषेण पूरकं मेधाविनं तं परमात्मानम् **मरुतः** प्राणाः **गणेन** तरङ्गसमूहेन **शुम्भन्ति** प्रसाधयन्ति । **गीर्भिः** प्रेरिकाभिर्वाग्भिः **कविः** दिव्यसन्देशप्रदाता **काव्येन** वेदकाव्येन च **कविः** काव्यकारः **सन्** भवन् **सोमः** सन्मार्गे प्रेरकः परमेश्वरः **रेभन्** उपदिशन् **पवित्रम् अत्येति** परिपूतं हृदयमतिक्रम्य अन्तरात्मानम् प्राप्नोति ।।१।।

'शिशुं जज्ञानम्' इत्यत्र लुप्तोपमालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः- स्वान्तरात्मनि परमेश्वरमाविर्भाव्य स भक्तिभावभरितैः स्तोत्रैर्भूयोभूयोऽलङ्करणीयः प्रसादनीयश्च ।।१।।

---

१. ऋ० ९।९६।१७ ।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा के आविर्भाव का वर्णन है।

पदार्थ– **शिशुं जज्ञानम्** पैदा होते हुए शिशु के समान अन्तरात्मा में प्रकट होते हुए **हर्यतम्** उस प्रिय सोम परमात्मा को, उपासक जन **मृजन्ति** स्तोत्रों से अलंकृत करते हैं। **विप्रम्** विशेष रूप से पूर्णता प्रदान करने वाले उस मेधावी परमात्मा को **मरुतः** प्राण **गणेन** अपने तरंगसमूह से **शुम्भन्ति** शोभित करते हैं। **गीर्भिः** प्रेरक वाणियों से **कविः** दिव्य सन्देश देने वाला और **काव्येन** वेदकाव्य से **कविः** काव्यकार **सन्** होता हुआ **सोमः** सन्मार्गप्रेरक परमेश्वर **रेभन्** उपदेश देता हुआ **पवित्रम् अत्येति** पवित्र हृदय को लांघकर अन्तरात्मा में पहुंचता है ।।१।।

यहां 'शिशुं जज्ञानम्' में लुप्तोपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ– अपने अन्तरात्मा में परमेश्वर को प्रकट करके भक्तिभाव से परिपूर्ण स्तोत्रों द्वारा उसे अधिकाधिक अलंकृत और प्रसादित करना चाहिए ।।१।।

अथ परमात्मनो गुणकर्माणि वर्णयति ।

११७६. **ऋषिमना य ऋषिकृत् स्वर्षाः सहस्रनीथः पदवीः कवीनाम् ।**
तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप् ।।२।।[1]

ऋषिमनाः ऋषि मनाः यः ऋषिकृत् ऋषि कृत् स्वर्षाः स्वः साः ।
सहस्रनीथः सहस्र नीथः पदवीः पद वीः कवीनाम् । तृतीयम् धाम महिषः सिषासन् ।
सोमः विराजम् वि राजम् अनु राजति स्तुप् ।।२।।

पदार्थः– **यः ऋषिमनाः** ऋषिस्वभावः, **ऋषिकृत्** उपासकान् ऋषीन् करोतीति सः, **स्वर्षाः** आनन्दप्रदाता, **सहस्रनीथः** सहस्रनीतिः, **कवीनाम्** क्रान्तदर्शिनाम् **पदवीः** उच्चपदं प्रापयिता अस्ति, सः **महिषः** महान्, **स्तुप्** सर्वेषामाधारस्तम्भभूतः। [स्तुभु स्तम्भे, भ्वादिः ।] **सोमः** जगदीश्वरः **तृतीयं धाम** मुक्तिपदम्। [प्रथमं धाम प्रकृतिः, द्वितीयं धाम जीवात्मा, तृतीयं च मोक्षः ।] **सिषासन्** दातुमिच्छन्। [षणु दाने, सनि शत्रन्तः।] **विराजम्** विशेषेण दीप्तिमन्तं जनम् **अनुराजति** अनुरञ्जयति । [राजृ दीप्तौ, अत्र रञ्जनकर्मा] ।।२।।

अत्र 'ऋषि' इत्यस्यावृत्तौ लाटानुप्रासः, 'राज' इत्यस्यावृत्तौ च यमकम् ।।२।।

भावार्थः–यः परमेश्वरः जनानृषिपदं प्रापय्य मोक्षं प्रयच्छति तमुपास्य सर्वे सौभाग्यवन्तो जायन्ताम्।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा के गुण-कर्मों का वर्णन है ।

पदार्थ– **यः** जो **ऋषिमनाः** ऋषि स्वभाववाला, **ऋषिकृत्** उपासकों को ऋषि बनाने वाला, **स्वर्षाः** आनन्दप्रदाता, **सहस्रनीथः** सहस्रनीतियों वाला, **कवीनाम्** क्रान्तदर्शियों को **पदवीः** उच्च पद प्राप्त कराने वाला है, वह **महिषः** महान्, **स्तुप्** सबका आधारस्तम्भरूप **सोमः** जगदीश्वर **तृतीयं धाम** मुक्ति पद को **सिषासन्** देना चाहता हुआ **विराजम्** विशेष तेज से युक्त मनुष्य को **अनुराजति** अनुरंजित करता है ।।२।।

---

१. ऋ० ९।९६।१८ ।

यहाँ ऋषि की आवृत्ति से लाटानुप्रास तथा राज की आवृत्ति में यमक अलंकार है ॥२॥

भावार्थ– जो परमेश्वर मनुष्यों को ऋषिपद प्राप्त कराकर मोक्ष देता है, उसकी उपासना करके सब सौभाग्यवान् होवें ॥२॥

अथ पुनः परमात्मानं वर्णयति।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २
११७७. **चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्।**
३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति ॥३॥[1]

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
चमूषत् चमू सत् श्येनः शकुनः विभृत्वा वि भृत्वा।
३ २ ३ २ ३ २ १ २ २ १ २ २
गोविन्दुः गो विन्दुः द्रप्सः आयुधानि बिभ्रत्।
३ २ ३ २ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ २ ३ २ ३
अपाम् ऊर्मिम् सचमानः समुद्रम् सम् उद्रम्। तुरीयम् धाम महिषः विवक्ति ॥३॥

पदार्थः– **चमूषत्** चम्वोः द्यावापृथिव्योः सीदति उपविष्टोऽस्ति यः सः, **श्येनः** शंसनीयकर्मा। [श्येनः शंसनीयं गच्छति। निरु० ४।२३।] **शकुनः** शक्तिशाली। [शक्नोतीति शकुनः। शक्लृ शक्तौ धातोः 'शकेरुनोन्तोन्त्युनयः' उ० ३।४९ इत्यनेन उन प्रत्ययः।] **विभृत्वा** विशेषेण भरणपोषणकर्ता। [अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते। अ० ३।२।७५। इत्यनेन डुभृञ् धारणपोषणयोः इत्यस्मात् क्वनिप् प्रत्ययः।] **गोविन्दुः**[2] गवां धेनूनां भूमीनां च लम्भकः। [विन्दुः इत्यत्र 'विद्लृ लाभे धातोर्बाहुलकादौणादिक उः प्रत्ययः।] **द्रप्सः** आनन्दरसयुक्तः। [रसो वै सः। तै० उ० २।७ इत्युक्तेः। द्रप्सः इति जलबिन्दुवाचकः, यथा निरु० ५।१४ इत्यत्र।] **आयुधानि बिभ्रत्** शस्त्रास्त्राणि धारयन् सेनापतिरिव दण्डशक्तियुक्तः, **अपाम् ऊर्मिम्** उदकानाम् आच्छादकम्। [ऊर्मिः ऊर्णोतेः। निरु० ५।२३।] **समुद्रम्** अर्णवम् अन्तरिक्षं वा **सचमानः** श्रयमाणः। [षच सेचने सेवने च, भ्वादिः।] **महिषः** महान् स सोमः जगत्पतिः परमेश्वरः **तुरीयं धाम** पुरुषार्थचतुष्टयेषु चतुर्थं मोक्षमित्यर्थः **विवक्ति** उपदिशति। [वच परिभाषणे, अदादेर्लटि 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः। बहुलं छन्दसि' अ० २।४।७६ इत्यनेन शपः श्लुः। कुत्वं छान्दसम्] ॥

ननु पूर्वस्मिन् मन्त्रे मोक्षः 'तृतीयं धाम' इत्युक्तम्, अत्र च 'तुरीयं धाम' इति, तत् कथं संगच्छते, इति चेद् ब्रूमहे– प्रकृतिलोकः, जीवात्मलोकः, मोक्षलोकः इति तृतीयं धाम। धर्मः, अर्थः, कामः, मोक्षः इति चतुर्थं धाम ॥३॥

भावार्थः– सर्वान्तर्यामिणं सर्वशक्तिमन्तं सज्जनानामुन्नायकं दुष्टानां दण्डकं जगदीश्वरमनुभूय सर्वदुःखेभ्यो मुक्तिः प्राप्तव्या ॥३॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा का वर्णन है।

पदार्थ– चमूषत् द्यावापृथिवी में **स्थित, श्येनः** प्रशंसनीय कर्मों वाला, **शकुनः** शक्तिशाली, **विभृत्वा** विशेष रूप से भरण-पोषण करने वाला, **गोविन्दुः** गायों और भूमियों को प्राप्त कराने वाला, **द्रप्सः** आनन्दरस से भरपूर, **आयुधानि बिभ्रत्** शस्त्रास्त्रों को धारण करने वाले सेनापति के समान दण्ड देने की शक्ति से युक्त, **अपाम् ऊर्मिम्** जलों के धारणकर्ता **समुद्रम्** समुद्र वा अन्तरिक्ष को **सचमानः** आश्रयस्थान बनाता हुआ अर्थात् उनमें विद्यमान रहता हुआ, **महिषः** महान् वह सोम नामक जगत्पति परमेश्वर **तुरीयं धाम** पुरुषार्थचतुष्टय में चौथे मोक्ष का **विवक्ति** उपदेश करता है ॥

---

१. ऋ० ९।९६।१९।

२. गोविन्दुः यजमानानां गवां लम्भकः- इति सा०। गोविन्दुः- गावः उदकं वाक् पृथिवी आदित्यरश्मयो वा, एतानि यो विन्दति स गोवित्। विद ज्ञाने, विद लाभे, विद सत्तायाम्- इति वि०।

यहां यह शंका होती है कि पूर्वमन्त्र में मोक्ष को तृतीय धाम कहा गया है और इस मन्त्र में चतुर्थ धाम, यह कैसे संगत है? इसका उत्तर है कि 'प्रकृतिलोक, जीवात्मलोक, मोक्षलोक' इस वर्गीकरण के अनुसार मोक्ष तृतीय धाम है और 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' इस वर्गीकरण में चतुर्थ धाम। अतः दोनों संगत हैं।।३।।

भावार्थ– सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, सज्जनों की उन्नति करने वाले, दुष्टों को दण्ड देने वाले जगदीश्वर का अनुभव करके सब दुःखों से मुक्ति पानी चाहिए ।।३।।

।।२।। अथ 'एते सोमा' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य नवर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** असितः काश्यपो देवलो वा। **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

अथ ब्रह्मानन्दरसान् वर्णयति ।

११७८. ३१र २र ३ २ ३१र २र ३ १ २ १ २ ३क२र
एते सोमा अभि प्रियमिन्द्रस्य काममक्षरन् । वर्धन्तो अस्य वीर्यम् ।।१।।[1]

३ २ १ २र ३ २ ३ २ १ २र १ २र ३ १ २र ३ क २
एते सोमाः अभि प्रियम् । इन्द्रस्य कामम् अक्षरन् । वर्धन्तः अस्य वीर्यम् ।।१।।

पदार्थः– **एते** इमे **सोमाः** ब्रह्मानन्दरसाः **अस्य** एतस्य **इन्द्रस्य** जीवात्मनः **वीर्यम्** बलम् **वर्धन्तः** वर्धयन्ताः **प्रियम्** प्रीतिकरम् **कामम्** अभ्युदयनिःश्रेयसप्राप्तिरूपम् अभिलाषम् **अभि अक्षरन्** प्रपूरयन्ति ।।१।।

भावार्थः– परब्रह्मोपासनया ब्रह्मानन्दं प्राप्य जना आभ्युदयिकीं नैःश्रेयसीं च सिद्धिं प्राप्तुमर्हन्ति ।।१।।

अब ब्रह्मानन्द-रसों का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ– **एते** ये **सोमाः** ब्रह्मानन्दरस **अस्य** इस **इन्द्रस्य** जीवात्मा के **वीर्यम्** बल को **वर्धन्तः** बढ़ाते हुए **प्रियम्** प्रिय **कामम्** अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति रूप मनोरथ को **अभि अक्षरन्** पूर्ण करते हैं।।१।।

भावार्थ– मनुष्यों को योग्य है कि वे उपासना से ब्रह्मानन्द पाकर अभ्युदय एवं निःश्रेयस की सिद्धि प्राप्त करें ।।१।।

अथ पुनरपि ब्रह्मानन्दविषय उच्यते ।

११७९. ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
पुनानासश्चमूषदो गच्छन्तो वायुमश्विना । ते नो धत्त सुवीर्यम् ।।२।।[2]

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ २ ३ १ २
पुनानासः चमूषदः चमू सदः । गच्छन्तः वायुम् अश्विना ।

३ १ २ ३ १ २र
ते नः धत्त सुवीर्यम् सु वीर्यम् ।।२।।

पदार्थः– **पुनानासः** पवित्रतां प्रयच्छन्तः, **चमूषदः** चम्वोः आत्मबुद्धिरूपयोः पात्रयोः स्थिताः, किं च **वायुम्** गतिशीलं मनः **अश्विना** आश्विनौ प्राणापानौ च **गच्छन्तः** प्राप्नुवन्तः **ते** ते यूयं सोमाः ब्रह्मानन्दरसाः **नः** अस्मभ्यम् **सुवीर्यम्** श्रेष्ठवीर्ययुक्तं दिव्यं धनम् धत्त प्रयच्छत ।।२।।

भावार्थः– ब्रह्मानन्दे प्राप्ते सत्यात्ममनोबुद्धीनां पवित्रता प्राणापानयोः कार्यक्षमताऽऽध्यात्मिकं धनं च स्वयमेवोपासकं प्रति प्रद्रवन्ति ।।२।।

---

१. ऋ० ९।८।१ ।

२. ऋ० ९।८।२, 'धत्त' इत्यत्र 'धान्तु' ।

आगे फिर ब्रह्मानन्द का ही विषय है ।

पदार्थ– **पुनानासः** पवित्रता देते हुए, **चमूषदः** आत्मा एवं बुद्धिरूप कटोरों में स्थित और **वायुम्** गतिशील मन में तथा **अश्विना** प्राण-अपान में **गच्छन्तः** जाते हुए **ते** वे तुम सोम अर्थात् ब्रह्मानन्द-रस **नः** हमें **सुवीर्यम्** श्रेष्ठवीर्ययुक्त दिव्यधन **धत्त** प्रदान करो ॥२॥

भावार्थ– ब्रह्मानन्द के प्राप्त हो जाने पर मन तथा बुद्धि की पवित्रता, प्राण-अपान की कार्यक्षमता और आध्यात्मिक धन स्वयं ही उपासक के पास दौड़े चले आते हैं ॥२॥

अथ सोमः परमात्मा सम्बोध्यते ।

११८०. इन्द्रस्य सोम राधसे पुनानो हार्दि चोदय । देवानां योनिमासदम् ॥३॥[1]

इन्द्रस्य सोम राधसे । पुनानः हार्दि चोदय ।

देवानाम् योनिम् आसदम् आ सदम् ॥३॥

पदार्थः– हे **सोम** रसागार परमात्मन् ! **इन्द्रस्य** जीवात्मनः **राधसे** ऐश्वर्यप्राप्तये सिद्धिप्राप्तये वा **पुनानः** पवित्रतां प्रयच्छन् त्वम् **देवानाम्** दिव्यानां मुक्तजनानाम् **योनिम्** गृहं, मोक्षलोकमित्यर्थः **आसदम्** आसादयितुम् [अत्र आङ्पूर्वाद् णिज्गर्भात् षदॢ धातोः तुमर्थे बाहुलकाच्छान्दसो णमुल् प्रत्ययः ।] **हार्दि**[2] सर्वान् प्रति सौहार्दम् । [अत्र द्वितीयैकवचनस्य लुक् ।] **चोदय** अस्मासु प्रेरय ॥३॥

भावार्थः– लोकविद्वेषिणो जना मोक्षं प्राप्तुं न क्षमन्ते ॥३॥

अगले मन्त्र में सोम परमात्मा को सम्बोधन है ।

पदार्थ– हे **सोम** रसागार परमात्मन्! **इन्द्रस्य** जीवात्मा की **राधसे** ऐश्वर्यप्राप्ति और सिद्धिप्राप्ति के लिए **पुनानः** पवित्रता देते हुए आप **देवानाम् योनिम्** दिव्य मुक्तजनों के घर अर्थात् मोक्षलोक को **आसदम्** प्राप्त कराने के लिए **हार्दि** सबके प्रति सौहार्द को **चोदय** हमारे अन्तर प्रेरित करो ॥३॥

भावार्थ– जनसाधारण से विद्वेष करने वाले लोग मोक्ष पाने में समर्थ नहीं होते ॥३॥

अथ जीवात्मविषय उच्यते ।

११८१. मृजन्ति त्वा दश क्षिपो हिन्वन्ति सप्त धीतयः ।
अनु विप्रा अमादिषुः ॥४॥[3]

मृजन्ति त्वा दश क्षिपः । हिन्वन्ति सप्त धीतयः । अनु विप्राः वि प्राः अमादिषुः ॥४॥

पदार्थः– हे सोम कर्मानुसारं मानवदेहे प्रेरित जीवात्मन् ! **दश क्षिपः** दशसंख्यकाः प्राणाः **त्वा** त्वाम् **मृजन्ति** अलङ्कुर्वन्ति [क्षिप्यन्ते स्वस्वस्थानेषु याः ताः क्षिपः।] । किञ्च **सप्त धीतयः** सप्तसंख्यकानि मनोबुद्धि-

---

१. ऋ० ९।८।३, 'ऋतस्य योनिमासदम्' इति तृतीयः पादः ।

२. हार्दि हृदये-इति वि० । हृदयसम्बन्धिस्थानम्- इति सा० ।

३. ऋ० ९।८।४ ।

सहितानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, त्वाम् **हिन्वन्ति** प्रीणयन्ति [हिवि प्रीणनार्थः, भ्वादिः।] । **विप्राः** मेधाविनो विद्वज्जनाः, त्वाम् **अनु अमादिषुः** अनुहर्षयन्ति । [अत्र लडर्थे लुङ्] ॥४॥

भावार्थः— जीवात्मा परमेश्वरेण सर्वैः परमोत्कृष्टैः साधनैः सह शरीरं प्रवेशितोऽस्ति, अतस्तत्र निवसता तेन चरमोन्नतिः साधनीया ॥४॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा का विषय है ।

पदार्थ— हे **सोम** कर्मानुसार मानव-शरीर में भेजे गए जीवात्मन्! **दश क्षिपः** दस प्राण **त्वा** तुझे **मृजन्ति** अलंकृत करते हैं। **सप्त धीतयः** मन, बुद्धि और पांच ज्ञानेन्द्रियां ये सात ज्ञान-साधन तुझे **हिन्वन्ति** तृप्त करते हैं । **विप्राः** मेधावी विद्वज्जन तुझे **अनु अमादिषुः** साथ-साथ उत्साहित करते हैं ॥४॥

भावार्थ— जीवात्मा को परमेश्वर ने सब परमोत्कृष्ट साधनों के साथ शरीर में प्रविष्ट किया है । अतः वहां निवास करते हुए उसे पूर्ण उन्नति करनी चाहिए ॥४॥

अथ जगदीश्वरः सम्बोध्यते ।

११८२. देवेभ्यस्त्वा मदाय कं सृजानमति मेष्यः । सं गोभिर्वासयामसि ॥५॥[1]

देवेभ्यः त्वा मदाय कम् । सृजानम् अति मेष्यः । सम् गोभिः वासयामसि ॥५॥

पदार्थः— हे सोम जगत्स्रष्टः परमेश्वर ! **मेष्यः** मेषीः सेक्त्रीः आनन्दधाराः । [मिषु सेचने, भ्वादिः। अत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति पूर्वसवर्णदीर्घविकल्पनाद् यणि रूपम्।] **अति सृजानम्** विसृजन्तम्, **कम्** सुखस्वरूपम् **त्वा** त्वाम् **देवेभ्यः** आत्ममनोबुद्ध्यादिभ्यः। [षष्ठ्यर्थे चतुर्थी।] **मदाय** हर्षाय, वयम् **गोभिः** स्तुतिवाग्भिः **सं वासयामसि** सञ्छादयामः । [वस आच्छादने, णिजन्तः, इदन्तो मसि] ॥५॥

भावार्थः— जगत्पतिः परमेश्वर उपासकानानन्दधाराभिः सिञ्चंस्तेषामात्ममनोबुद्ध्यादीनि च तर्पयंस्तानुपकरोति ॥५॥

अब जगदीश्वर को सम्बोधन करते हैं ।

पदार्थ— हे सोम अर्थात् जगत्स्रष्टा परमेश्वर! **मेष्यः** सींचने वाली आनन्द-धाराएं **अति सृजानम्** छोड़ते हुए, **कम्** सुखस्वरूप **त्वा** तुझे **देवेभ्यः** आत्मा, मन, बुद्धि आदि के **मदाय** हर्ष के लिए हम **गोभिः** स्तुति-वाणियों से **संवासयामसि** संछादित करते हैं ॥५॥

भावार्थ— जगत्पति परमेश्वर उपासकों को आनन्द की धाराओं से सींचता हुआ और उनके आत्मा, मन, बुद्धि आदियों को तृप्त करता हुआ उनका उपकार करता है ॥५॥

अथ जीवात्मविषय उच्यते ।

११८३. पुनानः कलशेष्वा वस्त्राण्यरुषो हरिः । परि गव्यान्यव्यत ॥६॥[2]

पुनानः कलशेषु आ । वस्त्राणि अरुषः हरिः । परि गव्यानि अव्यत ॥६॥

---

१. ऋ० ९।८।५ ।

२. ऋ० ९।८।६ ।

पदार्थः— अरुषः आरोचमानः **हरिः** जीवात्मा [ह्रियते देहाद् देहान्तरमिति हरिः ।] **कलशेषु** देहरूपेषु **आ** आगम्य **पुनानः** मनआदीनि पवित्राणि कुर्वन् **गव्यानि** गौः सूर्यः तद्वदुज्ज्वलानि **वस्त्राणि** गुणकर्मस्वभावरूपाणि वासांसि **परि अव्यत** पर्याच्छादयति ॥६॥

भावार्थः— तदैव देहधारिणो जन्म सफलं यदा स व्यवहारे समुज्ज्वलान् गुणकर्मस्वभावान् प्रकटीकरोति॥६॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा का विषय वर्णित है।

पदार्थ— अरुषः आरोचमान अर्थात् तेजस्वी **हरिः** जीवात्मा **कलशेषु** देहरूप कलशों में **आ** आकर **पुनानः** मन आदि को पवित्र करता हुआ **गव्यानि** सूर्य के समान उज्ज्वल **वस्त्राणि** गुण-कर्म-स्वभाव रूप वस्त्रों को **परि अव्यत** धारण करता है ॥६॥

भावार्थ— तभी देहधारी का जन्म सफल होता है जब वह व्यवहार में अत्यन्त उज्ज्वल गुण, कर्म और स्वभाव को प्रकट करता है ॥६॥

अथ परमात्मा सम्बोध्यते ।

११८४. मघोन आ पवस्व नो जहि विश्वा अप द्विषः । इन्दो सखायमा विश ॥७॥[1]

मघोनः आ पवस्व नः । जहि विश्वाः अप द्विषः ।
इन्दो सखायम् स खायम् आ विश ॥७॥

पदार्थः— हे **इन्दो** तेजस्विन् आनन्दरसेन क्लेदक परमात्मन्! त्वम् **मघोनः** दानवतः । [मघं मंहतेर्दानकर्मणः। निरु० १।७।] **नः** अस्मान् **आ पवस्व** आयाहि, **विश्वाः** सर्वाः **द्विषः** द्वेषवृत्तीः **अपजहि** विनाशय। **सखायम्** स्वमित्रभूतं जीवात्मानम् **आविश** प्रविश ॥७॥

भावार्थः— तदैव परमेश्वरस्य पूजा सफला यदोपासकः सर्वान् द्वेषभावानपनीय विश्वैर्मित्रवद् व्यवहरेत्॥७॥

अब परमात्मा को सम्बोधन करते हैं।

पदार्थ— हे **इन्दो** तेजस्वी वा आनन्दरस से भिगोने वाले परमात्मन्! आप **मघोनः** दानी **नः** हम लोगों के पास **आ पवस्व** आओ, **विश्वाः** सब **द्विषः** द्वेष-वृत्तियों को **अप जहि** मार भगाओ । **सखायम्** अपने सखा जीवात्मा में **आ विश** प्रविष्ट होवो ॥७॥

भावार्थ— तभी परमेश्वर की पूजा सफल है जब उपासक सब द्वेषभावों को अपने अन्दर से निकालकर सबके साथ मित्र के समान व्यवहार करे ॥७॥

अथ परमात्मानं प्रार्थयते ।

११८५. नृचक्षसं त्वा वयमिन्द्रपीतं स्वर्विदम् । भक्षीमहि प्रजामिषम् ॥८॥[2]

नृचक्षसम् नृ चक्षसम् त्वा वयम् । इन्द्रपीतम् इन्द्र पीतम् स्वर्विदम् स्वः विदम् ।
भक्षीमहि प्रजाम् प्र जाम् इषम् ॥८॥

---

१. ऋ० ९।८।७ ।

२. ऋ० ९।८।९ ।

पदार्थः— हे सोम जगत्स्रष्टः रसागार परमात्मन् ! **नृचक्षसम्** नृणां द्रष्टारम्, **इन्द्रपीतम्** इन्द्रैः त्वदुपासकैः जीवात्मभिः आस्वादितम्, **स्वर्विदम्** दिव्यप्रकाशस्य मोक्षसुखस्य वा लम्भकम् **त्वा** त्वाम् **वयम्** तवोपासकाः आह्वयामः इति शेषः। वयं त्वत् **प्रजाम्** सद्गुणसन्ततिम् **इषम्** आनन्दरसधारां च । [इषा अद्भिः इति निरुक्तम् (१०।२६)।] **भक्षीमहि** प्राप्नुयाम । [भज सेवायाम्, भ्वादिः, लिङि छान्दसः शपो लुक्] ॥८॥

भावार्थः— परमेश्वरं ध्यायं ध्यायमुपासको दिव्यानन्दरसं मोक्षं च प्राप्तुं क्षमते ॥८॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे सोम अर्थात् जगत् को पैदा करने वाले, रस के भण्डार परमात्मन्! **नृचक्षसम्** मनुष्यों के द्रष्टा, **इन्द्रपीतम्** उपासक जीवात्माओं से तन्मय होकर पिये गये, **स्वर्विदम्** दिव्य प्रकाश वा मोक्षसुख प्राप्त कराने वाले **त्वा** आपको **वयम्** हम आपके उपासक, पुकार रहे हैं। हम आपसे **प्रजाम्** सद्गुणरूप सन्तान और **इषम्** अभीष्ट आनन्द-रस की धारा **भक्षीमहि** प्राप्त करें ॥८॥

भावार्थ— परमेश्वर का बार-बार ध्यान करके उपासक दिव्य आनन्द-रस को और मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है॥८॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

११८६. वृष्टिं दिवः परि स्रव द्युम्नं पृथिव्या अधि । सहो नः सोम पृत्सु धाः ॥९॥[1]

वृष्टिम् दिवः परि स्रव । द्युम्नम् पृथिव्याः अधि । सहः नः सोम पृत्सु धाः ॥९॥

पदार्थः— हे **सोम** सर्वसुखप्रेरक परमात्मन्! त्वम् **दिवः** दिव्यात् आनन्दमयकोशात् **वृष्टिम्** आनन्दवर्षाम् **परिस्रव** परिक्षर । **पृथिव्याः अधि** पृथिव्याम् । [अधि सप्तम्यर्थानुवादः।] **द्युम्नम्** यशः तेजः च **परिस्रव** परिक्षर। **नः** अस्माकम् **पृत्सु** सेनासु । [पदादिषु मांसपृत्स्नूनामुपसंख्यानम् । अ० ६।१।६३ इति वार्तिकेन पृतनाशब्दस्य पृदादेशः ।] **सहः** साहसं बलं च **धाः** धेहि ॥९॥

भावार्थः— जगदीश्वरो यथाऽन्तरिक्षाद् जलधारां वर्षति तथा स्वकीयादानन्दकोशादानन्दधारा वर्षेत् । यथा स पृथिव्यां सुवर्णादिधनं दधाति तथा राष्ट्रे कीर्तिं तेजस्वितां च दधातु । यथा स राष्ट्रस्य सेनासु साहसं प्रेरयति तथाऽस्माकं सत्याहिंसादिदिव्यसेनासु बलं वेगं च निदध्यात् ॥९॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मन आविर्भावस्य, तद्गुणकर्मणां, ब्रह्मानन्दरसस्य, जीवात्मनश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ— हे **सोम** सब सुखों के प्रेरक परमात्मन्! आप **दिवः** दिव्य आनन्दमय कोश से **वृष्टिम्** आनन्द की वर्षा **परिस्रव** बरसाओ, **पृथिव्याः अधि** पृथिवी पर **द्युम्नम्** यश और तेज **परिस्रव** बहाओ । **नः** हमारी **पृत्सु** सेनाओं में **सहः** साहस और बल **धाः** धारण कराओ ॥९॥

भावार्थ— जगदीश्वर जैसे अन्तरिक्ष से जल-धाराएं बरसाता है वैसे ही अपने आनन्द के कोश से आनन्द की धाराएं बरसाए । जैसे वह पृथिवी में स्वर्ण आदि धन स्थापित करता है, वैसे ही राष्ट्र में कीर्ति और तेजस्विता स्थापित करे । जैसे वह राष्ट्र की सेनाओं में साहस प्रेरित करता है, वैसे ही हमारी सत्य, अहिंसा आदि की दिव्य सेनाओं में बल और वेग धारण कराये ॥९॥

---

१. ऋ० ९।८।८ ।

इस खण्ड में परमात्मा के आविर्भाव, उसके गुण-कर्म, ब्रह्मानन्द-रस तथा जीवात्मा का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

नवम अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ।

।।३।। अथ 'सोमः पुनानो' इत्यादिकस्य तृतीयस्य नवर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** असितः काश्यपो देवलो वा । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ परमात्मानं वर्णयति ।।

११८७. सोमः पुनानो अर्षति सहस्रधारो अत्यविः । वायोरिन्द्रस्य निष्कृतम् ।।१।।[1]

सोमः पुनानः अर्षति । सहस्रधारः सहस्र धारः अत्यविः अति अविः ।
वायोः इन्द्रस्य निष्कृतम् निः कृतम् ।।१।।

पदार्थः— **पुनानः** पवित्रीकुर्वन् **सहस्रधारः** अनन्तधारः **सोमः** रसनिधिः परमेश्वरः **अत्यविः** अविं भूमिम् पार्थिवतत्त्वप्रधानम् अन्नमयकोशमिति यावत् अतिक्रान्तः सन् । [अविम् अतिक्रान्तः इति अत्यविः। 'प्रादयो गताद्यर्थे द्वितीयया'। अ० २।२।१८ वा० इत्यनेन तत्पुरुषसमासः।] **वायोः** प्राणस्य गतिशीलस्य मनसो वा **इन्द्रस्य** बुद्धेर्जीवात्मनश्च **निष्कृतम्** गृहम्, प्राणलोकं मनोलोकं विज्ञानलोकं जीवात्मलोकं चेत्यर्थः **अर्षति** गच्छति ।।१।।

भावार्थः— उपासको यदा स्थूलाद् देहान्मनो निवर्त्य प्राणे मनसि बुद्धौ जीवात्मनि च परमात्मानं प्रतिष्ठापयति तदा तद्रसधारामग्नः सन् स परमानन्दमनुभवति ।।१।।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा का वर्णन किया गया है ।

पदार्थ— **पुनानः** पवित्र करता हुआ, **सहस्रधारः** अनन्त आनन्द-धाराओं वाला, **सोमः** रस का भण्डार परमेश्वर **अत्यविः** पृथिवी को अर्थात् पार्थिवतत्त्वप्रधान अन्नमय कोश को अतिक्रान्त करके **वायोः** प्राण के या गतिशील मन के और **इन्द्रस्य** बुद्धि वा जीवात्मा के **निष्कृतम्** घर में, अर्थात् प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश एवं आनन्दमय कोश में **अर्षति** पहुंचता है ।।१।।

भावार्थ— उपासक जब स्थूल शरीर से मन को हटाकर प्राण, मन, बुद्धि और जीवात्मा में परमात्मा को प्रतिष्ठापित कर लेता है तब उसके आनन्दरस की धार में मग्न हुआ वह परमानन्द का अनुभव करता है ।।१।।

अथ परमात्मस्तुत्यर्थं प्रेरयति ।

११८८. पवमानमवस्यवो विप्रमभि प्र गायत । सुष्वाणं देववीतये ।।२।।[2]

पवमानम् अवस्यवः । विप्रम् वि प्रम् अभि प्र गायत ।
सुष्वाणम् देववीतये देव वीतये ।।२।।

---

१. ऋ० ९।१३।१ ।
२. ऋ० ९।१३।२ ।

पदार्थः— हे **अवस्यवः** रक्षणेच्छवो जनाः ! यूयम् **देववीतये** दिव्यगुणानां प्राप्तये **पवमानम्** पवित्रीकुर्वन्तम्, **विप्रम्** विशेषेण प्रीणयितारम् पूरकं वा। [विपूर्वात् प्रीञ् तर्पणे, प्रा पूरणे इति वा धातोर्डप्रत्यये रूपसिद्धिः, पदपाठे 'वि-प्रम्' इति दर्शनात्।] **सुष्वाणम्** आनन्दरसं सुतवन्तम् सोमं रसागारं परमात्मानम् **अभि** लक्ष्यीकृत्य **प्र गायत** प्रकर्षेण गानं कुरुत ॥२॥

भावार्थः— परमात्मनो गुणगानेन ध्यानेन चोपासकै रक्षणं पवित्रता तृप्तिः पूर्णताऽऽनन्दश्च प्राप्यते ॥२॥

अब मनुष्यों को परमात्मा की स्तुति के लिए प्रेरित करते हैं।

पदार्थ— हे **अवस्यवः** रक्षा चाहने वाले मनुष्यो ! तुम **देववीतये** दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए **पवमानम्** पवित्र करने वाले, **विप्रम्** विशेष रूप से तृप्ति देने वाले वा पूर्ण करने वाले, **सुष्वाणम्** आनन्द-रस को अभिषुत करने वाले परमात्मा को **अभि** लक्ष्य करके **प्र गायत** उत्कृष्ट गान गाओ ॥२॥

भावार्थ— परमात्मा का गुणगान करने और ध्यान करने से उपासक लोग रक्षा, पवित्रता, तृप्ति, पूर्णता और आनन्द प्राप्त करते हैं ॥२॥

अथ ब्रह्मानन्दरसान् वर्णयति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २ ३१ २
११८९. **पवन्ते वाजसातये सोमाः सहस्रपाजसः। गृणाना देववीतये ॥३॥**[1]

१२र १ २र १ २र ३ १ २र ३१ २ ३१ २ ३
पवन्ते वाजसातये वाज सातये। सोमाः सहस्रपाजसः सहस्र पाजसः।

२ ३१ २ ३ २ ३
गृणानाः देववीतये देव वीतये ॥३॥

पदार्थः— **सहस्रपाजसः** सहस्रबलाः । [पाजस् इत्यत्र पा रक्षणे धातोर्बलेऽर्थेऽभिधेये 'पातेर्बले जुट् च' उ० ४।२०४ इत्यनेन असुन् प्रत्ययः जुडागमश्च।] **सोमाः** परमानन्दरसाः **गृणानाः** स्तूयमानाः सन्तः। [गृणातेः स्तुत्यर्थकात् कर्मणि कर्तृप्रत्ययः।] **वाजसातये** बलप्रदानाय **देववीतये** दिव्यगुणप्रजननाय च **पवन्ते** प्रवहन्ति ॥३॥

भावार्थः— परब्रह्मणः सकाशात् परमानन्दं प्राप्योपासकजना ब्रह्मबलयुक्ता दिव्यगुणाश्च जायन्ते ॥३॥

अगले मन्त्र में ब्रह्मानन्द-रसों का वर्णन है ।

पदार्थ— **सहस्रपाजसः** सहस्रों बलों वाले **सोमाः** परमानन्द-रस **गृणानाः** स्तुति किये जाते हुए **वाजसातये** बल देने के लिए, और **देववीतये** दिव्यगुण उत्पन्न करने के लिए **पवन्ते** प्रवाहित हो रहे हैं ॥३॥

भावार्थ— परब्रह्म के पास से परमानन्द प्राप्त करके उपासक जन ब्रह्मबल से युक्त और दिव्य गुणों वाले हो जाते हैं ॥३॥

अथ परमेश्वरः प्रार्थ्यते ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
११९०. **उत नो वाजसातये पवस्व बृहतीरिषः। द्युमदिन्दो सुवीर्यम् ॥४॥**[2]

२ ३ १२र १२र ३ १२र ३ २ १ २र
उत नः वाजसातये वाज सातये। पवस्व बृहतीः इषः।

३ २ ३ १ २ ३ १२र
द्युमत् इन्दो सुवीर्यम् सु वीर्यम् ॥४॥

---

१. ऋ०९।१३।३ ।

२. ऋ० ९।१३।४ ।

पदार्थः— **उत** इदानीम् हे **इन्दो** रसक्लेदक परमेश्वर! त्वम् **वाजसातये** आत्मबलस्य मनोबलस्य च प्रदानाय **नः** अस्मभ्यम् **बृहतीः** महतीः **इषः** अभीष्टाः आनन्दरसधाराः, **द्युमत्** तेजोयुक्तम् **सुवीर्यम्** श्रेष्ठसामर्थ्य-युक्तं धनं च **पवस्व** प्रवाहय ॥४॥

भावार्थः— जगदीश्वर एवात्मबलस्यानन्दस्य तेजसः शक्तेश्च दिव्यं स्रोतो वर्तते ॥४॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— **उत** अब, हे **इन्दो** रस से भिगोने वाले परमेश्वर! आप **वाजसातये** आत्मबल तथा मनोबल के प्रदानार्थ **नः** हमारे लिए **बृहतीः** महान् **इषः** अभीष्ट आनन्दरस की धाराओं को, तथा **द्युमत्** तेज से युक्त और **सुवीर्यम्** श्रेष्ठ वीर्य से युक्त ऐश्वर्य को **पवस्व** प्रवाहित करो ॥४॥

भावार्थ— जगदीश्वर ही आत्मबल, आनन्द, तेज और शक्ति का दिव्य स्रोत है ॥४॥

अथानन्दरसान् वर्णयति ।

१ २ ३ २उ ३ २ ३१ २ ३ १ २ २उ ३१ २ ३१ २
११९१ . **अत्या हियाना न हेतृभिरसृग्रं वाजसातये । वि वारमव्यमाशवः ॥५॥**[1]

१ २र ३ २ ३१ २ १२र १२र १२र ३
अत्याः हियानाः न हेतृभिः । असृग्रम् वाजसातये वाज सातये ।

२ १२र १ २र ३१ २
वि वारम् अव्यम् आशवः ॥५॥

पदार्थः— **वाजसातये** संग्रामाय । [वाजसातिः इति संग्रामनाम । निघं० २।१७।] **हेतृभिः** प्रेरकैः योद्धृभिः **हियानाः** प्रेर्यमाणाः । [हि गतौ वृद्धौ च, कर्मणि रूपम्।] **अत्याः**[2] **न** अश्वाः इव । [अत्यः इत्यश्वनाम । निघं० १।१४।] **हेतृभिः** प्रेरकैः योगाभ्यासैः **हियानाः** प्रेर्यमाणाः **आशवः** आशुगामिनः सोमाः परमानन्दरसाः **वाजसातये** बलप्रदानाय **वारम्** दोषनिवारकम् **अव्यम्** अव्ययम् अविनश्वरं जीवात्मानं प्रति **वि असृग्रम्** विसृज्यन्ते ॥५॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः— क्षिप्रगामिनो बलवन्तोऽश्वा यथा संग्रामे विजयसाधनतां यान्ति तथा योगाभ्यासजनिताः परमानन्दा आत्मबलप्रदाने कारणतां प्रपद्यन्ते ॥५॥

अब आनन्द-रसों का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— **वाजसातये** संग्राम के लिए **हेतृभिः** प्रेरक योद्धाओं से **हियानाः** प्रेरित किये जाते हुए **अत्याः न** घोड़ों के समान **हेतृभिः** प्रेरक योगाभ्यासों से **हियानाः** प्रेरित किये जाते हुए **आशवः** वेगगामी सोम अर्थात् परमानन्दरस **वाजसातये** बल देने के लिए **वारम्** दोषनिवारक **अव्यम्** अविनश्वर जीवात्मा के प्रति **वि असृग्रम्** छोड़े जा रहे हैं ॥५॥

---

१. ऋ० ९।१३।६ ।

२. सायणस्तु 'अति आ' इति विच्छिद्य व्याख्यातवान्, तत्तु पदकारविरुद्धम् । ऋग्वेदभाष्ये तु तेनापि 'अत्याः न अश्वाः इव' इत्युचितमेव व्याख्यातम् । अत्राह सामश्रमी— ''व्यत्यसृग्रम्' इत्यत्र ऋगादिपादाद् 'अति' इत्युपसर्गः, ऋक्तृतीयपादाद् 'वि' इत्युपसर्गश्च सङ्गृहीतः 'अत्या' इति श्रुतौ 'आ' पदस्यानर्थक्यमपि स्वीकृतमाचार्येण (सायणेन) । विवरणकृता तु 'अहि' नाम दानव इत्यादिना व्याख्यातम् । परन्तूभयविधमेव व्याख्यानं पदग्रन्थविरुद्धत्वादुपेक्षणीयम्' तत्र हि 'अत्यौः, हियानौः', इति पाठदर्शनात्'' इति ।

यहां श्लिष्टोपमा अलंकार है ।।५।।

भावार्थ– शीघ्रगामी बलवान् घोड़े जैसे युद्ध में विजय के साधन बनते हैं, वैसे ही योगाभ्यास से उत्पन्न किये गये परम आनन्द बल-प्रदान में कारण बनते हैं।।५।।

अथानन्दरसाः किं कुर्वन्त्वित्याह ।

११९२. ते नः सहस्रिणं रयिं पवन्तामा सुवीर्यम् । स्वाना देवास इन्दवः ।।६।।[1]

ते नः सहस्रिणम् रयिम् । पवन्ताम् आ सुवीर्यम् सु वीर्यम् ।

स्वानाः देवासः इन्दवः ।।६।।

पदार्थः– **ते** पूर्वोक्ताः, **स्वानाः** अभिषूयमाणाः, **देवासः** स्वयं दीप्ताः अन्येषां प्रदीपकाश्च **इन्दवः** रस-क्लेदकाः सोमाः परमानन्दरसाः **नः** अस्मभ्यम् **सहस्रिणम्** सहस्रसंख्यावन्तम्, **सुवीर्यम्** सुवीर्योपेतम् **रयिम्** अहिंसासत्यभूतदयान्यायदाक्षिण्यादिकं धनम् **आ पवन्ताम्** आनयन्तु ।।६।।

भावार्थः– परमात्मोपासनया प्राप्यमाणाः परमानन्दा अनन्तां दिव्यगुणसम्पत्तिं लम्भयन्ते ।।६।।

आनन्दरस क्या करें यह अगले मन्त्र में कहा गया है ।

पदार्थ– **ते** वे पूर्वोक्त **स्वानाः** अभिषुत किये जाते हुए, **देवासः** स्वयं तेजस्वी तथा दूसरों को तेजस्वी बनाने वाले **इन्दवः** रस से भिगोने वाले सोम अर्थात् परमानन्द-रस **नः** हमारे लिए **सहस्रिणम्** सहस्रसंख्यक, **सुवीर्यम्** सुवीर्ययुक्त **रयिम्** अहिंसा, सत्य, भूतदया, माधुर्य, न्याय, उदारता आदि धन को **आ पवन्ताम्** लायें।।६।।

भावार्थ– परमात्मा की उपासना से मिले हुए परमानन्द अनन्त दिव्यगुणसम्पदा को प्राप्त कराते हैं।।६।।

अथ परमानन्दप्राप्तिं वर्णयति ।

११९३. वाश्रा अर्षन्तीन्दवोऽभि वत्सं न मातरः।दधन्विरे गभस्त्योः ।।७।।[2]

वाश्राः अर्षन्ति इन्दवः । अभि वत्सम् न मातरः । दधन्विरे गभस्त्योः ।।७।।

पदार्थः– **वाश्राः** रम्भायमाणाः **मातरः** धेनवः **वत्सं न** वत्सं प्रति यथा गच्छन्ति तथा **वाश्राः** उपदेष्टारः [वाश्यन्ते शब्दायन्ते उपदिशन्तीति वाश्राः । वाशृ शब्दे, दिवादिः । 'स्फायितञ्चि०' उ० २।१३ इत्यनेन रक् प्रत्ययः।] **इन्दवः** क्लेदकाः ब्रह्मानन्दरसाः **वत्सम् अभि** प्रियम् उपासकं प्रति **अर्षन्ति** गच्छन्ति, किञ्च **गभस्त्योः** बाह्वोः [गभस्ती इति बाहुनाम । निघं० २।४।] **दधन्विरे** धियन्ते । तेषां प्राप्तौ उपासकः बाहुभ्यां कर्मपरायणो जायते इत्यर्थः ।।७।।

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ।।७।।

---

१. ऋ० ९।१३।५, 'सुवाना' इति पाठः ।

२. ऋ० ९।१३।७, 'मातरः' इत्यत्र 'धेनवः' ।

भावार्थः— ब्रह्मानन्दा अपि सत्कर्माणि विना न शोभन्ते ॥७॥

अगले मन्त्र में परमानन्द की प्राप्ति का वर्णन है ॥

पदार्थ— वाश्राः रंभाती हुई **मातरः** गायें **वत्सं न** जैसे बछड़े की ओर जाती हैं, वैसे ही **वाश्राः** उपदेश देते हुए **इन्दवः** रस से भिगोने वाले ब्रह्मानन्द-रस **वत्सम् अभि** प्रिय उपासक की ओर **अर्षन्ति** जाते हैं, और **गभस्त्योः** बाहुओं में **दधन्विरे** धारण किये जाते हैं अर्थात् ब्रह्मानन्द-रसों की प्राप्ति होने पर उपासक भुजाओं से कर्म करने में संलग्न हो जाता है ॥७॥

यहां श्लिष्टोपमालंकार है ॥७॥

भावार्थ— ब्रह्मानन्द भी सत्कर्मों के बिना शोभा नहीं पाते ॥७॥

अथ परमेश्वरं प्रार्थयते ।

११९४. जुष्ट इन्द्राय मत्सरः पवमानः कनिक्रदत् । विश्वा अप द्विषो जहि ॥८॥[1]

जुष्टः इन्द्राय मत्सरः । पवमानः कनिक्रदत् । विश्वाः अप द्विषः जहि ॥८॥

पदार्थः— हे सोम प्रेरक परमात्मन्! **इन्द्राय** जीवात्मने **जुष्टः** प्रियः । [जुषी प्रीतिसेवनयोः, तुदादिः ।] **मत्सरः** आनन्दजनकः । [मत्सरः सोमो, मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः इति निरुक्तम् (२।५) ।] **पवमानः** पवित्रतां प्रयच्छन्, **कनिक्रदत्** उपदिशन् । 'दाधर्तिदर्धर्ति० । अ० ७।४।६५ इत्यनेन क्रन्देर्यङ्लुगन्तस्य शतरि अभ्यासस्य चुत्वाभावो निगागमश्च निपात्यते ।] त्वम् **विश्वाः द्विषः** सर्वाः द्वेषवृत्तीः, द्वेष्ट्रीः कामक्रोधादीनां सेनाः वा **अप जहि** विनाशय॥८॥

भावार्थः—परमात्मोपासनेनान्तरात्मनि पवित्रताऽऽह्लादश्च जायते, द्वेषवृत्तयश्च स्वयमेव नश्यन्ति॥८॥

अब परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे सोम अर्थात् प्रेरक परमात्मन्! **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए **जुष्टः** प्रिय, **मत्सरः** आनन्दजनक, **पवमानः** पवित्रता देते हुए, **कनिक्रदत्** उपदेश करते हुए आप **विश्वाः द्विषः** सब द्वेषवृत्तियों को वा द्वेष करने वाली काम, क्रोध आदि की सेनाओं को **अप जहि** विनष्ट कर दो ॥८॥

भावार्थ— परमात्मा की उपासना से अन्तरात्मा में पवित्रता और आनन्द उत्पन्न होते हैं तथा द्वेषवृत्तियां अपने आप नष्ट हो जाती हैं॥८॥

अथ ब्रह्मानन्दप्राप्तेः फलं वर्णयति ।

११९५. अपघ्नन्तो अराव्णः पवमानाः स्वर्दृशः । योनावृतस्य सीदत ॥९॥[2]

अपघ्नन्तः अप घ्नन्तः अराव्णः अ राव्णः । पवमानाः स्वर्दृशः स्वः दृशः ।

योनौ ऋतस्य सीदत ॥९॥

---

१. ऋ० ९।१३।८ 'पवमान' इति भेदः ।

२. ऋ० ९।१३।९ ।

पदार्थः— हे सोमाः परमानन्दरसाः! **अराव्णः** अदानभावान् ।[न रान्ति इति अरावाणः तान्, नञ्पूर्वाद् रातेर्दानकर्मणः 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । अ० ३।२।७४ इति वनिप् प्रत्ययः ।] **अपघ्नन्तः** विनाशयन्तः, **पवमानाः** पवित्रतां प्रयच्छन्तः, **स्वर्दृशः** अन्तःप्रकाशस्य दर्शयितारः यूयम् **ऋतस्य योनौ** सत्यस्य मन्दिरे जीवात्मनि **सीदत** उपविशत ।।९।।

भावार्थः— ब्रह्मानन्दो यदान्तरात्मनि प्रतितिष्ठति तदा स्वार्थवृत्तयः सर्वा नश्यन्ति, परार्थभावना समुदेति, पवित्रताऽन्तःप्रकाशश्च परिस्फुरति ।।९।।

अस्मिन् खण्डे परमात्मविषयस्य ब्रह्मानन्दविषयस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।।

अब ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का फल वर्णित करते हैं।

पदार्थ— हे परमानन्द-रसो! **अराव्णः** अदान के भावों को **अपघ्नन्तः** विनष्ट करते हुए, **पवमानाः** पवित्रता देते हुए, **स्वर्दृशः** अन्तःप्रकाश को दिखाने वाले तुम **ऋतस्य योनौ** सत्य के मन्दिर जीवात्मा में **सीदत** बैठो ।।९।।

भावार्थ— ब्रह्मानन्द जब अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित हो जाता है तब सब स्वार्थवृत्तियां नष्ट हो जाती हैं, परार्थ-भावना उत्पन्न होती है और पवित्रता तथा अन्तःप्रकाश चारों ओर स्फुरित होने लगते हैं।।९।।

इस खण्ड में परमात्मा और ब्रह्मानन्द का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है।।

नवम अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ।

।।४।। अथ 'सोमा असृग्र०' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य नवर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** असितः काश्यपो देवलो वा। **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्रीः । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ ब्रह्मानन्दरसान् वर्णयति ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
११९६. सोमा असृग्रमिन्दवः सुता ऋतस्य धारया । इन्द्राय मधुमत्तमाः ।।१।।[1]

१ २र ३ १ २र ३ २ ३ १ २ १२र १ २र १२र
सोमाः असृग्रम् इन्दवः । सुताः ऋतस्य धारया । इन्द्राय मधुमत्तमाः ।।१।।

पदार्थः— **सुताः** अभिषुताः, **इन्दवः** क्लेदकाः, **मधुमत्तमाः** मधुरतमाः **सोमाः** परमानन्दरसाः **ऋतस्य** सत्यस्य **धारया** प्रवाहसन्तत्या **इन्द्राय** जीवात्मने **असृग्रम्** सृज्यन्ते ।।१।।

भावार्थः— ब्रह्मानन्दे निमग्न एव जनस्तन्माधुर्यमनुभवितुं शक्नोति ।।१।।

प्रारम्भ में ब्रह्मानन्द-रसों का वर्णन करते हैं।

पदार्थ— **सुताः** रिसाये हुए, **इन्दवः** भिगोने वाले, **मधुमत्तमाः** अतिशय मधुर **सोमाः** परमानन्द-रस **ऋतस्य** सत्य की **धारया** धारा के साथ **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए **असृग्रम्** छोड़े जा रहे हैं।।१।।

भावार्थ— ब्रह्मानन्द में डूबा हुआ ही मनुष्य उसकी मधुरता को अनुभव कर सकता है ।।१।।

---

१. ऋ० ९।१२।१, 'धारया' इत्यत्र 'सादने' ।

अथ स्तोतारः कथं किं कुर्वन्तीत्याह ।

११९७. अभि विप्रा अनूषत गावो वत्सं न धेनवः । इन्द्रं सोमस्य पीतये ॥२॥[1]

अभि विप्राः वि प्राः अनूषत । गावः वत्सम् न धेनवः । इन्द्रम् सोमस्य पीतये ॥२॥

पदार्थः— **विप्राः** मेधाविनः स्तोतारः **सोमस्य** ब्रह्मानन्दरसस्य **पीतये** पानाय **इन्द्रम्** जीवात्मानम् **अभि अनूषत** आह्वयन्ति । कथमिव? **धेनवः** प्रीणयित्र्यः **गावः** पयस्विन्यः, स्वकीयं पयः पाययितुम् **वत्सं न** यथा वत्सम् आह्वयन्ति तद्वत् ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— यथा वत्सः स्वकीयाया मातुर्दुग्धं पीत्वा तृप्तो जायते तथैवोपासका जनाः परमात्मन आनन्दरसं पीत्वा परमां तृप्तिं लभन्ते ॥२॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि स्तोता लोग किस प्रकार क्या करते हैं ।

पदार्थ— **विप्राः** बुद्धिमान् स्तोताजन **सोमस्य** ब्रह्मानन्द-रस के **पीतये** पान के लिए **इन्द्रम्** जीवात्मा को **अभि अनूषत** बुलाते हैं, **धेनवः** तृप्ति प्रदान करने वाली **गावः** गौएं, अपना दूध पिलाने के लिए **वत्सं न** जैसे बछड़े को बुलाती हैं ॥२॥

यहां उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— जैसे बछड़ा अपनी माता गाय का दूध पीकर तृप्त हो जाता है वैसे ही उपासक लोग परमात्मा के आनन्द-रस को पीकर परम तृप्ति पाते हैं ॥२॥

अथ कः कुत्र निवसतीत्याह ।

११९८. मदच्युत् क्षेति सादने सिन्धोरूर्मा विपश्चित् ।
सोमो गौरी अधि श्रितः ॥३॥[2]

मदच्युत् मद च्युत् क्षेति सादने । सिन्धोः ऊर्मा विपश्चित् विपः चित् ।
सोमः गौरीइति अधि श्रितः ॥३॥

पदार्थः— **मदच्युत्** आनन्दस्रावकः परमेश्वरः **सादने** जीवात्मरूपे गृहे **क्षेति** क्षियति निवसति, **विपश्चित्** मेधावी जीवात्मा च **सिन्धोः** रससागरस्य परमेश्वरस्य **ऊर्मौ** आनन्दतरङ्गे **क्षेति** निवसति, तत्र दोलारोहणमनुभवतीत्यर्थः । **सोमः** स रसागारः परमात्मा **गौरी** गौर्यां शुभ्रायां वेदवाचि । [गौरी इति वाङ्नाम । निघं० १।११ ।] **अधि श्रितः** स्थितोऽस्ति, वर्णितो वर्तते ॥३॥

भावार्थः— वेदा यस्य महिमानं गायं गायं न श्राम्यन्ति तस्यानन्दसिन्धोः परमेश्वरस्यानन्दवीचिनिचयेषु दोलायमानो जीवः कृतकृत्यो जायते ॥३॥

---

१. ऋ० ९।१२।२, 'धेनवः' इत्यत्र 'मातरः' ।

२. ऋ० ९।१२।३ ।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि कौन कहां निवास करता है ।

पदार्थ– मदच्युत् आनन्द को परिस्रुत करने वाला परमेश्वर **सादने** जीवात्मा-रूप सदन में **क्षेति** निवास करता है । **विपश्चित्** और बुद्धिमान् जीवात्मा **सिन्धोः** रसागार परमेश्वर-रूप सिन्धु की **ऊर्मौ** आनन्द की लहर में **क्षेति** निवास करता है अर्थात् उसमें झूला झूलने का आनन्द लेता है । **सोमः** वह रसागार परमात्मा **गौरी** शुभ्र वेदवाणी में **अधि श्रितः** स्थित है, वर्णित है ।।३।।

भावार्थ– वेद जिसकी महिमा को गाते-गाते नहीं थकते उस आनन्द-सागर परमेश्वर की तरंगों में झूला झूलता हुआ जीव कृतकृत्य हो जाता है ।।३।।

अथ परमात्मनो महिमानं वर्णयति ।

११९९. दिवो नाभा विचक्षणोऽव्या वारे महीयते । सोमो यः सुक्रतुः कविः ।।४।।[1]

दिवः नाभा विचक्षणः वि चक्षणः अव्याः वारे महीयते ।

सोमः यः सुक्रतुः सु क्रतुः कविः ।।४।।

पदार्थः– विचक्षणः सर्वद्रष्टा **सोमः** परमेश्वरः **यः सुक्रतुः** शुभकर्मा, **कविः** जगद्रूपस्य दृश्यकाव्यस्य वेदरूपस्य श्रव्यकाव्यस्य च कर्ता वर्तते, सः **दिवः** द्योतमानस्य जीवात्मनः **नाभा** नाभौ, केन्द्रभूते प्राणे । [अत्र 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति सप्तम्या डाऽऽदेशः ।] किञ्च **अव्याः वारे** अवेः प्रकृतेः बालवद् विद्यमाने प्रकृत्या आविर्भूते व्यक्ते जगतीत्यर्थः, **महीयते** महिमानं प्राप्नोति । [महीङ् पूजायाम्, कण्ड्वादिः । अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता । तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः।। अथ० १०।८।३१ इति प्रामाण्याद् अविशब्दस्य प्रकृतिवाचकत्वम्] ।।४।।

भावार्थः– जडचेतनात्मके सर्वस्मिन्नपि जगत्यन्तर्यामितया विद्यमानः सर्वज्ञः सर्वकर्मा जगदीश्वरः सर्वत्र कीर्तिं लभते ।।४।।

अब परमात्मा की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ– विचक्षणः सर्वद्रष्टा **सोमः** परमेश्वर, **यः** जो **सुक्रतुः** शुभकर्म करने वाला, और **कविः** जगत्रूप दृश्य काव्य का तथा वेदरूप श्रव्य काव्य का कवि है, वह **दिवः** तेजस्वी जीवात्मा के **नाभा** केन्द्रभूत प्राण में और **अव्याः वारे** प्रकृति के बाल के समान विद्यमान अर्थात् प्रकृति से निकले हुए व्यक्त जगत् में **महीयते** महिमा प्राप्त करता है ।।

अथर्व० १०।८।३१ में कहा गया है कि "अवि नाम की एक देवता है जो ऋत से परिवृत है, उसी के रूप से ये वृक्ष हरे और हरित माला को धारण करने वाले बने हुए हैं ।" इस प्रमाण से अवि शब्द प्रकृतिवाचक होता है ।।४।।

भावार्थ– जड़चेतनरूप सब जगत् में अन्तर्यामी रूप से विद्यमान, सर्वज्ञ, सब कर्मों को करने वाला जगदीश्वर सर्वत्र कीर्ति प्राप्त किये हुए है ।।४।।

---

१. ऋ० ९।१२।४, 'विचक्षणोऽव्यो वारे' इति पाठः ।

अथ परमात्मजीवात्मनोः संगमं वर्णयति ।

१२००. यः सोमः कलशेष्वा अन्तः पवित्र आहितः । तमिन्दुः परि षस्वजे ॥५॥[1]

यः सोमः कलशेषु आ । अन्तरिति पवित्रे आहितः आ हितः ।
तम् इन्दुः परि सस्वजे ॥५॥

पदार्थः— यः सोमः यो जगत्स्रष्टा सर्वान्तर्यामी रसागारः परमाह्लादकः परमेश्वरः **कलशेषु** बहुकलायुक्तेषु शरीरेषु । [कलशः कस्मात्? कला अस्मिञ्छेरते मात्राः। निरु० ११।१०] । **आ** आहितोऽस्ति, किञ्च **अन्तः पवित्रे** पवित्रहृदयाभ्यन्तरेऽपि **आहितः** विद्यमानो वर्तते, **तम्** परमेश्वरम् **इन्दुः** दीप्तो जीवात्मा **परिषस्वजे** पर्यालिङ्गति। [ष्वञ्ज परिष्वङ्गे, भ्वादिः] ॥५॥

भावार्थः— परमात्मशरणावलम्बनं जीवात्मनः परमाह्लादकरं जायते ॥५॥

अगले मन्त्र में परमात्मा और जीवात्मा के मिलन का वर्णन है ।

पदार्थ— यः सोमः जो जगत् को रचने वाला, सर्वान्तर्यामी, रस का भण्डार, परम आह्लादक परमेश्वर **कलशेषु** बहुत सी कलाओं से युक्त शरीरों में **आ** निहित है, और **अन्तः पवित्रे** पवित्र हृदय के अन्दर भी **आहितः** विद्यमान है, **तम्** उस परमेश्वर को **इन्दुः** तेजस्वी जीवात्मा **परिषस्वजे** आलिंगन करता है ॥५॥

भावार्थ— परमात्मा की शरण का सहारा लेना जीवात्मा को परमानन्दायक होता है ॥५॥

अथ परमात्मनः कृपामाह ।

१२०१. प्र वाचमिन्दुरिष्यति समुद्रस्याधि विष्टपि ।
जिन्वन् कोशं मधुश्चुतम् ॥६॥[2]

प्र वाचम् इन्दुः इष्यति । समुद्रस्य सम् उद्रस्य अधि विष्टपि ।
जिन्वन् कोशम् मधुश्चुतम् मधु श्चुतम् ॥६॥

पदार्थः— इन्दुः रसागारः परमात्मा **मधुश्चुतम्** मधुस्राविणम् **कोशम्** स्वकीयम् आनन्दरसकोशम् **समुद्रस्य** जीवात्मसमुद्रस्य **विष्टपि अधि** धरातले **जिन्वन्** गमयन् **वाचम्** उपदेशगिरम् **प्र इष्यति** प्रेरयति । [इष गतौ दिवादिः]॥६॥

अत्र यथा इन्दुश्चन्द्रः समुद्रस्य धरातले स्वकीयं चन्द्रिकारूपं मधुश्चुतं कोशं जिन्वति प्रेरयतीति शब्दशक्तिमूलेन ध्वनिना ध्वन्यते ॥६॥

---

१. ऋ० ९।१२।५, 'कलशेष्वाँ' इति पाठः।

२. ऋ० ९।१२।६ ।

भावार्थः— उपासकान् जगदीश्वरो निरन्तरमानन्दरसधाराभिः सिञ्चति, तेभ्यो दिव्यसन्देशं च प्रयच्छति।।६।।

अब परमात्मा की कृपा का वर्णन करते हैं।

पदार्थ— इन्दुः रस का भण्डार परमात्मा अपने **मधुश्चुतम्** मधुस्रावी **कोशम्** आनन्द-रस के कोश को **समुद्रस्य** जीवात्मारूप समुद्र के **विष्टपि अधि** धरातल पर **जिन्वन** प्रेरित करता हुआ **वाचम्** उपदेशरूप वाणी को **प्र इष्यति** देता है ।।६।।

यहां शब्दशक्तिमूलक ध्वनि से यह ध्वनित होता है कि जैसे चन्द्रमा (इन्दु) समुद्र के धरातल पर अपने चांदनीरूप मधुस्रावी कोश को प्रेरित करता है।।६।।

भावार्थ— उपासकों को जगदीश्वर निरन्तर आनन्द-रस की धाराओं से सींचता रहता है और उन्हें दिव्य सन्देश देता रहता है ।।६।।

अथ परमात्मा स्तोतारं कथमुपकरोतीत्याह ।

१ २ ३ २३ १ २३ २३ १ २३१ २ ३ १र २र ३ २
१२०२. नित्यस्तोत्रो वनस्पतिर्धेनामन्तः सबर्दुघाम् । हिन्वानो मानुषा युजा ।।७।।[1]

१ २र १ २र ३ २३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
नित्यस्तोत्रः नित्य स्तोत्रः वनस्पतिः । धेनाम् अन्तरिति सबर्दुघाम् सबः दुघाम् ।
३ २ १२र ३ २
हिन्वानः मानुषा युजा ।।७।।

पदार्थः— नित्यस्तोत्रः सन्ध्योपासनरूपनित्यकर्मत्वेन स्तवनीयः, **वनस्पतिः** वनसां तेजसां पतिः अधीश्वरः सोमः परमात्मा **मानुषा युजा** मानुषयोः युजोः उपासकयोः स्त्रीपुरुषयोः। [उभयत्र सुपां सुलुक्०। अ० ७।१।३९ इत्यनेन षष्ठीद्विवचनस्य आकारादेशः ।] **अन्तः** अन्तःकरणे **सबर्दुघाम्** आनन्दरसदोग्ध्रीम् **धेनाम्** दिव्यां वाचम् [धेना इति वाङ्नाम । निघं० १।११।] **हिन्वानः** प्रेरयन्, भवतीति शेषः । [हि गतौ वृद्धौ च स्वादिः । आत्मनेपदं छान्दसम्] ।।७।।

अत्र 'दुघाम्' इति कथनेन धेनायां गोत्वारोपो व्यङ्ग्यः ।।७।।

भावार्थः— परमेश्वरोपासनाया अयमेव लाभो यद् दिव्यानन्दः शुभकर्मसूत्साहश्च प्राप्यते ।।७।।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि परमात्मा स्तोता का कैसे उपकार करता है ।

पदार्थ— नित्यस्तोत्रः सन्ध्योपासनारूप नित्यकर्म द्वारा स्तुति करने योग्य, **वनस्पतिः** तेजों का अधिपति सोम परमात्मा **मानुषा युजा** मनुष्य स्त्री-पुरुषों के **अन्तः** अन्तःकरण में **सबर्दुघाम्** आनन्द-रस को दुहने वाली **धेनाम्** दिव्यवाणी को **हिन्वानः** प्रेरित करता रहता है ।।७।।

यहां 'दुघाम्' कहने से धेना (वाणी) में गोत्व का आरोप व्यङ्ग्य है ।।७।।

भावार्थ— परमेश्वर की उपासना का यही लाभ है कि दिव्य आनन्द और शुभकर्मों में उत्साह प्राप्त होता है ।।७।।

---

१. ऋ० ९।१२।७, 'धीनामन्तः सबर्दुघः। हिन्वानो मानुषा युगा' इति पाठः ।

अथ परमात्मा प्रार्थ्यते ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१२०३. आ पवमान धारया रयिं सहस्रवर्चसम् । अस्मे इन्दो स्वाभुवम् ॥८॥[1]

२ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
आ पवमान धारय । रयिम् सहस्रवर्चसम् सहस्र वर्चसम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्मेइति इन्दो स्वाभुवम् सु आभुवम् ॥८॥

पदार्थः— हे **पवमान** पवित्रताप्रदायक **इन्दो** रसेन क्लेदक परमात्मन्! त्वम् **अस्मे** अस्मासु । [अस्मच्छब्दात् 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इत्यनेन सप्तमीबहुवचनस्य शेआदेशः।] **सहस्रवर्चसम्** अनन्तब्रह्मवर्चसयुक्तम्, **स्वाभुवम्** सुव्यापकम् **रयिम्** दिव्यानन्दरूपं धनम् **धारय** स्थापय ॥८॥

भावार्थः— परमात्मोपासकाः खल्वायुष्मन्तस्तेजस्विनो ब्रह्मवर्चस्विनो दिव्यानन्दा विद्वांसः श्रीमन्तश्च जायन्ते ॥८॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **पवमान** पवित्रता देने वाले **इन्दो** रस से भिगोने वाले परमात्मन् ! आप **अस्मे** हममें **सहस्रवर्चसम्** अनन्त ब्रह्मवर्चस से युक्त, **स्वाभुवम्** अतिशय व्यापक **रयिम्** दिव्य आनन्द रूप धन को **धारय** स्थापित करो ॥८॥

भावार्थ— परमेश्वर के उपासक आयुष्मान्, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी, दिव्य आनन्द से युक्त, विद्वान् और श्रीमान् बनते हैं ॥८॥

अथ परमात्मन आनन्दधारासंपातो वर्ण्यते ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ १ २ ३ १ २
१२०४. अभि प्रिया दिवः कविर्विप्रः स धारया सुतः । सोमो हिन्वे परावति ॥९॥[2]

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ २ ३ २ १ २ २ ३ १ २
अभि प्रिया दिवः कविः । विप्रः वि प्रः सः धारया सुतः । सोमः हिन्वे परावति ॥९॥

पदार्थः- दिवः द्योतमानस्य जीवात्मनः **प्रिया** प्रियाणि धामानि अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयकोशाख्यानि **अभि** अभिलक्ष्य **धारया** धारारूपेण **सुतः** अभिषुतः, **कविः** क्रान्तद्रष्टा, **विप्रः** विशेषेण पूर्णताप्रापकः **स सोमः** असौ रसागारः परमेश्वरः क्रमशः **परावति** परःस्थिते आनन्दमयकोशे **हिन्वे** गच्छति ॥९॥

भावार्थः— रसागारात् परमात्मनोऽभिषुता आनन्दरसधारा जीवात्मानं पूर्णत आप्लावयन्ति ॥९॥

अस्मिन् खण्डे परमात्ममहिम्नः परमात्मजीवात्मसंगमस्य ब्रह्मानन्दरसस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

अब परमात्मा से होने वाली आनन्द-वर्षा का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— **दिवः** तेजस्वी जीवात्मा के **प्रिया** प्रिय धाम अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोशों को **अभि** अभिलक्षित करके **धारया** धारारूप से **सुतः** अभिषुत किया गया **कविः** क्रान्तद्रष्टा, **विप्रः** विशेषरूप से पूर्णता देनेवाला **स सोमः** वह रसागार परमेश्वर क्रमशः **परावति** सबसे परे स्थित आनन्दमय कोश में **हिन्वे** पहुंचता है ॥९॥

---

१. ऋ० ९।१२।९, 'धारय' इति पाठः ।

२. ऋ० ९।१२।८, अभि प्रिया दिवस्पदा सोमो हिन्वानो अर्षति । विप्रस्य धारया कविः - इति पाठः ।

भावार्थ— रस के भण्डार परमेश्वर में से अभिषुत की गयी आनन्द-रस की धाराएं जीवात्मा को पूर्णरूप से आप्लावित कर देती हैं।।९।।

इस खण्ड में परमात्मा की महिमा, परमात्मा और जीवात्मा के मिलन तथा ब्रह्मानन्द-रस का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

नवम अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ।

।।५।। अथ 'उत्ते शुष्मास' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य पञ्चर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** उचथ्य आङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादावुपासकस्य स्तोत्रगानपद्धतिमाह ।

१२०५. उत्ते शुष्मास ईरते सिन्धोरूर्मेरिव स्वनः । वाणस्य चोदया पविम् ।।१।।[1]

उत् ते शुष्मासः ईरते । सिन्धोः ऊर्मेः इव स्वनः । वाणस्य चोदय पविम् ।।१।।

पदार्थः— हे भक्तिसाधक उपासक ! **ते** तव **शुष्मासः** शुष्माः बलवन्तः स्तोत्रसमूहाः **उदीरते** उद्गच्छन्ति, तेषाम् **सिन्धोः ऊर्मेः इव** समुद्रस्य तरङ्गस्य इव **स्वनः** गीतध्वनिरस्ति । त्वम् **वाणस्य** वीणादण्डस्य **पविम्** तन्त्रीम् **चोदय** प्रेरय, वीणावादनेन प्रभुभक्तिस्तोत्राणि तरङ्गयेति भावः ।।१।।

भावार्थः— मधुरैर्गीतैर्यदा वीणामञ्जीरादीनि वाद्यानि सलयं संवाद्यन्ते तदाऽपूर्वभक्तिप्रवाह उत्तरङ्गायते।।१।।

प्रारंभ में उपासक की स्तोत्रगान की पद्धति का वर्णन है ।

पदार्थ— हे भक्ति को सिद्ध करने वाले उपासक ! **ते** तेरे **शुष्मासः** बलवान् स्तोत्रसमूह **उदीरते** उठ रहे हैं। उनकी **सिन्धोः ऊर्मेः इव** समुद्र की लहर जैसी **स्वनः** गीत की ध्वनि है । तू **वाणस्य** वीणादण्ड की **पवित्रम्** तन्त्री को **चोदय** प्रेरित कर, अर्थात् वीणा-वादन के साथ प्रभु भक्ति के स्तोत्र तरंगित कर ।।१।।

भावार्थ— मधुर गीतों के साथ जब सितार, मंजीरे आदि बाजे ताल-मेल पूर्वक बजाये जाते हैं तब अपूर्व भक्ति का प्रवाह उत्तरंगित होता है ।।१।।

अथ परमात्माविर्भावविषयमाह ।

१२०६. प्रसवे त उदीरते तिस्रो वाचो मखस्युवः । यदव्य एषि सानवि ।।२।।[2]

प्रसवे प्र सवे ते उत् ईरते । तिस्रः वाचः मखस्युवः । यत् अव्ये एषि सानवि ।।२।।

पदार्थः— हे सोम रसागार परमात्मन् ! **ते प्रसवे** ध्यानद्वारा तव आविर्भावे सति **मखस्युवः** उपासनायज्ञपूर्तिकामाः उपासकाः। [मखशब्दात् क्यचि उ प्रत्ययः। क्यचि सुग् वक्तव्यः। अ० ७।१।५१ इति वार्तिकेन सुगागमः।] **तिस्रः वाचः** ऋग्यजुःसामलक्षणाः तिस्रो गिरः **उदीरते** उच्चारयन्ति, **यत्** यदा, त्वम् **अव्ये सानवि** जीवात्मनः

---

१. ऋ० ९।५०।१।

२. ऋ० ९।५०।२ ।

उन्नते धाम्नि **एषि** प्राप्नोषि। [अविः रक्षकः आत्मा, तस्येदम् अव्यम् तस्मिन् । सानवि सानौ। अत्र बाहुलकाद् 'अच्च घेः' अ० ७।३।११९ इति न प्रवर्तते, ततो गुणेऽवादेशे च 'सानवि' इति रूपनिष्पत्तिः] ॥२॥

भावार्थः— सर्वेषामन्तरात्मनि पूर्वमेव विद्यमानः परमात्मा ध्यानेन वेदमन्त्राणां गानेन च प्रकटीकरणीयः॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के आविर्भाव का वर्णन है ।

पदार्थ— हे सोम अर्थात् रस के भंडार परमात्मन् ! **ते प्रसवे** ध्यान द्वारा आपका आविर्भाव होने पर **मखस्युवः** उपासना-यज्ञ की पूर्ति चाहने वाले उपासक लोग **तिस्रः वाचः** ऋग्, यजुः, साम रूप तीनों वाणियों को **उदीरते** उच्चारित करते हैं, **यत्** जबकि, आप **अव्ये सानवि** जीवात्मा के उन्नत धाम में **एषि** पहुंचते हो॥२॥

भावार्थ— सबके अन्तरात्मा में पहले से ही विद्यमान परमात्मा को ध्यान द्वारा और वेदमन्त्रों के गान द्वारा प्रकट करना चाहिए ॥२॥

अथ कीदृशः परमेश्वरः कथं साक्षात्करणीय इत्याह ।

२ ३ २३ १ २ ३१र २र ३ १ २ १ २ ३ १ २
१२०७. अव्या वारैः परि प्रियं हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः । पवमानं मधुश्चुतम् ॥३॥[1]

१ २र १२र १ २र ३ २ १ २र ३ १ २र ३
अव्याः वारैःपरि प्रियम् । हरिम् हिन्वन्ति अद्रिभिः अ द्रिभिः ।

१२र ३ १ २ ३ १२र
पवमानम् मधुश्चुतम् मधु श्चुतम् ॥३॥

पदार्थः— **प्रियम्** उपासकानां प्रेमास्पदम्, **हरिम्** दुःखानां हर्तारम्, **पवमानम्** हृदयं पवित्रयन्तम्, **मधुश्चुतम्** आनन्दस्राविणम् सोमं परमात्मानम्, उपासकाः जनाः **अव्याः वारैः** चित्तभूमेः विक्षेपनिवारणोपायैः **अद्रिभिः** ध्यानरूपैः पेषणसाधनैश्च **परिहिन्वन्ति** स्वात्मनि प्रेषयन्ति, परिपश्यन्तीत्यर्थः ॥३॥

भावार्थः— योगविघ्नभूतान् व्याधिस्त्यानसंशयादीन् दुःखदौर्मनस्यादींश्च विनिवार्य ध्यानद्वारा परमात्मानं साक्षात्कृत्य सर्वैरानन्दवारिधारायां स्नातव्यम्॥३॥

अगले मन्त्र में यह कथन है कि कैसे परमेश्वर का किस प्रकार साक्षात्कार करना चाहिए ।

पदार्थ— **प्रियम्** उपासकों के प्यारे, **हरिम्** दुःखों को हरने वाले, **पवमानम्** हृदय को पवित्र करने वाले, **मधुश्चुतम्** आनन्द को परिस्रुत करने वाले सोम परमात्मा को, उपासक जन **अव्याः वारैः** चित्तभूमि के विक्षेप का निवारण करने वाले उपायों से, और **अद्रिभिः** ध्यान-रूप सिल-बट्टों से **परिहिन्वन्ति** अपने आत्मा में प्रेषित करते हैं, अर्थात् उसका साक्षात्कार करते हैं ॥३॥

भावार्थ— योग के विघ्नरूप व्याधि, स्त्यान, संशय आदि तथा दुःख, दौर्मनस्य आदि का निवारण करके ध्यान द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करके सबको आनन्द-रस की धारा में स्नान करना चाहिए ॥३॥

अथ परमेश्वरः प्रार्थ्यते ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१२०८. आ पवस्व मदिन्तम पवित्रं धारया कवे । अर्कस्य योनिमासदम् ॥४॥[2]

२ ३ १ २ १२र ३ ३ १ २ १ २र ३ १ २ ३ १२र
आ पवस्व मदिन्तम । पवित्रम् धारया कवे। अर्कस्य योनिम् आसदम् आ सदम्॥४॥

---

१. ऋ० ९।५०।३, 'अव्या वारैः' इत्यत्र 'अव्यो वारे' इति पाठः ।

२. ऋ० ९।२५।६; ५०।४ ।

पदार्थः— हे **मदिन्तम** आनन्दयितृतम, **कवे** क्रान्तद्रष्टः सोम रसागार परमात्मन् ! त्वम् **अर्कस्य**[1] अर्चकस्य जीवात्मनः **योनिम्** गृहम् आनन्दमयकोशम् **आसदम्** आसत्तुम् **पवित्रम्** पवित्रं यथा स्यात् तथा **धारया** आनन्दधारया सह **पवस्व** प्रवाहितो भव ॥४॥

भावार्थः— परमात्मनः सकाशात् प्रस्रवन्तीमानन्दधारां प्राप्य जीवात्मा कृतार्थो जायते ॥४॥

अब परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ— हे **मदिन्तम** सबसे अधिक आनन्ददायक, **कवे** क्रान्तद्रष्टा सोम अर्थात् रसागार परमात्मन् ! आप **अर्कस्य** अर्चना करने वाले जीवात्मा के **योनिम्** घर अर्थात् आनन्दमय कोश में **आसदम्** आसन जमाने के लिए, **पवित्रम्** पवित्र रूप में **धारया** आनन्द-धारा के साथ **पवस्व** प्रवाहित होवो ॥४॥

भावार्थ— परमात्मा से निकलकर बहती हुई आनन्द-धारा को प्राप्त करके जीवात्मा कृतार्थ हो जाता है॥४॥

अथ पुनरपि परमेश्वरः प्रार्थ्यते ।

१२०९. स पवस्व मदिन्तम गोभिरञ्जानो अक्तुभिः । एन्द्रस्य जठरं विश ॥५॥[2]

सः पवस्व मदिन्तम । गोभिः अञ्जानः अक्तुभिः । आ इन्द्रस्य जठरम् विश ॥५॥

पदार्थः— हे **मदिन्तम** आनन्दयितृतम जगदीश्वर! त्वम् **अक्तुभिः** व्यञ्जकैः **गोभिः** अध्यात्मप्रकाश-रश्मिभिः **अञ्जानः** प्रकाशयन् **आ पवस्व** आगच्छ । **इन्द्रस्य** जीवात्मनः **जठरम्** अभ्यन्तरम् **आ विश** प्रविश॥५॥

भावार्थः— परमात्मानं प्राप्य जीवात्मा प्रकाशमयो जायते ॥५॥

अस्मिन् खण्डे स्तोत्रगानद्वारा परमेश्वरसाक्षात्कारस्य परमेश्वरप्रार्थनायाश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

अगले मन्त्र में फिर परमेश्वर से प्रार्थना है ।

पदार्थ— हे **मदिन्तम** सबसे बढ़कर आनन्ददाता जगदीश्वर! आप **अक्तुभिः** प्रकाशक **गोभिः** अध्यात्मप्रकाश की किरणों से **अञ्जानः** प्रकाश देते हुए **आ पवस्व** आओ । **इन्द्रस्य** जीवात्मा के **जठरम्** अन्दर **आ विश** प्रविष्ट हो जाओ ॥५॥

भावार्थ— परमात्मा को प्राप्त करके जीवात्मा प्रकाशमय हो जाता है ॥५॥

इस खण्ड में स्तोत्रगान के द्वारा परमेश्वर का साक्षात्कार करने तथा परमेश्वर से प्रार्थना का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

नवम अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ।

---

१. अर्कस्यार्चनीयस्य इन्द्रस्य-इति सा०। अर्को द्रोणकलशः, अथवा अर्क आदित्यः, अथवा आदित्यरश्मयोऽर्काः, अथवा अर्का मन्त्रास्तेषां योनिं स्थानम्-इति वि०।

२. ऋ० ९।५०।५, 'इन्दविन्द्राय पीतये' इति तृतीयः पादः।

॥६॥ अथ 'अया वीती' इत्यादिकस्य षष्ठस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अमहीयुराङ्गिरसः। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४९५ क्रमाङ्के परमात्मानं सम्बोध्य व्याख्याता। अत्र वीरो जनः सम्बोध्यते।

१२१०. अया वीती परि स्रव यस्त इन्दो मदेष्वा। अवाहन्नवतीर्नव ॥१॥[1]

अया वीती परि स्रव। यः ते इन्दो मदेषु आ। अवाहन् अव अहन् नवतीः नव ॥१॥

पदार्थः— हे **इन्दो** तेजसा देदीप्त वीर! त्वम् **अया वीती**[2] अनया रीत्या **परि स्रव** व्यवहर, यत् **यः** यो जनः **ते मदेषु आ** तव वीरताजनितानाम् उत्साहानां सम्पर्कं प्राप्नुयात्, सः **नवनवतीः** नवतिनवतिसंख्यकानां शत्रुयोद्धृणां नवव्यूहान् **अवाहन्** अवहन्यात् ॥१॥

भावार्थः— वीरः सेनापतिः स्वसेनाया भटानेवमुत्साहयेद् यत्ते प्रतिभटानां शतशोऽपि व्यूहान् क्षणेनावच्छिन्द्युः। आन्तरस्य देवासुरसंग्रामस्य चमूपतिर्जीवात्माप्यान्तरान् शत्रूनुत्सादयितुं तथैवाचरेत् ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में ४९५ क्रमांक पर परमात्मा को संबोधन करके व्याख्या की गयी थी। यहां वीर मनुष्य को संबोधन है।

पदार्थ— हे **इन्दो** तेज से प्रदीप्त वीर! तू **अया वीती** इस रीति से **परि स्रव** व्यवहार कर कि **यः** जो मनुष्य **ते मदेषु आ** तेरे वीरताजनित उत्साहों के सम्पर्क में आए, वह **नवनवतीः** नब्बे-नब्बे शत्रु योद्धाओं के नौ व्यूहों को **अवाहन्** मार गिराए ॥१॥

भावार्थ— वीर सेनापति अपनी सेना के योद्धाओं को इस प्रकार उत्साहित करे कि वे शत्रु योद्धाओं के सैंकड़ों भी व्यूहों को क्षण भर में छिन्न-भिन्न कर दें। आन्तरिक देवासुरसंग्राम का सेनापति जीवात्मा भी आन्तरिक शत्रुओं को नष्ट करने के लिए ऐसा ही करे ॥१॥

अथ परमेश्वरः प्रार्थ्यते वीरोजनश्चोद्बोध्यते।

१२११. पुरः सद्य इत्थाधिये दिवोदासाय शंबरम्। अध त्यं तुर्वशं यदुम् ॥२॥[3]

पुरः सद्यः स द्यः इत्थाधिये इत्था धिये।

दिवोदासाय दिवः दासाय शंबरम् शम् बरम् अध त्यम् तुर्वशम् यदुम् ॥२॥

पदार्थः— हे इन्दो तेजसा देदीप्त परमात्मन् वीरजन वा! त्वम् **इत्थाधिये** सत्यकर्मणे। [इत्था इति सत्यनाम। निघं० ३।१०, धीरिति कर्मनाम। निघं० २।१] **दिवोदासाय**[4] दिवः विद्याधर्मप्रकाशस्य दासः दाता तस्मै,

---

१. ऋ० ९।६१।१, साम० ४९५।

२. अया अनया वीत्या मार्गेण परिस्रव-इति वि०। अया अनेन रसेन वीती वीत्यै इन्द्रस्य भक्षणाय परिस्रव परिक्षर- इति सा०।

३. ऋ० ९।६१।२।

४. दिवो विद्याधर्मप्रकाशस्य दातारम्। 'दिवश्च दास उपसंख्यानम्। अ० ६।३।२१ वा० इति षष्ठ्या अलुक्— इति ऋ० १।११२।१४ भाष्ये द०।

तस्य हितायेत्यर्थः **सद्यः** सपदि **शंबरम्** शान्तिनिवारकं शत्रुम्, **अध** अपि च **त्यम्** तम् **तुर्वशम्** हिंसाकामं शत्रुम्। [तुरं हिंसां वष्टि कामयते यः स तुर्वशः। तुर्वी हिंसार्थः। वश कान्तौ।] **यदुम्** धर्मप्रतिबन्धकं च शत्रुम्। [यच्छति प्रतिबध्नाति धर्मकर्माणि यः स यदुः। यम उपरमे, दुक् प्रत्ययः।] **पुरः** तेषां नगरीश्च **अवाहन्** अवजहि। [अवाहन्निति पूर्वमन्त्रादाकृष्यते। लोडर्थे लङ्] ॥२॥

भावार्थः— परमात्मनः कृपया वीराणां च शौर्यकर्मणा सुखशान्तिधर्मकर्मादिप्रतिबन्धकाः शत्रवः सदैव पराजेयाः धार्मिकाश्च जना उन्नेयाः ॥२॥

अत्र सायणाचार्यस्य दिवोदासो नाम राजाऽभिमतः। यदुतुर्वशशम्बराश्च तेन तद्विरोधिनो नृपाः स्वीकृताः यान् सोमरसं पीत्वा मत्तः सन्निन्द्रो दिवोदासस्य हिताय वशमानयत्। तत्तु न समञ्जसं सृष्ट्यादौ प्रादुर्भूते वेदे पश्चाद्वर्त्तिनां नृपादीनामितिहासस्यासम्भवादिति सुधीभिरध्यवसेयम् ॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर से प्रार्थना तथा वीर मनुष्य को उद्बोधन है।

पदार्थ— हे इन्दु अर्थात् तेज से प्रदीप्त परमात्मन् वा वीरजन! तुम **इत्थाधिये** सत्यकर्मों वाले, **दिवोदासाय** विद्या और धर्म के प्रकाश के दाता मनुष्य के हितार्थ **सद्यः** शीघ्र ही **शंबरम्** शान्ति में विघ्न डालने वाले शत्रु को, **अध** और **त्यम्** उस **तुर्वशम्** हिंसा करने के इच्छुक शत्रु को, तथा **यदुम्** धर्म के फैलने में रुकावट डालने वाले शत्रु को, और **पुरः** उनकी नगरियों को **अवाहन्** नष्ट-भ्रष्ट कर दो [यहां 'अवाहन्' पद पूर्व मन्त्र से लाया गया है।] ॥२॥

भावार्थ— परमात्मा की कृपा से और वीरों के शौर्यकर्म से सुख, शान्ति, धर्म-कर्म आदि में रुकावट डालने वाले शत्रुओं का सदा ही पराजय और धार्मिक जनों का उत्कर्ष करना चाहिए ॥२॥

यहां सायणाचार्य के मत में दिवोदास नाम का कोई राजा था और यदु, तुर्वश तथा शम्बर उसके विरोधी राजा थे, जिन्हें सोमरस पीकर मस्त हुए इन्द्र ने दिवोदास के हित के लिए वश में कर लिया था। किन्तु यह संगत नहीं है, क्योंकि सृष्टि के आदि में प्रकट हुए वेद में परवर्ती राजाओं आदि का इतिहास नहीं हो सकता, यह सुधी जनों को निश्चय मानना चाहिए।

अथ परमेश्वरो वीरो जनश्च सम्बोध्यते।

१२१२. **परि णो अश्वमश्ववि॒द्गोम॑दिन्दो॒ हिर॑ण्यवत्। क्षरा॑ सह॒स्रिणी॒रिषः॑ ॥३॥**[1]

परि नः॑ अश्वम् अश्ववित् अश्व वित्। गोम॑त् इन्दो॒ हिर॑ण्यवत्।
क्षर॑ सह॒स्रिणीः॒ इषः॑ ॥३॥

पदार्थः- हे **इन्दो** सम्पद्वर्षक परमात्मन् वीर जन वा! **अश्ववित्** अश्वानां प्राणबलनां तुरगाणां वा लम्भकः त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **अश्वम्** प्राणबलम् अश्वसमूहं वा **परिक्षर** परितो वर्ष। अपि च **गोमद्** वाग्बलयुक्तं धेनुयुक्तं वा,

---

१. ऋ० ९।६१।३।

हिरण्यवत् ज्योतिर्युक्तं सुवर्णयुक्तं वा यथा स्यात् तथा **सहस्रिणीः** सहस्रसंख्योपेताः **इषः** अभीष्टसम्पदः **परिक्षर** परितो वर्ष ।।३।।

भावार्थः— परमेशकृपया सर्वा दिव्या भौतिक्यश्च सम्पदः प्राप्तुं शक्यन्ते । किञ्च ये वीरा भवन्ति तेषामेव सम्पदो हस्तगता जायन्ते, ते चान्यानपि ता लम्भयन्ति ।।३।।

अगले मन्त्र में परमेश्वर तथा वीर मनुष्य को सम्बोधन है ।

पदार्थ— हे **इन्दो** सम्पत्ति की वर्षा करने वाले परमात्मन् वा वीर मनुष्य ! **अश्ववित्** प्राणबल वा अश्व प्राप्त कराने वाले आप **नः** हमारे लिए **अश्वम्** प्राणबल वा अश्वसमूह **परिक्षर** चारों ओर से बरसाओ । **गोमद्** वाणी के बल से युक्त वा धेनुओं से युक्त तथा **हिरण्यवत्** ज्योति से युक्त वा सुवर्ण से युक्त **सहस्रिणीः** सहस्र संख्या वाली **इषः** अभीष्ट सम्पदाएं **परिक्षर** चारों ओर से बरसाओ ।।३।।

भावार्थ— परमेश्वर की कृपा से सब दिव्य तथा भौतिक सम्पदाएं प्राप्त की जा सकती हैं। साथ ही जो वीर होते हैं उन्हें ही सम्पदाएं हस्तगत होती हैं और वे अन्यों को भी उन्हें प्रदान करते हैं।।३।।

।।७।। अथ 'अपघ्नन्' इत्यादिकस्य सप्तमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अमहीयुराङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५१० क्रमाङ्के परमात्मपक्षे व्याख्याता । अत्र वीररसविषयः प्रदर्श्यते ।

३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २
१२१३. **अपघ्नन् पवते मृधोऽप सोमो अराव्णः । गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ।।१।।**[1]

३ २ ३ २ ३ १ २र १२र १ २र १ २र ३
अपघ्नन् अप घ्नन् पवते मृधः । अप सोमः अराव्णः अ राव्णः ।

१ २र १ २र ३ २ ३ २
गच्छन् इन्द्रस्य निष्कृतम् निः कृतम् ।।१।।

पदार्थः— **सोमः** जागरितः वीररसः **इन्द्रस्य** जीवात्मनः **निष्कृतम्** संस्कृतं गृहम् मनोरूपम्। [निरित्येष समित्येतस्य स्थाने । एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव (ऋ० १०।३४।५) इत्यपि निगमो भवति । निरु० १२।७।] **गच्छन्** व्रजन्, **मृधः** सङ्ग्रामकारिणः **अपघ्नन्** अपहिंसन्, अपि च **अराव्णः** अदानशीलान् कृपणान् शत्रून् **अप** अपघ्नन् अवहिंसन् **पवते** प्रवहति ।।१।।

भावार्थः— वीररसेनाप्लुतो मानवः सर्वानान्तरान् बाह्यांश्च शत्रूनुच्छेत्तुं प्रभवति ।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ५१० क्रमांक पर परमात्मा के पक्ष में की जा चुकी है । यहां वीररस का विषय दर्शाते हैं ।

पदार्थ— **सोमः** जगाया हुआ वीररस **इन्द्रस्य** जीवात्मा के **निष्कृतम्** संस्कृत किये हुए मनरूप घर में **गच्छन्** जाता हुआ, **मृधः** संग्रामकारियों को **अपघ्नन्** हिंसित करता हुआ, और **अराव्णः** अदानशील कृपण शत्रुओं को **अप** विनष्ट करता हुआ **पवते** प्रवाहित होता है ।।१।।

भावार्थ— वीर रस में डूबा हुआ मानव सब आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं को विनष्ट कर सकता है।।१।।

---

१. ऋ० ९।६१।२५, साम० ५१० ।

अथ परमात्मानं वीरं जनं च प्रार्थयते ।

३ १ २ ३।१र २र३ १ २ ३ १र २र १ २ ३२३ १ २
१२१४. महो नो राय आ भर पवमान जही मृधः । रास्वेन्दो वीरवद्यशः ॥२॥[1]

३ २ ३ २ ३ १२र ३ २ १ २र १ २र३ १२ १ २र
महः नः रायः आ भर । पवमान जहि मृधः । रास्व इन्दो वीरवत् यशः ॥२॥

पदार्थः— हे **पवमान** क्रियाशील परमात्मन् वीर मनुष्य वा! [पवते गतिकर्मा । निघं० २।१४।] त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **महः रायः** महान्ति धनानि **आ भर** आहर, **मृधः** हिंसकान् शत्रून् **जहि** विनाशय । हे **इन्दो** तेजसा देदीप्त परमात्मन् वीर मानव वा! **वीरवद् यशः** वीरसदृशीं कीर्तिम् **रास्व** अस्मभ्यं प्रयच्छ । [रा दाने अदादिः, आत्मनेपदं छान्दसम्] ॥२॥

भावार्थः— जगति परमात्मकृपावन्तो वीरा एव धनधान्यकीर्तिसुखानि भोक्तुं भोजयितुं च शत्रून् विजेतुं च क्षमन्ते ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा तथा वीर मनुष्य से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **पवमान** क्रियाशील परमात्मन् वा वीर मनुष्य! आप **नः** हमारे लिए **महः रायः** महान् धनों को **आ भर** लाओ, **मृधः** हिंसक शत्रुओं को **जहि** विनष्ट करो । हे **इन्दो** तेज से प्रदीप्त परमात्मन् वा वीर मनुष्य! आप **वीरवत् यशः** वीरों जैसा यश **रास्व** हमें प्रदान करो ॥२॥

भावार्थ— संसार में परमात्मा की कृपा को प्राप्त वीर मनुष्य ही धन, धान्य और कीर्ति के सुखों को भोगने तथा भुगाने में और शत्रुओं को जीतने में समर्थ होते हैं॥२॥

अथ दानवीरः परमात्मा मानवश्च सम्बोध्यते ।

१ २ ३ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१२१५. न त्वा शतं च न ह्रुतो राधो दित्सन्तमा मिनन् । यत्पुनानो मखस्यसे॥३॥[2]

२ ३ २ ३ २ १ २र १ २र १ २र ३ २ ३ २ ३ १ २
न त्वा शतम् च न ह्रुतः । राधः दित्सन्तम् आ मिनन् । यत् पुनानः मखस्यसे ॥३॥

पदार्थः— हे दानवीर परमात्मन् मानव वा! **यत्** यदा **पुनानः** अस्मान् पवित्रान् कुर्वाणः त्वम् **मखस्यसे**[3] दानयज्ञं कर्तुं कामयसे । [मखमात्मन इच्छति इति मखस्यते । क्यचि 'सुग् वक्तव्यः । अ० ७।१।५१ वा० इत्यनेन सुगागमः।] तदा **राधः** धनम् **दित्सन्तम्** दातुमिच्छन्तम् **त्वा** त्वाम् **शतं च न** शतसंख्याका अपि **ह्रुतः** अस्माकं कुटिला भावाः कुटिला जना वा ।]ह्वरन्ति कुटिलमाचरन्तीति ह्रुतः । ह्वृ कौटिल्ये, क्विपि ह्वरः ह्रुः आदेशः तुगागमश्च।] **न आ मिनन्** दानमार्गात् न विचालयितुं शक्नुवन्ति । [मिनातिः वधकर्मा । निघं० २।१९ । लेटि रूपम्]॥३॥

भावार्थः— जगदीश्वरोऽकुटिलानेव जनान् दानपात्रं कुरुते । दानशौण्डा जना बाधकैर्विघ्नैः पुनः पुनः प्रतिहन्यमाना अपि स्वकीयं दानव्रतं न परित्यजेयुः ॥३॥

अगले मन्त्र में दानवीर परमात्मा तथा दानी मनुष्य को सम्बोधन है ।

---

१. ऋ० ९।६१।२६ ।
२. ऋ० ९।६१।२७ ।
३. मखस्यसे धनं दातुमिच्छसि-इति सा० । यज्ञसमये यज्ञं त्वं यदा करोषि- इति वि० ।

पदार्थ– हे दानवीर परमात्मन् वा दानी मनुष्य ! **यत्** जब **पुनानः** हमें पवित्र करते हुए आप **मखस्यसे** दानयज्ञ करने का संकल्प करते हो, तब **राधः** धन **दित्सन्तम्** दान करना चाहते हुए **त्वा** आपको **शतं च न** सौ भी **हुतः** हमारे कुटिल भाव वा कुटिल जन **न आमिनन्** दान के मार्ग से विचलित नहीं कर सकते ॥३॥

भावार्थ– जगदीश्वर उन्हीं को अपने दान का पात्र बनाता है जो कुटिल नहीं हैं। दानवीर लोगों को चाहिए कि वे बाधक विघ्नों के बार-बार प्रहार होने पर भी अपने दान के व्रत को न छोडें ॥३॥

॥८॥ अथ 'अया पवस्व' इत्यादिकस्याष्टमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** निध्रुविः काश्यपः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४९३ क्रमाङ्के परमात्मपरा व्याख्याता । अत्रापि स एव विषयः ।

३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ २३ १ २ ३ १र २र ३ २
१२१६. अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः । हिन्वानो मानुषीरपः ॥१॥[1]

३ २ ३ १ २र १ २र १२र १ २र ३ २ १२र ३ २
अया पवस्व धारया । यया सूर्यम् अरोचयः । हिन्वानः मानुषीः अपः ॥१॥

पदार्थः– हे पवमान सोम पवित्रतादायक जगत्स्रष्टः परमात्मन्! त्वम् **अया** अनया **धारया** प्रकाशधारया, अस्मान् **पवस्व** पवित्रीकुरू, **यया** प्रकाशधारया त्वम् **सूर्यम्** आदित्यम् **अरोचयः** रोचितवानसि । त्वमेव **मानुषीः अपः** मनुष्यैः प्राप्तव्यान् आनन्दरसान् **हिन्वानः** प्रेरयन्, भवेति शेषः ॥१॥

भावार्थः– परमेशकृपया वयं सूर्यवत् तेजस्विनः पवित्राश्च भूत्वा ब्रह्मानन्दभागिनो भवेम ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४९३ क्रमांक पर परमात्मा के पक्ष में व्याख्यात की गयी थी । यहां भी वही विषय है ।

पदार्थ– हे पवमान सोम अर्थात् पवित्रतादायक जगद्रचयिता परमात्मन्! आप **अया** इस **धारया** प्रकाश की धारा से, हमें **पवस्व** पवित्र कीजिए, **यया** जिस प्रकाश-धारा से, आपने **सूर्यम्** सूर्य को **अरोचयः** चमकाया है । आप ही **मानुषीः अपः** मनुष्यों से प्राप्त करने योग्य आनन्द-रसों को **हिन्वानः** प्रेरित करो ॥१॥

भावार्थ- परमेश्वर की कृपा से हम सूर्य के समान तेजस्वी और पवित्र होकर ब्रह्मानन्द के भागी बनें ॥१॥

अथ परमात्मनः कर्तृत्वं वर्णयति ।

१ २ ३ २३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
१२१७. अयुक्त सूर एतशं पवमानो मनावधि । अन्तरिक्षेण यातवे ॥२॥[2]

१२र १ २र १२र १२र ३ २ १ २र ३ १ २ १२र
अयुक्त सूरः एतशम् । पवमानः मनौ अधि । अन्तरिक्षेण यातवे ॥२॥

पदार्थः– **सूरः** प्रेरकः । [षू प्रेरणे धातोः 'सुसूधाञ्गृधिभ्यःक्रन् । उ० २।२५ इत्यनेन क्रन् प्रत्ययः ।] **पवमानः** क्रियाशीलः सोमः परमेश्वरः **अन्तरिक्षेण** आकाशमार्गेण **यातवे** यातुम् **मनौ अधि** मनुष्ये **एतशम्** प्राणरूपम् अश्वम् । [एतशः इत्यश्वनाम । निघं० १।१४ ।] **अयुक्त** नियुक्तवानस्ति ॥२॥

भावार्थः– परमात्मना सहयोगं प्राणसिद्धिं च प्राप्य मनुष्या आकाशमार्गेण गमनागमने कर्तुं क्षमन्ते॥२॥[3]

---

१. ऋ० ९।६३।७, साम० ४९३ ।

२. ऋ० ९।६३।८ ।

३. द्रष्टव्यम्, द० भा०, य० १७।६७, भावार्थः– यदा मनुष्यः स्वात्मना सह परमात्मानं युङ्क्ते तदाऽणिमादयः सिद्धयः प्रादुर्भवन्ति, ततोऽव्याहतगत्याभीष्टानि स्थानानि गन्तुं शक्नोति नान्यथा ।

अगले मन्त्र में परमात्मा के कर्तृत्व का वर्णन है ।

पदार्थ– **सूरः** प्रेरक **पवमानः** क्रियाशील सोम परमेश्वर ने **अन्तरिक्षेण** आकाशमार्ग से **यातवे** यात्रा करने के लिए **मनौ अधि** मनुष्य के अन्दर **एतशम्** प्राण रूप अश्व को **अयुक्त** नियुक्त किया हुआ है ।।२।।

भावार्थ– परमात्मा के साथ योग करके और प्राणसिद्धि प्राप्त करके मनुष्य आकाशमार्ग से जाना-आना कर सकते हैं।।२।।

अथ पुनरपि परमेश्वरस्य कर्तृत्वमाह ।

३ २उ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
१२१८. **उत त्या हरितो रथे सूरो अयुक्त यातवे । इन्दुरिन्द्र इति ब्रुवन् ।।३।।**[1]

३ २ ३ १ २ १२र १ २र ३ १२र १ २र १ २र १ २र ३ २
उत त्याः हरितः रथे । सूरः अयुक्त यातवे । इन्दुः इन्द्रः इति ब्रुवन् ।।३।।

पदार्थः– **उत** अपि च 'हे मानव, त्वम् **इन्दुः** तेजसा समिद्धोऽसि, **इन्द्रः** शत्रुविदारकोऽसि' **इति ब्रुवन्** इति कथयन् **सूरः** प्रेरकः परमेश्वरः **यातवे** व्यवहर्तुम् **रथे** शरीररथे **त्याः** ताः परमोपयोगिनीः **हरितः** मनोबुद्धिप्राणशक्तिसहिताः ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियशक्तिरूपाः अश्वाः **अयुक्त** नियुक्तवानस्ति ।।३।।

भावार्थः– मानवदेहरथः परमेश्वरस्य महतीं निर्माणकलां सूचयति ।।३।।

अस्मिन् खण्डे परमात्मविषयस्य वीरोद्बोधनविषयस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ।।

आगे फिर परमेश्वर का कर्तृत्व वर्णित है ।

पदार्थ– **उत** और, 'हे मनुष्य ! तू **इन्दुः** तेज से प्रदीप्त है, **इन्द्रः** शत्रुविदारक है' **इति ब्रुवन्** यह कहते हुए **सूरः** प्रेरक परमेश्वर ने **यातवे** व्यवहार करने के लिए **रथे** शरीररूप रथ में **त्याः** उन परम उपयोगी **हरितः** मनःशक्ति, बुद्धिशक्ति एवं प्राणशक्ति सहित ज्ञानेन्द्रियशक्ति और कर्मेन्द्रियशक्ति रूप घोड़ियों को **अयुक्त** नियुक्त किया हुआ है ।।३।।

भावार्थ– मनुष्य का शरीर-रूप रथ परमेश्वर की महान् निर्माण-कला को सूचित करता है ।।३।।

इस खण्ड में परमात्मा तथा वीरों के उद्बोधन विषय का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ।।

नवम अध्याय का पञ्चम खण्ड समाप्त ।

।।९।। अथ 'अग्निं वो' इत्यादिकस्य नवमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवता** अग्निः। **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ।।

तत्रादौ पुरोहितगुणानाह ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१२१९. **अग्निं वो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे कृणुध्वम् ।**

१र २र३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
यो मर्त्येषु निध्रुविर्ऋतावा तपुर्मूर्धा घृतान्नः पावकः ।।१।।[2]

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ २ ३ २ ३
अग्निम् वः देवम् अग्निभिः सजोषाः स जोषाः । यजिष्ठम् दूतम् अध्वरे कृणुध्वम् ।

२ १ २र १ २र ३ १ २
यः मर्त्येषु निध्रुविः नि ध्रुविः ऋतावा ।

१ २र १ २र ३ १ २ ३ २ ३ २
तपुर्मूर्धा तपुः मूर्धा घृतान्नः घृत अन्नः पावकः ।।१।।

---

१. ऋ० ९।६३।९ 'रथे' इत्यत्र 'दशं' इति पाठः।
२. ऋ० ७।३।१ ।

पदार्थः— हे मनुष्याः ! यः **अग्निभिः सजोषाः** गार्हपत्याहवनीयादिभिः अग्निभिः सप्रीतिः अस्ति, तज्ज्ञानवानस्तीति भावः, तम् **यजिष्ठम्** यज्ञस्य साधकतमम्, **अग्निम्** अग्रगण्यम् **देवम्** विद्वांसम् **वः** यूयम् **अध्वरे** यज्ञे **दूतम्** दूतवन्माध्यमम्, पुरोहितमिति भावः, **कृणुध्वम्** कुरुत, **यः** विद्वान् **मर्त्येषु** मनुष्येषु **निध्रुविः** निरतिशयस्थिरमतिः, **ऋतावा** सत्यनिष्ठः। [ऋतं सत्यम्, ततो मत्वर्थे 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ अ० ५।२।१०९' इति वनिप् । ऋतस्यान्तदीर्घश्छान्दसः ।] **तपुर्मूर्धा**[1] परिपक्वमस्तिष्कः, **घृतान्नः** घृतदुग्धादिसात्त्विकपौष्टिकपदार्थ-भोक्ता, **पावकः** पवित्रतासम्पादकश्च विद्यते ॥१॥[2]

भावार्थः— सुयोग्य एव कश्चिज्जनोऽध्यात्मयज्ञे बाह्ययज्ञे च पुरोहितत्वेन वरणीयः ॥१॥

प्रारंभ में पुरोहित के गुणों का वर्णन करते हैं।

पदार्थ— हे मनुष्यो! जो **अग्निभिः सजोषाः** गार्हपत्य, आहवनीय आदि अग्नियों से प्रीति रखने वाला अर्थात् उनका ज्ञानी हो, उस **यजिष्ठम्** यज्ञ के अतिशय साधक, **अग्निम्** अग्रगण्य **देवम्** विद्वान् को **वः** तुम लोग **अध्वरे** यज्ञ में **दूतम्** दूत के समान माध्यम अर्थात् पुरोहित **कृणुध्वम्** बनाओ, **यः** जो विद्वान् **मर्त्येषु** मनुष्यों में **निध्रुविः** अत्यन्त स्थिर मति वाला, **ऋतावा** सत्यनिष्ठ, **तपुर्मूर्धा** परिपक्व मस्तिष्क वाला **घृतान्नः** घी-दूध आदि सात्त्विक पौष्टिक पदार्थ खाने वाला और **पावकः** पवित्रकर्ता हो ॥१॥

भावार्थ— सुयोग्य ही किसी मनुष्य को अध्यात्म यज्ञ तथा बाह्य यज्ञ में पुरोहितरूप से वरना चाहिए॥१॥

अथ विद्वद्विषयमाह ।

२ ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१२२०. प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन् यदा महः संवरणाद्व्यस्थात् ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
आदस्य वातो अनु वाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति ॥२॥[3]

१ २र १ २र १ २र ३ २
प्रोथत् अश्वः न यवसे अविष्यन् ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २र
यदा महः संवरणात् सम् वरणात् व्यस्थात् वि अस्थात् ।

३ १ २र १ २र ३ २ १ २र ३ १ २र ३ २ ३
आत् अस्य वातः अनु वाति शोचिः । अध स्म ते व्रजनम् कृष्णम् अस्ति ॥२॥

पदार्थः— **अश्वं न** अश्वो यथा **यदा** यस्मिन् काले **महः संवरणात्** महत्याः वाजिशालायाः **व्यस्थात्** विमुक्तो भवति तदा **अविष्यन्** अत्तुमिच्छन् । [अविष्यन्निति अत्तिकर्मसु पठितम् । निघं० २।९ ।] **यवसे** घासे निमित्ते **प्रोथत्** हेषते । [प्रोथृ पर्याप्तौ, भ्वादिः, लेटि तिपि रूपम् । प्रोथोऽश्वघोणा, तयोत्थाप्यमाने शब्देऽपि प्रोथतिः प्रयुज्यते।] तथैव यः अग्निः विद्वान् स्नातकः **यदा** यस्मिन् काले **संवरणात्** गुरुकुलस्य नियन्त्रणात् **व्यस्थात्** विमुक्तो जायते तदा **अविष्यन्** रक्षणं करिष्यन् **यवसे** मानवसमाजे। [यु मिश्रणामिश्रणयोः । बाहुलकादौणादिकः

---

१. तपुर्मूर्धा तापकं तेजः— इति सा०। तपुः तापनशीलः, मूर्धा प्रधानभूतः-इति वि० । तदुभयं पदकारविरुद्धम्, पदपाठे 'तपुर्मूर्धा' इत्यस्य समस्तपदत्वेन स्वीकृतत्वात् ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्युत्पक्षे व्याख्यातवान् ।

३. ऋ० ७।३।२ ।

अस प्रत्ययः। यूयते परस्परं मिलति यः स यवसः समाजः । **प्रोथत्** पूर्णतामानयति । [प्रोथृ पर्याप्तौ 'पर्याप्तिः पूर्णता' इति क्षीरस्वामी ।] **आत्** अनन्तरम् **वातः** समाजस्य वातावरणम् **अस्य** एतस्य अग्नेः विदुषः स्नातकस्य **शोचिः** दीप्तिम्, प्रभावम् **अनु वाति** अनुसरति । अथ प्रत्यक्षकृतमाह- **अध** तदनन्तरम्, हे अग्ने विद्वन् स्नातक! **ते** तव **व्रजनम्** गमनम्, व्यापारः इति यावत् **कृष्णम् अस्ति** आकर्षकं जायते ।।२।।[1]

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ।।२।।

भावार्थः– कृतसमावर्तनसंस्कारो विद्वान् स्नातको गुरुकुलाद् बहिरागम्य समाजे विद्यायाः सच्चारित्र्यस्य च प्रसारं कुर्यात् ।।२।।

अगले मन्त्र में विद्वान् का विषय है ।

पदार्थ– **अश्वः न** घोड़ा जैसे **यदा** जब **महः संवरणात्** विशाल घुड़साल से **व्यस्थात्** छूटता है, तब **अविष्यन्** खाना चाहता हुआ **यवसे** घास पाने के हेतु **प्रोथत्** हिनहिनाता है, वैसे ही जो अग्नि अर्थात् विद्वान् स्नातक **यदा** जब **संवरणात्** गुरुकुल के नियन्त्रण से **व्यस्थात्** छूटता है तब **यवसे** मानव-समाज में **प्रोथत्** पूर्णता लाता है । **आत्** उसके अनन्तर **वातः** समाज का वातावरण **अस्य** इस विद्वान् स्नातक की **शोचिः** दीप्ति के अर्थात् प्रभाव के **अनु वाति** पीछे-पीछे चलता है । आगे प्रत्यक्ष रूप में कहते हैं– **अध** उसके बाद, हे विद्वान् स्नातक! **ते** तेरा **व्रजनम्** चलना-फिरना आदि व्यापार **कृष्णम् अस्ति** आकर्षक हो जाता है ।।२।।

यहां श्लिष्टोपमालंकार है ।।२।।

भावार्थ– जिसका समावर्तन संस्कार हो चुका है ऐसा विद्वान् स्नातक गुरुकुल से बाहर आकर समाज में विद्या और सच्चरित्र का प्रसार करे ।।२।।

अथ पुनरपि विद्वद्विषयमाह ।

१२ २र ३ १ २ ३ २ड ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१२२१. उद्यस्य ते नवजातस्य वृष्णोऽग्ने चरन्त्यजरा इधानाः ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
अच्छा द्यामरुषो धूम एषि सं दूतो अग्न ईयसे हि देवान् ।।३।।[2]

२ १ २र ३ १२र १२र ३ १ २र १ २र १२र ३ १ २ ३ १ २र ३ २
उत् यस्य ते नवजातस्य नव जातस्य वृष्णः अग्ने चरन्ति अजराः अ जराः इधानाः ।

१ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १२र ३ २
अच्छ द्याम् अरुषः धूमः एषि । सम् दूतः अग्ने ईयसे हि देवान् ।।३।।

पदार्थः– हे **अग्ने** अग्रनेतः विद्वन् ! **यस्य** नवजातस्य नवस्नातकस्य, **वृष्णः** विद्यासुखादिवर्षकस्य **ते** तव **अजराः** अजीर्णाः, **इधानाः** जाज्वल्यमाना दीप्तयः **उत् चरन्ति** उद्गच्छन्ति, सः **अरुषः** आरोचमानः **धूमः** अविद्याभ्रष्टाचारादीनां प्रकम्पकः त्वम् । [धूनोति कम्पयतीति धूमः । धूञ् कम्पने, इत्यस्माद् 'इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक्' उ० १।१४५ इति मक् प्रत्ययः।] **द्याम् अच्छ** विद्यादिप्रकाशम् अभिलक्ष्य **एषि** गच्छसि, कार्यं करोषि । हे **अग्ने** विद्वन् ! **दूतः** दूत इवाचरन् त्वम् **देवान्** प्रजाजनान् **सम् ईयसे हि** संगच्छसे खलु ।।३।।[3]

---

१. इममपि मन्त्रमृग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्विद्युद्विषये व्याख्यातवान् । तथा च तत्कृतो भावार्थः– 'यदा मनुष्या अग्नियानेन गमनं तडिता समाचारांश्च गृहणीयुस्तदैते सद्यः कार्याणि साद्धुं शक्नुवन्ति' इति ।

२. ऋ० ७।३।३, 'एषि' इत्यत्र' एति'।

३. एतमपि मन्त्रमृग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्विद्युत्पक्षे व्याचष्टे ।

भावार्थः— नवस्नातको गुरुकुलाद् बहिर्गत्वा स्वकीयं तेजःप्रभावं विस्तार्याज्ञानकदाचारादीन् प्रकम्य जनसमाजमुन्नयेत् ॥३॥

अगले मन्त्र में फिर विद्वान् का ही विषय है ।

पदार्थ— हे **अग्ने** अग्रनायक विद्वन्! **यस्य** जिस **नवजातस्य** नवस्नातक, **वृष्णः** विद्या, सुख आदि की वर्षा करने वाले **ते** आपकी **अजराः** नष्ट न होने वाली, **इधानाः** जाज्वल्यमान दीप्तियां **उत् चरन्ति** उठती हैं, **सः** वह **अरुषः** तेजस्वी, **धूमः** अविद्या, भ्रष्टाचार दुःख आदि को कंपा देने वाले आप **द्याम् अच्छ** विद्या आदि के प्रकाश को लक्ष्य करके **एषि** कर्म करते हो । हे **अग्ने** विद्वन्! **दूतः** दूत के समान आचरण करने वाले आप **देवान्** प्रजाजनों से **सम् ईयसे हि** मिलते- जुलते हो ॥३॥

भावार्थ— नवस्नातक गुरुकुल से बाहर जाकर अपने तेज के प्रभाव को फैलाकर, अज्ञान, दुराचार आदि को कंपा कर जन-समाज को उन्नत करे ॥३॥

॥१०॥ अथ 'तमिन्द्रं' इत्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सुकक्ष आङ्गिरसः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ११९ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता । अत्र जीवात्मविषय उच्यते।

१२२२. **तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे । स वृषा वृषभो भुवत् ॥१॥**[1]

तम् इन्द्रम् वाजयामसि । महे वृत्राय हन्तवे । सः वृषा वृषभः भुवत् ॥१॥

पदार्थः— **महे** महते, **वृत्राय** विघ्नविद्रोहोपद्रवपापादिरूपाय शत्रवे । [द्वितीयार्थे चतुर्थी।] **हन्तवे** हन्तुम् **तम्** स्वदेहेऽधिष्ठातृत्वेन विद्यमानम् **इन्द्रम्** रिपुविदारकं जीवात्मानम् **वाजयामसि** बलिनं कुर्मः। **वृषा** बलवान् **सः** असौ जीवात्मा **वृषभः** सुखसम्पद्वर्षकः **भुवत्** भवतु ॥१॥

भावार्थः— स्वकीयमन्तरात्मानमुत्साह्य सर्वेऽपि बाह्या आभ्यन्तराश्च शत्रवो जेतुं शक्यन्ते ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ११९ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में की जा चुकी है । यहां जीवात्मा का विषय कहते हैं।

पदार्थ— **महे** बड़े **वृत्राय** विघ्न, विद्रोह, उपद्रव, पाप आदि रूप शत्रु का **हन्तवे** वध करने के लिए **तम्** अपने शरीर में अधिष्ठाता रूप से विद्यमान उस **इन्द्रम्** शत्रुविदारक जीवात्मा को, हम **वाजयामसि** बलवान् करते हैं। **वृषा** बलवान् **सः** वह जीवात्मा **वृषभः** सुख-सम्पदा की वर्षा करने वाला **भुवत्** होवे ॥१॥

भावार्थ—अपने अन्तरात्मा को उत्साहित करके सभी बाह्य और आन्तरिक शत्रु जीते जा सकते हैं॥१॥

अथ परमात्मजीवात्मनृपतिविषय उच्यते ।

१२२३. **इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स बले हितः।**
द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः॥२॥[2]

इन्द्रः सः दामने कृतः। ओजिष्ठः सः बले हितः। द्युम्नी श्लोकी सः सोम्यः॥२॥

---

१. ऋ० ८।९३।७, अथ० २०।४७।१, १३७।१२ । साम० ११९, ऋषिः श्रुतकक्षः ।

२. ऋ० ८।९३।८, अथ० २०।४७।२, १३७।१३। सर्वत्र 'बले' इत्यत्र 'मदे' इति पाठः ॥

पदार्थः— **सः इन्द्रः** असौ परमेश्वरो जीवात्मा नृपतिर्वा **दामने** दानाय । [ददातेः 'सर्वधातुभ्यो मनिन् उ० ४।१४६ इत्यनेन मनिन्।] **कृतः** प्रेरितो भवतु । **ओजिष्ठः** ओजस्वितमः **सः** असौ, **बले** बले प्राप्तव्ये **हितः** अस्माकं हितकरो भवतु। **सः** असौ **द्युम्नी** तेजस्वी, **श्लोकी**[1] यशस्वी, **सोम्यः** शान्तिसम्पादकश्च अस्ति भवतु वा। [सोमाय शान्त्यै साधुः सोम्यः]॥२॥

भावार्थः— परमेश्वरं प्रार्थयित्वा, जीवात्मानमुत्साह्य, राजानं चोद्बोध्य वयं लब्धदाना बलिनस्तेजस्विनो यशस्विनः शान्तियुक्ताश्च भवेम ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, जीवात्मा और राजा का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ—सः इन्द्रः वह परमेश्वर, जीवात्मा वा राजा **दामने** दान के लिए **कृतः** प्रेरित हो । **ओजिष्ठः** अत्यधिक ओजस्वी **सः** वह **बले** बलप्राप्ति के निमित्त **हितः** हमारा हितकारी हो । **सः** वह **द्युम्नी** तेजस्वी, **श्लोकी** यशस्वी, और **सोम्यः** शान्तिसम्पादक हो ॥२॥

भावार्थ— परमेश्वर से प्रार्थना करके, जीवात्मा को उत्साहित करके और राजा को उद्बोधन देकर हम प्राप्त दान वाले, बली, तेजस्वी, यशस्वी तथा शान्तिमान् होवें ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

१२२४. गिरा वज्रो न सम्भृतः सबलो अनपच्युतः । ववक्ष उग्रो अस्तृतः ॥३॥[2]

गिरा वज्रः न सम्भृतः सभ् भृतः । सबलः स बलः अनपच्युतः अन् अपच्युतः ।
ववक्षे उग्रः अस्तृतः अ स्तृतः ॥३॥

पदार्थः— **गिरा** निर्घोषेण **वज्रः न** कुलिशः इव **गिरा** वेदवाचा प्रभावशालिन्या वा वाचा **सम्भृतः** संयुक्तः **सबलः** बलवान्, **अनपच्युतः** अविचलितः, **उग्रः** प्रचण्डः, **अस्तृतः** अहिंसितः इन्द्रः परमेश्वरो जीवात्मा नृपतिर्वा **ववक्षे** जगद्भारं देहभारं राष्ट्रभारं वा वहति । [वह प्रापणे, लडर्थे लिटि छान्दसः सुगागमः] ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— यस्य वाचां प्रभावो वज्रनिर्घोषवद् भवति स बलिनां बली, दुष्टेषु प्रचण्डः, केनाप्यजय्यः, परेषां पराजेता परमेश्वरो जीवात्मा राजा च योऽस्ति तं सहायं प्राप्य सर्वे जीवनसङ्ग्रामे विजयिनो जायन्ताम्॥३॥

अस्मिन् खण्डे पुरोहितस्य, विदुषः स्नातकस्य, परमात्मजीवात्मनृपतीनां च विषयस्य वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

अगले मन्त्र में फिर उसी विषय में कहा गया है ।

---

१. श्लोकी श्लोकः स्तुतिः तद्वान्- इति सा० । श्लोकैर्मन्त्रैर्योऽतिशयो गीयते स श्लोकी—इति वि० ।

२. ऋ० ८।९३।९, अथ० २०।४७।३, १३७।१४ । सर्वत्र 'उग्रो' इत्यत्र 'ऋष्वो' इति पाठः ।

पदार्थ– **गिरा** निर्घोष से **वज्रः न** जैसे विद्युद्वज्र संयुक्त होता है, वैसे ही **गिरा** वेदवाणी वा प्रभावशालिनी वाणी से **सम्भृतः** संयुक्त, **सबलः** बलवान् **अनपच्युतः** अविचलित, **उग्रः** प्रचण्ड, **अस्तृतः** अहिंसित इन्द्र अर्थात् परमेश्वर, जीवात्मा वा राजा **ववक्षे** जगत् के भार को, शरीर के भार को वा राष्ट्र के भार को वहन करता है ॥३॥

यहां उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ– जिसकी वाणियों का प्रभाव वज्रनिर्घोष के समान होता है वह बलियों में बली, दुष्टों के प्रति प्रचण्ड, किसी से जीता न जा सकने वाला, शत्रुओं को जीतने वाला जो परमेश्वर, जीवात्मा और राजा है उसे सहायक पाकर सब लोग जीवन-संग्राम में विजयी होवें ॥३॥

इस खण्ड में पुरोहित, विद्वान् स्नातक तथा परमात्मा, जीवात्मा और राजा का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

नवम अध्याय में षष्ठ खण्ड समाप्त ।

॥११॥ अथ 'अध्वर्यो' इत्यादिकस्यैकादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** उचथ्य आङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४९९ क्रमाङ्के ज्ञानयज्ञविषये व्याख्याता । अत्रोपासनायज्ञविषयो वर्ण्यते ।

१२२५. अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आ नय । पुनाहीन्द्राय पातवे ॥१॥[1]

अध्वर्यो अद्रिभिः अ द्रिभिः सुतम् । सोमम् पवित्रे आ नय ।

पुनाहि इन्द्राय पातवे ॥१॥

पदार्थः– हे **अध्वर्यो** उपासनायज्ञस्य सञ्चालक उपासक! त्वम् **अद्रिभिः** ध्यानरूपैः पेषणपाषाणैः **सुतम्** अभिषुतम् **सोमम्** भक्तिरसम् **पवित्रे** परिपूते हृदये **आनय** आहर । किञ्च, **इन्द्राय पातवे** परमात्मनः पानाय तम् **पुनाहि** पुनीहि, पवित्रय ॥१॥[2]

भावार्थः– छलच्छिद्राडम्बरादिरहितेन पवित्रेणैव भक्तिरसेन परमेश्वरस्तृप्यति ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ४९९ क्रमांक पर ज्ञान-यज्ञ के विषय में की गयी थी । यहां उपासना-यज्ञ का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ– हे **अध्वर्यो** उपासना-यज्ञ के सञ्चालक उपासक! तू **अद्रिभिः** ध्यानरूप सिलबट्टों से **सुतम्** अभिषुत किये गये **सोमम्** भक्तिरस को **पवित्रे** पवित्र हृदय में **आनय** ला, और **इन्द्राय पातवे** परमात्मा के पान के लिए, उसे **पुनीहि** पवित्र कर ॥१॥

भावार्थ– छल, छिद्र, आडम्बर आदि से रहित पवित्र भक्तिरस से ही परमेश्वर तृप्त होता है ॥१॥

---

१. ऋ० ९।५१।१, 'आ सृज । पुनीहीन्द्राय' इति पाठः । य० २०।३१ 'आ नय । पुनीहीन्द्राय' इति पाठः। साम० ४९९ ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिमन्त्रमिमं सोमौषधिविषये व्याख्यातवान् ।

अथानन्दरसविषयमाह ।

१२२६. तव त्य इन्दो अन्धसो देवा मधोर्व्यांशत । पवमानस्य मरुतः ॥२॥[1]

तव त्ये इन्दो अन्धसः । देवाः मधोः वि आशत । पवमानस्य मरुतः ॥२॥

पदार्थः— हे **इन्दो** आनन्दरसेन क्लेदक परमात्मन्! **तव** त्वदीयस्य **मधोः** मधुरस्य, **पवमानस्य** पवित्रीकुर्वाणस्य **अन्धसः** आनन्दरसस्य । [द्वितीयार्थे षष्ठी।] **त्ये** ते **मरुतः** प्रशस्तप्राणाः **देवाः** दिव्यगुणा विद्वांसः **व्याशत** व्यश्नुवते, उपयुञ्जते । [विपूर्वः अशू व्याप्तौ, लडर्थे लुङि प्रथमपुरुषस्य बहुवचने रूपम्]॥२॥

भावार्थः— प्राणायामादिना योगाभ्यासेन दग्धसकलकल्मषा विद्वांस एव जना ब्रह्मानन्दरसस्याधिकारिणो जायन्ते ॥२॥

अगले मन्त्र में आनन्द-रस का विषय है ।

पदार्थ— हे **इन्दो** आनन्द-रस से भिगोने वाले परमात्मन्! **तव** आपके **मधोः** मधुर, **पवमानस्य** पवित्र करने वाले **अन्धसः** आनन्द-रस का **त्ये** वे **मरुतः** प्रशस्त प्राण वाले **देवाः** दिव्यगुणी विद्वान् लोग **व्याशत** उपभोग करते हैं॥२॥

भावार्थ— प्राणायाम आदि योगाभ्यास से जिन्होंने अपने सब दोषों को जला डाला है ऐसे विद्वान् जन ही ब्रह्मानन्द-रस के अधिकारी होते हैं॥२॥

अथ पुनरप्यानन्दरसविषय उच्यते ।

१२२७. दिवः पीयूषमुत्तमं सोममिन्द्राय वज्रिणे । सुनोता मधुमत्तमम् ॥३॥[2]

दिवः पीयूषम् । उत्तमम् । सोमम् इन्द्राय वज्रिणे । सुनोत मधुमत्तमम् ॥३॥

पदार्थः— हे उपासकाः! यूयम् **दिवः** द्युतिमतः परमात्मनः सकाशात् **पीयूषम्** अमृतरूपम्, **उत्तमम्** सर्वोत्कृष्टम्, **मधुमत्तमम्** अतिशयेन मधुरम् **सोमम्** आनन्दरसम् **वज्रिणे इन्द्राय** वीराय जीवात्मने। [वीर्यं वै वज्रः। श० ७।३।१।१९।] **सुनोत** सुनुत । [तप्तनप्तनथनाश्च । अ० ७।१।४५ इति तस्य तबादेशः, पित्वात् ङित्वाभावेन गुणनिषेधो न] ॥३॥

भावार्थः— अमृतरूपस्य मधुरमधुरस्य ब्रह्मानन्दस्य महिमानं ज्ञात्वा कस्तं नाकाङ्क्षेत् ॥३॥

अगले मन्त्र में फिर ब्रह्मानन्द-रस का विषय है ।

पदार्थ— हे उपासको! तुम **दिवः** प्रकाशमान परमात्मा के पास से **पीयूषम्** अमृतरूप, **उत्तमम्** सर्वोत्कृष्ट, **मधुमत्तमम्** अतिशय मधुर **सोमम्** आनन्द-रस को **वज्रिणे इन्द्राय** वीर जीवात्मा के लिए **सुनोत** अभिषुत करो ॥३॥

भावार्थ— अमृतरूप, अत्यन्त मधुर ब्रह्मानन्द की महिमा जानकर भला कौन उसकी आकांक्षा नहीं करेगा ?॥३॥

---

१. ऋ० ९।५१।३, 'मधोर्व्यश्नते' इति पाठः ।
२. ऋ० ९।५१।२ ।

॥१२॥ अथ 'धर्ता दिवः' इत्यादिकस्य द्वादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** कविर्भार्गवः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** जगती । **स्वरः** निषादः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५५८ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र पुनरपि स एव विषयः प्रदर्श्यते ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१२२८. धर्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो दक्षो देवानामनुमाद्यो नृभिः ।
१ २ ३ २उ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २
हरिः सृजानो अत्यो न सत्वभिर्वृथा पाजांसि कृणुषे नदीष्वा ॥१॥[1]

३ २ ३ २ ३ १ २र १ २र १ २र ३ १. २ ३ १ २ ३ १ २र १ २र
धर्ता दिवः पवते कृत्व्यः रसः । दक्षः देवानाम् अनुमाद्यः अनु माद्यः नृभिः ।
१ २र ३ २ १ २र १ २र १ २र ३ १ २
हरिः सृजानः अत्यः न सत्वभिः । वृथा पाजांसि कृणुषे नदीषु आ ॥१॥

पदार्थः— **दिवः** कर्तव्याकर्तव्यप्रकाशस्य **धर्ता** दाता, **कृत्व्यः** कर्मपरायणः, **रसः** रसवान्, **देवानाम्** प्रकाशकानां सूर्यचन्द्रवह्निविद्युन्नक्षत्रादीनाम् **दक्षः** बलप्रदः, **नृभिः** मनुष्यैः **अनुमाद्यः** आराधनीयः सोमः परमेश्वरः **पवते** सर्वं जडचेतनात्मकं जगत् पुनाति । अथ प्रत्यक्षकृतमाह- **हरिः** सूर्यकिरणैः समुद्रस्थजलानां हर्ता त्वम् हे परमात्मन् ! **सत्वभिः** स्वकीयैः बलैः **सृजानः** मेघेभ्यो वृष्टिं विसृजन् **नदीषु** सरित्सु **वृथा** अनायासम् **पाजांसि** बलानि वेगान् वा । [पाजः इति बलनाम । निघं० २।९। पा धातोः 'पातेर्बले जुट् च । उ० ४।२०४' इत्यनेन बलेऽर्थे असुन् प्रत्ययो जुडागमश्च ।] **कृणुषे** करोषि, उत्पादयसि, **सृजानः अत्यः न** सृज्यमानः अश्वो यथा रथादौ वेगान् करोति तद्वत् ॥१॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— जडचेतनात्मके जगति यत्किञ्चिद् बलवेगविवेकप्रकाशादिकं विद्यते तत्सर्वं परमात्मजनितमेव ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ५५८ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में की जा चुकी है । यहां पुनः उसी विषय को दर्शाते हैं ।

पदार्थ— दिवः कर्तव्य-अकर्तव्य के प्रकाश का **धर्ता** दाता, **कृत्व्यः** कर्मपरायण, **रसः** रसीला, **देवानाम्** प्रकाशक सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत्, नक्षत्र आदियों को **दक्षः** बल देने वाला, **नृभिः** मनुष्यों से **अनुमाद्यः** आराधनीय सोम परमेश्वर **पवते** सब जड़-चेतन-रूप जगत् को पवित्र करता है । आगे प्रत्यक्षवत् वर्णन है- **हरिः** समुद्र में स्थित जलों को सूर्यकिरणों द्वारा हरकर आकाश में ले जाने वाले आप, हे परमात्मन्! **सत्वभिः** अपने बलों द्वारा **सृजानः** बादलों से वर्षा करते हुए **नदीषु** नदियों में **वृथा** अनायास ही **पाजांसि** वेगों को **कृणुषे** उत्पन्न करते हो, **सृजानः अत्यः न** जैसे जोड़ा जाता हुआ घोड़ा रथ आदि में वेगों को उत्पन्न करता है ॥१॥

यहां श्लिष्टोपमा अलंकार है ॥१॥

---

१. ऋ० ९।७६।१, 'कृणुषे' इत्यत्र 'कृणुते' । साम० ५५८ ।

भावार्थ— जड़-चेतन-रूप जगत् में जो कुछ भी बल, वेग, विवेक, प्रकाश आदि है वह सब परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ है ।।१।।

अथ परमात्मकृत्यानि वर्णयति ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ र २ र
१२२९. **शूरो न धत्त आयुधा गभस्त्योः स्वा३ः सिषासन् रथिरा गविष्टिषु ।**
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रस्य शुष्ममीरयन्नपस्युभिरिन्दुर्हिन्वानो अज्यते मनीषिभिः ।।२।।[1]
१ २ र ३ १ २ र १ २ र १ २ १ २ र ३ २ १ २ र ३
शूरः न धत्ते आयुधा गभस्त्योः । स्वा३रिति सिषासन् रथिरः गविष्टिषु गो इष्टिषु ।
१ २ र १ २ र ३ १ २ ३ १ २ १ २ र ३ २ ३ १ २
इन्द्रस्य शुष्मम् ईरयन् अपस्युभिः इन्दुः हिन्वानः अज्यते मनीषिभिः ।।२।।

पदार्थः— स सोमः परमेश्वर **गभस्त्योः** द्यावापृथिवीरूपयोः हस्तयोः **आयुधा**[2] आयुधानि उदकानि । [आयुधानि इत्युदकनामसु पठितम् । निघं० १।१२] **धत्ते** धारयति । कथमिव? **शूरः न** वीरो यथा **गभस्त्योः** हस्तयोः **आयुधा** आयुधानि शस्त्रास्त्राणि **धत्ते** धारयति । [गभस्ती इति बाहुनामसु पठितम् निघं० २।४।] **रथिरः** रथारूढः सेनापतिरिव **गविष्टिषु** देवासुरसंग्रामेषु । [शत्रुभिरपहृतानां गवाम् इष्टिः प्राप्तिर्यासु ता गविष्टयः सङ्ग्रामाः।] **स्वः** विजयसुखम् **सिषासन्** दित्सन्, **इन्द्रस्य** जीवात्मनः **शुष्मम्** बलम् **ईरयन्** उन्नयन्, **हिन्वानः** वृद्धिं प्रयच्छन् । [हि गतौ वृद्धौ च, आत्मनेपदं छान्दसम् ।] **इन्दुः** तेजस्वी परमेश्वरः **अपस्युभिः** कर्मप्रियैः । [अपांसि कर्माणि आत्मनः कामयन्ते इति अपस्युवः तैः । अपः इति कर्मनाम । निघं० २।१।] **मनीषिभिः** मेधाविभिः स्तोतृजनैः **अज्यते** अन्तरात्मनि प्रकटीक्रियते । [अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु, कर्मणि रूपम्]।।२।।

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः, 'रथिरः' इत्यत्र च लुप्तोपमा ।।२।।

भावार्थः— प्रकाशप्रदाता वृष्टिप्रदाता विजयप्रदाता बलप्रदाता वृद्धिप्रदाता च परमेश्वरः कस्य न वन्दनीयः? ।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा के कृत्य वर्णित हैं ।

पदार्थ— वह सोम परमेश्वर **गभस्त्योः** आकाश व भूमि रूप हाथों में **आयुधा** जलों को **धत्ते** धारण करता है, **शूरः न** जैसे शूरवीर मनुष्य **गभस्त्योः** हाथों में **आयुधा** शस्त्रास्त्रों को **धत्ते** धारण करता है । **रथिरः** रथारोही सेनापति के समान **गविष्टिषु** देवासुरसंग्रामों में **स्वः** विजय-सुख को **सिषासन्** देना चाहता हुआ, **इन्द्रस्य** जीवात्मा के **शुष्मम्** बल को **ईरयन्** उन्नत करता हुआ, **हिन्वानः** वृद्धि प्रदान करता हुआ **इन्दुः** तेजस्वी परमेश्वर **अपस्युभिः** कर्मप्रिय, **मनीषिभिः** बुद्धिमान् स्तोताओं द्वारा **अज्यते** अन्तरात्मा में प्रकट किया जाता है।।२।।

यहां श्लिष्टोपमा अलंकार है, 'रथिरः' में लुप्तोपमा है ।।२।।

---

१. ऋ० ९।७६।२ ।

२. असि-परशु-पाशप्रभृतीनि यथा शूरः धारयति तद्वत् सोमः धारयति स्रुक्-स्रुव-ग्रह-चमसान्यायुधानि गभस्त्योः— इति वि० ।

भावार्थ— प्रकाशप्रदाता, वृष्टिप्रदाता, विजयप्रदाता, बलप्रदाता और वृद्धिप्रदाता परमेश्वर भला किसका वन्दनीय नहीं है?॥२॥

अथ परमेश्वरः प्रार्थ्यते ।

१२३०. इन्द्रस्य सोम पवमान ऊर्मिणा तविष्यमाणो जठरेष्वा विश ।
प्र नः पिन्व विद्युदभ्रेव रोदसी धिया नो वाजाँ उप माहि शश्वतः ॥३॥[1]

इन्द्रस्य सोम पवमानः ऊर्मिणा । तविष्यमाणः जठरेषु आ विश ।
प्र नः पिन्व विद्युत् वि द्युत् अभ्रा इव रोदसीइति ।
धिया नः वाजान् उप माहि शश्वतः ॥३॥

पदार्थः— हे **सोम** रसागार परमात्मन्! **ऊर्मिणा** आनन्दतरङ्गेण **पवमानः** प्रवहन् **तविष्यमाणः**[2] वर्द्धयिष्यमाणः त्वम् **इन्द्रस्य** जीवात्मनः **जठरेषु** अभ्यन्तरम् **आविश** प्रविश । त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **रोदसी** द्यावापृथिव्यौ इव वाग्बुद्धी **प्र पिन्व** प्रधुक्ष्व, तयोर्लाभान् प्रापयेत्यर्थः । कथमिव? **विद्युत् अभ्रा इव** तडित् अभ्राणि यथा दोग्धि तद्वत् । **धिया** बुद्ध्या कर्मणा च **नः** अस्मभ्यम् **शश्वतः** बहून् । [शश्वदिति बहुनामधेयम् । निघं० ३।१ ।] **वाजान्** बलविज्ञानैश्वर्यादीन् **उपमाहि** उपहर । [माङ् माने शब्दे च, अदादिः]॥३॥

भावार्थः— उपासनारूपेण कर्तव्यपालनेन प्रीतः परमेश्वरो जीवात्मानमानन्दतरङ्गेषु स्नपयित्वा कृतार्थं करोति सर्वविधां च सम्पदमुपहरति ॥३॥

अब परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे **सोम** रस के भण्डार परमात्मन्! **ऊर्मिणा** आनन्द-तरंग के साथ **पवमानः** प्रवाहित होते हुए, **तविष्यमाणः** वृद्धि करना चाहते हुए, आप **इन्द्रस्य** जीवात्मा के **जठरेषु** अन्दर **आविश** प्रवेश करो । आप **नः** हमारे लिए **रोदसी** द्यावापृथिवी के तुल्य वाणी और बुद्धि को **प्रपिन्व** दुहो, अर्थात् उनसे होने वाले लाभ प्राप्त कराओ, **विद्युत् अभ्रा इव** बिजली जैसे बादलों को दुहती है । **धिया** बुद्धि और कर्म से **नः** हमारे लिए **शश्वतः** बहुत से **वाजान्** बल, विज्ञान, ऐश्वर्य आदि का **उपमाहि** उपहार दो ॥३॥

भावार्थ— उपासनारूप कर्तव्यपालन से प्रसन्न हुआ परमेश्वर जीवात्मा को आनन्द की तरंगों में स्नान कराकर कृतार्थ करता है और सब प्रकार की सम्पदा उपहार में देता है ॥३॥

॥१३॥ अथ 'यदिन्द्र' इत्यादिकस्य त्रयोदशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** देवातिथिः काण्वः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

---

१. ऋ० ९।७६।३, 'नः' इत्यत्र 'णः' । 'धिया न वाजाँ उप मासि शश्वतः' इति च तुरीयः पादः।

२. तविष्यमाणः वर्द्धिष्यमाणः— इति सा० । स्तूयमानः-इति वि० ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २७९ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र परमात्मनृपत्योरुभयोर्विषय उच्यते ।

१२३१ . यदिन्द्र प्रागपागुदङ् न्यग्वा हूयसे नृभिः ।
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्ध तुर्वशे ॥१॥[1]

यत् इन्द्र प्राक् अपाक् अप अक् उदक् उत् अक् । न्यक् नि अक् वा हूयसे नृभिः ।
सिम पुरु नृषूतः नृ सूतः असि आनवे । असि प्रशर्ध प्र शर्ध तुर्वशे ॥१॥

पदार्थः— **यत्** यस्मात्, हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् शत्रुविदारक परमात्मन् राजन् वा! त्वम् **प्राक्** पूर्वस्यां दिशि, **अपाक्** पश्चिमायां दिशि, **उदक्** उत्तरस्यां दिशि **न्यक् वा** दक्षिणस्यां दिशि च **नृभिः** पुरुषार्थिभिः जनैः **हूयसे** भक्तिप्रदानेन करादिप्रदानेन वा सत्क्रियसे, तत् तस्मात् **नृषूतः** नृभिः उपासकैर्जनैः प्रजाजनैर्वा सूतः प्रेरितः त्वम् **सिमा** सर्वत्र **पुरु** बहु **आनवे** अनवः मनुष्याः तेषां समूहः आनवः तस्मिन् मानवसमाजे **असि** उपकर्ता भवसि । हे **प्रशर्ध** प्रकर्षेण शत्रून् धर्षयितः परमात्मन् राजन् वा! त्वम् **तुर्वशे** तुर्वन्ति हिंसन्तीति तुरः तेषां वशङ्करे वीरजने **असि** सहायको भवसि ॥१॥

भावार्थः— यथा जगदीश्वरः सर्वेषां धार्मिकाणां जनानां सहायको रक्षकश्च जायते तथैव नृपतेरिदं कर्त्तव्यं यत् स सर्वेषां राज्याधिकारिणां प्रजाजनानां च सहायको रक्षकश्च भवेत् ॥१॥

अत्र सायणाचार्यस्य ''आनवे अनुर्नाम राजा तस्य पुत्रे राजर्षौ, तुर्वशे एतत्संज्ञके राजनि'' इति व्याख्यानं न संगच्छते कल्पनाप्रसूतत्वाद् योगार्थशैलीविरुद्धत्वाच्च ॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में २७९ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में की जा चुकी है । यहां परमात्मा वा राजा दोनों का विषय कहा जा रहा है।

पदार्थ— **यत्** क्योंकि, हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् शत्रुविदारक परमात्मन् वा राजन् । आप **प्राक्** पूर्व दिशा में, **अपाक्** पश्चिम दिशा में, **उदक्** उत्तर दिशा में, **न्यक् वा** और दक्षिण दिशा में **नृभिः** पुरुषार्थी जनों से **हूयसे** भक्ति-प्रदान द्वारा वा करादि-प्रदान द्वारा सत्कार किये जाते हो, इसलिए **नृषूतः** उपासक जनों से वा प्रजाजनों से प्रेरित आप **सिमा** सर्वत्र **पुरु** बहुत अधिक **आनवे** मानव-समाज में **असि** उपकारक होते हो । हे **प्रशर्ध** प्रकृष्ट रूप से शत्रुओं का धर्षण करने वाले परमात्मन् वा राजन्! आप **तुर्वशे** हिंसकों को वश में करने वाले वीर मनुष्य के **असि** सहायक होते हो ॥१॥

भावार्थ— जैसे जगदीश्वर सब धार्मिक जनों का सहायक और रक्षक होता है, वैसे ही राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह सब राज्याधिकारियों का तथा प्रजाजनों का सहायक और रक्षक होवे ॥१॥

सायणाचार्य ने इस मन्त्र की व्याख्या में लिखा है कि अनु नाम का एक राजा था, जिसका राजर्षि पुत्र आनव है और तुर्वश भी एक राजा का नाम है । यह उसकी व्याख्या काल्पनिक होने से तथा योगार्थशैली के विरुद्ध होने के कारण संगत नहीं है ॥

---

१. ऋ० ८।४।१, अथ० २०।१२०।१, साम० २७९ ।

अथ पुनः परमात्मनृपत्योर्विषयमाह ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१२३२. यद्वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
कण्वासस्त्वा स्तोमेभिर्ब्रह्मवाहस इन्द्रा यच्छन्त्या गहि ॥२॥[1]

२ ३ १ २र १ २र १ २र १ २र १ २र ३ १ २ १ २र
यत् वा रुमे रुशमे श्यावके कृपे । इन्द्र मादयसे सचा ।

१ २र ३ १ २र १ २र १ २र ३ १ २र ३ २ ३
कण्वासः त्वा स्तोमेभिः ब्रह्मवाहसः ब्रह्म वाहसः । इन्द्र आ यच्छन्ति आ गहि ॥२॥

पदार्थः— **यद् वा** अपि च, हे **इन्द्र** परमैश्वर्य परमात्मन् वीर राजन् वा! त्वम् **रुमे** स्तोतरि उपदेशके वा, **रुशमे** हिंसकानां हिंसके, **श्यावके** कर्मयोगिने, **कृपे** दीनदयालौ समर्थे च जने **सचा** सहैव **मादयसे** तृप्तिं प्रयच्छसि । [मद तृप्तियोगे, चुरादिः ।] हे **इन्द्र** परमात्मन् राजन् वा! **ब्रह्मवाहसः** स्तुतिवाहकाः ज्ञानवाहकाः वा **कण्वासः** मेधाविनो जनाः **स्तोमेभिः** स्तोत्रैः उद्बोधनगीतैर्वा **त्वा** त्वाम् **आ यच्छन्ति** वशे कुर्वन्ति, त्वम् **आ गहि** अस्मत्सकाशम् आगच्छ ।

रुमे यो रौति शब्दायते स्तौति स रुमः । रु शब्दे, अदादिः । **रुशमे**[2] रुशन्तीति रुशाः हिंसकाः, यो रुशान् हिंसकान् मिनोति हिनस्ति स रुशमः । रुश हिंसायाम्, तुदादिः । मिनोतिर्हन्तिकर्मा । निघं० २।१९ । **श्यावके** यः श्यायते कर्मण्यो भवति स श्यावः । श्यैङ् गतौ, भ्वादिः । तस्मादौणादिको वन् प्रत्ययः । श्यावः एव श्यावकः । **कृपे** यः कल्पते समर्थो भवति स कृपः । कृपू सामर्थ्ये, भ्वादिः ॥२॥

भावार्थः— परमेश्वरो नृपतिश्च तेषामेव सहायकौ जायेते ये योगाभ्यासिनः परोपदेष्टारः कर्मशूरा दीनेषु कृपायमाणाः शक्तिमन्तश्च भवन्ति ॥२॥

सायणाचार्येणाऽत्र रुप-रुशम-श्यावक-कृप नामकाश्चत्वारो नृपाः, कण्वासः इत्यनेन च कण्वगोत्रा ऋषयः स्वीकृताः । तदसमञ्जसं, सृष्ट्यादौ प्रादुर्भूतेषु वेदेषु परवर्तिनामैतिहासिकपुरुषाणामुल्लेखासंभवात् ॥

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा और राजा का विषय कहा गया है ।

पदार्थ— **यद् वा** और, हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली परमात्मन् वा वीर राजन्! आप **रुमे** स्तोता वा उपदेशक को, **रुशमे** हिंसकों के हिंसक को, **श्यावके** कर्मयोगी को, और **कृपे** दीनों पर दयालु वा समर्थ मनुष्य को **सचा** एक साथ ही **मादयसे** तृप्ति प्रदान करते हो । हे **इन्द्र** परमात्मन् वा राजन्! **ब्रह्मवाहसः** स्तुति करने वाले वा ज्ञान देने वाले **कण्वासः** मेधावी जन **स्तोमेभिः** स्तोत्रों से वा उद्बोधन-गीतों से **त्वा** आपको **आ यच्छन्ति** वश में कर लेते हैं। आप **आगहि** हमारे पास आओ ॥२॥

भावार्थ— परमेश्वर और राजा उन्हीं के सहायक होते हैं जो योगाभ्यासी, दूसरों को उपदेश देने वाले, कर्मशूर, दीनों पर दयालु और शक्तिशाली होते हैं॥२॥

---

१. ऋ० ८।४।२, अथ० २०।१२०।२, उभयत्र 'कण्वासस्त्वा ब्रह्मभिः स्तोमवाहस' इति तृतीयः पादः ।

२. (रुशमाः) ये रुशान् हिंसकान् मिन्वन्ति ते । इति ऋ० ५।३०।१२ भाष्ये द० ।

सायणाचार्य ने इस मन्त्र की व्याख्या में रुम, रुशम, श्यावक और कृप नामक चार राजा स्वीकार किये हैं और 'कण्वासः' से कण्वगोत्री ऋषि लिए हैं। वह असंगत है, क्योंकि सृष्टि के आदि में प्रकट हुए वेदों में परवर्ती ऐतिहासिक पुरुषों का उल्लेख नहीं हो सकता ।।

।।१४।। अथ 'उभयं शृणवच्च' इत्यादिकस्य चतुर्दशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भर्गः प्रागाथः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २९० क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता । अत्राचार्यविषय उच्यते ।

१२३३. उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः ।
सत्राच्या मघवान्त्सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत् ।।१।।[1]

उभयम् शृणवत् च नः । इन्द्रः अर्वाक् इदम् वचः ।
सत्राच्या सत्रा च्या मघवान् सोमपीतये सोम पीतये । धिया शविष्ठः आ गमत् ।।१।।

पदार्थः— **इन्द्रः** विद्यैश्वर्यवान् आचार्यः **नः अर्वाक्** अस्मदभिमुखं भूत्वा **इदम्** एतद् अस्माभिः श्राव्यमाणम् **उभयं वचः** पद्यात्मकं गद्यात्मकं चोभयविधम् अध्यापितं शास्त्रवचनसमूहम् **शृणवत्** शृणुयात् । [शृणोतेर्लेटि रूपम्] । **मघवान्** विद्यादानवान्, **शविष्ठः** विद्यया चरित्रेण च बलवत्तमः स आचार्यः **सत्राच्या** सत्या- नुगामिन्या **धिया** बुद्ध्या क्रियया च **सोमपीतये** अस्माकं ज्ञानरसपानाय ब्रह्मानन्दरसपानाय च **आ गमत्** अस्मान् आगच्छेत् ।।१।।

भावार्थः— गुरुभिः प्रेम्णा छात्रा अध्यापनीयाः प्रत्यहमध्यापितश्च पाठ आगामिदिवसे श्रोतव्यो येन छात्रैः स स्मृतो न वेति परीक्षा स्यात् । ते शिक्षितानां योगाङ्गानामपि समये समये परीक्षां कुर्युर्येन छात्राः समाधौ ब्रह्मानन्दप्राप्तियोग्या भवेयुः ।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में २९० क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में की गयी थी । यहां आचार्य का विषय कहा जाता है ।

पदार्थ— **इन्द्रः** विद्या के ऐश्वर्य से युक्त आचार्य **नः अर्वाक्** हमारे अभिमुख होकर **इदम्** इस हमसे सुनाए जाते हुए **उभयं वचः** पद्यात्मक और गद्यात्मक दोनों प्रकार के पढ़ाए हुए शास्त्र-वचनों को **शृणवत्** सुने। **मघवान्** विद्यादान देने वाला, **शविष्ठः** विद्या और चरित्र से बलवान् वह आचार्य **सत्राच्या** सत्य का अनुसरण करने वाली **धिया** बुद्धि वा क्रिया से **सोमपीतये** हमें ज्ञानरस वा ब्रह्मानन्दरस पिलाने के लिए **आगमत्** हमारे पास आये ।।१।।

भावार्थ— गुरुओं को चाहिए कि प्रेम से छात्रों को पढ़ायें और प्रतिदिन पढ़ाये हुए पाठ को अगले दिन सुनें, जिससे इसकी परीक्षा हो सके कि छात्रों ने वह पाठ याद कर लिया या नहीं । सिखाये हुए योगाङ्गों की भी समय-समय पर परीक्षा लें, जिससे छात्र समाधि में ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के योग्य हो सकें ।।१।।

---

१. ऋ० ८।६१।१, अथ० २०।११३।१, उभयत्र 'मघवा सोमपीतये' इति पाठः। साम० २९० ।

अथ पुनरप्याचार्यो वर्ण्यते ।

१२३४. तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसा धिषणे निष्टतक्षतुः ।
उतोपमानां प्रथमो नि षीदसि सोमकामं हि ते मनः ॥२॥[1]

तम् हि स्वराजम् स्व राजम् वृषभम् तम् ओजसा ।
धिषणेइति निष्टतक्षतुः निः ततक्षतुः ।
उत उपमानाम् उप मानाम् प्रथमः नि सीदसि ।
सोमकामम् सोम कामम् हि ते मनः ॥२॥

पदार्थः— **तं हि स्वराजम्** तं खलु विद्यायाः सूर्यम् आचार्यम्, **तं वृषभम्** तं विद्यावर्षकम् आचार्यम् **धिषणे** विद्या वाक् च । [विद्या वै धिषणा तै० सं० ५।१।७।२, धिषणा वाग्, धिषेर्दधात्यर्थे, धीसादिनीति वा धीसानिनीति वा। निरु० ८।३।] **ओजसा** तेजसा **निष्टतक्षतुः** संस्कृतवत्यौ । [निरित्येष समित्येतस्य स्थाने । निरु० १२।७।] अथ प्रत्यक्षकृतमाह— **उत** अपि च, हे आचार्यवर! त्वम् **उपमानाम्** उपमानानां मध्ये **प्रथमः** श्रेष्ठः सन् **निषीदसि** निषण्णोऽसि । **ते मनः** तव मानसम् **सोमकामं हि** ज्ञानरसप्रदानेच्छुकं किल विद्यते ॥२॥

भावार्थः— स एवाचार्यः श्रेष्ठो यस्य विद्यावैभवं वाग्वैभवं चोभयमप्युत्कृष्टम् ॥२॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मन आचार्यस्योपासनायज्ञस्यानन्दरसस्य प्रसङ्गतो नृपतेश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ॥

अगले मन्त्र में पुनः आचार्य का विषय है ।

पदार्थ— **तं हि स्वराजम्** विद्या के सूर्य उस आचार्य को, **तं वृषभम्** विद्या के वर्षक उस आचार्य को **धिषणे** विद्या तथा वाणी ने **निष्टतक्षतुः** संस्कृत किया हुआ है । अब प्रत्यक्षरूप में कहते हैं— **उत** और , हे आचार्यवर ! आप **उपमानाम्** उपमानों के मध्य **प्रथमः** श्रेष्ठ होकर **निषीदसि** स्थित हो । **ते मनः** आपका मन **सोमकामं हि** ज्ञानरस के प्रदान का इच्छुक है ॥२॥

भावार्थ— वही आचार्य श्रेष्ठ है, जिसका विद्या-वैभव और वाणी-वैभव दोनों ही उत्कृष्ट हों ॥२॥

इस खण्ड में परमात्मा, आचार्य, उपासनायज्ञ, आनन्दरस और प्रसंगतः राजा का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ॥

नवम अध्याय में सप्तम खण्ड समाप्त

॥१५॥ अथ 'पवस्व देव' इत्यादिकस्य पञ्चदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** निध्रुविः काश्यपः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

---

१. ऋ० ८।६१।२, अथ० २०।११३।२, उभयत्र 'तमोजसे' इति भेदः ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४८३ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्रापि प्रकारान्तरेण स एव विषयो निरूप्यते ।।

१ २ ३ १ २ ३ १ र २ र ३ १ २ ३ १ र २ र ३ १ २
१२३५. पवस्व देव आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः । वायुमा रोह धर्मणा ।।१।।[1]

१ २ र ३ २ ३ २ ३ २ १ २ र ३ १ २ र
पवस्व देवः आयुषक् आयु सक् । इन्द्रम् गच्छतु ते मदः ।
३ २ ३ १ २ र
वायुम् आ रोह धर्मणा ।।१।।

पदार्थः— हे सोम! हे रसमय परमात्मन्! **देवः** मोददायकः त्वम् **आयुषक्** सम्पूर्णे आयुनि[2] अनुषक्तं यथा स्यात्तथा, सर्वदा इत्यर्थः **पवस्व** आनन्दरसं प्रवाहय । **ते** तव **मदः** आनन्दः **इन्द्रम्** जीवात्मानम् **गच्छतु** प्राप्नोतु । त्वम् **धर्मणा** स्वकीयगुणकर्मस्वभावेन सह **वायुम्** अस्माकं गतिशीलं मनः **आ रोह** आरूढो भव, मनसि स्वप्रभावं वितनु इति भावः ।।१।।

भावार्थः— परमेश्वरोपासकानामात्ममनोबुद्ध्यादिकं परमानन्दप्रवाहेण परिप्लुतं जायते ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४८३ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्यात की गयी थी । यहां भी प्रकारान्तर से उसी विषय का निरूपण किया जा रहा है ।

पदार्थ— हे सोम ! हे रसमय परमात्मन्! **देवः** आनन्ददायक आप **आयुषक्** आयु भर **पवस्व** आनन्द-रस को प्रवाहित करते रहो । **ते** आपका **मदः** आनन्द **इन्द्रम्** जीवात्मा को **गच्छतु** प्राप्त हो । आप **धर्मणा** अपने गुण-कर्म-स्वभाव के साथ **वायुम्** हमारे गतिशील मन पर **आरोह** सवार हो जाओ, अभिप्राय यह है कि मन को अपने प्रभाव से प्रभावित करो ।।१।।

भावार्थ— परमेश्वर के उपासकों के आत्मा, मन, बुद्धि आदि परम आनन्द के प्रवाह से परिप्लुत हो जाते हैं।।१।।

अथ पुनरपि परमात्मविषयमाह ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ र २ र
१२३६. पवमान नि तोशसे रयिं सोम श्रवाय्यम् । इन्दो समुद्रमा विश ।।२।।[3]

१ २ र ३ २ ३ १ २ १ २ र ३ २ ३ २ ३
पवमान नि तोशसे । रयिम् सोम श्रवाय्यम् । इन्दो समुद्रम् सम् उद्रम् आ विश ।।२।।

पदार्थः— हे **पवमान** पवित्रताप्रदायक **सोम** रसागार परमात्मन् ! त्वम् **श्रवाय्यम्** कीर्तिजनकम् । [श्रावयतीति श्रवाय्यः । श्रुदक्षिस्पृहिगृहिभ्य आय्यः' । उ० ३।९६ इत्यनेन शृणोतेः आय्य प्रत्ययः।] **रयिम्** आध्यात्मिकं भौतिकं चैश्वर्यम् **नितोशसे**[4] प्रयच्छसि । हे **इन्दो** उपासकानां चन्द्रवदाह्लादक परमेश! त्वम् **समुद्रम्** जीवात्मरूपं समुद्रम् **आ विश** प्रविश ।।२।।

---

१. ऋ० ९।६३।२२ 'देवायुषगिन्द्रं' इति पाठः । साम० ४८३ ।

२. आयुशब्दो नपुंसकलिङ्ग आयुर्वाचको वेदे प्रयुक्तः, यथा 'वत्सं न पूर्व आयुनि जातं रिहन्ति मातरः' साम० ५५० ।

३. ऋ० ९।६३।२३, 'इन्दो' इत्यत्र 'प्रियः' इति पाठः।

४. तोशसे, तुश दाने, ददासि – इति वि०। रयिं शत्रूणां धनं नितोशसे अतितरां पीडयसि-इति सा० । निघण्टौ नितोशते इति वधकर्मसु पठितम् (निघं० २।१९) ।

भावार्थः— यथा चन्द्रः स्वाकर्षणेन समुद्रजलमुन्नयति तथा परमेश्वरश्चुम्बकीयेन स्वाकर्षणेन जीवात्मानमुन्नयति ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा का विषय है ।

पदार्थ— हे **पवमान** पवित्रतादायक **सोम** रसागार परमात्मन्! आप **श्रवाय्यम्** कीर्ति उत्पन्न करने वाले **रयिम्** आध्यात्मिक तथा भौतिक ऐश्वर्य को **नितोशसे** देते हो । हे **इन्दो** उपासकों को चन्द्रमा के समान आह्लाद देने वाले परमेश! आप **समुद्रम्** जीवात्मा-रूप समुद्र में **आविश** प्रवेश करो ॥२॥

भावार्थः— जैसे चन्द्रमा अपने आकर्षण से समुद्र के जल को ऊपर उठाता है, वैसे परमेश्वर अपने चुम्बकीय आकर्षण से जीवात्मा को उन्नत करता है ॥२॥

तृतीया ऋक् पूर्वार्चिके ४९२ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र युगपत् परमात्माचार्ययोरुभयोर्विषय उच्यते ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३१र २र ३ १ २
१२३७. **अपघ्नन् पवसे मृधः क्रतुवित्सोम मत्सरः । नुदस्वादेवयुं जनम् ॥३॥**[1]

३ २ ३ २ ३ १ २र ३ २ ३ २ ३ २
अपघ्नन् अप घ्नन् पवसे मृधः । क्रतुवित् क्रतु वित् सोम मत्सरः ।

३१ २ १२र ३ १२र
नुदस्व अदेवयुम् अ देवयुम् जनम् ॥३॥

पदार्थः— हे **सोम** आनन्दरसागार परमात्मन् विद्यारसागार आचार्य वा! **क्रतुवित्** क्रतूनां विज्ञानानां कर्मणां च लम्भकः, **मत्सरः** आनन्दप्रदः त्वम् **मृधः** हिंसावृत्तीः **अपघ्नन्** विनाशयन् **पवसे** जनानां विद्यार्थिनां वा अन्तःकरणं पुनासि। त्वम् **अदेवयुम्** अदेवकामम्, दिव्यगुणप्राप्त्यनिच्छुकम् **जनम्** मनुष्यं विद्यार्थिनं वा **नुदस्व** तत्प्राप्त्यर्थं प्रेरय ॥३॥

भावार्थः— यथा परमेश्वरो वेदद्वारेण दिव्यगुणप्राप्तिं सन्दिश्य योगाभ्यासिभ्यो ब्रह्मानन्दं प्रदाय तान् कृतार्थान् करोति तथैव आचार्यश्छात्रान् क्रियात्मकज्ञानसहिता आध्यात्मिकीर्भौतिकीश्च विविधा विद्याः शिक्षयित्वा तेषु दिव्यगुणांश्चोत्पाद्य तान् सुयोग्यान् कुर्यात् ॥३॥

तृतीय ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ४९२ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में की जा चुकी है । यहां एक साथ परमात्मा और आचार्य दोनों का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ— हे **सोम** आनन्दरस के भण्डार परमात्मन् वा विद्यारस के भण्डार आचार्य! **क्रतुवित्** विज्ञानों और कर्मों को प्राप्त कराने वाले, **मत्सरः** आनन्ददाता आप **मृधः** हिंसावृत्तियों को **अपघ्नन्** विनष्ट करते हुए **पवसे** मनुष्यों वा विद्यार्थियों के अन्तःकरण को पवित्र करते हो । आप **अदेवयुम्** दिव्यगुणों को प्राप्त न करना चाहने वाले **जनम्** मनुष्य को वा विद्यार्थी को **नुदस्व** उनकी प्राप्ति के लिए प्रेरित करो ॥३॥

भावार्थ— जैसे परमेश्वर वेद द्वारा दिव्य गुणों की प्राप्ति का सन्देश देकर योगाभ्यासियों को ब्रह्मानन्द प्रदान करके कृतार्थ करता है वैसे ही आचार्य छात्रों को क्रियात्मक ज्ञान सहित आध्यात्मिक एवं भौतिक विविध विद्याएं सिखाकर उनमें दिव्य गुण उत्पन्न करके उन्हें सुयोग्य बनाए ॥३॥

॥१६॥ अथ 'अभी नो' इत्यादिकस्य षोडशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अम्बरीषो वार्षागिरः ऋजिश्वा भारद्वाजश्च । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ॥

---

१. ऋ० ९।६३।२४, साम० ४९२ ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५४९ क्रमाङ्के परमात्मानं सम्बोधिता । अत्र परमात्मा नृपतिराचार्यश्च प्रार्थ्यते ।

१२३८. अभी नो वाजसातमं रयिमर्ष शतस्पृहम् ।
इन्दो सहस्रभर्णसं तुविद्युम्नं विभासहम् ॥१॥[1]

अभि नः वाजसातमम् वाज सातमम् । रयिम् अर्ष शतस्पृहम् शत स्पृहम् ।
इन्दो सहस्रभर्णसम् सहस्र भर्णसम् ।
तुविद्युम्नम् तुवि द्युम्नम् विभासहम् विभा सहम् ॥१॥

पदार्थः— हे **इन्दो** आनन्दरसेन विद्यारसेन च क्लेदक तेजस्विन् परमात्मन् नृपते आचार्य वा! त्वम् **वाजसातमम्** अतिशयेन बलस्य प्रदातारम्, **शतस्पृहम्** अनेकशतैर्जनैः स्पृहणीयम्, **सहस्रभर्णसम्** सहस्रगुणानां धारयितारम् यद्वा सहस्रजनानां पोषयितारम्, **तुविद्युम्नम्** बहुयशस्करम्, **विभासहम्** शत्रुतेजसः अभिभवितारम् **रयिम्** अध्यात्मं धनं सुवर्णादिधनं विद्याधनं वा **नः** अस्मान् उपासकान् प्रजाजनान् छात्रान् वा **अभि अर्ष** प्रापय॥१॥

भावार्थः— परमेश्वराद् ब्रह्मानन्दधनं नृपतेर्हिरण्यादिधनमाचार्याच्च विद्याधनं प्राप्यैवोपासकाः प्रजाजना विद्यार्थिनश्च कृतकृत्या जायन्ते ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ५४९ क्रमांक पर परमात्मा को सम्बोधित की गयी थी । यहां पर परमात्मा, राजा और आचार्य से प्रार्थना है ।

पदार्थ— हे **इन्दो** आनन्दरस तथा विद्यारस से भिगोने वाले तेजस्वी परमात्मन्, राजन् वा आचार्य! आप **वाजसातमम्** अतिशय बल के प्रदाता, **शतस्पृहम्** सैंकड़ों मनुष्यों से चाहने योग्य, **सहस्रभर्णसम्** सहस्रों गुणों को धारण कराने वाले अथवा सहस्रों जनों के पोषक, **तुविद्युम्नम्** बहुत यश देने वाले, **विभासहम्** शत्रुओं के तेज को अभिभूत करने वाले **रयिम्** आध्यात्मिक धन को, सुवर्ण आदि धन को वा विद्याधन को **नः** हम उपासकों, प्रजाजनों वा छात्रों को **अभि अर्ष** प्राप्त कराओ ॥१॥

भावार्थ— परमेश्वर से ब्रह्मानन्द का धन, राजा से सुवर्ण आदि धन और आचार्य से विद्याधन प्राप्त करके ही उपासक, प्रजाजन और विद्यार्थी कृतकृत्य होते हैं॥१॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१२३९. वयं ते अस्य राधसो वसोर्वसो पुरुस्पृहः ।
नि नेदिष्ठतमा इषः स्याम सुम्ने ते अध्रिगो ॥२॥[2]

वयम् ते अस्य राधसः । वसोः वसो पुरुस्पृहः पुरु स्पृहः । नि नेदिष्ठतमाः इषः ।
स्याम सुम्ने ते अध्रिगो अध्रि गो ॥२॥

---

१. ऋ० ९।९८।१, 'अभी, शतस्पृहम्, विभासहम्' इत्यत्र क्रमेण 'अभि, पुरुस्पृहम्, विभ्वासहम्' इति पाठः । साम० ५४९ ।

२. ऋ० ९।९८।५, 'वयं ते अस्य वृत्रहन् वसो वस्वःपुरुस्पृहः । नि नेदिष्ठतमा इषः स्याम सुम्नस्याध्रिगो ॥ इति पाठः ।

पदार्थः— हे **वसो** वासयितः परमात्मन् नृपते आचार्य वा! **वयम्** प्रार्थिनः **ते** तव **अस्य** एतस्य **वसोः** निवासकस्य, **पुरुस्पृहः** अतिशयस्पृहणीयस्य, **इषः** अभीष्टस्य **राधसः** आध्यात्मिकस्य ऐश्वर्यस्य, सुवर्णादिधनस्य, विद्याधनस्य वा **नि** नितराम् **नेदिष्ठतमाः** निकटतमाः **स्याम** भवेम। अपि च, हे **अद्रिगो** अधृतगमन परमात्मन् नृपते आचार्य वा! । [अद्रिगो अधृतगमन । निरु० ५।११।] वयम् **ते** तव, त्वया प्रदत्ते **सुम्ने** सुखे **स्याम** भवेम॥२॥

भावार्थः— परमात्मनः सकाशादाध्यात्मिकं धनम्, नृपतेः सकाशाद् भौतिकं धनम्, आचार्यसकाशाच्च विद्याधनं प्राप्य सर्वे सुखिनो भवितुमर्हन्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर वही विषय है ।

पदार्थ— हे **वसो** निवास देने वाले परमात्मन्, राजन् वा आचार्य! **वयम्** हम प्रार्थी लोग **ते** आपके **अस्य** इस **वसोः** निवासक, **पुरुस्पृहः** अतिशय चाहने योग्य,**इषः** अभीष्ट **राधसः** आध्यात्मिक ऐश्वर्य, सुवर्ण आदि ऐश्वर्य वा विद्याधन के **नि** अत्यधिक **नेदिष्ठतमाः** निकटतम **स्याम** होवें । और, हे **अद्रिगो** बेरोक गति वाले परमात्मन्, राजन् वा आचार्य! हम **ते** आपके अर्थात् आपसे दिये हुए **सुम्ने** सुख में **स्याम** होवें ॥२॥

भावार्थ— परमात्मा से आध्यात्मिक धन, राजा से भौतिक धन और आचार्य से विद्या-धन पाकर सब लोगों को सुखी होना योग्य है ॥२॥

अथानन्दरसस्य ज्ञानरसस्य च विषयमाह ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३२ ३ १२
१२४०. **परि स्य स्वानो अक्षरदिन्दुरव्ये मदच्युतः ।**
२ ३ २ ३ १ २ ३२ ३ १२ २२ ३ २
धारा य ऊर्ध्वो अध्वरे भ्राजा न याति गव्ययुः ॥३॥[1]

१ २२ ३ २ ३ १ २२ १ २२ १२२ १२२ ३ १ २२ ३ ३ ३ २
परि स्यः स्वानः अक्षरत् । इन्दुः अव्ये मदच्युतः मद च्युतः । धारा यः ऊर्ध्वः अध्वरे ।
३ २ १ २२ ३ २
भ्राजा न याति गव्ययुः ॥३॥

पदार्थः— **स्यः** सः **स्वानः** अभिषूयमाणः, **मदच्युतः** मदाय उत्साहाय च्युतः निःसृतः **इन्दुः** क्लेदकः ब्रह्मानन्दरसो ज्ञानरसो वा **अव्ये** अव्यये अविनाशिनि जीवात्मनि **परि अक्षरत्** परमात्मनः सकाशादाचार्यस्य सकाशाद् वा परिक्षरति, **यः ऊर्ध्वः** उत्कृष्टः आनन्दरसो ज्ञानरसो वा **गव्ययुः** प्रकाशप्रदानकामः इव सन् **अध्वरे** उपासनायज्ञे विद्यायज्ञे वा **भ्राजा धारा न** दीप्तया धारया इव **याति** गच्छति, प्रवहति ॥३॥

अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— परमेश्वरोपासनायज्ञेन परमानन्दरसं विद्यायज्ञेन च ज्ञानरसं प्राप्य जना दिव्यं प्रकाशमधिगम्य कृतार्था भवन्तु ॥३॥

अगले मन्त्र में ब्रह्मानन्द-रस वा ज्ञान-रस का विषय है ।

पदार्थ— **स्यः** वह **स्वानः** अभिषुत किया जाता हुआ, **मदच्युतः** उत्साह देने के लिए निकला हुआ **इन्दुः** भिगोने वाला आनन्द-रस वा ज्ञानरस **अव्ये** अव्यय अर्थात् अविनश्वर जीवात्मा में **परि अक्षरत्** परमात्मा के

---

१. ऋ० ९।९८।३, 'परि ष्य सुवानो अक्षा इन्दुरव्ये मदच्युतः' इति पूर्वार्द्धः । उत्तरार्द्धे 'न याति' इत्यत्र 'नैति' ।

पास से वा आचार्य के पास से क्षरित हुआ है, **यः** जो **ऊर्ध्वः** उत्कृष्ट आनन्द-रस वा ज्ञान-रस **गव्ययुः** प्रकाश देने का इच्छुक-सा होकर **अध्वरे** उपासना-यज्ञ वा विद्या-यज्ञ में **भ्राजा धारा न** मानो प्रदीप्त धारा के साथ **याति** प्रवाहित हो रहा है ॥३॥

यहां उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥३॥

भावार्थ— परमेश्वरोपासना-यज्ञ से परमानन्द-रस को और विद्या-यज्ञ से ज्ञान-रस को प्राप्त करके लोग दिव्य प्रकाश पाकर कृतार्थ होवें ॥३॥

॥१७॥ अथ 'पवस्व' इत्यादिकस्य सप्तदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** द्विपदा विराट् पङ्क्तिः । **स्वरः** पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४२९ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता । अत्र पुनः परमात्मविषय उच्यते ।

१२४१ . पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम ॥१॥[1]

पवस्व सोम महान् समुद्रः सम् उद्रः । पिता देवानाम् विश्वा अभि धाम ॥१॥

पदार्थः— हे **सोम** आनन्दरसागार परमात्मन्! त्वम् **महान् समुद्रः** महान् मेघोऽसि, **देवानाम्** दिव्यगुणानाम् **पिता** जनकः पालकश्चासि । त्वम् **विश्वा धाम अभि** सर्वाणि हृदयधामानि अभिलक्ष्य **पवस्व** वर्ष॥१॥

अत्र सोमे परमात्मनि मेघत्वारोपाद् रूपकालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— यथा मेघो भूमौ वर्षित्वा वनस्पत्यादीन्युत्पादयति तथा परमेश्वर आनन्दवृष्ट्या दिव्यगुणान् प्रसूते ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४२९ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां पर फिर परमात्मा का विषय कहते हैं ।

पदार्थ— हे **सोम** आनन्दरस के भण्डार परमात्मन्! आप **महान् समुद्रः** विशाल बादल हो, **देवानाम्** दिव्यगुणों के **पिता** उत्पादक और पालक हो । आप **विश्वा धाम अभि** सब हृदय-धामों को लक्ष्य करके **पवस्व** बरसो ॥१॥

यहां सोम परमात्मा में मेघत्व (समुद्रत्व) का आरोप होने से रूपक अलंकार है ॥१॥

भावार्थ— जैसे बादल भूमि पर बरस कर वनस्पति आदि को उत्पन्न करता है वैसे ही परमेश्वर आनन्दवर्षा करके दिव्यगुणों को सृजता है ॥१॥

अथ परमात्मानं प्रार्थयते ।

१२४२ . शुक्रः पवस्व देवेभ्यः सोम दिवे पृथिव्यै शं च प्रजाभ्यः ॥२॥[2]

शुक्रः पवस्व देवेभ्यः सोम । दिवे पृथिव्यै शम् च प्रजाभ्यः प्र जाभ्यः ॥२॥

---

१. ऋ० ९।१०९।४, साम० ४२९ ।

२. ऋ० ९।१०९।५, 'प्रजाभ्यः' इत्यत्र 'प्रजायै' इति पाठः ।

पदार्थः— हे **सोम** जगत्स्रष्टः परमात्मन्! **शुक्रः** तेजस्वी पवित्रश्च त्वम् । [शोचतिः ज्वलतिकर्मा । निघं० १।१६, शुचिर् पूतीभावे, दिवादिः । शोचति दीप्यते शुच्यति पवित्रो भवतीति वा शुक्रः। 'ऋज्रेन्द्राग्र०' उ० २।२९ इति रन्प्रत्ययान्तो निपातः ।] **देवेभ्यः** दिव्यगुणयुक्तेभ्यो जनेभ्यः **पवस्व** तेजः पवित्रतां च प्रवाहय। **दिवे** सूर्याय, **पृथिव्यै** भूलोकाय, **प्रजाभ्यः** प्रजाजनेभ्यश्च **शम्** कल्याणकरो भव ॥२॥

भावार्थः— यथाशक्ति परमात्मगुणान् स्वात्मनि धारयित्वा वयं तेजः पवित्रतां शान्तिं च प्राप्तुं शक्नुमः॥२॥

अब परमात्मा से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे **सोम** जगत्स्रष्टा परमात्मन्! **शुक्रः** तेजस्वी और पवित्र आप **देवेभ्यः** दिव्य गुणों से युक्त जनों के लिए **पवस्व** तेज और पवित्रता को प्रवाहित करो । **दिवे** सूर्य के लिए, **पृथिव्यै** भूलोक के लिए, और **प्रजाभ्यः** प्रजाजनों के लिए **शम्** कल्याणकारी होवो ॥२॥

भावार्थ— यथाशक्ति परमात्मा के गुणों को अपने आत्मा में धारण करके हम तेज, पवित्रता और शान्ति प्राप्त कर सकते हैं॥२॥

अथ पुनरपि परमात्मविषयमाह ।

१२४३. दिवो धर्तासि शुक्रः पीयूषः सत्ये विधर्मन् वाजी पवस्व ॥३॥[1]

दिवः धर्ता असि शुक्रः पीयूषः । सत्ये विधर्मन् वि धर्मन् वाजी पवस्व ॥३॥

पदार्थः— हे सोम जगत्स्रष्टः परमेश! त्वम् **दिवः** खगोले विद्यमानानां लोकलोकान्तराणाम् **धर्ता** धारयिता, **शुक्रः** तेजस्वी पवित्रश्च, **पीयूषः** आनन्दरसमयश्च **असि** विद्यसे । **वाजी** बलवान् त्वम् **विधर्मन्** विशिष्टधर्मयुक्ते **सत्ये** सत्यचरित्रे मयि **पवस्व** प्रवहस्व ॥३॥

भावार्थः— तेजस्वी पवित्र आनन्दी च परमेश्वरः स्वोपासकानपि तेजस्विनः पवित्रानानन्दिनश्च करोति॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मनो नृपतेराचार्यस्य ज्ञानस्यानन्दरसस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति॥

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा का विषय है ।

पदार्थ— हे सोम अर्थात् जगत् के स्रष्टा परमात्मन् ! आप **दिवः** खगोल में विद्यमान लोकलोकान्तरों के **धर्ता** धारण करने वाले, **शुक्रः** तेजस्वी एवं पवित्र और **पीयूषः** आनन्दरसमय **असि** हो । **वाजी** बलवान् आप **विधर्मन्** विशेष धर्मों से युक्त **सत्ये** मुझ सत्य चरित्र वाले उपासक के अन्दर **पवस्व** बहो ॥३॥

भावार्थ— तेजस्वी, पवित्र और आनन्दवान् परमेश्वर अपने उपासकों को भी तेजस्वी, पवित्र और आनन्दयुक्त कर देता है ॥३॥

इस खण्ड में परमात्मा, राजा, आचार्य, ज्ञानरस और आनन्दरस का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

नवम अध्याय में अष्टम खण्ड समाप्त ।

---

१. ऋ० ९।१०९।६ ।

।।१८।। अथ 'प्रेष्ठं वो' इत्यादिकस्याष्टादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** उशना काव्यः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५ क्रमाङ्के परमात्मस्तुतिविषये व्याख्याता । अत्र परमात्मनृपत्योरुभयोर्विषय उच्यते ।

१२४४. प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम् । अग्ने रथं न वेद्यम् ।।१।।[1]

प्रेष्ठम् वः अतिथिम् । स्तुषे मित्रम् मि त्रम् इव प्रियम् । अग्ने रथम् न वेद्यम् ।।१।।

पदार्थः— हे **अग्ने** जगन्नायक परमात्मन् राष्ट्रनायक राजन् वा! **प्रेष्ठम्** प्रियतमम्, **अतिथिम्** अतिथिवत् सत्करणीयम्, **मित्रम् इव** सखायमिव **प्रियम्** प्रीणयितारम्, **रथं न** रथमिव **वेद्यम्** प्राप्तव्यम् **वः** त्वाम्, अहम् **स्तुषे** स्तौमि, तव गुणान् वर्णयामीत्यर्थः ।।१।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः— यथा जनाः परमात्मानं पूजयेयुस्तथा राजानमपि सत्कुर्युः। यथा च परमात्मा जनान् प्रीणयति तथा राजापि प्रजाः प्रीणयेत् ।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ५ क्रमांक पर परमात्मा की स्तुति के विषय में की जा चुकी है। यहां परमात्मा और राजा दोनों का विषय दर्शाते हैं ।

पदार्थ— हे **अग्ने** जग के नेता परमात्मन् वा राष्ट्र के नेता राजन्! **प्रेष्ठम्** अतिशय प्रिय, **अतिथिम्** अतिथि के समान सत्कार-योग्य, **मित्रम् इव** मित्र के समान **प्रियम्** तृप्तिप्रदाता और **रथं न** रथ के समान **वेद्यम्** प्राप्तव्य **वः** आपकी, मैं **स्तुषे** स्तुति करता हूं अर्थात् आपके गुणों का वर्णन करता हूं ।।१।।

यहां उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ— जैसे लोग परमात्मा की पूजा करें वैसे ही राजा का भी सत्कार करें और जैसे परमात्मा लोगों को तृप्ति देता है वैसे ही राजा भी प्रजाओं को तृप्त करें ।।१।।

अथ पुनरपि परमात्मनृपती वर्ण्येते ।

१२४५. कविमिव प्रशंस्यं यं देवास इति द्विता । नि मर्त्येष्वादधुः ।।२।।[2]

कविम् इव प्रशंस्यम् प्र शंस्यम् । यम् देवासः इति द्विता ।

नि मर्त्येषु आदधुः आ दधुः ।।२।।

पदार्थः— कविम् इव काव्यकारमिव **प्रशंस्यम्** प्रशंसनीयम् **यम्** अग्निम् अग्रनायकं परमात्मानं राजानं वा **देवासः इति** दिव्यगुणाः योगप्रशिक्षका योगिनः पुरोहिताः वा **द्विता** पालनार्थं शत्रुभ्यस्त्राणार्थं चेति द्वाभ्यां प्रयोज-

---

१. ऋ० ८।८४।१, 'अग्ने' इत्यत्र 'अग्निं' इति । साम० ५ ।

२. ऋ० ८।८४।२, 'कविमिव प्रचेतसं यं देवासो अध द्विता' इति पाठः ।

नाभ्याम् **मर्त्येषु** योगाभ्यासिषु मनुष्येषु राष्ट्रवासिषु प्रजासु वा **नि आदधुः** योगविधिना अनुभावयन्ति राजत्वेन स्थापयन्ति वा, तमहं 'स्तुषे' इति पूर्वेण सम्बन्धः।।२।।

भावार्थः— यथा ब्रह्माण्डस्य सम्राट् परमेश्वरो जनान् पालयति तेषां शत्रूंश्च पराजयते तथैव राष्ट्रेऽपि स एव राजा भवितुं योग्यो यः प्रजाः पालयितुं शत्रूंश्च पराजेतुं शक्नोति ।।२।।

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा और राजा का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— **प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । **कविम् इव** कवि के समान **प्रशंस्यम्** प्रशंसनीय **यम्** जिस अग्नि अर्थात् अग्रनायक परमात्मा को **देवासः इति** दिव्य गुणों वाले योग-प्रशिक्षक योगी लोग **द्विता** पालनार्थ तथा शत्रुओं से रक्षार्थ इन दो प्रयोजनों के लिए **मर्त्येषु** योगाभ्यासी मनुष्यों में **नि आदधुः** योगविधि से अनुभव कराते हैं, उसकी मैं **स्तुषे** स्तुति करता हूं। [यहां 'स्तुषे' पद पूर्व मन्त्र से लाया गया है।]।।

द्वितीय राजा के पक्ष में । **कविम् इव** कवि के समान **प्रशंस्यम्** प्रशंसनीय **यम्** जिस अग्नि अर्थात् अग्रनायक राजा को **देवासः इति** दिव्य गुणों वाले पुरोहित लोग **द्विता** प्रजा के पालनार्थ तथा शत्रुओं से रक्षार्थ दोनों कर्मों के लिए **मर्त्येषु** प्रजाजनों के बीच **नि आदधुः** राजगद्दी पर स्थित करते हैं,उसकी मैं **स्तुषे** गुण-वर्णन-रूप स्तुति करता हूं ।।२।।

भावार्थ— जैसे ब्रह्माण्ड का सम्राट् परमेश्वर लोगों को पालता और उनके शत्रुओं को पराजित करता है, वैसे ही वही राष्ट्र में राजा होने योग्य है जो प्रजाओं की पालना तथा शत्रुओं का पराजय कर सकता हो।।२।।

अथ परमात्मानं नृपं च प्रार्थयते ।

१२४६. त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुही गिरः । रक्षा तोकमुत त्मना ।।३।।[1]

त्वम् यविष्ठ दाशुषः । नॄन् पाहि शृणुहि गिरः । रक्ष तोकम् उत त्मना ।।३।।

पदार्थः— **प्रथमः** परमात्मपक्षे । हे **यविष्ठ** युवतम, तद्वच्छक्तिसम्पन्न परमात्मन्! **त्वम् दाशुषः** आत्मसमर्पकान् **नॄन्** उपासकान् जनान् **पाहि** पालय, तेषाम् **गिरः** स्तुतिवाचः **शृणुहि** शृणु । [अत्र 'उतश्च प्रत्ययाच्छन्दो वा वचनम् । अ० ६।४।१०६ वा०' इत्यनेन छन्दसि हेर्लुको विकल्पविधानात् हेर्लुक् न, संहितायाम् 'अन्येषामपि दृश्यते । अ० ६।३।१३७' इति दीर्घः।] **उत** अपि च **त्मना** आत्मना **तोकम्** तेषां सद्विचाररूपं सन्तानम् **रक्ष** शत्रुभ्यः त्रायस्व । [संहितायां 'नॄँः पाहि' इत्यत्र 'नॄन् पे' अ० ८।३।१० इत्यनेन नकारस्य रुत्वम् । अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा अ० ८।३।२ इत्यनेन पूर्वस्यानुनासिकः] ।।

द्वितीयः नृपतिपक्षे । हे **यविष्ठ** अतिशयेन तरुण राजन् ! **त्वम् दाशुषः** विद्यादातॄन् धनदातॄन् वा **नॄन्** मनुष्यान् **पाहि** रक्ष, **गिरः** विदुषां वाचः **शृणुहि** शृणु, **उत** अपि च **त्मना** आत्मना **तोकम्** युद्धे मृतानां सैनिकानामपत्यम् **रक्ष** पालय ।।३।।[2]

भावार्थः— जगदीश्वरः स्वोपासकान् पालयति रक्षति च । तथैव नृपतिना द्वे कर्मणी अवश्यं कर्तव्ये, एकं विदुषां पालनं तदुपदेशश्रवणं च, द्वितीयं युद्धे हतानां सैनिकानामपत्यपत्न्यादिपालनञ्च ।।३।।

---

१. ऋ० ८।८४।३, य० १३।५२, १८।७७, सर्वत्र 'शृणुधी' इति पाठः ।

२. एतद् राजपरं व्याख्यानं य० १८।७७। इत्यस्य दयानन्दभाष्यमनुसरति । य० १३।५२ इत्यस्य भाष्ये मन्त्रोऽयं तेन महर्षिणा पशुभिर्नृणां रक्षाविषये व्याख्यातः ।

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ– **प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हे **यविष्ठ** सबसे अधिक युवा अर्थात् युवा के समान शक्तिसम्पन्न परमात्मन्! **त्वम्** आप **दाशुषः** आत्मसमर्पण करने वाले **नॄन्** उपासक जनों की **पाहि** पालना कीजिए, उनकी **गिरः** स्तुति-वाणियों को **शृणुहि** सुनिए, **उत** और **त्मना** अपने आप **तोकम्** उनकी सद्विचार-रूप सन्तान की **रक्ष** रक्षा कीजिए ।।

द्वितीय राजा के पक्ष में । हे **यविष्ठ** अतिशय युवक राजन्! **त्वम्** आप **दाशुषः** विद्या के दाता वा धन के दाता **नॄन्** पुरुषों की **पाहि** रक्षा कीजिए । **उत** और **त्मना** स्वयम् **तोकम्** युद्ध में मृत सैनिकों की सन्तान की **रक्ष** पालना कीजिए ।।३।।[1]

भावार्थ– जगदीश्वर अपने उपासकों को पालता है और उनकी रक्षा करता है । उसी प्रकार राजा को दो कर्म अवश्य करने चाहिए– एक विद्वानों का पालन और उनका उपदेश सुनना और दूसरा युद्ध में मारे गये सैनिकों के सन्तान, पत्नी आदि का पालन ।।३।।

।।१९।। अथ 'एन्द्र' इत्यादिकस्यैकोनविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** नृमेध आङ्गिरसः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** उष्णिक् । **स्वरः** ऋषभः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३९३ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र पुनरपि स एव विषयो वर्ण्यते।

१२४७. एन्द्र नो गधि प्रिय सत्राजिदगोह्य । गिरिर्न विश्वतः पृथुः पतिर्दिवः ।।१।।[2]

आ इन्द्र नः गधि प्रिय । सत्राजित् सत्रा जित् अगोह्य अ गोह्य ।
गिरिः न विश्वतः पृथुः पतिः दिवः ।।१।।

पदार्थः– हे **प्रिय** प्रीणयितः, **सत्राजित्** युगपत् सर्वान् शत्रून् जेतः ! [सत्रा सह जयतीति सत्राजित् ।] **अगोह्य** गोहितुमशक्य, सर्वत्र प्रकाशमान **इन्द्र** परमात्मन्! त्वम् **नः** अस्मान् **आ गधि** आगहि आगच्छ । त्वम् **गिरिः न** मेघ इव । [गिरिः इति मेघनाम । निघं० १।१० ।] **सर्वतः** विश्वतः **पृथुः** प्रख्यातः, अपि च **दिवः पतिः** द्योतमानस्य सूर्यस्य जीवात्मनो वा स्वामी असि ।।१।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः– यद्यपि परमेश्वरश्चर्मचक्षुषा न दृश्यते तथापि स सूर्यवत् सर्वत्र प्रकाशितस्तृप्तिप्रदायकः सर्वविजेता सुखादीनां वृष्टिकरणान्मेघवत् प्रसिद्धिं गतः सर्वस्य जडचेतनात्मकस्य जगतोऽधिपतिश्चास्ति ।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ३९३ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में की जा चुकी है । यहां फिर उसी विषय का वर्णन करते हैं।

---

१. यह राजापरक व्याख्या य० १८।७७ के दयानन्दभाष्य के अनुसार है ।

२. ऋ० ८।९८।४, अथ० २०।६४।१, उभयत्र 'प्रियः सत्राजिदगोह्यः' इति पाठः । साम० ३९३ ।

पदार्थ– हे **प्रिय** तृप्तिप्रदाता, **सत्राजित्** एक-साथ सब शत्रुओं को जीत लेने वाले, **अगोह्य** न छिपाये जा सकने योग्य अर्थात् सर्वत्र प्रकाशमान **इन्द्र** परमात्मन्! आप **गिरिः न** बादल के समान **सर्वतः** सब ओर **पृथुः** प्रख्यात् और **दिवः पतिः** तेजस्वी सूर्य के वा जीवात्मा के स्वामी हो ।।१।।

यहां उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ– यद्यपि परमेश्वर चर्मचक्षु से दिखाई नहीं देता तो भी वह सूर्य के समान सर्वत्र प्रकाशित, तृप्तिप्रदायक, सर्वविजेता, सुख आदि की वर्षा करने के कारण बादल के समान प्रसिद्धि-प्राप्त और सब जड़-चेतन जगत् का अधिपति है ।।१।।

अथ पुनरपि परमात्मविषयमाह ।

१२४८. अभि हि सत्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी ।
इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः ।।२।।[1]

अभि हि सत्य सोमपाः सोम पाः । उभेइति बभूथ रोदसीइति ।
इन्द्र असि सुन्वतः वृधः पतिः दिवः ।।२।।

पदार्थः– हे **सत्य** सत्यगुणकर्मस्वभाव, **सोमपाः** शान्तिरक्षक जगदीश्वर! त्वम् **हि** निश्चयेन **उभे रोदसी** उभे द्यावापृथिव्यौ **अभि बभूथ** तिरस्कृतवानसि । ['बभूविथ इति प्राप्ते 'बभूथाततन्थजगृम्भववर्थेति निगमे । अ० ७।२।६४, इतीट्प्रतिषेधो निपात्यते ।] हे **इन्द्र** सर्वान्तर्यामिन्! त्वम् **सुन्वतः** शान्तिस्थापनायज्ञं कुर्वतः **वृधः** वर्धयिता, **दिवः पतिः** तेजस्विनो जनस्य च रक्षकः **असि** विद्यसे ।।२।।

भावार्थः– जगति ये शान्तिस्थापनाय यतन्ते तेषामेव परमेश्वरः सखा भवति ।।२।।

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा का विषय है ।

पदार्थ– हे **सत्य** सत्य गुण-कर्म-स्वभाव वाले, **सोमपाः** शान्ति के रक्षक जगदीश्वर! आपने **हि** निश्चय ही **उभे रोदसी** द्यावापृथिवी दोनों को **अभिबभूथ** तिरस्कृत किया हुआ है । हे **इन्द्र** सर्वान्तर्यामिन्! आप **सुन्वतः** शान्ति-स्थापना का यज्ञ करने वाले को **वृधः** बढ़ाने वाले और **दिवः पतिः** तेजस्वी जन के रक्षक **असि** हो ।।२।।

भावार्थ–संसार में जो शान्ति की स्थापना के लिए यत्न करते हैं उन्हीं का परमेश्वर सखा होता है।।२।।

अथ परमेश्वरस्य नरेशस्य च वीरकर्माणि वर्ण्यन्ते ।

१२४९. त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र धर्ता पुरामसि। हन्ता दस्योर्मनोर्वृधः पतिर्दिवः।।३।।[2]

त्वम् हि शश्वतीनाम् । इन्द्र धर्ता पुराम् असि।
हन्ता दस्योः मनोः वृधः पतिः दिवः ।।३।।

---

१. ऋ० ८।९८।५, अथ० २०।६४।२ ।

२. ऋ० ८।९८।६, अथ० २०।६४।३ ।

पदार्थः– हे **इन्द्र** परमवीर जगदीश्वर राजन् वा! **त्वं हि** त्वं खलु **शश्वतीनाम्** बह्वीनाम् । [शश्वदिति बहुनाम । निघं० ३।१।] **पुराम्** शत्रुनगरीणाम् **धर्त्ता** भेत्ता, **दस्योः** हिंसकस्य शत्रोः **हन्ता** विनाशयिता, **मनोः** मननशीलस्य शान्तिप्रियस्य **वृधः** वर्धयिता, **दिवः** तेजस्विनः जनस्य च **पतिः** रक्षकः **असि** भवसि ।।३।।

भावार्थः–यथा जगदीश्वरो दुष्टानां भञ्जकः सज्जनानां च रक्षको भवति तथैव नृपतिनापि भाव्यम्।।३।।

अगले मन्त्र में परमेश्वर और राजा के वीरकर्मों का वर्णन करते हैं।

पदार्थ– हे **इन्द्र** परमवीर जगदीश्वर वा राजन् ! **त्वं हि** आप निश्चय ही **शश्वतीनाम्** बहुत सी **पुराम्** शत्रु-नगरियों के **धर्त्ता** भेदन करने वाले, **दस्योः** हिंसक शत्रु के **हन्ता** विनाशक, **मनोः** मननशील शान्तिप्रिय मनुष्य के **वृधः** बढ़ाने वाले और **दिवः** तेजस्वी जन के **पतिः** रक्षक **असि** हो ।।३।।

भावार्थ– जैसे जगदीश्वर दुष्टों का भञ्जक और सज्जनों का रक्षक होता है वैसे ही राजा को भी होना चाहिए ।।३।।

।।२०।। अथ 'पुरां भिन्दुर्' इत्यादिकस्य विंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** जेता माधुच्छन्दसः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३५९ क्रमाङ्के परमेश्वरनृपतिसेनापतिसूर्यविषये व्याख्याता । अत्र जीवात्म-विषय उच्यते ।

३ २ ३ १र २र ३ १र २र
१२५०. **पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत ।**
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः ।।१।।[1]

३ २ ३ २ १ २र ३ २ १ २र १ २र ३
पुराम् भिन्दुः युवा कविः । अमितौजाः अमित ओजाः अजायत ।
१ २र १ २र १ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
इन्द्रः विश्वस्य कर्मणः धर्ता वज्री पुरुष्टुतः पुरु स्तुतः ।।१।।

पदार्थः- इन्द्रः एष देहधारी जीवात्मा **पुराम्** शत्रुनगरीणाम् **भिन्दुः** भेत्ता, **युवा** यौवनसम्पन्नः, **कविः** क्रान्तद्रष्टा, **अमितौजाः** अपरिमितबलः, **विश्वस्य** सर्वस्य **कर्मणः** क्रियाकाण्डस्य **धर्ता** धारणकर्ता, **वज्री** शस्त्रास्त्रपाणिः, **पुरुष्टुतः** बहुस्तुतश्च **अजायत** जातोऽस्ति ।।१।।[2]

भावार्थः– जीवात्मनि खल्वपूर्वा शक्तिर्निहिता । स्वशक्तिं परिचित्य स महान्ति कर्माणि कर्तुं शक्नोति।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ३५९ क्रमांक पर परमेश्वर, राजा, सेनापति और सूर्य के विषय में की जा चुकी है । यहां जीवात्मा का विषय कहते हैं।

पदार्थ– **इन्द्रः** यह देहधारी जीवात्मा **पुराम्** शत्रु-नगरियों का **भिन्दुः** भेदन करने वाला, **युवा** यौवन-सम्पन्न, **कविः** क्रान्तदर्शी, **अमितौजाः** अपरिमित बल वाला, **विश्वस्य** सब **कर्मणः** क्रियाकाण्ड का **धर्ता** धारणकर्ता **वज्री** शस्त्रास्त्रों को हाथ में लेने वाला, और **पुरुष्टुतः** बहु-स्तुत **अजायत** हुआ है ।।१।।

भावार्थ– जीवात्मा में अपूर्व शक्ति निहित है । अपनी शक्ति को पहचानकर वह महान् से महान् कर्मों को कर सकता है ।।१।।

---

१. ऋ० १।११।४, साम० ३५९ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिमन्त्रमिमं सूर्यसेनापत्योर्विषये व्याख्यातवान् ।

अथ परमेश्वरो जीवात्मा च सम्बोध्यते ।

१२५१ . त्वं वलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम् ।
त्वां देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः ॥२॥[1]

त्वम् वलस्य गोमतः । अप अवः अद्रिवः अ द्रिवः बिलम् ।
त्वाम् देवाः अबिभ्युषः अ बिभ्युषः । तुज्यमानासः आविषुः ॥२॥

पदार्थः— हे **अद्रिवः** अविनश्वर परमेश्वर जीवात्मन् वा! **त्वम् गोमतः** पिहितसत्त्वगुणप्रकाशस्य, **वलस्य** आवरकस्य तमोगुणस्य **बिलम्** गुहाम् **अपावः** अपवृणोषि विदारयसि । [अपपूर्वाद् वृणोतेः लडर्थे लुङ् । 'मन्त्रे घसह्वर० । अ० २।४।८०' इति च्लेर्लुक् ।] **तुज्यमानासः** हिंस्यमानाः । [तुज हिंसायाम्, भ्वादिः ।] **देवाः** प्रकाशकानि मनोबुद्धिसहितानि ज्ञानेन्द्रियाणि विद्वांसो वा **अबिभ्युषः** भयमकुर्वाणाः **त्वाम्** परमात्मानं जीवात्मानं वा **आविषुः** प्राप्नुवन्ति, शरणं गच्छन्ति, । [अवतेर्व्याप्त्यर्थस्य रूपम् । लडर्थे लुङ्] ॥२॥[2]

भावार्थः— मनसि तमोगुणातिरेकेण यदा सत्त्वगुणो निर्बलो जायते तदा तमः प्रकाशमावृणोति। तदावरणं परमात्मप्रेरणया जीवात्मनो वा पुरुषार्थेन विदारयितुं शक्यते॥२॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर और जीवात्मा को सम्बोधन है ।

पदार्थ— हे **अद्रिवः** अविनश्वर परमेश्वर वा जीवात्मन् ! **त्वम्** तुम **गोमतः** जिसने सत्त्वगुण के प्रकाश को बन्द कर रखा है ऐसे **वलस्य** आच्छादक तमोगुण की **बिलम्** गुफा को **अपावः** तोड़कर खोल देते हो । **तुज्यमानासः** हिंसा किये जाते हुए **देवाः** प्रकाशक मन-बुद्धि-सहित ज्ञानेन्द्रियां वा विद्वान् लोग **अबिभ्युषः** भयभीत न होते हुए **त्वाम्** तुझ परमात्मा वा जीवात्मा की **आविषुः** शरण में जाते हैं ॥२॥

भावार्थ— मन में तमोगुण की अधिकता हो जाने से जब सत्त्वगुण निर्बल हो जाता है तब तमोगुण प्रकाश को रोक लेता है । वह आवरण परमात्मा की प्रेरणा से और जीवात्मा के पुरुषार्थ से तोड़ा जा सकता है॥२॥

अथ पुनरपि परमात्मजीवात्मनोर्विषयमाह ।

१२५२. इन्द्रमीशानमोजसाभि स्तोमैरनूषत ।
सहस्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः ॥३॥[3]

इन्द्रम् ईशानम् ओजसा । अभि स्तोमैः अनूषत । सहस्रम् यस्य रातयः ।
उत वा सन्ति भूयसीः ॥३॥

---

१. ऋ० १।११।५ ।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं सूर्यपक्षे व्याख्यातः ।
३. ऋ० १।११।८, 'स्तोमा अनूषत' इति पाठः ।

पदार्थः— **ओजसा** बलेन प्रतापेन वा **ईशानम्** जगतो देहस्य वा शासकम् **इन्द्रम्** परमेश्वरं जीवात्मानं वा, सर्वे जनाः **स्तोमैः** तद्गुणकीर्तनपरैः स्तोत्रैः **अभि अनूषत** अभिष्टुवन्ति, **यस्य** परमेश्वरस्य जीवात्मनो वा **सहस्रम्** सहस्रसंख्याकाः **उत वा** अथवा **भूयसीः** ततोऽप्यधिकाः **रातयः** दत्तयः **सन्ति** भवन्ति।।३।।[१]

भावार्थः— परमेश्वरमुपास्य जीवात्मानं च प्रोद्बोध्य तयोर्दानानि सर्वे प्राप्तुमर्हन्ति ।।३।।

अस्मिन् खण्डे परमात्मनो जीवात्मनो नृपतेश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।।

आगे फिर परमात्मा और जीवात्मा का विषय है ।

पदार्थ— **ओजसा** बल वा प्रताप से **ईशानम्** जगत् के वा शरीर के शासक **इन्द्रम्** परमेश्वर वा जीवात्मा की, सब लोग **स्तोमैः** उनके गुणवर्णन करने वाले स्तोत्रों से **अभि अनूषत** स्तुति करते हैं, **यस्य** जिस परमेश्वर वा जीवात्मा के **सहस्रम्** हजार **उत वा** अथवा **भूयसीः** उससे भी अधिक **रातयः** दान **सन्ति** हैं।।३।।

भावार्थ— सबको योग्य है कि परमेश्वर की उपासना करके और जीवात्मा को उद्बोधन देकर उनके दानों को प्राप्त करें ।।३।।

इस खण्ड में परमात्मा, जीवात्मा और राजा का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्वखण्ड के साथ संगति है।।

नवम अध्याय में नवम खण्ड समाप्त ।

नवम अध्याय समाप्त ।

अथ दशमोऽध्यायः पञ्चमे प्रपाठके द्वितीयोऽर्धश्च

।।१।। अथ 'अक्रान्त्समुद्रः' इत्यादिकस्य प्रथमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** पराशरः शाक्त्यः । **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५२९ क्रमाङ्के परमात्मपर्जन्ययोर्विषये व्याख्याता । अत्र पुनः परमात्मविषय उच्यते ।

१२५३. अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मन् जनयन् प्रजा भुवनस्य गोपाः ।
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे स्वानो अद्रिः ।।१।।[२]
अक्रान् समुद्रः सम् उद्रः प्रथमे विधर्मन् वि धर्मन् ।
जनयन् प्रजाः प्र जाः भुवनस्य गोपाः गो पाः । वृषा पवित्रे अधि सानौ अव्ये ।
बृहत् सोमः वावृधे स्वानः अद्रिः अ द्रिः ।।१।।

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमीश्वरविषये व्याख्यातः ।

२. ऋ० ९।९७।४० 'गोपाः' इत्यत्र 'राजा' 'स्वानो अद्रिः' इत्यत्र 'सुवान इन्दुः' । साम० ५२९।

पदार्थः— अस्यैव सोमस्य परमात्मनः शासने **समुद्रः** आदित्यः । [समुद्र आदित्यः इति निरुक्तम् १३।१६।] **परमे** उच्चे **विधर्मणि** विशेषेण धारके द्युलोके **अक्रान्** क्राम्यति, स्वधुरि भ्रमति, यः आदित्यः **प्रजाः जनयन्** प्रजाः उत्पादयन् **भुवनस्य** सौरमण्डलस्य **गोपाः** रक्षकोऽस्ति । **पवित्रे** अन्तरिक्षे । [अन्तरिक्षं वै पवित्रम् । काठ० २६।१०।] **अव्ये सानौ अधि** पार्थिवे उन्नतप्रदेशे च **वृषा** वृष्टिकर्ता,**स्वानः** सुवानः, भूम्यादिलोकान् स्वस्वकक्षायां सूर्यं परितः प्रेरयन् **अद्रिः** अविनश्वरः **सोमः** जगत्स्रष्टा परमात्मा **बृहत्** बहु **वावृधे** महिमानमाप्नोति । [वृधु वृद्धौ, लिटि 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य । अ० ६।१।७ इत्यभ्यासदीर्घः] ॥१॥

भावार्थः— परमेश्वर एव स्वमहिम्ना सूर्यं तं परितो भूमिचन्द्रादीन् ग्रहोपग्रहांश्च भ्रामयति ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ५२९ क्रमांक पर परमात्मा और मेघ के विषय में की जा चुकी है। यहां फिर परमात्मा का ही विषय वर्णित करते हैं।

पदार्थ— इसी सोम परमात्मा के शासन में **समुद्रः** सूर्य **परमे** उच्च, **विधर्मणि** विशेष धारणकर्ता द्युलोक में **अक्रान्** अपनी धुरी पर घूमता है, जो सूर्य **प्रजाः जनयन्** प्रजाओं को उत्पन्न करता हुआ **भुवनस्य** सौरमण्डल का **गोपाः** रक्षक है । **पवित्रे** अन्तरिक्ष में और **अव्ये सानौ अधि** पृथिवी के उन्नत प्रदेश में **वृषा** वर्षा करने वाला, **स्वानः** भूमि आदि लोकों को उनकी अपनी-अपनी कक्षा में सूर्य के चारों ओर प्रेरित करता हुआ **अद्रिः** अविनश्वर **सोमः** जगत्स्रष्टा परमात्मा **बृहत्** बहुत अधिक **वावृधे** महिमा को प्राप्त हुआ है ॥१॥

भावार्थ— परमेश्वर ही अपनी महिमा से सूर्य को और उसके चारों ओर भूमि, चन्द्रमा आदि ग्रह-उपग्रहों को घुमा रहा है ॥१॥

अथ परमात्मनः कर्म वर्णयति ।

१२५४. **मत्सि वायुमिष्टये राधसे नो मत्सि मित्रावरुणा पूयमानः ।**
मत्सि शर्धो मारुतं मत्सि देवान् मत्सि द्यावापृथिवी देव सोम ॥२॥[1]

मत्सि वायुम् इष्टये राधसे नः । मत्सि मित्रा मि त्रा वरुणा पूयमानः ।
मत्सि शर्धः मारुतम् मत्सि देवान् । मत्सि द्यावा पृथिवीइति देव सोम ॥२॥

पदार्थः— हे **देव** मोदप्रद **सोम** जगत्स्रष्टः परमात्मन्! त्वम् **नः** अस्माकम् **इष्टये** अभीष्टसिद्धये **राधसे** ऐश्वर्याय च **वायुम्** पवनम् **मत्सि** हर्षयसि, **पूयमानः** प्राप्यमाणः त्वम् । [पवते गतिकर्मा । निघं० २।१४।] **मित्रावरुणा** प्राणापानौ **मत्सि** हर्षयसि । **मारुतं शर्धः** सैनिकानां बलम् । [शर्ध इति बलनाम । निघं० २।९ ।] **मत्सि** हर्षयसि, **देवान्** विद्वज्जनान् **मत्सि** हर्षयसि, **द्यावापृथिवी** दिवं धरित्रीं च **मत्सि** हर्षयसि । [मदी हर्षग्लेपनयोः भ्वादिः । बहुलं छन्दसि । अ० २।४।७३ इति शपो लुक्]॥२॥

भावार्थः— यदिदं प्रकृतौ सूर्यचन्द्रपवनभूम्यादिषु, समाजे ब्रह्मक्षत्रविडादिषु, देहे च जीवात्ममनोबुद्धि-प्राणापानादिषु हर्षः स्फूर्तिः कर्मनिष्ठादि च दृश्यते तत्सर्वं परमात्मकृतमेव ॥२॥

---

१. ऋ० ९।९७।४२ ।

अगले मन्त्र में परमात्मा का कर्म वर्णित है ।

पदार्थ– हे **देव** आनन्ददायक, **सोम** संसार के रचयिता परमात्मन्! आप **नः** हमारी **इष्टये** अभीष्ट-सिद्धि के लिए, और **राधसे** ऐश्वर्य के लिए **वायुम्** पवन को **मत्सि** हर्षित करते हो, **पूयमानः** प्राप्त किये जाते हुए आप **मित्रावरुणा** प्राण-अपान को **मत्सि** हर्षित करते हो, **मारुतं शर्धः** सैनिकों के बल को **मत्सि** हर्षित करते हो, **देवान्** विद्वान् जनों को **मत्सि** हर्षित करते हो, **द्यावापृथिवी** आकाश और भूमि को **मत्सि** हर्षित करते हो ।।२।।

भावार्थ– जो यह प्रकृति में सूर्य-चन्द्र-पवन-भूमि आदियों में, समाज में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य आदियों में और शरीर में जीवात्मा-मन-बुद्धि-प्राण आदियों में हर्ष, स्फूर्ति और कर्मनिष्ठा आदि दिखायी देते हैं, वह सब परमात्मा द्वारा ही कृत है ।।२।।

तृतीया ऋक् पूर्वार्चिके ५४२ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्यातपूर्वा । अत्रापि स एव विषयो वर्ण्यते ।

१२५५. **महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान् ।**
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ।।३।।[1]

महत् तत् सोमः महिषः चकार । अपाम् यत् गर्भः अवृणीत देवान् ।
अदधात् इन्द्रे पवमानः ओजः । अजनयत् सूर्ये ज्योतिः इन्दुः ।।३।।

पदार्थः– **महिषः** महान्, **सोमः** जगत्स्रष्टा परमेश्वरः **तत्** वर्ण्यमानम् **महत्** महत्त्वपूर्णं कर्म **चकार** करोति **यत्** अपाम् उदकादीनां पदार्थानाम् **गर्भः** गर्भरूपेण विद्यमानः सः **देवान्** सूर्यचन्द्रवायुविद्युदादीन् प्राणमनश्चक्षुःश्रोत्रादीन् वा **अवृणीत** रक्ष्यत्वेन वृणीते । **पवमानः** कर्मशूरः सः। [पवते गतिकर्मा । निघं० २।१४।] **इन्द्रे** प्राणे, पवने, मनसि वा। [प्राण इवेन्द्रः। श० १२।९।१।१४ । यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः । श० ४।१।३।१९ । मन एवेन्द्रः। श० १२।९।१।१३ ।] **ओजः** बलम् **अदधात्** अस्थापयत् । **इन्दुः** ज्योतिष्मान् सः **सूर्ये** आदित्ये **ज्योतिः** दीप्तिम् **अजनयत्** उदपादयत् ।।३।।

भावार्थः– परमात्मनो महान्ति कर्माण्याश्चर्यकराणि खलु । प्राणे प्राणनशक्तिं, पवने गतिं, मनसि संकल्पं, सूर्ये दीप्तिं, चन्द्रे ज्योत्स्नां, सरित्सु प्रवाहं, पर्वतेषु दृढतां स एव स्थापयति ।।३।।

तृतीय ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ५४२ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में की जा चुकी है । यहां भी उसी विषय का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ– **महिषः** महान् **सोमः** जगत् का रचयिता परमेश्वर **तत्** उस आगे वर्णित किये गये **महत्** महत्त्वपूर्ण कर्म को **चकार** करता है **यत्** कि **अपाम्** जल आदि पदार्थों में **गर्भः** गर्भरूप से विद्यमान वह **देवान्** सूर्य, चन्द्र, वायु, विद्युत् आदियों को वा प्राण, मन, चक्षु, श्रोत्र आदियों को **अवृणीत** रक्षणीय रूप में वरता है। **पवमानः** उस कर्मशूर ने **इन्द्रे** प्राण, पवन वा मन में **ओजः** बल **अदधात्** स्थापित किया है, **इन्दुः** उस ज्योतिष्मान् ने **सूर्ये** सूर्य में **ज्योतिः** ज्योति को **अजनयत्** उत्पन्न किया है ।।३।।

---

१. ऋ० ९।९७।४१, साम० ५४२ ।

भावार्थ– परमात्मा के महान् कर्म बड़े ही आश्चर्यजनक हैं। प्राण में सांस की शक्ति, पवन में गति, मन में संकल्प, सूर्य में दीप्ति, चांद में चांदनी, नदियों में प्रवाह, पहाड़ों में दृढ़ता वही स्थापित करता है ।।३।।

।।२।। अथ 'एष देवो' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य दशर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** शुनःशेप आजीगर्तिः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ।।

तत्रादौ जीवात्मगतिर्वर्ण्यते ।

१२५६. एष देवो अमर्त्यः पर्णवीरिव दीयते । अभि द्रोणान्यासदम् ।।१।।[1]

एषः देवः अमर्त्यः अ मर्त्यः । पर्णवीः पर्ण वीः इव दीयते ।
अभि द्रोणानि आसदम् आ सदम् ।।१।।

पदार्थः– **एषः** अयम् **अमर्त्यः** अमरः **देवः** कर्मफलभोक्ता जीवात्मरूपः सोमः [दिवु धातुः खादनार्थेऽपि पठितः।] कर्मानुसारम् **द्रोणानि** देहरूपान् द्रोणकलशान् **अभि आसदम्** अभ्यासत्तुम् **पर्णवीः इव** पक्षी इव । [पर्णाभ्यां पतत्राभ्यां वेति उड्डीयते इति पर्णवीः पक्षी ।] **दीयते** उड्डीय गच्छति । [दीयते गतिकर्मा । निघं० २।१४]।।१।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः– पक्षी यथोड्डयमानो वृक्षाद् वृक्षान्तरं गच्छति तथैष जीवात्मा पूर्वं देहमुत्सृज्य कर्मफलानि भोक्तुं मातुर्गर्भे द्वितीयं शरीरं गच्छति ।।१।।

प्रथम मन्त्र में जीवात्मा की गति वर्णित है ।

पदार्थ– **एषः** यह **अमर्त्यः** अमर, **देवः** कर्मफलों को भोगने वाला जीवात्मा रूप सोम, कर्मों के अनुसार **द्रोणानि** देहरूप द्रोणकलशों में **अभि आसदम्** बैठने के लिए **पर्णवीः इव** पक्षी के समान **दीयते** उड़कर जाता है।।१।।

यहां उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ– पक्षी जैसे उड़ता हुआ एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाता है, वैसे ही यह जीवात्मा पहले शरीर को छोड़कर कर्मफल भोगने के लिए माता के गर्भ में दूसरे शरीर को प्राप्त करता है ।।१।।

अथ परमात्मनः कर्मफलदातृत्वमाह ।

१२५७. एष विप्रैरभिष्टुतोऽपो देवो वि गाहते । दधद्रत्नानि दाशुषे ।।२।।[2]

एषः विप्रैः वि प्रैः अभिष्टुतः अभि स्तुतः । अपः देवः वि गाहते ।
दधत् रत्नानि दाशुषे ।।२।।

---

१. ऋ० ९।३।१, 'दीयति' इति पाठः ।
२. ऋ० ९।३।६ ।

पदार्थः— विप्रैः विपश्चिद्भिः उपासकैः **अभिष्टुतः** आभिमुख्येन स्तुतः **एषः** अयम् **देवः** कर्मफलप्रदाता सोमः परमेश्वरः **अपः** मनुष्यैः कृतानि कर्माणि **विगाहते** आलोडयति, निरीक्षते इत्यर्थः । अथ च **दाशुषे** दानिने आत्मसमर्पकाय शुभकर्मकारिणे जनाय **रत्नानि** रमणीयानि फलानि **दधत्** ददाति ।।२।।

भावार्थः— न्यायकारी परमेश्वरः शुभकर्मणां शुभं फलमशुभकर्मणां चाशुभं फलं कर्मकर्त्रे प्रयच्छति।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा द्वारा कर्मफल दिये जाने का वर्णन है ।

पदार्थ— विप्रैः विद्वान् उपासकों से **अभिष्टुतः** अभिमुख होकर स्तुति किया गया **एषः** यह **देवः** कर्मफलप्रदाता परमेश्वर **अपः** मनुष्यों से किये गये कर्मों का **विगाहते** आलोडन अर्थात् निरीक्षण करता है, और **दाशुषे** आत्मसमर्पणकर्ता शुभकर्मकारी मनुष्य को **रत्नानि** रमणीय फल **दधत्** प्रदान करता है ।।२।।

भावार्थ— न्यायकारी परमेश्वर शुभकर्मों का शुभ फल और अशुभ कर्मों का अशुभ फल कर्म करने वाले को देता है ।।२।।

अथ जीवात्मविषयमाह ।

१२५८. एष विश्वानि वार्या शूरो यन्निव सत्वभिः । पवमानः सिषासति ।।३।।[1]

एषः विश्वानि वार्या । शूरः यन् इव सत्वभिः । पवमानः सिषासति ।।३।।

पदार्थः— पवमानः स्वात्मानं पवित्रीकुर्वन् एषः अयम् जीवात्मा **सत्वभिः** स्वकीयैः पुरुषार्थैः **विश्वानि** सर्वाणि **वार्या** वार्याणि, वरणीयानि वस्तूनि **सिषासति** संभक्तुं प्राप्तुम् इच्छति । [षण सम्भक्तौ, सन्नन्तं रूपम्।] कथमिव? **यन् इव** गच्छन् यथा **शूरः** वीरः कश्चिज्जनः **विश्वानि वार्या** सर्वाणि वरणीयानि प्राप्तव्यानि स्थानानि प्राप्नोति, तद्वत् ।।३।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।३।।

भावार्थः— मनुष्यः स्वकीयेन पुरुषार्थेन निखिलान्यप्यभीष्टानि प्राप्तुं शक्नोति ।।३।।

अगले मन्त्र में जीवात्मा का विषय है ।

पदार्थ— पवमानः अपने को पवित्र करता हुआ **एषः** यह जीवात्मा **सत्वभिः** अपने पुरुषार्थों से **विश्वानि** सब **वार्या** वरणीय वस्तुओं को **सिषासति** प्राप्त करना चाहता है, **यन् इव** जैसे चलता हुआ **शूरः** कोई शूरवीर **विश्वानि वार्या** सब प्राप्तव्य स्थानों को प्राप्त कर लेता है ।।३।।

यहां उपमालंकार है ।।३।।

भावार्थ— मनुष्य अपने पुरुषार्थ से सब अभीष्टों को पा सकता है ।।३।।

अथ पुनर्जीवात्मविषयमाह ।

१२५९. एष देवो रथर्यति पवमानो दिशस्यति । आविष्कृणोति वग्वनुम् ।।४।।[2]

एषः देवः रथर्यति । पवमानः दिशस्यति । आविः आ विः कृणोति वग्वनुम् ।।४।।

---

१. ऋ० ९।३।४ ।

२. ऋ० ९।३।५, 'दशस्यति' इति पाठः ।

पदार्थः— एषः अयम् **देवः** कर्मफलभोक्ता जीवः **रथर्यति**[1] कर्मफलानि भोक्तुं देहरथं कामयते । [रथर्यतीति सिद्धस्तत्रेप्सुः, रथं कामयत इति वा इति निरुक्तम् ६।२८। क्यचि रथीयति इति प्राप्ते छान्दसं रूपम् ।] **पवमानः** देहरथं गच्छन् अयम् **दिशस्यति** मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियादीनां दिङ्निर्देशं करोति । [दिश अतिसर्जने । दिशस् शब्दः कण्ड्वादिषु पठितव्यः ।] किञ्च **वग्वनुम्** व्यक्तां वाचम् **आविष्कृणोति** प्रकटयति, उच्चारयति ।[वच धातोर्नु-प्रत्ययेन सिद्धः 'वग्नु' शब्दो वाङ्नामसु पठितः । निघं० १।११। वचेर्वनुच्प्रत्यये वग्वनुर्ज्ञेयः] ॥४॥

भावार्थः— जीवात्मा मानवदेहं प्राप्य ज्ञानसञ्चयं सत्कर्माचरणं व्यक्तया वाचा परोपदेशं च यदि करोति तदा तस्य मानवजन्मप्राप्तिः सफला जायते ॥४॥

आगे फिर जीवात्मा के विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— एषः यह **देवः** कर्मफलों का भोक्ता जीव, कर्मफल भोगने के लिए **रथर्यति** शरीररूप रथ की इच्छा करता है। **पवमानः** शरीररूप रथ में जाता हुआ यह **दिशस्यति** मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय आदियों को दिशा-निर्देश करता है, और **वग्वनुम्** व्यक्त वाणी को **आविष्कृणोति** प्रकट करता अर्थात् उच्चारण करता है॥४॥

भावार्थ— जीवात्मा मानव-देह पाकर ज्ञान का संचय, सत्कर्मों का आचरण और व्यक्त वाणी से दूसरों को उपदेश यदि करता है तो उसका मनुष्य-जन्म पाना सफल हो जाता है ॥४॥

अथ पुनर्जीवात्मविषयमाह ।

१२६०. एष देवो विपन्युभिः पवमान ऋतायुभिः । हरिर्वाजाय मृज्यते ॥५॥[2]

एषः देवः विपन्युभिः । पवमानः ऋतायुभिः । हरिः वाजाय मृज्यते ॥५॥

पदार्थः- एषः अयम् **देवः** विजिगीषुः । [दीव्यतेर्विजिगीषाकर्मणो रूपम् ।] **पवमानः** पुरुषार्थी **हरिः** कर्मफलभोगाय देहाद् देहान्तरं हृतो जीवात्मा **ऋतायुभिः**[3] सत्याचरणैः **विपन्युभिः** परमात्मस्तोतृभिः विद्वद्भिः **वाजाय** बलप्रदानाय **मृज्यते** पवित्रीक्रियते ॥५॥

भावार्थः— मानवदेहं प्राप्तो जीवात्मा परमात्मस्तोतॄणां सत्याचरणवतां विदुषां सङ्गतिं कृत्वा स्वमुन्नयेत् ॥५॥

आगे फिर जीवात्मा का विषय है ।

पदार्थ— एषः यह **देवः** विजय की इच्छा वाला, **पवमानः** पुरुषार्थी, **हरिः** कर्मफलभोग के लिए एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाया गया जीवात्मा **ऋतायुभिः** सत्य आचरण वाले **विपन्युभिः** परमात्म-स्तोता विद्वानों द्वारा **वाजाय** बल देने के लिए **मृज्यते** शुद्ध किया जाता है ॥५॥

भावार्थ— मानव-शरीर को प्राप्त जीवात्मा सत्याचारी परमात्म-स्तोताओं की संगति करके स्वयं को उन्नत करे ॥५॥

---

१. रथर्यति रथं कामयते—इति सा० । रथैर्याति—इति वि० ।

२. ऋ० ९।३।३ ।

३. ऋतायुभिः यज्ञकामैः सत्यकामैर्वा-इति सा० । ऋतो यज्ञः तं युञ्जन्ति ऋतायवः ऋत्विजः तैः — इति वि० ।

अथ पुनरपि तमेव जीवात्मविषयमाह ।

१२६१. एष देवो विपा कृतोऽति ह्वरांसि धावति । पवमानो अदाभ्यः ।।६।।[1]

एषः देवः विपा कृतः । अति ह्वरांसि धावति । पवमानः अदाभ्यः अदाभ्यः ।।६।।

पदार्थः— **एषः** अयम् **विपा** मेधाविना विदुषा । [विप इति मेधाविनाम । निघं० ३।१५।] **कृतः** संस्कृतः **पवमानः** पुरुषार्थी । [पवते गतिकर्मा । निघं० २।१४।] अत एव **अदाभ्यः** केनापि पराजेतुमशक्यः **देवः** तेजस्वी जीवात्मा **ह्वरांसि** कुटिलानि कर्माणि, कुटिलान् शत्रून् वा । [ह्वृ कौटिल्ये, औणादिकः असुन् प्रत्ययः ।] **अति** अतीत्य **धावति** अग्रे सरति ।।६।।

भावार्थः— विदुषाऽऽचार्येण यदा मनुष्यस्यात्मा संस्क्रियते तदा मनुष्यः सबलो भूत्वा सर्वा अपि बाधाः पराजित्य समाजेऽग्रगण्यो जायते ।।६।।

आगे फिर उसी जीवात्मा का विषय है ।

पदार्थ— **एषः** यह **विपा** मेधावी विद्वान् के द्वारा **कृतः** संस्कृत किया हुआ **पवमानः** पुरुषार्थी, अतएव **अदाभ्यः** किसी से पराजित न किया जा सकने वाला **देवः** तेजस्वी जीवात्मा **ह्वरांसि** कुटिल कर्मों को वा कुटिल शत्रुओं को **अति** दूर करके **धावति** आगे बढ़ता है ।।६।।

भावार्थ— विद्वान् आचार्य के द्वारा जब मनुष्य का आत्मा संस्कृत किया जाता है तब मनुष्य बलवान् होकर सभी बाधाओं को पराजित करके समाज में अग्रगण्य हो जाता है ।।६।।

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

१२६२. एष दिवं वि धावति तिरो रजांसि धारया । पवमानः कनिक्रदत् ।।७।।[2]

एषः दिवम् वि धावति । तिरः रजांसि धारया । पवमानः कनिक्रदत् ।।७।।

पदार्थः— **एषः** अयम् **पवमानः** पुरुषार्थी जीवात्मा **कनिक्रदत्** स्तोत्रगीतिं ध्वनयन् **रजांसि** रजोगुणान् **तिरः** उल्लङ्घ्य **धारया** सत्त्वगुणस्य धारया **दिवम्** द्युतिमन्तं परमात्मानम् प्रति **वि धावति** वेगेन गच्छति ।।७।।

भावार्थः— रजस्तमोऽभिभवेन सत्त्वप्रबलतयैव जीवात्मा परमात्मानमधिगच्छति ।।७।।

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ— **एषः** यह **पवमानः** पुरुषार्थी जीवात्मा **कनिक्रदत्** स्तोत्रगान को ध्वनित करता हुआ **रजांसि** रजोगुणों को **तिरः** लांघकर **धारया** सत्त्वगुण की धारा से **दिवम्** तेजस्वी परमात्मा के प्रति **वि धावति** वेग से जाता है ।।७।।

भावार्थ— रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण को प्रबल करके ही जीवात्मा परमात्मा को पाता है ।।७।।

---

१. ऋ० ९।३।२ ।

२. ऋ० ९।३।७ ।

अथ पुनरपि जीवात्मविषय उच्यते ।

१२६३. एष दिवं व्यासरत्तिरो रजांस्यस्तृतः । पवमानः स्वध्वरः ॥८॥[1]

एषः दिवम् व्यासरत् वि आसरत् । तिरः रजांसि अस्तृतः अ स्तृतः ।
पवमानः स्वध्वरः सु अध्वरः ॥८॥

पदार्थः— **एषः** अयम् **स्वध्वरः** सूपासनायज्ञः, **अस्तृतः** विघ्नैरहिंसितः **पवमानः** पुरुषार्थी जीवात्मा **रजांसि** रजस्तमोगुणान् । [अत्र एकशेषः ।] **तिरः** तिरस्कृत्य **दिवम्** द्युतिमन्तं परमात्मानम् **व्यासरत्** वेगेन प्राप्नोति ॥८॥

भावार्थः— मनुष्यं विघ्नास्तदैव मार्गात् प्रच्यावयन्ति यदा स रजस्तमोभ्यामभिभूतो भवति ॥८॥

आगे फिर जीवात्मा का विषय है ।

पदार्थ— एषः यह **स्वध्वरः** शुभ उपासना-रूप यज्ञ का कर्ता, **अस्तृतः** विघ्नों से अहिंसित **पवमानः** पुरुषार्थी जीवात्मा **रजांसि** रजोगुणों और तमोगुणों को **तिरः** तिरस्कृत करके **दिवम्** तेजस्वी परमात्मा को **व्यासरत्** वेग से प्राप्त कर लेता है ॥८॥

भावार्थ— मनुष्य को विघ्न तभी मार्ग से डिगाते हैं जब वह रजोगुण और तमोगुण से दबा रहता है॥८॥

नवमी ऋक् पूर्वं ७५८ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र मनुष्यस्य द्वितीयजन्मविषयमाह ।

१२६४. एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवेभ्यः सुतः । हरिः पवित्रे अर्षति ॥९॥[2]

एषः प्रत्नेन जन्मना । देवः देवेभ्यः सुतः । हरिः पवित्रे अर्षति ॥९॥

पदार्थः— **प्रत्नेन जन्मना** आचार्यात् प्राप्तेन श्रेष्ठेन जनुषा **देवेभ्यः** दिव्यगुणेभ्यः, दिव्यगुणानां प्रचारायेत्यर्थः **सुतः** उत्पादितः **एषः** अयम् **हरिः** दीनानां दुःखहर्ता मनुष्यः । [हरयः इति मनुष्यनामसु पठितम् । निघं० २।३।] **पवित्रे** पवित्रे कर्मणि **अर्षति** गच्छति, व्याप्रियते ॥

आचार्यऽ उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः । तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ अथ० ११।५।३, यस्माद् धर्मानाचिनोति स आचार्यः स हि विद्यातस्तं जनयति । तच्छ्रेष्ठं जन्म । शरीरमेव मातापितरौ जनयतः ॥ आप० ध० सू० १।१।१।१४-१८ । अत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते। मनु० २।१७०। इत्यादिप्रामाण्याद् आचार्यसावित्र्योः सकाशाद् यद् द्वितीयं जन्म प्राप्यते तच्छ्रेष्ठम्॥९॥

भावार्थः— प्रथमं जन्म मातापितृभ्यां प्राप्यते, तच्च मुख्यतो देहस्य जन्म भवति । द्वितीयं विद्यायाः सदाचारस्य च जन्माचार्यसावित्र्योः सकाशाज्जायते । द्वितीयं जन्म प्राप्य नरः पवित्राचरणत्वं प्रतिपद्यते । तेन द्वितीयेन जन्मना मनुष्यो द्विजस्तज्जन्मप्राप्तिं विना च शूद्र उच्यते ॥९॥

---

१. ऋ० ९।३।८ 'रजांस्यस्तृतः' इति पाठः ।
२. ऋ० ९।३।९, साम० ७५८ ।

नवमी ऋचा पहले ७५८ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां मनुष्य के द्वितीय जन्म का विषय है ।

पदार्थ– **प्रत्नेन जन्मना** आचार्य से प्राप्त श्रेष्ठ जन्म से **देवेभ्यः** दिव्य गुणों के प्रसारार्थ **सुतः** उत्पन्न किया हुआ **एषः** यह **हरिः** दीनों का दुःख हरने वाला मनुष्य **पवित्रे** पवित्र कर्म में **अर्षति** संलग्न होता है ।।

आचार्य जब बालक का उपनयन संस्कार करता है तब उसे अपने गर्भ में धारण करता है । तीन रात्रियों तक उसे गर्भ में रखे रहता है । जब वह जन्म लेता है अर्थात् स्नातक बनता है तब उसे देखने के लिए चारों ओर से विद्वान् लोग एकत्र होते हैं (अथ० ११।५।३) । आचार्य विद्या से विद्यार्थी को दूसरा जन्म देता है, वही श्रेष्ठ जन्म है, माता-पिता तो शरीर को ही जन्म देते हैं। (आप० १।१।१।१४-१८) । इस द्वितीय जन्म में सावित्री (गायत्री) माता होती है और आचार्य पिता (मनु० २।१७०) । इत्यादि प्रमाणों के आधार पर आचार्य और सावित्री के द्वारा जो द्वितीय जन्म प्राप्त होता है, वही श्रेष्ठ है ।।९।।

भावार्थ– प्रथम जन्म माता-पिता से प्राप्त होता है, वह मुख्य रूप से शरीर का जन्म होता है । दूसरा विद्या और सदाचार का जन्म आचार्य तथा सावित्री से होता है । द्वितीय जन्म प्राप्त करके मनुष्य पवित्र आचरण वाला हो जाता है । द्वितीय जन्म से ही वह द्विज और उस जन्म की प्राप्ति के बिना शूद्र कहलाता है।।९।।

अथ पुनस्तमेव विषयं वर्णयति ।

३२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३२३ १ २ १२ ३ २
१२६५. **एष उ स्य पुरुव्रतो जज्ञानो जनयन्निषः । धारया पवते सुतः ।।१०।।**[1]

३२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३१२ १ २र १२र ३ २
एषः उ स्यः पुरुव्रतः पुरु व्रतः । जज्ञानः जनयन् इषः । धारया पवते सुतः ।।१०।।

पदार्थः– **एषः उ** अयं खलु **स्यः** सः **पुरुव्रतः** ब्रह्मचर्याश्रमे बहुव्रतपालकः **जज्ञानः** आचार्याद् नवं जन्म गृह्णानः छात्रः **सुतः** उत्पन्नः सन् **इषः** प्राप्ता विद्याः **जनयन्** अन्येषाम् अध्यापयन् **धारया** वाचा । [धारा इति वाङ्नाम । निघं० १।११।] **पवते** तान् पुनातु ।।१०।।

भावार्थः– आचार्यमुखात् सर्वा विद्या अधीत्य छात्रः पवित्राचरणो द्विजो भूत्वा स्नातकः सन्नन्यानपि सकला विद्या अध्यापयन् पवित्राचरणान् विदध्यात् ।।१०।।

अस्मिन् खण्डे परमात्मनो जीवात्मन आचार्यात् प्राप्तव्यस्य द्वितीयजन्मनश्च विषयस्य वर्णनादेतत्खण्ड-स्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ।।

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ– **एषः उ** यह **स्यः** वह **पुरुव्रतः** ब्रह्मचर्याश्रम में बहुत व्रत पालन करने वाला, **जज्ञानः** आचार्य से नवीन जन्म ग्रहण करता हुआ छात्र **सुतः** उत्पन्न होकर अर्थात् स्नातक बनकर **इषः** प्राप्त विद्याएं **जनयन्** दूसरों को पढ़ाता हुआ **धारया** वाणी से **पवते** उन्हें पवित्र करे ।।१०।।

भावार्थ– आचार्य के मुख से सब विद्याएं पढ़कर छात्र पवित्र आचरण वाला द्विज होकर स्नातक बना हुआ दूसरों को भी सब विद्याएं पढ़ाताहुआ उन्हें पवित्र आचरण वाला करे ।।१०।।

---

१. ऋ० ९।३।१० ।

इस खण्ड में परमात्मा, जीवात्मा तथा आचार्य से प्राप्त होने वाले द्वितीय जन्म के विषय का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ।।

दशम अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ।।

।।३।। अथ 'एष धिया' इत्यादिकस्य तृतीयस्याष्टर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** असितः काश्यपो देवलो वा । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ मुक्तिविषयमाह ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २
१२६६. **एष धिया यात्यण्व्या शूरो रथेभिराशुभिः । गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ।।१।।**[1]

३ २ ३ २ ३ १ २र १२र १ २र ३ १ २
एषः धिया याति अण्व्या । शूरः रथेभिः आशुभिः ।

१ २र १ २र ३ २ ३ २
गच्छन् इन्द्रस्य निष्कृतम् निः कृतम् ।।१।।

पदार्थः— **इन्द्रस्य** परमेश्वरस्य **निष्कृतम्** परमं धाम **गच्छन्** व्रजन् **एषः** अयं सोमः जीवात्मा **अण्व्या** सूक्ष्मया **धिया** ऋतम्भरया प्रज्ञया **याति** उच्चस्थितिं प्राप्नोति, यथा **शूरः** कश्चिद् वीरो जनः **आशुभिः** वेगवद्भिः **रथैः** स्यन्दनैः याति तद्वदिति लुप्तोपमम् ।।१।।

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः— कैवल्यप्राप्तौ ऋतम्भरा प्रज्ञा परमसहायिका जायते ।।१।।

प्रथम मन्त्र में मुक्ति के विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— इन्द्रस्य परमेश्वर के **निष्कृतम्** परम धाम को **गच्छन्** जाता हुआ **एषः** यह सोम जीवात्मा **अण्व्या** सूक्ष्म **धिया** ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा **याति** लक्ष्य को पा लेता है, जैसे **शूरः** कोई शूर मनुष्य **आशुभिः** वेगवान् **रथैः** रथों द्वारा लक्ष्य को पाता है ।।१।।

यहां लुप्तोपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ— मुक्ति की प्राप्ति में ऋतम्भरा प्रज्ञा परम सहायक होती है ।।१।।

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

३ २ ३१ २ ३ २ ३१ २ २ ३१ २३ १ २
१२६७. **एष पुरु धियायते बृहते देवतातये । यत्रामृतास आशत ।।२।।**[2]

३ २ ३२ ३ २ ३१ २ १२र ३१ २ ३ १ २र १२र
एषः पुरु धियायते । बृहते देवतातये । यत्र अमृतासः अ मृतासः आशत ।।२।।

पदार्थः— **एषः** अयं सोमः जीवात्मा **बृहते** महते **देवतातये** मोक्षपदलाभाय । [अत्र 'सर्वदेवात् तातिल्' । अ० ४।४।१४२ इत्यनेन तातिल् प्रत्ययः। तस्य च लित्वात् 'लिति' अ० ६।१।१९३ इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तम् ।] **पुरु** बहु **धियायते** ऋतम्भरां प्रज्ञां कामयते । [धियम् आत्मनः कामयते इति धियायते, ईकारस्य इयादेशः छान्दसः।] **यत्र** यस्मिन् मोक्षपदे **अमृतासः** पूर्वे अमरा जीवात्मानः **आशत** आसते । [अश्नुते व्याप्तिकर्मा । निघं०२।१८]।।२।।

---

१. ऋ० ९।१५।१ ।

२. ऋ० ९।१५।२, 'आशत' इत्यत्र 'आसते' इति पाठः ।

भावार्थः— मोक्षप्राप्तये मुमुक्षुता योगाभ्यासः सदाचारश्चापेक्ष्यते ।।२।।

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ— एषः यह सोम जीवात्मा **बृहते** महान् **देवतातये** मोक्ष पद के लाभार्थ **पुरु** बहुत अधिक **धियायते** ऋतम्भरा प्रज्ञा को पाना चाहता है, **यत्र** जिस मोक्षपद में **अमृतासः** पूर्व अमर जीवात्माएं **आशत** विद्यमान हैं ।।२।।

भावार्थ— मोक्ष की प्राप्ति के लिए मोक्ष की अभिलाषा, योगाभ्यास तथा सदाचार की अपेक्षा होती है।।२।।

अथात्मशुद्धिविषय उच्यते ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
१२६८. एतं मृजन्ति मर्ज्यमुप द्रोणेष्वायवः । प्रचक्राणं महीरिषः ।।३।।[1]

३ २ ३ १ २र १२र १ २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ १२र
एतम् मृजन्ति मर्ज्यम् । उप द्रोणेषु आयवः । प्रचक्राणम् प्र चक्राणम् महीः इषः ।।३।।

पदार्थः— महीः महतीः **इषः**[2] ज्ञानकर्मसम्पत्तीः **प्रचक्राणम्** प्रकर्षेण सञ्चितवन्तम् । [प्रपूर्वात् करोतेर्लिटि कानजादेशः।] **मर्ज्यम्** शोध्यम्। [मृजू शौचालङ्कारयोः, यत् प्रत्ययः।] **एतम्** इमं जीवात्मानम् **आयवः** मनुष्याः **द्रोणेषु** उपासनारसकुण्डेषु **उपमृजन्ति** उपशोधयन्ति ।।३।।

भावार्थः— जीवात्मा यदाऽविद्यापापादिभिर्लिप्यते तदा तस्य शोधनाय परमेश्वरोपासनमपेक्ष्यते ।।३।।

अगले मन्त्र में आत्मशुद्धि का विषय है ।

पदार्थ— महीः महान् **इषः** ज्ञान और कर्म की सम्पत्तियों को **प्रचक्राणम्** अधिकाधिक संचित किये हुए **मर्ज्यम्** शुद्ध करने योग्य **एतम्** इस जीवात्मा को **आयवः** मनुष्य **द्रोणेषु** उपासना-रस के कुंडों में **उपमृजन्ति** शोधते हैं ।।३।।

भावार्थ— जीवात्मा जब अविद्या, पाप आदियों से लिप्त हो जाता है तब उसकी शुद्धि के लिए परमेश्वर की उपासना अपेक्षित होती है ।।३।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २
१२६९. एष हितो वि नीयतेऽन्तः शुन्ध्यावता पथा । यदी तुञ्जन्ति भूर्णयः ।।४।।[3]

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २र ३ १ २ १ २र
एषः हितः वि नीयते । अन्तरिति शुन्ध्यावता पथा । यदि तुञ्जन्ति भूर्णयः ।।४।।

पदार्थः— यदि चेत् **भूर्णयः**[4] ज्ञानादिभिः परिपूर्णाः जनाः । [बिभ्रति पुष्णन्ति स्वात्मानं ये ते भूर्णयः । बिभर्तेः 'घृणिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णयः । उ० ४।५३ इति नि प्रत्ययः।] **तुञ्जन्ति** परमेश्वराय आत्मानं समर्पयन्ति ।

---

१. ऋ० ९।१५।७ ।

२. महीः इषः महान्ति अन्नानि—इति सा० । इषः धानाः करम्भः पुरोडाशः— इति वि० ।

३. ऋ० ९।१५।३, 'शुम्भावता पथा' इति पाठः ।

४. भूर्णयः भरणशीलाः— इति सा०। भ्रमणशीलाः-इति वि०।

[तुञ्जतिर्दानकर्मा । निघं० ३।२०।] तदा अनेन **शुन्ध्यावता पथा** शुद्धियुक्तेन मार्गेण । [शुन्ध शुद्धौ, भ्वादिः।] **अन्तः हितः** अन्तर्मुखीकृतः **एषः** अयं सोमः जीवात्मा **वि नीयते** विशेषेण मुक्तिं प्रति नीयते ॥४॥

भावार्थः— अहंकारं परित्यज्य परमात्मानं प्रति स्वात्मसमर्पणेन मोक्षमार्गः सरलीभवति ॥४॥

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ— यदि यदि **भूर्णयः** ज्ञान आदि से भरे हुए मनुष्य **तुञ्जन्ति** स्वयं को परमेश्वर के लिए समर्पित करते हैं, तो इस **शुन्ध्यावता पथा** शुद्धियुक्त मार्ग से **अन्तः हितः** अन्तर्मुख किया हुआ **एषः** यह सोम जीवात्मा **वि नीयते** विशेष रूप से मोक्ष की ओर ले जाया जाता है॥४॥

भावार्थ— अहंकार का परित्याग करके परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण से मोक्ष का मार्ग सरल हो जाता है ॥४॥

अथ जीवात्मानं वर्णयति।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २३१ २ २ ३ १ २ ३ १ २
१२७०. एष रुक्मिभिरीयते वाजी शुभ्रेभिरंशुभिः। पतिः सिन्धूनां भवन् ॥५॥[1]

३ २ ३ १ २ ३ २ ३१ २ ३१ २ १ २र १ २र १२र
एषः रुक्मिभिः ईयते। वाजी शुभ्रेभिः अंशुभिः। पतिः सिन्धूनाम् भवन् ॥५॥

पदार्थः— वाजी बलवान् **एषः** अयं सोमः जीवात्मा **सिन्धूनाम्** देहस्थानां रक्तवहानां नाडीनाम् **पतिः** स्वामी **भवन्** जायमानः सन् **रुक्मिभिः** तेजोमद्भिः । [रोचते इति रुक्मः, रुच दीप्तौ, युजिरुचितिजां कुश्च । उ० १।१४६ इति मक् प्रत्ययः, चकारस्य कुत्वं च ।] **शुभ्रेभिः** स्वच्छैः **अंशुभिः** मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियादिभिः **ईयते** व्यापारं करोति ॥५॥

भावार्थः— देहाधिष्ठात्रा जीवात्मना देहस्थानि मनोबुद्ध्यादीनि बाह्यानि च साधनानि प्रयुज्य सदैवोन्नतिः कार्या ॥५॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा का वर्णन करते हैं।

पदार्थ— वाजी बलवान् **एषः** यह सोम जीवात्मा **सिन्धूनाम्** शरीरस्थ रक्तवाहिनी नाड़ियों का **पतिः** स्वामी **भवन्** होता हुआ **रुक्मिभिः** तेजस्वी **शुभ्रेभिः** स्वच्छ **अंशुभिः** मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय आदियों से **ईयते** कार्य करता है ॥५॥

भावार्थ— शरीर के अधिष्ठाता जीवात्मा को शरीरस्थ मन, बुद्धि, आदि को तथा बाह्य साधनों को प्रयुक्त करके सदा ही उन्नति करनी चाहिए ॥५॥

अथ वृषभवर्णनमुखेन देहधारिणं जीवात्मानं वर्णयति।

३१र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १र २र३ १ २
१२७१. एष शृङ्गाणि दोधुवच्छिशीते यूथ्यो३ वृषा। नृम्णा दधान ओजसा ॥६॥[2]

३ २ १ २र १२र १ २र ३क २ १ २र ३ २ १ २र १ २र
एषः शृङ्गाणि दोधुवत्। शिशीते यूथ्यः वृषा। नृम्णा दधानः ओजसा ॥६॥

---

१. ऋ० ९।१५।५ ।
२. ऋ० ९।१५।४ ।

पदार्थः— प्रथमः वृषभपक्षे । **ओजसा** प्राबल्येन **नृम्णा** नृम्णानि बलानि । [नृम्णमिति बलनाम । निघं० २।९।] **दधानः** धारयन् **एषः** अयम् **यूथ्यः** यूथार्हः **वृषा** वृषभः **शृङ्गाणि** विषाणानि **दोधुवत्** कम्पयन् **शिशीते** पर्वतस्तम्भादौ तीक्ष्णीकरोति ।।

द्वितीयः मनुष्यपक्षे । **ओजसा** बलेन **नृम्णा** नृम्णानि धनानि । [नृम्णमिति धननाम । निघं० २।१०] **दधानः** अर्जयन् **एषः** अयम् **यूथ्यः** यूथार्हः, सामाजिकः **वृषा** अन्येषु सुखवर्षको मानवः **दोधुवत्** दोषान् कम्पयन् **शृङ्गाणि** चतुरः पुरुषार्थान् धर्मार्थकाममोक्षरूपान् । [चत्वारि शृङ्गा[1] ऋ० ४।५८।३, य० १७।९१ इति वचनात् ।] शिशीते अभ्यस्यति ।।६।।

अत्र श्लेषः, प्रथमेऽर्थे च स्वभावोक्तिरलङ्कारः ।।६।।

भावार्थः— यथा बलवान् वृषभः स्वभावानुसारं शिरः कम्पयन् स्वकीये शृङ्गे पर्वतादौ तीक्ष्णयति तथा बलवान् मानवो धर्मार्थकाममोक्षान् तीक्ष्णयेत् ।।६।।

अगले मन्त्र में सांड का वर्णन करते हुए देहधारी जीवात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ— प्रथम सांड के पक्ष में । **ओजसा** प्रबलता के साथ **नृम्णा** बलों को **दधानः** धारण करता हुआ **एषः** यह **यूथ्यः** गौओं के समूह में रहने वाला **वृषा** सांड **शृङ्गाणि** सींगों को **दोधुवत्** कंपाता हुआ **शिशीते** पर्वत, खम्भे आदि पर तेज कर रहा है ।।

द्वितीय मनुष्य के पक्ष में । **ओजसा** बल से **नृम्णा** धन को **दधानः** कमाता हुआ **एषः** यह **यूथ्यः** सामाजिक तथा **वृषा** अन्यों पर सुख की वर्षा करने वाला मानव **दोधुवत्** दोषों को कंपाता हुआ **शृङ्गाणि** धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का **शिशीते** अभ्यास करता है ।।६।।

यहां श्लेष है, प्रथम अर्थ में स्वभावोक्ति अलंकार है ।।६।।

भावार्थ— जैसे बलवान् सांड स्वभाव के अनुसार सिर को कंपाता हुआ अपने सींगों को पर्वत आदि पर तीक्ष्ण करता है, वैसे ही बलवान् मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को तीक्ष्ण करे ।।६।।

अथ कीदृशो जीवात्मा कुत्र परमात्मानमनुभवतीत्याह ।

१२७२. एष वसूनि पिब्दनः परुषा ययिवाँ अति । अव शादेषु गच्छति ।।७।।[2]

एषः वसूनि पिब्दनः । परुषा ययिवान् अति । अव शादेषु गच्छति ।।७।।

पदार्थः— पिब्दनः[3] पिबन् स्वयमुपासनारसमास्वादयन् तम् अन्येभ्यो ददाति यः सः[4] **एषः** अयं जीवात्मा **परुषा** परुषाणि परिणतौ कठोराणि **वसूनि** भौतिकधनानि **अति ययिवान्** अतिक्रान्तवान् सन् **शादेषु** शाद्वलेषु शष्पप्रदेशेषु[5] **अवगच्छति** परमात्मानं जानाति अनुभवति ।।७।।

---

१. चत्वारो वेदा नामाख्यातोपसर्गनिपाता विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयधर्मार्थकाममोक्षाश्चेत्यादीनि शृङ्गाणि- इति ऋ० ४।५८।३ भाष्ये द०।

२. ऋ० ९।१५।६ 'पिब्दना' इति भेदः ।

३. पिब्दनः पीडयन्-इति सा० । पिबमानः सोमलक्षणानि-इति वि० ।

४. 'पिब्दनः' इति पदं पदकारेण नावगृहीतम्, अस्पष्टार्थत्वात् ।

५. शादो जम्बालशष्पयोः इत्यमरः (३।३।९०) ।

भावार्थः— शष्पादिना हरितेषु रमणीकेषु स्थलेषु परमात्मनो विभूतिदर्शनं सुकरं भवति । तथा च श्रुतिः- उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् धिया विप्रो अजायत (साम १४३) इति ॥७॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि कैसा जीवात्मा कहां परमात्मा का अनुभव करता है।

पदार्थ— पिब्दनः जो स्वयं उपासना रस का स्वाद लेता हुआ उसे दूसरों को भी देता है ऐसा **एषः** यह जीवात्मा **परुषा** कठोर परिणाम वाले **वसूनि** भौतिक धनों को **अति ययिवान्** छोड़कर **शादेषु** शाद्वलस्थलों में **अवगच्छति** परमात्मा का अनुभव करता है ॥७॥

भावार्थ— घास आदि से हरे-भरे रमणीक प्रदेशों में परमात्मा की विभूति का दर्शन सुगम होता है । कहा भी है— पर्वतों के एकान्त में, नदियों के संगम पर ध्यान द्वारा सर्वज्ञ परमेश्वर प्रकट होता है (साम० १४३)॥७॥

अथ पुनर्देहधारिजीवात्मविषयमाह ।

१२७३. एतमु त्यं दश क्षिपो हरिं हिन्वन्ति यातवे । स्वायुधं मदिन्तमम् ॥८॥[1]

एतम् उ त्यम् दश क्षिपः । हरिम् हिन्वन्ति यातवे ।
स्वायुधम् सु आयुधम् मदिन्तमम् ॥८॥

पदार्थः— **एतम् उ** इमं खलु **त्यम्** तम् **स्वायुधम्** शोभनशस्त्रास्त्रोपेतम्, **मदिन्तमम्** अतिशयेन उत्साहभाजम् **हरिम्** मानवम् । [हरय इति मनुष्यनामसु पठितम् । निघं २।३।] **दश क्षिपः** प्रेरकाः दश प्राणाः, दश प्रेरकाणि इन्द्रियाणि वा **यातवे** यातुम्, ज्ञानं सम्पादयितुं पुरुषार्थं च कर्तुम् **हिन्वन्ति** प्रेरयन्ति ॥८॥

भावार्थः— यथा क्षेपकाः प्रतोदा अश्वं यातुं प्रेरयन्ति तथा दश प्राणा दशेन्द्रियाणि वा देहधारिणं जीवात्मानं कार्यं कर्तुं प्रेरयन्ति ॥८॥

अस्मिन् खण्डे आत्मशुद्धेः परमात्मानुभवस्य मोक्षस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

अगले मन्त्र में फिर देहधारी जीवात्मा का विषय है ।

पदार्थ— एतम् उ इस **त्यम्** उस **स्वायुधम्** उत्तम शस्त्रास्त्रों से युक्त **मदिन्तमम्** अतिशय उत्साहयुक्त **हरिम्** मनुष्य को **दश क्षिपः** दस प्रेरक प्राण वा दस प्रेकर इन्द्रियां **यातवे** गति करने के लिए अर्थात् ज्ञानसम्पादन तथा पुरुषार्थ करने के लिए **हिन्वन्ति** प्रेरित करती हैं ॥८॥

भावार्थ— जैसे चाबुकें घोड़े को चलने के लिए प्रेरित करती हैं वैसे ही दस प्राण वा दस इन्द्रियां देहधारी जीवात्मा को कर्म करने के लिए प्रेरित करती हैं॥८॥

इस खण्ड में आत्मशुद्धि, परमात्मानुभव और मोक्ष के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्वखण्ड के साथ संगति है ॥

दशम अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ।

---

१. ऋ० ९।१५।८, 'मृजन्ति सप्त धीतयः' इति द्वितीयः पादः ।

।।४।। अथ 'एष उ' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य षड्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** राहूगण आङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः।।

तत्रादौ जीवात्मविषय उच्यते ।

३ २ ३ २उ ३ २उ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
१२७४. **एष उ स्य वृषा रथोऽव्या वारेभिरव्यत । गच्छन् वाजं सहस्रिणम् ।।१।।**[1]

३ २ ३ २ १ २र १ २र १ २र १२र ३ १ २र १ २र ३ १ २
एषः उ स्यः वृषा रथः । अव्याः वारेभिः अव्यत । गच्छन् वाजम् सहस्रिणम् ।।१।।

पदार्थः— सहस्रिणम् सहस्रैश्वर्योपेतम् **वाजम्** बलम् **गच्छन्** प्राप्नुवन् **एषः उ** अयं खलु **स्यः** सः **वृषा** सुखवर्षकः, **रथः** रंहणशीलः सोमः जीवात्मा । [रथो रंहतेर्गतिकर्मणः निरु० ९।११ ।] **अव्याः वारेभिः** रक्षिकाया जगन्मातुः दोषनिवारकैरुपायैः **अव्यत** रक्ष्यते । [अवतेः रक्षणार्थात् कर्मणि लङि रूपम् । आडागमाभावश्छान्दसः]।।१।।

भावार्थः— जगदम्बाया उपासनेन मानवस्य दोषा अपगच्छन्ति सद्गुणाश्च तस्मिन् समायान्ति ।।१।।

प्रथम मन्त्र में जीवात्मा का विषय वर्णित किया गया है ।

पदार्थ— **सहस्रिणम्** सहस्र ऐश्वर्यों से युक्त **वाजम्** बल को **गच्छन्** प्राप्त करता हुआ **एषः उ** यह **स्यः** वह **वृषा** सुखवर्षी **रथः** गतिशील सोम जीवात्मा **अव्याः वारेभिः** रक्षा करने वाली जगन्माता के दोष-निवारक उपायों से **अव्यत** रक्षा किया जाता है ।।१।।

भावार्थ— जगन्माता की उपासना से मनुष्य के दोष दूर होते हैं और उसमें सद्गुण समा जाते हैं ।।१।।

अथ परमात्मदर्शनविषयमाह ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
१२७५. **एतं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः । इन्दुमिन्द्राय पीतये ।।२।।**[2]

३ २ ३ १ २ १२र १२र ३ १ २र ३
एतम् त्रितस्य योषणः । हरिम् हिन्वन्ति अद्रिभिः अ द्रिभिः ।

१ २र १ २र ३ १ २
इन्दुम् इन्द्राय पीतये ।।२।।

पदार्थः— त्रितस्य मेधया तीर्णतमस्य उपासकस्य । [त्रितस्तीर्णतमो मेधया । निरु० ४।६।] **योषणः** ध्यानवृत्तयः । [याः युवन्ति मेलयन्ति परमात्मानं जीवात्मना सह ताः योषणः । यु मिश्रणामिश्रणयोः, अदादिः।] **एतम्** इमम् **हरिम्** दोषहर्तारम् **इन्दुम्** रसनिधिं परमेश्वरम् **इन्द्राय पीतये** जीवात्मनः पानाय **अद्रिभिः** प्रणवजपादिरूपैः पाषाणैः **हिन्वन्ति** प्रेरयन्ति ।।२।।

भावार्थः— योगाभ्यासेन मनुष्यः परमात्मानं साक्षात्कर्तुं क्षमते ।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा के दर्शन का विषय है ।

पदार्थ— त्रितस्य धारणावती बुद्धि में बहुत अधिक बढ़े हुए उपासक की **योषणः** ध्यानवृत्तियां **एतम्** इस **हरिम्** दोषहर्ता **इन्दुम्** रसनिधि परमेश्वर को **इन्द्राय पीतये** जीवात्मा द्वारा पिये जाने के लिए **अद्रिभिः** प्रणव-जप आदि रूप सिल-बट्टों से **हिन्वन्ति** प्रेरित करती हैं।।२।।

---

१. ऋ० ९।३८।१, 'रथोऽव्यो वारेभिरर्षति' इति पाठः ।

२. ऋ० ९।३२।२, साम० ७७१। उभयत्र 'आदीं त्रितस्य' इति भेदः, ऋषिश्च श्यावाश्व आत्रेयः । ऋ० ९।३८।२।

भावार्थ– योगाभ्यास द्वारा मनुष्य परमात्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ हो सकता है ।।२।।

अथ परमात्मनोऽनुग्रहं प्रदर्शयति ।

१२७६. एष स्य मानुषीष्वा श्येनो न विक्षु सीदति ।
गच्छञ्जारो न योषितम् ।।३।।[1]

एषः स्यः मानुषीषु आ । श्येनः न विक्षु सीदति । गच्छन् जारः न योषितम् ।।३।।

पदार्थः– **योषितम्** जायां **गच्छन्** प्रेम्णा व्रजन् **जारः न** पतिः इव **गच्छन्** धार्मिकीं प्रजां प्रेम्णा व्रजन् **एषः स्यः** अयं सः सोमः रसागारः परमेश्वरः **श्येनः न** आदित्यः इव। [श्येन आदित्यो भवति, श्यायतेर्गतिकर्मणः । निरु० १४।१३।] **मानुषीषु विक्षु** मानवीषु प्रजासु **आ सीदति** आतिष्ठति ।।३।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।३।।

भावार्थः– पतिर्यथा जायायां स्निह्यति तथा परमेश्वरो धार्मिक्यां प्रजायां स्निह्यति । यथा च दिवि तिष्ठन् सूर्यः सर्वाः प्रजा भौतिकप्रकाशप्रदानेनानुगृह्णाति तथैव परमेश्वरो दिव्यप्रकाशप्रदानेन ।।३।।

अगले मन्त्र में परमात्मा की कृपा का वर्णन है ।

पदार्थ– **योषितम्** पत्नी के पास **गच्छन्** प्रेम से जाते हुए **जारः न** पति के समान **गच्छन्** धार्मिक प्रजा के पास प्रेम से जाता हुआ **एषः स्यः** यह वह सोम अर्थात् रसागार परमेश्वर **श्येनः न** सूर्य के समान **मानुषीषु विक्षु** मानवी प्रजाओं में **आसीदति** स्थित है ।।३।।

यहां उपमालंकार है ।।३।।

भावार्थ– पति जैसे पत्नी से स्नेह करता है वैसे ही परमेश्वर धार्मिक प्रजा से स्नेह करता है । जैसे आकाश में स्थित सूर्य सब प्रजाओं को भौतिक प्रकाश देकर अनुगृहीत करता है वैसे ही परमेश्वर दिव्य प्रकाश देकर ।।३।।

अथ चन्द्रवर्णनमुखेन जीवात्मानं वर्णयति ।

१२७७. एष स्य मद्यो रसोऽव चष्टे दिवः शिशुः। य इन्दुर्वारमाविशत् ।।४।।[2]

एषः स्यः मद्यः रसः । अव चष्टे दिवः शिशुः ।
यः इन्दुः वारम् आविशत् आ अविशत् ।।४।।

पदार्थः– **प्रथमः** चन्द्रपक्षे । ग्रहणान्मोक्षानन्तरं चन्द्रमसं वर्णयति- **एषः स्यः** अयं सः **मद्यः** मदाय मोदाय हितः, **रसः** चन्द्रिकारसवर्षकः, **दिवः शिशुः** आकाशस्य शिशुरिव विद्यमानः चन्द्रः **अव चष्टे** पूर्णतः प्रकाशितोऽस्ति, **यः इन्दुः** यश्चन्द्रः, पूर्वम् **वारम्** सूर्यचन्द्रयोर्मध्ये पृथिव्या आगमनात् आवरणम् । [वृ संवरणे भ्वादिः, यद्वा, वृञ् आवरणे चुरादिः । तस्माद् घञ् ।] **आविशत्** प्रविष्टवान् आसीत् ।।

---

१. ऋ० ९।३८।४ ।
२. ऋ० ९।३८।५ ।

द्वितीयः जीवात्मपक्षे । **एषः स्यः** अयं सः **मद्यः** मादयितुं योग्यः **रसः** रसपायी, **दिवः शिशुः** द्योतमानस्य परमात्मनः पुत्र इव प्रियः जीवात्मा **अवचष्टे** परमात्मानं पश्यति, **यः इन्दुः** यो जीवात्मा पूर्वम् **वारम्** परमात्म-दर्शनवारकं भोग्यं जगत् प्रति **आविशत्** आकृष्ट आसीत् ।।४।।

अत्र श्लेषालङ्कारः । 'दिवः शिशुः' इत्यत्र च लुप्तोपमा । 'रसः' इत्यस्य **रसवर्षके** रसपायिनि वा लक्षणा ।।४।।

भावार्थः— चन्द्रग्रहणं पूर्णमास्यामेव जायते । ग्रहणकाले चन्द्रोऽशतः पूर्णतो वा अन्धकारावृतो भवति । शनैः शनैश्च तस्य मोक्षः सम्पद्यते । पूर्णमोक्षानन्तरं स पूर्ववत् पूर्णचन्द्रत्वेन भासते । सेयं विज्ञानसम्मता प्राकृतिकी घटना । पौराणिको राहुकेतुवृत्तान्तस्तु काल्पनिक एव । तथैव जीवात्माऽपि भोग्यं जगत् प्रति समाकृष्टस्तेन ग्रस्यते । ततो मोक्षानन्तरमेव स परमात्मानं साक्षात्कुरुते ।।४।।

अगले मन्त्र में चन्द्रमा के वर्णन द्वारा जीवात्मा का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— **प्रथम** चन्द्र के पक्ष में । ग्रहण से मोक्ष के बाद के चन्द्रमा का वर्णन करते हैं- **एषः स्यः** यह वह **मद्यः** मोददायी, **रसः** चांदनी का रस बरसाने वाला, **दिवः शिशुः** आकाश के शिशु के समान विद्यमान चन्द्रमा **अव चष्टे** पूर्णतः प्रकाशित हो गया है, **यः इन्दुः** जो चन्द्रमा पहले **वारम्** सूर्य और चन्द्रमा के मध्य पृथिवी के आ जाने से आवरण में **आविशत्** प्रविष्ट हो गया था ।।

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में । **एषः स्यः** यह वह **मद्यः** आनन्दित करने योग्य, **रसः** रस पीने वाला **दिवः शिशुः** तेजस्वी परमात्मा को पुत्र के समान प्रिय जीवात्मा **अवचष्टे** परमात्मा का दर्शन कर रहा है, **यः इन्दुः** जो जीवात्मा, पहले **वारम्** परमात्मा के दर्शन को रोकने वाले भोग्य जगत् के प्रति **आविशत्** आकृष्ट था।।४।।

यहाँ श्लेषालंकार है । 'दिवः शिशुः' में लुप्तोपमा है । 'रसः' की रसवर्षक वा रसपायी में लक्षणा है ।।४।।

भावार्थ— चन्द्रग्रहण पूर्णमासी को ही होता है । ग्रहणकाल में चन्द्रमा अंशतः या पूर्णतः अन्धकार से ढक जाता है । धीरे-धीरे उसका मोक्ष होता है । पूर्ण मोक्ष के पश्चात् वह पहले के समान पूर्ण चन्द्रमा के रूप में भासित होने लगता है । यह विज्ञानसंमत प्राकृतिक घटना है; पौराणिक राहु-केतु का वृत्तान्त काल्पनिक ही है । वैसे ही जीवात्मा भी भोग्य जगत् के प्रति आकृष्ट होकर उससे ग्रसा जाता है । उससे मोक्ष के अनन्तर ही वह परमात्मा का साक्षात् कर पाता है ।।४।।

अथ जीवात्मनो देहे जन्म वर्णयति ।

१२७८. एष स्य पीतये सुतो हरिरर्षति धर्णसिः । क्रन्दन् योनिमभि प्रियम्।।५।।[1]

एषः स्यः पीतये सुतः । हरिः अर्षति धर्णसिः । क्रन्दन् योनिम् अभि प्रियम् ।।५।।

पदार्थः— **एषः स्यः** अयं सः **धर्णसिः** देहधारकः । [धृञ् धारणे, बाहुलकाद् औणादिकः असिप्रत्ययः नुडागमश्च।] **हरिः** जीवात्मा **पीतये** कर्मफलास्वादनाय **सुतः** उत्पादितः **क्रन्दन्** क्रन्दनं कुर्वन् **प्रियम् योनिम् अभि** प्रियं जन्मकारणं मातापितृरूपम् अभिलक्ष्य **अर्षति** गच्छति ।।५।।

भावार्थः— मातुर्गर्भे दशमासान् शयितः शिशुर्बहिर्निःसृत्य कर्मफलानि भुञ्जानः श्रेष्ठानि नूतनकर्माणि च कुर्वाण उन्नतिं कुर्यात् ।।५।।

अगले मन्त्र में जीवात्मा का शरीर में जन्म वर्णित है ।

---

१. ऋ० ९।३८।६ ।

पदार्थ– एषः स्यः यह वह **धर्णसिः** देह को धारण करने वाला **हरिः** जीवात्मा **पीतये** कर्मफलों का स्वाद लेने के लिए **सुतः** उत्पन्न किया हुआ **क्रन्दन्** क्रन्दन करता हुआ **प्रियं योनिम् अभि** जन्म में कारणभूत प्रिय माता-पिता की ओर **अर्षति** जाता है ।।५।।

भावार्थ– माता के गर्भ में दस महीने तक लेटा रहा शिशु बाहर निकलकर कर्मफलों का भोग करता हुआ और श्रेष्ठ नवीन कर्म करता हुआ उन्नति करे ।।५।।

अथ देहस्थस्य जीवात्मनः साधनानि वर्णयति ।

१२७९. एतं त्यं हरितो दश मर्मृज्यन्ते अपस्युवः । याभिर्मदाय शुम्भते ।।६।।[1]

एतम् त्यम् हरितः दश । मर्मृज्यन्ते अपस्युवः । याभिः मदाय शुम्भते ।।६।।

पदार्थः– एतं त्यम् अमुं देहधारिणं जीवात्मानम् **अपस्युवः** ज्ञानकर्मोपार्जनकामाः **दश हरितः** दश स्वस्वविषयहारीणि इन्द्रियाणि **मर्मृज्यन्ते** अतिशयेन अलङ्कुर्वन्ति । [मृजू शौचालङ्कारयोः, चुरादिः] **याभिः** यैर्दशभिः इन्द्रियैः सः **मदाय** सुखभोगाय **शुम्भते** शोभते । [शुम्भ शोभार्थे, तुदादिः । आत्मनेपदं छान्दसम्] ।।६।।

भावार्थः– यदि देहे ज्ञाता कर्मकर्ता च जीवात्मा मनोबुद्धिप्राणसहितानि ज्ञानकर्मेन्द्रियरूपाणि साधनानि न प्राप्नुयात् तर्हि कथं सफलो भवेत् ।।६।।

अस्मिन् खण्डे जीवात्मपरमात्मविषयवर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।।

अब देह में स्थित जीवात्मा के साधनों का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ– एतं त्यम् इस उस देहधारी जीवात्मा को **अपस्युवः** ज्ञान और कर्म के उपार्जन की इच्छुक **दश हरितः** दस इन्द्रियाँ **मर्मृज्यन्ते** अतिशय अलंकृत करती हैं, **याभिः** जिन दस इन्द्रियों से वह **मदाय** सुखभोगार्थ **शुम्भते** शोभित होता है ।।६।।

भावार्थ– यदि शरीर में ज्ञान प्राप्त करने वाला और कर्म करने वाला जीवात्मा मन, बुद्धि एवं प्राणों सहित ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय रूप साधनों को न प्राप्त करे तो कैसे सफल हो सकता है ।।६।।

इस खण्ड में जीवात्मा और परमात्मा के विषय का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।

दशम अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ।

।।५।। अथ 'एष वाजी' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य षड्ऋचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** प्रियमेध आङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ परमात्मजीवात्मविषयमाह ।

१२८०. एष वाजी हितो नृभिर्विश्ववित् मनसस्पतिः। अव्यं वारं वि धावति।।१।।[2]

एषः वाजी हितः नृभिः । विश्ववित् विश्व वित् मनसः पतिः ।
अव्यम् वारम् वि धावति ।।१।।

---

१. ऋ० ९।३८।३ ।

२. ऋ० ९।२८।१, 'अव्यो वारं इति भेदः ।

पदार्थः— **वाजी** बलवान्, **नृभिः हितः** मनुष्यैरन्तःकरणे धृतः,**विश्ववित्** सर्वज्ञः सर्वान्तर्यामी,**मनसः पतिः** मनसः अधीश्वरः **एषः** अयं सोमः परमेश्वरः **अव्यम्** अव्ययम् अविनश्वरम् **वारम्** वरणीयं जीवात्मानम् **वि धावति** सद्यो गच्छति ॥१॥

भावार्थः— यथा पिता प्रियं पुत्रं प्रति गच्छति तथा परमात्मा जीवात्मानं प्रेम्णा प्राप्नोति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा और जीवात्मा का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— **वाजी** बलवान्, और **नृभिः हितः** मनुष्यों द्वारा अन्तःकरण में धारण किया गया **विश्ववित्** सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, **मनसः पतिः** मन का अधीश्वर **एषः** यह सोम परमेश्वर **अव्यम्** अविनश्वर, **वारम्** वरणीय जीवात्मा के पास **वि धावति** शीघ्रता से पहुँचता है ॥१॥

भावार्थ— जैसे पिता प्यारे पुत्र के पास पहुँचता है, वैसे ही परमात्मा जीवात्मा के पास प्रेम से पहुँचता है ॥१॥

अथ ब्रह्मानन्दरसविषयमाह ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ २
१२८१. **एष पवित्रे अक्षरत् सोमो देवेभ्यः सुतः । विश्वा धामान्याविशन् ॥२॥**[1]

३ २ ३ १ २ ३ १ २ र ३ १ २ ३ २
एषः पवित्रे अक्षरत् । सोमः देवेभ्यः सुतः ।
१ २र १ २र ३ २ ३ २
विश्वा धामानि आविशन् आ विशन् ॥२॥

पदार्थः— **देवेभ्यः** शरीरस्थेभ्य आत्ममनोबुद्धिप्राणादिभ्यः **सुतः** अभिषुतः **एषः सोमः** अयं ब्रह्मानन्दरसः **पवित्रे** पूतेऽन्तरात्मनि **अक्षरत्** क्षरितोऽस्ति, किञ्च **विश्वा धामानि** सर्वान् अन्नमयप्राणमयमनोमयादिकोशान् **आविशन्** व्याप्नुवन् वर्तते ॥२॥

भावार्थः— अन्तरात्मनि पवित्रे सत्येव ब्रह्मानन्दरसानुभवो जायते ॥२॥

आगे ब्रह्मानन्दरस का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— **देवेभ्यः** शरीर में स्थित आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण आदियों के लिए **सुतः** अभिषुत किया गया **एषःसोमः** यह ब्रह्मानन्द-रस **पवित्रे** पवित्र अन्तरात्मा में **अक्षरत्** टपका है, और **विश्वा धामानि** सब अन्नमय, प्राणमय, मनोमय आदि कोशों में **आविशन्** व्याप्त हो रहा है ॥२॥

भावार्थ— अन्तरात्मा के पवित्र होने पर ही ब्रह्मानन्दरस का अनुभव होता है ॥२॥

अथ जीवात्मनः परमात्मप्राप्तिविषयमाह ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१२८२. **एष देवः शुभायतेऽधि योनावमर्त्यः । वृत्रहा देववीतमः ॥३॥**[2]

३ २ ३ २ ३ १ २ र १ २र १ २र ३
एषः देवः शुभायते । अधि योनौ अमर्त्यः अ मर्त्यः ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
वृत्रहा वृत्र हा देववीतमः देव वीतमः ॥३॥

---

१. ऋ० ९।२८।२ ।
२. ऋ० ९।२८।३ ।

पदार्थः— **अमर्त्यः** अमरणशीलः, **वृत्रहा** विघ्नहन्ता, **देववीतमः** अतिशयेन दिव्यगुणानां प्रापकः **एष देवः** अयं स्तोता जीवः **योनौ अधि** परमात्मरूपे गृहे **शुभायते** शोभते ॥३॥

भावार्थः— यथा गृही गृहेण शोभते तथा जीवात्मा परमात्मानं प्राप्य शोभते ॥३॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का विषय कहा गया है ।

पदार्थ— **अमर्त्यः** अमरणशील, **वृत्रहा** विघ्नों का विनाशक, **देववीतमः** दिव्यगुणों को अत्यधिक प्राप्त करने वाला **एष देवः** यह स्तोता जीव **योनौ अधि** परमात्मारूप घर में **शुभायते** शोभित होता है ॥३॥

भावार्थ— जैसे गृहस्वामी की घर से शोभा होती है वैसे ही जीवात्मा की परमात्मा को प्राप्त करने से शोभा होती है ॥३॥

अथ जीवात्मनः कर्तव्यमाह ।

३२ड ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
१२८३. **एष वृषा कनिक्रदद् दशभिर्जामिभिर्यतः । अभि द्रोणानि धावति ॥४॥**[1]

३ २ १ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २र ३
एषः वृषा कनिक्रदत् दशभिः जामिभिः यतः । अभि द्रोणानि धावति ॥४॥

पदार्थः— **वृषा** बलवान्, **दशभिः जामिभिः** दशभिः अङ्गुलिभिः, अङ्गुलिवत् परस्परसम्बद्धैः दशभिः यमनियमैः **यतः** नियन्त्रितः **एषः** अयं सोमः जीवात्मा **द्रोणानि अभि** सांसारिकान् भोगान् प्रति **धावति** धावेत् [विध्यर्थे लेट्]॥४॥

भावार्थः— सांसारिकेषु भोगेष्वत्यासक्तिर्नोचिता ॥४॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा का कर्तव्य वर्णित है ।

पदार्थ— **वृषा** बलवान् और **दशभिः जामिभिः** दस अंगुलियों से अर्थात् अंगुलियों के समान आपस में सम्बद्ध दस यम-नियमों से **यतः** नियन्त्रित हुआ **एषः** यह सोम जीवात्मा **द्रोणानि अभि** सांसारिक भोगों के प्रति **धावति** दौड़े ॥४॥

भावार्थ— सांसारिक भोगों में अति आसक्ति उचित नहीं है ॥४॥

अथ परमात्मनः कर्तृत्वं महत्त्वं चाह ।

३१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
१२८४. **एष सूर्यमरोचयत् पवमानो अधि द्यवि । पवित्रे मत्सरो मदः ॥५॥**

३ २ १ २र ३ १ २र १ २र १ २र ३ १ २ ३ २ १ २र
एषः सूर्यम् अरोचयत् । पवमानः अधि द्यवि । पवित्रे मत्सरः मदः ॥५॥

पदार्थः— **एषः** अयम् **पवमानः** क्रियाशीलः सोमः परमात्मा **द्यवि अधि** द्युलोके **सूर्यम्** आदित्यम् **अरोचयत्** रोचितवानस्ति । अपि च, **मदः** आनन्दमयः एष परमात्मा **पवित्रे** पूतेऽन्तरात्मनि **मत्सरः** आनन्दजनको जायते । [माद्यतेः 'कृधूमदिभ्यः कित्' उ० ३।७३ इत्यनेन सरन् प्रत्ययः]॥५॥

भावार्थः— बाह्ये जगति सूर्यचन्द्रतारावल्यादौ मानवदेहाभ्यन्तरे मनोमस्तिष्कादौ च यत् कर्तृत्वं महत्त्वं च दृश्यते तत् सर्वं परमात्मन एव ॥५॥

---

१. ऋ० ९।२८।४ ।

अगले मन्त्र में परमात्मा का कर्तृत्व और महत्त्व वर्णित किया गया है ।

पदार्थ– **एषः** इस **पवमानः** क्रियाशील सोम परमात्मा ने **द्यवि अधि** द्युलोक में **सूर्यम्** सूर्य को **अरोचयत्** चमकाया है, और **मदः** आनन्दमय यह परमात्मा **पवित्रे** पवित्र अन्तरात्मा में **मत्सरः** आनन्दजनक होता है ॥५॥

भावार्थ– बाहरी जगत् में सूर्य, चाँद, तारावलि आदि में और अन्दर के जगत् मन, मस्तिष्क आदि में जो कर्तृत्व और महत्त्व दिखायी देता है वह सब परमात्मा का ही है ॥५॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

३ १ र २ र ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ र २ र
१२८५. एष सूर्येण हासते संवसानो विवस्वता । पतिर्वाचो अदाभ्यः ॥६॥

३ २ १ २ र ३ १ २ ३ १ २ र ३ १ २ ३ १ २ र
एषः सूर्येण हासते । संवसानः सम् वसानः विवस्वता वि वस्वता ।

१ २ र ३ २ १ २ र ३
पतिः वाचः अदाभ्यः अ दाभ्यः ॥६॥

पदार्थः– संवसानः सर्वं स्वतेजसा आच्छादयन् । [वस आच्छादने, अदादिः।] **एषः** अयं सोमः परमेश्वरः **विवस्वता** तमोविवासनवता **सूर्येण** आदित्येन **हासते** स्पर्धते । [हासति स्पर्धायाम् । निरु० ९।३७।] अपि च, **अदाभ्यः** दब्धुं पराजेतुमशक्यः एषः **वाचः पतिः** गीष्पतिः अपि विद्यते ॥६॥

भावार्थः– परमेश्वरः सूर्यविद्युदादिभ्योऽप्यधिकतेजा वाचस्पतीनामपि च मूर्धन्यो विद्यते ॥६॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मनो जीवात्मनश्च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ– **संवसानः** सबको अपने तेज से आच्छादित करता हुआ **एषः** यह सोम परमेश्वर **विवस्वता** अन्धकार को दूर करने वाले **सूर्येण** सूर्य के साथ **हासते** स्पर्धा करता है और **अदाभ्यः** जिसे दबाया या पराजित नहीं किया जा सकता ऐसा यह **वाचः पतिः** वाणी का भी स्वामी है ॥६॥

भावार्थ– परमेश्वर सूर्य, बिजली आदि से भी अधिक तेजस्वी और वाचस्पतियों का भी मूर्धन्य है॥६॥

इस खण्ड में परमात्मा और जीवात्मा के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

दशम अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ।

॥६॥ अथ 'एष कवि' इत्यादिकस्य षष्ठस्य षडृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** नृमेध आङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ परमात्मविषयमाह ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ उ ३ १ २
१२८६. एष कविरभिष्टुतः पवित्रे अधि तोशते । पुनानो घ्नन्नप द्विषः ॥१॥[1]

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३
एषः कविः अभिष्टुतः अभि स्तुतः । पवित्रे अधि तोशते ।

२ १ २ र १ २ र
पुनानः घ्नन् अप द्विषः ॥१॥

---

१. ऋ० ९।२७।१, 'द्विषः' इत्यत्र 'सिधः' इति पाठः ।

पदार्थः— **अभिष्टुतः** स्तुतिविषयीकृतः **कविः** मेधावी क्रान्तद्रष्टा **एषः** अयं सोमः परमेश्वरः **पुनानः** अन्तःकरणं पवित्रं कुर्वन्, **द्विषः** द्वेषवृत्तीः **अपघ्नन्** अपहिंसन् **पवित्रे अधि** पवित्रे अन्तःकरणे **तोशते**[1] दीप्यते।।१।।

भावार्थः— मलिने दर्पणे यथा प्रतिबिम्बं न भासते तथैव मलिनेऽन्तरात्मनि परमेश्वरो न प्रकाशते ।।१।।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा का विषय है ।

पदार्थ— **अभिष्टुतः** स्तुति किया हुआ **कविः** मेधावी, क्रान्तद्रष्टा **एषः** यह सोम परमेश्वर **पुनानः** अन्तःकरण को पवित्र करता हुआ **द्विषः** द्वेषवृत्तियों को **अपघ्नन्** मार भगाता हुआ **पवित्रे अधि** पवित्र अन्तरात्मा में **तोशते** प्रदीप्त होता है ।।१।।

भावार्थ— मलिन दर्पण में जैसे प्रतिबिम्ब भासित नहीं होता, वैसे ही मलिन अन्तरात्मा में परमेश्वर प्रकाशित नहीं होता ।।१।।

अथ पुनः स एव विषय उच्यते ।

१२८७. एष इन्द्राय वायवे स्वर्जित् परि षिच्यते । पवित्रे दक्षसाधनः ।।२।।[2]

एषः इन्द्राय वायवे । स्वर्जित् स्वः जित् परि सिच्यते ।

पवित्रे दक्षसाधनः दक्ष साधनः ।।२।।

पदार्थः— **स्वर्जित्** परमानन्दस्य जेता, **दक्षसाधनः** बलकारी **एषः** अयं सोमः परमेश्वरः **इन्द्राय** मनसो हिताय **वायवे** प्राणस्य हिताय च **पवित्रे** पवित्रे अन्तरात्मनि **परि षिच्यते** परिक्षार्यते ।।२।।

भावार्थः— उपासकस्यान्तरात्मनि परमात्मन्याविर्भूते सति मनोबुद्धिप्राणादीनि सर्वाण्यपि बलवन्ति जायन्ते ।।२।।

आगे पुनः वही विषय है ।

पदार्थ— **स्वर्जित्** परमानन्द का विजेता, **दक्षसाधनः** बलदायक **एषः** यह सोम परमेश्वर **इन्द्राय** मन के हितार्थ और **वायवे** प्राण के हितार्थ **पवित्रे** पवित्र अन्तरात्मा में **परि षिच्यते** चारों ओर से सींचा जा रहा है ।।२।।

भावार्थ— उपासक के अन्तरात्मा में परमात्मा के प्रकट हो जाने पर मन, बुद्धि, प्राण आदि सभी बलवान् हो जाते हैं।।२।।

अथ पुनः परमात्मन एव विषयो वर्ण्यते ।

१२८८. एष नृभिर्वि नीयते दिवो मूर्धा वृषा सुतः । सोमो वनेषु विश्ववित् ।।३।।[3]

एषः नृभिः वि नीयते । दिवः मूर्धा वृषा सुतः ।

सोमः वनेषु विश्ववित् विश्व वित् ।।३।।

---

१. तोशते—तुशी दीप्तौ, दीप्यते—इति वि० । यद्यपि तोशतिर्वधकर्मा तथापि हनने गतिसद्भावादत्र गतिमात्रे वर्तते, गच्छतीत्यर्थः— इति सा० ।

२. ऋ० ९।२७।२ ।

३. ऋ० ९।२७।३ ।

पदार्थः- दिवः मूर्धा तेजसः शिरोमणिः, **वृषा** सुखवर्षकः, **विश्ववित्** सर्वज्ञः सर्वान्तर्यामी, **वनेषु** विजनेषु अरण्येषु **नृभिः** उपासकैर्मनुष्यैः **सुतः** ध्यानेन आविष्कृतः **एषः** अयम् **सोमः** रसमयः परमेश्वरः **तैः वि नीयते** विशेषेण जीवने आनीयते ॥३॥

भावार्थः— उपासका जनाः परमात्मानं साक्षात्कृत्य तं स्वजीवनस्याङ्गतां नयेयुः ॥३॥

आगे फिर परमात्मा का ही विषय है ।

पदार्थ— दिवः मूर्धा तेज का शिरोमणि, **वृषा** सुख की वर्षा करने वाला, **विश्ववित्** सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, **वनेषु** एकान्त जंगलों में **नृभिः** उपासक मनुष्यों से **सुतः** ध्यान द्वारा प्रकट किया गया **एषः** यह **सोमः** रसमय परमेश्वर, उनके द्वारा **वि नीयते** विशेष रूप से जीवन में लाया जाता है ॥३॥

भावार्थ— उपासक लोग परमात्मा का साक्षात्कार करके उसे अपने जीवन का अंग बना लें ॥३॥

अथ पुनरपि परमात्मविषयमाह ।

३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १र २र
१२८९. **एष गव्युरचिक्रदत् पवमानो हिरण्ययुः । इन्दुः सत्राजिदस्तृतः ॥४॥**[1]

३ २ ३ २ ३ १२र ३ २
एषः गव्युः अचिक्रदत् । पवमानः हिरण्ययुः ।
१ २र ३ २ ३ २ १ २र ३
इन्दुः सत्राजित् सत्रा जित् अस्तृतः अ स्तृतः ॥४॥

पदार्थः— **एषः** अयम् **गव्युः** उपासकान् उपदेशवाचः प्रापयितुकामः । [गौः इति वाङ्नाम । निघं० १।११।] **हिरण्ययुः** यशो ज्योतिश्च प्रापयितुकामः । [यशो वै हिरण्यम् । ऐ० ब्रा० ७।१८। ज्योतिर्हि हिरण्यम् श० ४।३।४।२१।] **सत्राजित्** युगपत् सर्वेषां कामक्रोधादीनां शत्रूणां विजेता, **अस्तृतः** केनापि अहिंसितः **पवमानः** पावकः **इन्दुः** आनन्दरसेन क्लेदकः तेजस्वी परमेश्वरः **अचिक्रदत्** अस्मान् स्वसमीपम् आह्वयति । [क्रदि आह्वाने रोदने च, णिजन्ते लुङ्]॥४॥

भावार्थः— परमेश्वरः सदैवोपासकैः सह सख्यं स्थापयितुमुद्यतस्तिष्ठति ॥४॥

आगे पुनः परमात्मा का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— एषः यह **गव्युः** उपासकों को वेद-वाणियाँ प्राप्त कराना चाहता हुआ, **हिरण्ययुः** यश और ज्योति प्राप्त कराना चाहता हुआ, **सत्राजित्** एक-साथ सब काम, क्रोध आदि शत्रुओं को जीत लेने वाला, **पवमानः** पवित्रताकारक, **इन्दुः** आनन्दरस से भिगोने वाला तेजस्वी परमेश्वर **अचिक्रदत्** हमें अपने समीप बुला रहा है ॥४॥

भावार्थ— परमेश्वर सदा ही उपासकों के साथ मित्रता स्थापित करने के लिए उद्यत रहता है ॥४॥

अथ पुनः स एव विषयो वर्ण्यते ।

३ २ ३क २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ड ३ २ ३ २
१२९०. **एष शुष्म्यसिष्यददन्तरिक्षे वृषा हरिः । पुनान इन्दुरिन्द्रमा ॥५॥**[2]

३ २ ३ २ ३ १ २ १ २र १ २र ३ २ १ २र १ २र
एषः शुष्मी असिष्यदत् । अन्तरिक्षे वृषा हरिः । पुनानः इन्दुः इन्द्रम् आ ॥५॥

---

१. ऋ० ९।२७।४ ।

२. ऋ० ९।२७।६ ।

पदार्थः— **एषः** अयम् **शुष्मी** बलवान् । [शुष्ममिति बलनाम शोषयतीति सतः । निरु० २।२३।] **वृषा** आनन्दवर्षकः **हरिः** पापहर्ता **इन्दुः** रसमयः परमेश्वरः **इन्द्रम्** जीवात्मानम् **आ पुनानः** समन्तात् पावयन् **अन्तरिक्षे** मनोमयकोशे **असिष्यदत्** प्रस्यन्दते ॥५॥

भावार्थः यथाऽन्तरिक्षे स्थितश्चन्द्रमाश्चन्द्रिकारसं प्रसारयति तथा हृद्देशे स्थितः परमेश्वर आनन्दरसं प्रवाहयति ॥५॥

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ— **एषः** यह **शुष्मी** बलवान् **,वृषा** आनन्दवर्षक, **हरिः** पापों को हरने वाला **इन्दुः** रसमय परमेश्वर **इन्द्रम्** जीवात्मा को **आ पुनानः** चारों ओर से पवित्र करता हुआ **अन्तरिक्षे** मनोमय कोश में **असिष्यदत्** प्रवाहित हो रहा है ॥५॥

भावार्थ— जैसे अन्तरिक्ष में स्थित चन्द्रमा चाँदनी के रस को प्रसारित करता है वैसे ही हृदय-प्रदेश में स्थित परमेश्वर आनन्द-रस को प्रवाहित करता है ॥५॥

अथ पुनरपि परमात्मानं वर्णयति ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१२९१ . **एष शुष्म्यदाभ्यः सोमः पुनानो अर्षति । देवावीरघशंसहा ॥६॥**[1]

३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
एषः शुष्मी अदाभ्यः अ दाभ्यः । सोमः पुनानः अर्षति ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २
देवावीः देव अवीः अघशंसहा अघशंस हा ॥६॥

पदार्थः— **एषः** अयम् **शुष्मी** बलवान् **अदाभ्यः** दब्धुं पराजेतुमशक्यः, **देवावीः** दिव्यगुणानां रक्षकः, **अघशंसहा** पापप्रशंसकानां भावानां हन्ता **सोमः** प्रेरकः परमेश्वरः **पुनानः** पवित्रतां प्रयच्छन् **अर्षति** सक्रियोऽस्ति ॥६॥

भावार्थः— परमेश्वरात् प्रेरणां प्राप्य सर्वैः पवित्रहृदयैर्भाव्यम् ॥६॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मविषयवर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

आगे पुनः परमात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ— **एषः** यह **शुष्मी** बलवान् **अदाभ्यः** दबाया या हराया न जा सकनेवाला, **देवावीः** दिव्यगुणों का रक्षक, **अघशंसहा** पापप्रशंसक भावों को नष्ट करने वाला **सोमः** प्रेरक परमेश्वर **पुनानः** पवित्रता देता हुआ **अर्षति** सक्रिय है ॥६॥

भावार्थ— परमेश्वर से प्रेरणा पाकर सबको पवित्र हृदयवाला बनना चाहिए ॥६॥

इस खण्ड में परमात्मा का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।

दशम अध्याय में पंचम खण्ड समाप्त ।

॥७॥ अथ 'स सुतः' इत्यादिकस्य सप्तमस्य षड्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** राहूगण आङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

---

१. ऋ० ९।२८।६ ।

तत्रादौ परमात्मोपासनायाः फलमाह ।

१२९२. स सुतः पीतये वृषा सोमः पवित्रे अर्षति । विघ्नन्रक्षांसि देवयुः ॥१॥[1]

स सुतः पीतये वृषा । सोमः पवित्रे अर्षति । विघ्नन् वि घ्नन् रक्षांसि देवयुः ॥१॥

पदार्थः— **पीतये** पानाय, रसास्वादनाय **सुतः** उपासितः **सः** असौ **वृषा** आनन्दवर्षकः **सोमः** रसमयः परमेश्वरः **पवित्रे** शुद्धेऽन्तरात्मनि **अर्षति** गच्छति। **देवयुः** दिव्यगुणान् प्रदातुं कामयमानः सः । [छन्दसि परेच्छायां क्यच उपसंख्यानम् । अ० ३।१।८। वा० इत्यनेन परेच्छायां क्यच्, क्याच्छन्दसि । अ० ३।२।१७० इति उ प्रत्ययः ।] **रक्षांसि** पापानि **विघ्नन्** विनाशयन् भवति ॥१॥

भावार्थः— परमात्मोपासनेनान्तरात्मनि दिव्यगुणाः समायान्ति, दोषाश्च विनश्यन्ति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा की उपासना का फल बताया गया है ।

पदार्थ— **पीतये** रसास्वादन करने के लिए **सुतः** उपासना किया गया **सः** वह **वृषा** आनन्द की वर्षा करने वाला **सोमः** रसमय परमेश्वर **पवित्रे** पवित्र अन्तरात्मा में **अर्षति** पहुँच रहा है । **देवयुः** दिव्यगुण प्रदान करना चाहता हुआ वह **रक्षांसि** पापों को **विघ्नन्** विशेष रूप से नष्ट कर रहा है ॥१॥

भावार्थ— परमात्मा की उपासना से अन्तरात्मा में दिव्यगुण आते हैं और दोष नष्ट होते हैं॥१॥

अथ कीदृशः परमेश्वरः किं कुर्वन् कुत्र गच्छतीत्याह।

१२९३. स पवित्रे विचक्षणो हरिरर्षति धर्णसिः । अभि योनिं कनिक्रदत् ॥२॥[2]

सः पवित्रे विचक्षणः वि चक्षणः । हरिः अर्षति धर्णसिः ।
अभि योनिम् कनिक्रदत् ॥२॥

पदार्थः— **सः** असौ **विचक्षणः** विद्रष्टा, **धर्णसिः** दिव्यगुणकर्मस्वभावानां धारकः **हरिः** पापहर्ता परमेश्वरः **कनिक्रदत्** उपदिशन् **योनिम् अभि** स्वनिवासगृहभूतं जीवात्मानमभिलक्ष्य **पवित्रे** परिपूते हृदये **अर्षति** गच्छति ॥२॥

भावार्थः— पवित्रात्मान एव जनाः परमेश्वरप्राप्तेरधिकारिणो भवन्ति ॥२॥

अब कैसा परमेश्वर क्या करता हुआ कहाँ जाता है यह कहते हैं ।

पदार्थ— **सः** वह **विचक्षणः** विशेष द्रष्टा, **धर्णसिः** दिव्य गुण-कर्म-स्वभावों का धारण करने वाला, **हरिः** पाप हरने वाला परमेश्वर **कनिक्रदत्** उपदेश देता हुआ **योनिम् अभि** अपने निवासगृहभूत जीवात्मा को लक्ष्य करके **पवित्रे** पवित्र हृदय में **अर्षति** पहुँचता है ॥२॥

भावार्थ— पवित्रात्मा लोग ही परमेश्वर की प्राप्ति के अधिकारी होते हैं॥२॥

---

१. ऋ० ९।३७।१ ।
२. ऋ० ९।३७।२।

अथ परमेश्वरः कं शोधयतीत्याह ।

१२९४. स वाजी रोचनं दिवः पवमानो वि धावति । रक्षोहा वारमव्ययम् ॥३॥[1]

सः वाजी रोचनम् दिवः । पवमानः वि धावति ।
रक्षोहा रक्षः हा वारम् अव्ययम् ॥३॥

पदार्थः— **सः** असौ **वाजी** बलवान्, **रक्षोहा** पापहन्ता **पवमानः** पुनानः सोमः परमेश्वरः **दिवः** द्युलोकस्य **रोचनम्** दीप्तं पिण्डं सूर्यम्, **अव्ययम्** अविनश्वरम् **वारम्** दोषनिवारकं जीवात्मानं च **वि धावति** विविधं शोधयति। [धावु गतिशुद्ध्योः, भ्वादिः]॥३॥

भावार्थः— परमेश्वरो यदि शुद्धिकरो न स्यात् तर्हि सर्वत्र मलिनतायाः साम्राज्यं भवेत् ॥३॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि परमेश्वर किसे शुद्ध करता है ।

पदार्थ— **सः** वह **वाजी** बलवान्, **रक्षोहा** पापनाशक **पवमानः** पवित्रता देने वाला सोम परमेश्वर **दिवः** द्युलोक के **रोचनम्** दीप्त पिण्ड सूर्य को, और **अव्ययम्** अविनश्वर **वारम्** दोषनिवारक जीवात्मा को **विधावति** विविध रूप से शुद्ध करता है ॥३॥

भावार्थ— परमेश्वर यदि शुद्धिकर्ता न हो तो सब जगह मलिनता का साम्राज्य छा जाए ॥३॥

अथ परमेश्वरस्योपकारमाह ।

१२९५. स त्रितस्याधि सानवि पवमानो अरोचयत् । जामिभिः सूर्यं सह ॥४॥[2]

सः त्रितस्य अधि सानवि । पवमानः अरोचयत् । जामिभिः सूर्यम् सह ॥४॥

पदार्थः— **सः** असौ **पवमानः** क्रियाशीलः पावकश्च परमेश्वरः **त्रितस्य** तृतीयस्य लोकस्य दिवः **सानवि अधि** शिखरे **जामिभिः सह** बन्धुभूतैः नक्षत्रैः सार्धम् **सूर्यम्** आदित्यम् **अरोचयत्** प्रकाशितवान् अस्ति ॥४॥

भावार्थः— परमेश्वरो दिवि सूर्यं तारावलिं च द्योतयति निराधारं धारयति चेति तदुपकारं को न मन्येत ॥४॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर का उपकार वर्णित है ।

पदार्थ— **सः** उस **पवमानः** क्रियाशील और पवित्रकर्ता परमेश्वर ने **त्रितस्य** तृतीय लोक द्यौ के **सानवि अधि** शिखर पर **जामिभिः सह** बन्धुभूत नक्षत्रों के साथ **सूर्यम्** सूर्य को **अरोचयत्** चमकाया है ॥४॥

भावार्थ— परमेश्वर द्युलोक में सूर्य और तारावलि को चमकाता है और बिना ही आधार के धारण करता है यह उसका उपकार कौन नहीं मानेगा? ॥४॥

---

१. ऋ० ९।३७।३, 'रोचना' इति भेदः ।
२. ऋ० ९।३७।४ ।

अथ पुनरपि परमात्मविषयमाह ।

१२९६. स वृत्रहा वृषा सुतो वरिवोविददाभ्यः । सोमो वाजमिवासरत् ॥५॥[1]

सः वृत्रहा वृत्र हा वृषा सुतः । वरिवोवित् वरिवः वित् अदाभ्यः अ दाभ्यः ।
सोमः वाजम् इव असरत् ॥५॥

पदार्थः— **सः** असौ **वृत्रहा** विघ्नहन्ता, **वृषा** सुखवर्षकः, **वरिवोवित्** ऐश्वर्यस्य लम्भकः । [वरिवः इति धननाम । निघं० २।१०।] **अदाभ्यः** अपराजेयः, **सुतः** अभिषुतः, उपासितः **सोमः** रसनिधिः परमेश्वरः **असरत्** उपासकान् प्राप्नोति । कथम् ? **वाजम् इव** यथा कश्चित् वीरः समराङ्गणं प्राप्नोति तद्वत् । [वाज इति सङ्गामनाम । निघं० २।१७] ॥५॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः— यथा कश्चिद् वीरः सेनापतिर्युद्धभूमिं प्राप्य स्वपक्षीयान् योद्धॄन् विजयिनः करोति तथैव परमेश्वर उपासकान् प्राप्य तेभ्यो विजयोपहारं ददाति ॥५॥

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा का विषय है ।

पदार्थ— **सः** वह **वृत्रहा** विघ्ननाशक, **वृषा** सुखवर्षी, **वरिवोवित्** ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाला, **अदाभ्यः** अपराजेय, **सुतः** उपासना किया गया **सोमः** रस का खजाना परमेश्वर **असरत्** उपासकों को प्राप्त होता है, **वाजम् इव** जैसे कोई वीर युद्धक्षेत्र को प्राप्त होता है ॥५॥

यहां उपमालंकार है ॥५॥

भावार्थ— जैसे कोई वीर सेनापति युद्धभूमि में पहुँचकर अपने पक्ष के योद्धाओं को विजय दिलाता है, वैसे ही परमेश्वर उपासकों के पास पहुँचकर उन्हें विजयोपहार देता है ॥५॥

अथ जीवात्मविषय उच्यते ।

१२९७. स देवः कविनेषितो३ऽभि द्रोणानि धावति । इन्दुरिन्द्राय मंहयन् ॥६॥[2]

सः देवः कविना इषितः । अभि द्रोणानि धावति । इन्दुः इन्द्राय मंहयन् ॥६॥

पदार्थः— **कविना** मेधाविना गुरुणा **इषितः** प्रेरितः **सः** असौ **देवः** स्तोता । [दीव्यति स्तुतिकर्मा ।] **इन्दुः** तेजस्वी जीवात्मा **इन्द्राय** परमात्मने **मंहयन्** आत्मानं समर्पयन् । [मंहते ददातिकर्मा । निघं० ३।२०। तत्र मंहयतिरपि पठितव्यः ।] **द्रोणानि अभि** लक्ष्याणि प्रति **धावति** वेगेन गच्छति । [लक्ष्यसूचनार्थं यः काष्ठमयो यूपो निखन्यते तद् द्रोणमित्युच्यते]॥६॥

भावार्थः— परमात्मानं प्रत्यात्मसमर्पणेन जीवात्मनि काचिद् विलक्षणा शक्तिरुत्पद्यते यया स सर्वान् विघ्नानपास्यन् लक्ष्यं प्राप्नोति ॥६॥

---

१. ऋ० ९।३७।५ ।
२. ऋ० ९।३७।६, 'मंहयन्' इत्यत्र 'मंहना' ।

अस्मिन् खण्डे परमात्मजीवात्मविषयवर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।।

अगले मन्त्र में जीवात्मा का विषय है ।

पदार्थ— कविना मेधावी गुरु से **इषितः** प्रेरित **सः** वह **देवः** स्तुतिकर्ता **इन्दुः** तेजस्वी जीवात्मा **इन्द्राय** परमात्मा को **मंहयन्** आत्मसमर्पण करता हुआ **द्रोणानि अभि** लक्ष्यों की ओर **विधावति** वेग से दौड़ता है ।।६।।

भावार्थ— परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण करने से जीवात्मा में कोई विलक्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे वह सब विघ्नों को दूर फेंकता हुआ लक्ष्य तक जा पहुँचता है ।।६।।

इस खण्ड में परमात्मा और जीवात्मा के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

दशम अध्याय में षष्ठ खण्ड समाप्त ।

।।८।। अथ 'यः पावमानी' इत्यादिकस्याष्टमस्य षडृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** पवित्र आङ्गिरसो वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्वा उभौ वा । **देवता** पवमानाध्येतृस्तुतिः । **छन्दः** अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ।।

तत्रादौ वेदाध्ययनफलमाह ।

१ २ ३ २३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
१२९८. यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम् ।
२३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना ।।१।।[1]

२ ३ २ ३ १ २ ३ १२र १२र १२र ३ १२र
यः पावमानीः अध्येति अधि एति । ऋषिभिः संभृतम् सम् भृतम् रसम् ।
१२र ३ २ ३ २ ३ १ २
सर्वम् सः पूतम् अश्नाति । स्वदितम् मातरिश्वना ।।१।।

पदार्थः— **यः** यो जनः **ऋषिभिः संभृतं रसम्** वेदरहस्यविद्भिः आस्वादितरसरूपाः **पावमानीः** पवमानदेवताका ऋचः **अध्येति** अर्थज्ञानपूर्वकम् अधीते । [इक् स्मरणे, अदादिः।] **सः** असौ **मातरिश्वना** वायुना **स्वदितम्** स्वादु सम्पादितम् **सर्वम्** सकलम् **पूतम्** पवित्रं भोज्यं वस्तु **अश्नाति** भुङ्क्ते । [अश भोजने क्र्यादिः]।।१।।

अत्र पावमानीनामृचामध्ययनं सर्वपवित्रभोज्यास्वादनवत् तृप्तिकरमित्युपमायां पर्यवसानान्निदर्शनालङ्कारः[2] ।।१।।

भावार्थः— वैदिकीनामृचामर्थज्ञानपूर्वकमध्ययनेन तदनुकूलाचरणेन चाध्येतॄणां महत् कल्याणं सम्पद्यते ।।१।।

प्रथम मन्त्र में वेद के अध्ययन का फल वर्णित है ।

पदार्थ— यः जो मनुष्य **ऋषिभिः संभृतं रसम्** वेद के रहस्य को जानने वाले ऋषियों ने जिनके रस का आस्वादन किया है ऐसी **पावमानीः** पवमान देवता वाली ऋचाओं का **अध्येति** अर्थज्ञानपूर्वक अध्ययन करता है **सः** वह **मातरिश्वना** वायु से **स्वदितम्** स्वादु बनाये गये **सर्वम्** सब **पूतम्** पवित्र भोज्य पदार्थ को **अश्नाति** खाता है ।।१।।

---

१. ऋ० ९।६७।३१ ।

२. निदर्शना । अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः , का० प्र० १०।९७ इति तल्लक्षणात् ।

यहाँ पावमानी ऋचाओं का अध्ययन सब पवित्र भोज्य पदार्थों के आस्वादन के समान तृप्तिकारी होता है, इस प्रकार उपमा में पर्यवसान होने के कारण निदर्शना अलंकार है ।।१।।

भावार्थ– वैदिक ऋचाओं के अर्थज्ञानपूर्वक अध्ययन से और उसके अनुकूल आचरण से अध्ययन करने वालों का महान् कल्याण होता है ।।१।।

अथ पुनर्वेदाध्ययनफलमाह ।

१२९९. पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम् ।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ।।२।।[1]

पावमानी यः अध्येति अधि एति । ऋषिभिः संभृतम् सम् भृतम् रसम् ।
तस्मै सरस्वती दुहे । क्षीरम् सर्पिः मधु उदकम् ।।२।।

पदार्थः– **यः** यो जनः **ऋषिभिः संभृतं रसम्** वेदरहस्यविद्भिः आस्वादितरसरूपाः **पावमानीः**पवमान-देवताका ऋचः **अध्येति**[2] अर्थज्ञानपूर्वकम् अधीते **तस्मै** जनाय **सरस्वती** वेदमाता **क्षीरम्** दुग्धम्, **सर्पिः** घृतम्, **मधु** माक्षिकम्, **उदकम्** स्वच्छं तोयं च **दुहे** स्वयमेव दुग्धे । [दुह प्रपूरणे, कर्मकर्तरि 'न दुहस्नुनमाम्' । अ० ३।१।८९ इत्यादिना यक् प्रतिषिध्यते । 'लोपस्त आत्मनेपदेषु'। अ० ७।१।४१ इति तलोपः]।।

उक्तं चान्यत्र- 'स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् । आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् । मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ।। अथ० १९।७१।१ ।।२।।

भावार्थः– वेदाध्ययनेन तदनुकूलाचरणेन च पुरुषार्थिना सता सर्वाः सम्पदः प्राप्तुं शक्यन्ते ।।२।।

अगले मन्त्र में फिर वेदाध्ययन का फल कहा गया है ।

पदार्थ– **यः** जो मनुष्य **ऋषिभिः संभृतं रसम्** वेद के रहस्य जानने वाले ऋषियों ने जिनके रस का आस्वादन किया है ऐसी **पावमानीः** पवमान देवतावाली ऋचाओं का **अध्येति** अर्थज्ञानपूर्वक अध्ययन करता है **तस्मै** उस मनुष्य के लिए **सरस्वती** वेदमाता **क्षीरम्** दूध, **सर्पिः** घी, **मधु** शहद और **उदकम्** स्वच्छ जल **दुहे** स्वयं दुह देती है ।।

वेद में अन्यत्र भी कहा गया है –मैंने वरदात्री वेदमाता की स्तुति की है, आप लोग भी उसका अध्ययन-स्तवन करो, क्योंकि वह द्विजों को पवित्र करने वाली है । वह मुझ वेदाध्येता को आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन, ब्रह्मवर्चस् देकर मेरे आत्मलोक ब्रह्मलोक में निवास करने लगी है। (अथ०१९।७१।१) ।।२।।

भावार्थ– वेद का अध्ययन करके और उसके अनुकूल आचरण करके जो पुरुषार्थी होता है वह सब सम्पदाओं को प्राप्त कर सकता है ।।२।।

---

१. ऋ० ९।६७।३२ ।

२. अध्ययनं चात्र आर्षंछन्दोदैवतब्राह्मणैः सहितं परिज्ञानं प्रशस्यते–इति वि० ।

अथ पुनरपि वेदाध्ययनस्यैव फलमाह ।

१३००. पावमानीः स्वस्त्ययनीः सुदुघा हि घृतश्चुतः ।
ऋषिभिः संभृतो रसो ब्राह्मणेष्वमृतं हितम् ॥३॥

पावमानीः स्वस्त्ययनीः स्वस्ति अयनीः । सुदुघाः सु दुघाः हि घृतश्चुतः घृत श्चुतः ।
ऋषिभिः संभृतः सम् भृतः रसः । ब्राह्मणेषु अमृतम् अ मृतम् हितम् ॥३॥

पदार्थः— **पावमानीः** पावमान्यः पवमानदेवताका ऋचः **हि** निश्चयेन **स्वस्त्ययनीः** कल्याणप्रापिकाः, **सुदुघाः** मधुरदुग्धप्रदाः, **घृतश्चुतः** घृतस्राविण्यश्च भवन्ति । आसामध्ययनेन **ऋषिभिः** वेदरहस्यविद्भिः **रसः** आनन्दरसः **संभृतः** आस्वादितो भवति, **ब्राह्मणेषु** वेदपाठिषु विप्रेषु च **अमृतम्** दुःखमोक्षरूपम् अमृतत्वम् **हितम्** निहितं जायते ॥३॥

अत्र 'सुदुघाः', 'घृतश्चुतः' इत्यनेन पावमानीनामृचां धेनुत्वं व्यज्यते ॥३॥

भावार्थः— वेदाध्ययनेन कर्मयोगिनो भूत्वा जनाः सर्वामपि लौकिकीमाध्यात्मिकीं च सम्पदं लभन्ते॥३॥

आगे फिर वेद के अध्ययन का ही फल वर्णित है।

पदार्थ— **पावमानीः** पवमान देवतावाली ऋचाएँ **हि** निश्चय ही **स्वस्त्ययनीः** कल्याण प्राप्त कराने वाली, **सुदुघाः** मधुर दूध देने वाली, और **घृतश्चुतः** घी चुआने वाली होती हैं। इनके अध्ययन से **ऋषिभिः** वेदरहस्यवेत्ता ऋषिजन **रसः** आनन्द-रस को **संभृतः** आस्वादन करते हैं, और **ब्राह्मणेषु** वेदपाठी ब्राह्मणों को **अमृतम्** दुःखमोक्षरूप अमृतत्व **हितम्** प्राप्त होता है ॥३॥

यहाँ 'सुदुघाः' और 'घृतश्चुतः' इन शब्दों के अर्थ से पावमानी ऋचाएँ दुधारू गायें हैं यह व्यङ्ग्यार्थ निकलता है ॥३॥

भावार्थ— वेदों के अध्ययन से कर्मयोगी होकर लोग सब लौकिक और आध्यात्मिक सम्पदा प्राप्त कर लेते हैं ॥३॥

अथ वेदाध्ययनेन किं स्यादित्याकाङ्क्षते ।

१३०१. पावमानीर्दधन्तु न इमं लोकमथो अमुम् ।
कामान्त्समर्धयन्तु नो देवीर्देवैः समाहृताः ॥४॥

पावमानीः दधन्तु नः । इमम् लोकम् अथ उ अमुम् । कामान् सम् अर्धयन्तु नः ।
देवीः देवैः समाहृताः सम् आहृताः ॥४॥

पदार्थः— **पावमानीः** पवमानदेवताका ऋचः **नः** अस्माकम् **इमं लोकम्** इहलोकम् **अथ उ** अपि च **अमुं लोकम्** परलोकम् **दधन्तु** धारयन्तु । [दध धारणे भ्वादिः, व्यत्ययेन परस्मैपदम्।] **देवैः** वेदविद्भिः **समाहृताः** अध्यापिताः ताः **देवीः** देव्यः अर्थप्रकाशिका ऋचः **नः** अस्माकम् **कामान्** मनोरथान् **समर्द्धयन्तु** पूरयन्तु ॥४॥

भावार्थः– वेदाध्ययनेन जनाः स्फूर्तिं सत्प्रेरणां च प्राप्येमं च लोकममुं च लोकं सर्वांश्च कामान् समर्द्धयितुमर्हन्ति ।।४।।

अगले मन्त्र में वेदाध्ययन से हमें क्या प्राप्त हो यह आकांक्षा व्यक्त की गयी है ।

पदार्थ– पावमानीः पवमान देवता वाली ऋचाएँ **नः** हमारे **इमं लोकम्** इहलोक को **अथ उ** और **अमुम्** परलोक को **दधन्तु** सहारा लगायें। **देवैः** वेदवेत्ता विद्वानों द्वारा **समाहृताः** पढ़ायी गयी वे **देवीः** अर्थप्रकाशक ऋचाएँ **नः** हमारे **कामान्** मनोरथों को **समर्द्धयन्तु** पूर्ण करें ।।४।।

भावार्थ– मनुष्यों को चाहिए कि वे वेदों के अध्ययन से स्फूर्ति और सत्प्रेरणा प्राप्त कर इस लोक को, परलोक को और सब मनोरथों को समृद्ध करें ।।४।।

अथ पुनर्वेदाध्ययनं नः किं प्रापयेदित्याह ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१३०२. **येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा ।**
१ २ ३ १ २ ३ १ २
तेन सहस्रधारेण पावमानीः पुनन्तु नः ।।५।।

१२र ३ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २ १ २र १२र ३ १ २ ३ १ २ ३
येन देवाः पवित्रेण । आत्मानम् पुनते सदा । तेन सहस्रधारेण सहस्र धारेण ।
२ ३
पावमानीः पुनन्तु नः ।।५।।

पदार्थः– देवाः दिव्यगुणयुक्ता विद्वांसः **येन पवित्रेण** येन पूतेन ब्रह्मानन्देन **आत्मानम्** स्वात्मानम् **सदा** सर्वदा **पुनते** पवित्रं कुर्वन्ति **तेन सहस्रधारेण** तेन सहस्रधाराभिः प्रवहता दिव्यानन्देन **पावमानीः** पवमानदेवताका ऋचः **नः** अस्मान् **पुनन्तु** पवित्रान् कुर्वन्तु ।।५।।

भावार्थः–पावमानीनामृचां गानेन तत्र वर्णिते रसागारे परमात्मनि ध्यानेन च कोऽपि दिव्यानन्दरसप्रवाहः प्रसरन्नुपासकानां चेतांसि पवित्रीकरोति ।।५।।

अगले मन्त्र में फिर वेदाध्ययन हमें क्या प्राप्त कराये यह कहा गया है ।

पदार्थ– देवाः दिव्यगुणों से युक्त विद्वान् लोग **येन पवित्रेण** जिस पवित्र ब्रह्मानन्द से **आत्मानम्** अपने आत्मा को **सदा** हमेशा **पुनते** पवित्र करते हैं, **तेन सहस्रधारेण** उस हजार धाराओं से बहने वाले दिव्य आनन्द से **पावमानीः** पवमान देवता वाली ऋचाएँ **नः** हमें **पुनन्तु** पवित्र करें ।।५।।

भावार्थ– पावमानी ऋचाओं के गान से और उनमें वर्णित रसमय परमात्मा में ध्यान लगाने से कोई अद्वितीय दिव्य आनन्दरस का प्रवाह बहता हुआ उपासकों के चित्तों को पवित्र कर जाता है ।।५।।

अथ वेदाध्ययनस्य फलं वर्णयति ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१३०३. **पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छति नान्दनम् ।**
१ २ ३ १ २ ३ १ २
पुण्याँश्च भक्षान् भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति ।।६।।

३ २ ३ १ २ ३ १२र १ २र ३ २
पावमानीः स्वस्त्ययनीः स्वस्ति अयनीः । ताभिः गच्छति नान्दनम् ।
१ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३
पुण्यान् च भक्षान् भक्षयति । अमृतत्वम् अ मृतत्वम् च गच्छति ।।६।।

पदार्थः- पावमानीः पवमानदेवताका ऋचः **स्वस्त्ययनीः** कल्याणकारिण्यः सन्ति, **ताभिः** ऋग्भिः, वेदाध्येता **नान्दनम्** आनन्दधाम मोक्षम् । [नन्दयतीति नन्दनः, स एव नान्दनः स्वार्थिकस्तद्धितप्रत्ययः।] **गच्छति** प्राप्नोति, **पुण्यान् च** पुण्यप्राप्तान् च **भक्षान्** भोगान् **भक्षयति** भुङ्क्ते, **अमृतत्वं च** अमृतस्वरूपं च **गच्छति** विन्दति ॥

मोक्षधाम चैवं वर्णयति श्रुतिः- यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते । कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ऋ० ९।११३।११ इति ॥६॥

भावार्थः- पावमानीनामृचामर्थज्ञानपुरस्सरं गानेन तदनुकूलाचरणेन चाभ्युदयनिःश्रेयसयोः प्राप्तिर्जायते॥६॥

अस्मिन् खण्डे पावमानीनामृचामध्ययनफलस्यामृतत्वादेर्वर्णनात् पूर्वस्मिन् **खण्डे** च परमात्मजीवात्म-विषयवर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्तीति वेद्यम् ॥

आगे वेदाध्ययन का फल वर्णित करते हैं ।

पदार्थ- पावमानीः पवमान देवता वाली ऋचाएँ **स्वस्त्ययनीः** कल्याण करने वाली हैं । **ताभिः** उन ऋचाओं से वेदों का अध्ययन करने वाला **नान्दनम्** आनन्द के धाम मोक्ष को **गच्छति** पा लेता है, **पुण्यान् च** और पुण्यों से प्राप्त **भक्षान्** भोगों को **भक्षयति** भोगता है, **अमृतत्वं च** और अमृतस्वरूप को **गच्छति** प्राप्त कर लेता है ।

मोक्षधाम का वर्णन वेद में इस प्रकार से किया गया है- ''जहाँ आनन्द हैं, मोद हैं, तृप्तियाँ हैं, प्रमोद हैं, जहाँ मनोरथ करने वाले के मनोरथ पूर्ण होते हैं, उस मोक्षधाम में ले जाकर मुझे अमर कर दो । हे इन्दु ! हे रसागार सोम परमात्मन् ! मुझ आत्मा के लिए तुम आनन्द को चुआओ'' (ऋ० ९।११३।११) ॥६॥

भावार्थ- पावमानी ऋचाओं के अर्थज्ञानपूर्वक गान से और तदनुकूल आचरण करने से अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति होती है ॥६॥

इस खण्ड में पावमानी ऋचाओं के अध्ययन का फल अमृतत्व आदि वर्णित होने से और पूर्व खण्ड में परमात्मा-जीवात्मा का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ॥

दशम अध्याय में सप्तम खण्ड समाप्त ।

॥९॥ अथ 'अगन्म' इत्यादिकस्य नवमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

तत्रादौ परमात्मप्राप्तिविषयमाह ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

१३०४. अगन्म महा नमसा यविष्ठं यो दीदाय समिद्धः स्वे दुरोणे ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

चित्रभानुं रोदसी अन्तरुर्वी स्वाहुतं विश्वतः प्रत्यञ्चम् ॥१॥[1]

१२र ३ २ १२र १ २र ३ १२ १ २र २ २ ३ २ ३ २

अगन्म महा नमसा यविष्ठम् । यः दीदाय समिद्धः सम् इद्धः स्वे दुरोणे दुः ओने ।

३ १ २ ३२ ३ १२र ३ १ २ ३ २ ३ १ २

चित्रभानुम् चित्र भानुम् रोदसीइति अन्तः उर्वीइति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र

स्वाहुतम् सु आहुतम् विश्वतः प्रत्यञ्चम् प्रति अञ्चम् ॥१॥

---

१. ७।१२।१ ।

पदार्थः— **यः** अग्निः अग्रणीः परमेश्वरः **स्वे** स्वकीये **दुरोणे** ब्रह्माण्डरूपे जीवात्मरूपे वा गृहे । [दुरोण इति गृहनाम, दुरवा भवन्ति दुस्तर्पाः । निरु० ४।५।] **समिद्धः** प्रदीप्तः सन् **दीदाय** दीप्यते । [दीदयतिः ज्वलतिकर्मा । निघं० १।१६।] तम् **यविष्ठम्** युवतमम्, **चित्रभानुम्** अद्भुतप्रकाशम् **उर्वी रोदसी** विस्तीर्णयोः रोदस्योः द्यावापृथिव्योः । [अत्र सुपां सुलुक्० अ०७।१।३९ इति विभक्तेर्लुक्।] **अन्तः** अभ्यन्तरम् **स्वाहुतम्** सम्यक् कृताहुतिम् **विश्वतः प्रत्यञ्चम्** सर्वत्र व्याप्तम् परमेश्वरम् **महा नमसा** महता नमस्कारेण सह, वयम् **अगन्म** प्राप्नुमः ॥१॥[1]

भावार्थः— ये सूक्ष्मदर्शिनः सन्ति ते द्यावापृथिव्योः सर्वत्र परमात्मन एव विभूतिं पश्यन्ति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा की प्राप्ति का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— **यः** जो अग्रनेता परमेश्वर **स्वे** अपने **दुरोणे** ब्रह्माण्डरूप और जीवात्मारूप घर में **समिद्धः** प्रदीप्त हुआ **दीदाय** भासित होता है, उस **यविष्ठम्** सर्वाधिक युवा, **चित्रभानुम्** अद्भुत प्रकाश वाले, **उर्वी रोदसी** विस्तीर्ण द्यावापृथिवी के **अन्तः** अन्दर **स्वाहुतम्** जिसने अपनी आहुति दी हुई है ऐसे, **विश्वतः प्रत्यञ्चम्** सब जगह व्याप्त परमेश्वर को **महा नमसा** महान् नमस्कार के साथ, हम **अगन्म** प्राप्त होते हैं ॥१॥

भावार्थ— जो सूक्ष्मदर्शी लोग हैं वे आकाश-पृथिवी में सर्वत्र परमात्मा की ही विभूति को देखते हैं ॥१॥

अथ परमेश्वरोऽस्मान् कथमुपकुर्यादित्याह ।

२ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१३०५. स मह्ना विश्वा दुरितानि साह्वानग्नि ष्टवे दम आ जातवेदाः ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
स नो रक्षिषद् दुरितादवद्यादस्मान् गृणत उत नो मघोनः ॥२॥[2]

२ ३ २ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
सः मह्ना विश्वा दुरितानि दुः इतानि साह्वान् ।

३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३
अग्निः स्तवे दमे आ जातवेदाः जात वेदाः ।

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सः नः रक्षिषत् दुरितात् दुः इतात् अवद्यात् । अस्मान् गृणतः उत नः मघोनः ॥२॥

पदार्थः— **मह्ना** महिम्ना **विश्वा** विश्वानि **दुरितानि** पापदुःखदुर्गुणदुर्व्यसनादीनि **साह्वान्** अभिभूतवान् । [सहतेः लिटः क्वसौ 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च । अ० ६।१।१२ इत्यनेन परस्मैपदमुपधादीर्घत्वमद्विर्वचनमनिट्त्वं च निपात्यते।] **जातवेदाः** सर्वज्ञः सर्वान्तर्यामी च **अग्निः** अग्रनायकः परमेश्वरः **दमे** अन्तरात्मरूपे गृहे । [दम इति गृहनाम । निघं० ३।४।] **आ स्तवे** आ स्तूयते । **सः** परमेश्वरः **नः** अस्मान् **अवद्यात्** गर्ह्यात् । [अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु। अ० ३।१।१०१ इति गर्ह्यार्थे निपातनम्।] **दुरितात्** पापात् **रक्षिषत्** रक्षतु । [रक्षतेर्लेटिरूपम्।] **गृणतः** अर्चतः । [गृणातिः अर्चतिकर्मा । निघं० ३।१४ ।] **अस्मान्** स्तोतॄन् **उत** अपि च **नः** अस्माकम् **मघोनः** धनिकान् पुत्रपौत्रकलत्रादीन् **रक्षिषत्** रक्षतु ॥२॥[3]

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सूर्यदृष्टान्तेन विद्वद्विषये व्याचष्टे।

२. ऋ० ७।१२।२, 'नग्निः ष्टवे' इति सविसर्गः पाठः ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं राजविषये व्याख्यातः ।

भावार्थः— परमात्मानं ध्यात्वा ततः सत्प्रेरणां प्राप्य वयमस्माकं सम्बन्धिनश्च सर्वाणि दुर्गुणदुर्व्यसन-दुःखादीनि दूरीकुर्याम ।।२।।

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि परमेश्वर हमें किस तरह उपकृत करें ।

पदार्थ— महा महिमा से **विश्वा** सब **दुरितानि** पाप, दुःख, दुर्गुण, दुर्व्यसन आदियों को **साह्वान्** नष्ट कर देने वाला, **जातवेदाः** सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी **अग्निः** अग्रनायक परमेश्वर **दमे** अन्तरात्मा-रूप घर में **आ स्तवे** प्रतिष्ठा पाता है । **सः** वह परमेश्वर **नः** हमें **अवद्यात्** निन्दनीय **दुरितात्** पाप से **रक्षिषत्** बचाये। **गृणतः** अर्चना करने वाले **अस्मान्** हम स्तोताओं को **उत** और **नः** हमारे **मघोनः** धनिक पुत्र, पौत्र, पत्नी आदि की **रक्षिषत्** रक्षा करें ।।२।।

भावार्थ— परमात्मा को ध्याकर, उससे शुभ प्रेरणा पाकर हम और हमारे सम्बन्धी जन सब दुर्गुण, दुर्व्यसन, दुःख आदि को दूर कर देवें ।।२।।

अथ परमात्मानं स्तुवन् तं प्रार्थयते ।

१३०६. त्वं वरुण उत मित्रो अग्ने त्वां वर्धन्ति मतिभिर्वसिष्ठाः ।
त्वे वसु सुषणनानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।।३।।[1]

त्वम् वरुणः उत मित्रः मि त्रः अग्ने । त्वाम् वर्धन्ति मतिभिः वसिष्ठाः ।
त्वेइति वसु सुषणनानि सु सननानि सन्तु ।
यूयम् पात स्वस्तिभिः सु अस्तिभिः सदा नः ।।३।।

पदार्थः— हे **अग्ने** अग्रनायक परमात्मन् ! **त्वम्, वरुणः** पापानां निवारकः **उत** अपि च **मित्रः** मरणात् त्राता सुहृत् असि । **वसिष्ठाः** अतिशयेन विद्यैश्वर्ययुक्ताः विद्वांसः उपासकाः **मतिभिः** स्तुतिभिः **त्वाम्** परमात्मानम् **वर्धन्ति** वर्धयन्ति, जने जने प्रसारयन्तीत्यर्थः। **त्वे** त्वयि विद्यमानानि **वसु** वसूनि ऐश्वर्याणि **सुषणनानि** सुसम्भजनानि **सन्तु** भवन्तु । **यूयम्** । [आदरार्थम् बहुवचनम् ।] **स्वस्तिभिः** योगक्षेमैः **सदा** नित्यम् **नः** अस्मान् **पात** रक्षत ।।३।।[2]

भावार्थः— यत्किञ्चिदप्यैश्वर्यमस्मद्धस्तगतं विद्यते तत्सर्वं परमात्मप्रदत्तमेव ।।३।।

अगले मन्त्र में परमात्मा की स्तुति करते हुए उससे प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **अग्ने** अग्रनायक परमात्मन् ! **त्वम्** आप **वरुणः** पापों के निवारक **उत** और **मित्रः** विपत्ति से बचाने वाले मित्र हो । **वसिष्ठाः** अतिशय विद्या के ऐश्वर्य से युक्त विद्वान् उपासक लोग **मतिभिः** स्तुतियों से **त्वाम्** आपको **वर्धन्ति** बढ़ाते हैं, अर्थात् जन-जन में प्रसारित करते हैं। **त्वे** आपमें विद्यमान **वसु** ऐश्वर्य **सुषणनानि** सुप्राप्य **सन्तु** होवें । **यूयम्** आप **स्वस्तिभिः** योग-क्षेमों द्वारा **सदा** हमेशा **नः** हमारी **पात** रक्षा करते रहो ।।३।।

---

१. ऋ० ७।१२।३ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्र एष विद्वद्विषये व्याख्यातः ।

भावार्थ— जो कुछ भी ऐश्वर्य हमारे हाथ में है वह सब परमात्मा द्वारा प्रदत्त ही है ।।३।।

।।१०।। अथ 'महाँ इन्द्रो' इत्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वत्सः काण्वः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ परमात्मविषयमाह ।

१३०७. महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव । स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे ।।१।।[1]

महान् इन्द्रः यः ओजसा । पर्जन्यः वृष्टिमान् इव । स्तोमैः वत्सस्य वावृधे ।।१।।

पदार्थः— **यः इन्द्रः** यः परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः **वृष्टिमान् पर्जन्यः इव** वृष्टिजलयुक्तो मेघ इव **ओजसा** बलेन **महान्** महिमोपेतः अस्ति सः **वत्सस्य**[2] स्वपुत्रस्य मानवस्य **स्तोमैः** प्रशस्तिभिः **वावृधे** वर्धते ।।१।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः— यथा पुत्रस्य प्रशस्तिभिः पिता प्रशस्तो जायते, तथैव पूर्वमेव पर्जन्यवन्महानपि परमेश्वरो मानवस्य प्रशस्तिभिर्महत्तरो जायते ।।१।।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— **यः इन्द्रः** जो परमैश्वर्यशाली जगदीश्वर **वृष्टिमान् पर्जन्यः इव** वृष्टिजल से परिपूर्ण मेघ के समान **ओजसा** बल से **महान्** महान् है, वह **वत्सस्य** अपने पुत्र मानव की **स्तोमैः** प्रशस्तियों से **वावृधे** बढ़ता है ।।१।।

यहाँ उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ— जैसे पुत्र की प्रशस्तियों से पिता प्रशस्त होता है, वैसे ही पहले से ही बादल के समान महान् भी परमेश्वर मानव की प्रशस्तियों से और अधिक महान् हो जाता है ।।१।।

अथ पुनस्तमेव विषयं प्राह ।

१३०८. कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् । जामि ब्रुवत आयुधा ।।२।।[3]

कण्वाः इन्द्रम् यत् अक्रत । स्तोमैः यज्ञस्य साधनम् । जामि ब्रुवते आयुधा ।।२।।

पदार्थः— **यत्** यदा **कण्वाः**[4] मेधाविनः स्तोतारः । [कण्व इति मेधाविनाम। निघं० ३।१५।] **इन्द्रम्** विघ्नविदारकं परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् **स्तोमैः** स्तोत्रैः **यज्ञस्य** स्वकीयस्य शतसंवत्सरात्मकस्य जीवनयज्ञस्य **साधनम्** साधकम् **अक्रत** अकृषत, कुर्वन्ति। [अत्र करोतेर्लङर्थे लुङि 'मन्त्रे घसह्वर०'। अ०२।४।८० इत्यनेन च्लेर्लुक्।]

---

१. ऋ० ८।६।१, अथ० २०।१३८।१ ।

२. सायणस्तु 'वत्सस्य पुत्रस्थानीयस्य स्तोतुः' इति पूर्वं व्याख्यायापि पश्चाद् 'वत्सनाम्न एव वा ऋषेः' इति वैकल्पिकत्वेनैतिहासिकमर्थं गृह्णाति ।

३. ऋ० ८।६।३, अथ० २०।१३८।३, उभयत्र 'आयुधम्' इति पाठः ।

४. सायणाचार्योऽत्रापि पूर्वं 'कण्वाः स्तोतॄनामैतत्, स्तोतारः' इत्यर्थं कृत्वापि पश्चात् 'कण्वगोत्रा वा' इत्यैतिहासिकं व्याचष्टे ।

तदा ते **आयुधा** रक्षासाधनानि आयुधानि **जामि** अतिरिक्तम् । [जामि–अतिरेकनाम इति निरुक्तम्। ४।२०।] **ब्रुवते** कथयन्ति । यज्ञ इन्द्रेणैव साधितः, किमेभिः संगृहीतैरायुधैरित्यायुधानां व्यर्थत्वं ब्रुवन्तीत्यर्थः[1] ॥२॥

भावार्थः–आत्मानं परमात्मने समर्प्य तद्रक्षणं सर्वैः प्राप्तव्यम् ॥२॥

आगे पुनः उसी विषय को कहते हैं ।

पदार्थ– यत् जब **कण्वाः** मेधावी स्तोता लोग **इन्द्रम्** विघ्ननाशक, परमैश्वर्यवान् परमात्मा को **स्तोमैः** स्तोत्रों से **यज्ञस्य** अपने १०० वर्ष चलने वाले जीवन-यज्ञ का **साधनम्** साधक **अक्रत** बना लेते हैं, तब वे **आयुधा** रक्षा के साधनभूत शस्त्रास्त्रों को **जामि** अनावश्यक **ब्रुवते** कहने लगते हैं, अर्थात् जीवन-यज्ञ को तो परमात्मा ने ही सिद्ध कर दिया, इन संगृहीत किये हुए शस्त्रास्त्रों से क्या लाभ? इस प्रकार हथियारों को व्यर्थ बताने लगते हैं ॥२॥

भावार्थ– परमात्मा के प्रति आत्म-समर्पण करके उसका रक्षण सबको प्राप्त करना चाहिए ॥२॥

अथ सत्यस्य विषयमाह ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २
१३०९. **प्रजामृतस्य पिप्रतः प्र यद्भरन्त वह्नयः । विप्रा ऋतस्य वाहसा ॥३॥**[2]

३ २ ३ २ ३ १ २ १२र १२र १ २र
प्रजाम् प्र जाम् ऋतस्य पिप्रतः । प्र यत् भरन्त वह्नयः ।

१ २र ३ १ २ १२र
विप्राः वि प्राः ऋतस्य वाहसा ॥३॥

पदार्थः– **यत्** यदा **वह्नयः** ब्रह्मयज्ञस्य वोढारः उपासकाः **पिप्रतः** पालयतः [पॄ पालनपूरणयोः, शतृः।] **ऋतस्य** सत्यस्य **प्रजाम्** प्रकर्षेण जनयितारं परमेश्वरम् **प्र भरन्त** अन्तरात्मनि धारयन्ति, तदा ते **विप्राः** विद्वांसो जनाः **ऋतस्य** सत्यस्य **वाहसा** वाहसः प्रचारका जायन्ते । [वाहस् शब्दाज्जसि 'सुपां सुलुक्० अ० ७।१।३९ इत्यनेन जस आकारादेशः] ॥३॥

भावार्थः– सत्यज्ञानस्य सत्यकर्मणश्चादर्शभूतं परमात्मानमनुभूय स्वजीवने सत्यमानीयैव सत्यं प्रचारयितुं सुशकम् ॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मविषयवर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्तीति वेद्यम् ॥

अगले मन्त्र में सत्य का विषय है ।

पदार्थ– यत् जब **वह्नयः** ब्रह्मयज्ञ को वहन करने वाले उपासक लोग **पिप्रतः** पालनकर्ता **ऋतस्य** सत्य के **प्रजाम्** उत्पादक परमेश्वर को **प्रभरन्त** अन्तरात्मा में धारण कर लेते हैं, तब वे **विप्राः** विद्वान् जन **ऋतस्य** सत्य के **वाहसा** प्रचारक हो जाते हैं ॥३॥

---

१. आयुधा शत्रूणां हिंसकानि बाणादीनि जामि, अतिरेकनामैतत्, अतिरिक्तम् अधिकं प्रयोजनरहितं ब्रुवते कथयन्ति । आयुधस्य सर्वस्य कार्यस्येन्द्रेणैव कृतत्वाद् आयुधानि निःप्रयोजनानीत्यर्थः। यद्वा, आयुधा आयुधम् आयोधनशीलम् इन्द्रम् जामि जामिं भ्रातरं ब्रुवते वदन्ति–इति सा०।

२. ऋ० ८।६।२, अथ० २०।१३८।२ ।

भावार्थ– सत्यज्ञान और सत्यकर्म के आदर्श रूप परमात्मा का अनुभव करके और अपने जीवन में सत्य को लाकर ही सत्य का प्रचार आसानी से हो सकता है ।।३।।

इस खण्ड में परमात्मा का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है यह जानना चाहिए ।।

दशम अध्याय में अष्टम खण्ड समाप्त ।

।।११।। अथ 'पवमानस्य' इत्यादिकस्यैकादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषयः** शतं वैखानसाः। **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ परमात्मनो धारा वर्णयति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१३१०. पवमानस्य जिघ्नतो हरेश्चन्द्रा असृक्षत । जीरा अजिरशोचिषः ।।१।।[1]

१२र १२र १२र ३ २ ३
पवमानस्य जिघ्नतः । हरेः चन्द्राः असृक्षत ।
२ ३ १ २ ३ २ ३
जीराः अजिरशोचिषः अजिर शोचिषः ।।१।।

पदार्थः– **पवमानस्य** अन्तरात्मानं पुनानस्य, **जिघ्नतः** दोषान् विनाशयतः [हन्तेः शतरि छान्दसः शपः श्लुः।] **हरेः** चित्ताकर्षकस्य परमात्मनः **चन्द्राः** आह्लादकारिण्यः, **अजिरशोचिषः** अक्षयरोचिषः, **जीराः** क्षिप्रगामिन्यः आनन्दधाराः । [जीराः इति क्षिप्रनाम । निघं २।१५ ।] **असृक्षत** विसृज्यन्ते ।।१।।

भावार्थः– परमात्मन आनन्दधारासु निमज्ज्य स्तोतारो निर्मलान्तः करणाः सन्तः कृतकृत्या जायन्ते ।।१।।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा की धाराओं का वर्णन है ।

पदार्थ– **पवमानस्य** अन्तरात्मा को पवित्र करने वाले, **जिघ्नतः** दोषों को विनष्ट करने वाले **हरेः** चित्ताकर्षक परमात्मा की **चन्द्राः** आनन्ददायिनी **अजिरशोचिषः** अक्षय प्रकाश वाली **जीराः** शीघ्रगामिनी आनन्द-धाराएँ **असृक्षत** छूट रही हैं ।।१।।

भावार्थ– परमात्मा की आनन्द-धाराओं में डुबकी लगाकर स्तोता जन निर्मल अन्तःकरण वाले होकर कृतकृत्य हो जाते हैं ।।१।।

अथ परमात्मनो गुणान् वर्णयति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३१ २
१३११. पवमानो रथीतमः शुभ्रेभिः शुभ्रशस्तमः । हरिश्चन्द्रो मरुद्गणः ।।२।।[2]

१२र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
पवमानः रथीतमः । शुभ्रेभिः शुभ्रशस्तमः शुभ्र शस्तमः ।
१ २र १ २र ३ १ २ ३ २ ३
हरिश्चन्द्रः हरि चन्द्रःमरुद्गणः मरुत् गणः ।।२।।

---

१. ऋ० ९।६६।२५, 'जिघ्नतो' इत्यत्र जङ्घ्नतो'।
२. ऋ० ९।६६।२६ ।

पदार्थः— पवमानः पावकः सोमः जगत्स्रष्टा परमेश्वरः **रथीतमः** रथवत्सु श्रेष्ठः । [रथितमः इति प्राप्ते 'ईद् रथिनः'। अ० ८।२।१७ वा० इत्यनेन इकारस्य ईकारादेशः।] **शुभ्रेभिः** शुभ्रैः गुणैः **शुभ्रशस्तमः** निर्मलतमयशोयुक्तः, **हरिश्चन्द्रः** हृदयहार्याह्लादः । [हरिः मनोहरः चन्द्रः आह्लादो यस्य सः । चदि आह्लादे । ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे अ० ६।१।१५१ इति सुडागमः।] **मरुद्गणः** मरुतः प्राणा वायवो वा गणा यस्य तथाविधश्च वर्तते ॥२॥

भावार्थः— सूर्यचन्द्रपवनविद्युदादयो मानवदेहाश्च यस्य रथाः सन्ति स यशस्वितमः परमानन्दः प्राणादीनां नायकः परमेश्वरः सर्वैर्ज्ञातव्यः ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के गुणों का वर्णन है ।

पदार्थ— पवमानः पवित्रकर्ता जगत्स्रष्टा परमेश्वर **रथीतमः** रथियों में श्रेष्ठ, **शुभ्रेभिः** शुभ्र गुण-कर्मों से **शुभ्रशस्तमः** अतिशय निर्मल यश वाला, **हरिश्चन्द्रः** मनोहर आह्लाद देने वाला, और **मरुद्गणः** प्राण-रूप या पवन- रूप गुणों वाला है ॥२॥

भावार्थ— सूर्य, चाँद, पवन, बिजली आदि और मानवशरीर जिसके बनाये हुए रथ हैं, ऐसे अत्यन्त यशस्वी, परमानन्ददायक, प्राण आदि को चलाने वाले परमेश्वर का ज्ञान सबको पाना चाहिए ॥२॥

अथ परमात्मा प्रार्थ्यते ।

१ २ ३ २ १ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २
१३१२. पवमान व्यश्नुहि रश्मिभिर्वाजसातमः । दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम् ॥३॥[1]

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पवमान वि अश्नुहि । रश्मिभिः वाजसातमः वाज सातमः।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
दधत् स्तोत्रे सुवीर्यम् सु वीर्यम् ॥३॥

पदार्थः— हे **पवमान** पावक सोम परमात्मन् ! **वाजसातमः** अतिशयेन बलस्य संभक्ता दाता वा त्वम् **स्तोत्रे** उपासकाय मह्यम् **सुवीर्यम्** सुवीर्योपेतं गुणगणम् **दधत्** प्रयच्छन् सन् **रश्मिभिः** तेजःकिरणैः सह **व्यश्नुहि** प्राप्नुहि ॥३॥

भावार्थः— जगदीश्वरस्य स्तोता तस्मात् तेजोबलवीर्यसत्याहिंसान्यायदयादाक्षिण्यादिकं प्राप्य यशस्वितमो जायते ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे **पवमान** पवित्रकर्ता सोम परमात्मन् ! **वाजसातमः** अत्यधिक बल को देनेवाले आप **स्तोत्रे** मुझ उपासक को **सुवीर्यम्** सुवीर्य से युक्त गुण-समूह **दधत्** प्रदान करते हुए **रश्मिभिः** तेज की किरणों के **साथ व्यश्नुहि** प्राप्त होवो ॥३॥

भावार्थ— जगदीश्वर का स्तोता उससे तेज, बल, वीर्य, सत्य, अहिंसा, न्याय, दया, उदारता आदि प्राप्त करके अतिशय कीर्तिशाली हो जाता है ॥३॥

॥१२॥ अथ 'परीतो' इत्यादिकस्य द्वादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषयः** सप्तर्षयः (१ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः, २ कश्यपो मारीचः, ३ गोतमो राहूगणः, ४ अत्रिर्भौमः, ५ विश्वामित्रो गाथिनः, ६ जमदग्निर्भार्गवः, ७ वसिष्ठो मैत्रावरुणिः)। **देवता**— पवमानः सोमः । **छन्दः**— १,२ बार्हतः प्रगाथः (१ बृहती, २ सतोबृहती), ३ द्विपदा विराट् पंक्तिः । **स्वरः** १ मध्यमः, २-३ पञ्चमः ॥

---

१. ऋ० ९।६६।२७, 'पवमानो व्यश्नवद्' इति प्रथमः पादः ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५१२ क्रमाङ्के सोमरसपक्षे भक्तिरसविषये च व्याख्याता । अत्र ब्रह्मानन्दरसविषय उच्यते ।

१३१३. परीतो षिञ्चता सुतं सोमो य उत्तमं हविः।
दधन्वाँ यो नर्यो अपस्वाऽन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः ॥१॥[1]

परि इतः सिञ्चत सुतम् । सोमः यः उत्तमम् हविः।
दधन्वान् यः नर्यः अप्सु अन्तः आ । सुषाव सोमम् अद्रिभिः अद्रिभिः ॥१॥

पदार्थः— हे मनुष्याः ! यूयम् **इतः** अस्मात् सोमात् रसमयात् परमात्मनः **सुतम्** अभिषुतम् आनन्दरसम् **परि सिञ्चत** परितो वर्षत, **यः सोमः** यो रसागारः परमात्मा **उत्तमं हविः** उत्कृष्टतमम् आदातव्यं वस्तु विद्यते । [हूयते आदीयते इति हविः। हु दानादनयोः आदाने चेत्येके ।] **नर्यः** नराणां हितकर्ता **यः** सोमः परमात्मा **दधन्वान्** उपासकान् धृतवान् भवति । यं च **सोमम्** रसनिधिं परमात्मानम्, उपासकः **अद्रिभिः** ध्यानरूपैः अभिषवपाषाणैः **अप्सु अन्तः** प्राणेषु मध्ये **आ सुषाव** आ सुनोति ॥१॥[2]

भावार्थः— परब्रह्मणः सकाशात् परमानन्दं प्राप्य स उपासकैरन्येभ्योऽपि वर्षणीयः ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ५१२ क्रमांक पर सोमरस के पक्ष में और भक्तिरस के विषय में की जा चुकी है । यहाँ ब्रह्मानन्द-रस का विषय वर्णित करते हैं।

पदार्थ— हे मनुष्यो ! तुम **इतः** इस रसमय परमात्मा-रूप सोम में से **सुतम्** निकले हुए आनन्द-रस को **परि सिञ्चत** चारों ओर बरसाओ, **यः सोमः** जो रस का भंडार परमात्मा **उत्तमं हविः** सबसे अधिक उत्कृष्ट ग्राह्य वस्तु है, **नर्यः** मनुष्यों का हित करने वाला **यः** जो सोम परमात्मा **दधन्वान्** उपासकों को सहारा देने वाला होता है, और जिस **सोमम्** रसनिधि परमात्मा को, उपासक **अद्रिभिः** ध्यानरूप सिलबट्टों से **अप्सु अन्तः** प्राणों के अन्दर **आ सुषाव** अभिषुत करता है ॥१॥

भावार्थ— उपासकों को चाहिए कि परब्रह्म के पास से परमानन्द प्राप्त करके उसे दूसरों के लिए भी बरसायें ॥१॥

अथ परमात्मानं सम्बोधयति ।

१३१४. नूनं पुनानोऽविभिः परि स्रवादब्धः सुरभिंतरः ।
सुते चित्वाप्सु मदामो अन्धसा श्रीणन्तो गोभिरुत्तरम् ॥२॥[3]

नूनम् पुनानः अविभिः परि स्रव । अदब्धः अदब्धः सुरभिन्तरः सु रभिन्तरः ।
सुते चित् त्वा अप्सु मदामः अन्धसा । श्रीणन्तः गोभिः उत्तरम् ॥२॥

---

१. ऋ० ९।१०७।१, यजु० १९।२, साम० ५१२ ।
२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सोमौषधिपक्षे व्याचष्टे ।
३. ऋ० ९।१०७।२, 'चित्त्वा' इति द्वितकारः पाठः ।

पदार्थः— हे सोम ! हे रसनिधे परमात्मन् ! **नूनम्** निश्चयेन **अविभिः** स्वकीयाभिः रक्षाभिः **पुनानः** अस्मान् पवित्रान् कुर्वाणः, **अदब्धः** केनापि अपराजितः, **सुरभितरः** अतिशयेन सौरभमयः त्वम् **परिस्रव** आनन्दरसं प्रवाहय । **अन्धसा** आनन्दरसेन सह **अप्सु** अस्माकं कर्मसु **सुते चित्** त्वयि परिसुते सति **उत्तरम्** उत्कृष्टतरम् **त्वा** त्वाम् **गोभिः** आत्ममनोबुद्धिभिः **श्रीणन्तः** परिपचन्तः, ध्यायन्तः इति यावत् । [श्रीञ् पाके, क्र्यादिः ।] **मदामः** मोदामहे । [मदी हर्षग्लेपनयोः, भ्वादिः]॥२॥

भावार्थः— परमात्मध्यानेन रक्षा पवित्रता सद्गुणसौरभं परमानन्दश्च प्राप्यते ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा को सम्बोधन किया गया है ।

पदार्थ— हे सोम ! हे रसनिधि परमात्मन् ! **नूनम्** निश्चय ही **अविभिः** अपनी रक्षाओं से **पुनानः** हमें पवित्र करते हुए, **अदब्धः** किसी से न हराये जा सकने वाले, **सुरभितरः** अतिशय सौरभमय आप **परि स्रव** आनन्द-रस को प्रवाहित करो । **अन्धसा** आनन्द-रस के साथ **अप्सु** हमारे कर्मों में **सुते चित्** आपके परिसुत होने पर **उत्तरम्** अत्यन्त उत्कृष्ट **त्वा** आपको **गोभिः** आत्मा, मन एवं बुद्धि से **श्रीणन्तः** पकाते हुए अर्थात् ध्याते हुए, हम **मदामः** मुदित होते हैं ॥२॥

भावार्थ— परमात्मा में ध्यान से रक्षा, पवित्रता, सद्गुणों की सुगन्ध और परमानन्द प्राप्त होते हैं ॥२॥

अथ परमात्मध्यानविषयमाह ।

१ २ ३१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
१३१५. परि स्वानश्चक्षसे देवमादनः क्रतुरिन्दुर्विचक्षणः ॥३॥[1]

१ २र ३ २ १ २र ३ १ २ ३ १२र १ २र १ २र ३ २ ३ २
परि स्वानः चक्षसे देवमादनः देव मादनः । क्रतुः इन्दुः विचक्षणः वि चक्षणः ॥३॥

पदार्थः— **देवमादनः** विदुषामानन्दयिता, **क्रतुः** कर्ममयः जगद्धारणकर्मणां कर्ता, **विचक्षणः** विशेषेण सर्वेषां द्रष्टा, **इन्दुः** तेजस्वी रसेन क्लेदकश्च परमेश्वरः **चक्षसे** दर्शनाय, साक्षात्काराय। [चष्टे पश्यतिकर्मा । निघं० ३।११। तुमर्थे असेन् प्रत्ययः।] **परि स्वानः** परिष्यूयमाणः, अस्माभिर्ध्यायमानः भवति ॥३॥

भावार्थः- परमात्मानं साक्षात्कृत्य वयं तद्वत् परेषामानन्दयितारः कर्मयोगिनो विवेकदृष्टिसम्पन्नास्तेजस्विनः परोपकारिणश्च भवेम ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के ध्यान का विषय है।

पदार्थ— **देवमादनः** विद्वानों को आनन्दित करने वाला, **क्रतुः** कर्ममय अर्थात् जगद्धारण के कर्मों का कर्ता, **विचक्षणः** विशेष रूप से सबका द्रष्टा, **इन्दुः** तेजस्वी और रस से भिगोने वाला परमेश्वर **चक्षसे** दर्शनार्थ, अर्थात् साक्षात्कार के लिए **परि स्वानः** हमसे ध्यान किया जाता है ॥३॥

भावार्थ— परमात्मा का साक्षात्कार करके हम भी उसके समान दूसरों को आनन्दित करने वाले, कर्मयोगी, विवेकदृष्टि से सम्पन्न, तेजस्वी और परोपकारी बनें ॥३॥

॥१३॥ अथ 'असावि सोमो' इत्यादिकस्य त्रयोदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसुर्भारद्वाजः। **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** जगती । **स्वरः** निषादः ॥

---

१. ऋ० ९।१०७।३ 'सुवानश्चक्षसे' इति पाठः ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५६२ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र सोमौषधिविषयो जीवात्मविषयश्च वर्ण्यते ।

१३१६. १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
असावि सोमो अरुषो वृषा हरी राजेव दस्मो अभि गा अचिक्रदत् ।
३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
पुनानो वारमत्येष्यव्ययं श्येनो न योनिं घृतवन्तमासदत् ॥१॥[1]

१ २र १ २र ३ २ १ २र १ २र १ २र ३ २ ३ २ ३
असावि सोमः अरुषः वृषा हरिः । राजा इव दस्मः अभि गाः अचिक्रदत् ।
२ १२र १ २र ३ १ २ ३ २ १ २र ३ १ २ ३
पुनानः वारम् अति एषि अव्ययम् । श्येनः न योनिम् घृतवन्तम् आ असदत् ॥१॥

पदार्थः— प्रथमः सोमौषधिपरः। **अरुषः** आरोचमानः, **वृषा** रसवर्षकः, **हरिः** हरितवर्णः । [हरिः सोमो हरितवर्णः निरु० ४।१९।] **सोमः** ओषधिराजः सोमः **असावि** मया अभिषुतोऽस्ति। **दस्मः** दर्शनीयः अयम् **गाः अभि** गव्यानि पयांसि अभिलक्ष्य इव **अचिक्रदत्** शब्दायते, **राजा इव** यथा सम्राट् **दस्मः** शत्रूणामुपक्षयिता सन् **गाः अभि** शत्रुराष्ट्राणां भूमीः अभिक्रम्य **अचिक्रदत्** जयघोषं करोति । हे सोम ओषधिराट् ! **पुनानः** पूयमानः त्वम् **अव्ययं वारम्** अविबालमयं दशापवित्रम् **अत्येषि** अतीत्य गच्छसि । पश्यत, अयम् ओषधिराजः सोमः **घृतवन्तम्** आज्यवन्तम् **योनिम्** यज्ञगृहम् । [योनिः गृहनाम । निघं० ३।४।] **आसदत्** आसीदति, **श्येनः न** यथा वायुः । [श्येन इति अन्तरिक्षस्थाने निरुक्ते पठितम् ।] **घृतवन्तम्** उदकवन्तम् **योनिम्** अन्तरिक्षम् । [योनिरन्तरिक्षं, महानवयवः । निरु० २।८।] **आसदत्** आसीदति ॥

द्वितीयो जीवात्मपरः । **सोमः** प्रेरको जीवात्मा **असावि** ऐश्वर्यवान् कृतोऽस्ति । **अरुषः** ज्ञानप्रकाशेन आरोचमानः, **वृषा** ज्ञानवर्षकः, **हरिः** देहरथस्य हर्ता, **दस्मः** शत्रूणां क्षयकरः एष आत्मा **गाः अभि** इन्द्रियाणि अभिलक्ष्य **अचिक्रदत्** कर्तव्याकर्तव्यमुपदिशेत्, **राजा इव** कश्चित् सम्राड् यथा **गाः अभि** प्रजाः अभिलक्ष्य **अचिक्रदत्** राज-नियमान् घोषयति । हे जीवात्मन् ! त्वम् **पुनानः** स्वात्मानं पवित्रयन् **वारम् अति** निरोधकं विघ्नजातम् अतिक्रम्य **अव्ययम्** अविनश्वरं परमात्मानम् **एषि** प्राप्नुहि । **श्येनः न योनिम्** श्येनः पक्षी यथा उड्डयनाय **योनिम्** अन्तरिक्षम् प्राप्नोति तथा एष आत्मा **घृतवन्तम्** तेजस्विनम् **योनिम्** जगतो निमित्तकारणं परमात्मानम् **आसदत्** प्राप्नुयात् ॥१॥

अत्र श्लेषः श्लिष्टोपमा चालङ्कारः। प्रथमे व्याख्याने 'अभि गा अचिक्रदत्' इति व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा च॥१॥

भावार्थः— पक्षिणो यथोड्डीय स्थानात् स्थानान्तरं प्राप्नुवन्ति तथैव मनुष्या उन्नतिं कृत्वा परमात्मानं प्राप्नुयुः ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में परमात्मा के विषय में की जा चुकी है । यहाँ सोम ओषधि का विषय और जीवात्मा का विषय वर्णित किया जा रहा है ।

पदार्थ— प्रथम सोमौषधि के पक्ष में । **अरुषः** चमकीले, **वृषा** रसवर्षक, **हरिः** हरे रंग के **सोमः** ओषधिराज सोम में से **असावि** मैंने रस निकाला है । **दस्मः** दर्शनीय यह, मानो **गाः अभि** गाय के दूध में मिलने

---

१. ऋ० ९।८२।१, 'पुनानो वारं पर्येत्यव्ययं श्येनो न योनिं घृतवन्तमासदम्' इत्युत्तरार्धः । साम० ५६२ ।

के लिए **अचिक्रदत्** बोल रहा है, **राजा इव** जैसे कोई राजा **दस्मः** शत्रुओं का विनाशक होता हुआ **गाः अभि** शत्रुओं की भूमियों पर आक्रमण करके **अचिक्रदत्** जयघोष करता है । हे ओषधिराज सोम! **पुनानः** शुद्ध किये जाते हुए तुम **अव्ययं वारम् अत्येषि** भेड़ के बालों से बनी हुई दशापवित्र नामक छन्नी में से छनकर पार होते हो । देखो, यह ओषधिराज सोम **घृतवन्तम्** घृतयुक्त **योनिम्** यज्ञगृह में **आसदत्** आया है, **श्येनः न** जैसे वायु **घृतवन्तम्** जल-कणों से युक्त **योनिम्** अन्तरिक्ष में **आसदत्** आता है ।।

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में । **सोमः** प्रेरक जीवात्मा **असावि** ऐश्वर्यवान् किया गया है । **अरुषः** ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशमान, **वृषा** ज्ञानवर्षक, **हरिः** देहरूप रथ को चलाने वाला, **दस्मः** शत्रुओं का विनाशक यह आत्मा **गाः अभि** इन्द्रियों को लक्ष्य करके **अचिक्रदत्** कर्तव्य-अकर्तव्य का उपदेश करे, **राजा इव** जैसे कोई राजा **गाः अभि** प्रजाओं को लक्ष्य करके **अचिक्रदत्** राजनियमों की घोषणा करता है । हे जीवात्मन् ! तू **पुनानः** स्वयं को पवित्र करता हुआ **वारम् अति** रुकावट डालने वाले विघ्नों को पार करके **अव्ययम्** अविनश्वर परमात्मा को **एषि** प्राप्त कर । **श्येनः न योनिम्** बाज पक्षी जैसे उड़ान भरने के लिए अन्तरिक्ष को प्राप्त करता है, वैसे ही यह आत्मा **घृतवन्तम्** तेजस्वी **योनिम्** जगत् के कारण परमात्मा को **आसदत्** प्राप्त करे ।।१।।

यहाँ श्लेष और श्लिष्टोपमा अलंकार हैं। प्रथम व्याख्या में 'अभि गा अचिक्रदत्' में व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा है ।।१।।

भावार्थ— जैसे पक्षी उड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँच जाते हैं वैसे ही मनुष्य उन्नति करके परमात्मा को प्राप्त करें ।।१।।

अथ पुनः सोमनाम्ना सोमौषधिर्जीवात्मा च वर्ण्यते ।

१३१७. **पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनो नाभा पृथिव्या गिरिषु क्षयं दधे ।**
स्वसार आपो अभि गा उदासरन्त्सं ग्रावभिर्वसते वीते अध्वरे ।।२।।[1]

पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनः । नाभा पृथिव्याः गिरिषु क्षयम् दधे ।
स्वसारः आपः अभि गाः उदासरन् उत् आसरन् ।
सम् ग्रावभिः वसते वीते अध्वरे ।।२।।

पदार्थः— **प्रथमः** सोमौषधिपरः । **महिषस्य** महतः, **पर्णिनः** पर्णवतः अस्य ओषधिराजस्य सोमस्य **पर्जन्यः** मेघः **पिता** जनको वर्तते । एष सोमः **पृथिव्या नाभा** भूमेः केन्द्रस्थलेषु **गिरिषु** पर्वतेषु च **क्षयम्** निवासम्। [क्षि निवासगत्योः । 'क्षयो निवासे' अ० ६।१।२०१ इति निवासार्थे आद्युदात्तः । क्षि क्षये इत्यनेन निष्पन्नस्तु अन्तोदात्तः।] **दधे** धारयति । पर्जन्यात् **स्वसारः आपः** स्वसृवत् सहगामिन्यः जलधाराः **गाः अभि** भूप्रदेशान् प्रति **उद् आ सरन्** उपरिष्टाद् आगच्छन्ति। एवम् **अध्वरे** वृष्टियज्ञे **वीते** प्रवृत्ते सति, ताः आपः **गाः** भूमीः **ग्रावभिः** प्राणैः । [प्राणा

---

१. ऋ० ९।८२।३, 'उदासरन्' इत्यत्र 'उतासरन्' 'वसते' इत्यत्र 'नसते' इति भेदः ।

वै ग्रावाणः । श० १४।२।२।३३।] **सं वसते** समाच्छादयन्ति । [प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम् । अथ० ११।४।५ इति श्रुते. । वस आच्छादने, अदादिः]॥

द्वितीयो जीवात्मपरः । **महिषस्य** महत्त्वशालिनः **पर्णिनः** ज्ञानकर्मरूपपक्षतियुक्तस्य अस्य सोमस्य जीवात्मनः **पिता** देहे जन्मदाता पालकश्च **पर्जन्यः** मेघवत् सुखवृष्टिकरः परमात्मा वर्तते । एष आत्मा **पृथिव्याः** पार्थिवायाः तन्वाः **नाभा** नाभौ केन्द्रभूते हृदये **गिरिषु** पर्वतवदुन्नतेषु मस्तिष्कप्रकोष्ठेषु च **क्षयं** निवासं **दधे** धारयति । **स्वसारः** सुष्ठु देहे न्यस्ताः **आपः** ज्ञानवाहिन्यः तन्तुनाड्यः **गाः अभि** ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च अभिलक्ष्य **उदासरन्** उपरिष्टादागच्छन्ति, अपि च **अध्वरे** ज्ञानयज्ञे कर्मयज्ञे वा **वीते** प्रवृत्ते सति **ग्रावभिः** ग्राह्यविषयैः । [गीर्यन्ते कवलीक्रियन्ते भुज्यन्ते ये ते ग्रावाणः भोग्यविषयाः।] **सं वसते** सं मिलन्ति, येन मनः-सहितैर्ज्ञानेन्द्रियैर्ज्ञानग्रहणं मनःसहितैः कर्मेन्द्रियैश्च कर्म संपद्यते ॥२॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— वृष्ट्या यद् भूमौ सोमाद्योषधयः समुत्पद्यन्ते प्राणश्च वर्षति, देहे च यज्जीवात्मा मनः-सहितैर्ज्ञानेन्द्रियैः कर्मेन्द्रियैश्च ज्ञानं गृह्णाति कर्माणि च करोति तत् सर्वं जगदीश्वरस्यैव कर्तृत्वं प्रकटयति॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः सोम नाम से सोम ओषधि और जीवात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ— प्रथम सोम ओषधि के पक्ष में । **महिषस्य** महान्, **पर्णिनः** पत्तों या डंठलों वाले इस ओषधिराज सोम का **पर्जन्यः** बादल **पिता** पिता है । यह सोम **पृथिव्याः नाभा** भूमि के केन्द्रस्थलों में और **गिरिषु** पर्वतों पर **क्षयम्** निवास को **दधे** धारण करता है । बादल से **स्वसारः आपः** बहिनों के समान साथ-साथ चलने वाली जल-धाराएँ **गाः अभि** भूमि-प्रदेशों की ओर **उद् आ सरन्** ऊपर से आती हैं। इस प्रकार **अध्वरे** वर्षारूप यज्ञ के **वीते** प्रवृत्त होने पर वे जल **गाः** भूमियों को **ग्रावभिः** प्राणों से **सं वसत** आच्छादित कर देते हैं ॥

अथर्ववेद में भी कहा गया है कि वर्षा के साथ भूमि पर प्राण बरसता है— प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम् (अथ० ११।४।५) ॥२॥

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में । **महिषस्य** महत्त्वशाली, **पर्णिनः** ज्ञान-कर्मरूप पंखों वाले इस सोम नामक जीवात्मा का **पिता** देह में जन्मदाता और पालनकर्ता **पर्जन्यः** मेघवत् सुखवर्षक परमात्मा है । यह आत्मा **पृथिव्याः** पार्थिव शरीर के **नाभा** केन्द्रभूत हृदय में, और **गिरिषु** पर्वत के समान उन्नत मस्तिष्क-प्रकोष्ठों में **क्षयं** निवास को **दधे** धारण करता है । **स्वसारः** शरीर में रखी हुई **आपः** ज्ञानवाहक तन्तु-नाड़ियाँ **गाः अभि** ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की ओर **उदासरन्** ऊपर से आती हैं, और **अध्वरे** ज्ञान-यज्ञ तथा कर्म-यज्ञ के **वीते** प्रवृत्त होने पर **ग्रावभिः** ग्राह्य विषयों के साथ **संवसते** मिलती हैं, जिससे मनसहित ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान का ग्रहण और मनसहित कर्मेन्द्रियों से कर्म संपन्न होता है ॥२॥

यहाँ श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ— वर्षा से जो भूमि पर सोम आदि ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और प्राण बरसता है तथा शरीर में जो जीवात्मा मनसहित ज्ञानेन्द्रियों वा कर्मेन्द्रियों से ज्ञान ग्रहण करता वा कर्म करता है वह सब जगदीश्वर के ही कर्तृत्व को प्रकट करता है ॥२॥

अथ जीवात्मानमुद्बोधयति ।

३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र
१३१८. कविर्वेधस्या पर्येषि माहिनमत्यो न मृष्टो अभि वाजमर्षसि ।

३ २ ३ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
अपसेधन् दुरिता सोम नो मृड घृता वसानः परि यासि निर्णिजम् ॥३॥[1]

३ २ ३ २ १ २र २ १ २र १ २र ३ २ ३ २ १ २र ३
कविः वेधस्या परि एषि माहिनम् । अत्यः न मृष्टः अभि वाजम् अर्षसि ।

१ २ ३ १ २र ३ २ ३ २ ३
अपसेधन् अप सेधन् दुरिता दुः इता सोम नः मृड ।

२ १ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २र
घृता वसानः परि यासि निर्णिजम् निः निजम् ॥३॥

पदार्थः - हे सोम ! हे शान्तिप्रिय जीवात्मन् ! **कविः** मेधावी त्वम् **वेधस्या** महाकार्यविधानेच्छया । [वेधाः इवाचरित वेधस्यति, ततो 'वेधस्या' इति ।] **माहिनम्** महान्तम् परमात्मानम् । [माहिनः इति महन्नाम । निघं० ३।३।] **पर्येषि** उपास्व । **मृष्टः** संघर्षणेन स्वच्छीकृतः **अत्यः न** अश्वः इव **मृष्टः** यमनियमादिभिः शोधितः त्वम्, विजेतुम् **वाजम् अभि** देवासुरसंग्रामं प्रति **अर्षसि** । गच्छ । हे **सोम** जीवात्मन् ! **दुरिता** दुरितानि दुर्गुणदुर्व्यसनादीनि **अपसेधन्** दूरीकुर्वन् त्वम् **नः** अस्मान् **(मृड)** सुखय, किञ्च (धृता) धृतानि तेजांसि (वसानः) धारयन् त्वम् **निर्णिजम्** शुद्धं रूपम् **परि यासि** परिगच्छ । [निर्णिक् इति रूपनाम । निघं० ३।७] ॥

सोमौषधिरसपक्षेऽप्यर्थो योजनीयः । सौमौषधिरसः माहिनम् महान्तं द्रोणकलशं परियाति, शोधितश्च सन् वाजं यज्ञं नीयते, पानेन दुरितविचारान् दूरीकृत्य सद्विचारानुत्तेजयति, घृतानि उदकानि च धारयति, तैः सम्मिलतीत्यर्थः ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः- मनुष्यैः परमात्मोपासनेन, देवासुरसंग्रामे विजयेन, दुरितध्वंसनेन पुण्यकर्मसमर्द्धनेन, तेजोधारणेन च योगक्षेमौ साधनीयौ ॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मध्यानेन ब्रह्मानन्द प्राप्तिविषयस्य जीवात्मोद्बोधनस्य प्रसङ्गतश्च सोमौषधिविषयस्य वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा को उद्बोधन दिया गया है ।

पदार्थ- हे सोम ! हे शान्तिप्रिय जीवात्मन्! **कविः** मेधावी तू **वेधस्या** महान् कार्य को करने की इच्छा से **माहिनम्** महान् परमात्मा की **पर्येषि** उपासना कर **मृष्टः** ब्रुश से रगड़कर साफ किये गये **अत्यः न** घोड़े के समान **मृष्टः** यम, नियम आदि से शोधित तू, विजयप्राप्ति के लिए **वाजम् अभि** देवासुरसंग्राम में **अर्षसि** जा । **हे सोम** जीवात्मन्! **दुरिता** दुर्गुण, दुर्व्यसन आदियों को **अपसेधन्** दूर करता हुआ तू **नः** हमें **मृड** सुखी कर, **और घृता** तेजों को **वसानः** धारण करता हुआ तू **निर्णिजम्** शुद्ध रूप को **परियासि** प्राप्त कर ।

---

१. ऋ० ९।८२।२'नो मृड' इत्यत्र 'मृळय' 'घृता' इत्यत्र 'घृतं' इति भेदः ।

सोम ओषधि के पक्ष में भी अर्थयोजना करनी चाहिए। सोम ओषधि का रस **माहिनम्** महान् द्रोणकलश में जाता है, शुद्ध किया जाकर **वाजम्** यज्ञ में ले जाया जाता है, पान करने पर **दुरितानि** दुर्विचारों को दूर करके सद्विचारों को उत्तेजित करता है और **घृता** जलों के साथ मिलता है ॥३॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ— मनुष्यों को चाहिए कि परमात्मा की उपासना, देवासुरसंग्राम में विजय, दुरितों के ध्वंस, पुण्यकर्मों की समृद्धि और तेज को धारण करके योग-क्षेम को सिद्ध करें ॥३॥

इस खण्ड में परमात्मा के ध्यान से ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का, जीवात्मा के उद्बोधन का और प्रसंगतः सोम ओषधि के विषय का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

दशम अध्याय में नवम खण्ड समाप्त ।

॥१४॥ अथ 'श्रायन्त' इत्यादिकस्य चतुर्दशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** नृमेध आङ्गिरसः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ बृहती, २ सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २६७ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्रापि स एव विषयो वर्ण्यते ।

१३१९. श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।
वसूनि जातो जनिमान्योजसा प्रति भागं न दीधिमः ॥१॥[1]

श्रायन्तः इव सूर्यम् । विश्वा इत् इन्द्रस्य भक्षत । वसूनि जातः जनिमानि ओजसा ।
प्रति भागम् न दीधिमः ॥१॥

पदार्थः— **श्रायन्तः इव** भोजनादिकं परिपचन्तो जनाः यथा **सूर्यम्** आदित्यम् उपयुञ्जते, सौरीं हसन्तिकां निर्माय तत्र भोजनं पचन्ति, तथा यूयम् **इन्द्रस्य** ऐश्वर्यशालिनः परमात्मनः,तेन उत्पादितानीत्यर्थः, **विश्वा इत् वसूनि** सर्वाण्येव धनानि, अबग्निविद्युद्वाय्वोषध्यादीनि **भक्षत** यथायोग्यं सेवध्वम् । **जातः** प्रसिद्धः स इन्द्रः परमात्मा **ओजसा** स्वकीयेन प्रतापेन **जनिमानि** सर्वाण्येव उत्पन्नानि वस्तूनि धारयतीति शेषः । वयं तम् **प्रतिदीधिमः** प्रतिध्यायामः, **भागं न** यथा कश्चित् प्राप्तव्यं दायभागं स्वकीयं प्रतिध्यायति तद्वत्॥[2]

एतन्मन्त्रस्य ऋग्वेदीयः पाठः निरुक्ते ६।८ इत्यत्र व्याख्यातः ॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— यथा सूर्योऽस्मभ्यं प्राणानां स्रोतो विद्यते तथैव परमेश्वरनिर्मितानि सर्वाण्येव वस्तून्यतितरां हितकराणि सन्ति । तेषां यथायोग्यमुपयोगः सर्वैर्विधेयः ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में २६७ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में की गयी थी । यहाँ भी वही विषय वर्णित है ।

---

१. ऋ० ८।९९।३, य० ३३।४१, अथ० २०।५८।१, सर्वत्र 'वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम' इति पाठः । साम० २६७ ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिणापि मन्त्रोऽयं जगदीश्वरविषये व्याख्यातः।

पदार्थ– **श्रायन्तः इव** भोजन आदि को पकाते हुए मनुष्य जैसे **सूर्यम्** सूर्य का उपयोग करते हैं, अर्थात् सौर चूल्हा बनाकर उस पर भोजन पकाते हैं, वैसे ही तुम **इन्द्रस्य** ऐश्वर्यशाली परमात्मा के, अर्थात् परमात्मा से उत्पन्न किये हुए **विश्वा इत् वसूनि** जल, अग्नि, बिजली, वायु, ओषधी आदि सभी धनों को **भक्षत** यथायोग्य सेवन करो। **जातः** वह प्रसिद्ध परमात्मा **ओजसा** अपने प्रताप से **जनिमानि** सभी उत्पन्न वस्तुओं को धारण करता है। हम उसका **प्रति दीधिमः** ध्यान करते हैं, **भागं न** जैसे कोई अपने प्राप्तव्य दायभाग का ध्यान करता है ॥१॥

यहाँ उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ– जैसे सूर्य हमारे लिए प्राणों का स्रोत है वैसे ही परमेश्वर से रचे हुए सभी पदार्थ अत्यधिक हितकर हैं। उनका यथायोग्य उपयोग सबको करना चाहिए ॥१॥

अथ मनुष्यं परमात्मोपासनाय प्रेरयति ।

१ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
१३२०. अलर्षिरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः ।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन् ॥२॥[1]

१ २र १ २र ३ २ ३ २ १ २र ३ २ १ २र ३ १ २
अलर्षिरातिम् अलर्षि रातिम् वसुदाम् वसु दाम् उप स्तुहि। भद्राः इन्द्रस्य रातयः।

३ १ २र ३ २ १ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २
यः अस्य कामम् विधतः न रोषति। मनः दानाय चोदयन्॥२॥

पदार्थः– हे मानव ! त्वम् **अलर्षिरातिम्** शोभास्पददानम् । [अलति शोभते इति अलम्, अल भूषणपर्याप्तिवारणेषु भ्वादिः । अलं शोभां ऋषति गच्छतीति अलर्षिः, ऋषी गतौ तुदादिः । अलर्षिः रातिः यस्य सोऽलर्षिरातिः तम्।] **वसुदाम्** धनस्य दातारम् इन्द्रम् परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् **उप स्तुहि** उपश्लोकय । **इन्द्रस्य** परमैश्वर्यशालिनः परमात्मनः **रातयः** दानपरम्पराः **भद्राः** कल्याणप्रदाः सन्ति । **मनः** स्वकीयं मानसम् **दानाय** त्यागाय **चोदयन्** प्रेरयन् **सः** इन्द्रः परमात्मा **विधतः** परिचरतः। [विधेम इति परिचरणकर्मसु पठितम् । निघं० ३।५।] **अस्य** उपासकस्य **कामम्** मनोरथम् **न रोषति** न हिनस्ति, तदभीष्टं ददात्येवेत्यर्थः। [रुष हिंसार्थः, भ्वादिः]॥

अनर्शरातिम् इति ऋग्वेदीयः पाठो यास्काचार्येणैवं व्याख्यातः– ['अनर्षरातिमनश्लीलदानम् । अश्लीलं पापकम्, अश्रिमद् विषमम्' इति (निरु० ६।२३)]॥२॥

भावार्थः– यद् यस्य हिताय भवति तत् तस्मै जगदीश्वरो ददाति ॥२॥

अगले मन्त्र में मनुष्य को परमात्मोपासना की प्रेरणा दी गयी है ।

पदार्थ– हे मानव ! तू **अलर्षिरातिम्** शोभास्पद दान वाले, **वसुदाम्** धन के दाता इन्द्रनामक परमैश्वर्यवान् परमात्मा की **उप स्तुहि** समीपता से स्तुति कर । **इन्द्रस्य** परमैश्वर्यशाली परमात्मा की **रातयः**

---

१. ऋ० ८।९९।४, अथ० २०।५८।२, उभयत्र 'अनर्शरातिं', 'सो अस्य' इति पाठः।

दान-परम्पराएँ **भद्राः** कल्याण करने वाली होती हैं। **मनः** अपने मन को **दानाय** देने के लिए **चोदयन्** प्रेरित करता हुआ **सः** वह इन्द्र परमात्मा **विधतः** पूजा करने वाले **अस्य** इस उपासक के **कामम्** मनोरथ को **न रोषति** असफल नहीं करता अर्थात् उसका अभीष्ट उसे देता ही है ॥२॥

भावार्थ— जो जिसके हित के लिए होता है वह उसे जगदीश्वर देता है ॥२॥

॥१५॥ अथ 'यत इन्द्र' इत्यादिकस्य पञ्चदशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भर्गः प्रागाथः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ बृहती, २ सतोबृहती)। **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २७४ क्रमाङ्के परमात्मानं राजानं च सम्बोधिता । अत्र जगदीश्वर आचार्यश्च प्रार्थ्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१३२१. **यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।**
१ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १र २र
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतये वि द्विषो वि मृधो जहि ॥१॥[1]

१ २र ३ १ २र १ २र ३ १ २र ३
यतः इन्द्र भयामहे। ततः नः अभयम् अ भयम् कृधि।
१ २र ३ २ १ २र ३ १ २ १ २र १ २र ३
मघवन् शग्धि तव तत् नः ऊतये। वि द्विषः वि मृधः जहि ॥१॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर विद्यैश्वर्ययुक्त आचार्यप्रवर वा ! वयम् **यतः** यस्माद् अज्ञानपापदुर्व्यसनचौरव्याघ्रादिकात् **भयामहे** त्रस्यामः **ततः** तस्मात् **नः** अस्माकम् **अभयम्** निर्भयत्वम् **कृधि** कुरु । हे **मघवन्** अभयत्वधनेन धनवन् ! **शग्धि** अस्मान् शक्तान् कुरु । **तव** त्वदीयम् **तत्** अभयदानम् **नः** अस्माकम् **ऊतये** रक्षणाय भवतु इति शेषः । त्वम् **द्विषः** द्वेषवृत्तीः द्वेषकर्तॄन् पापादीन् वा **वि** विजहि, **मृधः** हिंसावृत्तीः संग्रामकारिणः कामक्रोधादीन् वा **वि जहि** विनाशय ॥१॥

भावार्थः— यथा जगदीश्वरः स्वोपासकान् निर्भयान् करोति तथैवाचार्यो विद्याध्यापनेन साकं निर्भयतादिगुणानपि विद्यार्थिषूत्पादयेत् ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक २७४ क्रमांक पर परमात्मा और राजा को सम्बोधित की गयी थी । यहाँ जगदीश्वर और आचार्य से प्रार्थना है ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर वा विद्या के ऐश्वर्य से युक्त आचार्यवर ! हम **यतः** जिस अज्ञान, पाप, दुर्व्यसन, चोर, बाघ आदि से **भयामहे** डरते हैं **ततः** उससे **नः** हमें **अभयम्** निर्भयता **कृधि** प्रदान करो । हे **मघवन्** निर्भयतारूप धन के धनी ! **शग्धि** हमें शक्ति दो । **तव** आपका **तत्** वह अभयदान **नः** हमारी **ऊतये** रक्षा के लिए होवे । आप **द्विषः** द्वेषवृत्तियों को **वि** विनष्ट कर दो, **मृधः** हिंसावृत्तियों को वा काम, क्रोध आदियों को **वि जहि** विनष्ट कर दो ॥१॥

भावार्थ— जैसे जगदीश्वर अपने उपासकों को निर्भय करता है, वैसे ही आचार्य को भी चाहिए कि वह विद्या पढ़ाने के साथ-साथ निर्भयता आदि गुण भी विद्यार्थियों के अन्दर उत्पन्न करे ॥१॥

---

१. ऋ० ८।६१।१३, 'तन्न ऊतिभिर्' इति भेदः। अथ० १९।१५।१ 'त्वं न ऊतिभिर्' इति भेदः। साम० २७४।

अथ पुनरपि जगदीश्वरमाचार्यं च सम्बोधयति ।

१२ २२ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ २
१३२२. त्वं हि राधसस्पते राधसो महः क्षयस्यासि विधर्ता।
१ २ ३१ २ ३ १ २
तं त्वा वयं मघवन्निन्द्र गिर्वणः सुतावन्तो हवामहे ॥२॥[1]
२ ३ १२२ ३ २ १२२ १ २२ ३ २ ३ २
त्वम् हि राधसः पते राधसः महः क्षयस्य असि विधर्ता वि धर्ता ।
३ २ ३ १२ ३
तम् त्वा वयम् मघवन् इन्द्र गिर्वणः गिः वनः सुतावन्तः हवामहे ॥२॥

पदार्थः- हे **राधसः पते** सकलऋद्धिसिद्धीनामधीश्वर जगदीश्वर आचार्यवर वा ! **त्वं हि** त्वं खलु **महः** महतः **क्षयस्य** निवासकस्य **राधसः** विद्यातपस्तेजस्वितादिरूपस्य धनस्य **विधर्ता** विधारकः **असि** विद्यसे । हे **मघवन्** विद्यादिदानवन् ! [मघं मंहतेर्दानकर्मणः । निरु० १।६।] **गिर्वणः** गीष्पते **इन्द्र** अविद्यादिविदारक जगदीश्वर आचार्य वा ! **सुतावन्तः** उपहृतश्रद्धारसाः **वयम्** उपासकाः विद्यार्थिनो वा **त्वा** त्वाम् **हवामहे** आह्वयामः ॥२॥

भावार्थः- यथा जगदीश्वरः सर्वेषां गुणानामधिपतिर्विद्यते तथैव स एवाचार्यो भवितुं योग्यो यो विद्वान् वाक्पतिस्तपस्वी जितेन्द्रियः शिक्षणकलाकुशलश्च भवेत् ॥२॥

अस्मिन् खण्डे जगदीश्वरविषयस्याचार्यविषयस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ॥

अगले मन्त्र में फिर जगदीश्वर और आचार्य को सम्बोधन है ।

पदार्थ- हे **राधसः पते** सकल ऋद्धि-सिद्धियों के अधीश्वर जगदीश वा आचार्यवर ! **त्वं हि** आप **महतः** महान्, **क्षयस्य** निवासक, **राधसः** विद्या, तप, तेजस्विता आदि रूप धन के **विधर्ता** विशेष रूप से धारण करने वाले **असि** हो। हे **मघवन्** विद्या आदि के दानी, **गिर्वणः** वाचस्पति **इन्द्र** अविद्या आदि के विदारक जगदीश्वर वा आचार्य ! **सुतावन्तः** श्रद्धारस का उपहार लिये हुए **वयम्** हम उपासक वा विद्यार्थी **त्वा** आपको **हवामहे** पुकार रहे हैं ॥२॥

भावार्थ- जैसे जगदीश्वर सब गुणों का अधिपति है, वैसे ही आचार्य वही हो सकता है जो विद्वान्, वाणी पर अधिकार रखने वाला, तपस्वी, जितेन्द्रिय और शिक्षणकला में कुशल हो ॥२॥

इस खण्ड में जगदीश्वर और आचार्य के विषय का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ॥

दशम अध्याय में दशम खण्ड समाप्त ।

॥१६॥ अथ 'त्वं सोमासि' इत्यादिकस्य षोडशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

---

१. ऋ० ८।६१।१४ 'राधसस्पते', 'विधर्ता' इत्यत्र क्रमेण 'राधस्पते', 'विधृतः' इति पाठः ।

तत्रादौ परमेश्वरस्य गुणानुपवर्ण्य तं प्रार्थयते।

१३२३. त्वं सोमासि धारयुर्मन्द्र ओजिष्ठो अध्वरे। पवस्व मंहयद्रयिः ॥१॥[1]

त्वम् सोम असि धारयुः। मन्द्रः ओजिष्ठः अध्वरे।
पवस्व मंहयद्रयिः मंहयत् रयिः ॥१॥

पदार्थः— हे **सोम** जगत्स्रष्टः रसनिधे परमात्मन् ! **त्वम् धारयुः** आनन्दधाराप्रदानकामः। [धाराः परेषामिच्छतीति धारयुः। छन्दसि परेच्छायां क्यच्, तत उः प्रत्ययः।] **मन्द्रः** तृप्तिकारकः, **ओजिष्ठः** ओजस्वितमश्च **असि** वर्तसे। **मंहयद्रयिः**[2] वृद्धिप्रदधनः कीर्तिकरधनो वा। [मंहयन् वृद्धिं कीर्तिं वा कुर्वन् रयिः धनं यस्य स इति बहुव्रीहिः। मह वृद्धौ भ्वादिः, ण्यन्तः, यद्वा मह भासार्थः चुरादिः, शतरि मंहयद् इति] त्वम् **अध्वरे** जीवनयज्ञे **पवस्व** अस्मान् पुनीहि ॥१॥

भावार्थः— सर्वे जनाः परमेश्वरमाराध्य पुण्यं धनमानन्दं सन्तुष्टिं च स्वजीवने प्राप्नुवन्तु ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमेश्वर के गुणों का वर्णन करके उससे प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ— हे **सोम** जगत् के रचयिता रसनिधि परमात्मन् ! **त्वम्** आप **धारयुः** आनन्द-धाराओं को देने के इच्छुक, **मन्द्रः** तृप्त करने वाले, और **ओजिष्ठः** सबसे अधिक ओजस्वी **असि** हो। **मंहयद्रयिः** जिनका धन वृद्धि प्रदान करने वाला वा कीर्ति देने वाला है ऐसे आप **अध्वरे** जीवन-यज्ञ में **पवस्व** हमें पवित्र करते रहो ॥१॥

भावार्थ— सब मनुष्य परमात्मा की आराधना करके पुण्य, धन, आनन्द और सन्तुष्टि को अपने जीवन में प्राप्त करें ॥१॥

अथाराधितः परमेश्वरः किं करोतीत्याह।

१३२४. त्वं सुतो मदिन्तमो दधन्वान्मत्सरिन्तमः। इन्दुः सत्राजिदस्तृतः ॥२॥[3]

त्वम् सुतः मदिन्तमः। दधन्वान् मत्सरिन्तमः।
इन्दुः सत्राजित् सत्रा जित् अस्तृतः अ स्तृतः ॥२॥

पदार्थः— हे परमात्मन् ! **इन्दुः** तेजस्वी **त्वम् मदिन्तमः** अतिशयेन प्रसन्नः, **दधन्वान्** धारकः, **मत्सरिन्तमः** अतिशयेनानन्दजनकः, **सत्राजित्**[4] युगपत् उपासकस्य सर्वेषां कामक्रोधादीनां रिपूणां विजेता, **अस्तृतः** स्वयं सदा अहिंसितश्च, भवसि। [मदिन्तमः, मत्सरिन्तमः इत्यत्र नलोपाभावश्छान्दसः]॥२॥

भावार्थः— सत्यहृदयेन कृता परमेश्वरोपासना प्रचुरफलप्रदा जायते ॥२॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि आराधना किया गया परमेश्वर क्या करता है।

---

१. ऋ० ९।६७।१।
२. यद्यपि मंहतिः पूजार्थः तथाप्यत्र लाभार्थो द्रष्टव्यः—इति वि०। मंहयद्रयिः स्तोतृभ्यः प्रदीयमानधनः— इति सा०।
३. ऋ०९।६७।२ 'मदिन्तमो' इत्यत्र 'नृमादनो' इति पाठः, 'इन्द्राय सूरिरन्धसा' इति च तृतीयः पादः।
४. सत्राजित् सदा जेता अथवा सहजेता—इति वि०। बहूनां जेता— इति सा०।

पदार्थ– हे परमात्मन् ! **इन्दुः** तेजस्वी **त्वम्** आप **सुतः** आराधना किये हुए **मदिन्तमः** अतिशय प्रसन्न, **दधन्वान्** धारणकर्ता, **मत्सरिन्तमः** अत्यन्त आनन्द देने वाले, **सत्राजित्** एक-साथ उपासक के सब काम, क्रोध आदि रिपुओं को जीत लेने वाले और **अस्तृतः** स्वयं सदा अहिंसित होते हो ॥२॥

भावार्थ– सच्चे हृदय से की गयी परमेश्वर की उपासना बहुत-से फलों को देने वाली होती है ॥२॥

अथ परमेश्वरः प्रार्थ्यते ।

१ २ ३ १र २र ३क २र३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१३२५. **त्वं सुष्वाणो अद्रिभिरभ्यर्ष कनिक्रदत् । द्युमन्तं शुष्ममा भर ॥३॥**[1]

२ ३ २ १ २र ३ २ ३ १ २र
त्वम् सुष्वाणः अद्रिभिः अ द्रिभिः । अभि अर्ष कनिक्रदत् ।

३ १ २ १ २र ३
द्युमन्तम् शुष्मम् आ भर ॥३॥

पदार्थः– हे पवित्रीकर्त्तः रसागार परमेश ! **अद्रिभिः** प्रणवजपरूपैः पेषणपाषाणैः **सुष्वाणः** अभिषूयमाणः **त्वम् कनिक्रदत्** भूयो भूयः उपदिशन् **अभ्यर्ष** अस्मान् प्राप्नुहि, अपि च **द्युमन्तम्** तेजोयुक्तम् **शुष्मम्** आत्मबलम् **आ भर** आहर ॥३॥

भावार्थः– उपासकश्चेत् परमात्मनः सकाशात् कर्तव्याकर्तव्योपदेशं तेजस्वितामात्मबलं च न प्राप्नोति तदा तस्योपासनायां काचित् त्रुटिरस्तीति मन्तव्यम् ॥३॥

अब परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ– हे पवित्र करने वाले, रस के भण्डार परमेश्वर ! **अद्रिभिः** प्रणव-जप रूप सिलबट्टों से **सुष्वाणः** अभिषुत किये जाते हुए **त्वम्** आप **कनिक्रदत्** पुनः-पुनः उपदेश करते हुए **अभ्यर्ष** हमें प्राप्त होवो, और **द्युमन्तम्** तेज से युक्त **शुष्मम्** आत्म-बल **आ भर** प्रदान करो ॥३॥

भावार्थ– उपासक यदि परमात्मा के पास से कर्तव्य-अकर्तव्य का उपदेश, तेजस्विता और आत्मबल नहीं प्राप्त कर पाता तो उसकी उपासना में कोई त्रुटि है ऐसा समझना चाहिए ॥३॥

॥१७॥ अथ 'पवस्व' इत्यादिकस्य सप्तदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मनुराप्सवः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** उष्णिक् । **स्वरः** ऋषभः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५७१ क्रमाङ्के ब्रह्मानन्दरसविषये व्याख्याता । अत्रापि स एव विषयो वर्ण्यते।

१ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१३२६. **पवस्व देववीतय इन्दो धाराभिरोजसा ।**

२ ३ २ ३ १ २
आ कलशं मधुमान्त्सोम नः सदः ॥१॥[2]

१२र ३१ २ ३ २ ३ १ २र १ २र १ २र
पवस्व देववीतये देव वीतये । इन्दो धाराभिः ओजसा ।

३ १ २ १ २र ३
आ कलशम् मधुमान् सोम नः सदः ॥१॥

---

१. ऋ० ९।६७।३ 'शुष्ममुत्तमम्' इति भेदः।
२. ऋ० ९।१०६।७, साम० ५७१ ।

पदार्थः— हे **इन्दो** रसेन आर्द्रीकर्तः परमेश ! त्वम् **देववीतये** दिव्यगुणानां प्राप्तये **धाराभिः** आनन्द-धाराभिः **ओजसा** वेगेन **पवस्व** अस्मदन्तःकरणे प्रक्षर । हे **सोम** रसागार ! **मधुमान्** मधुमयः त्वम् **नः** अस्माकम् **कलशम्** जीवात्मरूपम् **आ सदः** आसीद। [सदेर्विध्यर्थे लुङि रूपम्]॥१॥

भावार्थः— परमात्मध्यानमग्ना योगिनः परमात्मनः सकाशात् स्वमनोभूमौ निर्झरन्तमानन्दरसनिर्झरं साक्षादनुभवन्ति ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ५७१ क्रमांक पर ब्रह्मानन्द-रस के विषय में की गयी थी । यहाँ भी उसी विषय का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— हे **इन्दो** रस से भिगोने वाले परमेश्वर ! **देववीतये** दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **धाराभिः** आनन्द की धाराओं के साथ **ओजसा** वेगपूर्वक **पवस्व** हमारे अन्तःकरण में बहो । हे **सोम** रस के भण्डार ! **मधुमान्** मधुर आप **नः** हमारे **कलशम्** जीवात्मारूप कलश में **आ सदः** आकर स्थित होवो ॥१॥

भावार्थ— परमात्मा के ध्यान में मग्न योगी लोग परमात्मा के पास से अपनी मनोभूमि में झरते हुए आनन्द-रस के झरने का साक्षात् अनुभव करते हैं ॥१॥

अथ पुनः परमात्मन आनन्दरसान् वर्णयति ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१३२७. तव द्रप्सा उदप्रुत इन्द्रं मदाय वावृधुः ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वां देवासो अमृताय कं पपुः ॥२॥[1]

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
तव द्रप्साः उदप्रुतः उद प्रुतः । इन्द्रम् मदाय वावृधुः ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
त्वाम् देवासः अमृताय अ मृताय कम् पपुः ॥२॥

पदार्थः— हे सोम ! हे रसागार परमेश ! **तव** त्वदीयाः **द्रप्साः** द्रुतगामिनः आनन्दरसाः **उदप्रुतः** अन्तःकरणे तरङ्गोत्थापकाः भवन्ति। [उदकानि तरङ्गान् प्रवयन्ति उत्थापयन्तीति उदप्रुतः । प्रुङ् गतौ ण्यन्तः। उदकस्य उदादेशः।] ते **इन्द्रम्** जीवात्मानम् **मदाय** तृप्तिलाभाय **वावृधुः**वर्धयन्ति । **देवासः** विद्वांसः **कम्** कमनीयं सर्वातिक्रान्तं सुखस्वरूपं च [कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा। निरु० १०।२३।] **त्वाम्** त्वा **अमृताय** अमरपदप्राप्तये **पपुः** पिबन्ति, आस्वदन्ते ॥२॥

भावार्थः—परमेश्वररूपाद्धिमालयान्निःसृतायामानन्दरसतरङ्गिण्यामेव स्नात्वा योगिनो जना मोक्षपदाधिकारिणो जायन्ते न तु भौतिकीषु गङ्गायमुनासरस्वत्यादिषु नदीषु स्नात्वा ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा के आनन्दरसों का वर्णन है ।

पदार्थ— हे सोम ! हे रसागार परमेश्वर ! **तव** आपके **द्रप्साः** वेग से बहने वाले आनन्द-रस **उदप्रुतः** अन्तःकरण में तरंगें उठाने वाले होते हैं। वे **इन्द्रम्** जीवात्मा को **मदाय** तृप्तिलाभ के लिए **वावृधुः** बढ़ाते हैं। **देवासः** विद्वान् लोग **कम्** सुन्दर, सर्वोपरि विराजमान, सुखस्वरूप **त्वाम्** आपको **अमृताय** अमर पद की प्राप्ति के लिए **पपुः** पान करते हैं ॥२॥

---

१. ऋ० ९।१०६।८

भावार्थ– परमेश्वररूप हिमालय से निकली हुई आनन्द-रस **की नदी में ही** स्नान करके योगी लोग **मोक्ष**-पद के अधिकारी होते हैं, भौतिक गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियों में स्नान करके नहीं ।।२।।

अथ पुनरपि स एव विषयो वर्ण्यते ।

१३२८. **आ नः सुतास इन्दवः पुनाना धावता रयिम् ।**
वृष्टिद्यावो रीत्यापः स्वर्विदः ।।३।।[1]
आ नः सुतासः इन्दवः । पुनानाः धावत रयिम् ।
वृष्टिद्यावः वृष्टि द्यावः रीत्यापः रीति आपः स्वर्विदः स्वः विदः ।।३।।

पदार्थः– हे **सुतासः** अभिषुताः **इन्दवः** ब्रह्मानन्दरसाः ! **पुनानाः** पावयन्तः यूयम् **नः** अस्मभ्यम् **रयिम्** सद्गुणैश्वर्यम् **आ धावत** आगमयत । हे **रीत्यापः** द्रुतप्रवाहाः ब्रह्मानन्दाः ! [रीतयः गमनशीलाः आपः प्रवाहाः येषां ते रीत्यापः,री गतिरेषणयोः, क्र्यादिः, कर्तरि क्तिन्।] यूयम्, **वृष्टिद्यावः** वृष्टिः विज्ञानवर्षणकरी द्यौः मस्तिष्क-भूमिः यैस्तथाविधाः, मस्तिष्काद् विज्ञानवृष्टिं कुर्वाणाः इत्यर्थः, **स्वर्विदः** दिव्यप्रकाशलम्भकाश्च, स्थ इति शेषः ।।३।।

भावार्थः– ब्रह्मानन्देनान्तरात्मनि प्रकाशिते पवित्रीकृते च मस्तिष्कभूमिरप्युर्वरा सती विविध-ज्ञानविज्ञानादिकं जनयन्ती योगिनमुपकरोति ।।३।।

अगले मन्त्र में फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ– हे **सुतासः** अभिषुत किये हुए **इन्दवः** ब्रह्मानन्द-रसो ! **पुनानाः** पवित्र करते हुए तुम **नः** हमें **रयिम्** सद्गुणों का ऐश्वर्य **आ धावत** प्राप्त कराओ । हे **रीत्यापः** वेग से प्रवाहित होने वाले ब्रह्मानन्दो ! तुम **वृष्टिद्यावः** मस्तिष्क से विज्ञान की वृष्टि करने वाले, और **स्वर्विदः** दिव्य प्रकाश प्राप्त कराने वाले हो ।।३।।

भावार्थ– ब्रह्मानन्द द्वारा अन्तरात्मा के प्रकाशित और पवित्र हो जाने पर मस्तिष्क-भूमि भी उपजाऊ होकर विविध ज्ञान-विज्ञान आदि को उत्पन्न करती हुई योगी को उपकृत करती है ।।३।।

।।१८।। अथ 'परि त्यं' इत्यादिकस्याष्टादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अम्बरीषो वार्षागिरः, ऋजिश्वा भारद्वाजश्च । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५५२ क्रमाङ्के जीवात्मशोधनविषये व्याख्याता। अत्र गुरुशिष्यविषय उच्यते।

१३२९. **परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण ।**
यो देवान्विश्वाँ इत्परि मदेन सह गच्छति ।।१।।[2]
परि त्यम् हर्यतम् हरिम् । बभ्रुम् पुनन्ति वारेण । यः देवान् विश्वान् इत् परि ।
मदेन सह गच्छति ।।१।।

---

१. ऋ० ९।१०६।९ ।

२. ऋ० ९।९८।७, साम ५५२, १६८१ ।

पदार्थः— **हर्यतम्** प्रियम्, **हरिम्** विद्याहरणशीलम्, **बभ्रुम्** अज्ञानादिदोषैः धूसरात्मानम् **त्यम्** तं विद्यार्थिनम्, गुरुजनाः **वारेण** दोषनिवारकेण यमनियमादिना **परि पुनन्ति** परिशोधयन्ति । **यः** विद्यार्थी **मदेन सह** उत्साहेन साकम् **विश्वान् इत् देवान्** सर्वानेव विदुषो गुरुजनान् **परि गच्छति** परि प्राप्नोति ॥१॥

भावार्थः— गुरूणामिदं कर्तव्यं यत्ते प्रियाणां विद्यार्थिनां दोषान् निवार्य तान् विदुषः प्रशस्तचरित्रांश्च कुर्युः ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ५५२ क्रमांक पर जीवात्मा की शुद्धि के विषय में की गयी थी । यहाँ गुरु-शिष्य का विषय कहते हैं ।

पदार्थ— **हर्यतम्** प्रिय, **हरिम्** विद्या ग्रहण करने के शील वाले, **बभ्रुम्** अज्ञान आदि दोषों से धूसर आत्मा वाले **त्यम्** उस विद्यार्थी को, गुरुजन **वारेण** दोष-निवारक यम, नियम आदि से **परि पुनन्ति** परिशुद्ध करते हैं, **यः** जो विद्यार्थी **मदेन सह** उत्साह के साथ **विश्वान् इत् देवान्** सभी विद्वान् गुरुजनों के पास **परिगच्छति** पहुँचता है ॥१॥

भावार्थ— गुरुओं का यह कर्तव्य है कि वे प्यारे विद्यार्थियों के दोषों को निवारण करके उन्हें विद्वान् और प्रशस्त चरित्र वाला बनायें ॥१॥

अथ पुनर्गुरुशिष्यविषयमाह ।

२उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१३३०. द्विर्यं पञ्च स्वयशसं सखायो अद्रिसंहतम् ।
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
प्रियमिन्द्रस्य काम्यं प्रस्नापयन्त ऊर्मयः ॥२॥[1]

२ १ २र १ २र ३ १ २र ३ १ २ १ २र ३
द्विः यम् पञ्च स्वयशसम् स्व यशसम् । सखायः स खायः अद्रिसंहतम् अद्रि संहतम् ।
२ १ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
प्रियम् इन्द्रस्य काम्यम् । प्रस्नापयन्ते प्र स्नापयन्ते ऊर्मयः ॥२॥

पदार्थः— **स्वयशसम्** स्वकीयकीर्तिम्, **अद्रिसंहतम्** पर्वतवद् दृढाङ्गम्, **इन्द्रस्य प्रियम्** कुलपतेः वत्सलम्, **काम्यम्** अन्येषामपि अभिलषणीयम् **यम्** यं विद्यार्थिनम् **द्विः पञ्च** द्विवारं पञ्च, दशेत्यर्थः **सखायः** सहयोगिनो विद्वांसो गुरवः **ऊर्मयः** जलतरङ्गा इव भूत्वा **प्रस्नापयन्ते** ज्ञाननद्यां स्नानं कारयन्ति, स प्रशस्यो भवतीति वाक्यपूर्तिर्विधेया ॥२॥

ऊर्मय इवेति लुप्तोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— चत्वारो वेदाः षड्वेदाङ्गानि चेति दश विद्याः । उपवेदा उपाङ्गानि चात्रैवान्तर्भवन्ति । प्रतिविद्यमेकैको गुरुरिति दश गुरवो भवन्ति । वेदाङ्गैश्च शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षड् मूलविद्या ग्राह्या न तु तत्तत्प्रतिपादका वर्तमानग्रन्थाः, उत्तरवर्तिनां तेषां मनुष्यप्रणीतानां ग्रन्थानां वेदे सङ्केतासम्भवात् ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर गुरु-शिष्य का विषय है ।

---

१. ऋ० ९।९८।६, 'सखायो' इत्यत्र 'स्वसारो' इति पाठः । 'प्रस्नापयन्त्यूर्मिणम्' इति च चतुर्थः पादः ।

पदार्थ– स्वयशसम् अपनी कीर्ति से युक्त, **अद्रिसंहतम्** पर्वत के समान दृढ अङ्गों वाले, **इन्द्रस्य प्रियम्** कुलपति आचार्य के प्रिय, **काम्यम्** अन्यों से भी चाहे जाने वाले **यम्** जिस विद्यार्थी को **द्विः पञ्च** दो पंजे अर्थात् दस **सखायः** सहयोगी विद्वान् गुरु लोग **ऊर्मयः** जल की तरंगों के समान होकर **प्र स्नापयन्ते** ज्ञान-नदी में स्नान कराते हैं, वह प्रशस्त होता है ।।२।।

यहाँ 'ऊर्मयः' में लुप्तोपमालंकार है ।।२।।

भावार्थ– चार वेद और छह वेदांग ये दस विद्याएँ हैं । प्रत्येक विद्या के लिए एक-एक गुरु हो तो दस गुरु हो जाते हैं। वेदांगों में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छह विद्यायें ग्रहण करनी चाहिएँ, उनके प्रतिपादक वर्तमान ग्रन्थ नहीं, क्योंकि मनुष्यप्रणीत उन उत्तरवर्ती ग्रन्थों का संकेत वेदों में नहीं हो सकता ।।२।।

अथ गुरवो ब्रुवन्ति ।

१ २ ३ १ २ ३।१र २र
१३३१ . इन्द्राय सोम पातवे वृत्रघ्ने परि षिच्यसे ।
१२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
नरे च दक्षिणावते वीराय सदनासदे ।।३।।[1]

१ २र ३ १ २र ३ २ ३ २ १ २र ३
इन्द्राय सोम पातवे । वृत्रघ्ने वृत्र घ्ने परि सिच्यसे ।
१२र ३ १ २र ३ १ २ ३ १२ ३ १२र
नरे च दक्षिणावते वीराय सदनासदे सदन सदे ।।३।।

पदार्थः– हे सोम ज्ञानरस, त्वम् **वृत्रघ्ने** व्रतपालनेन दोषविनाशकाय, **नरे** नराय, पुरुषार्थिने । [अत्र चतुर्थ्येकवचनस्य 'सुपां सुलुक्०' । अ० ७।१।३९ इति शे आदेशः ।] **दक्षिणावते** गुरुदक्षिणायुक्ताय, **वीराय** शूराय, **सदनासदे** गुरुकुलसदननिवासिने **इन्द्राय**[2] विद्युद्वत्तीव्रबुद्धये विद्यार्थिने **पातवे** पानाय **परिषिच्यसे** परिक्षार्यसे।।३।।

भावार्थः– विद्यार्थिभिः स्वेच्छया व्रतपालकैस्तपस्विभिः शूरैराश्रमपद्धत्या गुरुकुल एव निवासिभिः समावर्तनकाले गुरुदक्षिणाप्रदायकैश्च भाव्यम् ।।३।।

अगले मन्त्र में गुरुजन कह रहे हैं ।

पदार्थ– हे **सोम** ज्ञानरस! तू **वृत्रघ्ने** व्रतपालन द्वारा दोषों को विनष्ट करने वाले, **नरे** पुरुषार्थी, **दक्षिणावते** गुरुदक्षिणा देने वाले, **वीराय** शूरवीर, **सदनासदे** गुरुकुलरूप सदन में निवास करने वाले **इन्द्राय** बिजली के समान तीव्र बुद्धि वाले विद्यार्थी के **पातवे** पान के लिए **परिषिच्यसे** प्रवाहित किया जा रहा है ।।३।।

भावार्थ– विद्यार्थियों को चाहिए कि वे स्वेच्छा से व्रतपालक, तपस्वी, शूर, आश्रम-पद्धति से गुरुकुल में ही निवास करने वाले और समावर्तन के समय गुरुदक्षिणा देने वाले हों ।।३।।

।।१९।। अथ 'पवस्व सोम' इत्यादिकस्यैकोनविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** द्विपदा विराट् पङ्क्तिः । **स्वरः** पञ्चमः ।।

---

१. ऋ० ९।९८।१०, 'वीराय' इत्यत्र 'देवाय'। साम० १६७९ ।

२. (इन्द्रम्) विद्युद्वत् तीव्रबुद्धिम्–इति ऋ० ६।४८।१४ भाष्ये द० ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४३० क्रमाङ्के परमेश्वरनृपत्योर्विषये व्याख्याता । अत्र गुरुशिष्यविषयो वर्ण्यते ।

१ २ ३२ड ३ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र
१३३२. पवस्व सोम महे दक्षायाश्वो न निक्तो वाजी धनाय ॥१॥[1]

१२र ३ २ १ २र १ २र ३ २ ३ २ १ २र
पवस्व सोम महे दक्षाय । अश्वः न निक्तः वाजी धनाय ॥१॥

पदार्थः- हे **सोम** विद्यारसागार आचार्य ! त्वम्, शिष्यस्य **महे दक्षाय** महते उत्साहाय । [दक्षतिः उत्साहकर्मा । निरु० १।६।] **पवस्व** ज्ञानधारां प्रवाहय, येन स तव शिष्यः **अश्वः न** सूर्यः इव [असौ वा आदित्य एषो अश्वः । श० ७।३।२।१०] **निक्तः** शुद्धः, **वाजी**, विद्यावान् वेगवान् कर्मनिष्ठो भूत्वा **धनाय** धनोपार्जनाय योग्यो भवेत् ॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः- इदमपि शिक्षाया एकं प्रयोजनं यच्छिष्यो विद्वान् बलवान् वर्चस्वी शुद्धहृदयश्च भूत्वा धना-र्जनक्षमो भवेत् ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ४३० क्रमांक पर परमेश्वर और राजा के विषय में की जा चुकी है । यहाँ गुरु-शिष्य का विषय वर्णित है ।

पदार्थ- हे **सोम** विद्यारस के भण्डार आचार्य ! आप शिष्य के **महे दक्षाय** महान् उत्साह के लिए **पवस्व** ज्ञानधारा को प्रवाहित करो, जिससे वह आपका शिष्य **अश्वः न** सूर्य के समान **निक्तः** शुद्ध, और **वाजी** विद्यावान्, वेगवान् तथा कर्मनिष्ठ होकर **धनाय** धन उपार्जन करने के योग्य हो सके ॥१॥

यहां उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ- शिक्षा का एक यह भी प्रयोजन है कि शिष्य विद्वान्, बलवान्, वर्चस्वी और शुद्ध हृदय वाला होकर धन कमाने में समर्थ हो सके ॥१॥

अथ पुनः स एव विषयो वर्ण्यते ।

१ २ ३ २ ३ २३ १ २ ३२ ३ १२ ३२ ३ १ २
१३३३. प्र ते सोतारो रसं मदाय पुनन्ति सोमं महे द्युम्नाय ॥२॥[2]

२ ३ १२ १२र १ २र ३१ २ १२र ३२ ३ १ २
प्र ते सोतारः रसम् मदाय । पुनन्ति सोमम् महे द्युम्नाय ॥२॥

पदार्थः- हे विद्यार्थिन् ! **सोतारः** द्वितीयजन्मदातारो गुरवः **सोमं रसम्** ज्ञानरसम् **ते** तव **मदाय** आनन्दाय **महे द्युम्नाय** महते यशसे च **प्र पुनन्ति** प्रकृष्टतया पवित्रीकुर्वन्ति ॥२॥

भावार्थः- परोपकारिण्या पवित्रया निष्कलुषयैव विद्यया मनुष्य आनन्दी यशस्वी च जायते ॥२॥

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ- हे विद्यार्थी ! **सोतारः** द्वितीय जन्म देने वाले गुरु लोग **सोमं रसम्** ज्ञान-रस को **ते** तेरे **मदाय** आनन्द के लिए और **महे द्युम्नाय** महान् यश के लिए **प्र पुनन्ति** भली-भाँति पवित्र कर रहे हैं ॥२॥

भावार्थ- परोपकारक, पवित्र, निर्दोष विद्या से ही मनुष्य आनन्दवान् और यशस्वी होता है ॥२॥

---

१. ऋ० ९।१०९।१०, 'महे' इत्यत्र 'क्रत्वे' । साम० ४३० ।

२. ऋ० ९।१०९।११, 'प्र ते' इत्यत्र 'तं ते' इति भेदः ।

अथ समावर्तनसंस्कारविषय उच्यते ।

१ २ ३१र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१३३४. शिशुं जज्ञानं हरिं मृजन्ति पवित्रे सोमं देवेभ्य इन्दुम् ॥३॥[1]

१ २र ३ २ १ २र ३ १ २ १ २र ३१ २ १ २र
शिशुम् जज्ञानम् हरिम् मृजन्ति । पवित्रे सोमम् देवेभ्यः इन्दुम् ॥३॥

पदार्थः— शिशुं जज्ञानम् नवस्नातकत्वेन आचार्यगर्भाद् द्वितीयं जन्म प्राप्नुवन्तम् **हरिम्** अपहृतदोषम् **इन्दुम्** दीप्तम्, तेजस्विनम् **सोमम्** समावर्तनसंस्काराय कृताभिषेकम् अधीतविद्यं ब्रह्मचारिणम् **पवित्रे** दर्भासने उपवेश्य **देवेभ्यः** मातापित्रादिभ्यः समर्पयितुम् **मृजन्ति** अलङ्कुर्वन्ति ॥

समावर्तनसंस्कारे ब्रह्मचारिणोऽलङ्करणविषये पारस्करगृह्यसूत्रं २।६।२४–२६, दयानन्दर्षिप्रणीतः संस्कारविधिग्रन्थश्च द्रष्टव्यः। तदनुसारेण तदा ब्रह्मचारी नूतनवस्त्रोपवस्त्रपुष्पस्रगलङ्कारादिकं धारयति ॥३॥

भावार्थः—व्रताचारं विद्यालङ्कारं वेदालङ्कारम् आयुर्वेदालङ्कारं ब्रह्मचारिणमाचार्यः पुष्पस्रगलङ्कारादिभिरलङ्कृत्य कृतसमावर्तनं द्विजं मात्रापित्रोः प्रत्यावर्तयेत् ॥३॥

अगले मन्त्र में समावर्तन संस्कार का वर्णन है ।

पदार्थ— शिशुं जज्ञानम् नवस्नातक के रूप में आचार्य के गर्भ से द्वितीय जन्म प्राप्त करते हुए, **हरिम्** जिसके दोष हर लिए गये हैं ऐसे **इन्दुम्** तेजस्वी **सोमम्** समावर्तन संस्कार के लिए स्नान किये हुए, विद्या पढ़े हुए ब्रह्मचारी को **पवित्रे** कुशों के आसन पर बैठाकर **देवेभ्यः** माता, पिता आदि को सौंपने के लिए **मृजन्ति** अलंकार धारण कराते हैं ॥

समावर्तन संस्कार के समय ब्रह्मचारी के अलंकार-धारण के विषय में पारस्करगृह्यसूत्र २।६। २४–२६ और महर्षिदयानन्दप्रणीत संस्कारविधि ग्रन्थ देखना चाहिए । उनके अनुसार उस समय ब्रह्मचारी नये वस्त्र, उपवस्त्र, फूलमाला, आभूषण आदि धारण करता है ॥३॥

भावार्थ— व्रताचारी, विद्यालंकार, वेदालंकार, आयुर्वेदालंकार आदि बने हुए ब्रह्मचारी को आचार्य फूलमाला, आभूषण आदि से अलंकृत करके समावर्तन संस्कार करके द्विज बनाकर माता-पिता को लौटा देवे ॥३॥

॥२०॥ अथ 'उपो षु' इत्यादिकस्य विंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अमहीयुराङ्गिरसः। **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४८७ क्रमाङ्के परमात्मप्राप्तिविषये उत्तरार्चिके ७६२ क्रमाङ्के च जीवात्मनृपत्योर्विषये व्याख्यातपूर्वा । अत्र परमात्मचन्द्रमसोर्विषय उच्यते ।

२ ३ २ ३ २ ३ २३ १ २ ३१र २र १ २ ३ १ २
१३३५. उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भंगं परिष्कृतम् । इन्दुं देवा अयासिषुः ॥१॥[2]

१ २र ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २र ३ २ १ २र १ २र ३
उप उ सु जातम् अप्तुरम् । गोभिः भङ्गम् परिष्कृतम् परि कृतम् ।
१ २र ३ २ ३
इन्दुम् देवाः अयासिषुः ॥१॥

---

१. ऋ० ९।१०९।१२ ।

२. ऋ० ९।६१।१३, साम० ४८७, ७६२ ।

पदार्थः— प्रथमः परमात्मपरः । **सु जातम्** सुप्रसिद्धम्, **अप्तुरम्** अपः व्यापकान् चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रादि-लोकान् त्वरयति वेगेन चालयतीति तम्, **गोभिः** वेदवाग्भिः **भङ्गम्** कामक्रोधादिरिपूणां भञ्जकम्, **परिष्कृतम्** गुणैरलङ्कृतम् । [संपर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे । अ० ६।१।१३७ इत्यनेन परिपूर्वात् करोतेः भूषणेऽर्थे सुडागमः।] **इन्दुम्** तेजसा दीप्तम्, आनन्दरसैः क्लेदकं परमात्मानम् । [इन्दुः इन्धेरुनत्तेर्वा । निरु० १०।४०।] **देवाः** विद्वांसो जना आत्ममनोबुद्धिप्राणादयो वा, बलप्राप्त्यर्थम् **उप उ अयासिषुः** उपगच्छन्ति ॥

द्वितीयः चन्द्रपरः । **सुजातम्** पृथिव्याः सुपुत्रम्, **अप्तुरम्** अप्सु अन्तरिक्षे त्वरते पृथिवीं सूर्यं च परितो धावतीति अप्तुरः तम् । [आपः इत्यन्तरिक्षनामसु पठितम् । निघं० १।३।] **गोभिः भङ्गम्** क्वचिद् भग्नभूमिकम्, क्वचिच्च **परिष्कृतम्** समतलम् **इन्दुम्** चन्द्रमसम् **देवाः** सूर्यकिरणाः **अयासिषुः** प्रकाशनार्थं गच्छन्ति ॥१॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— यथा सर्वे जडपदार्थाश्चेतनाः प्राणिनश्च जगदीश्वरमाश्रयन्ते तथाऽस्माकं सौरलोकस्य मङ्गलबुधपृथिवीचन्द्रादयो ग्रहोपग्रहाः सूर्यमाश्रयन्ते सूर्यश्चापि जगदीश्वराधीनः ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ४८७ क्रमांक पर परमात्मा की प्राप्ति के विषय में और उत्तरार्चिक में ७६२ क्रमांक पर जीवात्मा तथा राजा के विषय में की जा चुकी है। यहाँ परमात्मा और चन्द्रमा का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ— प्रथम परमात्मा के पक्ष में । **सुजातम्** सुप्रसिद्ध, **अप्तुरम्** व्यापक चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि लोकों को वेग से चलाने वाले, **गोभिः** वेद-वाणियों से **भङ्गम्** काम, क्रोध आदि रिपुओं के भंजक, **परिष्कृतम्** गुणों से अलंकृत, **इन्दुम्** तेज से दीप्त वा आनन्द-रसों से भिगोने वाले परमात्मा को **देवाः** विद्वान् लोग वा आत्मा, मन-बुद्धि-प्राण आदि, बल की प्राप्ति के लिए **उप उ अयासिषुः** प्राप्त करते हैं ॥

द्वितीय चन्द्रमा के पक्ष में । **सुजातम्** पृथिवी के सुपुत्र, **अप्तुरम्** अन्तरिक्ष में पृथिवी और सूर्य के चारों ओर दौड़ने वाले, **गोभिः भङ्गम्** कहीं भूमियों में दरार पड़े हुए, और कहीं **परिष्कृतम्** परिष्कृत अर्थात् समतल **इन्दुम्** चन्द्रमा को **देवाः** सूर्य-किरणें **अयासिषुः** प्रकाशित करने के लिए प्राप्त करती हैं ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१॥

भावार्थ— जैसे सब जड़ पदार्थ और चेतन प्राणी जगदीश्वर के आश्रय से रहते हैं वैसे ही हमारे सौर लोक के मंगल, बुध, पृथिवी, चन्द्रमा आदि ग्रह-उपग्रह सूर्य के आश्रय से रहते हैं, और सूर्य भी जगदीश्वर के अधीन है ॥१॥

अथ परमात्मविषयमाह ।

१२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १२ २२ ३ १ २
१३३६. तमिद् वर्धन्तु नो गिरो वत्सं संशिश्वरीरिव । य इन्द्रस्य हृदंसनिः ॥२॥[1]

२ ३ १२२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २२ ३
तम् इत् वर्धन्तु नः गिरः । वत्सम् संशिश्वरीः सम् शिश्वरीः इव ।
२ १ २२ ३ १ २ ३ १ २२
यः इन्द्रस्य हृदंसनिः हृदम् सनिः ॥२॥

---

१. ऋ० ९।६१।१४ ।

पदार्थः— **तम् इत्** तं खलु सोमं शान्तिदायकं परमात्मानम् **नः गिरः** अस्माकं वाचः **सं वर्धन्तु** संवर्धयन्तु, संवर्धनं चात्र प्रचारणं ज्ञेयम् । कथमिव ? **शिश्वरीः** वृद्धपयस्का दोग्ध्र्यो गावः । [टुओश्वि गतिवृद्ध्योः इत्यस्य रूपम्।] **वत्सम् इव** यथा स्वकीयं वत्सं पयसा वर्धयन्ति तथा । कीदृशम् परमात्मानम् ? **यः** सोमः परमात्मा **इन्द्रस्य** जीवात्मनः **हृदंसनिः** हृदयसेवी वर्तते । [हृदं हृदयं सनति संभजते यः स हृदंसनिः । द्वितीयाया अलुक् । षण सम्भक्तौ] ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— विद्वद्भिर्धार्मिकैर्जनैः स्वोपदेशैः जनतायां परमेश्वरं प्रति विश्वास उत्पादनीयः, येन सर्वत्राऽऽस्तिकताया धार्मिकतायाश्च वातावरणं भवेत् ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा का विषय है ।

पदार्थ— **तम् इत्** उस सोम अर्थात् शान्तिदायक परमात्मा को **नः गिरः** हमारी वाणियाँ **सं वर्धन्तु** बढ़ायें, प्रचारित करें । **शिश्वरीः** समृद्ध दूध वाली दुधारू गायें **वत्सम् इव** जैसे अपने बछड़े को दूध से बढ़ाती हैं । कैसे परमात्मा को ? **यः** जो सोम परमात्मा **इन्द्रस्य** जीवात्मा के **हृदंसनिः** हृदय में रहने वाला है ॥२॥

यहाँ उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— विद्वान् धार्मिक जनों को चाहिए कि वे अपने उपदेशों से जनता में परमेश्वर के प्रति विश्वास उत्पन्न करें, जिससे सर्वत्र आस्तिकता और धार्मिकता का वातावरण उत्पन्न हो ॥२॥

अथ परमात्मानं प्रार्थयते ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३१ २
१३३७. अर्षा नः सोम शं गवे धुक्षस्व पिप्युषीमिषम् । वर्धा समुद्रमुक्थ्य ॥३॥[1]

१२र३ २ १२र ३१ २ ३ १ २ १२र
अर्ष नः सोम शम् गवे। धुक्षस्व पिप्युषीम् इषम् ।

१२र३ २ ३ २ ३
वर्ध समुद्रम् सम् उद्रम् उक्थ्य॥३॥

पदार्थः— हे **सोम** जगत्स्रष्टः शान्तिप्रिय परमात्मन् ! त्वम् **नः** अस्माकम् **गवे** सम्पूर्णधरित्र्यै **शम्** सुखं शान्तिं च **अर्ष** प्रापय, अस्मभ्यम् **पिप्युषीम्** समृद्धाम् [ओप्यायी वृद्धौ, लिटः क्वसौ रूपम् ।] **इषम्** अभीष्टां सम्पत्तिम् **धुक्ष्व** प्रदेहि । हे **उक्थ्य** स्तुत्यर्ह ! **समुद्रम्** सद्गुणानां सागरं जीवात्मानम् यद्वा, तत्र विद्यमानम् आनन्दस्य सागरम् **वर्ध** वर्धय । यथा सोमेन चन्द्रमसाऽपां राशिः समुद्रो वर्ध्यते इति ध्वन्यते ॥३॥

भावार्थः— परमात्मकृपया मानवानां प्रयासेन च सकलापि धरा सुखं शान्तिं प्रचुरां सम्पदं च प्राप्नुयात्, तन्निवासिनश्च परस्परं प्रेम्णा व्यवहरेयुः ॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मनो ब्रह्मानन्दस्य गुरुशिष्ययोश्च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना करते हैं ।

---

१. ऋ० ९।६१।१५, 'समुद्रमुक्थ्यम्' इति भेदः ।

पदार्थ– हे **सोम** जगत् के रचयिता शान्तिप्रिय परमात्मन् ! आप **नः** हमारी **गवे** सारी धरती को **शम्** सुख-शान्ति **अर्ष** प्राप्त कराओ, हमें **पिप्युषीम्** समृद्ध **इषम्** अभीष्ट सम्पदा **धुक्ष्व** प्रदान करो । हे **उक्थ्य** स्तुतियोग्य ! **समुद्रम्** सद्गुणों के समुद्र जीवात्मा को अथवा उसमें विद्यमान आनन्द के समुद्र को **वर्ध** बढ़ाओ । जैसे सोम चन्द्रमा जलों के पारावार समुद्र को बढ़ाता है, यह यहाँ ध्वनित होता है ॥३॥

भावार्थ– परामात्मा की कृपा से और मनुष्यों के प्रयत्न से सारी धरती सुख, शान्ति तथा प्रचुर संपदा प्राप्त करे और उसके निवासी आपस में प्रेम का व्यवहार करें ॥३॥

इस खण्ड में परमात्मा, ब्रह्मानन्द और गुरु-शिष्य के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ॥

दशम अध्याय में एकादश खण्ड समाप्त ।

॥२१॥ अथ 'आ घा' इत्यादिकस्यैकविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** त्रिशोकः काण्वः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १३३ क्रमाङ्केऽध्यात्मपक्षे व्याख्याता।अत्राध्यात्मविषयो राष्ट्रविषयश्च वर्ण्यते।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१३३८. आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् ।
२ ३ २ ३ २ ३ १ २
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥१॥[1]

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
आ घ ये अग्निम् इन्धते। स्तृणन्ति बर्हिः आनुषक् अनु सक् ।
१ २ र १ २ र १ २ र १ २ र ३
येषाम् इन्द्रः युवा सखा स खा ॥१॥

पदार्थः– **येषाम्** उपासकानां प्रजाजनानां वा **युवा** तरुणः **इन्द्रः** वीरः परमेश्वरो वीरो नृपतिर्वा **सखा** सहायको जायते, **ये घ** ये च **अग्निम्** ईश्वरभक्तेः राष्ट्रभक्तेर्वा अग्निम् **आ इन्धते** स्वान्तःकरणे प्रदीपयन्ति, ते **आनुषक्** निरन्तरम् **बर्हिः** ब्रह्मयज्ञं राष्ट्रयज्ञं वा **स्तृणन्ति** विस्तारयन्ति ॥१॥

भावार्थः- मनुष्यैः परमेश्वर एवोपास्यत्वेन वरणीयः । प्रजाजनैश्च तरुणो राष्ट्ररक्षणक्षम एव जनो नृपतित्वेन स्वीकार्यः, स्वयं च राष्ट्रभक्तैर्भाव्यम् ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में १३३ क्रमांक पर अध्यात्म-पक्ष में व्याख्यात हो चुकी है । यहाँ अध्यात्म विषय और राष्ट्र का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ– **येषाम्** जिन उपासकों का वा प्रजाजनों का **युवा** युवक **इन्द्रः** वीर परमेश्वर वा वीर राजा **सखा** सहायक हो जाता है, और **ये घ** जो **अग्निम्** ईश्वर-भक्ति वा राष्ट्र-भक्ति की अग्नि को **आ इन्धते** अपने अन्तःकरण में प्रदीप्त कर लेते हैं, वे **आनुषक्** निरन्तर **बर्हिः** ब्रह्मयज्ञ वा राष्ट्रयज्ञ को **स्तृणन्ति** फैलाते हैं ॥१॥

भावार्थ– मनुष्यों को चाहिए कि परमेश्वर को ही उपास्य रूप में वरण करें । प्रजाजनों को चाहिए कि युवा तथा राष्ट्र की रक्षा में समर्थ मनुष्य को ही राजा-रूप में स्वीकार करें और स्वयं राष्ट्रभक्त हों ॥१॥

---

१. ऋ० ८।४५।१, साम० १३३ ।

अथ पुनः स एव विषय उच्यते ।

३२ड ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३१र २र २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१३३९. बृहन्निदिध्म एषां भूरि शस्त्रं पृथुः स्वरुः । येषामिन्द्रो युवा सखा ॥२॥[1]

३ २ ३ २ ३ १२र ३ २ ३ २ १२र
बृहन् इत् इध्मः एषाम् । भूरि शस्त्रम् पृथुः स्वरुः ।
१ २र १ २र १ २र १ २र ३
येषाम् इन्द्रः युवा सखा स खा ॥२॥

पदार्थः— **येषाम्** जनानाम् **युवा** तरुणः **इन्द्रः** वीरः परमेश्वरो वीरो नृपतिर्वा **सखा** सहायको जायते **एषाम्** तेषाम् एतेषाम् **बृहन् इत्** महान् एव **इध्मः** प्रतापः, **भूरि** प्रचुरम् **शस्त्रम्** स्तोत्रम् आयुधं वा, किञ्च **पृथुः** विशालः **स्वरुः** यूपः, यूपोपलक्षितो यज्ञः इत्यर्थः, भवति ॥२॥

भावार्थः— परमेश्वरोपासकाः श्रेष्ठनृपाभिषेक्तारश्च यशस्विनो विजयिनो यज्ञपरायणाश्च जायन्ते ॥२॥

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ—येषाम् जिन मनुष्यों का **युवा** युवा **इन्द्रः** वीर परमेश्वर वा वीर राजा **सखा** सहायक हो जाता है, **एषाम्** उनका **बृहन् इत्** महान् ही **इध्मः** प्रताप, **भूरि** बहुत **शस्त्रम्** स्तोत्र वा शस्त्रास्त्र, और **पृथुः** विशाल **स्वरुः** यज्ञ होता है ॥२॥

भावार्थ— परमेश्वर के उपासक तथा श्रेष्ठ राजा को राजसिंहासन पर बैठाने वाले लोग यशस्वी, विजयी और यज्ञपरायण बन जाते हैं ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयं वर्णयति ।

१ २ ३ २ ३ २ड ३ २३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१३४०. अयुद्ध इद्युधा वृतं शूर आजति सत्वभिः । येषामिन्द्रो युवा सखा ॥३॥[2]

१२र ३ २ ३ २ १२र १२र ३ १ २र
अयुद्धः अ युद्धः इत् युधा वृतम् । शूरः आ अजति सत्वभिः ।
१ २र १ २र १ २र १ २र ३
येषाम् इन्द्रः युवा सखा स खा ॥३॥

पदार्थः— **येषाम्** जनानाम् **युवा** तरुणः **इन्द्रः** वीरः परमेश्वरो वीरो राजा वा **सखा** सहायको जायते, तेषाम् **शूरः** विक्रान्तो जीवात्मा सेनापतिर्वा **अयुद्धः इत्** स्वयं परैर्योद्धुमशक्य एव **युधा** देवासुरसंग्रामे **वृतम्** परिवृतं कामक्रोधादिकं षड्रिपुवर्गं मानवं शत्रुदलं वा **सत्वभिः** आत्मीयैः पराक्रमैः **आ अजति** आहत्य दूरं प्रक्षिपति । [अज गतिक्षेपणयोः, भ्वादिः] ॥३॥

भावार्थः— यथा जगदीश्वरं सखायं वृत्वा योगसाधका जना योगमार्गे समागतान् सर्वान् विघ्नान् निवारयन्ति तथैव वीरं जनं राजपदे सेनापतिपदे चाभिषिच्य प्रजाजनाः सर्वान् शत्रून् निघ्नन्ति ॥३॥

अगले मन्त्र में भी उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— येषाम् जिन लोगों का **युवा** युवा **इन्द्रः** वीर परमेश्वर वा वीर राजा **सखा** सहायक हो जाता है, उनका **शूरः** शूर जीवात्मा वा शूर सेनापति **अयुद्धः इत्** स्वयं दूसरों से युद्ध न किये जा सकने वाला होकर **युधा**

---

१. ऋ० ८।४५।२, 'शस्त्रं' इत्यत्र 'शस्तं' इति पाठः।
२. ऋ० ८।४५।३ ।

देवासुरसंग्राम से **वृतम्** घिरे हुए काम-क्रोध आदि षड्रिपुवर्ग को वा मानव-शत्रुदल को **सत्वभिः** अपने पराक्रमों से **आ अजति** मारकर दूर फेंक देता है ।।३।।

भावार्थ— जैसे जगदीश्वर को सखा वरण करके योगसाधक लोग योगमार्ग में आये हुए सब विघ्नों का निवारण कर देते हैं, वैसे ही वीर मनुष्य को राजा वा सेनापति के पद पर अभिषिक्त करके प्रजाजन सब शत्रुओं को विनष्ट कर देते हैं।।३।।

।।२२।। अथ 'य एक इत्यादिकस्य द्वाविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गोतमो राहूगणः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** उष्णिक् । **स्वरः** ऋषभः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३८९ क्रमाङ्के परमेश्वरविषये व्याख्याता । अत्र परमात्मनृपत्योर्विषयो वर्ण्यते ।

२उ ३ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१३४१. **य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे। ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग।।१।।**[1]

२ १ २र ३ १ २ ३ १ २र १ २र १ २र ३ १ २
यः एकः इत् विदयते वि दयते । वसु मर्ताय दाशुषे।

१ २र १ २र ३ १ २र ३ २
ईशानः अप्रतिष्कुतः अ प्रतिष्कुतः इन्द्रः अङ्ग ।।१।।

पदार्थः— **प्रथमः** परमात्मपरः । **यः एकः इत्** यः एक एव वर्तते, किञ्च **दाशुषे** आत्मसमर्पकाय **मर्ताय** मनुष्याय **वसु** सद्गुणकर्मस्वभावरूपम् ऐश्वर्यम् **विदयते** विशेषेण ददाति, **अङ्ग** हे भद्र ! सः **ईशानः** सर्वेषां शासकः **अप्रतिष्कुतः** केनापि अप्रतिकृतः, **इन्द्रः** इन्द्रनामकः परमेश्वरोऽस्ति ।।

द्वितीयः नृपतिपरः । **यः एकः इत्** यः एकः एव, सर्वान् शत्रून् **विदयते** विनाशयति । [दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु, भ्वादिः।], अपि च **दाशुषे** करप्रदात्रे **मर्ताय** प्रजाजनाय **वसु** ऐश्वर्यम् **विदयते** प्रयच्छति, यश्च **ईशानः** शासनक्षमः **अप्रतिष्कुतः** अप्रतिस्खलितश्च अस्ति, हे **अङ्ग** भद्र ! स एव **इन्द्रः** राजा कर्तव्यः ।।१।।[2]

अत्र श्लेषालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः— पाषाणादिमूर्तिः खलु परमेश्वरो नास्ति, प्रत्युत य एको निराकारः स्तोतृभ्य ऐश्वर्यप्रदाता सर्वाधीश्वरोऽस्ति स एव परमेश्वरसंज्ञया व्यपदिश्यते । तथैव प्रजाभिः स एव नरः नृपत्वेन वरणीयो य एकोऽपि बहून् रिपून् पराजयेत स्वप्रजा रञ्जयेच्च ।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ३८९ क्रमांक पर परमेश्वर के विषय में की गयी थी । यहाँ परमात्मा और राजा का विषय वर्णित करते हैं।

पदार्थ— **प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । **यः एकः इत्** जो एक ही है, और **दाशुषे** आत्मसमर्पण करने वाले **मर्ताय** मनुष्य को **वसु** श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभाव रूप ऐश्वर्य **विदयते** विशेष रूप से देता है, **अङ्ग** हे भाई ! वह **ईशानः** सबका शासक **अप्रतिष्कुतः** किसी से प्रतीकार न किया गया **इन्द्रः** इन्द्र नामक परमेश्वर है ।।

---

१. ऋ०१।८४।७, अथ० २०।६३।४, साम० ३८९ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सभासेनादीनामध्यक्षविषये व्याचष्टे ।

द्वितीय राजा के पक्ष में । **यः एकः इत्** जो अकेला ही, सब शत्रुओं को **विदयते** विनष्ट कर सके,और **दाशुषे** कर देने वाले **मर्ताय** प्रजाजन को **वसु** ऐश्वर्य **विदयते** प्रदान करे, और जो **ईशानः** शासन में समर्थ, तथा **अप्रतिष्कुतः** न लड़खड़ाने वाला हो, **अङ्ग** हे भाई ! वही **इन्द्रः** राजा बनाया जाना चाहिए ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥१॥

भावार्थ— पाषाण आदि की मूर्ति परमेश्वर नहीं है, प्रत्युत जो एक, निराकार, स्तोताओं को ऐश्वर्य देने वाला सर्वाधीश्वर है वही परमेश्वर नाम से कहा जाता है । इसी प्रकार प्रजाओं द्वारा वही नर राजा-रूप में चुना जाना चाहिए जो अकेला भी अनेकों शत्रुओं को हरा सके और अपनी प्रजाओं का रञ्जन करे ॥१॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१३४२. **यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति ।**
३ १ २ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
उग्रं तत् पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥२॥[1]

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
यः चित् हि त्वा बहुभ्यः आ । सुतावान् आविवासति आ विवासति ।
३ २ ३ १ २ २ १ २ २ ३ २
उग्रम् तत् पत्यते शवः इन्द्रः अङ्ग ॥२॥

पदार्थः— **प्रथमः** परमात्मपरः । हे परमात्मन् ! **बहुभ्यः आ** अनेकेभ्यः **यः चित् हि** यः खलु **सुतावान्** अभिषुतश्रद्धारसः **त्वा** त्वाम् **आ विवासति** पूजयति सः **तत्** अद्वितीयम् **उग्रं शवः** प्रचण्डम् आत्मबलम् **पत्यते** प्राप्नोति । [पत्लृ पतने, भ्वादिः, व्यत्ययेन श्यन्।] **अङ्ग** हे भद्र! स त्वम् **इन्द्रः** इन्द्रनामा असि ॥

द्वितीयः नृपतिपरः । हे राजन् ! **यः चित् हि** यः खलु प्रजाजनः **बहुभ्यः** अनेकेभ्यः **आ** आनीय निर्वाच्य **सुतावान्** कृताभिषेकः **त्वा** त्वाम् **आ विवासति** सत्करोति, सः **तत्** अद्वितीयम् **उग्रं शवः** प्रचण्डं बलम् **पत्यते** प्राप्नोति । **अङ्ग** हे भद्र ! स त्वम् **इन्द्रः** इन्द्रनाम्ना कीर्त्यसे ॥२॥[2]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— यथा परमेश्वरः स्वस्तोतृभ्य आत्मबलं प्रयच्छति तथैव राष्ट्रे नृपतिरपि प्रजाजनेष्वात्म-विश्वासमुत्पादयेत् ॥२॥

आगे फिर वही विषय वर्णित है ।

पदार्थ— **प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हे परमात्मन् ! **बहुभ्यः आ** बहुतों में से **यः चित् हि** जो **सुतावान्** श्रद्धारस को बहाने वाला होकर **त्वा** आपकी **आ विवासति** पूजा करता है वह **तत्** अद्वितीय **उग्रं शवः** प्रचण्ड आत्मबल **पत्यते** प्राप्त कर लेता है । **अङ्ग** हे परमात्मन् ! वह आप **इन्द्रः** इन्द्र नाम वाले हो ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में । हे राजन् ! **यः चित् हि** जो प्रजाजन **बहुभ्यः** बहुतों में से **आ** लाकर, चुनकर **सुतावान्** आपका अभिषेक करके **त्वा** आपको **आ विवासति** सत्कृत करता है, वह **तत्** अद्वितीय, **उग्रं शवः प्रचण्ड बल पत्यते** प्राप्त कर लेता है । **अङ्ग** हे राजन् ! वह आप **इन्द्रः** इन्द्र नाम से कहे जाते हो ॥२॥

---

१. ऋ० १।८४।९, अथ० २०।६३।६ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं नृपतिसेनापत्योर्विषये व्याचष्टे ।

यहां श्लेषालंकार है ।।२।।

भावार्थ– जैसे परमेश्वर अपने स्तोताओं को आत्मबल देता है, वैसे ही राष्ट्र में राजा भी प्रजाजनों में आत्मविश्वास उत्पन्न करे ।।२।।

अथ पुनरपि स एव विषयो वर्ण्यते ।

३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र
१३४३. कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् ।
३ १ २ ३ २३ १ २ ३ २
कदा नः शुश्रवद् गिर इन्द्रो अङ्ग ।।३।।[1]
३ २ १२र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २र ३
कदा मर्तम् अराधसम् । अ राधसम् । पदा क्षुम्पम् इव स्फुरत् ।
२ ३ १२र १ २र ३ २
कदा नः शुश्रवत् गिरः इन्द्रः अङ्ग ।।३।।

पदार्थः– **अङ्ग** हे भद्र ! **इन्द्रः** वीरः परमेश्वरो वीरो नृपतिर्वा भवान् **कदा** कस्मिन् काले **अराधसम्** समाजसेवामकुर्वाणम् **मर्तम्** मनुष्यम् **पदा** पादेन **क्षुम्पम्**[2] **इव** अहिच्छत्रकम् इव **स्फुरत्** विचालयिष्यति । [स्फुरति हन्तिकर्मा । निघं० २।१९।, लेटि रूपम्।] **कदा** कस्मिन् काले **नः** अस्मान् **गिरः** स्वकीयाः सन्देशवाचः **शुश्रवत्** श्रावयिष्यति । [शृणोतेर्णिचि लुङि रूपम् । अडागमाभावश्छान्दसः]।।३।।[3]

यास्कमुनिरिमं मन्त्रमेवं व्याचष्टे– [क्षुम्पमहिच्छत्रकं भवति यत् क्षुभ्यते । कदा मर्तमनाराधयन्तं पादेन क्षुम्पमिवावस्फुरिष्यति । कदा नः श्रोष्यति गिर इन्द्रो अङ्ग । अङ्गेति क्षिप्रनाम । निरु० ५।१७।] ।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।३।।

भावार्थः– परमात्मवन्नृपतिरपि दुष्टान् दण्डयेत् सज्जनानां च वाचः शृणुयात् स्वकीयाश्च रमणीया उपदेशप्रदा वाचस्तान् श्रावयेत् ।।३।।

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ– अङ्ग हे भद्र ! **इन्द्रः** वीर परमेश्वर वा वीर राजा आप **कदा** कब **अराधसम्** समाज-सेवा न करने वाले स्वार्थपरायण **मर्तम्** मनुष्य को **पदा** पैर से **क्षुम्पम् इव** खुम्भ के समान **स्फुरत्** विचलित कर दोगे, **कदा** कब **नः** हमें **गिरः** अपनी सन्देश-वाणियाँ **शुश्रवत्** सुनाओगे ! ।।३।।

यहाँ उपमालंकार है ।।३।।

भावार्थ– परमात्मा के समान राजा भी दुष्टों को दण्डित करे और सज्जनों की वाणियाँ सुने तथा अपनी रमणीय, उपदेशप्रद वाणियाँ उन्हें सुनाये ।।३।।

।।२३।। अथ 'गायन्ति त्वा' इत्यादिकस्य त्रयोविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ।।

---

१. ऋ० १।८४।८ ।
२. क्षुम्पम् प्रक्षेपणीयं दुर्बलं शत्रुं यथा मर्दन्ति बलिनः– इति वि०।
३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरिमं मन्त्रं सभाध्यक्षविषये व्याचष्टे ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३४२ क्रमाङ्के परमेश्वरार्चनविषये व्याख्याता । अत्रापि स एव विषयो वर्ण्यते।

१३४४. गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥१॥[1]

गायन्ति त्वा गायत्रिणः । अर्चन्ति अर्कम् अर्किणः ।
ब्रह्माणः त्वा शतक्रतो शत क्रतो उत् वंशम् इव येमिरे ॥१॥

पदार्थः— हे **शतक्रतो** शतं बहूनि कर्माणि प्रज्ञानानि वा यस्य तथाविध इन्द्र जगदीश्वर! **त्वा** गेयं त्वाम् **गायत्रिणः** गायत्राणि प्रशस्तानि छन्दांस्यधीतानि विद्यन्ते येषां ते धार्मिका ईश्वरोपासकाः। [अत्र प्रशंसायामिनिः।] **गायन्ति** सामवेदादिगानेन प्रशंसन्ति । **अर्किणः** अर्का मन्त्रा ज्ञानसाधना येषां ते **अर्कम्** अर्च्यते पूज्यते सर्वैर्जनैर्यस्तं त्वाम् **अर्चन्ति** नित्यं पूजयन्ति । **ब्रह्माणः** वेदार्थान् विदित्वा क्रियावन्तो विद्वांसः **त्वा** त्वां जगत्स्रष्टारम् **उद्येमिरे** उद्यच्छन्ति, **वंशम् इव** यथोत्कृष्टैर्गुणैः शिक्षणैश्च स्वकीयं वंशम् **उद्येमिरे** उद्यमवन्तं कुर्वन्ति तथा ॥१॥[2]

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— सर्वैर्जनैः परमेश्वरस्यैव गानमर्चनं च कर्तव्यम्, तत्सदृशस्य तदधिकस्य वाऽन्यस्य कस्यचिद् अविद्यमानत्वात् ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ३४२ क्रमांक पर परमेश्वर की अर्चना के विषय में हो चुकी है । यहाँ भी उसी विषय का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— हे **शतक्रतो** असंख्यात कर्मों वा प्रज्ञाओं वाले जगदीश्वर ! **त्वा** गाये जाने योग्य आपकी **गायत्रिणः** जिन्होंने वेदों के गायत्री आदि प्रशस्त छन्दों का अध्ययन किया हुआ है ऐसे धार्मिक ईश्वरोपासक लोग **गायन्ति** सामवेद आदि के गान द्वारा प्रशंसा करते हैं। **अर्किणः** वेदमन्त्र जिनके ज्ञान के साधन हैं ऐसे लोग **अर्कम्** सब जनों के पूजनीय आपकी **अर्चन्ति** नित्य पूजा करते हैं। **ब्रह्माणः** वेदार्थों को जानकर तदनुसार कर्म करने वाले विद्वान् लोग **त्वा** जगत् के रचयिता आपको **उद्येमिरे** अपने प्रति उद्यमवान् करते हैं, **वंशम् इव** जैसे उत्कृष्ट गुणों और शिक्षाओं से लोग अपने कुल को **उद् येमिरे** उद्यमी बनाते हैं॥१॥[3]

यहाँ उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— सब मनुष्यों को चाहिए कि वे परमेश्वर का ही गान और पूजन करें, क्योंकि उसके तुल्य या उससे अधिक अन्य कोई नहीं है ॥१॥

---

१. ऋ० १।१०।१, साम० ३४२ ।

२. एष पदार्थः ऋ० १।१०।१ इत्यस्य दयानन्दभाष्यपदार्थमनुसरति ।

३. यह पदार्थ ऋ० १।१०।१ के दयानन्द-भाष्य के पदार्थ के अनुसार है ।

अथ परमेश्वरस्य सहायकत्वमाह ।

१३४५. यत्सानोः सान्वारुहो भूर्यस्पष्ट कर्त्वम् ।
तदिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति ॥२॥[1]

यत् सानोः सानु आरुहः आ अरुहः । भूरि अस्पष्ट कर्त्वम् ।
तत् इन्द्रः अर्थम् चेतति । यूथेन वृष्णिः एजति ॥२॥

पदार्थः— मनुष्यः **यत्** यदा **सानोः सानु** शिखरात् उच्चतरं शिखरान्तरम्, एकं लक्ष्यं प्राप्य उच्चतरं लक्ष्यान्तरमित्यर्थः **आरुहः** आरोहति । [अत्र पुरुषव्यत्ययः।] **भूरि** बहु च **कर्त्वम्** कर्तुं योग्यं कार्यम् **अस्पष्ट** स्पृशति, करोतीत्यर्थः । [स्पश बाधनस्पर्शयोः, भ्वादिः । लङर्थे लुङ्, व्यत्ययेनात्मनेपदम्।] **तत्** तदा **इन्द्रः** विघ्नविदारकः परमेश्वरः तस्य **अर्थम्** उद्देश्यम् **चेतति** जानाति, अपि च **वृष्णिः** बलसुखादीनां वर्षकः सन् **यूथेन** गुणगणेन सह **एजति** तं प्राप्नोति [एजति गतिकर्मा । निघं० २।१४]॥२॥[2]

भावार्थः— प्रगतिपथं गच्छतो मानवस्य जगदीश्वरः परमः सहायको जायते ॥२॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर के सहायक होने का वर्णन है ।

पदार्थ— मनुष्य **यत्** जब **सानोः सानु** एक शिखर से दूसरे उच्चतर शिखर पर, अर्थात् एक लक्ष्य को पार करके उससे ऊँचे दूसरे लक्ष्य पर **आरुहः** चढ़कर पहुँच जाता है, और **भूरि** बहुत-से **कर्त्वम्** करने योग्य कार्य को **अस्पष्ट** करता है, **तत्** तब **इन्द्रः** विघ्नविनाशक परमेश्वर, उसके **अर्थम्** उद्देश्य को **चेतति** जान लेता है, और **वृष्णिः** बल, सुख आदि को बरसाने वाला होता हुआ **यूथेन** गुणसमूह के साथ **एजति** उसे प्राप्त होता है ॥२॥

भावार्थ— प्रगति के पथ पर जाते हुए मनुष्य का जगदीश्वर परम सहायक हो जाता है ॥२॥

अथ परमेश्वरं प्रार्थयते ।

१३४६. युङ्क्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा ।
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर ॥३॥[3]

युङ्क्ष्व हि केशिना हरीइति । वृषणा कक्ष्यप्रा कक्ष्य प्रा ।
अथ नः इन्द्र सोमपाः सोम पाः । गिराम् उपश्रुतिम् उप श्रुतिम् चर ॥३॥

पादर्थः- **हे सोमपाः** सौम्यगुणानाम् रक्षक **इन्द्र** परमात्मन् ! यथा त्वम् **केशिना** केशिनौ सूर्यरश्मियुक्तौ । [केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति । निरु० १२।२५।] **वृषणा** वृषणौ बलवन्तौ,

---

१. 'ऋ० १।१०।२, 'यत्सानोः सानुमारुहद्' इति प्रथमः पादः ।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरिमं मन्त्रं सूर्यदृष्टान्तेन मनुष्यकर्तव्यविषये तत्र परमेश्वरस्य सहायकत्वे च व्याख्यातवान् ।
३. ऋ० १।१४।३, 'युङ्क्ष्वा' इत्यत्र 'युङ्ध्वा' ।

कक्ष्यप्रा कक्ष्यप्रौ स्वस्वभ्रमणकक्षामनुधावमानौ । [कक्ष्यां सूर्यपरिभ्रमणमार्गं प्रवेते गच्छतः यौ तौ।] **हरी** परस्पराकर्षणयुक्तौ चन्द्रभूगोलौ परस्परं योजयसि, तथैव **केशिना** जीवात्मप्रकाशयुक्तौ **वृषणा** बलवन्तौ **कक्ष्यप्रा** स्वस्वविषयकक्षामनुधावमानौ **हरी** ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपौ अश्वौ **युङ्क्ष्व** परस्परं सहयोगिनौ कुरु । **अथ** एवं च **नः** अस्माकम् **गिराम्** सर्वासां प्रार्थनावाचाम् **उपश्रुतिम्** श्रवणम्, पूर्तिम् **चर** कुरु ॥३॥[1]

अत्र श्लिष्टो वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— यथा भूलोकचन्द्रलोकौ परस्परं सामञ्जस्येन वर्तमानौ सूर्यं परितो भ्रमतस्तथैव ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रिये पारस्परिकसहयोगेन मनुष्यस्य जीवनं सञ्चालयतः ॥३॥

अस्मिन् खण्डेऽध्यात्मविषयस्य राष्ट्रविषयस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ— हे **सोमपाः** सौम्य गुणों के रक्षक **इन्द्र** परमात्मन् ! जैसे आप **केशिना** सूर्य-किरणों से युक्त, **वृषणा** बलवान्, **कक्ष्यप्रा** अपनी-अपनी भ्रमण-कक्षा में वेग से गति करते हुए **हरी** परस्पर आकर्षण से युक्त चन्द्रमा और भूमण्डल को, आपस में जोड़ते हो, वैसे ही **केशिना** जीवात्मा के प्रकाश से युक्त, **कक्ष्यप्रा** अपने-अपने विषय की कक्षा में चलते हुए **हरी** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय रूप घोड़ों को **युङ्क्ष्व** परस्पर सहयोग वाला करो । **अथ** इस प्रकार **नः** हमारी **गिराम्** सब प्रार्थना-वाणियों की **उपश्रुतिम्** सुनवाई **चर** करो ॥३॥

यहाँ श्लिष्ट वाचकलुप्तोपमा अलंकार है ॥३॥

भावार्थ— जैसे भूलोक और चन्द्रलोक एक-दूसरे के साथ सामंजस्य से वर्तमान हुए सूर्य का परिभ्रमण करते हैं, वैसे ही ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ आपस के सहयोग से मनुष्य का जीवन संचालित करती हैं॥३॥

इस खण्ड में अध्यात्म और राष्ट्र का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

दशम अध्याय में द्वादश खण्ड समाप्त ।

दशम अध्याय समाप्त ।

पंचम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध समाप्त ।

इति बरेलीमण्डलान्तर्गतफरीदपुरवास्तव्यश्रीमद्गोपालरामभगवतीदेवीतनयेन हरिद्वारीयगुरुकुल-कांगड़ीविश्वविद्यालयेऽधीतविद्येन विद्यामार्तण्डेन आचार्यरामनाथवेदालङ्कारेण महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिकृत-वेदभाष्यशैलीमनुसृत्य विरचिते संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते सामवेदभाष्ये उत्तरार्चिके पञ्चमः प्रपाठकः समाप्तिमगात् ॥

अथ एकादशोऽध्यायः षष्ठे प्रपाठके प्रथमोऽर्धश्च

॥१॥ तत्र 'सुषमिद्धो' इत्यादिकस्य प्रथमस्य चतुर्ऋचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मेधातिथिः काण्वः । **देवता** १ इध्मः समिद्धो वाग्निः, २ तनूनपात्, ३ नराशंसः, ४ इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रेऽस्मिन्निन्द्रशब्देनेश्वरसूर्यौ गृहीतौ ।

तत्रादौ परमात्मानं प्रार्थयते ।

१३४७. सुषमिद्धो न आ वह देवाँ अग्ने हविष्मते । होतः पावक यक्षि च ॥१॥[1]

सुषमिद्धः सु समिद्धः नः आ वह । देवान् अग्ने हविष्मते ।
होतरिति पावक यक्षि च ॥१॥

पदार्थः— हे **अग्ने** अग्रनायक तेजस्विन् विश्वेश्वर ! **सुसमिद्धः** अन्तरात्मनि सम्यक् प्रदीपितः त्वम् **नः** अस्मभ्यम् उपासकेभ्यः **हविष्मते** अन्यस्मै आत्मसमर्पकाय च **देवान्** दिव्यगुणान् **आ वह** प्रापय । **होतः** हे सुखप्रदातः ! **पावक** हे पवित्रकर्तः ! त्वम् **यक्षि**[2] **च** अस्माभिः संगच्छस्व च । [यक्षि यज इति निरुक्तम् ।६।१३] ॥१॥[3]

भावार्थः— स्वान्तरात्मनि परमात्माग्निं प्रदीप्य जना दिव्यगुणयुक्ता जायन्ताम् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **अग्ने** अग्रनायक तेजस्वी परमेश्वर ! **सुसमिद्धः** अन्तरात्मा में भली भांति प्रदीप्त किये हुए आप **नः** हम उपासकों के लिए, और **हविष्मते** दूसरे आत्मसमर्पणकर्ता के लिए **देवान्** दिव्यगुणों को **आ वह** प्राप्त कराओ । **होतः** हे सुख-प्रदाता ! **पावक** हे पवित्रकर्ता ! आप **यक्षि च** हमारे साथ संगम भी करो ॥१॥

भावार्थ— अपने अन्तरात्मा में परमात्माग्नि को प्रदीप्त करके सब लोग दिव्यगुणी होवें ॥१॥

अथ तनूनपात् परमेश्वरः प्रार्थ्यते ।

१३४८. मधुमन्तं तनूनपाद् यज्ञं देवेषु नः कवे । अद्या कृणुह्यूतये ॥२॥[4]

मधुमन्तम् तनूनपात् तनू नपात् । यज्ञम् देवेषु नः कवे ।
अद्य अ द्य कृणुहि ऊतये ॥२॥

पदार्थः— हे **तनूनपात्** देहधारिणामुन्नायक । [तनूः देहान् देहधारिणो न पातयतीति तनूनपात्]। **कवे** क्रान्तप्रज्ञ परमात्मन् ! त्वम् **अद्य** अस्मिन् दिने **ऊतये** रक्षायै **नः** अस्माकम् **देवेषु** विद्वत्सु **यज्ञम्** त्यागभावनाम् **कृणुहि** उत्पादय ॥२॥[5]

भावार्थः— राष्ट्रवासिनां जीवनं यदि यज्ञमयं त्यागपूर्णं वा भवेत् तर्हि राष्ट्रमुन्नतेश्चरमसोपानमारोहेत् ॥२॥

आगे तनूनपात् परमेश्वर से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **तनूनपात्** देहधारियों को उठाने वाले, **कवे** दूरदर्शी प्रज्ञा वाले परमात्मन् ! आप **अद्य** आज **ऊतये** रक्षा के लिए **नः** हमारे **देवेषु** विद्वानों में **यज्ञम्** त्याग-भावना को **कृणुहि** उत्पन्न करो ॥२॥

---

१. ऋ० १।१३।१, 'सुसमिद्धो' इति पाठः।

२. यक्षि-'यजेर्लोपः सिपि बहुलं छन्दसि (वा० २।४।७३)' इति शपो लुक् । व्रश्चादिना (८।२।३६) षत्वम्, 'षढोः कः सि (८।२।४१)' इति कत्वम् । सेर्हिरादेशश्छान्दसत्वान्न भवति—इति सा० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं श्लेषेण परमेश्वरभौतिकाग्न्योर्विषये व्याख्यातवान् । 'यो मनुष्यो बहुविधां सामग्रीं संगृह्य यानादीनां वोढारमग्निं प्रयुङ्क्ते तस्मै स विविधसुखसम्पादनहेतुर्भवतीति' च भावार्थमाह ।

४. ऋ० १।१३।३, 'अद्या कृणुहि वीतये ' इति तृतीयः पादः ।

५. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं भौतिकाग्निपक्षे व्याचष्टे ।

भावार्थ– राष्ट्रवासियों का जीवन यदि यज्ञमय वा त्यागपूर्ण हो तो राष्ट्र उन्नति की सबसे ऊँची पैढ़ी पर पहुँच सकता है ।।२।।

अथ परमेश्वरो ब्रूते ।

१३४९. नराशंसमिह प्रियमस्मिन्यज्ञ उप ह्वये । मधुजिह्वं हविष्कृतम् ।।३।।[1]

नराशंसम् इह प्रियम् । अस्मिन् यज्ञे उप ह्वये ।
मधुजिह्वम् मधु जिह्वम् हविष्कृतम् हविः कृतम् ।।३।।

पदार्थः– **मधुजिह्वम्** मधुरभाषिणम्, **हविष्कृतम्** हविः आत्मसमर्पणं करोतीति तम्, **इह** अत्र **प्रियम्** मम प्रीतिपात्रम् **नराशंसम्** नरैः प्रशंसनीयं जीवात्मानम् **अस्मिन् यज्ञे** एतस्मिन् पारस्परिकसंगमयज्ञे, अहम् **उप ह्वये** स्वसमीपम् आह्वयामि ।।३।।[2]

भावार्थः– जीवात्मनाऽऽत्मसमर्पणे कृते सति परमात्मा स्वयमेव तं स्वान्तिके समानयति ।।३।।

अगले मन्त्र में परमेश्वर कह रहा है ।

पदार्थ– **मधुजिह्वम्** जिसकी जिह्वा में मधु है ऐसे अर्थात् मधुरभाषी, **हविष्कृतम्** आत्मसमर्पण करने वाले, **इह** यहाँ **प्रियम्** मेरे प्रिय, **नराशंसम्** मनुष्यों से प्रशंसनीय जीवात्मा को **अस्मिन् यज्ञे** इस पारस्परिक मिलन-रूप यज्ञ में, मैं **उपह्वये** अपने समीप बुलाता हूँ ।।३।।

भावार्थ– जीवात्मा जब आत्मसमर्पण कर देता है तब परमात्मा स्वयं ही उसे अपने समीप ले आता है ।।३।।

अथ परमेश्वरं प्रार्थयते ।

१३५०. अग्ने सुखतमे रथे देवाँ ईडित आ वह । असि होता मनुर्हितः ।।४।।[3]

अग्ने सुखतमे सु खतमे रथे। देवान् ईडितः आ वह ।
असि होता मनुर्हितः मनुः हितः ।।४।।

पदार्थः– हे **अग्ने** अग्रनायक परमात्मन् ! **ईडितः** पूजितः त्वम् **देवान्** दिव्यगुणयुक्तान् विदुषः उपासकान् अस्मान्, भाविजन्मनि **सुखतमे** अतिशयेन सुखकारिणि **रथे** मानवदेहरूपे रथे **आ वह** जीवनयात्रां कारय । त्वम् **होता** कर्मफलानां दाता, **मनुर्हितः**[4] मनुषे मानवाय हितः हितकरः **असि** वर्तसे । [मनुषे हितः मनुर्हितः। अत्र 'ते च'। अ० ६।२।४५ इत्यनेन पूर्वपदप्रकृतिस्वरः]।।४।।[5]

---

१. ऋ० १।१३।३ ।

२. दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्येऽयमपि मन्त्रो भौतिकाग्निपक्षे व्याख्यातः ।

३. ऋ० १।१३।४ ।

४. सायणाचार्येणाऽत्र ऋ० १।१३।४ भाष्ये 'मनुना हितः' इति समासे तृतीयायाः स्थाने 'सुपां सुलुक्०' । अ० ७।१।३९ इत्यादिना सु इति आदेशः, तस्य रुत्वम्, लुगभावश्छान्दसः, 'तृतीया कर्मणि अ० ६।२।४८ इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्' इति वृथैव प्रपञ्चितम्, सकारान्तस्य आद्युदात्तस्य मनुष्यवाचकस्य मनुस् शब्दस्य वेदे बहुत्र प्रयुक्तत्वात् । यथा-मनुषः ऋ० १।२६।४, मनुषा १।१३०।९, मनुषे १।५२।८।

५. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणाऽस्मिन् मन्त्रे अग्निशब्देन भौतिकाग्निः रथशब्देन च विमानादिर्गृहीतः।

भावार्थः— परमेश्वरोपासनेन सत्कर्मसु प्रेरितो मानवो भाविजन्मन्यपि कर्मानुसारं मानवयोनिं प्राप्नोति ॥४॥

अब परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ— हे **अग्ने** अग्रनायक परमात्मन् ! **ईडितः** पूजा किये हुए, आप **देवान्** दिव्यगुणयुक्त हम विद्वान् उपासकों को, आगामी जन्म में **सुखतमे** सबसे अधिक सुखदायी **रथे** मानवदेह-रूप रथ में **आ वह** जीवनयात्रा कराओ। आप **होता** कर्मफलों के दाता, और **मनुर्हितः** मनुष्यों के लिए हितकारी **असि** हो ॥४॥

भावार्थ— परमेश्वर की उपासना से श्रेष्ठ कर्मों में प्रेरित हुआ मनुष्य आगामी जन्म में भी कर्मों के अनुसार मानव-योनि प्राप्त करता है ॥४॥

॥२॥ अथ 'यदद्य' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः। **देवता**— आदित्यः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ निष्पापत्वं प्रशंस्यते।

२ ३ २ उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ र २ र
१३५१. **यदद्य सूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा। सुवाति सविता भगः ॥१॥**[1]

२ ३ २ ३ २ १ २ र १ २ र ३
यत् अद्य अ द्य सूरे उदिते उत् इते।

१ २ र ३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २ र
अनागाः अन् आगाः मित्रः मि त्रः अर्यमा। सुवाति सविता भगः ॥१॥

पदार्थः— **यत्** यदि **अद्य** अस्मिन् दिने **सूरे उदिते** सूर्ये उदयं प्राप्ते सति, मनुष्यः **अनागाः** निष्पापो भवति, तर्हि **मित्रः** सर्वमित्रः, **अर्यमा** न्यायकारी, न्यायेन कर्मफलप्रदाता, **भगः** भजनीयः **सविता** प्रेरकः परमेश्वरः, तम् सर्वस्मिन् दिने **सुवाति** सत्कर्मसु प्रेरयति ॥१॥

भावार्थः— दिवसस्यारम्भे यदि मनसि सद्विचाराः सन्ति तर्हि परमेशकृपया सर्वमपि दिनं निष्कलुषं व्यत्येष्यतीत्याशास्यते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में निष्पाप होने की प्रशंसा की गयी है।

पदार्थ— **यत्** यदि **अद्य** आज **सूरे उदिते** सूर्य के उदय होने पर, मनुष्य **अनागाः** निष्पाप होता है, तो **मित्रः** सबका मित्र, **अर्यमा** न्यायकारी, न्यायानुसार कर्मफलों का दाता, **भगः** भजनीय **सविता** प्रेरक परमेश्वर, उसे, दिनभर **सुवाति** सत्कर्मों में प्रेरित करता रहता है ॥१॥

भावार्थ— दिन के आरम्भ में यदि श्रेष्ठ विचार रहते हैं तो ऐसी आशा होती है कि परमेश्वर की कृपा से सारा दिन निर्मल व्यतीत होगा ॥१॥

अथोपासका विद्वांसो जनाः सम्बोध्यन्ते।

३ १ २ ३ २ उ ३ १ र २ र
१३५२. **सुप्रावीरस्तु स क्षयः प्र नु यामन्त्सुदानवः। ये नो अंहोऽतिपिप्रति ॥२॥**[2]

३ २ ३ २ ३ २ १ २ र १ २ र ३
सुप्रावीः सु प्रावीः अस्तु सः क्षयः। प्र नु यामन् सुदानवः सु दानवः।

२ ३ १ २ र ३ १ २ ३ १ २ र
ये नः अंहः अतिपिप्रति अति पिप्रति ॥२॥

---

१. ऋ० ७।६६।४।
२. ऋ० ७।६६।५।

पदार्थः— हे **सुदानवः** शोभनदानाः उपासका विद्वांसो जनाः! **ये** ये भवन्तः **नः** अस्माकम् **अंहः** पापम् अपराधं वा **अति पिप्रति** अतिपारयन्ति, तेषां भवताम् **यामन्** यामनि आगमने, प्राप्तौ सत्याम् **सः क्षयः** सोऽस्माकं निवासः **सुप्रावीः** सम्यक् प्रकृष्टतया रक्षितः **नु** क्षिप्रम् **प्र अस्तु** प्रकर्षेण जायताम् ॥२॥

भावार्थः— कर्तव्याकर्तव्योपदेशकानामुपासकानां विदुषां जनानां समागमेन मनुष्याः कस्मिन्नपि पापकर्मण्यप्रवर्तमानाः पुण्यशालिनो भवन्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में उपासक विद्वान् जनों को सम्बोधन है ।

पदार्थ— हे **सुदानवः** शुभ दान वाले उपासक विद्वान् जनो ! **ये** जो आप लोग **नः** हमारे **अंहः** पाप वा अपराध को **अतिपिप्रति** दूर करते हो, उन आप लोगों के **यामन्** आगमन होने पर **सः क्षयः** वह हमारा निवासगृह **सुप्रावीः** भली भांति प्रकृष्ट रूप से रक्षित **नु** शीघ्र ही **प्र अस्तु** प्रबल रूप से होवे ॥२॥

भावार्थ— कर्तव्य और अकर्तव्य के उपदेशक उपासक विद्वान् जनों के समागम से लोग किसी भी पापकर्म में प्रवृत्त न होते हुए पुण्यशाली होते हैं॥२॥

अथ जगन्माता अदितिः विद्वांसो जनाश्च वर्ण्यन्ते ।

३२ ३२ ३ १२ ३१२ ३२ ३ ३ ३१र २र
१३५३. उत स्वराजो अदितिरदब्धस्य व्रतस्य ये । महो राजान ईशते ॥३॥[1]

३२ ३१२ ३ १२र १ २र ३ १२र ३ १ २
उत स्वराजः स्व राजः अदितिः अ दितिः । अदब्धस्य अ दब्धस्य व्रतस्य ये ।

३२ १ २र ३
महः राजानः ईशते ॥३॥

पदार्थः— **उत** अपि च **स्वराजः** स्वराज्य-संपन्नाः उपासकाः विद्वांसः **अदितिः** अखण्डनीया जगन्माता च **ये अदब्धस्य** अखण्डितस्य **व्रतस्य** संकल्पस्य कर्मणश्च **राजानः** सम्राजः सन्ति ते **महः** महतः ऐश्वर्यस्य **ईशते** ईश्वरा भवन्ति, महदैश्वर्यं प्रदातुं क्षमन्ते इत्यर्थः । [महः इत्यत्र 'अधीगर्थदयेषां कर्मणि' । अ०२।३।५२ इति कर्मणि षष्ठी] ॥३॥

भावार्थः— ये परमात्मनश्चरित्रवतां विदुषां च संगतिं कुर्वन्ति ते परमैश्वर्यवन्तो जायन्ते.॥३॥

अगले मन्त्र में जगन्माता अदिति और विद्वान् जनों का वर्णन है ।

पदार्थ— **उत** और **स्वराजः** स्वराज्यसम्पन्न उपासक विद्वान् जन, तथा **अदितिः** अखण्डनीय जगन्माता, **ये** जो **अदब्धस्य** अटूट **व्रतस्य** संकल्प तथा कर्म के **राजानः** राजा हैं, वे **महः** महान् ऐश्वर्य के **ईशते** स्वामी होते हैं अर्थात् महान् ऐश्वर्य देने की क्षमता रखते हैं ॥३॥

भावार्थ— जो लोग परमात्मा की तथा चरित्रवान् विद्वानों की संगति करते हैं वे परमैश्वर्यवान् हो जाते हैं ॥३॥

॥३॥ अथ 'उ त्वा' इत्यादिकस्य तृतीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** प्रगाथः काण्वः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

---

१. ऋ० ७।६६।६ ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १९४ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता । अत्र जीवात्मा प्रोद्बोध्यते।

१३५४. उ त्वा मदन्तु सोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः । अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥१॥[1]

उ त्वा मदन्तु सोमाः । कृणुष्व राधः अद्रिवः अ द्रिवः ।
अव ब्रह्मद्विषः ब्रह्म द्विषः जहि ॥१॥

पदार्थः— हे **अद्रिवः** अविदारणीयबल इन्द्र जीवात्मन् ! **त्वा** त्वाम् **सोमाः** वीररसाः **मदन्तु उ** उत्साहयन्तु खलु। त्वम् **राधः** दिव्यैश्वर्यं साफल्यं च **कृणुष्व** सम्पादय। **ब्रह्मद्विषः** ब्रह्मद्वेषिणो भावान् **अवजहि** विनाशय॥१॥

भावार्थः— स्वकीयमात्मबलं परिचित्य मनुष्येण महान्ति कार्याणि सम्पादनीयानि विघ्नाश्च पराजेयाः ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में १९४ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में की गयी थी । यहाँ जीवात्मा को प्रोद्बोधन है ।

पदार्थ— हे **अद्रिवः** अविदारणीय बल वाले इन्द्र जीवात्मन् ! **त्वा** तुझे **सोमाः** वीर रस **मदन्तु उ** उत्साहित करें । तू **राधः** दिव्य ऐश्वर्य तथा सफलता को **कृणुष्व** उत्पन्न कर । **ब्रह्मद्विषः** ब्रह्मद्वेषी भावों को **अवजहि** विनष्ट कर दे ॥१॥

भावार्थ— अपने आत्म-बल को पहचानकर मनुष्य को महान् कर्म करने चाहिएँ और विघ्नों को पराजित करना चाहिए ॥१॥

अथ पुनर्जीवात्मानमुद्बोधयति ।

१३५५. पदा पणीनराधसो नि बाधस्व महाँ असि। न हि त्वा कश्च न प्रति ॥२॥[2]

पदा पणीन् अराधसः अ राधसः । नि बाधस्व महान् असि ।
न हि त्वा कः च न प्रति ॥२॥

पदार्थः— हे इन्द्र जीवात्मन् ! त्वम् **अराधसः** परकार्याऽसाधकान् **पणीन्** स्वार्थभावान् **पदा** पादाघातेन इव **नि बाधस्व** दूरं प्रक्षिप, त्वम् **महान्** महिमोपेतः **असि** विद्यसे । **त्वा** त्वाम् **कश्च न** कोऽपि **प्रति नहि** प्रतिरोद्धुं न शक्नोति ॥२॥

अत्र पदा पादेन इव इति लुप्तोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— यथा कश्चित् पादाघातेन मार्गप्रतिबन्धकमपसारयति तथैव जीवात्मना विघ्नभूता आभ्यन्तराः शत्रवोऽपनेयाः ॥२॥

आगे फिर जीवात्मा को उद्बोधन है ।

पदार्थ— हे इन्द्र जीवात्मन् ! तू **अराधसः** दूसरों के कार्यों को सिद्ध न करने वाले **पणीन्** स्वार्थभावों को **पदा** जैसे पैर की ठोकर मारकर किसी को दूर फेंक देते हैं, वैसे **नि बाधस्व** दूर फेंक दे, तू **महान्** महान् **असि**

---

१. ऋ० ८।६४।१, अथ० २०।९३।१, साम० १९४, सर्वत्र 'उत् त्वा' इति पाठः ।
२. ऋ० ८।६४।२, अथ० २०।९३।२, उभयत्र 'पणीरँराधसो' इति पाठः।

है, **त्वा** तुझे **कश्चन** कोई भी **प्रति नहि** प्रतिरुद्ध नहीं कर सकता है, अर्थात् तेरे मार्ग में रुकावट नहीं डाल सकता है ।।२।।

यहाँ 'पदा' में लुप्तोपमालंकार है ।।२।।

भावार्थ– जैसे कोई पैर की ठोकर मारकर मार्ग की रुकावट को दूर फेंक देता है, वैसे ही जीवात्मा को चाहिए कि विघ्नरूप आन्तरिक शत्रुओं को दूर कर दे ।।२।।

अथ जीवात्मा परमात्मानं स्तौति ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र २उ ३ १ २
१३५६. त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् । त्वं राजा जनानाम् ।।३।।[1]

२ ३ १ २ १ २र १ २र ३
त्वम् ईशिषे सुतानाम् । इन्द्र त्वम् असुतानाम् अ सुतानाम् ।

२ १ २र १ २र
त्वम् राजा जनानाम् ।।३।।

पदार्थः– हे **इन्द्र** जगत्स्रष्टः परमात्मन् ! **त्वम्** त्वमेव **सुतानाम्** उत्पन्नानां प्राणिनां पदार्थानां च **ईशिषे** अधीश्वरोऽसि । **त्वम्** त्वमेव **असुतानाम्** अनुत्पन्नानां भाविनां प्राणिनां पदार्थानां च ईश्वरो भविष्यसि । **त्वम्** त्वमेव **जनानाम्** मनुष्याणां **राजा** सम्राट् असि ।।३।।

भावार्थः– जीवात्मनि या महती शक्तिर्निहिता सा परमात्मनैव प्रदत्तास्तीति परमात्मस्तुत्याऽत्र जीवः स्वाभिमानं निराकरोति ।।३।।

अत्रोपास्योपासकसम्बन्धवर्णनाद् जीवात्मोद्बोधनाद् विदुषामुपासकानां च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्व-खण्डेन संगतिर्वेद्या ।।

इत्येकादशेऽध्याये प्रथमः खण्डः ।

अब जीवात्मा परमात्मा की स्तुति करता है ।

पदार्थ– हे **इन्द्र** जगत् के रचयिता परमात्मन् ! **त्वम्** आप **सुतानाम्** उत्पन्न प्राणियों और पदार्थों के **ईशिषे** स्वामी हो, **त्वम्** आप ही **असुतानाम्** जो अभी उत्पन्न नहीं हुए,किन्तु भविष्य में उत्पन्न होने वाले हैं,उन प्राणियों और पदार्थों के भी स्वामी हो । **त्वम्** आप ही **जनानाम्** मनुष्यों के **राजा** राजा हो ।।३।।

भावार्थ– जीवात्मा के अन्दर जो महान् शक्ति निहित है वह परमात्मा की ही दी हुई है, इस कारण परमात्मा की स्तुति से यहाँ जीव अपने अभिमान को दूर कर रहा है ।।३।।

यहाँ उपास्य-उपासक का सम्बन्ध वर्णित होने से, जीवात्मा को उद्बोधन होने से और विद्वान् उपासकों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ।।

ग्यारहवें अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ।

।।४।। 'आ जागृवि' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** पराशरः शाक्त्यः । **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** त्रिष्टुप् । स्वरः धैवतः ।।

---

१. ऋ०८।६४।३, अथ० २० ।९३।३ ।

तत्रादौ परमात्मविषयमाह ।

१२ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
१३५७. आ जागृविर्विप्र ऋतं मतीनां सोमः पुनानो असदच्चमूषु ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सपन्ति यं मिथुनासो निकामा अध्वर्यवो रथिरासः सुहस्ताः ॥१॥[1]

२ १ २र १ २र ३ २ ३ २ १ २र ३ २ ३ १ २
आ जागृविः विप्रः वि प्रः ऋतम् मतीनाम् । सोमः पुनानः असदत् चमूषु ।
१ २र ३ १ २ १ २र ३
सपन्ति यम् मिथुनासः निकामाः नि कामाः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
अध्वर्यवः रथिरासः सुहस्ताः सु हस्ताः ॥१॥

पदार्थः— **जागृविः** जागरूकः, **विप्रः** विशेषेण पूरकः, **मतीनाम्** बुद्धीनाम् **ऋतम्** व्यापारम् । [ऋ गति-प्रापणयोः, निष्ठायां रूपम् ।] **पुनानः** पवित्रीकुर्वन्, **सोमः** सत्कर्मसु प्रेरकः परमेश्वरः **चमूषु** आत्ममनःप्राणादिषु सूर्यचन्द्रभूमण्डलादिषु वा लोकेषु **आ असदत्** नियामकत्वेन आनिषण्णोऽस्ति, **यम्** सोमं परमेश्वरम् **निकामाः** निरन्तरं कामयमानाः **रथिरासः** उत्कृष्टदेहरथवन्तः, **सुहस्ताः** सिद्धहस्ताः **अध्वर्यवः** उपासनायज्ञकामाः। [अध्वर्युः अध्वरयुः, अध्वरं युनक्ति, अध्वरस्य नेता, अध्वरं कामयत इति वा । निरु० १।७।] **मिथुनासः** स्त्रीपुरुषाः **सपन्ति** प्राप्नुवन्ति । [षप समवाये, भ्वादिः । 'सपतिः स्पृशतिकर्मा' इति निरुक्तम् । (५।१६)]॥१॥

भावार्थः— देहस्य बाह्यजगतश्च सञ्चालनं यः करोति स जगदीश्वरः सर्वैः समुपासनीयः ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा का विषय है ।

पदार्थ— **जागृविः** जागरूक, **विप्रः** विशेष रूप से पूर्णता प्रदान करने वाला, **मतीनाम्** बुद्धियों के **ऋतम्** व्यापार को **पुनानः** पवित्र करने वाला, **सोमः** सत्कर्मों की प्रेरणा देने वाला परमेश्वर **चमूषु** आत्मा, मन, प्राण आदि में वा सूर्य, चन्द्र, भूमण्डल आदि लोकों में **आ असदत्** नियामक रूप से स्थित है, **यम्** जिस परमेश्वर को **निकामाः** निरन्तर पाने की लौ लगाये हुए, **रथिरासः** उत्कृष्ट शरीर-रथ वाले, **सुहस्ताः** सिद्धहस्त **अध्वर्यवः** उपासना-यज्ञ के इच्छुक **मिथुनासः** स्त्री-पुरुष **सपन्ति** प्राप्त कर लेते हैं॥१॥

भावार्थ— शरीर और बाह्य जगत् का संचालन जो करता है उस जगदीश्वर की सबको भली-भांति उपासना करनी चाहिए ॥१॥

अथ परमात्ममहिमानमाचष्टे ।

१ २ ३ २ऽ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र
१३५८. स पुनान उप सूरे दधान ओभे अप्रा रोदसी वी ष आवः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १र २र
प्रिया चिद्यस्य प्रियसास ऊती सतो धनं कारिणे न प्र यंसत् ॥२॥[2]

२ ३ २ १ २र १ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
सः पुनानः उप सूरे दधानः । आ उभेइति अप्राः रोदसीइति वि सः आवरिति ।
३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ १ २ ३
प्रिया चित् यस्य प्रियसासः ऊती । सतः धनम् कारिणे न प्र यंसत् ॥२॥

---

१. ऋ० ९।९७।३७, 'ऋतं' इत्यत्र 'ऋता' इति पाठः ।

२. ऋ० ९।९७।३८, 'सूरे न धातोभे अप्रा रोदसी वि ष आवः' इति 'स तू धनं' इति च पाठः ।

पदार्थः— **सः** असौ सोमः जगत्स्रष्टा परमेश्वरः **उभे रोदसी** उभे द्यावापृथिव्यौ, पृथिवीं द्युलोकवर्तिनः अन्यान् ग्रहोपग्रहांश्चेत्यर्थः **पुनानः** पवित्रीकुर्वाणः **सूरे उप** सूर्यस्य नियन्त्रणकक्षायाम् **दधानः** धारयन् **आ पप्राः** सूर्यप्रकाशेन आपूरितवानस्ति । **सः** असौ ते द्यावापृथिव्यौ **वि आवः च** विवृतवान् अस्ति च । [वृणोतेः लुङि 'मन्त्रे घसह्वर०' । अ० २।४।८१ इति च्लेर्लुक् । 'छन्दस्यपि दृश्यते' । अ० ६।४।७३ इत्याडागमः । संहितायां 'वी' इति छान्दसो दीर्घः, 'षः' इत्यत्र 'पूर्वपदात्' अ० ८।३।१०६ इति षत्वम् ।] **सतः** विद्यमानस्य **यस्य** यस्य सोमस्य परमेश्वरस्य, येन सोमेन परमेश्वरेण रचिता इत्यर्थः **प्रिया** प्रियाः । [सुपां सुलुक्० अ० ७।१।३९ इति जसः आकारादेशः।] **प्रियसासः** प्रियस्य अभीष्टस्य दातारः पदार्थाः । [प्रियं सन्वन्ति ददति इति प्रियसाः । जसोऽसुगागमे प्रियसासः।] **ऊती** सर्वेषाम् ऊत्यै रक्षायै भवन्ति, सः अस्मभ्यम् **धनम्** ऐश्वर्यम् **प्र यंसत्** प्रयच्छतु, **कारिणे न** यथा कर्मकराय वेतनं दीयते तथा । [यंसत् इत्यत्र यच्छतेर्लेटि तिपि सिप् अडागमश्च]॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः । 'प्रिया, प्रिय' इति छेकानुप्रासः ॥२॥

भावार्थः— ब्रह्माण्डेऽस्मिन् द्यावापृथिवीधारणादिरूपा यापि व्यवस्था दृश्यते सा सर्वापि परमात्मकृतैव । यथा कर्मकराय वेतनं प्रदीयते तथा स्तोत्रे परमात्मा पुरुषार्थमैश्वर्यं च प्रयच्छति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ— **सः** वह सोम अर्थात् जगत् का रचयिता परमेश्वर **उभे रोदसी** द्यावापृथिवी दोनों को अर्थात् पृथिवी को और द्युलोकवर्ती अन्य ग्रहोपग्रहों को **पुनानः** पवित्र करता हुआ, तथा **सूरे उप** सूर्य की नियन्त्रण-कक्षा में **दधानः** धारण करता हुआ **आ पप्राः** सूर्य के प्रकाश से आपूर्ण करता है । **सः** वह उन द्यावापृथिवियों को **वि आवः च** विस्पष्ट भी करता है । **सतः** विद्यमान **यस्य** जिस सोम परमेश्वर के रचे हुए **प्रिया** प्रिय लगने वाले, **प्रियसासः** प्रिय अभीष्ट को देने वाले पदार्थ **ऊती** सबकी रक्षार्थ होते हैं, वह हमें **धनम्** धन **प्र यंसत्** प्रदान करे, **कारिणे न** जैसे कर्म करने वाले सेवक को वेतन दिया जाता है ॥२॥

यहाँ उपमालंकार है । 'प्रिया, प्रिय' में छेकानुप्रास है ॥२॥

भावार्थ— इस ब्रह्माण्ड में द्युलोक-पृथिवीलोक के धारण आदि की जो भी व्यवस्था दिखाई देती है वह सब परमात्मा द्वारा ही की गयी है । जैसे सेवक को वेतन दिया जाता है, वैसे ही स्तोता को परमात्मा पुरुषार्थ और ऐश्वर्य देता है ॥२॥

अथोपासकः स्वकामनां प्रकटयति ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१३५९. स वर्धिता वर्धनः पूयमानः सोमो मीढ्वाँ अभि नो ज्योतिषावित् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
यत्र नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः स्वर्विदो अभि गा अद्रिमिष्णन् ॥३॥[1]

२ ३ २ १ २र ३ १ २ १२र ३ २ ३ २ ३ १ २र ३
सः वर्धिता वर्धनः पूयमानः । सोमः मीढ्वान् अभि नः ज्योतिषा आवीत् ।

१ २र ३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ २
यत्र नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः पद ज्ञाः ।

३ १ २ ३ १ २र ३ २ १ २र ३ २
स्वर्विदः स्वः विदः अभि गाः अद्रिम् अ द्रिम् इष्णन् ॥३॥

---

१. ऋ० ९।९७।३९, 'ज्योतिषावीत्', 'येना नः','अद्रिमुष्णन्' इति भेदः ।

पदार्थः– **वर्धिता** वर्धयिता **वर्धनः** स्वयं वृद्धः प्राप्तमहिमः इत्यर्थः, **पूयमानः** उपासकैः गम्यमानः । [पवते गतिकर्मा । निघं० २।१४।], **मीढ्वान्** सुखसेक्ता । [मिह सेचने, लिटः क्वसुः।] **सोमः** जगत्स्रष्टा परमेश्वरः **ज्योतिषा** तेजसा **नः** अस्मान् **अभि आवीत्**[1] अभिरक्षतु । **यत्र** यस्याश्रये विद्यमानाः **पदज्ञाः** मोक्षमार्गस्य ज्ञातारः **नः** अस्माकम् **पूर्वे पितरः** श्रेष्ठाः पितृजनाः **गाः अभि** दिव्यप्रकाशरश्मीन् प्राप्तुम् **अद्रिम्** पर्वतवत् प्रतिबन्धकं तमोजालम् **इष्णन्** ऐष्णन् अपनयन्ति । [इष आभीक्ष्ण्ये क्र्यादिः, वर्तमाने लङ्।] **स्वर्विदः** प्राप्तमोक्षानन्दाश्च जायन्ते ।।३।।

भावार्थः– ज्योतिर्मयस्य परमात्मन उपासनया मनुष्या अपि ज्योतिष्मन्तो भूत्वा मोक्षं लभन्ते ।।३।।

अगले मन्त्र में उपासक अपनी कामना प्रकट कर रहा है ।

पदार्थ– **वर्धिता** बढ़ाने वाला, **वर्धनः** स्वयं बढ़ा हुआ अर्थात् महिमा को प्राप्त, **पूयमानः** उपासकों से प्राप्त किया जाता हुआ, **मीढ्वान्** सुख सींचने वाला, **सोमः** जगत् का रचयिता परमेश्वर **ज्योतिषा** ज्योति के द्वारा **नः** हमारी **अभि आवीत्** रक्षा करे, **यत्र** जिसके आश्रय में विद्यमान **पदज्ञाः** मोक्षपद के ज्ञाता, **नः** हमारे **पूर्वे पितरः** श्रेष्ठ पितृजन **गाः अभि** दिव्य प्रकाश की किरणों को प्राप्त करने के लिए **अद्रिम्** पर्वत के समान रुकावट डालने वाले तमोजाल को **इष्णन्** दूर कर देते हैं, तथा **स्वर्विदः** मोक्ष के आनन्द को प्राप्त करने वाले हो जाते हैं ।।३।।

भावार्थ– ज्योतिर्मय परमात्मा की उपासना से मनुष्य भी ज्योतिष्मान् होकर मोक्ष पा लेते हैं।।३।।

।।५।। अथ 'मा चिदन्यद्' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** प्रगाथो घौरः काण्वः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ बृहती, २ सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २४२ क्रमाङ्के परमेश्वरोपासनाविषये व्याख्याता । अत्रापि स एव विषय उच्यते ।

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
१३६०. मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ।।१।।[2]

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३
मा चित् अन्यत् अन् यत् वि शंसत । सखायः स खायः मा रिषण्यत ।

१ २ २ ३ १ २ २ १ २ २ ३ २ १ २ २ ३ २ ३
इन्द्रम् इत् स्तोत वृषणम् सचा सुते । मुहुः उक्था च शंसत ।।१।।

पदार्थः– हे **सखायः** सुहृदः, यूयम् **अन्यत्** परमेश्वरातिरिक्तं सूर्यचन्द्रवृक्षस्थाणुप्रतिमादिकम् **मा चित्** नैव खलु **वि शंसत** अर्चत, **मा रिषण्यत** अनर्चनीयानामर्चनेन **मा रिषण्यत** हिंसिता न भवत । **सुते** श्रद्धारसे अभिषुते सति **सचा** संभूय **वृषणम्** आनन्दवर्षकम् **इन्दुम् इत्** परमैश्वर्यशालिनं परमेश्वरमेव **स्तोत** स्तुवीध्वम्, **मुहुः** पुनः पुनः **उक्था च** उक्थानि च, स्तोत्राणीत्यर्थः **शंसत** कीर्तयत ।।१।।

---

१. संहितायाम् 'आवित्' इति ह्रस्वश्छान्दसः । वैदिकयन्त्रालयमुद्रिते स्वाध्यायमण्डलमुद्रिते च सामवेदे ह्रस्व एव पाठ उपलभ्यते । अन्येषु केषुचित् सामवेदपुस्तकेषु दीर्घः पाठः प्राप्यते । ऋग्वेदे दीर्घ एव ।

२. ऋ० ८।१।१, अथ० २०।८५।१, साम० २४२ ।

भावार्थः– एकस्य सर्वज्ञस्य सर्वान्तर्यामिनोन्यायकारिणः परमेश्वरस्यैव पूजा सर्वैर्विधेया । वेदेष्विन्द्रमित्रवरुणादिभिरनेकैर्नामभिरेक एव परमेश्वरः प्रतिपादितोऽस्ति ।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में २४२ क्रमांक पर परमेश्वर की उपासना के विषय में की जा चुकी है । यहां भी वही विषय वर्णित है ।

पदार्थ– हे **सखायः** साथियो ! तुम **अन्यत्** परमेश्वर की अतिरिक्त सूर्य, चांद, वृक्ष, स्थाणु, प्रतिमा आदि को **मा चित्** कभी मत **विशंसत** पूजो, **मा रिषण्यत** अपूज्यों की पूजा से हानिग्रस्त मत होवो । **सुते** श्रद्धारस के अभिषुत होने पर **सचा** साथ मिलकर **वृषणम्** आनन्द की वर्षा करने वाले **इन्द्रम् इत्** परमैश्वर्यशाली परमेश्वर की ही **स्तोत** स्तुति करो, और **मुहुः मुहुः** बार-बार **उक्था च** स्तोत्रों का **शंसत** कीर्तन करो ।।१।।

भावार्थ– एक सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, न्यायकारी परमेश्वर की ही पूजा सबको करनी चाहिए । वेदों में इन्द्र, मित्र, वरुण आदि बहुत से नामों से एक ही परमेश्वर का प्रतिपादन हुआ है ।।१।।

अथ कीदृशः स परमेश्वरोऽस्तीत्याह ।

१३६१. अवक्रक्षिणं वृषभं यथा जुवं गां न चर्षणीसहम् ।
विद्वेषणं संवननमुभयङ्करं मंहिष्ठमुभयाविनम् ।।२।।[1]

अवक्रक्षिणम् अव क्रक्षिणम् वृषभम् यथा जुवम् ।
गाम् न चर्षणीसहम् चर्षणि सहम् । विद्वेषणम् वि द्वेषणम् संवननम् सम् वननम्
उभयङ्करम् उभयम् करम् । मंहिष्ठम् उभयाविनम् ।।२।।

पदार्थः– **अवक्रक्षिणम्** अवक्रष्टुं सूर्यादिलोकान् परस्पराकर्षणेन धारयितुं शीलमस्येति अवक्रक्षी तम्, **वृषभं यथा** वर्षकं मेघमिव **जुवम्** गन्तारम्, मेघोयथा वृष्टिजलेन भूमिमुपगच्छति तथा आनन्दोपहारैः उपासकान् उपगन्तारमित्यर्थः, **गां न** विद्युतमिव **चर्षणीसहम्** दुर्जनानां पराभवितारम्, **विद्वेषणम्** विगतद्वेषम्, **संवननम्** स्तोतृभिः संभजनीयम्, **उभयङ्करम्** उभयस्य द्यावापृथिवीरूपस्यकर्त्तारम्, **मंहिष्ठम्** दातृतमम्, **उभयाविनम्**[2] निग्रहानुग्रहोभयगुणोपेतम्, इन्द्रं परमात्मानं स्तोत इति पूर्वमन्त्रादाकृष्यते । [बहुलं छन्दसि । अ० ७।२।१२२ इत्यत्र 'छन्दसिविनिप्रकरणेऽष्ट्रामेखलाद्वयोभयरुजाहृदयानां दीर्घश्चेति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेन उभयशब्दान्मत्वर्थे विनि प्रत्ययोदीर्घत्वं च] ।।२।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।२।।

भावार्थः– गगने निराधारमाकर्षणरज्जुना लोकलोकान्तराणां धारयिता, सज्जनानामुत्साहयिता, दुर्जनानां दण्डयिता, जगत्स्रष्टा, परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः सर्वैः समुपास्यः ।।२।।

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि वह परमेश्वर कैसा है ।

---

१. ऋ० ८।१।२, 'यथा जुरं', 'संवननोभयंकरं' इति भेदः ।

२. उभयाविनं दिव्यपार्थिवलक्षणेन उभयविधानेनोपेतम्, यद्वा स्थावरजङ्गमरूपेण द्विप्रकारेण रक्षितव्येनोपेतम्, अथवा उभयविधैः स्तोतृभिर्द्वेष्टृभिश्चोपेतम् – इति सा० ।

पदार्थ– अवक्रक्षिणम् सूर्य आदि लोकों को आकर्षण द्वारा धारण करने वाले, **वृषभं यथा** वर्षा करने वाले बादल के समान **जुवम्** उपासकों के पास पहुँचने वाले, अर्थात् बादल जैसे वर्षाजल के द्वारा भूमि पर पहुँचता है वैसे ही आनन्द के उपहारों के साथ उपासक के पास पहुँचने वाले, **गां न** बिजली के समान **चर्षणीसहम्** दुर्जनों को तिरस्कृत करने वाले, **विद्वेषणम्** द्वेष से रहित, **संवननम्** स्तोताओं से संभजनीय, **उभयङ्करम्** द्युलोक-भूलोक दोनों के रचयिता, **मंहिष्ठम्** सबसे बड़े दानी, **उभयाविनम्** निग्रह और अनुग्रह दोनों गुणों से युक्त इन्द्र परमात्मा की **स्तोत** स्तुति करो । [यहां 'स्तोत' यह पद पूर्व मन्त्र से लाया गया है] ॥२॥

यहाँ उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ– आकाश में बिना ही आधार के आकर्षण-रूप डोर से लोक-लोकान्तरों को धारण करने वाले, सज्जनों को उत्साहित करने वाले, दुर्जनों को दण्डित करने वाले, जगत् के रचयिता, परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर की सबको भली-भांति उपासना करनी चाहिए ॥२॥

॥६॥ अथ 'उदु त्ये' इत्यादिकस्य षष्ठस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मेधातिथिः काण्वः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ बृहती, २ सतोबृहती)। **स्वरः** १ मध्यमः २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २५१ क्रमाङ्के स्तोत्रविषये व्याख्याता । अत्र स्तोतृविषय उच्यते ।

१३६२. उदु त्ये मधुमत्तमा गिरः स्तोमास ईरते ।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥१॥[1]

उत् उ त्ये मधुमत्तमाः गिरः स्तोमासः ईरते ।
सत्राजितः सत्रा जितः धनसाः धन साः अक्षितोतयः अक्षित ऊतयः ।
वाजयन्तः रथाः इव ॥१॥

पदार्थः– सत्राजितः सत्यजितः, **धनसाः** भौतिकमाध्यात्मिकं च धनं संभजमानाः प्रयच्छन्तश्च । [षण सम्भक्तौ, भ्वादिः। षणु दाने, तनादिः] **अक्षितोतयः** अक्षीणरक्षाः, **वाजयन्तः** बलकार्याणि कुर्वन्तः **त्ये** ते **मधुमत्तमाः** मधुरतमव्यवहाराः, **स्तोमासः** स्तोतारः । [स्तोमासः स्तुतिकर्तारः इति ऋ० ५।८४।२ भाष्ये द०।] **गिरः** विद्वांसः । [गृणन्ति ये ते गिरो विद्वांसः इति ऋ० १।६।६ भाष्ये द०।] **रथाः इव** विमानयानानीव **उदीरते उ** उद्गच्छन्ति, उद्यमिनो भवन्ति खलु ॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः– परमात्मोपासका मनसा वाचा कर्मणा च सत्याः परोपकारिणो मधुरा बलिनः पुरुषार्थिनश्च भूत्वा स्वकीयं परेषां चोत्कर्षं साधयन्ति ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में २५१ क्रमांक पर स्तोत्रों के विषय में की गयी थी । यहाँ स्तोताओं का विषय वर्णित है ।

---

१. ऋ० ८।३।१५, अथ० २०।१०।१, ५९।१, साम० २५१ ।

पदार्थ– सत्राजितः सत्य को जीतने वाले, **धनसाः** भौतिक और आध्यात्मिक धन की प्राप्ति तथा दान करने वाले **त्ये** वे **मधुमत्तमाः** अतिशय मधुर व्यवहार वाले, **स्तोमासः** स्तोता **गिरः** विद्वान् लोग **रथाः इव** विमान यानों के समान **उदीरते उ** ऊपर जाते हैं अर्थात् उद्यमी होते हैं।।१।।

यहाँ उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ– परमात्मा के उपासक मन, वाणी और कर्म से सच्चे, परोपकारी, मधुर, बलवान् और पुरुषार्थी होकर अपनी और दूसरों की उन्नति करते हैं ।।१।।

अथ स्तोतृणामुपलब्धिमाह ।

१ २ ३ १२३ १ २ ३ २३ २ ३१ २
१३६३. कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद्धीतमाशत ।

२ ३ १२ ३१२ ३१२ ३१२
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ।।२।।[1]

१ २र ३ १२र १ २र ३ १ २र ३२ ३
कण्वाः इव भृगवः सूर्याः इव । विश्वम् इत् धीतम् आशत ।

१ २र १ २र ३१२ ३१२ ३१२ ३२ ३
इन्द्रम् स्तोमेभिः महयन्तः आयवः प्रियमेधासः प्रिय मेधासः अस्वरन् ।।२।।

पदार्थः– **प्रियमेधासः** प्रियप्रज्ञाः। [प्रियमेधः प्रिया अस्य मेधा । निरु० ३।१७।] **आयवः** मनुष्याः **इन्द्रम्** परमेश्वरम् **महयन्तः** पूजयन्तः **स्तोमेभिः** सामस्तोत्रैः **अस्वरन्** स्तुवन्ति। [स्वृ शब्दोपतापयोः, भ्वादिः।] ततश्च **कण्वाः इव** मेधाविनो ब्रह्मवर्चस्विनो ब्राह्मणाः इव, **सूर्याः इव** आदित्याः इव च **भृगवः**[2] तेजस्विनः सन्तः। [भ्रस्ज पाके । प्रथिभ्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च । उ० १।२८ इत्यनेन कुः प्रत्ययः सम्प्रसारणं सलोपश्च।] **विश्वम् इत्** सर्वमेव **धीतम्** आध्यातम्, अभीष्टम् **आशत** प्राप्नुवन्ति ।।२।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।२।।

भावार्थः– परमात्मोपासकास्तेजस्वितामात्मविश्वासं च प्राप्य पुरुषार्थं कुर्वाणाः सर्वं समीहितं लभन्ते ।।२।।

अगले मन्त्र में स्तोताओं की उपलब्धि वर्णित करते हैं।

पदार्थ– प्रियमेधासः जिन्हें मेधा प्रिय है ऐसे **आयवः** मनुष्य **इन्द्रम्** परमेश्वर की **महयन्तः** पूजा करते हुए **स्तोमेभिः** साम के स्तोत्रों से **अस्वरन्** उसकी स्तुति करते हैं। उसके अनन्तर वे **कण्वाः इव** मेधावी ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मणों के समान, और **सूर्याः इव** सूर्यों के समान **भृगवः** तेजस्वी होते हुए **विश्वम् इत्** सभी **धीतम्** सोचे हुए अभीष्ट को **आशत** प्राप्त कर लेते हैं।।२।।

यहाँ उपमालंकार है ।।२।।

भावार्थ– परमात्मा के उपासक लोग तेजस्विता और आत्मविश्वास प्राप्त करके पुरुषार्थ करते हुए सब अभीष्ट को पा लेते हैं।।२।।

---

१. ऋ० ८।३।१६, अथ० २०।१०।२, ५९।२, सर्वत्र 'माशत' इत्यत्र 'मानशुः इति पाठः।

२. भृगवः भृगुगोत्रोत्पन्ना ऋषयः– इति सा० । भृगवः भर्जनकराः सूर्या इव यथा आदित्यरश्मयः– इति वि०।

।।७।। अथ 'पर्यू षु' इत्यादिकस्य सप्तमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषी** त्र्यरुणत्रसदस्यू त्रैवृष्णपौरुकुत्स्यौ । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** पिपीलिकामध्या अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४२८ क्रमाङ्के स्वान्तरात्मनो वीरपुरुषस्य च विषये व्याख्याता । अत्र परमात्मविषय उच्यते ।

१३६४. पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः ।
द्विषस्तरध्या ऋणया न ईरसे ।।१।।[1]

परि ऊ सु प्र धन्व वाजसातये वाज सातये । परि वृत्राणि सक्षणिः स क्षणिः ।
द्विषः तरध्यै ऋणयाः ऋण याः नः ईरसे ।।१।।

पदार्थः— हे पवमान सोम पवित्रकारिन् जगत्स्रष्टः परमात्मन् ! त्वम् **वाजसातये** बलप्रदानाय, अस्मान् **सु** सम्यक् **परि प्र धन्व** उ परिप्राप्नुहि खलु, **सक्षणिः** विघ्नविनाशकः त्वम् **वृत्राणि** जीवनमार्गे योगमार्गे वा समागतान् विघ्नान् **परि प्र धन्व** परितः आक्रामस्व । **ऋणयाः** अस्माकं ऋषिऋण-देवऋण-पितृऋणानाम् अन्येषां च ऋणानां यापयिता त्वम् **द्विषः** द्वेषवृत्तीः **तरध्यै** तरीतुम् **नः ईरसे** अस्मान् प्राप्नुहि ।।

ऋणानि च त्रीणि यथा— [जायमानो वै **ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा** जायते । ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः, एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी (तै० सं० ६।३।१०।५।)] इति ।।१।।

भावार्थः— मनुष्योऽन्येषां सहायतामुपयुज्य तान् प्रति ऋणवान् जायते। मातापितरौ गुरून् समाजं राष्ट्रमन्यांश्च प्रति तस्य यानि ऋणानि भवन्ति तानि परमेश्वरप्रेरणया स सोपकारस्मरणं सधन्यवादं यापयति ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४२८ क्रमांक पर अपने अन्तरात्मा और वीर पुरुष के प्रोत्साहन के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहाँ परमात्मा का विषय कहते हैं ।

पदार्थ— हे पवमान सोम अर्थात् पवित्र करने वाले जगत्स्रष्टा परमात्मन् ! आप **वाजसातये** बल देने के लिए, हमें **सु** भली-भांति **परि प्र धन्व** चारों ओर से प्राप्त होवो । **सक्षणिः** विघ्नों के विनाशक आप **वृत्राणि** जीवनमार्ग वा योगमार्ग में आये हुए विघ्नों पर **परि प्र धन्व** चारों ओर से आक्रमण कर दो । **ऋणयाः** हमारे ऋषिऋण-देवऋण-पितृऋण को तथा अन्य ऋणों को चुकवाने वाले आप **द्विषः** द्वेषवृत्तियों को **तरध्यै** परास्त करने के लिए **नः ईरसे** हमें प्राप्त होवो ।।

तैत्तिरीय संहिता में तीन ऋण गिनाते हुए कहा गया है कि उत्पन्न होता हुआ ब्राह्मण तीन ऋणों से ऋणी होता है—**ऋषियों** के प्रति ब्रह्मचर्य से, देवों के प्रति यज्ञ से और पितृजनों के प्रति प्रजा से । जब वह आचार्याधीन ब्रह्मचर्यवास करता है, यज्ञ करता है, और पुत्रवान् हो जाता है **तब क्रमशः** इन ऋणों से छूट जाता है (तै० सं० ६।३।१०।५)।।१।।

भावार्थ— मनुष्य दूसरों की सहायता का उपयोग करके उनके प्रति ऋणी **हो जाता है** । माता-पिता, गुरुजन, समाज, राष्ट्र तथा अन्यों के प्रति उसके जो ऋण होते हैं उन्हें परमेश्वर की प्रेरणा से वह उपकार-स्मरण पूर्वक सधन्यवाद चुका देता है ।।१।।

---

१. ऋ० ९।११०।१, अथ० ५।६।४, साम० ४२८ ।

अथ परमेश्वरं स्तौति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २३ १ २ ३ १ २
१३६५. अजीजनो हि पवमान सूर्यं विधारे शक्मना पयः ।
१ २ ३ १२ ३ १ २
गोजीरया रंहमाणः पुरन्ध्या ॥२॥[1]
१ २र ३ १२र ३ १ २ ३ १२र १२र १ २र
अजीजनः हि पवमान सूर्यम् । विधारे वि धारे शक्मना पयः ।
१ २र ३ १२र १२र १२र ३
गोजीरया गो जीरया रंहमाणः पुरन्ध्या पुरम् ध्या ॥२॥

पदार्थः— हे **पवमान** पावक सर्वान्तर्यामिन् परमेश्वर ! त्वम् **सूर्यम्** आदित्यम् **अजीजनः हि** उत्पादितवानसि खलु, अपि च **शक्मना** स्वशक्त्या **विधारे** विधारके अन्तरिक्षे **पयः** मेघजलम् **अजीजनः** उत्पादितवानसि। त्वम् **गोजीरया**[2] गोजीवया, भूमण्डलस्य जीवनेच्छया **पुरन्ध्या** भूयस्या प्रज्ञया क्रियया च । [पुरन्धिर्बहुधीः । निरु० ६।१३। धीः इति कर्मनाम प्रज्ञानाम च । निघं० २।१, ३।९।] **रंहमाणः** त्वरमाणः भवसीति शेषः ॥२॥[3]

भावार्थः— ब्रह्माण्डस्थानि सूर्यविद्युन्नक्षत्रपर्जन्यादीनि सर्वाणि विलक्षणानि वस्तूनि परमात्मनैव विरचितानि, नैषां निर्माणे कस्यचिन्मनुष्यस्य सामर्थ्यमस्ति । स सर्वेषां हितकाम्यया बुद्धिपूर्वकं चेष्टमानो वर्त्तते॥२॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर की स्तुति की गयी है ।

पदार्थ— हे **पवमान** पवित्रकर्ता, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ! आपने **सूर्यम्** सूर्य को **अजीजनः हि** उत्पन्न किया है, और **शक्मना** अपनी शक्ति से **विधारे** विधारक अन्तरिक्ष में **पयः** मेघ-जल को **अजीजनः** उत्पन्न किया है । आप **गोजीरया** भूमण्डल के जीवन की इच्छा से **पुरन्ध्या** बहुत अधिक प्रज्ञा तथा क्रिया द्वारा **रंहमाणः** शीघ्रकारी होते हो ॥२॥

भावार्थ— ब्रह्माण्ड में स्थित सूर्य, विद्युत्, नक्षत्र, बादल आदि सब विलक्षण वस्तुएँ परमात्मा ने ही रची हैं, इनके निर्माण में किसी मनुष्य का सामर्थ्य नहीं है । वह सबकी हितकामना से बुद्धिपूर्वक चेष्टा करता है ॥२॥

तृतीया ऋक् पूर्वार्चिके ४३२ क्रमाङ्के परमात्मानं जीवात्मानं राजानं च सम्बोधिता । अत्र परमात्मविषये व्याख्यायते ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१३६६. अनु हि त्वा सुतं सोम मदामसि महे समर्यराज्ये ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
वाजाँ अभि पवमान प्र गाहसे ॥३॥[4]
१२र ३ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
अनु हि त्वा सुतम् सोम मदामसि । महे समर्यराज्ये समर्य राज्ये ।
१ २र ३ २ ३ २ ३
वाजान् अभि पवमान प्र गाहसे ॥३॥

---

१. ऋ० ९।११०।३, य० २२।१८ ।
२. (गोजीरया) गवां जीरया जीवनक्रियया—इति य० २२।१८ भाष्ये द०।
३. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सूर्यरूपोऽग्निः कीदृश इति विषये व्याचष्टे ।
४. ऋ० ९।११०।२, साम० ४३२ ।

पदार्थः— हे **सोम** ब्रह्माण्डस्य सम्राट् जगदीश्वर ! **महे** महति **समर्यराज्ये** समरेण देवासुरसंग्रामेण प्राप्तं समर्यं तस्मिन् राज्ये, आन्तरे स्वराज्ये इत्यर्थः, वयम् **सुतं त्वा** हृदये प्रकटीभूतं त्वाम् **अनु** अनुलक्ष्य **मदामसि हि** मोदामहे खलु । [मदी हर्षग्लेपनयोः, भ्वादिः ।] हे **पवमान** पावक परमात्मन् ! त्वम् **वाजान्** बलानि, **अभि प्र गाहसे** अवगाहसे, अतोऽस्मभ्यमपि बलानि देहीति भावः ॥३॥

भावार्थः— स्वान्तरात्मनि प्रच्छन्नं परमात्मानं प्रकटीकृत्यात्मबलं परमाह्लादश्च प्राप्तुं शक्यते ॥३॥

तृतीय ऋचा पूर्वार्चिक में ४३२ क्रमांक पर परमात्मा, जीवात्मा और राजा को सम्बोधित की गयी थी। यहाँ परमात्मा के विषय में व्याख्या की जा रही है ।

पदार्थ— हे **सोम** ब्रह्माण्ड के सम्राट् जगदीश्वर ! **महे** महान्, **समर्यराज्ये** देवासुरसंग्राम से प्राप्त आन्तरिक साम्राज्य में, हम **सुतं त्वा** हृदय में प्रकट हुए आपको **अनु** लक्ष्य करके **मदामसि हि** मुदित होते हैं। हे **पवमान** पवित्र करने वाले परमात्मन् ! आप **वाजान्** बलों में **अभि प्र गाहसे** अवगाहन करते हो, अतः हमें बल दो, यह भाव है ॥३॥

भावार्थ— अपने अन्तरात्मा में छिपे हुए परमात्मा को प्रकट करके आत्मबल और परम आनन्द प्राप्त किया जा सकता है ॥३॥

॥८॥ अथ 'परि प्र' इत्यादिकस्याष्टमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषयः** अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** द्विपदा विराट् पंक्तिः। **स्वरः** पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४२७ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र ब्रह्मानन्दविषय उच्यते ॥

१३६७. परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूष्णे भगाय ॥१॥[1]

परि प्र धन्व इन्द्राय सोम । स्वादुः मित्राय मि त्राय पूष्णे भगाय ॥१॥

पदार्थः— हे **सोम** ब्रह्मानन्दरस ! **स्वादुः** मधुरः त्वम् **मित्राय** मित्रभूताय, **पूष्णे** पोषकाय, **भगाय** सेवनीयाय **इन्द्राय** जीवात्मने **परि प्र धन्व** परि प्रस्रव ॥१॥

भावार्थः— परमेश्वरस्य सकाशात् प्रसुतं परमानन्दरसं पीत्वा जीवात्मनि काचिदपूर्वा शक्तिः समुदेति ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ४२७ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में की जा चुकी है । यहाँ ब्रह्मानन्द का विषय कहते हैं ।

पदार्थ— हे **सोम** ब्रह्मानन्द-रस ! **स्वादुः** मधुर स्वाद वाला तू **मित्राय** मित्र, **पूष्णे** पोषणकर्ता, **भगाय** सेवनीय **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए **परि प्र धन्व** प्रवाहित हो ॥१॥

भावार्थ— परमेश्वर के पास से प्रवाहित हुए परमानन्दरस का पान करके जीवात्मा में एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है ॥१॥

---

१. ऋ० ९।१०९।१, साम० ४२७ ।

अथ पुनर्ब्रह्मानन्दविषयमाह ।

३ १र २र ३१र २र३ २ ३ १ २ ३ २ ३१ २
१३६८. एवामृताय महे क्षयाय स शुक्रो अर्ष दिव्यः पीयूषः ॥२॥[1]

३२ ३१ २ ३ १२र ३२ १२र ३ २ ३ २ ३१ २
एव अमृताय अ मृताय महे क्षयाय । सः शुक्रः अर्ष दिव्यः पीयूषः ॥२॥

पदार्थः— हे सोम ! हे ब्रह्मानन्द ! **सः** असौ **शुक्रः** पवित्रः, **दिव्यः** अलौकिकः **पीयूषः** पातुं योग्यः । [अत्र पीङ् पाने धातोः 'पीयेरूषन्' उ० ४।७७। इति ऊषन् प्रत्ययः ।] त्वम् **एव** सत्यम् **अमृताय** अस्माकम् अमरपदलाभाय **महे** महते **क्षयाय** निवासकाय धर्मार्थकामलाभाय च **अर्ष** प्रस्रव ॥२॥

भावार्थः— ब्रह्मानन्दरसपानेन मनुष्यो धर्मार्थकाममोक्षान् साद्धुं क्षमते ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः ब्रह्मानन्द का विषय है ।

पदार्थ— हे सोम ! हे ब्रह्मानन्द ! **सः** वह **शुक्रः** पवित्र, **दिव्यः** अलौकिक, **पीयूषः** पान करने योग्य तू **एव** सचमुच **अमृताय** हमारी अमरपद की प्राप्ति के लिए और **महे** महान् **क्षयाय** निवासक धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति के लिए **अर्ष** प्रवाहित हो ॥२॥

भावार्थ— ब्रह्मानन्द-रस के पान से मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध कर सकता है ॥२॥

अथ पुनरपि स एव विषय उच्यते ।

१ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१३६९. इन्द्रस्ते सोम सुतस्य पेयात् क्रत्वे दक्षाय विश्वे च देवाः ॥३॥[2]

१ २र ३ १ २ ३ १ २र १ २र १ २र ३ २
इन्द्रः ते सोम सुतस्य पेयात् । क्रत्वे दक्षाय विश्वे च देवाः ॥३॥

पदार्थः— हे **सोम** ब्रह्मानन्दरस ! **सुतस्य** परमात्मनः सकाशात् प्रसुतस्य **ते** त्वाम् **क्रत्वे** कर्मणे **दक्षाय** बलाय च **इन्द्रः** जीवात्मा **पेयात्** आस्वादयेत्, **विश्वे च देवाः** अन्ये च प्रकाशकाः मनोबुद्धिज्ञानेन्द्रियादयः पेयासुः आस्वादयेयुः ॥३॥

भावार्थः— ब्रह्मानन्दरसपानेन मनुष्य आत्मबली कर्मयोगी च जायते ॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मनो ब्रह्मानन्दस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ॥

आगे फिर उसी विषय में कहा गया है ।

पदार्थ— हे **सोम** ब्रह्मानन्द-रस ! **सुतस्य** परमात्मा के पास से प्रवाहित हुए **ते** तुझे **क्रत्वे** कर्म करने के लिए और **बलाय** बल की प्राप्ति के लिए **इन्द्रः** जीवात्मा **पेयात्** पान करे, **विश्वे च देवाः** और अन्य सब प्रकाशक मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियाँ आदि भी पान करें ॥३॥

भावार्थ— ब्रह्मानन्द-रस के पान से मनुष्य आत्मबली और कर्मयोगी होता है ॥३॥

इस खण्ड में परमात्मा और ब्रह्मानन्द का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ॥

ग्यारहवें अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ।

---

१. ऋ० ९।१०९।३ ।

२. ऋ० ९।१०९।२, 'पेयाः' इति पाठः ।

॥९॥ अथ 'सूर्यस्येव' इत्यादिकस्य नवमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** जगती । **स्वरः** निषादः ॥

तत्रादौ परमात्मोपासनाविषयमाह ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१३७०. सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो मत्सरासः प्रसुतः साकमीरते ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
तन्तुं ततं परि सर्गास आशवो नेन्द्रादृते पवते धाम किं चन ॥१॥[1]
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
सूर्यस्य इव रश्मयः द्रावयित्नवः । मत्सरासः प्रसुतः प्र सुतः साकम् ईरते ।
१ २ ३ २ १ २ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
तन्तुम् ततम् परि सर्गासः आशवः । न इन्द्रात् ऋते पवते धाम किम् च न ॥१॥

पदार्थः— **सूर्यस्य** आदित्यस्य **रश्मयः इव** किरणाः इव **द्रावयित्नवः** द्रावणशीलाः । [द्रु गतौ, णिजन्ताद् इत्नुच् प्रत्ययः ।] **प्रसुतः** अभिषुताः । [प्र पूर्वात् सुवतेः क्विपि प्रथमाबहुवचने रूपम्।] **मत्सरासः** तृप्तिजनकाः, **आशवः** सद्योगामिनः, **सर्गासः** सृष्टाः भक्तिरसाः **साकम्** युगपत् **ततम्** सर्वत्र विततम् **तन्तुम्** मणिषु सूत्रवद् व्याप्तम् इन्द्रं परमात्मानम् **परि ईरते** परिगच्छन्ति । यतः **इन्द्रात् ऋते** परमात्मानोऽतिरिक्तम् **किं चन धाम** किमपि ज्योतिः **न पवते** न पुनाति ॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः काव्यलिङ्गं च ॥१॥

भावार्थः— परमात्मन एवोपासनया कृपया च मनुष्यस्यान्तःकरणं पवित्रं जायते ॥१॥

प्रारंभ में परमात्मा की उपासना का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ— सूर्यस्य सूर्य की **रश्मयः इव** किरणों के समान **द्रावयित्नवः** द्रवित करने वाले, **मत्सरासः** तृप्ति देने वाले, **आशवः** वेगगामी, **प्रसुतः** प्रेरित **सर्गासः** हमारे भक्तिरस-प्रवाह **साकम्** एक साथ **ततम्** सर्वत्र फैले हुए, **तन्तुम्** मणियों में सूत्र के समान व्याप्त इन्द्र परमात्मा को **परि ईरते** चारों ओर से प्राप्त हो रहे हैं, क्योंकि **इन्द्रात् ऋते** परमात्मा के अतिरिक्त **किं चन धाम** कोई भी ज्योति **न पवते** पवित्रता नहीं देती है ॥१॥

यहां उपमा तथा काव्यलिंग अलंकार है ॥१॥

भावार्थ— परमात्मा की ही उपासना और कृपा से मनुष्य का अन्तःकरण पवित्र होता है ॥१॥

अथ परमात्मोपासनायाः फलमाह ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१३७१. उपो मतिः पृच्यते सिच्यते मधु मन्द्राजनी चोदते अन्तरासनि ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २
पवमानः सन्तनिः सुन्वतामिव मधुमान् द्रप्सः परि वारमर्षति ॥२॥[2]
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
उप उ मतिः पृच्यते सिच्यते मधु । मन्द्राजनी मन्द्र अजनी चोदते अन्तः आसनि ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २ १ २ ३
पवमानः सन्तनिः सम् तनिः सुन्वताम् इव । मधुमान् द्रप्सः परि वारम् अर्षति ॥२॥

---

१. ऋ० ९।६९।६, 'प्रसुतः' इत्यत्र 'प्रसुपः' ।
२. ऋ० ९।६९।२, 'सुन्वतामिव' इत्यत्र 'प्रघ्नतामिव' ।

पदार्थः— मतिः मनीषा **उप पृच्यते उ** संपृच्यते खलु । [पृची सम्पर्के ।] **मधु** माधुर्यं **सिच्यते** क्षार्यते, **आसनि अन्तः** मुखाभ्यन्तरे **मन्द्राजनी** मन्द्रान् आनन्दकरान् शब्दान् ओंकारव्याहृतिगायत्र्यादीन् अजति प्रेरयतीति सा जिह्वा । [मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु, भ्वादिः, 'स्फायितञ्चि' । उ० २।१३ इति रक् प्रत्ययः। अज गतिक्षेपणयोः, भ्वादिः।] **चोदते** स्तुतिमन्त्रान् प्रेरयति । [चुद संचोदने, चुरादिः, वैदिको भ्वादावपि पठितव्यः ।] **पवमानः** प्रस्रवन् अन्तःकरणं पवित्रीकुर्वन् वा **सन्तनिः** सम्यग् विस्तरणशीलः, **मधुमान्** मधुरः **द्रप्सः** ब्रह्मानन्दरसः **वारम्** दोषनिवारकम् अन्तरात्मानम् **परि अर्षति** परि गच्छति, **सुन्वताम् इव** यथा यजमानानाम् **पवमानः** गुरुकुलनिवासेन स्वात्मानं पुनानः **मधुमान्** मधुरज्ञानवान् मधुरव्यवहारो वा **सन्तनिः**[1] सन्तानः स्नातको भूत्वा **वारम्** जनसमाजम् **परि अर्षति** परिगच्छति ॥२॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः । उत्तरार्धगतेन कारणेन पूर्वार्धगतस्य कार्यस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासः । पकार-मकार-नकार-तकार-सकाराणां पृथक् पृथगावृत्तौ वृत्त्यनुप्रासः। 'च्यते' इत्यस्यावृत्तौ यमकं च । शान्तो रसः ॥२॥

भावार्थः— उपासकस्यान्तरात्मं ब्रह्मानन्दरसप्रवाहे सति विलक्षणा मतिर्विलक्षणं माधुर्यं चानुभूयते ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की उपासना का फल वर्णित है ।

पदार्थ— मतिः बुद्धि **उपपृच्यते उ** प्राप्त हो रही है, **मधु** माधुर्य **सिच्यते** सींचा जा रहा है, **आसनि अन्तः** मुख के अन्दर **मन्द्राजनी** आनन्दजनक शब्दों ओंकार, व्याहृति, गायत्री आदि को प्रेरित करने वाली जिह्वा **चोदते** स्तुति-मन्त्रों को प्रेरित कर रही है । **पवमानः** बहता हुआ अथवा अन्तःकरण को पवित्र करता हुआ **सन्तनिः** भली-भांति फैलने वाला, **मधुमान्** मधुर **द्रप्सः** ब्रह्मानन्द-रस **वारम्** दोष-निवारक अन्तरात्मा को **परि अर्षति** प्राप्त हो रहा है, **सुन्वताम् इव** जैसे यजमानों की **पवमानः** गुरुकुल-निवास से स्वयं को पवित्र करती हुई, **मधुमान्** मधुर ज्ञान से वा मधुर व्यवहार से युक्त **सन्तनिः** सन्तान स्नातक होकर **वारम्** जन-समाज को **परि अर्षति** प्राप्त करती है ॥२॥

यहाँ श्लिष्टोपमालंकार है । उत्तरार्धगत कारण से पूर्वार्धगत कार्य का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है। प्, म्, न्, त्, स् की अलग-अगल आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है। 'च्यते' की आवृत्ति में यमक है। शान्तरस है॥२॥

भावार्थ— उपासक के अन्तरात्मा में ब्रह्मानन्द-रस का धाराप्रवाह होने पर विलक्षण मति और विलक्षण माधुर्य अनुभूत होता है ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह।

३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३१ २ ३ १र २र ३ २
१३७२. उक्षा मिमेति प्रति यन्ति धेनवो देवस्य देवीरुप यन्ति निष्कृतम् ।

१ २ ३१ २३ १२३ २३२ ३ २ ३ २उ ३ १ २
अत्यक्रमीदर्जुनं वारमव्ययमत्कं न निक्तं परि सोमो अव्यत ॥३॥[2]

२ ३ १२र ३ १ २ ३१ २ ३ २ १२र ३ २ ३ २
उक्षा मिमेति प्रति यन्ति धेनवः देवस्य देवीः उप यन्ति निष्कृतम् निः कृतम् ।

१ २र ३ १२र १२र ३ १ २ १ २र ३ २ १ २र १ २र ३
अति अक्रमीत् अर्जुनम् वारम् अव्ययम् । अत्कम् न निक्तम् परि सोमः अव्यत ॥३॥

---

१. सन्तनिः सन्ततिः सुन्वतामिव—यथा सुन्वतां सन्तनिः कर्मसन्ततिः, एवं सोमस्य धारयेति—वि० ।

२. ऋ० ९।६९।४, 'मिमेति' इत्यत्र 'मिमाति' ।

पदार्थः— **उक्षा** प्राणरूपो वृषभः । [अनड्वान् प्राण उच्यते । अथ० ११।४।] **मिमेति** शब्दायते । [माङ् माने शब्दे च जुहोत्यादिः । परस्मैपदं छान्दसम् ।] **धेनवः** इन्द्रियरूपाः गावः **प्रति यन्ति** बाह्यविषयेभ्यो निवर्तन्ते । **देवीः** दिव्यगुणा मनोवृत्तयः **देवस्य** प्रकाशकस्य जीवात्मनः **निष्कृतम्** गृहम्, आश्रयम् **उप यन्ति** उपगच्छन्ति । एतत् सर्वं कुतो जायते ? यतः **सोमः** जीवात्मा **अति** विघ्नानतिक्रम्य **अर्जुनम्** श्वेतं, निष्कलुषम् **अव्ययम्** अविनश्वरम् **वारम्** वरणीयं परमात्मानं प्रति **अक्रमीत्** पादविक्षेपं कृतवान् अस्ति, अपि च **नित्तम्** शुद्धम् । [णिजिर् शौचपोषणयोः, निष्ठा ।] **अत्कं न** कवचमिव तम्, **परि अव्यत** परि धारितवान् अस्ति । [व्येञ् संवरणे, भ्वादिः]॥३॥

चतुर्थे पादे उपमालंकारः, उत्तरार्धगतेन कारणेन पूर्वार्धगतस्य कार्यस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासश्च ॥३॥

भावार्थः— परमात्मनि प्राप्ते जीवः कवचधर इव रक्षितो जायते ॥३॥

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ— **उक्षा** प्राणरूप बैल **मिमेति** डकरा रहा है, **धेनवः** इन्द्रियरूपगायें **प्रति यन्ति** बाह्य विषयों से लौट रही हैं। **देवीः** दिव्यगुणों वाली मनोवृत्तियाँ **देवस्य** प्रकाशक जीवात्मा के **निष्कृतम्** आश्रय को **उप यन्ति** प्राप्त कर रही हैं । यह सब क्यों हो रहा है ? क्योंकि **सोमः** जीवात्मा ने **अति** विघ्नों का अतिक्रमण करके **अर्जुनम्** श्वेत, निर्मल, **अव्ययम्** अविनश्वर, **वारम्** वरणीय परमात्मा की ओर **अक्रमीत्** पग बढ़ाये हैं, और **नित्तम्** शुद्ध **अत्कं न** कवच के समान, उसे **परि अव्यत** चारों ओर धारण कर लिया है ॥३॥

चतुर्थ चरण में उपमालंकार है, उत्तरार्धगत कारण से पूर्वार्धगत कार्य का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास भी है ॥३॥

भावार्थ— परमात्मा के प्राप्त हो जाने पर जीव कवचधारी के समान रक्षित हो जाता है ॥३॥

॥१०॥ अथ 'अग्निं नरो' इत्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** विराडनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ७२ क्रमांके परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र जीवात्मविषयो विद्युद्विषयश्चोच्यते ।

३ २उ ३ १ २ ३२ ३१ २ ३ २
१३७३. **अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम् ।**
३ १ २ ३१२ ३ २
दूरेदृशं गृहपतिमथव्युम् ॥१॥[1]

३ २ १२र १ २र ३१ २
अग्निम् नरः दीधितिभिः अरण्योः ।
१ २र १ २र ३ २ ३ २
हस्तच्युतम् हस्त च्युतम् जनयत प्रशस्तम् प्र शस्तम् ।
३ १ २ ३ १२र ३१२ ३२ ३ २ ३ २
दूरेदृशम् दूरे दृशम् गृहपतिम् गृह पतिम् अथव्युम् अ थव्युम् ॥१॥

---

१. ऋ० ७।१।१ 'जनयन्त', 'मथर्युम्' इति भेदः । साम० ७२ ।

पदार्थः— प्रथमो जीवात्मपरः । हे मानवाः ! **नरः** पौरुषयुक्ता यूयम् **अरण्योः** गतिमतोः क्रियाशीलयोः मनोबुद्ध्योः । [अर्तेर्गत्यर्थाद् 'अर्तिसृधृधम्यम्यश्यवितॄभ्योऽनिः' । उ० २।१०४ इत्यनेन अनिप्रत्ययः ।] **दीधितिभिः** क्रियाभिः, मनसः संकल्पैः बुद्धेरध्यवसायैश्चेत्यर्थः **अग्निम्** देहस्य नेतारं जीवात्मानम् **हस्तच्युतम्** हस्ताभ्यां च्यावयति पराजयते शत्रून् यस्तम्, **प्रशस्तम्** प्रशंसास्पदम्, **दूरेदृशम्** दूरदर्शिनम्, **गृहपतिम्** देहरूपस्य गृहस्य पालकम् **अथव्युम्** अविचलं च **जनयत** कुरुत ॥

द्वितीयो विद्युत्परः । हे मनुष्याः ! **नरः** विद्युद्विद्योन्नायकाः यूयम् **दीधितिभिः** सूर्यकिरणैः । [दीधितयः इति रश्मिनाम । निघं० १।५।] **अरण्योः** विद्युदुत्पादकयन्त्रयोः **हस्तच्युतम्** संघर्षणपूर्वकम् **प्रशस्तम्** उत्कृष्टम्, **दूरेदृशम्** दूरं यावद् दर्शयितारं प्रकाशकरम्, **गृहपतिम्** गृहाणां रक्षकम्, **अथव्युम्** गतिशीलम् । [अतनवन्तम् इत्यथर्युशब्दव्याख्याने यास्कः । निरु० ५।९। अथर्युरेव अथव्युः ।] **अग्निम्** विद्युतम् **जनयत** उत्पादयत ॥१॥[१]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— मनुष्यैः संकल्पसाधनं मनो निश्चयसाधनभूतां बुद्धिं च प्रयुज्य स्वात्मा प्रबोधनीयो, विद्युद्विद्याविद्भिः शिल्पिभिश्च सूर्यरश्मिद्वारा यन्त्राणि संचाल्य विद्युतमुत्पाद्य गृहादिषु प्रकाशः करणीयो, विद्युत्तारद्वारा दूरं समाचाराः प्रेषणीया विमानादियानानि च चालनीयानि ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ७३ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहाँ जीवात्मा और बिजली का विषय वर्णित करते हैं।

पदार्थ— प्रथम जीवात्मा के पक्ष में । हे मनुष्यो ! **नरः** पौरुषवान् तुम **अरण्योः** क्रियाशील मन और बुद्धि की **दीधितिभिः** क्रियाओं से अर्थात् मन द्वारा कृत संकल्पों से और बुद्धि द्वारा कृत निश्चयों से **अग्निम्** शरीर के नेता जीवात्मा को **हस्तच्युतम्** हाथों से शत्रुओं को पराजित करने वाला, **प्रशस्तम्** प्रशंसा का पात्र, **दूरेदृशम्** दूरदर्शी, **गृहपतिम्** देह-सदन का पालनकर्ता, और **अथव्युम्** विचलित न होने वाला **जनयत** करो ॥

द्वितीय बिजली के पक्ष में । हे मनुष्यो ! **नरः** विद्युत्-विद्या की उन्नति करने वाले तुम **दीधितिभिः** सूर्य-किरणों के द्वारा **अरण्योः** बिजली उत्पन्न करने वाले यन्त्रों के **हस्तच्युतम्** संघर्षण-पूर्वक **प्रशस्तम्** उत्कृष्ट, **दूरेदृशम्** दूर तक प्रकाश करने वाले, **गृहपतिम्** घरों के रक्षक, **अथव्युम्** गतिशील **अग्निम्** बिजली रूप अग्नि को **जनयत** उत्पन्न करो ॥१॥

यहाँ श्लेषालंकार है ॥१॥

भावार्थ— मनुष्यों को चाहिए कि संकल्प के साधन मन को और निश्चय के साधन बुद्धि को प्रयुक्त कर अपने आत्मा को जगायें और विद्युत्-विद्या के विशेषज्ञ शिल्पियों को चाहिए कि सूर्य-किरणों द्वारा यन्त्रों को चलाकर, बिजली उत्पन्न करके घर आदि में प्रकाश करें, बिजली के तारों द्वारा दूर समाचार भेजें तथा विमान आदि यानों को चलायें ॥१॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं नरैः कथं विद्युदुत्पादनीयेति पक्षे व्याख्यातवान् ।

अथ पुनर्जीवात्मविद्युतोर्विषयो वर्ण्यते ।

१३७४. तमग्निमस्ते वसवो न्यृण्वन्त्सुप्रतिचक्षमवसे कुतश्चित् ।
दक्षाय्यो यो दम आस नित्यः ॥२॥[1]

तम् अग्निम् अस्ते वसवः नि ऋण्वन् । सुप्रतिचक्षम् सु प्रतिचक्षम् अवसे कुतः चित् ।
दक्षाय्यः यः दमे आस नित्यः ॥२॥

पदार्थः— **प्रथम**: जीवात्मपरः । **वसवः** स्वेषु सद्गुणकर्मस्वभावानां निवासकाः मोक्षपथपथिकाः जनाः **कुतश्चित्** यतः कुतोऽपि **अवसे** शत्रोः स्वात्मनो रक्षणाय **तम् सुप्रतिचक्षम्** सम्यग् द्रष्टारम् **अग्निम्** जीवात्मानम् **अस्ते** मोक्षधाम्नि । [अस्तमिति गृहनाम । निघं० ३।४।] **न्यृण्वन्** प्रेषयन्ति । [ऋणोतिर्गतिकर्मा । निघं० २।१४।] **यः दक्षाय्यः** बलवर्द्धकः । [दक्षयति वर्द्धयति यः सः दक्षाय्यः । श्रुदक्षिस्पृहिगृहिभ्य आय्यः । उ० ३।९६ इति दक्षतेः आय्यप्रत्ययः।] **नित्यः** अविनश्वरो जीवात्मा **दमे** देहगृहे । [दम इति गृहनाम । निघं० ३।४।] **आस**[2] बभूव ॥

द्वितीयो विद्युत्परः । **वसवः** विद्युद्विद्यायां कृतनिवासाः शिल्पिनः **कुतश्चित्** कुतोऽपि भयहेतोः **अवसे** रक्षणाय **तम् सुप्रतिचक्षम्** सुप्रकाशकरम् **अग्निम्** विद्युद्रूपम् **अस्ते** निवासगृहे । [जातावेकवचनम्, गृहे गृहे इत्यर्थः ।] **न्यृण्वन्** प्रेषयन्ति, **यः दक्षाय्यः** बलवान् **नित्यः** अक्षयः विद्युदग्निः **दमे** उत्पादनगृहे **आस** बभूव ॥२॥[3]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— राष्ट्रे यथा प्रजाजना अभ्युदयनिःश्रेयसयोः पथिकाः स्युस्तथैव शिल्पिनो विद्युतमुत्पाद्य प्रकाशनार्थं यन्त्रादिचालनार्थं च तारद्वारा गृहे गृहे संयोजयन्तु ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर जीवात्मा और बिजली का विषय है ।

पदार्थ— प्रथम जीवात्मा के पक्ष में । **वसवः** अपने अन्दर श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभावों को निवास कराने वाले मोक्ष-पथ के पथिक लोग **कुतश्चित्** जहाँ कहीं से भी **अवसे** शत्रु से अपनी रक्षा के लिए **तम्** उस **सुप्रतिचक्षम्** श्रेष्ठ द्रष्टा **अग्निम्** जीवात्मा को **अस्ते** मोक्ष-धाम में **न्यृण्वन्** भेजते हैं, **यः** जो **दक्षाय्यः** बल बढ़ाने वाला, **नित्यः** नित्य, अविनाशी जीवात्मा, मुक्ति से पूर्व **दमे** शरीर रूप घर में **आस** था ॥

द्वितीय बिजली के पक्ष में । **वसवः** विद्युत्-विद्या में निवास किये हुए शिल्पी लोग **कुतश्चित्** किसी भी भय से **अवसे** रक्षा के लिए **तम्** उस **सुप्रतिचक्षम्** शुभ प्रकाश करने वाले **अग्निम्** बिजलीरूप अग्नि को **अस्ते** प्रत्येक निवासगृह में **न्यृण्वन्** पहुँचाते हैं, **यः** जो **दक्षाय्यः** बलवान्, **नित्यः** नित्य बिजलीरूप अग्नि **दमे** कारखाने में **आस** था ॥२॥

यहां श्लेषालंकार है ॥२॥

---

१. ऋ० ७।१।२ ।

२. विवरणनये 'आसनित्यः' इत्येकं पदम् । तथाहि 'आसनित्यः आसम् आसनं नित्यं यजमानगृहे यस्य' इति तद्व्याख्यानम् । विरुद्धं चैतत् पदकारादीनाम् 'आस । नित्यः' इति दर्शनाद् बहुव्रीहिस्वराश्रुतेश्चेति विचार्यम्—इति सामश्रमी ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरिममपि मन्त्रं विद्युदुत्पादनविषये व्याख्यातवान् ।

भावार्थ— राष्ट्र में जैसे प्रजाजनों को अभ्युदय और निःश्रेयस का पथिक होना चाहिए, वैसे ही शिल्पियों को चाहिए कि बिजली पैदा करके प्रकाश के लिए और यन्त्र आदि को चलाने के लिए तारों द्वारा उसे घर-घर में लगा दें ॥२॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१३७५. प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ ।
त्वां शश्वन्त उप यन्ति वाजाः ॥३॥[1]

प्रेद्धः प्र इद्धः अग्ने दीदिहि पुरः नः । अजस्रया अ जस्रया सूर्म्या यविष्ठ ।
त्वाम् शश्वन्तः उप यन्ति वाजाः ॥३॥

पदार्थः— हे **यविष्ठ** युवतम **अग्ने** जीवात्मन् विद्युद् वा ! **प्रेद्धः** प्रदीपितः त्वम् **अजस्रया** अक्षीणया **सूर्म्या** ज्वालया, तेजस्वितया इत्यर्थः **नः पुरः** अस्माकमग्रे **दीदिहि** दीप्यस्व । [दीदयतिः ज्वलतिकर्मा । निघं० १।१६।] **त्वाम्** भवन्तं **शश्वन्तः** बहवः । [शश्वदिति बहुनाम । निघं० ३।१ ।] **वाजाः** बलानि **उपयन्ति** उपगच्छन्ति ॥३॥[2]

भावार्थः— जीवात्मनि विद्युतीव महती शक्तिर्निहिताऽस्ति । तामुपयुज्य मानवस्तेजस्वी प्रतापवानग्रगन्ता महांश्च भवितुमर्हति ॥३॥

अगले मन्त्र में फिर वही विषय है ।

पदार्थ— हे **यविष्ठ** अतिशय यौवनयुक्त **अग्ने** जीवात्मन् वा विद्युत् ! **प्रेद्धः** प्रदीप्त किया गया तू **अजस्रया** अक्षीण **सूर्म्या** तेजस्विता के साथ **नः पुरः** हमारे आगे **दीदिहि** चमक, **त्वाम्** तुझे **शश्वन्तः** बहुत-से **वाजाः** बल **उप यन्ति** प्राप्त हैं ॥३॥

भावार्थ— जीवात्मा में बिजली के समान बड़ी भारी शक्ति निहित है । उसका उपयोग करके मनुष्य को तेजस्वी, प्रतापी, अग्रगन्ता और महान् होना उचित है ॥३॥

॥११॥ अथ 'आयं गौः' इत्यादिकस्यैकादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सार्पराज्ञी । **देवता** सूर्यः (आत्मा वा) । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ६३० क्रमाङ्के सूर्य-भूलोक-परमात्म-जीवात्म-स्तोतृविषये पञ्चधा व्याख्याता। अत्र चन्द्रसूर्यसम्बन्धो वर्ण्यते ।

१३७६. आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥१॥[3]

आ अयम् गौः पृश्निः अक्रमीत् । असदत् मातरम् पुरः ।
पितरम् च प्रयन् प्र यन् स्वा३रिति ॥१॥

---

१. ऋ० ७।१।३, य० १७।७६ ।

२. दयानन्दर्षिणा मन्त्र एष ऋग्भाष्ये विद्युद्विषये यजुर्भाष्ये च योगिविषये व्याख्यातः ।

३. ऋ० १०।१८९।१ देवता सार्पराज्ञी सूर्यो वा। य० ३।६ देवता अग्निः। अथ० ६।३१।१ देवता गौः, २०।४८।४ देवता सूर्यः, गौः। साम० ६३० ।

पदार्थः— **अयम्** एषः **पृश्निः** प्राष्टवर्णः **गौः** गतिमयः चन्द्रलोकः **आ अक्रमीत्** उदितोऽस्ति, यः **पुरः** पश्चिमतः पूर्वं प्रति **मातरम्** मातृभूतां पृथिवीम् परितः **असदत्** गच्छति । [षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु ।] **पितरम्** पितृस्थानीयम् **स्वः च** सूर्यं च **प्रयन्** परिक्राम्यन् भवति ॥१॥[1]

भावार्थः— चन्द्रो हि पृथिव्याः पृथग्भूतं पिण्डमस्तीति वैज्ञानिका मन्यन्ते । अतः पृथिवी चन्द्रस्य माता । सूर्यस्य प्रभावादेव तत् पिण्डं पृथिव्याः पृथग्भूतमिति सूर्यश्चन्द्रस्य पिता । चन्द्रः पृथिवीं परिक्राम्यन् तया सह सूर्यमपि परिक्रामतीति खगोलशास्त्रविदां निरीक्षणमस्ति ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ६३० क्रमांक पर सूर्य, भूगोल, परमात्मा, जीवात्मा तथा स्तोता इन पाँचों पक्षों में की जा चुकी है । यहाँ चन्द्रमा और सूर्य का सम्बन्ध वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— **अयम्** यह **पृश्निः** रंगीला **गौः** गतिमय चन्द्रलोक **आ अक्रमीत्** उदित हुआ है, जो **पुरः** पश्चिम से पूर्व की ओर **मातरम्** माता पृथिवी के चारों ओर **असदत्** गति करता है और **पितरम्** पितृस्थानीय **स्वः च** सूर्य की भी **प्रयन्** परिक्रमा करता है ॥१॥

भावार्थ— चन्द्रमा पृथिवी से अलग हुआ पिण्ड है ऐसा वैज्ञानिक लोग मानते हैं। इसलिए पृथिवी चन्द्रमा की माता है । सूर्य के प्रभाव से ही वह पिण्ड पृथिवी से अलग हुआ, इस दृष्टि से सूर्य चन्द्रमा का पिता है । चन्द्रमा पृथिवी की परिक्रमा करता-करता पृथिवी के साथ-साथ सूर्य की भी परिक्रमा करता है, ऐसा खगोलशास्त्रवेत्ताओं का निरीक्षण है ॥१॥

द्वितीय ऋक् पूर्वार्चिके ६३१ क्रमाङ्के सूर्यस्य परमात्मनश्च विषये व्याख्याता । अत्र प्राणरूपं सूर्यं वर्णयति ।

१३७७. अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती । व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥२॥[2]

अन्तरिति चरति रोचना । अस्य प्राणात् प्र आनात् अपानती अप अनती ।
वि अख्यत् महिषः दिवम् ॥२॥

पदार्थः— **अस्य** प्राणात्मनः सूर्यस्य **रोचना** दीप्तिः प्रभावशक्तिरिति यावत् **प्राणाद् अपानती** प्राणन-क्रियोत्तरम् अपानक्रियां कुर्वती **अन्तः** शरीराभ्यन्तरे **चरति** विचरति । **महिषः** महान् प्राणः **दिवम्** देहस्थं मूर्धानमपि **व्यख्यत्** प्रकाशयति ॥२॥[3]

भावार्थः— यथा बाह्ये सौरजगति सूर्यो ग्रहोपग्रहान् धारयति, तथैव मानवदेहे जीवात्मना सहचरितः प्राणमनोबुद्धिमस्तिष्केन्द्रियादीनि धारयति ॥२॥

द्वितीय ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ६३१ क्रमांक पर सूर्य और परमात्मा के विषय में की जा चुकी है । यहाँ प्राणरूप सूर्य का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— **अस्य** इस प्राणरूप सूर्य की **रोचना** दीप्ति अर्थात् प्रभावशक्ति **प्राणाद् अपानती** प्राणन-क्रिया के पश्चात् अपान की क्रिया करती हुई **अन्तः** शरीर के अन्दर **चरति** विचरण करती है । **महिषः** महान् प्राण **दिवम्** शरीर के मूर्धा को भी **व्यख्यत्** प्रकाशित करता है ॥२॥

---

१. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं भूलोकस्य सूर्यं परितो भ्रमणविषये व्याख्यातवान् ।

२. ऋ० १०।१८९।२ देवता सार्पराज्ञी सूर्यो वा आत्मा वा । य० ३।७ देवता अग्निः, अथ० ६।३१।२ देवता गौः, २०।४८।५ देवता सूर्यः, गौः । साम० ६३१ ।

३. मन्त्रमेतं दयानन्दर्षिर्यजुर्भाष्ये विद्युदग्निपक्षे व्याचष्टे ।

भावार्थ– जैसे बाह्य सौर जगत् में सूर्य ग्रह-उपग्रहों को धारण करता है, वैसे ही मानव-शरीर में जीवात्मासहित प्राण,मन, बुद्धि, मस्तिष्क,इन्द्रियों आदि को धारण करता है ।।२।।

तृतीया ऋक् पूर्वार्चिके ६३२ क्रमाङ्के सूर्यपरमात्मनोरेव विषये व्याख्याता । अत्र प्राणविषयो वर्ण्यते ।

१३७८. त्रिंशद्धाम वि राजति वाक्पतङ्गाय धीयते । प्रति वस्तोरह द्युभिः ।।३।।[1]

त्रिंशत् धाम वि राजति । वाक् पतङ्गाय धीयते । प्रति वस्तोः अह द्युभिः ।।३।।

पदार्थः– एष प्राणः **त्रिंशद् धाम** त्रिंशत् धामानि, अहोरात्रस्य त्रिंशदपि मुहूर्तानि **विराजति** शरीरे विराजमानो भवति, जाग्रदवस्थायां स्वप्नावस्थायां सुषुप्तावस्थायां चापि सक्रियस्तिष्ठति । [उ॒र्ध्वः सु॒प्तेषु॑ जागार। अथ० ११।४।२५ इति श्रुतेः।] अस्मै **पतङ्गाय**[2] श्वासोच्छ्वासगत्या पक्षिवच्चेष्टते प्राणाय । [प्राणो वै पतङ्गः । कौ० ब्रा० ८।४।] **वाक्** वाणी **धीयते** निरुध्यते, प्राणायामकाले भाषणासम्भवात् । **प्रति वस्तोः** प्रत्यहम् **अह** किल **द्युभिः** दीप्तैः सूर्यकिरणैः, एष प्राणो बलवान् जायते इति वाक्यपूर्तिर्विधेया ।।३।।[3]

भावार्थः– रात्रिन्दिवं शरीरं धारयन्नेष प्राणः प्राणिनां महदुपकरोति ।।३।।

अस्मिन् खण्डे परमात्मोपासनाया जीवात्मनः प्राणस्य प्रसङ्गतया विद्युतश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।।

तृतीय ऋचा पूर्वार्चिक में ६३२ क्रमांक पर सूर्य और परमात्मा के ही विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहाँ प्राण का विषय वर्णित है ।

पदार्थ– यह प्राण **त्रिंशद् धाम** दिन-रात के तीसों मुहूर्तों में **वि राजति** शरीर में विराजमान रहता है अर्थात् जाग्रत् अवस्था, स्वप्न अवस्था और सुषुप्त अवस्था तीनों में सक्रिय रहता है, जैसी कि श्रुति है– 'प्राण अन्य सबके सो जाने पर भी खड़ा जागता रहता है' (अथ० ११।४।२५) । इस **पतङ्गाय** श्वास-उच्छ्वास की गति से पक्षी के समान चेष्टा करने वाले प्राण के लिए, अर्थात् प्राणायाम के काल में **वाक्** वाणी **धीयते** रोक ली जाती है, क्योंकि प्राणायाम करते हुए भाषण संभव नहीं है । **प्रति वस्तोः** प्रतिदिन **अह** निश्चय ही **द्युभिः** दीप्त सूर्य-किरणों से यह प्राण बलवान् होता है ।।३।।

भावार्थ– दिन-रात शरीर को धारण करता हुआ यह प्राण प्राणियों का महान् उपकार करता है ।।३।।

इस खण्ड में परमात्मोपासना, जीवात्मा, प्राण और प्रसंगतः विद्युत् का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

ग्यारहवें अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ।

ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ।

षष्ठ प्रपाठक में प्रथम अर्ध समाप्त ।

---

१. ऋ० १०।१८९।३ देवता सार्पराज्ञी सूर्यो वा, य० ३।८ देवता अग्निः, अथ० ६।३१।३ देवता गौः, २०।४८।६ देवता सूर्यः, गौः। साम० ६३२ ।

२. पतेरङ्गच् पक्षिणि । उ० १।११९ इति सूत्रेण अङ्गच् प्रत्ययः । 'पक्षिणीत्युच्यमानेऽपि बाहुलकात् पतङ्गः सूर्योऽग्निरश्वः शालिभेदो वा इत्यादीनामपि नामानि भवन्ति' – इति उणादिकोषवृत्तौ द० ।

३. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं वाक्पक्षे व्याख्यातः ।

अथ द्वादशोऽध्यायः षष्ठे प्रपाठके द्वितीयोऽर्धश्च

।।१।। तत्र 'उपप्रयन्तो इत्यादिकस्य प्रथमस्य चतुर्ऋचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** १, २, ४ गोतमो राहूगणः, ३ वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

अथ परमेश्वरोपासनाविषयमाह ।

१३७९. उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये । आरे अस्मे च शृण्वते ।।१।।[1]

उपप्रयन्तः उप प्रयन्तः अध्वरम् । मन्त्रम् वोचेम अग्नये ।

आरे अस्मेइति च शृण्वते ।।१।।

पदार्थः— **अध्वरम्** हिंसारहितं ब्रह्मयज्ञं देवयज्ञं वा **उप प्रयन्तः** उपगच्छन्तः वयम् **आरे** दूरे । [आरे इति दूरनाम । निघं० ३।२६।] **अस्मे च** अस्माकं समीपे च, **शृण्वते** प्रार्थनावचांसि आकर्णयते **अग्नये** अग्रनायकाय जगदीश्वराय **मन्त्रम्** वेदमन्त्रम् **वोचेम**[2] उच्चारयेम ।।१।।[3]

भावार्थः— ब्रह्मयज्ञं देवयज्ञं वा कुर्वन्तो जना मन्त्रोच्चारणपूर्वकं परमेश्वरस्य गुणकर्मस्वभावान् ध्यायेयुस्ततः शिक्षां च गृह्णीयुः ।।१।।

प्रथम मन्त्र में परमेश्वरोपासना का विषय कहते हैं ।

पदार्थ— **अध्वरम्** हिंसारहित ब्रह्मयज्ञ वा देवयज्ञ में **उपप्रयन्तः** जाते हुए हम **आरे** दूर **अस्मे च** और हमारे समीप **शृण्वते** प्रार्थना-वचनों को सुनने वाले **अग्नये** अग्रनायक जगदीश्वर के लिए **मन्त्रम्** वेदमन्त्र को **वोचेम** उच्चारण करें ।।१।।

भावार्थ— ब्रह्मयज्ञ वा देवयज्ञ करते हुए मनुष्य मन्त्रोच्चारणपूर्वक परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभावों का ध्यान किया करें और उससे शिक्षा ग्रहण किया करें ।।१।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१३८०. यः स्नीहितीषु पूर्व्यः सञ्जग्मानासु कृष्टिषु । अरक्षद् दाशुषे गयम् ।।२।।[4]

यः स्नीहितीषु पूर्व्यः सञ्जग्मानासु सम् जग्मानासु कृष्टिषु ।

अरक्षत् दाशुषे गयम् ।।२।।

पदार्थः— **पूर्व्यः** पूर्वैः साक्षात्कृतः । [पूर्वैः कृतमिनयौ च । अ० ४।४।१३३ इति कृतेऽर्थे यः प्रत्ययः।] **यः** योऽग्निः अग्रनायकः परमेश्वरः **स्नीहितीषु** वधकर्त्रीषु। [स्नेहयतिर्वधकर्मा निघं० २।१९।] **कृष्टिषु** शात्रवीषु प्रजासु

---

१. ऋ० १।७४।१, य० ३।११ ।

२. (वोचेम) उच्याम अयमाशिषि लिङ्युत्तमबहुवचने प्रयोगः । लिङ्याशिष्यङ् इत्यङि कृते छन्दस्युभयथेति सार्वधातुकमाश्रित्य इयसकारलोपौ। वच उम् । अ० ७।४।२० इत्यङि पर उमागमश्च-इति य० ३।११ भाष्ये द० ।

३. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च परमेश्वरगुणस्वरूपविषये व्याख्यातः ।

४. ऋ० १।७४।२ ।

संजग्मानासु संगतासु सतीषु **दाशुषे** आत्मसमर्पणकर्त्रे उपासकाय **गयम्**[1] गृहम् आश्रयमिति यावत् । [गयमिति गृहनाम । निघं० २।१०।] **अरक्षत्** रक्षति, तस्मै अग्नये परमेश्वराय मन्त्रं वोचेम इति पूर्वेण सम्बन्धः ।।२।।[2]

भावार्थः— परमेश्वरोपासकस्य मार्गात् सर्वे विघ्ना नश्यन्ति, परमेश्वरस्तस्मै सुरक्षितं स्वाश्रयं दिव्य-सम्पदश्च प्रयच्छति ।।२।।

आगे पुनः उसी विषय का कथन है ।

पदार्थ— पूर्व्यः पूर्वजों से साक्षात्कार किया गया **यः** जो अग्रनायक परमेश्वर **स्नीहितीषु** वध करने वाली **कृष्टिषु** शत्रु-प्रजाओं के **संजग्मानासु** मुठभेड़ करने पर **दाशुषे** आत्मसमर्पण करने वाले उपासक के लिए **गयम्** आश्रय को **अरक्षत्** सुरक्षित करता है, उस [**अग्नये** अग्रनायक परमेश्वर के लिए, हम **मन्त्रं वोचेम** वेदमन्त्रों का उच्चारण करें]।।२।।[3]

भावार्थ— परमेश्वरोपासक के मार्ग से सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं, परमेश्वर उसे अपना सुरक्षित आश्रय और दिव्य सम्पदाएँ प्रदान करता है ।।२।।

अथोपासकः स्वाकाङ्क्षां प्रकटयति ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ड ३ १ २
१३८१ . स नो वेदो अमात्यमग्नी रक्षतु शन्तमः । उतास्मान् पात्वंहसः ।।३।।[4]

२ ३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २र ३ २ ३ २ ३ १ २र
सः नः वेदः अमात्यम् अग्निः रक्षतु शन्तमः । उत अस्मान् पातु अंहसः ।।३।।

पदार्थः— सः असौ **शन्तमः** शंकरतमः **अग्निः** अग्रनायकः परमेश्वरः **नः** अस्माकम् **अमात्यम्**[5] सहभूतम् । [अमा इत्यव्ययं सहार्थवाचकम्, ततः अव्ययात् त्यप् । अ० ४।२।१०४ इति त्यप् प्रत्ययः।] **वेदः** ज्ञानं दिव्यं धनं वा **रक्षतु** पालयतु । **उत** अपि च **अंहसः** पापात् **नः** अस्मान् **पातु** त्रायताम् ।।३।।[6]

भावार्थः— परमात्मनि विश्वासाद् दिव्यगुणा रक्ष्यन्ते पापानि च विद्राव्यन्ते ।।३।।

अगले मन्त्र में उपासक अपनी आकांक्षा प्रकट कर रहा है ।

पदार्थ— सः वह **शन्तमः** अतिशय शान्तिदायक **अग्निः** अग्रनायक परमेश्वर **नः** हमारे **अमात्यम्** साथ रहने वाले **वेदः** ज्ञान की वा दिव्य धन की **रक्षतु** रक्षा करे, **उत** और **अंहसः** पाप से **नः** हमें **पातु** बचाये ।।३।।

भावार्थ— परमात्मा में विश्वास से दिव्य गुण रक्षित होते हैं और पाप नष्ट हो जाते हैं।।३।।

---

१. गयम् प्राणम् । यद्यपि सर्वासु मनुष्यजातिषु अन्तर्हृदयान्तः स्थितं ज्योतिः, तथापि ये यजमानाः तेषां गयान् प्राणान् रक्षति— इति वि० ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरपि मन्त्रमिमं परमेश्वरपक्षे व्याचष्टे ।

३. वाक्यपूर्ति के लिए यह कोष्ठान्तर्गत भाग पूर्व मन्त्र से लाया गया है ।

४. ऋ० ७।१५।३, 'शन्तमः' इत्यत्र 'विश्वतः'।

५. अमत् प्राणः, प्राणत्वं, हृदयावस्थितं ज्योतिः— इति वि० ।

६. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं यतिगृहस्थयोर्विषये व्याख्याति ।

अथोपासकाः किं कुर्वन्त्वित्याह ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
१३८२. उत ब्रुवन्तु जन्तव उदग्निर्वृत्रहाजनि । धनञ्जयो रणेरणे ॥४॥[1]

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३
उत ब्रुवन्तु जन्तवः । उत् अग्निः वृत्रहा वृत्र हा अजनि ।

२ ३ २ १ २र १ २र ३
धनञ्जयः धनम् जयः रणेरणे रणे रणे ॥४॥

पदार्थः—उत अपि च **जन्तवः** अधिगतद्वितीयजन्मानो द्विजाः उपासकाः । [जन्यन्ते आचार्येण ये ते जन्तवो द्विजाः । कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च । उ० १।७३ इति जनेस्तुः प्रत्ययः।] **ब्रुवन्तु** हर्षेण कथयन्तु यत् अयम् **वृत्रहा** विघ्नहन्ता **अग्निः** अग्रनायकः परमेश्वरः **उद् अजनि** अस्माकं हृदये प्रादुर्भूतोऽस्ति । यः **रणे-रणे** संग्रामे संग्रामे, प्रतिदेवासुरसंग्रामम् **धनञ्जयः**[2] दिव्यधनस्य प्रापयिता वर्तते ॥४॥[3]

भावार्थः— आन्तरिके बाह्ये चापि देवासुरसंग्रामे परमेश्वरविश्वासिनां विजयो भवति विजयेन च तैर्दिव्यानि भौतिकानि च धनानि प्राप्यन्ते ॥४॥

अस्मिन् खण्डे परमेश्वरोपासनाविषयस्य वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्तीति मन्तव्यम् ॥

अगले मन्त्र में उपासक क्या कहें यह वर्णन है ।

पदार्थ— उत और **जन्तवः** द्वितीय जन्म ग्रहण किये हुए द्विज उपासक **ब्रुवन्तु** हर्ष के साथ कहें कि यह **वृत्रहा** विघ्नविनाशक **अग्निः** अग्रनायक परमेश्वर **उद् अजनि** हमारे हृदय में प्रादुर्भूत हो गया है, जो **रणे-रणे** प्रत्येक देवासुरसंग्राम में **धनञ्जयः** दिव्य धन प्राप्त कराने वाला है ॥४॥

भावार्थ— आन्तरिक और बाह्य देवासुरसंग्राम में परमेश्वर-विश्वासियों की विजय होती है और विजय से उन्हें दिव्य तथा भौतिक धन प्राप्त होते हैं ॥४॥

इस खण्ड में परमेश्वरोपासना का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है यह जानना चाहिए ॥

बारहवें अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ।

॥२॥ अथ 'अग्ने युङ्क्ष्वा' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भारद्वाजो बार्हस्पत्यः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २५ क्रमाङ्के परमात्मानं सम्बोधिता । अत्र स्वान्तरात्मा प्रबोध्यते ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ २३ १ २ ३ १ २
१३८३. अग्ने युङ्क्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः । अरं वहन्त्याशवः ॥१॥[4]

१ २र ३ २ १२र १ २र ३ १ २ १२र १२र ३ १ २
अग्ने युङ्क्ष्व हि ये तव । अश्वासः देव साधवः । अरम् वहन्ति आशवः ॥१॥

---

१. ऋ० १।७४।३ ।

२. (धनञ्जयः) यो धनेन जापयति स-इति ऋग्भाष्ये द० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरप्यत्राग्निशब्देन परमेश्वरार्थं गृहीतवान् ।

४. ऋ० ६।१६।४३, य० १३।३६, उभयत्र 'युङ्क्ष्वा', 'वहन्ति मन्यवे' इति पाठः । साम० २५।

पदार्थः— हे **देव** ज्ञानेन प्रकाशमान **अग्ने** देहाधिष्ठातः मदीय अन्तरात्मन् ! **ये तव** ये त्वदीयाः **साधवः** भद्राः, **आशवः** आशुगामिनः, **अश्वासः** मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियरूपाः तुरङ्गाः, **अरम्** अलम्, पर्याप्तम् **वहन्ति** देहरथं चालयन्ति, तान् **युङ्क्ष्व हि** कार्ये योजय खलु ॥१॥[1]

भावार्थः— मनुष्यस्यात्मा यदि सावधानो नास्ति तर्हि तस्य मनइन्द्रियादयोऽश्वाः कुपथगामिनो जायन्ते ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २५ क्रमांक पर परमात्मा को संबोधित की गयी है । यहाँ अपने अन्तरात्मा को संबोधन है ।

पदार्थ— हे **देव** ज्ञान से प्रकाशमान, **अग्ने** देह के अधिष्ठाता मेरे अन्तरात्मन् ! **ये तव** जो तुम्हारे **साधवः** भले **आशवः** शीघ्रगामी **अश्वासः** मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय रूप घोड़े **अरम्** पर्याप्त रूप से **वहन्ति** देह-रथ को चलाते हैं, उन्हें **युङ्क्ष्व** कार्य में तत्पर करो ॥१॥

भावार्थ— मनुष्य का आत्मा यदि सावधान नहीं है तो उसके मन, इन्द्रिय आदि घोड़े कुमार्गगामी हो जाते हैं ॥१॥

अथ परमात्मानं प्रार्थयते ।

१३८४. अच्छा नो याह्या वहाभि प्रयांसि वीतये । आ देवान्त्सोमपीतये ॥२॥[2]

अच्छ नः याहि आ वह । अभि प्रयांसि वीतये ।
आ देवान् सोमपीतये सोम पीतये ॥२॥

पदार्थः— हे अग्ने ! हे परमात्मन् ! त्वम् **नः अच्छ** अस्मान् प्रति **आयाहि** आगच्छ, **वीतये** अस्माकं प्रगतये **प्रयांसि** शान्तरसान् । [प्रयः इति उदकनाम । निघं० १।१२।] **अभि वह** अभि प्रापय, **देवान्** विदुषः **सोमपीतये** वीररसस्य पानाय **आ** आवह ॥२॥[3]

भावार्थः— जगति सर्वे वीरा भूत्वा शान्तिं प्रसारयेयुः ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे अग्ने ! हे परमात्मन् ! आप **नः अच्छ** हमारी ओर **आयाहि** आओ, **वीतये** प्रगति के लिए **प्रयांसि** शान्तरसों को **अभि वह** प्राप्त कराओ, **देवान्** विद्वानों को **सोमपीतये** वीर रस के पान के लिए **आ** प्रेरित करो ॥२॥

भावार्थ— संसार में सब लोग वीर होकर शान्ति का प्रसार करें ॥२॥

---

१. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिममृग्भाष्ये शिल्पविद्याविषये यजुर्भाष्ये च राजविद्याविषये व्याचष्टे ।

२. ऋ० ६।१६।४४ ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं विद्वद्विषये व्याख्यातः ।

एवं परमेश्वरं संप्रार्थ्य पुनर्जीवात्मानमुद्बोधयति ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ २ ३ १ २
१३८५. उदग्ने भारत द्युमदजस्रेण दविद्युतत् । शोचा वि भाह्यजर ॥३॥[1]

२ ३ २ १२र ३ १२र
उत् अग्ने भारत द्युमत् । अजस्रेण अ जस्रेण दविद्युतत् ।

१२र ३
शोच वि भाहि अजर अ जर ॥३॥

पदार्थः— हे **भारत** देहस्य भरणपोषणकर्तः, **अजर** अविनश्वर **अग्ने** जीवात्मन् ! त्वम् **द्युमत्** शोभनीयं यथा स्यात्तथा **अजस्रेण** अविच्छिन्नेन तेजसा **दविद्युतत्** अतिशयेन द्योतमानः सन् । [दाधर्ति० । अ० ७।४।६५ इत्यनेन द्युतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि अभ्यासस्य संप्रसारणाभावः अत्वं विगागमश्च निपात्यते ।] **उत् शोच** उत्साहितो भव, **वि भाहि** विशेषेण यशस्वी भव ॥३॥[2]

भावार्थः— मनुष्यस्यात्मा जागरूको भूत्वा मनोबुद्ध्यादीनधितिष्ठन् तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी सन् स्वकीर्तिं प्रसारयेत् ॥३॥

इस प्रकार परमेश्वर से प्रार्थना करके अब फिर जीवात्मा को उद्बोधन देते हैं ।

पदार्थ— हे **भारत** शरीर का भरण-पोषण करने वाले, **अजर** अविनाशी **अग्ने** जीवात्मन् ! तुम **द्युमत्** शोभनीय रूप से **अजस्रेण** अविच्छिन्न तेज से **दविद्युतत्** अतिशय चमकते हुए **उत् शोच** उत्साहित होवो, **वि भाहि** विशेष यशस्वी होवो ॥३॥

भावार्थ— मनुष्य का आत्मा जागरूक होकर मन, बुद्धि आदि का अधिष्ठातृत्व करता हुआ तेजस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी होता हुआ अपनी कीर्ति फैलाये ॥३॥

॥३॥ अथ 'प्रसुन्वाना०' इत्यादिकस्य तृतीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** प्रजापतिः परमेष्ठी । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५५३ क्रमाङ्के उत्तरार्चिके च ७७४ क्रमाङ्के व्याख्यातपूर्वा । अत्र प्रकारान्तरेण व्याख्यायते ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
१३८६. प्र सुन्वानायान्धसो मर्तो न वष्ट तद्वचः ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥१॥[3]

२ ३ १ २ १ २र १ २र ३ २ १ २र १ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २
प्र सुन्वानाय अन्धसः । मर्तः न वष्ट तत् वचः । अप श्वानम् अराधसम् अ राधसम् ।

३ २ ३ २ १ २र
हत मखम् न भृगवः ॥१॥

पदार्थः— **अन्धसः** ब्रह्मानन्दरूपस्य सोमरसस्य **सुन्वानाय** स्वात्मनि प्रक्षारयित्रे जनाय **प्र** प्रकृष्टं प्रशंसात्मकं वचः प्रोच्चारयत, **मर्तः** तद्भिन्नः साधारणो मर्त्यः **तत् वचः** तत् प्रशंसात्मकं वचनं **न वष्ट** प्राप्तुं न

---

१. ऋ० ६।१६।४५ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं विद्वद्भिर्मनुष्यैः किं कर्तव्यमिति विषये व्याचष्टे ।

३. ऋ० ९।१०१।१३, 'प्र सुन्वानस्यान्धसो मर्तो न वृत तद्वचः' इति पाठः । साम० ५५३, ७७४ ।

कामयते, तत् प्राप्तुं नाधिकारी भवतीत्यर्थः । हे राज्याधिकारिणः ! यूयम् **अराधसम्** परमेश्वरम् अनाराधयन्तम् **श्वानम्** श्वसदृशं लोभादिसक्तं केवलम् उदरम्भरिम् जनम् **अप हत** विनाशयत, **भृगवः** सूर्यरश्मयः **मखं न** यथा व्याप्तम् अन्धकारं विनाशयन्ति तद्वत् । [मख गत्यर्थः, भ्वादिः]॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— यो न परमेश्वरमाराध्नोति न दीनान् जनान् परिचरति, केवलं स्वार्थसाधनपरः पशुभ्योऽपि निकृष्टतरं जीवनं यापयति स राज्याधिकारिभिर्यथायोग्यं दण्डनीयः ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ५५३ क्रमांक पर और उत्तरार्चिक में ७७४ क्रमांक में व्याख्यात हो चुकी है । यहाँ उससे भिन्न व्याख्या प्रस्तुत है ।

पदार्थ— अन्धसः ब्रह्मानन्द-रूप सोमरस को **सुन्वानाय** अपने आत्मा के अन्दर प्रसुत करने वाले मनुष्य के लिए **प्र** प्रशंसात्मक वचन कहो, **मर्तः** उससे भिन्न साधारण मनुष्य **तत् वचः** उस प्रशंसात्मक वचन का **न वष्ट** अधिकारी नहीं है । हे राज्याधिकारियो ! तुम **अराधसम्** परमेश्वर की आराधना न करने वाले, **श्वानम्** श्वान के समान लोभ आदि में आसक्त, केवल पेट भरने में लगे हुए मनुष्य को **अपहत** विनष्ट कर दो, **भृगवः** सूर्य-किरणें **मखं न** जैसे व्याप्त अन्धकार को विनष्ट करती हैं ॥१॥

यहाँ उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— राज्याधिकारियों को चाहिए कि जो न परमेश्वर की आराधना करता है, न दीन जनों की सेवा करता है, केवल स्वार्थ-साधन में लगा हुआ पशुओं से भी अधिक निकृष्ट जीवन बिताता है, उसे यथायोग्य दंडित करें ॥१॥

अथोपासको ब्रूते ।

१३८७. आ जामिरत्के अव्यत भुजे न पुत्र ओण्योः ।
सरज्जारो न योषणां वरो न योनिमासदम् ॥२॥[1]

आ जामिः अत्के अव्यत । भुजे न पुत्रः पुत् त्रः ओण्योः । सरत् जारः न योषणाम् ।
वरः न योनिम् आसदम् आ सदम् ॥२॥

पदार्थः— जामिः अस्माकं बन्धुभूतः सोमः परमेश्वरः । [स नो बन्धुर्जनिता । य० ३२।१० इति स्मरणात् ।] **अत्के** अन्तरात्मनि । अत सातत्यगमने । इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन् । उ० ३।४३ इति कन् प्रत्ययः। 'अततीति अत्कः वायुः आत्मा च' इति दशपाद्युणादिवृत्तिकारः माणिक्यः।] **अव्यत** आव्यत, अस्माभिः आनीयते । [अव-तेर्गत्यर्थात् कर्मणि लङि आडागमाभावे रूपम् ।] **न** यथा **पुत्रः** तनयः **ओण्योः** मातापित्रोः । [ओण्योः इति द्यावा-पृथिवीनामसु पठितम् । निघं० ३।३० । द्यौरृषिः पृथिवि मातः। ऋ० ६।५१।५ इति वचनात् तयोर्मातापितृत्वम्।] **भुजे** बाहौ यथा आनीयते, स च **सरत्** अस्मान् प्रति आगच्छति, **जारः न** सूर्यो यथा **योषणाम्** रात्रिम् **सरत्** गच्छति । [इषिरा योषा युवतिर्दमूना रात्री देवस्य सवितुर्भगस्य (अथ० १९।४९।१) इति वचनाद् रात्रिः सूर्यस्य योषा । आदित्योऽत्र जार उच्यते, रात्रेर्जरयिता । निरु० ३।१६ । सरत् इति सृ गतौ धातोर्लेटि रूपम् ।] अपि च **वरः न** वरः यथा, कन्यां विवाह्य **योनिम्** गृहम् **आसदम्** आसत्तुं **सरत्** आ गच्छति, तद्वत् ॥२॥

---

१. ऋ० ९।१०१।१४ ।

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— पुत्रवज्जायावद् गृहवच्च प्रियं परमेश्वरं प्रेम्णा श्रद्धया च हृदि ध्यात्वा स्तोतारः परमां तृप्तिमानन्दं च लभन्ते ॥२॥

अब उपासक कहता है ।

पदार्थ— **जामिः** हमारा बन्धु परमेश्वर, हमारे द्वारा **अत्के** अन्तरात्मा में **अव्यत** लाया जा रहा है,**न** जैसे **पुत्रः** पुत्र **ओण्योः** माता-पिता की **भुजे** भुजा में लाया जाता है । वह **सरत्** हमारी ओर आ रहा है,**जारः न** जैसे सूर्य **योषणाम्** रात्रि के प्रति **सरत्** आता है, और **वरः न** जैसे वर,कन्या से विवाह करके **योनिम्** घर में **आसदम्** रहने के लिए **सरत्** आता है ॥२॥

यहाँ उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— पुत्र के समान, पत्नी के समान और घर के समान प्रिय परमेश्वर का प्रेम और श्रद्धा से ध्यान करके स्तोता-जन परम तृप्ति तथा आनन्द पाते हैं॥२॥

अथ परमेश्वरस्य महत्त्वमाह ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
१३८८. स वीरो दक्षसाधनो वि यस्तस्तम्भ रोदसी ।
१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
हरिः पवित्रे अव्यत वेधा न योनिमासदम् ॥३॥[1]

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ १२र ३ १ २ १ २र ३ १ २ ३
सः वीरः दक्षसाधनः दक्ष साधनः । वि यः तस्तम्भ रोदसीइति । हरिः पवित्रे अव्यत ।
२ १ २र ३ १ २ ३ १ २र
वेधाः न योनिम् आसदम् आ सदम् ॥३॥

पदार्थः— **सः** असौ **वीरः** कामक्रोधादिशत्रुप्रकम्पकः शूरः सोमः परमेश्वरः । [वीरो वीरयत्यमित्रान्, वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः, वीरयतेर्वा । निरु० १।६।] **दक्षसाधनः** बलसाधनो वर्तते, **यः रोदसी** द्यावापृथिव्यौ **तस्तम्भ** धारयति । **वेधाः न** सूर्य इव सः **हरिः** पापहर्ता सोमः परमेश्वरः **योनिम्** आत्मरूपं गृहम् **आसदम्** आसत्तुम् **पवित्रे** परिपूतेऽन्तःकरणे **अव्यत** आगच्छति ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— यो बलवान् जगदीश्वरः सर्वं जगद्धारयति तस्योपासनेन सीमितशक्तिरपि मानवो महाशक्तिः शत्रुपराजयसमर्थश्च जायते ॥३॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर का महत्त्व वर्णित है ।

पदार्थ— **सः** वह **वीरः** काम, क्रोध आदि शत्रुओं को कम्पायमान करने वाला वीर सोम परमेश्वर **दक्षसाधनः** बल का साधक है, **यः** जो **रोदसी** द्युलोक और भूलोक को **तस्तम्भ** थामे हुए है । **वेधाः न** सूर्य के समान वह **हरिः** पापहर्ता परमेश्वर **योनिम्** आत्मा-रूप घर में **आसदम्** बैठने के लिए **पवित्रे** पवित्र अन्तःकरण में **अव्यत** आता है ॥३॥

यहाँ उपमालंकार है ॥३॥

---

१. ऋ० ९।१०१।१५ ।

भावार्थ– जो बलवान् जगदीश्वर सब संसार को धारण करता है उसकी उपासना से सीमित शक्ति वाला भी मनुष्य महान् शक्ति वाला और शत्रुओं को हराने में समर्थ हो जाता है ।।३।।

।।४।। अथ 'अभ्रातृव्यो' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सोभरिः काण्वः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** काकुभः प्रगाथः (१ ककुबुष्णिक्, २ सतोबृहती)। **स्वरः** १ ऋषभः, २ पञ्चमः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३९९ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र जीवात्मविषयो वर्ण्यते ।

१३८९. अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि। युधेदापित्वमिच्छसे।।१।।[1]

अभ्रातृव्यः अ भ्रातृव्यः अना त्वम् । अनापिः अन् आपिः इन्द्र जनुषा सनात् असि ।
युधा इत् आपित्वम् इच्छसे ।।१।।

पदार्थः– हे **इन्द्र** जीवात्मन् ! त्वम् **सनात्** सदा **जनुषा** जन्मना **अभ्रातृव्यः** अशत्रुः, **अना** अनेतृकः, **अनापिः** अबन्धुश्च **असि** वर्तसे । **युधा इत्** युद्धेनैव **आपित्वम्** बन्धुत्वं शत्रुत्वं वा **इच्छसे** अभिलषसि ।।१।।

भावार्थ– यदा शिशुर्मातुर्गर्भादुत्पद्यते तदा न तस्य कोऽपि शत्रुर्न मित्रं न नेता नापि च बन्धुर्भवति । वृद्धिं गतः सन् सांसारिकवासनाभिर्वासितः स युद्धादिना कमपि शत्रुं कमपि नेतारं कमपि च बन्धुं करोति । युद्धविद्वेषादिकं परित्यज्य तेन सर्वैः सह मैत्रीं कृत्वा परस्परं शान्त्या वर्तनीयम् ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ३९९ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहाँ जीवात्मा का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ– हे जीवात्मन् ! **सनात्** सदा **जनुषा** शरीरधारणरूप जन्म से तू **अभ्रातृव्यः** न शत्रुओं वाला, **अना** न नेता वाला और **अनापिः** न किसी का बन्धु **असि** है, **युधा इत्** युद्ध से ही **आपित्वम्** किसी को बन्धु वा किसी को शत्रु **इच्छसे** मानने लगता है ।।१।।

भावार्थ– जब शिशु माता के गर्भ से जन्म लेता है तब न उसका कोई शत्रु, न नेता, न ही बन्धु होता है । बड़ा होकर सांसारिक वासनाओं से वासित वह युद्ध आदि से किसी को शत्रु, किसी को नेता और किसी को बन्धु बना लेता है । युद्ध, विद्वेष आदि छोड़कर उसे सबके साथ मित्रता करके आपस में शान्ति के साथ रहना चाहिए ।।१।।

अथ परमात्मानं सम्बोधयति ।

१३९०. न की रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः ।
यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित्पितेव हूयसे ।।२।।[2]

न किः रेवन्तम् सख्याय स ख्याय विन्दसे । पीयन्ति ते सुराश्वः ।
यदा कृणोषि नदनुम् सम् ऊहसि । आत् इत् पिता इव हूयसे ।।२।।

---

१. ऋ० ८।२१।१३, अथ० २०।११४।१, साम० ३९९ ।

२. ऋ० ८।२१।१४, अथ० २०।११४।२ ।

पदार्थः— हे इन्द्र ! हे सर्वान्तर्यामिन् जगदीश्वर ! त्वम् **रेवन्तम्** केवलधनवन्तं दानपरोपकारादिरहितं जनम् **सख्याय** सखिभावाय **न किः** न कदापि **विन्दसे** प्राप्नोषि, **ते** केवलधनवन्तो जनाः **सुराश्वः** सुरापानेन प्रमत्ताः इव धनमदप्रमत्ताः सन्तः । [सुरया श्वयति वर्द्धते प्रमत्तो भवति यः स सुराशूः, ते सुराश्वः ।] **पीयन्ति** हिंसन्ति दीनान् जनान् पीडयन्ति ।[पीयतिः हिंसाकर्मा । निरु० ४।२५ ।] **यदा** यस्मिन् काले, त्वम् धनवन्तं जनम् **नदनुम्** स्तोतारम् **कृणोषि** करोषि, तदा **समूहसि** संवहसि, शोभनां स्थितिं प्रापयसि, **आत् इत्** तदनन्तरमेव, तेन त्वम् **पिता इव** जनक इव **हूयसे** स्तूयसे ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— धनं प्राप्य ये जना ऐश्वर्यमदमत्ता नास्तिकाः सन्तो न सत्पात्रेषु धनदानं कुर्वन्ति, न धर्माचारं सेवन्ते, न परमेश्वरमुपासते तेषां धनं धनं न प्रत्युत तत्कृते मृत्युरेव ॥२॥

अगले मन्त्र मे परमात्मा को संबोधन है ।

पदार्थ— हे इन्द्र ! हे सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर ! आप **रेवन्तम्** जिसके पास केवल धन है, दान-परोपकार आदि नहीं है ऐसे मनुष्य को **सख्याय** मित्रता के लिए **न किः** कभी नहीं **विन्दसे** पाते हो । **ते** वे केवल धन वाले लोग **सुराश्वः** मदिरा-पान द्वारा प्रमत्त हुओं के समान धन के मद से प्रमत्त हुए **पीयन्ति** हिंसा करते हैं, सताते हैं। **यदा** जब, आप धनवान् को **नदनुम्** स्तोत्र-नाद गुंजाने वाला स्तोता **कृणोषि** बनाते हो तब **समूहसि** उसे उत्तम स्थिति प्राप्त करा देते हो, **आत् इत्** उसके अनन्तर उससे आप **पिता इव** पिता के समान **हूयसे** बुलाये जाते हो ॥२॥

यहाँ उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ—धन पाकर जो लोग ऐश्वर्य के मद में मस्त नास्तिक होकर न सत्पात्रों में धन का दान करते है, न धर्माचार का सेवन करते हैं, न परमेश्वर को उपासते हैं, उनका धन धन नहीं, किन्तु उनके लिए मौत ही सिद्ध होता है ॥२॥

॥५॥ अथ 'आ त्वा' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषी** मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बृहती । **स्वरः** मध्यमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २४५ क्रमाङ्केऽध्यात्मपरत्वेन राष्ट्रपरत्वेन च व्याख्याता । अत्र सूर्यवर्णन-मुखेन परमात्ममहिमा प्रकाश्यते ।

१३९१. आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये ।
ब्रह्मयुजो हरयइन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥१॥[1]

आ त्वा सहस्रम् आ शतम् । युक्ताः रथे हिरण्यये ।
ब्रह्मयुजः ब्रह्म युजः हरयः इन्द्र केशिनः । वहन्तु सोमपीतये सोम पीतये ॥१॥

१. ऋ० ८।१।२४, साम० २४५ ।

पदार्थः— हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! **हिरण्यये** ज्योतिर्मये **रथे** रंहणशीले आदित्यमण्डले **युक्ताः** नियुक्ताः, **ब्रह्मयुजः** ब्रह्मभिः महद्भिः ग्रहोपग्रहैः युज्यन्ते इति तादृशाः, **केशिनः** प्रकाशमयाः प्रकाशकाश्च, **सहस्रम्** सहस्रसंख्यकाः **हरयः** हरणशीलाः रश्मयः । [युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश (ऋ० ६।४७।१८) इति सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मयः । तेऽस्य युक्ताः, तैरिदं सर्वं हरति । तद् यदेतैरिदं सर्वं हरति तस्माद्धरयः । जै० उ० ब्रा० १।४४।५।] **सोमपीतये** परमानन्दरसस्य पानाय **त्वा** त्वाम् **आवहन्तु** अस्मदन्तिके प्रापयन्तु, **शतं सहस्रम्**[1] शतसहस्रसंख्यकाः हरयः रश्मयः त्वाम् **आ** आवहन्तु अस्मदन्तिके प्रापयन्तु । सूर्यस्तत्किरणाश्चावलोकयितॄणां पुरतः परमात्मन एव महिमानं प्रकाशयन्तीत्येतदभिप्रायेणेदम् उक्तम् ॥१॥

भावार्थः— अग्निवाय्वादित्यनक्षत्रपर्जन्यसरित्सागरादिषु विद्यमानां विभूतिं दृष्ट्वा तन्निर्मातरि जगदीश्वरे श्रद्धां कृत्वा विद्वांसस्तदुपासनेन परमानन्दमनुभवन्ति ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में २४५ क्रमांक पर अध्यात्म और अधिराष्ट्र रूप में की जा चुकी है। यहाँ सूर्य के वर्णन द्वारा परमात्मा की महिमा प्रकाशित करते हैं।

पदार्थ— हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! **हिरण्यये** ज्योतिर्मय **रथे** वेगवान् सूर्यमंडल में **युक्ताः** नियुक्त, **ब्रह्मयुजः** बड़े-बड़े ग्रह-उपग्रहों से जुड़ने वाली, **केशिनः** प्रकाशमान और प्रकाशक **सहस्रम्** हजार **हरयः** किरणें **सोमपीतये** परमानन्द-रस के पान के लिए **त्वा** तुझ जगदीश्वर को **आवहन्तु** हमारे समीप लायें, **शतं सहस्रम्** सौ हजार किरणें तुझे **आ** हमारे समीप लायें। सूर्य और सूर्य की किरणें दर्शकों के सामने परमात्मा की ही महिमा को प्रकाशित करती हैं, इस अभिप्राय से यह कहा गया है ॥१॥

भावार्थ— अग्नि, वायु, सूर्य, तारे, बादल, नदी, समुद्र आदियों में विद्यमान विभूति को देखकर उनके निर्माता जगदीश्वर में श्रद्धा करके विद्वान् लोग उसकी उपासना से परम आनन्द का अनुभव करते हैं॥१॥

अथोपासकः सम्बोध्यते ।

१३९२. आ त्वा रथे हिरण्यये हरी मयूरशेप्या ।
शितिपृष्ठा वहतां मध्वो अन्धसो विवक्षणस्य पीतये ॥२॥[2]

आ त्वा रथे हिरण्यये । हरीइति मयूरशेप्या मयूर शेप्या ।
शितिपृष्ठा शिति पृष्ठा वहताम् मध्वः अन्धसः । विवक्षणस्य पीतये ॥२॥

पदार्थः— हे उपासक ! **हिरण्यये** सुवर्णवज्ज्योतिर्मये **रथे** स्यन्दने **मयूरशेप्या** मयूरशेप्यौ मयूरवर्णौ, हरिताभकृष्णवर्णौ इत्यर्थः **शितिपृष्ठा** शितिपृष्ठौ श्वेतपृष्ठौ **हरी** प्रशस्तौ अश्वौ **त्वा** त्वाम् **विवक्षणस्य** जगद्भारवोढुः इन्द्रस्य जगदीश्वरस्य । [वहेः सन्नन्तस्य कर्तरि ल्युटि रूपम् ।] **मध्वः** मधुरस्य **अन्धसः** आनन्दरसस्य **पीतये** पानाय **आ वहताम्** सार्वजनिकम् उपासनागृहं प्रापयताम् ॥२॥

भावार्थः— उपासकजनाः रथे श्रेष्ठौ तुरगौ नियुज्योपासनागृहं गत्वा परमेश्वरमुपास्यानन्दं प्राप्नुवन्तु ॥२॥

---

१. 'आ त्वा सहस्रम् आ शतम्' इति दुष्क्रमत्वं नाम काव्यदोषो मा भूदित्येतदर्थं पूर्वं 'सहस्रम्' ततश्च 'शतं सहस्रम्' इत्यर्थयोजना कर्तुमुचिता ।

२. ऋ० ८।१।२५ ।

अगले मन्त्र में उपासक को सम्बोधन किया गया है ।

पदार्थ- हे उपासक ! **हिरण्यये** सुनहरे **रथे** रथ में **मयूरशेप्या** मोर के रंग के अर्थात् हरे-काले रंग के, और **शितिपृष्ठाः** श्वेत पीठ वाले **हरी** उत्कृष्ट घोड़े **त्वा** तुझे **विवक्षणस्य** जगत् के भार को वहन करने वाले जगदीश्वर के **मध्वः** मधुर **अन्धसः** आनन्द-रस के **पीतये** पाने के लिए **आ वहताम्** सार्वजनिक उपासना-गृह में पहुँचायें ।।२।।

भावार्थ- उपासक लोग रथ में श्रेष्ठ घोड़ों को जोतकर उपासना-भवन में जाकर परमेश्वर की उपासना करके आनन्द प्राप्त करें ।।२।।

अथ पुनरप्युपासकं सम्बोधयति ।

२ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१३९३. पिबा त्वाऽ३स्य गिर्वणः सुतस्य पूर्वपा इव ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २
परिष्कृतस्य रसिन इयमासुतिश्चारुर्मदाय पत्यते ।।३।।[1]
१ २ र ३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
पिबा तु अस्य गिर्वणः गिः वनः । सुतस्य पूर्वपाः पूर्व पाः इव ।
१ २ र १ २ र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ र १ २ र ३
परिष्कृतस्य परि कृतस्य रसिनः इयम् आसुतिः आ सुतिः चारुः मदाय पत्यते ।।३।।

पदार्थः- हे **गिर्वणः** गीर्भिः परमात्मसंभजनकर्तः उपासक ! त्वम् **परिष्कृतस्य** स्वभावतः संस्कृतस्य **रसिनः** रसवतः **अस्य** एतस्य **सुतस्य** अभिषुतस्य ब्रह्मानन्दरसस्य **पिब** पानं कुरु । कथमिव? **पूर्वपाः**[2] **इव** सूर्यात् पूर्वं भूमिष्ठं जलं पिबतीति पूर्वपाः वायुः स इव । स यथा नदीसमुद्रादीनां जलं पिबति तथा त्वं ब्रह्मानन्दरसं पिबेत्यर्थः । **इयम्** एषा **चारुः** रम्या **आसुतिः** ब्रह्मानन्दरसस्य प्रवाहसन्ततिः **मदाय** उत्साहजननाय **पत्यते** समर्था भवति । [पत ऐश्वर्ये, दिवादिः ४८ इति क्षीरस्वामी] ।।३।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।३।।

भावार्थः- मनुष्यैरुपासनायां मग्नैर्भूत्वा ब्रह्मानन्दरसः पातव्यः ।।३।।

आगे फिर उपासक को सम्बोधन है ।

पदार्थ- हे **गिर्वणः** वाणियों से परमात्मा का भजन करने वाले उपासक ! तू **परिष्कृतस्य** स्वभावतः संस्कृत, **रसिनः** रसीले **अस्य** इस **सुतस्य** अभिषुत किये गए ब्रह्मानन्द-रस का **पिब** पान कर । किस प्रकार ? **पूर्वपाः इव** सूर्य से पहले भूमिष्ठ जल को पीने वाले वायु के समान । अर्थात् जैसे वायु नदी, समुद्र आदि के जल को पीता है, वैसे ही तू ब्रह्मानन्द-रस को पी । **इयम्** यह **चारुः** रमणीय **आसुतिः** ब्रह्मानन्द-रस की धारा **मदाय** उत्साह-प्रदान के लिए **पत्यते** समर्थ है ।।३।।

यहाँ उपमालंकार है ।।३।।

भावार्थ- मनुष्यों को चाहिए कि उपासाना में मग्न होकर ब्रह्मानन्द-रस का पान करें ।।३।।

।।६।। अथ 'आ सोता' इत्यादिकस्य षष्ठस्य द्व्यचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** १ ऋजिश्वा भारद्वाजः, २ ऊर्ध्वसद्मा आङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** काकुभः प्रगाथः (१ विषमा ककुबुष्णिक्, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ ऋषभः, २ पञ्चमः ।।

---

१. ऋ० ८।१।२६ ।

२. पूर्वः सर्वेभ्यो देवेभ्यः प्रथमभावी सन् पिबतीति पूर्वपा वायुः-इति सा० ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५८० क्रमाङ्के परमेश्वराराधनविषये व्याख्याता । अत्र ब्रह्मानन्दविषयो वर्ण्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २१३ १ २ ३ १ २
[1]३९४. आ सोता परि षिञ्चताश्वं न स्तोममप्तुरं रजस्तुरम् । ।
३ १ २ ३ १ २
वनप्रक्षमुदप्रुतम् ॥१॥[1]
२ ३ १ २१ ३ १ २१ १ २१ ३ १ २
आ सोत परि सिञ्चत अश्वम् न स्तोमम् अप्तुरम्
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २१
रजस्तुरम् वनप्रक्षम् वन प्रक्षम् उदप्रुतम् उद प्रुतम् ॥१॥

पदार्थः— हे मनुष्याः ! यूयम् **स्तोमम्** स्तोतव्यम्, **अप्तुरम्** प्राणेषु गतिप्रदातारम्, **रजस्तुरम्** पृथिवीसूर्यादिलोकेषु गतिप्रदातारम्, **वनप्रक्षम्** अरण्यानां वृष्टिजलेन सेक्तारम्, **उदप्रुतम्** उदकानां प्रवाहयितारं सोमं परमात्मानम् **आ सोत** आनन्दरसं आक्षारयत, तं च **अश्वं न** पर्जन्यमिव[2] **परिसिञ्चत** परिवर्षत ॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः- यथा पर्जन्यो भूमिं पयसा सिञ्चति तथैवोपासकैर्ब्रह्मानन्देन स्वात्मा परेषां चात्मा मुहुर्मुहुः सेचनीयः ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ५८० क्रमांक पर परमेश्वर की आराधना के विषय में की गयी थी। यहाँ ब्रह्मानन्द का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ— हे मनुष्यो ! तुम **स्तोमम्** स्तुति करने योग्य, **अप्तुरम्** प्राणों में गति देने वाले, **रजस्तुरम्** पृथिवी, सूर्य आदि लोकों को गति देने वाले, **वनप्रक्षम्** जंगलों को वर्षा-जल से सींचने वाले, **उदप्रुतम्** जलों को बहानेवाले सोम नामक परमात्मा को **आ सोत** दुहो अर्थात् उससे आनन्द-रस प्राप्त करो, और उसे **अश्वं न** बादल के समान **परि सिञ्चत** चारों ओर बरसाओ ॥१॥

यहाँ उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ- जैसे बादल भूमि को जल से सींचता है वैसे ही उपासकों को चाहिए कि ब्रह्मानन्द से अपने तथा दूसरों के आत्मा को पुनः पुनः सींचें ॥१॥

अथ पुनरपि ब्रह्मानन्दविषयमाह ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ २ ३ १ २
१३९५. सहस्रधारं वृषभं पयोदुहं प्रियं देवाय जन्मने ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ २ ३ २ ३ २
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे राजा देव ऋतं बृहत् ॥२॥[3]
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२१ ३ २ ३ १ २ १ २१
सहस्रधारम् सहस्र धारम् वृषभम् पयोदुहम् पयः दुहम् । प्रियम् देवाय जन्मने ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
ऋतेन यः ऋतजातः ऋत जातः विवावृधे वि वावृधे । राजा देवः ऋतम् बृहत् ॥२॥

---

१. ऋ० ९।१०८।७, 'वनक्रक्ष' इति भेदः । साम० ५८० ।
२. दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वं प्र पिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः । ऋ० ५।८३।६ इत्यत्र पर्जन्योऽश्वनाम्ना वर्णितः ।
३. ऋ० ९।१०८।८, 'पयोवृधं' इति भेदः ।

पदार्थः- ऋतजातः सत्ये प्रसिद्धः **यः** सोमो जगदीश्वरः **ऋतेन** सत्येन **वि वावृधे** विशेषेण महिम्ना वर्द्धते, यश्च **राजा** विश्वसम्राट्, **देवः** प्रकाशकः, **ऋतम्** सत्यस्वरूपः, **बृहत्** महांश्च वर्तते, तम् **सहस्रधारम्** सहस्रधारमयम्, **वृषभम्** कामवर्षकम्, **पयोदुहम्** आनन्दरूपस्य पयसः प्रदातारम् **प्रियम्** तृप्तिप्रदं जगदीश्वरम् **देवाय जन्मने** दिव्यजन्मप्राप्तये **आ सोत** आनन्दरसं स्रावयत **परिसिञ्चत** परिवर्षत चेति पूर्वेण सम्बन्धः ॥२॥

भावार्थः- आनन्दरसागारात् परमात्मन आनन्दरसं परिस्राव्य मानवैः स्वात्मा पावनीयः ॥२॥

अस्मिन् खण्डे जीवात्मनः परमात्मनो ब्रह्मानन्दरसस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

अगले मन्त्र में फिर ब्रह्मानन्द का विषय है ।

पदार्थ- ऋतजातः सत्य में प्रसिद्ध **यः** जो सोम जगदीश्वर **ऋतेन** सत्य द्वारा **वि वावृधे** विशेष रूप से महिमा में बढ़ रहा है, और जो **राजा** विश्व का सम्राट्, **देवः** प्रकाशक, **ऋतम्** सत्यस्वरूप तथा **बृहत्** महान् है, उस **सहस्रधारम्** सहस्र धाराओं वाले, **वृषभम्** मनोरथ पूर्ण करने वाले, **पयोदुहम्** आनन्दरूप दूध को दुहने वाले **प्रियम्** तृप्तिप्रदाता जगदीश्वर को **देवाय जन्मने** दिव्य जन्म पाने के लिए **आसोत** दुहो अर्थात् उससे आनन्द-रस प्राप्त करो और उसे **परिसिञ्चत** चारों ओर सींचो । यहाँ 'आसोत, परिसिञ्चत' पद पूर्वमन्त्र से लाये गये हैं॥२॥

भावार्थ- आनन्द-रस के भण्डार परमात्मा से आनन्द-रस परिस्रुत करके मनुष्यों को अपना आत्मा पवित्र करना चाहिए ॥२॥

इस खण्ड में जीवात्मा, परमात्मा और ब्रह्मानन्द-रस का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्वखण्ड के साथ संगति है ॥

बारहवें अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ।

॥७॥ अथ 'अग्निर्वृत्राणि' इत्यादिकस्य सप्तमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्राचार्यविषय उच्यते ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २३ १ २ १ २ ३ १र २र
१३९६. **अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया । समिद्धः शुक्र आहुतः ॥१॥**[1]

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अग्निः वृत्राणि जङ्घनत् । द्रविणस्युः विपन्यया ।
१ २र ३ २ १२र ३
समिद्धः सम् इद्धः शुक्रः आहुतः आ हुतः ॥१॥

पदार्थः- विपन्यया शिष्याणां विनयव्यवहारेण **समिद्धः** प्रदीपितः प्रोत्साहितः, **शुक्रः** पवित्रहृदयः, **आहुतः** शिष्यैः कृतात्मसमर्पणः **अग्निः** विद्यया प्रकाशितः आचार्यः **द्रविणस्युः** शिष्याणां विद्याधनप्रदानकामः सन् तेषाम् **वृत्राणि** दोषान् **जङ्घनत्** भृशं हन्यात् ॥१॥[2]

---

१. ऋ० ६।१६।३४, य० ३३।९, साम० ४ ।

२. दयानन्दस्वामिना मन्त्रेऽस्मिन्नग्निशब्देन ऋग्भाष्ये विद्युदग्निः यजुर्भाष्ये च सूर्याग्निः गृहीतः ।

भावार्थः— गुरूणामेतत् कर्तव्यं यत्ते विद्याप्रदानेन सह शिष्याणां दोषानपि दूरीकुर्युः ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ४ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में की गयी थी । यहाँ आचार्य का विषय कहते हैं ।

पदार्थः- विपन्यया शिष्यों के विनय-व्यवहार से **समिद्धः** प्रोत्साहित, **शुक्रः** पवित्र हृदय वाला, **आहुतः** शिष्यों से आत्मसमर्पण किया हुआ **अग्निः** विद्या से प्रकाशित आचार्य **द्रविणस्युः** शिष्यों को विद्याधन देने का इच्छुक होता हुआ, उनके **वृत्राणि** दोषों को **जङ्घनत्** अतिशय रूप से नष्ट करे ॥१॥

भावार्थ— गुरुओं का यह कर्तव्य है कि वे विद्या देने के साथ-साथ शिष्यों के दोषों को भी दूर करें ॥१॥

अथ पुनराचार्यविषयमाह ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
१३९७. गर्भे मातुः पितुष्पिता विदिद्युतानो अक्षरे । सीदन्नृतस्य योनिमा ॥२॥[1]

१२र ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १२
गर्भे मातुः पितुः पिता । विदिद्युतानः वि दिद्युतानः अक्षरे ।
१२र ३१ २ १२र
सीदन् ऋतस्य योनिम् आ ॥२॥

पदार्थः— यः **मातुः** सावित्र्याः **गर्भे** उदरे स्थितः, यः **पितुः** मम पितुरपि **पिता** द्वितीयजन्मप्रदाता अस्ति, यः **अक्षरे** अविनश्वरे परब्रह्मणि **विदिद्युतानः** विशेषेण प्रकाशमानो विद्यते, यश्च **ऋतस्य** सत्यज्ञानस्य **योनिम्** कारणभूतम् वेदम् **आसीदन्** आसन्नो वर्तते, स मम वृत्राणि दोषान् जङ्घनत् भृशं हन्यादिति पूर्वेण सम्बन्धः ॥२॥[2]

भावार्थः— यः स्वयं सावित्र्या आचार्यस्य च गर्भे स्थित्वा द्विजन्मा जातः स एव विद्वान् सच्चरित्र आचार्यः शिष्यान् विदुषः कर्तुं तेषां दोषांश्चापहर्तुं क्षमते ॥२॥

आगे फिर आचार्य का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ— जो **मातुः** माता सावित्री के **गर्भे** गर्भ में स्थित हो चुका है, जो **पितुः** मेरे पिता का भी **पिता** द्वितीय जन्म देने वाला है, जो **अक्षरे** अक्षर परब्रह्म में **विदिद्युतानः** विशेष रूप से प्रकाशमान है, और जो **ऋतस्य** सत्य ज्ञान के **योनिम्** कारणभूत वेद के **आसीदन्** निकट स्थित है, वह **अग्निः** विद्या से प्रकाशित आचार्य, मेरे **वृत्राणि** दोषों को **जङ्घनत्** अतिशय रूप से नष्ट करे । [यहाँ अग्निः, वृत्राणि, जङ्घनत् पद पूर्वमन्त्र से लाये गये हैं] ॥२॥

भावार्थ— जो स्वयं सावित्री और आचार्य के गर्भ में रहकर द्विज हो चुका है वही विद्वान् सच्चरित्र आचार्य शिष्यों को विद्वान् बनाने तथा उनके दोषों को दूर करने में समर्थ होता है ॥२॥

अथ पुनरप्याचार्यविषयो वर्ण्यते ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
१३९८. ब्रह्म प्रजावदा भर जातवेदो विचर्षणे । अग्ने यद्दीदयद्दिवि ॥३॥[3]

१ २र ३ १ २ ३ १२र ३ १२र १ २र ३ १२र ३
ब्रह्म प्रजावत् प्र जावत् आ भर । जातवेदः जात वेदः विचर्षणे वि चर्षणे ।
१ २र ३१ २ ३ २
अग्ने यत् दीदयत् दिवि ॥३॥

---

१. ऋ० ६।१६।३५।

२. दयानन्दस्वामी मन्त्रमिममृग्भाष्ये परमेश्वरपक्षे व्याचष्टे।

३. ऋ० ६।१६।३६।

पदार्थः— हे **विचर्षणे** शिष्याणां हिताहितयोर्द्रष्टः, **जातवेदः** उत्पन्नानां पदार्थानां विद्यानां वा वेत्तः **अग्ने** आचार्यवर ! त्वम् **प्रजावत्** उत्पन्नसृष्टिविज्ञानसहितम् **ब्रह्म** ब्रह्मज्ञानम् **आभर** अस्मभ्यम् आहर, प्रदेहि, **यत् दिवि** द्योतनात्मके अस्माकमात्मनि **दीदयत्** दीप्येत ॥३॥[1]

भावार्थः— गुरवो विद्यार्थिनः सृष्टिविज्ञानेन पदार्थविज्ञानेन भूगोलखगोलादिविज्ञानेन शिल्पविज्ञानेन च सह ब्रह्मविज्ञानमपि शिक्षयेयुः ॥३॥

अगले मन्त्र में भी आचार्य का ही विषय है

पदार्थ— हे **विचर्षणे** शिष्यों का हित-अहित देखने वाले, **जातवेदः** उत्पन्न पदार्थों वा विद्याओं के ज्ञाता **अग्ने** आचार्यवर ! आप, **प्रजावत्** उत्पन्न सृष्टि के विज्ञान से युक्त **ब्रह्म** ब्रह्मज्ञान को **आभर** हमें प्रदान करो, **यत्** जो **दिवि** हमारे तेजस्वी आत्मा में **दीदयत्** चमके ॥३॥

भावार्थ— गुरु लोग विद्यार्थियों को सृष्टिविज्ञान, पदार्थविज्ञान, भूगोल-खगोल आदि के विज्ञान और शिल्पविज्ञान के साथ ब्रह्मविज्ञान भी सिखायें ॥३॥

॥८॥ अथ 'अस्य प्रेषा' इत्यादिकस्याष्टर्चस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५२६ क्रमाङ्के जीवात्मपरमात्मविषये व्याख्याता । अत्र सूर्यवर्णनेन परमात्म-महिमा प्रकाश्यते ।

१३९९. अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो देवो देवेभिः समपृक्त रसम् ।
सुतः पवित्रं पर्येति रेभन् मितेव सद्म पशुमन्ति होता ॥१॥[2]

अस्य प्रेषा हेमना पूयमानः । देवः देवेभिः सम् अपृक्त रसम् ।
सुतः पवित्रम् परि एति रेभन् । मिता इव सद्म पशुमन्ति होता ॥१॥

पदार्थः— **अस्य** पवमानस्य सोमस्य पवित्रतासम्पादिनोऽन्तर्यामिनो जगदीश्वरस्य **प्रेषा** प्रेरणया **हेमना** ज्योतिषा च । [हेमना हेम्ना, अल्लोपाभावश्छान्दसः ।] **पूयमानः** पवित्रीक्रियमाणः, **देवः** प्रकाशकः तापमयः सूर्यः **देवेभिः** प्रकाशकैः सन्तापकैः रश्मिभिः **रसम्** भूम्या उदकम् **समपृक्त** संपृक्ते । **सुतः** वाष्पीकृत्य ऊर्ध्वं प्रेरितः मेघाकारतां गतः स रसः **रेभन्** स्तनयित्नुशब्दं कुर्वन् **पवित्रम्** अन्तरिक्षम् **पर्येति** परिभ्रमति । कथमिव ? **होता** तन्नामा ऋत्विक् **मिता** मितानि निर्मितानि **पशुमन्ति** धेनुयुक्तानि **सद्म इव** सद्मानि गोसदनानि **यथा** गोदुग्धघृतादिप्राप्त्यर्थम् पर्येति तद्वत् ॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं गृहस्थकर्तव्यविषये व्याख्यातः ।

२. ऋ० ९।९७।१, साम० ५२६ ।

भावार्थः— योऽयमादित्यः स्वतापेन भूमिष्ठं सलिलं वाष्पीकृत्यान्तरिक्षे मेघान् रचयति वर्षति च स सर्वोऽपि महिमा परमेश्वरस्यैव ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ५२६ क्रमांक पर जीवात्मा-परमात्मा के विषय में की जा चुकी है। यहाँ सूर्य के वर्णन द्वारा परमात्मा की महिमा प्रकाशित करते हैं।

पदार्थ— **अस्य** इस पवमान सोम अर्थात् पवित्रतादायक अन्तर्यामी जगदीश्वर की **प्रेषा** प्रेरणा से, और **हेमना** ज्योति से **पूयमानः** पवित्र किया जाता हुआ **देवः** प्रकाशक वा तापमय सूर्य **देवेभिः** प्रकाशक वा संतापक किरणों द्वारा **रसम्** भूमि के जल से **समपृक्त** संपर्क करता है। **सुतः** भाप बनाकर ऊपर प्रेरित किया हुआ तथा मेघ के आकार को प्राप्त हुआ वह जल **रेभन्** विद्युद्गर्जना करता हुआ **पवित्रम्** अन्तरिक्ष में **पर्येति** परिभ्रमण करता है, **इव** जैसे **होता** होता नामक ऋत्विज् **मिता** निर्माण किये हुए **पशुमन्ति** धेनुओं से युक्त **सद्म** गो-सदनों में, गोदुग्ध पाने के लिए **पर्येति** चक्कर काटा करता है ॥१॥

यहां उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— जो यह सूर्य अपने ताप से भूमि पर स्थित जल को भाप बनाकर अन्तरिक्ष में बादलों को रचता और बरसाता है वह सब परमेश्वर की ही महिमा है ॥१॥

अथ मानवमुद्बोधयति ।

१४००. भद्रा वस्त्रा समन्या३ वसानो महान् कविर्निवचनानि शंसन् ।
आ वच्यस्व चम्वोः पूयमानो विचक्षणो जागृविर्देववीतौ ॥२॥[1]

भद्रा वस्त्रा समन्या वसानः । महान् कविः निवचनानि नि वचनानि शंसन् ।
आ वच्यस्व चम्वोः पूयमानः ।
विचक्षणः वि चक्षणः जागृविः देववीतौ देव वीतौ ॥२॥

पदार्थः— हे मानव ! **समन्या** समन्यानि संग्रामयोग्यानि । [समनम् इति संग्रामनाम । निघं० २।१७।] **भद्रा** भद्राणि **वस्त्रा** वस्त्राणि **वसानः** धारयन्, **महान्** महत्त्वशाली, **कविः** विद्वान्, **निवचनानि** स्तोत्राणि **शंसन्** कीर्तयन् **चम्वोः** आत्ममनसोः **पूयमानः** पवित्रीक्रियमाणः, **विचक्षणः** दूरद्रष्टा, **देववीतौ** परमात्मपूजायाम् **जागृविः** जागरूकः त्वम् **आ वच्यस्व** समन्ततः प्रशंसां प्राप्नुहि । [वचेः सम्प्रसारणाभावश्छान्दसः] ॥२॥

भावार्थः— विघ्नैर्विपद्भिश्च परिपूर्णत्वात् संग्रामकल्पे जीवने मानवो हृदि वीरभावान् निधाय वीरोचितं वेशभूषादिकं संधार्य वीरोचितानि कार्याणि कुर्वन् जागरूको मनसा पवित्रः परमेश्वरपूजकश्च सन् यशस्वी भवेत् ॥२॥

अगले मन्त्र में मानव को उद्बोधन दिया गया है ।

---

१. ऋ० ९।९७।२ ।

पदार्थ– हे मानव ! **समन्या** संग्राम के योग्य, **भद्रा** उत्तम **वस्त्र** वस्त्रों को **वसानः** पहनता हुआ, **महान्** महान्, **कविः** विद्वान्, **निवचनानि** स्तोत्रों का **शंसन्** कीर्तन करता हुआ, **चम्वोः** आत्मा और मन में **पूयमानः** पवित्र किया जाता हुआ, **विचक्षणः** दूरद्रष्टा, **देववीतौ** परमात्मा की पूजा में **जागृविः** जागरूक तू **आवच्यस्व** चारों ओर प्रशंसा प्राप्त कर ।।२।।

भावार्थ– विघ्नों और विपदाओं से भरे होने के कारण संग्राम-तुल्य जीवन में मनुष्य हृदय में वीर-भाव रखकर, वीरोचित वेशभूषा आदि धारण कर, वीरोचित कार्यों को करता हुआ, जागरूक, पवित्र मन वाला और परमेश्वर का पूजक होता हुआ यशस्वी बने ।।२।।

अथ विद्वानुच्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
१४०१. समु प्रियो मृज्यते सानो अव्ये यशस्तरो यशसां क्षैतो अस्मे ।
३ १ २३ १ २ ३१ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २
अभि स्वर धन्वा पूयमानो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।।३।।[1]

२ ३ २ ३ १२र १ २र ३१ २ ३१ २ १२र ३ १ २
सम् उ प्रियः मृज्यते सानौ अव्ये । यशस्तरः यशसाम् क्षैतः अस्मेइति ।
३ २ ३ १२र ३१ २ ३२ ३ ३१ २ ३ १ २ १२र ३
अभि स्वर धन्व पूयमानः । यूयम् पात स्वस्तिभिः सु अस्तिभिः सदा नः ।।३।।

पदार्थः– हे विद्वन् ! **क्षैतः** क्षितिः पृथिवी तस्यां विद्यमानः, **यशसाम्** यशस्विनां मध्ये **यशस्तरः** यशस्वितरः **प्रियः** सर्वेषां स्नेहभाजनभूतो भवान् **अस्मे** अस्मदर्थम् **अव्ये सानौ** राष्ट्रभूमेः उच्चपदे । [अविः पृथिवी तस्या इदम् अव्यम्।] **सं मृज्यते उ** अलङ्क्रियते अभिषिच्यते वा । **पूयमानः** पवित्रीक्रियमाणः त्वम् **धन्व** अन्तरिक्षम् । [धन्व इति अन्तरिक्षनाम । निघं० १।३ । धन्व अन्तरिक्षं धन्वन्त्यस्मादापः निरु० ५।५।] **अभि स्वर** अभिशब्दय, जयघोषैरन्तरिक्षमापूरयेत्यर्थः । [स्वृ शब्दोपतापयोः, भ्वादिः।] हे विद्वांसः ! **यूयम् स्वस्तिभिः** कल्याणैः **नः** अस्मान् राष्ट्रवासिनः **सदा** नित्यम् **पात** रक्षत ।।३।।

भावार्थः– राष्ट्रे पवित्राचरणा विद्वांस एवोच्चपदेषु प्रतिष्ठापनीयाः ।।३।।

अगले मन्त्र में विद्वान् को कहा गया है ।

पदार्थ– हे विद्वन् ! **क्षैतः** भूमि के निवासी, **यशसाम्** यशस्वियों के मध्य **यशस्तरः** अत्यधिक यशस्वी, **प्रियः** सबके प्रिय आप **अस्मे** हमारे लिए **अव्ये सानौ** राष्ट्र भूमि के उच्चपद पर **संमृज्यते उ** अलंकृत वा अभिषिक्त किये जा रहे हो । **पूयमानः** पवित्र किये जाते हुए आप **धन्व** अन्तरिक्ष को **अभि स्वर** जयघोषों से गुंजा दो । हे विद्वानो ! **यूयम्** आप लोग **स्वस्तिभिः** कल्याणों से **नः** हम राष्ट्रवासियों की **सदा** हमेशा **पात** रक्षा करते रहो ।।३।।

भावार्थ– राष्ट्र में पवित्र आचरण वाले विद्वानों को ही उच्च पदों पर प्रतिष्ठापित करना चाहिए ।।३।।

।।९।। अथ 'एतो न्विन्द्रं'इत्यादिकस्य नवमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** तिरश्चीराङ्गिरसः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ।।

---

१. ऋ० ९।९७।३ ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३५० क्रमाङ्केऽध्यात्मविषये व्याख्याता । अत्र परमेश्वरस्याचार्यस्य नृपतेश्च विषय उच्यते ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१४०२. एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्धैराशीर्वान् ममत्तु ॥१॥[1]
२ ३ २ १ २ र १ २ र ३ २ ३ १ २ १ २ र ३ ३ ३ २ ३ १ २
आ इत उ नु इन्द्रम् स्तवाम । शुद्धम् शुद्धेन साम्ना । शुद्धैः उक्थैः वावृध्वांसम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ र ३
शुद्धैः आशीर्वान् आ शीर्वान् ममत्तु ॥१॥

पदार्थः— हे सखायः ! **एत उ** आगच्छत खलु, **नु** क्षिप्रम्, यूयं वयं च संभूय **शुद्धेन साम्ना** पवित्रेण स्तोत्रेण **शुद्धम्** पवित्रम् **इन्द्रम्** परमात्मानम् आचार्यं नृपतिं वा **स्तवाम** स्तुयाम । **शुद्धैः उक्थैः** पवित्रैः स्तोत्रैः वेदपाठैर्वा **वावृध्वांसम्** वृद्धं प्रत्येकं स्तोतारं शिष्यं प्रजाजनं वा **आशीर्वान्** आशिषां गोपयसां वा अधिपतिः स परमात्मा, आचार्यः, नृपतिर्वा **शुद्धैः** शुद्धैराशीर्वादैः शुद्धैः गोपयोभिर्वा **ममत्तु** आनन्दयतु ॥१॥

भावार्थः— स्तुताः परमेश्वर,आचार्यो नृपतिश्च स्तोतॄनाशीर्वादप्रदानेन दुग्धघृताद्यैश्वर्यप्रदानेन च वर्धयन्ति ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ३५० क्रमांक पर अध्यात्म विषय में की गयी थी । यहाँ परमेश्वर, आचार्य और राजा का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ— हे साथियो ! **एत उ** आओ, **नु** शीघ्र ही, तुम और हम मिलकर **शुद्धेन साम्ना** शुद्ध स्तोत्र से **शुद्धम्** शुद्ध **इन्द्रम्** परमात्मा, आचार्य वा राजा के **स्तवाम** गुणों का वर्णन करें । **शुद्धैः उक्थैः** शुद्ध स्तोत्रों वा वेदपाठों से **वावृध्वांसम्** वृद्धि को प्राप्त प्रत्येक स्तोता, शिष्य वा प्रजाजन को **आशीर्वान्** आशीर्वादों वा गोदुग्धों का अधिपति वह परमात्मा, आचार्य वा राजा **शुद्धैः** शुद्ध आशीर्वादों वा शुद्ध गोदुग्धों से **ममत्तु** आनन्दित करे ॥१॥

भावार्थ— स्तुति किये गये परमेश्वर, आचार्य और राजा स्तोताओं को आशीर्वाद देकर और दूध, घी आदि ऐश्वर्य देकर बढ़ाते हैं ॥१॥

अथ पुनः परमेश्वराचार्यनृपतीनां विषयमाह ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१४०३. इन्द्र शुद्धो न आ गहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः ।
३ २ ३ १ र २ र ३ १ २
शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्य ॥२॥[2]
१ २ र ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्र शुद्धः नः आ गहि । शुद्धः शुद्धाभिः ऊतिभिः ।
३ २ ३ २ ३ २ ३
शुद्धः रयिम् नि धारय । शुद्धः ममद्धि सोम्य ॥२॥

---

१. ऋ० ८।९५।७, 'शुद्ध आशीर्वान्' इति भेदः । साम० ३५० ।
२. ऋ० ८।९५।८, 'सोम्यः' इति भेदः ।

पदार्थः— हे **इन्द्र** परमेश्वर आचार्य नृपते वा ! **शुद्धः** पवित्रः त्वम् **नः** अस्मान् **आ गहि** आगच्छ, **शुद्धः** पवित्रः त्वम् **शुद्धाभिः** पवित्राभिः **ऊतिभिः** रक्षाभिः सह आगच्छ । **शुद्धः** पवित्रः त्वम्, अस्मासु **रयिम्** आध्यात्मिकं भौतिकं च ऐश्वर्यम् **नि धारय** निधेहि । **शुद्धः** पवित्रः त्वम्, हे **सोम्य** सौम्य परमेश्वर आचार्य नृपते वा ! अस्मान् **ममद्धि** आनन्दय ॥२॥

भावार्थः— यः स्वयं ज्ञानेन, शरीरेण, मनसा, वाचा, कर्मणा च शुद्धः स एवान्यान् शुद्धान् कर्तुं पारयति ॥२॥

अगले मन्त्र में भी परमेश्वर, आचार्य और राजा का ही विषय है ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** परमेश्वर, आचार्य वा राजन् ! **शुद्धः** शुद्ध आप **नः** हमारे पास **आ गहि** आओ, **शुद्धः** शुद्ध आप **शुद्धाभिः** शुद्ध **ऊतिभिः** रक्षाओं के साथ आओ । **शुद्धः** शुद्ध आप, हमें **रयिम्** आध्यात्मिक वा भौतिक ऐश्वर्य **नि धारय** प्राप्त कराओ । **शुद्धः** शुद्ध आप, हे **सोम्य** सौम्य परमेश्वर, आचार्य वा राजन् ! **अस्मान्** हमें **ममद्धि** आनन्दित करो ॥२॥

भावार्थ— जो स्वयं ज्ञान, शरीर, मन, वचन और कर्म से शुद्ध है वही दूसरों को शुद्ध कर सकता है ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १र २र ३ १ २
१४०४. **इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे ।**
३ २ ३ १ २ ३ १र २र
शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि ॥३॥[1]

१ २र ३ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ १ २
इन्द्र शुद्धः हि नः रयिम् । शुद्धः रत्नानि दाशुषे ।
३ २ ३ १ २ ३ २ १ २र ३
शुद्धः वृत्राणि जिघ्नसे । शुद्धः वाजम् सिषाससि ॥३॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** जगदीश्वर आचार्य नृपते वा ! **शुद्धः हि** पवित्रः खलु, त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **रयिम्** विद्याधनधान्यारोग्याद्यैश्वर्यम् ददासि । **शुद्धः** पवित्रः त्वम् **दाशुषे** आत्मसमर्पणं परोपकारं वा कुर्वते **रत्नानि** रमणीयानि अहिंसासत्यादीनि भौतिकानि वा रत्नानि प्रयच्छसि। [रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम् इति यास्कः। निरु० ७।१५।] **शुद्धः** पवित्रस्त्वम् **वृत्राणि** विघ्नान् शत्रून् वा **जिघ्नसे** हंसि । [हन् हिंसागत्योः, अदादिः, 'बहुलं छन्दसि' अ० २।४।७६ इति शपः श्लुर्व्यत्ययेनात्मनेपदं च ।] **शुद्धः** पवित्रस्त्वम् **वाजम्** बलम् **सिषाससि** दातुमिच्छसि । [षणु दाने, सनि रूपम्]॥३॥

भावार्थः— परमेश्वर आचार्यो राजा च ज्ञानेन कर्मणा चरित्रेण च शुद्धाः सन्त एव विद्यासत्याहिंसारोग्यधनबलादिप्रदानं विघ्नदोषशत्र्वादिनाशनं च कर्तुं क्षमन्ते ॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्ममहिमवर्णनादाचार्यस्य नृपतेश्चापि गुणवर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

---

१. ऋ० ८।९५।९ ।

आगे फिर वही विषय कहा गया है ।

पदार्थ– हे **इन्द्र** जगदीश्वर, आचार्य वा राजन् ! **शुद्धः हि** शुद्ध आप **नः** हमें **रयिम्** विद्या, धन, धान्य, आरोग्य आदि का ऐश्वर्य देते हो । **शुद्धः** पवित्र आप **दाशुषे** आत्मसमर्पण करने वाले वा परोपकार करने वाले को **रत्नानि** अहिंसा, सत्य आदि रत्नों को वा भौतिक रत्नों को देते हो । **शुद्धः** शुद्ध आप **वृत्राणि** विघ्न, दोष वा शत्रुओं को **जिघ्नसे** नष्ट करते हो । **शुद्धः** शुद्ध आप **वाजम्** बल **सिषाससि** देना चाहते हो ।।३।।

भावार्थ– परमेश्वर, आचार्य और राजा ज्ञान, कर्म और चरित्र से शुद्ध होते हुए ही विद्या, सत्य, अहिंसा, आरोग्य, धन, बल आदि देने और विघ्न, दोष, शत्रु आदि का विनाश करने में समर्थ होते हैं।।३।।

इस खण्ड में परमात्मा की महिमा तथा आचार्य और राजा के गुण-कर्मों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

द्वादश अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ।

।।१०।। अथ अग्ने स्तोममित्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सुतम्भर आत्रेयः । **देवता** अग्निः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ परमात्मस्तुतिविषयमाह ।

१४०५. **अग्ने॑ स्तो॒मं मनामहे सिध्रमद्य दिविस्पृशः । देवस्य द्रविणस्यवः ।।१।।**[1]

अग्नेः स्तोमम् मनामहे । सिध्रम् अद्य अ द्य दिविस्पृशः दिवि स्पृशः ।

देवस्य द्रविणस्यवः ।।१।।

पदार्थः– **द्रविणस्यवः** धनबलकामाः वयम् । [द्रविणः धनं बलं वा कामयन्ते ये ते द्रविणस्यवः । द्रविणस् शब्दाद् आत्मन इच्छायामर्थे क्यचि 'क्याच्छन्दसि' अ० ३।२।१७० इति उ प्रत्ययः।] **अद्य** अस्मिन् दिने **दिविस्पृशः** दिवि तेजसि स्पर्शयति प्रवेशयति यः तस्य **देवस्य** तेजस्विनः **अग्नेः** अग्रनायकस्य परमात्मनः **सिध्रम्** स्वभावसिद्धम् **स्तोमम्** गुणसमूहम् **मनामहे** मुहुर्मुहुर्गायामः । [म्ना अभ्यासे, पाघ्राध्मास्थाम्ना० । अ० ७।३ ७८ इति धातोर्मनादेशः, व्यत्ययेनात्मनेपदम्]।।१।।[2]

भावार्थः–परमेश्वरस्योपासनया तदीयगुणगानेन च मनुष्य आध्यात्मिकमैश्वर्यमात्मबलं च प्राप्नोति।।१।।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा की स्तुति का विषय है ।

पदार्थ– **द्रविणस्यवः** धन और बल की कामना वाले हम **अद्य** आज **दिविस्पृशः** तेज में प्रवेश कराने वाले, **देवस्य** तेजस्वी **अग्नेः** अग्रनायक परमात्मा के **सिध्रम्** स्वभाव-सिद्ध **स्तोमम्** गुण-समूह का **मनामहे** बार-बार गान करते हैं।।१।।

भावार्थ– परमेश्वर की उपासना से और उसके गुणगान से मनुष्य आध्यात्मिक ऐश्वर्य तथा आत्मबल प्राप्त कर लेता है ।।१।।

---

१. ऋ० ५।१३।२, 'अग्नेः' इति सविसर्गः पाठः ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं भौतिकाग्निपक्षे व्याख्यातः ।

अथ परमेश्वरोऽस्मभ्यं किं कुर्यादित्याशास्यते ।

१४०६. अग्निर्जुषत नो गिरो होता यो मानुषेष्वा । स यक्षद् दैव्यं जनम् ॥२॥[1]

अग्निः जुषत नः गिरः । होता यः मानुषेषु आ । सः यक्षत् दैव्यम् जनम् ॥२॥

पदार्थः- **अग्निः** अग्रनायकः परमेश्वरः **नः** अस्माकम् **गिरः** स्तुतिवाचः प्रार्थनावाचो वा **जुषत** सेवेत, स्वीकुर्यात् । [जुषी प्रीतिसेवनयोः तुदादिः, विध्यर्थे लङि अडागमाभावः।] **यः** परमेश्वरः **मानुषेषु** मनुष्येषु **होता** (तेषां जीवनयज्ञस्य निष्पादकः सन्) **आ** आवसति । [उपसर्गश्रुत्या योग्यक्रियाध्याहारः ।] **सः** असौ **दैव्यम्** दिव्येषु गुणेषु निष्णातम् **जनम्** विद्वांसम् **यक्षत्** अस्मभ्यं प्रदद्यात् । [यज दानार्थः, सिब्बहुलं लेटि । अ० ३।१।३४ इति सिबागमे रूपम्] ॥२॥[2]

भावार्थः- यस्मिन् राष्ट्रे दिव्यगुणा विद्वांसो जना भवन्ति तद् राष्ट्रं समुन्नतं जायते ॥२॥

अगले मन्त्र में यह कथन है कि परमेश्वर हमारे लिए क्या करे ।

पदार्थ- **अग्निः** अग्रनायक परमेश्वर **नः** हमारी **गिरः** स्तुति वा प्रार्थना की वाणियों को **जुषत** स्वीकार करे **यः** जो परमेश्वर **मानुषेषु** मनुष्यों में **होता** उनके जीवन-यज्ञ का होता बनकर **आ** निवास कर रहा है । **सः** वह दिव्य गुणों में निष्णात **जनम्** विद्वान् जन को **यक्षत्** हमें प्रदान करे ॥२॥

भावार्थ- जिस राष्ट्र में दिव्य गुणों से युक्त विद्वान् मनुष्य होते हैं वह राष्ट्र अत्यन्त उन्नत होता है ॥२॥

अथ परमेश्वरं स्तौति ।

१४०७. त्वमग्ने सप्रथा असि जुष्टो होता वरेण्यः । त्वया यज्ञं वि तन्वते ॥३॥[3]

त्वम् अग्ने सप्रथाः असि । जुष्टः होता वरेण्यः ।
त्वया यज्ञम् वि तन्वते ॥३॥

पदार्थः- **हे अग्ने** अग्रनायक तेजोमय परमात्मन् ! त्वम् **सप्रथाः** यशस्वी । [प्रथ प्रख्याने, सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४।१९० इत्यसुन् । प्रथसा सह वर्तते इति सप्रथाः । जुष्टः प्रियः (जुषी प्रीति सेवनयोः।)] **होता** सुखप्रदाता, **वरेण्यः** सर्वैः वरणीयश्च **असि** विद्यसे । उपासकाः **त्वया** त्वत्साहाय्येन **यज्ञम्** जीवनयज्ञम् **वितन्वते** विस्तारयन्ति ॥३॥[4]

भावार्थः- मानवाः स्वीकीयं जीवनयज्ञं परमयशसः परमेश्वरस्य सहयोगेनैव पूर्णतां नेतुं पारयन्ति ॥३॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर की स्तुति की गयी है ।

---

१. ऋ० ५।१३।३ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वत्पक्षे व्याचष्टे ।

३. ऋ० ५।१३।४ ।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणाऽयमपि मन्त्रो विद्वत्पक्षे व्याख्यातः ।

पदार्थ– हे **अग्ने** अग्रनायक तेजस्वी परमात्मन् ! आप **सप्रथाः** यशस्वी, **जुष्टः** प्रिय, **होता** सुखप्रदाता, और **वरेण्यः** सबसे वरण करने योग्य **असि** हो । उपासक लोग **त्वया** आपकी सहायता से **यज्ञम्** जीवन-यज्ञ को **वितन्वते** फैलाते हैं ।।३।।

भावार्थ– मनुष्य अपने जीवनरूप यज्ञ को परम यशस्वी परमेश्वर के सहयोग से ही पूर्ण कर सकते हैं ।।३।।

।।११।। अथ अभि त्रिपृष्ठमित्यादिकस्यैकादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५२८ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र नृपतेर्जीवात्मनश्च विषय उच्यते ।

१४०८. **आभ त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामङ्गोषिणमवावशंत वाणीः ।**
वना वसानो वरुणो न सिन्धुर्वि रत्नधा दयते वार्याणि ।।१।।[1]

अभि त्रिपृष्ठम् त्रि पृष्ठम् वृषणम् वयोधाम् वयः धाम् ।
अङ्गोषिणम् अवावशन्त वाणीः । वना वसानः वरुणः न सिन्धुः ।
वि रत्नधाः रत्न धाः दयते वार्याणि ।।१।।

पदार्थः– प्रथमो नृपतिपरः। **वाणीः** वाण्यः, प्रजानां वाचः **त्रिपृष्ठम्** त्रीणि पृष्ठानि यस्य तम्-विशः एकं पृष्ठम्, सभासमिती द्वितीयं पृष्ठम्, सेना तृतीयं पृष्ठम् । [स विशोऽनुव्यचलत्, तं सभा च समितिश्च **सेना च** । (अथ० १५।९।१,२) इति वचनात् ।] **वृषणम्** बलवन्तं सुखवर्षकं वा, **वयोधाम्** वयसः अन्नस्य धातारं **प्रदातारम्**। [वयः इत्यन्ननाम । निरु० ६।४।] **अङ्गोषिणम्** सर्वेषु राज्याङ्गेषु कृतनिवासम् । [अङ्गपूर्वाद् वसतेरिन् प्रत्ययः धातोः सम्प्रसारणं च । 'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च राज्याङ्गानि' इत्यमरः (२।८।१८) ।] एतादृशं सोमं नृपतिम् **अभि अवावशन्त** अभि स्तुवन्ति । [वाशृ शब्दे, यङ्लुगन्ताल्लङ् । 'वावशानः वष्टेर्वा वाश्यतेर्वा' इति निरुक्तम् (५।१)।] **वना** वनानि अरण्यानि **वसानः** आच्छादयन् **वरुणः न** अग्निरिव । [त्वमग्ने वरुणो जायसे। ऋ० ५।३।१ इति श्रुतेः । यो वै वरुणः सोऽग्निः' इति च ब्राह्मणम् । (श० ५।२।४।१३)।] **वना** वनानि तेजांसि। [वनमिति रश्मिनाम । निघं० १।५।] **वसानः** धारयन् सं सोमो नृपतिः **सिन्धुः** समुद्र इव इति लुप्तोपमम् **रत्नधाः** रत्नाकरः सन् **वार्याणि** वरणीयानि रत्नानि रमणीयानि ऐश्वर्याणि **वि दयते** विशेषेण प्रजाभ्यो ददाति ।।

द्वितीयो जीवात्मपरः । **त्रिपृष्ठम्** त्रीणि पृष्ठानि ज्ञानकर्मोपासनारूपाणि यस्य तम्, **वृषणम्** बलिनम्, बलवर्षकं वा, **वयोधाम्** वयसः आयुष धारयितारम्, **अङ्गोषिणम्** ईशस्तोमवन्तं सोमं जीवात्मानम् । [आङ्गूषः स्तोमः आघोषः इति यास्कः (निरु० ५।११)] **वाणीः** वेदवाचः **अभि अवावशन्त** स्तुवन्ति, महत्तां वर्णयन्तीत्यर्थः– सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि । आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ।। अथ० २।११।४ इत्यादिभिरुत्साह-प्रदैर्वचोभिरुद्बोधयन्तीत्यर्थः। **वरुणः न** सूर्य इव **वना** तेजांसि **वसानः** धारयन्, **सिन्धुः** रत्नाकरः इव **रत्नधा** रमणीयानां सद्गुणरत्नानां धारयिता स सोमः जीवात्मा **वार्याणि** वारयितव्यानि विघ्नादीनि **विदयते** विशेषेण हिनस्ति ।।१।।

---

१. ऋ० ९।९०।२ 'माङ्गूषाणामवावशन्त', 'सिन्धून् वि' इति भेदः । साम० ५२८ ।

अत्र श्लेषः श्लिष्टोपमा लुप्तोपमा चालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः— यो राजा प्रजा अनुरञ्जयति प्रजा अपि तस्य गुणान् गायन्ति । तथैव यो देहधारी जीवात्मा स्वशक्तिं परिचित्य स्वकीयतेजोभिः सर्वानान्तरान् बाह्यांश्च विघ्नानुन्मूलयति स सर्वत्र विजयते ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ५२८ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहाँ राजा और जीवात्मा का विषय कहते हैं ।

पदार्थ— प्रथम राजा के पक्ष में । **वाणीः** प्रजाओं की वाणियाँ **त्रिपृष्ठम्** प्रजा, सभा-समिति और सेना इन तीन पृष्ठों वाले, **वृषभम्** बलवान् वा सुखवर्षी, **वयोधाम्** अन्न प्रदान करने वाले, **अङ्गोषिणम्** राज्य के सब अंगों में व्याप्त होने वाले राजा को **अभि अवावशन्त** प्रशंसित करती हैं। **वना** जंगलों को **वसानः आच्छादित करते हुए वरुणः न अग्नि** के समान **वना** तेजों को **वसानः** धारण करता हुआ वह राजा **सिन्धुः** समुद्र के समान **रत्नधाः** रत्नों **को धारण** करने वाला होता हुआ **वार्याणि** वरणीय रत्नों अर्थात् रमणीय ऐश्वर्यों को **वि दयते** विशेष रूप से प्रजाओं को प्रदान करता है ।।

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में । **वाणीः** वेदवाणियाँ **त्रिपृष्ठम्** ज्ञान, कर्म, उपासना रूप तीन पृष्ठों वाले, **वृषणम्** बलवान् वा बल बरसाने वाले, **वयोधाम्** आयु को धारण करने वाले, **अङ्गोषिणम्** ईश-स्तुति करने वाले जीवात्मा की **अभि अवावशन्त** स्तुति करती हैं अर्थात् महत्ता वर्णन करती हैं, "तू विद्वान् है, वर्चस्वी है, शरीर-रक्षक है । श्रेष्ठों से मिल, बराबर वालों से आगे बढ़ (अथ० २।११।४)" आदि मन्त्रों से आत्मा को उद्बोधन देती हैं। **वरुणः न** सूर्य के समान **वना** तेजों को **वसानः** धारण करता हुआ, **सिन्धुः** रत्नों के खजाने समुद्र के समान **रत्नधाः** रमणीय सद्गुण रूप रत्नों को धारण करने वाला वह सोम जीवात्मा **वार्याणि** निवारण करने योग्य विघ्न आदियों को **विदयते** विशेष रूप से विनष्ट कर देता है ।।१।।

यहाँ श्लेष, श्लिष्टोपमा और लुप्तोपमा अलंकार हैं।।१।।

भावार्थ— जो राजा प्रजाओं का अनुरञ्जन करता है प्रजा भी उसके गुण गान करती हैं। वैसे ही जो देहधारी जीवात्मा अपनी शक्ति को पहचानकर अपने तेजों से सब आन्तरिक और बाह्य विघ्नों का उन्मूलन करता है वह सर्वत्र विजयलाभ करता है ।।१।।

अथ नृपतिं जीवात्मानं चोद्बोधयति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१४०९. शूरग्रामः सर्ववीरः सहावाञ्जेता पवस्व सनिता धनानि ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्वषाढः साह्वान् पृतनासु शत्रून् ।।२।।[1]
१२र १२र ३ १२र १२र ३ १ २र १ २र ३ १ २र १ २र
शूरग्रामः शूर ग्रामः सर्ववीरः सर्व वीरः सहावान् जेता पवस्व सनिता धनानि ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
तिग्मायुधः तिग्म आयुधः क्षिप्रधन्वा क्षिप्र धन्वा समत्सु स मत्सु ।
१ २र ३ २ १२र १२र
अषाढः साह्वान् पृतनासु शत्रून् ।।२।।

---

१. ऋ० ९।९०।३ ।

पदार्थः— **प्रथमो** नृपतिपरः । हे सोम वीर राजन् ! **शूरग्रामः** शूरो ग्रामो योद्धृसङ्घः यस्य सः, **सर्ववीरः** सर्वे प्रजाजना वीरा यस्य सः, **सहावान्** सहनशीलः, **जेता** विजयशीलः, **धनानि** ऐश्वर्याणि **सनिता** दाता, **तिग्मायुधः** तीक्ष्णशस्त्रास्त्रः, **क्षिप्रधन्वा** आशुधनुष्कः, **समत्सु** युद्धेषु **अषाढः** अनभिभूतः, **पृतनासु** रिपुसेनासु **शत्रून्** रिपून् **साह्वान्** पराजेता, त्वम् । [दाश्वान् साह्वान् मीढ्वाँश्च । अ० ६।१।१२ इति षह मर्षणे इत्येतस्य क्वसौ परस्मैपदमुपधादीर्घत्वमद्विर्वचनमनिट्त्वं च निपात्यते।] **पवस्व** विक्रमस्व । [पवते गतिकर्मा । निघं० २।१४]॥

द्वितीयो जीवात्मपरः । हे सोम जीवात्मन्! **शूरग्रामः** शूरो ग्रामः प्राणसमूहो यस्य सः, **सर्ववीरः** सर्वे मनोबुद्ध्यादयो वीराः यस्य सः, **सहावान्** उत्साहवान्, **जेता** विजयशीलः, **धनानि** सद्गुणरूपाणि ऐश्वर्याणि **सनिता** संभक्ता, **तिग्मायुधः** तिग्मानि तीक्ष्णानि आयुधानि शत्रुभर्जकतेजांसि यस्य सः, **क्षिप्रधन्वा** क्षिप्रप्रणवजपरूपधनुष्कः।[प्रणवो धनुः । मु० २।२।४ इति प्रामाण्यात्।] **समत्सु** आन्तरिकेषु देवासुरसंग्रामेषु **अषाढः** अपराजितः, **पृतनासु** कामक्रोधादीनां सेनासु **शत्रून्** रिपून् **साह्वान्** पराजितवान् त्वम् **पवस्व** क्रियाशीलो भव, स्वात्मानं पुनीहि वा ॥२॥

अत्र श्लेषालङ्कारः। विशेषणानां साभिप्रायत्वात् परिकरोऽपि। एतादृशविलक्षणगुणविराजितस्त्वं चेद् विक्रमं न दर्शयसि क्रियाशीलो न भवसि पवित्राचारो वा न जायसे तर्हीमे गुणा भारभूता एवेत्याशयः ॥२॥

भावार्थः— देहे मनुष्यस्यात्मा राष्ट्रे च राजा यदि शत्रून् पराजित्य योगं क्षेमं च विधत्तस्तर्हि देहस्य राष्ट्रस्य च स्वराज्यमक्षुण्णं जायते ॥२॥

अगले मन्त्र में राजा और जीवात्मा को उद्बोधन देते हैं।

पदार्थ— **प्रथम** राजा के पक्ष में । हे सोम अर्थात् वीर राजन्! **शूरग्रामः** शूर योद्धा-गण वाले, **सर्ववीराः** सब वीर प्रजाओं वाले, **सहावान्** सहनशील, **जेता** विजयशील, **धनानि** ऐश्वर्यों के **सनिता** दाता, **तिग्मायुधः** तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों वाले, **क्षिप्रधन्वा** शीघ्र धनुष वाले, **समत्सु** युद्धों में **अषाढः** परास्त न होने वाले, **पृतनासु** शत्रु-सेनाओं में **शत्रून्** शत्रुओं को **साह्वान्** पराजित करने वाले आप **पवस्व** पराक्रम दिखाओ ॥

द्वितीय जीवात्मा के पक्ष में । हे सोम जीवात्मन्! **शूरग्रामः** शूर प्राण-गण वाला, **सर्ववीरः** जिसके मन, बुद्धि आदि सब वीर हैं ऐसा, **सहावान्** उत्साही, **जेता** विजयशील, **धनानि** सद्गुणरूप ऐश्वर्यों को **सनिता** प्राप्त करने वाला, **तिग्मायुधः** तीक्ष्ण शत्रुदाहक तेजों वाला, **क्षिप्रधन्वा** वेग से चलने वाले प्रणव-जप रूप धनुष वाला, **समत्सु** आन्तरिक देवासुर संग्रामों में **अषाढः** पराजित न होने वाला, **पृतनासु** काम, क्रोध आदि की सेनाओं में **शत्रून्** शत्रुओं को **साह्वान्** पराजित करने वाला तू **पवस्व** क्रियाशील हो अथवा स्वयं को पवित्र रख॥२॥

यहां श्लेषालंकार है । विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर अलंकार भी है । ऐसे विलक्षण गुणों से सुशोभित भी तू यदि विक्रम नहीं दिखाता, क्रियाशील नहीं होता अथवा पवित्र आचरण नहीं रखता तो ये गुण भारस्वरूप ही होंगे यह आशय है ॥२॥

भावार्थ— देह में मनुष्य का आत्मा और राष्ट्र में राजा यदि शत्रूओं को पराजित करके योगक्षेम करते हैं तो देह और राष्ट्र का स्वराज्य अक्षुण्ण रहता है ॥२॥

अथ परमात्मानं राजानं च प्रार्थयते ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
१४१०. **उरुगव्यूतिरभयानि कृण्वन्त्समीचीने आ पवस्वा पुरन्धी ।**
३ १र २र ३ २ ३ २ १र २र ३ २ ३ २ ३ १ २
अपः सिषासन्नुषसः स्वाऽ३र्गाः सं चिक्रदो महो अस्मभ्यं वाजान् ।।३।।[1]
३ १ २ ३ २ ३ १ २र ३ २
उरुगव्यूतिः उरु गव्यूतिः अभयानि अ भयानि कृण्वन् ।
३ २ ३ १ २ २ १ २र १ २र ३ १ २
समचीने सम् ईचीनेइति आ पवस्व पुरन्धी पुरम् धीइति ।
३ २ १ २र ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २र
अपः सिषासन् उषसः स्वः गाः । सम् चिक्रदः महः अस्मभ्यम् वाजान् ।।३।।

पदार्थः- प्रथमः परमात्मपरः । हे सोम सर्वान्तर्यामिन् परमात्मन्! **उरुगव्यूतिः** विस्तीर्णमार्गः विस्तीर्णकार्यक्षेत्रः इत्यर्थः, सर्वेषाम् **अभयानि** भयराहित्यानि **कृण्वन्** कुर्वन् त्वम् **समीचीने** परस्परं संगते **पुरन्धी** द्यावापृथिव्यौ । [पुरन्धी इति द्यावापृथिव्योर्नाम । निघं० ३।३०।] देहपुर्याः धारकौ प्राणापानौ वा **प्राणापानौ वा आ पवस्व** आ पुनीहि । **अपः** उदकानि, **उषसः** प्रभातकान्तीः, **स्वः** सूर्यम्, **गाः** भूमीश्च **सिषासन्** प्रयच्छन् त्वम् । [षणु दाने स्वार्थिकः सन्] **अस्मभ्यम्** अस्मत्कृते **महः वाजान्** महान्ति अन्नधनबलादीनि **संचिक्रदः** आह्वयसि, ददासीत्यर्थः । [संपूर्वः क्रदि आह्वाने रोदने च णिजन्तस्य लुङि रूपम्, अडागमाभावश्छान्दसः]।।

द्वितीयः नृपतिपरः। हे सोम प्रजापालक राजन् **उरुगव्यूतिः** राष्ट्रे यातायाताय विस्तीर्णमार्गाणां निर्मापयिता, तेषु मार्गेषु **अभयानि** भयराहित्यानि **कृण्वन्** कुर्वन् त्वम् **समीचीने** सम्यक् कार्यतत्परौ **पुरन्धी** स्त्रीपुरुषौ **आ पवस्व** सहायतार्थम् आगच्छ । त्वम् **अपः** नदीप्रपातादीनाम् उदकानि, **उषसः** विद्युतः । [उषा वष्टेः कान्तिकर्मणः, उच्छेतेरितरा माध्यमिका । निरु० १२।६। अपोषा अनसः सरत् संपिष्टादह विभ्ययुषी (ऋ० ४।३०।१०) अपासरदुषा अनसः संपिष्टान्मेघाद् बिभ्युषी । निरु० ११।४३।] **स्वः** सूर्यम् **गाः** भूमीश्च **सिषासन्** संभक्तुम् उपयोक्तुम् इच्छन् **अस्मभ्यम्** प्रजाभ्यः **महो वाजान्** महान्ति अन्नधनादीनि **संचिक्रदः** समाह्वय, समानयेत्यर्थः ।।३।।

अत्र श्लेषालङ्कारः ।।३।।

भावार्थः- परमेश्वरेणास्मभ्यं भूम्युदकवायुविद्युत्सूर्यरश्म्यादयः पदार्था निःशुल्कं प्रदत्ताः सन्ति । राज्ञः कर्तव्यमस्ति यत्तान् शिल्पकार्येषूपयुज्य राष्ट्रवासिनः सुखयेत् ।।३।।

अगले मन्त्र में परमात्मा और राजा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ- प्रथम परमात्मा के पक्ष में । हे सोम अर्थात् सर्वान्तर्यामी परमात्मन्! **उरुगव्यूतिः** विस्तीर्ण मार्ग या कार्यक्षेत्र वाले, सबको **अभयानि** निर्भय **कृण्वन्** करने वाले आप **समीचीने** आपस में संगति रखने वाले **पुरन्धी** द्युलोक और भूलोक को तथा देहपुरी के धारणकर्त्ता प्राण-अपान को **आ पवस्व** पवित्र करो । **अपः** जलों को, **उषसः** उषाओं को **स्वः** सूर्य को और **गाः** भूमियों को **सिषासन्** देने वाले आप **अस्मभ्यम्** हमारे लिए **महः वाजान्** महान् अन्न, धन, बल आदि को **सं चिक्रदः** बुलाते हो, प्रदान करते हो ।।

---

१. ऋ० ९।९०।४ ।

द्वितीय राजा के पक्ष में । हे सोम अर्थात् प्रजापालक राजन् ! **उरुगव्यूतिः** राष्ट्र में यातायात के लिए चौड़े मार्ग बनवाने वाले, और उन मार्गों पर अभयानि निर्भयता **कृण्वन्** करने वाले आप **समीचीने** भली-भांति कार्य में तत्पर **पुरन्धी** स्त्री-पुरुषों को **आ पवस्व** सहायता के लिए प्राप्त होवो । आप **अपः** नदी, प्रपात आदि के जलों को, **उषसः** बिजलियों को, **सवः** सूर्य को, और **गाः** भूमियों को **सिषासन्** उपयोग में लाने की योजनायें बनाते हुए **अस्मभ्यम्** हम प्रजाओं के लिए **महः वाजान्** महान्, अन्न, धन आदि **संचिक्रदः** बुलाओ, प्राप्त कराओ ॥३॥

यहां श्लेषालंकार है ॥३॥

भावार्थ- परमेश्वर ने हमारे लिए भूमि, जल, वायु, सूर्य-किरणें आदि पदार्थ बिना मूल्य के दिये हुए हैं। राजा का कर्तव्य है कि उनका शिल्पकार्यों में उपयोग करके राष्ट्रवासियों को सुखी करे ॥३॥

॥१२॥ अथ 'त्वमिन्द्र' इत्यादिकस्य द्वादशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** नृमेधपुरुमेधौ आङ्गिरसौ । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २४८ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता । अत्र युगपत् परमात्मनृपत्याचार्याणां विषयो वर्ण्यते ।

१४११. त्वमिन्द्र यशा अस्यृजीषी शवसस्पतिः ।
त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत्पुर्वनुत्तश्चर्षणीधृतिः ॥१॥[1]
त्वम् इन्द्र यशाः असि । ऋजीषी शवसः पतिः ।
त्वम् वृत्राणि हंसि अप्रतीनि अ प्रतीनि एकः इत् ।
पुरु अनुत्तः अ नुत्तः चर्षणीधृतिः चर्षणि धृतिः ॥१॥

पदार्थः- हे **इन्द्र** परमात्मन् राजन् आचार्य वा ! **त्वम् यशाः** यशस्वी, **ऋजीषी**[2] ऋजुनीतिः, **शवसः पतिः** आत्मबलस्य देहबलस्य विद्याबलस्य वा स्वामी च **असि** वर्तसे । **एकः इत्** अद्वितीयः एव **त्वम् पुरु** पुरुणि बहूनि **अप्रतीनि** अप्रतिद्वन्द्वीनि **वृत्राणि** अज्ञानपापदुःखदुर्व्यसनादीनि **हंसि** विनाशयसि । हे परमात्मन्, राजन्, आचार्य वा ! त्वम् **अनुत्तः** केनापि अप्रेरितः, स्वत एव **चर्षणीधृतिः** मनुष्याणां धारको भवसि ॥१॥

भावार्थः- यथा परमेश्वरो जगदुपकारकैः स्वकार्यैः कीर्तिमान् सन् ऋजुनीत्या सर्वेषां दोषदुःखदुर्व्यसनादीनि हन्ति तथैव नृपतिना गुरुणा च कार्यम् ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में २४८ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में की गयी थी। यहां एक-साथ परमात्मा, राजा और आचार्य का विषय वर्णित करते हैं ।

---

१. ऋ० ८।९०।५, 'शवसस्पते', 'इदनुत्ता चर्षणीधृता' इति भेदः ।
२. (ऋजीषी) ऋजुनीतिः-इति ऋ० ४।१६।१ भाष्ये द० ।

पदार्थ– हे **इन्द्र** परमात्मन्, राजन् वा आचार्य ! **त्वम्** आप **यशाः** यशस्वी, **ऋजीषी** सरल नीति वाले, और **शवसः पतिः** आत्मबल, देहबल वा **विद्याबल** के स्वामी **असि** हो । **एकः इत्** अद्वितीय ही **त्वम्** आप **पुरु** बहुत से **अप्रतीनि** अप्रतिद्वन्द्वी अज्ञान, पाप, दुःख, दुर्व्यसन आदि को **हंसि** विनष्ट करते हो । हे परमात्मन्, राजन् वा आचार्य! आप **अनुत्तः** किसी से प्रेरित किये बिना, स्वतः ही **चर्षणी धृतिः** मनुष्यों को धारण करने वाले होते हो।।१।।

भावार्थ– जैसे परमेश्वर संसार का उपकार करने वाले अपने कार्यों से यशस्वी होता हुआ सरल नीति से सब दोष, दुःख, दुर्व्यसन आदि को नष्ट करता है वैसे ही राजा और गुरु को करना चाहिए ।।१।।

अथ पुनरपि परमात्मानं नृपतिमाचार्यं चाह ।

१४१२. **तमु त्वा नूनमसुर प्रचेतसं राधो भागमिवेमहे ।**
महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र प्र ते सुम्ना नो अश्नवन् ।।२।।[1]

तम् उ त्वा नूनम् असुर अ सुर प्रचेतसम् प्र चेतसम् । राधः भागम् इव ईमहे ।
मही इव कृत्तिः शरणा ते इन्द्र । प्र ते सुम्ना नः अश्नवन् ।।२।।

पदार्थः– हे **असुर प्रशस्तप्राणवन्** दोषाणां प्रक्षेप्तर्वा परमात्मन् नृपते आचार्य वा! [असुशब्दात् प्रशस्तार्थे मत्वर्थीयो रः । यद्वा अस्यति प्रक्षिपति दोषादीनि यः सः । असेरुरन् उ० १।४२ इति अस्यतेः उरन् प्रत्ययः ।] **प्रचेतसम्** प्रकृष्टचित्तम् **तम् उ त्वा** तं प्रसिद्धं त्वाम् **नूनम्** निश्चयेन वयम् **राधः** दिव्यं भौतिकं च ऐश्वर्यम् **विद्यादिधनं** वा **ईमहे** याचामहे । [ईमहे याञ्चाकर्मा । निघं० ३।१९।] कथम्? **भागम् इव** यथा पुत्रः पितुः सकाशात् दायांशं याचते **तथा** । हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् नृपते आचार्य वा ! **ते** तव **कृत्तिः** कीर्तिः । [कृत्तिः कृन्ततेः यशो वा अन्नं वा । निरु० ५।२२।] **शरणा** शरणं च । [सुपां सुलुक्० । अ० ७।१।३९ इति सोराकारादेशः ।] **मही इव** महती पृथिवीव विशाला वर्तते । **ते** तव **सुम्ना** सुम्नानि सुखानि **नः** अस्मान् **अश्नवन्** प्राप्नुवन्तु ।।२।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।२।।

भावार्थः– यथा परमेश्वरो यशस्वी शरणप्रदाता सुखदाता दोषापहारकः प्राणदायको धनदश्चास्ति तथैव नृपतिनाऽऽचार्येण च भाव्यम् ।।२।।

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा, राजा और आचार्य को कहते हैं ।

पदार्थ– हे **असुर** प्रशस्त प्राणों वाले वा दोषों को दूर करने वाले परमात्मन्, राजन् वा आचार्य! **प्रचेतसम्** प्रकृष्ट चित्त वाले **तम् उ त्वा** उन प्रसिद्ध आपसे **नूनम्** निश्चय ही, हम **राधः** दिव्य और भौतिक ऐश्वर्य वा विद्या आदि धन **ईमहे** मांगते हैं, **भागम् इव** जैसे पुत्र पिता से दायभाग माँगता है । हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवान् परमात्मन्, राजन् वा आचार्य! **ते** आपकी **कृत्तिः** कीर्ति, और **शरणा** शरण **मही इव** महती पृथिवी के समान विशाल है । **ते** आपके **सुम्ना सुख नः** हमें **अश्नवन्** प्राप्त हों ।।२।।

---

१. ऋ० ८।९०।६ ।

यहाँ उपमालंकार है ।।२।।

भावार्थ— जैसे परमेश्वर यशस्वी, शरणप्रदाता, सुखदाता, दोष दूर करने वाला, प्राणदाता और धनदाता है वैसे ही राजा और आचार्य को होना चाहिए ।।२।।

।।१३।। अथ 'यजिष्ठं त्वा' इत्यादिकस्य त्रयोदशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सोभरिः काण्वः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** काकुभः प्रगाथः (१ विषमा ककुबुष्णिक्, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ ऋषभः, २ पञ्चमः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ११२ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता । अत्राचार्यविषयो वर्ण्यते ।

१ २ ३ १. २ ३ १ २र३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१४१३. यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारमर्त्यम् । अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ।।१।।[1]

१ २र ३ २ ३ २ १ २र १ २र ३
यजिष्ठम् त्वा ववृमहे । देवम् देवत्रा होतारम् अमर्त्यम् अ मर्त्यम् ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् सु क्रतुम् ।।१।।

पदार्थः— हे अग्ने तेजस्विन् विद्वन्! **यजिष्ठम्** अतिशयेन यष्टारं पञ्चमहायज्ञानां कर्तारं वा, **देवत्रा देवम्** ज्ञानप्रकाशकेषु विद्वत्स्वपि विशिष्टं विद्वांसम्, **होतारम्** सुखस्य प्रदातारम्, **अमर्त्यम्** यशःशरीरेण अमरम्, **अस्य यज्ञस्य** अस्य विद्यायज्ञस्य **सुक्रतुम्** सुकर्तारम् **त्वा** त्वाम्, वयम् विद्यार्थिनः **ववृमहे** आचार्यत्वेन वृणीमहे ।।१।।

भावार्थः— आस्तिको याज्ञिकश्चरित्रवान् शिक्षणकलाकुशलो विद्वानेव जनोऽध्यापनकर्मणि नियोज्यः।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ११२ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में की गयी थी । यहाँ आचार्य का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ— हे अग्नि अर्थात् तेजस्वी विद्वन् ! **यजिष्ठम्** अतिशय परमेश्वरपूजक वा पंचमहायज्ञों को करने वाले, **देवत्रा देवम्** ज्ञान के प्रकाशक विद्वानों में भी विशिष्ट विद्वान्, **होतारम्** सुख-प्रदाता, **अमर्त्यम्** यशःशरीर से अमर, **अस्य यज्ञस्य** इस विद्या-यज्ञ के **सुक्रतुम्** सुकर्ता **त्वा** आपको, हम विद्यार्थी **ववृमहे** आचार्य रूप में वरण करते हैं।।१।।

भावार्थ— आस्तिक, याज्ञिक, चरित्रवान्, शिक्षण कला में कुशल विद्वान् मनुष्य को ही पढ़ाने के काम में लगाना चाहिए ।।१।।

अथ युगपत् परमात्मनृपत्याचार्याणां विषयमाह ।

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१४१४. अपां नपातं सुभगं सुदीदितिमग्निमु श्रेष्ठशोचिषम् ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ उ ३ १ २ ३ २
स नो मित्रस्य वरुणस्य सो अपामा सुम्नं यक्षते दिवि ।।२।।[2]

३ २ १ २र ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र
अपाम् नपातम् सुभगम् सु भगम् सुदीदितिम् सु दीदितिम् ।

३ २ ३ १ २र १ २र ३
अग्निम् उ श्रेष्ठशोचिषम् श्रेष्ठ शोचिषम् ।

२ ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ २ ३ २ ३ २
सः नः मित्रस्य मि त्रस्य वरुणस्य सः अपाम् । आ सुम्नम् यक्षते दिवि ।।२।।

---

१. ऋ० ८।१९।३, साम० ११२ ।

२. ऋ० ८।१९।४ ।

पदार्थः— **अपाम्** उत्कृष्टप्राणानाम् उत्कृष्टकर्मणां वा **नपातम्** अधो न पातयितारम्, **सुभगम्** सुयशसम्, **सुदीदितिम्** शोभनदीप्तिप्रदम् । [दीदयति ज्वलतिकर्मा। निघं० १।१६।] **श्रेष्ठशोचिषम्** उत्तमवर्चसम् **अग्निम् उ** मार्गदर्शकम् परमात्मानं नृपतिम् आचार्यं च वयं ववृमहे वृण्महे इति पूर्वेण सम्बन्धः । **सः** असौ परमात्मा नृपतिराचार्यो वा **मित्रस्य** सूर्यस्य, प्राणस्य वा, **वरुणस्य** वायोः विद्युतोऽपानस्य वा,**सः** असौ परमात्मा नृपतिः आचार्यो वा **अपाम्** उदकानाम्, व्याप्तानां लोकानां, प्राणानां वा **सुम्नम्** सुखम्, सुखकरं ज्ञानम् **नः** अस्माकम् **दिवि** द्योतमाने आत्मनि **आ यक्षते** आगमयेत् । [यजतेर्विध्यर्थे लेटि सिपि प्रथमैकवचने रूपम्] ॥२॥

भावार्थः— यथा जगदीश्वरः सर्वेषामुन्नायको यशस्वी तेजस्वी तेजःप्रदाता सुखयिता ज्ञानप्रदाता चास्ति तथैव नृपतिनाऽऽचार्येण च भाव्यम् ॥२॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मनृपत्याचार्याणां विषयवर्णनादेतस्य खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

अगले मन्त्र में एक साथ परमात्मा, राजा और आचार्य तीनों का विषय है ।

पदार्थ— **अपाम्** उत्कृष्ट प्राणों वा उत्कृष्ट कर्मों को **नपातम्** अधःपतित न करने वाले, **सुभगम्** अत्यधिक यशस्वी, **सुदीदितिम्** उत्कृष्ट तेज देने वाले, **श्रेष्ठशोचिषम्** उत्तम तेज से युक्त **अग्निम् उ** मार्गदर्शक परमात्मा, राजा वा आचार्य को, हम **ववृमहे** वरण करते हैं। **सः** वह परमात्मा राजा वा आचार्य **मित्रस्य** सूर्य वा प्राण के, **वरुणस्य** वायु, बिजली वा अपान के, **सः** वह परमात्मा राजा वा आचार्य **अपाम्** जलों के, व्याप्त लोकों के वा प्राणों के **सुम्नम्** सुख वा सुखदायक ज्ञान को **नः** हमारे **दिवि** तेजोमय जीवात्मा में **आ यक्षते** प्राप्त कराये । [यहाँ 'ववृहमे' पद पूर्व मन्त्र से लाया गया है] ॥२॥

भावार्थ— जैसे जगदीश्वर सबकी उन्नति करने वाला, यशस्वी, तेजस्वी, तेज देने वाला, सुखदाता और ज्ञानप्रदाता है, वैसे ही राजा और आचार्य को भी होना चाहिए ॥२॥

इस खण्ड में परमात्मा, राजा और आचार्य के गुणों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

बारहवें अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ।

॥१४॥ अथ 'यमग्ने' इत्यादिकस्य चतुर्दशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** शुनःशेप आजीगर्तिः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ अग्निनाम्ना जगदीश्वरं स्तौति ।

१ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ २उ ३ १ २ ३ १ २
१४१५. **यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः । स यन्ता शश्वतीरिषः ॥१॥**[1]

२ ३ २ १ २र १ २र १ २र ३ २ १ २र १ २र १ २र
यम् अग्ने पृत्सु मर्त्यम् । अवाः वाजेषु यम् जुनाः । सः यन्ता शश्वतीः इषः ॥१॥

पदार्थः— हे **अग्ने** अग्रनायक तेजस्विन् सर्वान्तर्यामिन् जगदीश्वर! त्वम् **यं मर्त्यम्** यं मनुष्यम् **पृत्सु** देवासुर-संग्रामेषु **अवाः** रक्षेः, **यम्** यं च **वाजेषु**आत्मिकदैहिकसामाजिकबलप्राप्त्यर्थम् । [निमित्तसप्तम्येषा।] **जुनाः**

---

१. ऋ० १।२७।७, य० ६।२९ 'स्वाहा' इत्यधिकम् ।

प्रेरयेः, **सः** असौ **शश्वतीः** बह्वीः । [शश्वदिति बहुनामधेयम् । निघं० ३।१।] **इषः** अध्यात्मसम्पत्तीः **यन्ता** लब्धा स्यात् । [अवाः, जुनाः इति अव रक्षणादौ, जुन गतौ इत्येतयोर्लेटि आडागमे सिपि इकारलोपे रूपम् । यन्ता इत्यत्र यमु उपरमे धातोस्तृन्] ॥१॥[१]

भावार्थः— मनुष्येण विजयार्थमैहिकपारलौकिकसमृद्ध्यर्थं च स्वपुरुषार्थातिरिक्तं परमात्मनः कृपाप्यपेक्ष्यते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में अग्नि नाम से जगदीश्वर की स्तुति है ।

पदार्थ— हे **अग्ने** अग्रनायक, तेजस्वी, सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर! आप **यं मर्त्यम्** जिस मनुष्य की **पृत्सु** देवासुरसंग्रामों में **अवाः** रक्षा करो, **यम्** और जिसे **वाजेषु** आत्मिक, शारीरिक तथा सामाजिक बल की प्राप्ति के लिए **जुनाः** प्रेरित करो, **सः** वह **शश्वतीः** बहुत-सी **इषः** अध्यात्म-संपदाओं को **यन्ता** प्राप्त कर ले ॥१॥

भावार्थ— मनुष्य को विजय के लिए और ऐहिक तथा पारलौकिक समृद्धि के लिए अपने पुरुषार्थ के अतिरिक्त परमात्मा की कृपा भी अपेक्षित होती है ॥१॥

अथ परमेश्वरानुग्रहस्य फलमाह ।

१४१६. न किरस्य सहन्त्य पर्येता कयस्य चित् । वाजो अस्ति श्रवाय्यः ॥२॥[२]

न किः अस्य सहन्त्य । पर्येता परि एता कयस्य चित् । वाजः अस्ति श्रवाय्यः ॥२॥

पदार्थः— हे **सहन्त्य** शत्रूणामभिभवितः अग्ने अग्रणीः परमात्मन् ! **कयस्य**[३] **चित्** युद्धविद्याया ज्ञातुः । [कि ज्ञाने, जुहोत्यादिः । चिकेति जानाति योद्धुं यः स कयः ।] **अस्य** तव स्तोतुः **पर्येता** परिवारकः आक्रमिता वा **न किः** न कश्चिदपि भवति । प्रत्युत **वाजः** सङ्ग्रामः, तस्य **श्रवाय्यः** श्रोतुं योग्यः यशस्करः **भवति** जायते ॥२॥[४]

भावार्थः— यं जगदीश्वरोऽनुगृह्णाति तं सङ्ग्रामे कश्चित् पराजेतुं न क्षमते, प्रत्युत स विजयश्रियं लभते ॥२॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर की कृपा का फल वर्णित है ।

पदार्थ— हे **सहन्त्य** शत्रुओं को तिरस्कृत करने वाले अग्रणी परमात्मन् ! **कयस्य चित्** युद्ध विद्या के ज्ञाता **अस्य** इस आपके स्तोता को **पर्येता** घेरने वाला वा उस पर आक्रमण करने वाला **न किः** कोई नहीं होता, प्रत्युत **वाजः** युद्ध **श्रवाय्यः** उसका यश फैलाने वाला **भवति** होता है ॥२॥

भावार्थ— जिस पर जगदीश्वर कृपा करता है उसे युद्ध में कोई भी हरा नहीं सकता, अपितु वह विजयश्री को प्राप्त करता है ॥२॥

---

१. दयानन्दस्वामी मन्त्रमिममृग्भाष्ये परमेश्वरविषये यजुर्भाष्ये च विद्वद्विषये व्याचष्टे ।

२. ऋ० १।२७।८ ।

३. कयस्य चित् कस्यापि । कयस्य यकारोपजनश्छान्दसः—इति ऋ० १।२७।८ भाष्ये सा० । (कयस्य) यः चिकेति जानाति योद्धुं शत्रून् पराजेतुं स कयः तस्य । अत्र सायणाचार्येण यकारोपजनश्छान्दसः इति भ्रमादेवोक्तम्—इति तत्रैव द० ।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं सेनाध्यक्षविषये व्याख्यातः ।

अथ परमेश्वरं प्रार्थयते ।

१४१७. स वाजं विश्वचर्षणिरर्वद्भिरस्तु तरुता । विप्रेभिरस्तु सनिता ॥३॥[1]

सः वाजम् विश्वचर्षणिः विश्व चर्षणिः । अर्वद्भिः अस्तु तरुता ।

विप्रेभिः वि प्रेभिः अस्तु सनिता ॥३॥

पदार्थः— विश्वचर्षणिः विश्वे सर्वे चर्षणयः मनुष्याः अनुग्राह्या यस्य तथाविधः । [चर्षणयः इति मनुष्यनाम । निघं० २।३। बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् । अ० ६।२।१०६ इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्] **सः** असौ अग्निः अग्रणीः जगदीश्वरः **अर्वद्भिः** आक्रामकैः क्षत्रियैः योद्धृभिः । [ऋ गतौ । ऋच्छति आक्रामतीति अर्वा । स्नामदिपद्यर्तिपॄशकिभ्यो वनिप्। उ० ४।११४ इति वनिप् प्रत्ययः।] **वाजम्** संग्रामम् **तरुता** तारयिता, पारं गमयिता। [ग्रसितस्कभित० । अ० ७।२।३४ इति तरतेस्तृनि उडागमो निपात्यते ।] **अस्तु** भवतु । अपि च, **विप्रेभिः** मेधाविभिर्ब्राह्मणैः **सनिता** ज्ञानादिकस्य प्रदाता **अस्तु** भवतु ॥३॥[2]

भावार्थः— निराकारः परमेश्वरो विप्राणां माध्यमेन ज्ञानदानं, क्षत्रियाणां माध्यमेन रक्षां, वैश्यानां माध्यमेन पोषकद्रव्यप्रदानं कुर्वन् जनानुपकरोति ॥३॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— विश्वचर्षणिः सब मनुष्यों पर अनुग्रह करने वाला **सः** वह अग्रणी जगदीश्वर **अर्वद्भिः** आक्रमणकारी क्षत्रिय योद्धाओं द्वारा **वाजम्** संग्राम को **तरुता** पार कराने वाला **अस्तु** होवे । और, **विप्रेभिः** मेधावी ब्राह्मणों द्वारा **सनिता** ज्ञान आदि को देने वाला **अस्तु** होवे ॥३॥

भावार्थ— निराकार परमेश्वर ब्राह्मणों के माध्यम से ज्ञान का दान, क्षत्रियों के माध्यम से रक्षा, वैश्यों के माध्यम से पोषक पदार्थों का दान करता हुआ मनुष्यों का उपकार करता है ॥३॥

॥१५॥ अथ 'साकमुक्षो' इत्यादिकस्य पञ्चदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** नोधा गौतमः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५३८ क्रमाङ्के सोमौषधिविषये परमात्मप्राप्तिविषये च व्याख्याता । अत्र परमात्मप्राप्तिविषय एव प्रकारान्तरेणोच्यते ।

१४१८. साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुत्रीः ।
हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी ॥१॥[3]

साकमुक्षः साकम् उक्षः मर्जयन्त स्वसारः । दश धीरस्य धीतयः धनुत्रीः ।
हरिः परि अद्रवत् जाः सूर्यस्य सु ऊर्यस्य । द्रोणम् ननक्षे अत्यः न वाजी ॥१॥

---

१. ऋ० १।२७।९ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरिममपि मन्त्रं सेनाध्यक्षपक्षे व्याचष्टे ।

३. ऋ० ९।९३।१, साम० ५३८ ।

पदार्थः— **धीरस्य** ध्यानरतस्य जीवात्मनः **साकमुक्षः** युगपत् ज्ञानसेक्त्र्यः, **स्वसारः** भगिनीवत् प्रियाः, **धनुत्र्यः** प्रीणयित्र्यः **दश** दशसंख्यकाः **धीतयः** प्रज्ञाः— चत्वारो वेदाः षड् वेदाङ्गानि च, **मर्जयन्त** मार्जयन्ति । ततश्च **सूर्यस्य** सूर्यवत् प्रकाशमानस्य प्रकाशकस्य च परमात्मनः **जाः** पुत्रः **हरिः** जीवात्मा **पर्यद्रवत्** परिद्रवति, परमात्मानं प्राप्तुं सक्रियो भवति, किञ्च **अत्यः न** अश्वः इव **वाजी** वेगवान् सः **द्रोणम्** प्राप्तव्यं तं स्वपितृभूतं परमात्मानम् । [द्रूयते प्राप्यते इति द्रोणः। कृवृजॄसिद्रूपन्यनिस्वपिभ्यो नित् । उ० ३।१० इति नः प्रत्ययः, तस्य निद्वद्भावश्च, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ।] **ननक्षे** प्राप्नोति ॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः । द्वितीये पादे धकारानुप्रासः चतुर्थे च नकारानुप्रासः ॥१॥

भावार्थः— वेदवेदाङ्गान्याचार्यात् सम्यगधीत्य ज्ञानवान् नितान्तनिर्मलस्वान्तो जीवोऽभ्युदयं निःश्रेयसं च प्राप्तुं क्षमते ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ५३८ क्रमांक पर सोम ओषधि और परमात्मा की प्राप्ति के विषय में की जा चुकी है । यहाँ परमात्मा की ही प्राप्ति का विषय भिन्न प्रकार से वर्णित है ।

पदार्थ— **धीरस्य** ध्यान में संलग्न जीवात्मा को **साकमुक्षः** एक साथ ज्ञान से सींचने वाली, **स्वसारः** बहिनों के समान प्रिय, **धनुत्र्यः** तृप्ति प्रदान करने वाली **दश** दस **धीतयः** चार वेद और छह वेदांग रूप प्रज्ञाएँ **मर्जयन्त** शुद्ध करती हैं। तब **सूर्यस्य** सूर्य के समान प्रकाशमान और प्रकाशक परमात्मा का **जाः** पुत्र **हरिः** जीवात्मा **पर्यद्रवत्** परमात्मा को पाने के लिए सक्रिय हो जाता है, और **अत्यःन** घोड़े के समान **वाजी** वेगवान् वह **द्रोणम्** प्राप्तव्य उस अपने पिता परमात्मा को **ननक्षे** पा लेता है ॥१॥

यहाँ उपमालंकार है । द्वितीय चरण में धकार का और चतुर्थ में नकार का अनुप्रास है ॥१॥

भावार्थ— वेद-वेदांगों को आचार्य से भलीभाँति पढ़कर ज्ञानी और अत्यन्त निर्मल अन्तःकरण वाला जीव अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है ॥१॥

अथ पुनः परमात्मप्राप्तिविषय एवोच्यते ।

१४१९. सं मातृभिर्न शिशुर्वावशानो वृषा दधन्वे पुरुवारो अद्भिः ।
मर्यो न योषामभि निष्कृतं यन्त्सं गच्छते कलश उस्रियाभिः ॥२॥[1]

सम् मातृभिः न शिशुः वावशानः । वृषा दधन्वे पुरुवारः पुरु वारः अद्भिः ।
मर्यः न योषाम् अभि निष्कृतम् निः कृतम् यन् ।
सम् गच्छते कलशे उस्रियाभिः उ स्रियाभिः ॥२॥

पदार्थः— **वावशानः** कामयमानः, प्रेमाप्लुतः । [वश कान्तौ, लिटः कानच् । चित्त्वादन्तोदात्तः।] **शिशुः** बालः **मातृभिः न** यथा मातृभिः संधार्यते, तद्वत् **वावशानः** परमात्मानं कामयमानः, **वृषा** तं स्वप्रेम्णा सेक्ता

---

१. ऋ० ९।९३।२ ।

पुरुवारः बहून् सद्गुणान् वृणोति यः स सोमो जीवात्मा **अद्भिः** परमात्मनः सकाशादागताभिः आनन्दधाराभिः **सं दधन्वे** संधार्यते । अपि च, **मर्यः न** मर्त्यः पुरुषो यथा **योषाम् अभि** भार्यां प्रति प्रेम्णा याति तथा **निष्कृतम् अभि** सद्गुणकर्मस्वभावैः अलङ्कृतं परमात्मानं प्रति **यन्** गच्छन् स **कलशे** आनन्दकलाभिः परिपूर्णे मोक्षधाम्नि **संगच्छते** संयुज्यते ।।२।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।२।।

भावार्थः— परमात्मानं प्रत्युत्कटं प्रेमोत्कृष्टा श्रद्धा च तत्प्राप्तौ परमं निमित्तं जायते ।।२।।

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा की प्राप्ति का विषय है ।

पदार्थ— वावशानः माँ को चाहता हुआ **शिशुः** शिशु **मातृभिः न** जैसे माताओं से धारण किया जाता है, वैसे ही **वावशानः** परमात्मा को चाहता हुआ, **वृषा** उसे अपने प्रेम से सींचने वाला, **पुरुवारः** बहुत-से सद्गुणों को वरने वाला सोम जीवात्मा **अद्भिः** परमात्मा के पास से आयी हुई आनन्द-धाराओं से **सं दधन्वे** भली-भाँति धारण किया जाता है। और **मर्यः न** मर्त्य पुरुष जैसे **योषाम् अभि** पत्नी के प्रति प्रेम से जाता है वैसे, ही **निष्कृतम् अभि** श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभावों से अलंकृत परमात्मा के प्रति **यन्** जाता हुआ वह **कलशे** आनन्द की कलाओं से परिपूर्ण मोक्षधाम में **संगच्छते** संगत हो जाता है ।।२।।

यहाँ उपमालंकार है ।।२।।

भावार्थ— परमात्मा के प्रति उत्कट प्रेम और उत्कट श्रद्धा उसकी प्राप्ति में बड़े कारण बनते हैं।।२।।

अथोपासकस्यानन्दप्राप्तिर्वर्ण्यते ।

१४२०. ३१र २र ३ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
उत प्र पिप्य ऊधरघ्न्याया इन्दुर्धाराभिः सचते सुमेधाः ।
३ २३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
मूर्धानं गावः पयसा चमूष्वभि श्रीणन्ति वसुभिर्न नित्तैः ॥३॥[1]
३ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २र १ २र ३ २ ३ २
उत प्र पिप्ये ऊधः अघ्न्यायाः अ घ्न्यायाः । इन्दुः धाराभिः सचते सुमेधाः सु मेधाः ।
३ १२ १ २र १ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २र ३ २
मूर्धानम् गावः पयसा चमूषु। अभि श्रीणन्ति वसुभिः न नित्तैः ॥३॥

पदार्थः— **उत** अपि च, जीवात्मरूपं वत्सं दृष्ट्वा **अघ्न्यायाः** जगन्मातृरूपायाः धेनोः **ऊधः** आपीनं यदा **प्र पिप्ये** आनन्दरूपेण पयसा वर्धते, तदा **सुमेधाः** सुप्रज्ञः **इन्दुः** जीवात्मरूपः वत्सः **धाराभिः** आनन्दधाराभिः **सचते** समवेतो जायते । **गावः** ज्ञानेन्द्रियरूपाः क्षीरिण्यः **पयसा** ज्ञानरूपेण दुग्धेन **मूर्धानम्** देहे प्रधानभूतं जीवात्मानम् **चमूषु** प्राणरूपेषु पात्रेषु **अभि श्रीणन्ति** परिपक्वं कुर्वन्ति । [श्रीञ् पाके, क्र्यादिः।] **न** यथा **नित्तैः** शुद्धैः । [णिजिर् शौचपोषणयोः, जुहोत्यादिः ।] **वसुभिः** सूर्यकिरणैः । [वसव आदित्यरश्मयो विवासनात् । निरु० १२।४१।] फलादीनि परिपच्यन्ते ।।३।।

अत्रोपमालङ्कारो निगरणरूपाऽतिशयोक्तिश्च ।।३।।

---

१. ऋ० ९।९३।३ ।

भावार्थः— यथा वत्सः स्वमातुर्धेनोः पयः पिबति तथैवोपासको जगन्मातुरानन्दरसं पिबति ॥३॥

अगले मन्त्र में उपासक की आनन्द-प्राप्ति का वर्णन है ।

पदार्थ— **उत** और, जीवात्मा-रूपी बछड़े को देखकर **अघ्न्यायाः** जगन्मातारूपिणी दुधारू गाय का **ऊधः** ऊधस् **प्र पिप्ये** आनन्दरूप दूध से जब बढ़ जाता है, तब **सुमेधाः** उत्कृष्ट मेधा वाला **इन्दुः** जीवात्मा-रूपी बछड़ा **धाराभिः** आनन्द की धारों से **सचते** संयुक्त हो जाता है । **गावः** ज्ञानेन्द्रिय-रूप गौएँ **पयसा** ज्ञान-रूप दूध से **मूर्धानम्** शरीर के प्रधान जीवात्मा को **चमूषू** प्राण-रूप पतीलों में **अभि श्रीणन्ति** परिपक्व करती हैं, **न** जैसे **निक्तैः** शुद्ध **वसुभिः** सूर्यकिरणों से फल आदि पकते हैं ॥३॥

यहाँ उपमा और निगरणरूप अतिशयोक्ति अलंकार है ॥३॥

भावार्थ— जैसे बछड़ा अपनी माँ गाय का दूध पीता है, वैसे ही उपासक जगन्माता के आनन्द-रस का पान करता है ॥३॥

॥१६॥ अथ 'पिबा सुतस्य' इत्यादिकस्य षोडशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मेध्यातिथिः काण्वः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् २३९ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता । अत्र परमेश्वरः प्रार्थ्यते ।

१४२१ . पिबा सुतस्य रसिनो मत्सा न इन्द्र गोमतः ।
आपिर्नो बोधि सधमाद्ये वृधे ३ऽस्माँ अवन्तु ते धियः ॥१॥[1]

पिब सुतस्य रसिनः । मत्स्व नः इन्द्र गोमतः ।
आपिः नः बोधि सधमाद्ये सध माद्ये वृधे । अस्मान् अवन्तु ते धियः ॥१॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** विघ्नहन्तः सर्वान्तर्यामिन् जगदीश्वर ! त्वम् **रसिनः** रसवतः **सुतस्य** व्यक्तस्य मम प्रेमरसस्य **पिब** आस्वादनं कुरु, **गोमतः** गवाद्यैश्वर्यसम्पन्नान् **नः** अस्मान् **मत्स्व** आनन्दय । **सधमाद्ये** सहयात्रायाम् । [सह भूत्वा अन्योन्यं माद्यन्ति यत्र तस्मिन्।] **वृधे** वर्धनाय **आपिः** बन्धुः सन्, त्वम् **नः** अस्मान् **बोधि** बोधय । **ते** तव **धियः** प्रज्ञाः कर्माणि च **अस्मान्** त्वदुपासकान् **अवन्तु** रक्षन्तु ॥१॥

भावार्थः— वयं चेत् परमात्मनि स्निह्यामस्तर्हि सोऽप्यस्मासु स्निह्यति सद्बुद्धिसत्कर्मादिप्रदानेन चोपकरोति ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २३९ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहाँ परमेश्वर से प्रार्थना कर रहे हैं ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** विघ्नों के विनाशक सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर ! आप **रसिनः** रसीले **सुतस्य** प्रकट हुए मेरे प्रेमरस का **पिब** पान करो, **गोमतः** गाय आदि के ऐश्वर्यों से युक्त **नः** हम लोगों को **मत्स्व** आनन्दित करो ।

---

१. ऋ० ८।३।१, 'सधमाधो' इति भेदः । साम० २३९ ।

सधमादे सहयात्रा में **वृधे** बढ़ाने के लिए **आपिः** बन्धु बने हुए आप **नः** हमें **बोधि** बोध दो । **ते** आपके **धियः** प्रज्ञा और कर्म **अस्मान्** हम उपासकों की **अवन्तु** रक्षा करें ।।१।।

भावार्थ— यदि हम परमात्मा से स्नेह करते हैं तो वह भी हमसे स्नेह करता है और सद्बुद्धि, सत्कर्म आदि देकर हमारा उपकार करता है ।।१।।

अथ पुनरपि परमेश्वरः प्रार्थ्यते ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २
१४२२. **भूयाम ते सुमतौ वाजिनो वयं मा न स्तरभिमातये ।**
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्माञ्चित्राभिरवतादभिष्टिभिरा नः सुम्नेषु यामय ।।२।।[1]

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
भूयाम ते सुमतौ सु मतौ वाजिनः वयम् । मा नः स्तः अभिमातये अभि मातये ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
अस्मान् चित्राभिः अवतात् अभिष्टिभिः । आ नः सुम्नेषु यामय ।।२।।

पदार्थः— हे इन्द्र जगदीश्वर ! **वयम्** तवोपासकाः **वाजिनः** बलवन्तः सन्तः **ते** तव **सुमतौ** सन्मतौ **भूयाम** वर्तिषीमहि, त्वत्तः प्राप्यमाणायाः सुमतेः पात्रतां व्रजेमेत्यर्थः । त्वम् **नः** अस्मान् **अभिमातये**[2] अभिमानाय **मा स्तः**[3] न स्तृणु, न वशीकुरु [स्तृञ् आच्छादने, स्वादिः]।**अस्मान्** स्तोतॄन् **चित्राभिः** अद्भुताभिः **अभिष्टिभिः** अभीष्टाभिः आध्यात्मिकीभिर्भौतिकीभिश्च सम्पद्भिः **अवतात्** रक्षतात् । किञ्च **नः** अस्मान् **सुम्नेषु** दिव्येषु आनन्देषु । [सुम्नमिति सुखनाम । निघं० ३।६ ।] **आ यामय** आयतान् कुरु, रमयेत्यर्थः ।।२।।

भावार्थः— मनुष्यः सुमतिं प्राप्याभिमानं च निरस्य जगदीश्वरेण रक्षितः सन् सुखी जायते ।।२।।

अगले मन्त्र में फिर परमेश्वर से प्रार्थना है ।

पदार्थ— हे इन्द्र जगदीश्वर ! **वयम्** आपके उपासक हम **वाजिनः** बलवान् होते हुए **ते** आपकी **सुमतौ** सुमति में **भूयाम** होवें, अर्थात् आपसे मिलने वाली सुमति के पात्र बनें । आप **नः** हमें **अभिमातये** अभिमान के **मा स्तः** वशीभूत मत होने दो । **अस्मान्** हम स्तोताओं की **चित्राभिः** अद्भुत **अभिष्टिभिः** अभीष्ट आध्यात्मिक और भौतिक संपत्तियों से **अवतात्** रक्षा करो। साथ ही **नः** हमें **सुम्नेषु** दिव्य आनन्दों में **आ यामय** रमाओ।।२।।

भावार्थ— मनुष्य सुमति को पाकर और अभिमान को दूर करके जगदीश्वर से रक्षा किया जाकर सुखी होता है ।।२।।

।।१७।। अथ 'त्रिरस्मै' इत्यादिकस्य सप्तदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** रेणुर्वैश्वामित्रः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** जगती । **स्वरः** निषादः ।।

---

१. ऋ० ८।३।२ ।

२. अभिमातये अभिमन्यत इत्यभिमातिः शत्रुः तस्मै तदर्थम्—इति सा० । अभिमातिः शत्रुः अथवा कश्चिद् रोगः—इति वि० ।

३. मा स्तः मा हिंसीः, स्तृङ् हिंसायाम्, क्र्यादिः, माङि लुङि छान्दसश्च्लेर्लुक्—इति सा० ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५६० क्रमाङ्के स्तोतृविषये व्याख्याता । अत्र सोमयागफलं वर्ण्यते ।

१४२३. त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे सत्यामाशिरं परमे व्योमनि ।
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत ॥१॥[1]

त्रिः अस्मै सप्त धेनवः दुदुह्रिरे ।
सत्याम् आशिरम् आ शिरम् परमेव्योमनि वि ओमनि ।
चत्वारि अन्या अन् या भुवनानि निर्णिजे निः निजे ।
चारूणि चक्रे यत् ऋतैः अवर्धत ॥१॥

पदार्थः— परमे उत्कृष्टे **व्योमनि** विशेषेण रक्षके सोमयागे **अस्मै** यागानुष्ठात्रे **सप्त धेनवः** गायत्र्यादिसप्तच्छन्दस्का वेदवाग्रूपाः गावः **त्रिः** अहनि त्रिवारम्, प्रातःसवने माध्यन्दिनसवने सायंसवने चेत्यर्थः **सत्याम् आशिरम्** सत्यरूपं दुग्धम् **दुदुह्रिरे** दुहन्ति । असौ यागानुष्ठाता **यत्** यदा **ऋतैः** सत्यैः कर्मभिः **अवर्धत** वृद्धिं प्राप्नोति, तदा **निर्णिजे** स्वात्मशोधनाय **चत्वारि** चतुःसंख्यकानि **चारूणि** सुरम्याणि **अन्या भुवनानि** इतरान् लोकान् ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यासरूपान् **चक्रे** स्वात्मने कृणोति, यागकाले गृहस्थः सन् तदुत्तरं वानप्रस्थाश्रमं संन्यासाश्रमं चापि प्रविशतीत्यर्थः ॥१॥

भावार्थः— यागाः स्वात्मशुद्धये सत्यानुष्ठानाय च भवन्ति । जीवने सत्यमानीय ब्रह्मचर्यादीन् संन्यासान्तानाश्रमान् परिपाल्य स्वेषां परेषां च दुःखनिवृत्तिः कार्या॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ५६० क्रमांक पर स्तोता के विषय में हो चुकी है । यहाँ सोमयाग का फल वर्णित है।

पदार्थ— परमे उत्कृष्ट, **व्योमनि** विशेषरूप से रक्षक सोमयाग में **अस्मै** इस यागकर्ता के लिए **सप्त धेनवः** गायत्र्यादि सात छन्दों वाली वेदवाणी रूप गौएं **त्रिः** दिन में तीन बार अर्थात् प्रातः-सवन, माध्यन्दिन-सवन और सायं-सवन में **सत्याम् आशिरम्** सत्यरूप दूध **दुदुह्रिरे** दुहती हैं। वह यागकर्ता **यत्** जब **ऋतैः** सत्य के ग्रहण द्वारा **अवर्धत** वृद्धि प्राप्त करता है, तब **निर्णिजे** आत्मशोधन के लिए **चत्वारि** चार, **चारूणि** सुरम्य **अन्या भुवनानि** अन्य लोकों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास को **चक्रे** अपने लिए निर्धारित कर लेता है अर्थात् याग के काल में गृहस्थ होता हुआ उसके बाद वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में भी प्रविष्ट होता है ॥१॥

भावार्थ— याग आत्मशुद्धि और सत्य के अनुष्ठानार्थ होते हैं। जीवन में सत्य को अपनाकर ब्रह्मचर्य से लेकर संन्यास पर्यन्त आश्रमों का पालन करके अपने और दूसरों के दुःख दूर करने चाहिएँ ॥१॥

---

१. ऋ० ९।७०।१ 'दुदुह्रे सत्यामाशिरं पूर्व्ये व्योमनि' इति पाठः । साम० ५६०।

अथ परमात्मोपासकविषयमाह ।

१४२४. स भक्षमाणो अमृतस्य चारुण उभे द्यावा काव्येना वि शश्रथे ।
तेजिष्ठा अपो मंहना परि व्यत यदी देवस्य श्रवसा सदो विदुः ॥२॥[1]

सः भक्षमाणः अमृतस्य अ मृतस्य चारुणः । उभेइति द्यावा काव्येन वि शश्रथे ।
तेजिष्ठाः अपः मंहना परि व्यत । यदि देवस्य श्रवसा सदः विदुः ॥२॥

पदार्थः- **सः** असौ परमेश्वरोपासकः **चारुणः** रमणीयस्य **अमृतस्य** उपासनाजन्यस्य दिव्यानन्दस्य **भक्षमाणः** सेवनं कुर्वन् **काव्येन** वेदकाव्येन **उभे द्यावा** द्योतमाने उभे अभ्युदयनिः श्रेयसे ज्ञानकर्मणी वा **वि शश्रथे** विश्लेषयति, विश्लिष्य जानातीत्यर्थः । अपि च **मंहना** महत्त्वेन **तेजिष्ठाः अपः** तेजस्वितमानि कर्माणि **परिव्यत** धारयति, जीवनस्याङ्गतां नयतीत्यर्थः **यदि** यानि खलु **सदः** शिष्यभावेन उपसत्तारः विद्यार्थिनः **देवस्य** ज्ञानप्रकाशकस्य आचार्यस्य **श्रवसा** उपदेश-श्रवणेन **विदुः** जानन्ति ॥२॥

भावार्थः- परमात्मोपासनाया इदं फलं यदुपासकः कर्तव्याकर्तव्ये विविच्य प्रशस्तान्येव कर्माण्याचरति न निन्दितानि ॥२॥

आगे परमात्मा के उपासक का विषय है ।

पदार्थ- **सः** वह परमेश्वर का उपासक **चारुणः** सुन्दर **अमृतस्य** उपासनाजन्य दिव्य आनन्द का **भक्षमाणः** सेवन करता हुआ **काव्येन** वेदकाव्य द्वारा **उभे द्यावा** दीप्यमान दोनों अभ्युदय और निःश्रेयस वा ज्ञान और कर्म को **विशश्रथे** विश्लेषणपूर्वक जान लेता है । साथ ही **मंहना** अपने महत्त्व से **तेजिष्ठाः अपः** अतिशय तेजस्वी कर्मों को **परि व्यत** धारण कर लेता है अर्थात् जीवन का अङ्ग बना लेता है **यदि** जिन्हें **सदः** शिष्यभाव से आचार्य के समीप पहुँचने वाले विद्यार्थी **देवस्य** ज्ञान के प्रकाशक आचार्य के **श्रवसा** उपदेश-श्रवण से **विदुः** जाना करते हैं ॥२॥

भावार्थ- परमात्मा की उपासना का यह फल होता है कि उपासक कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेचन करके प्रशस्त कर्मों का ही आचरण करता है, निन्दित का नहीं ॥२॥

अथ परमात्मतेजोविषयमाह ।

१४२५. ते अस्य सन्तु केतवोऽमृत्यवोऽदाभ्यासो जनुषी उभे अनु ।
येभिर्नृम्णा च देव्या च पुनत आदिद्राजानं मनना अगृभ्णत ॥३॥[2]

ते अस्य सन्तु केतवः अमृत्यवः अ मृत्यवः ।
अदाभ्यासः अ दाभ्यासः जनुषीइति उभेइति । अनु येभिः नृम्णा च देव्या च पुनते ।
आत् इत् राजानम् मनना अगृभ्णत ॥३॥

१. ऋ० ९।७०।२, 'भिक्षमाणो' इति भेदः ।
२. ऋ० ९।७०।३ ।

पदार्थः- अस्य सोमस्य परमात्मनः **ते** प्रसिद्धाः **अमृत्यवः** अमरणशीलाः अमारकाः वा, **अदाभ्यासः** दब्धुं पराजेतुमशक्याः **केतवः** तेजोरश्मयः **उभे जनुषी** द्वे अपि जन्मनी, इदं जन्म परं जन्म च **अनु सन्तु** अनुगृह्णन्तु, **येभिः** यैस्तेजोरश्मिभिः **मनना:** मननशीला उपासकाः स्वकीयानि **नृम्णा च** नृम्णानि दैहिकबलेन सम्पाद्यमानानि कर्माणि **देव्या च** आत्मबलेन सम्पाद्यमानानि च कर्माणि **पुनते** पावयन्ति । **आत् इत्** तदनन्तरमेव च **राजानम्** राजमानं परमेश्वरम् **अगृभ्णत** गृह्णन्ति ॥३॥

भावार्थः- परमात्मतेजसां ध्यानेन धारणेन चायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च कर्माणि शुध्यन्ति परमात्मसाक्षात्कारश्च जायते ॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमेश्वरोपासनाविषयस्य सोमयागफलस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के तेज का विषय है ।

पदार्थ- अस्य इस सोम परमात्मा की **ते** वे प्रसिद्ध **अमृत्यवः** अमरणशील वा न मारने वाली, **अदाभ्यासः** पराजित न की जा सकने वाली **केतवः** तेज की किरणें **उभे जनुषी** दोनों जन्मों को अर्थात् इस जन्म तथा अगले जन्म को **अनु सन्तु** अनुगृहीत करें, **येभिः** जिन तेज की किरणों से, **मनना:** मननशील उपासक अपने **नृम्णा च** देह-बल से किये जाने योग्य कर्मों को **दैव्या च** और आत्म-बल से किये जाने योग्य कर्मों को **पुनते** पवित्र कर लेते हैं, **आत् इत्** और उसके अनन्तर ही **राजानम्** तेजस्वी परमेश्वर को **अगृभ्णत्** ग्रहण कर पाते हैं ॥३॥

भावार्थ- परमात्मा के तेजों का ध्यान करने तथा उन्हें धारण करने से यह लोक, परलोक और सब कर्म शुद्ध हो जाते हैं तथा परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है ॥३॥

इस खण्ड में परमेश्वर की उपासना तथा सोमयाग के फल का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ॥

बारहवें अध्याय में पंचम खण्ड समाप्त ।

॥१८॥ अथ 'अभि वायुं' इत्यादिकस्याष्टादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** कुत्स आङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

तत्राद्ये मन्त्रे उपासकं प्रेरयति ।

३ २ ३ २ ३ २र ३ २ २ ३ १र २र ३ १ २
१४ २६. अभि वायुं वी त्यर्षा गृणानो ३ऽभि मि त्रावरुणा पूयमानः ।
३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अभि नरं धीजवनं रथेष्ठामभीन्द्रं वृषणं वज्रबाहुम् ॥१॥[1]
३ १र ३२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ १२र ३ १ २
अभि वायुम् वीती अर्ष गृणानः । अभि मित्रा मि त्रा वरुणा पूयमानः ।
३ २ १२र ३ ३२ ३ १२र ३ २ ३ २
अभि नरम् धीजवनम् धी जव नम् रथेष्ठाम् रथे स्थाम् ।
३ २ १ २र ३२र १ २र १ २र ३
अभि इन्द्रम् वृषणम् वज्र बाहुम् वज्र बाहुम् ॥१॥

---

१. ऋ० ९।९७।४९ ।

पदार्थः— हे सोम शान्तिमय उपासक ! **गृणानः** परमात्मानं स्तुवन् त्वम् **वीती** वीत्या वेगेन **वायुम्** गतिशीलं मनः **अभि अर्ष** परमात्मानं प्रति प्रेरय, **पूयमानः** पवित्रीक्रियमाणः त्वम् **मित्रावरुणा** प्राणापानौ **अभि अर्ष** परमात्मानं प्रति प्रेरय। **धीजवनम्**[1] धियां ध्याने जवनं वेगवन्तम्, **रथेष्ठाम्** देहरथे स्थितम् **नरम्** नेतारं जीवात्मानम् **अभि अर्ष** परमात्मानं प्रति प्रेरय । **वृषणम्** सुखवर्षकम्, **वज्रबाहुम्** शस्त्रास्त्रधारिणं सेनापतिमिव शत्रुविनाशसमर्थम् **इन्द्रम्** परमेश्वरम् **अभि अर्ष** स्वात्मानं प्रति प्रेरय । [अभि इत्यस्यावृत्त्या अर्ष इति क्रियापदं स्वयमेवावर्तते ।] ॥१॥

भावार्थः— मनुष्यो यदा मनो बुद्धिं प्राणापानौ जीवात्मानं च परमात्मानं प्रति प्रेरयति तदा परमात्मा झटिति स्वयमेव तत्सम्मुखमाविर्भवति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में उपासक को प्रेरित किया गया है ।

पदार्थ— हे सोम अर्थात् शान्तिमय उपासक ! **गृणानः** परमात्मा की स्तुति करता हुआ तू **वीती** वेग से **वायुम्** गतिशील मन को **अभि अर्ष** परमात्मा के प्रति प्रेरित कर । **पूयमानः** पवित्र किया जाता हुआ तू **मित्रावरुणा** प्राण-अपान को **अभि अर्ष** परमात्मा के प्रति प्रेरित कर, **धीजवनम्** ध्यान में वेगवान्, **रथेष्ठाम्** देह-रथ में स्थित **नरम्** नेता जीवात्मा को **अभि अर्ष** परमात्मा के प्रति प्रेरित कर । और **वृषणम्** सुखवर्षक, **वज्रबाहुम्** शस्त्रास्त्रधारी सेनापति के समान शत्रुओं के विनाश में समर्थ **इन्द्रम्** परमेश्वर को **अभि अर्ष** अपनी ओर प्रेरित कर ॥१॥

भावार्थ— मनुष्य जब अपने मन, बुद्धि, प्राण-अपान और जीवात्मा को परमात्मा की ओर प्रेरित करता है तब परमात्मा झट स्वयं ही उसके संमुख प्रकट हो जाता है ॥१॥

अथ परमात्मानं प्रार्थयते ।

३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३१ २ ३१ २
१४२७. **अभि वस्त्रा सुवसनान्यर्षाभि धेनूः सुदुघाः पूयमानः ।**
३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अभि चन्द्रा भर्तवे नो हिरण्याभ्यश्वान् रथिनो देव सोम ॥२॥[2]

२ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३१ २ ३ १ २र ३१ २
अभि वस्त्रा सुवसनानि सुवसनानि अर्ष । अभि धेनूः सुदुघाः सु दुघाः पूयमानः ।
३ २ ३ २ १२र ३ १२र
अभि चन्द्रा भर्तवे नः हिरण्या ।
३ २ १ २र ३ १ २ ३
अभि अश्वान् रथिनः देव सोम ॥२॥

पदार्थः— हे **देव** दानादिगुणयुक्त **सोम** जगत्पते परमात्मन् ! त्वम्, अस्मभ्यम् **सुवसनानि** शोभनतया धारणीयानि **वस्त्रा** वस्त्राणि **अभि अर्ष** प्रेरय, **पूयमानः** शोध्यमानः, मनसि विद्यमानेभ्यः कामक्रोधादिभ्यः पृथक्कृत्य पवित्ररूपेण दृश्यमानः त्वम् **सुदुघाः** सुष्ठु दोग्ध्रीः **धेनूः** गाः **अभि अर्ष** प्रेरय।**नः** अस्माकम् **भर्तवे** भरणाय **चन्द्रा** चन्द्राणि रजतानि **हिरण्या** हिरण्यानि च **अभि अर्ष** प्रेरय । अपि च **रथिनः** रथे युज्यमानान् **अश्वान्** तुरङ्गमान् **अभि अर्ष** प्रेरय ॥२॥

---

१. धीजवनं बुद्ध्या समं वेगं कुर्वाणम्-इति सा०।धीर्बुद्धिः तया जवनं वेगवन्तम्, अथवा मनोजवैरश्वैः गन्तारम्-इति वि० ।
२. ऋ० ९।९७।५० ।

भावार्थः— मानवानां समाजे कोऽपि वस्त्रहीनो गोदुग्धहीनो धनहीनो वाहनहीनश्च न तिष्ठेत्, प्रत्युत सर्वेऽपि श्रीमन्तो गुणवन्तश्च भवेयुः ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ— हे **देव** दानादि गुणों से युक्त **सोम** जगत्पति परमात्मन् ! आप हमारे लिए **सुवसनानि** सुन्दरता से धारण करने योग्य **वस्त्रा** वस्त्र **अभि अर्ष** प्रदान करो, **पूयमानः** मन में विद्यमान काम, क्रोध, आदि से पृथक् करके पवित्र रूप में दर्शन किये जाते हुए आप **सुदुघाः** दुधारू **धेनूः** धेनुएँ **अभि अर्ष** प्रदान करो । **नः** हमारे **भर्तवे** भरण-पोषण के लिए **चन्द्रा** चाँदी और **हिरण्या** सुवर्ण **अभि अर्ष** प्रदान करो । साथ ही **रथिनः** रथ में जुड़ने वाले **अश्वान्** घोड़े **अभि अर्ष** प्रदान करो ॥२॥

भावार्थ— मनुष्यों के समाज में कोई वस्त्रहीन, गोदुग्धहीन, धनहीन और वाहनहीन न रहे, प्रत्युत सभी श्रीमान् और गुणवान् होवें ॥२॥

अथ पुनरपि परमात्मानं प्रार्थयते ।

१४२८. **अभी नो अर्ष दिव्या वसून्यभि विश्वा पार्थिवा पूयमानः ।**
अभि येन द्रविणमश्नवामाभ्यार्षेयं जमदग्निवन्नः ॥३॥[1]

अभि नः अर्ष दिव्या वसूनि । अभि विश्वा पार्थिवा पूयमानः ।
अभि येन द्रविणम् अश्नवाम ।
अभि आर्षेयम् जमदग्निवत् जमत् अग्निवत् नः ॥३॥

पदार्थः- हे सोम जगदीश्वर ! त्वम् **नः** अस्मान् **दिव्या वसूनि** दिव्यानि ऐश्वर्याणि सत्याहिंसादीनि **अभि अर्ष** प्रापय, किञ्च **पूयमानः** शोध्यमानः, मनसि विद्यमानेभ्यः कामक्रोधादिभ्यः पृथक्कृत्य विशुद्धरूपेण दृश्यमानः त्वम् **विश्वा** विश्वानि समस्तानि **पार्थिवा** पार्थिवानि भौतिकानि धनानि **अभि अर्ष** प्रापय । वयम् **येन** यद्द्वारेण **द्रविणम्** दिव्यं ज्ञानम् **अभ्यश्नवाम** प्राप्नुयाम, तत् **आर्षेयम्** आर्षं चक्षुः **जमदग्निवत्** जमदग्नये प्रज्वलिताग्नये अग्निहोत्रिणे यथा त्वम् अभ्यर्षसि प्रेरयसि तथा **नः** अस्मभ्यम् **अभि अर्ष** प्रेरय । [जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा । निरु० ७।२४] ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— परमेश्वरकृपया वयं सर्वाणि भौतिकानि दिव्यानि च धनान्यार्षं चक्षुश्च प्राप्नुयाम येन सर्वमपि सत्यं ज्ञानं गूढानि रहस्यानि चाप्यस्माकं पुरतो हस्तामलकवत् स्पष्टानि स्युः ॥३॥

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा से प्रार्थना करते हैं।

---

१. ९।९७।५१ ।

पदार्थ– हे सोम जगदीश्वर! आप **नः** हमें **दिव्या वसूनि** सत्य, अहिंसा आदि दिव्य ऐश्वर्य **अभि अर्ष** प्राप्त कराओ, **पूयमानः** मन में विद्यमान काम, क्रोध आदि से पृथक् करके विशुद्ध रूप में दर्शन किये जाते हुए आप **विश्वा** सब **पार्थिवा** पार्थिव धन **अभि अर्ष** प्राप्त कराओ। हम **येन** जिसके द्वारा **द्रविणम्** दिव्य ज्ञान **अभ्यश्नवाम** प्राप्त कर सकें, वह **आर्षेयम्** आर्ष चक्षु **जमदग्निवत्** जैसे प्रज्वलित अग्नि वाले अग्निहोत्री को आप देते हो वैसे ही **नः** हमें भी **अभि अर्ष** प्रदान करो ॥३॥

यहाँ उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ– परमेश्वर की कृपा से हम समस्त भौतिक और दिव्य धन तथा आर्ष चक्षु प्राप्त कर लें, जिससे सब सत्य ज्ञान और गूढ़ रहस्य भी हमारे संमुख हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाएँ ॥३॥

॥१९॥ अथ 'यज्जायथा' इत्यादिकस्यैकोनविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषी** नृमेधपुरुमेधौ आङ्गिरसौ। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** १, २ अनुष्टुप्, ३ बृहती। **स्वरः** १, २ गान्धारः, ३ मध्यमः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ६०१ क्रमाङ्के परमेश्वरविषये व्याख्याता। अत्र स एव विषयः प्रकारान्तरेण निरूप्यते॥

१४२९. **यज्जायथा अपूर्व्य मघवन् वृत्रहत्याय।**
तत्पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उतो दिवम् ॥१॥[1]

यत् जायथाः अपूर्व्य अ पूर्व्य। मघवन् वृत्रहत्याय वृत्र हत्याय।
तत् पृथिवीम् अप्रथयः। तत् अस्तभ्नाः उत उ दिवम् ॥१॥

पदार्थः– हे **अपूर्व्य** स्वयम्भूः! [पूर्वैः कृतः पूर्व्यः। पूर्वैः कृतमिनयौ च। अ० ४।४।११३ इति य प्रत्ययः। न पूर्वैः कृतः अपूर्व्यः स्वयम्भूरित्यर्थः।] **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन् इन्द्र जगदीश्वर! **यत्** यस्मात्, त्वम् **वृत्रहत्याय** विघ्नविनाशाय **जायथाः** अजायथाः, समर्थोऽभवः, **तत्** तस्मात् **पृथिवीम्** भूमण्डलम् **अप्रथयः** व्यस्तृणाः, **उत उ** अपि च **तत्** तस्मादेव च **दिवम्** सूर्यम् **अस्तभ्नाः** स्थिरीकृतवानसि ॥१॥

भावार्थः– यो विघ्नान् विहन्तुं समर्थो भवति स एव हस्तगृहीतेषु कार्येषु सफलो जायते ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ६०१ क्रमांक पर परमेश्वर के विषय में व्याख्यात की गयी थी। यहाँ भी वही विषय प्रकारान्तर से दर्शाया जा रहा है।

पदार्थ– हे **अपूर्व्य** स्वयंभू, **मघवन्** ऐश्वर्यशाली इन्द्र जगदीश्वर! **यत्** क्योंकि, आप **वृत्रहत्याय** विघ्नों के विनाश के लिए **जायथाः** समर्थ हो, **तत्** इसी कारण, आप **पृथिवीम्** भूमण्डल को **अप्रथयः** फैला सके हो, **उत उ** और **तत्** इसी कारण **दिवम्** सूर्य को **अस्तभ्नाः** स्थिर कर सके हो ॥१॥

भावार्थ– जो विघ्नों को विनष्ट करने में समर्थ होता है वही हाथ में लिये हुए कार्यों में सफल होता है ॥१॥

---

१. ऋ० ८।८९।५, 'उत द्याम्' इति भेदः। साम० ६०१।

अथ जगदीश्वरस्य महिमानमाह ।

१४३०. तत्ते यज्ञो अजायत तदर्क उत हस्कृतिः ।
तद्विश्वमभिभूरसि यज्जातं यच्च जन्त्वम् ॥२॥[1]

तत् ते यज्ञः अजायत । तत् अर्कः उत हस्कृतिः ।
तत् विश्वम् अभिभूः अभि भूः असि । यत् जातम् यत् च जन्त्वम् ॥२॥

पदार्थः— हे इन्द्र जगदीश्वर! यस्मात् त्वं वृत्रहत्याय विघ्नविनाशाय समर्थोऽभूः **तत्** तस्मादेव **ते** तव **यज्ञः** सृष्टियज्ञः **अजायत** उदपद्यत, **तत्** तस्मादेव **अर्कः** सूर्यः **उत** अपि च **हस्कृतिः** विद्युतः हस्कारः अजायत । [हस्काराद् विद्युतस्परि । ऋ० १।२३।१२ इति वचनात् ।] **तत्** तस्मादेव **विश्वम्** सर्वम् **यत् जातम्** यदुत्पन्नम् **यच्च जन्त्वम्** यच्च जनितव्यम् अस्ति, तत् त्वम् । [जनी प्रादुर्भावे धातोः 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः । अ० ३।४।१३ इति त्वन् प्रत्ययः ।] **अभिभूः असि** स्वमहिम्ना अभिभूतवानसि ॥२॥

भावार्थः— विघ्नविनाशसमर्थत्वादेव परमेश्वरः सूर्यचन्द्रविद्युन्नक्षत्रादिमयं सर्वमिदं जगन्निर्मातुं धारयितुं च सफलो भवति ॥२॥

अगले मन्त्र में जगदीश्वर की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ— हे इन्द्र जगदीश्वर ! क्योंकि आप विघ्नों के विनाश में समर्थ हो **तत्** इसी कारण **ते** आपका **यज्ञः** सृष्टिरूप यज्ञ **अजायत** उत्पन्न हो सका है । **तत्** इसी कारण **अर्कः** सूर्य **उत** और **हस्कृतिः** बिजली का अट्टहास उत्पन्न हो सका है । **तत्** इसी कारण **विश्वम्** सब कुछ **यत् जातम्** जो पैदा हो चुका है **यत् च जन्त्वम्** और जो भविष्य में पैदा होना है, उसे आप **अभिभूः असि** अपनी महिमा से तिरस्कृत किये हुए हो ॥२॥

भावार्थ— विघ्नों के विनाश में समर्थ होने से ही परमेश्वर सूर्य, चन्द्र, बिजली, नक्षत्र आदि से युक्त इस सब जगत् को बनाने और धारण करने में सफल होता है ॥२॥

अथोपास्योपासकविषयमाह ।

१४३१. आमासु पक्वमैरय आ सूर्यं रोहयो दिवि ।
घर्मं न सामं तपता सुवृक्तिभिर्जुष्टं गिर्वणसे बृहत् ॥३॥[2]

आमासु पक्वम् ऐरयः । आ सूर्यम् रोहयः दिवि ।
घर्मम् न सामन् तपत सुवृक्तिभिः सु वृक्तिभिः ।
जुष्टम् गिर्वणसे गिः वनसे बृहत् ॥३॥

---

१. ऋ० ८।८९।६ ।

२. ऋ० ८।८९।७, 'सार्मन्' इति भेदः ।

पदार्थः— हे इन्द्र जगदीश्वर ! त्वम् **आमासु** अपरिपक्वासु ओषधीषु **पक्वम्** परिपक्वं फलम्, यद्वा **आमासु** अपरिपक्वासु गोषु **पक्वम्** परिपक्वं दुग्धम् **ऐरयः** प्रेरितवानसि, **दिवि** आकाशे **सूर्यम्** आदित्यम् **आ रोहयः** आरोहितवानसि । हे मनुष्याः! यूयम् **सुवृक्तिभिः** शोभनाभिः यमनियमादिक्रियाभिः **गिर्वणसे** गीर्भिः संभजनीयाय इन्द्राय जगदीश्वराय । [गिर्वणा देवो भवति गीर्भिरेनं वनयन्ति । निरु० ६।१४।] **जुष्टम्** प्रियम् **बृहत्** महत् **सामन्** स्तोत्रम् [अत्र 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति विभक्तेर्लुक् ।] **घर्मम् न** अग्निमिव **तपत** परिपक्वं कुरुत प्रकाशयत वा ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— तपस्यया परिपक्वमेव स्तोत्रं परमात्मनश्चित्तमाकर्षति फलदायि च जायते ॥३॥

अगले मन्त्र में उपास्य-उपासक का विषय है।

पदार्थ— हे इन्द्र जगदीश्वर ! आपने **आमासु** अपरिपक्व ओषधियों में **पक्वम्** पका फल, अथवा **आमासु** अपरिपक्व गायों में **पक्वम्** पका दूध **ऐरयः** प्रेरित किया है, **दिवि** आकाश में **सूर्यम्** सूर्य को **आरोहयः** चढ़ाया है । हे मनुष्यो ! तुम **गिर्वणसे** वाणियों से संभजनीय इन्द्र जगदीश्वर के लिए **जुष्टम्** प्रिय **बृहत्** महान् **सामन्** स्तोत्र को **घर्मम् न** अग्नि के समान **तपत** परिपक्व और प्रकाशित करो ॥३॥

यहाँ उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ— तपस्या से पका हुआ ही स्तोत्र परमात्मा के चित्त को आकृष्ट करता है और फलदायक होता है ॥३॥

॥२०॥ अथ 'मत्स्यपायि' इत्यादिकस्य विंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अगस्त्यो मैत्रावरुणः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** १ स्कन्धोग्रीवी बृहती, २, ३ अनुष्टुप् । **स्वरः** १ मध्यमः २, ३ गान्धारः ॥

तत्रादौ ब्रह्मानन्दविषयमाह ।

१४३२. मत्स्यपायि ते महः पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः ।
वृषा ते वृष्ण इन्दुर्वाजी सहस्रसातमः ॥१॥[1]

मत्सि अपायि ते महः । पात्रस्य इव हरिवः मत्सरः मदः । वृषा ते वृष्णे इन्दुः ।
वाजी सहस्रसातमः सहस्र सातमः ॥१॥

पदार्थः— हे **हरिवः** ऋक्सामरूपहरियुक्त इन्द्र जगदीश्वर ! [ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी । ष० ब्रा० १।१।] त्वम् **मत्सि** आनन्दयसि । **महः पात्रस्य इव** रसपूर्णस्य महतः घटादिभाजनस्य इव **ते** तव **मदः** मादयिता उत्साहयिता **मत्सरः** आनन्दरूपः सोमरसः । [मत्सरः सोमो मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः । निरु० २।५।] **अपायि** मया पीतोऽस्ति । सम्प्रति स्वान्तरात्मानं ब्रूते— हे मदीय अन्तरात्मन् ! **वृष्णे** बलवते **ते** तुभ्यम्, एषः **वृषा** अन्येषु सुखवर्षकः **वाजी** बलवान् **इन्दुः** आनन्दरूपः सोमरसः **सहस्रसातमः** असंख्यातलाभप्रदः वर्तते इति शेषः ॥१॥[2]

---

१. ऋ० १।१७५।१

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयमोषधिरसविषये व्याख्यातः ।

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— परमेश्वरः सलिलेन पूर्णः कलश इवानन्दरसेन परिपूर्णोऽस्ति । तदीयमानन्दरसं पीत्वा स्तोतुरात्मा कृतार्थो जायते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में ब्रह्मानन्द का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे **हरिवः** ऋक् और साम वाले इन्द्र जगदीश्वर ! आप **मत्सि** आनन्दित करते हो । **महः पात्रस्य इव** रस से भरे हुए बड़े घट आदि पात्र के तुल्य **ते** आपका **मदः** उत्साहित करने वाला **मत्सरः** आनन्द-रूप सोमरस **अपायि** मैंने पी लिया है । अब अपने अन्तरात्मा को कहते हैं— हे मेरे अन्तरात्मन् ! **वृष्णे** बलवान् **ते** तेरे लिए यह **वृषा** औरों पर सुख वर्षा करने वाला, **वाजी** बलवान् **इन्दुः** आनन्दरूप सोमरस **सहस्रसातमः** असंख्य लाभ पहुँचाने वाला है ॥१॥

यहाँ उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— परमेश्वर जल से पूर्ण कलश के समान आनन्द-रस से परिपूर्ण है । उसका आनन्द-रस पान करके स्तोता का आत्मा कृतार्थ हो जाता है ॥१॥

अथ पुनर्ब्रह्मानन्दविषयमेव वर्णयति ।

१ २ ३ २उ ३ २ ३ १२
१४३३. आ नस्ते गन्तु मत्सरो वृषा मदो वरेण्यः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
सहावाँ इन्द्र सानसिः पृतनाषाडमर्त्यः ॥२॥[1]

२ ३ २ १ २र १२र १२र
आ नः ते गन्तु मत्सरः । वृषा मदः वरेण्यः ।
३ १ २ ३ २ ३ २ १ २र ३
सहावान् इन्द्र सानसिः । पृतनाषाट् अमर्त्यः अ मर्त्यः ॥२॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन् जगदीश्वर ! **ते** तव **वृषा** कामवर्षकः **मदः** उत्साहयिता, **वरेण्यः** वरणीयः, **सहावान्** बलवान्, **सानसिः** संभजनीयः, **पृतनाषाट्** शत्रुसेनानां पराजेता, **अमर्त्यः** अमरः, अक्षयः **मत्सरः** आनन्दरसरूपः सोमः **नः** आस्मान् **आ गन्तु** आगच्छतु । [अत्र 'बहुलं छन्दसि' । अ० २।४।७३ इति शपो लुकि 'इषुगमियमां छः' । अ० ७।३।७७ इति न प्रवर्तते]॥२॥[2]

भावार्थः— परमेश्वरात् परमानन्दरसं प्राप्य मनुष्यैः शौर्येणाभ्यन्तरान् बाह्यांश्च सर्वान् रिपूनुन्मूल्य निष्कण्टकं स्वराज्यं स्थापनीयम् ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर ब्रह्मानन्द के विषय का ही वर्णन है ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली जगदीश्वर **ते** आपका **वृषा** मनोरथ पूर्ण करने वाला, **मदः** उत्साहित करने वाला, **वरेण्यः** वरणीय, **सहावान्** बलवान् **सानसिः** संभजनीय, **पृतनाषाट्** शत्रु सेनाओं को पराजित करने वाला, **अमर्त्यः** अक्षय **मत्सरः** आनन्द-रूप सोम **नः** हमें **आ गन्तु** प्राप्त होवे ॥२॥

---

१. ऋ० १।१७५।२ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमोषधिरसविषये व्याख्यातवान् ।

भावार्थ– रसमय परमेश्वर से परमानन्द-रस पाकर मनुष्यों को शूरतापूर्वक आन्तरिक तथा बाह्य सब शत्रुओं का उन्मूलन करके निष्कण्टक स्वराज्य स्थापित करना चाहिए ।।२।।

अथ परमात्मनः शूरत्वं वर्णयति ।

१४३४. त्वं हि शूरः सनिता चोदयो मनुषो रथम् ।
सहावान् दस्युमव्रतमोषः पात्रं न शोचिषा ।।३।।[1]

त्वम् हि शूरः सनिता । चोदयः मनुषः रथम् । सहावान् दस्युम् अव्रतम् अ व्रतम् ।
ओषः पात्रम् न शोचिषा ।।३।।

पदार्थः– हे इन्द्र ! हे शत्रुविदारक जगदीश ! **त्वं हि** त्वं खलु **शूरः** वीरः, **सनिता** उत्साहप्रदश्च असि । **मनुषः** मनुष्यस्य **रथम्** प्रगतिरथम् **चोदयः** अग्रे प्रेरयसि । **सहावान्** बलवान् त्वम् **अव्रतम्** व्रतहीनं कर्महीनं च **दस्युम्** हिंसकं स्वभावम् हिंसकं जनं वा **शोचिषा** प्रदीप्तयाऽग्निज्वालया **पात्रं न** मृद्घटादिकमिव **ओषः** प्रतपसि। [उष दाहे, भ्वादिः]।।३।।[2]

अत्रोपमालङ्कारः ।।३।।

भावार्थः– यः परमेश्वरः सज्जनान् पुरस्करोति दुष्टांश्च दण्डयति तस्माद् भीत्वा दुर्जनैर्दुष्टता परित्यक्तव्या सत्कर्मसु चोत्साहः प्रदर्शनीयः ।।३।।

अस्मिन् खण्डे उपास्योपासकविषयस्य ब्रह्मानन्दस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।।

अब परमात्मा की शूरता वर्णित करते हैं ।

पदार्थ– हे इन्द्र ! हे शत्रुओं को विदीर्ण करने वाले जगदीश ! **त्वं हि** आप निश्चय ही **शूरः** शूरवीर, तथा **सनिता** उत्साह देने वाले हो । **मनुषः** मनुष्य के **रथम्** प्रगति के रथ को **चोदयः** आगे प्रेरित करते हो । **सहावान्** बलवान्, आप **अव्रतम्** व्रतहीन और कर्महीन को, तथा **दस्युम्** हिंसक स्वभाव को और हिंसक मनुष्य को **शोचिषा** प्रदीप्त अग्निज्वाला से **पात्रं न** मिट्टी के घड़े आदि के समान **ओषः** संतप्त कर देते हो ।।३।।

यहाँ उपमालंकार है ।।३।।

भावार्थ– जो परमेश्वर सज्जनों को पुरस्कार और दुष्टों को दण्ड देता है उससे डरकर दुर्जनों को दुष्टता छोड़ देनी चाहिए और सत्कर्मों में उत्साह दिखाना चाहिए ।।३।।

इस खण्ड में उपास्य-उपासक विषय का तथा ब्रह्मानन्द का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

बारहवें अध्याय में षष्ठ खण्ड समाप्त ।
बारहवाँ अध्याय समाप्त ।
षष्ठ प्रपाठक में द्वितीय अर्ध समाप्त ।

---

१. ऋ० १।१७५।३।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं सेनापतिविषये व्याख्यातः ।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः षष्ठे प्रपाठके तृतीयोऽर्धश्च

।।१।। तत्र 'पवस्व' इत्यादिकस्य प्रथमस्य पञ्चर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** कविर्भार्गवः । **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ जगत्स्रष्टा परमेश्वरः प्रार्थ्यते ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २
१४३५. **पवस्व वृष्टिमा सु नोऽपामूर्मिं दिवस्परि। अयक्ष्मा बृहतीरिषः ।।१।।**[1]

१ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ २
पवस्व वृष्टिम् आ सु नः। अपाम् ऊर्मिम् दिवः परि।

३ २ ३ २ ३ २ १ २ २
अयक्ष्माः अ यक्ष्माः बृहतीः इषः ।।१।।

पदार्थः— हे सोम ! हे सर्वान्तर्यामिन् परमेश्वर ! त्वम् **दिवः परि** उच्चात् आत्मलोकात् **नः** अस्मभ्यम् **अपाम् ऊर्मिम्** दिव्यधाराणां तरङ्गरूपाम् **वृष्टिम्** वर्षाम् **सु आ पवस्व** सम्यक् समन्तात् प्रवाहय । किञ्च **अयक्ष्माः** नीरोगाः, वासनादिरहिताः इत्यर्थः **बृहतीः इषः** महतीः आकाङ्क्षाः **आ पवस्व** अस्मासु आस्रावय, जनयेत्यर्थः ।।१।।

भावार्थः— यथा जगदीश्वरोऽन्तरिक्षाद् वृष्टिम् भूमावारोग्यकराण्यन्नानि चोत्पादयति तथैव सोऽस्मास्वानन्दवृष्टिमुत्कृष्टा महत्त्वाकाङ्क्षाश्च जनयेत् ।।१।।

प्रथम मन्त्र में जगत्स्रष्टा परमेश्वर से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ- हे सोम ! हे सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ! आप **दिवः परि** उच्च आत्मलोक से **नः** हमारे लिए **अपाम् ऊर्मिम्** दिव्य धाराओं की तरंगरूप **वृष्टिम्** वर्षा को **सु आ पवस्व** भली-भाँति चारों ओर से प्रवाहित करो, साथ ही **अयक्ष्माः** नीरोग अर्थात् वासना आदि से रहित **बृहतीः इषः** उच्च महत्त्वाकांक्षाओं को **आ पवस्व** हमारे अन्दर उत्पन्न करो ।।१।।

भावार्थ— जैसे जगदीश्वर अन्तरिक्ष से वर्षा तथा भूमि पर आरोग्यकारी अन्न उत्पन्न करता है वैसे ही वह हमारे अन्दर आनन्द की वर्षा और उच्च महत्त्वाकांक्षाओं को जन्म दे ।।१।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २ ३ १ २ ३ २
१४३६. **तया पवस्व धारया यया गाव इहागमन्। जन्यास उप नो गृहम् ।।२।।**[2]

१ २ २ ३ १ २ २ १ २ २ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
तया पवस्व धारया। यया गावः इह आगमन् आ गमन्।

१ २ २ १ २ २ ३ २
जन्यासः उप नः गृहम् ।।२।।

---

१. ऋ० ९।४९।१ ।
२. ऋ० ९।४९।२ ।

पदार्थः- हे तेजोधाम परमात्मन् ! त्वम् **तया धारया** तया तेजोधारया **पवस्व** अस्मान् पुनीहि **यया** धारया **इह** अत्र **नः गृहम्** अस्माकं हृदयसदनम् **जन्यासः** उत्तरोत्तरं जन्म गृह्णानाः । [अत्त 'जनेर्यक्' । उ० ४।११२ इति यक् प्रत्ययः।] **गावः** तेजोरश्मयः **उपागमन्** उपागच्छन्तु ॥२॥

भावार्थः— परमात्मनः सकाशात् प्रस्रवन्ति तेजांसि तत्स्तोतॄन् तेजस्विनः कुर्वन्ति ॥२॥

आगे फिर उसी विषय में कहा गया है ।

पदार्थ— हे तेज के धाम परमात्मन् ! आप **तया धारया** उस तेज की धारा से **पवस्व** हमें पवित्र करो, **यया** जिस धारा से **इह** यहाँ **नः गृहम्** हमारे हृदय-सदन में **जन्यासः** उत्तरोत्तर जन्म लेने वाली **गावः** तेज की किरणें **उपागमन्** उपस्थित हो जाएँ ॥२॥

भावार्थ— परमात्मा के पास से प्रवाहित होते हुए तेज उसके स्तोताओं को तेजस्वी बना देते हैं ॥२॥

अथ पुनः परमेश्वरं प्रार्थयते ।

१४३७. घृतं पवस्व धारया यज्ञेषु देववीतमः । अस्मभ्यं वृष्टिमा पव ॥३॥[1]

घृतम् पवस्व धारया । यज्ञेषु देववीतमः देव वीतमः ।
अस्मभ्यम् वृष्टिम् आ पव ॥३॥

पदार्थः— पदार्थः— हे जगत्पते ! **यज्ञेषु** उपासनारूपेषु अध्वरेषु **देववीतमः** अतिशयेन दिव्यगुणानां प्रापयिता त्वम् **धारया** प्रवाहसन्तत्या **घृतम्** स्नेहं दीप्तिं च । [घृ क्षरणदीप्त्योः, जुहोत्यादिः ।] **पवस्व** अस्मभ्यं प्रेरय । **अस्मभ्यम्** उपासकेभ्यः **वृष्टिम्** आनन्दवर्षाम् **आ पव** आक्षारय ॥३॥

भावार्थः— उपासितो जगदीश्वर उपासकाय स्वकीयं स्नेहमानन्दमजस्रं तेजश्च प्रयच्छति ॥३॥

आगे फिर परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे जगत्पति ! **यज्ञेषु** उपासनारूप यज्ञों में **देववीतमः** अतिशय दिव्य गुणों को प्राप्त कराने वाले आप **धारया** धारा रूप में **घृतम्** स्नेह तथा दीप्ति को **पवस्व** हमारे लिए प्रेरित करो । **अस्मभ्यम्** हम उपासकों के लिए **वृष्टिम्** आनन्दवर्षा को **आ पव** रिमझिम बरसाओ ॥३॥

भावार्थ— उपासना किया हुआ जगदीश्वर उपासक के लिए अपने प्रेम, आनन्द और अक्षय तेज को प्रदान करता है ॥३॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१४३८. स न ऊर्जे व्या३व्ययं पवित्रं धाव धारया । देवासः शृणवन् हि कम् ॥४॥[2]

सः नः ऊर्जे वि अव्ययम् । पवित्रम् धाव धारया । देवासः शृणवन् हि कम् ॥४॥

---

१. ऋ० ९।४९।३ ।
२. ऋ० ९।४९।४ ।

पदार्थः- हे भक्तवत्सल देव ! **सः** प्रसिद्धः त्वम् **नः** अस्माकम् **ऊर्जे** बलाय प्राणशक्तये च । [ऊर्ज बलप्राणनयोः, चुरादिः ।] अस्माकम् **पवित्रम्** परिपूतम् **अव्ययम्** अविनाशिनमन्तरात्मानम् **धारया** आनन्दधारया सह **वि धाव** प्रद्रव । **देवासः** विद्वांसः उपासकाः, **हि** निश्चयेन **कम्** सुखपूर्वकम् **शृणवन्** तव सन्देशान् शृण्वन्तु ॥४॥

भावार्थः- जगदीश्वरस्य सख्ये वसन्तः स्तोतारो बलं प्राणशक्तिमानन्दं च प्राप्य धार्मिकं जीवनं यापयन्ति ॥४॥

पदार्थ- हे भक्तवत्सल देव ! **सः** वह प्रसिद्ध आप **नः हमें ऊर्जे** बल और प्राणशक्ति देने के लिए, हमारे **पवित्रम्** पवित्र **अव्ययम्** अविनाशी अन्तरात्मा को **धारया** आनन्द की धारा के साथ **वि धाव** शीघ्रता से प्राप्त होवो । **देवासः** विद्वान् उपासक लोग **हि** अवश्य **कम** सुख से **शृणवन्** आपके सन्देशों को सुनें ॥४॥

भावार्थ- जगदीश्वर की मैत्री में निवास करते हुए स्तोता जन बल, प्राणशक्ति, आनन्द और दिव्य सन्देश प्राप्त करके धार्मिक जीवन व्यतीत करते हैं ॥४॥

अथोपासितो जगदीश्वरः किं करोतीत्याह ।

१२ ३१ २ ३१ २ ३ २३२११ २
१४३९. **पवमानो असिष्यदद्रक्षांस्यपजङ्घनत् । प्रत्नवद्रोचयन्रुचः ॥५॥**[1]

१२र ३
पवमानः असिष्यदत् ।
१ २र ३ १ २ ३ १ २र ३ २ ३१२ १ २र
रक्षांसि अपजङ्घनत् अप जङ्घनत् । प्रत्नवत् रोचयन् रुचः ॥५॥

पदार्थः- पवमानः पवित्रतादायकः आनन्दस्रावी जगदीश्वरः**रक्षांसि** कामक्रोधादीन् रिपून् पापानि च **अपजङ्घनत्** हिंसन्, **प्रत्नवत्** पुरातनाऽग्निवत् । [प्रत्नो होता वरेण्यः । ऋ० २।७।६ इत्यादिप्रामाण्याद् अग्निः प्रत्नः।] **रुचः** तेजांसि **रोचयन्** प्रदीपयन् **असिष्यदत्** प्रस्यन्दते ॥५॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥५॥

भावार्थः- परमेश्कृपयोपासकस्यान्तःकरणाद् वासनाः क्षीयन्ते तेजांसि दीप्यन्ते हृदयं च निष्कलुषं पवित्रं जायते ॥५॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि उपासना किया हुआ जगदीश्वर क्या करता है ।

पदार्थ- पवमानः पवित्रतादायक आनन्दवर्षी जगदीश्वर **रक्षांसि** काम, क्रोध आदि रिपुओं को और पापों को **अपजङ्घनत्** नष्ट करता हुआ **प्रत्नवत्** पुरातन अग्नि के समान **रुचः** तेजों को **रोचयन्** प्रदीप्त करता हुआ **असिष्यदत्** बह रहा है ॥५॥

यहाँ उपमालंकार ॥५॥

भावार्थ- परमेश्वर की कृपा से उपासक के अन्तःकरण से वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं, तेज दमकते हैं और हृदय कालिमा से रहित पवित्र हो जाता है ॥५॥

॥२॥ अथ 'प्रत्यस्मै' इत्यादिकस्य द्वितीयकस्य चतुर्ऋचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । **देवता इन्द्रः** । **छन्दः** १-३ अनुष्टुप्, ४ बृहती । **स्वरः** १-३ गान्धारः, ४ मध्यमः ॥

---

१. ऋ० ९।४९।५ ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३५२ क्रमाङ्के परमात्मन आचार्यस्य च विषये व्याख्याता । अत्र जगदीश्वरोपासनाविषयः प्रदर्श्यते ।

१४४०. प्रत्यस्मै पिपीषते विश्वानि विदुषे भर ।
अरङ्गमाय जग्मयेऽपश्चादघ्वने नरः ॥१॥[1]

प्रति अस्मै पिपीषते । विश्वानि विदुषे भर ।
अरङ्गमाय अरम् गमाय जग्मये अपश्चादघ्वने अपश्चा दघ्वने नरः ॥१॥

पदार्थः- हे मानव ! **नरः** पुरुषार्थी त्वम् **पिपीषते** तव श्रद्धारसं पातुमिच्छते, **विश्वानि विदुषे** सर्वाणि ज्ञेयानि जानते, **अरङ्गमाय** पर्याप्तप्रदायिने । [अरं पर्याप्तं गमयति प्रापयतीति अरङ्गमः तस्मै ।] **जग्मये** क्रियाशीलाय। [अत्र 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट्च' अ० ३।२।१७१ इति गम्लृ गतौ धातोः किन् प्रत्ययः, तस्य च लिड्वद्भावाद् द्वित्वम् ।] **अपश्चा-दघ्वने** अपश्चाद्गामिने [दध्यति गतिकर्मा, निरु० २।१४, वनिप् ।] **अस्मै** एतस्मै इन्द्राय जगदीश्वराय **प्रतिभर** श्रद्धायाः उपहारं प्रयच्छ ॥१॥[2]

भावार्थः- परमात्मनि श्रद्दधानो मनुष्यः कदापि जीवने पतनं न प्राप्नोति ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ३५२ क्रमांक पर परमात्मा और आचार्य के विषय में की जा चुकी है । यहाँ जगदीश्वर की उपासना का विषय दर्शाते हैं ।

पदार्थ- हे मानव ! **नरः** पुरुषार्थी तू **पिपीषते** तेरे श्रद्धारस को पान करने के इच्छुक, **विश्वानि विदुषे** सब जानने योग्य विषयों को जानने वाले, **अरङ्गमाय** पर्याप्त देने वाले, **जग्मये** क्रियाशील, **अपश्चा-दध्वने** पीछे पग न रखने वाले **अस्मै** इस इन्द्र जगदीश्वर के लिए **प्रतिभर** श्रद्धा का उपहार प्रदान कर ॥१॥

भावार्थ- परमात्मा में श्रद्धा रखता हुआ मनुष्य कभी जीवन में पतन को प्राप्त नहीं करता ॥१॥

अथ जनान् परमात्मोपासनायै प्रेरयति ।

१४४१. एमेनं प्रत्येतन सोमेभिः सोमपातमम् ।
अमत्रेभिर्ऋजीषिणमिन्द्रं सुतेभिरिन्दुभिः ॥२॥[3]

आ ईम् एनम् प्रत्येतन प्रति एतन । सोमेभिः सोमपातमम् सोम पातमम् ।
अमत्रेभिः ऋजीषिणम् । इन्द्रम् सुतेभिः इन्दुभिः ॥२॥

पदार्थः- हे मनुष्याः ! यूयम् **सोमपातमम्** युष्माकं श्रद्धारसानाम् अतिशयेन पातारम् **एनं प्रति** एतं परमात्मानं प्रति **ईम्** सर्वतः **सोमेभिः** श्रद्धारसैः सह **एतन** प्राप्नुत । **ऋजीषिणम्** ऋजून् सरलान् धार्मिकान् जनान् ईषितुं गन्तुं शीलं यस्य तम् **इन्द्रम् प्रति** जगदीश्वरम् अभिलक्ष्य **अमत्रेभिः** महद्भिः । [अमत्रोऽमात्रो महान् भवति अभ्यमितो वा । निरु० ६।२३।] **सुतेभिः** अभिषुतैः **इन्दुभिः** आर्द्रीकुर्वद्भिः श्रद्धारसैः **एतन** गच्छत ॥२॥[4]

१. ऋ० ६।४२।१, 'ऽपश्चाद्दघ्वने नरे' इति भेदः। साम० ३५२ ।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं विद्वत्पक्षे व्याचष्टे ।
३. ऋ० ६।४२।२ ।
४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं राजप्रजापक्षे व्याख्यातः ।

भावार्थः— परमात्मानं प्रति हार्दिकस्य श्रद्धारसस्य प्रवाहेण मनुष्यस्य जीवनमुज्ज्वलं जायते ॥२॥

अगले मन्त्र में मनुष्यों को परमात्मा की उपासना के लिए प्रेरित किया गया है ।

पदार्थ— हे मनुष्यो ! तुम **सोमपातमम्** तुम्हारे श्रद्धारस को अतिशय पान करने वाले **एनम् प्रति** इस परमात्मा के प्रति **ईम्** सब ओर से **सोमेभिः** श्रद्धारसों के साथ **एतन** पहुँचो । **ऋजीषिणम्** सरल धार्मिक जनों के पास पहुँचने का जिसका स्वभाव है ऐसे **इन्द्रम् प्रति** जगदीश्वर के प्रति **अमत्रेभिः** महान्, **सुतेभिः** अभिषुत किये हुए **इन्दुभिः** भिगो देने वाले श्रद्धारसों के साथ **एतन** पहुँचो ॥२॥

भावार्थ— परमात्मा के प्रति हार्दिक श्रद्धारस के प्रवाह से मनुष्य का जीवन उज्ज्वल हो जाता है ॥२॥

अथ परमात्मोपासनायाः फलमाह ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१४४२. **यदी सुतेभिरिन्दुभिः सोमेभिः प्रतिभूषथ ।**
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २
वेदा विश्वस्य मेधिरो धृषत्तंतमिदेषते ॥३॥[1]
१ २ २ ३ १ २ १ २ २ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २ २ १ २ २
यदि सुतेभिः इन्दुभिः । सोमेभिः प्रतिभूषथ प्रति भूषथ । वेद विश्वस्य मेधिरः ।
३ २ १ २ २ ३ २ ३
धृषत् तन्तम् तम् तम् इत् आ इषते ॥३॥

पदार्थः— हे उपासकाः ! **यदि** चेत् **सुतेभिः** अभिषुतैः, **इन्दुभिः** क्लेदकैः **सोमेभिः** श्रद्धारसैः यूयम् , इन्द्रं परमात्मानम् **प्रति भूषथ** अलङ्कुरुथ, तर्हि **मेधिरः** मेधावी स इन्द्रः **विश्वस्य** विश्वं सर्वं युष्मदीयं मनोरथम् **वेद** जानाति, किञ्च **धृषत्** विघ्नानां धर्षकः सन् **तं तम्** तं तं मनोरथम् **इत्** निश्चयेन **आ-इषते** आपूरयति । [इषतिः गतिकर्मा । निघं० २।१४] ॥३॥[2]

भावार्थः— परमेश्वरे श्रद्दधानो जनोऽभिलषितपूर्त्यै समर्थो जायते ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की उपासना का फल वर्णित है ।

पदार्थ— हे उपासको ! **यदि** यदि **सुतेभिः** अभिषुत किये हुए, **इन्दुभिः** सराबोर कर देने वाले **सोमेभिः** श्रद्धारसों से, तुम इन्द्र परमात्मा को **प्रतिभूषथ** अलंकृत करते हो, तो **मेधिरः** मेधावी वह इन्द्र **विश्वस्य** तुम्हारे सब मनोरथों को **वेद** जान जाता है और **धृषत्** विघ्नों को परास्त करता हुआ **तं तम्** उस-उस मनोरथ को **इत्** अवश्य ही **आ इषते** पूर्ण करता है ॥३॥

भावार्थ— परमेश्वर में श्रद्धा रखने वाला मनुष्य अभीष्ट की पूर्ति में समर्थ हो जाता है ॥३॥

अथ पुनः परमात्मोपासनाविषयमाह ।

३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१४४३. **अस्माअस्मा इदन्धसोऽध्वर्यो प्र भरा सुतम् ।**
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
कुवित्समस्य जेन्यस्य शर्धतोऽभिशस्तेरवस्वरत् ॥४॥[3]
१ २ ३ २ ३ २ १ २ २ १ २ २ ३ २
अस्माअस्मै अस्मै अस्मै इत् अन्धसः । अध्वर्यो प्र भर सुतम् ।
३ २ ३ १ २ २ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
कुवित् समस्य जेन्यस्य शर्धतः । अभिशस्तेः अभि शस्तेः अवस्वरत् अव स्वरत् ॥४॥

---

१. ऋ० ६।४२।३ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरिममपि मन्त्रं राजप्रजाविषये व्याचष्टे ।

३. ऋ० ६।४२।४, 'स्वस्परत्' इति भेदः ।

पदार्थः— हे **अध्वर्यो** उपासनायज्ञेच्छुक ! **अस्मै अस्मै इत्** अस्मै एव इन्द्राय जगदीश्वराय **अन्धसः** श्रद्धारूपस्य सोमस्य **सुतम्** रसम् **प्र भर** आनय । स च इन्द्रो जगदीश्वरः **कुवित्**[1] बहुशः । [कुवित् इति बहुनाम । निघं० ३।१।] **समस्य** सर्वस्य **जेन्यस्य** जेतुं योग्यस्य **शर्धतः** हिंसकस्य शत्रोः **अभिशस्तेः** हिंसनात् निन्दनात् वा **अवस्वरत्** उद्धरेत् । [स्वरतिः गतिकर्मा । निघं० २।१४]॥४॥[2]

भावार्थः— परमेश्वरे श्रद्दधानं जनं कोऽपि हिंसितुमपकीर्त्या योजयितुं वा न शक्नोति ॥४॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मोपासनाविषयस्य वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मोपासना का विषय है ।

पदार्थ— हे **अध्वर्यो** उपासना-यज्ञ के इच्छुक ! **अस्मै अस्मै इत्** इसी इन्द्र जगदीश्वर के लिए **अन्धसः** श्रद्धारूप सोम के **सुतम्** रस को **प्र भर** लाओ । वह इन्द्र जगदीश्वर **कुवित्** बहुत अधिक **समस्य** सब **जेन्यस्य** जीते जाने योग्य **शर्धतः** हिंसक शत्रुओं से की जाने वाली **अभिशस्तेः** हिंसा वा निन्दा से **अवस्वरत्** उद्धार कर देवे ॥४॥

भावार्थ— परमेश्वर में श्रद्धा रखने वाले मनुष्य की कोई भी हिंसा नहीं कर सकता, न ही उसे अपयश का पात्र बना सकता है ॥४॥

इस खण्ड में परमात्मा की उपासना का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

तेरहवें अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ।

॥३॥ अथ 'बभ्रवे' इत्यादिकस्य तृतीयस्य षड्ऋचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** असितः काश्यपो देवलो वा। **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ मानवान् प्रेरयति ।

३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
१४४४. बभ्रवे नु स्वतवसेऽरुणाय दिविस्पृशे । सोमाय गाथमर्चत ॥१॥[3]

३ १ २ १ २र ३ १ २ १ २ ३ १ २र
बभ्रवे नु स्वतवसे स्व तवसे । अरुणाय दिविस्पृशे दिवि स्पृशे ।

१ २र ३ २ ३
सोमाय गाथम् अर्चत ॥१॥

पदार्थः— हे मनुष्याः ! यूयम् **बभ्रवे** धारणपोषणकर्त्रे, **स्वतवसे** स्वकीयबलाय, **अरुणाय** तेजसा आरोचमानाय, **दिविस्पृशे** दिवि द्योतमाने जीवात्मनि स्पर्शयति सद्गुणान् यस्तस्मै **सोमाय** रसागाराय जगत्स्रष्ट्रे सर्वान्तर्यामिने परमेश्वराय **गाथम्** गातव्यं स्तोत्रम् **अर्चत** गायत ॥१॥

भावार्थः— यः स्वकीयेनैव बलेन बलवानस्ति न तु परप्रदत्तेन, तं तेजस्विनं परमात्मानमाराध्य जना बलवन्तस्तेजस्विनो भवन्तु ॥१॥

---

१. कुवित् बहुशः—इति सा० । कुशब्देन पृथिव्यभिधीयते, तस्या वित्—इति वि० ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं मनुष्यैः कथं वर्तितव्यमिति विषये व्याख्यातवान् ।

३. ऋ० ९।११।४ ।

प्रथम मन्त्र में मनुष्यों को प्रेरणा दी गयी है ।

पदार्थ– हे मनुष्यो ! तुम **बभ्रवे** धारण-पोषण करने वाले, **स्वतवसे** निज बल वाले, **अरुणाय** तेज से जगमगाने वाले, **दिविस्पृशे** जीवात्मा में सद्गुणों का स्पर्श कराने वाले **सोमाय** रसनिधि, जगत्स्रष्टा, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर के लिए **गाथम्** गाने योग्य स्तोत्र को **अर्चत** गाओ ॥१॥

भावार्थ– जो अपने ही बल से, न कि दूसरे के द्वारा प्रदत्त बल से, बलवान् है, उस तेजस्वी परमात्मा की आराधना करके मनुष्य बलवान् और तेजस्वी बनें ॥१॥

अथ पुनरपि मानवान् प्रेरयति ।

१४४५. हस्तच्युतेभिरद्रिभिः सुतं सोमं पुनीतन । मधावा धावता मधु ॥२॥[1]

हस्तच्युतेभिः हस्त च्युतेभिः अद्रिभिः अ द्रिभिः । सुतम् सोमम् पुनीतन पुनीत न ।
मधौ आ धावत मधु ॥२॥

पदार्थः– हे उपासकाः ! **हस्तच्युतेभिः** हस्तरहितैः **अद्रिभिः** हृदयमस्तिष्करूपैः पेषणसाधनैः **सुतम्** अभिषुतम् **सोमम्** श्रद्धारसम् **पुनीतन** पवित्रयत। **मधौ** मधुरे स्वकीये श्रद्धारसे **मधु** परमात्मनः सकाशात् प्राप्तं मधुरम् आनन्दरसम् **आधावत** आगमयत, मिश्रयतेत्यर्थः । [धावु गतिशुद्ध्योः] ॥२॥

'मधा, मधु', 'धावा, धाव' इत्यत्र छेकानुप्रासोऽलङ्कारः ॥२॥

भावार्थः– यदा योगिभिर्ब्रह्मानन्दरसोऽनुभूयते तदैव तेषां परब्रह्मणि श्रद्धा सफला जायते ॥२॥

आगे फिर मनुष्यों को प्रेरित करते हैं ।

पदार्थ– हे उपासको ! **हस्तच्युतेभिः** हाथ-रहित **अद्रिभिः** हृदय और मस्तिष्क रूप सिल-बट्टों से **सुतम्** अभिषुत किये गये **सोमम्** श्रद्धारस को **पुनीतन** पवित्र करो । **मधौ** अपने मधुर श्रद्धारस में **मधु** परमात्मा से प्राप्त मधुर आनन्द-रस को **आधावत** मिला दो ॥२॥

यहाँ 'मधा, मधु' और 'धावा, धाव' में छेकानुप्रास अलंकार है ॥२॥

भावार्थ– जब योगी लोगों को ब्रह्मानन्द-रस की अनुभूति हो जाती है तभी उनकी परब्रह्म में श्रद्धा सफल होती है ॥२॥

अथ पुनरपि मानवाः प्रेर्यन्ते ।

१४४६. नमसेदुप सीदत दध्नेदभि श्रीणीतन । इन्दुमिन्द्रे दधातन ॥३॥[2]

नमसा इत् उप सीदत । दध्ना इत् अभि श्रीणीतन श्रीणीत न ।
इन्दुम् इन्द्रे दधातन दधात न ॥३॥

---

१. ऋ० ९।११।५ ।
२. ऋ० ९।११।६ ।

पदार्थः— हे सखायः ! यूयम् **नमसा इत्** नमस्कारेणैव सह **उप सीदत** परमात्मानम् उपाध्वम् । तं सात्त्विकं नमस्कारम् **दध्ना इत्** रजोगुणोत्पन्नेन कर्मणा खलु **अभिश्रीणीतन** परिपक्वं कुरुत । [अभिपूर्वः श्रीञ् पाके क्र्यादिः । तस्य तनबादेशः ।] **इन्दुम्** परमात्मनः सकाशात् प्रसुतम् आनन्दरसम् **इन्द्रे** जीवात्मनि **दधातन** धत्त ॥३॥

अत्रैकेन कर्तृकारकेण उपसीदत, श्रीणीतन, दधातन इत्यनेकक्रियायोगाद् दीपकालङ्कारः, दकारादानुप्रासश्च । गोदुग्धं सात्त्विकं, दधि चाम्लगुणत्वाद् राजसम्, अतो दध्ना कर्म व्यज्यते ॥३॥

भावार्थः— केवलमुपासनया नाभीष्टसिद्धिर्जायते, तया सह कर्मयोगोऽप्यपेक्ष्यते ॥३॥

आगे फिर मनुष्यों को प्रेरित किया गया है ।

पदार्थ— हे साथियो ! तुम **नमसा इत्** नमस्कार के साथ ही **उप सीदत** परमात्मा की उपासना करो । उस सात्त्विक नमस्कार को **दध्ना इत्** रजोगुण से उत्पन्न कर्म के साथ मिलाकर **अभि श्रीणीतन** परिपक्व करो । **इन्दुम्** परमात्मा के पास से प्रसुत हुए आनन्द-रस को **इन्द्रे** जीवात्मा में **दधातन** धारण कर लो ॥३॥

यहाँ एक कर्ता कारक के साथ उपसीदत, श्रीणीतन और दधातन इन अनेक क्रियाओं का योग होने से दीपक अलंकार है । दकार आदि का अनुप्रास है । गोदुग्ध सात्त्विक होता है, दही खट्टा होने से राजस । अतः दधि से यहाँ कर्म सूचित होता है ॥३॥

भावार्थ— केवल उपासना से अभीष्ट सिद्धि नहीं होती, उसके साथ कर्मयोग भी अपेक्षित होता है ॥३॥

अथ परमात्मानं प्रार्थयते ।

१४४७. अमित्रहा विचर्षणिः पवस्व सोम शं गवे । देवेभ्यो अनुकामकृत् ॥४॥[1]

अमित्रहा अमित्र हा विचर्षणिः वि चर्षणिः ।

पवस्व सोम शम् गवे। देवेभ्यः अनुकामकृत् अनुकाम कृत् ॥४॥

पदार्थः— हे **सोम** जगदीश्वर ! **अमित्रहा** कामक्रोधालस्यादिरिपूणां हन्ता, **विचर्षणिः** विद्रष्टा, **देवेभ्यः** विद्वद्भ्यः **अनुकामकृत्** अभीष्टसम्पादकः त्वम् **गवे** स्तोत्रे । [गौः इति स्तोतृनाम । निघं० ३।१६ ।] **शम्** शान्तिदायकः सन् **पवस्व** आनन्दं प्रवाहय ॥४॥

भावार्थः— आराधितः परमेश्वर उपासकस्य दुःखदुर्गुणदुर्व्यसनादीन् विनाश्य तस्मै सद्गुणान् प्रदाय सुखं शान्तिं दिव्यानन्दं च प्रवाहयति ॥४॥

अब परमात्मा से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे **सोम** जगदीश्वर ! **अमित्रहा** काम, क्रोध आलस्य आदि शत्रुओं के विनाशक, **विचर्षणिः** विशेष द्रष्टा, **देवेभ्यः** विद्वानों के लिए **अनुकामकृत्** अभीष्ट सिद्ध करने वाले आप **गवे** स्तोता के लिए **शम्** शान्तिदायक होते हुए **पवस्व** आनन्द प्रवाहित करो ॥४॥

भावार्थ— आराधना किया गया परमेश्वर उपासक के दुःख, दुर्गुण, दुर्व्यसन आदि को विनष्ट करके उसे सद्गुण देकर उसके लिए सुख, शान्ति और दिव्य आनन्द प्रवाहित करता है ॥४॥

---

१. ऋ० ९।११।७ ।

अथ परमात्मान माह ।

१ २ ३ १२३ १ २३ १ २ ३ १र २र३ २ १
१४४८. इन्द्राय सोम पातवे मदाय परि षिच्यसे । मनश्चिन्मनसस्पतिः ॥५॥[1]

१ २ ३ १२र १ २र १ २र ३ २ २ २ १२र १ २र
इन्द्राय सोम पातवे । मदाय परि सिच्यसे । मनश्चित् मनः चित् मनसः पतिः ॥५॥

पदार्थः- हे **सोम** रसागार परमेश ! **मनश्चित्** मनसः चेतयिता, **मनसः पतिः** मनसोऽधीश्वरः, त्वम् **इन्द्राय** जीवात्मने **पातवे** पानाय, **मदाय** उत्साहाय च **परिषिच्यसे** जीवात्मनि परिक्षार्यसे ॥५॥

भावार्थः- परमात्मध्यानेन प्राप्त आनन्दरसो मनोबुद्धिप्राणादींश्चेतयन्नुपासकं जागरूकं करोति ॥५॥

अब परमात्मा को कहते हैं ।

पदार्थ- हे **सोम** रसागार परमेश ! **मनश्चित्** मन को चेताने वाले, **मनसः पतिः** मन के अधीश्वर, आप **इन्द्राय** जीवात्मा के **पातवे** पान के लिए, और **मदाय** उत्साह के लिए **परिषिच्यसे** जीवात्मा में सींचे जा रहे हो ॥५॥

भावार्थ- परमात्मा के ध्यान से प्राप्त हुआ आनन्दरस मन, बुद्धि, प्राण आदि को चेतनामय करता हुआ उपासक जागरूक किये रखता है ॥५॥

अथ परमात्मानं प्रार्थयते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २
१४४९. पवमान सुवीर्यं रयिं सोम रिरीहि णः । इन्दविन्द्रेण नो युजा ॥६॥[2]

१२र ३ १२ ३ १२र ३ २ ३ १ २र १ २र ३ २
पवमान सुवीर्यम् सु वीर्यम् । रयिम् सोम रिरीहि नः । इन्दो इन्द्रेण नः युजा ॥६॥

पदार्थः- हे **पवमान** पवित्रतादायक, **इन्दो** रसेन क्लेदक **सोम** आनन्दरसागार जगदीश ! त्वम् : **युजा अस्माकं सहायकेन इन्द्रेण** मनसा [यन्मनः स इन्द्रः । गो० उ० ४।११।] **नः** अस्मभ्यम् **सुवीर्यम्** सवीर्योपेतम् **रयिम्** ऐश्वर्यम् **रिरीहि** प्रापय । [रिणातिः गतिकर्मा निघं० २।१४।] ॥६॥

भावार्थः- परमात्मजीवात्ममनसां सख्येनैव मानवश्चरमोन्नतिं कर्तुं पारयति ॥६॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ- हे **पवमान** पवित्रतादायक, **इन्दो** रस से सराबोर करने वाले **सोम** आनन्द-रस के भण्डार जगदीश ! आप **नः युजा** हमारे सहायक **इन्द्रेण** मन द्वारा **नः** हमारे लिए **सुवीर्यम्** श्रेष्ठ वीरता से युक्त **रयिम्** ऐश्वर्य **रिरीहि** प्राप्त कराओ ॥६॥

भावार्थ- परमात्मा, जीवात्मा और मन की मित्रता से ही मनुष्य चरम उन्नति करने में समर्थ होता है ॥६॥

॥४॥ अथ 'उद् धेदभि' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सुकक्ष आङ्गिरसः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

---

१. ऋ० ९।११।८ ।

२. ऋ० ९।११।९, 'णः' इत्यत्र 'नः' इति पाठः ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १२५ क्रमाङ्के परमात्मानं सम्बोधिता । अत्र परमात्मप्रचारोऽप्युन्नत एव राष्ट्रे भवितुं शक्यमिति राष्ट्रोन्नत्यर्थं नृपतिविषय उच्यते ।

१४५०. उद् घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम् । अस्तारमेषि सूर्य ।।१।।[1]

उत् घ इत् अभि श्रुतामघम् श्रुत मघम् वृषभम् नर्यापसम् नर्य अपसम् ।
अस्तारम् एषि सूर्य ।।१।।

पदार्थः- हे **सूर्य** सूर्य इव प्रतापिन् वीर ! त्वम् **श्रुतामघम्** प्रख्यातधनम्, **वृषभम्** नर्यापसम् नर हितकर्माणम्, **अस्तारम्** दुःखदुर्गुणदुर्व्यसनादीनां दूरं प्रक्षेप्तारं प्रजाजनम् **घ इत्** एव **अभि** अभिलक्ष्य **उदेषि** नृपतित्वेन राष्ट्रगगने उद्गच्छसि ।।१।।

भावार्थः- यस्य राज्ये सुयोग्याः प्रजाः सन्ति स एव राजा सुयोग्यो मन्यते ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिके में १२५ क्रमांक पर परमात्मा को सम्बोधन की गयी थी । परमात्मा का प्रचार भी उन्नत राष्ट्र में ही हो सकता है, इसलिए यहाँ राष्ट्रोन्नति के निमित्त राजा का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ- हे **सूर्य** सूर्य के समान प्रतापी वीर ! आप **श्रुतामघम्** प्रसिद्ध धनों वाले, **वृषभम्** बलवान् **नर्यापसम्** मनुष्यों के हितकारक कर्मों को करने वाले, **अस्तारम्** दुःख, दुर्गुण, दुर्व्यसन आदि को परे फेंक देने वाले प्रजाजन को **घ इत्** ही **अभि** लक्ष्य करके **उदेषि** राजा रूप में राष्ट्रगगन में उदित होते हो ।।१।।

भावार्थ- जिसके राज्य में सुयोग्य प्रजाएँ हैं वही राजा सुयोग्य माना जाता है ।।१।।

अथ नृपतेः सेनापतेर्वा शौर्यं वर्णयति ।

१४५१. नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा । अहिं च वृत्रहावधीत् ।।२।।[2]

नव यः नवतिम् पुरः । बिभेद बाह्वोजसा बाहु ओजसा ।
अहिम् च वृत्रहा वृत्र हा अवधीत् ।।२।।

पदार्थः- **यः** यो वीरः **बाह्वोजसा** भुजबलेन **नव नवतिं पुरः** नवतिनवतिशत्रुयोद्धृणां नव व्यूहान् **बिभेद** भिनत्ति, **यः वृत्रहा** वृत्रहा शत्रुहन्ता वीरः **अहिं च** आहन्तारं शत्रुदलं चापि **अवधीत्** निहन्ति, स एव राजा सेनापतिर्वा भवितुमर्हति ।।२।।

भावार्थः- स एव जनो राजपदे सेनापतिपदे वाऽभिषेच्यो य एकोऽपि सन् बहूनपि शत्रून् पराजेतुं समर्थो भवेत् ।।२।।

अगले मन्त्र में राजा वा सेनापति की शूरता का वर्णन है ।

---

१. ऋ० ८।९३।१, अथ० २०।७।१, साम० १२५ ।

२. ऋ० ८।९३।२, अथ० २०।७।२ ।

पदार्थ– **यः** जो वीर **बाह्वोजसा** बाहुबल से **नव नवतिं पुरः** नव्वे-नव्वे शत्रु योद्धाओं के नौ व्यूहों को **बिभेद** तोड़ देता है, और जो **वृत्रहा** शत्रुहन्ता वीर **अहिं च** मार-काट करने वाले शत्रुदल को भी **अवधीत्** विध्वस्त कर देता है, वही राजा या सेनापति बनने योग्य है ॥२॥

भावार्थ– उसी मनुष्य को राजा के पद पर वा सेनापति के पद पर अभिषिक्त करना चाहिए जो अकेला होता हुआ भी बहुत-से शत्रुओं के छक्के छुड़ा सके ॥२॥

अथ राजा प्रजाभ्यः किं कुर्यादित्याह ।

२ ३ १ २ ३१र २र ३ २ ३ १ २ ३१ २
१४५२. स न इन्द्रः शिवः सखाश्वावद्गोमद्यवमत् । उरुधारेव दोहते ॥३॥[1]

२ ३ १ २र ३ २ १ २र ३ १ २र १ २र १ २र
सः नः इन्द्र शिवः सखा स खा । अश्वावत् गोमत् यवमत् ।
३१ २ ३ २ ३
उरुधारा उरु धारा इव दोहते ॥३॥

पदार्थः– **सः** असौ **नः** अस्माकम् **शिवः** मङ्गलकरः **सखा** सुहृत् **इन्द्रः** वीरो राजा **अश्वावत्** अश्वयुक्तम्, **गोमत्** गोयुक्तम्, **यवमत्** यवाद्यन्नयुक्तं धनम् **दोहते** अस्मभ्यं दुह्यात् । कथमिव ? **उरुधारा इव** विस्तीर्णधारा धेनुर्यथा क्षीरं प्रयच्छति तद्वत् ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः– स एव राजा भवितुमर्हति यः प्रजाजनान् धनधान्यगवाश्वादिभिः सम्पद्भिः समृद्धान् कुर्यात्, यतः समृद्धा एव जना अध्यात्ममार्गमीहन्ते ॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मोपासनाविषयस्य नृपनीतेश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्बोध्या ॥

अगले मन्त्र में यह कहते हैं कि राजा प्रजाओं के लिए क्या करे ।

पदार्थ– **सः** वह **नः** हमारा **शिवः** मंगलकारी, **सखा** मित्र **इन्द्रः** वीर राजा **अश्वावत्** घोड़ों से युक्त, **गोमत्** गायों से युक्त और **यवमत्** जौ आदि अन्नों से युक्त धन को **दोहते** हमारे लिए दुह कर दे , **उरुधारा इव** जैसे मोटी धारों वाली दुधारू गाय दूध देती है ॥३॥

यहाँ उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ– वही राजा होने योग्य है जो प्रजाजनों को धन, धान्य, गाय, घोड़े आदि सम्पदाओं से समृद्ध कर सके, क्योंकि समृद्ध लोग ही अध्यात्म-मार्ग पर चलना चाहते हैं ॥३॥

इस खण्ड में परमात्मा की उपासना के तथा राजनीति के विषय का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ॥

तेरहवें अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ।

॥५॥ अथ 'विभ्राड्' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** विभ्राट् सौर्यः । **देवता** सूर्यः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

---

१. ऋ० ८।९३।३, अथ० २०।७।३ ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ६२८ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र सूर्यवर्णनमुखेन परमात्म-महिमानमाचष्टे ।

१४५३. विभ्राड् बृहत् पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम् ।
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पिपर्त्ति बहुधा वि राजति ॥१॥[1]

विभ्राट् वि भ्राट् बृहत् पिबतु सोम्यम् मधु।
आयुः दधत् यज्ञपतौ यज्ञ पतौ अविह्रुतम् अवि ह्रुतम् ।
वातजूतः वात जूतः यः अभिरक्षति अभि रक्षति त्मना।
प्रजाः प्र जाः पिपर्ति बहुधा वि राजति ॥१॥

पदार्थः— **विभ्राट्** विशेषेण भ्राजमानः सूर्यः । [भ्राजृ दीप्तौ । विशेषेण भ्राजते इति विभ्राट् ।] **यज्ञपतौ** यजमाने **अविह्रुतम्** अकुटिलम् । [ह्रु कौटिल्ये भ्वादिः । हु ह्वरेश्छन्दसि । अ० ७।२।३१ इति धातोर्हुः आदेशः ।] **आयुः** आयुष्यम् **दधत्** प्रयच्छन् **बृहत्** महत् **सोम्यम्** सोमाद्योषधिरसमयम्। [मये च । अ० ४।४।१३८ इति मयडर्थे यः प्रत्ययः] **मधु** उदकम् । [मधु इति उदकनामसु पठितम् । निघं० १।१२ ।] **पिबतु** आचामतु । **वातजूतः** वातेन सूत्रात्मकेन प्राणेन जूतः प्रेरितः **यः** सूर्यः **त्मना** आत्मना **अभि रक्षति** विश्वं सौरमण्डलम् परित्रायते, **प्रजाः** जडचेतनात्मिकाः **पिपर्ति** पालयति पूरयति च, **बहुधा** अनेकधा **विराजति** विशेषण दीप्यते च, प्रतिमासं नवनवरूपधारणात्, [तथा चोच्यते 'द्वादश आदित्याः ।' काठ० सं० २१।५ इति] ॥१॥[2]

भावार्थः— जगदीश्वरस्यैवायं महिमा यत् तेन वृष्टिकर्ता परमोपकर्त्ता तेजोगोलकः सूर्यलोको विरचित इति ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ६२८ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में की जा चुकी है । यहाँ सूर्य के वर्णन द्वारा परमात्मा की महिमा का प्रकाशन है ।

पदार्थ— **विभ्राट्** विशेष रूप से भ्राजमान सूर्य **यज्ञपतौ** यजमान को **अविह्रुतम्** अकुटिल **आयुः** आयु **दधत्** प्रदान करता हुआ **बृहत्** विशाल **सोम्यम्** सोम आदि ओषधियों के रस से युक्त **मधु** जल को **पिबतु** पिये, **वातजूतः** सूत्रात्मक प्राण के द्वारा प्रेरित **यः** जो सूर्य **त्मना** अपने-आप **अभि रक्षति** संपूर्ण सौरमण्डल की रक्षा करता है, **प्रजाः** जड़-चेतन-रूप प्रजाओं को **पिपर्ति** पालित-पूरित करता है और **बहुधा** अनेक रूपों में **वि राजति** विराजमान होता है, क्योंकि प्रत्येक मास में नवीन-नवीन रूप धारण करता है ॥१॥

भावार्थ— यह जगदीश्वर की ही महिमा है कि उसने वर्षा करने वाला, बहुत उपकार करने वाला तेज का गोला सूर्यलोक रचा है ॥१॥

---

१. ऋ० १०।१७०।१, य० ३३।३०, उभयत्र 'प्रजाः पुपोष पुरुधा विराजति' इति पाठः । साम० ६२८ ।
२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजपुरुषाः कीदृशाः स्युरिति विषये व्याख्यातवान् ।

अथ सूर्यस्य ज्योतिरुपवर्ण्य परमात्ममहिमानं प्रकाशयति ।

३ २ ३१र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३१ २ ३ १र २र
१४५४. विभ्राड् बृहत्सुभृतं वाजसातमं धर्म दिवो धरुणे सत्यमर्पितम् ।
३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहन्तमं ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा ॥२॥[1]

३ २ ३ २ ३२ १२र ३ १ २ ३ २
विभ्राट् वि भ्राट् बृहत् सुभृतम् सु भृतम् वाजसातमम् वाज सातमम् ।
१२र ३२ ३१ २ ३ २ १ २र
धर्मन् दिवः धरुणे सत्यम् अर्पितम् ।
३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
अमित्रहा अमित्र हा वृत्रहा वृत्र हा दस्युहन्तमम् दस्यु हन्तमम् ।
१ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
ज्योतिः जज्ञे असुरहा असुर हा सपत्नहा सपत्न हा ॥२॥

पदार्थः— पश्यत, **विभ्राट्** विभ्राजमानम् **बृहत्** विशालम्, **सुभृतम्** सुपुष्टम्, **वाजसातमम्** अन्नस्य बलस्य वा दातृतमम्, **सत्यम्** सत्यनियमम्, **धर्मन्** धर्मणि ग्रहोपग्रहाणां धारके **दिवः धरुणे** द्युलोकस्य स्तम्भे सूर्ये **अर्पितम्** निक्षिप्तम् **अमित्रहा** अमित्राणां रोगादीनां हन्तृ, **वृत्रहा** वृत्रस्य अन्धकारस्य हन्तृ, **दस्युहन्तमम्** दस्यूनां परपदार्थापहर्तॄणां तस्करादीनाम् अपगमयितृतमम्, **असुरहा** अप्रशस्तानां दुर्भिक्षादीनां हन्तृ, **सपत्नहा** सपत्नानां सहपतनशीलानां रोगकृमीणां हन्तृ, **ज्योतिः** सौरं तेजः **जज्ञे** प्रादुर्भवति ॥२॥

अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः। 'हा' इत्यस्य चतुः प्रयोगाद् वृत्त्यनुप्रासः, 'तमं' 'त्रहा' इत्यनयोर्द्विरुक्तेश्च-छेकः ॥२॥

भावार्थः— रात्रेरन्धतमसं विध्वंसयत् सूर्यज्योतिः परमात्मभासं प्रति संकेतयति ॥२॥

अगले मन्त्र में सूर्य की ज्योति का वर्णन करके परमात्मा की महिमा प्रकाशित की गयी है ।

पदार्थ— देखो, **विभ्राट्** देदीप्यमान, **बृहत्** विशाल, **सुभृतम्** अत्यन्त पुष्ट, **वाजसातमम्** अन्न और बल की अतिशय देने वाली, **सत्यम्** सत्य नियमों वाली **धर्मन्** ग्रहोपग्रहों के धारणकर्ता **दिवः धरुणे** द्युलोक के स्तम्भरूप सूर्य में **अर्पितम्** अर्पित, **अमित्रहा** रोग आदि शत्रुओं को नष्ट करने वाली, **वृत्रहा** अन्धकार की विनाशक, **दस्युहन्तमम्** चोर आदि दस्युओं को दूर करने वाली, **असुरहा** अप्रशस्त दुर्भिक्ष आदि को विनष्ट करने वाली, **सपत्नहा** एक साथ आक्रमण करने वाले रोगकृमियों की विनाशक **ज्योतिः** सूर्य की ज्योति **जज्ञे** प्रादुर्भूत हुई है ॥२॥

यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार है । 'हा' का चार बार प्रयोग होने के कारण वृत्त्यनुप्रास है । 'तमं' और 'त्रहा' के दो-दो बार प्रयोग में छेकानुप्रास है ॥२॥

भावार्थ— रात्रि के घोर अन्धकार को विध्वस्त करती हुई सूर्य की ज्योति परमात्मा की आभा की ओर संकेत करती है ॥२॥

---

१. ऋ० १०।१७०।२ 'धर्मं' इत्यत्र 'धर्मन्' इति पाठः ।

अथ पुनः सूर्यस्य ज्योतिर्वर्णयति ।

३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१४५५. **इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिद्धनजिदुच्यते बृहत् ।**
३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्यो दृश उरु पप्रथे सह ओजो अच्युतम् ॥३॥[1]

३ २ १ २र १ २र १ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३
इदम् श्रेष्ठम् ज्योतिषाम् ज्योतिः उत्तमम् । विश्वजित् विश्व जित् धनजित् धन
२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २र १ २र ३ २
जित् उच्यते बृहत् । विश्वभ्राट् विश्व भ्राट् भ्राजः महि सूर्यः दृशे ।
३ २ ३ १ २र १ २र १ २र ३
उरु पप्रथे सहः ओजः अच्युतम् अ च्युतम् ॥३॥

पदार्थः– **इदम्** एतत् पुरो दृश्यमानम्, **श्रेष्ठम्** प्रशस्यतमम्, **ज्योतिषां ज्योतिः** प्रकाशकानां ग्रहोपग्रहाणाम् वह्निविद्युदादीनां चापि प्रकाशकम्, **उत्तमम्** उत्कृष्टतमम्, **बृहत्** सुविस्तीर्णं सौरं तेजः **विश्वजित्** विश्वजेतृ, **धनजित्** धनानां जेतृ च **उच्यते** कथ्यते । **विश्वभ्राट्** विश्वस्य सौरमण्डलस्य प्रकाशयिता, **भ्राजः** भ्राजमानः **सूर्यः** आदित्यः **दृशे** दर्शनाय **महि** महत् **उरु** विस्तीर्णम् **सहः** तमसामभिभवितृ, **अच्युतम्** इतरैर्ज्योतिर्भिः अपराभूतम् **ओजः** तेजः **पप्रथे** विस्तारयति ॥३॥

अत्रापि स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥३॥

भावार्थः– दिवि भुवि च सर्वत्र विस्तीर्णं सूर्यज्योतिः परमेश्वस्यैव यशः प्रकाशयति ॥३॥

अगले मन्त्र में फिर सूर्य की ज्योति का वर्णन है ।

पदार्थ– **इदम्** यह सामने दिखायी देती हुई, **श्रेष्ठम्** श्रेष्ठ, **ज्योतिषां ज्योतिः** ज्योतियों की ज्योति अर्थात् प्रकाशक ग्रह-उपग्रह तथा अग्नि, विद्युत् आदि को भी प्रकाशित करने वाली **उत्तमम्** उत्कृष्टतम, **बृहत्** विस्तीर्ण सूर्य की ज्योति **विश्वजित्** सबको जीतने वाली और **धनजित्** धनों को जीतने वाली **उच्यते** कही जाती है । **विश्वभ्राट्** सम्पूर्ण सौरमण्डल का प्रकाशक, **भ्राजः** देदीप्यमान **सूर्यः** सूर्य **दृशे** देखने के लिए **महिः** महान् **उरु** विस्तीर्ण **सहः** अन्धकार को तिरस्कृत करने वाले, **अच्युतम्** अन्य ज्योतियों से तिरस्कृत न होने वाले **ओजः** तेज को **पप्रथे** फैला रहा है ॥३॥

यहाँ भी स्वभावोक्ति अलंकार है ॥३॥

भावार्थ– द्युलोक और भूलोक में सर्वत्र फैली हुई सूर्य की ज्योति परमेश्वर के ही यश को प्रकाशित करती है ॥३॥

॥६॥ अथ 'इन्द्रं क्रतुं' इत्यादिकस्य षष्ठस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** – बार्हतः प्रगाथः (१ विषमाबृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ।
तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २५९ क्रमाङ्के परमात्मानमाचार्यं नृपतिं च सम्बोधिता । अत्र परमात्मानं प्रार्थयते ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१४५६. **इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।**
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥१॥[2]

१ २र १ २र ३ २ ३ २ ३ १ २र १ २र
इन्द्र क्रतुम् नः आ भर । पिता पुत्रेभ्यः पुत् त्रेभ्यः यथा ।
१ २र ३ २ ३ १ २र ३ २ १ २र ३
शिक्ष नः अस्मिन् पुरुहूत पुरु हूत यामनि । जीवाः ज्योतिः अशीमहि ॥१॥

---

१. ऋ० १०।१७०।३ ।

२. ऋ० ७।३२।२६, अथ० १८।३।६७ यमः देवता, २०।७९।१ । साम० २५९ ।

पदार्थः— हे **इन्द्र** विघ्नविहन्तः सर्वविद्य सर्वकारिन् सर्वशक्तिमन् परमात्मन् ! त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **क्रतुम्** प्रज्ञां कर्म च **आ भर** आहर, **यथा** येन प्रकारेण **पिता** जनकः **पुत्रेभ्यः** सन्तानेभ्यः क्रतुं प्रज्ञां कर्म च आहरति । हे **पुरुहूत** बहुभिराहूत जगदीश्वर ! त्वम् **अस्मिन् यामनि** एतस्मिन् संसारमार्गे **नः** अस्मान् **शिक्ष** कर्तव्याकर्तव्यं बोधय । **जीवाः** जीवनेनानुप्राणिताः वयम्, त्वत्सकाशात् **ज्योतिः** दिव्यं प्रकाशम् **अशीमहि** प्राप्नुयाम ॥१॥[1]

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— यथा माता पिताऽऽचार्यश्च मनुष्यस्य शिक्षकाः सन्ति तथा परमेश्वरोऽपि । सोऽन्तरात्मं प्रविष्टः सदैव सत्यासत्ये उपदिशति ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २५९ क्रमांक पर परमात्मा और आचार्य को सम्बोधित की गयी थी । यहाँ परमात्मा से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** विघ्नविनाशक, विश्ववेत्ता, सर्वकारी, सर्वशक्तिमान् परमात्मन् ! आप **नः** हमें **क्रतुम्** प्रज्ञा और कर्म **आ भर** प्रदान करो, **यथा** जिस प्रकार **पिता** पिता **पुत्रेभ्यः** सन्तानों को प्रदान करता है । हे **पुरुहूत** बहुतों से पुकारे जाने वाले जगदीश्वर ! आप **अस्मिन् यामनि** इस संसार-मार्ग में **नः** हमें **शिक्ष** कर्तव्य-अकर्तव्य की शिक्षा दो । **जीवाः** जीवन से अनुप्राणित हम, आपके पास से **ज्योतिः** दिव्य ज्योति को **अशीमहि** प्राप्त करें ॥१॥

यहाँ उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— जैसे माता, पिता और आचार्य मनुष्य के शिक्षक हैं, वैसे ही परमेश्वर भी है । वह अन्तरात्मा में प्रविष्ट हुआ सदा ही सत्य-असत्य का उपदेश करता रहता है ॥१॥

अथ पुनरपि परमात्मा प्रार्थ्यते ।

१४५७. मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो३ माशिवासोऽव क्रमुः ।
त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि ॥२॥[2]

मा नः अज्ञाताः अ ज्ञाताः वृजनाः दुराध्यः दुः आध्यः मा अशिवासः
अ शिवासः अव क्रमुः । त्वया वयम् प्रवतः शश्वतीः अपः । अति शूर तरामसि ॥२॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** जगदीश ! **मा** नैव **अज्ञाताः** अपरिचिताः **वृजनाः**[3] बलवन्तो योद्धारो वा । ['मध्योदात्तं तु वृजनं वर्तते बलयुद्धयोः' इति वेङ्कटमाधवः[4]। पुंसि चायमन्तर्णीतमत्वर्थः । कृपृवृजिमन्दिनिधाञः क्युः । उ० २।८२ इत्यनेन वृजी वर्जने धातोः क्युः प्रत्ययः ।] **दुराध्यः** दुरभिसन्धयः शत्रवः, **मा** नैव च अशिवासः अभद्राः

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिनापि मन्त्रोऽयं परमात्मपक्षे व्याख्यातः ।

२. ऋ० ७।३२।२७, अथ० २०।७९।२, उभयत्र 'माशिवासो अव क्रमुः' इति सन्धिरहितः पाठः ।

३. वृजनाः हिंसकाः— इति सा० । वक्रकर्माणः—इति वि० ।

४. देवराजयज्वना निघण्टुव्याख्याने वृजनपदे उद्धृतमिदम् ।

परिचिताः जनाः **नः** अस्मान् **अवक्रमुः** आक्राम्येयुः । [अवपूर्वः क्रमु पादविक्षेपे, लिङ्, बहुलं छन्दसि । अ० २।४।७३ इति शपो लुक् ।] हे **शूर** वीर जगदीश्वर ! **त्वया** तव साहाय्येन **प्रवतः** प्रकृष्टाचरणाः । [प्रोपसर्गात् 'उपसर्गाच्छन्दसि' धात्वर्थे । अ० ५।१।११८ इत्यनेन वतिः प्रत्ययः।] **वयम्** तवोपासकाः **शश्वतीः** बह्वीः **अपः** नदीः, नदीवत् उद्वेल्लतीः बाधाः इत्यर्थः **अति तरामसि** पारयेम ॥२॥[1]

भावार्थः— यथा शत्रवस्तथैव सम्बन्धिजना अपि कदाचित् पापादिकर्मणि लिम्पन्ति, विघ्नाश्चापि धर्ममार्गे बाधका जायन्ते । परमेश्वराद् बलं प्राप्य तान् सर्वान् वयमुल्लङ्घेमहि ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा से प्रार्थना है ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** जगदीश ! **मा** न तो **अज्ञाताः** अज्ञात **वृजनाः** बलवान् वा युद्ध करने वाले, **दुराध्यः** बुरे मनसूबे बांधने वाले शत्रु और **मा** न ही **अशिवासः** अभद्र परिचित लोग **नः** हमें **अवक्रमुः** पद्दलित कर सकें । हे **शूर** वीर जगदीश्वर ! **त्वया** आपकी सहायता से **प्रवतः** उत्कृष्ट आचरण वाले **वयम्** हम आपके उपासक **शश्वतीः** बहुत-सी **अपः** नदियों को अर्थात् नदियों के समान उमड़ने वाली बाधाओं को **अति तरामसि** पार कर लेवें ॥२॥

भावार्थ— जैसे शत्रु लोग, वैसे ही सम्बन्धी जन भी कभी-कभी पाप आदि कर्मों में लिप्त करते हैं और विघ्न भी धर्ममार्ग में बाधक होते हैं। परमेश्वर से बल पाकर उन सबको हम लाँघ जाएँ ॥२॥

॥७॥ अथ 'अद्याद्या' इत्यादिकस्य सप्तमस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भर्गः प्रागाथः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

अथ परमेश्वरं रक्षार्थं प्रार्थयते ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३१ २
१४५८. अद्याद्या श्वःश्व इन्द्र त्रास्व परे च नः ।

१ २ ३१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
विश्वा च नो जरितृन्त्सत्पते अहा दिवा नक्तं च रक्षिषः ॥१॥[2]

३ १ २ ३ २ ३ १ २र ३ १ २र १ २र ३ २ ३
अद्याद्य अद्य अद्य श्वःश्वः श्वः श्वः इन्द्र त्रास्व परे च नः ।

१ २र ३ २ ३ १ २र ३ १ २र १ २र ३
विश्वा च नः जरितॄन् सत्पते सत् पते अहा अ हा । दिवा नक्तम् च रक्षिषः ॥१॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** विघ्नविदारक परमात्मन् ! त्वम् **अद्य अद्य** अस्मिन् अस्मिन् अहनि **श्वः श्वः** श्वस्तने श्वस्तने अहनि, **परे च** परस्मिन् अहनि च **नः** अस्मान् **त्रास्व** त्रायस्व । [त्रैङ् पालने भ्वादिः । 'बहुलं छन्दसि' अ० २।४।७३ इति शपो लुक्।] हे **सत्पते** सतां पालक ! **विश्वा च अहा** विश्वानि च अहानि **जरितॄन् नः** स्तोतॄन् अस्मान् **दिवा नक्तं च** दिने रात्रौ च **रक्षिषः** रक्ष । [रक्षेर्लेटि सिपि अडागमे सिबागमे च रूपम्] ॥१॥

भावार्थः— मनुष्याणां जीवने कुसङ्गादिना पतनस्य बहवोऽवसराः समायान्ति । परमेश्वरे दृढो विश्वासस्तत्र तान् रक्षति ॥१॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर से रक्षा के लिए प्रार्थना करते हैं ।

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं 'मनुष्याः समुद्रादिकं केन तरेयुः' इति विषये व्याख्यातः ।

२. ऋ० ८।६१।१७ ।

पदार्थ- हे **इन्द्र** विघ्ननाशक परमात्मन् ! आप **अद्य अद्य** आज-आज, **श्वः श्वः** कल-कल, **परे च** और अगले दिनों में भी **नः** हमारी **त्रास्व** रक्षा करो । हे **सत्पते** सज्जनों के पालक ! **विश्वा च अहा** सभी दिनों में **जरितॄन् नः** हम स्तोताओं की **दिवा नक्तं च** दिन-रात **रक्षिषः** रक्षा करते रहो ॥१॥

भावार्थ- मनुष्यों के जीवन में कुसंग आदि के कारण नीचे गिरने के बहुत-से अवसर आते हैं । परमेश्वर पर अटूट विश्वास उन अवसरों पर उनकी रक्षा करता है ॥१॥

अथ परमात्मनो गुणकर्माणि वर्णयति ।

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ २
१४५९. **प्रभङ्गी शूरो मघवा तुवीमघः सम्मिश्लो वीर्याय कम् ।**
३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
उभा ते बाहू वृषणा शतक्रतो नि या वज्रं मिमिक्षतुः ॥२॥[1]

२ ३ २ १ २र ३ १ २ ३ १२ ३ २ ३
प्रभङ्गी प्र भङ्गी शूरः मघवा तुवीमघः तुवि मघः ।
१ २र ३ क२ ३ २ ३ १ २ १२र ३
संमिश्लः सम् मिश्लः वीर्याय कम् । उभा ते बाहूइति वृषणा शतक्रतो शत क्रतो ।
२ १ २र ३ १ २
नि या वज्रम् मिमिक्षतुः ॥२॥

पदार्थः- हे इन्द्र जगदीश्वर ! त्वम् **प्रभङ्गी** दुष्टानां दुर्गुणानां च प्रभञ्जकः, **शूरः** वीरः, **मघवा** ऐश्वर्यवान्, **तुवीमघः** बहुदानः, **वीर्याय** अस्मभ्यं बलप्रदानाय **कम्** किल **सम्मिश्लः** सम्मिश्लः, अस्माभिः सह सख्यस्य स्थापयिता, वर्तसे इति शेषः । हे **शतक्रतो** बहुप्रज्ञ बहुकर्मन् ! **उभा** द्वावपि **वृषणा** वृषणौ वर्षकौ वायुसूर्यौ **ते** तव **बाहु** भुजौ स्तः, **या** यौ **वज्रम्** उदकम् । [वज्रो वा आपः । श० १।१।१।१७ ।] **निमिक्षतुः** सिञ्चतः । [मिह सेचने अस्मात् स्वार्थे सन् । लिटि 'अमन्त्रे' इति निषेधात् आमभावः] ॥२॥

अत्र वर्षकयोर्वायुसूर्ययोर्बाहुत्वारोपाद् रूपकालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः- यथा कश्चिद् बाहुमान् मनुष्यो बाह्वोर्घटादिकं गृहीत्वा भूमौ जलं सिञ्चति तथैव जगदीश्वरो वायुसूर्यरूपयोर्बाह्वोर्मेघरूपं घटं गृहीत्वा वृष्ट्युदकं भूमौ वर्षति ॥२॥

अस्मिन् खण्डे सूर्यवर्णनद्वारा प्रत्यक्षतश्चापि परमात्मनो महिमवर्णनात् तं प्रति प्रार्थनाच्चैतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ।

अगले मन्त्र में परमात्मा के गुणकर्मों का वर्णन है ।

पदार्थ- हे जगदीश्वर ! आप **प्रभङ्गी** दुष्टों और दुर्गुणों के तीव्र भंजक, **शूरः** वीर, **मघवा** ऐश्वर्यवान्, **तुवीमघः** बहुत दानी, और **वीर्याय** हमें बल प्रदान करने के लिए **कम्** निश्चय ही **सम्मिश्लः** हमसे मिलने वाले, हमारे साथ सखित्व स्थापित करने वाले हो । हे **शतक्रतो** बहुत प्रज्ञा तथा बहुत कर्मों वाले ! **उभा** दोनों **वृषणा** वर्षा करने वाले वायु और सूर्य **ते** आपकी **बाहू** बाहुएँ हैं, **या** जो **वज्रम्** जल को **नि मिमिक्षतुः** निरन्तर सींचा करती हैं ॥२॥

यहाँ वर्षक वायु और सूर्य में बाहुओं के आरोप के कारण रूपक अलंकार ॥२॥

---

१. ऋ० ८।६१।१८ ।

भावार्थ– जैसे कोई बाहुधारी मनुष्य बाहुओं में घड़ा आदि पकड़कर भूमि पर जल सींचता है, वैसे ही जगदीश्वर वायु और सूर्य रूप बाहुओं में मेघ रूप घड़े को लेकर वर्षाजल भूमि पर बरसाता है ।।२।।

इस खण्ड में सूर्य के वर्णन द्वारा तथा प्रत्यक्षतः भी परमात्मा की महिमा का वर्णन होने से और उसके प्रति प्रार्थना होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ।।

तेरहवें अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ।

।।८।। अथ 'जनीयन्तो' इत्यादिकस्याष्टमस्य एकर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवता** सरस्वान् । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ गृहस्थकर्तव्यत्वेन परमात्मपूजामाह ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २
१४६०. जनीयन्तो न्वग्रवः पुत्रीयन्त सुदानवः । सरस्वन्तं हवामहे ।।१।।[1]

३ १ २ १२र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२र
जनीयन्तः नु अग्रवः । पुत्रीयन्तः पुत् त्रीयन्तः सुदानवः सु दानवः।
१२र ३
सरस्वन्तम् हवामहे ।।१।।

पदार्थः– **अग्रवः** गन्तारः, पुरुषार्थिनः, **जनीयन्तः** जनिर्जाया तामिच्छन्तः, **पुत्रीयन्तः** पुत्रपुत्रीः इच्छन्तः, **सुदानवः** सुदानकर्माणः गृहस्थाः वयम् **सरस्वन्तम्** आनन्दरसमयं परमात्मानम् **नु** सद्यः **हवामहे** आह्वयामः । [अग्रवः, अगि गतौ, अङ्गन्ति गच्छन्तीति अग्रवः । बाहुलकादौणादिकः उः प्रत्ययो धातोर्नलोपश्च । सुदानवः ददातीति दानुः 'दाभाभ्यां नुः । उ० ३।३२ इति ददातेर्नुः प्रत्ययः] ।।१।।

भावार्थः– ब्रह्मचारिणः स्नातका भूत्वा विदुषीं सच्चरित्रां गुणवतीं कन्यां विवाह्य प्रशस्तं सन्तानमुत्पाद्य पञ्चमहायज्ञादिगृहस्थकर्तव्यान्याचरन्तः परमात्मानमुपासीरन् ।।१।।

प्रथम मन्त्र में गृहस्थ के कर्तव्य के रूप में परमात्मा की पूजा का वर्णन है ।

पदार्थ– **अग्रवः** पुरुषार्थी, **जनीयन्तः** पत्नी को चाहने वाले, **पुत्रीयन्तः** पुत्र-पुत्री को चाहने वाले, **सुदानवः** उत्कृष्ट दान करने वाले हम गृहस्थ लोग **सरस्वन्तम्** आनन्दरसमय परमात्मा को **नु** शीघ्र ही **हवामहे** पुकारते हैं ।।१।।

भावार्थ– ब्रह्मचारी लोग स्नातक होकर विदुषी, सच्चरित्र, गुणवती कन्या से विवाह करके, प्रशस्त सन्तान उत्पन्न करके, पंचमहायज्ञ आदि गृहस्थ के कर्तव्यों का पालन करते हुए परमात्मा की उपासना करें ।।१।।

।।९।। अथ 'उत नः' इत्यादिकस्य नवमस्यैकर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। **देवता** सरस्वती। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

---

१. ऋ० ७।९६।४ ।

अथ वेदवाग्विषयमाह ।

१४६१. उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा । सरस्वती स्तोम्या भूत् ॥१॥[1]

उत नः प्रिया प्रियासु । सप्तस्वसा सप्त स्वसा सुजुष्टा सु जुष्टा ।
सरस्वती स्तोम्या भूत् ॥१॥

पदार्थः— **उत** अपि च **प्रियासु प्रिया** स्नेहमयीषु मातृषु प्रियतमा, **सप्तस्वसा** गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहती-पंक्तित्रिष्टुब्जगतीरूपसप्तभगिनीयुता, **सुजुष्टा** वेदज्ञैर्महर्षिभिः सुसेविता **सरस्वती** ज्ञानमयी वेदमाता **नः** अस्माकम् **स्तोम्या** स्तोतुमर्हा अध्येया **भूत्** भवतु ॥१॥[2]

भावार्थः— वेदानधीत्य ततो निखिला विद्याः परमात्मोपासनाप्रकारं च विज्ञायाभ्युदयनिःश्रेयसे साधनीये ॥१॥

अगले मन्त्र में वेदवाणी का विषय है ।

पदार्थ— **उत** और **प्रियासु प्रिया** प्यारी माताओं में अत्यधिक प्रिय, **सप्तस्वसा** गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती रूप सात बहिनों वाली, **सुजुष्टा** वेदज्ञ महर्षियों द्वारा भली-भाँति सेवित **सरस्वती** ज्ञानमयी वेदमाता **नः** हमारी **स्तोम्या** स्तुतिपात्र अर्थात् अध्ययन-अध्यापन की पात्र **भूत्** होवे ॥१॥

भावार्थ— वेदों का अध्ययन करके, उनसे सब विद्याएँ तथा परमात्मा की उपासना का प्रकार जानकर अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध करने चाहिएँ ॥१॥

॥१०॥ अथ 'तत्सवितुर्' इत्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** १ विश्वामित्रो गाथिनः, २ मेधातिथिः काण्वः, ३ शतं वैखानसाः। **देवता** १ सविता, २ ब्रह्मणस्पतिः, ३ अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ सवितुः परमेश्वरस्योपासनाविषयमाह ।

१४६२. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥१॥[3]

तत् सवितुः वरेण्यम् । भर्गः देवस्य धीमहि ।
धियः यः नः प्रचोदयात् प्र चोदयात् ॥१॥

---

१. ऋ० ६।६१।१० ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं वाक्पक्षे व्याख्याति—(सप्तस्वसा) सप्त पञ्च प्राणा मनो बुद्धिश्च स्वसेव यस्याः सा । (सरस्वती) सरो बह्वन्तरिक्षं सम्बद्धं विद्यते यस्याः सा ।

३. ऋ० ३।६२।१०, य० ३।३५, २२।९, ३०।२, ३६।३, आदौ 'भूर्भुवः स्वः' इत्यधिकम्, तै० सं० १।५।६।४, ४।१।११।१, तै० आ० १।११।२ ।

पदार्थः— अत्र त्रयः पादाः । त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् (मनु० २।७७) इति मनूक्तदिशा प्रतिपादं पृथगर्थोऽध्यवसेयः । **सवितुः** सर्वजगदुत्पादकस्य, सर्वशुभगुणप्रेरकस्य परमात्मनः **तत्** प्रसिद्धं ज्योतिः **वरेण्यम्** वरणीयं वर्तते इति शेषः ॥ **देवस्य** दातुः प्रकाशमानस्य प्रकाशयितुश्च तस्य परमात्मनः **भर्गः** तेजः, वयम् **धीमहि** दधीमहि ध्यायेम वा ॥ **यः** सविता देवः परमेश्वरः **नः** अस्माकम् **धियः** प्रज्ञाः कर्माणि च **प्रचोदयात्** सन्मार्गे प्रेरयेत् ॥१॥[1]

[सवितुः यः सर्वं जगत् सवति सूते वा, सर्वाणि शुभगुणकर्माणि सुवति च स सविता, तस्य । षु प्रसवैश्वर्ययोः भ्वादिः, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने अदादिः, षू प्रेरणे तुदादिः । **वरेण्यम्** वृञ् वरणे धातोः 'वृञ एण्यः' उ० ३।९८ इति एण्यप्रत्ययः। **देवस्य** देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा । निरु०७।१५। **भर्गः**[2] भृजी भर्जने । अञ्व्यञ्जियुजिभृजिभ्यः कुश्च' उ० ४।२।१७ इत्यसुन् प्रत्ययः धातोर्जकारस्य कुत्वं च । **धीमहि**[3] अत्र डुधाञ् धातोर्लिङि 'छन्दस्युभयथा' अ० ३।४।११७ इत्यार्धधातुकत्वात् शप् न आकारस्य ईत्वं च । **धियः**[4] धीः इति कर्मनाम प्रज्ञानाम च । निघं २।१, ३।९। **प्रचोदयात्** प्र पूर्वः चुद प्रेरणे, लेटि 'लेटोऽडाटौ' अ० ३।४।९४ इत्याडागमः । 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' अ० ३।४।९७ इति तिपः इकारस्य लोपः।]

भावार्थः— सर्वजगत्स्रष्टुः सूर्यस्येव सर्वान्तःकरणप्रकाशकस्य सर्वान्तर्यामिनः परमेश्वरस्य तेजसां ध्यानेन धारणेन च स उपासकस्य बुद्धीः कर्माणि च सन्मार्गे प्रेरयित्वा तं सुखयति ॥१॥

---

१. यः अस्मदीयाः बुद्धीः प्रकर्षेण चोदयति ध्यानधारणासमाधिभिः तस्य सवितुर्देवस्य दानादिगुणयुक्तस्य तत् परं प्रविशाम इति संक्षेपः— इति **विवरणकारः**। 'यः' सविता देवः नः अस्माकं धियः कर्माणि धर्मादिविषया वा बुद्धीः प्रचोदयात् प्रेरयेत्, 'तत्' तस्य देवस्य द्योतमानस्य सवितुः सर्वान्तर्यामितया प्रेरकस्य जगत्स्रष्टुः परमेश्वरस्य वरेण्यं सत्स्वरूपतया ज्ञेयतया च भजनीयं भर्गः अविद्यातत्कार्ययोर्भर्जनात् भर्गः स्वयं ज्योतिस्तेजः परब्रह्मात्मकं धीमहि वयं ध्यायामः । तत् इति **भर्गोविशेषणम्** । सवितुः देवस्य तत् तादृशं भर्गो धीमहि । किं तदित्यपेक्षायामाह—यः इति लिङ्गव्यत्ययः । यद् भर्गो धियः प्रचोदयात् तद् ध्यायेम, इति समन्वयः। यद्वा यः सविता सूर्यः धियः कर्माणि प्रचोदयात् प्रेरयति तस्य सवितुः सर्वस्य प्रसवितुः देवस्य द्योतमानस्य सूर्यस्य 'तत्' सर्वैर्दर्शनीयतया प्रसिद्धं वरेण्यं सर्वैः सम्भजनीयं भर्गः पापानां तापकं तेजोमण्डलं धीमहि ध्येयतया मनसा धारयेम । यद्वा, भर्गशब्देन अन्नमभिधीयते । यः सविता देवः धियः प्रचोदयति, तस्य देवस्य प्रसादात् तद् भर्गः अन्नादिलक्षणं फलं धीमहि धारयामः, तस्याधारभूता भवेमेत्यर्थः— इति **सायणः** । तत्सवितुः सावित्री गायत्री । तदिति षष्ठ्या विपरिणम्यते । तस्य सवितुः सर्वस्य प्रसवदातुः । ... वाक्यभेदेन वा योजना-तत् सवितुः वरणीयं वीर्यं तेजो वा देवस्य ध्यायामः, यश्च बुद्धीः प्रचोदयात् प्रेरयत्यस्माकं तं च ध्यायामः, स च सवितैव भवति । लिङ्गव्यत्ययेन वा योजना— तत् सवितुर्वरणीयं भर्गो देवस्य ध्यायामः धियो यद् भर्गः अस्माकं प्रेरयति— इति य० ३।३५ भाष्ये **उवटः** । तत्र **महीधर**-मतेऽपि त्रयोऽप्येते विकल्पाः । [सर्वे वयम्] यः नः धियः प्रचोदयात् [तस्य] सवितुः देवस्य तद् वरेण्यं भर्गः धीमहि—इति ऋ० ३।६२।१० इत्यस्य भाष्ये **दयानन्दः** । यजुर्भाष्येऽपि तेन सर्वत्र 'यः' इत्यनेन सविता देवो गृहीतः ।

२. भ्रस्ज पाके, असुन् । भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम् ६।४।४७ इति रोपधयोर्लोपो रमागमश्च, न्यङ्क्वादिपाठात् (७।३।५३) कुत्वम्—इति सा० ।

३. धीमहि, ध्यायतेर्लिङि 'बहुलं छन्दसि' अ० २।४।७६ इति सम्प्रसारणम्, व्यत्ययेनात्मनेपदम् । यद्वा धीङ् आधारे, लिङि 'बहुलं छन्दसि' २।४।७३ इति विकरणस्य लुक्—इति सा० । ध्यै चिन्तायाम्, अस्य छान्दसं सम्प्रसारणम्, ध्यायामः चिन्तयामः निदिध्यासं तद्विषयं कुर्म इति यावत्—इति य० ३।३५ भाष्ये उवटः। धीमहि ध्यायामः, छान्दसं सम्प्रसारणम्—इति तत्रैव महीधरः। दधीमहि इति ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च द० । ध्यायेम-इति य० ३६।३ इत्यस्य भाष्ये द०।

४. धीशब्दो बुद्धिवचनः कर्मवचनो वा वाग्वचनश्च, बुद्धीः कर्माणि वा वाचो वा—इति य० ३।३५ भाष्ये उवटः ।

प्रथम मन्त्र में सविता परमेश्वर की उपासना का विषय वर्णित है ।

पदार्थ– ऋचा में तीन पाद हैं । 'प्रत्येक वेद से एक-एक पाद दुहा गया है' (मनु० २।७७) । मनु के इस वचन के आधार पर प्रत्येक पाद का पृथक् अर्थ देखते हैं। १. **सवितुः** सकल जगत् की उत्पत्ति करने वाले, सब शुभगुणों के प्रेरक परमात्मा का **तत्** वह प्रसिद्ध तेज **वरेण्यम्** वरणीय है । २. **देवस्य** दाता, प्रकाशमान और प्रकाशक उस परमात्मा के **भर्गः** तेज को, हम **धीमहि** धारण करें वा ध्यावें । ३. **यः** जो सविता प्रभु **नः** हमारे **धियः** प्रज्ञाओं और कर्मों को **प्रचोदयात्** सन्मार्ग पर प्रेरित करे ॥१॥

भावार्थ– सकल जगत् के स्रष्टा, सूर्य के समान सबके अन्तःकरण को प्रकाशित करने वाले, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर के तेजों के ध्यान और धारण करने से वह उपासक की बुद्धियों और क्रियाओं को सन्मार्ग में प्रेरित करके उसे सुखी करता है ॥१॥

द्वितीया ऋक् पूर्वार्चिके १३९ क्रमाङ्के जगदीश्वरं सम्बोधिता । अत्राऽऽचार्य उच्यते ।

१४६३. सोमानां स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते । कक्षीवन्तं य औशिजः ॥२॥[1]

सोमानाम् स्वरणम् । कृणुहि ब्रह्मणः पते । कक्षीवन्तम् यः औशिजः ॥२॥

पदार्थः– हे **ब्रह्मणः पते** वेदानां पण्डितप्रकाण्ड आचार्य ! **यः** योऽहम् **औशिजः** अतिशयेन वेदाध्ययनकामः अस्मि, तं माम्, त्वम् **सोमानाम्** ज्ञानानाम् **स्वरणम्** प्रापकम् । [स्वरतिः गतिकर्मा । निघं० २।१४।] **कक्षीवन्तम्** कटिबद्धं च **कृणुहि** कुरु ॥२॥[2]

भावार्थः– गुरूणामिदं कर्तव्यं यत्ते शिष्यान् विदुषः कर्मयोगिनश्च कुर्युः । पुरुषार्थहीनं वैदुष्यमकिञ्चित्करं खलु ॥२॥

द्वितीय ऋचा पूर्वार्चिक में १३९ क्रमांक पर जगदीश्वर को सम्बोधित की गयी थी । यहाँ आचार्य को कहते हैं ।

पदार्थ– हे **ब्रह्मणः पते** वेदों के प्रकाण्ड पण्डित आचार्य ! **यः** जो मैं **औशिजः** बहुत अधिक वेदाध्ययन का इच्छुक हूँ उस मुझको, आप **सोमानाम्** ज्ञानों का **स्वरणम्** प्राप्तकर्ता, और **कक्षीवन्तम्** कटिबद्ध **कृणुहि** कर दो ॥२॥

भावार्थ – गुरुओं का यह कर्तव्य है कि वे शिष्यों को विद्वान् और कर्मयोगी बनायें । पुरुषार्थहीन विद्वत्ता कुछ काम नहीं आती है ॥२॥

तृतीया ऋक् पूर्वार्चिके ६२७ क्रमाङ्के परमात्मानं विद्वांसं राजानं च सम्बोधिता। अत्राऽऽचार्य उच्यते।

१४६४. अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥३॥[3]

अग्ने आयूंषि पवसे । आ सुव ऊर्जम् इषम् च नः । आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥३॥

---

१. ऋ० १।१८।१, य० ३।२८, उभयत्र 'सोमानम्' इति पाठः । साम० १३९, इन्द्रो देवता ।

२. दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयमृग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च परमेश्वरं सम्बोधितस्तत्र शिल्पविद्यावत्त्वं सर्वविद्याप्रवक्तृत्वं च प्रार्थितम् ।

३. ऋ० ९।६६।१९, य० १९।१८, ३५।१६, साम० ६२७, १५१८ ।

पदार्थः— हे **अग्ने** चरित्रोन्नायक आचार्यवर ! त्वम्, शिष्याणाम् **आयूंषि** जीवनानि **पवसे** पुनासि । **नः** शिष्येभ्यः अस्मभ्यम् **ऊर्जम्** आत्मबलं चरित्रबलं वा **इषं च** अभीष्टां विद्यां च **आसुव** समन्तात् प्रेरय, प्रदेहीत्यर्थः। **दुच्छुनाम्** दुर्गतिहेतुकाम् अविद्याम् **आरे** दूरे **बाधस्व** अपगमय ।।३।।[1]

भावार्थः— श्रेष्ठमाचार्यं प्राप्य विद्यार्थिनो पवित्रात्मानो विद्वांसश्च भूत्वा समावर्तनानन्तरं गृहमागत्य राष्ट्रमुन्नयन्तु ।।३।।

तृतीय ऋचा पूर्वार्चिक में ६२७ क्रमांक पर परमात्मा और विद्वान् राजा को सम्बोधित की गयी थी । यहाँ आचार्य को कहते हैं ।

पदार्थ— हे **अग्ने** चरित्र को ऊँचा उठाने वाले आचार्यवर ! आप शिष्यों के **आयूंषि** जीवनों को **पवसे** पवित्र करते हो । **नः** हम शिष्यों के लिए **ऊर्जम्** आत्मबल वा चरित्र-बल, **इषं च** और अभीष्ट विद्या **आसुव** प्रदान करो । **दुच्छुनाम्** दुर्गति करने वाली अविद्या को **आरे** दूर **बाधस्व** बाधित कर दो ।।३।।

भावार्थ— श्रेष्ठ आचार्य को प्राप्त कर विद्यार्थी पवित्रात्मा और विद्वान् होकर समावर्तन के अनन्तर घर आकर राष्ट्र को उन्नत करें ।।३।।

।।११।। अथ 'ता नः' इत्यादिकस्यैकादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** यजत आत्रेयः । **देवता** मित्रावरुणौ । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋगुत्तरार्चिके ११४५ क्रमाङ्के परमात्मजीवात्मविषये व्याख्याता । अत्र ब्राह्मणक्षत्रियौ प्रार्थ्येते ।

१४६५. ता नः शक्तं पार्थिवस्य महो रायो दिव्यस्य । महि वां क्षत्रं देवेषु ।।१।।[2]

ता नः शक्तम् पार्थिवस्य । महः रायः दिव्यस्य । महि वाम् क्षत्रम् देवेषु ।।१।।

पदार्थः— हे मित्रावरुणौ ब्राह्मणक्षत्रियौ ! **ता** तौ युवाम् **नः** अस्मान् **पार्थिवस्य** भौतिकस्य **दिव्यस्य** आध्यात्मिकस्य च **महः** महतः **रायः** ऐश्वर्यस्य प्राप्तये **शक्तम्** समर्थं कुरुतम् । [अत्र छान्दसो विकरणस्य लुक् ।] **देवेषु** विद्वत्सु **वाम्** युवयोः **महि** महत् **क्षत्रम्** क्षतात् शत्रुजन्यात् प्रहाराद् अविद्यादुर्व्यसनादिदोषाद् वा त्राणसामर्थ्यम् विद्यते इति शेषः ।।१।।[3]

भावार्थः— यत्र ब्राह्मणक्षत्रियौ समन्वितौ भूत्वा सद्विद्यासद्धर्मादिप्रदानेन शत्रुभ्यो रक्षणेन चोपकुरुतस्तद् राष्ट्रमत्युन्नतं जायते ।।१।।

प्रथम ऋचा उत्तरार्चिक में ११४५ क्रमांक पर परमात्मा और जीवात्मा के विषय में व्याख्यात की जा चुकी है । यहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे मित्र-वरुणो अर्थात् ब्राह्मण-क्षत्रियो ! **ता** वे तुम दोनों **नः** हमें **पार्थिवस्य** भौतिक, और **दिव्यस्य** आध्यात्मिक **महः** महान् **रायः** ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए **शक्तम्** समर्थ बनाओ । **देवेषु** विद्वानों में **वाम्** तुम दोनों का **महि** महान् **क्षत्रम्** शत्रुजन्य प्रहार से वा अविद्या-दुर्व्यसन आदि दोष से त्राण करने का सामर्थ्य है ।।१।।

---

१. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं परमेश्वरपक्षे विद्वत्पक्षे च व्याख्यातवान् ।

२. ऋ० ५।६८।३, साम० ११४५ ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं राज्यं कथमुन्नेयमिति विषये व्याचष्टे ।

भावार्थ— जहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलकर श्रेष्ठ विद्या, श्रेष्ठ धर्म आदि के प्रदान द्वारा और शत्रुओं से रक्षा द्वारा उपकारक होते हैं वह राष्ट्र अत्यधिक उन्नत हो जाता है ॥१॥

अथ पुनरपि ब्राह्मणक्षत्रियविषयमाह ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३१र २र ३१ २ ३ १ २
१४६६. ऋतमृतेन सपन्तेषिरं दक्षमाशाते । अद्रुहा देवौ वर्धेते ॥२॥[1]

३ २ ३१ २ १ २र ३ २ १ २र ३ १ २
ऋतम् ऋतेन सपन्ता । इषिरम् दक्षम् आशाते इति ।
३१ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २
अद्रुहा अ द्रुहा देवौ वर्धेतेइति ॥२॥

पदार्थः— इमौ मित्रावरुणौ ब्राह्मणक्षत्रियौ **ऋतम्** राष्ट्रयज्ञम् । [ऋतस्य योगे यज्ञस्य योगे इति यास्कः । निरु० ६।२२।] **ऋतेन** सत्येन ब्रह्मबलेन क्षात्रबलेन च **सपन्ता** सपन्तौ परिचरन्तौ । [सपतिः परिचरणकर्मा । निघं० ३।५।] **इषिरम्** प्रेरकम् **दक्षम्** उत्साहम् **आशाते** व्याप्नुतः । [इषिरम्— इष गतौ दिवादिः । इषिमदि० उ० १।५१ इत्यनेन किरच् प्रत्ययः । दक्षम् दक्षतिरुत्साहकर्मा । निरु० १।६।] **अद्रुहा** अद्रुहौ परस्परम् अद्रोग्धारौ, **देवौ** ब्रह्मवर्चसेन क्षात्रेण च तेजसा प्रकाशमानौ दानादिगुणयुक्तौ इमौ **वर्धेते** वृद्धिं प्राप्नुतः ॥२॥[2]

भावार्थः— परस्परं द्रोहमकुर्वाणौ प्रत्युत सहयोगं कुर्वन्तौ ब्राह्मणक्षत्रियौ ब्रह्मबलं क्षात्रबलं चोपयुज्य स्वयं वर्धमानौ राष्ट्रमपि वर्धयेते ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः ब्राह्मण-क्षत्रिय का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— ये मित्र-वरुण अर्थात् ब्राह्मण-क्षत्रिय **ऋतम्** राष्ट्र-यज्ञ की **ऋतेन** सत्य ब्रह्मबल वा सत्य क्षात्रबल से **सपन्ता** सेवा करते हुए **इषिरम्** प्रेरक **दक्षम्** उत्साह को **आशाते** प्राप्त करते हैं। **अद्रुहा** आपस में द्रोह न करने वाले **देवौ** ब्रह्मवर्चस वा क्षात्र तेज से प्रकाशमान, दानादि गुणों से युक्त ये **वर्धेते** वृद्धि प्राप्त करते हैं ॥२॥

भावार्थ— आपस में द्रोह न करते हुए, अपितु सहयोग करते हुए ब्राह्मण और क्षत्रिय ब्रह्मबल और क्षात्रबल का उपयोग करके स्वयं बढ़ते हुए राष्ट्र को भी बढ़ाते हैं ॥२॥

अथ ब्राह्मणक्षत्रिययोरुपकारमाह ।

३ १ २ ३क २र ३ २ड ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१४६७. वृष्टिद्यावा रीत्यापेषस्पती दानुमत्याः । बृहन्तं गर्तमाशाते ॥३॥[3]

३ १ २ ३ २ ३ क २ ३ २ ३ २ ३र १ २ १२र
वृष्टिद्यावा वृष्टि द्यावा रीत्यापा रीति आपा । इषः पतीइति दानुमत्याः ।
३१ २ १२र ३ १ २
बृहन्तम् गर्तम् आशातेइति ॥३॥

पदार्थः— **वृष्टिद्यावा** वृष्टिद्यावौ, वृष्टिः दिवः अन्तरिक्षाद् याभ्यां तौ, वर्षकामेष्ट्याऽन्तरिक्षाद् वृष्टिं कारयन्तौ इत्यर्थः, **रीत्यापा** रीत्यापौ, रीतिः प्रवाहः कुल्यादिषु अपां याभ्यां तौ, कुल्यादिनिर्माणेन कृष्यर्थं जलं

---

१. ऋ० ५।६८।४ ।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं विद्वद्वदितरैर्वर्तितव्यमिति विषये व्याख्यातः ।
३. ऋ० ५।६८।५ ।

सर्वत्र प्रापयन्तौ इत्यर्थः, **दानुमत्या** दानवत्याः लाभकारिण्याः **इषः** धनान्नविद्यादिसम्पत्तेः **पती** स्वामिनौ मित्रावरुणौ ब्राह्मणक्षत्रियौ **बृहन्तम्** महान्तम् **गर्तम्** राष्ट्ररथम् । [रथोऽपि गर्त उच्यते, गृणातेः स्तुतिकर्मणः, स्तुततमंयानम् । निरु० ३।५।] **आशाते** व्याप्नुतः ॥३॥[1]

भावार्थः— राष्ट्रे ब्राह्मणक्षत्रिया मिलित्वा यदा ज्ञानविज्ञानोत्कर्षेण वृष्टिं, नदीषु बन्धनिर्माणं, कुल्या-निर्माणं, सस्यसम्पदं, भूगर्भात् सुवर्णादिधातुप्राप्तिं, शिल्पविद्यया भूजलान्तरिक्षयानाद्याविष्करणमित्यादीनि कर्माणि कारयन्ति तदा राष्ट्रं समृद्धिशिखरं प्राप्नोति ॥३॥

अगले मन्त्र में ब्राह्मण-क्षत्रियों का उपकार वर्णित किया गया है ।

पदार्थ— वृष्टिद्यावा वर्षकामेष्टि द्वारा अन्तरिक्ष से वर्षा कराने वाले, **रीत्यापा** नहर आदि में जल प्रवाहित कराने वाले, **दानुमत्याः** लाभकारिणी **इषः** धन, अन्न, विद्या आदि की सम्पदा के **पती** स्वामी मित्र-वरुण अर्थात् ब्राह्मण-क्षत्रिय **बृहन्तम्** महान् **गर्तम्** राष्ट्ररूप रथ को **आशाते** चलाते हैं ॥३॥

भावार्थ— राष्ट्र में ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलकर जब ज्ञान-विज्ञान के उत्कर्ष से वर्षा, नदियों पर बाँध का निर्माण, नहरों का निर्माण, धान्य-समृद्धि, भूगर्भ से सोने आदि धातुओं की प्राप्ति, शिल्पविद्या से भूयान, जलयान, अन्तरिक्षयान आदि का आविष्कार इत्यादि कर्मों को कराते हैं तब राष्ट्र समृद्धि के शिखर पर पहुँच जाता है ॥३॥

॥१२॥ अथ 'युञ्जन्ति' इत्यादिकस्य द्वादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्राद्ये मन्त्रे इन्द्रशब्देन परमात्मसूर्यप्राणादयो गृह्यन्ते ।

३ १ २ ३ १ २३१२ २२ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २
१४६८. **युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥१॥**[2]

३ १ २ ३ २ ३ २ १२२ १२२ ३ १ २ १२२ ३ २ ३ २
युञ्जन्ति ब्रध्नम् अरुषम् । चरन्तम् परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥१॥

पदार्थः— **प्रथमः** परमात्मपरः । ये योगिनो विद्वांसः **ब्रध्नम्** महान्तम् । [ब्रध्न इति महन्नाम । निघं० ३।३।] **अरुषम्** आरोचमानम्, अहिंसकं करुणामयम् । [अरुषीः आरोचनात् । निरु० १२।७ । रुष हिंसार्थः, भ्वादिः।] **तस्थुषः** सर्वान् स्थावरान् जगत्पदार्थान् स्थिरप्रकृतीन् मनुष्यान् वा । [तस्थुषः इति मनुष्यनामसु पठितम् । निघं० २।३।] **परिचरन्तम्** परिव्याप्नुवन्तम् इन्द्रं परमेश्वरम् **युञ्जन्ति** स्वात्मना सह योजयन्ति, ते **रोचना** रोचनाः दीप्तिमन्तः सन्तः **दिवि** द्योतनात्मके मोक्षधाम्नि **रोचन्ते** शोभन्ते ॥

द्वितीयः आदित्यपरः । ये पृथिवीचन्द्रमंगलबुधबृहस्पत्यादयो लोकाः **ब्रध्नम्** महान्तम्, **अरुषम्** आरोचमानम्, **तस्थुषः** सर्वान् स्थावरान् पदार्थान् मनुष्यान् वा **परिचरन्तम्** स्वरश्मिभिर्व्याप्नुवन्तम् इन्द्रम् आदित्यम् **युञ्जन्ति** स्वात्मना सह योजयन्ति, ते **रोचना** रोचनाः दीप्तिमन्तः सन्तः **दिवि** आकाशे **रोचन्ते** प्रकाशन्ते । [असौ वा आदित्यो ब्रध्नोऽरुषः । श० १३।२।६।१] ॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं 'यदि मनुष्याः वृष्ट्यादिनिमित्तानि सूर्यवायुविद्युदादीनि जानीयुस्तर्हि तत्तत्कार्यं कर्तुं शक्नुयुरिति' विषये व्याख्यातवान् ।

२. ऋ० १।६।१, य० २३।५, अथ० २०।२६।४, ४७।१०, ६९।९ ।

तृतीयः प्राणपरः । ये उपासकाः **ब्रध्नम्** सर्वावयववृद्धिकरं महान्तम्, **अरुषम्** अहिंसकम्, **तस्थुषः** देहस्थान् सर्वानवयवान् **परिचरन्तम्** परिगच्छन्तम् इन्द्रं प्राणम् **युञ्जन्ति** प्राणायामरीत्या स्वात्मनि योजयन्ति, ते **रोचना** रोचनानि दीप्तिमन्ति नक्षत्राणि **दिवि** आकाशे इव इति लुप्तोपमम्, **रोचन्ते** तेजसा प्रकाशन्ते । [प्राण एवेन्द्रः । श० १२।९।१।१४ । नक्षत्राणि वै रोचना दिवि । तै० ब्रा० ३।९।४।२।]

चतुर्थः शिल्पपरः । ये शिल्पशास्त्रवेत्तारो विद्वांसो जनाः **ब्रध्नम्** महान्तम्, **अरुषम्** आरोचमानम्, **तस्थुषः** स्थावरान् वनौषध्यादीन् मनुष्यान् वा **परिचरन्तम्** परिप्राप्नुवन्तम् इन्द्रम् पार्थिवाग्निं विद्युतं वायुं सूर्यं वा **युञ्जन्ति** भूजलान्तरिक्षयानेषु यन्त्रकलासु च योजयन्ति, ते **दिवि** आकाशे **रोचना** रोचनानि दीप्तिमन्ति नक्षत्राणि इव **रोचन्ते** यशस्विनो भवन्ति ।।१।।[1]

अत्र श्लेषालङ्कारस्तृतीयचतुर्थयोर्लुप्तोपमा च ।।१।।

भावार्थः— यथा योगिभिः स्वात्मनि परमेश्वरस्य योगेन परमानन्दप्रकाशः शरीरावयवेषु प्राणयोगेन च प्राणसिद्धिः प्राप्यते, तथैव सूर्यरश्मीनां योगेनास्माकं सौरमण्डलस्य सर्वैर्ग्रहोपग्रहैर्भौतिकप्रकाशः शिल्पिभिर्यानादिष्वग्निवायुविद्युत्सूर्ययोगेन च यशः प्राप्यते ।।१।।

प्रथम मन्त्र में इन्द्र शब्द से परमात्मा, सूर्य, प्राण आदि ग्रहण किये गये हैं।

पदार्थ— प्रथम परमात्मा के पक्ष में । जो योगी विद्वान् लोग **ब्रध्नम्** महान्, **अरुषम्** तेजस्वी, अहिंसक, करुणामय, **तस्थुषः** सब स्थावर पदार्थों वा दृढ़ स्वभाव वाले मनुष्यों में **परिचरन्तम्** व्याप्त इन्द्र परमेश्वर का **युञ्जन्ति** अपने साथ योग करते हैं, वे **रोचना** दीप्तिमान् होते हुए **दिवि** प्रकाशमय मोक्षधाम में **रोचन्ते** शोभा पाते हैं।।

द्वितीय सूर्य के पक्ष में । जो पृथिवी, चन्द्रमा, मंगल, बुध, बृहस्पति आदि लोक **ब्रध्नम्** महान्, **अरुषम्** आरोचमान, **तस्थुषः** सब स्थावर पदार्थों वा मनुष्यों को **परिचरन्तम्** अपनी किरणों से व्याप्त करते हुए इन्द्र नामक सूर्य को **युञ्जन्ति** अपने साथ जोड़ते हैं, वे **रोचना** दीप्तिमान् होते हुए **दिवि** आकाश में **रोचन्ते** चमकते हैं।।

तृतीय प्राण के पक्ष में । जो उपासक लोग **ब्रध्नम्** सब अंगों की वृद्धि करने वाले, महान् **अरुषम्** क्षति न पहुँचाने वाले, **तस्थुषः** शरीर में स्थित सब अंगों को **परिचरन्तम्** प्राप्त होने वाले इन्द्र नामक प्राण को **युञ्जन्ति** प्राणायाम की रीति से अपने अन्दर जोड़ते हैं, वे **रोचना** चमकने वाले नक्षत्र जैसे **दिवि** आकाश में प्रकाशित होते हैं, वैसे ही **रोचन्ते** तेजस्वी होते हैं।।

चतुर्थ शिल्प के विषय में । जो शिल्पशास्त्र के ज्ञाता विद्वान् लोग **ब्रध्नम्** महान्, **तस्थुषः** स्थावर वनौषधि आदि को वा मनुष्यों को **परिचरन्तम्** प्राप्त होने वाले इन्द्र नामक पार्थिव अग्नि, विद्युत्, वायु वा सूर्य को **युञ्जन्ति** भूयान, जलयान तथा विमानों में और यन्त्र-कलाओं में जोड़ते हैं, वे **दिवि** आकाश में **रोचना** चमकने वाले नक्षत्रों के समान **रोचन्ते** यशस्वी होते हैं।।१।।

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । तृतीय, चतुर्थ व्याख्यानों में लुप्तोपमा भी है ।।१।।

---

१. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् ऋ० भा० **भूमिकायामुपासनाप्रकरणे परमेश्वरादित्यप्राणपरो** व्याख्यातः । ऋग्भाष्ये परमेश्वरप्राण-सूर्याग्निवायुरूपार्थपञ्चकमुद्दिष्टम् । यजुर्भाष्ये परमात्मपरोऽर्थः प्रकाशितः ।

भावार्थ– जैसे योगियों को अपने आत्मा में परमेश्वर के योग से परमात्मा का प्रकाश प्राप्त होता है, और शरीर के अंगों में प्राण के योग से प्राणसिद्धि प्राप्त होती है, वैसे ही सूर्य-किरणों के योग से हमारे सौर मण्डल के सब ग्रह-उपग्रहों को भौतिक प्रकाश प्राप्त होता है और शिल्पियों को यान आदियों में अग्नि, वायु, बिजली, सूर्य के योग से यश प्राप्त होता है ।।१।।

अथ हर्यो रथयोगो वर्ण्यते ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २
१४६९. युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे । शोणा धृष्णू नृवाहसा ।।२।।[1]

३ १ २ ३ १ २र ३र१ २ १ २र ३ १ २र
युञ्जन्ति अस्य काम्या । हरीइति विपक्षसा वि पक्षसा रथे ।

१ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
शोणा धृष्णूइति नृवाहसा नृ वाहसा ।।२।।

पदार्थः– **प्रथमः** प्राणापानपरः । विद्वांसो योगिनो जनाः **अस्य** इन्द्रस्य जीवात्मनः **रथे** देहरूपे **काम्या** काम्यौ कामयितव्यौ, **विपक्षसा** विपक्षसौ प्राणनापाननक्रियारूपविशिष्टपक्षौ, **शोणा** शोणौ गतिशीलौ । [शोणृ वर्णगत्योः भ्वादिः ।] **धृष्णू** प्रगल्भौ, **नृवाहसा** नृवाहसौ नृणां मानवदेहानां वोढारौ **हरी** प्राणापानरूपौ अश्वौ **युञ्जन्ति** प्राणायामविधिना उपयुञ्जते ।।

द्वितीयः शिल्पपरः । शिल्पिनो जनाः **अस्य** इन्द्रस्य सूर्यस्य विद्युदग्नेर्वा **काम्या** कामयितव्यौ, **विपक्षसा** परस्परविरुद्धगुणौ, **शोणा** गतिशीलौ, **धृष्णू** धर्षणशीलौ **नृवाहसा** मनुष्याणां वाहकौ स्थानान्तरप्रापकौ **हरी** ऋणात्मकधनात्मकविद्युद्रूपौ अश्वौ **युञ्जन्ति** भूजलान्तरिक्षयानेषु प्रयुञ्जते ।।२।।[2]

भावार्थः– यथा प्राणायामाभ्यासिनो विद्वांसो जनाः प्राणापानरूपौ हरी नियुज्य देहयज्ञं निर्वहन्तितथैव शिल्पिनो जना ऋणात्मकधनात्मकविद्युतौ यानादिषु गृहादिषु च नियुज्य यात्रां प्रकाशं च कुर्युः ।।२।।

अगले मन्त्र में दो हरियों का रथ में जोड़ना वर्णित है ।

पदार्थ– **प्रथम** प्राण-अपान के विषय में विद्वान् योगी लोग **अस्य** इस इन्द्र नामक जीवात्मा के **रथे** शरीर रूप रथ में **काम्या** चाहने योग्य, **विपक्षसा** प्राणक्रिया और अपानक्रिया रूप विशिष्ट पंखों वाले, **शोणा** गतिशील, **धृष्णू** चतुर, **नृवाहसा** मनुष्य-देह को वहन करने वाले **हरी** प्राण-अपान रूप दो घोड़ों को **युञ्जन्ति** प्राणायाम की विधि से उपयोग में लाते हैं।।

द्वितीय शिल्प के विषय में । शिल्पी लोग **अस्य** इस सूर्य या बिजली रूप अग्नि के **काम्या** कमनीय, **विपक्षसा** परस्पर विरुद्ध गुण वाले, **शोणा** गतिशील, **धृष्णू** घर्षणशील, **नृवाहसा** मनुष्यों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने वाले **हरी** ऋणात्मक विद्युत् तथा धनात्मक विद्युत् रूप दो घोड़ों को **युञ्जन्ति** भूयान, जलयान तथा विमानों में जोड़ते हैं।।२।।

भावार्थ– जैसे प्राणायाम का अभ्यास करने वाले विद्वान् लोग प्राण-अपान रूप घोड़ों को नियुक्त करके शरीर-रथ को चलाते हैं वैसे ही शिल्पी लोग ऋण और धन विद्युत् को यान आदि तथा घर आदि में लगाकर यात्रा और प्रकाश किया करें ।।२।।

---

१. ऋ० १।६।२, य० २३।६, अथ० २०।२६।५, ४७।११, ६९।१० ।

२. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमृग्भाष्ये भूजलाकाशगमनाय यान-निर्माणपक्षे यजुर्भाष्ये च परमेश्वरस्य मध्ये इन्द्रियमनः-प्राणयोगपक्षे व्याख्यातः ।

अथ परमात्मनः सूर्यस्य प्राणस्य चोपकारो वर्ण्यते ।

१४७०. केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ॥३॥[1]

केतुम् कृण्वन् अकेतवे अ केतवे । पेशः मर्याः अपेशसे अ पेशसे ।
सम् उषद्भिः अजायथाः ॥३॥

पदार्थः— हे इन्द्र परमात्मन् आदित्य प्राण वा ! त्वम् **अकेतवे** प्रज्ञानरहिताय कर्मरहिताय च **केतुम्**[2] प्रज्ञानं कर्म च **कृण्वन्** उत्पादयन्, **अपेशसे** रूपरहिताय **पेशः** रूपम् **कृण्वन्** उत्पादयन् **उषद्भिः** प्रभातकान्तिभिः सह **सम् अजायथाः** प्रादुर्भवसि। हे **मर्याः** मनुष्याः ! तथैव यूयमपि कुरुत । [केतुरिति कर्मनाम प्रज्ञानाम च निघं० २।१, ३।९ । पेशः इति रूपनाम । निघं० ३।७। उषद्भिः, 'स्वदःस्वतवसोरुषसश्चेष्यते । वा० ७।४।४८ इति सकारस्य दकारादेशः] ॥३॥[3]

भावार्थः— परमेश्वरवत् सूर्यवत् प्राणवच्च मनुष्या अपि ज्ञानरहितेषु ज्ञानं, कर्मरहितेषु कर्म, रूपरहितेषु च रूपं प्रतन्वन्तु चेत् तदैव तेषां जन्म सफलम् ॥३॥

अस्मिन् खण्डे वेदवाचः आचार्यस्य ब्राह्मणक्षत्रिययोः परमात्मसूर्यप्राणानां च विषयस्य वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ॥

अगले मन्त्र में परमात्मा, सूर्य और प्राण का उपकार वर्णित है ।

पदार्थ— हे इन्द्र अर्थात् परमात्मन्, सूर्य वा प्राण ! तुम **अकेतवे** प्रज्ञान-हीन और कर्म-हीन के लिए **केतुम्** प्रज्ञान और कर्म को **कृण्वन्** उत्पन्न करते हुए **उषद्भिः** उषाओं के साथ **सम् अजायथाः** प्रकट होते हो । हे **मर्याः** मनुष्यो ! तुम भी वैसा ही करो ॥३॥

भावार्थ— परमेश्वर के समान, सूर्य के समान और प्राण के समान मनुष्य भी यदि ज्ञानहीनों में ज्ञान, कर्महीनों में कर्म और रूपहीनों में रूप का विस्तार करें तभी उनका जन्म सफल है ॥३॥

इस खण्ड में वेदवाणी, आचार्य, ब्राह्मण-क्षत्रिय तथा परमात्मा, सूर्य और प्राण के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

तेरहवें अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ।

॥१३॥ अथ 'अयं सोम' इत्यादिकस्य त्रयोदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** उशनाः काव्यः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

---

१. ऋ० १।६।३, य० २९।३७, अथ० २०।२६।६, ४७।१२, ६९।११ ।

२. केतुं कृण्वन्नकेतवे । केतुर्ध्वजः तं कृण्वन्, अकेतवे यः कश्चित् मर्तः अकेतुरध्वजः तमसि केतुमन्तं तं कुर्वन् अतिवस्तु-सम्पन्नत्वात्—इति वि० ।

३. दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयमृग्भाष्ये परमेश्वरविषये यजुर्भाष्ये च विद्वद्विषये व्याख्यातः ।

तत्रादौ आनन्दरसप्रवाहं वर्णयति ।

१४७१ . अयं सोम इन्द्र तुभ्यं सुन्वे तुभ्यं पवते त्वमस्य पाहि ।
त्वं ह यं चकृषे त्वं ववृष इन्दुं मदाय युज्याय सोमम् ॥१॥[1]

अयम् सोमः इन्द्र तुभ्यम् सुन्वे । तुभ्यम् पवते त्वम् अस्य पाहि ।
त्वम् ह यम् चकृषे त्वम् ववृषे । इन्दुम् मदाय युज्याय सोमम् ॥१॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** जीवात्मन् ! **अयं सोमः** एष ब्रह्मानन्दरसः **तुभ्यम्** त्वदर्थम् **सुन्वे** अभिषूयते, **तुभ्यम्** त्वदर्थम् **पवते** प्रवहति, **त्वम् अस्य पाहि** त्वम् एतम् आस्वादय, **यम् इन्दुम्** क्लेदकम् **सोमम्** ब्रह्मानन्दरसम् **मदाय** उत्साहाय, **युज्याय** ब्रह्मणा सह सख्याय च **त्वं ह** त्वमेव **चकृषे** ब्रह्मणः सकाशात् उत्पादितवानसि, **त्वम्** त्वमेव च **ववृषे** तत्सकाशात् स्वोपरि वर्षितवान् असि ॥१॥

भावार्थः— परमात्मना स्वात्मानं युञ्जाना योगिनस्तत्स[illegible]काशात् परमानन्दं प्राप्य कृतार्था जायन्ते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में आनन्दरस के प्रवाह का वर्णन है।

पदार्थ— हे **इन्द्र** जीवात्मन् ! **अयं सोमः** यह ब्रह्मानन्द-रस **तुभ्यम्** तेरे लिए **सुन्वे** अभिषुत हो रहा है, **तुभ्यम्** तेरे लिए **पवते** प्रवाहित हो रहा है । **त्वम् अस्य पाहि** तू इसका पान कर, **यम्** जिस **इन्दुम्** भिगोने वाले **सोमम्** ब्रह्मानन्द-रस को **मदाय** उत्साह के लिए, **युज्याय** और ब्रह्म के साथ मैत्री के लिए **त्वं ह** तूने ही **चकृषे** ब्रह्म के पास से उत्पन्न किया है, और **त्वम्** तूने ही **ववृषे** उसके पास से अपने ऊपर उसकी वर्षा की है ॥१॥

भावार्थ— परमात्मा के साथ अपने आत्मा का योग करते हुए योगी लोग उसके पास से परमानन्द प्राप्त करके कृतार्थ हो जाते हैं ॥१॥

अथ परमात्मनः सख्यस्य फलमाह ।

१४७२. स ईं रथो न भुरिषाडयोजि महः पुरूणि सातये वसूनि ।
आदीं विश्वा नहुष्याणि जाता स्वर्षाता वन ऊर्ध्वा नवन्त ॥२॥[2]

सः ईम् रथः न भुरिषाट् अयोजि । महः पुरूणि सातये वसूनि ।
आत् ईम् विश्वा नहुष्याणि जाता । स्वर्षाता स्वः साता वने ऊर्ध्वा नवन्त ॥२॥

पदार्थः— **सः ईम्** सोऽयम् **भुरिषाट्** भूरीन् विघ्नान् सहते पराभवति यः सः **महः** महान् सोमः जीवात्मा **पुरूणि वसूनि** बहूनि ऐश्वर्याणि, बहूनामैश्वर्याणा[illegible]मित्यर्थः **सातये** प्राप्तये **रथः न** रथः इव **अयोजि** परमात्मना सह योजितोऽस्ति । **आद् ईम्** तदनन्तरमेव **विश्वा** विश्वानि **जाता** बलवन्ति जातानि **नहुष्याणि** मानुषाणि

---

१. ऋ० ९।८८।१।
२. ऋ० ९।८८।२।

मनोबुद्ध्यादीनि । [नहुष इति मनुष्यनाम । निघं० २।३।] **स्वर्षाता** स्वर्षातौ प्रकाशस्य प्राप्तौ सत्याम् **वने** तेजसि [वनमिति रश्मिनाम । निघं० १।५।] **ऊर्ध्वा** ऊर्ध्वानि **भूत्वा नवन्त** अनवन्त क्रियाशीलानि जातानि । [नवते गतिकर्मा । निघं० २।१४, लडर्थे लङि अडभावश्छान्दसः] ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— यथा रथो यदा विद्युदग्निना युज्यते तदा सद्य एव सक्रियो जायते तथैव परमात्मनः सख्ये युक्तो जीवात्मा स्वयं पुरुषार्थी सन् मनोबुद्ध्यादीन्यपि सक्रियाणि करोति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की मैत्री का फल वर्णित है ।

पदार्थ— **सः ईम्** वह यह **भुरिषाट्** बहुत-से विघ्नों को परास्त करने वाला, **महः** महान् सोम नामक जीवात्मा **पुरूणि वसूनि** बहुत से ऐश्वर्यों को **सातये** प्राप्त करने के लिए **रथः न** रथ के समान **अयोजि** परमात्मा के साथ जुड़ गया है । **आत ईम्** तदनन्तर ही **विश्वा** सब **जाता** बलवान् बने हुए **नहुष्याणि** मनुष्य के मन, बुद्धि आदि **स्वर्षाता** प्रकाश की प्राप्ति हो जाने पर **वने** तेज में **ऊर्ध्वा** ऊर्ध्वगामी होते हुए **नवन्त** क्रियाशील हो गये हैं ॥२॥

यहाँ उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— जैसे रथ जब बिजली रूप अग्नि के साथ जुड़ जाता है तब तुरन्त सक्रिय हो जाता है, वैसे ही परमात्मा की मित्रता में जुड़ा हुआ जीवात्मा स्वयं पुरुषार्थी होकर मन, बुद्धि आदि को भी सक्रिय कर देता है ॥२॥

अथ मानवं प्रेरयति ।

३ २उ ३ १र २र ३ १ २ ३ २उ ३ २
१४७३. शुष्मी शर्धो न मारुतं पवस्वानभिशस्ता दिव्या यथा विट् ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २उ ३ २
आपो न मक्षू सुमतिर्भवा नः सहस्राप्साः पृतनाषाण् न यज्ञः ॥३॥[1]

२ १ २र १२र ३ १२र ३ २ १ २र
शुष्मी शर्धः न मारुतम् पवस्व । अनभिशस्ता अन् अभिशस्ता दिव्या यथा विट् ।

१२र ३ २ ३ २ ३ २ ३
आपः न मक्षु सुमतिः सु मतिः भव नः ।

१ २ ३१ २ ३ २ ३ २
सहस्राप्साः सहस्र अप्साः पृतनाषाट् न यज्ञः ॥३॥

पदार्थः— हे सोम शान्तिप्रिय मानव ! **शुष्मी** बलवान् **मारुतं शर्धः न** मरुतां गणः इव **पवस्व** क्रियाशीलो भव । किञ्च, **दिव्या विट्** दिव्यगुणयुक्ता विदुषी प्रजा **यथा** यद्वत् **अनभिशस्ता**[2] अनिन्दिता भवति, तथा त्वम् अनिन्दितो भव । अपि च, **आपः न** नद्यः इव **मक्षु** शीघ्रत्वेन **नः** अस्मभ्यम् **सुमतिः** परोपकारमतिः **भव** जायस्व। तथा च, **सहस्राप्साः** सहस्ररूपः । [अप्स इति रूपनाम । निघं ३।७।] **पृतनाषाट् न** सेनानां पराजेता सेनापतिरिव **यज्ञः** आत्मबलिदानकर्ता भव ॥३॥

---

१. ऋ० ९।८८।७ ।

२. यथा दिव्या विट् प्रजा अनभिशस्ता, अभिशासो निन्दा, अनिन्दिता पवते । 'मरुतो वै देवानां विशः' इति हि ब्राह्मणम्—इति सा० । अनभिशस्ता अभिशापरहिता—इति वि०।

अत्र मालोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— मानवा यदि वायुगणा इव बलिनो, विद्वांस इव प्रशस्ता, नद्य इव परोपकारपरायणाः, सेनापतय इवात्मबलिदानकर्तारो भवेयुस्तर्हि नूनं राष्ट्रं सर्वोन्नतं स्यात् ॥३॥

अगले मन्त्र में मनुष्य को प्रेरित किया गया है ।

पदार्थ— हे सोम अर्थात् शान्तिप्रिय मानव ! **शुष्मी** बलवान् तू **मरुतां शर्धः न** पवनों के गण के समान **पवस्व** क्रियाशील बन । **दिव्या विट्** दिव्य गुणों वाली विदुषी प्रजा **यथा** जैसे **अनभिशस्ता** अनिन्दित होती है वैसे ही तू अनिन्दित हा । **आपः न** नदियों के समान **मक्षु** शीघ्र **नः** हमारे लिए **सुमतिः** परोपकार की मति वाला **भव** बन । **सहस्राप्साः** सहस्र रूपों वाले **पृतनाषाट् न** सेनाओं को पराजित करने वाले सेनापति के समान **यज्ञः** आत्मबलिदान करने वाला बन ॥३॥

यहाँ मालोपमा अलंकार है ॥३॥

भावार्थ— मनुष्य यदि पवनों के समान बलवान्, विद्वानों के समान प्रशस्त, नदियों के समान परोपकारी और सेनापतियों के समान आत्म-बलिदान करने वाले हों तो निश्चित ही राष्ट्र सर्वोन्नत हो जाए ॥३॥

॥१४॥ अथ 'त्वमग्ने' इत्यादिकस्य चतुर्दशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। **देवता** अग्निः । **छन्दः** १ वर्धमाना गायत्री, २-३ गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २ क्रमाङ्के परमात्मसूर्ययोर्विषये व्याख्याता । अत्र परमेश्वरस्य गुणकर्माणि वर्णयति ।

१४७४. त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः । देवेभिर्मानुषे जने ॥१॥[1]

त्वम् अग्ने यज्ञानाम् । होता विश्वेषाम् हितः । देवेभिः मानुषे जने ॥१॥

पदार्थः— हे **अग्ने** अग्रणीर्ज्ञानवन् सर्वान्तर्यामिन् तेजोमय कल्मषदाहक परमेश्वर ! **त्वम्** सर्वोपकर्त्ता **यज्ञानाम्** देवपूजासंगतिकरणदानरूपाणां व्यवहाराणाम् **होता** असि, **विश्वेषाम्** सर्वेषाम् **हितः** हितकारी च वर्तसे। अपि च, **मानुषे जने** मानवे समाजे, **देवेभिः** सदाचारिभिः विद्वद्भिः उपास्यसे इति शेषः ॥१॥[2]

भावार्थः— जगदीश्वरोऽस्माकं पिता भूत्वाऽस्मान् सर्वान् व्यवहारान् शिक्षयति, न्यायकारी दयालुश्च स सर्वेषां हितकर्ताऽस्तीति कृत्वा सर्वैर्जनैः पूजनीयः ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में २ क्रमांक पर परमात्मा और सूर्य के विषय में की जा चुकी है । यहाँ परमेश्वर के गुण-कर्मों का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— हे **अग्ने** अग्रनेता, ज्ञानी, सर्वान्तर्यामी, तेजस्वी, पापों को दग्ध करने वाले परमेश्वर ! **त्वम्** सर्वोपकारी आप **यज्ञानाम्** देवपूजा, संगतिकरण, दान रूप व्यवहारों के **होता** दाता हो, और **विश्वेषाम्** सबके **हितः** हितकर्ता हो । साथ ही **मानुषे जने** मानव-समाज में **देवेभिः** सदाचारी विद्वानों द्वारा [उपासना किये जाते हो] ॥१॥

---

१. ऋ० ६।१६।१, साम० २ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं विद्वान् किं कुर्यादिति विषये व्याचष्टे ।

भावार्थ— जगदीश्वर हमारा पिता होकर हमें सब व्यवहार सिखाता है, न्यायकारी और दयालु होकर सबका हित करता है, इस कारण सब लोगों को उसकी पूजा करनी चाहिए ।।१।।

अथ परमेश्वरः प्रार्थ्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २
१४७५. स नो मन्द्राभिरध्वरे जिह्वाभिर्यजा महः। आ देवान् वक्षि यक्षि च ।।२।।[1]

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ र ३
सः नः मन्द्राभिः अध्वरे। जिह्वाभिः यज महः । आ देवान् वक्षि यक्षि च ।।२।।

पदार्थः— हे अग्ने ! हे सर्वाग्रणीः परमात्मन् ! **सः** असौ त्वम् **मन्द्राभिः** हर्षकरीभिः **जिह्वाभिः** वेदवाग्भिः। [जिह्वेति वाङ्नाम । निघं० १।११ ।] **अध्वरे** जीवनयज्ञे **नः** अस्मान् **महः** तेजः **यज** सङ्गमय, प्रापय । किञ्च **देवान्** दिव्यान् गुणान् **आवक्षि** आवह, **यक्षि च** अस्माभिः सङ्गतिं च कुरु । [वक्षि, यक्षि इति वहतेर्यजतेश्च लेटि सिपि रूपम्] ।।२।।[2]

भावार्थः— जगत्पितुः परमेश्वरस्येयं महती कृपा यत्तेनास्मभ्यं वेदवाक् प्रदत्ता यया वयं स्वकर्तव्यं बुध्यामहे, यतश्च वयं तेजः पुरुषार्थादिकस्य प्रेरणां प्राप्नुमः ।।२।।

अगले मन्त्र में परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे अग्ने ! हे सबके अग्रनेता परमात्मन् ! **सः** वह आप **मन्द्राभिः** आनन्ददायिनी **जिह्वाभिः** वेदवाणियों से **अध्वरे** जीवन-यज्ञ में **नः** हमें **महः** तेज **यज** प्राप्त कराओ, और **देवान्** दिव्यगुणों को **आवक्षि** लाओ, **यक्षि च** और हमारे साथ संगति करो ।।२।।

भावार्थ— जगत्पिता परमेश्वर की यह बड़ी भारी कृपा है कि उसने हमारे लिए वेदवाणी प्रदान की है, जिससे हमें अपने कर्तव्य का बोध होता है तथा जिससे हम तेज, पुरुषार्थ आदि की प्रेरणा पाते हैं ।।२।।

अथ परमात्मन उपकारं वर्णयति ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
१४७६. वेत्था हि वेधो अध्वनः पथश्च देवाञ्जसा । अग्ने यज्ञेषु सुक्रतो ।।३।।[3]

१ २ र ३ १ २ र ३ २ ३ १ २ र १ २ र ३ १ २ ३
वेत्थ हि वेधः अध्वनः । पथः च देव अञ्जसा। अग्ने यज्ञेषु सुक्रतो सु क्रतो ।।३।।

पदार्थः— हे **वेधः** जगद्विधातः **देव** सर्वप्रकाशक **सुक्रतो** सुप्रज्ञ, सुकर्मन् **अग्ने** अग्रणीः सर्ववित् सर्वान्तर्यामिन् परमात्मन् ! त्वम् **हि** निश्चयेन **यज्ञेषु** जीवनयज्ञेषु **अञ्जसा** झटिति सारल्येन वा, अस्माकं कृते **अध्वनः** अभ्युदयमार्गान् **पथः च** निःश्रेयसमार्गांश्च **वेत्थ** जानासि, अस्मान् ज्ञापयसि च ।।३।।[4]

भावार्थः— जगदीश्वरोऽस्मान् धर्मार्थकाममोक्षमार्गान् विज्ञापयन्नस्माकं परमः सुहृद् जायते ।।३।।

---

१. ६।१६।२ ऋ०

२. दयानन्दर्षिर्ऋग्भाष्ये मन्त्रमिमं विद्वत्कर्तव्यविषये व्याचख्यौ ।

३. ऋ० ६।१६।३।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं 'ये धर्मार्थकाममोक्षमार्गान् जानीयुस्त एवान्यानुपदिशेयुर्नेतरेऽज्ञा जनाः' इति विषये व्याख्यातः।

अगले मन्त्र में परमात्मा के उपकार का वर्णन है ।

पदार्थ– हे **वेधः** जगत् के विधाता, **देव** सबको प्रकाशित करने वाले, **सुक्रतो** शुभ प्रज्ञा और शुभ कर्मों वाले, **अग्ने** अग्रनायक, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी परमात्मन् ! आप **हि** निश्चय ही **यज्ञेषु** जीवनयज्ञों में **अञ्जसा** शीघ्र या सरलतापूर्वक, हमारे लिए **अध्वनः** अभ्युदय के **पथः** और निश्रेयस के मार्गों को **वेत्थ** जानते तथा जनाते हो ।।३।।

भावार्थ– जगदीश्वर हमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के मार्गों को जनाकर हमारा परम मित्र होता है ।।३।।

।।१५।। अथ 'होता देवो' इत्यादिकस्य पञ्चदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** विश्वामित्रो गाथिनः। **देवता** अग्निः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ परमेश्वरं वर्णयति ।

१ २ ३ १र २र ३१ २ ३१ २ ३१ २ ३१ २
१४७७. **होता देवो अमर्त्यः पुरस्तादेति मायया। विदथानि प्रचोदयन् ।।१।।**[1]

१ २र ३ २ १ २र ३ १ २ १ २
होता देवः अमर्त्यः अ मर्त्यः । पुरस्तात् एति मायया।

३१ २ ३ १ २ ३ १ २
विदथानि प्रचोदयन् प्र चोदयन् ।।१।।

पदार्थः– **होता** कार्यसिद्धिप्रदाता, **देवः** दिव्यगुणः, **अमर्त्यः** अविनश्वरः अग्निः परमेश्वरः **विदथानि** ज्ञानानि कर्माणि उच्चविचारांश्च **प्रचोदयन्** अन्तरात्मनि प्रेरयन् **मायया** ऋतम्भरया प्रज्ञया सह **पुरस्तात्** सम्मुखम् **एति** आगच्छति ।।१।।[2]

भावार्थः– योगाभ्यासेन योगिजना योगसिद्ध्या परमात्मानं पुरत एव पश्यन्ति ।।१।।

प्रथम मन्त्र में परमेश्वर का वर्णन है ।

पदार्थ– **होता** कार्यसिद्धि को देने वाला, **देवः** दिव्य गुणों वाला, **अमर्त्यः** अमर अग्नि नामक परमेश्वर **विदथानि** ज्ञानों, कर्मों और उच्च विचारों को **प्रचोदयन्** अन्तरात्मा में प्रेरित करता हुआ **मायया** ऋतम्भरा प्रज्ञा के साथ **पुरस्तात्** संमुख **एति** आता है ।।१।।

भावार्थ– योगाभ्यास द्वारा योगी लोग योगसिद्धि से परमात्मा को बिल्कुल सामने देखते हैं ।।१।।

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

३ १र २र ३२३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २
१४७८. **वाजी वाजेषु धीयतेऽध्वरेषु प्र णीयते । विप्रो यज्ञस्य साधनः ।।२।।**[3]

३ २ १ २र ३ १२ ३
वाजी वाजेषु धीयते । अध्वरेषु प्र नीयते ।

१ २र ३ १ २ १ २र
विप्रः वि प्रः यज्ञस्य साधनः ।।२।।

---

१. ऋ०३।२७।७।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्यार्थ्यध्यापकविषये व्याख्यातवान् ।

३. ऋ० ३।२७।८।

पदार्थः— **वाजी** बलवान् अग्निः परमेश्वरः **बाजेषु** देवासुरसंग्रामेषु **धीयते** अन्तरात्मनि धार्यते, अपि च **अध्वरेषु** हिंसारहितेषु व्यवहारेषु **प्रणीयते** अग्रे क्रियते । असौ **विप्रः** विशेषेण परिपूरकः **यज्ञस्य साधनः** जीवन-यज्ञस्य सफलयिता च वर्तते ॥२॥[1]

भावार्थः— यः परमेश्वरः सर्वेषां सिद्धिप्रदाता विद्यते स सर्वैर्जनैर्मनोयोगेन समाराधनीयः ॥२॥

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ— **वाजी** बलवान् अग्नि नामक परमेश्वर **वाजेषु** देवासुरसंग्रामों में **धीयते** अन्तरात्मा में धारण किया जाता है, और **अध्वरेषु** हिंसारहित व्यवहारों में **प्रणीयते** आगे लाया जाता है । वह **विप्रः** विशेष पूर्णता प्रदान करने वाला तथा **यज्ञस्य साधनः** जीवन-यज्ञ को सफल करने वाला है ॥२॥

भावार्थ— जो परमेश्वर सबको सिद्धि देने वाला है उसकी सब लोगों को मनोयोगपूर्वक आराधना करनी चाहिए ॥२॥

अथ परमेश्वरः कमुपकारं करोतीत्याह ।

३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २
१४७९. धिया चक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भमा दधे । दक्षस्य पितरं तना ॥३॥[2]

३ २ ३ १२र ३ १ २ १२र ३ १ २र ३ १ २ १ २र
धिया चक्रे वरेण्यः । भूतानाम् गर्भम् आ दधे । दक्षस्य पितरम् तना॥३॥

पदार्थः— **वरेण्यः** वरणीयः श्रेष्ठश्च असौ अग्निः परमात्मा, स्वकीयमुपासकम् **तना धिया** विस्तीर्णबुद्धि-प्रदानेन **दक्षस्य** मनोबलस्य **पितरम्** जनकम् **चक्रे** करोति । किञ्च **भूतानाम्** उत्पन्नानां प्रशस्तजनानाम् **गर्भम्**[3] सद्गुणगर्भम् **आ दधे** स्थापयति ॥३॥[4]

भावार्थः— उपासितो जगदीश्वर उपासकस्य सखा भूत्वा तस्य बलं विज्ञानमध्यात्मसम्पत्तिं च वर्धयति ॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मविषयस्यानन्दरसप्रवाहस्य मानवप्रेरणायाश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्ज्ञेया ॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर क्या करता है यह कहते हैं ।

पदार्थ— **वरेण्यः** वरणीय और श्रेष्ठ वह अग्नि नामक परमात्मा, अपने उपासक को **तना धिया** विस्तृत बुद्धि के दान द्वारा **दक्षस्य** मनोबल का **पितरम्** पिता **चक्रे** बना देता है । साथ ही **भूतानाम्** उत्पन्न प्रशस्त जनों में **गर्भम्** सद्गुणों के गर्भ को **आ दधे** स्थापित करता है ॥३॥

भावार्थ— उपासना किया हुआ जगदीश्वर उपासक का सखा बनकर उसके बल, विज्ञान और अध्यात्म- धन को बढ़ाता है ॥३॥

---

१. दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं ऋग्भाष्ये 'यथाऽग्निहोत्रक्रियामयेषु यज्ञेषु प्राधान्येनाग्निराश्रीयते तथैव विद्याविनयसुशिक्षाव्यवहारेषु विद्वानाश्रयितव्यः' इति विषये व्याचष्टे ।

२. ऋ० ३।२७।९ ।

३. **गर्भम्** विद्यादिसद्गुणस्थापनाख्यम्—इति ऋ० ३।२७।९ भाष्ये द० ।

४. **ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं 'विद्वांसो मनुष्याणां बुद्धौ विद्यागर्भं स्थापयित्वोत्तमान् व्यवहारान् जनयेयुः— इति विषये व्याख्यातः ।**

इस खण्ड में परमात्मा, आनन्दरसप्रवाह और मानव-प्रेरणा का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ।।

तेरहवें अध्याय में पंचम खण्ड समाप्त ।

।।१६।। अथ 'आ सुते' इत्यादिकस्य षोडशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** हर्यतः प्रागाथः । **देवता** अग्निः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादावुपास्योपासकविषये वर्ण्यते ।

१४८०. आ सुते सिञ्चत श्रियं रोदस्योरभिश्रियम् । रसा दधीत वृषभम् ।।१।।[1]

आ सुते सिञ्चत श्रियम् । रोदस्योः अभिश्रियम् अभि श्रियम् ।
रसा दधीत वृषभम्।।१।।

पदार्थः— हे मानवाः ! यूयम् **सुते** भक्तिरसे अभिषुते सति **रोदस्योः** द्यावापृथिव्योः **अभिश्रियम्** शोभासम्पादकम् [अभिगता श्रीर्येन सः अभिश्रीः तम् ।] **श्रियम्** आश्रयणीयम् अग्निं जगदीश्वरम् **आ सिञ्चत** भक्तिरसेन क्लेदयत । **रसा** जगदीश्वरान्निःसृता आनन्दरसनदी **वृषभम्** युष्माकं ज्ञानसिक्तं जीवात्मानम् **दधीत** परिपुष्णीयात् ।।१।।[2]

अत्र 'श्रियम्' इत्यस्य पुनरुक्तौ यमकालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः— यदा परमेश्वरस्योपासकास्तं प्रति भक्तिरसतरङ्गिणीं प्रवाहयन्ति तदा परमेश्वरस्तान् प्रत्यानन्दरसतरङ्गिणीं प्रवाहयति ।।१।।

प्रारंभ में उपास्य-उपासक का विषय वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— हे मनुष्यो ! तुम **सुते** भक्तिरस के उमड़ने पर **रोदस्योः** द्युलोक और भूलोक के **अभि श्रियम्** शोभा-संपादक, **श्रियम्** आश्रय लेने योग्य अग्नि-नामक जगदीश्वर को **आ सिञ्चत** भक्तिरस से नहलाओ । **रसा** जगदीश्वर से निकली हुई आनन्दरस की नदी **वृषभम्** तुम्हारे ज्ञानसिक्त जीवात्मा को **दधीत** बल और पुष्टि प्रदान करे ।।१।।

यहाँ 'श्रियम्' की पुनरुक्ति में यमक अलंकार है ।।१।।

भावार्थ— जब परमेश्वर के उपासक उसके प्रति भक्तिरस की नदी प्रवाहित करते हैं तब परमेश्वर उनके प्रति आनन्द-रस की नदी बहाता है ।।१।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१४८१. ते जानत स्वमोक्यां३ सं वत्सासो न मातृभिः।
मिथो नसन्त जामिभिः।।२।।[3]

ते जानत स्वम् ओक्यम् । सम् वत्सासः न मातृभिः। मिथः नसन्त जामिभिः ।।२।।

---

१. ऋ० ८।७२।१३ । य० ३३।२१— अन्ते 'तं प्रत्नथाऽयं वेनः' इत्यधिकम् ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं राजप्रजाविषये व्याख्यातवान् ।

३. ऋ० ८।७२।१४।

पदार्थः— **ते** परमेश्वरोपासकाः **स्वम्** स्वकीयम् **ओक्यम्** ओकसि हृदयगृहे भवं परमात्माग्निम् **जानत** उपास्यत्वेन जानन्ति । [अत्र ज्ञा धातोर्लडर्थे लङ् अडभावश्च ।] ततश्च तं परमेश्वरम् उपासितुम् **मिथः** परस्परम् **जामिभिः** जननीभगिन्यादिभिः **सं नसन्त** संगच्छन्ते । कथमिव ? **वत्सासः न** वत्साः यथा **मातृभिः** गोभिः संगच्छन्ते, तद्वत् ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः॥२॥

भावार्थः— यथा वत्साः प्रेम्णा गोभिः संतिष्ठन्ते तथैव गृहस्याबलवृद्धं सर्वे जनाः परस्परमेकत्रोपविश्य परमात्मोपासनां कुर्युः ॥२॥

आगे फिर उसी विषय में कहा गया है ।

पदार्थ— **ते** वे परमेश्वर के उपासक **स्वम्** अपने **ओक्यम्** हृदय-सदन में विद्यमान परमात्माग्नि को **जानत** उपास्य रूप में जानते हैं। और फिर उस परमेश्वर को उपासने के लिए **मिथः** आपस में **जामिभिः** माँ-बहिन आदियों के साथ **सं नसन्त** मिलकर बैठते हैं, **वत्सासः न** जैसे बछड़े **मातृभिः** अपनी माताओं गौओं के साथ **सं नसन्त** मिलते हैं॥२॥

यहाँ उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— जैसे बछड़े प्रेम से गौओं के साथ रहते हैं, वैसे ही घर के बालक से लेकर बूढ़े तक सब लोग आपस में एकसाथ बैठकर परमात्मा की उपासना किया करें ॥२॥

अथ पुनरपि स एव विषयो वर्ण्यते ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३१ २ ३ २ १ २ ३ २उ ३क २र
१४८२. **उप स्रक्वेषु बप्सतः कृण्वते धरुणं दिवि । इन्द्रे अग्ना नमः स्वः ॥३॥**[1]

१ २र १ २र १ २र ३ २ ३१ २ ३ २ १ २र ३ २ १ २र १ २
उप स्रक्वेषु बप्सतः । कृण्वते धरुणम् दिवि। इन्द्रे अग्ना नमः स्व ३ रिति ॥३॥

पदार्थः— उपासकाः जनाः **स्रक्वेषु** आत्मसमर्पणेषु । [सृज विसर्गे इति धातोरोणादिकः क्वन् प्रत्ययः धातोः सम्प्रसारणं च।] **उप बप्सतः** उपेत्य दुरितानि भक्षयतः अग्नेः परमात्मनः । [बप्सति अत्तिकर्मा । निघं २।८ ।] **दिवि** स्वात्मनि **धरुणम्** धारणम् **कृण्वते** कुर्वन्ति । ते च **इन्द्रे** परमैश्वर्यशालिनि विघ्नविदारके **अग्ना** अग्नौ अग्रनायके परमात्मनि **नमः** नमस्कारं समर्प्य **स्वः** प्रकाशं, लभन्ते इति शेषः ॥३॥

भावार्थः— ध्यानेन परमात्मानं स्वात्मनि धारयित्वा श्रद्धया नमस्कृत्य चोपासकाः परं ज्योतिः प्राप्तुमर्हन्ति ॥३॥

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ— उपासक लोग **स्रक्वेषु** आत्मसमर्पण होने पर **उप बप्सतः** समीप आकर पापों को खा लेने वाले परमात्मा का **दिवि** अपने आत्मा में **धरुणम्** धारण **कृण्वते** करते हैं। और वे **इन्द्रे** परमैश्वर्यशाली, विघ्नविदारक **अग्ना** अग्रनायक परमात्मा में **नमः** नमस्कार समर्पित करके **स्वः** प्रकाश को पा लेते हैं॥३॥

---

१. ऋ० ८।७२।१५।

भावार्थ– ध्यान द्वारा परमात्मा को अपने आत्मा में धारण करके, श्रद्धा से नमस्कार करके उपासकों को परम ज्योति प्राप्त करनी योग्य है ।।३।।

।।१७।। अथ 'तदिदास' इत्यादिकस्य सप्तदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** बृहद्दिव आथर्वणः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ।।

तत्रादाविन्द्रस्य परमात्मनो महिमानं वर्णयति ।

१२ २र३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३२ ३ २ ३ १ २
१४८३. **तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः ।**
३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ २ ३ २ङ ३ २ ३ १ २
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः ।।१।।[1]

२ ३ १२र १ २र १ २र ३ २ ३ २ ३ १ ३ ३ २ ३
तत् इत् आस भुवनेषु ज्येष्ठम् । यतः जज्ञे उग्रः त्वेषनृम्णः त्वेष नृम्णः ।
२ ३ २ ३ २ ३ १२र १२र १ २र १२र १ २र
सद्यः स द्यः जज्ञानः नि रिणाति शत्रून् । अनु यम् विश्वे मदन्ति ऊमाः ।।१।।

पदार्थः– **तत् इत्** तदेव ब्रह्म **भुवनेषु** सूर्यनक्षत्रादिषु लोकलोकान्तरेषु **ज्येष्ठम्** महत्तमम् **आस** अस्ति । [लडर्थे लिट् । अस्तेर्भूदिशे लिटि बभूव इति प्राप्ते 'छन्दस्युभयथा' अ० ३।४।११७ इति लिट आर्धधातुकसंज्ञाभावे अस्तेर्भूदिशो न भवति ।] **यतः** यस्मात् **उग्रः** प्रचण्डः **त्वेषनृम्णः** प्रदीप्तज्योतिर्धनः प्रदीप्तबलो वा इन्द्रः सूर्यः **जज्ञे** उत्पन्नः । **सद्यः** क्षिप्रम् **जज्ञानः** उत्पद्यमानः स इन्द्रः सूर्यः **शत्रून्** अन्धकारमालिन्यरोगादीन् रिपून् **नि रिणाति** विनाशयति । [री गतिरेषणयोः क्र्यादिः, 'ष्वादीनां ह्रस्वः' अ० ७।३।८० इति ह्रस्वत्वम् ।] **यम् अनु** यस्यानुकूल्येन **विश्वे** सर्वे **ऊमाः** रक्षकाः पृथिवीमंगलबुधचन्द्रादयः **मदन्ति** हृष्यन्ति, प्रकाशन्ते प्राणं च लभन्ते ।। [अवते रक्षणार्थाद् 'अविसिविसिशुषिभ्यः कित् । उ० १।१४४ इति मन् प्रत्ययः, किच्च । 'ज्वरत्वर०' अ० ६।४।२० इत्यादिना वकारोपधयोः स्थाने ऊठ्] ।।१।।[2]

भावार्थः– ज्येष्ठं ब्रह्मैव सूर्यचन्द्रपृथिवीमंगलबुधबृहस्पतितारामण्डलादीनि लोकलोकान्तराणि निर्माय ब्रह्माण्डमिदं सञ्चालयति ।।१।।

प्रारंभ में इन्द्र परमात्मा की महिमा वर्णित करते हैं ।

पदार्थ– **तत् इत्** वह ब्रह्म ही **भुवनेषु** सूर्य, नक्षत्र आदि लोकलोकान्तरों में **ज्येष्ठम्** ज्येष्ठ **आस** है, **यतः** जिससे **उग्रः** प्रचण्ड, **त्वेषनृम्णः** प्रदीप्त ज्योतिरूप धन वाला अथवा प्रदीप्त बल वाला सूर्य **शत्रून्** अन्धकार, मलिनता, रोग आदि शत्रुओं को **नि रिणाति** विनष्ट करता है, **यम् अनु** जिसकी अनुकूलता से **विश्वे** सब **ऊमाः** रक्षक पृथिवी, मंगल, बुध, चन्द्रमा आदि **मदन्ति** प्रकाश और प्राण को प्राप्त करते हैं ।।१।।

---

१. ऋ० १०।१२०।१, य० ३३।८०, अथ० ५।२।१ देवता वरुणः, २०।१०७।४, अथर्ववेदे उभयत्र 'अनु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः' इति चतुर्थः पादः ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं परमेश्वरविषये व्याख्यातः ।

भावार्थ– ज्येष्ठ ब्रह्म ही सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, मंगल, बुध, बृहस्पति, तारामंडल आदि लोक-लोकान्तरों का निर्माण करके इस ब्रह्माण्ड का संचालन कर रहा है ।।१।।

अथ जगदीश्वरस्य प्रतापो वर्ण्यते ।

१४८४. **वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति ।**
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु ।।२।।[1]

वावृधानः शवसा भूर्योजाः भूरि ओजाः । शत्रुः दासाय भियसम् दधाति ।
अव्यनत् अ व्यनत् च व्यनत् वि अनत् च सस्नि ।
सम् ते नवन्त प्रभृता प्र भृता मदेषु ।।२।।

पदार्थः– **शवसा** बलेन **वावृधानः** अतिशयेन वृद्धः । [लिटः कानजादेशः । चित्त्वादन्तोदात्तः ।] **भूर्योजाः** बहुप्रतापः, **शत्रुः** दुष्टानां शातयिता इन्द्रः परमेश्वरः **दासाय** यज्ञादि-सत्कर्मणां विध्वंसकाय **भियसम्** भयम् **दधाति** उत्पादयति । हे इन्द्र परमात्मन् ! **अव्यनत् च** अप्राणं च **व्यनत् च** सप्राणं च जगत् । [विविधम् अनिति प्राणिति इति व्यनत्, तद्विपरीतम् अव्यनत्, स्थावरं जङ्गमं च जगदिति भावः ।] **सस्नि** त्वया संस्नातं सम्यक् शोधितं, भवतीति शेषः । [ष्णा शौचे, 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च' अ० ३।३।१७५ इति किन् प्रत्ययः ।] हे देव! **ते** तव, त्वया जनितेष्वित्यर्थः **मदेषु** हर्षेषु **प्रभृता** प्रकर्षेण धृतानि पोषितानि च सर्वाणि भूतजातानि **सन्नवन्त** त्वां संस्तुवन्ति ।।२।।

भावार्थः– अनन्तबलाज्जगदीश्वराद् दुष्टा बिभ्यति सज्जनाश्च तेन पालिताः पोषिताश्च भूत्वा श्रद्धापरवशास्तं भूयो भूयः स्तुवन्ति ।।२।।

अगले मन्त्र में जगदीश्वर का प्रताप वर्णित है ।

पदार्थ– **शवसा** बल से **वावृधानः** अतिशय बढ़ा हुआ, **भूर्योजाः** बहुत प्रतापी, **शत्रुः** दुष्टों का विनाश करने वाला इन्द्र परमेश्वर **दासाय** यज्ञ आदि सत्कर्मों का विध्वंस करने वाले को **भियसम्** भय **दधाति** देता है । हे इन्द्र परमात्मन् ! **अव्यनच्च** निर्जीव **व्यनत् च** और सजीव जगत् **सस्नि** आपसे ही संस्नात होता अर्थात् शुद्ध किया जाता है । हे देव! **ते** आपके द्वारा उत्पन्न **मदेषु** आनन्दों में **प्रभृता** प्रकृष्ट रूप से धारण और पुष्ट किये गये सब प्राणी **सन्नवन्त** आपकी स्तुति करते हैं ।।२।।

भावार्थ– अनन्त बल वाले जगदीश्वर से दुष्ट लोग भय खाते हैं और सज्जन उससे पालित-पोषित होकर श्रद्धा से उसकी बारम्बार स्तुति करते हैं ।।२।।

---

१. ऋ० १०।१२०।३, अथ० ५।२।२ देवता वरुणः, २०।१०७।५ ।

अथ जगदीश्वरस्य प्रभाववर्णनपूर्वकं स प्रार्थ्यते ।

१४८५. **त्वे क्रतुमपि वृञ्जन्ति विश्वे द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः ।**
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः ॥३॥[1]

त्वेइति क्रतुम् अपि वृञ्जन्ति विश्वे । द्विः यत् एते त्रिः भवन्ति ऊमाः ।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृज सम् । अदः सु मधु मधुना अभि योधीः ॥३॥

पदार्थः— हे इन्द्र जगदीश्वर ! **यत् एते** यद् इमे **ऊमाः** रक्षकाः मातापित्रतिथिसंन्यासिप्रभृतयो जनाः **द्विः** द्विवारम् **त्रिः** त्रिवारं वा **भवन्ति** जन्म गृह्णन्ति, ते **त्वे** त्वयि एव **क्रतुम्** क्रियमाणं सर्वमपि कर्म **अपि वृञ्जन्ति** समर्पयन्ति । त्वम् **स्वादुना** मधुरेण मदीयेन आनन्देन साकम् **स्वादोः स्वादीयः** स्वकीयं मधुरान्मधुरतरम् आनन्दम् **सं सृज** संमेलय । **अदः** इदम् **सुमधु** अतिशयेन मधुरं स्वकीयं रसम् **मधुना** मम मधुरेण जीवनेन **अभियोधीः** संधट्टय, संमेलय इत्यर्थः ॥३॥

अत्र स्वादोः, स्वादु इति वृत्त्यनुप्रासः, दकारसकारधकाराणामावृत्तावपि स एव । 'मधु, मधु' इति च छेकानुप्रासः॥३॥

भावार्थः— एकं जन्म मातापित्रोः सकाशात्, द्वितीयं जन्म चाचार्यस्य सकाशाद् गृहीत्वा मानवो द्विजो जायते, यच्च गृहस्थाश्रमं प्रविश्य सन्तानमुत्पादयति तदस्य तृतीयं जन्म 'आत्मा वै पुत्र नामासि'। निरु० ३।४ इति स्मरणात् । येऽपि द्विजास्त्रिजा वा महापुरुषा भवन्ति ते परमात्मन्येव स्वकीयं सर्वस्वमर्पयन्ति, परमात्मा च तत्कृते मधुरमधुरं स्वकीयमानन्दरसं वर्षति ॥३॥

अगले मन्त्र में जगदीश्वर का प्रभाव वर्णन करते हुए उससे प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे इन्द्र जगदीश्वर ! **यत् एते** जो ये **ऊमाः** रक्षक माता, पिता, अतिथि, संन्यासी आदि लोग **द्विः** दो बार, या **त्रिः** तीन बार **भवन्ति** जन्म लेते हैं, वे **त्वे** आपमें ही **क्रतुम्** किये जाते हुए सब कर्म को **अपि वृञ्जन्ति**समर्पित करते हैं। आप **स्वादुना** मेरे स्वादु आनन्द के साथ **स्वादोः स्वादीयः** अपने स्वादुतर आनन्द को **संसृज** मिला दो । **अदः**इस **सुमधु** अति मधुर अपने रस को **मधुना** मेरे मधुर जीवन के साथ **अभियोधीः** मिला दो ॥३॥

यहाँ स्वादोः,स्वादी,स्वादु में वृत्त्यनुप्रास है; द, स और ध की आवृत्ति में भी वही अनुप्रास है । 'मधु, मधु' में छेकानुप्रास है ॥३॥

भावार्थ— एक जन्म माता-पिता से और दूसरा जन्म आचार्य से पाकर मनुष्य द्विज बनता है, और जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके सन्तान उत्पन्न करता है, वह इसका तृतीय जन्म होता है, क्योंकि 'पिता स्वयं पुत्र के रूप में जन्म लेता है' (निरु० ३।४) यह शास्त्र का वचन है । जो भी द्विज या त्रिज महापुरुष होते हैं वे परमात्मा में ही अपना सर्वस्व अर्पित कर देते हैं और परमात्मा उनके लिए अत्यन्त मधुर अपना आनन्द-रस बरसाता है ॥३॥

---

१. ऋ० १०।१२०।३, अथ० ५।२।३ देवता वरुणः, २०।१०७।६, उभयत्र 'वृञ्जन्ति विश्वे' इत्यत्र 'पृञ्चन्ति भूरि' इति पाठः ।

॥१८॥ अथ 'त्रिकद्रुकेषु' इत्यादिकस्याष्टादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गृत्समदः शौनकः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** १ अष्टिः, २-३ अतिशक्वरी। **स्वरः** १ मध्यमः, २-३ पञ्चमः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४५७ क्रमाङ्के सूर्यचन्द्रविषये गुरुशिष्यविषये च व्याख्याता। अत्रोपास्योपासकविषयः प्रदर्श्यते।

१ ४८६. त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृम्पत्सोममपिबद्विष्णुना
सुतं यथावशम्। स ईं ममाद महि कर्म कर्त्तवे महामुरुं
सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥१॥[1]

त्रिकद्रुकेषु त्रि कद्रुकेषु महिषः यवाशिरम् यव आशिरम् तुविशुष्मः तुवि शुष्मः।
तृम्पत् सोमम् अपिबत् विष्णुना सुतम् यथावशम् यथा वशम्।
सः ईम् ममाद महि कर्म कर्तवे महाम् उरुम्।
सः एनम् सश्चत् देवः देवम् सत्यः इन्दुः सत्यम् इन्द्रम् ॥१॥

पदार्थः— **त्रिकद्रुकेषु** त्रीणि ऋग्यजुःसामरूपाणि कद्रुकाणि साधनानि येषु तेषु उपासनायज्ञेषु **महिषः** महान् जीवात्मा **विष्णुना** सर्वव्यापकेन परमात्मना **सुतम्** क्षारितम् **यवाशिरम्** योगाभ्यासेन परिपक्वम् **तुविशुष्मम्** बहुबल-प्रदम् **सोमम्** ब्रह्मानन्दरसम् **यथावशम्** यथेच्छम् **अपिबत्** पिबति। **सः** ब्रह्मानन्दरसः **महाम्** महान्तम्, **उरुम्** विस्तीर्णज्ञानम् **ईम्** एनं जीवात्मानम् **महि कर्म** महत् कर्म **कर्तवे** कर्तुम् **ममाद** उत्साहयति। **सः** असौ **देवः** प्रकाशकः, **सत्यः** अवितथः **इन्दुः** उपासकस्य क्लेदकः ब्रह्मानन्दरसः **देवम्** दिव्यगुणम्, **सत्यम्** सत्यप्रियम् **एनम् इन्द्रम्** एतं जीवात्मानम् **सश्चत्** निरन्तरं प्राप्नोति ॥१॥[2]

भावार्थः— वेदमन्त्रगानपुरस्सरं मानवो यदा परमात्मानं ध्यायति तदा परमात्मसकाशाद् धाराप्रवाहेण प्रवहन् परमानन्दरसस्तदात्मानं नैरन्तर्येण स्नपयति ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ४५७ क्रमांक पर सूर्य-चन्द्र और गुरु-शिष्य के विषय में की गयी थी। यहाँ उपास्य-उपासक का विषय दर्शाते हैं।

पदार्थ— **त्रिकद्रुकेषु** तीन ऋग्, यजुः, साम रूप साधनों वाले उपासना-यज्ञों में **महिषः** महान् जीवात्मा **विष्णुना** सर्वव्यापक परमात्मा से **सुतम्** चुआए हुए, **यवाशिरम्** योगाभ्यास से परिपक्व, **तुविशुष्मम्** बहुत बलदायक **सोमम्** ब्रह्मानन्द-रस को **यथावशम्** यथेच्छ **अपिबत्** पीता है। **सः** वह ब्रह्मानन्द-रस **महाम्** महान्, **उरुम्** विस्तृत ज्ञान वाले **ईम्** इस जीवात्मा को **महि कर्म** महान् कर्म **कर्तवे** करने के लिए **ममाद** उत्साहित करता है। **सः** वह **देवः** प्रकाशक, **सत्यः** सत्य, **इन्दुः** उपासक को भिगोने वाला ब्रह्मानन्द-रस **देवम्** दिव्य-गुण-युक्त, **सत्यम्** सत्य के प्रेमी **एनम् इन्द्रम्** इस जीवात्मा को **सश्चत्** निरन्तर प्राप्त होता रहता है ॥१॥

---

१. ऋ० २।२२।१, अथ० २०।९५।१, उभयत्र 'तृम्पत्' इत्यत्र 'तृपत्' इति, अन्ते च 'सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः' इति पाठः। साम० ४५७।

२. दयानन्दस्वामिना ऋग्भाष्ये मन्त्र एष सूर्यचन्द्रविषये व्याख्यातः।

भावार्थ– वेदमन्त्रों के गान पूर्वक मनुष्य जब परमात्मा को ध्याता है तब परमात्मा के पास से धारा-प्रवाह में बहता हुआ परमानन्द-रस उसके आत्मा को निरन्तर नहलाता रहता है ।।१।।

अथ पुनरुपास्योपासकयोर्विषय एव वर्ण्यते ।

३ २ ३ १र २र ३ १र २र
१४८७. साकं जातः क्रतुना साकमोजसा ववक्षिथ
३ २ ३ २ ३क २र ३ २उ ३ १ २
साकं वृद्धो वीर्यैः सासहिर्मृधो विचर्षणिः ।
२ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३
दाता राध स्तुवते काम्यं वसु प्रचेतन
१ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र ३ १र २र
सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ।।२।।[1]

३ २ ३ २ १ २र ३ २ १ २र ३
साकम् जातः क्रतुना साकम् ओजसा ववक्षिथ ।
२ ३ २ ३क २ ३ २ १ २र १ २र ३
साकम् वृद्धः वीर्यैः सासहिः मृधः विचर्षणिः वि चर्षणिः ।
१ २र १ २र ३ २ १ २र १ २र १ २र ३
दाता राधः स्तुवते काम्यम् वसु प्रचेतन प्र चेतन ।
२ ३ २ ३ २ १ २र ३ २ १ २र
सः एनम् सश्चत् देवः देवम् सत्यः इन्दुः सत्यम् इन्द्रम् ।।२।।

पदार्थः– हे इन्द्र जगदीश्वर ! त्वम् **क्रतुना** कर्मणा प्रज्ञया च **साकम्** सह, **ओजसा** बलेन च **साकम्** सह **जातः** प्रसिद्धोऽसि, अतएव त्वम् **ववक्षिथ** जगद्भारं वहसि । त्वम् **वीर्यैः साकम्** पराक्रमैः सह **वृद्धः** प्रवृद्धः, **मृधः सासहिः** हिंसकान् अभिभविता, **विचर्षणिः** विवेकेन पुण्यापुण्यकृतां द्रष्टा च भवसि । हे **प्रचेतन** प्रचेतयितः! त्वम् **स्तुवते** स्तुतिं कुर्वते जनाय **राधः** साफल्यम् **काम्यं वसु** अभीष्टं धनं च **दाता** प्रदाता भवसि । **सः** असौ **देवः** दिव्यगुणः, **सत्यः** सत्यप्रियः **इन्दुः** प्रदीप्तः स्तोता **एनम्** इमम् **देवम्** दिव्यगुणम्, **सत्यम्** सत्यगुणकर्मस्वभावम् **इन्द्रम्** परमैश्वर्यवन्तं जगदीश्वरं त्वाम् **सश्चत्** प्राप्नुयात् ।।२।।[2]

भावार्थः– यो ज्ञानेन कर्मणा बलेन पराक्रमेण च सर्वातिशायी, सदाचारिणः स्तोतुः सन्मनोरथानां पूरयिता च वर्तते तं जगदीश्वरं ध्यात्वा प्राप्य च सर्वे जना आप्तकामा भूयासुः ।।२।।

अगले मन्त्र में फिर उपास्य-उपासक का विषय है ।

पदार्थ– हे इन्द्र जगदीश्वर ! आप **क्रतुना** कर्म और प्रज्ञा के **साकम्** साथ, और **ओजसा** बल के **साकम्** साथ **जातः** प्रसिद्ध हो । इसी कारण आप **ववक्षिथ** जगत् के भार को वहन कर रहे हो । आप **वीर्यैः साकम्** पराक्रमों के साथ **वृद्धः** प्रवृद्ध, **मृधः सासहिः** हिंसकों को परास्त करने वाले, **विचर्षणिः** पुण्यकर्ताओं और अपुण्यकर्ताओं को विवेकपूर्वक देखने वाले हो । हे **प्रचेतन** उत्कृष्टरूप से चेताने वाले ! आप **स्तुवते** स्तुतिकर्ता जन के लिए **राधः** सफलता, और **काम्यं वसु** अभीष्ट ऐश्वर्य के **दाता** देने वाले हो । **सः** वह **देवः** दिव्यगुणों वाला, **सत्यः** सत्य का प्रेमी **इन्दुः** तेजस्वी स्तोता **एनम्** इस **देवम्** दिव्य गुणों वाले, **सत्यम्** सत्य गुण, कर्म, स्वभाव वाले **इन्द्रम्** परमैश्वर्यवान् आप जगदीश्वर को **सश्चत्** प्राप्त कर लेवे ।।२।।

---

१. ऋ० २।२२।३, 'सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः' इत्यन्ते भेदः ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं परमेश्वरविषये व्याख्यातवान् ।

भावार्थ– जो ज्ञान, कर्म, बल और पराक्रम में सर्वाधिक है और सदाचारी स्तोता के उत्तम मनोरथों को पूर्ण करने वाला है, उस जगदीश्वर को ध्याकर और पाकर सब मनुष्य पूर्ण मनोरथों वाले हों ॥२॥

अथ परमात्मनो महिमानमुपासकविषयं चाह ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
१४८८. **अध त्विषीमाँ अभ्योजसा कृविं युधाभव-**

१र २र ३ २ ३ २ २
दा रोदसी अपृणदस्य मज्मना प्र वावृधे ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
अधत्तान्यं जठरे प्रेमरिच्यत प्र चेतय

१ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र ३ १र २र
सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥३॥[1]

१ २र १ २र ३ २ १ २र १ २र ३ २ ३
अध त्विषीमान् अभि ओजसा कृविम् युधा अभवत् ।

२ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३
आ रोदसीइति अपृणत् अस्य मज्मना प्र वावृधे ।

१ २र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
अधत्त अन्यम् अन् यम् जठरे प्र ईम् अरिच्यत प्र चेतय ।

२ ३ ३ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ २ १ २र
सः एनम् सश्चत् देवः देवम् सत्यः इन्दुः सत्यम् इन्द्रम् ॥३॥

पदार्थः– **अध** अथ **त्विषीमान्** प्रशस्तदीप्तियुक्तः स इन्द्रो जगदीश्वरः **ओजसा** बलेन **युधा** युद्धेन **क्रिविम्** हिंसकं जनम् । [कृणोतेर्हिंसार्थादौणादिकः क्विन् प्रत्ययः ।] **अभिभवत्** अभिभवति । स एव **रोदसी** द्यावापृथिव्यौ **आ पृणत्** अप्तेजआदिभिरैश्वर्यैः आपूरयति । **अस्य** इन्द्रस्य जगदीश्वरस्य **मज्मना** बलेन, सर्वमिदं जगत् **प्र वावृधे** प्रवर्धते । स जगदीश्वरः **अन्यम्** कञ्चित् दुष्टाचारिणम् इत्यर्थः **जठरे** भूकम्पादिना भूमिं विदार्य तस्या उदरे **अधत्त** दधाति, **ईम्** कश्चिच्च सदाचारवान् जनः **प्र अरिच्यत** अस्य महिम्ना प्रवर्धते । **सः** असौ **देवः** दिव्यगुणः **सत्यः** सत्यप्रियः **इन्दुः** तेजस्वी उपासकः **देवम्** प्रकाशकम् **सत्यम्** सत्यगुणकर्मस्वभावम् **एनम् इन्द्रम्** एतं परमैश्वर्यवन्तं जगदीश्वरम् त्वाम् **सश्चत्** प्राप्नुयात् । हे जगदीश्वर ! त्वम् तम् उपासकम् **प्रचेतय** प्रज्ञापय ॥३॥[2]

भावार्थः– ये सज्जनान् पीडयन्ति तान् यो जगत्स्रष्टाऽपरिमितबलोऽजय्यो जगदीश्वरो यथायोग्यं दण्डयति तं सर्वे श्रद्धया प्रेम्णा च समुपास्य स्वाभीष्टानि पूरयन्तु ॥३॥

अस्मिन् **खण्डे** उपास्योपासकविषयस्य परमात्मनो महिम्नश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की महिमा और उपासक का विषय वर्णित है ।

पदार्थ– **अध** और **त्विषीमान्** प्रशस्त तेज वाला वह इन्द्र जगदीश्वर **ओजसा** बल से **युधा** युद्ध द्वारा **क्रिविम्** हिंसक जन को **अभि अभवत्** परास्त कर देता है । वही **रोदसी** द्युलोक और भलोक को **आ पृणत्** जल,

---

१. ऋ० २।२२।२, 'प्रचेतय' इति नास्ति, अन्ते च 'सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः' इति भेदः ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं परमेश्वरविद्युतोर्विषये व्याख्यातः ।

तेज आदि ऐश्वर्यों से भरपूर करता है । **अस्य** इस इन्द्र जगदीश्वर के **मज्मना** बल से, यह सब जगत् **प्र वावृधे** प्रवृद्ध होता है । वह जगदीश्वर **अन्यम्** किसी को अर्थात् दुष्टाचारी को **जठरे** भूकम्प आदि से भूमि को फाड़कर उसके पेट में **अधत्त** डाल देता है, और **ईम्** कोई अर्थात् सदाचारी मनुष्य **प्र अरिच्यत** इसकी महिमा से बढ़ता है । **सः** वह **देवः** दिव्यगुणी, **सत्यः** सत्य का प्रेमी **इन्दुः** तेजस्वी उपासक **देवम्** प्रकाश देने वाले, **सत्यम्** सत्य गुण, कर्म, स्वभाव वाले **एनम् इन्द्रम्** इस परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर को **सश्चत्** प्राप्त करे । हे जगदीश्वर ! आप उस उपासक को **प्रचेतय** प्रज्ञानयुक्त करो ॥३॥

भावार्थ— जो सज्जनों को पीड़ित करते हैं उन्हें जो जगत् का स्रष्टा, अपरिमित बल वाला, न जीता जा सकने वाला जगदीश्वर यथायोग्य दण्डित करता है उसकी सब लोग श्रद्धा और प्रेम से उपासना करके अपने अभीष्टों को पूर्ण करें ॥३॥

इस खण्ड में उपास्य-उपासक विषय का और परमात्मा की महिमा का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

तेरहवें अध्याय में षष्ठ खण्ड समाप्त ।

तेरहवाँ अध्याय समाप्त ।

षष्ठ प्रपाठक में तृतीय अर्ध समाप्त ।

इति बरेलीमण्डलान्तर्गतफरीदपुरवास्तव्यश्रीमद्गोपालरामभगवतीदेवीतनयेन हरिद्वारीय-गुरुकुलकाँगड़ीविश्वविद्यालयेऽधीतविद्येन विद्यामार्तण्डेन आचार्यरामनाथवेदालङ्कारेण महर्षि-दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतवेदभाष्यशैलीमनुसृत्य विरचिते संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्विते सु-प्रमाणयुक्ते सामवेदभाष्ये उत्तरार्चिके षष्ठः प्रपाठकः समाप्तिमगात् ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः सप्तमे प्रपाठके प्रथमोऽर्धश्च

॥१॥ अथ 'अभि प्र' इत्यादिकस्य प्रथमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** प्रियमेध आङ्गिरसः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १६८ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योः स्तुतिविषये व्याख्याता । अत्र जीवात्मविषय उच्यते ।

१४८९. अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे। सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥१॥[1]

अभि प्र गोपतिम् गो पतिम् गिरा। इन्द्रम् अर्च यथा विदे।
सूनुम् सत्यस्य सत्पतिम् सत् पतिम् ॥१॥

पदार्थः— हे सखे ! त्वम् **गोपतिम्** गावः इन्द्रियाणि तेषां पतिं स्वामिनम्, **सत्यस्य सूनुम्** सत्यस्वरूपस्य परमात्मनः पुत्रम् **सत्पतिम्** सद्विचाराणां रक्षकम् इन्द्रं जीवात्मानम् **अभि** अभिलक्ष्य **प्र अर्च** प्रकर्षेण उद्बोधनवाक्यानि प्रोच्चारय । **यथा** येन, सः **विदे** बोधमवाप्नुयात् ॥१॥

---

१. ऋ० ८।६९।४, अथ० २०।२२।४, ९२।१, साम० १६८।

भावार्थः— मनुष्यस्य स्वकीय आत्मा चेद् प्रोद्बुद्धस्तर्हि जगति न किमपि तत्कृते दुर्लभम् ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में १६८ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में की जा चुकी है। यहाँ जीवात्मा का विषय लेते हैं।

पदार्थ— हे मित्र ! तू **गोपतिम्** इन्द्रियों के स्वामी, **सत्यस्य सूनुम्** सत्यस्वरूप परमात्मा के पुत्र, **सत्पतिम्** श्रेष्ठ विचारों के रक्षक इन्द्र नामक जीवात्मा को **अभि** लक्ष्य करके **प्र अर्च** बहुत अधिक उद्बोधन-वाक्यों का उच्चारण कर, **यथा** जिससे वह **विदे** बोध प्राप्त कर ले ॥१॥

भावार्थ— मनुष्य का अपना आत्मा यदि तीव्र उद्बोधन प्राप्त कर ले तो जगत् में उसके लिए कुछ भी दुर्लभ न हो ॥१॥

अथ जीवात्मनोऽधिष्ठानं देहमुपवर्णयति।

१र २र ३१ २ ३१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३१ २
१४९०. आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि। यत्राभि संनवामहे ॥२॥[1]

२ १२र ३ १२र १ २र ३ १ २ १२र ३ २ ३१ २ ३ १ २र
आ हरयः ससृज्रिरे। अरुषीः अधि बर्हिषि। यत्र अभि संनवामहे सम् नवामहे ॥२॥

पदार्थः— **बर्हिषि अधि** यज्ञरूपेऽस्मिन् देहे **अरुषीः** अरुषयः यज्ञस्य अहिंसकाः। [रुषिः हिंसकः, रुष हिंसार्थः। अरुषिः अहिंसकः। अरुषयः इति प्राप्ते पूर्वसवर्णदीर्घः।] **हरयः** मनःप्राणसहिता ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपाः अश्वाः **आ ससृज्रिरे** आसक्ताः सन्ति। [ससृजिरे इति प्राप्ते 'बहुलं छन्दसि' अ० ७।१।८ इति रुडागमः।] **यत्र** यस्मिन् देहयज्ञे स्थितम् इन्द्रं जीवात्मानम्, वयम् **अभि संनवामहे** अभिसंस्तुमः, उद्बोधयामः ॥२॥

भावार्थः— देहं यज्ञस्थलं तत्र स्थितानीन्द्रियाणि ऋत्विजः, जीवात्मानं च यजमानं मत्वा ये पवित्रं जीवनं यापयन्ति ते सफला जायन्ते ॥२॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा के अधिष्ठान देह का वर्णन है।

पदार्थ— **बर्हिषि अधि** यज्ञ रूप इस देह में **अरुषीः** यज्ञ को न हिंसित करने वाले **हरयः** मन और प्राणसहित ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय रूप घोड़े **आ ससृज्रिरे** आकर जुड़े हुए हैं, **यत्र** जिस देह-यज्ञ में स्थित इन्द्र जीवात्मा को, हम **अभि संनवामहे** संस्तुत करते हैं, उद्बोधन देते हैं ॥२॥

भावार्थ— जो लोग शरीर को यज्ञस्थल, उसमें स्थित इन्द्रियों को ऋत्विज् और जीवात्मा को यजमान मानकर पवित्र जीवन बिताते हैं वे सफल होते हैं ॥२॥

अथात्मा ज्ञानं कथं लभत इत्याह।

१ २३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ २३ १ २ १ २ ३२ ३२
१४९१. इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु। यत्सीमुपह्वरे विदत् ॥३॥[2]

१ २र १२र ३ १२ ३ १२र ३ २ ३ १ २ १२र
इन्द्राय गावः आशिरम् आ शिरम्। दुदुह्रे वज्रिणे मधु।

३ २ ३ २ ३२
यत् सीम् उपह्वरे उप ह्वरे विदत् ॥३॥

---

१. ऋ० ८।६९।५, अथ० २०।२२।५; ९२।२।

२. ऋ० ८।६९।६, अथ० २०।२२।६, ९२।३।

पदार्थः— वज्रिणे वीर्यवते । [वीर्यं वै वज्रः। श० ७।३।१।१९ ।] **इन्द्राय** जीवात्मने **गावः** मनोबुद्धिसहिता इन्द्रियरूपा धेनवः **मधु** मधुरम् **आशिरम्** ज्ञानरूपं दुग्धम् **दुदुह्रे** दुहन्ति । [इरयो रे । अ० ६।४।७६ इति इरे इत्यस्य रे आदेशः ।] **यत्** ज्ञानदुग्धम् स इन्द्रो जीवात्मा **सीम्** सर्वतः **उपह्वरे** अन्तिके । ['रहोऽन्तिकमुपह्वरे' इत्यमरः ३।३।१८३।] **विदत्** प्राप्नोति ॥३॥

भावार्थः— परमात्मना जीवात्मने मनोबुद्धीन्द्रियरूपाणि सत्साधनानि प्रदत्तानि यैः स निखिलं ज्ञानमर्जयितुं शक्नोति ॥३॥

अगले मन्त्र में यह बताया गया है कि आत्मा ज्ञान कैसे प्राप्त करता है ।

पदार्थ— वज्रिणे वीर्यवान् **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए **गावः** मन और बुद्धि सहित इन्द्रिय रूप धेनुएँ **मधु** मधुर **आशिरम्** ज्ञान रूप दूध को **दुदुह्रे** दुहती हैं, **यत्** जिस ज्ञान-दुग्ध को वह इन्द्र जीवात्मा **सीम्** सब ओर से **उपह्वरे** अपने समीप **विदत्** लाता है ॥३॥

भावार्थ—परमात्मा ने जीवात्मा को मन, बुद्धि, इन्द्रिय रूप श्रेष्ठ साधन प्रदान किये हैं, जिनसे वह सारा ज्ञान अर्जित कर सकता है ॥३॥

॥२॥ अथ 'आ नो' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषी** नृमेधपुरुमेधौ आङ्गिरसौ । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २६९ क्रमाङ्के परमेश्वरविषये व्याख्याता । अत्र विघ्ननिवारणाय परमात्मा नृपतिश्च प्रार्थ्यते ।

१४९२. आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्रं समत्सु भूषत ।
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन् परमज्या ऋचीषम ॥१॥[1]

आ नः विश्वासु हव्यम् । इन्द्रम् समत्सु स मत्सु भूषत ।
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन् वृत्र हन् । परमज्याः परम ज्याः ऋचीषम ॥१॥

पदार्थः— हे राष्ट्रवासिनो जनाः ! यूयम् **विश्वासु समत्सु** सर्वेषु देवासुरसंग्रामेषु **नः** प्रजाजनानाम् अस्माकम् **हव्यम्** आह्वातुं योग्यम् **इन्द्रम्** परमात्मानं नृपतिं वा **आभूषत** स्वागतगानैः अलङ्कुरुत । हे **वृत्रहन्** विघ्नविदारक पापदलविध्वंसक **ऋचीषम**[2] स्तोतॄणां मानप्रद परमात्मन् राजन् वा ! [ऋचन्ति स्तुवन्तीति ऋचीषाः तान् मानयतीति ऋचीषमः । ऋच् स्तुतौ, बाहुलकादौणादिक ईषन् प्रत्ययः ।] **परमज्याः** परमान् प्रबलान् आन्तरान् बाह्यांश्च शत्रून् जिनाति हिनस्तीति तथाविधः त्वम् अस्माकम् **ब्रह्माणि** ब्रह्मयज्ञान् **सवनानि** सोमयागस्य प्रातर्माध्यन्दिनसायंसवनानि च **उप** उपागच्छ ॥१॥

---

१. ऋ० ८।९०।१, अथ० २०।१०४।३, उभयत्र 'हव्य इन्द्रः समत्सु भूषतु', 'वृत्रहा परमज्या ऋचीषमः' इति पाठः । साम० २६९ ।

२. अनिश्चितार्थत्वात् पदमिदं पदकारेण नावगृहीतम् ।

भावार्थः— यथा जगदीश्वरो नास्तिकान् पापान् दण्डयित्वा धर्मात्मभिरास्तिकैश्च सख्यं विधाय धार्मिकतां पुष्णाति तथैव नृपतिरपि कुर्यात् ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में २६९ क्रमांक पर परमेश्वर के विषय में की गयी थी । यहाँ विघ्न दूर करने के लिए परमात्मा और राजा से प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ— हे राष्ट्रवासी जनो ! तुम **विश्वासु समत्सु** सब देवासुरसंग्रामों में **नः** हम प्रजाजनों के **हव्यम्** आह्वान करने योग्य **इन्द्रम्** परमात्मा वा राजा को **आभूषत** स्वागत-गानों से अलंकृत करो । हे **वृत्रहन्** विघ्न-विदारक, पाप-दल के विध्वंसक, **ऋचीषम** स्तोताओं को मान देने वाले परमात्मन् वा राजन् ! **परमज्याः** प्रबल आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं को विनष्ट करने वाले आप, हमारे **ब्रह्माणि** ब्रह्मयज्ञों में, तथा **सवनानि** सोमयाग के प्रातः-सवन, माध्यन्दिन-सवन और सायं-सवनों में **उप** आओ ॥१॥

भावार्थ— जैसे जगदीश्वर नास्तिक पापियों को दण्ड देकर और धर्मात्मा आस्तिक लोगों से मित्रता करके धार्मिकता का पोषण करता है, वैसे ही राजा भी करे ॥१॥

अथ पुनः परमात्मा नृपतिश्च वर्ण्यते ।

२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१४९३. त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत् ।
३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २
तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ॥२॥[1]

२ ३ २ ३ २ १ २र ३ १ २र ३ २ ३ २ ३ २
त्वम् दाता प्रथमः राधसाम् असि । असि सत्यः ईशानकृत् ईशान कृत् ।
३ १ २ ३ १ २ १ २र ३
तुविद्युम्नस्य तुवि द्युम्नस्य युज्या आ वृणीमहे ।
१ २ ३ १ २र १ २र ३ २
पुत्रस्य पुत् त्रस्य शवसः महः ॥२॥

पदार्थः— हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर राजन् वा ! **त्वम् राधसाम्** ऐश्वर्याणाम् **प्रथमः** श्रेष्ठः **दाता** प्रदाता, **सत्यः** सत्यप्रियः, **ईशानकृत्** दुर्गतानपि ईशानान् अधीश्वरान् करोतीति तथाविधः **असि** वर्तसे । **तुविद्युम्नस्य** बहुधनस्य बहुकीर्तेर्वा, **शवसः पुत्रस्य** बलस्य सूनोः, अतिशयेन बलवतः इत्यर्थः, **महः** महतः तव **युज्या** युज्यं सख्यम् । [अत्र 'सुपां सुलुक्०। अ० ७।१।३९' इत्यनेन द्वितीयैकवचनस्य आकारादेशः।] **आ वृणीमहे** सम्भजामहे ॥२॥

भावार्थः— परमदातुरतिशयशक्तिशालिनः परमात्मनो नृपतेश्च सख्यं वृत्वा निर्धना अपि धनवन्तोऽकिञ्चित्करा अपि बहुकर्मक्षमाः सेवका अपि स्वामिनो निन्दिता अपि यशस्विनो जायन्ते ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा और राजा का वर्णन है ।

पदार्थ— हे इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर वा राजन् ! **त्वम्** आप **राधसाम्** ऐश्वर्यों के **प्रथमः**

---

१. ऋ० ८।९०।२, अथ० २०।१०४।४ ।

श्रेष्ठ **दाता** दाता, **सत्यः** सत्य के प्रेमी और **ईशानकृत्** निर्धनों को भी धन के स्वामी बना देने वाले **असि** हो । **तुविद्युम्नस्य** बहुत धनी वा यशस्वी, **शवसः पुत्रस्य** बल के पुत्र अर्थात अति बली, **महः** महान् आपके **युज्या** मित्रभाव को, सहयोग को **वृणीमहे** हम वरते हैं ।।२।।

भावार्थ— परमदानी, अतिशक्तिशाली परमात्मा और राजा की मैत्री को स्वीकार करके निर्धन भी धनवान्, कुछ करने में असमर्थ भी बहुत कार्य कर सकने वाले, सेवक भी स्वामी और निन्दित भी यशस्वी हो जाते हैं ।।२।।

।।३।। अथ 'प्रत्नं पीयूषं' इत्यादिकस्य तृतीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषी** त्र्यरुणत्रसदस्यू त्रैवृष्णपौरुकुत्सौ । **देवता** पवमानः सोमः।**छन्दः** ऊर्ध्वा बृहती । **स्वरः** मध्यमः ।।

तत्रादौ ब्रह्मानन्दरसं वर्णयति ।

३ २ ३ १ २ ३ २उ ३क २र ३ २ ३ २ ३ १र २र
१४९४. **प्रत्नं पीयूषं पूर्व्यं यदुक्थ्यं महो गाहादिव आ निरधुक्षत ।**
१ २ ३ १र २र ३ १ २
इन्द्रमभि जायमानं समस्वरन् ।।१।।[1]

३ २ ३ १ २ ३ २ ३क २ ३ २ ३ २ ३ २ ३
प्रत्नम् पीयूषम् पूर्व्यम् यत् उक्थ्यम्। महः गाहात् दिवः आ निः अधुक्षत।
१ २र ३ २ १ २र ३
इन्द्रम् अभि जायमानम् सम् अस्वरन् ।।१।।

पदार्थः— **यत् प्रत्नम्** सनातनम् **पूर्व्यम्** पूर्वैरनुभूतम्, **उक्थ्यम्** प्रशंसनीयं चास्ति तत् **पीयूषम्** पेयं ब्रह्मानन्दामृतम् **महः** महतः, **गाहात्** गहनात्, **दिवः** द्योतमानात् परमेश्वरात् **आ निरधुक्षत** उपासका जनाः आभिमुख्येन निर्दुहन्ति । **इन्द्रम् अभि** जीवात्मानं प्रति **जायमानम्** उत्पद्यमानं तम्, ते उपासका जनाः **समस्वरन्** संस्तुवन्ति ।।१।।

भावार्थः— परब्रह्मणः सकाशाज्जीवात्मानं प्रति परिस्रवन्नानन्दरस उपासकैः सस्वागतगानमभिनन्द्यते ।।१।।

प्रथम मन्त्र में ब्रह्मानन्द-रस का वर्णन है ।

पदार्थ— **यत्** जो **प्रत्नम्** सनातन, **पूर्व्यम्** पूर्वजों से अनुभूत, और **उक्थ्यम्** प्रशंसनीय है, उस **पीयूषम्** पान करने योग्य ब्रह्मानन्द-रूप अमृत को **महः** महान्, **गाहात्** गहन **दिवः** प्रकाशमय परमेश्वर से **आ निरधुक्षत** उपासक लोग दुहकर प्राप्त कर लेते हैं। **इन्द्रम् अभि** जीवात्मा के प्रति **जायमानम्** उत्पन्न होते हुए उसकी **ते** वे उपासक जन **समस्वरन्** भली-भाँति स्तुति करते हैं ।।१।।

भावार्थ— परब्रह्म के पास से जीवात्मा के प्रति प्रवाहित होते हुए आनन्द-रस का उपासक लोग स्वागतगानपूर्वक अभिनन्दन करते हैं ।।१।।

---

१. ऋ० ९।११०।८, 'दिवः पीयूष'मिति भेदः ।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २ ३क २र
१४९५. आदीं के चित् पश्यमानास आप्यं वसुरुचो दिव्या अभ्यनूषत ।
३ १र २र ३ १ २
दिवो न वारं सविता व्यूर्णुते ॥२॥[1]

२ ३ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २ ३ ३ २र ३ २ ३ २ ३
आत् ईम् के चित् पश्यमानासः आप्यम् । वसुरुचः वसु रुचः दिव्याः अभि अनूषत ।
२ १२र ३ २ ३
दिवः न वारम् सविता वि ऊर्णुते ॥२॥

पदार्थः— **आत्** तदनन्तरम्, यदा परब्रह्मणः सकाशात् प्रस्रवन् ब्रह्मानन्दरसो जीवात्मानं प्राप्नोति तदेत्यर्थः । अस्य **आप्यम्** स्वात्मना सह बन्धुत्वम् **पश्यमानासः** वीक्षमाणाः, **वसुरुचः** वसुवत् अग्निविद्युदादित्यवद् रुक् कान्तिर्येषां ते, तेजस्विनः **केचित्** केचन **दिव्याः** दिवि द्योतमाने परब्रह्मणि साधवः परब्रह्मसाक्षात्कारनिपुणा उपासकाः इत्यर्थः **ईम्** एनं ब्रह्मानन्दरसम् **अभ्यनूषत** अभिस्तुवन्ति । **सविता** सूर्यः **दिवः न वारम्** आकाशस्य बालं शिशुं चन्द्रमसं यथा स्वप्रकाशेन **व्यूर्णुते** आच्छादयति, तथैव **सविता** रसाभिषोता सोमः परमेश्वरः तान् उपासकान् **व्यूर्णुते** आनन्दरसेन आच्छादयति । [वारं बालम् वबयो रलयोश्चाभेदत्वात्] ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— यथा सूर्यप्रकाशेन चन्द्रः स्नाति, तथैव परमात्मन आनन्दरसेन जीवः ॥२॥

आगे पुनः वही विषय है ।

पदार्थ— **आत्** जब परब्रह्म के पास से बहता हुआ ब्रह्मानन्द-रस जीवात्मा को प्राप्त होने लगता है उसके अनन्तर इस ब्रह्मानन्द के **आप्यम्** अपने साथ बन्धुत्व को **पश्यमानासः** देखते हुए, **वसुरुचः** अग्नि, बिजली और आदित्य के समान कान्तिवाले तेजस्वी **केचित्** कोई **दिव्याः** दीप्तिमान् ब्रह्म का साक्षात्कार करने में निपुण उपासक **ईम्** इस ब्रह्मानन्द-रस की **अभ्यनूषत** स्तुति करते हैं। **सविता** सूर्य **दिवः न वारम्** जैसे आकाश के शिशु चन्द्रमा को अपने प्रकाश से **व्यूर्णुते** आच्छादित करता है, वैसे ही **सविता** रस का प्रवाहक सोम परमेश्वर उन उपासकों को **व्यूर्णुते** आनन्द-रस से आच्छादित करता है ॥२॥

यहाँ उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— जैसे सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा स्नान करता है, वैसे ही परमात्मा के आनन्द-रस से जीव ॥२॥

अथ परमेश्वरस्य महिमानमाह ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१४९६. अध यदिमे पवमान रोदसी इमा च विश्वा भुवनाभि मज्मना ।
३ २उ ३ १ २ ३ १र २र
यूथे न निष्ठा वृषभा वि राजसि ॥३॥[2]

१ २र ३ १ २ ३ १२र ३ १ २ ३ २ ३ १ २र १२र ३ २ ३ १ २
अध यत् इमेइति पवमान रोदसीइति । इमा च विश्वा भुवना अभि मज्मना ।
३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३
यूथे न निष्ठाः निः स्थाः वृषभः वि राजसि ॥३॥

---

१. ऋ० ९।११०।६, 'वारं न देवः सविता व्यूर्णुते' इति तृतीयः पादः ।

२. ऋ० ९।११०।९, 'यूथे न निःष्ठा वृषभो वि तिष्ठसे' इति तृतीयः पादः ।

पदार्थः— **अध** अथ, हे **पवमान** गतिमय, क्रियाशील परमात्मन् ! [पवते गति कर्मा । निघं० २।१४ ।] त्वम् **यत्** यदा **इमे रोदसी** एते द्यावापृथिव्यौ **इमा च** इमानि च **विश्वा भुवना** सर्वाणि भुवनानि **मज्मना** बलेन [मज्मन् इति बलनाम । निघं० २।९।] **अभि** अभिभवसि, तदा **यूथे न** यथा गोयूथे **निष्ठाः** निष्ठितः **वृषभा** वृषभः विराजति । [सुपां सुलुक्० अ० ७।१।३९ सोराकारादेशः ।] तथा, त्वम् **वि राजसि** विशेषेण शोभसे ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— यथा गोयूथे वृषभः महत्त्वेन पृथक् शोभते तथैव ब्रह्माण्डस्य लोकलोकान्तराणां मध्ये जगत्स्रष्टा परमेशः सर्वातिशायिना महिम्ना पृथग् भासते ॥३॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर की महिमा वर्णित है।

पदार्थ— **अध** और, हे **पवमान** क्रियाशील परमात्मन् ! आप **यत्** जब **इमे रोदसी** इन द्युलोक और भूलोक को **इमा च** तथा इन **विश्वा भुवना** सब भुवनों को **मज्मना** बल से **अभि** अभिभूत करते हो, तब **यूथे न** जैसे गौओं के झुण्ड में **निष्ठाः** स्थित **वृषभा** सांड शोभा पाता है, वैसे ही आप **विराजसि** शोभते हो ॥३॥

यहाँ उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ— जैसे गौओं के झुण्ड में वृषभ अपने महत्त्व के कारण पृथक् शोभा पाता है, वैसे ही ब्रह्माण्ड के लोक-लोकान्तरों के मध्य जगत्स्रष्टा परमेश्वर सर्वाधिक महिमा के कारण पृथक् भासित होता है ॥३॥

॥४॥ अथ 'इममू'' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** शुनःशेप आजीगर्तिः। **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २८ क्रमाङ्के परमेश्वरं सम्बोधिता । अत्र जगदीश्वर आचार्यश्च सम्बोध्यते ।

१४९७. इममू षु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं नव्यांसम् । अग्ने देवेषु प्र वोचः ॥१॥[1]

इमम् ऊ सु त्वम् अस्माकम् । सनिम् गायत्रम् नव्यांसम् । अग्ने देवेषु प्र वोचः ॥१॥

पदार्थः— हे **अग्ने** विद्वन् जगदीश्वर आचार्य वा ! **त्वम् उ** त्वं खलु **इमम्** एतम् **अस्माकं सनिम्** अस्मभ्यं बहुबोधप्रदम् **नव्यांसम्** नित्यनवीनतरम् **गायत्रम्** गायत्र्यादि-छन्दस्कं वेदज्ञानं गायत्रं साम वा **देवेषु** दिव्यगुणेषु सत्पात्रेषु **सु प्रवोचः** सम्यग् उपदिशसि ॥१॥[2]

भावार्थः— यथा सृष्ट्यादौ जगदीश्वरोऽग्निवायवादित्याङ्गिरसामृषीणां हृदये वेदचतुष्टयीं प्रेरयति तथैव गुरव इदानींतनान् सत्पात्रभूतान् शिष्यान् वेदज्ञानमुपदिशेयुः ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २८ क्रमांक पर परमेश्वर को सम्बोधित की गयी थी । यहाँ जगदीश्वर और आचार्य को सम्बोधन है ।

---

१. ऋ० १।२७।४, साम० २८ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं परमेश्वरात् सृष्ट्यादौ वेदचतुष्टयप्रवचनविषये व्याख्यातः ।

पदार्थ– हे **अग्ने** विद्वन् जगदीश्वर वा आचार्य ! **त्वम् उ** आप **इमम्** इस **अस्माकं सनिम्** हमें बहुत बोध देने वाले **गायत्रम्** गायत्री आदि छन्दों से युक्त वेदज्ञान को वा गायत्र नामक साम को **देवेषु** दिव्य गुणों वाले सत्पात्रों में **सु प्रवोचः** भली भाँति उपदेश करते हो ॥१॥

भावार्थ– जैसे सृष्टि के आदि में जगदीश्वर अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा नामक ऋषियों के हृदय में चारों वेदों को प्रेरित करता है, वैसे ही गुरु लोग आजकल के सत्पात्र शिष्यों को वेदज्ञान का उपदेश करें ॥१॥

अथ पुनर्जगदीश्वरमाचार्यं च प्राह ।

१४९८. विभक्तासि चित्रभानो सिन्धोरूर्मा उपाक आ । सद्यो दाशुषे क्षरसि ॥२॥[1]

विभक्ता वि भक्ता असि चित्रभानो चित्र भानो । सिन्धोः ऊर्मौ उपाके आ ।
सद्यः स द्यः दाशुषे क्षरसि ॥२॥

पदार्थः– **प्रथमः** परमात्मपरः । हे **चित्रभानो** अद्भुततेजस्क अग्ने परमात्मन् ! त्वम् **विभक्ता असि** स्वकीयस्य तेजसः अन्येषु सूर्यादिपदार्थेषु विभाजयिता असि । त्वम् **सिन्धोः** समुद्रस्य नद्याः वा **ऊर्मौ** तरङ्गे विद्यसे । **उपाके** सर्वेषां समीपे **आ** आगतोऽसि । [उपाके इति अन्तिकनाम । निघं० २।१६ ।] त्वम् **दाशुषे** आत्मसमर्पकाय उपासकाय **सद्यः** शीघ्रमेव **क्षरसि** आनन्दं स्रावयसि ॥

द्वितीयः आचार्यपरः । हे **चित्रभानो**[2] अद्भुतविद्याप्रकाशमय विद्वन् आचार्य ! त्वम् **विभक्ता असि** विद्यायाः अन्येषु विभाजयिता विद्यसे । **सिन्धोः ऊर्मौ उपाके** नद्याः ऊर्मिमयस्य प्रवाहस्य निकटे **आ** गुरुकुलाश्रमं संस्थाप्य आतिष्ठसि । तत्र च **सद्यः** शीघ्रम् **दाशुषे**[3] आत्मसमर्पकाय शिष्याय **क्षरसि** विद्यां वर्षसि ॥२॥[4]

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः– यथा जगदीश्वरः सर्वं वस्तुजातं स्वप्रजासु विभजति तथैव गुरवः सर्वा विद्याः शिष्येषु विभजेरन् ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर जगदीश्वर और आचार्य को कहा गया है ।

पदार्थ– प्रथम परमात्मा के पक्ष में । हे **चित्रभानो** अद्भुत तेज वाले अग्नि नामक परमात्मन् ! आप **विभक्ता असि** अपने तेज को अन्य सूर्य आदि पदार्थों में बांटने वाले हो । आप **सिन्धोः** समुद्र वा नदी की **ऊर्मौ** लहर में विद्यमान हो । आप **उपाके** सबके समीप **आ** विराजमान हो । आप **दाशुषे** आत्मसमर्पणकर्ता उपासक के लिए **सद्यः** शीघ्र ही **क्षरसि** आनन्द को चुआते हो ॥

द्वितीय आचार्य के पक्ष में । हे **चित्रभानो** अद्भुत विद्या-प्रकाश से पूर्ण विद्वान् आचार्य ! **विभक्ता असि** अन्यों में विद्या को बाँटने वाले हो । **सिन्धोः ऊर्मौ उपाके** नदी के लहरों वाले प्रवाह के निकट **आ** गुरुकुल आश्रम की स्थापना करके निवास करते हो । और वहाँ **सद्यः** जल्दी-जल्दी **दाशुषे** आत्मसमर्पक शिष्य के लिए **क्षरसि** विद्या को बरसाते हो ॥२॥

---

१. ऋ० १।२७।६।

२. (चित्रभानो) चित्रा अद्भुता भानवो विज्ञानादिदीप्तयो यस्य विदुषस्तत्सम्बुद्धौ–इति ऋग्भाष्ये द० ।

३. (दाशुषे) विद्याग्रहणानुष्ठानं कृतवते मनुष्याय–इति ऋग्भाष्ये द० ।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वद्विषये व्याचख्यौ ।

यहाँ श्लेषालंकार है ॥२॥

भावार्थ– जैसे जगदीश्वर सब वस्तुएँ अपनी प्रजाओं में बाँटते हैं, वैसे ही गुरु लोग सब विद्याएँ अपने शिष्यों में बाँटें ॥२॥

अथ जगदीश्वर आचार्यश्च प्रार्थ्यते ।

१ २ ३१र २र ३१२ २ ३ २ ३ १ २
१४९९. आ नो भज परमेष्वा वाजेषु मध्यमेषु । शिक्षा वस्वो अन्तमस्य ॥३॥[1]

२ ३ १२ १२र ३ १२ १ २रर २र १ २र
आ नः भज परमेषु । आ वाजेषु मध्यमेषु । शिक्षा वस्वः अन्तमस्य ॥३॥

पदार्थः– हे अग्ने ! हे विद्वन् परमात्मन् आचार्य वा ! त्वम् **परमेषु** पराविद्याजन्येषु उच्चेषु **वाजेषु** विज्ञानेषु **नः आ भज** अस्मान् भागिनः कुरु, **मध्यमेषु** अपराविद्याजन्येषु मध्यमेषु **वाजेषु** विज्ञानेषु **आभज** भागिनः कुरु । किञ्च **अन्तमस्य** त्वदन्तिके विद्यमानस्य **वस्वः** सकलस्य ऐश्वर्यस्यापि **शिक्ष** प्रदानं कुरु । [शिक्षतिर्दानकर्मा । निघं० ३।२०] ॥३॥[2]

भावार्थः– परमेश्वरस्य कृपया योग्यैर्गुरुभिः शिक्षणेन च सर्वे जनाः 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' (मु० २।५) इत्याख्यां पराविद्यां, 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति (मु० २।५) इत्याख्यामपराविद्यां च, सकलं रजतहिरण्यमणिमुक्तादिरूपं धनं च विन्देयुः ॥३॥

आगे जगदीश्वर और आचार्य से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ– हे अग्ने ! हे विद्वन् परमात्मन् वा आचार्य ! आप **परमेषु** परा-विद्या से उत्पन्न होने वाले उच्च **वाजेषु** विज्ञानों में **नः आ भज** हमें भागी बनाओ, **मध्यमेषु** अपरा विद्या से उत्पन्न होने वाले मध्यम **वाजेषु** विज्ञानों में **आ भज** भागी बनाओ, और **अन्तमस्य** आपके समीप विद्यमान **वस्वः** सकल ऐश्वर्य का भी **शिक्ष** दान करो ॥३॥

भावार्थ– परमेश्वर की कृपा से तथा योग्य गुरुओं की शिक्षा से सब लोग 'परा विद्या वह है जिससे उस अविनश्वर परब्रह्म की प्राप्ति होती है (मु० २।५)' इस लक्षण वाली परा विद्या को, 'अपरा विद्या है ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष (मु० २।५)' इस लक्षण वाली अपरा विद्या को, और सकल चाँदी, सोना, मणि, मोती आदि धन को प्राप्त करें ॥३॥

॥५॥ अथ 'अहमिद्धि' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वत्सः काण्वः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १५२ क्रमाङ्के व्याख्याता । अत्र मानवः स्वोपलब्धिं वर्णयति ।

३२ज ३१र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१र २र ३
१५००. अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह । अहं सूर्य इवाजनि ॥१॥[3]

३ २ ३ २ १ २र ३ २ ३१ २ ३ १ २ ३२ १२र ३
अहम् इत् हि पितुः परि । मेधाम् ऋतस्य जग्रह । अहम् सूर्यः इव अजनि ॥१॥

---

१. ऋ० १।२७।५ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणायमपि मन्त्रो विद्वद्विषये व्याख्यातः ।

३. ऋ० ८।६।१०, अथ० २०।११५।१, उभयत्र 'जग्रभ' इति भेदः । साम० १५२ ।

पदार्थ– **अहम्** जनः **इत् हि** निश्चयेन **पितुः परि** पालकात् पितुः, आचार्यात् **परमेश्वराच्च** **ऋतस्य** सत्यज्ञानस्य सत्याचरणस्य च **मेधाम्** बुद्धिम् **जग्रह** गृहीतवानस्मि । **अहम्** प्राप्तसत्यज्ञानाचरणो जनः **सूर्यः इव** आदित्य इव सर्वोन्नतः प्रकाशवान् प्रकाशकश्च **अजनि** जातोऽस्मि ॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः– ये मातापित्रोराचार्यस्य च सकाशात् परमेश्वरप्रेरणया च सर्वा विद्याः सदाचारं च शिक्षित्वा तान् यथायोग्यं सत्कुर्वन्ति पूजयन्ति च अन्यांश्च विद्याः सदाचारं च शिक्षयन्ति ते प्रशंसिता भवन्ति ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में १५२ क्रमांक पर व्याख्यात हो चुकी है । यहाँ मनुष्य अपनी उपलब्धि का वर्णन कर रहा है ।

पदार्थ– **अहम्** मैंने **इत् हि** निश्चय ही **पितुः परि** पालनकर्ता पिता, आचार्य वा परमेश्वर से **ऋतस्य** सत्य ज्ञान और सत्य आचरण की **मेधाम्** बुद्धि को **जग्रह** ग्रहण कर लिया है । **अहम्** सत्यज्ञान वा सत्य आचरण को प्राप्त मैं **सूर्यः इव** सूर्य के समान सर्वोन्नत, प्रकाशवान् और प्रकाशक **अजनि** हो गया हूँ ॥१॥

यहाँ उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ– जो माता, पिता वा आचार्य के पास से तथा परमेश्वर की प्रेरणा से सब विद्याओं और सदाचार को सीखकर उनका यथायोग्य सत्कार तथा पूजन करते हैं और दूसरों को विद्याएँ तथा सदाचार सिखाते हैं वे प्रशंसित होते हैं ॥१॥

अथ पुनः स एव विषयो वर्ण्यते ।

३२ ३२३१ १२३ १२ ३२ २उ ३ २ ३ २३२
१५०१. **अहं प्रत्नेन जन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत् । येनेन्द्रः शुष्ममिद्दधे ॥२॥**[1]

३२ ३१२ १२र १२र३ २ १२र१ २र१ २र ३२
अहम् प्रत्नेन जन्मना । गिरः शुम्भामि कण्ववत् । येन इन्द्रः शुष्मम् इत् दधे ॥२॥

पदार्थः– **अहम्** महत्त्वाकाङ्क्षी जनः **प्रत्नेन जन्मना** आचार्यसकाशात् प्राप्तेन श्रेष्ठेन जनुषा **कण्ववत्** मेधावी विद्वानिव **गिरः** स्वकीया वाचः **शुम्भामि**[2] सत्यभाषणेन अलङ्करोमि । [शुम्भ शोभार्थे, तुदादिः।] **येन** यस्मात् **इन्द्रः** मदीयो जीवात्मा **शुष्मम् इत्** बलमेव **दधे** धारयति ॥२॥

भावार्थः– आचार्यस्य सावित्र्याश्च सकाशाद् द्वितीयं जन्म गृहीत्वा द्विजः सन् यो मनसा वाचा कर्मणा च सत्यमेवानुतिष्ठति स पवित्रात्मा सबलात्मा च सर्वैः सत्क्रियते ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर वही विषय है ।

पदार्थ– **अहम्** मैं महत्त्वाकांक्षी जन **प्रत्नेन जन्मना** आचार्य के पास से प्राप्त श्रेष्ठ जन्म से **कण्ववत्** मेधावी विद्वान् के समान **गिरः** अपनी वाणियों को **शुम्भामि** सत्य भाषण से अलंकृत करता हूँ, **येन** जिससे **इन्द्रः** मेरा जीवात्मा **शुष्मम् इत्** बल को ही **दधे** धारण करता है ॥२॥

---

१. ऋ० ८।६।११, अथ० २०।११५।२ उभयत्र 'जन्मना' इत्यत्र 'मन्मना' ।

२. शुम्भामि शोधयामि–इति वि० ।

भावार्थ– आचार्य और सावित्री के पास से द्वितीय जन्म ग्रहण कर, द्विज होकर जो मन, वाणी और कर्म से सत्य का ही अनुष्ठान करता है वह पवित्र आत्मा वाला और सबल आत्मा वाला होकर सबसे सत्कार पाता है ।।२।।

अथ स्तोता स्वाभिप्रायमाह ।

१५०२. ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुर्ऋषयो ये च तुष्टुवुः । ममेद् वर्धस्व सुष्टुतः ।।३।।[1]

ये त्वाम् इन्द्र न तुष्टुवुः । ऋषयः ये च तुष्टुवुः ।
मम इत् वर्धस्व सुष्टुतः सु स्तुतः ।।३।।

पदार्थः– हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् न दोषहन्तः सर्वान्तर्यामिन् जगदीश्वर ! **ये** निरीश्वरवादिनः **त्वाम्** भवन्तम् **न तुष्टुवुः** न स्तुवन्ति, **ये च ऋषयः** ये च तत्त्वदर्शिनः वेदार्थविदः त्वत्स्वरूपद्रष्टारः **तुष्टुवुः** महिमवर्णनेन त्वां स्तुवन्ति, ते स्वेच्छानुरूपं कामं व्यवहरन्तु । **मम** मदीयेन तु स्तोत्रेण **सुष्टुतः** सम्यगाराधितः त्वम् ममान्तरात्मनि **वर्धस्व इत्** वृद्धिमेव गच्छ ।।३।।

भावार्थः– केचिद् ब्रुवन्ति परमेश्वरो नाम कश्चिन्नास्त्येव, अस्ति चेदुपेक्षणीय इति । कामं ते तं नाभिष्टुवन्तु । मम तु जीवननौकायाः स एव कर्णधार इति मुहुर्मुहुस्तं वन्देऽभिनन्दये च ।।३।।

अस्मिन् खण्डे जीवात्मनः परमात्मनो ब्रह्मानन्दरसस्य नृपतेराचार्यस्य स्तोतुश्च विषयस्य वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।।

अगले मन्त्र में स्तोता अपना अभिप्राय प्रकट कर रहा है ।

पदार्थ– हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवान्,दोषहन्ता, सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर ! **ये** जो निरीश्वरवादी लोग **त्वाम्** आपकी **न तुष्टुवुः** स्तुति नहीं करते हैं **ये च ऋषयः** और जो तत्त्वदर्शी, वेदार्थवेत्ता, आपके स्वरूप का साक्षात्कार करने वाले विद्वान् जन **तुष्टुवुः** महिमा-वर्णन द्वारा आपकी स्तुति करते हैं, वे अपनी इच्छा के अनुसार भले ही व्यवहार करें,किन्तु **मम** मेरे स्तोत्र से **सुष्टुतः** भली भाँति आराधना किये गये आप, मेरे अन्तरात्मा में **वर्धस्व इत्** अवश्य वृद्धि को प्राप्त होवो ।।३।।

भावार्थ– कोई लोग कहते हैं कि परमेश्वर नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, यदि है भी तो वह उपेक्षा योग्य है । भले ही वे उसकी स्तुति न करें । मेरी जीवन-नौका का तो वही कर्णधार है, इसलिए मैं बार-बार उसका वन्दन करता हूँ और अभिनन्दन करता हूँ ।।३।।

इस खण्ड में जीवात्मा, परमात्मा, ब्रह्मानन्द, राजा, आचार्य और स्तोता के विषय का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

चौदहवें अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ।

।।६।। अथ 'अग्ने' इत्यादिकस्य षष्ठस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अग्निस्तापसः। **देवता** अग्निः (विश्वेदेवाः?)। **छन्दः** अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ।।

---

१. ऋ० ८।६।१२, अथ० २०।११५।३।

तत्राद्ये मन्त्रेऽग्निनाम्ना जगदीश्वरं प्रार्थयते ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ ३ ३ १ २
१५०३. अग्ने विश्वेभिरग्निभिर्जोषि ब्रह्म सहस्कृत ।

१ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
ये देवत्रा य आयुषु तेभिर्नो महया गिरः ॥१॥

१ २र १ २र ३ १ २ १ २र १ २र ३
अग्ने विश्वेभिः अग्निभिः । जोषि ब्रह्म सहस्कृत सहः कृत ।

२ ३ २ ३ १ २ १ २र ३ १२र
ये देवत्रा ये आयुषु । तेभिः नः महय गिरः ॥१॥

पदार्थः— हे **सहस्कृत** सहसा ध्यानबलेन कृत आविष्कृत, **अग्ने** विश्ववन्द्य परमात्मन् ! त्वम् **विश्वेभिः** समस्तैः **अग्निभिः** तेजोभिः सह **ब्रह्म** अस्माकं अन्तरात्मानम् **जोषि** जुषस्व । **ये** ये अग्नयः तेजांसि **देवत्रा** देवेषु प्रकाशकेषु विद्युत्सूर्यादिषु सन्ति **ये** ये चाग्नयः तेजांसि **आयुषु** मनुष्येषु सन्ति **तेभिः** तैः **नः** अस्माकम् **गिरः** वाचः **महय** महिमान्विताः कुरु ॥१॥

भावार्थः— परमात्मना येऽग्नयो रचिताः सन्ति तेभ्यस्तेज स्तत्त्वं गृहीत्वा वयं स्वकीयानि वाङ्मनोबुद्ध्यात्मादीनि तेजोमन्ति कुर्याम ॥१॥

प्रथम मन्त्र में अग्नि नाम से जगदीश्वर से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे सहस्कृत ध्यान-बल से प्रकट किये गये **अग्ने** विश्ववन्द्य परमात्मन् ! आप **विश्वेभिः** सब **अग्निभिः** तेजों के साथ **ब्रह्म** हमारे अन्तरात्मा को **जोषि** प्राप्त होवो । **ये** जो तेज **देवत्रा** प्रकाशक बिजली, सूर्य आदियों में हैं, और **ये** जो तेज **आयुषु** मनुष्यों में हैं **तेभिः** उनसे **नः** हमारी **गिरः** वाणियों को **महय** महिमामय करो ॥१॥

भावार्थ— परमात्मा ने जो अग्नियाँ रची हैं उनसे तेज के तत्त्व को लेकर हम अपने वाणी, मन, बुद्धि, आत्मा आदि को तेजस्वी बनायें ॥१॥

अथ पुनः स एव विषय उच्यते ।

१र २र ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
१५०४. प्र स विश्वेभिरग्निभिरग्निः स यस्य वाजिनः ।

१ २ ३ २ ३ २उ ३ २उ ३ १ २
तनये तोके अस्मदा सम्यङ्वाजैः परीवृतः ॥२॥

१ २र ३ १ २ ३ २ १२र ३ १ २
प्र सः विश्वेभिः अग्निभिः अग्निः सः यस्य वाजिनः ।

१ २र ३ २ ३ २ ३ २ १ २र १ २र १ २र ३
तनये तोके अस्मत् आ । सम्यङ् वाजैः परिवृतः परि वृतः ॥२॥

पदार्थः— **अग्निः** अग्निनाम्ना ख्यातो जगदीश्वरः **सः** असौ वर्तते **यस्य** यद्रचिताः **वाजिनः** बलवन्तः मनोबुद्धिप्राणादयः सूर्यचन्द्रादयश्च विद्यन्ते । **सः** असौ **विश्वेभिः अग्निभिः** स्वरचितैः समस्तैः बहिर्विद्युत्-सूर्यादिभिः अग्निभिः कारणैः **प्र** प्रशंसनीयोऽस्ति । **वाजैः** बलैः **परीवृतः** पर्यावृतः सः **अस्मत्** अस्मासु । [सुपां सुलुक्० अ० ७।१।३९ इति विभक्तेर्लुक् ।] **तोके तनये** अस्माकं पुत्रपौत्रादिषु च **सम्यङ्** समीचीनं यथा स्यात् तथा **आ** आगच्छेत् ॥२॥

भावार्थः— न केवलं वयं प्रत्युतास्माकं भाविसन्ततयोऽप्यध्यात्मपथपथिका भवेयुः ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः वही विषय है ।

पदार्थ— अग्निः अग्नि नाम से प्रसिद्ध जगदीश्वर **सः** वह है **यस्य** जिसके रचे हुए **वाजिनः** बलवान् मन, बुद्धि, प्राण आदि और सूर्य, चन्द्र आदि हैं। **सः** वह **विश्वेभिः अग्निभिः** अपनी रची हुई आग, बिजली, सूर्य आदि सब अग्नियों के कारण **प्र** प्रशंसनीय बना हुआ है। **वाजैः** बलों से **परीवृतः** घिरा हुआ वह **अस्मत्** हममें और **तोके तनये** हमारे पुत्र, पौत्र आदियों में **सम्यङ्** भली-भांति **आ** आये ॥२॥

भावार्थ— न केवल हम, प्रत्युत हमारी भावी सन्ततियां भी अध्यात्म मार्ग की पथिक होवें ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

१५०५. त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।
त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय ॥३॥[1]

त्वम् नः अग्ने अग्निभिः । ब्रह्म यज्ञम् च वर्धय ।
त्वम् नः देवतातये रायः दानाय चोदय ॥३॥

पदार्थः— हे **अग्ने** अग्रनायक ज्योतिर्मय ज्योतिष्प्रद सर्वान्तर्यामिन् सर्वज्ञ जगदीश्वर ! **त्वम्** सर्वशक्तिमान् भवान् **अग्निभिः** त्वदीयैः ज्योतिर्भिः **नः** अस्माकम् **ब्रह्म** जीवात्मानम् **यज्ञं च** अस्माभिः क्रियमाणम् उपासनामानवसेवाद्यात्मकं **यज्ञं** च **वर्धय** समेधय । त्वम् **देवतातये** राष्ट्रोत्थानरूपस्य पूर्त्यै ।

(देवताता इति यज्ञनामसु पठितम् । निघं ३ । १७ । देवशब्दात् सर्वशब्दाद्यातिलू अ० ४ । ४ । १४२ इति तातिल् प्रत्ययः लित्वात् प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तम् ।] **नः** अस्मान् **रायः** विद्याहिरण्यधान्यादिकस्य धनस्य **दानाय** परेभ्यस्त्यागाय **चोदय** प्रेरय ॥३॥

भावार्थः— परमात्मनस्तेजसा तेजस्विनो भूत्वा वयं परमात्मवत् परोपकारयज्ञे संलग्ना भवेम, विद्याधनधान्यादीनां दानं कुर्वन्तश्च समाजमुन्नयेम ॥३॥

आगे फिर उसी विषय को कहा गया है ।

पदार्थ— हे **अग्ने** अग्रनायक, ज्योतिप्रदायक, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ जगदीश्वर ! **त्वम्** सर्वशक्तिमान् आप **अग्निभिः** अपनी ज्योतियों से **नः** हमारे **ब्रह्म** जीवात्मा को **यज्ञं च** और हमारे द्वारा किये जाने वाले उपासना, मानवसेवा आदि यज्ञ को **वर्धय** बढ़ाओ । आप **देवतातये** राष्ट्रोत्थान रूप यज्ञ की पूर्ति के लिए **नः** हमें **रायः** विद्या, सुवर्ण, धान्य आदि धन के **दानाय** दान के लिए **चोदय** प्रेरित करो ॥३॥

भावार्थ— परमात्मा के तेज से तेजस्वी होकर हम परमात्मा के समान परोपकार-यज्ञ में संलग्न होवें और विद्या, धन, धान्य आदि का दान करते हुए समाज को उन्नत करें ॥३॥

---

१. ऋ० १०।१४१।६। अथ० ३।२०।५ 'देवतातये' इत्यत्र देव॒ दात॑वे'।

॥७॥ अथ 'त्वे सोम' इत्यादिकस्य सप्तमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषी** त्र्यरुणत्रसदस्यू त्रैवृष्णपौरुकुत्सौ । **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** ऊर्ध्वा बृहती । **स्वरः** मध्यमः ॥

तत्रादौ सोमनाम्ना जगत्पतिः प्रार्थ्यते ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३१र २र३ १ २ ३ १ २
१५०६. त्वे सोम प्रथमा वृक्तबर्हिषो महे वाजाय श्रवसे धियं दधुः।

१र २र ३क २र
स त्वं नो वीर वीर्याय चोदय ॥१॥[1]

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
त्वे इति सोम प्रथमाः वृक्तबर्हिषः वृक्त बर्हिषः।

२ १ २र १ २र १ २र ३ २ ३ क २ ३
महे वाजाय श्रवसे धियम् दधुः। सः त्वम् नः वीर वीर्याय चोदय ॥१॥

पदार्थः— हे **सोम** जगदुत्पादक शुभगुणकर्मस्वभावप्रेरक सर्वाह्लादक परमात्मन् ! **प्रथमाः** श्रेष्ठाः, **वृक्तबर्हिषः** उपासनायज्ञे छिन्नकुशाः आस्तीर्णदर्भासना यजमानाः **महे वाजाय** महते बलाय **श्रवसे** यशसे च **त्वे** त्वयि **धियं दधुः** ध्यानं सम्पादयन्ति । **सः त्वम्** असौ सर्वैःश्रेष्ठजनैर्ध्यातः त्वम् **नः** ध्यानिनः अस्मान् **वीर्याय** वीरकर्मणे **चोदय** प्रेरय ॥१॥

भावार्थः— परमात्मनो ध्यातारो बलिनो भूत्वा शुभानि लोकहितावहानि कर्माणि कुर्वन्तो यशस्विनो जायन्ते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में सोम नाम से जगत्पति से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **सोम** जगत् के उत्पादक, शुभ गुण-कर्म-स्वभाव के प्रेरक, सबको आह्लाद देने वाले परमात्मन् ! **प्रथमाः** श्रेष्ठ, **वृक्तबर्हिषः** उपासना-यज्ञ में कुशाओं का आसन बिछाये हुए यजमान **महे वाजाय** महान् बल के लिए, और **श्रवसे** यश के लिए **त्वे** आप में **धियं दधुः** ध्यान लगाते हैं । **सः त्वम्** वह सब श्रेष्ठ जनों से ध्यान किये गये आप **नः** हम ध्यानकर्ताओं को **वीर्याय** वीर कर्म के लिए **चोदय** प्रेरित कीजिए ॥१॥

भावार्थ— परमात्मा के ध्यानकर्ता लोग बली होकर शुभ्र, लोकहितकारी कर्मों को करते हुए यशस्वी होते हैं॥१॥

अथ जगत्पतेरुपकारान् वर्णयति ।

३क २र ३ १र २र ३ २ ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
१५०७. अभ्यभि हि श्रवसा ततर्दिथोत्सं न कं चिज्जनपानमक्षितम् ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २
शर्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः ॥२॥[2]

३क २ ३ २ ३ २ १ २र ३ १ २
अभ्यभि अभि अभि हि श्रवसा ततर्दिथ ।

१ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३
उत्सम् उत् सम् न कम् चित् जनपानम् जन पानम् अक्षितम् अ क्षितम् ।

१ २र १ २र १ २र
शर्याभिः न भरमाणः गभस्त्योः॥२॥

---

१. ऋ० ९।११०।७।

२. ऋ० ९।११०।५।

पदार्थः— हे सोम जगत्पितः परमात्मन् ! **श्रवसा** यशसा प्रख्यातः त्वम्, **कंचित् अक्षितम् उत्सं न** कंचित् अक्षयं जलस्रोतः इव **अक्षितं जनपानम्** जनैः पातव्यम् अक्षयम् आनन्दरसम् **अभ्यभि हि** उपासकान् प्रति **ततर्दिथ** प्रवाहयसि । किञ्च **गभस्त्योः** बाह्वोः । [गभस्ती इति बाह्वोर्नाम । निघं० २।४ ।] **शर्याभिः**[1] **न** अङ्गुलीभिरिव । [शर्या इति अङ्गुलिनाम । निघं० २।५ ।] **गभस्त्योः** द्यावापृथिव्योः **शर्याभिः** रश्मिभिः **भरमाणः** लोकलोकान्तराणि धारयन् भवसि ॥२॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— यथा स्रोतसः प्रवहन् जलप्रवाहो भूभागमाप्लावयति तथैव परमात्मनः प्रवहन्नानन्दरस उपासकानामन्तःकरणमाप्लावयति । यथा च कश्चिद् बाह्वोरङ्गुलीभिः कमपि पदार्थं धारयति तथैव जगदीश्वरो द्यावापृथिव्योर्व्याप्ताभिः सूर्यरश्मिभिर्विभिन्नान् लोकान् धारितवानस्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में जगत्पति के उपकारों का वर्णन है ।

पदार्थ— हे सोम नामक जगत्पिता परमात्मन् ! **श्रवसा** यश से प्रसिद्ध आप **अक्षितम् उत्सं न** अक्षय जल-स्रोत के समान **अक्षितं जनपानम्** मनुष्यों से पान करने योग्य अक्षय आनन्द-रस को **अभ्यभि हि** उपासकों के प्रति **ततर्दिथ** बहाते हो । और **गभस्त्योः** बाहुओं की **शर्याभिः न** अंगुलियों से जैसे कोई मनुष्य किसी वस्तु को पकड़ता है वैसे ही आपने **गभस्त्योः** द्यावापृथिवी की **शर्याभिः** किरणों से **भरमाणः** लोक-लोकान्तरों को धारण किया हुआ है ॥२॥

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— जैसे स्रोत से बहता हुआ जलप्रवाह भूभाग को आप्लावित कर देता है, वैसे ही परमात्मा के पास से बहता हुआ आनन्द-रस उपासकों के अन्तःकरण को आप्लावित करता है । और जैसे बाहुओं की अंगुलियों से कोई किसी पदार्थ को धारण करता है, वैसे ही जगदीश्वर द्यावापृथिवी में व्याप्त सूर्य-रश्मियों से विभिन्न लोकों को धारण करता है ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१५०८. अजीजनो अमृत मर्त्याय कमृतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सदासरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ॥३॥[2]

१ २ऋ ३ १ २ऋ ३ १ २ ३ १२ऋ ३ १ २ ३ १२ऋ १२ऋ
अजीजनः अमृत अ मृत मर्त्याय कम् । ऋतस्य धर्मन् अमृतस्य अ मृतस्य चारुणः ।

१ २ऋ ३ १ २ऋ १ २ऋ १ २ऋ
सदा असरः वाजम् अच्छ सनिष्यदत् ॥३॥

पदार्थः— हे **अमृत** अमर सोम जगदीश्वर ! त्वम् **मर्त्याय** मानवाय **ऋतस्य धर्मन्** उदकस्य सत्यनियमस्य वा धारके आकाशे । [ऋतमिति उदकनाम सत्यनाम च । निघं० १।१२, ३।१० ।] **चारुणः** कल्याण-करस्य **अमृतस्य** अमृतमयस्य पर्जन्यस्य आदित्यस्य वा **कम्** सुखकरं जलं प्रकाशं वा **अजीजनः** जनितवानसि ।

---

१. शर्याभिः कर्मभिः— इति वि० ।

२. ऋ० ९।११०।४, 'मर्त्याय कमृतस्य' इत्यत्र 'मर्त्येष्वाँ ऋतस्य' इति पाठः ।

अपि च **वाजम् अच्छ** बलं प्रापयितुम् **सनिष्यदत्** प्रस्यन्दमानः त्वम् **सदा** सदैव **असरः** धार्मिकान् उपासकान् प्राप्नोषि । [सनिष्यदत्, स्यन्दू प्रस्रवणे धातोः दाधर्तिदर्धर्ति० । अ० ७।४।६५ इत्यनेन यङ्लुकि अभ्यासस्य निक् धातुसकारस्य च षत्वं निपात्यते] ॥३॥

भावार्थः— जगदीश्वरस्यास्मान् प्रति कियानुपकारो यत् सोऽस्मभ्यं, गगने वृष्टिप्रदातारं पर्जन्यं तेजसां निधिं सूर्यं च स्थापयति स एव च सर्वा विपदो विघ्नांश्च प्रतिरोद्धुमस्मभ्यं मनोबलं प्रयच्छति ॥३॥

अगले मन्त्र में फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— हे **अमृत** अमर सोम जगदीश्वर ! आपने **मर्त्याय** मनुष्य के लिए **ऋतस्य धर्मन्** जल वा सत्यनियम के धारणकर्ता आकाश में **चारुणः** कल्याणकारी, **अमृतस्य** अमृतमय बादल वा सूर्य के **कम्** सुखकारी जल वा प्रकाश को **अजीजनः** उत्पन्न किया है । साथ ही **वाजम् अच्छ** बल प्राप्त कराने के लिए **सनिष्यदत्** प्रवृत्त होते हुए आप **सदा** हमेशा **असरः** धार्मिक उपासकों को प्राप्त होते हो ॥३॥

भावार्थ— जगदीश्वर का हमारे प्रति कितना उपकार है कि वह हमारे लिए आकाश में जल बरसाने वाले बादल को और तेज के खजाने सूर्य को स्थापित करता है और वही सब विपदाओं तथा विघ्नों से मुकाबला करने के लिए हमें मनोबल भी देता है ॥२॥

॥८॥ अथ 'एन्दुमिन्द्राय' इत्यादिकस्याष्टमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** विश्वमना वैयश्वः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** उष्णिक् । **स्वरः** ऋषभः ॥

तत्र प्रथमायामृचि पूर्वार्चिके ३८६ क्रमाङ्के इन्द्रशब्देन परमात्मा गृहीतः । अत्र जीवात्मा गृह्यते ।

१५०९. एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्यं मधु ।
प्र राधांसि चोदयते महित्वना ॥१॥[1]

आ इन्दुम् इन्द्राय सिञ्चत । पिबाति सोम्यम् मधु ।
प्र राधांसि चोदयते महित्वना ॥१॥

पदार्थः— हे सखायः ! यूयम् **इन्द्राय** स्वकीयाय अन्तरात्मने **इन्दुम्** क्लेदकं ब्रह्मानन्दरसम् **आ सिञ्चत** क्षारयत । सः **सोम्यम्** शान्तिकरम् **मधु** मधुरं तं ब्रह्मानन्दरसम् **पिबाति** पिबतु । पीतः स ब्रह्मानन्दरसः **महित्वना** स्वमहिम्ना **राधांसि** ऐश्वर्याणि **प्र चोदयते** प्रेरयतु ॥१॥

भावार्थः— परमात्मनः सकाशात् प्रवहन्नानन्दरसः जीवात्मना पीतो बहुकल्याणकरो जायते ॥१॥

प्रथम ऋचा में पूर्वार्चिक के ३८६ क्रमांक पर इन्द्र शब्द से परमात्मा का ग्रहण किया गया था । यहाँ जीवात्मा का ग्रहण करते हैं ।

पदार्थ— हे साथियो ! तुम **इन्द्राय** अपने अन्तरात्मा के लिए **इन्द्रम्** सराबोर करने वाले ब्रह्मानन्द-रस को **आ सिञ्चत** प्रवाहित करो । वह अन्तरात्मा **सोम्यम्** शान्तिकारी **मधु** उस मधुर ब्रह्मानन्द-रस को **पिबाति** पिये। पिया हुआ वह ब्रह्मानन्द-रस **महित्वना** अपनी महिमा से **राधांसि** ऐश्वर्यों को **प्रचोदयते** प्रेरित करे ॥१॥

---

१. ऋ० ८।२४।१३ 'प्र राधसा चोदयाते' इति भेदः । साम० ३८६।

भावार्थ– परमात्मा के पास से बहता हुआ आनन्द-रस जीवात्मा से पान किये जाने पर बहुत कल्याणकारी होता है ।।१।।

अथेन्द्रं जगदीश्वरं स्तौति ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २
१५१०. **उपो हरीणां पतिं राधः पृञ्चन्तमब्रवम् । नूनं श्रुधि स्तुवतो अश्व्यस्य ।।२।।**[1]

१२र ३ १ २र १ २र १ २र ३ १ २ ३
उप ऊ हरीणाम् पतिम् । राधः पृञ्चन्तम् अब्रवम् ।
२ ३ २ ३ १ २
नूनम् श्रुधि स्तुवतः अश्व्यस्य ।।२।।

पदार्थः– **हरीणाम्** आकर्षणगुणेन परस्परमाबद्धानां सूर्यभूमण्डलमङ्गलबुधचन्द्रनक्षत्रादीनाम्, यद्वा ज्ञानकर्माहरणशीलानां ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च **पतिम्** स्वामिनम्, **राधः** ऐश्वर्यम् **पृञ्चन्तम्** प्रयच्छन्तम् इन्द्रं परमात्मानम् । [पृची सम्पर्चने, अदादिः ।] **उप** उपेत्य अहम् **अब्रवम् उ** स्तुतिवचनं ब्रवीमि । हे इन्द्र परमात्मन् ! **स्तुवतः** स्तुतिं कुर्वतः **अश्व्यस्य**[2] अश्वेषु इन्द्रियतुरङ्गमेषु साधुः अश्व्यः इन्द्रियाश्वानां सुमार्गे चालयिता तस्य उपासकस्य मम, तत्प्रार्थनावचनम् **नूनं** निश्चयेन **श्रुधि** शृणु, पूरयेत्यर्थः ।।२।।

भावार्थः– परस्परमाकर्षणबलेन निराधारं गगने स्थितानां लोकलोकान्तराणां देहे च यथास्थानं धृतानामङ्गप्रत्यङ्गानां मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियाणां च यो व्यवस्थापयिता वर्तते तं परमात्मानं सर्वे जना जितेन्द्रिया भूत्वा भूयोभूयः संस्तुवन्तु ।।२।।

अगले मन्त्र में जगदीश्वर की स्तुति है ।

पदार्थ– **हरीणाम्** आकर्षण के गुण से एक-दूसरे के साथ बँधे हुए सूर्य, भूमण्डल, मंगल, बुध, चन्द्र, नक्षत्र आदियों के अथवा ज्ञान और कर्म का आहरण करने वाली ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के **पतिम्** स्वामी, **राधः** ऐश्वर्य को **पृञ्चन्तम्** प्रदान करने वाले इन्द्र परमात्मा के **उप** समीप होकर, मैं **अब्रवम्** स्तुतिवचन बोलता हूं । हे इन्द्र परमात्मन् ! **स्तुवतः** स्तुति करने वाले, **अश्व्यस्य** इन्द्रिय-रूपी घोड़ों को सन्मार्ग पर चलाने वाले मुझ उपासक के, उस प्रार्थना-वचन को, आप **नूनम्** अवश्य **श्रुधि** सुनो, पूर्ण करो ।।२।।

भावार्थ– आपस में आकर्षण-बल से बिना आधार के आकाश में स्थित लोकलोकान्तरों का और शरीर में यथास्थान स्थित अंग-प्रत्यंगों का एवं मन, बुद्धि, प्राण तथा इन्द्रियों का जो व्यवस्थापक है उस परमात्मा की सब लोग जितेन्द्रिय होकर पुनः-पुनः भली-भाँति स्तुति करें ।।२।।

अथेन्द्रस्य परमात्मनो महिमानमाह ।

२ ३क २ ३ २ ३ २ ३ २ ३१ २ ३ २
१५११. **न ह्या ३ ऽङ्ग पुरा च न जज्ञे वीरतरस्त्वत् ।**
१ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
न की राया नैवथा न भन्दना ।।३।।[3]

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २
न हि अङ्ग पुरा च न । जज्ञे वीरतरः त्वत् । न किः राया न एवथा न भन्दना ।।३।।

---

१. ऋ० ८।२४।१४।

२. अश्व्यस्य अश्वो नामर्षिरश्वशब्देनोच्यते, तस्य पुत्रस्य–इति सा० ।

३. ऋ० ८।२४।१५, 'चनकी' इति समस्तः पाठः ।

पदार्थः— हे **अङ्ग** प्रिय परमेश ! **पुरा च न** प्राक्-कालेऽपि **त्वत्** त्वदपेक्षया **वीरतरः** अधिको वीरः कश्चन **न जज्ञे** नैव उत्पन्नः, साम्प्रतं नास्ति, भाविनि काले च न भविष्यतीति किमु वक्तव्यम् **न किः** नैव **राया** धनेन, **न एवथा**[1] नएवेन गमनेन, कर्मणा, अवनेन वा, **न** नापि च **भन्दना**[2] भन्दनया कल्याणेन त्वदधिकः कश्चिद् जज्ञे, वर्तते, जनिष्यते वा । [एवैः अयनैः अवनैर्वा इति निरुक्तम् २।२५ । इण् गतौ धातोः 'इण्शीभ्यां वन्। उ० १।१५२ इति वन् प्रत्ययः । ततस्तृतीयार्थे छान्दसः था प्रत्ययः । भन्दना, भदि कल्याणे सुखे च कल्याणेन । भन्दनया इति प्राप्ते 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१३९ इति तृतीयाया आकारादेशः] ॥३॥

भावार्थः— न खलु जगदीश्वरादधिकः कश्चिद् वीरो धनवान् कर्मण्यो रक्षकः कल्याणकरश्च भूतो वर्तते वर्तिष्यते वा । अत आत्मनः सुखाय शान्त्यै च स एव सर्वैर्वन्दनीयः ॥३॥

अगले मन्त्र में इन्द्र परमात्मा की महिमा का वर्णन है ।

पदार्थ— हे **अङ्ग** प्रिय परमेश्वर ! **पुरा च न** पहले भी **त्वत्** आपकी अपेक्षा **वीरतरः** अधिक वीर **न जज्ञे** कोई उत्पन्न नहीं हुआ, [अब नहीं है, और भविष्य में नहीं होगा, इसका तो कहना ही क्या !] **न किः** न ही **राया** धन में **न एवथा**[1] न गति, कर्म व रक्षा में और **न** न ही भन्दना कल्याण में आपसे अधिक कोई उत्पन्न हुआ है वा होगा ॥३॥

भावार्थ— जगदीश्वर से अधिक वीर, धनी, कर्मण्य, रक्षक और कल्याणकारी अन्य कोई भी न हुआ, न है, न होगा । इसलिए अपने सुख और शान्ति के लिए उसी की वन्दना सबको करनी चाहिए ॥३॥

॥९॥ अथ 'नदं व' इत्यादिकस्य नवमस्यैकर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** प्रियमेध आङ्गिरसः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** निचृदुष्णिक् । **स्वरः** ऋषभः ॥

अथ पुनरपि परमात्मनो महिमा प्रोच्यते ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
१५१२. **नदं व ओदतीनां नदं योयुवतीनाम् ।**

१ २ ३ १ २ ३ १ २
पतिं वो अघ्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि ॥१॥[3]

३ २ ३ १ २ र ३ २ १ २ र
नदम् वः ओदतीनाम् । नदम् योयुवतीनाम् ।

१ २ र ३ १ २ र ३ २ ३
पतिम् वः अघ्न्यानाम् अघ्न्यानाम् धेनूनाम् इषुध्यसि ॥१॥

पदार्थः— हे मनुष्याः! **वः** यूयम् **ओदतीनाम्** प्रकाशेन क्लेदकानाम् उषसाम् । [उन्दन्तीति ओदत्यः तासाम् । उन्दी क्लेदने । ओदती इत्युषर्नाम । निघं० १।८ ।] **नदम्** भासकम् । [नद भासार्थः, चुरादिः ।] **योयुवतीनाम्** अतिशयेन स्वात्मानमितराभिः मिश्रयन्तीनां नदीनाम् । [यौतेर्यङ्लुगन्तात् शतरि ङित्वाद् गुणाभावे उवङादेशे स्त्रियां षष्ठीबहुवचने रूपम् ।] **नदम्** नादयितारम् । [णद अव्यक्ते शब्दे, भ्वादिः] अपि च **वः** युष्माकम् **अघ्न्या-**

---

१. एवथा शत्रुपुराणि संग्रामं वा प्रति गमनेन त्वत्तोऽधिको न जातः, यद्वा एवथा, अव रक्षणादिषु, अकारस्येकारश्छान्दसः, शरणागतानां स्तोतॄणां वा अवने त्वत्तोऽधिको नास्तिइति सा० ।

२. भन्दना । भन्दतिः स्तुतिकर्मा, निघं० ३।१४ । स्तुत्यश्च त्वदधिको न जातः—इति सा० । भन्दना बलेनापि सम्पन्नः न त्वत्-सदृशः—इति वि० ।

३. ऋ० ८।६९।२।

नाम् अहन्तव्यानाम् **धेनूनाम्** गवाम् **पतिम्** पातारम् इन्द्रं जगदीश्वरं, स्तुत इति शेषः । अथ प्रत्यक्षकृतमाह– हे इन्द्र जगदीश्वर ! त्वम्, अधार्मिकेषु शत्रुषु **इषुध्यसि** शरं संदधासि, तान् दण्डयसीत्यर्थः । [इषुध शरधारणे, कण्ड्वादिः] ॥१॥

अत्र नदमित्यस्य द्विरुक्तौ यमकालङ्कारः । तीनामित्यस्य द्विरुक्तौ छेकानुप्रासः । नकारावृत्तौ च वृत्त्यनुप्रासः॥१॥

भावार्थः– परमेश्वर एवोषसां भासकः, सूर्यस्य प्रदीपको, विद्युतां द्योतयिता, पवनस्य प्रचालको, नदीनां कलकलनिनादको, गोषु पयसामुत्पादको, दुष्टानां दलयिता चास्ति ॥१॥

अस्मिन् खण्डे जगदीश्वरस्य जीवात्मनश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा की महिमा वर्णित है ।

पदार्थ– हे मनुष्यो ! **वः** तुम **ओदतीनाम्** प्रकाश से आप्लुत करने वाली उषाओं के **नदम्** प्रकाशक जगदीश्वर की, **योयुवतीनाम्** स्वयं को अन्यों के साथ मिलाने वाली नदियों के **नदम्** कल-कल नाद कराने वाले जगदीश्वर की, और **वः** तुम्हारी **अघ्न्यानाम्** न मारी जाने योग्य **धेनूनाम्** गायों के **पतिम्** रक्षक इन्द्र जगदीश्वर की, स्तुति करो । हे इन्द्र जगदीश्वर ! आप अधार्मिक शत्रुओं पर **इषुध्यसि** बाण चलाते हो, अर्थात् उन्हें दण्डित करते हो ॥१॥

यहाँ 'नद' की आवृत्ति में यमक अलंकार है और 'तीनों' की आवृत्ति में छेकानुप्रास, नकार की आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ॥१॥

भावार्थ– परमेश्वर ही उषाओं को चमकाने वाला, सूर्य को प्रदीप्त करने वाला, बिजलियों को विद्योतित करने वाला, पवन को चलाने वाला, नदियों में कल-कल निनाद कराने वाला, धेनुओं में दूध उत्पन्न करने वाला और दुष्टों का दलन करने वाला है ॥१॥

इस खण्ड में जगदीश्वर और जीवात्मा का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

चौदहवें अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ।

॥१०॥ अथ 'देवो वो' इत्यादिकस्य दशमस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५५ क्रमाङ्के परमेश्वरोपासनाविषये व्याख्याता । अत्राग्निहोत्रविषय उच्यते।

१५१३. देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्वासिचम् ।
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद्वो देव ओहते ॥१॥[1]

देवः वः द्रविणोदाः द्रविणः दाः । पूर्णाम् विवष्टु आसिचम् आ सिचम् ।
उत् वा सिञ्चध्वम् उप वा पृणध्वम् । आत् इत् वः देवः ओहते ॥१॥

---

१. ऋ० ७।१६।११, 'विवष्ट्यासिचम्' इति भेदः । साम० ५५ ।

पदार्थः— हे मानवाः! **द्रविणोदाः** द्रविणः आरोग्यधनं बलं वा तस्य दाता, **देवः** प्रकाशपूर्णः प्रकाशकश्च यज्ञाग्निः **वः** युष्माकम् **पूर्णाम्** केसरकस्तूर्यादिमिश्रितेन घृतेन परिपूर्णाम् **आसिचम्** आसेक्त्रीं स्रुचम् **विवष्टु** ग्रह्णीयात् । यूयम् **उत्सिञ्चध्वं वा** सुगन्धिद्रव्यमिश्रित घृताहुतिभिः तं यज्ञाग्निं स्नपयत च, **उपपृणध्वं च** रिक्तीभूतां स्रुचं पुनर्घृतैः पूरयत च । [वा शब्दः समुच्चये । 'अथापि समुच्चये भवति (१।५)' इति निरुक्तप्रामाण्यात्।] **आत् इत्** तदनन्तरमेव **देवः** दीप्तो यज्ञाग्निः **वः** युष्मान् अग्निहोत्रिणः **ओहते** यज्ञलाभान् वहति प्रापयति । [वह प्रापणे, धातोश्छान्दसं सम्प्रसारणम्] ॥१॥[1]

भावार्थः— पुनः पुनराहुतिप्रदानेन यज्ञाग्निरारोग्यदीप्त्यादिभिर्लाभैर्याजिकानुपकुर्वन् परमेश्वरोपासनायामपि सहायको भवति ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ५५ क्रमांक पर परमेश्वर की उपासना के विषय में की जा चुकी है । यहाँ अग्निहोत्र का विषय कहते हैं ।

पदार्थ— हे मनुष्यो ! **द्रविणोदाः** आरोग्यरूप धन वा बल देने वाला, **देवः** प्रकाश से परिपूर्ण और प्रकाश देने वाला यज्ञाग्नि **वः** तुम्हारी **पूर्णाम्** केसर, कस्तूरी आदि से मिश्रित घी से पूर्ण, **आसिचम्** सींचने वाली स्रुवा को **विवष्टु** ग्रहण करे । तुम **उत्सिञ्चध्वं वा** सुगन्धित द्रव्यों से मिश्रित घृत की आहुतियों से उस अग्नि को सींचो **उपपृणध्वं च** और आहुति देने से खाली हुई स्रुवा को फिर घृत से भरो । **आत् इत्** तदनन्तर ही **देवः** प्रदीप्त यज्ञाग्नि **वः** तुम अग्निहोत्रियों को **ओहते** यज्ञ के लाभ प्राप्त करायेगा ॥१॥

भावार्थ— बारम्बार आहुति देने से यज्ञाग्नि आरोग्य, दीप्ति आदि लाभों से याज्ञिकों का उपकार करता हुआ परमेश्वर की उपासना में भी सहायक होता है ॥१॥

अथ पुनरप्यग्निहोत्रविषयो वर्ण्यते ।

१२ २र ३२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१५१४. तं होतारमध्वरस्य प्रचेतसं वह्निं देवा अकृण्वत ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
दधाति रत्नं विधते सुवीर्यमग्निर्जनाय दाशुषे ॥२॥[2]
२ १ २र ३ १ २ १ २र ३ १ २र ३ २ ३
तम् होतारम् अध्वरस्य प्रचेतसम् प्र चेतसम् । वह्निम् देवाः अकृण्वत ।
१ २र १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २ १ २र ३ १ २
दधाति रत्नम् विधते सुवीर्यम् सु वीर्यम् । अग्निः जनाय दाशुषे ॥२॥

पदार्थः— **प्रचेतसम्** प्रचेतयति जागरयति यस्तम् **वह्निम्** अग्निम् **देवाः** विद्वांसः अग्निहोत्रिणः **अध्वरस्य** हिंसारहितस्य यज्ञस्य **होतारम्** निष्पादनसाधनम् **अकृण्वत** कुर्वन्ति । असौ **अग्निः** यज्ञाग्निः **विधते** परमेश्वरं परिचरते । [विधतिः परिचरणकर्मा । निघं० ३।५।] **दाशुषे जनाय** हवींषि दत्तवते अग्निहोत्रिणे **सुवीर्यम्** सुवीर्योपेतम् **रत्नम्** आरोग्यादिकं रमणीयं धनम् **दधाति** प्रयच्छति ॥२॥[3]

भावार्थः— यज्ञाग्नौ रोगहराणां सुगन्धिद्रव्याणां याऽऽहुतिः प्रदीयते साऽग्निज्वालाभिर्विच्छिन्ना सूक्ष्मीकृता च वायुमाध्यमेनेतस्ततः प्रसृता सती श्वासद्वारा प्राणिनां फुप्फुसान्तर्गता तत्र रक्तवाहिनीषु सूक्ष्मासु केशिकासु

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वत्पक्षे व्याचष्टे ।

२. ऋ० ७।१६।१२।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् अध्यापका अध्येतारश्च किं कुर्युरिति विषये व्याख्यातः ।

रक्तेन सम्बद्धा तत्रौषधं समावेशयति रक्तस्य मालिन्यं चापहृत्य श्वासद्वारेण बहिर्निस्सारयति । एवं प्राणिनां स्वास्थ्यं जनयति । अग्निज्वालानां दीप्तिमूर्ध्वगामित्वं दोषदाहकत्वमित्यादिगुणानवलोक्य यज्ञकर्ता स्वात्मन्यप्येतान् गुणान् धारयितुं यतते । तदेवमग्निहोत्रेणान्तरिका बाह्याश्चोभयेऽपि लाभाः सम्पद्यन्ते ।।२।।

अगले मन्त्र में फिर अग्निहोत्र का विषय वर्णित है ।

पदार्थ– **प्रचेतसम्** चेताने वाले **वह्निम्** अग्नि को **देवाः** विद्वान् अग्निहोत्री लोग **अध्वरस्य** हिंसारहित यज्ञ का **होतारम्** निष्पादक **अकृण्वत** करते हैं। वह **अग्निः** यज्ञाग्नि **विधते** परमेश्वर-पूजक, **दाशुषे जनाय** हवि देने वाले अग्निहोत्री को **सुवीर्यम्** सुवीर्य से युक्त **रत्नम्** आरोग्य आदि रत्न **दधाति** प्रदान करता है ।।२।।

भावार्थ– यज्ञाग्नि में रोग हरने वाले सुगन्धित द्रव्यों की जो आहुति दी जाती है वह अग्नि-ज्वालाओं द्वारा विच्छिन्न और सूक्ष्म की जा कर वायु के माध्यम से इधर-उधर फैलकर श्वास द्वारा प्राणियों के फेफड़ों में पहुँचकर वहाँ रक्तवाहिनी पतली-पतली केशिकाओं में खून से सम्बद्ध होकर खून में औषध को प्रविष्ट करा देती है और खून की मलिनता को हरकर साँस से बाहर निकाल देती है । इस प्रकार प्राणियों को स्वास्थ्य देती है । अग्निज्वालाओं की दीप्ति, ऊर्ध्वगति, दोष-दाहकता इत्यादि गुणों को देखकर यज्ञकर्ता अपने अन्दर भी इन गुणों को धारण करने का यत्न करता है । इस प्रकार अग्निहोत्र से बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार के लाभ होते हैं ।।२।।

।।११।। अथ 'अदर्शि' इत्यादिकस्यैकादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सौभरिः काण्वः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** बृहती । **स्वरः** मध्यमः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४७ क्रमाङ्के परमेश्वरार्चनविषये व्याख्याता । अत्र परमात्मनृपत्योर्विषय उच्यते ।

१५१५. **अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः ।**
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्तु नो गिरः ।।१।।[1]

अदर्शि गातुवित्तमः गातु वित्तमः । यस्मिन् व्रतानि आदधुः आ दधुः ।
उप उ सु जातम् आर्यस्य वर्धनम् । अग्निम् नक्षन्तु नः गिरः ।।१।।

पदार्थः– **गातुवित्तमः** गातुं कर्तव्याकर्तव्यमार्गमतिशयेन वेदयति ज्ञापयति यः स जगदीश्वरो नृपतिर्वा **अदर्शि** अस्माभिर्दृष्टोऽस्ति, **यस्मिन्** यस्याश्रये विद्यमानाः प्रजाजनाः **व्रतानि** स्वीयानि स्वीयानि कर्तव्यकर्माणि **आदधुः** कुर्वन्ति । **उ** अथ च **सुजातम्** सम्यक् अन्तरात्मनि आविर्भूतम्, निर्वाचनपद्धत्या राजपदेऽभिषिक्तं वा, **आर्यस्य वर्धनम्** श्रेष्ठजनस्य वृद्धिकरम् **अग्निम्** अग्रनायकं जगदीश्वरं नृपतिं वा **नः** अस्माकम् **गिरः** प्रार्थनावचनानि **उप नक्षन्तु** उपगच्छन्तु ।।१।।

भावार्थः– यथा जगदीश्वरः कर्तव्यमार्गबोधक आर्याणां प्रोत्साहको दुर्जनानां च दण्डयिताऽस्ति तथैव नृपतिनापि भाव्यम् ।।१।।

---

१. ऋ० ८।१०३।१ 'नक्षन्त' इति भेदः । साम० ४७ ।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४७ क्रमांक पर परमेश्वर की पूजा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहाँ परमात्मा और राजा का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ— **गातुवित्तमः** कर्तव्य-मार्ग का अतिशय बोध कराने वाले जगदीश्वर वा राजा के **अदर्शि** हमने दर्शन किये हैं, **यस्मिन्** जिसके आश्रय में रहते हुए प्रजाजन **व्रतानि** अपने-अपने कर्तव्य कर्म **आदधुः** करते हैं। **उ सुजातम्** भली-भाँति अन्तरात्मा में प्रकट हुए अथवा निर्वाचन-पद्धति से राजा के पद पर अभिषिक्त हुए, और **आर्यस्य वर्धनम्** श्रेष्ठ मनुष्य को बढ़ाने वाले **अग्निम्** अग्रनायक जगदीश्वर वा राजा के पास **नः** हमारे **गिरः** प्रार्थना-वचन **उप नक्षन्तु** पहुचें ॥१॥

भावार्थ—जैसे जगदीश्वर कर्तव्यमार्ग का बोधक, आर्यों को प्रोत्साहन देने वाला और दुर्जनों को दण्डित करने वाला है, वैसे ही राजा को भी होना चाहिए ॥१॥

अथ पुनरपि परमात्मनृपत्योर्विषयमाह ।

२ ३१ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ २
१५१६. यस्माद्रेजन्त कृष्टयश्चर्कृत्यानि कृण्वतः।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सहस्रसां मेधसाताविव त्मनाग्निं धीभिर्नमस्यत ॥२॥[1]

१ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
यस्मात् रेजन्त कृष्टयः। चर्कृत्यानि कृण्वतः।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २र ३ २ ३ २ ३
सहस्रसाम् सहस्र साम् मेधसातौ मेध सातौ इव त्मना। अग्निम् धीभिः नमस्यत॥२॥

पदार्थः— **चर्कृत्यानि** भृशं कर्तुं योग्यानि कर्माणि [करोतेर्यङ्लुगन्तात् क्तः, ततोऽर्हार्थे यत् ।] **कृण्वतः** कुर्वतः **यस्मात्** जगदीश्वरात् नृपतेर्वा **कृष्टयः** दुष्टा जनाः **रेजन्त** अरेजन्त, भयात् कम्पन्ते । [भ्यसते रेजते इति भयवेपनयोः। निरु० ३।२१ । लडर्थे लुङ्, अडागमाभावश्छान्दसः।] **सहस्रसाम्** सहस्रगुणानां सहस्रवस्तूनां वा दातारम् **अग्निम्** अग्रनायकं जगदीश्वरं नृपतिं वा, यूयम् **त्मना** आत्मना **धीभिः** बुद्धिभिः कर्मभिश्च **सपर्यत** परिचरत, **मेधसातौ इव** यथा यज्ञे **अग्निम्** यज्ञाग्निम् याज्ञिकाः जनाः **धीभिः** हविष्प्रदानादिभिः कर्मभिः सपर्यन्ति तद्वत् ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— यथा न्यायकारिणः परमेश्वरात् तथैव न्यायकारिणो नृपतेर्दण्डभयाद् दुष्कर्माणः कम्पन्ताम् । यथा सज्जनेभ्यः परमेश्वरः सहस्रं गुणान् बलानि वा ददाति तथा राष्ट्रभक्तेभ्यो राजा सहस्रशो लाभान् प्रयच्छेत् । प्रजाजना अपि परमेशभक्ताः परमेशमिव, याज्ञिकाश्च यज्ञाग्निमिव स्वकीयं राजानं सत्कुर्युः ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा और राजा का विषय है ।

पदार्थ— **चर्कृत्यानि** अतिशय करने योग्य कर्मों को **कृण्वतः** करते हुए **यस्मात्** जिस जगदीश्वर वा राजा से **कृष्टयः** दुष्ट मनुष्य **रेजन्त** भय के मारे काँपते हैं, उस **सहस्रसाम्** सहस्र गुणों वा सहस्र पदार्थों के दाता **अग्निम्** अग्रनायक जगदीश्वर वा राजा को, आप लोग **त्मना** स्वयं **धीभिः** बुद्धियों और कर्मों से **सपर्यत** पूजित

---

१. ऋ० ८।१०३।३ ।

वा सत्कृत करो, **मेधसातौ इव** जैसे यज्ञ में **अग्निम्** यज्ञाग्नि को याज्ञिक जन **धीभिः** आहुति-प्रदान आदि कर्मों से सत्कृत करते हैं ।।२।।

यहां उपलंकार है ।।२।।

भावार्थ– जैसे न्यायकारी परमेश्वर से वैसे ही न्यायकारी राजा से दण्ड के भय से पापी लोग काँपें । जैसे सज्जनों को परमेश्वर सहस्र गुण व बल प्रदान करता है, वैसे ही राजा राष्ट्रभक्तों को सहस्र लाभ प्रदान करे । प्रजाजन भी, परमेश्वर के भक्त जैसे परमेश्वर की पूजा करते हैं वा याज्ञिक लोग जैसे यज्ञाग्नि का हवियों से सत्कार करते हैं वैसे ही अपने राजा का सत्कार करें ।।२।।

तृतीया ऋक् पूर्वार्चिके ५१ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र परमात्मनृपत्योरुभयोर्विषय उच्यते।

१५१७. **प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना।**
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि ।।३।।[1]
प्र दैवोदासः दैवः दासः अग्निः। देवः इन्द्रः न मज्मना।
अनु मातरम् पृथिवीम् वि वावृते । तस्थौ नाकस्य शर्मणि ।।३।।

पदार्थः– **दैवोदासः** दासति ददातीति दासः। दिवः आनन्दस्य दासः दाता दिवोदासः, स एव दैवोदासः । [दासतिः ददातिकर्मा । निघं० ३।२० । दीव्यतिरत्र मोदार्थः स्वार्थिकस्तद्धितप्रत्ययः ।] **देवः** प्रकाशकः **अग्निः** अग्रनायकः जगदीश्वरो नृपतिर्वा **इन्द्रः न** सूर्यः इव **मज्मना** बलेन **मातरं पृथिवीम्** मातृवत् पालयित्रीं भूमिम् **अनु वि वावृते** अनुकूलतया पालयति, किञ्च **नाकस्य** सुखस्य **शर्मणि** रक्षणे **तस्थौ** तिष्ठति ।।३।।

अत्रोपमालङ्कारः।।३।।

भावार्थः– यथा जगदीश्वरः प्रजाभ्यो योगक्षेमं प्रयच्छति भूमिं च पालयति, तथैव नृपतिरपि कुर्यात् ।।३।।

तृतीय ऋचा की पूर्वार्चिक में ५१ क्रमांक पर परमात्मा की महिमा के विषय में व्याख्या की गयी थी । यहाँ परमात्मा और राजा दोनों का विषय कहते हैं ।

पदार्थ– **दैवोदासः** आनन्द का दाता, **देवः** प्रकाशक **अग्निः** अग्रनायक जगदीश्वर वा राजा **इन्द्रः न** सूर्य के समान **मज्मना** बल से **मातरं पृथिवीम्** माता के समान पालन करने वाली भूमि को **अनु विवावृते** अनुकूलता से पालता है, और **नाकस्य** सुख की **शर्मणि** रक्षा में **तस्थौ** उद्यत रहता है ।।३।।

यहां उपमालंकार है ।।३।।

भावार्थ–जैसे जगदीश्वर प्रजाओं को योगक्षेम प्रदान करता है और भूमि का पालन करता है, वैसे ही राजा भी करे ।।३।।

।।१२।। अथ 'अग्न आयूंषि' इत्यादिकस्य द्वादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** शतं वैखानसाः । **देवता** अग्निः पवमानः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

---

१. ऋ० ८।१०३।२, 'देवाँ अच्छा न मज्मना' इति द्वितीयः पादः । 'शर्मणि' इत्यत्र 'सानवि' इति भेदः । साम० ५१ ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ६२७ क्रमाङ्के परमात्मानं विद्वांसं राजानं च, उत्तरार्चिके च १४६४ क्रमाङ्के आचार्यं सम्बोधिता । अत्र योगिराडुच्यते ।

१५१८. अग्ने आयूंषि पवस आसुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥१॥[1]

अग्ने आयूंषि पवसे । आ सुव ऊर्जम् इषम् च नः । आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥१॥

पदार्थः— हे **अग्ने** विद्वन् योगिराट् ! त्वम् **आयूंषि** योगसाधकानां जीवनानि **पवसे** पुनासि, त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **ऊर्जम्** प्राणबलम् **इषं च** इच्छासिद्धिं च **आसुव** प्रदेहि। **दुच्छुनाम्** योगमार्गे विघ्नभूतां दुश्चरित्रताम् **आरे** दूरे **बाधस्व** प्रक्षिप ॥१॥[2]

भावार्थः— सिद्धानां योगिनां निर्देशने योगाभ्यासेन जिज्ञासूनां जीवनं निष्कलङ्कं जायते, तैः प्राणसिद्धय इच्छासिद्धयश्च सद्यः प्राप्यन्ते ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ६२७ क्रमांक पर परमात्मा, विद्वान् और राजा को तथा उत्तरार्चिक में १४६४ क्रमांक पर आचार्य को संबोधित की गयी थी । यहाँ योगिराज को संबोधन करते हैं ।

पदार्थ— हे **अग्ने** विद्वान् योगिराज ! आप **नः** हमारे लिए **ऊर्जम्** प्राणबल **इषं च** और इच्छासिद्धि को **आसुव** प्रदान करो । **दुच्छुनाम्** योगमार्ग में विघ्नभूत दुश्चरित्रता को **आरे** दूर **बाधस्व** धकेल दो ॥१॥

भावार्थ—सिद्ध योगियों के निर्देशन में योगाभ्यास करने से जिज्ञासुओं का जीवन निष्कलंक हो जाता है और वे प्राणसिद्धियों तथा इच्छासिद्धियों को शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं ॥१॥

अथ योगप्रशिक्षकः कीदृशो भवेदित्युच्यते ।

१५१९. अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः । तमीमहे महागयम् ॥२॥[3]

अग्निः ऋषिः पवमानः। पाञ्चजन्यः पाञ्च जन्यः पुरोहितः पुरः हितः।
तम् ईमहे महागयम् महा गयम् ॥२॥

पदार्थः— **अग्निः** विद्वान् योगिराट् **ऋषिः** परमात्मद्रष्टा, **पवमानः** स्वस्य परेषां च जीवनं पवित्रीकुर्वाणः, **पाञ्चजन्यः** पञ्चजनेभ्यः प्राणापानव्यानोदानसमानरूपेभ्यः पञ्चप्राणेभ्यो हितकरः, **पुरोहितः** योगप्रशिक्षणप्रदानाय सम्मुखं स्थापितश्च भवति । **महागयम्** महाप्राणम् । [प्राणा वै गयाः। श० १४।८।१५।७।] **तम्** योगिराजम्, वयम् **ईमहे** योगसिद्धिं याचामहे। [ईमहे इति याञ्चाकर्मा । निघं० ३।१९] ॥२॥

भावार्थः— सिद्धयोगिनां सान्निध्ये योगाभ्यासेन योगसाधने तत्पराणां शिष्याणां योगसाधना सफला जायते ॥२॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि योग-प्रशिक्षक कैसा हो ।

---

१. ऋ० ९।६६।१९, य० १९।१८, ३५।१६ । साम० ६२७, १४६४।

२. दयानन्दर्षिणा यजुर्भाष्ये मन्त्रेऽस्मिन् परमेश्वरो विद्वांश्च सम्बोधितः ।

३. ऋ० ९।६६।२०।

पदार्थः— **अग्निः** विद्वान् योगिराज **ऋषिः** परमात्मा का द्रष्टा, **पवमानः** अपने तथा दूसरों के जीवन को पवित्र करने वाला, **पाञ्चजन्यः** प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान रूप पंच प्राणों का हितकारी, **पुरोहितः** और योग-प्रशिक्षण के लिए संमुख स्थापित होता है । **महागयम्** महाप्राण **तम्** उस योगिराज से हम **ईमहे** योगसिद्धि की याचना करते हैं ।।२।।

भावार्थ— सिद्ध योगियों के समीप योगाभ्यास करने से योगसाधन में तत्पर शिष्यों की योगसाधना सफल होती है ।।२।।

अथ योगप्रशिक्षकः किं कुर्यादित्युच्यते ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ १ २ ३ २उ ३ १ २
१५२०. अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषम् ।।३।।[1]

१ २र १ २र १ २र ३ १ २र ३ १ २ १ २र ३ १ २ ३ १ २र
अग्ने पवस्व स्वपाः सु अपाः । अस्मेइति वर्चः सुवीर्यम् सु वीर्यम् ।
१ २र ३ २ १ २र १ २र
दधत् रयिम् मयि पोषम् ।।३।।

पदार्थः— **हे अग्ने** योगविद्याविद् विद्वन् ! **स्वपाः** शोभनानि अपांसि कर्माणि यस्य तादृशः त्वम् **अस्मे** अस्मभ्यम् **सुवीर्यम्** श्रेष्ठवीर्योपेतम् **वर्चः** योगजन्यं तेजः **पवस्व** प्रापय, किञ्च **मयि** योगजिज्ञासौ **पोषम्** षोषकम् **रयिम्** विवेकख्यातिरूपम् अध्यात्मं धनम् **दधत्** धारयन्, भवेति शेषः ।।३।।

भावार्थः— योगप्रशिक्षको योगिराट् स्वयं शुभकर्मा सन् शिष्यानपि शुभकर्मकरणायोपदिशेत्, योगाभ्यासद्वारा च तान् मुमुक्षून् वर्चस्विनः विवेकख्यातिमतश्च कृत्वा निःश्रेयसाधिकारिणः कुर्यात् ।।३।।

अगले मन्त्र में यह बताया गया है कि योगप्रशिक्षक क्या करे ।

पदार्थ— हे **अग्ने** योगविद्या के पण्डित योगिराज ! **स्वपाः** शुभ कर्मों वाले आप **अस्मे** हमारे लिए **सुवीर्यम्** श्रेष्ठ वीर्य से युक्त **वर्चः** योगजन्य तेज **पवस्व** प्राप्त कराओ, और **मयि** मुझ योग के जिज्ञासु में **पोषम्** पोषक **रयिम्** विवेकख्याति रूप अध्यात्म-ऐश्वर्य **दधत्** धारण कराओ ।।३।।

भावार्थ— योगप्रशिक्षक योगिराज स्वयं शुभकर्मों का कर्ता होता हुआ शिष्यों को भी शुभ कर्म करने का उपदेश दे, और योगाभ्यास के द्वारा उन मुमुक्षु शिष्यों को वर्चस्वी तथा विवेकख्याति से संपन्न करके मोक्ष का अधिकारी बना दे ।।३।।

।।१३।। अथ 'अग्ने पावक' इत्यादिकस्य त्रयोदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषयः** वसूयव आत्रेयाः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ जगदीश्वरमाचार्यं च प्रार्थयते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
१५२१. अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया। आ देवान् वक्षि यक्षि च ।।१।।[2]

१ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अग्ने पावक रोचिषा। मन्द्रया देव जिह्वया।
३ २ ३ १ २र ३
आ देवान् वक्षि यक्षि च।।१।।

---

१. ऋ० ९।६६।२१।
२. ऋ० ५।२६।१; य० १७।८।

पदार्थः— हे **पावक** पवित्रताकारक, **देव** प्रकाशक **अग्ने** अग्रनायक जगदीश्वर विद्वन् आचार्य वा ! त्वम् **रोचिषा** तेजस्विन्या **मन्द्रया** आनन्दप्रदया **जिह्वया** वेदवाचा । [जिह्वेति वाङ्नाम । निघं० १।११ ।] अस्मासु **देवान्** दिव्यगुणान् **आ वक्षि** आवह, **यक्षि च** अस्माकम् उपासनायज्ञं शिक्षायज्ञं वा सफलय च ॥१॥[1]

भावार्थः— वेदवाङ्माध्यमेन परमेश्वरोपासनया हृदयं पवित्रं जायते, गुरुमुखाद् वेदार्थाध्ययनेन च शिक्षा सफला भवति ॥१॥

प्रथम ऋचा में जगदीश्वर और आचार्य से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे **पावक** पवित्रताकारक, **देव** प्रकाशक **अग्ने** अग्रनायक जगदीश्वर वा विद्वान् आचार्य ! आप **रोचिषा** तेजोमय, **मन्द्रया** आनन्दप्रद **जिह्वया** वेद-वाणी के द्वारा, हमारे अन्दर **देवान्** दिव्य गुण **आ वक्षि** लाओ, **यक्षि च** और हमारे उपासना-यज्ञ वा शिक्षा-यज्ञ को सफल करो ॥१॥

भावार्थ— वेदवाणी के माध्यम से परमेश्वर की उपासना करने से हृदय पवित्र होता है और गुरुमुख से वेदार्थ का अध्ययन करने से शिक्षा सफल होती है ॥१॥

अथ पुनरपि तावेव प्रार्थयते ।

१५२२. तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम् । देवाँ आ वीतये वह ॥२॥[2]

तम् त्वा घृतस्नो घृत स्नो ईमहे । चित्रभानो चित्र भानो स्वर्दृशम् स्वः दृशम् ।
देवान् आ वीतये वह ॥२॥

पदार्थः— हे **घृतस्नो** विद्यारसस्य आनन्दरसस्य च प्रस्रावक, **चित्रभानो** अद्भुततेजःसम्पन्न अग्ने जगदीश्वर आचार्य वा ! **तम्** प्रसिद्धम् **स्वर्दृशम्** विवेकप्रकाशस्य दर्शयितारम् **त्वा** त्वाम् वयम् **ईमहे** याचामहे । त्वम् **वीतये** अस्माकं प्रगतये **देवान्** दिव्यगुणान् **आ वह** प्रापय ॥२॥[3]

भावार्थः— परमात्मोपासनेनाचार्यकुलवासेन चानन्दरसो विद्यारसः कर्तव्याकर्तव्यप्रकाशो जीवने प्रगतिश्च प्राप्यते ॥२॥

आगे फिर उन्हीं से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **घृतस्नो** विद्या-रस तथा आनन्द-रस को बहाने वाले, **चित्रभानो** अद्भुत तेज वाले जगदीश्वर वा आचार्य ! **तम्** उन प्रसिद्ध **स्वर्दृशम्** विवेकरूप प्रकाश को दर्शाने वाले **त्वा** आपसे, हम **ईमहे** याचना करते हैं। आप **वीतये** हमारी प्रगति के लिए **देवान्** दिव्य गुणों को **आ वह** प्राप्त कराओ ॥२॥

भावार्थ— परमात्मा की उपासना से और आचार्यकुल में निवास से आनन्द-रस, विद्या-रस तथा कर्तव्य-अकर्तव्य का प्रकाश और जीवन में प्रगति प्राप्त होती है ॥२॥

---

१. ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं विद्वद्विषये व्याख्यातः ।

२. ऋ० ५।२६।२ ।

३. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमृग्भाष्येऽग्निगुणविषये व्याख्यातः ।

अथ पुनरपि तद्विषये प्रोच्यते ।

१५२३. वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि । अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥३॥[1]

वीतिहोत्रम् वीति होत्रम् त्वा कवे । द्युमन्तम् सम् इधीमहि ।
अग्ने बृहन्तम् अध्वरे ॥३॥

पदार्थः— हे **कवे** क्रान्तदर्शिन् **अग्ने** सर्ववित् सर्वान्तर्यामिन् जगदीश्वर विद्वन् आचार्य वा ! **वीतिहोत्रम्** व्याप्तजगदुत्पत्तियज्ञं व्याप्तविद्यायज्ञं वा, **द्युमन्तम्** तेजस्विनम्, **बृहन्तम्** गुणैर्महान्तम् **त्वा** त्वाम्, वयम् **अध्वरे** उपासनायज्ञे जीवनयज्ञे विद्याध्ययनयज्ञे वा **समिधीमहि** प्रदीपयामः ॥३॥[2]

भावार्थः— ये परमात्मानमाचार्यं च सेवन्ते ते विद्वांसः सदाचारा गुणवन्तः कर्मशूराश्च सन्तोऽभ्युदयं निःश्रेयसं च लभन्ते ॥३॥

अस्मिन् खण्डेऽग्निहोत्रपरमात्मनृपतियोगिराडाचार्यविषयवर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।

आगे फिर उन्हीं के विषय में कहा गया है ।

पदार्थ— हे **कवे** क्रान्तदर्शी, **अग्ने** सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर वा विद्वान् आचार्य ! **वीतिहोत्रम्** जगत् के उत्पादन-रूप यज्ञ को वा विद्यायज्ञ को करने वाले, **द्युमन्तम्** तेजस्वी, **बृहन्तम्** गुणों में महान् **त्वा** आपको, हम **अध्वरे** उपसना-यज्ञ, जीवन-यज्ञ वा विद्याध्ययन-यज्ञ में **समिधीमहि** प्रदीप्त करते हैं ॥३॥

भावार्थ— जो परमात्मा और आचार्य का सेवन करते हैं वे विद्वान्, सदाचारी, गुणवान् और कर्मशूर होते हुए अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करते हैं ॥३॥

इस खण्ड में अग्निहोत्र, परमात्मा, राजा, योगिराज और आचार्य के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

चौदहवें अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ।

॥१४॥ अथ 'अवा नो' इत्यादिकस्य चतुर्दशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गोतमो राहूगणः । **देवता** अग्निः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ जगदीश्वरं प्रार्थयते ।

१५२४. अवा नो अग्न ऊतिभिर्गायत्रस्य प्रभर्मणि । विश्वासु धीषु वन्द्य ॥१॥[3]

अव नः अग्ने ऊतिभिः । गायत्रस्य प्रभर्मणि प्र भर्मणि । विश्वासु धीषु वन्द्य ॥१॥

पदार्थः— हे **वन्द्य** वन्दनीय **अग्ने** अग्रनायक जगदीश्वर ! त्वम् **गायत्रस्य** गायत्र्यादिच्छन्दोमयस्य वेदज्ञानस्य **प्रभर्मणि** प्रकर्षेण हरणे ग्रहणे, **विश्वासु धीषु** सर्वेषु कर्मसु च **ऊतिभिः** स्वकीयैः रक्षणैः सह **नः** अस्मान् **अव** प्राप्नुहि ॥१॥[4]

---

१. ऋ० ५।२६।३, य० २।४ ।

२. दयानन्दस्वामिना **मन्त्रोऽयमृग्भाष्ये** विद्वत्पक्षे यजुर्भाष्ये च परमेश्वरविषये भौतिकाग्निविषये च व्याख्यातः।

३. ऋ० १।७९।७ ।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं सभाध्यक्षपक्षे व्याख्यातः ।

भावार्थः- ज्ञानावाप्तिकाले कर्मकाले च ये जगदीश्वरं न विस्मरन्ति ते श्रेष्ठज्ञानानुकूलं श्रेष्ठं कर्मैव सदा कुर्वन्ति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में जगदीश्वर से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ-हे **वन्द्य** वन्दनीय **अग्ने** अग्रनायक जगदीश्वर ! आप **गायत्रस्य** गायत्री आदि छन्दों से युक्त वेदज्ञान के **प्रभर्मणि** प्रकृष्ट रूप से ग्रहण करने में, और **विश्वासु धीषु** सब कर्मों में **ऊतिभिः** अपनी रक्षाओं के साथ **नः** हमें **अव** प्राप्त होवो ॥१॥

भावार्थ– ज्ञानप्राप्ति के समय और कर्म करते समय जो जगदीश्वर को नहीं भूलते वे श्रेष्ठ ज्ञान के अनुकूल श्रेष्ठ कर्म ही सदा करते हैं ॥१॥

अथ पुनर्जगदीश्वरं प्रार्थयते ।

१५२५. **आ नो अग्ने रयिं भर सत्रासाहं वरेण्यम् । विश्वासु पृत्सु दुष्टरम् ॥२॥**[1]

आ नः अग्ने रयिम् भर । सत्रासाहम् सत्रा साहम् वरेण्यम् ।
विश्वासु पृत्सु दुष्टरम् दुः तरम् ॥२॥

पदार्थः– हे **अग्ने** अग्रनायक जगदीश्वर ! त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **सत्रासाहम्** युगपदनेकासां विपदां विदारकम्, **वरेण्यम्** वरणीयम्, **विश्वासु पृत्सु** सर्वेषु संग्रामेषु **दुष्टरम्** दुस्तरम्, अनाच्छेद्यम् **रयिम्** वीरतारूपम् ऐश्वर्यम् **आ भर** आहर, प्रदेहि ॥२॥[2]

भावार्थः– परमवीरं परमेश्वरं ध्यात्वा वयं वीरगणाग्रगण्याः सन्तः सर्वा विपदः सर्वांश्चाभ्यन्तरान् बाह्यांश्च शत्रून् पराजयेमहि ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर जगदीश्वर से प्रार्थना है ।

पदार्थ– हे **अग्ने** अग्रनायक जगदीश्वर ! आप **नः** हमारे लिए **सत्रासाहम्** एकसाथ अनेक विपदाओं को दूर करने वाले, **वरेण्यम्** वरणीय **विश्वासु पृत्सु** सब संग्रामों में **दुष्टरम्** दुस्तर, अच्छेद्य **रयिम्** वीरता-रूप ऐश्वर्य को **आभर** प्रदान करो ॥२॥

भावार्थ– परमवीर परमेश्वर का ध्यान करके हम वीरगणों में अग्रगण्य होते हुए सब विपदाओं तथा सब आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं को पराजित कर देवें ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

१५२६. **आ नो अग्ने सुचेतुना रयिं विश्वायुपोषसम् । मार्डीकं धेहि जीवसे ॥३॥**[3]

आ नः अग्ने सुचेतुना सु चेतुना। रयिम् विश्वायुपोषसम् विश्वायु पोषसम् ।
मार्डीकम् धेहि जीवसे ॥३॥

---

१. ऋ० १।७९।८ ।
२. इममपि मन्त्रमृग्भाष्ये दयानन्दर्षिः सभाध्यक्षपक्षे व्याचष्टे ।
३. ऋ० १।७९।९ ।

पदार्थः— हे **अग्ने** अग्रनायक जगदीश्वर ! त्वम् **नः जीवसे** अस्माकं जीवनाय **सुचेतुना** शोभनेन ज्ञानेन सह **विश्वायुपोषसम्** विश्वेषाम् आयूनां मनुष्याणां पोषसं पोषकम् **मार्डीकम् सुखयितारम् रयिम्** ऐश्वर्यम् **आ धेहि** प्रयच्छ ।।३।।[1]

भावार्थः— न तज्ज्ञानं ज्ञानं न च तद्धनं धनं यदन्येषामुपकारकं न जायते ।।३।।

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ— हे **अग्ने** अग्रनायक जगदीश्वर ! आप **नः जीवसे** हमारे जीवन के लिए **सुचेतुना** शुभ ज्ञान के साथ **विश्वायुपोषसम्** सब मनुष्यों के पोषक, **मार्डीकम्** सुखदायक **रयिम्** ऐश्वर्य को **आधेहि** प्रदान करो ।।३।।

भावार्थ— वह ज्ञान ज्ञान नहीं है और वह धन धन नहीं है जो दूसरों के उपकार के लिए न हो ।।३।।

।।१५।। अथ 'अग्नि' हिन्वन्तु' इत्यादिकस्य पञ्चदशस्य सूक्तस्य **ऋषिः** केतुराग्नेयः । **देवता** अग्निः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ परमात्मनृपत्योर्विषय उच्यते ।

१५२७. अग्निं हिन्वन्तु नो धियः सप्तिमाशुमिवाजिषु । तेन जेष्म धनंधनम् ।।१।।[2]

अग्निम् हिन्वन्तु नः धियः । सप्तिम् आशुम् इव आजिषु ।

तेन जेष्म धनंधनम् धनम् धनम् ।।१।।

पदार्थः— **नः** अस्माकम् **धियः** ध्यानक्रियाः बुद्धयोवा **अग्निम्** अग्रनायकं परमात्मानं नृपतिं वा **हिन्वन्तु** प्रेरयन्तु कथमिव ? **आजिषु** युद्धेषु **आशुं सप्तिम् इव** वेगवन्तम् अश्वं यथा प्रेरयन्ति तद्वत् । **तेन** परमात्मना नृपतिना वा **धनं धनम्** प्रत्येकम् आध्यात्मिकं भौतिकं वा ऐश्वर्यम्, वयम् **जेष्म** जयेम । [जि जये, लिङर्थे लुङ्। अडभावो वृद्ध्यभावश्च छान्दसः]।।१।।

अत्रोपमालङ्कार ।।१।।

भावार्थः— दिव्यसम्पदां भौतिकसम्पदां च प्राप्तये परमेश्वरो नृपतिश्च परमसहायकौ जायेते ।।१।।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा और राजा का विषय है ।

पदार्थ— **नः** हमारी **धियः** ध्यान-क्रियाएं वा बुद्धियां **अग्निम्** अग्रनायक परमात्मा वा राजा को **हिन्वन्तु** प्रेरित करें, **आजिषु** युद्धों में **आशुं सप्तिम् इव** जैसे वेगवान् घोड़े को प्रेरित करते हैं। **तेन** उस परमात्मा वा राजा के द्वारा **धनं धनम्** प्रत्येक आध्यात्मिक वा भौतिक ऐश्वर्य को, हम **जेष्म** जीत लेवें ।।१।।

यहां उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ— दिव्य संपदाओं और भौतिक संपदाओं की प्राप्ति के लिए परमेश्वर और राजा परम सहायक होते हैं।।१।।

---

१. ऋग्भाष्ये मन्त्र एष दयानन्दस्वामिना विद्वद्विषये व्याख्यातः ।

२. ऋ० १०।१५६।१ ।

अथ पुनः परमात्मनृपतिविषयमाह ।

१५२८. यया गा आकरामहै सेनयाग्ने तवोत्या । तां नो हिन्व मघत्तये ॥२॥[1]

यया गाः आकरामहै आ करामहै । सेनया अग्ने तव ऊत्या ।
ताम् नः हिन्व मघत्तये ॥२॥

पदार्थः— हे **अग्ने** अग्रणीः परमात्मन् नृपते वा ! **तव यया ऊत्या सेनया** तव यया रक्षारूपया सेनया रक्षिकया सेनया वा, वयम् **गाः** अन्तःप्रकाशरश्मीन् धेन्वादिसम्पत्तीर्वा **आ करामहै** प्राप्नुमः **ताम्** रक्षां सेनां वा **मघत्तये** मघदत्तये, ऐश्वर्यप्रदानाय **नः** अस्मभ्यम् **हिन्व** प्रेरय ॥२॥

भावार्थः— नृपतेः सेनया रक्षिताः प्रजा यथा भौतिकीःसम्पदः प्राप्तुं शक्ता जायन्ते तथैव परमात्मनो रक्षणसामर्थ्यनरक्षिता जना अध्यात्मसम्पत्तीः प्राप्नुवन्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा और राजा का विषय है ।

पदार्थ— हे **अग्ने** अग्रनायक परमात्मन् वा राजन् ! **तव यया ऊत्या सेनया** आपकी जिस रक्षक सेना के द्वारा, **हम गाः** अन्तः प्रकाश की किरणों को अथवा गाय आदि सम्पत्तियों को **आकरामहै** प्राप्त करते हैं **ताम्** उस रक्षा को वा सेना को **मघत्तये** ऐश्वर्य के प्रदानार्थ **नः** हमारे लिए **हिन्व** प्रेरित करो ॥२॥

भावार्थ— राजा की सेना से रक्षित प्रजाएँ जैसे भौतिक संपत्तियाँ प्राप्त करने में समर्थ होती हैं, वैसे ही परमात्मा के रक्षण-सामर्थ्य से रक्षित जन अध्यात्म-संपत्तियाँ प्राप्त कर लेते हैं ॥२॥

अथ पुनरपि परमेश्वरो नृपतिश्च प्रार्थ्येते ।

१५२९. आग्ने स्थूरं रयिं भर पृथुं गोमन्तमश्विनम् ।
अङ्धि खं वर्तया पविम् ॥३॥[2]

आ अग्ने स्थूरम् रयिम् भर । पृथुम् गोमन्तम् अश्विनम् ।
अङ्धि खम् वर्तय पविम् ॥३॥

पदार्थः— हे **अग्ने** अग्रनायक जगदीश्वर राजन् वा ! त्वम् **गोमन्तम्** अन्तःप्रकाशयुक्तं धेनुपृथिव्यादियुक्तं वा, **अश्विनम्** प्राणसम्पद्युक्तं प्रशस्ततुरङ्गमयुक्तं वा, **पृथुम्** सुविशालम्, **स्थूरम्** सुस्थिरम् **रयिम्** ऐश्वर्यम् **आभर** आहर । **खम्** हृदयाकाशं राष्ट्राकाशं वा **अङ्धि** तामसिकतामपसार्य निर्मलं कुरु । अन्तःशत्रूणां बाह्यशत्रूणां वा विध्वंसनाय **पविम्** पवित्रभावं वज्रायुधं वा **वर्तय** प्रयुङ्क्ष्व ॥३॥

भावार्थः— यथा जगदीश्वरः सर्वानान्तरान् विघ्नान् शत्रूंश्च विनाश्यान्तरात्मानं पवित्रं करोति तथैव राष्ट्रस्य राजा बाह्यानुपद्रकारिणो हत्वा राष्ट्रं निष्कण्टकं कुर्यात् ॥३॥

---

१. ऋ० १०।१५६।२ 'आकरामहे' इति पाठः ।
२. ऋ० १०।१५६।३, 'पविम्' इत्यत्र 'पणिम्' इति भेदः ।

आगे पुनः परमेश्वर और राजा से प्रार्थना है।

पदार्थ– हे **अग्ने** अग्रनायक जगदीश्वर वा राजन् ! आप **गोमन्तम्** अन्तःप्रकाश से युक्त अथवा धेनु, पृथिवी आदि से युक्त, **अश्विनम्** प्राण-संपदा से युक्त अथवा श्रेष्ठ घोड़ों से युक्त, **पृथुम्** अति विशाल, **स्थूरम्** अति स्थिर, **रयिम्** ऐश्वर्य **आभर** प्रदान करो। **खम्** हृदयाकाश को वा राष्ट्र के आकाश को **अङ्धि** तामसिकता हटाकर निर्मल कर दो। अन्तःशत्रुओं वा बाह्य शत्रुओं के विध्वंस के लिए **पविम्** पवित्रता का वा शस्त्रास्त्रों का **वर्तय** प्रयोग करो ॥३॥

भावार्थ– जैसे जगदीश्वर आन्तरिक विघ्नों वा शत्रुओं को विनष्ट करके अन्तरात्मा को पवित्र करता है, वैसे ही राष्ट्र का राजा बाह्य उपद्रवकारियों को नष्ट करके राष्ट्र को निष्कण्टक करे ॥३॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २
१५३०. अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्यं रोहयो दिवि । दधज्ज्योतिर्जनेभ्यः ॥४॥[1]

१ २ २ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २ ३ २ ३ २
अग्ने नक्षत्रम् अजरम् अ जरम् । आ सूर्यम् रोहयः दिवि ।

१ २ २ १ २ २ १ २ २
दधत् ज्योतिः जनेभ्यः ॥४॥

पदार्थः– **प्रथमः** परमात्मपरः । हे **अग्ने** ज्योतिर्मय प्रकाशक जगन्नेतः परमात्मन् ! **जनेभ्यः** जातेभ्यः प्राणिभ्यः **ज्योतिः** प्रकाशम् **दधत्** प्रयच्छन् सन् त्वम् **नक्षत्रम्** गतिमयम्, स्वधुरि परिभ्रमन्तम् । [नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः । निरु० ३।२० ।] **अजरम्** आसृष्टेरद्यावधि अजीर्णम् **सूर्यम्** आदित्यम् **दिवि** आकाशे **आ रोहयः** आरोहितवानसि ॥

द्वितीयः नृपतिपरः । हे **अग्ने** राष्ट्रनायक राजन् **जनेभ्यः** प्रजाभ्यः **ज्योतिः** विद्याप्रकाशं विद्युत्प्रकाशं च **दधत्** जनयन् त्वम् **नक्षत्रम्** गतिमन्तम्, **अजरम्** जीर्णतारहितम् **सूर्यम्** विद्याया धर्मस्य च आदित्यम् **दिवि** राष्ट्रगगने **आरोहयः** आरोहितवानसि ॥४॥

भावार्थः– यथा परमेश्वरो गगने वस्तुत एव सूर्यं जनयति तथैव यो राजा राष्ट्रे पराविद्याया अपराविद्याया धर्मस्य च प्रकाशं करोति सोऽपि सूर्यमिव जनयतीत्युच्यते ॥४॥

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ– **प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । हे **अग्ने** ज्योतिर्मय, प्रकाशक, जगन्नायक परमात्मन् ! **जनेभ्यः** उत्पन्न प्राणियों के लिए **ज्योतिः** प्रकाश **दधत्** प्रदान करते हुए आपने **नक्षत्रम्** गतिमय, अपनी धुरी पर घूमने वाले, **अजरम्** सृष्टि के आरंभ से लेकर अब तक जीर्ण न हुए **सूर्यम्** सूर्य को **दिवि** आकाश में **आरोहयः** चढ़ाया हुआ है ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में । हे **अग्ने** राष्ट्रनायक राजन् ! **जनेभ्यः** प्रजाओं के लिए **ज्योतिः** विद्या का प्रकाश और बिजली का प्रकाश **दधत्** प्रदान करते हुए आपने **नक्षत्रम्** गतिमान्, **अजरम्** जीर्णता-रहित **सूर्यम्** विद्या और धर्म के सूर्य को **दिवि** राष्ट्र-गगन में **आरोहयः** चढ़ा दिया है ॥४॥

---

१. ऋ० १०।१५६।४ ।

भावार्थ– जैसे परमेश्वर आकाश में वस्तुतः ही सूर्य को उत्पन्न करता है, वैसे ही जो राजा राष्ट्र में परा विद्या, अपरा विद्या और धर्म का प्रकाश करता है वह भी मानो सूर्य को उत्पन्न करता है ॥४॥

अथ पुनरपि परमात्मानं नृपतिं च सम्बोधयति ।

१५३१ . **अग्ने केतुर्विशामसि प्रेष्ठः श्रेष्ठः उपस्थसत् ।**
बोधा स्तोत्रे वयो दधत् ॥५॥[1]

अग्ने केतुः विशाम् असि । प्रेष्ठः श्रेष्ठः उपस्थसत् उपस्थ सत् ।
बोध स्तोत्रे वयः दधत् ॥५॥

पदार्थः– हे **अग्ने** अग्रनायक जगदीश्वर नृपते वा ! त्वम् **विशाम्** प्रजानाम् **केतुः** ज्ञानप्रदः, **प्रेष्ठः** प्रियतमः, **श्रेष्ठः** प्रशस्यतमः, **उपस्थसत्** समीपे विद्यमानश्च **असि** वर्तसे । त्वम् **स्तोत्रे** स्तुतिकर्त्रे राष्ट्रभक्ताय वा **वयः** धनान्नायुष्यादिकम् **दधत्** प्रयच्छन् तम् **बोध** बोधय, नित्यं कर्तव्यं प्रति जागरूकं कुरु ॥५॥

भावार्थः– यथा जगदीश्वरः सर्वेषां ज्ञानप्रदः प्रियतमः प्रशस्यतमः सुखसम्पत्प्रदाताऽऽयुष्यकरो जागरयिता च वर्तते तथैव नृपतिना भाव्यम् ॥५॥

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा और राजा को संबोधन करते हैं ।

पदार्थ– हे **अग्ने** अग्रनायक जगदीश्वर वा राजन् ! आप **विशाम्** प्रजाओं के **केतुः** ज्ञानप्रदाता, **प्रेष्ठः** अत्यधिक प्यारे, **श्रेष्ठः** श्रेष्ठ और **उपस्थसत्** समीप विद्यमान **असि** हो । आप **स्तोत्रे** स्तुतिकर्ता वा राष्ट्रभक्त के लिए **वयः** धन, अन्न, आयु आदि **दधत्** प्रदान करते हुए, उसे **बोध** बोध प्रदान करो, सदा कर्तव्य के प्रति जागरूक करो ॥५॥

भावार्थ– जैसे जगदीश्वर सबका ज्ञानदाता, प्रियतम, प्रशस्यतम, सुखसम्पत्तिप्रदाता, आयु देने वाला और जगाने वाला है वैसे ही राष्ट्र में राजा को होना चाहिए ॥५॥

॥१६॥ अथ 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादिकस्य षोडशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** विरूप आङ्गिरसः । **देवता** अग्निः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २७ क्रमांके परमात्मपक्षे सूर्यपक्षे च व्याख्याता । अत्राग्नितत्त्वस्य महत्त्वमुच्यते ।

१५३२. **अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् । अपां रेतांसि जिन्वति ॥१॥**[2]
अग्निः मूर्धा दिवः ककुत् । पतिः पृथिव्याः अयम् । अपाम् रेतांसि जिन्वति ॥१॥

पदार्थः– **अग्निः** अग्निरेव देहे **मूर्धा** मस्तिष्कमस्ति, अग्निप्रधानत्वान्मस्तिष्कस्य, अयमेव सूर्यरूपेण **दिवः**

---

१. ऋ० १०।१५६।५।
२. ऋ० ८।४४।१६, य० ३।१२, १५।२०, साम० २७ ।

द्युलोकस्य **ककुत्** राजा अस्ति, **अयम्** अयमेव पार्थिवाग्निरूपेण **पृथिव्याः** भूमेः **पतिः** पालकोऽस्ति । अग्निरेव **अपाम्** उदकानाम् **रेतांसि** सूक्ष्मानवयवान् **जिन्वति** भूमेरन्तरिक्षं प्रति अन्तरिक्षाच्च भूमिं प्रति प्रेरयति, वृष्टिनिमित्तं भवतीत्यर्थः ।।१।।[1]

अत्रैकस्याग्नेरनेकधोल्लेखे विषयभेदनिबन्धन उल्लेखालङ्कारः[2] ।।१।।

भावार्थः– अग्निरेव हि सर्वस्य चेतनाचेतनात्मकस्य जगतः स्थितिनिबन्धनम्। स एव वह्निविद्युदादित्य-जाठराग्निप्राणाग्निवाडवाग्न्यादिरूपेणानेकधा विद्यमानोऽस्मानुपकरोति, यथाह श्रुतिः– एकं एवाग्निर्बहुधा समिद्धः (ऋ० ८।५८।२) इति ।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में २७ क्रमांक पर परमात्मा और सूर्य के पक्ष में की जा चुकी है । यहाँ अग्नि-तत्त्व का महत्त्व वर्णित करते हैं ।

पदार्थ– **अग्निः** अग्नि ही, शरीर में **मूर्धा** मस्तिष्क है, क्योंकि मस्तिष्क अग्निप्रधान है । यही सूर्य रूप में **दिवः** द्युलोक का **ककुत्** राजा है । **अयम्** यही पार्थिव अग्नि के रूप में **पृथिव्याः** पृथिवी का **पतिः** पालनकर्ता है । अग्नि ही **अपाम्** जलों के **रेतांसि** सूक्ष्म अवयवों को **जिन्वति** भूमि से अन्तरिक्ष की ओर और अन्तरिक्ष से भूमि की ओर प्रेरित करता है अर्थात् वर्षा में कारण बनता है ।।१।।

यहाँ एक अग्नि का अनेक रूप में उल्लेख होने के कारण विषयभेदनिबन्धन उल्लेखालंकार है ।।१।।

भावार्थ– अग्नि ही सब चेतन-अचेतन जगत् की स्थिति का कारण है । वही आग, बिजली, सूर्य, जाठराग्नि, प्राणाग्नि, वाडवाग्नि आदि के रूप में अनेक प्रकार से विद्यमान होता हुआ हमारा उपकार करता है, जैसा कि श्रुति कहती है– [एकं एवाग्निर्बहुधा समिद्धः (ऋ० ८।५८।२)] ।।१।।

अथ परमात्माग्निविषयमाह ।

१५३३. ईशिषे वार्यस्य हि दात्रस्याग्ने स्वःपतिः । स्तोता स्यां तव शर्मणि ।।२।।[3]

ईशिषे वार्यस्य हि । दात्रस्य अग्ने स्वःपतिः स्व३रिति पतिः ।
स्तोता स्याम् तव शर्मणि ।।२।।

पदार्थः– हे **अग्ने** जगन्नायक विश्ववन्द्य सर्ववित् सर्वान्तर्यामिन् तेजोमय करुणाकर परमेश ! **स्वः पतिः** आनन्दस्य दिव्यप्रकाशस्य चाधिपतिः त्वम् **वार्यस्य** वरणीयस्य, **दात्रस्य** दातव्यस्य ऐश्वर्यस्य **ईशिषे हि** ईश्वरोऽसि खलु । **शर्मणि** त्वदीयशरणप्राप्तिनिमित्तम् अहम् **तव** त्वदीयः **स्तोता** गुणकर्मस्वभावानां कीर्तयिता **स्याम्** भवेयम् ।।२।।

भावार्थ– परमात्मनो गुणकर्मस्वभावानां चिन्तनादांशिकरूपेण मानवोऽपि तथाविधो भवितुं शक्नोति ।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्माग्नि का विषय है ।

---

१. यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं क्रमश ईश्वरभौतिकाग्न्योर्विषये सूर्यविषये च व्याख्यातः ।

२. क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतृणां विषयाणां तथा क्वचित् । एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते ।।–सा० द० १०।३७

३. ऋ० ८।४४।१८, 'स्वर्पतिः' इति भेदः ।

पदार्थ– हे **अग्ने** जगन्नायक, विश्ववन्द्य, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, तेजस्वी, दयालु परमेश ! **स्वः पतिः** आनन्द और दिव्य प्रकाश के अधिपति आप **वार्यस्य** वरणीय, **दात्रस्य** दातव्य ऐश्वर्य के **ईशिषे हि** स्वामी हो । **शर्मणि** आपकी शरण पाने के हेतु, मैं **तव** आपके **स्तोता** गुण-कर्म-स्वभावों का कीर्तन करने वाला **स्याम्** होऊँ ॥२॥

भावार्थ– परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभावों का चिन्तन करने से आंशिक रूप में मनुष्य भी वैसा हो सकता है ॥२॥

अथ पुनः परमात्माग्निविषय उच्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र २ ३ १ २ ३ १ २
१५३४. उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते । तव ज्योतींष्यर्चयः ॥३॥[1]

३ १ २र १२र ३ २ १२र ३ १२र १ २र ३ १ २
उत् अग्ने शुचयः तव । शुक्राः भ्राजन्तः ईरते । तव ज्योतींषि अर्चयः ॥३॥

पदार्थः– हे **अग्ने** तेजोमय परमात्मन् । **तव** त्वदीयाः, त्वद्रचिता इत्यर्थः **शुचयः** पवित्राः, **शुक्राः** दीप्ताः, **भ्राजन्तः** भ्राजमानाः **अर्चयः** विद्युत्सूर्यादिप्रभाः **तव ज्योतींषि** त्वदीयानि तेजांसि **उदीरते** उद्गमयन्ति, द्योतयन्ति । [उक्तं च ऋषिणा– न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (कठ० ५।१५) इति] ॥३॥

भावार्थः– ब्रह्माण्डेऽस्मिन् वह्निविद्युत्सूर्यतारकादीनि यान्यपि ज्योतींषि सन्ति तानि सर्वाणि मिलित्वापि ब्रह्मणो महाज्योतिषः कणिकामपि प्रकटयितुं नालं भवन्ति ॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मनृपत्योरग्नितत्त्वस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

अगले मन्त्र में फिर परमात्माग्नि का विषय है ।

पदार्थ– हे **अग्ने** तेजस्वी परमात्मन् ! **तव** आपकी रची हुई **शुचयः** पवित्र, **शुक्राः** प्रदीप्त, **भ्राजन्तः** जगमगाने वाली **अर्चयः** बिजली, सूर्य आदि की प्रभाएँ **तव ज्योतींषि** आपकी ज्योतियों को **उदीरते** प्रकट कर रही हैं।

उपनिषद् के ऋषि ने भी कहा है– परमेश्वर की चमक के आगे न सूर्य की कुछ चमक है, न चाँद-तारों की चमक है, न बिजलियों की चमक है । उसी की चमक से जगत् का यह सब-कुछ चमक रहा है (कठ० ५।१५) ॥३॥

भावार्थ– इस ब्रह्माण्ड में आग, बिजली, सूर्य, तारे आदि जो भी ज्योतियाँ हैं वे सब मिलकर भी ब्रह्म की महा-ज्योति की एक किनकी भी प्रकट करने में असमर्थ हैं ॥३॥

इस खण्ड में परमात्मा, राजा और अग्नि तत्त्व का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।

चौदहवें अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ।

चौदहवाँ अध्याय समाप्त ।

सप्तम प्रपाठक में प्रथम अर्ध समाप्त ।

---

१. ऋ० ८।४४।१७ ।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः सप्तमे प्रपाठके द्वितीयोऽर्धश्च ।

।।१।। तत्र 'कस्ते जामिर्' इत्यादिकस्य प्रथमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गोतमो राहूगणः। **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ परमात्मविषये प्रश्नानुत्थापयति ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ २ ३क २र २ ३ १ २ ३ २
१५३५. कस्ते जामिर्जनानामग्रे को दाश्वध्वरः । को ह कस्मिन्नसि श्रितः ।।१।।[1]

२ ३ २ १ २र १ २र ३क २ ३ २ ३
कः ते जामिः जनानाम् । अग्ने कः दाश्वध्वरः दाशु अध्वरः ।

२ ३ १ २र ३ २
कः ह कस्मिन् असि श्रितः ।।१।।

पदार्थः— हे **अग्ने** जगन्नायक परमेश ! **जनानाम्** जातानां मानवानां मध्ये **कः ते जामिः** कस्तव बन्धुः सहायकः अस्ति, इति काकुः, न कोऽपीत्यर्थः । **कः** जनानां मध्ये कः **दाश्वध्वरः** दाशुः तुभ्यं फलप्रदः अध्वरः यज्ञः यस्य तादृशः अस्ति ? अत्रापि काकुः, न कोऽपीत्यर्थः । यतः सर्वे स्वलाभायैव यज्ञं कुर्वन्ति, न त्वल्लाभाय । **कः ह** त्वं कोऽसि खलु ? **कस्मिन् श्रितः असि** कस्मिन्आश्रितो विद्यसे ? अन्त्ययोः प्रश्नयोरुत्तरमप्यत्रैवान्तर्निहितम्त्वम् **कः** कमनीयः, सर्वातिक्रान्तः, सुखस्वरूपश्च असि, इति । [कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा । निरु० १०।२३।] किञ्च, कस्मिन्नसि श्रितः इति काकुः । न कस्मिन्नपीत्यर्थः, आत्मनिर्भरत्वात् ।।१।।[2]

अत्र काकुवक्रोक्तिरलङ्कारः , तृतीये प्रश्ने च श्लेषः। यद्वा मन्त्रोऽयं गूढोत्तररूपा प्रहेलिका ।।१।।

भावार्थः— सर्वेभ्यो महान् परमेश्वरो जगत्सञ्चालनाय कमपि सहायकं बन्धुं कमप्याश्रयदातारं वा नापेक्षते । नापि च कस्यापि केनापि कार्येण स्वकीयं लाभमीहते ।।१।।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा के विषय में प्रश्न उठाये गये हैं ।

पदार्थ— हे **अग्ने** जगन्नायक परमेश्वर ! **जनानाम्** उत्पन्न मनुष्यों के मध्य **कः ते जामिः** कौन तेरा सहायक बन्धु है ? अर्थात् कोई नहीं है । **कः** मनुष्यों के मध्य कौन ऐसा है **दाश्वध्वरः** जिसका यज्ञ तेरे लिए कुछ फल देने वाला हो ? अर्थात् कोई नहीं है, क्योंकि सब लोग अपने ही लाभ के लिए यज्ञ करते हैं, तेरे लाभ के लिए नहीं । **कः ह** तू कौन है ? **कस्मिन् श्रितः असि** किसके आश्रित है ? अन्तिम दोनों प्रश्नों का उत्तर है— तू **कः ह** निश्चय ही कमनीय, सबसे आगे बढ़ा हुआ और सुखस्वरूप है । **कस्मिन् असि श्रितः** भला किसके आश्रित हो सकता है, अर्थात् किसी के नहीं, क्योंकि तू आत्मनिर्भर है ।।१।।

यहाँ काकु वक्रोक्ति अलंकार है , तृतीय प्रश्न में श्लेष है । अथवा यह मन्त्र जिसमें उत्तर छिपा हुआ है ऐसी पहेली है ।।१।।

भावार्थ— सबसे महान् परमेश्वर जगत् के संचालन के लिए किसी सहायक बन्धु की या किसी आश्रयदाता की अपेक्षा नहीं करता । न ही किसी के किसी भी कार्य से अपना लाभ चाहता है ।।१।।

---

१. ऋ० १।७५।३ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वांसं सम्बोधयति ।

अथ परमात्मगुणान् वर्णयति ।

२ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २
१५३६. त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः । सखा सखिभ्य ईड्यः ॥२॥[1]

३ २ १ २र १ २र ३ २ ३ २ ३ २
त्वम् जामिः जनानाम् । अग्ने मित्रः मि त्रः असि प्रियः ।

१ २र ३ १ २र ३ १ २र
सखा स खा सखिभ्यः स खिभ्यः ईड्यः ॥२॥

पदार्थः— हे **अग्ने** जगन्नायक परमेश ! **त्वम्** सर्वहितचिन्तकः त्वम् **जनानाम्** जातानां मानवानां मध्ये **जामिः** सहायको बन्धुः **प्रियः मित्रः** प्रियः सखा च **असि** भवसि । **सखिभ्यः** ये त्वया सह सख्यं स्थापयन्ति तेभ्यः **ईड्यः** स्तुत्यः **सखा** सुहृद् भवसि ॥२॥[2]

भावार्थः— परमेश्वरस्य कश्चित् सहायको नास्ति, प्रत्युत परमेश्वर एव परेषां सहायको बन्धुः प्रियः सुहृच्च जायते ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के गुणों का वर्णन है ।

पदार्थ— हे **अग्ने** जगन्नायक परमेश्वर ! **त्वम्** सबके हितचिन्तक आप **जनानाम्** उत्पन्न मनुष्यों के **जामिः** सहायक बन्धु, **प्रियः मित्रः** और प्रिय मित्र **असि** हो । **सखिभ्यः** जो आपके साथ मित्रता चाहते हैं उनके लिए **ईड्यः** स्तुतियोग्य **सखा** मित्र होते हो ॥२॥

भावार्थ— परमेश्वर का कोई सहायक नहीं है, प्रत्युत परमेश्वर ही दूसरों का सहायक बन्धु और प्यारा मित्र होता है ॥२॥

अथ परमात्मानं प्रार्थयते ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ २ ३ २ ३ १र २र
१५३७. यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ ऋतं बृहत् । अग्ने यक्षि स्वं दमम् ॥३॥[3]

१२र ३ २ ३ २ १२र १२र ३ २ ३ २ ३ २
यज नः मित्रा मि त्रा वरुणा । यज देवान् ऋतम् बृहत् ।

१ २र १ २र १ २र
अग्ने यक्षि स्वम् दमम् ॥३॥

पदार्थः— हे **अग्ने** जगन्नियन्तः परमेश ! त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **मित्रावरुणा** मित्रावरुणौ, मित्रं मैत्रीगुणं वरुणं दोषनिवारकं गुणं च **यज** प्रदेहि । **देवान्** अन्यान् दिव्यान् गुणान् **बृहत् ऋतम्** महत् सत्यञ्च **यज** प्रदेहि । अपि च **स्वं दमम्** स्वकीयं दमनगुणमपि **यक्षि** प्रदेहि ॥३॥[4]

भावार्थः— यः परमेश्वरः सर्वेषां गुणानामाकरोऽस्ति सोऽस्मभ्यमपि दिव्यान् गुणान् प्रयच्छेत् ॥३॥

---

१. ऋ० १।७५।४।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं विद्वान् कीदृशो भवेदिति विषये व्याचख्यौ ।

३. ऋ० १।७५।५, य० ३३।३।

४. दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च मन्त्रोऽयं विद्वत्पक्षे व्याख्यातः ।

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ– हे **अग्ने** जगन्नियन्ता परमेश्वर ! आप **नः** हमारे लिए **मित्रावरुणा** मैत्री का गुण और दोषनिवारण का गुण **यज** प्रदान करो। **देवान्** अन्य दिव्य गुणों को **बृहत् ऋतम्** और महान् सत्य को **यज** प्रदान करो। साथ ही **स्वं दमम्** अपने दमन करने के गुण को भी **यक्षि** प्रदान करो ॥३॥

भावार्थ–जो परमेश्वर सब गुणों की निधि है, वह हमें भी दिव्य गुण प्रदान करे ॥३॥

॥२॥ अथ 'ईडेन्यो' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** विश्वामित्रो गाथिनः। **देवता** अग्निः। **छन्दः** गायत्री। स्वरः षड्जः ॥

तत्रादौ परमात्माग्निविषयमाह।

३१ २ ३क २र३ १र २र ३२ २३१२ ३१२
१५३८. **ईडेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः। समग्निरिध्यते वृषा ॥१॥**[1]

३१ २ ३क २ ३२ १ २र ३ २ ३ २ ३ १२र
ईडेन्यः नमस्यः। तिरः तमांसि दर्शतः। सम् अग्निः इध्यते वृषा ॥१॥

पदार्थः– **ईडेन्यः** ईडितुं स्तोतुमर्हः, **नमस्यः** नमस्कर्तुं योग्यः, **तमांसि** तमोगुणान् **तिरः** तिरस्कर्ता, **दर्शतः** दर्शनीयः, **वृषा** सुखवर्षकः **अग्निः** जगन्नायकः परमेश्वरः **समिध्यते** अन्तरात्मनि प्रदीप्यते ॥१॥[2]

भावार्थः– परमेश्वरं स्वात्मनि प्रदीप्य तन्नेतृत्वमुपलभ्य जनैः स्वजीवनमुन्नेतव्यम् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्माग्नि का विषय वर्णित है।

पदार्थ– **ईडेन्यः** स्तुति के योग्य, **नमस्यः** नमस्कार के योग्य, **तमांसि** तमोगुणों को **तिरः** दूर करने वाला, **दर्शतः** दर्शनीय, **वृषा** सुखों की वर्षा करने वाला **अग्निः** जगन्नायक परमेश्वर **समिध्यते** अन्तरात्मा में प्रदीप्त होता है ॥१॥

भावार्थ– परमेश्वर को अपने आत्मा में प्रदीप्त करके उसके नेतृत्व को पाकर मनुष्यों को अपना जीवन उन्नत करना चाहिए ॥१॥

अथ परमात्मोपासनायाः फलमाह।

१ २ ३ १र २र ३२ ३ १ २३ १२ २ ३ १ २
१५३९. **वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईडते ॥२॥**[3]

१२र ३ २ ३ १२र ३ १२ ३ १२र
वृषा उ अग्निः सम् इध्यते। अश्वः न देववाहनः देव वाहनः।
३ १ २ ३
तम् हविष्मन्तः ईडते ॥२॥

---

१. ऋ० ३।२७।१३, अथ० २०।१०२।१।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं विद्वद्विषये व्याचष्टे।

३. ऋ० ३।२७।१४, अथ० २०।१०२।२।

पदार्थः— **वृषः** सुखवर्षकः **अग्निः** जगन्नायकः परमेश्वरः **समिध्यते** उपासकैः स्वान्तरात्मनि प्रदीप्यते, यः **देववाहनः** विदुषां वाहनभूतः **अश्वः न** तुरङ्ग इव **देववाहनः** दिव्यगुणानां वाहकः अस्ति । **तम्** परमेश्वरम् **हविष्मन्तः** आत्मसमर्पणवन्तः उपासकाः **ईडते** आराध्नुवन्ति ॥२॥[1]

उपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— यथा रथे योजितो वेगवानश्वो जनान् सद्यः लक्ष्यं प्रापयति तथैव योगाभ्यासेन स्वात्मनि नियुक्तः परमेश्वरो दिव्यगुणप्रापणेनोपासकान् सद्य उन्नयति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की उपासना का फल वर्णित है ।

पदार्थ— **वृषः** सुखों की वर्षा करने वाला **अग्निः** जगन्नायक परमेश्वर **समिध्यते** उपासकों द्वारा अपने अन्तरात्मा में प्रदीप्त किया जाता है, जो **देववाहनः** विद्वानों के वाहन **अश्वः न** घोड़े के सामन **देववाहनः** दिव्य गुणों का वाहक है । **तम्** उस परमेश्वर की **हविष्मन्तः** आत्मसमर्पण करने वाले उपासक लोग **ईडते** आराधना करते हैं ॥२॥

यहां उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— जैसे रथ में नियुक्त किया हुआ वेगवान् घोड़ा शीघ्र ही मनुष्यों को लक्ष्य पर पहुँचा देता है, वैसे ही योगाभ्यास से अपने अन्तरात्मा में नियुक्त परमेश्वर दिव्य गुण प्राप्त कराकर उपासकों को शीघ्र ही उन्नत कर देता है ॥२॥

अथ पुनः परमात्मविषयमाह ।

१२ ३१२ ३ १२३ १ २ २३ १२ ३२
१५४०. वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि । अग्ने दीद्यतं बृहत् ॥३॥[2]

१२र ३ २ ३ ३२र ३ १२र १२र ३२
वृषणम् त्वा वयम् वृषन् । वृषणः सम् इधीमहि । अग्ने दीद्यतम् बृहत् ॥३॥

पदार्थः— हे **वृषन्** कामवर्षक **अग्ने** जगन्नायक परमेश ! **वृषणः** भक्तिरसवर्षकाः **वयम्** उपासकाः **वृषणम्** आनन्दरसवर्षकम्, **बृहत् दीद्यतम्** सातिशयं दीप्यमानम् **त्वा** त्वाम् **समिधीमहि** स्वात्मनि प्रदीपयामः ॥३॥[3]

भावार्थः—यः परमात्मानं भक्तिरसेन क्लेदयति तं स आनन्दरसेन क्लेदयति ॥३॥

आगे फिर परमात्मा का विषय है।

पदार्थ— हे **वृषन्** मनोरथों को पूर्ण करने वाले **अग्ने** जगन्नायक परमेश्वर ! **वृषणः** भक्तिरस बरसाने वाले **वयम्** हम उपासक **वृषणम्** आनन्द-रस के वर्षक, **बृहत् दीद्यतम्** बहुत देदीप्यमान **त्वा** आपको **समिधीमहि** अपने अन्दर प्रदीप्त करते हैं ॥३॥

भावार्थ— जो परमात्मा को भक्तिरस से भिगोता है, उसे वह आनन्द-रस से भिगो देता है ॥३॥

॥३॥ अथ 'उत्ते बृहन्तो' इत्यादिकस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** विरूप आङ्गिरसः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

---

१. दयानन्दर्षिर्ऋग्भाष्ये मन्त्रमिमं भौतिकाग्निप्रयोगेण यानसंचालनविषये व्याचख्यौ ।

२. ऋ० ३।२७।१५, अथ० २०।१०२।३ ।

३. दयानन्दर्षिणा ऋग्भाष्ये मन्त्रोऽयमध्ययनाध्यापनविषये व्याख्यातः ।

तत्रादौ परमात्मनस्तेजो वर्णयति ।

१५४१ . उत्ते बृहन्तो अर्चयः समिधानस्य दीदिवः । अग्ने शुक्रास ईरते ॥१॥[1]

उत् ते बृहन्तः अर्चयः । समिधानस्य सम् इधानस्य दीदिवः ।
अग्ने शुक्रासः ईरते ॥१॥

पदार्थः— हे **दीदिवः**[2] सत्यप्रकाशक **अग्ने** विज्ञानवन् जगन्नेतः परमात्मन् ! **समिधानस्य** सम्यग् दीप्यमानस्य **ते** तव **बृहन्तः** महान्तः **शुक्रासः** पवित्राः **अर्चयः** प्रभाः **उदीरते** उद्गच्छन्ति ॥१॥

भावार्थः— यदोपासकः परमात्मनि तन्मयो जायते तदा भौतिकाग्नेर्ज्वाला इव तस्य तेजोमयं रूपं तस्य पुरत आविर्भवति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा का तेज वर्णित करते हैं।

पदार्थ— हे **दीदिवः** सत्य के प्रकाशक, **अग्ने** विज्ञानवान्, जगन्नायक परमात्मन् ! **समिधानस्य** देदीप्यमान **ते** आपकी **बृहन्तः** महान्, **शुक्रासः** पवित्र **अर्चयः** दीप्तियाँ **उदीरते** उठ रही हैं ॥१॥

भावार्थ— जब उपासक परमात्मा में तन्मय हो जाता है तब भौतिक अग्नि की ज्वालाओं के समान उसका तेजस्वी रूप उसके सामने प्रकट हो जाता है ॥१॥

अथ परमात्मने हविरर्पयति ।

१५४२. उप त्वा जुह्वो३ मम घृताचीर्यन्तु हर्यत । अग्ने हव्या जुषस्व नः ॥२॥[3]

उप त्वा जुह्वः मम । घृताचीः यन्तु हर्यत । अग्ने हव्या जुषस्व नः ॥२॥

पदार्थः— हे **अग्ने** ज्योतिर्मय परमेश ! हे **हर्यत** कमनीय ! **मम** स्तोतुर्मदीयाः **घृताचीः** स्नेहार्द्राः तेजसा युक्ताः वा **जुह्वः** वाचः । [वाग् जुहूः । तै० आ० २।१७।२ ।] **त्वा** त्वाम् **उप यन्तु** प्राप्नुवन्तु । त्वम् **नः** अस्माकम् **हव्या** आत्मसमर्पणरूपाणि हव्यानि **जुषस्व** प्रेम्णा स्वीकुरु ॥२॥

भावार्थः— श्रद्धया प्रेम्णा च कृता परमात्मस्तुतिरवश्यं फलदायिनी जायते ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा को हवि अर्पित करते हैं।

पदार्थ— हे **अग्ने** ज्योतिर्मय परमेश ! हे **हर्यत** कमनीय ! **मम** मुझ स्तोता की **घृताचीः** स्नेह से आर्द्र वा तेज से युक्त **जुह्वः** वाणियाँ **त्वा** आपको **उप यन्तु** प्राप्त हों । आप **नः** हमारी **हव्या** आत्मसमर्पण रूप हवियों को **जुषस्व** प्रेम से स्वीकार करो ॥२॥

भावार्थ— श्रद्धा और प्रेम से की गयी परमात्मा की स्तुति अवश्य फलदायक होती है ॥२॥

---

१. ऋ० ८।४४।४।

२. अत्र दिवु धातोः 'छन्दसि लिट्' अ० ३।२।१०५ इति लिट्, 'क्वसुश्च' अ० ३।२।१०७ इति लिटः स्थाने क्वसुः, 'छन्दस्युभयथा' अ० ३।४।११७ इति लिडादेशस्य क्वसोः सार्वधातुकत्वादिडभावः, 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' अ० ६।१।७ इत्यभ्यासदीर्घः, 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' अ०८।३।१ इति रुरादेशश्च—इति य० ३।२६ भाष्ये द०।

३. ऋ० ८।४४।५।

अथ परमात्मनो गुणान् वर्णयति ।

१५४३. मन्द्रं होतारमृत्विजं चित्रभानुं विभावसुम् । अग्निमीडे स उ श्रवत् ॥३॥[1]

मन्द्रम् होतारम् ऋत्विजम्। चित्र भानुम् चित्र भानुम् विभावसुम् विभा वसुम् ।
अग्निम् ईडे सः उ श्रवत् ॥३॥

पदार्थः— **मन्द्रम्** आनन्दमयम्, **होतारम्** सकलपदार्थप्रदातारम्, **ऋत्विजम्** ऋतूनां प्रदातारम्, ऋतौ ऋतौ यजनीयं वा । [ऋतून् यजति संगमयति यः सः, यद्वा ऋतौ ऋतौ इज्यते पूज्यते यः सः ।] **चित्रभानुम्** पृश्निवर्णस्य सूर्यस्य रचयितारम् । [चित्रः भानुः यस्मात् स चित्रभानुः तम् ।] **विभावसुम्** दीप्तिधनम् **अग्निम्** अग्रनेतारं जगदीश्वरम्, अहम् **ईडे** स्तौमि प्रार्थये वा । [ईड स्तुतौ, अदादिः। ईडिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा । निरु० ७।१५।] **सः उ** स खलु, मदीयां स्तुतिं प्रार्थनां च **श्रवत्** शृणुयात् । [श्रु धातोर्विध्यर्थे लेट्] ॥३॥

भावार्थः— य सच्चिदानन्दस्वरूपः सकलसृष्टिरचयिता सर्वर्तुचक्रप्रवर्तकः सूर्यचन्द्रतारादीनां प्रदीपकस्तेजोमयः परमेश्वरोऽस्ति स सर्वैर्जनैः प्रीत्या वन्दनीयः ॥३॥

अब परमात्मा के गुणों का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— **मन्द्रम्** आनन्दमय, **होतारम्** सब पदार्थों के दाता, **ऋत्विजम्** ऋतुओं में सामञ्जस्य स्थापित करने वाले अथवा प्रत्येक ऋतु में पूजनीय, **चित्रभानुम्** बहुरंगी सूर्य के रचयिता, **विभावसुम्** तेज रूप धन के धनी **अग्निम्** अग्रनेता जगदीश्वर की **ईडे** मैं स्तुति करता हूँ वा उससे प्रार्थना करता हूँ । **सः उ** वह मेरी स्तुति वा प्रार्थना को **श्रवत्** सुने ॥३॥

भावार्थ—जो सच्चिदानन्दस्वरूप, सकलसृष्टि का रचयिता, सारे ऋतुचक्र को चलाने वाला, तेजस्वी परमेश्वर है उसकी सब मनुष्यों को प्रेम से वन्दना करनी चाहिए ॥३॥

॥४॥ अथ 'पाहि नो' इत्यादिकस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भर्गः प्रगाथः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती)। **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिक-भाष्ये ३६ क्रमाङ्के परमेश्वरं विद्वांसं च सम्बोधिता । अत्राचार्य उच्यते ।

१५४४. पाहि नो अग्न एकया पाह्यू३त द्वितीयया ।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥१॥[2]
पाहि नः अग्ने एकया । पाहि उत द्वितीयया ।
पाहि गीर्भिः तिसृभिः ऊर्जाम् पते । पाहि चतसृभिः वसो ॥१॥

---

१. ऋ० ८।४४।६।

२. ऋ० ८।६०।९, य० २७।४३, साम० ३६।

पदार्थः– हे **अग्ने** विद्वन् आचार्य ! त्वम् **एकया** धर्मोपदेशिकया गिरा **नः** अस्मान् **पाहि** पालय, **उत** अपि च **द्वितीयया** धर्मानुकूलार्थोपदेशिकया वाचा **पाहि** पालय । हे **ऊर्जां पते** ब्रह्मबलाधिपते आचार्य ! त्वम् **तिसृभिः गीर्भिः** धर्मार्थकामोपदेशिकाभिः वाग्भिः **पाहि** पालय । हे **वसो** सद्गुणनिवासक आचार्य ! त्वम् **चतसृभिः धर्मार्थकाममोक्षोपदेशिकाभिः वाग्भिः पाहि** पालय ॥१॥[1]

भावार्थः– आचार्यस्येदं कर्त्तव्यं यत् स शिष्यान् धर्मस्य, धर्माऽविरोधिनोऽर्थस्य, धर्माऽविरोधिनः कामस्य, मोक्षस्य चोपदेशेन विदुषः सदाचारान् मोक्षाधिकारिणश्च कुर्यात् ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक के भाष्य में, ३६ क्रमांक पर परमेश्वर और विद्वान् को सम्बोधित की गयी थी । यहाँ आचार्य को कहते हैं ।

पदार्थ– हे **अग्ने** विद्वान् आचार्य ! आप **एकया** धर्म का उपदेश करने वाली एक वाणी से **नः** हमारी **पाहि** पालना करो, **उत** और **द्वितीयया** धर्मानुकूल धन कमाने का उपदेश करने वाली दूसरी वाणी से **पाहि** हमारी पालना करो । हे **ऊर्जां पते** ब्रह्मबलों के अधिपति आचार्य ! आप **तिसृभिः गीर्भिः** धर्म, अर्थ और काम का उपदेश करने वाली तीन वाणियों से **पाहि** हमारी पालना करो । हे **वसो** सद्गुणों के निवासक आचार्य ! आप **चतसृभिः** धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश करने वाली चार वाणियों से **पाहि** हमारी पालना करो ॥१॥

भावार्थ– आचार्य का यह कर्तव्य है कि वह शिष्यों को धर्म, **धर्माविरोधी** धन, धर्माविरोधी काम और मोक्ष के उपदेश से विद्वान्, सदाचारी और मोक्ष का अधिकारी बनाये ॥१॥

अथ पुनरप्याचार्य उच्यते ।

३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१५४५. **पाहि विश्वस्माद्रक्षसो अराव्णः प्र स्म वाजेषु नोऽव ।**
१र २र ३ १ २ ३ १र २र ३ २
त्वामिद्धि नेदिष्ठं देवतातय आपिं नक्षामहे वृधे ॥२॥[2]

३ २ १ २र ३ १ २ १ २र ३ २ ३ १ २र ३
पाहि विश्वस्मात् रक्षसः अराव्णः अ राव्णः । प्र स्म वाजेषु नः अव ।
२ १ २र ३ १ २ ३ २ १ २र ३ २
त्वाम् इत् हि नेदिष्ठम् देवतातये । आपिम् नक्षामहे वृधे ॥२॥

पदार्थः– हे अग्ने ! हे विद्वन् आचार्य ! त्वम् **विश्वस्मात्** सर्वस्मात् **अराव्णः** अदानशीलात् स्वार्थपरायणात् **रक्षसः** राक्षसात्, अस्मान् **पाहि** रक्ष, **वाजेषु** देवासुरसङ्ग्रामेषु **नः** अस्मान् **प्र अव स्म** प्ररक्ष । **त्वाम् इत् हि** त्वामेव खलु वयम् **देवतातये** दिव्यगुणप्राप्तये **वृधे** उन्नत्यै च **नेदिष्ठम** निकटतमम् **आपिम्** बन्धुम् **नक्षामहे** प्राप्नुमः [नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा । निघं० २।१८] ॥२॥

भावार्थः–आचार्यस्येदं कर्तव्यं यत् स शिष्याणामन्तरात्मं जायमानेषु देवासुरसंग्रामेषु दिव्यभावानां विजयाय सहायको भवेत्, स्वार्थवृत्तीश्च विनाश्य परोपकारवृत्तीर्जनयेत् ॥२॥

---

१. यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं विद्वांसं सम्बोधितः । एकया सुशिक्षया, द्वितीयया अध्यापनक्रियया, तिसृभिः कर्मोपासनाज्ञानज्ञापिकाभिः गीर्भिः वाग्भिः, चतसृभिः धर्मार्थकाममोक्षविज्ञापिकाभिः– इति चार्थः संनिवेशितः ।

२. ऋ० ८।६०।१०।

अस्मिन् खण्डे परमात्मन आचार्यस्य च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।।

आगे फिर आचार्य को कहा जा रहा है ।

पदार्थ– हे अग्ने ! हे विद्वान् आचार्य ! आप **विश्वस्मात्** सब **अराव्णः** अदानशील, स्वार्थपरायण **रक्षसः** राक्षस-भाव से **पाहि** हमें बचाओ, **वाजेषु** देवासुरसंग्रामों में **नः** हमारी **प्र अव स्म** रक्षा करो । **त्वाम् इत् हि** आपको ही हम **देवतातये** दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए, और **वृधे** आगे बढ़ने के लिए **नेदिष्ठम्** सबसे अधिक निकट के **आपिम्** बन्धुरूप में **नक्षामहे** प्राप्त करते हैं ।।२।।

भावार्थ– आचार्य का यह कर्तव्य है कि वह शिष्यों की अन्तरात्मा में होने वाले देवासुरसंग्रामों में दिव्यभावों की विजय के लिए सहायक हो और स्वार्थ-वृत्तियों को विनष्ट करके परोपकार की वृत्तियाँ उत्पन्न करे ।।२।।

इस खण्ड में परमात्मा और आचार्य के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।

पन्द्रहवें अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ।

।।५।। अथ 'इनो राजन्' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** त्रित आप्त्यः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ।।

तत्रादौ परमात्मनः कर्तृत्वं वर्णयति ।

३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१५४६. **इनो राजन्नरतिः समिद्धो रौद्रो दक्षाय सुषुमाँ अदर्शि ।**
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
चिकिद्वि भाति भासा बृहतासिक्नीमेति रुशतीमपाजन् ।।१।।[1]

३ २ ३ २ १ २र ३
इनः राजन् अरतिः समिद्धः सम् इद्धः ।
१ २र १ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
रौद्रः दक्षाय सुषुमान् अदर्शि । चिकित् वि भाति भासा बृहता ।
१ २र ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र
असिक्नीम् एति रुशतीम् अपाजन् अप अजन् ।।१।।

पदार्थः– हे **राजन्** विश्वसम्राट् सर्वान्तर्यामिन् परमात्मन् ! त्वम् **इनः** सर्वेश्वरः **अरतिः** सर्वव्यापकः । [ऋ गतौ धातोः 'अतेश्च' । उ० ५।७ इति ऊतिप्रत्ययः ।] **समिद्धः** स्वतःप्रकाशश्च असि । अथ परोक्षकृतमाह– **रौद्रः** दुष्टानां भयंकरः, **सुषुमान्** सज्जनेभ्यो रसवान् सः । [शोभनं सवनं सुषुः तद्वान् ।] **दक्षाय** बलप्राप्त्यर्थम् **अदर्शि** दृश्यते । **चिकित्** सर्वज्ञः सः **बृहता** महत्या **भासा** दीप्त्या **विभाति** भासते । **रुशतीम्** रोचमानाम् उषसम् **अपाजन्** अपगमयन् **असिक्नीम्** असितां रात्रिम् । [असिक्नी इति रात्रिनाम । निघं० १।७ ।] **एति** प्राप्नोति। तथैव असिक्नीं रात्रिम् अपाजन् रुशतीम् उषसम् एतीति व्यज्यते, तत्कृत एव सर्वोऽपि दिवसरात्र्यादिप्रचञ्च इति भावः ।।१।।

---

१. ऋ० १०।३।१।

भावार्थः— अहोरात्राः पक्षा मासा ऋतव उत्तरायणं दक्षिणायनं संवत्सर इत्यादिकः सर्वोऽपि कालविभागो जलं स्थलमाकाशश्चन्द्रः सूर्यस्तारका इत्यादिकश्च सकलोऽपि देशविभागः परमेश्वरकृत एव यत्र स सम्राड् भूत्वा सर्वं व्यवस्थापयति ॥१॥

प्रथम ऋचा में परमात्मा का कर्तृत्व वर्णित है ।

पदार्थ— हे **राजन्** विश्व के राजा, सर्वान्तर्यामी परमात्मन् ! आप **इनः** सबके स्वामी, **अरतिः** सर्वव्यापक, और **समिद्धः** स्वतः प्रकाशमान हो । आगे परोक्ष-रूप में कहते हैं— **रौद्रः** दुष्टों के लिए भयंकर, **सुषुमान्** सज्जनों के लिए रसमय वह परमात्मा **दक्षाय** बलप्राप्ति के लिए **अदर्शि** साक्षात्कार किया जाता है । **चिकित्** सर्वज्ञ वह **बृहता** महान् **भासा** दीप्ति से **विभाति** भासित होता है । **रुशतीम्** चमकीली उषा को **अपाजन्** व्यतीत कराता हुआ **असिक्नीम्** काली रात्रि को **एति** प्राप्त करता है । इसी प्रकार काली रात्रि को व्यतीत कराता हुआ चमकीली उषा को प्राप्त करता है यह भी सूचित होता है । अभिप्राय यह है कि सारा दिन-रात्रि आदि का प्रपंच उसी का किया हुआ है ॥१॥

भावार्थ— दिन-रात, पक्ष, मास, ऋतुएँ, उत्तरायण, दक्षिणायन, वर्ष इत्यादि सारा ही काल-विभाग और जल, स्थल, आकाश, चाँद, सूर्य, तारे इत्यादि सारा देश-विभाग परमेश्वर का ही किया हुआ है, जिसमें वह सम्राट् होकर सब व्यवस्था कर रहा है ॥१॥

अथ पुनरपि परमात्मनः कर्तृत्वमाह ।

१५४७. **कृष्णां यदेनीमभि वर्पसाभूज्जनयन्योषां बृहतः पितुर्जाम् ।**
ऊर्ध्वं भानुं सूर्यस्य स्तभायन् दिवो वसुभिररतिर्वि भाति ॥२॥[1]

कृष्णाम् यत् एनीम् अभि वर्पसा भूत् । जनयन् योषाम् बृहतः पितुः जाम् ।
ऊर्ध्वम् भानुम् सूर्यस्य स्तभायन् । दिवः वसुभिः अरतिः वि भाति ॥२॥

पदार्थः— **यत्** यदा **बृहतः पितुः** महतः पालकस्य सूर्यस्य **जाम्** दुहितरम् **योषाम्** उषसम् **जनयन्** जनिष्यमाणः अग्निः परमेश्वरः **एनीम्** व्याप्ताम् **कृष्णाम्** कृष्णवर्णां रात्रिम् **वर्पसा** सूर्यस्य रूपेण । [वर्पस् इति रूपनाम । निघं० ३।७ ।] **अभिभूत्** अभिभवति, तदा **सूर्यस्य** आदित्यस्य **ऊर्ध्वम्** उपरिस्थितम् **भानुम्** प्रकाशमण्डलम् **स्तभायन्** स्तम्भयन् **अरतिः** सर्वेषां स्वामी स परमेश्वरः **दिवः** द्युलोकस्य **वसुभिः** ग्रहनक्षत्रादिभिः लोकैः **विभाति** विशेषेण शोभते ॥२॥

भावार्थः— भुवि गगने च व्याप्तां कृष्णां निशां विच्छिद्य रोचमानामुषसं तदनन्तरं च प्रखरप्रकाशं सूर्यं जनयन् जगदीश्वरो महिम्नातितरां शोभते ॥२॥

आगे फिर परमात्मा के कर्तृत्व का वर्णन है ।

---

१. ऋ० १०।३।२।

पदार्थ— **यत्** जब **बृहतः पितुः** महान् पालनकर्ता सूर्य की **जाम्** पुत्री **योषाम्** उषा को **जनयन्** उत्पन्न करना चाहता हुआ अग्नि परमेश्वर **एनीम्** व्याप्त **कृष्णाम्** काली रात्रि को **वर्पसा** सूर्य के रूप से **अभिभूत्** तिरस्कृत करता है, तब **सूर्यस्य** सूर्य के **ऊर्ध्वम्** ऊपर स्थित **भानुम्** प्रकाश-मण्डल को **स्तभायन्** थामे हुए **अरतिः** सबका स्वामी वह परमेश्वर **दिवः** द्युलोक के **वसुभिः** ग्रह, नक्षत्र आदि लोकों से **विभाति** विशेष रूप से शोभित होता है ॥२॥

भावार्थ— भूमि पर और आकाश में व्याप्त काली रात्रि को छिन्न-भिन्न करके चमकीली उषा को और उसके अनन्तर तीव्र प्रकाश वाले सूर्य को उत्पन्न करता हुआ जगदीश्वर महिमा से अत्यधिक शोभा पाता है ॥२॥

अथ परमात्मैव प्राकृतिकं घटनाचक्रं सञ्चालयतीत्याह ।

१५४८. **भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात् ।**
सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन् रुशद्भिर्वर्णैरभि राममस्थात् ॥३॥[1]

भद्रः भद्रया सचमानः आ अगात् । स्वसारम् जारः अभि एति पश्चात् ।
सुप्रकेतैः सु प्रकेतैः द्युभिः अग्निः वितिष्ठन् वि तिष्ठन् ।
रुशद्भिः वर्णैः अभि रामम् अस्थात् ॥३॥

पदार्थः— **भद्रः** श्रेष्ठः सूर्यः **भद्रया** श्रेष्ठया दीप्त्या **सचमानः** संयुज्यमानः **आगात्** आगतोऽस्ति । **जारः** रात्रेर्जरयिता सः **स्वसारम्** सुष्ठुतया तमसः प्रक्षेप्त्रीम् उषसम् **पश्चात् अभ्येति** आगच्छति । **अग्निः** अग्रनायको जगदीश्वरः **सुप्रकेतैः** सुप्रकाशैः **द्युभिः** तेजोभिः सह **वितिष्ठन्** व्याप्नुवन् **रुशद्भिः** वर्णैः सूर्यस्य रोचमानैः वर्णैः **रामम्** कृष्णमन्धकारम् **अभि अस्थात्** अभिभवति ॥३॥

भावार्थः— रात्रेरनन्तरमुषा, उषसोऽनन्तरं दिवसो, दिवसस्यानन्तरं सन्ध्या, सन्ध्याया अनन्तरं पुना रात्री, रात्र्या अनन्तरं पुनरुषा इति यच्चक्रं प्रवर्तते तस्य चालयिता जगदीश्वरमतिरिच्य न कोऽपि वर्तते, मनुष्यास्य तत्राऽसामर्थ्यात् ॥३॥

अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि परमात्मा ही प्राकृतिक घटनाचक्र को संचालित करता है ।

पदार्थ— **भद्रः** श्रेष्ठ सूर्य **भद्रया** श्रेष्ठ दीप्ति से **सचमानः** संयुक्त होता हुआ **आगात्** आया है । **जारः** रात्रि को जीर्ण करता हुआ वह **स्वसारम्** भली-भाँति अन्धकार को दूर फेंकने वाली उषा के **पश्चात्** पीछे **अभ्येति** आता है । **अग्निः** अग्रनायक जगदीश्वर **सुप्रकेतैः** सुप्रकाशमान **द्युभिः** तेजों से **वितिष्ठन्** व्याप्त होता हुआ **रुशद्भिः वर्णैः** सूर्य के चमकीले रंगों से **रामम्** काले अँधेरे को **अभि अस्थात्** दूर करता है ॥३॥

भावार्थ— रात्रि के बाद उषा, उषा के बाद दिन, दिन के बाद सन्ध्या, सन्ध्या के बाद फिर रात्रि, रात्रि के बाद फिर उषा, यह जो चक्र चल रहा है उसका चलाने वाला जगदीश्वर के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है, क्योंकि मनुष्य में ऐसा सामर्थ्य नहीं है ॥३॥

---

१. ऋ० १०।३।३ ।

॥६॥ अथ 'कया ते' इत्यादिकस्य षष्ठस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** उशना काव्यः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ परमात्मस्तुतिविषये प्रश्नमुत्थापयति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
१५४९. कया ते अग्ने अङ्गिर ऊर्जो नपादुपस्तुतिम् । वराय देव मन्यवे ॥१॥[1]

१ २र ३ १ २र ३ १२र १२र ३
कया ते अग्ने अङ्गिरः । ऊर्जः नपात् उपस्तुतिम् उप स्तुतिम् ।
१ २र ३ १ २
वराय देव मन्यवे ॥१॥

पदार्थः— हे **अङ्गिरः** प्राणप्रिय, **ऊर्जः नपात्** बलस्य प्राणशक्तेश्च न पातयितः, **देव** प्रकाशक **अग्ने** जगन्नायक परमेश ! **वराय** वरणीयाय, श्रेष्ठाय **मन्यवे** मननीयाय तेजस्विने वा । [मन्यतेः 'यजिमनि-शुन्धिदसिजनिभ्यो युच् । उ० ३।२० इति युच् । 'मन्युः मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः' इति निरुक्तम् । १०।२९ ।] **ते** तुभ्यम् **कया** कया रीत्या, वयम् **उपस्तुतिम्** स्तोत्रम्, कुर्याम इति प्रश्नः । तस्योत्तरं यद् वैदिक्या रीत्यैव स्तुतिः कर्तव्येति ॥१॥

भावार्थः— सच्चिदानन्दस्वरूपस्य निराकारस्य सर्वशक्तिमतो न्यायकारिणो दयालोरजन्मनोऽनन्तस्य निर्विकारस्यानादेरनुपमस्य सर्वाधारस्य सर्वेश्वरस्य सर्वव्यापकस्य सर्वान्तर्यामिनोऽजरामराभयनित्यपवित्रस्य सृष्टिकर्तुः परमेशस्य स्तुतिर्वैदिक्या पद्धत्यैव कर्तव्या न साकारमूर्तिपूजनादिप्रकारेण ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा की स्तुति के विषय में प्रश्न उठाया गया है ।

पदार्थ— हे **अङ्गिरः** प्राणप्रिय, **ऊर्जः नपात्** बल और प्राणशक्ति को न गिरने देने वाले, **देव** प्रकाशक **अग्ने** जगन्नायक परमेश्वर ! **वराय** वरणीय, श्रेष्ठ, **मन्यवे** मनन करने योग्य वा तेजस्वी **ते** आपके लिए **कया** किस रीति से, हम **उपस्तुतिम्** स्तोत्र को करें ? यह प्रश्न है । इसका उत्तर है कि वेदोक्त रीति से ही स्तुति करनी चाहिए ॥१॥

भावार्थ— सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर की स्तुति वैदिक पद्धति से ही करनी चाहिए, न कि साकार मूर्ति की पूजा के प्रकार से ॥१॥

अथ पुनरपि प्रश्नं कुरुते ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३११ २र
१५५०. दाशेम कस्य मनसा यज्ञस्य सहसो यहो । कदु वोच इदं नमः ॥२॥[2]

१२र १ २र १२र ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २र
दाशेम कस्य मनसा । यज्ञस्य सहसः यहो । कत् उ वोचे इदम् नमः ॥२॥

---

१. ऋ० ८।८४।४ ।
२. ऋ० ८।८४।५ ।

पदार्थः— हे **सहसः यहो** बलस्य पुत्र ! अतिशय बलवन् परमेश ! **कस्य यज्ञस्य मनसा** कस्य यज्ञस्य अभिलाषेण, वयम् त्वाम् **दाशेम** आत्मानं समर्पयेम । **कत् उ** कथं खलु, अहम् **इदं नमः** इमं नमस्कारम् **वोचे**[1] त्वां प्रति ब्रूयाम् ?॥२॥

भावार्थः— अनेके सकामयज्ञा निष्कामयज्ञाश्च प्रचलिताः सन्ति । परमहं तु हे जगदीश्वर त्वदुपासनैक-प्रयोजनेन यज्ञेनैवतुभ्यमात्मानं समर्पये, न तु कमपि स्वार्थं मनसि निधाय । कथमहं त्वां नमस्कुर्याम् ? केचित् साष्टाङ्गं प्रणमन्ति, केचिद् बद्धाञ्जलयः प्रणमन्ति, केचिन्मूर्तौ शिरो नत्वा प्रणमन्ति । परमहं तु चित्तमेव त्वयि नमयामि, न शरीराङ्गानि ॥२॥

आगे फिर प्रश्न करते हैं ।

पदार्थ— हे **सहसः यहो** बल के पुत्र अर्थात् अत्यन्त बली परमेश्वर ! **कस्य यज्ञस्य मनसा** किस यज्ञ के मन से, हम आपको **दाशेम** आत्मसमर्पण करें ? **कत् उ** कैसे मैं **इदं नमः** इस नमस्कार को **वोचे** आपके प्रति कहूं ? ॥२॥

भावार्थ— अनेक सकाम यज्ञ और निष्काम यज्ञ प्रचलित हैं। पर मैं तो हे जगदीश्वर ! आपकी उपासना ही जिसका प्रयोजन है ऐसे यज्ञ से ही आपको आत्मसमर्पण करता हूँ, किसी स्वार्थ को मन में रखकर नहीं । कैसे मैं आपको नमस्कार करूँ ? कुछ लोग साष्टांग प्रणाम करते हैं, कोई अञ्जलि बाँधकर प्रणाम करते हैं, कोई मूर्ति पर सिर नँवाकर प्रणाम करते हैं। पर मैं तो चित्त को ही तेरे प्रति नँवाता हूँ, शरीर के अंगों को नहीं ॥२॥

अथ परमात्मानं प्रार्थयते ।

१५५१ . अधा त्वं हि नस्करो विश्वा अस्मभ्यं सुक्षितीः । वाजद्रविणसो गिरः ॥३॥[2]

अध त्वम् हि नः करः । विश्वाः अस्मभ्यम् सुक्षितीः सु क्षितीः ।

वाजद्रविणसः वाज द्रविणसः गिरः ॥३॥

पदार्थः— हे अग्ने ! हे विश्वनायक जगदीश ! **अध** अथ **त्वं हि** त्वं किल **नः** अस्माकम् **विश्वाः गिरः** सर्वाः वाचः **अस्मभ्यम्** अस्मदर्थम् **सुक्षितीः** सुनिवासप्रदाः, **वाजद्रविणसः** वाजो बलमेव द्रविणः धनं यासां ताश्च **करः** कुरु [करः इति करोतेर्लेटि मध्यमैकवचने रूपम्] ॥३॥

भावार्थः— श्रद्धया परमात्मोपासनेन तादृशं वाग्बलं प्राप्तुं शक्यते यच्छ्रोतॄणां मनसि प्रभावं जनयेत् ॥३॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना है ।

पदार्थ— हे अग्ने ! हे विश्वनायक जगदीश ! **अध** अब **त्वं हि** आप **नः** हमारी **विश्वाः गिरः** सब वाणियों को **अस्मभ्यम्** हमारे लिए **सुक्षितीः** उत्तम निवास देने वाली, और **वाजद्रविणसः** बल रूप धन से युक्त अर्थात् बलवती **करः** कर दो ॥३॥

---

१. वोचे— ब्रूआदेशस्य लुङ्यात्मनेपदे उत्तमैकवचने रूपम्— इति सा० ।

२. ऋ० ८।८४।६।

भावार्थ– श्रद्धा के साथ परमात्मा की उपासना करने से ऐसा वाणी का बल पाया जा सकता है जो श्रोताओं के मन पर प्रभाव उत्पन्न करे ।।३।।

।।७।। अथ 'अग्न आ' इत्यादिकस्य सप्तमस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भर्गः प्रागाथः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ।।

तत्रादौ परमात्माग्निमाह्वयति ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१५५२. **अग्न आ याह्यग्निभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।**
१र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मती यजिष्ठं बर्हिरासदे ।।१।।[1]

१ २र ३ १ २ १ २र ३
अग्ने आ याहि अग्निभिः । होतारम् त्वा वृणीमहे ।
२ ३ १२र ३ १ २ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १२र
आ त्वाम् अनक्तु प्रयता प्र यता हविष्मती । यजिष्ठम् बर्हिः आसदे आ सदे ।।१।।

पदार्थः– हे **अग्ने** अग्रनेतः परमात्मन् ! त्वम् **अग्निभिः** तेजोभिः सह **आयाहि** आगच्छ, **होतारम्** दातारम् **त्वा** त्वाम्, वयम् **वृणीमहे** संभजामहे । **यजिष्ठं त्वाम्** अतिशयेन यष्टारम्, अस्माभिः सह संगमकारिणं त्वाम्, अस्माकम् **हविष्मती** समर्पणयुक्ता **प्रयता** पवित्रा प्रज्ञा **बर्हिः** हृदयासनम् **आसदे** आसत्तुम् **अनक्तु** व्यक्तं करोतु । [अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु, रुधादिः] ।।१।।

भावार्थः– परमेश्वरो हि यदा स्तोतुरन्तरात्मानं प्रबलसंकल्पस्योत्साहस्य वीरतायाः आशावादस्य चाग्निभिः सहागच्छति तदा स्तोतुर्मार्गात् सर्वे विघ्ना अपयन्ति लक्ष्यप्राप्तिश्च सुनिश्चिता जायते ।।१।।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा रूप अग्नि का आह्वान है ।

पदार्थ– हे **अग्ने** अग्रनेता परमात्मन् ! आप **अग्निभिः** तेजों के साथ **आ याहि** आओ । **होतारम्** दाता **त्वा** आपको, हम **वृणीमहे** भजते हैं। **यजिष्ठं त्वाम्** हमारे साथ अतिशय संगम करने वाले आपको, हमारी **हविष्मती** समर्पणयुक्त **प्रयता** पवित्र प्रज्ञा **बर्हिः** हृदयासन पर **आसदे** बैठने के लिए **अनक्तु** प्रकट करे ।।१।।

भावार्थ– परमेश्वर जब स्तोता के अन्तरात्मा में प्रबल संकल्प, उत्साह, वीरता और आशावाद की अग्नियों के साथ आता है तब स्तोता के मार्ग से सब विघ्न हट जाते हैं और लक्ष्यप्राप्ति सुनिश्चित हो जाती है ।।१।।

अथ परमात्मानं प्रार्थयते ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
१५५३. **अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः सुचश्चरन्त्यध्वरे ।**
३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् ।।२।।[2]

१ २र ३ १२र १२र ३ २
अच्छ हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः । सुचः चरन्ति अध्वरे ।
३ २ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
ऊर्जः नपातम् घृतकेशम् घृत केशम् ईमहे । अग्निम् यज्ञेषु पूर्व्यम् ।।२।।

---

१. ऋ० ८।६०।१, अथ० २०।१०३।२ ।
२. ऋ० ८।६०।२, अथ० २०।१०३।३ ।

पदार्थः— हे **सहसः सूनो** बलस्य साहसस्य च प्रेरक, [सुवति प्रेरयतीति सूनुः। षू प्रेरणे, 'सुवः कित्' उ० ३।३५ इति नुः प्रत्यय :।] **अङ्गिरः** प्राणप्रिय परमेश ! **अध्वरे** उपासनायज्ञे **त्वा अच्छ** त्वां प्रति **हि** निश्चयेन **सुचः** मदीया वाचः । [वाग् वै सुक् । श० १।१।४।११।] **चरन्ति** प्रवर्तन्ते । वयम् **यज्ञेषु** अस्माकं जीवनयज्ञेषु **ऊर्जः नपातम्** बलस्य प्राणशक्तेश्च न पातयितारम्, **घृतकेशम्** दीप्तरश्मिम् । [घृतं दीप्तम्, घृ क्षरणदीप्त्योः। केशा रश्मयः । निरु० १२।२५ ।] **पूर्व्यम्** सनातनम् **अग्निम्** अग्रनेतारं त्वां परमात्मानम् **ईमहे** बलं याचामहे । [ईमहे इति याञ्चाकर्मसु पठितम् । निघं० ३।१९] ॥२॥

भावार्थः— उपासनाया अयमेव लाभो यदुपासको बलनिधेः परमात्मनः सकाशादपरिमितं बलं प्राप्य लक्ष्यसिद्धौ सफलो जायत इति ॥२॥

अब परमात्मा से प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ— हे **सहसः सूनो** बल और साहस के प्रेरक, **अङ्गिरः** प्राणप्रिय परमेश्वर ! **अध्वरे** उपासना-यज्ञ में **त्वा अच्छ** आपके प्रति **हि** निश्चय ही **सुचः** मेरी वाणियाँ **चरन्ति** प्रवृत्त हो रही हैं। हम **यज्ञेषु** अपने जीवन-यज्ञों में **ऊर्जः नपातम्** बल और प्राणशक्ति के न गिरने देने वाले, **घृतकेशम्** प्रदीप्त तेज वाले, **पूर्व्यम्** सनातन **अग्निम्** आप अग्रनेता परमात्मा से **ईमहे** बल की याचना करते हैं॥२॥

भावार्थ— उपासना का यही लाभ है कि उपासक बल के खजाने परमात्मा के पास से अपरिमित बल प्राप्त करके लक्ष्यसिद्धि में सफल हो जाता है ॥२॥

॥८॥ अथ 'अच्छा नः' इत्यादिकस्याष्टमस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सुदीतिपुरुमीढौ तयोर्वान्यतरः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ सतोबृहती)। **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्रादौ परमेश्वराय स्वात्मानं समर्पयति ।

१५५४. **अच्छा नः शीरशोचिषं गिरो यन्तु दर्शतम् ।**
अच्छा यज्ञासो नमसा पुरूवसुं पुरुप्रशस्तमूतये ॥१॥[1]

अच्छ नः शीरशोचिषम् शीर शोचिषम् । गिरः यन्तु दर्शतम् ।
अच्छ यज्ञासः नमसा पुरूवसुम् पुरु वसुम् ।
पुरुप्रशस्तम् पुरु प्रशस्तम् ऊतये ॥१॥

पदार्थः— **नः** अस्माकम् **गिरः** वाचः **शीरशोचिषम्** अनुशायिदीप्तिम् । [शीरम् अनुशायिनमिति वा आशिनमिति वा । निरु० ४।१४ ।] **दर्शतम्** दर्शनीयम् अग्निम् अग्रनायकं परमात्मानम् **अच्छ** प्रति **यन्तु** प्रवर्तन्ताम् । अपि च, अस्माकम् **यज्ञासः** उपासनायज्ञाः **ऊतये** रक्षायै **नमसा** नमस्कारेण सह **पुरूवसुम्** बहुधनम् **पुरुप्रशस्तम्** बहुश्लाघ्यं तम् अग्निं परमात्मानम् **अच्छ** प्रति **यन्तु** गच्छन्तु । [संहितायाम् 'अच्छा' इत्यत्र 'निपातस्य च' । अ० ६।३।१३६ इति दीर्घः] ॥१॥

---

१. ऋ० ८।७१।१०।

श्रद्धया नमस्कारपूर्वकं कृतैव परमात्मोपासना सफला भवति, नैवोन्मनस्कतया कृता ।।१।।

प्रथम मन्त्र में परमेश्वरको आत्म-समर्पण करते हैं ।

पदार्थ– **नः** हमारी **गिरः** वाणियां **शीरशोचिषम्** व्याप्त तेज वाले, **दर्शतम्** दर्शनीय अग्रनायक परमात्मा के **अच्छ** प्रति **यन्तु** प्रवृत्त हों । साथ ही, हमारे **यज्ञासः** उपासना-यज्ञ **ऊतये** रक्षा के लिए **नमसा** नमस्कार के साथ **पुरूवसुम्** बहुत धन वाले, **पुरुप्रशस्तम्** बहुत श्लाध्य उस अग्नि नामक परमात्मा के **अच्छ** प्रति **यन्तु** पहुँचें ।।१।।

भावार्थ– श्रद्धा के साथ नमस्कार पूर्वक की गयी ही परमात्मा की उपासना सफल होती है, बेमन से की गयी नहीं ।।१।।

अथ परमेश्वरस्य गुणान् कीर्तयति ।

१५५५. **अग्निं सूनुं सहसो जातवेदसं दानाय वार्याणाम् ।**
द्विता यो भूदमृतो मर्त्येष्वा होता मन्द्रतमो विशि ।।२।।[१]

अग्निम् सूनुम् सहसः जातवेदसम् जात वेदसम् । दानाय वार्याणाम् ।
द्विता यः भूत् अमृतः अ मृतः मर्त्येषु । आ होता मन्द्रतमः विशि।।२।।

पदार्थः– **सहसः सूनुम्** बलस्य प्रेरकम्,**जातवेदसम्** सर्वज्ञं, सर्वव्यापकं, ज्ञानस्य धनस्य च जनकम् **अग्निम्** अग्रनायकं जगदीश्वरम् **वार्याणाम्** वरणीयानां सद्गुणानां सदैश्वर्याणां च **दानाय** दातये, अहं स्तौमीति शेषः, **मर्त्येषु** मरणधर्मसु प्राणिषु मध्ये **अमृतः** अमरः, **विशि** मानुष्यां प्रजायां च **मन्द्रतमः** अतिशयेन आनन्दप्रदः, **होता** जीवनयज्ञनिष्पादकः **यः** अग्निर्जगदीश्वरः **द्विता** द्वयोरपि स्थानयोः इहलोके परस्मिन् मोक्षलोके च **आ भूत्** सहायको भवति ।।२।।

भावार्थः– न केवलमस्मिन् जीवने, प्रत्युत जन्मजन्मान्तरेषु मोक्षलोके चापि यो जगदीश्वरोऽस्माभिः सखित्वं निर्वहति स कुतो न वन्दनीयः स्यात् ।।२।।

अस्मिन् खण्डे परमात्मविषयवर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्बोध्या ।।

अब परमेश्वर के गुणों का वर्णन है ।

पदार्थ– **सहसः सूनुम्** बल के प्रेरक, **जातवेदसम्** सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, ज्ञान और धन के उत्पादक, **अग्निम्** अग्रनायक जगदीश्वर की **वार्याणाम्** वरणीय सद्गुणों और श्रेष्ठ ऐश्वर्यों के **दानाय** दान के लिए, मैं स्तुति करता हूँ । **मर्त्येषु** मरणधर्मा प्राणियों के मध्य में **अमृतः** अमर, और **विशि** मनुष्य-प्रजा में **मन्द्रतमः** अतिशय आनन्दप्रदाता, **होता** जीवनयज्ञ का निष्पादक **यः** जो अग्नि जगदीश्वर **द्विता** दोनों स्थानों में अर्थात् इहलोक में और मोक्षलोक में **आ भूत्** सहायक होता है ।।२।।

---

१. ऋ० ८।७१।११।

भावार्थ– न केवल इस जीवन में, अपितु जन्मजन्मान्तरों में और मोक्षलोक में भी जो जगदीश्वर हमारे साथ मित्रता का निर्वाह करता है वह वन्दनीय क्यों न हो ।।२।।

इस खण्ड में परमात्मा का विषय वर्णित होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ।

पंद्रहवें अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ।

।।९।। अथ 'अदाभ्यः' इत्यादिकस्य नवमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** विश्वामित्रो गाथिनः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ परमात्मानं वर्णयति ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१५५६. **अदाभ्यः पुरएता विशामग्निर्मानुषीणाम् । तूर्णी रथः सदा नवः ।।१।।**[1]

१ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २र
अदाभ्यः अ दाभ्यः पुरएता पुरः एता । विशाम् अग्निः मानुषीणाम् ।
१ २र १ २र १ २र १ २र
तूर्णिः रथः सदा नवः ।।१।।

पदार्थः– **अग्निः** जगन्नायकः सर्वान्तर्यामी परमेश्वरः **अदाभ्यः** केनापि दब्धुं पराजेतुम् अशक्यः, **मानुषीणां विशाम्** मानवीनां प्रजानाम् **पुरएता** अग्रगन्ता च भवति । **रथः** एतेन रचितो मानवदेहरूपो रथः **तूर्णिः** सद्यो गन्ता, **सदा नवः** सदा स्तुत्यश्च, वर्तते ।।१।।[2]

भावार्थः– जगदीश्वरः खलु कीदृशो विलक्षणः शिल्पी यत्तेन रचित आत्माधिष्ठितो मानवदेहरूपो रथश्चेतनः सन् स्वयमेव याति स्वयमेव विरमति स्वयमेव च कर्तव्याकर्तव्यविवेकं कुरुते ।।१।।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ– **अग्निः** जगन्नायक सर्वान्तर्यामी परमेश्वर **अदाभ्यः** किसी से दबाया या पराजित न किया जा सकने वाला, और **मानुषीणां विशाम्** मानवी प्रजाओं के **पुर एता** आगे पहुँचने वाला है । **रथः** इससे रचा हुआ मानव-शरीर रूप रथ **तूर्णिः** शीघ्रगामी और **सदा नवः** सदा स्तुति योग्य होता है ।।१।।

भावार्थ– जगदीश्वर कैसा विलक्षण शिल्पकार है कि उससे रचा हुआ आत्मा से अधिष्ठित मानव-देह-रूप रथ चेतन होता हुआ स्वयं ही चलता है, स्वयं ही रुकता है और स्वयं ही कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक करता है ।।१।।

अथ परमात्मस्तुत्या किं प्राप्यत इत्याह ।

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
१५५७. **अभि प्रयांसि वाहसा दाश्वाँ अश्नोति मर्त्यः । क्षयं पावकशोचिषः ।।२।।**[3]

३ २ १ २र १२र ३ २ ३ १ २र
अभि प्रयांसि वाहसा । दाश्वान् अश्नोति मर्त्यः ।
१२र ३ १ २ ३ २ ३
क्षयम् पावकशोचिषः पावक शोचिषः ।।२।।

---

१. ऋ० ३।११।५।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं विद्वद्विषये व्याख्यातः ।
३. ऋ० ३।११।७ ।

पदार्थः— दाश्वान् आत्मसमर्पकः **मर्त्यः** मनुष्यः **वाहसा** अग्निं परमेश्वरं प्रति कृतेन स्तोत्रेण । [वाहः अभिवहनस्तुतिम् । निरु० ४।१६।] **प्रयांसि** आनन्दरसान् । [प्रयः इति उदकनाम । निघं० १।१२ ।] **अभि अश्नोति** प्राप्नोति । किञ्च **पावकशोचिषः** पावकदीप्तेः तस्य परमेश्वरस्य **क्षयम्** निवासं मोक्षमिति यावत् अभ्यश्नोति लभते ।।२।।[1]

भावार्थः— दीप्तिमतो जगदीश्वरस्य स्तुत्या स्वयमपि तद्गुणधारणेन मनुष्योऽभ्युदयं निःश्रेयसं च प्राप्तुमर्हति ।।२।।

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि परमात्मा की स्तुति से क्या प्राप्त होता है ।

पदार्थ— दाश्वान् आत्मसमर्पण करने वाला **मर्त्यः** मनुष्य **वाहसा** परमेश्वर के प्रति किये गये स्तोत्र से **प्रयांसि** आनन्द-रसों को **अभि अश्नोति** पा लेता है । साथ ही **पावक-शोचिषः** पवित्रकारी ज्योति वाले उस परमेश्वर के **क्षयम्** मोक्षधाम को भी प्राप्त कर लेता है ।।२।।

भावार्थ— मनुष्य को योग्य है कि तेजस्वी जगदीश्वर की स्तुति से स्वयं भी उसके गुणों को धारण करके अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त करे ।।२।।

अथ परमात्मनो गुणान् वर्णयति ।

१५५८. **साह्वान् विश्वा अभियुजः क्रतुर्देवानाममृक्तः ।**
अग्निस्तुविश्रवस्तमः ।।३।।[2]

साह्वान् विश्वाः अभियुजः अभि युजः । क्रतुःदेवानाम् अमृक्तः अ मृक्तः ।
अग्निः तुविश्रवस्तमः तुवि श्रवस्तमः ।।३।।

पदार्थः— विश्वाः अभियुजः सर्वान् आक्रान्तॄन् कामक्रोधादीन् **साह्वान्** स्वबलेन तिरस्कुर्वाणः । [दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च । अ० ६।१।१२ इति क्वस्वन्तो निपातः ।] **देवानाम्** दिव्यगुणानाम् **क्रतुः** कर्ता, **अमृक्तः** न केनापि शोधितः, प्रत्युत स्वतः शुद्धः । [न मृक्तः अमृक्तः । मृजू शौचालङ्कारयोः, निष्ठा ।] **अग्निः** तेजस्वी परमेश्वरः **तुविश्रवस्तमः** बहुयशस्तमो वर्तते । [तुवि बहु श्रवः कीर्तिर्विद्यतेऽस्य स तुविश्रवाः, अतिशयेन तुविश्रवाः तुविश्रवस्तमः । तुवि बहुनाम । निघं० ३।१। श्रवः श्रवणीयं यशः । निरु० ११।७] ।।३।।[3]

भावार्थः— अनन्तगुणसमन्वितत्वाज्जगदीश्वरस्य कीर्तिः सर्वातिशायिनी वर्तते ।।३।।

अगले मन्त्र में परमात्मा के गुण वर्णित हैं ।

पदार्थ— विश्वाः अभियुजः सब आक्रमणकारी काम, क्रोध, आदियों को **साह्वान्** अपने बल से तिरस्कृत करता हुआ, **देवानाम्** दिव्य गुणों का **क्रतुः** उत्पादक, **अमृक्तः** किसी से शुद्ध न किया गया अर्थात् स्वतः शुद्ध **अग्निः** तेजस्वी परमेश्वर **तुविश्रवस्तमः** बहुत अधिक यशस्वी है ।।३।।

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरिममपि मन्त्रं विद्वद्विषये व्याचष्टे ।

२. ऋ० ३।११।६ ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं राजप्रजाविषये व्याख्यातः ।

भावार्थ– अनन्त गुणों से युक्त होने के कारण जगदीश्वर की कीर्ति सबसे अधिक बढ़ी हुई है ॥३॥

॥१०॥ 'भद्रो नो' इत्यादिकस्य दशमस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सोभरिः काण्वः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** काकुभः प्रगाथः (१ विषमा ककुबुष्णिक्, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ ऋषभः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १११ क्रमाङ्के यज्ञाग्निविषयेऽतिथिविषये परमात्मविषये च व्याख्याता । अत्र राष्ट्रविषयकं भद्रं प्रार्थ्यते ।

३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१५५९. **भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः ।**
३ २ ३ १र २र
भद्रा उत प्रशस्तयः ॥१॥[1]

३ २ ३ २ १२र ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
भद्रः नः अग्निः आहुतः आ हुतः । भद्रा रातिः सुभग सु भग भद्रः अध्वरः ।
३ २ ३ २ १२र ३
भद्राः उत प्रशस्तयः प्र शस्तयः ॥१॥

पदार्थः– **आहुतः** प्रदत्तहविष्कः **अग्निः** राष्ट्रियतायाः अग्निः **नः** अस्मभ्यम् **भद्रः** शुभः अस्तु । **रातिः** राष्ट्राय कृता दानक्रिया **भद्रा** शुभा अस्तु । हे **सुभग** हे सौभाग्यवन् राजन् ! **अध्वरः** त्वयाऽस्माभिश्च कृतः राष्ट्रयज्ञः **भद्रः** शुभः अस्तु । **उत** अपि च **प्रशस्तयः** राष्ट्रोन्नत्या प्राप्ताः प्रशंसाः **भद्राः** शुभाः सन्तु ॥१॥[2]

भावार्थः– सर्वे प्रजाजना नृपत्यमात्यादयो राज्याधिकारिणश्च राष्ट्रभक्ता भूत्वा मातृभूम्यै स्व-बलिदानमपि कर्तुं सदा समुद्यता भवेयुः ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में १११ क्रमांक पर यज्ञाग्नि, अतिथि और परमात्मा के विषय में की जा चुकी है । यहाँ राष्ट्र-विषयक भद्र की प्रार्थना है ।

पदार्थ– **आहुतः** जिसमें आहुति डाली गयी है ऐसी **अग्निः** राष्ट्रियता की अग्नि **नः** हमारे लिए **भद्रः** शुभ हो । **रातिः** राष्ट्र के लिए की गयी दान की क्रिया **भद्रा** शुभ हो । हे **सुभग** सौभाग्यवान् राजन् । **अध्वरः** तुम्हारे और हमारे द्वारा किया गया राष्ट्र-यज्ञ **भद्र** शुभ हो । **उत** और **प्रशस्तयः** राष्ट्र की उन्नति से प्राप्त प्रशस्तियाँ **भद्राः** शुभ हों ॥१॥

भावार्थ– सब प्रजाजन और राजा, मन्त्री आदि राज्याधिकारी राष्ट्रभक्त होकर मातृभूमि के लिए अपना बलिदान भी करने के लिए सदा तैयार रहें ॥१॥

अथ मानव उद्बोध्यते ।

३१र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१५६०. **भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये येना समत्सु सासहिः ।**
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धतां वनेमा ते अभिष्टये ॥२॥[3]

३ २ १ २र ३ १ २ ३ १२र १२र ३ १ २ ३ १ २र ३ २
भद्रम् मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये वृत्र तूर्ये । येन समत्सु स मत्सु सासहिः ।
१२र ३ २ ३ १ ३र १ २र ३ १ २ ३ १ २
अव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धताम् । वनेम ते अभिष्टये ॥२॥

---

१. ऋ० ८।१९।१९, य० १५।३८, साम० १११ ।
२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं विद्वांसं सम्बोधितः ।
३. ऋ० ८।१९।२०, 'सासहः', 'अभिष्टिभिः' इति भेदः ।

पदार्थः— हे मनुष्य ! त्वम् **वृत्रतूर्ये** वृत्राणाम् उपद्रवकारिणां तूर्यं वधो यत्र तादृशे संग्रामे । [वृत्रतूर्यमिति संग्रामनाम । निघं० २।१७ ।] **मनः** स्वकीयं मानसम् **भद्रम्** शुभम् **कृणुष्व** कुरु, **येन** मनसा, त्वम् **समत्सु** युद्धेषु । [समत् इति संग्रामनाम । निघं० २।१७] **सासहिः** शत्रूणां पराजेता भवसि । **शर्धताम्** अभिभवतां शत्रूणाम् । [शृधु प्रसहने, चुरादिः ।] **भूरि** भूरीणि **स्थिरा** स्थिराणि बलानि **अवतनुहि** अधः कुरु । [भूरि, स्थिरा इत्यत्र शेश्छन्दसि बहुलम् । अ० ६।१।७० इति शेर्लोपः ।] वयम् **ते** तव **अभिष्टये** अभीष्टये, अभीष्ट-प्राप्त्यै **वनेम** संगच्छेमहि । [अभीष्टये इति प्राप्ते 'एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वाच्यम्' । अ० ६।१।९४ वा० इति पररूपं जायते] ॥२॥

भावार्थः— भद्रेणैव मनसा संग्रामं कृत्वा शत्रवोऽपि भद्राः स्युरिति यतनीयम्, नो चेद् भद्राः स्युस्तर्हि विश्वहिताय ते बन्धनीया व्यापादनीया वा ॥२॥

अगले मन्त्र में मनुष्य को उद्‌बोधन दिया गया है ।

पदार्थ— हे मनुष्य! तू **वृत्रतूर्ये** जिसमें उपद्रवियों का वध किया जाता है ऐसे संग्राम में **मनः** अपने मन को **भद्रम्** भद्र **कृणुष्व** बना, **येन** जिस मन से, तू **समत्सु** युद्धों में **सासहिः** शत्रुओं के छक्के छुड़ाने वाला होता है । **शर्धताम्** उपद्रवी शत्रुओं के **भूरि** बहुत-से **स्थिरा** स्थिर बलों को **अवतनुहि** नीचा दिखा दे । हम **ते** तेरी **अभिष्टये** अभीष्ट-प्राप्ति के लिए **वनेम** मिलकर प्रयत्न करें ॥२॥

भावार्थ— भद्र मन से ही युद्ध करके ऐसा यत्न करना चाहिए कि शत्रु भी भद्र हो जाएँ; यदि भद्र न हों तो उन्हें विश्वहित के लिए बाँधकर कारागार में डाल दे या उनका वध कर दे ॥२॥

॥११॥ अथ 'अग्ने वाजस्य' इत्यादिकस्यैकादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गोतमो राहूगणः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** उष्णिक् । **स्वरः** ऋषभः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ९९ क्रमाङ्के परमात्मानं विद्वज्जनं राजानं च सम्बोधिता । अत्राचार्यः प्रार्थ्यते।

१५६१. अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो ।
अस्मे देहि जातवेदो महि श्रवः ॥१॥[1]
अग्ने वाजस्य गोमतः । ईशानः सहसः यहो ।
अस्मेइति देहि जातवेदः जात वेदः महि श्रवः ॥१॥

पदार्थः— हे **अग्ने** छात्रोन्नायक विद्वन् आचार्यवर ! हे **सहसः यहो** आत्मबलस्य पुत्र, अतिशयेन आत्मबलयुक्त इत्यर्थः । हे **जातवेदः** उत्पन्नानां पदार्थानां ज्ञातः ! **गोमतः वाजस्य** वेदवाग्युक्तस्य ऐश्वर्यस्य **ईशानः** अधीश्वरः त्वम् **अस्मे** अस्मभ्यम् **महिश्रवः** महत् शास्त्रज्ञानं तज्जन्यं यशश्च **देहि** प्रयच्छ । [श्रूयते इति श्रवः शास्त्रं यशो वा] ॥१॥[2]

---

१. ऋ० १।७९।४, य० १५।३५, साम० ९९ ।

२. ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं विद्वत्पक्षे व्याख्यातः ।

भावार्थः— आचार्यसकाशाद् विविधानां विद्यानां ज्ञानं प्राप्य शिष्या विद्वांसः कीर्तिमन्तश्च भवेयुः ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ९९ क्रमांक पर परमात्मा, विद्वान् और राजा को सम्बोधित की गयी थी । यहाँ आचार्य से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे **अग्ने** छात्रों को उन्नत करने वाले विद्वान् आचार्यवर ! हे **सहसः यहो** आत्मबल के पुत्र अर्थात् अतिशय आत्मबल से युक्त ! हे **जातवेदः** उत्पन्न पदार्थों के ज्ञाता ! **गोमतः वाजस्य** वेदवाणी से युक्त ऐश्वर्य के **ईशानः** अधीश्वर आप **अस्मे** हमारे लिए **महि श्रवः** महान् शास्त्रज्ञान और उससे उत्पन्न यश **देहि** प्रदान करो ॥१॥

भावार्थ— आचार्य के पास से विविध विद्याओं का ज्ञान पाकर शिष्य विद्वान् और कीर्तिमान् बनें ॥१॥

अथ परमात्माऽऽचार्यो नृपतिश्च प्रार्थ्यते ।

१ २ ३ १र २र ३ २३ २ ३१ २ ३ २ ३२३ १ २
१५६२. स इधानो वसुष्कविरग्निरीडेन्यो गिरा । रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि ॥२॥[1]

३ २ १२र ३ २ ३ २ ३१ २ ३ २
सः इधानः वसुः कविः । अग्निः इडेन्यः गिरा ।
३२ ३ १ २ ३
रेवत् अस्मभ्यम् पुर्वणीक पुरु अनीक दीदिहि ॥२॥

पदार्थः— हे **पुर्वणीक** पुरु बहु अनीकं सैन्यं यस्य तथाविध परमात्मन् आचार्य नृपते वा ! **इधानः** प्रकाशयन्, **वसुः** निवासयिता, **कविः** मेधावी क्रान्तद्रष्टा वा, **गिरा ईडेन्यः** वाचा स्तुत्यः **अग्निः** उन्नायकः **सः** असौ त्वम् **अस्मभ्यम्** उपासकेभ्यः शिष्येभ्यः प्रजाजनेभ्यो वा **रेवत्** श्रीयुक्तं यथा स्यात् तथा । [रयेर्मतौ बहुलम् । वा० ६।१।३७ इति सम्प्रसारणे, पूर्वरूपे गुणे च सिध्यति ।] **दीदिहि** प्रज्वल । [दीदयतिः ज्वलतिकर्मा । निघं० १।१६] ॥२॥[2]

भावार्थः— परमात्माऽऽचार्यश्च सद्गुणानां सैन्येन नृपतिश्च योद्धृणां सैन्येन वर्धते निजानुपासकान् शिष्यान् प्रजाजनांश्च वर्धयति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा,आचार्य और राजा से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे **पुर्वणीक** बहुत-सी सेना वाले परमात्मन्, आचार्य वा राजन् ! **इधानः** प्रकाश देते हुए, **वसुः** निवास-प्रदाता, **कविः** मेधावी और क्रान्तद्रष्टा, **गिरा ईडेन्यः** वाणी से स्तुति करने योग्य **अग्निः** उन्नति कराने वाले **सः** वे आप **अस्मभ्यम्** हम उपासकों, शिष्यों वा प्रजाजनों के लिए **रेवत्** शोभा के साथ **दीदिहि** चमको ॥२॥

भावार्थ— परमात्मा और आचार्य सद्गुणों की सेना से और राजा योद्धाओं की सेना से बढ़ता है और अपने उपासकों, शिष्यों और प्रजाजनों को बढ़ाता है ॥२॥

---

१. ऋ० १।७९।५, य० १५।३६ ।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमम् ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च विद्युदग्निदृष्टान्तेन विद्वद्विषये व्याख्यातवान् ।

अथ पुनरपि परमात्माऽऽचार्यो नृपतिश्च प्रार्थ्यते ।

१५६३. क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः ।
स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति ॥३॥[1]

क्षपः राजन् उत त्मना । अग्ने वस्तोः उत उषसः ।
सः तिग्मजम्भ तिग्म जम्भ रक्षसः दह प्रति ॥३॥

पदार्थः— हे **राजन्** सम्राट् **तिग्मजम्भ** तीक्ष्णदण्ड **अग्ने** परमात्मन् आचार्य नृपते वा ! **सः** असौ विविधगुणकर्मसुशोभितः त्वम् **त्मना** आत्मना **क्षपः** रात्रौ, **वस्तोः** दिवसे **उत** अपि च **उषसः** उषःकाले **रक्षसः** ब्रह्मचर्यविरोधिनो विद्याविरोधिनः सच्चारित्र्यविरोधिनश्च दुर्विचारान् **प्रति दह** भस्मीकुरु ॥३॥[2]

भावार्थः— यथा जगदीश्वरो रात्रिन्दिवं जागरूको भूत्वोपासकानां सच्चारित्र्यं रक्षन् तेषां कामक्रोधलोभमोहहिंसादिभावान् विनाशयति तथैवाचार्यः शिष्येभ्यो नृपतिश्च प्रजाभ्यः कुर्यात् ॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मनो राष्ट्रस्य, मानवोद्बोधनस्य, नृपतेराचार्यस्य च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

आगे फिर परमात्मा, आचार्य और राजा से प्रार्थना है ।

पदार्थ— हे **राजन्** सम्राट्, **तिग्मजम्भ** तीक्ष्ण दण्ड वाले **अग्ने** परमात्मन् आचार्य वा राजन् ! **सः** वह विविध गुणों और कर्मों से सुशोभित आप **त्मना** स्वयम् **क्षपः** रात्रि में, **वस्तोः** दिन में, **उत** और **उषसः** उषाकालों में **रक्षसः** ब्रह्मचर्य-विरोधी, विद्या-विरोधी और सच्चरित्र-विरोधी दुष्ट विचारों को **प्रति दह** भस्म कर दो ॥३॥

भावार्थ— जैसे जगदीश्वर दिन-रात जागरूक होकर उपासकों के सच्चरित्र की रक्षा करता हुआ उनके काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा आदि के भावों को विनष्ट करता है, वैसे ही आचार्य शिष्यों के लिए और राजा प्रजाओं के लिए करे ॥३॥

इस खण्ड में परमात्मा, राष्ट्र, मानवोद्बोधन, राजा और आचार्य के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

पंद्रहवें अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ।

॥१२॥ अथ 'विशो विशः' इत्यादिकस्य द्वादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गोपवन आत्रेयः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** आनुष्टुभः प्रगाथः (१ अनुष्टुप्, २-३ गायत्री) । **स्वरः** १ गान्धारः, २, ३ षड्जः ॥

---

१. ऋ० १।७९।६, य० १५।३७ ।

२. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमृग्भाष्ये यजुर्भाष्ये चाग्निदृष्टान्तेन विद्वद्विषये व्याख्यातः ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ८७ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र यज्ञाग्निर्वर्ण्यते ।

१५६४. विशोविशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम् ।
अग्निं वो दुर्यं वच स्तुषे शूषस्य मन्मभिः ॥१॥[1]

विशोविशः विशः विशः वः अतिथिम् । वाजयन्तः पुरुप्रियम् पुरु प्रियम् ।
अग्निम् वः दुर्यम् दुः यम् वचः । स्तुषे शूषस्य मन्मभिः ॥१॥

पदार्थः— हे सखायः ! **वाजयन्तः** बलम् आरोग्यम् आध्यात्मिकमैश्वर्यं च कामयमानाः **वः** यूयम् **विशः विशः** मनुष्यस्य मनुष्यस्य **अतिथिम्** अतिथिवत् सत्करणीयम्, **पुरुप्रियम्** बहुप्रीणयितारम् **वः** युष्माकम् **दुर्यम्** गृहवत् शरणभूतम् **अग्निम्** यज्ञाग्निं प्रति, **वचः** वचनं प्रेरयतेति शेषः । अहमपि **शूषस्य** बलिनो ज्ञानवतः परमेश्वरस्य **मन्मभिः** वेदमन्त्रैः, यज्ञाग्निम् **स्तुषे** स्तौमि ॥१॥

भावार्थः— गृहागतोऽतिथिरिव यज्ञाग्निराहुतिप्रदानेन सर्वैः सत्करणीयः ॥१॥

प्रथम मन्त्र की व्याख्या पूर्वार्चिक में ८७ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में की जा चुकी है । यहाँ यज्ञाग्नि का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— हे मित्रो ! **वाजयन्तः** बल, आरोग्य और आध्यात्मिक ऐश्वर्य की कामना करते हुए **वः** तुम **विशः विशः** प्रत्येक मनुष्य के **अतिथिम्** अतिथि के समान सत्कार करने योग्य, **पुरुप्रियम्** बहुत प्यारे, **वः** तुम्हें **दुर्यम्** घर के समान शरण देने वाले **अग्निम्** यज्ञाग्नि के प्रति **वचः** वचन को प्रेरित करो । मैं भी **शूषस्य** बलवान् ज्ञानी परमेश्वर के रचे हुए **मन्मभिः** वेदमन्त्रों से, यज्ञाग्नि की **स्तुषे** स्तुति करता हूँ ॥१॥

भावार्थ— घर में आये हुए अतिथि के समान यज्ञाग्नि का, आहुति देकर सबको सत्कार करना चाहिए ॥१॥

अथ यज्ञाग्नेः प्रशंसामाह ।

१५६५. यं जनासो हविष्मन्तो मित्रं न सर्पिरासुतिम् । प्रशंसन्ति प्रशस्तिभिः ॥२॥[2]

यम् जनासः हविष्मन्तः । मित्रम् मि त्रम् न सर्पिरासुतिम् सर्पिः आसुतिम् ।
प्रशंसन्ति प्र शंसन्ति प्रशस्तिभिः प्र शस्तिभिः ॥२॥

पदार्थः— **सर्पिरासुतिम्** सर्पिः घृतम् आसूयते हूयते यस्मिन् तम् **यम्** यज्ञाग्निम् **हविष्मन्तः** सुगन्धिमिष्ट-पुष्ट्यारोग्यवर्धकैः कस्तूरीकेसरघृतदुग्धशर्करामधुगड्वुच्यादिभिः हव्यैर्युक्ताः **जनासः** याज्ञिकाः मनुष्याः **मित्रं न** सखायमिव **प्रशस्तिभिः** प्रशंसावचनैः **प्रशंसन्ति** स्तुवन्ति, तम् अग्निम् अहमपि **स्तुषे** स्तौमि इति पूर्वमन्त्रादाकृष्यते ॥२॥

---

१. ऋ० ८।७४।१, साम० ८७ ।
२. ऋ० ८।७४।२ ।

भावार्थः— आध्यात्मिकं जीवनं यापयितुमिच्छुभिर्जनैरग्निहोत्रेण परमात्माग्नौ स्वात्मनो होमस्य प्रेरणा ग्राह्या ।।२।।

अब यज्ञाग्नि की प्रशंसा करते हैं ।

पदार्थ— सर्पिरासुतिम् जिसमें घृत की आहुति दी जाती है ऐसे **यम्** जिस यज्ञाग्नि की **हविष्मन्तः** सुगन्धित, मीठे, पुष्टिवर्धक, आरोग्यवर्धक कस्तूरी, केसर, घी, दूध, शक्कर, शहद, गुड़ूची आदि हव्यों से युक्त **जनासः** याज्ञिक मनुष्य **मित्रं न** मित्र के समान **प्रशस्तिभिः** प्रशस्तियों से **प्रशंसन्ति** प्रशंसा करते हैं, उस अग्नि की मैं भी **स्तुषे** स्तुति करता हूँ । [यहाँ 'स्तुषे' पद पूर्व मन्त्र से लाया गया है] ।।२।।

भावार्थ— आध्यात्मिक जीवन बिताने के इच्छुक मनुष्यों को चाहिए कि वे अग्निहोत्र से परमात्माग्नि में अपनी आत्मा के होम की प्रेरणा ग्रहण करें ।।२।।

अथ यज्ञाग्नेराकाशस्य च पारस्परिकं विनिमयं दर्शयति ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
१५६६. **पन्यांसं जातवेदसं यो देवतात्युद्यता । हव्यान्यैरयद् दिवि ।।३।।**[1]

१ २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २र ३
पन्यांसम् जातवेदसम् जात वेदसम् । यः देवताति उद्यता उत् यता ।
१ २ १२र ३ २
हव्यानि ऐरयत् दिवि ।।३।।

पदार्थः— यः यज्ञाग्निः **देवताति** देवतातौ यज्ञे । [देवताता इति यज्ञनामसु पठितम् । निघं० ३।१७ ।] **उद्यता** उद्यतानि **हव्यानि** हवींषि **दिवि** अन्तरिक्षे **ऐरयत्** प्रेरयति, तम् **पन्यांसम्** पनीयांसम्, अतिशयेन आदान-प्रदानयोर्व्यवहर्तारम्, हव्यं दत्त्वा विनिमयेनाकाशाद् वृष्टिं गृह्णानम् इत्यर्थः । [पण व्यवहारे स्तुतौ च, तृजन्तादीयसुन्, ईकारलोपश्छान्दसः ।] **जातवेदसम्** जातप्रकाशम् यज्ञाग्निम्, अहं **स्तुषे** स्तौमि । [अत्र स्तुषे इति पूर्वतोऽनुवृत्तम्] ।।३।।

भावार्थः— वृष्ट्यर्थमग्नौ प्रास्ताहुतिरग्निना विच्छिन्ना तप्तवायुना सहोपरि गच्छति, तत ऊर्ध्वस्थेषु पवनेषु गतिरुत्पद्यते, येन मेघस्थैर्जलवाष्पैर्यदा शीताः पवनाः संघट्टन्ते तदा वृष्टिर्जायते ।।३।।

अगले मन्त्र में यज्ञाग्नि और अन्तरिक्ष का परस्पर विनिमय दर्शाया गया है ।

पदार्थ— यः जो यज्ञाग्नि **देवताति** यज्ञ में **उद्यता** डाली गयी **हव्यानि** हवियों को **दिवि** अन्तरिक्ष में **ऐरयत्** पहुँचा देता है, उस **पन्यांसम्** अतिशय आदान-प्रदान का व्यवहार करने वाले अर्थात् हवि लेकर बदले में आकाश से वर्षा देने वाले **जातवेदसम्** प्रकाशित यज्ञाग्नि की, मैं **स्तुषे** स्तुति करता हूँ। [यहाँ स्तुषे पद पहले से चला आ रहा है] ।।३।।

भावार्थ— वर्षा के लिए अग्नि में डाली हुई आहुति अग्नि द्वारा अलग-अलग सूक्ष्म अवयवों में विभक्त होकर गरम वायु के साथ ऊपर आकाश में पहुँचती है । तब ऊपर स्थित पवनों में गति उत्पन्न हो जाती है, जिससे मेघस्थ जल-वाष्पों से जब शीतल पवन टकराते हैं तब वर्षा होती है ।।३।।।

---

१. ऋ० ८।७४।३ ।

॥१३॥ अथ 'समिद्धमग्निं' इत्यादिकस्य त्रयोदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्य आङ्गिरसो वा । **देवता** अग्निः । **छन्दः** जगती । **स्वरः** निषादः ॥

तत्रादौ जगदीश्वरस्य गुणान् कीर्तयति ।

१५६७. **समिद्धमग्निं समिधा गिरा गृणे शुचिं पावकं पुरो अध्वरे ध्रुवम् ।**
विप्रं होतारं पुरुवारमद्रुहं कविं सुम्नैरीमहे जातवेदसम् ॥१॥[1]

समिद्धम् सम् इद्धम् अग्निम् समिधा सम् इधा गिरा गृणे ।
शुचिम् पावकम् पुरः अध्वरे ध्रुवम् ।
विप्रम् वि प्रम् होतारम् पुरुवारम् पुरु वारम् अद्रुहम् अ द्रुहम् ।
कविम् सुम्नैः ईमहे जातवेदसम् जात वेदसम् ॥१॥

पदार्थः— **समिद्धम्** प्रदीप्तम्, तेजोमयम् **अग्निम्** अग्रनायकं जगदीश्वरम् **समिधा गिरा** प्रदीप्तया तेजोमय्या वाचा **गृणे** स्तौमि । **शुचिम्** पवित्रम्, **पावकम्** पवित्रकर्तारम्, **पुरः** समक्षम् **अध्वरे** उपासनायज्ञे **ध्रुवम्** स्थिरतया विद्यमानम्, **विप्रम्** विशेषेण पूरयितारम्, **होतारम्** सुखादीनां दातारम्, **पुरुवारम्** बहु वरणीयम्, पुरूणां बहूनां दोषाणां निवारकं वा, **अद्रुहम्** अद्रोग्धारम्, **कविम्** क्रान्तदर्शनं मेधाविनम्, **जातवेदसम्** सर्वज्ञं सर्वव्यापिनं जगदीश्वरम्, वयम् **सुम्नैः** सुखकरैः स्तोत्रैः **ईमहे** याचामहे ॥१॥[2]

अत्र विशेषणानां साभिप्रायत्वात् परिकरालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— यस्तेजस्वी पवित्रः पावको **ध्रुवश्छिद्राणां** पूरयिता सद्गुणानां दाता दुर्गुणानामपहर्ता भक्तवत्सलः क्रान्तद्रष्टा सर्वज्ञः सर्वान्तर्यामी परमेश्वरोऽस्ति स सर्वैः श्रद्धया सम्भजनीयः सद्गुणान् याचनीयश्च ॥१॥

प्रथम मन्त्र में जगदीश्वर के गुणों का वर्णन है ।

पदार्थ— **समिद्धम्** तेजस्वी **अग्निम्** अग्रनायक जगदीश्वर की **समिधा गिरा** तेजोमयी वाणी से, मैं **गृणे** स्तुति करता हूँ । **शुचिम्** पवित्र, **पावकम्** पवित्रकर्ता, **पुरः** सामने **अध्वरे** उपासना-यज्ञ में **ध्रुवम्** स्थिर रूप में विद्यमान, **विप्रम्** विशेष रूप से पूर्णता प्रदान करने वाले, **होतारम्** सुख आदि देने वाले, **पुरुवारम्** बहुत वरणीय अथवा बहुत-से दोषों का निवारण करने वाले, **कविम्** क्रान्तद्रष्टा, मेधावी, **जातवेदसम्** सर्वज्ञ, सर्वव्यापक जगदीश्वर से, हम **सुम्नैः** सुखकारी स्तोत्रों के द्वारा **ईमहे** याचना करते हैं ॥१॥

यहाँ विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर अलंकार है ॥१॥

---

१. ऋ० ६।१५।७।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना सर्वाणि विशेषणानि विद्वत्पक्षे योजितानि ।

भावार्थ– जो तेजस्वी, पवित्र, पवित्रकर्ता, स्थिर छिद्रों को भरने वाला, सद्गुणों का दाता, दुर्गुणों को दूर करने वाला, भक्तवत्सल, क्रान्तद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर है उसका श्रद्धा से सबको भजन करना चाहिए और उससे सद्गुणों की याचना करनी चाहिए ।।१।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

२ ३१२ ३१२ ३१२ ३१२ २१र २र
१५६८. **त्वां दूतमग्ने अमृतं युगेयुगे हव्यवाह दधिरे पायुमीड्यम् ।**
३१२ ३१२ ३ १२ ३२ ३ २३१२३१२
देवासश्च मर्तासश्च जागृविं विभुं विश्पतिं नमसा नि षेदिरे ।।२।।[1]

२ ३२ ३ १२ ३१२र ३१२ ३२३
त्वाम् दूतम् अग्ने अमृतम् अ मृतम् युगेयुगे युगे युगे ।
१२ ३ १२र ३ २ १२र ३१२ ३१२र ३ १२र
हव्यवाहम् हव्य वाहम् दधिरे पायुम् ईड्यम् । देवासः च मर्तासः च जागृविम् ।
३२ ३२ ३१२ १२र ३
विभुम् वि भुम् विश्पतिम् नमसा नि सेदिरे ।।२।।

पदार्थः– हे **अग्ने** स्वप्रकाशमान जगन्नायक प्रकाशदातः परमात्मन् ! **दूतम्** यो दुःखानि दुनोति दहति तम्, **अमृतम्** अमरणधर्माणम्, **हव्यवाहम्** हव्यानि दातुमर्हान् पदार्थान् गुणान् वा यो वहति प्रापयति तम्, **पायुम्** पालकम्, **ईड्यम्** स्तुत्यम्, **जागृविम्** जागरूकम्, **विभुम्** व्यापकम्, **विश्पतिम्** प्रजापालकम् **त्वाम्** जगदीश्वरम् **युगे युगे** प्रतियुगम् **देवासः च** विद्वांसो योगिनश्च **मर्तासः च** सामान्या मनुष्याश्च **दधिरे** स्वात्मनि धारयन्ति, **नमसा** नमस्कारेण सह **निषेदिरे च** त्वदन्तिके निषीदन्ति च ।।२।।[2]

अत्र विशेषणानां साभिप्रायत्वात् परिकरोऽनुप्रासश्चालङ्कारः ।।२।।

भावार्थः– सर्वगुणाढ्यं परोपकारिणं परमात्मानमतिरिच्य नान्यः कोऽपि परब्रह्मत्वेनोपासनीयः ।।२।।

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ– हे **अग्ने** स्वयं प्रकाशमान, जगन्नायक, प्रकाशप्रदाता परमात्मन् ! **दूतम्** दुःखों को दग्ध करने वाले, **अमृतम्** अमर, **हव्यवाहम्** दातव्य पदार्थों वा गुणों को प्राप्त कराने वाले, **पायुम्** पालनकर्ता, **ईड्यम्** स्तुतियोग्य, **जागृविम्** जागरूक, **विभुम्** व्यापक, **विश्पतिम्** प्रजापालक **त्वाम्** आप जगदीश्वर को **देवासः च** विद्वान् योगी लोग भी **मर्तासः च** और सामान्य मनुष्य भी **दधिरे** अपने आत्मा में धारण करते हैं, और **नमसा** नमस्कार के साथ **निषेदिरे च** आपके समीप बैठते हैं ।।२।।

यहाँ विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर अलंकार है, अनुप्रास भी है ।।२।।

भावार्थ– सब गुणों से समृद्ध, परोपकारी परमात्मा को छोड़कर अन्य किसी की परब्रह्म के रूप में उपासना करनी उचित नहीं है ।।२।।

---

१. ऋ० ६।१५।८ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं मनुष्यैः परमेश्वर एवोपासनीय इति विषये व्याख्यातवान् ।

अथ गुणकर्मवर्णनपूर्वकं परमात्मानं प्रार्थयते ।

१५६९. विभूषन्नग्न उभ्याँ अनु व्रता दूतो देवानां रजसी समीयसे ।
यत्ते धीतिं सुमतिमावृणीमहेऽध स्म नस्त्रिवरूथः शिवो भव ॥३॥[1]

विभूषन् वि भूषन् अग्ने उभयान् अनु व्रता । दूतः देवानाम् रजसीइति सम् ईयसे ।
यत् ते धीतिम् सुमतिम् सु मतिम् आवृणीमहे आ वृणीमहे ।
अध स्म नः त्रिवरूथः त्रि वरूथः शिवः भव ॥३॥

पदार्थः— हे **अग्ने** जगन्नेतः सर्वप्रकाशक परमात्मन् ! **उभयान्** द्वयान् पूर्वमन्त्रोक्तान्, देवान् मर्ताँश्च, योगिजनान् सामान्यजनांश्चेत्यर्थः **विभूषन्** सद्गुणादिभिरलङ्कुर्वन्, **देवानाम्** विदुषाम् **दूतः** धर्मार्थकाममोक्षान् दावयति प्रापयति यः सः त्वम् । [दु गतौ भ्वादिरत्र णिजन्तः ।] **व्रता अनु** स्वकीयान् नियमान् अनुसरन् **रजसी** द्यावापृथिव्यौ **समीयसे** व्याप्नोषि । **यत्** यस्मात् **ते** तव **धीतिम्** धारणां ध्यानं वा, **सुमतिम्** शोभनां प्रज्ञां च **आवृणीमहे** वयं संभजामहे, **अध** तस्मात् **त्रिवरूथः** त्रयः पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकाः वरूथानि गृहाणीव निवासस्थानानि यस्य सः सर्वव्यापकः इत्यर्थः । [वरूथमिति गृहनाम । निघं० ३।४ ।] यद्वा त्रयाणाम् आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकदुःखानां वरूथः निवारकः त्वम् । [वृञ् वरणे स्वादिः, वृञ् आवरणे चुरादिः । 'जृवृञ्भ्यामूथन्' उ० २।६ इति ऊथन् प्रत्ययः ।] **नः** अस्मभ्यम् **शिवः** मङ्गलकरः **भव स्म** जायस्व ॥३॥[2]

भावार्थः— ध्यातः परमेश्वर उपासकानां सुखशान्तिप्रदो जायते ॥३॥

अगले मन्त्र में गुणकर्मवर्णनपूर्वक परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **अग्ने** जगत् के नायक, सर्व प्रकाशक परमात्मन् ! **उभयान्** पूर्वमन्त्रोक्त विद्वान् योगियों तथा सामान्य मनुष्यों दोनों को **विभूषन्** सद्गुण आदियों से अलंकृत करते हुए, **देवानाम्** विद्वानों को **दूतः** धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्राप्त कराने वाले आप **व्रता अनु** अपने नियमों का अनुसरण करते हुए **रजसी** द्यावापृथिवी को **समीयसे** व्याप्त करते हो । **यत्** क्योंकि **ते** आपकी **धीतिम्** धारणा वा ध्यान को, और **सुमतिम्** सुमति को **आ वृणीमहे** हम प्राप्त करते हैं, **अध** इसलिए **त्रिवरूथः** पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ तीनों में घर के समान निवास करने वाले अथवा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों दुःखों को दूर करने वाले आप **नः** हमारे लिए **शिवः** मंगलकारी **भव स्म** होवो ॥३॥

भावार्थ— ध्यान किया गया परमेश्वर उपासकों को सुख-शान्ति देता है ॥३॥

॥१४॥ अथ 'उप त्वा' इत्यादिकस्य चतुर्दशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** प्रयोगो भार्गवः, पावकोऽग्निर्बार्हस्पत्यो वा, गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोरन्यतरो वा । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

---

१. ऋ० ६।१५।९ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमम् उपासित ईश्वरः किं करोतीति विषये व्याचख्यौ ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १ ३ क्रमाङ्के परमात्ममहिमविषये व्याख्याता । अत्र वेदवाचो वर्ण्यन्ते ।

१५७०. उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृतः । वायोरनीके अस्थिरन् ॥१॥[1]

उप त्वा जामयः गिरः । ददिशतीः हविष्कृतः हविः कृतः ।
वायोः अनीके अस्थिरन् ॥१॥

पदार्थः— हे अग्ने ! हे प्रकाशमय जगदीश्वर ! **हविष्कृतः** आत्मसमर्पकस्य उपासकस्य **जामयः** स्वसार इव हितकारिण्यः, **त्वा देदिशतीः** तव गुणान् निर्दिशन्त्यः **गिरः** वेदवाचः **वायोः** प्राणप्रियस्य तव **अनीके** सामीपे **उप अस्थिरन्** उपतिष्ठन्ते । [उक्तं चान्यत्र— ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते । ऋ० १।१६४।३९ इति] ॥१॥

भावार्थः— यः परमेश्वरोऽग्निरिव स्तोतुरन्तरात्मनि दिव्यं ज्योतिः प्रज्वालयति, वायुरिव च तत् संधुक्षते, तस्यैव महिमानमेकस्वरेण वेदा वर्णयन्ति ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में १ ३ क्रमांक पर परमात्मा की महिमा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहाँ वेद-वाणियों का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— हे अग्ने ! हे प्रकाशमय जगदीश्वर ! **हविष्कृतः** आत्मसमर्पणकर्ता उपासक की **जामयः** बहिनों के समान हितकारिणी, **त्वा देदिशतीः** आपके गुणों का निर्देश करती हुई **गिरः** वेदवाणियाँ **वायोः** प्राणप्रिय आपके **अनीके** समीप **उप अस्थिरन्** उपस्थित हो रही हैं ।

अन्यत्र कहा भी है —ऋचाएँ उसी अविनाशी सर्वोच्च परमेश्वर का प्रतिपादन करती हैं जिसमें सब दिव्यगुण अवस्थित हैं। जिसने उसे नहीं जाना उसे वेद से क्या लाभ ? जो उसे जान लेते हैं वे मोक्ष पद में समासीन हो जाते हैं (ऋ० १।१६४।३९)॥१॥

भावार्थ— जो परमेश्वर अग्नि के समान स्तोता के हृदय में दिव्य ज्योति प्रज्वलित कर देता है और वायु के समान उसे धौंकता रहता है उसी की महिमा को सब वेद एक स्वर से गाते हैं ॥१॥

अथान्तरिक्षस्य महत्त्वेन परमात्ममहत्त्वमाह ।

१५७१. यस्य त्रिधात्ववृतं बर्हिस्तस्था वसन्दिनम् । आपश्चिन्नि दधा पदम् ॥२॥[2]

यस्य त्रिधातु त्रि धातु अवृतम् अ वृतम् । बर्हिः तस्थौ असन्दिनम् अ सन्दिनम् ।
आपः चित् नि दध पदम् ॥२॥

पदार्थः— **यस्य** जगदीश्वरस्य **त्रिधातु** वायुविद्युत्सूर्यरूपैः त्रिभिर्धातुभिर्युक्तम्, **अवृतम्** असंवेष्टितम् **बर्हिः** अन्तरिक्षम् । [बर्हिरित्यन्तरिक्षनाम । निघं० १।३ ।] **असन्दिनम्** अबद्धम् । [संपूर्वो दो अवखण्डने दातुर्बन्धने दृश्यते।] **तस्थौ** तिष्ठति । यस्मिन् अन्तरिक्षे **आपः चित्** मेघजलानि अपि **पदम्** स्थितिम् **नि दध** निदधति ।

---

१. ऋ० ८।१०२।१३, साम० १३ ।
२. ऋ० ८।१०२।१४ ।

[नि पूर्वाद् दधातेर्लडर्थे लिटि व्यत्ययेन प्रथमपुरुषस्य स्थाने मध्यमबहुवचनम्, द्व्यचोऽतस्तिङः अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः।] हे मनुष्याः ! तस्य महिमानं यूयं जानीत इति वाक्यपूर्तिर्विधेया ॥२॥

भावार्थः— परमेश्वरेण रचितस्यान्तरिक्षादिकस्य महिम्ना परमेश्वरस्यैव महिमा प्रकाशते ॥२॥

अगले मन्त्र में अन्तरिक्ष के महत्त्व द्वारा परमात्मा का महत्त्व वर्णित है ।

पदार्थ— यस्य जिस जगदीश्वर का **त्रिधातु** वायु, बिजली और सूर्य इन तीनों धातुओं से युक्त, **अवृतम्** न समेटा हुआ अर्थात् विस्तृत **बर्हिः** अन्तरिक्ष **असन्दिनम्** खुला हुआ **तस्थौ** स्थित है, जिस अन्तरिक्ष में **आपः चित्** मेघ-जल भी **पदम्** स्थिति को **नि दध** धारण किये हुए हैं। [हे मनुष्यो ! उसकी महिमा को तुम जानो]॥२॥

भावार्थ— परमेश्वर से रचे हुए अन्तरिक्ष आदि की महिमा से परमेश्वर की ही महिमा प्रकाशित होती है ॥२॥

अथ जगदीश्वरस्य कृपाविषयमाह ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २
१५७२. पदं देवस्य मीढुषोऽनाधृष्टाभिरूतिभिः । भद्रा सूर्य इवोपदृक् ॥३॥[1]

३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
पदम् देवस्य मीढुषः । अनाधृष्टाभिः अन् आधृष्टाभिः ऊतिभिः ।

३ २ १ २ ३ २ ३ २
भद्रा सूर्यः इव उपदृक् उप दृक् ॥३॥

पदार्थः— मीढुषः सुखसेचकस्य **देवस्य** प्रकाशकस्य अग्नेः जगदीश्वरस्य **पदम्** प्राप्तव्यं मोक्षपदम् **अनाधृष्टाभिः** अदब्धाभिः **ऊतिभिः** रक्षाभिः युक्तं वर्तते । किञ्च, तस्य **उपदृक्** कृपादृष्टिः **सूर्यः इव** आदित्यः इव **भद्रा** शुभा अस्ति ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— परमात्मनः शरणं गत्वा मानवस्तस्याऽक्षय्यां रक्षाममृतमयीं कृपादृष्टिं च लभते ॥३॥

अस्मिन् खण्डे यज्ञाग्निपरमेश्वरविषययोर्वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

अगले मन्त्र में जगदीश्वर की कृपा का विषय है ।

पदार्थ— मीढुषः सुख को सींचने वाले **देवस्य** प्रकाशक जगदीश्वर का **पदम्** प्राप्तव्य मोक्षपद **अनाधृष्टाभिः** अपराजित **ऊतिभिः** रक्षाओं से युक्त है । और उसकी **उपदृक्** कृपादृष्टि **सूर्यः इव** सूर्य के समान **भद्रा** शुभ है ॥३॥

यहाँ उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ— परमात्मा की शरण में जाकर मनुष्य उसकी कभी क्षीण न हो सकने वाली रक्षा को और अमृतमयी कृपादृष्टि को पा लेता है ॥३॥

---

१. ऋ० ८।१०२।१५।

इस खण्ड में यज्ञाग्नि और परमेश्वर के विषय का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

पंद्रहवें अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ।

पंद्रहवाँ अध्याय समाप्त ।

सप्तम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध समाप्त ।

अथ षोडशोऽध्यायः सप्तमे प्रपाठके तृतीयोऽर्धश्च

।।१।। तत्र 'अभि त्वा' इत्यादिकस्य प्रथमस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मेधातिथिः काण्वः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २५६ क्रमाङ्के परमात्मस्तुतिविषये व्याख्याता । अत्र गुरुशिष्यविषयमाह ।

१५७३. अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम् ।।१।।[1]

अभि त्वा पूर्वपीतये पूर्व पीतये । इन्द्र स्तोमेभिः आयवः।
समीचीनासः सम् ईचीनासः ऋभवः ऋ भवः सम् अस्वरन् ।
रुद्राः गृणन्त पूर्व्यम्।।१।।

पदार्थः– हे **इन्द्र** विद्यैश्वर्यवन् आचार्य ! **पूर्वपीतये** पूर्वस्य श्रेष्ठस्य विद्यारसस्य पीतिः पानं तस्मै **आयवः** विद्यार्थिनः **स्तोमेभिः** स्तोत्रैः **त्वा** त्वाम् **अभि** अभ्यर्थयन्ति । तवैव निर्देशने **ऋभवः** मेधाविनश्छात्राः **समीचीनासः** परस्परं संगताः सन्तः **समस्वरन्** सस्वरं वेदमन्त्रानुच्चारयन्ति । **रुद्राः** प्राणवन्तो ब्रह्मचारिणः **पूर्व्यम्** 'पूर्वैः कविभिः ऋषिभिर्वा कृतं स्तोत्रादिकाव्यमपि । [पूर्वैः कृतं पूर्व्यम् । 'पूर्वैः कृतमिनयौ च' अ० ४।४।११३ इति यः प्रत्ययः] **गृणन्त** गायन्ति ।।१।।

भावार्थः– सुयोग्येभ्यो ब्रह्मविद्भ्यो गुरुभ्यः सुयोग्यैः शिष्यैरधीता भौतिकविद्या ब्रह्मविद्या च फलदायिनी जायते ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २५६ क्रमांक पर परमात्मा की स्तुति के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहाँ गुरु-शिष्य के विषय को कहते हैं ।

पदार्थ– हे **इन्द्र** विद्या के ऐश्वर्य से युक्त आचार्य ! **पूर्वपीतये** श्रेष्ठ विद्यारस के पान के लिए **आयवः** विद्यार्थी जन **स्तोमेभिः** स्तोत्रों द्वारा **त्वा** आपसे **अभि** अभ्यर्थना कर रहे हैं । आपके ही निर्देशन में **ऋभवः** मेधावी छात्र **समीचीनासः** आपस में मिलकर **समस्वरन्** वेदमन्त्रों का उच्चारण करते हैं, और **रुद्राः** प्राणवान् ब्रह्मचारीगण **पूर्व्यम्** पूर्व कवियों वा ऋषियों से रचे हुए स्तोत्र आदि काव्य का भी **गृणन्त** गान करते हैं।।१।।

भावार्थ– सुयोग्य ब्रह्मवेत्ता गुरुओं से सुयोग्य शिष्यों द्वारा पढ़ी हुई भौतिक विद्या और ब्रह्मविद्या फलदायक होती है ।।१।।

---

१. ऋ०८।३।७, अथ० २०।९९।१, साम० २५६ ।

अथ पुनरपि गुरुशिष्यविषयो वर्ण्यते ।

१५७४. अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवो मदे सुतस्य विष्णवि ।
अद्या तमस्य महिमानमायवो ऽ नु ष्टुवन्ति पूर्वथा ॥२॥[1]

अस्य इत् इन्द्रः वावृधे वृष्ण्यम् शवः। मदे सुतस्य विष्णवि ।
अद्य अ द्य तम् अस्य महिमानम् आयवः। अनु स्तुवन्ति पूर्वथा ॥२॥

पदार्थः— **इन्द्रः** विद्यैश्वर्यवान् आचार्यः **अस्य** शिष्यस्य **वृष्ण्यम्** वृषा आत्मा तत्र भवम् **शवः** बलम् **इत्** निश्चयेन **वावृधे** वर्द्धयति । स शिष्यः **सुतस्य** प्राप्तस्य ज्ञानस्य **विष्णवि**[2] व्यापके **मदे** आनन्दे वर्धते । **अस्य** इन्द्रस्य आचार्यस्य **तम् महिमानम्** तत् महत्त्वम् **आयवः** मनुष्याः **पूर्वथा** पूर्वस्मिन् काले इव । [अत्र प्रत्नपूर्व-विश्वेमात्थाल् छन्दसि अ० ५।३।१११ इति इवार्थे थाल् प्रत्ययः।] **अद्य** अद्यापि । [संहितायां निपातत्वाद् दीर्घः ।] **अनुष्टुवन्ति** प्रशंसन्ति ॥२॥[3]

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— आचार्यः शिष्यस्य यदात्मबलं वर्द्धयति तत् तस्यापूर्वो निधिः ॥२॥

आगे फिर गुरु-शिष्य का ही विषय कहते हैं।

पदार्थ— **इन्द्रः** विद्या के ऐश्वर्य से युक्त आचार्य **अस्य** इस शिष्य के **वृष्ण्यम्** आत्मिक **शवः** बल को **इत्** निश्चय ही **वावृधे** बढ़ाता है । वह शिष्य **सुतस्य** प्राप्त ज्ञान के **विष्णवि** व्यापक **मदे** आनन्द में वृद्धि को प्राप्त करता है । **अस्य** इस आचार्य की **तम् महिमानम्** उस महिमा की **आयवः** मनुष्य **पूर्वथा** पूर्व की तरह **अद्य** आज भी **अनुष्टुवन्ति** प्रशंसा करते हैं॥२॥

यहाँ उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— आचार्य शिष्य का जो आत्मबल बढ़ाता है वह उस शिष्य की अपूर्व निधि होती है ॥२॥

॥२॥ अथ 'प्र वामर्चन्त्युक्थिनो' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य चतुर्ऋचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** विश्वामित्रो गाथिनः । **देवता** इन्द्राग्नी । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ जीवात्मपरमात्मनोर्विषयमाह ।

१५७५. प्र वामर्चन्त्युक्थिनो नीथाविदो जरितारः। इन्द्राग्नी इष आ वृणे ॥१॥[4]
प्र वाम् अर्चन्ति उक्थिनः । नीथाविदः नीथ विदः जरितारः।
इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति इषः आ वृणे ॥१॥

---

१. ऋ० ८।३।८, य० ३३।९७ अन्ते प्रतीकान्यधिकानि, अथ० २०।९९।२ ।

२. विष्णवि अत्र वाच्छन्दसीति घिसंज्ञाकार्याभावे गुणादेशेऽवादेशः इति य० ३३।९७ भाष्ये द० ।

३. यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं परमात्मपक्षे व्याख्यातः ।

४. ऋ० ३।१२।५, साम० १७०३ ।

पदार्थः— हे **इन्द्राग्नी** जीवात्मपरमात्मानौ ! **उक्थिनः** गुणप्रशंसकाः, **नीथाविदः** नीतिज्ञाः **जरितारः** स्तोतारः **वाम्** युवाम् **प्र अर्चन्ति** स्तुवन्ति । अहम् युवयोः साहाय्येन **इषः** ज्ञानरसान् आनन्दरसांश्च **आ वृणे** गृह्णामि । [नीथः—णीञ् प्रापणो धातोः 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् । उ० २।१ इति क्थन् प्रत्ययः] ॥१॥[1]

भावार्थः— मनुष्या जीवात्मानमुद्बोध्य परमात्मानं च समभ्यर्च्य दिव्यं ज्ञानमानन्दं चाधिगम्य महतीमुन्नतिं कर्तुं पारयन्ति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में जीवात्मा और परमात्मा का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे **इन्द्राग्नी** जीवात्मन् और परमात्मन् ! **उक्थिनः** गुणों के प्रशंसक, **नीथाविदः** नीतिज्ञ **जरितारः** स्तोता लोग **वाम्** आप दोनों की **प्र अर्चन्ति** भली-भाँति स्तुति करते हैं। मैं आप दोनों की सहायता से **इषः** आनन्द-रसों और ज्ञान-रसों को **आवृणे** ग्रहण करता हूँ ॥१॥

भावार्थ— मनुष्य जीवात्मा को उद्बोधन देकर और परमात्मा की पूजा करके दिव्य ज्ञान तथा आनन्द को पाकर महान् उन्नति कर सकते हैं॥१॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाचष्टे ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र३ १ २
१५७६. इन्द्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीरधूनुतम् । साकमेकेन कर्मणा ॥२॥[2]

१ २र १ २र ३ १ २ ३ २ १२र ३ १ २ ३ २ ३
इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति नवतिं पुरः। दासपत्नीः दास पत्नीः अधूनुतम् ।

२ १ २र १ २र
साकम् एकेन कर्मणा ॥२॥

पदार्थः— हे **इन्द्राग्नी** जीवात्मपरमात्मानौ ! **एकेन** अद्वितीयेन **कर्मणा** पुरुषार्थेन **साकम्** सह **दासपत्नीः** दासाः कामक्रोधलोभमोहमदमत्सररूपाः पतयः स्वामिनो यासां ताः **नवतिं पुरः** पञ्चज्ञानेन्द्रियविषयाः पञ्च कर्मेन्द्रियविषयाः तत्तज्जन्या व्याधिस्त्यानसंशय प्रमादालस्याविरति भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्व-रूपाश्चित्तविक्षेपा नवयोगमार्गान्तरायाः एवं नवतिर्भवन्ति, ताः नवतिं पुरः शत्रुनगरीः, युवाम् **अधूनुतम्** कम्पयथः। [धूञ् कम्पने, लडर्थे लङ्] ॥२॥[3]

भावार्थः— परमात्मनः सख्येन जीवात्मन उद्बोधनेन च **योगाभ्यास**निरतो मानवः सर्वान् योगविघ्नान् निरस्य योगमार्गे साफल्यमधिगन्तुमर्हति ॥२॥

आगे फिर उसी विषय में कहते हैं ।

पदार्थ— हे **इन्द्राग्नी** जीवात्मन् और परमात्मन् ! **एकेन** अद्वितीय **कर्मणा** पुरुषार्थ के **साकम्** साथ **दासपत्नीः** काम, क्रोध, **लोभ, मोह,** मद, मत्सर रूप दास जिनके स्वामी हैं, ऐसी **नवतिं पुरः** नव्वे शत्रु-नगरियों **को-पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय, पाँच कर्मेन्द्रियों के विषय और** उन-उन में आने वाले **व्याधि, स्त्यान,** संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व ये नौ योगमार्ग के विघ्न इस प्रकार नव्वे हो जाते हैं, वे ही नव्वे शत्रु-नगरियाँ हैं, उन्हें तुम दोनों **अधूनुतम्** कंपा डालते हो ॥२॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं सभासेनेशयोर्विषये व्याचष्टे ।

२. ऋ० ३।१२।६, साम० १७०३ ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं वाय्वग्निदृष्टान्तेन सभासेनेशविषये व्याचष्टे ।

भावार्थ– परमात्मा की मित्रता पाकर और जीवात्मा को उद्‌बोधन देकर योगाभ्यास में संलग्न मनुष्य को सब योग-विघ्नों को दूर करके योगमार्ग में सफलता पाना योग्य है ।।२।।

अथ पुनरपि जीवात्मपरमात्मविषय उपदिश्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ २ड ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २
१५७७. इन्दाग्नी अपसस्पर्युप प्र यन्ति धीतयः । ऋतस्य पथ्या३ अनु ।।३।।[1]

१ २र १ २र ३ १ २ १ २र १ २र १ २र ३ १ २
इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति अपसः परि। उप प्र यन्ति धीतयः ।
३ १ २ ३क २ १ २र
ऋतस्य पथ्याः अनु ।।३।।

पदार्थः– हे **इन्द्राग्नी** जीवात्मपरमात्मानौ ! **धीतयः** ध्यानकर्तारो जनाः **ऋतस्य** सत्यस्य **पथ्याः** मार्गान् **अनु** अनुसरन्तः **अपसः परि** धर्मकर्मणां पारं प्राप्य, युवाम् **उप प्र यन्ति** उप प्राप्नुवन्ति ।।३।।[2]

भावार्थः– जीवने सत्यमार्गानुगमनं परमेश्वरप्राप्तिश्चेति मनुष्यस्य लक्ष्यम् ।।३।।

आगे फिर जीवात्मा और परमात्मा का ही विषय उपदिष्ट है ।

पदार्थ– हे **इन्द्राग्नी** जीवात्मन् और परमात्मन् ! **धीतयः** ध्यानकर्ता लोग **ऋतस्य** सत्य के **पथ्याः** मार्गों का **अनु** अनुसरण करते हुए **अपसः परि** धर्म-कर्मों के पार पहुँचकर, तुम दोनों को **उप प्र यन्ति** प्राप्त कर लेते हैं ।।३।।

भावार्थ– जीवन में सत्य मार्ग का अनुसरण और परमेश्वर की प्राप्ति यह मनुष्य का लक्ष्य है ।।३।।

अथ पुनरपि जीवात्मपरमात्मानौ वर्ण्येते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २३ १ २ ३ २
१५७८. इन्द्राग्नी तविषाणि वां सधस्थानि प्रयांसि च । युवोरप्तूर्यं हितम् ।।४।।[3]

१ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३
इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति तविषाणि वाम् ।
१ २ ३ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ १ २र ३ २
सधस्थानि सध स्थानि प्रयांसि च। युवोः अप्तूर्यम् अप् तूर्यम् हितम्।।४।।

पदार्थः– हे **इन्द्राग्नी** जीवात्मपरमात्मानौ ! **वाम्** युवयोः **तविषाणि** बलानि **प्रयांसि च** प्रयत्नाश्च । [प्रपूर्वः यसु प्रयत्ने, दिवादि :।] **सधस्थानि** सहस्थितानि भवन्ति । **युवोः** युवयोः **अप्तूर्यम्** कर्मानुष्ठाने त्वरितत्वम् **हितम्** निहितं वर्तते ।।४।।[4]

भावार्थः– जीवात्मा परमात्मा च परस्परं सहचरौ विद्येते । परमात्मनः सख्येन जीवो महतीमुन्नतिं कर्तुं पारयति ।।४।।

आगे पुनः जीवात्मा-परमात्मा का ही विषय वर्णित है ।

---

१. ऋ० ३।१२।७, साम० १६९४ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं 'यथेश्वरसृष्टौ सूर्यादिपदार्था नियमेन स्वं स्वं मार्गं गच्छन्ति तथैव मनुष्या **धर्म्येण** मार्गेण गच्छन्तु' इति विषये व्याख्यातवान् ।

३. ऋ० ३।१२।८, साम० १६९५ ।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं वायुविद्युतोरिव सेनासेनाध्यक्षयो र्विषये व्याख्यातः ।

पदार्थ– हे **इन्द्राग्नी** जीवात्मन् और परमात्मन् ! **वाम्** तुम दोनों के **तविषाणि** बल **प्रयांसि च** और प्रयत्न **सधस्थानि** साथ-साथ होते हैं। **युवोः** तुम दोनों में **अप्तूर्यम्** कर्म के अनुष्ठान की शीघ्रता **हितम्** निहित है ॥४॥

भावार्थ– जीवात्मा और परमात्मा एक-दूसरे के साथी हैं। परमात्मा की मित्रता में जीव महान् उन्नति कर सकता है ॥४॥

॥३॥ अथ 'शग्ध्यू षु' इत्यादिकस्य तृतीयस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भर्गः प्रागाथः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २५३ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता । अत्र स्वान्तरात्मा प्रबोध्यते ।

३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१५७९. **शग्ध्यू३ षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।**
२ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि ॥१॥[1]
३ २ ३ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २
शग्धि उ सु शचीपते शची पते । इन्द्र विश्वाभिः ऊतिभिः ।
१ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २र
भगम् न हि त्वा यशसम् वसुविदम् वसु विदम् । अनु शूर चरामसि ॥१॥

पदार्थः– हे **शचीपते** प्रज्ञायाः कर्मणश्च स्वामिन् **इन्द्र** मदीय अन्तरात्मन् ! त्वम् **विश्वाभिः** सर्वाभिः **ऊतिभिः** प्रगतिभिः **उ सु** सम्यक् **शग्धि** शक्तो भव । हे **शूर** वीर ! **भगं न** सूर्यमिव **यशसम्** यशस्विनम्, **वसुविदम्** ऐश्वर्याणां प्रापकम् **त्वा** त्वाम्, वयम् **अनु चरामसि** सेवामहे ॥१॥

अत्रोपमालङ्कार ॥१॥

भावार्थः– स्वात्मानं प्रबोध्यैव मनुष्या उन्नतिं कर्तुं शक्नुवन्ति ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में २५३ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में हो चुकी है । यहाँ अपने अन्तरात्मा को प्रबोधन है ।

पदार्थ– हे **शचीपते** प्रज्ञा और कर्म के स्वामिन् ! **इन्द्र** मेरे अन्तरात्मन् ! तू **विश्वाभिः** सब **ऊतिभिः** प्रगतियों से **उ सु** भली-भाँति **शग्धि** सशक्त हो । हे **शूर** शूरवीर ! **भगं न** सूर्य के समान **यशसम्** यशस्वी और **वसुविदम्** ऐश्वर्यों को पाने वाले **त्वा** तेरा, हम **अनु चरामसि** सेवन करते हैं ॥१॥

यहाँ उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ– अपने आत्मा को प्रबुद्ध करके ही मनुष्य उन्नति कर सकते हैं ॥१॥

---

१. ऋ० ८।६१।५, अथ० २०।११८।१, साम० २५३ ।

अथ परमात्मानं स्तौति प्रार्थयते च ।

३ १र २र ३ १र २र३ १ २ ३ १ २
१५८०. पौरो अश्वस्य पुरुकृद्गवामस्युत्सो देव हिरण्ययः ।
२ ३ १र २र ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १र २र
न किर्हि दानं परिमर्धिषत् त्वे यद्यद्यामि तदा भर ॥२॥[1]
३ २ १ २र ३ २ ३ २ १ २र ३
पौरः अश्वस्य पुरुकृत् पुरु कृत् गवाम् असि ।
१ २र ३ १ २ ३ २ १२र ३ १ २ ३ १ २र १ २
उत्सः उत् सः देव हिरण्ययः । न किः हि दानम् परिमर्धिषत् परि मर्धिषत् त्वेइति ।
१ २र ३ १ २र ३
यद्यत् यत् यत् यामि तत् आ भर ॥२॥

पदार्थः— हे इन्द्र ! हे परमैश्वर्यशालिन् जगदीश्वर ! त्वम् **अश्वस्य** आदित्यस्य प्राणस्य वा **पौरः** पूरयिता, **गवाम्** सूर्यकिरणानां पृथिवीनाम् इन्द्रियाणां धेनूनां वा **पुरुकृत्** बहुकृत् **असि** विद्यसे । हे **देव** दानादिगुणयुक्त ! त्वं सम्पदाम् **हिरण्ययः** ज्योतिर्मयः **उत्सः** स्रोतः असि । **त्वे** त्वयि विद्यमानम् **दानम्** दानगुणम् **न किः हि** न कश्चिदपि **परि मर्धिषत्** हिंसितुं शक्नोति । अतः, अहम् **यत् यत्** यत् किञ्चिदपि **यामि** याचामि । [यामि इति याञ्चाकर्मसु पठितम् । निघं० ३।१९।] **तत्** तत् सर्वम् **आ भर** मह्यम् आहर ॥२॥

भावार्थः— परमात्मनः कृपया स्वपुरुषार्थेन च मनुष्यः सर्वामपि दिव्यां लौकिकीं च सम्पदं प्राप्तुं शक्नोति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की स्तुति और उससे प्रार्थना है ।

पदार्थ— हे इन्द्र ! हे परमैश्वर्यशाली जगदीश्वर ! आप **अश्वस्य** सूर्य वा प्राण को **पौरः** पूर्ण करने वाले **गवाम्** सूर्यकिरणों, पृथिवियों, इन्द्रियों वा धेनुओं की **बहुकृत्** बहुतायत करने वाले **असि** हो । हे **देव** दान आदि गुणों से युक्त ! आप संपदाओं के **हिरण्ययः** ज्योतिर्मय **उत्सः** स्रोत हो । **त्वे** आपमें विद्यमान **दानम्** दान के गुण को **न किः हि** कोई भी नहीं **परि मर्धिषत्** नष्ट कर सकता है । इसलिए मैं **यत् यत्** जो-जो **यामि** आपसे माँगता हूँ **तत्** वह **आभर** मुझे प्रदान कर दो ॥२॥

भावार्थ— परमात्मा की कृपा से और अपने पुरुषार्थ से मनुष्य सारी दिव्य और लौकिक सम्पदा प्राप्त कर सकता है ॥२॥

॥४॥ अथ 'त्वं ह्येहि' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भर्ग प्रागाथः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २४० क्रमाङ्के परमेश्वरं राजानं च सम्बोधिता । अत्र योगसाधनारतः कश्चित्साधकः परमात्मानं प्रार्थयते ।

२उ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
१५८१. त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
उद्वावृषस्व मघवन् गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये ॥१॥[2]
२ ३ १२र ३ २ १ २र १ २र
त्वम् हि आ इहि चेरवे । विदाः भगम् वसुत्तये ।
३ १ २र ३ २ ३ १ २र १ २र ३
उत् वावृषस्व मघवन् गविष्टये गो इष्टये । उत् इन्द्र अश्वमिष्टये अश्वम् इष्टये ॥१॥

---

१. ऋ० ८।६१।६, अथ० २०।११८।२ ।

२. ऋ० ८।६१।७, साम० २४० ।

पदार्थः— हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन् परमात्मन् ! **त्वं हि** त्वं खलु **चेरवे** योगाभ्यासिने मह्यम् **एहि** आगच्छ। । **वसुत्तये** वसुदत्तये योगैश्वर्यदानेच्छुकाय मह्यम् **भगम्** योगैश्वर्यम् **विदाः** लम्भय । हे **मघवन्** दानवन् ! त्वम् **गविष्टये** गवाम् अध्यात्मप्रकाशकिरणानाम् इच्छवे मह्यम् **उद्वावृषस्व** अध्यात्मप्रकाशकिरणानाम् उत्सिञ्च । **अश्वमिष्टये** अश्वं प्राणम् इच्छति यः तस्मै मह्यम् **उद्वावृषस्व** प्राणबलम् उत्सिञ्च ।।१।।

भावार्थः— परमेश्वरं प्रति ध्यानेन योगाभ्यासी जनः प्राणानामूर्ध्वारोहणं कुर्वन् विविधान् अध्यात्मप्रकाशान् विविधा योगसिद्धीश्च लब्धुं पारयति ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २४० क्रमांक पर परमेश्वर और राजा को सम्बोधित की गयी थी । यहाँ योग-साधना में संलग्न कोई साधक परमात्मा से प्रार्थना करता है ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन् परमात्मन् ! **त्वं हि** आप **चेरवे** मुझ योगाभ्यासी के लिए **एहि** आओ । **वसुत्तये** योग के ऐश्वर्य का दान करने के इच्छुक मेरे लिए **भगम्** योग का ऐश्वर्य **विदाः** प्राप्त कराओ । हे **मघवन्** दानी ! आप **गविष्टये** अध्यात्मप्रकाश की किरणों के इच्छुक मेरे ऊपर **उद् वावृषस्व** अध्यात्मप्रकाश की किरणों को सींच दो । **अश्वमिष्टये** प्राणों के इच्छुक मेरे ऊपर **उद् वावृषस्व** प्राण-बल की वर्षा कर दो ।।१।।

भावार्थ— परमेश्वर के प्रति ध्यान से योगाभ्यासी मनुष्य प्राणों को ऊपर चढ़ाता हुआ तरह-तरह के अध्यात्मप्रकाशों को और विविध योग-सिद्धियों को पा सकता है ।।१।।

अथ पुनरपि परमात्मानं सम्बोधयति ।

२ ३ २ ३१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१५८२. **त्वं पुरू सहस्राणि शतानि च यूथा दानाय मंहसे ।**
१ २ ३१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
आ पुरन्दरं चकृम विप्रवचस इन्द्रं गायन्तोऽवसे ।।२।।[1]

२ ३ २ ३१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
त्वम् पुरू सहस्राणि शतानि च । यूथा दानाय मंहसे ।
२ ३ २ ३ २ ३ १२र १२र ३
आ पुरन्दरम् पुरम् दरम् चकृम विप्रवचसः विप्र वचसः ।
१ २र १२र १ २र
इन्द्रम् गायन्तः अवसे ।।२।।

पदार्थः— हे इन्द्र ! हे परमैश्वर्यशालिन् परमात्मदेव ! **त्वम्** परमदानी त्वम् **पुरू** पुरूणि बहूनि **सहस्राणि** सहस्र-संख्यकानि, **शतानि च** शत-सहस्राणि च, लक्षसंख्यकानि इत्यर्थः **यूथा** गोयूथानि अध्यात्मप्रकाशसमूहान् **दानाय** अन्येभ्यः प्रदानाय **मंहसे** योगाभ्यासिभ्यः अस्मभ्यम् ददासि । [मंहतिर्दानकर्मा । निघं० ३।२० ।] **विप्रवचसः** प्राज्ञवचनाः वयम् **गायन्तः** स्तुतिं कीर्तयन्तः **अवसे** रक्षार्थम् **पुरन्दरम्** विपत्पुरीणां विदारयितारम् **इन्द्रम्** वीरं त्वाम् **आ चकृम** स्वकीयं सखायं कुर्मः ।।२।।

भावार्थः— निरन्तरं योगाभ्याससाधनया परमात्मध्यानेन प्रणवजपादिना चानन्तप्रकाशसमूहाः पुरतः समायान्ति येषां चाकचक्येन चमत्कृतः साधकः परमां स्थितिं लभते ।।२।।

---

१. ऋ० ८।६१।८ ।

आगे फिर परमात्मा को संबोधन है ।

पदार्थ– हे इन्द्र ! हे परमैश्वर्यशालिन् परमात्मदेव ! **त्वम्** परम दानी आप **पुरू** बहुत-से **सहस्राणि** हजार, **शतानि सहस्राणि च** और सौ हजार अर्थात् लाख **यूथा** गौओं के झुण्डों को अर्थात् अध्यात्म-प्रकाश के समूहों को **दानाय** अन्यों को देने के लिए, हम योगाभ्यासियों को **मंहसे** देते हो । **विप्रवचसः** बुद्धिपूर्वक वचनों वाले, हम **गायन्तः** आपकी स्तुति का गान करते हुए **अवसे** रक्षा के लिए **पुरन्दरम्** विपत्तिरूप नगरियों को तोड़-फोड़ देने वाले **इन्द्रम्** वीर आपको **आ चकृम** अपना सखा बना लेते है ।।२।।

भावार्थ– निरन्तर योगाभ्यास की साधना से, परमात्मा के ध्यान से, प्रणव-जप आदि से अनन्त प्रकाश के समूह सामने आते हैं, जिनकी चकमक से चमत्कृत हुआ साधक परम स्थिति को पा लेता है ।।२।।

।।५।। अथ 'यो विश्वा' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सोभरिः काण्वः । **देवता** अग्निः। **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४४ क्रमाङ्के परमात्मस्तुतिविषये व्याख्याता । अत्र युगपत् परमात्मानमाचार्यं चोद्दिश्य ब्रूते ।

२उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
१५८३. **यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम् ।**
२ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये ।।१।।[1]

२ १ २र १ २र १ २र १ २र ३ २ १ २र १ २र १ २र ३ १ २ ३
यः विश्वा दयते वसु । होता मन्द्रः जनानाम् । मधोः न पात्रा प्रथमानि अस्मै ।
२ १ २र ३ १ २
प्र स्तोमाः यन्तु अग्नये ।।१।।

पदार्थः– होता ब्रह्माण्डयज्ञस्य शिक्षायज्ञस्य वा सम्पादकः, **जनानाम्** मनुष्याणाम् **मन्द्रः** आनन्दजनकः **यः** परमात्मा आचार्यो वा **विश्वा वसु** विश्वानि वसूनि सर्वाणि आध्यात्मिकानि धनानि विद्याधनानि वा **दयते** ददाति । **अस्मै अग्नये** एतादृशाय अग्रनायकाय परमात्मने आचार्याय वा **प्रथमानि** श्रेष्ठानि **मधोः पात्रा न** मधुना पूर्णानि पात्राणि इव **स्तोमाः** धन्यवादवचनानि **प्र यन्तु** प्र गच्छन्तु ।।१।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः– यथा परमेश्वरः पुरुषार्थिने भौतिकान्याध्यात्मिकानि च धनानि ददाति तथाऽऽचार्यः शिष्येभ्यो विद्याधनानि प्रयच्छतीति तौ सर्वैरभिनन्दनीयौ ।।१।।

प्रथमँ ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ४४ क्रमांक पर परमात्मा की स्तुति के विषय में की जा चुकी है । यहाँ एकसाथ परमात्मा और आचार्य दोनों को लक्ष्य करके कहते हैं ।

पदार्थ– **होता** ब्रह्माण्ड-यज्ञ वा शिक्षा-यज्ञ का कर्ता, **जनानाम्** मनुष्यों को **मन्द्रः** आनन्द देने वाला **यः** जो परमात्मा वा आचार्य **विश्वा वसु** सब आध्यात्मिक धनों को वा विद्या-धनों को **ददाति** देता है, **अस्मै अग्नये**

---

१. ऋ० ८।१०३।६, 'यन्त्यग्नये' इति भेदः । साम० ४४ ।

ऐसे अग्रनायक परमात्मा वा आचार्य के लिए **प्रथमानि** श्रेष्ठ **मधोः पात्रा न** मधुपूर्ण पात्रों के समान **स्तोमाः** धन्यवाद के वचन **प्र यन्तु** पहुँचें ।।१।।

यहाँ उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ– जैसे परमेश्वर पुरुषार्थी को भौतिक और आध्यात्मिक धन प्रदान करता है, वैसे ही आचार्य शिष्यों को विद्या-धन देता है, इसलिए वे दोनों सबके द्वारा अभिनन्दन करने योग्य हैं ।।१।।

अथ पुनरपि परमात्मानमाचार्यं चाह ।

२ ३ २ ३ २ ३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१५८४. **अश्वं न गीर्भी रथ्यं सुदानवो मर्मृज्यन्ते देवयवः ।**
३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
उभे तोके तनये दस्म विश्पते पर्षि राधो मघोनाम् ।।२।।[1]

१ २र ३ २ ३क २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
अश्वम् न गीर्भिः रथ्यम् सुदानवः सु दानवः । मर्मृज्यन्ते देवयवः ।
३ १ २ ३ १ २ १ २र ३ १ २र १ २र ३ १ २
उभेइति तोकेइति तनये दस्म विश्पते । पर्षि राधः मघोनाम् ।।२।।

पदार्थः– **प्रथमः** परमात्मपरः । **देवयवः** दिव्यगुणान् कामयमानाः **सुदानवः** शोभनं यथा स्यात्तथा आत्मसमर्पणकारिणः उपासकाः। [ददातीति दानुः । ददातेः 'दाभाभ्यां नुः' । उ० ३।३२ इत्यनेन नुः प्रत्ययः।] **रथ्यम् अश्वं न** रथस्य वोढारं तुरगमिव **रथ्यम्** ब्रह्माण्डरथस्य वोढारम् परमात्मानम् **गीर्भिः** स्तुतिवाग्भिः **मर्मृज्यन्ते** अलङ्कुर्वन्ति प्रार्थयन्ते च यत्– हे **दस्म** दर्शनीय **विश्पते** प्रजापते परमात्मन् ! त्वम् अस्माकम् **तोके तनये** पुत्रे पौत्रे च **उभे** उभयस्मिन् **मघोनाम्** धनिनाम् **राधः** धनमिव, इति लुप्तोपमम्, **राधः** अध्यात्मधनं भौतिकधनं साफल्यं च **पर्षि** सिञ्च ।।

द्वितीयः आचार्यपरः । **देवयवः** स्वकीयपुत्रान् देवान् विदुषः कामयमानाः **सुदानवः** शुभदानकारिणः गृहस्थाः जनाः **रथ्यम् अश्वं न** रथस्य वोढारं तुरगमिव **रथ्यम्** विद्यारथस्य वोढारम् आचार्यम् **गीर्भिः** प्रशंसावचनैः **मर्मृज्यन्ते** अतिशयेन अलङ्कुर्वन्ति । कथयन्ति च यत्–हे **दस्म** दोषाणां विनाशक ! हे **विश्पते** विशां प्रजानां पते पालक आचार्य ! त्वम् अस्माकम् **तोके तनये** पुत्रे पौत्रे च **उभे** उभयस्मिन् **मघोनाम्** विद्याधनेन धनवतां गुरूणाम् **राधः** विद्यारूपं धनम् **पर्षि** सिञ्च, बहुलतया प्रयच्छेत्यर्थः ।।२।।

अत्रोपमालङ्कारः श्लेषश्च ।।२।।

भावार्थः– परमात्मन आचार्यस्य च कृपयाऽस्माकं सन्तानाः परमेश्वरपूजकाः पुरुषार्थिनो विद्यावन्तो धार्मिकाश्च स्युः ।।२।।

अस्मिन् खण्डे गुरुशिष्ययोः परमात्मजीवात्मनोर्मानवोद्बोधनस्य च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ।।

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा और आचार्य का विषय है ।

---

१. ऋ० ८।१०३।७ ।

पदार्थ– **प्रथम** परमात्मा के पक्ष में । **देवयवः** दिव्य गुणों की कामना वाले **सुदानवः** भली-भाँति आत्मसमर्पण करने वाले उपासक **रथ्यम् अश्वं न** रथ को खींचने वाले घोड़े के समान **रथ्यम्** ब्रह्माण्ड-रथ को खींचने वाले परमात्मा को **गीर्भिः** स्तुति-वाणियों से **मर्मृज्यन्ते** अलंकृत करते हैं, और प्रार्थना करते हैं कि – हे **दस्म** दर्शनीय **विश्पते** प्रजापति परमात्मन् ! आप हमारे **तोके तनये** पुत्र-पौत्रों **उभे** दोनों में **मघोनाम्** धनियों के **राधः** धन के समान **राधः** अध्यात्म-धन को, भौतिक धन को और सफलता को **पर्षि** सींचो, बहुत रूप में प्रदान करो ।।

द्वितीय आचार्य के पक्ष में । **देवयवः** अपने पुत्रों को विद्वान् बनाना चाहते हुए **सुदानवः** उत्तम दानी गृहस्थ लोग **रथ्यम् अश्वं न** रथ को खींचने वाले घोड़े के समान **रथ्यम्** विद्या-रूप रथ को चलाने वाले आचार्य को **गीर्भिः** प्रशंसा-वचनों से **मर्मृज्यन्ते** अलंकृत करते हैं, और कहते हैं कि– हे **दस्म** दोषों को दूर करने वाले, **विश्पते** शिष्य-रूप प्रजाओं के पालक आचार्य ! आप हमारे **तोके तनये** पुत्र और पौत्र **उभे** दोनों में **मघोनाम्** विद्या-धन के धनी गुरुजनों के **राधः** विद्यारूप धन को **पर्षि** सींचो, बहुत रूप में प्रदान करो ।।२।।

इस मन्त्र में उपमा और श्लेष अलंकार हैं ।।२।।

भावार्थ– परमात्मा और आचार्य की कृपा से हमारी सन्तानें परमेश्वर-पूजक, पुरुषार्थी, विद्यावान् और धार्मिक हों ।।२।।

इस खण्ड में गुरु-शिष्य, परमात्मा-जीवात्मा और मनुष्य के उद्‌बोधन के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ।।

सोलहवें अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ।

।।६।। अथ 'इमं मे' इत्यादिकस्य षष्ठस्यैकर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** शुनःशेप आजीगर्तिः । **देवता** वरुणः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

परमात्मा राजाऽऽचार्यश्च प्रार्थ्यते ।

१५८५. इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय । त्वामवस्युरा चके ।।१।।[1]

इमम् मे वरुण श्रुधि । हवम् अद्य अ द्य च मृडय । त्वाम् अवस्युः आ चके ।।१।।

पदार्थः– हे **वरुण** दोषनिवारक वरणीय परमात्मन् राजन् आचार्य वा ! **इमं मे हवम्** एतद् मदीयम् आह्वानम् **श्रुधि** शृणु । [शृणोतेः 'श्रुशृणु पृकृवृभ्यश्छन्दसि । अ० ६।४।१०२ इति हेर्धिरादेशः । संहितायाम् 'अन्येषामपि दृश्यते' । अ० ६।३।१३७ इति दीर्घः ।] **अद्य** अस्मिन् दिने **मृडय च** सुखय च । [संहितायाम् अघा इत्यत्र 'निपातस्य च' अ० ६।३।१३६ इति दीर्घः।] **अवस्युः** त्वद्रक्षणेच्छुः अहम् । [अवः रक्षणम् आत्मनः कामयते इति अवस्युः, क्यचि 'क्याच्छन्दसि' अ० ३।२।१७० इति उः प्रत्ययः।] **त्वाम्** परमात्मानं राजानम् आचार्यं वा **आचके** कामये । [आचके इति कान्तिकर्मा । निघं० २।६ ।] ।।१।।[2]

---

१. ऋ० १।२५।१९, य० २१।१ ।

२. दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयमृग्भाष्ये जगदीश्वरविषये विद्वद्विषये च, यजुर्भाष्ये च विद्वद्विषये व्याख्यातः ।

भावार्थः— मनुष्यैर्यथायोग्यं परमात्मानं राजानमाचार्यं च सम्प्रार्थ्य स्वकीयान् दोषान् निवार्य सद्गुणान् सत्कर्माणि च स्वीकृत्योत्कर्षः सम्पादनीयः ॥१॥

परमात्मा, राजा और आचार्य से प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ— हे **वरुण** दोष-निवारक वरणीय परमात्मन्, राजन् वा आचार्य ! **इमं मे हवम्** इस मेरी पुकार को **श्रुधि** सुनो। और **अद्य** आज, मुझे **मृडय च** आनन्दित कर दो। **अवस्युः** आपकी रक्षा का इच्छुक मैं **त्वाम्** आपको **आचके** चाह रहा हूँ ॥१॥

भावार्थ— मनुष्यों को चाहिए कि यथायोग्य परमात्मा, राजा और आचार्य से प्रार्थना करके, अपने दोषों का निवारण करके, सद्गुण और सत्कर्मों को स्वीकार करके उन्नति करें ॥१॥

॥७॥ अथ 'कया त्वं' इत्यादिकस्य सप्तमस्यैकर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सुकक्ष आङ्गिरसः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः ॥

अथ पुनर्जगदीश्वरं नृपतिमाचार्यं च प्रार्थयते।

१५८६. **कया त्वं न ऊत्याभि प्र मन्दसे वृषन्। कया स्तोतृभ्य आ भर ॥१॥**[1]

कया त्वम् नः ऊत्या। अभि प्र मन्दसे वृषन्। कया स्तोतृभ्यः आ भर ॥१॥

पदार्थः— हे **वृषन्** कामवर्षक विघ्नविदारक जगदीश्वर, राजन् आचार्य वा ! **त्वम्** त्वमेव **कया** सुखजनिकया। [कम् इति सुखनाम। निघं० ३।६।] **ऊत्या** रक्षया **नः अभि** अस्मान् अभिमुखीभूय **प्र मन्दसे** प्रकृष्टतया आनन्दयसि। [मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु, भ्वादिः।] **कया** तयैव सुखजनयित्र्या रक्षया, त्वम् **स्तोतृभ्यः** त्वद्गुणकर्मस्वभावकीर्तकेभ्यः **आ भर** मोदम् आहर ॥१॥[2]

भावार्थः— जगदीश्वरो नृपतिराचार्यश्चाऽविद्यादुःखदुर्गुणदुर्व्यसनसपत्नादिभ्यो यद्यस्मान् सम्यग् रक्षेयुस्तदा वैयक्तिकी सामाजिकी च महत्युन्नतिर्भवितुमर्हति।

आगे पुनः जगदीश्वर, राजा वा आचार्य से प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ— हे **वृषन्** मनोरथों को पूर्ण करने वाले, मार्ग के विघ्नों को हटाने वाले जगदीश्वर, राजन् वा आचार्य ! **त्वम्** आप ही **कया** सुखदायिनी **ऊत्या** रक्षा द्वारा **नः अभि** हमारे अभिमुख होकर **प्र मन्दसे** हमें भली-भाँति आनन्दित करते हो। **कया** उसी सुखदायिनी रक्षा द्वारा, आप **स्तोतृभ्यः** आपके गुण-कर्म-स्वभाव का कीर्तन करने वाले स्तोताओं को **आभर** आनन्द प्रदान करो ॥१॥

भावार्थ— जगदीश्वर, राजा और आचार्य अविद्या, दुःख, दुर्गुण, दुर्व्यसन, शत्रु आदियों से यदि हमारी रक्षा करें तो वैयक्तिक और सामाजिक महान् उन्नति हो सकती है ॥१॥

---

१. ऋ० ८।९३।१९, य० ३६।७।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रेऽस्मिन् परमेश्वरः सम्बोधितः।

।।८।। अथ 'इन्द्रमिद्' इत्यादिकस्याष्टमस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मेधातिथिः काण्वः । **देवता**— इन्द्रः। **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती)। **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २४९ क्रमाङ्के जगदीश्वरनृपत्योर्विषये व्याख्याता । अत्र यज्ञसाफल्याय जगदीश्वर आहूयते ।

२ ३ २३१ २ ३ १ २ ३क २र ३२
१५८७. **इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे।**
१ २ ३२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३१२
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ।।१।।[1]
१ २र ३१ २ १ २र ३ २ ३ २ ३ २
इन्द्रम् इत् देवतातये । इन्द्रम् प्रयति प्र यति अध्वरे।
१ २र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २
इन्द्रम् समीके सम् ईके वनिनः हवामहे । इन्द्रम् धनस्य सातये ।।१।।

पदार्थः— **इन्द्रम् इत्** जगदीश्वरमेव **देवतातये** यज्ञारम्भाय । [देवताता इति यज्ञनामसु पठितम् । निघं० ३।१७ ।] **इन्द्रम्** जगदीश्वरमेव **अध्वरे** यज्ञे **प्रयति** प्रवृत्ते सति, **इन्द्रम्** जगदीश्वरमेव **समीके** यज्ञे समाप्ते सति, **इन्द्रम्** जगदीश्वरमेव **धनस्य** यज्ञफलस्य **सातये** प्राप्तये **वनिनः** भक्तिमन्तो वयम् **हवामहे** आह्वयामः ।।१।।

भावार्थः— अग्निहोत्रादारभ्याश्वमेधपर्यन्तो देवपूजासंगतिकरणदानात्मको वा योऽपि यज्ञ आयोज्यते तत्र सदा परमेश्वरस्य स्मरणेन स फलवान् जायते ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २४९ क्रमांक पर जगदीश्वर और राजा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहाँ यज्ञ की सफलता के लिए जगदीश्वर का आह्वान है ।

पदार्थ— **इन्द्रम् इत्** जगदीश्वर को ही **देवतातये** यज्ञ के आरंभ के लिए, **इन्द्रम्** जगदीश्वर को ही **अध्वरे** यज्ञ के **प्रयति** प्रवृत्त होने पर, **इन्द्रम्** जगदीश्वर को ही **समीके** यज्ञ समाप्त होने पर, **इन्द्रम्** जगदीश्वर को ही **धनस्य** यज्ञफल की **सातये** प्राप्ति के लिए **वनिनः** भक्ति में तन्मय होकर हम **हवामहे** पुकारते हैं ।।१।।

भावार्थ— अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त अथवा देवपूजा, संगतिकरण और दानरूप जो भी यज्ञ आयोजित किया जाता है,उसमें सदा परमेश्वर का स्मरण रखने से वह सफल होता है ।

अथ जगदीश्वरस्य महिमानमाह ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ २ ३ १ २
१५८८. **इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत् ।**
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास इन्दवः ।।२।।[2]
१ २र ३ २ १२र ३१ २ ३ १२र १ २र १ २र ३
इन्द्रः मह्ना रोदसीइति पप्रथत् शवः। इन्द्रः सूर्यम् अरोचयत् ।
१ २र ३ १ २र १ २र ३ १ २र ३ १ २ १ २र
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिरे । इन्द्रे स्वानासः इन्दवः ।।२।।

---

१. ऋ० ८।३।५, अथ० २०।११८।३, साम० २४९ ।

२. ऋ० ८।३।६, अथ० २०।११८।४, उभयत्र 'सुवानास' इति भेदः ।

पदार्थः— **इन्द्रः** जगदीश्वरः **मह्ना** स्वमहिम्ना **रोदसी** द्यावापृथिव्यौ **शवः** तयोर्बलं च **पप्रथत्** विस्तारितवानस्ति । **इन्द्रः** जगदीश्वर एव **सूर्यम्** आदित्यम् **अरोचयत्** भासितवानस्ति । **इन्द्रे ह** जगदीश्वरस्य आश्रय एव **विश्वा भुवनानि** सर्वे लोकाः **येमिरे** नियन्त्रिताः सन्ति । **इन्द्रे** जगदीश्वरस्य आश्रय एव **स्वानासः** प्रवहमानाः **इन्दवः** आपः । [इन्दुरित्युदकनामसु पठितम् । निघं० १।१२ ।] **येमिरे** नियन्त्रिताः सन्ति ॥२॥

भावार्थः— ग्रहोपग्रहसूर्यनक्षत्रनीहारिकादयः सर्वेऽपि लोकाः जगत्स्रष्टुः परमेश्वरस्यैव महिम्ना धारिता नियन्त्रिताश्च तिष्ठन्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में जगदीश्वर की महिमा वर्णित है ।

पदार्थ— इन्द्रः जगदीश्वर ने **मह्ना** अपनी महिमा से **रोदसी** द्यावापृथिवी को और **शवः** उनके बल को **पप्रथत्** फैलाया है । **इन्द्रः** जगदीश्वर ने ही **सूर्यम्** सूर्य को **अरोचयत्** चमकाया है । **इन्द्रे हे** जगदीश्वर के आश्रय में ही **विश्वा भुवनानि** सब लोक **येमिरे** नियन्त्रित हैं। **इन्द्रे** जगदीश्वर के आश्रय में ही **स्वानासः** बहते हुए **इन्दवः** जल **येमिरे** नियन्त्रित हैं ॥२॥

भावार्थ— ग्रह, उपग्रह, सूर्य, नक्षत्र, नीहारिका आदि सभी लोक जगत्स्रष्टा परमेश्वर की ही महिमा से धारित और नियन्त्रित होकर ठहरे हुए हैं ॥२॥

॥९॥ अथ 'विश्वकर्मन्' इत्यादिकस्य नवमस्यैकर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** विश्वकर्मा भौवनः । **देवता** विश्वकर्मा । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

अस्मिन्नेकर्चे सूक्ते स्वकीयोऽन्तरात्मा प्रोद्बोध्यते ।

१५८९. विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व तन्वं३ स्वा हि ते।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ॥१॥[1]

विश्वकर्मन् विश्व कर्मन् हविषा वावृधानः।
स्वयम् यजस्व तन्वम् स्वा हि ते। मुह्यन्तु अन्ये अन् ये अभितः जनासः।
इह अस्माकम् मघवा सूरिः अस्तु ॥१॥

पदार्थः— हे **विश्वकर्मन्** विश्वेषां शारीरिकाणां कर्मणां कर्तः जीवात्मन् ! **हविषा**[2] सद्गुणाधानेन **वावृधानः** वृद्धः त्वम् **स्वयम्** स्वयमेव **तन्वम्** तनूम् **यजस्व** यज्ञकर्मसु नियोजय, **हि** यतः, सा **ते** तव **स्वा** स्वकीया वर्तते, तत्र तवाधिकारोऽस्ति । **अभितः** सर्वतः स्थिताः **अन्ये** इतरे **जनासः** जाताः बाह्या आन्तराश्च शत्रवः **मुह्यन्तु** मोहं प्राप्नुवन्तु । **मघवा** ऐश्वर्यशाली जगदीश्वरः **इह** अस्मिन् जगति **अस्माकम्** अस्मदीयः **सूरिः** प्रेरकः **अस्तु** जायताम् ॥१॥[3]

भावार्थः— जीवस्येदं कर्तव्यं यत् स स्वकीयं देहं शुभकर्मसु नियुज्य परमात्मानं पूजयन्नभ्युदयं निःश्रेयसं च प्राप्नुयात् ॥१॥

---

१. ऋ० १०।८१।६, य० १७।२२, उभयत्र 'स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्' इति द्वितीयः पादः। यजुर्वेदे 'अभितः सपत्ना' इत्यपि भेदः ।

२. हविषा हवनेन उत्तमगुणादानेन— इति य० १७।२२ भाष्ये द० ।

३. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिममीश्वरदृष्टान्तेन विद्वत्पक्षे व्याचष्टे ।

इस एक ऋचा वाले सूक्त में अपने अन्तरात्मा को उद्‌बोधन दिया गया है ।

पदार्थ– हे **विश्वकर्मन्** सब शारीरिक कर्मों के कर्त्ता जीव ! **हविषा** सद्‌गुणों के आधान द्वारा **वावृधानः** समृद्ध हुआ तू **स्वयम्** अपने-आप ही **तन्वम्** शरीर को **यजस्व** यज्ञ-कर्मों में नियुक्त कर, **हि** क्योंकि, वह **ते** तेरी **स्वा** अपनी है, उस पर तेरा अधिकार है । **अभितः** सब ओर स्थित **अन्ये** दूसरे **जनासः** उत्पन्न बाह्य तथा आन्तरिक शत्रु **मुह्यन्तु** मोह को प्राप्त हो जाएँ । **मघवा** ऐश्वर्यशाली जगदीश्वर **इह** इस जगत् में **अस्माकम्** हमारा **सूरिः** प्रेरक **अस्तु** होवे ॥१॥

भावार्थ– जीव का यह कर्तव्य है कि वह अपने देह को शुभकर्मों में लगाकर परमात्मा की पूजा करते हुए अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करे ॥१॥

॥१०॥ अथ 'अया रुचा' इत्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अनानतः पारुच्छेपिः। **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** अत्यष्टिः । **स्वरः** गान्धारः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४६३ क्रमाङ्के जीवात्मविषये व्याख्याता । अत्र परमात्मविषयो वर्ण्यते ।

३ २ ३ १ २र ३ २उ ३ १ २
१५९०. अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
तरति सयुग्वभिः सूरो न सयुग्वभिः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २३ १र २र
धारा पृष्ठस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः।

२ ३ २३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
विश्वा यद्रूपा परियास्यृक्वभिः सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः ॥१॥[1]

३ २ ३ २ १ २र ३ २ १ २र १ २र
अया रुचा हरिण्या पुनानः।विश्वा द्वेषांसि

३ १ २ ३ १ २र १२र ३ १ २ १ २र
तरति सयुग्वभिः स युग्वभिः।सूरः न सयुग्वभिः स युग्वभिः ।

१ २र ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २र १ २र ३ २
धारा पृष्ठस्य रोचते।पुनानः अरुषः हरिः। विश्वा यत् रूपा

३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २ ३ २ ३ १२र
परियासि परि यासि ऋक्वभिः।सप्तास्येभिः सप्त आस्येभिः ऋक्वभिः॥१॥

पदार्थः– एष सोमः परमेश्वरः **अया** अनया **हरिण्या** कष्टहारिण्या **रुचा** कान्त्या **पुनानः** पवित्रतामापादयन् **सयुग्वभिः** सहयोगिभिः मनोबुद्ध्यादिभिः, उपासकस्य **विश्वा द्वेषांसि** सर्वाणि दुरितानि **तरति** दूरीकरोति । कथमिव ? **सूरः न** सूर्यो यथा **सयुग्वभिः** सहयोगिभिः रश्मिभिः **विश्वा द्वेषांसि** समस्तानि तमांसि **तरति** दूरीकरोति । **पृष्ठस्य** आनन्दसेक्तुः परमेश्वरस्य । [पृषु सेचने, औणादिकः थक् प्रत्ययः।] **धारा** पवित्रतायाः धारा **रोचते** रुचिकरी भवति । हे परमेश ! **अरुषः** आरोचमानः **हरिः** दुःखहर्ता त्वम् तया धारया **पुनानः** पवित्रीः कुर्वन् भवसि, **यत्** यदा **ऋक्वभिः** वेदपाठिभिः **सप्तास्यैः ऋक्वभिः** गायत्र्यादिसप्तच्छन्दोमयैः वेदमन्त्रैश्च गीयमानः त्वम् **विश्वा रूपा** विश्वानि रूपाणि **परि यासि** परिप्राप्नोषि, विभिन्नरूपेषु वर्ण्यसे इत्यर्थः॥१॥

अत्रोपमालङ्कारो यमकं च ॥१॥

---

१. ऋ० ९।१११।१,'स्वयुग्वभिः सूरो न स्वयुग्वभिः', 'धारा सुतस्य रोचते', परियात्यृक्वभिः' इति भेदः । साम० ४६३ ।

भावार्थः— यथा सूर्यस्तमांस्यपहरति तथा जगदीश्वरः पुरुषार्थिनामुपासकानां दुःखदुर्व्यसनादीन्यपहरति ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ४६३ क्रमांक पर जीवात्मा के विषय में की जा चुकी है। यहाँ परमात्मा का विषय वर्णित करते हैं।

पदार्थ— यह सोम नामक परमेश्वर **अया** इस **हरिण्या** कष्टों को हरने वाली **रुचा** कान्ति से **पुनानः** पवित्रता देता हुआ **सयुग्वभिः** सहयोगी मन, बुद्धि आदियों द्वारा, उपासक के **विश्वा द्वेषांसि** सब द्वेषों को **तरति** दूर कर देता है। कैसे ? **सूरः न** सूर्य जैसे **सयुग्वभिः** सहयोगी किरणों द्वारा **विश्वा द्वेषांसि** सब अन्धकारों को **तरति** दूर करता है। **पृष्ठस्य** आनन्द सींचने वाले परमेश्वर की **धारा** पवित्रता की रस-धार **रोचते** मन को भाती है। हे परमेश्वर ! **अरुषः** तेजस्वी, **हरिः** दुःखहर्ता आप, उस धारा से **पुनानः** पवित्र करते हो, **यत्** जब **ऋक्वभिः** वेदपाठियों से, तथा **सप्तास्यैः** ऋक्वभिः गायत्र्यादि सात छन्दों वाले वेदमन्त्रों से गाये जाते हुए आप **विश्वा रूपा** विभिन्न रूपों को **परि यासि** प्राप्त करते हो, अर्थात् विभिन्न रूपों में वर्णित किये जाते हो ॥१॥

यहाँ उपमालंकार और यमक है ॥१॥

भावार्थ— जैसे सूर्य अन्धकारों को दूर करता है, वैसे ही जगदीश्वर पुरुषार्थी उपासकों के दुःख, दुर्व्यसन आदि को दूर करता है ॥१॥

अथ परमात्मोपासनया जीवः किं प्राप्नोतीत्युच्यते।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१५९१. प्राचीमनु प्रदिशं याति चेकितत्सं रश्मिभिः
३ २उ ३ १ २ ३ १र २र
यतते दर्शतो रथो दैव्यो दर्शतो रथः।
१ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २
अग्मन्नुक्थानि पौंस्येन्द्रं जैत्राय हर्षयन्।
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र
वज्रश्च यद्भवथो अनपच्युता समत्स्वनपच्युता ॥२॥[1]

१ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र ३ १ २
प्राचीम् अनु प्रदिशम् प्र दिशम् याति चेकितत्।सम् रश्मिभिः
३ २ १ २र १ २र ३ २ १ २र १ २र ३ १ २ १ २र १ २र १ २र ३
यतते दर्शतः रथः दैव्यः दर्शतः रथः। अग्मन् उक्थानि पौंस्या।इन्द्रम् जैत्राय हर्षयन्।
१ २र ३ २ १ २र १ २र ३
वज्रः च यत् भवथः अनपच्युता अन् अपच्युता
१ २ ३ १ २र १ २र ३
समत्सु स मत्सु अनपच्युता अन् अपच्युता ॥ २ ॥

पदार्थः— परमेश्वरस्य सख्यं प्राप्य जीवः **चेकितत्** विज्ञानवान् सन् **प्राचीम् प्रदिशम्** प्रकृष्टां दिशम् **अनुयाति** अनुधावति। **दर्शतः** द्रष्टा, **रथः** रथ इव रंहणशीलः सः **रश्मिभिः** तेजःकिरणैः **संयतते** संगच्छते। अस्य **रथः** देहरूपः रथः **दैव्यः** देवेभ्यः सज्जनेभ्यो हितः, **दर्शतः** दर्शनीयश्च जायते। सोमस्य शुभगुणप्रेरकस्य परमात्मनः उपासनया **उक्थानि** प्रशंस्यानि **पौंस्या** पौंस्यानि बलानि **इन्द्रम्** जीवात्मानम् **अग्मन्** प्राप्नुवन्ति, तं च **जैत्राय** विजयाय **हर्षयन्** हर्षयन्ति उत्साहयन्ति। [हृष तुष्टौ, णिचि लङि प्रथमबहुवचने रूपम्। अडागमाभावश्छान्दसः।] **यत्** यस्मात्, हे सोम सद्गुणप्रेरक जगदीश्वर ! त्वम् **वज्रः च** वज्रोपलक्षितं त्वदीयं दण्डप्रदानरूपं सामर्थ्यं च उभौ युवाम् **अनपच्युता** अनपच्युतौ अस्खलितौ **समत्सु** देवासुरसंग्रामेषु **अनपच्युता** अप्रतिहतवीर्यौ **भवथः** जायेथे ॥२॥

---

१. ऋ० ९।१११।३।

भावार्थः— परमेश्वरस्य सखा शत्रुभिरपराजितः सन् सदैवोत्कर्षं प्राप्नोति ॥२॥

अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि परमात्मा की उपासना से जीव क्या प्राप्त करता है ।

पदार्थ— परमेश्वर की मित्रता प्राप्त करके जीव **चेकितत्** विज्ञानवान् होता हुआ **प्राचीं प्रदिशम्** प्रकृष्ट दिशा की ओर **अनुधावति** अग्रसर होने लगता है । **दर्शतः** द्रष्टा वह **रथः** रथ के समान वेगवान् होता हुआ **रश्मिभिः** तेज की किरणों से **संयतते** संयुक्त हो जाता है । इसका **रथः** देहरूप रथ **दैव्यः** सज्जनों का हित करने वाला, और **दर्शतः** दर्शनीय हो जाता है । शुभगुणप्रेरक सोम परमात्मा की उपासना से **उक्थानि** प्रशंसनीय **पौंस्या** बल **इन्द्रम्** जीवात्मा को **अग्मन्** प्राप्त होते हैं, और उसे **जैत्राय** विजय के लिए **हर्षयन्** उत्साहित करते हैं, **यत्** क्योंकि, हे सद्गुणों की प्रेरणा करने वाले जगदीश्वर ! आप **वज्रः च** और आपका वज्रतुल्य दण्ड देने का सामर्थ्य दोनों **अनपच्युता** अडिग होते हुए **समत्सु** देवासुरसंग्रामों में **अनपच्युता** अटूट बल वाले **भवथः** होते हो ॥२॥

भावार्थ— परमेश्वर का सखा शत्रुओं से अपराजित होता हुआ सदा ही उत्कर्ष प्राप्त करता है ॥२॥

अथोपासकस्योपलब्धिं वर्णयति।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३
१५९२. **त्वं ह त्यत्पणीनां विदो वसु सं मातृभिर्मर्जयसि**
१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
स्व आ दम ऋतस्य धीतिभिर्दमे ।
३ २ ३ २उ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
परावतो न साम तद्यत्रा रणन्ति धीतयः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
त्रिधातुभिररुषीभिर्वयो दधे रोचमानो वयो दधे ॥३॥[1]

२ ३ २ ३ २ ३ १ २र ३ १ २
त्वम् ह त्यत् पणीनाम् विदः वसुसम् मातृभिः
३ २ १ २र ३ १ २ ३ १ २ १ २र
मर्जयसि स्वे आ दमे ऋतस्य धीतिभिः दमे ।
३ १ २ १ २र १ २र १ २र ३ १ २
परावतः न साम तत् यत्र रणन्ति धीतयः ।
३ १ २ ३ १ २र १ २र १ २र ३ १ २र १ २र ३
त्रिधातुभिः त्रि धातुभिः अरुषीभिः वयः दधे। रोचमानः वयः दधे ॥३॥

पदार्थः— हे सोम शान्त उपासक ! **त्वं ह** त्वं खलु **पणीनां त्यत् वसु** दुर्विचाररूपैः पणिभिः दस्युभिः अपहृतं तत् सद्विचाररूपं धनम् **विदः** अविदः पुनः प्राप्नोषि । **मातृभिः** मातृरूपाभिः वेदवाग्भिः स्वात्मानम् **संमर्जयसि** संशोधयसि समलङ्करोषि वा । **स्वे** स्वकीये **दमे** इन्द्रियदमनरूपे कार्ये **आ** आतिष्ठसि । **ऋतस्य** सत्यस्य **धीतिभिः** धारणाभिः सह **दमे** गृहे **आ** आगच्छसि, **यत्र** यस्मिन् गृहे **परावतः** दूरदेशात् **न** यथा **साम** सामसंगीतं श्रूयते, तथैव **धीतयः** स्तुतिवाचः **रणन्ति** शब्दायन्ते । असौ उपासकः **त्रिधातुभिः** पूर्वं पूर्वं बलीयांसः सत्त्वरजस्तमोरूपा धातवो गुणाः यासु ताभिः **अरुषीभिः** आरोचमानाभिः दीप्तिभिः **वयः** आनन्दरसम् **दधे** स्वात्मनि धत्ते, **रोचमानः** तेजोभिर्भासमानः **वयः** जीवनम् **दधे** धत्ते ॥३॥

अत्र यमकम् उपमालङ्कारश्च ॥३॥

भावार्थः— परमेश्वरस्योपासकोऽन्तःप्रकाशं जितेन्द्रियत्वमानन्दरसं च प्राप्य चिरं मोदते ॥३॥

---

१. ऋ० ९।१११।२।

अस्मिन् खण्डे परमात्मनो नृपतेराचार्यस्य स्वात्मप्रबोधनस्योपासकस्योपलब्धेश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।।

अगले मन्त्र में उपासक की उपलब्धि का वर्णन है ।

पदार्थ– हे सोम अर्थात् शान्त उपासक! **त्वं ह** तू **पणीनां त्यत् वसु** दुर्विचाररूप दस्युओं से चुरा लिये गए सद्विचार-रूप धन को **विदः** फिर प्राप्त कर लेता है । **मातृभिः** माता रूप वेद-वाणियों से स्वयं को **संमर्जयसि** संशोधित वा अलंकृत कर लेता है । **स्वे** अपने **दमे** इन्द्रियों के दमन रूप कार्य में **आ** तत्पर रहता है । **ऋतस्य** सत्य की **धीतिभिः** धारणाओं के साथ **दमे** घर में **आ** आता है, **यत्र** जिस घर में **परावतः** दूर देश से **न** जैसे **साम** साम का संगीत सुनाई देता है, वैसे ही **धीतयः** स्तुति-वाणियाँ **रणन्ति** शब्दायमान होती हैं । वह उपासक **त्रिधातुभिः** पूर्व-पूर्व जिनमें बलवान् हैं ऐसे सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों से युक्त **अरुषीभिः** चमकीली दीप्तियों से **वयः** आनन्द-रस को **दधे** अपने अन्दर धारण करता है, और **रोचमानः** तेजस्वी होता हुआ **वयः** जीवन को **दधे** धारण करता है ।।३।।

यहाँ यमक और उपमालंकार है ।।३।।

भावार्थ– परमेश्वर का उपासक अन्तःप्रकाश, जितेन्द्रियता और आनन्द-रस प्राप्त करके चिरकाल तक प्रसन्न रहता है ।।३।।

इस खण्ड में परमात्मा, राजा, आचार्य, आत्म-प्रबोधन और उपासक की उपलब्धि का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

सोलहवें अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ।

।।११।। अथ 'उत नो' इत्यादिकस्यैकादशस्यैकर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । **देवता** पूषा । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

अस्मिन्नेकर्चे सूक्ते पूषा परमेश्वरः प्रार्थ्यते ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१५९३. **उत नो गोषणिं धियमश्वसां वाजसामुत । नृवत्कृणुह्यूतये ।।१।।**[1]

३ २ ३ १ २ ३ १ २र १२र
उत नः गोषणिम् गो सनिम् धियम् ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अश्वसाम् अश्व साम् वाजसाम् वाज साम् उत । नृवत् कृणुहि ऊतये ।।१।।

पदार्थः– हे पूषन् ! हे पुष्टिप्रद जगदीश्वर ! त्वम् **ऊतये** रक्षायै **नः** अस्मभ्यम् **गोषणिम्** गवाम् अन्तःप्रकाशानां सनित्रीं संभक्त्रीम्, **उत** अपि च **अश्वसाम्** इन्द्रियबलानां सनित्रीं संभक्त्रीम्, **उत** अपि च **वाजसाम्** वाजानां प्राणबलानां सनित्रीं संभक्त्रीम्, अपि च **नृवत्** नृवतीं पुरुषार्थयुक्ताम् **धियम्** प्रज्ञाम् **कृणुहि** कुरु ।।१।।[2]

---

१. ऋ० ६।५३।१०, 'कृणुहि वीतये' इति भेदः ।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं मनुष्यैः किं कर्तव्यमिति विषये व्याख्यातः ।

भावार्थः— परमेश्वरोपासनेन मनुष्या आत्मबलमिन्द्रियबलं प्राणबलं प्रज्ञाबलं पुरुषार्थबलं च प्राप्तुमर्हन्ति ॥१॥

अगले एक ऋचा वाले सूक्त में पूषा परमेश्वर से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे पूषन् ! हे पुष्टिप्रदाता जगदीश्वर ! आप **ऊतये** रक्षार्थ **नः** हमारे लिए **गोषणिम्** अन्तःप्रकाश को प्राप्त करने वाली, **उत** और **अश्वसाम्** इन्द्रिय-बलों को प्राप्त करने वाली, **उत** और **वाजसाम्** प्राण-बलों को प्राप्त करने वाली, तथा **नृवत्** पुरुषार्थयुक्त **धियम्** प्रज्ञा को **कृणुहि** प्रदान करो ॥१॥

भावार्थ— परमेश्वर की उपासना से मनुष्यों को आत्म-बल, इन्द्रिय-बल, प्राण-बल, प्रज्ञा-बल और पुरुषार्थ-बल प्राप्त करना योग्य है ॥१॥

॥१२॥ अथ 'शशमानस्य' इत्यादिकस्य द्वादशस्यैकर्च्यस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गोतमो राहूगणः । **देवता** मरुतः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

अस्मिन्नेकर्चे सूक्ते विद्वांसो जनाः सम्बोध्यन्ते ।

१५९४. शशमानस्य वा नरः स्वेदस्य सत्यशवसः । विदा कामस्य वेनतः ॥१॥[1]

शशमानस्य वा नरः । स्वेदस्य सत्यशवसः सत्य शवसः । विद कामस्य वेनतः ॥१॥

पदार्थः— हे **नरः** नेतारः मरुतो विद्वांसो जनाः ! यूयम् **शशमानस्य** द्रुतगत्या प्रयतमानस्य । [शश प्लुतगतौ, भ्वादिः।] **स्वेदस्य** स्विन्नगात्रस्य, **सत्यशवसः** सत्यबलस्य, **वेनतः वा** महत्त्वाकाङ्क्षायुक्तस्य च जनस्य । [वेनतिः कान्तिकर्मा । निघं० २।६ । वा इति समुच्चये । निरु० १।५ ।] **कामस्य** कामम् अभीप्सितम् । [अत्र कर्मणि षष्ठी।] **विद** जानीत, पूरयत च । [संहितायां द्व्यचोऽतस्तिङः। अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः] ॥१॥[2]

भावार्थः— परिश्रमेण स्विन्नगात्रस्य सत्यविज्ञानस्य सत्यबलस्य सत्यकर्मण एव जनस्य महत्त्वाकाङ्क्षाः सिध्यन्ति, नालसस्य ॥१॥

आगे एक ऋचा वाले सूक्त में विद्वान् जनों को सम्बोधन है ।

पदार्थ— हे **नरः** नेता मरुतो ! विद्वान् लोगो ! तुम **शशमानस्य** शीघ्रता से प्रयत्न करते हुए, **स्वेदस्य** पसीने से तर-ब-तर शरीर वाले, **सत्यशवसः** सत्य बल वाले **वेनतः वा** और महत्वाकांक्षा से युक्त मनुष्य के **कामस्य** मनोरथ को **विद** जानो और पूर्ण करो ॥१॥

भावार्थ— परिश्रम के पसीने से नहाये हुए शरीर वाले, सत्य विज्ञान वाले, सत्यबल वाले और सत्य कर्म वाले मनुष्य की ही महत्त्वाकांक्षाएँ सिद्ध होती है, आलसी की नहीं ॥१॥

॥१३॥ अथ 'उप नः' इत्यादिकस्य त्रयोदशस्यैकर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** ऋजिष्वा भारद्वाजः । **देवता** विश्वेदेवाः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

---

१. ऋ० १।८६।९।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं विद्वत्सङ्गविषये व्याचख्यौ ।

अस्मिन्नेकर्चे सूक्ते सन्तानाः कीदृशा भवेयुरिति विषयमाह ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१५९५. उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये। सुमृडीका भवन्तु नः ॥१॥[1]

१ २र ३ १ २ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
उप नः सूनवः गिरः शृण्वन्तु अमृतस्य अ मृतस्य ये ।

३ २ ३ २ ३
सुमृडीकाः सु मृडीकाः भवन्तु नः ॥१॥

पदार्थः— ये **नः** अस्माकम् **सूनवः** सन्तानाः स्युः, ते **अमृतस्य** नाशरहितस्य परमेश्वरस्य नित्यस्य वेदस्य वा **गिरः** वाचः **उप शृण्वन्तु** अर्थबोधपूर्वकं गुरुमुखादाकर्णयन्तु । एवं विद्वांसो भूत्वा **नः** अस्मभ्यम् **सुमृडीकाः** सुष्ठु सुखकराः **भवन्तु** जायन्ताम् ॥१॥[2]

भावार्थः— आचार्यमुखात् सर्वाणि वेदादिशास्त्राण्यधीत्य सर्वासु व्यावहारिकविद्यासु ब्रह्मविद्यायां च ये पारंगता भवन्ति त एव स्वात्मानं समाजं च सुखयितुं शक्नुवन्ति ॥१॥

अगले एक ऋचा वाले सूक्त में सन्तान कैसे हों यह विषय है ।

पदार्थ— **यः** जो **नः** हमारे **सूनवः** सन्तान हों, वे **अमृतस्य** अविनाशी परमेश्वर वा नित्य वेद की **गिरः** वाणियों को **उप शृण्वन्तु** अर्थज्ञानपूर्वक गुरुमुख से सुनें । इस प्रकार विद्वान् होकर **नः** हमारे लिए **सुमृडीकाः** अति सुखकारी **भवन्तु** होवें ॥१॥

भावार्थ— आचार्य के मुख से सब वेद आदि शास्त्रों को पढ़कर सब व्यावहारिक विद्याओं में जो पारंगत हो जाते हैं वे ही स्वयं को और समाज को सुखी कर सकते हैं ॥१॥

॥१४॥ अथ 'प्र वां महि' इत्यादिकस्य चतुर्दशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वामदेवो गौतमः । **देवता** द्यावापृथिव्यौ । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

अथ द्यावापृथिवीनाम्नाऽऽत्मबुद्धिविषय उच्यते ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
१५९६. प्र वां महि द्यवी अभ्युपस्तुतिं भरामहे । शुची उप प्रशस्तये ॥१॥[3]

२ ३ १ २र ३ २र १ २ ३ २ १ २र १ २र ३
प्र वाम् महि द्यवीइति अभि।उपस्तुतिम् उप स्तुतिम् भरामहे ।

२ ३ २र १ २ १ २र १ २र ३
शुचीइति उप प्रशस्तये प्र शस्तये ॥१॥

पदार्थः— हे द्यावापृथिवी ! हे आत्मबुद्धी ! वयम् **प्रशस्तये** प्रशस्तिं प्राप्तुम् **द्यवी** द्योतमाने, **शुची** पवित्रे **वाम् अभि** युवां प्रति **महि** बहु **उपस्तुतिम्** गुणकर्मप्रशंसाम् **प्र उप भरामहे** प्रकर्षेण उपाहरामः ॥१॥[4]

भावार्थः— आत्मा बुद्धिश्चोभावपि स्वं स्वं महत्त्वं धारयतः। ताभ्यामुपकारः सर्वैर्ग्राह्यः ॥१॥

---

१. ऋ० ६।५२।९, य० ३३।७७ ।

२. ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च मन्त्रमिमं दयानन्दस्वामी शिक्षाया अनिवार्यत्वनियमविषये व्याख्यातवान् ।

३. ऋ० ४।५६।५।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं शिल्पविद्याविषये व्याख्यातः। द्यावापृथिवीशब्देन च शिल्पशास्त्राध्यापकः शिल्पक्रियाकर्ता च गृहीतः ।

अब द्यावापृथिवी के नाम से आत्मा और बुद्धि का विषय कहते हैं ।

पदार्थ– हे द्यावापृथिवी ! हे आत्मा और बुद्धि ! हम **प्रशस्तये** प्रशस्ति प्राप्त करने के लिए **द्यवी** तेजस्वी, **शुची** पवित्र **वाम् अभि** तुम दोनों के प्रति **महि** बहुत अधिक **उपस्तुतिम्** तुम्हारे गुण-कर्मों की प्रशंसा **प्र उप भरामहे** करते हैं ।।१।।

भावार्थ– आत्मा और बुद्धि दोनों ही अपना-अपना महत्त्व रखते हैं। उनसे उपकार सबको लेना चाहिए ।।१।।

अथात्मबुद्ध्योः परस्परोपकर्तृत्वमाह ।

१५९७. पुनाने तन्वा मिथः स्वेन दक्षेण राजथः । ऊह्याथे सनादृतम् ।।२।।[1]

पुनानेइति तन्वा मिथः । स्वेन दक्षेण राजथः । ऊह्याथेइति सनात् ऋतम् ।।२।।

पदार्थः– **तन्वा** स्वरूपेण **मिथः** अन्योन्यम् **पुनाने** पवित्रीकुर्वाणे युवाम् आत्मबुद्धी **स्वेन** स्वकीयेन **दक्षेण** बलेन **राजथः** शोभेथे,**सनात्** चिरात् **ऋतम्** सत्यम् **ऊह्याथे** वहथः ।।२।।[2]

भावार्थः– आत्मा बुद्धिश्च द्यावापृथिवीवत् परस्परमुपकुर्वन्तौ मनुष्यमभ्युदयमार्गे निःश्रेयसमार्गे च सम्यग् वहतः ।।२।।

अगले मन्त्र में आत्मा और बुद्धि के आपस के उपकार का वर्णन है ।

पदार्थ– **तन्वा** स्वरूप से **मिथः** एक-दूसरे को **पुनाने** पवित्र करते हुए तुम दोनों आत्मा और बुद्धि **स्वेन** अपने **दक्षेण** बल से **राजथः** शोभित होते हो, **सनात्** चिरकाल से **ऋतम्** सत्य को **ऊह्याथे** चरितार्थ करते हो ।।२।।

भावार्थ– आत्मा और बुद्धि आकाश और भूमि के समान एक-दूसरे के उपकारक होते हुए मनुष्य को अभ्युदय और निःश्रेयस के मार्ग पर भली-भाँति चलाते हैं ।।२।।

अथोभयोराश्रयेण योगसिद्धिमाह ।

१५९८. मही मित्रस्य साधथस्तरन्ती पिप्रती ऋतम् । परि यज्ञं नि षेदथुः ।।३।।[3]

महीइति मित्रस्य मि त्रस्य साधथः । तरन्तीइति पिप्रतीइति ऋतम् ।
परि यज्ञम् नि सेदथुः ।।३।।

पदार्थः– हे आत्मबुद्धी ! **मही** महत्यौ युवाम् **मित्रस्य** सुहृद्भूतस्य उपासकस्य **साधथः** योगसाधनां पूरयतः। **तरन्ती** योगविघ्नान् पारयन्त्यौ **ऋतम्** सत्यम् **पिप्रती** प्रपूरयन्त्यौ युवाम् **यज्ञम्** योगिनो योगयज्ञम् **परि निषेदथुः** परिनिषीदथः, परिव्याप्नुथः ।।३।।[4]

---

१. ऋ० ४।५६।६।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरत्रापि शिल्पविद्याविषयमाह ।

३. ऋ० ४।५६।७।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्र एष द्यावापृथिवीविज्ञानविषये व्याख्यातः ।

भावार्थः— जीवात्मानं विना बुद्धिर्बुद्धिं च विना जीवात्मा योगं साद्धुमकिञ्चित्करौ खलु । उभौ परस्परं मिलित्वैव योगयज्ञं पूर्तिं नयतः ॥३॥

अब दोनों के आश्रय से योगसिद्धि होने का वर्णन करते हैं।

पदार्थ— हे आत्मा और बुद्धि ! **मही** महान् तुम दोनों **मित्रस्य** मित्र उपासक की **साधथः** योगसाधना को पूर्ण करते हो । **तरन्ती** योग के विघ्नों को पार करते हुए, **ऋतम्** सत्य को **पिप्रती** पूर्ण करते हुए तुम दोनों **यज्ञम्** योगी के योग-यज्ञ को **परि निषेदथुः** चारों ओर से व्याप्त करते हो ॥३॥

भावार्थ— जीवात्मा के बिना बुद्धि और बुद्धि के बिना जीवात्मा योग सिद्ध नहीं कर सकते । दोनों आपस में मिलकर ही योगयज्ञ की पूर्ति करते हैं॥३॥

॥१५॥ अथ 'अयमु' इत्यादिकस्य पञ्चदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** शुनःशेप आजीगर्तिः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १८३ क्रमाङ्के परमेश्वरं सम्बोधिता । अत्रोपासकः सम्बोध्यते ।

१५९९. अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् । वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥१॥[1]

अयम् उ ते सम् अतसि । कपोतः इव गर्भधिम् गर्भ धिम् ।
वचः तत् चित् नः ओहसे ॥१॥

पदार्थः— हे उपासक ! **अयम् उ** अयमिन्द्रः परमेश्वरः किल **ते** तवैव वर्तते, यं त्वम् **समतसि** सम्यक् प्राप्नोषि । कथमिव ? **कपोतः इव** पारावतो यथा **गर्भधिम्** गर्भरूपाणाम् अल्पवयस्कानां शिशूनां धारकं स्वावासभूतं नीडं प्राप्नोति तद्वत् । **तत् चित्** तत् खलु **नः** अस्माकम् **वचः** वचनम्, हे उपासक ! त्वम् **ओहसे** वितर्कय, विचारय । [ऊह वितर्के, भ्वादिः। लेटि रूपम्]॥१॥[2]

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— परमेश्वरेण सहान्तरङ्गं सम्बन्धं संस्थाप्योपासकेन परमेश्वरगुणान् स्वात्मनि धारयितुं प्रयतनीयम् ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में १८३ क्रमांक पर परमेश्वर को संबोधित की गयी थी । यहाँ उपासक को संबोधन करते हैं।

पदार्थ— हे उपासक ! **अयम् उ** यह इन्द्र नामक परमेश्वर **ते** तेरा ही है, जिसे तू **समतसि** भलीभाँति प्राप्त करता है । कैसे प्राप्त करता है ? **कपोतः इव** जैसे कबूतर **गर्भधिम्** नन्हें-नन्हें शिशुओं को धारण करने वाले अपने घोंसले को प्राप्त करता है । **तत् चित्** इस **नः** हमारे **वचः** वचन पर, हे उपासक ! तू **ओहसे** विचार कर ॥१॥

यहाँ उपमालंकार है ॥१॥

---

१. ऋ० १।३०।४, अथ० २०।४५।१, साम० १८३ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं शिल्पविद्याविषये व्याख्यातः।

भावार्थ– परमेश्वर के साथ अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित करके उपासक को परमेश्वर के गुण अपने में धारण करने का प्रयत्न करना चाहिए ।।१।।

अथेन्द्रं परमेश्वरं स्तौति ।

१६००. स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते । विभूतिरस्तु सूनृता ।।२।।[1]

स्तोत्रम् राधानाम् पते । गिर्वाहः वीर यस्य ते ।
विभूतिः वि भूतिः अस्तु सूनृता सू नृता ।।२।।

पदार्थः– हे **राधानां पते** ऐश्वर्याणां स्वामिन्, **गिर्वाहः**[2] गीर्भिः वेदवाग्भिः प्राप्तव्य, **वीर** शूर इन्द्र परमात्मन् ! **यस्य ते** यस्य तव **स्तोत्रम्** स्तुतिकीर्तनं सर्वत्र भवति, तस्य तव **सूनृता**[3] ऋतमयी प्रिया मधुरा च वेदवाक्, अस्मभ्यम् **विभूतिः** वैभवकारिणी **अस्तु** भवतु ।।२।।[4]

भावार्थः– वेदानधीत्य तत्रस्थाः सर्वा विद्या विज्ञाय सर्वे जना वैभवशालिनो ब्रह्मसाक्षात्कर्तारश्च भवन्तु ।।२।।

अगले मन्त्र में इन्द्र परमेश्वर की स्तुति है ।

पदार्थ– हे **राधानां पते** ऐश्वर्यों के स्वामिन्!**गिर्वाहः** वेदवाणियों से प्राप्त करने योग्य, **वीर** शूरवीर परमात्मन् ! **यस्य ते** जिन आपका **स्तोत्रम्** स्तुतिकीर्तन सब जगह होता है, उन आपकी **सूनृता** सत्य, प्रिया और मधुर वेदवाणी, हमारे लिए **विभूतिः** वैभव देने वाली **अस्तु** होवे ।।२।।

भावार्थ– वेदों को पढ़कर, उनमें विद्यमान सब विद्याओं को जानकर सब मनुष्य वैभवशाली और ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले होवें ।।२।।

अथ परमेश्वरं सम्बोधयति ।

१६०१. ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन् वाजे शतक्रतो । समन्येषु ब्रवावहै ।।३।।[5]

ऊर्ध्वः तिष्ठ नः ऊतये। अस्मिन् वाजे शतक्रतो शत क्रतो ।
सम् अन्येषु अन् येषु ब्रवावहै ।।३।

पदार्थः– हे **शतक्रतो** अनन्तप्रज्ञ अनन्तकर्मन् इन्द्र परमात्मन् ! त्वम् **अस्मिन् वाजे** एतस्मिन् देवासुरसंग्रामे **नः ऊतये** अस्माकं रक्षायै **ऊर्ध्वः** जागरूकः **तिष्ठ** भव । **अन्येषु** इतरेष्वपि अवसरेषु त्वं च अहं च **संब्रवावहै** परस्परम् अन्तरङ्गं संलापं कुर्यावः।३।।[6]

---

१. ऋ० १।३०।५, अथ० २०।४५।२ ।

२. (गिर्वाहः)गीर्भिर्वेदस्थवाग्भिरुह्यते प्राप्यते यस्तत्संबुद्धौ । अत्र कारकोपपदाद् वह धातोः 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' उ० ४।१९० अनेनासुन् प्रत्ययः । वा छन्दसि सर्वे विधयोभवन्तीति पूर्वपदस्य दीर्घादेशो न इति ऋ० १।३०।५ भाष्ये द०।

३(सूनृता)सुष्ठु ऋतं यस्यां सा । पृषोदरादी०' इति दीर्घत्वं नुडागमश्च- इति तत्रैव द०।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं सभासेनाध्यक्षविषये व्याख्यातः ।

५. ऋ० १।३०।६, अथ० २०।४५।३।

६. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं सभासेनाध्यक्षविषये व्याख्यातः ।

भावार्थः— यदा यदा बाह्या आन्तरा वा देवासुरसंग्रामा उपतिष्ठन्ते तदा तदा परमेश्वरविश्वासं स्वात्मनि सबलं कृत्वाऽऽत्मोद्बोधनं प्राप्य सर्वानन्तरायान् विफलीकृत्य विजयः प्राप्तव्यः ॥३॥

अब परमेश्वर को संबोधन करते हैं।

पदार्थ— हे **शतक्रतो** अनन्त ज्ञानी और अनन्त कर्मों को करने वाले इन्द्र परमात्मन् ! आप **अस्मिन् वाजे** इस देवासुरसंग्राम में **नः ऊतये** हमारी रक्षा के लिए **ऊर्ध्वः** सजग **तिष्ठ रहो** । **अन्येषु** दूसरे अवसरों पर भी, आप और मैं **संव्रवावहै** आपस में अन्तरंग संलाप किया करें ॥३॥

भावार्थ— जब-जब बाहरी या आन्तरिक देवासुर-संग्राम उपस्थित होते हैंतब-तब परमेश्वर-विश्वास को अपने अन्दर बलवान् करके, आत्मोद्बोधन पाकर, सब विघ्नों को विफल करके विजय पानी चाहिए ॥३॥

॥१६॥ अथ 'गाव उप' इत्यादिकस्य षोडशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** हर्यतः प्रागाथः । **देवता** अग्निर्हवींषि वा । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ११७ क्रमाङ्के व्याख्यातपूर्वा । अत्र प्रकारान्तरेण व्याख्यायते ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
१६०२. गाव उप वदावटे मही यज्ञस्य रप्सुदा। उभा कर्णा हिरण्यया ॥१॥[1]

१ २र १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
गावः उप वद अवटे। महीइति यज्ञस्य रप्सुदा रप्सु दा।

२ १ २र ३ १ २
उभा कर्णा हिरण्यया॥१॥

पदार्थः— हे मानव ! उपासनायज्ञे त्वम् **अवटे** आनन्दरसानां कूपे अग्नौ परमेश्वरे, तादृशं परमेश्वरमधिकृत्येत्यर्थः **गावः** गाः वेदवाचः । [छन्दसि सर्वेषां विधीनां विकल्पनादत्र 'औतोम्शसोः' इति न प्रवर्तते ।] **उपवद** सामीप्येन उच्चारय । **मही** मह्यौ द्यावापृथिव्यौ **यज्ञस्य** पूजनीयस्य परमात्मनः । [इज्यते पूज्यते इति यज्ञः परमेश्वरः ।] **रप्सु-दा** रप्सु-दे, कीर्तिगायिके स्तः, ये **उभा** उभे, **कर्णा** कर्णे विविधैश्वर्याणां विक्षेपिके । [कॄ विक्षेपे धातोः 'कॄवृजॄसिद्रूपन्यनिस्वपिभ्यो नित् । उ० ३।१० इति नक् प्रत्ययः, तस्य च नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ।] **हिरण्यया** हिरण्ये ज्योतिर्मये स्तः। [रप्सुदा, उभा, कर्णा हिरण्यया इति सर्वत्र स्त्रियां प्रथमाद्विवचनस्य' 'सुपां सुलुक्०' ७।१।३९ इत्याकारः]॥१॥[2]

भावार्थः— ऐश्वर्यपूर्णे दीप्ते द्यावापृथिव्यौ जगदीश्वरस्यैव महिमानं गायतः ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ११७ क्रमांक पर पहले की जा चुकी है । यहाँ अन्य व्याख्या देते हैं।

पदार्थ— हे मानव ! उपासना-यज्ञ में तू **अवटे** आनन्द-रसों के कूप अग्नि परमेश्वर के विषय में **गावः** वेद-वाणियों को **उपवद** समीपता के साथ उच्चारण कर । **मही** महान् द्यावापृथिवी **यज्ञस्य** पूजनीय परमात्मा की **रप्सु-दा** कीर्ति गान करने वाली हैं, **उभा** जो दोनों **कर्णा** विविध ऐश्वर्यों को बिखेरने वाली, तथा **हिरण्यया** ज्योतिर्मय हैं ॥१॥

---

१. ऋ० ८।७२।१२, य०३३।१९, उभयत्र 'उपावतावतं' इति पाठः । साम० ११७, देवता इन्द्रः ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं 'मनुष्यैराभूषणादि रक्षणीयमति' विषये व्याचख्यौ ।

भावार्थ– ऐश्वर्यों से परिपूर्ण देदीप्यमान द्यु-लोक और पृथिवी-लोक जगदीश्वर की ही महिमा का गान करते हैं ।।१।।

अथ वृष्टिमुखेन परमात्मनो महिमानमाचष्टे ।

३ २३ १र २र ३ १ २ ३ १ २३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१६०३. अभ्यारमिदद्रयो निषिक्तं पुष्करे मधु। अवटस्य विसर्जने ।।२।।[1]

३ १२ ३ १२र १२र ३ १ २र ३ १ २र १ २र
अभ्यारम् अभि आरम् इत् अद्रयः अ द्रयः। निषिक्तम् नि सिक्तम् पुष्करे मधु।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
अवटस्य विसर्जने वि सर्जने ।।२।।

पदार्थः– अग्नेः परमात्मन एव महिम्ना **अद्रयः** मेघाः। [अद्रिरिति मेघनाम । निघं० १।१० ।] **अभ्यारम् इत्** परस्परं संघट्टन्ते खलु । ततः **अवटस्य** मेघरूपस्य कूपस्य । [अवत इति कूपनाम । निघं० ३।२३ ।] **विसर्जने** वर्षणे सति **पुष्करे** भूमिष्ठे सरोवरे **मधु** मधुरं वृष्ण्युदकम् **निषिक्तम्** संसिक्तं जायते ।।२।।

भावार्थः– यदिदं भूमिष्ठमुदकं सूर्यतापेनान्तरिक्षं गत्वा मेघतां प्रतिपद्यते, पुनश्च पृथिव्यां वर्षति, तत्सर्वं जगदीश्वरस्यैव कर्तृत्वं विद्यते ।।२।।

अगले मन्त्र में वर्षा-वर्णन द्वारा परमात्मा की महिमा दर्शाते हैं ।

पदार्थ– अग्नि नामक परमात्मा की ही महिमा से **अद्रयः** बादल **अभ्यारम् इत्** आपस में टकराते हैं। तब **अवटस्य** मेघ रूप जलभंडार के **विसर्जने** बरसने पर **पुष्करे** भूमि के सरोवर में **मधु** मधुर वर्षा-जल **निषिक्तम्** सिंच जाता है ।।२।।

भावार्थ– जो यह भूमि पर स्थित जल सूर्य के ताप से अन्तरिक्ष में जाकर मेघ बनता है और फिर भूमि पर बरस जाता है, वह सब जगदीश्वर का ही कर्तृत्व है ।।२।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

३ २३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१६०४. सिञ्चन्ति नमसावटमुच्चाचक्रं परिज्मानम् । नीचीनवारमक्षितम् ।।३।।[2]

३ १ २ १२र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२र १२र ३
सिञ्चन्ति नमसा अवटम् । उच्चाचक्रम् उच्चा चक्रम् परिज्मानम् परि ज्मानम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २र ३
नीचीनवारम् नीचीन वारम् अक्षितम् अ क्षितम् ।।३।।

पदार्थः– अग्नेः परमेश्वरस्यैव महिम्ना सूर्यकिरणाः **उच्चाचक्रम्** उच्चा उच्चैः चक्रं विद्युद्रूपं यस्य तम्, **नीचीनवारम्** नीचैर्मुखद्वारम्, **अक्षितम्** अक्षयम् **अवटम्** मेघरूपं कूपम् **परिज्मानम्** ज्मायां पृथिव्यां परिव्याप्तं यथा स्यात् तथा **नमसा** विद्युद्वज्रेण । [नमः इति वज्रनाम । निघं० २।२० ।] **सिञ्चन्ति** भूमौ क्षारयन्ति ।।३।।

भावार्थः– यस्य परमेश्वरस्य व्यवस्थया मेघानां निर्माणं ततो वृष्टिश्च संजायते तं हृदि संधार्य योगिनो धर्ममेघसमाधिमधिगच्छन्तु ।।३।।

अस्मिन् खण्डे परमेश्वरस्य विदुषः सन्तानानामात्मबुद्ध्योरुपासकस्य वृष्टेश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्व-खण्डेन संगतिरस्ति ।।

---

१. ऋ० ८।७२।११, 'अव॒तस्य' इति भेदः ।

२. ऋ० ८।७२।१०, 'नमसाव॒तमिति भेदः।।

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ– परमेश्वर की ही महिमा से सूर्य-किरणें **उच्चाचक्रम्** उच्च विद्युत्-रूप चक्र वाले, **नीचीनवारम्** नीचे की ओर द्वार वाले, **अक्षितम्** अक्षय **अवटम्** मेघ-रूप कुएँ को **परिज्मानम्** भूमि पर चारों ओर फैलाने के लिए **नमसा** बिजली-रूप वज्र से **सिञ्चन्ति सींचती हैं ।।३।।**

भावार्थ– जिस परमेश्वर की व्यवस्था से मेघों का निर्माण होता है और उनसे वर्षा होती है उसे हृदय में धारण करके योगी लोग धर्ममेघ समाधि को प्राप्त करें ।।३।।

इस खण्ड में परमेश्वर, विद्वान्, सन्तान, आत्मा-बुद्धि, उपासक तथा वृष्टि का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

सोलहवें अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ।

।।१७।। अथ 'मा भेम' इत्यादिकस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** देवातिथिः काण्वः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ।।

तत्रादाविन्द्रं परमात्मानं प्रार्थयते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ र
१६०५. मा भेम मा श्रमिष्मोग्रस्य सख्ये तव ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ र २ र ३ २ ३ १ २
महत्ते वृष्णो अभिचक्ष्यं कृतं पश्येम तुर्वशं यदुम् ।।१।।[1]

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २ र
मा भेम मा श्रमिष्म । उग्रस्य सख्ये स ख्ये तव।

३ २ ३ १ २ र ३ १ २ ३ १ २ र ३ २ १ २ र ३ १ २ १ २ र
महत् ते वृष्णः अभिचक्ष्यम् अभि चक्ष्यम् कृतम्। पश्येम तुर्वशम् यदुम् ।।१।।

पदार्थः– हे इन्द्र परमात्मन् ! **उग्रस्य** अधार्मिकान् प्रति प्रचण्डस्य **तव** ते **सख्ये** सखित्वे, वयम् **मा भेम** भीता मा भूम, **मा श्रमिष्म** श्रमं प्राप्ता मा भूम । **वृष्णः ते** सुखादीनां वर्षकस्य तव **महत्** महिमोपेतम् **कृतम्** कर्म **अभिचक्ष्यम्** प्रशंसनीयमस्ति । त्वत्कृपया वयम् अस्मद्राष्ट्रे **तुर्वशम्**[2] हिंसकानां वशकरम् **यदुम्**[3] संयमशीलं च जनम् । [यदवः इति मनुष्यनामसु पठितम् । निघं० २।३ । यमेर्दुक् प्रत्ययः ।] **पश्येम** अवलोकयेम ।।१।।

भावार्थः– जगदीश्वरस्य सखायो न कदापि विभ्यति, न श्राम्यन्ति, प्रत्युत सत्कर्माणि कुर्वन्तः सदैवोन्नतिपथेऽग्रेसरा जायन्ते ।।१।।

प्रथम मन्त्र में इन्द्र परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ– हे इन्द्र परमात्मन् ! **उग्रस्य** अधार्मिकों के प्रति उग्रता दिखाने वाले **तव** आपकी **सख्ये** मित्रता में रहते हुए हम **मा भेम** किसी से भयभीत न हों, **मा श्रमिष्म** थकें नहीं । **वृष्णः ते** सुख आदि की वर्षा करने वाले आपका **महत्** महान् **कृतम्** कर्म **अभिचक्ष्यम्** प्रशंसनीय है । आपकी कृपा से हम अपने राष्ट्र में **तुर्वशम्** हिंसकों को वश में करने वाले तथा **यदुम्** संयमशील मनुष्य-समाज को **पश्येम देखें ।।१।।**

---

१. ऋ० ८।४।७

२. तुर्वन्तीति तुरः तेषां वशङ्कर्तारो मनुष्याः । तुर्वश इति मनुष्यनाम । निघं० २।३–इति ऋ० १।१०८।८ भाष्ये द० ।

३. यती प्रयत्ने इत्यस्माद् बाहुलकादौणादिक उः प्रत्ययस्तकारस्य दकारः– इति ऋ० १।३६।१८ भाष्ये द० ।

भावार्थ– जगदीश्वर से मित्रता स्थापित करने वाले लोग न कभी डरते हैं, न थकते हैं, प्रत्युत सत्कर्मों को करते हुए सदा ही उन्नति के मार्ग पर अग्रसर रहते हैं ।।१।।

अथ परमात्मोपासकमाह ।

३ १र २र ३क २र ३ २ ३ २ ३ १ २
१६०६. सव्यामनु स्फिग्यं वावसे वृषा न दानो अस्य रोषति ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
मध्वा सम्पृक्तः सारघेण धेनवस्तूयमेहि द्रवा पिब ।।२।।[1]

३ २ १ २र ३क ४ ३ १ २र ३ २ ३
सव्याम् अनु स्फिग्यम् वावसे वृषा। न दानः अस्य रोषति ।
१ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २ १ २र ३ १ २र १ २र
मध्वा सम्पृक्ताः सम् पृक्ताः सारघेण धेनवः। तूयम् आ इहि द्रव पिब ।।२।

पदार्थः– हे परमात्मोपासक ! **वृषा** बलवान् त्वम् **सव्याम्** वामाम् **स्फिग्यम्** कटिप्रोथोपलक्षितां पादयष्टिम् **अनु** अन्वाश्रित्य, दक्षिणां च पश्चाद् विधाय **वावसे** तिष्ठ । [वसतेर्लोडर्थे लिटि छान्दसं रूपम् ।] कस्याञ्चिद् धावनस्पर्धायां भागग्रहीतृणामेषा भङ्गिर्भवति । सदैव विक्रमशीलस्तिष्ठेति भावः । **अस्य** एवंविधस्य विक्रमशीलस्य तव **दानः** अवखण्डयिता, हिंसकः कश्चित् । [दान खण्डेन भ्वादिः पचाद्यच् ।] **न रोषति** हिंसां कर्तुं न शक्ष्यति [रुष हिंसार्थः, भ्वादिः ।] हे उपासक ! **सारघेण मध्वा** मधुमक्षिकाजनितेन मधुना **सम्पृक्ताः** संयुक्ताः **धेनवः** गोदुग्धादयः सज्जिताः सन्ति। [अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० ९।४६।४) इति पयसः । निरु० २।५ ।] **तूयम्** शीघ्रम् **एहि** आगच्छ, **द्रव** धाव, **पिब** आस्वादय ।।२।।

भावार्थः– यथा धावनप्रतिस्पर्धायां प्रतिस्पर्द्धिनो जानुन्याकुञ्चितं वामं पादमग्रे कृत्वा दक्षिणं च पश्चात् कृत्वा भङ्गिविशेषेण धावनसन्नद्धास्तिष्ठन्ति तथा परमेश्वरोपासकः सदैव पुरुषार्थाय सज्जस्तिष्ठति । अतस्तन्मार्गे कोऽपि बाधां जनयितुं न शक्नोति, प्रत्युत तस्य सर्वे स्वागतमभिनन्दनं च कुर्वन्ति ।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा के उपासक को कहते हैं।

पदार्थ– हे परमात्मा के उपासक ! **वृषा** बलवान् तू **सव्याम्** बायीं **स्फिग्यम्** टाँग को आगे करके और दाहिनी टाँग को पीछे करके **वावसे** दौड़ लगाने के लिए खड़ा रह, अर्थात् सदा विक्रमशील रह । **अस्य** ऐसे विक्रमशील तेरी **दानः** कोई भी हिंसक **न रोषति** हिंसा नहीं कर सकेगा । हे उपासक ! **सारघेण मध्वा** मधुमक्खियों से प्राप्त मधु से **संपृक्ताः** संयुक्त **धेनवः** गोदुग्ध आदि तैयार हैं। तू **तूयम्** शीघ्र **एहि** आ, **द्रव** क्रियाशील हो, **पिब** पान कर ।।२।।

भावार्थ– जैसे दौड़ की प्रतिस्पर्धा में प्रतिस्पर्धी लोग घुटने पर मुड़ी हुई बायीं टाँग को आगे करके और दाहिनी को पीछे करके आकृति-विशेष में दौड़ने के लिए तैयार खड़े रहते हैं, वैसे ही परमेश्वर का उपासक सदा ही पुरुषार्थ के लिए तैयार रहता है । इसलिए उसके रास्ते में कोई बाधा नहीं डाल सकता, प्रत्युत उसका सभी अभिनन्दन करते हैं।।२।।

।।१८।। अथ 'इमा उ त्वा' इत्यादिकस्याष्टादशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मेधातिथिः काण्वः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमाबृहती, २ समा सतोबृहती)। **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ।।

---

१. ऋ० ८।४।८ ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २५० क्रमाङ्के परमात्मानं सम्बोधिता। अत्र युगपत् परमात्मानमाचार्यं चाह।

१६०७. इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम ।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ॥१॥[1]

इमाः उ त्वा पुरूवसो पुरु वसो । गिरः वर्धन्तु याः मम।
पावकवर्णाः पावक वर्णाः शुचयः विपश्चितः विपः चितः ।
अभि स्तोमैः अनूषत॥१॥

पदार्थः— हे **पुरूवसो** बह्वैश्वर्य परमात्मन्, बहुविद्याधनसम्पन्न आचार्य वा ! **इमाः उ** एताः खलु **याः मम गिरः** या मदीया वाचः सन्ति ताः **त्वा** त्वाम् **वर्धन्तु** वर्धयन्तु, तव महिमानं प्रकाशयन्तामित्यर्थः। **पावकवर्णाः** अग्निवर्णाः, अग्निवत् तेजस्विनः, **शुचयः** पवित्राः **विपश्चितः** विद्वांसः **स्तोमैः** स्तोत्रैः त्वाम् परमात्मानम् आचार्यं वा **अभ्यनूषत** अभिस्तुवन्ति ॥१॥[2]

पावकवर्णाः इत्यत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— यथा जगदीश्वरो वेदज्ञानप्रदानेन तथाचार्यो वेदादिशास्त्राणां शिक्षणेन सर्वानुपकरोति ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २५० क्रमांक पर परमात्मा को संबोधित की गयी थी । यहाँ एकसाथ परमात्मा और आचार्य दोनों को कहते हैं।

पदार्थ— हे **पुरूवसो** बहुत ऐश्वर्य से युक्त परमात्मन् वा बहुत विद्याधन से सम्पन्न आचार्य ! **इमाः उ** ये **याः मम गिरः** जो मेरी वाणियाँ हैं, वे **त्वा** आपको **वर्धन्तु** बढ़ायें अर्थात् आपकी महिमा को प्रकाशित करें । **पावकवर्णाः** अग्नि के समान उज्ज्वल वर्ण वाले, तेजस्वी, **शुचयः** पवित्र **विपश्चितः** विद्वान् लोग **स्तोमैः** स्तोत्रों से, आपकी **अभ्यनूषत** स्तुति कर रहे हैं॥१॥

यहाँ 'पावकवर्णाः' में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— जैसे जगदीश्वर वेदज्ञान के प्रदान द्वारा वैसे ही आचार्य वेदादि शास्त्रों के शिक्षण द्वारा सबका उपकार करता है ॥१॥

अथ पुनरपि परमात्माऽऽचार्ययोर्विषयमाह ।

१६०८. अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे ।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये ॥२॥[3]

अयम् सहस्रम् ऋषिभिः सहस्कृतः सहः कृतः। समुद्रः सम् उद्रः इव पप्रथे।
सत्यः सः अस्य महिमा गृणे शवः। यज्ञेषु विप्रराज्ये विप्र राज्ये ॥२॥

---

१. ऋ० ८।३।३, य० ३३।८१, अथ० २०।१०४।१, साम० २५० ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं परमेश्वरपक्षे व्याचष्टे ।

३. ऋ० ८।३।४, य० ३३।८३, अथ० २०।१०४।२ ।

पदार्थः— अयम् एष परमेश्वरः आचार्यो वा **सहस्रम्** सहस्रवारम् **ऋषिभिः** तत्त्वदर्शिभिर्जनैः **सहस्कृतः** सहसा बलेन कृतः स्तुतः सन् **समुद्रः इव** सागरः इव **पप्रथे** यशसा प्रथितो भवति । **सः** असौ **अस्य** परमेश्वरस्य आचार्यस्य वा **महिमा** महत्त्वम् **सत्यः** अवितथो वर्तते । अहम् **विप्रराज्ये** विप्राणां विपश्चितां राज्ये **यज्ञेषु** उपासनायज्ञेषु शिक्षायज्ञेषु वा, **शवः** अस्य बलम् **गृणे** स्तौमि । [विप्रराज्ये इत्यत्र 'अकर्मधारये राज्यम्' । अ० ६।२।१३० इत्युत्तरपदादिरुदात्तः] ॥२॥[1]

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— यथा समुद्रो जलेन विस्तीर्णो भवति तथा जगदीश्वर आचार्यश्च यशसा ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा और आचार्य का विषय है ।

पदार्थ— अयम् यह परमेश्वर वा आचार्य **सहस्रम्** सहस्र वार **ऋषिभिः** तत्त्वदर्शी जनों द्वारा **सहस्कृतः** बल के साथ स्तुति किया गया **समुद्रः इव** समुद्र के समान **पप्रथे** यश से प्रख्यात होता है । **सः** वह **अस्य** इस परमेश्वर वा आचार्य की **महिमा** महिमा **सत्यः** सत्य है । मैं **विप्रराज्ये** विद्वानों के राज्य में **यज्ञेषु** उपासना-यज्ञों वा शिक्षा-यज्ञों में, **शवः** इसके बल की **गृणे** स्तुति करता हूँ ॥२॥

यहाँ उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— जैसे समुद्र जल से विस्तीर्ण होता है वैसे ही जगदीश्वर और आचार्य यश से प्रख्यात होते हैं ॥२॥

॥१९॥ अथ 'यस्यायं' इत्यादिकस्यैकोनविंशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** श्रुष्टिगुः काण्वः। **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्रादाविन्द्रं परमेश्वरं वर्णयति ।

२ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
१६०९. यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपा अरिः।

३१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
तिरश्चिदर्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत् सो अज्यते रयिः ॥१॥[2]

१ २र ३ २ १२र १२र १२र ३ २ ३ २ ३ २
यस्य अयम् विश्वः आर्यः। दासः शेवधिपाः शेवधि पाः अरिः।

३२ ३ २ ३ १ २ १ २र १ २र ३ २
तिरः चित् अर्ये रुशमे पवीरवि। तुभ्य इत् सः अज्यते रयिः॥१॥

पदार्थः— यस्य यस्य तव इन्द्रस्य परमात्मनः **अयम्** एष प्रत्यक्षं दृश्यमानः **विश्वः** सम्पूर्णः संसारो विद्यते, यः त्वम् **आर्यः** श्रेष्ठः, **दासः** दुष्टानामुपक्षयिता, **शेवधिपाः** निधिपाः। [निधिः शेवधिरिति यास्कः। निरु० २।४ ।] **अरिः** ईश्वरश्च वर्तसे । [अरिः ईश्वरः। निरु० ५।२ ।] यश्च त्वम् **अर्ये** स्वामिनि, जीवनाधारे पवने इत्यर्थः, **रुशमे** रुचमे, रोचिष्मति आदित्ये । [रुशदिति वर्णनाम रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। निरु० ६।१३ ।] **पवीरवि** विद्युन्मति पर्जन्ये च । [पवीरं विद्युद्वज्रं वाति प्राप्नोति तस्मिन् ।] **तिरः चित्** प्राप्तः एव तिष्ठसि । [तिरः सतः इति प्राप्तस्य । निरु०

---

१. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजधर्मविषये व्याचष्टे ।

२. ऋ० ८।५१।९, य० ३३।८२ ।

३।२० ।] एतादृशाय **तुभ्य इत्** तुभ्यमेव **सः** जगति सर्वत्र विकीर्णः **रयिः** धनम् **अज्यते** समर्प्यते । [तुभ्यम् इत्यस्य मकारलोपश्छान्दसः] ॥१॥[1]

भावार्थः— विश्वसम्राट् श्रेष्ठः सज्जनरक्षको दुष्टानां दलयिता भूगर्भे निहितानां निधीनां रक्षकः सर्वकर्मक्षमः सर्वान्तर्यामी यः परमेश्वरोऽस्ति तस्यैव सर्वं धनमिति हेतोः तदर्पणबुद्ध्या तत् सेवनीयम् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र परमेश्वर का वर्णन है ।

पदार्थ— **यस्य** जिस तुझ इन्द्र परमात्मा का **अयम्** यह प्रत्यक्ष दिखाई देता हुआ **विश्वः** सम्पूर्ण संसारहै, जो तू **आर्यः** श्रेष्ठ, **दासः** दुष्टों का क्षय करने वाला, **शेवधिपाः** निधियों का रक्षक, और **अरिः** समर्थ है, और जो तू **अर्ये** जीवनाधार पवन में, **रुशमे** चमकीले सूर्य में तथा **पवीरवि** बिजली-युक्त बादल में **तिरः चित्** विद्यमान है, ऐसे **तुभ्य इत्** तेरे लिए ही **सः** वह जगत् में सर्वत्र बिखरा हुआ **रयिः** धन **अज्यते** समर्पित है ॥१॥

भावार्थ— विश्व का सम्राट्, श्रेष्ठ, सज्जनों का रक्षक, दुष्टों का दलन करने वाला, भूगर्भ में निहित निधियों का रक्षक, सब-कुछ करने में समर्थ, सर्वान्तर्यामी जो परमेश्वर है उसी का सब धन है, इस हेतु से ईश्वरार्पण-बुद्धि से उसका सेवन करना चाहिए ॥१॥

अथ पुनरपि परमेश्वरविषयमाह ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१६१०. तुरण्यवो मधुमन्तं घृतश्चुतं विप्रासो अर्कमानृचुः ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अस्मे रयिः पप्रथे वृष्ण्यं शवोऽस्मे स्वानास इन्दवः ॥२॥[2]

३ १ २ १ २र ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ २ ३
तुरण्यवः मधुमन्तम् घृतश्चुतम् घृत श्चुतम् । विप्रासः वि प्रासः अर्कम् आनृचुः।
१ २ ३ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २ १ २र
अस्मेइति रयिः पप्रथे वृष्ण्यम् शवः। अस्मेइति स्वानासः इन्दवः ॥२॥

पदार्थः— **तुरण्यवः** सत्कर्मसु त्वरणशीलाः **विप्रासः** विपश्चितः **मधुमन्तम्** मधुरानन्दमयम् **घृतश्चुतम्** तेजःप्रस्राविणं स्नेहप्रस्राविणं वा **अर्कम्** अर्चनीयम् इन्द्रं परमेश्वरम् । [अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति । निरु० ५।५।] **आनृचुः** पूजयन्ति । तस्यैव कृपया **अस्मे** अस्मभ्यम् **रयिः** ऐश्वर्यम् **पप्रथे** सर्वत्र विस्तीर्णोऽस्ति, **वृष्ण्यम्** सुखवर्षणशीलम् **शवः** बलमपि, पप्रथे विस्तीर्णमस्ति । तत एव **अस्मे** अस्मभ्यम् **स्वानासः** अभिषूयमाणाः **इन्दवः** आनन्दरसाः अस्माभिः प्राप्यन्ते ॥२॥

भावार्थः— जगदीश्वर एवास्मभ्यं तेजोधनबलानन्दादीनि प्रयच्छतीति स सर्वैः सश्रद्धं वन्दनीयः ॥२॥

आगे फिर परमेश्वर का विषय है ।

पदार्थ— **तुरण्यवः** सत्कर्मों में शीघ्रता करने वाले, **विप्रासः** विद्वान् लोग **मधुमन्तम्** मधुर आनन्द से युक्त, **घृतश्चुतम्** तेज वा स्नेह को प्रवाहित करने वाले **अर्कम्** अर्चनीय इन्द्र परमेश्वर को **आनृचुः** पूजते हैं। उसकी कृपा से **अस्मे** हमारे लिए **रयिः** ऐश्वर्य **पप्रथे** सर्वत्र फैला हुआ है, **वृष्ण्यम्** सुखों की वर्षा करने वाला **शवः** बल भी फैला हुआ है, उसी से **अस्मे** हमारे लिए **स्वानासः** अभिषुत किये जाते हुए **इन्दवः** आनन्द-रस हमें प्राप्त होते हैं ॥२॥

भावार्थ— जगदीश्वर ही हमें तेज, धन, बल, आनन्द आदि प्रदान करता है, इस कारण सबको श्रद्धापूर्वक उसकी वन्दना करनी चाहिए ॥२॥

---

१. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिरिममपि मन्त्रं राजधर्मविषये व्याचष्टे ।

२. ऋ० ८।५१।१०, अथ० २०।११९।२, उभयत्र 'स्वानास' इत्यत्र 'सुवानास' ।

।।२०।। अथ 'गोमन्न' इत्यादिकस्य विंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषी** पर्वतनारदौ। **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** उष्णिक्। **स्वरः** ऋषभः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५७४ क्रमाङ्के परमेश्वरं राजानमाचार्यं च सम्बोधिता। अत्र जीवात्मा परमात्मा च सम्बोध्यते।

१६११. **गोमन्न इन्दो अश्ववत् सुतः सुदक्ष धनिव।**
शुचिं च वर्णमधि गोषु धारय ।।१।।

गोमत् नः इन्दो अश्ववत्। सुतः सुदक्ष सु दक्ष धनिव।
शुचिम् च वर्णम् अधि गोषु धारय ।।१।।

पदार्थः— हे **सुदक्ष** सुबल **इन्दो** तेजोमय जीवात्मन् परमात्मन् वा ! **सुतः** शरीरे गृहीतजन्मा अन्तरात्मनि प्रेरितो वा त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **गोमत्** धेनुपृथिव्यादियुक्तम्, **अश्ववत्** तुरगवह्निविद्युदादियुक्तं च रयिं धनम् **धनिव** धन्व प्रापय। [धन्वतिः गतिकर्मा। निघं० २।१४। धन्व इति प्राप्ते इकारागमश्छान्दसः।] **गोषु च** इन्द्रियेषु च **शुचिं वर्णम्** पवित्रं सात्त्विकं रूपम् **अधि धारय** अधि धेहि ।।१।।

भावार्थः— प्रोद्बोधितो मनुष्यस्यात्मा समाराधितः परमात्मा च निखिलमैश्वर्यं प्रापयितुं मनोबुद्धीन्द्रियादिषु च पवित्रतां सञ्चारयितुमलं भवतः ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ५७४ क्रमांक पर परमेश्वर, राजा और आचार्य को संबोधित की गयी थी। यहाँ जीवात्मा और परमात्मा को संबोधन है।

पदार्थ— हे **सुदक्ष** श्रेष्ठ बल से युक्त **इन्दो** तेजस्वी जीवात्मन् वा परमात्मन् ! **सुतः** शरीर में जन्मा वा अन्तरात्मा में प्रेरित तू **नः** हमारे लिए **गोमत्** गाय, पृथिवी आदि से युक्त, तथा **अश्ववत्** घोड़े, आग, बिजली आदि से युक्त धन को **धनिव** प्राप्त करा। **गोषु च** और इन्द्रियों में **शुचिं वर्णम्** पवित्र सात्त्विक रूप को **अधिधारय** धारण करा ।।१।।

भावार्थ— भलीभाँति उद्बोधन दिया हुआ मनुष्य का आत्मा और भलीभाँति आराधना किया हुआ परमात्मा समस्त ऐश्वर्य प्राप्त कराने और मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदियों में पवित्रता संचार करने के लिए समर्थ होते हैं ।।१।।

अथ पुनरपि जीवात्मा परमात्मा च प्रार्थ्यते।

१६१२. **स नो हरीणां पत इन्दो देवप्सरस्तमः। सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव ।।२।।**[2]

सः नः हरीणाम् पते। इन्दो देवप्सरस्तमः देव प्सरस्तमः।
सखा स खा इव सख्ये स ख्ये नर्यः रुचे भव ।।२।।

---

१. ऋ० ९।१०५।४ 'धनिव, शुचिं च, धारय' इत्यत्र क्रमेण 'धन्व, शुचिं ते, दीधरम्' इति पाठः। साम० ५७४।
२. ऋ० ९।१०५।५।

पदार्थः— हे **हरीणां पते** इन्द्रियाणाम् आकर्षणगुणयुक्तानां सूर्यचन्द्रभूमण्डलादीनां वा स्वामिन्, **इन्दो** तेजस्विन् जीवात्मन् परमात्मन् वा ! **देवप्सरस्तमः** देवेषु मनोबुद्धीन्द्रियादिषु सूर्यचन्द्रादिषु वा प्सरो रूपं यस्य स देवप्सराः अतिशयेन देवप्सराः देवप्सरस्तमः, देहस्थेभ्यो ब्रह्माण्डस्थेभ्यो वा देवेभ्योऽतिशयेन तत्तच्छक्तिप्रदाता । [प्सरः इति रूपनाम । निघं० ३।७ ।] **नर्यः** नृभ्यो हितः **सः** असौ त्वम् **नः** अस्माकम् **रुचे** तेजसे **भव** जायस्व । कथमिव ? **सख्ये** सुहृदे **सखा इव** सुहृद् यथा तेजः प्रयच्छति तद्वत् ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— जीवात्मा यथा शरीरस्थान् सर्वान् मनोबुद्धिप्राणादीन् स्वस्वकर्मणि सञ्चालयन् तेभ्यः शक्तिं च प्रयच्छन् देहस्य सम्राड् भवति तथा परमेश्वरो ब्रह्माण्डस्थान् सर्वान् सूर्यचन्द्रनक्षत्रादीन् सञ्चालयन् तेभ्यः शक्तिं च प्रयच्छन् ब्रह्माण्डस्य सम्राड् भवति ॥२॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा और परमात्मा से प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ— हे **हरीणां पते** इन्द्रियों के अथवा आकर्षणगुणयुक्त सूर्य, चन्द्र, भूमण्डल आदियों के स्वामिन्, **इन्दो** तेजस्वी जीवात्मन् वा परमात्मन् ! **देवप्सरस्तमः** देहस्थ मन, बुद्धि आदि देवों को वा ब्रह्माण्डस्थ सूर्य, चन्द्र आदि देवों को अतिशय रूप देने वाला, **नर्यः** मनुष्यों का हितकर्ता **सः** वह तू **नः** हमें **रुचे** तेज देने के लिए **भव** हो, **सख्ये** मित्र को **सखा इव** मित्र जैसे तेज देता है ॥२॥

यहाँ उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— जीवात्मा जैसे शरीर में स्थित सब मन, बुद्धि, प्राण आदियों को अपने-अपने कर्म मे संचालित करता हुआ और उन्हें शक्ति देता हुआ शरीर का सम्राट् होता है, वैसे ही परमेश्वर ब्रह्माण्ड में स्थित सूर्य, चाँद, नक्षत्र आदियों को संचालित करता हुआ और उन्हें शक्ति देता हुआ ब्रह्माण्ड का सम्राट् होता है ॥२॥

अथ पुनरपि जीवात्मनः परमात्मनश्च विषयमाह ।

१ २ ३ २ ३ १र २र३ १ २ ३ १ २
१६१३. सनेमि त्वमस्मदा अदेवं कं चिदत्रिणम् ।
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
साह्वाँ इन्दो परि बाधो अप द्वयुम् ॥३॥[1]

१ २र ३ २ १ २र ३ २ ३ १ २
सनेमि त्वम् अस्मत् आ । अदेवम् अ देवम् कम् चित् अत्रिणम् ।
३ २ ३ १ २र १ २र १ २र ३ २
साह्वान् इन्दो परि बाधः अप द्वयुम् ॥३॥

पदार्थः— **हे इन्दो** तेजस्विन् जीवात्मन् परमात्मन् वा ! **त्वम्** शक्तिशाली त्वम् **सनेमि** पुराणं सख्यम् । [सनेमि इति पुराणनाम । निघं० ३।२७ ।] **अस्मत्** अस्मासु । [अत्र 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति विभक्तेर्लुक् ।] **आ** आनय । **अदेवम्** अदातारम् असहायकम् **कं चित्** कमपि **अत्रिणम्** भक्षकं पापदुर्व्यसनादिकं दुर्जनं वा **अप** अपगमय । **साह्वान्** शत्रूणां पराजेता त्वम् **बाधः** बाधकान् **परि** परि जहि, **द्वयुम्** द्वयवन्तं सत्यानृतोभययुक्तं, परोक्षमन्यत् प्रत्यक्षमन्यत्, मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् इति द्विविधाचरणोपेतं छद्मव्यवहारिणं च जनम् **अप** अपगमय ॥३॥

भावार्थः— जीवात्मानं प्रोत्साह्य परमात्मानं च समुपास्य सर्वे जना दुष्टान् छद्माचारिणश्च दूरीकृत्य सत्सङ्गतिं विधाय स्वात्मानं समाजं चोन्नयन्तु ॥३॥

---

१. ऋ० ९।१०५।६, 'त्वमस्मदाँ' इति भेदः ।

आगे फिर जीवात्मा और परमात्मा का विषय है ।

पदार्थ– हे **इन्दो** तेजस्वी जीवात्मन् वा परमात्मन् ! **त्वम्** शक्तिशाली तू **सनेमि** पुरानी मित्रता को **अस्मत्** हमारे प्रति **आ** ला । **अदेवम्** न देने वाले, सहायता न करने वाले **कंचित्** किसी भी **अत्रिणम्** भक्षक पाप, दुर्व्यसन आदि को वा दुर्जन को **अप** दूर कर दे । **साह्वान्** शत्रुओं को पराजित करने वाला तू **बाधः** बाधकों को **परि** चारों ओर विनष्ट कर, **द्वयुम्** सत्य-असत्य दोनों से युक्त अथवा पीछे कुछ और सामने कुछ या मन में कुछ और वचन में कुछ इस द्विविध आचरण वाले, छल-छद्म का व्यवहार करने वाले मनुष्य को **अप** दूर कर दे ॥३॥

भावार्थ– जीवात्मा को प्रोत्साहन देकर और परमात्मा की उपासना करके सब लोग दुष्टों तथा छद्म का आचरण करने वालों को दूर हटाकर, सज्जनों की संगति करके स्वयं को और समाज को उन्नत करें ॥३॥

॥२१॥ अथ 'अञ्जते' इत्यादिकस्यैकविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अत्रिर्भौमः । **देवता** पवमानः सोमः। **छन्दः** जगती । **स्वरः** निषादः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५६४ क्रमाङ्के व्याख्यातपूर्वा । अत्र प्रकारान्तरेण व्याख्यायते ।

३ २ ३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३क २र
१६१४. अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मध्वाभ्यञ्जते ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमप्सु गृभ्णते ॥१॥[1]

३ १ २ ३ २ ३ १२र ३ १ २र ३ २ ३
अञ्जते वि अञ्जते सम् अञ्जते । क्रतुम् रिहन्ति मध्वा अभि अञ्जते ।

१ २र ३ २ ३ २ ३ १ २
सिन्धोः उच्छ्वासे उत् श्वासे पतयन्तम् उक्षणम् ।

३ २ ३ २ ३ २ ३
हिरण्यपावाः हिरण्य पावाः पशुम् अप्सु गृभ्णते ॥१॥

पदार्थः– परमेश्वरोपासका विद्वांसो जनाः **अञ्जते** स्वात्मानं म्रक्षन्ति मार्जयन्ति, **व्यञ्जते** स्तुतिवाचो व्यक्तीकुर्वन्ति, **समञ्जते** परमात्मना सह स्वात्मानं मेलयन्ति, **क्रतुम्** सज्ज्ञानं सत्कर्म च **रिहन्ति** आस्वादयन्ति, **मध्वा** मधुरेण ब्रह्मानन्देन **अभ्यञ्जते** स्वात्मनि सद्गुणानाम् अभ्यङ्गं कुर्वन्ति, स्वात्मानं संस्कुर्वन्तीत्यर्थः । **सिन्धोः** रक्तसमुद्रस्य हृदयस्य **उच्छ्वासे** स्पन्दने **पतयन्तम्** गतिं प्रयच्छन्तम् **उक्षणम्** बलस्य सेक्तारम् **पशुम्** द्रष्टारं जीवात्मानम् **हिरण्यपावाः** ज्योतिषो रक्षकाः उपासकाः **अप्सु** स्वकीयेषु कर्मसु **गृभ्णते** गृह्णन्ति, तत्प्रेरणानुसारं कर्माणि कुर्वन्तीत्यर्थः ॥१॥

अत्रैकस्य कर्तृकारकस्यानेकक्रियाभिः सह सम्बन्धाद् दीपकालङ्कारः। 'अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्' सा० द० १० । ४९ इति तल्लक्षणात् । 'ञ्जते' इत्यस्य चतुष्कृत्वः पठनाद् वृत्त्यनुप्रासः ॥१॥

भावार्थः– देहे हृदयस्पन्दनं धमनिषु शिरासु च रक्तसंचरणं फुप्फुसयोरक्तशोधनमित्यादि यत्किञ्चिदपि कार्यमस्ति तत् सर्वं जीवात्माधीनं, जीवात्मापि च परमात्माधीनः ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ५६४ क्रमांक पर की जा चुकी है । यहाँ भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं ।

---

१. ऋ० ९।८६।४३ 'मधुनाभ्यञ्जते,' 'पशुमांसु' इति भेदः । अथ० १८।३।१८ ऋषिः अथर्वा, देवता यमः, पाठः ऋग्वेदवत् । साम० ५६४ ।

पदार्थ– परमेश्वर के उपासक विद्वान् लोग **अञ्जते** स्वयं का मार्जन करते हैं, **व्यञ्जते** स्तुति-वाणियों को व्यक्त करते हैं, **समञ्जते** परमात्मा के साथ संगम करते हैं, **क्रतुम्** श्रेष्ठ ज्ञान और श्रेष्ठ कर्म का **रिहन्ति** आस्वादन करते हैं, **मध्वा** मधुर ब्रह्मानन्द से **अभ्यञ्जते** अपने आत्मा में सद्गुणों का उबटन लगाते हैं, अर्थात् अपने आत्मा को संस्कृत करते हैं। **सिन्धोः** रक्त के सिन्धु हृदय के **उच्छ्वासे** स्पन्दन में **पतयन्तम्** गति देते हुए, **उक्षणम्** बल को सींचने वाले, **पशुम्** द्रष्टा जीवात्मा को **हिरण्यपावाः** ज्योति के रक्षक उपासक लोग **अप्सु** अपने कर्मों में **गृभ्णते** ग्रहण कर लेते हैं अर्थात् उसकी प्रेरणा के अनुसार कर्म करते हैं ॥१॥

यहाँ एक कर्ता कारक के अनेक क्रियाओं से सम्बन्ध होने के कारण दीपक अलंकार है, जैसा कि साहित्यदर्पण में इसका लक्षण किया गया है– 'अनेक क्रियाओं में एक कारक हो तो दीपक होता है (सा० द० १०।४९)' । 'ञ्जते' के चार बार पठित होने से वृत्त्यनुप्रास है ॥१॥

भावार्थ– शरीर में हृदय का स्पन्दन, धमनियों और शिराओं में रक्त का संचार, फेफड़ों में रक्त का शोधन इत्यादि जो कुछ भी कार्य है वह सब जीवात्मा के अधीन है और जीवात्मा भी परमात्मा के अधीन है ॥१॥

अथ जीवात्मानं वर्णयति ।

१६१५. विपश्चिते पवमानाय गायत मही न धारात्यन्धो अर्षति ।
अहिर्न जूर्णामति सर्पति त्वचमत्यो न क्रीडन्नसरद्वृषा हरिः ॥२॥[1]

विपश्चिते विपः चिते पवमानाय गायत । मही न धारा अति अन्धः अर्षति ।
अहिः न जूर्णाम् अति सर्पति त्वचम् । अत्यः न क्रीडन् असरत् वृषा हरिः ॥२॥

पदार्थः– हे मानवाः ! यूयम् **विपश्चिते** मेधाविने, **पवमानाय** मनोबुद्धीन्द्रियादीनां पावका जीवात्मने **गायत** तन्महत्त्वं वर्णयत । सः **अन्धः** अन्धकारं, तमोगुणम् **अत्यर्षति** अतिपारयति । कथमिव ? **मही न धारा** महती जलधारा यथा मार्गे समागतां पाषाणादिबाधाम् अत्यर्षति अतिपारयति । स जीवात्मा **जूर्णाम्** जीर्णाम् **त्वचम्** चर्ममयीं तनूम् **अतिसर्पति** परित्यज्य गच्छति । कथमिव ? **अहिः न** सर्पः यथा **जूर्णाम्** जीर्णाम् **त्वचम्** कञ्चुलिकाम् **अतिसर्पति** परित्यज्य गच्छति । किञ्च, **वृषा** बलवान् **हरिः** शरीररथस्य वाहकः स जीवात्मा **अत्यः न** रथे नियुक्तः अश्वः इव **क्रीडन्** क्रीडां कुर्वन् **असरत्** शरीररथं वहन् चलति ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः– न जाने कदा जीवो देहं त्यक्त्वा गच्छेद्, अतः सद्य एव धर्मकर्मसु मनः कार्यं, नोचेत् पश्चात्तापो भविष्यति ॥२॥

अगले मन्त्र में जीवात्मा का वर्णन है ।

---

१. ऋ० ९।८६।४४ ।

पदार्थ– हे मनुष्यो ! तुम **विपश्चिते** मेधावान्, **पवमानाय** मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि को पवित्र करने वाले जीवात्मा के लिए **गायत** गाओ, उसके महत्त्व को वर्णित करो । वह **अन्धः** अन्धेरे को, तमोगुण को **अत्यर्षति** लाँघ जाता है, **मही न धारा** जैसे बड़ी जलधारा मार्ग में आयी हुई शिला आदि की बाधा को लाँघ जाती है । वह जीवात्मा **जूर्णाम्** पुरानी, बूढ़ी **त्वचम्** त्वचा को, त्वचा-युक्त शरीर को **अतिसर्पति** छोड़कर चला जाता है, **अहिः न** जैसे साँप **जूर्णाम्** पुरानी **त्वचम्** केंचुली को **अति सर्पति** छोड़कर चला जाता है । साथ ही **वृषा** बलवान्, **हरिः** शरीर-रथ का वाहक वह जीवात्मा **अत्यः न** रथ में जुड़े घोड़े के समान **क्रीडन्** कौड़ा करता हुआ **असरत्** शरीर-रथ को धारण किये हुए चलता है ॥१॥

यहाँ उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ– न जाने कब जीव शरीर को छोड़कर चला जाए । इसलिए शीघ्र ही धर्म-कर्मों में मन लगाना चाहिए, नहीं तो पीछे पछतावा होगा ॥२॥

अथ जगदीश्वरस्य गुणान् वर्णयति ।

३ १र २र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१६१६. अग्रेगो राजाप्यस्तविष्यते विमानो अह्नां भुवनेष्वर्पितः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३क २र
हरिर्घृतस्नुः सुदृशीको अर्णवो ज्योतीरथः पवते राय ओक्यः ॥३॥[1]

३ २ ३ २ १ २र १ २र ३
अग्रेगः अग्रे गः राजा अप्यः तविष्यते ।

१ २ ३ १२र १ २र ३ १२र १ २र
विमानः वि मानः अह्नाम् अ ह्नाम् भुवनेषु अर्पितः ।

१ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २
हरिः घृतस्नुः घृत स्नुः सुदृशीकः सु दृशीकः अर्णवः ज्योतीरथः

३ २ ३ २ ३क २
ज्योतिः रथः पवते राये ओक्यः ॥३॥

पदार्थः– **अग्रेगः** अग्रेगन्ता, **राजा** विश्वसम्राट्, **अप्यः** अद्भ्यः प्राणेभ्यो हितः । [प्राणा वा आपः । तै० ब्रा० ३।२।५।२, तां० ब्रा० ९।९।४ ।] **अह्नां विमानः** दिनानां निर्माता, **भुवनेषु अर्पितः** लोकलोकान्तरेषु व्यापकः सोमः परमेश्वरः, **तविष्यते** महिमगानेन वर्धिष्यते । **घृतस्नुः** वृष्ट्युदकस्य प्रस्रावयिता । [घृतमित्युदकनाम । निघं० १।१२। स्नु प्रस्रवणे, अदादिः ।] **सुदृशीकः** सुष्ठु द्रष्टुं योग्यः, **अर्णवः** सद्गुणानां पारावारः, **ज्योतीरथः** ज्योतिषां सूर्यचन्द्रविद्युदादीनां रंहयिता, **ओक्यः** ओकसे देहगृहाय हितः, सः **हरिः** हृदयहारी जगदीश्वरः, **राये** ऐश्वर्याय **पवते** प्राप्नोति ॥३॥

भावार्थः– अहोरात्रपक्षमासऋत्वयनसंवत्सरादीनां सूर्यचन्द्रनक्षत्रादीनां च निर्माता सर्वेषां हितकरः परमेश्वरः सर्वैर्वन्दनीयः ॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मनो जीवात्मनो नृपतेराचार्यस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्ज्ञेया ॥

अगले मन्त्र में जगदीश्वर के गुणों का वर्णन है।

---

१. ऋ० ९।८६।४५।

पदार्थ– अग्रेगः आगे-आगे चलने वाला, **राजा** विश्व का राजा, **अप्यः** प्राणों के लिए हितकर, **अह्नां विमानः** दिनों का निर्माण करने वाला, **भुवनेषु अर्पितः** लोकलोकान्तरों में व्यापक सोम परमेश्वर **तविष्यते** महिमा-गान द्वारा बढ़ेगा । **घृतस्नुः** वृष्टि-जल को बरसाने वाला, **सुदृशीकः** भली-भाँति दर्शन करने योग्य, **अर्णवः** सद्गुणों का समुद्र, **ज्योतीरथः** सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि ज्योतिष्मान् पदार्थोंको वेगसे चलानेवाला, **ओक्यः** गृहरूप देह के लिए हितकर **हरिः** वह हृदयहारी जगदीश्वर **राये** ऐश्वर्य देने के लिए **पवते** प्राप्त होता है ।।३।।

भावार्थ– दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, दक्षिणायन, उत्तरायण, वर्ष आदि का और सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि का बनाने वाला सबका हितकर्ता परमेश्वर सबके द्वारा वन्दनीय है ।।३।।

इस खण्ड में परमात्मा, जीवात्मा, राजा और आचार्य का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ।

सोलहवें अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त।

सोलहवाँ अध्याय समाप्त ।

सप्तम प्रपाठक में तृतीय अर्ध समाप्त ।

इति बरेलीमण्डलान्तर्गतफरीदपुरवास्तव्यश्रीमद्योगव्यायामशालासंचालकेन

सामवेदभाष्ये उत्तरार्चिके षष्ठः प्रपाठकः समाप्तिमगात् ।।

अथ सप्तदशोऽध्यायः अष्टमे प्रपाठके प्रथमोऽर्धश्च

।।१।। अथ 'विश्वेभिः' इत्यादिकस्य प्रथमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** शुनःशेप आजीगर्तिः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ परमात्मा प्रार्थ्यते ।

१६१७. विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिमं यज्ञमिदं वचः । चनो धाः सहसो यहो ।।१।।[1]

विश्वेभिः अग्ने अग्निभिः । इमम् यज्ञम् इदम् वचः । चनः धाः सहसः यहो ।।१।।

पदार्थः— हे **अग्ने** जगन्नायक परमात्मन् ! त्वम् **विश्वेभिः** सर्वैः **अग्निभिः** संकल्पोत्साहमहत्त्वाकाङ्क्षा-वीरतादीनाम् अर्चिभिः, **इमम्** एतम् **यज्ञम्** अस्मदीयं जीवनयज्ञम् आयाहीति शेषः । **इदम्** एतत् **वचः** वचनं, त्वं शृणु । हे **सहसः यहो** बलस्य पुत्रवद् विद्यमान, अतिशयबलवन् ! त्वम् अस्मभ्यम् **चनः** आनन्दामृतम् **धाः** देहि ।।१।।[2]

भावार्थः— निरग्निर्मानवो मृतवद् भवति । अतो हृदयेऽग्नीन् प्रज्वाल्याऽऽशावादेन सह कर्मयोगमाश्रित्य विजयश्रीः सर्वैराप्तव्या ।।१।।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **अग्ने** जगन्नायक परमात्मन् ! आप **विश्वेभिः** सब **अग्निभिः** संकल्प, उत्साह, महत्त्वाकांक्षा, वीरता आदि की अग्नियों के साथ **इमम्** इस **यज्ञम्** हमारे जीवन-यज्ञ में आओ । **इदम्** इस **वचः** वचन को सुनो । हे **सहसः यहो** बल के पुत्र अर्थात् अतिबली परमात्मन् ! आप हमें **चनः** आनन्द का अमृत **धाः** प्रदान करो ।।१।।

---

१. ऋ० १।२६।१०।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वत्पक्षे योजितवान् ।

भावार्थ– अग्निहीन मनुष्य मृत के तुल्य होता है । इसलिए हृदय में अग्नियों को प्रज्वलित कर आशावाद के साथ कर्मयोग का सहारा लेकर विजयश्री सबको प्राप्त करनी चाहिए ।।१।।

अथ परमात्मनि समर्पणं कुरुते ।

१६१८. यच्चिद्धि शश्वता तना देवंदेवं यजामहे । त्वे इद्धूयते हविः ।।२।।[1]

यत् चित् हि शश्वता तना। देवंदेवं देवम् देवम् यजामहे।
त्वेइति इत् हूयते हविः।।२।।

पदार्थः– **यत् चित् हि** यद्यपि **शश्वता** प्रचुरेण **तना** धनेन । [तना इति धननामसु पठितम् । निघं० २।१० । तनेन इति प्राप्ते 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति विभक्तेराकारादेशः ।] वयम्, **देवं देवम्** विद्वांसम् विद्वांसम् **यजामहे** सत्कुर्मः, तथापि हे अग्ने जगन्नायक परमात्मन् ! वस्तुतः **हविः** होतव्यं समर्पणीयं वस्तु आत्ममनोबुद्ध्यादिकम् सर्वं कर्म च **त्वे इत्** त्वयि एव **हूयते** अस्माभिः समर्प्यते ।।२।।[2]

भावार्थः– यथोचितः सत्कारो मातापित्रतिथिनृपत्याचार्योपदेशकवानप्रस्थपरिव्राजकादीनां सर्वेषामेव कर्तव्यः, किन्तु जगदुत्पादकधारकसंहारकादिरूपेणैकः परमेश्वर एव पूजनीयः ।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा को समर्पण किया गया है।

पदार्थ– **यत् चित् हि** यद्यपि **शश्वता** प्रचुर **तना** धन से, हम **देवं देवम्** प्रत्येक विद्वान् का **यजामहे** सत्कार करते हैं, तो भी हे अग्ने ! हे जगन्नायक परमात्मन् ! वस्तुतः **हविः** समर्पणीय आत्मा, मन, बुद्धि आदि तथा सब कर्म **त्वे इत्** आप में ही **हूयते** हमारे द्वारा समर्पित हैं।।२।।

भावार्थ– यथोचित सत्कार माता, पिता, अतिथि, राजा, आचार्य, उपदेशक, वानप्रस्थ, संन्यासी आदि सभी का करना चाहिए, किन्तु जगत् के उत्पत्तिकर्ता, धारणकर्ता, संहारकर्ता आदि रूप में एक परमेश्वर की ही पूजा करनी योग्य है ।।२।।

अथोपास्योपासकयोः सम्बन्धमाह ।

१६१९. प्रियो नो अस्तु विश्पतिर्होता मन्द्रो वरेण्यः । प्रियाः स्वग्नयो वयम् ।।३।।[3]

प्रियः नः अस्तु विश्पतिः । होता मन्द्रः वरेण्यः।
प्रियाः स्वग्नयः सु अग्नयः वयम् ।।३।।

पदार्थः– **विश्पतिः** प्रजापालको नृपतिरिव सर्वेषां जनानां पालकः, **होता** दातव्यानां वस्तूनां प्रदाता, **मन्द्रः** आनन्दप्रदः, **वरेण्यः** वरणीयः जगदीश्वरः **नः** अस्माकम् **प्रियः** प्रीतिविषयः **अस्तु** भवतु । **स्वग्नयः** शुभानां

---

१. ऋ० १।२६।६।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं 'होत्रादिभिरस्माभिः किं कर्तव्य'मिति विषये व्याचष्टे ।
३. ऋ० १।२६।७ ।

संकल्पोत्साहराष्ट्रियतावीरतादीनाम् आहवनीयादीनां वा अग्नीनां सम्पादकाः **वयम्** वयम् उपासका जना अपि, तस्य जगदीश्वरस्य **प्रियाः** प्रीतिविषयाः, स्यामेति शेषः ॥३॥[1]

अत्रान्योन्यालङ्कारः[2]॥३॥

भावार्थः— यदा मनुष्याः परमात्मनि प्रीतिं कुर्वान्ति तदा सोऽपि तेषु प्रीतिं करोति ॥३॥

अगले मन्त्र में उपास्य-उपासक का संबन्ध वर्णित है ।

पदार्थः— **विश्पतिः** प्रजापालक राजा के समान सब मनुष्यों को पालनकर्ता, **होता** देने योग्य वस्तुओं का देने वाला, **मन्द्रः** आनन्द-प्रदाता, **वरेण्यः** वरणीय जगदीश्वर **नः** हमारा **प्रियः** प्यारा **अस्तु** होवे । **स्वग्नयः** शुभ संकल्प, उत्साह, राष्ट्रियता, वीरता आदि अथवा आहवनीय आदि अग्नियों वाले **वयम्** हम उपासक जन भी उस जगदीश्वर के **प्रियाः** प्यारे होवें ॥३॥

यहाँ अन्योन्यालंकार है ॥३॥

भावार्थ— जब मनुष्य परमात्मा से प्रीति करते हैं तब वह भी उनसे प्रीति करता है ॥३॥

॥२॥ अथ 'इन्द्रं वो' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मधुच्छन्दा **वैश्वामित्रः** । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादाविन्द्रनाम्ना परमात्मविषयमाह ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१६२०. इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः। अस्माकमस्तु केवलः ॥१॥[3]

१ २र ३ १ २ १ २र १ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २र
इन्द्रम् वः विश्वतः परि। हवामहे जनेभ्यः । अस्माकम् अस्तु केवलः ॥१॥

पदार्थः— हे सखायः ! **विश्वतः परि** सर्वेभ्यः उपरि वयम् **इन्द्रम्** विघ्नविदारकं परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् **जनेभ्यः वः** प्रजाभ्यः युष्मभ्यम् **हवामहे** आह्वयामः। सः **अस्माकम् स्तोतॄणाम् केवलः अद्वितीयः सखा अस्तु** जायताम् ॥१॥[4]

भावार्थः— कामं मातापितृनृपत्यादयोऽस्माकं सुखप्रदा भवन्ति, परं सदा सहायः सदाऽशरणशरणः सदा धैर्यप्रदः सखा तु जगदीश्वर एव ॥१॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र नाम से परमात्मा का विषय है ।

पदार्थ— हे साथियो ! **विश्वतः परि** सबसे ऊपर, हम **इन्द्रम्** विघ्ननाशक, परमैश्वर्यवान् परमात्मा को **जनेभ्यः वः** आप प्रजाजनों के लिए **हवामहे** पुकारते हैं। वह **अस्माकम्** हम **स्तोताओं का केवलः अद्वितीय सखा अस्तु** होवे ॥१॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं राजप्रजाधर्मविषये व्याख्यातः ।

२. अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः कारणं मिथः (सा० द० १०।७२) इति तल्लक्षणात् ।

३. ऋ० १।७।१०, अथ० २०।३९।१; ७०।१६ ।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्र एष परमेश्वरविषये व्याख्यातः ।

भावार्थ– भले ही माता, पिता, राजा आदि हमें सुख देने वाले होते हैं, परन्तु सदा सहायक, सदा अशरण-शरण, सदा धैर्यप्रदाता सखा तो जगदीश्वर ही है ।।१।।

अथ परमात्मानं प्रार्थयते ।

१६२१ . स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि । अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः ।।२।।[1]

सः नः वृषन् अमुम् चरुम् । सत्रादावन् सत्रा दावन् अप वृधि ।
अस्मभ्यम् अप्रतिष्कुतः अ प्रतिष्कुतः ।।२।।

पदार्थः– हे **वृषन्** सुखवर्षक, **सत्रादावन्**[2] युगपद् दानप्रद सत्यप्रेरक सृष्टियज्ञसम्पादक वा जगदीश्वर ! **अप्रतिष्कुतः** असञ्चलितः। [अप्रतिष्कुतः अप्रतिष्कृतोऽप्रतिस्खलितो वेति निरुक्तम् (६।१६)।] **सः** असौ त्वम् **अस्मभ्यम्** त्वदाज्ञायां पुरुषार्थे च वर्तमानेभ्यः उपासकेभ्यः **अमुं चरुम्** सूर्यप्रतिबन्धकं मेघमिव एतं मोक्षमार्गप्रतिबन्धकं कदाचारादिकम् । [चरुरिति मेघनाम । निघं० १।१० ।] **अपावृधि** दूरीकुरु ।।२।।[3]

भावार्थः– यथा सूर्यः स्वप्रकाशसञ्चारबाधकं मेघकपाटमपावृत्य भूमण्डलं प्रकाशयति तथैव जगदीश्वरोऽस्माकं मोक्षबाधकमविद्यादुष्कर्मादिकमपसार्यास्मान् मोक्षं प्रापयति ।।२।।

अब परमात्मा से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ– हे **वृषन्** सुखों की वर्षा करने वाले, **सत्रादावन्** एकसाथ दान देने वाले, सत्य के प्रेरक वा सृष्टियज्ञ के संपादक जगदीश्वर ! **अप्रतिष्कुतः** अविचल **सः** वह आप **अस्मभ्यम्** आपकी आज्ञा में और पुरुषार्थ में वर्तमान हम उपासकों के लिए **अमुं चरुम्** सूर्य के प्रतिबन्धक मेघ के समान इस मोक्षमार्ग में रुकावट डालने वाले अविद्या, दुराचार आदि को **अपावृधि** दूर कर दो ।।२।।

भावार्थ– जैसे सूर्य अपने प्रकाश के संचार में बाधा डालने वाले मेघरूप कपाट को खोलकर भूमण्डल को प्रकाशित करता है, वैसे ही जगदीश्वर हमारे मोक्ष में बाधक अविद्या, दुष्कर्म आदि को हटाकर हमें मोक्ष प्राप्त कराते हैं।।२।।

अथ कीदृशः परमात्मा क इव कान् प्राप्नोतीत्याह ।

१६२२. वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा । ईशानो अप्रतिष्कुतः ।।३।।[4]

वृषा यूथा इव वंसगः । कृष्टीःइयर्ति ओजसा ।
ईशानः अप्रतिष्कुतः अ प्रतिष्कुतः ।।३।।

---

१. ऋ० १।७।६ ।

२. सत्रादावन्, अस्मदभीष्टफलानां सर्वेषां सह प्रदातः । 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' (३. २. ७४) इति वनिप्, 'आमन्त्रितस्य च' (६।१।१९८) इत्याद्युदात्तत्वम्, पादादित्वान्न निघातः– इति सा० । सत्यं ददातीति तत्संबुद्धौ, सत्रं वृष्ट्याख्यं यज्ञं समन्ताद् ददातीति स वा । सत्रेति सत्यनामसु पठितम् (निघं० ३।१०) इति ऋ० १।७।६ भाष्ये द० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं परमेश्वरसूर्ययोर्विषये व्याचख्यौ ।

४. ऋ० १।७।८; अथ० २०।७०।४ ।

पदार्थः— **वंसगः**[1] वननीयगतिः, कमनीयगमनः **वृषा** वृषभः **यूथा इव** गोयूथानि इव **वृषा** शुभगुण-वर्षणकर्ता **वंसगः**[2] वंसं धर्मसेविनं गच्छतीति तथाविधः **ईशानः** जगदीश्वरः **अप्रतिष्कुतः** केनापि अप्रतिरुद्धः सन् **ओजसा** बलेन **कृष्टीः** उपासकान् मनुष्यान् **इयर्ति** प्राप्नोति ॥३॥[3]

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— ये श्रद्धया परमेश्वरमुपासते परमेश्वरोऽपि तेषां धर्मात्मनां जनानां साहाय्यमवशयं करोति तेभ्यो बलं च ददाति ॥३॥

अब कैसा परमात्मा किस के समान किन्हें प्राप्त होता है यह कहते हैं ।

पदार्थ— **वंसगः** शान से चलने वाला **वृषा** सांड **यूथा इव** जैसे गौओं के झुण्ड में जाता है, वैसे ही **वृषा** शुभगुणों की वर्षा करने वाला, **वंसगः** धर्मसेवी के पास जाने वाला **ईशानः** जगदीश्वर **अप्रतिष्कुतः** किसी से न रोका जाता हुआ **ओजसा** बल के साथ **कृष्टीः** उपासक मनुष्यों के पास **इयर्ति** पहुंच जाता है ॥३॥

यहाँ श्लिष्टोपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ— जो श्रद्धा से परमेश्वर की उपासना करते हैं परमेश्वर भी उन धर्मात्मा लोगों की अवश्य सहायता करता है और उन्हें बल देता है ॥३॥

॥३॥ अथ 'त्वं नश्चित्र' इत्यादिकस्य तृतीयस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** शंयुर्बार्हस्पत्यः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती)। **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४१ क्रमाङ्के व्याख्यातपूर्वा । अत्र परमेश्वर आचार्यश्च प्रार्थ्यते ।

१६२३. त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय ।
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तुचे तु नः ॥१॥[4]

त्वम् नः चित्रः ऊत्या। वसो राधांसि चोदय ।
अस्य रायः त्वम् अग्ने रथीः असि । विदाः गाधम् तुचे तु नः ॥१॥

पदार्थः— हे **वसो** निवासक परमेश्वर आचार्य वा ! **चित्रः** अद्भुतगुणः **त्वम् ऊत्या** रक्षया सार्धम् **नः** अस्मभ्यम् **राधांसि** विद्याधनानि सच्चारित्र्यादिधनानि अध्यात्मैश्वर्याणि च **चोदय** प्रेरय । हे **अग्ने** विद्वन् अग्रनायक तेजस्विन् परमेश्वर आचार्य वा ! **त्वम् अस्य** एतस्य **रायः** विद्यासदाचारादिधनस्य **रथीः** स्वामी **असि** विद्यसे । अतः **नः** अस्माकम् **तुचे** अपत्याय **तु** क्षिप्रम् **गाधम्** तलस्पर्शि पाण्डित्यम् **विदाः** लम्भय ॥१॥[5]

---

१. वंसगः वननीयगतिः । पृषोदरादित्वात् अभिमतरूपसिद्धिः—इति सा० ।

२. वंसगः धर्मसेविनं संविभक्तपदार्थान् वा गच्छतीति-ऋग्भाष्ये द०।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयमीश्वरपक्षे सूर्यपक्षे च व्याख्यातः ।

४. ऋ० ६।४८।९, साम० ४१ ।

५. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं विद्वांसोऽपत्यानि कथं शिक्षेरन्निति विषये व्याख्यातः।

भावार्थः— यथा जगदीश्वरः सर्वेषामात्मनि ज्ञानसद्गुणादिकं प्रेरयति तथैव विद्वांसो गुरुजना गृहस्थान् सम्यगुपदिशन्तु, तेषां पुत्रपौत्रादींश्च गुरुकुले सर्वा विद्या अध्याप्य विदुषश्चरित्रवतश्च कुर्युः ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ४१ क्रमांक पर हो चुकी है । यहां परमेश्वर और आचार्य से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे **वसो** निवासक परमेश्वर वा आचार्य ! **चित्रः** अद्भुत गुणों वाले **त्वम्** आप **ऊत्या** रक्षा के साथ **नः** हमारे लिए **राधांसि** विद्या-धन, सच्चरित्रता आदि के धन और आध्यात्मिक ऐश्वर्य **चोदय** प्रेरित करो। हे **अग्ने** विद्वान्, अग्रनायक, तेजस्वी परमेश्वर वा आचार्य ! **त्वम्** आप **अस्य** इस **रायः** विद्या, सदाचार आदि धन के **रथीः** स्वामी **असि** हो । इसलिए **नः** हमारी **तुचे** सन्तान के लिए **तु** शीघ्र ही **गाधम्** तलस्पर्शी पाण्डित्य **विदाः** प्राप्त कराओ ॥१॥

भावार्थ— जैसे जगदीश्वर सबके आत्मा में ज्ञान, सद्गुण आदि प्रेरित करता है, वैसे ही विद्वान् गुरुजन गृहस्थों को भली-भाँति उपदेश करें और उनके पुत्र, पौत्र आदियों को गुरुकुल में सब विद्याएँ पढ़ाकर विद्वान् तथा चरित्रवान् बनायें ॥१॥

अथ पुनरपि परमेश्वरमाचार्यं चाह ।

१६२४. **पर्षि तोकं तनयं पर्तृभिष्ट्वमदब्धैरप्रयुत्वभिः ।**
अग्ने हेडांसि दैव्या युयोधि नोऽदेवानि ह्वरांसि च ॥२॥[1]

पर्षि तोकम् तनयम् पर्तृभिः त्वम्। अदब्धैः अ दब्धैः अप्रयुत्वभिः अ प्रयुत्वभिः।
अग्ने हेडांसि दैव्या युयोधि नः। अदेवानि अ देवानि ह्वरांसि च ॥२॥

पदार्थः— हे **अग्ने** अग्रनेतः परमात्मन् आचार्य वा ! **त्वम् अदब्धैः** अबाधैः **अप्रयुत्वभिः** अस्मत्तोऽपृथग्-भूतैः, सदा संनिहितैरित्यर्थः। [प्र यु मिश्रणामिश्रणयोः, क्वनिप् प्रयुत्वा । ततो नञ् समासः ।] **पर्तृभिः** पालनपूरण-प्रकारैः । [पॄ पालनपूरणयोः, 'बहुलमन्यत्रापि' उ० २।९६ इति तृच्।] **तोकं तनयम्** पुत्रं पौत्रं च **पर्षि** पालय, विद्यादिभिः पूरय च । **नः** अस्माकम् **दैव्या** दैव्यानि, देवेषु धार्मिकेषु विद्वत्सु प्रयुक्तानि **हेडांसि** अनादररूपान् अपराधान् । [हेडृ अनादरे, भ्वादिः, 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' उ० ४।१९० इत्यसुन् ।] **अदेवानि च** अवाञ्छनीयानि **च ह्वरांसि** कुटिलानि कर्माणि **युयोधि** पृथक् कुरु ॥२॥[2]

भावार्थः— परमात्मनः प्रेरणया गुरूणां च शिक्षया सर्वैर्जनैर्दुर्गुणदुर्व्यसनादीनि परिहर्तव्यानि सद्गुणाः सत्कर्माणि च प्राप्तव्यानि ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः परमेश्वर और आचार्य को कहते हैं।

---

१. ऋ० ६।४८।१०।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं 'येऽध्यापकोपदेशका **अध्यापनोपदेशाभ्यां** शुभान् गुणान् ग्राहयित्वा सर्वेषां दोषान्निवारयन्ति त एव सर्वदा सत्कर्तव्या भवन्तीति विषये व्याख्यातवान् ।

पदार्थ– हे **अग्ने** परमात्मन् वा आचार्य ! **त्वम्** आप **अदब्धैः** अबाध, **अप्रयुत्वभिः** अलग न होने वाले **पर्तृभिः** पालन-पूरण के प्रकारों से **तोकं तनयम्** पुत्र-पौत्र की **पर्षि** पालना करो और उन्हें विद्या आदि से भरपूर करो । **नः** हमारे **दैव्या** धार्मिक विद्वानों के प्रति किये जाने वाले **हेडांसि** अनादर रूप अपराधों को, **अदेवानि च** और अवांछनीय **ह्वरांसि** कुटिल कर्मों को **युयोधि** हमसे अलग करो ।।२।।

भावार्थ– परमात्मा की प्रेरणा से और गुरुओं की शिक्षा से सब मनुष्यों को दुर्गुण, दुर्व्यसन आदि छोड़ने चाहिएँ और सद्गुणों तथा सत्कर्मों को प्राप्त करना चाहिए ।।२।।

।।४।। अथ 'किमित्ते' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवता** विष्णुः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ।।

अथ परमात्मस्वरूपमाह ।

१६२५. **किमित्ते विष्णो परिचक्षि नाम प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि ।**
मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ ।।१।।[1]

किम् इत् ते विष्णो परिचक्षि परि चक्षि नाम ।
प्र यत् ववक्षे शिपिविष्टः शिपि विष्टः अस्मि । मा वर्पः अस्मत् अप गूहः एतत् ।
यत् अन्यरूपः अन्य रूपः समिथे सम् इथे बभूथ ।।१।।

पदार्थः– हे **विष्णो** सर्वव्यापक जगदीश ! [यो वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः ।] **किम् इत् ते** किम् एतदेव तव परिचक्षि **परिख्यापनीयम् नाम** स्वरूपम् अस्ति, **यत् प्र ववक्षे** प्र ब्रूषे **शिपिविष्टः** रश्मिभिरावृतः, तेजस्वीत्यर्थः **अस्मि** भवामि इति । तदतिरिक्तमपि त्वदीयं स्वरूपं वर्तत इत्याह **एतद्-वर्पः** इदं रूपम् **अस्मत्** अस्मत्सकाशात् **मा अप गूहः न** संवृणु **यत् समिथे** उपासनायज्ञे । [समिथे इति संग्रामनामसु पठितम् । निघं० २।१७ । संग्रामवाचिनः शब्दा यज्ञवाचिनोऽपि दृश्यन्ते ।] **अन्यरूपः** जगत्प्रपञ्चाधिष्ठिताद् रूपाद् भिन्नरूपः **बभूथ** भवसि । [तथा चोक्तं पुरुषसूक्ते त्रिपादूर्ध्व-उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः (ऋ० १०।९०।४) इति] ।।२।।

यास्काचार्यो मन्त्रमिममेवं व्याचष्टे–[शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः । कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवतीत्यौपमन्यवः । किं ते विष्णोऽप्रख्यातमेतद् भवत्यप्रख्यापनीयं यन्नः प्रब्रूषे शेप इव निर्वेष्टितोऽस्मीत्यप्रतिपन्नरश्मिः । अपि वा प्रशंसानामैवाभिप्रेतं स्यात् । किं ते विष्णो प्रख्यातमेतद् भवति प्रख्यापनीयं यदुत प्रब्रूषे शिपिविष्टोऽस्मीति प्रतिपन्नरश्मिः । शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते, तैराविष्टो भवति । मा वर्पो अस्मदपगूह एतत्, वर्प इति रूपनाम, वृणोतीति सतः । यदन्यरूपः समिथे सङ्ग्रामे भवसि संयतरश्मिः] निरु० ५।८] ।।

भावार्थः– सूर्यादौ जगत्प्रपंचे परमात्मनो यत् तेजोमयं रूपं तत् सर्वेषां दृग्गोचरं जायते, परं तस्य जगत्प्रपञ्चातीतं यद् वास्तवं रूपं तद् योगिन एव साक्षात् कुर्वन्ति ।।१।।

---

१. ऋ० ७।१००।६, 'परिचक्षि नाम' इत्यत्र 'परिचक्ष्यं भूत्'।

अगले मंत्र में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है ।

पदार्थ– हे **विष्णो** सर्वव्यापक जगदीश्वर ! **किम् इत् ते** क्या यही आपका **परिचक्षि** चारों ओर प्रकाशनीय स्वरूप है **यत्** जो आप **प्र ववक्षे** कहते हो कि मैं **शिपिविष्टः** किरणों से घिरा हुआ अर्थात् तेजस्वी **अस्मि** हूँ ? उससे अतिरिक्त भी आपका स्वरूप है यह कहते हैं – **एतत् वर्पः** इस रूप को **अस्मत्** हमसे **मा अप गूहः** मत छिपाओ **यत्** कि आप **समिथे** उपासना-यज्ञ में **अन्यरूपः** जगत्प्रपंच में अधिष्ठित रूप से भिन्न **बभूथ** होते हो ॥१॥

भावार्थ– सूर्य आदि जगत्प्रपंच में परमात्मा का जो तेजोमय रूप है वह सबको दृष्टिगोचर होता है, परन्तु उसका जगत्प्रपंचातीत जो वास्तविक रूप है उसका योगी लोग ही साक्षात्कार करते हैं ॥१॥

अथ परमात्मानं स्तौति ।

१६२६. **प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट हव्यमर्यः शंसामि वयुनानि विद्वान् ।**
तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य रजसः पराके ॥२॥[1]

प्र तत् ते अद्य अद्य शिपिविष्ट शिपि विष्ट हव्यम् ।
अर्यः शंसामि वयुनानि विद्वान् । तम् त्वा गृणामि तवसम् अतव्यान् अ तव्यान् ।
क्षयन्तम् अस्य रजसः पराके ॥२॥

पदार्थः– हे **शिपिविष्ट** तेजःकिरणैरावृत विष्णो सर्वव्यापक जगदीश ! **अर्यः** स्तुतीनामीश्वरः । [अर्य इतीश्वरनाम । निघं० २।२२ ।] **वयुनानि विद्वान्** कर्तव्यकर्माणि जानानः अहम् **अद्य** अस्मिन् दिने **ते** तव **तत्** प्रसिद्धम् **हव्यम्** दानम् **प्र शंसामि** प्रकर्षेण स्तौमि । **अतव्यान्** अतवीयान्, अवृद्धतरः अहम् **तवसम्** प्रवृद्धम्, **अस्य रजसः** अस्य रजोगुणस्य **पराके** दूरे **क्षयन्तम्** क्षियन्तं निवसन्तम् **तम्** प्रसिद्धम् **त्वा** त्वाम्, **गृणामि** स्तौमि ॥२॥

भावार्थः– अल्पशक्तिर्मानवो महाशक्तेः परमात्मनो गुणानां स्मरणेन निरभिमानो भूत्वा महान्ति कार्याणि कर्तुं स्वात्मनि बलं सञ्चिनुयात् ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की स्तुति है ।

पदार्थ– हे **शिपिविष्ट** तेज की किरणों से घिरे हुए अर्थात् तेजस्वी सर्वव्यापक विष्णु जगदीश्वर ! **अर्यः** स्तुतियों का ईश्वर और **वयुनानि विद्वान्** कर्तव्य कर्मों को जानने वाला **मै अद्य** आज **ते** आपके **तत्** उस प्रसिद्ध **हव्यम्** दान की **प्र शंसामि** प्रशंसा करता हूँ । **अतव्यान्** अमहान् **मै तवसम्** महान् और **अस्य रजसः** इस रजोगुण के **पराके** परे **क्षयन्तम्** निवास करने वाले **तम्** उस प्रसिद्ध **त्वा** आपकी **गृणामि** स्तुति करता हूँ ॥२॥

भावार्थ– अल्पशक्ति वाला मनुष्य महाशक्ति वाले परमात्मा के गुणों के स्मरण से निरभिमान होकर महान् कार्यों को करने के लिए अपने आत्मा में बल संचित करे ॥२॥

---

१. ऋ० ७।१००।५, 'हव्यमर्यः' इत्यत्र 'नामार्यः' इति पाठः ।

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

१६२७. वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम् ।
वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥३॥'

वषट् ते विष्णो आसः आ कृणोमि । तत् मे जुषस्व शिपिविष्ट शिपि विष्ट हव्यम् ।
वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयः सु स्तुतयः गिरः मे ।
यूयम् पात स्वस्तिभिः सु अस्तिभिः सदा नः ॥३॥

पदार्थः— हे **विष्णो** सर्वान्तर्यामिन् जगदीश ! अहम् **आसः** आस्यात् **ते** तुभ्यम् **वषट्** स्तुतिम् **आकृणोमि** आकरोमि । हे **शिपिविष्ट** तेजोभिरावृत परमेश ! **तत् मे हव्यम्** तद् मम समर्पणम्, त्वम् **जुषस्व** प्रीत्या स्वीकुरु । **मे** मम **सुष्टुतयः** शोभनस्तुतिकाः **गिरः** वाचः **त्वा वर्धन्तु** त्वन्महिमानं वर्धयन्तु, प्रचारयन्तु । हे विष्णो जगदीश्वर ! **यूयम् स्वस्तिभिः** कल्याणपरम्पराभिः **नः** अस्मान् **सदा** सर्वदा **पात** रक्षत ॥३॥

भावार्थः— जने जने जगदीशस्य महिम्नः प्रचारेण सर्वे धार्मिका भूत्वा स्वस्य समाजस्य च जीवन-मुन्नयन्तु ॥३॥

अस्मिन् खण्डे जगदीश्वरस्याचार्यस्योपास्योपासकसम्बन्धस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।

आगे फिर उसी विषय में कहा गया है ।

पदार्थ— हे **विष्णो** सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर ! मैं **आसः** मुख से **ते** आपके लिए **वषट्** स्तुति को **आकृणोमि** करता हूँ । **तत् मे हव्यम्** उस मेरे समर्पण को, आप **जुषस्व** प्रेमपूर्वक स्वीकार करो । **मे** मेरी **सुष्टुतयः** उत्कृष्ट स्तुति वाली **गिरः** वाणियाँ **त्वा वर्धन्तु** आपकी महिमा को बढ़ायें, प्रचारित करें । हे विष्णु जगदीश्वर **यूयम्** तुम **स्वस्तिभिः** कल्याणों द्वारा **नः** हमारी **सदा** सदा **पात** रक्षा करते रहो ॥३॥

भावार्थ— जन-जन में जगदीश्वर की महिमा के प्रचार से सब धार्मिक होकर अपने और समाज के जीवन को उन्नत करें ॥३॥

इस खण्ड में जगदीश्वर, आचार्य और उपास्य-उपासक के सम्बन्ध का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

सत्रहवें अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ।

॥५॥ अथ 'वायो' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वामदेवो गौतमः । **देवता** १ वायुः, २-३ इन्द्रवायू । **छन्दः** अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ॥

---

१. ऋ० ७।९९।७, १००।७ ।

तत्रादावुपास्योपासकयोः पारस्परिकं सम्बन्धमाह ।

१६२८. **वायो शुक्रो अयामि ते मध्वो अग्रं दिविष्टिषु ।**
आ याहि सोमपीतये स्पार्हो देव नियुत्वता ॥१॥[1]

वायो शुक्रः अयामि ते । मध्वः अग्रम् दिविष्टिषु ।
आ याहि सोमपीतये सोम पीतये । स्पार्हः देव नियुत्वता नि युत्वता ॥१॥

पदार्थः— हे **वायो** सर्वान्तर्यामिन् जगदीश ! **दिविष्टिषु** विवेकप्रकाशप्राप्तिषु जातासु । [दिविष्टिषु दिव एषणेषु । निरु० ६।२२ ।] **शुक्रः** पवित्रः अहम् **ते** तव **मध्वः** आनन्दरसस्य **अग्रम्** श्रेष्ठ भागम् **अयामि** प्राप्नोमि । हे **देव** मोदमय ! **स्पार्हः** स्पृहणीयः त्वम् **सोमपीतये** मम श्रद्धारसस्य पानाय **नियुत्वता** नियुक्तेन रथेन इव **आयाहि** आगच्छ ॥१॥[2]

'नियुत्वता' इत्यत्र लुप्तोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— यथोपासकः परमेश्वरस्यानन्दरसानां पिपासुर्भवति तथा परमेश्वरोऽप्युपासकस्य भक्तिरसानां पिपासुर्जायते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में उपास्य-उपासक का आपस का सम्बन्ध वर्णित है ।

पदार्थ— हे **वायो** सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर ! **दिविष्टिषु** विवेक-प्रकाश की प्राप्तियों के हो जाने पर **शुक्रः** पवित्र मैं **ते** आपके **मध्वः** आनन्द-रस के **अग्रम्** श्रेष्ठ भाग को **अयामि** पा रहा हूँ । हे **देव** मोदमय! **स्पार्हः** स्पृहणीय आप **सोमपीतये** मेरे श्रद्धा-रस के पानार्थ **नियुत्वता** नियुक्त रथ से जैसे कोई आता है वैसे **आयाहि** आओ ॥१॥

यहाँ 'नियुत्वता' में लुप्तोपमालंकार है।१॥

भावार्थ— जैसे उपासक परमेश्वर के आनन्द-रसों का प्यासा होता है, वैसे ही परमेश्वर भी उपासक के भक्ति-रसों का प्यासा होता है ॥१॥

अथेन्द्रवायुनाम्ना जीवात्मप्राणयोः साहचर्यमाह ।

१६२९. **इन्द्रश्च वायवेषां सोमानां पीतिमर्हथः ।**
युवां हि यन्तीन्दवो निम्नमापो न सध्यक् ॥२॥[3]

इन्द्रः च वायो एषाम् । सोमानाम् पीतिम् अर्हथः । युवाम् हि यन्ति इन्दवः ।
निम्नम् आपः न सध्यक् स ध्र्यक् ॥२॥

---

१. ऋ० ४।४७।१, य० २७।३० ।

२. ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च दयानन्दस्वामिना मन्त्रेऽस्मिन् वायुसादृश्येन विद्वद्गुणा वर्णिताः ।

३. ऋ० ४।४७।२ ।

पदार्थः— हे **वायो** प्राण ! त्वम् **इन्द्रः च** जीवात्मा च, युवाम् **एषां सोमानाम्** एतेषाम् शान्तरसानाम् **पीतिम् अर्हथः** पानाय योग्यौ भवथः । **युवाम् हि** युवां खलु **इन्दवः** प्रकाशपूर्णाः शान्तरसाः **सध्यक्** युगपत् **यन्ति** प्राप्नुवन्ति । कथमिव ? **आपः न** उदकानि यथा **निम्नम्** नीचीनं भूभागं गच्छन्ति तद्वत् ॥२॥[1]

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— मनुष्यस्यात्मा प्राणायामेन योगसाधनया च परमेश्वरेण सख्यं संस्थाप्य ततो मधुरं शान्तरसं प्राप्तुं प्रभवति ॥२॥

अगले मन्त्र में इन्द्र और वायु के नाम से जीवात्मा और प्राण का साहचर्य वर्णित है ।

पदार्थ— हे **वायो** प्राण ! तू **इन्द्रः च** और जीवात्मा, तुम दोनों **एषां सोमानाम्** इन शान्त-रसों के **पीतिम् अर्हथः** पान के योग्य हो । **युवाम् हि** तुम दोनों की ओर **इन्दवः** प्रकाशपूर्ण शान्त-रस **सध्यक्** एकसाथ **यन्ति** आते हैं, **आपः न** जैसे जल **निम्नम्** निचले भूभाग की ओर आते हैं ॥२॥

यहाँ उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— मनुष्य का आत्मा प्राणायाम से और योगसाधना से परमेश्वर के साथ मित्रता संस्थापित करके उससे मधुर शान्त-रस प्राप्त कर सकता है ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१६३०. वायविन्द्रश्च शुष्मिणा सरथं शवसस्पती ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
नियुत्वन्ता न ऊतय आ यातं सोमपीतये ॥३॥[2]

१ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
वायो इन्द्रः च शुष्मिणा । सरथम् स रथम् शवसः पतीइति ।
३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३
नियुत्वन्ता नि युत्वन्ता नः ऊतये । आ यातम् सोमपीतये सोम पीतये ॥३॥

पदार्थः— हे **वायो** प्राण ! त्वम् **इन्द्रः च** जीवात्मा च **शुष्मिणा** शुष्मिणौ बलवन्तौ, **शवसः पती** बलस्य पालकौ, **नियुत्वन्ता** सदा नियुक्तौ सन्तौ **नः ऊतये** अस्माकं रक्षणाय **सरथम्** एकमेव देहरथम् आरुह्य **सोमपीतये** शान्तरसपानाय **आयातम्** आगच्छतम् ॥३॥[3]

भावार्थः— जीवात्मा प्राणेनैव सहचरितो देहमागच्छति, तेनैव सहचरितश्च जीवने सर्वाणि कार्याणि साध्नुवन् योगाभ्यासेन शान्तिं प्राप्नोति ॥३॥

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— हे **वायो** प्राण ! तू **इन्द्रः च** और जीवात्मा **शुष्मिणा** बलवान्, **शवसः पती** बल के रक्षक और **नियुत्वन्ता** सदा कार्य-तत्पर रहते हुए **नः ऊतये** हमारी रक्षा के लिए **सरथम्** एक ही देह-रथ पर चढ़कर **सोमपीतये** शान्त रस के पानार्थ **आयातम्** आओ ॥३॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वद्विषये व्याचष्टे ।

२. ऋ० ४।४७।३।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं राजामात्यगुणविषये व्याख्यातः ।

भावार्थ– जीवात्मा प्राण के ही साथ देह में आता है और उसी के साथ जीवन में सब कार्य सिद्ध करता हुआ योगाभ्यास द्वारा शान्ति प्राप्त करता है ।।३।।

।।६।। अथ 'अध क्षपा' इत्यादिकस्य षष्ठस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषी** रेभसूनू काश्यपौ । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ।।

अथ परमात्मजीवात्मविषयमाह ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र
१६३१. अध क्षपा परिष्कृतो वाजाँ अभि प्र गाहसे ।
१ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
यदी विवस्वतो धियो हरिं हिन्वन्ति यातवे ।।१।।[1]
१२र ३ २ १२र १२र ३ १ २र ३ २ ३
अध क्षपा परिष्कृतः परि कृतः । वाजान् अभि प्र गाहसे ।
१२र ३१ २ ३ १ २र १२र १ २र ३ १ २ १२र
यदि विवस्वतः वि वस्वतः धियः । हरिम् हिन्वन्ति यातवे ।।१।।

पदार्थः– हे मानव ! **यदि** यदा **विवस्वतः** तमोगुणान् विवासनवतः परमेश्वरस्य **धियः** प्रज्ञाः **हरिम्** मनुष्यं त्वाम् । [हरयः इति मनुष्यनामसु पठितम् । निघं० २।३ ।] **यातवे** यातुम्, पुरुषार्थं कर्तुम् **हिन्वन्ति** प्रेरयन्ति, तदा **क्षपा** क्षपया, परमेश्वरस्य दोषक्षपणशक्त्या **परिष्कृतः** संस्कृतः त्वम् **वाजान्** विविधानि ऐश्वर्याणि **अभि प्रगाहसे** अभ्यालेडयसि, तेषु ऐश्वर्येषु रमसे इत्यर्थः । [गाहू विलोडने, भ्वादिः] ।।१।।

भावार्थः– आत्मशुद्ध्या पुरुषार्थेनैव च मनुष्या विविधाः सम्पदः प्राप्तुं क्षमन्ते ।।१।।

अब परमात्मा और जीवात्मा का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ– हे मानव ! **यदि** जब **विवस्वतः** तमोगुणों को हटाने वाले परमेश्वर की **धियः** प्रज्ञाएँ **हरिम्** तुझ मनुष्य को **यातवे** पुरुषार्थ करने के लिए **हिन्वन्ति** प्रेरित करती हैं, तब **क्षपा** परमेश्वर की दोष क्षीण करने की शक्ति से **परिष्कृतः** संस्कृत हुआ तू **वाजान्** विविध ऐश्वर्यों में **अभि प्र गाहसे** अवगाहन अर्थात् रमण करने लगता है ।।१।।

भावार्थ– आत्मशुद्धि और पुरुषार्थ से ही मनुष्य विविध संपदाएँ पा सकते हैं ।।१।।

अथोपासनाविषय उच्यते ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१६३२. तमस्य मर्जयामसि मदो य इन्द्रपातमः ।
१र २र ३१ २३ २ ३ २ ३१ २ ३१ २
यं गाव आसभिर्दधुः पुरा नूनं च सूरयः ।।२।।[2]
३ १२र ३ १ २ ३ १२र
तम् अस्य मर्जयामसि । मदः यः इन्द्रपातमः इन्द्र पातमः ।
१२र ३१ २ ३ २ ३ २ ३२ ३ १ २
यम् गावः आसभिः दधुः । पुरा नूनम् च सूरयः ।।२।।

---

१. ऋ० ९।९९।२, 'गाहते' इति भेदः ।
२. ऋ० ९।९९।३ ।

पदार्थः— **अस्य** अस्य स्तोतुर्मनुष्यस्य **यः इन्द्रपातमः** इन्द्रेण परमेश्वरेण अतिशयेन पातव्यः **मदः** हर्षकरः भक्तिरसः अस्ति **तम् मर्जयामसि** शोधयामः, परिष्कुर्मः, **यम् पुरानूनं च** प्राक्काले अद्य चापि **सूरयः** विपश्चितः **गावः** स्तोतारः । [गौरिति स्तोतृनामसु पठितम् । निघं० ३।१६ ।] **आसभिः** मुखैः **दधुः** प्रकटयन्ति ।।२।।

भावार्थः— आडम्बररहिता निश्छला शुद्धैवोपासना जगदीश्वरस्य स्वीकृता भवति ।।२।।

अगले मन्त्र में उपासना का विषय कहते हैं।

पदार्थ— **अस्य** इस स्तोता मनुष्य का **यः** जो **इन्द्रपातमः** परमेश्वर द्वारा अतिशय पान करने योग्य **मदः** हर्षदायक भक्ति-रस है, **तम्** उसे, हम **मर्जयामसि** शुद्ध करते हैं, **यम्** जिसे **पुरा नूनं च** पहले और आज भी **सूरयः** विद्वान् **गावः** स्तोता लोग **आसभिः** मुखों से **दधुः** प्रकट करते रहे हैं ।।२।।

भावार्थ— आडम्बर से रहित, निश्छल, शुद्ध उपासना ही जगदीश्वर को स्वीकार होती है ।।२।।

अथ परमेशस्तुतिं तत्फलं चाह ।

१२ २र ३ १ २ ३ २ ३क २र
१६३३. तं गाथया पुराण्या पुनानमभ्यनूषत ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
उतो कृपन्त धीतयो देवानां नाम बिभ्रतीः ।।३।।[1]

१२र ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
तम् गाथया पुराण्या । पुनानम् अभि अनूषत । उत उ कृपन्त धीतयः ।

३ १ २ १२र १ २र
देवानाम् नाम बिभ्रतीः ।।३।।

पदार्थः— **पुनानम्** पवित्रयन्तम् **तम्** सोमं शुभगुणप्रेरकं परमात्मानम्, स्तोतारः **पुराण्या** सनातन्या **गाथया** वेदवाचा । [गाथेति वाङ्नाम । निघं० १।११ ।] **अभ्यनूषत** अभिष्टुवन्ति । **उत उ** अपि च **नाम** परमात्मानं प्रति नमनम् **बिभ्रतीः** धारयन्त्यः **देवानाम्** विदुषाम् **धीतयः** प्रज्ञाः क्रियाश्च **कृपन्त** शक्तिमत्यो जायन्ते । [कृपू सामर्थ्ये, भ्वादिः । 'कृपो रो लः' अ० ८।२।१८ इति न प्रवर्तते, छन्दसि सर्वेषां विधीनां वैकल्पिकत्वात्] ।।३।।

भावार्थः— परमात्मस्तुत्या स्तोतॄणां वाचः प्रज्ञाः क्रियाश्च बलवत्यो भूत्वा जीवने तान् सफलयन्ति ।।३।।

अगले मन्त्र में परमेश्वर की स्तुति और उसके फल का वर्णन है ।

पदार्थ— **पुनानम्** पवित्र करने वाले **तम्** उस सोम की अर्थात् शुभ गुण-कर्मों की प्रेरणा करने वाले परमात्मा की, स्तोता लोग **पुराण्या** सनातन **गाथया** वेद-गाथा से **अभ्यनूषत** स्तुति करते हैं। **उत उ** और **नाम** परमात्मा के प्रति नमन को **बिभ्रतीः** धारण करती हुई **देवानाम्** विद्वानों की **धीतयः** बुद्धियाँ और क्रियाएँ **कृपन्त** शक्तिशालिनी हो जाती हैं ।।३।।

भावार्थ— परमात्मा की स्तुति से स्तोताओं की वाणियाँ, प्रज्ञाएँ और क्रियाएँ बलवती होकर जीवन में उन्हें सफल करती हैं ।।३।।

---

१. ऋ० ९।९९।४।

।।७।। अथ 'अश्वं न' इत्यादिकस्य सप्तमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** शुनःशेप आजीगर्तिः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १७ क्रमाङ्के परमात्मानं सम्बोधिता । अत्र युगपत् परमात्माऽऽचार्यश्च प्रोच्यते ।

२ ३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १र २र
१६३४. अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः ।
३ १ २ ३ १ २
सम्राजन्तमध्वराणाम् ।।१।।[1]

१ २र ३ १२र ३ १ २ ३ २ १ २र
अश्वम् न त्वा वारवन्तम् । वन्दध्यै अग्निम् नमोभिः ।
३ १ २ ३ १२र ३ १ २
सम्राजन्तम् सम् राजन्तम् अध्वराणाम् ।।१।।

पदार्थः— **वारवन्तम्** मालिन्यनिवारक रश्मिकेशयुक्तम् **अश्वं न** आदित्यमिव **वारवन्तम्** दोषनिवारण-सामर्थ्ययुक्तम्, **अध्वराणाम्** सृष्ट्युत्पत्तिस्थित्यादियज्ञानां शिक्षायज्ञानां वा **राजन्तम्** सम्राजम् **अग्निं त्वाम्** नायकं परमात्मानम् आचार्यं वा त्वाम् **नमोभिः** नमस्कारैः **वन्दध्यै** वन्दितुम्, आह्वयामःइति शेषः । [अत्र 'तुमर्थेसे०' अ० ३।४।९ इति तुमर्थे कध्यै प्रत्ययः] ।।१।।[2]

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ।।१।।

भावार्थः— यथा सूर्यः स्वरश्मिजालेन भूमिष्ठं मलादिकमपनयति तथा परमेश्वर आचार्यश्च स्वशोधक-सामर्थ्येन जनानां पापदुर्गुणदुर्व्यसनदुःखादिकं दूरीकुरुतः ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में १७ क्रमांक पर परमात्मा को संबोधन की गयी थी । यहाँ एकसाथ परमात्मा और आचार्य दोनों को कह रहे हैं ।

पदार्थ— **वारवन्तम्** मलिनता-निवारक किरण रूप बालों से युक्त **अश्वं न** सूर्य के समान **वारवन्तम्** दोष-निवारण के सामर्थ्य से युक्त, **अध्वराणाम्** सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति आदि यज्ञों के वा शिक्षा-यज्ञों के **राजन्तम्** सम्राट्, **अग्निं त्वाम्** आप नायक परमात्मा वा आचार्य को **नमोभिः** नमस्कारों से **वन्दध्यै** वन्दना करने के लिए, मैं बुलाता हूँ ।।१।।

यहाँ श्लिष्टोपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ— जैसे सूर्य अपने किरण-समूह से भूमि पर स्थित मलिनता आदि को दूर करता है, वैसे ही परमेश्वर और आचार्य अपने स्वच्छ करने के सामर्थ्य से मनुष्यों के पाप, दुर्गुण, दुर्व्यसन, दुःख आदि दूर करते हैं ।।१।।

---

१. ऋ० १।२७।१, साम० १७ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वत्पक्षे भौतिकाग्निपक्षे च व्याचष्टे ।

अथ पुनः परमात्माचार्ययोर्विषय उच्यते ।

१६३५. स घा नः सूनुः शवसा पृथुप्रगामा सुशेवः ।
मीढ्वाँ अस्माकं बभूयात् ॥२॥[1]

सः घ नः सूनुः शवसा । पृथुप्रगामा पृथु प्रगामा सुशेवः सु शेवः ।
मीढ्वान् अस्माकम् बभूयात् ॥२॥

पदार्थः— **स घ** स खलु । [संहितायां घा इत्यत्र 'ऋचि तुनुघ० । अ० ६।३।१३३ इत्यनेन दीर्घः ।] **सूनुः** शुभगुणकर्मविद्यादिप्रेरकः । [षू प्रेरणे इत्यस्मादौणादिको नुः प्रत्ययः ।] **पृथुप्रगामा** पृथुः विस्तीर्णः प्रगामा प्रकृष्टः कर्तव्यमार्गो यस्मात् सः, विशालशुभकर्तव्यमार्गोपदेशकः । [बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ।] **सुशेवः** शोभनः शेवः सुखं यस्मात् सः परमेश्वर आचार्यो वा । [शेवमिति सुखनामसु पठितम् । निघं० ३।६ । 'इण्शीभ्यां वन्' उ० १।१५० अनेन शीङ् धातोः वन् प्रत्ययः ।] **नः** अस्माकम् **मीढ्वान्** विद्याधनादीनां वृष्टिभिः सेक्ता **बभूयात्** भवेत् । [अत्र 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति नियमात् लिङि लिङ्वत् कार्यम्]॥२॥[2]

भावार्थः— सूपासितः परमेश्वरः सुसेवित आचार्यश्च विद्याशुभगुणकर्माद्युपदेशेन जनान् सुखयतः ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा और आचार्य का विषय है ।

पदार्थ— **सः घ** वह निश्चय ही **सूनुः** शुभ गुण, कर्म, विद्या आदि का प्रेरक, **पृथुप्रगामा** विस्तृत कर्तव्य-मार्ग का उपदेश करने वाला, **सुशेवः** उत्तम सुख देने वाला परमेश्वर वा आचार्य **नः** हमें **मीढ्वान्** विद्या, धन आदि की वर्षाओं से सींचने वाला **बभूयात्** होवे ॥२॥

भावार्थ— भली-भाँति उपासना किया गया परमेश्वर और भली-भाँति सेवा किया गया आचार्य विद्या, शुभ गुण-कर्म आदि के उपदेश से मनुष्यों को सुखी करते हैं॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

१६३६. स नो दूराच्चासाच्च नि मर्त्यादघायोः । पाहि सदमिद्विश्वायुः ॥३॥[3]

सः नः दूरात् दुः आत् चआसात् च । नि मर्त्यात् अघायोः ।
पाहि सदम् इत् विश्वायुः विश्व आयुः ॥३॥

पदार्थः— हे परमात्मन् आचार्य वा ! **विश्वायुः** विश्वं सम्पूर्णं शतवार्षिकं आयुर्यस्मात् तथाविधः **सः** असौ त्वम् **दूरात् च** विप्रकृष्टदेशाच्च, **आसात् च** समीपाच्च **अघायोः** अघं पापं परेषामिच्छतीति अघायुः

---

१. ऋ० १।२७।२।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयमपत्यगुणविषये व्याख्यातः ।

३. ऋ० १।२७।३।

तस्मात् । [अघशब्दात् 'छन्दसि परेच्छायां क्यच उपसंख्यानम्' । वा० ३।१।८ इति परेच्छायां क्यच् । 'अश्वाघस्यात्' अ० ७।४।३७ इत्यघस्याकारान्तादेशः ।] **मर्त्यात्** मनुष्यात् **सदम् इत्** सदैव **नः** अस्मान् **निपाहि** निरन्तरं रक्ष ॥३॥[1]

भावार्थः— परमेशप्रेरणया **सद्गुरूणामुपदेशेन** च सर्वे जनाः पापात्मनां कुसंगतिं विहाय सत्सङ्गं कृत्वा नैतिकनियमान् स्वास्थ्यनियमांश्च पालयन्तः सदाचारिणो दीर्घायुषश्च भवेयुः ॥३॥

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ— हे परमात्मन् वा आचार्य ! **विश्वायुः** सौ वर्ष की पूर्ण आयु की प्राप्ति का उपदेश देने वाले **सः** वह आप **दूरात् च** दूर से **आसात् च** और समीप से **अघायोः** दूसरों को पापी बनाना चाहने वाले **मर्त्यात्** मनुष्य से **सदम् इत्** सदा ही **अस्मान्** हमें **निपाहि** निरन्तर बचाते रहो ॥३॥

भावार्थ— परमेश्वर की प्रेरणा से और सद्गुरुओं के उपदेश से सब लोग पापात्माओं की कुसंगति छोड़कर, सत्संग करके नैतिक नियमों और स्वास्थ्य के नियमों का पालन करते हुए सदाचारी और दीर्घायु होवें ॥३॥

॥८॥ अथ 'त्वमिन्द्र' इत्यादिकस्याष्टमस्य द्वयृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** नृमेध आङ्गिरसः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३११ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता । अत्र परमात्मा जीवात्मा च सम्बोध्यते ।

१६३७. **त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।**
अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः ॥१॥[2]

त्वम् इन्द्र प्रतूर्तिषु प्र तूर्तिषु । अभि विश्वाः असि स्पृधः ।
अशस्तिहा अशस्ति हा जनिता वृत्रतूः वृत्र तूः असि । त्वम् तूर्य तरुष्यतः ॥१॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** विघ्नविदारक परमात्मन् जीवात्मन् वा ! त्वम् **प्रतूर्तिषु** सत्वरेषु देवासुरसंग्रामेषु **विश्वाः** समस्ताः **स्पृधः** प्रतिस्पर्धिनीः कामक्रोधादीनां सेनाः **अभि असि** अभिभवसि, पराजयसे । त्वम् **अशस्तिहा** अप्रशस्तीनां हन्ता, **जनिता** प्रशस्तिहेतूनां सद्गुणकर्मणां जनयिता, **वृत्रतूः** वृत्राणि पापानि तूर्वति हिनस्ति यस्तथाविधश्च **असि** वर्तसे । **त्वम्** परमात्मा जीवात्मा वा **तरुष्यतः** हिंसकान् । [तरुष्यतिः हन्तिकर्मा । निरु० ५।२।] **तूर्य** विनाशय ॥१॥[3]

भावार्थः— परमात्मानं प्रार्थयित्वा स्वान्तरात्मानं च प्रोद्बोध्य मनुष्यः सर्वानप्यान्तरान् बाह्यांश्च शत्रून् विजित्य स्वोन्नतिमार्गं निष्कण्टकं कर्तुमर्हति ॥१॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं जगदीश्वरपक्षे विद्वत्पक्षे च व्याचष्टे ।

२. ऋ० ८।९९।५, य० ३६।६६, अथ० २०।१०५।१, साम० ३११ ।

३. यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं राजधर्मविषये व्याचख्यौ ।

पदार्थ– हे **इन्द्र** विघ्नों को दूर करने वाले परमात्मन् वा जीवात्मन् ! तुम **प्रतूर्तिषु** वेग वाले देवासुरसंग्रामों में **विश्वाः** सब **स्पृधः** प्रतिस्पर्धा करने वाली काम, क्रोध आदि की सेनाओं को **अभि असि** परास्त कर देते हो । तुम **अशस्तिहा** अप्रशस्तियों को मारने वाले, **जनिता** प्रशस्तिकारक श्रेष्ठ गुणों तथा कर्मों को जन्म देने वाले, और **वृत्रतूः** पापों की हिंसा करने वाले **असि** हो । **त्वम्** तुम **तरुष्यतः** हिंसकों को **तूर्य** विनष्ट करो ।।१।।

भावार्थ– मनुष्यों को योग्य है कि परमात्मा से प्रार्थना करके और अपने अन्तरात्मा को उद्बोधन देकर सभी आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं को जीतकर अपने उन्नति के मार्ग को निष्कंटक करें ।।१।।

अथ पुनरपि परमात्मानं जीवात्मानं चाह ।

१ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २उ ३ २ ३१ २
१६३८. **अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा ।**
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१र २र ३ १ २
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि ।।२।।[1]
१२र ३ १ २र ३१ २ ३ १ २ १२र ३१ २
अनु ते शुष्मम् तुरयन्तम् ईयतुः । क्षोणीइति शिशुम् न मातरा ।
१ २र ३ १ २र ३ १२३२ ३ १ २र
विश्वाः ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रम् यत् इन्द्र तूर्वसि ।।२।।

पदार्थः– हे **इन्द्र** शूर परमात्मन् जीवात्मन् वा ! **ते** तव **तुरयन्तम्** त्वरां कुर्वन्तम् **शुष्मम्** बलम् **क्षोणी** द्यावापृथिव्यौ मनोबुद्धी वा **अनु ईयतुः** अनुसरतः । कथमिव ? **तुरयन्तम्** वेगेन गच्छन्तम् **शिशुम् न** बालकम् यथा **मातरा** मातापितरौ । यथा शिशोरनुसरणेन मातापितरौ कमप्यमन्दमानन्दमनुभवतस्तथैव परमात्म-बलानुधावनेन द्यावापृथिव्यौ जीवात्मबलानुधावनेन च मनोबुद्धी विशिष्टां शक्तिं प्राप्नुत इत्यर्थः । हे इन्द्र परमात्मन् जीवात्मन् वा ! **यत्** यदा, त्वम् **वृत्रम्** कामादिशत्रुम् विघ्नसमूहं वा **तूर्वसि** हंसि, [तूर्वी हिंसार्थः भ्वादिः ।] तदा **ते** तव **मन्यवे** तेजसे, तेजः सम्मुखमित्यर्थः । [मन्युः मन्यतेः दीप्तिकर्मणः । निरु० १०।२९ ।] **विश्वाः** सर्वाः **स्पृधः** शत्रुसेनाः विघ्नसेनाः वा **श्नथयन्त** हतप्राया दुर्बला भवन्ति । [श्नथतिः हन्तिकर्मा । निघं०२।१९] ।।२।।[2]

भावार्थः– द्यावापृथिव्यादिकं सर्वं परमात्मबलेनैव बलवद् दृश्यते, तथैव देहस्थं मनोबुद्ध्यादिकं जीवात्मबलेन बलभद् भवति । मनसि परमात्मचिन्तनेन स्वान्तरात्मनश्चोद्बोधनेन सर्वे विघ्ना बाह्याभ्यन्तराः शत्रवश्च समूलमुन्मूलयितुं शक्यन्ते ।।२।।

अस्मिन् खण्डे उपास्योपासकयो र्जीवात्मनः प्राणस्य परमात्मन आचार्यस्य नृपतेश्च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।।

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा और जीवात्मा को कहा गया ।

---

१. ऋ० ८।९९।६; य० ३३।६७; अथ० २०।१०५।२ ।

२. दयानन्दर्षिर्यजुर्भाष्ये मन्त्रमिमं राजधर्मविषये व्याचष्टे ।

पदार्थ– हे **इन्द्र** शूर परमात्मन् वा जीवात्मन् ! **ते** तुम्हारे **तुरयन्तम्** शीघ्र कार्य करने वाले **शुष्मम्** बल को **क्षोणी** आकाश-भूमि वा मन-बुद्धि **अनु ईयतुः** अनुसरण करते हैं । **तुरयन्तम्** तेजी से चलते हुए **शिशुं न** शिशु को जैसे **मातरा** माता-पिता अनुसरण करते हैं । अभिप्राय यह है कि जैसे शिशु के पीछे-पीछे चलने में माता-पिता किसी महान् आनन्द का अनुभव करते हैं, वैसे ही परमात्मा के बल का अनुसरण करने से द्यावापृथिवी और जीवात्मा के बल का अनुसरण करने से मन-बुद्धि विशेष शक्ति प्राप्त करते हैं। हे इन्द्र परमात्मन् वा जीवात्मन् ! **यत्** जब, तुम **वृत्रम्** काम आदि शत्रु को वा विघ्नसमूह को **तूर्वसि** नष्ट करते हो, तब **ते** तुम्हारे **मन्यवे** तेज के संमुख **विश्वाः** सब **स्पृधः** शत्रु-सेनाएँ वा विघ्नों की सेनाएँ **शनथयन्त** हतप्राय वा दुर्बल हो जाती हैं ।।२।।

भावार्थ– द्यावापृथिवी आदि सब-कुछ परमात्मा के बल से ही बलवान् दिखायी देता है, इसी प्रकार शरीरस्थ मन-बुद्धि आदि जीवात्मा के बल से बलवान् होते हैं। मन में परमात्मा के चिन्तन से और अपने अन्तरात्मा के उद्बोधन से सब विघ्न और बाह्य तथा आन्तरिक शत्रु जड़समेत उखाड़े जा सकते हैं ।।२।।

इस खण्ड में उपास्य-उपासक, जीवात्मा,प्राण, परमात्मा, आचार्य और राजा के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

सत्रहवें अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ।।

।।९।। अथ 'यज्ञ इन्द्र' इत्यादिकस्य नवमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषी** गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १२१ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र जीवात्मविषय उच्यते ।

३ ११र २र ३ २ड ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ १
१६३९. यज्ञ इन्द्रमवर्धयद् यद्भूमिं व्यवर्तयत् । चक्राण ओपशं दिवि ।।१।।

३ २ १ २र ३ २ १ २र १२र ३ १२र
यज्ञः इन्द्रम् अवर्धयत् । यत् भूमिम् व्यवर्तयत् वि अवर्तयत् ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २
चक्राणः ओपशम् ओप शम् दिवि ।।१।।

पदार्थः– **यज्ञः** परमात्मसंगमरूपो यागः **इन्द्रम्** जीवात्मानम् **अवर्धयत्** वर्धयति, शक्तिमन्तं करोति, **यत्** यस्मात् सः **दिवि** द्योतनात्मके परमात्मनि **ओपशम्** निवासम् **चक्राणः** कुर्वाणः **भूमिम्** भूम्युपलक्षितां पार्थिवां तनूम् **व्यवर्तयत्** विवर्तयति, सम्यक् सञ्चालयति ।।१।।

भावार्थः– परमात्मनः सकाशादेव बलं प्राप्य जीवात्मा देहराज्यस्य मस्तिष्कसंस्थानं रक्तसंस्थानं पाचनसंस्थानं श्वाससंस्थानं ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि सर्वमपि सम्यक् सञ्चालयितुं क्षमते, अतः स तेन कदापि न विस्मरणीयः ।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में १२१ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में की गयी थी । यहाँ जीवात्मा का विषय कहते हैं ।

---

१. ऋ० ८।१४।५, अथ० २०।२७।५, साम० १२१ ।

पदार्थ— **यज्ञः** परमात्मा की संगति करना रूप यज्ञ **इन्द्रम्** जीवात्मा को **अवर्धयत्** बढ़ाता है, शक्तिशाली बनाता है, **यत्** क्योंकि, वह जीवात्मा **दिवि** तेजस्वी परमात्मा में **ओपशम्** निवास **चक्राणः** करता हुआ **भूमिम्** पार्थिव शरीर को **व्यवर्तयत्** भली-भाँति चलाता है ॥१॥

भावार्थ— परमात्मा के पास से ही बल प्राप्त करके जीवात्मा शरीर रूप राज्य के मस्तिष्क-संस्थान, रक्त-संस्थान, पाचन-संस्थान, श्वास-संस्थान, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों सबका भली-भाँति संचालन करने में समर्थ होता है। इसलिए उसे चाहिए कि परमात्मा को कभी न भूले ॥१॥

अथ पुनरपि जीवात्मविषयमाह ।

२ १ २ ३ २३ १ २ ३ २ २ ३ १र २र ३ २
१६४०. **व्या३न्तरिक्षमतिरन् मदे सोमस्य रोचना। इन्द्रो यदभिनद् वलम् ॥२॥**[1]

३ १ २ ३ १२र १२र ३ २ १ २र १ २र ३ २
वि अन्तरिक्षम् अतिरत्। मदे सोमस्य रोचना। इन्द्रः यत् अभिनत् वलम् ॥२॥

पदार्थः— **इन्द्रः** बलवान् जीवात्मा **सोमस्य** भक्तिरसस्य **मदे** उत्साहे **यत्** यदा **वलम्** आवरकं, लक्ष्य-प्राप्तौ प्रतिबन्धकम् अविद्यास्मितारागद्वेषादिकं, कामक्रोधादिकं, व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्यादिकं च विघ्न-समूहम् **अभिनत्** भिनत्ति तदा **अन्तरिक्षम्** मध्यस्थं मनोमयं विज्ञानमयं च आकाशम्, तत्र च **रोचना** रोचनानि तेजोमयानि सद्भावरूपाणि नक्षत्राणि **वि-अतिरत्** विस्तारयति ॥२॥

भावार्थः— परमात्मनः सकाशात् प्राप्तेन बलेनैव मनुष्यस्यात्मा पदे पदे समागतान् विघ्नान् विध्वस्य लक्ष्यं प्राप्तुं क्षमते ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर जीवात्मा का विषय है ।

पदार्थ— **इन्द्रः** बलवान् जीवात्मा **सोमस्य** भक्तिरस के **मदे** उत्साह में **यत्** जब **वलम्** आवरण डालने वाले अर्थात् लक्ष्य-प्राप्ति में बाधक अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष आदि, काम-क्रोध आदि, और व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमाद-आलस्य आदि विघ्न-समूह को **अभिनत्** छिन्न-भिन्न कर देता है, तब **अन्तरिक्षम्** मध्यस्थ मनोमय और विज्ञानमय आकाश को तथा **रोचना** उसमें प्रकाशमान सद्भाव-रूप नक्षत्रों को **वि-अतिरत्** फैला देता है ॥२॥

भावार्थ— परमात्मा के पास से प्राप्त बल से ही मनुष्य का आत्मा पग-पग पर आये हुए विघ्नों का विध्वंस करके लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ होता है ॥२॥

अथ पुनरपि स एव विषय उच्यते ।

१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २
१६४१. **उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सतीः। अर्वाञ्चं नुनुदे वलम् ॥३॥**[2]

३ १ २र ३ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ २
उत् गाः आजत् अङ्गिरोभ्यः। आविः आ विः कृण्वन् गुहा सतीः।
३ १ २ ३ २
अर्वाञ्चम् नुनुदे वलम् ॥३॥

---

१. ऋ० ८।१४।७, अथ० २०।२८।१, ३९।२।
२. ऋ० ८।१४।८, अथ० २०।२८।२, ३९।३।

पदार्थः— **इन्द्रः** बलवान् जीवात्मा **अर्वाञ्चम्** स्वाभिमुखमागतम् **वलम्** पूर्वमन्त्रोक्तम् आवरकं विघ्नसमूहम् **नुनुदे** पराङ्नुदति, प्रक्षिपति । **गुहा सतीः** गुहायां विद्यमानाः, प्रच्छन्नाः । [गुहा इत्यत्र 'सुपां सुलुक्०' । अ० ७।१।३९ इति सप्तम्या लुक्।] **गाः** अध्यात्मप्रकाशरश्मीन् **अङ्गिरोभ्यः** प्राणायामाभ्यासिभ्यः **उद् आजत्** उत्प्रापयति।।३।।

भावार्थः— यैर्विघ्नजालैः परिवृता योगाभ्यासिनो विवेकख्यातिप्रकाशं परमात्मप्रकाशं वा नाधिगन्तुं पारयन्ति तान् विघ्नान् प्रयत्नशीलो जीवात्मा परमात्मकृपया पराजित्य लक्ष्यं प्राप्तुं सफलो जायते ।।३।।

आगे फिर उसी विषय को कहा गया है ।

पदार्थ— इन्द्र नामक बलवान् जीवात्मा **अर्वाञ्चम्** अपने सामने आये हुए **वलम्** पूर्व मन्त्र में कहे गए आवरण डालने वाले विघ्न-समूह को **नुनुदे** परे धकेल देता है, और **गुहा सतीः** गुफा में छिपी हुई **गाः** अध्यात्म-प्रकाश की किरणों को **अङ्गिरोभ्यः** प्राणायाम के अभ्यासियों के लिए **उद् आजत्** बाहर निकाल लाता है ।।३।।

भावार्थ— जिन विघ्न-जालों से घिरे हुए योगाभ्यासी लोग विवेक-ख्याति के प्रकाश को वा परमात्म के प्रकाश को नहीं प्राप्त कर पाते उन विघ्नों को प्रयत्नशील जीवात्मा परमात्मा की कृपा से पराजित करके लक्ष्य-प्राप्ति में सफल हो जाता है ।।३।।

।।१०।। अथ 'त्यमु वः' इत्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः**— श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरसः । **देवता-** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १७० क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता । अत्र परमात्मजीवात्मनोर्विषयमाह ।

१६४२. त्यमु वः सत्रासाहं विश्वासु गीर्ष्वायतम् । आ च्यावयस्यूतये ।।१।।[1]

त्यम् उ वः सत्रासाहम् सत्रा साहम् । विश्वासु गीर्षु आयतम् आ यतम् ।
आ च्यावयसि ऊतये ।।१।।

पदार्थः— हे भ्रातः ! त्वम् **त्यम् उ** तमेव **सत्रासाहम्** युगपत् सर्वेषां विघ्नानां पराजेतारम् **विश्वासु गीर्षु** सर्वेषु वाङ्मयेषु **आयतम्** व्याप्तम् परमात्मानं जीवात्मानं वा **वः** वृणु । [वृञ् वरणे धातोर्लोडर्थे लुङि च्लेर्लुकि अडागमाभावे रूपम् । 'तिङ्ङतिङः' अ० ८।१।२८ इति निघातः ।] **ऊतये** रक्षायै **आच्यावयसि** आवर्जय च । [च्युङ् गतौ, णिजन्तस्य लेटि मध्यमैकवचने रूपम्] ।।१।।

भावार्थः— जगदीश्वरः सर्वासु वेदवाक्षु व्याप्तः, 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति-(ऋ० १।१६४।३९) इति श्रुतेः। जीवात्मानं चापि वेदादिवाचः पदे पदे वर्णयन्ति । परमात्मनः शरणं गत्वा, स्वान्तरात्मानं च समुद्बोध्य जना रक्षिताः समुन्नताश्च भवितुं पारयन्ति ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में १७० क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है। यहाँ परमात्मा और जीवात्मा का विषय कहते हैं ।

---

१. ऋ० ८।९२।७; साम० १७० ।

पदार्थ– हे भाई ! तू **त्यम् उ** उसी **सत्रासाहम्** एकसाथ सब विघ्नों को पराजित कर देने वाले, **विश्वासु गीर्षु** सब वाङ्मयों में **आयतम्** व्याप्त परमात्मा वा जीवात्मा को **वः** वरण कर और **ऊतये** रक्षा के लिए **आच्यावयसि** अपनी ओर झुका ।।१।।

भावार्थ– जगदीश्वर सब वेद-वाणियों में व्याप्त है, क्योंकि श्रुति कहती है कि 'जिसने उसे नहीं जाना वह ऋचा से भला क्या लाभ उठा सकेगा (ऋ०१।१६४।३९)'। जीवात्मा का भी वेदादि वाणियां पद-पद पर वर्णन करती हैं। परमात्मा की शरण में जाकर और अपने अन्तरात्मा को भली-भांति उद्बोधन देकर मनुष्य रक्षित तथा समुन्नत हो सकते हैं।।१।।

अथ परमात्मजीवात्मनोर्गुणान् वर्णयति ।

३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र १ २ ३ १ २
१६४३. युध्मं सन्तमनर्वाणं सोमपामनपच्युतम् । नरमवार्यक्रतुम् ।।२।।[1]

३ २ १ २र ३ १ २ ३ १ २
युध्मम् सन्तम् अनर्वाणम् अन् अर्वाणम् ।
३ २ ३ २ १ २र ३
सोमपाम् सोम पाम् अनपच्युतम् अन् अपच्युतम् ।
१२र ३ १ २ ३ २ ३
नरम् अवार्यक्रतुम् अवार्य क्रतुम् ।।२।।

पदार्थः– **युध्मम् सन्तम्** योद्धारं सन्तम् **अनर्वाणम्** अप्रत्यृतमन्यस्मिन् । [युध्मः, युध सम्प्रहारे, 'इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक्', उ० १।१४५ इति मक् प्रत्ययः । अनर्वाऽप्रत्यृतोऽन्यस्मिन् । निरु०६।२३।] **सोमपाम्** वीररसस्य पातारम्, **अनपच्युतम्** विघ्नेष्वविचलितम्, **नरम्** नेतारम्, **अर्वायक्रतुम्** न वारयितुं शक्यः क्रतुः संकल्पः कर्म वा यस्य तम् परमात्मानं जीवात्मानं वा, हे मानव ! त्वम् **आच्यावयसि** आवर्जय, स्वाभिमुखं कुरु । 'आच्यावयसि' इति पूर्वमन्त्रादाकृष्यते ।।२।।

युध्मं योद्धारं सन्तम् अनर्वाणम् अनाक्रान्तारम् इति विरोधः, भाष्योक्तदिशा च परिहारः । अतो विरोधाभासोऽलङ्कारः ।।२।।

भावार्थः– जगदीश्वरोऽधार्मिकैः परपीडकैर्जनैर्युद्धमिव कृत्वा तान् पराजयते दण्डयति च । देहधारी जीवोऽपि वीरतया दुर्विचारैर्दुष्टजनैश्च युद्ध्वाऽदम्येन संकल्पबलेन सर्वान् शत्रून् विजित्योन्नतेश्चरमं सोपानमधिरोढुं क्षमते ।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा और जीवात्मा के गुणों का वर्णन है ।

पदार्थ– **युध्मं सन्तम्** योद्धा होते हुए **अनर्वाणम्** किसी दूसरे पर आश्रित न रहने वाले, **सोमपाम्** वीररस का पान करने वाले, **अनपच्युतम्** विघ्नों से विचलित न होने वाले **नरम्** नेता **अवार्यक्रतुम्** जिसके संकल्प वा कर्म को कोई रोक नहीं सकता ऐसे परमात्मा वा जीवात्मा को, हे मानव ! तू **आ च्यावयसि** अपनी ओर झुका । [यहाँ 'आच्यावयसि' पद पूर्व मन्त्र से लाया गया है] ।।२।।

यहाँ 'युध्मं सन्तम् अनर्वाणम्' जो योद्धा होते हुए भी आक्रमणकारी नहीं है–यह अर्थ प्रतीत होने से विरोध भासित होता है, भाष्य में दी गयी व्याख्या से उस विरोध का परिहार हो जाता है । अतः विरोधाभास अलंकार है ।।२।।

---

१. ऋ० ८।९२।८।

भावार्थ- जगदीश्वर अधार्मिक, दूसरों को सताने वाले लोगों से मानो युद्ध करके उन्हें पराजित और दंडित करता है। देहधारी जीव भी वीरतापूर्वक दुर्विचारों और दुष्ट जनों से युद्ध करके अदम्य संकल्प-बल से सब शत्रुओं को जीतकर उन्नति की सबसे उपरली सीढ़ी पर पहुँचने में समर्थ हो जाता है ॥२॥

अथ परमात्मजीवात्मानौ प्रार्थयते ।

१ २ ३२ड ३ २ ३ १ २ १ २ ३ २३ १ २
१६४४. शिक्षा ण इन्द्र राय आ पुरु विद्वाँ ऋचीषम । अवा नः पार्ये धने ॥३॥[1]

१ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ १२र ३ १२र १ २र
शिक्ष नः इन्द्र रायः आ । पुरु विद्वान् ऋचीषम । अव नः पार्ये धने ॥३॥

पदार्थः— हे **ऋचीषम** ऋगीशानां विदुषां मानयितः [चस्य कुत्वाभावः शकारस्य च मूर्धन्यादेशश्छान्दसः ।] **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् परमात्मन् जीवात्मन् वा ! **पुरु** बहु **विद्वान्** विज्ञानवान् त्वम् **नः** अस्मान् **रायः** भौतिकानि आध्यात्मिकानि चैश्वर्याणि **आ शिक्ष** आनीय प्रदेहि । [शिक्षतिर्दानकर्मा । निघं० ३।२० । 'द्व्यचोऽतस्तिङः' अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः । संहितायां 'णः' इत्यत्र 'पूर्वपदात्' अ० ८।३।१०६ इति नकारस्य णत्वम् ।] **पार्ये** मार्गस्य पारं गत्वा प्रापणीये **धने** ऐश्वर्ये निमित्ते **नः** अस्मान् **अव** रक्ष । [अत्रापि पूर्वोक्तनियमेन संहितायां दीर्घत्वम्] ॥३॥

भावार्थः— परमात्मनः प्रेरणया जीवात्मनश्च पुरुषार्थेन मनुष्या निर्धारितस्याध्वनः पारं गत्वा महैश्वर्याणि प्राप्तुं शक्नुवन्ति ॥३॥

आगे परमात्मा और जीवात्मा से प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ— हे **ऋचीषम** वेदवागीशों का मान करने वाले **इन्द्र** परमैश्वर्यवान् परमात्मा वा जीवात्मा ! **पुरु** बहुत **विद्वान्** विद्वान् तुम **नः** हमें **रायः** भौतिक और आध्यात्मिक ऐश्वर्य **आ शिक्ष** प्रदान करो । **पार्ये** मार्ग के पार जाकर प्राप्त करने योग्य **धने** धन के निमित्त **नः** हमारी **अव** रक्षा करो ॥३॥

भावार्थ— परमात्मा की प्रेरणा और जीवात्मा के पुरुषार्थ से मनुष्य निर्धारित मार्ग के पार पहुँचकर महान् ऐश्वर्यों को प्राप्त कर सकते हैं ॥३॥

॥११॥ अथ 'तव त्य' दित्यादिकस्यैकादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषी** गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ ! **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** उष्णिक् । **स्वरः** ऋषभः ॥

तत्रादौ जगदीश्वरस्य गुणान् वर्णयति ।

२ ३ १ २ ३ २ ३२ड ३ १ २ ३१र २र
१६४५. तव त्यदिन्द्रियं बृहत्तव दक्षमुत क्रतुम् ।
१ २ ३ २ ३ १ २
वज्रं शिशाति धिषणा वरेण्यम् ॥१॥[2]

१२र ३ २ ३ २ १२र १ २र ३ २ १२र १ २र ३ १ २
तव त्यत् इन्द्रियम् बृहत् । तव दक्षम् उत क्रतुम् । वज्रम् शिशाति धिषणा ॥१॥

पदार्थः— हे इन्द्र ! हे परमैश्वर्यवन् विघ्नविदारक शूर परमात्मन् ! **तव धिषणा** त्वदीया बुद्धिः, **तव** त्वदीयम् **त्यत्** तत् प्रसिद्धम् **वरेण्यम्** श्रेष्ठं वरणीयं वा **बृहत्** महत् **इन्द्रियम्** इन्द्रत्वम् परमैश्वर्यवत्त्वम्,

---

१. ऋ० ८।९२।९।

२. ऋ० ८।१५।७; अथ० २०।१०६।१ ।

दक्षम् बलम्, **क्रतुम्** प्रज्ञानं, कर्म, संकल्पं, यज्ञं वा **उत** अपि च **वज्रम्** न्यायवज्रम्, दण्डसामर्थ्यं वा **शिशाति** सदैव तीक्ष्णीकरोति । [शिशीते निश्यति इति निरुक्तम् ४।१८] ॥१॥

भावार्थः— परमात्मनः परमैश्वर्यं बलं प्रज्ञानं कर्म सत्संकल्पाः यज्ञभावना न्यायप्रदानं दण्डसामर्थ्यं च न कदापि ह्रसन्ति, प्रत्युत सदावृद्धानि सदातीक्ष्णानि च तिष्ठन्ति, येन सर्वे जना लाभान्विता जायन्ते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में जगदीश्वर के गुणों का वर्णन है ।

पदार्थ— हे इन्द्र ! परमैश्वर्यवन् विघ्नविनाशक वीर परमात्मन् ! **तव धिषणा** आपकी बुद्धि **तव** आपके **त्यत्** उस प्रसिद्ध **वरेण्यम्** श्रेष्ठ वा वरणीय, **बृहत्** महान् **इन्द्रियम्** इन्द्रत्व को, परमैश्वर्य को, **दक्षम्** बल को, **क्रतुम्** प्रज्ञान, कर्म, सङ्कल्प व यज्ञ को **उत** और **वज्रम्** न्यायरूप वज्र को वा दण्ड-सामर्थ्य को **शिशाति** सदैव तीक्ष्ण करती रहती है ॥१॥

भावार्थः— परमात्मा के परमैश्वर्य, बल, प्रज्ञान, कर्म, श्रेष्ठ संकल्प, यज्ञ-भावना, न्याय-प्रदान और दण्ड-सामर्थ्य कभी घटते नहीं, प्रत्युत सदा बढ़े हुए और सदा तीक्ष्ण रहते हैं, जिससे सब लोग लाभान्वित होते हैं ॥१॥

अथ जगदीश्वरस्य महिमा वर्ण्यते ।

१६४६. **तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्धति श्रवः ।**
त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे ॥२॥[1]

तव द्यौः इन्द्र पौंस्यम् । पृथिवी वर्धति श्रवः ।
त्वाम् आपः पर्वतासः च हिन्विरे ॥२॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! **तव** त्वदीयम् **पौंस्यम्** पुंसि भवं पौंस्यं बलम् **श्रवः** यशश्च **द्यौः** द्युलोकः **पृथिवी** भूलोकश्च **वर्धति** वर्धयति, गायति । **त्वाम् आपः** नद्यः **पर्वतासः च** गिरयश्च **हिन्विरे** यशोगानेन वर्धयन्ति । [हि गतौ वृद्धौ च, स्वादिः] ॥२॥

भावार्थः— आदित्यः पर्जन्यो विद्युद् वायुः पृथिवी नद्यः पर्वताः समुद्रा वीरुधः ऋतवस्तारावलिर्मनुष्याः पशवः पक्षिणः सर्वे परमेश्वरस्यैव महिमानं गायन्ति, गायं गायं च न श्राम्यन्ति ॥२॥

अब जगदीश्वर की महिमा वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! **तव** आपके **पौंस्यम्** बल को, और **श्रवः** यश को **द्यौः** द्युलोक और **पृथिवी** भूलोक **वर्धति** बढ़ाते हैं, गाते हैं । **त्वाम्** आपको **आपः** नदियाँ **पर्वतासः च** और पर्वत **हिन्विरे** कीर्तिगान से बढ़ाते हैं ॥२॥

भावार्थ— सूर्य, बादल, बिजली, वायु, पृथिवी, नदियाँ, पहाड़, समुद्र, लताएँ, ऋतुएँ, तारावलि, मनुष्य, पशु, पक्षी सभी परमेश्वर की ही महिमा को गा रहे हैं और गाते-गाते थकते नहीं ॥२॥

---

[1] ऋ० ८।१५।८; अथ० २०।१०६।२ ।

अथ पुनः स एव विषय उच्यते ।

१६४७. त्वां विष्णुर्बृहन् क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः।
त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम् ॥३॥[1]
त्वाम् विष्णुः बृहन् क्षयः । मित्रः मि त्रः गृणाति वरुणः।
त्वाम् शर्धः मदति अनु मारुतम् ॥३॥

पदार्थः— हे इन्द्र ! हे परमसम्राट् जगदीश ! **त्वाम्** महाबलम् **विष्णुः** रश्मिभिर्व्यापनशीलः सूर्यः **बृहन् क्षयः** विस्तीर्णम् अन्तरिक्षरूपं गृहम्, **मित्रः** वायुः । [अयं वै वायुर्मित्रो योऽयं पवते । श० ६।५।७।१४ ।] **वरुणः** अग्निश्च [यो वै वरुणः सोऽग्निः। श० ५।२।४।१३ ।] **गृणाति** स्तौति । **मारुतं शर्धः** मरुतां वृष्टिपवनानां सैन्यमपि **त्वाम् अनु** तवैवानुकूल्येन **मदति** हृष्यति ॥३॥

भावार्थः— जगति ये केऽपि पदार्थाः स्वं स्वं कार्यं कुर्वन्ति ते सर्वेऽपि परमेश्वरादेव शक्तिं लभन्ते ॥३॥

अस्मिन् खण्डे जीवात्मनः परमात्मनश्च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ॥

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— हे इन्द्र ! हे परम सम्राट् जगदीश ! **त्वाम्** आप महाबली की **विष्णुः** किरणों से व्याप्त सूर्य **बृहन् क्षयः** विस्तीर्ण अन्तरिक्ष रूप घर, **मित्रः** वायु और **वरुणः** अग्नि **गृणाति** स्तुति कर रहे हैं। **मारुतं शर्धः** मानसून पवनों की सेना भी **त्वाम् अनु** आपकी ही अनुकूलता होने पर **मदति** हर्ष को प्राप्त करती है ॥३॥

भावार्थ— संसार में जो कोई भी पदार्थ अपना-अपना कार्य करते हैं वे सभी परमेश्वर से ही शक्ति पाते हैं ॥३॥

इस खण्ड में जीवात्मा और परमात्मा के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।

सत्रहवें अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ॥

॥१२॥ अथ 'नमस्ते' इत्यादिकस्य द्वादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** विरूप आङ्गिरसः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ११ क्रमाङ्के परमात्मानं राजानं च सम्बोधिता । अत्र परमात्मा नृपतिः योगिराट् च सम्बोध्यते ।

१६४८. नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः। अमैरमित्रमर्दय ॥१॥[2]
नमः ते अग्ने ओजसे । गृणन्ति देव कृष्टयः। अमैः अमित्रम् अ मित्रम् अर्दय ॥१॥

---

१. ऋ० ८।१५।९, अथ० २०।१०६।३ ।
२. ऋ० ८।७५।१०, साम० ११ ।

पदार्थः— हे **देव** दानादिगुणयुक्त **अग्ने** अग्रणीः परमात्मन् नृपते योगिराड् वा ! **ते ओजसे** तव बलाय प्रतापाय च **कृष्टयः** मनुष्याः **नमः गृणन्ति** नमः उच्चारयन्ति, तव बलं प्रतापं च प्रशंसन्तीत्यर्थः । त्वम् **अमैः** स्वकीयैः बलैः **अमित्रम्** योगमार्गे जीवनमार्गे वा समागच्छन्तं शत्रुम् **अर्दय** पीडय ॥१॥

भावार्थः— पदे पदेऽस्माकं निर्धारिते लक्ष्ये ये विघ्ना आगच्छन्ति ते परमेश्वरस्य प्रेरणया नृपतेः साहाय्येन योगप्रशिक्षकस्य च समुचितेन प्रशिक्षणेन सरलतयैव दूरीकर्तुं शक्यन्ते ॥१॥

प्रथम ऋचा (पूर्वार्चिक में ११ क्रमांक पर) परमात्मा और राजा को संबोधित की गयी थी, यहां परमात्मा, राजा और योगिराज को संबोधन है ।

पदार्थ— हे **देव** दान आदि गुणों से युक्त **अग्ने** अग्रनायक परमात्मन् राजन् वा योगिराज ! **ते ओजसे** तुम्हारे बल और प्रताप के लिए **कृष्टयः** मनुष्य **नमः गृणन्ति** नमस्कार करते हैं अर्थात् तुम्हारे बल और प्रताप की प्रशंसा करते हैं। तुम **अमैः** अपने बलों से **अमित्रम्** योग-मार्ग वा जीवन-मार्ग में आते हुए शत्रु को **अर्दय** पीड़ित कर डालो ॥१॥

भावार्थ - पग-पग पर हमारे निर्धारित लक्ष्य में जो विघ्न आते हैं वे परमेश्वर की प्रेरणा से, राजा की सहायता से और योग-प्रशिक्षक के योग्य प्रशिक्षण से सरलतापूर्वक दूर किये जा सकते हैं ॥१॥

अथ पुनरपि त एव प्रार्थ्यन्ते ।

१६४९. ३ २उ ३ १ २ ३१ २ ३१ २ ३ २ १२ ३१ २
कुवित्सु नो गविष्टयेऽग्ने संवेषिषो रयिम् । उरुकृदुरु णस्कृधि ॥२॥[1]

३ २ ३ १ २र ३ १ २र ३१ २ ३ १ २र ३ २
कुवित् सु नः गविष्टये गो इष्टये । अग्ने संवेषिषः सम् वेषिषः रयिम् ।

१२र १२र ३ ३२ ३
उरुकृत् उरु कृत् उरु नः कृधि ॥२॥

पदार्थः— हे **अग्ने** अग्रनायक परमात्मन् राजन् योगिराड् वा ! त्वम् **नः** अस्माकम् **गविष्टये** गवाम् विवेकख्यातिप्रकाशानाम् इष्टये प्राप्तये, यद्वा गविष्टये गवेषणाय विविधविद्यासु अनुसन्धानाय **कुवित्** बहु **रयिम्** आध्यात्मिकमैश्वर्यं भौतिकं धनं वा **सु संवेषिषः** सम्यक् सम्प्रापय । [संपूर्वाद् विष्लृ व्याप्तौ धातोर्लेटि सिबागमे अडागमे मध्यमैकवचने रूपम्।] **उरुकृत्** बहुकर्ता त्वम् **नः** अस्मभ्यम् **उरु** बहु **कृधि** कुरु ॥२॥

भावार्थः— परमात्मनः कृपया योगप्रशिक्षकस्य च योग्येन मार्गदर्शनेन योगाभ्यासिनः शिष्या आध्यात्मिकं धनं प्राप्य मोक्षाधिकारिणो भवेयुः । नृपतिश्च विविधविज्ञानानामनुसन्धित्सून् वित्तं प्रापय्य राष्ट्रे विद्यासूर्योदये सहायको भवेत् ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः उन्हीं से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **अग्ने** अग्रनायक परमात्मन्, राजन् वा योगिराज ! आप **नः** हमारे **गविष्टये** विवेकख्याति के प्रकाशों की प्राप्ति के लिए अथवा विविध विद्याओं में गवेषणा के लिए **कुवित्** बहुत **रयिम्** आध्यात्मिक ऐश्वर्य वा भौतिक धन **सु संवेषिषः** भली-भाँति प्राप्त कराओ । **उरुकृत्** बहुत देने वाले आप **नः** हमारे लिए **उरु** बहुत **कृधि** दो ॥२॥

---

१. ऋ० ८।७५।११ ।

भावार्थ– परमात्मा की कृपा से और योग-प्रशिक्षक के योग्य मार्गदर्शन से योगाभ्यासी शिष्य आध्यात्मिक धन प्राप्त करके मोक्ष के अधिकारी होवें । और राजा विविध विज्ञानों में अनुसंधान के इच्छुकों को धन प्राप्त कराकर राष्ट्र में विद्यासूर्य के उदय में सहायक हो ॥२॥

अथ पुनरपि त एव प्रार्थ्यन्ते ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१६५०. मा नो अग्ने महाधने परा वर्भारभृद्यथा । संवर्गं सं रयिं जय ॥३॥[1]

२ ३ २ ३ २ १ २र ३ २ ३ २ ३
मा नः अग्ने महाधने महा धने। परा वर्क् भारभृत् भार भृत् यथा ।

१ २ ३ १ २र ३ २ ३
संवर्गम् सम् वर्गम् सम् रयिम् जय ॥३॥

पदार्थः– हे **अग्ने** अग्रनायक परमात्मन् राजन् योगिराड् वा ! **महाधने** जीवनसंग्रामे । [महाधन इति संग्रामनामसु पठितम् । निघं० २।१७ ।] त्वम् **नः** अस्मान् **मा परावर्ग्** मध्य एव मा परित्याक्षीः । [वृजीवर्जने, रुधादिः, लोडर्थे लुङि परावर्जीः इति प्राप्ते छान्दसं रूपम् ।] **भारभृत् यथा** यथा गृहीतरक्षाभारो जनः रक्ष्यं मध्ये न परित्यजति, यद्वा यथा भारस्य स्थानान्तरप्रापणाय नियुक्तो जनो भारं मध्ये न परित्यजति । किञ्च, त्वम् **संवर्गम्** संवृज्यन्ते पापतापादयो येन तादृशम् **रयिम्** अध्यात्मं धनम् यद्वा **संवर्गम्** संवृज्यन्ते दीनजनानां दुःखानि येन तादृशम् **रयिम्** भौतिकं धनम् **संजय** संप्रापय ॥३॥

भावार्थः– ये परमात्मानं योगिराजं वा शरणं प्रपद्यन्ते तान् स मध्य एवाऽपरित्यज्य देवासुरसंग्रामे विजेतॄन् करोति । तथैव नृपतिरपि प्रजाजनान् प्रारब्धेषु महाकार्येषु मध्य एवाऽपरित्यज्य धनादिना तेषां साहाय्यं कृत्वा तान् सफलतां प्रापयेत् ॥३॥

अगले मन्त्र में फिर उन्हीं से प्रार्थना है ।

पदार्थ– हे **अग्ने** अग्रनायक परमात्मन्, राजन् वा योगिराज! **महाधने** जीवन-संग्राम में आप **नः** हमें **मा परावर्ग्** बीच में ही मत छोड़ दीजिए, **भारभृत् यथा** जैसे जिसने रक्षा का भार लिया हुआ है वह रक्षणीय को बीच में ही नहीं छोड़ देता, अथवा जैसे बोझ को दूसरे स्थान पर पहुँचाने के लिए नियुक्त किया हुआ मनुष्य भार को बीच में ही नहीं छोड़ देता । साथ ही आप **संवर्गम्** जिससे पाप-ताप आदि कटते हैं ऐसे **रयिम्** आध्यात्मिक धन को, अथवा **संवर्गम्** जिससे दीन जनों के दुःख कटते हैं ऐसे **रयिम्** भौतिक धन को **संजय** प्राप्त कराइए ॥३॥

भावार्थ– जो परमात्मा वा योगिराज की शरण में जाते हैं उन्हें वह बीच में ही न छोड़कर देवासुरसंग्राम में विजयी करता है । वैसे ही राजा को भी चाहिए कि प्रजाजनों द्वारा प्रारंभ किये गये महान् कार्यों में उन्हें बीच में ही न छोड़कर धन आदि से उनकी सहायता करके अन्हें सफलता तक पहुँचाये ॥३॥

॥१३॥ अथ 'समस्य मन्यवे' इत्यादिकस्य त्रयोदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वत्सः काण्वः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

---

१. ऋ० ८।७५।१२, 'मा नो अस्मिन् महाधने' इति प्रथमः पादः ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १३७ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र नृपतिदृष्टान्तेन परमात्मविषयमाह ।

१६५१. समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः । समुद्रायेव सिन्धवः ॥१॥[1]

सम् अस्य मन्यवे विशः । विश्वाः नमन्त कृष्टयः ।
समुद्राय सम् उद्राय इव सिन्धवः ॥१॥

पदार्थः— यथा **अस्य** इन्द्रस्य नृपतेः **मन्यवे** क्रोधाय **विश्वाः** सर्वाः **कृष्टयः** कर्षयित्र्यः **विशः** शत्रुसेनाः **सं नमन्त** संनमन्ति, तथैव **अस्य** इन्द्रस्य परमात्मनः **मन्यवे** तेजसे **विश्वाः** सर्वाः **कृष्टयः** योगाभ्यासरूपं कृषिकर्म कुर्वाणाः **विशः** प्रजाः **सं नमन्त** नम्रा भवन्ति, **समुद्राय इव** समुद्रं प्राप्तुं यथा **सिन्धवः** नद्यः **संनमन्त** नम्राः निम्नाभिमुखाः जायन्ते ॥१॥

अत्रोपमा श्लेषश्चालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— वरिष्ठः किल जगदीशस्य प्रतापः प्रभावो महिमा च यस्य पुरतः सर्वेऽपि नतमस्तका जायन्ते ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में १३७ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में की जा चुकी है । यहाँ राजा के दृष्टान्त से परमात्मा का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— जैसे **अस्य** इस इन्द्र राजा के **मन्यवे** क्रोध के संमुख **विश्वाः** सब **कृष्टयः** विनाशक **विशः** शत्रु-सेनाएं **सं नमन्त** झुक जाती हैं, वैसे ही **अस्य** इस इन्द्र परमात्मा के **मन्यवे** तेज के संमुख **विश्वाः** सब **कृष्टयः** योगाभ्यास-रूप कृषि करने वाली **विशः** प्रजाएँ **सं नमन्त** नम्र हो जाती हैं, **समुद्राय इव** जैसे समुद्र को प्राप्त करने के लिए **सिन्धवः** नदियां **सं नमन्त** नम्र अर्थात् नीचे की ओर बहने वाली हो जाती हैं ॥१॥

यहां उपमा और श्लेष अलंकार हैं ॥१॥

भावार्थ— जगदीश्वर का प्रताप, प्रभाव और महत्त्व सबसे महान् है जिसके संमुख सभी नतमस्तक होते हैं ॥१॥

अथ नृपतेः सेनापतेर्वा दृष्टान्तेन परमात्मनो वीरकर्मोच्यते ।

१६५२. वि चिद् वृत्रस्य दोधतः शिरो बिभेद वृष्णिना । वज्रेण शतपर्वणा ॥२॥[2]

वि चित् वृत्रस्य दोधतः । शिरः बिभेद वृष्णिना ।
वज्रेण शत पर्वणा शत पर्वणा ॥२॥

पदार्थः— **वृष्णिना** गोलिकावर्षकेण भुशुण्ड्यायुधेन, **शतपर्वणा** शतकीलकेन **वज्रेण** गदाऽऽयुधेन च यथा इन्द्रः शूरो राजा सेनापतिर्वा **दोधतः** सज्जनान् कम्पयतः **वृत्रस्य** दुष्टशत्रोः **शिरः** मूर्धानम् **वि बिभेद चित्**

---

१. ऋ० ८।६।४, अथ० २०।१०७।१, साम० १३७ ।

२. ऋ० ८।६।६, अथ० २०।१०७।३, उभयत्र 'वि चिद् वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा । शिरो बिभेद वृष्णिना ॥' इति पाठः ।

विभिनत्ति खलु, तथैव **वृष्णिना** सुखवर्षकेण **शतपर्वणा** बहुपालनकर्त्रा **वज्रेण** दण्डसामर्थ्येन इन्द्रः वीरः परमेश्वरः **दोधतः** कम्पयतः **वृत्रस्य** पापस्य **शिरः** शिर उपलक्षितं प्रभावम् **वि बिभेद चित्** विभिनत्ति एव ॥२॥

भावार्थः— परमात्मोपासनया सर्वे विघ्नाः सर्वाणि पापानि च तथैव नश्यन्ति यथा राज्ञः सेनापतेर्वा शस्त्रास्त्रैः सर्वे शत्रवः ॥२॥

अगले मन्त्र में राजा वा सेनापति के दृष्टान्त से परमात्मा के वीर कर्म का वर्णन है ।

पदार्थ— जैसे **वृष्णिना** गोली बरसाने वाली बन्दूक से अथवा **शतपर्वणा** सौ कीलों वाली **वज्रेण** गदा से, इन्द्र अर्थात् शूरवीर राजा वा सेनापति **दोधतः** सज्जनों को कँपाने वाले **वृत्रस्य** दुष्ट शत्रु का **शिरः** सिर **वि बिभेद** तोड़ देता है, वैसे ही **वृष्णिना** सुखवर्षक, **शतपर्वणा** बहुतों का पालन करने वाले **वज्रेण** दण्डसामर्थ्य से इन्द्र अर्थात् वीर परमेश्वर **दोधतः** कँपाने वाले **वृत्रस्य** पाप के **शिरः** सिर को अर्थात् प्रभाव को **वि बिभेद चित्** नष्ट-भ्रष्ट कर देता है ॥२॥

भावार्थ— परमात्मा की उपासना से सब विघ्न और सब पाप वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे राजा या सेनापति के शस्त्रास्त्रों से सब शत्रु ॥२॥

तृतीया ऋक् पूर्वार्चिके १८२ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्यातपूर्वा । अत्र पुनर्व्याख्यायते ।

१६५३. ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत् । इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥३॥[1]

ओजः तत् अस्य तित्विषे । उभे इति यत् समवर्तयत् सम् अवर्तयत् ।
इन्द्रः चर्म इव रोदसी इति ॥३॥

पदार्थः— यत् **इन्द्रः** परमेश्वरः **चर्म इव** सन्ध्यावन्दनार्थम् मृगचर्म यथा कश्चित् प्रसारयति तथा **उभे रोदसी** उभे द्यावापृथिव्यौ इव अपरापरारूपे उभे अपि विद्ये **समवर्तयत्** विस्तृणाति **तत् अस्य** परमेश्वरस्य **ओजः** ज्ञानबलम् **तित्विषे** प्रदीप्तं भवति ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— महतीयं जगदीश्वरस्य कृपा यत् स सत्पात्रभूतानामृषीणां हृदये पराविद्यायाः अपराविद्यायाश्च ज्ञानं द्यावापृथिवीवत् विस्तृणाति ॥३॥

तृतीय ऋचा पूर्वार्चिक में १८२ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में पहले व्याख्यात हो चुकी है । यहां पुनः व्याख्या करते हैं ।

पदार्थ— **यत्** जो **इन्द्रः** परमेश्वर ने **चर्म इव** सन्ध्या-वन्दन के लिए जैसे मृगचर्म कोई फैलाता है वैसे ही **उभे रोदसी** दोनों द्यावापृथिवी के समान अपरा और परा नामक दोनों विद्याओं को **समवर्तयत्** फैलाया है, **तत्** वह **अस्य** इस परमेश्वर का **ओजः** ज्ञान-बल **तित्विषे** प्रदीप्त हो रहा है ॥३॥

यहां उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ— यह जगदीश्वर की महान् कृपा है कि वह सत्पात्र ऋषियों के हृदय में परा विद्या और अपरा विद्या के ज्ञान को द्यावापृथिवी के समान फैलाता है ॥३॥

---

१. ऋ० ८।६।५, अथ० २०।१०७।२, साम० १८२ ।

॥१४॥ अथ 'सुमन्मा' इत्यादिकस्य चतुर्दशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** शुनःशेप आजीगर्तिः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** १ एकपदा पङ्क्तिः, २-३ गायत्री । **स्वरः** १ पञ्चमः, २-३ षड्जः ॥

तत्रादाविन्द्रस्य परमात्मनः शक्तिं वेदवाचं वा वर्णयति ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१६५४. सुमन्मा वस्वी रन्ती सूनरी ॥१॥

३ १ २ ३ १ २र १ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २र
सुमन्मा सु मन्मा वस्वी रन्ती सूनरी सु नरी ॥१॥

पदार्थः— हे इन्द्र जगदीश्वर ! त्वदीया शक्तिः वेदवाग् वा **सुमन्मा** शुभज्ञानप्रदायिनी, **वस्वी** निवासिका, **रन्ती** रमणीया, **सूनरी** सुष्ठु नेतृत्वकारिणी च वर्तते ॥१॥

भावार्थः— परमात्मशक्तिध्यानेन तदीयवेदवाचोऽध्ययनेन श्रवणेन च मनुष्या ज्ञानवन्तः प्राप्तसद्गुण-निवासाः सन्मार्गगन्तारः सुखिनश्च भवन्ति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा की शक्ति वा वेदवाणी का वर्णन है ।

पदार्थ— हे इन्द्र जगदीश्वर ! आपकी शक्ति वा वेदवाणी **सुमन्मा** शुभ ज्ञान देने वाली, **वस्वी** निवासप्रद, **रन्ती** रमणीय, और **सूनरी** उत्तम नेतृत्व करने वाली है ॥१॥

भावार्थ— परमात्मा की शक्ति का ध्यान करने से और उसकी वेदवाणी का अध्ययन करने तथा श्रवण करने से मनुष्य ज्ञानवान्, अपने आत्मा में सद्गुणों का निवास कराने वाले, श्रेष्ठ मार्ग पर चलने वाले और सुखी होते हैं ॥१॥

अथ परमात्मानमाह्वयति ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र३ २ २ ३ १र २र
१६५५. सरूप वृषन्ना गहीमौ भद्रौ धुर्यावभि । ताविमा उप सर्पतः ॥२॥

१ २र ३ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ २ ३ २ १ २र ३
सरूप स रूप वृषन् आ गहि । इमौ भद्रौ धुर्यौ अभि । तौ इमौ उप सर्पतः ॥२॥

पदार्थः— हे **सरूप** विविधरूप, **वृषन्** सुखवर्षक इन्द्र जगदीश्वर ! त्वम् **इमौ** एतौ **भद्रौ** कल्याणकरौ **धुर्यौ** आत्ममनोरूपौ देहधूर्वहौ **अभि** प्रति **आगहि** आगच्छ । **तौ इमौ** आत्ममनसी, त्वाम् **उपसर्पतः** उपगच्छतः ॥२॥

भावार्थः— जगदुत्पादकधारकप्रलयकन्यायकारिदयालुनिराकाराजरामराभयनित्यपवित्रत्वादीनि परमात्मनोऽनेकानि रूपाणि सन्त्यत एवासौ सरूपेति सम्बोधितः । स्तोतुरात्ममनसी यदा स्वयं परमात्मानं प्राप्तुं प्रयतेते तदा तत्रैव निलीनः स तदर्थमाविर्भवति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा को बुला रहे हैं ।

पदार्थ— हे **सरूप** विविध रूपों से युक्त, **वृषन्** सुखों की वर्षा करने वाले इन्द्र जगदीश्वर! आप **इमौ** इन **भद्रौ** कल्याणकारी, **धुर्यौ** देह के धुरे को वहन करने वाले आत्मा और मन के **अभि** प्रति **आगहि** आओ । **तौ इमौ** ये वे दोनों आत्मा और मन, **उपसर्पतः** आपके समीप पहुंच रहे हैं ॥२॥

भावार्थ— जगदुत्पादकत्व, जगद्धारकत्व, जगत्संहारकत्व, न्यायकारित्व, दयालुत्व, निराकारत्व, अजरत्व, अमरत्व, अभयत्व, पवित्रत्व आदि परमात्मा के अनेक रूप हैं, इसीलिए उसे 'सरूप'

संबोधन किया गया है । स्तोता के आत्मा और मन जब स्वयं परमात्मा को पाने का यत्न करते हैं तब वहीं छिपा बैठा वह उनके लिए प्रकट हो जाता है ।।२।।

अथ परमात्मनो व्यापकत्वं वर्णयति ।

२र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३१ २ ३ २
१६५६. नीव शीर्षाणि मृद्वं मध्य आपस्य तिष्ठति । शृङ्गेभिर्दशभिर्दिशन् ।।३।।

२ ३ १ २ ३ १ २र १२र ३ १ २र ३१ २ ३ २
नि इव शीर्षाणि मृद्वम् । मध्ये आपस्य तिष्ठति । शृङ्गेभिः दशभिः दिशन् ।।३।।

पदार्थः— इन्द्रो जगदीश्वरः **दशभिः** दशसंख्यकैः **शृङ्गेभिः** पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशैः स्थूलभूतैः गन्धरसरूपस्पर्शशब्दैस्तद्विषयैश्च **दिशन्** जगत्प्रपञ्चम् अतिसृजन् **आपस्य** व्याप्तस्य ब्रह्माण्डस्य **मध्ये** अभ्यन्तरे **तिष्ठति** विद्यमानोऽस्ति । हे मनुष्याः ! यूयम् तत्सत्तायां विश्वस्य **शीर्षाणि** स्वकीयानि मस्तिष्काणि **नि मृद्वम् इव** संमार्जयध्वम् । [इवशब्दः पूरणे] ।।३।।

भावार्थः— चर्मचक्षुर्भिर्जगत्सञ्चालकं कमप्यपश्यन्तो ये जनाः परमेश्वरसत्तायां न विश्वसन्ति ते **वृथैव** विभ्राम्यन्ति । ये तु श्रद्धादीपं प्रज्वालयन्ति ते कणे कणे परमेश्वरं पश्यन्ति ।।३।।

अस्मिन् खण्डे परमात्मनो नृपतेर्योगिनश्च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ।।

अब परमात्मा की व्यापकता का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— इन्द्र जगदीश्वर **दशभिः** दस **शृङ्गेभिः** सींगों से अर्थात् पृथिवी, अप्, तेजस्, वायु, आकाश इन पंच स्थूल भूतों तथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द इन पाँच सूक्ष्म भूतों से **दिशन्** जगत्प्रपंच का सर्जन करता हुआ **आपस्य** व्याप्त ब्रह्माण्ड के **मध्ये** अन्दर **तिष्ठति** विद्यमान है । हे मनुष्यो ! तुम उसकी सत्ता में विश्वास करके **शीर्षाणि** अपने मस्तिष्कों को **निमृद्वम् इव** माँज लो ।।३।।

भावार्थ— चर्मचक्षुओं से जगत् के संचालनकर्ता किसी को न देखते हुए जो लोग परमेश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते वे व्यर्थ ही भ्रम में पड़े हुए हैं। जो श्रद्धा का दीप प्रज्वलित कर लेते हैं वे कण-कण में परमेश्वर को देखते हैं ।।३।।

इस खण्डमें परमात्मा, राजा और योगी के विषयों का वर्णन होनेसे इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ।।

सत्रहवें अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ।

सत्रहवां अध्याय समाप्त ।

अष्टम प्रपाठक में प्रथम अर्ध समाप्त ।

अथाष्टादशोऽध्यायः अष्टमे प्रपाठके द्वितीयोऽर्धश्च

।।१।। अथ 'पन्य' मित्यादिकस्य प्रथमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १ २ ३ क्रमाङ्के भक्तिरसविषये व्याख्याता । अत्र ज्ञानरसविषय उच्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २
१६५७. पन्यंपन्यमित् सोतार आ धावत मद्याय । सोमं वीराय शूराय ।।१।।[1]

१ २र १ २र ३ २ ३ २ ३ १ २र
पन्यंपन्यम् पन्यम् पन्यम् इत् सोतारः । आ धावत मद्याय ।

१ २र ३ १ २ १ २र
सोमम् वीराय शूराय ।।१।।

---

१. ऋ० ८।२।२५, साम० १२३ ।

पदार्थः— हे **सोतारः** ज्ञानरसाभिषवकर्तारो मनुष्याः ! यूयम् **मद्याय** मादयितव्याय, **वीराय** कामक्रोधादीन् षड्रिपून् विशेषेण प्रकम्पयित्रे । [वीरो वीरयत्यमित्रान् वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो वीरयतेर्वा । निरु० १।६ ।] **शूराय** बलिने जीवात्मने **पन्यं पन्यम् इत्** स्तुत्यं स्तुत्यम् एव **सोमम्** अध्यात्मं ज्ञानरसम् **आ धावत** आगमयत ।।१।।

भावार्थः— मनुष्यैः प्रशंसार्हमेव भौतिकमध्यात्मं च ज्ञानमात्मनि संचेतव्यं येन तेऽभ्युदयनिःश्रेयसमार्गं सम्यक् सन्तरेयुः ।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में १२३ क्रमांक पर भक्तिरस के विषय में की जा चुकी है । यहां ज्ञानरस का विषय है ।

पदार्थ-- हे **सोतारः** ज्ञानरस को अभिषुत करने वाले मनुष्यो ! तुम **मद्याय** आनन्दित किये जाने योग्य, **वीराय** काम-क्रोध आदि षड् रिपुओं को विशेष रूप से प्रकंपित करने वाले, **शूराय** शूरवीर जीवात्मा के लिए **पन्यम् पन्यम् इत्** प्रशंसनीय-प्रशंसनीय ही **सोमम्** अध्यात्म ज्ञान-रस को **आधावत** पहुंचाओ ।।१।।

भावार्थ— मनुष्यों को चाहिए कि वे प्रशंसा-योग्य ही भौतिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान का आत्मा में संचय करें, जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस के मार्ग को भली-भांति पार कर सकें ।।१।।

अथ ब्रह्मयुजोरुभयोर्हर्योः कार्यं वर्णयति ।

१ऽर २ऽर ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ऽर २ऽर
१६५८. एह हरी ब्रह्मयुजा शग्मा वक्षतः सखायम् । इन्द्रं गीर्भिर्गिर्वणसम् ।।२।।[1]

२ ३ २ ३ऽर १ २ ३ १ २ऽर ३ २ ३ १ २ऽर ३
आ इह हरीइति ब्रह्मयुजा ब्रह्म युजा । शग्मा वक्षतः सखायम् स खायम् ।

१ २ऽर ३ २ १ २ऽर ३
इन्द्रम् गीर्भिः गिर्वणसम् गिः वनसम् ।।२।।

पदार्थः— **ब्रह्मयुजा** ब्रह्मणा देहे योजितौ **शग्मा** सुखकरौ शक्तौ वा **हरी** ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपौ प्राणापानरूपौ वा अश्वौ **सखायम्** सुहृद्भूतम् **गिर्वणसम्** गीर्भिः प्रशस्ताभिर्वाग्भिः सेवितम् । [गीर्भिः वन्यते सेव्यते इति गिर्वणाः तम् ।] **इन्द्रम्** जीवात्मनम् **इह** देहरूपे रथे **गीर्भिः** वाग्भिः सह **आवक्षतः** आवहतः । [वह प्रापणे, लेटि सिपि अडागमे प्रथमद्विवचने रूपम्] ।।२।।

भावार्थः— जगदीश्वरस्यैवायं महिमा यत्तेन योजितौ ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपौ प्राणापानरूपौ वा घोटकौ देहरथं निरुपद्रवं वहतो येन तत्रस्थो जीवो जीवनयात्रां निर्वहन् योगाभ्यासेन मोक्षपदाधिकारी जायते ।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा द्वारा जोड़े गये दोनों हरियों के कार्य का वर्णन किया गया है ।

पदार्थ— **ब्रह्मयुजा** परमात्मा द्वारा शरीर में जोड़े गए, **शग्मा** सुखदायक वा शक्तिशाली **हरी** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय रूप वा प्राण-अपान रूप दो घोड़े **सखायम्** अपने सखा, **गिर्वणसम्** प्रशस्त वाणियों से सेवित **इन्द्रम्** जीवात्मा को **इह** इस देह-रथ में **गीर्भिः** वाणियों के साथ **आवक्षतः** वहन करते हैं ।।२।।

---

१. ऋ० ८।२।२७, 'गीर्भिः श्रुतं गिर्वणसम्' इति तृतीयः पादः ।

भावार्थ– जगदीश्वर की ही यह महिमा है कि उसके द्वारा जोड़े गये ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय रूप अथवा प्राण-अपान रूप घोड़े देह-रथ को निर्विघ्न चलाते हैं, जिससे उसमें बैठा हुआ जीव जीवन-यात्रा को करता हुआ योगाभ्यास द्वारा मोक्ष-पद का अधिकारी हो जाता है ॥२॥

अथ जगदीश्वरमाह्वयति ।

१ २ ३ २ ३।१र २र ३।२उ ३ २ १ २ ३ १ २
१६५९. पाता वृत्रहा सुतमा घा गमन्नारे अस्मत् । नि यमते शतमूतिः ॥३॥[1]

१ २र३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
पाता वृत्रहा वृत्र हा सुतम् । आ घ गमत् न आरे अस्मत् ।

३ १ २ ३ २ ३
नि यमते शतमूतिः शतम् ऊतिः ॥३॥

पदार्थः– **वृत्रहा** विघ्नहन्ता, **सुतम्** अभिषुतं श्रद्धाभक्तिरसम् **पाता** पानकर्ता इन्द्रो जगदीश्वरः **घ** नूनम् **आ गमत्** आगच्छतु । **अस्मत् आरे** अस्मत्तः दूरे **न** मा तिष्ठतु । **शतमूतिः** अनन्तरक्षः सः **नि यमते** अस्मान् नियच्छतु, नियन्त्रणपूर्वकं चालयतु ॥३॥

भावार्थः– जगदीश्वरं स्वसमीपेऽनुभूय स्तोता जीवो नियमपूर्वकमेव जीवनं यापयति ॥३॥

अब जगदीश्वर का आह्वान करते हैं ।

पदार्थ– **वृत्रहा** विघ्नों को दूर करने वाला, **सुतम्** अभिषुत किये हुए श्रद्धा-भक्ति के रस को **पाता** पीने वाला इन्द्र जगदीश्वर **घ** निश्चय ही **आ गमत्** हमारे पास आये । **अस्मत् आरे** हमसे दूर **न** न रहे । **शतमूतिः** अनन्त रक्षाओं वाला वह **नि यमते** हमें नियन्त्रणपूर्वक चलाये ॥३॥

भावार्थ– जगदीश्वर को अपने समीप अनुभव करके स्तोता जीव नियमपूर्वक ही जीवन बिताता है ॥३॥

॥२॥ अथ 'आ त्वा' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरसः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १९७ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र जीवात्मविषय उच्यते ।

१ २ ३ १ २ ३१ २३ १ २ २उ ३ १ २
१६६०. आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः । न त्वामिन्द्राति रिच्यते ॥१॥[2]

२ ३ १ २र ३ २ ३ २ ३ १ २र
आ त्वा विशन्तु इन्दवः । समुद्रम् सम् उद्रम् इव सिन्धवः ।

३ १ २र ३
न त्वाम् इन्द्र अति रिच्यते ॥१॥

पदार्थः– हे **इन्द्र** जीवात्मन् ! **इन्दवः** आचार्यसकाशात् प्राप्ता ज्ञानरसाः, परमात्मसकाशात् प्राप्ता आनन्दरसाश्च **त्वा** त्वाम् **आ विशन्तु** प्रविशन्तु, **समुद्रम् इव** उदधिं यथा **सिन्धवः** नद्यः प्रविशन्ति तद्वत् । देहे कश्चिदपि मनःप्राणादिः **त्वाम्** जीवात्मानम् **न अतिरिच्यते** न अतिशेते– त्वत्तोऽधिको न भवतीत्यर्थः ॥१॥

---

१. ऋ० ८।२।२६।
२. ऋ० ८।९२।२२, साम० १९७ ।

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— जीवात्मा खलु देहस्य सम्राड् वर्तते । मनोबुद्धिप्राणमस्तिष्कहृदयादीनि सर्वाण्यपि तस्यैवानुशासने वर्तन्ते । स यदि जागरूकोऽस्ति तर्हि सर्वोऽभ्युदयो सर्वं निःश्रेयसं वा तेन प्राप्तुं शक्यते ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में १९७ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में हो चुकी है । यहां जीवात्मा का विषय कहते हैं।

पदार्थ— हे **इन्द्र** परमात्मन् ! **इन्दवः** आचार्य से प्राप्त ज्ञान-रस और परमात्मा से प्राप्त आनन्द-रस **त्वा** तुझमें **आ विशन्तु** प्रवेश करें, **समुद्रम् इव** समुद्र में जैसे **सिन्धवः** नदियां प्रवेश करती हैं। देह में कोई भी मन, प्राण आदि **त्वाम्** तुझ जीवात्मा से **न अतिरिच्यते** महत्ता में अधिक नहीं है ॥१॥

यहां उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— जीवात्मा शरीर का सम्राट् है । मन, बुद्धि, प्राण, मस्तिष्क, हृदय आदि सब उसी के अनुशासन में हैं। वह यदि जागरूक है तो सारे अभ्युदय या निःश्रेयस को वह प्राप्त कर सकता है ॥१॥

अथ जीवात्मानमुद्बोधयति ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र १ २ ३ १ २
१६६१. विव्यक्थ महिना वृषन्भक्षं सोमस्य जागृवे । य इन्द्र जठरेषु ते ॥२॥[1]

३ १ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ २ ३ १ २ ३
विव्यक्थ महिना वृषन् । भक्षम् सोमस्य जागृवे । यः इन्द्र जठरेषु ते ॥२॥

पदार्थः— हे **वृषन्** बलवन् **जागृवे** जागरूक **इन्द्र** जीवात्मन् ! त्वम् **महिना** स्वमहिम्ना **सोमस्य** ज्ञानरसस्य आनन्दरसस्य च **भक्षम्** भागम् । [भजतेर्बाहुलकादौणादिकः सः प्रत्ययः।] **विव्यक्थ** विस्तारय । [व्यचतेर्लोंडर्थे लिट् ।] **यः** भागः **ते** तव **जठरेषु** उदरेषु, अभ्यन्तरे इति यावत्, वर्तते इति शेषः ॥२॥

भावार्थः— मनुष्यो यदपि ज्ञानमानन्दं वा सञ्चिनोति तस्य विस्तारस्तेन सततं विधेयः ॥२॥

अब जीवात्मा को उद्बोधन देते हैं।

पदार्थ— हे **वृषन्** बलवान्, **जागृवे** जागरूक **इन्द्र** जीवात्मन् ! तू **महिना** अपनी महिमा से **सोमस्य** ज्ञान-रस और आनन्द-रस के **भक्षम्** भाग को **विव्यक्थ** विस्तारित कर, **यः** जो भाग **ते** तेरे **जठरेषु** अन्दर है ॥२॥

भावार्थ— मनुष्य जिस भी ज्ञान वा आनन्द को संचित करता है उसका विस्तार उसे निरन्तर करते रहना चाहिए ॥२॥

अथ पुनरपि जीवात्मानमेवाह ।

१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
१६६२. अरं त इन्द्र कुक्षये सोमो भवतु वृत्रहन् । अरं धामभ्य इन्दवः ॥३॥[2]

१२र ३ १ २ १२र ३ १२र १ २र १ २र
अरम् ते इन्द्र कुक्षये । सोमः भवतु वृत्रहन् वृत्र हन् । अरम् धामभ्यः इन्दवः ॥३॥

---

१. ऋ० ८।९२।२३।
२. ८।९२।२४ ।

पदार्थः— हे **वृत्रहन्** विघ्नहन्तः **इन्द्र** जीवात्मन् ! **सोमः** ज्ञानरसः आनन्दरसश्च **ते कुक्षये** तव उदराय, तव स्वात्मनोऽर्थे **अरम्** पर्याप्तम् **भवतु** जायताम् । अपि च **इन्दवः** क्लेदकाः ते ज्ञानरसाः आनन्दरसाश्च **धामभ्यः** अन्येभ्योऽपि धामभ्यः **अरम्** पर्याप्तं जायन्ताम् ॥३॥

भावार्थः— स्वयं गुरुजनेभ्यो ज्ञानं गृहीत्वा जगदीश्वरोपासनया चानन्दं सम्प्राप्य तज्ज्ञानस्य तदानन्दस्य च प्रसारो जने जने, गृहे गृहे, समाजे समाजे विधेयः ॥३॥

आगे फिर जीवात्मा को ही कहा गया है ।

पदार्थ— हे **वृत्रहन्** विघ्नविनाशक **इन्द्र** जीवात्मन् ! **सोमः** ज्ञान-रस और आनन्द-रस **ते कुक्षये** तेरे पेट के लिए अर्थात् तेरे अपने लिए **अरम्** पर्याप्त **भवतु** होवे । और **इन्दवः** सराबोर करने वाले वे ज्ञान-रस और आनन्द-रस **धामभ्यः** अन्य धामों के लिए भी **अरम्** पर्याप्त होवें ॥३॥

भावार्थ— स्वयं गुरुजनों से ज्ञान लेकर और जगदीश्वर की उपासना से आनन्द पाकर उस ज्ञान तथा उस आनन्द का प्रसार जन-जन में, घर-घर में और प्रत्येक समाज में करना चाहिए ॥३॥

॥३॥ अथ 'जराबोध' इत्यादिकस्य तृतीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** शुनःशेप आजीगर्तिः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १५ क्रमाङ्के परमात्मस्तुतिविषये व्याख्याता । अत्रापि स एव विषय उच्यते ।

१६६३ **जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय । स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ॥१॥**[1]

जराबोध जरा बोध तत् विविड्ढि । विशेविशे विशे विशे यज्ञियाय ।
स्तोमम् रुद्राय दृशीकम् ॥१॥

पदार्थः— **हे जराबोध** स्तुतिविज्ञ मानव ! [जरां स्तुतिप्रकारं बुध्यते जानातीति जराबोधः तथाविध ।] त्वम् **विशे विशे** मनुष्याय मनुष्याय, प्रतिमनुष्यहितार्थमित्यर्थः। **यज्ञियाय** पूजनीयाय **रुद्राय** दुःखद्रावयित्रे परमात्मने **तत्** उज्ज्वलम् **दृशीकम्** रमणीयम् **स्तोमम्** स्तोत्रम्, गुणकीर्तनम् **विविड्ढि** कुरु । ['तद् विविड्ढि तत् कुरु' इति निरुक्तम् १०।८] ॥१॥[2]

भावार्थः— सर्वैर्जनैर्जगदीश्वरस्य गुणगानं कृत्वा यथाशक्ति तद्गुणान् स्वात्मनि विधातुं प्रयतनीयम् ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में १५ क्रमांक पर परमात्मा की स्तुति के विषय में की गयी थी । यहाँ भी वही विषय कहा जा रहा है ।

पदार्थ— हे **जराबोध** स्तुतिविज्ञ मानव ! तू **विशे विशे** प्रत्येक मनुष्य के हितार्थ **यज्ञियाय** पूजनीय, **रुद्राय** दुःखहर्ता परमात्मा के लिए **तत्** उस उज्ज्वल **दृशीकम्** रमणीय **स्तोमम्** स्तोत्र को, गुण-गान को **विविड्ढि** कर ॥१॥

---

१. ऋ० १।२७।१०, साम० १५ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सेनाधिपतिविषये व्याचख्यौ ।

भावार्थ— सब मनुष्यों को चाहिए कि जगदीश्वर का गुणगान करके यथाशक्ति उसके गुणों को अपने अन्दर धारण करने का प्रयत्न करें ।।१।।

अथ परमात्मगुणान् वर्णयन् तं प्रार्थयते ।

१६६४. स नो महाँ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः। धिये वाजाय हिन्वतु ।।२।।[1]

सः नः महान् अनिमानः अ निमानः। धूमकेतुः धूम केतुः पुरुश्चन्द्रः पुरु चन्द्रः।
धिये वाजाय हिन्वतु ।।२।।

पदार्थः— **सः** असौ प्रसिद्धः, **महान्** महागुणः **अनिमानः** देशेन कालेन च अपरिच्छिन्नः, **धूमकेतुः** दोधूयमानओंकारध्वजः **पुरुश्चन्द्रः** बह्वाह्लादकः। [अत्र ह्रस्वाच्छन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे । अ० ६।१।१५१ अनेन सुडागमः ।] **अग्निः** अग्रणीः परमेश्वरः **नः** अस्मान् **धिये** ज्ञानसम्पादनाय कर्मकरणाय च **वाजाय** बलसंचयाय च **हिन्वतु** प्रेरयतु ।।२।।[2]

भावार्थः— सत्या परमात्मस्तुतिः सैव यया मनुष्यो ज्ञानार्जनाय बलसंचयाय पुरुषार्थाय च प्रेरणां प्राप्नोति ।।२।।

अब परमात्मा के गुणों का वर्णन करते हुए उससे प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— **सः** वह प्रसिद्ध, **महान्** गुणों में महान्, **अनिमानः** देश और काल से असीमित, **धूमकेतुः** फहराती हुई ओ३म् की ध्वजा वाला, **पुरुश्चन्द्रः** बहुत आह्लाददायक अग्रनायक परमेश्वर **नः** हमें **धिये** ज्ञान और कर्म के लिए, तथा **वाजाय** बल के लिए **हिन्वतु** प्रेरित करे ।।२।।

भावार्थ— सच्ची परमात्मा की स्तुति वही है, जिससे मनुष्य ज्ञान कमाने, बल संचित करने तथा पुरुषार्थ करने के लिए प्रेरणा प्राप्त करता है ।।२।।

अथ कीदृशः परमेश्वरः किं करोत्वित्याह ।

१६६५. स रेवाँ इव विश्पतिर्दैव्यः केतुः शृणोतु नः। उक्थैरग्निर्बृहद्भानुः ।।३।।[3]

सः रेवान् इव विश्पतिः। दैव्यः केतुः शृणोतु नः।
उक्थैः अग्निः बृहद्भानुः बृहत् भानुः।।३।।

पदार्थः— **रेवान् इव** महाधनाढ्यः इव । [अत्र रैशब्दान्मतुप् । 'रयेर्मतौ बहुलम्' । अ० ६।१।३७ इति वार्तिकेन सम्प्रसारणम् । 'छन्दसीरः' अ० ८।२।१५ इति वत्वम् ।] **विश्पतिः** प्रजापालकः, **दैव्यः** देवानां विदुषां

---

१. ऋ० १।२७।११।

२. दयानन्दस्वामिना ऋग्भाष्ये मन्त्रोऽयं भौतिकाग्निविषये व्याख्यातः ।

३. ऋ० १।२७।१२ ।

हितकरः, **केतुः** प्रज्ञापकः, **बृहद्भानुः** महातेजाः **सः** प्रसिद्धः **अग्निः** जगन्नेता परमेश्वरः **उक्थैः** स्तोत्रैः **नः** अस्मान्, अस्मत्प्रार्थनावचांसीत्यर्थः **शृणोतु** आकर्णयतु, पूरयत्विति भावः ॥३॥[1]

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— यथा कश्चित् प्रशस्तधनो मनुष्यः प्रजाः पालयन् विदुषः संमानयन् ज्ञानं तेजस्वितां च प्रसारयन् याचकानां वचांसि शृण्वन् सर्वेषां हितं करोति तथैव जगदीश्वरोऽपि । परमेतावान् विशेषो यत् परमेश्वरस्य तथाकरणे कश्चित् स्वार्थो नास्ति ॥३॥

अब कैसा परमेश्वर क्या करे यह कहते हैं ।

पदार्थ— **रेवान् इव** महाधनाढ्य के समान **विश्पतिः** प्रजाओं का पालनकर्ता, **दैव्यः** विद्वानों का हितकर्ता, **केतुः** ज्ञान देने वाला, **बृहद्भानुः** महान् तेज वाला **सः** वह प्रसिद्ध **अग्निः** जगत् का नेता परमेश्वर **उक्थैः** स्तोत्रों के द्वारा **नः** हमें अर्थात् हमारे प्रार्थना-वचनों को **शृणोतु** सुने, पूर्ण करे ॥३॥

यहाँ उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ— जैसे कोई प्रशस्त धन वाला मनुष्य प्रजाओं का पालन करता हुआ, विद्वानों को संमान देता हुआ, ज्ञान और तेजस्विता का प्रसार करता हुआ, याचकों के वचनों को सुनता हुआ सबका हित करता है, वैसे ही जगदीश्वर भी करता है । परन्तु इतनी विशेषता है कि परमेश्वर का वैसा करने में कोई स्वार्थ नहीं होता ॥३॥

॥४॥ अथ 'तद्वो गाय' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** शंयुर्बार्हस्पत्यः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ११५ क्रमाङ्के परमात्मगानविषये व्याख्याता । अत्रापि तमेव विषयमाह ।

१६६६. तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने । शं यद् गवे न शाकिने ॥१॥[2]

तत् वः गाय सुते सचा । पुरुहूताय पुरु हूताय सत्वने ।
शम् यत् गवे न शाकिने ॥१॥

पदार्थः— हे सखे ! **वः** त्वम् [अत्र व्यत्ययेन प्रथमायामेकवचनस्य वसादेशः ।] **सुते** श्रद्धारसेऽभिषुते सति **सचा** अन्यैः स्तोतृभिः सह मिलित्वा **पुरुहूताय** बहुभिराहूताय, **सत्वने** बलशालिने इन्द्राय परमात्मने **तत् गाय** तद् गीतं गानविषयीकुरु **यत्** गीतम् **शाकिने गवे न** घासभक्षिणे वृषभाय इव **शाकिने** शक्तिमते **गवे** स्तोत्रे तुभ्यम् **शम्** शान्तिदायकं भवेत् ॥१॥[3]

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥१॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरपि मन्त्रमिमं जगदीश्वरविषये व्याचष्टे ।

२. ऋ० ६।४५।२२; अथ० २०।७८।१; साम० ११५।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं 'यथा सर्वविद्यापारगस्याऽध्यापनोपदेशेन कर्मणा सर्वेषां मङ्गलं वर्धते तथैवोत्तमेन राज्ञा प्रजासुखमुन्नतं भवती'ति विषये व्याख्यातः ।

भावार्थः— श्रद्धानिर्भरेण चेतसा यत् स्तुतिगीतं जगदीश्वरायोपहियते तत् स्तोत्रे महत् कल्याणकरं जायते ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ११५ क्रमांक पर परमात्मा के गान के विषय में की जा चुकी है। यहां भी वही विषय है।

पदार्थ— हे साथी ! **वः** तू **सुते** श्रद्धा-रस के उत्पन्न होने पर **सचा** अन्य स्तोताओं के साथ **पुरुहूताय** बहुतों से बुलाये गये, **सत्वने** बलशाली इन्द्र परमात्मा के लिए **तत् गाय** उस गीत को गा **यत्** जो गीत **शाकिने गवे न** घास-भक्षी बैल के समान **शाकिने** शक्तिमान् **गवे** तुझ स्तोता के लिए **शम्** शान्तिदायक हो ॥१॥

यहाँ श्लिष्टोपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— श्रद्धा से भरे हुए चित्त से जिस स्तुति-गीत का उपहार जगदीश्वर को दिया जाता है वह स्तोता के लिए बहुत कल्याणकारी होता है ॥१॥

अथ परमात्मनो दानं वर्णयति ।

२ ३ २ ३ १ २ ३१र २र ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१६६७. न घा वसुर्नि यमते दानं वाजस्य गोमतः। यत् सीमुप श्रवद्गिरः ॥२॥[1]

२ ३ १२र ३ २ १ २र १ २र ३ १ २र १ २र १२र
न घ वसुः नि यमते । दानम् वाजस्य गोमतः। यत् सीम् उप श्रवत् गिरः ॥२॥

पदार्थः— **वसुः** वासयिता इन्द्रः परमेश्वरः **गोमतः** अध्यात्मप्रकाशयुक्तस्य **वाजस्य** बलस्य **दानम्** दत्तिम् **न घ** नैव **नियमते** नियच्छति, अवरुद्धं करोति, **यत् सीम्** यदा खलु, सः **गिरः** श्रद्धाभरिताः स्तुतिवाचः **उप श्रवत्** उपशृणोति ॥२॥[2]

भावार्थः— श्रद्धालूनां श्रद्धासिक्तैः प्रेमभरितैः स्तोत्रैर्द्रवितो भूत्वा जगदीश्वरो नवान् नवान् अध्यात्मैश्वर्योपहारान् स्तोतुरुपायनीकरोति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के दान का वर्णन है ।

पदार्थ— **वसुः** बसाने वाला इन्द्र परमेश्वर **गोमतः** अध्यात्म-प्रकाश से युक्त **वाजस्य** बल के **दानम्** दान को **न घ** कभी नहीं **नि यमते** रोकता है, **यत् सीम्** जब कि वह **गिरः** श्रद्धा से भरी हुई स्तुति-वाणियों को **उप श्रवत्** सुन लेता है ॥२॥

भावार्थ— श्रद्धालुओं के श्रद्धा से सिंचे हुए, प्रेम से भरे स्तोत्रों से द्रवित होकर जगदीश्वर नये-नये आध्यात्मिक ऐश्वर्य के उपहार स्तोता की भेंट करता है ॥२॥

अथ परमात्मनो नृपतेश्च विषयमाह ।

३ १ २ ३ २ड ३ १र २र ३ १र २र १ २ ३ १ २
१६६८. कुवित्सस्य प्र हि व्रजं गोमन्तं दस्युहा गमत् । शचीभिरप नो वरत् ॥३॥[3]

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ १२र ३ २ ३ २ १ २र
कुवित्सस्य कुवित् सस्य प्र हि व्रजम् । गोमन्तम् दस्युहा दस्यु हा गमत् ।

१ २र १ २र ३
शचीभिः अप नः वरत् ॥३॥

---

१. ऋ० ६।४५।२३, अथ० २०।७८।२ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजप्रजाजनाः परस्परं कथं वर्तेरन्निति विषये व्याख्याति ।

३. ऋ० ६।४५।२४; अथ० २०।७८।३ ।

पदार्थः— प्रथमः परमात्मपरः । यः **दस्युहा** विघ्नहन्ता इन्द्रो जगदीश्वरः **कुवित्सस्य**[1] कुवित् बहु सनोति ददादीति तस्य बहुदानकर्तुर्मनुष्यस्य **गोमन्तं व्रजम्** । प्रशस्तधेनुयुक्तां गोशालाम् अध्यात्मप्रकाशसमूहं वा **प्र गमत्** प्रगमयति प्रापयति, सः **शचीभिः** स्वकीयैः कर्मभिः **नः** अस्मभ्यमपि **अप वरत्** गवादिधनानाम् अध्यात्मप्रकाशानां वा द्वारम् उद्घाटयेत् । [कुवित्सस्य, कुवित्पूर्वात् षणु दाने धातोः कर्तरि डः प्रत्ययः, डित्त्वात् टिलोपः । गमत्, गम्लृ गतौ णिगर्भः] ॥

द्वितीयः नृपतिपरः । **दस्युहा** दुष्टानां हन्ता इन्द्रो नृपतिः **कुवित्सस्य**[2] कुवित् बहु स्यति हिनस्ति यः स कुवित्सः तस्य गोघातकस्य दुर्जनस्य **गोमन्तं व्रजम्** धेनुयुक्तं गोगृहम् **प्र गमत् हि** प्रगच्छेत् खलु, अपि च **शचीभिः** स्वकीयाभिः सेनाभिः, तस्य गाः **नः** अस्मभ्यं धार्मिकेभ्यः **अप वरत्** अपाच्छिन्द्यात् । [कुवित्सः, कुवित्पूर्वात् षो अन्तकर्मणि इति धातोर्डः ।] ॥३॥[3]

भावार्थः— परमात्मा दातृणामेव सहायको जायते । दुष्टानां गोघातकानामयमेव दण्डो यत्तेषां गा अपच्छिद्य धार्मिकेभ्यः सज्जनेभ्यस्ता उपायनीक्रियेरन् ॥३॥

अस्मिन् खण्डे ज्ञानरसस्य जगदीश्वरस्य जीवात्मनो नृपतेश्च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्ज्ञेया ॥

अगले मन्त्र में परमात्मा तथा राजा का विषय कहा गया है ।

पदार्थ— प्रथम परमात्मा के पक्ष में । जो **दस्युहा** विघ्नों का विनाशक इन्द्र जगदीश्वर **कुवित्सस्य** बहुत दान देने वाले को **गोमन्तं व्रजम्** उत्कृष्ट धेनुओं से युक्त गोशाला वा अध्यात्म-प्रकाश का समूह **प्र गमत्** प्राप्त कराता है, वह **शचीभिः** अपने कर्मों से **नः** हमारे लिए भी **अप वरत्** गाय आदि धनों का वा अध्यात्म-प्रकाशों का द्वार खोल दे ॥

द्वितीय राजा के पक्ष में । **दस्युहा** दुष्टों का वधकर्ता इन्द्र राजा **कुवित्सस्य** गोघातक की **गोमन्तं व्रजम्** धेनुओं से युक्त गोशाला में **प्र गमत् हि** पहुँचे, और **शचीभिः** अपनी सेनाओं से, उसकी गौओं को **नः** हम धार्मिकों के लिए **अप वरत्** छीन लाये ॥३॥

भावार्थ— परमात्मा दानियों का ही सहायक होता है । दुष्ट गोहत्यारों का यही दण्ड है कि उनकी गौएँ छीनकर धर्मात्मा सज्जनों को भेंट कर दी जाएँ ॥३॥

इस खण्ड में ज्ञानरस, जगदीश्वर, जीवात्मा और राजा के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ॥

अठारहवें अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ।

॥५॥ अथ 'इदं विष्णुर्' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य षड्र्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मेधातिथिः काण्वः । **देवता** विष्णुः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

---

१. (कुवित्सस्य) यः कुविन्महत् सनति विभजति तस्य-इति ऋग्भाष्ये द० ।

२. कुविद् बहुशः स्यति हिनस्तीति कुवित्सो नाम कश्चित्–इति सा० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं राजधर्मविषये व्याख्यातः ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २२२ क्रमाङ्के परमेश्वरविषये सूर्यविषये च व्याख्याता । अत्र परमेश्वरविषय उच्यते ।

१६६९. इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम् । समूढमस्य पांसुले ॥१॥[1]

इदम् विष्णुः वि चक्रमे। त्रेधा नि दधे पदम्। समूढम् सम् ऊढम् अस्य पांसुले॥१॥

पदार्थः— **विष्णुः** सर्वान्तर्यामी परमेश्वरः **इदम्** एतद् ब्रह्माण्डम् मानवशरीरं वा **विचक्रमे** व्याप्तवानस्ति । **त्रेधा** त्रिषु स्थानेषु— पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि च, यद्वा शरीरस्य प्राणे, मनसि, आत्मनि च **पदम्** चरणम् **निदधे** निहितवानस्ति । तथापि **अस्य** परमेश्वरस्य तत् पदम् **पांसुले** धूलिराशौ **समूढम्** प्रच्छन्नमिवास्ति, चर्मचक्षुर्भिर्न दृश्यत इत्यर्थः ॥१॥[2]

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— अत्र निराकारेऽपि परमेश्वरे पादन्यास उपचर्यते । यथा कश्चिद् देहधारी पादविक्षेपेण भूमेः कमपि प्रदेशं स्वायत्तीकरोति तथा जगदीश्वरः सर्वमपि ब्रह्माण्डं सर्वमपि मानवदेहं च स्वायत्तीकृतवानित्यभिप्रायः ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में २२२ क्रमांक पर परमेश्वर और सूर्य के विषय में की जा चुकी है। यहाँ परमेश्वर का विषय कहा जा रहा है ।

पदार्थ— विष्णुः सर्वान्तर्यामी परमेश्वर **इदम्** इस ब्रह्माण्ड वा मानव-शरीर में **विचक्रमे** व्याप्त है । उसने **त्रेधा** तीन स्थानों में अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ में तथा शरीर के प्राण, मन और आत्मा में **पदम्** पग **नि दधे** रखा हुआ है । तो भी **अस्य** इस परमेश्वर का वह पग **पांसुले** धूली के ढेर में **समूढम्** छिपे हुए के समान है, अर्थात् चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं देता है ॥१॥

यहाँ लुप्तोपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— यहां निराकार भी परमेश्वर में पग रखने का वर्णन गौण है । अभिप्राय यह है कि जैसे कोई देहधारी कदम भरकर भूमि के किसी प्रदेश को अपने अधीन कर लेता है वैसे ही जगदीश्वर ने सारे ब्रह्माण्ड को और सारे मानवदेह को अपने अधीन किया हुआ है ॥१॥

अथ पुनरपि परमेश्वरविषय उच्यते ।

१६७०. त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । अतो धर्माणि धारयन् ॥२॥[3]

त्रीणि पदा वि चक्रमे । विष्णुः गोपाः गो पाः अदाभ्यः अ दाभ्यः ।

अतः धर्माणि धारयन् ॥२॥

---

१. ऋ० १।२२।१७, य० ५।१५, अथ० ७।२६।४ सर्वत्र 'पांसुरे' इति पाठः । साम० २२२, देवता इन्द्रः ।

२. ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च दयानन्दस्वामिनापि मन्त्रोऽयं परमेश्वरविषये व्याख्यातः ।

३. ऋ० १।२२।१८, य० ३४।४३, अथ० ७।२६।५ । अथर्ववेदे 'अतो' इत्यत्र 'इतो' इति भेदः ।

पदार्थः— **गोपाः** रक्षकः, **अदाभ्यः** केनापि हिंसितुं पराजेतुम् अपमानयितुं वाऽशक्यः **विष्णुः** सर्वान्तर्यामी जगदीश्वरः **त्रीणि पदा** त्रीण्यपि पदानि, प्रकृतिं जगत्प्रपंचं जीवात्मसमूहं च **वि चक्रमे** व्याप्तवानस्ति । **अतः** अस्मादेव कारणात्, सः **धर्माणि** सर्वेषु पदार्थेषु तेषां धर्मान् गुणकर्मस्वभावान् **धारयन्** व्यवस्थापयन्, वर्तते इति शेषः ॥२॥[1]

भावार्थः— यः परमात्मा ब्रह्माण्डस्य सर्वेषु पदार्थेषु व्याप्तोऽस्ति स एव तेषां धारकोऽपि वर्तते ॥२॥

आगे फिर परमेश्वर का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ— **गोपाः** रक्षक, **अदाभ्यः** किसी से भी हिंसित, पराजित या अपमानित नहीं किया जा सकने वाला, **विष्णुः** सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर **त्रीणि पदा** प्रकृति, जगत्प्रपंच और जीवात्माएँ इन तीनों में **विचक्रमे** व्याप्त है । **अतः** इसी कारण से, वह **धर्माणि** सब पदार्थों में उनके गुण-कर्म-स्वभावों की **धारयन्** व्यवस्था कर रहा है ॥२॥

भावार्थ— जो परमात्मा ब्रह्माण्ड के सब पदार्थों में व्याप्त है वही उनको धारण करने वाला भी है ॥२॥

अथ परमेश्वरस्य महत्त्वं वर्णयति ।

१६७१ . विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥३॥[2]

विष्णोः कर्माणि पश्यत । यतः व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा स खा ॥३॥

पदार्थः— **विष्णोः** सर्वान्तर्यामिनो जगदीश्वरस्य **कर्माणि** जगत्प्रपञ्चसर्जनव्यवस्थापनादीनि कर्माणि **पश्यत** अवलोकयत, **यतः** यस्मात् कारणात् स तानि कर्तुम् **व्रतानि** संकल्पान् **पस्पशे**[3] स्पृष्टवान्, गृहीतवान् अस्ति । स जगत्पतिः **इन्द्रस्य** जीवात्मनः **युज्यः** सहयोगी **सखा** सुहृत्, वर्तते इति शेषः ॥३॥[4]

भावार्थः— यथा व्रती जगदीश्वरो जगत्यस्मिन् महान्ति कर्माणि करोति तथैव तत्सखा जीवोऽपि तस्माद् बलं प्राप्य बहुकार्यक्षमो जायते ॥३॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर के महत्त्व का वर्णन है ।

पदार्थ— **विष्णोः** सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर के **कर्माणि** जगत्प्रपंच की उत्पत्ति करना, व्यवस्था करना आदि कर्मों को **पश्यत** देखो, **यतः** क्योंकि उसने उन्हें करने के लिए **व्रतानि** व्रत **पस्पशे** ग्रहण किये हुए हैं। वह जगत्पति **इन्द्रस्य** जीवात्मा का **युज्यः** साथ रहने वाला **सखा** मित्र है ॥३॥

भावार्थ— जैसे व्रती जगदीश्वर इस जगत् में महान् कर्मों को कर रहा है, वैसे ही उसका सखा जीव भी उससे बल पाकर बहुत-से कार्य करने में समर्थ होता है ॥३॥

---

१. दयानन्दर्षिरपि मन्त्रमिममृग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च परमात्मविषय एव व्याचष्टे ।

२. ऋ० १।२२।१९; य० ६।४ ; १३।३३; अथ० ७।२६।६ ।

३. स्पश बाधनस्पर्शनयोः (भ्वा०, उ०) लिटि द्विर्भावे 'शर्पूवाः खयः' (७।४।६१) इति पकारः शिष्यते, सकारो लुप्यते । यद्वृत्तनियोगादनिघातः—इति सा० ।

४. ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च दयानन्दर्षिणापि विष्णुशब्देन व्यापकः परमेश्वरो गृहीतः ।

अथ परमात्मपदसाक्षात्कारविषयमाह ।

१६७२. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥४॥[1]

तत् विष्णोः परमम् पदम् । सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवि इव चक्षुः आततम् आ ततम् ॥४॥

पदार्थः— **विष्णोः** सर्वव्यापकस्य जगदीश्वरस्य **तत्** प्रसिद्धम्, **परमम्** अत्युत्कृष्टम् **पदम्** प्राप्तव्यं स्वरूपम् **सूरयः** विद्वांसः उपासकाः **सदा** सर्वदा **पश्यन्ति** तथैव स्पष्टतः साक्षात्कुर्वन्ति, **दिवि इव** सूर्यप्रकाशे यथा **आततम्** विस्तीर्णं पदार्थम् **चक्षुः** नेत्रं पश्यति ॥४॥[2]

अत्रोपमालङ्कारः ॥४॥

भावार्थः— कामं स्थूलदृष्टयो जनाः परमात्मानं न पश्येयुः परं सूक्ष्मदृष्टयो विपश्चितः स्तोतारस्तु तथैव तं साक्षात्कुर्वन्ति यथा सूर्यप्रकाशे कश्चिज्जनश्चक्षुषा विशालं मूर्तद्रव्यं पश्यति ॥४॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के परमपद के साक्षात्कार का विषय है ।

पदार्थ— **विष्णोः** सर्वव्यापक जगदीश्वर के **तत्** उस प्रसिद्ध, **परमम्** अति उत्कृष्ट **पदम्** प्राप्त करने योग्य स्वरूप को **सूरयः** विद्वान् उपासक लोग **सदा** हमेशा **पश्यन्ति** वैसे ही स्पष्ट रूप में देखते हैं **दिवि इव** जैसे सूर्य के प्रकाश में **आततम्** फैली हुई वस्तु को **चक्षुः** आंख देखती है ॥४॥

यहां उपमालंकार है ॥४॥

भावार्थ— भले ही स्थूल दृष्टि वाले लोगों को परमात्मा न दिखायी दे, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि वाले विद्वान् स्तोता जन तो उसका वैसे ही साक्षात्कार करते हैं जैसे सूर्य के प्रकाश में कोई मनुष्य किसी विशाल मूर्त पदार्थ को देखता है ॥४॥

अथ पुनः स एव विषय उच्यते ।

१६७३. तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते । विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥५॥[3]

तत् विप्रासः वि प्रासः विपन्यवः । जागृवांसः सम् इन्धते ।
विष्णोः यत् परमम् पदम् ॥५॥

पदार्थः— **विपन्यवः** विविधं जगदीश्वरस्य गुणान् पनायन्ति स्तुवन्ति ये ते । [पण व्यवहारे स्तुतौ च, पन च । बाहुलकादौणादिको युच् प्रत्ययः ।] **जागृवांसः** जागरूकाः । [अत्र जागर्तेर्लिटः स्थाने क्वसुः । द्विर्वचनप्रकरणे छन्दसि वेति वक्तव्यम् । अ० ६।१।६ अनेन द्विर्वचनाभावश्च ।] **विप्रासः** विपश्चितो जनाः **यत् विष्णोः** सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य **परमम्** सर्वोत्कृष्टम् **पदम्** प्राप्तव्यं स्वरूपम् अस्ति **तत् समिन्धते** स्वान्तरात्मनि सम्यक् प्रकाशयन्ते ॥५॥[4]

भावार्थः— ये मनुष्या अविद्यालस्याऽधर्माचरणाख्यां निद्रां विहाय विद्याधर्मयोगाभ्यासादिचरणे जागरूकाः सन्ति त एव सच्चिदानन्दस्वरूपं सर्वोत्तमं सर्वव्यापिनं सर्वैः प्राप्तुमर्हं जगदीश्वरं प्राप्तुं शक्नुवन्ति ॥५॥

---

१. ऋ० १।२२।२०; य० ६।५; अथ० ७।२६।७ ।

२. ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिममीश्वरप्रत्यक्षविषये व्याख्यातवान् ।

३. ऋ० १।२२।२१; य० ३४।४४ । उभयत्र 'विपन्यवो' इति भेदः ।

४. ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च दयानन्दर्षिरपि मन्त्रमेतं परमात्मप्राप्तिविषये व्याचष्टे ।

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ– **विपन्युवः** विविध रूप में जगदीश्वर के गुणों की स्तुति करने वाले, **जागृवांसः** जागरूक **विप्रासः** विप्रजन **यत्** जो **विष्णोः** सर्वव्यापक परमेश्वर का **परमम्** सर्वोत्कृष्ट **पदम्** प्राप्तव्य स्वरूप है **तत्** उसे **समिन्धते** अपने अन्तरात्मा में भली-भांति प्रकाशित कर लेते हैं ।।५।।

भावार्थ– जो मनुष्य अविद्या, आलस्य, अधर्माचरण रूप नींद को छोड़कर विद्या, धर्म, योगाभ्यास आदि के आचरण में जागरूक हैं वे ही सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वोत्तम, सर्वव्यापी, सबसे प्राप्त करने योग्य जगदीश्वर को पाने में समर्थ होते हैं ।।५।।

अथ जगदीश्वरस्य शरीरव्यापित्वमाह ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २
१६७४. अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे । पृथिव्या अधि सानवि ।।६।।[1]

१२र ३ २ ३ १२र १ २र ३ २ ३ २
अतः देवाः अवन्तुः नः । यतः विष्णुः विचक्रमे वि चक्रमे ।

३ २ १ २र १२र
पृथिव्याः अधि सानवि ।।६।।

पदार्थः– **यतः** यस्मात् **विष्णुः** व्यापको जगदीश्वरः **पृथिव्याः** पार्थिवायाः तन्वाः **सानवि अधि** उच्चप्रदेशे मस्तिष्के **विचक्रमे** व्याप्तोऽस्ति, **अतः** अस्मादेव कारणात् **देवाः** विद्वांसो जनास्तत्कृपया मस्तिष्कात् ज्ञानं प्राप्य **नः** अस्मान् **अवन्तु** रक्षन्तु ।।६।।[2]

भावार्थः– परमेश्वर एव शरीरस्य मस्तिष्कादिष्वङ्गेषु स्थितस्तैः सर्वं ज्ञानग्रहणादिकं कारयति ।।६।।

अगले मन्त्र में जगदीश्वर का शरीर में व्याप्त होना वर्णित है ।

पदार्थ– **यतः** क्योंकि **विष्णुः** व्यापक जगदीश्वर **पृथिव्याः** पार्थिव शरीर के **सानवि अधि** उच्च प्रदेश मस्तिष्क में **विचक्रमे** व्याप्त है, **अतः** इसी कारण **देवाः** विद्वान् जन, उसकी कृपा से मस्तिष्क द्वारा ज्ञान पाकर **नः** हमारी **अवन्तु** रक्षा करें ।।६।।

भावार्थ– परमेश्वर ही शरीर के मस्तिष्क आदि अंगों में स्थित हुआ उनके द्वारा सब ज्ञान-ग्रहण आदि करवाता है ।।६।।

।।६।। अथ 'मो षु' इत्यादिकस्य षष्ठस्य द्वृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २८४ क्रमाङ्के परमात्मानं राजानं च सम्बोधिता । अत्र स्वकीयं मनः सम्बोधयति ।

१र २र ३ १ २ ३ २उ ३ १र २र
१६७५. मो षु त्वा वाघतश्च नारे अस्मन्नि रीरमन् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
आरात्ताद्वा सधमादं न आ गहीह वा सन्नुप श्रुधि ।।१।।[3]

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३
मा उ सु त्वा वाघतः च न । आरे अस्मत् नि रीरमन् ।

१ २ ३ १२ ३ १२र ३ २ ३ २ ३ २ १२र ३
आरात्तात् वा सधमादम् सध मादम् नः आ गहि । इह वा सन् उप श्रुधि ।।१।।

---

१. ऋ० १।२२।१६, 'पृथिव्याः सप्त धामभिः' इति तृतीयः पादः ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं पृथिव्यादीनां रचको धारकश्च परमेश्वर एवास्तीति विषये व्याचष्टे ।

३. ऋ० ७।३२।१; साम० २८४ ।

पदार्थः— हे इन्द्र ! हे मदीय मनः ! [मन एवेन्द्रः । श० १२।९।१।१३ ।] **वाघतः च न** आकर्षकाः अपि पदार्थाः **त्वा** त्वाम् **अस्मत् आरे** अस्माकं सकाशात् दूरम् **मा उ सु** नैव खलु **निरीरमन्** निरमयन्तु । **आरात्तात्** सुदूरदेशादपि **नः** अस्माकम् **सधमादम्** उपासनायज्ञम् **आ गहि** आगच्छ, **इह वा सन्** अत्रैव च विद्यमानः **उप श्रुधि** अस्मदादेशम् उपश्रृणु ।।१।।[1]

भावार्थः— मनुष्यस्य मनो दूरात् सुदूरं धावति, नानासंकल्पविकल्पांश्च कुरुते । तस्यैषा चेष्टा परमात्मध्याने बाधिका जायते । अतोऽत्र दूरं गतं स्वकीयं मनः प्रत्याह्वयति ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २८४ क्रमांक पर परमात्मा और राजा को सम्बोधित की गयी थी । यहाँ मनुष्य अपने मन को संबोधन कर रहा है ।

पदार्थ— हे इन्द्र ! हे मेरे मन ! **वाघतः च न** आकर्षक भी पदार्थ **त्वा** तुझे **अस्मत् आरे** हमसे दूर म। उ **सु** न **निरीरमन्** क्रीडा करायें । **आरात्तात्** सुदूर देश से भी **नः** हमारे **सधमादम्** उपासना-यज्ञ में **आ गहि** आ जा, **इह वा सन्** और यहीं रहता हुआ **उप श्रुधि** हमारे आदेश को सुन ।।१।।

भावार्थ— मनुष्य का मन दूर से दूर दौड़ता रहता है और अनेक संकल्प-विकल्प करता रहता है । उसकी यह चेष्टा परमात्मा के ध्यान में बाधक होती है । अतः साधक दूर गये हुए अपने मन को यहाँ वापिस लौटा रहा है ।।१।।

अथ परमात्मोपासनाविषयमाह ।

३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ २ उ ३ २ ३ २ उ ३ १ २
१६७६. **इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा मधौ न मक्ष आसते ।**
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ उ ३ १ २
इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवो रथे न पादमा दधुः ।।२।।[2]

३ २ ३ १ २ ३ १ २ र ३ २ १ २ र १ २ र १ २ र १ २ र
इमे हि ते ब्रह्मकृतः ब्रह्म कृतः सुते सचा । मधौ न मक्षः आसते ।
१ २ र १ २ र ३ १ २ ३ १ २ १ २ र १ २ र ३
इन्द्रे काममम् जरितारः वसूयवः । रथे न पादम् आ दधुः ।।२।।

पदार्थः— हे जगदीश ! **इमे हि** एते खलु **ते** तुभ्यम् **ब्रह्मकृतः** स्तोत्रपाठकर्तारः उपासकाः **सुते** उपासनायज्ञे **सचा** संभूय **आसते** उपविशन्ति, **मधौ न मक्षः** मधुमक्षिका यथा मधुगोलके तिष्ठन्ति । **वसूयवः** अध्यात्मधनेच्छुकाः **जरितारः** स्तोतारः **इन्द्रे** परमैश्वर्यशालिनि जगदीश्वरे त्वयि **कामम्** अभिलाषम् **आदधुः** आदधति, **वसूयवः** भौतिकधनाभिलाषिणो जनाः **रथे न** रथे यथा **पादम्** चरणम् आदधति ।।२।।[3]

अत्रोपमालङ्कारः ।।२।।

भावार्थः— मधुकृतो मधुमक्षिका यथा मधुगोलके तिष्ठन्ति तथैवोपासनाकर्तारो जना उपासनागृहे तिष्ठन्ति । यथा च भौतिकं धनधान्यादिकं स्थानान्तरादानेतुकामा जना रथे स्वपादं निदधति तथैव सत्याहिंसायोगैश्वर्यादिकामा जनाः परमात्मनि स्वकाममादधति ।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा की उपासना का विषय है ।

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं विद्वांसं राजानं च सम्बोधितः ।

२. ऋ० ७।३२।२।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्र एष राजधर्मविषये व्याख्यातः ।

पदार्थ– हे जगदीश्वर ! **इमे हि** ये **ते** तेरे लिए **ब्रह्मकृतः** स्तोत्र-पाठ करने वाले उपासक **सुते** उपासना-यज्ञ में **सचा** एकसाथ मिलकर **आसते** बैठे हुए हैं, **मधौ न** शहद के छत्ते पर जैसे **मक्षः** मधु-मक्खियाँ **सचा** मिलकर **आसते** बैठी होती हैं। **वसूयवः** अध्यात्म-धन के इच्छुक **जरितारः** स्तोतागण **इन्द्रे** परमैश्वर्यशाली तुझ जगदीश्वर में **कामम्** अपनी अभिलाषा को **आदधुः** रखे हुए हैं, संजोये हुए हैं, **वसूयवः** भौतिक धन के इच्छुक लोग **रथे न** जैसे रथ में **पादम्** अपना पैर रखते हैं ॥२॥

यहां उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ– मधु बनाने वाली मधुमक्खियाँ जैसे मधु के छत्ते पर बैठती हैं, वैसे ही उपासना करने वाले लोग उपासनागृह में बैठते हैं। और जैसे भौतिक धन-धान्य आदि अन्य स्थान से लाने के इच्छुक लोग रथ में अपना पैर रखते हैं, वैसे ही सत्य, अहिंसा, योगैश्वर्य आदि के अभिलाषी लोग परमात्मा में अपनी कामना को रख देते हैं॥२॥

॥७॥ अथ 'अस्तावि' इत्यादिकस्य सप्तमस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** आयुः काण्वः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती)। **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः॥

तत्रादौ परमात्मस्तवनाय प्रेरयति ।

१६७७. अस्तावि मन्म पूर्व्यं ब्रह्मेन्द्राय वोचत ।
पूर्वीर्ऋतस्य बृहतीरनूषत स्तोतुर्मेधा असृक्षत ॥१॥[1]
अस्तावि मन्म पूर्व्यम् । ब्रह्म इन्द्राय वोचत ।
पूर्वीः ऋतस्य बृहतीः अनूषत । स्तोतुः मेधाः असृक्षत ॥१॥

पदार्थः– **पूर्व्यम्** सनातनम् **मन्म** वेदस्तोत्रम्, मया **अस्तावि** प्रस्तुतमस्ति । हे सखायः ! यूयमपि **इन्द्राय** जगदीश्वराय **ब्रह्म** स्तोत्रम् **वोचत** शंसत । **ऋतस्य** सत्य स्य वेदस्य **पूर्वीः** श्रेष्ठाः **बृहतीः** बृहतीच्छन्दस्काः इमा ऋचः **अनूषत** इन्द्रं जगदीश्वरं स्तुवन्ति । **स्तोतुः** स्तुतिकर्तुः **मेधाः** धारणावत्यो बुद्धयः **असृक्षत** सृष्टा भवन्ति ॥१॥

भावार्थः– सामगानेन परमेश्वरस्तुत्या स्तोतॄणामृतम्भराः प्रज्ञा उद्यन्ति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा की स्तुति के लिए प्रेरणा की गयी है ।

पदार्थ– **पूर्व्यम्** सनातन **मन्म** वेद-स्तोत्र, मेरे द्वारा **अस्तावि** प्रस्तुत किया जा रहा है । हे साथियो ! तुम भी **इन्द्राय** जगदीश्वर के लिए **ब्रह्म** स्तोत्र **वोचत** पाठ करो । **ऋतस्य** सत्यमय वेद की **पूर्वीः** श्रेष्ठ **बृहतीः** बृहती छन्द वाली ये ऋचाएँ **अनूषत** जगदीश्वर की स्तुति कर रही हैं। **स्तोतुः** स्तोता की **मेधाः** धारणावती बुद्धियाँ **असृक्षत** उत्पन्न हो रही हैं॥१॥

भावार्थ– सामगान द्वारा परमेश्वर की स्तुति करने से स्तोताओं की ऋतम्भरा प्रज्ञाएँ उत्पन्न हो जाती हैं ॥१॥

---

१. ऋ० ८।५२।९, अथ० २०।११९।१ ।

अथ परमात्मनो गुणकर्मस्वभावान् वर्णयति ।

२उ ३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ २उ ३ १ २
१६७८. **समिन्द्रो रायो बृहतीरधूनुत सं क्षोणी समु सूर्यम् ।**
२ २ ३ ३ २ ३ १२ २र ३ २ ३ १ २
सं शुक्रासः शुचयः सं गवाशिरः सोमा इन्द्रममन्दिषुः ॥२॥[1]
२ १ २र १ २र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२र
सम् इन्द्रः रायः बृहतीः अधूनुत । सम् क्षोणीइति सम् उ सूर्यम्।
३ १ २ १ २र १ २र ३ १ २र १ २र ३
सम् शुक्रासः शुचयः सम् गवाशिरः गो आशिरः सोमाः इन्द्रम् अमन्दिषु ॥२॥[1]

पदार्थः– **इन्द्रः** जगदीश्वरः **बृहतीः** विस्तीर्णाः **रायः** सम्पदः **सम् अधूनुत** संधूनोति, संप्रेरयति, **क्षोणी** द्यावापृथिव्यौ **सम्** संधूनोति, संप्रेरयति **उ** किञ्च, **सूर्यम्** आदित्यम् **सम्** संधूनोति संप्रेरयति। **शुक्रासः** तेजस्विनः **शुचयः** पवित्राचरणाः जनाः **इन्द्रम्** जगदीश्वरम् **सम् अमन्दिषुः** संमोदयन्ति, अपि च **गवाशिरः** गोभिः तेजोभिः आशिरः परिपक्वाः **सोमाः** श्रद्धारसाः **इन्द्रम्** जगदीश्वरम् **सम् अमन्दिषुः** संमोदयन्ति ॥२॥

भावार्थः– जगदीश्वरेणैव सर्वाः सम्पदोऽस्मभ्यं प्रदत्ताः सन्ति, स एव च सूर्यपवनद्यावापृथिव्यादिव्यवस्थां सञ्चालयतीति कृत्वा सर्वैः पवित्रान्तःकरणैः सद्भिः स श्रद्धयोपासनीयः ॥२॥

अब परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन करते हैं।

पदार्थ– इन्द्रः जगदीश्वर **बृहतीः** विस्तीर्ण **रायः** संपदाओं को **सम् अधूनुत** भली भांति प्रेरित करता है, **क्षोणी** द्युलोक और भूलोक को **सम्** भली भांति प्रेरित करता है, **उ** और **सूर्यम्** सूर्य को **सम्** भली भांति प्रेरित करता है । **शुक्रासः** तेजस्वी, **शुचयः** पवित्र आचरण वाले लोग **इन्द्रम्** जगदीश्वर को **सम् अमन्दिषुः** भली भांति आनन्दित करते हैं, और **गवाशिरः** तेजों से परिपक्व **सोमाः** श्रद्धारस **इन्द्रम्** जगदीश्वर को **सम् अमन्दिषुः** भली भांति आनन्दित करते हैं ॥२॥

॥८॥ अथ 'इन्द्राय सोम' इत्यादिकस्याष्टमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अम्बरीषो वार्षागिरः ऋजिश्वा भारद्वाजश्च । **देवता** पवामानः सोमः । **छन्दः** अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः।

तत्र प्रथमा ऋक् उत्तरार्चिके १३३१ क्रमाङ्के गुरुशिष्यविषये व्याख्याता अत्र परमात्मभक्तिविषय उच्यते

१ २ ३ १ २ ३१र २र
१६७९. **इन्द्राय सोम पातवे वृत्रघ्ने परि षिच्यसे ।**
१२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
नरे च दक्षिणावते वीराय सदनासदे ॥१॥[2]
१ २र ३ १२र ३ २ ३ २ १२र ३
इन्द्राय सोम पातवे । वृत्रघ्ने वृत्र घ्ने परि सिच्यसे ।
१२र ३ १ २र ३ १ २ ३ १२ ३ १२र
नरे च दक्षिणा वते । वीराय सदनासदे सदन सदे ॥१॥

---

१. ऋ० ८।५२।१० ।
२. ऋ० ९।९८।१०, 'वीराय' इत्यत्र 'दे॒वाय' साम० १३३१।

पदार्थः— हे **सोम** मदीय भक्तिरस ! त्वम् **वृत्रघ्ने** पापानां हन्त्रे, **दक्षिणावते** दानवते **वीराय** कामादिषड्रिपूणां विशेषेण प्रकम्पयित्रे, **सदनासदे** हृदयगृहस्थिताय, **नरे च** नेतरि च **इन्द्राय** जगदीश्वराय **पातवे** पातुम् परिषिच्यसे परिक्षार्यसे ॥१॥

भावार्थः— परमात्मभक्ता जनाः पापकर्माणि परित्यज्य विपुलमैश्वर्यं च प्राप्य सर्वानान्तरान् बाह्यांश्च विघ्नान् हन्तुं क्षमन्ते ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या उत्तरार्चिक में १३३१ क्रमांक पर गुरु-शिष्य विषय में हो चुकी है । यहाँ परमात्मा की भक्ति का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे **सोम** मेरे भक्तिरस ! तू **वृत्रघ्ने** पाप-विनाशक, **दक्षिणावते** दानी, **वीराय** काम आदि षड् रिपुओं को विशेष रूप से कंपायमान करने वाले, **सदनासदे** हृदय-सदन में स्थित **नरे च** और नेतृत्व करने वाले **इन्द्राय** जगदीश्वर के **पातवे** पान करने के लिए **परिषिच्यसे** प्रवाहित किया जा रहा है ॥१॥

भावार्थ— परमात्मा के भक्त लोग पाप-कर्मों का परित्याग करके, प्रचुर ऐश्वर्य प्राप्त करके सब आन्तरिक और बाह्य विघ्नों को नष्ट करने में समर्थ हो जाते हैं ॥१॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

१ २ ३१ २ ३ २ ३१ २ ३१ २
१६८०. तं सखायः पुरूरुचं वयं यूयं च सूरयः ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अश्याम वाजगन्ध्यं सनेम वाजपस्त्यम् ॥२॥[1]

२ ३ १ २ ३ १ २र ३ २ ३ २ ३ १ २
तम् सखायः स खायः पुरूरुचम् पुरु रुचम् । वयम् यूयम् च सूरयः ।
३ १ २ १ २र १ २र ३ १ २ १ २र १ २र ३
अश्याम वाजगन्ध्यम् वाज गन्ध्यम् । सनेम वाजपस्त्यम् वाज पस्त्यम् ॥२॥[1]

पदार्थः— हे **सखायः** सुहृदः **वयं यूयं च सूरयः** वयं यूयं च मेधाविनः उपासकाः **तम्** प्रसिद्धम् **पुरूरुचम्** बहुदीप्तिम्, **वाजगन्ध्यम्** वाजस्य आत्मबलस्य गन्ध्यं ग्रहणं यस्मात् तथाविधम् सोमं रसागारं परमेश्वरम्, **अश्याम** प्राप्नुयाम, **वाजपस्त्यम्** वाजस्य विज्ञानस्य पस्त्यं पतनं प्राप्तिर्यस्मात् तादृशम् सोमं शुभगुणकर्मप्रेरकं जगदीश्वरम् **सनेम** संभजेमहि ।

[वाजपस्त्यं वाजपतनम् । 'सनेम वाजपस्त्यम्' इत्यपि निगमो भवति । वाजगन्ध्यं गध्यत्युत्तरपदम् । 'अश्याम वाजगन्ध्यम्, इत्यपि निगमो भवति । गध्यं गृह्णातेः । इति निरुक्तम् (५।१५)]॥२॥

भावार्थः— सर्वे सुहृदः संभूय श्रद्धया तरङ्गिताः सन्तः परमात्मानमुपासते चेत् तर्हि तेजोबल-विज्ञानादीनां प्राप्तिः सततं जायते ॥२॥

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ— हे **सखायः** साथियो ! **वयं यूयं च सूरयः** हम और तुम मेधावी उपासक **तम्** उस प्रसिद्ध, **पुरूरुचम्** बहुत तेजस्वी, **वाजगन्ध्यम्** आत्मबल को ग्रहण कराने वाले रसागार सोम प्रभु को **अश्याम** प्राप्त कर लें, **वाजपस्त्यम्** विज्ञान की प्राप्ति कराने वाले शुभगुणकर्मप्रेरक सोम जगदीश्वर को **सनेम** भज लें ॥२॥

भावार्थ— सब सार्थी मिलकर श्रद्धा से तरंगित होते हुए यदि परमात्मा की उपासना करते हैं तो तेज, बल, विज्ञान आदि की प्राप्ति निरन्तर होती रहती है ॥२॥

---

१. ऋ० ९।९८।१२, 'तं सखायः पुरोरुचं यूयं वयं च सूरयः' इति पूर्वार्धपाठः।

तृतीया ऋक् पूर्वार्चिके ५५२ क्रमाङ्के जीवात्मशोधनविषये उतरार्चिके च १३२९ क्रमाङ्के गुरुशिष्य-विषये व्याख्याता । अत्र मनःशुद्धिविषयमाह ।

१६८१. परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण ।
यो देवान्विश्वाँ इत् परि मदेन सह गच्छति ॥३॥[1]

परि त्यम् हर्यतम् हरिम् । बभ्रुम् पुनन्ति वारेण ।
यः देवान् विश्वान् इत् परि । मदेन सह गच्छति ॥२॥

पदार्थः— योगाभ्यासिनो जनाः **त्यम्** तम् **हर्यतम्** कमनीयम्, **बभ्रुम्** इन्द्रियाणां स्वस्वविषयग्राहित्वे पोषकम्, **हरिम्** ज्ञानाहरणसाधनभूतम् मनः **वारेण** अशुद्धिनिवारकेण योगाङ्गानुष्ठानेन[2] **परि पुनन्ति** पवित्रयन्ति, **यः** यः हरिः यद् मनः **मदेन सह** उत्साहेन सार्धम् **विश्वान् देवान् इत्** सर्वाण्येव इन्द्रियाणि **परि गच्छति** तत्तद्विषयग्राहणाय परिव्याप्नोति, मनोव्यापाराभावे इन्द्रियाणां विषयग्रहणासमर्थत्वात् ॥३॥

भावार्थः— मनुष्याणां मनश्चेद् दूषितं तर्हि तदिन्द्रियाणि कुमार्ग एव नयति । अतोऽध्यात्मजीवनाय परमात्मदर्शनाय च तच्छोधनं नितरामपेक्ष्यते ॥३॥

तृतीय ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ५५२ क्रमांक पर जीवात्मा की शुद्धि के विषय में और उत्तरार्चिक में १३२९ क्रमांक पर गुरु-शिष्य के विषय में हो चुकी है । यहाँ मन की शुद्धि का विषय कहते हैं ।

पदार्थ— योगाभ्यासी लोग **त्यम्** उस **हर्यतम्** चाहने योग्य, **बभ्रुम्** इन्द्रियों को विषय-ग्रहण में सहायता देने वाले, **हरिम्** ज्ञान के ग्रहण में साधनभूत मन को **वारेण** अशुद्धि-निवारक योगानुष्ठान से **परि पुनन्ति** पवित्र करते हैं, **यः** जो मन **मदेन सह** उत्साह के साथ **विश्वान् देवान् इत्** सभी इन्द्रियों में **परि गच्छति** उन-उन के विषय को ग्रहण कराने के लिए परिव्याप्त होता है, [क्योंकि मन का व्यापार न हो तो इन्द्रियाँ विषय को ग्रहण नहीं कर सकतीं] ॥३॥

भावार्थ— मनुष्यों का मन यदि दूषित हो तो वह इन्द्रियों को कुमार्ग पर ही ले जाता है । इसलिए अध्यात्म-जीवन के लिए,परमात्मा के दर्शन के लिए उसका शोधन अत्यन्त आवश्यक है ॥३॥

॥९॥ अथ 'कस्तमिन्द्र' इत्यादिकस्य नवमस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती)। **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २८० क्रमाङ्के व्याख्यातपूर्वा । अत्र श्रद्धाया महत्त्वं प्रतिपाद्यते ।

१६८२. कस्तमिन्द्र त्वावसवा मर्त्यो दधर्षति ।
श्रद्धा हि ते मघवन् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति ॥१॥[3]

कः तम् इन्द्र त्वावसो त्वा वसो । आ मर्त्यः दधर्षति ।
श्रद्धा श्रत् धा हि ते मघवन् पार्ये दिवि । वाजी वाजम् सिषासति ॥१॥

---

१. ऋ० ९।९८।७; साम० ५५२, १३२९ ।
२. योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः —योग० २।२८।
३. ऋ० ७।३२।१४, 'त्वा वसवा' इत्यत्र 'त्वावसुमा', 'हि ते' इत्यत्र च 'इत् तै' । साम० २८० ।

पदार्थः— **त्वावसो** त्वं स्वयमेव वसु यस्य तव तादृश **इन्द्र** हे जगदीश ! **तम्** त्वयि श्रद्धावन्तं जनम् **कः मर्त्यः** को मनुष्यः **आ दधर्षति** आ धर्षितुम् उत्सहते, न कोऽपीत्यर्थः । हे **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन् **ते** त्वयि **श्रद्धा** श्रद्धाता **हि** खलु **पार्ये दिवि** पारयितव्ये सम्पूर्णे दिने **वाजी** बलविज्ञानान्नधनादिमान् सन् **वाजम्** बल-विज्ञानान्नधनादिकम् **सिषासति** अन्येभ्यो दातुमिच्छति ॥१॥[1]

भावार्थः— स एव वस्तुतः परमात्मनि श्रद्धावान् यस्तत्प्रेरणया सत्कर्माणि करोति तत्कृपया प्राप्तेनैश्वर्येण च दीनानां साहाय्यमाचरति ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में २८० क्रमांक पर पहले व्याख्या हो चुकी है । यहाँ श्रद्धा का महत्त्व प्रतिपादित किया जा रहा है।

पदार्थ— **त्वावसो** तुम स्वयं के धन हो ऐसे **इन्द्र** हे जगदीश ! **तम्** आप में श्रद्धा रखने वाले आपके भक्त को **कः मर्त्यः** भला कौन मनुष्य **आ दधर्षति** पराजित कर सकता है, अर्थात् कोई नहीं । हे **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन् ! **ते** आप में **श्रद्धा** श्रद्धावान् मनुष्य **हि** निश्चय ही **पार्ये दिवि** पार करने योग्य सम्पूर्ण दिन में **वाजी** बल, विज्ञान, अन्न, धन आदि से युक्त होता हुआ **वाजम्** बल, विज्ञान, अन्न, धन आदि **सिषासति** अन्यों को बाँटना चाहता है ॥१॥

भावार्थ— वही वस्तुतः परमात्मा का श्रद्धालु होता है जो उसकी प्रेरणा से श्रेष्ठ कर्म करे और उसकी कृपा से प्राप्त ऐश्वर्य से दीनों की सहायता करे ॥१॥

अथ परमात्मानं प्रार्थयते ।

१६८३. मघोनः स्म वृत्रहत्येषु चोदय ये ददति प्रिया वसु।
तव प्रणीती हर्यश्व सूरिभिर्विश्वा तरेम दुरिता ॥२॥[2]

मघोनः स्म वृत्रहत्येषु वृत्र हत्येषु चोदय । ये ददति प्रियावसु।
तव प्रणीती प्र नीती हर्यश्व हरि अश्व सूरिभिः । विश्वा तरेम दुरिता दुः इता ॥२॥

पदार्थः— हे **हर्यश्व** हरयः परस्पराकर्षणयुक्ताः अश्वाः व्याप्ताः सूर्यचन्द्रपृथिव्यादयो लोकाः यस्य तादृश जगदीश्वर ! त्वम् **मघोनः** तान् धनवतः मनुष्यान् **वृत्रहत्येषु** वृत्राणां पापानां पापिनां दुष्टशत्रूणां वा हत्या विनाशो येषु तेषु देवासुरसंग्रामेषु **चोदय** प्रेरय, **ये** धनवन्तो जनाः **प्रिया वसु** प्रियाणि वसूनि **ददति** परोपकाराय प्रयच्छन्ति । **तव प्रणीती** तव प्रकृष्टया नीत्या, वयम् **सूरिभिः** विद्वद्भिः स्तोतृभिः सह **विश्वा दुरिता** विश्वानि दुरितानि सर्वाणि दुःखदुर्गुणदुर्व्यसनादीनि **तरेम** पारयेम ॥२॥[3]

भावार्थः— व्यक्तीनां समाजस्य चोन्नतये धनेन दानेन च सह पापानां संहारः विघ्नानां विजयश्चाप्यपेक्ष्यते ॥२॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मनो मनसः श्रद्धायाश्च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेदितव्या ।

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयम् 'यस्य रक्षां धार्मिको राजा करोति तं तिरस्कर्तुं कः शक्नोती'ति राजविषये व्याख्यातः।
२. ऋ० ७।३२।१५
३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजधर्मविषये व्याख्यातवान् ।

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ– हे **हर्यश्व** परस्पर आकर्षण से युक्त व्याप्त सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि लोकों के स्वामी जगदीश्वर ! आप **मघोनः** धनी मनुष्यों को **वृत्रहत्येषु** जिनमें पापों वा पापी दुष्ट शत्रुओं की हत्या की जाती है ऐसे देवासुरसंग्रामों में **चोदय** प्रेरित करो, **ये** जो धनी मनुष्य **प्रिया वसु** प्रिय धनों को **ददति** परोपकार के लिए दान करते हैं। **तव प्रणीती** आपके श्रेष्ठ मार्गदर्शन से, हम **सूरिभिः** विद्वान् स्तोताओं सहित **विश्वा दुरिता** सब दुःख, दुर्गुण, दुर्व्यसन आदियों को **तरेम** तर जाएँ ॥२॥

भावार्थ– व्यक्तियों तथा समाज की उन्नति के लिए धन और दान के साथ पापों का संहार तथा विघ्नों पर विजय भी अपेक्षित होती है ॥२॥

इस खण्ड में परमात्मा, मन और श्रद्धा के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति जाननी चाहिए ॥

अठारहवें अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ।

॥१०॥ अथ 'एदु मधोर' इत्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** विश्वमना वैयश्वः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** उष्णिक् । **स्वरः** ऋषभः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३८५ क्रमाङ्के मानवं संबोधिता । अत्र परमेश्वरः सम्बोध्यते ।

१६८४. एदु मधोर्मदिन्तरं सिञ्चाध्वर्यो अन्धसः ।

३ २उ ३।१र २र ३ १ २
एवा हि वीर स्तवते सदावृधः ॥१॥[1]

२ ३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २र
आ इत् उ मधोः मदिन्तरम् । सिञ्च अध्वर्यो अन्धसः ।

३ २ ३ २ १ २र ३ १ २ ३ २ ३
एव हि वीरः स्तवते सदावृधः सदा वृधः ॥१॥

पदार्थः– हे **अध्वर्यो** ब्रह्माण्डयज्ञस्य सञ्चालक इन्द्र परमात्मन् ! त्वम् **मधोः** मधुरस्य **अन्धसः** आनन्दस्य **मदिन्तरम्** अतिशयेन तृप्तिकरं रसम् **इत्** निश्चयेन **आ सिञ्च उ** उपासकस्य अन्तरात्मं क्षारय खलु । **एव हि** एवमेव **वीरः** शूरः उपासकः **सदावृधः** सदा वृद्धः सन् **स्तवते** स्तूयते, प्रशस्यते ॥१॥

भावार्थः– ब्रह्मानन्दरसेन संतृप्तः खलूपासको नित्यं वृद्धिमुन्नतिं च प्राप्नुवन् सर्वेषां प्रशंसाभाजनं जायते ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ३८५ क्रमांक पर मानव को संबोधित की गयी थी । यहाँ परमेश्वर को संबोधन करते हैं।

पदार्थ– हे **अध्वर्यो** ब्रह्माण्ड-यज्ञ के संचालक इन्द्र परमात्मन् ! आप **मधोः** मधुर **अन्धसः** आनन्द के **मदिन्तरम्** अतिशय तृप्ति देने वाले रस को **इत्** निश्चय ही **आ सिञ्च उ** उपासक के अन्तरात्मा में सींचो । **एव हि** इसी प्रकार **वीरः** शूरवीर उपासक **सदावृधः** सदा उन्नत होता हुआ **स्तवते** प्रशंसा पाता है ॥१॥

---

१. ऋ० ८।२४।१६; अथ० २०।६४।४; साम० ३८५ ।

भावार्थ— ब्रह्मानन्द-रस से पूर्णतः तृप्त हुआ उपासक सदा वृद्धि और उन्नति पाता हुआ सबका प्रशंसापात्र होता है ॥१॥

अथ परमेश्वरस्य महिमानमाचष्टे ।

१६८५. इन्द्र स्थातर्हरीणां न किष्टे पूर्व्यस्तुतिम् । उदानंश शवसा न भन्दना ॥२॥[1]

इन्द्र स्थातः हरीणाम् । न किः ते पूर्व्यस्तुतिम् पूर्व्य स्तुतिम् ।
उत् आनंश शवसा न भन्दना ॥२॥

पदार्थः— **हरीणाम्** परस्पराकर्षणवतां सूर्यग्रहोपग्रहनक्षत्रादिलोकानां विषयग्रहणशीलानां देहस्थानामिन्द्रियाणां वा **स्थातः** अधिष्ठातः, हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! **ते** तव **पूर्व्यस्तुतिम्** श्रेष्ठां स्तुतिम् **न किः** न कोऽपि **शवसा** बलेन **न भन्दना** न कल्याणेन । [भदि कल्याणे सुखे च भ्वादिः । भन्दनेन इति प्राप्ते, 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इत्यनेन विभक्तेराकारादेशः] **उदानंश**[2] अतिक्रामति ॥२॥

भावार्थः— जगदीश्वरादधिको बलवान् बलप्रदः कल्याणवान् कल्याणकर्ता च जगतीतले कश्चिन्नास्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर की महिमा वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— **हरीणाम्** एक-दूसरे का आकर्षण करने वाले सूर्य, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदि लोकों के और विषयों को ग्रहण करने वाली देह-स्थित इन्द्रियों के **स्थातः** अधिष्ठाता, हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! **ते** आपकी **पूर्व्यस्तुतिम्** श्रेष्ठ स्तुति को **नः किः** न कोई **शवसा** बल से, **न भन्दना** न कल्याण से **उदानंश** लांघ पाता है ॥२॥

भावार्थ— जगदीश्वर से अधिक बलवान् और बल-प्रदाता, कल्याणवान् और कल्याणकर्ता संसार भर में कोई नहीं है ॥२॥

अथ जगदीश्वरमाह्वयति ।

१६८६. तं वो वाजानां पतिमहूमहि श्रवस्यवः । अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वावृधेन्यम् ॥३॥[3]

तम् वः वाजानाम् पतिम् । अहूमहि श्रवस्यवः ।
अप्रायुभिः अ प्रायुभिः यज्ञेभिः वावृधेन्यम् ॥३॥

पदार्थः— हे सखायः ! **श्रवस्यवः** कीर्त्यभिलाषुका वयम् **वः** युष्माकम् **वाजानाम्** बलविज्ञानधनान्नादीनाम् **पतिम्** स्वामिनं पालकं वा, किञ्च **अप्रायुभिः** अप्रमादयुक्तैः । [अप्रायुवोऽप्रमाद्यन्तः निरु० ४।१९ ।] **यज्ञेभिः** सृष्ट्युत्पत्तिधारणपालनन्यायादिभिः **वावृधेन्यम्** परिवृद्धमहिमानम् **तम्** इन्द्रं जगदीश्वरम्, वयम् **अहूमहि** आह्वयामः । [ह्वयतेर्लुङि 'बहुलं छन्दसि' । अ० ६।१।३४ इति सम्प्रसारणम्] ॥३॥

---

१. ऋ० ८।२४।१७, अथ० २०।६४।५ ।

२. अशू व्याप्तौ, अस्माल्लिटि 'अश्नोतेश्च, (७।४।७२) इति नुट्, छान्दसो द्वितीयो नुडागमः— इति सा० ।

३ ऋ० ८।२४।१८; अथ० २०।६४।६ ।

भावार्थः— जगति विद्यमानानां सर्वेषामैश्वर्याणां स्वामी, नित्यं परोपकारयज्ञे संलग्नो महामहिमा राजराजेश्वरो जगदीशः सर्वैः सश्रद्धमाह्वातव्यः स्तोतव्य उपासनीयश्च ॥३॥

अब जगदीश्वर को बुलाते हैं।

पदार्थ— हे साथियो ! **श्रवस्यवः** कीर्ति के इच्छुक हम **वः** तुम्हारे **वाजानाम्** बल, विज्ञान, अन्न, धन आदियों के **पतिम्** स्वामी वा पालनकर्ता, और **अप्रायुभिः** बिना प्रमाद के किये जाने वाले **यज्ञेभिः** सृष्टि के उत्पादन, धारण, पालन, न्याय आदि यज्ञों से **वावृधेन्यम्** बढ़ी हुई महिमा वाले **तम्** उस इन्द्र जगदीश्वर को **अहूमहि** बुलाते हैं ॥३॥

भावार्थ— सबको चाहिए कि संसार में विद्यमान सब ऐश्वर्यों के स्वामी, सदा परोपकार रूप यज्ञ में संलग्न, महामहिम, राजराजेश्वर जगदीश को पुकारें तथा उसकी स्तुति और उपासना करें ॥३॥

॥११॥ अथ 'तं गूर्धया' इत्यादिकस्यैकादशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सोभरिः काण्वः। **देवता** अग्निः। **छन्दः** काकुभः प्रगाथः (१ विषमा ककुबुष्णिक्, २ समा सतोबृहती)। **स्वरः** १ ऋषभः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १०९ क्रमाङ्के व्याख्यातपूर्वा। अत्र परमात्मस्तुतिविषय उच्यते।

१६८७. तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे।
देवत्रा हव्यमूहिषे ॥१॥[२]

तम् गूर्धय स्वर्णरम् स्वः नरम्। देवासः देवम् अरतिम् दधन्विरे।
देवत्रा हव्यम् ऊहिषे ॥१॥

पदार्थः— हे मानव ! त्वम् **तम्** प्रसिद्धम्, **स्वर्णरम्** ब्रह्मानन्दस्य दिव्यप्रकाशस्य वा प्रापयितारम् अग्निम् जगन्नायकं परमात्मानम् **गूर्धय** अर्च। [गूर्धयतिः अर्चतिकर्मा। निघं० ३।१४] **देवासः** विद्वांसो दिव्यगुणा जनाः, तम् **देवम्** प्रकाशकम्, **अरतिम्** सर्वेषां स्वामिनम् अग्निं जगदीश्वरम् **दधन्विरे** आत्मनि धारयन्ति। हे अग्ने ज्योतिर्मय देव ! त्वम् **देवत्रा** देवेषु विद्वज्जनेषु **हव्यम्** दातव्यं सद्गुणसमूहम् **ऊहिषे** वह, प्रापय ॥१॥

भावार्थः— ये मनुष्याः सद्गुणकर्मस्वभावं परमेश्वरमुपासते ते स्वयमपि तादृशा जायन्ते ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में १०९ क्रमांक पर व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ परमात्मा की स्तुति का विषय कहते हैं।

पदार्थ— हे मानव ! तू **तम्** उस प्रसिद्ध, **स्वर्णरम्** ब्रह्मानन्द वा दिव्य प्रकाश को प्राप्त कराने वाले जगन्नायक परमात्मा की **गूर्धय** अर्चना कर। **देवासः** विद्वान्, दिव्य गुणों वाले लोग, उस **देवम्** प्रकाशक, **अरतिम्** सबके स्वामी जगदीश्वर को **दधन्विरे** अपने आत्मा में धारण करते हैं। हे ज्योतिर्मय देव! आप **देवत्रा** विद्वान् जनों में **हव्यम्** देने योग्य सद्गुण-समूह को **ऊहिषे** प्राप्त कराओ ॥१॥

भावार्थ— जो मनुष्य श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभाव वाले परमेश्वर की उपासना करते हैं वे स्वयं भी वैसे हो जाते हैं ॥१॥

---

१. ऋ० ८।१९।१, 'हव्यमोहिरे' इति भेदः। साम० १०९।

अथ पुनरपि परमात्मस्तुतिविषयमाह ।

१६८८. विभूतरातिं विप्र चित्रशोचिषमग्निमीडिष्व यन्तुरम् ।
अस्य मेधस्य सोम्यस्य सोभरे प्रेमध्वराय पूर्व्यम् ॥२॥[1]

विभूतरातिम् विभूत रातिम् विप्र वि प्र चित्रशोचिषम् चित्र शोचिषम् ।
अग्निम् ईडिष्व यन्तुरम् । अस्य मेधस्य सोम्यस्य सोभरे ।
प्र ईम् अध्वराय पूर्व्यम् ॥२॥

पदार्थः— हे **सोभरे** सुष्ठु स्तोमानाम् आहर्तः [सुष्ठु आहरति स्तोमान् इति सोहरिः, स एव सोभरिः 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' । वा० ८।२।३५ इति हस्य भः ।] **विप्र** विद्वन् ! **विभूतरातिम्** व्यापकदानम्, **चित्रशोचिषम्** अद्भुतदीप्तिम्, **अस्य** एतस्य **सोम्यस्य** ब्रह्मानन्दरूपसोमसम्पादिनः **मेधस्य** उपासनायज्ञस्य **यन्तुरम्** यन्तारम्, **पूर्व्यम्** सनातनम् **ईम्** एनम् **अग्निम्** अग्रनेतारं जगदीश्वरम् **अध्वराय** जीवनयज्ञस्य साफल्याय **प्र ईडिष्व** प्रकर्षेण स्तुहि ॥२॥

भावार्थः— जीवनयज्ञस्य पूर्णतायै मनुष्यैरुपासनायज्ञोऽनुष्ठेयः ॥२॥

आगे फिर परमात्मा की स्तुति का विषय है ।

पदार्थ— हे **सोभरे** भले प्रकार स्तोत्रों का उपहार लाने वाले **विप्र** विद्वन् ! तू **विभूतरातिम्** व्यापक दान वाले, **चित्रशोचिषम्** अद्भुत तेज वाले, **अस्य** इस **सोम्यस्य** ब्रह्मानन्द-रूप सोम के संपादक **मेधस्य** उपासना-यज्ञ का **यन्तुरम्** नियन्त्रण करने वाले, **पूर्व्यम्** सनातन **ईम्** इस **अग्निम्** अग्रनेता जगदीश्वर के **अध्वराय** जीवन-यज्ञ की सफलता के लिए **प्र ईडिष्व** भली-भांति स्तुति का पात्र बना ॥२॥

भावार्थ— जीवन-यज्ञ की पूर्णता के लिए मनुष्यों को उपासना-यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए ॥२॥

॥१२॥ अथ 'आ सोम' इत्यादिकस्य द्वादशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषयः** सप्तर्षयः (१ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः, २ कश्यपो मारीचः, ३ गोतमो राहूगणः, ४ अत्रिर्भौमः, ५ विश्वामित्रो गाथिनः, ६ जमदग्निर्भार्गवः, ७ वसिष्ठो मैत्रावरुणिः) । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ५१३ क्रमाङ्के परमात्मानं सम्बोधिता । अत्र जीवात्मा सम्बोध्यते ।

१६८९. आ सोम स्वानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया ।
जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो वनेषु दधिषे ॥१॥[2]

आ सोम स्वानः अद्रिभिः अ द्रिभिः । तिरः वाराणि अव्यया ।
जनः न पुरि चम्वोः विशत् हरिः । सदः वनेषु दधिषे ॥१॥

---

१. ऋ० ८।१९।२ ।

२. ऋ० ९।१०७।१०, 'सुवानो', 'दधिषे' इति भेदः । साम० ५१३ ।

पदार्थः— हे **सोम** ज्ञानरसास्वादक जीवात्मन् ! **अद्रिभिः** आदरयोग्यैः गुरुजनैः । [आद्रियन्ते इति अद्रयस्तैः ।] **स्वानः** प्रेर्यमाणः त्वम् **अव्यया** अव्ययानि, भौतिकानि **वाराणि** आच्छादकानि विघ्नादीनि **तिरः** तिरस्कुरु । [अविः पृथिवी, तस्या इमानि अव्ययानि भौतिकानि । 'इयं (पृथिवी) वा अविरियं हीमाः सर्वाः प्रजाअवति' श० ६।१।२।३३]। अथ परोक्षकृतमाह— एषः **हरिः** ज्ञानाहरणशीलः जीवात्मा **चम्वोः** मस्तिष्क-हृदययोः **विशत्** प्रविशति, **जनः न** कश्चिद् मनुष्यो यथा **पुरि** नगर्याम् प्रविशति तद्वत् । अथ पुनः प्रत्यक्षकृत-माह— हे जीवात्मन् ! त्वम् **वनेषु** वननीयेषु इन्द्रियेषु प्राणेषु चापि **सदः** निवासम् **दधिषे** धारयसि ।।१।।

भावार्थः— योऽयं जीवात्मा देहं प्रविश्याणुपरिमाणोऽपि सन् स्वसामर्थ्येनाङ्गमङ्गं प्रविशति तेन जीवने योगमार्गे वा समागतान् सर्वान् विघ्नान् दूरीकृत्य विजयः प्राप्तव्यः ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ५१३ क्रमांक पर परमात्मा को संबोधित की गयी थी। यहां जीवात्मा को संबोधन करते हैं।

पदार्थ— हे **सोम** ज्ञानरस का आस्वादन करने वाले जीवात्मन् ! **अद्रिभिः** आदर के योग्य गुरुजनों से **स्वानः** प्रेरणा किया जाता हुआ तू **अव्यया** भौतिक **वाराणि** आच्छादक विघ्न आदियों को **तिरः** तिरस्कृत कर दे । आगे परोक्ष रूप में कहते हैं— यह **हरिः** ज्ञान का आहरण करने वाला जीवात्मा **चम्वोः** मस्तिष्क और हृदय में **विशत्** प्रवेश करता है, **जनः न** जैसे कोई मनुष्य **पुरि** नगरी में प्रविष्ट होता है । आगे फिर प्रत्यक्ष रूप में कहते हैं— हे जीवात्मन् ! तू **वनेषु** सेवनीय इन्द्रियों और प्राणों में **सदः** निवास को **दधिषे** धारण करता है ।।१।।

भावार्थ— जो यह जीवात्मा देह में प्रविष्ट होकर अणु परिमाण वाला भी होता हुआ अपने सामर्थ्य से अंग-अंग में प्रवेश किये रहता है उसे चाहिये कि जीवन में वा योग-मार्ग में आये हुए सब विघ्नों को दूर करके विजय प्राप्त करे ।।१।।

अथ पुनरपि जीवात्मविषयं प्राह ।

१ २ ३ १र २र ३क २र ३ २उ ३ १ २ ३ २
१६९०. स मामृजे तिरो अण्वानि मेष्यो मीढ्वान्त्सप्तिर्न वाजयुः ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अनुमाद्यः पवमानो मनीषिभिः सोमो विप्रेभिर्ऋक्वभिः ।।२।।[1]

२ ३ २ १ २र ३क २ ३ २ १ २र ३ २
सः मामृजे तिरः अण्वानि मेष्यः । मीढ्वान् सप्तिः न वाजयुः ।
३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २ १ २र १ २र ३ १ २र
अनुमाद्यः अनु माद्यः पवमानः मनीषिभिः । सोम विप्रेभिः वि प्रेभिः ऋक्वभिः ।।२।।

पदार्थः— **वाजयुः** अन्नकामः **सप्तिः न** अश्वः इव **वाजयुः** बलविज्ञानकामः, **मीढ्वान्** अन्येषु सुखस्य सेक्ता, **मेष्यः** ज्ञानसेक्त्र्याः वेदवाचः । [मिषु सेचने भ्वादिः । मेषति ज्ञानं सिञ्चतीति मेषी वेदवाक् तस्याः।] **अण्वानि** सूक्ष्माणि विज्ञानतत्त्वानि **तिरः** प्राप्य । [तिरः सतः इति प्राप्तस्य निरु० ३।२०] **पवमानः** स्वात्मानं पवित्रयन् **सः** असौ **सोमः** जीवात्मा **मनीषिभिः** मननशीलैः **ऋक्वभिः** वेदज्ञैः । [ऋचो येषां सन्तीति ते ऋक्वाणः तैः । 'छन्दसीवनिपौ' अ० ५।२।१०९ इति वनिप् प्रत्ययः] । **विप्रेभिः** विद्वद्भिः **अनुमाद्यः** अनुहर्षणीयः, उद्बोधनीयः सन् **मामृजे** सद्गुणकर्मभिः अलङ्क्रियते ।।२।।

---

१. ऋ० ९।१०७।११, मीळ्हे सप्तिर्न वाजयुः' इति द्वितीयः पादः ।

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— सर्वैर्मनुष्यैर्वेदानधीत्य स्वात्मशक्तिं परिज्ञाय सदाचारिणां विदुषां सङ्गेन स्वात्मोन्नतिः सततं कार्या ॥२॥

आगे फिर जीवात्मा का विषय है ।

पदार्थ— वाजयुः अन्न के इच्छुक **सप्तिः न** घोड़े के समान **वाजयुः** बल और विज्ञान का इच्छुक, **मीढ्वान्** अन्यों पर सुख सींचने वाला, **मेध्यः** ज्ञान का सिंचन करने वाली वेदवाणी के **अण्वानि** सूक्ष्म विज्ञान-तत्त्वों को **तिरः** प्राप्त करके **पवमानः** स्वयं को पवित्र करता हुआ **सः** वह **सोमः** जीवात्मा **मनीषिभिः** मननशील, **ऋक्वभिः** वेदज्ञ **विप्रेभिः** विद्वानों के द्वारा **अनुमाद्यः** हर्षित किये जाने योग्य होता हुआ **मामृजे** श्रेष्ठ गुण-कर्मों से अलंकृत किया जाता है ॥२॥

यहां श्लिष्टोपमा अलंकार है ॥२॥

भावार्थ— सब मनुष्यों को चाहिए कि वेद पढ़कर, अपने आत्मा की शक्ति को जानकर, सदाचारी विद्वानों के संग से अपनी उन्नति निरन्तर किया करें ॥२॥

॥१३॥ अथ 'वयमेन०' इत्यादिकस्य त्रयोदशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** कलिः प्रागाथः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २७२ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता। अत्र जीवात्मविषय उच्यते ।

१६९१ . वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम् ।
तस्मा उ अद्य सवने सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते ॥१॥[1]

वयम् एनम् इदा ह्यः । अपीपेम इह वज्रिणम् ।
तस्मै उ अद्य अ द्य सवने सुतम् भर । आ नूनम् भूषत श्रुते ॥१॥

पदार्थः— **वयम्** कर्मयोगिनो जनाः **एनम्** एतम् **वज्रिणम्** वाग्वज्रयुक्तं स्वान्तरात्मानम् **इदा** अस्मिन् काले **ह्यः** गते च काले **इह** जीवनयज्ञे **अपीपेम** अवर्धयाम । [ओप्यायी वृद्धौ, प्यायः पी आदेशः।] हे भ्रातः ! त्वमपि **तस्मै उ** तस्मै अन्तरात्मने खलु **अद्य** अस्मिन् दिने **सवने** कर्मयोगयज्ञे **सुतम्** अभिषुतं वीररसम् **भर** अर्पय । हे सखायः ! यूयं सर्वेऽपि **नूनम्** निश्चयेन **श्रुते** शास्त्रज्ञाने, स्वान्तरात्मानम् **आ भूषत** अलङ्कुरुत ॥१॥

भावार्थः— सर्वैर्जनैः स्वान्तरात्मानमुद्बोध्य वीरकर्माणि कर्तव्यानि विविधविद्यानां ज्ञानं च सञ्चेतव्यम् ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में २७२ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में की जा चुकी है । यहाँ जीवात्मा का विषय है ।

---

१. ऋ० ८।६६।७; अथ० २०।९७।१; साम० २७२ ।

पदार्थ– **वयम्** हम कर्मयोगी लोगों ने **एनम्** इस **वज्रिणम्** वाणी-रूप वज्र से युक्त अपने अन्तरात्मा को **इदा** इस काल में, और **ह्यः** बीते काल में **इह** इस जीवन-यज्ञ में **अपीपेम** बढ़ाया है। हे भाई ! तू भी **तस्मै उ** उस अन्तरात्मा के लिए **अद्य** आज **सवने** कर्मयोग-रूप यज्ञ में **सुतम्** अभिषुत वीर रस को **भर** अर्पित कर। हे साथियो ! तुम सभी **नूनम्** निश्चय ही **श्रुते** शास्त्र-ज्ञान में, अपने अन्तरात्मा को **आभूषत** अलंकृत करो ॥१॥

भावार्थ– सब मनुष्यों को चाहिए कि अपने अन्तरात्मा को उद्बोधन देकर वीरतापूर्ण कर्म करें और विविध विद्याओं के ज्ञान का संचय करें ॥१॥

अथ परमात्मानमाह्वयति ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१६९२. **वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति ।**
२उ ३ १ २ ३२उ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
सेमं न स्तोमं जुजुषाण आ गहीन्द्र प्र चित्रया धिया ॥२॥[1]

१ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३
वृकःचित् अस्य वारणः उरामथिः उरा मथिः। आ वयुनेषु भूषति ।
२ ३ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ २
सः इमम् नः स्तोमम् जुजुषाणः आ गहि । इन्द्र प्र चित्रया धिया ॥२॥

पदार्थः– **वारणः** रोगादीनां निवारकः **उरामथिः** विस्तीर्णतमोनाशकः **वृकः चित्** सूर्यः इव **अस्य** इन्द्रस्य जगदीश्वरस्य तव **वारणः** दुःखादीनां निवारकः प्रतापः **वयुनेषु** तव कर्मसु **आ भूषति** भूषणभूतोऽस्ति । [आदित्योऽपि वृक उच्यते, यदावृङ्क्ते । निरु० ५।२१ । ऊर्णुते आच्छादयतीति उरा । यद्वा, ओरति सर्वत्र व्याप्नोतीति उरा, उर गतौ भ्वादिः । चिदित्युपमार्थको निरुक्ते व्याख्यातः । १।४, ३।१६।] **सः** असौ त्वम् हे **इन्द्र** परमात्मन् ! **नः** अस्माकम् **इमम्** एतम् **स्तोमम्** स्तोत्रम् **जुजुषाणः** सेवमानः **चित्रया धिया** अद्भुतया प्रज्ञया क्रियया वा सह **प्र आ गहि** प्रकर्षेण अस्मान् आगच्छ । [संहितायां 'सेमं' इत्यत्र 'सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्' । अ० ६।१।१३४ इत्यनेन 'सः' इत्यस्य सोर्लोपे सन्धिः] ॥२॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः– यस्य जगदीश्वरस्य प्रतापः सूर्य-प्रकाश इव सर्वत्र प्रसरति स सर्वैः श्रद्धयोपासनीयः ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा को बुलाया जा रहा है ।

पदार्थ–**वारणः** रोग आदि के निवारक, **उरामथिः** फैले हुए अंधेरे को नष्ट करने वाले **वृकः चित्** सूर्य के समान **अस्य** इन आप जगदीश्वर का **वारणः** दुःख आदि का निवारक प्रताप **वयुनेषु** आपके कर्मों में **आ भूषति** भूषण-रूप है। **सः** वह आप, हे **इन्द्र** परमात्मन् ! **नः** हमारे **इमम्** इस **स्तोमम्** स्तोत्र को **जुजुषाणः** सेवन करते हुए **चित्रया धिया** अद्भुत प्रज्ञा वा क्रिया के साथ **प्र आ गहि** भली-भाँति हमारे पास आओ ॥२॥

यहाँ श्लिष्टोपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ– जिस जगदीश्वर का प्रताप सूर्य के प्रकाश के समान सर्वत्र फैल रहा है उसकी सबको श्रद्धा के साथ उपासना करनी चाहिए ॥२॥

॥१४॥ अथ 'इन्द्राग्नी' इत्यादिकस्य चतुर्दशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** विश्वामित्रो गाथिनः। **देवता** इन्द्राग्नी। **छन्दः** गायत्री। **स्वरः** षड्जः ॥

---

१. ऋ० ८।६६।८; अथ० २०।९७।२ ।

तत्रादावात्मनो मनसश्च विषय उच्यते ।

१ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ १ २ ३ ३क२र
१६९३. इन्द्राग्नी रोचना दिवः परि वाजेषु भूषथः । तद्वां चेति प्र वीर्यम् ॥१॥[1]

१ २र १ २र ३ १ २ ३ २ ३ २
इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नी इति रोचना दिवः ।

१ २र १ २र ३ २ ३ २ ३क२
परि वाजेषु भूषथः । तत् वाम् चेति प्र वीर्यम् ॥१॥

पदार्थः— हे **इन्द्राग्नी** आत्ममनसी ! युवाम् **वाजेषु** देवासुरसंग्रामेषु **दिवः** प्रकाशकस्य परमात्मनः **रोचना** रोचनाम् दीप्तिम् **परि भूषथः** परिप्राप्नुथः । [भू प्राप्तौ, लेटि रूपम् । रोचना इत्यत्र 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति द्वितीयैकवचनस्य लुक् ।] **तत्** प्रसिद्धम् **वाम्** युवयोः **वीर्यम्** बलम् **प्र चेति** सर्वैः प्रकृष्टतया ज्ञायते ॥१॥[2]

भावार्थः— आभ्यन्तरे देवासुरसंग्रामे सर्वानासुरान् भावान् पराजित्य मनुष्यस्यात्मा मनश्च परमात्म-प्राप्तिलक्ष्यं लब्धुमर्हतः ॥१॥

प्रथम मन्त्र में आत्मा और मन का विषय कहा जा रहा है ।

पदार्थ— हे **इन्द्राग्नी** आत्मा और मन ! **युवाम्** तुम दोनों **वाजेषु** देवासुरसंग्रामों में **दिवः** प्रकाशक **परमात्मा की रोचना** ज्योति को **परिभूषथः** चारों ओर से प्राप्त करते हो । **तत्** वह प्रसिद्ध **वाम्** तुम दोनों का **वीर्यम्** बल **प्र चेति** सबके द्वारा प्रकृष्ट रूप से जाना जाता है ॥१॥

भावार्थः— मनुष्य के आत्मा और मन को योग्य है कि आन्तरिक देवासुरसंग्राम में सब आसुरी भावों को पराजित करके परमात्मा की प्राप्ति के लक्ष्य तक पहुंचें ॥१॥

द्वितीया ऋगुत्तरार्चिके १५७७ क्रमाङ्के जीवात्मपरमात्मविषये व्याख्यातपूर्वा । अत्रात्ममनसोर्विषय उच्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २
१६९४. इन्द्राग्नी अपसस्पर्युप प्र यन्ति धीतयः । ऋतस्य पथ्या३ अनु ॥२॥[3]

१ २र १ २र ३ १ २ १ २र १ २र १ २र ३ १ २
इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति अपसः परि । उप प्र यन्ति धीतयः ।

३ १ २ ३क २ १ २र
ऋतस्य पथ्याः अनु ॥२॥

पदार्थः— हे **इन्द्राग्नी** आत्ममनसी ! **धीतयः** ज्ञानानि **अपसः परि** कर्मसु एव **उप प्रयन्ति** परिसमाप्यन्ते । अतः युवाम् **ऋतस्य** सत्यकर्मणः **पथ्याः** मार्गान् **अनु** अनुसरतम् ॥२॥[4]

भावार्थः— कर्महीनानि केवलानि ज्ञानानि न शोभन्ते ॥२॥

द्वितीय ऋचा की व्याख्या उत्तरार्चिक में १५७७ क्रमांक पर जीवात्मा और परमात्मा के विषय में की जा चुकी है । यहाँ आत्मा और मन का विषय वर्णित है ।

---

१. ऋ० ३।१२।९।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं वायुविद्युत्पक्षे सेना सेनाध्यक्षपक्षे च व्याख्यातः ।

३. ऋ० ३।१२।७, साम० १५७७ ।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं वायुविद्युद्विषये व्याचष्टे।

पदार्थ– हे **इन्द्राग्नी** आत्मा और मन ! **धीतयः** ज्ञान **अपसः परि** कर्मों में ही **उप प्रयन्ति** परिसमाप्त हुआ करते हैं। अतः तुम दोनों **ऋतस्य** सत्य कर्म के **पथ्याः** मार्गों का **अनु** अनुसरण करो ।।२।।

भावार्थ– कर्महीन अकेले ज्ञान शोभा नहीं पाते ।।२।।

तृतीया ऋगुत्तरार्चिके १५७८ क्रमाङ्के जीवात्मपरमात्मनोर्विषये व्याख्याता। अत्रात्ममनसोर्विषय उच्यते।

१६९५. इन्द्राग्नी तविषाणि वां सधस्थानि प्रयांसि च । युवोरप्तूर्यं हितम् ।।३।।[1]

इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति तविषाणि वाम् । सधस्थानि सध स्थानि प्रयांसि च।
युवोः अप्तूर्यम् अप् तूर्यम् हितम् ।।३।।[1]

पदार्थः– हे **इन्द्राग्नी** आत्ममनसी ! **वाम्** युवयोः **तविषाणि** बलानि **प्रयांसि च** प्रयत्नाश्च **सधस्थानि** सहकृतानि भवन्ति । **युवोः** युवयोः **अप्तूर्यम्** कर्मणि त्वरितत्वम् **हितम्** हितकरं जायते ।।३।।[2]

भावार्थः– मनुष्यस्यात्मा मनश्च परस्परं मिलित्वैव ज्ञानं संचित्य पुरुषार्थं कृत्वा बलं कर्मसु सिद्धिं च प्राप्नुतः ।।३।।

तृतीय ऋचा उत्तरार्चिक में १५७८ क्रमांक पर जीवात्मा और परमात्मा के विषय में व्याख्यात की गयी थी । यहाँ आत्मा और मन का विषय कहते हैं।

पदार्थ– हे **इन्द्राग्नी** आत्मा और मन ! **वाम्** तुम दोनों के **तविषाणि** बल **प्रयांसि च** और प्रयत्न **सधस्थानि** साथ मिलकर होते हैं। **युवोः** तुम दोनों का **अप्तूर्यम्** कर्मों की शीघ्रता का गुण **हितम्** हितकर होता है ।।३।।

भावार्थ– मनुष्य का आत्मा और मन परस्पर मिलकर ही ज्ञान एकत्र करके, पुरुषार्थ करके बल तथा कर्मों में सिद्धि प्राप्त करते हैं।।३।।

।।१५।। अथ 'क ईं वेद' इत्यादिकस्य पञ्चदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मेध्यातिथिः काण्वः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** बृहती । **स्वरः** मध्यमः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २९७ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता। अत्र प्रश्नोत्तरशैल्या उपास्योपासकविषयमाह ।

१६९६. क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे ।
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्रिन्धसः ।।१।।[3]
कः ईम् वेद सुते सचा। पिबन्तम् कत् वयः दधे ।
अयम् यः पुरः विभिनत्ति वि भिनत्ति ओजसा । मन्दानः शिप्री अन्धसः ।।१।।

---

१. ऋ० ३।१२।८, साम० १५७८ ।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं वायुविद्युतोरिव सेना-सेनाध्यक्षयोर्विषये व्याचष्टे ।
३. ऋ० ८।३३।७, अथ० २०।५३।१; ५७।११ । साम०२९७ ऋषिः मेधातिथिः ।

पदार्थः— **सुते** उपासकस्य भक्तिरसेऽभिषुते सति **सचा** युगपत् **ईम्** एवं भक्तिरसम् आस्वादयन्तम् इन्द्रं परमात्मानम् **कः वेद** को जानाति ? **कत्** कदा, असौ उपासकस्यान्तरात्मनि **वयः** आनन्दरसम् **दधे** निदधाति इत्यपि **कः वेद** को जानातीति प्रश्नः । तदुत्तरमाह — **अयं यः** य एष **शिप्री** सुप्री, विस्तीर्णबलः उपासकः **अन्धसः** आनन्दरसात् **मन्दानः** उत्साहं प्राप्नुवन् **ओजसा** आत्मबलेन **पुरः** आभ्यन्तराणामसुराणां दुर्गपङ्क्तीः **विभिनत्ति** विदारयति,स एव जानातीति ॥१॥

भावार्थः— कथं परमात्मा भक्तस्य भक्तिरसे निमग्नो जायते कथं चोपासको भगवतो ब्रह्मानन्दरसे इति कृतात्मसमर्पणो भगवद्भक्त एव जानाति, नान्यः कश्चिदननुभूतभक्तिप्रसादो जनः ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २९७ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहाँ प्रश्नोत्तर-शैली से उपास्य-उपासक का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ— **सुते** उपासक के भक्ति-रस के अभिषुत होने पर **सचा** एक साथ **ईम्** इस भक्ति-रस को **पिबन्तम्** पीते हुए इन्द्र परमात्मा को **कः वेद** कौन जानता है ? **कत्** कब, वह उपासक के अन्तरात्मा में **वयः** आनन्द-रस को **दधे** रख देता है यह भी **कः वेद** कौन जानता है ? आगे इसका उत्तर दिया गया है— **अयं यः** यह जो **शिप्री** विस्तीर्ण बल वाला उपासक **अन्धसः** आनन्द-रस से **मन्दानः** उत्साह प्राप्त करता हुआ **ओजसा** आत्म-बल से **पुरः** आन्तरिक असुरों की किलेबन्दियों को **वि भिनत्ति** तोड़-फोड़ देता है, वही जानता है ॥१॥

भावार्थ— कैसे परमात्मा भक्त के भक्तिरस में डूब जाता है और कैसे उपासक भगवान् के ब्रह्मानन्द-रस में डूबता है इस बात को आत्मसमर्पक भगवद्-भक्त ही जानता है, दूसरा कोई जिसने भक्ति का प्रसाद अनुभव नहीं किया इस बात को नहीं जान सकता ॥१॥

अथ जगदीश्वरं वर्णयति ।

३ २ ३ १र २र३१ २३ २ ३१२
१६९७. **दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे ।**
१ २ ३ १ २३२ ३१ २ ३१ २३ १२
न किष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महाँश्चरस्योजसा ॥२॥[1]

३ २ ३२ ३ २ ३ २ ३१२ ३
दानाः मृगः न वारणः । पुरुत्रा चरथम् दधे ।
२ ३ २ ३ २ ३२ ३ २ ३ १२र
न किः त्वा नि यमत् आ सुते गमः । महान् चरसि ओजसा ॥२॥

पदार्थः— **वारणः** गजः **मृगः** पशुः **न** यथा **चरथम्** गण्डस्थलयोः संचरणशीलम् **दाना** दानं मदजलम् **दधे** धारयति, तथा **वारणः** विपन्निवारकः **मृगः** सज्जनानामन्वेष्टा इन्द्रः जगदीश्वरः **पुरुत्रा** बहुम् [देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् । अ० ५।४।५६ इति द्वितीयार्थे त्रा प्रत्ययः ।] **चरथम्** संचरणशीलं **दाना** आनन्दस्य दानम् **दधे** धारयति । हे इन्द्र जगदीश्वर ! त्वम् **सुते** अस्माकं भक्तिरसे अभिषुते सति **आ गमः** आगच्छ । **त्वा** आगच्छन्तं त्वाम् **न किः** न कोऽपि **नि यमत्** नियच्छतु, निवारयतु । **महान्** महिमवान् त्वम् **ओजसा** प्रतापेन साकम् **चरसि** सर्वत्र व्याप्नोषि ॥२॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥२॥

---

१. ऋ० ८।३३।८; अथ० २०।५३।२; ५ ७।१२।

भावार्थः— यथा गजो गण्डस्थलच्योर्मदजलं प्रवाहयति तथा परमेश्वर उपासकान् प्रत्यानन्दरसं स्रावयति ॥२॥

आगे जगदीश्वर का वर्णन करते हैं।

पदार्थ— वारणः हाथी **मृगः** पशु **न** जैसे **चरथम्** गण्डस्थलों पर बहने वाले **दाना** मदजल को **दधे** धारण करता है, वैसे ही **वारणः** विपत्तियों का निवारणकर्ता, **मृगः** सज्जनों को खोजने वाला इन्द्र जगदीश्वर **पुरुत्रा** बहुत अधिक **चरथम्** संचार करने वाले **दाना** आनन्द-दान को **दधे** धारण करता है। हे इन्द्र जगदीश्वर ! आप **सुते** हमारे भक्तिरस के उमड़ने पर **आ गमः** आओ। **त्वा** आते हुए आपको **न किः** कोई नहीं **नि यमत्** रोक सके। **महान्** महान् आप **ओजसा** प्रताप के साथ **चरसि** सर्वत्र व्याप्त हो ॥२॥

यहाँ श्लिष्टोपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— जैसे हाथी गण्डस्थलों पर मदजल प्रवाहित करता है, वैसे ही परमेश्वर उपासकों के प्रति आनन्द-रस को बहाता है ॥२॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह।

२ ३१र २र ३ १र २र३ १ २
१६९८. **य उग्रः सन्ननिष्टृतः स्थिरो रणाय संस्कृतः।**
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत् ॥३॥[1]

२ ३२ १ २र ३ २ १ २र १ २र ३
यः उग्रः सन् अनिष्टृतः अ निष्टृतः। स्थिरः रणाय संस्कृतः सम् कृतः।
१ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २र ३ २ ३
यदि स्तोतुः मघवा शृणवत् हवम्। न इन्द्रः योषति आ गमत् ॥३॥

पदार्थः— यः इन्द्रो जगदीश्वरः **उग्रः सन्** अधार्मिकाणां कृते प्रचण्डः सन् **अनिष्टृतः** तैः अनुपहिंसितो भवति। [स्तृतः इत्यत्र स्तृणातिर्हन्तिकर्मा। निघं० २।१९। निपूर्वो निष्टृतः, न निष्टृतः अनिष्टृतः।] अपि च, **स्थिरः** अविचलः सन् **रणाय** असुरैः सह युद्धाय **संस्कृतः** सज्जितो जायते, सः **मघवा** ऐश्वर्यवान् **इन्द्रः** जगदीश्वरः **यदि** चेत् **स्तोतुः** उपासकस्य **हवम्** आह्वानम् **शृणवत्** शृणुयात्, तर्हि **न योषति** पृथक् न तिष्ठेत्। [युमिश्रणामिश्रणयोः, लेटि सिबागमे अडागमे च तिपि रूपम्।] प्रत्युत **आ गमत्** तस्यान्तःकरणम् उपागच्छेत् ॥३॥

भावार्थः— उपासकस्य हृदयान्निःसृतमाह्वानं जगदीश्वरोऽवश्यं शृणोति, दस्युभिः सह युद्धे च तस्मै बलं दत्त्वा तस्य साहाय्यं करोति ॥३॥

अस्मिन् खण्डे परमात्मनो जीवात्मन उपास्योपासकसम्बन्धस्याऽऽत्ममनसोश्च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

आगे फिर वही विषय है।

पदार्थ— यः जो इन्द्र जगदीश्वर **उग्रः सन्** अधार्मिकों के लिए प्रचण्ड होता हुआ **अनिष्टृतः** उनसे अहिंसित रहता है, और **स्थिरः** अविचल होता हुआ **रणाय** असुरों के साथ युद्ध के लिए **संस्कृतः** सज्जित हो जाता है, वह **मघवा** ऐश्वर्यवान् **इन्द्रः** जगदीश्वर **यदि** यदि **स्तोतुः** उपासक के **हवम्** आह्वान को **शृणवत्** सुन ले, तो **न योषति** उससे अलग न खड़ा रहे, प्रत्युत **आ गमत्** उसके अन्तःकरण में आ जाए ॥३॥

---

१. ऋ० ८।३३।९; अथ० २०।५३।३, ५७।१३, अथर्ववेदे 'निष्टृत' 'निष्टृत' इति निर्विसर्गः पाठः।

भावार्थ– उपासक के हृदय से निकली हुई पुकार को जगदीश्वर अवश्य सुनता है और दस्युओं के साथ युद्ध में उसे बल देकर उसकी सहायता करता है ।।३।।

इस खण्ड में परमात्मा, जीवात्मा, उपास्य-उपासक का संबन्ध, आत्मा और मन इन विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

अठारहवें अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ।

।।१६।। अथ 'पवमाना' इत्यादिकस्य षोडशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** निध्रुविः काश्यपः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ कविकर्म वर्ण्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
१६९९. **पवमाना असृक्षत सोमाः शुक्रास इन्दवः । अभि विश्वानि काव्या ।।१।।**[1]

१२र ३ १ २र ३ १ २ १ २र ३ २ १ २र १ २र
पवमानाः असृक्षत । सोमाः शुक्रासः इन्दवः । अभि विश्वानि काव्या ।।१।।

पदार्थः– **पवमानाः** स्वात्मानम् इतरांश्च पुनानाः, **शुक्रासः** तेजस्विनः, **इन्दवः** स्वकीयेन काव्यरसेन सहृदयानां क्लेदकाः **सोमाः** शान्ताः विद्वांसः कविजनाः **विश्वानि काव्या** विविधानि भक्तिरसकाव्यानि **असृक्षत** सृजन्ति ।।१।।

भावार्थः– भगवदुपासकाः कविजना एव भक्तिरसकाव्यानि स्रष्टुं प्रभवन्ति ।।१।।

प्रथम मन्त्र में कविकर्म का वर्णन है ।

पदार्थ– **पवमानाः** स्वयं को तथा दूसरों को पवित्र करते हुए, **शुक्रासः** तेजस्वी, **इन्दवः** अपने काव्य-रस से सहृदयों को भिगोने वाले **सोमाः** शान्त विद्वान् कविजन ही **विश्वानि काव्या** सब भक्तिरस के काव्यों की **असृक्षत** सर्जना करते हैं ।।१।।

भावार्थ– भगवान् के उपासक कविजन ही भक्तिरस के काव्यों की सर्जना में समर्थ होते हैं ।।१।।

अथ सूर्यकिरणानामुपकारवर्णनमुखेन भगवदुपकारा वर्ण्यन्ते ।

१ २ ३ २ उ १ २ ३ २उ ३ १ २
१७००. **पवमाना दिवस्पर्यन्तरिक्षादसृक्षत । पृथिव्या अधि सानवि ।।२।।**[2]

१२र ३ २ १ २र ३ १ २ ३ २ १ २र १ २र
पवमानाः दिवः परि । अन्तरिक्षात् असृक्षत । पृथिव्याः अधि सानवि ।।२।।

पदार्थः– परमात्मना सृष्टाः **पवमानाः** पवित्रतासम्पादकाः सूर्यरश्मयः **दिवः परि** द्युलोकात् **अन्तरिक्षात्** मध्यलोकाच्च **पृथिव्याः** भूमेः **सानवि अधि** सानुप्रदेशे **असृक्षत** सूर्यतापं मेघजलं च वर्षन्ति ।।२।।

भावार्थः– यदि सूर्यो न भवेत् तर्हि भूमौ प्रकाशस्तापो वृष्टिर्ऋत्वादिनिर्माणं किमपि न भवेत्, सर्वत्र घोरं तमो व्याप्नुयात् । एतादृशोऽद्भुतः सूर्यः परमात्मनैव रचित इति तस्यैव स महिमा ।।२।।

---

१. ऋ० ९।६३।२५ ।
२. ऋ० ९।६३।२७ ।

अगले मन्त्र में सूर्य-किरणों के उपकार-वर्णन द्वारा भगवान् के उपकारों का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ– परमात्मा से रची हुई **पवमानाः** पवित्र करने वाली सूर्य-रश्मियाँ **दिवः परि** द्युलोक से और **अन्तरिक्षात्** अन्तरिक्ष से **पृथिव्याः** भूमि के **सानवि अधि** उच्च प्रदेशों पर **असृक्षत** सूर्य-ताप और मेघ-जल को बरसाती हैं ।।२।।

भावार्थ– यदि सूर्य न हो तो भूमि पर प्रकाश, ताप, वर्षा, ऋतुओं आदि का निर्माण कुछ भी न हो, सब जगह घोर अंधेरा व्यापा रहे । ऐसा अद्भुत सूर्य परमात्मा ने ही रचा है, इसलिए उसी की वह महिमा है ।।२।।

अथ ब्रह्मानन्दरसान् वर्णयति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१७०१. पवमानास आशवः शुभ्रा असृग्रमिन्दवः । घ्नन्तो विश्वा अप द्विषः ।।३।।[1]

१२र ३ १ २ ३ २ ३ १ २र १ २र १ २र १ २र १ २र
पवमानासः आशवः । शुभ्राः असृग्रम् इन्दवः । घ्नन्तः विश्वा अप द्विषः ।।३।।

पदार्थः– **पवमानासः** पवित्रतासम्पादकाः, **आशवः** त्वरिताः, **शुभ्राः** निर्मलाः **इन्दवः** क्लेदकाः ब्रह्मानन्दरसाः **विश्वाः** सर्वाः **द्विषः** द्वेषवृत्तीः **अपघ्नन्तः** हिंसन्तः **असृग्रम्** अन्तरात्मं सृज्यन्ते ।।३।।

भावार्थः– यदा परमात्मोपासनया ब्रह्मानन्दरसाः स्तोतुरात्मनि समागच्छन्ति तदा सर्वा द्वेषवृत्तयः स्वयमेव समाप्यन्ते विश्वमैत्रीभावना च जागर्ति ।।३।।

अगले मन्त्र में ब्रह्मानन्द-रसों का वर्णन है ।

पदार्थ– **पवमानासः** पवित्र करने वाले, **आशवः** वेगगामी, **शुभ्राः** निर्मल **इन्दवः** सराबोर करने वाले ब्रह्मानन्द-रस **विश्वाः** सब **द्विषः** द्वेष-वृत्तियों को **अप घ्नन्तः** विनष्ट करते हुए **असृग्रम्** अन्तरात्मा में बह रहे हैं ।।३।।

भावार्थ– जब परमात्मा की उपासना से ब्रह्मानन्द-रस स्तोता के अन्तरात्मा में आते हैं तब सब द्वेष-वृत्तियाँ स्वयं समाप्त हो जाती हैं और विश्व-मैत्री की भावना जाग जाती है ।।३।।

।।१७।। अथ 'तोशा' इत्यादिकस्य सप्तदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** विश्वामित्रो गाथिनः । **देवता** इन्द्राग्नी । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ इन्द्राग्निनाम्ना ब्रह्मक्षत्रे प्रशंसति ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१७०२. तोशा वृत्रहणा हुवे सजित्वानापराजिता । इन्द्राग्नी वाजसातमा ।।१।।[2]

३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३
तोशा वृत्रहणा वृत्र हना हुवे । सजित्वाना स जित्वाना अपराजिता अ पराजिता ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति वाजसातमा वाज सातमा ।।१।।

---

१. ऋ० ९।६३।२६।
२. ऋ० ३।१२।४ ।

पदार्थः— **तोशा**[1] तोशौ तेजस्विनौ वर्द्धकौ वा, **वृत्रहणा** पापहन्तारौ, **सजित्वाना** सह विजेतारौ, **अपराजिता** अपराजितौ, **वाजसातमा** बलस्य अतिशयेन दातारौ **इन्द्राग्नी** ब्रह्मक्षत्रे । [ब्रह्मक्षत्रे वा इन्द्राग्नी । कौ० ब्रा० १२।८ ।] अहम् **हुवे** आह्वयामि । [तोशा, वृत्रहणा, सजित्वाना, अपराजिता, वाजसातमा सर्वत्र 'सुपां सुलुक्०,। अ० ७।१।३९ इति द्वितीयाद्विवचनस्य आकारादेशः] ॥१॥[2]

भावार्थः— समष्टिरूपेण राष्ट्रे व्यष्टिरूपेण च व्यक्तौ विद्यमानेन प्रवृद्धेन ब्रह्मबलेन क्षात्रबलेन च राष्ट्रं मानवश्च बाह्यानान्तरांश्च शत्रून् पराजित्य सदा विजयं लभते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र-अग्नि नाम से ब्रह्म-क्षत्र की प्रशंसा करते हैं ।

पदार्थ— **तोशा** तेजस्वी वा बढ़ाने वाले, **वृत्रहणा** पाप को नष्ट करने वाले, **सजित्वाना** साथ मिलकर विजय लाभ करने वाले, **अपराजिता** पराजित न होने वाले, **वाजसातमा** बल के अतिशय दाता **इन्द्राग्नी** ब्रह्म और क्षत्र को, मैं **हुवे** बुलाता हूँ ॥१॥

भावार्थ— समष्टि रूप से राष्ट्र में और व्यष्टि रूप से व्यक्ति में विद्यमान, प्रवृद्ध ब्रह्मबल और क्षात्रबल से राष्ट्र तथा मनुष्य बाह्य और आन्तरिक शत्रुओं को पराजित करके सदा विजयी होता है ॥१॥

द्वितीया ऋक् उत्तरार्चिके १५७५ क्रमाङ्के परमात्मजीवात्मविषये व्याख्यातपूर्वा । अत्र ब्रह्मक्षत्रविषय उच्यते ।

१७०३. प्र वामर्चन्त्युक्थिनो नीथाविदो जरितारः । इन्द्राग्नी इष आ वृणे ॥२॥[3]

प्र वाम् अर्चन्ति उक्थिनः । नीथाविदः नीथ विदःजरितारः ।
इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नी इति इषः आ वृणे ॥२॥

पदार्थः— हे **इन्द्राग्नी** ब्राह्मणक्षत्रियौ ! **उक्थिनः** गुणप्रशंसकाः, **नीथाविदः** नीतिवेत्तारः, **जरितारः** ज्ञानवृद्धाः जनाः **वाम्** युवाम् **प्र अर्चन्ति** प्रशंसन्ति । अहम् युवयोः **इषः** एष्टव्यान् लाभान् **आवृणे** स्वीकरोमि ॥२॥[4]

भावार्थः— मनुष्यैरुत्कृष्टान् ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च संगृह्य राष्ट्रमुन्नेतव्यम् ॥२॥

द्वितीय ऋचा उत्तरार्चिक में १५७५ क्रमांक पर परमात्मा और जीवात्मा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहाँ ब्रह्म-क्षत्र का विषय वर्णित करते हैं ।

पदार्थ— हे **इन्द्राग्नी** ब्राह्मण-क्षत्रियो ! **उक्थिनः** गुणों के प्रशंसक, **नीथाविदः** नीतिज्ञ, **जरितारः** ज्ञानवृद्ध लोग **वाम्** तुम्हारी **प्र अर्चन्ति** प्रशंसा करते हैं । मैं तुमसे **इषः** अभीष्ट लाभों को **आवृणे** ग्रहण करता हूँ ॥२॥

भावार्थ— मनुष्यों को चाहिए कि उत्कृष्ट ब्राह्मणों और क्षत्रियों को एकत्र करके राष्ट्र को उन्नत करें ॥२॥

---

१. तुशी दीप्तौ—इति वि० । शत्रूणां बाधकौ—इति सा० । वर्धकौ विज्ञातारौ-इति ऋ० ३।१२।४ इत्यत्र द०।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं राजधर्मविषये व्याख्यातः, इन्द्राग्नी च सूर्यविद्युताविव सभासेनेशौ स्वीकृतौ ।

३. ऋ० ३।१२।५, साम० १५७५ ।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिनायमपि मन्त्रो राजधर्मविषयमधिकृत्य व्याख्यातः ।

तृतीया ऋग् उत्तरार्चिके १५७६ क्रमाङ्के परमात्मजीवात्मविषये व्याख्यातपूर्वा । अत्र ब्रह्मक्षत्रविषय उच्यते ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र३ १ २
१७०४. इन्द्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीरधूनुतम् । साकमेकेन कर्मणा ॥३॥[1]

१ २र १ २र ३ १ २ ३ २ १२र ३ १ २ ३ २ ३
इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नी इति नवतिम् पुरः । दासपत्नीः दास पत्नीः अधूनुतम् ।

२ १ २र १ २र
साकम् एकेन कर्मणा ॥३॥

पदार्थः— हे **इन्द्राग्नी** ब्राह्मणक्षत्रियौ ! **एकेन** अद्वितीयेन **कर्मणा** पुरुषार्थेन **साकम्** युगपत्, युवाम् **दासपत्नीः** दासाः उपक्षयितारः कामक्रोधादयोऽधार्मिका दुष्टजना वा पतयः स्वामिनो यासां ताः **नवतिं पुरः** नवतिसंख्यकाअपि शत्रुनगरीः **अधूनुतम्** कम्पयतम् । [धूञ् कम्पने विध्यर्थे लङ्] ॥३॥[2]

भावार्थः— ब्राह्मणैर्विद्याया ब्रह्मवर्चसस्य च प्रसारं कृत्वा क्षत्रियैश्च शत्रुभ्यो राष्ट्ररक्षां विधाय राष्ट्रमुन्नेतव्यम् ॥३॥

तृतीय ऋचा की व्याख्या उत्तरार्चिक में १५७६ क्रमांक पर परमात्मा और जीवात्मा के विषय में की गयी थी । यहाँ ब्रह्म-क्षत्र का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे **इन्द्राग्नी** ब्राह्मणो और क्षत्रियो ! **एकेन** अद्वितीय **कर्मणा** पुरुषार्थ से **साकम्** एकसाथ, तुम दोनों **दासपत्नीः** विनाशक काम-क्रोध आदि वा अधार्मिक दुष्ट जन जिनके स्वामी हैं ऐसी **नवतिं पुरः** नव्वे शत्रु-नगरियों को **अधूनुतम्** कंपायमान कर दो ॥३॥

भावार्थ— ब्राह्मणों को विद्या तथा ब्रह्मवर्चस का प्रसार करके और क्षत्रियों को शत्रुओं से रक्षा करके राष्ट्र की उन्नति करनी चाहिए ॥३॥

॥१८॥ अथ 'उप त्वा' इत्यादिकस्याष्टादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादावग्निनाम्ना परमात्मानं सम्बोधयति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २३ १ २
१७०५. उप त्वा रण्वसन्दृशं प्रयस्वन्तः सहस्कृत । अग्ने ससृज्महे गिरः ॥१॥[3]

१२र ३ १ २ ३ २ ३ १२र ३
उप त्वा रण्वसन्दृशम् रण्व सन्दृशम् । प्रयस्वन्तः सहस्कृत सहः कृत ।

१ २र ३ १ २ १२र
अग्ने ससृज्महे गिरः ॥१॥

पदार्थः— हे **सहस्कृत** सहसा आत्मबलेन हृदये प्रकटीकृत **अग्ने** अग्रनायक जगदीश्वर ! **प्रयस्वन्तः** प्रयत्नवन्तः वयम् **रण्वसन्दृशम्** रमणीयदर्शनम् **त्वा** त्वां प्रति **गिरः** स्तुतिवाचः **उपससृज्महे** उपसृजामः ॥१॥[4]

---

१. ऋ० ३।१२।६, साम० १५७६ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं राजधर्मे सभासेनेशविषये व्याचष्टे ।

३. ऋ० ६।१६।३७ ।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं 'मनुष्यैः कीदृशी वाक् प्रयोक्तव्ये'ति विषये व्याख्यातवान् ।

भावार्थः— परमात्मस्तुत्या सार्धं मनुष्यैः प्रयत्नोऽप्यनुष्ठेयस्तदैवाभीष्टकामनाः पूर्यन्ते ॥१॥

अगले मन्त्र में अग्नि नाम से परमात्मा को संबोधन करते हैं।

पदार्थ— हे **सहस्कृत** आत्मबल से हृदय में प्रकट किये गये **अग्ने** अग्रनायक जगदीश्वर ! **प्रयस्वन्तः** प्रयत्नवान् हम **रण्वसन्दृशम्** रमणीय दर्शन वाले **त्वा** आपके प्रति **गिरः** स्तुति-वाणियों को **उप ससृज्महे** उच्चारण करते हैं ॥१॥

भावार्थ— परमात्मा की स्तुति के साथ मनुष्यों को प्रयत्न भी करना चाहिए, तभी अभीष्ट कामनाएँ पूर्ण होती हैं ॥१॥

अथ पुनः परमात्मानमाह ।

१ २ ३ १ २३ २३१२ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २
१७०६. **उप च्छायामिव घृणेरगन्म शर्म ते वयम् । अग्ने हिरण्यसन्दृशः ॥२॥**[1]

१२र ३ २ ३ १२र १२र १२र३ ३ २
उप छायाम् इव घृणेः । अगन्म शर्म ते वयम् ।
१ २र १२र १२र ३
अग्ने हिरण्यसन्दृशः हिरण्य सन्दृशः ॥२॥

पदार्थः— हे **अग्ने** अग्रनायक जगदीश्वर ! **वयम्** तवोपासकाः **हिरण्यसन्दृशः** सुवर्णसदृशरमणीयस्य **ते** तव **शर्म** शरणम् **उप अगन्म** उपगताः स्मः, **घृणेः** सूर्यतापात् **छायामिव** यथा छायाम् उपगच्छन्ति तथा ॥२॥[2]

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— यथा सूर्यातापात् तप्तशिरस्कः स्विद्यद्गात्रः घर्माकुलः कश्चिद् विश्रामाय वृक्षादिच्छायामाश्रयते तथैवाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकैर्विविधैः कष्टैराकुला जना विश्रान्त्यै परमात्मशरणमुपगच्छन्ति चेत्तर्हि ते सर्वदुःखेभ्यो विमुक्ताः सन्तो नितरामानन्दिनो जायन्ते ॥२॥

अगले मन्त्र में पुनः परमात्मा को कहते हैं।

पदार्थ— हे **अग्ने** अग्रनायक, सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर ! **वयम्** हम आपके उपासक **हिरण्यसन्दृशः** सोने के समान रमणीय **ते** आपकी **शर्म** शरण में **अगन्म** पहुँच गये हैं, **घृणेः** सूर्य के ताप से हटकर **छायाम् इव** जैसे छाया में पहुँचते हैं ॥२॥

यहाँ उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— जैसे सूर्य की धूप से तपे हुए सिर वाला, पसीने से तर-बतर शरीर वाला, गर्मी से व्याकुल कोई मनुष्य विश्राम के लिए वृक्ष आदि की छाया का आश्रय लेता है, वैसे ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विविध कष्टों से व्याकुल लोग विश्राम पाने के उद्देश्य से यदि परमात्मा की शरण में पहुँचते हैं तो वे सब दुःखों से छूटकर अत्यन्त आनन्दवान् हो जाते हैं ॥२॥

---

१. ऋ० ६।१६।३८।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं विद्वांसं सम्बोधितः ।

अथ स परमेश्वरः कीदृशो यं वयं उपगच्छेमेत्याह ।

२ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३१र २र २ ३ १ २ ३ १ २
१७०७. य उग्र इव शर्यहा तिग्मशृङ्गो न वंसगः । अग्ने पुरो रुरोजिथ ॥३॥[1]

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ १२र
यः उग्रः इव शर्यहा शर्य हा । तिग्मशृङ्गः तिग्म शृङ्गः न वंसगः ।

१ २र १२र ३ १ २
अग्ने पुरः रुरोजिथ ॥३॥

पदार्थः— हे **अग्ने** अग्रनायक तेजस्विन् जगदीश ! **यः** यस्त्वम् **उग्रः इव** प्रचण्डः धनुर्धर इव **शर्यहा** शर्याणां हन्तव्यानां कामक्रोधादीनां शत्रूणां योगविघ्नानां व्याधिस्त्यानादीनां च हन्ता, **तिग्मशृङ्गः न** तीक्ष्णकिरणः सूर्य इव **वंसगः** वननीयगतिः संसेव्यश्च सन् **पुरः** शत्रुनगरीः शत्रुदुर्गपङ्क्तीर्वा **रुरोजिथ** भनक्षि । [रुजो भङ्गे, तुदादिः, सामान्यकाले लिट् ।] तस्य ते शर्म शरणं वयम् अगन्म इति पूर्वमन्त्रादाकृष्यते ॥३॥[2]

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— परमेश्वरोपासनया प्राप्तबलो जनः सर्वानान्तरान् शत्रून् योगविघ्नांश्च पराजित्य लक्ष्यं प्रति जागरूकः सन्नभ्युदयं निःश्रेयसं च लभते ॥३॥

अब वह परमेश्वर कैसा है जिसकी शरण में हम जाएँ यह कहते हैं ।

पदार्थ— हे **अग्ने** अग्रनायक, तेजस्वी जगदीश ! **यः** जो आप **उग्रः इव** प्रचण्ड धनुर्धारी के समान **शर्यहा** वध करने योग्य काम-क्रोध आदि शत्रुओं के और व्याधि-स्त्यान आदि योग-विघ्नों के विनाशक, **तिग्मशृङ्गः न** तीक्ष्ण किरणों वाले सूर्य के समान **वंसगः** चारु गति वाले तथा सेवनीय होते हुए **पुरः** शत्रु की नगरियों वा किलेबन्दियों को **रुरोजिथ** तोड़-फोड़ डालते हो, ऐसे आपकी शरण में हम पहुँचते हैं ॥३॥

यहाँ उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ— परमेश्वर की उपासना से बल पाकर मनुष्य सब आन्तरिक शत्रुओं तथा योग के विघ्नों को पराजित करके लक्ष्य के प्रति जागरूक होता हुआ अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त कर लेता है ॥३॥

॥१९॥ अथ 'ऋतावानमित्यादिकस्यैकोनविंशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ जगदीश्वरं प्रार्थयते ।

३ १ २ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
१७०८. ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम् । अजस्रं घर्ममीमहे ॥१॥[3]

३ १ २ ३ २ ३ २ ३१ २ १२र १२र
ऋतावानम् वैश्वानरम् वैश्व नरम् । ऋतस्य ज्योतिषः पतिम् ।

१२र ३ २ ३
अजस्रम् अ जस्रम् घर्मम् ईमहे ॥१॥

---

१. ऋ० ६।१६।३९।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजधर्मविषये व्याचष्टे ।
३. अथ० ६।३६।१, ऋषिः अथर्वा ।

पदार्थः— **ऋतावानम्** सत्यवन्तम् । [अत्र 'छन्दसी वनिपौ' अ०५।२।१०९ इति वार्तिकेन वनिप् प्रत्ययः । 'अन्येषामपि दृश्यते' अ० ६।३।१३७ इति ऋतस्य दीर्घान्तादेशः ।] **वैश्वानरम्** विश्वेषां नृणां हितम्, **ऋतस्य** जलस्य धनस्य वा । [ऋतमित्युदकनाम धननाम च । निघं० १।१२, २।१० ।] **ज्योतिषः** प्रकाशस्य च **पतिम्** स्वामिनं पातारं वा जगदीश्वरं वयम् **अजस्रम्** अक्षयम् **घर्मम्** तेजः प्रतापं वा **ईमहे** याचामहे । [ईमहे इति याञ्चाकर्मसु पठितम् । निघं० ३।१९] ॥१॥

भावार्थः— यः स्वयं प्रतापी तेजस्वी सत्यवांश्च भवति स एवान्यांस्तथाविधान् कर्तुं शक्नोति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में जगदीश्वर से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— **ऋतावानम्** सत्यमय, **वैश्वानरम्** सब मनुष्यों के हितकर्ता, **ऋतस्य** जल वा धन के और **ज्योतिषः** ज्योति के **पतिम्** स्वामी वा पालक जगदीश्वर से हम **अजस्रम्** अक्षय **घर्मम्** तेज वा प्रताप को **ईमहे** माँगते हैं ॥१॥

भावार्थ— जो स्वयं प्रतापी, तेजस्वी और सत्यमय होता है वही दूसरों को वैसा बना सकता है ॥१॥

अथ जगदीश्वरस्य कर्तृत्वमाह ।

१७०९. य इदं प्रतिपप्रथे यज्ञस्य स्वरुत्तिरन् । ऋतूनुत्सृजते वशी ॥२॥

यः इदम् प्रतिपप्रथे प्रति पप्रथे । यज्ञस्य स्वः उत्तिरन् उत् तिरन् ।
ऋतून् उत् सृजते वशी ॥२॥

पदार्थः— **यः** अग्निर्जगदीश्वरः **इदम्** एतद् ब्रह्माण्डम् **प्रतिपप्रथे** विस्तृणाति, अपि च **यज्ञस्य** प्रकाशप्रदातुः आदित्यस्य । [स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः। श० १४।१।१।६।] **स्वः** प्रकाशम् **उत्तिरन्** विकिरन् **वशी** जगद्व्यवस्थां कामयमानः **ऋतून्** वसन्तग्रीष्मवर्षादीन् **उत्सृजते** निर्मिमीते, तं जगदीश्वरं वयम् 'अजस्रं घर्मम् ईमहे' इति पूर्वमन्त्रादाकृष्यते ॥२॥

भावार्थः— अहो ! कीदृशोऽयं महिमा जगत्पतेर्यदसौ सूर्यमुत्पाद्य सर्वं सौरमण्डलं तद्द्वारेण सम्यक् सञ्चालयति ॥२॥

अगले मन्त्र में जगदीश्वर का कर्तृत्व वर्णित है ।

पदार्थ— **यः** जो जगदीश्वर **इदम्** इस ब्रह्मांड को **प्रतिपप्रथे** फैलाता है, और **यज्ञस्य** प्रकाशप्रदाता सूर्य के **स्वः** प्रकाश को **उत्तिरन्** बखेरता हुआ, **वशी** जगत् की व्यवस्था को चाहता हुआ **ऋतून्** वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा आदि ऋतुओं को **उत्सृजते** रचता है, उस जगदीश्वर से हम [अजस्रं घर्मम् ईमहे] अक्षय प्रताप वा तेज माँगते हैं । यहाँ 'अजस्रं घर्मम् ईमहे' यह अंश वाक्यपूर्ति के लिए पूर्व मन्त्र से लाया गया है ॥२॥

भावार्थ— अहो ! जगत्पति की यह कैसी अद्भुत महिमा है कि वह सूर्य को उत्पन्न करके उसके द्वारा सारे सौरमण्डल को भली-भाँति संचालित कर रहा है ॥२॥

अथ परमात्मनः सम्राट्त्वं वर्णयति ।

१७१०. अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य । सम्राडेको विराजति ॥३॥[1]

अग्निः प्रियेषु धामसु। कामः भूतस्य भव्यस्य। सम्राट् सम् राट् एकः वि राजति॥३॥

पदार्थः– **भूतस्य** उत्पन्नस्य **भव्यस्य** भाविनि काले उत्पत्स्यमानस्य च **कामः** कामयिता, इच्छाशक्त्या पञ्चभूतैः रचयिता **अग्निः** अग्रणीर्जगदीश्वरः **प्रियेषु** प्रीतिपात्रेषु **धामसु** लोकेषु **एकः** अद्वितीयः **सम्राट्** चक्रवर्ती राजा सन् **वि राजति** विशेषेण शोभते ॥३॥[2]

भावार्थः– एकः परमेश्वर एव सर्वेषां भूतवर्तमानभव्यपदार्थानां शिल्पी सर्वेषां लोकानां चक्रवर्ती सम्राट् च सन् ब्रह्माण्डस्य सर्वां व्यवस्थां सञ्चालयति ॥३॥

अस्मिन् खण्डे भक्तिकाव्यस्य सूर्यकिरणानां ब्रह्मक्षत्रयोर्जगदीश्वरस्य च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

अब परमात्मा के सम्राट्-रूप का वर्णन करते हैं।

पदार्थ– **भूतस्य** जो उत्पन्न हो चुका है उसे, और **भव्यस्य** जो भविष्य में उत्पन्न होना है उसे **कामः** इच्छाशक्ति द्वारा पञ्चभूतों से रचने वाला **अग्निः** अग्रनायक जगदीश्वर **प्रियेषु** प्रिय **धामसु** लोकों में **एकः** एक अद्वितीय **सम्राट्** चक्रवर्ती राजा होता हुआ **वि राजति** विशेष रूप से शोभा पा रहा है ॥३॥

भावार्थ– एक परमेश्वर ही सब भूत, वर्तमान और भावी पदार्थों का शिल्पी तथा सब लोकों का चक्रवर्ती सम्राट् होता हुआ ब्रह्माण्ड की सब व्यवस्था का संचालन करता है ॥३॥

इस खण्ड में भक्तिकाव्य, सूर्य-किरण, ब्रह्म-क्षत्र तथा जगदीश्वर के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

अठारहवें अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ।

अठारहवाँ अध्याय समाप्त ।

अष्टम प्रपाठक में द्वितीय अर्ध समाप्त ।

अथैकोनविंशोऽध्यायः अष्टमे प्रपाठके तृतीयोऽर्धश्च

।।१।। तत्र 'अग्निः प्रत्नेन' इत्यादिकस्य प्रथमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** विरूप आङ्गिरसः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः।।

तत्रादावग्निनाम्ना जीवात्मविषयमाह ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १र २र
१७११. **अग्निः प्रत्नेन जन्मना शुम्भानस्तन्वां३ स्वाम् । कविर्विप्रेण वावृधे ।।१।।**[3]

३ २ ३ १ २ १ २र १ २र ३क २ ३ २ १ २र ३
अग्निः प्रत्नेन जन्मना । शुम्भानः तन्वम् स्वाम् । कविः विप्रेण वि प्रेण वावृधे।।१।।

---

१. य० १२।११७, ऋषिः प्रजापतिः ।
२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजधर्मविषये व्याचष्टे ।
३. ऋ० ८।४४।१२, 'जन्मना' इत्यत्र 'मन्मना'।

पदार्थः— **कविः** मेधावी क्रान्तदर्शनो जीवात्मा **प्रत्नेन जन्मना** पूर्वेण जन्मना, पूर्वजन्मकृतकर्मसंस्कार-वशादित्यर्थः **स्वाम्** स्वकीयाम् इहजन्मप्राप्ताम् **तन्वम्** तनूम् **शुम्भानः** सुशोभयन् **विप्रेण** विशेषेण प्राति ज्ञानेन पूरयतीति विप्रः आचार्यः तेन **वावृधे** वृद्धिं प्राप्नोति ॥१॥

भावार्थः— पूर्वजन्मकृतकर्मफलभोगार्थं नूतनकर्मकरणार्थं च जीवो मानवं जन्म प्राप्नोति । मातुर्गर्भा-दुत्पन्नो मातापितृभ्यां यथायोग्यं पालितः शिक्षितश्च गुरुकुलं प्रविश्याचार्याद् गृहीतविद्यः कर्तव्याकर्तव्ये विज्ञाय सत्कर्माणि कृत्वाऽभ्युदयं निःश्रेयसं चाधिगन्तुं शक्नोति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में अग्नि नाम से जीवात्मा का विषय कहते हैं ।

पदार्थ— **कविः** मेधावी, क्रान्तद्रष्टा जीवात्मा **प्रत्नेन जन्मना** पुरातन जन्म से अर्थात् पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों के संस्कारवश **स्वाम्** अपने इस जन्म में प्राप्त **तन्वम्** शरीर को **शुम्भानः** सुशोभित करता हुआ **विप्रेण** विशेषतया ज्ञान से पूर्ण करने वाले आचार्य के द्वारा **वावृधे** उन्नति प्राप्त करता है ॥१॥

भावार्थ— पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिए और नवीन कर्म करने के लिए जीव मानव-जन्म प्राप्त करता है । माता के गर्भ से उत्पन्न होकर, माता-पिता से यथायोग्य पालित और शिक्षित हो, गुरुकुल में प्रवेश पाकर, आचार्य से विद्या ग्रहण कर, कर्तव्य-अकर्तव्य जानकर, सत्कर्म करके वह अभ्युदय और निः श्रेयस प्राप्त कर सकता है ॥१॥

अथ परमेशमाह्वयति ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
१७१२. **ऊर्जो नपातमा हुवेऽग्निं पावकशोचिषम् । अस्मिन् यज्ञे स्वध्वरे ॥२॥**[1]

३ २ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
ऊर्जः नपातम् आ हुवे । अग्निम् पावकशोचिषम् पावक शोचिषम् ।

२ ३ २ ३ २ ३ २
अस्मिन् यज्ञे स्वध्वरे सु अध्वरे ॥२॥

पदार्थः— अहम् **अस्मिन्** एतस्मिन् **स्वध्वरे** शोभनः अध्वरः अहिंसाव्रताचारः यस्मिन् तादृशे **यज्ञे** जीवनयज्ञे **ऊर्जः** आत्मबलस्य प्राणशक्तेश्च । [ऊर्ज बलप्राणनयोश्चुरादिः ।] **नपातम्** न पातयितारम्, प्रत्युत वर्धकम् **पावकशोचिषम्** शोधकदीप्तिम् **अग्निम्** अग्रनेतारं परमेशम् **आहुवे** आह्वयामि ॥२॥

भावार्थः— मानवाः परमात्मोपासनया सत्प्रेरणां गृहीत्वा स्वकीयं जीवनं पावयन्तामुन्नयन्तां च ॥२॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर को पुकारा गया है ।

पदार्थ— मैं **अस्मिन्** इस **स्वध्वरे** शुभ अहिंसाव्रताचार वाले **यज्ञे** जीवन-यज्ञ में **ऊर्जः** आत्मबल और प्राणशक्ति को **नपातम्** न गिरने देने वाले, प्रत्युत बढ़ाने वाले, **पावकशोचिषम्** शोधक ज्योति वाले **अग्निम्** अग्रनायक परमेश्वर को **आहुवे** पुकारता हूँ ॥२॥

भावार्थ— मनुष्यों को चाहिए कि वे परमात्मा की उपासना से सत्प्रेरणा लेकर अपने जीवन को पवित्र और उन्नत करें ॥२॥

---

१. ऋ० ८।४४।१३।

अथ परमेश्वरं प्रार्थयते ।

१७१३. स नो मित्रमहस्त्वमग्ने शुक्रेण शोचिषा। देवैरा सत्सि बर्हिषि ॥३॥[1]

सः नः मित्रमहः मित्र महः त्वम्। अग्ने शुक्रेण शोचिषा। देवैः आ सत्सि बर्हिषि॥३॥

पदार्थः— **मित्रमहः** मित्रं मित्रभूतं महः तेजो यस्य तादृश, हे **अग्ने** अग्रनायक परमेश ! **सः** असौ **नः** अस्मत्सखा **त्वम्** जगदीश्वरः **शुक्रेण** पवित्रेण **शोचिषा** ज्योतिषा **देवैः** दिव्यगुणैश्च सह **बर्हिषि** अस्माकं हृदयान्तरिक्षे **आ सत्सि** आसीद ॥३॥

भावार्थः— परमात्मोपासनया जना दिव्यं पवित्रं प्रकाशं दिव्यगुणांश्च प्राप्तुं शक्नुवन्ति ॥३॥

अब परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— **मित्रमहः** जिसका तेज हमारा मित्र बनता है ऐसे, हे **अग्ने** अग्रनायक परमेश ! **सः** वह **नः** हमारे सखा **त्वम्** आप जगदीश **शुक्रेण** पवित्र **शोचिषा** ज्योति के साथ और **देवैः** दिव्य गुणों के साथ **बर्हिषि** हमारे हृदयान्तरिक्ष में **आ सत्सि** आकर बैठो ॥३॥

भावार्थ— परमात्मा की उपासना से मनुष्य प्रकाश को और दिव्य गुणों को प्राप्त कर सकते हैं॥३॥

॥२॥ अथ 'उत्ते शुष्मासो' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य चतुर्ऋचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अवत्सारः काश्यपः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ स्तुतिपूर्वकं परमेशः प्रार्थ्यते ।

१७१४. उत्ते शुष्मासो अस्थू रक्षो भिन्दन्तो अद्रिवः। नुदस्व याः परिस्पृधः ॥१॥[2]

उत् ते शुष्मासः अस्थुः। रक्षः भिन्दन्तः अद्रिवः अ द्रिवः।
नुदस्व याः परिस्पृधः परि स्पृधः ॥१॥

पदार्थः— हे **अद्रिवः** न केनापि दीर्यते विनाश्यते यः तादृश पवमान सोम पवित्रतादायक सद्गुणकर्मप्रेरक जगदीश ! **ते** तव **शुष्मासः** बलानि **रक्षः** कामक्रोधादिकं षड्रिपुवर्गं व्याधिस्त्यानसंशयादिकं विघ्नसमूहं वा **भिन्दन्तः** विदारयन्तः **अस्थुः** दृढं तिष्ठन्ति । **याः परिस्पृधः** याः स्पर्धाशीलाः आभ्यन्तर्यो बाह्या वा शत्रुसेनाः सन्ति ताः, त्वम् **नुदस्व** विबाधस्व ॥१॥

भावार्थः— परमेश्वराराधनेन मनुष्यः सर्वानान्तरान् बाह्यांश्च रिपून् विजेतुमपारं बलं साहसमुद्बोधनं च प्राप्नोति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में स्तुतिपूर्वक परमेश्वर से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **अद्रिवः** किसी से विदीर्ण न किये जा सकने योग्य पवमान सोम अर्थात् पवित्रतादायक सद्गुणकर्मप्रेरक जगदीश ! **ते** आपके **शुष्मासः** बल **रक्षः** काम, क्रोध आदि छहों रिपुओं को और व्याधि,

---

१. ऋ० ८।४४।१४।

२. ऋ० ९।५३।१।

स्त्यान, संशय आदि योग-मार्ग के विघ्नों को **भिन्दन्तः** तोड़ते-फोड़ते हुए **अस्थुः** दृढ़ता से स्थित रहते हैं। **याः परिस्पृधः** जो स्पर्धाशील आन्तरिक वा बाह्य शत्रु-सेनाएँ हैं उन्हें आप **नुदस्व** परे खदेड़ दो ॥१॥

भावार्थ— परमेश्वर की आराधना से मनुष्य सब आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं को जीतने के लिए अपार बल, साहस और उद्बोधन प्राप्त करता है ॥१॥

अथ परमात्मानं स्तौति ।

१७१५. अया निजघ्निरोजसा रथसङ्गे धने हिते । स्तवा अबिभ्युषा हृदा ॥२॥[1]

अया निजघ्निः नि जघ्निः ओजसा । रथसङ्गे रथ सङ्गे धने हिते ।

स्तवै अबिभ्युषा अ बिभ्युषा हृदा ॥२॥

पदार्थः— हे पवमान सोम ! हे पवित्रतादायक सर्वान्तर्यामिन् जगदीश ! त्वम् **अया** अनेन **ओजसा** बलेन **निजघ्निः** कामक्रोधादीनां रिपूणां हन्ता असि । [निपूर्वाद् हन्तेः 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च' अ० ३।२।१७१ इत्यनेन किः प्रत्ययः, तस्य च लिड्वत्त्वाद् द्वित्वादिः ।] **रथसङ्गे** मानवदेहरूपस्य रथस्य प्राप्तौ सत्याम् **धने हिते** दिव्यैश्वर्यस्य लाभाय, अहम् **अबिभ्युषा** निर्भयेन **हृदा** हृदयेन, त्वाम् **स्तवै** स्तौमि ॥२॥

भावार्थः— हार्दिक्या श्रद्धया स्तुतो जगदीश्वरः स्तोत्रे सर्वानाभ्यन्तरान् बाह्यांश्च रिपून् विनाशयितुं बलं प्रदाय तमुपकुरुते ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की स्तुति की गयी है।

पदार्थ— हे पवमान सोम ! हे पवित्रतादायक सर्वान्तर्यामी जगदीश ! आप **अया** इस **ओजसा** बल से **निजघ्निः** काम-क्रोध आदि शत्रुओं को विनष्ट करने वाले हो । **रथसङ्गे** मानव-देह रूप रथ की प्राप्ति होने पर **धने हिते** दिव्य ऐश्वर्य को पाने के लिए, मैं **अबिभ्युषा** निर्भय **हृदा** हृदय से, **स्तवै** आपकी स्तुति करता हूं॥२॥

भावार्थ— हार्दिक श्रद्धा से स्तुति किया गया जगदीश्वर स्तोता को आंतरिक और बाह्य शत्रुओं को विनष्ट करने के लिए बल प्रदान करके उसका उपकार करता है ॥२॥

अथ स्वकीयमन्तरात्मानमुद्बोधयति ।

१७१६. अस्य व्रतानि नाधृषे पवमानस्य दूढ्या । रुज यस्त्वा पृतन्यति ॥३॥[2]

अस्य व्रतानि न आधृषे आ धृषे । पवमानस्य दूढ्या । रुज यः त्वा पृतन्यति ॥३॥

पदार्थः— **अस्य** एतस्य **पवमानस्य** पुरुषार्थिनो जीवस्य । [पवते गतिकर्मा । निघं० २।१४ ।] **व्रतानि** संकल्पाः कर्माणि वा **दूढ्या** दुर्धिया शत्रुणा **आधृषे न** आधर्षणाय न भवन्ति । हे मदीय अन्तरात्मन् ! **यः** योऽपि आन्तरो बाह्यो वा रिपुः **त्वा** त्वाम् **पृतन्यति** सेनया अभियाति, तम् **रुज** भङ्ग्धि ॥३॥

भावार्थः— मनुष्यस्यान्तरात्मा प्रबोधनमुद्बोधनं च प्राप्य स्वशक्त्या सर्वान् आन्तरान् बाह्यांश्च रिपून् पराभूय देवासुरसंग्रामे विजेतुमर्हति ॥३॥

अब अपने अन्तरात्मा को उद्बोधन देते हैं।

---

१. ऋ० ९।५३।२।

२. ऋ० ९।५३।३।

पदार्थ– अस्य इस **पवमानस्य** गतिमान् पुरुषार्थी जीव के **व्रतानि** व्रत वा कर्म **दूढ्या** दुर्बुद्धि शत्रु के द्वारा **आधृषे न** दबाये नहीं जा सकते। हे मेरे अन्तरात्मन्! **यः** जो भी आन्तरिक वा बाहरी शत्रु **त्वा** तुझ पर **पृतन्यति** सेना से धावा करता है, उसे **रुज** नष्ट-भ्रष्ट कर दे ॥३॥

भावार्थ– मनुष्य के अन्तरात्मा को योग्य है कि वह प्रबोध और उद्बोधन प्राप्त करके अपनी शक्ति से सब अन्दर के और बाहर के शत्रुओं को परास्त करके देवासुरसंग्राम में विजयी हो ॥३॥

अथोपासकाः किं कुर्वन्तीत्याह ।

१७१७. तं हिन्वन्ति मदच्युतं हरिं नदीषु वाजिनम्। इन्दुमिन्द्राय मत्सरम् ॥४॥[1]

तम् हिन्वन्ति मदच्युतम् मद च्युतम्। हरिम् नदीषु वाजिनम्।
इन्दुम् इन्द्राय मत्सरम् ॥४॥

पदार्थः– प्राप्तप्रबोधा जागरूका उपासका जनाः **मदच्युतम्** उत्साहस्राविणम्, **हरिम्** पापहर्तारम्, **वाजिनम्** बलवन्तम्, **मत्सरम्** तृप्तिप्रदम्, **तम्** अद्भुतम् **इन्दुम्** ब्रह्मानन्दरसम् **नदीषु** धारासु **इन्द्राय** जीवात्मने **हिन्वन्ति** प्रेरयन्ति ॥४॥

भावार्थः– ये जनाः परमात्मोपासनया ब्रह्मानन्दधाराभिः स्वात्मानं तर्पयन्ति ते धन्या जायन्ते ॥४॥

अगले मन्त्र में उपासक लोग क्या करते हैं यह कहा गया है ।

पदार्थ– प्रबोध को प्राप्त जागरूक उपासक लोग **मदच्युतम्** उत्साहवर्षी, **हरिम्** पापहर्ता, **वाजिनम्** बलवान् **मत्सरम्** तृप्तिप्रद **तम्** उस अद्भुत **इन्दुम्** ब्रह्मानन्द-रस को **नदीषु** धाराओं के रूप में **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए **हिन्वन्ति** प्रेरित करते हैं ॥४॥

भावार्थ– जो लोग परमात्मा की उपासना द्वारा ब्रह्मानन्द की धाराओं से अपने आत्मा को तृप्त करते हैं वे धन्य हो जाते हैं ॥४॥

॥३॥ अथ 'आ मन्द्रै'रित्यादिकस्य तृतीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** विश्वामित्रो गाथिनः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** बृहती। **स्वरः** मध्यमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २४६ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योराह्वानविषये व्याख्याता । अत्र जीवात्मा समुद्बोध्यते ।

१७१८. आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः।
मा त्वा के चिन्नि येमुरिन्न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि ॥१॥[2]

आ मन्द्रैः इन्द्र हरिभिः। याहि मयूररोमभिः मयूर रोमभिः।
मा त्वा के चित् नि येमुः इत् न पाशिनः। अति धन्व इव तान् इहि ॥१॥

---

१. ऋ० ९।५३।४।

२. ऋ० ३।४५।१; य० २०।५३; अथ० ७।११७।१, सर्वत्र 'नियमन् विं न' इति भेदः। साम० २४६।

पदार्थः— हे **इन्द्र** मदीय अन्तरात्मन् ! त्वम् **मन्द्रैः** तृप्तिप्रदैः **मयूररोमभिः** मयूरस्य बर्हिणः रोमाणीव रोमाणि विषयग्रहणसामर्थ्यानि येषां तैः । [रुङ् गतिरेषणयोः, भ्वादिः, ततो मनिन् प्रत्ययः । रवन्ते विषयान् प्रति गच्छन्तीति रोमाणि विषयग्रहणसामर्थ्यानि ।] **हरिभिः** मनोबुद्धिज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियैः सह **आयाहि** ज्ञानक्षेत्रं कर्मक्षेत्रं च आगच्छ । आगन्तुमनसं **त्वा** त्वाम् **केचित्** केऽपि बाधकाः शत्रवो विघ्ना वा **मा नियेमुः** नैव उपरुन्धन्तु, **पाशिनः** पाशपाणयो व्याधादयः **इत् न** गन्तारं खगादिकं यथा नियच्छन्ति । त्वम् **धन्वा इव** धनुर्धर इव **तान्** बाधकान् **अति इहि** अतिक्रामस्व ॥१॥[1]

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— मनुष्याणामिदं योग्यं यत्ते स्वान्तरात्मानमुद्बोध्य बाधकान् शत्रून् प्रत्यूहान् वा पराजित्य स्वोन्नतिं कुर्युः ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २४६ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के आह्वान के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहाँ जीवात्मा को उद्बोधन देते हैं ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** मेरे अन्तरात्मन् ! तू **मन्द्रैः** तृप्ति देने वाले, **मयूररोमभिः** मोरों के रोमों के समान आकर्षक जिनके रोम अर्थात् विषय-ग्रहण-सामर्थ्य हैं ऐसे **हरिभिः** मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियों के साथ **आयाहि** आ, अर्थात् ज्ञानक्षेत्र और कर्मक्षेत्र में उतर । आने की इच्छा वाले **त्वा** तुझे **केचित्** कोई भी बाधक शत्रु वा विघ्न **मा नियेमुः** रोक न सकें, **पाशिनः** जाल हाथ में लिये व्याध आदि **इत् न** जैसे गतिशील पक्षी आदि को जाल में रोक लेते हैं। तू **धन्वा इव** धनुर्धारी के समान **तान्** उन बाधकों को **अति इहि** लाँघ जा ॥१॥

यहाँ उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— मनुष्यों को यह योग्य है कि वे अपने अन्तरात्मा को उद्बोधन देकर बाधक शत्रुओं वा विघ्नों को पराजित करके अपनी उन्नति करें ॥१॥

अथ जीवात्मनः कर्त्तव्यमाह ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
१७१९. **वृत्रखादो बलंरुजः पुरां दर्मो अपामजः ।**
२ ३ १ २ ३ १ २ ३१र २र ३ १ २ ३ २
स्थाता रथस्य हर्योरभिस्वर इन्द्रो दृढा चिदारुजः ॥२॥[2]
३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३२ ३२ ३२ ३२
वृत्रखादः वृत्र खादः वलंरुजः वलम् रुजः । पुराम् दर्मः अपाम् अजः ।
१ २र १ २र १ २र ३ २ ३ २
स्थाता रथस्य हर्योः अभिस्वरे अभि स्वरे ।
१ २र ३ २ ३ २ ३ २
इन्द्रः दृढा चित् आरुजः आ रुजः ॥२॥

पदार्थः— **इन्द्रः** मनुष्यस्यात्मा **वृत्रखादः** पापभक्षकः, **बलंरुजः** धर्माच्छादकस्य कामक्रोधादेः भङ्क्ता, **पुरां दर्मः** शत्रुनगरीणां विदारकः, **अपाम् अजः** कर्मणां गतिप्रदाता, **हर्योः** ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपयोः अश्वयोः **रथस्य** देहरथस्य **स्थाता** अधिष्ठाता, **अभिस्वरे** देवासुरसंग्रामे च **दृढा चित्** दृढान्यपि विघ्नादीनि **आरुजः** आमर्दयिता भवेत् ॥२॥[3]

---

१. दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयम् ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च राजधर्मविषये व्याख्यातः ।

२. ऋ० ३।४५।२ ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं विद्युद्वायुसूर्यदृष्टान्तेन राजधर्मविषये व्याचष्टे ।

भावार्थः— मनुष्याः स्वात्मशक्तिं विभाव्य तां प्रयुज्य सर्वा बाधा उद्धूयाभ्युदयनिःश्रेयसरूपं लक्ष्यं प्राप्नुवन्तु ।।२।।

अब जीवात्मा का कर्तव्य बताते हैं।

पदार्थ— **इन्द्रः** मनुष्य का आत्मा **वृत्रखादः** पापों का भक्षक, **वलंरुजः** धर्म पर पर्दा डालने वाले काम, क्रोध आदि को चकनाचूर करने वाला, **पुरां दर्मः** शत्रु की नगरियों को विदीर्ण करने वाला, **अपाम् अजः** कर्मों को गति देने वाला, **हर्योः** ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय रूप घोड़ों के **रथस्य** शरीर-रूप रथ का **स्थाता** अधिष्ठाता और **अभिस्वरे** देवासुरसंग्राम में **दृढा चित्** दृढ़ से दृढ़ विघ्न आदियों को **आ रुजः** चकनाचूर कर देने वाला होवे ।।२।।

भावार्थ— मनुष्यों को चाहिए कि वे अपने आत्मा की शक्ति को समझकर, उसका प्रयोग करके, सब बाधाओं का उन्मूलन करके अभ्युदय और निःश्रेयस-रूप लक्ष्य को प्राप्त करें ।।२।।

अथोपमामुखेन परमात्मनः कर्म जीवात्मन उपलब्धिं च वर्णयति ।

१७२०. गम्भीराँ उदधींरिव क्रतुं पुष्यसि गा इव ।
प्र सुगोपा यवसं धेनवो यथा ह्रदं कुल्या इवाशत ।।३।।[1]

गम्भीरान् उदधीन् उद धीन् इव । क्रतुम् पुष्यसि गाः इव ।
प्र सुगोपाः सु गोपाः यवसम् धेनवः यथा ।
ह्रदम् कुल्याः इव आशत ।।३।।

पदार्थः— हे पवमान सोम ! हे पावक जगदीश्वर ! **गम्भीरान्** अगाधान् **उदधीन् इव** समुद्रान् यथा त्वं पुष्यसि, **गाः इव** पृथिव्यादिलोकान् यथा त्वं पुष्यसि, तथैव **क्रतुम्** कर्मकर्तारं जीवात्मानम् **पुष्यसि** पुष्णासि । हे जीवात्मन् ! **यवसम्** घासम् **धेनवः यथा** गावः यथा, अपि च **ह्रदम्** सरोवरम् **कुल्याः इव** शुद्धजलस्य प्रणालिकाः यथा अश्नुवते, तथैव **सुगोपाः** सुरक्षकाः आनन्दरसाः त्वाम् **प्र आशत** प्रकर्षेण अश्नुवते ।।[2]

अत्र चतस्रः उपमाः तेनोपमालङ्कारः ।।३।।

भावार्थः— जगदीश्वरो यथा जलैरुदधीन् पयोभिधेनूर्विविधैरैश्वर्यैश्च पृथिव्यादिलोकान् परिपूरयति तथैव जीवात्मानं सद्गुणैः परिपूरयति । गावो यथा घासं लघुकुल्याश्च महाजलाशयं प्राप्नुवन्ति तथा जगदीश्वरात् ब्रह्मानन्दरसा जीवात्मानं प्राप्नुवन्ति ।।३।।

अगले मन्त्र में उपमाओं द्वारा परमात्मा का कर्म और जीवात्मा की उपलब्धि वर्णित है ।

पदार्थ— हे पवमान सोम ! हे पवित्रकर्ता जगदीश्वर ! **गम्भीरान्** अगाध **उदधीन् इव** समुद्रों को जैसे आप पुष्ट करते हो और **गाः इव** जैसे पृथिवी आदि लोकों को वा धेनुओं को आप पुष्ट करते हो, वैसे ही **क्रतुम्**

---

१. ऋ० ३।४५।३।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं 'येषां समुद्रवदक्षोभ्या प्रज्ञा, पृथिवीवत् क्षमा पालनशक्तिर्धेनुवद् दानं कुल्यावद् वर्धनं वर्तते त एव सर्वसुखा जायन्ते' इति विषये व्याख्यातवान् ।

कर्मकर्ता जीवात्मा को **पुष्यसि** पुष्ट करते हो । हे जीवात्मन् ! **यवसम्** घास-चारे को **धेनवः यथा** जैसे गायें और **ह्रदम्** सरोवर को **कुल्याः इव** जैसे शुद्ध जल की नालियां प्राप्त होती हैं वैसे ही **सुगोपाः** सुरक्षा करने वाले आनन्द-रस, तुझे **प्र आशत** प्रकृष्ट रूप से प्राप्त होते हैं ॥३॥

यहाँ चार उपमाएँ हैं, अतः उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ— जगदीश्वर जैसे जलों से समुद्रों को, दूध से धेनुओं को और विविध ऐश्वर्यों से पृथिवी आदि लोकों को परिपूर्ण करते हैं , वैसे ही जीवात्मा को सद्गुणों से परिपूर्ण करते हैं । गौएँ जैसे घास के पास पहुँचती हैं और छोटी-छोटी नहरें जैसे महान् जलाशय को भरने के लिए उसमें पहुँचती हैं, वैसे ही जगदीश्वर के पास से ब्रह्मानन्द-रस जीवात्मा को प्राप्त होते हैं ॥३॥

॥४॥ अथ 'यथा गौरो' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** देवातिथिः काण्वः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २५२ क्रमाङ्के परमात्माह्वानविषये व्याख्याता । अत्र विद्वांसो गुरुजनाः शिष्यजनमाहुः ।

१७२१ . **यथा गौरो अपा कृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम् ।**
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि कण्वेषु सु सचा पिब ॥१॥[1]

यथा गौरः अपा कृतम् । तृष्यन् एति अव इरिणम् ।
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयम् आ गहि । कण्वेषु सु सचा पिब ॥१॥

पदार्थः— **यथा** येन प्रकारेण **तृष्यन्** पिपासितः सन् **गौरः** गौरमृगः **इरिणम्** मरुस्थलम् **अव** अवहाय **अपा कृतम्** जलेन पूर्णं सरोवरम् **एति** गच्छति, तथैव हे विद्यार्थिन् ! **नः** गुरूणाम् अस्माकम् **आपित्वे** सम्बन्धे **प्रपित्वे** प्राप्ते सति त्वम् अस्मत्सन्निधौ **तूयम्** शीघ्रम् **आ गहि** आगच्छ, किञ्च **कण्वेषु** मेधाविनाम् अस्माकं सान्निध्ये **सचा** अन्यैः सहाध्यायिभिः सह मिलित्वा **सु पिब** सम्यग् लौकिकविद्यारसम् अध्यात्मविद्यारसं च आस्वादय॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— यथा पिपासार्तो मृगो जलविहीनं प्रदेशमपहाय जलप्रचुरं प्रदेशं गच्छति तथैव विद्यापिपासवो जना मूर्खसङ्गं विहाय विद्वत्सङ्गतिं कुर्युः ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में २५२ क्रमांक पर परमात्मा के आह्वान के विषय में की गयी थी । यहाँ विद्वान् गुरुजन शिष्यजनों को कह रहे हैं ।

पदार्थ— **यथा** जैसे **तृष्यन्** प्यासा **गौरः** गौर मृग **हरिणम्** मरुस्थल को **अव** छोड़कर **अपा कृतम्** जल से पूर्ण सरोवर को **एति** प्राप्त करता है, वैसे ही हे विद्यार्थी ! तू **नः** हम गुरुओं से **आपित्वे** संबन्ध **प्रपित्वे** प्राप्त होने पर, हमारे पास **तूयम्** शीघ्र **आ गहि** आ जा और **कण्वेषु** हम मेधावियों के सान्निध्य में **सचा** दूसरे सहाध्यायियों के साथ मिलकर **सु पिब** भली-भाँति लौकिक विद्याओं के रस का तथा अध्यात्म-विद्याओं के रस का पान कर ॥१॥

---

१. ऋ० ८।४।३; साम० २५२ ।

यहाँ उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ– जैसे प्यासा मृग जलरहित प्रदेश को छोड़कर जलप्रचुर प्रदेश को चला जाता है, वैसे ही विद्या के प्यासे लोग मूर्खों का संग छोड़कर विद्वानों का संग करें ।।१।।

अथ जगदीश्वरः सम्बोध्यते ।

१७२२. मन्दन्तु त्वा मघवन्निन्द्रेन्दवो राधोदेयाय सुन्वते ।
आमुष्या सोममपिबश्चमू सुतं ज्येष्ठं तद्दधिषे सहः ।।२।।[1]
मन्दन्तु त्वा मघवन् इन्द्र इन्दवः । राधोदेयाय राधः देयाय सुन्वते ।
आमुष्य आ मुष्य सोमम् अपिबः चमूइति सुतम् । ज्येष्ठम् तत् दधिषे सहः ।।२।।

पदार्थः– हे **मघवन्** ऐश्वर्यशालिन् **इन्द्र** जगत्पते परमेश्वर ! **इन्दवः** भक्तिरसाः **सुन्वते** भक्ताय उपासकाय **राधोदेयाय** ऐश्वर्यप्रदानाय **त्वा** त्वाम् **मन्दन्तु** प्रसादयन्तु । त्वम् **चमू** चम्वोः आत्ममनसोः **सुतम्** अभिषुतम् **सोमम्** भक्तिरसम् **आमुष्य** औत्सुक्येन हृत्वा **अपिबः** पिबसि, **तत्** ततश्च विनिमयरूपेण **ज्येष्ठम्** प्रशस्यतमं वृद्धतमं वा **सहः** बलम्, **दधिषे** उपासके दधासि ।।२।।

भावार्थः– भक्तिरसेन तृप्तः परमेश्वरो भक्ताय पुरुषार्थं दिव्यां शक्तिं च प्रयच्छति ।।२।।

अगले मन्त्र में जगदीश्वर को सम्बोधन है ।

पदार्थ– हे **मघवन्** ऐश्वर्यशाली **इन्द्र** जगत्पति परमेश्वर ! **इन्दवः** भक्तिरस **सुन्वते** भक्त को **राधोदेयाय** ऐश्वर्य प्रदान करने के लिए **त्वा** आपको **मन्दन्तु** प्रसन्न करें । आप **चमू** आत्मा और मनरूप कटोरों में **सुतम्** अभिषुत किये हुए **सोमम्** भक्तिरस को **आमुष्य** उत्सुकता से हरकर **अपिबः** पीते हो, **तत्** उसके बदले में **ज्येष्ठम्** अतिशय प्रशस्य और वृद्ध **सहः** बल को **दधिषे** उपासक में रख देते हो ।।२।।

भावार्थ– भक्तिरस से तृप्त परमेश्वर भक्त को पुरुषार्थ और दिव्य शक्ति प्रदान करता है ।।२।।

।।५।। अथ 'त्वमङ्ग' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गोतमो राहूगणः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २४७ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्योर्विषये व्याख्याता । अत्र जगदीश्वर आचार्यश्च सम्बोध्यते ।

१७२३. त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ।।१।।[2]
त्वम् अङ्ग प्र शंसिषः । देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वत् अन्यः अन् यः मघवन् अस्ति मर्डिता । इन्द्र ब्रवीमि ते वचः ।।१।।

---

१. ऋ० ८।४।४।

२. ऋ० १।८४।१९; य० ६।३७; साम २४७ ।

पदार्थः— हे **शविष्ठ** आत्मबलेन बलिष्ठ जगदीश्वर आचार्य वा ! **देवः** प्रकाशको विद्यादिदाता च **त्वम्** **अङ्ग** क्षिप्रम् । [अङ्गेति क्षिप्रनाम । निरु० ५।१७ ।] **मर्त्यम्** उपासकं मनुष्यम् शिष्यं वा **प्र शंसिषः** प्रशंसाभाजनं कुरु । हे **मघवन्** सकलैश्वर्ययुक्त जगदीश्वर विद्यैश्वर्यवन् आचार्य वा ! **त्वत् अन्यः** त्वद् भिन्नः कश्चित् **मर्डिता** मोक्षप्रदानेन विद्यादिप्रदानेन वा सुखयिता **न अस्ति** न विद्यते । हे **इन्द्र** जगदीश्वर आचार्य वा ! अहम् **ते** तुभ्यम् **वचः** प्रार्थनावचनं **ब्रवीमि** उच्चारयामि ॥१॥[1]

भावार्थः—परमेश्वरमुपास्याचार्यं च शिष्यभावेनोपगम्य जनाः सकलमभ्युदयं निःश्रेयसं च प्राप्नुवन्तु ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में २४७ क्रमांक पर परमात्मा और राजा के विषय में की गयी थी । यहाँ जगदीश्वर और आचार्य को संबोधन है ।

पदार्थ— हे **शविष्ठ** आत्मबल से बलिष्ठ जगदीश्वर वा आचार्य ! **देवः** प्रकाशक और विद्या आदि के दाता **त्वम्** आप **अङ्ग** शीघ्र ही **मर्त्यम्** उपासक मनुष्य वा शिष्य को **प्र शंसिषः** प्रशंसा का पात्र बनाओ । हे **मघवन्** सकल ऐश्वर्यों से युक्त जगदीश्वर वा विद्या के ऐश्वर्य से युक्त आचार्य ! **त्वत् अन्यः** आपसे भिन्न कोई **मर्डिता** मोक्ष-प्रदान वा विद्या आदि के प्रदान के द्वारा सुखदाता **न अस्ति** नहीं है । हे **इन्द्र** जगदीश्वर वा आचार्य ! मैं **ते** आपके लिए **वचः** प्रार्थना-वचन **ब्रवीमि** उच्चारण कर रहा हूँ ॥१॥

भावार्थ— परमेश्वर की उपासना करके और आचार्य के समीप शिष्यभाव से पहुंचकर मनुष्यों को सब अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करना चाहिए ॥१॥

अथ पुनस्तावेव सम्बोध्येते ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
१७२४. **मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान् कदा चना दभन् ।**
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ ॥२॥[2]
२ ३ १ २र ३ १ २ ३ २ १ २र ३ २ ३
मा ते राधांसि मा ते ऊतयः वसो । अस्मान् कदा च न दभन् ।
१ २र ३ २ ३ २ ३ १ २र ३ १ २
विश्वा च नः उपमिमीहि उप मिमीहि मानुष । वसूनि चर्षणिभ्यः आ ॥२॥

पदार्थः— हे **वसो** वासयितः जगदीश्वर आचार्य वा ! **मा** नैव **ते** तव **राधांसि** अहिंसासत्यादीनि ऐश्वर्याणि, **मा** नापि च **ते** तव **ऊतयः** रक्षाः **अस्मान्** त्वदुपासकान् त्वच्छिष्यांश्च **कदा चन** कदापि **आदभन्** वञ्चितान् कुर्वन्तु । हे **मानुष** मनुर्भ्यः मनुष्येभ्यः हितप्रद ! **चर्षणिभ्यः नः** मानवेभ्यः अस्मभ्यम् त्वम् **विश्वा च वसूनि** विश्वानि च ऐश्वर्याणि धनधान्यविद्यादीर्घायुष्याभ्युदयनिःश्रेयसादीनि **आ उपमिमीहि** समन्ततः उपप्रापय । [आदभन्, आङ्पूर्वो दभु दम्भे, लेटि प्रथमबहुवचने रूपम् । मिमीहि, माङ् माने शब्दे च, जुहोत्यादिः] ॥२॥[3]

---

१. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमृग्भाष्ये परमेश्वरसभाध्यक्षयोर्विषये यजुर्भाष्ये च राजप्रजाधर्मविषये व्याख्यातः ।

२. ऋ० १।८४।२० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं सभाध्यक्षः कीदृशः स्यादिति विषये व्याख्यातः ।

भावार्थः— परमात्मानमाचार्यं च संसेव्य सर्वाणि दिव्यैश्वर्याणि सर्वा योगविभूतयः सकलानि रक्षणानि च जनैः प्राप्तव्यानि ।।३।।

अस्मिन् खण्डे जीवात्मनः परमात्मन उपासकानां गुरुशिष्ययोश्च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।।

अगले मन्त्र में फिर उन्हीं को संबोधन किया गया है ।

पदार्थ— हे **वसो** निवासप्रद जगदीश्वर वा आचार्य ! **मा** न तो **ते** आपके **राधांसि** अहिंसा, सत्य आदि ऐश्वर्य, और **मा** न ही **ते** आपकी **ऊतयः** रक्षाएँ **अस्मान्** हम आपके उपासकों वा आपके शिष्यों को **कदा च न** कभी भी **आदभन्** अपनी प्राप्ति से वंचित करें । हे **मानुष** मनुष्यों के हितकर्ता **चर्षणिभ्यः नः** हम मानवों को, आप **विश्वा च वसूनि** सब ऐश्वर्य धन, धान्य, विद्या, दीर्घायुष्य, अभ्युदय, निःश्रेयस आदि **आ उपमिमीहि** चारों ओर से प्राप्त कराओ ।।३।।

भावार्थ— मनुष्यों को चाहिए कि परमात्मा और आचार्य का सेवन करके सब दिव्य ऐश्वर्य, सब योगविभूतियां और सब रक्षाएं प्राप्त करें ।।२।।

इस खण्ड में जीवात्मा, परमात्मा, उपासक और गुरु-शिष्यों के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

उन्नीसवें अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ।

।।६।। अथ 'प्रति ष्या' इत्यादिकस्य षष्ठस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वामदेवो गौतमः । **देवता** उषाः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ भौतिकोषर्दृष्टान्तेन दिव्यामुषसं वर्णयति ।

१७२५. **प्रति ष्या सूनरी जनी व्युच्छन्ती परि स्वसुः । दिवो अदर्शि दुहिता ।।१।।**[1]

प्रति स्या सूनरी सु नरी जनी । व्युच्छन्ती वि उच्छन्ती परि स्वसुः ।
दिवः अदर्शि दुहिता ।।१।।

पदार्थः— **प्रथमः** प्राकृतिक्या उषसः पक्षे । **सूनरी** प्रकाशस्य सुनेत्री, **जनी** सूर्यस्य जनयित्री, **स्वसुः** स्व-सृस्थानीयाया रात्रेः **परि** पर्यवसानकाले **व्युच्छन्ती** तमो विवासयन्ती । [वि पूर्वः उछी विवासे भ्वादिस्तुदादिश्च ।] **दिवः** द्योतमानस्य द्युलोकस्य **दुहिता** पुत्रीस्थानीया **स्या** सा उषाः **प्रति-अदर्शि** प्राच्यां दिशि प्रतिदृश्यते ।

द्वितीयः दिव्याया उषसः पक्षे । **सूनरी** योगमार्गे सुष्ठु नेतृत्वकारिणी, **जनी** निःश्रेयसस्य जनयित्री, **स्वसुः** संसारमार्गे प्रक्षेप्त्र्या अविद्यायाः **परि** पर्यवसाने **व्युच्छन्ती** उदयन्ती, **दिवः** प्रकाशमयस्य सविकल्पकसमाधेः **दुहिता** पुत्रीव विद्यमाना **स्या** सा उषाः ऋतम्भरा प्रज्ञा **प्रति-अदर्शि** प्रतिदृश्यते, साक्षादनुभूयते ।।१।।[2]

---

१. ऋ० ४।५२।१।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रेऽस्मिन्नुषस इव स्त्रिया गुणानाह ।

अत्र श्लेषः स्वभावोक्तिश्चालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— यथा प्राकृतिक्युषा रात्रेर्निविडं तमो निवार्य भूतले प्रकाशं जनयति तथैव योगमार्गे ऋतम्भरा प्रज्ञा योगविघ्नानपास्याध्यात्मप्रसादं प्रयच्छति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में भौतिक उषा के दृष्टान्त से दिव्य उषा का वर्णन किया गया है ।

पदार्थ— **प्रथम** प्राकृतिक उषा के पक्ष में । **सूनरी** उत्तम नेत्री, **जनी** प्रकाश की जननी, **स्वसुः** बहिन रात्रि के **परि** समाप्तिकाल में **व्युच्छन्ती** अंधेरे को हटाती हुई, **दिवः** द्युलोक की **दुहिता** पुत्री **स्या** वह उषा **प्रति अदर्शि** पूर्व दिशा में दिखायी दे रही है ।

द्वितीय दिव्य उषा के पक्ष में । **सूनरी** योगमार्ग में उत्तम नेतृत्व करने वाली, **जनी** मोक्ष की जननी, **स्वसुः** संसारमार्ग पर डालने वाली अविद्या की **परि** समाप्ति पर **व्युच्छन्ती** उदित होती हुई, **दिवः** प्रकाशमय सविकल्पक समाधि की **दुहिता** पुत्री-तुल्य **स्या** वह ऋतम्भरा प्रज्ञा **प्रति अदर्शि** साक्षात् अनुभव में आ रही है ॥१॥

यहाँ श्लेष और स्वभावोक्ति अलंकार हैं ॥१॥

भावार्थ— जैसे प्राकृतिक उषा रात्रि के घोर अंधेरे को हटाकर भूतल पर प्रकाश उत्पन्न करती है, वैसे ही योगमार्ग में ऋतंभरा प्रज्ञा योग के विघ्नों को दूर करके, अध्यात्म-प्रसाद देती है ॥१॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह

१ २ ३ १ २ ३ १र २र३ १ २ १ २ ३ १ २३ २
१७२६. अश्वेव चित्रारुषी माता गवामृतावरी । सखा भूदश्विनोरुषाः ॥२॥[१]

१ २र३ २ १२र ३ २ १ २र ३ १ २
अश्वा इव चित्रा अरुषी । माता गवाम् ऋतावरी ।

१ २र ३ १ २ ३ २
सखा स खा भूत् अश्विनो उषाः ॥२॥

पदार्थः— **प्रथमः** प्राकृतिक्या उषसः पक्षे । पश्यत, **अश्वा इव** अन्तरिक्षव्यापिनी विद्युदिव **चित्रा** चित्रवर्णा, **अरुषी** आरोचमाना । [अरुषीः आरोचनात् । निरु० १२।७ ।] **गवाम् माता** रश्मीनां जननी, **ऋतावरी** सत्यनियमवती । [अत्र छन्दसीवनिपौ वा०, अ० ५।२।१०९ इति वनिप् । 'वनो र च' अ० ४।१।७ इति स्त्रियां ङीष् नकारस्य रेफश्च । 'अन्येषामपि दृश्यते' । अ० ६।३।१३७ इति ऋतस्य दीर्घान्तादेशः ।] **उषाः** प्रभातकान्तिः **अश्विनोः** द्यावापृथिव्योः **सखा** सखी, सहचारिणी **अभूत्** अजायत । [सखिशब्दस्य स्त्रियां सखी इति प्राप्ते, छन्दसि स्त्रियामपि 'अनङ् सौ' अ० ७।१।९३ इत्यनङि सखा इति रूपं भवति] ॥

द्वितीयः दिव्याया उषसः पक्षे । **अश्वा इव** व्यापिनी विद्युदिव **चित्रा** अद्भुता, **अरुषी** अहिंसिका । [रोषति हिनस्तीति रुषी, न रुषी अरुषी । रुष हिंसार्थः, भ्वादिः ।] **गवाम् माता** अध्यात्मकिरणानां जननी, **ऋतावरी** ऋतमयी **उषाः** ऋतम्भरा प्रज्ञा **अश्विनोः** आत्ममनसोः **सखा** सहचारिणी **अभूत्** अजायत ॥२॥[२]

अत्र श्लेष उपमा चालङ्कारः ॥२॥

---

१. ऋ० ४।५२।२।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं प्राकृतिक्या उषसो विषये व्याख्यातः ।

भावार्थः— यथा सत्यनियमेन प्रत्यहमुदीयमाना दीप्तिमती प्राकृतिक्युषा द्यावापृथिव्यौ व्याप्नोति तथैव योगमार्गे सत्यमयी ऋतम्भरा प्रज्ञा योगसाधकस्यात्ममनसी व्याप्नोति ।।२।।

आगे फिर उसी विषय को कहा गया है ।

पदार्थ— प्रथम प्राकृतिक उषा के पक्ष में । **अश्वा इव** आकाश-व्यापी बिजली के समान **चित्रा** चित्र-विचित्र रंग वाली, **अरुषी** चमकीली, **गवां माता** किरणों की जननी, **ऋतावरी** सत्य नियम वाली **उषाः** उषा **अश्विनोः** आकाश और भूमि की **सखा** सहचरी **अभूत्** हो गयी है ।।

द्वितीय दिव्य उषा के पक्ष में । **अश्वा इव** व्याप्त विद्युत् के समान **चित्रा** अद्भुत, **अरुषी** हिंसा न करने वाली, **गवां माता** अध्यात्म-रश्मियों की माता, **ऋतावरी** सत्यमयी **उषाः** ऋतम्भरा प्रज्ञा **अश्विनोः** आत्मा और मन की **सखा** सहचरी **अभूत्** हो गयी है ।।२।।

यहाँ श्लेष और उपमा अलंकार हैं ।।२।।

भावार्थ— जैसे अटल नियम से प्रतिदिन उदित होती हुई प्रकाशवती प्राकृतिक उषा आकाश-भूमि में व्याप जाती है वैसे ही योगमार्ग में सत्यमयी ऋतंभरा प्रज्ञा योगसाधक के आत्मा और मन को व्याप लेती है ।।२।।

अथ पुनरपि प्राकृतिकीं दिव्यां चोषसं वर्णयति ।

१७२७. उत सखास्यश्विनोरुत माता गवामसि । उतोषो वस्व ईशिषे ।।३।।[1]

उत सखा स खा असि अश्विनोः । उत माता गवाम् असि ।
उत उषः वस्व ईशिषे ।।३।।

पदार्थः— **प्रथमः** प्राकृतिक्या उषसः पक्षे । **उत** अथ, हे **उषः** प्रभातकान्ते ! त्वम् **अश्विनोः** द्यावापृथिव्योः **सखा** सहचारिणी **असि** वर्तसे, **उत** अपि च **गवाम्** किरणानाम् **माता** जननी **असि** वर्तसे । **उत** अपि च, त्वम् **वस्वः** प्रकाशरूपस्य धनस्य **ईशिषे** अधीश्वरी विद्यसे ।।

द्वितीयः दिव्याया उषसः पक्षे । **उत** अथापि, हे **उषः** उषर्वद् विद्यमाने ऋतम्भरे प्रज्ञे त्वम् **अश्विनोः** योगिनः आत्ममनसोः **सखा** सहचारिणी **असि** विद्यसे, **उत** अपि च **गवाम्** ईश्वरीयप्रकाशानाम् **माता** जननी **असि** विद्यसे । **उत** अपि च, त्वम् **वस्वः** योगसमाधिरूपस्य धनस्य **ईशिषे** अधिष्ठात्री वर्तसे ।।३।।[2]

अत्र श्लेषालङ्कारः ।।३।।

भावार्थः— यथा प्राकृतिक्युषा द्यावापृथिव्यावभिव्याप्य ज्योतिर्धनेन सर्वान् धनवतः करोति तथैव योगमार्गे ऋतम्भरा प्रज्ञाऽऽत्ममनसी अभिव्याप्य योगसिद्धिधनेन योगिनः कृतार्थयति ।।३।।

---

१. ऋ० ४।५२।३।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं 'सैव स्त्री सुखप्रदा या सुहृद्वदाज्ञानुकारिणी सेविका वर्तते, सैवोषर्वत् कुलप्रकाशिका भवति' इति विषये व्याचष्टे ।

आगे फिर प्राकृतिक और दिव्य उषा वर्णित है ।

पदार्थ– प्रथम प्राकृतिक उषा के पक्ष में । **उत** और, हे **उषः** उषा ! तू **अश्विनोः** द्यावापृथिवी की **सखा** सहचरी **असि** है, **उत** और **गवाम्** किरणों की **माता** माता **असि** है । **उत** और, तू **वस्वः** प्रकाश-रूप धन की **ईशिषे** अधीश्वरी है ।।

द्वितीय दिव्य उषा के पक्ष में । **उत** और, हे **उषः** उषा के समान वर्तमान ऋतंभरा प्रज्ञा ! तू अश्विनोः योगी के आत्मा और मन की **सखा** सहचरी **असि** है, **उत** और **गवाम्** ईश्वरीय प्रकाशों की **माता** माता **असि** है, **उत** और, तू **वस्वः** योग-समाधि रूप धन की **ईशिषे** अधिष्ठात्री है ।।३।।

यहाँ श्लेष अलंकार है ।।३।।

भावार्थ– जैसे प्राकृतिक उषा द्यावापृथिवी में व्याप्त होकर ज्योति रूप धन से सबको धनवान् कर देती है, वैसे ही योगमार्ग में ऋतंभरा प्रज्ञा आत्मा और मन में व्याप्त होकर योगसिद्धियों के धन से योगियों को कृतार्थ करती है ।।३।।

।।७।। अथ 'एषो उषा' इत्यादिकस्य सप्तमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** प्रस्कण्वः काण्वः । **देवते** अश्विनौ। **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १७८ क्रमाङ्के व्याख्यातपूर्वा । अत्र ऋतम्भरा प्रज्ञा वर्ण्यते ।

१७२८. एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः । स्तुषे वामश्विना बृहत् ।।१।।[1]

एषा उ उषाः अपूर्व्या अ पूर्व्या । वि उच्छति प्रिया दिवः ।
स्तुषे वाम् अश्विना बृहत् ।।१।।

पदार्थः– एषा उ इयं खलु **अपूर्व्या** अनुपमा, **प्रिया** प्रीतिकरी **उषाः** प्रकाशमयी ऋतम्भरा प्रज्ञा **दिवः** द्योतमानात् आत्मलोकात् **व्युच्छति** प्रकटीभवति । हे **अश्विनौ** तया ऋतम्भरया प्रज्ञया चमत्कृतौ मन-आत्मानौ ! अहम् **वाम्** युवाम् **बृहत्** बहु **स्तुषे** स्तौमि ।।१।।[2]

भावार्थः– यदा योगिनो मानसाकाशे ऋतम्भरा प्रज्ञारूपिणी दिव्योषा आविर्भवति तदा देहस्थान्यात्म-मनोबुद्धिप्राणेन्द्रियादीनि सर्वाण्यपि दिव्येन ज्योतिषा प्रदीप्तानि जायन्ते ।।१।।

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में १७८ क्रमांक पर पहले व्याख्या की जा चुकी है । यहां ऋतंभरा प्रज्ञा का वर्णन है ।

पदार्थ– एषा उ यह **अपूर्व्या** अपूर्व, **प्रिया** प्रिय **उषाः** प्रकाशमयी ऋतंभरा प्रज्ञा **दिवः** देदीप्यमान आत्मलोक से **व्युच्छति** प्रकट हो रही है । हे **अश्विनौ** उस ऋतंभरा प्रज्ञा से चमत्कृत मन और आत्मा ! मैं **वाम्** तुम दोनों की **बृहत्** बहुत अधिक **स्तुषे** स्तुति करता हूँ ।।१।।

---

१. ऋ० १।४६।१; साम० १७८, देवता इन्द्रः ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं विदुषीणां पक्षे व्याख्यातः ।

भावार्थ– जब योगी के मानस आकाश में ऋतंभरा प्रज्ञा रूप दिव्य उषा प्रकट होती है तब शरीर में स्थित आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय आदि सभी दिव्य ज्योति से प्रदीप्त हो जाते हैं ।।१।।

अथ मनआत्मनोर्गुणकर्माणि वर्णयति ।

१७२९. या दस्रा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम् । धिया देवा वसुविदा।।२।।[1]

या दस्रा सिन्धुमातरा सिन्धु मातरा । मनोतरा रयीणाम् ।
धिया देवा वसुविदा वसु विदा।।२।।

पदार्थः– **या** यौ अश्विनौ मनआत्मानौ **दस्रा** दोषाणामुपक्षेतारौ, **सिन्धुमातरा** सिन्धुः आनन्दरसस्य स्यन्दयित्री जगदम्बा माता मातृवत् पालयित्री ययोः तौ, **रयीणाम्** सत्याहिंसादीनां स्वास्थ्यदीर्घायुष्यादीनां चैश्वर्याणाम् **मनोतरा** अतिशयेन दीपयितारौ । [मन्यते दीप्तिकर्मा । निरु ०१०।२९ ।] **देवा** देवौ बलस्य दातारौ, **धिया** प्रज्ञया कर्मणा च **वसुविदा** वसुविदौ योगसिद्धिरूपस्यैश्वर्यस्य लम्भकौ स्तः, तौ अहं 'स्तुषे' इति पूर्वेण सम्बन्धः । [अत्र सर्वत्र 'सुपां सुलुक्०'। अ० ७।१।३९ इति प्रथमाद्विवचनस्याकारादेशः] ।।२।।[2]

भावार्थः– मनआत्मनोः साधनेन दोषक्षयः स्वास्थ्यं दीर्घायुष्यं बलं सत्याहिंसाद्यैश्वर्याणि योगसिद्धयश्च प्राप्यन्ते ।।२।।

अगले मन्त्र में मन और आत्मा के गुण-कर्मों का वर्णन है ।

पदार्थ– **या** जो मन-आत्मा रूप अश्वीयुगल **दस्रा** दोषों को नष्ट करने वाले, **सिन्धुमातरा** आनन्दस्राविणी जगदम्बा जिनका माता के समान पालन करने वाली है ऐसे, **रयीणाम्** सत्य, अहिंसा आदि वा स्वास्थ्य, दीर्घायुष्य आदि ऐश्वर्यों को **मनोतरा** अतिशय दीप्त करने वाले, **देवा** बल के दाता और **धिया** प्रज्ञा तथा कर्म से **वसुविदा** योगसिद्धि रूप ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाले हैं, उनकी मैं **स्तुषे** स्तुति करता हूँ । [यहाँ 'स्तुषे' पद पूर्व मन्त्र से लिया गया है] ।।२।।

भावार्थ– मन और आत्मा को साधने से दोषों का क्षय, स्वास्थ्य, दीर्घायुष्य, बल, सत्य-अहिंसा आदि ऐश्वर्य और योगसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।।२।।

अथ मनआत्मनोर्महत्त्वमुच्यते ।

१७३०. वच्यन्ते वां ककुहासो जूर्णायामधि विष्टपि। यद्वां रथो विभिष्पतात्।।३।।[3]

वच्यन्ते वाम् ककुहासः । जूर्णायाम् अधि विष्टपि ।
यत् वाम् रथः विभिः पतात् ।।३।।

---

१. ऋ० १।४६।२ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमग्निजलवद् वर्तमानयोरध्यापकोपदेशकयोर्विषये व्याख्यातः ।

३. ऋ०. १।४६।३ ।

पदार्थः— हे अश्विनौ मनआत्मानौ ! **वाम्** युवयोः **ककुहासः** महान्तः स्तोमाः **वच्यन्ते** उच्यन्ते, **यत्** यतः **जूर्णायाम्** जीर्णायाम्, वृद्धायाम् **विष्टपि अधि** अवस्थायामपि **विभिः** इन्द्रियरूपैः अश्वैः **वाम्** युवयोः **रथः** देहरथः **पतात्** गच्छति । [ककुहासः, ककुह इति महन्नामसु पठितम् । निघं० ३।३ । वच्यन्ते, सम्प्रसारणाच्च अ० ६।१।१०८ इत्यत्र 'वा छन्दसि' अ० ६।१।१०६ इत्यनुवृत्तेः पूर्वरूपाभावाद् यणादेशः। विष्टप् इति निरुक्ते (२।१४) द्युलोकवाचकोऽपि सन् अत्र आयुरवस्थाविशेषवाचको बोध्यः। विभिः वयन्ति गच्छन्तीति वयः अश्वाः, वी गत्यादिषु। पतात्, पत्लृ धातोर्लेटि रूपम्] ॥३॥[1]

भावार्थः— वृद्धावस्थायामपि यच्छरीरं सम्यक् कार्यं करोति स सर्वोऽपि प्राणापान-सहचरितयोर्मनआत्मनोरेव प्रतापः ॥३॥

आगे मन और आत्मा का महत्त्व कहा गया है ।

पदार्थ— हे मन और आत्मा रूप अश्वी-युगल ! **वाम्** तुम दोनों के **ककुहासः** महान् स्तोत्र **वच्यन्ते** गान किये जाते हैं, **यत्** क्योंकि **जूर्णायाम्** वृद्ध **विष्टपि अधि** अवस्था में भी **विभिः** इन्द्रिय-रूप अश्वों द्वारा **वाम्** तुम्हारा **रथः** शरीर-रूप रथ **पतात्** चलता है ॥३॥

भावार्थ— वृद्धावस्था में भी शरीर भली-भांति कार्य करता है वह सब प्राण-अपान सहित मन और आत्मा का ही प्रताप है ॥३॥

॥८॥ अथ 'उषस्तच्चित्र' इत्यादिकस्याष्टमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गोतमो राहूगणः । **देवता** उषाः । **छन्दः** उष्णिक् । **स्वरः** ऋषभः ॥

तत्रादावुषर्नाम्ना जगदम्बां प्रार्थयते ।

२ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २
१७३१. उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
येन तोकं च तनयं च धामहे ॥१॥[2]

१ २ २ ३ २ ३ १ २ ३
उषः तत् चित्रम् आ भर । अस्मभ्यम् वाजिनीवति ।
१ २ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २
येन तोकं च तनयं च धामहे ॥१॥

पदार्थः— हे **वाजिनीवति** विवेकपूर्णक्रियामयि **उषः** तेजोमयि जगन्मातः ! त्वम् **अस्मभ्यम्** अस्मदर्थम् **तत्** प्रसिद्धम् **चित्रम्** अद्भुतं भौतिक दिव्यं चैश्वर्यम् **आभर** आहर, **येन** ऐश्वर्येण, वयम् **तोकं च तनयं च** पुत्रं च पौत्रं च **धामहे** पुष्णीयाम । [अत्र धाञ् धातोर्लोटि 'बहुलं छन्दसि' अ० २।४।७६ इति श्लोरभावः] ॥१॥[3]

यास्काचार्यो मन्त्रमिममेवं व्याख्यातवान्— ["उषस्तच्चित्रं चायनीयं मंहनीयं धनमाहरास्मभ्यम् अन्नवति येन पुत्रांश्च पौत्रांश्च दधीमहि" इति (निरु० १२।६)] ।

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिमन्त्रमिमं शिल्पविद्यया विमानादियानचालनविषये व्याचष्टे ।

२. ऋ० १।९२।१३; यजु० ३४।३३ ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं प्राकृतिक्या उषसः पक्षे यजुर्भाष्ये चोषर्दृष्टान्तेन स्त्रीपक्षे व्याख्यातवान् ।

भावार्थः— उषर्वत् तेजोमयी जगन्माता जगद्व्यवस्थायै सकलाः क्रिया निष्पादयन्ती स्वसन्तानेभ्यः सर्वमाध्यात्मिकं भौतिकं चैश्वर्यं प्रयच्छन्ती सुखकारिणी जायते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में उषा नाम द्वारा जगदम्बा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **वाजिनीवति** विवेकपूर्ण क्रिया वाली **उषः** तेजोमयी जगन्माता ! तू **अस्मभ्यम्** हमारे लिए **तत्** वह प्रसिद्ध **चित्रम्** अद्भुत भौतिक तथा दिव्य ऐश्वर्य **आ भर** ला, **येन** जिससे, हम **तोकं च तनयं च** पुत्र और पौत्र को **धामहे** परिपुष्ट करें ॥१॥

भावार्थ— उषा के समान तेजस्विनी जगन्माता जगत् की व्यवस्था के लिए सब क्रियाओं को करती हुई अपनी सन्तानों को सब आध्यात्मिक और भौतिक ऐश्वर्य प्रदान करती हुई सुखकारिणी होती है ॥१॥

अथ पुनरपि स एव विषय उच्यते ।

१ २ ३ १र २र३ १ २ ३ २ ३ १ २
१७३२. उषो अद्येह गोमत्यश्वावति विभावरि । रेवदस्मे व्युच्छ सूनृतावति ॥२॥[1]

१ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २र ३
उषः अद्य अ द्य इह गोमति । अश्वावति विभावरि वि भावरि ।

२ ३ १ २ ३
रेवत् अस्मेइति वि उच्छ सूनृतावति सू नृतावति ॥२॥

पदार्थः— हे **गोमति** गावः धेनवः दिव्यप्रकाशाश्चास्याः सन्तीति तादृशि, **अश्वावति** अश्वास्तुरगाः प्राणबलानि चास्याः सन्तीति तादृशि । [अत्र मन्त्रे 'सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ' अ० ६।३।१३१ इत्यश्वशब्दस्य दीर्घः ।] **विभावरि** ज्योतिर्मयि, **सूनृतावति** सूनृता प्रिया सत्या मधुरा च वेदवागस्या अस्तीति तादृशि **उषः** जगन्मातः ! त्वम् **अद्य** अस्मिन् दिने **इह** अस्माकं जीवने **अस्मे** अस्मभ्यम् **रेवत्** दिव्यैश्वर्ययुक्तं यथा स्यात् तथा । [अत्र रयिशब्दान्मतुपि 'रयेर्मतो बहुलम्' अ० ६।१।३४ वा० इति वार्तिकेन यकारस्य सम्प्रसारणे 'छन्दसीरः' अ० ८।२।१५ इति मतुपो मस्य वत्वम् ।] **व्युच्छ** तमोगुणाधिक्यं विवासय ॥२॥[2]

भावार्थः— यथा ज्योतिर्मयी उषा रात्रेरन्धकारं निवारयति तथैव जगज्जननी स्तोतॄणां मानसपटलात् तमोगुणसाम्राज्यं दूरीकृत्य तान् सत्त्वगुणप्रधानान् करोति ॥२॥

आगे फिर वही विषय कहा गया है ।

पदार्थ— **गोमति** गौओं और दिव्य प्रकाशों वाली, **अश्वावति** घोड़ों और प्राणबलों वाली, **विभावरि** ज्योतिर्मयी, **सूनृतावति** प्रिय, सत्य, मधुर वेदवाणी वाली, **उषः** हे जगन्माता ! तू **अद्य** आज **इह** इस हमारे जीवन में **अस्मे** हमारे लिए **रेवत्** दिव्य ऐश्वर्य के साथ उदित होती हुई **व्युच्छ** तमोगुण की अधिकता का निवारण कर दे ॥२॥

भावार्थ— जैसे ज्योतिर्मयी उषाा रात्रि के अंधकार को हटाती है, वैसे ही जगन्माता स्तोताओं के मानस-पटल से तमोगुण के साम्राज्य को दूर करके उन्हें सत्त्वगुण की प्रधानता वाला कर देती है ॥२॥

---

१. ऋ० १।९२।१४।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमुषर्दृष्टान्तेन स्त्रीपक्षे व्याख्यातः ।

अथ पुनरपि जगदीश्वरीं मातरं प्रार्थयते ।

३ १र २र ३ १ २ ३ २३ १ २
१७३३. युङ्क्ष्वा हि वाजिनीवत्यश्वाँ अद्यारुणाँ उषः ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १
अथा नो विश्वा सौभगान्या वह ॥३॥[1]

३ २ ३ १ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३
युङ्क्ष्व हि वाजिनीवति । अश्वान् अद्य अ द्य अरुणान् उषः ।
१ २र ३ १ २र १ २र ३ २ ३
अथ नः विश्वा सौभगानि सौ भगानि आ वह ॥३॥

पदार्थः— हे **वाजिनीवति**[2] हे प्रशस्तक्रियामयि **उषः** उषर्वत् तेजोमयि जगन्मातः ! त्वम् **अद्य** अस्मिन् दिने **अरुणान्** तेजोमयान् **अश्वान्** इन्द्रियरूपान् **युङ्क्ष्व हि** ज्ञाने क्रियायां च योजय खलु । **अथ** ततश्च **नः** अस्मभ्यम् **विश्वा** सर्वाणि **सौभगानि** सौभाग्यानि **आवह** प्रापय ॥३॥[3]

भावार्थः— सैव माता श्रेष्ठा मन्यते या सन्तानं ज्ञाने कर्मणि च प्रेरयेत्, यतस्तत एव सौभाग्यवृद्धिर्जायते ॥३॥

अगले मन्त्र में फिर जगदीश्वरी माँ से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे **वाजिनीवति** प्रशस्त क्रिया वाली **उषः** उषा के समान तेजोमयी जगन्माता ! तू **अद्य** आज **अरुणान्** तेजस्वी **अश्वान्** इन्द्रिय-रूप घोड़ों को **युङ्क्ष्व हि** ज्ञान के ग्रहण और कर्मों के करने में नियुक्त कर । **अथ** तदनन्तर **नः** हमारे लिए **विश्वा** सब **सौभगानि** सौभाग्य **आवह** प्राप्त करा ॥३॥

भावार्थ— वही माता श्रेष्ठ मानी जाती है जो सन्तान को ज्ञान और कर्म में प्रेरित करे, क्योंकि उसी से सौभाग्य की वृद्धि होती है ॥३॥

॥९॥ अथ 'अश्विना इत्यादिकस्य नवमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गोतमो राहूगणः । **देवते** अश्विनौ । **छन्दः** उष्णिक् । **स्वरः** ऋषभः ॥

तत्रादौ प्राणापानविषयमाह ।

१ २ ३ २३ १र २र ३ १ २
१७३४. अश्विना वर्तिरस्मदागोमद् दस्रा हिरण्यवत् ।
३ २उ ३ १ २ ३ १ २
अर्वाग् रथं समनसा नि यच्छतम् ॥॥१॥[4]

१ २र ३ २ ३ २ १ २र ३ १२र
अश्विना वर्तिः अस्मत् आ । गोमत् दस्रा हिरण्यवत् ।
३ २ १ २र १ २र ३ २ ३
अर्वाक् रथम् समनसा स मनसा नि यच्छतम् ॥१॥

---

१. ऋ० १।९२।१५।

२. वाजयन्ति ज्ञापयन्ति गमयन्ति वा यासु क्रियासु ताः प्रशस्ता वाजिन्यो विद्यन्तेऽस्यां सा—इति ऋ० १।९२।१५ भाष्ये द० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामीममपि मन्त्रमुषर्दृष्टान्तेन स्त्रीपक्षे व्याचष्टे ।

४. ऋ० १।९२।१६।

पदार्थः— हे **दस्रा** दस्रौ दोषाणामुपक्षेतारौ **अश्विना** शरीरव्याप्तौ प्राणापानौ ! **अस्मत्** अस्माकम् । [अत्र 'सुपां सुलुक्' अ० ७।१।३९ इति षष्ठ्या लुक् ।] **वर्तिः**[1] गृहम् **आ** समन्तात् **गोमत्** गोभिर्युक्तम्, **हिरण्यवत्** सुवर्णादिभिर्धनैश्च युक्तं भवेदिति हेतोः, युवाम् **समनसा** समनसौ मनसा संयुक्तौ भूत्वा **रथम्** अस्माकं देहरूपं शकटम् **अर्वाग्** अनुकूलं यथा स्यात्तथा **नि यच्छतम्** नियन्त्रितं कुरुतम् ॥१॥

भावार्थः— देहे स्वस्थे सत्येव पुरुषार्थं कृत्वा गोहिरण्यादीनि धनानि प्राप्तुं शक्यन्ते, स्वास्थ्यप्राप्तेश्च प्राणायामो मुख्यं साधनम् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में प्राण-अपान का विषय कहते हैं।

पदार्थ— हे **दस्रा** दोषों का क्षय करने वाले **अश्विना** शरीर में व्याप्त प्राणापानो ! **अस्मत्** हमारा **वर्तिः** घर **आ** चारों ओर से **गोमत्** धेनुओं से युक्त, और **हिरण्यवत्** सुवर्ण आदि धनों से युक्त होवे, इस हेतु से तुम **समनसा** मन से संयुक्त होकर **रथम्** हमारे शरीर-रूप रथ को **अर्वाक्** अनुकूल रूप में **नियच्छतम्** नियन्त्रित-करो ॥१॥

भावार्थ— देह के स्वस्थ होने पर ही पुरुषार्थ करके गाय, सुवर्ण आदि धन प्राप्त किये जा सकते हैं और स्वास्थ्य प्राप्त करने का प्राणायाम मुख्य साधन है ॥१॥

अथ प्राणायामविषय उच्यते ।

२उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
१७३५. एह देवा मयोभुवा दस्रा हिरण्यवर्त्तनी । उषर्बुधो वहन्तु सोमपीतये ॥२॥[1]

२ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २ १२र १२र ३ १ २
आ इह देवा मयोभुवा मयः भुवा । दस्रा हिरण्यवर्त्तनी हिरण्य-वर्त्तनी इति ।

३ १ २ ३ १ २र ३ १२र १२र ३
उषर्बुधः उषः बुधः वहन्तु सोमपीतये सोम पीतये ॥२॥

पदार्थः— **उषर्बुधः** ये उषसि बुध्यन्ते बोधं प्राप्नुवन्ति ते जनाः **सोमपीतये** सोमस्य सुखस्वास्थ्यदीर्घायुष्य शान्त्यादेः पीतिः रक्षणं तस्मै **इह** देहे **देवा** देवौ, गमनागमनकारिणौ, **मयोभुवा** सुखस्य भावयितारौ, **दस्रा** दोषाणामुपक्षेतारौ, **हिरण्यवर्तनी** हिरण्यं शारीरं मानसं च तेजो वर्तयन्तौ अश्विनौ प्राणापानौ **आ वहन्तु** आनयन्तु, प्राणायामं साध्नुवन्त्विति भावः ॥२॥

भावार्थः— योगाङ्गेन प्राणायामेन सर्वान् शारीरान् मानसांश्च दोषान् दग्ध्वा योगसिद्धिं प्राप्य जनैरभ्युदयनिःश्रेयसे साधनीये ॥२॥

अगले मन्त्र में प्राणायाम का विषय है ।

पदार्थ— **उषर्बुधः** जो उषा-काल में बोध प्राप्त करते हैं वे लोग **सोमपीतये** सुख, स्वास्थ्य, दीर्घायुष्य, शान्ति आदि की रक्षा के लिए **इह** इस शरीर में **देवा** गमन-आगमन करने वाले, **मयोभुवा** सुख देने वाले **दस्रा** दोषों को क्षीण करने वाले, **हिरण्यवर्तनी** शारीरिक और मानसिक तेज को देने वाले प्राण-अपान रूप अश्विनों को **आ वहन्तु** लायें, अर्थात् प्राणायाम को साधें ॥२॥

---

१. ऋ० १।९२।१८।

भावार्थ– मनुष्यों को चाहिए कि योग के अङ्ग प्राणायाम के द्वारा सब शारीरिक व मानसिक दोषों को जलाकर, योगसिद्धि प्राप्त करके अभ्युदय और निःश्रेयस को सिद्ध करें ।।२।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

२ ३ २उ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
१७३६. **यावित्था श्लोकमा दिवो ज्योतिर्जनाय चक्रथुः ।**
२ ३ १ २ ३ २
आ न ऊर्जं वहतमश्विना युवम् ।।३।।[1]
२ ३ २ १ २र ३ २ १ २र १ २र ३ १ २
यौ इत्था श्लोकम् आ दिवः । ज्योतिः जनाय चक्रथुः ।
३ १ २र ३ ३
आ नः ऊर्जम् वहतम् अश्विना युवम् ।।३।।

पदार्थः– हे **अश्विनौ** जीवनव्याप्तौ प्राणापानौ ! **यौ** यौ युवाम् **इत्था** सत्यम् **जनाय** योगसाधकाय मनुष्याय **दिवः** द्योतमानस्य जीवात्मनः **श्लोकम्** उपश्लोक्यं स्तुत्यम् **ज्योतिः** प्रकाशम् **चक्रथुः** कुरुतः, तौ **युवम्** युवाम् **नः** अस्मभ्यम् **ऊर्जम्** बलम् । [ऊर्ज बलप्राणनयोः, चुरादिः ।] **आ वहतम्** प्रापयतम् ।।३।।[2]

भावार्थः– प्राणायामेन प्रकाशावरणक्षयात् ज्योतिष्प्राप्तौ सत्याम् आत्मप्राणयोर्बले च प्राप्ते धारणासु मनसो योग्यता जायते ।।३।।[3]

अस्मिन् खण्डे प्राकृतिक्या दिव्यायाश्चोषसः ऋतम्भरायाः प्रज्ञाया आत्ममनसोर्जगदम्बायाः प्राणापानयोश्च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।।

आगे फिर उसी विषय को कहते हैं ।

पदार्थ– हे **अश्विनौ** जीवन में व्याप्त प्राणापानो ! **यौ** जो तुम दोनों **इत्था** सचमुच **जनाय** योगसाधक मनुष्य के लिए **दिवः** तेजस्वी जीवात्मा की **श्लोकम्** स्तुतियोग्य **ज्योतिः** ज्योति **चक्रथुः** उत्पन्न करते हो, वे **युवम्** तुम दोनों **नः** हमें **ऊर्जम्** बल **आवहतम्** प्राप्त कराओ ।।३।।

भावार्थ– प्राणायाम द्वारा प्रकाश पर पड़े हुए आवरण के क्षय से ज्योति की प्राप्ति और आत्मा तथा प्राण के बल की प्राप्ति होने पर धारणाओं में मन की योग्यता हो जाती है ।।३।।

इस खण्ड में प्राकृतिक और दिव्य उषा, ऋतंभरा प्रज्ञा, आत्मा-मन, जगदम्बा और प्राण-अपान के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

उन्नीसवें अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त

।।१०।। अथ 'अग्निं त'मित्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसुश्रुत आत्रेयः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** पङ्क्तिः । **स्वरः** पञ्चमः ।।

---

१. ऋ० १।९२।१७।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं वायुविद्युतोर्विषये व्याचष्टे ।
३. द्रष्टव्यम् : योग०, साधनपादः, ४९–५३ ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४२५ क्रमाङ्के व्याख्यातपूर्वा । अत्राग्निनाम्ना जगदीश्वरस्य परिचयः प्रस्तूयते ।

३ १र २र ३ २उ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
१७३७. अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः ।
२ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥१॥[1]
३ २ ३ २ १ २र १ २र १ २र ३ १ २ १ २र १ २र ३ १ २
अग्निम् तम् मन्ये यः वसुः । अस्तम् यम् यन्ति धेनवः । अस्तम् अर्वन्तः आशवः ।
१ २र १ २र ३ १ २ १ २र ३ १ २ ३
अस्तम् नित्यासः वाजिनः । इषम् स्तोतृभ्यः आ भर ॥१॥

पदार्थः— अहम् **अग्निम्** अग्निशब्दवाच्यं जगदीश्वरम् **तं मन्ये** तं जानामि **यः वसुः** यः धर्मात्मनां निवासको वर्तते । [वासयतीति वसुः । वस निवासे ।] **अस्तम् यम्** शरणरूपं यम् । [अस्तमिति गृहनाम । निघं० ३।४ ।] **धेनवः** पयस्विन्यो गावः **यन्ति** मातृत्वप्राप्त्यर्थं गच्छन्ति, **अस्तम्** शरणरूपं यम् **आशवः** शीघ्रगामिनः **अर्वन्तः** अश्वाः **यन्ति** वेगप्राप्त्यर्थं गच्छन्ति, **अस्तम्** शरणरूपं यम् **नित्यासः** अनाद्यनन्ताः **वाजिनः** बलवन्तो जीवात्मानः **यन्ति** बलप्राप्त्यर्थं गच्छन्ति । हे अग्ने जगदीश्वर ! त्वम् **स्तोतृभ्यः** स्तावकेभ्यः, त्वद्गुणकर्मस्वभावकीर्तनपरेभ्यो जनेभ्यः **इषम्** अभीष्टम् अभ्युदयनिःश्रेयसरूपं फलम् **आ भर** आहर ॥१॥[2]

भावार्थः— सर्वेऽपिस्वस्वशक्तिप्राप्त्यर्थं यमुपगच्छन्ति स परमेश्वर एव मुख्यतोऽग्नि शब्दवाच्योऽस्ति ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४२५ क्रमांक पर व्याख्यात हो चुकी है । यहाँ अग्नि नाम से जगदीश्वर का परिचय प्रस्तुत करते हैं ।

पदार्थ— मैं **अग्निम्** अग्नि नामक जगदीश्वर **तं मन्ये** उसे मानता हूँ **यः वसुः** जो धर्मात्माओं को निवास देने वाला है, **अस्तं यम्** शरण-रूप जिसके पास **धेनवः** दुधारू गायें **यन्ति** मातृत्व की प्राप्ति के लिए पहुँचती हैं, **अस्तम्** शरण-रूप जिसके पास **आशवः** शीघ्रगामी **अर्वन्तः** घोड़े **यन्ति** वेग की प्राप्ति के लिए पहुँचते हैं, **अस्तम्** शरण-रूप जिसके पास **नित्यासः** अनादि और अनन्त **वाजिनः** जीवात्मा **यन्ति** बल के लिए पहुँचते हैं। हे अग्ने जगदीश्वर ! आप **स्तोतृभ्यः** स्तोताओं को, आपके गुण-कर्म-स्वभाव का कीर्तन करने वाले मनुष्यों को **इषम्** अभीष्ट अभ्युदय और निःश्रेयस रूप फल **आ भर** प्रदान करो ॥१॥

भावार्थ— सभी अपनी-अपनी शक्ति को प्राप्त करने के लिए जिसकी शरण में पहुंचते हैं वह परमेश्वर ही मुख्यतः अग्निशब्दवाच्य है ॥१॥

अथ सोऽग्निनामा जगदीश्वरः किं करोतीत्याह।

३ २उ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
१७३८. अग्निर्हि वाजिनं विशे ददाति विश्वचर्षणिः ।
३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अग्नी राये स्वाभुवं सु प्रीतो याति वार्यमिषं स्तोतृभ्य आ भर ॥२॥[3]
३ २ ३ १ २ ३ २ १ २र ३ १ २ ३ २ ३
अग्निः हि वाजिनम् विशे । ददाति विश्वचर्षणिः विश्व चर्षणिः ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २र
अग्निः राये स्वाभुवम् सु आभुवम् । सः प्रीतः याति वार्यम् ।
१ २र ३ १ २ ३
इषम् स्तोतृभ्यः आ भर ॥२॥

---

१. ऋ० ५।६।१; य० १५।४१; साम० ४२५ ।
२. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमृग्भाष्ये विद्युदग्निविषये यजुर्भाष्ये च विद्यार्थ्यध्यापकव्यवहारविषये व्याख्यातः ।
३. ऋ० ५।६।३।

पदार्थः— **विश्वचर्षणिः** विश्वद्रष्टा **अग्निः हि** अग्निशब्दाभिधेयो जगदीश्वरः खलु **विशे** प्रजायै **वाजिनम्** बलवन्तं प्राणम् **ददाति** प्रयच्छति । **अग्निः** स एवाग्निशब्दवाच्यो जगदीश्वरः **सु-आभुवम्** सम्यग् देहे गृहीतजन्मानं जीवम् **राये** ऐश्वर्याय, प्रेरयतीति शेषः । **प्रीतः** शुभकर्मभिः प्रसन्नः **सः** अग्निर्जगदीश्वरः **वार्यम्** वरणीयम् उपासकम् **याति** प्राप्नोति । हे जगदीश ! **स्तोतृभ्यः** त्वद्गुणकर्मस्वभावकीर्तनपरेभ्यो जनेभ्यः त्वम् **इषम्** अभीष्टम् अभ्युदयनिःश्रेयसरूपं फलम् **आ भर** आहर ॥२॥[1]

भावार्थः— कोऽपि सम्राड् यथा प्रजाः शुभकर्मसु प्रेरयन् ताभ्यः सुखमैश्वर्यं च ददाति तथैव जगदीश्वर उपासकेभ्योऽभ्युदयनिःश्रेयसरूपं फलं प्रदाय तेषां कल्याणं करोति ॥२॥

अब यह कहते हैं कि वह अग्नि नामक जगदीश्वर क्या करता है ।

पदार्थ— **विश्वचर्षणिः** विश्व का द्रष्टा **अग्निः हि** अग्निशब्दवाच्य जगदीश्वर ही **विशे** प्रजा को **वाजिनम्** बलवान् प्राण **ददाति** देता है । **अग्निः** वह अग्निशब्दवाच्य जगदीश्वर ही **सु आभुवम्** भली-भांति शरीर में जन्म ग्रहण किये हुए जीव को **राये** ऐश्वर्य के लिए प्रेरित करता है । **प्रीतः** शुभ कर्मों से प्रसन्न हुआ **सः** वह अग्नि जगदीश्वर **वार्यम्** वरणीय उपासक को **याति** प्राप्त होता है । हे जगदीश ! **स्तोतृभ्यः** आपके गुण-कर्म-स्वभाव की स्तुति करने वाले मनुष्यों को आप **इषम्** अभीष्ट अभ्युदय और निःश्रेयस रूप फल **आ भर** प्रदान करो ॥२॥

भावार्थ— कोई सम्राट् जैसे प्रजाओं को शुभ कर्मों में प्रेरित करता हुआ उन्हें सुख और ऐश्वर्य प्रदान करता है, वैसे ही जगदीश्वर उपासकों को अभ्युदय और मोक्ष रूप फल देकर उनका कल्याण करता है ॥२॥

अथ पुनरप्यग्निनामानं जगदीश्वरं वर्णयति ।

२ ३ १र २र३ २ड ३१ २ ३१ २
१७३९. सो अग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः ।
१र २र ३२ ३ १ २ ३ १ २ ३२३ १२ ३२ ३ १ २
समर्वन्तो रघुद्रुवः सं सुजातासः सूरय इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥३॥[2]

२ ३ २ १२र ३२ ३१ २ ३१ २र ३१ २
सः अग्निः यः वसुः गृणे । सम् यम् आयन्ति आ यन्ति धेनवः ।
१२र ३ १ २ ३ १२र ३ १ २ ३ १ २ ३१ २
सम् अर्वन्तः रघुद्रुवः रघु द्रुवः सम् सुजातासः सु जातासः सूरयः ।
१२र ३ १ २ ३
इषम् स्तोतृभ्यः आ भर ॥३॥

पदार्थः— **सः** स एव **अग्निः** अग्निशब्द वाच्यो जगदीश्वरोऽस्ति, **यः वसुः** यः सर्वाच्छादकः सर्वव्यापको वर्तते । [वस्ते आच्छादयति सर्वं स वसुः ।] तमहम् **गृणे** स्तौमि, **यम् धेनवः** स्तोतॄणां वाचः । [धेनुरिति वाङ्नाम । निघं० १।११ ।] **समायन्ति** सम्प्राप्नुवन्ति । **रघुद्रुवः** शीघ्रगामिनः **अर्वन्तः** पृथिवीचन्द्रादयो लोकाः **सम्** समायान्ति, सम्प्राप्नुवन्ति, **सुजातासः** सुप्रसिद्धाः **सूरयः** विद्वांसः **सम्** समायन्ति, सम्प्राप्नुवन्ति । हे अग्ने

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं भौतिकाग्निपक्षे व्याचष्टे ।

२. ऋ० ५।६।२।

जगदीश्वर ! त्वम् **स्तोतृभ्यः** त्वद् गुणकर्मस्वभावकीर्तनपरेभ्यो जनेभ्यः **इषम्** अभीष्टम् अभ्युदयनिःश्रेयसरूपं फलम् **आ भर** आहर ।।३।।[1]

भावार्थः— गावोऽश्वाः मनुष्याः सूर्यचन्द्रनक्षत्रपृथिवीमंगलबुधबृहस्पत्यादयो लोकाः नद्यः पर्वताः समुद्रा निर्झरा वृक्षा वीरुधः सर्वेऽपि स्वान् स्वान् गुणान् यस्माद् विन्दन्ति स एवाग्निशब्दवाच्यो जगदीश्वरोऽस्ति ।।३।।

आगे फिर अग्नि नामक जगदीश्वर का वर्णन करते हैं।

पदार्थ— सः वही **अग्निः** अग्नि शब्दवाच्य जगदीश्वर है, **यः** जो **वसुः** सबको ढकने वाला अर्थात् सर्वव्यापक है, उसकी मैं **गृणे** स्तुति करता हूं, **यम्** जिसके पास **धेनवः** स्तोताओं की वाणियां **समायन्ति** पहुंचती हैं, **रघुद्रुवः** वेगगामी **अर्वन्तः** पृथिवी, चन्द्र आदि लोक **सम्** पहुंचते हैं, **सुजातासः** सुप्रसिद्ध **सूरयः** विद्वान् लोग **सम्** पहुंचते हैं। हे जगदीश्वर ! आप **स्तोतृभ्यः** आपके गुण-कर्म-स्वभाव की स्तुति करने वालों को **इषम्** अभीष्ट अभ्युदय और निःश्रेयस रूप फल **आ भर** प्रदान करो ।।३।।

भावार्थ— गायें, घोड़े, मनुष्य, सूर्य, चांद, तारे, पृथिवी, मंगल, बुध, बृहस्पति आदि लोक, नदियां, पहाड़, समुद्र, झरने, वृक्ष, लताएं सभी अपने-अपने गुण जिससे पाते हैं वही अग्निशब्दवाच्य जगदीश्वर है ।।३।।

।।११।। अथ 'महे नो' इत्यादिकस्यैकादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सत्यश्रवा आत्रेयः । **देवता** उषाः । **छन्दः** पङ्क्तिः । **स्वरः** पञ्चमः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४२१ क्रमाङ्केऽध्यात्मप्रभाविषये व्याख्याता । अत्र जगन्माता सम्बोध्यते ।

१७४०. महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती ।
यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ।।१।।[2]

महे नः अद्य अ द्य बोधय । उषः राये दिवित्मती । यथा चित् नः अबोधयः ।
सत्यश्रवसि सत्य श्रवसि वाय्ये । सुजाते सु जाते अश्वसूनृते अश्व सूनृते ।।१।।

पदार्थः— हे **सुजाते** सुप्रसिद्धे **अश्वसूनृते** अश्वा व्याप्ता सूनृता प्रियसत्यात्मिका वेदवाग् यस्याः तादृशि **उषः** उषर्वत् जागरयित्री जगन्मातः ! **दिवित्मती** दिव्यप्रकाशेन देदीप्यमाना त्वम् **नः** अस्मान् **महे राये** महतेऽभ्युदयनिःश्रेयसरूपाय ऐश्वर्याय **अद्य** अस्मिन् दिनेऽपि **बोधय** जागरूकान् कुरु, **यथा चित्** येन प्रकारेण, त्वम् **सत्यश्रवसि** सत्ययशसि **वाय्ये** वातुं योग्ये तन्तुवत् सन्ताननीयेऽस्माकं पूर्वजीवने। [वेञ् तन्तुसन्ताने, ण्यत्।] **नः** अस्मान् **अबोधयः** जागरूकान् कृतवती ।।१।।[3]

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं भौतिकाग्निपक्षे व्याख्यातः ।

२. ऋ० ५।७९।१; साम० ४२१ ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमुषर्दृष्टान्तेन स्त्री कीदृशी भवेदिति विषये व्याख्यातः ।

भावार्थः— यथा प्राकृतिक्युषाः सर्वान् प्राणिनः काचिन्माता वा स्वसन्तानान् जागरयति सत्कर्मसु संलग्नांश्च करोति तथैव जगदीश्वरी जगन्माताऽबोधानस्मानाजन्मन आमरणं स्वकर्तव्याचरणाय दिवानिशं प्रबोधयेद् येन वयं कीर्तिमभ्युदयं निःश्रेयसं च लभेमहि ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ४२१ क्रमांक पर अध्यात्म-प्रभा के विषय में की गयी थी । यहाँ जगन्माता को संबोधन है ।

पदार्थ— हे **सुजाते** सुप्रसिद्ध, **अश्वसूनृते** व्यापक प्रिय सत्य वेदवाणी वाली **उषः** उषा के समान जगाने वाली जगन्माता ! **दिवित्मती** दिव्य प्रकाश से देदीप्यमान तू **नः** हमें **महे राये** महान् अभ्युदय और मोक्ष रूप ऐश्वर्य के लिए **अद्य** आज भी **बोधय** वैसे ही जगा **यथा चित्** जैसे, तू **सत्यश्रवसि** सच्ची कीर्ति वाले, **वाय्ये** खड्डी में धागों के समान फैलाने योग्य हमारे पूर्व जीवन में **नः** हमें **अबोधयः** जगाती रही है ॥१॥

भावार्थ— जैसे प्राकृतिक उषा सब प्राणियों को और कोई माँ अपनी सन्तानों को जगाती और श्रेष्ठ कर्मों में लगाती है, वैसे ही जगदीश्वरी माँ हम अबोधों को जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त अपने कर्तव्य-पालन के लिए दिन-रात जगाती रहे, जिससे हम कीर्ति, अभ्युदय और मोक्ष प्राप्त करें ॥१॥

अथ पुनरपि जगन्मातरं प्रार्थयते ।

१७४१ . या सुनीथे शौचद्रथे व्यौच्छो दुहितर्दिवः ।
सा व्युच्छ सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥२॥[1]

या सुनीथे सु नीथे शौचद्रथे शौचत् रथे। व्यौच्छः वि औच्छः दुहितः दिवः।
सा वि उच्छ सहीयसि । सत्यश्रवसि सत्य श्रवसि वाय्ये।
सुजाते सु जाते अश्वसूनृते अश्व सूनृते ॥२॥

पदार्थः— हे **सुजाते** सुप्रसिद्धे **अश्वसूनृते** अश्वा व्याप्ता सूनृता प्रियसत्यात्मिका वेदवाग् यस्याः तादृशि **दिवः दुहितः** दिव्यप्रकाशदोग्धि उषः जगन्मातः ! **या** प्रसिद्धा, त्वम् **शौचद्रथे** शुचत् पवित्रो रथः आत्मरूपो रथो यस्य स शुचद्रथः, अतिशयेन शुचद्रथः शौचद्रथः तस्मिन् । [छन्दसि अपत्यप्रत्यया अतिशयार्थेऽपि भवन्ति ।] **सुनीथे** सुनेतरि मनुष्ये **व्यौच्छः** प्रकाशं करोषि, सा तादृशी त्वम् **सहीयसि** अतिशयेन सोढृ सहीयः तस्मिन् **सत्यश्रवसि** सत्ययशसि **वाय्ये** वातुं योग्ये तन्तुवत् सन्ताननीये मम जीवनेऽपि **व्युच्छ** विवेकख्यातेः प्रकाशं कुरु ॥२॥[2]

भावार्थः— ये पवित्रचरणा नेतारो जना भवन्ति तेषु पवित्रतां नेतृत्वबलं च जगन्मातैव निदधाति, तथैव साऽस्माकमपि जीवनं पवित्रं विधाय विवेकख्यातिप्रकाशं जनयित्वाऽस्मान्निःश्रेयसाधिकारिणः करोतु ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर जगन्माता से प्रार्थना की गयी है ।

---

१. ऋ० ५।७९।२।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं 'यथोषाः सर्वान् सुखे वासयति तथैव साध्वी स्त्री आनन्दयुक्ते गृहाश्रमे सर्वान् निवासयती'ति विषये व्याख्यातवान् ।

पदार्थ– हे **सुजाते** सुप्रसिद्ध, **अश्वसूनृते** व्यापक प्रिय सत्य वेदवाणी वाली **दिवः दुहितः** दिव्य प्रकाश को दुहकर देने वाली जगन्माता ! **या** जो प्रसिद्ध तू **शौचद्रथे** अतिशय पवित्र आत्मा रूप रथ वाले, **सुनीथे** उत्तम नेतृत्व करने वाले मनुष्य में **व्यौच्छः** प्रकाश देती है, **सा** वह तू **सहीयसि** अतिशय सहनशील, **सत्यश्रवसि** सच्ची कीर्तिवाले **वाय्ये** खड्डीमें धागोंके समान फैलानेयोग्य मेरे जीवनमें भी **व्युच्छ** विवेकख्यातिका प्रकाश कर ।।२।।

भावार्थ– जो पवित्र आचरण वाले नेता लोग होते हैं उनमें पवित्रता और नेतृत्व का बल जगन्माता ही निहित करती है, वैसे ही वह हमारा भी जीवन पवित्र करके, विवेकख्याति का प्रकाश उत्पन्न कर हमें मोक्ष का अधिकारी बना देवे ।।२।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१ ७ ४ २. सा नो अद्याभरद्वसु व्युच्छा दुहितर्दिवः।
यो व्यौच्छः सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ।।३।।[1]

सा नः अद्य अ द्य आभरद्वसुः आभरत् वसुः। वि उच्छ दुहितः दिवः ।
या उ व्यौच्छः वि औच्छः सहीयसि । सत्यश्रवसि सत्य श्रवसि वाय्ये।
सुजाते सु जाते अश्वसूनृते अश्व सूनृते ।।३।।

पदार्थः– हे **सुजाते** सुप्रसिद्धे, **अश्वसूनृते** अश्वाव्याप्ता महती सूनृता प्रियसत्यात्मिका वेदवाग् यस्याः तादृशि **दिवः दुहितः** दिव्यप्रकाशस्य दोग्धि जगन्मातः ! **आभरद्वसुः** आहरति दिव्यानि वसूनि या तादृशी **सा** त्वम् **अद्य** अस्मिन् दिने **नः** अस्मभ्यम् **व्युच्छ** तमोगुणमविद्यान्धकारं च विवास्य सत्त्वगुणस्य विद्यायाश्च प्रकाशं जनय, **या उ** या खलु त्वम् **सहीयसि** अतिशयेन सहनशीले, **सत्यश्रवसि** सत्ययशसि **वाय्ये** सत्सङ्गाय प्राप्तव्ये कस्मिंश्चिन्महापुरुषे । [वा गतिगन्धनयोः, ण्यत् ।] **व्यौच्छः** प्रकाशं जनयसि ।।३।।[2]

भावार्थः– जगदीश्वरी माता यथा महापुरुषाणां हृदये प्रकाशं जनयति तथैवास्मानपि दिव्यप्रकाश-प्रदानेनानुगृह्णातु ।।३।।

आगे फिर उसी विषय को कहते हैं ।

पदार्थ– हे **सुजाते** सुप्रसिद्ध, **अश्वसूनृते** व्यापक प्रिय सत्य वेदवाणीवाली, **दिवः दुहितः** दिव्यप्रकाशको दुहकर देनेवाली जगन्माता ! **आभरद्वसुः** दिव्यधनोंको लानेवाली **सा** वह तू **अद्य** आज **नः** हमारेलिए **व्युच्छ** तमोगुण वा अविद्याके अंधकारको दूरकरके विवेकख्यातिका प्रकाश फैला, **या उ** जो तू **सहीयसि** अति सहनशील, **सत्यश्रवसि** सत्य यशवाले, **वाय्ये** सत्संग केलिए प्राप्तव्य किसी महापुरुषमें **व्यौच्छः** प्रकाश उत्पन्न करती है ।।३।।

भावार्थ– जगदीश्वरी माँ जैसे महापुरुषों के हृदय में प्रकाश उत्पन्न करती है, वैसे ही हमें भी दिव्य प्रकाश से अनुगृहीत करे ।।३।।

---

१. ऋ० ५।७९।३।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमुषर्वत् प्रकाशवत्या विदुष्याः स्त्रियाः पक्षे व्याख्यातः ।

।।१२।। अथ 'प्रति प्रियतम' मित्यादिकस्य द्वादशस्यतृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अवस्युरात्रेयः। **देवते** अश्विनौ। **छन्दः** पङ्क्तिः। **स्वरः** पञ्चमः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४१८ क्रमाङ्केऽध्यात्मविषये शिल्पविषये च व्याख्याता। अत्र योगाभ्यासविषय उच्यते।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१७४३. **प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसुवाहनम्।**

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
स्तोता वामश्विनावृषि स्तोमेभिर्भूषति प्रति माध्वी मम श्रुतं हवम् ।।१।।[1]

१ २र ३ १ २ १ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २र
प्रति प्रियतमम् रथम्। वृषणम् वसुवाहनम् वसु वाहनम्।

३ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २र
स्तोता वाम् अश्विनौ ऋषिः स्तोमेभिः भूषति प्रति।

३र १ २ १ २र ३ १ २र
माध्वी इति मम श्रुतम् हवम्।।१।।

पदार्थः— हे **अश्विनौ** योगशास्त्राध्यापकयोगक्रियाप्रशिक्षकौ ! **प्रियतमम्** अतिशयेन प्रियम्, **वृषणम्** बलवन्तम्, **वसुवाहनम्** वसुभिः निवासकैः मनःप्राणेन्द्रियादिभिः उह्यते इति वसुवाहनः तम् **रथम्** आत्माधिष्ठितं देहरथम् **प्रति** उद्दिश्य शिष्येषु अध्यात्मशारीरयोगप्रशिक्षणायेत्यर्थः **स्तोता** युष्मत्प्रशंसकः **ऋषिः** तत्त्वद्रष्टा आचार्यः **स्तोमेभिः** प्रशंसावचनैः **वाम्** युवाम् **प्रतिभूषति** अलङ्करोति, युवां प्रशंसतीत्यर्थः। हे **माध्वी** प्राणानां मधुविद्याविदौ ! युवाम् **मम** योगप्रशिक्षणार्थिनः **हवम्** आह्वानम् **श्रुतम्** शृणुतम् ।।१।।[2]

भावार्थः— ये योगप्रशिक्षणं प्राप्तुमिच्छेयुस्ते योगकलाकुशलौ प्राणविद्याविदौ योगाध्यापक-योगक्रिया-प्रशिक्षकौ प्राप्याष्टाङ्गयोगविधिना योगमभ्यस्य सकलदुःखमोक्षमधिगच्छेयुः ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४१८ क्रमांक पर अध्यात्म विषय तथा शिल्प विषय में व्याख्यात की जा चुकी है। यहां योगाभ्यास का विषय कहते हैं।

पदार्थ— हे **अश्विनौ** योगशास्त्र के अध्यापक और योगक्रिया के प्रशिक्षक ! **प्रियतमम्** अतिशय प्रिय, **वृषणम्** बलवान्, **वसुवाहनम्** निवासक मन, प्राण, इन्द्रियों आदि से चलाये जाने वाले **रथम्** आत्मा से अधिष्ठित शरीर-रथ को **प्रति** लक्ष्य करके अर्थात् अध्यात्म और शरीर-योग का प्रशिक्षण देने के लिए **स्तोता** तुम्हारा प्रशंसक **ऋषिः** तत्त्वदर्शी आचार्य **स्तोमेभिः** प्रशंसा-वचनों से **वाम्** तुम दोनों को **प्रतिभूषति** अलंकृत कर रहा है अर्थात् तुम्हारी प्रशंसा कर रहा है। हे **माध्वी** प्राणों की मधुविद्या जानने वालो ! तुम **मम** मुझ योग-प्रशिक्षण चाहने वाले की **हवम्** पुकार को **श्रुतम्** सुनो ।।१।।

भावार्थ— जो योग-प्रशिक्षण पाने के इच्छुक हों उन्हें चाहिए कि वे योगकला में कुशल, प्राणविद्या के ज्ञाता योगशास्त्र पढ़ाने वाले और योग-क्रियाओं का प्रशिक्षण देने वाले के **पास जाकर** अष्टांग योग की विधि से योगाभ्यास करके सब दुःखों से मुक्ति प्राप्त करें ।।१।।

---

१. ऋ० ५।७५।१, साम० ४१८।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना 'अश्विनौ' इति पदेनाध्यापकपरीक्षकौ 'रथम्' इत्यनेन च विमानादियानं गृह्यन्ते।

अथ पुनरपि योगभ्यासविषयमाह ।

३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र
१७४४. अत्यायातमश्विना तिरो विश्वा अहं सना ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
दस्रा हिरण्यवर्तनी सुषुम्णा सिन्धुवाहसा माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥२॥[1]

३ १ २ ३ १ २र ३ २ १ २र ३ २ १ २र
अत्यायातम् अति आयातम् अश्विना । तिरः विश्वाः अहम् सना।

१ २र १ २र १ २र ३ १ २ १ २र ३ १ २र १ २र ३
दस्रा हिरण्यवर्तनी हिरण्य वर्तनीइति। सुषुम्णा सु सुम्ना सिन्धुवाहसा सिन्धु वाहसा।

२ ३र१ २ १ २र ३ १ २र
माध्वीइति मम श्रुतम् हवम् ॥२॥

पदार्थः— हे **अश्विना** योगाध्यापकयोगक्रियाप्रशिक्षकौ ! **अत्यायातम्** इतराणि कार्याण्यतिक्रम्य अस्मान् योगं शिक्षयितुम् आगच्छतम् । अहमपि योगं शिक्षितुम् **सना** सदा **विश्वाः** सर्वाः बाधाः **तिरः** तिरस्करोमि । हे **दस्रा** योगविघ्नानाम् उपक्षेतारौ, **हिरण्यवर्तनी** योगविद्याप्रशिक्षणे प्रशस्तमार्गावलम्बिनौ, **सुषुम्णा** सुसुम्नौ, शोभनं सुम्नं सुखं याभ्यां तौ सुप्रशस्तानन्ददातारौ, **सिन्धुवाहसा** ज्ञाननदीनां वाहकौ, **माध्वी** प्राणानां मधुविद्याविदौ योगाध्यापकयोगप्रशिक्षकौ ! युवाम् **मम** योगजिज्ञासोः **हवम्** आह्वानम् **श्रुतम्** शृणुतम् । [अत्र 'दस्रा', 'सुषुम्णा', 'माध्वी' इति सम्बोधनान्तेषु पदेषु पादादित्वात् षाष्ठेनाद्युदात्तत्वम् । ततः परं 'हिरण्यवर्तनी, सिन्धुवाहसा इत्यत्रापि 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' अ० ८।१।७२ इति पूर्वामन्त्रितस्याविद्यमानत्वात् पादादित्वे सति षाष्ठेनाद्युदात्तत्वमेव, न त्वाष्टमिकेन निघात इति ज्ञेयम्] ॥२॥[2]

भावार्थः— तावेव योगाध्यापकयोगप्रशिक्षकौ प्रशस्तौ मन्येते यौ योगमार्गे समागतान् व्याधिस्त्यानसंशयालस्यादीन् विघ्नान् सरलेन विधिना दूरीकर्तुं शिक्षयतोऽपि च मधुविद्याख्यायाः प्राणविद्यायाः प्रदानेऽष्टाङ्गयोगप्रशिक्षणे च निपुणौ भवतः ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर योगाभ्यास का विषय है ।

पदार्थ— हे **अश्विना** योग के अध्यापक और योग-क्रिया के प्रशिक्षक ! तुम दोनों **अत्यायातम्** विघ्नों को दूर करके हमें योग सिखाने के लिए आओ । मैं भी योग सीखने के लिए **सना** सदा **विश्वाः** सब बाधाओं को **तिरः** तिरस्कृत कर देता हूँ । हे **दस्रा** योग-विघ्नों को नष्ट करने वाले, **हिरण्यवर्तनी** प्रशस्त मार्ग का अवलंबन करने वाले, **सुषुम्णा** उत्कृष्ट सुख देने वाले, **सिन्धुवाहसा** ज्ञान की नदियों को बहाने वाले, **माध्वी** प्राणों की मधुविद्या जानने वाले योग के अध्यापक और योग-प्रशिक्षको ! तुम दोनों **मम** मुझ योग-जिज्ञासु की **हवम्** पुकार को **श्रुतम्** सुनो ॥२॥

भावार्थ— वे ही योग के अध्यापक और योग-प्रशिक्षक प्रशस्त माने जाते हैं जो योगमार्ग में आये हुए व्याधि, स्त्यान, संशय, आलस्य आदि विघ्नों को सरल विधि से दूर करना सिखाते हैं और मधुविद्या नामक प्राणविद्या को देने में तथा अष्टांग योग के प्रशिक्षण में चतुर होते हैं ॥२॥

---

१. ऋ० ५।७५।२, 'सुषुम्ना' इति भेदः ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरिमं मन्त्रमध्यापकपरीक्षकद्वारेण शिक्षाविषये व्याचष्टे ।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २ ३ २
१७४५. **आ नो रत्नानि बिभ्रतावश्विना गच्छतं युवम् ।**
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
रुद्रा हिरण्यवर्तनी जुषाणा वाजिनीवसू माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥३॥[1]

२ ३ १ २र १ २र १ २र १ २र ३ २
आ नः रत्नानि बिभ्रतौ । अश्विना गच्छतम् युवम् ।
१ २र १२र १२र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
रुद्रा हिरण्यवर्तनी हिरण्य वर्तनीइति। जुषाणा वाजिनीवसू वाजिनी वसूइति।
३र१ २ १ २र ३ १ २र
माध्वीइति मम श्रुतम् हवम् ॥३॥

पदार्थः— हे **अश्विना** अश्विनौ योगाध्यापकयोगप्रशिक्षकौ ! **रत्नानि** रमणीयानि योगसिद्धयैश्वर्याणि **बिभ्रतौ** धारयन्तौ **युवम्** युवाम् **नः** योगजिज्ञासूनस्मान् **आगच्छतम्** आयातम् । हे **रुद्रा**, रुद्रौ, रुदं रोदकं योगविघ्नादिकं द्रावयतो यौ तौ, **हिरण्यवर्तनी** तेजस्विमार्गावलम्बिनौ, **जुषाणा** जुषाणौ प्रीतिं कुर्वन्तौ, **वाजिनीवसू** वाजिनी बलवती योगाभ्यासक्रिया एव वसु धनं ययोस्तौ, **माध्वी** मधुमयप्राणविद्याविदौ योगाध्यापकप्रशिक्षकौ ! युवाम् **मम** योगजिज्ञासोः **हवम्** आह्वानम् **श्रुतम्** शृणुतम् ॥३॥[2]

भावार्थः— तावेव योगाध्यापकयोगप्रशिक्षकौ योगविद्याप्रदाने सफलौ जायेते यौ स्वयं योगसिद्धिसम्पन्नौ योगविद्याधुरंधरौ भवतः ॥३॥

अस्मिन् खण्डे जगदीश्वरस्य जगन्मातुर्योगाभ्यासस्य च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ— हे **अश्विना** योगशास्त्र के अध्यापक और योगविधियों के प्रशिक्षक ! **रत्नानि** योगसिद्धि के रमणीय ऐश्वर्यों को **बिभ्रतौ** धारण करने वाले **युवम्** तुम दोनों **नः** हम योग-जिज्ञासुओं के पास **आगच्छतम्** आओ । हे **रुद्रा** रोदक योग-विघ्न आदि को दूर करने वाले, **हिरण्य-वर्तनी** तेजस्वी मार्ग का अवलंबन करने वाले, **जुषाणा** प्रीति करने वाले **वाजिनीवसू** योगाभ्यास-क्रिया ही जिनका धन है ऐसे, **माध्वी** मधुर प्राणविद्या को जानने वाले योगाध्यापको और योगप्रशिक्षको ! तुम दोनों **मम** मुझ योग-जिज्ञासु की **हवम्** पुकार को **श्रुतम्** सुनो ॥३॥

भावार्थ— वे ही योगाध्यापक और योग-प्रशिक्षक योगविद्या देने में सफल होते हैं जो स्वयं योग-सिद्धियों से युक्त और योगविद्या के धुरंधर होते हैं ॥३॥

इस खण्ड में जगदीश्वर, जगन्माता और योगाभ्यास के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

उन्नीसवें अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ।

---

१. ऋ० ५।७५।३ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं विद्याभ्यासविषये व्याख्यातः ।

॥१३॥ अथ 'अबोध्यग्निः' इत्यादिकस्य त्रयोदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषी** बुधगविष्ठिरावात्रेयौ । **देवता** अग्निः । **छन्दः** त्रिष्टुप् **स्वरः** धैवतः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ७३ क्रमाङ्के यज्ञविषये परमात्मविषये च व्याख्याता । अत्र यज्ञाग्निवर्णन-मुखेन जीवात्मपरमात्मनोर्विषयः सूच्यते ।

१ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २३ १ २
१७४६. **अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।**
३ १ २३ २ ३ २३ १ २ ३ २ ३१ २ ३ २३१ २
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सस्रते नाकमच्छ ॥१॥[1]

१ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २र १ २र
अबोधि अग्निः समिधा सम् इधा जनानाम् ।
१ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
प्रति धेनुम् इव आयतीम् आ यतीम् उषासम् ।
३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
यह्वाः इव प्र वयाम् उज्जिहानाः उत् जिहानाः ।
३१ २ ३ १ २र १ २र
प्र भानवः सस्रते नाकम् अच्छ ॥२॥

पदार्थः— **धेनुमिव** पयस्विनीं गामिव **आयतीम्** आगच्छन्तीम् **उषासम् प्रति** उषसम् अभिलक्ष्य **जनानाम्** यजमानानाम् **समिधा** समिद्धोमेन **अग्निः** यज्ञाग्निः **अबोधि** प्रबुद्धोऽस्ति । **वयाम्** शाखाम् **प्र उज्जिहानाः** प्रोद्गमयन्तः **यह्वाः इव** महान्तो वृक्षाः इव **भानवः** यज्ञाग्नेर्ज्वालाः **नाकम् अच्छ** सूर्यं प्रति **प्र सस्रते** प्रसरन्ति ॥१॥[2]

अत्र स्वभावोक्तिरुपमालङ्कारश्च ॥१॥

भावार्थः— यथोषसि समागतायां यज्ञाग्निः सूर्यं प्रत्युद्गच्छति तथैवोपासकानामात्माग्निः परमात्मानं प्रति प्रसरति ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ७३ क्रमांक पर यज्ञ और परमात्मा के विषय में हो चुकी है । यहां यज्ञाग्नि के वर्णन द्वारा जीवात्मा-परमात्मा के विषय की सूचना दी गयी है ।

पदार्थ— **धेनुम् इव** दुधारू गाय के समान **आयतीम्** आती हुई **उषासम् प्रति** उषा को लक्ष्य करके **जनानाम्** यजमानों की **समिधा** समिधाओं के होम से **अग्निः** यज्ञाग्नि **अबोधि** प्रबुद्ध हुआ है । **वयाम्** शाखा को **प्र उज्जिहानाः** ऊपर उठाते हुए **यह्वाः इव** बड़े-बड़े वृक्षों के समान **भानवः** अग्नि-ज्वलाएं **नाकम् अच्छ** सूर्य की ओर **प्र सस्रते** उठ रही हैं ॥१॥

यहां स्वभावोक्ति और उपमा अलंकार हैं ॥१॥

भावार्थ— जैसे उषा के आने पर यज्ञाग्नि सूर्य की ओर उठती है, वैसे ही उपासकों की आत्मा रूप अग्नि परमात्मा की ओर उठती है ॥१॥

---

१. ऋ० ५।१।१; य० १५।२४; साम० ७३ । अथ० १३।२।४६, ऋषिः ब्रह्मा, देवता रोहित आदित्यः ।

२. ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं भौतिकाग्निविद्यापक्षे व्याख्यातवान् ।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २३ २ ३ २ ३१ २ ३१२
१७४७. अबोधि होता यजथाय देवानूर्ध्वो अग्निः सुमनाः प्रातरस्थात् ।
१ २ ३१२ ३ १ २ ३ २ ३१र २र ३ १२
समिद्धस्य रुशददर्शि पाजो महान् देवस्तमसो निरमोचि ॥२॥[1]

१ २र १ २र ३१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३१ २ ३ १ २र ३ २ ३
अबोधि होता यजथाय देवान् । ऊर्ध्वः अग्निः सुमनाः सु मनाः प्रातः अस्थात् ।
१ २र ३ १ २र ३ १ २र ३ २ ३ २ १ २र ३
समिद्धस्य सम् इद्धस्य रुशत् अदर्शि पाजः । महान् देवः तमसः निः अमोचि ॥२॥

पदार्थः— **होता** होमसाधनः अग्निः **यजथाय** यजनाय **देवान्** विदुषो यजमानान् **अबोधि** प्रबोधयति । **प्रातः** प्रभाते **सुमनाः** शोभनानि मनांसि यस्मात् तादृशः **अग्निः** यज्ञाग्निः **ऊर्ध्वः** ऊर्ध्वोन्मुखः **अस्थात्** तिष्ठति । **समिद्धस्य** प्रदीप्तस्य अस्य यज्ञाग्नेः **रुशत्** रोचमानम् **पाजः** रूपम् **अदर्शि** दृश्यते । **महान्** महिमोपेतः **देवः** प्रकाशकः एषोऽग्निः, **तमसः** अन्धकारात् **निरमोचि** निर्मोचितवानस्ति ॥२॥[2]

अत्रापि स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— यथा प्रज्वलित ऊर्ध्वज्वालो रोचमानो यज्ञाग्निस्तमसो निर्मोचयति तथैव देदीप्यमान ऊर्ध्वयात्रो रोचिष्णुरात्मा मनोबुद्ध्यादीन् तमोगुणाद् निर्मोचयति ॥२॥

आगे फिर उसी विषय को कहते हैं ।

पदार्थ— होता होम के साधन अग्नि ने **यजथाय** यज्ञ करने के लिए **देवान्** विद्वान् यजमानों को **अबोधि** जगा दिया है । **प्रातः** प्रभात में **सुमनाः** मनों को शुभ बनाने वाला **अग्निः** यज्ञाग्नि **ऊर्ध्वः** ऊर्ध्वोन्मुख **अस्थात्** स्थित हो गया है । **समिद्धस्य** प्रज्वलित हुए इस यज्ञाग्नि का **रुशत्** चमकता हुआ **पाजः** रूप **अदर्शि** दिखायी दे रहा है । **महान्** महान् **देवः** प्रकाशक अग्नि ने **तमसः** अंधकार से **निरमोचि** छुड़ा दिया है ॥२॥

इस मन्त्र में भी स्वभावोक्ति अलंकार है॥२॥

भावार्थ— जैसे प्रज्वलित, ऊंची ज्वालाओं वाली, चमकती हुई यज्ञाग्नि अंधेरे से छुड़ाती है, वैसे ही देदीप्यमान ऊर्ध्वयात्री, तेजस्वी आत्मा मन बुद्धि आदि को तमोगुण से छुड़ाता है ॥२॥

अथोपास्योपासकविषयमाह ।

१ २ ३१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २३ २
१७४८. यदीं गणस्य रशनामजीगः शुचिरङ्क्ते शुचिभिर्गोभिरग्निः ।
१र २र ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३१ २
आदक्षिणा युज्यते वाजयन्त्युत्तानामूर्ध्वो अधयज्जुहूभिः ॥३॥[3]

२ ३ १ २ ३ २ १ २र३ १ २ १ २र ३ १ २र १ २र ३ २
यत् ईम् गणस्य रशनाम् अजीगरिति । शुचिः अङ्क्ते शुचिभिः गोभिः अग्निः ।
१ २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
आत् दक्षिणा युज्यते वाजयन्ती । उत्तानाम् ऊर्ध्वः अधयत् जुहूभिः ॥३॥

---

१. ऋ० ५।१।२।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं 'ये मनुष्या उत्तमाचरणेनाग्निवदूर्ध्वगामिनो भवन्ति तेऽविद्यातो निवृत्त्य यशस्विनो जायन्ते' इति विषये व्याचष्टे ।

३. ऋ० ५।१।३ ।

पदार्थः— **यत्** यदा **ईम्** अयम् उपासकः **गणस्य** स्तोत्रसमूहस्य **रशनाम्** शृङ्खलाम् **अजीगः** गृणाति शब्दयति । [गृ शब्दे धातोर्लङर्थे लुङ् ।] तदा **शुचिः** पवित्रः शोचमानश्च **अग्निः** परमेश्वरः **शुचिभिः** पवित्रैः शोचमानैश्च **गोभिः** तेजोभिः **अङ्क्ते** तं प्रकाशयति । [अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु ।] **[आत्** तदनन्तरम् **वाजयन्ती** उपासकं बलिनं कुर्वती **दक्षिणा** आत्मसमर्पणक्रिया **युज्यते** प्रवर्तते । **ऊर्ध्वः** सर्वोन्नतो जगदीश्वरः **जुहूभिः** वाग्भिः । [वाग् जुहूः । तै० आ० २।१७।२।] **उत्तानाम्** उद्गतां स्तुतिम् **अधयत्** पिबति ॥३॥[1]

भावार्थः— उपासकस्य हृदयान्निर्गतां पवित्रां स्तुतिं जगदीश्वरोऽवश्यं स्वीकरोत्युपासकं च कृतकृत्यं विदधाति ॥३॥

अगले मन्त्र में उपास्य-उपासक का विषय है ।

पदार्थ— **यत्** जब **ईम्** यह उपासक **गणस्य** स्तुति-समूह की **रशनाम्** शृंखला को **अजीगः** ध्वनित करता है, तब **शुचिः** पवित्र और देदीप्यमान **अग्निः** परमेश्वर **शुचिभिः** पवित्र और देदीप्यमान **गोभिः** तेजों से **अङ्क्ते** उसे प्रकाशित करता है । **आत्** तदनन्तर **वाजयन्ती** उपासक को बलवान् करती **हुई दक्षिणा** आत्मसमर्पण की क्रिया **युज्यते** प्रवृत्त होती है । **ऊर्ध्वः** सर्वोन्नत जगदीश्वर **जुहूभिः** वाणियों से **उत्तानाम्** उच्चारण की हुई स्तुति को **अधयत्** पान करता है ॥३॥

भावार्थ— उपासक के **हृदय से** निकली हुई पवित्र स्तुति को जगदीश्वर अवश्य स्वीकार करता है और उपासक को कृतकृत्य कर देता है ॥३॥

॥१४॥ अथ 'इदं श्रेष्ठ'मित्यादिकस्य चतुर्दशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** कुत्स आङ्गिरसः । **देवता** उषाः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

अथोषर्दृष्टान्तेनाध्यात्मिकीं प्रभां वर्णयति ।

१७४९. इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा ।
यथा प्रसूता सवितुः सवायैवा रात्र्युषसे योनिमारैक् ॥१॥[2]

इदम् श्रेष्ठम् ज्योतिषाम् ज्योतिः आ अगात् ।
चित्रः प्रकेतः प्र केतः अजनिष्ट विभ्वा वि भ्वा ।
यथा प्रसूता प्र सूता सवितुः सवाय । एव रात्री उषसे योनिम् आरैक् ॥१॥

पदार्थः— **इदम्** एतत् **ज्योतिषाम्** अग्निविद्युदादीनां मध्ये **श्रेष्ठम्** प्रशस्यतमम् **ज्योतिः** उषाः **आगात्** आगमत् । **चित्रः** अद्भुतः **विभ्वा** विभुः । [अत्र 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति विभक्तेराकारादेशः ।] **प्रकेतः** प्रकाशः **अजनिष्ट** उत्पन्नोऽस्ति । **यथा** येन प्रकारेण **प्रसूता** उत्पन्ना एषा उषाः **सवितुः** आदित्यस्य **सवाय** उत्पत्तये भवति **एवा** एवम् **रात्री** निशा । [अत्र 'रात्रेश्चाजसौ' अ० ४।१।३९ इति रात्रिशब्दान्ङीप् ।] **उषसे** उषसो जन्मार्थम् **योनिम्** अन्तरिक्षम् **आरैक्** अरिचत् । [रिचिर् विरेचने, लुङि 'इरितो वा' अ० ३।१।५७ इति च्लेर्वैकल्पिकेऽङि 'अरिचत्, अरैक्षीत्' इति प्राप्ते छान्दसश्च्लेर्लुक्] ॥१॥[3]

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं 'ये समुदायस्य सन्तोषं जनयन्ति ते किरणैः सूर्य इव सर्वत्र यशसा प्रकाशिता जायन्ते' इति विषये व्याचष्टे ।

२. ऋ० १।११३।१, 'सवायं एवा' इति भेदः ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रेऽस्मिन् विद्वद्गुणा उपदिष्टाः ।

यास्काचार्यो मन्त्रमिममेवं व्याख्यातवान्– [इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागमत् । चित्रं प्रकेतनं प्रज्ञाततमम् अजनिष्ट विभूततमम् । यथा प्रसूता सवितुः प्रसवाय रात्रिरादित्यस्य, एवं रात्र्युषसे योनिमरिचत् स्थानम् । निरु० ६।१९।]।

अत्रोपमालङ्कारः स्वभावोक्तिश्च। 'ज्योति' इत्यस्यावृत्तौ यमकम्, 'सवि, सवा' इत्यत्र छेकानुप्रासः । प्राकृतिक्या उषसो वर्णनेनाध्यात्मिक्युषा व्यज्यते ॥१॥

भावार्थः– यथा रात्र्यन्धकारं समाप्य ज्योतिष्मत्युषा गगने प्रादुर्भवति ज्योतिष्मत्तरं सूर्यं चाविर्भावयति तथैवाविद्याया गाढं तमो विच्छिद्य ज्योतिष्मत्यध्यात्मप्रभा प्रादुर्भूय ज्योतिष्मत्तमां परमात्मप्रभां प्रकटयति ॥१॥

अब उषा के दृष्टान्त से आध्यात्मिक प्रभा का वर्णन करते हैं।

पदार्थ– **इदम्** यह **ज्योतिषाम्** अग्नि, विद्युत् आदि ज्योतियों में **श्रेष्ठम्** श्रेष्ठ **ज्येतिः** ज्योति उषा **आगात्** आयी है । **चित्रः** अद्भुत **विभ्वा** व्यापक **प्रकेतः** प्रकाश **अजनिष्ट** उत्पन्न हो गया है । **यथा** जिस प्रकार **प्रसूता** उत्पन्न यह उषा **सवितुः** सूर्य के **सवाय** जन्म के लिए आकाश को खाली कर देती है, **एवा** इसी प्रकार **रात्री** रात्रि ने **उषसे** उषा के जन्म के लिए **योनिम्** आकाश को **आरैक्** खाली कर दिया है ॥१॥

यहां उपमा और स्वभावोक्ति अलंकार हैं। 'ज्योति' की आवृत्ति में यमक और 'सवि, सवा' में छेकानुप्रास है । प्राकृतिक उषा के वर्णन से आध्यात्मिक उषा की व्यंजना हो रही है ॥१॥

भावार्थ– जैसे रात्रि के अंधेरे को समाप्त करके ज्योतिष्मती उषा आकाश में प्रकट होती है और अपने से अधिक ज्योतिष्मान् सूर्य को प्रकट करती है, वैसे ही अविद्या के घोर अंधेरे को चीरकर ज्योतिष्मती आत्म-प्रभा प्रकट होकर अपने से अधिक ज्योतिर्मयी परमात्म-प्रभा को प्रकट करती है ॥१॥

अथ रात्र्युषर्वर्णनेनापरापराविद्ये प्रकाशयति ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ ३ १र २र
१७५०. **रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः ।**
३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने ॥२॥[1]
१ २र १ २र ३ १ २र ३ २ ३
रुशद्वत्सा रुशत् वत्सा रुशती श्वेत्या आ अगात् ।
१ २र ३ २ १ २र ३
आरैक् उ कृष्णा सदनानि अस्याः ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३र१ २ ३ ५ २
समानबन्धू समान बन्धूइति अमृते अ मृतेइति अनूचीइति ।
१ २र १ २र ३ २ ३ १ २
द्यावा वर्णम् चरतः आमिनाने आ मिनानेइति ॥२॥

पदार्थः– **रुशद्वत्सा** रुशद् ज्वलितः वत्सः सूर्यरूपो यस्याः सा, **रुशती** रक्तवर्णा, **श्वेत्या** उज्ज्वला उषाः **आगात्** आगतास्ति । **कृष्णा** कृष्णवर्णा रात्रिः **अस्याः** उषसः **सदनानि** स्थानानि **आरैक् उ** अरिचत् खलु । इमे रात्र्युषसौ **समानबन्धू** समानः एकः सूर्यरूपः बन्धुर्ययोः तादृश्यौ, **अमृते** प्रवाहरूपेण विनाशरहिते, **अनूची** अन्योन्यम् अनुवर्तमाने, **द्यावा** द्यावौ स्वस्वप्रकाशेन प्रकाशिते, **वर्णम्** स्वस्वरूपम् **आमिनाने** अन्योन्यस्मिन् प्रवेशयन्त्यौ ।[मिनातिः गतिकर्मा। निघं० २।१४,शानच् ।] **चरतः** गगनप्राङ्गणे विचरतः ॥२॥[2]

---

१. ऋ० १।११३।२।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिममुषोरात्रिव्यवहारविषये व्याख्याति ।

यास्कमुनिरिमं मन्त्रमेवं व्याख्यातवान् – [रुशद्वत्सा सूर्यवत्सा । रुशदिति वर्णनाम रोचतेर्ज्वलति कर्मणः । सूर्यमस्या वत्समाह, साहचर्याद् रसहरणाद् वा । रुशती श्वेत्यागात्-श्वेत्या श्वेततेः । अरिचत् कृष्णा सदनान्यस्याः, कृष्णवर्णा रात्रिः । कृष्णं कृष्यतेः, निकृष्टो वर्णः । अथैने संस्तौति–समानबन्धू समानबन्धने । अमृते अमरणधर्माणौ । अनूची अनूच्यौ इतरेतरमभिप्रेत्य । द्यावा वर्णं चरतः, ते एव द्यावौ द्योतनात् । अपि वा द्यावा चरतः, तया सह चरत इति स्यात् । आमिनाने आमिन्वाने, अन्योन्यस्याध्यात्मं कुर्वाणे । निरु० २।२०। इति]।

अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः । उषोरात्र्योः कृष्णगौरभगिन्योर्व्यवहारसमारोपात् समासोक्तिरपि । तयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः । उषोरात्रिवर्णनेनाऽपरापराविद्ययोरर्थोऽपि व्यज्यते ॥२॥

भावार्थः– यथा रात्र्यनन्तरं रोचमानसूर्यरूप वत्सोषाः समागच्छति तथैवापराविद्यानन्तरं ज्योतिष्मद्ब्रह्मवत्सा परा विद्या समायाति । रात्र्युषर्वदिमे उभे अपि विद्ये मनुष्याणां कल्याणकर्यौ स्तः ॥२॥

अगले मन्त्र में रात्रि और उषा के वर्णन द्वारा अपरा और परा विद्या का प्रकाश किया गया है ।

पदार्थ– रुशद्वत्सा जिसका चमकीला सूर्य रूप बछड़ा है ऐसी, **रुशती** लाल वर्ण वाली, **श्वेत्या** उज्ज्वल उषा **आगात्** आयी है । **कृष्णा** काली रात्रि ने **अस्याः** इस उषा के **सदनानि** सदनों को **आरैक् उ** खाली कर दिया है । ये रात्रि और उषा **समानबन्धू** सूर्य रूप समान बन्धु वाली, **अमृते** प्रवाह रूप से अमर, **अनूची** एक-दूसरी के बाद आने वाली, **द्यावा** अपने-अपने प्रकाश से प्रकाशित, **वर्णम्** अपने-अपने रूप को **आमिनाने** एक-दूसरे में प्रविष्ट कराने वाली होकर **चरतः** गगन-प्रागंण में विचर रही हैं ॥२॥

यहां स्वभावोक्ति अलंकार है । उषा और रात्रिमें में काली-गोरी दो बहिनोंके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति भी है । दोनोंका अंगाङ्गिभावसंकर है,उषा और रात्रिके वर्णनसे परा और अपरा विद्या का अर्थ भी ध्वनित हो रहा है ।

भावार्थ– जैसे रात्रि के बाद चमकीले सूर्य-रूप बछड़े वाली उषा आती है, वैसे ही अपरा विद्या के अनन्तर ज्योतिर्मय ब्रह्म-रूप बछड़े वाली परा विद्या आती है । रात्रि और उषा के समान ये दोनों विद्याएँ भी मनुष्यों का कल्याण करने वाली हैं ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

३ २उ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
१७५१. समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे ॥३॥[1]

१ २ ३ २ १ २र १ २र ३ २ ३ २
समानः सम् आनः अध्वा स्वस्रोः अनन्तः अन् अन्तः ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
तम् अन्यान्या अन्या अन्या चरतः देवशिष्टे देव शिष्टेइति ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३र २
न मेथेते इति न तस्थतुः सुमेके सु मेकेइति ।
१ २र ३ १ २ १ २र ३ १ २र ३ १ २
नक्ता उषासा समनसा स मनसा विरूपे वि रूपेइति ॥३॥

---

१. ऋ० १।११३।३।

पदार्थः— **स्वस्रोः** भगिन्योः अनयोः नक्तोषसोः **समानः** एक एव **अनन्तः** असीमः **अध्वा** मार्गः वर्तते । **तम्** आकाशरूपम् अध्वानम् **देवशिष्टे** जगदीश्वरेण अनुशिष्टे शिक्षिते **अन्यान्या** परस्परं सम्बद्धे **चरतः** विचरतः । इमे **सुमेके**[1] सुष्ठु नियमेषु प्रक्षिप्ते । [मेकः, डुमिञ् प्रक्षेपणे धातोर्बाहुलकादौणादिकः कन् प्रत्ययः । शोभनो मेकः नियमेषु प्रक्षेपणं ययोस्ते ।] **विरूपे** कृष्णगौररूपविभिन्नवर्णे, **समनसा** समानमनस्के इव **नक्तोषसा** रात्र्युषसौ **न मेथेते** न परस्परं हिंस्तः । [मेथृ मेधाहिंसनयोः, भ्वादिः] **[न तस्थतुः** न कार्याद् विरमतः, प्रत्युत आसृष्टेः विश्राम-प्रदानप्रकाशप्रदानरूपस्वस्वकार्यसंलग्ने स्तः ॥३॥[2]

अत्र नक्तोषसोः स्वसृत्वारोपाद् रूपकालङ्कारः । 'समनसा' इति लुप्तोपमम् ॥३॥

भावार्थः— नक्तोषर्वदपरापराविद्ये अपि मनुष्यैः सामञ्जस्येन गृह्येतां चेत्तर्हि निश्चयेनाभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिर्भवितुं शक्नोति ॥३॥

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— स्वस्रोः रात्रि और उषा रूप इन दोनों बहिनों का **समानः** एक ही **अनन्तः** अनन्त **अध्वा** मार्ग है । **तम्** उस आकाश-रूप मार्ग पर **देवशिष्टे** जगदीश्वर के अनुशासन में रहती हुई **अन्यान्या** एक-दूसरी की गलबहियां लेकर **चरतः** विचर रही हैं । ये **सुमेके** भली-भाँति नियमों में बंधी हुई, **विरूपे** काले-गोरे विभिन्न रूपों वाली, और **समनसा** समान मन वालियों जैसी **नक्तोषासा** रात्रि और उषा **न मेथेते** एक-दूसरी की हिंसा नहीं करतीं, **न तस्थतुः** न कार्य से विरत होती हैं, प्रत्युत सृष्टि से लेकर विश्राम-प्रदान और प्रकाश-प्रदान-रूप अपने-अपने कार्य में संलग्न हैं ॥३॥

यहां रात्रि और उषा में बहिनों का आरोप होने से रूपक अलंकार है । 'समनसा' में लुप्तोपमा है ॥३॥

भावार्थ— रात्रि और उषा के समान अपरा और परा विद्या को भी मनुष्य यदि सामञ्जस्यपूर्वक ग्रहण करें तो निश्चय ही अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो सकती है ॥३॥

॥१५॥ अथ ' आ भात्यग्नि' इत्यादिकस्य पञ्चमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** आत्रिर्भौमः । **देवते** अश्विनौ । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

तत्रादौ प्राणायामविषयं वर्णयति ।

१ २ ३ २३२ ३१ २३१र २र ३ १र ३र
१७५२. **आ भात्यग्निरुषसामनीकमुद्विप्राणां देवया वाचो अस्थुः ।**
३ १ २ ३१ २ ३१ २ ३ १.२ ३१र २र
अर्वाञ्चा नूनं रथ्येह यातं पीपिवांसमश्विना घर्ममच्छ ॥१॥[3]

२ ३ २ ३१ २ १ २र
आ भाति अग्निः उषसाम् अनीकम् ।
१ २र ३ २ ३ २ १ २र ३
उत् विप्राणाम् वि प्राणाम् देवयाः देव याः वाचः अस्थुः ।
१ २ ३२ ३ २ ३ १.२ ३ २ १ २र
अर्वाञ्चा नूनम् रथ्या इह यातम् । पीपिवांसम् अश्विना घर्मम् अच्छ ॥१॥

---

१. सुमेके शोभनमेहने सर्वेषामुत्पादकत्वाच्छोभनप्रजनने वा-इति सा० । नियमे प्रक्षिप्ते-इति ऋग्भाष्ये द० ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिममुषोरात्रिव्यवहारविषये व्याचष्टे ।

३. ऋ० ५।७६।१।

पदार्थः– अग्निः यज्ञाग्निः **आ भाति** आभासते, **उषसाम्** प्रभातकान्तीनाम् **अनीकम्** किरणसैन्यमपि **आ भाति** आ भासते । **विप्राणाम्** मेधाविनाम् उपासकानाम् **देवयाः** परमात्माराधनकामाः **वाचः** गिरः **उद् अस्थुः** उत्तिष्ठन्ति । हे **रथ्या** रथ्यौ देहरथवोढारौ **अश्विना** अश्विनौ प्राणापानौ । युवाम् **अर्वाञ्चा** अर्वाञ्चौअस्मदभिमुखौ सन्तौ **नूनम्** निश्चयेन **इह** अत्र **पीपिवांसम्** आप्यायितम् । [ओप्यायी वृद्धौ, लिटः क्वसुः,प्यायःपीआदेशः।] **घर्मम्** प्रातःकालिकं ब्रह्मयज्ञम् **अच्छ** प्रति **आ यातम्** आगच्छतम् ।।१।।[1]

भावार्थः– उषःकाले स्वच्छे प्रभातवायौ ब्रह्मयज्ञे कृतः प्राणायामोऽपूर्वं तेजो जागर्तिं स्फूर्तिमारोग्यं बलं च प्रयच्छति ।।१।।

प्रथम मन्त्र में प्राणायाम का वर्णन है ।

पदार्थ– अग्निः यज्ञाग्नि **आ भाति** आभासित हो रही है, **उषसाम्** उषाओं की **अनीकम्** किरण-सेना भी **आ भाति** आभासित हो रही है । **विप्राणाम्** मेधावी उपासकों की **देवयाः** परमात्माराधना की इच्छुक **वाचः** वाणियां **उद् अस्थुः** उठ रही हैं। हे **रथ्या** शरीर-रथ को चलाने वाले **अश्विना** प्राणापानो ! तुम दोनों **अर्वाञ्चा** हमारे अभिमुख होते हुए **नूनम्** निश्चय ही **इह** यहां **पीपिवांसम्** समृद्ध घर्मम् प्रातःकालीन ब्रह्मयज्ञ के **अच्छ** प्रति **आ यातम्** आओ ।।

भावार्थ– उषाकाल में स्वच्छ प्राभातिक वायु में ब्रह्मयज्ञ में किया गया प्राणायाम अपूर्व तेज, जागृति, स्फूर्ति, आरोग्य और बल प्रदान करता है ।।१।।

अथ प्राणापानयोर्महत्त्वमुच्यते ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २
१७५३. **न संस्कृतं प्र मिमीतो गमिष्ठान्ति नूनमश्विनोपस्तुतेह।**
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
दिवाभिपित्वेऽवसागमिष्ठा प्रत्यवर्ति दाशुषे शम्भविष्ठा ।।२।।[2]

३ २ ३ २ ३ १ २र
न संस्कृतम् सम् कृतम् प्र मिमीतः गमिष्ठा ।
१ २र ३ २ ३ १ २ १ २र १ २र ३ ३
अन्ति नूनम् अश्विना उपस्तूता उप स्तुता इह।
१ २र ३ २ ३ २ १ २र १ २र ३
दिवा अभिपित्वे अभि पित्वे अवसा आगमिष्ठा आ गमिष्ठा ।
१ २र १ २र ३ १ २ १ २र ३
प्रति अवर्तिम् दाशुषे शम्भविष्ठा शम् भविष्ठा ।।२।।

पदार्थः–उपस्तुता उपस्तुतौ, महत्त्ववर्णनेन प्रशंसितौ **नूनम्** निश्चयेन **इह** अस्मिन् देहे **अन्ति** अन्तिके **गमिष्ठा** अतिशयेन कृतगमनागमनौ **अश्विना** प्राणापानौ **संस्कृतम्** कृतसंस्कारं जीवनयज्ञम् **न प्र मिमीतः** न प्र हिंस्तः। [माङ् माने शब्दे च जुहोत्यादिः प्रपूर्वोऽत्र हिंसाया वर्तते परस्मैपदं व्यत्ययेन।] **दिवा अभिपित्वे** दिवसे प्राप्ते, प्रातःकाले इत्यर्थः **अवसा** रक्षणेन सह **आगमिष्ठा** आगमिष्ठौ अतिशयेन आगन्तारौ प्राणापानौ **अवर्तिम्** आधिव्याधिदुर्गतिदुर्बलतादिकम् **प्रति** प्रतिरुध्य **दाशुषे** हविर्दत्तवते अग्निहोत्रिणे **शं भविष्ठा** अतिशयेन सुखस्य

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रेऽस्मिन् 'अश्विना' अति पदेन स्त्रीपुरुषौ गृह्णाति ।

२. ऋ० ५।७६।२ ।

भावयितारौ, जायेते इति शेषः। [गमिष्ठा, अश्विना इत्यादौ सर्वत्र 'सुपां सुलुक्० । अ० ७।१।३९ इत्यनेन प्रथमा-द्विवचनस्याकारादेशः] ॥२॥[1]

भावार्थः— सम्यक् सेवितौ प्राणापानौ मनुष्यं रोगादिपाशेभ्य उद्धृत्य दीर्घायुषं कुरुतः ॥२॥

अगले मन्त्र में प्राणापान का महत्त्व वर्णित है ।

पदार्थ— उपस्तुता महत्त्व-वर्णन द्वारा प्रशंसा किये गये, **नूनम्** निश्चय ही **इह** इस शरीर में **अन्ति** समीप होकर **गमिष्ठा** अतिशय गमन-आगमन करने वाले **अश्विना** प्राणापान **संस्कृतम्** संस्कृत जीवन-यज्ञ की **न प्र मिमीतः** हिंसा नहीं करते हैं। **दिवा अभिपित्वे** दिन के प्राप्त होने पर अर्थात् प्रातःकाल **अवसा** रक्षा के साथ **आगमिष्ठा** आने वाले प्राणापान **अवर्तिम्** आधि, व्याधि, दुर्गति, दुर्बलता आदि को **प्रति** रोककर **दाशुषे** हवि देने वाले अग्निहोत्री के लिए **शम्भविष्ठा** अतिशय सुख देने वाले होते हैं ॥२॥

भावार्थ— भली-भाँति सेवित प्राणापान रोग आदि के पाशों से मनुष्य का उद्धार करके उसे दीर्घायु करते हैं ॥२॥

अथ पुनरपि प्राणापानयोर्विषयमाह ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१७५४. उता यातं संगवे प्रातरह्नो मध्यन्दिन उदिता सूर्य्यस्य ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ २
दिवा नक्तमवसा शन्तमेन नेदानीं पीतिरश्विना ततान ॥३॥[2]

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ २ ३
उत आ यातम् संगवे सम् गवे प्रातः अह्नः अ ह्नः।
१ २ १ २ २ ३ १ २ २ १ २ २ १ २ २ १ २ २ १ २ २
मध्यन्दिने उदिता उत् इता सूर्यस्य । दिवा नक्तम् अवसा शन्तमेन ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
न इदानीम् पीतिः अश्विना आ ततान ॥३॥

पदार्थः— हे **अश्विना** अश्विनौ प्राणापानौ ! युवाम् **अह्नः** दिवसस्य **सङ्गवे** संगच्छन्ते गावो यस्मिन् दोहनार्थं स संगवः रात्रेः परभागकालो ब्राह्ममुहूर्तं वा तस्मिन्, **प्रातः** प्रातःकाले, **मध्यन्दिने** मध्याह्ने **उत** अपि च **सूर्यस्य** आदित्यस्य **उदिता** उदितौ अस्तमनकाले, **दिवा** दिने, **नक्तम्** रात्रौ च **शन्तमेन** सुखयितृतमेन **अवसा** रक्षणेन **आयातम्** गमनागमने कुरुतम् । **इदानीम्** अधुना **पीतिः** मृत्युः । [पीयतिर्हिंसाकर्मा । निरु० ४।२५ ।] **न आ ततान** स्वपाशं न विस्तारयेत्, नास्मान् हन्यादिति भावः । [तनु विस्तारे, विध्यर्थे लिट्] ॥३॥[3]

भावार्थः— विधिपूर्वकं प्रातः सायं च कृतः प्राणायामो दिवानिशं सर्वेष्वेव कालेषु कष्टान्मृत्योश्च प्राणायामिनं त्रायते ॥३॥

अस्मिन् खण्डे यज्ञाग्नेः परमात्मन उपास्योपासकयोरुषसआध्यात्मिक्याः प्रभाया रात्र्युषसोरपरापरा-विद्ययोः प्राणापानयोश्च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं गृहस्थस्त्रीपुरुषयोर्विषये व्याचष्टे ।

२. ऋ० ५।७६।३।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं कृतविवाहयोः स्त्रीपुरुषयोर्विषये व्याख्याति ।

आगे फिर प्राणापान का विषय है ।

पदार्थ– हे **अश्विना** प्राणापानो ! तुम **अह्नः** दिन के **सङ्गवे** गोदोहनकाल में अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त में, **प्रातः** प्रातःकाल में, **मध्यन्दिने** मध्याह्न में **उत** और **सूर्यस्य** सूर्य के **उदिता** अस्त होने के काल में, **दिवा** दिन में और **नक्तम्** रात्रि में **शन्तमेन** अतिशय सुखदायक **अवसा** रक्षा के साथ **आयातम्** आओ । **इदानीम्** इस समय **पीतिः** मृत्यु **न आ ततान** अपना फन्दा न फैलाये, अर्थात् हमारा वध न करे ।।३।।

भावार्थ– विधिपूर्वक प्रातः-सायं किया गया प्राणायाम दिन-रात सब कालों में कष्ट और मृत्यु से प्राणायाम करने वाले की रक्षा करता है ।।३।।

इस खण्ड में यज्ञाग्नि, परमात्मा, उपास्य-उपासक, उषा, आध्यात्मिक प्रभा, रात्रि-उषा, अपरा-परा विद्या तथा प्राणापान के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

उन्नीसवें अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ।

।।१६।। अथ 'एता उ' इत्यादिकस्य षोडशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गोतमो राहूगणः। **देवता** उषाः । **छन्दः** जगती । **स्वरः** निषादः ।।

अथोषसो वर्णयति ।

१७५५. एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते ।
निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः ।।१।।[1]

एताः उ त्याः उषसः केतुम् अक्रत । पूर्वे अर्धे रजसः भानुम् अञ्जते ।
निष्कृण्वानाः निः कृण्वानाः आयुधानि इव धृष्णवः ।
प्रति गावः अरुषीः यन्ति मातरः ।।१।।

पदार्थः– **एताः उ** इमाः खलु **त्याः** ताः **उषसः** प्रभातसंध्याः **केतुम्** प्रज्ञानम् **अक्रत** अकृषत । [करोतेर्लुङि 'मन्त्रे घसह्वरणश.....कृ गमिजनिभ्यो लेः 'अ० २।४।८० इति च्लेर्लुक् ।] **रजसः** अन्तरिक्षलोकस्य **पूर्वे अर्धे** प्राचीने दिग्भागे **भानुम्** प्रकाशम् **अञ्जते** व्यक्तीकुर्वन्ति । **धृष्णवः** शत्रुधर्षणशीला योद्धारः **आयुधानि इव** शस्त्रास्त्राणि यथा निष्कृण्वन्ति तेजयन्ति एवं **निष्कृण्वानाः** भूप्रदेशान् स्वभासा प्रकाशयन्त्यः, **गावः** गमनशीलाः, **अरुषीः** आरोचमानाः **मातरः** मातृरूपाः उषसः **प्रति यन्ति** गच्छन्त्यागच्छन्ति च ।।१।।[2]

यास्काचार्यो मन्त्रमिममेवं व्याचष्टे– [एतास्ता उषसः केतुमकृषत प्रज्ञानम् । एकस्या एव पूजनार्थे बहुवचनं स्यात् । पूर्वे अर्धे अन्तरिक्षलोकस्य समञ्जते भानुना । निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः । निरित्येष समित्येतस्य स्थाने 'एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव (ऋ० १०।३४।५) इत्यापि निगमो भवति । प्रतियन्ति गावो गमनात्, अरुषीरारोचनात्, मातरो भासो निर्मात्र्यः। निरु०१२।७]।

---

१. ऋ० १।९२।१ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं प्राकृतिक्या उषसः पक्षे व्याख्यातः ।

अत्रोषःसु मातृत्वारोपाद् रूपकालङ्कारः, 'निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः' इत्युपमा । उभावपि स्वभावोक्तिरङ्गमित्यङ्गाङ्गिभावरूपः सङ्करः। प्राकृतिक्या खलूषसाऽऽध्यात्मिकी द्युषा व्यज्यते ॥१॥

भावार्थः— यथा प्राकृतिक्युषा रात्रेरन्धकारं विच्छिद्य भुवि प्रकाशं जनयति तथाध्यात्मिकी ज्योतिष्मती प्रज्ञा तमोभावं निरस्य चित्तप्रसादं जनयति ॥१॥

उषाओं का वर्णन करते हैं।

पदार्थ— **एताः** उ इन **त्याः** उन **उषसः** उषाओं ने **केतुम्** प्रज्ञान को **अक्रत** उत्पन्न कर दिया है । ये **रजसः** अंतिरक्ष लोक के **पूर्वे अर्धे** पूर्व के आधे भाग में **भानुम्** प्रकाश को **अञ्जते** व्यक्त कर रही हैं। **धृष्णवः** शत्रुओं का धर्षण करने वाले योद्धा लोग **आयुधानि इव** जैसे शस्त्रास्त्रों को चमकाते हैं, वैसे ही भूप्रदेशों को **निष्कृण्वानाः** चमकाती हुई, **गावः** गमनशील, **अरुषीः** देदीप्यमान **मातरः** माता उषाएं **प्रतियन्ति** जाती-आती हैं ॥१॥

यहां उषाओं में मातृत्व का आरोप होने से रूपक अलंकार है, 'निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः' में उपमा है । ये दोनों स्वभावोक्ति के अंग हैं, अतः अंगांगिभाव-रूप संकर है । प्राकृतिक उषा के वर्णन से आध्यात्मिक उषा की व्यंजना हो रही है ॥१॥

भावार्थ— जैसे प्राकृतिक उषा रात्रि के अंधेरे को छिन्न-भिन्न करके भूमि पर प्रकाश उत्पन्न करती है, वैसे ही आध्यात्मिक ज्योतिष्मती प्रज्ञा तमोभाव को दूर करके चित्तप्रसाद उत्पन्न करती है ॥१॥

अथ पुनरप्युषा वर्ण्यते ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१७५६. उदपप्तन्नरुणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुषीर्गा अयुक्षत ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अक्रन्नुषासो वयुनानि पूर्वथा रुशन्तं भानुमरुषीरशिश्रयुः ॥२॥[1]

२ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३
उत् अपप्तन् अरुणाः भानवः वृथा। स्वायुजः सु आयुजः अरुषीः गाः अयुक्षत ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३
अक्रन् उषासः वयुनानि पूर्वथा। रुशन्तम् भानुम् अरुषीः अशिश्रयुः ॥२॥

पदार्थः— **अरुणाः** आरक्तवर्णाः **भानवः** प्रकाशाः **वृथा** अनायासम् **उदपप्तन्** उद्गच्छन्ति । **अरुषीः** आरोचमानाः उषसः **स्वायुजः** सुखेन आयोक्तुं शक्याः **गाः** सूर्यदीधितीः **अयुक्षत** प्राचीने वियति सम्पृक्तवत्यः । **उषासः** उषसः **पूर्वथा** पूर्वेष्वहःसु इव । [अत्र 'प्रत्नपूर्व०' अ० ५।३।१११ इत्यनेन इवार्थे थाल् प्रत्ययः ।] **वयुनानि** लोकजागरणकर्माणि **अक्रन्** कुर्वन्ति । **अरुषीः** अरुष्यः आरक्तगुणा इमा उषसः **रुशन्तम्** रोचमानम् । [रुशदिति वर्णनाम, रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः । निरु० २।२० ।] **भानुम्** आदित्यम् **अशिश्रयुः** आश्रितवत्यः सन्ति । [श्रिञ् सेवायां भ्वादिः, लङि प्रथमबहुवचने व्यत्ययेन शपः स्थाने श्लुः] ॥२॥[2]

अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः । 'पूर्वथा' इत्यत्रोपमा ॥२॥

---

१. ऋ० १।९२।२।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरिममपि मन्त्रं प्राकृतिक्या उषसः पक्षे व्याख्यातवान् ।

भावार्थः— यथोषसामुदये व्योम भूतलं च प्रकाशितं जायते मानवाश्च जागर्तिमनुभवन्ति तथैवाध्यात्मिकीनां ज्योतिष्मतीनां प्रज्ञानामाविर्भावे चित्तपटलं प्रसीदत्यात्मबुद्धिप्राणेन्द्रियादीनि च सर्वाणि योगसिद्धये सचेष्टानि भवन्ति ।।२।।

आगे फिर उषा का वर्णन है ।

पदार्थ— अरुणाः लालिमा वाले **भानवः** प्रकाश **वृथा** अनायास **उदपप्तन्** उठ रहे हैं । **अरुषीः** चमकीली उषाओं ने **स्वायुजः** सुख से जुड़ने वाली **गाः** किरणों को **अयुक्षत** पूर्व दिशा के आकाश में जोड़ दिया है । **उषासः** उषाएं **पूर्वथा** पूर्व दिनों की भांति **वयुनानि** लोक-जागरण के कर्मों को **अक्रन्** कर रही हैं । **अरुषीः** लालिमा वाली ये उषाएं **रुशन्तम्** चमकीले **भानुम्** सूर्य का **अशिश्रयुः** आश्रय लिये हुए हैं ।।२।।

यहां स्वभावोक्ति अलंकार है । 'पूर्वथा' में उपमा है ।।२।।

भावार्थ— जैसे उषाओं के उदय होने पर आकाश और भूतल प्रकाशित हो जाता है तथा मनुष्य जागृति अनुभव करते हैं, वैसे ही आध्यात्मिक ज्योतिष्मती प्रज्ञाओं के आविर्भाव होने पर चित्तपटल निर्मल हो जाता है और आत्मा, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियाँ आदि सब योगसिद्धि के लिए सचेष्ट हो जाते हैं ।।२।।

अथ पुनरपि सैवोषा वर्ण्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१७५७. **अर्चन्ति नारीरपसो न विष्टिभिः समानेन योजनेना परावतः।**

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ७ ३ १ २ ३ २
इषं वहन्तीः सुकृते सुदानवे विश्वेदह यजमानाय सुन्वते ।।३।।[1]

१ २ र १ २ र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ र ३ १ २
अर्चन्ति नारीः अपसः न विष्टिभिः। समानेन सम् आनेन योजनेन आ परावतः।

१ २ र १ २ र ३ १ २ ३ १ २ र ३ १ २ ३ १ २ र
इषम् वहन्तीः सुकृते सु कृते सुदानवे सु दानवे ।

१ २ र १ २ र १ २ र ३ २
विश्वा इत् अह यजमानाय सुन्वते।।३।।

पदार्थः— अपसः अपस्विन्यः कर्मवत्यः। [अत्र मतुबर्थकस्य लुक् । अपः इति कर्मनाम । निघं० २।१ ।] **नारीः न** नार्यो यथा । [अत्र जसि छान्दसः पूर्वसवर्णदीर्घः ।] **आ परावतः** दूरदेशादपि आगत्य **समानेन योजनेन** समानया योजनया **विष्टिभिः** कर्मभिः । [विष्ट्वी इत्यस्य कर्मनामसु । निघं० २।१ पाठाद् विष् धातुः करोत्यर्थः। विष्टी इत्यपि पाठान्तरे कर्मनामसु पठितम् ।] **सुकृते** सुकर्मणे धर्मात्मने, **सुदानवे** सुष्ठु दानकरणशीलाय जनाय **इषम्** अन्नादिकम् वस्तु, **सुन्वते** भक्तिरसमभिषुण्वते **यजमानाय** याज्ञिकाय पुरुषाय च **अह** निश्चयेन **विश्वा इत्** विश्वानि एव अभीष्टानि । [अत्र 'शेश्छन्दसि बहुलम्' अ० ६।१।७० इत्यनेन शसः शेर्लोपः।] **वहन्तीः** प्रापयन्त्यः, तम् **अर्चन्ति** सत्कुर्वन्ति, तथैव इमाः प्राकृतिक्यः आध्यात्मिक्यश्च उषसः अपि कुर्वन्ति ।।३।।[2]

अत्रोपमालङ्कारः।।३।।

---

१. ऋ० १।९२।३।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरिममपि मन्त्रं प्राकृतिक्या उषसः पक्षे योजितवान् ।

भावार्थः— ये सुकर्माणो धर्मात्मानः परोपकारिणः परमेश्वरोपासका यज्ञकर्तारश्च भवन्ति तान् यथा नार्यः सत्कुर्वन्ति तथैव निशान्तेऽरुणेन प्रकाशेनाविर्भवन्त्यः प्राकृतिक्य उषसो योगमार्गेऽनुभूता ज्योतिष्मत्यः प्रज्ञाश्चापि तानभिनन्दन्ति, प्रेयोमार्गे श्रेयोमार्गे च तेषां साहाय्यमातन्वन्तीत्यर्थः ॥३॥

आगे फिर वही उषा वर्णित की जा रही है ।

पदार्थ— **अपसः** कर्मण्य **नारीः न** नारियां जैसे **आ परावतः** दूरदेश से भी आकर **समानेन योजनेन** समान योजना बनाकर **विष्टिभिः** कर्मों द्वारा **सुकृते** धर्मात्मा **सुदानवे** उत्तम दानी मनुष्य को **इषम्** अन्न आदि पदार्थ, और **सुन्वते** भक्तिरस प्रवाहित करने वाले तथा **यजमानाय** यज्ञ करने वाले पुरुष को **अह** निश्चय ही **विश्वा इत्** सभी अभीष्ट वस्तुएं **वहन्तीः** प्राप्त कराती हुई, उसका **अर्चन्ति** सत्कार करती हैं, वैसे ही ये प्राकृतिक और आध्यात्मिक उषाएं भी करती हैं ॥३॥

यहां उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ— जो शुभ कर्म करने वाले धर्मात्मा, परोपकारी परमेश्वर के उपासक यज्ञकर्ता जन होते हैं उनका जैसे नारियां सत्कार करती हैं वैसे ही रात्रि के अन्त में लालिमा के साथ छिटकती हुई प्राकृतिक उषाएं तथा योगमार्ग में अनुभव की हुई ज्योतिष्मती प्रज्ञाएं भी उनका अभिनन्दन करती हैं अर्थात् प्रेय मार्ग तथा श्रेय मार्ग में उनकी सहायता करती हैं ॥३॥

॥१७॥ अथ 'अबोध्यग्नि'रित्यादिकस्य सप्तदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** दीर्घतमा औचथ्यः। **देवते** अश्विनौ । **छन्दः** जगती । **स्वरः** निषादः ॥

तत्रादौ प्रभातकालं वर्णयति ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ २ २ ३ २ ३क २र ३ १ २
१७५८. **अबोध्यग्निर्ज्म उदेति सूर्यो व्यु३षाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा।**
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २ड ३ १ २
आयुक्षातामश्विना यातवे रथं प्रासावीद्देवः सविता जगत् पृथक् ॥१॥[1]
१ २र ३ २ ३ १२र ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अबोधि अग्निः ज्मः उत् एति सूर्यः। वि उषाः चन्द्रा मही आवः अर्चिषा।
३ २र ३ १ २ १२र १ २र १ २ ३ २ १ २र १ २र
आयुक्षाताम् अश्विना यातवे रथम् । प्र असावीत् देवः सविता जगत् पृथक् ॥१॥

पदार्थः— **अग्निः** यज्ञवह्निः **अबोधि** यज्ञकुण्डे प्रबुद्धोऽस्ति । प्राच्यां दिशि **ज्मः** पृथिव्याः । [ज्मा इति पृथिवीनामसु पठितम् । निघं० १।१ । ज्मायाः इति प्राप्ते आकारलोपश्छान्दसः ।] **सूर्यः** भास्करः **उदेति** उदयं भजते । **चन्द्रा** आह्लादप्रदा **मही** महती **उषाः** प्रभातसन्ध्या **अर्चिषा** प्रभया **वि आवः** विवृतवती स्वात्मानम् । [वि पूर्वाद् वृणोतेर्लुङि 'मन्त्रे घसह्वर०' अ० २।४।८० इति च्लेर्लुक् । 'छन्दस्यपि दृश्यते' अ० ६।४।७३ इत्यनजादित्वेऽप्याडागमः।] **अश्विना**[2] अश्विनौ प्राणापानौ **यातवे** यातुम् । [यातेस्तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः ।] **रथम्** देहशकटम्

---

१. ऋ० १।१५७।१।

२. सायणाचार्येणात्र 'अश्विना' इति सम्बोधनान्तं गृहीतम्— "हे अश्विनौ युष्मत्सम्बन्धिनं रथं यातवे देवयजनगमनाय रासभाभ्याम् आयुक्षताम् युञ्जाथाम्" इति । तत्तु स्वरविरुद्धं व्याकरणविरुद्धं च ।

आयुक्षाताम् आयोजयताम् । **देवः** प्रकाशकः **सविता** आदित्यः **जगत्** जडचेतनात्मकं सर्वं संसारम् **पृथक्** विभक्तरूपेण **प्रासावीत्** आविर्भावितवान् ।।२।।[1]

अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः ।।१।।

भावार्थः— प्रभातस्य रमणीये स्वच्छे स्फूर्तिप्रदायके काले सर्वैः स्त्रीपुरुषैः प्राणायामविधिनाऽष्टाङ्गो योगोऽभ्यसनीयः ।।१।।

प्रथम मन्त्र में प्रभातकाल का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— अग्निः यज्ञाग्नि **अबोधि** यज्ञकुण्ड में प्रबुद्ध हुआ है । पूर्व दिशा में **ज्मः** क्षितिज से **सूर्यः** सूर्य **उदेति** उदित हो रहा है । **चन्द्रा** आह्लाददायिनी **मही** महती **उषाः** उषा **अर्चिषा** प्रभा के साथ **वि आवः** आविर्भूत हो गयी है । **अश्विना** प्राणापानों ने **यातवे** चलने के लिए **रथम्** शरीर-रथ को **आयुक्षाताम्** नियुक्त कर दिया है । **देवः** प्रकाशक **सविता** सूर्य ने **जगत्** जड़-चेतन जगत् को **पृथक्** अलग-अलग **प्रासावीत्** प्रकटकर दिया है ।।१।।

यहां स्वभावोक्ति अलंकार है ।।१।।

भावार्थ— प्रभात के रमणीय, स्वच्छ, स्फूर्तिदायक काल में सब स्त्री-पुरुषों को प्राणायाम की विधि से अष्टांग योग का अभ्यास करना चाहिए ।।१।।

अथ प्राणापानचालितस्य देहरथस्य विषयमाह ।

१७५९. **यद्युञ्जाथे वृषणमश्विना रथं घृतेन नो मधुना क्षत्रमुक्षतम् ।**
अस्माकं ब्रह्म पृतनासु जिन्वतं वयं धना शूरसाता भजेमहि ।।२।।[2]

यत् युञ्जाथेइति वृषणम् अश्विना रथम् । घृतेन नः मधुना क्षत्रम् उक्षतम् ।
अस्माकम् ब्रह्म पृतनासु जिन्वतम् ।
वयम् धना शूरसाता शूर साता भजेमहि ।।२।।

पदार्थः— हे **अश्विना** प्राणापानौ ! **यत्** यदा, युवाम् **वृषणम्** बलवन्तम् **रथम्** देहशकटम् **युञ्जाथे** गमनाय नियुक्तं कुरुथः, तदा **नः** अस्माकम् **क्षत्रम्** क्षात्रबलम् **घृतेन** तेजसा **मधुना** माधुर्येण च **उक्षतम्** सिञ्चतम् । **अस्माकम्** वीराणां नः **पृतनासु** सेनासु **ब्रह्म** ब्रह्मबलम् **जिन्वतम्** प्रेरयतम् । **वयम्** वीराः **शूरसाता** शूरसातौ देवासुरसंग्रामे । [शूरसातौ इति संग्रामनामसु पठितम् । निघं० २।१७ ।] **धना** धनानि दिव्यानि भौतिकानि चैश्वर्याणि **भजेमहि** प्राप्नुयाम ।।२।।[3]

भावार्थः— क्षत्रियेषु केवलं क्षात्रबलमेव न प्रत्युत ब्रह्मबलमप्यपेक्ष्यते। तथैव ब्राह्मणेषु ब्रह्मबलातिरिक्तं क्षात्रबलमप्यभीष्टं भवति । उभयोः समन्वयेनैव व्यक्तीनां राष्ट्राणां चोन्नतिर्जायते ।।२।।

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रेऽस्मिन् 'अश्विना' इति पदेन विद्वांसौ आप्तौ अध्यापकोपदेशकौ गृहीतौ।
२. ऋ० १।१५७।२ ।
३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं राजनीतिपक्षे व्याख्यातवान् ।

अगले मन्त्र में प्राणापान से चालित शरीर-रथ का विषय है ।

पदार्थ– हे **अश्विना** प्राणापानो ! **यत्** जब, तुम **वृषणम्** बलवान् **रथम्** शरीर-रथ को **युञ्जाथे** चलने के लिए नियुक्त करते हो तब **नः** हमारे **क्षत्रम्** क्षात्रबल को **घृतेन** तेज से और **मधुना** माधुर्य से **उक्षतम्** सींचो । **अस्माकम्** हम वीरों की **पृतनासु** सेनाओं में **ब्रह्म** ब्रह्मबल को **जिन्वतम्** प्रेरित करो । **वयम्** हम वीर **शूरसाता** देवासुरसंग्राम में **धना** दिव्य और भौतिक ऐश्वर्यों को **भजेमहि** प्राप्त करें ।।२।।

भावार्थ– क्षत्रियों में केवल क्षात्रबल ही नहीं, प्रत्युत ब्रह्मबल भी अपेक्षित होता है । वैसे ही ब्राह्मणों में ब्रह्मबल के अतिरिक्त क्षात्रबल भी अभीष्ट होता है । दोनों के समन्वय से ही व्यक्तियों और राष्ट्रों की उन्नति होती है ।।२।।

अथ पुनरपि तमेव विषयं वर्णयति ।

१७६०. **अर्वाङ् त्रिचक्रो मधुवाहनो रथो जीराश्वो अश्विनोर्यातु सुष्टुतः ।**
त्रिबन्धुरो मघवा विश्वसौभगः शं न आ वक्षद् द्विपदे चतुष्पदे ।।३।।[1]

अर्वाङ् त्रिचक्रः त्रि चक्रः मधुवाहनः मधु वाहनः रथः ।
जीराश्वः जीर अश्वः अश्विनोः यातु सुष्टुतः सु स्तुतः ।
त्रिबन्धुरः त्रि बन्धुरः मघवा विश्वसौभगः विश्व सौभगः ।
शम् नः आ वक्षत् द्विपदे द्वि पदे चतुष्पदे चतुः पदे ।।३।।

पदार्थः– **अश्विनोः** प्राणापानयोः **त्रिचक्रः** त्रीणि आत्ममनःप्राणरूपाणि चक्राणि यस्मिन् सः, **मधुवाहनः** मधुरगतिः, **जीराश्वः** जीराः वेगवन्तः अश्वाः इन्द्रियरूपा यस्मिन् सः । [जीराः इति क्षिप्रनामसु पठितम् । निघं० २।१५ ।] **सुष्टुतः** सुप्रशंसितः, **त्रिबन्धुरः** त्रयः सत्त्वरजस्तमोरूपाः बन्धुराः बन्धाः यस्मिन् सः, **मघवा** ब्रह्मक्षत्ररूपधनः, **विश्वसौभगः** अखिलसौभाग्योपेतः **रथः** देहशकटः **अर्वाङ्** अस्मदनुकूलम् **यातु** चलतु । किञ्च **नः** अस्माकम् **द्विपदे** मनुष्याद्याय **चतुष्पदे** गवाद्याय च **शम्** सुखम् **आ वक्षत्** आवहतु । [वहेर्लेटि सिबडागमौ] ।।३।।[2]

भावार्थः– प्राणापानयोरेव सामर्थ्येन मनुष्याणां शरीररथः सबलः सफलक्रियः सज्जनानां हितावहो गवाश्वादीनामुपयोगिनां पशूनां सुखकरो दुष्टानां विध्वंसकरश्च जायते ।।३।।

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ– **अश्विनोः** प्राणापानों का **चित्रक्रः** आत्मा, मन और प्राण इन तीन चक्रों वाला, **मधुवाहनः** मधुर गति वाला, **जीराश्वः** वेगवान् इन्द्रिय-रूप घोड़ों वाला, **सुष्टुतः** सुप्रशंसित, **त्रिबन्धुरः** सत्त्व, रजस्, तमस् इन

---

१. ऋ० १।१५७।३।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं पदार्थविद्यया प्रशंसितयानादिनिर्माणविषये व्याख्यातः ।

तीन बन्धनों वाला, **मघवा** ब्रह्मबल और क्षात्रबल रूप धन वाला, **विश्वसौभगः** सब सौभाग्यों से युक्त **रथः** देह-रूप रथ **अर्वाङ्** हमारे अनुकूल **यातु** चले । साथ ही **नः** हमारे **द्विपदे** दोपायों, और **चतुष्पदे** चौपायों को **शम्** सुख **आवक्षत्** प्राप्त कराये ।।३।।

भावार्थः— प्राणापानों के ही सामर्थ्य से मनुष्यों का शरीर-रथ सबल, सफल क्रिया वाला, सज्जनों का हितकारी, गाय घोड़े आदि उपयोगी पशुओं को सुख देने वाला और दुष्टों का विध्वंस करने वाला होता है ।।३।।

।।१८।। अथ 'प्र ते धारा' इत्यादिकस्याष्टदशस्य चतुर्ऋचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अवत्सारः काश्यपः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

अथानन्दवर्षा वर्ण्यन्ते ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
१७६१ . प्र ते धारा असश्चतो दिवो न यन्ति वृष्टयः ।
२ ३ १ २ ३ १ २ १
अच्छा वाजं सहस्रिणम् ।।१।।

२ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
प्र ते धाराः असश्चतः अ सश्चतः । दिवः न यन्ति वृष्टयः ।
१ २र १ २र ३ १ २
अच्छ वाजम् सहस्रिणम् ।।१।।

पदार्थः— हे पवमान सोम पावक रसागार परमेश्वर ! **असश्चतः** केनापि अप्रतिरुध्यमानस्य[२] **ते** तव **धाराः** आनन्दधाराः **दिवः** आकाशात् **वृष्टयः न** वर्षाः इव **सहस्रिणम्** सहस्रसंख्यावन्तम् **वाजम्** बलम् **अच्छ** प्रापयितुम् **प्र यन्ति** उपासकं प्रति प्र यान्ति, **दिवः न** आकाशाद् यथा **वृष्टयः** वर्षाः **वाजम्** अन्नम् **अच्छ** प्रापयितुम् **प्र यन्ति** भूतलं प्रयान्ति । [वाजः इत्यन्ननाम बलनाम च । निघं० २।७।,९] ।।१।।

भावार्थः— यथा मेघाद् वर्षाधारा अन्नमुत्पादयितुं क्षेत्रेषु वर्षन्ति तथा जगदीश्वरादानन्दधारा बल-मुत्पादयितुमुपासकानामन्तरात्मनि वर्षन्ति ।।१।।

प्रथम मन्त्र में आनन्द-वर्षाओं का वर्णन है ।

पदार्थ— हे पवमान सोम अर्थात् पवित्र करने वाले रसागार परमेश्वर ! **असश्चतः** किसी से भी रुकावट न डाली गयी **ते** आपकी **धाराः** आनन्द-धाराएं **सहस्रिणम्** सहस्र संख्यावाले **वाजम्** बल को **अच्छ** प्राप्त कराने के लिए **प्र यन्ति** उपासक के पास पहुंचती हैं, **दिवः न** जैसे आकाश से **वृष्टयः** वर्षाएं **वाजम्** अन्न को **अच्छ** प्राप्त कराने के लिए **प्र यन्ति** भूतल पर पहुंचती हैं ।।१।।

इस मन्त्र में श्लिष्टोपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ— जैसे मेघ से वर्षा की धाराएं अन्न उत्पन्न करने के लिए खेतों पर बरसती हैं, वैसे ही जगदीश्वर से आनन्द की धाराएं बल उत्पन्न करने के लिए उपासकों के अन्तरात्मा में बरसती हैं ।।१।।

---

१. ऋ० ९।५७।१।

२. सश्चतिर्गतिकर्मा निघण्टौ (२।१४) पठितः प्रतिरोधेऽपि वर्तते ।

अथ परमेश्वरः किं करोतीत्युच्यते ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ २ र
१७६२. अभि प्रियाणि काव्या विश्वा चक्षाणो अर्षति । हरिस्तुञ्जान आयुधा ॥२॥[1]

३ २ ३ १ २ १ २ र १ २ र १ २ र ३ १ २ र ३ २ १ २ र
अभि प्रियाणि काव्या । विश्वा चक्षाणः अर्षति । हरिः तुञ्जानः आयुधा ॥२॥

पदार्थः— **हरिः** मनोहरः दोषहर्ता च परमेश्वरः **विश्वा** विश्वानि **प्रियाणि** प्रीतिकराणि **काव्या** हितवचनानि **चक्षाणः** ब्रुवाणः । [चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि, अदादिः ।] **आयुधा** आयुधानि, कामक्रोधादिशत्रूणां पराजयार्थं रिपुदलनसामर्थ्यानि **तुञ्जानः** प्रयच्छन् **अभि अर्षति** अस्मान् प्रत्यागच्छति, अन्तरात्मं प्रकटी भवति । [तुञ्जतिर्दानकर्मा । निघं० ३।२०] ॥२॥

भावार्थः— परमेश्वरोऽस्मभ्यं हितावहान् सन्देशान् प्रेरयति, शत्रूणां पराजयाय बलं च प्रयच्छति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर क्या करता है यह कहा गया है ।

पदार्थ— **हरिः** मनोहर तथा दोषों को हरने वाला परमेश्वर **विश्वा** सब **प्रियाणि** प्रिय **काव्या** हितकर वचनों को **चक्षाणः** बोलता हुआ, और **आयुधा** शस्त्रास्त्रों को, अर्थात् काम- क्रोध आदि शत्रुओं के पराजय के लिए शत्रुदलन-सामर्थ्यों को **तुञ्जानः** देता हुआ **अभि अर्षति** हमारे प्रति आ रहा है, अन्तरात्मा में प्रकट हो रहा है ॥२॥

भावार्थ— परमेश्वर हमारे लिए हितकारी सन्देशों को प्रेरित करता है और शत्रुओं को हराने के लिए बल देता है ॥२॥

अथ परमेश्वरः केषु सीदतीत्याह ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ र
१७६३. स मर्मृजान आयुभिरिभो राजेव सुव्रतः । श्येनो न वंसु षीदति ॥३॥[2]

२ ३ २ ३ १ २
सः मर्मृजानः आयुभिः ।

१ २ र १ २ र ३ २ ३ २ ३ २ १ २ र ३
इभः राजा इव सुव्रतः सु व्रतः । श्येनः न वंसु सीदति ॥३॥

पदार्थः— मनुष्यान् **आयुर्भिः**[3] आयुभिः, आयुर्वर्षैरित्यर्थः **मर्मृजानः** अलङ्कुर्वाणः । [मृजू शौचालङ्कारयोः, चुरादिः । लिटः कानच् ।] किञ्च **राजा इव** सम्राडिव **इभः** इतभयः **सुव्रतः** सुकर्मा च **सः** पवमानः सोमः पावकः जगदुत्पादकः शुभगुणकर्मप्रेरकः शान्तः परमेश्वरः **वंसु** इच्छुकेषु जनेषु **सीदति** उपविशति । कथमिव ? **श्येनः न** श्येनपक्षी यथा **वंसु** वनेषु **सीदति** उपविशति । [इभेन गतभयेन इति निरुक्तम् । ६।१२ । षीदति, संहितायां षत्वं छान्दसम् । वंसु इच्छुकेषु, वनोतिः कान्तिकर्मा । निघं० २।६, यद्वा वंसु वनेषु, वन शब्दस्यान्तलोपश्छान्दसः] ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः । प्रथमा पूर्णोपमा, द्वितीया श्लिष्टा पूर्णोपमा, उभयोः संसृष्टिः ॥३॥

भावार्थः— ये परमात्मानं कामयन्ते तत्प्रीतिपरवशः स तेषां हृदि स्थितः सततं सत्प्रेरणां कुरुते ॥३॥

---

१. ऋ० ९।५७।२।

२. ऋ० ९।५७।३।

३. उकारान्तोऽप्यायुशब्दो वेदे प्रयुज्यते । 'छन्दसीणः' । उ० १।२ । वेदे इण् धातोरण् । एति प्राप्नोति सर्वानिति आयुः जीवनकालः । सान्तस्तु द्वितीयपादे (उ० २।१२०) वक्ष्यते–"इत्युणादिवृत्तौ द० । सान्तः आयुस् शब्दस्तु 'एतेर्णिच्च' उ० २।१२० इत्युस् प्रत्यये तस्य णिद्वद्भावे च सिध्यति ।

अब यह कहते हैं कि परमेश्वर किनके अन्दर स्थित होता है ।

पदार्थ– मनुष्यों को **आयुभिः** आयु के वर्षों से **मर्मृजानः** अलंकृत करता हुआ, और **राजा इव** राजा के समान **इभः** निर्भय, तथा **सुव्रतः** शुभ कर्मों वाला **सः** वह पवमान सोम अर्थात् जगत् का उत्पत्तिकर्ता, शुभ गुणकर्मों को प्रेरित करने वाला, शान्त परमेश्वर **वंसु** जिन्हें उसकी लौ लगी हुई है उनके अन्दर **सीदति** बैठता है, **श्येनः न** जैसे बाज पक्षी **वंसु** वनों में **सीदति** बैठता है ।।३।।

यहां उपमालंकार है । पहली पूर्णोपमा है और दूसरी श्लिष्ट पूर्णोपमा दोनों की संसृष्टि है ।।३।।

भावार्थ– जिन्हें परमात्मा की चाह होती है उनके प्रेम से परवश हुआ वह उनके हृदय में स्थित होकर निरन्तर शुभ प्रेरणा करता रहता है ।।३।।

अथ परमेश्वरः प्रार्थ्यते ।

२ ३ १ २ ३ ३उ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
१७६४. स नो विश्वा दिवो वसूतो पृथिव्या अधि । पुनान इन्दवा भर ।।४।।[1]

२ ३ १ २र ३ २ १ २र ३ २ ३ २ १ २र ३ २ ३ २ ३
सः नः विश्वा दिवः वसु । उत उ पृथिव्याः अधि । पुनानः इन्दो आ भर ।।४।।

पदार्थः– हे **इन्दो** आनन्दरसेन क्लेदक रसागार जगदीश ! **पुनानः** पवित्रीकुर्वाणः **सः** असौ धनाधीशः त्वम् **दिवः** आत्मलोकाद् **उत उ** अपि च **पृथिव्याः अधि** पार्थिवाद् देहात् **विश्वा वसु** विश्वानि आत्मबलयोगसिद्ध्यारोग्यादीनि वसूनि **नः** अस्मभ्यम् **आ भर** आहर ।।४।।

भावार्थः– परमेशकृपातो वयं दैहिकोन्नतिमात्मिकोन्नतिं च कुर्वाणा अभ्युदयनिःश्रेयसाधिकारिणो भवेम ।।४।।

अस्मिन् **खण्डे** प्राकृतिकीनामाध्यात्मिकीनां चोषसां, प्राणापानचालितस्य देहरथस्य, परमेश्वरस्य, परमेश्वरकृतानामानन्दवृष्टीनां च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।।

अगले मन्त्र में परमेश्वर से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ– हे **इन्दो** आनन्द-रस से भिगोने वाले रसागार जगदीश ! **पुनानः** पवित्र करते हुए **सः** वे धनाधीश आप **दिवः** आत्मलोक से **उत उ** और **पृथिव्याः अधि** पार्थिव देह से **विश्वा वसु** सब आत्मबल, योगसिद्धि, आरोग्य आदि धनों को **नः** हमारे लिए **आ भर** लाओ ।।४।।

भावार्थ– परमेश्वर की कृपा से हम शारीरिक उन्नति और आत्मिक उन्नति करते हुए अभ्युदय और निःश्रेयस के अधिकारी हों ।।४।।

इस **खण्ड** में प्राकृतिक और आध्यात्मिक उषाओं, प्राणापानों से चालित शरीर-रथ, परमेश्वर और परमेश्वर से होने वाली आनन्द-वर्षाओं का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

उन्नीसवें अध्याय में पांचवां खण्ड समाप्त ।।

उन्नीसवां अध्याय समाप्त ।

अष्टम प्रपाठक में तृतीय अर्ध समाप्त ।

---

१. ऋ० ९।५७।४।

इति बरेलीमण्डलान्तर्गतफरीदपुर-वास्तव्यश्रीमद्गोपालरामभगवतीदेवीतनयेन हरिद्वारीयगुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयेऽधीतविद्येन विद्यामार्तण्डेन रामनाथ-वेदालङ्कारेण **महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतवेदभाष्यशैलीमनुसृत्य** विरचिते संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते सामवेदभाष्ये उत्तरार्चिकेऽष्टमः प्रपाठकः समाप्तिमगात् ॥

अथ विंशोऽध्यायो नवमे प्रपाठके प्रथमोऽर्धश्च

॥१॥ तत्र 'प्रास्य धारा' इत्यादिकस्य प्रथमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** नृमेध आङ्गिरसः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

अथानन्दधारा वर्णयति ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३१र २र ३ १र २र ३ १ २
१७६५. प्रास्य धारा अक्षरन् वृष्णः सुतस्यौजसः । देवाँ अनु प्रभूषतः ॥१॥[1]

२ ३ १ २र ३ १ २र ३१ २ १ २र ३ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २र
प्र अस्य धाराः अक्षरन् । वृष्णः सुतस्य ओजसः । देवान् अनु प्रभूषतः प्र भूषतः ॥१॥

पदार्थः— **वृष्णः** कामवर्षकस्य, **सुतस्य** प्रकटीकृतस्य, **ओजसः** ओजस्विनः [अत्र मतुबर्थकस्य लुक् ।] **देवान्** विदुषः उपासकान् **अनु** आनुकूल्येन **प्रभूषतः** दिव्यगुणैः अलङ्कुर्वतः **अस्य** एतस्य पवमानस्य सोमस्य पावकस्य रसागारस्य परमात्मनः **धाराः** आनन्दधाराः **प्र अक्षरन्** प्रवर्षन्ति ॥१॥

भावार्थः— मेघात् पवित्रास्तोयधारा इव रसमयात् परमेश्वरात् पवित्राः पाविकाश्च याः परमानन्दधारा वर्षन्ति तासु सर्वैः स्वात्मा स्नपनीयः ॥१॥

प्रथम मन्त्र में आनन्द की धारों का वर्णन है ।

पदार्थ— **वृष्णः** मनोरथों को पूर्ण करने वाले, **सुतस्य** प्रकट किये हुए, **ओजसः** ओजस्वी, **देवान्** विद्वान् उपासकों को **अनु** अनुकूलतापूर्वक **प्र भूषतः** दिव्य गुणों से अलंकृत करते हुए **अस्य** इस पवित्र करने वाले रसागार परमात्मा की **धाराः** आनन्द-धारें **प्र अक्षरन्** बरस रही हैं ॥१॥

भावार्थ— मेघ से पवित्र जल-धाराओं के समान रसमय परमेश्वर से जो पवित्र और पवित्रतादायिनी परमानन्द की धारायें बरसती हैं, उनमें सबको चाहिए कि अपने आत्मा को नहलायें ॥१॥

अथ के कीदृशं परमात्मानमाराध्नुवन्तीत्याह ।

१ २ ३१ २ ३१ २ ३१ २ ३ २ १ २ ३ २ ३क २र
१७६६. सप्तिं मृजन्ति वेधसो गृणन्तः कारवो गिरा । ज्योतिर्जज्ञानमुक्थ्यम् ॥२॥[2]

१ २र ३ १ २ ३१ २ ३१ २ ३ २ १ २र ३ २ ३क २
सप्तिम् मृजन्ति वेधसः । गृणन्तः कारवः गिरा । ज्योतिः जज्ञानम् उक्थ्यम् ॥२॥

पदार्थः— **गिरा** वाचा **गृणन्तः** अर्चन्तः । [गृणातिः अर्चतिकर्मा । निघं० ३।१४ ।] **वेधसः** मेधाविनः । [वेधा इति मेधाविनाम । निघं० ३।१५ ।] **कारवः** स्तोतारः । [कारुः कर्ता स्तोमानाम् । निरु० ६।५ ।] **उक्थ्यम्** प्रशंसनीयम् **ज्योतिः** प्रकाशम् **जज्ञानम्** उत्पादयन्तम् **सप्तिम्** सप्तरश्मिं सूर्यमिव विद्यमानं सोमं परमात्मानम् **मृजन्ति** स्वात्मनि प्रकटयन्ति ॥२॥

---

१. ऋ० ९।२९।१।

२. ऋ० ९।२९।२।

भावार्थः— सूर्यवत् प्रकाशकस्य परमेश्वरस्योपासनेनोपासकस्यात्मनि दिव्यं ज्योतिः प्रकाशते ॥२॥

अगले मन्त्र में यह बताते हैं कि कौन कैसे परमेश्वर की आराधना करते हैं।

पदार्थ— गिरा वाणी से **गृणन्तः** अर्चना करते हुए **वेधसः** मेधावी **कारवः** स्तोता लोग **उक्थ्यम्** प्रशंसनीय **ज्योतिः** प्रकाश को **जज्ञानम्** उत्पन्न करने वाले **सप्तिम्** सप्तरश्मि सूर्य के समान विद्यमान सोम परमात्मा को **सृजन्ति** अपने आत्मा में प्रकट करते हैं ॥२॥

भावार्थ— सूर्य के समान प्रकाशक परमेश्वर की उपासना से उपासक के आत्मा में दिव्य ज्योति का प्रकाश फैल जाता है ॥२॥

अथ परमेश्वरः प्रार्थ्यते ।

१७६७. सुषहा सोम तानि ते पुनानाय प्रभूवसो । वर्धा समुद्रमुक्थ्य ॥३॥[1]

सुषहा सु सहा सोम तानि ते । पुनानाय प्रभूवसो प्रभु वसो ।
वर्ध समुद्रम् सम् उद्रम् उक्थ्य ॥३॥

पदार्थः— हे **प्रभूवसो** प्रभूतैश्वर्य **सोम** जगत्पते सर्वान्तर्यामिन् परमेश ! **पुनानाय** स्वात्मानं पवित्रीकुर्वाणाय उपासकाय **ते** तव **तानि** प्रसिद्धानि तेजांसि **सुषहा** सुषहाणि सम्यक् कामक्रोधादिरिपूणामभिभवकराणि, सन्तु इति शेषः । हे **उक्थ्य** प्रशंसनीय सोम चन्द्रवदाह्लादक देव ! त्वम् **समुद्रम्** ऐश्वर्यसमुद्रम् **वर्ध** वर्धय । [रायः समुद्रांश्चतुरः । साम० ७० इति वचनात् समुद्रेणात्र **ऐश्वर्यसमुद्रो** गृह्यते] ॥३॥

भावार्थः— पूर्णः सोमश्चन्द्रो यथा जलस्य समुद्रं वर्धयति तथैव भक्त्युपहारैः पूर्णः सोमः परमेश्वर उपासकाय भौतिकस्य दिव्यस्य चैश्वर्यस्य समुद्रं वर्धयति ॥३॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **प्रभूवसो** प्रचुर ऐश्वर्य वाले **सोम** जगत्पति, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ! **पुनानाय** स्वयं को पवित्र करने वाले उपासक के लिए **ते** आपके **तानि** वे प्रसिद्ध तेज **सुषहा** भली-भांति काम, क्रोध आदि रिपुओं को परास्त करने वाले होवें । हे **उक्थ्य** प्रशंसनीय सोम अर्थात् चन्द्रमा के समान आह्लादक परमात्मदेव ! आप **समुद्रम्** ऐश्वर्य के समुद्र को **वर्ध** बढ़ाओ ॥३॥

भावार्थ— पूर्ण चन्द्रमारूप सोम जैसे पानी के समुद्र को बढ़ाता है, वैसे ही भक्ति के उपहारों से पूर्ण सोम परमेश्वर उपासक के लिए भौतिक और दिव्य ऐश्वर्य के समुद्र को बढ़ाता है ॥३॥

॥२॥ अथ 'एष ब्रह्मा' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वामदेवो गौतमः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** द्विपदा गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

---

१. ऋ० ९।२९।३ ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४३८ क्रमाङ्के परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र जगदीश्वर आचार्यश्चोच्यते ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
१७६८. एष ब्रह्मा य ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुतो गृणे ॥१॥[1]

३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ र १ २ र ३ २ ३ २
एषः ब्रह्मा यः ऋत्वियः । इन्द्रः नाम श्रुतः गृणे॥१॥

पदार्थः— **एषः** अयम् जगदीश्वरः आचार्यश्च **ब्रह्मा** चतुर्वेदवित् वर्तते, **यः ऋत्वियः** ऋतूनां प्रभुः ऋतुमृतुं विद्यावर्षको वा विद्यते । [ऋतुभिः प्रभुः इन्द्रः। तै० सं० ४।४।८।१ । ऋतुमृतुं वर्षति काठ० सं १९।५ । यद्यपि 'छन्दसि घस्' अ० ५।१।१०६ इत्यनेन तदस्य प्राप्तमित्यर्थे घस् प्रत्ययो विहितस्तथापि बाहुलकादन्यस्मिन्नर्थेऽपि ज्ञेयः ।] तस्य जगदीश्वरस्य आचार्यस्य च **इन्द्रः नाम** इन्द्र इति संज्ञाऽस्ति । तेन अहम् **श्रुतः** कीर्तिमान् बहुश्रुतो वा कृतः । तमहम् **गृणे** अर्चामि स्तौमि वा ॥१॥

भावार्थः— यथा चतुर्णां वेदानां सृष्ट्यादौ प्रकाशकः सर्वेषामृतूनां स्रष्टा परमेश्वरः सर्वैरर्चनीयस्तथा वेदवेदाङ्गाध्यापयिता प्रत्यृतु विद्यावर्षक आचार्योऽपि सत्करणीयः ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४३८ क्रमांक पर परमात्मा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहां जगदीश्वर और आचार्य दोनों को कह रहे हैं ।

पदार्थ— **एषः** यह जगदीश्वर वा आचार्य **ब्रह्मा** चारों वेदों का ज्ञाता है, **यः** जो **ऋत्वियः** ऋतुओं का स्वामी वा ऋतु-ऋतु में विद्या की वर्षा करने वाला है । उस जगदीश्वर वा आचार्य का **इन्द्रः नाम** इन्द्र नाम है। उसके द्वारा मैं **श्रुतः** कीर्तिमान् वा बहुश्रुत किया गया हूँ । उसकी मैं **गृणे** अर्चना वा स्तुति करता हूँ ॥१॥

भावार्थ— जैसे सृष्टि के आदि में चारों वेदों का प्रकाशक, सब ऋतुओं को रचने वाला परमेश्वर सबके द्वारा पूजा करने योग्य है, वैसे ही वेद-वेदाङ्गों को पढ़ाने वाला, प्रत्येक ऋतु में विद्या की वर्षा करने वाला आचार्य भी सत्कार के योग्य है ॥१॥

अथ जगदीश्वरस्याचार्यस्य च महिमा वर्ण्यते ।

१र २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१७६९. त्वामिच्छवसस्पते यन्ति गिरो न संयतः ॥२॥

२ ३ १ २र १२र ३ १ २ ३ १ २र
त्वाम् इत् शवसः पते । यन्ति गिरः न संयतः सम् यतः ॥२॥

पदार्थः— हे **शवसः पते** अध्यात्मबलस्य ब्रह्मबलस्य विद्याबलस्य वा स्वामिन् परमेश आचार्य वा ! **गिरः न** वाचः इव **संयतः** प्रयत्नशीलाः प्रजा अपि । [संयतन्ते इति संयतः, सम्पूर्वो यती प्रयत्ने भ्वादिः, ततः क्विप् प्रत्ययः ।] **त्वाम् इत्** त्वामेव **यन्ति** प्राप्नुवन्ति ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— यथा वेदवाचो जगदीशगुणान् वर्णयन्ति पुरुषार्थिन्यः प्रजाश्च तं प्राप्तुं यतन्ते तथैवाचार्योऽपि वाग्भिः स्तोतव्यः प्रयत्नशीलैर्विद्यार्थिभिः शिष्यभावेनोपसदनीयश्च ॥२॥

अगले मन्त्र में जगदीश्वर वा आचार्य की महिमा वर्णित है ।

---

१. साम० ४३८ ।

पदार्थ– हे **शवसः पते** अध्यात्मबल, ब्रह्मबल वा विद्याबल के स्वामी परमेश्वर वा आचार्य ! **गिरः न** वाणियों के समान **संयतः** प्रयत्नशील प्रजाएं भी **त्वाम् इत्** आपको ही **यन्ति** प्राप्त होती हैं ।।२।।

यहां उपमालंकार है।।२।।

भावार्थ– जैसे वेदवाणियाँ जगदीश्वर के गुणों का वर्णन करती हैं और पुरुषार्थी प्रजाएं उसे पाने का यत्न करती हैं, वैसे ही आचार्य की भी वाणियों से स्तुति करनी चाहिए तथा प्रयत्नशील विद्यार्थियों को शिष्यभाव से उसके समीप पहुंचना चाहिए ।।२।।

तृतीयाऋक् पूर्वार्चिके ४५३ क्रमाङ्के परमात्मानं जीवात्मानं राजानं च सम्बोधिता । अत्र परमेश्वर आचार्यश्चोच्यते ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
१७७०. वि सुतयो यथा पथ इन्द्र त्वद् यन्तु रातयः ।।३।।[1]

३ १ २ १ २र ३ २ १ २र ३ १ २
वि सुतयः यथा पथः। इन्द्र त्वत् यन्तु रातयः ।।३।।

पदार्थः– **यथा** येन प्रकारेण **पथः**[2] राजमार्गात् **सुतयः** लघुमार्गाः वियन्ति विभिन्नासु दिक्षु गच्छन्ति तद्वत्, हे **इन्द्र** जगदीश्वर आचार्य वा ! **त्वत्** त्वत्सकाशात्, **रातयः** ऐश्वर्यदानानि विद्यादानानि च **वियन्तु** विविधं गच्छन्तु ।।३।।

अत्रोपमालङ्कारः ।।३।।

भावार्थः– यथा राजमार्गादन्ये विविधालघुमार्गा निःसृत्य पथिकानुपकुर्वन्ति तथैव परमेश्वरादाचार्याच्च दिव्यगुणकर्माणि विविधा विद्याश्च निःसृत्योपासकान् शिष्यांश्चोपकुर्वन्तु ।।३।।

तृतीय ऋचा पूर्वार्चिक में ४५३ क्रमांक पर परमात्मा, जीवात्मा और राजा को संबोधन की गयी थी । यहाँ परमेश्वर और आचार्य को कहते हैं ।

पदार्थ– **यथा** जिस प्रकार **पथः** राजमार्ग से **सुतयः** छोटे-छोटे मार्ग विविध दिशाओं में जाते हैं, उसी प्रकार हे **इन्द्र** जगदीश्वर वा आचार्य ! **त्वत्** आपके पास से **रातयः** ऐश्वर्यों के दान वा विद्या-दान **वियन्तु** विविध लोगों के पास जाएँ ।।३।।

यहां उपमालंकार है ।।३।।

भावार्थ– जैसे राजमार्ग से विविध छोटे-छोटे मार्ग निकलकर पथिकों का उपकार करते हैं, वैसे ही परमेश्वर और आचार्य से दिव्य गुण-कर्म और विविध विद्याएं निकलकर उपासकों वा शिष्यों को उपकृत करें ।।३।।

।।३।। अथ 'आ त्वा' इत्यादिकस्य तृतीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** प्रियमेध आङ्गिरसः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** आनुष्टुभः प्रगाथः (१ अनुष्टुप्, २-३ गायत्री) । **स्वरः** गान्धारः, २-३ षड्जः ।।

---

१. साम० ४५३, देवता विश्वेदेवाः ।

२. वैदिकयन्त्रालयमुद्रिते सातवलेकरीये च संस्करणे 'पथा' इति पाठ उपलभ्यते । अस्माभिः पदकारमनुसृत्य 'पथः' इति पाठोऽभिमतः । 'पथा' इति पाठे स्वीकृते तु व्याख्यानपद्धतिरेवमाश्रयणीया–'यथा पथा मार्गेण सुतयः सरितः वियन्ति विशेषेण प्रवहन्ति तथा हे इन्द्र त्वत्सकाशात् रातयः दानानि वियन्तु प्रवहन्तु' इति ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३५४ क्रमाङ्के परमात्मानं राजानं च सम्बोधिता । अत्र परमात्मा जीवात्मा च सम्बोध्यते ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१७७१. **आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्त्तयामसि ।**
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्रं शविष्ठ सत्पतिम् ॥१॥[1]

२ ३ १ २ र १ २ र ३ १ २ ३ १ २ ३
आ त्वा रथम् यथा ऊतये। सुम्नाय वर्तयामसि।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १२ र
तुविकूर्मिम् तुवि कूर्मिम् ऋतीषहम् ऋति सहम् ।
१ २ र ३ १ २ र ३
इन्द्रम् शविष्ठ सत्पतिम् सत् पतिम् ॥१॥

पदार्थः— हे **शविष्ठ** बलवत्तम परमेश जीवात्मन् वा ! **तुविकूर्मिम्** बहूनां कर्मणां कर्तारम्, **ऋतीषहम्** ऋतीः आक्रान्त्रीः शत्रुसेनाः सहते पराभवति यस्तम्, **सत्पतिम्** सतां पालकम् **इन्द्रम् त्वा** सत्याहिंसाद्यैश्वर्यवन्तं विघ्नविदारणसमर्थं परमेशं जीवात्मानं च त्वाम् **ऊतये** रक्षायै **सुम्नाय** सुखाय च, वयम् **आ वर्तयामसि** अस्मदभिमुखं प्रवर्तयामः । कथमिव ? **यथा** येन प्रकारेण **रथम्** शकटं कश्चित् प्रवर्तयति ॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— मनुष्यो यदि परमेश्वरमुपासीत तस्यात्मा च यदि जागरूकः सक्रियश्च जायेत तदा स महान्तमुत्कर्षं निःश्रेयसं चापि प्राप्तुं शक्नुयात् ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ३५४ क्रमांक पर परमात्मा और राजा को संबोधित की गयी थी । यहां परमात्मा और जीवात्मा को संबोधन करते हैं।

पदार्थ— हे **शविष्ठ** बलिष्ठ परमेश्वर वा जीवात्मन् ! **तुविकूर्मिम्** बहुत-से कर्मों के कर्ता, **ऋतीषहम्** आक्रामक शत्रु-सेनाओं को पराजित करने वाले, **सत्पतिम्** सज्जनों के पालनकर्ता **इन्द्रं त्वा** सत्य, अहिंसा आदि ऐश्वर्यों से युक्त, विघ्नों को दूर करने में समर्थ आप परमेश्वर वा जीवात्मा को, हम **ऊतये** रक्षा के लिए और **सुम्नाय** सुख के लिए **आवर्तयामसि** अपनी ओर प्रवृत्त करते हैं, **यथा** जिस प्रकार **रथम्** रथ को प्रवृत्त किया जाता है ॥१॥

यहां उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— मनुष्य यदि परमेश्वर की उपासना करे और उसका आत्मा यदि जागरूक तथा सक्रिय हो जाए तो वह महान् उत्कर्ष और मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है ॥१॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २
१७७२. **तुविशुष्म तुविक्रतो शचीवो विश्वया मते । आ पप्राथ महित्वना॥२॥**[2]

१ २ र १ २ र ३ १ २ र १ २ र ३ १ २ र १ २ र ३
तुविशुष्म तुवि शुष्म तुविक्रतो तुवि क्रतो । शचीवः विश्वया मते ।
२ ३ २
आ पप्राथ महित्वनो ॥२॥

---

१. ऋ० ८।६८।१ 'मिन्द्र शविष्ठ सत्पते' इति भेदः । साम० ३५४ ।

२. ऋ० ८।६८।२।

पदार्थः— हे **तुविशुष्म** बहुबल, **तुविक्रतो** बहुप्रज्ञ, बहुयज्ञ **शचीवः** कर्मवन्, **मते** मननशील परमेश जीवात्मन् च, त्वम् **विश्वया** बहुविधेन **महित्वना** महिम्ना **आ पप्राथ** परिपूर्णोऽसि । [शुष्ममिति बलनाम । निघं० २।९। शचीति कर्मनाम । निघं० २।१ । विश्वया विश्वेन, अत्र 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इत्यनेन विभक्तेर्यादेशः । आ पप्राथ, प्रा पूरणे, अदादिः । अत्राकर्मकः] ॥२॥

भावार्थः— यद्यपि महत्त्वेन परमेशो जीवात्मानमतिशेते तथाप्युभावपि बलवन्तौ, प्राज्ञौ, मन्तारौ, कर्मण्यौ च स्तः । यथा परमेश्वरं विना ब्रह्माण्डस्य व्यवस्था न भवितुं शक्नोति तथा जीवात्मानं विना शरीरव्यवस्था न जायते ॥२॥

आगे फिर वही विषय है ।

पदार्थ—हे **तुविशुष्म** बहुत बलवान्, **तुविक्रतो** बहुत प्रज्ञा वाले वा बहुत-से यज्ञों को करने वाले, **शचीवः** कर्मवान् **मते** मननशील परमेश्वर वा जीवात्मन् ! आप **विश्वया** बहुत प्रकार के **महित्वना** महत्त्वों से **आ पप्राथ** परिपूर्ण हो ॥२॥

भावार्थ— यद्यपि महत्त्व में परमेश्वर जीवात्मा से अधिक है तो भी दोनों ही बलवान्, बुद्धिमान्, मननशील और कर्मण्य हैं। जैसे परमेश्वर के बिना ब्रह्माण्ड की व्यवस्था नहीं चल सकती, वैसे ही जीवात्मा के बिना शरीर की व्यवस्था नहीं होती ॥२॥

अथ परमेश्वरस्य जीवात्मनश्च महत्त्वमाचष्टे ।

१ २ ३ २ ३१र २र ३१ २ ३१२ २ ३ १ २ ३ १ २
१७७३. यस्य ते महिना महः परि ज्मायन्तमीयतुः। हस्ता वज्रं हिरण्ययम् ॥३॥[1]

१ २र ३ २ ३२ १ २र ३१ २ ३१२ १ २र १ २र ३ १ २
यस्य ते महिना महः। परि ज्मायन्तम् ईयतुः। हस्ता वज्रम् हिरण्ययम् ॥३।

पदार्थः— हे इन्द्र ! हे परमेश जीवात्मन् वा ! **महः** महतः **यस्य ते** यस्य तव **महिना** महिम्ना **हस्ता** मनुष्यस्य हस्तौ **ज्मायन्तम्** मां पृथिवीमिवाचरन्तम् विशालमित्यर्थः, **हिरण्ययम्** ज्योतिर्मयम् **वज्रम्** आयुधम् **परि ईयतुः** परिगृह्णीतः, स त्वं 'महित्वना आ पप्राथ' इति पूर्वेण सम्बन्धः॥३॥

भावार्थः— यन्मनुष्यो विविधायुधपरिग्रहणपरिचालन-शत्रुविजयादीनि महान्ति कर्माणि कर्तुं समर्थो जायते स महिमा परमेश्वरस्य जीवात्मनश्चैव वर्तते ॥३॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर और जीवात्मा का महत्त्व वर्णित है ।

पदार्थ— हे इन्द्र ! हे परमेश्वर वा जीवात्मन् ! **महः** महान् **यस्य ते** जिस तेरी **महिना** महिमा से **हस्ता** मनुष्य के दोनों हाथ **ज्मायन्तम्** पृथिवी के समान आचरण करने वाले अर्थात् विशाल, **हिरण्ययम्** ज्योतिर्मय **वज्रम्** वज्र को **परि ईयतुः** ग्रहण करते हैं, वह तू **महित्वना आपप्राथ** महिमा से परिपूर्ण है। [यहाँ 'महित्वना आपप्राथ' यह वाक्यपूर्ति के लिए पूर्व मन्त्र से लिया गया है] ॥३॥

भावार्थ— मनुष्य जो विविध शस्त्रास्त्रों का ग्रहण, उन्हें चलाना, शत्रु को जीतना आदि महान् कर्मों को करने में समर्थ होता है वह महिमा परमेश्वर और जीवात्मा की ही है ॥३॥

॥४॥ अथ 'आ यः' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** दीर्घतमा औचथ्यः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** विराडनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ॥

---

१. ऋ० ८।६८।३।

अथ प्राप्तमनुष्यजन्मा जीवात्मा कीदृशो भवेदित्याह ।

१७७४. आ यः पुरं नार्मिणीमदीदेदत्यः कविर्नभन्यो३ नार्वा।
सूरो न रुरुक्वाञ्छतात्मा ॥१॥[1]

आ यः पुरम् नार्मिणीम् अदीदेत् । अत्यः कविः नभन्यः न अर्वा।
सूरः न रुरुक्वान् शतात्मा शत आत्मा ॥१॥

पदार्थः— **यः** यः अग्निः नेता जीवात्मा **नार्मिणीम्**[2] हासविलासयुक्ताम् **पुरम्** देहनगरीम् **आ अदीदेत्** तेजसा आदीपयति, सः **अत्यः** देहाद् देहान्तरं गन्ता यद्वा मोक्षं गन्ता । [अत सातत्यगमने । अतति सततं गच्छतीति अत्यः ।] **कविः** क्रान्तप्रज्ञः, **नभन्यः न** नभसि भवो वायुरिव **अर्वा** दोषाणां हिंसकः । [ऋणोति हिनस्ति दोषान् यः स अर्वा । ऋ हिंसायाम्, स्वादिः । औणादिको वनिप् प्रत्ययः ।] **सूरः न** आदित्यः इव **रुरुक्वान्** दीप्तः । [रोचतेर्दीप्तिकर्मणो लिटः क्वसुः ।] **शतात्मा** शरीरेण शतायुश्च भवेदिति शेषः ॥१॥[3]

अत्रोपमालङ्कारः॥१॥

भावार्थः— जीवात्मा पूर्वकृतशुभकर्मानुसारेण मानवदेहं प्राप्य बुद्धिविवेकेन कर्तव्यकर्माण्याचरन् वायुरिव सर्वान् दोषान् विनाश्य सूर्य इव रोचिष्णुः सन्नुत्कर्षं प्राप्नुयात् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में यह कहा गया है कि मनुष्य-जन्म को प्राप्त जीवात्मा कैसा हो ।

पदार्थ— **यः** जो अग्नि अर्थात् नेता जीवात्मा **नार्मिणीम्** हास-विलास-युक्त **पुरम्** देह-नगरी को **आ अदीदेत्** तेज से दीप्तिमान् करता है, वह **अत्यः** एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाला अथवा मोक्ष को प्राप्त करने वाला **कविः** दूरदर्शी प्रज्ञा वाला, **नभन्यः न** आकाशवर्ती वायु के समान **अर्वा** दोषों का हिंसक, और **सूरः न** सूर्य के समान **रुरुक्वान्** तेजस्वी तथा **शतात्मा** शरीर से शतायु होवे ॥१॥

यहां उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ— जीवात्मा पूर्वजन्म में किये हुए शुभ कर्मों के अनुसार मानव-देह प्राप्त करके बुद्धि के विवेक से कर्तव्य कर्मों को करता हुआ वायु के समान सब दोषों को विनष्ट करके सूर्य के समान तेजस्वी होता हुआ उत्कर्ष को प्राप्त करे ॥१॥

अथ द्विजन्मनो विषयमाह ।

१७७५. अभि द्विजन्मा त्री रोचनानि विश्वा रजांसि शुशुचानो अस्थात् ।
होता यजिष्ठो अपां सधस्थे ॥२॥[4]

अभि द्विजन्मा द्वि जन्मा त्री रोचनानि। विश्वा रजांसि शुशुचानः अस्थात् ।
होता यजिष्ठः अपाम् सधस्थे सध स्थे॥२॥

---

१. ऋ० १।१४९।३।

२. नार्मिणीम् नर्माणि क्रीडाविलासा विद्यन्ते येषां तेषामिमाम् इति ऋग्भाष्ये द० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विद्वद्विषये व्याख्यातवान् ।

४. ऋ० १।१४९।४।

पदार्थः— **द्विजन्मा** एकं जन्म मातापितृभ्यां, द्वितीयं जन्माचार्यस्य विद्यायाश्च सकाशादिति द्वे जन्मनी यस्य सः **त्री रोचनानि** त्रीणि दैहिकात्मिकसामाजिकतेजांसि **अभि** अभिप्राप्य **विश्वा रजांसि** सर्वान् रजोगुणान् **शुशुचानः** सत्त्वगुणेन प्रकाशयन् **होता** होमकर्ता, **अपां सधस्थे** नदीनां सङ्गमे **यजिष्ठः** अतिशयेन यष्टा परमेश्वरपूजकः सन् **अस्थात्** तिष्ठति, निवसति ।।२।।[1]

भावार्थः— मनुष्यो मातापितृभ्यां जन्म प्राप्य यथासमयं गुरुकुलं प्रविष्टो विद्या अधीत्य तेजांसि प्राप्याचार्यगर्भाद् द्वितीयं जन्माधिगम्य कृतसमावर्तनसंस्कारः स्नातकः सन् गृहं गत्वा ब्रह्मयज्ञदेवयज्ञादीनि शुभकर्माण्याचरन्नितरान् मनुष्यांश्चोपदशेन धार्मिकान् कुर्वन् जीवनं यापयेत् ।।२।।

अगले मन्त्र में द्विजन्मा का विषय है ।

पदार्थ— **द्विजन्मा** एक जन्म माता-पिता से और दूसरा जन्म आचार्य तथा विद्या से, इस प्रकार जिसने दो जन्म प्राप्त किये हैं वह **त्री रोचनानि** दैहिक, आत्मिक और सामाजिक तीन् तेजों को **अभि** प्राप्त करके **विश्वा रजांसि** सब रजोगुणों को **शुशुचानः** सत्त्व गुण से प्रकाशित करता हुआ; **होता** होम करने वाला, **अपां सधस्थे** नदियों के संगम पर **यजिष्ठः** अतिशय परमेश्वर-पूजा रूप यज्ञ को करने वाला होकर **अस्थात्** निवास करता है ।।२।।

भावार्थ— मनुष्य माता-पिता से जन्म पाकर यथासमय गुरुकुल में प्रविष्ट होकर, विद्याएँ पढ़कर, तेज प्राप्त करके,आचार्य के गर्भ से दूसरा जन्म पाकर, समावर्तन संस्कार कराकर, स्नातक बनकर, घर जाकर ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ आदि शुभकर्मों को करता हुआ और दूसरे मनुष्यों को उपदेश द्वारा धार्मिक बनाता हुआ जीवन व्यतीत करे ।।२।।

अथ पुनरपि द्विजन्मनो विषयमाह ।

१७७६. अयं स होता यो द्विजन्मा विश्वा दधे वार्याणि श्रवस्या।
मर्तो यो अस्मै सुतुको ददाश ।।३।।[2]

अयम् सः होता यः द्विजन्मा द्वि जन्मा। विश्वा दधे वार्याणि श्रवस्या ।
मर्तः यः अस्मै सुतुकः सु तुकः ददाश ।।३।।

पदार्थः— **यः द्विजन्मा** यो मातापितृभ्यामेकम् आचार्यसकाशाद् द्वितीयमिति द्वे जन्मनी प्राप्य द्विजो जायते **सः अयम्** स एष **होता** सर्वेभ्यो विद्यासुखादीनां दाता, होमकर्ता च जायते । अपि च **विश्वा** विश्वानि **श्रवस्या** श्रवस्यानि यशोयोग्यानि **वार्याणि** वरणीयानि यमनियमादीनि कर्माणि **दधे** स्वजीवने धारयति । **यः** यश्च **मर्तः** मनुष्यः, आचार्य इत्यर्थः **अस्मै** एतस्मै **ददाश** विद्यां प्रयच्छति, स तेन सुशिक्षितेन विदुषा द्विजेन **सुतुकः** सुपुत्रो जायते ।।३।।[3]

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणाऽयं मन्त्रो भौतिकाग्निदृष्टातेन विद्वद्विषये व्याख्यातः ।

२. ऋ० १।१४९।५।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरपि मन्त्रमिमं द्विजविषये व्याचष्टे । तथा च तत्कृतो भावार्थः— ''यस्य विद्यासुशिक्षायुक्तयोर्मात्रापित्रोः सकाशादेकं जन्माचार्यविद्याभ्यां द्वितीयं च, स द्विजः सन् विद्वान् स्यात्'' इति ।

भावार्थः— आचार्याद् विद्यामधीत्य स्नातकः सन् द्विजो भूत्वा तथाऽऽचरेद् येन तस्य यशः सर्वत्र प्रसरेत्। एतादृशेन गुणिना द्विजेन सत्यमाचार्योऽपि स्वात्मानं सुपुत्रं मन्यते ॥३॥

आगे फिर द्विजन्मा का विषय है ।

पदार्थ— यः द्विजन्मा जो माता-पिता से एक और आचार्य से दूसरा इस प्रकार दो जन्म प्राप्त करके द्विज हो जाता है **सः अयम्** वह यह **होता** सबको विद्या, सुख आदि का देने वाला और होम करने वाला होता है। साथ ही **विश्वा** सब **श्रवस्या** यश के योग्य **वार्याणि** वरणीय यम, नियम आदि कर्मों को **दधे** अपने जीवन में धारण कर लेता है। **यः** और जो **मर्तः** मनुष्य अर्थात् आचार्य **अस्मै** इसे **ददाश** विद्या देता है, वह उस सुशिक्षित विद्वान् द्विज से **सुतुकः** सुपुत्रवान् हो जाता है ॥३॥

भावार्थ— आचार्य से विद्या पढ़कर, स्नातक हो, द्विज बनकर ऐसा आचरण करे जिससे उसका यश सब जगह फैले। ऐसे गुणवान् द्विज से सचमुच आचार्य भी स्वयं को सुपुत्रवान् मानता है ॥३॥

॥५॥ अथ 'अग्ने तमद्ये'त्यादिकस्य पञ्चमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वामदेवो गौतमः। **देवता** अग्निः। **छन्दः** पदपङ्क्तिः। **स्वरः** पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४३४ क्रमाङ्के परमेश्वरार्चनविषये व्याख्याता । अत्र जीवात्मविषय उच्यते।

१७७७. अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम्।
ऋध्यामा त ओहैः ॥१॥[1]

अग्ने तम् अद्य अ श्व। अश्वम् न स्तोमैः। क्रतुम् न भद्रम्।
हृदिस्पृशम् हृदि स्पृशम्। ऋध्याम ते ओहैः ॥१॥

पदार्थः— हे **अग्ने** जीवननायक परमेश ! **अद्य** अस्मिन् दिने **अश्वं न** व्यापकं सूर्यमिव प्रकाशमानम्, **क्रतुं न** यज्ञ-कर्म इव च **भद्रम्** कल्याणकरम्, **हृदिस्पृशम्** हृदयनिवासिनम् **तम्** शरीरवर्तिनं स्वान्तरात्मानम् **ते ओहैः** त्वया प्रेरितैः **स्तोमैः** वेदमन्त्रैः **ऋध्याम** वर्धयेम, उद्बोधयेम। [ऋधु वृद्धौ, दिवादिः स्वादिश्च] ॥१॥[2]

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— यस्तेजस्वी कर्मण्यश्च जीवात्मा सर्वेषां हृदि सन्निविष्टः स उद्बोधकैर्वेदमन्त्रैरधिकाधिकमुद्-बोधनीयो गुणगरिम्णा वर्धनीयश्च ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ४३४ क्रमांक पर परमेश्वर की अर्चना के विषय में व्याख्यात हो चुकी है । यहाँ जीवात्मा का विषय कहा जा रहा है ।

---

१. ऋ० ४।१०।१; य० १५।४४, १७।७७ साम० ४३४ ।

२. दयानन्दस्वामी मन्त्रमिममृग्भाष्ये य० १५।४४ भाष्ये च विद्वद्विषये, य० १७।७७ भाष्ये चाध्यापकाध्येतृविषये व्याचष्टे ।

पदार्थ– हे **अग्ने** जीवननायक परमेश्वर ! **अद्य** आज **अश्वं न** व्यापक सूर्य के समान प्रकाशमान, और **क्रतुं न** यज्ञ-कर्म के समान **भद्रम्** भद्र, **हृदिस्पृशम्** हृदय में निवास करने वाले **तम्** उस शरीरवर्ती अपने अन्तरात्मा को **ते** ओहैः तेरे द्वारा प्रेरित **स्तोमैः** वेदमन्त्रों से, हम **ऋध्याम** बढ़ायें, उद्बोधन दें ।।१।।

यहां उपमालंकार है ।।१।।

भावार्थ– जो तेजस्वी और कर्मण्य जीवात्मा सबके हृदय में स्थित है उसे उद्बोधक वेदमन्त्रों से अधिकाधिक उद्बोधन देना चाहिए तथा गुणगरिमा से बढ़ाना चाहिए ।।१।।

अथ परमात्मानं वर्णयति ।

१७७८. **अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः । रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ।।२।।**[1]

अध हि अग्ने । क्रतोः भद्रस्य । दक्षस्य साधोः ।
रथीः ऋतस्य । बृहतः बभूथ ।।२।।

पदार्थः– **अध** अथ, हे **अग्ने** जीवनोन्नायक परमात्मदेव ! त्वम् **भद्रस्य क्रतोः** शुभस्य कर्मणः **साधोः दक्षस्य** शोभनस्य बलस्य, **बृहतः ऋतस्य** महतः सत्यस्य च **रथीः** स्वामी **हि** निश्चयेन **बभूथ** बभूविथ । [अत्र बभूथाततन्थजगृम्भववर्थेति निगमे । अ० ७।२।६४ इति निपातनादिडभावः । 'रथीः' इत्यत्र 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ' वा० ५।२।१२२ इति वार्तिकेन मत्वर्थे ई प्रत्ययः । 'अधा' इत्यत्र 'निपातस्य' च । अ० ६।३।१३६ इत्यनेन दीर्घः] ।।२।।[2]

भावार्थः–यथा जगदीश्वरः श्रेष्ठस्य कर्मणो बलस्य सत्यस्य चाधिपतिर्वर्तते तथैव मनुष्यैरपि भाव्यम् ।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ– **अध** और, हे **अग्ने** जीवन को उन्नत करने वाले परमात्मदेव ! आप **भद्रस्य क्रतोः** शुभकर्म के, **साधोः दक्षस्य** साधु बल के और **बृहतः ऋतस्य** महान् सत्य के **रथीः** स्वामी **हि** निश्चय ही **बभूथ** हो ।।२।।

भावार्थ– जैसे जगदीश्वर श्रेष्ठ कर्म, बल और सत्य का अधिपति है, वैसे ही मनुष्यों को भी होना चाहिए ।।२।।

अथ परमात्मा प्रार्थ्यते ।

१७७९. **एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ् स्वा३र्ण ज्योतिः ।**
अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः ।।३।।[3]

एभिः नः अर्कैः । भव नः अर्वाङ् । स्वः न ज्योतिः । अग्ने विश्वेभिः ।
सुमनाः सु मनाः अनीकैः ।।३।।

---

१. ऋ० ४।१०।२; य० १५।४५ ।

२. दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमृग्भाष्ये राजधर्मविषये यजुर्भाष्ये चाध्यापकाध्येतृविषये व्याख्यातः ।

३. ऋ० ४।१०।३; य० १५।४६ ।

पदार्थः— हे **अग्ने** जीवनाधार सर्वान्तर्यामिन् जगदीश ! त्वम् **एभिः** एतैः **अर्कैः** अर्चनसाधनैः वेदमन्त्रैः । [अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति । निरु० ५।५] **नः अर्वाङ्** अस्मदभिमुखः **भव** जायस्व । त्वम् **स्वः न** सूर्य इव **ज्योतिः** ज्योतिःस्वरूपोऽसि । **सुमनाः** प्रसन्नमनाः त्वम् **विश्वेभिः** सर्वैः **अनीकैः**[1] सद्गुणसैन्यैः तेजोभिर्वा सह **नः अर्वाङ् भव** अस्मदभिमुखो भव ॥३॥[2]

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— यथा सूर्यः स्वरश्मिभिरस्मदभिमुखो जायते तथैव जगदीश्वरोऽखिलैः सद्गुणैस्तेजोभिश्चास्मान् प्राप्नुयात् ॥३॥

अस्मिन् खण्डे आनन्दधाराणां परमेश्वरस्य जीवात्मनो द्विजन्मनश्च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्वेद्या ॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ— हे **अग्ने** जीवनाधार, सर्वान्तर्यामी जगदीश ! आप **एभिः** इन **अर्कैः** अर्चना के साधन वेदमन्त्रों द्वारा **नः अर्वाङ्** हमारे अभिमुख **भव** होवो । आप **स्वः न** सूर्य के समान **ज्योतिः** ज्योतिःस्वरूप हो । **सुमनाः** प्रसन्न मन वाले आप **विश्वेभिः** सब **अनीकैः** सद्गुणों की सेनाओं के साथ वा तेजों के साथ **नः अर्वाङ् भव** हमारे अभिमुख होवो ॥३॥

यहां उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ— जैसे सूर्य अपनी किरणों से हमारे अभिमुख होता है, वैसे ही जगदीश्वर सब सद्गुणों और तेजों के साथ हमें प्राप्त हो ॥३॥

इस खण्ड में आनन्द-धाराओं, परमेश्वर, जीवात्मा और द्विजन्मा के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

बीसवें अध्याय में प्रथम खण्ड समाप्त ।

॥६॥ अथ 'अग्ने' इत्यादिकस्य षष्ठस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** प्रस्कण्वः काण्वः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४० क्रमाङ्के व्याख्यातपूर्वा । अत्र योगविषयो निरूप्यते ।

१७८०. अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य ।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः ॥१॥[3]

अग्ने विवस्वत् वि वस्वत् उषसः । चित्रम् राधः अमर्त्य अ मर्त्य ।
आ दाशुषे जातवेदः जात वेदः वह त्वम् ।
अद्य अ द्य देवान् उषर्बुधः उषः बुधः ॥१॥

---

१. (अनीकैः) शत्रुभिर्दुष्टैर्दस्युभिर्नेतुमशक्यैः मैन्यैः— इति ऋग्भाष्ये द० । अनीकैः तेजोभिः — इति सा० ।

२. ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजप्रजाविषये व्याचष्टे ।

३. ऋ० १।४४।१; साम० ४० ।

पदार्थः— हे अमर्त्य अमरकीर्ते **जातवेदः** योगज्ञानप्रद **अग्ने** योगिराज ! **त्वम् अद्य** अस्मिन् दिने **दाशुषे** आत्मसमर्पणकारिणे मह्यम् **विवस्वत्** तामसवृत्तीनां विवासयितृ, **उषसः** योगमार्गे उदिताया ज्योतिष्मत्याः प्रज्ञायाः **चित्रम्** अद्भुतम् **राधः** ऐश्वर्यम्, **उषर्बुधः देवान्** उषसि ज्योतिष्मत्यां प्रज्ञायां ये बुध्यन्ते जाग्रति तान् दिव्यगुणांश्च **आवह** प्रापय ।।१।।[1]

भावार्थः— परमात्मकृपया जीवात्मनः सततप्रयासेन योगगुरोः शिक्षया चोत्तरोत्तरं नवा नवा उपलब्धयो योगाभ्यासिनो जायन्ते विवेकख्यात्या कैवल्यं चाप्यधिगम्यते ।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ४० क्रमांक पर हो चुकी है । यहां योग का विषय दर्शाया जा रहा है ।

पदार्थ— हे **अमर्त्य** अमर कीर्ति वाले, **जातवेदः** योग का ज्ञान देने वाले **अग्ने** योगिराज ! **त्वम्** आप **अद्य** आज **दाशुषे** आत्मसमर्पणकर्ता मेरे लिए **विवस्वत्** तामस वृत्तियों के अन्धकार को दूर करने वाले, **उषसः** योगमार्ग में उदित हुई ज्योतिष्मती प्रज्ञा के **चित्रम्** अद्भुत **राधः** ऐश्वर्य को, और **उषर्बुधः देवान्** उषाकाल में जागने वाले दिव्य गुणों को **आ वह** प्राप्त कराओ ।।१।।

भावार्थ— परमात्मा की कृपा से, जीवात्मा के निरन्तर किये जाने वाले प्रयत्न से और योग सिखाने वाले गुरु की शिक्षा से उत्तरोत्तर नवीन-नवीन उपलब्धियां योगाभ्यासी को होती हैं और विवेकख्याति द्वारा मोक्ष भी प्राप्त हो जाता है ।।१।।

अथ पुनरपि योगविषय उच्यते ।

२ ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१७८१. जुष्टो हि दूतो असि हव्यवाहनोऽग्ने रथीरध्वराणाम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
सजूरश्विभ्यामुषसा सुवीर्यमस्मे धेहि श्रवो बृहत् ।।२।।[2]
१ २र ३ २ १ २र ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ २ ३ १ २
जुष्टः हि दूतः असि हव्यवाहनः हव्य वाहनः । अग्ने रथीः अध्वराणाम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र ३ २
सजूः स जूः अश्विभ्याम् उषसा सुवीर्यम् सु वीर्यम् । अस्मेइति धेहि श्रवः बृहत् ।।२।।

पदार्थः— हे **अग्ने** मार्गदर्शक योगिराड् ! **जुष्टः** सेवितः त्वम् **हि** निश्चयेन **दूतः** दोषाणामुपतापयिता । [टुदु उपतापे, स्वादिः । दुतनिभ्यां दीर्घश्च । उ० ३।९० इति क्तः प्रत्ययो धातोर्दीर्घश्च ।] **हव्यवाहनः** प्राप्तव्यानां योगसिद्धीनां प्रापयिता, **अध्वराणाम्** क्रियमाणानामष्टाङ्गयोगयज्ञानाम् **रथीः** चालकश्च **असि** विद्यसे । त्वम् **अश्विभ्याम्** प्राणापानाभ्याम् **उषसा** ज्योतिष्मत्या प्रज्ञया च **सजूः** सप्रीतिः सन् **अस्मे** अस्मभ्यम् **सुवीर्यम्** सुवीर्ययुक्तम् **बृहत् श्रवः** योगशास्त्रस्य महद् ज्ञानम् तज्जन्यं यशश्च **धेहि** प्रयच्छ ।।२।।[3]

भावार्थः— अष्टाङ्गयोगमभ्यस्यते जनाय प्रणवजपः परमेश्वरोपासनं योगगुरुनिर्दिष्टमार्गानुसरणं च लक्ष्य-प्राप्तौ परमसहायकानि जायन्ते ।।२।।

आगे फिर योग के विषय में कहते हैं ।

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं परमेश्वराज्ञापालनेन विदुषां चाश्रयेण चक्रवर्तिराज्यविद्याश्रीप्राप्तिविषये व्याख्यातः ।
२. ऋ० १।४४।२ ।
३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं विदुषां सङ्गेन विद्यापराक्रमशत्रुविजयचक्रवर्तिराज्यादिश्रीप्राप्तिविषयेऽग्नेर्जवादियोगेनोत्तम-व्यवहारसिद्धिविषये च व्याचष्टे ।

पदार्थ– हे **अग्ने** मार्गदर्शक योगिराज ! **जुष्टः** सेवन किये हुए आप **हि** निश्चय ही **दूतः** दोषों को तपा डालने वाले, **हव्यवाहनः** प्राप्तव्य योगसिद्धियों को प्राप्त कराने वाले, और **अध्वराणाम्** किये जाने वाले अष्टांग योग रूप यज्ञों के **रथीः** चालक **असि** हो । आप **अश्विभ्याम्** प्राणापानों से तथा, **उषसा** ज्योतिष्मती प्रज्ञा से **सजूः** सहायवान् होकर **अस्मे** हमें **सुवीर्यम्** सुवीर्ययुक्त **बृहत् श्रवः** योगशास्त्र का महान् ज्ञान और उससे मिलने वाला यश **धेहि** प्रदान करो ॥२॥

भावार्थ– अष्टांग योग का अभ्यास करने वाले मनुष्य के लिए प्रणवजप, परमेश्वर की उपासना और योग के गुरु द्वारा बताये हुए मार्ग का अनुसरण करना लक्ष्यप्राप्ति में परम सहायक होते हैं ॥२॥

॥७॥ अथ 'विधुं दद्राण'मित्यादिकस्य सप्तमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** बृहदुक्थो वामदेव्यः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३२५ क्रमाङ्के चन्द्रसूर्यविषये मनआत्मविषये च व्याख्याता । अत्र प्रकारान्तरेण व्याख्यायते ।

३ १. २ ३ १र २र ३ १र २र३ १ २ ३ १ २
१७८२. **विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।**
३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २३ १र २र
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥१॥[1]

३ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ २ १ २र १ २र ३ २ ३
विधुम् वि धुम् दद्राणम् समने सम् अने बहूनाम् । युवानम् सन्तम् पलितः जगार ।
१ २ ३ १ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३
देवस्य पश्य काव्यम् महित्वा । अद्य अ द्य ममार सः ह्यः सम् आन ॥१॥

पदार्थः– **समने** संग्रामे **बहूनाम्** अनेकेषां रिपूणाम् **विधुम्** वेद्धारम् । [व्यध ताडने दिवादिः, 'पृभिदिव्याधिगृधिधृषिहृषिभ्यः' उ० १।२३ इत्यनेन उः प्रत्ययः, 'ग्रहिज्या०' अ० ६।१।१६ इति सम्प्रसारणम् ।] **दद्राणम्** तेषां दुर्गतिं कुर्वाणम् । [द्रा कुत्सायां गतौ, ण्यन्तः, लिटः कानच्] **युवानं सन्तम्** तरुणमपि सन्तं कञ्चिद् वीरम् **पलितः** वृद्धः कालः **जगार** निगिरति । **देवस्य** क्रीडाकर्तुः जगत्पतेरिन्द्रस्य **महित्वा** महत् **काव्यम्** जगद्रूपं दृश्यकाव्यम् **पश्य** निभालय, यत् **सः** असौ **अद्य** अस्मिन् दिने **ममार** मृतः शेते, यः **ह्यः** गते दिवसे **समान** सम्यक् प्राणान् धारयति स्म ॥१॥

भावार्थः– विपुलशक्तिमतामपि मृत्युमुखान्नोद्धार इत्यवलोक्य धर्मकर्मसु परमात्मचिन्तने च मनो निवेशनीयम् ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ३२५ क्रमांक पर चन्द्र-सूर्य और मन-आत्मा के विषय में की जा चुकी है । यहाँ दूसरी व्याख्या दर्शाते हैं ।

पदार्थ– **समने** संग्राम में **बहूनाम्** अनेक शत्रुओं को **विधुम्** बींधने वाले, **दद्राणम्** उनकी दुर्गति करने वाले **युवानं सन्तम्** युवा भी किसी वीर को **पलितः** बूढ़ा काल **जगार** निगल लेता है । **देवस्य** क्रीडा करने वाले जगत्पति इन्द्र परमेश्वर के **महित्वा** महान् **काव्यम्** जगत्-रूप दृश्य काव्य को **पश्य** देखो, कि **सः** वह **अद्य** आज **ममार** मरा पड़ा है **यः** जो **ह्यः** कल **समान** भली-भाँति साँस ले रहा था, जीवित था ॥१॥

भावार्थ– बड़ी भारी शक्ति जिनके पास होती है वे भी मृत्यु के मुख में जाने से नहीं बच पाते, यह देखकर धर्म-कर्मों में और परमात्मा के चिन्तन में मन लगाना चाहिए ॥१॥

---

१. ऋ० १०।५५।५; अथ० ९।१०।९, ऋषिः ब्रह्मा, 'समने बहूनां' इत्यत्र 'सलिलस्य पृष्ठे' इति भेदः । साम० ३२५ ।

अथेन्द्रस्य परमात्मनो गुणा वर्ण्यन्ते ।

१ २ ३ १ २३१ २३२ ३१र २र ३१र २र
१७८३. शाक्मना शाको अरुणः सुपर्ण आ यो महः शूरः सनादनीडः।
२ ३१२ ३२ ३ १२ ३२३२ ३१र २र
यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता ॥२॥[1]

१ २र ३२ ३ २ २ ३ २ ३२ १२र ३ २ १ २र ३
शाक्मना शाकः अरुणः सुपर्णः सु पर्णः। आ यः महः शूरः सनात् अनीडः अ नीडः।
२ ३१२ ३ २ १२र १ २र ३२ ३ २ १ २र ३ २ १ २र
यत् चिकेत सत्यम् इत् तत् न मोघम् । वसु स्पार्हम् उत जेता उत दाता॥२॥

पदार्थः— **शाक्मना** शक्मना बलेन **शाकः** शक्तः, **अरुणः** आरोचमानः, **सुपर्णः** सुपालकः इन्द्रो जगदीश्वरः । [यः पिपर्ति पालयति पूरयति वा स पर्णः । 'धापृवस्यज्यतिभ्यो नः' उ० ३।६ इति पिपर्तेर्नः प्रत्ययः ।] **आ** अस्मान् आगच्छतु । [उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः।] कीदृशः इन्द्रः? **यः महः** महान्, **शूरः** वीरः **सनात्** सदैव **अनीडः** अनिकेतश्च वर्तते । सः **यत् चिकेत** यत् जानाति **तत् सत्यम् इत्** तत् सत्यमेव भवति, **न मोघम्** असत्यं न । सः **स्पार्हम्** स्पृहणीयम् **वसु** आध्यात्मिकं भौतिकं चैश्वर्यम् **उत जेता** अधिगन्तापि भवति **उत दाता** दातापि च भवति ॥२॥

भावार्थः— य इन्द्रः परमेश्वरः सर्वशक्तिमांस्तेजस्वी मनस्वी पालयिता पूरयिता महान् शूरः सत्यज्ञानो वसुमान् वसुप्रदाता चास्ति स सर्वैरुपासनीयोऽभिनन्दनीयश्च ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा के गुण वर्णित हैं।

पदार्थ— शाक्मना शक्ति से **शाकः** शक्तिमान्,**अरुणः** तेज से देदीप्यमान, **सुपर्णः** उत्कृष्ट पालनकर्ता इन्द्र जगदीश्वर **आ** हमारे पास आये, **यः** जो **महः** महान्, **शूरः** वीर **सनात्** सदा से **अनीडः** बिना घर वाला है । वह **यत् चिकेत** जो कुछ जानता है **तत् सत्यम् इत्** वह सत्य ही होता है, **न मोघम्** असत्य नहीं । वह **स्पार्हम्** चाहने योग्य **वसु** आध्यात्मिक और भौतिक ऐश्वर्य का **उत जेता** विजेता भी होता है **उत दाता** और दाता भी ॥२॥

भावार्थ— जो इन्द्र परमेश्वर सर्वशक्तिमान्, तेजस्वी, मनस्वी, पालनकर्ता, पूर्णकर्ता, महान्, शूर, सत्य ज्ञानवाला, ऐश्वर्यशाली और ऐश्वर्य का दाता है उसकी उपासना और उसका अभिनन्दन सबको करना चाहिए ॥२॥

अथ पुनरपि स एव विषय उच्यते ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २
१७८४. ऐभिर्ददे वृष्ण्या पौंस्यानि येभिरौक्षद्वृत्रहत्याय वज्री।
१र २र ३१ २ ३१ २ ३ २ ३१ २ ३ २
ये कर्मणः क्रियमाणस्य मह्न ऋतेकर्ममुदजायन्त देवाः॥३॥[2]

३ १ २र १ २र १ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २र ३ २
आ एभिः ददे वृष्ण्या पौंस्यानि । येभिः औक्षत् वृत्रहत्याय वृत्र हत्याय वज्री।
१ २र ३१ २ ३ २
ये कर्मणः क्रियमाणस्य मह्ना।
३ २ ३ २ ३१ २ ३ १ २र ३ २
ऋतेकर्मम् ऋते कर्मम् उदजायन्त उत् अजायन्त देवाः ॥३॥

---

१. ऋ० १०।५५।६।
२. ऋ० १०।५५।७।

पदार्थः— महः कर्मणः महतः सृष्ट्युत्पत्त्यादिकर्मणः **क्रियमाणस्य** विधीयमानस्य सतः **ये देवाः** ये दिव्यगुणाः इन्द्रे परमेश्वरे **ऋतेकर्मम्** प्रयत्नं विनैव, स्वभावतः इत्यर्थः **उदजायन्त** उद्भूताः, **येभिः** यैः देवैः दिव्यगुणैः **वज्री** वज्रधरः इव स इन्द्रो जगदीश्वरः **वृत्रहत्याय** विघ्नानां हननाय **औक्षत्** जीवात्मानम् असिञ्चत्, **एभिः** एतैस्तैर्दिव्यगुणैः अद्यापि सः **वृष्ण्या** वृष्ण्यानि सुखवर्षकाणि **पौंस्यानि** बलकर्माणि **आददे** गृह्णाति करोतीत्यर्थः ॥३॥

भावार्थः— परमेश्वरे स्वभावतः सदातना ये गुणाः सन्ति तैरेव स समग्रं सृष्टिव्यापारं करोति, तेषां गुणानां कञ्चिदंशं स मनुष्येष्वपि निदधाति येन ते विघ्नपापदोषादीनां विनाशाय प्रभवन्ति ॥३॥

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— महः कर्मणः महान् सृष्ट्युत्पत्ति आदि कर्म के किये जाते समय **ये देवाः** जो दिव्यगुण, इन्द्र परमेश्वर में **ऋतेकर्मम्** बिना प्रयत्न के स्वभावतः **उदजायन्त** प्रकट हुए, **येभिः** जिन दिव्य गुणों से **वज्री** वज्र-धारी के समान उस जगदीश्वर ने **वृत्रहत्याय** विघ्नों के विनाशार्थ **औक्षत्** जीवात्मा को सींचा, **एभिः** उन दिव्य गुणों से वह, आज भी **वृष्ण्या** सुखवर्षक **पौंस्यानि** बलयुक्त कर्मों को **आददे** करता है ॥३॥

भावार्थ— परमेश्वर में स्वभावतः सदा रहने वाले जो गुण हैं उन्हीं से वह सारे सृष्टि के कार्य को करता है । उन गुणों में से कुछ अंश वह मनुष्यों में भी निहित कर देता है,जिससे वे विघ्न, पाप, दोष आदि के विनाश में समर्थ होते हैं॥३॥

॥८॥ अथ 'अस्ति सोमो' इत्यादिकस्याष्टमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** बिन्दुः पूतदक्षो वा आङ्गिरसः । **देवता** सोमः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १७४ क्रमाङ्के भक्तिज्ञानकर्मवीरतासेवारसविषये व्याख्याता । अत्र ब्रह्मानन्दरसविषय उच्यते ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१७८५. अस्ति सोमो अयं सुतः पिबन्त्यस्य मरुतः। उत स्वराजो अश्विना ॥१॥[1]

१ २ २ १ २ २ ३ २ ३ २ १ २ २ ३ १ २
अस्ति सोमः अयम् सुतः। पिबन्ति अस्य मरुतः।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
उत स्वराजः स्व राजः अश्विना ॥१॥

पदार्थः— अयम् एषः **सोमः** आनन्दरसः **सुतः अस्ति** अभिषुतो वर्तते । **स्वराजः अस्य** स्वकीयदीप्तिमतः अस्य **मरुतः** प्राणाः **उत** अपि च **अश्विनौ** आत्मा मनश्च **पिबन्ति** आस्वादनं कुर्वन्ति । [स्वराजः अस्य स्वराजम् इमम् ।द्वितीयार्थे षष्ठी] ॥१॥

भावार्थः— उपासकैः परमात्मध्यानेन यो ब्रह्मानन्दरसः प्राप्यते तेनात्ममनःप्राणादीनि सर्वाण्यपि तरङ्गितानि जायन्ते ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में १७४ क्रमांक पर भक्तिरस, ज्ञानरस आदि के विषय में की जा चुकी है । यहां ब्रह्मानन्द-रस का विषय वर्णित करते हैं ।

---

१. ऋ० ८।९४।४, देवता मरुतः । साम० १७४, देवता इन्द्रः ।

पदार्थ– **अयम्** यह **सोमः** आनन्द-रस **सुतः अस्ति** परमेश्वर के पास से परिसुत किया गया है । **स्वराजः अस्य** निज दीप्ति वाले इस रस को **मरुतः** प्राण **उत** और **अश्विनौ** आत्मा तथा मन **पिबन्ति** पीते हैं ।।१।।

भावार्थ– उपासकों द्वारा परमात्मा के ध्यान से जो ब्रह्मानन्द-रस प्राप्त किया जाता है उससे आत्मा, मन, प्राण आदि सभी तरंगित हो जाते हैं ।।१।।

अथ कीदृशं ब्रह्मानन्दरसं के पिबन्तीत्याह ।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१७८६. **पिबन्ति मित्रो अर्यमा तना पूतस्य वरुणः। त्रिषधस्थस्य जावतः ।।२।।**[1]

१ २र ३ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ १ २ १ २र
पिबन्ति मित्रः मि त्रः अर्यमा। तना पूतस्य वरुणः।
३ १ २ ३ १ २ १ २र
त्रिषधस्थस्य त्रि सधस्थस्य जावतः ।।२।

पदार्थः– **तना** तनेन विस्तरेण **पूतस्य** पवित्रस्य, **त्रिषधस्थस्य** त्रयः आत्ममनःप्राणरूपाः सधस्थाः स्थितिस्थानानि यस्य तस्य, **जावतः** जवतः वेगयुक्तस्य रसस्य **मित्रः** मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षावृत्तियुक्तो योगी, **अर्यमा** सूर्यवत् तेजोमयो ज्योतिष्मतीप्रज्ञायुक्तो योगी, **वरुणः** वारितव्याधिस्त्यानसंशयाद्यन्तरायसमूहो योगी च **पिबन्ति** आस्वादनं कुर्वन्ति । [तनु विस्तारे इत्यतो निष्पन्नात् तनशब्दात् तृतीयैकवचनस्य 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इत्यनेन आलादेशः। जवतेर्गत्यर्थाच्छतरि 'जवतः' इति प्राप्ते· 'जावतः' इत्यत्र 'अन्येषामपि दृश्यते' अ० ६।३।१३७ इत्यनेन दीर्घः ।] ।।२।।

भावार्थः– परिपक्वा योगिन एव समाधौ स्थिताः पवित्रं ब्रह्मानन्दरसमास्वादयन्ति ।।२।।

अगले मन्त्र में यह बताया गया है कि कैसे ब्रह्मानन्द-रस को कौन पीते हैं ।

पदार्थ– **तना** विस्तृत रूप से **पूतस्य** पवित्र, **त्रिषधस्थस्य** आत्मा, मन, प्राण इन तीन स्थानों में स्थित **जावतः** वेगयुक्त ब्रह्मानन्द-रस को **मित्रः** मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा वृत्तियों से युक्त योगी, **अर्यमा** सूर्यवत् तेजस्वी एवं ज्योतिष्मती प्रज्ञा से युक्त योगी और **वरुणः** व्याधि, स्त्यान, संशय आदि विघ्नों का जिसने निवारण कर दिया है ऐसा योगी **पिबन्ति** पान करते हैं ।।२।।

भावार्थ– परिपक्व योगी ही समाधि में स्थित होकर पवित्र ब्रह्मानन्द-रस का आस्वादन करते हैं ।।२।।

अथ पुनर्ब्रह्मानन्दविषयमाह ।

३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
१७८७. **उतो न्वस्य जोषमा इन्द्रः सुतस्य गोमतः। प्रातर्होतेव मत्सति ।।३।।**[2]

३ २ ३ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २ १ २र ३ १ २ १ २र ३
उत उ नु अस्य जोषम् आ । इन्द्रः सुतस्य गोमतः । प्रातः होता इव मत्सति ।।३।।

पदार्थः– **उत उ नु** अपि च **प्रातः** प्रभातवेलायाम् **सुतस्य** ब्रह्मयज्ञेन अभिषुतस्य **गोमतः** प्रकाशयुक्तस्य **अस्य** ब्रह्मानन्दरूपस्य सोमरसस्य **जोषम्** सेवनम् । [जुषी प्रीतिसेवनयोः, तुदादिः, घञ् प्रत्ययः ।] **इन्द्रः** योगी **जनः मत्सति** स्तौति । [मदि स्तुत्यादौ, लेटि सिब्विकरणे रूपम् ।] **होता इव** होमकर्ता यथा यज्ञाग्निं स्तौति तथा ।।३।।

---

१. ऋ० ८।९४।५।
२. ऋ० ८।९४।६।

अत्रोपमालङ्कार।।३।।

भावार्थः— यथा प्रातर्देवयज्ञेऽग्नौ होमकर्ता पुरुषोऽग्निं स्तौति तथा योगी ब्रह्मयज्ञे परमात्मसङ्गेन प्राप्तमानन्दं स्तौति ।।३।।

आगे फिर ब्रह्मानन्द का विषय है ।

पदार्थ— उत उ नु और **प्रातः** प्रातःकाल **सुतस्य** ब्रह्मयज्ञ द्वारा परिसुत, **गोमतः** प्रकाशयुक्त **अस्य** इस ब्रह्मानन्द-रूप सोमरस के **जोषम्** सेवन की **इन्द्रः** योगी मनुष्य **मत्सति** स्तुति करता है, **होता इव** जैसे होम करने वाला मनुष्य अग्नि की स्तुति करता है ।।३।।

यहां उपमालंकार है ।।३।।

भावार्थ— जैसे प्रातःकाल देवयज्ञ में अग्नि में होम करने वाला पुरुष अग्नि की स्तुति करता है, वैसे ही योगी ब्रह्मयज्ञ में परमात्मा की संगति से प्राप्त आनन्द की स्तुति करता है ।।३।।

।।९।। अथ 'बण्महाँ' इत्यादिकस्य नवमस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः**— जमदग्निर्भार्गवः । **देवता** सूर्यः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके २७६ क्रमाङ्के परमात्मनृपत्याचार्यविषये व्याख्याता । अत्रादित्यदृष्टान्तेन जीवात्मा प्रोद्बोध्यते।

१७८८. बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि ।
महस्ते सतो महिमा पनिष्टम मह्ना देव महाँ असि ।।१।।[1]
बट् महान् असि सूर्य । बट् आदित्य आ दित्य महान् असि ।
महः ते सतः महिमा पनिष्टम। मह्ना देव महान् असि ।।१।।

पदार्थः— **बट्** सत्यम्, हे **सूर्य** भास्कर ! त्वम् **महान् असि** विशालोऽसि, **बट्** सत्यम्, हे **आदित्य** दिवाकर ! त्वम् **महान् असि** महत्त्वोपेतोऽसि । हे **पनिष्टम** सौरमण्डले स्तुत्यतम ! [पण व्यवहारे स्तुतौ च । पन्यते स्तूयते यः स पनिः, अतिशयेन पनिः पनिष्टमः, मध्ये सुडागमश्छान्दसः, तस्य षत्वं च।] **महः सतः ते** तेजस्विनः सतः तव **महिमा** गरिमा, अद्भुतोऽस्ति । हे **देव** प्रकाशक ! त्वम् **मह्ना** महिम्ना **महान् असि** गौरवपूर्णोऽसि—इति सूर्यस्य अन्योक्त्या जीवात्मानमाह ।।१।।[2]

अत्रान्योक्तिरलङ्कारः ।।१।।

भावार्थः— सूर्यः परिमाणेन महान् तत्परिधेरष्टलक्षक्रोशद्राघिम्नोऽप्यधिकत्वात्, कर्मभिर्महान् समस्त-ग्रहोपग्रहाणां प्रकाशकत्वाज्जीवनाधारत्वाच्च, गुरुत्वाकर्षणेन महान् सर्वेषां खगोलपिण्डानामाकर्षणेन धार-कत्वात्, ज्योतिषा च महान् ज्योतिष्मुज्जत्वात् । तथैव मनुष्यस्यात्मन्यपि महती शक्तिर्निहितास्ति, तां परि-चित्य स महान्ति कर्माणि कुर्यादित्युद्बोधनम् ।।१।।

---

१. ऋ० ८।१०१।११; य० ३३।३९, अथ० २०।५८।३, सर्वत्र 'पनिष्टम महना' इत्यत्र 'पनस्यतेऽद्धा'। साम० २७६ ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमीश्वरविषये व्याख्यातः ।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में २७६ क्रमांक पर परमात्मा, राजा और आचार्य के विषय में व्याख्यात की गयी थी। यहां सूर्य के दृष्टान्त से जीवात्मा को उद्‌बोधन दे रहे हैं।

पदार्थ– **बट्** सचमुच, हे **सूर्य** सूर्य ! तू **महान् असि** विशाल है, **बट्** सचमुच हे **आदित्य** आदित्य ! तू **महान् असि** महान् है। हे **पनिष्टम** सौरमण्डल में सबसे अधिक स्तुति योग्य ! **महः सतः ते** तुझ तेजस्वी की **महिमा** महिमा अद्भुत है। हे **देव** प्रकाशक ! तू **मह्ना** महिमा से **महान् असि** महान् है– यह सूर्य की अन्योक्ति से जीवात्मा को कहा गया है ॥१॥

यहां अन्योक्ति अलंकार है ॥१॥

भावार्थ– सूर्य परिमाण में महान् है, क्योंकि उसकी परिधि आठ लाख कोस की लम्बाई से भी अधिक है; कर्म से महान् है, क्योंकि सब ग्रहोपग्रहों का प्रकाशक और जीवनाधार है; गुरुत्वाकर्षण में महान् है, क्योंकि सब आकाशीय पिण्डों को अपने आकर्षण से धारण किये हुए है; ज्योति में महान् है, क्योकि ज्योति का पुंज ही है। इसी प्रकार मनुष्य के आत्मा में भी बहुत बड़ी शक्ति निहित है, उसे पहचानकर वह महान् कर्मों को करे यह उसे उद्बोधन दिया गया है ॥१॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह।

१७८९. **बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि।**
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥२॥[1]

बट् सूर्य श्रवसा महान् असि। सत्रा देव महान् असि।
मह्ना देवानाम् असुर्यः असुर्यः पुरोहितः पुरः हितः।
विभु वि भु ज्योतिः अदाभ्यम् अ दाभ्यम् ॥२॥

पदार्थः– **बट्** सत्यम्, हे **सूर्य** प्रभाकर ! त्वम् **श्रवसा** यशसा **महान् असि** महिमवान् वर्तसे। **सत्रा** सत्यमेव, हे **देव** ज्योतिर्मय ! त्वम् **महान् असि** महान् विद्यसे। **असुर्यः** असुराः प्राणवन्तः, तेभ्यो हितः त्वम्। [असुशब्दान्मत्वर्थीयो रः। ततोऽसुरप्रातिपदिकाद् हितार्थे यत् प्रत्ययः।] **मह्ना** महिम्ना **देवानाम्** भूमण्डलसोममङ्गल-बुधादीनां प्रकाश्यानाम् **पुरोहितः** प्रकाशप्रदानाय सम्मुखं निहितो विद्यसे। त्वम् **विभु** व्यापकम् **अदाभ्यम्** हिंसितुमशक्यम् **ज्योतिः** तेजः असिइति सूर्यस्यान्योक्त्या जीवात्मानमाह ॥२॥[2]

अत्राप्यन्योक्तिरलङ्कारः ॥२॥

भावार्थः– जीवात्माऽपि सूर्यवद् यशस्वी गुणैर्महान् अग्रणीर्ज्योतिष्मांश्चास्तीति स स्वकीयान् गुणान् परिचित्य महान्ति कार्याणि कुर्वन्नभ्युदयं निःश्रेयसं च विन्दतु ॥२॥

---

१. ऋ० ८।१०१।१२; य० ३३।४०; अथ० २०।५८।४।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं परमेश्वरोपासनाविषये व्याचष्टे।

अस्मिन् खण्डेऽध्यात्मयोगो मृत्योर्ध्रुवत्वम् परमात्मा ब्रह्मानन्दरस आत्मोद्बोधनम् इत्येतेषां विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।

आगे फिर उसी विषय को कहते हैं ।

पदार्थ– **बट्** सचमुच, हे **सूर्य** सूर्य ! तू **श्रवसा** यश से **महान् असि** महान् है । **सत्रा** सचमुच ही, हे **देव** ज्योतिर्मय ! तू **महान्-असि** महान् है । **असुर्यः** प्राणियों का हितकर्ता तू **महा** महिमा से **देवानाम्** भूमण्डल, सोम, मंगल, बुध आदि प्रकाशनीयों के **पुरोहितः** सामने निहित है, जिससे उन्हें प्रकाशित कर सके । तू **विभु** व्यापक, **अदाभ्यम्** हिंसा न किये जा सकने योग्य **ज्योतिः** ज्योति है– यह सूर्य की अन्योक्ति से जीवात्मा को कहा गया है ॥२॥

यहां भी अन्योक्ति अलंकार है ॥२॥

भावार्थ– जीवात्मा भी सूर्य के समान यशस्वी, गुणों में महान्, अग्रणी और ज्योतिष्मान् है, इसलिए वह अपने गुणों को पहचानकर महान् कर्मों को करता हुआ अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करे ॥२॥

इस खण्ड में अध्यात्मयोग, मृत्यु की अवश्यंभाविता, परमात्मा, ब्रह्मानन्द-रस, आत्मोद्बोधन इन विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

बीसवें अध्याय में द्वितीय खण्ड समाप्त ।

॥१०॥ अथ 'उप नो' इत्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सुकक्ष आङ्गिरसः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १५० क्रमाङ्के परमात्मविषयमाचार्यविषयं चोपजीव्य व्याख्याता । अत्र जीवात्मा प्रोद्बोध्यते ।

१७९०. **उप नो हरिभिः सुतं याहि मदानां पते । उप नो हरिभिः सुतम् ॥१॥**[1]

उप नः हरिभिः सुतम् । याहि मदानाम् पते । उप नः हरिभिः सुतम् ॥१॥

पदार्थः– हे **मदानां पते** आनन्ददायिनां ज्ञानानां कर्मणां च स्वामिन् जीवात्मन् ! त्वम् **नः** अस्माकम् **हरिभिः** ज्ञानेन्द्रियैः **सुतम्** उत्पादितं ज्ञानम् **उप याहि** उप प्राप्नुहि, **नः** अस्माकम् **हरिभिः** कर्मेन्द्रियैः **सुतम्** निष्पादितं कर्म **उप याहि** उपप्राप्नुहि ॥१॥

भावार्थः– मनःसहितैर्ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपैः साधनैर्निष्पादिते ज्ञानकर्मणी संगृह्य मनुष्यस्य जीवात्माऽध्यात्ममार्गे प्रदं निधायोर्त्वं प्राप्नुयात् ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में १५० क्रमांक पर परमात्मा और आचार्य के विषय में की जा चुकी है । यहाँ जीवात्मा को उद्बोधन है ।

पदार्थ– हे **मदानां पते** आनन्ददायक ज्ञानों और कर्मों के स्वामी जीवात्मन् ! तू **नः** हमारी **हरिभिः** ज्ञानेन्द्रियों से **सुतम्** उत्पन्न किये ज्ञान को **उप याहि** प्राप्त कर, **नः** हमारी **हरिभिः** कर्मेन्द्रियों से **सुतम्** किये गये कर्म को **उप याहि** प्राप्त कर ॥१॥

---

१. ऋ० ८।९३।३१; साम० १५० ।

भावार्थ— मनसहित ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय रूप साधनों से निष्पन्न किये गये ज्ञान और कर्म का संग्रह करके मनुष्य का जीवात्मा अध्यात्ममाग में पग रखकर उन्नति प्राप्त करे ।।१।।

अथ पुनर्जीवात्मविषय एवोच्यते ।

३ १र २र३१ २ ३१र २र ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ २
१७९१ . द्विता यो वृत्रहन्तमो विद इन्द्रः शतक्रतुः। उप नो हरिभिः सुतम् ।।२।।[1]

३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २ १ २र ३ १ २ ३ २ ३
द्विता यः वृत्रहन्तमः वृत्र हन्तमः। विदे इन्द्रः शतक्रतुः शत क्रतुः।
१ २र ३ १ २र ३ २
उप नः हरिभिः सुतम् ।।२।।

पदार्थः— **यः इन्द्रः** यो जीवात्मा **वृत्रहन्तमः** अतिशयेन कामक्रोधादीनां शत्रूणां व्याधिस्त्यानादीनां योगविघ्नानां वा हन्ता, **शतक्रतुः** बहुयज्ञश्च, इत्येवम् **द्विता** द्विधा **विदे** ज्ञायते, सः **नः** अस्माकम् **हरिभिः** ज्ञानेन्द्रियैः कर्मेन्द्रियैश्च **सुतम्** उत्पादितं ज्ञानं कर्म च **उप** उप प्राप्नोतु ।।२।।

भावार्थः— जीवात्मनः खलु द्विविधं कर्म, शत्रुवधः योगादियज्ञपूर्तिश्च । तत्करणाय स ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियाण्युपयुज्योन्नतिशिखरमारोहतु ।।२।।

आगे फिर जीवात्मा का ही विषय वर्णित है ।

पदार्थ— **यः इन्द्रः** जो जीवात्मा **वृत्रहन्तमः** काम, क्रोध आदि शत्रुओं का तथा व्याधि, स्त्यान आदि योग-विघ्नों का अतिशय विनाशक **शतक्रतुः** और बहुत-से यज्ञ करने वाला, इस प्रकार **द्विता** दो रूपों में **विदे** जाना जाता है, वह **नः** हमारे **हरिभिः** ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से **सुतम्** उत्पन्न किये गये ज्ञान और कर्म को **उप** समीपता से प्राप्त करे ।।२।।

भावार्थ— जीवात्मा के दो प्रकार के कर्म हैं, एक शत्रुओं का वध और दूसरा योग आदि यज्ञ की पूर्ति । उन्हें करने के लिए वह ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का उपयोग करके उन्नति के शिखर पर चढ़े ।।२।।

अथ पुनर्जीवात्मानमाह ।

१र २र ३ १र २र ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ २
१७९२. त्वं हि वृत्रहन्नेषां पाता सोमानामसि। उप नो हरिभिः सुतम् ।।३।।[2]

२ ३ २ १ २र १ २र १ २र १ २र ३ २
त्वम् हि वृत्रहन् वृत्र हन् एषाम्। पाता सोमानाम् असि। उप नः हरिभिः सुतम्।।३।।

पदार्थः— हे **वृत्रहन्** कामक्रोधादिषड्रिपूणां योगमार्गे समागतानां विघ्नानां वा हन्तः जीवात्मन् ! **त्वं हि** त्वं खलु **एषाम्** एतेषाम् **सोमानाम्** ज्ञानरसानां कर्मरसानां च **पाता** आस्वादयिता **असि** विद्यसे । **नः** अस्माकम् **हरिभिः** मनःसहितैर्ज्ञानेन्द्रियैः कर्मेन्द्रियैश्च **सुतम्** उत्पादितं ज्ञानं कर्म च **उप** उपप्राप्नुहि ।।३।।

भावार्थः— जीवात्मा खलु शुभं ज्ञानं कर्म च सम्पाद्य योगविधिना परमात्मसाक्षात्कारेण निःश्रेयसं प्राप्तुमर्हति ।।३।।

अगले मन्त्र में पुनः जीवात्मा को कहते हैं ।

---

१. ऋ० ८।९३।३२।
२. ऋ० ८।९३।३३।

पदार्थ– हे **वृत्रहन्** काम, क्रोध आदि छह रिपुओं के और योगमार्ग में आये हुए विघ्नों के विनाशक जीवात्मन् ! **त्वं हि** तू निश्चय ही **एषाम्** इन **सोमानाम्** ज्ञान-रसों और कर्म-रसों का **पाता** पान करने वाला **असि** है । **नः** हमारे **हरिभिः** मनसहित ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से **सुतम्** उत्पन्न किये गये ज्ञान और कर्म को **उप** समीपता से प्राप्त कर ।।३।।

भावार्थ– जीवात्मा को योग्य है कि वह शुभ ज्ञान और कर्म का संपादन करके योग की विधि से परमात्मा के साक्षात्कार द्वारा मोक्ष प्राप्त करे ।।३।।

।।११।। अथ 'प्र वो' इत्यादिकस्यैकादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३२८ क्रमाङ्के परमात्मस्तुतिविषये व्याख्याता । अत्र युगपदाचार्यपरमात्मनोर्विषय उच्यते ।

१ २ ३१ २३१२ ३ १२ ३ १ २३ १ २
१७९३. **प्र वो महे महेवृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम् ।**
१ २ ३ १र २र ३ २
विशः पूर्वीः प्र चर चर्षणिप्राः।।१।।[1]

२ ३ २ ३ १२ ३ १२र ३
प्र वः महे महेवृधे महे वृधे भरध्वम् ।
१२र ३ २३ २ ३ २ ३
प्रचेतसे प्र चेतसे प्र सुमतिम् सु मतिम् कृणुध्वम् ।
१२र ३ २ ३ २ ३ २
विशः पूर्वीः प्र चर चर्षणिप्राः चर्षणि प्राः।।१।।

पदार्थः– हे विद्यार्थिनः प्रजाः वा ! यूयम् **महेवृधे** महत्त्वाय वर्धयति यस्तस्मै, **महे** महते इन्द्राय आचार्याय परमात्मने वा **प्र भरध्वम्** उत्तमम् उपहारम् आनयत । **प्रचेतसे** प्रकृष्टचित्ताय प्रकृष्टज्ञानाय वा तस्मै **सुमतिम्** शोभनां स्तुतिम् **प्र कृणुध्वम्** प्रकुरुत । हे इन्द्र आचार्य परमात्मन् वा ! **चर्षणिप्राः** चर्षणयो मनुष्याः तान् विद्यया धनधान्यादिभिः सद्गुणैर्वा प्राति पूरयतीति तादृशः त्वम् **विशः** विद्यार्थिनः प्रजाः वा **पूर्वीः** श्रेष्ठाः **प्रचर** प्रकुरु ।।१।।[2]

भावार्थः– यथा जगदीश्वरो जनान् सुखयति तथाचार्यस्यापीदं कर्तव्यं यत् स छात्रजनान् विद्यादिभिः प्रपूर्य सुखयेत्, तेषु योगभ्यासाद्यभिरुचिं च जनयित्वा तानध्यात्मपथिकानपि विदध्यात् ।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ३२८ क्रमांक पर परमात्मा की स्तुति के विषय में की जा चुकी है । यहां एकसाथ आचार्य और परमात्मा दोनों का विषय कहते हैं ।

पदार्थ– हे विद्यार्थियो वा प्रजाओ ! तुम **महेवृधे** महत्त्व के लिए बढ़ाने वाले, **महे** महान् इन्द्र अर्थात् आचार्य वा परमात्मा के लिए **प्र भरध्वम्** उत्तम उपहार लाओ । **प्रचेतसे** प्रकृष्ट चित्त वा प्रकृष्ट ज्ञान वाले उसके लिए **सुमतिम्** उत्तम स्तुति **प्र कृणुध्वम्** भलीभाँति करो । हे आचार्य वा परमात्मन् ! **चर्षणिप्राः** मनुष्यों को विद्या, धन, धान्य और सद्गुणों से पूर्ण करने वाले आप **विशः** विद्यार्थियों वा प्रजाओं को **पूर्वीः** श्रेष्ठ **प्रचर** करो ।।१।।

---

१. ऋ० ७।३१।१०, अथ० २०।७३।३, उभयत्र 'महि॒वृधे' 'प्र चे॑रा' इति भेदः । साम० ३२८ ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजप्रजाधर्मविषये व्याचष्टे ।

भावार्थ– जैसे जगदीश्वर मनुष्यों को सुखी करता है वैसे ही आचार्य का भी यह कर्तव्य है कि वह छात्रों को विद्या आदि से पूर्ण करके सुखी करे और उनमें योगाभ्यास आदि की अभिरुचि उत्पन्न करके उन्हें अध्यात्म-मार्ग का पथिक बनाये ।।१।।

अथ पुनरपि परमात्मन आचार्यस्य च विषय उच्यते ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
१७९४. उरुव्यचसे महिने सुवृक्तिमिन्द्राय ब्रह्म जनयन्त विप्राः।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीराः।।२।।[1]

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ २
उरुव्यचसे उरु व्यचसे महिने सुवृक्तिम् सु वृक्तिम् ।
१ २र १ २र ३ १ २र ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र
इन्द्राय ब्रह्म जनयन्त विप्राः वि प्राः। तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीराः।।२।।

पदार्थः– **उरुव्यचसे** विद्यादिषु बहुव्याप्तये **महिने** महते **इन्द्राय** परमात्मने आचार्याय च, तयोः प्रसादायेत्यर्थः **विप्राः** विद्वांसो जनाः **सुवृक्तिम्** शोभनां क्रियाम् **ब्रह्म** ज्ञानसंग्रहं च **जनयन्त** जनयन्ति । **धीराः** प्रज्ञावन्तः ते **तस्य** इन्द्रस्य परमात्मनः आचार्यस्य वा **व्रतानि** नियमान् **न मिनन्ति** न भञ्जन्ति ।।२।।[2]

भावार्थः– बुद्धिमद्भिर्जनैः परमात्मनाऽऽचार्येण च निर्धारिता नियमाः सदैव पालनीयास्तद्द्वारा च प्रेयोमार्गे श्रेयोमार्गे च स्वोन्नतिर्विधेया ।।२।।

अगले मन्त्र में फिर परमात्मा और आचार्य का विषय कहा गया है ।

पदार्थ– **उरुव्यचसे** विद्या आदि में बहुत व्याप्ति वाले **महिने** महान् **इन्द्राय** परमात्मा वा आचार्य के लिए अर्थात् उनकी प्रसन्नता के लिए **विप्राः** विद्वान् जन **सुवृक्तिम्** उत्तम क्रिया और **ब्रह्म** ज्ञान-संग्रह **जनयन्त** करते हैं। **धीराः** बुद्धिमान् वे **तस्य** उस परमात्मा वा आचार्य के **व्रतानि** नियमों को **न मिनन्ति** नहीं तोड़ते हैं ।।२।।

भावार्थ– बुद्धिमान् मनुष्यों को चाहिए कि वे परमात्मा और आचार्य से निर्धारित नियमों का सदैव पालन करें और उसके द्वारा प्रेय मार्ग और श्रेय मार्ग में अपनी उन्नति करें ।।२।।

अथ पुनरपि स एव विषय उच्यते ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
१७९५. इन्द्रं वाणीरनुत्तमन्युमेव सत्रा राजानं दधिरे सहध्यै ।
१ २ ३ २ ३ २
हर्यश्वाय बर्हया समापीन् ।।३।।[3]

१ २र १ २र १ २र १ २र ३ २ ३ २ १ २र ३ १ २र
इन्द्रम् वाणीः अनुत्तमन्युम् अनुत्त मन्युम् एव। सत्रा राजानम् दधिरे सहध्यै ।
१ २र १ २र ३ २ ३ २
हर्यश्वाय हरि अश्वाय बर्हय सम् आपीन् ।।३।।

पदार्थः– **अनुत्तमन्युम्** न नुत्तो बाधितो मन्युस्तेजो यस्य तादृशम् **राजानम्** यशसा प्रदीप्तम् **इन्द्रम् एव** परमात्मानमेव आचार्यमेव वा **वाणीः** वाण्यः, स्तोतृणां शिष्याणां वा वाचः **सहध्यै** विघ्नानां दोषाणां वा

---

१. ऋ० ७।३१।११।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणायमपि मन्त्रो राजप्रजाधर्मविषये व्याख्यातः ।

३. ऋ० ७।३१।१२।

अभिभवाय । [षह अभिभवे, तुमर्थे अध्यैन् प्रत्ययः ।] **सत्रा** उपासनासत्रे, विद्यासत्रे वा **दधिरे** नेतृरूपेण स्थापयन्ति । हे मनुष्य ! त्वम् **हर्यश्वाय** हरयः परस्पराकर्षणयुक्ता हरयः सूर्यचन्द्रभूमण्डलादयो लोकाः यस्य तस्मै परमात्मने, जितेन्द्रियाय आचार्याय च, तादृशं परमात्मानमाचार्यं च प्राप्तुमित्यर्थः **आपीन्** बन्धून् **संबर्हय** सम्प्रेरय ।।३।।[1]

भावार्थः— विद्यायज्ञे गुरुमुपासनायज्ञे च परमेश्वरं प्राप्य मनुष्यैः स्वसमीहितानि साध्यानि ।।३।।

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— अनुत्तमन्युम् अबाधित तेज वाले **राजानम्** यश से प्रदीप्त **इन्द्रम् एव** परमात्मा वा आचार्य को **ही वाणीः** स्तोताओं वा शिष्यों की वाणियां **सहध्यै** विघ्नों वा दोषों को निष्प्रभाव करने के लिए **सत्रा** उपासना-सत्र में वा विद्या-सत्र में **दधिरे** नेता-रूप से स्थापित करती हैं। हे मनुष्य ! तू **हर्यश्वाय** जिसके बनाये हुए सूर्य, चन्द्र, भूमण्डल आदि लोक आपस में आकर्षण से युक्त हैं ऐसे परमात्मा को पाने के लिए वा जितेन्द्रिय आचार्य को पाने के लिए **आपीन्** बन्धुओं को **संबर्हय** भली-भांति प्रेरित कर ।।३।।

भावार्थ— विद्या-यज्ञ में गुरु को और उपासना-यज्ञ में परमेश्वर को प्राप्त करके मनुष्यों को अपने अभीष्ट सिद्ध करने चाहिएं ।।३।।

१।१।। अथ 'यदिन्द्र' इत्यादिकस्य द्वादशस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठः मैत्रावरुणिः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** बार्हतः प्रगाथः (१ विषमा बृहती, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ मध्यमः, २ पञ्चमः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३१० क्रमाङ्के व्याख्यातपूर्वा । दानं कस्मै देयमित्याह ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
१७९६. यदिन्द्र यावतस्त्वमेता वदहमीशीय ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
स्तोतारमिद्दधिषे रदावसो न पापत्वाय रंसिषम् ।।१।।[2]

२ ३ १ २र ३ १ २ ३ २ १ २र
यत् इन्द्र यावतः त्वम् एतावत् अहम् ईशीय ।
३ १ २ ३ २ १ २ ३
स्तोतारम् इत् दधिषे रदावसो रद वसो । न पापत्वाय रंसिषम् ।।१।।

पदार्थः— हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! **यावतः** यावत्परिमाणस्य धनस्य **त्वम्** त्वम् ईशिषे अधीश्वरोऽसि **एतावद्** एतावतः धनस्य यदि **अहम् ईशीय** अधीश्वरो भवेयम्, तर्हि हे **रदावसो** धनदातः ! अहम् **स्तोतारम् इत्** तवोपासकमेव, तेन धनेन **दधिषे** धारयेयम्, **पापत्वाय** पापकर्मणे **न रंसिषम्** नैव दद्याम् ।।१।।[3]

भावार्थः— मनुष्यः सत्पात्रायैव धनादिकं प्रयच्छेत्, पापवृद्धये कदापि न दद्यात् ।।१।।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ३१० क्रमांक पर हो चुकी है । दान किसे देना चाहिए इस विषय में कहते हैं ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! **यावतः** जितने धन के **त्वम्** आप अधीश्वर हो **एतावत्** उतने धन का, यदि **अहम्** मैं **ईशीय** अधीश्वर हो जाऊं, तो **रदावसो** हे धनदाता ! मैं **स्तोतारम् इत्** आपके उपासक का ही, उस धन से **दधिषे** धारण-पोषण करूँ, **पापत्वाय** पाप कर्म के लिए **न रंसिषम्** दान न करूं ।।१।।

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं 'कीदृशं नरं सत्या वाक् सेवते' इति विषये व्याख्यातवान् ।

२. ऋ० ७।३२।१८, अथ० २०।८२।१, उभयत्र 'दधिषे', 'रंसिषम्' इत्यत्र 'दिधिषेय', 'रासीय' इति पाठः । साम० ३१० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं राजप्रजाविषये व्याख्यातः ।

भावार्थ– मनुष्य को चाहिए कि सत्पात्र को ही धन आदि का दान करे, पाप की वृद्धि के लिए कभी दान न दे ।।१।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१७९७. **शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे।**
न हि त्वदन्यन्मघवन्न आप्यं वस्यो अस्ति पिता च न ।।२।।[1]
शिक्षेयम् इत् महयते दिवेदिवे दिवे दिवे । रायः आ कुहचिद्विदे कुहचित् विदे।
न हि त्वत् अन्यत् अन् यत् मघवन् नः आप्यम् । वस्यः अस्ति पिता च न।।२।।

पदार्थः– यदि अहं धनपतिर्भवेयं तर्हि **कुहचिद्विदे**[2] यत्र कुत्रापि विद्यमानाय **महयते** परमेश्वरपूजकाय समाजसेवकाय जनाय । [महयतिः अर्चतिकर्मा । निघं० ३।१४ ।] **दिवेदिवे** प्रतिदिनम् **रायः** धनानि **आ शिक्षेयम् इत्** दद्याम् एव । [शिक्षतिः ददातिकर्मा । निघं० ३।२० ।] हे **मघवन्** धनाधिप परमात्मन् ! **त्वद् अन्यत्** त्वद्भिन्नं किञ्चित् **नः** अस्माकम् **आप्यम्** प्राप्तव्यम् किञ्च **वस्यः** अतिशयेन आच्छादयितृ, शरणप्रदमित्यर्थः **नहि** नैव **अस्ति** विद्यते, **पिता च** पितृवत् पालकश्चापि **न** न विद्यते ।।२।।[3]

भावार्थः– दानं सदा सुपात्र एव देयं न तु कुपात्रे ।।२।।

अगले मन्त्र में फिर वही विषय है ।

पदार्थ– यदि मैं धनपति हो जाऊं तो **कुहचिद्विदे** जहाँ कहीं भी विद्यमान **महयते** परमेश्वरपूजक समाजसेवी मनुष्य को **दिवेदिवे** प्रतिदिन **रायः** धन **आ शिक्षेयम् इत्** अवश्य ही दान किया करूं । हे **मघवन्** धनपति परमात्मन् ! **त्वत् अन्यत्** आपसे भिन्न कोई भी **नः** हमारा **आप्यम्** प्राप्तव्य और **वस्यः** अतिशय शरण देने वाला **नहि** नहीं **अस्ति** है, **पिता च** और पिता के समान पालक भी **न** नहीं है ।।२।।

भावार्थ– दान सदा सुपात्र को ही होना चाहिए, कुपात्र को नहीं ।।२।।

।।१३।। अथ 'श्रुधी हव'मित्यादिकस्य त्रयोदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** विराडनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ।।

अथोपास्योपासकविषयमाह ।

१७९८. **श्रुधी हवं विपिपानस्याद्रेर्बोधा विप्रस्यार्चतो मनीषाम् ।**
कृष्वा दुवांस्यन्तमा सचेमा।।१।।[4]
श्रुधि हवम् विपिपानस्य वि पिपानस्य अद्रेः अ द्रेः ।
बोध विप्रस्य वि प्रस्य अर्चतः मनीषाम् । कृष्व दुवांसि अन्तमा सचा इमा ।।१।।

---

१. ऋ० ७।३२।१९; अथ० २०।८२।२ ।

२. कुहचिद्विदे । कुत्रचिद् विद्यमानः कुहचिद्वित् तस्मै । यत्र क्वापि विद्यमानायेत्यर्थः–इति सा० ।

३. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं प्रजाजनैः किमेष्टव्यमिति विषये व्याख्यातवान् ।

४. ऋ० ७।२२।४।

पदार्थः— हे इन्द्र जगदीश्वर ! त्वम् **विपिपानस्य** ज्ञानकर्मरसं विशेषेण पीतवतः **अद्रेः** अविनश्वरस्य जीवात्मनः **हवम्** आह्वानम् **श्रुधि** शृणु, **अर्चतः** पूजकस्य **विप्रस्य** मेधाविनो विदुषः **मनीषाम्** स्तुतिम् **बोध** बुध्यस्व । सम्प्रति स्तोता सम्बोध्यते – हे स्तोतः ! त्वम् **सचा** अन्यैः स्तोतृभिः सह **इमा** इमानि **अन्तमा** अन्तमानि अन्तिकतमानि **दुवांसि** परिचरणानि **इन्द्राय** जगदीश्वराय **कृष्व** कुरु। [विपिपानस्य विपूर्वः पा पाने, लिटः कानच् । अद्रेः, न दीर्यते इत्यद्रिः तस्य । 'अन्तमा, इमा' अत्र शेश्छन्दसि बहुलम् । अ० ६।१।७० इत्यनेन शसः शेर्लोपः । कृष्व, डुकृञ् करणे लोटि विकरणाभावश्छान्दसः । संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः अ० ६।३।१३५ इति दीर्घः] ॥१॥[१]

भावार्थः— हार्दिकानि निश्छलान्येवोपासनानि परमेश्वरः स्वीकरोति, छलछिद्रोपेतानि कृत्रिमाणि न ॥१॥

प्रथम मन्त्र में उपास्य-उपासक का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे इन्द्र जगदीश्वर! आप **विपिपानस्य** जिसने विशेषरूप से ज्ञान-रस और कर्म-रस का पान कर लिया है ऐसे **अद्रेः** अविनाशी जीवात्मा की **हवम्** प्रार्थना को **श्रुधि** सुनो, **अर्चतः** पूजक **विप्रस्य** मेधावी विद्वान् की **मनीषाम्** स्तुति को **बोध** जानो । आगे स्तोता को संबोधन करते हैं— हे स्तोता ! तू **सचा** अन्य स्तोताओं के साथ मिलकर **इमा** इन **अन्तमा** निकटतम **दुवांसि** पूजाओं को **कृष्व** इन्द्र जगदीश्वर के लिए कर ॥१॥

भावार्थ— हार्दिक निश्छल उपासनाओं को ही परमेश्वर स्वीकार करता है, छल-छिद्रों से युक्त, बनावटी उपासनाओं को नहीं ॥१॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१७९९. न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिमसुर्यस्य विद्वान् ।
सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि ॥२॥[२]

न ते गिरः अपि मृष्ये तुरस्य । न सुष्टुतिम् सु स्तुतिम् असुर्यस्य अ सुर्यस्य विद्वान् ।
सदा ते नाम स्वयशः स्व यशः विवक्मि ॥२॥

पदार्थः— हे इन्द्र जगदीश ! **तुरस्य** दोषाणां हिंसकस्य **ते** तव **गिरः** कर्तव्योपदेशात्मिका वाचः, अहम् **न अपि मृष्ये**[३] न परित्यजामि, न उपेक्षे । तव **असुर्यस्य** बलस्य **विद्वान्** ज्ञाता अहम् **सुष्टुतिम्** त्वदीयां सुस्तुतिमपि **न** न अपि मृष्ये परित्यजामि । **सदा** सर्वदा **ते** तव **स्वयशः** स्वकीर्तिमत् **नाम** नाम **विवक्मि** वच्मि । [तुरस्य, तुर्वति हिनस्ति दोषानिति तुरः, तुर्वी हिंसार्थः । असुर्यस्य, असुरः प्राणवान्, मत्वर्थे रः, असुरस्य स्वम् असुर्यम् बलम् । 'असुरस्य स्वम्' अ० ४।४।१२३ इति यत् । विवक्मि, वच परिभाषणे अदादिः, 'बहुलं छन्दसि' अ० २।४।७६ इति शपः श्लुः] ॥२॥[४]

---

१. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिममध्यापकाध्येतृविषये व्याचष्टे ।

२. ऋ० ७।२२।५।

३. न अपि-मृष्ये । मृषिर्मार्जनकर्मा, न मार्जयामि, न परित्यजामीत्यर्थः । मृषेर्मार्जनकर्मत्वमन्यत्रापि दृश्यते । तद्यथा 'मा नो अग्ने सख्या पित्र्याणि प्र मर्षिष्ठाः, (ऋ० १।७०।१०) इति– इति सा० ।

४. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं परीक्षकैर्विद्यार्थिनां परीक्षाविषये व्याख्यातः ।

भावार्थः— परमेशनामस्मरणेन तदुपासनेन च सर्वे दोषाः क्षीयन्ते, सद्गुणास्तेजांसि बलानि यशांसि च समागच्छन्ति ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर वही विषय है ।

पदार्थ— हे इन्द्र जगदीश ! **तुरस्य** दोषों के हिंसक **ते** आपकी **गिरः** कर्तव्य का उपदेश करने वाली वाणियों को, मैं **न अपि मृष्ये** नहीं छोड़ता अर्थात् उनकी उपेक्षा नहीं करता । आपके **असुर्यस्य** बल का **विद्वान्** ज्ञाता मैं **सुष्टुतिम्** आपकी उत्कृष्ट स्तुति को भी **न** नहीं छोड़ता । **सदा** हमेशा **ते** आपके **स्वयशः** निज कीर्ति वाले **नाम** नाम को **विवक्मि** जपता रहता हूँ ॥२॥

भावार्थ— परमेश्वर का नाम स्मरण करने से और उसकी उपासना करने से सब दोष नष्ट हो जाते हैं और सद्गुण, तेज, बल तथा यश प्राप्त होते हैं ॥२॥

अथ पुनरपि स एव विषय उच्यते ।

१८००. **भूरि हि ते सवना मानुषेषु भूरि मनीषी हवते त्वामित् ।**
मारे अस्मन्मघवं ज्योक्कः ॥३॥[1]

भूरि हि ते सवना मानुषेषु । भूरि मनीषी हवते त्वाम् इत् ।
मा आरे अस्मत् मघवन् ज्योक् करिति ॥३॥

पदार्थः— हे इन्द्र जगदीश ! **मानुषेषु** मनुष्येषु **ते** तव **सवना** सवनानि आनन्दप्रदानानि **भूरि हि** भूरीणि खलु वर्तन्ते । **मनीषी** मनस्वी जनः **त्वाम् इत्** त्वामेव **भूरि** बहु **हवते** आह्वयति । हे **मघवन्** धनाधिप ! त्वम् स्वात्मानम् **अस्मत्** अस्माकं सकाशात् **ज्योक्** चिरम् **आरे** दूरे **मा कः** मा कार्षीः । [करोतेर्लुङि 'मन्त्रे घसह्वर०' अ० २।४।८० इति च्लेर्लुक्] ॥३॥[2]

भावार्थः— उपास्योपासकयोः सामीप्येनैवोपासना फलवती जायते ॥३॥

अस्मिन् खण्डे जीवात्मनः परमात्मन आचार्यस्य धनदानस्योपास्योपासकयोश्च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिर्विज्ञेया ॥

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— हे इन्द्र जगदीश ! **मानुषेषु** मनुष्यों में **ते** आपके **सवना** आनन्द-प्रदान **भूरि हि** बहुत हैं। **मनीषी** मनस्वी जन **त्वाम् इत्** आपको ही **भूरि** बहुत-बहुत **हवते** पुकारता है । हे **मघवन्** धनों के अधीश्वर ! आप स्वयं को **अस्मत्** हमसे **ज्योक्** देर तक **आरे** दूर **मा कः** मत रखो ॥३॥

---

१. ऋ० ७।२२।६।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमध्यापकाध्येतृविषये व्याख्यातः ।

भावार्थ– उपास्य और उपासक की समीपता से ही उपासना सफल होती है ।।३।।

इस खण्ड में जीवात्मा, परमात्मा, आचार्य, धनदान तथा उपास्य-उपासक के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।।

बीसवें अध्याय में तृतीय खण्ड समाप्त ।

।।१४।। अथ 'प्रोष्वस्मै' इत्यादिकस्य चतुर्दशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सुदाः पैजवनः । **देवता इन्द्रः** । **छन्दः** शक्वरी । **स्वरः** धैवतः ।।

तत्रादौ परमात्मनः शत्रुविनाशगुणः प्रशस्यते ।

१८०१ . **प्रो ष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत ।**
अभीके चिदु लोककृत् सङ्गे समत्सु वृत्रहा ।
अस्माकं बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ।।१।।[1]

प्र उ सु अस्मै पुरोरथम् पुरः रथम् । इन्द्राय शूषम् अर्चत ।
अभीके चित् उ लोककृत् लोक कृत् । सङ्गे सम् गे समत्सु स मत्सु वृत्रहा वृत्र हा ।
अस्माकम् बोधि चोदिता ।
नभन्ताम् अन्यकेषाम् अन् यकेषाम् ज्याकाः अधि धन्वसु ।।१।।

पदार्थः– हे सखायः ! **अस्मै इन्द्राय** एतस्मै जगदीश्वराय, अस्य जगदीश्वरस्य महिमानं गातुमित्यर्थः, **पुरोरथम्** येन रथ्यः सर्वेषां पुरः तिष्ठति तादृशम्, सर्वाग्रगन्तृत्वहेतुमित्यर्थः **शूषम्** अस्य बलम् **प्र अर्चत उ** प्रशंसत । सः **अभीके चित् उ** स्वसख्युः उपरि आक्रमणे जाते **लोककृत्** तस्य विजयकर्ता जायते । **समत्सु** देवासुरसंग्रामेषु **सङ्गे** संघट्टे सति **वृत्रहा** पापादीनां शत्रूणां हन्ता भवति । स जगदीश्वरः **अस्माकम्** वीराणाम् अस्माकम् **चोदिता** प्रेरकः सन् **बोधि** अस्मान् उद्बोधयेत् । [बुध अवगमने, ण्यर्थगर्भः, विध्यर्थे लुङ्, अडभावश्च] **धन्वसु अधि** धनुःषु अधिरोपिताः **अन्यकेषाम्** शत्रूणाम् **ज्याकाः** प्रत्यञ्चाः **नभन्ताम्** त्रुट्यन्ताम्, ते निःसाधना भूत्वा पराजीयन्तामिति भावः । [नभ हिंसायाम्, भ्वादिः] ।।१।।

अत्र श्लेषेण जीवात्मपरः सेनापतिपरश्चाप्यर्थोऽध्यवसेयः ।।१।।

भावार्थः– यथा वीरः सेनापतिराक्रान्तॄन् शत्रून् हत्वा स्वराष्ट्रस्य विजयं कारयति तथैव परमेश्वरः पापविघ्नादिरूपान् रिपून् विनाश्य स्वोपासकान् विजयिनः करोति ।।१।।

प्रथम मन्त्र में परमात्मा के शत्रुविनाश के गुण की प्रशंसा की गयी है ।

---

१. ऋ० १०।१३३।१; अथ० २०।९५।२, 'वृत्रहा । अस्माकं' इत्यत्र 'वृत्रहाऽस्माकं' इति भेदः ।

पदार्थ– हे साथियो ! **अस्मै इन्द्राय** इस जगदीश्वर के महिमा-गान के लिए, **पुरोरथम्** रथ को सबसे आगे रखने वाले **शूषम्** इसके बल की **प्र अर्चत उ** प्रशंसा करो । वह **अभीके चित् उ** अपने सखा के ऊपर आक्रमण होने पर **लोककृत्** उसे विजय दिलाने वाला होता है । **समत्सु** देवासुरसंग्रामों में **सत्सु** मुठभेड़ होने पर **वृत्रहा** पाप आदि शत्रुओं का वधकर्ता होता है । वह जगदीश्वर **अस्माकम्** हम वीरों का **चोदिता** प्रेरक होता हुआ **बोधि** हमें उद्बोधन देवे । **धन्वसु अधि** धनुषों पर चढ़ायी हुई **अन्यकेषाम्** शत्रुओं की **ज्याकाः** डोरियाँ **नभन्ताम्** टूट जाएं, अर्थात् वे साधनहीन होकर पराजित हो जाएं ।।१।।

यहां श्लेष से जीवात्मापरक और सेनापतिपरक अर्थ भी जानना चाहिए ।।१।।

भावार्थ– जैसे वीर सेनापति आक्रान्ता शत्रुओं को मारकर अपने राष्ट्र को विजय दिलाता है, वैसे ही परमेश्वर पाप, विघ्न आदि रूप वैरियों को विनष्ट करके अपने उपासकों को विजयी करता है ।।१।।

अथ परमात्मनो निःसपत्नत्वं वर्ण्यते ।

१८०२. त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम् ।
अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यम् ।
तं त्वा परि ष्वजामहे नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ।।२।।[1]

त्वम् सिन्धून् अव असृजः । अधराचः अहन् अहिम् । अशत्रुःअ शत्रुः इन्द्र जज्ञिषे ।
विश्वम् पुष्यसि वार्यम् । तम् त्वा परि स्वजामहे ।
नभन्ताम् अन्यकेषाम् अन् यकेषाम् ज्याकाः अधि धन्वसु ।।२।।

पदार्थः– हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! **त्वम् अहिम्** आनन्दवृष्टिबाधकं विघ्नसमूहम् **अहन्** हंसि, ततश्च **सिन्धून्** आनन्दप्रवाहान् **अधराचः** अधरं जीवात्मानं प्रति गमनशीलान् कृत्वा **अवासृजः** अवसृजसि विमुञ्चसि । त्वम् **अशत्रुः** निःसपत्नः **जज्ञिषे** जातोऽसि । त्वम् **विश्वम्** सर्वम् **वार्यम्** वरणीयम् उपासकजनम् **पुष्यसि** पुष्णासि । **तं त्वा** तादृशं त्वाम्, वयम् **परिष्वजामहे** आश्लिष्यामः । तथा कुरु येन **अन्यकेषाम्** शत्रूणाम् **धन्वसु अधि** धनुःषु अधिरोपिताः **ज्याकाः** प्रत्यञ्चाः **नभन्ताम्** त्रुट्यन्ताम् ।।२।।

भावार्थः– यथा सूर्यो वृष्टिप्रतिबन्धकं हत्वा मेघेभ्यो वारिधारा विमुच्य सर्वं प्राणिजातमोषध्यादिकं च पुष्णाति, यथा वा कश्चित् सेनापतिरैश्वर्यप्रतिबन्धकं शत्रुं हत्वा राष्ट्रे ऐश्वर्यधाराः प्रवाह्य प्रजां पुष्णाति तथैव जगदीश्वर आनन्दप्रतिबन्धकं विघ्नसमूहं विहत्योपासकस्यान्तरात्ममानन्दधाराप्रवाहेण तं परिपोषयति ।।२।।

अगले मन्त्र में परमात्मा का शत्रु-रहित होना वर्णित है ।

पदार्थ– हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! **त्वम्** आप **अहिम्** आनन्द-वर्षा में बाधक विघ्न-समूह को **अहन्** नष्ट करते हो और फिर **सिन्धून्** आनन्द के प्रवाहों को **अधराचः** जीवात्मा के अभिमुख करके **अवासृजः** छोड़ देते हो ।

---

१. ऋ० १०।१३३।२; अथ० २०।९५।३ ।

आप **अशत्रुः** शत्रु-रहित **जज्ञिषे** हो । आप **विश्वम्** सब **वार्यम्** वरणीय उपासक-समाज को **पुष्यसि** पुष्टि देते हो । **तं त्वा** उन आपका, हम **परिष्वजामहे** आलिंगन करते हैं । ऐसा करो, जिससे **अन्यकेषाम्** शत्रुओं की **धन्वसु अधि** धनुषों पर चढ़ायी हुई **ज्याकाः** डोरियाँ **नभन्ताम्** टूट जाएँ ।।२।।

भावार्थ— जैसे सूर्य वर्षा की रुकावट को नष्ट करके बादलों से जल-धाराएं छोड़कर सब प्राणियों और ओषधि आदि को पुष्टि देता है, अथवा जैसे कोई सेनापति ऐश्वर्य-प्रतिबन्धक शत्रु को मारकर राष्ट्र में ऐश्वर्य की धाराएँ प्रवाहित करके प्रजा को पोषण देता है, वैसे ही जगदीश्वर आनन्द के प्रतिबंधक विघ्नों को दूर करके उपासक के अन्तरात्मा में आनन्द की धाराएँ बहाकर उसे परिपुष्ट करता है ।।२।।

अथ परमात्मनः शत्रुविनाशकत्वं धनदत्वं चाह ।

२र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१८०३. **वि षु विश्वा अरातयोऽर्यो नशन्त नो धियः ।**
१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति ।
१ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
या ते रातिर्ददिर्वसु नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ।।३।।[1]

२ १ २र १ २र ३ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २र ३ २
वि सु विश्वाः अरातयः अ रातयः । अर्यः नशन्त नः धियः । अस्ता असि शत्रवे वधम् ।
३ १ २र ३ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २
यः नः इन्द्र जिघांसति । या ते रातिः ददिः वसु । नभन्ताम् अन्यकेषाम् अन् यकेषाम् ।
३ २ १ २र १ २र
ज्याकाः अधि धन्वसु ।।३।।

पदार्थः— **विश्वाः** सर्वाः **अर्यः** आक्रान्त्र्यः **अरातयः** अदात्र्यः शत्रुसेनाः विघ्नसेनाश्च **सु** सम्यक् **वि नशन्त** विनश्यन्तु, **नः** अस्मान् **धियः** योगस्य धारणाध्यानसमाधयः प्राप्नुवन्तु । हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! **यः** शत्रुः **नः** अस्मान् **जिघांसति** हन्तुमिच्छति, तस्मै **शत्रवे** रिपवे कामक्रोधादिकाय, त्वम् **वधम्** मृत्युम् **अस्ता असि** प्रक्षेप्ता भवसि । **या ते** तव **रातिः** दानप्रवृत्तिः अस्ति, सा अस्मभ्यम् **वसु** निवासकं दिव्यमैश्वर्यम् **ददिः** दात्री भवतु । **अन्यकेषाम्** शत्रूणाम् **धन्वसु अधि** धनुःषु अधिरोपिताः **ज्याकाः** प्रत्यञ्चाः **नभन्ताम्** त्रुट्यन्ताम्, ते निःसाधना असहायाः सन्तो विनश्यन्तामिति भावः । [अर्यः, 'अरी' इति दीर्घान्तस्य जसि रूपम् । अनशन्त, णश अदर्शने, लोडर्थे लुङि अडागमाभावश्छान्दसः । व्यत्ययेनात्मनेपदम् । ददिः, ददातेः 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च' अ० ३।२।१७१ इति किः प्रत्ययः] ।।३।।

भावार्थः— यथा राजा सेनापतिर्वा शत्रून् हत्वा प्रजाभ्यो धनादिकं प्रयच्छति तथैवाध्यात्ममार्गे बाधकभूतान् विघ्नान् कामक्रोधादिशत्रूंश्च विनाश्य जगदीश्वरो दिव्यमैश्वर्यमुपासकाय प्रयच्छति ।।३।।

अगले मन्त्र में परमात्मा का शत्रु-विनाश और धन देने के गुण का वर्णन है ।

पदार्थ— **विश्वाः** सब **अर्यः** आक्रमण करने वाली, **अरातयः** दान-हीन शत्रु-सेनाएं और विघ्न-सेनाएं **सु** पूर्ण रूप से **विनशन्त** विनष्ट हो जाएं, **नः** हमें **धियः** योग की धारणा, ध्यान और समाधियां प्राप्त हों । हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! **यः** जो शत्रु **नः** हमारा **जिघांसति** वध कर देना चाहता है, उस **शत्रवे** काम, क्रोध आदि शत्रु पर, आप **वधम्** मौत **अस्ता असि** डालने वाले हो । **या** जो **ते** आपकी **रातिः** दान की प्रवृत्ति है, वह हमारे लिए **वसु**

---

१. ऋ० १०।१३३।३, अथ० २०।९५।४ ।

निवासक दिव्य ऐश्वर्य की **ददिः** देने वाली हो । **अन्यकेषाम्** शत्रुओं की **धन्वसु अधि** धनुषों पर चढ़ायी हुई **ज्याकाः** डोरियाँ **नभन्ताम्** टूट जाएं, अर्थात् वे साधनहीन असहाय होकर विनष्ट हो जाएं ॥३॥

भावार्थ— जैसे राजा वा सेनापति शत्रुओं को मारकर प्रजाओं को धन आदि देता है, वैसे ही अध्यात्म-मार्ग में बाधा डालने वाले विघ्नों और काम, क्रोध आदि शत्रुओं को विनष्ट करके जगदीश्वर उपासक को दिव्य ऐश्वर्य प्रदान करता है ॥३॥

॥१५॥ अथ 'रेवाँ' इत्यादिकस्य पञ्चदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ परमात्मानं प्रार्थयते ।

१८०४. रेवाँ इद्रेवत स्तोता स्यात् त्वावतो मघोनः। प्रेदु हरिवः सुतस्य ॥१॥[1]

रेवान् इत् रेवतः स्तोता। स्यात् त्वावतः मघोनः। प्र इत् उ हरिवः सुतस्य॥१॥

पदार्थः— हे **हरिवः** दोषहरणगुणोपेत इन्द्र जगदीश्वर ! **सुतस्य** अन्तरात्मनि प्रकटीकृतस्य **रेवतः** ऐश्वर्यवतः **मघोनः** दानवतः **त्वावतः** त्वत्सदृशस्य तव **स्तोता** उपासकः **रेवान् इत्** ऐश्वर्यवानेव **इत् उ** अवश्यमेव **प्र स्यात्** प्रजायेत । [हरिवः, हरिवन् 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' अ० ८।३।१ इति नकारस्य रुत्वम् । रेवतः, 'रयेर्मतौ बहुलम्' वा० ६।१।३४ इति रयेर्यकारस्य सम्प्रसारणम् । मघोनः, मंहतिर्दानकर्मा । निरु० १।६ । त्वावतः, युष्यदस्मदोः सादृश्ये वतुब् वाच्यः' वा० ५।१।६१ इति सादृश्यार्थे वतुप्] ॥१॥

'त्वावतः त्वत्सदृशस्य तव' इत्यत्रानन्वयालङ्कारः। 'रेवाँ इद् रेवतः स्तोता' इत्यत्र समालङ्कारो ध्वन्यते ॥१॥

भावार्थः— ऐश्वर्यवान् जगदीश्वरः स्वोपासकमप्यैश्वर्यवन्तं करोति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **हरिवः** दोषों को हरने वाले इन्द्र जगदीश्वर ! **सुतस्य** अन्तरात्मा में प्रकट किये गए, **रेवतः** ऐश्वर्यवान्, **मघोनः** दानी **त्वावतः** आप जैसे ही आपका अर्थात् जिसके तुल्य या जिससे बढ़कर संसार में अन्य कोई नहीं है ऐसे आपका **स्तोता** उपासक **इत् उ** अवश्यमेव **रेवान् इत्** ऐश्वर्यवान् ही **प्र स्यात्** होवे ॥१॥

'त्वावतः' में अनन्वय अलंकार है। 'रेवाँ इद् रेवतः स्तोता' में समालंकार व्यङ्ग्य है ॥१॥

भावार्थ— ऐश्वर्यवान् परमेश्वर अपने उपासक को भी ऐश्वर्यवान् कर देता है ॥१॥

द्वितीया ऋक् पूर्वार्चिके २२५ क्रमाङ्के व्याख्यातपूर्वा । इन्द्रेऽश्रद्दधानस्य का गतिर्भवतीत्युच्यते ।

१८०५. उक्थं च न शस्यमानं नागो रयिरा चिकेत । न गायत्रं गीयमानम् ॥२॥[2]

उक्थम् च न शस्यमानम् । न अगोः अ गोः रयिः आ चिकेत ।
न गायत्रम् गीयमानम् ॥२॥

---

१. ऋ० ८।२।१३, 'सुतस्य' इत्यत्र 'श्रुतस्य' इति भेदः ।

२. ऋ० ८।२।१४, 'शस्यमानमगोररिं' इति भेदः । साम० २२५ ।

पदार्थः— **अगोः** न विद्यते गौः सर्वगतः इन्द्रो जगदीश्वरो यस्य स अगुः तस्य अगोः इन्द्रेऽश्रद्दधानस्य जनस्य **न** नैव **शस्यमानम्** उच्यमानम् **उक्थम्** स्तोत्रम्, **न** नैव **रयिः** दीयमानं धनम्, **न** नापि च **गीयमानम्** गानविषयीक्रियमाणम् **गायत्रम्** गायत्रनामकं सामगानम् **आचिकेत** आचिकिते आद्रियते केनापि ॥२॥

भावार्थः— परमेश्वरेऽश्रद्दधानस्य जनस्य स्तोत्रपाठधनदानसामगानादिकं सर्वं निष्फलं जायते, यतः स केनचित् स्वार्थेनैव प्रेरितस्तानि कृत्यानि करोति । सर्वाणि सत्कर्माणीश्वरार्पणबुद्धयैव शोभन्ते ॥२॥

द्वितीय ऋचा पूर्वार्चिक में २२५ क्रमांक पर व्याख्यात हो चुकी है । इन्द्र जगदीश्वर में श्रद्धा रखने वाले की क्या गति होती है यह कहते हैं ।

पदार्थ— **अगोः** सर्वव्यापक इन्द्र जगदीश्वर में श्रद्धा न रखने वाले मनुष्य का **न** न तो **शस्यमानम्** बोला जाता हुआ **उक्थम्** स्तोत्र, **न** न **रयिः** दिया जाता हुआ धन, **न** और न ही **गीयमानं** गाया जाता हुआ **गायत्रम्** गायत्र नामक सामगान **आ चिकेत** किसी से आदर किया जाता है ॥२॥

भावार्थ— परमेश्वर में श्रद्धा न करने वाले मनुष्य का स्तोत्रपाठ, धनदान, सामगान आदि सब निष्फल होता है, क्योंकि वह किसी स्वार्थ से ही प्रेरित होकर उन कार्यों को करता है । सब सत्कर्म ईश्वरार्पण-बुद्धि से ही शोभा पाते हैं ॥२॥

अथ जगदीश्वरं प्रार्थयते ।

१८०६. मा न इन्द्र पीयत्नवे मा शर्धते परा दाः। शिक्षा शचीवः शचीभिः ॥३॥[1]

मा नः इन्द्र पीयत्नवे। मा शर्धते परा दाः। शिक्ष शचीवः शचीभिः ॥३॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! त्वम् **नः** अस्मान् **मा** नैव **पीयत्नवे** हिंसकाय कामक्रोधलोभादिकाय । [पीयतिर्हिंसाकर्मा । निरु० ४।२५ ।] **मा** नापि च **शर्धते** बलवते कस्मैचिन्मानवाय शत्रवे । [शर्ध इति बलनाम । निघं० २।९ ।] **परा दाः** परित्याक्षीः । हे **शचीवः** शक्तिशालिन्, त्वम् **शचीभिः** स्वकीयाभिः शक्तिभिः **शिक्ष**[2] अस्मान् शक्तान् कर्तुमिच्छ। [शक्लृ शक्तौ, णिचि सन्नन्तः, लोटि रूपम्] ॥३॥

अत्र शकारस्यानेकश आवृत्तौ वृत्त्यनुप्रासः, 'शची' इत्यस्य द्विरुक्तौ लाटानुप्रासः॥३॥

भावार्थः ये परमात्मनि श्रद्धावन्तो भवन्ति तान् न हिंसका हिंसितुं, न पराजेतारः पराजेतुं शक्नुवन्ति। परमात्म-प्रेरणया शक्तिमन्तो मेधाविनः कर्मयोगिनश्च सन्तस्ते सर्वा अपि विपदो विनिघ्नन्ति ॥३॥

अब जगदीश्वर से प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! आप **नः** हमें **मा** न तो **पीयत्नवे** हिंसक काम, क्रोध, लोभ आदि के लिए, और **मा** न ही **शर्धते** बलवान् किसी मानव शत्रु के लिए **परा दाः** छोड़ो । हे **शचीवः** शक्तिशाली परमात्मन् ! आप **शचीभिः** अपनी शक्तियों से **शिक्ष** हमें शक्तिशाली बनाने की इच्छा करो ॥३॥

---

१. ऋ० ८।२।१५।

२. शिक्ष अस्माननुशाधि । यद्वा शिक्षतिर्दानकर्मा (निघं० ३।२०) अभीष्टं धनमस्मभ्यं धेहि । यद्वा, शत्रून् जेतुं शिक्ष शक्तान् कर्तुमिच्छ । शकेः सन्नन्तस्य 'सनि मीमा०' (पा० ७।४।५४) इति इसादेशः, अभ्यासलोपे च कृते लोटि रूपमेतत्— इति सा०।

यहां शकार की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है। 'शची' के दो बार पाठ में लाटानुप्रास अलंकार है ।।३।।

भावार्थ– जो परमात्मा में श्रद्धावान् होते हैं उनकी न हिंसक हिंसा कर पाते हैं, न हराने वाले शत्रु उन्हें हरा पाते हैं। परमात्मा की प्रेरणा से शक्तिमान्, मेधावी और कर्मयोगी होते हुए वे सभी विपदाओं का हनन कर देते हैं ।।३।।

।।१६।। अथ 'एन्द्र याहि' इत्यादिकस्य षोडशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** नीपातिथिः काण्वः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** अनुष्टुप् । **स्वरः** गान्धारः ।।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३४८ क्रमाङ्के व्याख्यातपूर्वा । अत्रोपासकेन जगदीश्वर आहूयते ।

१८०७. **एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम् ।**
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ।।१।।[1]

आ इन्द्र याहि हरिभिः। उप कण्वस्य सुष्टुतिम् सु स्तुतिम् ।
दिवः अमुष्य शासतः।दिवम् यय दिवावसो दिवा वसो ।।१।।

पदार्थः– हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! त्वम् **हरिभिः** आनन्दरसरूपैः सोमरसैः सह [हरिः सोमः। निरु०४।१९ ।] **कण्वस्य** मेधाविनः उपासकस्य । [कण्व इति मेधाविनाम । निघं० ३।१५ ।] **सुष्टुतिम्** शोभनां स्तुतिम् **उप-आ-याहि** उपागच्छ । हे **दिवावसो** दीप्तिधन जगदीश ! **दिवः** द्योतमानायाः देहरूपाया अयोध्यापुर्याः **शासतः** शासकस्य **अमुष्य** मेधाविनः उपासकस्य **दिवम्** द्योतमानां देहपुरीम्, त्वम् **यय**[2] गच्छ । [या प्रापणे अदादिः, छान्दसः शपः श्लुः, ततो लोडन्तं मध्यमैकवचने छान्दसं रूपम् । 'लोट् च' अ० ८।१।५२ इति निघातप्रतिषेधः। देहपुर्या अयोध्येति नाम । यथाह श्रुतिः–अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या (अथ० १०।२।३१) इति] ।।१।।

भावार्थः–यथा परमेश्वरो ब्रह्माण्डस्य शासकस्तथा जीवात्मा देहस्य शासकः। स चक्रवर्ती सम्राड् जगदीश्वरः स्तोतुर्देहपुरं समागम्यातिथ्यं स्वीकरोतु ।।१।।

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ३४८ क्रमांक पर व्याख्यात हो चुकी है । यहां उपासक जगदीश्वर को पुकार रहा है ।

पदार्थ– हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! आप **हरिभिः** आनन्द-रसों के साथ **कण्वस्य** मेधावी उपासक की **सुष्टुतिम्** उत्कृष्ट स्तुति में **उप-आयाहि** आओ । हे **दिवावसो** दीप्तिधन जगदीश ! **दिवः** तेजोमयी देह-रूप अयोध्या पुरी के **शासतः** शासक **अमुष्य** इस मेधावी उपासक की **दिवम्** तेजोमयी देह-पुरी में, आप **यय** पहुँचो ।।१।।

भावार्थ– जैसे परमेश्वर ब्रह्माण्ड का शासक है, वैसे ही जीवात्मा देह का शासक है । वह चक्रवर्ती सम्राट् जगदीश्वर स्तोता की देहपुरी में आकर आतिथ्य स्वीकार करे ।।१।।

---

१. ऋ० ८।३४।१; साम० ३४८।

२. सायणस्तु यातेर्लिटि मध्यमबहुवचनं मन्यमान आह– हे दिवावसो दीप्तहविष्केन्द्र, दिवं स्वर्गं यय यूयं गच्छत, बहुवचनं पूजार्थम्– इति ।

अथ पुनरप्युपासकेन परमेश्वरो निमन्त्र्यते ।

२ ३ २ ३ १२ ३२ ३ १ २ ३ १ २
१८०८. अत्रा वि नेमिरेषामुरां न धूनुते वृकः।
३ २ ३२ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥२॥[1]

१२र ३ २ १ १२र ३ १२र
अत्र वि नेमिः एषाम् । उराम् न धूनुते वृकः।
३२ ३१ २ १२र १२र ३२ ३
दिवः अमुष्य शासतः। दिवम् यय दिवावसो दिवा वसो ॥२॥

पदार्थः— **वृकः** आदित्यः **उरां न** यथा तमसा आच्छादिकां रात्रिम् **वि धूनुते** विकम्पयति, तथा **अत्र** अस्यां देहपुर्याम् **एषाम्** एतेषां मरुतां प्राणानाम् **नेमिः** नेता जीवात्मा **उराम्** आच्छादिकाम् आविद्यारात्रिम् **वि धूनुते** विकम्पयति । तस्याः **दिवः** देहपुर्याः **शासतः** शासकस्य **अमुष्य** अस्य जीवात्मनः **दिवम्** द्योतमानां देहपुरीम्, हे **दिवावसो** दीप्तिधन परमात्मन् ! त्वम् **यय** आयाहि । [वृकः, 'आदित्योऽपि वृक उच्यते, यदावृङ्क्ते। निरु० ५।२१ । उराम्, ऊर्णोति तमसा आच्छादयति भुवम् आकाशं च या सा उरा रात्रिः । नेमिः, णीञ् प्रापणे, 'नियो मिः' उ० ४।४४ इति मिः प्रत्ययः । नयतीति नेमिः नेता] ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः । दिवो, दिवं, दिवा इत्यत्र वृत्त्यनुप्रासः ॥२॥

भावार्थः— सूर्य इव तेजस्वी जीवात्मा यत्र स्थितः सन्ज्ञानपापादिरात्रिं विदृणाति सा देहपुरी नूनं प्रशंसनीया परमात्मनिवासयोग्या च ॥२॥

अगले मन्त्र में उपासक फिर परमेश्वर को निमन्त्रण दे रहा है ।

पदार्थ— **वृकः** सूर्य **उरां न** जैसे अन्धकार से ढकने वाली रात्रि को **वि धूनुते** विकंपित करता है, वैसे ही **अत्र** इस देह-पुरी में **एषाम्** इन मरुतों अर्थात् प्राणों का **नेमिः** नेता जीवात्मा **उराम्** आच्छन्न करने वाली अविद्या-रूपिणी रात्रि को **वि धूनुते** विकंपित करता है । उस **दिवः** देह-पुरी के **शासतः** शासक **अमुष्य** इस जीवात्मा की **दिवम्** तेजोमयी देह-पुरी में, हे **दिवावसो** दीप्तिधन परमात्मन् ! आप **यय** आओ ॥२॥

यहां उपमालंकार है । दिवो, दिवं, दिवा में वृत्त्यनुप्रास है ॥२॥

भावार्थ— सूर्य के समान तेजस्वी जीवात्मा जहाँ स्थित होता हुआ अज्ञान, पाप आदि की रात्रि का विदारण करता है वह देह-पुरी निश्चय ही प्रशंसा योग्य और परमात्मा के निवास योग्य है ॥२॥

अथ पुनरपि परमेश्वर आह्वयते ।

२ ३ २ ३ १२ ३२ ३ १र २र
१८०९. आ त्वा ग्रावा वदन्निह सोमी घोषेण वक्षतु ।
३ २ ३२ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥३॥[2]

२ ३ १ २र १२र ३२ ३ २ १२र ३
आ त्वा ग्रावा वदन् इह। सोमी घोषेण वक्षतु ।
३२ ३१ २ १२र १२र ३२ ३
दिवः अमुष्य शासतः। दिवम् यय दिवावसो दिवा वसो ॥३॥

---

१. ऋ० ८।३४।३।
२. ऋ० ८।३४।२।

पदार्थः— हे जगदीश्वर ! **इह** अस्यां देहपुरि **सोमी** श्रद्धारसमयः **ग्रावा** अर्चको जीवात्मा । [गृणातिः अर्चतिकर्मा । निघं० ३।१४ ।] **वदन्** स्तोत्राणि उच्चारयन् **घोषेण** स्वागतशब्देन **त्वा** त्वाम् **आ वक्षतु** आवहतु । [वहतेर्लोटि विकरणव्यत्ययेन सिप् ।] हे **दिवावसो** दीप्तिधन परमात्मन् ! **दिवः** द्योतमानायाः देहपुर्याः **शासतः** शासकस्य **अमुष्य** अस्य जीवात्मनः **दिवम्** द्युतिमयीं देहपुरीम्, त्वम् **यय** आगच्छ ।।३।।

भावार्थः— यो हार्दिकैः स्वागतवचोभिः परमात्मानमाह्वयति तत्प्रार्थनां सोऽवश्यं शृणोति ।।३।।

आगे फिर परमात्मा को पुकारा जा रहा है ।

पदार्थ— हे जगदीश्वर ! **इह** इस देहपुरी में **सोमी** श्रद्धारस से भरा हुआ **ग्रावा** पूजक जीवात्मा **वदन्** स्तोत्रों का उच्चारण करता हुआ **घोषेण** स्वागत-शब्द से **त्वा** आपको **आ वक्षतु** अपने पास लाये । हे **दिवावसो** दीप्तिधन परमात्मन् ! **दिवः** तेजोमयी देहपुरी के **शासतः** शासक **अमुष्य** इस जीवात्मा की **दिवम्** तेजोमयी देहपुरी में, आप **यय** आओ ।।३।।

भावार्थ— जो हार्दिक स्वागत-वचनों के साथ परमात्मा को पुकारता है उसकी प्रार्थना को वह अवश्य सुनता है ।।३।।

।।१७।। अथ 'पवस्व' इत्यादिकस्य सप्तदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** जमदग्निर्भार्गवः । **देवता** पवमानः सोमः । **छन्दः** द्विपदा गायत्री । **स्वरः** षड्जः ।।

तत्रादौ ब्रह्मानन्दरसविषय उच्यते ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१८१०. पवस्व सोम मन्दयन्निन्द्राय मधुमत्तमः ।।१।।[1]

१ २र ३ १ २ १ २र १ २र
पवस्व सोम मन्दयन् । इन्द्राय मधुमत्तमः ।।१।।

पदार्थः—हे **सोम** ब्रह्मानन्दरस ! **मधुमत्तमः** अतिशयेन मधुरः त्वम् **इन्द्राय** जीवात्मने **मन्दयन्** मोदं प्रयच्छन् **पवस्व** प्रस्रव ।।१।।

भावार्थः— ब्रह्मानन्दस्य माधुर्यं स एव जानाति यस्तमनुभवति ।।१।।

प्रथम मन्त्र में ब्रह्मानन्द-रस का विषय कहते हैं ।

पदार्थ— हे **सोम** ब्रह्मानन्द रस ! **मधुमत्तमः** अतिशय मधुर तू **इन्द्राय** जीवात्मा को **मन्दयन्** मोद प्रदान करता हुआ **पवस्व** प्रवाहित हो ।।१।।

भावार्थ— ब्रह्मानन्द का माधुर्य वही जानता है जो उसका अनुभव करता है ।।१।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१८११. ते सुतासो विपश्चितः शुक्रा वायुमसृक्षत ।।२।।[2]

३ १ २ ३ १ २ ३ १२र ३ २ ३ २ ३
ते सुतासः वि॒पश्चितः विपः चितः । शुक्राः वायुम् असृक्षत ।।२।।

---

१. ऋ० ९।६७।१६।

२. ऋ० ९।६७।१८।

पदार्थः– **सुतासः** परमात्मना प्रेरिताः, **विपश्चितः** मेधायुक्ताः, **शुक्राः** पवित्राः **ते** प्रसिद्धाः **सोमाः** ब्रह्मानन्दरसाः **वायुम्** प्राणम् **असृक्षत** ऊर्ध्वं प्रेरयन्ति ॥२॥

भावार्थः– प्राप्ता ब्रह्मानन्दाः योगिनः प्राणानूर्ध्वं प्रेरयन्तस्तस्मै निःश्रेयसं प्रयच्छन्ति ॥२॥

आगे फिर उसी विषय को कहा गया है ।

पदार्थ– **सुतासः** परमात्मा द्वारा प्रेरित, **विपश्चितः** मेधायुक्त, **शुक्राः** पवित्र **ते** वे प्रसिद्ध ब्रह्मानन्द-रस-रूप सोम **वायुम्** प्राण को **असृक्षत** ऊपर की ओर प्रेरित करते हैं ॥२॥

भावार्थ– प्राप्त हुए ब्रह्मानन्द योगी के प्राणों को ऊपर की ओर प्रेरित करते हुए उसे मोक्ष प्रदान करते हैं ॥२॥

अथ पुनरपि स एव विषय उच्यते ।

१८१२. असृग्रं देववीतये वाजयन्तो रथा इव ॥३॥[1]

असृग्रम् देववीतये देव वीतये । वाजयन्तः रथाः इव ॥३॥

पदार्थः– अहम् एतान् ब्रह्मानन्दरूपान् सोमरसान् **देववीतये** दिव्यगुणानां प्राप्तये **असृग्रम्** स्वान्तरात्मनि सृजामि, प्रवाहयामि । [असृजम् इति प्राप्ते 'बहुलं छन्दसि' । अ० ७।१।८ इत्यनेन रुडागमः, ततः कुत्वम् ।] **एते** **वाजयन्तः** अन्नानि प्रयच्छन्तः **रथाः इव** शकटाः इव **वा जयन्तः** बलानि प्रयच्छन्तः, सन्तीति शेषः ॥३॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः– यथा रथा अन्नाद्यानयनाय साधनतां यान्ति तथा ब्रह्मानन्दरसा अध्यात्मबलादीनां प्राप्तये साधनीभवन्ति ॥३॥

अस्मिन् खण्डे जगदीश्वरस्य ब्रह्मानन्दरसस्य च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

आगे फिर वही विषय कहा गया है ।

पदार्थ– मैं इन ब्रह्मानन्द-रूप सोम-रसों को **देववीतये** दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **असृग्रम्** अपने अन्तरात्मा में प्रवाहित कर रहा हूं । ये **वाजयन्तः** अन्न प्रदान करते हुए **रथाः इव** रथों के समान **वाजयन्तः** बल प्रदान कर रहे हैं ॥३॥

यहां श्लिष्टोपमा अलंकार है ॥३॥

भावार्थ– जैसे रथ अन्न आदि को लाने में साधन बनते हैं वैसे ही ब्रह्मानन्द-रस अध्यात्म-बल आदि की प्राप्ति में साधन होते हैं ॥३॥

इस खण्ड में जगदीश्वर और ब्रह्मानन्द-रस के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

बीसवें अध्याय में चतुर्थ खण्ड समाप्त ।

॥१८॥ अथ 'अग्निं होतार'मित्यादिकस्याष्टादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** परुच्छेपो दैवोदासिः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** अत्यष्टिः । **स्वरः** गान्धारः ॥

---

१. ऋ० ९।६७।१७ 'असृग्रन्' इति भेदः ।

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ४६५ क्रमाङ्के व्याख्यातपूर्वा । परमेश्वरस्य गुणकर्मस्वभावा वर्ण्यन्ते।

१८१३. अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसोः
सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् ।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा ।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु शुक्रशोचिष आजुह्वानस्य सर्पिषः ॥१॥[1]

अग्निम् होतारम् मन्ये दास्वन्तम् वसोः । सूनुꣳ सहसः जातवेदसम् जात वेदसम् ।
विप्रम् वि प्रम् न जातवेदसम् जात वेदसम् । यः ऊर्ध्वया स्वध्वरः सु अध्वरः ।
देवः देवाच्या कृपा । घृतस्य विभ्राष्टिम् वि भ्राष्टिम् अनु शुक्रशोचिषः शुक्र शोचिषः ।
आजुह्वानस्य आ जुह्वानस्य सर्पिषः ॥१॥

पदार्थः— अहम् **अग्निम्** जगन्नेतारं परमेश्वरम् **होतारम्** श्रद्धोपहाराणां ग्रहीतारम् । [हु दानादनयोः आदाने चेत्येके ।], **वसोः** वसुनः दिव्यस्य भौतिकस्य च धनस्य **दास्वन्तम्** दातारम्, **सहसः** बलस्य उत्साहस्य प्रोद्बोधनस्य च **सूनुम्** प्रेरकम्, **जातवेदसम्** जाते जाते विद्यमानम्, सर्वान्तर्यामिनम्, **विप्रं न** विद्वांसं जनमिव **जातवेदसम्** जातानां पदार्थानां वेत्तारम् च **मन्ये** जानामि, **यः देवः** यः प्रकाशकः परमेश्वरः **ऊर्ध्वया** उन्नतया **कृपा** शक्त्या । [कृपू सामर्थ्ये, भ्वादिः ।] **स्वध्वरः** शोभनस्य जगत्प्रपञ्चरूपस्य यज्ञस्य सञ्चालको विद्यते, अपि च यः **आजुह्वानस्य** यज्ञाग्नौ हूयमानस्य **शुक्रशोचिषः** शुक्रदीप्तेः **सर्पिषः** सर्पणस्वभावस्य द्रवीभूतस्य **घृतस्य** आज्यस्य **विभ्राष्टिम्** विशिष्टां दीप्तिम् अपि **अनु** अनुप्रविष्टोऽस्ति ॥१॥[2]

अत्रोपमालङ्कारः । 'जातवेसम्' इत्यस्यावृत्तौ यमकम् 'देवो, देवा' इति च छेकानुप्रासः, सकारादीनाम-सकृदावृत्तौ च वृत्त्यनुप्रासः ॥१॥

भावार्थः— सूर्यचन्द्रविद्युन्नक्षत्रादिषु घृताहुत्या प्रदीप्तासु वह्निज्वालासु च या प्रभा दृग्गोचरतां याति सा जगदीश्वरप्रदत्तैव ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में ४६५ क्रमांक पर हो चुकी है । परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभावों का वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— मैं **अग्निम्** जगन्नायक परमेश्वर को **होतारम्** श्रद्धा के उपहार को ग्रहण करने वाला, **वसोः** दिव्य तथा भौतिक धन का **दास्वन्तम्** दाता, **सहसः** बल, उत्साह और उद्बोधन का **सूनुम्** प्रेरक, **जातवेदसम्** प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान, सर्वान्तर्यामी, **विप्रं न** और विद्वान् मनुष्य के समान **जातवेदसम्** उत्पन्न

---

१. ऋ० १।१२७।१, य० १५।४७, अथ० २०।६७।३, सर्वत्र 'वसोः' इत्यत्र 'वसुं' 'शुक्रशोचिष' इत्यत्र च 'वृष्टि शोचिषा,इति भेदः । साम० ४६५ ।

२. दयानन्दस्वामी मन्त्रमिममृग्भाष्ये विवाहविषये यजुर्भाष्ये च विद्वद्विषये व्याचष्टे ।

पदार्थों का ज्ञाता **मन्ये** मानता हूं, **यः देवः** जो प्रकाशक परमेश्वर **ऊर्ध्वया** उन्नत, **देवाच्या** प्रकाशक अग्नि, बिजली, सूर्य आदियों में व्यक्त हुई **कृपा** शक्ति से **स्वध्वरः** उत्कृट जगत्प्रपंच-रूप यज्ञ का संचालक है, साथ ही जो **आजुह्वानस्य** यज्ञाग्नि में होमे जाने वाले, **शुक्रशोचिषः** चमकीली चमक वाले, **सर्पिषः** पिघले हुए **घृतस्य** घृत की **विभ्राष्टिम्** विशिष्ट दीप्ति में भी **अनु** अनुप्रविष्ट है ॥१॥

यहां उपमालंकार है । 'जातवेदसं' की आवृत्ति में यमक, और 'देवो, देवा' में छेकानुप्रास है, सकार आदि की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ॥१॥

भावार्थ— सूर्य, चन्द्र, बिजली, तारे आदियों में और घृत की आहुति से प्रदीप्त अग्नि-ज्वालाओं में जो प्रभा दृष्टिगोचर होती है वह जगदीश्वर की ही दी हुई है ॥१॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

१८१४. **यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठ-**
मङ्गिरसां विप्र मन्मभिर्विप्रेभिः शुक्र मन्मभिः ।
परिज्मानमिव द्यां होतारं चर्षणीनाम् ।
शोचिष्केशं वृषणं यमिमा विशः प्रावन्तु जूतये विशः ॥२॥[1]
यजिष्ठम् त्वा यजमानाः हुवेम । ज्येष्ठम् अङ्गिरसाम् विप्र वि प्र मन्मभिः ।
विप्रेभिः वि प्रेभिः शुक्र मन्मभिः । परिज्मानम् परि ज्मानम् इव द्याम् ।
होतारम् चर्षणीनाम् । शोचिष्केशम् शोचिः केशम् वृषणम् यम् इमाः विशः ।
प्र अवन्तु जूतये विशः ॥२॥

पदार्थः— हे **विप्र** विशेषेण पूरयितः जगदीश ! **यजमानाः** उपासनायज्ञस्य यष्टारः वयम् **यजिष्ठम्** यष्टृतमम्, **अङ्गिरसां ज्येष्ठम्** तपस्विनां श्रेष्ठम् **त्वा** त्वाम् **मन्मभिः** वेदमन्त्रैः **हुवेम** आह्वयेम । हे **शुक्र** तेजस्विन्, पवित्र परमात्मन् ! **मन्मभिः** मननशीलैः **विप्रेभिः** उपासकैः विद्वद्भिः सह त्वां हुवेम । **द्याम्** आकाशम् **परिज्मानम् इव** सूर्यद्वारा परिमिमानमिव, **चर्षणीनाम्** मनुष्याणाम् **होतारम्** सुखप्रदातारम्, **शोचिष्केशम्** शोचिर्भिः प्रकाशमानम्, **वृषणम्** वृष्टिकरम् **यम्** यं त्वाम् **इमाः** एताः **विशः** प्रजाः उपासते, तं त्वाम् **विशः** ताः प्रजाः **जूतये** बलवेगादि-प्राप्तये । [ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च । ऊ० ३।३।९७ इत्यनेनोदात्तः क्तिन् प्रत्ययो धातोर्दीर्घत्वं च निपात्यते ।] **प्रावन्तु** प्राप्नुवन्तु ॥२॥[2]

अत्र 'परिज्मानमिव द्याम्' इत्युत्प्रेक्षालङ्कारः, 'मन्मभिः' इत्यस्यावृत्तौ यमकम्, 'विप्र विप्रे' इत्यत्र छेकानुप्रासः ॥२॥

भावार्थः— विप्रजनैः सह मिलित्वा सामूहिकोपासनया सर्वैः स परमात्मा पूजनीयो यः सृष्टियज्ञस्य सञ्चालको ज्येष्ठः श्रेष्ठस्तेजस्वितमः कामवर्षकश्च वर्तते यश्च सूर्यं पूर्वतः पश्चिमान्तं यात्रां कारयन् तेनाकाशं परिमातीव ॥२॥

---

१. ऋ० १।१२७।२।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमेतं 'प्रजा राजत्वाय कीदृशं जनमाश्रयेयु'रिति विषये व्याख्याति ।

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ– हे **विप्र** विशेष रूप से पूर्णता करने वाले जगदीश ! **यजमानाः** उपासना-यज्ञ के याज्ञिक हम **यजिष्ठम्** सबसे बड़े यज्ञकर्ता, **अङ्गिरसां ज्येष्ठम्** तपस्वियों में श्रेष्ठ **त्वा** आपको **मन्मभिः** वेदमन्त्रों से **हुवेम** पुकारें । हे **शुक्र** तेजस्वी और पवित्र परमात्मन् ! **मन्मभिः** मननशील **विप्रेभिः** विद्वान् उपासकों के साथ मिलकर आपको पुकारें । **द्याम्** आकाश को **परिज्मानम् इव** मानो सूर्य द्वारा मापने वाले, और **चर्षणीनाम्** मनुष्यों के **होतारम्** सुखप्रदाता, **शोचिष्केशम्** तेजों से प्रकाशमान, **वृषणम्** वृष्टिकर्ता **यम्** जिन आपकी **इमाः** ये **विशः** प्रजाएं उपासना करती हैं, उन आपको **विशः** वे प्रजाएं **जूतये** बल, वेग आदि की प्राप्ति के लिए **प्रावन्तु** प्राप्त कर लें ।।२।।

यहां 'परिज्मानमिव द्याम् में उत्प्रेक्षालंकार, 'मन्मभिः' की आवृत्ति में यमक और 'विप्र, विप्रे' में छेकानुप्रास है ।।२।।

भावार्थ– विप्रजनों के साथ मिलकर सामूहिक उपासना से सबको उस परमात्मा की पूजा करनी चाहिए जो सृष्टियज्ञ का संचालक, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, सर्वाधिक तेजस्वी और मनोरथों को पूर्ण करने वाला है तथा जो सूर्य को पूर्व से पश्चिम तक यात्रा कराता हुआ उसके द्वारा मानों आकाश को मापता है ।।२।।

अथ जीवात्मनो रणकौशलं वर्णयति ।

२च ३ २ ३ १ २ ३१ २ ३
१८१५. स हि पुरू चिदोजसा विरुक्मता
१ २ ३ १ २ ३ १ २३ १र २र ३ २
दीद्यानो भवति द्रुहन्तरः परशुर्न द्रुहन्तरः ।
३२ ३ २ ३ १ २ ३ २३१२३ २ ३२
वीडु चिद्यस्य समृतौ श्रुवद्वनेव यत्स्थिरम् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
निष्षहमाणो यमते नायते धन्वासहा नायते ।।३।।[1]

३२ ३ १२र ३१ २र ३ १ २र १ २र १२र ३ २ ३ २
सः हि पुरु चित् ओजसा विरुक्मता वि रुक्मता । दीद्यानः भवति द्रुहन्तरः द्रुहम् तरः ।
३ २ ३ २ ३ २ ३२ ३ १ २र १ २र ३ १२र
परशुः न द्रुहन्तरः द्रुहम् तरः । वीडु चित् यस्य समृतौ सम् ऋतौ श्रुवत् ।
१ २र ३ २ ३२ ३ १ २ ३ १२र ३ २ ३
वना इव यत् स्थिरम् । निष्षहमाणः निः सहमानः यमते न अयते ।
१ २ ३ १ २र २ ३
धन्वासहा धन्व सहा न अयते ।।३।।

पदार्थः– **विरुक्मता** दीप्तिमता **ओजसा** प्रतापेन **पुरु चित्** अत्यधिकम् **दीद्यानः** द्योतमानः **स हि** स खलु अग्निः अग्रणीः जीवात्मा **द्रुहन्तरः** द्रुहं द्रोग्धारं शत्रुं कामक्रोधादिकं तरति अतिक्रामति यः तथाविधः **भवति** जायते, **परशुः न** परशुः इव **द्रुहन्तरः** द्रुहं द्रोग्धारं तरति हिनस्ति यः तादृशो भवति, **यस्य** अग्नेः जीवात्मनः **समृतौ** संघट्टे सति **वीडु चित्** बलवदपि, **वना इव** वनमिव अरण्यमिव **यत् स्थिरम्** बद्धमूलं, तदपि **श्रुवत्** शीर्यते स्रवति वा । [शॄ हिंसायाम्, सु गतौ वा, छान्दसं रूपम्] । सः **निष्षहमाणः** शत्रून् अभिभवन्, तान् **यमते** यमयते

---

१. ऋ० १।१२७।३।

युद्धादुपरतान् करोति । [यमु उपरमे, णेर्लुकि रूपम् ।] **न अयते** स्वयं युद्धान्न पलायते, अपितु **धन्वसहा**[1] **न** धानुष्कः इव **अयते** देवासुरसंग्रामं गच्छति ।।[2]

अत्रोपमालङ्कारः , तिस्र उपमाः । 'द्रुहन्तरः', 'नायते' अनयोरावृत्तौ यमकम् ।।३।।

भावार्थः— देहधारी जीवात्मा बद्धमूलानप्यान्तरान् बाह्यांश्च सर्वाञ्छत्रून्निर्मूल्य रणकुशलः सेनापतिरिव देवासुरसंग्रामे विजयी भवेत् ।।३।।

अस्मिन् खण्डे परमात्मजीवात्मनोर्विषयस्य वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ।।

अगले मन्त्र में जीवात्मा का रणकौशल वर्णित है ।

पदार्थ— विरुक्मता दीप्तियुक्त **ओजसा** प्रताप से **पुरु चित्** बहुत अधिक **दीद्यानः** द्युतिमान् **स हि** वह अग्नि अर्थात् अग्रनायक जीवात्मा **द्रुहन्तरः** द्रोह करने वाले काम, क्रोध आदि शत्रु को पार करने वाला **भवति** हो जाता है, **परशुः न** परशु के समान **द्रुहन्तरः** द्रोह-कर्ता का वध करने वाला हो जाता है, **यस्य** जिस जीवात्मा की **समृतौ** टक्कर होने पर **वीडु चित्** बलवान् भी, **वना इव** वन के समान **यत् स्थिरम्** जो स्थिर है वह भी **श्रुवत्** विनष्ट हो जाता है या डगमगा जाता है, जो **निष्षहमाणः** शत्रुओं को तिरस्कृत करता हुआ, उन्हें **यमते** युद्ध से हटा देता है, **न अयते** स्वयं युद्ध से पलायन नहीं करता, अपितु **धन्वसहा न** धनुर्धारी के समान **अयते** देवासुरसंग्राम में जाता है ।।३।।

इस मन्त्र में उपमालंकार है, तीन उपमाएं हैं। 'द्रुहन्तरः' और 'नायते' की आवृत्ति में यमक है ।।३।।

भावार्थ— देहधारी जीवात्मा जड़ जमाये हुए भी आंतरिक तथा बाह्य सब शत्रुओं का उन्मूलन करके रणकुशल सेनापति के समान देवासुरसंग्राम में विजयी हो ।।३।।

इस खण्ड में परमात्मा और जीवात्मा के विषय का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ सगंति है ।।

नवम प्रपाठक में प्रथम अर्ध समाप्त ।

।।१।। तत्र 'अग्ने तव' इत्यादिकस्य प्रथमस्य षड्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अग्निः पावकः । **देवता**— अग्निः । **छन्दः** १-२ विष्टारपङ्क्तिः, ३-५ सतोबृहती, ६ उपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप् । **स्वरः** १-५ पञ्चमः, ६ धैवतः ।।

तत्राग्निनाम्ना परमात्मनः स्वरूपमुपकारं च वर्णयति ।

१८१६ अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो ।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं३ दधासि दाशुषे कवे ।।१।।[3]

अग्ने तवः श्रवः वयः । महि भ्राजन्ते अर्चयः विभावसो विभा वसो ।
बृहद्भानो बृहत् भानो शवसा वाजम् उक्थ्यम् । दधासि दाशुषे कवे ।।१।।

---

१. धनुषा शत्रूनभिभवतीति धन्वसहाः धानुष्कः, सहतेरसुन्, छान्दसोऽन्त्यलोपः—इति सा० ।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं 'कः प्रजापालनायोत्तमो भवती'ति विषये व्याख्यातः ।

३. ऋ० १०।१४०।१, य० १२।१०६ ।

पदार्थः— हे **अग्ने** जगन्नेतः परमेश ! **तव** त्वदीयम् **श्रवः** यशः **वयः** ऐश्वर्यं च **महि** महत् वर्तते । हे **विभावसो** तेजोधन ! तव **अर्चयः** दीप्तयः **भ्राजन्ते** वह्निसूर्यनक्षत्रादिषु दीप्यन्ते । हे **बृहद्भानो** महातेजस्क ! हे **कवे** क्रान्तदर्शिन् ! त्वम् **दाशुषे** आत्मसमर्पकाय **शवसा** बलेन सह **उक्थ्यम्** प्रशंसनीयम् **वाजम्** आनन्दरूपमैश्वर्यम् **दधासि** प्रयच्छसि ॥१॥[1]

भावार्थः— परमेश्वरः स्वयं प्रकाशमानः सन्नन्यान् प्रकाशयति, स्वयं बलवान् सन्नन्येभ्यो बलानि प्रयच्छति, स्वयं यशस्वी सन्नन्यान् यशस्विनः करोति, स्वयमानन्दवान् सन्नन्यानानन्दिनः करोति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में अग्नि नाम से परमात्मा के स्वरूप और उपकार का वर्णन है ।

पदार्थ— हे **अग्ने** जगन्नायक परमेश ! **तव** आपका **श्रवः** यश, और **वयः** ऐश्वर्य **महि** महान् है । हे **विभावसो** दीप्तिधन ! आप ही की **अर्चयः** दीप्तियां **भ्राजन्ते** अग्नि, सूर्य, नक्षत्र आदियों में चमक रही हैं। हे **बृहद्भानो** महातेजस्वी ! हे **कवे** क्रान्तद्रष्टा ! आप **दाशुषे** आत्मसमर्पण करने वाले को **शवसा** बल के साथ **उक्थ्यम्** प्रशंसनीय **वाजम्** आनन्द-रूप ऐश्वर्य **दधासि** देते हो ॥१॥

भावार्थ— परमेश्वर स्वयं प्रकाशमान होता हुआ दूसरों को प्रकाशित करता है, स्वयं बलवान् होता हुआ दूसरों को बल देता है, स्वयं यशस्वी होता हुआ दूसरों को यशस्वी करता है, स्वयं आनन्दवान् होता हुआ दूसरों को आनन्दित करता है ॥१॥

अथ परमात्मा कीदृशोऽस्ति किं च करोतीत्याह ।

१८१७. पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना ।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी उभे ॥२॥[2]

पावकवर्चाः पावक वर्चाः शुक्रवर्चाः शुक्र वर्चाः ।
अनूनवर्चाः अनून वर्चाः उत् इयर्षि भानुना ।
पुत्रः पुत् त्रः मातरा विचरन् वि चरन् उप अवसि ।
पृणक्षि रोदसीइति उभेइति ॥२॥

पदार्थः— हे अग्ने अग्रनायक जगदीश्वर ! **पावकवर्चाः** पवित्रकारितेजस्कः, **शुक्रवर्चाः** उज्ज्वलतेजस्कः पूततेजस्कश्च, **अनूनवर्चाः** अन्यूनतेजस्कः, त्वम् **भानुना** ज्योतिषा सह, उपासकानाम् अन्तरात्मम् **उदियर्षि** उद्गच्छसि । **मातरा** मात्रोः मातापित्रोः अन्तिके **विचरन्** भ्रमन् **पुत्रः** तनयः इव **मातरा** मात्रोः द्यावापृथिव्योः **विचरन्** भ्रमन् त्वम् तौ **उपावसि** रक्षसि । अपि च **उभे** द्वे अपि **रोदसी** द्यावापृथिव्यौ **पृणक्षि** परस्परं संयोजयसि। [पृची सम्पर्चने, रुधादिः] ॥२॥[3]

---

१. यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं विद्वद्विषये व्याचष्टे ।

२. ऋ० १०।१४०।२, य० १२।१०७ ।

३. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं 'जनकजनन्यौ सन्तानान् प्रति किं कुर्याता'मिति विषये व्याख्यातवान् ।

अत्र तृतीये पादे श्लिष्टो लुप्तोपमालङ्कारः । 'वर्चा' इत्यस्यावृत्तौ लाटानुप्रासः ॥२॥

भावार्थः— परमेश्वरो हि सूर्यवत् स्वकीयेन दिव्येन तेजसा स्तोतॄणां हृदयं पुनाति, द्यावापृथिव्यौ रक्षति, तयोर्मध्ये परस्परं सामञ्जस्यं च स्थापयति ॥२॥

अब परमात्मा कैसा है और क्या करता है यह कहते हैं ।

पदार्थ— हे अग्रनायक जगदीश्वर ! **पावकवर्चाः** पवित्रकारी तेज वाले, **शुक्रवर्चाः** उज्ज्वल और पवित्र तेज वाले, **अनूनवर्चाः** अन्यून तेज वाले आप **भानुना** ज्योति के साथ, उपासकों के अन्तरात्मा में **उदियर्षि** उदित होते हो । **मातरा** माता-पिता के समीप **विचरन्** विचरण करते हुए **पुत्रः** पुत्र के समान **मातरा** द्युलोक और भूलोक में **विचरन्** विचरण करते हुए आप उनकी **उपावसि** रक्षा करते हो । साथ ही **रोदसी** द्युलोक और भूलोक **उभे** दोनों को **पृणक्षि** आपस में संयुक्त करते हो ॥२॥

यहां तीसरे चरण में श्लिष्ट लुप्तोपमा अलंकार है । 'वर्चा' की आवृत्ति में लाटानुप्रास है ॥२॥

भावार्थ— परमेश्वर सूर्य के समान अपने दिव्य तेज से स्तोताओं के हृदय को पवित्र करता है, द्यावापृथिवी की रक्षा करता है और उनके मध्य आपस का सामंजस्य स्थापित करता है ॥२॥

अथ परमात्मानं प्रार्थयते ।

१८१८. ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः ।
त्वे इषः सं दधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः ॥३॥[1]

ऊर्जः नपात् जातवेदः जात वेदः सुशस्तिभिः सु शस्तिभिः ।
मन्दस्व धीतिभिः हितः । त्वेइति इषः सम् दधुः भूरिवर्पसः भूरि वर्पसः ।
चित्रोतयः चित्र ऊतयः वामजाताः वामे जाताः ॥३॥

पदार्थः— हे **ऊर्जः नपात्** बलस्य प्राणशक्तेश्च न पातयितः प्रत्युत प्रवर्धक **जातवेदः** सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामिन् जगत्पते ! **धीतिभिः** ध्यानक्रियाभिः **हितः** हृदि निहितस्त्वम् **सुशस्तिभिः** सुप्रशस्तिभिः, अस्मान् **मन्दस्व** मोदयस्व [मन्दतिरत्र ण्यर्थगर्भो बोध्यः] **भूरिवर्पसः** बहुरूपाः, विविधगुणा इत्यर्थः । [वर्प इति रूपनाम । निघं० ३।७।] **चित्रोतयः** चित्रा मञ्जुला ऊतिः गतिः आचारो येषां ते । [ऊतिः, अव रक्षणगत्यादिषु । ऊतियूतिजूति० अ० ३।३।९७ इत्युदात्ते क्तिनि 'ज्वरत्वर०' अ० ६।४।२० इति ऊठ् ।] **वामजाताः** सेवनीयात् आचार्यात् प्राप्तश्रेष्ठजन्मानः उपासकाः **त्वे** त्वयि **इषः** स्वकीयान् अभिलाषान् **संदधुः** समर्पयन्ति ॥३॥[2]

---

१. ऋ० १०।१४०।३, य० १२।१०८ ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं 'मातापितृसन्तानाः कीदृशा भवेयु'रिति विषये व्याख्यातः ।

भावार्थः— ये जनाः स्वात्मानं परमात्मने समर्पयन्ति ते सुप्रशस्तयः सुकीर्तिमन्तश्च जायन्ते ।।३।।

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **ऊर्जः नपात्** बल और प्राणशक्ति को न गिरने देने वाले, प्रत्युत बढ़ाने वाले **जातवेदः** सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी जगत्पति परमात्मन् ! **धीतिभिः** ध्यान-क्रियाओं से **हितः** हृदय में धारण किये हुए आप **सुशस्तिभिः** उत्तम प्रशस्तियों से **मन्दस्व** हमें आनन्दित करो । **भूरिवर्पसः** बहुत-से रूपों अर्थात् गुणों वाले, **चित्रोतयः** मंजुल आचरणों वाले **वामजाताः** सेवनीय आचार्य से श्रेष्ठ जन्म को प्राप्त उपासक **त्वयि** आपमें **इषः** अपनी अभिलाषाओं को **संदधुः** संजोये हुए हैं ।।३।।

भावार्थ— जो मनुष्य अपने-आपको परमात्मा में समर्पित कर देते हैं वे सुप्रशस्तिमान् और सुकीर्तिमान् होते हैं ।।३।।

अथ जगदीश्वरं स्तौति प्रार्थयते च ।

३ १ २ ३ १ २३ १र २र
१८१९. इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरस्मे रायो अमर्त्य ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
स दर्शतस्य वपुषो वि राजसि पृणक्षि दर्शतं क्रतुम् ।।४।।[1]

२ ३ १ २ १२र ३
इरज्यन् अग्ने प्रथयस्व जन्तुभिः । अस्मेइति रायः अमर्त्य अ मर्त्य ।
२ ३ १ २ १२र ३ १ २ ३ २ १२र
सः दर्शतस्य वपुषः वि राजसि । पृणक्षि दर्शतम् क्रतुम् ।।४।।

पदार्थः— हे **अमर्त्य** अमर **अग्ने** मार्गदर्शक परमात्मन् ! **इरज्यन्** ईश्वरो भवन् त्वम् । [इरज्यतिः ऐश्वर्यकर्मा । निघं० २।२१ ।] **जन्तुभिः** जातैः अभ्यासवैराग्यप्रणवजपमैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाज्योतिष्मतीप्रज्ञाऋतम्भराप्रज्ञासमाध्यादिभिः । [जायन्ते जन्यन्ते वा ये ते जन्तवः । 'कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च उ० १।७३ इति तुः प्रत्ययः ।] **अस्मे** अस्मभ्यम् **रायः** अभ्युदयनिःश्रेयसरूपाणि ऐश्वर्याणि **प्रथयस्व** विस्तारय । **सः** असौ प्रसिद्धः त्वम् **दर्शतस्य** दर्शनीयस्य, त्वद्दर्शनसहायभूतस्य वा **वपुषः** अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयरूपस्य देहपञ्चकस्य **वि राजसि** विशिष्टो राजा भवसि । त्वमेवास्माकं मनसि **दर्शतम्** ज्ञानदर्शनसाधनम् **क्रतुम्** संकल्पम् **पृणक्षि** संयोजयसि ।।४।।[2]

भावार्थः— जगदीश्वरस्यैव साहाय्येन योगसाधनारता उपासकाः स्वलक्ष्यपूर्तौ सफलीभवन्ति ।।४।।

अगले मन्त्र में जगदीश्वर की स्तुति तथा उससे प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— हे **अमर्त्य** अमर **अग्ने** मार्गदर्शक परमात्मन् ! **इरज्यन्** सबके ईश्वर होते हुए आप **जन्तुभिः** उत्पन्न अभ्यास, वैराग्य, प्रणव-जप, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, ज्योतिष्मती प्रज्ञा, ऋतंभरा प्रज्ञा,

---

१. ऋ० १०।१४०।४; य० १२।१०९, उभयत्र 'दर्शतं' इत्यत्र 'सानसिं' इति भेदः ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामी 'मनुष्यः कीदृशो भवे' दिति विषये मन्त्रमिमं व्याख्यातवान् ।

समाधि आदियों से **अस्मे** हमारे लिए **रायः** अभ्युदय-निःश्रेयस रूप ऐश्वर्यों का **प्रथयस्व** विस्तार करो। **सः** वह प्रसिद्ध आप **दर्शतस्य** दर्शनीय वा आपके दर्शन में सहायक **वपुषः** अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय रूप पंच शरीरों के **वि राजसि** विशिष्ट राजा हो। आप ही हमारे मन में **दर्शतम्** ज्ञान-दर्शन के साधन **क्रतुम्** संकल्प को **पृणक्षि** संयुक्त करते हो ॥४॥

भावार्थ— जगदीश्वर की ही सहायता से योगसाधना में संलग्न उपासक अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल होते हैं ॥४॥

अथ परमेश्वरस्य गुणकर्मस्वभावानाह ।

१८२०. **इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं राधसो महः ।**
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिं रयिम् ॥५॥[1]

इष्कर्तारम् अध्वरस्य प्रचेतसम् प्र चेतसम् । क्षयन्तम् राधसः महः ।
रातिम् वामस्य सुभगाम् सु भगाम् महीम् इषम् । दधासि सानसिम् रयिम् ॥५॥

पदार्थः— हे जगदीश्वर ! **अध्वरस्य** जीवनयज्ञस्य **इष्कर्तारम्** संस्कर्तारम्, **प्रचेतसम्** प्रचेतयति जागरयतीति प्रचेताः तम्, **महः** महतः **राधसः** दिव्यस्य धनस्य **क्षयन्तम्** ईश्वरम् । [क्षयतिरैश्वर्यकर्मा । निघं० २।२१ ।] **वामस्य** वननीयस्य चारुणः ऐश्वर्यस्य **रातिम्** दातारम् । [रा दाने कर्तरि क्तिन् ।] त्वां वयम् उपास्महे इति शेषः । त्वम् **सुभगाम्** सौभाग्यकारिणीम्, **महीम्** महतीम् **इषम्** अभीष्टां दुःखमुक्तिम्, अपिच **सानसिम्** संभजनीयम् **रयिम्** भौतिकं दिव्यं चैश्वर्यम् **दधासि** प्रयच्छसि ॥५॥[2]

भावार्थः— आराधितः परमेश्वर उपासकान् जागरूकान् विधाय तेभ्यः सकलामभीष्टां लौकिकीं दिव्यां च सम्पदं प्रदाय तान् कृतार्थयति ॥५॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभावों का वर्णन है ।

पदार्थ— हे जगदीश्वर ! **अध्वरस्य** जीवन-यज्ञ के **इष्कर्तारम्** संस्कृत करने वाले, **प्रचेतसम्** जागृति प्रदान करने वाले, **महः** महान् **राधसः** दिव्य धन के **क्षयन्तम्** ईश्वर, **वामस्य** सेवनीय सुरम्य ऐश्वर्य के **रातिम्** दाता आपकी हम उपासना करते हैं, आप **सुभगाम्** सौभाग्यकारिणी, **महीम्** महती **इषम्** अभीष्ट दुःखमुक्ति को, और **सानसिम्** संभजनीय **रयिम्** भौतिक तथा दिव्य ऐश्वर्य को **दधासि** प्रदान करते हो ॥५॥

भावार्थः— आराधना किया हुआ परमेश्वर उपासकों को जागरूक करके और उन्हें सारी अभीष्ट लौकिक तथा दिव्य सम्पदा प्रदान करके कृतार्थ करता है ॥५॥

---

१. ऋ० १०।१४०।५; य० १२।११० ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं 'कः परोपकारी जायते' इति विषये व्याख्यातः ।

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
१८२१ . ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा ॥६॥[1]

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
ऋतावानम् महिषम् विश्वदर्शतम् विश्व दर्शतम् ।
२ ३ १ २ ३ २ १ २ २
अग्निम् सुम्नाय दधिरे पुरः जनाः ।
१ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २
श्रुत्कर्णम् श्रुत् कर्णम् सप्रथस्तमम् स प्रथस्तमम् त्वा गिरा ।
१ २ २ १ २ २ ३ २
दैव्यम् मानुषा युगा ॥६॥

पदार्थः— **ऋतावानम्** सत्यवन्तम्, **महिषम्** महान्तम्, **विश्वदर्शतम्** सर्वैर्दर्शनीयम् **अग्निम्** अग्रनायकं जगदीश्वरम् त्वाम् **सुम्नाय** सुखाय **जनाः** स्तोतारो मनुष्याः **पुरः** समक्षम् **दधिरे** धारयन्ति । **श्रुत्कर्णम्** श्रुतौ श्रवणकर्तारौ **कर्णौ** श्रोत्रे यस्य तादृशम्, **सप्रथस्तमम्** प्रथसा यशसा सहितः सप्रथाः, अतिशयेन सप्रथाः सप्रथस्तमः तादृशम्, **दैव्यम्** देवानां विदुषामुपासकानां हितकरम् **त्वा** त्वाम् **मानुषा युगा** मानुषाणि युगलानि पति-पत्नीरूपाणि **गिरा** स्तुतिवाचा, **सुम्नाय** सुखाय **पुरः** समक्षम् **दधिरे** स्थापयन्ति ॥६॥[2]

भावार्थः— अत्र निराकारोऽपि परमेश्वरः श्रुत्कर्ण उक्तस्तेन तस्य श्रोतृवत् स्तोतृकामपूरकत्वं द्योत्यते । यथा कर्णवान् कश्चिज्जनः कर्णाभ्यां स्तोतुर्निवेदनं श्रुत्वा तस्य कामनां पूरयति तथैव परमेश्वरः कर्णरहितोऽपि करोतीत्यभिप्रायः । तथा चोक्तम्—'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः (श्वेता० ३।१९) इति । स सत्यप्रियो महान् यशस्वी परमेश्वरः सर्वैर्हृदि धारणीयः ॥६॥

अस्मिन् खण्डे जगदीश्वरस्य जीवात्मनश्च विषयाणां वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

आगे फिर उसी विषय को कहा गया है ।

पदार्थ— **ऋतावानम्** सत्यवान्, **महिषम्** महान् **विश्वदर्शतम्** सबके द्वारा दर्शनीय **अग्निम्** अग्रनायक आप जगदीश्वर को **सुम्नाय** सुख पाने के लिए **जनाः** स्तोता लोग **पुरः** अपने संमुख **दधिरे** धारण करते हैं। **श्रुत्कर्णम्** सुनने वाले कानों से युक्त, **सप्रथस्तमम्** अतिशय कीर्तिमान्, **दैव्यम्** विद्वान् उपासकों का हित करने वाले **त्वा** आपको **मानुषा युगा** पति-पत्नी-रूप मनुष्य-युगल भी **गिरा** स्तुति-वाणी से **सुम्नाय** सुखार्थ **पुरः** अपने संमुख **दधिरे** धारण करते हैं ॥६॥

भावार्थ— यहां निराकार भी परमेश्वर को सुनने वाले कानों से युक्त कहा गया है, इससे उसका श्रोता के समान स्तोताओं के मनोरथों को पूर्ण करने का गुण सूचित होता है । जैसे कानों वाला कोई मनुष्य कानों से स्तोता के निवेदन को सुनकर उसकी कामना को पूर्ण करता है, वैसे ही परमेश्वर बिना कानों के भी कर देता है यह अभिप्राय है । कहा भी है, 'वह बिना आंख के देखता है, बिना कान के सुनता है (श्वेता० ३।१९)।' सबको चाहिए कि सत्य के प्रेमी, महान्, यशस्वी परमेश्वर को हृदय में धारण करें ॥६॥

---

१. ऋ० १०।१४०।६, य० १२।१११ ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं केषां विदुषामनुकरणं कार्यमिति विषये व्याचष्टे ।

इस खण्ड में जगदीश्वर और जीवात्मा के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

बीसवें अध्याय में पंचम खण्ड समाप्त ।

॥२॥ अथ 'प्र सो' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य द्व्यृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सोभरिः काण्वः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** काकुभः प्रगाथः (१ विषमा ककुबुष्णिक्, २ समा सतोबृहती) । **स्वरः** १ ऋषभः, २ पञ्चमः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १०८ क्रमाङ्के व्याख्यातपूर्वा । परमात्मनः सख्यस्य महत्त्वं वर्णयति ।

१८२२. **प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः ।**
यस्य त्वं सख्यमाविथ ॥१॥[1]

प्र सः अग्ने तव ऊतिभिः ।
सुवीराभिः सु वीराभिः तरति वाजकर्मभिः वाज कर्मभिः ।
यस्य त्वम् सख्यम् स ख्यम् आविथ ॥१॥

पदार्थः— हे **अग्ने** अग्रनायक जगदीश्वर ! **सः** असौ जनः **सुवीराभिः** श्रेष्ठाः वीराः प्राप्यन्ते याभिः ताभिः **वाजकर्मभिः** बलोत्साहकारिणीभिः **तव ऊतिभिः** त्वदीयाभिः रक्षाभिः **प्र तिरति** प्रवर्द्धते, दुःखानि अत्यन्तं तरति वा, **यस्य** जनस्य **त्वम्** महाबलः **सख्यम्** मैत्रीम् **आविथ** प्राप्नोषि, स्वीकरोषि ॥१॥

भावार्थः— कस्तं बाधितुं दुःखयितुं वा प्रभवेद् यस्य खलु जगदीशः सखा ॥१॥

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में १०८ क्रमांक पर हो चुकी है । परमात्मा की मैत्री का महत्त्व वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— हे **अग्ने** अग्रनायक जगदीश्वर ! **सः** वह मनुष्य **सुवीराभिः** श्रेष्ठ वीरों को प्राप्त कराने वाली, **वाजकर्मभिः** बल एवं उत्साह उत्पन्न करने वाली **तव ऊतिभिः** आपकी रक्षाओं से **प्र तिरति** बृद्धि पा लेता है अथवा दुःखों को सर्वथा तर जाता है, **यस्य** जिसकी **त्वम्** महाबली आप **सख्यम्** मित्रता को **आविथ** स्वीकार कर लेते हो ॥१॥

भावार्थ— कौन उसे बाधा पहुँचाने वा दुःख देने में समर्थ हो सकता है जिसका जगदीश सखा हो?॥१॥

अथ परमात्मनो महिमवर्णनपूर्वकं तदानन्दविषयमाह ।

१८२३. **तव द्रप्सो नीलवान् वाश ऋत्विय इन्धानः सिष्णवा ददे ।**
त्वं महीनामुषसामसि प्रियः क्षपो वस्तुषु राजसि ॥२॥[2]

तव द्रप्सः नीलवान् वाशः ऋत्वियः । इन्धानः सिष्णो आ ददे ।
त्वम् महीनाम् उषसाम् असि प्रियः । क्षपः वस्तुषु राजसि ॥२॥

---

१. ऋ० ८।१९।३० ; साम० १०८ ।
२. ऋ० ८।१९।३१।

पदार्थः— हे **सिष्णो**[1] प्रेमपाशबन्धक अग्ने जगदीश ! [षिञ् बन्धने, बाहुलकात् क्स्नुः प्रत्ययः ।] **नीलवान्** नीलः नीडः आश्रयः तद्वान्, अस्मदाश्रयभूतः इत्यर्थः, **वाशः** प्रियः । [वश कान्तौ, उश्यते काम्यते इति वाशः ।] **ऋत्वियः** ऋतुः आदानकालः प्राप्तोऽस्य तादृशः । [छन्दसि 'घस्' अ० ५।१।१०६ इति ऋतुशब्दात् तदस्य प्राप्तमित्यर्थे घस् प्रत्ययः ।] **इन्धानः** दीप्तिं कुर्वाणः **तव** त्वदीयः **द्रप्सः** आनन्दरसः **आददे** अस्माभिः आदीयते । **त्वम्** जगदीश्वरः **महीनाम्** महतीनाम् **उषसाम्** प्रभातसन्ध्यानाम् **प्रियः** सखा **असि** वर्तसे । त्वम् **क्षपः** क्षपायाः रात्रेः **वस्तुषु** आच्छादकेषु तमस्सु अपि **राजसि** दीप्यसे ॥२॥

भावार्थः— यो जगदीश्वरो रात्रिषूषःसु सूर्योदयेषु मध्याह्नेषु सायंसन्ध्यासु सर्वत्र स्वमहिम्ना विराजते तेन सह सख्यं विधाय तत्सकाशान्मधुरमधुर आनन्दरसः सर्वैः प्राप्तव्यः ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा की महिमा के वर्णन-पूर्वक उससे मिलने वाले आनन्द का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— हे **सिष्णो** प्रेमपाश में बाँधने वाले जगदीश्वर ! **नीलवान्** आधारभूत, **वाशः** प्रिय, **ऋत्वियः** जिसे प्राप्त करने का समय आ गया है ऐसा, **इन्धानः** तेज प्रदान करने वाला **तव** आपका **द्रप्सः** आनन्द-रस **आददे** हमसे ग्रहण किया जा रहा है । **त्वम्** आप **महीनाम्** महती **उषसाम्** उषाओं के **प्रियः** प्यारे सखा **असि** हो । आप **क्षपः** रात्रि के **वस्तुषु** आच्छादक अंधकारों में भी **राजसि** प्रदीप्त होते हो ॥२॥

भावार्थ— जो जगदीश्वर रात्रियों में, उषाओं में, सूर्योदयों में, मध्याह्न-कालों में, सायंकालीन संध्याओं में सर्वत्र अपनी महिमा से विराजमान है, उसके साथ मैत्री करके उसके पास से अति मधुर आनन्द-रस सबको प्राप्त करना चाहिए ॥२॥

॥३॥ अथ 'तमोषधी'रित्यादिकस्य तृतीयस्यैकर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अरुणो वैतहव्यः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** जगती । **स्वरः** निषादः ॥

जगदीश्वरस्य महिमानमाह ।

१८२४. **तमोषधीर्दधिरे गर्भमृत्वियं तमापो अग्निं जनयन्त मातरः ।**
तमित् समानं वनिनश्च वीरुधोऽन्तर्वतीश्च सुवते च विश्वहा ॥१॥[2]

तम् ओषधीः ओष धीः दधिरे गर्भम् ऋत्वियम् ।
तम् आपः अग्निम् जनयन्त मातरः ।
तम् इत् समानम् सम् आनम् वनिनः च वीरुधः ।
अन्तर्वतीः च सुवते च विश्वहा विश्व हा ॥१॥

---

१. हे सिष्णो, सिषिः सेचनार्थः, सोमेनासिच्यमान अग्ने-इति सा० ।

२. ऋ० १०।९१।६।

पदार्थः— **तम्** तमेव अग्निं जगदीश्वरम् **ओषधीः** ओषधयः **ऋत्वियं गर्भम्** सार्वकालिकगर्भरूपेण **दधिरे** धारयन्ति । [ऋतौ ऋतौ भवम् ऋत्वियम् सार्वकालिकम् । अत्र भवार्थे यत् प्रत्ययः ।] **तम्** तमेव अग्निं जगदीश्वरम् **मातरः आपः** मातृभूता नद्यः **जनयन्त** प्रकटयन्ति । **तम् इत्** तमेव अग्निं जगदीश्वरम् **समानम्** समानरूपेण **वनिनः च** वनेषु विद्यमानाः वृक्षाः **अन्तर्वतीः वीरुधः च** गर्भवत्यः लताश्च **दधिरे** धारयन्ति, **विश्वहा** सर्वदा **सुवते च** फलानि उत्पादयन्ति च ॥१॥

भावार्थः— ओषधीनां गर्भेषु, सकलकलं प्रवहन्तीनां नदीनामुदकेषु, फलभारनतानां घनानां वनविटपिनां फलेषु, पुष्यन्तीनां वनवल्लरीणां चित्रविचित्रेषु पुष्पेषु च स एव जगद्रचयिता परमेश्वरः प्रतिमूर्तो दृश्यते ॥१॥

जगदीश्वर की महिमा वर्णन करते हैं ।

पदार्थ— **तम्** उस जगदीश्वर को **ओषधीः** ओषधियाँ **ऋत्वियं गर्भम्** सब ऋतुओं में रहने वाले गर्भ के रूप में **दधिरे** धारण किये हुए हैं अर्थात् सब ऋतुओं में वह जगदीश्वर ओषधियों के अन्दर निहित रहता है । **तम्** उसी जगदीश्वर को **मातरः आपः** मातृतुल्य नदियां **जनयन्त** प्रकट कर रही हैं । **तम् इत्** उसी जगदीश्वर को **समानम्** समान रूप से **वनिनः च** वन के वृक्ष **अन्तर्वतीः वीरुधः च** और गर्भवती लताएं **दधिरे** अपने अन्दर धारण किये हुए हैं, और **विश्वहा** सदा, उसी के नियमों के अनुसार **सुवते च** फल भी उत्पन्न करती हैं ॥१॥

भावार्थ— ओषधियों के गर्भों में, कल-कल बहती हुई नदियों के जलों में, फलों के भार से झुके हुए सघन वन-वृक्षों के फलों में, फूलती हुई वन-वल्लरियों के चित्र-विचित्र पुष्पों में वही जगत् का रचयिता परमेश्वर प्रतिमूर्त हुआ दिखायी देता है ॥१॥

॥४॥ अथ 'अग्निरिन्द्राय' इत्यादिकस्य चतुर्थस्यैकर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** चाक्षुषोऽग्निः प्रजापतिर्वा । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र परमेश्वरस्य महत्त्वं वर्ण्यते ।

१८२५. अग्निरिन्द्राय पवते दिवि शुक्रो वि राजति । महिषीव वि जायते ॥१॥

अग्निः इन्द्राय पवते । दिवि शुक्रः वि राजति । महिषी इव वि जायते ॥१॥

पदार्थः— **अग्निः** जगन्नायकः सर्वान्तर्यामी परमेश्वरः **इन्द्राय** जीवात्मने, जीवात्मनो हितं कर्तुमित्यर्थः **पवते** तं प्राप्नोति । **शुक्रः** पवित्रः तेजस्वी असौ **दिवि** द्योतमाने द्युलोके सूर्यतारामण्डलादिषु **वि राजति** विशेषेण दीप्यते । **महिषी इव** पूजनीया माता इव च **वि जायते** प्रसिद्धो भवति ॥१॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— परमेश्वरोऽस्माकं पिता माता चापि विद्यते । पिता सन्नसौ मानवदेहस्य ब्रह्माण्डस्य च व्यवस्थां करोति, मातृरूपेण च सर्वेषां लालनं पालनं च विदधाति ॥१॥

परमेश्वर का महत्त्व वर्णित करते हैं ।

पदार्थ— **अग्निः** संसार का नायक सर्वान्तर्यामी परमेश्वर **इन्द्राय** जीवात्मा के लिए अर्थात् जीव का हित करने के लिए **पवते** उसे प्राप्त होता है । **शुक्रः** पवित्र और तेजस्वी वह **दिवि** चमकीले द्युलोक में, सूर्य, तारा मंडल आदि में **वि राजति** विशेष रूप से चमक रहा है । वह **महिषी इव** पूज्या माता के समान **वि जायते** प्रसिद्ध होता है ॥१॥

यहां उपमालंकार है ॥१॥

भावार्थ– परमेश्वर हमारा पिता और माता भी है । पिता होता हुआ वह मनुष्य-शरीर की और ब्रह्माण्ड की व्यवस्था करता है, माता के रूप में वह सबका लालन-पालन करता है ॥१॥

॥५॥ अथ 'यो जागार' इत्यादिकस्य पञ्चमस्यैकर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अवत्सारः काश्यपः । **देवता** विश्वेदेवाः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

तत्र जागरणस्य महत्त्वमाह ।

१८२६. यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति ।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥१॥[1]

यः जागार तम् ऋचः कामयन्ते । यः जागार तम् उ सामानि यन्ति ।
यः जागार तम् अयम् सोमः आह ।
तव अहम् अस्मि सख्ये स ख्ये न्योकाः नि ओकाः ॥१॥

पदार्थः– विश्वेषु देवेषु विद्वत्सु मध्ये **यः** यो जनः **जागार** जागरूको भवति **तम् ऋचः** ऋङ्मन्त्राः **कामयन्ते** अभिलषन्ति, **यः** यो जनः **जागार** जागरूको भवति **तम् उ** तमेव **सामानि** साममन्त्राः सामगानानि वा **यन्ति** साहाय्याय प्राप्नुवन्ति । **यः** यो जनः **जागार** जागरूको भवति **तम् अयं सोमः** एष जगदीश्वरः **आह** ब्रूते यत् **अहम् तव सख्ये** त्वदीये सखित्वे **न्योकाः** कृतगृहः **अस्मि** वर्ते ॥१॥[2]

भावार्थः– जनेषु योऽविद्यालस्यमोहादिनिद्रां विहाय जागर्ति स एव बाह्यजीवनेऽध्यात्मजीवने च सफलो जायते ॥१॥

जागरण का महत्त्व वर्णित करते हैं ।

पदार्थ– सब विद्वानों के मध्य में **यः** जो मनुष्य **जागार** जागरूक होता है **तम्** उसे **ऋचः** ऋचाएं **कामयन्ते** चाहती हैं । **यः** जो मनुष्य **जागार** जागरूक होता है **तम् उ** उसी को **सामानि** साम-मन्त्र वा साम-गान **यन्ति** सहायता के लिए प्राप्त होते हैं । **यः** जो मनुष्य **जागार** जागरूक होता है **तम्** उसे **अयं सोमः** यह जगदीश्वर **आह** कहता है कि **अहम्** मैं **तव सख्ये** तेरी मित्रता में **न्योकाः** घर बनाये हुए **अस्मि** हूँ ॥१॥

भावार्थ– मनुष्यों में जो अविद्या, आलस्य, मोह आदि की नींद को छोड़कर जाग जाता है वही बाह्य जीवन और अध्यात्म-जीवन में सफल होता है ॥१॥

॥६॥ अथ 'अग्निर्जागारः' इत्यादिकस्य षष्ठस्यैकर्चस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अवत्सारः काश्यपः । **देवता** अग्निः । (विश्वेदेवाः?) । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

---

१. ऋ० ५।४४।१४।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिरपि मन्त्रमिममविद्यानिद्राया जागरणविषये व्याचष्टे ।

अस्मिन् सूक्ते पुनर्जागरणमहत्त्वविषयमाह ।

३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१८२७. अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥१॥[1]
३ २ ३ २ १ २र ३ २ ३ २ ३ १ २र ३
अग्निः जागार तम् ऋचः कामयन्ते । अग्निः जागार तम् उ सामानि यन्ति ।
२ ३ २ ३ २ १ २र ३
अग्निः जागार तम् अयम् सोमः आह ।
१ २र ३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३
तव अहम् अस्मि सख्ये स ख्ये न्योकाः नि ओकाः ॥१॥

पदार्थः— **अग्निः** अग्निवत् तेजस्वी विद्वान् **जागार** जागरूको भवति, **तम् ऋचः** तम् ऋङ्मन्त्राः **कामयन्ते** अभिलषन्ति । **अग्निः** अग्निवत् पुरुषार्थी विद्वान् **जागार** जागरूको भवति, **तम् उ** तमेव **सामानि** साममन्त्राः सामगानानि वा **यन्ति** साहाय्याय प्राप्नुवन्ति । **अग्निः** अग्निवत् उन्नतिशीलो विद्वान् **जागार** जागरूको भवति, **तम्** विद्वांसम् **अयं सोमः** एष जगदीश्वरः **आह** ब्रूते, यत् **अहम् तव सख्ये** त्वदीये सखित्वे **न्योकाः** कृतगृहः **अस्मि** वर्ते ॥१॥[2]

भावार्थः— ये विद्वांसो निरलसा निर्भयाः पुरुषार्थिनोऽग्रेगन्तारः स्फूर्तिमन्तो धार्मिकाः परोपकारिणो भवन्ति त एव लोकप्रियाः सफलाश्च जायन्ते ॥१॥

इस सूक्त में फिर जागरण के महत्त्व का विषय वर्णित है ।

पदार्थ— अग्निः अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् **जागार** जागरूक होता है, **तम्** उसे **ऋचः** ऋचाएं **कामयन्ते** चाहती हैं। **अग्निः** अग्नि के समान पुरुषार्थी विद्वान् **जागार** जागरूक होता है, **तम् उ** उसी के पास **सामानि** साम-मन्त्र वा साम-गान **यन्ति** सहायता के लिए पहुँचते हैं। **अग्निः** अग्नि के समान उन्नतिशील विद्वान् **जागार** जागरूक होता है, **तम्** उसे **अयं सोमः** यह जगदीश्वर **आह** कहता है कि **अहम्** मैं **तव सख्ये** तेरी मित्रता में **न्योकाः** घर बनाये हुए **अस्मि** हूं ॥१॥

भावार्थ— जो विद्वान् लोग आलस्य-रहित, निर्भय, पुरुषार्थी, आगे बढ़ने वाले, स्फूर्तिमान्, धार्मिक, परोपकारी होते हैं वे ही लोकप्रिय तथा सफल होते हैं ॥१॥

॥७॥ अथ 'नमः सखिभ्यः' इत्यादिकस्य सप्तमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** मृगः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्रादौ नमस्कारमाह ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २र ३ १ २
१८२८. नमः सखिभ्यः पूर्वसद्भ्यो नमः साकंनिषेभ्यः । युञ्जे वाचं शतपदीम् ॥१॥
१ २र ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र
नमः सखिभ्यः स खिभ्यः पूर्वसद्भ्यः पूर्व सद्भ्यः ।
१ २र ३ १ २ ३ १ २
नमः साकंनिषेभ्यः साकम् निषेभ्यः ॥१॥

पदार्थः— **पूर्वसद्भ्यः** पूर्वं सीदन्ति स्म ये ते पूर्वसदः तेभ्यः **सखिभ्यः** समानख्यानेभ्यः सुहृद्भ्यः **नमः** नमस्कारोऽस्तु, **साकंनिषेभ्यः** साकं सह निषः स्थितिः येषां तेभ्यः सहवर्तिभ्यः सखिभ्यः सुहृद्भ्यः **नमः** नमोऽस्तु।

---

१. ऋ० ५।४४।१५।

२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयम् 'ये मनुष्या निरलसाः पुरुषार्थिनो धार्मिका जायन्ते जितेन्द्रिया विद्यार्थिनश्च भवन्ति तानेव विद्यासुशिक्षे प्राप्नुतः' इति विषये व्याख्यातवान् ।

अग्निः अग्निवत् तेजस्वी अहम् **शतपदीम्**[1] अनेकपादयुक्तां **वाचम्** वेदवाचम् ।[ऋक् शतपदी ष० ब्रा० १।४ ।] **युञ्जे** प्रयुञ्जे ॥१॥

भावार्थः— येऽस्मत्पूर्वजा वृद्धाः सन्ति ये च सहयोगिनः सखायः सन्ति तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि यथायोग्यं सत्कारः प्रदेयः । धार्मिकेषु कृत्येषु परमात्मस्तुतौ च सदा वेदमन्त्राः प्रयोक्तव्याः ॥१॥

प्रथम मन्त्र में नमस्कार किया गया है ।

पदार्थ— पूर्वसद्भ्यः जो पहले हो चुके हैं उन **सखिभ्यः** सखाओं को **नमः** नमस्कार हो, **साकंनिषेभ्यः** साथ रहने वाले सखाओं को **नमः** नमस्कार हो । अग्नि के समान तेजस्वी मैं **शतपदीम्** अनेक पादों वाली **वाचम्** वेदवाणी को **युञ्जे** प्रयोग में लाता हूं ॥१॥

भावार्थ— जो हमसे पहले उत्पन्न हुए वृद्धजन हैं और जो सहयोगी मित्र हैं उन सबको यथायोग्य सत्कार देना चाहिए । धार्मिक कार्यों में तथा परमात्मा की स्तुति में सदा वेदमन्त्रों का प्रयोग करना उचित है ॥१॥

अथ सामगाता प्राह ।

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
१८२९. **युञ्जे वाचं शतपदीं गाये सहस्रवर्तनि । गायत्रं त्रैष्टुभं जगत् ॥२॥**

३ २ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३
युञ्जे वाचम् शतपदीम् शत पदीम् । गाये सहस्रवर्तनि सहस्र वर्तनि ।

२ १ २र ३ १ २र
गायत्रं त्रैष्टुभम् त्रै स्तुभम् जगत् ॥२॥

पदार्थः— अहम् **शतपदीम्** बहुपादयुक्ताम् **वाचम्** वेदवाचम् **युञ्जे** प्रयुञ्जे, किञ्च **गायत्रम्** गायत्रीछन्दस्कं साम, **त्रैष्टुभम्** त्रिष्टुप्छन्दस्कं साम, **जगत्** जगतीछन्दस्कं साम च **सहस्रवर्तनि** सहस्रवर्त्म यथा स्यात् तथा **गाये** गायामि ॥२॥

भावार्थः— ऋच्यध्यूढानां साम्नां गानेन हृदयं सामाजिकं वातावरणं च पवित्रं जायते ॥२॥

अगले मन्त्र में साम का गान करने वाला कह रहा है ।

पदार्थः— मैं **शतपदीम्** अनेक पादों वाली **वाचम्** वेदवाणी को **युञ्जे** प्रयोग में लाता हूं । साथ ही, **गायत्रम्** गायत्री छन्द वाले साम को, **त्रैष्टुभम्** त्रिष्टुप् छन्द वाले साम को और **जगत्** जगती छन्द वाले साम को **सहस्रवर्तनि** सहस्र मार्गों से **गाये** गाता हूँ ॥२॥

भावार्थ— ऋचाओं पर आश्रित सामों के गान से हृदय और सामाजिक वातावरण पवित्र होता है ॥२॥

अथ सामगानस्य महत्त्वमाह ।

३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
१८३०. **गायत्रं त्रैष्टुभं जगद् विश्वा रूपाणि सम्भृता । देवा ओकांसि चक्रिरे ॥३॥**

३ २ १ २र ३ १ २र १ २र ३ १ २ १ २र ३
गायत्रम् त्रैष्टुभम् त्रै स्तुभम् जगत् । विश्वा रूपाणि सम्भृता सम् भृता ।

२ १ २र ३ २
देवाः ओकांसि चक्रिरे ॥३॥

---

१. शतपदीम् अस्मभ्यं फलप्रदानाय अपरिमितमार्गाम्—इति सा० । वेदेषु यानि प्रधानानि छन्दांसि प्रयुक्तानि तेषु साकल्येन पादसंख्या शतप्राया भवतीति वेदवाक् शतपदीत्युच्यते ।

पदार्थः— **गायत्रं** गायत्रीछन्दस्कं साम, **त्रैष्टुभम्** त्रिष्टुप्छन्दस्कं साम, **जगत्** जगतीछन्दस्कं साम च, एषु **विश्वा रूपाणि** इतरेषामपि साम्नां सर्वाणि रूपाणि **सम्भृता** सम्भृतानि समाविष्टानि सन्ति । य एतानि सामानि गायति तस्मिन् **देवाः** दिव्यगुणाः **ओकांसि** गृहाणि **चक्रिरे** कुर्वन्ति ॥३॥

भावार्थः— अष्टाक्षरः पादो गायत्रः पादः, एकादशाक्षरः पादस्त्रैष्टुभः पादः, द्वादशाक्षरः पादो जागतः पादः । प्रायः सर्वाणि वैदिकच्छन्दांस्येतैरेव पादैः स्थितिं लभन्ते । एतेषु केनचिदेकेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा पादैर्ग्रथितास्वृक्षु सामगानेन गातुरन्तरात्ममनेके दिव्यगुणाः समाविशन्ति ॥३॥

अगले मन्त्र में सामगान का महत्त्व वर्णित है ।

पदार्थ— **गायत्रम्** गायत्री छन्द वाला साम, **त्रैष्टुभम्** त्रिष्टुप् छन्द वाला साम, **जगत्** और जगती छन्द वाला साम, इनमें **विश्वा रूपाणि** दूसरे सामों के भी सब रूप **सम्भृता** समाविष्ट हैं। जो इन सामों को गाता है उसमें **देवाः** दिव्य गुण **ओकांसि** घर **चक्रिरे** कर लेते हैं ॥३॥

भावार्थ— आठ अक्षरों का गायत्र पाद, ग्यारह अक्षरों का त्रैष्टुभ पाद, और बारह अक्षरों का जागत पाद होता है । प्रायः सभी वैदिक छन्द इन्हीं पादों से बनते हैं । इनमें से किसी एक, दो या तीनों पादों से गुँथी हुई ऋचाओं पर साम गान करने से गायक के अन्तरात्मा में अनेक दिव्यगुण समाविष्ट हो जाते हैं ॥३॥

॥८॥ अथ 'अग्निर्ज्योति' रित्यादिकस्याष्टमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अवत्सारः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

अथ ज्योतिषो महत्त्वं वर्णयति ।

१८३१ . अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निरिन्द्रो ज्योतिर्ज्योतिरिन्द्रः ।
सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः ॥१॥

अग्निः ज्योतिः ज्योतिः अग्निः । इन्द्रः ज्योतिः ज्योतिः इन्द्रः ।
सूर्यः ज्योतिः ज्योतिः सूर्यः ॥१॥

पदार्थः— **अग्निः** पार्थिवो वह्निः **ज्योतिः** एकं ज्योतिरस्ति, **ज्योतिः** तज्ज्योतिः एव **अग्निः** वस्तुतः अग्निरुच्यते । **इन्द्रः** विद्युत् **ज्योतिः** एकं ज्योतिरस्ति, **ज्योतिः** तज्ज्योतिः एव **इन्द्रः** वस्तुतो विद्युदस्ति । **सूर्यः** आदित्यः **ज्योतिः** एकं ज्योतिरस्ति, **ज्योतिः** तज्ज्योतिः एव **सूर्यः** वस्तुतः सूर्योऽस्ति ॥१॥

भावार्थः— यद्यपि वह्निविद्युत्सूर्याः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशरूपपञ्चतत्त्वात्मकाः सन्ति तथापि वह्नेर्वह्नित्वं विद्युतो विद्युत्त्वं सूर्यस्य च सूर्यत्वं ज्योतिष्कारणादेव वर्तते, ज्योतिर्विना तेषु किमपि महत्त्वं नावशिष्येत । तथैव मनुष्यस्यापि मनुष्यत्वमध्यात्मज्योतिषः कारणादेव । अतः सर्वैर्मानवैरध्यात्मज्योतिषः सञ्चयस्य प्रयत्नो विधेयः ॥१॥

प्रथम मन्त्र में ज्योति का महत्त्व वर्णित है ।

पदार्थ— **अग्निः** पार्थिव अग्नि **ज्योतिः** एक ज्योति है, **ज्योतिः** वह ज्योति ही **अग्नि** वस्तुतः अग्नि है । **इन्द्रः** बिजली **ज्योतिः** एक ज्योति है, **ज्योतिः** वह ज्योति ही **इन्द्रः** वस्तुतः बिजली है । **सूर्यः** सूर्य **ज्योतिः** एक ज्योति है, **ज्योतिः** वह ज्योति ही **सूर्यः** वस्तुतः सूर्य है ॥१॥

भावार्थ— यद्यपि अग्नि, विद्युत् और सूर्य ये सब पृथिवी, जल, वायु, तेज और आकाश इन पंच तत्त्वों से मिलकर बने हुए हैं, तो भी अग्नि का अग्नित्व, विद्युत् का विद्युत्त्व और सूर्य का सूर्यत्व ज्योति के कारण से ही है, ज्योति के बिना उनमें कुछ भी महत्त्व अवशिष्ट नहीं रहेगा। इसी प्रकार मनुष्य का भी मनुष्यत्व अध्यात्म-ज्योति के कारण से ही है। इसलिए सब मनुष्यों को चाहिए कि अध्यात्म-ज्योति के संचय का प्रयत्न करें ॥१॥

अथ परमात्मानं प्रार्थयते।

१२३ १र २र ३ १२ ३ १२ १२ ३ १,२
१८३२. पुनरूर्जा नि वर्तस्व पुनरग्न इषायुषा। पुनर्नः पाह्यंहसः ॥२॥[1]

१२र ३ २ ३ १२र ३ २ १२र १२र ३ १२र
पुनः ऊर्जा नि वर्तस्व। पुनः अग्ने इषा आयुषा। पुनः नः पाहि अंहसः ॥२॥

पदार्थः— हे **अग्ने** प्रकाशकानां प्रकाशक जगन्नायक सर्वान्तर्यामिन् परमेश! त्वम् **पुनः** भूयो भूयः **ऊर्जा** बलेन प्राणशक्त्या च, **पुनः** भूयो भूयश्च **इषा** अभीष्टेन आनन्देन **आयुषा** दीर्घायुष्येण च **नि वर्तस्व** निरन्तरम् अस्मान् प्राप्नुहि **पुनः** भूयोभूयः **नः** अस्मान् **अंहसः** पापात् **पाहि** त्रायस्व॥२॥[2]

भावार्थः— मनुष्यो निर्बलत्वात्पुनः पुनर्निरुत्साहदैन्यदुःखाज्ञानपापादिभिर्लिप्यते। स परमात्मोपासनया पुनः पुनर्बलप्राणसुखसद्विद्याधर्मदीर्घायुष्यादिकं प्राप्तुं शक्नोति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

पदार्थ— हे **अग्ने** प्रकाशकों के प्रकाशक, जगन्नायक, सर्वान्तर्यामी परमेश! आप **पुनः** फिर-फिर **ऊर्जा** बल और प्राणशक्ति के साथ **पुनः** फिर-फिर **इषा** अभीष्ट आनन्द के साथ **आयुषा** और दीर्घायुष्य के साथ **नि वर्तस्व** हमें निरन्तर प्राप्त होते रहो। **पुनः** फिर-फिर **नः** हमें **अंहसः** पाप से **पाहि** बचाते रहो ॥२॥

भावार्थ— मनुष्य निर्बल होने से पुनः पुनः निरुत्साह, दैन्य, दुःख, अज्ञान, पाप आदियों से लिप्त होता रहता है। वह परमात्मा की उपासना से पुनः पुनः बल, प्राण, सुख, सद्विद्या, धर्म, दीर्घायुष्य आदि प्राप्त कर सकता है ॥२॥

अथ पुनरपि परमात्मा प्रार्थ्यते।

३२ ३ १र २र३ २३ १ २ ३ १२ ३१ २ ३२३ १ २
१८३३. सह रय्या नि वर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वप्न्या विश्वतस्परि ॥३॥[3]

३२ ३ २ ३ १ ३र १ २र १२र
सह रय्या नि वर्तस्व। अग्ने पिन्वस्व धारया।

३१ २ ३ २ ३ १ २ १ ३र
विश्वप्न्या विश्व प्न्या विश्वतः परि ॥३॥

---

१. य० १२।९,४०।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं १२।९ इत्यत्राध्यापककृत्यविषये १२।४० इत्यत्र च मातापित्रोः सन्तानं प्रति कर्तव्यविषये व्याख्यातः।

३. य० १२।१०,४१।

पदार्थः— हे **अग्ने** जगन्नायक सर्वप्रकाशक रसागार परमात्मन् ! त्वम् **रय्या सह** दिव्येन ऐश्वर्येण सह **निवर्तस्व** अस्मान् निरन्तरं प्राप्नुहि । **विश्वप्स्न्या** विश्वैः सर्वैर्योगिभिः प्सायते आस्वाद्यते या सा विश्वप्स्ना तया [प्सा भक्षणे, अदादिः ।] **धारया** आनन्दप्रवाहसन्तत्या, अस्मान् **विश्वतः** सर्वतः **परिपिन्वस्व** परिषिञ्च । [पिवि सेवने सेचने च, भ्वादिः । व्यत्ययेनात्मनेपदम्] ॥३॥[1]

भावार्थः— आनन्दरसपुञ्जः परमेश्वरः स्वोपासकानानन्दधारया सिञ्चति, दिव्यैरैश्वर्यैश्च सनाथान् करोति ॥३॥

अस्मिन् खण्डे जगदीश्वरस्य जागरणस्य नमस्कारस्य सामगानस्य ज्योतिषश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

आगे फिर परमात्मा से प्रार्थना है ।

पदार्थ— हे **अग्ने** जगन्नायक, सर्वप्रकाशक, रसागार परमात्मन् ! आप **रय्या सह** दिव्य ऐश्वर्य के साथ **निवर्तस्व** हमें निरन्तर प्राप्त होते रहो । **विश्वप्स्न्या** सब योगियों से आस्वाद ली जाने वाली **धारया** आनन्द-धारा से, हमें **विश्वतः** सब ओर से **परिपिन्वस्व** सींचते रहो ॥३॥

भावार्थ— आनन्द-रस का पुंज परमेश्वर अपने उपासकों को आनन्द-धारा से सींचता और दिव्य ऐश्वर्यों से सनाथ करता है ॥३॥

इस खण्ड में जगदीश्वर, जागरण, नमस्कार, सामगान और ज्योति के विषयों का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ॥

बीसवें अध्याय में छठा खण्ड समाप्त ।

॥९॥ अथ 'यदिन्द्राह'मित्यादिकस्य नवमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १२२ क्रमाङ्के व्याख्यातपूर्वा । धनपतिर्भूत्वाऽहं किं कुर्यामित्याह ।

१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
१८३४. यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
३ २ ३ १ २ २
स्तोता मे गोसखा स्यात् ॥१॥[2]
२ ३ ३ २ १ २ २ १ २ २ १ २ २ १ २ २
यत् इन्द्र अहम् यथा त्वम् ईशीय वस्वः एकः इत् ।
३ २ ३ १ २ ३
स्तोता मे गोसखा गो सखा स्यात् ॥१॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** जगदीश्वर आचार्य राजन् वा ! **यत्** यदि **यथा त्वम्** त्वमिव **अहम् वस्वः** दिव्यैश्वर्यस्य विद्याधनस्य भौतिकधनस्य वा **एकः इत्** अद्वितीयः एव **ईशीय** ईश्वरो भवेयम्, तर्हि **मे** मम **स्तोता** प्रशंसकः **गोसखा** गवाम् दिव्यप्रकाशानाम् निखिलवाङ्मयानां धेनूनां वा सखा स्वामी **स्यात्** भवेत् ॥१॥

भावार्थः— यद्यहं जगदीशवद् दिव्यधनानां सत्याहिंसायोगसिद्ध्यादीनां स्वामी भवेयं तर्हि सत्पात्रेभ्यो दिव्यधनानि दद्याम्, यद्यहमाचार्यवद् विद्याधनानां स्वामी भवेयं तर्हि शिष्येभ्यो विविधा विद्या अध्यापयेयम्, यद्यहं भूपतिरिव रजतसुवर्णगवादिधनाधीशो भवेयं तर्हि निर्धनेभ्यो रजतसुवर्णगवादिधनानि वितरेयम् ॥१॥

---

१. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिममुभयत्र विद्वद्विषये व्याचष्टे ।

२. ऋ० ८।१४।१; अथ० २०।२७।१, उभयत्र 'गोषखा' इति भेदः । साम० १२२ ।

प्रथम ऋचा की व्याख्या पूर्वार्चिक में १२२ क्रमांक पर हो चुकी है । इसमें धनपति होकर मैं क्या करूँ इसका वर्णन है ।

पदार्थ– हे **इन्द्र** जगदीश्वर आचार्य वा राजन् ! **यत्** यदि **यथा त्वम्** जैसे आप हो वैसे **अहम्** मैं **वस्वः** दिव्य ऐश्वर्य का, विद्या-धन का वा भौतिक धन का **एकः इत्** अद्वितीय **ईशीय** स्वामी हो जाऊँ, तो **मे** मेरा **स्तोता** प्रशंसक **गोसखा** दिव्य प्रकाशों का, समस्त वाङ्मय का वा धेनुओं का सखा **स्यात्** हो जाए ॥१॥

भावार्थ– यदि मैं जगदीश के समान सत्य, अहिंसा, योगसिद्धि आदि दिव्य धनों का स्वामी हो जाऊं तो सत्पात्रों को दिव्य धन बांटूँ, यदि मैं आचार्य के समान विद्या-धनों का स्वामी हो जाऊं तो शिष्यों को विविध विद्याओं का अध्यापन करूं, यदि मैं राजा के समान चांदी, सोना, गाय आदि धनों का स्वामी हो जाऊँ तो निर्धनों को चाँदी सोना, गाय आदि धन वितीर्ण करूँ ॥१॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १र २र ३ २
१८३५. **शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे । यदहं गोपतिः स्याम् ॥२॥**[1]

१ २र ३ १ २र १ २र १ २र ३ १ २
शिक्षेयम् अस्मै दित्सेयम् । शचीपते शची पते मनीषिणे ।
३ २ १ २र ३ २
यत् अहम् गोपतिः गो पतिः स्याम् ॥२॥

पदार्थः– हे शचीपते सर्वशक्तिमन् जगदीश ! **यदि अहम्** अहं चेत् **गोपतिः** गवां भुवां धेनूनां वा पतिः स्वामी **स्याम्** भवेयम्, तदा ताः भुवो धेनूर्वा **दित्सेयम्** दातुमिच्छेयम्, **अस्मै मनीषिणे** एतस्मै मेधाविने विदुषे **शिक्षेयम्** दद्यां च । [शिक्षतिर्दानकर्मा । निघं० ३।२०] ॥२॥

भावार्थः– धनपतीनामिदं कर्तव्यं यत्ते यस्य धनस्य स्वामिनो भवेयुस्तस्य धनस्य न्यूनान्यूनं शतांशं सत्पात्रेभ्योऽवश्यं दद्युः ॥२॥

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ– हे **शचीपते** सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर ! **यदि अहम्** यदि मैं **गोपतिः** भूमियों वा धेनुओं का स्वामी हो जाऊं, तो उन भूमियों वा धेनुओं को **दित्सेयम्** मैं दान करने का संकल्प लूं और **अस्मै मनीषिणे** इस मेधावी विद्वान् को **शिक्षेयम्** उनका दान कर दूं ॥२॥

भावार्थ– धनपतियों का यह कर्तव्य है कि वे जिस धन के स्वामी हों उस धन का कम से कम शतांश सत्पात्रों को अवश्य दान करें ॥२॥

अथ वेदवाग्रूपधेनुविषयमाह ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १र २र ३ १ २
१८३६. **धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते । गामश्वं पिप्युषी दुहे ॥३॥**[2]

३ २ ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ २ १ २र ३ १ २ ३
धेनुः ते इन्द्र सूनृता सु नृता । यजमानाय सुन्वते । गाम् अश्वम् पिप्युषी दुहे ॥३॥

---

१. ऋ० ८।१४।२; अथ० २०।२७।२ ।
२. ऋ० ८।१४।३; अथ० २०।२७।३ ।

पदार्थः— हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! **ते** तव **सूनृता** सत्या मधुरा च **धेनुः** प्रीणयित्री वेदवाक् **सुन्वते** भक्तिरसं प्रवाहयते **यजमानाय** उपासकाय **पिप्युषी** वर्द्धयित्री सती **गाम्** अन्तःप्रकाशम् **अश्वम्** प्राणबलं च **दुहे** दुग्धे । [लोपस्त आत्मनेपदेषु । अ० ७।१।४१ इति तलोपः] ॥३॥

भावार्थः— वेदाध्ययनेन जनानां परमेश्वरोपासनायां प्रवृत्तिर्जायते, तया चान्तःप्रकाशः प्राणबलं पुरुषार्थप्रेरणा च प्राप्यते ॥३॥

अगले मन्त्र में वेदवाणी-रूप धेनु का विषय है ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** जगदीश्वर ! ते आपकी **सूनृता** सत्य और मधुर, **धेनुः** तृप्ति देने वाली वेदवाणी **सुन्वते** भक्ति-रस प्रवाहित करने वाले **यजमानाय** उपासक के लिए **पिप्युषी** बढ़ाने वाली होती हुई **गाम्** अन्तःप्रकाश को, और **अश्वम्** प्राण-बल को **दुहे** दुहती है ॥३॥

भावार्थ— वेद पढ़ने से मनुष्यों की परमेश्वरोपासना में प्रवृत्ति होती है और उससे अन्तःप्रकाश, प्राणबल और पुरुषार्थ के लिए प्रेरणा मिलती है ॥३॥

॥१०॥ अथ 'आपो हि' इत्यादिकस्य दशमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः । **देवता** आपः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र ब्रह्मानन्दधाराविषयमाह ।

२ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र३ १ २
१८३७. आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥१॥[1]

१ २र ३ १ २ ३ १२र ३ २ ३
आपः हि स्थ मयोभुवः मयः भुवः । ताः नः ऊर्जे दधातन दधात न ।
३ १ २र १ २र
महे रणाय चक्षसे ॥१॥

पदार्थः— हे **आपः** ब्रह्मानन्दरसधाराः ! यूयम् **हि** निश्चयेन **मयोभुवः** शान्तेः भावयित्र्यः **स्थ** भवथ । **ताः** ताः यूयम् **नः** अस्मान् **ऊर्जे** ब्रह्मबलाय, **महे** महत्त्वाय, **रणाय** देवासुरसंग्रामाय, **चक्षसे** अन्तःप्रकाशाय च **दधातन** धत्त । [दधातेः 'तप्तनप्तनथनाश्च' अ० ७।१।४५ इति तस्य तनबादेशः । छन्दसि बाहुलकादत्र 'श्नाभ्यस्तयोरातः' अ० ६।४।११२ इति न प्रवर्तते] ॥१॥[2]

यास्काचार्यो मन्त्रमिममेवं व्याख्यातवान्— [आपो हि स्थ सुखभुवस्तानोऽन्नाय धत्त, महते च नो रणाय रमणीयाय दर्शनाय (निरु० ९।२५) इति]।

भावार्थः— उपासको यदा परमात्मसकाशादानन्दधाराः प्राप्नोति तदा ब्रह्मबलमात्मोत्कर्षो विजयादयश्च स्वयमेव समागच्छन्ति ॥१॥

प्रथम मन्त्र में ब्रह्मानन्द की धाराओं का विषय है ।

पदार्थ— हे **आपः** ब्रह्मानन्द-रस की धाराओ ! तुम **हि** निश्चय ही **मयोभुवः** शान्ति देने वाली **स्थ** हो । **ताः** वे तुम **नः** हमें **ऊर्जे** ब्रह्मबल के लिए, **महे** महत्ता के लिए, **रणाय** देवासुरसंग्राम के लिए और **चक्षसे** अन्तःप्रकाश के लिए **दधातन** धारण करो ॥१॥

---

१. ऋ० १०।९।१; य० ११।५०; ३६।१४; अथ० १।५।१ ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं य० ११।५० इत्यत्र कृतविवाहाः स्त्रीपुरुषा अन्योन्यं कथं वर्तेरन्निति विषये य० ३६।१४ इत्यत्र च पतिव्रताः स्त्रियः कीदृश्यो भवेयुरिति विषये व्याख्यातवान् ।

भावार्थ– उपासक जब परमात्मा के पास से आनन्द की धाराओं को प्राप्त करता है तब ब्रह्मबल, आत्मोत्कर्ष और विजय आदि स्वयं ही आ जाते हैं ।।१।।

अथ ब्रह्मानन्दधाराणां रसं प्रार्थयते ।

१८३८. यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ।।२।।[1]

यः वः शिवतमः रसः । तस्य भाजयत इह नः । उशतीः इव मातरः ।।२।।

पदार्थः– हे आपः ब्रह्मानन्दधाराः ! **यः वः** युष्माकम् **शिवतमः** अतिशयेन शान्तिदायकः **रसः** सारतत्त्वम् अस्ति **तस्य इह** जीवने **नः** अस्मान् **भाजयत** भागिनः कुरुत । कथमिव ? **उशतीः** उशत्यः कामयमानाः स्नेहं कुर्वाणाः । [वश कान्तौ, शतरि स्त्रियां पूर्वसवर्णदीर्घः ।] **मातरः इव** जनन्यो यथा स्वकीयं स्तनरसं सन्तानान् पाययन्ति तद्वत् ।।२।।[2]

अत्रोपमालङ्कारः ।।२।।

भावार्थः– मातुः स्तन्ये यन्माधुर्यं तदेव ब्रह्मणः सकाशात् प्राप्तास्वानन्दधारास्विति विचक्षणा अनुभवन्ति ।।२।।

अगले मन्त्र में ब्रह्मानन्द की धाराओं के रस की प्रार्थना है ।

पदार्थ– हे ब्रह्मानन्द की धाराओ ! **यः** जो **वः** तुम्हारा **शिवतमः** अतिशय शान्तिदायक **रसः** रस है **तस्य** उसका **इह** इस जीवन में **नः** हमें **भाजयत** भागी बनाओ, पान कराओ, **उशतीः** सन्तान से प्रेम करती हुई **मातरः इव** माताएं जैसे अपने स्तनों का दूध अपनी सन्तान को पिलाती हैं ।।२।।

यहां उपमालंकार है ।।२।।

भावार्थ– माता के स्तन के दूध में जो माधुर्य है वही ब्रह्म के पास से प्राप्त आनन्द-धाराओं में है ऐसा विद्वान् उपासक लोग अनुभव करते हैं ।।२।।

अथ पुनरपि ब्रह्मानन्दधाराविषय एवोच्यते ।

१८३९. तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ।।३।।[3]

तस्मै अरम् गमाम वः । यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपः जनयथ च नः ।।३।।

पदार्थः– हे **आपः** ब्रह्मानन्दधाराः **तस्मै** प्रयोजनाय, वयम् **वः** युष्मान् **अरम्** पर्याप्तम् **गमाम** प्राप्नुयाम । [गच्छतेर्विध्यर्थे लुङि 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि अ० ६।४।७५ इत्यडागमाभावः ।] **यस्य** अभ्युदयनिःश्रेयसरूपस्य प्रयोजनस्य **क्षयाय** अस्मासु निवासाय । [क्षि निवासगत्योः 'क्षयो निवासे' अ० ६।१।२०१ इत्याद्युदात्तः ।] यूयम् **जिन्वथ** गतिं कुरुथ । [जिन्वतिः गतिकर्मा । निघं० २।१४ ।] यूयम् **नः** अस्मान् **जनयथ च** नवजीवनेनानुप्राणितान् कुरुथ च ।।३।।[4]

---

१. ऋ० १०।९।२; य० ११।५१, ३६।१५; अथ० १।५।२ ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयमुभयत्र स्त्रीणां विषये व्याख्यातः ।

३. ऋ० १०।९।३; य० ११।५२; ३६।१६; अथ० १।५।३ ।

४. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिरिममपि मन्त्रमुभयत्र स्त्रीणां विषये व्याख्यातवान् ।

भावार्थः— परमात्मोपासनेन यो दिव्यानन्दः प्राप्यते तेन मनुष्यः स्वजीवने परमाभ्युदयं निःश्रेयसं चापि प्राप्तुं प्रभवति ॥३॥

आगे फिर ब्रह्मानन्द की धाराओं का ही विषय है ।

पदार्थ— हे **आपः** ब्रह्मानन्द की धाराओ ! **तस्मै** उस प्रयोजन के लिए, हम **वः** तुम्हें **अरम्** पर्याप्त रूप से **गमाम** प्राप्त कर लें, **यस्य** जिस अभ्युदय और निःश्रेयस रूप प्रयोजन के **क्षयाय** हमारे अन्दर निवास कराने के लिए, तुम **जिन्वथ** गति करती हो । तुम **नः** हमें **जनयथ च** नवजीवन से अनुप्राणित भी कर दो ॥३॥

भावार्थ— परमात्मा की उपासना से जो दिव्य आनन्द प्राप्त होता है उससे मनुष्य अपने जीवन में परम उत्कर्ष को और मोक्ष को भी पा सकता है ॥३॥

॥११॥ अथ 'वात आ वातु' इत्यादिकस्यैकादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** उलो वातायनः । **देवता** वायुः । **छन्दः** गायत्री । **स्वरः** षड्जः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके १८४ क्रमाङ्के व्याख्यातपूर्वा । अत्र वातशब्देन जीवात्मसहचरितः प्राणो गृह्यते ।

१८४०. वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे । प्र न आयूंषि तारिषत् ॥१॥[1]

वातः आ वातु भेषजम् । शम्भु शम् भु मयोभु मयः भु नः हृदे ।
प्र नः आयूंषि तारिषत् ॥१॥

पदार्थः— **वातः** जीवात्मसहचरितः प्राणः **भेषजम्** औषधम् **आ वातु** आ गमयतु, यत् **नः** अस्माकम् **हृदे** हृदयाय **शम्भु** रोगशान्तिकरम् **मयोभु** सुखकरं च भवेत् । **नः** अस्माकम् **आयूंषि** जीवनवर्षाणि **प्र तारिषत्** प्रवर्द्धयेत् ॥१॥

भावार्थः— देहस्थो जीवात्मा यदा पूरककुम्भकरेचकविधिना शुद्धे वायुमण्डले प्राणायाममभ्यस्यति तदा रक्तशुद्धिद्वारा रोगशान्तिर्दीर्घायुष्यं च प्राप्यते ॥१॥

प्रथम ऋचा की पूर्वार्चिक में १८४ क्रमांक पर पहले व्याख्या की जा चुकी है । यहाँ वात शब्द से जीवात्मा-सहित प्राण का ग्रहण है ।

पदार्थ— **वातः** जीवात्मा सहित प्राण **भेषजम्** औषध को **आ वातु** प्राप्त कराये, जो **नः** हमारे **हृदे** हृदय के लिए **शम्भु** रोगों को शान्त करने वाली, तथा **मयोभु** सुखकारी हो । **नः** हमारे **आयूंषि** आयु के वर्षों को **प्र तारिषत्** बढ़ाये ॥१॥

भावार्थ— देह में स्थित जीवात्मा जब पूरक, कुंभक और रेचन की विधि से शुद्ध वायुमंडल में प्राणायाम का अभ्यास करता है तब रक्त की शुद्धि द्वारा रोगशान्ति और दीर्घ आयु प्राप्त होती है ॥१॥

---

१. ऋ० १०।१८६।१, 'प्र ण' इति भेदः । साम० १८४ देवता इन्द्रः ।

अथ प्राणस्य महत्त्वं वर्णयन् तं प्रार्थयते ।

१८४१. उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा । स नो जीवातवे कृधि ॥२॥[1]

उत वात पिता असि नः । उत भ्राता उत नः सखा स खा ।

सः नः जीवातवे कृधि ॥२॥

पदार्थः— उत अपि च, हे **वात** जीवात्मसहचरित प्राण ! त्वम् **नः** अस्माकम् **पिता** पितृवत् पालकः **असि** विद्यसे, **उत** अपि च **नः** अस्माकम् **भ्राता** भ्रातृवद् भर्ता, **उत** अपि च **नः** अस्माकम् **सखा** मित्रवत् सहायकः वर्तसे । **सः** असौ त्वम् **नः** अस्मान् **जीवातवे** स्वस्थजीवनाय **कृधि** समर्थान् कुरु ॥२॥

अत्र वाते पितृभ्रातृसखित्वारोपाद् रूपकालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— जीवात्मसहचरितेन प्राणेनैव प्राणिनां जन्म वृद्धिः क्षतिपूर्तिरारोग्यं दीर्घायुष्यादिकं च जायते ॥२॥

अगले मन्त्र में प्राण के महत्त्व का वर्णन करते हुए उससे प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— **उत** और, हे **वात** जीवात्मा-सहित प्राण ! तू **नः** हमारा **पिता** पिता के समान पालनकर्ता **असि** है, **उत** और **नः** हमारा **भ्राता** भाई के समान भरणपोषणकर्ता, **उत** तथा **सखा** सखा के समान सहायक है । **सः** वह तू **नः** हमें **जीवातवे** स्वस्थ जीवन के लिए **कृधि** समर्थ कर ॥२॥

यहां वात में पितृत्व, भ्रातृत्व और सखित्व के आरोप होने से रूपक अलंकार है ॥२॥

भावार्थ— जीवात्मा-सहित प्राण के द्वारा ही प्राणियों के जन्म, वृद्धि, क्षतिपूर्ति, आरोग्य और दीर्घायुष्य आदि होते हैं ॥२॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१८४२. यददो वात ते गृहे३ मृतं निहितं गुहा । तस्य नो धेहि जीवसे ॥३॥[1]

यत् अदः वात ते गृहे अमृतम् अ मृतम् निहितम् नि हितम् गुहा ।

तस्य नः धेहि जीवसे ॥३॥

पदार्थः— हे **वात** जीवात्मसहचरित प्राण ! **यत् ते गृहे** यत् तव देहरूपे सदने **गुहा** हृदयगुहायाम् । [अत्र 'सुपां सुलुक्०' अ० ७।१।३९ इति विभक्तेर्लुक् ।] **अदः** एतत् **अमृतम्** अक्षयं परमात्मरूपं ज्योतिः **निहितम्** स्थितम् अस्ति, **जीवसे** जीवनाय **तस्य नः धेहि** तत् अस्मान् प्रापय ॥३॥

---

१. ऋ० १०।१८६।२।

२. ऋ० १०।१८६।३, यददो वात ते गृहे ऽमृतस्य निधिर्हितः । ततो नो देहि जीवसे ॥ इति पाठः ।

भावार्थः— प्राणायामेन प्रकाशावरणक्षये मनसि धारणासु योग्यताप्राप्त्या प्रत्याहारधारणाध्यान-समाधिभिर्हृदयनिहितं परमात्मज्योतिः प्रकाशते ॥३॥

आगे पुनः उसी विषय का कथन है ।

पदार्थ— हे **वात** जीवात्मा-सहित प्राण ! **यत् ते गृहे** जो तुम्हारे शरीर-रूप घर में **गुहा** हृदय-गुहा के अन्दर **अदः** यह **अमृतम्** अक्षय परमात्मा-रूप ज्योति **निहितम्** रखी हुई है, **जीवसे** जीवन के लिए **तस्य नः धेहि** उसकी हमें प्राप्ति कराओ ॥३॥

भावार्थ— प्राणायाम द्वारा प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाने पर, मन में धारणाओं की योग्यता उत्पन्न हो जाने पर प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि से हृदय में निहित परमात्म-ज्योति प्रकाशित हो जाती है ॥३॥

॥१२॥ अथ 'अभि वाजी' इत्यादिकस्य द्वादशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** सुपर्णः । **देवता** अग्निः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

तत्राद्ये मन्त्रेऽग्निनाम्ना जगदीश्वरस्य गुणकर्माणि वर्णयति ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २
१८४३ .अभि वाजी विश्वरूपो जनित्रं हिरण्ययं बिभ्रदत्कं सुपर्णः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २
सूर्यस्य भानुमृतुथा वसानः परि स्वयं मेधमृज्रो जजान ॥१॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ २ १ २ ३ २
अभि वाजी विश्वरूपः विश्व रूपः जनित्रम् । हिरण्ययम् बिभ्रत् अत्कम् सुपर्णः

३ २ १ २ २ ३ २ ३ २ १ २ २ १ २ २ ३ २ ३
सु पर्णः । सूर्यस्य भानुम् ऋतुथा वसानः । परि स्वयम् मेधम् ऋज्रः जजान ॥१॥

पदार्थः— **वाजी** बलवान् **विश्वरूपः** विश्वं रूपं यस्मात् सः, **सुपर्णः** सुपालकः, **ऋज्रः** सर्वगतः सोऽग्निः परमेश्वरः । [अर्जति गच्छतीति ऋज्रः । ऋज गत्यादिषु, भ्वादिः । 'ऋज्रेन्द्राग्र०' उ० २।२९ इति निपातः ।] **जनित्रम्** वृष्ट्युत्पादकम्, **हिरण्ययम्** हिरण्मयम् **अत्कम्** विद्युद्वज्रम् । [अत्क इति वज्रनाम । निघं० २।२० ।] **बिभ्रत्** धारयन्, **ऋतुथा** ऋत्वनुकूलम् **सूर्यस्य** आदित्यस्य **भानुम्** तेजः **वसानः** निवासयन् **स्वयम्** स्वात्मना **मेधम्** सृष्टियज्ञम् **जजान** सञ्चालयति ॥१॥

भावार्थः— जगति यत्किञ्चिदपि प्राकृतिकं घटनाचक्रं प्रवर्तते तत्सर्वं परमेश्वरकृतमेव ॥१॥

प्रथम मन्त्र में अग्नि नाम से जगदीश्वर के गुण-कर्मों का वर्णन है ।

पदार्थ— **वाजी** बलवान्, **विश्वरूपः** सब रूपों को देने वाला, **सुपर्णः** श्रेष्ठ पालनकर्ता, **ऋज्रः** सर्वव्यापक वह अग्नि नामक परमेश्वर **जनित्रम्** वृष्टि के उत्पादक, **हिरण्ययम्** सुनहरे **अत्कम्** विद्युत्-रूप वज्र को **बिभ्रत्** धारण करता हुआ, **ऋतुथा** ऋतुओं के अनुकूल **सूर्यस्य** सूर्य के **भानुम्** तेज को **वसानः** बसाता हुआ **स्वयम्** अपने-आप **मेधम्** सृष्टि-यज्ञ को **जजान** चला रहा है ॥१॥

भावार्थ— संसार में जो कुछ भी प्राकृतिक घटना-चक्र चल रहा है उस सबको परमेश्वर ही संचालित करता है ॥१॥

अथ परमेश्वरस्य महिमा वर्ण्यते ।

१८४४. अप्सु रेतः शिश्रिये विश्वरूपं तेजः पृथिव्यामधि यत् संबभूव ।
अन्तरिक्षे स्वं महिमानं मिमानः कनिक्रन्ति वृष्णो अश्वस्य रेतः ॥२॥

अप्सु रेतः शिश्रिये विश्वरूपम् विश्व रूपम् ।
तेजः पृथिव्याम् अधि यत् संबभूव सम् बभूव ।
अन्तरिक्षे स्वम् महिमानम् मिमानः कनिक्रन्ति वृष्णः अश्वस्य रेतः ॥२॥

पदार्थः— **अप्सु** नदीषु यत् **विश्वरूपम्** सर्वरूपम् **रेतः** जलम् । [रेतः इत्युदकनाम । निघं० १।१२ ।] **शिश्रिये** आश्रितमस्ति, **यत्** यच्च **पृथिव्याम् अधि** भूम्याम् **तेजः** औष्ण्यम् **सं बभूव** उत्पन्नमस्ति, तत्सर्वम् **ऋज्रः** सर्वव्यापकः अग्निर्जगदीश्वर एव **जजान** उत्पादितवानस्ति इति पूर्वमन्त्रादाकृष्यते । स एव **अन्तरिक्षे** आकाशे **स्वम्** स्वकीयम् **महिमानम्** महत्त्वम् **मिमानः** प्रकटयन् अस्ति । तस्यैव महिम्ना **वृष्णः** वर्षकस्य **अश्वस्य**[1] पर्जन्यस्य **रेतः** बलम् **कनिक्रन्ति** भृशं गर्जति । [क्रदि आह्वाने रोदने च, भ्वादिः, यङ्लुकि चाक्रन्ति इति प्राप्ते अभ्यासस्य निगागमः] ॥२॥

भावार्थः— सरित्सु पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि सूर्ये पर्जन्ये सर्वत्र जगदीश्वरस्यैव महिमा दृग्गोचरीभवति ॥२॥

अगले मन्त्र में परमेश्वर की महिमा वर्णित है ।

पदार्थ— **अप्सु** नदियों में जो **विश्वरूपम्** सब रूपों वाला **रेतः** जल **शिश्रिये** आश्रित है, **यत्** और जो **पृथिव्याम् अधि** भूमि के अन्दर **तेजः** तेज **संबभूव** उत्पन्न हुआ है, उस सबको **ऋज्रः** सर्वव्यापक अग्नि नामक जगदीश्वर ने ही **जजान** उत्पन्न किया है । [यहाँ 'ऋज्रः' और 'जजान' ये दोनों पद पूर्व मन्त्र से लाये गये हैं ।] वही जगदीश्वर **अन्तरिक्षे** अन्तरिक्ष में **स्वम्** अपनी **महिमानम्** महिमा को **मिमानः** प्रकट कर रहा है । उसी की महिमा से **वृष्णः** वर्षा करने वाले **अश्वस्य** व्यापक बादल का **रेतः** जल **कनिक्रन्ति** बहुत अधिक गरजता है ॥२॥

भावार्थ— नदियों में, भूमि पर, अन्तरिक्ष में, द्युलोक में, सूर्य में, बादल में सभी जगह जगदीश्वर की ही महिमा दृग्गोचर हो रही है ॥२॥

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

१८४५. अयं सहस्रा परि युक्ता वसानः सूर्यस्य भानुं यज्ञो दाधार ।
सहस्रदाः शतदा भूरिदावा धर्ता दिवो भुवनस्य विश्पतिः ॥३॥

अयम् सहस्रा परि युक्ता वसानः । सूर्यस्य भानुम् यज्ञः दाधार ।
सहस्रदाः सहस्र दाः शतदाः शत दाः भूरिदावा भूरि दावा ।
धर्ता दिवः भुवनस्य विश्पतिः ॥३॥

---

१. प्र दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वं प्र पिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः । ऋ० ५।८३।६ इत्यत्र पर्जन्यो 'वृषा अश्वः' उक्तः । तथा च तत्र सायणः— 'वृष्णः वर्षकस्य अश्वस्य व्यापकस्य मेघस्य' इति ।

पदार्थः— **यज्ञः** यजनीयः एषोऽग्निर्जगदीश्वरः **युक्ता** युक्तानि आकर्षणबलेन परस्परसम्बद्धानि, **सहस्रा** सहस्राणि नक्षत्राणि **वसानः** निवासयन् **सूर्यस्य** आदित्यस्य **भानुम्** तेजः **दाधार** दधार, धारयति । [तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य । अ० ६।१।७ इत्यभ्यासदीर्घः ।] अयम् जगदीश्वरः **सहस्रदाः** सहस्रपदार्थानां दाता, **शतदा** शतरत्नानां दाता, **भूरिदावा** भूरेः प्रचुरस्य दुग्धदधिनवनीतादेः विद्याधर्मादेश्च दाता, **दिवः धर्ता** द्युलोकस्य धारयिता, **भुवनस्य** ब्रह्माण्डस्य च **विश्पतिः** प्रजापतिः अस्ति ॥३॥

भावार्थः— जगदीश्वर एवास्माकं सौरमण्डलमसंख्यानि नक्षत्राणि निखिलमेव ब्रह्माण्डं धारयन्नस्मभ्यं सर्वाः सम्पदः प्रयच्छति ॥३॥

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— **यज्ञः** पूजनीय यह अग्नि नामक जगदीश्वर **युक्ताः** आकर्षण के बल से आपस में जुड़े हुए **सहस्रा** सहस्रों नक्षत्रों को **वसानः** बसाता हुआ **सूर्यस्य** सूर्य के **भानुम्** तेज को **दाधार** धारण कर रहा है । यह जगदीश्वर **सहस्रदाः** सहस्र वस्तुओं का दाता, **शतदा** सौ रत्नों का दाता, **भूरिदावा** बहुत-बहुत दूध-दही-मक्खन आदि का और विद्या-धर्म आदि का दाता, **दिवः धर्ता** द्युलोक का धारणकर्ता, और **भुवनस्य** ब्रह्माण्ड का **विश्पतिः** प्रजापति है ॥३॥

भावार्थ— जगदीश्वर ही हमारे सौरमण्डल को, असंख्य तारों को, सारे ही ब्रह्माण्ड को धारण करता हुआ हमें सब संपदाएँ देता है ॥३॥

॥१३॥ अथ 'नाके सुपर्ण'मित्यादिकस्य त्रयोदशस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** वेनो भार्गवः । **देवता** वेनः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

तत्र प्रथमा ऋक् पूर्वार्चिके ३२० क्रमाङ्के सूर्यदृष्टान्तेन परमात्मविषये व्याख्याता । अत्र जीवात्मविषय उच्यते ।

१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २
१८४६. **नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा ।**
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥१॥[1]

१ २ २ ३ २ ३ २ १ २ २ १ २ २
नाके सुपर्णम् सु पर्णम् उप यत् पतन्तम् ।
३ २ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३
हृदा वेनन्तः अभ्यचक्षत अभि अचक्षत त्वा ।
१ २ २ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
हिरण्यपक्षम् हिरण्य पक्षम् वरुणस्य दूतम् । यमस्य योनौ शकुनम् भुरण्युम् ॥१॥

पदार्थः— हे वेन ! हे परमेशकामनामय जीवात्मन् ! **हिरण्यपक्षम्** ज्ञानकर्मरूपस्वर्णिमपक्षयुक्तम्, **वरुणस्य दूतम्** वरणीयस्य मनसः सन्मार्गे प्रेरकम् । [दु गतौ, भ्वादिः, 'दुतनिभ्यां दीर्घश्च' उ० ३।९० इति क्तः प्रत्ययो धातोर्दीर्घश्च ।] **यमस्य** नियन्तुः प्राणस्य **योनौ** गृहे, देहे इत्यर्थः **शकुनम्** शक्तिशालिनम् । [शक्लृ शक्तौ, स्वादिः, 'शकेरुनोन्तोन्त्युनयः' उ० ३।४९ इति उनप्रत्ययः ।] **भुरण्युम्** देहस्य धारयितारं पोषकं च । [भुरण धारणपोषणयोः, कण्ड्वादिः, ततो बाहुलकादौणादिको युच् प्रत्ययः ।] **सुपर्णम्** अष्टाङ्गयोगरूपशुभपर्णोपेतम्, **नाके** मोक्षनिमित्ते **उप पतन्तम्** प्रयतमानम् **त्वा** त्वाम् **यत्** यदा **अभ्यचक्षत** प्रभुप्रेमिणः पश्यन्ति, तदा ते **हृदा** हृदयेन **वेनन्तः** त्वां कामयमानाः जायन्ते ॥१॥

---

१. ऋ० १०।१२३।६, अथ० १८।३।६६, ऋषिः अथर्वा, देवता यमः । साम० ३२०, देवता इन्द्रः ।

भावार्थः— देहाधिष्ठाता जीवात्माऽध्यात्मरुचिः सन्नष्टाङ्गयोगाभ्यासेन मोक्षमधिगन्तुं प्रभवति ॥१॥

प्रथम ऋचा पूर्वार्चिक में ३२० क्रमांक पर सूर्य के दृष्टान्त से परमात्मा के विषय में व्याख्यात हो चुकी है। यहां जीवात्मा का विषय कहते हैं।

पदार्थ— हे वेन ! हे परमेश्वर की कामना करने वाले जीवात्मन् ! **हिरण्यपक्षम्** ज्ञान-कर्म-रूप सुनहरे पंखों वाले, **वरुणस्य दूतम्** वरणीय मन को सन्मार्ग पर प्रेरित करने वाले, **यमस्य** नियन्ता प्राण के **योनौ** देह-रूप घर में **शकुनम्** शक्ति से शोभित, **भुरण्युम्** देह के धारक-पोषक, **सुपर्णम्** अष्टांग योग-रूप शुभ पंखों से युक्त तथा **नाके** मोक्ष के निमित्त **उपपतन्तम्** प्रयत्नशील **त्वा** तुझे **यत्** जब **अभ्यचक्षत** प्रभु-प्रेमी लोग देखते हैं, तब वे **हृदा** हृदय से **वेनन्तः** तुझसे प्रेम करने लगते हैं ॥१॥

भावार्थ— देह के अधिष्ठाता जीवात्मा की जब अध्यात्म-मार्ग में रुचि हो जाती है तब वह अष्टांग योग के अभ्यास से मोक्ष पा सकता है ॥१॥

अथ मुक्तावस्थायां जीवात्मनः स्वरूपं वर्णयति।

३ १ २ ३ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २
१८४७. **ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थात् प्रत्यङ्चित्रा बिभ्रदस्यायुधानि।**
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २ २ २ ३ १ २
वसानो अत्कं सुरभिं दृशे कं स्वा३र्ण नाम जनत प्रियाणि ॥२॥[1]

३ २ ३ २ १ २ २ १ २ ३
ऊर्ध्वः गन्धर्वः अधि नाके अस्थात्।
२ ३ २ ३ २ १ २ २ ३ १ २ २
प्रत्यङ् प्रति अङ् चित्रा बिभ्रत् अस्य आयुधानि।
१ २ २ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ २ ३ १ २
वसानः अत्कम् सुरभिम् सु रभिम् दृशे कम्। स्वः न नाम जनत प्रियाणि ॥२॥

पदार्थः— **ऊर्ध्वः** जागरूकः उन्नतश्च, **गन्धर्वः** गाः वाचः इन्द्रियाणि वा धरतीति तादृशो जीवात्मा **नाके अधि** मोक्षलोके **अस्थात्** तिष्ठति। वेनः कान्तः परमेश्वरः **अस्य** एतस्य जीवात्मनः **प्रत्यङ्** अभिमुखम् **चित्रा** चित्राणि विविधानि **आयुधा** आयुधानि रक्षासाधनानि **बिभ्रत्** धारयन् भवति। तदा मोक्षावस्थायां जीवात्मा **दृशे कम्** परमात्मदर्शनाय किल **सुरभिम्** सद्गुणैः सौरभमयं **अत्कम्** स्वरूपम् **वसानः** धारयन् **स्वः न** सूर्य इव **प्रियाणि नाम** प्रियाणि नामानि तेजांसि **जनत** प्रकटयति ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— मुक्तावस्थायां जीवात्मनो लौकिक्य आकाङ्क्षाः समाप्यन्ते, तेजोमयः स परमात्मसाहचर्येण दिव्यमानन्दमनुभवति ॥२॥

अब मुक्तावस्था में जीवात्मा का स्वरूप वर्णित करते हैं।

पदार्थ— **ऊर्ध्वः** जागरूक और उन्नत, **गन्धर्वः** वाणी वा इन्द्रियों को धारण करने वाला जीवात्मा **नाके अधि** मोक्षावस्था में **अस्थात्** स्थित होता है। वेन अर्थात् कमनीय परमेश्वर **अस्य** इस जीवात्मा के **प्रत्यङ्** अभिमुख होकर **चित्रा** विविध **आयुधा** रक्षा-साधनों को **बिभ्रत्** धारण करता है। तब मोक्षावस्था में जीवात्मा

---

१. ऋ० १०।१२३।७।

दृशे कम् परमात्मा के दर्शन के लिए **सुरभिम्** सद्गुणों से सुरभित **अत्कम्** स्वरूप को **वसानः** धारण करता हुआ **स्वः न** सूर्य के समान **प्रियाणि नाम** प्रिय तेजों को **जनत** प्रकट करता है ॥२॥

यहां उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ– मुक्तावस्था में जीवात्मा की लौकिक आकांक्षाएं समाप्त हो जाती हैं, तेजोमय होकर वह परमात्मा के साहचर्य से दिव्य आनन्द का अनुभव करता है ॥२॥

अथ मोक्षावस्थायां जीवात्मनः परमात्मदर्शनमुच्यते ।

३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१८४८. द्रप्सः समुद्रमभि यज्जिगाति पश्यन् गृध्नस्य चक्षसा विधर्मन् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
भानुः शुक्रेण शोचिषा चकानस्तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ॥३॥[1]

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २र
द्रप्सः समुद्रम् सम् उद्रम् अभि यत् जिगाति ।
१ २र १ २र १ २र १ २र ३
पश्यन् गृध्नस्य चक्षसा विधर्मन् वि धर्मन् ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
भानुः शुक्रेण शोचिषा चकानः तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ॥३॥

पदार्थः– **द्रप्सः** जलबिन्दुवद् अणुपरिमाणो जीवात्मा **यत्** यदा **समुद्रम् अभि** आनन्दरसागारं परमात्मानं प्रति **जिगाति** गच्छति । [जिगातिः गतिकर्मा । निघं० २।१४ ।] तदा **विधर्मन्** विधर्मणि विशेषेण धारके मोक्षलोके स जीवस्तं परमात्मानम् **गृध्नस्य चक्षसा** गृध्नस्य इव तीव्रदृष्ट्या **पश्यन्** अवलोकयन् भवति। **तृतीये रजसि** तृतीये धामनि मोक्षलोके **शुक्रेण** पवित्रेण **शोचिषा** तेजसा **चकानः** दीप्यमानः [कनी दीप्तिकान्तिगतिषु, भ्वादिः ।] **भानुः** परमात्मसूर्यः, तस्य जीवात्मनः **प्रियाणि** आनन्दवृष्टिप्रदानादीनि अभीप्सितानि **चक्रे** साधयति ॥३॥

अस्मिन् मन्त्रे परमात्मनि भानुत्वारोपाद् रूपकालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः– मोक्षाय प्रयतमानो जीवो रससेक्तारं तेजस्विनं जगदीश्वरं प्राप्य रससिक्तस्तेजोमयश्च जायते ॥३॥

अस्मिन् खण्डे मनुष्याकाङ्क्षाया वेदवाचो ब्रह्मानन्दधारायाः प्राणस्य जीवात्मनो मोक्षप्राप्तेश्च वर्णनादेतत्खण्डस्य पूर्वखण्डेन संगतिरस्ति ॥

अगले मन्त्र में मोक्षावस्था में जीवात्मा का परमात्मदर्शन वर्णित है ।

पदार्थ– **द्रप्सः** पानी की बूंद के सदृश अणु परिमाण वाला जीवात्मा **यत्** जब **समुद्रम् अभि** आनन्द के सागर परमात्मा की ओर **जिगाति** जाता है, तब **विधर्मन्** विशेष रूप से धारक मोक्षलोक में वह जीव उस परमात्मा को **गृध्नस्य चक्षसा** गिद्ध जैसी तीव्र दृष्टि से **पश्यन्** देखता है । **तृतीये रजसि** तृतीय धाम मोक्ष-लोक में **शुक्रेण** पवित्र **शोचिषा** तेज से **चकानः** प्रदीप्त होता हुआ **भानुः** परमात्मा-रूप सूर्य उस जीवात्मा के **प्रियाणि** आनन्द-वर्षा के प्रदान आदि अभीष्टों को **चक्रे** सिद्ध करता है ॥३॥

इस मन्त्र में परमात्मा में भानुत्व का आरोप होने से रूपक अलंकार है ॥३॥

---

१. ऋ० १०।१२३।८।

भावार्थ– मोक्ष के लिए प्रयत्न करता हुआ जीव रस सींचने वाले तेजस्वी जगदीश्वर को प्राप्त करके रस-सिक्त और तेजस्वी हो जाता है ।।३।।

इस खण्ड में मनुष्य की आकांक्षा, वेदवाणी, ब्रह्मानन्द-धारा, प्राण और जीवात्मा की मोक्षप्राप्ति का वर्णन होने से इस खण्ड की पूर्व खण्ड के साथ संगति है ।

बीसवें अध्याय में सप्तम खण्ड समाप्त ।

बीसवाँ अध्याय समाप्त ।

नवम प्रपाठक का द्वितीय अर्ध समाप्त ।

अथैकविंशोऽध्यायो नवमे प्रपाठके तृतीयोऽर्धश्च

।।१।। अथ 'आशुः शिशानो' इत्यादिकस्य प्रथमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अप्रतिरथः ऐन्द्रः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ।।

तत्रादौ सेनापतिदृष्टान्तेन जीवात्मा वर्ण्यते ।

३ १र २र ३ ३ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
१८४९. आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १र २र
सङ्क्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः ।।१।।[1]

३ २ १ २र ३ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ २
आशु शिशानः वृषभः न भीमः । घनाघनः क्षोभणः चर्षणीनाम् ।
३ १ २ ३ १ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
संक्रन्दनः सम् क्रन्दनः अनिमिषः अ निमिषः एकवीरः एक वीरः ।
३ २ १ २र ३ २ १ २र
शतम् सेनाः अजयत् साकम् इन्द्रः ।।१।।

पदार्थः— **आशुः** शीघ्रकारी, **शिशानः वृषभः न** तीक्ष्णशृङ्गो वृष इव **भीमः** विघ्नकारिणां भयजनकः, **घनाघनः**[2] द्वेष्टृणां हन्ता, **चर्षणीनाम्** बाधकानां मनुष्याणाम् **क्षोभणः** विक्षोभयिता, **सङ्क्रन्दनः** शत्रुरोदकः, **अनिमिषः** निर्मिमेषः सन् लक्ष्ये बद्धदृष्टिः, **एकवीरः** अद्वितीय शूरः **इन्द्रः** सेनापतिरिव जीवात्मा **साकम्** युगपत् **शतं सेनाः** शतसंख्यकाः आभ्यन्तर्यो बाह्याश्च चमूः **अजयत्** जयति ।।१।।[3]

अत्रोपमालङ्कारो वीरो रसश्च ।।१।।

भावार्थः— यथा राष्ट्रे वीरः सेनापतिः स्वपराक्रमेण सर्वाः शत्रुसेना जयति तथैव देहे जीवात्माऽऽभ्यन्तरे बाह्ये च देवासुरसंग्रामे सर्वान् विघ्नकारिणो विजित्य स्वसाम्राज्यं स्थापयेत् ।।१।।

प्रथम मन्त्र में सेनापति के दृष्टान्त से जीवात्मा का वर्णन है ।

पदार्थ— **आशुः** शीघ्रकारी, **शिशानः वृषभः न** तीक्ष्ण सींगों वाले बैल के समान **भीमः** विघ्न डालने वालों के लिए भयंकर, **घनाघनः** द्वेषियों का वध करने वाला, **चर्षणीनाम्** बाधा डालने वाले मनुष्यों को **क्षोभणः** विक्षुब्ध कर देने वाला, **सङ्क्रन्दनः** शत्रुओं को रुलाने वाला, **अनिमिषः** लक्ष्य पर अपलक दृष्टि रखने वाला,

---

१. ऋ० १०।१०३।१; य० १७।३३; अथ० १९।१३।२ ।

२ घनाघनः घातकः शत्रूणां हन्ता । पचाद्यचि हन्तेर्घत्वं चेति द्विर्वचनम् अभ्यासस्याडागमः घत्वं च धात्वभ्यासयोः- इति सा० ।

३. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सेनापतिकृत्यविषये व्याख्यातवान् ।

एकवीरः अद्वितीय वीर, **इन्द्रः** सेनापति के तुल्य जीवात्मा **साकम्** एक-साथ **शतं सेनाः** सौ आन्तरिक और बाह्य सेनाओं को **अजयत्** जीत सकता है ॥१॥

यहाँ उपमालंकार तथा वीर रस है ॥१॥

भावार्थ— जैसे राष्ट्र में वीर सेनापति अपने पराक्रम से सब शत्रुसेनाओं को जीत लेता है वैसे ही शरीर में जीवात्मा आंतरिक और बाह्य देवासुरसंग्राम में सब विघ्नकारियों को जीतकर अपना साम्राज्य स्थापित करे ॥१॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१८५०. **सङ्क्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना ।**
१र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ॥२॥[1]

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
संक्रन्दनेन सम् क्रन्दनेन अनिमिषेण अ निमिषेण जिष्णुना ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
युत्कारेण युत् कारेण दुश्च्यवनेन दुः च्यवनेन धृष्णुना ।
१ २र ३ २ ३ १ २र ३ १ २र १ २र ३ १ २र
तत् इन्द्रेण जयत तत् सहध्वम् युधः नरः इषुहस्तेन इषु हस्तेन वृष्णा ॥२॥

पदार्थः— हे **युधः नरः** योद्धारः पुरुषाः ! यूयम् **सङ्क्रन्दनेन** शत्रुरोदकेन, **अनिमिषेण** निर्निमेषं लक्ष्ये बद्धदृष्टिना, **जिष्णुना** जयशीलेन, **युत्कारेण** सङ्ग्रामकारिणा, **दुश्च्यवनेन** विपक्षिभिः अविचाल्येन, **धृष्णुना** स्वयं विपक्षिणां धर्षकेण, **इषुहस्तेन** आयुधपाणिना, **वृष्णा** अस्त्रवर्षकेण **इन्द्रेण** सेनापतिना इव वीरेण जीवात्मना **तत्** युद्धम् **जयत** विजयध्वम्, **तत्** आभ्यन्तरं बाह्यं च शत्रुदलम् **सहध्वम्** पराजयध्वम् ॥२॥[2]

भावार्थः— यथा शस्त्रास्त्रधरस्य वीरस्य सेनापतेर्नेतृत्वे योद्धारः संग्रामं जयन्ति तथैव स्वकीयं जीवात्मानमुद्बोध्य तं नेतारं विधाय सर्वाण्याभ्यन्तराणि बाह्यानि च युद्धानि सर्वे जयन्तु ॥२॥

आगे पुनः वही विषय है ।

पदार्थ— हे **युधः नरः** योद्धा नरो ! तुम **सङ्क्रन्दनेन** शत्रुओं को रुलाने वाले, **अनिमिषेण**, लक्ष्य पर अपलक दृष्टि रखने वाले, **जिष्णुना** विजयशील, **युत्कारेण** युद्ध करने वाले, **दुश्च्यवनेन** विपक्षियों से विचलित न किये जा सकने वाले, **धृष्णुना** स्वयं विपक्षियों को विचलित कर देने वाले, **इषुहस्तेन** हाथ में बाण आदि शस्त्रास्त्र धारण करने वाले, **वृष्णा** अस्त्रों की वर्षा करने वाले, **इन्द्रेण** सेनापति के समान वीर जीवात्मा के द्वारा **तत्** उस युद्ध को **जयत** जीत लो, **तत्** उस आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुदल को **सहध्वम्** पराजित कर दो ॥२॥

---

१. ऋ०१०।१०३।२; य० १७।३४; अथ० १९।१३।३ ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं युद्धविद्याविषये व्याख्यातः ।

भावार्थ— जैसे शस्त्रास्त्रधारी वीर सेनापति के नेतृत्व में योद्धा लोग संग्राम को जीत लेते हैं वैसे ही अपने जीवात्मा को उद्‌बोधन देकर, उसे नेता बनाकर सब आन्तरिक तथा बाहरी युद्धों को सब लोग जीतें ।।२।।

अथ पुनरपि स एव विषयो वर्ण्यते ।

१२ २र ३ १ २३ १ २३ १र २र ३ २३ ३ १ २ ३ १२
१८५१. स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी सं स्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन ।
३ १ २३ १ २ ३ २ १२ ३ १२ ३१ २
संसृष्टजित् सोमपा बाहुशर्ध्यू३ग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ।।३।।[1]

१२र १२र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
सः इषुहस्तैः इषु हस्तैः सः निषङ्गिभिः नि सङ्गिभिः वशी ।

१२र ३ २ १२र १ २र ३ १ २
संस्रष्टा सम् स्रष्टा सः युधः इन्द्रः गणेन ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
संसृष्टजित् संसृष्ट जित् सोमपाः सोम पाः बाहुशर्धी बाहु शर्धी ।

३१ २ ३२ ३ १ २र १ २र ३ १ २र
उग्रधन्वा उग्र धन्वा प्रतिहिताभिः प्रति हिताभिः अस्ता ।।३।।

पदार्थः— **सः** असौ देहे गृहीतजन्मा जीवात्मा **इषुहस्तैः** शरपाणिभिः योद्धृभिः, **सः** असौ जीवात्मा **निषङ्गिभिः** तूणीरधारिभिः योद्धृभिः **वशी** शत्रूणां वशकरो जायते । **सः इन्द्रः** असौ वीरो जीवात्मा **युधः** युद्धकर्तुः शत्रोः **गणेन** दलेन सह **संस्रष्टा** संघर्षको जायते । **संसृष्टजित्** संघर्षकर्तॄणां जेता, **सोमपाः** वीररसस्य पाता, **बाहुशर्धी** बाहुबलयुक्तः **उग्रधन्वा** प्रचण्डधनुष्कः **प्रतिहिताभिः** प्रेरिताभिः इषुभिः **अस्ता** शत्रून् भूमौ प्रक्षेप्ता च भवति ।।३।।[2]

भावार्थः— कुशलः सेनाध्यक्षो यथा स्वकीयैः शस्त्रास्त्रधरैर्योद्धृभिर्बलवतोऽपि शत्रून् धराशायिनः करोति तथैव देहधारी वीरो जीवात्मा स्वपक्षीयान् वीरानुद्बोध्याभ्यन्तरं बाह्यं च सङ्ग्रामं सद्यो जयेत् ।।३।।

आगे फिर उसी विषय का वर्णन है ।

पदार्थ— **सः** वह देह में जन्मा हुआ जीवात्मा **इषुहस्तैः** शरपाणि योद्धाओं द्वारा, **सः** वह जीवात्मा **निषङ्गिभिः** तूणीरधारी योद्धाओं द्वारा **वशी** शत्रुओं को वश करने वाला होता है । **स इन्द्रः** वह वीर जीवात्मा **युधः** युद्धकर्ता शत्रु के **गणेन** दल के साथ **संस्रष्टा** टक्कर लेने वाला होता है । **संसृष्टजित्** मुठभेड़ करने वालों का विजेता, **सोमपाः** वीररस का पान करने वाला, **बाहुशर्धी** बाहुबल से युक्त, **उग्रधन्वा** प्रचण्ड धनुष वाला और **प्रतिहिताभिः** प्रेरित बाणों से **अस्ता** शत्रुओं को धराशायी कर देने वाला होता है ।।३।।

भावार्थ— कुशल सेनाध्यक्ष जैसे अपने शस्त्रास्त्रधारी योद्धाओं द्वारा बलवान् भी शत्रुओं को धराशायी कर देता है, वैसे ही देहधारी वीर जीवात्मा अपने पक्ष के वीरों को उद्बोधन देकर आन्तरिक और बाह्य संग्राम को शीघ्र ही जीत ले ।।३।।

---

१. ऋ० १०।१०३।३; य० १७।३५; अथ० १९।१३।४ ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्र एष सेनापतिविषये व्याख्यातः ।

॥२॥ अथ 'बृहस्पते' इत्यादिकस्य द्वितीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अप्रतिरथ ऐन्द्रः । **देवता** १ बृहस्पतिः, २-३ इन्द्रः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

तत्रादौ जीवात्मानं देवासुरसंग्रामे विजयाय प्रोद्बोधयति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
१८५२. बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः ।
३ १र २र ३ २ ३ १र २र३ १ २ ३ १र २र
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम् ॥१॥[१]

१२र ३ १२र ३ १२र
बृहः पते परि दीय रथेन ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२र ३ १ २ ३ १२र
रक्षोहा रक्षः हा अमित्रान् अ मित्रान् अपबाधमानः अप बाधमानः ।
३ २ ३ २ १२र ३ २ ३ २ ३ २ १२र
प्रभञ्जन् प्र भञ्जन् सेनाः प्रमृणः प्र मृणः युधा जयन् ।
३ १ २ ३ २ १ २र
अस्माकम् एधि अविता रथानाम् ॥१॥

पदार्थः— हे **बृहः पते** बृहत्याः दिव्यगुणसेनायाः पते जीवात्मन् ! **रक्षोहा** रक्षांसि पापानि दुष्टान् वा हन्ति यः सः, त्वम् **अमित्रान्** विघ्नान् शत्रून् वा **अपबाधमानः** तिरस्कुर्वन् **रथेन** देहरूपेण शकटेन **परि दीय** सर्वतो गच्छ । **सेनाः** कामक्रोधादीनां दुर्जनानां वा पृतनाः **प्रभञ्जन्** प्ररुजन्, **प्रमृणः** ये मृणन्ति हिंसन्ति तान् दुर्विचारान् हिंसकजनान् वा **युधा** आभ्यन्तरेण बाह्येन च देवासुरसंग्रामेण **जयन्** पराभवन् **अस्माकम्** सदाचारिणां धार्मिकाणां न्यायकारिणां जनानाम् **रथानाम्** यानानाम् **अविता** रक्षिता **एधि** भव । [अमित्रान्, न विद्यन्ते मित्राणि येषां तान् । बहुव्रीहौ 'नञाजरमरमित्रमृताः' अ० ६।२।११६ इति मित्रशब्दस्याद्युदात्तत्वम् । परिदीय, दीयतिः गतिकर्मा, निघं० २।१४] ॥१॥[२]

भावार्थः— जीवात्मा सेनापतिरिवोत्साहं सञ्चित्यान्तरान् बाह्यांश्च रिपून् विद्रावयन् सद्भावान् सज्जनांश्च प्ररक्षेत् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में जीवात्मा को देवासुरसंग्राम में विजय के लिए उद्बोधन दिया गया है ।

पदार्थ— हे **बृहः पते** दिव्यगुणों की विशाल सेना के अधिपति जीवात्मन् ! **रक्षोहा** पाप वा दुर्जन रूप राक्षसों का वधकर्ता तू **अमित्रान्** विघ्नों और शत्रुओं को **अपबाधमानः** तिरस्कृत करता हुआ **रथेन** शरीर-रथ से **परि दीय** चारों ओर पहुँच । **सेनाः** काम-क्रोध आदि की और दुर्जनों की सेनाओं को **प्रभञ्जन्** तोड़ता-फोड़ता हुआ, **प्रमृणः** हत्यारे दुर्विचारों वा हिंसक मनुष्यों को **युधा** आन्तरिक और बाह्य देवासुरसंग्राम से **जयन्** जीतता हुआ **अस्माकम्** हम सदाचारी, धार्मिक, न्यायकारी जनों के **रथानाम्** रथों का **अविता** रक्षक **एधि** हो ॥१॥

भावार्थ— जीवात्मा को चाहिए कि सेनापति के समान उत्साह बटोरकर आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं को खदेड़ता हुआ सद्भावों और सज्जनों की रक्षा करे ॥१॥

---

१. ऋ० १०।१०३।४; य० १७।३६; अ०१९।१३।८ ।
२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिरिममपि मन्त्रं सेनापतिविषये व्याचष्टे ।

अथ पुनरपि तमेव विषयमाह ।

३ १र २र३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
१८५३. **बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः ।**
३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २
अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोवित् ॥२॥[1]

३ २ ३ २ २ २र ३ १ २र
बलविज्ञायः बल विज्ञायः स्थविरः स्थ विरः प्रवीरः प्र वीरः ।
१२र ३ २ १२र ३ २
सहस्वान् वाजी सहमानः उग्रः ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
अभिवीरः अभि वीरः अभिसत्वा अभि सत्वा सहोजाः सहः जाः ।
१२र ३ १२र ३ २ ३ २
जैत्रम् इन्द्र रथम् आ तिष्ठ गोवित् गो वित् ॥२॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** जीवात्मन् ! **बलविज्ञायः** ब्रह्मबलस्य विज्ञः, **स्थविरः** अनुभववृद्धः, **प्रवीरः** प्रकृष्टो वीरः, **सहस्वान्** उत्साहवान्, **वाजी** विज्ञानवान्, **सहमानः** सुखदुःखादिद्वन्द्वानां सोढा, **उग्रः** प्रतापवान्, **अभिवीरः** अभिगता मनःप्राणादयो वीरा यस्य सः, **अभिसत्वा** अभिगतपराक्रमः, **सहोजाः** सहसा बलेन जातः प्रसिद्धः, **गोवित्** गाः विवेकरश्मीन् श्रेष्ठा वाचो वा विन्दति प्राप्नोति यः तादृशः त्वम् **जैत्रम्** जयशीलम् **रथम्** यानम् **आतिष्ठ** अधिरोह ॥२॥[2]

भावार्थः— यथा स्वयं वीरो वीरैर्योद्धृभिर्युक्तश्च सेनापतिर्जयशीलं रथमधिष्ठाय भीषणमपि समरं जयति तथैव वेदविद् ब्रह्मवित् सहनशीलो मनोबुद्धिप्राणादिभिर्वीरैर्युक्तः प्रभाववान् प्रतापी देहरथस्याधिष्ठाता जीवात्मा प्रौढेन मनोबलेन सर्वानपि बाह्यानान्तरांश्च संग्रामान् जेतुमर्हति ॥२॥

अगले मन्त्र में फिर वही विषय है ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** जीवात्मन् ! **बलविज्ञायः** ब्रह्मबल का ज्ञाता, **स्थविरः** अनुभव में वृद्ध, **प्रवीरः** अतिशय वीर, **सहस्वान्** उत्साही, **वाजी** विज्ञानवान्, **सहमानः** सुख-दुःख आदि द्वन्दों को सहन करने वाला, **उग्रः** प्रतापी, **अभिवीरः** मन, प्राण आदि वीरों से युक्त, **सहोजाः** बल में प्रसिद्ध, **गोवित्** विवेक की किरणों को और श्रेष्ठ वाणियों को प्राप्त तू **जैत्रम्** विजयशील **रथम्** रथ पर **आतिष्ठ** बैठ ॥२॥

भावार्थ— जैसे स्वयं वीर तथा वीर योद्धाओं से युक्त सेनापति जयशील रथ पर चढ़कर भयंकर युद्ध को भी जीत लेता है, वैसे ही वेदज्ञ, ब्रह्मज्ञ, सहनशील, मन-बुद्धि-प्राण आदि वीरों से युक्त, प्रभाववान्, प्रतापी, देह-रथ के अधिष्ठाता जीवात्मा को योग्य है कि अपने प्रौढ़ मनोबल से सभी बाह्य और आन्तरिक संग्रामों को जीत लेवे ॥२॥

---

१. ऋ० १०।१०३।५; य० १७।३७; अथ० १९।१३।५ ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिणाऽयमपि मन्त्रः सेनापतिविषये व्याख्यातः ।

अथ जीवात्मनो नेतृत्वे विजयलाभाय वीरान् प्रोत्साहयति ।

३ १२ ३ २३ १२ ३ १२ ३१ २ ३२३ १२
१८५४. गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ।

३१ २ ३ १२ ३ १२ ३ २३ १२
इमं सजाता अनु वीरयध्वमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ॥३॥[1]

३ १२ ३ १२र ३ १२ ३ १२र १२र १२र ३ १२र
गोत्रभिदम् गोत्र भिदम् गोविदम् गो विदम् वज्रबाहुम् वज्र बाहुम् जयन्तम्

१ २र३ १ २ ३ १ २ १२र ३२ ३ १२र ३
अज्म प्रमृणन्तम् प्र मृणन्तम् ओजसा । इमम् सजाताः स जाताः अनु वीरयध्वम् ।

१२र ३ १२र ३
इन्द्रम् सखायः स खायः अनु सम् रभध्वम् ॥३॥

पदार्थः— **गोत्रभिदम्** अविद्याऽस्मितादिक्लेशरूपपर्वतानां भेत्तारम्, **गोविदम्** विवेकप्रकाशरश्मीनां लब्धारम्, **वज्रबाहुम्** अशुद्धिक्षयार्थं ज्ञानदीप्त्यर्थं च गृहीतयमनियमासन-प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधि-रूपवज्रम्, **अज्म** देवासुरसंग्रामम् **जयन्तं** विजयमानम् **ओजसा** बलेन **प्रमृणन्तम्** आभ्यन्तरान् शत्रून् प्रहिंसन्तम् **इमम् अनु** एतं जीवात्मानम् अनुसृत्य, हे **सजाताः** देहे सहोत्पन्ना मनोबुद्धिप्राणादयः ! यूयम् **वीरयध्वम्** वीरतां प्रदर्शयत, हे **सखायः** सुहृदः यूयम् **इन्द्रम् अनु** जीवात्मानमनुसृत्य **संरभध्वम्** वीरकार्याणि प्रारभध्वम् ॥३॥[2]

भावार्थः— देहाभ्यन्तरे जीवो नाम महापराक्रमः सेनापतिः सम्पूर्णरणसज्जया सह समवस्थितोऽस्ति यः सर्वान् विघ्नान् पराजित्य देवासुरसंग्रामे विजयं लब्धुमर्हति ॥३॥

अब जीवात्मा के नेतृत्व में विजयलाभ करने के लिए वीरों को प्रोत्साहन देते हैं ।

पदार्थ— गोत्रभिदम् अविद्या, अस्मिता आदि क्लेश रूप पर्वतों को तोड़ने वाले, **गोविदम्** विवेक-प्रकाश की किरणों को प्राप्त करने वाले, **वज्रबाहुम्** अशुद्धि के क्षय तथा ज्ञान की दीप्ति के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि रूप वज्र को ग्रहण करने वाले, **अज्म** देवासुरसंग्राम को **जयन्तम्** जीतने वाले **ओजसा** बल से **प्रमृणन्तम्** आन्तरिक शत्रुओं को कुचलने वाले **इमम् अनु** इस जीवात्मा का अनुसरण करके, हे **सजाताः** शरीर में साथ उत्पन्न मन, बुद्धि, प्राण, आदियो ! तुम **वीरयध्वम्** वीरता दिखाओ । हे **सखायः** मित्रो ! तुम **इन्द्रम् अनु** जीवात्मा का अनुसरण करते हुए **संरभध्वम्** वीरतापूर्ण कार्यों को आरंभ करो ॥३॥

भावार्थ— शरीर के अन्दर जीवात्मा नाम का महापराक्रमी सेनापति पूरी रणसज्जा के साथ विद्यमान है, जिसे सब विघ्नों को पराजित करके देवासुरसंग्राम में विजय पाना योग्य है ॥३॥

॥३॥ अथ 'अभि गोत्राणि' इत्यादिकस्य तृतीयस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अप्रतिरथ ऐन्द्रः । **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

---

१. ऋ० १०।१०३।६; य० १७।३८; अथ० ६।९७।३, १९१३।६ ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सेनापतियोद्धृणां पारस्परिकसाहाय्यविषये व्याख्यातवान् ।

तत्रादौ जीवात्मरूपः सेनापतिः रक्षणं प्रार्थ्यते ।

३ २ ३ २ ३ १२ ३ १२ ३ ३ ३ २ ३१२ ३१२
१८५५. **अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः ।**
३ १ २ ३१२३ २ २३१२ ३२३२
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्यो३स्माकं सेना अवतु प्र युत्सु ॥१॥[1]

३ २ ३ १ २ १२र १२र
अभि गोत्राणि सहसा गाहमानः ।

३ २ ३ २ ३२ ३१२ ३२३ १ २र
अदयः अ दयः वीरः शतमन्युः शत मन्युः इन्द्रः ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
दुश्च्यवनः दुः च्यवनः पृतनाषाट् पृतना षाट् अयुध्यः अ युध्यः ।

३ १२ १ २र ३ २ ३ २
अस्माकम् सेनाः अवतु प्र युत्सु ॥१॥

पदार्थः— **सहसा** आत्मबलेन **गोत्राणि** व्याधिस्त्यानसंशयादीनां योगविघ्नानां बाह्यविघ्नानां च दुर्गाणि **अभि गाहमानः** आलोडयमानः, **अदयः** अन्तःशत्रुषु बाह्यशत्रुषु च निर्दयः, **वीरः** पराक्रमवान्, **शतमन्युः** अनन्ततेजाः, **दुश्च्यवनः** रिपुभिरच्याव्यः, **पृतनाषाट्** शत्रुसेनानां पराजेता, **अयुध्यः** शत्रुभिर्योद्धुमशक्यः **इन्द्रः** जीवात्मरूपः सेनापतिः **युत्सु** आन्तरेषु बाह्येषु च देवासुरसंग्रामेषु **अस्माकं सेनाः** अस्मत्पक्षीयाः यमनियमादीनां धार्मिकाणां योद्धॄणां वा पृतनाः **प्र अवतु** प्रकर्षेण रक्षतु ॥१॥[2]

भावार्थः— यथा राष्ट्रे कश्चिद् वीरः सेनानीः स्वपक्षीयाः सेनाः शत्रुभ्यो रक्षति, दुष्टान् रिपूंश्च शस्त्रास्त्रैर्हिनस्ति तथैव देहाधिष्ठितो जीवात्मा प्रबोधं प्राप्य स्वसंकल्पबलेन बाहुबलेन च सर्वानाभ्यन्तरान् बाह्यांश्च शत्रून् पराजयेत ॥१॥

प्रथम मन्त्र में जीवात्मा-रूप सेनापति से रक्षा की प्रार्थना की गयी है ।

पदार्थ— **सहसा** आत्मबल से **गोत्राणि** व्याधि, स्त्यान, संशय आदि योग-विघ्नों के तथा बाह्य विघ्नों के किलों का **अभि गाहमानः** अवगाहन करता हुआ, **अदयः** आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं पर दया न दिखाने वाला, **वीरः** वीर, **शतमन्युः** अनन्त तेज वाला, **दुश्च्यवनः** शत्रुओं से विचलित न किया जा सकने वाला, **पृतनाषाट्** शत्रुसेनाओं को पराजित कर देने वाला, **अयुध्यः** शत्रुओं के लिए जिससे युद्ध कर पाना असंभव होता है ऐसा **इन्द्रः** जीवात्मा-रूप सेनापति **युत्सु** आन्तरिक तथा बाह्य देवासुरसंग्रामों में **अस्माकं सेनाः** हमारी यम-नियम आदि की सेनाओं को और धार्मिक योद्धाओं की सेनाओं को **प्र अवतु** भली-भाँति रक्षित करे ॥१॥

भावार्थ— जैसे राष्ट्र में कोई वीर सेनापति स्वपक्षीय सेनाओं की शत्रुओं से रक्षा करता है और दुष्ट शत्रुओं का शस्त्रास्त्रों से वध करता है वैसे ही देह में स्थित जीवात्मा प्रबोध प्राप्त करके अपने संकल्प के बल से और भुजाओं के बल से सब आन्तरिक तथा बाहरी शत्रुओं को पराजित करे ॥१॥

---

१. ऋ० १०।१०३।७; य०१७।३९ । अथ० १९।१३।७ ।

२ यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं कः सेनापतिर्भवितुमर्हतीति विषये व्याचष्टे ।

अथ जीवात्मनः सेनाध्यक्षत्वे विजयार्थं युद्धप्रयाणं वर्ण्यते ।

१ २ ३ २उ ३ २ ३१ २ ३ २ ३१ २३ १ २
१८५६. **इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः ।**
३ १ २ ३ १र २र ३१ २ ३ १ २
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥२॥[1]
१ २र ३ २ १ २र १ २र १ २र ३ २ ३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३
इन्द्रः आसाम् नेता बृहः पतिः । दक्षिणा यज्ञः पुरः एतु सोमः । देवसेनानाम् देव
१ २ ३ २ ३ २ १ २र ३१ २ ३ १ २र
सेनानाम् अभिभञ्जतीनाम् अभि भञ्जतीनाम् । जयन्तीनाम् मरुतः यन्तु अग्रम् ॥२॥

पदार्थः— **बृहः पतिः** बृहतः शरीरराष्ट्रस्य पाता, **इन्द्रः** वीरः जीवात्मरूपः सेनापतिः **आसाम्** देवसेनानाम् **नेता** नायको भवतु । **दक्षिणा** त्यागभावना, **यज्ञः** परमात्मपूजनरूपो यज्ञः **सोमः** शान्तिव्रतं च **पुरः एतु** अग्रे गच्छतु । **अभिभञ्जतीनाम्** अदिव्यान् भावान् अधार्मिकान् दुष्टजनांश्च आमृद्नन्तीनाम्, **जयन्तीनाम्** विजयोत्कर्षं प्राप्नुवतीनाम् **देवसेनानाम्** दिव्यभावचमूनां सदाचारिविद्वच्चमूनां च **अग्रम्** अग्रगामित्वेन **मरुतः** प्राणाः वायुवद् बलिष्ठाः शूरवीराश्च **यन्तु** गच्छन्तु ॥२॥

भावार्थः— स्वजीवात्मानं सेनापतिं विधाय, त्यागं परमात्मोपासनं विश्वशान्तिं चादर्शं सम्मुखं कृत्वा, सत्याहिंसादीनां बलिष्ठानां योद्धॄणां च सेनां गृहीत्वा प्राणपणेन युद्ध्वा सर्वैर्देवासुरसंग्रामे विजयः प्राप्तव्यः ॥२॥

अगले मंत्र में जीवात्मा की सेनाध्यक्षता में विजयार्थ युद्ध-प्रयाण का वर्णन है ।

पदार्थ— **बृहः पतिः** महान् शरीर-रूप राष्ट्र का रक्षक **इन्द्रः** वीर जीवात्मा-रूप सेनापति **आसाम्** इन देव-सेनाओं का **नेता** नेता हो । **दक्षिणा** त्याग की भावना, **यज्ञः** परमेश्वरपूजा-रूप यज्ञ **सोमः** और शान्ति का व्रत **पुरः एतु** आगे-आगे चले । **अभिभञ्जतीनाम्** अदिव्य भावों तथा अधार्मिक दुष्ट-जनों को तोड़ती-फोड़ती-कुचलती हुई, **जयन्तीनाम्** विजय का उत्कर्ष प्राप्त करती हुई **देवसेनानाम्** दिव्यभावों तथा सदाचारी विद्वान् जनों की सेनाओं के **अग्रम्** आगे-आगे **मरुतः** प्राण तथा वायुवत् बलिष्ठ शूरवीर लोग **यन्तु** चलें ॥२॥

भावार्थ— सबको चाहिए कि अपने जीवात्मा को सेनापति बनाकर त्याग, परमात्मा की उपासना और विश्वशान्ति का आदर्श सामने रखकर, सत्य-अहिंसा आदि दिव्य गुणों की तथा बलिष्ठ योद्धाओं की सेना लेकर, प्राणपण से युद्ध करके देवासुरसंग्राम में विजय प्राप्त करें ॥२॥

अथ वीराणां विजयघोषो वर्ण्यते ।

१ २ ३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३२
१८५७. **इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम् ।**
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्यात् ॥३॥[2]
१ २र १ २र १ २र १ २र
इन्द्रस्य वृष्णः वरुणस्य राज्ञः ।
३ १ २ ३ १ २ ३१ २ १ २र ३ २
आदित्यानाम् आ दित्यानाम् मरुताम् शर्धः उग्रम् ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
महामनसाम् महा मनसाम् भुवनच्यवानाम् भुवन च्यवानाम्
१ २र ३ १ २ १ २र ३
घोषः देवानाम् जयताम् उत् अस्थात् ॥३॥

---

१. ऋ० १०।१०३।८; य० १७।४०; अथ० १९।१३।९ ।
२. ऋ० १०।१०३।९२; य० १७।४१; अथ० १९।१३।१० ।

पदार्थः— **वृष्णः** महाबलस्य **इन्द्रस्य** विघ्नविदारस्य जीवात्मनः, **राज्ञः** संकल्पबलेन राजितस्य **वरुणस्य** श्रेष्ठस्य मनसः, **आदित्यानाम्** दोषापहारकाणाम् **मरुताम्** प्राणानां च [आददते शरीरस्थान् दोषान् ये ते आदित्याः।] **उग्रम्** तीक्ष्णम् **शर्धः** बलम् **उदस्थात्** उत्तिष्ठतु । **महामनसाम्** महोत्साहानाम्, **भुवनच्यवानाम्** ब्रह्माण्डच्यावयितॄणाम्, **जयतां** विजयं लभमानानाम् **देवानाम्** दिव्यभावानां धार्मिकाणां रणोद्भटानां वा **घोषः** विजयघोषः **उदस्थात्** उत्तिष्ठतु । [अत्र लोडर्थे लुङ्] ॥३॥[1]

अत्र 'भुवनच्यवानाम्' इत्यत्रासम्बन्धे सम्बन्धरूपोऽतिशयोक्तिरलङ्कारः वीरो रसः ॥३॥

भावार्थः— उत्साहवतामात्ममनः-प्राणादीनां शरीरस्थानां वीर-प्रकाण्डानां राष्ट्रस्य सेनापत्यादि-वीरोद्भटानां च देवासुरसंग्रामे विजयः सुनिश्चितः खलु ॥३॥

अब वीरों के विजय-घोष का वर्णन करते हैं।

पदार्थ— **वृष्णः** महाबली **इन्द्रस्य** विघ्नविदारक जीवात्मा का, **राज्ञः** संकल्प-बल से राजित **वरुणस्य** श्रेष्ठ मन का और **आदित्यानाम्** दोषापहारी **मरुताम्** प्राणों का **उग्रम्** उग्र **शर्धः** बल **उदस्थात्** ऊपर उठे । **महामनसाम्** बड़े हौसले वाले, **भुवनच्यवानाम्** ब्रह्माण्ड को डिगा देने वाले, **जयताम्** विजय-लाभ करने वाले **देवानाम्** दिव्य भावों का और धर्मात्मा रण-बांके वीरों का **घोषः** विजय-घोष **उदस्थात्** ऊपर उठे ॥३॥

यहां 'भुवनच्यवानाम्' में असंबन्ध में संबन्ध रूप अतिशयोक्ति अलंकार है । वीर रस है ॥३॥

भादार्थ— उत्साही आत्मा, मन, प्राण आदि शरीरस्थ रण-बांके वीरों की और राष्ट्र के सेनापति आदि वीरोद्भटों की देवासुरसंग्राम में विजय निश्चित होती है ॥३॥

॥४॥ अथ 'उद्धर्षय' इत्यादिकस्य चतुर्थस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** अप्रतिरथ ऐन्द्रः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ॥

तत्रादाविन्द्रो जीवात्मा प्रोद्बोध्यते ।

१ २ ३ १ २ ३ २र २र ३ २ ३ १ २
१८५८. **उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत् सत्वनां मामकानां मनांसि ।**

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
उदवृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः ॥१॥[2]

२ ३ १ २र १ २र ३ १ २ १ २र
उत् हर्षय मघवन् आयुधानि । उत् सत्वनाम् मामकानाम् मनांसि ।

३ १ २ १ २र
उत् वृत्रहन् वृत्र हन् वाजिनाम् वाजिनानि ।

१ २र १ २र ३ १ २र
उत् रथानाम् जयताम् यन्तु घोषाः ॥१॥

पदार्थः—**हे मघवन्** ऐश्वर्यशालिन् देहाधिष्ठातः जीवात्मन् ! **आयुधानि** शस्त्रास्त्राणि **उद्धर्षय** उत्स्फोरय, **मामकानाम्** मदीयानाम् **सत्वनाम्** वीराणाम् **मनांसि** हृदयानि **उत्** उद्धर्षय उत्स्फोरय उत्साहय । हे **वृत्रहन्** पापहन्तः विघ्नहन्तः शत्रुहन्तः आत्मन् ! **वाजिनाम्** बलवतां योद्धृणाम् **वाजिनानि** युद्धक्रियाकौशलानि **उद् यन्तु** उद्गच्छन्तु, **जयताम्** विजयं प्राप्नुवताम् **रथानाम्** यानानाम्, लक्षणया यानारोहिणाम् **घोषाः** विजयघोषाः **उद् यन्तु** उद् गच्छन्तु ॥१॥[3]

---

१. यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयं युद्धविजयविषये व्याख्यातः ।

२. ऋ० १०।१०३।१०; य० १७।४२ ।

३. यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रेऽस्मिन् सेनापतिकृत्यं वर्णितम् ।

अत्र वीरो रसः । 'उद् इत्यस्यावृत्तौ लाटानुप्रासः । 'वाजिनां, वाजिना' इत्यत्र च यमकम् । यकारनकारमकारतकारानुप्रासाः ॥१॥

भावार्थः— योऽयं कश्चिद् राजा वा सेनापतिर्वा शस्त्रास्त्राणि तेजयति, स्वपक्षीयाणां वीराणां मनांस्युत्साहयति, विजयदुन्दुभिं वादयति, तत्सर्वं कृत्यं तद्देहस्थस्य जीवात्मन एव । अतः स एव सम्बोध्यते आत्मोद्बोधनेनैव बाह्यविजयवदाभ्यन्तरविजयोऽपि प्राप्यते ॥१॥

प्रथम मन्त्र में इन्द्र जीवात्मा को प्रोद्बोधन दिया गया है ।

पदार्थ— हे **मघवन्** शरीर के अधिष्ठाता ऐश्वर्यशाली जीवात्मन् ! **आयुधानि** शस्त्रास्त्रों को **उद्धर्षय** ऊपर उठाओ, **मामकानाम्** मेरे **सत्वनाम्** वीरों के **मनांसि** मनों को **उत्** ऊपर उठाओ, उत्साहित करो । हे **वृत्रहन्** पापहन्ता, विघ्नहन्ता, शत्रुहन्ता जीवात्मन् ! **वाजिनाम्** बलवान् योद्धाओं के **वाजिनानि** रण-कौशल **उद् यन्तु** ऊपर उठें, **जयताम्** विजय-लाभ करते हुए **रथानाम्** रथारोहियों के **घोषाः** विजय-घोष **उद् यन्तु** ऊपर उठें ॥१॥

यहाँ वीर रस है । 'उद्' की आवृत्ति में लाटानुप्रास, 'वाजिनां, वाजिना' में यमक और यकार, नकार, मकार, तकार का अनुप्रास है ॥१॥

भावार्थ— जो कोई राजा या सेनापति शस्त्रास्त्रों को तेज करता है, अपने पक्ष के वीरों के मनों को उत्साहित करता है, विजय-दुंदुभि बजाता है, वह सब कार्य उसके शरीर में स्थित जीवात्मा का ही होता है । इसलिए उसी को संबोधन किया गया है । आत्मा के उद्बोधन से ही बाह्य विजय के समान ही आन्तरिक विजय भी प्राप्त होती है ॥१॥

अथ विजयः प्रार्थ्यते ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
१८५९. **अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु ।**
३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ उ देवा अवता हवेषु ॥२॥[1]

३ १ २ १ २र १ २र ३ १ २ ३ १ २ १ २र ३
अस्माकम् इन्द्रः समृतेषु सम् ऋतेषु ध्वजेषु । अस्माकम् याः इषवः ताः जयन्तु ।
१ २ ३ २ १ २र ३ २ ३ १ २र
अस्माकम् वीराः उत्तरे भवन्तु । अस्मान् उ देवाः अवत हवेषु ॥२॥

पदार्थः— **अस्माकम् इन्द्रः** अस्मदीयः सेनापतिरिव जीवात्मा **ध्वजेषु समृतेषु**[2] पताकासु शत्रुपताकाभिः सह संगतासु सतीषु [जयतु] विजयं लभताम् । **अस्माकम् या इषवः** आस्माकीनाः याः बाणपङ्क्तयः **ताः जयन्तु** ताः विजयं लभन्ताम् । **अस्माकं वीराः** अस्मदीया रणकुशलाः शूरा योद्धारः **उत्तरे भवन्तु** विजयिनः सन्तु । हे **देवाः** विजिगीषवो मनोबुद्ध्यादयः ! **अस्मान् उ** अस्मान् खलु **हवेषु**[3] देवासुरसङ्ग्रामेषु **अवत** रक्षत ॥२॥[4]

---

१. ऋ० १०।१०३।११; य० १७।४३ ; अथ० १९।१३।३१ ।

२. समृतेषु परसेनां सम्प्राप्तेषु ध्वजेषु, ध्वजवत्सु सैनिकेषु—इति सा० । ध्वजेषु समृतेषु, ऋ गतौ, शत्रुध्वजैः संगतेषु सत्सु-इति वि० ।

३. (हवेषु) ह्वयन्ति स्पर्धन्ते परस्परं येषु संग्रामेषु तेषु—इति ऋग्भाष्ये द० ।

४. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं युद्धनीतिविषये व्याख्यातवान् ।

भावार्थः— यथा सेनापतेः सकाशात् प्रोद्बोधनं प्राप्य रणोद्भटाः सैनिकाः सत्वरं शत्रून् विजयन्ते, तथैव स्वान्तरात्मनः प्रोत्साहनं वीराणां विजयहेतुर्जायते ॥२॥

अब विजय की प्रार्थना करते हैं।

पदार्थ— अस्माकम् इन्द्रः हमारा सेनापति-तुल्य जीवात्मा **ध्वजेषु समृतेषु** हमारे ध्वजों के शत्रु-ध्वजों से टकराने पर **जयतु** विजय-लाभ करे। **अस्माकं याः इषवः** हमारे जो बाण हैं **ताः जयन्तु** वे विजय-लाभ करें। **अस्माकं वीराः** हमारे रण-कुशल वीर योद्धा **उत्तरे भवन्तु** विजयी हों। हे **देवाः** जीतने के अभिलाषी मन, बुद्धि आदियो ! **अस्मान् उ** हमारी **हवेषु** देवासुरसंग्रामों में **अवत** रक्षा करो ॥२॥

भावार्थ— जैसे सेनापति से प्रोद्बोधन पाकर रणबांकुरे सैनिक शीघ्र ही शत्रुओं को जीत लेते हैं, वैसे ही अपने अन्तरात्मा को प्रोत्साहन देना वीरों के विजय में हेतु बनता है ॥२॥

अथ शत्रुमोहनाय प्रेरयति।

१ ११ २र ३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१८६०. **असौ या सेना मरुतः परेषामभ्येति न ओजसा स्पर्धमाना।**

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ २
तां गूहत तमसापव्रतेन यथैतेषामन्यो अन्यं न जानात् ॥३॥[1]

३ २ १ २र ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र १ २र
असौ या सेना मरुतः परेषाम्। अभ्येति अभि एति नः ओजसा स्पर्धमाना।

३ १ २र १ २र १ २र ३
ताम् गूहत तमसा अपव्रतेन अप व्रतेन।

१ २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
यथा एतेषाम् अन्यः अन् यः अन्यम् अन् यम् न जानात् ॥३॥

पदार्थः— हे **मरुतः** प्राणाः वीराः सैनिका वा ! **असौ या** एषा या **ओजसा** बलेन **स्पर्धमाना** स्पर्धां कुर्वती **परेषाम्** शत्रूणाम् **सेना** पृतना **नः अभ्येति** अस्मान् प्रत्यागच्छति, **ताम्** सेनाम् **अपव्रतेन** अपगतानि व्रतानि कर्माणि यस्मिंस्तेन **तमसा** अन्धकारेण **गूहत** आच्छादयत। [गुहू संवरणे, भ्वादिः, गुणाभावश्छान्दसः।] **यथा** येन प्रकारेण **एतेषाम्** एषां शत्रूणां मध्ये **अन्यः** एकः **अन्यम्** अपरम् **न जानात्** न जानाति। [ज्ञा अवबोधने धातोर्लेटिरूपम्] ॥३॥[2]

भावार्थः— यथा युद्धे संमोहनास्त्रप्रयोगेण घने तमसि बाह्याःशत्रवोऽन्योन्यमेव न द्रष्टुं प्रभवन्ति तथैव जीवात्मना प्राणायामद्वारा प्रयुक्तेन संमोहनेनाभ्यन्तराः सर्वेऽपि कामक्रोधादयोऽविद्याऽस्मितादयो वा शत्रवः सर्वथा मुह्येरन् ॥३॥

अगले मन्त्र में शत्रुओं को मोह में डालने की प्रेरणा दी गयी है।

पदार्थ— हे **मरुतः** प्राणो वा वीर सैनिको ! **असौ या** यह जो **ओजसा** अपने बल से **स्पर्धमाना** हमसे स्पर्धा करती हुई **परेषाम्** शत्रुओं की **सेना** सेना **नः अभ्येति** हमारी ओर बढ़ी आ रही है, **ताम्** उस सेना को **अपव्रतेन** जिसमें कार्य बन्द हो जाते हैं ऐसे **तमसा** अंधकार से **गूहत** आच्छन्न कर दो, **यथा** जिससे **एतेषाम्** इनमें **अन्यः** एक **अन्यम्** दूसरे को **न जानात्** न जान सके ॥३॥

---

१. य० १७।४७, 'अभ्यैति' इति भेदः। 'यथामी अन्यो अन्यन्न जानन्' इति चतुर्थः पादः। अथ० ३।२।६।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामिना मन्त्रोऽयमपि युद्धनीतिविषये व्याख्यातः।

भावार्थ— जैसे युद्ध में संमोहनास्त्र के प्रयोग द्वारा घोर अंधकार के व्याप्त हो जाने पर शत्रु एक-दूसरे को ही नहीं देख पाते वैसे ही जीवात्मा के प्राणायाम द्वारा प्रयुक्त संमोहन से सभी आन्तरिक काम-क्रोध आदि वा अविद्या-अस्मिता आदि शत्रु सर्वथा मोह को प्राप्त हो जाएं ।।३।।

।।५।। अथ 'अमीषां चित्त'मित्यादिकस्य पञ्चमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** १-२ अप्रतिरथ ऐन्द्रः, ३ पायुर्भरद्वाजः । **देवता** १ अप्वा, २ इन्द्रो मरुतो वा, ३ इषवः । **छन्दः** १ त्रिष्टुप्, २-३ अनुष्टुप् । **स्वरः** १ धैवतः, २-३ गान्धारः ।।

तत्रादौ शत्रून् व्याधिना भयेन वा पीडितान् कर्तुमाह ।

१८६१ . अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ।।१।।[1]

अमीषाम् चित्तम् प्रतिलोभयन्ती प्रति लोभयन्ती । गृहाण अङ्गानि अप्वे परा इहि ।
अभि प्र इहि निः दह हृत्सु शोकैः ।
अन्धेन अमित्राः अ मित्राः तमसा सचन्ताम् ।।१।।

पदार्थः— हे **अप्वे** व्याधे भीते वा ! [अप्वा यदेनया विद्धोऽपवीयते, व्याधिर्वा भयं वा । निरु० ६।१२ ।] **परेहि** शत्रुदलं गच्छ । **अमीषाम्** एषां शत्रूणाम् **चित्तम्** संज्ञानम् **प्रतिलोभयन्ती** मोहयन्ती **अङ्गानि** एषां शरीरावयवान् **गृहाण** बधान । **अभि प्रेहि** शत्रून् प्रति गच्छ, तान् **हृत्सु** हृदयेषु **शोकैः**[2] पीडाभिः **निर्दह** दाहमुत्पादय । **अमित्राः** शत्रवः **अन्धेन** गाढेन **तमसा** मोहान्धकारेण **सचन्ताम्** संयुज्यन्ताम्।।१।।

यास्काचार्यो मन्त्रमिममेवं व्याख्यातवान्— [अमीषां चित्तानि प्रज्ञानानि प्रतिलोभयमाना गृहाणाङ्गानि, अप्वे परेहि । अभि प्रेहि, निर्दहैषां हृदयानि शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा संसेव्यन्ताम् (निरु० ९।३२) इति]।

भावार्थः— यथा व्याधिना भयेन वा ग्रस्ताः शत्रवः किंकर्तव्यविमूढा दग्धहृदयाश्च सन्तः पराजीयन्ते तथैवाभ्यन्तरे देवासुरसंग्रामे कामक्रोधलोभमोहादयो व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्यादयो वा रिपवो व्याधिग्रस्ता इव भयोद्विग्ना इव झटिति विनश्यन्ताम् ।।१।।

प्रथम मन्त्र में शत्रुओं को व्याधि वा भय से पीड़ित करने का वर्णन है ।

पदार्थ— हे **अप्वे** व्याधि वा भीति ! **परेहि** शत्रुदल में जा । **अमीषाम्** इन शत्रुओं के **चित्तम्** चित्त को **मोहयन्ती** मोहित करती हुई **अङ्गानि** इनके अंगों को **गृहाण** जकड़ दे । **अभिप्रेहि** शत्रुओं के प्रति जा, उनके **हृत्सु** हृदयों में **शोकैः** शोकों से **निर्दह** दाह उत्पन्न कर दे । **अमित्राः** शत्रु **अन्धेन** घने **तमसा** मोह के अंधकार से **सचन्ताम्** संयुक्त हो जाएँ ।।१।।

---

१. ऋ० १०।१०३।१२ ; य० १७।४४; अथ० ३।२।५ ।

२ यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं स्त्रीसेनासंघटनविषये व्याचष्टे । तथाच (अप्वे) 'यापवाति शत्रुप्राणान् हिनस्ति तत्सम्बुद्धौ । अपपूर्वाद् वातेरन्येभ्योऽपि दृश्यत इति क्विप्, अकारलोपश्छान्दसः' इति पदार्थे, 'हे अप्वे शूरवीरे राजस्त्रि क्षत्रिये' इति चान्वये तद्भाष्यम् ।

भावार्थ– जैसे व्याधि वा भय से ग्रस्त शत्रु किंकर्तव्यविमूढ़ और दग्ध हृदय वाले होकर पराजित हो जाते हैं वैसे ही आन्तरिक देवासुरसंग्राम में काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि वा व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमाद-आलस्य आदि रिपु व्याधि-ग्रस्त वा भयोद्विग्न-से होकर झट विनष्ट हो जाएँ ॥१॥

अथ वीरानुद्बोधयति ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१८६२. प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ ॥२॥[1]
२ ३ १ २र ३ १ २र ३ १ २र ३ २ ३ १ २
प्र इत जयत नरः । इन्द्रः वः शर्म यच्छतु । उग्राः वः सन्तु बाहवः ।
३ २ ३ २ १ २र १ २र
अनाधृष्याः अन् आधृष्याः यथा असथ ॥२॥

पदार्थः– हे **नरः** वीरा योद्धारः ! **प्रेत** अग्रे गच्छत, **जयत** विजयं प्राप्नुत । **इन्द्रः** युष्माकं वीरः अन्तरात्मा **वः** युष्मभ्यम् **शर्म** कल्याणम् **यच्छतु** ददातु । **वः** युष्माकम् **बाहवः** भुजाः **उग्राः** उद्गूर्णबलाः, प्रचण्डाः **सन्तु** भवन्तु, **यथा** येन यूयम् **अनाधृष्याः** केनाप्यपराजेयाः **असथ** भवत । [संहितायां 'प्रेता' इत्यत्र 'द्व्यचोऽतस्तिङ्' अ० ६।३।१३५ इति 'जयता' इत्यत्र च 'अन्येषामपि दृश्यते' अ० ६।३।१३७ इति दीर्घः । असथ, अस्तेर्लेटि मध्यमबहुवचनम्] ॥२॥[2]

अत्र वीरो रसः ॥२॥

भावार्थः– मनुष्येषूद्बोधनं तदैव संभवति यदि तेषामात्मा सबलो भवेत् । अतः स्वात्मानं बलिनं विधायोद्बोधनं प्राप्य जीवनसंग्रामे सर्वैर्विजयः प्राप्तव्यः ॥२॥

अगले मन्त्र में वीरों को उद्बोधन दिया गया है ।

पदार्थ– हे **नरः** वीर-पुंगव योद्धाओ ! **प्रेत** आगे बढ़ो, **जयत** विजय पाओ । **इन्द्रः** तुम्हारा वीर अंतरात्मा **वः** तुम्हें **शर्म** कल्याण **यच्छतु** प्रदान करे । **वः** तुम्हारी **बाहवः** भुजाएं **उग्राः** उग्र **सन्तु** हों, **यथा** जिससे, तुम **अनाधृष्याः** अपराजेय **असथ** हो जाओ ॥२॥

इस मन्त्र में वीर रस है ॥२॥

भावार्थ– मनुष्यों को उद्बोधन तभी मिल सकता है यदि उनका आत्मा बलवान् हो । इसलिए अपने आत्मा को बली बनाकर, उद्बोधन पाकर जीवन-संग्राम में सबको विजय प्राप्त करनी चाहिए ॥२॥

अथ स्वसेनामुद्बोधयति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१८६३. अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
गच्छामित्रान् प्र पद्यस्व मामीषां कं च नोच्छिषः ॥३॥[3]
१ २र ३ १ २र ३ १ २र १ २र १ २र ३
अव सृष्टा परा पत । शरव्ये ब्रह्मसंशिते ब्रह्म संशिते ।
१ २र ३ १ २ ३ १ २र ३
गच्छ अमित्रान् अ मित्रान् प्र पद्यस्व ।
२ ३ १ २ ३ २ ३
मा अमीषाम् कम् च न उत् शिषः ॥३॥

१. ऋ० १०।१०३।१३; य० १७।४६; अथ० ३।१९।७ ।

२. यजुर्भाष्ये दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं सेनापतिसैनिकसंबन्धविषये व्याचष्टे ।

३. ऋ० ६।७५।१६; य० १७।४५; अथ०३।१९।८ ।

पदार्थः— हे **ब्रह्मशंसिते**[1] ब्रह्मणा धनुर्वेदविदा सेनापतिना तीक्ष्णीकृते **शरव्ये** शरेषु शस्त्रास्त्रचालनेषु साध्वि सेने[2] ! **अवसृष्टा** प्रेरिता त्वम् **परा पत** शत्रूणामुपरि आक्राम । **गच्छ** याहि, **अमित्रान्** शत्रून् **प्र पद्यस्व** प्राप्नुहि,**अमीषाम्** एषां मध्ये **कंचन** कमपि **न उच्छिषः** न अवशिष्टं परित्यज ॥३॥[3]

भावार्थः— यथा सेनापतिना प्रेरिता वीराणां सेना शत्रुविजयकरी जायते तथैव शरीराध्यक्षेण जीवात्मना प्रेषिता सात्त्विकानां वीरभावानां सेना तामसान् दुर्भावान् विजयते।तामस भावानां निःशेषकरणमेव श्रेयस्करं यतो नाममात्रमप्यवशिष्टास्ते पुनरपि वर्द्धन्ते ॥३॥

अब अपनी सेना को उद्बोधन देते हैं ।

पदार्थ— हे **ब्रह्मसंशिते** धनुर्वेद के ज्ञाता सेनापति द्वारा तीक्ष्ण अर्थात् उत्साहित की हुई, **शरव्ये** शस्त्रास्त्र चलाने में कुशल सेना ! **अवसृष्टा** प्रेरित की हुई तू **परापत** शत्रुओं पर टूट पड़ । **गच्छ** जा, **अमित्रान्** शत्रुओं को **प्रपद्यस्व** प्राप्त कर । **अमीषाम्** इनके मध्य **कंचन** किसी को भी **न उच्छिषः** बचा न रहने दे ॥३॥

भावार्थ— जैसे सेनापति से प्रेरित वीरों की सेना शत्रुओं को जीत लेती है वैसे ही शरीर के अध्यक्ष जीवात्मा से प्रेरित सात्त्विक वीर भावों की सेना तामस दुर्भावों पर विजय पा लेती है । तामस भावों को निःशेष कर देना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि नाममात्र भी वे यदि बचे रहें तो फिर बढ़ जाते हैं ॥३॥

॥६॥ अथ 'कङ्काः' इत्यादिकस्य षष्ठस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः**[4] १, २ अप्रतिरथः ऐन्द्रः, ३ पायुर्भारद्वाजः । **देवता** १, २ इन्द्रः, ३ संग्रामाशिषः । **छन्दः** १ त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३ पङ्क्तिः । **स्वरः** १ धैवतः, २ गान्धारः, ३ पञ्चमः ॥

तत्रादौ शत्रुसेनायाः समूलोच्छेदविषयं प्राह ।

३ १ २ ३ १र २र ३ ५ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१८६४. कङ्काः सुपर्णा अनु यन्त्वेनान् गृध्राणामन्नमसावस्तु सेना ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
मैषां मोच्यघहारश्च नेन्द्र वयांस्येनाननुसंयन्तु सर्वान् ॥१॥

३ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ १ २र १ २र ३ २ ३ १ २र
कङ्काः सुपर्णाः सु पर्णाः अनु यन्तु एनान् । गृध्राणाम् अन्नम् असौ अस्तु सेना ।
३ २ ३ २ ३ २ ३
मा एषाम् मोचि अघहारः अघ हारः च न इन्द्र ।
१ २र ३ १ २ ३ १ २र १ २र
वयांसि एनान् अनुसंयन्तु अनु संयन्तु सर्वान् ॥१॥

---

१. (ब्रह्मसंशिते) ब्रह्मणा वेदविदा सेनापतिना प्रशंसिते—इति ऋग्भाष्ये, ब्रह्मभिश्चतुर्वेदविद्भिः प्रशंसिते शिक्षया सम्यक् तीक्ष्णीकृते—इति च यजुर्भाष्ये द० । मन्त्रेण तीक्ष्णीकृते—इति सा० ।

२. (शरव्ये) ये शरान् व्याप्नुवन्ति तत्र साध्वि सेने-इति ऋग्भाष्ये द० । शरव्ये हिंसाकुशले इषो—इति सा० ।

३. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिममृग्भाष्ये 'सेनापतिः सेनां किमाज्ञापये'दिति विषये यजुर्भाष्ये च 'स्त्रियोऽपि युद्धविद्यया शिक्षणीया युद्धं कर्तुं प्रेषणीयाश्चेति' विषये व्याचष्टे ।

४. आद्ययोर्द्वयोर्ऋचोर्ऋषिर्वैदिकयन्त्रालयमुद्रिते स्वाध्यायमण्डलमुद्रिते च सामवेदे न प्रदत्तः । १. अप्रतिरथ ऋषिः **पायुर्वा** भारद्वाजः । २. अप्रतिरथ ऋषिः अग्निर्वा, ३. अप्रतिरथ ऋषिः पायुर्भारद्वाजः— इति सामश्रमिसम्पादिते सायणभाष्ये ।

पदार्थः— **सुपर्णाः** दृढपर्णाः **कङ्काः** चिल्लपक्षिणः **एनान्** इमान् शत्रून् **अनु यन्तु** अनुगच्छन्तु । **असौ सेना** शत्रूणां सा चमूः **गृध्राणाम्** एतन्नाम्नां पक्षिणाम् **अन्नम् अस्तु** भोजनं भवतु । हे **इन्द्र** सेनापतिरिव वीर जीवात्मन् ! **एषाम्** शत्रूणाम् **अघहारः च न** पापहारकः कश्चिदपि **मा मोचि** न मुच्यताम् । **एनान् सर्वान्** इमान् निःशेषानपि **वयांसि** क्रव्यादाः पक्षिणः **अनु संयन्तु** अनुप्राप्नुवन्तु भक्षयन्त्वित्यर्थः ॥१॥

भावार्थः— यथा बाह्ये रणे मारिताः शत्रवो गृध्रादिभिर्मांसभक्षकैः पक्षिभिः निःशेषाः क्रियन्ते तथैवाभ्यन्तरे देवासुरसंग्रामे जीवात्मना हतानां कामक्रोधादीनां सपत्नानां यथा नामापि च शिष्येत तथा मनुष्यैः प्रयतनीयम् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में शत्रुसेना के समूलोच्छेद का विषय है ।

पदार्थ— **सुपर्णाः** सुदृढ़ पंखों वाली **कङ्काः** चीलें **एनान्** इन शत्रुओं का **अनु यन्तु** पीछा करें । **असौ सेना** वह शत्रु-सेना **गृध्राणाम्** गिद्धों का **अन्नम् अस्तु** भोजन बने । हे **इन्द्र** सेनापतितुल्य जीवात्मन् ! **एषाम्** इन शत्रुओं में से **अघहारः च न** पाप का भागी कोई भी **मा मोचि** जिन्दा न छूटे । **एनान् सर्वान्** इन सबका **वयांसि** मांस भक्षी पक्षी **अनु संयन्तु** पीछा करें, इन्हें खा जाएं ॥१॥

भावार्थ— जैसे बाह्य युद्ध में मारे गये शत्रु गिद्ध आदि मांसभक्षक पक्षियों से समाप्त किये जाते हैं, वैसे ही आन्तरिक देवासुरसंग्राम में जीवात्मा से मारे गये काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नाम भी न बचे ऐसा प्रयत्न मनुष्यों को करना चाहिए ॥१॥

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१८६५. अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रुयतीमभि ।
उभौ तामिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥२॥[1]

अमित्रसेनाम् अमित्र सेनाम् मघवन् । अस्मान् शत्रुयतीम् अभि ।
उभौ ताम् इन्द्र वृत्रहन् वृत्र हन् । अग्निः च दहतम् प्रति ॥२॥

पदार्थः— हे **मघवन्** दिव्यैश्वर्यवन्, **वृत्रहन्** शत्रुहन्तः **इन्द्र** वीर जीवात्मन् ! **अस्मान् अभि** अस्मान् प्रति **शत्रुयतीम्** शत्रुत्वमाचरन्तीम्, **ताम्** विकरालाम् **अमित्रसेनाम्** रिपुसेनाम्, त्वम् **अग्निः च** तैजसं मनश्च **उभौ** द्वावपि **प्रतिदहतम्** भस्मीकुरुतम् ॥२॥

भावार्थः— यथा नृपतेः सेनापतेश्चोद्योगेन सर्वे बाह्याः शत्रवो निःशेषा जायन्ते तथैवाभ्यन्तरे देवासुरसंग्रामे जीवात्मा मनश्च सर्वान् विघ्नान् रिपूंश्च प्रतिदग्धुं प्रभवतः ॥२॥

आगे फिर उसी विषय को कहा गया है ।

पदार्थ— हे **मघवन्** दिव्य ऐश्वर्य वाले, **वृत्रहन्** शत्रुहन्ता **इन्द्र** वीर जीवात्मन् ! **अस्मान् अभि** हमारे प्रति **शत्रुयतीम्** शत्रुता का आचरण करने वाली **ताम्** उस विकराल **अमित्रसेनाम्** रिपु-सेना को, तू **अग्निः च** और तैजस मन **उभौ** दोनों **प्रतिदहतम्** भस्म कर दो ॥२॥

भावार्थ— जैसे राजा और सेनापति के उद्योग से सब बाह्य शत्रु निःशेष हो जाते हैं वैसे ही आन्तरिक देवासुरसंग्राम में जीवात्मा और मन सब विघ्नों और रिपुओं को दग्ध करने में समर्थ होते हैं ॥२॥

---

१. अथ ३।१।३, 'छत्रूयतीमभि' 'युवं तानिन्द्र' इति भेदः । ऋषिः अथर्वा ।

अथ युद्धे विजयः प्रार्थ्यते ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१८६६. यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखा इव ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
तत्र नो ब्रह्मणस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु ॥३॥[1]

१ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३
यत्र बाणाः संपतन्ति सम् पतन्ति । कुमाराः विशिखाः वि शिखाः इव ।

१ २र ३ १ २र १ २र १ २र ३ १ २र ३
तत्र नः ब्रह्मणः पतिः । अदितिः अ दितिः शर्म यच्छतु ।

१ २ १ २र ३
विश्वाहा शर्म यच्छतु ॥३॥

पदार्थः— **यत्र** यस्मिन् समराङ्गणे **बाणाः** शराः, शरादीन्यस्त्राणि **संपतन्ति** संपातं कुर्वन्ति, **विशिखाः कुमाराः** इव यथा कृतचूडाकर्माणः शिखारहिताः बालाः पदनिक्षेपाभ्यासं कुर्वन्तः पदे पदे पतन्ति, **तत्र** तस्मिन् समराङ्गणे **ब्रह्मणः पतिः** ज्ञानस्य रक्षको जीवात्मा, बृहतो राष्ट्रस्य रक्षकः सेनापतिर्वा, **अदितिः** कुतर्कैः खण्डनीया बुद्धिः राष्ट्रभूमिर्वा **नः** अस्मभ्यम् **शर्म** कल्याणम् **यच्छतु** ददातु, **विश्वाहा** सर्वदा **शर्म** कल्याणम् **यच्छतु** ददातु । [अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते, यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति (निरु० १०।४०) न्यायेनात्र पुनरुक्तौ भूयानर्थः समाविष्टः] ॥३॥[2]

अत्रोपमालङ्कारः ॥३॥

भावार्थः— बाह्ये संग्रामे सेनापतिः प्रतिपक्षिणो भटान् तीक्ष्णैः शरैश्छित्त्वा स्वपक्षीयेभ्यः सुखं प्रयच्छेत् । तथैवाध्यात्मिके देवासुरसंग्रामे जीवात्मा कामक्रोधादिरिपूंश्छित्त्वा भित्त्वा मनोभूमिं निःसपत्नां कुर्यात् ॥३॥

अगले मन्त्र में युद्ध में विजय की प्रार्थना है ।

पदार्थ— **यत्र** जिस समरांगण में **बाणाः** बाण आदि अस्त्र **संपतन्ति** गिरते हैं, **विशिखाः कुमाराः इव** जैसे चूड़ाकर्म संस्कार कराये हुए शिखा-रहित बालक चलने का अभ्यास करते हुए पग-पग पर गिरते हैं, **तत्र** उस समरांगण में **ब्रह्मणः पतिः** ज्ञान का रक्षक जीवात्मा और महान् राष्ट्र का रक्षक सेनापति तथा **अदितिः** कुतर्कों से खण्डित न होने वाली बुद्धि और राष्ट्रभूमि **नः** हमें **शर्म** कल्याण **यच्छतु** प्रदान करे, **विश्वाहा** सदा **शर्म** कल्याण **यच्छतु** प्रदान करे । [निरुक्त (१०।४०) में कहा गया है कि किसी वाक्य को दोहराने में बहुत-सा चामत्कारिक अर्थ प्रकट होता है, जैसे – 'अहो, दर्शनीय है ! अहो दर्शनीय है !'' इस वाक्य में । उसी के अनुसार यहाँ 'शर्म यच्छतु' वाक्य को दुहराने में बहुत-सा अर्थ समाविष्ट है।] ॥३॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥३॥

भावार्थ— बाह्य संग्राम में सेनापति प्रतिपक्षी योद्धाओं को तेज बाणों से काटकर अपने पक्ष वालों को सुख देवे वैसे ही आध्यात्मिक देवासुरसंग्राम में जीवात्मा काम-क्रोध आदि रिपुओं का छेदन-भेदन करके मनोभूमि को शत्रु-रहित करे ॥३॥

---

१. ऋ० ६।७५।१७ 'तत्रा' इति भेदः; य० १७।४८, 'तन्न इन्द्रो बृहस्पतिरदितिः' इति भेदः ।

२. दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिममृग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च युद्धनीतिविषये व्याचष्टे ।

।।७।। अथ 'वि रक्षो' इत्यादिकस्य सप्तमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** १-२ शासो भरद्वाजः, ३ अप्रतिरथ ऐन्द्रः । **देवता** इन्द्रः । **छन्दः** १-२ अनुष्टुप्, ३ विराड् जगती । **स्वरः** १-२ गान्धारः, ३ निषादः ।।

तत्रादौ जीवात्मानं सेनापतिं चोद्बोधयति ।

२ड ३ १र २र ३ २ ३ २ ३ १ २
१८६७. **वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।**
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ।।१।।[1]
२ १ २र १ २र ३ २ ३ १ २ ३र १ २ ३ २ ३ २ ३
वि रक्षः वि मृधः जहि । वि वृत्रस्य हनूइति रुज । वि मन्युम् इन्द्र वृत्रहन् वृत्र हन् ।
१ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र
अमित्रस्य अ मित्रस्य अभिदासतः अभि दासतः ।।१।।

पदार्थः— हे **वृत्रहन् इन्द्र** पापहन्तः जीवात्मन् शत्रुहन्तः सेनापते वा ! त्वम् **रक्षः** राक्षसं स्वभावं दुर्जनं वा **विजहि** विनाशय, **मृधः** संग्रामकारिणः कामक्रोधादीन्, हिंसकान् मानवान् रिपून् वा **विजहि** विनाशय, **वृत्रस्य** पुण्याच्छादकस्य पापस्य पापिनो वा **हनू** आक्रामकनिरोधकोपायौ जम्भौ वा **विरुज** विभङ्ग्धि । अभिदासतः दंशनं छेदनं भेदनं वा कुर्वतः **अमित्रस्य** शत्रोः । [अभिदासतः, दस दंशनदर्शनयोः चुरादिः, णिगर्भः शतृप्रयोगः।] **मन्युम्** दीप्तं प्रभावं क्रोधं वा **वि** विजहि विध्वंसय ।।१।।

भावार्थः— यथा राष्ट्रे सेनापतिः संहारकारिणः शत्रून् मृद्नाति तथैव देहे जीवात्मा राक्षसं स्वभावं, हिंसकान् कामक्रोधादीन्, धर्माच्छादकं पापं, वृश्चिकवद् दंशकं कौटिल्यं च विहन्यात् ।।१।।

प्रथम मन्त्र में जीवात्मा और सेनापति को उद्बोधन देते हैं ।

पदार्थ— हे **वृत्रहन् इन्द्र** पापहन्ता जीवात्मन्, और शत्रुहन्ता सेनापति ! तुम **रक्षः** राक्षसी स्वभाव को वा राक्षसी स्वभाव वाले दुर्जन को **विजहि** विनष्ट करो, **मृधः** संग्रामकारी काम-क्रोध आदियों को वा हिंसक मानवी शत्रुओं को **विजहि** विनष्ट करो, **वृत्रस्य** पुण्य पर पर्दा डालने वाले पाप वा पापी के **हनू** आक्रमण और बचाव के उपायों को वा जबड़ों को **विरुज** चूर-चूर कर दो । **अभिदासतः** दंशन- छेदन-भेदन करने वाले **अमित्रस्य** शत्रु के **मन्युम्** प्रदीप्त-प्रभाव को वा क्रोध को **वि** विध्वस्त कर दो ।।१।।

भावार्थ— जैसे राष्ट्र में सेनापति संहारकारी शत्रुओं का मर्दन करता है, वैसे ही शरीर में जीवात्मा राक्षसी स्वभाव को, हिंसक काम-क्रोध आदियों को, धर्म पर पर्दा डालने वाले पाप को, और बिच्छू के समान काटने वाली कुटिलता को विध्वस्त करे ।।१।।

अथ पुनस्तमेव विषयमाह ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१८६८. **वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।**
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः ।।२।।[2]
३ १ २र ३ २ ३ २
वि नः इन्द्र मृधः जहि । नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २र १ २र ३ १ २र
यः अस्मान् अभिदासति अभि दासति । अधरम् गमय तमः ।।२।।

---

१. ऋ० १०।१५२।३; अथ० १।२१।३ ।

२. ऋ० १०।१५२।४; य० १८।७०; अथ० १।२१।२ ।

पदार्थः— हे **इन्द्र** जीवात्मन् सेनापते वा ! त्वम् **नः** अस्माकम् **मृधः** हिंसकान् **विजहि** विनाशय, **पृतन्यतः** सेनया अभिगच्छतः कामक्रोधादीन् बाह्यांश्च शत्रून् **नीचा यच्छ** नीचीनं गमय । **यः** आन्तरो बाह्यो वा शत्रुः **अस्मान्** धार्मिकान् **अभिदासति** सर्वतः उपक्षयति [दसु उपक्षये, लेटि वर्णव्यत्ययेनाऽकारस्य स्थाने आकारः] तम् **अधरं तमः गमय** घोरां दुर्गतिम् अधरं कारागारं वा प्रापय ॥२॥[1]

भावार्थः— यथा सेनापतिर्दुष्टान् शत्रून् हन्ति कारागारे वा प्रक्षिपति तथैव देहाधिष्ठाता जीवात्मा सर्वानान्तरान् सपत्नान् घोरां दुर्गतिं नीत्वा विनाश्य वा निष्कण्टकं स्वसाम्राज्यं स्थापयेत् ॥२॥

आगे पुनः वही विषय कहा गया है ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** जीवात्मन् वा सेनापति ! तुम **नः** हमारे **मृधः** हिंसकों को **वि जहि** विनष्ट करो, **पृतन्यतः** सेना से आक्रमण करने वाले काम-क्रोध आदियों को व बाहरी शत्रुओं को **नीचा यच्छ** नीचा दिखाओ। **यः** जो आंतरिक वा बाहरी शत्रु **अस्मान्** हम धार्मिकों को **अभिदासति** सर्वथा क्षीण करना चाहता है, उसे **अधरं तमः गमय** घोर दुर्गति प्राप्त कराओ वा निचले कारागार में डाल दो ॥२॥

भावार्थ— जैसे सेनापति दुष्ट शत्रुओं का वध कर देता है अथवा उन्हें कारागार में डाल देता है, वैसे ही शरीर का अधिष्ठाता जीवात्मा सब आंतरिक शत्रुओं की घोर दुर्गति करके वा उन्हें विनष्ट करके अपने निष्कंटक साम्राज्य को स्थापित करे ॥२॥

अथेन्द्रस्य जीवात्मनो विजयसाधनानि वर्णयति ।

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
१८६९. **इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ युवानावनाधृष्यौ सुप्रतीकावसह्यौ ।**

१ २ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २
तौ युञ्जीत प्रथमौ योग आगते याभ्यां जितमसुराणां सहो महत् ॥३॥[2]

१ २ २ ३ १ २ १ २ २ ३ १ २ २
इन्द्रस्य बाहूइति स्थविरौ स्थ विरौ युवानौ ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
अनाधृष्यौ अन् आधृष्यौ सुप्रतीकौ सु प्रतीकौ असह्यौ अ सह्यौ ।

३ २ १ २ २ १ २ २ ३
तौ युञ्जीत प्रथमौ योगे आगते आ गते ।

१ २ २ ३ २ १ २ २ ३ १ २ २ ३ २
याभ्याम् जितम् असुराणाम् अ सुराणाम् सहः महत् ॥३॥

पदार्थः— **इन्द्रस्य** सेनापतेरिव जीवात्मनः **बाहू** प्राणापानरूपौ भुजौ **स्थविरौ** स्थिरौ । [स्था धातोः 'अजिरशिशिर०' उ० १।५३। इति किरच् प्रत्ययान्तो निपातः । धातोर्वुग् ह्रस्वत्वं च ।] **युवानौ** तरुणौ, **अनाधृष्यौ** मानसैर्दैहिकैश्च मलैः अप्रधृष्यौ, **सुप्रतीकौ** शत्रुं प्रति सुप्रत्यञ्चनौ, **असह्यौ** रोगादिभिः सोढुमशक्यौ स्तः । **योगे आगते** अष्टाङ्गयोगे उपस्थिते सति, योगसाधकः **तौ** प्राणापानरूपौ भुजौ **युञ्जीत** प्रयोजयेत्, **याभ्याम्** प्राणापानरूपाभ्यां बाहुभ्याम् **असुराणाम्** आधिव्याधिरूपाणां दैत्यानाम् **महत् सहः** महद् बलम् **जितम्** परास्तं भवति ॥३॥

---

१. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं सेनापतिः कीदृशो भवेदिति विषये व्याख्यातवान् ।

२. अथ० १९।१३।१, इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ वृषाणौ चित्रा इमा वृषभौ पारयिष्णू । तौ यीक्षे प्रथमो योग आगते याभ्यां जितमसुराणां स्वर्यत् ॥ इति पाठः ।

अत्रोपमेययोः प्राणापानयोर्निगरणपूर्वकमुपमानभूतयोर्बाह्वोर्वर्णनादतिशयोक्तिरलङ्कारः। 'स्थविरौ वृद्धौ अपि युवानौ' इति विरोधो ध्वन्यते, व्याख्यातदिशा च परिहारः ॥३॥

भावार्थः— योगाभ्यासे पूरककुम्भकादिना प्राणायामेनेन्द्रियाणां सर्वे दोषा नश्यन्ति, प्रकाशावरणक्षये च धारणासु मनसो योग्यता सञ्जायते, अतः प्राणापानौ सेनापतेर्बाहू इव सहायकौ भवतः ॥३॥

अगले मन्त्र में इन्द्र जीवात्मा के विषय-साधनों का वर्णन है ।

पदार्थ— इन्द्रस्य सेनापति-तुल्य जीवात्मा की **बाहू** प्राण-अपान रूप भुजाएं **स्थविरौ** स्थिर, **युवानौ** तरुण, **अनाधृष्यौ** मन और शरीर के मलों से अपराजेय, **सुप्रतीकौ** शत्रु के प्रति भली-भाँति आगे बढ़ने वाली और **असह्यौ** रोग आदियों से असह्य हैं। **योगे आगते** अष्टांग योग के उपस्थित होने पर, योग-साधक **तौ** उन प्राण-अपान-रूप भुजाओं का **युञ्जीत** प्रयोग करे, **याभ्याम्** जिनसे **असुराणाम्** आधि-व्याधि-रूप दैत्यों का **महत् सहः** विशाल बल **जितम्** जीत लिया जाता है ॥३॥

यहाँ उपमेय प्राण-अपान के निगरणपूर्वक उपमान भूत बाहुओं का वर्णन होने से अतिशयोक्ति अलंकार है । 'स्थविर' अर्थात् बूढ़े होने पर भी 'युवा' यह विरोधालंकार ध्वनित होता है । ऊपर की व्याख्या से उस विरोध का परिहार हो जाता है ॥३॥

भावार्थ— योगाभ्यास में पूरक, कुंभक आदि प्राणायाम से इन्द्रियों के सब दोष नष्ट हो जाते हैं और प्रकाश के आवरण का क्षय हो जाने पर धारणाओं में मन की योग्यता हो जाती है । इसलिए प्राण-अपान सेनापति की बाहुओं के समान सहायक होते हैं ॥३॥

॥८॥ अथ 'मर्माणि' इत्यादिकस्याष्टमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** १, ३ पायुर्भारद्वाजः, २ अप्रतिरथ ऐन्द्रः पायुर्भारद्वाजो वा । **देवता** संग्रामाशिषः । **छन्दः** १ त्रिष्टुप्, २-३ अनुष्टुप् । **स्वरः** १ धैवतः, २-३ गान्धारः॥

तत्रादौ विजयाभिलाषिणमाशिषा योजयति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१८७०. **मर्माणि ते वर्मणा च्छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम् ।**
३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥१॥[1]

१ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३
मर्माणि ते वर्मणा छादयामि । सोमः त्वा राजा अमृतेन अ मृतेन अनु वस्ताम् ।
३ २ १ २ २ १ २ २ ३ १ २ २ ३ २ ३
उरोः वरीयः वरुणः ते कृणोतु । जयन्तम् त्वा अनु देवाः मदन्तु ॥१॥

पदार्थः— हे अध्यात्मपथिक जीवात्मन् ! **ते** तव **मर्माणि** मर्मस्थानानि मनोबुद्धिचक्षुराद्यानि **वर्मणा** ब्रह्मरूपेण कवचेन । [वक्ष्यते च— ब्रह्म वर्म ममान्तरम्' इति साम० १८७२ ।] **छादयामि** संवृणोमि । **राजा** विश्वसम्राट् **सोमः** जगदीश्वरः **त्वा** त्वाम् **अमृतेन** आनन्दरसेन **अनु वस्ताम्** अन्वाच्छादयतु । **वरुणः** दोषनिवारको वरणीयो विद्वान् आचार्यः **ते** तुभ्यम् **उरोः** विस्तीर्णस्य अध्यात्मज्ञानस्य **वरीयः** अतिशयेन वरं तत्त्वम् **कृणोतु** करोतु । **जयन्तं त्वा** अध्यात्मक्षेत्रे बाह्यक्षेत्रे च विजयं लभमानं त्वाम् **अनु** अनुसृत्य **देवाः** मनःप्राणादयोऽपि **मदन्तु** हृष्यन्तु ॥१॥[2]

---

१. ऋ० ६।७५।१८; य० १७।४९; अथ० ७।११८।१ ।

२. ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च दयानन्दस्वामी मन्त्रमिमं योद्धॄन् प्रत्यध्यक्षाः कथं वर्तेरन्निति विषये व्याख्यातवान् ।

भावार्थः— योगमार्गे पदं दधानो जनो ब्रह्मकवचेन रक्षितो भूत्वा गुरुजनानां मार्गनिर्देशं प्राप्य ब्रह्मानन्दमनुभवन् मनोबुद्धिप्राणादिभिः सह विजयतेतमाम् ॥१॥

प्रथम मन्त्र में विजयाभिलाषी को आशीर्वाद दिया जा रहा है ।

पदार्थ— हे अध्यात्म-पथ के पथिक जीवात्मन् ! **ते** तेरे **मर्माणि** मन, बुद्धि, चक्षु आदि मर्म-स्थलों को **वर्मणा** ब्रह्म-रूप कवच से **छादयामि** ढकता हूं । **राजा** विश्व का सम्राट् **सोमः** जगदीश्वर **त्वा** तुझे **अमृतेन** आनन्द-रस से **अनुवस्ताम्** आच्छादित करे । **वरुणः** दोषनिवारक, वरणीय, विद्वान् आचार्य **ते** तेरे लिए **उरोः** विस्तृत अध्यात्म-ज्ञान के **वरीयः** अतिशय उत्कृष्ट तत्त्व को **कृणोतु** प्रदान करे । **जयन्तं त्वा** अध्यात्म-क्षेत्र में और बाह्य क्षेत्र में विजय लाभ करते हुए तेरे **अनु** पीछे-पीछे **देवाः** मन, प्राण आदि भी **मदन्तु** लहलहायें ॥१॥

भावार्थ— योगमार्ग में पैर रखता हुआ मनुष्य ब्रह्मकवच से रक्षित होकर, गुरुजनों का मार्गनिर्देश पाकर, ब्रह्मानन्द का अनुभव करता हुआ मन, बुद्धि, प्राण आदियों के साथ अतिशय विजयी होता है ॥१॥

अथामित्रान् भर्त्सयति ।

३ १ २ ३ १ २
१८७१ . अन्धा अमित्रा भवताशीर्षाणोऽहय इव ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तेषां वो अग्निनुन्नानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥२॥

२ ३ २ ३ २ १ २र ३
अन्धाः अमित्राः अ मित्राः भवत । अशीर्षाणः अ शीर्षाणः अहयः इव ।
१ २र ३ १ २ ३ २ ३
तेषाम् वः अग्निनुन्नानाम् अग्नि नुन्नानाम् ।
१ २र ३ १२र १२र ३
इन्द्रः हन्तु वरंवरम् वरम् वरम् ॥२॥

पदार्थः— हे **अमित्राः** आन्तरा बाह्याश्च रिपवः ! यूयम् **अन्धाः** दर्शनासमर्थाः **अशीर्षाणः अहयः इव** छिन्नफणाः सर्पा इव च प्रभावहीनाः **भवत** जायध्वम् । **अग्निनुन्नानां तेषां वाः** अग्निवत् प्रोज्ज्वलेन दृढसंकल्पेन दूरं प्रेरितानां तेषां युष्माकम् **वरं-वरम्** प्रधानं प्रधानम् अवचित्य **इन्द्रः** अन्तरात्मा **हन्तु** विनाशयतु ॥२॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥२॥

भावार्थः— भयङ्करं फटाटोपं दर्शयन्तो विषधरा अपि छिन्नशिरस्काः सन्तो यथाऽकिञ्चित्करा भवन्ति तथैव प्रबलसंकल्पेन हृतबला आभ्यन्तरा बाह्याश्च सर्वे सपत्ना निष्क्रिया मृताश्च जायन्ताम् ॥२॥

अगले मन्त्र में शत्रुओं को भर्त्सना दी जा रही है ।

पदार्थ— हे **अमित्राः** आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं ! तुम **अन्धाः** अन्धे और **अशीर्षाणः अहयः इव** फन-कटे सांपों के समान प्रभाव-रहित **भवत** हो जाओ । **अग्निनुन्नानां तेषां वः** अग्नि के समान ज्वलंत दृढ़ संकल्प से दूर किये हुए उन तुम शत्रुओं में से **वरं-वरम्** प्रधान-प्रधान को चुन-चुनकर **इन्द्रः** हमारा अन्तरात्मा **हन्तु** विनष्ट कर दे ॥२॥

यहाँ उपमालंकार है ॥२॥

भावार्थ— भयंकर फटाटोप दिखाने वाले विषधर भी फन कट जाने पर कुछ भी कर सकने में असमर्थ हो जाते हैं। वैसे ही प्रबल संकल्प से जिनका बल हर लिया गया है ऐसे आंतरिक और बाह्य सब शत्रु निष्क्रिय और मृत हो जाएँ ।।२।।

अथ जिघांसोर्विनाशोपायं दर्शयति ।

१८७२. यो नः स्वोऽरणो यश्च निष्ठ्यो जिघांसति ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरं शर्म वर्म ममान्तरम् ।।३।।[1]

यः नः स्वः अरणः । यः च निष्ठ्यः जिघांसति । देवाः तम् सर्वे धूर्वन्तु ।
ब्रह्म वर्म मम अन्तरम् शर्म वर्म मम अन्तरम् ।।१।।

पदार्थः— **यः** नः अस्मान् **स्वः** स्वकीयो दुर्भावः, **अरणः** परकीयो दुर्भावः । [अरणः अपार्णो भवति । निरु० ३।२ ।] **यः च निष्ठ्यः** शत्रोः दुर्भावः **जिघांसति** हन्तुमिच्छति, **तम्** कामक्रोधादिकं दुर्भावम् **सर्वे** समस्ताः **देवाः** दिव्यगुणाः, सदाचारिणो विद्वांसो जना वा **धूर्वन्तु** हिंसन्तु । धुर्वी हिंसार्थः, भ्वादिः ।] **ब्रह्म** महान् जगदीश्वरः **मम** मदीयम् **अन्तरम्** मध्ये भवम् **वर्म** कवचम् रक्षासाधनम् अस्तु, **शर्म** जगदीशशरणम् **मम** मदीयम् **अन्तरम्** मध्ये भवम् **वर्म** कवचम् रक्षासाधनम् अस्तु ।।३।।[2]

भावार्थः— कदाचिन्मनुष्यः स्वमनोभवे पापे प्रवर्तते कदाचिच्च परिचितजनप्रेरिते शत्रुप्रेरिते वा पापे लिप्यते । दिव्यविचारैर्विद्वत्सङ्गेन परमेश्वरानुध्यानेन च तानि पापानि विनाश्य स निष्पापः सच्चरित्रश्च भवितुं शक्नोति ।।३।।

अगले मन्त्र में वधेच्छु के विनाश का उपाय दर्शाते हैं।

पदार्थ— **यः** जो **नः** हमें **स्वः** अपना दुर्भाव, **अरणः** पराया दुर्भाव, **यः च** और जो निष्ठ्यः शत्रु का दुर्भाव **जिघांसति** नष्ट करना चाहता है, **तम्** उस काम-क्रोध आदि दुर्भाव का **सर्वे** सब **देवाः** दिव्य गुण वा सदाचारी विद्वान् जन **धूर्वन्तु** वध कर दें । **ब्रह्म** महान् जगदीश्वर **मम** मेरा **अन्तरम्** आन्तरिक **वर्म** कवच अर्थात् रक्षा-साधन हो जाए, **शर्म** जगदीश की शरण **मम** मेरा **अन्तरम्** आन्तरिक **वर्म** कवच अर्थात् रक्षा-साधन हो जाए ।।३।।

भावार्थ— कभी मनुष्य निज मन से उत्पन्न पाप में प्रवृत्त होता है और कभी परिचित जन से प्रेरित वा शत्रु से प्रेरित पाप में लिप्त होता है । दिव्य विचारों से, विद्वानों के संग से और परमेश्वर के ध्यान-चिन्तन से उन पापों को नष्ट करके वह निष्पाप और सच्चरित्र हो सकता है ।।३।।

।।९।। अथ 'मृगो न' इत्यादिकस्य नवमस्य तृचस्य सूक्तस्य **ऋषिः** १ जय ऐन्द्रः, २-३ गोतमो राहूगणः । **देवता** १ इन्द्रः, २-३ विश्वेदेवाः । **छन्दः** १-२ त्रिष्टुप्, ३ विराट्स्थाना त्रिष्टुप् । **स्वरः** धैवतः ।।

---

१. ऋ० ६।७५।१९, 'शर्म वर्म ममान्तरम्' इति नास्ति । 'निष्ठ्यो' इत्यत्र 'निष्ट्यो' इति च भेदः ।
२. ऋग्भाष्ये दयानन्दर्षिणा मन्त्रोऽयं सेनाध्यक्षाः संग्रामे किं कुर्युरिति विषये व्याख्यातः ।

तत्रादौ मानवमुद्बोधयति ।

३ २च ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१८७३. मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगन्था परस्याः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र ३र
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून् ताढि वि मृधो नुदस्व ॥१॥[1]

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२र
मृगः न भीमः कुचरः गिरिष्ठाः गिरि स्थाः । परावतः आ जगन्थ परस्याः ।
३ २ ३ १ २ ३ १२र ३ २ ३ २ १२र ३ २ १ २र ३
सृकं संशाय सम् शाथ पविम् इन्द्र तिग्मम् । वि शत्रून् ताढि वि मृधः नुदस्व ॥१॥

पदार्थः— हे **इन्द्र** वीर मानव ! त्वम् **भीमः** भयङ्करः, **कुचरः** भूचरः, **गिरिष्ठाः** पर्वतगुहानिवासी **मृगः न** सिंह इव **भीमः** दुष्टानां भयङ्करः, **कुचरः** भूविहर्ता, **गिरिष्ठाः** पर्वतवदुन्नते पदे स्थितिं लब्ध्वा, भवेति शेषः । **परावतः** परागतवतो देशात् **परस्याः** परवर्तिन्या अपि दिशः **आ जगन्थ** शत्रुभिर्योद्धुम् आयाहि । **सृकम्** सरणशीलम्, **तिग्मम्** तीक्ष्णम् **पविम्** वज्रम्, शस्त्रास्त्रसमूहमिति यावत् **संशाय** भूयोऽपि तीक्ष्णीकृत्य **शत्रून्** रिपून् **वि ताढि**[2] विताडय, **मृधः** हिंसकान् **विनुदस्व** दूरं विद्रावय । [परावतः, 'उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे' अ० ५।१।११८ इति वतिः प्रत्ययः । संशाय, संपूर्वः शो तनूकरणे दिवादिः, क्त्वो ल्यप्] ॥१॥[3]

यास्काचार्येण निरुक्ते नैघण्टुकदेवताप्रकरणे मन्त्रस्य प्रथमश्चरण एवं व्याख्यातः— ["मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। मृग इव भीमः कुचरो गिरिष्ठाः । मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः, भीमो बिभ्यत्यस्माद्, भीष्मोऽप्येतस्मादेव । कुचर इति चरतिकर्म कुत्सितम्, अथ चेद् देवताभिधानं क्वायं न चरतीति । गिरिष्ठा गिरिस्थायी । गिरिः पर्वतः समुद्गीर्णो भवति' इति (निरु० १।२०)] ॥

अत्र श्लिष्टोपमालङ्कारः ॥१॥

भावार्थः— मनुष्यैः स्वात्मनि वीरतां सञ्चित्य यथा बाह्याः शत्रवः पराजेयास्तथैवाभ्यन्तरा अपि निर्मूलनीयाः ॥१॥

प्रथम मन्त्र में मानव को उद्बोधन दिया गया है ।

पदार्थ— हे **इन्द्र** वीर मानव ! तू **भीमः** भयंकर, **कुचरः** भूमि पर विचरने वाले, **गिरिष्ठाः** पर्वत की गुफा में निवास करने वाले **मृगः न** शेर के समान **भीमः** दुष्टों के लिए भयंकर, **कुचरः** भू-विहारी और **गिरिष्ठाः** पर्वत के सदृश उन्नत पद पर प्रतिष्ठित हो । **परावतः** सुदूर देश से **परस्याः** और दूर दिशा से **आ जगन्थ** शत्रुओं के साथ युद्ध करने के लिए आ । **सृकम्** गतिशील, **तिग्मम्** तीक्ष्ण **पविम्** वज्र को, शस्त्रास्त्रसमूह को **संशाय** और अधिक तीक्ष्ण करके **शत्रून्** शत्रुओं को **वि ताढि** विताड़ित कर, **मृधः** हिंसकों को **वि नुदस्व** दूर भगा दे ॥१॥

यहाँ श्लिष्टोपमालंकार है ॥१॥

---

१. ऋ० १०।१८०।२; य० १८।७१; अथ० ७।८४।३ ।

२. ताडयतिर्हिंसाकर्मा, तस्य हौ परे छन्दस्युभयथेत्यार्द्धधातुकत्वे णिचो लोपः, हुझल्भ्यो हेर्धिः, ष्टुत्वम्, ताढि—इति य० १८।७१ भाष्ये महीधरः ।

३. यजुर्भाष्ये दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं राजजनैः कीदृशैर्भवितव्यमिति विषये व्याचष्टे ।

भावार्थ– मनुष्यों को चाहिए कि वीरता का संचय करके जैसे बाहरी शत्रुओं को पराजित करें वैसे ही आंतरिक शत्रुओं को भी निर्मूल करें ।।१।।

अथ स्वाकाङ्क्षां प्रकटयति ।

१८७४. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ।।२।।[1]

भद्रम् कर्णेभिः शृणुयाम देवाः । भद्रम् पश्येम अक्षभिः अ क्षभिः यजत्राः ।
स्थिरैः अङ्गैः । तुष्टुवांसः तु स्तुवांसः तनूभिः ।
वि अशेमहि देवहितम् देव हितम् यत् आयुः ।।२।।

पदार्थः– हे **देवाः** विद्वांसः ! वयम् **कर्णेभिः** कर्णैः श्रोत्रैः **भद्रम्** कल्याणं वचनम् **शृणुयाम** आकर्णयेम । हे **यजत्राः** यजनीया मातापित्राचार्यवानप्रस्थसंन्यासिप्रभृतयो जनाः ! वयम् **अक्षभिः** नेत्रैः **भद्रम्** कल्याणं दृश्यम् **पश्येम** अवलोकयेम । **तुष्टुवांसः** जगदीश्वरं स्तुतवन्तः वयम् **स्थिरैः** दृढैः **अङ्गैः** शिर आदिभिः ब्रह्मचर्यादिभिश्च, **तनूभिः** अन्नमयप्राणमयमनोमयादिभिः शरीरैश्च **यत् देवहितम्**[2] देवेभ्यः सज्जनेभ्यो हितम् यद्वा देवेन परमात्मना निहितं न्यूनान्यूनं शतवार्षिकम् **आयुः** आयुष्यम् अस्ति, तत् **व्यशेमहि** सम्प्राप्नुयाम ।।२।।[3]

भावार्थः– मनोबुद्धिप्राणचक्षुःश्रोत्रादीनि यान्यनुपमानि साधनानि मनुष्येभ्यः परमात्मना प्रदत्तानि तेषां सदुपयोगेन भद्रजीवनयापनपुरस्सरं पुरुषायुषं प्राप्याध्यात्मिकी भौतिकी चोन्नतिः सततं कार्या ।।२।।

अगले मन्त्र में अपनी आकांक्षा प्रकट की गयी है ।

पदार्थ– हे **देवाः** विद्वानो ! हम **कर्णेभिः** कानों से **भद्रम्** भद्र वचन **शृणुयाम** सुनें । हे **यजत्राः** पूजनीय माता, पिता, आचार्य, वानप्रस्थ, संन्यासी आदि जनो ! हम **अक्षभिः** आँखों से **भद्रम्** भद्र दृश्य **पश्येम** देखें । **तुष्टुवांसः** जगदीश्वर की स्तुति करने वाले हम लोग **स्थिरैः** दृढ़ **अङ्गैः** सिर आदि अंगों से वा ब्रह्मचर्य आदि अंगों से, और **तनूभिः** अन्नमय, प्राणमय, मनोमय आदि शरीरों से **यत्** जो **देवहितम्** सज्जनों का हित करने वाली वा परमात्मदेव द्वारा निहित कम से कम सौ वर्ष की **आयुः** आयु है वह **व्यशेमहि** प्राप्त करें ।।२।।

भावार्थ– मन, बुद्धि, प्राण, आँख, कान आदि जो अनुपम साधन मनुष्यों को परमात्मा ने दिये हैं उनके सदुपयोग से भद्र जीवन बिताते हुए पूर्ण आयु प्राप्त करके आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति निरंतर करनी चाहिए ।।२।।

---

१. ऋ० १।८९।८ 'व्यशेम' इति भेदः । य० २५।२१ ।

२. यत् आयुः षोडशाधिकशतप्रमाणं विंशत्यधिकशतप्रमाणं वां देवहितं देवेन प्रजापतिना स्थापितम्– इति सा० । देवहितं देवैर्यत् स्थापितं मनुष्याणामायुः– इति यजुर्भाष्ये उवटः । देवहितं देवैः स्थापितं, देवानां हितं देवोपासनयोग्यं वा यत् आयुः– इति तत्रैव म० । देवहितं देवेभ्यो विद्वद्भ्यो हितम्–इति ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च द० ।

३. ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं मनुष्यैः किं कर्तव्यमिति विषये व्याचष्टे ।

अथान्ते स्वस्ति प्रार्थ्यते ।

१८७५. स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥३॥[1]

स्वस्ति सु अस्ति नः इन्द्रः वृद्धश्रवाः वृद्ध श्रवाः । स्वस्ति सु अस्ति नः पूषा।
विश्ववेदाः विश्व वेदाः । स्वस्ति सु अस्ति नः तार्क्ष्यः अरिष्टनेमिः अरिष्ट नेमिः ।
स्वस्ति सु अस्ति नः बृहः पतिः दधातु ॥३॥

पदार्थः— **वृद्धश्रवाः** वृद्धं श्रवः कीर्तिर्यस्य सः **इन्द्रः** जगत्पतिः परमेश्वरः **नः** अस्मभ्यम् **स्वस्ति** मङ्गलम् **दधातु** वितरतु । **विश्ववेदाः** विश्वं वेदो धनं यस्य सः **पूषा** पुष्टिप्रदो जगदीश्वरः **नः** अस्मभ्यम् **स्वस्ति** मङ्गलं **दधातु** वितरतु । **अरिष्टनेमिः** अरिष्टा अक्षता नेमिः व्याप्तिपरिधिर्यस्य सः **तार्क्ष्यः** सर्वगतः सर्वान्तर्यामी परमः पिता [गत्यर्थात् तृक्षधातोर्ण्यत् ततः स्वार्थेऽण्। **नः** अस्मभ्यम् **स्वस्ति** मङ्गलं **दधातु** वितरतु । **बृहस्पतिः** बृहः बृहत्या वेदवाचः पतिरधीश्वरः सर्वज्ञानमयः पूर्वेषामपि गुरुः सर्वेशः **नः** अस्मभ्यम् **स्वस्ति** मङ्गलम् **दधातु** वितरतु ॥३॥[2]

भावार्थः— इन्द्रादिविविधनामभिः श्रुतौ वर्णितस्य विश्रुतकीर्त्तेः सुपोषकस्य सर्वान्तर्यामिनः सर्वज्ञस्य सलयैः सामभिर्गीतस्य जगदीश्वरस्यानुध्यानेन यथाशक्ति यथासंभवं तद्गुणान् स्वात्मनि निधाय सर्वे मनुष्या ऐहिकं पारमार्थिकं च शोभनास्तित्वं सुमङ्गलं सुपूजितत्वं च सततं विन्दन्तु ॥३॥

अस्मिन्नध्याये जीवात्मनः प्रोद्बोधनपूर्वकं देवासुरसंग्रामे विजयार्थं प्रेरणादाशीर्योजनात् स्वस्तिप्रार्थनाच्चैतस्याध्यायस्य पूर्वाध्यायेन संगतिरस्तीति वेद्यम् ॥

अब अन्त में स्वस्ति की प्रार्थना करते हैं ।

पदार्थ— **वृद्धश्रवाः** महान् कीर्ति वाला **इन्द्रः** जगत्पति परमेश्वर **नः** हमें **स्वस्ति** मंगल **दधातु** प्रदान करे। **विश्ववेदाः** सब धन का स्वामी **पूषा** पुष्टिप्रदाता जगदीश्वर **नः** हमें **स्वस्ति** मंगल **दधातु** प्रदान करे । **अरिष्टनेमिः** जिसकी व्याप्ति-रूप परिधि कभी टूटती नहीं ऐसा **तार्क्ष्यः** सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी परमपिता **नः** हमें **स्वस्ति** मंगल **दधातु** प्रदान करे । **बृहस्पतिः** महती वेदवाणी का अधीश्वर,सर्वज्ञानमय, प्राचीनों का भी गुरु सर्वेश **नः** हमें **स्वस्ति** मंगल **दधातु** प्रदान करे ॥३॥

भावार्थ— इन्द्र आदि विविध नामों से वेद में वर्णित, प्रसिद्ध कीर्ति वाले, सुपुष्टिदायक, सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ, लयसहित सामगानों द्वारा गाये गये जगदीश्वर के ध्यान से यथाशक्ति यथासंभव उसके गुणों को अपने आत्मा में धारण करके सब मनुष्य ऐहिक और पारमार्थिक श्रेष्ठ अस्तित्व, श्रेष्ठ मंगल और श्रेष्ठ पूजा को निरन्तर प्राप्त करें ॥३॥

इस अध्याय में जीवात्मा को प्रोद्बोधन देते हुए देवासुरसंग्राम में विजयार्थ प्रेरित करने, आशीर्वाद देने तथा स्वस्ति की प्रार्थना होने से इस अध्याय की पूर्व अध्याय के साथ संगति है, यह जानना चाहिए ॥

इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त ।

नवम प्रपाठक में तृतीय अर्ध समाप्त ॥

---

१. ऋ० १।८९।६; य०२५।१९ ।

२. ऋग्भाष्ये यजुर्भाष्ये च दयानन्दर्षिर्मन्त्रमिमं मनुष्यैः किमेष्टव्यमिति परमेश्वरविषये व्याख्यातवान् ।